32

श्रीहरिः

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

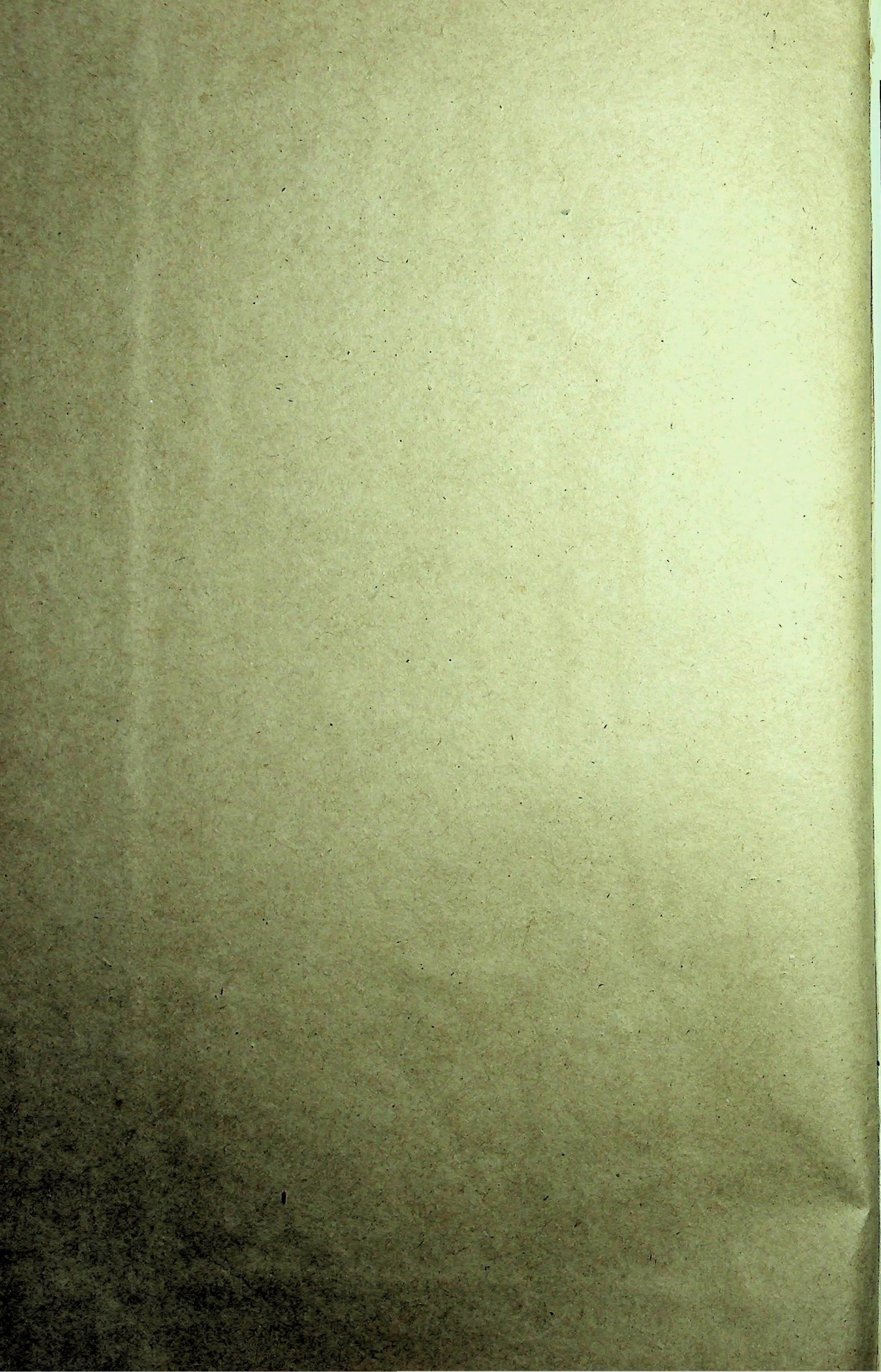
(प्रथम खण्ड)

[आदिपर्व और सभापर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)



गीताप्रेस, गोरखपुर



॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

महाभारत

(प्रथम खण्ड)

[आदिपर्व और सभापर्व]

(सचित्र, सरल हिंदी-अनुवादसहित)



अनुवादक—

साहित्याचार्य पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१२ से २०५१ तक ६०,०००
सं० २०५३ नवाँ संस्करण ३,०००
योग ६३,०००

मूल्य— { खण्ड एकसे / खण्ड छ:तक } छः खण्डोंका सम्पूर्ण सात सौ बीस रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : ३३४७२१

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नम्र निवेदन

महाभारत आर्य-संस्कृति तथा भारतीय सनातन धर्मका एक महान् ग्रन्थ तथा अमूल्य रत्नोंका अपार भण्डार है। भगवान् वेदव्यास स्वयं कहते हैं कि 'इस महाभारतमें मैंने वेदोंके रहस्य और विस्तार, उपनिषदोंके सम्पूर्ण सार, इतिहास-पुराणोंके उन्मेष और निमेष, चातुर्वर्ण्यके विधान, पुराणोंके आशय, ग्रह-नक्षत्र-तारा आदिके परिमाण, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपत (अन्तर्यामीकी महिमा) तीर्थों, पुण्य देशों, नदियों, पर्वतों, वनों तथा समुद्रोंका भी वर्णन किया है। अतएव महाभारत महाकाव्य है, गूढ़ार्थमय ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र है, धर्मग्रन्थ है, राजनीतिक दर्शन है, कर्मयोग-दर्शन है, भक्ति-शास्त्र है, अध्यात्म शास्त्र है, आर्यजातिका इतिहास है और सर्वार्थसाधक तथा सर्वशास्त्रसंग्रह है। सबसे अधिक महत्त्वकी बात तो यह है कि इसमें एक, अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, परमयोगेश्वर, अचिन्त्यानन्त गुणगणसम्पन्न, सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी, विचित्र लीलाविहारी, भक्त-भक्तिमान्, भक्त-सर्वस्व, निखिलरसामृतसिन्धु, अनन्त प्रेमाधार, प्रेमघनविग्रह, सच्चिदानन्दघन, वासुदेव भगवान् श्रीकृष्णके गुण-गौरवका मधुर गान है। इसकी महिमा अपार है। औपनिषद ऋषिने भी इतिहास-पुराणको पञ्चम वेद बताकर महाभारतकी सर्वोपरि महत्ता स्वीकार की है।

इस महाभारतके हिन्दीमें कई अनुवाद इससे पहले प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु इस समय मूल संस्कृत तथा हिन्दी-अनुवादसहित सम्पूर्ण ग्रन्थ शायद उपलब्ध नहीं है। इसे गीताप्रेसने सम्वत् १९९९ में प्रकाशित किया था, किन्तु परिस्थिति एवं साधनोंके अभावमें पाठकोंकी सेवामें नहीं दिया जा सका। भगवत्कृपासे इसे पुनर्मुद्रित करनेका सुअवसर अब प्राप्त हुआ है।

इस महाभारतमें मुख्यतः नीलकण्ठीके अनुसार पाठ लिया गया है। साथ ही दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी अंशोंको सम्मिलित किया गया है और इसीके अनुसार बीच-बीचमें उसके श्लोक अर्थसहित दे दिये गये हैं पर उन श्लोकोंकी श्लोक-संख्या न तो मूलमें दी गयी है, न अर्थमें ही। अध्यायके अन्तमें दाक्षिणात्य पाठके श्लोकोंकी संख्या अलग बताकर उक्त अध्यायकी पूर्ण श्लोक-संख्या बता दी गयी है और इसी प्रकार पर्वके अन्तमें लिये हुए दाक्षिणात्य अधिक पाठके श्लोकोंकी संख्या अलग-अलग बताकर उस पर्वकी पूर्ण श्लोक-संख्या भी दे दी गयी है। इसके अतिरिक्त महाभारतके पूर्व प्रकाशित अन्यान्य संस्करणों तथा पूनाके संस्करणसे भी पाठ-निर्णयमें सहायता ली गयी है और अच्छा प्रतीत होनेपर उनके मूलपाठ या पाठान्तरको भी ग्रहण किया गया है। इस संस्करणमें कुल श्लोक-संख्या १००२१७ है। इसमें उत्तर भारतीय पाठकी ८६६००, दाक्षिणात्य पाठकी ६५८४ तथा 'उवाच' की संख्या ७०३२ है।

इस विशाल ग्रन्थके हिन्दी-अनुवादका प्रायः सारा कार्य गीताप्रेसके प्रसिद्ध तथा सिद्धहस्त भाषान्तरकार संस्कृत-हिन्दी दोनों भाषाओंके सफल लेखक तथा कवि, परम विद्वान् पण्डितप्रवर श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री महोदयने किया है। इसीसे अनुवादकी भाषा सरल होनेके साथ ही इतनी सुमधुर हो सकी है। दार्शनिक वयोवृद्ध विद्वान् डॉ० श्रीभगवानदासजीने इस अनुवादकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

आदिपर्व तथा कुछ अन्य पर्वोंके कुछ अनुवादको हमारे परम आदरणीय विद्वान् स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजने भी कृपापूर्वक देखा है; इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इसके अतिरिक्त, पाठनिर्णय तथा अनुवाद देखनेका सारा कार्य हमारे परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने समय-समयपर स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी, श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका, श्रीघनश्यामदासजी जालान, श्रीवासुदेवजी काबरा आदिको साथ रखकर किया है। श्रीगोयन्दकाजी तथा इन महानुभावोंने इतनी लगनके साथ बहुत लम्बा समय नियमितरूपसे देकर काम न किया होता तो इस विशाल ग्रन्थका प्रकाशन होना सम्भव नहीं था।

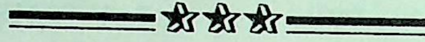
इस प्रकार भगवत्कृपासे यह महान् कार्य ६ खण्डोंमें पूरा हुआ है। आशा है, भारतीय जनता इससे लाभ उठाकर धार्मिक जीवनयापन एवं अपने जीवनको सफल बनानेमें सक्षम होगी।

विनीत—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

आदिपर्व



सभापर्व

(सभापर्व सम्पूर्ण)

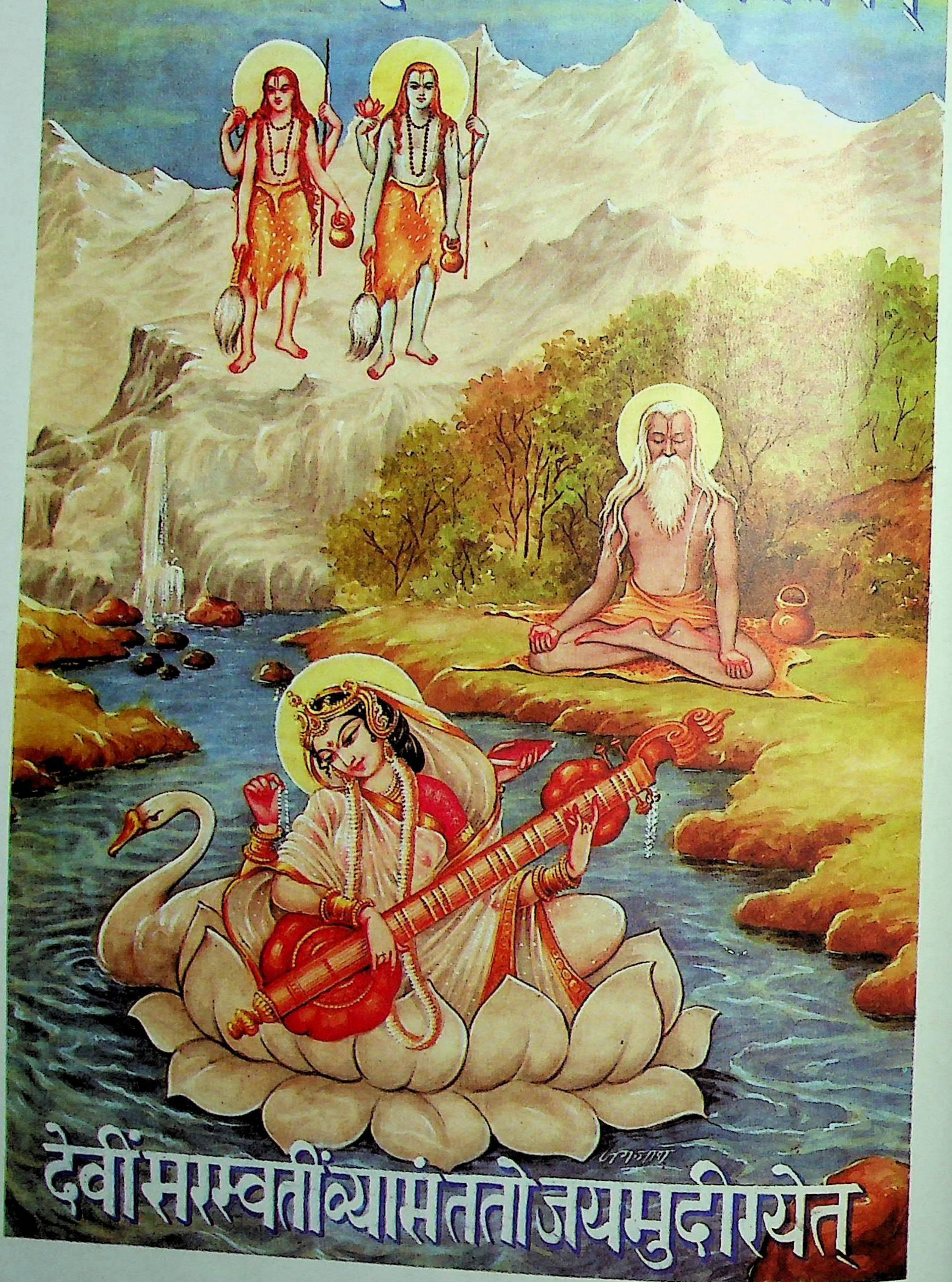


चित्र-सूची

सादा

अध्याय | विषय | पृष्ठ-संख्या





नमस्कार

श्रीहरिः

श्रीगणेशाय नमः

श्रीवेदव्यासाय नमः

श्रीमहाभारतम्

आदिपर्व

(अनुक्रमणिकापर्व)

प्रथमोऽध्यायः

ग्रन्थका उपक्रम, ग्रन्थमें कहे हुए अधिकांश विषयोंकी संक्षिप्त सूची तथा इसके पाठकी महिमा

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

'बदरिकाश्रमनिवासी प्रसिद्ध ऋषि श्रीनारायण तथा श्रीनर (अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन), उनकी लीला प्रकट करनेवाली भगवती सरस्वती और उसके वक्ता महर्षि वेदव्यासको नमस्कार कर (आसुरी सम्पत्तियोंका नाश करके अन्तःकरणपर दैवी सम्पत्तियोंको विजय प्राप्त करानेवाले) जय * (महाभारत एवं अन्य इतिहास-पुराणादि) का पाठ करना चाहिये ।' †

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। ॐ नमः पितामहाय । ॐ नमः प्रजापतिभ्यः । ॐ नमः कृष्णद्वैपायनाय । ॐ नमः सर्वविघ्नविनायकेभ्यः ।

ॐकारस्वरूप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप भगवान् पितामहको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप प्रजापतियोंको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायनको नमस्कार है। ॐकारस्वरूप सर्वविघ्नविनाशक विनायकोंको नमस्कार है।

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको
नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ॥ १॥
सुखासीनानभ्यगच्छद् ब्रह्मर्षीन् संशितव्रतान् ।
विनयावनतो भूत्वा कदाचित् सूतनन्दनः ॥ २ ॥

एक समयकी बात है, नैमिषारण्यमें[1] कुलपति[2] महर्षि शौनकके बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले सत्रमें[3] जब उत्तम एवं कठोर ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षिगण अवकाशके समय सुखपूर्वक बैठे थे, सूतकुलको आनन्दित करनेवाले लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवा सौति स्वयं कौतूहलवश उन ब्रह्मर्षियोंके समीप बड़े विनीतभावसे आये । वे पुराणोंके विद्वान् और कथावाचक थे ॥ १-२ ॥

---

* 'जय' शब्दका अर्थ महाभारत नामक इतिहास ही है । आगे चलकर कहा है—जयो नामेतिहासोऽयम् इत्यादि । अथवा अठारहों पुराण, वाल्मीकिरामायण आदि सभी आर्ष-ग्रन्थोंकी संज्ञा 'जय' है ।

† मङ्गलाचरणका श्लोक देखनेपर ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ नारायण शब्दका अर्थ है भगवान् श्रीकृष्ण और नरोत्तम नरका अर्थ है नररत्न अर्जुन । महाभारतमें प्रायः सर्वत्र इन्हीं दोनोंका नर-नारायणके अवतारके रूपमें उल्लेख हुआ है । इससे मङ्गलाचरणमें ग्रन्थके इन दोनों प्रधान पात्र तथा भगवान्के मूर्ति-युगलको प्रणाम करना मङ्गलाचरणको नमस्कारात्मक होनेके साथ ही वस्तुनिर्देशात्मक भी बना देता है । इसलिये अनुवादमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका ही उल्लेख किया गया है ।

१. नैमिष नामकी व्याख्या वाराहपुराणमें इस प्रकार मिलती है—

एवं कृत्वा ततो देवो मुनिं गौरमुखं तदा ।
उवाच निमिषेणेदं निहतं दानवं बलम् ॥
अरण्येऽस्मिंस्ततस्त्वेतन्नैमिषारण्यसंज्ञितम् ।

ऐसा करके भगवान्ने उस समय गौरमुख मुनिसे कहा—'मैंने निमिषमात्रमें इस अरण्य (वन) के भीतर इस दानव-सेनाका संहार किया है; अतः यह वन नैमिषारण्यके नामसे प्रसिद्ध होगा ।

२. जो विद्वान् ब्राह्मण अकेला ही दस सहस्र जिज्ञासु व्यक्तियोंका अन्न-दानादिके द्वारा भरण-पोषण करता है, उसे कुलपति कहते हैं ।

३. जो कार्य अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे किया गया हो और जिसमें बहुतोंको ज्ञान, सदाचार आदिकी शिक्षा तथा अन्न-वस्त्रादि वस्तुएँ दी जाती हों, जो बहुतोंके लिये तृप्तिकारक एवं उपयोगी हो, उसे 'सत्र' कहते हैं ।

तमाश्रममनुप्राप्तं नैमिषारण्यवासिनाम् ।
चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र परिवव्रुस्तपस्विनः ॥ ३ ॥

उस समय नैमिषारण्यवासियोंके आश्रममें पधारे हुए उन उग्रश्रवाजीको, उनसे चित्र-विचित्र कथाएँ सुननेके लिये, सब तपस्वियोंने वहीं घेर लिया ॥ ३ ॥

अभिवाद्य मुनींस्तांस्तु सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
अपृच्छत् स तपोवृद्धिं सद्भिश्चैवाभिपूजितः ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने पहले हाथ जोड़कर उन सभी मुनियोंको अभिवादन किया और 'आपलोगोंकी तपस्या सुखपूर्वक बढ़ रही है न ?' इस प्रकार कुशल-प्रश्न किया । उन सत्पुरुषोंने भी उग्रश्रवाजीका भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया ॥ ४ ॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव तपस्विषु ।
निर्दिष्टमासनं भेजे विनयाल्लौमहर्षणिः ॥ ५ ॥

इसके अनन्तर जब वे सभी तपस्वी अपने-अपने आसनपर विराजमान हो गये, तब लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाजीने भी उनके बताये हुए आसनको विनयपूर्वक ग्रहण किया ॥ ५ ॥

सुखासीनं ततस्तं तु विश्रान्तमुपलक्ष्य च ।
अथापृच्छदृषिस्तत्र कश्चित् प्रस्तावयन् कथाः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् यह देखकर कि उग्रश्रवाजी थकावटसे रहित होकर आरामसे बैठे हुए हैं, किसी महर्षिने बातचीतका प्रसङ्ग उपस्थित करते हुए यह प्रश्न पूछा— ॥ ६ ॥

कुत आगम्यते सौते क्व चायं विहृतस्त्वया ।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत् पृच्छतो मम ॥ ७ ॥

कमलनयन सूतकुमार ! आपका शुभागमन कहाँसे हो रहा है ? अबतक आपने कहाँ आनन्दपूर्वक समय बिताया है ? मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये ॥ ७ ॥

एवं पृष्टोऽब्रवीत् सम्यग् यथावल्लौमहर्षणिः ।
वाक्यं वचनसम्पन्नस्तेषां च चरिताश्रयम् ॥ ८ ॥
तस्मिन् सदसि विस्तीर्णे मुनीनां भावितात्मनाम् ।

उग्रश्रवाजी एक कुशल वक्ता थे । इस प्रकार प्रश्न किये जानेपर वे शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंकी उस विशाल सभामें ऋषियों तथा राजाओंसे सम्बन्ध रखनेवाली, उत्तम एवं यथार्थ कथा कहने लगे ॥ ८½ ॥

सौतिरुवाच

जनमेजयस्य राजर्षेः सर्पसत्रे महात्मनः ॥ ९ ॥
समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक् पारिक्षितस्य च ।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः ॥ १० ॥
कथिताश्चापि विधिवद् या वैशम्पायनेन वै ।
श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिताः ॥ ११ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—महर्षियो ! चक्रवर्ती सम्राट् महात्मा राजर्षि परीक्षित्-नन्दन जनमेजयके सर्पयज्ञमें उन्हींके पास वैशम्पायनने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीके द्वारा निर्मित परम पुण्यमयी चित्र-विचित्र अर्थसे युक्त महाभारतकी जो विविध कथाएँ विधिपूर्वक कही हैं, उन्हें सुनकर मैं आ रहा हूँ ॥ ९–११ ॥

बहूनि सम्परिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च ।
समन्तपञ्चकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम् ॥ १२ ॥
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत् पुरा ।
कुरूणां पाण्डवानां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १३ ॥

मैं बहुत-से तीर्थों एवं धामोंकी यात्रा करता हुआ ब्राह्मणों-के द्वारा सेवित उस परम पुण्यमय समन्तपञ्चक क्षेत्र कुरुक्षेत्र देशमें गया, जहाँ पहले कौरव-पाण्डव एवं अन्य सब राजाओं-का युद्ध हुआ था ॥ १२–१३ ॥

दिदृक्षुरागतस्तस्मात् समीपं भवतामिह ।
आयुष्मन्तः सर्व एव ब्रह्मभूता हि मे मताः ।
अस्मिन् यज्ञे महाभागाः सूर्यपावकवर्चसः ॥ १४ ॥

वहींसे आपलोगोंके दर्शनकी इच्छा लेकर मैं यहाँ आपके पास आया हूँ । मेरी यह मान्यता है कि आप सभी दीर्घायु एवं ब्रह्मस्वरूप हैं । ब्राह्मणो ! इस यज्ञमें सम्मिलित आप सभी महात्मा बड़े भाग्यशाली तथा सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी हैं ॥ १४ ॥

कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्याहुताग्नयः ।
भवन्त आसने स्वस्था ब्रवीमि किमहं द्विजाः ॥ १५ ॥
पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्मार्थसंश्रिताः ।
इति वृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ॥ १६ ॥

इस समय आप सभी स्नान, संध्या-वन्दन, जप और अग्निहोत्र आदि करके शुद्ध हो अपने-अपने आसनपर स्वस्थचित्तसे विराजमान हैं । आज्ञा कीजिये, मैं आपलोगोंको क्या सुनाऊँ ? क्या मैं आपलोगोंको धर्म और अर्थके गूढ़ रहस्यसे युक्त, अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाली भिन्न-भिन्न पुराणोंकी कथा सुनाऊँ अथवा उदारचरित महानुभाव ऋषियों एवं सम्राटोंके पवित्र इतिहास ? ॥ १५–१६ ॥

ऋषय ऊचुः

द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १७ ॥
तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ १८ ॥
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ॥ १९ ॥
जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशम्पायन उक्तवान् ।
यथावत् स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया ॥ २० ॥

वेदैश्चतुर्भिः संयुक्तां व्यासस्याद्भुतकर्मणः।
संहितां श्रोतुमिच्छामः पुण्यां पापभयापहाम् ॥ २१ ॥

ऋषियोंने कहा—उग्रश्रवाजी ! परमर्षि श्रीकृष्ण-द्वैपायनने जिस प्राचीन इतिहासरूप पुराणका वर्णन किया है और देवताओं तथा ऋषियोंने अपने-अपने लोकमें श्रवण करके जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, जो आख्यानोंमें सर्वश्रेष्ठ है, जिसका एक-एक पद, वाक्य एवं पर्व विचित्र शब्दविन्यास और रमणीय अर्थसे परिपूर्ण है, जिसमें आत्मा-परमात्माके सूक्ष्म स्वरूपका निर्णय एवं उनके अनुभवके लिये अनुकूल युक्तियाँ भरी हुई हैं और जो सम्पूर्ण वेदोंके तात्पर्यानुकूल अर्थसे अलंकृत है, उस भारत-इतिहासकी परम पुण्यमयी, ग्रन्थके गुप्त भावोंको स्पष्ट करनेवाली, पदों-वाक्योंकी व्युत्पत्तिसे युक्त, सब शास्त्रोंके अभिप्रायके अनुकूल और उनसे समर्थित जो अद्भुतकर्मा व्यासकी संहिता है, उसे हम सुनना चाहते हैं। अवश्य ही वह चारों वेदोंके अर्थोंसे भरी हुई तथा पुण्यस्वरूपा है। पाप और भयको नाश करनेवाली है। भगवान् वेदव्यासकी आज्ञासे राजा जनमेजयके यज्ञमें प्रसिद्ध ऋषि वैशम्पायनने आनन्दमें भरकर भलीभाँति इसका निरूपण किया है ॥ १७–२१ ॥

सौतिरुवाच

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम्।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥ २२ ॥
असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत्परम्।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥ २३ ॥
मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम्।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥ २४ ॥
महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः।
प्रवक्ष्यामि मतं पुण्यं व्यासस्याद्भुतकर्मणः ॥ २५ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—जो सबका आदि कारण, अन्तर्यामी और नियन्ता है, यज्ञोंमें जिसका आवाहन और जिसके उद्देश्यसे हवन किया जाता है, जिसकी अनेक पुरुषों-द्वारा अनेक नामोंसे स्तुति की गयी है, जो ऋत (सत्यस्वरूप), एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव एवं एकमात्र अविनाशी और सर्वव्यापी परमात्मा), व्यक्ताव्यक्त (साकार-निराकार) स्वरूप एवं सनातन है, असत्-सत् एवं उभयरूपसे जो स्वयं विराजमान है; फिर भी जिसका वास्तविक स्वरूप सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण है, यह विश्व जिससे अभिन्न है, जो सम्पूर्ण परावर (स्थूल-सूक्ष्म) जगत्का स्रष्टा, पुराणपुरुष, सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर एवं वृद्धि-क्षय आदि विकारोंसे रहित है, जिसे पाप कभी छू नहीं सकता, जो सहज शुद्ध है, वह ब्रह्म ही मङ्गलकारी एवं मङ्गलमय विष्णु है। उन्हीं चराचरगुरु हृषीकेश (मन-इन्द्रियोंके प्रेरक) श्रीहरिको नमस्कार करके सर्वलोकपूजित अद्भुतकर्मा महात्मा महर्षि व्यासदेवके इस अन्तःकरण-शोधक मतका मैं वर्णन करूँगा ॥ २२–२५ ॥

आचख्युः कवयः केचित् सम्प्रत्याचक्षते परे।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि ॥ २६ ॥

पृथ्वीपर इस इतिहासका अनेकों कवियोंने वर्णन किया है और इस समय भी बहुत-से वर्णन करते हैं। इसी प्रकार अन्य कवि आगे भी इसका वर्णन करते रहेंगे ॥ २६ ॥

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम्।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद् द्विजातिभिः ॥ २७ ॥

इस महाभारतकी तीनों लोकोंमें एक महान् ज्ञानके रूपमें प्रतिष्ठा है। ब्राह्मणादि द्विजाति संक्षेप और विस्तार दोनों ही रूपोंमें अध्ययन और अध्यापनकी परम्पराके द्वारा इसे अपने हृदयमें धारण करते हैं ॥ २७ ॥

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम् ॥ २८ ॥

यह शुभ (ललित एवं मङ्गलमय) शब्दविन्याससे अलंकृत है तथा वैदिक-लौकिक या संस्कृत-प्राकृत संकेतोंसे सुशोभित है। अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा आदि नाना प्रकारके छन्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं; अतः यह ग्रन्थ विद्वानोंको बहुत ही प्रिय है ॥ २८ ॥

(पुण्ये हिमवतः पादे मध्ये गिरिगुहालये।
विशोध्य देहं धर्मात्मा दर्भसंस्तरमाश्रितः ॥
शुचिः सनियमो व्यासः शान्तात्मा तपसि स्थितः।
भारतस्येतिहासस्य धर्मेणान्वीक्ष्य तां गतिम् ॥
प्रविश्य योगं ज्ञानेन सोऽपश्यत् सर्वमन्ततः।)

हिमालयकी पवित्र तलहटीमें पर्वतीय गुफाके भीतर धर्मात्मा व्यासजी स्नानादिसे शरीर-शुद्धि करके पवित्र हो कुशका आसन बिछाकर बैठे थे। उस समय नियमपालन-पूर्वक शान्तचित्त हो वे तपस्यामें संलग्न थे। ध्यानयोगमें स्थित हो उन्होंने धर्मपूर्वक महाभारत-इतिहासके स्वरूपका विचार करके ज्ञानदृष्टिद्वारा आदिसे अन्ततक सब कुछ प्रत्यक्षकी भाँति देखा (और इस ग्रन्थका निर्माण किया)।

निष्प्रभेऽस्मिन् निरालोके सर्वतस्तमसावृते।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमव्ययम् ॥ २९ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें जब यहाँ वस्तुविशेष या नामरूप आदिका भान नहीं होता था, प्रकाशका कहीं नाम नहीं था, सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार छा रहा था, उस समय एक बहुत बड़ा अण्ड प्रकट हुआ, जो सम्पूर्ण प्रजाओंका अविनाशी बीज था ॥ २९ ॥

युगस्यादौ निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते।
यस्मिन् संश्रूयते सत्यं ज्योतिर्ब्रह्म सनातनम् ॥ ३० ॥

ब्रह्मकल्पके आदिमें उसी महान् एवं दिव्य अण्डको चार प्रकारके प्राणि-समुदायका कारण कहा जाता है। जिसमें सत्यस्वरूप ज्योतिर्मय सनातन ब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हुआ है, ऐसा श्रुति वर्णन करती है* ॥ ३० ॥

अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च सर्वत्र समतां गतम्।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत्तत् सदसदात्मकम् ॥ ३१ ॥

वह ब्रह्म अद्भुत, अचिन्त्य, सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त, अव्यक्त, सूक्ष्म, कारणस्वरूप एवं अनिर्वचनीय है और जो कुछ सत्-असत्‌रूपमें उपलब्ध होता है, सब वही है ॥ ३१ ॥

यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥ ३२ ॥
प्राचेतसस्तथा दक्षो दक्षपुत्राश्च सप्त वै।
ततः प्रजानां पतयः प्राभवन्नेकविंशतिः ॥ ३३ ॥

उस अण्डसे ही प्रथम देहधारी, प्रजापालक प्रभु, देवगुरु पितामह ब्रह्मा तथा रुद्र, मनु, प्रजापति, परमेष्ठी, प्रचेताओंके पुत्र, दक्ष तथा दक्षके सात पुत्र (क्रोध, तम, दम, विक्रीत, अङ्गिरा, कर्दम और अश्व) प्रकट हुए। तत्पश्चात् इक्कीस प्रजापति (मरीचि आदि सात ऋषि और चौदह मनु) † पैदा हुए ॥ ३२-३३ ॥

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा यं सर्वे ऋषयो विदुः।
विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥ ३४ ॥

जिन्हें मत्स्य-कूर्म आदि अवतारोंके रूपमें सभी ऋषि-मुनि जानते हैं, वे अप्रमेयात्मा विष्णुरूप पुरुष और उनकी विभूतिरूप विश्वेदेव, आदित्य, वसु एवं अश्विनीकुमार आदि भी क्रमशः प्रकट हुए हैं ॥ ३४ ॥

यक्षाः साध्याः पिशाचाश्च गुह्यकाः पितरस्तथा।
ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर यक्ष, साध्य, पिशाच, गुह्यक और पितर एवं तत्त्वज्ञानी सदाचारपरायण साधुशिरोमणि ब्रह्मर्षिगण प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

राजर्षयश्च बहवः सर्वे समुदिता गुणैः।
आपो द्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ॥ ३६ ॥

इसी प्रकार बहुत-से राजर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ है, जो सब-के-सब शौर्यादि सद्गुणोंसे सम्पन्न थे। क्रमशः उसी ब्रह्माण्डसे जल, द्युलोक, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष और दिशाएँ भी प्रकट हुई हैं ॥ ३६ ॥

संवत्सरर्तवो मासाः पक्षाहोरात्रयः क्रमात्।
यच्चान्यदपि तत् सर्वं सम्भूतं लोकसाक्षिकम् ॥ ३७ ॥

संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, दिन तथा रात्रिका प्राकट्य भी क्रमशः उसीसे हुआ है। इसके सिवा और भी जो कुछ लोकमें देखा या सुना जाता है वह सब उसी अण्डसे उत्पन्न हुआ है ॥ ३७ ॥

यदिदं दृश्यते किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम्।
पुनः संक्षिप्यते सर्वं जगत् प्राप्ते युगक्षये ॥ ३८ ॥

यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम जगत् दृष्टिगोचर होता है, वह सब प्रलयकाल आनेपर अपने कारणमें विलीन हो जाता है ॥ ३८ ॥

यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ ३९ ॥

जैसे ऋतुके आनेपर उसके फल-पुष्प आदि नाना प्रकारके चिह्न प्रकट होते हैं और ऋतु बीत जानेपर वे सब समाप्त हो जाते हैं उसी प्रकार कल्पका आरम्भ होनेपर पूर्ववत् वे-वे पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगते हैं और कल्पके अन्तमें उनका लय हो जाता है ॥ ३९ ॥

एवमेतदनाद्यन्तं भूतसंहारकारकम्।
अनादिनिधनं लोके चक्रं सम्परिवर्तते ॥ ४० ॥

इस प्रकार यह अनादि और अनन्त काल-चक्र लोकमें प्रवाहरूपसे नित्य घूमता रहता है। इसीमें प्राणियोंकी उत्पत्ति और संहार हुआ करते हैं। इसका कभी उद्भव और विनाश नहीं होता ॥ ४० ॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥ ४१ ॥

देवताओंकी सृष्टि संक्षेपसे तैंतीस हजार, तैंतीस सौ और तैंतीस लक्षित होती है ॥ ४१ ॥

दिवःपुत्रो बृहद्भानुश्चक्षुरात्मा विभावसुः।
सविता स ऋचीकोऽर्को भानुराशावहो रविः ॥ ४२ ॥
पुरा विवस्वतः सर्वे मह्यस्तेषां तथावरः।
देवभ्राट् तनयस्तस्य सुभ्राडिति ततः स्मृतः ॥ ४३ ॥

पूर्वकालमें दिवःपुत्र, बृहत्, भानु, चक्षु, आत्मा, विभावसु, सविता, ऋचीक, अर्क, भानु, आशावह तथा रवि— ये सब शब्द विवस्वान्‌के बोधक माने गये हैं, इन सबमें जो अन्तिम 'रवि' हैं वे 'मह्य' (मही—पृथ्वीमें गर्भ स्थापन करनेवाले एवं पूज्य) माने गये हैं। इनके तनय देवभ्राट् हैं और देवभ्राट्‌के तनय सुभ्राट् माने गये हैं ॥ ४२-४३ ॥

सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरेव च ॥ ४४ ॥

सुभ्राट्‌के तीन पुत्र हुए, वे सब-के-सब संतानवान् और बहुश्रुत (अनेक शास्त्रोंके) ज्ञाता हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—दशज्योति, शतज्योति तथा सहस्रज्योति ॥ ४४ ॥

---

* 'तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' (तैत्तिरीय उपनिषद्)। ब्रह्मने अण्ड एवं पिण्डकी रचना करके मानो स्वयं ही उसमें प्रवेश किया है।

† ऋषयः सप्त पूर्वे ये मनवश्च चतुर्दश।
एते प्रजानां पतय एभिः कल्पः समाप्यते ॥
(नीलकण्ठीमें ब्रह्माण्डपुराणका वचन)

दशपुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ॥ ४५ ॥

महात्मा दशज्योतिके दस हजार पुत्र हुए। उनमें भी दस गुने अर्थात् एक लाख पुत्र यहाँ शतज्योतिके हुए ॥ ४५ ॥

भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ॥ ४६ ॥
ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणां च सर्वशः ।
सम्भूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सुविस्तराः ॥ ४७ ॥

फिर उनसे भी दस गुने अर्थात् दस लाख पुत्र सहस्रज्योतिके हुए। उन्हींसे यह कुरुवंश, यदुवंश, भरतवंश, ययाति और इक्ष्वाकुके वंश तथा अन्य राजर्षियोंके सब वंश चले। प्राणियोंकी सृष्टिपरम्परा और बहुत-से वंश भी इन्हींसे प्रकट हो विस्तारको प्राप्त हुए हैं ॥ ४६-४७ ॥

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत् ।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मोऽर्थः काम एव च ॥ ४८ ॥
धर्मकामार्थयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च ।
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवानृषिः ॥ ४९ ॥

भगवान् वेदव्यासने, अपनी ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण प्राणियोंके निवासस्थान, धर्म, अर्थ और कामके भेदसे त्रिविध रहस्य, कर्मोपासनाज्ञानरूप वेद, विज्ञानसहित योग, धर्म, अर्थ एवं काम, इन धर्म, काम और अर्थरूप तीन पुरुषार्थोंके प्रतिपादन करनेवाले विविध शास्त्र, लोकव्यवहारकी सिद्धिके लिये आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्यवेद, गान्धर्ववेद आदि लौकिक शास्त्र सब उन्हीं दशज्योति आदिसे हुए हैं—इस तत्त्वको और उनके स्वरूपको भलीभाँति अनुभव किया ॥ ४८-४९ ॥

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च ।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ॥ ५० ॥

उन्होंने ही इस महाभारत ग्रन्थमें, व्याख्याके साथ उस सब इतिहासका तथा विविध प्रकारकी श्रुतियोंके रहस्य आदिका पूर्णरूपसे निरूपण किया है और इस पूर्णताको ही इस ग्रन्थका लक्षण बताया गया है ॥ ५० ॥

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥ ५१ ॥

महर्षिने इस महान् ज्ञानका संक्षेप और विस्तार दोनों ही प्रकारसे वर्णन किया है; क्योंकि संसारमें विद्वान् पुरुष संक्षेप और विस्तार दोनों ही रीतियोंको पसंद करते हैं ॥ ५१ ॥

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथा परे ।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५२ ॥

कोई-कोई इस ग्रन्थका आरम्भ 'नारायणं नमस्कृत्य' से मानते हैं और कोई-कोई आस्तीक-पर्वसे। दूसरे विद्वान् ब्राह्मण उपरिचर वसुकी कथासे इसका विधिपूर्वक पाठ प्रारम्भ करते हैं ॥ ५२ ॥

विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः ।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद् ग्रन्थान् धारयितुं परे ॥ ५३ ॥

विद्वान् पुरुष इस भारतसंहिताके ज्ञानको विविध प्रकारसे प्रकाशित करते हैं। कोई-कोई ग्रन्थकी व्याख्या करके समझानेमें कुशल होते हैं तो दूसरे विद्वान् अपनी तीक्ष्ण मेधाशक्तिके द्वारा इन ग्रन्थोंको धारण करते हैं ॥ ५३ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम् ।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥ ५४ ॥

सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासने अपनी तपस्या एवं ब्रह्मचर्यकी शक्तिसे सनातन वेदका विस्तार करके इस लोक-पावन पवित्र इतिहासका निर्माण किया है ॥ ५४ ॥

पराशरात्मजो विद्वान् ब्रह्मर्षिः संशितव्रतः ।
तदाख्यानवरिष्ठं स कृत्वा द्वैपायनः प्रभुः ॥ ५५ ॥
कथमध्यापयानीह शिष्यानित्यन्वचिन्तयत् ।
तस्य तच्चिन्तितं ज्ञात्वा ऋषेर्द्वैपायनस्य च ॥ ५६ ॥
तत्राजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकगुरुः स्वयम् ।
प्रीत्यर्थं तस्य चैवर्षेर्लोकानां हितकाम्यया ॥ ५७ ॥

प्रशस्त व्रतधारी, निग्रहानुग्रह-समर्थ, सर्वज्ञ पराशरनन्दन ब्रह्मर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन इस इतिहासशिरोमणि महाभारतकी रचना करके यह विचार करने लगे कि अब शिष्योंको इस ग्रन्थका अध्ययन कैसे कराऊँ ? जनतामें इसका प्रचार कैसे हो ? द्वैपायन ऋषिका यह विचार जानकर लोकगुरु भगवान् ब्रह्मा उन महात्माकी प्रसन्नता तथा लोककल्याणकी कामनासे स्वयं ही व्यासजीके आश्रमपर पधारे ॥ ५५–५७ ॥

तं दृष्ट्वा विस्मितो भूत्वा प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ।
आसनं कल्पयामास सर्वैर्मुनिगणैर्वृतः ॥ ५८ ॥

व्यासजी ब्रह्माजीको देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और खड़े रहे। फिर सावधान होकर सब ऋषि-मुनियोंके साथ उन्होंने ब्रह्माजीके लिये आसनकी व्यवस्था की ॥ ५८ ॥

हिरण्यगर्भमासीनं तस्मिंस्तु परमासने ।
परिवृत्यासनाभ्याशे वासवेयः स्थितोऽभवत् ॥ ५९ ॥

जब उस श्रेष्ठ आसनपर ब्रह्माजी विराज गये, तब व्यासजीने उनकी परिक्रमा की और ब्रह्माजीके आसनके समीप ही विनयपूर्वक खड़े हो गये ॥ ५९ ॥

अनुज्ञातोऽथ कृष्णस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
निषसादासनाभ्याशे प्रीयमाणः शुचिस्मितः ॥ ६० ॥

परमेष्ठी ब्रह्माजीकी आज्ञासे वे उनके आसनके पास ही बैठ गये। उस समय व्यासजीके हृदयमें आनन्दका समुद्र

उमड़ रहा था और मुखपर मन्द-मन्द पवित्र मुस्कान लहरा रही थी ॥ ६० ॥

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ॥ ६१ ॥

परम तेजस्वी व्यासजीने परमेष्ठी ब्रह्माजीसे निवेदन किया—'भगवन् ! मैंने यह सम्पूर्ण लोकोंसे अत्यन्त पूजित एक महाकाव्यकी रचना की है ॥ ६१ ॥

ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥ ६२ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने इस महाकाव्यमें सम्पूर्ण वेदोंका गुप्ततम रहस्य तथा अन्य सब शास्त्रोंका सार-सार संकलित करके स्थापित कर दिया है। केवल वेदोंका ही नहीं, उनके अङ्ग एवं उपनिषदोंका भी इसमें विस्तारसे निरूपण किया है ॥ ६२ ॥

इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥ ६३ ॥

इस ग्रन्थमें इतिहास और पुराणोंका मन्थन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्यकालकी इन तीनों संज्ञाओंका भी वर्णन हुआ है ॥ ६३ ॥

जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥ ६४ ॥

इस ग्रन्थमें बुढ़ापा, मृत्यु, भय, रोग और पदार्थोंके सत्यत्व और मिथ्यात्वका विशेषरूपसे निश्चय किया गया है तथा अधिकारी-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके धर्मों एवं आश्रमोंका भी लक्षण बताया गया है ॥ ६४ ॥

चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥ ६५ ॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंके कर्तव्यका विधान, पुराणोंका सम्पूर्ण मूलतत्त्व भी प्रकट हुआ है। तपस्या एवं ब्रह्मचर्यके स्वरूप, अनुष्ठान एवं फलोंका विवरण, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग—इन सबके परिमाण और प्रमाण, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और इनके आध्यात्मिक अभिप्राय और अध्यात्मशास्त्रका इस ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया गया है ॥ ६५-६६ ॥

न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥ ६७ ॥

न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान तथा पाशुपत (अन्तर्यामीकी महिमा) का भी इसमें विशद निरूपण है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि देवता, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्मका कारण क्या है ! ॥ ६७ ॥

तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥ ६८ ॥

लोकपावन तीर्थों, देशों, नदियों, पर्वतों, वनों और समुद्रका भी इसमें वर्णन किया गया है ॥ ६८ ॥

पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥ ६९ ॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ।
परं न लेखकः कश्चिदेतस्य भुवि विद्यते ॥ ७० ॥

दिव्य नगर एवं दुर्गोंके निर्माणका कौशल तथा युद्धकी निपुणताका भी वर्णन है। भिन्न-भिन्न भाषाओं और जातियोंकी जो विशेषताएँ हैं, लोकव्यवहारकी सिद्धिके लिये जो कुछ आवश्यक है तथा और भी जितने लोकोपयोगी पदार्थ हो सकते हैं, उन सबका इसमें प्रतिपादन किया गया है; परंतु मुझे इस बातकी चिन्ता है कि पृथ्वीमें इस ग्रन्थ को लिख सके ऐसा कोई नहीं है' ॥ ६९–७० ॥

ब्रह्मोवाच

तपोविशिष्टादपि वै विशिष्टान्मुनिसंचयात् ।
मन्ये श्रेष्ठतरं त्वां वै रहस्यज्ञानवेदनात् ॥ ७१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—व्यासजी ! संसारमें विशिष्ट तपस्या और विशिष्ट कुलके कारण जितने भी श्रेष्ठ ऋषि-मुनि हैं, उनमें मैं तुम्हें सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि तुम जगत्, जीव और ईश्वर-तत्त्वका जो ज्ञान है, उसके ज्ञाता हो ॥ ७१ ॥

जन्मप्रभृति सत्यां ते वेद्मि गां ब्रह्मवादिनीम् ।
त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात् काव्यं भविष्यति॥७२॥

मैं जानता हूँ कि आजीवन तुम्हारी ब्रह्मवादिनी वाणी सत्य भाषण करती रही है और तुमने अपनी रचनाको काव्य कहा है, इसलिये अब यह काव्यके नामसे ही प्रसिद्ध होगी ॥ ७२ ॥

अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
विशेषणे गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥ ७३ ॥
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने ।

संसारके बड़े-से-बड़े कवि भी इस काव्यसे बढ़कर कोई रचना नहीं कर सकेंगे। ठीक वैसे ही, जैसे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रम अपनी विशेषताओंद्वारा गृहस्थाश्रमसे आगे नहीं बढ़ सकते। मुनिवर ! अपने काव्यको लिखवानेके लिये तुम गणेशजीका स्मरण करो ॥ ७३½ ॥

सौतिरुवाच

एवमाभाष्य तं ब्रह्मा जगाम स्वं निवेशनम् ॥ ७४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महात्माओ ! ब्रह्माजी व्यासजीसे इस प्रकार सम्भाषण करके अपने धाम ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ७४ ॥

ततः सस्मार हेरम्बं व्यासः सत्यवतीसुतः ।
स्मृतमात्रो गणेशानो भक्तचिन्तितपूरकः ॥ ७५ ॥
तत्राजगाम विघ्नेशो वेदव्यासो यतः स्थितः ।
पूजितश्चोपविष्टश्च व्यासेनोक्तस्तदाऽनघ ॥ ७६ ॥

निष्पाप शौनक ! तदनन्तर सत्यवतीनन्दन व्यासजीने भगवान् गणेशका स्मरण किया और स्मरण करते ही भक्तवाञ्छाकल्पतरु विघ्नेश्वर श्रीगणेशजी महाराज वहाँ आये, जहाँ व्यासजी विद्यमान थे। व्यासजीने गणेशजीका बड़े आदर और प्रेमसे स्वागत-सत्कार किया और वे जब बैठ गये, तब उनसे कहा—॥ ७५-७६ ॥

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।
मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च ॥ ७७ ॥

'गणनायक ! आप मेरेद्वारा निर्मित इस महाभारत-ग्रन्थके लेखक बन जाइये; मैं बोलकर लिखाता जाऊँगा। मैंने मन-ही-मन इसकी रचना कर ली है' ॥ ७७ ॥

श्रुत्वैतत् प्राह विघ्नेशो यदि मे लेखनी क्षणम् ।
लिखतो नावतिष्ठेत तदा स्यां लेखको ह्यहम् ॥ ७८ ॥

यह सुनकर विघ्नराज श्रीगणेशजीने कहा—'व्यासजी ! यदि लिखते समय क्षणभरके लिये भी मेरी लेखनी न रुके तो मैं इस ग्रन्थका लेखक बन सकता हूँ' ॥ ७८ ॥

व्यासोऽप्युवाच तं देवमबुद्ध्वा मा लिख क्वचित् ।
ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखकः ॥ ७९ ॥

व्यासजीने भी गणेशजीसे कहा—'बिना समझे किसी भी प्रसङ्गमें एक अक्षर भी न लिखियेगा।' गणेशजीने 'ॐ' कहकर स्वीकार किया और लेखक बन गये ॥ ७९ ॥

ग्रन्थग्रन्थिं तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात् ।
यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनस्त्विदम् ॥ ८० ॥

तब व्यासजी भी कुतूहलवश ग्रन्थमें गाँठ लगाने लगे। वे ऐसे-ऐसे श्लोक बोल देते जिनका अर्थ बाहरसे दूसरा मालूम पड़ता और भीतर कुछ और होता। इसके सम्बन्धमें प्रतिज्ञा-पूर्वक श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिने यह बात कही है—॥ ८० ॥

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ॥ ८१ ॥

इस ग्रन्थमें ८८०० आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं, जिनका अर्थ मैं समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं और संजय समझते हैं या नहीं, इसमें संदेह है ॥ ८१ ॥

तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने ।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च ॥ ८२ ॥

मुनिवर ! वे कूटश्लोक इतने गुथे हुए और गम्भीरार्थक हैं कि आज भी उनका रहस्य-भेदन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनका अर्थ भी गूढ़ है और शब्द भी योगवृत्ति और रूढवृत्ति आदि रचनावैचित्र्यके कारण गम्भीर हैं ॥ ८२ ॥

सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन् ।
तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनपि ॥ ८३ ॥

स्वयं सर्वज्ञ गणेशजी भी उन श्लोकोंका विचार करते समय क्षणभरके लिये ठहर जाते थे। इतने समयमें व्यासजी भी और बहुतसे श्लोकोंकी रचना कर लेते थे ॥ ८३ ॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥ ८४ ॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥ ८५ ॥

संसारी जीव अज्ञानान्धकारसे अंधे होकर छटपटा रहे हैं। यह महाभारत ज्ञानाञ्जनकी शलाका लगाकर उनकी आँख खोल देता है। वह शलाका क्या है ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंका संक्षेप और विस्तारसे वर्णन। यह न केवल अज्ञानकी रतौंधी दूर करता, प्रत्युत सूर्यके समान उदित होकर मनुष्योंकी आँखके सामनेका सम्पूर्ण अन्धकार ही नष्ट कर देता है ॥ ८४-८५ ॥

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः ।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत् प्रकाशनम् ॥ ८६ ॥

यह भारत-पुराण पूर्ण चन्द्रमाके समान है, जिससे श्रुतियोंकी चाँदनी छिटकती है और मनुष्योंकी बुद्धिरूपी कुमुदिनी सदाके लिये खिल जाती है ॥ ८६ ॥

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सम्प्रकाशितम् ॥ ८७ ॥

यह भारत-इतिहास एक जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोहका अन्धकार मिटाकर लोगोंके अन्तःकरणरूप सम्पूर्ण अन्तरङ्ग गृहको भलीभाँति ज्ञानालोकसे प्रकाशित कर देता है ॥ ८७ ॥

संग्रहाध्यायबीजो वै पौलोमास्तीकमूलवान् ।
सम्भवस्कन्धविस्तारः सभारण्यविटङ्कवान् ॥ ८८ ॥

महाभारत वृक्षका बीज है संग्रहाध्याय और जड़ है पौलोम एवं आस्तीक-पर्व। सम्भवपर्व इसके स्कन्धका विस्तार है और सभा तथा अरण्यपर्व पक्षियोंके रहनेयोग्य कोटर हैं ॥ ८८ ॥

अरणीपर्वरूपाढ्यो विराटोद्योगसारवान् ।
भीष्मपर्वमहाशाखो द्रोणपर्वपलाशवान् ॥ ८९ ॥

अरणीपर्व इस वृक्षका ग्रन्थिस्थल है। विराट और उद्योगपर्व इसका सारभाग है। भीष्मपर्व इसकी बड़ी शाखा है और द्रोणपर्व इसके पत्ते हैं ॥ ८९ ॥

कर्णपर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्वसुगन्धिभिः ।
स्त्रीपर्वैषीकविश्रामः शान्तिपर्वमहाफलः ॥ ९० ॥

कर्णपर्व इसके श्वेत पुष्प हैं और शल्यपर्व सुगन्ध। स्त्रीपर्व और ऐषीकपर्व इसकी छाया है तथा शान्तिपर्व इसका महान् फल है ॥ ९० ॥

अश्वमेधामृतरसस्त्वाश्रमस्थानसंश्रयः ।
मौसलः श्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवितः ॥ ९१ ॥

अश्वमेधपर्व इसका अमृतमय रस है और आश्रमवासिकपर्व आश्रय लेकर बैठनेका स्थान। मौसलपर्व श्रुतिरूपा ऊँची-ऊँची शाखाओंका अन्तिम भाग है तथा सदाचार एवं विद्यासे सम्पन्न द्विजाति इसका सेवन करते हैं ॥ ९१ ॥

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥ ९२ ॥

संसारमें जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे उनके काव्यके लिये यह मूल आश्रय होगा। जैसे मेघ सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जीवनदाता है, वैसे ही यह अक्षय भारत-वृक्ष है ॥ ९२ ॥

सौतिरुवाच

तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शश्वत्पुष्पफलोदयम् ।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥ ९३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह भारत एक वृक्ष है। इसके स्वादु, पवित्र, सरस एवं अविनाशी पुष्प तथा फल हैं—धर्म और मोक्ष। उन्हें देवता भी इस वृक्षसे अलग नहीं कर सकते; अब मैं उन्हींका वर्णन करूँगा ॥ ९३ ॥

मातुर्नियोगाद् धर्मात्मा गाङ्गेयस्य च धीमतः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ॥ ९४ ॥
त्रीनग्नीनिव कौरव्यान् जनयामास वीर्यवान् ।
उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ॥ ९५ ॥

पहलेकी बात है—शक्तिशाली, धर्मात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यास) ने अपनी माता सत्यवती और परमज्ञानी गङ्गापुत्र भीष्म पितामहकी आज्ञासे विचित्रवीर्यकी पत्नी अम्बिका आदिके गर्भसे तीन अग्नियोंके समान तेजस्वी तीन कुरुवंशी पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम हैं धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ॥ ९४-९५ ॥

जगाम तपसे धीमान् पुनरेवाश्रमं प्रति ।
तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ॥ ९६ ॥
अब्रवीद् भारतं लोके मानुषेऽस्मिन् महानृषिः ।
जनमेजयेन पृष्टः सन् ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ॥ ९७ ॥
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ।
ससदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ॥ ९८ ॥
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ।

इन तीन पुत्रोंको जन्म देकर परम ज्ञानी व्यासजी फिर अपने आश्रमपर चले गये। जब वे तीनों पुत्र वृद्ध हो परम गतिको प्राप्त हुए, तब महर्षि व्यासजीने इस मनुष्यलोकमें महाभारतका प्रवचन किया। जनमेजय और हजारों ब्राह्मणोंके प्रश्न करनेपर व्यासजीने पास ही बैठे अपने शिष्य वैशम्पायनको आज्ञा दी कि तुम इन लोगोंको महाभारत सुनाओ। वैशम्पायन याज्ञिक सदस्योंके साथ ही बैठे थे, अतः जब यज्ञकर्ममें बीच-बीचमें अवकाश मिलता, तब यजमान आदिके बार-बार आग्रह करनेपर वे उन्हें महाभारत सुनाया करते थे ॥ ९६–९८½ ॥

विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धार्या धर्मशीलताम् ॥ ९९ ॥
क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग् द्वैपायनोऽब्रवीत् ।
वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम् ॥ १०० ॥
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान् भगवानृषिः ।
इदं शतसहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम् ॥ १०१ ॥
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम् ।

इस महाभारत ग्रन्थमें व्यासजीने कुरुवंशके विस्तार, गान्धारीकी धर्मशीलता, विदुरकी उत्तम प्रज्ञा और कुन्तीदेवीके धैर्यका भलीभाँति वर्णन किया है। महर्षि भगवान् व्यासने इसमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके माहात्म्य, पाण्डवोंकी सत्यपरायणता तथा धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन आदिके दुर्व्यवहारोंका स्पष्ट उल्लेख किया है। पुण्यकर्मा मानवोंके उपाख्यानोंसहित एक लाख श्लोकोंके इस उत्तम ग्रन्थको आद्य भारत (महाभारत) जानना चाहिये ॥ ९९–१०१½ ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ॥ १०२ ॥
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ।
ततोऽप्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ॥ १०३ ॥
अनुक्रमणिकाध्यायं वृत्तान्तं सर्वपर्वणाम् ।
इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥ १०४ ॥

तदनन्तर व्यासजीने उपाख्यानभागको छोड़कर चौबीस हजार श्लोकोंकी भारतसंहिता बनायी; जिसे विद्वान् पुरुष भारत कहते हैं। इसके पश्चात् महर्षिने पुनः पर्वसहित ग्रन्थमें वर्णित वृत्तान्तोंकी अनुक्रमणिका (सूची) का एक संक्षिप्त अध्याय बनाया, जिसमें केवल डेढ़ सौ श्लोक हैं। व्यासजीने सबसे पहले अपने पुत्र शुकदेवजीको इस महाभारत-ग्रन्थका अध्ययन कराया ॥ १०२–१०४ ॥

ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ विभुः ।
षष्टिं शतसहस्राणि चकारान्यां स संहिताम् ॥ १०५ ॥

तदनन्तर उन्होंने दूसरे-दूसरे सुयोग्य (अधिकारी एवं अनुगत) शिष्योंको इसका उपदेश दिया। तत्पश्चात् भगवान् व्यासने साठ लाख श्लोकोंकी एक दूसरी संहिता बनायी ॥ १०५ ॥

त्रिंशच्छतसहस्रं च देवलोके प्रतिष्ठितम् ।
पित्र्ये पञ्चदश प्रोक्तं गन्धर्वेषु चतुर्दश ॥ १०६ ॥

उसके तीस लाख श्लोक देवलोकमें समादृत हो रहे हैं, पितृलोकमें पंद्रह लाख तथा गन्धर्वलोकोंमें चौदह लाख श्लोकोंका पाठ होता है ॥ १०६ ॥

एकं शतसहस्रं तु मानुषेषु प्रतिष्ठितम् ।
नारदोऽश्रावयद् देवानसितो देवलः पितॄन् ॥१०७॥

इस मनुष्यलोकमें एक लाख श्लोकोंका आद्यभारत (महाभारत) प्रतिष्ठित है । देवर्षि नारदने देवताओंको और असित-देवलने पितरोंको इसका श्रवण कराया है ॥ १०७ ॥

गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ।
अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान् ॥१०८॥
शिष्यो व्यासस्य धर्मात्मा सर्ववेदविदां वरः ।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत ॥१०९॥

शुकदेवजीने गन्धर्व, यक्ष तथा राक्षसोंको महाभारतकी कथा सुनायी है; परंतु इस मनुष्यलोकमें सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंके शिरोमणि व्यास-शिष्य धर्मात्मा वैशम्पायनजीने इसका प्रवचन किया है । मुनिवरो ! वही एक लाख श्लोकोंका महाभारत आपलोग मुझसे श्रवण कीजिये ॥ १०८-१०९ ॥

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥११०॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्षके समान है । कर्ण स्कन्ध, शकुनि शाखा और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है । अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल हैं* ॥ ११० ॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥१११॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं । अर्जुन स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीनन्दन इसके समृद्ध फल-पुष्प हैं । श्रीकृष्ण, वेद और ब्राह्मण ही इस वृक्षके मूल (जड़) हैं* ॥

पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् बुद्ध्या विक्रमणेन च ।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसन्मुनिभिः सह ॥११२॥

महाराज पाण्डु अपनी बुद्धि और पराक्रमसे अनेक देशोंपर विजय पाकर (हिंसक) मृगोंको मारनेके स्वभाववाले होनेके कारण ऋषि-मुनियोंके साथ वनमें ही निवास करते थे ॥

मृगव्यवायनिधनात् कृच्छ्रां प्राप स आपदम् ।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ॥११३॥

एक दिन उन्होंने मृगरूपधारी महर्षिको मैथुनकालमें मार डाला । इससे वे बड़े भारी संकटमें पड़ गये (ऋषिने यह शाप दे दिया कि स्त्री-सहवास करनेपर तुम्हारी मृत्यु हो जायगी), यह संकट होते हुए भी युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंके जन्मसे लेकर जातकर्म आदि सब संस्कार वनमें ही हुए और वहीं उन्हें शील एवं सदाचारकी रक्षाका उपदेश हुआ ॥

मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति ।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ॥११४॥

[पूर्वोक्त शाप होनेपर भी संतान होनेका कारण यह था कि] कुल-धर्मकी रक्षाके लिये दुर्वासाद्वारा प्राप्त हुई विद्याका आश्रय लेनेके कारण पाण्डवोंकी दोनों माताओं कुन्ती और माद्रीके समीप क्रमशः धर्म, वायु, इन्द्र तथा दोनों अश्विनीकुमार—इन देवताओंका आगमन सम्भव हो

---

* यह और इसके बादका श्लोक महाभारतके तात्पर्यके सूचक हैं । दुर्योधन क्रोध है । यहाँ क्रोध शब्दसे द्वेष-असूया आदि दुर्गुण भी समझ लेने चाहिये । कर्ण, शकुनि, दुःशासन आदि उससे एकताको प्राप्त हैं, उसीके स्वरूप हैं । इन सबका मूल है राजा धृतराष्ट्र । यह अज्ञानी अपने मनको वशमें करनेमें असमर्थ है । इसीने पुत्रोंकी आसक्तिसे अंधे होकर दुर्योधनको अवसर दिया, जिससे उसकी जड़ मजबूत हो गयी । यदि यह दुर्योधनको वशमें कर लेता अथवा बचपनमें ही विदुर आदिकी बात मानकर इसका त्याग कर देता तो विष-दान, लाक्षागृहदाह, द्रौपदी-केशाकर्षण आदि दुष्कर्मोंका अवसर ही नहीं आता और कुलक्षय न होता । इस प्रसङ्गसे यह भाव सूचित किया गया है कि यह जो मन्यु (दुर्योधन) रूप वृक्ष है, इसका दृढ़ अज्ञान ही मूल है, क्रोध-लोभादि स्कन्ध हैं, हिंसा-चोरी आदि शाखाएँ हैं और बन्धन-नरकादि इसके फल-पुष्प हैं । पुरुषार्थकामी पुरुषको मूलाज्ञानका उच्छेद करके पहले ही इस (क्रोधरूप) वृक्षको नष्ट कर देना चाहिये ।

* युधिष्ठिर धर्म हैं । इसका अभिप्राय यह है कि वे शम, दम, सत्य, अहिंसा आदि रूप धर्मकी मूर्ति हैं । अर्जुन-भीम आदिको धर्मकी शाखा बतलानेका अभिप्राय यह है कि वे सब युधिष्ठिरके ही स्वरूप हैं, उनसे अभिन्न हैं । शुद्धसत्त्वमय ज्ञानविग्रह श्रीकृष्णरूप परमात्मा ही उसके मूल हैं । उनके दृढ़ ज्ञानसे ही धर्मकी नींव मजबूत होती है । श्रुति भगवतीने कहा है कि 'हे गार्गि ! इस अविनाशी परमात्माको जाने बिना इस लोकमें जो हजारों वर्षपर्यन्त यज्ञ करता है, दान देता है, तपस्या करता है, उन सबका फल नाशवान् ही होता है ।' ज्ञानका मूल है ब्रह्म अर्थात् वेद । वेदसे ही परमधर्म योग और अपरधर्म यज्ञ-यागादिका ज्ञान होता है । यह निश्चित सिद्धान्त है कि धर्मका मूल केवल शब्दप्रमाण ही है । वेदके भी मूल ब्राह्मण हैं; क्योंकि वे ही वेद-सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं । इस प्रकार उपदेशकके रूपमें ब्राह्मण, प्रमाणके रूपमें वेद और अनुग्राहकके रूपमें परमात्मा धर्मका मूल है । इससे यह बात सिद्ध हुई है कि वेद और ब्राह्मणका भक्त अधिकारी पुरुष भगवदाराधनके बलसे योगादिरूप धर्ममय वृक्षका सम्पादन करे । उस वृक्षके अहिंसा-सत्य आदि तने हैं । धारण-ध्यान आदि शाखाएँ हैं और तत्त्व-साक्षात्कार ही उसका फल है । इस धर्ममय वृक्षके समाश्रयसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं ।

सका (इन्हींकी कृपासे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी उत्पत्ति हुई) ॥' ११४ ॥ ॥

(ततो धर्मोपनिषदः श्रुत्वा भर्तुः प्रिया पृथा ।
धर्मानिलेन्द्रान् स्तुतिभिर्जुहाव सुतवाञ्छया ।
तद्दत्तोपनिषन्माद्री चाश्विनावाजुहाव च ।)
तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ॥११५॥

पतिप्रिया कुन्तीने पतिके मुखसे धर्म-रहस्यकी बातें सुनकर पुत्र पानेकी इच्छासे मन्त्र-जपपूर्वक स्तुतिद्वारा धर्म, वायु और इन्द्र देवताका आवाहन किया। कुन्तीके उपदेश देनेपर माद्री भी उस मन्त्र-विद्याको जान गयी और उसने संतानके लिये दोनों अश्विनीकुमारोंका आवाहन किया। इस प्रकार इन पाँचों देवताओंसे पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई। पाँचों पाण्डव अपनी दोनों माताओंद्वारा ही पाले-पोसे गये। वे वनोंमें और महात्माओंके परम पुण्य आश्रमोंमें ही तपस्वी लोगोंके साथ दिनोंदिन बढ़ने लगे ॥ ११५ ॥

ऋषिभिर्यत्तदाऽऽनीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम् ।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ॥११६॥

(पाण्डुकी मृत्यु होनेके पश्चात्) बड़े-बड़े ऋषि-मुनि स्वयं ही पाण्डवोंको लेकर धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके पास आये। उस समय पाण्डव नन्हे-नन्हे शिशुके रूपमें बड़े ही सुन्दर लगते थे। वे सिरपर जटा धारण किये ब्रह्मचारीके वेशमें थे ॥ ११६ ॥

पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः ।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ॥११७॥

ऋषियोंने वहाँ जाकर धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंसे कहा—'ये तुम्हारे पुत्र, भाई, शिष्य और सुहृद् हैं। ये सभी महाराज पाण्डुके ही पुत्र हैं।' इतना कहकर वे मुनि वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ११७ ॥

तांस्तैर्निवेदितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् कौरवास्तदा ।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ॥११८॥

ऋषियोंद्वारा लाये हुए उन पाण्डवोंको देखकर सभी कौरव और नगरनिवासी, शिष्ट तथा वर्णाश्रमी हर्षसे भरकर अत्यन्त कोलाहल करने लगे ॥ ११८ ॥

आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे ।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्येति चापरे ॥११९॥

कोई कहते, 'ये पाण्डुके पुत्र नहीं हैं।' दूसरे कहते, 'अजी ! ये उन्हींके हैं।' कुछ लोग कहते, 'जब पाण्डुको मरे इतने दिन हो गये, तब ये उनके पुत्र कैसे हो सकते हैं ?'॥

स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम संततिम् ।
उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥१२०॥

फिर सब लोग कहने लगे, 'हम तो सर्वथा इनका स्वागत करते हैं। हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हम महाराज पाण्डुकी संतानको अपनी आँखोंसे देख रहे हैं।' फिर तो सब ओरसे स्वागत बोलनेवालोंकी ही बातें सुनायी देने लगीं ॥ १२० ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा निनादयन् ।
अन्तर्हितानां भूतानां निःस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥१२१॥

दर्शकोंका वह तुमुल शब्द बंद होनेपर सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करती हुई अदृश्य भूतों—देवताओंकी यह सम्मिलित आवाज (आकाशवाणी) गूँज उठी—'ये पाण्डव ही हैं'॥

पुष्पवृष्टिः शुभा गन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः ।
आसन् प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥१२२॥

जिस समय पाण्डवोंने नगरमें प्रवेश किया, उसी समय फूलोंकी वर्षा होने लगी, सब ओर सुगन्ध छा गयी तथा शङ्ख और दुन्दुभियोंके माङ्गलिक शब्द सुनायी देने लगे। यह एक अद्भुत चमत्कारकी-सी बात हुई ॥ १२२ ॥

तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसम्भवः ।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवःस्पृक्कीर्तिवर्धनः ॥१२३॥

सभी नागरिक पाण्डवोंके प्रेमसे आनन्दमें भरकर ऊँचे स्वरसे अभिनन्दन-ध्वनि करने लगे। उनका वह महान् शब्द स्वर्गलोकतक गूँज उठा जो पाण्डवोंकी कीर्ति बढ़ानेवाला था ॥ १२३ ॥

तेऽधीत्य निखिलान् वेदाञ्छास्त्राणि विविधानि च ।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयाः ॥१२४॥

वे सम्पूर्ण वेद एवं विविध शास्त्रोंका अध्ययन करके वहीं निवास करने लगे। सभी उनका आदर करते थे और उन्हें किसीसे भय नहीं था ॥ १२४ ॥

युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन् ।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ॥१२५॥
गुरुशुश्रूषया क्षान्त्या यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ॥१२६॥

राष्ट्रकी सम्पूर्ण प्रजा युधिष्ठिरके शौचाचार, भीमसेनकी धृति, अर्जुनके विक्रम तथा नकुल-सहदेवकी गुरु-शुश्रूषा, क्षमाशीलता और विनयसे बहुत ही प्रसन्न होती थी। सब लोग पाण्डवोंके शौर्यगुणसे संतोषका अनुभव करते थे* ॥ १२५-१२६ ॥

समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्तृस्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥१२७॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् राजाओंके समुदायमें अर्जुनने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके स्वयं ही पति

* शास्त्रोक्त आचारका परित्याग न करना, सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्ग करना और सदाचारमें दृढ़तासे स्थित रहना—इसको 'शौच'

चुननेवाली द्रुपदकन्या कृष्णाको प्राप्त किया ॥ १२७ ॥

ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन् पूज्यः सर्वधनुष्मताम्।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ॥१२८॥

तभीसे वे इस लोकमें सम्पूर्ण धनुर्धारियोंके पूजनीय (आदरणीय) हो गये; और समराङ्गणमें प्रचण्ड मार्तण्डकी भाँति प्रतापी अर्जुनकी ओर किसीके लिये आँख उठाकर देखना भी कठिन हो गया ॥ १२८ ॥

स सर्वान् पार्थिवाञ्जित्वा सर्वांश्च महतो गणान्।
आजहारार्जुनो राज्ञो राजसूयं महाक्रतुम् ॥१२९॥

उन्होंने पृथक्-पृथक् तथा महान् संघ बनाकर आये हुए सब राजाओंको जीतकर महाराज युधिष्ठिरके राजसूय नामक महायज्ञको सम्पन्न कराया ॥ १२९ ॥

अन्नवान् दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः।
युधिष्ठिरेण सम्प्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ॥१३०॥
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च।
घातयित्वा जरासन्धं चैद्यं च बलगर्वितम् ॥१३१॥

भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर नीति और भीमसेन तथा अर्जुनकी शक्तिसे बलके घमण्डमें चूर रहनेवाले जरासन्ध और चेदिराज शिशुपालको मरवाकर धर्मराज युधिष्ठिरने महायज्ञ राजसूयका सम्पादन किया। वह यज्ञ सभी उत्तम* गुणोंसे सम्पन्न था। उसमें प्रचुर अन्न और पर्याप्त दक्षिणाका वितरण किया गया था ॥ १३०-१३१ ॥

दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः।
मणिकाञ्चनरत्नानि गोहस्त्यश्वधनानि च ॥१३२॥
विचित्राणि च वासांसि प्रावारावरणानि च।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ॥१३३॥

उस समय इधर-उधर विभिन्न देशों तथा नृपतियोंके यहाँसे मणि, सुवर्ण, रत्न, गाय, हाथी, घोड़े, धन-सम्पत्ति, विचित्र वस्त्र, तम्बू, कनात, परदे, उत्तम कम्बल, श्रेष्ठ मृगचर्म तथा रङ्कुनामक मृगके बालोंसे बने हुए कोमल बिछौने आदि जो उपहारकी बहुमूल्य वस्तुएँ आतीं, वे दुर्योधनके हाथमें दी जातीं—उसीकी देख-रेखमें रखी जाती थीं ॥ १३२-१३३ ॥

समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम्।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ॥१३४॥

उस समय पाण्डवोंकी वह बढ़ी-चढ़ी समृद्धि-सम्पत्ति देखकर दुर्योधनके मनमें ईर्ष्याजनित महान् रोष एवं दुःखका उदय हुआ ॥ १३४ ॥

विमानप्रतिमां तत्र मयेन सुकृतां सभाम्।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ॥१३५॥

उस अवसरपर मयदानवने पाण्डवोंको एक सभाभवन भेंटमें दिया था, जिसकी रूप-रेखा विमानके समान थी। वह भवन उसके शिल्पकौशलका एक अच्छा नमूना था। उसे देखकर दुर्योधनको और अधिक संताप हुआ ॥ १३५ ॥

तत्रावहसितश्चासीत् प्रस्कन्दन्निव सम्भ्रमात्।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानभिजातवत् ॥१३६॥

उसी सभाभवनमें जब सम्भ्रम (जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम) होनेके कारण दुर्योधनके पाँव फिसलने-से लगे, तब भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही भीमसेनने उसे गँवार-सा सिद्ध करते हुए उसकी हँसी उड़ायी थी ॥ १३६ ॥

स भोगान् विविधान् भुञ्जन् रत्नानि विविधानि च।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ॥१३७॥

दुर्योधन नाना प्रकारके भोग तथा भाँति-भाँतिके रत्नोंका उपयोग करते रहनेपर भी दिनोंदिन दुबला रहने लगा। उसका रंग फीका पड़ गया। इसकी सूचना कर्मचारियोंने महाराज धृतराष्ट्रको दी ॥ १३७ ॥

अन्वजानात् ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः समभवन्महान् ॥१३८॥

धृतराष्ट्र अपने उस पुत्रके प्रति अधिक आसक्त थे, अतः उसकी इच्छा जानकर उन्होंने उसे पाण्डवोंके साथ जूआ खेलनेकी आज्ञा दे दी। जब भगवान् श्रीकृष्णने यह समाचार सुना, तब उन्हें धृतराष्ट्रपर बड़ा क्रोध आया ॥ १३८ ॥

नातिप्रीतमनाश्चासीद् विवादांश्चान्वमोदत।
द्यूतादीननयान् घोरान् विविधांश्चाप्युपैक्षत ॥१३९॥

यद्यपि उनके मनमें कलहकी सम्भावनाके कारण कुछ विशेष प्रसन्नता नहीं हुई, तथापि उन्होंने (मौन रहकर) इन

कहते हैं। अपनी इच्छाके अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें विकार न होना ही 'धृति' है। सबसे बढ़कर सामर्थ्यका होना ही 'विक्रम' है। सद्वृत्तकी अनुवृत्ति ही 'शुश्रूषा' है। (सदाचारपरायण गुरुजनोंका अनुसरण गुरुशुश्रूषा है।) किसीके द्वारा अपराध बन जानेपर भी उसके प्रति अपने चित्तमें क्रोध आदि विकारोंका न होना ही 'क्षमाशीलता' है। जितेन्द्रियता अथवा अनुद्धत रहना ही 'विनय' है। बलवान् शत्रुको भी पराजित कर देनेका अध्यवसाय 'शौर्य' है। इनके संग्राहक श्लोक इस प्रकार हैं—

आचारापरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।
आचारे च व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ॥
इष्टानिष्टार्थसम्पत्तौ चित्तस्याविकृतिर्धृतिः।
सर्वातिशयसामर्थ्यं विक्रमं परिचक्षते ॥
वृत्तानुवृत्तिः शुश्रूषा क्षान्तिरागस्यविक्रिया।
जितेन्द्रियत्वं विनयोऽथवानुद्धतशीलता ॥
शौर्यमध्यवसायः स्याद् बलिनोऽपि पराभवे ॥

* आचार्य, ब्रह्मा, ऋत्विक्, सदस्य, यजमान, यजमानपत्नी, धनसम्पत्ति, श्रद्धा-उत्साह, विधि-विधानका सम्यक् पालन एवं सद्बुद्धि आदि यज्ञकी उत्तम गुणसामग्रीके अन्तर्गत हैं।

विवादोंका अनुमोदन ही किया और भिन्न-भिन्न प्रकारके भयंकर अन्याय, द्यूत आदिको देखकर भी उनकी उपेक्षा कर दी ॥

निरस्य विदुरं भीष्मं द्रोणं शारद्वतं कृपम् ।
विग्रहे तुमुले तस्मिन् दहन् क्षत्रं परस्परम् ॥१४०॥

(इस अनुमोदन या उपेक्षाका कारण यह था कि वे धर्मनाशक दुष्ट राजाओंका संहार चाहते थे । अतः उन्हें विश्वास था कि) इस विग्रहजनित महान् युद्धमें विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्यकी अवहेलना करके सभी दुष्ट क्षत्रिय एक दूसरेको अपनी क्रोधाग्निमें भस्म कर डालेंगे ॥१४०॥

जयत्सु पाण्डुपुत्रेषु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तथा ॥१४१॥
धृतराष्ट्रश्चिरं ध्यात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु संजय सर्वं मे न चासूयितुमर्हसि ॥१४२॥
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः ।
न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुलक्षये ॥१४३॥

जब युद्धमें पाण्डवोंकी जीत होती गयी, तब यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर तथा दुर्योधन, कर्ण और शकुनिके दुराग्रहपूर्ण निश्चित विचार जानकर धृतराष्ट्र बहुत देरतक चिन्तामें पड़े रहे । फिर उन्होंने संजयसे कहा—'संजय ! मेरी सब बातें सुन लो । फिर इस युद्ध या विनाशके लिये मुझे दोष न दे सकोगे । तुम विद्वान्, मेधावी, बुद्धिमान् और पण्डितके लिये भी आदरणीय हो । इस युद्धमें मेरी सम्मति बिल्कुल नहीं थी और यह जो हमारे कुलका विनाश हो गया है, इससे मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई है ॥ १४१–१४३ ॥

न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ।
वृद्धं मामभ्यसूयन्ति पुत्रा मन्युपरायणाः ॥१४४॥

मेरे लिये अपने पुत्रों और पाण्डवोंमें कोई भेद नहीं था । किंतु क्या करूँ ? मेरे पुत्र क्रोधके वशीभूत हो मुझपर ही दोषारोपण करते थे और मेरी बात नहीं मानते थे ॥ १४४ ॥

अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ॥१४५॥

मैं अंधा हूँ, अतः कुछ दीनताके कारण और कुछ पुत्रोंके प्रति अधिक आसक्ति होनेसे भी वह सब अन्याय सहता आ रहा हूँ । मन्दबुद्धि दुर्योधन जब मोहवश दुखी होता था, तब मैं भी उसके साथ दुखी हो जाता था ॥ १४५ ॥

राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ॥१४६॥
अमर्षणः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान् रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तुं सुश्रियं क्षत्रियोऽपि सन् ॥१४७॥
गान्धारराजसहितश्छद्मद्यूतममन्त्रयत् ।
तत्र यद् यद् यथा ज्ञातं मया संजय तच्छृणु ॥१४८॥

राजसूय-यज्ञमें महापराक्रमी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी सर्वोपरि समृद्धि-सम्पत्ति देखकर तथा सभाभवनकी सीढ़ियोंपर चढ़ते और उस भवनको देखते समय भीमसेनके द्वारा उपहास पाकर दुर्योधन भारी अमर्षमें भर गया था । युद्धमें पाण्डवोंको हरानेकी शक्ति तो उसमें थी नहीं; अतः क्षत्रिय होते हुए भी वह युद्धके लिये उत्साह नहीं दिखा सका । परंतु पाण्डवोंकी उस उत्तम सम्पत्तिको हथियानेके लिये उसने गान्धारराज शकुनिको साथ लेकर कपटपूर्ण द्यूत खेलनेका ही निश्चय किया । संजय ! इस प्रकार जूआ खेलनेका निश्चय हो जानेपर उसके पहले और पीछे जो-जो घटनाएँ घटित हुई हैं उन सबका विचार करते हुए मैंने समय-समयपर विजयकी आशाके विपरीत जो-जो अनुभव किया है उसे कहता हूँ, सुनो ॥ १४६–१४८ ॥

श्रुत्वा तु मम वाक्यानि बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥१४९॥

सूतनन्दन ! मेरे उन बुद्धिमत्तापूर्ण वचनोंको सुनकर तुम ठीक-ठीक समझ लोगे कि मैं कितना प्रज्ञाचक्षु हूँ ॥ १४९ ॥

यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं
विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम् ।
कृष्णां हृतां प्रेक्षतां सर्वराज्ञां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५०॥

संजय ! जब मैंने सुना कि अर्जुनने धनुषपर बाण चढ़ाकर अद्भुत लक्ष्य बेध दिया और उसे धरतीपर गिरा दिया । साथ ही सब राजाओंके सामने, जब कि वे टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये, बलपूर्वक द्रौपदीको ले आया, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ॥ १५० ॥

यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां
प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५१॥

संजय ! जब मैंने सुना कि अर्जुनने द्वारकामें मधुवंशकी राजकुमारी (और श्रीकृष्णकी बहिन) सुभद्राको बलपूर्वक हरण कर लिया और श्रीकृष्ण एवं बलराम (इस घटनाका विरोध न कर) दहेज लेकर इन्द्रप्रस्थमें आये, तभी समझ लिया था कि मेरी विजय नहीं हो सकती ॥ १५१ ॥

यदाश्रौषं देवराजं प्रविष्टं
शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५२॥

जब मैंने सुना कि खाण्डवदाहके समय देवराज इन्द्र तो वर्षा करके आग बुझाना चाहते थे और अर्जुनने उसे अपने दिव्य बाणोंसे रोक दिया तथा अग्निदेवको तृप्त किया, संजय ! तभी मैंने समझ लिया कि अब मेरी विजय नहीं हो सकती ॥

यदाश्रौषं जातुषाद् वेश्मनस्तान्
मुक्तान् पार्थान् पञ्च कुन्त्या समेतान् ।
युक्तं चैषां विदुरं स्वार्थसिद्धौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५३॥

जब मैंने सुना कि लाक्षाभवनसे अपनी मातासहित पाँचों पाण्डव बच गये हैं और स्वयं विदुर उनकी स्वार्थसिद्धिके प्रयत्नमें तत्पर हैं। संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ॥

यदाश्रौषं द्रौपदीं रङ्गमध्ये
लक्ष्यं भित्त्वा निर्जितामर्जुनेन ।
शूरान् पञ्चालान् पाण्डवेयांश्च युक्तां-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५४॥

जब मैंने सुना कि रंगभूमिमें लक्ष्यवेध करके अर्जुनने द्रौपदी प्राप्त कर ली है और पाञ्चाल वीर तथा पाण्डव वीर परस्पर सम्बद्ध हो गये हैं। संजय! उसी समय मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १५४ ॥

यदाश्रौषं मागधानां वरिष्ठं
जरासन्धं क्षत्रमध्ये ज्वलन्तम् ।
दोर्भ्यां हतं भीमसेनेन गत्वा
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५५॥

जब मैंने सुना कि मगधराज-शिरोमणि, क्षत्रियजातिके जाज्वल्यमान रत्न जरासन्धको भीमसेनने उसकी राजधानीमें जाकर बिना अस्त्र-शस्त्रके हाथोंसे ही चीर दिया। संजय! मेरी जीतकी आशा तो तभी टूट गयी ॥ १५५ ॥

यदाश्रौषं दिग्विजये पाण्डुपुत्रै-
र्वशीकृतान् भूमिपालान् प्रसह्य ।
महाक्रतुं राजसूयं कृतं च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५६॥

जब मैंने सुना कि दिग्विजयके समय पाण्डवोंने बलपूर्वक बड़े-बड़े भूमिपतियोंको अपने अधीन कर लिया और महायज्ञ राजसूय सम्पन्न कर दिया, संजय! तभी मैंने समझ लिया कि मेरी विजयकी कोई आशा नहीं है ॥ १५६ ॥

यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकण्ठीं
सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५७॥

संजय! जब मैंने सुना कि दुःखिता द्रौपदी रजस्वलावस्थामें आँखोंमें आँसू भरे केवल एक वस्त्र पहने वीर पतियोंके रहते हुए भी अनाथके समान भरी सभामें घसीटकर लायी गयी है, तभी मैंने समझ लिया था कि अब मेरी विजय नहीं हो सकती ॥ १५७ ॥

यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं
समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः ।
दुःशासनो गतवान् नैव चान्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५८॥

जब मैंने सुना कि धूर्त एवं मन्दबुद्धि दुःशासनने द्रौपदीका वस्त्र खींचा और वहाँ वस्त्रोंका इतना ढेर लग गया कि वह उसका पार न पा सका; संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही ॥ १५८ ॥

यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं
पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम् ।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयै-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१५९॥

संजय! जब मैंने सुना कि धर्मराज युधिष्ठिरको जूएमें शकुनिने हरा दिया और उनका राज्य छीन लिया, फिर भी उनके अतुल बलशाली धीर गम्भीर भाइयोंने युधिष्ठिरका अनुगमन ही किया, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १५९ ॥

यदाश्रौषं विविधास्तत्र चेष्टा
धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय ।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६०॥

जब मैंने सुना कि वनमें जाते समय धर्मात्मा पाण्डव धर्मराज युधिष्ठिरके प्रेमवश दुःख पा रहे थे और अपने हृदयका भाव प्रकाशित करनेके लिये विविध प्रकारकी चेष्टाएँ कर रहे थे; संजय! तभी मेरी विजयकी आशा नष्ट हो गयी ॥ १६० ॥

यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रै-
रन्वागतं धर्मराजं वनस्थम् ।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६१॥

जब मैंने सुना कि हजारों स्नातक वनवासी युधिष्ठिरके साथ रह रहे हैं और वे तथा दूसरे महात्मा एवं ब्राह्मण उनसे भिक्षा प्राप्त करते हैं। संजय! तभी मैं विजयके सम्बन्धमें निराश हो गया ॥ १६१ ॥

यदाश्रौषमर्जुनं देवदेवं
किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे ।
अवाप्तवन्तं पाशुपतं महास्त्रं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६२॥

संजय! जब मैंने सुना कि किरातवेषधारी देवदेव त्रिलोचन महादेवको युद्धमें संतुष्ट करके अर्जुनने पाशुपत नामक महान् अस्त्र प्राप्त कर लिया है, तभी मेरी आशा निराशामें परिणत हो गयी ॥ १६२ ॥

(यदाश्रौषं वनवासे तु पार्थान्
समागतान् महर्षिभिः पुराणैः ।
उपास्यमानान् सगणैर्जातसख्यान्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥)

यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनञ्जयं
शक्रात् साक्षाद् दिव्यमस्त्रं यथावत् ।
अधीयानं शंसितं सत्यसन्धं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६३॥

जब मैंने सुना कि वनवासमें भी कुन्ती-पुत्रोंके पास पुरातन महर्षिगण पधारते और उनसे मिलते हैं। उनके साथ उठते-बैठते और निवास करते हैं तथा सेवक-सम्बन्धियों-सहित पाण्डवोंके प्रति उनका मैत्रीभाव हो गया है। संजय! तभीसे मुझे अपने पक्षकी विजयका विश्वास नहीं रह गया था। जब मैंने सुना कि सत्यसंध धनंजय अर्जुन स्वर्गमें गये हुए हैं और वहाँ साक्षात् इन्द्रसे दिव्य अस्त्र-शस्त्रकी विधि-पूर्वक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और वहाँ उनके पौरुष एवं ब्रह्मचर्य आदिकी प्रशंसा हो रही है, संजय! तभीसे मेरी युद्धमें विजयकी आशा जाती रही ॥ १६३ ॥

यदाश्रौषं कालकेयास्ततस्ते
पौलोमानो वरदानाच्च दृप्ताः ।
देवैरजेया निर्जिताश्चार्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६४॥

जबसे मैंने सुना कि वरदानके प्रभावसे घमंडके नशेमें चूर कालकेय तथा पौलोम नामके असुरोंको, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं जीत सकते थे, अर्जुनने बात-की-बातमें पराजित कर दिया, तभीसे संजय! मैंने विजयकी आशा कभी नहीं की ॥ १६४ ॥

यदाश्रौषमसुराणां वधार्थे
किरीटिनं यान्तममित्रकर्शनम् ।
कृतार्थं चाप्यागतं शक्रलोकात्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६५॥

मैंने जब सुना कि शत्रुओंका संहार करनेवाले किरीटी अर्जुन असुरोंका वध करनेके लिये गये थे और इन्द्रलोकसे अपना काम पूरा करके लौट आये हैं, संजय! तभी मैंने समझ लिया—अब मेरी जीतकी कोई आशा नहीं ॥ १६५ ॥

(यदाश्रौषं तीर्थयात्राप्रवृत्तं
पाण्डोः सुतं सहितं लोमशेन ।
तस्मादश्रौषीदर्जुनस्यार्थलाभं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥)
यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्धं
समागतं भीममन्यांश्च पार्थान् ।
तस्मिन् देशे मानुषाणामगम्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६६॥

जब मैंने सुना कि पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर महर्षि लोमश-जीके साथ तीर्थयात्रा कर रहे हैं और लोमशजीके मुखसे ही उन्होंने यह भी सुना है कि स्वर्गमें अर्जुनको अभीष्ट वस्तु (दिव्यास्त्र) की प्राप्ति हो गयी है, संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा ही छोड़ दी। जब मैंने सुना कि भीमसेन तथा दूसरे भाई उस देशमें जाकर, जहाँ मनुष्योंकी गति नहीं है, कुबेरके साथ मेल-मिलाप कर आये, संजय! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी ॥ १६६ ॥

यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां
बन्धं गन्धर्वैर्मोक्षणं चार्जुनेन ।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६७॥

जब मैंने सुना कि कर्णकी बुद्धिपर विश्वास करके चलने-वाले मेरे पुत्र घोष-यात्राके निमित्त गये और गन्धर्वोंके हाथ बन्दी बन गये और अर्जुनने उन्हें उनके हाथसे छुड़ाया। संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १६७ ॥

यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं
समागतं धर्मराजेन सूत ।
प्रश्नान् कांश्चिद् विब्रुवाणं च सम्यक्
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६८॥

सूत संजय! जब मैंने सुना कि धर्मराज यक्षका रूप धारण करके युधिष्ठिरसे मिले और युधिष्ठिरने उनके द्वारा किये गये गूढ़ प्रश्नोंका ठीक-ठीक समाधान कर दिया, तभी विजयके सम्बन्धमें मेरी आशा टूट गयी ॥ १६८ ॥

यदाश्रौषं न विदुर्मामकास्तान्
प्रच्छन्नरूपान् वसतः पाण्डवेयान् ।
विराटराष्ट्रे सह कृष्णया च
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१६९॥

संजय! विराटकी राजधानीमें गुप्तरूपसे द्रौपदीके साथ पाँचों पाण्डव निवास कर रहे थे, परंतु मेरे पुत्र और उनके सहायक इस बातका पता नहीं लगा सके; जब मैंने यह बात सुनी मुझे यह निश्चय हो गया कि मेरी विजय सम्भव नहीं है ॥

(यदाश्रौषं कीचकानां वरिष्ठं
निषूदितं भ्रातृशतेन सार्धम् ।
द्रौपद्यर्थं भीमसेनेन संख्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥)
यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान्
धनञ्जयेनैकरथेन भग्नान् ।
विराटराष्ट्रे वसता महात्मना
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१७०॥

संजय! जब मैंने सुना कि भीमसेनने द्रौपदीके प्रति किये हुए अपराधका बदला लेनेके लिये कीचकोंके सर्वश्रेष्ठ वीरको उस-के सौ भाइयोंसहित युद्धमें मार डाला था, तभीसे मुझे विजयकी

बिल्कुल आशा नहीं रह गयी थी। संजय! जब मैंने सुना कि विराटकी राजधानीमें रहते समय महात्मा धनंजयने एकमात्र रथकी सहायतासे हमारे सभी श्रेष्ठ महारथियोंको (जो गो-हरणके लिये पूर्ण तैयारीके साथ वहाँ गये थे) मार भगाया, तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही॥ १७०॥

यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा
सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय।
तां चार्जुनः प्रत्यगृह्णात् सुतार्थे
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७१॥

जिस दिन मैंने यह बात सुनी कि मत्स्यराज विराटने अपनी प्रिय एवं सम्मानित पुत्री उत्तराको अर्जुनके हाथ अर्पित कर दिया, परंतु अर्जुनने अपने लिये नहीं, अपने पुत्रके लिये उसे स्वीकार किया, संजय! उसी दिनसे मैं विजयकी आशा नहीं करता था॥ १७१॥

यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य
प्रव्राजितस्य स्वजनात् प्रच्युतस्य।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७२॥

संजय! युधिष्ठिर जूएमें पराजित हैं, निर्धन हैं, घरसे निकाले हुए हैं और अपने सगे-सम्बन्धियोंसे बिछुड़े हुए हैं। फिर भी जब मैंने सुना कि उनके पास सात अक्षौहिणी सेना एकत्र हो चुकी है, तभी विजयके लिये मेरे मनमें जो आशा थी, उसपर पानी फिर गया॥ १७२॥

यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं
सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम्।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहु-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७३॥

(वामनावतारके समय) यह सम्पूर्ण पृथ्वी जिनके एक डगमें ही आ गयी बतायी जाती है, वे लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण पूरे हृदयसे पाण्डवोंकी कार्य-सिद्धिके लिये तत्पर हैं, जब यह बात मैंने सुनी, संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही॥ १७३॥

यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ
कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक्
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७४॥

जब देवर्षि नारदके मुखसे मैंने यह बात सुनी कि श्रीकृष्ण और अर्जुन साक्षात् नर और नारायण हैं और इन्हें मैंने ब्रह्मलोकमें भलीभाँति देखा है, तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी॥ १७४॥

यदाश्रौषं लोकहिताय कृष्णं
शमार्थिनमुपयातं कुरूणाम्।
शमं कुर्वाणमकृतार्थं च यातं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७५॥

संजय! जब मैंने सुना कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लोककल्याणके लिये शान्तिकी इच्छासे आये हुए हैं और कौरव-पाण्डवोंमें शान्ति-सन्धि करवाना चाहते हैं, परंतु वे अपने प्रयासमें असफल होकर लौट गये, तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रही॥ १७५॥

यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां
बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७६॥

संजय! जब मैंने सुना कि कर्ण और दुर्योधन दोनोंने यह सलाह की है कि श्रीकृष्णको कैद कर लिया जाय और श्रीकृष्णने अपने-आपको अनेक रूपोंमें विराट् या अखिल विश्वके रूपमें दिखा दिया, तभीसे मैंने विजयाशा त्याग दी थी॥

यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते
रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम्।
आर्तां पृथां सान्त्वितां केशवेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७७॥

जब मैंने सुना—यहाँसे श्रीकृष्णके लौटते समय अकेली कुन्ती उनके रथके सामने आकर खड़ी हो गयी और अपने हृदयकी आर्ति-वेदना प्रकट करने लगी, तब श्रीकृष्णने उसे भलीभाँति सान्त्वना दी। संजय! तभीसे मैंने विजयकी आशा छोड़ दी॥ १७७॥

यदाश्रौषं मन्त्रिणं वासुदेवं
तथा भीष्मं शान्तनवं च तेषाम्।
भारद्वाजं चाशिषोऽनुब्रुवाणं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७८॥

संजय! जब मैंने सुना कि श्रीकृष्ण पाण्डवोंके मन्त्री हैं और शान्तनुनन्दन भीष्म तथा भारद्वाज द्रोणाचार्य उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं, तब मुझे विजय-प्राप्तिकी किंचित् भी आशा नहीं रही॥ १७८॥

यदाश्रौषं कर्ण उवाच भीष्मं
नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति।
हित्वा सेनामपचक्राम चापि
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥१७९॥

जब कर्णने भीष्मसे यह बात कह दी कि 'जबतक तुम युद्ध करते रहोगे तबतक मैं पाण्डवोंसे नहीं लड़ूँगा', इतना ही नहीं—वह सेनाको छोड़कर हट गया, संजय! तभीसे मेरे

मनमें विजयके लिये कुछ भी आशा नहीं रह गयी ॥ १७९ ॥

यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ
तथा धनुर्गाण्डीवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८०॥

संजय ! जब मैंने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण, वीरवर अर्जुन और अतुलित शक्तिशाली' गाण्डीव धनुष—ये तीनों भयंकर प्रभावशाली शक्तियाँ इकट्ठी हो गयी हैं, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १८० ॥

यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने
रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान् दर्शयानं शरीरे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८१॥

संजय ! जब मैंने सुना कि रथके पिछले भागमें स्थित मोहग्रस्त अर्जुन अत्यन्त दुखी हो रहे थे और श्रीकृष्णने अपने शरीरमें उन्हें सब लोकोंका दर्शन करा दिया, तभी मेरे मनसे विजयकी सारी आशा समाप्त हो गयी ॥ १८१ ॥

यदाश्रौषं भीष्मममित्रकर्शनं
निघ्नन्तमाजावयुतं रथानाम् ।
नैषां कश्चिद् वध्यते ख्यातरूप-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८२॥

जब मैंने सुना कि शत्रुघाती भीष्म रणाङ्गणमें प्रतिदिन दस हजार रथियोंका संहार कर रहे हैं, परंतु पाण्डवोंका कोई प्रसिद्ध योद्धा नहीं मारा जा रहा है, संजय ! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १८२ ॥

यदाश्रौषं चापगेयेन संख्ये
स्वयं मृत्युं विहितं धार्मिकेण ।
तच्चाकार्षुः पाण्डवेयाः प्रहृष्टा-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८३॥

जब मैंने सुना कि परम धामिक गङ्गानन्दन भीष्मने युद्धभूमिमें पाण्डवोंको अपनी मृत्युका उपाय स्वयं बता दिया और पाण्डवोंने प्रसन्न होकर उनकी उस आज्ञाका पालन किया। संजय ! तभी मुझे विजयकी आशा नहीं रहा ॥ १८३ ॥

यदाश्रौषं भीष्मममत्यन्तशूरं
हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम् ।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८४॥

जब मैंने सुना कि अर्जुनने सामने शिखण्डीको खड़ा करके उसकी ओटसे सर्वथा अजेय अत्यन्त शूर भीष्मपितामहको युद्धभूमिमें गिरा दिया ! संजय ! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ॥ १८४ ॥

यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं
वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः ।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषां-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८५॥

जब मैंने सुना कि हमारे वृद्ध वीर भीष्मपितामह अधिकांश सोमकवंशी योद्धाओंका वध करके अर्जुनके बाणोंसे क्षत-विक्षत शरीर हो शरशय्यापर शयन कर रहे हैं, संजय ! तभी मैंने समझ लिया अब मेरी विजय नहीं हो सकती ॥१८५॥

यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने
पानीयार्थे चोदितेनार्जुनेन ।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८६॥

संजय ! जब मैंने सुना कि शान्तनुनन्दन भीष्मपितामहने शरशय्यापर सोते समय अर्जुनको संकेत किया और उन्होंने बाणसे धरतीका भेदन करके उनकी प्यास बुझा दी, तब मैंने विजयकी आशा त्याग दी ॥ १८६ ॥

यदा वायुश्चन्द्रसूर्यौ च युक्तौ
कौन्तेयानामनुलोमा जयाय ।
नित्यं चास्मान् श्वापदा भीषयन्ति
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८७॥

जब वायु अनुकूल बहकर और चन्द्रमा-सूर्य लाभस्थानमें संयुक्त होकर पाण्डवोंकी विजयकी सूचना दे रहे हैं और कुत्ते आदि भयंकर प्राणी प्रतिदिन हमलोगोंको डरा रहे हैं। संजय ! तब मैंने विजयके सम्बन्धमें अपनी आशा छोड़ दी ॥ १८७ ॥

यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान्
निदर्शयन् समरे चित्रयोधी ।
न पाण्डवाञ् श्रेष्ठतरान् निहन्ति
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८८॥

संजय ! हमारे आचार्य द्रोण बेजोड़ योद्धा थे और उन्होंने रणाङ्गणमें अपने अस्त्र-शस्त्रके अनेकों विविध कौशल दिखलाये, परंतु जब मैंने सुना कि वे वीर-शिरोमणि पाण्डवोंमेंसे किसी एकका भी वध नहीं कर रहे हैं, तब मैंने विजयकी आशा त्याग दी ॥ १८८ ॥

यदाश्रौषं चास्मदीयान् महारथान्
व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान् निहतानर्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१८९॥

संजय ! मेरी विजयकी आशा तो तभी नहीं रही जब मैंने सुना कि मेरे जो महारथी वीर संशप्तक योद्धा अर्जुनके वधके लिये मोर्चेपर डटे हुए थे, उन्हें अकेले ही अर्जुनने मौतके घाट उतार दिया ॥ १८९ ॥

यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यै-
भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९०॥

संजय ! स्वयं भारद्वाज द्रोणाचार्य अपने हाथमें शस्त्र उठाकर उस चक्रव्यूहकी रक्षा कर रहे थे, जिसको कोई दूसरा तोड़ ही नहीं सकता था, परंतु सुभद्रानन्दन वीर अभिमन्यु अकेला ही छिन्न-भिन्न करके उसमें घुस गया, जब यह बात मेरे कानोंतक पहुँची, तभी मेरी विजयकी आशा लुप्त हो गयी ॥ १९० ॥

यदाभिमन्युं परिवार्य बालं
सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवन्त-
स्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९१॥

संजय ! मेरे बड़े-बड़े महारथी वीरवर अर्जुनके सामने तो टिक न सके और सबने मिलकर बालक अभिमन्युको घेर लिया और उसको मारकर हर्षित होने लगे, जब यह बात मुझतक पहुँची, तभीसे मैंने विजयकी आशा त्याग दी ॥१९१॥

यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य
हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान् ।
क्रोधादुक्तं सैन्धवे चार्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९२॥

जब मैंने सुना कि मेरे मूढ़ पुत्र अपने ही वंशके होनहार बालक अभिमन्युकी हत्या करके हर्षपूर्ण कोलाहल कर रहे हैं और अर्जुनने क्रोधवश जयद्रथको मारनेकी भीषण प्रतिज्ञा की है, संजय ! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥१९२॥

यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां
प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९३॥

जब मैंने सुना कि अर्जुनने जयद्रथको मार डालनेकी जो दृढ़ प्रतिज्ञा की थी, उसने वह शत्रुओंसे भरी रणभूमिमें सत्य एवं पूर्ण करके दिखा दी । संजय ! तभीसे मुझे विजयकी सम्भावना नहीं रह गयी ॥ १९३ ॥

यदाश्रौषं श्रान्तहये धनञ्जये
मुक्त्वा हयान् पाययित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९४॥

युद्धभूमिमें धनञ्जय अर्जुनके घोड़े अत्यन्त श्रान्त और प्याससे व्याकुल हो रहे थे। स्वयं श्रीकृष्णने उन्हें रथसे खोलकर पानी पिलाया । फिरसे रथके निकट लाकर उन्हें जोत दिया और अर्जुनसहित वे सकुशल लौट गये । जब मैंने यह बात मुनी, संजय ! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी ॥१९४॥

यदाश्रौषं वाहनेष्वक्षमेषु
रथोपस्थे तिष्ठता पाण्डवेन ।
सर्वान् योधान् वारितानर्जुनेन
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९५॥

जब संग्रामभूमिमें रथके घोड़े अपना काम करनेमें असमर्थ हो गये, तब रथके समीप ही खड़े होकर पाण्डव-वीर अर्जुनने अकेले ही सब योद्धाओंका सामना किया और उन्हें रोक दिया। मैंने जिस समय यह बात सुनी, संजय ! उसी समय मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १९५ ॥

यदाश्रौषं नागबलैः सुदुःसहं
द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य ।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९६॥

जब मैंने सुना कि वृष्णिवंशावतंस युयुधान—सात्यकिने अकेले ही द्रोणाचार्यकी उस सेनाको, जिसका सामना हाथियोंकी सेना भी नहीं कर सकती थी, तितर-बितर और तहस-नहस कर दिया तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास पहुँच गये। संजय ! तभीसे मेरे लिये विजयकी आशा असम्भव हो गयी॥

यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं
वधाद् भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः ।
धनुष्कोट्याऽऽतुद्य कर्णेन वीरं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९७॥

संजय ! जब मैंने सुना कि वीर भीमसेन कर्णके पंजेमें फँस गये थे, परंतु कर्णने तिरस्कारपूर्वक झिड़ककर और धनुषकी नोक चुभाकर ही छोड़ दिया तथा भीमसेन मृत्युके मुखसे बच निकले । संजय ! तभी मेरी विजयकी आशापर पानी फिर गया ॥ १९७ ॥

यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च
कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः ।
अमर्षयन् सैन्धवं वध्यमानं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९८॥

जब मैंने सुना द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा तथा वीर शल्यने भी सिन्धुराज जयद्रथका वध सह लिया, प्रतीकार नहीं किया । संजय ! तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी ॥ १९८ ॥

यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां
दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन ।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१९९॥

संजय ! देवराज इन्द्रने कर्णको कवचके बदले एक दिव्य

शक्ति दे रखी थी और उसने उसे अर्जुनपर प्रयुक्त करनेके लिये रख छोड़ा था; परंतु मायापति श्रीकृष्णने भयंकर राक्षस घटोत्कचपर छुड़वाकर उससे भी वञ्चित करवा दिया। जिस समय यह बात मैंने सुनी, उसी समय मेरी विजयकी आशा टूट गयी॥

यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां
युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम्।
यया वध्यः समरे सव्यसाची
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२००॥

जब मैंने सुना कि कर्ण और घटोत्कचके युद्धमें कर्णने वह शक्ति घटोत्कचपर चला दी, जिससे रणाङ्गणमें अर्जुनका वध किया जा सकता था। संजय! तब मैंने विजयकी आशा छोड़ दी॥ २००॥

यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं
धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम्।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०१॥

संजय! जब मैंने सुना कि आचार्य द्रोण पुत्रकी मृत्युके शोकसे शस्त्रादि छोड़कर आमरण अनशन करनेके निश्चयसे अकेले रथके पास बैठे थे और धृष्टद्युम्नने धर्मयुद्धकी मर्यादा-का उल्लङ्घन करके उन्हें मार डाला, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी॥ २०१॥

यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं
माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये।
समं युद्धे मण्डलेभ्यश्चरन्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०२॥

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा-जैसे वीरके साथ बड़े-बड़े वीरोंके सामने ही माद्रीनन्दन नकुल अकेले ही अच्छी तरह युद्ध कर रहे हैं। संजय! तब मुझे जीतकी आशा न रही॥

यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो
नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन्।
नैषामन्तं गतवान् पाण्डवानां
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०३॥

जब द्रोणाचार्यकी हत्याके अनन्तर अश्वत्थामाने दिव्य नारायणास्त्रका प्रयोग किया; परंतु उससे वह पाण्डवोंका अन्त नहीं कर सका। संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी॥ २०३॥

यदाश्रौषं भीमसेनेन पीतं
रक्तं भ्रातुर्युधि दुःशासनस्य।
निवारितं नान्यतमेन भीमं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०४॥

जब मैंने सुना कि रणभूमिमें भीमसेनने अपने भाई दुःशासनका रक्तपान किया, परंतु वहाँ उपस्थित सत्पुरुषोंमेंसे किसी एकने भी निवारण नहीं किया। संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा बिल्कुल नहीं रह गयी॥ २०४॥

यदाश्रौषं कर्णमत्यन्तशूरं
हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम्।
तस्मिन् भ्रातॄणां विग्रहे देवगुह्ये
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०५॥

संजय! वह भाईका भाईसे युद्ध देवताओंकी गुप्त प्रेरणासे हो रहा था। जब मैंने सुना कि भिन्न-भिन्न युद्ध-भूमियोंमें कभी पराजित न होनेवाले अत्यन्त शूरशिरोमणि कर्णको पृथापुत्र अर्जुनने मार डाला, तब मेरी विजयकी आशा नष्ट हो गयी॥ २०५॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं च शूरं
दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम्।
युधिष्ठिरं धर्मराजं जयन्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०६॥

जब मैंने सुना धर्मराज युधिष्ठिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शूरवीर दुःशासन एवं उग्र योद्धा कृतवर्माको भी युद्धमें जीत रहे हैं, संजय! तभीसे मुझे विजयकी आशा नहीं रह गयी॥

यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं
रणे शूरं धर्मराजेन सूत।
सदा संग्रामे स्पर्धते यस्तु कृष्णं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०७॥

संजय! जब मैंने सुना कि रणभूमिमें धर्मराज युधिष्ठिरने शूरशिरोमणि मद्रराज शल्यको मार डाला, जो सर्वदा युद्धमें घोड़े हाँकनेके सम्बन्धमें श्रीकृष्णकी होड़ करनेपर उतारू रहता था, तभीसे मैं विजयकी आशा नहीं करता था॥२०७॥

यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं
मायाबलं सौबलं पाण्डवेन।
हतं संग्रामे सहदेवेन पापं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०८॥

जब मैंने सुना कि कलहकारी द्यूतके मूल कारण, केवल छल-कपटके बलसे बली पापी शकुनिको पाण्डुनन्दन सहदेवने रणभूमिमें यमराजके हवाले कर दिया, संजय! तभी मेरी विजयकी आशा समाप्त हो गयी॥ २०८॥

यदाश्रौषं श्रान्तमेकं शयानं
ह्रदं गत्वा स्तम्भयित्वा तदम्भः।
दुर्योधनं विरथं भग्नशक्तिं
तदा नाशंसे विजयाय संजय॥२०९॥

जब दुर्योधनका रथ छिन्न-भिन्न हो गया, शक्ति क्षीण हो गयी और वह थक गया, तब सरोवरपर जाकर वहाँका जल

स्तम्भित करके उसमें अकेला ही सो गया । संजय ! जब मैंने यह संवाद सुना, तब मेरी विजयकी आशा भी चली गयी ॥

यदाश्रौषं पाण्डवांस्तिष्ठमानान्
गत्वा ह्रदे वासुदेवेन सार्धम् ।
अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१०॥

जब मैंने सुना कि उसी सरोवरके तटपर श्रीकृष्णके साथ पाण्डव जाकर खड़े हैं और मेरे पुत्रको असह्य दुर्वचन कहकर नीचा दिखा रहे हैं, तभी संजय ! मैंने विजयकी आशा सर्वथा त्याग दी ॥ २१० ॥

यदाश्रौषं विविधांश्चित्रमार्गान्
गदायुद्धे मण्डलशश्चरन्तम् ।
मिथ्याहतं वासुदेवस्य बुद्ध्या
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२११॥

संजय! जब मैंने सुना कि गदायुद्धमें मेरा पुत्र बड़ी निपुणतासे पैंतरे बदलकर रणकौशल प्रकट कर रहा है और श्रीकृष्ण-की सलाहसे भीमसेनने गदायुद्धकी मर्यादाके विपरीत जाँघमें गदाका प्रहार करके उसे मार डाला, तब तो संजय ! मेरे मनमें विजयकी आशा रह ही नहीं गयी ॥ २११ ॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तै-
र्हतान् पञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सुप्तान् ।
कृतं बीभत्समयशस्यं च कर्म
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१२॥

संजय ! जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा आदि दुष्टोंने सोते हुए पाञ्चाल नरपतियों और द्रौपदीके होनहार पुत्रोंको मारकर अत्यन्त बीभत्स और वंशके यशको कलंकित करनेवाला काम किया है, तब तो मुझे विजयकी आशा रही ही नहीं ॥२१२॥

यदाश्रौषं भीमसेनानुयाते-
नाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम् ।
क्रुद्धेनैषीकमवधीद् येन गर्भं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१३॥

संजय! जब मैंने सुना कि भीमसेनके पीछा करनेपर अश्वत्थामा-ने क्रोधपूर्वक सींकके बाणपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग कर दिया, जिससे कि पाण्डवोंका गर्भस्थ वंशधर भी नष्ट हो जाय, तभी मेरे मनमें विजयकी आशा नहीं रही ॥२१३॥

यदाश्रौषं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन
स्वस्तीत्युक्त्वास्त्रमस्त्रेण शान्तम् ।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं
तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥२१४॥

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामाके द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मशिर अस्त्रको अर्जुनने 'स्वस्ति' 'स्वस्ति' कहकर अपने अस्त्रसे शान्त कर दिया और अश्वत्थामाको अपना मणिरत्न भी देना पड़ा । संजय ! उसी समय मुझे जीतकी आशा नहीं रही ॥२१४॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रेण गर्भे
वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रैः ।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं
परस्परेणाभिशापैः शशाप ॥२१५॥
शोच्या गान्धारी पुत्रपौत्रैर्विहीना
तथा बन्धुभिः पितृभिर्भ्रातृभिश्च ।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः
प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ॥२१६॥

जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा अपने महान् अस्त्रोंका प्रयोग करके उत्तराका गर्भ गिरानेकी चेष्टा कर रहा है तथा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने परस्पर विचार करके उसे शापोंसे अभिशप्त कर दिया है (तभी मेरी विजयकी आशा सदाके लिये समाप्त हो गयी) । इस समय गान्धारीकी दशा शोचनीय हो गयी है; क्योंकि उसके पुत्र-पौत्र, पिता तथा भाई-बन्धुओंमेंसे कोई नहीं रहा । पाण्डवोंने दुष्कर कार्य कर डाला । उन्होंने फिरसे अपना अकण्टक राज्य प्राप्त कर लिया ॥ २१५-२१६ ॥

कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे
त्रयोऽस्माकं पाण्डवानां च सप्त ।
द्व्यूना विंशतिराहताक्षौहिणीनां
तस्मिन् संग्रामे भैरवे क्षत्रियाणाम् ॥२१७॥

हाय-हाय ! कितने कष्टकी बात है, मैंने सुना है कि इस भयंकर युद्धमें केवल दस व्यक्ति बचे हैं; मेरे पक्षके तीन—कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा तथा पाण्डव-पक्षके सात—श्रीकृष्ण, सात्यकि और पाँचों पाण्डव । क्षत्रियोंके इस भीषण संग्राममें अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ नष्ट हो गयीं ॥ २१७ ॥

तमस्त्वतीव विस्तीर्णं मोह आविशतीव माम् ।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ॥२१८॥

सारथे ! यह सब सुनकर मेरी आँखोंके सामने घना अन्धकार छाया हुआ है । मेरे हृदयमें मोहका आवेश-सा होता जा रहा है । मैं चेतना-शून्य हो रहा हूँ । मेरा मन विह्वल-सा हो रहा है ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहुदुःखितः ।
मूर्च्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥२१९॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—धृतराष्ट्रने ऐसा कहकर बहुत विलाप किया और अत्यन्त दुःखके कारण वे मूर्च्छित हो गये । फिर होशमें आकर कहने लगे ॥ २१९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयैवं गते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम् ।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे ॥२२०॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! युद्धका यह परिणाम निकलनेपर अब मैं अविलम्ब अपने प्राण छोड़ना चाहता हूँ । अब जीवन-धारण करनेका कुछ भी फल मुझे दिखलायी नहीं देता ॥

सौतिरुवाच

तं तथावादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं मुह्यमानं पुनः पुनः ॥२२१॥
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जब राजा धृतराष्ट्र दीनतापूर्वक विलाप करते हुए ऐसा कह रहे थे और नागके समान लम्बी साँस ले रहे थे तथा बार-बार मूर्छित होते जा रहे थे, तब बुद्धिमान् संजयने यह सारगर्भित प्रवचन किया ॥ २२१½ ॥

संजय उवाच

श्रुतवानसि वै राजन् महोत्साहान् महाबलान् ॥२२२॥
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ।

संजयने कहा—महाराज ! आपने परम ज्ञानी देवर्षि नारद एवं महर्षि व्यासके मुखसे महान् उत्साहसे युक्त एवं परम पराक्रमी नृपतियोंका चरित्र श्रवण किया है ॥ २२२½ ॥

महत्सु राजवंशेषु गुणैः समुदितेषु च ॥२२३॥
जातान् दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वाप्तदक्षिणैः ॥२२४॥
अस्मिँल्लोके यशः प्राप्य ततः कालवशं गतान् ।
शैब्यं महारथं वीरं सृञ्जयं जयतां वरम् ॥२२५॥
सुहोत्रं रन्तिदेवं च काक्षीवन्तमथौशिजम् ।
बाह्लीकं दमनं चैद्यं शर्यातिमजितं नलम् ॥२२६॥
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाबलम् ।
मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भरतमेव च ॥२२७॥
रामं दाशरथिं चैव शशविन्दुं भगीरथम् ।
कृतवीर्यं महाभागं तथैव जनमेजयम् ॥२२८॥
ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ।
चैत्ययूपाङ्किता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा ॥२२९॥
इति राज्ञां चतुर्विंशन्नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा श्वैत्याय कीर्तितम् ॥२३०॥

आपने ऐसे-ऐसे राजाओंके चरित्र सुने हैं जो सर्वसद्गुणसम्पन्न महान् राजवंशोंमें उत्पन्न, दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंके पारदर्शी एवं देवराज इन्द्रके समान प्रभावशाली थे । जिन्होंने धर्मयुद्धसे पृथ्वीपर विजय प्राप्त की, बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञ किये, इस लोकमें उज्ज्वल यश प्राप्त किया और फिर कालके गालमें समा गये । इनमेंसे महारथी शैब्य, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ सृञ्जय, सुहोत्र, रन्तिदेव, काक्षीवान्, औशिज, बाह्लीक, दमन, चैद्य, शर्याति, अपराजित नल, शत्रुघाती विश्वामित्र, महाबली अम्बरीष, मरुत्त, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत, दशरथनन्दन श्रीराम, शशबिन्दु, भगीरथ, महाभाग्यशाली कृतवीर्य, जनमेजय और वे शुभकर्मा ययाति, जिनका यज्ञ देवताओंने स्वयं करवाया था, जिन्होंने अपनी राष्ट्रभूमिको यज्ञोंकी खान बना दिया था और सारी पृथ्वी यज्ञसम्बन्धी यूपों (खंभों) से अङ्कित कर दी थी—इन चौबीस राजाओंका वर्णन पूर्वकालमें देवर्षि नारदने पुत्रशोकसे अत्यन्त संतप्त महाराज श्वैत्यका दुःख दूर करनेके लिये किया था ॥ २२३—२३० ॥

तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ॥२३१॥
पूरुः कुरुर्यदुः शूरो विष्वगश्वो महाद्युतिः ।
अणुहो युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः ॥२३२॥
विजयो वीतिहोत्रोऽङ्गो भवः श्वेतो बृहद्गुरुः ।
उशीनरः शतरथः कङ्को दुलिदुहो द्रुमः ॥२३३॥
दम्भोद्भवः परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः ।
अजेयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः ॥२३४॥
देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः ।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः ॥२३५॥
सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः ।
जानुजङ्घोऽनरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुचिव्रतः ॥२३६॥
बलबन्धुर्निरामर्दः केतुशृङ्गो बृहद्बलः ।
धृष्टकेतुर्बृहत्केतुर्दीप्तकेतुर्निरामयः ॥२३७॥
अवीक्षिच्चपलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः ।
महापुराणसम्भाव्यः प्रत्यङ्गः परहा श्रुतिः ॥२३८॥
एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः ।
श्रूयन्ते शतशश्चान्ये संख्याताश्चैव पद्मशः ॥२३९॥
हित्वा सुविपुलान् भोगान् बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रा इव प्रभो ॥२४०॥

महाराज ! पिछले युगमें इन राजाओंके अतिरिक्त दूसरे और बहुत-से महारथी, महात्मा, शौर्य-वीर्य आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न, परम पराक्रमी राजा हो गये हैं । जैसे—पूरु, कुरु, यदु, शूर, महातेजस्वी विष्वगश्व, अणुह, युवनाश्व, ककुत्स्थ, पराक्रमी रघु, विजय, वीतिहोत्र, अङ्ग, भव, श्वेत, बृहद्गुरु, उशीनर, शतरथ, कङ्क, दुलिदुह, द्रुम, दम्भोद्भव, पर, वेन, सगर, संकृति, निमि, अजेय, परशु, पुण्ड्र, शम्भु, निष्पाप देवावृध, देवाह्वय, सुप्रतिम, सुप्रतीक, बृहद्रथ, महान् उत्साही और महाविनयी सुक्रतु, निषधराज नल, सत्यव्रत, शान्तभय, सुमित्र, सुबल, प्रभु, जानुजङ्घ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुचिव्रत, बलबन्धु, निरामर्द, केतुशृङ्ग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय, अवीक्षित्, चपल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराणोंमें सम्मानित प्रत्यङ्ग, परहा और श्रुति—ये और इनके अतिरिक्त दूसरे सैकड़ों तथा हजारों राजा सुने जाते हैं, जिनका सैकड़ों बार वर्णन किया गया है और

इनके सिवा दूसरे भी, जिनकी संख्या पद्योंमें कही गयी है, बड़े बुद्धिमान् और शक्तिशाली थे। महाराज! किंतु वे अपने विपुल भोग-वैभवको छोड़कर वैसे ही मर गये, जैसे आपके पुत्रोंकी मृत्यु हुई है ॥ २३१—२४० ॥

येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम्॥२४१॥
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः ॥२४२॥

जिनके दिव्य कर्म, पराक्रम, त्याग, माहात्म्य, आस्तिकता, सत्य, पवित्रता, दया और सरलता आदि सद्गुणोंका वर्णन बड़े-बड़े विद्वान् एवं श्रेष्ठतम कवि प्राचीन ग्रन्थोंमें तथा लोकमें भी करते रहते हैं, वे समस्त सम्पत्ति और सद्गुणोंसे सम्पन्न महापुरुष भी मृत्युको प्राप्त हो गये ॥ २४१-२४२ ॥

तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥२४३॥

आपके पुत्र दुर्योधन आदि तो दुरात्मा, क्रोधसे जले-भुने, लोभी एवं अत्यन्त दुराचारी थे। उनकी मृत्युपर आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ २४३ ॥

श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान् प्राज्ञसम्मतः।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत ॥२४४॥

आपने गुरुजनोंसे सत्-शास्त्रोंका श्रवण किया है। आपकी धारणाशक्ति तीव्र है, आप बुद्धिमान् हैं और ज्ञानवान् पुरुष आपका आदर करते हैं। भरतवंशशिरोमणे! जिनकी बुद्धि शास्त्रके अनुसार सोचती है, वे कभी शोक-मोहसे मोहित नहीं होते ॥ २४४ ॥

निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप।
नात्यन्तमेवानुवृत्तिः कार्या ते पुत्ररक्षणे ॥२४५॥

महाराज! आपने पाण्डवोंके साथ निर्दयता और अपने पुत्रोंके प्रति पक्षपातका जो बर्ताव किया है, वह आपको विदित ही है। इसलिये अब पुत्रोंके जीवनके लिये आपको अत्यन्त व्याकुल नहीं होना चाहिये ॥ २४५ ॥

भवितव्यं तथा तच्च नानुशोचितुमर्हसि।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति ॥२४६॥

होनहार ही ऐसी थी, इसके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये। भला, इस सृष्टिमें ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो अपनी बुद्धिकी विशेषतासे होनहार मिटा सके ॥ २४६ ॥

विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥२४७॥

अपने कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—यह विधाताका विधान है। इसको कोई टाल नहीं सकता। जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख सबका मूल कारण काल ही है ॥

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥२४८॥

काल ही प्राणियोंकी सृष्टि करता है और काल ही समस्त प्रजाका संहार करता है। फिर प्रजाका संहार करनेवाले उस कालको महाकालस्वरूप परमात्मा ही शान्त करता है ॥ २४८ ॥

कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान्।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ॥२४९॥

सम्पूर्ण लोकोंमें यह काल ही शुभ-अशुभ सब पदार्थोंका कर्ता है। काल ही सम्पूर्ण प्रजाका संहार करता है और वही पुनः सबकी सृष्टि भी करता है ॥ २४९ ॥

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥२५०॥
अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम्।
तान् कालनिर्मितान् बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥२५१॥

जब सुषुप्ति-अवस्थामें सब इन्द्रियाँ और मनोवृत्तियाँ लीन हो जाती हैं, तब भी यह काल जागता रहता है। कालकी गतिका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें समानरूपसे बेरोक-टोक अपनी क्रिया करता रहता है। इस सृष्टिमें जितने पदार्थ हो चुके, भविष्यमें होंगे और इस समय वर्तमान हैं, वे सब कालकी रचना हैं; ऐसा समझकर आपको अपने विवेकका परित्याग नहीं करना चाहिये ॥ २५०-२५१ ॥

सौतिरुवाच

इत्येवं पुत्रशोकार्तं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
आश्वास्य स्वस्थमकरोत् सूतो गावल्गणिस्तदा ॥२५२॥
अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥२५३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—सूतवंशी संजयने यह सब कहकर पुत्रशोकसे व्याकुल नरपति धृतराष्ट्रको समझाया-बुझाया और उन्हें स्वस्थ किया। इसी इतिहासके आधारपर श्रीकृष्णद्वैपायनने इस परम पुण्यमयी उपनिषद्‌रूप महाभारतका (शोकातुर प्राणियोंका शोक नाश करनेके लिये) निरूपण किया। विद्वज्जन लोकमें और श्रेष्ठतम कवि पुराणोंमें सदासे इसीका वर्णन करते आये हैं ॥ २५२-२५३ ॥

भारताध्ययनं पुण्यमपि पादमधीयतः।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ॥२५४॥

महाभारतका अध्ययन अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला है। जो कोई श्रद्धाके साथ इसके किसी एक श्लोकके एक पादका भी अध्ययन करता है, उसके सब पाप सम्पूर्ण रूपसे मिट जाते हैं॥

देवा देवर्षयो ह्यत्र तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षा महोरगाः ॥२५५॥

इस ग्रन्थरत्नमें शुभ कर्म करनेवाले देवता, देवर्षि, निर्मल ब्रह्मर्षि, यक्ष और महानागोंका वर्णन किया गया है ॥ २५५ ॥

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥२५६॥

इस ग्रन्थके मुख्य विषय हैं स्वयं सनातन परब्रह्मस्वरूप वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण । उन्हींका इसमें संकीर्तन किया गया है । वे ही सत्य, ऋत, पवित्र एवं पुण्य हैं ॥ २५६ ॥

शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम् ।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥२५७॥

वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं और वे ही अविनाशी सनातन ज्योति हैं । मनीषी पुरुष उन्हींकी दिव्य लीलाओंका संकीर्तन किया करते हैं ॥ २५७ ॥

असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते ।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्ममृत्युपुनर्भवाः ॥२५८॥

उन्हींसे असत्, सत् तथा सदसत्—उभयरूप सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है । उन्हींसे संतति (प्रजा), प्रवृत्ति (कर्तव्य-कर्म), जन्म-मृत्यु तथा पुनर्जन्म होते हैं ॥ २५८ ॥

अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम् ।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ॥२५९॥

इस महाभारतमें जीवात्माका स्वरूप भी बतलाया गया है एवं जो सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणोंके कार्यरूप पाँच महाभूत हैं, उनका तथा जो अव्यक्त प्रकृति आदिके मूल कारण परम ब्रह्म परमात्मा हैं, उनका भी भलीभाँति निरूपण किया गया है ॥ २५९ ॥

यत्तद् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥२६०॥

ध्यानयोगकी शक्तिसे सम्पन्न जीवन्मुक्त यतिवर, दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान अपने हृदयमें अवस्थित उन्हीं परमात्माका अनुभव करते हैं ॥ २६० ॥

श्रद्दधानः सदा युक्तः सदा धर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात् प्रमुच्यते ॥२६१॥

जो धर्मपरायण पुरुष श्रद्धाके साथ सर्वदा सावधान रहकर प्रतिदिन इस अध्यायका सेवन करता है, वह पाप-तापसे मुक्त हो जाता है ॥ २६१ ॥

अनुक्रमणिकाध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन् न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥२६२॥

जो आस्तिक पुरुष महाभारतके इस अनुक्रमणिका-अध्यायको आदिसे अन्ततक प्रतिदिन श्रवण करता है, वह संकटकालमें भी दुःखसे अभिभूत नहीं होता ॥ २६२ ॥

उभे संध्ये जपन् किंचित् सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
अनुक्रमण्या यावत् स्यादह्ना रात्र्या च संचितम् ॥२६३॥

जो इस अनुक्रमणिका-अध्यायका कुछ अंश भी प्रातः-सायं अथवा मध्याह्नमें जपता है, वह दिन अथवा रात्रिके समय संचित सम्पूर्ण पापराशिसे तत्काल मुक्त हो जाता है ॥

भारतस्य वपुर्ह्येतत् सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥२६४॥
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ॥२६५॥
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते ।
यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान् पादमन्ततः ॥२६६॥
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठते ।

यह अध्याय महाभारतका मूल शरीर है । यह सत्य एवं अमृत है । जैसे दहीमें नवनीत, मनुष्योंमें ब्राह्मण, वेदोंमें उपनिषद्, ओषधियोंमें अमृत, सरोवरोंमें समुद्र और चौपायोंमें गाय सबसे श्रेष्ठ है, वैसे ही उन्हींके समान इतिहासोंमें यह महाभारत भी है । जो श्राद्धमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको अन्तमें इस अध्यायका एक चौथाई भाग अथवा श्लोकका एक चरण भी सुनाता है, उसके पितरोंको अक्षय अन्न-पानकी प्राप्ति होती है ॥ २६४–२६६½ ॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥२६७॥
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते ॥२६८॥

इतिहास और पुराणोंकी सहायतासे ही वेदोंके अर्थका विस्तार एवं समर्थन करना चाहिये । जो इतिहास एवं पुराणोंसे अनभिज्ञ है, उससे वेद डरते रहते हैं कि कहीं यह मुझपर प्रहार कर देगा । जो विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायनद्वारा कहे हुए इस वेदका दूसरोंको श्रवण कराते हैं, उन्हें मनोवाञ्छित अर्थकी प्राप्ति होती है ॥ २६७-२६८ ॥

भ्रूणहत्यादिकं चापि पापं जह्यादसंशयम् ।
य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि ॥२६९॥
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः ।
यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः ॥२७०॥
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः ।
एकतश्चतुरो वेदान् भारतं चैतदेकतः ॥२७१॥
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ।
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ॥२७२॥
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते ।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम् ॥२७३॥

और इससे भ्रूणहत्या आदि पापोंका भी नाश हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है । जो पवित्र होकर प्रत्येक पर्वपर इस अध्यायका पाठ करता है, उसे सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल मिलता है, ऐसा मेरा निश्चय है । जो पुरुष श्रद्धाके साथ

प्रतिदिन इस महर्षि व्यासप्रणीत ग्रन्थरत्नका श्रवण करता है, उसे दीर्घ आयु, कीर्ति और स्वर्गकी प्राप्ति होती है। प्राचीन कालमें सब देवताओंने इकट्ठे होकर तराजूके एक पलड़ेपर चारों वेदोंको और दूसरेपर महाभारतको रक्खा। परंतु जब यह रहस्यसहित चारों वेदोंकी अपेक्षा अधिक भारी निकला, तभीसे संसारमें यह महाभारतके नामसे कहा जाने लगा। सत्यके तराजूपर तौलनेसे यह ग्रन्थ महत्त्व, गौरव अथवा गम्भीरतामें वेदोंसे भी अधिक सिद्ध हुआ है॥ २६९-२७३॥

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥२७४॥

अतएव महत्ता, भार अथवा गम्भीरताकी विशेषतासे ही इसको महाभारत कहते हैं। जो इस ग्रन्थके निर्वचनको जान लेता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है॥ २७४॥

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः
स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्क-
स्तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥२७५॥

तपस्या निर्मल है, शास्त्रोंका अध्ययन भी निर्मल है, वर्णाश्रमके अनुसार स्वाभाविक वेदोक्त विधि भी निर्मल है और कष्टपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन भी निर्मल है, किंतु वे ही सब विपरीत भावसे किये जानेपर पापमय हैं अर्थात् दूसरेके अनिष्टके लिये किया हुआ तप, शास्त्राध्ययन और वेदोक्त स्वाभाविक कर्म तथा क्लेशपूर्वक उपार्जित धन भी पापयुक्त हो जाता है। (तात्पर्य यह कि इस ग्रन्थरत्नमें भाव-शुद्धिपर विशेष जोर दिया गया है; इसलिये महाभारत-ग्रन्थका अध्ययन करते समय भी भाव शुद्ध रखना चाहिये।)॥२७५॥

इति श्रीमन्महाभारते आदिपर्वणि अनुक्रमणिकापर्वणि प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अनुक्रमणिकापर्वमें पहला अध्याय पूरा हुआ॥ १॥

॥ अनुक्रमणिकापर्व सम्पूर्ण॥

(इस अध्यायमें २७५ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक हैं, कुल योग २८२ श्लोक)

(पर्वसंग्रहपर्व)

द्वितीयोऽध्यायः

समन्तपञ्चकक्षेत्रका वर्णन, अक्षौहिणी सेनाका प्रमाण, महाभारतमें वर्णित पर्वों और उनके संक्षिप्त विषयोंका संग्रह तथा महाभारतके श्रवण एवं पठनका फल

ऋषय ऊचुः

समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन।
एतत् सर्वं यथातत्त्वं श्रोतुमिच्छामहे वयम्॥ १॥

ऋषि बोले—सूतनन्दन! आपने अपने प्रवचनके प्रारम्भमें जो समन्तपञ्चक (कुरुक्षेत्र)की चर्चा की थी, अब हम उस देश (तथा वहाँ हुए युद्ध)के सम्बन्धमें पूर्ण-रूपसे सब कुछ यथावत् सुनना चाहते हैं॥ १॥

सौतिरुवाच

शृणुध्वं मम भो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः।
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः॥ २॥

उग्रश्रवाजीने कहा—साधुशिरोमणि विप्रगण! अब मैं कल्याणदायिनी शुभ कथाएँ कह रहा हूँ; उसे आपलोग सावधान चित्तसे सुनिये और इसी प्रसङ्गमें समन्तपञ्चकक्षेत्र-का वर्णन भी सुन लीजिये॥ २॥

त्रेताद्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतां वरः।
असकृत् पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः॥ ३॥

त्रेता और द्वापरकी सन्धिके समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने क्षत्रियोंके प्रति क्रोधसे प्रेरित होकर अनेकों बार क्षत्रिय राजाओंका संहार किया॥ ३॥

स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रौधिरान् ह्रदान्॥ ४॥

अग्निके समान तेजस्वी परशुरामजीने अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण क्षत्रियवंशका संहार करके समन्तपञ्चकक्षेत्रमें रक्तके पाँच सरोवर बना दिये॥ ४॥

स तेषु रुधिराम्भःसु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः।
पितॄन् संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम्॥ ५॥

क्रोधसे आविष्ट होकर परशुरामजीने उन रक्तरूप जलसे भरे हुए सरोवरोंमें रक्ताञ्जलिके द्वारा अपने पितरोंका तर्पण किया, यह बात हमने सुनी है॥ ५॥

अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो राममब्रुवन्।
राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव॥ ६॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण तव प्रभो।
वरं वृणीष्व भद्रं ते यमिच्छसि महाद्युते॥ ७॥

तदनन्तर, ऋचीक आदि पितृगण परशुरामजी-

के पास आकर बोले—'महाभाग राम ! सामर्थ्यशाली भृगुवंश-भूषण परशुराम !! तुम्हारी इस पितृभक्ति और पराक्रमसे हम बहुत ही प्रसन्न हैं। महाप्रतापी परशुराम ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें जिस वरकी इच्छा हो हमसे माँग लो' ॥ ६-७ ॥

राम उवाच

यदि मे पितरः प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ॥ ८ ॥
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेष मे प्रार्थितो वरः।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः ॥ ९ ॥

परशुरामजीने कहा—यदि आप सब हमारे पितर मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे अपने अनुग्रहका पात्र समझते हैं तो मैंने जो क्रोधवश क्षत्रियवंशका विध्वंस किया है, इस कुकर्मके पापसे मैं मुक्त हो जाऊँ और ये मेरे बनाये हुए सरोवर पृथ्वीमें प्रसिद्ध तीर्थ हो जायँ। यही वर मैं आपलोगोंसे चाहता हूँ ॥ ८-९ ॥

एवं भविष्यतीत्येवं पितरस्तमथाब्रुवन्।
तं क्षमस्वेति निषिषिधुस्ततः स विरराम ह ॥ १० ॥

तदनन्तर 'ऐसा ही होगा' यह कहकर पितरोंने वरदान दिया। साथ ही 'अब बचे-खुचे क्षत्रियवंशको क्षमा कर दो'—ऐसा कहकर उन्हें क्षत्रियोंके संहारसे भी रोक दिया। इसके पश्चात् परशुरामजी शान्त हो गये ॥ १० ॥

तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम्।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं तत् परिकीर्तितम् ॥ ११ ॥

उन रक्तसे भरे सरोवरोंके पास जो प्रदेश है उसे ही समन्तपञ्चक कहते हैं। यह क्षेत्र बहुत ही पुण्यप्रद है ॥ ११ ॥

येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते।
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १२ ॥

जिस चिह्नसे जो देश युक्त होता है और जिससे जिसकी पहचान होती है, विद्वानोंका कहना है कि उस देशका वही नाम रखना चाहिये ॥ १२ ॥

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ १३ ॥

जब कलियुग और द्वापरकी सन्धिका समय आया, तब उसी समन्तपञ्चकक्षेत्रमें कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाओंका परस्पर भीषण युद्ध हुआ ॥ १३ ॥

तस्मिन् परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ॥ १४ ॥

भूमिसम्बन्धी दोषोंसे* रहित उस परम धार्मिक प्रदेशमें युद्ध करनेकी इच्छासे अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ इकट्ठी हुई थीं।

समेत्य तं द्विजास्ताश्च तत्रैव निधनं गताः।
एतन्नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणो ! वे सब सेनाएँ वहाँ इकट्ठी हुई और वहीं नष्ट हो गयीं। द्विजवरो ! इसीसे उस देशका नाम समन्तपञ्चक* पड़ गया ॥ १५ ॥

पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः।
तदेतत् कथितं सर्वं मया ब्राह्मणसत्तमाः।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिषु लोकेषु सुव्रताः ॥ १६ ॥

वह देश अत्यन्त पुण्यमय एवं रमणीय कहा गया है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! तीनों लोकोंमें जिस प्रकार उस देशकी प्रसिद्धि हुई थी, वह सब मैंने आपलोगोंसे कह दिया ॥ १६ ॥

ऋषय ऊचुः

अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन।
एतदिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥ १७ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतनन्दन ! अभी-अभी आपने जो अक्षौहिणी शब्दका उच्चारण किया है, इसके सम्बन्धमें हमलोग सारी बातें यथार्थ रूपसे सुनना चाहते हैं ॥ १७ ॥

अक्षौहिण्याः परीमाणं नराश्वरथदन्तिनाम्।
यथावच्चैव नो ब्रूहि सर्वं हि विदितं तव ॥ १८ ॥

अक्षौहिणी सेनामें कितने पैदल, घोड़े, रथ और हाथी होते हैं ? इसका हमें यथार्थ वर्णन सुनाइये, क्योंकि आपको सब कुछ ज्ञात है ॥ १८ ॥

सौतिरुवाच

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥ १९ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल सैनिक और तीन घोड़े—बस, इन्हींको सेनाके मर्मज्ञ विद्वानोंने 'पत्ति' कहा है ॥ १९ ॥

पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥ २० ॥

इसी पत्तिकी तिगुनी संख्याको विद्वान् पुरुष 'सेनामुख' कहते हैं। तीन 'सेनामुखों'को एक 'गुल्म' कहा जाता है ॥ २० ॥

---

* अधिक नीचा-ऊँचा होना, काँटेदार वृक्षोंसे व्याप्त होना तथा कंकड़-पत्थरोंकी अधिकताका होना आदि भूमिसम्बन्धी दोष माने गये हैं।

* समन्तनामक क्षेत्रमें पाँच कुण्ड या सरोवर होनेसे उस क्षेत्र और उसके समीपवर्ती प्रदेशका भी समन्तपञ्चक नाम हुआ। परंतु उसका समन्त नाम क्यों पड़ा, इसका कारण इस श्लोकमें बता रहे हैं—'समेतानाम् अन्तो यस्मिन् स समन्तः'—समागत सेनाओंका अन्त हुआ हो जिस स्थानपर, उसे समन्त कहते हैं। इसी व्युत्पत्तिके अनुसार वह क्षेत्र समन्त कहलाता है।

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः ।
स्मृतास्तिस्त्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥ २१ ॥

तीन गुल्मका एक 'गण' होता है; तीन गणकी एक 'वाहिनी' होती है और तीन वाहिनियोंको सेनाका रहस्य जाननेवाले विद्वानोंने 'पृतना' कहा है ॥ २१ ॥

चमूस्तु पृतनास्तिस्त्रस्तिस्त्रश्चम्वस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥ २२ ॥

तीन पृतनाकी एक 'चमू', तीन चमूकी एक 'अनीकिनी' और दस अनीकिनीकी एक 'अक्षौहिणी' होती है। यह विद्वानोंका कथन है ॥ २२ ॥

अक्षौहिण्याः प्रसंख्याता रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ २३ ॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ।
गजानां च परीमाणमेतदेव विनिर्दिशेत् ॥ २४ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! गणितके तत्त्वज्ञ विद्वानोंने एक अक्षौहिणी सेनामें रथोंकी संख्या इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर (२१८७०) बतलायी है । हाथियोंकी संख्या भी इतनी ही कहनी चाहिये ॥ २३-२४ ॥

ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु ।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥ २५ ॥

निष्पाप ब्राह्मणो ! एक अक्षौहिणीमें पैदल मनुष्योंकी संख्या एक लाख नौ हजार तीन सौ पचास (१०९३५०) जाननी चाहिये ॥ २५ ॥

पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च ।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥ २६ ॥

एक अक्षौहिणी सेनामें, घोड़ोंकी ठीक-ठीक संख्या पैंसठ हजार छः सौ दस (६५६१०) कही गयी है ॥ २६ ॥

एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः ।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण तपोधनाः ॥ २७ ॥

तपोधनो ! संख्याका तत्त्व जाननेवाले विद्वानोंने इसीको अक्षौहिणी कहा है, जिसे मैंने आपलोगोंको विस्तारपूर्वक बताया है ॥ २७ ॥

एतया संख्यया ह्यासन् कुरुपाण्डवसेनयोः ।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाः पिण्डिताष्टादशैव तु ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इसी गणनाके अनुसार कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओंकी संख्या अठारह अक्षौहिणी थी ॥ २८ ॥

समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः ।
कौरवान् कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ २९ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले कालकी प्रेरणासे समन्तपञ्चक-क्षेत्रमें कौरवोंको निमित्त बनाकर इतनी सेनाएँ इकट्ठी हुईं और वहीं नाशको प्राप्त हो गयीं ॥ २९ ॥

अहानि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित् ।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ॥ ३० ॥

अस्त्र-शस्त्रोंके सर्वोपरि मर्मज्ञ भीष्मपितामहने दस दिनोंतक युद्ध किया, आचार्य द्रोणने पाँच दिनोंतक कौरव-सेनाकी रक्षा की ॥ ३० ॥

अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः ।
शल्योऽर्धदिवसं चैव गदायुद्धमतः परम् ॥ ३१ ॥

शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले वीरवर कर्णने दो दिन युद्ध किया और शल्यने आधे दिनतक। इसके पश्चात् (दुर्योधन और भीमसेनका परस्पर) गदायुद्ध आधे दिनतक होता रहा ॥ ३१ ॥

तस्यैव दिवसस्यान्ते द्रौणिहार्दिक्यगौतमाः ।
प्रसुप्तं निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥ ३२ ॥

अठारहवाँ दिन बीत जानेपर रात्रिके समय अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्यने निःशङ्क सोते हुए युधिष्ठिरके सैनिकोंको मार डाला ॥ ३२ ॥

यत्तु शौनक सत्रे ते भारताख्यानमुत्तमम् ।
जनमेजयस्य तत् सत्रे व्यासशिष्येण धीमता ॥ ३३ ॥
कथितं विस्तरार्थं च यशो वीर्यं महीक्षिताम् ।
पौष्यं तत्र च पौलोममास्तीकं चादितः स्मृतम् ॥ ३४ ॥

शौनकजी ! आपके इस सत्सङ्ग-सत्रमें मैं यह जो उत्तम इतिहास महाभारत सुना रहा हूँ, यही जनमेजयके सर्पयज्ञमें व्यासजीके बुद्धिमान् शिष्य वैशम्पायनजीके द्वारा भी वर्णन किया गया था । उन्होंने बड़े-बड़े नरपतियोंके यश और पराक्रमका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये प्रारम्भमें पौष्य, पौलोम और आस्तीक—इन तीन पर्वोंका स्मरण किया है ॥ ३३-३४ ॥

विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम् ।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥ ३५ ॥

जैसे मोक्ष चाहनेवाले पुरुष पर-वैराग्यकी शरण ग्रहण करते हैं, वैसे ही प्रज्ञावान् मनुष्य अलौकिक अर्थ, विचित्र पद, अद्भुत आख्यान और भाँति-भाँतिकी परस्पर विलक्षण मर्यादाओंसे युक्त इस महाभारतका आश्रय ग्रहण करते हैं ॥ ३५ ॥

आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥ ३६ ॥

जैसे जाननेयोग्य पदार्थोंमें आत्मा, प्रिय पदार्थोंमें अपना जीवन सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप प्रयोजनको पूर्ण करनेवाला यह इतिहास श्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ ३७ ॥

जैसे भोजन किये बिना शरीर-निर्वाह सम्भव नहीं है, वैसे ही इस इतिहासका आश्रय लिये बिना पृथ्वीपर कोई कथा नहीं है ॥

तदेतद् भारतं नाम कविभिस्तूपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजान इवेश्वरः ॥ ३८ ॥

जैसे अपनी उन्नति चाहनेवाले महत्त्वाकाङ्क्षी सेवक अपने कुलीन और सद्भावसम्पन्न स्वामीकी सेवा करते हैं, इसी प्रकार संसारके श्रेष्ठ कवि इस महाभारतकी सेवा करके ही अपने काव्यकी रचना करते हैं ॥ ३८ ॥

इतिहासोत्तमे यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥ ३९ ॥

जैसे लौकिक और वैदिक सब प्रकारके ज्ञानको प्रकाशित करनेवाली सम्पूर्ण वाणी स्वरों एवं व्यञ्जनोंमें समायी रहती है, वैसे ही (लोक, परलोक एवं परमार्थसम्बन्धी) सम्पूर्ण उत्तम विद्या-बुद्धि इस श्रेष्ठ इतिहासमें भरी हुई है ॥ ३९ ॥

तस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ ४० ॥
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ।
पर्वानुक्रमणी पूर्वं द्वितीयः पर्वसंग्रहः ॥ ४१ ॥

यह महाभारत इतिहास ज्ञानका भण्डार है। इसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ और उनका अनुभव करानेवाली युक्तियाँ भरी हुई हैं। इसका एक-एक पद और पर्व आश्चर्यजनक है तथा यह वेदोंके धर्ममय अर्थसे अलंकृत है। अब इसके पर्वोंकी संग्रह-सूची सुनिये। पहले अध्यायमें पर्वानुक्रमणी है और दूसरेमें पर्वसंग्रह ॥ ४०-४१ ॥

पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ।
ततः सम्भवपर्वोक्तमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् पौष्य, पौलोम, आस्तीक और आदि-अंशावतरण पर्व हैं। तदनन्तर सम्भवपर्वका वर्णन है; जो अत्यन्त अद्भुत और रोमाञ्चकारी है ॥ ४२ ॥

दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते ।
ततो बकवधः पर्व पर्व चैत्ररथं ततः ॥ ४३ ॥

इसके पश्चात् जतुगृह (लाक्षाभवन) दाहपर्व है। तदनन्तर हिडिम्बवधपर्व है, फिर बकवध और उसके बाद चैत्ररथपर्व है ॥ ४३ ॥

ततः स्वयंवरो देव्याः पाञ्चाल्याः पर्व चोच्यते ।
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ४४ ॥

उसके बाद पाञ्चालराजकुमारी देवी द्रौपदीके स्वयंवर-पर्वका तथा क्षत्रियधर्मसे सब राजाओंपर विजय-प्राप्तिपूर्वक वैवाहिक-पर्वका वर्णन है ॥ ४४ ॥

विदुरागमनं पर्व राज्यलम्भस्तथैव च ।
अर्जुनस्य वने वासः सुभद्राहरणं ततः ॥ ४५ ॥

विदुरागमन-राज्यलम्भपर्व, तत्पश्चात् अर्जुन-वनवास-पर्व और फिर सुभद्रा-हरणपर्व है ॥ ४५ ॥

सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेया हरणहारिका ।
ततः खाण्डवदाहाख्यं तत्रैव मयदर्शनम् ॥ ४६ ॥

सुभद्राहरणके बाद हरणाहरणपर्व है, पुनः खाण्डवदाह-पर्व है, उसीमें मय-दानवके दर्शनकी कथा है ॥ ४६ ॥

सभापर्व ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व ततः परम् ।
जरासन्धवधः पर्व पर्व दिग्विजयं तथा ॥ ४७ ॥

इसके बाद क्रमशः सभापर्व, मन्त्रपर्व, जरासन्ध-वधपर्व और दिग्विजयपर्वका प्रवचन है ॥ ४७ ॥

पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते ।
ततश्चार्घाभिहरणं शिशुपालवधस्ततः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर राजसूय, अर्घाभिहरण और शिशुपालवध-पर्व कहे गये हैं ॥ ४८ ॥

द्यूतपर्व ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः परम् ।
तत आरण्यकं पर्व किर्मीरवध एव च ॥ ४९ ॥

इसके बाद क्रमशः द्यूत एवं अनुद्यूतपर्व हैं। तत्पश्चात् वनयात्रापर्व तथा किर्मीरवधपर्व है ॥ ४९ ॥

अर्जुनस्याभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम् ॥ ५० ॥

इसके बाद अर्जुनाभिगमनपर्व जानना चाहिये और फिर कैरात-पर्व आता है, जिसमें सर्वेश्वर भगवान् शिव तथा अर्जुनके युद्धका वर्णन है ॥ ५० ॥

इन्द्रलोकाभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
नलोपाख्यानमपि च धार्मिकं करुणोदयम् ॥ ५१ ॥

तत्पश्चात् इन्द्रलोकाभिगमनपर्व है, फिर धार्मिक तथा करुणोत्पादक नलोपाख्यान-पर्व है ॥ ५१ ॥

तीर्थयात्रा ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः ।
जटासुरवधः पर्व यक्षयुद्धमतः परम् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् कुरुराजका तीर्थयात्रा-पर्व, जटासुर-वध-पर्व और उसके बाद यक्ष-युद्धपर्व है ॥ ५२ ॥

निवातकवचैर्युद्धं पर्व चाजगरं ततः ।
मार्कण्डेयसमास्या च पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ५३ ॥

इसके पश्चात् निवातकवच युद्ध, आजगर और मार्कण्डेय-समास्यापर्व क्रमशः कहे गये हैं ॥ ५३ ॥

संवादश्च ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः ।
घोषयात्रा ततः पर्व मृगस्वप्नोद्भवं ततः ॥ ५४ ॥
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च ।
द्रौपदीहरणं पर्व जयद्रथविमोक्षणम् ॥ ५५ ॥

इसके बाद आता है द्रौपदी और सत्यभामाके संवादका पर्व, इसके अनन्तर घोषयात्रा-पर्व है, उसीमें मृगस्वप्नोद्भव और व्रीहिद्रौणिक उपाख्यान है। तदनन्तर इन्द्रद्युम्नका

आख्यान और उसके बाद द्रौपदीहरण-पर्व है । उसीमें जयद्रथविमोक्षण-पर्व है ॥ ५४-५५ ॥

पतिव्रताया माहात्म्यं सावित्र्याश्चैवमद्भुतम् ।
रामोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५६ ॥

इसके बाद पतिव्रता सावित्रीके पातिव्रत्यका अद्भुत माहात्म्य है । फिर इसी स्थानपर रामोपाख्यान-पर्व जानना चाहिये ॥ ५६ ॥

कुण्डलाहरणं पर्व ततः परमिहोच्यते ।
आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनन्तरम् ।
पाण्डवानां प्रवेशश्च समयस्य च पालनम् ॥ ५७ ॥

इसके बाद क्रमशः कुण्डलाहरण और आरणेय-पर्व कहे गये हैं । तदनन्तर विराटपर्वका आरम्भ होता है, जिसमें पाण्डवोंके नगर-प्रवेश और समय-पालनसम्बन्धी पर्व हैं ॥ ५७ ॥

कीचकानां वधः पर्व पर्व गोग्रहणं ततः ।
अभिमन्योश्च वैराटय्याः पर्व वैवाहिकं स्मृतम् ॥ ५८ ॥

इसके बाद कीचक-वध-पर्व, गोग्रहण (गोहरण) पर्व तथा अभिमन्यु और उत्तराके विवाहका पर्व है ॥ ५८ ॥

उद्योगपर्व विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम् ।
ततः संजययानाख्यं पर्व ज्ञेयमतः परम् ॥ ५९ ॥
प्रजागरं तथा पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ।
पर्व सानत्सुजातं वै गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ॥ ६० ॥

इसके पश्चात् परम अद्भुत उद्योग-पर्व समझना चाहिये । इसीमें सञ्जययान-पर्व कहा गया है । तदनन्तर चिन्ताके कारण धृतराष्ट्रके रातभर जागनेसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रजागर-पर्व समझना चाहिये । तत्पश्चात् वह प्रसिद्ध सनत्सुजात-पर्व है, जिसमें अत्यन्त गोपनीय अध्यात्मदर्शनका समावेश हुआ है ॥ ५९-६० ॥

यानसन्धिस्ततः पर्व भगवद्यानमेव च ।
मातलीयमुपाख्यानं चरितं गालवस्य च ॥ ६१ ॥
सावित्रं वामदेव्यं च वैन्योपाख्यानमेव च ।
जामदग्न्यमुपाख्यानं पर्व षोडशराजिकम् ॥ ६२ ॥

इसके पश्चात् यानसन्धि तथा भगवद्यान-पर्व है, इसीमें मातलिका उपाख्यान, गालव-चरित, सावित्र, वामदेव तथा वैन्य-उपाख्यान, जामदग्न्य और षोडशराजिक-उपाख्यान आते हैं ॥ ६१-६२ ॥

सभाप्रवेशः कृष्णस्य विदुलापुत्रशासनम् ।
उद्योगः सैन्यनिर्याणं विश्वोपाख्यानमेव च ॥ ६३ ॥

फिर श्रीकृष्णका सभा-प्रवेश, विदुलाका अपने पुत्रके प्रति उपदेश, युद्धका उद्योग, सैन्य-निर्याण तथा विश्वोपाख्यान-- इनका क्रमशः उल्लेख हुआ है ॥ ६३ ॥

ज्ञेयं विवादपर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणं च ततः पर्व कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ६४ ॥

इसी प्रसङ्गमें महात्मा कर्णका विवाद-पर्व है । तदनन्तर कौरव एवं पाण्डव-सेनाका निर्याण-पर्व है ॥ ६४ ॥

रथातिरथसंख्या च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
उलूकदूतागमनं पर्वामर्षविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

तत्पश्चात् रथातिरथ-संख्यापर्व और उसके बाद क्रोधकी आग प्रज्वलित करनेवाला उलूकदूतागमन-पर्व है ॥ ६५ ॥

अम्बोपाख्यानमत्रैव पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
भीष्माभिषेचनं पर्व ततश्चाद्भुतमुच्यते ॥ ६६ ॥

इसके बाद ही अम्बोपाख्यान-पर्व है । तत्पश्चात् अद्भुत भीष्माभिषेचन-पर्व कहा गया है ॥ ६६ ॥

जम्बूखण्डविनिर्माणं पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व ततः प्रोक्तं द्वीपविस्तारकीर्तनम् ॥ ६७ ॥

इसके आगे जम्बूखण्ड-विनिर्माण-पर्व है । तदनन्तर भूमि-पर्व कहा गया है, जिसमें द्वीपोंके विस्तारका कीर्तन किया गया है ॥

पर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः ।
द्रोणाभिषेचनं पर्व संशप्तकवधस्ततः ॥ ६८ ॥

इसके बाद क्रमशः भगवद्गीता, भीष्म-वध, द्रोणाभिषेक तथा संशप्तकवध-पर्व हैं ॥ ६८ ॥

अभिमन्युवधः पर्व प्रतिज्ञापर्व चोच्यते ।
जयद्रथवधः पर्व घटोत्कचवधस्ततः ॥ ६९ ॥

इसके बाद अभिमन्युवध-पर्व, प्रतिज्ञा-पर्व, जयद्रथ-वध-पर्व और घटोत्कचवध-पर्व हैं ॥ ६९ ॥

ततो द्रोणवधः पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ७० ॥

फिर रोंगटे खड़े कर देनेवाला द्रोणवध-पर्व जानना चाहिये । तदनन्तर नारायणास्त्र-मोक्षपर्व कहा गया है ॥ ७० ॥

कर्णपर्व ततो ज्ञेयं शल्यपर्व ततः परम् ।
ह्रदप्रवेशनं पर्व गदायुद्धमतः परम् ॥ ७१ ॥

फिर कर्ण-पर्व और उसके बाद शल्य-पर्व है । इसी पर्वमें ह्रद-प्रवेश और गदायुद्ध-पर्व भी हैं ॥ ७१ ॥

सारस्वतं ततः पर्व तीर्थवंशानुकीर्तनम् ।
अत ऊर्ध्वं सुबीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते ॥ ७२ ॥

तदनन्तर सारस्वत-पर्व है, जिसमें तीर्थों और वंशोंका वर्णन किया गया है । इसके बाद है अत्यन्त बीभत्स सौप्तिकपर्व ॥

ऐषीकं पर्व चोद्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ।
जलप्रदानिकं पर्व स्त्रीविलापस्ततः परम् ॥ ७३ ॥

इसके बाद अत्यन्त दारुण ऐषीक-पर्वकी कथा है । फिर जलप्रदानिक और स्त्रीविलाप-पर्व आते हैं ॥ ७३ ॥

श्राद्धपर्व ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदेहिकम् ।
चार्वाकनिग्रहः पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ॥ ७४ ॥

तत्पश्चात् श्राद्ध-पर्व है, जिसमें मृत कौरवोंकी अन्त्येष्टि-क्रियाका वर्णन है। उसके बाद ब्राह्मण-वेषधारी राक्षस चार्वाक-के निग्रहका पर्व है ॥ ७४ ॥

आभिषेचनिकं पर्व धर्मराजस्य धीमतः।
प्रविभागो गृहाणां च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ॥ ७५ ॥

तदनन्तर धर्मबुद्धिसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके अभिषेकका पर्व है तथा इसके पश्चात् गृह-प्रविभाग-पर्व है ॥ ७५ ॥

शान्तिपर्व ततो यत्र राजधर्मानुशासनम्।
आपद्धर्मश्च पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः परम् ॥ ७६ ॥

इसके बाद शान्तिपर्व प्रारम्भ होता है; जिसमें राज-धर्मानुशासन, आपद्धर्म और मोक्षधर्म-पर्व हैं ॥ ७६ ॥

शुकप्रश्नाभिगमनं ब्रह्मप्रश्नानुशासनम्।
प्रादुर्भावश्च दुर्वासः संवादश्चैव मायया ॥ ७७ ॥

फिर शुकप्रश्नाभिगमन, ब्रह्मप्रश्नानुशासन, दुर्वासाका प्रादुर्भाव और मायासंवाद-पर्व हैं ॥ ७७ ॥

ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं परम्।
स्वर्गारोहणिकं चैव ततो भीष्मस्य धीमतः ॥ ७८ ॥

इसके बाद धर्माधर्मका अनुशासन करनेवाला—आनुशासनिक पर्व है, तदनन्तर बुद्धिमान् भीष्मजीका स्वर्गा-रोहण-पर्व है ॥ ७८ ॥

ततोऽऽश्वमेधिकं पर्व सर्वपापप्रणाशनम्।
अनुगीता ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ॥ ७९ ॥

अब आता है आश्वमेधिक पर्व, जो सम्पूर्ण पापोंका नाशक है। उसीमें अनुगीतापर्व है, जिसमें अध्यात्मज्ञानका सुन्दर निरूपण हुआ है ॥ ७९ ॥

पर्व चाश्रमवासाख्यं पुत्रदर्शनमेव च।
नारदागमनं पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ८० ॥

इसके बाद आश्रमवासिक, पुत्रदर्शन और तदनन्तर नारदागमन-पर्व कहे गये हैं ॥ ८० ॥

मौसलं पर्व चोद्दिष्टं ततो घोरं सुदारुणम्।
महाप्रस्थानिकं पर्व स्वर्गारोहणिकं ततः ॥ ८१ ॥

इसके बाद है अत्यन्त भयानक एवं दारुण मौसल-पर्व। तत्पश्चात् महाप्रस्थान-पर्व और स्वर्गारोहण-पर्व आते हैं ॥८१॥

हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम्।
विष्णुपर्व शिशोश्चर्या विष्णोः कंसवधस्तथा ॥ ८२ ॥

इसके बाद हरिवंश-पर्व है, जिसे खिल (परिशिष्ट) पुराण भी कहते हैं, इसमें विष्णुपर्व, श्रीकृष्णकी बाललीला एवं कंस-वधका वर्णन है ॥ ८२ ॥

भविष्यपर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत्।
एतत् पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना ॥ ८३ ॥

इस खिल-पर्वमें भविष्यपर्व भी कहा गया है, जो महान् अद्भुत है। महात्मा श्रीव्यासजीने इस प्रकार पूरे सौ पर्वोंकी रचना की है ॥ ८३ ॥

यथावत् सूतपुत्रेण लौमहर्षणिना ततः।
उक्तानि नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु ॥ ८४ ॥

सूतवंशशिरोमणि लोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवाजीने व्यासजी-की रचना पूर्ण हो जानेपर नैमिषारण्य-क्षेत्रमें इन्हीं सौ पर्वों-को अठारह पर्वोंके रूपमें सुव्यवस्थित करके ऋषियोंके सामने कहा ॥ ८४ ॥

समासो भारतस्यायमत्रोक्तः पर्वसंग्रहः।
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिरंशावतारणम् ॥ ८५ ॥
सम्भवो जतुवेश्माख्यं हिडिम्बबकयोर्वधः।
तथा चैत्ररथं देव्याः पाञ्चाल्याश्च स्वयंवरः ॥ ८६ ॥
क्षात्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम्।
विदुरागमनं चैव राज्यलम्भस्तथैव च ॥ ८७ ॥
वनवासोऽर्जुनस्यापि सुभद्राहरणं ततः।
हरणाहरणं चैव दहनं खाण्डवस्य च ॥ ८८ ॥
मयस्य दर्शनं चैव आदिपर्वणि कथ्यते।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपसे महाभारतके पर्वोंका संग्रह बताया गया है। पौष्य, पौलोम, आस्तीक, आदि- अंशावतरण, सम्भव, लाक्षागृह, हिडिम्ब-वध, बक-वध, चैत्ररथ, देवी द्रौपदीका स्वयंवर, क्षत्रियधर्मसे राजाओंपर विजय-प्राप्तिपूर्वक वैवाहिक विधि, विदुरागमन, राज्यलम्भ, अर्जुनका वनवास, सुभद्राका हरण, हरणाहरण, खाण्डव-दाह तथा मय दानवसे मिलनेका प्रसङ्ग—यहाँतककी कथा आदिपर्वमें कही गयी है॥८५—८८½॥

पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम् ॥ ८९ ॥
पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परिकीर्तितः।
आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च सम्भवः ॥ ९० ॥

पौष्य-पर्वमें उत्तङ्कके माहात्म्यका वर्णन है। पौलोमपर्वमें भृगुवंशके विस्तारका वर्णन है। आस्तीकपर्वमें सब नागों तथा गरुड़की उत्पत्तिकी कथा है ॥ ८९-९० ॥

क्षीरोदमथनं चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा।
यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च ॥ ९१ ॥
कथेयमभिनिर्वृत्ता भरतानां महात्मनाम्।
विविधाः सम्भवा राज्ञामुक्ताः सम्भवपर्वणि ॥ ९२ ॥
अन्येषां चैव शूराणामृषेर्द्वैपायनस्य च।
अंशावतरणं चात्र देवानां परिकीर्तितम् ॥ ९३ ॥

इसी पर्वमें क्षीरसागरके मन्थन और उच्चैःश्रवा घोड़ेके जन्मकी भी कथा है। परीक्षित्-नन्दन राजा जनमेजयके सर्प-यज्ञमें इन भरतवंशी महात्मा राजाओंकी कथा कही गयी है। सम्भवपर्वमें राजाओंके भिन्न-भिन्न प्रकारके जन्मसम्बन्धी

वृत्तान्तोंका वर्णन है। इसीमें दूसरे शूरवीरों तथा महर्षि द्वैपायनके जन्मकी कथा भी है। यहीं देवताओंके अंशावतरणकी कथा कही गयी है ॥ ९१–९३ ॥

दैत्यानां दानवानां च यक्षाणां च महौजसाम्।
नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्त्रिणाम् ॥ ९४ ॥
अन्येषां चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः।
महर्षेराश्रमपदे कण्वस्य च तपस्विनः ॥ ९५ ॥
शकुन्तलायां दुष्यन्ताद् भरतश्चापि जज्ञिवान्।
यस्य लोकेषु नाम्नेदं प्रथितं भारतं कुलम् ॥ ९६ ॥

इसी पर्वमें अत्यन्त प्रभावशाली दैत्य, दानव, यक्ष, नाग, सर्प, गन्धर्व और पक्षियों तथा अन्य विविध प्रकारके प्राणियोंकी उत्पत्तिका वर्णन है। परम तपस्वी महर्षि कण्वके आश्रममें दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाके गर्भसे भरतके जन्मकी कथा भी इसीमें है। उन्हीं महात्मा भरतके नामसे यह भरतवंश संसारमें प्रसिद्ध हुआ है ॥ ९४–९६ ॥

वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम्।
शान्तनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि ॥ ९७ ॥

इसके बाद महाराज शान्तनुके गृहमें भागीरथी गङ्गाके गर्भसे महात्मा वसुओंकी उत्पत्ति एवं फिरसे उनके स्वर्गमें जानेका वर्णन किया गया है ॥ ९७ ॥

तेजोंऽशानां च सम्पातो भीष्मस्याप्यत्र सम्भवः।
राज्यान्निवर्तनं तस्य ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः ॥ ९८ ॥
प्रतिज्ञापालनं चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः ॥ ९९ ॥
विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये सम्प्रतिपादनम्।
धर्मस्य नृषु सम्भूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥१००॥
कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च सम्भवः ॥१०१॥

इसी पर्वमें वसुओंके तेजके अंशभूत भीष्मके जन्मकी कथा भी है। उनकी राज्यभोगसे निवृत्ति, आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित रहनेकी प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञापालन, चित्राङ्गदकी रक्षा और चित्राङ्गदकी मृत्यु हो जानेपर छोटे भाई विचित्रवीर्यकी रक्षा, उन्हें राज्य-समर्पण, अणीमाण्डव्यके शापसे भगवान् धर्मकी विदुरके रूपमें मनुष्योंमें उत्पत्ति, श्रीकृष्णद्वैपायनके वरदानके कारण धृतराष्ट्र एवं पाण्डुका जन्म और इसी प्रसङ्गमें पाण्डवोंकी उत्पत्ति-कथा भी है ॥ ९८–१०१ ॥

वारणावतयात्रायां मन्त्रो दुर्योधनस्य च।
कूटस्य धार्तराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति ॥१०२॥
हितोपदेशश्च पथि धर्मराजस्य धीमतः।
विदुरेण कृतो यत्र हितार्थं म्लेच्छभाषया ॥१०३॥

लाक्षागृह-दाहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावत-यात्राके प्रसङ्गमें दुर्योधनके गुप्त षड्यन्त्रका वर्णन है। उसका पाण्डवोंके पास कूटनीतिज्ञ पुरोचनको भेजनेका भी प्रसङ्ग है। मार्गमें विदुरजीने बुद्धिमान् युधिष्ठिरके हितके लिये म्लेच्छभाषामें जो हितोपदेश किया, उसका भी वर्णन है ॥ १०२-१०३ ॥

विदुरस्य च वाक्येन सुरङ्गोपक्रमक्रिया।
निषाद्याः पञ्चपुत्रायाः सुप्ताया जतुवेश्मनि ॥१०४॥
पुरोचनस्य चात्रैव दहनं सम्प्रकीर्तितम्।
पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम् ॥१०५॥
तत्रैव च हिडिम्बस्य वधो भीमान्महाबलात्।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ॥१०६॥

फिर विदुरकी बात मानकर सुरंग खुदवानेका कार्य आरम्भ किया गया। उसी लाक्षागृहमें अपने पाँच पुत्रोंके साथ सोती हुई एक भीलनी और पुरोचन भी जल मरे—यह सब कथा कही गयी है। हिडिम्बवधपर्वमें घोर वनके मार्गसे यात्रा करते समय पाण्डवोंको हिडिम्बाके दर्शन, महाबली भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासुरके वध तथा घटोत्कचके जन्मकी कथा कही गयी है ॥ १०४-१०६ ॥

महर्षेर्दर्शनं चैव व्यासस्यामिततेजसः।
तदाज्ञयैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥१०७॥
अज्ञातचर्यया वासो यत्र तेषां प्रकीर्तितः।
बकस्य निधनं चैव नागराणां च विस्मयः ॥१०८॥

अमिततेजस्वी महर्षि व्यासका पाण्डवोंसे मिलना और उनकी आज्ञासे एकचक्रा नगरीमें ब्राह्मणके घर पाण्डवोंके गुप्त निवासका वर्णन है। वहीं रहते समय उन्होंने बकासुरका वध किया, जिससे नागरिकोंको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ ॥ १०७-१०८ ॥

सम्भवश्चैव कृष्णाया धृष्टद्युम्नस्य चैव ह।
ब्राह्मणात् समुपश्रुत्य व्यासवाक्यप्रचोदिताः ॥१०९॥
द्रौपदीं प्रार्थयन्तस्ते स्वयंवरदिदृक्षया।
पञ्चालानभितो जग्मुर्यत्र कौतूहलान्विताः ॥११०॥

इसके अनन्तर कृष्णा द्रौपदी और उसके भाई धृष्टद्युम्नकी उत्पत्तिका वर्णन है। जब पाण्डवोंको ब्राह्मणके मुखसे यह संवाद मिला, तब वे महर्षि व्यासकी आज्ञासे द्रौपदीकी प्राप्तिके लिये कौतूहलपूर्ण चित्तसे स्वयंवर देखने पाञ्चाल देशकी ओर चल पड़े ॥ १०९-११० ॥

अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा।
सख्यं कृत्वा ततस्तेन तस्मादेव च शुश्रुवे ॥१११॥
तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम्।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पञ्चालानभितो ययौ ॥११२॥
पाञ्चालनगरे चापि लक्ष्यं भित्त्वा धनंजयः।
द्रौपदीं लब्धवानत्र मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ॥११३॥
भीमसेनार्जुनौ यत्र संरब्धान् पृथिवीपतीन्।
शल्यकर्णौ च तरसा जितवन्तौ महामृधे ॥११४॥

चैत्ररथ-पर्वमें गङ्गाके तटपर अर्जुनने अङ्गारपर्ण गन्धर्व-को जीतकर उससे मित्रता कर ली और उसीके मुखसे तपती, वसिष्ठ और और्वके उत्तम आख्यान सुने। फिर अर्जुनने वहाँसे अपने सभी भाइयोंके साथ पाञ्चालकी ओर यात्रा की। तदनन्तर अर्जुनने पाञ्चालनगरके बड़े-बड़े राजाओंसे भरी सभामें लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त किया—यह कथा भी इसी पर्वमें है। वहीं भीमसेन और अर्जुनने रणाङ्गणमें युद्धके लिये संनद्ध क्रोधान्ध राजाओंको तथा शल्य और कर्णको भी अपने पराक्रमसे पराजित कर दिया ॥ १११–११४ ॥

दृष्ट्वा तयोश्च तद्वीर्यमप्रमेयममानुषम्।
शङ्कमानौ पाण्डवांस्तान् रामकृष्णौ महामती ॥ ११५ ॥
जग्मतुस्तैः समागन्तुं शालां भार्गववेश्मनि।
पञ्चानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च ॥ ११६ ॥

महामति बलराम एवं भगवान् श्रीकृष्णने जब भीमसेन एवं अर्जुनके अपरिमित और अतिमानुष बल-वीर्यको देखा, तब उन्हें यह शङ्का हुई कि कहीं ये पाण्डव तो नहीं हैं। फिर वे दोनों उनसे मिलनेके लिये कुम्हारके घर आये। इसके पश्चात् द्रुपदने 'पाँचों पाण्डवोंकी एक ही पत्नी कैसे हो सकती है' इस सम्बन्धमें विचार-विमर्श किया ॥ ११५-११६ ॥

पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते ।
द्रौपद्या देवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः ॥ ११७ ॥

इसी वैवाहिक-पर्वमें पाँच इन्द्रोंका अद्भुत उपाख्यान और द्रौपदीके देवविहित तथा मनुष्य-परम्पराके विपरीत विवाहका वर्णन हुआ है ॥ ११७ ॥

क्षत्तुश्च धृतराष्ट्रेण प्रेषणं पाण्डवान् प्रति।
विदुरस्य च सम्प्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च ॥ ११८ ॥

इसके बाद धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके पास विदुरजीको भेजा है, विदुरजी पाण्डवोंसे मिले हैं तथा उन्हें श्रीकृष्णका दर्शन हुआ है ॥ ११८ ॥

खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धसर्जनम्।
नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया ॥ ११९ ॥

इसके पश्चात् धृतराष्ट्रका पाण्डवोंको आधा राज्य देना, इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंका निवास करना एवं नारदजीकी आज्ञासे द्रौपदीके पास आने-जानेके सम्बन्धमें समय-निर्धारण आदि विषयोंका वर्णन है ॥ ११९ ॥

सुन्दोपसुन्दयोस्तद्वदाख्यानं परिकीर्तितम्।
अनन्तरं च द्रौपद्या सहासीनं युधिष्ठिरम् ॥ १२० ॥
अनुप्रविश्य विप्रार्थे फाल्गुनो गृह्य चायुधम्।
मोक्षयित्वा गृहं गत्वा विप्रार्थे कृतनिश्चयः ॥ १२१ ॥
समयं पालयन् वीरो वनं यत्र जगाम ह।
पार्थस्य वनवासे च उलूप्या पथि संगमः ॥ १२२ ॥

इसी प्रसङ्गमें सुन्द और उपसुन्दके उपाख्यानका भी वर्णन है। तदनन्तर एक दिन धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ बैठे हुए थे। अर्जुनने ब्राह्मणके लिये नियम तोड़कर वहाँ प्रवेश किया और अपने आयुध लेकर ब्राह्मणकी वस्तु उसे प्राप्त करा दी और दृढ़ निश्चय करके वीरताके साथ मर्यादापालनके लिये वनमें चले गये। इसी प्रसङ्गमें यह कथा भी कही गयी है कि वनवासके अवसरपर मार्गमें ही अर्जुन और उलूपीका मेल-मिलाप हो गया ॥ १२०–१२२ ॥

पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च।
तत्रैव मोक्षयामास पञ्च सोऽप्सरसः शुभाः ॥ १२३ ॥
शापाद् ग्राहत्वमापन्ना ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
प्रभासतीर्थे पार्थेन कृष्णस्य च समागमः ॥ १२४ ॥

इसके बाद अर्जुनने पवित्र तीर्थोंकी यात्रा की है। इसी समय चित्राङ्गदाके गर्भसे बभ्रुवाहनका जन्म हुआ है और इसी यात्रामें उन्होंने पाँच शुभ अप्सराओंको मुक्तिदान किया, जो एक तपस्वी ब्राह्मणके शापसे ग्राह हो गयी थीं। फिर प्रभासतीर्थ-में श्रीकृष्ण और अर्जुनके मिलनका वर्णन है ॥ १२३-१२४ ॥

द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन कामिनी।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना ॥ १२५ ॥

तत्पश्चात् यह बताया गया है कि द्वारकामें सुभद्रा और अर्जुन परस्पर एक दूसरेपर आसक्त हो गये, उसके बाद श्रीकृष्णकी अनुमतिसे अर्जुनने सुभद्राको हर लिया ॥ १२५ ॥

गृहीत्वा हरणं प्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने।
अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः ॥ १२६ ॥

तदनन्तर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके दहेज लेकर पाण्डवोंके पास पहुँचनेकी और सुभद्राके गर्भसे परम तेजस्वी वीर बालक अभिमन्युके जन्मकी कथा है ॥ १२६ ॥

द्रौपद्यास्तनयानां च सम्भवोऽनुप्रकीर्तितः।
विहारार्थं च गतयोः कृष्णयोर्यमुनामनु ॥ १२७ ॥
सम्प्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम्।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद् भुजङ्गस्य च मोक्षणम् ॥ १२८ ॥

इसके पश्चात् द्रौपदीके पुत्रोंकी उत्पत्तिकी कथा है। तदनन्तर, जब श्रीकृष्ण और अर्जुन यमुनाजीके तटपर विहार करनेके लिये गये हुए थे, तब उन्हें जिस प्रकार चक्र और धनुषकी प्राप्ति हुई, उसका वर्णन है। साथ ही खाण्डव वनके दाह, मयदानवके छुटकारे और अग्निकाण्डसे सर्पके सर्वथा बच जानेका वर्णन हुआ है ॥ १२७-१२८ ॥

महर्षेर्मन्दपालस्य शार्ङ्ग्यां तनयसम्भवः।
इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम् ॥ १२९ ॥

इसके बाद महर्षि मन्दपालका शार्ङ्गी पक्षीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करनेकी कथा है। इस प्रकार इस अत्यन्त विस्तृत आदिपर्वका सबसे प्रथम निरूपण हुआ है ॥ १२९ ॥

अध्यायानां शतं द्वे तु संख्यातं परमर्षिणा ।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥१३०॥

परमर्षि एवं परम तेजस्वी महर्षि व्यासने इस पर्वमें दो सौ सत्ताईस (२२७) अध्यायोंकी रचना की है॥ १३०॥

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्मुनिनोक्ता महात्मना ॥१३१॥

महात्मा व्यास मुनिने इन दो सौ सत्ताईस अध्यायोंमें आठ हजार आठ सौ चौरासी (८८८४) श्लोक कहे हैं ॥१३१॥

द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सभाक्रिया पाण्डवानां किङ्कराणां च दर्शनम् ॥१३२॥
लोकपालसभाख्यानं नारदाद् देवदर्शिनः ।
राजसूयस्य चारम्भो जरासन्धवधस्तथा ॥१३३॥
गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोक्षणम् ।
तथा दिग्विजयोऽत्रैव पाण्डवानां प्रकीर्तितः ॥१३४॥

दूसरा सभापर्व है । इसमें बहुत-से वृत्तान्तोंका वर्णन है। पाण्डवोंका सभानिर्माण, किङ्कर नामक राक्षसोंका दीखना, देवर्षि नारदद्वारा लोकपालोंकी सभाका वर्णन, राजसूय यज्ञका आरम्भ एवं जरासन्ध-वध, गिरिव्रजमें बंदी राजाओंका श्रीकृष्ण-के द्वारा छुड़ाया जाना और पाण्डवोंकी दिग्विजयका भी इसी सभापर्वमें वर्णन किया गया है ॥ १३२–१३४ ॥

राज्ञामागमनं चैव सार्हणानां महाक्रतौ ।
राजसूयेऽर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ॥१३५॥

राजसूय महायज्ञमें उपहार ले-लेकर राजाओंके आगमन तथा पहले किसकी पूजा हो इस विषयको लेकर छिड़े हुए विवादमें शिशुपालके वधका प्रसङ्ग भी इसी सभापर्वमें आया है॥

यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च ।
दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभातले ॥१३६॥

यज्ञमें पाण्डवोंका यह वैभव देखकर दुर्योधन दुःख और ईर्ष्यासे मन-ही-मनमें जलने लगा । इसी प्रसङ्गमें सभा-भवनके सामने समतल भूमिपर भीमसेनने उसका उपहास किया॥

यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत् ।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोऽजयत् ॥१३७॥

उसी उपहासके कारण दुर्योधनके हृदयमें क्रोधाग्नि जल उठी । जिसके कारण उसने जूएके खेलका षड्यन्त्र रचा । इसी जूएमें कपटी शकुनिने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको जीत लिया ॥

यत्र द्यूतार्णवे मग्नां द्रौपदीं नौरिवार्णवात् ।
धृतराष्ट्रो महाप्राज्ञः स्नुषां परमदुःखिताम् ॥१३८॥
तारयामास तांस्तीर्णान् ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ॥१३९॥

जैसे समुद्रमें डूबी हुई नौकाको कोई फिरसे निकाल ले, वैसे ही द्यूतके समुद्रमें डूबी हुई परमदुःखिनी पुत्रवधू द्रौपदीको परम बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने निकाल लिया । जब राजा दुर्योधनको जूएकी विपत्तिसे पाण्डवोंके बच जानेका समाचार मिला, तब उसने पुनः उन्हें (पितासे आग्रह करके) जूएके लिये बुलवाया ॥ १३८-१३९ ॥

जित्वा स वनवासाय प्रेषयामास तांस्ततः ।
एतत् सर्वं सभापर्व समाख्यातं महात्मना ॥१४०॥

दुर्योधनने उन्हें जूएमें जीतकर वनवासके लिये भेज दिया। महर्षि व्यासने सभापर्वमें यही सब कथा कही है॥१४०॥

अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्च श्लोकशतानि च ॥१४१॥
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाः पर्वण्यस्मिन् द्विजोत्तमाः ।
अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ॥१४२॥

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस पर्वमें अध्यायोंकी संख्या अठहत्तर (७८) है और श्लोकोंकी संख्या दो हजार पाँच सौ ग्यारह (२५११) बतायी गयी है । इसके पश्चात् महत्त्वपूर्ण वन-पर्वका आरम्भ होता है ॥ १४१-१४२ ॥

वनवासं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
पौरानुगमनं चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥१४३॥

जिस समय महात्मा पाण्डव वनवासके लिये यात्रा कर रहे थे, उस समय बहुत-से पुरवासी लोग बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके पीछे-पीछे चलने लगे ॥ १४३ ॥

अन्नौषधीनां च कृते पाण्डवेन महात्मना ।
द्विजानां भरणार्थं च कृतमाराधनं रवेः ॥१४४॥

महात्मा युधिष्ठिरने पहले अनुयायी ब्राह्मणोंके भरण-पोषणके लिये अन्न और ओषधियाँ प्राप्त करनेके उद्देश्यसे सूर्य भगवान्‌की आराधना की ॥ १४४ ॥

धौम्योपदेशात् तिग्मांशुप्रसादादन्नसम्भवः ।
हितं च ब्रुवतः क्षत्तुः परित्यागोऽम्बिकासुतात् ॥१४५॥
त्यक्तस्य पाण्डुपुत्राणां समीपगमनं तथा ।
पुनरागमनं चैव धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१४६॥
कर्णप्रोत्साहनाच्चैव धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
वनस्थान् पाण्डवान् हन्तुं मन्त्रो दुर्योधनस्य च ॥१४७॥

महर्षि धौम्यके उपदेशसे उन्हें सूर्य भगवान्‌की कृपा प्राप्त हुई और अक्षय अन्नका पात्र मिला। उधर विदुरजी धृतराष्ट्रको हितकारी उपदेश कर रहे थे, परंतु धृतराष्ट्रने उनका परित्याग कर दिया । धृतराष्ट्रके परित्यागपर विदुरजी पाण्डवोंके पास चले गये और फिर धृतराष्ट्रका आदेश प्राप्त होनेपर उनके पास लौट आये । धृतराष्ट्रनन्दन दुर्मति दुर्योधनने कर्णके प्रोत्साहनसे वनवासी पाण्डवोंको मार डालनेका विचार किया ॥ १४५–१४७ ॥

तं दुष्टभावं विज्ञाय व्यासस्यागमनं द्रुतम्।
निर्याणप्रतिषेधश्च सुरभ्याख्यानमेव च ॥१४८॥

दुर्योधनके इस दूषित भावको जानकर महर्षि व्यास झटपट वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने दुर्योधनकी यात्राका निषेध कर दिया। इसी प्रसङ्गमें सुरभिका आख्यान भी है ॥ १४८ ॥

मैत्रेयागमनं चात्र राज्ञश्चैवानुशासनम्।
शापोत्सर्गश्च तेनैव राज्ञो दुर्योधनस्य च ॥१४९॥

मैत्रेय ऋषिने आकर राजा धृतराष्ट्रको उपदेश किया और उन्होंने ही राजा दुर्योधनको शाप दे दिया ॥ १४९ ॥

किर्मीरस्य वधश्चात्र भीमसेनेन संयुगे।
वृष्णीनामागमश्चात्र पञ्चालानां च सर्वशः ॥१५०॥

इसी पर्वमें यह कथा है कि युद्धमें भीमसेनने किर्मीरको मार डाला। पाण्डवोंके पास वृष्णिवंशी और पाञ्चाल आये। पाण्डवोंने उन सबके साथ वार्तालाप किया ॥ १५० ॥

श्रुत्वा शकुनिना द्यूते निकृत्या निर्जितांश्च तान्।
क्रुद्धस्यानुप्रशमनं हरेश्चैव किरीटिना ॥१५१॥

जब श्रीकृष्णने यह सुना कि शकुनिने जूएमें पाण्डवोंको कपटसे हरा दिया है, तब वे अत्यन्त क्रोधित हुए; परंतु अर्जुनने हाथ जोड़कर उन्हें शान्त किया ॥ १५१ ॥

परिदेवनं च पाञ्चाल्या वासुदेवस्य संनिधौ।
आश्वासनं च कृष्णेन दुःखार्तायाः प्रकीर्तितम् ॥१५२॥

द्रौपदी श्रीकृष्णके पास बहुत रोयी-कलपी। श्रीकृष्णने दुःखार्त द्रौपदीको आश्वासन दिया। यह सब कथा वनपर्वमें है ॥ १५२ ॥

तथा सौभवधाख्यानमत्रैवोक्तं महर्षिणा।
सुभद्रायाः सपुत्रायाः कृष्णेन द्वारकां पुरीम् ॥१५३॥
नयनं द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्नेन चैव ह।
प्रवेशः पाण्डवेयानां रम्ये द्वैतवने ततः ॥१५४॥

इसी पर्वमें महर्षि व्यासने सौभवधकी कथा कही है। श्रीकृष्ण सुभद्राको पुत्रसहित द्वारकामें ले गये। धृष्टद्युम्न द्रौपदीके पुत्रोंको अपने साथ लिवा ले गये। तदनन्तर पाण्डवोंने परम रमणीय द्वैतवनमें प्रवेश किया ॥ १५३-१५४ ॥

धर्मराजस्य चात्रैव संवादः कृष्णया सह।
संवादश्च तथा राज्ञा भीमस्यापि प्रकीर्तितः ॥१५५॥

इसी पर्वमें युधिष्ठिर एवं द्रौपदीका संवाद तथा युधिष्ठिर और भीमसेनके संवादका भलीभाँति वर्णन किया गया है ॥ १५५ ॥

समीपं पाण्डुपुत्राणां व्यासस्यागमनं तथा।
प्रतिस्मृत्याथ विद्याया दानं राज्ञो महर्षिणा ॥१५६॥

महर्षि व्यास पाण्डवोंके पास आये और उन्होंने राजा युधिष्ठिरको प्रतिस्मृति नामक मन्त्रविद्याका उपदेश दिया ॥

गमनं काम्यके चापि व्यासे प्रतिगते ततः।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ॥१५७॥

व्यासजीके चले जानेपर पाण्डवोंने काम्यकवनकी यात्रा की। इसके बाद अमिततेजस्वी अर्जुन अस्त्र प्राप्त करनेके लिये अपने भाइयोंसे अलग चले गये ॥ १५७ ॥

महादेवेन युद्धं च किरातवपुषा सह।
दर्शनं लोकपालानामस्त्रप्राप्तिस्तथैव च ॥१५८॥

वहीं किरात-वेशधारी महादेवजीके साथ अर्जुनका युद्ध हुआ, लोकपालोंके दर्शन हुए और अस्त्रकी प्राप्ति हुई ॥ १५८ ॥

महेन्द्रलोकगमनमस्त्रार्थे च किरीटिनः।
यत्र चिन्ता समुत्पन्ना धृतराष्ट्रस्य भूयसी ॥१५९॥

इसके बाद अर्जुन अस्त्रके लिये इन्द्रलोकमें गये यह सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १५९ ॥

दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः।
युधिष्ठिरस्य चार्तस्य व्यसनं परिदेवनम् ॥१६०॥

इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरको शुद्धहृदय महर्षि बृहदश्वका दर्शन हुआ। युधिष्ठिरने आर्त होकर उन्हें अपनी दुःखगाथा सुनायी और विलाप किया ॥ १६० ॥

नलोपाख्यानमत्रैव धर्मिष्ठं करुणोदयम्।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य चरितं तथा ॥१६१॥

इसी प्रसङ्गमें नलोपाख्यान आता है, जिसमें धर्मनिष्ठाका अनुपम आदर्श है और जिसे पढ़-सुनकर हृदयमें करुणाकी धारा बहने लगती है। दमयन्तीका दृढ़ धैर्य और नलका चरित्र यहीं पढ़नेको मिलते हैं ॥ १६१ ॥

तथाक्षहृदयप्राप्तिस्तस्मादेव महर्षितः।
लोमशस्यागमस्तत्र स्वर्गात् पाण्डुसुतान् प्रति ॥१६२॥
वनवासगतानां च पाण्डवानां महात्मनाम्।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ॥१६३॥

उन्हीं महर्षिसे पाण्डवोंको अक्ष-हृदय (जूएके रहस्य) की प्राप्ति हुई। यहीं स्वर्गसे महर्षि लोमश पाण्डवोंके पास पधारे। लोमशने ही वनवासी महात्मा पाण्डवोंको यह बात बतलायी कि अर्जुन स्वर्गमें किस प्रकार अस्त्र-विद्या सीख रहे हैं ॥ १६२-१६३ ॥

संदेशादर्जुनस्यात्र तीर्थाभिगमनक्रिया।
तीर्थानां च फलप्राप्तिः पुण्यत्वं चापि कीर्तितम् ॥१६४॥

इसी पर्वमें अर्जुनका संदेश पाकर पाण्डवोंने तीर्थयात्रा की। उन्हें तीर्थयात्राका फल प्राप्त हुआ और कौन तीर्थ कितने पुण्यप्रद होते हैं—इस बातका वर्णन हुआ है ॥ १६४ ॥

पुलस्त्यतीर्थयात्रा च नारदेन महर्षिणा।
तीर्थयात्रा च तत्रैव पाण्डवानां महात्मनाम् ॥१६५॥
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात्।
तथा यज्ञविभूतिश्च गयस्यात्र प्रकीर्तिता ॥१६६॥

इसके बाद महर्षि नारदने पुलस्त्य-तीर्थकी यात्रा करने-

की प्रेरणा दी और महात्मा पाण्डवोंने वहाँकी यात्रा की। यहीं इन्द्रके द्वारा कर्णको कुण्डलोंसे वञ्चित करनेका तथा राजा गयके यज्ञवैभवका वर्णन किया गया है॥ १६५-१६६॥

आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणम्।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेस्तथा ॥१६७॥

इसके बाद अगस्त्य-चरित्र है, जिसमें उनके वातापि-भक्षण तथा संतानके लिये लोपामुद्राके साथ समागमका वर्णन है॥

ऋष्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ॥१६८॥

इसके पश्चात् कौमार ब्रह्मचारी ऋष्यशृङ्गका चरित्र है। फिर परम तेजस्वी जमदग्निनन्दन परशुरामका चरित्र है॥१६८॥

कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानां च वर्ण्यते।
प्रभासतीर्थे पाण्डूनां वृष्णिभिश्च समागमः ॥१६९॥

इसी चरित्रमें कार्तवीर्य अर्जुन तथा हैहयवंशी राजाओंके वधका वर्णन किया गया है। प्रभासतीर्थमें पाण्डवों एवं यादवोंके मिलनेकी कथा भी इसीमें है॥ १६९॥

सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः।
शर्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान् सोमपीतिनौ ॥१७०॥

इसके बाद सुकन्याका उपाख्यान है। इसीमें यह कथा है कि भृगुनन्दन च्यवनने शर्यातिके यज्ञमें अश्विनीकुमारोंको सोमपानका अधिकारी बना दिया॥ १७०॥

ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः।
मान्धातुश्चाप्युपाख्यानं राज्ञोऽत्रैव प्रकीर्तितम् ॥१७१॥

उन्हीं दोनोंने च्यवन मुनिको बूढ़ेसे जवान बना दिया। राजा मान्धाताकी कथा भी इसी पर्वमें कही गयी है॥१७१॥

जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः।
पुत्रार्थमयजद् राजा लेभे पुत्रशतं च सः ॥१७२॥

यहीं जन्तूपाख्यान है। इसमें राजा सोमकने बहुत-से पुत्र प्राप्त करनेके लिये एक पुत्रसे यजन किया और उसके फलस्वरूप सौ पुत्र प्राप्त किये॥ १७२॥

ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनुत्तमम्।
इन्द्राग्नी यत्र धर्मस्य जिज्ञासार्थे शिबिं नृपम्॥१७३॥

इसके बाद श्येन (बाज) और कपोत (कबूतर)का सर्वोत्तम उपाख्यान है। इसमें इन्द्र और अग्नि राजा शिबि-के धर्मकी परीक्षा लेनेके लिये आये हैं॥ १७३॥

अष्टावक्रीयमत्रैव विवादो यत्र बन्दिना।
अष्टावक्रस्य विप्रर्षेर्जनकस्याध्वरेऽभवत् ॥१७४॥
नैयायिकानां मुख्येन वरुणस्यात्मजेन च।
पराजितो यत्र बन्दी विवादेन महात्मना ॥१७५॥
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः।
यवक्रीतस्य चाख्यानं रैभ्यस्य च महात्मनः।
गन्धमादनयात्रा च वासो नारायणाश्रमे ॥१७६॥

इसी पर्वमें अष्टावक्रका चरित्र भी है। जिसमें बन्दीके साथ जनकके यज्ञमें ब्रह्मर्षि अष्टावक्रके शास्त्रार्थका वर्णन है। वह बन्दी वरुणका पुत्र था और नैयायिकोंमें प्रधान था। उसे महात्मा अष्टावक्रने वाद-विवादमें पराजित कर दिया। महर्षि अष्टावक्रने बन्दीको हराकर समुद्रमें डाले हुए अपने पिताको प्राप्त कर लिया। इसके बाद यवक्रीत और महात्मा रैभ्यका उपाख्यान है। तदनन्तर पाण्डवोंकी गन्धमादन-यात्रा और नारायणाश्रममें निवासका वर्णन है॥ १७४—१७६॥

नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने।
व्रजन् पथि महाबाहुर्दृष्टवान् पवनात्मजम् ॥१७७॥
कदलीखण्डमध्यस्थं हनूमन्तं महाबलम्।
यत्र सौगन्धिकार्थेऽसौ नलिनीं तामधर्षयत् ॥१७८॥

द्रौपदीने सौगन्धिक कमल लानेके लिये भीमसेनको गन्धमादन पर्वतपर भेजा। यात्रा करते समय महाबाहु भीमसेनने मार्गमें कदली-वनमें महाबली पवननन्दन श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन किया। यहीं सौगन्धिक कमलके लिये भीमसेनने सरोवरमें घुसकर उसे मथ डाला॥ १७७-१७८॥

यत्रास्य युद्धमभवत् सुमहद् राक्षसैः सह।
यक्षैश्चैव महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ॥१७९॥

वहीं भीमसेनका राक्षसों एवं महाशक्तिशाली मणिमान् आदि यक्षोंके साथ घमासान युद्ध हुआ—॥ १७९॥

जटासुरस्य च वधो राक्षसस्य वृकोदरात्।
वृषपर्वणश्च राजर्षेस्ततोऽभिगमनं स्मृतम् ॥१८०॥
आर्ष्टिषेणाश्रमे चैषां गमनं वास एव च।
प्रोत्साहनं च पाञ्चाल्या भीमस्यात्र महात्मनः ॥१८१॥
कैलासारोहणं प्रोक्तं यत्र यक्षैर्बलोत्कटैः।
युद्धमासीन्महाघोरं मणिमत्प्रमुखैः सह ॥१८२॥

तत्पश्चात् भीमसेनके द्वारा जटासुर राक्षसका वध हुआ। फिर पाण्डव क्रमशः राजर्षि वृषपर्वा और आर्ष्टिषेणके आश्रमपर गये और वहीं रहने लगे। यहीं द्रौपदी महात्मा भीमसेनको प्रोत्साहित करती रही। भीमसेन कैलास-पर्वतपर चढ़ गये। यहीं अपनी शक्तिके नशेमें चूर मणिमान् आदि यक्षोंके साथ उनका अत्यन्त घोर युद्ध हुआ॥ १८०—१८२॥

समागमश्च पाण्डूनां यत्र वैश्रवणेन च।
समागमश्चार्जुनस्य तत्रैव भ्रातृभिः सह ॥१८३॥

यहीं पाण्डवोंका कुबेरके साथ समागम हुआ। इसी

स्थानपर अर्जुन आकर अपने भाइयोंसे मिले ॥ १८३ ॥

अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थं सव्यसाचिना।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ॥१८४॥

इधर सव्यसाची अर्जुनने अपने बड़े भाईके लिये दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लिये और हिरण्यपुरवासी निवातकवच दानवोंके साथ उनका घोर युद्ध हुआ ॥ १८४ ॥

निवातकवचैर्घोरैर्दानवैः सुरशत्रुभिः।
पौलोमैः कालकेयैश्च यत्र युद्धं किरीटिनः ॥१८५॥
वधश्चैषां समाख्यातो राज्ञस्तेनैव धीमता।
अस्त्रसंदर्शनारम्भो धर्मराजस्य संनिधौ ॥१८६॥

वहाँ देवताओंके शत्रु भयंकर दानव निवातकवच, पौलोम और कालकेयोंके साथ अर्जुनने जैसा युद्ध किया और जिस प्रकार उन सबका वध हुआ था, वह सब बुद्धिमान् अर्जुनने स्वयं राजा युधिष्ठिरको सुनाया। इसके बाद अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरके पास अपने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रदर्शन करना चाहा ॥ १८५-१८६ ॥

पार्थस्य प्रतिषेधश्च नारदेन सुरर्षिणा।
अवरोहणं पुनश्चैव पाण्डूनां गन्धमादनात् ॥१८७॥

इसी समय देवर्षि नारदने आकर अर्जुनको अस्त्र-प्रदर्शनसे रोक दिया। अब पाण्डव गन्धमादन पर्वतसे नीचे उतरने लगे।

भीमस्य ग्रहणं चात्र पर्वताभोगवर्ष्मणा।
भुजगेन्द्रेण बलिना तस्मिन् सुगहने वने ॥१८८॥

फिर एक बीहड़ वनमें पर्वतके समान विशाल शरीरधारी बलवान् अजगरने भीमसेनको पकड़ लिया ॥ १८८ ॥

अमोक्षयद् यत्र चैनं प्रश्नानुक्त्वा युधिष्ठिरः।
काम्यकागमनं चैव पुनस्तेषां महात्मनाम् ॥१८९॥

धर्मराज युधिष्ठिरने अजगर-वेशधारी नहुषके प्रश्नोंका उत्तर देकर भीमसेनको छुड़ा लिया। इसके बाद महानुभाव पाण्डव पुनः काम्यकवनमें आये ॥ १८९ ॥

तत्रस्थांश्च पुनर्द्रष्टुं पाण्डवान् पुरुषर्षभान्।
वासुदेवस्यागमनमत्रैव परिकीर्तितम् ॥१९०॥

जब नरपुङ्गव पाण्डव काम्यकवनमें निवास करने लगे, तब उनसे मिलनेके लिये वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण उनके पास आये—यह कथा इसी प्रसङ्गमें कही गयी है ॥ १९० ॥

मार्कण्डेयसमास्यायामुपाख्यानानि सर्वशः।
पृथोर्वैन्यस्य यत्रोक्तमाख्यानं परमर्षिणा ॥१९१॥

पाण्डवोंका महामुनि मार्कण्डेयके साथ समागम हुआ। वहाँ महर्षिने बहुत-से उपाख्यान सुनाये। उनमें वेनपुत्र पृथुका भी उपाख्यान है ॥ १९१ ॥

संवादश्च सरस्वत्यास्तार्क्ष्यर्षेः सुमहात्मनः।
मत्स्योपाख्यानमत्रैव प्रोच्यते तदनन्तरम् ॥१९२॥

इसी प्रसङ्गमें प्रसिद्ध महात्मा महर्षि तार्क्ष्य और सरस्वतीका संवाद है। तदनन्तर मत्स्योपाख्यान भी कहा गया है ॥१९२॥

मार्कण्डेयसमास्या च पुराणं परिकीर्त्यते।
ऐन्द्रद्युम्नमुपाख्यानं धौन्धुमारं तथैव च ॥१९३॥

इसी मार्कण्डेय-समागममें पुराणोंकी अनेक कथाएँ, राजा इन्द्रद्युम्नका उपाख्यान तथा धुन्धुमारकी कथा भी है ॥१९३॥

पतिव्रतायाश्चाख्यानं तथैवाङ्गिरसं स्मृतम्।
द्रौपद्याः कीर्तितश्चात्र संवादः सत्यभामया ॥१९४॥

पतिव्रताका और आङ्गिरसका उपाख्यान भी इसी प्रसङ्गमें है। द्रौपदीका सत्यभामाके साथ संवाद भी इसीमें है ॥ १९४॥

पुनर्द्वैतवनं चैव पाण्डवाः समुपागताः।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र बद्धः सुयोधनः ॥१९५॥

तदनन्तर धर्मात्मा पाण्डव पुनः द्वैत-वनमें आये। कौरवोंने घोषयात्रा की और गन्धर्वोंने दुर्योधनको बंदी बना लिया ॥१९५॥

ह्रियमाणस्तु मन्दात्मा मोक्षितोऽसौ किरीटिना।
धर्मराजस्य चात्रैव मृगस्वप्ननिदर्शनम् ॥१९६॥

वे मन्दमति दुर्योधनको कैद करके लिये जा रहे थे कि अर्जुनने युद्ध करके उसे छुड़ा लिया। इसके बाद धर्मराज युधिष्ठिरको स्वप्नमें हरिणके दर्शन हुए ॥ १९६ ॥

काम्यके काननश्रेष्ठे पुनर्गमनमुच्यते।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ॥१९७॥

इसके पश्चात् पाण्डवगण काम्यक नामक श्रेष्ठ वनमें फिरसे गये। इसी प्रसङ्गमें अत्यन्त विस्तारके साथ व्रीहिद्रौणिक उपाख्यान भी कहा गया है ॥ १९७ ॥

दुर्वाससोऽप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम्।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ॥१९८॥

इसीमें दुर्वासाजीका उपाख्यान और जयद्रथके द्वारा आश्रमसे द्रौपदीके हरणकी कथा भी कही गयी है ॥ १९८ ॥

यत्रैनमन्वयाद् भीमो वायुवेगसमो जवे।
चक्रे चैनं पञ्चशिखं यत्र भीमो महाबलः ॥१९९॥

उस समय महाबली भयंकर भीमसेनने वायुवेगसे दौड़कर उसका पीछा किया था तथा जयद्रथके सिरके सारे बाल मूँड़कर उसमें पाँच चोटियाँ रख दी थीं ॥ १९९ ॥

रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम्।
यत्र रामेण विक्रम्य निहतो रावणो युधि ॥२००॥

वनपर्वमें बड़े ही विस्तारके साथ रामायणका उपाख्यान है, जिसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने युद्धभूमिमें अपने पराक्रमसे रावणका वध किया है ॥ २०० ॥

सावित्र्याश्चाप्युपाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम्।
कर्णस्य परिमोक्षोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ॥२०१॥

इसके बाद ही सावित्रीका उपाख्यान और इन्द्रके द्वारा कर्णको कुण्डलोंसे वञ्चित कर देनेकी कथा है ॥ २०१ ॥

यत्रास्य शक्तिं तुष्टोऽसावदादेकवधाय च ।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात् सुतम् ॥२०२॥

इसी प्रसङ्गमें इन्द्रने प्रसन्न होकर कर्णको एक शक्ति दी थी, जिससे कोई भी एक वीर मारा जा सकता था । इसके बाद है आरणेय उपाख्यान, जिसमें धर्मराजने अपने पुत्र युधिष्ठिरको शिक्षा दी है ॥ २०२ ॥

जग्मुर्लब्धवरा यत्र पाण्डवाः पश्चिमां दिशम् ।
एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ॥२०३॥
अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यया परिकीर्तिते ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥२०४॥

और उनसे वरदान प्राप्तकर पाण्डवोंने पश्चिम दिशाकी यात्रा की । यह तीसरे वनपर्वकी सूची कही गयी । इस पर्वमें गिनकर दो सौ उनहत्तर (२६९) अध्याय कहे गये हैं ॥ २०३-२०४ ॥

एकादशसहस्राणि श्लोकानां षट् शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः॥२०५॥

ग्यारह हजार छः सौ चौंसठ (११६६४) श्लोक इस पर्वमें हैं ॥ २०५ ॥

अतः परं निबोधेदं वैराटं पर्व विस्तरम् ।
विराटनगरे गत्वा श्मशाने विपुलां शमीम् ॥२०६॥
दृष्ट्वा संनिदधुस्तत्र पाण्डवा ह्यायुधान्युत ।
यत्र प्रविश्य नगरं छद्मना न्यवसंस्तु ते ॥२०७॥

इसके बाद विराटपर्वकी विस्तृत सूची सुनो । पाण्डवोंने विराट-नगरमें जाकर श्मशानके पास एक विशाल शमीका वृक्ष देखा । उसीपर उन्होंने अपने सारे अस्त्र-शस्त्र रख दिये । तदनन्तर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया और छद्मवेशमें वहाँ निवास करने लगे ॥ २०६-२०७ ॥

पाञ्चालीं प्रार्थयानस्य कामोपहतचेतसः ।
दुष्टात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ॥२०८॥

कीचक स्वभावसे ही दुष्ट था । द्रौपदीको देखते ही उसका मन काम-बाणसे घायल हो गया । वह द्रौपदीके पीछे पड़ गया । इसी अपराधसे भीमसेनने उसे मार डाला । यह कथा इसी पर्वमें है ॥ २०८ ॥

पाण्डवान्वेषणार्थं च राज्ञो दुर्योधनस्य च ।
चाराः प्रस्थापिताश्चात्र निपुणाः सर्वतोदिशम् ॥२०९॥

राजा दुर्योधनने पाण्डवोंका पता चलानेके लिये बहुत-से निपुण गुप्तचर सब ओर भेजे ॥ २०९ ॥

न च प्रवृत्तिस्तैर्लब्धा पाण्डवानां महात्मनाम् ।
गोग्रहश्च विराटस्य त्रिगर्तैः प्रथमं कृतः ॥२१०॥

परंतु उन्हें महात्मा पाण्डवोंकी गति-विधिका कोई हाल-चाल न मिला । इन्हीं दिनों त्रिगर्तोंने राजा विराटकी गौओं-का प्रथम बार अपहरण कर लिया ॥ २१० ॥

यत्रास्य युद्धं सुमहत् तैरासील्लोमहर्षणम् ।
ह्रियमाणश्च यत्रासौ भीमसेनेन मोक्षितः ॥२११॥

राजा विराटने त्रिगर्तोंके साथ रोंगटे खड़े कर देनेवाला घमासान युद्ध किया । त्रिगर्त विराटको पकड़कर लिये जा रहे थे; किंतु भीमसेनने उन्हें छुड़ा लिया ॥ २११ ॥

गोधनं च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः ।
अनन्तरं च कुरुभिस्तस्य गोग्रहणं कृतम् ॥२१२॥

साथ ही पाण्डवोंने उनके गोधनको भी त्रिगर्तोंसे छुड़ा लिया । इसके बाद ही कौरवोंने विराट-नगरपर चढ़ाई करके उनकी उत्तर दिशाकी गायोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया ॥

समस्ता यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि ।
प्रत्याहृतं गोधनं च विक्रमेण किरीटिना ॥२१३॥

इसी अवसरपर किरीटधारी अर्जुनने अपना पराक्रम प्रकट करके संग्रामभूमिमें सम्पूर्ण कौरवोंको पराजित कर दिया और विराटके गोधनको लौटा लिया ॥ २१३ ॥

विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ॥२१४॥

(पाण्डवोंके पहचाने जानेपर) राजा विराटने अपनी पुत्री उत्तरा शत्रुघाती सुभद्रानन्दन अभिमन्युसे विवाह करनेके लिये पुत्रवधूके रूपमें अर्जुनको दे दी ॥ २१४ ॥

चतुर्थमेतद् विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम् ।
अत्रापि परिसंख्याता अध्यायाः परमर्षिणा ॥२१५॥
सप्तषष्टिरथो पूर्णा श्लोकानामपि मे शृणु ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ॥२१६॥
उक्तानि वेदविदुषा पर्वण्यस्मिन् महर्षिणा ।
उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम् ॥२१७॥

इस प्रकार इस चौथे विराटपर्वकी सूचीका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया । परमर्षि व्यासजी महाराजने इस पर्वमें गिनकर सड़सठ (६७) अध्याय रखे हैं । अब तुम मुझसे श्लोकोंकी संख्या सुनो । इस पर्वमें दो हजार पचास (२०५०) श्लोक वेदवेत्ता महर्षि वेदव्यासने कहे हैं । इसके बाद पाँचवाँ उद्योग-पर्व समझना चाहिये । अब तुम उसकी विषय-सूची सुनो ॥ २१५—२१७ ॥

उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया ।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ॥२१८॥

जब पाण्डव उपप्लव्य नगरमें रहने लगे, तब दुर्योधन और अर्जुन विजयकी आकाङ्क्षासे भगवान् श्रीकृष्णके पास उपस्थित हुए ॥ २१८ ॥

साहाय्यमस्मिन् समरे भवान् नौ कर्तुमर्हति ।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ॥ २१९ ॥

दोनोंने ही भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की कि 'आप इस युद्धमें हमारी सहायता कीजिये ।' इसपर महामना श्रीकृष्णने कहा—॥ २१९ ॥

अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य किं वा ददाम्यहम् ॥ २२० ॥

'दुर्योधन और अर्जुन ! तुम दोनों ही श्रेष्ठ पुरुष हो । मैं स्वयं युद्ध न करके एकका मन्त्री बन जाऊँगा और दूसरेको एक अक्षौहिणी सेना दे दूँगा । अब तुम्हीं दोनों निश्चय करो कि किसे क्या दूँ ?' ॥ २२० ॥

वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः ।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनञ्जयः ॥ २२१ ॥

अपने स्वार्थके सम्बन्धमें अनजान एवं खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने एक अक्षौहिणी सेना माँग ली और अर्जुनने यह माँग की कि 'श्रीकृष्ण युद्ध भले ही न करें, परंतु मेरे मन्त्री बन जायँ' ॥ २२१ ॥

मद्रराजं च राजानमायान्तं पाण्डवान् प्रति ।
उपहारैर्वञ्चयित्वा वर्त्मन्येव सुयोधनः ॥ २२२ ॥
वरदं तं वरं वव्रे साहाय्यं क्रियतां मम ।
शल्यस्तस्मै प्रतिश्रुत्य जगामोद्दिश्य पाण्डवान् ॥ २२३ ॥
शान्तिपूर्वं चाकथयद् यत्रेन्द्रविजयं नृपः ।
पुरोहितप्रेषणं च पाण्डवैः कौरवान् प्रति ॥ २२४ ॥

मद्रदेशके अधिपति राजा शल्य पाण्डवोंकी ओरसे युद्ध करने आ रहे थे, परंतु दुर्योधनने मार्गमें ही उपहारोंसे धोखेमें डालकर उन्हें प्रसन्न कर लिया और उन वरदायक नरेशसे यह वर माँगा कि 'मेरी सहायता कीजिये ।' शल्यने दुर्योधनसे सहायताकी प्रतिज्ञा कर ली । इसके बाद वे पाण्डवोंके पास गये और बड़ी शान्तिके साथ सब कुछ समझा-बुझाकर सब बात कह दी । राजाने इसी प्रसङ्गमें इन्द्रकी विजयकी कथा भी सुनायी । पाण्डवोंने अपने पुरोहितको कौरवोंके पास भेजा ॥ २२२—२२४ ॥

वैचित्रवीर्यस्य वचः समादाय पुरोधसः ।
तथेन्द्रविजयं चापि यानं चैव पुरोधसः ॥ २२५ ॥
संजयं प्रेषयामास शमार्थी पाण्डवान् प्रति ।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ॥ २२६ ॥

धृतराष्ट्रने पाण्डवोंके पुरोहितके इन्द्र-विजयविषयक वचन-को सादर श्रवण करते हुए उनके आगमनके औचित्यको स्वीकार किया । तत्पश्चात् परम प्रतापी महाराज धृतराष्ट्रने भी शान्तिकी इच्छासे दूतके रूपमें संजयको पाण्डवोंके पास भेजा ॥ २२५-२२६ ॥

श्रुत्वा च पाण्डवान् यत्र वासुदेवपुरोगमान् ।
प्रजागरः सम्प्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥ २२७ ॥
विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च ।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ॥ २२८ ॥

जब धृतराष्ट्रने सुना कि पाण्डवोंने श्रीकृष्णको अपना नेता चुन लिया है और वे उन्हें आगे करके युद्धके लिये प्रस्थान कर रहे हैं, तब चिन्ताके कारण उनकी नींद भाग गयी—वे रातभर जागते रह गये । उस समय महात्मा विदुरने मनीषी राजा धृतराष्ट्रको विविध प्रकारसे अत्यन्त आश्चर्यजनक नीतिका उपदेश किया है (वही विदुरनीतिके नामसे प्रसिद्ध है) ॥ २२७-२२८ ॥

तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम् ।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ॥ २२९ ॥

उसी समय महर्षि सनत्सुजातने खिन्नचित्त एवं शोक-विह्वल राजा धृतराष्ट्रको सर्वोत्तम अध्यात्मशास्त्रका श्रवण कराया ॥ २२९ ॥

प्रभाते राजसमितौ संजयो यत्र वा विभोः ।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ॥ २३० ॥

प्रातःकाल राजसभामें संजयने राजा धृतराष्ट्रसे श्रीकृष्ण और अर्जुनके ऐकात्म्य अथवा मित्रताका भलीभाँति वर्णन किया ॥ २३० ॥

यत्र कृष्णो दयापन्नः संधिमिच्छन् महामतिः ।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ॥ २३१ ॥

इसी प्रसङ्गमें यह कथा भी है कि परम दयालु सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण दया-भावसे युक्त हो शान्ति-स्थापनके लिये सन्धि करानेके उद्देश्यसे स्वयं हस्तिनापुर नामक नगरमें पधारे ॥ २३१ ॥

प्रत्याख्यानं च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
शमार्थे याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ॥ २३२ ॥

यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण दोनों ही पक्षोंका हित चाहते थे और शान्तिके लिये प्रार्थना कर रहे थे, परंतु राजा दुर्योधन-ने उनका विरोध कर दिया ॥ २३२ ॥

दम्भोद्भवस्य चाख्यानमत्रैव परिकीर्तितम् ।
वरान्वेषणमत्रैव मातलेश्च महात्मनः ॥ २३३ ॥

इसी पर्वमें दम्भोद्भवकी कथा कही गयी है और साथ ही महात्मा मातलिका अपनी कन्याके लिये वर ढूँढ़नेका प्रसङ्ग भी है ॥ २३३ ॥

महर्षेश्चापि चरितं कथितं गालवस्य वै ।
विदुलायाश्च पुत्रस्य प्रोक्तं चाप्यनुशासनम् ॥ २३४ ॥

इसके बाद महर्षि गालवके चरित्रका वर्णन है । साथ ही विदुलाने अपने पुत्रको जो शिक्षा दी है, वह भी कही गयी है ॥

कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम्।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राज्ञां प्रदर्शितम् ॥२३५॥

भगवान् श्रीकृष्णने कर्ण और दुर्योधन आदिकी दूषित मन्त्रणाको जानकर राजाओंकी भरी सभामें अपने योगैश्वर्यका प्रदर्शन किया ॥ २३५ ॥

रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमन्त्रितः।
उपायपूर्वं शौटीर्यात् प्रत्याख्यातश्च तेन सः॥२३६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कर्णको अपने रथपर बैठाकर उसे (पाण्डवोंके पक्षमें आनेके लिये) अनेक युक्तियोंसे बहुत समझाया-बुझाया, परंतु कर्णने अहंकारवश उनकी बात अस्वीकार कर दी ॥ २३६ ॥

आगम्य हास्तिनपुरादुपप्लव्यमरिन्दमः।
पाण्डवानां यथावृत्तं सर्वमाख्यातवान् हरिः॥२३७॥

शत्रुसूदन श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे उपप्लव्य नगर आकर जैसा कुछ वहाँ हुआ था, सब पाण्डवोंको कह सुनाया ॥ २३७ ॥

ते तस्य वचनं श्रुत्वा मन्त्रयित्वा च यद्धितम्।
सांग्रामिकं ततः सर्वं सज्जं चक्रुः परंतपाः॥२३८॥

शत्रुघाती पाण्डव उनके वचन सुनकर और क्या करनेमें हमारा हित है—यह परामर्श करके युद्ध-सम्बन्धी सब सामग्री जुटानेमें लग गये ॥ २३८ ॥

ततो युद्धाय निर्याता नराश्वरथदन्तिनः।
नगराद्धास्तिनपुराद् बलसंख्यानमेव च ॥२३९॥

इसके पश्चात् हस्तिनापुर नामक नगरसे युद्धके लिये मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथियोंकी चतुरंगिणी सेनाने कूच किया। इसी प्रसङ्गमें सेनाकी गिनती की गयी है ॥२३९॥

यत्र राज्ञा ह्युलूकस्य प्रेषणं पाण्डवान् प्रति।
श्वोभाविनि महायुद्धे दौत्येन कृतवान् प्रभुः ॥२४०॥

फिर यह कहा गया है कि शक्तिशाली राजा दुर्योधनने दूसरे दिन प्रातःकालसे होनेवाले महायुद्धके सम्बन्धमें उलूकको दूत बनाकर पाण्डवोंके पास भेजा ॥ २४० ॥

रथातिरथसंख्यानमम्बोपाख्यानमेव च।
एतत् सुबहुवृत्तान्तं पञ्चमं पर्व भारते ॥२४१॥

इसके अनन्तर इस पर्वमें रथी, अतिरथी आदिके स्वरूपका वर्णन तथा अम्बाका उपाख्यान आता है। इस प्रकार महाभारतमें उद्योगपर्व पाँचवा पर्व है और इसमें बहुत-से सुन्दर-सुन्दर वृत्तान्त हैं ॥ २४१ ॥

उद्योगपर्व निर्दिष्टं संधिविग्रहमिश्रितम्।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥२४२॥
श्लोकानां षट्सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च।
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना ॥२४३॥
व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः।

इस उद्योगपर्वमें श्रीकृष्णके द्वारा सन्धि-संदेश और उलूकके विग्रह-संदेशका महत्त्वपूर्ण वर्णन हुआ है। तपोधन महर्षियो! विशालबुद्धि महर्षि व्यासने इस पर्वमें एक सौ छियासी अध्याय रखे हैं और श्लोकोंकी संख्या छः हजार छः सौ अट्ठानबे (६६९८) बतायी है ॥ २४२–२४३½ ॥

अतः परं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते ॥२४४॥
जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं संजयेन ह।
यत्र यौधिष्ठिरं सैन्यं विषादमगमत् परम् ॥२४५॥
यत्र युद्धमभूद् घोरं दशाहानि सुदारुणम्।
कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः॥२४६॥
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः।
समीक्ष्याधोक्षजः क्षिप्रं युधिष्ठिरहिते रतः॥२४७॥
रथादाप्लुत्य वेगेन स्वयं कृष्ण उदारधीः।
प्रतोदपाणिराधावद् भीष्मं हन्तुं व्यपेतभीः॥२४८॥

इसके बाद विचित्र अर्थोंसे भरे भीष्मपर्वकी विषय-सूची कही जाती है, जिसमें संजयने जम्बूद्वीपकी रचनासम्बन्धी कथा कही है। इस पर्वमें दस दिनोंतक अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध होनेका वर्णन आता है, जिसमें धर्मराज युधिष्ठिरकी सेनाके अत्यन्त दुखी होनेकी कथा है। इसी युद्धके प्रारम्भमें महातेजस्वी भगवान् वासुदेवने मोक्ष-तत्त्वका ज्ञान करानेवाली युक्तियोंद्वारा अर्जुनके मोहजनित शोक-संतापका नाश किया था (जो कि भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है)। इसी पर्वमें यह कथा भी है कि युधिष्ठिरके हितमें संलग्न रहनेवाले निर्भय, उदारबुद्धि, अधोक्षज, भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी शिथिलता देख शीघ्र ही हाथमें चाबुक लेकर भीष्मको मारनेके लिये स्वयं रथसे कूद पड़े और बड़े वेगसे दौड़े ॥ २४४–२४८ ॥

वाक्यप्रतोदाभिहतो यत्र कृष्णेन पाण्डवः।
गाण्डीवधन्वा समरे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥२४९॥

साथ ही सब शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ गाण्डीवधन्वा अर्जुनको युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णने व्यङ्ग्य-वाक्यके चाबुकसे मार्मिक चोट पहुँचायी ॥ २४९ ॥

शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः।
विनिघ्नन् निशितैर्बाणै रथाद् भीष्ममपातयत् ॥२५०॥

तब महाधनुर्धर अर्जुनने शिखण्डीको सामने करके तीखे बाणोंसे घायल करते हुए भीष्मपितामहको रथसे गिरा दिया ॥ २५० ॥

शरतल्पगतश्चैव भीष्मो यत्र बभूव ह।
षष्ठमेतत् समाख्यातं भारते पर्व विस्तृतम् ॥२५१॥

जब कि भीष्मपितामह शरशय्यापर शयन करने लगे। महाभारतमें यह छठा पर्व विस्तारपूर्वक कहा गया है ॥ २५१ ॥

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशापरे ।
पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्ययाष्टौ शतानि च ॥२५२॥
श्लोकाश्च चतुराशीतिरस्मिन् पर्वणि कीर्तिताः ।
व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥२५३॥

वेदके मर्मज्ञ विद्वान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने इस भीष्म-पर्वमें एक सौ सत्रह अध्याय रखे हैं। श्लोकोंकी संख्या पाँच हजार आठ सौ चौरासी (५८८४) कही गयी है ॥ २५२-२५३ ॥

द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
सैनापत्येऽभिषिक्तोऽथ यत्राचार्यः प्रतापवान् ॥२५४॥

तदनन्तर अनेक वृत्तान्तोंसे पूर्ण अद्भुत द्रोणपर्वकी कथा आरम्भ होती है, जिसमें परम प्रतापी आचार्य द्रोणके सेना-पति-पदपर अभिषिक्त होनेका वर्णन है ॥ २५४ ॥

दुर्योधनस्य प्रीत्यर्थं प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
ग्रहणं धर्मराजस्य पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥२५५॥

वहीं यह भी कहा गया है कि अस्त्र-विद्याके परमाचार्य द्रोणने दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिये बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको पकड़नेकी प्रतिज्ञा कर ली ॥ २५५ ॥

यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ।
भगदत्तो महाराजो यत्र शक्रसमो युधि ॥२५६॥
सुप्रतीकेन नागेन स हि शान्तः किरीटिना ।

इसी पर्वमें यह बताया गया है कि संशप्तक योद्धा अर्जुन-को रणाङ्गणसे दूर हटा ले गये। वहीं यह कथा भी आयी है कि ऐरावतवंशीय सुप्रतीक नामक हाथीके साथ महाराज भगदत्त भी, जो युद्धमें इन्द्रके समान थे, किरीटधारी अर्जुन-के द्वारा मौतके घाट उतार दिये गये ॥ २५६½ ॥

यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुरेकं महारथाः ॥२५७॥
जयद्रथमुखा बालं शूरमप्राप्तयौवनम् ।

इसी पर्वमें यह भी कहा गया है कि शूरवीर बालक अभिमन्युको, जो अभी जवान भी नहीं हुआ था और अकेला था, जयद्रथ आदि बहुत-से विश्वविख्यात महारथियोंने मार डाला ॥ २५७½ ॥

हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ॥२५८॥
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।

अभिमन्युके वधसे कुपित होकर अर्जुनने रणभूमिमें सात अक्षौहिणी सेनाओंका संहार करके राजा जयद्रथको भी मार डाला ॥ २५८½ ॥

यत्र भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः ॥२५९॥
अन्वेषणार्थं पार्थस्य युधिष्ठिरनृपाज्ञया ।
प्रविष्टौ भारतीं सेनामप्रधृष्यां सुरैरपि ॥२६०॥

उसी अवसरपर महाबाहु भीमसेन और महारथी सात्यकि धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे अर्जुनको ढूँढ़नेके लिये कौरवों की उस सेनामें घुस गये, जिसकी मोर्चेबंदी बड़े-बड़े देवता भी नहीं तोड़ सकते थे ॥ २५९-२६० ॥

संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ।
संशप्तकानां वीराणां कोट्यो नव महात्मनाम् ॥२६१॥
किरीटिनाभिनिष्क्रम्य प्रापिता यमसादनम् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राश्च तथा पाषाणयोधिनः ॥२६२॥
नारायणाश्च गोपालाः समरे चित्रयोधिनः ।
अलम्बुषः श्रुतायुश्च जलसन्धश्च वीर्यवान् ॥२६३॥
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोणपर्वणि ॥२६४॥

अर्जुनने, संशप्तकोंमेंसे जो बच रहे थे, उन्हें भी युद्ध-भूमिमें निःशेष कर दिया। महामना संशप्तक वीरोंकी संख्या नौ करोड़ थी; परंतु किरीटधारी अर्जुनने आक्रमण करके अकेले ही उन सबको यमलोक भेज दिया। धृतराष्ट्रपुत्र, बड़े-बड़े पाषाण-खण्ड लेकर युद्ध करनेवाले म्लेच्छ-सैनिक, समराङ्गणमें युद्धके विचित्र कला-कौशलका परिचय देनेवाले नारायण नामक गोप, अलम्बुष, श्रुतायु, पराक्रमी जलसन्ध, भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद तथा घटोत्कच आदि जो बड़े-बड़े वीर मारे गये हैं, वह प्रसङ्ग भी इसी पर्वमें है ॥ २६१--२६४ ॥

अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते ।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥२६५॥

इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि युद्धमें जब पिता द्रोणाचार्य मार गिराये गये, तब अश्वत्थामाने भी शत्रुओंके प्रति अमर्षमें भरकर 'नारायण' नामक भयानक अस्त्रको प्रकट किया था ॥ २६५ ॥

आग्नेयं कीर्त्यते यत्र रुद्रमाहात्म्यमुत्तमम् ।
व्यासस्य चाप्यागमनं माहात्म्यं कृष्णपार्थयोः ॥२६६॥

इसीमें आग्नेयास्त्र तथा भगवान् रुद्रके उत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। व्यासजीके आगमन तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनके माहात्म्यकी कथा भी इसीमें है ॥ २६६ ॥

सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम् ।
यत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः ॥२६७॥
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ।
अत्राध्यायशतं प्रोक्तं तथाध्यायाश्च सप्ततिः ॥२६८॥
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ।
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥२६९॥
पाराशर्येण मुनिना संचिन्त्य द्रोणपर्वणि ।

महाभारतमें यह सातवाँ महान् पर्व बताया गया है। कौरव-पाण्डव-युद्धमें जो नरश्रेष्ठ नरेश शूरवीर बताये गये हैं, उनमेंसे अधिकांशके मारे जानेका प्रसङ्ग इस द्रोणपर्वमें ही आया है।

तत्त्वदर्शी पराशरनन्दन मुनिवर व्यासने भलीभाँति सोच-विचारकर द्रोण-पर्वमें एक सौ सत्तर अध्यायों और आठ हजार नौ सौ नौ (८९०९) श्लोकोंकी रचना एवं गणना की है ॥ २६७–२६९½ ॥

अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम् ॥२७०॥
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः।
आख्यातं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ॥२७१॥

इसके बाद अत्यन्त अद्भुत कर्ण-पर्वका परिचय दिया गया है। इसीमें परम बुद्धिमान् मद्रराज शल्यको कर्णके सारथि बनानेका प्रसङ्ग है, फिर त्रिपुरके संहारकी पुराण-प्रसिद्ध कथा आयी है ॥ २७०—२७१ ॥

प्रयाणे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः।
हंसकाकीयमाख्यानं तत्रैवाक्षेपसंहितम् ॥२७२॥

युद्धके लिये जाते समय कर्ण और शल्यमें जो कठोर संवाद हुआ है, उसका वर्णन भी इसी पर्वमें है। तदनन्तर हंस और कौएका आक्षेपपूर्ण उपाख्यान है ॥ २७२ ॥

वधः पाण्ड्यस्य च तथा अश्वत्थाम्ना महात्मना।
दण्डसेनस्य च ततो दण्डस्य च वधस्तथा ॥२७३॥

उसके बाद महात्मा अश्वत्थामाके द्वारा राजा पाण्ड्यके वधकी कथा है। फिर दण्डसेन और दण्डके वधका प्रसङ्ग है॥

द्वैरथे यत्र कर्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः।
संशयं गमितो युद्धे मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥२७४॥

इसी पर्वमें कर्णके साथ युधिष्ठिरके द्वैरथ (द्वन्द्व) युद्ध-का वर्णन है, जिसमें कर्णने सब धनुर्धर वीरोंके देखते-देखते धर्मराज युधिष्ठिरके प्राणोंको संकटमें डाल दिया था॥ २७४॥

अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः।
यत्रैवानुनयः प्रोक्तो माधवेनार्जुनस्य हि ॥२७५॥

तत्पश्चात् युधिष्ठिर और अर्जुनके एक-दूसरेके प्रति क्रोध-युक्त उद्गार हैं, जहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको समझा-बुझाकर शान्त किया है ॥ २७५ ॥

प्रतिज्ञापूर्वकं चापि वक्षो दुःशासनस्य च।
भित्त्वा वृकोदरो रक्तं पीतवान् यत्र संयुगे ॥२७६॥

इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि भीमसेनने पहलेकी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार दुश्शासनका वक्षःस्थल विदीर्ण करके रक्त पीया था ॥ २७६ ॥

द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः।
अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद् भारतचिन्तकैः ॥२७७॥

तदनन्तर द्वन्द्व-युद्धमें अर्जुनने महारथी कर्णको जो मार गिराया, वह प्रसङ्ग भी कर्णपर्वमें ही है। महाभारतका विचार करनेवाले विद्वानोंने इस कर्णपर्वको आठवाँ पर्व कहा है॥

एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ॥२७८॥
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः।

कर्णपर्वमें उनहत्तर अध्याय कहे गये हैं और चार हजार नौ सौ चौसठ (४९६४) श्लोकोंका पाठ इस पर्वमें किया गया है ॥ २७८½ ॥

अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ॥२७९॥

तत्पश्चात् विचित्र अर्थयुक्त विषयोंसे भरा हुआ शल्यपर्व कहा गया है ॥ २७९ ॥

हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोऽभवत्।
यत्र कौमारमाख्यानमभिषेकस्य कर्म च ॥२८०॥

इसीमें यह कथा आयी है कि जब कौरव-सेनाके सभी प्रमुख वीर मार दिये गये, तब मद्रराज शल्य सेनापति हुए। वहीं कुमार कार्तिकेयका उपाख्यान और अभिषेक-कर्म कहा गया है ॥ २८० ॥

वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः।
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ॥२८१॥
शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महात्मनः।
शकुनेश्च वधोऽत्रैव सहदेवेन संयुगे ॥२८२॥

साथ ही वहाँ रथियोंके युद्धका भी विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। शल्यपर्वमें ही कुरुकुलके प्रमुख वीरोंके विनाशका तथा महात्मा धर्मराजद्वारा शल्यके वधका वर्णन किया गया है। इसीमें सहदेवके द्वारा युद्धमें शकुनिके मारे जानेका प्रसङ्ग है ॥ २८१-२८२ ॥

सैन्ये च हतभूयिष्ठे किंचिच्छिष्टे सुयोधनः।
ह्रदं प्रविश्य यत्रासौ संस्तभ्यापो व्यवस्थितः ॥२८३॥

जब अधिक-से-अधिक कौरवसेना नष्ट हो गयी और थोड़ी-सी बच रही, तब दुर्योधन सरोवरमें प्रवेश करके पानीको स्तम्भित कर वहीं विश्रामके लिये बैठ गया ॥ २८३ ॥

प्रवृत्तिस्तत्र चाख्याता यत्र भीमस्य लुब्धकैः।
क्षेपयुक्तैर्वचोभिश्च धर्मराजस्य धीमतः ॥२८४॥
ह्रदात् समुत्थितो यत्र धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः।
भीमेन गदया युद्धं यत्रासौ कृतवान् सह ॥२८५॥

किंतु व्याधोंने भीमसेनसे दुर्योधनकी यह चेष्टा बतला दी। तब बुद्धिमान् धर्मराजके आक्षेपयुक्त वचनोंसे अत्यन्त अमर्षमें भरकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन सरोवरसे बाहर निकला और उसने भीमसेनके साथ गदायुद्ध किया। ये सब प्रसङ्ग शल्यपर्वमें ही हैं ॥२८४-२८५ ॥

समवाये च युद्धस्य रामस्यागमनं स्मृतम्।
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ॥२८६॥
गदायुद्धं च तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम्।

उसीमें युद्धके समय बलरामजीके आगमनकी बात कही गयी है। इसी प्रसङ्गमें सरस्वतीतटवर्ती तीर्थोंके पावन माहात्म्यका परिचय दिया गया है। शल्यपर्वमें ही भयंकर गदा-युद्धका वर्णन किया गया है ॥ २८६½ ॥

दुर्योधनस्य राज्ञोऽथ यत्र भीमेन संयुगे ॥२८७॥
ऊरू भग्नौ प्रसह्याजौ गदया भीमवेगया।
नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ॥२८८॥

जिसमें युद्ध करते समय भीमसेनने हठपूर्वक (युद्धके नियमको भङ्ग करके) अपनी भयानक वेगशालिनी गदासे राजा दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ डालीं, यह अद्भुत अर्थसे युक्त नवम पर्व बताया गया है ॥ २८७-२८८ ॥

एकोनषष्टिरध्यायाः पर्वण्यत्र प्रकीर्तिताः।
संख्याता बहुवृत्तान्ताः श्लोकसंख्यात्र कथ्यते ।२८९।

इस पर्वमें उनसठ (५९) अध्याय कहे गये हैं, जिसमें बहुत-से वृत्तान्तोंका वर्णन आया है। अब इसकी श्लोक-संख्या कही जाती है ॥ २८९ ॥

त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा।
मुनिना सम्प्रणीतानि कौरवाणां यशोभृता ॥२९०॥

कौरव-पाण्डवोंके यशका पोषण करनेवाले मुनिवर व्यासने इस पर्वमें तीन हजार दो सौ बीस (३२२०) श्लोकोंकी रचना की है ॥ २९० ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणम्।
भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ॥२९१॥
अपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षितम् ॥२९२॥

इसके पश्चात् मैं अत्यन्त दारुण सौप्तिकपर्वकी सूची बता रहा हूँ, जिसमें पाण्डवोंके चले जानेपर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधनके पास, जो खूनसे लथ-पथ हुआ पड़ा था, सायंकालके समय कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा—ये तीन महारथी आये ॥ २९१-२९२ ॥

समेत्य ददृशुर्भूमौ पतितं रणमूर्धनि।
प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः ॥२९३॥
अहत्वा सर्वपञ्चालान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान्।
पाण्डवांश्च सहामात्यान् न विमोक्ष्यामि दंशनम्॥२९४॥

निकट आकर उन्होंने देखा, राजा दुर्योधन युद्धके मुहानेपर इस दुर्दशामें पड़ा था। यह देखकर महारथी अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ और उसने प्रतिज्ञा की कि 'मैं धृष्टद्युम्न आदि सम्पूर्ण पाञ्चालों और मन्त्रियोंसहित समस्त पाण्डवोंका वध किये बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा' ॥ २९३-२९४ ॥

यत्रैवमुक्त्वा राजानमपक्रम्य त्रयो रथाः।
सूर्यास्तमनवेलायामासेदुस्ते महद् वनम् ॥२९५॥

सौप्तिकपर्वमें राजा दुर्योधनसे ऐसी बात कहकर वे तीनों महारथी वहाँसे चले गये और सूर्यास्त होते-होते एक बहुत बड़े वनमें जा पहुँचे ॥ २९५ ॥

न्यग्रोधस्याथ महतो यत्राधस्ताद् व्यवस्थिताः।
ततः काकान् बहून् रात्रौ दृष्ट्वोलूकेन हिंसितान् ॥२९६॥
द्रौणिः क्रोधसमाविष्टः पितुर्वधमनुस्मरन्।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां वधं प्रति मनो दधे ॥२९७॥

वहाँ तीनों एक बहुत बड़े बरगदके नीचे विश्रामके लिये बैठे। तदनन्तर वहाँ एक उल्लूने आकर रातमें बहुत-से कौओंको मार डाला। यह देखकर क्रोधमें भरे अश्वत्थामाने अपने पिताके अन्यायपूर्वक मारे जानेकी घटनाको स्मरण करके सोते समय ही पाञ्चालोंके वधका निश्चय कर लिया ॥ २९६-२९७ ॥

गत्वा च शिविरद्वारि दुर्दर्शं तत्र राक्षसम्।
घोररूपमपश्यत् स दिवमावृत्य धिष्ठितम् ॥२९८॥

तत्पश्चात् पाण्डवोंके शिविरके द्वारपर पहुँचकर उसने देखा, एक बड़ा भयंकर राक्षस, जिसकी ओर देखना अत्यन्त कठिन है, वहाँ खड़ा है। उसने पृथ्वीसे लेकर आकाशतक-के प्रदेशको घेर रखा था ॥ २९८ ॥

तेन व्याघातमस्त्राणां क्रियमाणमवेक्ष्य च।
द्रौणिर्यत्र विरूपाक्षं रुद्रमाराध्य सत्वरः ॥२९९॥

अश्वत्थामा जितने भी अस्त्र चलाता, उन सबको वह राक्षस नष्ट कर देता था। यह देखकर द्रोणकुमारने तुरंत ही भयंकर नेत्रोंवाले भगवान् रुद्रकी आराधना करके उन्हें प्रसन्न किया ॥ २९९ ॥

प्रसुप्तान् निशि विश्वस्तान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान्।
पञ्चालान् सपरीवारान् द्रौपदेयांश्च सर्वशः ॥३००॥
कृतवर्मणा च सहितः कृपेण च निजघ्निवान्।
यत्रामुच्यन्त ते पार्थाः पञ्च कृष्णबलाश्रयात् ॥३०१॥
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः।
पञ्चालानां प्रसुप्तानां यत्र द्रोणसुताद् वधः ॥३०२॥
धृष्टद्युम्नस्य सूतेन पाण्डवेषु निवेदितः।
द्रौपदी पुत्रशोकार्ता पितृभ्रातृवधार्दिता ॥३०३॥

तत्पश्चात् अश्वत्थामाने रातमें निःशङ्क सोये हुए धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालों तथा द्रौपदीपुत्रोंको कृतवर्मा और कृपाचार्यकी सहायतासे परिजनोंसहित मार डाला। भगवान् श्रीकृष्णकी शक्तिका आश्रय लेनेसे केवल पाँच पाण्डव और महान् धनुर्धर सात्यकि बच गये, शेष सभी वीर मारे गये। यह सब प्रसङ्ग सौप्तिकपर्वमें वर्णित है। वहीं यह भी कहा गया है

कि धृष्टद्युम्नके सारथिने जब पाण्डवोंको यह सूचित किया कि द्रोणपुत्रने सोये हुए पाञ्चालोंका वध कर डाला है; तब द्रौपदी पुत्रशोकसे पीड़ित तथा पिता और भाईकी हत्यासे व्यथित हो उठी ॥ ३००–३०३ ॥

कृतानशनसंकल्पा यत्र भर्तॄनुपाविशत् ।
द्रौपदीवचनाद् यत्र भीमो भीमपराक्रमः ॥३०४॥
प्रियं तस्याश्चिकीर्षन् वै गदामादाय वीर्यवान् ।
अन्वधावत् सुसंक्रुद्धो भारद्वाजं गुरोः सुतम् ॥३०५॥

वह पतियोंको अश्वत्थामासे इसका बदला लेनेके लिये उत्तेजित करती हुई आमरण अनशनका संकल्प ले अन्न-जल छोड़कर बैठ गयी । द्रौपदीके कहनेसे भयंकर पराक्रमी महाबली भीमसेन उसका प्रिय करनेकी इच्छासे हाथमें गदा ले अत्यन्त क्रोधमें भरकर गुरुपुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़े ॥ ३०४-३०५ ॥

भीमसेनभयाद् यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।
अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ॥३०६॥

तब भीमसेनके भयसे घबराकर दैवकी प्रेरणासे पाण्डवों-के विनाशके लिये अश्वत्थामाने रोषपूर्वक दिव्यास्त्रका प्रयोग किया ॥ ३०६ ॥

मैवमित्यब्रवीत् कृष्णः शमयंस्तस्य तद् वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ॥३०७॥

किंतु भगवान् श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके रोषपूर्ण वचनको शान्त करते हुए कहा—'मैवम्'—'पाण्डवोंका विनाश न हो ।' साथ ही अर्जुनने अपने दिव्यास्त्रद्वारा उसके अस्त्रको शान्त कर दिया ॥ ३०७ ॥

द्रौणेश्च द्रोहबुद्धित्वं वीक्ष्य पापात्मनस्तदा ।
द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ॥३०८॥

उस समय पापात्मा द्रोणपुत्रके द्रोहपूर्ण विचारको देखकर द्वैपायन व्यास एवं श्रीकृष्णने अश्वत्थामाको और अश्वत्थामाने उन्हें शाप दिया । इस प्रकार दोनों ओरसे एक-दूसरेको शाप-प्रदान किया गया ॥ ३०८ ॥

मणिं तथा समादाय द्रोणपुत्रान्महारथात् ।
पाण्डवाः प्रददुर्हृष्टा द्रौपद्यै जितकाशिनः ॥३०९॥

महारथी अश्वत्थामासे मणि छीनकर विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डवोंने प्रसन्नतापूर्वक द्रौपदीको दे दी ॥ ३०९ ॥

एतद् वै दशमं पर्व सौप्तिकं समुदाहृतम् ।
अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ॥३१०॥

इन सब वृत्तान्तोंसे युक्त सौप्तिकपर्व दसवाँ कहा गया है । महात्मा व्यासने इसमें अठारह अध्याय कहे हैं ॥ ३१० ॥

श्लोकानां कथितान्यत्र शतान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता मुनिना ब्रह्मवादिना ॥३११॥

इसी प्रकार उन ब्रह्मवादी मुनिने इस पर्वमें श्लोकोंकी संख्या आठ सौ सत्तर (८७०) बतायी है ॥ ३११ ॥

सौप्तिकैषीके सम्बद्धे पर्वण्युत्तमतेजसा ।
अत ऊर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ॥३१२॥

उत्तम तेजस्वी व्यासजीने इस पर्वमें सौप्तिक और ऐषीक दोनोंकी कथाएँ सम्बद्ध कर दी हैं । इसके बाद विद्वानोंने स्त्री-पर्व कहा है, जो करुणरसकी धारा बहानेवाला है ॥ ३१२ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कृष्णोपनीतां यत्रासावायसीं प्रतिमां दृढाम् ॥३१३॥
भीमसेनद्रोहबुद्धिर्धृतराष्ट्रो बभञ्ज ह ।
तथा शोकाभितप्तस्य धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥३१४॥
संसारगहनं बुद्ध्या हेतुभिर्मोक्षदर्शनैः ।
विदुरेण च यत्रास्य राज्ञ आश्वासनं कृतम् ॥३१५॥

प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रने पुत्रशोकसे संतप्त हो भीमसेन-के प्रति द्रोह-बुद्धि कर ली और श्रीकृष्णद्वारा अपने समीप लायी हुई लोहेकी मजबूत प्रतिमाको भीमसेन समझकर भुजाओंमें भर लिया तथा उसे दबाकर टूक-टूक कर डाला। उस समय पुत्रशोकसे पीड़ित बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रको विदुरजीने मोक्षका साक्षात्कार करानेवाली युक्तियों तथा विवेकपूर्ण बुद्धिके द्वारा संसारकी दुःखरूपताका प्रतिपादन करते हुए भलीभाँति समझा-बुझाकर शान्त किया ॥ ३१३–३१५ ॥

धृतराष्ट्रस्य चात्रैव कौरवायोधनं तथा ।
सान्तःपुरस्य गमनं शोकार्तस्य प्रकीर्तितम् ॥३१६॥

इसी पर्वमें शोकाकुल धृतराष्ट्रका अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ कौरवोंके युद्धस्थानमें जानेका वर्णन है ॥ ३१६ ॥

विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रमोहश्च गान्धारीधृतराष्ट्रयोः ॥३१७॥

वहीं वीरपत्नियोंके अत्यन्त करुणापूर्ण विलापका कथन है । वहीं गान्धारी और धृतराष्ट्रके क्रोधावेश तथा मूर्छित होने-का उल्लेख है ॥ ३१७ ॥

यत्र तान् क्षत्रियाः शूरान् संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।
पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄंश्चैव ददृशुर्निहतान् रणे ॥३१८॥

उस समय उन क्षत्राणियोंने युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अपने शूरवीर पुत्रों, भाइयों और पिताओंको रणभूमिमें मरा हुआ देखा ॥ ३१८ ॥

पुत्रपौत्रवधार्तायास्तथात्रैव प्रकीर्तिता ।
गान्धार्याश्चापि कृष्णेन क्रोधोपशमनक्रिया ॥३१९॥

पुत्रों और पौत्रोंके वधसे पीड़ित गान्धारीके पास आकर भगवान् श्रीकृष्णने उनके क्रोधको शान्त किया । इस प्रसङ्ग-का भी इसी पर्वमें वर्णन किया गया है ॥ ३१९ ॥

यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतां वरः ।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ॥३२०॥

वहीं यह भी कहा गया है कि परम बुद्धिमान् और सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने वहाँ मारे गये समस्त राजाओंके शरीरोंका शास्त्रविधिसे दाह-संस्कार किया और कराया॥

तोयकर्मणि चारब्धे राज्ञामुदकदानिके ।
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयाऽऽत्मनः ॥३२१॥
सुतस्यैतदिह प्रोक्तं व्यासेन परमर्षिणा ।
एतदेकादशं पर्व शोकवैक्लव्यकारणम् ॥३२२॥
प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम् ।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन् प्रकीर्तिताः ॥३२३॥
श्लोकसप्तशती चापि पञ्चसप्ततिसंयुता ।
संख्यया भारताख्यानमुक्तं व्यासेन धीमता ॥३२४॥

तदनन्तर राजाओंको जलाञ्जलिदानके प्रसङ्गमें उन सबके लिये तर्पणका आरम्भ होते ही कुन्तीद्वारा गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए अपने पुत्र कर्णका गूढ़ वृत्तान्त प्रकट किया गया, यह प्रसङ्ग आता है । महर्षि व्यासने ये सब बातें स्त्रीपर्वमें कही हैं । शोक और विकलताका संचार करनेवाला यह ग्यारहवाँ पर्व श्रेष्ठ पुरुषोंके चित्तको भी विह्वल करके उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा प्रवाहित करा देता है । इस पर्वमें सत्ताईस अध्याय कहे गये हैं । इसके श्लोकोंकी संख्या सात सौ पचहत्तर (७७५) कही गयी है । इस प्रकार परम बुद्धिमान् व्यासजीने महाभारतका यह उपाख्यान कहा है ॥ ३२१-३२४ ॥

अतः परं शान्तिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्धनम् ।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥३२५॥
घातयित्वा पितॄन् भ्रातॄन् पुत्रान् सम्बन्धिमातुलान्।
शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शारतल्पिकाः।३२६।

स्त्रीपर्वके पश्चात् बारहवाँ पर्व शान्तिपर्वके नामसे विख्यात है । यह बुद्धि और विवेकको बढ़ानेवाला है । इस पर्वमें यह कहा गया है कि अपने पितृतुल्य गुरुजनों, भाइयों, पुत्रों, सगे-सम्बन्धी एवं मामा आदिको मरवाकर राजा युधिष्ठिरके मनमें बड़ा निर्वेद (दुःख एवं वैराग्य) हुआ । शान्तिपर्वमें बाण-शय्यापर शयन करनेवाले भीष्मजीके द्वारा उपदेश किये हुए धर्मोंका वर्णन है ॥ ३२५-३२६ ॥

राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः ।
आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शिनः ॥३२७॥
यान् बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक् सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ॥३२८॥

उत्तम ज्ञानकी इच्छा रखनेवाले राजाओंको उन्हें भलीभाँति जानना चाहिये । उसी पर्वमें काल और कारणकी अपेक्षा रखनेवाले देश और कालके अनुसार व्यवहारमें लाने योग्य आपद्धर्मोंका भी निरूपण किया गया है; जिन्हें अच्छी तरह जान लेनेपर मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है । शान्तिपर्वमें विविध एवं अद्भुत मोक्षधर्मोंका भी बड़े विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है ॥ ३२७-३२८ ॥

द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत् प्राज्ञजनप्रियम् ।
अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ॥३२९॥
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः ।
चतुर्दश सहस्राणि तथा सप्त शतानि च ॥३३०॥
सप्त श्लोकास्तथैवात्र पञ्चविंशतिसंख्यया ।
अत ऊर्ध्वं च विज्ञेयमनुशासनमुत्तमम् ॥३३१॥

इस प्रकार यह बारहवाँ पर्व कहा गया है; जो ज्ञानीजनोंको अत्यन्त प्रिय है । इस पर्वमें तीन सौ उन्तालीस (३३९) अध्याय हैं और तपोधनो ! इसकी श्लोक-संख्या चौदह हजार सात सौ बत्तीस (१४७३२) है । इसके बाद उत्तम अनुशासनपर्व है, यह जानना चाहिये ॥ ३२९-३३१ ॥

यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम् ।
भीष्माद् भागीरथीपुत्रात् कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥३३२॥

जिसमें कुरुराज युधिष्ठिर गङ्गानन्दन भीष्मजीसे धर्मका निश्चित सिद्धान्त सुनकर प्रकृतिस्थ हुए, यह बात कही गयी है॥

व्यवहारोऽत्र कार्त्स्न्येन धर्मार्थीयः प्रकीर्तितः ।
विविधानां च दानानां फलयोगाः प्रकीर्तिताः ॥३३३॥

इसमें धर्म और अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले हितकारी आचार-व्यवहारका निरूपण किया गया है । साथ ही नाना प्रकारके दानोंके फल भी कहे गये हैं ॥ ३३३ ॥

तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः ।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ॥३३४॥
महाभाग्यं गवां चैव ब्राह्मणानां तथैव च ।
रहस्यं चैव धर्माणां देशकालोपसंहितम् ॥३३५॥
एतत् सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम् ।
भीष्मस्यात्रैव सम्प्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ॥३३६॥

दानके विशेष पात्र, दानकी उत्तम विधि, आचार और उसका विधान, सत्यभाषणकी पराकाष्ठा, गौओं और ब्राह्मणोंका माहात्म्य, धर्मोंका रहस्य तथा देश और काल (तीर्थ और पर्व) की महिमा—ये सब अनेक वृत्तान्त जिसमें वर्णित हैं, वह उत्तम अनुशासनपर्व है । इसीमें भीष्मको स्वर्गकी प्राप्ति कही गयी है ॥ ३३४-३३६ ॥

एतत् त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम् ।
अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥३३७॥

धर्मका निर्णय करनेवाला यह पर्व तेरहवाँ है । इसमें एक सौ छियालीस (१४६) अध्याय हैं ॥ ३३७ ॥

श्लोकानां तु सहस्राणि प्रोक्तान्यष्टौ प्रसंख्यया ।
ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम् ॥३३८॥

और पूरे आठ हजार (८०००) श्लोक कहे गये हैं। तदनन्तर चौदहवें आश्वमेधिक नामक पर्वकी कथा है॥ ३३८॥

तत् संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम्।
सुवर्णकोषसम्प्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः ॥३३९॥

जिसमें परम उत्तम योगी संवर्त तथा राजा मरुत्तका उपाख्यान है। युधिष्ठिरको सुवर्णके खजानेकी प्राप्ति और परीक्षित्‌के जन्मका वर्णन है ॥ ३३९ ॥

दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात् संजीवनं पुनः।
चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः ॥३४०॥
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः।
चित्राङ्गदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः ॥३४१॥
संग्रामे बभ्रुवाहेण संशयं चात्र दर्शितः।
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ॥३४२॥
इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम्।
अध्यायानां शतं चैव त्रयोऽध्यायाश्च कीर्तिताः ॥३४३॥
त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना॥३४४॥

पहले अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे दग्ध हुए बालक परीक्षित्‌का पुनः श्रीकृष्णके अनुग्रहसे जीवित होना कहा गया है। सम्पूर्ण राष्ट्रोंमें घूमनेके लिये छोड़े गये अश्वमेध-सम्बन्धी अश्वके पीछे पाण्डुनन्दन अर्जुनके जाने और उन-उन देशोंमें कुपित राजकुमारोंके साथ उनके युद्ध करनेका वर्णन है। पुत्रिकाधर्मके अनुसार उत्पन्न हुए चित्राङ्गदाकुमार बभ्रुवाहनने युद्धमें अर्जुनको प्राण-संकटकी स्थितिमें डाल दिया था; यह कथा भी अश्वमेधपर्वमें ही आयी है। वहीं अश्वमेध-महायज्ञमें नकुलोपाख्यान आया है। इस प्रकार यह परम अद्भुत आश्वमेधिकपर्व कहा गया है। इसमें एक सौ तीन अध्याय पढ़े गये हैं। तत्त्वदर्शी व्यासजीने इस पर्वमें तीन हजार तीन सौ बीस (३३२०) श्लोकोंकी रचना की है ॥ ३४०—३४४ ॥

ततस्त्वाश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम्।
यत्र राज्यं समुत्सृज्य गान्धार्या सहितो नृपः ॥३४५॥
धृतराष्ट्रोऽऽश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह।
यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा ॥३४६॥
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता।

तदनन्तर आश्रमवासिक नामक पंद्रहवें पर्वका वर्णन है। जिसमें गान्धारीसहित राजा धृतराष्ट्रऔर विदुरके राज्य छोड़कर वनके आश्रममें जानेका उल्लेख हुआ है। उस समय धृतराष्ट्र-को प्रस्थान करते देख सती साध्वी कुन्ती भी गुरुजनोंकी सेवामें अनुरक्त हो अपने पुत्रका राज्य छोड़कर उन्हींके पीछे-पीछे चली गयीं ॥ ३४५-३४६½ ॥

यत्र राजा हतान् पुत्रान् पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान्॥३४७॥
लोकान्तरगतान् वीरानपश्यत् पुनरागतान्।
ऋषेः प्रसादात् कृष्णस्य दृष्ट्वाश्चर्यमनुत्तमम् ॥३४८॥
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः।
यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः ॥३४९॥
संजयश्च सहामात्यो विद्वान् गावल्गणिर्वशी।
ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥३५०॥

जहाँ राजा धृतराष्ट्रने युद्धमें मरकर परलोकमें गये हुए अपने वीर पुत्रों, पौत्रों तथा अन्यान्य राजाओंको भी पुनः अपने पास आया हुआ देखा। महर्षि व्यासजीके प्रसादसे यह उत्तम आश्चर्य देखकर गान्धारीसहित धृतराष्ट्रने शोक त्याग दिया और उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली। इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि विदुरजीने धर्मका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त की। साथ ही मन्त्रियोंसहित जितेन्द्रिय विद्वान् गवल्गण-पुत्र संजयने भी उत्तम पद प्राप्त कर लिया। इसी पर्वमें यह बात भी आयी है कि धर्मराज युधिष्ठिरको नारदजीका दर्शन हुआ ॥

नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत्।
एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं महदद्भुतम् ॥३५१॥

नारदजीसे ही उन्होंने यदुवंशियोंके महान् संहारका समाचार सुना। यह अत्यन्त अद्भुत आश्रमवासिकपर्व कहा गया है ॥ ३५१ ॥

द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया।
सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च ॥३५२॥
षडेव च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना।
अतः परं निबोधेदं मौसलं पर्व दारुणम् ॥३५३॥

इस पर्वमें अध्यायोंकी संख्या बयालीस है। तत्त्वदर्शी व्यासजीने इसमें एक हजार पाँच सौ छः (१५०६) श्लोक रक्खे हैं। इसके बाद मौसलपर्वकी सूची सुनो—यह पर्व अत्यन्त दारुण है ॥ ३५२-३५३ ॥

यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शस्त्रस्पर्शहता युधि।
ब्रह्मदण्डविनिष्पिष्टाः समीपे लवणाम्भसः ॥३५४॥

इसीमें यह बात आयी है कि वे श्रेष्ठ यदुवंशी वीर क्षार-समुद्रके तटपर आपसके युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंके स्पर्शमात्रसे मारे गये। ब्राह्मणोंके शापने उन्हें पहले ही पीस डाला था ॥ ३५४ ॥

आपाने पानकलिता दैवेनाभिप्रचोदिताः।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ॥३५५॥

उन सबने मधुपानके स्थानमें जाकर खूब पीया और नशेसे होश-हवास खो बैठे। फिर दैवसे प्रेरित हो परस्पर संघर्ष करके उन्होंने एरकारूपी वज्रसे एक दूसरेको मार डाला॥

यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ।
नातिचक्रामतुः कालं प्राप्तं सर्वहरं महत् ॥३५६॥

वहीं सबका संहार करके बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाइयोंने समर्थ होते हुए भी अपने ऊपर आये हुए सर्व-संहारकारी महान् कालका उल्लङ्घन नहीं किया (महर्षियोंकी

वाणी सत्य करनेके लिये कालका आदेश स्वेच्छासे अङ्गीकार कर लिया) ॥ ३५६ ॥

यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविनाकृताम् ।
दृष्ट्वा विषादमगमत् परां चार्तिं नरर्षभः ॥३५७॥

वहीं यह प्रसङ्ग भी है कि नरश्रेष्ठ अर्जुन द्वारकामें आये और उसे वृष्णिवंशियोंसे सूनी देखकर विषादमें डूब गये। उस समय उनके मनमें बड़ी पीड़ा हुई ॥ ३५७ ॥

स संस्कृत्य नरश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मनः ।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ॥३५८॥

उन्होंने अपने मामा नरश्रेष्ठ वसुदेवजीका दाह-संस्कार करके आपानस्थानमें जाकर यदुवंशी वीरोंके विकट विनाशका रोमाञ्चकारी दृश्य देखा ॥ ३५८ ॥

शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः ।
संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ॥३५९॥

वहाँसे भगवान् श्रीकृष्ण, महात्मा बलराम तथा प्रधान-प्रधान वृष्णिवंशी वीरोंके शरीरोंको लेकर उन्होंने उनका संस्कार सम्पन्न किया ॥ ३५९ ॥

स वृद्धबालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम् ।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ॥३६०॥

तदनन्तर अर्जुनने द्वारकाके बालक, वृद्ध तथा स्त्रियोंको साथ ले वहाँसे प्रस्थान किया; परंतु उस दुःखदायिनी विपत्तिमें उन्होंने अपने गाण्डीव धनुषकी अभूतपूर्व पराजय देखी ॥

सर्वेषां चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम् ।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावाणामनित्यताम् ॥३६१॥
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः ।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ॥३६२॥

उनके सभी दिव्यास्त्र उस समय अप्रसन्न-से होकर विस्मृत हो गये। वृष्णिकुलकी स्त्रियोंका देखते-देखते अपहरण हो जाना और अपने प्रभावोंका स्थिर न रहना—यह सब देखकर अर्जुनको बड़ा निर्वेद (दुःख) हुआ। फिर उन्होंने व्यासजीके वचनोंसे प्रेरित हो धर्मराज युधिष्ठिरसे मिलकर संन्यासमें अभिरुचि दिखायी ॥ ३६१-३६२ ॥

इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम् ।
अध्यायाष्टौ समाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६३॥
श्लोकानां विंशतिश्चैव संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ।
महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम् ॥३६४॥

इस प्रकार यह सोलहवाँ मौसलपर्व कहा गया है। इसमें तत्त्वज्ञानी व्यासने गिनकर आठ अध्याय और तीन सौ बीस (३२०) श्लोक कहे हैं। इसके पश्चात् सत्रहवाँ महाप्रस्थानिकपर्व कहा गया है ॥ ३६३-३६४ ॥

यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
द्रौपद्या सहिता देव्या महाप्रस्थानमास्थिताः ॥३६५॥

जिसमें नरश्रेष्ठ पाण्डव अपना राज्य छोड़कर द्रौपदीके साथ महाप्रस्थानके* पथपर आ गये ॥ ३६५ ॥

यत्र तेऽग्निं ददृशिरे लौहित्यं प्राप्य सागरम् ।
यत्राग्निना चोदितश्च पार्थस्तस्मै महात्मने ॥३६६॥
ददौ सम्पूज्य तद् दिव्यं गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ।
यत्र भ्रातॄन् निपतितान् द्रौपदीं च युधिष्ठिरः ॥३६७॥
दृष्ट्वा हित्वा जगामैव सर्वाननवलोकयन् ।
एतत् सप्तदशं पर्व महाप्रस्थानिकं स्मृतम् ॥३६८॥

उस यात्रामें उन्होंने लाल सागरके पास पहुँचकर साक्षात् अग्निदेवको देखा और उन्हींकी प्रेरणासे पार्थने उन महात्माको आदरपूर्वक अपना उत्तम एवं दिव्य गाण्डीव धनुष अर्पण कर दिया। उसी पर्वमें यह भी कहा गया है कि राजा युधिष्ठिरने मार्गमें गिरे हुए अपने भाइयों और द्रौपदीको देखकर भी उनकी क्या दशा हुई यह जाननेके लिये पीछेकी ओर फिरकर नहीं देखा और उन सबको छोड़कर आगे बढ़ गये। यह सत्रहवाँ 'महाप्रस्थानिक' पर्व कहा गया है ॥ ३६६–३६८ ॥

यत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥३६९॥

इसमें तत्त्वज्ञानी व्यासजीने तीन अध्याय और एक सौ तेईस श्लोक गिनकर कहे हैं ॥ ३६९ ॥

स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत् तदमानुषम् ।
प्राप्तं दैवरथं स्वर्गान्नेष्टवान् यत्र धर्मराट् ॥३७०॥
आरोढुं सुमहाप्राज्ञ आनृशंस्याच्छुना विना ।
तामस्याविचलां ज्ञात्वा स्थितिं धर्मे महात्मनः ॥३७१॥
स्वरूपं यत्र तत् त्यक्त्वा धर्मेणासौ समन्वितः ।
स्वर्गं प्राप्तः स च तथा यातना विपुला भृशम् ॥३७२॥
देवदूतेन नरकं यत्र व्याजेन दर्शितम् ।
शुश्राव यत्र धर्मात्मा भ्रातॄणां करुणा गिरः ॥३७३॥
निदेशे वर्तमानानां देशे तत्रैव वर्तताम् ।
अनुदर्शितश्च धर्मेण देवराजेन पाण्डवः ॥३७४॥

तदनन्तर स्वर्गारोहणपर्व जानना चाहिये। जो दिव्य वृत्तान्तोंसे युक्त और अलौकिक है। उसमें यह वर्णन आया है कि स्वर्गसे युधिष्ठिरको लेनेके लिये एक दिव्य रथ आया; किंतु महाज्ञानी धर्मराज युधिष्ठिरने दयावश अपने साथ आये हुए कुत्तेको छोड़कर अकेले उसपर चढ़ना स्वीकार नहीं

* घर छोड़कर निराहार रहते हुए, स्वेच्छासे मृत्युका वरण करनेके लिये निकल जाना और विभिन्न दिशाओंमें भ्रमण करते हुए अन्तमें उत्तर दिशा—हिमालयकी ओर जाना—महाप्रस्थान कहलाता है—पाण्डवोंने ऐसा ही किया।

किया । महात्मा युधिष्ठिरकी धर्ममें इस प्रकार अविचल स्थिति जानकर कुत्तेने अपने मायामय स्वरूपको त्याग दिया और अब वह साक्षात् धर्मके रूपमें स्थित हो गया । धर्मके साथ युधिष्ठिर स्वर्गमें गये । वहाँ देवदूतने व्याजसे उन्हें नरककी विपुल यातनाओंका दर्शन कराया । वहीं धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाइयोंकी करुणाजनक पुकार सुनी थी । वे सब वहीं नरक-प्रदेशमें यमराजकी आज्ञाके अधीन रहकर यातना भोगते थे । तत्पश्चात् धर्मराज तथा देवराजने पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिरको वास्तवमें उनके भाइयोंको जो सद्गति प्राप्त हुई थी, उसका दर्शन कराया ॥ ३७०-३७४ ॥

आप्लुत्याकाशगङ्गायां देहं त्यक्त्वा स मानुषम् ।
स्वधर्मनिर्जितं स्थानं स्वर्गे प्राप्य स धर्मराट् ॥३७५॥
मुमुदे पूजितः सर्वैः सेन्द्रैः सुरगणैः सह ।
एतदष्टादशं पर्व प्रोक्तं व्यासेन धीमता ॥३७६॥

इसके बाद धर्मराजने आकाश-गङ्गामें गोता लगाकर मानव-शरीरको त्याग दिया और स्वर्गलोकमें अपने धर्मसे उपार्जित उत्तम स्थान पाकर वे इन्द्रादि देवताओंके साथ उनसे सम्मानित हो आनन्दपूर्वक रहने लगे । इस प्रकार बुद्धिमान् व्यासजीने यह अठारहवाँ पर्व कहा है॥ ३७५-३७६॥

अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन् महात्मना ।
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ॥३७७॥
नव श्लोकास्तथैवान्ये संख्याताः परमर्षिणा ।
अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्युक्तान्यशेषतः ॥३७८॥

तपोधनो ! परम ऋषि महात्मा व्यासजीने इस पर्वमें गिने-गिनाये पाँच अध्याय और दो सौ नौ (२०९) श्लोक कहे हैं । इस प्रकार ये कुल मिलाकर अठारह पर्व कहे गये हैं ॥ ३७७-३७८ ॥

खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यं च प्रकीर्तितम् ।
दशश्लोकसहस्राणि विंशच्छ्लोकशतानि च ॥३७९॥
खिलेषु हरिवंशे च संख्यातानि महर्षिणा ।
एतत् सर्वं समाख्यातं भारते पर्वसंग्रहः ॥३८०॥

खिल पर्वोंमें हरिवंश तथा भविष्यका वर्णन किया गया है । हरिवंशके खिल पर्वोंमें महर्षि व्यासने गणना-पूर्वक बारह हजार (१२०००) श्लोक रक्खे हैं । इस प्रकार महाभारतमें यह सब पर्वोंका संग्रह बताया गया है ॥ ३७९-३८०॥

अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ।
तन्महादारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ॥३८१॥

कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं और वह महाभयंकर युद्ध अठारह दिनोंतक चलता रहा ॥ ३८१ ॥

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः ॥३८२॥

जो द्विज अङ्गों और उपनिषदोंसहित चारों वेदोंको जानता है, परंतु इस महाभारत-इतिहासको नहीं जानता, वह विशिष्ट विद्वान् नहीं है ॥ ३८२ ॥

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत् ।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥३८३॥

असीम बुद्धिवाले महात्मा व्यासने यह अर्थशास्त्र कहा है । यह महान् धर्मशास्त्र भी है, इसे काम-शास्त्र भी कहा गया है (और मोक्षशास्त्र तो यह है ही) ॥ ३८३ ॥

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते ।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥३८४॥

इस उपाख्यानको सुन लेनेपर और कुछ सुनना अच्छा नहीं लगता । भला कोकिलका कलरव सुनकर कौओंकी कठोर 'काँय-काँय' किसे पसंद आयेगी ? ॥ ३८४ ॥

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥३८५॥

जैसे पाँच भूतोंसे त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक) लोकसृष्टियाँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार इस उत्तम इतिहाससे कवियोंको काव्यरचनाविषयक बुद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३८५ ॥

अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः ।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥३८६॥

द्विजवरो ! इस महाभारत इतिहासके भीतर ही अठारह पुराण स्थित हैं, ठीक उसी तरह, जैसे आकाशमें ही चारों प्रकारकी प्रजा (जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज) विद्यमान हैं ॥ ३८६ ॥

क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः ।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ॥३८७॥

जैसे विचित्र मानसिक क्रियाएँ ही समस्त इन्द्रियोंकी चेष्टाओंका आधार हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक कर्मोंके उत्कृष्ट फल-साधनोंका यह आख्यान ही आधार है ॥ ३८७ ॥

अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥३८८॥

जैसे भोजन किये बिना शरीर नहीं रह सकता, वैसे ही इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसी कथा नहीं है जो इस महाभारतका आश्रय लिये बिना प्रकट हुई हो ॥ ३८८ ॥

इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥३८९॥
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
साधोरिव गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ॥३९०॥

सभी श्रेष्ठ कवि इस महाभारतकी कथाका आश्रय लेते हैं और लेंगे। ठीक वैसे ही, जैसे उन्नति चाहनेवाले सेवक श्रेष्ठ स्वामीका सहारा लेते हैं। जैसे शेष तीन आश्रम उत्तम गृहस्थ आश्रमसे बढ़कर नहीं हो सकते; उसी प्रकार संसारके कवि इस महाभारत काव्यसे बढ़कर काव्य-रचना करनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ ३८९-३९० ॥

धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥३९१॥

तपस्वी महर्षियो! (तथा महाभारतके पाठको!) आप सब लोग सदा सांसारिक आसक्तियोंसे ऊँचे उठें और आपका मन सदा धर्ममें लगा रहे; क्योंकि परलोकमें गये हुए जीवका बन्धु या सहायक एकमात्र धर्म ही है। चतुर मनुष्य भी धन और स्त्रियोंका सेवन तो करते हैं, किंतु वे उनकी श्रेष्ठतापर विश्वास नहीं करते और न उन्हें स्थिर ही मानते हैं॥

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन॥३९२॥

जो व्यासजीके मुखसे निकले हुए इस अप्रमेय (अतुलनीय) पुण्यदायक, पवित्र, पापहारी और कल्याणमय महाभारतको दूसरोंके मुखसे सुनता है, उसे पुष्करतीर्थके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ३९२ ॥

यदह्ना कुरुते पापं ब्राह्मणस्त्विन्द्रियैश्चरन्।
महाभारतमाख्याय संध्यां मुच्यति पश्चिमाम्॥३९३॥

ब्राह्मण दिनमें अपनी इन्द्रियोंद्वारा जो पाप करता है, उससे सायंकाल महाभारतका पाठ करके मुक्त हो जाता है॥

यद् रात्रौ कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा।
महाभारतमाख्याय पूर्वां संध्यां प्रमुच्यते॥३९४॥

इसी प्रकार वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा रातमें जो पाप करता है, उससे प्रातःकाल महाभारतका पाठ करके छूट जाता है॥ ३९४॥

यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय।
पुण्यां च भारतकथां शृणुयाच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव॥३९५॥

जो गौओंके सींगमें सोना मढ़ाकर वेदवेत्ता एवं बहुज्ञ ब्राह्मणको प्रतिदिन सौ गौएँ दान देता है और जो केवल महाभारत-कथाका श्रवणमात्र करता है, इन दोनोंमेंसे प्रत्येकको बराबर ही फल मिलता है॥ ३९५॥

आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं
विज्ञेयं महदिह पर्वसंग्रहेण।
श्रुत्वादौ भवति नृणां सुखावगाहं
विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन॥३९६॥

यह महान् अर्थसे भरा हुआ परम उत्तम महाभारत-आख्यान यहाँ पर्वसंग्रहाध्यायके द्वारा समझना चाहिये। इस अध्यायको पहले सुन लेनेपर मनुष्योंके लिये महाभारत-जैसे महासमुद्रमें प्रवेश करना उसी प्रकार सुगम हो जाता है जैसे जहाजकी सहायतासे अनन्त जल-राशिवाले समुद्रमें प्रवेश सहज हो जाता है॥ ३९६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पर्वसंग्रहपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इस प्रकार महाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पर्वसंग्रहपर्वमें दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥ २॥



(पौष्यपर्व)

तृतीयोऽध्यायः

जनमेजयको सरमाका शाप, जनमेजयद्वारा सोमश्रवाका पुरोहितके पदपर वरण, आरुणि, उपमन्यु, वेद और उत्तङ्ककी गुरुभक्ति तथा उत्तङ्कका सर्पयज्ञके लिये जनमेजयको प्रोत्साहन देना

सौतिरुवाच

जनमेजयः पारीक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्रमुपास्ते। तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन इति। तेषु तत्सत्रमुपासीनेष्वागच्छत् सारमेयः॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—परीक्षित्के पुत्र जनमेजय अपने भाइयोंके साथ कुरुक्षेत्रमें दीर्घकालतक चलनेवाले यज्ञका अनुष्ठान करते थे। उनके तीन भाई थे—श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन। वे तीनों उस यज्ञमें बैठे थे। इतनेमें ही देवताओंकी कुतिया सरमाका पुत्र सारमेय वहाँ आया॥ १॥

स जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीपमुपागच्छत् ॥ २ ॥

जनमेजयके भाइयोंने उस कुत्तेको मारा। तब वह रोता हुआ अपनी माँके पास गया ॥ २ ॥

तं माता रोरूयमाणमुवाच । किं रोदिषि केनास्यभिहत इति ॥ ३ ॥

बार-बार रोते हुए अपने उस पुत्रसे माताने पूछा 'बेटा ! क्यों रोता है ? किसने तुझे मारा है ?' ॥ ३ ॥

स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति ॥ ४ ॥

माताके इस प्रकार पूछनेपर उसने उत्तर दिया—'माँ ! मुझे जनमेजयके भाइयोंने मारा है' ॥ ४ ॥

तं माता प्रत्युवाच व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत इति ॥ ५ ॥

तब माता उससे बोली—'बेटा ! अवश्य ही तूने उनका कोई प्रकटरूपमें अपराध किया होगा, जिसके कारण उन्होंने तुझे मारा है' ॥ ५ ॥

स तां पुनरुवाच नापराध्यामि किंचिन्नावेक्षे हवींषि नावलिह इति ॥ ६ ॥

तब उसने मातासे पुनः इस प्रकार कहा 'मैंने कोई अपराध नहीं किया है। न तो उनके हविष्यकी ओर देखा है और न उसे चाटा ही है' ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा पुत्रदुःखार्ता तत् सत्रमुपागच्छद् यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृभिर्दीर्घ-सत्रमुपास्ते ॥ ७ ॥

यह सुनकर पुत्रके दुःखसे दुखी हुई उसकी माता सरमा उस सत्रमें आयी, जहाँ जनमेजय अपने भाइयोंके साथ दीर्घकालीन सत्रका अनुष्ठान कर रहे थे ॥ ७ ॥

स तया क्रुद्धया तत्रोक्तोऽयं मे पुत्रो न किंचि-दपराध्यति नावेक्षत हवींषि नावलेढि किमर्थ-मभिहत इति ॥ ८ ॥

वहाँ क्रोधमें भरी हुई सरमाने जनमेजयसे कहा 'मेरे इस पुत्रने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया था, न तो इसने हविष्यकी ओर देखा और न उसे चाटा ही था, तब तुमने इसे क्यों मारा ?' ॥ ८ ॥

न किंचिदुक्तवन्तस्ते सा तानुवाच यस्मादयम-भिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्य-तीति ॥ ९ ॥

किंतु जनमेजय और उनके भाइयोंने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब सरमाने उनसे कहा, 'मेरा पुत्र निरपराध था, तो भी तुमने इसे मारा है; अतः तुम्हारे ऊपर अकस्मात् ऐसा भय उपस्थित होगा, जिसकी पहलेसे कोई सम्भावना न रही हो।'

जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया भृशं सम्भ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥ १० ॥

देवताओंकी कुतिया सरमाके इस प्रकार शाप देनेपर जनमेजयको बड़ी घबराहट हुई और वे बहुत दुखी हो गये ॥

स तस्मिन् सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरो-हितमनुरूपमन्विच्छमानः परं यत्नमकरोद् यो मे पाप-कृत्यां शमयेदिति ॥ ११ ॥

उस सत्रके समाप्त होनेपर वे हस्तिनापुरमें आये और अपने योग्य पुरोहितकी खोज करते हुए इसके लिये बड़ा यत्न करने लगे। पुरोहितके ढूँढ़नेका उद्देश्य यह था कि वह मेरी इस शापरूप पापकृत्याको (जो बल, आयु और प्राणका नाश करनेवाली है) शान्त कर दे ॥ ११ ॥

स कदाचिन्मृगयां गतः पारीक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित् स्वविषय आश्रममपश्यत् ॥ १२ ॥

एक दिन परीक्षित्-पुत्र जनमेजय शिकार खेलनेके लिये वनमें गये। वहाँ उन्होंने एक आश्रम देखा, जो उन्हींके राज्यके किसी प्रदेशमें विद्यमान था ॥ १२ ॥

तत्र कश्चिदृषिरासांचक्रे श्रुतश्रवा नाम । तस्य तपस्यभिरतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ॥ १३ ॥

उस आश्रममें श्रुतश्रवा नामसे प्रसिद्ध एक ऋषि रहते थे। उनके पुत्रका नाम था सोमश्रवा। सोमश्रवा सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे ॥ १३ ॥

तस्य तं पुत्रमभिगम्य जनमेजयः पारीक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ॥ १४ ॥

परीक्षित्-कुमार जनमेजयने महर्षि श्रुतश्रवाके पास जाकर उनके पुत्र सोमश्रवाका पुरोहित-पदके लिये वरण किया ॥ १४ ॥

स नमस्कृत्य तमृषिमुवाच भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ॥ १५ ॥

राजाने पहले महर्षिको नमस्कार करके कहा—'भगवन् ! आपके ये पुत्र सोमश्रवा मेरे पुरोहित हों' ॥ १५ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच जनमेजयं भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यां जातो महातपस्वी स्वाध्याय-सम्पन्नो मत्तपोवीर्यसम्भृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्त-स्याः कुक्षौ जातः ॥ १६ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रुतश्रवाने जनमेजयको इस प्रकार उत्तर दिया—'महाराज जनमेजय ! मेरा यह पुत्र सोमश्रवा सर्पिणीके गर्भसे पैदा हुआ है। यह बड़ा तपस्वी और स्वाध्यायशील है। मेरे तपोबलसे इसका भरण-पोषण हुआ है।

एक समय एक सर्पिणीने मेरा वीर्य-पान कर लिया था, अतः उसीके पेटसे इसका जन्म हुआ है ॥ १६ ॥

समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितुमन्तरेण महादेवकृत्याम् ॥ १७ ॥

यह तुम्हारी सम्पूर्ण पापकृत्याओं (शापजनित उपद्रवों) का निवारण करनेमें समर्थ है। केवल भगवान् शङ्करकी कृत्याको यह नहीं टाल सकता ॥ १७ ॥

अस्य त्वेकमुपांशुव्रतं यदेनं कश्चिद् ब्राह्मणः कंचिदर्थमभियाचेत् तं तस्मै दद्यादयं यद्येतदुत्सहसे ततो नयस्वैनमिति ॥ १८ ॥

किंतु इसका एक गुप्त नियम है। यदि कोई ब्राह्मण इसके पास आकर इससे किसी वस्तुकी याचना करेगा तो यह उसे उसकी अभीष्ट वस्तु अवश्य देगा। यदि तुम उदारतापूर्वक इसके इस व्यवहारको सहन कर सको अथवा इसकी इच्छापूर्तिका उत्साह दिखा सको तो इसे ले जाओ' ॥ १८ ॥

तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच भगवंस्तत् तथा भविष्यतीति ॥ १९ ॥

श्रुतश्रवाके ऐसा कहनेपर जनमेजयने उत्तर दिया 'भगवन्! सब कुछ उनकी रुचिके अनुसार ही होगा' ॥ १९ ॥

स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातॄनुवाच मयायं वृत उपाध्यायो यदयं ब्रूयात् तत् कार्यमविचारयद्भिर्भवद्भिरिति । तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा चक्रुः। स तथा भ्रातॄन् संदिश्य तक्षशिलां प्रत्यभिप्रतस्थे तं च देशं वशे स्थापयामास ॥ २० ॥

फिर वे सोमश्रवा पुरोहितको साथ लेकर लौटे और अपने भाइयोंसे बोले—'इन्हें मैंने अपना उपाध्याय (पुरोहित) बनाया है। ये जो कुछ भी कहें, उसे तुम्हें बिना किसी सोच-विचारके पालन करना चाहिये।' जनमेजयके ऐसा कहनेपर उनके तीनों भाई पुरोहितकी प्रत्येक आज्ञाका ठीक-ठीक पालन करने लगे। इधर राजा जनमेजय अपने भाइयोंको पूर्वोक्त आदेश देकर स्वयं तक्षशिला जीतनेके लिये चले गये और उस प्रदेशको अपने अधिकारमें कर लिया ॥ २० ॥

एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदस्तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुरुपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ॥ २१ ॥

(गुरुकी आज्ञाका किस प्रकार पालन करना चाहिये, इस विषयमें आगेका प्रसङ्ग कहा जाता है—) इन्हीं दिनों आयोदधौम्य नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे। उनके तीन शिष्य हुए—उपमन्यु, आरुणि पाञ्चाल तथा वेद ॥ २१ ॥

स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २२ ॥

एक दिन उपाध्यायने अपने एक शिष्य पाञ्चालदेशवासी आरुणिको खेतपर भेजा और कहा—'वत्स! जाओ, क्यारीकी टूटी हुई मेड़ बाँध दो' ॥ २२ ॥

स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा तत् केदारखण्डं बद्धुं नाशकत् । स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायं भवत्वेवं करिष्यामि ॥ २३ ॥

उपाध्यायके इस प्रकार आदेश देनेपर पाञ्चालदेशवासी आरुणि वहाँ जाकर उस धानकी क्यारीकी मेड़ बाँधने लगा। परंतु बाँध न सका। मेड़ बाँधनेके प्रयत्नमें ही परिश्रम करते-करते उसे एक उपाय सूझ गया और वह मन-ही-मन बोल उठा—'अच्छा; ऐसा ही करूँ' ॥ २३ ॥

स तत्र संविवेश केदारखण्डे शयाने च तथा तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २४ ॥

वह क्यारीकी टूटी हुई मेड़की जगह स्वयं ही लेट गया। उसके लेट जानेपर वहाँका बहता हुआ जल रुक गया ॥ २४ ॥

ततः कदाचिदुपाध्याय आयोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत् क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥ २५ ॥

फिर कुछ कालके पश्चात् उपाध्याय आयोदधौम्यने अपने शिष्योंसे पूछा—'पाञ्चालनिवासी आरुणि कहाँ चला गया'? ॥

ते तं प्रत्यूचुर्भगवंस्त्वयैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति । स एवमुक्तस्ताञ्छिष्यान् प्रत्युवाच तस्मात् तत्र सर्वे गच्छामो यत्र स गत इति ॥ २६ ॥

शिष्योंने उत्तर दिया—'भगवन्! आपहीने तो उसे यह कहकर भेजा था कि 'जाओ, क्यारीकी टूटी हुई मेड़ बाँध दो।' शिष्योंके ऐसा कहनेपर उपाध्यायने उनसे कहा 'तो चलो, हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ आरुणि गया है' ॥

स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार । भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासि वत्सैहीति ॥ २७ ॥

वहाँ जाकर उपाध्यायने उसे आनेके लिये आवाज दी 'पाञ्चालनिवासी आरुणि! कहाँ हो वत्स! यहाँ आओ' ॥ २७ ॥

स तच्छ्रुत्वा आरुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात् केदारखण्डात् सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे ॥ २८ ॥

उपाध्यायका यह वचन सुनकर आरुणि पाञ्चाल सहसा उस क्यारीकी मेड़से उठा और उपाध्यायके समीप आकर खड़ा हो गया ॥ २८ ॥

प्रोवाच चैनमयमस्म्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भवन्तमुपस्थितः ॥ २९ ॥

फिर उनसे विनयपूर्वक बोला—'भगवन्! मैं यह हूँ, क्यारीकी टूटी हुई मेड़से निकलते हुए अनिवार्य जलको

रोकनेके लिये स्वयं ही यहाँ लेट गया था। इस समय आपकी आवाज सुनते ही सहसा उस मेड़को विदीर्ण करके आपके पास आ खड़ा हुआ ॥ २९ ॥

तदभिवादये भगवन्तमाज्ञापयतु भवान् कमर्थं करवाणीति ॥ ३० ॥

'मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, आप आज्ञा दीजिये, मैं कौन-सा कार्य करूँ?' ॥ ३० ॥

स एवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच यस्माद् भवान् केदारखण्डं विदार्योत्थितस्तस्मादुद्दालक एव नाम्ना भवान् भविष्यतीत्युपाध्यायेनानुगृहीतः ॥ ३१ ॥

आरुणिके ऐसा कहनेपर उपाध्यायने उत्तर दिया—'तुम क्यारीके मेड़को विदीर्ण करके उठे हो, अतः इस उद्दलनकर्मके कारण उद्दालक नामसे ही प्रसिद्ध होओगे।' ऐसा कहकर उपाध्यायने आरुणिको अनुगृहीत किया ॥ ३१ ॥

यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि। सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ॥ ३२ ॥

साथ ही यह भी कहा कि, 'तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, इसलिये तुम कल्याणके भागी होओगे। सम्पूर्ण वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धिमें स्वयं प्रकाशित हो जायँगे' ॥ ३२ ॥

स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम। अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्योपमन्युर्नाम ॥ ३३ ॥

उपाध्यायके इस प्रकार आशीर्वाद देनेपर आरुणि कृतकृत्य हो अपने अभीष्ट देशको चला गया। उन्हीं आयोदधौम्य उपाध्यायका उपमन्यु नामक दूसरा शिष्य था ॥ ३३ ॥

तं चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति ॥ ३४ ॥

उसे उपाध्यायने आदेश दिया, 'वत्स उपमन्यु! तुम गौओंकी रक्षा करो' ॥ ३४ ॥

स उपाध्यायवचनादरक्षद् गाः; स चाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरुगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३५ ॥

उपाध्यायकी आज्ञासे उपमन्यु गौओंकी रक्षा करने लगा। वह दिनभर गौओंकी रक्षामें रहकर संध्याके समय गुरुजीके घरपर आता और उनके सामने खड़ा हो नमस्कार करता ॥

तमुपाध्यायः पीवानमपश्यदुवाच चैनं वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि पीवानसि दृढमिति ॥ ३६ ॥

उपाध्यायने देखा उपमन्यु खूब मोटा-ताजा हो रहा है, तब उन्होंने पूछा—'बेटा उपमन्यु! तुम कैसे जीविका चलाते हो, जिससे इतने अधिक हृष्ट-पुष्ट हो रहे हो?' ॥ ३६ ॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच भो भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ३७ ॥

उसने उपाध्यायसे कहा—'गुरुदेव! मैं भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता हूँ।' ॥ ३७ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच मय्यनिवेद्य भैक्ष्यं नोपयोक्तव्यमिति। स तथेत्युक्त्वा भैक्ष्यं चरित्वोपाध्यायाय न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥

यह सुनकर उपाध्याय उपमन्युसे बोले—'मुझे अर्पण किये बिना तुम्हें भिक्षाका अन्न अपने उपयोगमें नहीं लाना चाहिये।' उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। अब वह भिक्षा लाकर उपाध्यायको अर्पण करने लगा ॥ ३८ ॥

स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात्। स तथेत्युक्त्वा पुनररक्षद् गाः। अहनि रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागम्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३९ ॥

उपाध्याय उपमन्युसे सारी भिक्षा ले लेते थे। उपमन्यु 'तथास्तु' कहकर पुनः पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करता रहा। वह दिनभर गौओंकी रक्षामें रहता और (संध्याके समय) पुनः गुरुके घरपर आकर गुरुके सामने खड़ा हो नमस्कार करता था ॥ ३९ ॥

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४० ॥

उस दशामें भी उपमन्युको पूर्ववत् हृष्ट-पुष्ट ही देखकर उपाध्यायने पूछा—'बेटा उपमन्यु! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ले लेता हूँ, फिर तुम इस समय कैसे जीवन-निर्वाह करते हो?' ॥

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि तेन वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ४१ ॥

उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्युने उन्हें उत्तर दिया—'भगवन्! पहलेकी लायी हुई भिक्षा आपको अर्पित करके अपने लिये दूसरी भिक्षा लाता हूँ और उसीसे अपनी जीविका चलाता हूँ' ॥ ४१ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्ष्योपजीविनां वृत्त्युपरोधं करोषि इत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीति ॥ ४२ ॥

यह सुनकर उपाध्यायने कहा—'यह न्याययुक्त एवं श्रेष्ठ वृत्ति नहीं है। तुम ऐसा करके दूसरे भिक्षाजीवी लोगोंकी जीविकामें बाधा डालते हो; अतः लोभी हो (तुम्हें दुबारा भिक्षा नहीं लानी चाहिये।)' ॥ ४२ ॥

स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षत्। रक्षित्वा च पुनरुपाध्यायगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे।

उसने 'तथास्तु' कहकर गुरुकी आज्ञा मान ली और पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करने लगा। एक दिन गायें चराकर वह फिर (सायंकालको) उपाध्यायके घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया ॥ ४३ ॥

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपमन्यो अहं ते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशं केन वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४४ ॥

उपाध्यायने उसे फिर भी मोटा-ताजा ही देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु ! मैं तुम्हारी सारी भिक्षा ले लेता हूँ और अब तुम दुबारा भिक्षा नहीं माँगते, फिर भी बहुत मोटे हो। आजकल कैसे खाना-पीना चलाते हो ?' ॥ ४४ ॥

स एवमुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासां गवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति । तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो मया नाभ्यनुज्ञातमिति ॥ ४५ ॥

इस प्रकार पूछनेपर उपमन्युने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं इन गौओंके दूधसे जीवन-निर्वाह करता हूँ।' (यह सुनकर) उपाध्यायने उससे कहा—'मैंने तुम्हें दूध पीनेकी आज्ञा नहीं दी है, अतः इन गौओंके दूधका उपयोग करना तुम्हारे लिये अनुचित है' ॥ ४५ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्यायगृहमेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४६ ॥

उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर दूध न पीनेकी भी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गोपालन करता रहा। एक दिन गोचारणके पश्चात् वह पुनः उपाध्यायके घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया ॥ ४६ ॥

तमुपाध्यायः पीवानमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यं नाश्नासि न चान्यच्चरसि पयो न पिबसि पीवानसि भृशं केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४७ ॥

उपाध्यायने अब भी उसे हृष्ट-पुष्ट ही देखकर पूछा—'बेटा उपमन्यु ! तुम भिक्षाका अन्न नहीं खाते, दुबारा भिक्षा भी नहीं माँगते और गौओंका दूध भी नहीं पीते; फिर भी बहुत मोटे हो। इस समय कैसे निर्वाह करते हो ?' ॥ ४७ ॥

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनात् पिबन्त उद्गिरन्ति ॥ ४८ ॥

इस प्रकार पूछनेपर उसने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन् ! ये बछड़े अपनी माताओंके स्तनोंका दूध पीते समय जो फेन उगल देते हैं, उसीको पी लेता हूँ' ॥ ४८ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति । तदेषामपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः। फेनमपि भवान् न पातुमर्हतीति । स तथेति प्रतिश्रुत्य पुनररक्षद् गाः ॥ ४९ ॥

यह सुनकर उपाध्यायने कहा—'ये बछड़े उत्तम गुणोंसे युक्त हैं; अतः तुमपर दया करके बहुत-सा फेन उगल देते होंगे। इसलिये तुम फेन पीकर तो इन सभी बछड़ोंकी जीविकामें बाधा उपस्थित करते हो, अतः आजसे फेन भी न पिया करो।' उपमन्युने 'बहुत अच्छा' कहकर उसे न पीनेकी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गौओंकी रक्षा करने लगा ॥

तथा प्रतिषिद्धो भैक्ष्यं नाश्नाति न चान्यच्चरति पयो न पिबति फेनं नोपयुङ्क्ते । स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्षयत् ॥ ५० ॥

इस प्रकार मना करनेपर उपमन्यु न तो भिक्षाका अन्न खाता, न दुबारा भिक्षा लाता, न गौओंका दूध पीता और न बछड़ोंके फेनको ही उपयोगमें लाता था (अब वह भूखा रहने लगा)। एक दिन वनमें भूखसे पीड़ित होकर उसने आकके पत्ते चबा लिये ॥ ५० ॥

स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारतिक्तकटुरूक्षैस्तीक्ष्णविपाकैश्चक्षुष्युपहतोऽन्धो बभूव । ततः सोऽन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपे पपात ॥ ५१ ॥

आकके पत्ते खारे, तीखे, कड़वे और रूखे होते हैं। उनका परिणाम तीक्ष्ण होता है (पाचनकालमें वे पेटके अंदर आगकी ज्वाला-सी उठा देते हैं); अतः उनको खानेसे उपमन्युकी आँखोंकी ज्योति नष्ट हो गयी। वह अन्धा हो गया। अन्धा होनेपर भी वह इधर-उधर घूमता रहा; अतः कुएँमें गिर पड़ा ॥ ५१ ॥

अथ तस्मिन्ननागच्छति सूर्ये चास्ताचलावलम्बिनि उपाध्यायः शिष्यानवोचत्—नायात्युपमन्युस्त ऊचुर्वनं गतो गा रक्षितुमिति ॥ ५२ ॥

तदनन्तर जब सूर्यदेव अस्ताचलकी चोटीपर पहुँच गये, तब भी उपमन्यु गुरुके घरपर नहीं आया, तो उपाध्यायने शिष्योंसे पूछा—'उपमन्यु क्यों नहीं आया ?' वे बोले—'वह तो गाय चरानेके लिये वनमें गया था' ॥ ५२ ॥

तानाह उपाध्यायो मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः स नियतं कुपितस्ततो नागच्छति चिरं ततोऽन्वेष्य इत्येवमुक्त्वा शिष्यैः सार्धमरण्यं गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार भो उपमन्यो क्वासि वत्सैहीति ॥ ५३ ॥

तब उपाध्यायने कहा—'मैंने उपमन्युकी जीविकाके सभी मार्ग बंद कर दिये हैं, अतः निश्चय ही वह रूठ गया है; इसीलिये इतनी देर हो जानेपर भी वह नहीं आया, अतः हमें चलकर उसे खोजना चाहिये।' ऐसा कहकर शिष्योंके साथ वनमें

जाकर उपाध्यायने उसे बुलानेके लिये आवाज दी—'ओ उपमन्यु ! कहाँ हो बेटा ! चले आओ' ॥ ५३ ॥

स उपाध्यायवचनं श्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैरयमस्मिन् कूपे पतितोऽहमिति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच कथं त्वमस्मिन् कूपे पतित इति ॥ ५४ ॥

उसने उपाध्यायकी बात सुनकर उच्च स्वरसे उत्तर दिया—'गुरुजी ! मैं कुएँमें गिर पड़ा हूँ ।' तब उपाध्यायने उससे पूछा—'वत्स ! तुम कुएँमें कैसे गिर गये ?' ॥ ५४ ॥

स उपाध्यायं प्रत्युवाच—अर्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्म्यतः कूपे पतित इति ॥ ५५ ॥

उसने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं आकके पत्ते खाकर अन्धा हो गया हूँ; इसीलिये कुएँमें गिर गया' ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच—अश्विनौ स्तुहि । तौ देवभिषजौ त्वां चक्षुष्मन्तं कर्ताराविति । स एवमुक्त उपाध्यायेनोपमन्युरश्विनौ स्तोतुमुपचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः ॥ ५६ ॥

तब उपाध्यायने कहा—'वत्स ! दोनों अश्विनीकुमार देवताओंके वैद्य हैं । तुम उन्हींकी स्तुति करो । वे तुम्हारी आँखें ठीक कर देंगे ।' उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्युने अश्विनीकुमार नामक दोनों देवताओंकी ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा स्तुति प्रारम्भ की ॥ ५६ ॥

प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू
गिरा वाऽऽशंसामि तपसा ह्यनन्तौ ।
दिव्यौ सुपर्णौ विरजौ विमाना-
वधिक्षिपन्तौ भुवनानि विश्वा ॥५७॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप दोनों सृष्टिसे पहले विद्यमान थे । आप ही पूर्वज हैं । आप ही चित्रभानु हैं । मैं वाणी और तपके द्वारा आपकी स्तुति करता हूँ; क्योंकि आप अनन्त हैं । दिव्यस्वरूप हैं । सुन्दर पंखवाले दो पक्षीकी भाँति सदा साथ रहनेवाले हैं । रजोगुणशून्य तथा अभिमानसे रहित हैं । सम्पूर्ण विश्वमें आरोग्यका विस्तार करते हैं ॥५७॥

हिरण्मयौ शकुनी साम्परायौ
नासत्यदस्रौ सुनसौ वैजयन्तौ ।
शुक्लं वयन्तौ तरसा सुवेमा-
वधिव्ययन्तावसितं विवस्वतः ॥५८॥

सुनहरे पंखवाले दो सुन्दर विहंगमोंकी भाँति आप दोनों बन्धु बड़े सुन्दर हैं । पारलौकिक उन्नतिके साधनोंसे सम्पन्न हैं । नासत्य तथा दस्र—ये दोनों आपके नाम हैं । आपकी नासिका बड़ी सुन्दर है । आप दोनों निश्चितरूपसे विजय प्राप्त करनेवाले हैं । आप ही विवस्वान् (सूर्यदेव) के सुपुत्र हैं; अतः स्वयं ही सूर्यरूपमें स्थित हो दिन तथा रात्रिरूप काले तन्तुओंसे संवत्सररूप वस्त्र बुनते रहते हैं और उस वस्त्रद्वारा वेगपूर्वक देवयान और पितृयान नामक सुन्दर मार्गोंको प्राप्त कराते हैं ॥ ५८ ॥

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिका-
ममुञ्चताम‌श्विनौ सौभगाय ।
तावत् सुवृत्तावनमन्त मायया
वसत्तमा गा अरुणा उदावहन् ॥५९॥

परमात्माकी कालशक्तिने जीवरूपी पक्षीको अपना ग्रास बना रक्खा है । आप दोनों अश्विनीकुमार नामक जीवन्मुक्त महापुरुषोंने ज्ञान देकर कैवल्यरूप महान् सौभाग्यकी प्राप्तिके लिये उस जीवको कालके बन्धनसे मुक्त किया है । मायाके सहवासी अत्यन्त अज्ञानी जीव जबतक राग आदि विषयोंसे आक्रान्त हो अपनी इन्द्रियोंके समक्ष नत-मस्तक रहते हैं, तबतक वे अपने-आपको शरीरसे आबद्ध ही मानते हैं ॥ ५९ ॥

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव
एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति ।
नानागोष्ठा विहिता एकदोहना-
स्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम् ॥६०॥

दिन एवं रात—ये मनोवाञ्छित फल देनेवाली तीन सौ साठ दुधारू गौएँ हैं । वे सब एक ही संवत्सररूपी बछड़ेको जन्म देती और उसको पुष्ट करती हैं । वह बछड़ा सबका उत्पादक और संहारक है । जिज्ञासु पुरुष उक्त बछड़ेको निमित्त बनाकर उन गौओंसे विभिन्न फल देनेवाली शास्त्रविहित क्रियाएँ दुहते रहते हैं; उन सब क्रियाओंका एक (तत्त्वज्ञानकी इच्छा) ही दोहनीय फल है । पूर्वोक्त गौओंको आप दोनों अश्विनीकुमार ही दुहते हैं ॥ ६० ॥

एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः
प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिता अराः ।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं
मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ॥६१॥

हे अश्विनीकुमारो ! इस कालचक्रकी एकमात्र संवत्सर ही नाभि है, जिसपर रात और दिन मिलाकर सात सौ बीस अरे टिके हुए हैं । वे सब बारह मासरूपी प्रधियों (अरोंको थामनेवाले पुट्ठों) में जुड़े हुए हैं । अश्विनीकुमारो ! यह अविनाशी एवं मायामय कालचक्र बिना नेमिके ही अनियत गतिसे घूमता तथा इहलोक और परलोक दोनों लोकोंकी प्रजाओंका विनाश करता रहता है ॥ ६१ ॥

एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं
षण्णाभिमेकाक्षमृतस्य धारणम् ।
यस्मिन् देवा अधि विश्वे विषक्ता-
स्तावश्विनौ मुञ्चतं मा विषीदतम् ॥ ६२ ॥

अश्विनीकुमारो ! मेष आदि बारह राशियाँ जिसके बारह अरे, छहों ऋतुएँ जिसकी छः नाभियाँ हैं और संवत्सर जिसकी एक धुरी है, वह एकमात्र कालचक्र सब ओर चल रहा है। यही कर्मफलको धारण करनेवाला आधार है। इसीमें सम्पूर्ण कालाभिमानी देवता स्थित हैं। आप दोनों मुझे इस कालचक्रसे मुक्त करें, क्योंकि मैं यहाँ जन्म आदिके दुःखसे अत्यन्त कष्ट पा रहा हूँ ॥ ६२ ॥

अश्विनाविन्दुममृतं वृत्तभूयौ
तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी।
हित्वा गिरिमश्विनौ गा मुदा चरन्तौ
तद्वृष्टिमह्ना प्रस्थितौ बलस्य ॥ ६३ ॥

हे अश्विनीकुमारो! आप दोनोंमें सदाचारका बाहुल्य है। आप अपने सुयशसे चन्द्रमा, अमृत तथा जलकी उज्ज्वलताको भी तिरस्कृत कर देते हैं। इस समय मेरु पर्वतको छोड़कर आप पृथ्वीपर सानन्द विचर रहे हैं। आनन्द और बलकी वर्षा करनेके लिये ही आप दोनों भाई दिनमें प्रस्थान करते हैं॥

युवां दिशो जनयथो दशाग्रे
समानं मूर्ध्नि रथयानं वियन्ति।
तासां यातमृषयोऽनुप्रयान्ति
देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६४ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप दोनों ही सृष्टिके प्रारम्भकालमें पूर्वादि दसों दिशाओंको प्रकट करते—उनका ज्ञान कराते हैं। उन दिशाओंके मस्तक अर्थात् अन्तरिक्ष-लोकमें रथसे यात्रा करनेवाले तथा सबको समानरूपसे प्रकाश देनेवाले सूर्यदेवका और आकाश आदि पाँच भूतोंका भी आप ही ज्ञान कराते हैं। उन-उन दिशाओंमें सूर्यका जाना देखकर ऋषिलोग भी उनका अनुसरण करते हैं तथा देवता और मनुष्य (अपने अधिकारके अनुसार) स्वर्ग या मर्त्यलोककी भूमिका उपयोग करते हैं ॥ ६४ ॥

युवां वर्णान् विकुरुथो विश्वरूपां-
स्तेऽधिक्षियन्ते भुवनानि विश्वा।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति
देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६५ ॥

हे अश्विनीकुमारो ! आप अनेक रंगकी वस्तुओंके सम्मिश्रणसे सब प्रकारकी ओषधियाँ तैयार करते हैं, जो सम्पूर्ण विश्वका पोषण करती हैं। वे प्रकाशमान ओषधियाँ सदा आपका अनुसरण करती हुई आपके साथ ही विचरती हैं। देवता और मनुष्य आदि प्राणी अपने अधिकारके अनुसार स्वर्ग और मर्त्यलोककी भूमिमें रहकर उन ओषधियोंका सेवन करते हैं॥६५॥

तौ नासत्यावश्विनौ वां महेऽहं
स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधा-
वृते देवास्तत्प्रपदे न सूते ॥ ६६ ॥

अश्विनीकुमारो ! आप ही दोनों 'नासत्य' नामसे प्रसिद्ध हैं। मैं आपकी तथा आपने जो कमलकी माला धारण कर रखी है, उसकी पूजा करता हूँ। आप अमर होनेके साथ ही सत्यका पोषण और विस्तार करनेवाले हैं। आपके सहयोगके बिना देवता भी उस सनातन सत्यकी प्राप्तिमें समर्थ नहीं हैं ॥ ६६ ॥

मुखेन गर्भं लभेतां युवानौ
गतासुरेतत् प्रपदेन सूते।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भ-
स्तावश्विनौ मुञ्चथो जीवसे गाः ॥ ६७ ॥

युवक माता-पिता संतानोत्पत्तिके लिये पहले मुखसे अन्नरूप गर्भ धारण करते हैं। तत्पश्चात् पुरुषोंमें वीर्यरूपमें और स्त्रीमें रजोरूपसे परिणत होकर वह अन्न जड शरीर बन जाता है। तत्पश्चात् जन्म लेनेवाला गर्भस्थ जीव उत्पन्न होते ही माताके स्तनोंका दूध पीने लगता है। हे अश्विनीकुमारो ! पूर्वोक्त रूपसे संसार-बन्धनमें बँधे हुए जीवोंको आप तत्त्वज्ञान देकर मुक्त करते हैं। मेरे जीवन-निर्वाहके लिये मेरी नेत्रेन्द्रियको भी रोगसे मुक्त करें ॥ ६७ ॥

स्तोतुं न शक्नोमि गुणैर्भवन्तौ
चक्षुर्विहीनः पथि सम्प्रमोहः।
दुर्गेऽहमस्मिन् पतितोऽस्मि कूपे
युवां शरण्यौ शरणं प्रपद्ये ॥ ६८ ॥

अश्विनीकुमारो ! मैं आपके गुणोंका बखान करके आप दोनोंकी स्तुति नहीं कर सकता। इस समय नेत्रहीन (अन्धा) हो गया हूँ। रास्ता पहचाननेमें भी भूल हो जाती है; इसीलिये इस दुर्गम कूपमें गिर पड़ा हूँ। आप दोनों शरणागतवत्सल देवता हैं, अतः मैं आपकी शरण लेता हूँ ॥ ६८ ॥

इत्येवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुराहतुश्चैनं प्रीतौ स्व एष तेऽपूपोऽशानैनमिति ॥ ६९ ॥

इस प्रकार उपमन्युके स्तवन करनेपर दोनों अश्विनीकुमार वहाँ आये और उससे बोले—'उपमन्यु ! हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं। यह तुम्हारे खानेके लिये पूआ है, इसे खा लो' ॥ ६९॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच नानृतमूचतुर्भगवन्तौ न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे गुरवेऽनिवेद्येति ॥७०॥

उनके ऐसा कहनेपर उपमन्यु बोला—'भगवन् ! आपने ठीक कहा है, तथापि मैं गुरुजीको निवेदन किये बिना इस पूएको अपने उपयोगमें नहीं ला सकता' ॥ ७० ॥

ततस्तमश्विनावूचतुः—आवाभ्यां पुरस्ताद् भवत उपाध्यायेनैवमेवाभिष्टुताभ्यामपूपो दत्त उपयुक्तः स तेनानिवेद्य गुरवे त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा कृतमुपाध्यायेनेति ॥ ७१ ॥

तब दोनों अश्विनीकुमार बोले—'वत्स ! पहले तुम्हारे

उपाध्यायने भी हमारी इसी प्रकार स्तुति की थी। उस समय हमने उन्हें जो पूआ दिया था, उसे उन्होंने अपने गुरुजीको निवेदन किये बिना ही काममें ले लिया था। तुम्हारे उपाध्यायने जैसा किया है, वैसा ही तुम भी करो' ॥ ७१ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच—एतत् प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ नोत्सहेऽहमनिवेद्य गुरवेऽपूपमुपयोक्तुमिति ॥ ७२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर उपमन्युने उत्तर दिया—'इसके लिये तो आप दोनों अश्विनीकुमारोंकी मैं बड़ी अनुनय-विनय करता हूँ। गुरुजीके निवेदन किये बिना मैं इस पूएको नहीं खा सकता' ॥ ७२ ॥

तमश्विनावाहतुः प्रीतौ स्वस्तवानया गुरुभक्त्या उपाध्यायस्य ते कार्ष्णायसा दन्ता भवतोऽपि हिरण्मया भविष्यन्ति चक्षुष्मांश्च भविष्यसीति श्रेयश्चावाप्स्यसीति ॥ ७३ ॥

तब अश्विनीकुमार उससे बोले, 'तुम्हारी इस गुरु-भक्तिसे हम बड़े प्रसन्न हैं। तुम्हारे उपाध्यायके दाँत काले लोहेके समान हैं। तुम्हारे दाँत सुवर्णमय हो जायँगे। तुम्हारी आँखें भी ठीक हो जायँगी और तुम कल्याणके भागी भी होओगे' ॥ ७३ ॥

स एवमुक्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसकाशमागम्याभ्यवादयत् ॥ ७४ ॥

अश्विनीकुमारोंके ऐसा कहनेपर उपमन्युको आँखें मिल गयीं और उसने उपाध्यायके समीप आकर उन्हें प्रणाम किया ॥

आचचक्षे च स चास्य प्रीतिमान् बभूव ॥ ७५ ॥

तथा सब बातें गुरुजीसे कह सुनायीं। उपाध्याय उसके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ७५ ॥

आह चैनं यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसि ॥ ७६ ॥

और उससे बोले—'जैसा अश्विनीकुमारोंने कहा है, उसी प्रकार तुम कल्याणके भागी होओगे ॥ ७६ ॥

सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति। एषा तस्यापि परीक्षोपमन्योः ॥ ७७ ॥

'तुम्हारी बुद्धिमें सम्पूर्ण वेद और सभी धर्मशास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायँगे।' इस प्रकार यह उपमन्युकी परीक्षा बतायी गयी ॥ ७७ ॥

अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम तमुपाध्यायः समादिदेश वत्स वेद इहास्यतां तावन्मम गृहे कंचित् कालं शुश्रूषुणा च भवितव्यं श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥ ७८ ॥

उन्हीं आयोदधौम्यके तीसरे शिष्य थे वेद। उन्हें उपाध्यायने आज्ञा दी, 'वत्स वेद! तुम कुछ कालतक यहाँ मेरे घरमें निवास करो। सदा शुश्रूषामें लगे रहना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा' ॥ ७८ ॥

स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोऽवसद् गौरिव नित्यं गुरुणा धूर्षु नियोज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वत्राप्रतिकूलस्तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम ॥ ७९ ॥

वेद 'बहुत अच्छा' कहकर गुरुके घरमें रहने लगे। उन्होंने दीर्घकालतक गुरुकी सेवा की। गुरुजी उन्हें बैलकी तरह सदा भारी बोझ ढोनेमें लगाये रखते थे और वेद सरदी-गरमी तथा भूख-प्यासका कष्ट सहन करते हुए सभी अवस्थाओंमें गुरुके अनुकूल ही रहते थे। इस प्रकार जब बहुत समय बीत गया, तब गुरुजी उनपर पूर्णतः संतुष्ट हुए ॥

तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप। एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ॥ ८० ॥

गुरुके संतोषसे वेदने श्रेय तथा सर्वज्ञता प्राप्त कर ली। इस प्रकार यह वेदकी परीक्षाका वृत्तान्त कहा गया ॥ ८० ॥

स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृत्तस्तस्माद् गुरुकुलवासाद् गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत। तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः स शिष्यान् न किंचिदुवाच कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा चेति। दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान् परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ॥ ८१ ॥

तदनन्तर उपाध्यायकी आज्ञा होनेपर वेद समावर्तन-संस्कारके पश्चात् स्नातक होकर गुरुगृहसे लौटे। घर आकर उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। अपने घरमें निवास करते समय आचार्य वेदके पास तीन शिष्य रहते थे, किंतु वे 'काम करो अथवा गुरुसेवामें लगे रहो' इत्यादि रूपसे किसी प्रकारका आदेश अपने शिष्योंको नहीं देते थे; क्योंकि गुरुके घरमें रहनेपर छात्रोंको जो कष्ट सहन करना पड़ता है, उससे वे परिचित थे। इसलिये उनके मनमें अपने शिष्योंको क्लेशदायक कार्यमें लगानेकी कभी इच्छा नहीं होती थी ॥ ८१ ॥

अथ कस्मिंश्चित् काले वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्य वरयित्वोपाध्यायं चक्रतुः ॥ ८२ ॥ स कदाचिद् याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कनामानं शिष्यं नियोजयामास ॥ ८३ ॥ भो यत् किंचिदस्मद्गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीयमानं भवता क्रियमाणमिति स एवं प्रतिसंदिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ॥ ८४ ॥

एक समयकी बात है—ब्रह्मवेत्ता आचार्य वेदके पास

आकर 'जनमेजय और पौष्य' नामवाले दो क्षत्रियोंने उनका वरण किया और उन्हें अपना उपाध्याय बना लिया। तदनन्तर एक दिन उपाध्याय वेदने यजमानके कार्यसे बाहर जानेके लिये उद्यत हो उत्तङ्क नामवाले शिष्यको अग्निहोत्र आदिके कार्यमें नियुक्त किया और कहा—'वत्स उत्तङ्क ! मेरे घरमें मेरे बिना जिस किसी वस्तुकी कमी हो जाय, उसकी पूर्ति तुम कर देना, ऐसी मेरी इच्छा है।' उत्तङ्कको ऐसा आदेश देकर आचार्य वेद बाहर चले गये ॥८२-८४॥

अथोत्तङ्कः शुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानो गुरुकुले वसति स्म। स तत्र वसमान उपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः ॥ ८५ ॥

उत्तङ्क गुरुकी आज्ञाका पालन करते हुए सेवापरायण हो गुरुके घरमें रहने लगे। वहाँ रहते समय उन्हें उपाध्यायके आश्रयमें रहनेवाली सब स्त्रियोंने मिलकर बुलाया और कहा ॥

उपाध्यायानी ते ऋतुमती, उपाध्यायश्चोषितोऽस्या यथायमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियतामेषा विषीदतीति ॥ ८६ ॥

तुम्हारी गुरुपत्नी रजस्वला हुई हैं और उपाध्याय परदेश गये हैं। उनका यह ऋतुकाल जिस प्रकार निष्फल न हो, वैसा करो; इसके लिये गुरुपत्नी बड़ी चिन्तामें पड़ी हैं ॥८६॥

एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं करणीयम् । न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टोऽकार्यमपि त्वया कार्यमिति ॥ ८७ ॥

यह सुनकर उत्तङ्कने उत्तर दिया—'मैं स्त्रियोंके कहनेसे यह न करनेयोग्य निन्द्य कर्म नहीं कर सकता। उपाध्यायने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी है कि 'तुम न करनेयोग्य कार्य भी कर डालना' ॥ ८७ ॥

तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहमाजगाम तस्मात् प्रवासात्। स तु तद् वृत्तं तस्याशेषमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ॥ ८८ ॥

इसके बाद कुछ काल बीतनेपर उपाध्याय वेद परदेशसे अपने घर लौट आये। आनेपर उन्हें उत्तङ्कका सारा वृत्तान्त मालूम हुआ, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८८ ॥

उवाच चैनं वत्सोत्तङ्क किं ते प्रियं करवाणीति। धर्मतो हि शुश्रूषितोऽस्मि भवता तन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा तदनुजाने भवन्तं सर्वानेव कामानवाप्स्यसि गम्यतामिति ॥ ८९ ॥

और बोले—'बेटा उत्तङ्क ! तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? तुमने धर्मपूर्वक मेरी सेवा की है। इससे हम दोनोंकी एक-दूसरेके प्रति प्रीति बहुत बढ़ गयी है। अब मैं तुम्हें घर लौटनेकी आज्ञा देता हूँ—जाओ, तुम्हारी सभी कामनाएँ पूर्ण होंगी' ॥ ८९ ॥

स एवमुक्तः प्रत्युवाच किं ते प्रियं करवाणीति एवमाहुः ॥ ९० ॥

गुरुके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क बोले—'भगवन् ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? वृद्ध पुरुष कहते भी हैं ॥ ९० ॥

**यश्चाधर्मेण वै ब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ९१ ॥**

जो अधर्मपूर्वक अध्यापन या उपदेश करता है अथवा जो अधर्मपूर्वक प्रश्न या अध्ययन करता है, उन दोनोंमें एक (गुरु अथवा शिष्य) मृत्यु एवं विद्वेषको प्राप्त होता है ॥ ९१ ॥

सोऽहमनुज्ञातो भवतेच्छामीष्टं गुर्वर्थमुपहर्तुमिति । तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क उष्यतां तावदिति ॥ ९२ ॥

अतः आपकी आज्ञा मिलनेपर मैं अभीष्ट गुरु-दक्षिणा भेंट करना चाहता हूँ।' उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर उपाध्याय बोले—'बेटा उत्तङ्क ! तब कुछ दिन और यहीं ठहरो' ॥९२॥

स कदाचिदुपाध्यायमाहोत्तङ्क आज्ञापयतु भवान् किं ते प्रियमुपाहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९३ ॥

तदनन्तर किसी दिन उत्तङ्कने फिर उपाध्यायसे कहा—'भगवन् ! आज्ञा दीजिये, मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु गुरु-दक्षिणाके रूपमें भेंट करूँ ?' ॥ ९३ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क बहुशो मां चोदयसि गुर्वर्थमुपाहरामीति तद् गच्छैनां प्रविश्योपाध्यायानीं पृच्छ किमुपाहरामीति ॥ ९४ ॥ एषा यद् ब्रवीति तदुपाहरस्वेति ।

यह सुनकर उपाध्यायने उनसे कहा—'वत्स उत्तङ्क ! तुम बार-बार मुझसे कहते हो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ ?' अतः जाओ, घरके भीतर प्रवेश करके अपनी गुरुपत्नीसे पूछ लो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ ?' ॥९४॥ 'वे जो बतावें वही वस्तु उन्हें भेंट करो।'

स एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायानीमपृच्छद् भगवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तुमिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहृत्यानृणो गन्तुमिति ॥ ९५ ॥ तदाज्ञापयतु भवती किमुपाहरामि गुर्वर्थमिति ।

उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने गुरुपत्नीसे पूछा—'देवि ! उपाध्यायने मुझे घर जानेकी आज्ञा दी है, अतः मैं आपको कोई अभीष्ट वस्तु गुरुदक्षिणाके रूपमें भेंट करके गुरुके ऋणसे उऋण होकर जाना चाहता हूँ ॥ ९५ ॥ अतः आप आज्ञा दें; मैं गुरुदक्षिणाके रूपमें कौन-सी वस्तु ला दूँ।'

सैवमुक्तोपाध्यायानी तमुत्तङ्कं प्रत्युवाच गच्छ

पौष्यं प्रति राजानं कुण्डले भिक्षितुं तस्य क्षत्रियया पिनद्धे ॥ ९६ ॥

उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर गुरुपत्नी उनसे बोलीं—'वत्स ! तुम राजा पौष्यके यहाँ, उनकी क्षत्राणी पत्नीने जो दोनों कुण्डल पहन रक्खे हैं, उन्हें माँग लानेके लिये जाओ ॥ ९६ ॥

ते आनयस्व चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता ताभ्यामाबद्धाभ्यां शोभमाना ब्राह्मणान् परिवेष्टुमिच्छामि । तत् सम्पादयस्व, एवं हि कुर्वतः श्रेयो भवितान्यथा कुतः श्रेय इति ॥ ९७ ॥

'और उन कुण्डलोंको शीघ्र ले आओ । आजके चौथे दिन पुण्यक व्रत होनेवाला है, मैं उस दिन कानोंमें उन कुण्डलोंको पहनकर सुशोभित हो ब्राह्मणोंको भोजन परोसना चाहती हूँ; अतः तुम मेरा यह मनोरथ पूर्ण करो । तुम्हारा कल्याण होगा । अन्यथा कल्याणकी प्राप्ति कैसे सम्भव है ?' ॥

स एवमुक्तस्तया प्रातिष्ठतोत्तङ्कः स पथि गच्छन्नपश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधिरूढं च पुरुषमतिप्रमाणमेव स पुरुष उत्तङ्कमभ्यभाषत ॥ ९८ ॥

गुरुपत्नीके ऐसा कहनेपर उत्तङ्क वहाँसे चल दिये । मार्गमें जाते समय उन्होंने एक बहुत बड़े बैलको और उसपर चढ़े हुए एक विशालकाय पुरुषको भी देखा । उस पुरुषने उत्तङ्कसे कहा—॥ ९८ ॥

भो उत्तङ्कैतत् पुरीषमस्य ऋषभस्य भक्षयस्वेति स एवमुक्तो नैच्छत् ॥ ९९ ॥

'उत्तङ्क ! तुम इस बैलका गोबर खा लो ।' किंतु उसके ऐसा कहनेपर भी उत्तङ्कको वह गोबर खानेकी इच्छा नहीं हुई ॥

तमाह पुरुषो भूयो भक्षयस्वोत्तङ्क मा विचारयोपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्वमिति ॥ १०० ॥

तब वह पुरुष फिर उनसे बोला—'उत्तङ्क ! खा लो, विचार न करो । तुम्हारे उपाध्यायने भी पहले इसे खाया था ।'

स एवमुक्तो बाढमित्युक्त्वा तदा तद् वृषभस्य मूत्रं पुरीषं च भक्षयित्वोत्तङ्कः सम्भ्रमादुत्थित एवाप उपस्पृश्य प्रतस्थे ॥ १०१ ॥

उसके पुनः ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और उस बैलके गोबर तथा मूत्रको खा-पीकर उतावलीके कारण खड़े-खड़े ही आचमन किया । फिर वे चल दिये ॥ १०१ ॥

यत्र स क्षत्रियः पौष्यस्तमुपेत्यासीनमपश्यदुत्तङ्कः । स उत्तङ्कस्तमुपेत्याशीर्भिरभिनन्द्योवाच ॥ १०२ ॥

जहाँ वे क्षत्रिय राजा पौष्य रहते थे, वहाँ पहुँचकर उत्तङ्कने देखा—वे आसनपर बैठे हुए हैं, तब उत्तङ्कने उनके समीप जाकर आशीर्वादसे उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा—॥ १०२ ॥

अर्थी भवन्तमुपागतोऽस्मीति स एनमभिवाद्योवाच भगवन् पौष्यः खल्वहं किं करवाणीति ॥

'राजन् ! मैं याचक होकर आपके पास आया हूँ ।' राजाने उन्हें प्रणाम करके कहा—'भगवन् ! मैं आपका सेवक पौष्य हूँ; कहिये, किस आज्ञाका पालन करूँ?' ॥ १०३ ॥

तमुवाच गुर्वर्थे कुण्डलयोरर्थेनाभ्यागतोऽस्मीति । ये वै ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले ते भवान् दातुमर्हतीति ॥ १०४ ॥

उत्तङ्कने पौष्यसे कहा—'राजन् ! मैं गुरुदक्षिणाके निमित्त दो कुण्डलोंके लिये आपके यहाँ आया हूँ । आपकी क्षत्राणीने जिन्हें पहन रक्खा है, उन्हीं दोनों कुण्डलोंको आप मुझे दे दें । यह आपके योग्य कार्य है' ॥ १०४ ॥

तं प्रत्युवाच पौष्यः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रिया याच्यतामिति । स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रियां नापश्यत् ॥ १०५ ॥

यह सुनकर पौष्यने उत्तङ्कसे कहा—'ब्रह्मन् ! आप अन्तःपुरमें जाकर क्षत्राणीसे वे कुण्डल माँग लें ।' राजाके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने अन्तःपुरमें प्रवेश किया, किंतु वहाँ उन्हें क्षत्राणी नहीं दिखायी दी ॥ १०५ ॥

स पौष्यं पुनरुवाच न युक्तं भवताहमनृतेनोपचरितुं न हि तेऽन्तःपुरे क्षत्रिया सन्निहिता नैनां पश्यामि ॥ १०६ ॥

तब वे पुनः राजा पौष्यके पास आकर बोले—'राजन् ! आप मुझे संतुष्ट करनेके लिये झूठी बात कहकर मेरे साथ छल करें, यह आपको शोभा नहीं देता है । आपके अन्तःपुरमें क्षत्राणी नहीं हैं, क्योंकि वहाँ वे मुझे नहीं दिखायी देती हैं' ॥

स एवमुक्तः पौष्यः क्षणमात्रं विमृश्योत्तङ्कं प्रत्युवाच नियतं भवानुच्छिष्टः स्मर तावन्न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना शक्या द्रष्टुं पतिव्रतात्वात् सैषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति ॥ १०७ ॥

उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर पौष्यने एक क्षणतक विचार करके उन्हें उत्तर दिया—'निश्चय ही आप जूँठे मुँह हैं, स्मरण तो कीजिये, क्योंकि मेरी क्षत्राणी पतिव्रता होनेके कारण उच्छिष्ट-अपवित्र मनुष्यके द्वारा नहीं देखी जा सकती हैं । आप उच्छिष्ट होनेके कारण अपवित्र हैं, इसलिये वे आपकी दृष्टिमें नहीं आ रही हैं' ॥ १०७ ॥

अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाचास्ति खलु मयोत्थितेनोपस्पृष्टं गच्छता चेति । तं पौष्यः प्रत्युवाच—एष ते व्यतिक्रमो नोत्थितेनोपस्पृष्टं भवतीति शीघ्रं गच्छता चेति ॥ १०८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने स्मरण करके कहा—'हाँ,

अवश्य ही मुझमें अशुद्धि रह गयी है। यहाँकी यात्रा करते समय मैंने खड़े होकर चलते-चलते आचमन किया है।' तब पौष्यने उनसे कहा—'ब्रह्मन्! यही आपके द्वारा विधिका उल्लङ्घन हुआ है। खड़े होकर और शीघ्रतापूर्वक चलते-चलते किया हुआ आचमन नहींके बराबर है'॥ १०८॥

अथोत्तङ्कस्तं तथेत्युक्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपाणिपादवदनो निःशब्दाभिरफेनाभिरनुष्णाभिर्हृद्गताभिरद्भिस्त्रिः पीत्वा द्विः परिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्य चान्तःपुरं प्रविवेश॥ १०९॥

तत्पश्चात् उत्तङ्क राजासे 'ठीक है' ऐसा कहकर हाथ, पैर और मुँह भलीभाँति धोकर पूर्वाभिमुख हो आसनपर बैठे और हृदयतक पहुँचने योग्य शब्द तथा फेनसे रहित शीतल जलके द्वारा तीन बार आचमन करके उन्होंने दो बार अँगूठेके मूल भागसे मुख पोंछा और नेत्र, नासिका आदि इन्द्रिय-गोलकोंका जलसहित अङ्गुलियोंद्वारा स्पर्श करके अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥ १०९॥

ततस्तां क्षत्रियामपश्यत्, सा च दृष्ट्वैवोत्तङ्कं प्रत्युत्थायाभिवाद्योवाच स्वागतं ते भगवन्नाज्ञापय किं करवाणीति॥ ११०॥

तब उन्हें क्षत्राणीका दर्शन हुआ। महारानी उत्तङ्कको देखते ही उठकर खड़ी हो गयीं और प्रणाम करके बोलीं—'भगवन्! आपका स्वागत है, आज्ञा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ?'॥

स तामुवाचैते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति। सा प्रीता तेन तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणीयश्चेति मत्वा ते कुण्डलेऽवमुच्यास्मै प्रायच्छदाह तक्षको नागराजः सुभृशं प्रार्थयत्यप्रमत्तो नेतुमर्हसीति॥ १११॥

उत्तङ्कने महारानीसे कहा—'देवि! मैंने गुरुके लिये आपके दोनों कुण्डलोंकी याचना की है। वे ही मुझे दे दें।' महारानी उत्तङ्कके उस सद्भाव (गुरुभक्ति)से बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने यह सोचकर कि 'ये सुपात्र ब्राह्मण हैं, इन्हें निराश नहीं लौटाना चाहिये' अपने दोनों कुण्डल स्वयं उतारकर उन्हें दे दिये और उनसे कहा—'ब्रह्मन्! नागराज तक्षक इन कुण्डलोंको पानेके लिये बहुत प्रयत्नशील हैं। अतः आपको सावधान होकर इन्हें ले जाना चाहिये'॥ १११॥

स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्युवाच भगवति सुनिर्वृता भव। न मां शक्तस्तक्षको नागराजो धर्षयितुमिति॥ ११२॥

रानीके ऐसा कहनेपर उत्तङ्कने उन क्षत्राणीसे कहा—'देवि! आप निश्चिन्त रहें। नागराज तक्षक मुझसे भिड़नेका साहस नहीं कर सकता'॥ ११२॥

स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामन्त्र्य पौष्यसकाशमागच्छत्। आह चैनं भोः पौष्य प्रीतोऽस्मीति तमुत्तङ्कं पौष्यः प्रत्युवाच॥ ११३॥

महारानीसे ऐसा कहकर उनसे आज्ञा ले उत्तङ्क राजा पौष्यके निकट आये और बोले—'महाराज पौष्य! मैं बहुत प्रसन्न हूँ (और आपसे विदा लेना चाहता हूँ)।' यह सुनकर पौष्यने उत्तङ्कसे कहा—॥ ११३॥

भगवंश्चिरेण पात्रमासाद्यते भवांश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्तुं क्रियतां क्षण इति॥ ११४॥

'भगवन्! बहुत दिनोंपर कोई सुपात्र ब्राह्मण मिलता है। आप गुणवान् अतिथि पधारे हैं, अतः मैं श्राद्ध करना चाहता हूँ। आप इसमें समय दीजिये'॥ ११४॥

तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच कृतक्षण एवास्मि शीघ्रमिच्छामि यथोपपन्नमन्नमुपस्कृतं भवतेति स तथेत्युक्त्वा यथोपपन्नेनान्नेनैनं भोजयामास॥ ११५॥

तब उत्तङ्कने राजासे कहा—'मेरा समय तो दिया ही हुआ है, किंतु शीघ्रता चाहता हूँ। आपके यहाँ जो शुद्ध एवं सुसंस्कृत भोजन तैयार हो उसे मँगाइये।' राजाने 'बहुत अच्छा' कहकर जो भोजन-सामग्री प्रस्तुत थी, उसके द्वारा उन्हें भोजन कराया॥ ११५॥

अथोत्तङ्कः सकेशं शीतमन्नं दृष्ट्वा अशुच्येतदिति मत्वा तं पौष्यमुवाच यस्मान्मेऽशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति॥ ११६॥

परंतु जब भोजन सामने आया, तब उत्तङ्कने देखा, उसमें बाल पड़ा है और वह ठण्डा हो चुका है। फिर तो 'यह अपवित्र अन्न है' ऐसा निश्चय करके वे राजा पौष्यसे बोले—'आप मुझे अपवित्र अन्न दे रहे हैं, अतः अन्धे हो जायँगे'॥ ११६॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्मात्त्वमनपत्यो भविष्यसीति तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच॥ ११७॥

तब पौष्यने भी उन्हें शापके बदले शाप देते हुए कहा—'आप शुद्ध अन्नको भी दूषित बता रहे हैं, अतः आप भी संतानहीन हो जायँगे।' तब उत्तङ्क राजा पौष्यसे बोले—॥ ११७॥

न युक्तं भवतान्नमशुचि दत्त्वा प्रतिशापं दातुं तस्मादन्नमेव प्रत्यक्षीकुरु। ततः पौष्यस्तदन्नमशुचि दृष्ट्वा तस्याशुचिभावमपरोक्षयामास॥ ११८॥

'महाराज! अपवित्र अन्न देकर फिर बदलेमें शाप देना आपके लिये कदापि उचित नहीं है। अतः पहले अन्नको ही प्रत्यक्ष देख लीजिये।' तब पौष्यने उस अन्नको अपवित्र देखकर उसकी अपवित्रताके कारणका पता लगाया॥ ११८॥

अथ तदन्नं मुक्तकेश्या स्त्रिया यत् कृतमनुष्णं सकेशं चाशुच्येतदिति मत्वा तमृषिमुत्तङ्कं प्रसादयामास ॥ ११९ ॥

वह भोजन खुले केशवाली स्त्रीने तैयार किया था। अतः उसमें केश पड़ गया था। देरका बना होनेसे वह ठण्डा भी हो गया था। इसलिये वह अपवित्र है, इस निश्चयपर पहुँचकर राजाने उत्तङ्क ऋषिको प्रसन्न करते हुए कहा—॥ ११९॥

भगवन्नेतदज्ञानादन्नं सकेशमुपाहृतं शीतं तत् क्षामये भवन्तं न भवेयमन्ध इति तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच ॥ १२० ॥

'भगवन्! यह केशयुक्त और शीतल अन्न अनजानमें आपके पास लाया गया है। अतः इस अपराधके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। आप ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं अन्धा न होऊँ।' तब उत्तङ्कने राजासे कहा—॥ १२० ॥

न मृषा ब्रवीमि भूत्वा त्वमन्धो न चिरादनन्धो भविष्यसीति। ममापि शापो भवता दत्तो न भवेदिति ॥ १२१ ॥

'राजन्! मैं झूठ नहीं बोलता। आप पहले अन्धे होकर फिर थोड़े ही दिनोंमें इस दोषसे रहित हो जायँगे। अब आप भी ऐसी चेष्टा करें, जिससे आपका दिया हुआ शाप मुझपर लागू न हो'॥ १२१ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच न चाहं शक्तः शापं प्रत्यादातुं न हि मे मन्युरद्याप्युपशमं गच्छति किं चैतद् भवता न ज्ञायते यथा—॥ १२२ ॥

नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य
वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधारः।
तदुभयमेतद् विपरीतं क्षत्रियस्य
वाङ्नवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारम्। इति ॥१२३॥

यह सुनकर पौष्यने उत्तङ्कसे कहा—'मैं शापको लौटानेमें असमर्थ हूँ, मेरा क्रोध अभीतक शान्त नहीं हो रहा है। क्या आप यह नहीं जानते कि ब्राह्मणका हृदय मक्खनके समान मुलायम और जल्दी पिघलनेवाला होता है? केवल उसकी वाणीमें ही तीखी धारवाले छुरेका-सा प्रभाव होता है। किंतु ये दोनों ही बातें क्षत्रियके लिये विपरीत हैं। उसकी वाणी तो नवनीतके समान कोमल होती है, लेकिन हृदय पैनी धारवाले छुरेके समान तीखा होता है॥ १२२-१२३ ॥

तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात् तं शापमन्यथा कर्तुं गम्यतामिति। तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच भवताहमन्नस्याशुचिभावमालक्ष्य प्रत्यनुनीतः प्राक् च तेऽभिहितम् ॥ १२४ ॥ यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति। दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति॥ १२५ ॥

'अतः ऐसी दशामें कठोरहृदय होनेके कारण मैं उस शापको बदलनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये आप जाइये।' तब उत्तङ्क बोले—'राजन्! आपने अन्नकी अपवित्रता देखकर मुझसे क्षमाके लिये अनुनय-विनय की है, किंतु पहले आपने कहा था कि 'तुम शुद्ध अन्नको दूषित बता रहे हो, इसलिये संतानहीन हो जाओगे।' इसके बाद अन्नका दोषयुक्त होना प्रमाणित हो गया, अतः आपका यह शाप मुझपर लागू नहीं होगा'॥ १२४-१२५ ॥

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च ॥ १२६ ॥

'अब हम अपना कार्य-साधन कर रहे हैं।' ऐसा कहकर उत्तङ्क दोनों कुण्डलोंको लेकर वहाँसे चल दिये। मार्गमें उन्होंने अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणकको देखा जो बार-बार दिखायी देता और छिप जाता था॥ १२६॥

अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले संन्यस्य भूमावुदकार्थं प्रचक्रमे। एतस्मिन्नन्तरे स क्षपणकस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् ॥ १२७ ॥

कुछ दूर जानेके बाद उत्तङ्कने उन कुण्डलोंको एक जलाशयके किनारे भूमिपर रख दिया और स्वयं जलसम्बन्धी कृत्य (शौच, स्नान, आचमन, संध्या-तर्पण आदि) करने लगे। इतनेमें ही वह क्षपणक बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आया और दोनों कुण्डलोंको लेकर चंपत हो गया॥१२७॥

तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य कृतोदककार्यः शुचिः प्रयतो नमो देवेभ्यो गुरुभ्यश्च कृत्वा महता जवेन तमन्वयात् ॥१२८॥

उत्तङ्कने स्नान-तर्पण आदि जलसम्बन्धी कार्य पूर्ण करके शुद्ध एवं पवित्र होकर देवताओं तथा गुरुओंको नमस्कार किया और जलसे बाहर निकलकर बड़े वेगसे उस क्षपणकका पीछा किया॥ १२८॥

तस्य तक्षको दृढमासन्नः स तं जग्राह गृहीतमात्रः स तद्रूपं विहाय तक्षकस्वरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं प्रविवेश ॥ १२९ ॥

वास्तवमें वह नागराज तक्षक ही था। दौड़नेसे उत्तङ्कके अत्यन्त समीपवर्ती हो गया। उत्तङ्कने उसे पकड़ लिया। पकड़में आते ही उसने क्षपणकका रूप त्याग दिया और तक्षक नागका रूप धारण करके वह सहसा प्रकट हुए पृथ्वीके एक बहुत बड़े विवरमें घुस गया॥ १२९ ॥

प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत्। अथोत्तङ्कस्तस्याः क्षत्रियाया वचः स्मृत्वा तं तक्षकमन्वगच्छत् ॥ १३० ॥

बिलमें प्रवेश करके वह नागलोकमें अपने घर चला गया। तदनन्तर उस क्षत्राणीकी बातका स्मरण करके उत्तङ्कने नागलोकतक उस तक्षकका पीछा किया ॥ १३० ॥

स तद् बिलं दण्डकाष्ठेन चखान न चाशकत्। तं क्लिश्यमानमिन्द्रोऽपश्यत् स वज्रं प्रेषयामास ॥१३१॥

पहले तो उन्होंने उस विवरको अपने डंडेकी लकड़ीसे खोदना आरम्भ किया, किंतु इसमें उन्हें सफलता न मिली। उस समय इन्द्रने उन्हें क्लेश उठाते देखा तो उनकी सहायताके लिये अपना वज्र भेज दिया ॥ १३१ ॥

गच्छास्य ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुरुष्वेति। अथ वज्रं दण्डकाष्ठमनुप्रविश्य तद् बिलमदारयत् ॥ १३२ ॥

उन्होंने वज्रसे कहा—'जाओ, इस ब्राह्मणकी सहायता करो।' तब वज्रने डंडेकी लकड़ीमें प्रवेश करके उस बिलको विदीर्ण कर दिया (इससे पाताल-लोकमें जानेके लिये मार्ग बन गया।) ॥ १३२ ॥

तमुत्तङ्कोऽनुविवेश तेनैव बिलेन प्रविश्य च तं नागलोकमपर्यन्तमनेकविधप्रासादहर्म्यवलभीनिर्यूहशतसंकुलमुच्चावचक्रीडाश्चर्यस्थानावकीर्णमपश्यत् ॥१३३॥ स तत्र नागांस्तानस्तुवदेभिः श्लोकैः—

य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः।
क्षरन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ॥१३४॥

तब उत्तङ्क उस बिलमें घुस गये और उसी मार्गसे भीतर प्रवेश करके उन्होंने नागलोकका दर्शन किया, जिसकी कहीं सीमा नहीं थी। जो अनेक प्रकारके मन्दिरों, महलों, झुके हुए छज्जोंवाले ऊँचे-ऊँचे मण्डपों तथा सैकड़ों दरवाजोंसे सुशोभित और छोटे-बड़े अद्भुत क्रीडास्थानोंसे व्याप्त था। वहाँ उन्होंने इन श्लोकोंद्वारा उन नागोंका स्तवन किया—ऐरावत जिनके राजा हैं, जो समराङ्गणमें विशेष शोभा पाते हैं, बिजली और वायुसे प्रेरित हो जलकी वर्षा करनेवाले बादलोंकी भाँति बाणोंकी धारावाहिक वृष्टि करते हैं, उन सर्पोंकी जय हो ॥

सुरूपा बहुरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ॥१३५॥

ऐरावतकुलमें उत्पन्न नागगणोंमेंसे कितने ही सुन्दर रूपवाले हैं, उनके अनेक रूप हैं, वे विचित्र कुण्डल धारण करते हैं तथा आकाशमें सूर्यदेवकी भाँति स्वर्गलोकमें प्रकाशित होते हैं ॥ १३५ ॥

बहूनि नागवेश्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे।
तत्रस्थानपि संस्तौमि महतः पन्नगानहम् ॥१३६॥

गङ्गाजीके उत्तर तटपर बहुत-से नागोंके घर हैं, वहाँ रहनेवाले बड़े-बड़े सर्पोंकी भी मैं स्तुति करता हूँ ॥ १३६ ॥

इच्छेत् कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना।
शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ॥१३७॥
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदैजति।
ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरपथं गताः ॥१३८॥
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः।
यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत् पुरा ॥१३९॥
तं नागराजमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम्।
तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ ॥१४०॥
कुरुक्षेत्रं च वसतां नदीमिक्षुमतीमनु।
जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः श्रुतः ॥१४१॥
अवसद् यो महद्युम्नि प्रार्थयन् नागमुख्यताम्।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ॥१४२॥

ऐरावत नागके सिवा दूसरा कौन है, जो सूर्यदेवकी प्रचण्ड किरणोंके सैन्यमें विचरनेकी इच्छा कर सकता है? ऐरावतके भाई धृतराष्ट्र जब सूर्यदेवके साथ प्रकाशित होते और चलते हैं, उस समय अट्ठाईस हजार आठ सर्प सूर्यके घोड़ोंकी बागडोर बनकर जाते हैं। जो इनके साथ जाते हैं और जो दूरके मार्गपर जा पहुँचे हैं, ऐरावतके उन सभी छोटे बन्धुओंको मैंने नमस्कार किया है। जिनका निवास सदा कुरुक्षेत्र और खाण्डववनमें रहा है, उन नागराज तक्षककी मैं कुण्डलोंके लिये स्तुति करता हूँ। तक्षक और अश्वसेन—ये दोनों नाग सदा साथ विचरनेवाले हैं। ये दोनों कुरुक्षेत्रमें इक्षुमती नदीके तटपर रहा करते थे। जो तक्षकके छोटे भाई हैं, श्रुतसेन नामसे जिनकी ख्याति है तथा जो पाताललोकमें नागराजकी पदवी पानेके लिये सूर्यदेवकी उपासना करते हुए कुरुक्षेत्रमें रहे हैं, उन महात्माको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥ १३७—१४२ ॥

एवं स्तुत्वा स विप्रर्षिरुत्तङ्को भुजगोत्तमान्।
नैव ते कुण्डले लेभे ततश्चिन्तामुपागमत् ॥१४३॥

इस प्रकार उन श्रेष्ठ नागोंकी स्तुति करनेपर भी जब ब्रह्मर्षि उत्तङ्क उन कुण्डलोंको न पा सके तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ॥ १४३ ॥

एवं स्तुवन्नपि नागान् यदा ते कुण्डले नालभत तदापश्यत् स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य सुवेमे पटं वयन्त्यौ। तस्मिंस्तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवश्चक्रं चापश्यद् द्वादशारं षड्भिः कुमारैः परिवर्त्यमानं पुरुषं चापश्यदश्वं च दर्शनीयम् ॥ १४४ ॥ स तान् सर्वांस्तुष्टाव एभिर्मन्त्रवदेव श्लोकैः ॥१४५॥

इस प्रकार नागोंकी स्तुति करते रहनेपर भी जब वे उन दोनों कुण्डलोंको प्राप्त न कर सके, तब उन्हें वहाँ दो स्त्रियाँ दिखायी दीं, जो सुन्दर करघेपर रखकर सूतके तानेमें वस्त्र बुन रही थीं, उस तानेमें उत्तङ्क मुनिने काले और सफेद दो प्रकारके सूत और बारह अरोंका एक चक्र भी देखा, जिसे छः कुमार घुमा रहे थे। वहीं एक श्रेष्ठ पुरुष भी दिखायी दिये।

जिनके साथ एक दर्शनीय अश्व भी था। उत्तङ्कने इन मन्त्र-तुल्य श्लोकोंद्वारा उनकी स्तुति की-- ॥ १४४-१४५ ॥

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये
षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे
षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥ १४६॥

यह जो अविनाशी कालचक्र निरन्तर चल रहा है; इसके भीतर तीन सौ साठ अरे हैं, चौबीस पर्व हैं और इस चक्रको छः कुमार घुमा रहे हैं ॥ १४६ ॥

तन्त्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ
वयतस्तन्तून् सततं वर्तयन्त्यौ।
कृष्णान् सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ
भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥ १४७॥

यह सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, ऐसी दो युवतियाँ सदा काले और सफेद तन्तुओंको इधर-उधर चलाती हुई इस वासना-जालरूपी वस्त्रको बुन रही हैं तथा वे ही सम्पूर्ण भूतों और समस्त भुवनोंका निरन्तर संचालन करती हैं ॥ १४७ ॥

वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता
वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा
सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥ १४८॥
यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं
वैश्वानरं वाहनमभ्युपैति।
नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय
लोकत्रयेशाय पुरन्दराय ॥ १४९॥

जो महात्मा वज्र धारण करके तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं, जिन्होंने वृत्रासुरका वध तथा नमुचि दानवका संहार किया है, जो काले रंगके दो वस्त्र पहनते और लोकमें सत्य एवं असत्यका विवेक करते हैं; जलसे प्रकट हुए प्राचीन वैश्वानर-रूप अश्वको वाहन बनाकर उसपर चढ़ते हैं तथा जो तीनों लोकोंके शासक हैं, उन जगदीश्वर पुरन्दरको मेरा नमस्कार है ॥ १४८-१४९ ॥

ततः स एनं पुरुषः प्राह प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण किं ते प्रियं करवाणीति स तमुवाच ॥ १५० ॥

तब वह पुरुष उत्तङ्कसे बोला—'ब्रह्मन्! मैं तुम्हारे इस स्तोत्रसे बहुत प्रसन्न हूँ। कहो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' यह सुनकर उत्तङ्कने कहा—॥ १५० ॥

नागा मे वशमीयुरिति स चैनं पुरुषः पुनरुवाचएतमश्वमपाने धमस्वेति ॥ १५१ ॥

'सब नाग मेरे अधीन हो जायँ' उनके ऐसा कहनेपर वह पुरुष पुनः उत्तङ्कसे बोला—'इस घोड़ेकी गुदामें फूँक मारो' ॥

ततोऽश्वस्यापानमधमत् ततोऽश्वाद्धम्यमानात् सर्वस्रोतोभ्यः पावकार्चिषः सधूमा निष्पेतुः ॥ १५२ ॥

यह सुनकर उत्तङ्कने घोड़ेकी गुदामें फूँक मारी। फूँकनेसे घोड़ेके शरीरके समस्त छिद्रोंसे धूएँसहित आगकी लपटें निकलने लगीं ॥ १५२ ॥

ताभिर्नागलोक उपधूपितेऽथ सम्भ्रान्तस्तक्षकोऽग्नेस्तेजोभयाद् विषण्णः कुण्डले गृहीत्वा सहसा भवनान्निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच ॥ १५३ ॥

उस समय सारा नागलोक धूएँसे भर गया। फिर तो तक्षक घबरा गया और आगकी ज्वालाके भयसे दुखी हो दोनों कुण्डल लिये सहसा घरसे निकल आया और उत्तङ्कसे बोला—॥

इमे कुण्डले गृह्णातु भवानिति स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः प्रतिगृह्य च कुण्डलेऽचिन्तयत् ॥ १५४ ॥

'ब्रह्मन्! आप ये दोनों कुण्डल ग्रहण कीजिये।' उत्तङ्कने उन कुण्डलोंको ले लिया। कुण्डल लेकर वे सोचने लगे—॥ १५४ ॥

अद्य तत् पुण्यकमुपाध्यायान्या दूरं चाहमभ्यागतः स कथं सम्भावयेयमिति तत एनं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच ॥ १५५ ॥

'अहो! आज ही गुरुपत्नीका वह पुण्यकव्रत है और मैं बहुत दूर चला आया हूँ। ऐसी दशामें किस प्रकार इन कुण्डलोंद्वारा उनका सत्कार कर सकूँगा?' तब इस प्रकार चिन्तामें पड़े हुए उत्तङ्कसे उस पुरुषने कहा—॥ १५५ ॥

उत्तङ्क एनमेवाश्वमधिरोह त्वां क्षणेनैवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यतीति ॥ १५६ ॥

'उत्तङ्क! इसी घोड़ेपर चढ़ जाओ। यह तुम्हें क्षणभरमें उपाध्यायके घर पहुँचा देगा' ॥ १५६ ॥

स तथेत्युक्त्वा तमश्वमधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलमुपाध्यायानी च स्नाता केशानावापयन्त्युपविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ॥ १५७ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर उत्तङ्क उस घोड़ेपर चढ़े और तुरंत उपाध्यायके घर आ पहुँचे। इधर गुरुपत्नी स्नान करके बैठी हुई अपने केश सँवार रही थीं। 'उत्तङ्क अबतक नहीं आया' यह सोचकर उन्होंने शिष्यको शाप देनेका विचार कर लिया ॥ १५७ ॥

अथ तस्मिन्नन्तरे स उत्तङ्कः प्रविश्य उपाध्यायकुलमुपाध्यायानीमभ्यवादयत् ते चास्यै कुण्डले प्रायच्छत् सा चैनं प्रत्युवाच ॥ १५८ ॥

इसी बीचमें उत्तङ्कने उपाध्यायके घरमें प्रवेश करके गुरुपत्नीको प्रणाम किया और उन्हें वे दोनों कुण्डल दे दिये। तब गुरुपत्नीने उत्तङ्कसे कहा—॥ १५८ ॥

उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः स्वागतं ते वत्स त्वमनागसि मया न शप्तः श्रेयस्तवोपस्थितं सिद्धिमाप्नुहीति ॥ १५९ ॥

'उत्तङ्क! तू ठीक समयपर उचित स्थानमें आ पहुँचा। वत्स! तेरा स्वागत है। अच्छा हुआ जो बिना अपराधके ही तुझे शाप नहीं दिया। तेरा कल्याण उपस्थित है, तुझे सिद्धि प्राप्त हो'॥

अथोत्तङ्क उपाध्यायमभ्यवादयत्। तमुपाध्यायः प्रत्युवाच वत्सोत्तङ्क स्वागतं ते किं चिरं कृतमिति ॥ १६० ॥

तदनन्तर उत्तङ्कने उपाध्यायके चरणोंमें प्रणाम किया। उपाध्यायने उससे कहा—'वत्स उत्तङ्क! तुम्हारा स्वागत है। लौटनेमें देर क्यों लगायी?' ॥ १६० ॥

तमुत्तङ्क उपाध्यायं प्रत्युवाच भोस्तक्षकेण मे नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन् कर्मणि तेनास्मि नागलोकं गतः ॥ १६१ ॥

तब उत्तङ्कने उपाध्यायको उत्तर दिया—'भगवन्! नागराज तक्षकने इस कार्यमें विघ्न डाल दिया था। इसलिये मैं नागलोकमें चला गया था ॥ १६१ ॥

तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ तस्मिंश्च कृष्णाः सिताश्च तन्तवः किं तत् ॥ १६२ ॥

'वहाँ मैंने दो स्त्रियाँ देखीं; जो करघेपर सूत रखकर कपड़ा बुन रही थीं। उस करघेमें काले और सफेद रङ्गके सूत लगे थे। वह सब क्या था? ॥ १६२ ॥

तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारं षट् चैनं कुमाराः परिवर्तयन्ति तदपि किम्। पुरुषश्चापि मया दृष्टः स चापि कः। अश्वश्चातिप्रमाणो दृष्टः स चापि कः ॥ १६३ ॥

'वहाँ मैंने एक चक्र भी देखा, जिसमें बारह अरे थे। छः कुमार उस चक्रको घुमा रहे थे। वह भी क्या था? वहाँ एक पुरुष भी मेरे देखनेमें आया था। वह कौन था? तथा एक बहुत बड़ा अश्व भी दिखायी दिया था। वह कौन था? ॥ १६३ ॥

पथि गच्छता च मया ऋषभो दृष्टस्तं च पुरुषोऽधिरूढस्तेनास्मि सोपचारमुक्त उत्तङ्कास्य ऋषभस्य पुरीषं भक्षय उपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति ॥ १६४ ॥

'इधरसे जाते समय मार्गमें मैंने एक बैल देखा, उसपर एक पुरुष सवार था। उस पुरुषने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा—'उत्तङ्क! इस बैलका गोबर खा लो। तुम्हारे उपाध्यायने भी पहले इसे खाया है' ॥ १६४ ॥

ततस्तस्य वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुपयुक्तं स चापि कः। तदेतद् भवतोपदिष्टमिच्छेयं श्रोतुं किं तदिति। स तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच ॥ १६५ ॥

'तब उस पुरुषके कहनेसे मैंने उस बैलका गोबर खा लिया। अतः वह बैल और पुरुष कौन थे? मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ, वह सब क्या था?' उत्तङ्कके इस प्रकार पूछनेपर उपाध्यायने उत्तर दिया— ॥ १६५ ॥

ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च ये च ते कृष्णाः सितास्तन्तवस्ते रात्र्यहनी। यदपि तच्चक्रं द्वादशारं षड् वै कुमाराः परिवर्तयन्ति तेऽपि षड् ऋतवः द्वादशारा द्वादश मासाः संवत्सरश्चक्रम् ॥ १६६ ॥

'वे जो दोनों स्त्रियाँ थीं, वे धाता और विधाता हैं। जो काले और सफेद तन्तु थे, वे रात और दिन हैं। बारह अरोंसे युक्त चक्रको जो छः कुमार घुमा रहे थे, वे छः ऋतुएँ हैं। बारह महीने ही बारह अरे हैं। संवत्सर ही वह चक्र है ॥ १६६ ॥

यः पुरुषः स पर्जन्यो योऽश्वः सोऽग्निर्य ऋषभस्त्वया पथि गच्छता दृष्टः स ऐरावतो नागराट् ॥ १६७ ॥

'जो पुरुष था, वह पर्जन्य (इन्द्र) है। जो अश्व था वह अग्नि है। इधरसे जाते समय मार्गमें तुमने जिस बैलको देखा था, वह नागराज ऐरावत है ॥ १६७ ॥

यश्चैनमधिरूढः पुरुषः स चेन्द्रो यदपि ते भक्षितं तस्य ऋषभस्य पुरीषं तदमृतं तेन खल्वसि तस्मिन् नागभवने न व्यापन्नस्त्वम् ॥ १६८ ॥

'और जो उसपर चढ़ा हुआ पुरुष था, वह इन्द्र है। तुमने बैलके जिस गोबरको खाया है, वह अमृत था। इसीलिये तुम नागलोकमें जाकर भी मरे नहीं ॥ १६८ ॥

स हि भगवानिन्द्रो मम सखा त्वदनुक्रोशादिममनुग्रहं कृतवान्। तस्मात् कुण्डले गृहीत्वा पुनरागतोऽसि ॥ १६९ ॥

'वे भगवान् इन्द्र मेरे सखा हैं। तुमपर कृपा करके ही उन्होंने यह अनुग्रह किया है। यही कारण है कि तुम दोनों कुण्डल लेकर फिर यहाँ लौट आये हो ॥ १६९ ॥

तत् सौम्य गम्यतामनुजाने भवन्तं श्रेयोऽवाप्स्यसीति। स उपाध्यायेनानुज्ञातो भगवानुत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकं प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ॥ १७० ॥

'अतः सौम्य! अब तुम जाओ, मैं तुम्हें जानेकी आज्ञा देता हूँ। तुम कल्याणके भागी होओगे।' उपाध्यायकी आज्ञा पाकर उत्तङ्क तक्षकके प्रति कुपित हो उससे बदला लेनेकी इच्छासे हस्तिनापुरकी ओर चल दिये ॥ १७० ॥

स हास्तिनपुरं प्राप्य न चिराद् विप्रसत्तमः।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥ १७१ ॥

हस्तिनापुरमें शीघ्र पहुँचकर विप्रवर उत्तङ्क राजा जनमेजयसे मिले ॥ १७१ ॥

पुरा तक्षशिलासंस्थं निवृत्तमपराजितम् ।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ॥१७२॥
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य सः ।
उवाचैनं वचः काले शब्दसम्पन्नया गिरा ॥१७३॥

जनमेजय पहले तक्षशिला गये थे । वे वहाँ जाकर पूर्ण विजय पा चुके थे । उत्तङ्कने मन्त्रियोंसे घिरे हुए उत्तम विजयसे सम्पन्न राजा जनमेजयको देखकर पहले उन्हें न्यायपूर्वक जयसम्बन्धी आशीर्वाद दिया । तत्पश्चात् उचित समयपर उपयुक्त शब्दोंसे विभूषित वाणीद्वारा उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १७२-१७३ ॥

उत्तङ्क उवाच

अन्यस्मिन् करणीये तु कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥१७४॥

उत्तङ्क बोले——नृपश्रेष्ठ ! जहाँ तुम्हारे लिये करनेयोग्य दूसरा कार्य उपस्थित हो, वहाँ अज्ञानवश तुम कोई और ही कार्य कर रहे हो ॥ १७४ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा जनमेजयः ।
अर्चयित्वा यथान्यायं प्रत्युवाच द्विजोत्तमम् ॥१७५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—विप्रवर उत्तङ्कके ऐसा कहनेपर राजा जनमेजयने उन द्विजश्रेष्ठका विधिपूर्वक पूजन किया और इस प्रकार कहा ॥ १७५ ॥

जनमेजय उवाच

आसां प्रजानां परिपालनेन
स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि मे किं करणीयमद्य
येनासि कार्येण समागतस्त्वम् ॥१७६॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन् ! मैं इन प्रजाओंकी रक्षाद्वारा अपने क्षत्रियधर्मका पालन करता हूँ । बताइये, आज मेरे करनेयोग्य कौन-सा कार्य उपस्थित है ? जिसके कारण आप यहाँ पधारे हैं ॥ १७६ ॥

सौतिरुवाच

स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन
द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्त्वं
स्वमेव कार्यं नृपते कुरुष्व ॥१७७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयके इस प्रकार कहनेपर पुण्यात्माओंमें अग्रगण्य विप्रवर उत्तङ्कने उन उदार हृदयवाले नरेशसे कहा—'महाराज ! वह कार्य मेरा नहीं, आपका ही है, आप उसे अवश्य कीजिये' ॥१७७॥

उत्तङ्क उवाच

तक्षकेण महीन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।
तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ॥१७८॥

इतना कहकर उत्तङ्क फिर बोले—भूपालशिरोमणे ! नागराज तक्षकने आपके पिताकी हत्या की है; अतः आप उस दुरात्मा सर्पसे इसका बदला लीजिये ॥ १७८ ॥

कार्यकालं हि मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्गच्छापचितिं राजन् पितुस्तस्य महात्मनः ॥१७९॥

मैं समझता हूँ, शत्रुनाशन-कार्यकी सिद्धिके लिये जो सर्पयज्ञरूप कर्म शास्त्रमें देखा गया है, उसके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ है । अतः राजन् ! अपने महात्मा पिताकी मृत्युका बदला आप अवश्य लें ॥ १७९ ॥

तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद् राजा वज्राहत इव द्रुमः ॥१८०॥

यद्यपि आपके पिता महाराज परीक्षित्‌ने कोई अपराध नहीं किया था तो भी उस दुष्टात्मा सर्पने उन्हें डँस लिया और वे वज्रके मारे हुए वृक्षकी भाँति तुरंत ही गिरकर कालके गालमें चले गये ॥ १८० ॥

बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः ।
अकार्यं कृतवान् पापो योऽदशत् पितरं तव ॥१८१॥

सर्पोंमें अधम तक्षक अपने बलके घमण्डसे उन्मत्त रहता है । उस पापीने यह बड़ा भारी अनुचित कर्म किया जो आपके पिताको डँस लिया ॥ १८१ ॥

राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम् ।
यियासुं काश्यपं चैव न्यवर्तयत पापकृत् ॥१८२॥

वे महाराज परीक्षित् राजर्षियोंके वंशकी रक्षा करनेवाले और देवताओंके समान तेजस्वी थे, काश्यप नामक एक ब्राह्मण आपके पिताकी रक्षा करनेके लिये उनके पास आना चाहते थे, किंतु उस पापाचारीने उन्हें लौटा दिया ॥ १८२ ॥

होतुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने ।
सर्पसत्रे महाराज त्वरितं तद् विधीयताम् ॥१८३॥

अतः महाराज ! आप सर्पयज्ञका अनुष्ठान करके उसकी प्रज्वलित अग्निमें उस पापीको होम दीजिये; और जल्दी-से-जल्दी यह कार्य कर डालिये ॥ १८३ ॥

एवं पितुश्चापचितिं कृतवांस्त्वं भविष्यसि ।
मम प्रियं च सुमहत् कृतं राजन् भविष्यति ॥१८४॥
कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना ।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥१८५॥

ऐसा करके आप अपने पिताकी मृत्युका बदला चुका

सकेंगे एवं मेरा भी अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा। समूची पृथ्वीका पालन करनेवाले नरेश! तक्षक बड़ा दुरात्मा है। पापरहित महाराज! मैं गुरुजीके लिये एक कार्य करने जा रहा था, जिसमें उस दुष्टने बहुत बड़ा विघ्न डाल दिया था ॥ १८४-१८५ ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकाय चुकोप ह।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ॥ १८६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो! यह समाचार सुनकर राजा जनमेजय तक्षकपर कुपित हो उठे। उत्तङ्कके वाक्यने उनकी क्रोधाग्निमें घीका काम किया। जैसे घीकी आहुति पड़नेसे अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार वे क्रोधसे अत्यन्त कुपित हो गये ॥ १८६ ॥

अपृच्छत् स तदा राजा मन्त्रिणस्तान् सुदुःखितः।
उत्तङ्कस्यैव सांनिध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ॥ १८७ ॥

उस समय राजा जनमेजयने अत्यन्त दुःखी होकर उत्तङ्कके निकट ही मन्त्रियोंसे पिताके स्वर्गगमनका समाचार पूछा ॥

तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत्।
यदैव वृत्तं पितरमुत्तङ्कादशृणोत् तदा ॥ १८८ ॥

उत्तङ्कके मुखसे जिस समय उन्होंने पिताके मरनेकी बात सुनी, उसी समय वे महाराज दुःख और शोकमें डूब गये ॥ १८८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौष्यपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौष्यपर्वमें (पौष्याख्यानविषयक) तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

(पौलोमपर्व)

चतुर्थोऽध्यायः

कथा-प्रवेश

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सौतिः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ॥ १ ॥

नैमिषारण्यमें कुलपति शौनकके बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले सत्रमें उपस्थित महर्षियोंके समीप एक दिन लोमहर्षणपुत्र सूतनन्दन उग्रश्रवा आये। वे पुराणोंकी कथा कहनेमें कुशल थे ॥ १ ॥

पौराणिकः पुराणे कृतश्रमः स कृताञ्जलिस्तानुवाच। किं भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति किमहं ब्रवाणीति ॥ २ ॥

वे पुराणोंके ज्ञाता थे। उन्होंने पुराणविद्यामें बहुत परिश्रम किया था। वे नैमिषारण्यवासी महर्षियोंसे हाथ जोड़कर बोले—'पूज्यपाद महर्षिगण! आपलोग क्या सुनना चाहते हैं? मैं किस प्रसङ्गपर बोलूँ?' ॥ २ ॥

तमृषय ऊचुः परमं लौमहर्षणे वक्ष्यामस्त्वां नः प्रतिवक्ष्यसि वचः शुश्रूषतां कथायोगं नः कथायोगे ॥ ३ ॥

तब ऋषियोंने उनसे कहा—लोमहर्षणकुमार! हम आपको उत्तम प्रसङ्ग बतलायेंगे और कथा-प्रसङ्ग प्रारम्भ होनेपर सुननेकी इच्छा रखनेवाले हमलोगोंके समक्ष आप बहुत-सी कथाएँ कहेंगे ॥ ३ ॥

तत्र भगवान् कुलपतिस्तु शौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ॥ ४ ॥

किंतु पूज्यपाद कुलपति भगवान् शौनक अभी अग्निकी उपासनामें संलग्न हैं ॥ ४ ॥

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंश्रिताः।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ॥ ५ ॥

वे देवताओं और असुरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी दिव्य कथाएँ जानते हैं। मनुष्यों, नागों तथा गन्धर्वोंकी कथाओंसे भी वे सर्वथा परिचित हैं ॥ ५ ॥

स चाप्यस्मिन् मखे सौते विद्वान् कुलपतिर्द्विजः।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ६ ॥

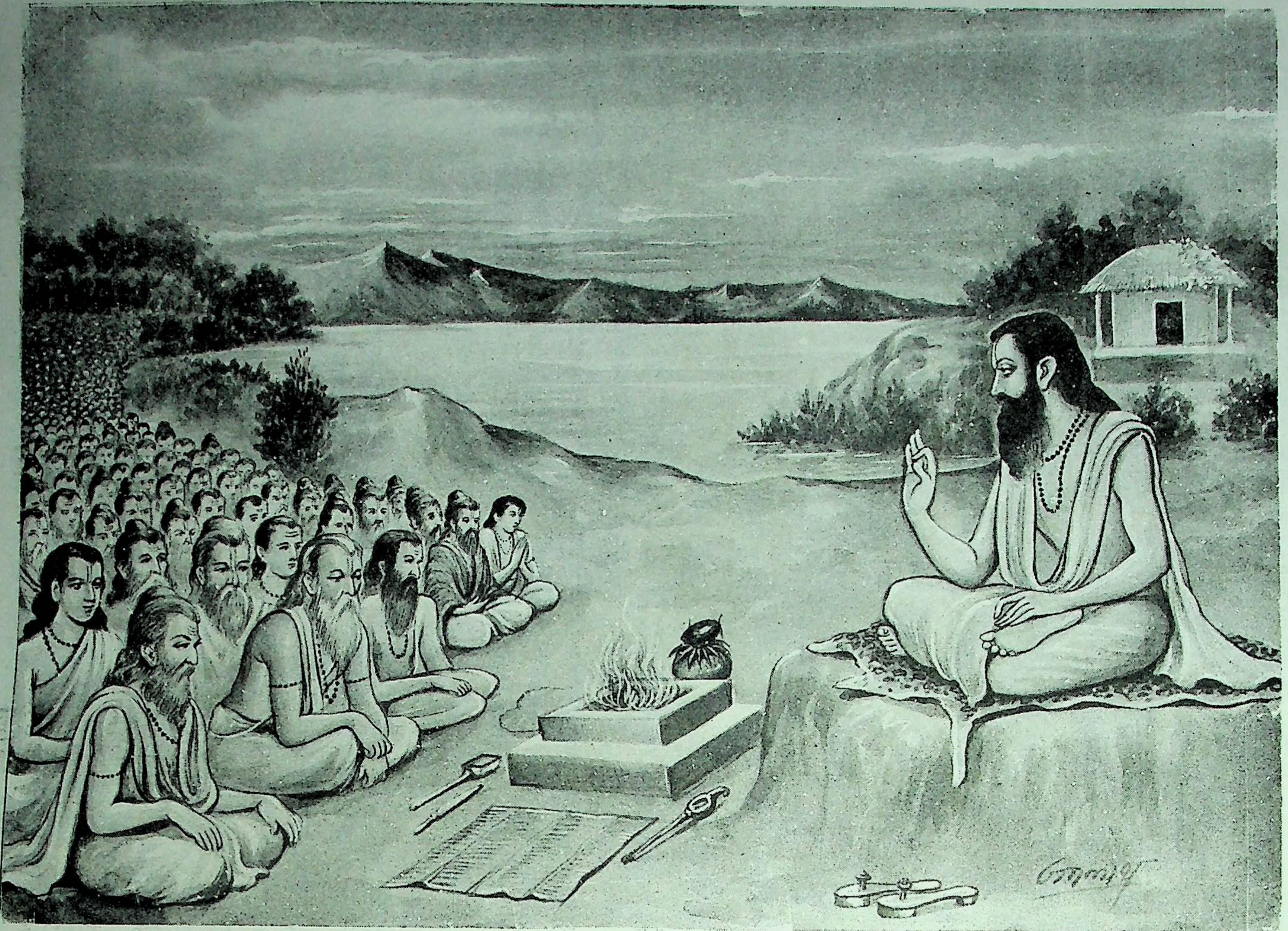
सूतनन्दन! वे विद्वान् कुलपति विप्रवर शौनकजी भी इस यज्ञमें उपस्थित हैं। वे चतुर, उत्तम व्रतधारी तथा बुद्धिमान् हैं। शास्त्र (श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण) तथा आरण्यक (बृहदारण्यक आदि) के तो वे आचार्य ही हैं ॥ ६ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत् प्रतिपाल्यताम् ॥ ७ ॥

वे सदा सत्य बोलनेवाले, मन और इन्द्रियोंके संयममें तत्पर, तपस्वी और नियमपूर्वक व्रतको निबाहनेवाले हैं। वे हम सभी लोगोंके लिये सम्माननीय हैं; अतः जबतक उनका आना न हो, तबतक प्रतीक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम्।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ॥ ८ ॥

गुरुदेव शौनक जब यहाँ उत्तम आसनपर विराजमान



उग्रश्रवाजीके द्वारा महाभारतकी कथा

हो जायँ; उस समय वे द्विजश्रेष्ठ आपसे जो कुछ पूछें, उसी प्रसङ्गको लेकर आप बोलियेगा ॥ ८ ॥

सौतिरुवाच

एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ९ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—एवमस्तु (ऐसा ही होगा); गुरुदेव महात्मा शौनकजीके बैठ जानेपर उन्हींके पूछनेके अनुसार मैं नाना प्रकारकी पुण्यदायिनी कथाएँ कहूँगा ॥ ९ ॥

सोऽथ विप्रर्षभः सर्वं कृत्वा कार्यं यथाविधि।
देवान् वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वाऽऽजगाम ह ॥ १० ॥

यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धाः सुखासीना धृतव्रताः।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ॥ ११ ॥

तदनन्तर विप्रशिरोमणि शौनकजी क्रमशः सब कार्योंका विधिपूर्वक सम्पादन करके वैदिक स्तुतियोंद्वारा देवताओंको और जलकी अञ्जलिद्वारा पितरोंको तृप्त करनेके पश्चात् उस स्थानपर आये, जहाँ उत्तम व्रतधारी सिद्ध-ब्रह्मर्षिगण यज्ञमण्डपमें सूतजीको आगे विराजमान करके सुखपूर्वक बैठे थे ॥ १०-११ ॥

ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्तदा।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ॥ १२ ॥

ऋत्विजों और सदस्योंके बैठ जानेपर कुलपति शौनकजी भी वहाँ बैठे और इस प्रकार बोले ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि कथाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें कथा-प्रवेश नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

भृगुके आश्रमपर पुलोमा दानवका आगमन और उसकी अग्निदेवके साथ बातचीत

शौनक उवाच

पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान् पुरा।
कच्चित् त्वमपि तत् सर्वमधीषे लौमहर्षणे ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—तात लोमहर्षणकुमार! पूर्वकालमें आपके पिताने सब पुराणोंका अध्ययन किया था। क्या आपने भी उन सबका अध्ययन किया है? ॥ १ ॥

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ये पुरास्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥ २ ॥

पुराणमें दिव्य कथाएँ वर्णित हैं। परम बुद्धिमान् राजर्षियों और ब्रह्मर्षियोंके आदि वंश भी बताये गये हैं। जिनको पहले हमने आपके पिताके मुखसे सुना है ॥ २ ॥

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ॥ ३ ॥

उनमेंसे प्रथम तो मैं भृगुवंशका ही वर्णन सुनना चाहता हूँ। अतः आप इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली कथा कहिये। हम सब लोग आपकी कथा सुननेके लिये सर्वथा उद्यत हैं ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

यदधीतं पुरा सम्यग् द्विजश्रेष्ठैर्महात्मभिः।
वैशम्पायनविप्राद्यैस्तैश्चापि कथितं यथा ॥ ४ ॥

सूतपुत्र उग्रश्रवाने कहा—भृगुनन्दन! वैशम्पायन आदि श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महात्मा द्विजवरोंने पूर्वकालमें जो पुराण भलीभाँति पढ़ा था और उन विद्वानोंने जिस प्रकार पुराणका वर्णन किया है, वह सब मुझे ज्ञात है ॥ ४ ॥

यदधीतं च पित्रा मे सम्यक् चैव ततो मया।
तावच्छृणुष्व यो देवैः सेन्द्रैः सर्षिमरुद्गणैः ॥ ५ ॥
पूजितः प्रवरो वंशो भार्गवो भृगुनन्दन।
इमं वंशमहं पूर्वं भार्गवं ते महामुने ॥ ६ ॥
निगदामि यथा युक्तं पुराणाश्रयसंयुतम्।
भृगुर्महर्षिर्भगवान् ब्रह्मणा वै स्वयम्भुवा ॥ ७ ॥
वरुणस्य क्रतौ जातः पावकादिति नः श्रुतम्।
भृगोः सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः ॥ ८ ॥

मेरे पिताने जिस पुराणविद्याका भलीभाँति अध्ययन किया था, वह सब मैंने उन्हींके मुखसे पढ़ी और सुनी है। भृगुनन्दन! आप पहले उस सर्वश्रेष्ठ भृगुवंशका वर्णन सुनिये, जो देवता, इन्द्र, ऋषि और मरुद्गणोंसे पूजित है। महामुने! आपके इस अत्यन्त दिव्य भार्गववंशका परिचय देता हूँ। यह परिचय अद्भुत एवं युक्तियुक्त तो होगा ही, पुराणोंके आश्रयसे भी संयुक्त होगा। हमने सुना है कि स्वयम्भू ब्रह्माजीने वरुणके यज्ञमें महर्षि भगवान् भृगुको अग्निसे उत्पन्न किया था। भृगुके अत्यन्त प्रिय पुत्र च्यवन हुए, जिन्हें भार्गव भी कहते हैं ॥ ५-८ ॥

च्यवनस्य च दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः।
प्रमतेरप्यभूत् पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ॥ ९ ॥

च्यवनके पुत्रका नाम प्रमति था, जो बड़े धर्मात्मा हुए। प्रमतिके घृताची नामक अप्सराके गर्भसे रुरु नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥ ९ ॥

रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहः ॥१०॥

रुरुके पुत्र शुनक थे, जिनका जन्म प्रमद्वराके गर्भसे हुआ था। शुनक वेदोंके पारंगत विद्वान् और धर्मात्मा थे। वे आपके पूर्व पितामह थे ॥ १० ॥

तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान् ब्रह्मवित्तमः।
धार्मिकः सत्यवादी च नियतो नियताशनः ॥११॥

वे तपस्वी, यशस्वी, शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। धर्मात्मा, सत्यवादी और मन-इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले थे। उनका आहार-विहार नियमित एवं परिमित था ॥११॥

शौनक उवाच

सूतपुत्र यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥१२॥

शौनकजी बोले—सूतपुत्र ! मैं पूछता हूँ कि महात्मा भार्गवका नाम च्यवन कैसे प्रसिद्ध हुआ ? यह मुझे बताइये ॥

सौतिरुवाच

भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता।
तस्यां समभवद् गर्भो भृगुवीर्यसमुद्भवः ॥१३॥

उग्रश्रवाजीने कहा—महामुने ! भृगुकी पत्नीका नाम पुलोमा था। वह अपने पतिको बहुत ही प्यारी थी। उसके उदरमें भृगुजीके वीर्यसे उत्पन्न गर्भ पल रहा था ॥१३॥

तस्मिन् गर्भेऽथ सम्भूते पुलोमायां भृगूद्वह।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ॥१४॥
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे।
आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाभ्याजगाम ह ॥१५॥

भृगुवंशशिरोमणे ! पुलोमा यशस्वी भृगुकी अनुकूल शील-स्वभाववाली धर्मपत्नी थी। उसकी कुक्षिमें उस गर्भके प्रकट होनेपर एक समय धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भृगुजी स्नान करनेके लिये आश्रमसे बाहर निकले। उस समय एक राक्षस, जिसका नाम भी पुलोमा ही था, उनके आश्रमपर आया ॥१४-१५॥

तं प्रविश्याश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम्।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ॥१६॥

आश्रममें प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि महर्षि भृगुकी पतिव्रता पत्नीपर पड़ी और वह कामदेवके वशीभूत हो अपनी सुध-बुध खो बैठा ॥ १६ ॥

अभ्यागतं तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ॥१७॥

सुन्दरी पुलोमाने उस राक्षसको अभ्यागत अतिथि मानकर वनके फल-मूल आदिसे उसका सत्कार करनेके लिये उसे न्योता दिया ॥ १७ ॥

तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन् हृच्छयेनाभिपीडितम्।
दृष्ट्वा हृष्टमभूद् राजन् जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥१८॥

ब्रह्मन् ! वह राक्षस कामसे पीड़ित हो रहा था। उस समय उसने वहाँ पुलोमाको अकेली देख बड़े हर्षका अनुभव किया, क्योंकि वह सती-साध्वी पुलोमाको हर ले जाना चाहता था ॥ १८ ॥

जातमित्यब्रवीत् कार्यं जिहीर्षुर्मुदितः शुभाम्।
सा हि पूर्वं वृता तेन पुलोम्ना तु शुचिस्मिता ॥१९॥

मनमें उस शुभलक्षणा सतीके अपहरणकी इच्छा रखकर वह प्रसन्नतासे फूल उठा और मन-ही-मन बोला, 'मेरा तो काम बन गया।' पवित्र मुसकानवाली पुलोमाको पहले उस पुलोमा नामक राक्षसने वरण* किया था ॥ १९ ॥

तां तु प्रादात् पिता पश्चाद् भृगवे शास्त्रवत्तदा।
तस्य तत् किल्बिषं नित्यं हृदि वर्तति भार्गव ॥२०॥

किंतु पीछे उसके पिताने शास्त्र-विधिके अनुसार महर्षि भृगुके साथ उसका विवाह कर दिया। भृगुनन्दन ! उसके पिताका वह अपराध राक्षसके हृदयमें सदा काँटे-सा कसकता रहता था ॥ २० ॥

इदमन्तरमित्येवं हर्तुं चक्रे मनस्तदा।
अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलन्तं जातवेदसम् ॥२१॥

यही अच्छा मौका है, ऐसा विचारकर उसने उस समय पुलोमाको हर ले जानेका पक्का निश्चय कर लिया। इतनेहीमें राक्षसने देखा, अग्निहोत्र-गृहमें अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे हैं ॥

तमपृच्छत् ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा।
शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृच्छे ऋतेन वै ॥२२॥

तब पुलोमाने उस समय उस प्रज्वलित पावकसे पूछा—'अग्निदेव ! मैं सत्यकी शपथ देकर पूछता हूँ, बताओ, यह किसकी पत्नी है ? ॥ २२ ॥

मुखं त्वमसि देवानां वद पावक पृच्छते।
मया हीयं वृता पूर्वं भार्यार्थे वरवर्णिनी ॥२३॥

'पावक ! तुम देवताओंके मुख हो। अतः मेरे पूछनेपर ठीक-ठीक बताओ। पहले तो मैंने ही इस सुन्दरीको अपनी पत्नी बनानेके लिये वरण किया था ॥ २३ ॥

---

* बाल्यावस्थामें पुलोमा रो रही थी। उसके रोदनकी निवृत्तिके लिये पिताने डराते हुए कहा—'रे राक्षस ! तू इसे पकड़ ले।' घरमें पुलोमा राक्षस पहलेसे ही छिपा हुआ था। उसने मन-ही-मन वरण कर लिया—'यह मेरी पत्नी है।' बात केवल इतनी ही थी। इसका अभिप्राय यह है कि हँसी-खेलमें भी या डाँटने-डपटनेके लिये भी बालकोंसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये और राक्षसका नाम भी नहीं रखना चाहिये।

पश्चादिमां पिता प्रादाद् भृगवेऽनृतकारकः।
सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ॥२४॥
तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम्।
स मन्युस्तत्र हृदयं प्रदहन्निव तिष्ठति।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुराप सुमध्यमाम् ॥२५॥

'किंतु बादमें असत्य व्यवहार करनेवाले इसके पिताने भृगुके साथ इसका विवाह कर दिया। यदि यह एकान्तमें मिली हुई सुन्दरी भृगुकी भार्या है तो वैसी बात सच-सच बता दो; क्योंकि मैं इसे इस आश्रमसे हर ले जाना चाहता हूँ। वह क्रोध आज मेरे हृदयको दग्ध-सा कर रहा है; इस सुमध्यमाको, जो पहले मेरी भार्या थी, भृगुने अन्यायपूर्वक हड़प लिया है' ॥ २४-२५ ॥

सौतिरुवाच

एवं रक्षस्तमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम्।
शङ्कमानं भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ॥२६॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार वह राक्षस भृगुकी पत्नीके प्रति, यह मेरी है या भृगुकी—ऐसा संशय रखते हुए, प्रज्वलित अग्निको सम्बोधित करके बार-बार पूछने लगा—॥ २६॥

त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा।
साक्षिवत् पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥२७॥

'अग्निदेव! तुम सदा सब प्राणियोंके भीतर निवास करते हो। सर्वज्ञ अग्ने! तुम पुण्य और पापके विषयमें साक्षीकी भाँति स्थित रहते हो; अतः सच्ची बात बताओ ॥ २७ ॥

मत्पूर्वापहृता भार्या भृगुणानृतकारिणा।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ॥२८॥

'असत्य बर्ताव करनेवाले भृगुने, जो पहले मेरी ही थी, उस भार्याका अपहरण किया है। यदि यह वही है, तो वैसी बात ठीक-ठीक बता दो ॥ २८ ॥

श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्याश्रमादिमाम्।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ॥२९॥

'सर्वज्ञ अग्निदेव! तुम्हारे मुखसे सब बातें सुनकर मैं भृगुकी इस भार्याको तुम्हारे देखते-देखते इस आश्रमसे हर ले जाऊँगा; इसलिये मुझसे सच्ची बात कहो' ॥ २९ ॥

सौतिरुवाच

तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितोऽभवत्।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ॥३०॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राक्षसकी यह बात सुनकर ज्वालामयी सात जिह्वाओंवाले अग्निदेव बहुत दुखी हुए। एक ओर वे झूठसे डरते थे तो दूसरी ओर भृगुके शापसे; अतः धीरेसे इस प्रकार बोले ॥ ३० ॥

अग्निरुवाच

त्वया वृता पुलोमेयं पूर्वं दानवनन्दन।
किन्त्वियं विधिना पूर्वं मन्त्रवन्न वृता त्वया ॥३१॥

अग्निदेव बोले—दानवनन्दन! इसमें संदेह नहीं कि पहले तुम्हींने इस पुलोमाका वरण किया था, किंतु विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हुए इसके साथ तुमने विवाह नहीं किया था ॥ ३१ ॥

पित्रा तु भृगवे दत्ता पुलोमेयं यशस्विनी।
ददाति न पिता तुभ्यं वरलोभान्महायशाः ॥३२॥

पिताने तो यह यशस्विनी पुलोमा भृगुको ही दी है। तुम्हारे वरण करनेपर भी इसके महायशस्वी पिता तुम्हारे हाथमें इसे इसलिये नहीं देते थे कि उनके मनमें तुमसे श्रेष्ठ वर मिल जानेका लोभ था ॥ ३२ ॥

अथेमां वेददृष्टेन कर्मणा विधिपूर्वकम्।
भार्यामृषिर्भृगुः प्राप मां पुरस्कृत्य दानव ॥३३॥

दानव! तदनन्तर महर्षि भृगुने मुझे साक्षी बनाकर वेदोक्त क्रियाद्वारा विधिपूर्वक इसका पाणिग्रहण किया था ॥ ३३ ॥

सेयमित्यवगच्छामि नानृतं वक्तुमुत्सहे।
नानृतं हि सदा लोके पूज्यते दानवोत्तम ॥३४॥

यह वही है, ऐसा मैं जानता हूँ। इस विषयमें मैं झूठ नहीं बोल सकता। दानवश्रेष्ठ! लोकमें असत्यकी कभी पूजा नहीं होती है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि पुलोमाग्निसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें पुलोमा-अग्निसंवादविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

महर्षि च्यवनका जन्म, उनके तेजसे पुलोमा राक्षसका भस्म होना तथा भृगुका अग्निदेवको शाप देना

सौतिरुवाच

अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद् रक्षः प्रजहार ताम्।
ब्रह्मन् वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मन्! अग्निका यह वचन सुनकर उस राक्षसने वराहका रूप धारण करके मन और वायुके समान वेगसे उसका अपहरण किया ॥ १ ॥

ततः स गर्भो निवसन् कुक्षौ भृगुकुलोद्वह।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥ २ ॥

भृगुवंशशिरोमणे ! उस समय वह गर्भ जो अपनी माताकी कुक्षिमें निवास कर रहा था, अत्यन्त रोषके कारण योगबलसे माताके उदरसे च्युत होकर बाहर निकल आया। च्युत होनेके कारण ही उसका नाम च्यवन हुआ ॥ २ ॥

तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम्।
तद् रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ॥ ३ ॥

माताके उदरसे च्युत होकर गिरे हुए उस सूर्यके समान तेजस्वी गर्भको देखते ही वह राक्षस पुलोमाको छोड़कर गिर पड़ा और तत्काल जलकर भस्म हो गया ॥ ३ ॥

सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दनम्।
च्यवनं भार्गवं पुत्रं पुलोमा दुःखमूर्च्छिता ॥ ४ ॥

सुन्दर कटि-प्रदेशवाली पुलोमा दुःखसे मूर्छित हो गयी और किसी तरह सँभलकर भृगुकुलको आनन्दित करनेवाले अपने पुत्र भार्गव च्यवनको गोदमें लेकर ब्रह्माजीके पास चली ॥

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
सान्त्वयामास भगवान् वधूं ब्रह्मा पितामहः।
अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने स्वयं भृगुकी उस पतिव्रता पत्नीको रोती और नेत्रोंसे आँसू बहाती देखा। तब पितामह भगवान् ब्रह्माने अपनी पुत्रवधूको सान्त्वना दी—उसे धीरज बँधाया। उसके आँसुओंकी बूँदोंसे एक बहुत बड़ी नदी प्रकट हो गयी ॥ ५-६ ॥

आवर्तन्ती सृतिं तस्या भृगोः पत्न्यास्तपस्विनः।
तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा ॥ ७ ॥
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ८ ॥

वह नदी तपस्वी भृगुकी उस पत्नीके मार्गको आप्लावित किये हुए थी। उस समय लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने पुलोमाके मार्गका अनुसरण करनेवाली उस नदीको देखकर उसका नाम वधूसरा रख दिया, जो च्यवनके आश्रमके पास प्रवाहित होती है ॥ ७-८ ॥

स एव च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान्।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भामिनीम्।
स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः ॥ ९ ॥

इस प्रकार भृगुपुत्र प्रतापी च्यवनका जन्म हुआ। तदनन्तर पिता भृगुने वहाँ अपने पुत्र च्यवन तथा पत्नी पुलोमाको देखा और सब बातें जानकर उन्होंने अपनी भार्या पुलोमासे कुपित होकर पूछा ॥ ९ ॥

भृगुरुवाच

केनासि रक्षसे तस्मै कथिता त्वं जिहीर्षते।
न हि त्वां वेद तद् रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ॥ १० ॥

भृगु बोले—कल्याणी ! तुम्हें हर लेनेकी इच्छासे आये हुए उस राक्षसको किसने तुम्हारा परिचय दे दिया ? मनोहर मुसकानवाली मेरी पत्नी तुझ पुलोमाको वह राक्षस नहीं जानता था ॥ १० ॥

तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥ ११ ॥

प्रिये ! ठीक-ठीक बताओ। आज मैं कुपित होकर अपने उस अपराधीको शाप देना चाहता हूँ। कौन मेरे शापसे नहीं डरता है ? किसके द्वारा यह अपराध हुआ है ? ॥ ११ ॥

पुलोमोवाच

अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता।
ततो मामनयद् रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥ १२ ॥

पुलोमा बोली—भगवन् ! अग्निदेवने उस राक्षसको मेरा परिचय दे दिया। इससे कुररीकी भाँति विलाप करती हुई मुझ अबलाको वह राक्षस उठा ले गया ॥ १२ ॥

साहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता।
भस्मीभूतं च तद् रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ॥ १३ ॥

आपके इस पुत्रके तेजसे मैं उस राक्षसके चंगुलसे छूट सकी हूँ। राक्षस मुझे छोड़कर गिरा और जलकर भस्म हो गया ॥

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान्।
शशापाग्निमतिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—पुलोमाका यह वचन सुनकर परम क्रोधी महर्षि भृगुका क्रोध और भी बढ़ गया। उन्होंने अग्निदेवको शाप दिया—'तुम सर्वभक्षी हो जाओगे' ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें अग्नि-शापविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

शापसे कुपित हुए अग्निदेवका अदृश्य होना और ब्रह्माजीका उनके शापको संकुचित करके उन्हें प्रसन्न करना

सौतिरुवाच

शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत्।
किमिदं साहसं ब्रह्मन् कृतवानसि मां प्रति ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षि भृगुके शाप देनेपर अग्निदेवने कुपित होकर यह बात कही—'ब्रह्मन् ! तुमने मुझे शाप देनेका यह दुस्साहसपूर्ण कार्य क्यों किया है ? ॥ १ ॥

धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम्।
पृष्टो यदब्रवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥

'मैं सदा धर्मके लिये प्रयत्नशील रहता और सत्य एवं पक्षपातशून्य वचन बोलता हूँ; अतः उस राक्षसके पूछनेपर यदि मैंने सच्ची बात कह दी तो इसमें मेरा क्या अपराध है ? ॥ २॥

पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानानोऽप्यन्यथा वदेत्।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात् तथा परान् ॥ ३ ॥

'जो साक्षी किसी बातको ठीक-ठीक जानते हुए भी पूछनेपर कुछ-का-कुछ कह देता—झूठ बोलता है, वह अपने कुलमें पहले और पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंका नाश करता—उन्हें नरकमें ढकेलता है ॥ ३ ॥

यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानानोऽपि न भाषते।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

'इसी प्रकार जो किसी कार्यके वास्तविक रहस्यका ज्ञाता है, वह उसके पूछनेपर यदि जानते हुए भी नहीं बतलाता—मौन रह जाता है तो वह भी उसी पापसे लिप्त होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम।
जानतोऽपि च ते ब्रह्मन् कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥

'मैं भी तुम्हें शाप देनेकी शक्ति रखता हूँ तो भी नहीं देता हूँ; क्योंकि ब्राह्मण मेरे मान्य हैं। ब्रह्मन्! यद्यपि तुम सब कुछ जानते हो, तथापि मैं तुम्हें जो बता रहा हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो—॥ ५ ॥

योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियासु च मखेषु च ॥ ६ ॥

'मैं योगसिद्धिके बलसे अपने आपको अनेक रूपोंमें प्रकट करके गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि आदि मूर्तियोंमें, नित्य किये जानेवाले अग्निहोत्रोंमें, अनेक व्यक्तियोंद्वारा संचालित सत्रोंमें, गर्भाधान आदि क्रियाओंमें तथा ज्योतिष्टोम आदि मखों (यज्ञों) में सदा निवास करता हूँ ॥ ६ ॥

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ॥ ७ ॥

'मुझमें वेदोक्त विधिसे जिस हविष्यकी आहुति दी जाती है, उसके द्वारा निश्चय ही देवता तथा पितृगण तृप्त होते हैं॥७॥

आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८ ॥

'जल ही देवता हैं तथा जल ही पितृगण हैं। दर्श और पौर्णमास याग पितरों तथा देवताओंके लिये किये जाते हैं॥८॥

देवताः पितरस्तस्मात् पितरश्चापि देवताः।
एकीभूताश्च पूज्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९ ॥

'अतः देवता पितर हैं और पितर ही देवता हैं। विभिन्न पर्वोंपर ये दोनों एक रूपमें भी पूजे जाते हैं और पृथक्-पृथक् भी ॥ ९ ॥

देवताः पितरश्चैव भुञ्जते मयि यद्धुतम्।
देवतानां पितॄणां च मुखमेतदहं स्मृतम् ॥ १० ॥

'मुझमें जो आहुति दी जाती है, उसे देवता और पितर दोनों भक्षण करते हैं। इसीलिये मैं देवताओं और पितरोंका मुख माना जाता हूँ ॥ १० ॥

अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः ॥ ११ ॥
सर्वभक्षः कथं त्वेषां भविष्यामि मुखं त्वहम्।

'अमावास्याको पितरोंके लिये और पूर्णिमाको देवताओंके लिये मेरे मुखसे ही आहुति दी जाती है और उस आहुतिके रूपमें प्राप्त हुए हविष्यका वे देवता और पितर उपभोग करते हैं, सर्वभक्षी होनेपर मैं इन सबका मुँह कैसे हो सकता हूँ ?' ॥ ११½ ॥

सौतिरुवाच

चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः ॥ १२ ॥
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च।
निरोंकारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ १३ ॥
विनाग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन् सुदुःखिताः।
अथर्षयः समुद्विग्ना देवान् गत्वाब्रुवन् वचः ॥ १४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं--महर्षियो! तदनन्तर अग्निदेवने कुछ सोच-विचारकर द्विजोंके अग्निहोत्र, यज्ञ, सत्र तथा संस्कारसम्बन्धी क्रियाओंमेंसे अपने आपको समेट लिया। फिर तो अग्निके बिना समस्त प्रजा ॐकार, वषट्कार, स्वधा और स्वाहा आदिसे वञ्चित होकर अत्यन्त दुखी हो गयी। तब महर्षिगण अत्यन्त उद्विग्न हो देवताओंके पास जाकर बोले--॥ १२-१४ ॥

अग्निनाशात् क्रियाभ्रंशाद् भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः।
विधद्ध्वमत्र यत् कार्यं न स्यात् कालात्ययो यथा ॥१५॥

'पापरहित देवगण! अग्निके अदृश्य हो जानेसे अग्निहोत्र आदि सम्पूर्ण क्रियाओंका लोप हो गया है। इससे तीनों लोकोंके प्राणी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये हैं; अतः इस विषयमें जो आवश्यक कर्तव्य हो, उसे आपलोग करें। इसमें अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ १५ ॥

अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु।
अग्नेरावेदयञ्छापं क्रियासंहारमेव च ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् ऋषि और देवता ब्रह्माजीके पास गये और अग्निको जो शाप मिला था एवं अग्निने सम्पूर्ण क्रियाओंसे जो अपने-आपको समेट कर अदृश्य कर लिया था, वह सब समाचार निवेदन करते हुए बोले—॥ १६ ॥

भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक् तथा ॥ १७ ॥
हुतभुक् सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ।

'महाभाग ! किसी कारणवश महर्षि भृगुने अग्निदेवको सर्वभक्षी होनेका शाप दे दिया है, किंतु वे सम्पूर्ण देवताओंके मुख, यज्ञभागके अग्रभोक्ता तथा सम्पूर्ण लोकोंमें दी हुई आहुतियोंका उपभोग करनेवाले होकर भी सर्वभक्षी कैसे हो सकेंगे ?' ॥ १७½ ॥

श्रुत्वा तु तद् वचस्तेषामग्निमाहूय विश्वकृत् ॥ १८ ॥
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम् ।
लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्ता चान्त एव च ॥ १९ ॥
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन् क्रियाणां च प्रवर्तकः ।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन् यथा क्रियाः ॥ २० ॥
कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन् हुताशन ।
त्वं पवित्रं सदा लोके सर्वभूतगतिश्च ह ॥ २१ ॥

देवताओं तथा ऋषियोंकी बात सुनकर विश्वविधाता ब्रह्माजीने प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले अविनाशी अग्निको बुलाकर मधुर वाणीमें कहा—'हुताशन ! यहाँ समस्त लोकोंके स्रष्टा और संहारक तुम्हीं हो, तुम्हीं तीनों लोकोंको धारण करनेवाले हो, सम्पूर्ण क्रियाओंके प्रवर्तक भी तुम्हीं हो । अतः लोकेश्वर ! तुम ऐसा करो जिससे अग्निहोत्र आदि क्रियाओंका लोप न हो । तुम सबके स्वामी होकर भी इस प्रकार मूढ़ (मोहग्रस्त) कैसे हो गये ? तुम संसारमें सदा पवित्र हो, समस्त प्राणियोंकी गति भी तुम्हीं हो ॥ १८—२१ ॥

न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि ।
अपाने ह्यर्चिषो यास्ते सर्वं भक्ष्यन्ति ताः शिखिन् ॥ २२ ॥

'तुम सारे शरीरसे सर्वभक्षी नहीं होओगे । अग्निदेव ! तुम्हारे अपानदेशमें जो ज्वालाएँ होंगी, वे ही सब कुछ भक्षण करेंगी ॥ २२ ॥

क्रव्यादा च तनुर्या ते सा सर्वं भक्षयिष्यति ।
यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ॥ २३ ॥
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ।
त्वमग्ने परमं तेजः स्वप्रभावाद् विनिर्गतम् ॥ २४ ॥
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो ।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ॥ २५ ॥

'इसके सिवा जो तुम्हारी क्रव्याद मूर्ति है (कच्चा मांस या मुर्दा जलानेवाली जो चिताकी आग है) वही सब कुछ भक्षण करेगी । जैसे सूर्यकी किरणोंसे स्पर्श होनेपर सब वस्तुएँ शुद्ध मानी जाती हैं, उसी प्रकार तुम्हारी ज्वालाओंसे दग्ध होनेपर सब कुछ शुद्ध हो जायगा । अग्निदेव ! तुम अपने प्रभावसे ही प्रकट हुए उत्कृष्ट तेज हो; अतः विभो ! अपने तेजसे ही महर्षिके उस शापको सत्य कर दिखाओ और अपने मुखमें आहुतिके रूपमें पड़े हुए देवताओंके तथा अपने भागको भी ग्रहण करो' ॥ २३—२५ ॥

सौतिरुवाच

एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम् ।
जगाम शासनं कर्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ॥ २६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह सुनकर अग्निदेवने पितामह ब्रह्माजीसे कहा—'एवमस्तु (ऐसा ही हो) ।' यों कहकर वे भगवान् ब्रह्माजीके आदेशका पालन करनेके लिये चल दिये ॥ २६ ॥

देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ॥ २७ ॥

इसके बाद देवर्षिगण अत्यन्त प्रसन्न हो जैसे आये थे वैसे ही चले गये । फिर ऋषि-महर्षि भी अग्निहोत्र आदि सम्पूर्ण कर्मोंका पूर्ववत् पालन करने लगे ॥ २७ ॥

दिवि देवा मुमुदिरे भूतसङ्घाश्च लौकिकाः ।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ॥ २८ ॥

देवतालोग स्वर्गलोकमें आनन्दित हो गये और इस लोकके समस्त प्राणी भी बड़े प्रसन्न हुए । साथ ही शापजनित पाप कट जानेसे अग्निदेवको भी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २८ ॥

एवं स भगवाञ्छापं लेभेऽग्निर्भृगुतः पुरा ।
एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः ।
पुलोम्नश्च विनाशोऽयं च्यवनस्य च सम्भवः ॥ २९ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें भगवान् अग्निदेवको महर्षि भृगुसे शाप प्राप्त हुआ था । यही अग्निशापसम्बन्धी प्राचीन इतिहास है । पुलोमा राक्षसके विनाश और च्यवन मुनिके जन्मका वृत्तान्त भी यही है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि अग्निशापमोचने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें अग्निशापमोचनसम्बन्धी सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

प्रमद्वराका जन्म, रुरुके साथ उसका वाग्दान तथा विवाहके पहले ही साँपके काटनेसे प्रमद्वराकी मृत्यु

सौतिरुवाच

स चापि च्यवनो ब्रह्मन् भार्गवोऽजनयत् सुतम्।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम्॥ १॥
प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत्।
रुरुः प्रमद्वरायां तु शुनकं समजीजनत्॥ २॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मन्! भृगुपुत्र च्यवनने अपनी पत्नी सुकन्याके गर्भसे एक पुत्रको जन्म दिया, जिसका नाम प्रमति था। महात्मा प्रमति बड़े तेजस्वी थे। फिर प्रमतिने घृताची अप्सरासे रुरुनामक पुत्र उत्पन्न किया तथा रुरुके द्वारा प्रमद्वराके गर्भसे शुनकका जन्म हुआ॥ १-२॥

(शौनकस्तु महाभाग शुनकस्य सुतो भवान्।)
शुनकस्तु महासत्त्वः सर्वभार्गवनन्दनः।
जातस्तपसि तीव्रे च स्थितः स्थिरयशास्ततः॥ ३॥

महाभाग शौनकजी! आप शुनकके ही पुत्र होनेके कारण 'शौनक' कहलाते हैं। शुनक महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न तथा सम्पूर्ण भृगुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले थे। वे जन्म लेते ही तीव्र तपस्यामें संलग्न हो गये। इससे उनका अविचल यश सब ओर फैल गया॥ ३॥

तस्य ब्रह्मन् रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः॥ ४॥

ब्रह्मन्! मैं महातेजस्वी रुरुके सम्पूर्ण चरित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा। वह सब-का-सब आप सुनिये॥ ४॥

ऋषिरासीन्महान् पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः॥ ५॥

पूर्वकालमें स्थूलकेश नामसे विख्यात एक तप और विद्यासे सम्पन्न महर्षि थे; जो समस्त प्राणियोंके हितमें लगे रहते थे॥

एतस्मिन्नेव काले तु मेनकायां प्रजज्ञिवान्।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति स्मृतः॥ ६॥

विप्रर्षे! इन्हीं महर्षिके समयकी बात है—गन्धर्वराज विश्वावसुने मेनकाके गर्भसे एक संतान उत्पन्न की॥ ६॥

अप्सरा मेनका तस्य तं गर्भं भृगुनन्दन।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति॥ ७॥

भृगुनन्दन! मेनका अप्सराने गन्धर्वराजद्वारा स्थापित किये हुए उस गर्भको समय पूरा होनेपर स्थूलकेश मुनिके आश्रमके निकट जन्म दिया॥ ७॥

उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरे जगाम सा।
अप्सरा मेनका ब्रह्मन् निर्दया निरपत्रपा॥ ८॥

ब्रह्मन्! निर्दय और निर्लज्ज मेनका अप्सरा उस नवजात गर्भको वहीं नदीके तटपर छोड़कर चली गयी॥ ८॥

कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया।
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः॥ ९॥
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम्।
स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो महाद्विजः॥ १०॥
जग्राह च मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च।
ववृधे सा वरारोहा तस्याश्रमपदे शुभे॥ ११॥

तदनन्तर तेजस्वी महर्षि स्थूलकेशने एकान्त स्थानमें त्यागी हुई उस बन्धुहीन कन्याको देखा, जो देवताओंकी बालिकाके समान दिव्य शोभासे प्रकाशित हो रही थी। उस समय उस कन्याको वैसी दशामें देखकर द्विजश्रेष्ठ मुनिवर स्थूलकेशके मनमें बड़ी दया आयी; अतः वे उसे उठा लाये और उसका पालन-पोषण करने लगे। वह सुन्दरी कन्या उनके शुभ आश्रमपर दिनों-दिन बढ़ने लगी॥ ९-११॥

जातकाद्याः क्रियाश्चास्या विधिपूर्वं यथाक्रमम्।
स्थूलकेशो महाभागश्चकार सुमहानृषिः॥ १२॥

महाभाग महर्षि स्थूलकेशने क्रमशः उस बालिकाके जातकर्मादि सब संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये॥ १२॥

प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता।
ततः प्रमद्वरेत्यस्या नाम चक्रे महानृषिः॥ १३॥

वह बुद्धि, रूप और सब उत्तम गुणोंसे सुशोभित हो संसारकी समस्त प्रमदाओं (सुन्दरी स्त्रियों) से श्रेष्ठ जान पड़ती थी; इसलिये महर्षिने उसका नाम 'प्रमद्वरा' रख दिया॥

तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम्।
बभूव किल धर्मात्मा मदनोपहतस्तदा॥ १४॥

एक दिन धर्मात्मा रुरुने महर्षिके आश्रममें उस प्रमद्वराको देखा। उसे देखते ही उनका हृदय तत्काल कामदेवके वशीभूत हो गया॥ १४॥

पितरं सखिभिः सोऽथ श्रावयामास भार्गवम्।
प्रमतिश्चाभ्ययाचत् तां स्थूलकेशं यशस्विनम्॥ १५॥

तब उन्होंने मित्रोंद्वारा अपने पिता भृगुवंशी प्रमतिको अपनी अवस्था कहलायी। तदनन्तर प्रमतिने यशस्वी स्थूलकेश मुनिसे (अपने पुत्रके लिये) उनकी वह कन्या माँगी॥ १५॥

ततः प्रादात् पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम्।
विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते॥ १६॥

तब पिताने अपनी कन्या प्रमद्वराका रुरुके लिये वाग्दान कर दिया और आगामी उत्तरफाल्गुनी नक्षत्रमें विवाहका मुहूर्त निश्चित किया॥ १६॥

ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते।
सखीभिः क्रीडती सार्धं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ १७ ॥

तदनन्तर जब विवाहका मुहूर्त निकट आ गया, उसी समय वह सुन्दरी कन्या सखियोंके साथ क्रीड़ा करती हुई वनमें घूमने लगी ॥ १७ ॥

नापश्यत् सम्प्रसुप्तं वै भुजङ्गं तिर्यगायतम्।
पदा चैनं समाक्रामन्मुमूर्षुः कालचोदिता ॥ १८ ॥

मार्गमें एक साँप चौड़ी जगह घेरकर तिरछा सो रहा था। प्रमद्वराने उसे नहीं देखा। वह कालसे प्रेरित होकर मरना चाहती थी, इसलिये सर्पको पैरसे कुचलती हुई आगे निकल गयी ॥ १८ ॥

स तस्याः सम्प्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा।
विषोपलिप्तान् दशनान् भृशमङ्गे न्यपातयत् ॥ १९ ॥

उस समय काल-धर्मसे प्रेरित हुए उस सर्पने उस असावधान कन्याके अङ्गमें बड़े जोरसे अपने विषभरे दाँत गड़ा दिये ॥ १९ ॥

सा दष्टा तेन सर्पेण पपात सहसा भुवि।
विवर्णा विगतश्रीका भ्रष्टाभरणचेतना ॥ २० ॥
निरानन्दकरी तेषां बन्धूनां मुक्तमूर्धजा।
व्यसुरप्रेक्षणीया सा प्रेक्षणीयतमाभवत् ॥ २१ ॥

उस सर्पके डँस लेनेपर वह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी। उसके शरीरका रंग उड़ गया, शोभा नष्ट हो गयी, आभूषण इधर-उधर बिखर गये और चेतना लुप्त हो गयी। उसके बाल खुले हुए थे। अब वह अपने उन बन्धुजनोंके हृदयमें विषाद उत्पन्न कर रही थी। जो कुछ ही क्षण पहले अत्यन्त सुन्दरी एवं दर्शनीय थी, वही प्राणशून्य होनेके कारण अब देखने योग्य नहीं रह गयी ॥ २०-२१ ॥

प्रसुप्तेवाभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता।
भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ॥ २२ ॥

वह सर्पके विषसे पीड़ित होकर गाढ़ निद्रामें सोयी हुईकी भाँति भूमिपर पड़ी थी। उसके शरीरका मध्यभाग अत्यन्त कृश था। वह उस अचेतनावस्थामें भी अत्यन्त मनोहारिणी जान पड़ती थी ॥ २२ ॥

ददर्श तां पिता चैव ये चैवान्ये तपस्विनः।
विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ॥ २३ ॥

उसके पिता स्थूलकेशने तथा अन्य तपस्वी महात्माओंने भी आकर उसे देखा। वह कमलकी-सी कान्तिवाली किशोरी धरतीपर चेष्टारहित पड़ी थी ॥ २३ ॥

ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः।
स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ॥ २४ ॥
उद्दालकः कठश्चैव श्वेतश्चैव महायशाः।
भरद्वाजः कौणकुत्स्य आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः ॥ २५ ॥
प्रमतिः सह पुत्रेण तथान्ये वनवासिनः।

तदनन्तर स्वस्त्यात्रेय, महाजानु, कुशिक, शङ्खमेखल, उद्दालक, कठ, महायशस्वी श्वेत, भरद्वाज, कौणकुत्स्य, आर्ष्टिषेण, गौतम, अपने पुत्र रुरुसहित प्रमति तथा अन्य सभी वनवासी श्रेष्ठ द्विज दयासे द्रवित होकर वहाँ आये ॥ २४-२५½ ॥

तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम् ॥ २६ ॥
रुरुदुः कृपयाविष्टा रुरुस्त्वार्तो बहिर्ययौ।
ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठास्तत्रैवोपाविशंस्तदा ॥ २७ ॥

वे सब लोग उस कन्याको सर्पके विषसे पीड़ित हो प्राणशून्य हुई देख करुणावश रोने लगे। रुरु तो अत्यन्त आर्त होकर वहाँसे बाहर चला गया और शेष सभी द्विज उस समय वहीं बैठे रहे ॥ २६-२७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि प्रमद्वरासर्पदंशेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें प्रमद्वराके सर्पदंशनसे सम्बन्ध रखनेवाला आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(इस अध्यायमें २७ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक, कुल योग २७½ श्लोक)

नवमोऽध्यायः

रुरुकी आधी आयुसे प्रमद्वराका जीवित होना, रुरुके साथ उसका विवाह, रुरुका सर्पोंको मारनेका निश्चय तथा रुरु-डुण्डुभ-संवाद

सौतिरुवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु महात्मसु।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वातिदुःखितः ॥ १ ॥
शोकेनाभिहतः सोऽथ विलपन् करुणं बहु।
अब्रवीद् वचनं शोचन् प्रियां स्मृत्वा प्रमद्वराम् ॥ २ ॥
शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्धिनी।
बान्धवानां च सर्वेषां किं नु दुःखमतः परम् ॥ ३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! वे ब्राह्मण प्रमद्वराके चारों ओर वहाँ बैठे थे, उसी समय रुरु अत्यन्त दुःखित हो गहन वनमें जाकर जोर-जोरसे रुदन करने लगा। शोकसे पीड़ित होकर उसने बहुत करुणाजनक विलाप किया और अपनी प्रियतमा प्रमद्वराका स्मरण करके शोकमग्न हो इस प्रकार बोला—'हाय! वह कृशाङ्गी बाला मेरा तथा समस्त बान्धवोंका शोक बढ़ाती हुई भूमिपर सो रही है; इससे बढ़कर दुःख और क्या हो सकता है?॥ १-३ ॥

यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि।
सम्यगाराधितास्तेन संजीवतु मम प्रिया॥ ४॥

'यदि मैंने दान दिया हो, तपस्या की हो अथवा गुरुजनोंकी भलीभाँति आराधना की हो तो उसके पुण्यसे मेरी प्रिया जीवित हो जाय॥ ४॥

यथा च जन्मप्रभृति यतात्माहं धृतव्रतः।
प्रमद्वरा तथा ह्येषा समुत्तिष्ठतु भामिनी॥ ५॥

'यदि मैंने जन्मसे लेकर अबतक मन और इन्द्रियोंपर संयम रक्खा हो और ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंका दृढ़तापूर्वक पालन किया हो तो यह मेरी प्रिया प्रमद्वरा अभी जी उठे'॥५॥

(कृष्णे विष्णौ हृषीकेशे लोकेशेऽसुरविद्विषि।
यदि मे निश्चला भक्तिर्मम जीवतु सा प्रिया॥)

'यदि पापी असुरोंका नाश करनेवाले, इन्द्रियोंके स्वामी जगदीश्वर एवं सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्णमें मेरी अविचल भक्ति हो तो यह कल्याणी प्रमद्वरा जी उठे'॥

एवं लालप्यतस्तस्य भार्यार्थे दुःखितस्य च।
देवदूतस्तदाभ्येत्य वाक्यमाह रुरुं वने॥ ६॥

इस प्रकार जब रुरु पत्नीके लिये दुःखित हो अत्यन्त विलाप कर रहा था, उस समय एक देवदूत उसके पास आया और वनमें रुरुसे बोला॥ ६॥

देवदूत उवाच

अभिधत्से ह यद् वाचा रुरो दुःखेन तन्मृषा।
यतो मर्त्यस्य धर्मात्मन् नायुरस्ति गतायुषः॥ ७॥
गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथंचन॥ ८॥

देवदूतने कहा—धर्मात्मा रुरु! तुम दुःखसे व्याकुल हो अपनी वाणीद्वारा जो कुछ कहते हो, वह सब व्यर्थ है; क्योंकि जिस मनुष्यकी आयु समाप्त हो गयी है, उसे फिर आयु नहीं मिल सकती। यह बेचारी प्रमद्वरा गन्धर्व और अप्सराकी पुत्री थी। इसे जितनी आयु मिली थी, वह पूरी हो चुकी है। अतः तात! तुम किसी तरह भी मनको शोकमें न डालो॥ ७-८॥

उपायश्चात्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीह प्रमद्वराम्॥ ९॥

इस विषयमें महात्मा देवताओंने एक उपाय निश्चित किया है। यदि तुम उसे करना चाहो, तो इस लोकमें प्रमद्वराको पा सकोगे॥ ९॥

रुरुरुवाच

क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्त्वेन खेचर।
करिष्येऽहं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान्॥ १०॥

रुरु बोला—आकाशचारी देवदूत! देवताओंने कौन-सा उपाय निश्चित किया है, उसे ठीक-ठीक बताओ? उसे सुनकर मैं अवश्य वैसा ही करूँगा। तुम मुझे इस दुःखसे बचाओ॥१०॥

देवदूत उवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छ त्वं कन्यायै भृगुनन्दन।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा॥ ११॥

देवदूतने कहा—भृगुनन्दन रुरु! तुम उस कन्याके लिये अपनी आधी आयु दे दो। ऐसा करनेसे तुम्हारी भार्या प्रमद्वरा जी उठेगी॥ ११॥

रुरुरुवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम।
शृङ्गाररूपाभरणा समुत्तिष्ठतु मे प्रिया॥ १२॥

रुरु बोला—देवश्रेष्ठ! मैं उस कन्याको अपनी आधी आयु देता हूँ। मेरी प्रिया अपने शृङ्गार, सुन्दर रूप और आभूषणोंके साथ जीवित हो उठे॥ १२॥

सौतिरुवाच

ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम्॥ १३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तब गन्धर्वराज विश्वावसु और देवदूत दोनों सत्पुरुषोंने धर्मराजके पास जाकर कहा—॥१३॥

धर्मराजायुषोऽर्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा।
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैवं यदि मन्यसे॥ १४॥

'धर्मराज! रुरुकी भार्या कल्याणी प्रमद्वरा मर चुकी है। यदि आप मान लें तो वह रुरुकी आधी आयुसे जीवित हो जाय'॥ १४॥

धर्मराज उवाच

प्रमद्वरां रुरोर्भार्यां देवदूत यदीच्छसि।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्धेन रुरोरेव समन्विता॥ १५॥

धर्मराज बोले—देवदूत! यदि तुम रुरुकी भार्या प्रमद्वराको जिलाना चाहते हो तो वह रुरुकी ही आधी आयुसे संयुक्त होकर जीवित हो उठे॥ १५॥

सौतिरुवाच

एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत् प्रमद्वरा।
रुरोस्तस्यायुषोऽर्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी॥ १६॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—धर्मराजके ऐसा कहते ही वह सुन्दरी मुनिकन्या प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयुसे संयुक्त हो सोयी हुईकी भाँति जाग उठी॥ १६॥

एतद् दृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धमलुप्यत॥ १७॥
तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ॥ १८॥

उत्तम तेजस्वी रुरुके भाग्यमें ऐसी बात देखी गयी थी। उनकी आयु बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। जब उन्होंने भार्या-

के लिये अपनी आधी आयु दे दी, तब दोनोंके पिताओंने निश्चित दिनमें प्रसन्नतापूर्वक उनका विवाह कर दिया। वे दोनों दम्पति एक-दूसरेके हितैषी होकर आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ १७-१८॥

स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिञ्जल्कसुप्रभाम्।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः॥ १९॥

कमलके केसरकी-सी कान्तिवाली उस दुर्लभ भार्याको पाकर व्रतधारी रुरुने सर्पोंके विनाशका निश्चय कर लिया॥

स दृष्ट्वा जिह्मगान् सर्वांस्तीव्रकोपसमन्वितः।
अभिहन्ति यथासत्त्वं गृह्य प्रहरणं सदा॥ २०॥

वह सर्पोंको देखते ही अत्यन्त क्रोधमें भर जाता और हाथमें डंडा ले उनपर यथाशक्ति प्रहार करता था॥ २०॥

स कदाचिद् वनं विप्रो रुरुरभ्यागमन्महत्।
शयानं तत्र चापश्यद् डुण्डुभं वयसान्वितम्॥ २१॥

एक दिनकी बात है, ब्राह्मण रुरु किसी विशाल वनमें गया, वहाँ उसने डुण्डुभ जातिके एक बूढ़े साँपको सोते देखा॥ २१॥

तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा।
जिघांसुः कुपितो विप्रस्तमुवाचाथ डुण्डुभः॥ २२॥

उसे देखते ही उसके क्रोधका पारा चढ़ गया और उस ब्राह्मणने उस समय सर्पको मार डालनेकी इच्छासे कालदण्डके समान भयंकर डंडा उठाया। तब उस डुण्डुभने मनुष्यकी बोलीमें कहा—॥ २२॥

नापराध्यामि ते किंचिदहमद्य तपोधन।
संरम्भाच्च किमर्थं मामभिहंसि रुषान्वितः॥ २३॥

'तपोधन! आज मैंने तुम्हारा कोई अपराध तो नहीं किया है? फिर किसलिये क्रोधके आवेशमें आकर तुम मुझे मार रहे हो'॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि प्रमद्वराजीवने नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें प्रमद्वराके जीवित होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला नवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९॥

(इस अध्यायमें २३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक, कुल योग २४ श्लोक)

दशमोऽध्यायः

रुरु मुनि और डुण्डुभका संवाद

रुरुरुवाच

मम प्राणसमा भार्या दष्टासीद् भुजगेन ह।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः॥ १॥
भुजङ्गं वै सदा हन्यां यं यं पश्येयमित्युत।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेनाद्य मोक्ष्यसे॥ २॥

रुरु बोला— सर्प! मेरी प्राणोंके समान प्यारी पत्नीको एक साँपने डँस लिया था। उसी समय मैंने यह घोर प्रतिज्ञा कर ली कि जिस-जिस सर्पको देख लूँगा, उसे-उसे अवश्य मार डालूँगा। उसी प्रतिज्ञाके अनुसार मैं तुम्हें मार डालना चाहता हूँ। अतः आज तुम्हें अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा॥ १-२॥

डुण्डुभ उवाच

अन्ये ते भुजगा ब्रह्मन् ये दशन्तीह मानवान्।
डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि॥ ३॥

डुण्डुभने कहा— ब्रह्मन्! वे दूसरे ही साँप हैं जो इस लोकमें मनुष्योंको डँसते हैं। साँपोंकी आकृतिमात्रसे ही तुम्हें डुण्डुभोंको नहीं मारना चाहिये॥ ३॥

एकानर्थान् पृथगर्थानेकदुःखान् पृथक्सुखान्।
डुण्डुभान् धर्मविद् भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि॥ ४॥

अहो! आश्चर्य है, बेचारे डुण्डुभ अनर्थ भोगनेमें सब सर्पोंके साथ एक हैं; परंतु उनका स्वभाव दूसरे सर्पोंसे भिन्न है। तथा दुःख भोगनेमें तो वे सब सर्पोंके साथ एक हैं; किंतु सुख सबका अलग-अलग है। तुम धर्मज्ञ हो, अतः तुम्हें डुण्डुभोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये॥ ४॥

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा।
नावधीद् भयसंविग्नमृषिं मत्वाथ डुण्डुभम्॥ ५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं— डुण्डुभ सर्पका यह वचन सुनकर रुरुने उसे कोई भयभीत ऋषि समझा, अतः उसका वध नहीं किया॥ ५॥

उवाच चैनं भगवान् रुरुः संशमयन्निव।
कामं मां भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः॥ ६॥

इसके सिवा, बड़भागी रुरुने उसे शान्ति प्रदान करते हुए-से कहा—'भुजङ्गम! बताओ, इस विकृत (सर्प) योनिमें पड़े हुए तुम कौन हो?'॥ ६॥

डुण्डुभ उवाच

अहं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात्।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः॥ ७॥

डुण्डुभने कहा— रुरो! मैं पूर्वजन्ममें सहस्रपाद नामक ऋषि था; किंतु एक ब्राह्मणके शापसे मुझे सर्पयोनिमें आना पड़ा है॥ ७॥



रुरुके दर्शनसे सहस्रपाद ऋषिकी सर्पयोनिसे मुक्ति

रुरुरुवाच

किमर्थं शप्तवान् क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद् भविष्यति॥ ८॥

रुरुने पूछा—भुजगोत्तम! उस ब्राह्मणने किसलिये कुपित होकर तुम्हें शाप दिया? तुम्हारा यह शरीर अभी कितने समयतक रहेगा?॥ ८॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि रुरुडुण्डुभसंवादे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें रुरु-डुण्डुभ-संवादविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः

डुण्डुभकी आत्मकथा तथा उसके द्वारा रुरुको अहिंसाका उपदेश

डुण्डुभ उवाच

सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः।
भृशं संशितवाक् तात तपोबलसमन्वितः॥ १॥
स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णं भुजङ्गमम्।
अग्निहोत्रे प्रसक्तस्तु भीषितः प्रमुमोह वै॥ २॥

डुण्डुभने कहा—तात! पूर्वकालमें खगम नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण मेरा मित्र था। वह महान् तपोबलसे सम्पन्न होकर भी बहुत कठोर वचन बोला करता था। एक दिन वह अग्निहोत्रमें लगा था। मैंने खिलवाड़में तिनकोंका एक सर्प बनाकर उसे डरा दिया। वह भयके मारे मूर्छित हो गया॥ १-२॥

लब्ध्वा स च पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक् संशितव्रतः॥ ३॥

फिर होशमें आनेपर वह सत्यवादी एवं कठोरव्रती तपस्वी मुझे क्रोधसे दग्ध-सा करता हुआ बोला—॥ ३॥

यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्विभीषया।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम शापाद् भविष्यसि॥ ४॥

'अरे! तूने मुझे डरानेके लिये जैसा अल्प शक्तिवाला सर्प बनाया था, मेरे शापवश ऐसा ही अल्पशक्तिसम्पन्न सर्प तुझे भी होना पड़ेगा'॥ ४॥

तस्याहं तपसो वीर्यं जानन्नासं तपोधन।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचमहं तदा॥ ५॥
प्रणतः सम्भ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः पुरतः स्थितः।
सखेति सहसेदं ते नर्मार्थं वै कृतं मया॥ ६॥
क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मन् शापोऽयं विनिवर्त्यताम्।
सोऽथ मामब्रवीद् दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम्॥ ७॥
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसम्भ्रान्तस्तपोधनः।
नानृतं वै मया प्रोक्तं भवितेदं कथंचन॥ ८॥

तपोधन! मैं उसकी तपस्याका बल जानता था, अतः मेरा हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और बड़े वेगसे उसके चरणोंमें प्रणाम करके, हाथ जोड़, सामने खड़ा हो, उस तपोधनसे बोला—'सखे! मैंने परिहासके लिये सहसा यह कार्य कर डाला है। ब्रह्मन्! इसके लिये क्षमा करो और अपना यह शाप लौटा लो। मुझे अत्यन्त घबराया हुआ देखकर सम्भ्रममें पड़े हुए उस तपस्वीने बार-बार गरम साँस खींचते हुए कहा—'मेरी कही हुई यह बात किसी प्रकार झूठी नहीं हो सकती॥ ५—८॥

यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे तपोधन।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु सदानघ॥ ९॥

'निष्पाप तपोधन! इस समय मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनो और सुनकर अपने हृदयमें सदा धारण करो॥ ९॥

उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता नचिरादिव॥ १०॥

'भविष्यमें महर्षि प्रमतिके पवित्र पुत्र रुरु उत्पन्न होंगे, उनका दर्शन करके तुम्हें शीघ्र ही इस शापसे छुटकारा मिल जायगा'॥ १०॥

स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजोऽपि च।
स्वरूपं प्रतिपद्याहमद्य वक्ष्यामि ते हितम्॥ ११॥

जान पड़ता है तुम वही रुरु नामसे विख्यात महर्षि प्रमतिके पुत्र हो। अब मैं अपना स्वरूप धारण करके तुम्हारे हितकी बात बताऊँगा॥ ११॥

स डौण्डुभं परित्यज्य रूपं विप्रर्षभस्तदा।
स्वरूपं भास्वरं भूयः प्रतिपेदे महायशाः॥ १२॥
इदं चोवाच वचनं रुरुमप्रतिमौजसम्।
अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वर॥ १३॥

इतना कहकर महायशस्वी विप्रवर सहस्रपादने डुण्डुभका रूप त्यागकर पुनः अपने प्रकाशमान स्वरूपको प्राप्त कर लिया। फिर अनुपम ओजवाले रुरुसे यह बात कही—'समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! अहिंसा सबसे उत्तम धर्म है॥ १२-१३॥

तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् न हिंस्याद् ब्राह्मणः क्वचित्।
ब्राह्मणः सौम्य एवेह भवतीति परा श्रुतिः॥ १४॥

'अतः ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी कभी और कहीं भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। ब्राह्मण इस लोकमें सदा सौम्य स्वभावका ही होता है, ऐसा श्रुतिका उत्तम वचन है॥ १४॥

वेदवेदाङ्गविन्नाम सर्वभूताभयप्रदः ।
अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ॥१५॥
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणापि च ।
क्षत्रियस्य हि यो धर्मः स हि नेष्येत वै तव ॥१६॥

'वह वेद-वेदाङ्गोंका विद्वान् और समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाला होता है। अहिंसा, सत्यभाषण, क्षमा और वेदोंका स्वाध्याय निश्चय ही ये ब्राह्मणके उत्तम धर्म हैं। क्षत्रियका जो धर्म है वह तुम्हारे लिये अभीष्ट नहीं है ॥ १५-१६ ॥

दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ।
तदिदं क्षत्रियस्यासीत् कर्म वै शृणु मे रुरो ॥१७॥
जनमेजयस्य यज्ञेऽस्मिन् सर्पाणां हिंसनं पुरा ।
परित्राणं च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ॥१८॥
तपोवीर्यबलोपेताद् वेदवेदाङ्गपारगात् ।
आस्तीकाद् द्विजमुख्याद् वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ॥१९॥

'रुरो ! दण्डधारण, उग्रता और प्रजापालन—ये सब क्षत्रियोंके कर्म रहे हैं। मेरी बात सुनो, पहले राजा जनमेजयके यज्ञमें सर्पोंकी बड़ी भारी हिंसा हुई। द्विजश्रेष्ठ ! फिर उसी सर्पसत्रमें तपस्याके बल-वीर्यसे सम्पन्न, वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् विप्रवर आस्तीकनामक ब्राह्मणके द्वारा भयभीत सर्पोंकी प्राणरक्षा हुई' ॥ १७-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि डुण्डुभशापमोक्ष एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें डुण्डुभशापमोक्षविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

जनमेजयके सर्पसत्रके विषयमें रुरुकी जिज्ञासा और पिताद्वारा उसकी पूर्ति

रुरुरुवाच

कथं हिंसितवान् सर्पान् स राजा जनमेजयः ।
सर्पा वा हिंसितास्तत्र किमर्थं द्विजसत्तम ॥ १ ॥

रुरुने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! राजा जनमेजयने सर्पोंकी हिंसा कैसे की ? अथवा उन्होंने किसलिये यज्ञमें सर्पोंकी हिंसा करवायी ? ॥ १ ॥

किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन धीमता ।
आस्तीकेन द्विजश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥ २ ॥

विप्रवर ! परम बुद्धिमान् महात्मा आस्तीकने किसलिये सर्पोंको उस यज्ञसे बचाया था ? यह सब मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच

श्रोष्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत् ।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३ ॥

ऋषिने कहा—'रुरो ! तुम कथावाचक ब्राह्मणोंके मुखसे आस्तीकका महान् चरित्र सुनोगे।' ऐसा कहकर सहस्रपाद मुनि अन्तर्धान हो गये ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

रुरुश्चापि वनं सर्वं पर्यधावत् समन्ततः ।
तमृषिं नष्टमन्विच्छन् संश्रान्तो न्यपतद् भुवि ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर रुरु वहाँ अदृश्य हुए मुनिकी खोजमें उस वनके भीतर सब ओर दौड़ता रहा और अन्तमें थककर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४ ॥

स मोहं परमं गत्वा नष्टसंज्ञ इवाभवत् ।
तदृषेर्वचनं तथ्यं चिन्तयानः पुनः पुनः ॥ ५ ॥
लब्धसंज्ञो रुरुश्चायात् तदाचख्यौ पितुस्तदा ।
पिता चास्य तदाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ६ ॥

गिरनेपर उसे बड़ी भारी मूर्च्छाने दबा लिया। उसकी चेतना नष्ट-सी हो गयी। महर्षिके यथार्थ वचनका बार-बार चिन्तन करते हुए होशमें आनेपर रुरु घर लौट आया। उस समय उसने पितासे वे सब बातें कह सुनायीं और पितासे भी आस्तीकका उपाख्यान पूछा। रुरुके पूछनेपर पिताने सब कुछ बता दिया ॥ ५-६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पौलोमपर्वणि सर्पसत्रप्रस्तावनायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत पौलोमपर्वमें सर्पसत्रप्रस्तावना-विषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(आस्तीकपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

जरत्कारुका अपने पितरोंके अनुरोधसे विवाहके लिये उद्यत होना

शौनक उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद् वदस्व मे ॥ १ ॥
निखिलेन यथातत्त्वं सौते सर्वमशेषतः।
आस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जपतां वरः ॥ २ ॥
मोक्षयामास भुजगान् प्रदीप्ताद् वसुरेतसः।
कस्य पुत्रः स राजासीत् सर्पसत्रं य आहरत् ॥ ३ ॥
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रोऽभिधत्स्व मे।

शौनकजीने पूछा—सूतजी! राजाओंमें श्रेष्ठ जनमेजयने किसलिये सर्पसत्रद्वारा सर्पोंका अन्त किया? यह प्रसङ्ग मुझसे कहिये। सूतनन्दन! इस विषयकी सब बातोंका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये। जप-यज्ञ करनेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ विप्रवर आस्तीकने किसलिये सर्पोंको प्रज्वलित अग्निमें जलनेसे बचाया और वे राजा जनमेजय, जिन्होंने सर्पसत्रका आयोजन किया था, किसके पुत्र थे? तथा द्विजवंशशिरोमणि आस्तीक भी किसके पुत्र थे? यह मुझे बताइये ॥ १—३½ ॥

सौतिरुवाच

महदाख्यानमास्तीकं यथैतत् प्रोच्यते द्विज ॥ ४ ॥
सर्वमेतदशेषेण शृणु मे वदतां वर।

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन्! आस्तीकका उपाख्यान बहुत बड़ा है। वक्ताओंमें श्रेष्ठ! यह प्रसङ्ग जैसे कहा जाता है, वह सब पूरा-पूरा सुनो ॥ ४½ ॥

शौनक उवाच

श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ॥ ५ ॥
आस्तीकस्य पुराणर्षेर्ब्राह्मणस्य यशस्विनः।

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन! पुरातन ऋषि एवं यशस्वी ब्राह्मण आस्तीककी इस मनोरम कथाको मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ ५½ ॥

सौतिरुवाच

इतिहासमिमं विप्राः पुराणं परिचक्षते ॥ ६ ॥
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिषु।
पूर्वं प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः ॥ ७ ॥
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणेष्विदमुक्तवान्।
तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम् ॥ ८ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! ब्राह्मणलोग इस इतिहासको बहुत पुराना बताते हैं। पहले मेरे पिता लोमहर्षणजीने, जो व्यासजीके मेधावी शिष्य थे, ऋषियोंके पूछनेपर साक्षात् श्रीकृष्णद्वैपायन (व्यास) के कहे हुए इस इतिहासका नैमिषारण्यवासी ब्राह्मणोंके समुदायमें वर्णन किया था। उन्हींके मुखसे सुनकर मैं भी इसका यथावत् वर्णन करता हूँ ॥ ६-८ ॥

इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते।
कथयिष्याम्यशेषेण सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥

शौनकजी! यह आस्तीक मुनिका उपाख्यान सब पापोंका नाश करनेवाला है। आपके पूछनेपर मैं इसका पूरा-पूरा वर्णन कर रहा हूँ ॥ ९ ॥

आस्तीकस्य पिता ह्यासीत् प्रजापतिसमः प्रभुः।
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ॥ १० ॥

आस्तीकके पिता प्रजापतिके समान प्रभावशाली थे। ब्रह्मचारी होनेके साथ ही उन्होंने आहारपर भी संयम कर लिया था। वे सदा उग्र तपस्यामें संलग्न रहते थे ॥ १० ॥

जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महातपाः।
यायावराणां प्रवरो धर्मज्ञः संशितव्रतः ॥ ११ ॥
स कदाचिन्महाभागस्तपोबलसमन्वितः।
चचार पृथिवीं सर्वां यत्रसायंगृहो मुनिः ॥ १२ ॥

उनका नाम था जरत्कारु। वे ऊर्ध्वरेता और महान् ऋषि थे। यायावरों[1]में उनका स्थान सबसे ऊँचा था। वे धर्मके ज्ञाता थे। एक समय तपोबलसे सम्पन्न उन महाभाग जरत्कारुने यात्रा प्रारम्भ की। वे मुनिवृत्तिसे रहते हुए जहाँ शाम होती वहीं डेरा डाल देते थे ॥ ११-१२ ॥

तीर्थेषु च समाप्लावं कुर्वन्नटति सर्वशः।
चरन् दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः ॥ १३ ॥

वे सब तीर्थोंमें स्नान करते हुए घूमते थे। उन महातेजस्वी

---

१. यायावरका अर्थ है सदा विचरनेवाला मुनि। मुनिवृत्तिसे रहते हुए सदा इधर-उधर घूमते रहनेवाले गृहस्थ ब्राह्मणोंके एक समूह-विशेषकी यायावर संज्ञा है। ये लोग एक गाँवमें एक रातसे अधिक नहीं ठहरते और पक्षमें एक बार अग्निहोत्र करते हैं। पक्षहोम सम्प्रदायकी प्रवृत्ति इन्हींसे हुई है। इनके विषयमें भारद्वाजका वचन इस प्रकार मिलता है—

यायावरा नाम ब्राह्मणा आसंस्ते अर्धमासादग्निहोत्रमजुह्वन्।

यायावरलोग घूमते-घूमते जहाँ संध्या हो जाती है वहीं ठहर जाते हैं।

मुनिने कठोर व्रतोंकी ऐसी दीक्षा लेकर यात्रा प्रारम्भ की थी, जो अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुःसाध्य थी ॥ १३ ॥

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्ननिमिषो मुनिः।
इतस्ततः परिचरन् दीप्तपावकसप्रभः ॥ १४ ॥
अटमानः कदाचित् स्वान् स ददर्श पितामहान्।
लम्बमानान् महागर्ते पादैरूर्ध्वैरवाङ्मुखान् ॥ १५ ॥

वे कभी वायु पीकर रहते और कभी भोजनका सर्वथा त्याग करके अपने शरीरको सुखाते रहते थे। उन महर्षिने निद्रा-पर भी विजय प्राप्त कर ली थी, इसलिये उनकी पलक नहीं लगती थी। इधर-उधर विचरण करते हुए वे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। घूमते-घूमते किसी समय उन्होंने अपने पितामहोंको देखा जो ऊपरको पैर और नीचेको सिर किये एक विशाल गड्ढेमें लटक रहे थे ॥ १४-१५ ॥

तानब्रवीत् स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान्।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्ते ह्यस्मिन्नधोमुखाः ॥ १६ ॥

उन्हें देखते ही जरत्कारुने उनसे पूछा—'आपलोग कौन हैं, जो इस गड्ढेमें नीचेको मुख किये लटक रहे हैं ॥ १६ ॥

वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते।
मूषकेन निगूढेन गर्तेऽस्मिन् नित्यवासिना ॥ १७ ॥

'आप जिस वीरणस्तम्ब (खस नामक तिनकोंके समूह) को पकड़कर लटक रहे हैं, उसे इस गड्ढेमें गुप्तरूपसे नित्य निवास करनेवाले चूहेने सब ओरसे प्रायः खा लिया है' ॥ १७ ॥*

पितर ऊचुः

यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः।
संतानप्रक्षयाद् ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ॥ १८ ॥

पितर बोले—ब्रह्मन्! हमलोग कठोर व्रतका पालन करनेवाले यायावर नामक मुनि हैं। अपनी संतान-परम्पराका नाश होनेसे हम नीचे—पृथ्वीपर गिरना चाहते हैं ॥ १८ ॥

अस्माकं संततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एव समास्थितः ॥ १९ ॥

हमारी एक संतति बच गयी है, जिसका नाम है जरत्कारु। हम भाग्यहीनोंकी वह अभागी संतान केवल तपस्यामें ही संलग्न है ॥ १९ ॥

न स पुत्राञ्जनयितुं दारान् मूढश्चिकीर्षति।
तेन लम्बामहे गर्ते संतानस्य क्षयादिह ॥ २० ॥
अनाथास्तेन नाथेन यथा दुष्कृतिनस्तथा।
कस्त्वं बन्धुरिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ॥ २१ ॥
ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन् को भवानिह नः स्थितः।
किमर्थं चैव नः शोच्याननुशोचसि सत्तम ॥ २२ ॥

वह मूढ़ पुत्र उत्पन्न करनेके लिये किसी स्त्रीसे विवाह करना नहीं चाहता है। अतः वंशपरम्पराका विनाश होनेसे हम यहाँ इस गड्ढेमें लटक रहे हैं। हमारी रक्षा करनेवाला वह वंशधर मौजूद है, तो भी पापकर्मी मनुष्योंकी भाँति हम अनाथ हो गये हैं। साधुशिरोमणे! तुम कौन हो जो हमारे बन्धु-बान्धवोंकी भाँति हमलोगोंकी इस दयनीय दशाके लिये शोक कर रहे हो? ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि तुम कौन हो जो आत्मीयकी भाँति यहाँ हमारे पास खड़े हो? सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ! हम शोचनीय प्राणियोंके लिये तुम क्यों शोक-मग्न होते हो ॥ २०-२२ ॥

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ॥ २३ ॥

जरत्कारुने कहा—महात्माओ! आपलोग मेरे ही पितामह और पूर्वज पितृगण हैं। स्वयं मैं ही जरत्कारु हूँ। बताइये, आज आपकी क्या सेवा करूँ? ॥ २३ ॥

पितर ऊचुः

यतस्व यत्नवांस्तात संतानाय कुलस्य नः।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव वा विभो ॥ २४ ॥

पितर बोले—तात! तुम हमारे कुलकी संतान-परम्पराको बनाये रखनेके लिये निरन्तर यत्नशील रहकर विवाहके लिये प्रयत्न करो। प्रभो! तुम अपने लिये, हमारे लिये अथवा धर्मका पालन हो इस उद्देश्यसे पुत्रकी उत्पत्तिके लिये यत्न करो ॥ २४ ॥

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ॥ २५ ॥

तात! पुत्रवाले मनुष्य इस लोकमें जिस उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं, उसे अन्य लोग धर्मानुकूल फल देनेवाले भलीभाँति संचित किये हुए तपसे भी नहीं पाते ॥ २५ ॥

तद् दारग्रहणे यत्नं संतत्यां च मनः कुरु।
पुत्रकास्मन्नियोगात् त्वमेतन्नः परमं हितम् ॥ २६ ॥

अतः बेटा! तुम हमारी आज्ञासे विवाह करनेका प्रयत्न करो

---

* यहाँ भूलोक ही गड्ढा है। स्वर्गवासी पितरोंको जो नीचे गिरनेका भय लगा रहता है उसीको सूचित करनेके लिये यह कहा गया है कि उनके पैर ऊपर थे और सिर नीचे। काल ही चूहा है और वंशपरम्परा ही वीरणस्तम्ब (खस नामक तिनकोंका समुदाय) है। उस वंशमें केवल जरत्कारु बच गये थे और अन्य सब पुरुष कालके अधीन हो चुके थे। यही व्यक्त करनेके लिये चूहेके द्वारा तिनकोंके समुदायको सब ओरसे खाया हुआ बताया गया है। जरत्कारुके विवाह न करनेसे उस वंशका वह शेष अंश भी नष्ट होना चाहता था। इसीलिये पितर व्याकुल थे और जरत्कारुको इसका बोध करानेके लिये उन्होंने इस प्रकार दर्शन दिया था।

और संतानोत्पादनकी ओर ध्यान दो। यही हमारे लिये सर्वोत्तम हितकी बात होगी॥ २६॥

जरत्कारुरुवाच

न दारान् वै करिष्येऽहं न धनं जीवितार्थतः।
भवतां तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम्॥ २७॥

जरत्कारुने कहा—पितामहगण! मैंने अपने मनमें यह निश्चय कर लिया था कि मैं जीवनके सुख-भोगके लिये कभी न तो पत्नीका परिग्रह करूँगा और न धनका संग्रह ही; परंतु यदि ऐसा करनेसे आपलोगोंका हित होता है तो उसके लिये अवश्य विवाह कर लूँगा॥ २७॥

समयेन च कर्ताहमनेन विधिपूर्वकम्।
तथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नान्यथा ह्यहम्॥ २८॥

किंतु एक शर्तके साथ मुझे विधिपूर्वक विवाह करना है। यदि उस शर्तके अनुसार किसी कुमारी कन्याको पाऊँगा, तभी उससे विवाह करूँगा, अन्यथा विवाह करूँगा ही नहीं॥

सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः॥ २९॥

(वह शर्त यों है—) जिस कन्याका नाम मेरे नामके ही समान हो, जिसे उसके भाई-बन्धु स्वयं मुझे देनेकी इच्छासे रखते हों और जो भिक्षाकी भाँति स्वयं प्राप्त हुई हो, उसी कन्याका मैं शास्त्रीय विधिके अनुसार पाणिग्रहण करूँगा॥ २९॥

दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः।
प्रतिग्रहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित् प्रदास्यति॥ ३०॥

विशेष बात तो यह है कि—मैं दरिद्र हूँ, भला मुझे माँगनेपर भी कौन अपनी कन्या पत्नीरूपमें प्रदान करेगा? इसलिये मेरा विचार है कि यदि कोई भिक्षाके तौरपर अपनी कन्या देगा तो उसे ग्रहण करूँगा॥ ३०॥

एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः।
अनेन विधिना शश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा॥ ३१॥

पितामहो! मैं इसी प्रकार, इसी विधिसे विवाहके लिये सदा प्रयत्न करता रहूँगा। इसके विपरीत कुछ नहीं करूँगा॥

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम॥ ३२॥

इस प्रकार मिली हुई पत्नीके गर्भसे यदि कोई प्राणी जन्म लेगा तो वह आपलोगोंका उद्धार करेगा, अतः आप मेरे पितर अपने सनातन स्थानपर जाकर वहाँ प्रसन्नतापूर्वक रहें॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुतत्पितृसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारु तथा उनके पितरोंका संवाद नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

जरत्कारुद्वारा वासुकिकी बहिनका पाणिग्रहण

सौतिरुवाच

ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण भार्याकी प्राप्तिके लिये इच्छुक होकर पृथ्वीपर सब ओर विचरने लगे; किंतु उन्हें पत्नीकी उपलब्धि नहीं हुई॥ १॥

स कदाचिद् वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन्।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव॥ २॥

एक दिन किसी वनमें जाकर विप्रवर जरत्कारुने पितरोंके वचनका स्मरण करके कन्याकी भिक्षाके लिये तीन बार धीरे-धीरे पुकार लगायी—'कोई भिक्षारूपमें कन्या दे जाय'॥

तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन्॥ ३॥

इसी समय नागराज वासुकि अपनी बहिनको लेकर मुनिकी सेवामें उपस्थित हो गये और बोले, 'यह भिक्षा ग्रहण कीजिये।' किंतु उन्होंने यह सोचकर कि शायद यह मेरे-जैसे नामवाली न हो, उसे तत्काल ग्रहण नहीं किया॥ ३॥

सनाम्नीं चोद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः॥ ४॥

उन महात्मा जरत्कारुका मन इस बातपर स्थिर हो गया था कि मेरे-जैसे नामवाली कन्या यदि उपलब्ध हो तो उसीको पत्नीरूपमें ग्रहण करूँ॥ ४॥

तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजंगम॥ ५॥

ऐसा निश्चय करके परम बुद्धिमान् एवं महान् तपस्वी जरत्कारुने पूछा—'नागराज! सच-सच बताओ, तुम्हारी इस बहिनका क्या नाम है?'॥ ५॥

वासुकिरुवाच

जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम।
प्रतिगृह्णीष्व भार्यार्थे मया दत्तां सुमध्यमाम्।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम॥ ६॥

वासुकिने कहा—जरत्कारो ! यह मेरी छोटी बहिन जरत्कारु नामसे ही प्रसिद्ध है। इस सुन्दर कटिप्रदेशवाली कुमारीको पत्नी बनानेके लिये मैंने स्वयं आपकी सेवामें समर्पित किया है। इसे स्वीकार कीजिये। द्विजश्रेष्ठ ! यह बहुत पहलेसे आपहीके लिये सुरक्षित रक्खी गयी है, अतः इसे ग्रहण करें॥ ६॥

एवमुक्त्वा ततः प्रादाद् भार्यार्थे वरवर्णिनीम्।
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ७॥

ऐसा कहकर वासुकिने वह सुन्दरी कन्या मुनिको पत्नीरूपमें प्रदान की। मुनिने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उसका पाणिग्रहण किया॥ ७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिस्वसृवरणे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकिकी बहिनके वरणसे सम्बन्ध रखनेवाला चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४॥



पञ्चदशोऽध्यायः

आस्तीकका जन्म तथा मातृशापसे सर्पसत्रमें नष्ट होनेवाले नागवंशकी उनके द्वारा रक्षा

सौतिरुवाच

मात्रा हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदां वर।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ शौनक ! पूर्वकालमें नागमाता कद्रूने सर्पोंको यह शाप दिया था कि तुम्हें जनमेजयके यज्ञमें अग्नि भस्म कर डालेगी॥ १॥

तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय महात्मने॥ २॥
स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महामनाः॥ ३॥

उसी शापकी शान्तिके लिये नागप्रवर वासुकिने सदाचारका पालन करनेवाले महात्मा जरत्कारुको अपनी बहिन ब्याह दी थी। महामना जरत्कारुने शास्त्रीय विधिके अनुसार उस नागकन्याका पाणिग्रहण किया और उसके गर्भसे आस्तीक नामक पुत्रको जन्म दिया॥ २-३॥

तपस्वी च महात्मा च वेदवेदाङ्गपारगः।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः॥ ४॥

आस्तीक वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान्, तपस्वी, महात्मा, सब लोगोंके प्रति समानभाव रखनेवाले तथा पितृकुल और मातृकुलके भयको दूर करनेवाले थे॥ ४॥

अथ दीर्घस्य कालस्य पाण्डवेयो नराधिपः।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः॥ ५॥
तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै।
मोचयामास तान् नागानास्तीकः सुमहातपाः॥ ६॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् पाण्डववंशीय नरेश जनमेजयने सर्पसत्र नामक महान् यज्ञका आयोजन किया, ऐसा सुननेमें आता है। सर्पोंके संहारके लिये आरम्भ किये हुए उस सत्रमें आकर महातपस्वी आस्तीकने नागोंको मौतसे छुड़ाया॥ ५-६॥

भ्रातॄंश्च मातुलांश्चैव तथैवान्यान् स पन्नगान्।
पितॄंश्च तारयामास संतत्या तपसा तथा॥ ७॥

उन्होंने मामा तथा ममेरे भाइयोंको एवं अन्यान्य सम्बन्धोंमें आनेवाले सब नागोंको संकटमुक्त किया। इसी प्रकार तपस्या तथा संतानोत्पादनद्वारा उन्होंने पितरोंका भी उद्धार किया॥ ७॥

व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन् स्वाध्यायैश्चानृणोऽभवत्।
देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः॥ ८॥
ऋषींश्च ब्रह्मचर्येण संतत्या च पितामहान्।
अपहृत्य गुरुं भारं पितॄणां संशितव्रतः॥ ९॥
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः।
आस्तीकं च सुतं प्राप्य धर्मं चानुत्तमं मुनिः॥ १०॥
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमेयिवान्।
एतदाख्यानमास्तीकं यथावत् कथितं मया।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किमन्यत् कथयामि ते॥ ११॥

ब्रह्मन् ! भाँति-भाँतिके व्रतों और स्वाध्यायोंका अनुष्ठान करके वे सब प्रकारके ऋणोंसे उऋण हो गये। अनेक प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके उन्होंने देवताओं, ब्रह्मचर्य व्रतके पालनसे ऋषियों और संतानकी उत्पत्तिद्वारा पितरोंको तृप्त किया। कठोर व्रतका पालन करनेवाले जरत्कारु मुनि पितरोंकी चिन्ताका भारी भार उतारकर अपने उन पितामहोंके साथ स्वर्गलोकको चले गये। आस्तीक-जैसे

पुत्र तथा परम धर्मकी प्राप्ति करके मुनिवर जरत्कारुने दीर्घकालके पश्चात् स्वर्गलोककी यात्रा की। भृगुकुलशिरोमणे! इस प्रकार मैंने आस्तीकके उपाख्यानका यथावत् वर्णन किया है। बताइये, अब और क्या कहा जाय? ॥ ८-११ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पाणां मातृशापप्रस्तावे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पोंको मातृशाप प्राप्त होनेकी प्रस्तावनासे युक्त पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

कद्रू और विनताको कश्यपजीके वरदानसे अभीष्ट पुत्रोंकी प्राप्ति

शौनक उवाच

सौते त्वं कथयस्वेमां विस्तरेण कथां पुनः।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः ॥ १ ॥

शौनकजी बोले—सूतनन्दन! आप ज्ञानी महात्मा आस्तीककी इस कथाको पुनः विस्तारके साथ कहिये। हमें उसे सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा है ॥ १ ॥

मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ॥ २ ॥

सौम्य! आप बड़ी मधुर कथा कहते हैं। उसका एक-एक अक्षर और एक-एक पद कोमल है। तात! इसे सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। आप अपने पिता लोमहर्षणकी भाँति ही प्रवचन कर रहे हैं ॥ २ ॥

अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव।
आचष्टैतद् यथाख्यानं पिता ते त्वं तथा वद ॥ ३ ॥

आपके पिता सदा हमलोगोंकी सेवामें लगे रहते थे। उन्होंने इस उपाख्यानको जिस प्रकार कहा है, उसी रूपमें आप भी कहिये ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

आयुष्मन्निदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते।
यथाश्रुतं कथयतः सकाशाद् वै पितुर्मया ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—आयुष्मन्! मैंने अपने कथावाचक पिताजीके मुखसे यह आस्तीककी कथा, जिस रूपमें सुनी है, उसी प्रकार आपसे कहता हूँ ॥ ४ ॥

पुरा देवयुगे ब्रह्मन् प्रजापतिसुते शुभे।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघ ॥ ५ ॥
ते भार्ये कश्यपस्यास्तां कद्रूश्च विनता च ह।
प्रादात् ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः ॥ ६ ॥
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युतः।
वरातिसर्गं श्रुत्वैवं कश्यपादुत्तमं च ते ॥ ७ ॥
हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ।
वव्रे कद्रूः सुतान् नागान् सहस्रं तुल्यवर्चसः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन्! पहले सत्ययुगमें दक्ष प्रजापतिकी दो शुभलक्षणा कन्याएँ थीं—कद्रू और विनता। वे दोनों बहिनें रूप-सौन्दर्यसे सम्पन्न तथा अद्भुत थीं। अनघ! उन दोनोंका विवाह महर्षि कश्यपजीके साथ हुआ था। एक दिन प्रजापति ब्रह्माजीके समान शक्तिशाली पति महर्षि कश्यपने अत्यन्त हर्षमें भरकर अपनी उन दोनों धर्मपत्नियोंको प्रसन्नतापूर्वक वर देते हुए कहा—'तुममेंसे जिसकी जो इच्छा हो वर माँग लो।' इस प्रकार कश्यपजीसे उत्तम वरदान मिलनेकी बात सुनकर प्रसन्नताके कारण उन दोनों सुन्दरी स्त्रियोंको अनुपम आनन्द प्राप्त हुआ। कद्रूने समान तेजस्वी एक हजार नागोंको पुत्ररूपमें पानेका वर माँगा ॥ ५-८ ॥

द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रूपुत्राधिकौ बले।
तेजसा वपुषा चैव विक्रमेणाधिकौ च तौ ॥ ९ ॥

विनताने बल, तेज, शरीर तथा पराक्रममें कद्रूके पुत्रोंसे श्रेष्ठ केवल दो ही पुत्र माँगे ॥ ९ ॥

तस्यै भर्ता वरं प्रादादत्यर्थं पुत्रमीप्सितम्।
एवमस्त्विति तं चाह कश्यपं विनता तदा ॥ १० ॥

विनताको पतिदेवने, अत्यन्त अभीष्ट दो पुत्रोंके होनेका वरदान दे दिया। उस समय विनताने कश्यपजीसे 'एवमस्तु' कहकर उनके दिये हुए वरको शिरोधार्य किया ॥ १० ॥

यथावत् प्रार्थितं लब्ध्वा वरं तुष्टाभवत् तदा।
कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ॥ ११ ॥

अपनी प्रार्थनाके अनुसार ठीक वर पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। कद्रूके पुत्रोंसे अधिक बलवान् और पराक्रमी—दो पुत्रोंके होनेका वर प्राप्त करके विनता अपनेको कृतकृत्य मानने लगी ॥ ११ ॥

कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यवर्चसाम्।
धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ॥ १२ ॥
ते भार्ये वरसंतुष्टे कश्यपो वनमाविशत्।

समान तेजस्वी एक हजार पुत्र होनेका वर पाकर कद्रू भी अपना मनोरथ सिद्ध हुआ समझने लगी। वरदान पाकर संतुष्ट हुई अपनी उन धर्मपत्नियोंसे यह कहकर कि 'तुम दोनों यत्नपूर्वक अपने-अपने गर्भकी रक्षा करना' महातपस्वी कश्यपजी वनमें चले गये ॥ १२½ ॥

सौतिरुवाच

कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ॥ १३॥
जनयामास विप्रेन्द्र द्वे चाण्डे विनता तदा।

ब्रह्मन्! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् कद्रूने एक हजार और विनताने दो अण्डे दिये ॥ १३½ ॥

तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारिकाः ॥ १४॥
सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्चवर्षशतानि च।
ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः ॥ १५॥
अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न व्यदृश्यत।

दासियोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर दोनोंके अण्डोंको गरम बर्तनोंमें रख दिया। वे अण्डे पाँच सौ वर्षोंतक उन्हीं बर्तनोंमें पड़े रहे। तत्पश्चात् पाँच सौ वर्ष पूरे होनेपर कद्रूके एक हजार पुत्र अण्डोंको फोड़कर बाहर निकल आये; परंतु विनताके अण्डोंसे उसके दो बच्चे निकलते नहीं दिखायी दिये ॥ १४-१५½ ॥

ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ॥ १६॥
अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमपश्यत।
पूर्वार्धकायसम्पन्नमितरेणाप्रकाशता ॥ १७॥

इससे पुत्रार्थिनी और तपस्विनी देवी विनता सौतके सामने लज्जित हो गयी। फिर उसने अपने हाथोंसे एक अण्डा फोड़ डाला। फूटनेपर उस अण्डेमें विनताने अपने पुत्रको देखा, उसके शरीरका ऊपरी भाग पूर्णरूपसे विकसित एवं पुष्ट था, किंतु नीचेका आधा अङ्ग अभी अधूरा रह गया था ॥ १६-१७ ॥

स पुत्रः क्रोधसंरब्धः शशापैनामिति श्रुतिः।
योऽहमेवं कृतो मातस्त्वया लोभपरीतया ॥ १८॥
शरीरेणासमग्रेण तस्माद् दासी भविष्यसि।
पञ्चवर्षशतान्यस्या यया विस्पर्धसे सह ॥ १९॥

सुना जाता है, उस पुत्रने क्रोधके आवेशमें आकर विनताको शाप दे दिया—'मा! तूने लोभके वशीभूत होकर मुझे इस प्रकार अधूरे शरीरका बना दिया—मेरे समस्त अङ्गोंको पूर्णतः विकसित एवं पुष्ट नहीं होने दिया; इसलिये जिस सौतके साथ तू लाग-डाँट रखती है, उसीकी पाँच सौ वर्षोंतक दासी बनी रहेगी ॥ १८-१९ ॥

एष च त्वां सुतो मातर्दासीत्वान्मोचयिष्यति।
यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाण्डविभेदनात् ॥ २०॥
न करिष्यस्यनङ्गं वा व्यङ्गं वापि तपस्विनम्।

'और मा! यह जो दूसरे अण्डेमें तेरा पुत्र है, यही तुझे दासी-भावसे छुटकारा दिलायेगा; किंतु माता! ऐसा तभी हो सकता है जब तू इस तपस्वी पुत्रको मेरी ही तरह अण्डा फोड़कर अङ्गहीन या अधूरे अङ्गोंसे युक्त न बना देगी ॥ २०½ ॥

प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया ॥ २१॥
विशिष्टं बलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात् परः।

'इसलिये यदि तू इस बालकको विशेष बलवान् बनाना चाहती है तो पाँच सौ वर्षके बादतक तुझे धैर्य धारण करके इसके जन्मकी प्रतीक्षा करनी चाहिये' ॥ २१½ ॥

एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः ॥ २२॥
अरुणो दृश्यते ब्रह्मन् प्रभातसमये सदा।
आदित्यरथमध्यास्ते सारथ्यं समकल्पयत् ॥ २३॥

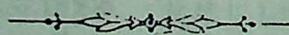
इस प्रकार विनताको शाप देकर वह बालक अरुण अन्तरिक्षमें उड़ गया। ब्रह्मन्! तभीसे प्रातःकाल (प्राची दिशामें) सदा जो लाली दिखायी देती है, उसके रूपमें विनताके पुत्र अरुणका ही दर्शन होता है। वह सूर्यदेवके रथपर जा बैठा और उनके सारथिका काम सँभालने लगा ॥ २२-२३ ॥

गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगभोजनः।
स जातमात्रो विनतां परित्यज्य खमाविशत् ॥ २४॥
आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत्।
विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितः पतगेश्वरः ॥ २५॥

तदनन्तर समय पूरा होनेपर सर्पसंहारक गरुडका जन्म हुआ। भृगुश्रेष्ठ! पक्षिराज गरुड जन्म लेते ही क्षुधासे व्याकुल हो गये और विधाताने उनके लिये जो आहार नियत किया था, अपने उस भोज्य पदार्थको प्राप्त करनेके लिये माता विनताको छोड़कर आकाशमें उड़ गये ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पादीनामुत्पत्तौ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्प आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥



सप्तदशोऽध्यायः

मेरुपर्वतपर अमृतके लिये विचार करनेवाले देवताओंको भगवान् नारायणका समुद्रमन्थनके लिये आदेश

सूत उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन।
अपश्यतां समायाते उच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ १ ॥
यं तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपमपूजयन्।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ॥ २ ॥
अमोघबलमश्वानामुत्तमं जगतां वरम्।
श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणपूजितम् ॥ ३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन ! इसी समय कद्रू और विनता दोनों बहिनें एक साथ ही घूमनेके लिये निकलीं। उस समय उन्होंने उच्चैःश्रवा नामक घोड़ेको निकटसे जाते देखा। वह परम उत्तम अश्वरत्न अमृतके लिये समुद्रका मन्थन करते समय प्रकट हुआ था। उसमें अमोघ बल था। वह संसारके समस्त अश्वोंमें श्रेष्ठ, उत्तम गुणोंसे युक्त, सुन्दर, अजर, दिव्य एवं सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे संयुक्त था। उसके अङ्ग बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। सम्पूर्ण देवताओंने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी॥ १—३॥

शौनक उवाच

कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे।
यत्र जज्ञे महावीर्यः सोऽश्वराजो महाद्युतिः॥ ४॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन ! अब मुझे यह बताइये कि देवताओंने अमृत-मन्थन किस प्रकार और किस स्थानपर किया था, जिसमें वह महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न और अत्यन्त तेजस्वी अश्वराज उच्चैःश्रवा प्रकट हुआ ?॥ ४॥

सौतिरुवाच

ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम्।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः॥ ५॥
कनकाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः॥ ६॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी ! मेरु नामसे प्रसिद्ध एक पर्वत है, जो अपनी प्रभासे प्रज्वलित होता रहता है। वह तेजका महान् पुञ्ज और परम उत्तम है। अपने अत्यन्त प्रकाशमान सुवर्णमय शिखरोंसे वह सूर्यदेवकी प्रभाको भी तिरस्कृत किये देता है। उस स्वर्णभूषित विचित्र शैलपर देवता और गन्धर्व निवास करते हैं। उसका कोई माप नहीं है। जिनमें पापकी मात्रा अधिक है, ऐसे मनुष्य वहाँ पैर नहीं रख सकते॥ ५-६॥

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम्॥ ७॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानापतगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः॥ ८॥

वहाँ सब ओर भयंकर सर्प भरे पड़े हैं। दिव्य ओषधियाँ उस तेजोमय पर्वतको और भी उद्भासित करती रहती हैं। वह महान् गिरिराज अपनी ऊँचाईसे स्वर्गलोकको घेरकर खड़ा है। प्राकृत मनुष्योंके लिये वहाँ मनसे भी पहुँचना असम्भव है। वह गिरिप्रदेश बहुत-सी नदियों और असंख्य वृक्षोंसे सुशोभित है। भिन्न-भिन्न प्रकारके अत्यन्त मनोहर पक्षियोंके समुदाय अपने कलरवसे उस पर्वतको कोलाहलपूर्ण किये रहते हैं॥ ७-८॥

तस्य शृङ्गमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम्।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः॥ ९॥
ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्रासीना दिवौकसः।
अमृताय समागम्य तपोनियमसंयुताः॥ १०॥
तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत्।
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः॥ ११॥
देवैरसुरसङ्घैश्च मथ्यतां कलशोदधिः।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ॥ १२॥

उसके शुभ एवं उच्चतम शृङ्ग असंख्य चमकीले रत्नोंसे व्याप्त हैं। वे अपनी विशालताके कारण आकाशके समान अनन्त जान पड़ते हैं। समस्त महातेजस्वी देवता मेरुगिरिके उस महान् शिखरपर चढ़कर एक स्थानमें बैठ गये और सब मिलकर अमृत-प्राप्तिके लिये क्या उपाय किया जाय, इसका विचार करने लगे। वे सभी तपस्वी तथा शौच-संतोष आदि नियमोंसे संयुक्त थे। इस प्रकार परस्पर विचार एवं सबके साथ मन्त्रणामें लगे हुए देवताओंके समुदायमें उपस्थित हो भगवान् नारायणने ब्रह्माजीसे यों कहा—'समस्त देवता और असुर मिलकर महासागरका मन्थन करें। उस महासागरका मन्थन आरम्भ होनेपर उसमेंसे अमृत प्रकट होगा॥ ९—१२॥

सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव ह।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः॥ १३॥

'देवताओ ! पहले समस्त ओषधियों, फिर सम्पूर्ण रत्नोंको पाकर भी समुद्रका मन्थन जारी रक्खो। इससे अन्तमें तुमलोगोंको निश्चय ही अमृतकी प्राप्ति होगी'॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थने सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७॥

अष्टादशोऽध्यायः

देवताओं और दैत्योंद्वारा अमृतके लिये समुद्रका मन्थन, अनेक रत्नोंके साथ अमृतकी उत्पत्ति और भगवान्‌का मोहिनीरूप धारण करके दैत्योंके हाथसे अमृत ले लेना

सौतिरुवाच

ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम्।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमाकुलम्॥ १॥
नानाविहगसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम्।
किंनरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम्॥ २॥
एकादश सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम्।
अधो भूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम्॥ ३॥

तमुद्धर्तुमशक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! तदनन्तर सम्पूर्ण देवता मिलकर पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचलको उखाड़नेके लिये उसके समीप गये। वह पर्वत श्वेत मेघखण्डोंके समान प्रतीत होनेवाले गगनचुम्बी शिखरोंसे सुशोभित था। सब ओर फैली हुई लताओंके समुदायने उसे आच्छादित कर रक्खा था। उसपर चारों ओर भाँति-भाँतिके विहंगम कलरव कर रहे थे। बड़ी-बड़ी दाढ़ोंवाले व्याघ्र-सिंह आदि अनेक हिंसक जीव वहाँ सर्वत्र भरे हुए थे। उस पर्वतके विभिन्न प्रदेशोंमें किन्नरगण, अप्सराएँ तथा देवतालोग निवास करते थे। उसकी ऊँचाई ग्यारह हजार योजन थी और भूमिके नीचे भी वह उतने ही सहस्र योजनोंमें प्रतिष्ठित था। जब देवता उसे उखाड़ न सके, तब वहाँ बैठे हुए भगवान् विष्णु और ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ १-४ ॥

भवन्तावत्र कुर्वातां बुद्धिं नैःश्रेयसीं पराम्।
मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियतां च हिताय नः ॥ ५ ॥

'आप दोनों इस विषयमें कल्याणमयी उत्तम बुद्धि प्रदान करें और हमारे हितके लिये मन्दराचल पर्वतको उखाड़नेका यत्न करें' ॥ ५ ॥

सौतिरुवाच

तथेति चाब्रवीद् विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव।
अचोदयदमेयात्मा फणीन्द्रं पद्मलोचनः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भृगुनन्दन! देवताओंके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीसहित भगवान् विष्णुने कहा—'तथास्तु (ऐसा ही हो)'। तदनन्तर जिनका स्वरूप मन, बुद्धि एवं प्रमाणोंकी पहुँचसे परे है, उन कमलनयन भगवान् विष्णुने नागराज अनन्तको मन्दराचल उखाड़नेके लिये आज्ञा दी ॥

ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः।
नारायणेन चाप्युक्तस्तस्मिन् कर्मणि वीर्यवान् ॥ ७ ॥

जब ब्रह्माजीने प्रेरणा दी और भगवान् नारायणने भी आदेश दे दिया, तब अतुलपराक्रमी अनन्त (शेषनाग) उठकर उस कार्यमें लगे ॥ ७ ॥

अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः।
उज्जहार बलाद् ब्रह्मन् सवनं सवनौकसम् ॥ ८ ॥

ब्रह्मन्! फिर तो महाबली अनन्तने जोर लगाकर गिरिराज मन्दराचलको वन और वनवासी जन्तुओंसहित उखाड़ लिया ॥ ८ ॥

ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे।
तमूचुरमृतस्यार्थे निर्मथिष्यामहे जलम् ॥ ९ ॥

अपां पतिरथोवाच ममाप्यंशो भवेत् ततः।
सोढास्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ॥ १० ॥

तत्पश्चात् देवतालोग उस पर्वतके साथ समुद्रतटपर उपस्थित हुए और समुद्रसे बोले—'हम अमृतके लिये तुम्हारा मन्थन करेंगे।' यह सुनकर जलके स्वामी समुद्रने कहा—'यदि अमृतमें मेरा भी हिस्सा रहे तो मैं मन्दराचलको घुमानेसे जो भारी पीड़ा होगी, उसे सह लूँगा' ॥ ९-१० ॥

ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारे सुरासुराः।
अधिष्ठानं गिरेरस्य भवान् भवितुमर्हति ॥ ११ ॥

तब देवताओं और असुरोंने (समुद्रकी बात स्वीकार करके) समुद्रतलमें स्थित कच्छपराजसे कहा—'भगवन्! आप इस मन्दराचलके आधार बनिये' ॥ ११ ॥

कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम्।
तं शैलं तस्य पृष्ठस्थं वज्रेणेन्द्रो न्यपीडयत् ॥ १२ ॥

तब कच्छपराजने 'तथास्तु' कहकर मन्दराचलके नीचे अपनी पीठ लगा दी। देवराज इन्द्रने उस पर्वतको वज्रद्वारा दबाये रक्खा ॥ १२ ॥

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम्।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥ १३ ॥
अमृतार्थे पुरा ब्रह्मंस्तथैवासुरदानवाः।
एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः ॥ १४ ॥
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः।

ब्रह्मन्! इस प्रकार पूर्वकालमें देवताओं, दैत्यों और दानवोंने मन्दराचलको मथानी और वासुकि नागको डोरी बनाकर अमृतके लिये जलनिधि समुद्रको मथना आरम्भ किया। उन महान् असुरोंने नागराज वासुकिके मुखभागको दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा था और जिस ओर उसकी पूँछ थी उधर सम्पूर्ण देवता उसे पकड़कर खड़े थे ॥ १३-१४½ ॥

अनन्तो भगवान् देवो यतो नारायणस्ततः।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ॥ १५ ॥

भगवान् अनन्तदेव उधर ही खड़े थे, जिधर भगवान् नारायण थे। वे वासुकि नागके सिरको बार-बार ऊपर उठाकर झटकते थे ॥ १५ ॥

वासुकेरथ नागस्य सहसाऽऽक्षिप्यतः सुरैः।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् ॥ १६ ॥

तब देवताओंद्वारा बार-बार खींचे जाते हुए वासुकि नागके मुखसे निरन्तर धूएँ तथा आगकी लपटोंके साथ गर्म-गर्म साँसें निकलने लगीं ॥ १६ ॥

ते धूमसङ्घाः सम्भूता मेघसङ्घाः सविद्युतः।
अभ्यवर्षन् सुरगणाञ्छ्रमसंतापकर्शितान् ॥ १७ ॥

वे धूम-समुदाय बिजलियोंसहित मेघोंकी घटा बनकर

परिश्रम एवं संतापसे कष्ट पानेवाले देवताओंपर जलकी धारा बरसाते रहते थे ॥ १७ ॥

तस्माच्च गिरिकूटाग्रात् प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान् सर्वान् समन्तात् समवाकिरन् ॥१८॥

उस पर्वतशिखरके अग्रभागसे सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंपर सब ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १८ ॥

बभूवात्र महानादो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ॥१९॥

देवताओं और असुरोंद्वारा मन्दराचलसे समुद्रका मन्थन होते समय वहाँ महान् मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान जोर-जोरसे शब्द होने लगा ॥ १९ ॥

तत्र नाना जलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ॥२०॥

उस समय उस महान् पर्वतके द्वारा सैकड़ों जलचर जन्तु पिस गये और खारे पानीके उस महासागरमें विलीन हो गये ॥

वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ॥२१॥

मन्दराचलने वरुणालय (समुद्र) तथा पातालतलमें निवास करनेवाले नाना प्रकारके प्राणियोंका संहार कर डाला ॥

तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ संघृष्यन्तः परस्परम् ।
न्यपतन् पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ॥२२॥

जब वह पर्वत घुमाया जाने लगा, उस समय उसके शिखरसे बड़े-बड़े वृक्ष आपसमें टकराकर उनपर निवास करने-वाले पक्षियोंसहित नीचे गिर पड़े ॥ २२ ॥

तेषां संघर्षजश्चाग्निरर्चिर्भिः प्रज्वलन् मुहुः ।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥२३॥

उनकी आपसकी रगड़से बार-बार आग प्रकट होकर ज्वालाओंके साथ प्रज्वलित हो उठी और जैसे बिजली नीले मेघको ढक ले, उसी प्रकार उसने मन्दराचलको आच्छादित कर लिया ॥ २३ ॥

ददाह कुञ्जरांस्तत्र सिंहांश्चैव विनिर्गतान् ।
विगतासूनि सर्वाणि सत्त्वानि विविधानि च ॥२४॥

उस दावानलने पर्वतीय गजराजों, गुफाओंसे निकले हुए सिंहों तथा अन्यान्य सहस्रों जन्तुओंको जलाकर भस्म कर दिया । उस पर्वतपर जो नाना प्रकारके जीव रहते थे, वे सब अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥ २४ ॥

तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तमितस्ततः ।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वशः ॥२५॥

तब देवराज इन्द्रने इधर-उधर सबको जलाती हुई उस आगको मेघोंके द्वारा जल बरसाकर सब ओरसे बुझा दिया ॥

ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि ।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥२६॥

तदनन्तर समुद्रके जलमें बड़े-बड़े वृक्षोंके भाँति-भाँतिके गोंद तथा ओषधियोंके प्रचुर रस चू-चूकर गिरने लगे ॥ २६ ॥

तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च ।
अमरत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निःस्रवात् ॥२७॥

वृक्षों और ओषधियोंके अमृततुल्य प्रभावशाली रसोंके जलसे तथा सुवर्णमय मन्दराचलकी अनेक दिव्य प्रभावशाली मणियोंसे चूनेवाले रससे ही देवतालोग अमरत्वको प्राप्त होने लगे॥

ततस्तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः ।
रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद् घृतम् ॥२८॥

उन उत्तम रसोंके सम्मिश्रणसे समुद्रका सारा जल दूध बन गया और दूधसे घी बनने लगा ॥ २८ ॥

ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन् नोद्भवत्यमृतं च तत् ॥२९॥
विना नारायणं देवं सर्वेऽन्ये देवदानवाः ।
चिरारब्धमिदं चापि सागरस्यापि मन्थनम् ॥३०॥

तब देवतालोग वहाँ बैठे हुए वरदायक ब्रह्माजीसे बोले—'ब्रह्मन् ! भगवान् नारायणके अतिरिक्त हम सभी देवता और दानव बहुत थक गये हैं; किंतु अभीतक वह अमृत प्रकट नहीं हो रहा है । इधर समुद्रका मन्थन आरम्भ हुए बहुत समय बीत चुका है' ॥ २९-३० ॥

ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ॥३१॥

यह सुनकर ब्रह्माजीने भगवान् नारायणसे यह बात कही—'सर्वव्यापी परमात्मन् ! इन्हें बल प्रदान कीजिये, यहाँ एकमात्र आप ही सबके आश्रय हैं' ॥ ३१ ॥

विष्णुरुवाच

बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद् ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ॥३२॥

श्रीविष्णु बोले—जो लोग इस कार्यमें लगे हुए हैं, उन सबको मैं बल दे रहा हूँ । सब लोग पूरी शक्ति लगाकर मन्दराचलको घुमावें और इस सागरको क्षुब्ध कर दें ॥ ३२ ॥

सौतिरुवाच

नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत् पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥३३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! भगवान् नारायणका वचन सुनकर देवताओं और दानवोंका बल बढ़ गया । उन सबने मिलकर पुनः वेगपूर्वक महासागरका वह जल मथना आरम्भ किया और उस समस्त जलराशिको अत्यन्त क्षुब्ध कर डाला ॥ ३३ ॥

ततः शतसहस्रांशुर्मथ्यमानात्तु सागरात्।
प्रसन्नात्मा समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥३४॥

फिर तो उस महासागरसे अनन्त किरणोंवाले सूर्यके समान तेजस्वी, शीतल प्रकाशसे युक्त, श्वेतवर्ण एवं प्रसन्नात्मा चन्द्रमा प्रकट हुआ ॥ ३४ ॥

श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात् पाण्डुरवासिनी।
सुरादेवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डुरस्तथा ॥३५॥

तदनन्तर उस घृतस्वरूप जलसे श्वेतवस्त्रधारिणी लक्ष्मी-देवीका आविर्भाव हुआ। इसके बाद सुरादेवी और श्वेत अश्व प्रकट हुए ॥ ३५ ॥

कौस्तुभस्तु मणिर्दिव्य उत्पन्नो घृतसम्भवः।
मरीचिविकचः श्रीमान् नारायणउरोगतः ॥३६॥

फिर अनन्त किरणोंसे समुज्ज्वल दिव्य कौस्तुभमणिका उस जलसे प्रादुर्भाव हुआ, जो भगवान् नारायणके वक्षःस्थल-पर सुशोभित हुई ॥ ३६ ॥

(पारिजातश्च तत्रैव सुरभिश्च महामुने।
जज्ञाते तौ तदा ब्रह्मन् सर्वकामफलप्रदौ ॥)
श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ॥३७॥

ब्रह्मन्! महामुने! वहाँ सम्पूर्ण कामनाओंका फल देनेवाले पारिजात वृक्ष एवं सुरभि गौकी उत्पत्ति हुई। फिर लक्ष्मी, सुरा, चन्द्रमा तथा मनके समान वेगशाली उच्चैःश्रवा घोड़ा—ये सब सूर्यके मार्ग आकाशका आश्रय ले, जहाँ देवता रहते हैं, उस लोकमें चले गये ॥ ३७ ॥

धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥३८॥

इसके बाद दिव्य शरीरधारी धन्वन्तरि देव प्रकट हुए। वे अपने हाथमें श्वेत कलश लिये हुए थे, जिसमें अमृत भरा था ॥ ३८ ॥

एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः।
अमृतार्थे महान् नादो ममेदमिति जल्पताम् ॥३९॥

यह अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखकर दानवोंमें अमृतके लिये कोलाहल मच गया। वे सब कहने लगे 'यह मेरा है, यह मेरा है' ॥ ३९ ॥

श्वेतैर्दन्तैश्चतुर्भिस्तु महाकायस्ततः परम्।
ऐरावतो महानागोऽभवद् वज्रभृता धृतः ॥४०॥

तत्पश्चात् श्वेत रङ्गके चार दाँतोंसे सुशोभित विशालकाय महानाग ऐरावत प्रकट हुआ, जिसे वज्रधारी इन्द्रने अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ४० ॥

अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्ततः परः।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥४१॥

तदनन्तर अत्यन्त वेगसे मथनेपर कालकूट महाविष उत्पन्न हुआ, वह धूमयुक्त अग्निकी भाँति एकाएक सम्पूर्ण जगत्को घेरकर जलाने लगा ॥ ४१ ॥

त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद् विषम्।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः ॥४२॥

उस विषकी गन्ध सूँघते ही त्रिलोकीके प्राणी मूर्च्छित हो गये। तब ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर भगवान् श्रीशङ्करने त्रिलोकीकी रक्षाके लिये उस महान् विषको पी लिया ॥ ४२ ॥

दधार भगवान् कण्ठे मन्त्रमूर्तिर्महेश्वरः।
तदाप्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः ॥४३॥

मन्त्रमूर्ति भगवान् महेश्वरने विषपान करके उसे अपने कण्ठमें धारण कर लिया। तभीसे महादेवजी नीलकण्ठके नामसे विख्यात हुए, ऐसी जनश्रुति है ॥ ४३ ॥

एतत् तदद्भुतं दृष्ट्वा निराशा दानवाः स्थिताः।
अमृतार्थे च लक्ष्म्यर्थे महान्तं वैरमाश्रिताः ॥४४॥

ये सब अद्भुत बातें देखकर दानव निराश हो गये और अमृत तथा लक्ष्मीके लिये उन्होंने देवताओंके साथ महान् वैर बाँध लिया ॥ ४४ ॥

ततो नारायणो मायां मोहिनीं समुपाश्रितः।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ॥४५॥

उसी समय भगवान् विष्णुने, मोहिनी मायाका आश्रय ले मनोहारिणी स्त्रीका अद्भुत रूप बनाकर, दानवोंके पास पदार्पण किया ॥ ४५ ॥

ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः।
स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः ॥४६॥

समस्त दैत्यों और दानवोंने उस मोहिनीपर अपना हृदय निछावर कर दिया। उनके चित्तमें मूढ़ता छा गयी। अतः उन सबने स्त्रीरूपधारी भगवान्को वह अमृत सौंप दिया ॥४६॥

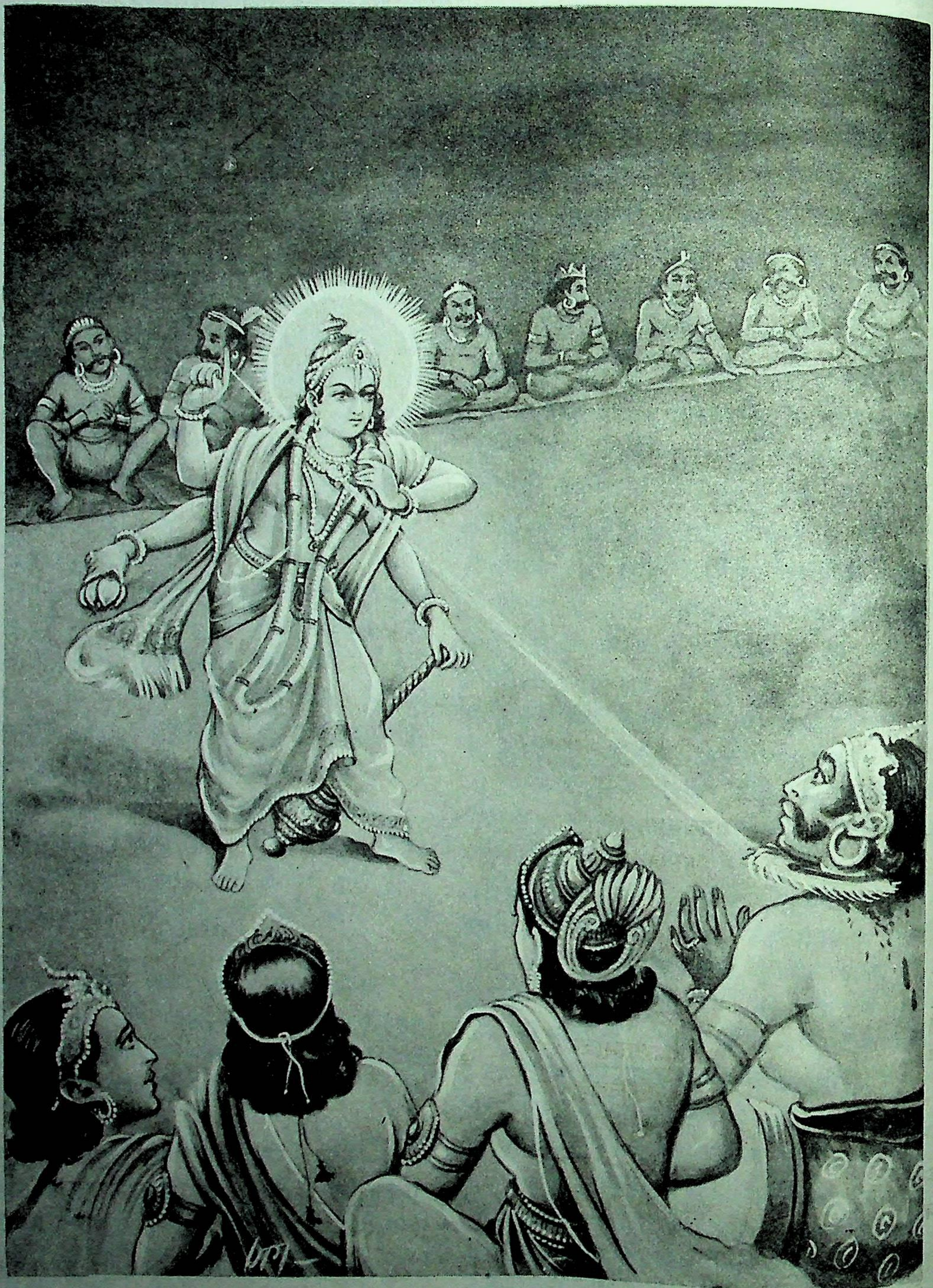
(सा तु नारायणी माया धारयन्ती कमण्डलुम्।
आस्यमानेषु दैत्येषु पङ्क्त्या च प्रति दानवैः।
देवानपाययद् देवी न दैत्यांस्ते च चुक्रुशुः ॥)

भगवान् नारायणकी वह मूर्तिमती माया हाथमें कलश लिये अमृत परोसने लगी। उस समय दानवोंसहित दैत्य पंगत लगाकर बैठे ही रह गये, परंतु उस देवीने देवताओंको ही अमृत पिलाया; दैत्योंको नहीं दिया, इससे उन्होंने बड़ा कोलाहल मचाया।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थनेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थन-विषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

(इस अध्यायमें ४६ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक तथा कुल ४८½ श्लोक हैं)



भगवान् विष्णुने चक्रसे राहुका सिर काट दिया

एकोनविंशोऽध्यायः

देवताओंका अमृतपान, देवासुरसंग्राम तथा देवताओंकी विजय

सौतिरुवाच

अथावरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
प्रगृह्याभ्यद्रवन् देवान् सहिता दैत्यदानवाः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—अमृत हाथसे निकल जानेपर दैत्य और दानव संगठित हो गये और उत्तम-उत्तम कवच तथा नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओंपर टूट पड़े ॥ १ ॥

ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान् ।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ॥ २ ॥
ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा ।
विष्णोः सकाशात् सम्प्राप्य सम्भ्रमे तुमुले सति ॥ ३ ॥

उधर अनन्त शक्तिशाली नरसहित भगवान् नारायणने जब मोहिनीरूप धारण करके दानवेन्द्रोंके हाथसे अमृत लेकर हड़प लिया, तब सब देवता भगवान् विष्णुसे अमृत ले-लेकर पीने लगे; क्योंकि उस समय घमासान युद्धकी सम्भावना हो गयी थी ॥ २-३ ॥

ततः पिबत्सु तत्कालं देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत् तदा ॥ ४ ॥

जिस समय देवता उस अभीष्ट अमृतका पान कर रहे थे, ठीक उसी समय, राहु नामक दानवने देवतारूपसे आकर अमृत पीना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा ।
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥

वह अमृत अभी उस दानवके कण्ठतक ही पहुँचा था कि चन्द्रमा और सूर्यने देवताओंके हितकी इच्छासे उसका भेद बतला दिया ॥ ५ ॥

ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ॥ ६ ॥

तब चक्रधारी भगवान् श्रीहरिने अमृत पीनेवाले उस दानव-का मुकुटमण्डित मस्तक चक्रद्वारा बलपूर्वक काट दिया ॥ ६ ॥

तच्छैलशृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत् ।
चक्रच्छिन्नं खमुत्पत्य ननादातिभयंकरम् ॥ ७ ॥

चक्रसे कटा हुआ दानवका महान् मस्तक पर्वतके शिखर-सा जान पड़ता था । वह आकाशमें उछल-उछलकर अत्यन्त भयंकर गर्जना करने लगा ॥ ७ ॥

तत् कबन्धं पपातास्य विस्फुरद् धरणीतले ।
सपर्वतवनद्वीपां दैत्यस्याकम्पयन् महीम् ॥ ८ ॥

किंतु उस दैत्यका वह धड़ धरतीपर गिर पड़ा और पर्वत, वन तथा द्वीपोंसहित समूची पृथ्वीको कँपाता हुआ तड़फड़ाने लगा ॥ ८ ॥

ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै ।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि चैव तौ ॥ ९ ॥

तभीसे राहुके मुखने चन्द्रमा और सूर्यके साथ भारी एवं स्थायी वैर बाँध लिया; इसीलिये वह आज भी दोनोंपर ग्रहण लगाता है ॥ ९ ॥

विहाय भगवांश्चापि स्त्रीरूपमतुलं हरिः ।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान् समकम्पयत् ॥ १० ॥

(देवताओंको अमृत पिलानेके बाद) भगवान् श्रीहरिने भी अपना अनुपम मोहिनीरूप त्यागकर नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा दानवोंको अत्यन्त कम्पित कर दिया ॥ १० ॥

ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः ।
सुराणामसुराणां च सर्वघोरतरो महान् ॥ ११ ॥

फिर तो क्षारसागरके समीप देवताओं और असुरोंका सबसे भयंकर महासंग्राम छिड़ गया ॥ ११ ॥

प्रासाश्च विपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः ।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ॥ १२ ॥

दोनों दलोंपर सहस्रों तीखी धारवाले बड़े-बड़े भालोंकी मार पड़ने लगी । तेज नोकवाले तोमर तथा भाँति-भाँतिके शस्त्र बरसने लगे ॥ १२ ॥

ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु ।
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ॥ १३ ॥
छिन्नानि पट्टिशैश्चैव शिरांसि युधि दारुणैः ।
तप्तकाञ्चनमालीनि निपेतुरनिशं तदा ॥ १४ ॥

भगवान्‌के चक्रसे छिन्न-भिन्न तथा देवताओंके खड्ग, शक्ति और गदासे घायल हुए असुर मुखसे अधिकाधिक रक्त वमन करते हुए पृथ्वीपर लोटने लगे । उस समय तपाये हुए सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित दानवोंके शिर भयंकर पट्टिशोंसे कटकर निरन्तर युद्धभूमिमें गिर रहे थे ॥ १३-१४ ॥

रुधिरेणानुलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः ।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ॥ १५ ॥

वहाँ खूनसे लथपथ अङ्गवाले मरे हुए महान् असुर, जो समरभूमिमें सो रहे थे, गेरू आदि धातुओंसे रँगे हुए पर्वत-शिखरोंके समान जान पड़ते थे ॥ १५ ॥

हाहाकारः समभवत् तत्र तत्र सहस्रशः ।
अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायति ॥ १६ ॥

संध्याके समय जब सूर्यमण्डल लाल हो रहा था, एक-दूसरेके शस्त्रोंसे कटनेवाले सहस्रों योद्धाओंका हाहाकार इधर-उधर सब ओर गूँज उठा ॥ १६ ॥

परिघैरायसैस्तीक्ष्णैः संनिकर्षे च मुष्टिभिः।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवास्पृशत्॥ १७ ॥

उस समराङ्गणमें दूरवर्ती देवता और दानव लोहेके तीखे परिघोंसे एक-दूसरेपर चोट करते थे और निकट आ जानेपर आपसमें मुक्का-मुक्की करने लगते थे। इस प्रकार उनके पारस्परिक आघात-प्रत्याघातका शब्द मानो सारे आकाशमें गूँज उठा ॥ १७ ॥

छिन्धि भिन्धि प्रधाव त्वं पातयाभिसरेति च।
व्यश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः॥ १८ ॥

उस रणभूमिमें चारों ओर ये ही अत्यन्त भयंकर शब्द सुनायी पड़ते थे कि 'टुकड़े-टुकड़े कर दो, चीर डालो, दौड़ो, गिरा दो और पीछा करो' ॥ १८ ॥

एवं सुतुमुले युद्धे वर्तमाने महाभये।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम्॥ १९ ॥

इस प्रकार अत्यन्त भयंकर तुमुल युद्ध हो ही रहा था कि भगवान् विष्णुके दो रूप नर और नारायण देव भी युद्ध-भूमिमें आ गये ॥ १९ ॥

तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि।
चिन्तयामास तच्चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम्॥ २० ॥

भगवान् नारायणने वहाँ नरके हाथमें दिव्य धनुष देखकर स्वयं भी दानवसंहारक दिव्य चक्रका चिन्तन किया॥ २० ॥

ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं
महाप्रभं चक्रममित्रतापनम्।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं
सुदर्शनं संयति भीमदर्शनम्॥ २१ ॥

चिन्तन करते ही शत्रुओंको संताप देनेवाला अत्यन्त तेजस्वी चक्र आकाशमार्गसे उनके हाथमें आ गया। वह सूर्य एवं अग्निके समान जाज्वल्यमान हो रहा था। उस मण्डलाकार चक्रकी गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती थी। उसका नाम तो सुदर्शन था, किंतु वह युद्धमें शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयंकर दिखायी देता था ॥ २१ ॥

तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं
भयंकरं करिकरबाहुरच्युतः।
मुमोच वै प्रबलवदुग्रवेगवान्
महाप्रभं परनगरावदारणम्॥ २२ ॥

वहाँ आया हुआ वह भयंकर चक्र प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। उसमें शत्रुओंके बड़े-बड़े नगरोंको विध्वंस कर डालनेकी शक्ति थी। हाथीकी सूँड़के समान विशाल भुजदण्डवाले उग्रवेगशाली भगवान् नारायणने उस महातेजस्वी एवं महाबलशाली चक्रको दानवोंके दलपर चलाया ॥ २२ ॥

तदन्तकज्वलनसमानवर्चसं
पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा।
विदारयद् दितिदनुजान् सहस्रशः
करेरितं पुरुषवरेण संयुगे॥ २३ ॥

उस महासमरमें पुरुषोत्तम श्रीहरिके हाथोंसे संचालित हो वह चक्र प्रलयकालीन अग्निके समान जाज्वल्यमान हो उठा और सहस्रों दैत्यों तथा दानवोंको विदीर्ण करता हुआ बड़े वेगसे बारम्बार उनकी सेनापर पड़ने लगा ॥ २३ ॥

दहत् क्वचिज्ज्वलन इवावलेलिहत्
प्रसह्य तानसुरगणान् न्यकृन्तत।
प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तथा
पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत्॥ २४ ॥

श्रीहरिके हाथोंसे चलाया हुआ सुदर्शन चक्र कभी प्रज्वलित अग्निकी भाँति अपनी लपलपाती लपटोंसे असुरोंको चाटता हुआ भस्म कर देता और कभी हठपूर्वक उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालता था। इस प्रकार रणभूमिके भीतर पृथ्वी और आकाशमें घूम-घूमकर वह पिशाचकी भाँति बार-बार रक्त पीने लगा ॥ २४ ॥

तथासुरा गिरिभिरदीनचेतसो
मुहुर्मुहुः सुरगणमार्दयंस्तदा।
महाबला विगलितमेघवर्चसः
सहस्रशो गगनमभिप्रपद्य ह॥ २५ ॥

इसी प्रकार उदार एवं उत्साहभरे हृदयवाले महाबली असुर भी, जो जलरहित बादलोंके समान श्वेत रंगके दिखायी देते थे, उस समय सहस्रोंकी संख्यामें आकाशमें उड़-उड़कर शिलाखण्डोंकी वर्षासे बार-बार देवताओंको पीड़ित करने लगे ॥ २५ ॥

अथाम्बराद् भयजननाः प्रपेदिरे
सपादपा बहुविधमेघरूपिणः।
महाद्रयः परिगलिताग्रसानवः
परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः॥ २६ ॥

तत्पश्चात् आकाशसे नाना प्रकारके लाल, पीले, नीले आदि रंगवाले बादलों-जैसे बड़े-बड़े पर्वत भय उत्पन्न करते हुए वृक्षोंसहित पृथ्वीपर गिरने लगे। उनके ऊँचे-ऊँचे शिखर गलते जा रहे थे और वे एक-दूसरेसे टकराकर बड़े जोरका शब्द करते थे ॥ २६ ॥

ततो मही प्रविचलिता सकानना
महाद्रिपाताभिहता समन्ततः।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू
रणाजिरे भृशमभिसम्प्रवर्तिते॥ २७ ॥

उस समय एक-दूसरेको लक्ष्य करके बार-बार जोर-जोरसे गरजनेवाले देवताओं और असुरोंके उस समराङ्गणमें सब ओर भयंकर मार-काट मच रही थी; बड़े-बड़े पर्वतोंके गिरनेसे आहत हुई वनसहित सारी भूमि काँपने लगी ॥ २७ ॥

नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणै-
र्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत् ।
विदारयन् गिरिशिखराणि पत्रिभिः
महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ॥ २८ ॥

तब उस महाभयंकर देवासुर-संग्राममें भगवान् नरने उत्तम सुवर्ण-भूषित अग्रभागवाले पंखयुक्त बड़े-बड़े बाणोंद्वारा पर्वत-शिखरोंको विदीर्ण करते हुए समस्त आकाशमार्गको आच्छादित कर दिया ॥ २८ ॥

ततो महीं लवणजलं च सागरं
महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः ।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं
सुदर्शनं परिकुपितं निशाम्य ते ॥ २९ ॥

इस प्रकार देवताओंके द्वारा पीड़ित हुए महादैत्य आकाशमें जलती हुई आगके समान उद्भासित होनेवाले सुदर्शन चक्रको अपने ऊपर कुपित देख पृथ्वीके भीतर और खारे पानीके समुद्रमें घुस गये ॥ २९ ॥

ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः
स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः ।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशः
ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर देवताओंने विजय पाकर मन्दराचलको सम्मानपूर्वक उसके पूर्वस्थानपर ही पहुँचा दिया। इसके बाद वे अमृत धारण करनेवाले देवता अपने सिंहनादसे अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको भी सब ओरसे गुँजाते हुए अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे
सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम् ।
ददौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं
किरीटिने बलभिदथामरैः सह ॥ ३१ ॥

देवताओंको इस विजयसे बड़ी भारी प्रसन्नता प्राप्त हुई। उन्होंने उस अमृतको बड़ी सुव्यवस्थासे रक्खा। अमरोंसहित इन्द्रने अमृतकी वह निधि किरीटधारी भगवान् नरको रक्षाके लिये सौंप दी ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि अमृतमन्थनसमाप्तिर्नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें अमृतमन्थन-समाप्ति नामक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

कद्रू और विनताकी होड़, कद्रूद्वारा अपने पुत्रोंको शाप एवं ब्रह्माजीद्वारा उसका अनुमोदन

सौतिरुवाच

एतत् ते कथितं सर्वममृतं मथितं यथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ १ ॥
यं निशाम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा हि किं वर्णो भद्रे प्रब्रूहि माचिरम् ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो ! जिस प्रकार अमृत मथकर निकाला गया, वह सब प्रसङ्ग मैंने आपलोगोंसे कह सुनाया। उस अमृत-मन्थनके समय ही वह अनुपम वेगशाली सुन्दर अश्व उत्पन्न हुआ था, जिसे देखकर कद्रूने विनतासे कहा—'भद्रे ! शीघ्र बताओ तो, यह उच्चैःश्रवा घोड़ा किस रंगका है ?' ॥ १-२ ॥

विनतोवाच

श्वेत एवाश्वराजोऽयं किं वा त्वं मन्यसे शुभे ।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ॥ ३ ॥

विनता बोली—शुभे ! यह अश्वराज श्वेत वर्णका ही है। तुम इसे कैसा समझती हो ? तुम भी इसका रंग बताओ, तब हम दोनों इसके लिये बाजी लगायेंगी ॥ ३ ॥

कद्रूरुवाच

कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते ।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनि ॥ ४ ॥

कद्रूने कहा—पवित्र मुसकानवाली बहिन ! इस घोड़े-(का रंग तो अवश्य सफेद है, किंतु इस) की पूँछको मैं काले रंगकी ही मानती हूँ। भामिनि ! आओ, दासी होनेकी शर्त रखकर मेरे साथ बाजी लगाओ (यदि तुम्हारी बात ठीक हुई तो मैं दासी बनकर रहूँगी; अन्यथा तुम्हें मेरी दासी बनना होगा) ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः ।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार वे दोनों बहिनें आपसमें एक-दूसरेकी दासी होनेकी शर्त रखकर अपने-अपने घर चली गयीं और उन्होंने यह निश्चय किया कि कल आकर घोड़ेको देखेंगी ॥ ५ ॥

ततः पुत्रसहस्रं तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाञ्जनप्रभाः ॥ ६ ॥
आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा।
नावपद्यन्त ये वाक्यं ताञ्छशाप भुजङ्गमान् ॥ ७ ॥
सर्पसत्रे वर्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः ॥ ८ ॥

कद्रू कुटिलता एवं छलसे काम लेना चाहती थी। उसने अपने सहस्र पुत्रोंको इस समय आज्ञा दी कि तुम काले रंगके बाल बनकर शीघ्र उस घोड़ेकी पूँछमें लग जाओ, जिससे मुझे दासी न होना पड़े। उस समय जिन सर्पोंने उसकी आज्ञा न मानी उन्हें उसने शाप दिया कि, 'जाओ, पाण्डववंशी बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजयके सर्पयज्ञका आरम्भ होनेपर उसमें प्रज्वलित अग्नि तुम्हें जलाकर भस्म कर देगी' ॥ ६–८ ॥

शापमेनं तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः।
अतिक्रूरं समुत्सृष्टं कद्र्वा दैवादतीव हि ॥ ९ ॥

इस शापको स्वयं ब्रह्माजीने सुना। यह दैवसंयोगकी बात है कि सर्पोंको उनकी माता कद्रूकी ओरसे ही अत्यन्त कठोर शाप प्राप्त हो गया ॥ ९ ॥

सार्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ॥ १० ॥

सम्पूर्ण देवताओंसहित ब्रह्माजीने सर्पोंकी संख्या बढ़ती देख प्रजाके हितकी इच्छासे कद्रूकी उस बातका अनुमोदन ही किया ॥ १० ॥

तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानां च हिताय च ॥ ११ ॥
युक्तं मात्रा कृतं तेषां परपीडोपसर्पिणाम्।
अन्येषामपि सत्त्वानां नित्यं दोषपरास्तु ये ॥ १२ ॥
तेषां प्राणान्तको दण्डो दैवेन विनिपात्यते।
एवं सम्भाष्य देवस्तु पूज्य कद्रूं च तां तदा ॥ १३ ॥
आहूय कश्यपं देव इदं वचनमब्रवीत्।
यदेते दन्दशूकाश्च सर्पा जातास्त्वयानघ ॥ १४ ॥
विषोल्बणा महाभोगा मात्रा शप्ताः परंतप।
तत्र मन्युस्त्वया तात न कर्तव्यः कथंचन ॥ १५ ॥
दृष्टं पुरातनं ह्येतद् यज्ञे सर्पविनाशनम्।
इत्युक्त्वा सृष्टिकृद् देवस्तं प्रसाद्य प्रजापतिम्।
प्रादाद् विषहरीं विद्यां कश्यपाय महात्मने ॥ १६ ॥

'ये महाबली दुःसह पराक्रम तथा प्रचण्ड विषसे युक्त हैं। अपने तीखे विषके कारण ये सदा दूसरोंको पीड़ा देनेके लिये दौड़ते-फिरते हैं। अतः समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे इन्हें शाप देकर माता कद्रूने उचित ही किया है। जो सदा दूसरे प्राणियोंको हानि पहुँचाते रहते हैं, उनके ऊपर दैवके द्वारा ही प्राणनाशक दण्ड आ पड़ता है।' ऐसी बात कहकर ब्रह्माजीने कद्रूकी प्रशंसा की और कश्यपजीको बुलाकर यह बात कही—'अनघ! तुम्हारेद्वारा जो ये लोगोंको डँसनेवाले सर्प उत्पन्न हो गये हैं, इनके शरीर बहुत विशाल और विष बड़े भयंकर हैं। परंतप! इन्हें इनकी माताने शाप दे दिया है, इसके कारण तुम किसी तरह भी उनपर क्रोध न करना। तात! यज्ञमें सर्पोंका नाश होनेवाला है, यह पुराण वृत्तान्त तुम्हारी दृष्टिमें भी है ही।' ऐसा कहकर सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीने प्रजापति कश्यपको प्रसन्न करके उन महात्माको सर्पोंका विष उतारनेवाली विद्या प्रदान की ॥ ११–१६ ॥

(एवं शप्तेषु नागेषु कद्र्वा च द्विजसत्तम।
उद्विग्नः शापतस्तस्याः कद्रूं कर्कोटकोऽब्रवीत् ॥
मातरं परमप्रीतस्तदा भुजगसत्तमः।
आविश्य वाजिनं मुख्यं वालो भूत्वाञ्जनप्रभः ॥
दर्शयिष्यामि तत्राहमात्मानं काममाश्वस।
एवमस्त्विति तं पुत्रं प्रत्युवाच यशस्विनी ॥)

द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार माता कद्रूने जब नागोंको शाप दे दिया, तब उस शापसे उद्विग्न हो भुजङ्गप्रवर कर्कोटकने परम प्रसन्नता व्यक्त करते हुए अपनी मातासे कहा—'मा! तुम धैर्य रखो, मैं काले रंगका बाल बनकर उस श्रेष्ठ अश्वके शरीरमें प्रविष्ट हो अपने-आपको ही इसकी काली पूँछके रूपमें दिखाऊँगा।' यह सुनकर यशस्विनी कद्रूने पुत्रको उत्तर दिया—'बेटा! ऐसा ही होना चाहिये' ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित-विषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

(इस अध्यायमें १६ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक तथा कुल १९ श्लोक हैं)

एकविंशोऽध्यायः

समुद्रका विस्तारसे वर्णन

सौतिरुवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभातेऽभ्युदिते रवौ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ॥ १ ॥
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन! तदनन्तर जब रात

बीती, प्रातःकाल हुआ और भगवान् सूर्यका उदय हो गया, उस समय कद्रू और विनता दोनों बहिनें बड़े जोश और रोषके साथ दासी होनेकी बाजी लगाकर उच्चैःश्रवा नामक अश्वको निकटसे देखनेके लिये गयीं ॥ १-२ ॥

ददृशातेऽथ ते तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम्।
महान्तमुदकागाधं क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ॥ ३ ॥

कुछ दूर जानेपर उन्होंने मार्गमें जलनिधि समुद्रको देखा, जो महान् होनेके साथ ही अगाध जलसे भरा था। मगर आदि जल-जन्तु उसे विक्षुब्ध कर रहे थे और उससे बड़े जोरकी गर्जना हो रही थी ॥ ३ ॥

तिमिङ्गिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा।
सत्त्वैश्च बहुसाहस्रैर्नानारूपैः समावृतम् ॥ ४ ॥

वह तिमि नामक बड़े-बड़े मत्स्योंको भी निगल जानेवाले तिमिङ्गिलों, मत्स्यों तथा मगर आदिसे व्याप्त था। नाना प्रकारकी आकृतिवाले सहस्रों जल-जन्तु उसमें भरे हुए थे॥

भीषणैर्विकृतैरन्यैर्घोरैर्जलचरैस्तथा।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ॥ ५ ॥

विकट आकारवाले दूसरे-दूसरे घोर डरावने जलचरों तथा उग्र जल-जन्तुओंके कारण वह महासागर सदा सबके लिये दुर्धर्ष बना हुआ था। उसके भीतर बहुत-से कछुए और ग्राह निवास करते थे ॥ ५ ॥

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ॥ ६ ॥

सरिताओंका स्वामी वह महासागर सम्पूर्ण रत्नोंकी खान, वरुणदेवका निवासस्थान और नागोंका रमणीय उत्तम गृह है॥६॥

पातालज्वलनावासमसुराणां च बान्धवम्।
भयंकरं च सत्त्वानां पयसां निधिमर्णवम् ॥ ७ ॥

पातालकी अग्नि—बड़वानलका निवास भी उसीमें है। असुरोंको तो वह जलनिधि समुद्र भाई-बन्धुकी भाँति शरण देनेवाला है तथा दूसरे थलचर जीवोंके लिये अत्यन्त भयदायक है॥ ७॥

शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम्।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलमद्भुतम् ॥ ८ ॥

अमरोंके अमृतकी खान होनेसे वह अत्यन्त शुभ एवं दिव्य माना जाता है। उसका कोई माप नहीं है। वह अचिन्त्य, पवित्र जलसे परिपूर्ण तथा अद्भुत है ॥ ८ ॥

घोरं जलचरारावरौद्रं भैरवनिःस्वनम्।
गम्भीरावर्तकलिलं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ९ ॥

वह घोर समुद्र जल-जन्तुओंके शब्दोंसे और भी भयंकर प्रतीत होता था, उससे भयंकर गर्जना हो रही थी, उसमें गहरी भँवरें उठ रही थीं तथा वह समस्त प्राणियोंके लिये भय-सा उत्पन्न करता था ॥ ९ ॥

वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुच्छ्रितम्।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वतः ॥ १० ॥

तटपर तीव्रवेगसे बहनेवाली वायु मानो झूला बनकर उस महासागरको चञ्चल किये देती थी। वह क्षोभ और उद्वेगसे बहुत ऊँचेतक लहरें उठाता था और सब ओर चञ्चल तरङ्गरूपी हाथोंको हिला-हिलाकर नृत्य-सा कर रहा था ॥१०॥

चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिसमाकुलम्।
पाञ्चजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ॥ ११ ॥

चन्द्रमाकी वृद्धि और क्षयके कारण उसकी लहरें बहुत ऊँचे उठतीं और उतरती थीं (उसमें ज्वार-भाटे आया करते थे), अतः वह उत्ताल-तरङ्गोंसे व्याप्त जान पड़ता था। उसीने पाञ्चजन्य शङ्खको जन्म दिया था। वह रत्नोंका आकर और परम उत्तम था ॥ ११ ॥

गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥ १२ ॥

अमिततेजस्वी भगवान् गोविन्दने वाराहरूपसे पृथ्वीको उपलब्ध करते समय उस समुद्रको भीतरसे मथ डाला था और उस मथित जलसे वह समस्त महासागर मलिन-सा जान पड़ता था ॥ १२ ॥

ब्रह्मर्षिणा व्रतवता वर्षाणां शतमत्रिणा।
अनासादितगाधं च पातालतलमव्ययम् ॥ १३ ॥

व्रतधारी ब्रह्मर्षि अत्रिने समुद्रके भीतरी तलका अन्वेषण करते हुए सौ वर्षोंतक चेष्टा करके भी उसका पता नहीं पाया। वह पातालके नीचेतक व्याप्त है और पातालके नष्ट होनेपर भी बना रहता है, इसलिये अविनाशी है ॥ १३ ॥

अध्यात्मयोगनिद्रां च पद्मनाभस्य सेवतः।
युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ॥ १४ ॥

आध्यात्मिक योगनिद्राका सेवन करनेवाले अमिततेजस्वी कमलनाभ भगवान् विष्णुके लिये वह युगान्तकालसे लेकर युगादिकालतक शयनागार बना रहता है ॥ १४ ॥

वज्रपातनसंत्रस्तमैनाकस्याभयप्रदम्।
डिम्बाहवार्दितानां च असुराणां परायणम् ॥ १५ ॥

उसीने वज्रपातसे डरे हुए मैनाक पर्वतको अभयदान दिया है तथा जहाँ भयके मारे हाहाकार करना पड़ता है, ऐसे युद्धसे पीड़ित हुए असुरोंका वह सबसे बड़ा आश्रय है ॥ १५ ॥

वडवामुखदीप्ताग्नेस्तोयहव्यप्रदं शिवम्।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ॥ १६ ॥

बड़वानलके प्रज्वलित मुखमें वह सदा अपने जलरूपी हविष्यकी आहुति देता रहता है और जगत्के लिये कल्याणकारी है। इस प्रकार वह सरिताओंका स्वामी समुद्र अगाध, अपार, विस्तृत और अप्रमेय है ॥ १६ ॥

महानदीभिर्बह्वीभिः स्पर्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यमानमिवोर्मिभिः ॥ १७ ॥

सहस्रों बड़ी-बड़ी नदियाँ आपसमें होड़-सी लगाकर उस विस्तृत महासागरमें निरन्तर मिलती रहती हैं और अपने जलसे उसे सदा परिपूर्ण किया करती हैं। वह ऊँची-ऊँची लहरोंकी भुजाएँ ऊपर उठाये निरन्तर नृत्य करता-सा जान पड़ता है ॥

गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं
गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः ।
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं
तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार गम्भीर, तिमि और मकर आदि भयंकर जल-जन्तुओंसे व्याप्त, जलचर जीवोंके शब्दरूप भयंकर नादसे निरन्तर गर्जना करनेवाले, अत्यन्त विस्तृत, आकाशके समान स्वच्छ, अगाध, अनन्त एवं महान् जलनिधि समुद्रको कद्रू और विनताने देखा ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरितके प्रसङ्गमें इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

नागोंद्वारा उच्चैःश्रवाकी पूँछको काली बनाना; कद्रू और विनताका समुद्रको देखते हुए आगे बढ़ना

सौतिरुवाच

नागाश्च संविदं कृत्वा कर्तव्यमिति तद्वचः ।
निःस्नेहा वै दहेन्माता असम्प्राप्तमनोरथा ॥ १ ॥
प्रसन्ना मोक्षयेदस्मांस्तस्माच्छापाच्च भामिनी ।
कृष्णं पुच्छं करिष्यामस्तुरगस्य न संशयः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महर्षियो ! इधर नागोंने परस्पर विचार करके यह निश्चय किया कि 'हमें माताकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। यदि इसका मनोरथ पूरा न होगा तो वह स्नेहभाव छोड़कर रोषपूर्वक हमें जला देगी। यदि इच्छा पूर्ण हो जानेसे प्रसन्न हो गयी तो वह भामिनी हमें अपने शापसे मुक्त कर सकती है; इसलिये हम निश्चय ही उस घोड़ेकी पूँछको काली कर देंगे' ॥ १-२ ॥

तथा हि गत्वा ते तस्य पुच्छे वाला इव स्थिताः ।
एतस्मिन्नन्तरे ते तु सपत्न्यौ पणिते तदा ॥ ३ ॥
ततस्ते पणितं कृत्वा भगिन्यौ द्विजसत्तम ।
जग्मतुः परया प्रीत्या परं पारं महोदधेः ॥ ४ ॥
कद्रूश्च विनता चैव दाक्षायण्यौ विहायसा ।
आलोकयन्त्यावक्षोभ्यं समुद्रं निधिमम्भसाम् ॥ ५ ॥
वायुनातीव सहसा क्षोभ्यमाणं महास्वनम् ।
तिमिंगिलसमाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ॥ ६ ॥
संयुतं बहुसाहस्रैः सत्त्वैर्नानाविधैरपि ।
घोरैर्घोरमनाधृष्यं गम्भीरमतिभैरवम् ॥ ७ ॥

ऐसा विचार करके वे वहाँ गये और काले रंगके बाल बनकर उसकी पूँछमें लिपट गये। द्विजश्रेष्ठ ! इसी बीचमें बाजी लगाकर आयी हुई दोनों सौतें और सगी बहिनें पुनः अपनी शर्तको दुहराकर बड़ी प्रसन्नताके साथ समुद्रके दूसरे पार जा पहुँचीं। दक्षकुमारी कद्रू और विनता आकाशमार्गसे अक्षोभ्य जलनिधि समुद्रको देखती हुई आगे बढ़ीं। वह महासागर अत्यन्त प्रबल वायुके थपेड़े खाकर सहसा विक्षुब्ध हो रहा था। उससे बड़े जोरकी गर्जना होती थी। तिमिङ्गिल और मगर-मच्छ आदि जलजन्तु उसमें सब ओर व्याप्त थे। नाना प्रकारके भयंकर जन्तु सहस्रोंकी संख्यामें उसके भीतर निवास करते थे। इन सबके कारण वह अत्यन्त घोर और दुर्धर्ष जान पड़ता था तथा गहरा होनेके साथ ही अत्यन्त भयंकर था ॥ ३—७ ॥

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च ।
नागानामालयं चापि सुरम्यं सरितां पतिम् ॥ ८ ॥

नदियोंका वह स्वामी सब प्रकारके रत्नोंकी खान, वरुणका निवासस्थान तथा नागोंका सुरम्य गृह था ॥ ८ ॥

पातालज्वलनावासमसुराणां तथाऽऽलयम् ।
भयंकराणां सत्त्वानां पयसो निधिमव्ययम् ॥ ९ ॥

वह पातालव्यापी वड़वानलका आश्रय, असुरोंके छिपनेका स्थान, भयंकर जन्तुओंका घर, अनन्त जलका भण्डार और अविनाशी था ॥ ९ ॥

शुभ्रं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम् ।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलसम्मितम् ॥ १० ॥

वह शुभ्र, दिव्य, अमरोंके अमृतका उत्तम उत्पत्ति-स्थान, अप्रमेय, अचिन्त्य तथा परम पवित्र जलसे परिपूर्ण था ॥ १० ॥

महानदीभिर्बह्वीभिस्तत्र तत्र सहस्रशः ।
आपूर्यमाणमत्यर्थं नृत्यन्तमिव चोर्मिभिः ॥ ११ ॥

बहुत-सी बड़ी-बड़ी नदियाँ सहस्रोंकी संख्यामें आकर उसमें यत्र-तत्र मिलतीं और उसे अधिकाधिक भरती रहती थीं। वह भुजाओंके समान ऊँची लहरोंको ऊपर उठाये नृत्य-सा कर रहा था ॥ ११ ॥

इत्येवं तरलतरोर्मिसंकुलं तं
गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम्।
पातालज्वलनशिखाविदीपिताङ्गं
गर्जन्तं द्रुतमभिजग्मतुस्ततस्ते ॥ १२॥

इस प्रकार अत्यन्त तरल तरङ्गोंसे व्याप्त, आकाशके समान स्वच्छ, बड़वानलकी शिखाओंसे उद्भासित, गम्भीर, विकसित और निरन्तर गर्जन करनेवाले महासागरको देखती हुई वे दोनों बहिनें तुरंत आगे बढ़ गयीं ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे समुद्रदर्शनं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरितके प्रसङ्गमें समुद्रदर्शन नामक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पराजित विनताका कद्रूकी दासी होना, गरुडकी उत्पत्ति तथा देवताओंद्वारा उनकी स्तुति

सौतिरुवाच

तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह।
न्यपतत् तुरगाभ्याशे नचिरादिव शीघ्रगा ॥ १ ॥
ततस्ते तं हयश्रेष्ठं ददृशाते महाजवम्।
शशाङ्ककिरणप्रख्यं कालवालमुभे तदा ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! तदनन्तर शीघ्रगामिनी कद्रू विनताके साथ उस समुद्रको लाँघकर तुरंत ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके पास पहुँच गयीं। उस समय चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत वर्णवाले उस महान् वेगशाली श्रेष्ठ अश्वको उन दोनोंने काली पूँछवाला देखा ॥ १-२ ॥

निशम्य च बहून् वालान् कृष्णान् पुच्छसमाश्रितान्।
विषण्णरूपां विनतां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ॥ ३ ॥

पूँछके घनीभूत बालोंको काले रंगका देखकर विनता विषादकी मूर्ति बन गयी और कद्रूने उसे अपनी दासीके काममें लगा दिया ॥ ३ ॥

ततः सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता।
अभवद् दुःखसंतप्ता दासीभावं समास्थिता ॥ ४ ॥

पहलेकी लगायी हुई बाजी हारकर विनता उस स्थानपर दुःखसे संतप्त हो उठी और उसने दासीभाव स्वीकार कर लिया ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चापि गरुडः काल आगते।
विना मात्रा महातेजा विदार्याण्डमजायत ॥ ५ ॥

इसी बीचमें समय पूरा होनेपर महातेजस्वी गरुड माताकी सहायताके बिना ही अण्डा फोड़कर बाहर निकल आये ॥ ५ ॥

महासत्त्वबलोपेतः सर्वा विद्योतयन् दिशः।
कामरूपः कामगमः कामवीर्यो विहंगमः ॥ ६ ॥

वे महान् साहस और पराक्रमसे सम्पन्न थे। अपने तेजसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित कर रहे थे। उनमें इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति थी। वे जहाँ जितनी जल्दी जाना चाहें जा सकते थे और अपनी रुचिके अनुसार पराक्रम दिखला सकते थे। उनका प्राकट्य आकाशचारी पक्षीके रूपमें हुआ था ॥

अग्निराशिरिवोद्भासन् समिद्धोऽतिभयंकरः।
विद्युद्विस्पष्टपिङ्गाक्षो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ७ ॥

वे प्रज्वलित अग्नि-पुञ्जके समान उद्भासित होकर अत्यन्त भयंकर जान पड़ते थे। उनकी आँखें बिजलीके समान चमकनेवाली और पिङ्गलवर्णकी थीं। वे प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित एवं प्रकाशित हो रहे थे ॥ ७ ॥

प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः।
घोरो घोरस्वनो रौद्रो वह्निरौर्व इवापरः ॥ ८ ॥

उनका शरीर थोड़ी ही देरमें बढ़कर विशाल हो गया। पक्षी गरुड आकाशमें उड़ चले। वे स्वयं तो भयंकर थे ही, उनकी आवाज भी बड़ी भयानक थी। वे दूसरे बड़वानल-की भाँति बड़े भीषण जान पड़ते थे ॥ ८ ॥

तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुर्देवाः सर्वे विभावसुम्।
प्रणिपत्याब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ॥ ९ ॥

उन्हें देखकर सब देवता विश्वरूपधारी अग्निदेवकी शरणमें गये और उन्हें प्रणाम करके बैठे हुए उन अग्निदेवसे इस प्रकार बोले— ॥ ९ ॥

अग्ने मा त्वं प्रवर्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि।
असौ हि राशिः सुमहान् समिद्धस्तव सर्पति ॥ १० ॥

'अग्ने! आप इस प्रकार न बढ़ें। आप हमलोगोंको जलाकर भस्म तो नहीं कर डालना चाहते हैं? देखिये, वह आपका महान्, प्रज्वलित तेजःपुञ्ज इधर ही फैलता आ रहा है' ॥

अग्निरुवाच

नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यश्च तेजसा ॥ ११ ॥

अग्निदेवने कहा—असुरविनाशक देवताओ! तुम जैसा समझ रहे हो, वैसी बात नहीं है। ये महाबली गरुड हैं, जो तेजमें मेरे ही तुल्य हैं ॥ ११ ॥

जातः परमतेजस्वी विनतानन्दवर्धनः।
तेजोराशिमिमं दृष्ट्वा युष्मान् मोहः समाविशत् ॥ १२ ॥

विनताका आनन्द बढ़ानेवाले ये परम तेजस्वी गरुड इसी रूपमें उत्पन्न हुए हैं। तेजके पुञ्जरूप इन गरुडको देखकर ही तुमलोगोंपर मोह छा गया है ॥ १२ ॥

नागक्षयकरश्चैव काश्यपेयो महाबलः।
देवानां च हिते युक्तस्त्वहितो दैत्यरक्षसाम् ॥१३॥

कश्यपनन्दन महाबली गरुड नागोंके विनाशक, देवताओं-के हितैषी और दैत्यों तथा राक्षसोंके शत्रु हैं ॥ १३ ॥

न भीः कार्या कथं चात्र पश्यध्वं सहिता मम।
एवमुक्तास्तदा गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ॥१४॥
ते दूरादभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा।

इनसे किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिये। तुम मेरे साथ चलकर इनका दर्शन करो।

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर उस समय देवताओं तथा ऋषियोंने गरुडके पास जाकर अपनी वाणीद्वारा उनका इस प्रकार स्तवन किया (यहाँ परमात्माके रूपमें गरुडकी स्तुति की गयी है)॥ १४½ ॥

देवा ऊचुः

त्वमृषिस्त्वं महाभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ॥१५॥

देवता बोले—प्रभो! आप मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं; आप ही महाभाग देवता तथा आप ही पतगेश्वर (पक्षियों तथा जीवोंके स्वामी) हैं ॥ १५ ॥

त्वं प्रभुस्तपनः सूर्यः परमेष्ठी प्रजापतिः।
त्वमिन्द्रस्त्वं हयमुखस्त्वं शर्वस्त्वं जगत्पतिः ॥१६॥

आप ही प्रभु, तपन, सूर्य, परमेष्ठी तथा प्रजापति हैं। आप ही इन्द्र हैं, आप ही हयग्रीव हैं, आप ही शिव हैं तथा आप ही जगत्‌के स्वामी हैं ॥ १६ ॥

त्वं मुखं पद्मजो विप्रस्त्वमग्निः पवनस्तथा।
त्वं हि धाता विधाता च त्वं विष्णुः सुरसत्तमः ॥१७॥

आप ही भगवान्‌के मुखस्वरूप ब्राह्मण, पद्मयोनि ब्रह्मा और विज्ञानवान् विप्र हैं, आप ही अग्नि तथा वायु हैं, आप ही धाता, विधाता और देवश्रेष्ठ विष्णु हैं ॥ १७ ॥

त्वं महानभिभूः शश्वदमृतं त्वं महद् यशः।
त्वं प्रभास्त्वमभिप्रेतं त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ॥१८॥

आप ही महत्तत्त्व और अहंकार हैं। आप ही सनातन, अमृत और महान् यश हैं। आप ही प्रभा और आप ही अभीष्ट पदार्थ हैं। आप ही हमलोगोंके सर्वोत्तम रक्षक हैं ॥

बलोर्मिमान् साधुरदीनसत्त्वः
समृद्धिमान् दुर्विषहस्त्वमेव।
त्वत्तः सृतं सर्वमहीनकीर्ते
ह्यनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥१९॥

आप बलके सागर और साधु पुरुष हैं। आपमें उदार सत्त्वगुण विराजमान है। आप महान् ऐश्वर्यशाली हैं। युद्धमें आपके वेगको सह लेना सभीके लिये सर्वथा कठिन है। पुण्यश्लोक! यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही प्रकट हुआ है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ आप ही हैं ॥ १९ ॥

त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं
गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे।
समाक्षिपन् भानुमतः प्रभां मुहु-
स्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥२०॥

आप उत्तम हैं। जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आप इस सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। आप ही सबका अन्त करनेवाले काल हैं और बारम्बार सूर्यकी प्रभाका उपसंहार करते हुए इस समस्त क्षर और अक्षररूप जगत्‌का संहार करते हैं ॥ २० ॥

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्
प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ।
भयंकरः प्रलय इवाग्निरुत्थितो
विनाशयन् युगपरिवर्तनान्तकृत् ॥२१॥

अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले देव! जैसे सूर्य क्रुद्ध होनेपर सबको जला सकते हैं, उसी प्रकार आप भी कुपित होनेपर सम्पूर्ण प्रजाको दग्ध कर डालते हैं। आप युगान्तकारी कालके भी काल हैं और प्रलयकालमें सबका विनाश करनेके लिये भयंकर संवर्तकाग्निके रूपमें प्रकट होते हैं ॥ २१ ॥

खगेश्वरं शरणमुपागता वयं
महौजसं ज्वलनसमानवर्चसम्।
तडित्प्रभं वितिमिरमभ्रगोचरं
महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरम् ॥२२॥

आप सम्पूर्ण पक्षियों एवं जीवोंके अधीश्वर हैं। आपका ओज महान् है। आप अग्निके समान तेजस्वी हैं। आप बिजलीके समान प्रकाशित होते हैं। आपके द्वारा अज्ञान-पुञ्जका निवारण होता है। आप आकाशमें मेघोंकी भाँति विचरनेवाले महापराक्रमी गरुड हैं। हम यहाँ आकर आपके शरणागत हो रहे हैं ॥ २२ ॥

परावरं वरदमजय्यविक्रमं
तवौजसा सर्वमिदं प्रतापितम्।
जगत्प्रभो तप्तसुवर्णवर्चसा
त्वं पाहि सर्वांश्च सुरान् महात्मनः ॥२३॥

आप ही कार्य और कारणरूप हैं। आपसे ही सबको वर मिलता है। आपका पराक्रम अजेय है। आपके तेजसे यह सम्पूर्ण जगत् संतप्त हो उठा है। जगदीश्वर! आप तपाये हुए सुवर्णके समान अपने दिव्य तेजसे सम्पूर्ण देवताओं और महात्मा पुरुषोंकी रक्षा करें ॥ २३ ॥

भयान्विता नभसि विमानगामिनो
विमानिता विपथगतिं प्रयान्ति ते ।
ऋषेः सुतस्त्वमसि दयावतः प्रभो
महात्मनः खगवर कश्यपस्य ह ॥ २४ ॥

पक्षिराज ! प्रभो ! विमानपर चलनेवाले देवता आपके तेजसे तिरस्कृत एवं भयभीत हो आकाशमें पथभ्रष्ट हो जाते हैं । आप दयालु महात्मा महर्षि कश्यपके पुत्र हैं ॥ २४ ॥

स मा क्रुधः कुरु जगतो दयां परां
त्वमीश्वरः प्रशममुपैहि पाहि नः ।
महाशनिस्फुरितसमस्वनेन ते
दिशोऽम्बरं त्रिदिवमियं च मेदिनी ॥ २५ ॥
चलन्ति नः खग हृदयानि चानिशं
निगृह्यतां वपुरिदमग्निसंनिभम् ।
तव द्युतिं कुपितकृतान्तसंनिभां
निशम्य नश्चलति मनोऽव्यवस्थितम् ।
प्रसीद नः पतगपते प्रयाचतां
शिवश्च नो भव भगवन् सुखावहः ॥ २६ ॥

प्रभो ! आप कुपित न हों, सम्पूर्ण जगत्पर उत्तम दयाका विस्तार करें । आप ईश्वर हैं, अतः शान्ति धारण करें और हम सबकी रक्षा करें । महान् वज्रकी गड़गड़ाहटके समान आपकी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाएँ, आकाश, स्वर्ग तथा यह पृथ्वी सब-के-सब विचलित हो उठे हैं और हमारा हृदय भी निरन्तर काँपता रहता है । अतः खगश्रेष्ठ ! आप अग्निके समान तेजस्वी अपने इस भयंकर रूपको शान्त कीजिये । क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान आपकी उग्र कान्ति देखकर हमारा मन अस्थिर एवं चञ्चल हो जाता है । आप हम याचकोंपर प्रसन्न होइये । भगवन् ! आप हमारे लिये कल्याण स्वरूप और सुखदायक हो जाइये ॥ २५-२६ ॥

एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा ।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥ २७ ॥

ऋषियोंसहित देवताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर उत्तम पङ्खोंवाले गरुडने उस समय अपने तेजको समेट लिया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

गरुडके द्वारा अपने तेज और शरीरका संकोच तथा सूर्यके क्रोधजनित तीव्र तेजकी शान्तिके लिये अरुणका उनके रथपर स्थित होना

सौतिरुवाच

स श्रुत्वाथात्मनो देहं सुपर्णः प्रेक्ष्य च स्वयम् ।
शरीरप्रतिसंहारमात्मनः सम्प्रचक्रमे ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो ! देवताओं-द्वारा की हुई स्तुति सुनकर गरुडजीने स्वयं भी अपने शरीर-की ओर दृष्टिपात किया और उसे संकुचित कर लेनेकी तैयारी करने लगे ॥ १ ॥

सुपर्ण उवाच

न मे सर्वाणि भूतानि विभियुर्देहदर्शनात् ।
भीमरूपात् समुद्विग्नास्तस्मात् तेजस्तु संहरे ॥ २ ॥

गरुडजीने कहा—देवताओ ! मेरे इस शरीरको देखनेसे संसारके समस्त प्राणी उस भयानक स्वरूपसे उद्विग्न होकर डर न जायँ इसलिये मैं अपने तेजको समेट लेता हूँ ॥

सौतिरुवाच

ततः कामगमः पक्षी कामवीर्यो विहंगमः ।
अरुणं चात्मनः पृष्ठमारोप्य स पितुर्गृहात् ॥ ३ ॥
मातुरन्तिकमागच्छत् परं तीरं महोदधेः ।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर इच्छानुसार चलने तथा रुचिके अनुसार पराक्रम प्रकट करनेवाले पक्षी गरुड अपने भाई अरुणको पीठपर चढ़ाकर पिताके घरसे माताके समीप महासागरके दूसरे तटपर आये ॥ ३½ ॥

तत्रारुणश्च निक्षिप्तो दिशं पूर्वां महाद्युतिः ॥ ४ ॥
सूर्यस्तेजोभिरत्युग्रैर्लोकान् दग्धुमना यदा ।

जब सूर्यने अपने भयंकर तेजके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध करनेका विचार किया, उस समय गरुडजी महान् तेजस्वी अरुण-को पुनः पूर्व दिशामें लाकर सूर्यके समीप रख आये ॥ ४½ ॥

रुरुरुवाच

किमर्थं भगवान् सूर्यो लोकान् दग्धुमनास्तदा ॥ ५ ॥
किमस्यापहृतं देवैर्येनेमं मन्युराविशत् ।

रुरुने पूछा—पिताजी ! भगवान् सूर्यने उस समय सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध कर डालनेका विचार क्यों किया ? देवताओंने उनका क्या हड़प लिया था, जिससे उनके मनमें क्रोधका संचार हो गया ? ॥ ५½ ॥

प्रमतिरुवाच

चन्द्रार्काभ्यां यदा राहुराख्यातो ह्यमृतं पिबन् ॥ ६ ॥
वैरानुबन्धं कृतवांश्चन्द्रादित्यौ तदानघ ।
वध्यमाने ग्रहेणाथ आदित्ये मन्युराविशत् ॥ ७ ॥

प्रमतिने कहा—अनघ ! जब राहु अमृत पी रहा था, उस समय चन्द्रमा और सूर्यने उसका भेद बता दिया; इसीलिये उसने चन्द्रमा और सूर्यसे भारी वैर बाँध लिया और उन्हें सताने लगा। राहुसे पीड़ित होनेपर सूर्यके मनमें क्रोधका आवेश हुआ ॥ ६-७ ॥

सुरार्थाय समुत्पन्नो रोषो राहोस्तु मां प्रति ।
बह्वनर्थकरं पापमेकोऽहं समवाप्नुयाम् ॥ ८ ॥

वे सोचने लगे, 'देवताओंके हितके लिये ही मैंने राहुका भेद खोला था जिससे मेरे प्रति राहुका रोष बढ़ गया। अब उसका अत्यन्त अनर्थकारी परिणाम दुःखके रूपमें अकेले मुझे प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

सहाय एव कार्येषु न च कृच्छ्रेषु दृश्यते ।
पश्यन्ति ग्रस्यमानं मां सहन्ते वै दिवौकसः ॥ ९ ॥

'संकटके अवसरोंपर मुझे अपना कोई सहायक ही नहीं दिखायी देता। देवतालोग मुझे राहुसे ग्रस्त होते देखते हैं तो भी चुपचाप सह लेते हैं ॥ ९ ॥

तस्माल्लोकविनाशार्थं ह्यवतिष्ठे न संशयः ।
एवं कृतमतिः सूर्यो ह्यस्तमभ्यगमद् गिरिम् ॥ १० ॥

'अतः सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये निःसंदेह मैं अस्ताचलपर जाकर वहीं ठहर जाऊँगा।' ऐसा निश्चय करके सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये ॥ १० ॥

तस्माल्लोकविनाशाय संतापयत भास्करः ।
ततो देवानुपागम्य प्रोचुरेवं महर्षयः ॥ ११ ॥

और वहींसे सूर्यदेवने सम्पूर्ण जगत्‌का विनाश करनेके लिये सबको संताप देना आरम्भ किया। तब महर्षिगण देवताओंके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ ११ ॥

अद्यार्धरात्रसमये सर्वलोकभयावहः ।
उत्पत्स्यते महान् दाहस्त्रैलोक्यस्य विनाशनः ॥ १२ ॥

'देवगण ! आज आधी रातके समय सब लोकोंको भयभीत करनेवाला महान् दाह उत्पन्न होगा; जो तीनों लोकोंका विनाश करनेवाला हो सकता है' ॥ १२ ॥

ततो देवाः सर्षिगणा उपगम्य पितामहम् ।
अब्रुवन् किमिवेहाद्य महद् दाहकृतं भयम् ॥ १३ ॥
न तावद् दृश्यते सूर्यः क्षयोऽयं प्रतिभाति च ।
उदिते भगवन् भानौ कथमेतद् भविष्यति ॥ १४ ॥

तदनन्तर देवता ऋषियोंको साथ ले ब्रह्माजीके पास जाकर बोले—'भगवन्! आज यह कैसा महान् दाहजनित भय उपस्थित होना चाहता है ? अभी सूर्य नहीं दिखायी देते तो भी ऐसी गरमी प्रतीत होती है मानो जगत्‌का विनाश हो जायगा। फिर सूर्योदय होनेपर गरमी कैसी तीव्र होगी, यह कौन कह सकता है ?' ॥ १३-१४ ॥

पितामह उवाच

एष लोकविनाशाय रविरुद्यन्तुमुद्यतः ।
दृश्यन्नेव हि लोकान् स भस्मराशीकरिष्यति ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—ये सूर्यदेव आज सम्पूर्ण लोकोंका विनाश करनेके लिये ही उद्यत होना चाहते हैं। जान पड़ता है, ये दृष्टिमें आते ही सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर देंगे ॥ १५ ॥

तस्य प्रतिविधानं च विहितं पूर्वमेव हि ।
कश्यपस्य सुतो धीमानरुणेत्यभिविश्रुतः ॥ १६ ॥

किंतु उनके भीषण संतापसे बचनेका उपाय मैंने पहलेसे ही कर रक्खा है। महर्षि कश्यपके एक बुद्धिमान् पुत्र हैं, जो अरुण नामसे विख्यात हैं ॥ १६ ॥

महाकायो महातेजाः स स्थास्यति पुरो रवेः ।
करिष्यति च सारथ्यं तेजश्चास्य हरिष्यति ॥ १७ ॥
लोकानां स्वस्ति चैवं स्याद् ऋषीणां च दिवौकसाम् ।

उनका शरीर विशाल है। वे महान् तेजस्वी हैं। वे ही सूर्यके आगे रथपर बैठेंगे। उनके सारथिका कार्य करेंगे और उनके तेजका भी अपहरण करेंगे। ऐसा करनेसे सम्पूर्ण लोकों, ऋषि-महर्षियों तथा देवताओंका भी कल्याण होगा ॥ १७½ ॥

प्रमतिरुवाच

ततः पितामहाज्ञातः सर्वं चक्रे तदारुणः ॥ १८ ॥
उदितश्चैव सविता ह्यरुणेन समावृतः ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यत् सूर्यं मन्युराविशत् ॥ १९ ॥

प्रमति कहते हैं—तत्पश्चात् पितामह ब्रह्माजीकी आज्ञासे अरुणने उस समय सब कार्य उसी प्रकार किया। सूर्य अरुणसे आवृत होकर उदित हुए। वत्स ! सूर्यके मनमें क्यों क्रोधका आवेश हुआ था, इस प्रश्नके उत्तरमें मैंने ये सब बातें कही हैं ॥ १८-१९ ॥

अरुणश्च यथैवास्य सारथ्यमकरोत् प्रभुः ।
भूय एवापरं प्रश्नं शृणु पूर्वमुदाहृतम् ॥ २० ॥

शक्तिशाली अरुणने सूर्यके सारथिका कार्य क्यों किया, यह बात भी इस प्रसङ्गमें स्पष्ट हो गयी है। अब अपने पूर्वकथित दूसरे प्रश्नका पुनः उत्तर सुनो ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

सूर्यके तापसे मूर्छित हुए सर्पोंकी रक्षाके लिये कद्रूद्वारा इन्द्रदेवकी स्तुति

सौतिरुवाच

ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः।
मातुरन्तिकमागच्छत् परं पारं महोदधेः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो ! तदनन्तर इच्छानुसार गमन करनेवाले महान् पराक्रमी तथा महाबली गरुड समुद्रके दूसरे पार अपनी माताके समीप आये ॥ १ ॥

यत्र सा विनता तस्मिन् पणितेन पराजिता।
अतीव दुःखसंतप्ता दासीभावमुपागता ॥ २ ॥

जहाँ उनकी माता विनता बाजी हार जानेसे दासीभावको प्राप्त हो अत्यन्त दुःखसे संतप्त रहती थीं ॥ २ ॥

ततः कदाचिद् विनतां प्रणतां पुत्रसंनिधौ।
काले चाहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ॥ ३ ॥

एक दिन अपने पुत्रके समीप बैठी हुई विनयशील विनताको किसी समय बुलाकर कद्रूने यह बात कही—॥ ३ ॥

नागानामालयं भद्रे सुरम्यं चारुदर्शनम्।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते नय ॥ ४ ॥

'कल्याणी विनते ! समुद्रके भीतर निर्जन प्रदेशमें एक बहुत रमणीय तथा देखनेमें अत्यन्त मनोहर नागोंका निवासस्थान है। तू वहाँ मुझे ले चल' ॥ ४ ॥

ततः सुपर्णमाता तामवहत् सर्पमातरम्।
पन्नगान् गरुडश्चापि मातुर्वचनचोदितः ॥ ५ ॥

तब गरुडकी माता विनता सर्पोंकी माता कद्रूको अपनी पीठपर ढोने लगी। इधर माताकी आज्ञासे गरुड भी सर्पोंको अपनी पीठपर चढ़ाकर ले चले ॥ ५ ॥

स सूर्यमभितो याति वैनतेयो विहंगमः।
सूर्यरश्मिप्रतप्ताश्च मूर्छिताः पन्नगाभवन् ॥ ६ ॥

पक्षिराज गरुड आकाशमें सूर्यके निकट होकर चलने लगे। अतः सर्प सूर्यकी किरणोंसे संतप्त हो मूर्छित हो गये ॥ ६ ॥

तदवस्थान् सुतान् दृष्ट्वा कद्रूः शक्रमथास्तुवत्।
नमस्ते सर्वदेवेश नमस्ते बलसूदन ॥ ७ ॥

अपने पुत्रोंको इस दशामें देखकर कद्रू इन्द्रकी स्तुति करने लगी—'सम्पूर्ण देवताओंके ईश्वर ! तुम्हें नमस्कार है। बलसूदन ! तुम्हें नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमुचिघ्न नमस्तेऽस्तु सहस्राक्ष शचीपते।
सर्पाणां सूर्यतप्तानां वारिणा त्वं प्लवो भव ॥ ८ ॥

'सहस्र नेत्रोंवाले नमुचिनाशन ! शचीपते ! तुम्हें नमस्कार है। तुम सूर्यके तापसे संतप्त हुए सर्पोंको जलसे नहलाकर नौकाकी भाँति उनके रक्षक हो जाओ ॥ ८ ॥

त्वमेव परमं त्राणमस्माकममरोत्तम।
ईशो ह्यसि पयः स्रष्टुं त्वमनल्पं पुरन्दर ॥ ९ ॥

'अमरोत्तम ! तुम्हीं हमारे सबसे बड़े रक्षक हो। पुरन्दर ! तुम अधिक-से-अधिक जल बरसानेकी शक्ति रखते हो ॥ ९ ॥

त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वमग्निर्विद्युतोऽम्बरे।
त्वमभ्रगणविक्षेप्ता त्वामेवाहुर्महाघनम् ॥ १० ॥

'तुम्हीं मेघ हो, तुम्हीं वायु हो और तुम्हीं आकाशमें बिजली बनकर प्रकाशित होते हो। तुम्हीं बादलोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले हो और विद्वान् पुरुष तुम्हें ही महामेघ कहते हैं ॥ १० ॥

त्वं वज्रमतुलं घोरं घोषवांस्त्वं बलाहकः।
स्रष्टा त्वमेव लोकानां संहर्ता चापराजितः ॥ ११ ॥

'संसारमें जिसकी कहीं तुलना नहीं है, वह भयानक वज्र तुम्हीं हो, तुम्हीं भयंकर गर्जना करनेवाले बलाहक (प्रलय-कालीन मेघ) हो। तुम्हीं सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि और संहार करनेवाले हो। तुम कभी परास्त नहीं होते ॥ ११ ॥

त्वं ज्योतिः सर्वभूतानां त्वमादित्यो विभावसुः।
त्वं महद्भूतमाश्चर्यं त्वं राजा त्वं सुरोत्तमः ॥ १२ ॥

'तुम्हीं समस्त प्राणियोंकी ज्योति हो। सूर्य और अग्नि भी तुम्हीं हो। तुम आश्चर्यमय महान् भूत हो, तुम राजा हो और तुम देवताओंमें सबसे श्रेष्ठ हो ॥ १२ ॥

त्वं विष्णुस्त्वं सहस्राक्षस्त्वं देवस्त्वं परायणम्।
त्वं सर्वममृतं देव त्वं सोमः परमार्चितः ॥ १३ ॥

'तुम्हीं सर्वव्यापी विष्णु, सहस्रलोचन इन्द्र, द्युतिमान् देवता और सबके परम आश्रय हो। देव ! तुम्हीं सब कुछ हो। तुम्हीं अमृत हो और तुम्हीं परमपूजित सोम हो ॥ १३ ॥

त्वं मुहूर्तस्तिथिस्त्वं च त्वं लवस्त्वं पुनः क्षणः।
शुक्लस्त्वं बहुलस्त्वं च कला काष्ठा त्रुटिस्तथा।
संवत्सरर्तवो मासा रजन्यश्च दिनानि च ॥ १४ ॥

'तुम मुहूर्त हो, तुम्हीं तिथि हो, तुम्हीं लव तथा तुम्हीं क्षण हो। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष भी तुमसे भिन्न नहीं हैं। कला, काष्ठा और त्रुटि सब तुम्हारे ही स्वरूप हैं। संवत्सर, ऋतु, मास, रात्रि तथा दिन भी तुम्हीं हो ॥ १४ ॥

त्वमुत्तमा सगिरिवना वसुन्धरा
सभास्करं वितिमिरमम्बरं तथा।
महोदधिः सतिमितिमिंगिलस्तथा
महोर्मिमान् बहुमकरो झषाकुलः ॥ १५ ॥

'तुम्हीं पर्वत और वनोंसहित उत्तम वसुन्धरा हो और तुम्हीं अन्धकाररहित एवं सूर्यसहित आकाश हो। तिमि और तिमिङ्गिलोंसे भरपूर, बहुतेरे मगरों और मत्स्योंसे व्याप्त तथा उत्ताल तरङ्गोंसे सुशोभित महासागर भी तुम्हीं हो ॥१५॥

महायशास्त्वमिति सदाभिपूज्यसे
मनीषिभिर्मुदितमना महर्षिभिः।
अभिष्टुतः पिबसि च सोममध्वरे
वषट्कृतान्यपि च हवींषि भूतये ॥१६॥

'तुम महान् यशस्वी हो। ऐसा समझकर मनीषी पुरुष सदा तुम्हारी पूजा करते हैं। महर्षिगण निरन्तर तुम्हारा स्तवन करते हैं। तुम यजमानकी अभीष्टसिद्धि करनेके लिये यज्ञमें मुदित मनसे सोमरस पीते हो और वषट्कारपूर्वक समर्पित किये हुए हविष्य भी ग्रहण करते हो ॥ १६ ॥

त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं
वेदाङ्गेष्वतुलबलौघ गीयसे च।
त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा
वेदाङ्गान्यभिगमयन्ति सर्वयत्नैः ॥१७॥

'इस जगत्‌में अभीष्ट फलकी प्राप्तिके लिये विप्रगण तुम्हारी पूजा करते हैं। अतुलित बलके भण्डार इन्द्र! वेदाङ्गोंमें भी तुम्हारी ही महिमाका गान किया गया है। यज्ञपरायण श्रेष्ठ द्विज तुम्हारी प्राप्तिके लिये ही सर्वथा प्रयत्न करके वेदाङ्गोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं (यहाँ कद्रूके द्वारा ईश्वररूपसे इन्द्रकी स्तुति की गयी है)' ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥



षड्‌विंशोऽध्यायः

इन्द्रद्वारा की हुई वर्षासे सर्पोंकी प्रसन्नता

सौतिरुवाच

एवं स्तुतस्तदा कद्र्वा भगवान् हरिवाहनः।
नीलजीमूतसंघातैः सर्वमम्बरमावृणोत् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागमाता कद्रूके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् इन्द्रने मेघोंकी काली घटाओंद्वारा सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित कर दिया ॥ १ ॥

मेघानाज्ञापयामास वर्षध्वममृतं शुभम्।
ते मेघा मुमुचुस्तोयं प्रभूतं विद्युदुज्ज्वलाः ॥ २ ॥

साथ ही मेघोंको आज्ञा दी—'तुम सब शीतल जलकी वर्षा करो।' आज्ञा पाकर बिजलियोंसे प्रकाशित होनेवाले उन मेघोंने प्रचुर जलकी वृष्टि की ॥ २ ॥

परस्परमिवात्यर्थं गर्जन्तः सततं दिवि।
संवर्तितमिवाकाशं जलदैः सुमहाद्भुतैः ॥ ३ ॥
सृजद्भिरतुलं तोयमजस्रं सुमहारवैः।
सम्प्रनृत्तमिवाकाशं धारोर्मिभिरनेकशः ॥ ४ ॥

वे परस्पर अत्यन्त गर्जना करते हुए आकाशसे निरन्तर पानी बरसाते रहे। जोर-जोरसे गर्जने और लगातार असीम जलकी वर्षा करनेवाले अत्यन्त अद्भुत जलधरोंने सारे आकाशको घेर-सा लिया था। असंख्य धारारूप लहरोंसे युक्त वह व्योमसमुद्र मानो नृत्य-सा कर रहा था ॥ ३-४ ॥

मेघस्तनितनिर्घोषैर्विद्युत्पवनकम्पितैः।
तैर्मेघैः सततासारं वर्षद्भिरनिशं तदा ॥ ५ ॥
नष्टचन्द्रार्ककिरणमम्बरं समपद्यत।
नागानामुत्तमो हर्षस्तथा वर्षति वासवे ॥ ६ ॥

भयंकर गर्जन-तर्जन करनेवाले वे मेघ बिजली और वायुसे प्रकम्पित हो उस समय निरन्तर मूसलाधार पानी गिरा रहे थे। उनके द्वारा आच्छादित आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यकी किरणें भी अदृश्य हो गयी थीं। इन्द्रदेवके इस प्रकार वर्षा करनेपर नागोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ५-६ ॥

आपूर्यत मही चापि सलिलेन समन्ततः।
रसातलमनुप्राप्तं शीतलं विमलं जलम् ॥ ७ ॥

पृथ्वीपर सब ओर पानी-ही-पानी भर गया। वह शीतल और निर्मल जल रसातलतक पहुँच गया ॥ ७ ॥

तदा भूरभवच्छन्ना जलोर्मिभिरनेकशः।
रामणीयकमागच्छन् मात्रा सह भुजङ्गमाः ॥ ८ ॥

उस समय सारा भूतल जलकी असंख्य तरङ्गोंसे आच्छादित हो गया था। इस प्रकार वर्षासे संतुष्ट हुए सर्प अपनी माताके साथ रामणीयक द्वीपमें आ गये ॥ ८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे षड्‌विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

रामणीयक द्वीपके मनोरम वनका वर्णन तथा गरुडका दास्यभावसे छूटनेके लिये सर्पोंसे उपाय पूछना

सौतिरुवाच

सम्प्रहृष्टास्ततो नागा जलधाराप्लुतास्तदा ।
सुपर्णेनोह्यमानास्ते जग्मुस्तं द्वीपमाशु वै ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—गरुडपर सवार होकर यात्रा करनेवाले वे नाग उस समय जलधारासे नहाकर अत्यन्त प्रसन्न हो शीघ्र ही रामणीयक द्वीपमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

तं द्वीपं मकरावासं विहितं विश्वकर्मणा ।
तत्र ते लवणं घोरं ददृशुः पूर्वमागताः ॥ २ ॥

विश्वकर्माजीके बनाये हुए उस द्वीपमें, जहाँ अब मगर निवास करते थे, जब पहली बार नाग आये थे तो उन्हें वहाँ भयंकर लवणासुरका दर्शन हुआ था ॥ २ ॥

सुपर्णसहिताः सर्पाः काननं च मनोरमम् ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तं पक्षिसङ्घनिनादितम् ॥ ३ ॥

सर्प गरुडके साथ उस द्वीपके मनोरम वनमें आये, जो चारों ओरसे समुद्रद्वारा घिरकर उसके जलसे अभिषिक्त हो रहा था । वहाँ झुंड-के-झुंड पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ ३ ॥

विचित्रफलपुष्पाभिर्वनराजिभिरावृतम् ।
भवनैरावृतं रम्यैस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४ ॥

विचित्र फूलों और फलोंसे भरी हुई वनश्रेणियाँ उस दिव्य वनको घेरे हुए थीं । वह वन बहुत-से रमणीय भवनों और कमलयुक्त सरोवरोंसे आवृत था ॥ ४ ॥

प्रसन्नसलिलैश्चापि ह्रदैर्दिव्यैर्विभूषितम् ।
दिव्यगन्धवहैः पुण्यैर्मारुतैरुपवीजितम् ॥ ५ ॥

स्वच्छ जलवाले कितने ही दिव्य सरोवर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । दिव्य सुगन्धका भार वहन करनेवाली पावन वायु मानो वहाँ चँवर डुला रही थी ॥ ५ ॥

उत्पतद्भिरिवाकाशं वृक्षैर्मलयजैरपि ।
शोभितं पुष्पवर्षाणि मुञ्चद्भिर्मारुतोद्धतैः ॥ ६ ॥

वहाँ ऊँचे-ऊँचे मलयज वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे, मानो आकाशमें उड़े जा रहे हों । वे वायुके वेगसे विकम्पित हो फूलोंकी वर्षा करते हुए उस प्रदेशकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ६ ॥

वायुविक्षिप्तकुसुमैस्तथान्यैरपि पादपैः ।
किरद्भिरिव तत्रस्थान् नागान् पुष्पाम्बुवृष्टिभिः ॥ ७ ॥

हवाके झोंकेसे दूसरे-दूसरे वृक्षोंके भी फूल झड़ रहे थे, मानो वहाँके वृक्षसमूह वहाँ उपस्थित हुए नागोंपर फूलोंकी वर्षा करते हुए उनके लिये अर्घ्य दे रहे हों ॥ ७ ॥

मनःसंहर्षजं दिव्यं गन्धर्वाप्सरसां प्रियम् ।
मत्तभ्रमरसंघुष्टं मनोज्ञाकृतिदर्शनम् ॥ ८ ॥

वह दिव्य वन हृदयके हर्षको बढ़ानेवाला था । गन्धर्व और अप्सराएँ उसे अधिक पसंद करती थीं । मतवाले भ्रमर वहाँ सब ओर गूँज रहे थे । अपनी मनोहर छटाके द्वारा वह अत्यन्त दर्शनीय जान पड़ता था ॥ ८ ॥

रमणीयं शिवं पुण्यं सर्वैर्जनमनोहरैः ।
नानापक्षिरुतं रम्यं कद्रूपुत्रप्रहर्षणम् ॥ ९ ॥

वह वन रमणीय, मङ्गलकारी और पवित्र होनेके साथ ही लोगोंके मनको मोहनेवाले सभी उत्तम गुणोंसे युक्त था । भाँति-भाँतिके पक्षियोंके कलरवोंसे व्याप्त एवं परम सुन्दर होनेके कारण वह कद्रूके पुत्रोंका आनन्द बढ़ा रहा था ॥ ९ ॥

तत् ते वनं समासाद्य विजह्रुः पन्नगास्तदा ।
अब्रुवंश्च महावीर्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥ १० ॥

उस वनमें पहुँचकर वे सर्प उस समय सब ओर विहार करने लगे और महापराक्रमी पक्षिराज गरुडसे इस प्रकार बोले— ॥

वहास्मानपरं द्वीपं सुरम्यं विमलोदकम् ।
त्वं हि देशान् बहून् रम्यान् व्रजन् पश्यसि खेचर ॥ ११ ॥

'खेचर ! तुम आकाशमें उड़ते समय बहुत-से रमणीय प्रदेश देखा करते हो; अतः हमें निर्मल जलवाले किसी दूसरे रमणीय द्वीपमें ले चलो' ॥ ११ ॥

स विचिन्त्याब्रवीत् पक्षी मातरं विनतां तदा ।
किं कारणं मया मातः कर्तव्यं सर्पभाषितम् ॥ १२ ॥

गरुडने कुछ सोचकर अपनी माता विनतासे पूछा—'मा ! क्या कारण है कि मुझे सर्पोंकी आज्ञाका पालन करना पड़ता है ?' ॥ १२ ॥

विनतोवाच

दासीभूतास्मि दुर्योगात् सपत्न्याः पतगोत्तम ।
पणं वितथमास्थाय सर्पैरुपधिना कृतम् ॥ १३ ॥

विनता बोली—बेटा पक्षिराज ! मैं दुर्भाग्यवश सौतकी दासी हूँ, इन सर्पोंने छल करके मेरी जीती हुई बाजीको पलट दिया था ॥ १३ ॥

तस्मिंस्तु कथिते मात्रा कारणे गगनेचरः ।
उवाच वचनं सर्पांस्तेन दुःखेन दुःखितः ॥ १४ ॥

माताके यह कारण बतानेपर आकाशचारी गरुडने उस दुःखसे दुःखी होकर सर्पोंसे कहा— ॥ १४ ॥

किमाहृत्य विदित्वा वा किं वा कृत्वेह पौरुषम् ।
दास्याद् वो विप्रमुच्येयं तथ्यं वदत लेलिहाः ॥ १५ ॥

'जीभ लपलपानेवाले सर्पो ! तुमलोग सच-सच बताओ मैं तुम्हें क्या लाकर दे दूँ ? किस विद्याका लाभ करा दूँ अथवा यहाँ कौन-सा पुरुषार्थ करके दिखा दूँ; जिससे मुझे तथा मेरी माताको तुम्हारी दासतासे छुटकारा मिल जाय' ॥ १५ ॥

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तमब्रुवन् सर्पा आहरामृतमोजसा ।
ततो दास्याद् विप्रमोक्षो भविता तव खेचर ॥ १६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—गरुडकी बात सुनकर सर्पोंने कहा—'गरुड ! तुम पराक्रम करके हमारे लिये अमृत ला दो । इससे तुम्हें दास्यभावसे छुटकारा मिल जायगा' ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

गरुडका अमृतके लिये जाना और अपनी माताकी आज्ञाके अनुसार निषादोंका भक्षण करना

सौतिरुवाच

इत्युक्तो गरुडः सर्पैस्ततो मातरमब्रवीत् ।
गच्छाम्यमृतमाहर्तुं भक्ष्यमिच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—सर्पोंकी यह बात सुनकर गरुड अपनी मातासे बोले—'मा ! मैं अमृत लानेके लिये जा रहा हूँ, किंतु मेरे लिये भोजन-सामग्री क्या होगी ? यह मैं जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

विनतोवाच

समुद्रकुक्षावेकान्ते निषादालयमुत्तमम् ।
निषादानां सहस्राणि तान् भुक्त्वामृतमानय ॥ २ ॥

विनताने कहा—समुद्रके बीचमें एक टापू है, जिसके एकान्त प्रदेशमें निषादों (जीवहिंसकों) का निवास है । वहाँ सहस्रों निषाद रहते हैं । उन्हींको मारकर खा लो और अमृत ले आओ ॥ २ ॥

न च ते ब्राह्मणं हन्तुं कार्या बुद्धिः कथंचन ।
अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपमः ॥ ३ ॥

किंतु तुम्हें किसी प्रकार ब्राह्मणको मारनेका विचार नहीं करना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य है । वह अग्निके समान दाहक होता है ॥ ३ ॥

अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः ।
गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥

कुपित किया हुआ ब्राह्मण अग्नि, सूर्य, विष एवं शस्त्रके समान भयंकर होता है । ब्राह्मणको समस्त प्राणियोंका गुरु कहा गया है ॥ ४ ॥

एवमादिस्वरूपैस्तु सतां वै ब्राह्मणो मतः ।
स ते तात न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वथा ॥ ५ ॥

इन्हीं रूपोंमें सत्पुरुषोंके लिये ब्राह्मण आदरणीय माना गया है । तात ! तुम्हें क्रोध आ जाय तो भी ब्राह्मणकी हत्यासे सर्वथा दूर रहना चाहिये ॥ ५ ॥

ब्राह्मणानामभिद्रोहो न कर्तव्यः कथंचन ।
न ह्येवमग्निर्नादित्यो भस्म कुर्यात् तथानघ ॥ ६ ॥
यथा कुर्यादभिक्रुद्धो ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
तदेतैर्विविधैर्लिङ्गैस्त्वं विद्धास्तं द्विजोत्तमम् ॥ ७ ॥
भूतानामग्रभूर्विप्रो वर्णश्रेष्ठः पिता गुरुः ।

ब्राह्मणोंके साथ किसी प्रकार द्रोह नहीं करना चाहिये । अनघ ! कठोर व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण क्रोधमें आनेपर अपराधीको जिस प्रकार जलाकर भस्म कर देता है, उस तरह अग्नि और सूर्य भी नहीं जला सकते । इस प्रकार विविध चिह्नोंके द्वारा तुम्हें ब्राह्मणको पहचान लेना चाहिये । ब्राह्मण समस्त प्राणियोंका अग्रज, सब वर्णोंमें श्रेष्ठ, पिता और गुरु है ॥ ६-७½ ॥

गरुड उवाच

किंरूपो ब्राह्मणो मातः किंशीलः किंपराक्रमः ॥ ८ ॥

गरुडने पूछा—मा ! ब्राह्मणका रूप कैसा होता है ? उसका शील-स्वभाव कैसा है ? तथा उसमें कौन-सा पराक्रम है ॥ ८ ॥

किंस्विदग्निनिभो भाति किंस्वित् सौम्यप्रदर्शनः ।
यथाहमभिजानीयां ब्राह्मणं लक्षणैः शुभैः ॥ ९ ॥
तन्मे कारणतो मातः पृच्छतो वक्तुमर्हसि ।

वह देखनेमें अग्नि-जैसा जान पड़ता है ? अथवा सौम्य दिखायी देता है ? मा ! जिस प्रकार शुभ लक्षणोंद्वारा मैं ब्राह्मणको पहचान सकूँ, वह सब उपाय मुझे बताओ ॥ ९½ ॥

विनतोवाच

यस्ते कण्ठमनुप्राप्तो निगीर्णं बडिशं यथा ॥ १० ॥
दहेदङ्गारवत् पुत्र तं विद्या ब्राह्मणर्षभम् ।
विप्रस्त्वया न हन्तव्यः संक्रुद्धेनापि सर्वदा ॥ ११ ॥

विनता बोली—बेटा ! जो तुम्हारे कण्ठमें पड़नेपर अङ्गारकी तरह जलाने लगे और मानो बंसीका काँटा निगल लिया गया हो, इस प्रकार कष्ट देने लगे, उसे वर्णमें श्रेष्ठ

ब्राह्मण समझना। क्रोधमें भरे होनेपर भी तुम्हें ब्रह्महत्या नहीं करनी चाहिये ॥ १०-११ ॥

प्रोवाच चैनं विनता पुत्रहार्दादिदं वचः।
जठरे न च जीर्येद् यस्तं जानीहि द्विजोत्तमम् ॥१२॥

विनताने पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण पुनः इस प्रकार कहा—'बेटा! जो तुम्हारे पेटमें पच न सके, उसे ब्राह्मण जानना' ॥ १२ ॥

पुनः प्रोवाच विनता पुत्रहार्दादिदं वचः।
जानन्त्यप्यतुलं वीर्यमाशीर्वादपरायणा ॥१३॥
प्रीता परमदुःखार्ता नागैर्विप्रकृता सती।

पुत्रके प्रति स्नेह होनेके कारण विनताने पुनः इस प्रकार कहा। वह पुत्रके अनुपम बलको जानती थी तो भी नागोंद्वारा ठगी जानेके कारण बड़े भारी दुःखसे आतुर हो गयी थी। अतः अपने पुत्रको प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देने लगी ॥ १३½ ॥

विनतोवाच

पक्षौ ते मारुतः पातु चन्द्रसूर्यौ च पृष्ठतः ॥१४॥

विनताने कहा—बेटा! वायु तुम्हारे दोनों पङ्खोंकी रक्षा करें, चन्द्रमा और सूर्य पृष्ठभागका संरक्षण करें ॥ १४ ॥

शिरश्च पातु वह्निस्ते वसवः सर्वतस्तनुम्।
अहं च ते सदा पुत्र शान्तिस्वस्तिपरायणा ॥१५॥
इहासीना भविष्यामि स्वस्तिकारे रता सदा।
अरिष्टं व्रज पन्थानं पुत्र कार्यार्थसिद्धये ॥१६॥

अग्निदेव तुम्हारे शिरकी और वसुगण तुम्हारे सम्पूर्ण शरीरकी सब ओरसे रक्षा करें। पुत्र! मैं भी तुम्हारे लिये शान्ति एवं कल्याणसाधक कर्ममें संलग्न हो यहाँ निरन्तर कुशल मनाती रहूँगी। वत्स! तुम्हारा मार्ग विघ्नरहित हो, तुम अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये यात्रा करो ॥ १५-१६ ॥

सौतिरुवाच

ततः स मातुर्वचनं निशम्य
वितत्य पक्षौ नभ उत्पपात।
ततो निषादान् बलवानुपागतो
बुभुक्षितः काल इवान्तकोऽपरः ॥१७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! माताकी बात सुनकर महाबली गरुड पङ्ख पसारकर आकाशमें उड़ गये तथा क्षुधातुर काल या दूसरे यमराजकी भाँति उन निषादोंके पास जा पहुँचे ॥ १७ ॥

स तान् निषादानुपसंहरंस्तदा
रजः समुद्धूय नभःस्पृशं महत्।
समुद्रकुक्षौ च विशोषयन् पयः
समीपजान् भूधरजान् विचालयन् ॥१८॥

उन निषादोंका संहार करनेके लिये उन्होंने उस समय इतनी अधिक धूल उड़ायी, जो पृथ्वीसे आकाशतक छा गयी। वहाँ समुद्रकी कुक्षिमें जो जल था, उसका शोषण करके उन्होंने समीपवर्ती पर्वतीय वृक्षोंको भी विकम्पित कर दिया ॥ १८ ॥

ततः स चक्रे महदाननं तदा
निषादमार्गं प्रतिरुध्य पक्षिराट्।
ततो निषादास्त्वरिताः प्रवव्रजुः
यतो मुखं तस्य भुजङ्गभोजिनः ॥१९॥

इसके बाद पक्षिराजने अपना मुख बहुत बड़ा कर लिया और निषादोंका मार्ग रोककर खड़े हो गये। तदनन्तर वे निषाद उतावलीमें पड़कर उसी ओर भागे, जिधर सर्पभोजी गरुडका मुख था ॥ १९ ॥

तदाननं विवृतमतिप्रमाणवत्
समभ्ययुर्गगनमिवार्दिताः खगाः।
सहस्रशः पवनरजोविमोहिता
यथानिलप्रचलितपादपे वने ॥२०॥

जैसे आँधीसे कम्पित वृक्षवाले वनमें पवन और धूलसे विमोहित एवं पीड़ित सहस्रों पक्षी उन्मुक्त आकाशमें उड़ने लगते हैं, उसी प्रकार हवा और धूलकी वर्षासे बेसुध हुए हजारों निषाद गरुडके खुले हुए अत्यन्त विशाल मुखमें समा गये ॥

ततः खगो वदनममित्रतापनः
समाहरत् परिचपलो महाबलः।
निषूदयन् बहुविधमत्स्यजीविनो
बुभुक्षितो गगनचरेश्वरस्तदा ॥२१॥

तत्पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले, अत्यन्त चपल, महाबली और क्षुधातुर पक्षिराज गरुडने मछली मारकर जीविका चलानेवाले उन अनेकानेक निषादोंका विनाश करनेके लिये अपने मुखको संकुचित कर लिया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

कश्यपजीका गरुडको हाथी और कछुएके पूर्वजन्मकी कथा सुनाना, गरुडका उन दोनोंको पकड़कर एक दिव्य वटवृक्षकी शाखापर ले जाना और उस शाखाका टूटना

सौतिरुवाच

तस्य कण्ठमनुप्राप्तो ब्राह्मणः सह भार्यया।
दहन् दीप्त इवाङ्गारस्तमुवाचान्तरिक्षगः ॥ १ ॥
द्विजोत्तम विनिर्गच्छ तूर्णमास्यादपावृतात्।
न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—निषादोंके साथ एक ब्राह्मण भी भार्यासहित गरुडके कण्ठमें चला गया था। वह दहकते हुए अङ्गारकी भाँति जलन पैदा करने लगा। तब आकाशचारी गरुडने उस ब्राह्मणसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! तुम मेरे खुले हुए मुखसे जल्दी निकल जाओ। ब्राह्मण पापपरायण ही क्यों न हो मेरे लिये सदा अवध्य है' ॥ १-२ ॥

ब्रुवाणमेवं गरुडं ब्राह्मणः प्रत्यभाषत।
निषादी मम भार्येयं निर्गच्छतु मया सह ॥ ३ ॥

ऐसी बात कहनेवाले गरुडसे वह ब्राह्मण बोला—'यह निषाद-जातिकी कन्या मेरी भार्या है; अतः मेरे साथ यह भी निकले (तभी मैं निकल सकता हूँ)' ॥ ३ ॥

गरुड उवाच

एतामपि निषादीं त्वं परिगृह्याशु निष्पत।
तूर्णं सम्भावयात्मानमजीर्णं मम तेजसा ॥ ४ ॥

गरुडने कहा—ब्राह्मण ! तुम इस निषादीको भी लेकर जल्दी निकल जाओ। तुम अभीतक मेरी जठराग्निके तेजसे पचे नहीं हो; अतः शीघ्र अपने जीवनकी रक्षा करो ॥

सौतिरुवाच

ततः स विप्रो निष्क्रान्तो निषादीसहितस्तदा।
वर्धयित्वा च गरुडमिष्टं देशं जगाम ह ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—उनके ऐसा कहनेपर वह ब्राह्मण निषादीसहित गरुडके मुखसे निकल आया और उन्हें आशीर्वाद देकर अभीष्ट देशको चला गया ॥ ५ ॥

सहभार्ये विनिष्क्रान्ते तस्मिन् विप्रे च पक्षिराट्।
वितत्य पक्षावाकाशमुत्पपात मनोजवः ॥ ६ ॥

भार्यासहित उस ब्राह्मणके निकल जानेपर पक्षिराज गरुड पंख फैलाकर मनके समान तीव्र वेगसे आकाशमें उड़े ॥

ततोऽपश्यत् स पितरं पृष्टश्चाख्यातवान् पितुः।
यथान्यायममेयात्मा तं चोवाच महानृषिः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन्हें अपने पिता कश्यपजीका दर्शन हुआ। उनके पूछनेपर अमेयात्मा गरुडने पितासे यथोचित कुशल-समाचार कहा। महर्षि कश्यप उनसे इस प्रकार बोले ॥ ७ ॥

कश्यप उवाच

कच्चिद् वः कुशलं नित्यं भोजने बहुलं सुत।
कच्चिच्च मानुषे लोके तवान्नं विद्यते बहु ॥ ८ ॥

कश्यपजीने पूछा—बेटा ! तुमलोग कुशलसे तो हो न ? विशेषतः प्रतिदिन भोजनके सम्बन्धमें तुम्हें विशेष सुविधा है न ? क्या मनुष्यलोकमें तुम्हारे लिये पर्याप्त अन्न मिल जाता है ॥ ८ ॥

गरुड उवाच

माता मे कुशला शश्वत् तथा भ्राता तथा ह्यहम्।
न हि मे कुशलं तात भोजने बहुले सदा ॥ ९ ॥

गरुडने कहा—मेरी माता सदा कुशलसे रहती हैं। मेरे भाई तथा मैं दोनों सकुशल हैं। परंतु पिताजी ! पर्याप्त भोजनके विषयमें तो सदा मेरे लिये कुशलका अभाव ही है ॥ ९ ॥

अहं हि सर्पैः प्रहितः सोममाहर्तुमुत्तमम्।
मातुर्दास्यविमोक्षार्थमाहरिष्ये तमद्य वै ॥ १० ॥

मुझे सर्पोंने उत्तम अमृत लानेके लिये भेजा है। माताको दासीपनसे छुटकारा दिलानेके लिये आज मैं निश्चय ही उस अमृतको लाऊँगा ॥ १० ॥

माता चात्र समादिष्टो निषादान् भक्षयेति ह।
न च मे तृप्तिरभवद् भक्षयित्वा सहस्रशः ॥ ११ ॥

भोजनके विषयमें पूछनेपर माताने कहा 'निषादोंका भक्षण करो', परंतु हजारों निषादोंको खा लेनेपर भी मुझे तृप्ति नहीं हुई है ॥ ११ ॥

तस्माद् भक्ष्यं त्वमपरं भगवन् प्रदिशस्व मे।
यद् भुक्त्वामृतमाहर्तुं समर्थः स्यामहं प्रभो ॥ १२ ॥
क्षुत्पिपासाविघातार्थं भक्ष्यमाख्यातु मे भवान्।

अतः भगवन् ! आप मेरे लिये कोई दूसरा भोजन बताइये। प्रभो ! वह भोजन ऐसा हो जिसे खाकर मैं अमृत लानेमें समर्थ हो सकूँ। मेरी भूख-प्यासको मिटा देनेके लिये आप पर्याप्त भोजन बताइये ॥ १२½ ॥

कश्यप उवाच

इदं सरो महापुण्यं देवलोकेऽपि विश्रुतम् ॥ १३ ॥

कश्यपजी बोले—बेटा ! यह महान् पुण्यदायक सरोवर है, जो देवलोकमें भी विख्यात है ॥ १३ ॥

यत्र कूर्मोऽग्रजं हस्ती सदा कर्षत्यवाङ्मुखः।
तयोर्जन्मान्तरे वैरं सम्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥१४॥
तन्मे तत्त्वं निबोधस्व यत्प्रमाणौ च तावुभौ।

उसमें एक हाथी नीचेको मुँह किये सदा सूँड़से पकड़कर एक कछुएको खींचता रहता है। वह कछुआ पूर्वजन्ममें उसका बड़ा भाई था। दोनोंमें पूर्वजन्मका वैर चला आ रहा है। उनमें यह वैर क्यों और कैसे हुआ तथा उन दोनोंके शरीरकी लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई कितनी है, ये सारी बातें मैं ठीक-ठीक बता रहा हूँ। तुम ध्यान देकर सुनो ॥ १४½ ॥

आसीद् विभावसुर्नाम महर्षिः कोपनो भृशम् ॥१५॥
भ्राता तस्यानुजश्चासीत् सुप्रतीको महातपाः।
स नेच्छति धनं भ्राता सहैकस्थं महामुनिः ॥१६॥

पूर्वकालमें विभावसु नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे। वे स्वभावके बड़े क्रोधी थे। उनके छोटे भाईका नाम था सुप्रतीक। वे भी बड़े तपस्वी थे। महामुनि सुप्रतीक अपने धनको बड़े भाईके साथ एक जगह नहीं रखना चाहते थे ॥१५-१६॥

विभागं कीर्तयत्येव सुप्रतीको हि नित्यशः।
अथाब्रवीच्च तं भ्राता सुप्रतीकं विभावसुः ॥१७॥

सुप्रतीक प्रतिदिन बँटवारेके लिये आग्रह करते ही रहते थे। तब एक दिन बड़े भाई विभावसुने सुप्रतीकसे कहा—॥१७॥

विभागं बहवो मोहात् कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः।
ततो विभक्तास्त्वन्योन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः ॥१८॥

'भाई! बहुत-से मनुष्य मोहवश सदा धनका बँटवारा कर लेनेकी इच्छा रखते हैं। तदनन्तर बँटवारा हो जानेपर धनके मोहमें फँसकर वे एक-दूसरेके विरोधी हो परस्पर क्रोध करने लगते हैं ॥ १८ ॥

ततः स्वार्थपरान् मूढान् पृथग्भूतान् स्वकैर्धनैः।
विदित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः ॥१९॥

'वे स्वार्थपरायण मूढ़ मनुष्य अपने धनके साथ जब अलग-अलग हो जाते हैं, तब उनकी यह अवस्था जानकर शत्रु भी मित्ररूपमें आकर मिलते और उनमें भेद डालते रहते हैं ॥ १९ ॥

विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते ॥२०॥

'दूसरे लोग, उनमें फूट हो गयी है, यह जानकर उनके छिद्र देखा करते हैं एवं छिद्र मिल जानेपर उनमें परस्पर वैर बढ़ानेके लिये स्वयं बीचमें आ पड़ते हैं। इसलिये जो लोग अलग-अलग होकर आपसमें फूट पैदा कर लेते हैं, उनका शीघ्र ही ऐसा विनाश हो जाता है, जिसकी कहीं तुलना नहीं है ॥ २० ॥

तस्माद् विभागं भ्रातॄणां न प्रशंसन्ति साधवः।
गुरुशास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाभिशङ्किनाम् ॥२१॥

'अतः साधु-पुरुष भाइयोंके बिलगाव या बँटवारेकी प्रशंसा नहीं करते; क्योंकि इस प्रकार बँट जानेवाले भाई गुरुस्वरूप शास्त्रकी अलङ्घनीय आज्ञाके अधीन नहीं रह जाते और एक दूसरेको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगते हैं ॥ २१ ॥*

नियन्तुं न हि शक्यस्त्वं भेदतो धनमिच्छसि।
यस्मात् तस्मात् सुप्रतीक हस्तित्वं समवाप्स्यसि ॥२२॥

'सुप्रतीक! तुम्हें वशमें करना असम्भव हो रहा है और तुम भेद-भावके कारण ही बँटवारा करके धन लेना चाहते हो, इसलिये तुम्हें हाथीकी योनिमें जन्म लेना पड़ेगा' ॥२२॥

शप्तस्त्वेवं सुप्रतीको विभावसुमथाब्रवीत्।
त्वमप्यन्तर्जलचरः कच्छपः सम्भविष्यसि ॥२३॥

इस प्रकार शाप मिलनेपर सुप्रतीकने विभावसुसे कहा—'तुम भी पानीके भीतर विचरनेवाले कछुए होओगे' ॥ २३ ॥

एवमन्योन्यशापात् तौ सुप्रतीकविभावसू।
गजकच्छपतां प्राप्तावर्थार्थं मूढचेतसौ ॥२४॥

इस प्रकार सुप्रतीक और विभावसु मुनि एक दूसरेके शापसे हाथी और कछुएकी योनिमें पड़े हैं। धनके लिये उनके मनमें मोह छा गया था ॥ २४ ॥

रोषदोषानुषङ्गेण तिर्यग्योनिगतावुभौ।
परस्परद्वेषरतौ प्रमाणबलदर्पितौ ॥२५॥
सरस्यस्मिन् महाकायौ पूर्ववैरानुसारिणौ।
तयोरन्यतरः श्रीमान् समुपैति महागजः ॥२६॥
यस्य बृंहितशब्देन कूर्मोऽप्यन्तर्जलेशयः।
उत्थितोऽसौ महाकायः कृत्स्नं विक्षोभयन् सरः ॥२७॥

रोष और लोभरूपी दोषके सम्बन्धसे उन दोनोंको तिर्यक्-योनिमें जाना पड़ा है। वे दोनों विशालकाय जन्तु पूर्वजन्मके वैरका अनुसरण करके अपनी विशालता और बलके घमण्डमें चूर हो एक-दूसरेसे द्वेष रखते हुए इस सरोवरमें रहते हैं। इन दोनोंमें एक जो सुन्दर महान् गजराज है, वह जब सरोवरके तटपर आता है, तब उसके चिग्घाड़नेकी आवाज सुनकर जलके भीतर शयन करनेवाला विशालकाय कछुआ

* 'कनिष्ठान् पुत्रवत् पश्येज्ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः' अर्थात् 'बड़ा भाई पिताके समान होता है। वह अपने छोटे भाइयोंको पुत्रके समान देखे।' यह शास्त्रकी आज्ञा है। जिनमें फूट हो जाती है, वे पीछे इस आज्ञाका पालन नहीं कर पाते।

भी पानीसे ऊपर उठता है । उस समय वह सारे सरोवरको मथ डालता है ॥ २५–२७ ॥

यं दृष्ट्वा वेष्टितकरः पतत्येष गजो जलम् ।
दन्तहस्ताग्रलाङ्गूलपादवेगेन वीर्यवान् ॥२८॥
विक्षोभयंस्ततो नागः सरो बहुझषाकुलम् ।
कूर्मोऽप्यभ्युद्यतशिरा युद्धायाभ्येति वीर्यवान् ॥२९॥

उसे देखते ही यह पराक्रमी हाथी अपनी सूँड़ लपेटे हुए जलमें टूट पड़ता है तथा दाँत, सूँड़, पूँछ और पैरोंके वेगसे असंख्य मछलियोंसे भरे हुए समूचे सरोवरमें हलचल मचा देता है । उस समय पराक्रमी कच्छप भी शिर उठाकर युद्धके लिये निकट आ जाता है ॥ २८-२९ ॥

षडुच्छ्रितो योजनानि गजस्तद्द्विगुणायतः ।
कूर्मस्त्रियोजनोत्सेधो दशयोजनमण्डलः ॥३०॥

हाथीका शरीर छः योजन ऊँचा और बारह योजन लंबा है । कछुआ तीन योजन ऊँचा और दस योजन गोल है ॥३०॥

तावुभौ युद्धसम्मत्तौ परस्परवधैषिणौ ।
उपयुज्याशु कर्मेदं साधयेप्सितमात्मनः ॥३१॥

वे दोनों एक दूसरेको मारनेकी इच्छासे युद्धके लिये मतवाले बने रहते हैं । तुम शीघ्र जाकर उन्हीं दोनोंको भोजनके उपयोगमें लाओ और अपने इस अभीष्ट कार्यका साधन करो ॥ ३१ ॥

महाभ्रघनसंकाशं तं भुक्त्वामृतमानय ।
महागिरिसमप्रख्यं घोररूपं च हस्तिनम् ॥३२॥

कछुआ महान् मेघ-खण्डके समान है और हाथी भी महान् पर्वतके समान भयंकर है । उन्हीं दोनोंको खाकर अमृत ले आओ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्त्वा गरुडं सोऽथ माङ्गल्यमकरोत् तदा ।
युध्यतः सह देवैस्ते युद्धे भवतु मङ्गलम् ॥३३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! कश्यपजी गरुडसे ऐसा कहकर उस समय उनके लिये मङ्गल मनाते हुए बोले—'गरुड ! युद्धमें देवताओंके साथ लड़ते हुए तुम्हारा मङ्गल हो॥

पूर्णकुम्भो द्विजा गावो यच्चान्यत् किंचिदुत्तमम् ।
शुभं स्वस्त्ययनं चापि भविष्यति तवाण्डज ॥३४॥

'पक्षिप्रवर ! भरा हुआ कलश, ब्राह्मण, गौएँ तथा और जो कुछ भी माङ्गलिक वस्तुएँ हैं, वे तुम्हारे लिये कल्याणकारी होंगी॥

युध्यमानस्य संग्रामे देवैः सार्धं महाबल ।
ऋचो यजूंषि सामानि पवित्राणि हवींषि च ॥३५॥
रहस्यानि च सर्वाणि सर्वे वेदाश्च ते बलम् ।
इत्युक्तो गरुडः पित्रा गतस्तं ह्रदमन्तिकात् ॥३६॥

'महाबली पक्षिराज ! संग्राममें देवताओंके साथ युद्ध करते समय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, पवित्र हविष्य, सम्पूर्ण रहस्य तथा सभी वेद तुम्हें बल प्रदान करें ।' पिताके ऐसा कहनेपर गरुड उस सरोवरके निकट गये ॥ ३५-३६ ॥

अपश्यन्निर्मलजलं नानापक्षिसमाकुलम् ।
स तत् स्मृत्वा पितुर्वाक्यं भीमवेगोऽन्तरिक्षगः ॥३७॥
नखेन गजमेकेन कूर्ममेकेन चाक्षिपत् ।
समुत्पपात चाकाशं तत उच्चैर्विहंगमः ॥३८॥

उन्होंने देखा, सरोवरका जल अत्यन्त निर्मल है और नाना प्रकारके पक्षी इसमें सब ओर चहचहा रहे हैं । तदनन्तर भयंकर वेगशाली अन्तरिक्षगामी गरुडने पिताके वचनका स्मरण करके एक पंजेसे हाथीको और दूसरेसे कछुएको पकड़ लिया । फिर वे पक्षिराज आकाशमें ऊँचे उड़ गये ॥ ३७-३८॥

सोऽलम्बं तीर्थमासाद्य देववृक्षानुपागमत् ।
ते भीताः समकम्पन्त तस्य पक्षानिलाहताः ॥३९॥
न नो भञ्ज्यादिति तदा दिव्याः कनकशाखिनः ।
प्रचलाङ्गान् स तान् दृष्ट्वा मनोरथफलद्रुमान् ॥४०॥
अन्यानतुलरूपाङ्गानुपचक्राम खेचरः ।
काञ्चनै राजतैश्चैव फलैर्वैदूर्यशाखिनः ।
सागराम्बुपरिक्षिप्तान् भ्राजमानान् महाद्रुमान् ॥४१॥

उड़कर वे फिर अलम्बतीर्थमें जा पहुँचे । वहाँ (मेरुगिरिपर) बहुत-से दिव्य वृक्ष अपनी सुवर्णमय शाखा-प्रशाखाओंके साथ लहलहा रहे थे । जब गरुड उनके पास गये, तब उनके पंखोंकी वायुसे आहत होकर वे सभी दिव्य वृक्ष इस भयसे कम्पित हो उठे कि कहीं ये हमें तोड़ न डालें । गरुड रुचिके अनुसार फल देनेवाले उन कल्पवृक्षोंको काँपते देख अनुपम रूप-रंग तथा अङ्गोंवाले दूसरे-दूसरे महावृक्षोंकी ओर चल दिये । उनकी शाखाएँ वैदूर्य मणिकी थीं और वे सुवर्ण तथा रजतमय फलोंसे सुशोभित हो रहे थे । वे सभी महावृक्ष समुद्रके जलसे अभिषिक्त होते रहते थे ॥ ३९-४१॥

तमुवाच खगश्रेष्ठं तत्र रौहिणपादपः ।
अतिप्रवृद्धः सुमहानापतन्तं मनोजवम् ॥४२॥

वहीं एक बहुत बड़ा विशाल वटवृक्ष था । उसने मनके समान तीव्र वेगसे आते हुए पक्षियोंके सरदार गरुडसे कहा ॥

रौहिण उवाच

यैषा मम महाशाखा शतयोजनमायता ।
एतामास्थाय शाखां त्वं खादेमौ गजकच्छपौ ॥४३॥

वटवृक्ष बोला—पक्षिराज ! यह जो मेरी सौ योजन तक फैली हुई सबसे बड़ी शाखा है, इसीपर बैठकर तुम इस हाथी और कछुएको खा लो ॥ ४३ ॥

ततो द्रुमं पतगसहस्रसेवितं
महीधरप्रतिमवपुः प्रकम्पयन्।
खगोत्तमो द्रुतमभिपत्य वेगवान्
बभञ्ज तामविरलपत्रसंचयाम् ॥४४॥

तब पर्वतके समान विशाल शरीरवाले, पक्षियोंमें श्रेष्ठ, वेगशाली गरुड सहस्रों विहंगमोंसे सेवित उस महान् वृक्षको कम्पित करते हुए तुरंत उसपर जा बैठे। बैठते ही अपने असह्य वेगसे उन्होंने सघन पल्लवोंसे सुशोभित उस विशाल शाखाको तोड़ डाला ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

गरुडका कश्यपजीसे मिलना, उनकी प्रार्थनासे वालखिल्य ऋषियोंका शाखा छोड़कर तपके लिये प्रस्थान और गरुडका निर्जन पर्वतपर उस शाखाको छोड़ना

सौतिरुवाच

स्पृष्टमात्रा तु पद्भ्यां सा गरुडेन बलीयसा।
अभज्यत तरोः शाखा भग्नां चैनामधारयत् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकादि महर्षियो! महाबली गरुडके पैरोंका स्पर्श होते ही उस वृक्षकी वह महाशाखा टूट गयी; किंतु उस टूटी हुई शाखाको उन्होंने फिर पकड़ लिया ॥

तां भङ्क्त्वा स महाशाखां स्मयमानो विलोकयन्।
अथात्र लम्बतोऽपश्यद् वालखिल्यानधोमुखान् ॥ २ ॥

उस महाशाखाको तोड़कर गरुड मुसकराते हुए उसकी ओर देखने लगे। इतनेहीमें उनकी दृष्टि वालखिल्य नामवाले महर्षियोंपर पड़ी, जो नीचे मुँह किये उसी शाखामें लटक रहे थे ॥

ऋषयो ह्यत्र लम्बन्ते न हन्यामिति तानृषीन्।
तपोरतान् लम्बमानान् ब्रह्मर्षीनभिवीक्ष्य सः ॥ ३ ॥
हन्यादेतान् सम्पतन्ती शाखेत्यथ विचिन्त्य सः।
नखैर्दृढतरं वीरः संगृह्य गजकच्छपौ ॥ ४ ॥
स तद्विनाशसंत्रासादभिपत्य खगाधिपः।
शाखामास्येन जग्राह तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ५ ॥

तपस्यामें तत्पर हुए उन ब्रह्मर्षियोंको वटकी शाखामें लटकते देख गरुडने सोचा 'इसमें ऋषि लटक रहे हैं। मेरे द्वारा इनका वध न हो जाय। यह गिरती हुई शाखा इन ऋषियोंका अवश्य वध कर डालेगी।' यह विचारकर वीरवर पक्षिराज गरुडने हाथी और कछुएको तो अपने पंजोंसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया और उन महर्षियोंके विनाशके भयसे झपटकर वह शाखा अपनी चोंचमें ले ली। उन मुनियोंकी रक्षाके लिये ही गरुडने ऐसा अद्भुत पराक्रम किया था ॥ ३—५ ॥

अतिदैवं तु तत् तस्य कर्म दृष्ट्वा महर्षयः।
विस्मयोत्कम्पहृदया नाम चक्रुर्महाखगे ॥ ६ ॥

जिसे देवता भी नहीं कर सकते थे, गरुडका ऐसा अलौकिक कर्म देखकर वे महर्षि आश्चर्यसे चकित हो उठे। उनके हृदयमें कम्प छा गया और उन्होंने उस महान् पक्षीका नाम इस प्रकार रक्खा (उनके गरुड नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की)—॥ ६ ॥

गुरुं भारं समासाद्योड्डीन एष विहंगमः।
गरुडस्तु खगश्रेष्ठस्तस्मात् पन्नगभोजनः ॥ ७ ॥

ये आकाशमें विचरनेवाले सर्पभोजी पक्षिराज भारी भार लेकर उड़े हैं; इसलिये (गुरुम् आदाय उड्डीन इति 'गरुडः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) ये गरुड कहलायेंगे ॥ ७ ॥

ततः शनैः पर्यपतत् पक्षैः शैलान् प्रकम्पयन्।
एवं सोऽभ्यपतद् देशान् बहून् सगजकच्छपः ॥ ८ ॥

तदनन्तर गरुड अपने पंखोंकी हवासे बड़े-बड़े पर्वतोंको कम्पित करते हुए धीरे-धीरे उड़ने लगे। इस प्रकार वे हाथी और कछुएको साथ लिये हुए ही अनेक देशोंमें उडते फिरे॥८॥

दयार्थं वालखिल्यानां न च स्थानमविन्दत।
स गत्वा पर्वतश्रेष्ठं गन्धमादनमञ्जसा ॥ ९ ॥

वालखिल्य ऋषियोंके ऊपर दयाभाव होनेके कारण ही वे कहीं बैठ न सके और उड़ते-उड़ते अनायास ही पर्वतश्रेष्ठ गन्धमादनपर जा पहुँचे ॥ ९ ॥

ददर्श कश्यपं तत्र पितरं तपसि स्थितम्।
ददर्श तं पिता चापि दिव्यरूपं विहंगमम् ॥१०॥
तेजोवीर्यबलोपेतं मनोमारुतरंहसम्।
शैलशृङ्गप्रतीकाशं ब्रह्मदण्डमिवोद्यतम् ॥११॥

वहाँ उन्होंने तपस्यामें लगे हुए अपने पिता कश्यपजीको देखा। पिताने भी अपने पुत्रको देखा। पक्षिराजका स्वरूप दिव्य था। वे तेज, पराक्रम और बलसे सम्पन्न तथा मन और वायुके समान वेगशाली थे। उन्हें देखकर पर्वतके शिखरका भान होता था। वे उठे हुए ब्रह्मदण्डके समान जान पड़ते थे ॥१०—११॥

अचिन्त्यमनभिध्येयं सर्वभूतभयंकरम्।
महावीर्यधरं रौद्रं साक्षादग्निमिवोद्यतम् ॥१२॥

उनका स्वरूप ऐसा था, जो चिन्तन और ध्यानमें नहीं आ सकता था। वे समस्त प्राणियोंके लिये भय उत्पन्न कर रहे थे। उन्होंने अपने भीतर महान् पराक्रम धारण कर रक्खा था। वे बहुत भयंकर प्रतीत होते थे। जान पड़ता था, उनके रूपमें स्वयं अग्निदेव प्रकट हो गये हैं॥ १२॥

अप्रधृष्यमजेयं च देवदानवराक्षसैः।
भेत्तारं गिरिशृङ्गाणां समुद्रजलशोषणम्॥१३॥

देवता, दानव तथा राक्षस कोई भी न तो उन्हें दबा सकता था और न जीत ही सकता था। वे पर्वत-शिखरोंको विदीर्ण करने और समुद्रके जलको सोख लेनेकी शक्ति रखते थे॥

लोकसंलोडनं घोरं कृतान्तसमदर्शनम्।
तमागतमभिप्रेक्ष्य भगवान् कश्यपस्तदा।
विदित्वा चास्य संकल्पमिदं वचनमब्रवीत्॥१४॥

वे समस्त संसारको भयसे कम्पित किये देते थे। उनकी मूर्ति बड़ी भयंकर थी। वे साक्षात् यमराजके समान दिखायी देते थे। उन्हें आया देख उस समय भगवान् कश्यपने उनका संकल्प जानकर इस प्रकार कहा॥ १४॥

कश्यप उवाच

पुत्र मा साहसं कार्षीर्मा सद्यो लप्स्यसे व्यथाम्।
मा त्वां दहेयुः संक्रुद्धा वालखिल्या मरीचिपाः॥१५॥

कश्यपजी बोले—बेटा! कहीं दुःसाहसका काम न कर बैठना, नहीं तो तत्काल भारी दुःखमें पड़ जाओगे। सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य महर्षि कुपित होकर तुम्हें भस्म न कर डालें॥ १५॥

सौतिरुवाच

ततः प्रसादयामास कश्यपः पुत्रकारणात्।
वालखिल्यान् महाभागांस्तपसा हतकल्मषान्॥१६॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर पुत्रके लिये महर्षि कश्यपने तपस्यासे निष्पाप हुए महाभाग वालखिल्य मुनियोंको इस प्रकार प्रसन्न किया॥ १६॥

कश्यप उवाच

प्रजाहितार्थमारम्भो गरुडस्य तपोधनाः।
चिकीर्षति महत्कर्म तदनुज्ञातुमर्हथ॥१७॥

कश्यपजी बोले—तपोधनो! गरुडका यह उद्योग प्रजाके हितके लिये हो रहा है। ये महान् पराक्रम करना चाहते हैं। आपलोग इन्हें आज्ञा दें॥ १७॥

सौतिरुवाच

एवमुक्ता भगवता मुनयस्ते समभ्ययुः।
मुक्त्वा शाखां गिरिं पुण्यं हिमवन्तं तपोऽर्थिनः॥१८॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भगवान् कश्यपके इस प्रकार अनुरोध करनेपर वे वालखिल्य मुनि उस शाखाको छोड़कर तपस्या करनेके लिये परम पुण्यमय हिमालयपर चले गये॥

ततस्तेष्वपयातेषु पितरं विनतासुतः।
शाखाव्याक्षिप्तवदनः पर्यपृच्छत कश्यपम्॥१९॥

उनके चले जानेपर विनतानन्दन गरुडने, जो मुँहमें शाखा लिये रहनेके कारण कठिनाईसे बोल पाते थे, अपने पिता कश्यपजीसे पूछा—॥ १९॥

भगवन् क्व विमुञ्चामि तरोः शाखामिमामहम्।
वर्जितं मानुषैर्देशमाख्यातु भगवान् मम॥२०॥

'भगवन्! इस वृक्षकी शाखाको मैं कहाँ छोड़ दूँ? आप मुझे ऐसा कोई स्थान बतावें जहाँ बहुत दूरतक मनुष्य न रहते हों॥

ततो निःपुरुषं शैलं हिमसंरुद्धकन्दरम्।
अगम्यं मनसाप्यन्यैस्तस्याचख्यौ स कश्यपः॥२१॥

तब कश्यपजीने उन्हें एक ऐसा पर्वत बता दिया, जो सर्वथा निर्जन था। जिसकी कन्दराएँ बर्फसे ढँकी हुई थीं और जहाँ दूसरा कोई मनसे भी नहीं पहुँच सकता था॥२१॥

तं पर्वतं महाकुक्षिमुद्दिश्य स महाखगः।
जवेनाभ्यपतत् तार्क्ष्यः सशाखागजकच्छपः॥२२॥

उस बड़े पेटवाले पर्वतका पता पाकर महान् पक्षी गरुड उसीको लक्ष्य करके शाखा, हाथी और कछुएसहित बड़े वेगसे उड़े॥ २२॥

न तां वध्री परिणहेच्छतचर्मा महातनुम्।
शाखिनो महतीं शाखां यां प्रगृह्य ययौ खगः॥२३॥

गरुड वटवृक्षकी जिस विशाल शाखाको चोंचमें लेकर जा रहे थे, वह इतनी मोटी थी कि सौ पशुओंके चमड़ोंसे बनायी हुई रस्सी भी उसे लपेट नहीं सकती थी॥ २३॥

स ततः शतसाहस्रं योजनान्तरमागतः।
कालेन नातिमहता गरुडः पतगेश्वरः॥२४॥

पक्षिराज गरुड उसे लेकर थोड़ी ही देरमें वहाँसे एक लाख योजन दूर चले आये॥ २४॥

स तं गत्वा क्षणेनैव पर्वतं वचनात् पितुः।
अमुञ्चन्महतीं शाखां सस्वनं तत्र खेचरः॥२५॥

पिताके आदेशसे क्षणभरमें उस पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने वह विशाल शाखा वहीं छोड़ दी। गिरते समय उससे बड़ा भारी शब्द हुआ॥ २५॥

पक्षानिलहतश्चास्य प्राकम्पत स शैलराट्।
मुमोच पुष्पवर्षं च समागलितपादपः॥२६॥

वह पर्वतराज उनके पङ्खोंकी वायुसे आहत होकर काँप उठा। उसपर उगे हुए बहुतेरे वृक्ष गिर पड़े और वह फूलोंकी वर्षा-सी करने लगा॥ २६॥

शृङ्गाणि च व्यशीर्यन्त गिरेस्तस्य समन्ततः।
मणिकाञ्चनचित्राणि शोभयन्ति महागिरिम् ॥२७॥

उस पर्वतके मणिकाञ्चनमय विचित्र शिखर, जो उस महान् शैलकी शोभा बढ़ा रहे थे, सब ओरसे चूर-चूर होकर गिर पड़े ॥

शाखिनो बहवश्चापि शाखयाभिहतास्तया।
काञ्चनैः कुसुमैर्भान्ति विद्युत्वन्त इवाम्बुदाः ॥२८॥

उस विशाल शाखासे टकराकर बहुत-से वृक्ष भी धराशायी हो गये। वे अपने सुवर्णमय फूलोंके कारण बिजलीसहित मेघोंकी भाँति शोभा पाते थे ॥ २८ ॥

ते हेमविकचा भूमौ युताः पर्वतधातुभिः।
व्यराजञ्छाखिनस्तत्र सूर्यांशुप्रतिरञ्जिताः ॥२९॥

सुवर्णमय पुष्पवाले वे वृक्ष धरतीपर गिरकर पर्वतके गेरू आदि धातुओंसे संयुक्त हो सूर्यकी किरणोंद्वारा रँगे हुए-से सुशोभित होते थे ॥ २९ ॥

ततस्तस्य गिरेः शृङ्गमास्थाय स खगोत्तमः।
भक्षयामास गरुडस्तावुभौ गजकच्छपौ ॥३०॥

तदनन्तर पक्षिराज गरुडने उसी पर्वतकी एक चोटीपर बैठकर उन दोनों—हाथी और कछुएको खाया ॥ ३० ॥

तावुभौ भक्षयित्वा तु स तार्क्ष्यः कूर्मकुञ्जरौ।
ततः पर्वतकूटाग्रादुत्पपात महाजवः ॥३१॥

इस प्रकार कछुए और हाथी दोनोंको खाकर महान् वेगशाली गरुड पर्वतकी उस चोटीसे ही ऊपरकी ओर उड़े ॥

प्रावर्तन्ताथ देवानामुत्पाता भयशंसिनः।
इन्द्रस्य वज्रं दयितं प्रजज्वाल भयात् ततः ॥३२॥

उस समय देवताओंके यहाँ बहुत-से भयसूचक उत्पात होने लगे। देवराज इन्द्रका प्रिय आयुध वज्र भयसे जल उठा॥

सधूमा न्यपतत् सार्चिर्दिवोल्का नभसश्च्युता।
तथा वसूनां रुद्राणामादित्यानां च सर्वशः ॥३३॥
साध्यानां मरुतां चैव ये चान्ये देवतागणाः।
स्वं स्वं प्रहरणं तेषां परस्परमुपाद्रवत् ॥३४॥
अभूतपूर्वं संग्रामे तदा देवासुरेऽपि च।
ववुर्वाताः सनिर्घाताः पेतुरुल्काः सहस्रशः ॥३५॥

आकाशसे दिनमें ही धूएँ और लपटोंके साथ उल्का गिरने लगी। वसु, रुद्र, आदित्य, साध्य, मरुद्गण तथा और जो-जो देवता हैं, उन सबके आयुध परस्पर इस प्रकार उपद्रव करने लगे, जैसा पहले कभी देखनेमें नहीं आया था। देवासुर-संग्रामके समय भी ऐसी अनहोनी बात नहीं हुई थी। उस समय वज्रकी गड़गड़ाहटके साथ बड़े जोरकी आँधी उठने लगी। हजारों उल्काएँ गिरने लगीं ॥ ३३–३५ ॥

निरभ्रमेव चाकाशं प्रजगर्ज महास्वनम्।
देवानामपि यो देवः सोऽप्यवर्षत शोणितम् ॥३६॥

आकाशमें बादल नहीं थे तो भी बड़ी भारी आवाजमें विकट गर्जना होने लगी। देवताओंके भी देवता पर्जन्य रक्तकी वर्षा करने लगे ॥ ३६ ॥

मम्लुर्माल्यानि देवानां नेशुस्तेजांसि चैव हि।
उत्पातमेघा रौद्राश्च ववृषुः शोणितं बहु ॥३७॥

देवताओंके दिव्य पुष्पहार मुरझा गये, उनके तेज नष्ट होने लगे। उत्पातकालिक बहुत-से भयंकर मेघ प्रकट हो अधिकमात्रामें रुधिरकी वर्षा करने लगे ॥ ३७ ॥

रजांसि मुकुटान्येषामुत्थितानि व्यधर्षयन्।
ततस्त्राससमुद्विग्नः सह देवैः शतक्रतुः।
उत्पातान् दारुणान् पश्यन्नित्युवाच बृहस्पतिम् ॥३८॥

बहुत-सी धूलें उड़कर देवताओंके मुकुटोंको मलिन करने लगीं। ये भयंकर उत्पात देखकर देवताओंसहित इन्द्र भयसे व्याकुल हो गये और बृहस्पतिजीसे इस प्रकार बोले ॥३८॥

इन्द्र उवाच

किमर्थं भगवन् घोरा उत्पाताः सहसोत्थिताः।
न च शत्रुं प्रपश्यामि युधि यो नः प्रधर्षयेत् ॥३९॥

इन्द्रने पूछा—भगवन्! सहसा ये भयंकर उत्पात क्यों होने लगे हैं? मैं ऐसा कोई शत्रु नहीं देखता, जो युद्धमें हम देवताओंका तिरस्कार कर सके ॥ ३९ ॥

बृहस्पतिरुवाच

तवापराधाद् देवेन्द्र प्रमादाच्च शतक्रतो।
तपसा वालखिल्यानां महर्षीणां महात्मनाम् ॥४०॥
कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः।
हर्तुं सोममभिप्राप्तो बलवान् कामरूपधृक् ॥४१॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवराज इन्द्र! तुम्हारे ही अपराध और प्रमादसे तथा महात्मा वालखिल्य महर्षियोंके तपके प्रभावसे कश्यप मुनि और विनताके पुत्र पक्षिराज गरुड अमृतका अपहरण करनेके लिये आ रहे हैं। वे बड़े बलवान् और इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ हैं ॥ ४०-४१ ॥

समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्तुं सोमं विहंगमः।
सर्वं सम्भावयाम्यस्मिन्नसाध्यमपि साधयेत् ॥४२॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ आकाशचारी गरुड अमृत हर ले जानेमें समर्थ हैं। मैं उनमें सब प्रकारकी शक्तियोंके होनेकी सम्भावना करता हूँ। वे असाध्य कार्य भी सिद्ध कर सकते हैं ॥ ४२ ॥

सौतिरुवाच

श्रुत्वैतद् वचनं शक्रः प्रोवाचामृतरक्षिणः।
महावीर्यबलः पक्षी हर्तुं सोममिहोद्यतः ॥४३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—बृहस्पतिजीकी यह बात सुनकर देवराज इन्द्र अमृतकी रक्षा करनेवाले देवताओंसे

बोले—'रक्षको ! महान् पराक्रमी और बलवान् पक्षी गरुड यहाँसे अमृत हर ले जानेको उद्यत हैं ॥ ४३ ॥

युष्मान् सम्बोधयाम्येष यथा न स हरेद् बलात् ।
अतुलं हि बलं तस्य बृहस्पतिरुवाच ह ॥४४॥

'मैं तुम्हें सचेत कर देता हूँ, जिससे वे बलपूर्वक इस अमृतको न ले जा सकें । बृहस्पतिजीने कहा है कि उनके बलकी कहीं तुलना नहीं है' ॥ ४४ ॥

तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः ।
परिवार्यामृतं तस्थुर्वज्री चेन्द्रः प्रतापवान् ॥४५॥

इन्द्रकी यह बात सुनकर देवता बड़े आश्चर्यमें पड़ गये और यत्नपूर्वक अमृतको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। प्रतापी इन्द्र भी हाथमें वज्र लेकर वहाँ डट गये ॥ ४५ ॥

धारयन्तो विचित्राणि काञ्चनानि मनस्विनः ।
कवचानि महार्हाणि वैदूर्यविकृतानि च ॥४६॥

मनस्वी देवता विचित्र सुवर्णमय तथा बहुमूल्य वैदूर्य मणिमय कवच धारण करने लगे ॥ ४६ ॥

चर्माण्यपि च गात्रेषु भानुमन्ति दृढानि च ।
विविधानि च शस्त्राणि घोररूपाण्यनेकशः ॥४७॥
शिततीक्ष्णाग्रधाराणि समुद्यम्य सुरोत्तमाः ।
सविस्फुलिङ्गज्वालानि सधूमानि च सर्वशः ॥४८॥
चक्राणि परिघांश्चैव त्रिशूलानि परश्वधान् ।
शक्तीश्च विविधास्तीक्ष्णाः करवालांश्च निर्मलान् ।
स्वदेहरूपाण्यादाय गदाश्चोग्रप्रदर्शनाः ॥४९॥

उन्होंने अपने अङ्गोंमें यथास्थान मजबूत और चमकीले चमड़ेके बने हुए हाथके मोजे आदि धारण किये । नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्र भी ले लिये । उन सब आयुधोंकी धार बहुत तीखी थी। वे श्रेष्ठ देवता सब प्रकारके आयुध लेकर युद्धके लिये उद्यत हो गये । उनके पास ऐसे-ऐसे चक्र थे, जिनसे सब ओर आगकी चिनगारियाँ और धूमसहित लपटें प्रकट होती थीं । उनके सिवा परिघ, त्रिशूल, फरसे, भाँति-भाँतिकी तीखी शक्तियाँ, चमकीले खड्ग और भयंकर दिखायी देनेवाली गदाएँ भी थीं । अपने शरीरके अनुरूप इन अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर देवता डट गये ॥ ४७—४९ ॥

तैः शस्त्रैर्भानुमद्भिस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
भानुमन्तः सुरगणास्तस्थुर्विगतकल्मषाः ॥५०॥

दिव्य आभूषणोंसे विभूषित निष्पाप देवगण तेजस्वी अस्त्र-शस्त्रोंके साथ अधिक प्रकाशमान हो रहे थे ॥ ५० ॥

अनुपमबलवीर्यतेजसो
धृतमनसः परिरक्षणेऽमृतस्य ।
असुरपुरविदारणाः सुरा
ज्वलनसमिद्धवपुःप्रकाशिनः ॥५१॥

उनके बल, पराक्रम और तेज अनुपम थे, जो असुरोंके नगरोंका विनाश करनेमें समर्थ एवं अग्निके समान देदीप्यमान शरीरसे प्रकाशित होनेवाले थे; उन्होंने अमृतकी रक्षाके लिये अपने मनमें दृढ निश्चय कर लिया था ॥ ५१ ॥

इति समरवरं सुराः स्थितास्ते
परिघसहस्रशतैः समाकुलम् ।
विगलितमिव चाम्बरान्तरं
तपनमरीचिविकाशितं बभासे ॥५२॥

इस प्रकार वे तेजस्वी देवता उस श्रेष्ठ समरके लिये तैयार खड़े थे । वह रणाङ्गण लाखों परिघ आदि आयुधोंसे व्याप्त होकर सूर्यकी किरणोंद्वारा प्रकाशित एवं टूटकर गिरे हुए दूसरे आकाशके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

इन्द्रके द्वारा वालखिल्योंका अपमान और उनकी तपस्याके प्रभावसे अरुण एवं गरुडकी उत्पत्ति

शौनक उवाच

कोऽपराधो महेन्द्रस्य कः प्रमादश्च सूतज ।
तपसा वालखिल्यानां सम्भूतो गरुडः कथम् ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन ! इन्द्रका क्या अपराध और कौन-सा प्रमाद था ? वालखिल्य मुनियोंकी तपस्याके प्रभावसे गरुडकी उत्पत्ति कैसे हुई थी ? ॥ १ ॥

कश्यपस्य द्विजातेश्च कथं वै पक्षिराट् सुतः ।
अधृष्यः सर्वभूतानामवध्यश्चाभवत् कथम् ॥ २ ॥

कश्यपजी तो ब्राह्मण हैं, उनका पुत्र पक्षिराज कैसे हुआ ? साथ ही वह समस्त प्राणियोंके लिये दुर्धर्ष एवं अवध्य कैसे हो गया ? ॥ २ ॥

कथं च कामचारी स कामवीर्यश्च खेचरः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुराणे यदि पठ्यते ॥ ३ ॥

उस पक्षीमें इच्छानुसार चलने तथा रुचिके अनुसार पराक्रम करनेकी शक्ति कैसे आ गयी ? मैं यह सब सुनना चाहता हूँ। यदि पुराणमें कहीं इसका वर्णन हो तो सुनाइये ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

विषयोऽयं पुराणस्य यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
शृणु मे वदतः सर्वमेतत् संक्षेपतो द्विज ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन् ! आप मुझसे जो पूछ रहे हैं, वह पुराणका ही विषय है । मैं संक्षेपमें ये सब बातें बता रहा हूँ, सुनिये ॥ ४ ॥

यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापतेः ।
साहाय्यमृषयो देवा गन्धर्वाश्च ददुः किल ॥ ५ ॥

कहते हैं, प्रजापति कश्यपजी पुत्रकी कामनासे यज्ञ कर रहे थे, उसमें ऋषियों, देवताओं तथा गन्धर्वोंने भी उन्हें बड़ी सहायता दी ॥ ५ ॥

तत्रेध्मानयने शक्रो नियुक्तः कश्यपेन ह ।
मुनयो वालखिल्याश्च ये चान्ये देवतागणाः ॥ ६ ॥

उस यज्ञमें कश्यपजीने इन्द्रको समिधा लानेके कामपर नियुक्त किया था । वालखिल्य मुनियों तथा अन्य देवगणोंको भी यही कार्य सौंपा गया था ॥ ६ ॥

शक्रस्तु वीर्यसदृशमिध्मभारं गिरिप्रभम् ।
समुद्यम्यानयामास नातिकृच्छ्रादिव प्रभुः ॥ ७ ॥

इन्द्र शक्तिशाली थे । उन्होंने अपने बलके अनुसार लकड़ीका एक पहाड़-जैसा बोझ उठा लिया और उसे बिना कष्टके ही वे ले आये ॥ ७ ॥

अथापश्यदृषीन् ह्रस्वानङ्गुष्ठोदरवर्ष्मणः ।
पलाशवर्तिकामेकां वहतः संहतान् पथि ॥ ८ ॥

उन्होंने मार्गमें बहुत-से ऐसे ऋषियोंको देखा, जो कदमें बहुत ही छोटे थे । उनका सारा शरीर अङ्गूठेके मध्यभागके बराबर था । वे सब मिलकर पलाशकी एक बाती (छोटी-सी टहनी) लिये आ रहे थे ॥ ८ ॥

प्रलीनान् स्वेष्विवाङ्गेषु निराहारांस्तपोधनान् ।
क्लिश्यमानान् मन्दबलान् गोष्पदे सम्प्लुतोदके ॥ ९ ॥

उन्होंने आहार छोड़ रक्खा था । तपस्या ही उनका धन था । वे अपने अङ्गोंमें ही समाये हुए-से जान पड़ते थे । पानीसे भरे हुए गोखुरके लाँघनेमें भी उन्हें बड़ा क्लेश होता था । उनमें शारीरिक बल बहुत कम था ॥ ९ ॥

तान् सर्वान् विस्मयाविष्टो वीर्योन्मत्तः पुरन्दरः ।
अवहस्याभ्यगाच्छीघ्रं लङ्घयित्वावमन्य च ॥१०॥

अपने बलके घमंडमें मतवाले इन्द्रने आश्चर्य-चकित होकर उन सबको देखा और उनकी हँसी उड़ाते हुए वे अपमानपूर्वक उन्हें लाँघकर शीघ्रताके साथ आगे बढ़ गये ।१०।

तेऽथ रोषसमाविष्टाः सुभृशं जातमन्यवः ।
आरेभिरे महत् कर्म तदा शक्रभयंकरम् ॥११॥

इन्द्रके इस व्यवहारसे वालखिल्य मुनियोंको बड़ा रोष हुआ । उनके हृदयमें भारी क्रोधका उदय हो गया । अतः उन्होंने उस समय एक ऐसे महान् कर्मका आरम्भ किया, जिसका परिणाम इन्द्रके लिये भयंकर था ॥ ११ ॥

जुहुवुस्ते सुतपसो विधिवज्जातवेदसम् ।
मन्त्रैरुच्चावचैर्विप्रा येन कामेन तच्छृणु ॥१२॥

ब्राह्मणो ! वे उत्तम तपस्वी वालखिल्य मनमें जो कामना रखकर छोटे-बड़े मन्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक अग्निमें आहुति देते थे, वह बताता हूँ, सुनिये ॥ १२ ॥

कामवीर्यः कामगमो देवराजभयप्रदः ।
इन्द्रोऽन्यः सर्वदेवानां भवेदिति यतव्रताः ॥१३॥

संयमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे महर्षि यह संकल्प करते थे कि—'सम्पूर्ण देवताओंके लिये कोई दूसरा ही इन्द्र उत्पन्न हो, जो वर्तमान देवराजके लिये भयदायक, इच्छानुसार पराक्रम करनेवाला और अपनी रुचिके अनुसार चलनेकी शक्ति रखनेवाला हो ॥ १३ ॥

इन्द्राच्छतगुणः शौर्ये वीर्ये चैव मनोजवः ।
तपसो नः फलेनाद्य दारुणः सम्भवत्विति ॥१४॥

'शौर्य और वीर्यमें इन्द्रसे वह सौगुना बढ़कर हो । उसका वेग मनके समान तीव्र हो । हमारी तपस्याके फलसे अब ऐसा ही वीर प्रकट हो जो इन्द्रके लिये भयंकर हो' ॥ १४ ॥

तद् बुद्ध्वा भृशसंतप्तो देवराजः शतक्रतुः ।
जगाम शरणं तत्र कश्यपं संशितव्रतम् ॥१५॥

उनका यह संकल्प सुनकर सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण करनेवाले देवराज इन्द्रको बड़ा संताप हुआ और वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले कश्यपजीकी शरणमें गये ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा देवराजस्य कश्यपोऽथ प्रजापतिः ।
वालखिल्यानुपागम्य कर्मसिद्धिमपृच्छत ॥१६॥

देवराज इन्द्रके मुखसे उनका संकल्प सुनकर प्रजापति कश्यप वालखिल्योंके पास गये और उनसे उस कर्मकी सिद्धिके सम्बन्धमें प्रश्न किया ॥ १६ ॥

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्यूचुः सत्यवादिनः ।
तान् कश्यप उवाचेदं सान्त्वपूर्वं प्रजापतिः ॥१७॥

सत्यवादी महर्षि वालखिल्योंने 'हाँ ऐसी ही बात है' कहकर अपने कर्मकी सिद्धिका प्रतिपादन किया । तब प्रजापति कश्यपने उन्हें सान्त्वनापूर्वक समझाते हुए कहा—॥ १७ ॥

अयमिन्द्रस्त्रिभुवने नियोगाद् ब्रह्मणः कृतः ।
इन्द्रार्थे च भवन्तोऽपि यत्नवन्तस्तपोधनाः ॥१८॥

'तपोधनो ! ब्रह्माजीकी आज्ञासे ये पुरन्दर तीनों लोकोंके इन्द्र बनाये गये हैं और आपलोग भी दूसरे इन्द्रकी उत्पत्तिके लिये प्रयत्नशील हैं ॥ १८ ॥

न मिथ्या ब्रह्मणो वाक्यं कर्तुमर्हथ सत्तमाः।
भवतां हि न मिथ्यायं संकल्पो वै चिकीर्षितः ॥१९॥

'संत-महात्माओ! आप ब्रह्माजीका वचन मिथ्या न करें। साथ ही मैं यह भी चाहता हूँ कि आपके द्वारा किया हुआ यह अभीष्ट संकल्प भी मिथ्या न हो ॥ १९ ॥

भवत्वेष पतत्त्रीणामिन्द्रोऽतिबलसत्त्ववान्।
प्रसादः क्रियतामस्य देवराजस्य याचतः ॥२०॥

'अतः अत्यन्त बल और सत्त्वगुणसे सम्पन्न जो यह भावी पुत्र है, यह पक्षियोंका इन्द्र हो। देवराज इन्द्र आपके पास याचक बनकर आये हैं, आप इनपर अनुग्रह करें' ।२०।

एवमुक्ताः कश्यपेन वालखिल्यास्तपोधनाः।
प्रत्यूचुरभिसम्पूज्य मुनिश्रेष्ठं प्रजापतिम् ॥२१॥

महर्षि कश्यपके ऐसा कहनेपर तपस्याके धनी वालखिल्य मुनि उन मुनिश्रेष्ठ प्रजापतिका सत्कार करके बोले ॥ २१ ॥

वालखिल्या ऊचुः

इन्द्रार्थोऽयं समारम्भः सर्वेषां नः प्रजापते।
अपत्यार्थं समारम्भो भवतश्चायमीप्सितः ॥२२॥
तदिदं सफलं कर्म त्वयैव प्रतिगृह्यताम्।
तथा चैवं विधत्स्वात्र यथा श्रेयोऽनुपश्यसि ॥२३॥

वालखिल्योंने कहा—प्रजापते! हम सब लोगोंका यह अनुष्ठान इन्द्रके लिये हुआ था और आपका यह यज्ञसमारोह संतानके लिये अभीष्ट था। अतः इस फलसहित कर्मको आप ही स्वीकार करें और जिसमें सबकी भलाई दिखायी दे, वैसा ही करें ॥ २२-२३ ॥

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु देवी दाक्षायणी शुभा।
विनता नाम कल्याणी पुत्रकामा यशस्विनी ॥२४॥
तपस्तप्त्वा व्रतपरा स्नाता पुंसवने शुचिः।
उपचक्राम भर्तारं तामुवाचाथ कश्यपः ॥२५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इसी समय शुभलक्षणा दक्ष-कन्या कल्याणमयी विनता देवी, जो उत्तम यशसे सुशोभित थी, पुत्रकी कामनासे तपस्यापूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करने लगी। ऋतुकाल आनेपर जब वह स्नान करके शुद्ध हुई, तब अपने स्वामीकी सेवामें गयी। उस समय कश्यपजीने उससे कहा—॥ २४-२५ ॥

आरम्भः सफलो देवि भविता यस्त्वयेप्सितः।
जनयिष्यसि पुत्रौ द्वौ वीरौ त्रिभुवनेश्वरौ ॥२६॥

'देवि! तुम्हारा यह अभीष्ट समारम्भ अवश्य सफल होगा। तुम ऐसे दो पुत्रोंको जन्म दोगी, जो बड़े वीर और तीनों लोकोंपर शासन करनेकी शक्ति रखनेवाले होंगे ॥ २६ ॥

तपसा वालखिल्यानां मम संकल्पजौ तथा।
भविष्यतो महाभागौ पुत्रौ त्रैलोक्यपूजितौ ॥२७॥

'वालखिल्योंकी तपस्या तथा मेरे संकल्पसे तुम्हें दो परम सौभाग्यशाली पुत्र प्राप्त होंगे, जिनकी तीनों लोकोंमें पूजा होगी' ॥ २७ ॥

उवाच चैनां भगवान् कश्यपः पुनरेव ह।
धार्यतामप्रमादेन गर्भोऽयं सुमहोदयः ॥२८॥

इतना कहकर भगवान् कश्यपने पुनः विनतासे कहा—'देवि! यह गर्भ महान् अभ्युदयकारी होगा, अतः इसे सावधानीसे धारण करो ॥ २८ ॥

एतौ सर्वपतत्त्रीणामिन्द्रत्वं कारयिष्यतः।
लोकसम्भावितौ वीरौ कामरूपौ विहंगमौ ॥२९॥

'तुम्हारे ये दोनों पुत्र सम्पूर्ण पक्षियोंके इन्द्रपदका उपभोग करेंगे। स्वरूपसे पक्षी होते हुए भी इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ और लोक-सम्भावित वीर होंगे' ॥ २९ ॥

शतक्रतुमथोवाच प्रीयमाणः प्रजापतिः।
त्वत्सहायौ महावीर्यौ भ्रातरौ ते भविष्यतः ॥३०॥
नैताभ्यां भविता दोषः सकाशात् ते पुरन्दर।
व्येतु ते शक्र संतापस्त्वमेवेन्द्रो भविष्यसि ॥३१॥

विनतासे ऐसा कहकर प्रसन्न हुए प्रजापतिने शतक्रतु इन्द्रसे कहा—'पुरन्दर! ये दोनों महापराक्रमी भ्राता तुम्हारे सहायक होंगे। तुम्हें इनसे कोई हानि नहीं होगी। इन्द्र! तुम्हारा संताप दूर हो जाना चाहिये। देवताओंके इन्द्र तुम्हीं बने रहोगे ॥ ३०-३१ ॥

न चाप्येवं त्वया भूयः क्षेप्तव्या ब्रह्मवादिनः।
न चावमान्या दर्पात् ते वाग्वज्रा भृशकोपनाः ॥३२॥

'एक बात ध्यान रखना—आजसे फिर कभी तुम घमंडमें आकर ब्रह्मवादी महात्माओंका उपहास और अपमान न करना; क्योंकि उनके पास वाणीरूप अमोघ वज्र है तथा वे तीक्ष्ण कोपवाले होते हैं' ॥ ३२ ॥

एवमुक्तो जगामेन्द्रो निर्विशङ्कस्त्रिविष्टपम्।
विनता चापि सिद्धार्था बभूव मुदिता तथा ॥३३॥

कश्यपजीके ऐसा कहनेपर देवराज इन्द्र निःशङ्क होकर स्वर्गलोकमें चले गये। अपना मनोरथ सिद्ध होनेसे विनता भी बहुत प्रसन्न हुई ॥ ३३ ॥

जनयामास पुत्रौ द्वावरुणं गरुडं तथा।
विकलाङ्गोऽरुणस्तत्र भास्करस्य पुरःसरः ॥३४॥

उसने दो पुत्र उत्पन्न किये—अरुण और गरुड। जिनके अङ्ग कुछ अधूरे रह गये थे, वे अरुण कहलाते हैं, वे ही सूर्यदेवके सारथि बनकर उनके आगे-आगे चलते हैं ।३४।

पतत्त्रीणां च गरुडमिन्द्रत्वेनाभ्यषिञ्चत।
तस्यैतत् कर्म सुमहच्छ्रूयतां भृगुनन्दन ॥३५॥

भृगुनन्दन ! दूसरे पुत्र गरुडका पक्षियोंके इन्द्र-पदपर अभिषेक किया गया। अब तुम गरुडका यह महान् पराक्रम सुनो॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

गरुडका देवताओंके साथ युद्ध और देवताओंकी पराजय

सौतिरुवाच

ततस्तस्मिन् द्विजश्रेष्ठ समुदीर्णे तथाविधे।
गरुडः पक्षिराट् तूर्णं सम्प्राप्तो विबुधान् प्रति ॥ १ ॥
तं दृष्ट्वातिबलं चैव प्राकम्पन्त सुरास्ततः।
परस्परं च प्रत्यघ्नन् सर्वप्रहरणान्युत ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ ! देवताओंका समुदाय जब इस प्रकार भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये उद्यत हो गया, उसी समय पक्षिराज गरुड तुरंत ही देवताओंके पास जा पहुँचे। उन अत्यन्त बलवान् गरुडको देखकर सम्पूर्ण देवता काँप उठे। उनके सभी आयुध आपसमें ही आघात-प्रत्याघात करने लगे ॥१-२॥

तत्र चासीदमेयात्मा विद्युदग्निसमप्रभः।
भौमनः सुमहावीर्यः सोमस्य परिरक्षिता ॥ ३ ॥

वहाँ विद्युत् एवं अग्निके समान तेजस्वी और महापराक्रमी अमेयात्मा भौमन (विश्वकर्मा) अमृतकी रक्षा कर रहे थे॥

स तेन पतगेन्द्रेण पक्षतुण्डनखक्षतः।
मुहूर्तमतुलं युद्धं कृत्वा विनिहतो युधि ॥ ४ ॥

वे पक्षिराजके साथ दो घड़ीतक अनुपम युद्ध करके उनके पंख, चोंच और नखोंसे घायल हो उस रणाङ्गणमें मृतकतुल्य हो गये ॥ ४ ॥

रजश्चोद्धूय सुमहत् पक्षवातेन खेचरः।
कृत्वा लोकान् निरालोकांस्तेन देवानवाकिरत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर पक्षिराजने अपने पंखोंकी प्रचण्ड वायुसे बहुत धूल उड़ाकर समस्त लोकोंमें अन्धकार फैला दिया और उसी धूलसे देवताओंको ढक दिया॥ ५ ॥

तेनावकीर्णा रजसा देवा मोहमुपागमन्।
न चैवं ददृशुश्छन्ना रजसामृतरक्षिणः ॥ ६ ॥

उस धूलसे आच्छादित होकर देवता मोहित हो गये। अमृतकी रक्षा करनेवाले देवता भी इसी प्रकार धूलसे ढक जानेके कारण कुछ देख नहीं पाते थे ॥ ६ ॥

एवं संलोडयामास गरुडस्त्रिदिवालयम्।
पक्षतुण्डप्रहारैस्तु देवान् स विददार ह ॥ ७ ॥

इस तरह गरुडने स्वर्गलोकको व्याकुल कर दिया और पंखों तथा चोंचोंकी मारसे देवताओंका अङ्ग-अङ्ग विदीर्ण कर डाला ॥ ७ ॥

ततो देवः सहस्राक्षस्तूर्णं वायुमचोदयत्।
विक्षिपेमां रजोवृष्टिं तवेदं कर्म मारुत ॥ ८ ॥

तब सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रदेवने तुरंत ही वायुको आज्ञा दी—'मारुत ! तुम इस धूलकी वृष्टिको दूर हटा दो; क्योंकि यह काम तुम्हारे ही वशका है' ॥ ८ ॥

अथ वायुरपोवाह तद् रजस्तरसा बली।
ततो वितिमिरे जाते देवाः शकुनिमार्दयन् ॥ ९ ॥

तब बलवान् वायुदेवने बड़े वेगसे उस धूलको दूर उड़ा दिया। इससे वहाँ फैला हुआ अन्धकार दूर हो गया। अब देवता अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा पक्षी गरुडको पीड़ित करने लगे॥

ननादोच्चैः स बलवान् महामेघ इवाम्बरे।
वध्यमानः सुरगणैः सर्वभूतानि भीषयन् ॥१०॥

देवताओंके प्रहारको सहते हुए महाबली गरुड आकाशमें छाये हुए महामेघकी भाँति समस्त प्राणियोंको डराते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे ॥ १० ॥

उत्पपात महावीर्यः पक्षिराट् परवीरहा।
समुत्पत्यान्तरिक्षस्थं देवानामुपरि स्थितम् ॥११॥
वर्मिणो विबुधाः सर्वे नानाशस्त्रैरवाकिरन्।
पट्टिशैः परिघैः शूलैर्गदाभिश्च सवासवाः ॥१२॥

शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले पक्षिराज बड़े पराक्रमी थे। वे आकाशमें बहुत ऊँचे उड़ गये। उड़कर अन्तरिक्षमें देवताओंके ऊपर (ठीक सिरकी सीधमें) खड़े हो गये। उस समय कवच धारण किये इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता उनपर पट्टिश, परिघ, शूल और गदा आदि नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा प्रहार करने लगे ॥ ११-१२ ॥

क्षुरप्रैर्ज्वलितैश्चापि चक्रैरादित्यरूपिभिः।
नानाशस्त्रविसर्गैस्तैर्वध्यमानः समन्ततः ॥१३॥

अग्निके समान प्रज्वलित क्षुरप्र, सूर्यके समान उद्भासित होनेवाले चक्र तथा नाना प्रकारके दूसरे-दूसरे शस्त्रोंके प्रहारद्वारा उनपर सब ओरसे मार पड़ रही थी ॥ १३ ॥

कुर्वन् सुतुमुलं युद्धं पक्षिराण्न व्यकम्पत।
निर्दहन्निव चाकाशे वैनतेयः प्रतापवान्।
पक्षाभ्यामुरसा चैव समन्ताद् व्याक्षिपत् सुरान्॥१४॥

तो भी पक्षिराज गरुड देवताओंके साथ तुमुल युद्ध करते हुए तनिक भी विचलित न हुए। परम प्रतापी विनतानन्दन गरुडने, मानो देवताओंको दग्ध कर डालेंगे, इस प्रकार रोषमें भरकर आकाशमें खड़े-खड़े ही पंखों और छातीके धक्केसे उन सबको चारों ओर मार गिराया॥

ते विक्षिप्तास्ततो देवा दुद्रुवुर्गरुडार्दिताः।
नखतुण्डक्षताश्चैव सुस्रुवुः शोणितं बहु॥१५॥

गरुडसे पीड़ित और दूर फेंके गये देवता इधर-उधर भागने लगे। उनके नखों और चोंचसे क्षत-विक्षत हो वे अपने अङ्गोंसे बहुत-सा रक्त बहाने लगे॥१५॥

साध्याः प्राचीं सगन्धर्वा वसवो दक्षिणां दिशम्।
प्रजग्मुः सहिता रुद्राः पतगेन्द्रप्रधर्षिताः॥१६॥

पक्षिराजसे पराजित हो साध्य और गन्धर्व पूर्व दिशाकी ओर भाग चले। वसुओं तथा रुद्रोंने दक्षिण दिशाकी शरण ली॥

दिशं प्रतीचीमादित्या नासत्यावुत्तरां दिशम्।
मुहुर्मुहुः प्रेक्षमाणा युध्यमाना महौजसः॥१७॥

आदित्यगण पश्चिम दिशाकी ओर भागे तथा अश्विनीकुमारोंने उत्तर दिशाका आश्रय लिया। ये महापराक्रमी योद्धा बार-बार पीछेकी ओर देखते हुए भाग रहे थे॥१७॥

अश्वक्रन्देन वीरेण रेणुकेन च पक्षिराट्।
क्रथनेन च शूरेण तपनेन च खेचरः॥१८॥
उलूकश्वसनाभ्यां च निमेषेण च पक्षिराट्।
प्ररुजेन च संग्रामं चकार पुलिनेन च॥१९॥

इसके बाद आकाशचारी पक्षिराज गरुडने वीर अश्वक्रन्द, रेणुक, शूरवीर क्रथन, तपन, उलूक, श्वसन, निमेष, प्ररुज तथा पुलिन—इन नौ यक्षोंके साथ युद्ध किया॥१८-१९॥

तान् पक्षनखतुण्डाग्रैरभिनद् विनतासुतः।
युगान्तकाले संक्रुद्धः पिनाकीव परंतपः॥२०॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले विनताकुमारने प्रलयकालमें कुपित हुए पिनाकधारी रुद्रकी भाँति क्रोधमें भरकर उन सबको पंखों, नखों और चोंचके अग्रभागसे विदीर्ण कर डाला॥२०॥

महाबला महोत्साहास्तेन ते बहुधा क्षताः।
रेजुरभ्रघनप्रख्या रुधिरौघप्रवर्षिणः॥२१॥

वे सभी यक्ष बड़े बलवान् और अत्यन्त उत्साही थे। उस युद्धमें गरुडद्वारा बार-बार क्षत-विक्षत होकर वे खूनकी धारा बहाते हुए बादलोंकी भाँति शोभा पा रहे थे॥

तान् कृत्वा पतगश्रेष्ठः सर्वानुत्क्रान्तजीवितान्।
अतिक्रान्तोऽमृतस्यार्थे सर्वतोऽग्निमपश्यत॥२२॥

पक्षिराज उन सबके प्राण लेकर जब अमृत उठानेके लिये आगे बढ़े, तब उसके चारों ओर उन्होंने आग जलती देखी।

आवृण्वानं महाज्वालमर्चिर्भिः सर्वतोऽम्बरम्।
दहन्तमिव तीक्ष्णांशुं चण्डवायुसमीरितम्॥२३॥

वह आग अपनी लपटोंसे वहाँके समस्त आकाशको आवृत किये हुए थी। उससे बड़ी ऊँची ज्वालाएँ उठ रही थीं। वह सूर्यमण्डलकी भाँति दाह उत्पन्न करती और प्रचण्ड वायुसे प्रेरित हो अधिकाधिक प्रज्वलित होती रहती थी॥

ततो नवत्या नवतीर्मुखानां
कृत्वा महात्मा गरुडस्तरस्वी।
नदीः समापीय मुखैस्तनस्तैः
सुशीघ्रमागम्य पुनर्जवेन॥२४॥
ज्वलन्तमग्निं तममित्रतापनः
समास्तरत्पत्ररथो नदीभिः।
ततः प्रचक्रे वपुरन्यदल्पं
प्रवेष्टुकामोऽग्निमभिप्रशाम्य॥२५॥

तब वेगशाली महात्मा गरुडने अपने शरीरमें आठ हजार एक सौ मुख प्रकट करके उनके द्वारा नदियोंका जल पी लिया और पुनः बड़े वेगसे शीघ्रतापूर्वक वहाँ आकर उस जलती हुई आगपर वह सब जल उड़ेल दिया। इस प्रकार शत्रुओंको ताप देनेवाले पक्षवाहन गरुडने नदियोंके जलसे उस आगको बुझाकर अमृतके पास पहुँचनेकी इच्छासे एक दूसरा बहुत छोटा रूप धारण कर लिया॥२४-२५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे द्वात्रिंशोऽध्यायः॥३२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्रविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

गरुडका अमृत लेकर लौटना, मार्गमें भगवान् विष्णुसे वर पाना एवं उनपर इन्द्रके द्वारा वज्र-प्रहार

सौतिरुवाच

जाम्बूनदमयो भूत्वा मरीचिनिकरोज्ज्वलः।
प्रविवेश बलात् पक्षी वारिवेग इवार्णवम्॥१॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर जैसे जलका वेग समुद्रमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार पक्षिराज गरुड सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान सुवर्णमय स्वरूप धारण करके

बलपूर्वक, जहाँ अमृत था, उस स्थानमें घुस गये ॥ १ ॥

सचक्रं क्षुरपर्यन्तमपश्यदमृतान्तिके ।
परिभ्रमन्तमनिशं तीक्ष्णधारमयस्मयम् ॥ २ ॥

उन्होंने देखा, अमृतके निकट एक लोहेका चक्र घूम रहा है । उसके चारों ओर छुरे लगे हुए हैं । वह निरन्तर चलता रहता है और उसकी धार बड़ी तीखी है ॥ २ ॥

ज्वलनार्कप्रभं घोरं छेदनं सोमहारिणाम् ।
घोररूपं तदत्यर्थं यन्त्रं देवैः सुनिर्मितम् ॥ ३ ॥

वह घोर चक्र अग्नि और सूर्यके समान जाज्वल्यमान था । देवताओंने उस अत्यन्त भयंकर यन्त्रका निर्माण इसलिये किया था कि वह अमृत चुरानेके लिये आये हुए चोरोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ३ ॥

तस्यान्तरं स दृष्ट्वैव पर्यवर्तत खेचरः ।
अरान्तरेणाभ्यपतत् संक्षिप्याङ्गं क्षणेन ह ॥ ४ ॥

पक्षी गरुड उसके भीतरका छिद्र—उसमें घुसनेका मार्ग देखते हुए खड़े रहे । फिर एक क्षणमें ही वे अपने शरीरको संकुचित करके उस चक्रके अरोंके बीचसे होकर भीतर घुस गये ॥

अधश्चक्रस्य चैवात्र दीप्तानलसमद्युती ।
विद्युज्जिह्वौ महावीर्यौ दीप्तास्यौ दीप्तलोचनौ ॥ ५ ॥
चक्षुर्विषौ महाघोरौ नित्यं क्रुद्धौ तरस्विनौ ।
रक्षार्थमेवामृतस्य ददर्श भुजगोत्तमौ ॥ ६ ॥

वहाँ चक्रके नीचे अमृतकी रक्षाके लिये ही दो श्रेष्ठ सर्प नियुक्त किये गये थे । उनकी कान्ति प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ती थी । बिजलीके समान उनकी लपलपाती हुई जीभें, देदीप्यमान मुख और चमकती हुई आँखें थीं । वे दोनों सर्प बड़े पराक्रमी थे । उनके नेत्रोंमें ही विष भरा था । वे बड़े भयंकर, नित्य क्रोधी और अत्यन्त वेगशाली थे । गरुडने उन दोनोंको देखा ॥ ५-६ ॥

सदा संरब्धनयनौ सदा चानिमिषेक्षणौ ।
तयोरेकोऽपि यं पश्येत् स तूर्णं भस्मसाद् भवेत् ॥ ७ ॥

उनके नेत्रोंमें सदा क्रोध भरा रहता था । वे निरंतर एकटक दृष्टिसे देखा करते थे (उनकी आँखें कभी बंद नहीं होती थीं) । उनमेंसे एक भी जिसे देख ले, वह तत्काल भस्म हो सकता था ॥

तयोश्चक्षूंषि रजसा सुपर्णः सहसावृणोत् ।
ताभ्यामदृष्टरूपोऽसौ सर्वतः समताडयत् ॥ ८ ॥

सुंदर पंखवाले गरुडजीने सहसा धूल झोंककर उनकी आँखें बंद कर दीं और उनसे अदृश्य रहकर ही वे सब ओरसे उन्हें मारने और कुचलने लगे ॥ ८ ॥

तयोरङ्गे समाक्रम्य वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ।
आच्छिनत् तरसा मध्ये सोममभ्यद्रवत् ततः ॥ ९ ॥
समुत्पाट्यामृतं तत्र वैनतेयस्ततो बली ।
उत्पपात जवेनैव यन्त्रमुन्मथ्य वीर्यवान् ॥ १० ॥

आकाशमें विचरनेवाले महापराक्रमी विनताकुमारने वेगपूर्वक आक्रमण करके उन दोनों सर्पोंके शरीरको बीचसे काट डाला; फिर वे अमृतकी ओर झपटे और चक्रको तोड़-फोड़कर अमृतके पात्रको उठाकर बड़ी तेजीके साथ वहाँसे उड़ चले ॥ ९-१० ॥

अपीत्वैवामृतं पक्षी परिगृह्याशु निःसृतः ।
आगच्छदपरिश्रान्त आवार्यार्कप्रभां ततः ॥ ११ ॥

उन्होंने स्वयं अमृतको नहीं पीया, केवल उसे लेकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे निकल गये और सूर्यकी प्रभाका तिरस्कार करते हुए बिना थकावटके चले आये ॥ ११ ॥

विष्णुना च तदाकाशे वैनतेयः समेयिवान् ।
तस्य नारायणस्तुष्टस्तेनालौल्येन कर्मणा ॥ १२ ॥

उस समय आकाशमें विनतानन्दन गरुडकी भगवान् विष्णुसे भेंट हो गयी । भगवान् नारायण गरुडके लोलुपतारहित पराक्रमसे बहुत संतुष्ट हुए थे ॥ १२ ॥

तमुवाचाव्ययो देवो वरदोऽस्मीति खेचरम् ।
स वव्रे तव तिष्ठेयमुपरीत्यन्तरिक्षगः ॥ १३ ॥

अतः उन अविनाशी भगवान् विष्णुने आकाशचारी गरुडसे कहा—'मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ ।' अन्तरिक्षमें विचरनेवाले गरुडने यह वर माँगा—'प्रभो ! मैं आपके ऊपर (ध्वजमें) स्थित होऊँ' ॥ १३ ॥

उवाच चैनं भूयोऽपि नारायणमिदं वचः ।
अजरश्चामरश्च स्याममृतेन विनाप्यहम् ॥ १४ ॥

इतना कहकर वे भगवान् नारायणसे फिर यों बोले—'भगवन् ! मैं अमृत पीये बिना ही अजर-अमर हो जाऊँ' ॥

एवमस्त्विति तं विष्णुरुवाच विनतासुतम् ।
प्रतिगृह्य वरौ तौ च गरुडो विष्णुमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब भगवान् विष्णुने विनतानन्दन गरुडसे कहा—'एवमस्तु—ऐसा ही हो ।' वे दोनों वर ग्रहण करके गरुडने भगवान् विष्णुसे कहा—॥ १५ ॥

भवतेऽपि वरं दद्यां वृणोतु भगवानपि ।
तं वव्रे वाहनं विष्णुर्गरुत्मन्तं महाबलम् ॥ १६ ॥

'देव ! मैं भी आपको वर देना चाहता हूँ । भगवान् भी कोई वर माँगें ।' तब श्रीहरिने महाबली गरुत्मान्से अपना वाहन होनेका वर माँगा ॥ १६ ॥

ध्वजं च चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीति तम् ।
एवमस्त्विति तं देवमुक्त्वा नारायणं खगः ॥ १७ ॥
वव्राज तरसा वेगाद् वायुं स्पर्धन् महाजवः ।
तं व्रजन्तं खगश्रेष्ठं वज्रेणेन्द्रोऽभ्यताडयत् ॥ १८ ॥
हरन्तममृतं रोषाद् गरुडं पक्षिणां वरम् ।

भगवान् विष्णुने गरुडको अपना ध्वज बना लिया—उन्हें ध्वजके ऊपर स्थान दिया और कहा—'इस प्रकार तुम मेरे ऊपर रहोगे।' तदनन्तर उन भगवान् नारायणसे 'एवमस्तु' कहकर पक्षी गरुड वहाँसे वेगपूर्वक चले गये। महान् वेगशाली गरुड उस समय वायुसे होड़ लगाते चल रहे थे। पक्षियोंके सरदार उन खगश्रेष्ठ गरुडको अमृतका अपहरण करके लिये जाते देख इन्द्रने रोषमें भरकर उनके ऊपर वज्रसे आघात किया ॥ १७-१८½ ॥

तमुवाचेन्द्रमाक्रन्दे गरुडः पततां वरः ॥ १९ ॥
प्रहसञ्श्लक्ष्णया वाचा तथा वज्रसमाहतः।
ऋषेर्मानं करिष्यामि वज्रं यस्यास्थिसम्भवम् ॥ २० ॥
वज्रस्य च करिष्यामि तवैव च शतक्रतो।
एतत् पत्रं त्यजाम्येकं यस्यान्तं नोपलप्स्यसे ॥ २१ ॥

विहंगप्रवर गरुडने उस युद्धमें वज्राहत होकर भी हँसते हुए मधुर वाणीमें इन्द्रसे कहा—'देवराज! जिनकी हड्डीसे यह वज्र बना है, उन महर्षिका सम्मान मैं अवश्य करूँगा। शतक्रतो! ऋषिके साथ-साथ तुम्हारा और तुम्हारे वज्रका भी आदर करूँगा; इसीलिये मैं अपनी एक पाँख, जिसका तुम कहीं अन्त नहीं पा सकोगे, त्याग देता हूँ ॥ १९-२१ ॥

न च वज्रनिपातेन रुजा मेऽस्तीह काचन।
एवमुक्त्वा ततः पत्रमुत्ससर्ज स पक्षिराट् ॥ २२ ॥

'तुम्हारे वज्रके प्रहारसे मेरे शरीरमें कुछ भी पीड़ा नहीं हुई है।' ऐसा कहकर पक्षिराजने अपना एक पंख गिरा दिया॥

तदुत्सृष्टमभिप्रेक्ष्य तस्य पर्णमनुत्तमम्।
हृष्टानि सर्वभूतानि नाम चक्रुर्गरुत्मतः ॥ २३ ॥

उस गिरे हुए परम उत्तम पंखको देखकर सब प्राणियोंको बड़ा हर्ष हुआ और उसीके आधारपर उन्होंने गरुडका नामकरण किया ॥ २३ ॥

सुरूपं पत्रमालक्ष्य सुपर्णोऽयं भवत्विति।
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं सहस्राक्षः पुरन्दरः।
खगो महदिदं भूतमिति मत्वाभ्यभाषत ॥ २४ ॥

वह सुन्दर पाँख देखकर लोगोंने कहा, 'जिसका यह सुन्दर पर्ण (पंख) है, वह पक्षी सुपर्ण नामसे विख्यात हो।' (गरुडपर वज्र भी निष्फल हो गया) यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्रने मन-ही-मन विचार किया, अहो! यह पक्षीरूपमें कोई महान् प्राणी है, ऐसा सोचकर उन्होंने कहा ॥ २४ ॥

शक्र उवाच

बलं विज्ञातुमिच्छामि यत् ते परमनुत्तमम्।
सख्यं चानन्तमिच्छामि त्वया सह खगोत्तम ॥ २५ ॥

इन्द्रने कहा—विहंगप्रवर! मैं तुम्हारे सर्वोत्तम उत्कृष्ट बलको जानना चाहता हूँ और तुम्हारे साथ ऐसी मैत्री स्थापित करना चाहता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुडचरित्र-विषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

इन्द्र और गरुडकी मित्रता, गरुडका अमृत लेकर नागोंके पास आना और विनताको दासीभावसे छुड़ाना तथा इन्द्रद्वारा अमृतका अपहरण

गरुड उवाच

सख्यं मेऽस्तु त्वया देव यथेच्छसि पुरन्दर।
बलं तु मम जानीहि महच्चासह्यमेव च ॥ १ ॥

गरुडने कहा—देव पुरन्दर! जैसी तुम्हारी इच्छा है, उसके अनुसार तुम्हारे साथ (मेरी) मित्रता स्थापित हो। मेरा बल भी जान लो, वह महान् और असह्य है ॥ १ ॥

कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्वबलसंस्तवम्।
गुणसंकीर्तनं चापि स्वयमेव शतक्रतो ॥ २ ॥

शतक्रतो! साधु पुरुष स्वेच्छासे अपने बलकी स्तुति और अपने ही मुखसे अपने गुणोंका बखान अच्छा नहीं मानते ॥

सखेति कृत्वा तु सखे पृष्टो वक्ष्याम्यहं त्वया।
न ह्यात्मस्तवसंयुक्तं वक्तव्यमनिमित्ततः ॥ ३ ॥

किंतु सखे! तुमने मित्र मानकर पूछा है, इसलिये मैं बता रहा हूँ; क्योंकि अकारण ही अपनी प्रशंसासे भरी हुई बात नहीं कहनी चाहिये (किंतु किसी मित्रके पूछनेपर सच्ची बात कहनेमें कोई हर्ज नहीं है।) ॥ ३ ॥

सपर्वतवनामुर्वीं ससागरजलामिमाम्।
वहे पक्षेण वै शक्र त्वामप्यत्रावलम्बिनम् ॥ ४ ॥

इन्द्र! पर्वत, वन और समुद्रके जलसहित सारी पृथ्वीको तथा इसके ऊपर रहनेवाले आपको भी अपने एक पंखपर उठाकर मैं बिना परिश्रमके उड़ सकता हूँ ॥ ४ ॥

सर्वान् सम्पिण्डितान् वापि लोकान् सस्थाणुजङ्गमान्।
वहेयमपरिश्रान्तो विद्धीदं मे महद् बलम् ॥ ५ ॥

अथवा सम्पूर्ण चराचर लोकोंको एकत्र करके यदि मैं

ऊपर रख दिया जाय तो मैं सबको बिना परिश्रमके ढो सकता हूँ। इससे तुम मेरे महान् बलको समझ लो ॥ ५ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्तवचनं वीरं किरीटी श्रीमतां वरः।
आह शौनक देवेन्द्रः सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ ६ ॥
एवमेव यथात्थ त्वं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि।
संगृह्यतामिदानीं मे सख्यमत्यन्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! वीरवर गरुडके इस प्रकार कहनेपर श्रीमानोंमें श्रेष्ठ किरीटधारी सर्वलोक-हितकारी भगवान् देवेन्द्रने कहा—'मित्र! तुम जैसा कहते हो, वैसी ही बात है। तुममें सब कुछ सम्भव है। इस समय मेरी अत्यन्त उत्तम मित्रता स्वीकार करो ॥ ६-७ ॥

न कार्यं यदि सोमेन मम सोमः प्रदीयताम्।
अस्मांस्ते हि प्रबाधेयुर्येभ्यो दद्याद् भवानिमम् ॥ ८ ॥

'यदि तुम्हें स्वयं अमृतकी आवश्यकता नहीं है तो वह मुझे वापस दे दो। तुम जिनको यह अमृत देना चाहते हो, वे इसे पीकर हमें कष्ट पहुँचावेंगे' ॥ ८ ॥

गरुड उवाच

किंचित् कारणमुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया।
न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम् ॥ ९ ॥
यत्रेमं तु सहस्राक्ष निक्षिपेयमहं स्वयम्।
त्वमादाय ततस्तूर्णं हरेथास्त्रिदिवेश्वर ॥ १० ॥

गरुडने कहा—स्वर्गके सम्राट् सहस्राक्ष! किसी कारण-वश मैं यह अमृत ले जाता हूँ। इसे किसीको भी पीनेके लिये नहीं दूँगा। मैं स्वयं जहाँ इसे रख दूँ, वहाँसे तुरंत तुम उठा ले जा सकते हो ॥ ९-१० ॥

शक्र उवाच

वाक्येनानेन तुष्टोऽहं यत् त्वयोक्तमिहाण्डज।
यमिच्छसि वरं मत्तस्तं गृहाण खगोत्तम ॥ ११ ॥

इन्द्र बोले—पक्षिराज! तुमने यहाँ जो बात कही है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ। खगश्रेष्ठ! तुम मुझसे जो चाहो, वर माँग लो ॥ ११ ॥

सौतिरुवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं कद्रूपुत्राननुस्मरन्।
स्मृत्वा चैवोपधिकृतं मातुर्दास्यनिमित्ततः ॥ १२ ॥
ईशोऽहमपि सर्वस्य करिष्यामि तु तेऽर्थिताम्।
भवेयुर्भुजगाः शक्र मम भक्ष्या महाबलाः ॥ १३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्द्रके ऐसा कहनेपर गरुड-को कद्रू-पुत्रोंकी दुष्टताका स्मरण हो आया। साथ ही उनके उस कपटपूर्ण बर्तावकी भी याद आ गयी, जो माताको दासी बनानेमें कारण था। अतः उन्होंने इन्द्रसे कहा—'इन्द्र! यद्यपि मैं सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ, तो भी तुम्हारी इस याचना-को पूर्ण करूँगा कि अमृत दूसरोंको न दिया जाय। साथ ही तुम्हारे कथनानुसार यह वर भी माँगता हूँ कि महाबली सर्प मेरे भोजनकी सामग्री हो जायँ' ॥ १२-१३ ॥

तथेत्युक्त्वान्वगच्छत् तं ततो दानवसूदनः।
देवदेवं महात्मानं योगिनामीश्वरं हरिम् ॥ १४ ॥

तब दानवशत्रु इन्द्र 'तथास्तु' कहकर योगीश्वर देवाधिदेव परमात्मा श्रीहरिके पास गये ॥ १४ ॥

स चान्वमोदत् तं चार्थं यथोक्तं गरुडेन वै।
इदं भूयो वचः प्राह भगवांस्त्रिदशेश्वरः ॥ १५ ॥
हरिष्यामि विनिक्षिप्तं सोममित्यनुभाष्य तम्।
आजगाम ततस्तूर्णं सुपर्णो मातुरन्तिकम् ॥ १६ ॥

श्रीहरिने भी गरुडकी कही हुई बातका अनुमोदन किया। तदनन्तर स्वर्गलोकके स्वामी भगवान् इन्द्र पुनः गरुडको सम्बोधित करके इस प्रकार बोले—'तुम जिस समय इस अमृत-को कहीं रख दोगे उसी समय मैं इसे हर ले आऊँगा' (ऐसा कहकर इन्द्र चले गये)। फिर सुन्दर पंखवाले गरुड तुरंत ही अपनी माताके समीप आ पहुँचे ॥ १५-१६ ॥

अथ सर्पानुवाचेदं सर्वान् परमहृष्टवत्।
इदमानीतममृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः ॥ १७ ॥
स्नाता मङ्गलसंयुक्तास्ततः प्राश्नीत पन्नगाः।
भवद्भिरिदमासीनैर्यदुक्तं तद्वचस्तदा ॥ १८ ॥
अदासी चैव मातेयमद्यप्रभृति चास्तु मे।
यथोक्तं भवतामेतद् वचो मे प्रतिपादितम् ॥ १९ ॥

तदनन्तर अत्यन्त प्रसन्न-से होकर वे समस्त सर्पोंसे इस प्रकार बोले—'पन्नगो! मैंने तुम्हारे लिये यह अमृत ला दिया है। इसे कुशोंपर रख देता हूँ। तुम सब लोग स्नान और मङ्गल-कर्म (स्वस्ति-वाचन आदि) करके इस अमृतका पान करो। अमृतके लिये भेजते समय तुमने यहाँ बैठकर मुझसे जो बातें कही थीं, उनके अनुसार आजसे मेरी ये माता दासीपनसे मुक्त हो जायँ; क्योंकि तुमने मेरे लिये जो काम बताया था, उसे मैंने पूर्ण कर दिया है' ॥

ततः स्नातुं गताः सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत।
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः ॥ २० ॥

तब सर्पगण 'तथास्तु' कहकर स्नानके लिये गये। इसी बीचमें इन्द्र वह अमृत लेकर पुनः स्वर्गलोकको चले गये ॥

अथागतास्तमुद्देशं सर्पाः सोमार्थिनस्तदा।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च प्रहृष्टाः कृतमङ्गलाः ॥ २१ ॥
यत्रैतदमृतं चापि स्थापितं कुशसंस्तरे।
तद् विज्ञाय हृतं सर्पाः प्रतिमायाकृतं च तत् ॥ २२ ॥

इसके अनन्तर अमृत पीनेकी इच्छावाले सर्प स्नान, जप और मङ्गल-कार्य करके प्रसन्नतापूर्वक उस स्थानपर आये, जहाँ कुशके आसनपर अमृत रक्खा गया था। आनेपर उन्हें मालूम हुआ कि कोई उसे हर ले गया। तब सर्पोंने यह सोचकर संतोष किया कि यह हमारे कपटपूर्ण बर्तावका बदला है ॥ २१-२२ ॥

सोमस्थानमिदं चेति दर्भांस्ते लिलिहुस्तदा।
ततो द्विधाकृता जिह्वाः सर्पाणां तेन कर्मणा ॥२३॥

फिर यह समझकर कि यहाँ अमृत रक्खा गया था, इसलिये सम्भव है इसमें उसका कुछ अंश लगा हो, सर्पोंने उस समय कुशोंको चाटना शुरू किया। ऐसा करनेसे सर्पोंकी जीभके दो भाग हो गये ॥ २३ ॥

अभवंश्चामृतस्पर्शाद् दर्भास्तेऽथ पवित्रिणः।
एवं तदमृतं तेन हृतमाहृतमेव च।
द्विजिह्वाश्च कृताः सर्पा गरुडेन महात्मना ॥२४॥

तभीसे पवित्र अमृतका स्पर्श होनेके कारण कुशोंकी 'पवित्री' संज्ञा हो गयी। इस प्रकार महात्मा गरुडने देवलोकसे अमृतका अपहरण किया और सर्पोंके समीपतक उसे पहुँचाया; साथ ही सर्पोंको द्विजिह्व (दो जिह्वाओंसे युक्त) बना दिया ॥ २४ ॥

ततः सुपर्णः परमप्रहर्षवान्
विहृत्य मात्रा सह तत्र कानने।
भुजङ्गभक्षः परमार्चितः खगै-
रहीनकीर्तिर्विनतामनन्दयत् ॥२५॥

उस दिनसे सुन्दर पंखवाले गरुड अत्यन्त प्रसन्न हो अपनी माताके साथ रहकर वहाँ वनमें इच्छानुसार घूमने-फिरने लगे। वे सर्पोंको खाते और पक्षियोंसे सादर सम्मानित होकर अपनी उज्ज्वल कीर्ति चारों ओर फैलाते हुए माता विनताको आनन्द देने लगे ॥ २५ ॥

इमां कथां यः शृणुयान्नरः सदा
पठेत वा द्विजगणमुख्यसंसदि।
असंशयं त्रिदिवमियात् स पुण्यभाक्
महात्मनः पतगपतेः प्रकीर्तनात् ॥२६॥

जो मनुष्य इस कथाको श्रेष्ठ द्विजोंकी उत्तम गोष्ठीमें सदा पढ़ता अथवा सुनता है, वह पक्षिराज महात्मा गरुडके गुणोंका गान करनेसे पुण्यका भागी होकर निश्चय ही स्वर्गलोकमें जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सौपर्णे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार महाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें गरुड-चरित्रविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

मुख्य-मुख्य नागोंके नाम

शौनक उवाच

भुजङ्गमानां शापस्य मात्रा चैव सुतेन च।
विनतायास्त्वया प्रोक्तं कारणं सूतनन्दन ॥ १ ॥

शौनकजीने कहा—सूतनन्दन ! सर्पोंको उनकी मातासे और विनता देवीको उनके पुत्रसे जो शाप प्राप्त हुआ था, उसका कारण आपने बता दिया ॥ १ ॥

वरप्रदानं भर्त्रा च कद्रूविनतयोस्तथा।
नामनी चैव ते प्रोक्ते पक्षिणोर्वैनतेययोः ॥ २ ॥

कद्रू और विनताको उनके पति कश्यपजीसे जो वर मिले थे, वह कथा भी कह सुनायी तथा विनताके जो दोनों पुत्र पक्षीरूपमें प्रकट हुए थे, उनके नाम भी आपने बताये हैं ॥ २ ॥

पन्नगानां तु नामानि न कीर्तयसि सूतज।
प्राधान्येनापि नामानि श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ३ ॥

किंतु सूतपुत्र ! आप सर्पोंके नाम नहीं बता रहे हैं। यदि सबका नाम बताना सम्भव न हो, तो उनमें जो मुख्य-मुख्य सर्प हैं, उन्हींके नाम हम सुनना चाहते हैं ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

बहुत्वान्नामधेयानि पन्नगानां तपोधन।
न कीर्तयिष्ये सर्वेषां प्राधान्येन तु मे शृणु ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—तपोधन ! सर्पोंकी संख्या बहुत है; अतः उन सबके नाम तो नहीं कहूँगा, किंतु उनमें जो मुख्य-मुख्य सर्प हैं, उनके नाम मुझसे सुनिये ॥ ४ ॥

शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम्।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ५ ॥
कालियो मणिनागश्च नागश्चापूरणस्तथा।
नागस्तथा पिञ्जरक एलापत्रोऽथ वामनः ॥ ६ ॥
नीलानीलौ तथा नागौ कल्माषशबलौ तथा।
आर्यकश्चोग्रकश्चैव नागः कलशपोतकः ॥ ७ ॥
सुमनाख्यो दधिमुखस्तथा विमलपिण्डकः।
आप्तः कर्कोटकश्चैव शङ्खो वालिशिखस्तथा ॥ ८ ॥
निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा।
बाह्यकर्णो हस्तिपदस्तथा मुद्गरपिण्डकः ॥ ९ ॥

कम्बलाश्वतरौ चापि नागः कालीयकस्तथा।
वृत्तसंवर्तकौ नागौ द्वौ च पद्माविति श्रुतौ ॥१०॥
नागः शङ्खमुखश्चैव तथा कूष्माण्डकोऽपरः।
क्षेमकश्च तथा नागो नागः पिण्डारकस्तथा ॥११॥
करवीरः पुष्पदंष्ट्रो विल्वको विल्वपाण्डुरः।
मूषकादः शङ्खशिराः पूर्णभद्रो हरिद्रकः ॥१२॥
अपराजितो ज्योतिकश्च पन्नगः श्रीवहस्तथा।
कौरव्यो धृतराष्ट्रश्च शङ्खपिण्डश्च वीर्यवान् ॥१३॥
विरजाश्च सुवाहुश्च शालिपिण्डश्च वीर्यवान्।
हस्तिपिण्डः पिठरकः सुमुखः कौणपाशनः ॥१४॥
कुठरः कुञ्जरश्चैव तथा नागः प्रभाकरः।
कुमुदः कुमुदाक्षश्च तित्तिरिर्हलिकस्तथा ॥१५॥
कर्दमश्च महानागो नागश्च बहुमूलकः।
कर्कराकर्करौ नागौ कुण्डोदरमहोदरौ ॥१६॥

नागोंमें सबसे पहले शेषजी प्रकट हुए हैं। तदनन्तर वासुकि, ऐरावत, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय, कालिय, मणिनाग, आपूरण, पिञ्जरक, एलापत्र, वामन, नील, अनील, कल्माष, शबल, आर्यक, उग्रक, कलशपोतक, सुमनाख्य, दधिमुख, विमलपिण्डक, आप्त, कर्कोटक (द्वितीय), शङ्ख, वालिशिख, निष्टानक, हेमगुह, नहुष, पिङ्गल, बाह्यकर्ण, हस्तिपद, मुद्गरपिण्डक, कम्बल, अश्वतर, कालीयक, वृत्त, संवर्तक, पद्म (प्रथम), पद्म (द्वितीय), शङ्खमुख, कूष्माण्डक, क्षेमक, पिण्डारक, करवीर, पुष्पदंष्ट्र, बिल्वक, बिल्वपाण्डुर, मूषकाद, शङ्खशिरा, पूर्णभद्र, हरिद्रक, अपराजित, ज्योतिक, श्रीवह, कौरव्य, धृतराष्ट्र, पराक्रमी शङ्खपिण्ड, विरजा, सुबाहु, वीर्यवान् शालिपिण्ड, हस्तिपिण्ड, पिठरक, सुमुख, कौणपाशन, कुठर, कुञ्जर, प्रभाकर, कुमुद, कुमुदाक्ष, तित्तिरि, हलिक, महानाग कर्दम, बहुमूलक, कर्कर, अकर्कर, कुण्डोदर और महोदर—ये नाग उत्पन्न हुए॥ ५–१६॥

एते प्राधान्यतो नागाः कीर्तिता द्विजसत्तम।
बहुत्वान्नामधेयानामितरे नानुकीर्तिताः ॥१७॥

द्विजश्रेष्ठ ! ये मुख्य-मुख्य नाग यहाँ बताये गये हैं। सर्पोंकी संख्या अधिक होनेसे उनके नाम भी बहुत हैं। अतः अन्य अप्रधान नागोंके नाम यहाँ नहीं कहे गये हैं॥ १७॥

एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः।
असंख्येयेति मत्वा तान् न ब्रवीमि तपोधन ॥१८॥

तपोधन ! इन नागोंकी संतान तथा उन संतानोंकी भी संतति असंख्य हैं। ऐसा समझकर उनके नाम मैं नहीं कहता हूँ॥ १८॥

बहूनीह सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
अशक्यान्येव संख्यातुं पन्नगानां तपोधन ॥१९॥

तपस्वी शौनकजी ! नागोंकी संख्या यहाँ कई हजारोंसे लेकर लाखों-अरबोंतक पहुँच जाती है। अतः उनकी गणना नहीं की जा सकती है॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार महाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पनामकथन-विषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३५॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

शेषनागकी तपस्या, ब्रह्माजीसे वर-प्राप्ति तथा पृथ्वीको सिरपर धारण करना

शौनक उवाच

आख्याता भुजगास्तात वीर्यवन्तो दुरासदाः।
शापं तं तेऽभिविज्ञाय कृतवन्तः किमुत्तरम् ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—तात सूतनन्दन ! आपने महापराक्रमी और दुर्धर्ष नागोंका वर्णन किया। अब यह बताइये कि माता कद्रूके उस शापकी बात मालूम हो जानेपर उन्होंने उसके निवारणके लिये आगे चलकर कौन-सा कार्य किया ?॥ १॥

सौतिरुवाच

तेषां तु भगवाञ्छेषः कद्रूं त्यक्त्वा महायशाः।
उग्रं तपः समातस्थे वायुभक्षो यतव्रतः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक ! उन नागोंमेंसे महायशस्वी भगवान् शेषनागने कद्रूका साथ छोड़कर कठोर तपस्या प्रारम्भ की। वे केवल वायु पीकर रहते और संयमपूर्वक व्रतका पालन करते थे॥ २॥

गन्धमादनमासाद्य बदर्यां च तपोरतः।
गोकर्णे पुष्करारण्ये तथा हिमवतस्तटे ॥ ३ ॥
तेषु तेषु च पुण्येषु तीर्थेष्वायतनेषु च।
एकान्तशीलो नियतः सततं विजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके सदा नियमपूर्वक रहते हुए शेषजी गन्धमादन पर्वतपर जाकर बदरिकाश्रम तीर्थमें तप करने लगे। तत्पश्चात् गोकर्ण, पुष्कर, हिमालयके तटवर्ती प्रदेश तथा भिन्न-भिन्न पुण्य-तीर्थों और देवालयोंमें जा-जाकर संयम-नियमके साथ एकान्तवास करने लगे॥ ३-४॥

तप्यमानं तपो घोरं तं ददर्श पितामहः।
संशुष्कमांसत्वक्स्नायुं जटाचीरधरं मुनिम् ॥ ५ ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिं तप्यमानं पितामहः।
किमिदं कुरुषे शेष प्रजानां स्वस्ति वै कुरु ॥ ६ ॥

ब्रह्माजीने देखा, शेषनाग घोर तप कर रहे हैं। उनके शरीरका मांस, त्वचा और नाड़ियाँ सूख गयी हैं। वे सिरपर जटा और शरीरपर वल्कल वस्त्र धारण किये मुनिवृत्तिसे रहते हैं। उनमें सच्चा धैर्य है और वे निरन्तर तपमें संलग्न हैं। यह सब देखकर ब्रह्माजी उनके पास आये और बोले—'शेष! तुम यह क्या कर रहे हो? समस्त प्रजाका कल्याण करो ॥ ५-६ ॥

त्वं हि तीव्रेण तपसा प्रजास्तापयसेऽनघ।
ब्रूहि कामं च मे शेष यस्ते हृदि व्यवस्थितः ॥ ७ ॥

'अनघ! इस तीव्र तपस्याके द्वारा तुम सम्पूर्ण प्रजावर्गको संतप्त कर रहे हो। शेषनाग! तुम्हारे हृदयमें जो कामना हो वह मुझसे कहो' ॥ ७ ॥

शेष उवाच

सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः।
सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ८ ॥

शेषनाग बोले—भगवन्! मेरे सब सहोदर भाई बड़े मन्दबुद्धि हैं, अतः मैं उनके साथ नहीं रहना चाहता। आप मेरी इस इच्छाका अनुमोदन करें ॥ ८ ॥

अभ्यसूयन्ति सततं परस्परममित्रवत्।
ततोऽहं तप आतिष्ठं नैतान् पश्येयमित्युत ॥ ९ ॥

वे सदा परस्पर शत्रुकी भाँति एक-दूसरेके दोष निकाला करते हैं। इससे ऊबकर मैं तपस्यामें लग गया हूँ; जिससे मैं उन्हें देख न सकूँ ॥ ९ ॥

न मर्षयन्ति ससुतां सततं विनतां च ते।
अस्माकं चापरो भ्राता वैनतेयोऽन्तरिक्षगः ॥ १० ॥

वे विनता और उसके पुत्रोंसे डाह रखते हैं, इसलिये उनकी सुख-सुविधा सहन नहीं कर पाते। आकाशमें विचरनेवाले विनतापुत्र गरुड भी हमारे दूसरे भाई ही हैं ॥ १० ॥

तं च द्विषन्ति सततं स चापि बलवत्तरः।
वरप्रदानात् स पितुः कश्यपस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

किंतु वे नाग उनसे भी सदा द्वेष रखते हैं। मेरे पिता महात्मा कश्यपजीके वरदानसे गरुड भी बड़े ही बलवान् हैं ॥ ११ ॥

सोऽहं तपः समास्थाय मोक्ष्यामीदं कलेवरम्।
कथं मे प्रेत्यभावेऽपि न तैः स्यात् सह संगमः ॥ १२ ॥

इन सब कारणोंसे मैंने यही निश्चय किया है कि तपस्या करके मैं इस शरीरको त्याग दूँगा, जिससे मरनेके बाद भी किसी तरह उन दुष्टोंके साथ मेरा समागम न हो ॥ १२ ॥

तमेवंवादिनं शेषं पितामह उवाच ह।
जानामि शेष सर्वेषां भ्रातॄणां ते विचेष्टितम् ॥ १३ ॥

ऐसी बातें करनेवाले शेषनागसे पितामह ब्रह्माजीने कहा, 'शेष! मैं तुम्हारे सब भाइयोंकी कुचेष्टा जानता हूँ ॥ १३ ॥

मातुश्चाप्यपराधाद् वै भ्रातॄणां ते महद् भयम्।
कृतोऽत्र परिहारश्च पूर्वमेव भुजङ्गम ॥ १४ ॥

'माताका अपराध करनेके कारण निश्चय ही तुम्हारे उन सभी भाइयोंके लिये महान् भय उपस्थित हो गया है; परंतु भुजङ्गम! इस विषयमें जो परिहार अपेक्षित है, उसकी व्यवस्था मैंने पहलेसे ही कर रखी है ॥ १४ ॥

भ्रातॄणां तव सर्वेषां न शोकं कर्तुमर्हसि।
वृणीष्व च वरं मत्तः शेष यत् तेऽभिकाङ्क्षितम् ॥ १५ ॥

'अतः अपने सम्पूर्ण भाइयोंके लिये तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। शेष! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर मुझसे माँग लो ॥ १५ ॥

दास्यामि हि वरं तेऽद्य प्रीतिर्मे परमा त्वयि।
दिष्ट्या बुद्धिश्च ते धर्मे निविष्टा पन्नगोत्तम।
भूयो भूयश्च ते बुद्धिर्धर्मे भवतु सुस्थिरा ॥ १६ ॥

'तुम्हारे ऊपर मेरा बड़ा प्रेम है; अतः आज मैं तुम्हें अवश्य वर दूँगा। पन्नगोत्तम! यह सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारी बुद्धि धर्ममें दृढ़तापूर्वक लगी हुई है। मैं भी आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि उत्तरोत्तर धर्ममें स्थिर रहे' ॥ १६ ॥

शेष उवाच

एष एव वरो देव काङ्क्षितो मे पितामह।
धर्मे मे रमतां बुद्धिः शमे तपसि चेश्वर ॥ १७ ॥

शेषजीने कहा—देव! पितामह! परमेश्वर! मेरे लिये यही अभीष्ट वर है कि मेरी बुद्धि सदा धर्म, मनोनिग्रह तथा तपस्यामें लगी रहे ॥ १७ ॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्म्यनेन ते शेष दमेन च शमेन च।
त्वया त्विदं वचः कार्यं मन्नियोगात् प्रजाहितम् ॥ १८ ॥

ब्रह्माजी बोले—शेष! तुम्हारे इस इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब मेरी आज्ञासे प्रजाके हितके लिये यह कार्य, जिसे मैं बता रहा हूँ, तुम्हें करना चाहिये ॥ १८ ॥

इमां महीं शैलवनोपपन्नां
ससागरग्रामविहारपत्तनाम्।
त्वं शेष सम्यक् चलितां यथावत्
संगृह्य तिष्ठस्व यथाचला स्यात् ॥ १९ ॥

शेषनाग! पर्वत, वन, सागर, ग्राम, विहार और नगरोंसहित यह समूची पृथ्वी प्रायः हिलती-डोलती रहती है। तुम इसे भलीभाँति धारण करके इस प्रकार स्थित रहो, जिससे यह पूर्णतः अचल हो जाय ॥ १९ ॥



ब्रह्माजीने शेषजीको वरदान तथा पृथ्वी धारण करनेकी आज्ञा दी

शेष उवाच

यथाह देवो वरदः प्रजापति-
र्महीपतिर्भूतपतिर्जगत्पतिः ।
तथा महीं धारयितास्मि निश्चलां
प्रयच्छतां मे शिरसि प्रजापते ॥२०॥

शेषनागने कहा—प्रजापते ! आप वरदायक देवता, समस्त प्रजाके पालक, पृथ्वीके रक्षक, भूत-प्राणियोंके स्वामी और सम्पूर्ण जगत्‌के अधिपति हैं । आप जैसी आज्ञा देते हैं, उसके अनुसार मैं इस पृथ्वीको इस तरह धारण करूँगा, जिससे यह हिले-डुले नहीं। आप इसे मेरे सिरपर रख दें॥ २० ॥

ब्रह्मोवाच

अधो महीं गच्छ भुजङ्गमोत्तम
स्वयं तवैषा विवरं प्रदास्यति ।
इमां धरां धारयता त्वया हि मे
महत् प्रियं शेष कृतं भविष्यति ॥२१॥

ब्रह्माजीने कहा—नागराज शेष ! तुम पृथ्वीके नीचे चले जाओ। यह स्वयं तुम्हें वहाँ जानेके लिये मार्ग दे देगी। इस पृथ्वीको धारण कर लेनेपर तुम्हारे द्वारा मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य सम्पन्न हो जायगा ॥ २१ ॥

सौतिरुवाच

तथैव कृत्वा विवरं प्रविश्य स
प्रभुर्भुवो भुजगवराग्रजः स्थितः ।
बिभर्ति देवीं शिरसा महीमिमां
समुद्रनेमिं परिगृह्य सर्वतः ॥२२॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागराज वासुकिके बड़े भाई सर्वसमर्थ भगवान् शेषने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्माजीकी आज्ञा शिरोधार्य की और पृथ्वीके विवरमें प्रवेश करके समुद्रसे घिरी हुई इस वसुधादेवीको उन्होंने सब ओरसे पकड़कर सिरपर धारण कर लिया (तभीसे यह पृथ्वी स्थिर हो गयी) ॥

ब्रह्मोवाच

शेषोऽसि नागोत्तम धर्मदेवो
महीमिमां धारयसे यदेकः ।
अनन्तभोगैः परिगृह्य सर्वां
यथाहमेवं बलभिद् यथा वा ॥२३॥

तदनन्तर ब्रह्माजी बोले—नागोत्तम ! तुम शेष हो, धर्म ही तुम्हारा आराध्यदेव है, तुम अकेले अपने अनन्त फणोंसे इस सारी पृथ्वीको पकड़कर उसी प्रकार धारण करते हो, जैसे मैं अथवा इन्द्र ॥ २३ ॥

सौतिरुवाच

अधोभूमौ वसत्येवं नागोऽनन्तः प्रतापवान् ।
धारयन् वसुधामेकः शासनाद् ब्रह्मणो विभुः ॥२४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! इस प्रकार प्रतापी नाग भगवान् अनन्त अकेले ही ब्रह्माजीके आदेशसे इस सारी पृथ्वीको धारण करते हुए भूमिके नीचे पाताल-लोकमें निवास करते हैं ॥ २४ ॥

सुपर्णं च सहायं वै भगवानमरोत्तमः ।
प्रादादनन्ताय तदा वैनतेयं पितामहः ॥२५॥

तत्पश्चात् देवताओंमें श्रेष्ठ भगवान् पितामहने शेषनागके लिये विनतानन्दन गरुडको सहायक बना दिया ॥ २५ ॥

(अनन्ते च प्रयाते तु वासुकिः सुमहाबलः ।
अभ्यषिच्यत नागैस्तु दैवतैरिव वासवः ॥)

अनन्त नागके चले जानेपर नागोंने महाबली वासुकिका नागराजके पदपर उसी प्रकार अभिषेक किया, जैसे देवताओंने इन्द्रका देवराजके पदपर अभिषेक किया था ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि शेषवृत्तकथने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार महाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें शेषनागवृत्तान्त-कथनविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

(इस अध्यायमें २५ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक, कुल २६ श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

माताके शापसे बचनेके लिये वासुकि आदि नागोंका परस्पर परामर्श

सौतिरुवाच

मातुः सकाशात् तं शापं श्रुत्वा वै पन्नगोत्तमः ।
वासुकिश्चिन्तयामास शापोऽयं न भवेत् कथम् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! माता कद्रूसे नागोंके लिये वह शाप प्राप्त हुआ सुनकर नागराज वासुकिको बड़ी चिन्ता हुई । वे सोचने लगे 'किस प्रकार यह शाप दूर हो सकता है' ॥ १ ॥

ततः स मन्त्रयामास भ्रातृभिः सह सर्वशः ।
ऐरावतप्रभृतिभिः सर्वधर्मपरायणैः ॥ २ ॥

तदनन्तर उन्होंने ऐरावत आदि सर्वधर्मपरायण बन्धुओंके साथ उस शापके विषयमें विचार किया ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच

अयं शापो यथोद्दिष्टो विदितं वस्तथानघाः ।
तस्य शापस्य मोक्षार्थं मन्त्रयित्वा यतामहे ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते।
न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते ॥ ४ ॥

वासुकि बोले—निष्पाप नागगण! माताने हमें जिस प्रकार यह शाप दिया है, वह सब आपलोगोंको विदित ही है। उस शापसे छूटनेके लिये क्या उपाय हो सकता है? इसके विषयमें सलाह करके हम सब लोगोंको उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। सब शापोंका प्रतीकार सम्भव है, परंतु जो माताके शापसे ग्रस्त हैं, उनके छूटनेका कोई उपाय नहीं है ॥ ३-४ ॥

अव्ययस्याप्रमेयस्य सत्यस्य च तथाग्रतः।
शप्ता इत्येव मे श्रुत्वा जायते हृदि वेपथुः ॥ ५ ॥

अविनाशी, अप्रमेय तथा सत्यस्वरूप ब्रह्माजीके आगे माताने हमें शाप दिया है—यह सुनकर ही हमारे हृदयमें कम्प छा जाता है ॥ ५ ॥

नूनं सर्वविनाशोऽयमस्माकं समुपागतः।
न ह्येतां सोऽव्ययो देवः शपन्तीं प्रत्यषेधयत् ॥ ६ ॥

निश्चय ही यह हमारे सर्वनाशका समय आ गया है, क्योंकि अविनाशी देव भगवान् ब्रह्माने भी शाप देते समय माताको मना नहीं किया ॥ ६ ॥

तस्मात् सम्मन्त्रयामोऽद्य भुजङ्गानामनामयम्।
यथा भवेद्धि सर्वेषां मा नः कालोऽत्यगादयम् ॥ ७ ॥
सर्व एव हि नस्तावद् बुद्धिमन्तो विचक्षणाः।
अपि मन्त्रयमाणा हि हेतुं पश्याम मोक्षणे ॥ ८ ॥
यथा नष्टं पुरा देवा गूढमग्निं गुहागतम्।

इसलिये आज हमें अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये कि किस उपायसे हम सभी नाग कुशलपूर्वक रह सकते हैं। अब हमें व्यर्थ समय नहीं गँवाना चाहिये। हमलोगोंमें प्रायः सब नाग बुद्धिमान् और चतुर हैं। यदि हम मिल-जुलकर सलाह करें तो इस संकटसे छूटनेका कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे; जैसे पूर्वकालमें देवताओंने गुफामें छिपे हुए अग्निको खोज निकाला था ॥ ७-८½ ॥

यथा स यज्ञो न भवेद् यथा वापि पराभवः।
जनमेजयस्य सर्पाणां विनाशकरणाय वै ॥ ९ ॥

सर्पोंके विनाशके लिये आरम्भ होनेवाला जनमेजयका यज्ञ जिस प्रकार टल जाय अथवा जिस तरह उसमें विघ्न पड़ जाय, वह उपाय हमें सोचना चाहिये ॥ ९ ॥

सौतिरुवाच

तथेत्युक्त्वा ततः सर्वे काद्रवेयाः समागताः।
समयं चक्रिरे तत्र मन्त्रबुद्धिविशारदाः ॥ १० ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! वहाँ एकत्र हुए सभी कद्रूपुत्र 'बहुत अच्छा' कहकर एक निश्चयपर पहुँच गये; क्योंकि वे नीतिका निश्चय करनेमें निपुण थे ॥ १० ॥

एके तत्राब्रुवन् नागा वयं भूत्वा द्विजर्षभाः।
जनमेजयं तु भिक्षामो यज्ञस्ते न भवेदिति ॥ ११ ॥

उस समय वहाँ कुछ नागोंने कहा—'हमलोग श्रेष्ठ ब्राह्मण बनकर जनमेजयसे यह भिक्षा माँगें कि तुम्हारा यज्ञ न हो' ॥ ११ ॥

अपरे त्वब्रुवन् नागास्तत्र पण्डितमानिनः।
मन्त्रिणोऽस्य वयं सर्वे भविष्यामः सुसम्मताः ॥ १२ ॥

अपनेको बड़ा भारी पण्डित माननेवाले दूसरे नागोंने कहा—'हम सब लोग जनमेजयके विश्वासपात्र मन्त्री बन जायँगे ॥

स नः प्रक्ष्यति सर्वेषु कार्येष्वर्थविनिश्चयम्।
तत्र बुद्धिं प्रदास्यामो यथा यज्ञो निवर्त्स्यति ॥ १३ ॥

'फिर वे सभी कार्योंमें अभीष्ट प्रयोजनका निश्चय करनेके लिये हमसे सलाह पूछेंगे। उस समय हम उन्हें ऐसी बुद्धि देंगे, जिससे यज्ञ होगा ही नहीं ॥ १३ ॥

स नो बहुमतान् राजा बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरः।
यज्ञार्थं प्रक्ष्यति व्यक्तं नेति वक्ष्यामहे वयम् ॥ १४ ॥

'हम वहाँ बहुत विश्वस्त एवं सम्मानित होकर रहेंगे। अतः बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजय यज्ञके विषयमें हमारी सम्मति जाननेके लिये अवश्य पूछेंगे। उस समय हम स्पष्ट कह देंगे—'यज्ञ न करो' ॥ १४ ॥

दर्शयन्तो बहून् दोषान् प्रेत्य चेह च दारुणान्।
हेतुभिः कारणैश्चैव यथा यज्ञो भवेन्न सः ॥ १५ ॥

'हम युक्तियों और कारणोंद्वारा यह दिखायेंगे कि उस यज्ञसे इहलोक और परलोकमें अनेक भयङ्कर दोष प्राप्त होंगे; इससे वह यज्ञ होगा ही नहीं ॥ १५ ॥

अथवा य उपाध्यायः क्रतोस्तस्य भविष्यति।
सर्पसत्रविधानज्ञो राजकार्यहिते रतः ॥ १६ ॥
तं गत्वा दशतां कश्चिद् भुजङ्गः स मरिष्यति।
तस्मिन् मृते यज्ञकारे क्रतुः स न भविष्यति ॥ १७ ॥

'अथवा जो उस यज्ञके आचार्य होंगे, जिन्हें सर्पयज्ञकी विधिका ज्ञान हो और जो राजाके कार्य एवं हितमें लगे रहते हों, उन्हें कोई सर्प जाकर डँस ले। फिर वे मर जायँगे। यज्ञ करानेवाले आचार्यके मर जानेपर वह यज्ञ अपने-आप बंद हो जायगा ॥ १६-१७ ॥

ये चान्ये सर्पसत्रज्ञा भविष्यन्त्यस्य चर्त्विजः।
तांश्च सर्वान् दशिष्यामः कृतमेवं भविष्यति ॥ १८ ॥

'आचार्यके सिवा दूसरे जो-जो ब्राह्मण सर्पयज्ञकी विधिको जानते होंगे और जनमेजयके यज्ञमें ऋत्विज बननेवाले होंगे, उन सबको हम डँस लेंगे। इस प्रकार सारा काम बन जायगा'॥

अपरे त्वब्रुवन् नागा धर्मात्मानो दयालवः।
अबुद्धिरेषा भवतां ब्रह्महत्या न शोभनम् ॥१९॥

यह सुनकर दूसरे धर्मात्मा और दयालु नागोंने कहा—'ऐसा सोचना तुम्हारी मूर्खता है। ब्रह्म-हत्या कभी शुभकारक नहीं हो सकती ॥ १९ ॥

सम्यक्सद्धर्ममूला वै व्यसने शान्तिरुत्तमा।
अधर्मोत्तरता नाम कृत्स्नं व्यापादयेज्जगत् ॥२०॥

'आपत्तिकालमें शान्तिके लिये वही उपाय उत्तम माना गया है, जो भली-भाँति श्रेष्ठ धर्मके अनुकूल किया गया हो। संकटसे बचनेके लिये उत्तरोत्तर अधर्म करनेकी प्रवृत्ति तो सम्पूर्ण जगत्का नाश कर डालेगी' ॥ २० ॥

अपरे त्वब्रुवन् नागाः समिद्धं जातवेदसम्।
वर्षैर्निर्वापयिष्यामो मेघा भूत्वा सविद्युतः ॥२१॥

इसपर दूसरे नाग बोल उठे—'जिस समय सर्पयज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित होगी, उस समय हम बिजलियोंसहित मेघ बनकर पानीकी वर्षाद्वारा उसे बुझा देंगे ॥ २१ ॥

स्रुग्भाण्डं निशि गत्वा च अपरे भुजगोत्तमाः।
प्रमत्तानां हरन्त्वाशु विघ्न एवं भविष्यति ॥२२॥

'दूसरे श्रेष्ठ नाग रातमें वहाँ जाकर असावधानीसे सोये हुए ऋत्विजोंके स्रुक्, स्रुवा और यज्ञपात्र आदि शीघ्र चुरा लावें। इस प्रकार उसमें विघ्न पड़ जायगा ॥ २२ ॥

यज्ञे वा भुजगास्तस्मिञ्छतशोऽथ सहस्रशः।
जनान् दशन्तु वै सर्वे नैवं त्रासो भविष्यति ॥२३॥

'अथवा उस यज्ञमें सभी सर्प जाकर सैकड़ों और हजारों मनुष्योंको डँस लें; ऐसा करनेसे हमारे लिये भय नहीं रहेगा ॥२३॥

अथवा संस्कृतं भोज्यं दूषयन्तु भुजङ्गमाः।
स्वेन मूत्रपुरीषेण सर्वभोज्यविनाशिना ॥२४॥

'अथवा सर्पगण उस यज्ञके संस्कारयुक्त भोज्य पदार्थको अपने मल-मूत्रोंद्वारा, जो सब प्रकारकी भोजन-सामग्रीका विनाश करनेवाले हैं, दूषित कर दें' ॥ २४ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र ऋत्विजोऽस्य भवामहे।
यज्ञविघ्नं करिष्यामो दीयतां दक्षिणा इति ॥२५॥
वश्यतां च गतोऽसौ नः करिष्यति यथेप्सितम्।

इसके बाद अन्य सर्पोंने कहा—'हम उस यज्ञमें ऋत्विज हो जायँगे और यह कहकर कि 'हमें मुँहमाँगी दक्षिणा दो' यज्ञमें विघ्न खड़ा कर देंगे। उस समय राजा हमारे वशमें पड़कर जैसी हमारी इच्छा होगी, वैसा करेंगे' ॥ २५½ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र जले प्रक्रीडितं नृपम् ॥२६॥
गृहमानीय बध्नीमः क्रतुरेवं भवेन्न सः।

फिर अन्य नाग बोले—'जब राजा जनमेजय जल-क्रीड़ा करते हों, उस समय उन्हें वहाँसे खींचकर हम अपने घर ले आवें और बाँधकर रख लें। ऐसा करनेसे वह यज्ञ होगा ही नहीं'—॥ २६½ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र नागाः पण्डितमानिनः ॥२७॥
दशामस्तं प्रगृह्याशु कृतमेवं भविष्यति।
छिन्नं मूलमनर्थानां मृते तस्मिन् भविष्यति ॥२८॥

इसपर अपनेको पण्डित माननेवाले दूसरे नाग बोल उठे 'हम जनमेजयको पकड़कर डँस लेंगे।' ऐसा करनेसे तुरंत ही सब काम बन जायगा। उस राजाके मरनेपर हमारे लिये अनर्थोंकी जड़ ही कट जायगी ॥ २७-२८ ॥

एषा नो नैष्ठिकी बुद्धिः सर्वेषामीक्षणश्रवः।
अथ यन्मन्यसे राजन् द्रुतं तत् संविधीयताम् ॥२९॥

'नेत्रोंसे सुननेवाले नागराज! हम सब लोगोंकी बुद्धि तो इसी निश्चयपर पहुँची है। अब आप जैसा ठीक समझते हों, वैसा शीघ्र करें' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा समुदैक्षन्त वासुकिं पन्नगोत्तमम्।
वासुकिश्चापि संचिन्त्य तानुवाच भुजङ्गमान् ॥३०॥

यह कहकर वे सर्प नागराज वासुकिकी ओर देखने लगे। तब वासुकिने भी खूब सोच-विचारकर उन सर्पोंसे कहा—॥

नैषा वो नैष्ठिकी बुद्धिर्मता कर्तुं भुजङ्गमाः।
सर्वेषामेव मे बुद्धिः पन्नगानां न रोचते ॥३१॥

'नागगण! तुम्हारी बुद्धिने जो निश्चय किया है, वह व्यवहारमें लाने योग्य नहीं है। इसी प्रकार मेरा विचार भी सब सर्पोंको जँच जाय, यह सम्भव नहीं है ॥ ३१ ॥

किं तत्र संविधातव्यं भवतां स्याद्धितं तु यत्।
श्रेयःप्रसाधनं मन्ये कश्यपस्य महात्मनः ॥३२॥

'ऐसी दशामें क्या करना चाहिये, जो तुम्हारे लिये हितकर हो। मुझे तो महात्मा कश्यपजीको प्रसन्न करनेमें ही अपना कल्याण जान पड़ता है ॥ ३२ ॥

ज्ञातिवर्गस्य सौहार्दादात्मनश्च भुजङ्गमाः।
न च जानाति मे बुद्धिः किंचित् कर्तुं वचो हि वः ॥३३॥

'भुजङ्गमो! अपने जाति-भाइयोंके और अपने हितको दृष्टिमें रखकर तुम्हारे कथनानुसार कोई भी कार्य करना मेरी समझमें नहीं आया ॥ ३३ ॥

मया हीदं विधातव्यं भवतां यद्धितं भवेत्।
अनेनाहं भृशं तप्ये गुणदोषौ मदाश्रयौ ॥३४॥

'मुझे वही काम करना है, जिसमें तुमलोगोंका वास्तविक हित हो। इसीलिये मैं अधिक चिन्तित हूँ; क्योंकि तुम सबमें बड़ा होनेके कारण गुण और दोषका सारा उत्तरदायित्व मुझपर ही है' ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुक्यादिमन्त्रणे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकि आदि नागोंकी मन्त्रणा नामक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः

वासुकिकी बहिन जरत्कारुका जरत्कारु मुनिके साथ विवाह करनेका निश्चय

सौतिरुवाच

सर्पाणां तु वचः श्रुत्वा सर्वेषामिति चेति च ।
वासुकेश्च वचः श्रुत्वा एलापत्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! समस्त सर्पोंकी भिन्न-भिन्न राय सुनकर और अन्तमें वासुकिके वचनोंका श्रवण कर एलापत्र नामक नागने इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

न स यज्ञो न भविता न स राजा तथाविधः ।
जनमेजयः पाण्डवेयो यतोऽस्माकं महद् भयम् ॥ २ ॥

'भाइयो ! यह सम्भव नहीं कि वह यज्ञ न हो तथा पाण्डववंशी राजा जनमेजय भी, जिससे हमें महान् भय प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं है कि हम उसका कुछ बिगाड़ सकें ॥ २ ॥

दैवेनोपहतो राजन् यो भवेदिह पूरुषः ।
स दैवमेवाश्रयते नान्यत् तत्र परायणम् ॥ ३ ॥

'राजन् ! इस लोकमें जो पुरुष दैवका मारा हुआ है, उसे दैवकी ही शरण लेनी चाहिये । वहाँ दूसरा कोई आश्रय नहीं काम देता ॥ ३ ॥

तदिदं चैवमस्माकं भयं पन्नगसत्तमाः ।
दैवमेवाश्रयामोऽत्र शृणुध्वं च वचो मम ॥ ४ ॥
अहं शापे समुत्सृष्टे समश्रौषं वचस्तदा ।
मातुरुत्सङ्गमारूढो भयात् पन्नगसत्तमाः ॥ ५ ॥
देवानां पन्नगश्रेष्ठास्तीक्ष्णास्तीक्ष्णा इति प्रभो ।
पितामहमुपागम्य दुःखार्तानां महाद्युते ॥ ६ ॥

'श्रेष्ठ नागगण ! हमारे ऊपर आया हुआ यह भय भी दैवजनित ही है; अतः हमें दैवका ही आश्रय लेना चाहिये । उत्तम सर्पगण ! इस विषयमें आपलोग मेरी बात सुनें । जब माताने सर्पोंको यह शाप दिया था, उस समय भयके मारे मैं माताकी गोदमें चढ़ गया था । पन्नगप्रवर महातेजस्वी नागराजगण ! तभी दुःखसे आतुर होकर ब्रह्माजीके समीप आये हुए देवताओंकी यह वाणी मेरे कानोंमें पड़ी, 'अहो ! स्त्रियाँ बड़ी कठोर होती हैं, बड़ी कठोर होती हैं' ॥ ४-६ ॥

देवा ऊचुः

का हि लब्ध्वा प्रियान् पुत्राञ्छपेदेवं पितामह ।
ऋते कद्रूं तीक्ष्णरूपां देवदेव तवाग्रतः ॥ ७ ॥

देवता बोले—पितामह ! देवदेव ! तीखे स्वभाववाली इस क्रूर कद्रूको छोड़कर दूसरी कौन स्त्री होगी, जो प्रिय पुत्रोंको पाकर उन्हें इस प्रकार शाप दे सके और वह भी आपके सामने ॥ ७ ॥

तथेति च वचस्तस्यास्त्वयाप्युक्तं पितामह ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं कारणं यन्न वारिता ॥ ८ ॥

पितामह ! आपने भी 'तथास्तु' कहकर कद्रूकी बातका अनुमोदन ही किया है; उसे शाप देनेसे रोका नहीं है। इसका क्या कारण है, हम यह जानना चाहते हैं ॥ ८ ॥

ब्रह्मोवाच

बहवः पन्नगास्तीक्ष्णा घोररूपा विषोल्बणाः ।
प्रजानां हितकामोऽहं न च वारितवांस्तदा ॥ ९ ॥

ब्रह्माजीने कहा—इन दिनों भयानक रूप और प्रचण्ड विषवाले क्रूर सर्प बहुत हो गये हैं (जो प्रजाको कष्ट दे रहे हैं) । मैंने प्रजाजनोंके हितकी इच्छासे ही उस समय कद्रूको मना नहीं किया ॥ ९ ॥

ये दन्दशूकाः क्षुद्राश्च पापाचारा विषोल्बणाः ।
तेषां विनाशो भविता न तु ये धर्मचारिणः ॥ १० ॥

जनमेजयके सर्पयज्ञमें उन्हीं सर्पोंका विनाश होगा जो प्रायः लोगोंको डँसते रहते हैं, क्षुद्र स्वभावके हैं और पापाचारी तथा प्रचण्ड विषवाले हैं । किंतु जो धर्मात्मा हैं, उनका नाश नहीं होगा ॥ १० ॥

यन्निमित्तं च भविता मोक्षस्तेषां महाभयात् ।
पन्नगानां निबोधध्वं तस्मिन् काले समागते ॥ ११ ॥

वह समय आनेपर सर्पोंका उस महान् भयसे जिस निमित्तसे छुटकारा होगा, उसे बतलाता हूँ, तुम सब लोग सुनो ॥ ११ ॥

यायावरकुले धीमान् भविष्यति महानृषिः ।
जरत्कारुरिति ख्यातस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ॥ १२ ॥

यायावरकुलमें जरत्कारु नामसे विख्यात एक बुद्धिमान् महर्षि होंगे । वे तपस्यामें तत्पर रहकर अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखेंगे ॥ १२ ॥

तस्य पुत्रो जरत्कारोर्भविष्यति तपोधनः ।
आस्तीको नाम यज्ञं स प्रतिषेत्स्यति तं तदा ।
तत्र मोक्ष्यन्ति भुजगा ये भविष्यन्ति धार्मिकाः ॥ १३ ॥

उन्हींके आस्तीक नामका एक महातपस्वी पुत्र उत्पन्न होगा जो उस यज्ञको बंद करा देगा । अतः जो सर्प धार्मिक होंगे, वे उसमें जलनेसे बच जायँगे ॥ १३ ॥

देवा ऊचुः

स मुनिप्रवरो ब्रह्मञ्जरत्कारुर्महातपाः ।
कस्यां पुत्रं महात्मानं जनयिष्यति वीर्यवान् ॥ १४ ॥

देवताओंने पूछा—ब्रह्मन् ! वे मुनिशिरोमणि महातपस्वी

शक्तिशाली जरत्कारु किसके गर्भसे अपने उस महात्मा पुत्रको उत्पन्न करेंगे ?॥ १४ ॥

ब्रह्मोवाच

सनामायां सनामा स कन्यायां द्विजसत्तमः।
अपत्यं वीर्यसम्पन्नं वीर्यवाञ्जनयिष्यति ॥१५॥

ब्रह्माजीने कहा—वे शक्तिशाली द्विजश्रेष्ठ 'जिस 'जरत्कारु' नामसे प्रसिद्ध होंगे, उसी नामवाली कन्याको पत्नीरूपमें प्राप्त करके उसके गर्भसे एक शक्तिसम्पन्न पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ १५ ॥

वासुकेः सर्पराजस्य जरत्कारुः स्वसा किल।
स तस्यां भविता पुत्रः शापान्नागांश्च मोक्ष्यति ॥१६॥

सर्पराज वासुकिकी बहिनका नाम जरत्कारु है। उसीके गर्भसे वह पुत्र उत्पन्न होगा, जो नागोंको शापसे छुड़ायेगा ॥

एलापत्र उवाच

एवमस्त्विति तं देवाः पितामहमथाब्रुवन्।
उक्त्वैवं वचनं देवान् विरिञ्चिस्त्रिदिवं ययौ ॥१७॥

एलापत्र कहते हैं—यह सुनकर देवता ब्रह्माजीसे कहने लगे 'एवमस्तु (ऐसा ही हो)।' देवताओंसे ये सब बातें बताकर ब्रह्माजी ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ १७ ॥

सोऽहमेवं प्रपश्यामि वासुके भगिनीं तव।
जरत्कारुरिति ख्यातां तां तस्मै प्रतिपादय ॥१८॥
भैक्षवद् भिक्षमाणाय नागानां भयशान्तये।
ऋषये सुव्रतायैनामेष मोक्षः श्रुतो मया ॥१९॥

अतः नागराज वासुके ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आप नागोंका भय दूर करनेके लिये कन्याकी भिक्षा माँगनेवाले, उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि जरत्कारुको अपनी जरत्कारु नामवाली यह बहिन ही भिक्षारूपमें अर्पित कर दें। उस शापसे छूटनेका यही उपाय मैंने सुना है ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि एलापत्रवाक्ये अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें एलापत्र-वाक्य-सम्बन्धी अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी आज्ञासे वासुकिका जरत्कारु मुनिके साथ अपनी बहिनको ब्याहनेके लिये प्रयत्नशील होना

सौतिरुवाच

एलापत्रवचः श्रुत्वा ते नागा द्विजसत्तम।
सर्वे प्रहृष्टमनसः साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ १ ॥
ततः प्रभृति तां कन्यां वासुकिः पर्यरक्षत।
जरत्कारुं स्वसारं वै परं हर्षमवाप च ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—द्विजश्रेष्ठ ! एलापत्रकी बात सुनकर नागोंका चित्त प्रसन्न हो गया। वे सब-के-सब एक साथ बोल उठे—'ठीक है, ठीक है।' वासुकिको भी इस बातसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उसी दिनसे अपनी बहिन जरत्कारुका बड़े चावसे पालन-पोषण करने लगे ॥ १-२ ॥

ततो नातिमहान् कालः समतीत इवाभवत्।
अथ देवासुराः सर्वे ममन्थुर्वरुणालयम् ॥ ३ ॥
तत्र नेत्रमभून्नागो वासुकिर्बलिनां वरः।
समाप्यैव च तत् कर्म पितामहमुपागमन् ॥ ४ ॥
देवा वासुकिना सार्धं पितामहमथाब्रुवन्।
भगवञ्छापभीतोऽयं वासुकिस्तप्यते भृशम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर थोड़ा ही समय व्यतीत होनेपर सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंने समुद्रका मन्थन किया। उसमें बलवानोंमें श्रेष्ठ वासुकि नाग मन्दराचलरूप मथानीमें लपेटनेके लिये रस्सी बने हुए थे। समुद्र-मन्थनका कार्य पूरा करके देवता वासुकि नागके साथ पितामह ब्रह्माजीके पास गये और उनसे बोले—'भगवन् ! ये वासुकि माताके शापसे भयभीत हो बहुत संतप्त होते रहते हैं ॥ ३-५ ॥

अस्यैतन्मानसं शल्यं समुद्धर्तुं त्वमर्हसि।
जनन्याः शापजं देव ज्ञातीनां हितमिच्छतः ॥ ६ ॥

'देव ! अपने भाई-बन्धुओंका हित चाहनेवाले इन नागराजके हृदयमें माताका शाप काँटा बनकर चुभा हुआ है और कसक पैदा करता है। आप इनके उस काँटेको निकाल दीजिये ॥

हितो ह्ययं सदास्माकं प्रियकारी च नागराट्।
प्रसादं कुरु देवेश शमयास्य मनोज्वरम् ॥ ७ ॥

'देवेश्वर! नागराज वासुकि हमारे हितैषी हैं और सदा हम-लोगोंके प्रिय कार्यमें लगे रहते हैं; अतः आप इनपर कृपा करें और इनके मनमें जो चिन्ताकी आग जल रही है, उसे बुझा दें' ॥

ब्रह्मोवाच

मयैव तद् वितीर्णं वै वचनं मनसामराः।
एलापत्रेण नागेन यदस्याभिहितं पुरा ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! एलापत्र नागने वासुकि-के समक्ष पहले जो बात कही थी, वह मैंने ही मानसिक संकल्पद्वारा उसे दी थी (मेरी ही प्रेरणासे एलापत्रने वे बातें वासुकि आदि नागोंके सम्मुख कही थीं) ॥ ८ ॥

तत् करोत्वेष नागेन्द्रः प्राप्तकालं वचः स्वयम्।
विनशिष्यन्ति ये पापा न तु ये धर्मचारिणः ॥ ९ ॥

ये नागराज समय आनेपर स्वयं तदनुसार ही कार्य करें। जनमेजयके यज्ञमें पापी सर्प ही नष्ट होंगे, किंतु जो धर्मात्मा हैं वे नहीं ॥ ९ ॥

उत्पन्नः स जरत्कारुस्तपस्युग्रे रतो द्विजः।
तस्यैष भगिनीं काले जरत्कारुं प्रयच्छतु ॥ १० ॥

अब जरत्कारु ब्राह्मण उत्पन्न होकर उग्र तपस्यामें लगे हैं। अवसर देखकर ये वासुकि अपनी बहिन जरत्कारुको उन महर्षिकी सेवामें समर्पित कर दें ॥ १० ॥

एलापत्रेण यत् प्रोक्तं वचनं भुजगेन ह।
पन्नगानां हितं देवास्तत् तथा न तदन्यथा ॥ ११ ॥

देवताओ! एलापत्र नागने जो बात कही है, वही सर्पोंके लिये हितकर है। वही बात होनेवाली है। उससे विपरीत कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा तु नागेन्द्रः पितामहवचस्तदा।
संदिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः शापमोहितः ॥ १२ ॥
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति।
सर्पान् बहूञ्जरत्कारौ नित्ययुक्तान् समादधत् ॥ १३ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—ब्रह्माजीकी बात सुनकर शापसे मोहित हुए नागराज वासुकिने सब सर्पोंको यह संदेश दे दिया कि मुझे अपनी बहिनका विवाह जरत्कारु मुनिके साथ करना है। फिर उन्होंने जरत्कारु मुनिकी खोजके लिये नित्य आज्ञामें रहनेवाले बहुत-से सर्पोंको नियुक्त कर दिया ॥ १२-१३ ॥

जरत्कारुर्यदा भार्यामिच्छेद् वरयितुं प्रभुः।
शीघ्रमेत्य तदाख्येयं तन्नः श्रेयो भविष्यति ॥ १४ ॥

और यह कहा—'सामर्थ्यशाली जरत्कारु मुनि जब पत्नीका वरण करना चाहें, उस समय शीघ्र आकर यह बात मुझे सूचित करनी चाहिये। उसीसे हमलोगोंका कल्याण होगा' ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कार्वन्वेषणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारु मुनिका अन्वेषणविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुकी तपस्या, राजा परीक्षित्का उपाख्यान तथा राजाद्वारा मुनिके कंधेपर मृतक साँप रखनेके कारण दुखी हुए कृशका शृङ्गीको उत्तेजित करना

शौनक उवाच

जरत्कारुरिति ख्यातो यस्त्वया सूतनन्दन।
इच्छामि तदहं श्रोतुं ऋषेस्तस्य महात्मनः ॥ १ ॥
किं कारणं जरत्कारोर्नामैतत् प्रथितं भुवि।
जरत्कारुनिरुक्तिं त्वं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! आपने जिन जरत्कारु ऋषिका नाम लिया है, उन महात्मा मुनिके सम्बन्धमें मैं यह सुनना चाहता हूँ कि पृथ्वीपर उनका जरत्कारु नाम क्यों प्रसिद्ध हुआ? जरत्कारु शब्दकी व्युत्पत्ति क्या है? यह आप ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ १-२ ॥

सौतिरुवाच

जरेति क्षयमाहुर्वै दारुणं कारुसंज्ञितम्।
शरीरं कारु तस्यासीत्तत् स धीमाञ्छनैः शनैः ॥ ३ ॥
क्षपयामास तीव्रेण तपसेत्यत उच्यते।
जरत्कारुरिति ब्रह्मन् वासुकेर्भगिनी तथा ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! जरा कहते हैं क्षयको और कारु शब्द दारुणका वाचक है। पहले उनका शरीर कारु अर्थात् खूब हट्टा-कट्टा था। उसे परम बुद्धिमान् महर्षिने धीरे-धीरे तीव्र तपस्याद्वारा क्षीण बना दिया। ब्रह्मन्! इसलिये उनका नाम जरत्कारु पड़ा। वासुकिकी बहिनके भी जरत्कारु नाम पड़नेका यही कारण था ॥ ३-४ ॥

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा शौनकः प्राहसत् तदा।
उग्रश्रवसमामन्त्र्य उपपन्नमिति ब्रुवन् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा शौनक उस समय खिलखिलाकर हँस पड़े और फिर उग्रश्रवाजीको सम्बोधित करके बोले—'तुम्हारी बात उचित है' ॥ ५ ॥

शौनक उवाच

उक्तं नाम यथापूर्वं सर्वं तच्छ्रुतवानहम्।
यथा तु जातो ह्यास्तीक एतदिच्छामि वेदितुम्।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सौतिः प्रोवाच शास्त्रतः ॥ ६ ॥

शौनकजी बोले—सूतपुत्र! आपने पहले जो जरत्कारु नामकी व्युत्पत्ति बतायी है, वह सब मैंने सुन ली। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आस्तीक मुनिका जन्म किस प्रकार हुआ? शौनकजीका यह वचन सुनकर उग्रश्रवाने पुराणशास्त्रके अनुसार आस्तीकके जन्मका वृत्तान्त बताया ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

संदिश्य पन्नगान् सर्वान् वासुकिः सुसमाहितः ।
स्वसारमुद्यम्य तदा जरत्कारुमृषिं प्रति ॥ ७ ॥

उग्रश्रवाजी बोले—नागराज वासुकिने एकाग्रचित्त हो खूब सोच-समझकर सब सर्पोंको यह संदेश दे दिया—'मुझे अपनी बहिनका विवाह जरत्कारु मुनिके साथ करना है' ॥

अथ कालस्य महतः स मुनिः संशितव्रतः ।
तपस्यभिरतो धीमान् स दारान् नाभ्यकाङ्क्षत ॥ ८ ॥

तदनन्तर दीर्घकाल बीत जानेपर भी कठोर व्रतका पालन करनेवाले परम बुद्धिमान् जरत्कारु मुनि केवल तपमें ही लगे रहे । उन्होंने स्त्रीसंग्रहकी इच्छा नहीं की ॥ ८ ॥

स तूर्ध्वरेतास्तपसि प्रसक्तः
स्वाध्यायवान् वीतभयः कृतात्मा ।
चचार सर्वां पृथिवीं महात्मा
न चापि दारान् मनसाप्यकाङ्क्षत ॥ ९ ॥

वे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे । तपस्यामें संलग्न रहते थे । नित्य नियमपूर्वक वेदोंका स्वाध्याय करते थे । उन्हें कहींसे कोई भय नहीं था । वे मन और इन्द्रियोंको सदा काबूमें रखते थे । महात्मा जरत्कारु सारी पृथ्वीपर घूम आये; किंतु उन्होंने मनसे कभी स्त्रीकी अभिलाषा नहीं की ॥ ९ ॥

ततोऽपरस्मिन् सम्प्राप्ते काले कस्मिंश्चिदेव तु ।
परिक्षिन्नाम राजासीद् ब्रह्मन् कौरववंशजः ॥१०॥

ब्रह्मन् ! तदनन्तर किसी दूसरे समयमें इस पृथ्वीपर कौरववंशी राजा परीक्षित् राज्य करने लगे ॥ १० ॥

यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि ।
बभूव मृगयाशीलः पुरास्य प्रपितामहः ॥११॥

युद्धमें समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ उनके प्रपितामह महाबाहु पाण्डु जिस प्रकार पूर्वकालमें शिकार खेलनेके शौकीन हुए थे, उसी प्रकार राजा परीक्षित् भी थे ॥ ११ ॥

मृगान् विध्यन् वराहांश्च तरक्षून् महिषांस्तथा ।
अन्यांश्च विविधान् वन्यांश्चचार पृथिवीपतिः ॥१२॥

महाराज परीक्षित् वराह, तरक्षु (व्याघ्रविशेष), महिष तथा दूसरे-दूसरे नाना प्रकारके वनके हिंसक पशुओंका शिकार खेलते हुए वनमें घूमते रहते थे ॥ १२ ॥

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा ।
पृष्ठतो धनुरादाय ससार गहने वने ॥१३॥

एक दिन उन्होंने गहन वनमें धनुष लेकर झुकी हुई गाँठवाले बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला और भागनेपर बहुत दूरतक उसका पीछा किया ॥ १३ ॥

यथैव भगवान् रुद्रो विद्ध्वा यज्ञमृगं दिवि ।
अन्वगच्छद् धनुष्पाणिः पर्यन्वेष्टुमितस्ततः ॥१४॥

जैसे भगवान् रुद्र आकाशमें मृगशिरा नक्षत्रको बींधकर उसे खोजनेके लिये धनुष हाथमें लिये इधर-उधर घूमते फिरे, उसी प्रकार परीक्षित् भी घूम रहे थे ॥ १४ ॥

न हि तेन मृगो विद्धो जीवन् गच्छति वै वने ।
पूर्वरूपं तु तत्तूर्णं सोऽगात् स्वर्गगतिं प्रति ॥१५॥
परिक्षितो नरेन्द्रस्य विद्धो यन्नष्टवान् मृगः ।
दूरं चापहृतस्तेन मृगेण स महीपतिः ॥१६॥

उनके द्वारा घायल किया हुआ मृग कभी वनमें जीवित बचकर नहीं जाता था; परंतु आज जो महाराज परीक्षित्का घायल किया हुआ मृग तत्काल अदृश्य हो गया था, वह वास्तवमें उनके स्वर्गवासका मूर्तिमान् कारण था । उस मृगके साथ राजा परीक्षित् बहुत दूरतक खिंचे चले गये ॥१५-१६॥

परिश्रान्तः पिपासार्त आससाद मुनिं वने ।
गवां प्रचारेष्वासीनं वत्सानां मुखनिःसृतम् ॥१७॥
भूयिष्ठमुपयुञ्जानं फेनमापिबतां पयः ।
तमभिद्रुत्य वेगेन स राजा संशितव्रतम् ॥१८॥
अपृच्छद् धनुरुद्यम्य तं मुनिं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
भो भो ब्रह्मन्नहं राजा परीक्षिदभिमन्युजः ॥१९॥
मया विद्धो मृगो नष्टः कच्चित् तं दृष्टवानसि ।
स मुनिस्तं तु नोवाच किंचिन्मौनव्रते स्थितः ॥२०॥

उन्हें बड़ी थकावट आ गयी । वे प्याससे व्याकुल हो उठे और इसी दशामें वनमें शमीक मुनिके पास आये । वे मुनि गौओंके रहनेके स्थानमें आसनपर बैठे थे और गौओंका दूध पीते समय बछड़ोंके मुखसे जो बहुत-सा फेन निकलता, उसीको खा-पीकर तपस्या करते थे । राजा परीक्षित्ने कठोर व्रतका पालन करनेवाले उन महर्षिके पास बड़े वेगसे आकर पूछा । पूछते समय वे भूख और थकावटसे बहुत आतुर हो रहे थे और धनुषको उन्होंने ऊपर उठा रक्खा था । वे बोले—'ब्रह्मन् ! मैं अभिमन्युका पुत्र राजा परीक्षित् हूँ । मेरे बाणोंसे विद्ध होकर एक मृग कहीं भाग निकला है । क्या आपने उसे देखा है ?' मुनि मौन-व्रतका पालन कर रहे थे, अतः उन्होंने राजाको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥१७—२०॥

तस्य स्कन्धे मृतं सर्पं क्रुद्धो राजा समासजत् ।
समुत्क्षिप्य धनुष्कोट्या स चैनं समुपैक्षत ॥२१॥

तब राजाने कुपित हो धनुषकी नोकसे एक मरे हुए साँपको उठाकर उनके कंधेपर रख दिया, तो भी मुनिने उनकी उपेक्षा कर दी ॥ २१ ॥

न स किंचिदुवाचैनं शुभं वा यदि वाशुभम् ।
स राजा क्रोधमुत्सृज्य व्यथितस्तं तथागतम् ।
दृष्ट्वा जगाम नगरमृषिस्त्वासीत् तथैव सः ॥ २२ ॥

उन्होंने राजासे भला या बुरा कुछ भी नहीं कहा । उन्हें

इस अवस्थामें देख राजा परीक्षित्‌ने क्रोध त्याग दिया और मन-ही-मन व्यथित हो पश्चात्ताप करते हुए वे अपनी राजधानीको चले गये । वे महर्षि ज्यों-के-त्यों बैठे रहे ॥ २२ ॥

न हि तं राजशार्दूलं क्षमाशीलो महामुनिः ।
स्वधर्मनिरतं भूपं समाक्षिप्तोऽप्यधर्षयत् ॥ २३ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ भूपाल परीक्षित् अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहते थे, अतः उस समय उनके द्वारा तिरस्कृत होनेपर भी क्षमाशील महामुनिने उन्हें अपमानित नहीं किया ॥ २३ ॥

न हि तं राजशार्दूलस्तथा धर्मपरायणम् ।
जानाति भरतश्रेष्ठस्तत एनमधर्षयत् ॥ २४ ॥

भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ परीक्षित् उन धर्मपरायण मुनिको यथार्थरूपमें नहीं जानते थे; इसीलिये उन्होंने महर्षिका अपमान किया ॥ २४ ॥

तरुणस्तस्य पुत्रोऽभूत् तिग्मतेजा महातपाः ।
शृङ्गी नाम महाक्रोधो दुष्प्रसादो महाव्रतः ॥ २५ ॥

मुनिके शृङ्गी नामक एक पुत्र था, जिसकी अभी तरुणावस्था थी । वह महान् तपस्वी, दुःसह तेजसे सम्पन्न और महान् व्रतधारी था । उसमें क्रोधकी मात्रा बहुत अधिक थी; अतः उसे प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन था ॥ २५ ॥

स देवं परमासीनं सर्वभूतहिते रतम् ।
ब्रह्माणमुपतस्थे वै काले काले सुसंयतः ॥ २६ ॥

वह समय-समयपर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले, उत्तम आसनपर विराजमान आचार्यदेवकी सेवामें उपस्थित हुआ करता था ॥

स तेन समनुज्ञातो ब्रह्मणा गृहमेयिवान् ।
सख्योक्तः क्रीडमानेन स तत्र हसता किल ॥ २७ ॥
संरम्भात् कोपनोऽतीव विषकल्पो मुनेः सुतः ।
उद्दिश्य पितरं तस्य यच्छ्रुत्वा रोषमाहरत् ।
ऋषिपुत्रेण धर्मार्थे कृशेन द्विजसत्तम ॥ २८ ॥

शृङ्गी उस दिन आचार्यकी आज्ञा लेकर घरको लौट रहा था । रास्तेमें उसका मित्र ऋषिकुमार कृश, जो धर्मके लिये कष्ट उठानेके कारण सदा ही कृश (दुर्बल) रहा करता था, खेलता मिला । उसने हँसते-हँसते शृङ्गी ऋषिको उसके पिताके सम्बन्धमें ऐसी बात बतायी, जिसे सुनते ही वह रोषमें भर गया । द्विजश्रेष्ठ ! मुनिकुमार शृङ्गी क्रोधके आवेशमें आनेपर अत्यन्त तीक्ष्ण (कठोर) एवं विषके समान विनाशकारी हो जाता था ॥ २७-२८ ॥

कृश उवाच

तेजस्विनस्तव पिता तथैव च तपस्विनः ।
शवं स्कन्धेन वहति मा शृङ्गिन् गर्वितो भव ॥ २९ ॥

कृशने कहा—शृङ्गिन् ! तुम बड़े तपस्वी और तेजस्वी बनते हो, किंतु तुम्हारे पिता अपने कंधेपर मुर्दा सर्प ढो रहे हैं । अब कभी अपनी तपस्यापर गर्व न करना ॥२९॥

व्याहरत्स्वृषिपुत्रेषु मा स्म किंचिद् वचो वद ।
अस्मद्विधेषु सिद्धेषु ब्रह्मवित्सु तपस्विषु ॥ ३० ॥

हम-जैसे सिद्ध, ब्रह्मवेत्ता तथा तपस्वी ऋषि-पुत्र जब कभी बातें करते हों, उस समय तुम वहाँ कुछ न बोलना ॥३०॥

क ते पुरुषमानित्वं क ते वाचस्तथाविधाः ।
दर्पजाः पितरं द्रष्टा यस्त्वं शवधरं तथा ॥ ३१ ॥

कहाँ है तुम्हारा पौरुषका अभिमान, कहाँ गयीं तुम्हारी वे दर्पभरी बातें ? जब तुम अपने पिताको मुर्दा ढोते चुपचाप देख रहे हो ! ॥ ३१ ॥

पित्रा च तव तत् कर्म नानुरूपमिवात्मनः ।
कृतं मुनिजनश्रेष्ठ येनाहं भृशदुःखितः ॥ ३२ ॥

मुनिजनशिरोमणे ! तुम्हारे पिताके द्वारा कोई अनुचित कर्म नहीं बना था; इसलिये जैसे मेरे ही पिताका अपमान हुआ हो उस प्रकार तुम्हारे पिताके तिरस्कारसे मैं अत्यन्त दुखी हो रहा हूँ ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परिक्षिदुपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-उपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शृङ्गी ऋषिका राजा परीक्षित्‌को शाप देना और शमीकका अपने पुत्रको शान्त करते हुए शापको अनुचित बताना

सौतिरुवाच

एवमुक्तः स तेजस्वी शृङ्गी कोपसमन्वितः ।
मृतधारं गुरुं श्रुत्वा पर्यतप्यत मन्युना ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! कृशके ऐसा कहनेपर तेजस्वी शृङ्गी ऋषिको बड़ा क्रोध हुआ । अपने पिताके कंधेपर मृतक (सर्प) रक्खे जानेकी बात सुनकर वह रोष और शोकसे संतप्त हो उठा ॥ १ ॥

स तं कृशमभिप्रेक्ष्य सूनृतां वाचमुत्सृजन्।
अपृच्छत् तं कथं तातः स मेऽद्य मृतधारकः ॥ २ ॥

उसने कृशकी ओर देखकर मधुर वाणीमें पूछा—'भैया! बताओ तो, आज मेरे पिता अपने कंधेपर मृतक कैसे धारण कर रहे हैं?' ॥ २ ॥

कृश उवाच

राज्ञा परिक्षिता तात मृगयां परिधावता।
अवसक्तः पितुस्तेऽद्य मृतः स्कन्धे भुजङ्गमः ॥ ३ ॥

कृशने कहा—तात! आज राजा परीक्षित् अपने शिकारके पीछे दौड़ते हुए आये थे। उन्होंने तुम्हारे पिताके कंधेपर मृतक साँप रख दिया है ॥ ३ ॥

शृङ्ग्युवाच

किं मे पित्रा कृतं तस्य राज्ञोऽनिष्टं दुरात्मनः।
ब्रूहि तत् कृश तत्त्वेन पश्य मे तपसो बलम् ॥ ४ ॥

शृङ्गी बोला—कृश! ठीक-ठीक बताओ, मेरे पिताने उस दुरात्मा राजाका क्या अपराध किया था? फिर मेरी तपस्याका बल देखना ॥ ४ ॥

कृश उवाच

स राजा मृगयां यातः परिक्षिदभिमन्युजः।
ससार मृगमेकाकी विद्ध्वा बाणेन शीघ्रगम् ॥ ५ ॥
न चापश्यन्मृगं राजा चरंस्तस्मिन् महावने।
पितरं ते स दृष्ट्वैव पप्रच्छानभिभाषिणम् ॥ ६ ॥

कृशने कहा—अभिमन्युपुत्र राजा परीक्षित् अकेले शिकार खेलने आये थे। उन्होंने एक शीघ्रगामी हिंसक मृग (पशु) को बाणसे बींध डाला; किंतु उस विशाल वनमें विचरते हुए राजाको वह मृग कहीं दिखायी न दिया। फिर उन्होंने तुम्हारे मौनी पिताको देखकर उसके विषयमें पूछा ॥ ५-६ ॥

तं स्थाणुभूतं तिष्ठन्तं क्षुत्पिपासाश्रमातुरः।
पुनः पुनर्मृगं नष्टं पप्रच्छ पितरं तव ॥ ७ ॥
स च मौनव्रतोपेतो नैव तं प्रत्यभाषत।
तस्य राजा धनुष्कोट्या सर्पं स्कन्धे समासजत् ॥ ८ ॥

राजा भूख-प्यास और थकावटसे व्याकुल थे। इधर तुम्हारे पिता काठकी भाँति अविचल भावसे बैठे थे। राजाने बार-बार तुम्हारे पितासे उस भागे हुए मृगके विषयमें प्रश्न किया, परंतु मौन-व्रतावलम्बी होनेके कारण उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। तब राजाने धनुषकी नोकसे एक मरा हुआ साँप उठाकर उनके कंधेपर डाल दिया ॥ ७-८ ॥

शृङ्गिंस्तव पिता सोऽपि तथैवास्ते यतव्रतः।
सोऽपि राजा स्वनगरं प्रस्थितो गजसाह्वयम् ॥ ९ ॥

शृङ्गिन्! संयमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तुम्हारे पिता अभी उसी अवस्थामें बैठे हैं और वे राजा परीक्षित् अपनी राजधानी हस्तिनापुरको चले गये हैं ॥ ९ ॥

सौतिरुवाच

श्रुत्वैवमृषिपुत्रस्तु शवं स्कन्धे प्रतिष्ठितम्।
कोपसंरक्तनयनः प्रज्वलन्निव मन्युना ॥ १० ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! इस प्रकार अपने पिताके कंधेपर मृतक सर्पके रक्खे जानेका समाचार सुनकर ऋषिकुमार शृङ्गी क्रोधसे जल उठा। कोपसे उसकी आँखें लाल हो गयीं ॥ १० ॥

आविष्टः स हि कोपेन शशाप नृपतिं तदा।
वार्युपस्पृश्य तेजस्वी क्रोधवेगबलात्कृतः ॥ ११ ॥

वह तेजस्वी बालक रोषके आवेशमें आकर प्रचण्ड क्रोधके वेगसे युक्त हो गया था। उसने जलसे आचमन करके हाथमें जल लेकर उस समय राजा परीक्षित्‌को इस प्रकार शाप दिया ॥

शृङ्ग्युवाच

योऽसौ वृद्धस्य तातस्य तथा कृच्छ्रगतस्य ह।
स्कन्धे मृतं समास्राक्षीत् पन्नगं राजकिल्बिषी ॥ १२ ॥
तं पापमतिसंक्रुद्धस्तक्षकः पन्नगेश्वरः।
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ॥ १३ ॥
सप्तरात्रादितो नेता यमस्य सदनं प्रति।
द्विजानामवमन्तारं कुरूणामयशस्करम् ॥ १४ ॥

शृङ्गी बोला—जिस पापात्मा नरेशने वैसे धर्म-संकटमें पड़े हुए मेरे बूढ़े पिताके कंधेपर मरा साँप रख दिया है, ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले उस कुरुकुलकलङ्क पापी परीक्षित्‌को आजसे सात रातके बाद प्रचण्ड तेजस्वी पन्नगोत्तम तक्षक नामक विषैला नाग अत्यन्त कोपमें भरकर मेरे वाक्य-बलसे प्रेरित हो यमलोक पहुँचा देगा ॥ १२—१४ ॥

सौतिरुवाच

इति शप्त्वातिसंक्रुद्धः शृङ्गी पितरमभ्यगात्।
आसीनं गोव्रजे तस्मिन् वहन्तं शवपन्नगम् ॥ १५ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इस प्रकार अत्यन्त क्रोधपूर्वक शाप देकर शृङ्गी अपने पिताके पास आया, जो उस गोष्ठमें कंधेपर मृतक सर्प धारण किये बैठे थे ॥ १५ ॥

स तमालक्ष्य पितरं शृङ्गी स्कन्धगतेन वै।
शवेन भुजगेनासीद् भूयः क्रोधसमाकुलः ॥ १६ ॥

कंधेपर रक्खे हुए मुर्दे साँपसे संयुक्त पिताको देखकर शृङ्गी पुनः क्रोधसे व्याकुल हो उठा ॥ १६ ॥

दुःखाच्चाश्रूणि मुमुचे पितरं चेदमब्रवीत्।
श्रुत्वेमां धर्षणां तात तव तेन दुरात्मना ॥ १७ ॥

राज्ञा परिक्षिता कोपादशपं तमहं नृपम्।
यथार्हति स एवोग्रं शापं कुरुकुलाधमः।
सप्तमेऽहनि तं पापं तक्षकः पन्नगोत्तमः॥१८॥
वैवस्वतस्य सदनं नेता परमदारुणम्।
तमब्रवीत् पिता ब्रह्मंस्तथा कोपसमन्वितम्॥१९॥

वह दुःखसे आँसू बहाने लगा। उसने पितासे कहा—'तात! उस दुरात्मा राजा परीक्षित्‌के द्वारा आपके इस अपमानकी बात सुनकर मैंने उसे क्रोधपूर्वक जैसा शाप दिया है; वह कुरुकुलाधम वैसे ही भयंकर शापके योग्य है। आजके सातवें दिन नागराज तक्षक उस पापीको अत्यन्त भयंकर यमलोकमें पहुँचा देगा।' ब्रह्मन्! इस प्रकार क्रोधमें भरे हुए पुत्रसे उसके पिता शमीकने कहा॥ १७–१९॥

शमीक उवाच

न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम्।
वयं तस्य नरेन्द्रस्य विषये निवसामहे॥२०॥
न्यायतो रक्षितास्तेन तस्य शापं न रोचये।
सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञो ह्यस्मद्विधैः सदा॥२१॥
क्षन्तव्यं पुत्र धर्मो हि हतो हन्ति न संशयः।
यदि राजा न संरक्षेत् पीडा नः परमा भवेत्॥२२॥

शमीक बोले—वत्स! तुमने शाप देकर मेरा प्रिय कार्य नहीं किया है। यह तपस्वियोंका धर्म नहीं है। हमलोग उन महाराज परीक्षित्‌के राज्यमें निवास करते हैं और उनके द्वारा न्यायपूर्वक हमारी रक्षा होती है। अतः उनको शाप देना मुझे पसंद नहीं है। हमारे-जैसे साधु पुरुषोंको तो वर्तमान राजा परीक्षित्‌के अपराधको सब प्रकारसे क्षमा ही करना चाहिये। बेटा! यदि धर्मको नष्ट किया जाय तो वह मनुष्यका नाश कर देता है, इसमें संशय नहीं है। यदि राजा रक्षा न करे तो हमें भारी कष्ट पहुँच सकता है॥ २०–२२॥

न शक्नुयाम चरितुं धर्मं पुत्र यथासुखम्।
रक्ष्यमाणा वयं तात राजभिर्धर्मदृष्टिभिः॥२३॥
चरामो विपुलं धर्मं तेषां भागोऽस्ति धर्मतः।
सर्वथा वर्तमानस्य राज्ञः क्षन्तव्यमेव हि॥२४॥

पुत्र! हम राजाके बिना सुखपूर्वक धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकते। तात! धर्मपर दृष्टि रखनेवाले राजाओंके द्वारा सुरक्षित होकर हम अधिक-से-अधिक धर्मका आचरण कर पाते हैं। अतः हमारे पुण्यकर्मोंमें धर्मतः उनका भी भाग है। इसलिये वर्तमान राजा परीक्षित्‌के अपराधको तो क्षमा ही कर देना चाहिये॥ २३-२४॥

परिक्षित्तु विशेषेण यथास्य प्रपितामहः।
रक्षत्यस्मांस्तथा राज्ञा रक्षितव्याः प्रजा विभो॥२५॥

परीक्षित् तो विशेषरूपसे अपने प्रपितामह युधिष्ठिर आदिकी भाँति हमारी रक्षा करते हैं। शक्तिशाली पुत्र! प्रत्येक राजाको इसी प्रकार प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये॥ २५॥

तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम॥२६॥

वे आज भूखे और थके-माँदे यहाँ आये थे। वे तपस्वी नरेश मेरे इस मौन-व्रतको नहीं जानते थे; मैं समझता हूँ इसीलिये उन्होंने मेरे साथ ऐसा बर्ताव कर दिया॥ २६॥

अराजके जनपदे दोषा जायन्ति वै सदा।
उद्वृत्तं सततं लोकं राजा दण्डेन शास्ति वै॥२७॥

जिस देशमें राजा न हो वहाँ अनेक प्रकारके दोष (चोर आदिके भय) पैदा होते हैं। धर्मकी मर्यादा त्यागकर उच्छृङ्खल बने हुए लोगोंको राजा अपने दण्डके द्वारा शिक्षा देता है॥

दण्डात् प्रतिभयं भूयः शान्तिरुत्पद्यते तदा।
नोद्विग्नश्चरते धर्मं नोद्विग्नश्चरते क्रियाम्॥२८॥

दण्डसे भय होता है, फिर भयसे तत्काल शान्ति स्थापित होती है। जो चोर आदिके भयसे उद्विग्न है, वह धर्मका अनुष्ठान नहीं कर सकता। वह उद्विग्न पुरुष यज्ञ, श्राद्ध आदि शास्त्रीय कर्मोंका आचरण भी नहीं कर सकता॥ २८॥

राज्ञा प्रतिष्ठितो धर्मो धर्मात् स्वर्गः प्रतिष्ठितः।
राज्ञो यज्ञक्रियाः सर्वा यज्ञाद् देवाः प्रतिष्ठिताः॥२९॥

राजासे धर्मकी स्थापना होती है और धर्मसे स्वर्गलोककी प्रतिष्ठा (प्राप्ति) होती है। राजासे सम्पूर्ण यज्ञकर्म प्रतिष्ठित होते हैं और यज्ञसे देवताओंकी प्रतिष्ठा होती है॥ २९॥

देवाद् वृष्टिः प्रवर्तेत वृष्टेरोषधयः स्मृताः।
ओषधिभ्यो मनुष्याणां धारयन् सततं हितम्॥३०॥
मनुष्याणां च यो धाता राजा राज्यकरः पुनः।
दशश्रोत्रियसमो राजा इत्येवं मनुरब्रवीत्॥३१॥

देवताके प्रसन्न होनेसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न पैदा होता है और अन्नसे निरन्तर मनुष्योंके हितका पोषण करते हुए राज्यका पालन करनेवाला राजा मनुष्योंके लिये विधाता (धारण-पोषण करनेवाला) है। राजा दस श्रोत्रियके समान है, ऐसा मनुजीने कहा है॥ ३०-३१॥

तेनेह क्षुधितेनाद्य श्रान्तेन च तपस्विना।
अजानता कृतं मन्ये व्रतमेतदिदं मम॥३२॥

वे तपस्वी राजा यहाँ भूखे-प्यासे और थके-माँदे आये थे। उन्हें मेरे इस मौन-व्रतका पता नहीं था, इसलिये मेरे न बोलनेसे रुष्ट होकर उन्होंने ऐसा किया है॥ ३२॥

कस्मादिदं त्वया बाल्यात् सहसा दुष्कृतं कृतम्।
न ह्यर्हति नृपः शापमस्मत्तः पुत्र सर्वथा ॥३३॥

तुमने मूर्खतावश बिना विचारे क्यों यह दुष्कर्म कर डाला? बेटा! राजा हमलोगोंसे शाप पानेके योग्य नहीं हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि परिक्षिच्छापे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-शापविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४१॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शमीकका अपने पुत्रको समझाना और गौरमुखको राजा परीक्षित्के पास भेजना, राजाद्वारा आत्मरक्षाकी व्यवस्था तथा तक्षक नाग और काश्यपकी बातचीत

शृङ्ग्युवाच

यद्येतत् साहसं तात यदि वा दुष्कृतं कृतम्।
प्रियं वाप्यप्रियं वा ते वागुक्ता न मृषा भवेत् ॥ १ ॥

शृङ्गी बोला—तात! यदि यह साहस है अथवा यदि मेरे द्वारा दुष्कर्म हो गया है तो हो जाय। आपको यह प्रिय लगे या अप्रिय, किंतु मैंने जो बात कह दी है, वह झूठी नहीं हो सकती ॥ १ ॥

नैवान्यथेदं भविता पितरेष ब्रवीमि ते।
नाहं मृषा ब्रवीम्येवं स्वैरेष्वपि कुतः शपन् ॥ २ ॥

पिताजी! मैं आपसे सच कहता हूँ, अब यह शाप टल नहीं सकता। मैं हँसी-मजाकमें भी झूठ नहीं बोलता, फिर शाप देते समय कैसे झूठी बात कह सकता हूँ ॥ २ ॥

शमीक उवाच

जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा।
नानृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥ ३ ॥

शमीकने कहा—बेटा! मैं जानता हूँ तुम्हारा प्रभाव उग्र है, तुम बड़े सत्यवादी हो, तुमने पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है; अतः यह शाप मिथ्या नहीं होगा ॥ ३ ॥

पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु।
यथा स्याद् गुणसंयुक्तः प्राप्नुयाच्च महद् यशः ॥ ४ ॥

तथापि पिताको उचित है कि वह अपने पुत्रको बड़ी अवस्थाका हो जानेपर भी सदा सत्कर्मोंका उपदेश देता रहे; जिससे वह गुणवान् हो और महान् यश प्राप्त करे ॥ ४ ॥

किं पुनर्बाल एव त्वं तपसा भावितः सदा।
वर्धते च प्रभवतां कोपोऽतीव महात्मनाम् ॥ ५ ॥

फिर तुम्हें उपदेश देनेकी तो बात ही क्या है, तुम तो अभी बालक ही हो। तुमने सदा तपस्याके द्वारा अपनेको दिव्य शक्तिसे सम्पन्न किया है। जो योगजनित ऐश्वर्यसे सम्पन्न हैं, ऐसे प्रभावशाली तेजस्वी पुरुषोंका भी क्रोध अधिक बढ़ जाता है; फिर तुम-जैसे बालकको क्रोध हो, इसमें कहना ही क्या है ॥५॥

सोऽहं पश्यामि वक्तव्यं त्वयि धर्मभृतां वर।
पुत्रत्वं बालतां चैव तवावेक्ष्य च साहसम् ॥ ६ ॥

(किंतु यह क्रोध धर्मका नाशक होता है) इसलिये धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुत्र! तुम्हारे बचपन और दुःसाहसपूर्ण कार्यको देखकर मैं तुम्हें कुछ कालतक उपदेश देनेकी आवश्यकता समझता हूँ ॥ ६ ॥

स त्वं शमपरो भूत्वा वन्यमाहारमाचरन्।
चर क्रोधमिमं हत्वा नैवं धर्मं प्रहास्यसि ॥ ७ ॥

तुम मन और इन्द्रियोंके निग्रहमें तत्पर होकर जंगली कन्द, मूल, फलका आहार करते हुए इस क्रोधको मिटाकर उत्तम आचरण करो; ऐसा करनेसे तुम्हारे धर्मकी हानि नहीं होगी ॥

क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम्।
ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते ॥ ८ ॥

क्रोध प्रयत्नशील साधकोंके अत्यन्त दुःखसे उपार्जित धर्मका नाश कर देता है। फिर धर्महीन मनुष्योंको अभीष्ट गति नहीं मिलती है ॥ ८ ॥

शम एव यतीनां हि क्षमिणां सिद्धिकारकः।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ९ ॥

शम (मनोनिग्रह) ही क्षमाशील साधकोंको सिद्धिकी प्राप्ति करानेवाला है। जिनमें क्षमा है, उन्हींके लिये यह लोक और परलोक दोनों कल्याणकारक हैं ॥ ९ ॥

तस्माच्चरेथाः सततं क्षमाशीलो जितेन्द्रियः।
क्षमया प्राप्स्यसे लोकान् ब्रह्मणः समनन्तरान् ॥१०॥

इसलिये तुम सदा इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए क्षमाशील बनो। क्षमासे ही ब्रह्माजीके निकटवर्ती लोकोंमें जा सकोगे ॥१०॥

मया तु शममास्थाय यच्छक्यं कर्तुमद्य वै।
तत् करिष्याम्यहं तात प्रेषयिष्ये नृपाय वै ॥११॥
मम पुत्रेण शप्तोऽसि बालेन कृशबुद्धिना।
ममेमां धर्षणां त्वत्तः प्रेक्ष्य राजन्नमर्षिणा ॥१२॥

तात! मैं तो शान्ति धारण करके अब जो कुछ किया

जा सकता है, वह करूँगा । राजाके पास यह संदेश भेज दूँगा कि 'राजन् ! तुम्हारे द्वारा मुझे जो तिरस्कार प्राप्त हुआ है उसे देखकर अमर्षमें भरे हुए मेरे अल्पबुद्धि एवं मूढ़ पुत्रने तुम्हें शाप दे दिया है' ॥ ११-१२ ॥

सौतिरुवाच

एवमादिश्य शिष्यं स प्रेषयामास सुव्रतः ।
परिक्षिते नृपतये दयापन्नो महातपाः ॥१३॥
संदिश्य कुशलप्रश्नं कार्यवृत्तान्तमेव च ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं समाहितम् ॥१४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दयालु एवं महातपस्वी शमीक मुनिने अपने गौरमुख नामवाले एकाग्रचित्त एवं शीलवान् शिष्यको इस प्रकार आदेश दे कुशल-प्रश्न, कार्य एवं वृत्तान्तका संदेश देकर राजा परीक्षित्के पास भेजा ॥ १३-१४ ॥

सोऽभिगम्य ततः शीघ्रं नरेन्द्रं कुरुवर्धनम् ।
विवेश भवनं राज्ञः पूर्वं द्वाःस्थैर्निवेदितः ॥१५॥

गौरमुख वहाँसे शीघ्र कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले महाराज परीक्षित्के पास चला गया । राजधानीमें पहुँचनेपर द्वारपालने पहले महाराजको उसके आनेकी सूचना दी और उनकी आज्ञा मिलनेपर गौरमुखने राजभवनमें प्रवेश किया ॥ १५ ॥

पूजितस्तु नरेन्द्रेण द्विजो गौरमुखस्तदा ।
आचख्यौ च परिश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ॥१६॥
शमीकवचनं घोरं यथोक्तं मन्त्रिसंनिधौ ।

महाराज परीक्षित्ने उस समय गौरमुख ब्राह्मणका बड़ा सत्कार किया । जब उसने विश्राम कर लिया, तब शमीकके कहे हुए घोर वचनको मन्त्रियोंके समीप राजाके सामने पूर्णरूपसे कह सुनाया ॥ १६½ ॥

गौरमुख उवाच

शमीको नाम राजेन्द्र वर्तते विषये तव ॥१७॥
ऋषिः परमधर्मात्मा दान्तः शान्तो महातपाः ।
तस्य त्वया नरव्याघ्र सर्पः प्राणैर्वियोजितः ॥१८॥
अवसक्तो धनुष्कोट्या स्कन्धे मौनान्वितस्य च ।
क्षान्तवांस्तव तत् कर्म पुत्रस्तस्य न चक्षमे ॥१९॥

गौरमुख बोला—महाराज ! आपके राज्यमें शमीक नामवाले एक परम धर्मात्मा महर्षि रहते हैं । वे जितेन्द्रिय, मनको वशमें रखनेवाले और महान् तपस्वी हैं । नरव्याघ्र ! आपने मौन व्रत धारण करनेवाले उन महात्माके कंधेपर धनुषकी नोकसे उठाकर एक मरा हुआ साँप रख दिया था । महर्षिने तो उसके लिये आपको क्षमा कर दिया था, किंतु उनके पुत्रको वह सहन नहीं हुआ ॥ १७—१९ ॥

तेन शप्तोऽसि राजेन्द्र पितुरज्ञातमद्य वै ।
तक्षकः सप्तरात्रेण मृत्युस्तव भविष्यति ॥२०॥

राजेन्द्र ! उस ऋषिकुमारने आज अपने पिताके अनजानमें ही आपके लिये यह शाप दिया है कि 'आजसे सात रातके बाद ही तक्षक नाग आपकी मृत्युका कारण हो जायगा' ॥ २० ॥

तत्र रक्षां कुरुष्वेति पुनः पुनरथाब्रवीत् ।
तदन्यथा न शक्यं च कर्तुं केनचिदप्युत ॥२१॥

इस दशामें आप अपनी रक्षाकी व्यवस्था करें । यह मुनिने बार-बार कहा है । उस शापको कोई भी टाल नहीं सकता ॥

न हि शक्नोति तं यन्तुं पुत्रं कोपसमन्वितम् ।
ततोऽहं प्रेषितस्तेन तव राजन् हितार्थिना ॥२२॥

स्वयं महर्षि भी क्रोधमें भरे हुए अपने पुत्रको शान्त नहीं कर पा रहे हैं । अतः राजन् ! आपके हितकी इच्छासे उन्होंने मुझे यहाँ भेजा है ॥ २२ ॥

सौतिरुवाच

इति श्रुत्वा वचो घोरं स राजा कुरुनन्दनः ।
पर्यतप्यत तत् पापं कृत्वा राजा महातपाः ॥२३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—यह घोर वचन सुनकर कुरुनन्दन राजा परीक्षित् मुनिका अपराध करनेके कारण मन-ही-मन संतप्त हो उठे ॥ २३ ॥

तं च मौनव्रतं श्रुत्वा वने मुनिवरं तदा ।
भूय एवाभवद् राजा शोकसंतप्तमानसः ॥२४॥

वे श्रेष्ठ महर्षि उस समय वनमें मौन-व्रतका पालन कर रहे थे, यह सुनकर राजा परीक्षित्का मन और भी शोक एवं संतापमें डूब गया ॥ २४ ॥

अनुक्रोशात्मतां तस्य शमीकस्यावधार्य च ।
पर्यतप्यत भूयोऽपि कृत्वा तत् किल्बिषं मुनेः ॥२५॥

शमीक मुनिकी दयालुता और अपने द्वारा उनके प्रति किये हुए उस अपराधका विचार करके वे अधिकाधिक संतप्त होने लगे ॥ २५ ॥

न हि मृत्युं तथा राजा श्रुत्वा वै सोऽन्वतप्यत ।
अशोचदमरप्रख्यो यथा कृत्वेह कर्म तत् ॥२६॥

देवतुल्य राजा परीक्षित्को अपनी मृत्युका शाप सुनकर वैसा संताप नहीं हुआ जैसा कि मुनिके प्रति किये हुए अपने उस बर्तावको याद करके वे शोकमग्न हो रहे थे ॥ २६ ॥

ततस्तं प्रेषयामास राजा गौरमुखं तदा ।
भूयः प्रसादं भगवान् करोत्विह ममेति वै ॥२७॥

तदनन्तर राजाने यह संदेश देकर उस समय गौरमुखको विदा किया कि 'भगवान् शमीक मुनि यहाँ पधारकर पुनः मुझपर कृपा करें' ॥ २७ ॥

तस्मिंश्च गतमात्रेऽथ राजा गौरमुखे तदा ।
मन्त्रिभिर्मन्त्रयामास सह संविग्नमानसः ॥२८॥

गौरमुखके चले जानेपर राजाने उद्विग्नचित्त हो मन्त्रियोंके साथ गुप्त मन्त्रणा की ॥ २८ ॥

सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित् ।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम् ॥२९॥

मन्त्र-तत्त्वके ज्ञाता महाराजने मन्त्रियोंसे सलाह करके एक ऊँचा महल बनवाया; जिसमें एक ही खंभा लगा था । वह भवन सब ओरसे सुरक्षित था ॥ २९ ॥

रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च ।
ब्राह्मणान् मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत् ॥३०॥

राजाने वहाँ रक्षाके लिये आवश्यक प्रबन्ध किया, उन्होंने सब प्रकारकी ओषधियाँ जुटा लीं और वैद्यों तथा मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणोंको सब ओर नियुक्त कर दिया ॥ ३० ॥

राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः ।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञः समन्तात् परिरक्षितः ॥३१॥

वहीं रहकर वे धर्मज्ञ नरेश सब ओरसे सुरक्षित हो मन्त्रियोंके साथ सम्पूर्ण राज-कार्यकी व्यवस्था करने लगे ॥ ३१ ॥

न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम् ।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते ॥३२॥

उस समय महलमें बैठे हुए महाराजसे कोई भी मिलने नहीं पाता था । वायुको भी वहाँसे निकल जानेपर पुनः प्रवेशके समय रोका जाता था ॥ ३२ ॥

प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमः ।
काश्यपोऽभ्यागमद् विद्वांस्तं राजानं चिकित्सितुम्॥३३॥

सातवाँ दिन आनेपर मन्त्रशास्त्रके ज्ञाता द्विजश्रेष्ठ काश्यप राजाकी चिकित्सा करनेके लिये आ रहे थे ॥ ३३ ॥

श्रुतं हि तेन तदभूद् यथा तं राजसत्तमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठो नेष्यते यमसादनम् ॥३४॥

उन्होंने सुन रक्खा था कि 'भूपशिरोमणि परीक्षित्को आज नागोंमें श्रेष्ठ तक्षक यमलोक पहुँचा देगा' ॥ ३४ ॥

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण करिष्येऽहमपज्वरम् ।
तत्र मेऽर्थश्च धर्मश्च भवितेति विचिन्तयन् ॥३५॥

अतः उन्होंने सोचा कि नागराजके डँसे हुए महाराजका विष उतारकर मैं उन्हें जीवित कर दूँगा । ऐसा करनेसे वहाँ मुझे धन तो मिलेगा ही, लोकोपकारी राजाको जिलानेसे धर्म भी होगा ॥ ३५ ॥

तं ददर्श स नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं पथि ।
गच्छन्तमेकमनसं द्विजो भूत्वा वयोऽतिगः ॥३६॥
तमब्रवीत् पन्नगेन्द्रः काश्यपं मुनिपुङ्गवम् ।
क भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥३७॥

मार्गमें नागराज तक्षकने काश्यपको देखा । वे एकचित्त होकर हस्तिनापुरकी ओर बढ़े जा रहे थे । तब नागराजने बूढ़े ब्राह्मणका वेश बनाकर मुनिवर काश्यपसे पूछा—'आप कहाँ बड़ी उतावलीके साथ जा रहे हैं और कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ?' ॥ ३६-३७ ॥

काश्यप उवाच

नृपं कुरुकुलोत्पन्नं परिक्षितमरिन्दमम् ।
तक्षकः पन्नगश्रेष्ठस्तेजसाद्य प्रधक्ष्यति ॥३८॥

काश्यपने कहा—कुरुकुलमें उत्पन्न शत्रुदमन महाराज परीक्षित्को आज नागराज तक्षक अपनी विषाग्निसे दग्ध कर देगा ॥

तं दष्टं पन्नगेन्द्रेण तेनाग्निसमतेजसा ।
पाण्डवानां कुलकरं राजानममितौजसम् ।
गच्छामि त्वरितं सौम्य सद्यः कर्तुमपज्वरम् ॥३९॥

वे राजा पाण्डवोंकी वंशपरम्पराको सुरक्षित रखनेवाले तथा अत्यन्त पराक्रमी हैं । अतः सौम्य ! अग्निके समान तेजस्वी नागराजके डँस लेनेपर उन्हें तत्काल विषरहित करके जीवित कर देनेके लिये मैं जल्दी-जल्दी जा रहा हूँ ॥ ३९ ॥

तक्षक उवाच

अहं स तक्षको ब्रह्मंस्तं धक्ष्यामि महीपतिम् ।
निवर्तस्व न शक्तस्त्वं मया दष्टं चिकित्सितुम् ॥४०॥

तक्षक बोला—ब्रह्मन् ! मैं ही वह तक्षक हूँ । आज राजाको भस्म कर डालूँगा । आप लौट जाइये । मैं जिसे डँस लूँ, उसकी चिकित्सा आप नहीं कर सकते ॥ ४० ॥

काश्यप उवाच

अहं तं नृपतिं गत्वा त्वया दष्टमपज्वरम् ।
करिष्यामीति मे बुद्धिर्विद्याबलसमन्विता ॥४१॥

काश्यपने कहा—मैं तुम्हारे डँसे हुए राजाको वहाँ जाकर विषसे रहित कर दूँगा । यह विद्याबलसे सम्पन्न मेरी बुद्धिका निश्चय है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि काश्यपागमने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें काश्यपागमन-विषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

तक्षकका धन देकर काश्यपको लौटा देना और छलसे राजा परीक्षित्के समीप पहुँचकर उन्हें डँसना

तक्षक उवाच

यदि दष्टं मयेह त्वं शक्तः किंचिच्चिकित्सितुम् ।
ततो वृक्षं मया दष्टमिमं जीवय काश्यप ॥ १ ॥

तक्षक बोला—काश्यप ! यदि इस जगत्में मेरे डँसे हुए रोगीकी कुछ भी चिकित्सा करनेमें तुम समर्थ हो तो मेरे डँसे हुए इस वृक्षको जीवित कर दो ॥ १ ॥

परं मन्त्रबलं यत् ते तद् दर्शय यतस्व च।
न्यग्रोधमेनं धक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ २॥

द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे पास जो उत्तम मन्त्रका बल है, उसे दिखाओ और यत्न करो। लो, तुम्हारे देखते-देखते इस वटवृक्षको मैं भस्म कर देता हूँ ॥ २ ॥

काश्यप उवाच

दश नागेन्द्र वृक्षं त्वं यद्येतदभिमन्यसे।
अहमेनं त्वया दष्टं जीवयिष्ये भुजङ्गम ॥ ३॥

काश्यपने कहा—नागराज ! यदि तुम्हें इतना अभिमान है तो इस वृक्षको डँसो। भुजङ्गम ! तुम्हारे डँसे हुए इस वृक्षको मैं अभी जीवित कर दूँगा ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तः स नागेन्द्रः काश्यपेन महात्मना।
अदशद् वृक्षमभ्येत्य न्यग्रोधं पन्नगोत्तमः ॥ ४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—महात्मा काश्यपके ऐसा कहनेपर सर्पोंमें श्रेष्ठ नागराज तक्षकने निकट जाकर बरगदके वृक्षको डँस लिया ॥ ४ ॥

स वृक्षस्तेन दष्टस्तु पन्नगेन महात्मना।
आशीविषविषोपेतः प्रजज्वाल समन्ततः ॥ ५॥

उस महाकाय विषधर सर्पके डँसते ही उसके विषसे व्याप्त हो वह वृक्ष सब ओरसे जल उठा ॥ ५ ॥

तं दग्ध्वा स नगं नागः काश्यपं पुनरब्रवीत्।
कुरु यत्नं द्विजश्रेष्ठ जीवयैनं वनस्पतिम् ॥ ६॥

इस प्रकार उस वृक्षको जलाकर नागराज पुनः काश्यपसे बोला—'द्विजश्रेष्ठ ! अब तुम यत्न करो और इस वृक्षको जिला दो' ॥ ६ ॥

सौतिरुवाच

भस्मीभूतं ततो वृक्षं पन्नगेन्द्रस्य तेजसा।
भस्म सर्वं समाहृत्य काश्यपो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! नागराजके तेजसे भस्म हुए उस वृक्षकी सारी भस्मराशिको एकत्र करके काश्यपने कहा—॥

विद्याबलं पन्नगेन्द्र पश्य मेऽद्य वनस्पतौ।
अहं संजीवयाम्येनं पश्यतस्ते भुजङ्गम ॥ ८॥

'नागराज ! इस वनस्पतिपर आज मेरी विद्याका बल देखो। भुजङ्गम ! मैं तुम्हारे देखते-देखते इस वृक्षको जीवित कर देता हूँ' ॥ ८ ॥

ततः स भगवान् विद्वान् काश्यपो द्विजसत्तमः।
भस्मराशीकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत् ॥ ९॥

तदनन्तर सौभाग्यशाली विद्वान् द्विजश्रेष्ठ काश्यपने भस्मराशिके रूपमें विद्यमान उस वृक्षको विद्याके बलसे जीवित कर दिया ॥ ९ ॥

अङ्कुरं कृतवांस्तत्र ततः पर्णद्वयान्वितम्।
पलाशिनं शाखिनं च तथा विटपिनं पुनः ॥ १०॥

पहले उन्होंने उसमेंसे अङ्कुर निकाला, फिर उसे दो पत्तेका कर दिया। इसी प्रकार क्रमशः पल्लव, शाखा और प्रशाखाओंसे युक्त उस महान् वृक्षको पुनः पूर्ववत् खड़ा कर दिया ॥ १० ॥

तं दृष्ट्वा जीवितं वृक्षं काश्यपेन महात्मना।
उवाच तक्षको ब्रह्मन् नैतदत्यद्भुतं त्वयि ॥ ११॥

महात्मा काश्यपद्वारा जिलाये हुए उस वृक्षको देखकर तक्षकने कहा—'ब्रह्मन् ! तुम-जैसे मन्त्रवेत्तामें ऐसे चमत्कारका होना कोई अद्भुत बात नहीं है ॥ ११ ॥

द्विजेन्द्र यद् विषं हन्या मम वा मद्विधस्य वा।
कं त्वमर्थमभिप्रेप्सुर्यासि तत्र तपोधन ॥ १२॥

'तपस्याके धनी द्विजेन्द्र ! जब तुम मेरे या मेरे-जैसे दूसरे सर्पके विषको अपनी विद्याके बलसे नष्ट कर सकते हो तो बताओ, तुम कौन-सा प्रयोजन सिद्ध करनेकी इच्छासे वहाँ जा रहे हो ॥ १२ ॥

यत् तेऽभिलषितं प्राप्तुं फलं तस्मान्नृपोत्तमात्।
अहमेव प्रदास्यामि तत् ते यद्यपि दुर्लभम् ॥ १३॥

'उस श्रेष्ठ राजासे जो फल प्राप्त करना तुम्हें अभीष्ट है, वह अत्यन्त दुर्लभ हो तो भी मैं ही तुम्हें दे दूँगा ॥ १३ ॥

विप्रशापाभिभूते च क्षीणायुषि नराधिपे।
घटमानस्य ते विप्र सिद्धिः संशयिता भवेत् ॥ १४॥

'विप्रवर ! महाराज परीक्षित् ब्राह्मणके शापसे तिरस्कृत हैं और उनकी आयु भी समाप्त हो चली है। ऐसी दशामें उन्हें जिलानेके लिये चेष्टा करनेपर तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी, इसमें संदेह है ॥ १४ ॥

ततो यशः प्रदीप्तं ते त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
निरंशुरिव घर्मांशुरन्तर्धानमितो व्रजेत् ॥ १५॥

'यदि तुम सफल न हुए तो तीनों लोकोंमें विख्यात एवं प्रकाशित तुम्हारा यश किरणरहित सूर्यके समान इस लोकसे अदृश्य हो जायगा' ॥ १५ ॥

काश्यप उवाच

धनार्थी याम्यहं तत्र तन्मे देहि भुजङ्गम।
ततोऽहं विनिवर्तिष्ये स्वापतेयं प्रगृह्य वै ॥ १६॥

काश्यपने कहा—नागराज तक्षक ! मैं तो वहाँ धनके लिये ही जाता हूँ, वह तुम्हीं मुझे दे दो तो उस धनको लेकर मैं घर लौट जाऊँगा ॥ १६ ॥

तक्षक उवाच

यावद्धनं प्रार्थयसे तस्माद् राज्ञस्ततोऽधिकम्।
अहमेव प्रदास्यामि निवर्तस्व द्विजोत्तम ॥१७॥

तक्षक बोला—द्विजश्रेष्ठ! तुम राजा परीक्षित्‌से जितना धन पाना चाहते हो, उससे अधिक मैं ही दे दूँगा; अतः लौट जाओ॥

सौतिरुवाच

तक्षकस्य वचः श्रुत्वा काश्यपो द्विजसत्तमः।
प्रदध्यौ सुमहातेजा राजानं प्रति बुद्धिमान् ॥१८॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तक्षककी बात सुनकर परम बुद्धिमान् महातेजस्वी विप्रवर काश्यपने राजा परीक्षित्‌के विषयमें कुछ देर ध्यान लगाकर सोचा ॥ १८ ॥

दिव्यज्ञानः स तेजस्वी ज्ञात्वा तं नृपतिं तदा।
क्षीणायुषं पाण्डवेयमपावर्तत काश्यपः ॥१९॥
लब्ध्वा वित्तं मुनिवरस्तक्षकाद् यावदीप्सितम्।
निवृत्ते काश्यपे तस्मिन् समयेन महात्मनि ॥२०॥
जगाम तक्षकस्तूर्णं नगरं नागसाह्वयम्।
अथ शुश्राव गच्छन् स तक्षको जगतीपतिम् ॥२१॥
मन्त्रैर्गदैर्विषहरै रक्ष्यमाणं प्रयत्नतः।

तेजस्वी काश्यप दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न थे। उस समय उन्होंने जान लिया कि पाण्डववंशी राजा परीक्षित्‌की आयु अब समाप्त हो गयी है, अतः वे मुनिश्रेष्ठ तक्षकसे अपनी रुचिके अनुसार धन लेकर वहाँसे लौट गये। महात्मा काश्यपके समय रहते लौट जानेपर तक्षक तुरंत हस्तिनापुर नगरमें जा पहुँचा। वहाँ जानेपर उसने सुना, राजा परीक्षित्‌की मन्त्रों तथा विष उतारनेवाली ओषधियोंद्वारा प्रयत्नपूर्वक रक्षा की जा रही है।

सौतिरुवाच

स चिन्तयामास तदा मायायोगेन पार्थिवः ॥२२॥
मया वञ्चयितव्योऽसौ क उपायो भवेदिति।
ततस्तापसरूपेण प्राहिणोत् स भुजङ्गमान् ॥२३॥
फलदर्भोदकं गृह्य राज्ञे नागोऽथ तक्षकः।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! तब तक्षकने विचार किया, मुझे मायाका आश्रय लेकर राजाको ठग लेना चाहिये; किंतु इसके लिये क्या उपाय हो? तदनन्तर तक्षक नागने फल, दर्भ (कुशा) और जल लेकर कुछ नागोंको तपस्वीरूपमें राजाके पास जानेकी आज्ञा दी ॥ २२-२३½ ॥

तक्षक उवाच

गच्छध्वं यूयमव्यग्रा राजानं कार्यवत्तया ॥२४॥
फलपुष्पोदकं नाम प्रतिग्राहयितुं नृपम्।

तक्षकने कहा—तुमलोग कार्यकी सफलताके लिये राजाके पास जाओ, किंतु तनिक भी व्यग्र न होना। तुम्हारे जानेका उद्देश्य है—महाराजको फल, फूल और जल भेंट करना ॥२४½॥

सौतिरुवाच

ते तक्षकसमादिष्टास्तथा चक्रुर्भुजङ्गमाः ॥२५॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तक्षकके आदेश देनेपर उन नागोंने वैसा ही किया ॥ २५ ॥

उपनिन्युस्तथा राज्ञे दर्भानापः फलानि च।
तच्च सर्वं स राजेन्द्रः प्रतिजग्राह वीर्यवान् ॥२६॥

वे राजाके पास कुश, जल और फल लेकर गये। परम पराक्रमी महाराज परीक्षित्‌ने उनकी दी हुई वे सब वस्तुएँ ग्रहण कर लीं ॥ २६ ॥

कृत्वा तेषां च कार्याणि गम्यतामित्युवाच तान्।
गतेषु तेषु नागेषु तापसच्छद्मरूपिषु ॥२७॥
अमात्यान् सुहृदश्चैव प्रोवाच स नराधिपः।
भक्षयन्तु भवन्तो वै स्वादूनीमानि सर्वशः ॥२८॥
तापसैरुपनीतानि फलानि सहिता मया।
ततो राजा ससचिवः फलान्यादातुमैच्छत ॥२९॥

तदनन्तर उन्हें पारितोषिक देने आदिका कार्य करके कहा—'अब आपलोग जायँ।' तपस्वियोंके वेषमें छिपे हुए उन नागोंके चले जानेपर राजाने अपने मन्त्रियों और सुहृदोंसे कहा—'ये सब तपस्वियोंद्वारा लाये हुए बड़े स्वादिष्ट फल हैं। इन्हें मेरे साथ आपलोग भी खायँ।' ऐसा कहकर मन्त्रियों-सहित राजाने उन फलोंको लेनेकी इच्छा की ॥ २७-२९ ॥

विधिना सम्प्रयुक्तो वै ऋषिवाक्येन तेन तु।
यस्मिन्नेव फले नागस्तमेवाभक्षयत् स्वयम् ॥३०॥

विधाताके विधान एवं महर्षिके वचनसे प्रेरित होकर राजाने वही फल स्वयं खाया, जिसपर तक्षक नाग बैठा था ॥

ततो भक्षयतस्तस्य फलात् कृमिरभूदणुः।
ह्रस्वकः कृष्णनयनस्ताम्रवर्णोऽथ शौनक ॥३१॥

शौनकजी! खाते समय राजाके हाथमें जो फल था, उससे एक छोटा-सा कीट प्रकट हुआ। देखनेमें वह अत्यन्त लघु था, उसकी आँखें काली और शरीरका रंग ताँबेके समान था॥

स तं गृह्य नृपश्रेष्ठः सचिवानिदमब्रवीत्।
अस्तमभ्येति सविता विषादद्य न मे भयम् ॥३२॥

नृपश्रेष्ठ परीक्षित्‌ने उस कीड़ेको हाथमें लेकर मन्त्रियोंसे इस प्रकार कहा—'अब सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं; इसलिये इस समय मुझे सर्पके विषसे कोई भय नहीं है ॥ ३२ ॥

सत्यवागस्तु स मुनिः कृमिर्मां दशतामयम्।
तक्षको नाम भूत्वा वै तथा परिहृतं भवेत् ॥३३॥

'वे मुनि सत्यवादी हों, इसके लिये यह कीट ही तक्षक नाम धारण करके मुझे डँस ले। ऐसा करनेसे मेरे दोषका परिहार हो जायगा ॥ ३३ ॥

ते चैनमन्ववर्तन्त मन्त्रिणः कालचोदिताः।
एवमुक्त्वा स राजेन्द्रो ग्रीवायां संनिवेश्य ह ॥३४॥
कृमिकं प्राहसत् तूर्णं मुमूर्षुर्नष्टचेतनः।
प्रहसन्नेव भोगेन तक्षकेण त्ववेष्ट्यत ॥३५॥
तस्मात् फलाद् विनिष्क्रम्य यत् तद् राज्ञे निवेदितम्।
वेष्टयित्वा च वेगेन विनद्य च महास्वनम्।
अदशत् पृथिवीपालं तक्षकः पन्नगेश्वरः ॥३६॥

कालसे प्रेरित होकर मन्त्रियोंने भी उनकी हाँ-में-हाँ मिला दी। मन्त्रियोंसे पूर्वोक्त बात कहकर राजाधिराज परीक्षित् उस लघु कीटको कंधेपर रखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। वे तत्काल ही मरनेवाले थे; अतः उनकी बुद्धि मारी गयी थी। राजा अभी हँस ही रहे थे कि उन्हें जो निवेदित किया गया था उस फलसे निकलकर तक्षक नागने अपने शरीरसे उनको जकड़ लिया। इस प्रकार वेगपूर्वक उनके शरीरमें लिपटकर नागराज तक्षकने बड़े जोरसे गर्जना की और भूपाल परीक्षित्को डँस लिया॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि तक्षकदंशे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें तक्षक-दंशन-विषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

जनमेजयका राज्याभिषेक और विवाह

सौतिरुवाच

ते तथा मन्त्रिणो दृष्ट्वा भोगेन परिवेष्टितम्।
विषण्णवदनाः सर्वे रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! मन्त्रीगण राजा परीक्षित्को तक्षक नागसे जकड़ा हुआ देख अत्यन्त दुखी हो गये। उनके मुखपर विषाद छा गया और वे सब-के-सब रोने लगे ॥ १ ॥

तं तु नादं ततः श्रुत्वा मन्त्रिणस्ते प्रदुद्रुवुः।
अपश्यन्त तथा यान्तमाकाशे नागमद्भुतम् ॥ २ ॥
सीमन्तमिव कुर्वाणं नभसः पद्मवर्चसम्।
तक्षकं पन्नगश्रेष्ठं भृशं शोकपरायणाः ॥ ३ ॥

तक्षककी फुंकारभरी गर्जना सुनकर मन्त्रीलोग भाग चले। उन्होंने देखा लाल कमलकी-सी कान्तिवाला वह अद्भुत नाग आकाशमें सिन्दूरकी रेखा-सी खींचता हुआ चला जा रहा है। नागोंमें श्रेष्ठ तक्षकको इस प्रकार जाते देख वे राजमन्त्री अत्यन्त शोकमें डूब गये ॥ २-३ ॥

ततस्तु ते तद् गृहमग्निनाऽऽवृतं
प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः।
भयात् परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे
पपात राजाशनिताडितो यथा ॥ ४ ॥

वह राजमहल सर्पके विषजनित अग्निसे आवृत हो धू-धू करके जलने लगा। यह देख उन सब मन्त्रियोंने भयसे उस स्थानको छोड़कर भिन्न-भिन्न दिशाओंकी शरण ली तथा राजा परीक्षित् वज्रके मारे हुएकी भाँति धरतीपर गिर पड़े ॥ ४ ॥

ततो नृपे तक्षकतेजसा हते
प्रयुज्य सर्वाः परलोकसत्क्रियाः।
शुचिर्द्विजो राजपुरोहितस्तदा
तथैव ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः ॥ ५ ॥

नृपं शिशुं तस्य सुतं प्रचक्रिरे
समेत्य सर्वे पुरवासिनो जनाः।
नृपं यमाहुस्तममित्रघातिनं
कुरुप्रवीरं जनमेजयं जनाः ॥ ६ ॥

तक्षककी विषाग्निद्वारा राजा परीक्षित्के दग्ध हो जानेपर उनकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ करके पवित्र ब्राह्मण राजपुरोहित, उन महाराजके मन्त्री तथा समस्त पुरवासी मनुष्योंने मिलकर उन्हींके पुत्रको, जिसकी अवस्था अभी बहुत छोटी थी, राजा बना दिया। कुरुकुलका वह श्रेष्ठ वीर अपने शत्रुओंका विनाश करनेवाला था। लोग उसे राजा जनमेजय कहते थे ॥ ५-६ ॥

स बाल एवार्यमतिर्नृपोत्तमः
सहैव तैर्मन्त्रिपुरोहितैस्तदा।
शशास राज्यं कुरुपुङ्गवाग्रजो
यथास्य वीरः प्रपितामहस्तथा ॥ ७ ॥

बचपनमें ही नृपश्रेष्ठ जनमेजयकी बुद्धि श्रेष्ठ पुरुषोंके समान थी। अपने वीर प्रपितामह महाराज युधिष्ठिरकी भाँति कुरुश्रेष्ठ वीरोंके अग्रगण्य जनमेजय भी उस समय मन्त्री और पुरोहितोंके साथ धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगे ॥ ७ ॥

ततस्तु राजानममित्रतापनं
समीक्ष्य ते तस्य नृपस्य मन्त्रिणः।
सुवर्णवर्माणमुपेत्य काशिपं
वपुष्टमार्थे वरयाम्प्रचक्रमुः ॥ ८ ॥

राजमन्त्रियोंने देखा, राजा जनमेजय शत्रुओंको दबानेमें समर्थ हो गये हैं, तब उन्होंने काशिराज सुवर्णवर्माके पास जाकर उनकी पुत्री वपुष्टमाके लिये याचना की ॥ ८ ॥

ततः स राजा प्रददौ वपुष्टमां
कुरुप्रवीराय परीक्ष्य धर्मतः।
स चापि तां प्राप्य मुदायुतोऽभव-
न्न चान्यनारीषु मनो दधे क्वचित्॥ ९॥

काशिराजने धर्मकी दृष्टिसे भलीभाँति जाँच-पड़ताल करके अपनी कन्या वपुष्टमाका विवाह कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर जनमेजयके साथ कर दिया। जनमेजयने भी वपुष्टमाको पाकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया और दूसरी स्त्रियोंकी ओर कभी अपने मनको नहीं जाने दिया॥ ९॥

सरःसु फुल्लेषु वनेषु चैव हि
प्रसन्नचेता विजहार वीर्यवान्।
तथा स राजन्यवरो विजह्रिवान्
यथोर्वशीं प्राप्य पुरा पुरूरवाः॥१०॥

राजाओंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी जनमेजयने प्रसन्नचित्त होकर सरोवरों तथा पुष्पशोभित उपवनोंमें रानी वपुष्टमाके साथ उसी प्रकार विहार किया, जैसे पूर्व कालमें उर्वशीको पाकर महाराज पुरूरवाने किया था॥ १०॥

वपुष्टमा चापि वरं पतिव्रता
प्रतीतरूपा समवाप्य भूपतिम्।
भावेन रामा रमयाम्बभूव सा
विहारकालेष्ववरोधसुन्दरी ॥११॥

वपुष्टमा पतिव्रता थी। उसका रूपसौन्दर्य सर्वत्र विख्यात था। वह राजाके अन्तःपुरमें सबसे सुन्दरी रमणी थी। राजा जनमेजयको पतिरूपमें प्राप्त करके वह विहारकालमें बड़े अनुरागके साथ उन्हें आनन्द प्रदान करती थी॥११॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जनमेजयराज्याभिषेके चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जनमेजयराज्याभिषेकसम्बन्धी चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४४॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुको अपने पितरोंका दर्शन और उनसे वार्तालाप

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु जरत्कारुर्महातपाः।
चचार पृथिवीं कृत्स्नां यत्रसायंगृहो मुनिः॥ १॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्हीं दिनोंकी बात है, महातपस्वी जरत्कारु मुनि सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरण कर रहे थे। जहाँ सायंकाल हो जाता, वहीं वे टहर जाते थे॥ १॥

चरन् दीक्षां महातेजा दुश्चरामकृतात्मभिः।
तीर्थेष्वाप्लवनं कृत्वा पुण्येषु विचचार ह॥ २॥

उन महातेजस्वी महर्षिने ऐसे कठोर नियमोंकी दीक्षा ले रक्खी थी, जिनका पालन करना दूसरे अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये सर्वथा कठिन था। वे पवित्र तीर्थोंमें स्नान करते हुए विचर रहे थे॥ २॥

वायुभक्षो निराहारः शुष्यन्नहरहर्मुनिः।
स ददर्श पितॄन् गर्ते लम्बमानानधोमुखान्॥ ३॥
एकतन्त्ववशिष्टं वै वीरणस्तम्बमाश्रितान्।
तं तन्तुं च शनैराखुमाददानं बिलेशयम्॥ ४॥

वे मुनि वायु पीते और निराहार रहते थे; इसलिये दिन-पर-दिन सूखते चले जाते थे। एक दिन उन्होंने पितरोंको देखा, जो नीचे मुँह किये एक गड्ढेमें लटक रहे थे। उन्होंने खश नामक तिनकोंके समूहको पकड़ रक्खा था, जिसकी जड़में केवल एक तन्तु बच गया था। उस बचे हुए तन्तुको भी वहीं बिलमें रहनेवाला एक चूहा धीरे-धीरे खा रहा था॥ ३-४॥

निराहारान् कृशान् दीनान् गर्ते स्वत्राणमिच्छतः।
उपसृत्य स तान् दीनान् दीनरूपोऽभ्यभाषत॥ ५॥

वे पितर निराहार, दीन और दुर्बल हो गये थे और चाहते थे कि कोई हमें इस गड्ढेमें गिरनेसे बचा ले। जरत्कारु उनकी दयनीय दशा देखकर दयासे द्रवित हो स्वयं भी दीन हो गये और उन दीन-दुखी पितरोंके समीप जाकर बोले—॥ ५॥

के भवन्तोऽवलम्बन्ते वीरणस्तम्बमाश्रिताः।
दुर्बलं खादितैर्मूलैराखुना बिलवासिना॥ ६॥

'आपलोग कौन हैं जो खशके गुच्छेके सहारे लटक रहे हैं? इस खशकी जड़ें यहाँ बिलमें रहनेवाले चूहेने खा डाली हैं, इसलिये यह बहुत कमजोर है॥ ६॥

वीरणस्तम्बके मूलं यदप्येकमिह स्थितम्।
तदप्ययं शनैराखुरादत्ते दशनैः शितैः॥ ७॥

'खशके इस गुच्छेमें जो मूलका एक तन्तु यहाँ बचा है, उसे भी यह चूहा अपने तीखे दाँतोंसे धीरे-धीरे कुतर रहा है॥

छेत्स्यतेऽल्पावशिष्टत्वादेतदप्यचिरादिव।
ततस्तु पतितारोऽत्र गर्ते व्यक्तमधोमुखाः॥ ८॥

'उसका स्वल्प भाग शेष है, वह भी बात-की-बातमें कट जायगा। फिर तो आपलोग नीचे मुँह किये निश्चय ही इस गड्ढेमें गिर जायँगे॥ ८॥

तस्य मे दुःखमुत्पन्नं दृष्ट्वा युष्मानधोमुखान्।
कृच्छ्रमापदमापन्नान् प्रियं किं करवाणि वः॥ ९॥

तपसोऽस्य चतुर्थेन तृतीयेनाथवा पुनः।
अर्धेन वापि निस्तर्तुमापदं ब्रूत मा चिरम् ॥१०॥

'आपको इस प्रकार नीचे मुँह किये लटकते देख मेरे मनमें बड़ा दुःख हो रहा है। आपलोग बड़ी कठिन विपत्तिमें पड़े हैं। मैं आपलोगोंका कौन प्रिय कार्य करूँ? आपलोग मेरी इस तपस्याके चौथे, तीसरे अथवा आधे भागके द्वारा भी इस विपत्तिसे बचाये जा सकें तो शीघ्र बतलावें ॥ ९-१० ॥

अथवापि समग्रेण तरन्तु तपसा मम।
भवन्तः सर्व एवेह काममेवं विधीयताम् ॥११॥

'अथवा मेरी सारी तपस्याके द्वारा भी यदि आप सभी लोग यहाँ इस संकटसे पार हो सकें तो भले ही ऐसा कर लें' ॥११॥

पितर ऊचुः

वृद्धो भवान् ब्रह्मचारी यो नस्त्रातुमिहेच्छसि।
न तु विप्राग्र्य तपसा शक्यते तद् व्यपोहितुम् ॥१२॥

पितरोंने कहा—विप्रवर! आप बूढ़े ब्रह्मचारी हैं, जो यहाँ हमारी रक्षा करना चाहते हैं; किंतु हमारा संकट तपस्यासे नहीं टाला जा सकता ॥ १२ ॥

अस्ति नस्तात तपसः फलं प्रवदतां वर।
संतानप्रक्षयाद् ब्रह्मन् पताम निरयेऽशुचौ ॥१३॥

तात! तपस्याका बल तो हमारे पास भी है। वक्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! हम तो वंशपरम्पराका विच्छेद होनेके कारण अपवित्र नरकमें गिर रहे हैं ॥ १३ ॥

संतानं हि परो धर्म एवमाह पितामहः।
लम्बतामिह नस्तात न ज्ञानं प्रतिभाति वै ॥१४॥

ब्रह्माजीका वचन है कि संतान ही सबसे उत्कृष्ट धर्म है। तात! यहाँ लटकते हुए हमलोगोंकी सुध-बुध प्रायः खो गयी है, हमें कुछ ज्ञात नहीं होता ॥ १४ ॥

येन त्वा नाभिजानीमो लोके विख्यातपौरुषम्।
वृद्धो भवान् महाभागो यो नः शोच्यान् सुदुःखितान्
शोचते चैव कारुण्याच्छृणु ये वै वयं द्विज।
यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः ॥१६॥

इसीलिये लोकमें विख्यात पौरुषवाले आप-जैसे महापुरुषको हम पहचान नहीं पा रहे हैं। आप कोई महान् सौभाग्यशाली महापुरुष हैं, जो अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए हम-जैसे शोचनीय प्राणियोंके लिये करुणावश शोक कर रहे हैं। ब्रह्मन्! हमलोग कौन हैं इसका परिचय देते हैं, सुनिये। हम अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले यायावर नामक महर्षि हैं ॥ १५-१६ ॥

लोकात् पुण्यादिह भ्रष्टाः संतानप्रक्षयान्मुने।
प्रणष्टं नस्तपस्तीव्रं न हि नस्तन्तुरस्ति वै ॥१७॥

मुने! वंशपरम्पराका क्षय होनेके कारण हमें पुण्यलोकसे भ्रष्ट होना पड़ा है। हमारी तीव्र तपस्या नष्ट हो गयी; क्योंकि हमारे कुलमें अब कोई संतति नहीं रह गयी है ॥ १७ ॥

अस्ति त्वेकोऽद्य नस्तन्तुः सोऽपि नास्ति यथा तथा।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एकं समास्थितः ॥१८॥

आजकल हमारी परम्परामें एक ही तन्तु या संतति शेष है, किंतु वह भी नहींके बराबर है। हम अल्पभाग्य हैं, इसीसे वह मन्दभाग्य संतति एकमात्र तपमें लगी हुई है ॥ १८ ॥

जरत्कारुरिति ख्यातो वेदवेदाङ्गपारगः।
नियतात्मा महात्मा च सुव्रतः सुमहातपाः ॥१९॥

उसका नाम है जरत्कारु। वह वेद-वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान् होनेके साथ ही मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, महात्मा, उत्तम व्रतका पालक और महान् तपस्वी है ॥ १९ ॥

तेन स्म तपसो लोभात् कृच्छ्रमापादिता वयम्।
न तस्य भार्या पुत्रो वा बान्धवो वास्ति कश्चन ॥२०॥

उसने तपस्याके लोभसे हमें संकटमें डाल दिया है। उसके न पत्नी है, न पुत्र और न कोई भाई-बन्धु ही है ॥ २० ॥

तस्माल्लम्बामहे गर्ते नष्टसंज्ञा ह्यनाथवत्।
स वक्तव्यस्त्वया दृष्टो ह्यस्माकं नाथवत्तया ॥२१॥

इसीसे हमलोग अपनी सुध-बुध खोकर अनाथकी तरह इस गड्ढेमें लटक रहे हैं। यदि वह आपके देखनेमें आवे तो हम अनाथोंको सनाथ करनेके लिये उससे इस प्रकार कहियेगा— ॥ २१ ॥

पितरस्तेऽवलम्बन्ते गर्ते दीना अधोमुखाः।
साधु दारान् कुरुष्वेति प्रजामुत्पादयेति च ॥२२॥

'जरत्कारो! तुम्हारे पितर अत्यन्त दीन हो नीचे मुँह करके गड्ढेमें लटक रहे हैं। तुम उत्तम रीतिसे पत्नीके साथ विवाह कर लो और उसके द्वारा संतान उत्पन्न करो ॥ २२ ॥

कुलतन्तुर्हि नः शिष्टस्त्वमेवैकस्तपोधन।
यस्त्वं पश्यसि नो ब्रह्मन् वीरणस्तम्बमाश्रितान् ॥२३॥
एषोऽस्माकं कुलस्तम्ब आस्ते स्वकुलवर्धनः।
यानि पश्यसि वै ब्रह्मन् मूलानीहास्य वीरुधः ॥२४॥
एते नस्तन्तवस्तात कालेन परिभक्षिताः।
यत्त्वेतत् पश्यसि ब्रह्मन् मूलमस्यार्धभक्षितम् ॥२५॥
यत्र लम्बामहे गर्ते सोऽप्येकस्तप आस्थितः।
यमाखुं पश्यसि ब्रह्मन् काल एष महाबलः ॥२६॥

'तपोधन! तुम्हीं अपने पूर्वजोंके कुलमें एकमात्र तन्तु बच रहे हो। ब्रह्मन्! आप जो हमें खशके गुच्छेका सहारा लेकर लटकते देख रहे हैं, यह खशका गुच्छा नहीं है, हमारे कुलका आश्रय है, जो अपने कुलको बढ़ानेवाला है।

विप्रवर ! इस खशकी जो कटी हुई जड़ें यहाँ आपकी दृष्टिमें आ रही हैं, ये ही हमारे वंशके वे तन्तु (संतान) हैं, जिन्हें कालरूपी चूहेंने खा लिया है। ब्राह्मण ! आप जो इस खशकी यह अधकटी जड़ देखते हैं, जिसके सहारे हम गड्ढेमें लटक रहे हैं, यह वही एकमात्र संतान जरत्कारु है, जो तपस्यामें लगा है और ब्राह्मण देवता ! जिसे आप चूहेके रूपमें देख रहे हैं, यह महाबली काल है ॥ २३-२६ ॥

स तं तपोरतं मन्दं शनैः क्षपयते तुदन्।
जरत्कारुं तपोलुब्धं मन्दात्मानमचेतसम् ॥२७॥

'वह उस तपस्वी एवं मूढ़ जरत्कारुको, जो तपको ही लाभ माननेवाला, मन्दात्मा (अदूरदर्शी) और अचेत (जड) हो रहा है, धीरे-धीरे पीड़ा देते हुए दाँतोंसे काट रहा है ॥२७॥

न हि नस्तत् तपस्तस्य तारयिष्यति सत्तम।
छिन्नमूलान् परिभ्रष्टान् कालोपहतचेतसः ॥२८॥
अधःप्रविष्टान् पश्यास्मान् यथा दुष्कृतिनस्तथा।
अस्मासु पतितेष्वत्र सह सर्वैः सबान्धवैः ॥२९॥
छिन्नः कालेन सोऽप्यत्र गन्ता वै नरकं ततः।
तपो वाप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत् पावनं महत् ॥३०॥
तत् सर्वमपरं तात न संतत्या समं मतम्।
स तात दृष्ट्वा ब्रूयास्तं जरत्कारुं तपोधन ॥३१॥
यथा दृष्टमिदं चात्र त्वयाख्येयमशेषतः।
यथा दारान् प्रकुर्यात् स पुत्रानुत्पादयेद् यथा ॥३२॥
तथा ब्रह्मंस्त्वया वाच्यः सोऽस्माकं नाथवत्तया।
बान्धवानां हितस्येह यथा चात्मकुलं तथा ॥३३॥
कस्त्वं बन्धुमिवास्माकमनुशोचसि सत्तम।
श्रोतुमिच्छाम सर्वेषां को भवानिह तिष्ठति ॥३४॥

'साधुशिरोमणे ! उस जरत्कारुकी तपस्या हमें इस संकटसे नहीं उबारेगी। देखिये, हमारी जड़ें कट गयी हैं, कालने हमारी चेतनाशक्ति नष्ट कर दी है और हम अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे इस गड्ढेमें गिर रहे हैं। जैसे पापियोंकी दुर्गति होती है, वैसे ही हमारी होती है। हम समस्त बन्धु-बान्धवोंके साथ जब इस गड्ढेमें गिर जायँगे, तब वह जरत्कारु भी कालका ग्रास बनकर अवश्य इसी नरकमें आ गिरेगा। तात ! तपस्या, यज्ञ अथवा अन्य जो महान् एवं पवित्र साधन हैं, वे सब संतानके समान नहीं हैं। तात ! आप तपस्याके धनी जान पड़ते हैं। आपको तपस्वी जरत्कारु मिल जाय तो उससे हमारा संदेश कहियेगा और आपने यहाँ जो कुछ देखा है, वह सब उसे बता दीजियेगा ! ब्रह्मन् ! हमें सनाथ बनानेकी दृष्टिसे आप जरत्कारुके साथ इस प्रकार वार्तालाप कीजियेगा, जिससे वह पत्नी-संग्रह करे और उसके द्वारा पुत्रोंको जन्म दे । तात ! जरत्कारुके बान्धव जो हमलोग हैं, हमारे लिये अपने कुलकी भाँति अपने भाई-बन्धुके समान आप सोच कर रहे हैं। अतः साधुशिरोमणे ! बताइये, आप कौन हैं ? हम सब लोगोंमेंसे आप किसके क्या लगते हैं, जो यहाँ खड़े हुए हैं ? हम आपका परिचय सुनना चाहते हैं ॥'

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुपितृदर्शने पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारुके पितृदर्शनविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारुका शर्तके साथ विवाहके लिये उद्यत होना और नागराज वासुकिका जरत्कारु नामकी कन्याको लेकर आना

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा जरत्कारुर्भृशं शोकपरायणः।
उवाच तान् पितॄन् दुःखाद् बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी ! यह सुनकर जरत्कारु अत्यन्त शोकमें मग्न हो गये और दुःखसे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें अपने पितरोंसे बोले ॥ १ ॥

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः।
तद् ब्रूत यन्मया कार्यं भवतां प्रियकाम्यया ॥ २ ॥
अहमेव जरत्कारुः किल्बिषी भवतां सुतः।
ते दण्डं धारयत मे दुष्कृतेरकृतात्मनः ॥ ३ ॥

जरत्कारुने कहा—आप मेरे ही पूर्वज पिता और पितामह आदि हैं। अतः बताइये आपका प्रिय करनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये। मैं ही आपलोगोंका पुत्र पापी जरत्कारु हूँ। आप मुझ अकृतात्मा पापीको इच्छानुसार दण्ड दें ॥

पितर ऊचुः

पुत्र दिष्ट्यासि सम्प्राप्त इमं देशं यदृच्छया।
किमर्थं च त्वया ब्रह्मन् न कृतो दारसंग्रहः ॥ ४ ॥

पितर बोले—पुत्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है जो तुम अकस्मात् इस स्थानपर आ गये। ब्रह्मन् ! तुमने अबतक विवाह क्यों नहीं किया ? ॥ ४ ॥

जरत्कारुरुवाच

ममायं पितरो नित्यं ह्यर्थः परिवर्तते।
ऊर्ध्वरेताः शरीरं वै प्रापयेयममुत्र वै॥ ५॥

जरत्कारुने कहा—पितृगण! मेरे हृदयमें यह बात निरन्तर घूमती रहती थी कि मैं उर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालक) होकर इस शरीरको परलोक (पुण्यधाम) में पहुँचाऊँ॥ ५॥

न दारान् वै करिष्येऽहमिति मे भावितं मनः।
एवं दृष्ट्वा तु भवतः शकुन्तानिव लम्बतः॥ ६॥
मया निवर्तिता बुद्धिर्ब्रह्मचर्यात् पितामहाः।
करिष्ये वः प्रियं कामं निवेक्ष्येऽहमसंशयम्॥ ७॥

अतः मैंने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि 'मैं कभी पत्नी-परिग्रह (विवाह) नहीं करूँगा।' किंतु पितामहो! आपको पक्षियोंकी भाँति लटकते देख अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालन-सम्बन्धी निश्चयसे मैंने अपनी बुद्धि लौटा ली है। अब मैं आपका प्रिय मनोरथ पूर्ण करूँगा, निश्चय ही विवाह कर लूँगा॥ ६-७॥

सनाम्नीं यद्यहं कन्यामुपलप्स्ये कदाचन।
भविष्यति च या काचिद् भैक्ष्यवत् स्वयमुद्यता॥ ८॥
प्रतिग्रहीता तामस्मि न भरेयं च यामहम्।
एवंविधमहं कुर्यां निवेशं प्राप्नुयां यदि।
अन्यथा न करिष्येऽहं सत्यमेतत् पितामहाः॥ ९॥

(परंतु इसके लिये एक शर्त होगी—) 'यदि मैं कभी अपने ही जैसे नामवाली कुमारी कन्या पाऊँगा, उसमें भी जो भिक्षाकी भाँति बिना माँगे स्वयं ही विवाहके लिये प्रस्तुत हो जायगी और जिसके पालन-पोषणका भार मुझपर न होगा, उसीका मैं पाणिग्रहण करूँगा।' यदि ऐसा विवाह मुझे सुलभ हो जाय तो कर लूँगा, अन्यथा विवाह करूँगा ही नहीं। पितामहो! यह मेरा सत्य निश्चय है॥ ८-९॥

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वताश्चाव्ययाश्चैव तिष्ठन्तु पितरो मम॥ १०॥

वैसे विवाहसे जो पत्नी मिलेगी, उसीके गर्भसे आप लोगोंको तारनेके लिये कोई प्राणी उत्पन्न होगा। मैं चाहता हूँ मेरे पितर नित्य शाश्वत लोकोंमें बने रहें, वहाँ वे अक्षय सुखके भागी हों॥ १०॥

सौतिरुवाच

एवमुक्त्वा तु स पितॄंश्चचार पृथिवीं मुनिः।
न च स्म लभते भार्यां वृद्धोऽयमिति शौनक॥ ११॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनकजी! इस प्रकार पितरोंसे कहकर जरत्कारु मुनि पूर्ववत् पृथ्वीपर विचरने लगे। परंतु 'यह बूढ़ा है' ऐसा समझकर किसीने कन्या नहीं दी, अतः उन्हें पत्नी उपलब्ध न हो सकी॥ ११॥

यदा निर्वेदमापन्नः पितृभिश्चोदितस्तथा।
तदारण्यं स गत्वोच्चैश्चुक्रोश भृशदुःखितः॥ १२॥

जब वे विवाहकी प्रतीक्षामें खिन्न हो गये, तब पितरोंसे प्रेरित होनेके कारण वनमें जाकर अत्यन्त दुःखी हो जोर-जोरसे ब्याहके लिये पुकारने लगे॥ १२॥

स त्वरण्यगतः प्राज्ञः पितॄणां हितकाम्यया।
उवाच कन्यां याचामि तिस्रो वाचः शनैरिमाः॥ १३॥

वनमें जानेपर विद्वान् जरत्कारुने पितरोंके हितकी कामनासे तीन बार धीरे-धीरे यह बात कही—'मैं कन्या माँगता हूँ'॥

यानि भूतानि सन्तीह स्थावराणि चराणि च।
अन्तर्हितानि वा यानि तानि शृण्वन्तु मे वचः॥ १४॥

(फिर जोरसे बोले—) 'यहाँ जो स्थावर-जङ्गम, दृश्य या अदृश्य प्राणी हैं, वे सब मेरी बात सुनें—॥ १४॥

उग्रे तपसि वर्तन्ते पितरश्चोदयन्ति माम्।
निविशस्वेति दुःखार्ताः संतानस्य चिकीर्षया॥ १५॥

'मेरे पितर भयंकर कष्टमें पड़े हैं और दुःखसे आतुर हो संतान-प्राप्तिकी इच्छा रखकर मुझे प्रेरित कर रहे हैं कि 'तुम विवाह कर लो'॥ १५॥

निवेशायाखिलां भूमिं कन्याभैक्ष्यं चरामि भोः।
दरिद्रो दुःखशीलश्च पितृभिः संनियोजितः॥ १६॥

'अतः विवाहके लिये मैं सारी पृथ्वीपर घूमकर कन्याकी भिक्षा चाहता हूँ। यद्यपि मैं दरिद्र हूँ और सुविधाओंके अभावमें दुःखी हूँ, तो भी पितरोंकी आज्ञासे विवाहके लिये उद्यत हूँ॥

यस्य कन्यास्ति भूतस्य ये मयेह प्रकीर्तिताः।
ते मे कन्यां प्रयच्छन्तु चरतः सर्वतोदिशम्॥ १७॥

'मैंने यहाँ जिनका नाम लेकर पुकारा है, उनमेंसे जिस किसी भी प्राणीके पास विवाहके योग्य विख्यात गुणोंवाली कन्या हो, वह सब दिशाओंमें विचरनेवाले मुझ ब्राह्मणको अपनी कन्या दे॥ १७॥

मम कन्या सनाम्नी या भैक्ष्यवच्चोदिता भवेत्।
भरेयं चैव यां नाहं तां मे कन्यां प्रयच्छत॥ १८॥

'जो कन्या मेरे ही जैसे नामवाली हो, भिक्षाकी भाँति मुझे दी जा सकती हो और जिसके भरण-पोषणका भार मुझपर न हो, ऐसी कन्या कोई मुझे दे'॥ १८॥

ततस्ते पन्नगा ये वै जरत्कारौ समाहिताः।
तामादाय प्रवृत्तिं ते वासुकेः प्रत्यवेदयन्॥ १९॥

तब उन नागोंने जो जरत्कारु मुनिकी खोजमें लगाये

गये थे, उनका यह समाचार पाकर उन्होंने नागराज वासुकिको सूचित किया ॥ १९ ॥

तेषां श्रुत्वा स नागेन्द्रस्तां कन्यां समलंकृताम् ।
प्रगृह्यारण्यमगमत् समीपं तस्य पन्नगः ॥२०॥

उनकी बात सुनकर नागराज वासुकि अपनी उस कुमारी बहिनको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके साथ ले वनमें मुनिके समीप गये ॥ २० ॥

तत्र तां भैक्ष्यवत् कन्यां प्रादात् तस्मै महात्मने ।
नागेन्द्रो वासुकिर्ब्रह्मन् न स तां प्रत्यगृह्णत ॥२१॥

ब्रह्मन् ! वहाँ नागेन्द्र वासुकिने महात्मा जरत्कारुको भिक्षाकी भाँति वह कन्या समर्पित की; किंतु उन्होंने सहसा उसे स्वीकार नहीं किया ॥ २१ ॥

असनामेति वै मत्वा भरणे चाविचारिते ।
मोक्षभावे स्थितश्चापि मन्दीभूतः परिग्रहे ॥२२॥
ततो नाम स कन्यायाः पप्रच्छ भृगुनन्दन ।
वासुकिं भरणं चास्या न कुर्यामित्युवाच ह ॥२३॥

सोचा, सम्भव है । यह कन्या मेरे-जैसे नामवाली न हो । इसके भरण-पोषणका भार किसपर रहेगा; इस बातका निर्णय भी अभीतक नहीं हो पाया है । इसके सिवा मैं मोक्षभावमें स्थित हूँ; यही सोचकर उन्होंने पत्नी-परिग्रहमें शिथिलता दिखायी । भृगुनन्दन ! इसीलिये पहले उन्होंने वासुकिसे उस कन्याका नाम पूछा और यह स्पष्ट कह दिया—'मैं इसका भरण-पोषण नहीं करूँगा'॥ २२-२३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि वासुकिजरत्कारुसमागमे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें वासुकि-जरत्कारु-समागम-सम्बन्धी छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

जरत्कारु मुनिका नागकन्याके साथ विवाह, नागकन्या जरत्कारुद्वारा पतिसेवा तथा पतिका उसे त्यागकर तपस्याके लिये गमन

सौतिरुवाच

वासुकिस्त्वब्रवीद् वाक्यं जरत्कारुमृषिं तदा ।
सनाम्नी तव कन्येयं स्वसा मे तपसान्विता ॥ १ ॥
भरिष्यामि च ते भार्यां प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ।
रक्षणं च करिष्येऽस्याः सर्वशक्त्या तपोधन ।
त्वदर्थं रक्ष्यते चैषा मया मुनिवरोत्तम ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! उस समय वासुकिने जरत्कारु मुनिसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! इस कन्याका वही नाम है, जो आपका है । यह मेरी बहिन है और आपकी ही भाँति तपस्विनी भी है । आप इसे ग्रहण करें । आपकी पत्नीका भरण-पोषण मैं करूँगा । तपोधन ! अपनी सारी शक्ति लगाकर मैं इसकी रक्षा करता रहूँगा । मुनिश्रेष्ठ ! अबतक आपहीके लिये मैंने इसकी रक्षा की है' ॥ १-२ ॥

ऋषिरुवाच

न भरिष्येऽहमेतां वै एष मे समयः कृतः ।
अप्रियं च न कर्तव्यं कृते चैनां त्यजाम्यहम् ॥ ३ ॥

ऋषिने कहा—नागराज ! मैं इसका भरण पोषण नहीं करूँगा, मेरी यह शर्त तो तय हो गयी । अब दूसरी शर्त यह है कि तुम्हारी इस बहिनको कभी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो मुझे अप्रिय लगे । यदि अप्रिय कार्य कर बैठेगी तो उसी समय मैं इसे त्याग दूँगा ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

प्रतिश्रुते तु नागेन भरिष्ये भगिनीमिति ।
जरत्कारुस्तदा वेश्म भुजगस्य जगाम ह ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—नागराजने यह शर्त स्वीकार कर ली कि 'मैं अपनी बहिनका भरण-पोषण करूँगा ।' तब जरत्कारु मुनि वासुकिके भवनमें गये ॥ ४ ॥

तत्र मन्त्रविदां श्रेष्ठस्तपोवृद्धो महाव्रतः ।
जग्राह पाणिं धर्मात्मा विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

वहाँ मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ तपोवृद्ध महाव्रती धर्मात्मा जरत्कारुने शास्त्रीय विधि और मन्त्रोच्चारणके साथ नागकन्याका पाणिग्रहण किया ॥ ५ ॥

ततो वासगृहं रम्यं पन्नगेन्द्रस्य सम्मतम् ।
जगाम भार्यामादाय स्तूयमानो महर्षिभिः ॥ ६ ॥

तदनन्तर महर्षियोंसे प्रशंसित होते हुए वे नागराजके रमणीय भवनमें, जो मनके अनुकूल था, अपनी पत्नीको लेकर गये ॥

शयनं तत्र संक्लृप्तं स्पर्ध्यास्तरणसंवृतम् ।
तत्र भार्यासहायो वै जरत्कारुरुवास ह ॥ ७ ॥

वहाँ बहुमूल्य बिछौनोंसे सजी हुई शय्या बिछी थी । जरत्कारु मुनि अपनी पत्नीके साथ उसी भवनमें रहने लगे ॥

स तत्र समयं चक्रे भार्यया सह सत्तमः ।
विप्रियं मे न कर्तव्यं न च वाच्यं कदाचन ॥ ८ ॥

उन साधुशिरोमणिने वहाँ अपनी पत्नीके सामने यह शर्त रक्खी—'तुम्हें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जो मुझे अप्रिय लगे। साथ ही कभी अप्रिय वचन भी नहीं बोलना चाहिये॥

त्यजेयं विप्रिये च त्वां कृते वासं च ते गृहे।
एतद् गृहाण वचनं मया यत् समुदीरितम्॥ ९॥

'तुमसे अप्रिय कार्य हो जानेपर मैं तुम्हें और तुम्हारे घरमें रहना छोड़ दूँगा। मैंने जो कुछ कहा है, मेरे इस वचनको दृढ़तापूर्वक धारण कर लो'॥ ९॥

ततः परमसंविग्ना स्वसा नागपतेस्तदा।
अतिदुःखान्विता वाक्यं तमुवाचैवमस्त्विति॥१०॥

यह सुनकर नागराजकी बहिन अत्यन्त उद्विग्न हो गयी और उस समय बहुत दुखी होकर बोली—'भगवन्! ऐसा ही होगा'॥ १०॥

तथैव सा च भर्तारं दुःखशीलमुपाचरत्।
उपायैः श्वेतकाकीयैः प्रियकामा यशस्विनी॥११॥

फिर वह यशस्विनी नागकन्या दुःखद स्वभाववाले पतिकी उसी शर्तके अनुसार सेवा करने लगी। वह श्वेतकाकीय* उपायोंसे सदा पतिका प्रिय करनेकी इच्छा रखकर निरन्तर उनकी आराधनामें लगी रहती थी॥ ११॥

ऋतुकाले ततः स्नाता कदाचिद् वासुकेः स्वसा।
भर्तारं वै यथान्यायमुपतस्थे महामुनिम्॥१२॥

तदनन्तर किसी समय ऋतुकाल आनेपर वासुकिकी बहिन स्नान करके न्यायपूर्वक अपने पति महामुनि जरत्कारुकी सेवामें उपस्थित हुई॥ १२॥

तत्र तस्याः समभवद् गर्भो ज्वलनसंनिभः।
अतीवतेजसा युक्तो वैश्वानरसमद्युतिः॥१३॥

वहाँ उसे गर्भ रह गया, जो प्रज्वलित अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी तथा तपःशक्तिसे सम्पन्न था। उसकी अङ्गकान्ति अग्निके तुल्य थी॥ १३॥

शुक्लपक्षे यथा सोमो व्यवर्धत तथैव सः।
ततः कतिपयाहस्य जरत्कारुर्महायशाः॥१४॥
उत्सङ्गेऽस्याः शिरः कृत्वा सुष्वाप परिखिन्नवत्।
तस्मिंश्च सुप्ते विप्रेन्द्रे सवितास्तमियाद् गिरिम्॥१५॥

जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्रमा बढ़ते हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी नित्य परिपुष्ट होने लगा। तत्पश्चात् कुछ दिनोंके बाद महातपस्वी जरत्कारु कुछ खिन्नसे होकर अपनी पत्नीकी गोदमें सिर रखकर सो गये। उन विप्रवर जरत्कारुके सोते समय ही सूर्य अस्ताचलको जाने लगे॥ १४-१५॥

अह्नः परिक्षये ब्रह्मंस्ततः साचिन्तयत् तदा।
वासुकेर्भगिनी भीता धर्मलोपान्मनस्विनी॥१६॥
किं नु मे सुकृतं भूयाद् भर्तुरुत्थापनं न वा।
दुःखशीलो हि धर्मात्मा कथं नास्यापराध्नुयाम्॥१७॥

ब्रह्मन्! दिन समाप्त होने ही वाला था। अतः वासुकिकी मनस्विनी बहिन जरत्कारु अपने पतिके धर्मलोपसे भयभीत हो उस समय इस प्रकार सोचने लगी—'इस समय पतिको जगाना मेरे लिये अच्छा (धर्मानुकूल) होगा या नहीं? मेरे धर्मात्मा पतिका स्वभाव बड़ा दुःखद है। मैं कैसा बर्ताव करूँ, जिससे उनकी दृष्टिमें अपराधिनी न बनूँ॥ १६-१७॥

कोपो वा धर्मशीलस्य धर्मलोपोऽथवा पुनः।
धर्मलोपो गरीयान् वै स्यादित्यत्राकरोन्मतिम्॥१८॥
उत्थापयिष्ये यद्येनं ध्रुवं कोपं करिष्यति।
धर्मलोपो भवेदस्य संध्यातिक्रमणे ध्रुवम्॥१९॥

'यदि इन्हें जगाऊँगी तो निश्चय ही इन्हें मुझपर क्रोध होगा और यदि सोते-सोते संध्योपासनका समय बीत गया तो अवश्य इनके धर्मका लोप हो जायगा। ऐसी दशामें धर्मात्मा पतिका कोप स्वीकार करूँ या उनके धर्मका लोप? इन दोनोंमें धर्मका लोप ही भारी जान पड़ता है।' अतः जिससे उनके धर्मका लोप न हो, वही कार्य करनेका उसने निश्चय किया॥ १८-१९॥

इति निश्चित्य मनसा जरत्कारुर्भुजङ्गमा।
तमृषिं दीप्ततपसं शयानमनलोपमम्॥२०॥
उवाचेदं वचः श्लक्ष्णं ततो मधुरभाषिणी।
उत्तिष्ठ त्वं महाभाग सूर्योऽस्तमुपगच्छति॥२१॥

मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके मीठे वचन बोलनेवाली नागकन्या जरत्कारुने वहाँ सोते हुए अग्निके समान तेजस्वी एवं तीव्र तपस्वी महर्षिसे मधुरवाणीमें यों कहा—'महाभाग! उठिये, सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे हैं॥ २०-२१॥

संध्यामुपास्स्व भगवन्नपः स्पृष्ट्वा यतव्रतः।
प्रादुष्कृताग्निहोत्रोऽयं मुहूर्तो रम्यदारुणः॥२२॥
संध्या प्रवर्तते चेयं पश्चिमायां दिशि प्रभो।

'भगवन्! आप संयमपूर्वक आचमन करके संध्योपासन कीजिये। अब अग्निहोत्रकी बेला हो रही है। यह मुहूर्त धर्मका साधन होनेके कारण अत्यन्त रमणीय जान पड़ता है। इसमें भूत आदि प्राणी विचरते हैं, अतः भयंकर भी है। प्रभो! पश्चिम दिशामें संध्या प्रकट हो रही है—उधरका आकाश लाल हो रहा है'॥ २२½॥

* श्वेतकाकका अर्थ यह है—श्वा, एत और काक; जिसका क्रमशः अर्थ है—कुत्ता, हरिण और कौआ (श्वा+एतमें पररूप हुआ है) तात्पर्य यह है कि यह कुतियाकी भाँति सदा जागती और कम सोती थी, हरिणीके समान भयसे चकित रहती और कौएकी भाँति उनके इङ्गित (इशारे) समझनेके लिये सावधान रहती थी।

एवमुक्तः स भगवान् जरत्कारुर्महातपाः ॥२३॥
भार्यां प्रस्फुरमाणौष्ठ इदं वचनमब्रवीत्।
अवमानः प्रयुक्तोऽयं त्वया मम भुजङ्गमे ॥२४॥

नागकन्याके ऐसा कहनेपर महातपस्वी भगवान् जरत्कारु जाग उठे। उस समय क्रोधके मारे उनके होठ काँपने लगे। वे इस प्रकार बोले—'नागकन्ये! तूने मेरा यह अपमान किया है॥

समीपे ते न वत्स्यामि गमिष्यामि यथागतम्।
शक्तिरस्ति न वामोरु मयि सुप्ते विभावसोः ॥२५॥
अस्तं गन्तुं यथाकालमिति मे हृदि वर्तते।
न चाप्यवमतस्येह वासो रोचेत कस्यचित् ॥२६॥
किं पुनर्धर्मशीलस्य मम वा मद्विधस्य वा।

'इसलिये अब मैं तेरे पास नहीं रहूँगा। जैसे आया हूँ, वैसे ही चला जाऊँगा। वामोरु! सूर्यमें इतनी शक्ति नहीं है कि मैं सोता रहूँ और वे अस्त हो जायँ। यह मेरे हृदयमें निश्चय है। जिसका कहीं अपमान हो जाय ऐसे किसी भी पुरुषको वहाँ रहना अच्छा नहीं लगता। फिर मेरी अथवा मेरे-जैसे दूसरे धर्मशील पुरुषकी तो बात ही क्या है' ॥ २५-२६½ ॥

एवमुक्ता जरत्कारुर्भर्त्रा हृदयकम्पनम् ॥२७॥
अब्रवीद् भगिनी तत्र वासुकेः संनिवेशने।
नावमानात् कृतवती तवाहं विप्र बोधनम् ॥२८॥
धर्मलोपो न ते विप्र स्यादित्येतन्मया कृतम्।
उवाच भार्यामित्युक्तो जरत्कारुर्महातपाः ॥२९॥
ऋषिः कोपसमाविष्टस्त्यक्तुकामो भुजङ्गमाम्।
न मे वागनृतं प्राह गमिष्येऽहं भुजङ्गमे ॥३०॥

जब पतिने इस प्रकार हृदयमें कँपकँपी पैदा करनेवाली बात कही, तब उस घरमें स्थित वासुकिकी बहिन इस प्रकार बोली—'विप्रवर! मैंने अपमान करनेके लिये आपको नहीं जगाया था। आपके धर्मका लोप न हो जाय, यही ध्यानमें रखकर मैंने ऐसा किया है।' यह सुनकर क्रोधमें भरे हुए महातपस्वी ऋषि जरत्कारुने अपनी पत्नी नागकन्याको त्याग देनेकी इच्छा रखकर उससे कहा—'नागकन्ये! मैंने कभी झूठी बात मुँहसे नहीं निकाली है, अतः अवश्य जाऊँगा॥

समयो ह्येष मे पूर्वं त्वया सह मिथः कृतः।
सुखमस्म्युषितो भद्रे ब्रूयास्त्वं भ्रातरं शुभे ॥३१॥
इतो मयि गते भीरु गतः स भगवानिति।
त्वं चापि मयि निष्क्रान्ते न शोकं कर्तुमर्हसि ॥३२॥

'मैंने तुम्हारे साथ आपसमें पहले ही ऐसी शर्त कर ली थी। भद्रे! मैं यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ। यहाँसे मेरे चले जानेके बाद अपने भाईसे कहना—'भगवान् जरत्कारु चले गये'। शुभे! भीरु! मेरे निकल जानेपर तुम्हें भी शोक नहीं करना चाहिये'॥

इत्युक्ता सानवद्याङ्गी प्रत्युवाच मुनिं तदा।
जरत्कारुं जरत्कारुश्चिन्ताशोकपरायणा ॥३३॥
बाष्पगद्गदया वाचा मुखेन परिशुष्यता।
कृताञ्जलिर्वरारोहा पर्यश्रुनयना ततः ॥३४॥
धैर्यमालम्ब्य वामोरुर्हृदयेन प्रवेपता।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥३५॥
धर्मे स्थितां स्थितो धर्मे सदा प्रियहिते रताम्।
प्रदाने कारणं यच्च मम तुभ्यं द्विजोत्तम ॥३६॥
तदलब्धवतीं मन्दां किं मां वक्ष्यति वासुकिः।
मातृशापाभिभूतानां ज्ञातीनां मम सत्तम ॥३७॥
अपत्यमीप्सितं त्वत्तस्तच्च तावन्न दृश्यते।
त्वत्तो ह्यपत्यलाभेन ज्ञातीनां मे शिवं भवेत् ॥३८॥

उनके ऐसा कहनेपर अनिन्द्य सुन्दरी जरत्कारु भाईके कार्यकी चिन्ता और पतिके वियोगजनित शोकमें डूब गयी। उसका मुँह सूख गया, नेत्रोंमें आँसू छलक आये और हृदय काँपने लगा। फिर किसी प्रकार धैर्य धारण करके सुन्दर जाँघों और मनोहर शरीरवाली वह नागकन्या हाथ जोड़ गद्गद वाणीमें जरत्कारु मुनिसे बोली—'धर्मज्ञ! आप सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। मैं भी पत्नी-धर्ममें स्थित तथा आप प्रियतमके हितमें लगी रहनेवाली हूँ। आपको मुझ निरपराध अबलाका त्याग नहीं करना चाहिये। द्विजश्रेष्ठ! मेरे भाईने जिस उद्देश्यको लेकर आपके साथ मेरा विवाह किया था, मैं मन्दभागिनी अबतक उसे पा न सकी। नागराज वासुकि मुझसे क्या कहेंगे? साधुशिरोमणे! मेरे कुटुम्बीजन माताके शापसे दबे हुए हैं। उन्हें मेरे द्वारा आपसे एक संतानकी प्राप्ति अभीष्ट थी, किंतु उसका भी अबतक दर्शन नहीं हुआ। आपसे पुत्रकी प्राप्ति हो जाय तो उसके द्वारा मेरे जाति-भाइयोंका कल्याण हो सकता है॥ ३३—३८॥

सम्प्रयोगो भवेन्नायं मम मोघस्त्वया द्विज।
ज्ञातीनां हितमिच्छन्ती भगवंस्त्वां प्रसादये ॥३९॥

'ब्रह्मन्! आपसे जो मेरा सम्बन्ध हुआ, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। भगवन्! अपने बान्धवजनोंका हित चाहती हुई मैं आपसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करती हूँ॥ ३९॥

इममव्यक्तरूपं मे गर्भमाधाय सत्तम।
कथं त्यक्त्वा महात्मा सन् गन्तुमिच्छस्यनागसम् ४०

'महाभाग! आपने जो गर्भ स्थापित किया है, उसका स्वरूप या लक्षण अभी प्रकट नहीं हुआ। महात्मा होकर ऐसी दशामें आप मुझ निरपराध पत्नीको त्यागकर कैसे जाना चाहते हैं?'

एवमुक्तस्तु स मुनिर्भार्यां वचनमब्रवीत्।
यद् युक्तमनुरूपं च जरत्कारुं तपोधनः ॥४१॥

यह सुनकर उन तपोधन महर्षिने अपनी पत्नी जरत्कारुसे उचित तथा अवसरके अनुरूप बात कही—॥ ४१ ॥

अस्त्ययं सुभगे गर्भस्तव वैश्वानरोपमः।
ऋषिः परमधर्मात्मा वेदवेदाङ्गपारगः ॥४२॥

सुभगे! 'अयं अस्ति'—तुम्हारे उदरमें गर्भ है। तुम्हारा यह गर्भस्थ बालक अग्निके समान तेजस्वी, परम धर्मात्मा मुनि तथा वेद-वेदाङ्गोंका पारङ्गत विद्वान् होगा' ॥ ४२ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा जरत्कारुर्महानृषिः।
उग्राय तपसे भूयो जगाम कृतनिश्चयः ॥४३॥

ऐसा कहकर धर्मात्मा महामुनि जरत्कारु, जिन्होंने जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया था, फिर कठोर तपस्याके लिये वनमें चले गये ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि जरत्कारुनिर्गमे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार महाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जरत्कारुका तपस्याके लिये निष्क्रमण-विषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

वासुकि नागकी चिन्ता, बहिनद्वारा उसका निवारण तथा आस्तीकका जन्म एवं विद्याध्ययन

सौतिरुवाच

गतमात्रं तु भर्तारं जरत्कारुरवेदयत्।
भ्रातुः सकाशमागत्य याथातथ्यं तपोधन ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तपोधन शौनक! पतिके निकलते ही नागकन्या जरत्कारुने अपने भाई वासुकिके पास जाकर उनके चले जानेका सब हाल ज्यों-का-त्यों सुना दिया॥ १॥

ततः स भुजगश्रेष्ठः श्रुत्वा सुमहदप्रियम्।
उवाच भगिनीं दीनां तदा दीनतरः स्वयम् ॥ २ ॥

यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकि स्वयं भी बहुत दुखी हो गये और दुःखमें पड़ी हुई अपनी बहिनसे बोले ॥ २ ॥

वासुकिरुवाच

जानासि भद्रे यत् कार्यं प्रदाने कारणं च यत्।
पन्नगानां हितार्थाय पुत्रस्ते स्यात् ततो यदि ॥ ३ ॥

वासुकिने कहा—भद्रे! सर्पोंका जो महान् कार्य है और मुनिके साथ तुम्हारा विवाह होनेमें जो उद्देश्य रहा है, उसे तो तुम जानती ही हो। यदि उनके द्वारा तुम्हारे गर्भसे कोई पुत्र उत्पन्न हो जाता तो उससे सर्पोंका बहुत बड़ा हित होता॥

स सर्पसत्रात् किल नो मोक्षयिष्यति वीर्यवान्।
एवं पितामहः पूर्वमुक्तवांस्तु सुरैः सह ॥ ४ ॥

वह शक्तिशाली मुनिकुमार ही हमलोगोंको जनमेजयके सर्पयज्ञमें जलनेसे बचायेगा; यह बात पहले देवताओंके साथ भगवान् ब्रह्माजीने कही थी ॥ ४ ॥

अप्यस्ति गर्भः सुभगे तस्मात् ते मुनिसत्तमात्।
न चेच्छाम्यफलं तस्य दारकर्म मनीषिणः ॥ ५ ॥
कार्यं च मम न न्याय्यं प्रष्टुं त्वां कार्यमीदृशम्।
किंतु कार्यगरीयस्त्वात् ततस्त्वाहमचूचुदम् ॥ ६ ॥

सुभगे! क्या उन मुनिश्रेष्ठसे तुम्हें गर्भ रह गया है? तुम्हारे साथ उन मनीषी महात्माका विवाह-कर्म निष्फल हो, यह मैं नहीं चाहता। मैं तुम्हारा भाई हूँ, ऐसे कार्य (पुत्रोत्पत्ति) के विषयमें तुमसे कुछ पूछना मेरे लिये उचित नहीं है, परंतु कार्यके गौरवका विचार करके मैंने तुम्हें इस विषयमें सब बातें बतानेके लिये प्रेरित किया है ॥ ५-६ ॥

दुर्वार्यतां विदित्वा च भर्तुस्तेऽतितपस्विनः।
नैनमन्वागमिष्यामि कदाचिद्धि शपेत् स माम् ॥ ७॥

तुम्हारे महातपस्वी पतिको जानेसे रोकना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है, यह जानकर मैं उन्हें लौटा लानेके लिये उनके पीछे नहीं जा रहा हूँ। लौटनेका आग्रह करूँ तो कदाचित् वे मुझे शाप भी दे सकते हैं ॥ ७ ॥

आचक्ष्व भद्रे भर्तुः स्वं सर्वमेव विचेष्टितम्।
उद्धरस्व च शल्यं मे घोरं हृदि चिरस्थितम् ॥ ८॥

अतः भद्रे! तुम अपने पतिकी सारी चेष्टा बताओ और मेरे हृदयमें दीर्घकालसे जो भयंकर काँटा चुभा हुआ है, उसे निकाल दो ॥ ८ ॥

जरत्कारुस्ततो वाक्यमित्युक्ता प्रत्यभाषत।
आश्वासयन्ती संतप्तं वासुकिं पन्नगेश्वरम् ॥ ९ ॥

भाईके इस प्रकार पूछनेपर तब जरत्कारु अपने संतप्त भ्राता नागराज वासुकिको धीरज बँधाती हुई इस प्रकार बोली ॥ ९ ॥

जरत्कारुरुवाच

पृष्टो मयापत्यहेतोः स महात्मा महातपाः।
अस्तीत्युत्तरमुद्दिश्य ममेदं गतवांश्च सः ॥१०॥

जरत्कारुने कहा—भाई! मैंने संतानके लिये उन महातपस्वी महात्मासे पूछा था। मेरे गर्भके विषयमें 'अस्ति (तुम्हारे गर्भमें पुत्र है)' इतना ही कहकर वे चले गये ॥१०॥

स्वैरेष्वपि न तेनाहं स्मरामि वितथं वचः।
उक्तपूर्वं कुतो राजन् साम्पराये स वक्ष्यति ॥११॥
न संतापस्त्वया कार्यः कार्यं प्रति भुजङ्गमे।
उत्पत्स्यति च ते पुत्रो ज्वलनार्कसमप्रभः ॥१२॥
इत्युक्त्वा स हि मां भ्रातर्गतो भर्ता तपोधनः।
तस्माद् व्येतु परं दुःखं तवेदं मनसि स्थितम् ॥१३॥

राजन्! उन्होंने पहले कभी विनोदमें भी झूठी बात कही हो, यह मुझे स्मरण नहीं है। फिर इस संकटके समय तो वे झूठ बोलेंगे ही क्यों? भैया! मेरे पति तपस्याके धनी हैं। उन्होंने जाते समय मुझसे यह कहा—'नागकन्ये! तुम अपनी कार्य-सिद्धिके सम्बन्धमें कोई चिन्ता न करना। तुम्हारे गर्भसे अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।' इतना कहकर वे तपोवनमें चले गये। अतः भैया! तुम्हारे मनमें जो महान् दुःख है, वह दूर हो जाना चाहिये॥ ११—१३॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा स नागेन्द्रो वासुकिः परया मुदा।
एवमस्त्विति तद् वाक्यं भगिन्याः प्रत्यगृह्णत ॥१४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! यह सुनकर नागराज वासुकि बड़ी प्रसन्नतासे बोले—'एवमस्तु (ऐसा ही हो)।' इस प्रकार उन्होंने बहिनकी बातको विश्वासपूर्वक ग्रहण किया॥

सान्त्वमानार्थदानैश्च पूजया चानुरूपया।
सोदर्यां पूजयामास स्वसारं पन्नगोत्तमः ॥१५॥

सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकि अपनी सहोदरा बहिनको सान्त्वना, सम्मान तथा धन देकर एवं सुन्दररूपसे उसका स्वागत-सत्कार करके उसकी समाराधना करने लगे॥ १५॥

ततः प्रववृधे गर्भो महातेजा महाप्रभः।
यथा सोमो द्विजश्रेष्ठ शुक्लपक्षोदितो दिवि ॥१६॥

द्विजश्रेष्ठ! जैसे शुक्लपक्षमें आकाशमें उदित होनेवाला चन्द्रमा प्रतिदिन बढ़ता है, उसी प्रकार जरत्कारुका वह महातेजस्वी और परम कान्तिमान् गर्भ बढ़ने लगा॥ १६॥

अथ काले तु सा ब्रह्मन् प्रजज्ञे भुजगस्वसा।
कुमारं देवगर्भाभं पितृमातृभयापहम् ॥१७॥

ब्रह्मन्! तदनन्तर समय आनेपर वासुकिकी बहिनने एक दिव्य कुमारको जन्म दिया, जो देवताओंके बालक-सा तेजस्वी जान पड़ता था। वह पिता और माता—दोनों पक्षोंके भयको नष्ट करनेवाला था॥ १७॥

ववृधे स तु तत्रैव नागराजनिवेशने।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् भार्गवाच्च्यवनान्मुनेः ॥१८॥

वह वहीं नागराजके भवनमें बढ़ने लगा। बड़े होनेपर उसने भृगुकुलोत्पन्न च्यवन मुनिसे छहों अङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन किया॥ १८॥

चीर्णव्रतो बाल एव बुद्धिसत्त्वगुणान्वितः।
नाम चास्याभवत् ख्यातं लोकेष्वास्तीक इत्युत ॥१९॥

वह बचपनसे ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला, बुद्धिमान् तथा सत्त्वगुणसम्पन्न हुआ। लोकमें आस्तीक नामसे उसकी ख्याति हुई॥ १९॥

अस्तीत्युक्त्वा गतो यस्मात् पिता गर्भस्थमेव तम्।
वनं तस्मादिदं तस्य नामास्तीकेति विश्रुतम् ॥२०॥

वह बालक अभी गर्भमें ही था, तभी उसके पिता 'अस्ति' कहकर वनमें चले गये थे। इसलिये संसारमें उसका आस्तीक नाम प्रसिद्ध हुआ॥ २०॥

स बाल एव तत्रस्थश्चरन्नमितबुद्धिमान्।
गृहे पन्नगराजस्य प्रयत्नात् परिरक्षितः ॥२१॥
भगवानिव देवेशः शूलपाणिर्हिरण्मयः।
विवर्धमानः सर्वांस्तान् पन्नगानभ्यहर्षयत् ॥२२॥

अमित बुद्धिमान् आस्तीक बाल्यावस्थामें ही वहाँ रहकर ब्रह्मचर्यका पालन एवं धर्मका आचरण करने लगा। नागराजके भवनमें उसका भलीभाँति यत्नपूर्वक लालन-पालन किया गया। सुवर्णके समान कान्तिमान् शूलपाणि देवेश्वर भगवान् शिवकी भाँति वह बालक दिनोंदिन बढ़ता हुआ समस्त नागोंका आनन्द बढ़ाने लगा॥ २१-२२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकोत्पत्तौ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४८॥

इस प्रकार महाभारत-आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीककी उत्पत्ति-विषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा परीक्षित्‌के धर्ममय आचार तथा उत्तम गुणोंका वर्णन, राजाका शिकारके लिये जाना और उनके द्वारा शमीक मुनिका तिरस्कार

शौनक उवाच

यदपृच्छत् तदा राजा मन्त्रिणो जनमेजयः।
पितुः स्वर्गगतिं तन्मे विस्तरेण पुनर्वद ॥१॥

शौनकजी बोले—सूतनन्दन! राजा जनमेजयने (उत्तङ्ककी बात सुनकर) अपने पिता परीक्षित्‌के स्वर्गवासके सम्बन्धमें मन्त्रियोंसे जो पूछ-ताछ की थी, उसका आप विस्तारपूर्वक पुनः वर्णन कीजिये॥ १॥

सौतिरुवाच

श्रृणु ब्रह्मन् यथापृच्छन्मन्त्रिणो नृपतिस्तदा।
यथा चाख्यातवन्तस्ते निधनं तत् परीक्षितः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—ब्रह्मन्! सुनिये, उस समय राजाने मन्त्रियोंसे जो कुछ पूछा और उन्होंने परीक्षित्की मृत्युके सम्बन्धमें जैसी बातें बतायीं, वह सब मैं सुना रहा हूँ ॥ २॥

जनमेजय उवाच

जानन्ति स्म भवन्तस्तद् यथा वृत्तं पितुर्मम।
आसीद् यथा स निधनं गतः काले महायशाः ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—आपलोग यह जानते होंगे कि मेरे पिताके जीवन-कालमें उनका आचार-व्यवहार कैसा था? और अन्तकाल आनेपर वे महायशस्वी नरेश किस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुए थे? ॥ ३ ॥

श्रुत्वा भवत्सकाशाद्धि पितुर्वृत्तमशेषतः।
कल्याणं प्रतिपत्स्यामि विपरीतं न जातुचित् ॥ ४ ॥

आपलोगोंसे अपने पिताके सम्बन्धमें सारा वृत्तान्त सुनकर ही मुझे शान्ति प्राप्त होगी; अन्यथा मैं कभी शान्त न रह सकूँगा ॥

सौतिरुवाच

मन्त्रिणोऽथाब्रुवन् वाक्यं पृष्टास्तेन महात्मना।
सर्वे धर्मविदः प्राज्ञा राजानं जनमेजयम् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजाके सब मन्त्री धर्मज्ञ और बुद्धिमान् थे। उन महात्मा राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर वे सभी उनसे यों बोले ॥ ५ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

श्रृणु पार्थिव यद् ब्रूषे पितुस्तव महात्मनः।
चरितं पार्थिवेन्द्रस्य यथा निष्ठां गतश्च सः ॥ ६ ॥

मन्त्रियोंने कहा—भूपाल! तुम जो कुछ पूछते हो, वह सुनो। तुम्हारे महात्मा पिता राजराजेश्वर परीक्षित्का चरित्र जैसा था और जिस प्रकार वे मृत्युको प्राप्त हुए वह सब हम बता रहे हैं ॥ ६ ॥

धर्मात्मा च महात्मा च प्रजापालः पिता तव।
आसीदिह यथावृत्तः स महात्मा श्रृणुष्व तत् ॥ ७ ॥

महाराज! आपके पिता बड़े धर्मात्मा, महात्मा और प्रजापालक थे। वे महामना नरेश इस जगत्में जैसे आचार-व्यवहारका पालन करते थे, वह सुनो ॥ ७ ॥

चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं स कृत्वा पर्यरक्षत।
धर्मतो धर्मविद् राजा धर्मो विग्रहवानिव ॥ ८ ॥

वे चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके उन सबकी धर्मपूर्वक रक्षा करते थे। राजा परीक्षित् केवल धर्मके ज्ञाता ही नहीं थे, वे धर्मके साक्षात् स्वरूप थे ॥ ८ ॥

ररक्ष पृथिवीं देवीं श्रीमानतुलविक्रमः।
द्वेष्टारस्तस्य नैवासन् स च द्वेष्टि न कंचन ॥ ९ ॥

उनके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं थी। वे श्रीसम्पन्न होकर इस वसुधादेवीका पालन करते थे। जगत्में उनसे द्वेष रखनेवाले कोई न थे और वे भी किसीसे द्वेष नहीं रखते थे ॥

समः सर्वेषु भूतेषु प्रजापतिरिवाभवत्।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव स्वकर्मसु ॥ १० ॥
स्थिताः सुमनसो राजंस्तेन राज्ञा स्वधिष्ठिताः।
विधवानाथविकलान् कृपणांश्च बभार सः ॥ ११ ॥

प्रजापति ब्रह्माजीके समान वे समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रखते थे। राजन्! महाराज परीक्षित्के शासनमें रहकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें संलग्न और प्रसन्नचित्त रहते थे। वे महाराज विधवाओं, अनाथों, अङ्गहीनों और दीनोंका भी भरण-पोषण करते थे ॥ १०-११ ॥

सुदर्शः सर्वभूतानामासीत् सोम इवापरः।
तुष्टपुष्टजनः श्रीमान् सत्यवाग् दृढविक्रमः ॥ १२ ॥

दूसरे चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये सुखद एवं सुलभ था। उनके राज्यमें सब लोग हृष्टपुष्ट थे। वे लक्ष्मीवान्, सत्यवादी तथा अटल पराक्रमी थे ॥ १२ ॥

धनुर्वेदे तु शिष्योऽभून्नृपः शारद्वतस्य सः।
गोविन्दस्य प्रियश्चासीत् पिता ते जनमेजय ॥ १३ ॥

राजा परीक्षित् धनुर्वेदमें कृपाचार्यके शिष्य थे। जनमेजय! तुम्हारे पिता भगवान् श्रीकृष्णके भी प्रिय थे ॥ १३ ॥

लोकस्य चैव सर्वस्य प्रिय आसीन्महायशाः।
परिक्षीणेषु कुरुषु सोत्तरायामजीजनत् ॥ १४ ॥
परीक्षिदभवत् तेन सौभद्रस्यात्मजो बली।
राजधर्मार्थकुशलो युक्तः सर्वगुणैर्वृतः ॥ १५ ॥

वे महायशस्वी महाराज सम्पूर्ण जगत्के प्रेमपात्र थे। जब कुरुकुल परिक्षीण (सर्वथा नष्ट) हो चला था, उस समय उत्तराके गर्भसे उनका जन्म हुआ। इसलिये वे महाबली अभिमन्युकुमार परीक्षित् नामसे विख्यात हुए। राजधर्म और अर्थनीतिमें वे अत्यन्त निपुण थे। समस्त सद्गुणोंने स्वयं उनका वरण किया था। वे सदा उनसे संयुक्त रहते थे ॥ १४-१५ ॥

जितेन्द्रियश्चात्मवांश्च मेधावी धर्मसेविता।
षड्वर्गजिन्महाबुद्धिर्नीतिशास्त्रविदुत्तमः ॥ १६ ॥

उन्होंने अपनी इन्द्रियोंको जीतकर मनको अपने वशमें कर रक्खा था। वे मेधावी तथा धर्मका सेवन करनेवाले थे। उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन

छहों शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। उनकी बुद्धि विशाल थी। वे नीतिके विद्वानोंमें सर्वश्रेष्ठ थे ॥ १६ ॥

प्रजा इमास्तव पिता षष्टिवर्षाण्यपालयत्।
ततो दिष्टान्तमापन्नः सर्वेषां दुःखमावहन् ॥१७॥
ततस्त्वं पुरुषश्रेष्ठ धर्मेण प्रतिपेदिवान्।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कुरुकुलागतम्।
बाल एवाभिषिक्तस्त्वं सर्वभूतानुपालकः ॥१८॥

तुम्हारे पिताने साठ वर्षकी आयुतक इन समस्त प्रजाजनोंका पालन किया था। तदनन्तर हम सबको दुःख देकर उन्होंने विदेह-कैवल्य प्राप्त किया। पुरुषश्रेष्ठ! पिताके देहावसानके बाद तुमने धर्मपूर्वक इस राज्यको ग्रहण किया है, जो सहस्रों वर्षोंसे कुरुकुलके अधीन चला आ रहा है। बाल्यावस्थामें ही तुम्हारा राज्याभिषेक हुआ था। तबसे तुम्हीं इस राज्यके समस्त प्राणियोंका पालन करते हो ॥ १७-१८ ॥

जनमेजय उवाच

नास्मिन् कुले जातु बभूव राजा
यो न प्रजानां प्रियकृत् प्रियश्च।
विशेषतः प्रेक्ष्य पितामहानां
वृत्तं महद्वृत्तपरायणानाम् ॥१९॥

जनमेजयने पूछा—मन्त्रियो! हमारे इस कुलमें कभी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो प्रजाका प्रिय करनेवाला तथा सब लोगोंका प्रेमपात्र न रहा हो। विशेषतः महापुरुषोंके आचारमें प्रवृत्त रहनेवाले हमारे प्रपितामह पाण्डवोंके सदाचारको देखकर प्रायः सभी धर्मपरायण ही होंगे ॥ १९ ॥

कथं निधनमापन्नः पिता मम तथाविधः।
आचक्षध्वं यथावन्मे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥२०॥

अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरे वैसे धर्मात्मा पिताकी मृत्यु किस प्रकार हुई? आपलोग मुझसे इसका यथावत् वर्णन करें। मैं इस विषयमें सब बातें ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ २० ॥

सौतिरुवाच

एवं संचोदिता राज्ञा मन्त्रिणस्ते नराधिपम्।
ऊचुः सर्वे यथावृत्तं राज्ञः प्रियहितैषिणः ॥२१॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! राजा जनमेजयके इस प्रकार पूछनेपर उन मन्त्रियोंने महाराजसे सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बताया; क्योंकि वे सभी राजाका प्रिय चाहनेवाले और हितैषी थे ॥ २१ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

स राजा पृथिवीपालः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
बभूव मृगयाशीलस्तव राजन् पिता सदा ॥२२॥
यथा पाण्डुर्महाबाहुर्धनुर्धरवरो युधि।
अस्मास्वासज्य सर्वाणि राजकार्याण्यशेषतः ॥२३॥
स कदाचिद् वनगतो मृगं विव्याध पत्रिणा।
विद्ध्वा चान्वसरत् तूर्णं तं मृगं गहने वने ॥२४॥

मन्त्री बोले—राजन्! समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे पिता भूपाल परीक्षित्‌का सदा महाबाहु पाण्डुकी भाँति हिंसक पशुओंको मारनेका स्वभाव था और युद्धमें वे उन्हींकी भाँति सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंमें श्रेष्ठ सिद्ध होते थे। एक दिनकी बात है, वे सम्पूर्ण राजकार्यका भार हमलोगोंपर रखकर वनमें शिकार खेलनेके लिये गये। वहाँ उन्होंने पंखयुक्त बाणसे एक हिंसक पशुको बींध डाला। बींधकर तुरंत ही गहन वनमें उसका पीछा किया ॥ २२—२४ ॥

पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशस्ततायुधकलापवान्।
न चाससाद गहने मृगं नष्टं पिता तव ॥२५॥

वे तलवार बाँधे पैदल ही चल रहे थे। उनके पास बाणोंसे भरा हुआ विशाल तूणीर था। वह घायल पशु उस घने वनमें कहीं छिप गया। तुम्हारे पिता बहुत खोजनेपर भी उसे पा न सके ॥ २५ ॥

परिश्रान्तो वयःस्थश्च षष्टिवर्षो जरान्वितः।
क्षुधितः स महारण्ये ददर्श मुनिसत्तमम् ॥२६॥
स तं पप्रच्छ राजेन्द्रो मुनिं मौनव्रते स्थितम्।
न च किंचिदुवाचैनं पृष्टोऽपि स मुनिस्तदा ॥२७॥

प्रौढ़ अवस्था, साठ वर्षकी आयु और बुढ़ापेका संयोग इन सबके कारण वे बहुत थक गये थे। उस विशाल वनमें उन्हें भूख सताने लगी। इसी दशामें महाराजने वहाँ मुनिश्रेष्ठ शमीकको देखा। राजेन्द्र परीक्षित्‌ने उनसे मृगका पता पूछा; किंतु वे मुनि उस समय मौनव्रतके पालनमें संलग्न थे। उनके पूछनेपर भी महर्षि शमीक उस समय कुछ न बोले ॥ २६-२७ ॥

ततो राजा क्षुच्छ्रमार्तस्तं मुनिं स्थाणुवत् स्थितम्।
मौनव्रतधरं शान्तं सद्यो मन्युवशं गतः ॥२८॥

वे काठकी भाँति चुपचाप, निश्चेष्ट एवं अविचल भावसे स्थित थे। यह देख भूख-प्यास और थकावटसे व्याकुल हुए राजा परीक्षित्‌को उन मौनव्रतधारी शान्त महर्षिपर तत्काल क्रोध आ गया ॥ २८ ॥

न बुबोध च तं राजा मौनव्रतधरं मुनिम्।
स तं क्रोधसमाविष्टो धर्षयामास ते पिता ॥२९॥

राजाको यह पता नहीं था कि महर्षि मौनव्रतधारी हैं; अतः क्रोधमें भरे हुए आपके पिताने उनका तिरस्कार कर दिया ॥

मृतं सर्पं धनुष्कोट्या समुत्क्षिप्य धरातलात्।
तस्य शुद्धात्मनः प्रादात् स्कन्धे भरतसत्तम ॥३०॥

भरतश्रेष्ठ! उन्होंने धनुषकी नोकसे पृथ्वीपर पड़े हुए एक

मृत सर्पको उठाकर उन शुद्धात्मा महर्षिके कंधेपर डाल दिया ॥

न चोवाच स मेधावी तमथो साध्वसाधु वा ।
तस्थौ तथैव चाक्रुद्धः सर्पं स्कन्धेन धारयन् ॥३१॥

किंतु उन मेधावी मुनिने इसके लिये उन्हें भला या बुरा कुछ नहीं कहा । वे क्रोधरहित हो कंधेपर मरा सर्प लिये हुए पूर्ववत् शान्त-भावसे बैठे रहे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारीक्षितीये एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें परीक्षित्-चरित्रविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

शृङ्गी ऋषिका परीक्षित्को शाप, तक्षकका काश्यपको लौटाकर छलसे परीक्षित्को डँसना और पिताकी मृत्युका वृत्तान्त सुनकर जनमेजयकी तक्षकसे बदला लेनेकी प्रतिज्ञा

मन्त्रिण ऊचुः

ततः स राजा राजेन्द्र स्कन्धे तस्य भुजङ्गमम् ।
मुनेः क्षुत्क्षाम आसज्य स्वपुरं पुनराययौ ॥ १ ॥

मन्त्री बोले—राजेन्द्र ! उस समय राजा परीक्षित् भूखसे पीड़ित हो शमीक मुनिके कंधेपर मृतक सर्प डालकर पुनः अपनी राजधानीमें लौट आये ॥ १ ॥

ऋषेस्तस्य तु पुत्रोऽभूद् गवि जातो महायशाः ।
शृङ्गी नाम महातेजास्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ॥ २ ॥

उन महर्षिके शृङ्गी नामक एक महातेजस्वी पुत्र था, जिसका जन्म गायके पेटसे हुआ था । वह महान् यशस्वी, तीव्र शक्तिशाली और अत्यन्त क्रोधी था ॥ २ ॥

ब्रह्माणं समुपागम्य मुनिः पूजां चकार ह ।
सोऽनुज्ञातस्ततस्तत्र शृङ्गी शुश्राव तं तदा ॥ ३ ॥
सख्युः सकाशात् पितरं पित्रा ते धर्षितं पुरा ।
मृतं सर्पं समासक्तं स्थाणुभूतस्य तस्य तम् ॥ ४ ॥
वहन्तं राजशार्दूल स्कन्धेनानपकारिणम् ।
तपस्विनमतीवाथ तं मुनिप्रवरं नृप ॥ ५ ॥
जितेन्द्रियं विशुद्धं च स्थितं कर्मण्यथाद्भुतम् ।
तपसा द्योतितात्मानं स्वेष्वङ्गेषु यतं तदा ॥ ६ ॥
शुभाचारं शुभकथं सुस्थितं तमलोलुपम् ।
अक्षुद्रमनसूयं च वृद्धं मौनव्रते स्थितम् ।
शरण्यं सर्वभूतानां पित्रा विनिकृतं तव ॥ ७ ॥

एक दिन उसने आचार्यदेवके समीप जाकर पूजा की और उनकी आज्ञा ले वह घरको लौटा । उसी समय शृङ्गी ऋषिने अपने एक सहपाठी मित्रके मुखसे तुम्हारे पिताद्वारा अपने पिताके तिरस्कृत होनेकी बात सुनी । राजसिंह ! शृङ्गीको यह मालूम हुआ कि मेरे पिता काठकी भाँति चुपचाप बैठे थे और उनके कंधेपर मृतक साँप डाल दिया गया । वे अब भी उस सर्पको अपने कंधेपर रखे हुए हैं । यद्यपि उन्होंने कोई अपराध नहीं किया था । वे मुनिश्रेष्ठ तपस्वी, जितेन्द्रिय, विशुद्धात्मा, कर्मनिष्ठ, अद्भुत शक्तिशाली, तपस्याद्वारा कान्तिमान् शरीरवाले, अपने अङ्गोंको संयममें रखनेवाले, सदाचारी, शुभवक्ता, निश्चल भावसे स्थित, लोभरहित, क्षुद्रताशून्य (गम्भीर), दोषदृष्टिसे रहित, वृद्ध, मौनव्रतावलम्बी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको आश्रय देनेवाले थे, तो भी आपके पिता परीक्षित्ने उनका तिरस्कार किया ॥ ३–७ ॥

शशापाथ महातेजाः पितरं ते रुषान्वितः ।
ऋषेः पुत्रो महातेजा बालोऽपि स्थविरद्युतिः ॥ ८ ॥

यह सब जानकर वह बाल्यावस्थामें भी वृद्धोंका-सा तेज धारण करनेवाला महातेजस्वी ऋषिकुमार क्रोधसे आगबबूला हो उठा और उसने तुम्हारे पिताको शाप दे दिया ॥ ८ ॥

स क्षिप्रमुदकं स्पृष्ट्वा रोषादिदमुवाच ह ।
पितरं तेऽभिसंधाय तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ९ ॥
अनागसि गुरौ यो मे मृतं सर्पमवासृजत् ।
तं नागस्तक्षकः क्रुद्धस्तेजसा प्रदहिष्यति ॥१०॥
आशीविषस्तिग्मतेजा मद्वाक्यबलचोदितः ।
सप्तरात्रादितः पापं पश्य मे तपसो बलम् ॥११॥

शृङ्गी तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था । उसने शीघ्र ही हाथमें जल लेकर तुम्हारे पिताको लक्ष्य करके रोषपूर्वक यह बात कही—'जिसने मेरे निरपराध पितापर मरा साँप डाल दिया है, उस पापीको आजसे सात रातके बाद मेरी वाक्शक्तिसे प्रेरित प्रचण्ड तेजस्वी विषधर तक्षक नाग कुपित हो अपनी विषाग्निसे जला देगा । देखो, मेरी तपस्याका बल' ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र पिता यत्रास्य सोऽभवत् ।
दृष्ट्वा च पितरं तस्मै तं शापं प्रत्यवेदयत् ॥१२॥

ऐसा कहकर वह बालक उस स्थानपर गया, जहाँ उसके पिता बैठे थे । पिताको देखकर उसने राजाको शाप देनेकी बात बतायी ॥ १२ ॥

स चापि मुनिशार्दूलः प्रेषयामास ते पितुः ।
शिष्यं गौरमुखं नाम शीलवन्तं गुणान्वितम् ॥१३॥
आचख्यौ स च विश्रान्तो राज्ञः सर्वमशेषतः ।
शप्तोऽसि मम पुत्रेण यत्तो भव महीपते ॥१४॥

तब मुनिश्रेष्ठ शमीकने तुम्हारे पिताके पास अपने शिष्य

गौरमुखको भेजा, जो सुशील और गुणवान् था। उसने विश्राम कर लेनेपर राजासे सब बातें बतायीं और महर्षिका संदेश इस प्रकार सुनाया—'भूपाल! मेरे पुत्रने तुम्हें शाप दे दिया है; अतः सावधान हो जाओ ॥ १३-१४ ॥

तक्षकस्त्वां महाराज तेजसासौ दहिष्यति।
श्रुत्वा च तद् वचो घोरं पिता ते जनमेजय ॥१५॥
यत्तोऽभवत् परित्रस्तस्तक्षकात् पन्नगोत्तमात्।
ततस्तस्मिंस्तु दिवसे सप्तमे समुपस्थिते ॥१६॥
राज्ञः समीपं ब्रह्मर्षिः काश्यपो गन्तुमैच्छत।
तं ददर्शाथ नागेन्द्रस्तक्षकः काश्यपं तदा ॥१७॥

'महाराज! (सात दिनके बाद) तक्षक नाग तुम्हें अपने तेजसे जला देगा।' जनमेजय! यह भयंकर बात सुनकर तुम्हारे पिता नागश्रेष्ठ तक्षकसे अत्यन्त भयभीत हो सतत सावधान रहने लगे। तदनन्तर जब सातवाँ दिन उपस्थित हुआ, तब उस दिन ब्रह्मर्षि काश्यपने राजाके समीप जानेका विचार किया। मार्गमें नागराज तक्षकने उस समय काश्यपको देखा ॥ १५-१७ ॥

तमब्रवीत् पन्नगेन्द्रः काश्यपं त्वरितं द्विजम्।
क्व भवांस्त्वरितो याति किं च कार्यं चिकीर्षति ॥१८॥

विप्रवर काश्यप बड़ी उतावलीसे पैर बढ़ा रहे थे। उन्हें देखकर नागराजने (ब्राह्मणका वेष धारण करके) इस प्रकार पूछा—'द्विजश्रेष्ठ! आप कहाँ इतनी तीव्र गतिसे जा रहे हैं और कौन-सा कार्य करना चाहते हैं?' ॥ १८ ॥

काश्यप उवाच

यत्र राजा कुरुश्रेष्ठः परिक्षिन्नाम वै द्विज।
तक्षकेण भुजङ्गेन धक्ष्यते किल सोऽद्य वै ॥१९॥
गच्छाम्यहं तं त्वरितः सद्यः कर्तुमपज्वरम्।
मयाभिपन्नं तं चापि न सर्पो धर्षयिष्यति ॥२०॥

काश्यपने कहा—ब्रह्मन्! मैं वहाँ जाता हूँ जहाँ कुरुकुलके श्रेष्ठ राजा परीक्षित् रहते हैं। सुना है कि आज ही तक्षक नाग उन्हें डँसेगा। अतः मैं तत्काल ही उन्हें नीरोग करनेके लिये जल्दी-जल्दी वहाँ जा रहा हूँ। मेरेद्वारा सुरक्षित नरेशको वह सर्प नष्ट नहीं कर सकेगा ॥ १९-२० ॥

तक्षक उवाच

किमर्थं तं मया दष्टं संजीवयितुमिच्छसि।
अहं स तक्षको ब्रह्मन् पश्य मे वीर्यमद्भुतम् ॥२१॥
न शक्तस्त्वं मया दष्टं तं संजीवयितुं नृपम्।
इत्युक्त्वा तक्षकस्तत्र सोऽदशद् वै वनस्पतिम् ॥२२॥

तक्षकने कहा—ब्रह्मन्! मेरे डँसे हुए मनुष्यको जिलानेकी इच्छा आप कैसे रखते हैं। मैं ही वह तक्षक हूँ। मेरी अद्भुत शक्ति देखिये। मेरे डँस लेनेपर उस राजाको आप जीवित नहीं कर सकते। ऐसा कहकर तक्षकने एक वृक्षको डँस लिया ॥ २१-२२ ॥

स दष्टमात्रो नागेन भस्मीभूतोऽभवन्नगः।
काश्यपश्च ततो राजन्नजीवयत तं नगम् ॥२३॥

नागके डँसते ही वह वृक्ष जलकर भस्म हो गया। राजन्! तदनन्तर काश्यपने (अपनी मन्त्र-विद्याके बलसे) उस वृक्षको पूर्ववत् जीवित (हरा-भरा) कर दिया ॥ २३ ॥

ततस्तं लोभयामास कामं ब्रूहीति तक्षकः।
स एवमुक्तस्तं प्राह काश्यपस्तक्षकं पुनः ॥२४॥
धनलिप्सुरहं तत्र यामीत्युक्तश्च तेन सः।
तमुवाच महात्मानं तक्षकः श्लक्ष्णया गिरा ॥२५॥

अब तक्षक काश्यपको प्रलोभन देने लगा। उसने कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे माँग लो।' तक्षकके ऐसा कहनेपर काश्यपने उससे कहा—'मैं तो वहाँ धनकी इच्छासे जा रहा हूँ।' उनके ऐसा कहनेपर तक्षकने महात्मा काश्यपसे मधुर वाणीमें कहा—॥ २४-२५ ॥

यावद्धनं प्रार्थयसे राज्ञस्तस्मात् ततोऽधिकम्।
गृहाण मत्त एव त्वं संनिवर्तस्व चानघ ॥२६॥

'अनघ! तुम राजासे जितना धन पाना चाहते हो, उससे भी अधिक मुझसे ही ले लो और लौट जाओ' ॥२६॥

स एवमुक्तो नागेन काश्यपो द्विपदां वरः।
लब्ध्वा वित्तं निववृते तक्षकाद् यावदीप्सितम् ॥२७॥

तक्षक नागकी यह बात सुनकर मनुष्योंमें श्रेष्ठ काश्यप उससे इच्छानुसार धन लेकर लौट गये ॥ २७ ॥

तस्मिन् प्रतिगते विप्रे छद्मनोपेत्य तक्षकः।
तं नृपं नृपतिश्रेष्ठं पितरं धार्मिकं तव ॥२८॥
प्रासादस्थं यत्तमपि दग्धवान् विषवह्निना।
ततस्त्वं पुरुषव्याघ्र विजयायाभिषेचितः ॥२९॥

ब्राह्मणके चले जानेपर तक्षकने छलसे भूपालोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे धर्मात्मा पिता राजा परीक्षित्के पास पहुँचकर, यद्यपि वे महलमें सावधानीके साथ रहते थे, तो भी उन्हें अपनी विषाग्निसे भस्म कर दिया। नरश्रेष्ठ! तदनन्तर विजयकी प्राप्तिके लिये तुम्हारा राजाके पदपर अभिषेक किया गया ॥

एतद् दृष्टं श्रुतं चापि यथावन्नृपसत्तम।
अस्माभिर्निखिलं सर्वं कथितं तेऽतिदारुणम् ॥३०॥

नृपश्रेष्ठ! यद्यपि यह प्रसङ्ग बड़ा ही निष्ठुर और दुःखदायक है, तथापि तुम्हारे पूछनेसे हमने सब बातें तुमसे कही हैं। यह सब कुछ हमने अपनी आँखों देखा और कानोंसे भी ठीक-ठीक सुना है ॥ ३० ॥

श्रुत्वा चैनं नरश्रेष्ठ पार्थिवस्य पराभवम्।
अस्य चर्षेरुतङ्कस्य विधत्स्व यदनन्तरम् ॥३१॥

महाराज ! इस प्रकार तक्षकने तुम्हारे पिता राजा परीक्षित्‌का तिरस्कार किया है । इन महर्षि उत्तङ्कको भी उसने बहुत तंग किया है । यह सब तुमने सुन लिया, अब तुम जैसा उचित समझो, करो ॥ ३१ ॥

सौतिरुवाच

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा जनमेजयः ।
उवाच मन्त्रिणः सर्वानिदं वाक्यमरिन्दमः ॥३२॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! उस समय शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा जनमेजय अपने सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले ॥ ३२ ॥

जनमेजय उवाच

अथ तत् कथितं केन यद् वृत्तं तद् वनस्पतौ ।
आश्चर्यभूतं लोकस्य भस्मराशीकृतं तदा ॥३३॥
यद् वृक्षं जीवयामास काश्यपस्तक्षकेण वै ।
नूनं मन्त्रैर्हतविषो न प्रणश्येत काश्यपात् ॥३४॥

जनमेजयने कहा—उस वृक्षके डँसे जाने और फिर हरे होनेकी बात आपलोगोंसे किसने कही ? उस समय तक्षकके काटनेसे जो वृक्ष राखका ढेर बन गया था, उसे काश्यपने पुनः जिलाकर हरा-भरा कर दिया । यह सब लोगोंके लिये बड़े आश्चर्यकी बात है । यदि काश्यपके आ जानेसे उनके मन्त्रोंद्वारा तक्षकका विष नष्ट कर दिया जाता तो निश्चय ही मेरे पिताजी बच जाते ॥ ३३-३४ ॥

चिन्तयामास पापात्मा मनसा पन्नगाधमः ।
दष्टं यदि मया विप्रः पार्थिवं जीवयिष्यति ॥३५॥
तक्षकः संहतविषो लोके यास्यति हास्यताम् ।
विचिन्त्यैवं कृता तेन ध्रुवं तुष्टिर्द्विजस्य वै ॥३६॥

परंतु उस पापात्मा नीच सर्पने अपने मनमें यह सोचा होगा—'यदि मेरे डँसे हुए राजाको ब्राह्मण जिला देंगे तो लोग कहेंगे कि तक्षकका विष भी नष्ट हो गया । इस प्रकार तक्षक लोकमें उपहासका पात्र बन जायगा ।' अवश्य ही ऐसा सोचकर उसने ब्राह्मणको धनके द्वारा संतुष्ट किया था ॥ ३५-३६ ॥

भविष्यति ह्युपायेन यस्य दास्यामि यातनाम् ।
एकं तु श्रोतुमिच्छामि तद् वृत्तं निर्जने वने ॥३७॥
संवादं पन्नगेन्द्रस्य काश्यपस्य च कस्तदा ।
श्रुतवान् दृष्टवांश्चापि भवत्सु कथमागतम् ।
श्रुत्वा तस्य विधास्येऽहं पन्नगान्तकरीं मतिम् ॥३८॥

अच्छा, भविष्यमें प्रयत्नपूर्वक कोई-न-कोई उपाय करके तक्षकको इसके लिये दण्ड दूँगा । परंतु एक बात मैं सुनना चाहता हूँ । नागराज तक्षक और काश्यप ब्राह्मणका वह संवाद तो निर्जन वनमें हुआ होगा । यह सब वृत्तान्त किसने देखा और सुना था ? आपलोगोंतक यह बात कैसे आयी ? यह सब सुनकर मैं सर्पोंके नाशका विचार करूँगा ॥ ३७-३८ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

शृणु राजन् यथास्माकं येन तत् कथितं पुरा ।
समागतं द्विजेन्द्रस्य पन्नगेन्द्रस्य चाध्वनि ॥३९॥
तस्मिन् वृक्षे नरः कश्चिदिन्धनार्थाय पार्थिव ।
विचिन्वन् पूर्वमारूढः शुष्कशाखां वनस्पतौ ॥४०॥

मन्त्री बोले—राजन् ! सुनो, विप्रवर काश्यप और नागराज तक्षकका मार्गमें एक-दूसरेके साथ जो समागम हुआ था, उसका समाचार जिसने और जिस प्रकार हमारे सामने बताया था, उसका वर्णन करते हैं । भूपाल ! उस वृक्षपर पहलेसे ही कोई मनुष्य लकड़ी लेनेके लिये सूखी डाली खोजता हुआ चढ़ गया था ॥ ३९-४० ॥

न बुध्येतामुभौ तौ च नगस्थं पन्नगद्विजौ ।
सह तेनैव वृक्षेण भस्मीभूतोऽभवन्नृप ॥४१॥

तक्षक नाग और ब्राह्मण—दोनों ही नहीं जानते थे कि इस वृक्षपर कोई दूसरा मनुष्य भी है । राजन् ! तक्षकके काटनेपर उस वृक्षके साथ ही वह मनुष्य भी जलकर भस्म हो गया था ॥ ४१ ॥

द्विजप्रभावाद् राजेन्द्र व्यजीवत् सवनस्पतिः ।
तेनागम्य नरश्रेष्ठ पुंसास्मासु निवेदितम् ॥४२॥

परंतु राजेन्द्र ! ब्राह्मणके प्रभावसे वह भी उस वृक्षके साथ जी उठा । नरश्रेष्ठ ! उसी मनुष्यने आकर हमलोगोंसे तक्षक और ब्राह्मणकी जो घटना थी, वह सुनायी ॥ ४२ ॥

यथावृत्तं तु तत् सर्वं तक्षकस्य द्विजस्य च ।
एतत् ते कथितं राजन् यथा दृष्टं श्रुतं च यत् ।
श्रुत्वा च नृपशार्दूल विधत्स्व यदनन्तरम् ॥४३॥

राजन् ! इस प्रकार हमने जो कुछ सुना और देखा है, वह सब तुम्हें कह सुनाया । भूपाल-शिरोमणे ! यह सुनकर अब तुम्हें जैसा उचित जान पड़े, वह करो ॥ ४३ ॥

सौतिरुवाच

मन्त्रिणां तु वचः श्रुत्वा स राजा जनमेजयः ।
पर्यतप्यत दुःखार्तः प्रत्यपिंषत् करं करे ॥४४॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—मन्त्रियोंकी बात सुनकर राजा जनमेजय दुःखसे आतुर हो संतप्त हो उठे और कुपित होकर हाथसे हाथ मलने लगे ॥ ४४ ॥

निःश्वासमुष्णमसकृद् दीर्घं राजीवलोचनः ।
मुमोचाश्रूणि च तदा नेत्राभ्यां प्ररुदन् नृपः ॥४५॥

वे बारम्बार लम्बी और गरम साँस छोड़ने लगे। कमलके

समान नेत्रोंवाले राजा जनमेजय उस समय नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ४५ ॥

उवाच च महीपालो दुःखशोकसमन्वितः।
दुर्धरं बाष्पमुत्सृज्य स्पृष्ट्वा चापो यथाविधि ॥४६॥
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा निश्चित्य मनसा नृपः।
अमर्षी मन्त्रिणः सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ॥४७॥

राजाने दो घड़ीतक ध्यान करके मन-ही-मन कुछ निश्चय किया, फिर दुःख-शोक और अमर्षमें डूबे हुए नरेश न थमनेवाले आँसुओंकी अविच्छिन्न धारा बहाते हुए विधिपूर्वक जलका स्पर्श करके सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले ॥ ४६-४७ ॥

जनमेजय उवाच

श्रुत्वैतद् भवतां वाक्यं पितुर्मे स्वर्गतिं प्रति।
निश्चितेयं मम मतिर्या च तां मे निबोधत।
अनन्तरं च मन्येऽहं तक्षकाय दुरात्मने ॥४८॥
प्रतिकर्तव्यमित्येवं येन मे हिंसितः पिता।
शृङ्गिणं हेतुमात्रं यः कृत्वा दग्ध्वा च पार्थिवम् ॥४९॥

जनमेजयने कहा—मन्त्रियो ! मेरे पिताके स्वर्गलोक-गमनके विषयमें आपलोगोंका यह वचन सुनकर मैंने अपनी बुद्धिद्वारा जो कर्तव्य निश्चित किया है, उसे आप सुन लें। मेरा विचार है, उस दुरात्मा तक्षकसे तुरंत बदला लेना चाहिये जिसने शृङ्गी ऋषिको निमित्तमात्र बनाकर स्वयं ही मेरे पिता महाराजको अपनी विषाग्निसे दग्ध करके मारा है ॥ ४८-४९ ॥

इयं दुरात्मता तस्य काश्यपं यो न्यवर्तयत्।
यदाऽऽगच्छेत् स वै विप्रो ननु जीवेत् पिता मम ॥५०॥

उसकी सबसे बड़ी दुष्टता यह है कि उसने काश्यपको लौटा दिया। यदि वे ब्राह्मणदेवता आ जाते तो मेरे पिता निश्चय ही जीवित हो सकते थे ॥ ५० ॥

परिहीयेत किं तस्य यदि जीवेत् स पार्थिवः।
काश्यपस्य प्रसादेन मन्त्रिणां विनयेन च ॥५१॥

यदि मन्त्रियोंके विनय और काश्यपके कृपाप्रसादसे महाराज जीवित हो जाते तो इसमें उस दुष्टकी क्या हानि हो जाती ?॥५१॥

स तु वारितवान् मोहात् काश्यपं द्विजसत्तमम्।
संजिजीवयिषुं प्राप्तं राजानमपराजितम् ॥५२॥

जो कहीं भी परास्त न होते थे, ऐसे मेरे पिता राजा परीक्षित्-को जीवित करनेकी इच्छासे द्विजश्रेष्ठ काश्यप आ पहुँचे थे, किंतु तक्षकने मोहवश उन्हें रोक दिया ॥ ५२ ॥

महानतिक्रमो ह्येष तक्षकस्य दुरात्मनः।
द्विजस्य योऽददद् द्रव्यं मा नृपं जीवयेदिति ॥५३॥

दुरात्मा तक्षकका यह सबसे बड़ा अपराध है कि उसने ब्राह्मणदेवको इसलिये धन दिया कि वे महाराजको जिला न दें॥

उत्तङ्कस्य प्रियं कर्तुमात्मनश्च महत् प्रियम्।
भवतां चैव सर्वेषां गच्छाम्यपचितिं पितुः ॥५४॥

इसलिये मैं महर्षि उत्तङ्कका, अपना तथा आप सब लोगोंका अत्यन्त प्रिय करनेके लिये पिताके वैरका अवश्य बदला लूँगा ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि पारिक्षिन्मन्त्रिसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें जनमेजय और मन्त्रियोंका संवाद-विषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

जनमेजयके सर्पयज्ञका उपक्रम

सौतिरुवाच

एवमुक्त्वा ततः श्रीमान् मन्त्रिभिश्चानुमोदितः।
आरुरोह प्रतिज्ञां स सर्पसत्राय पार्थिवः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! श्रीमान् राजा जनमेजय-ने जब ऐसा कहा, तब उनके मन्त्रियोंने भी उस बातका समर्थन किया। तत्पश्चात् राजा सर्पयज्ञ करनेकी प्रतिज्ञापर आरूढ़ हो गये ॥ १ ॥

ब्रह्मन् भरतशार्दूलो राजा पारिक्षितस्तदा।
पुरोहितमथाहूय ऋत्विजो वसुधाधिपः ॥ २ ॥
अब्रवीद् वाक्यसम्पन्नः कार्यसम्पत्करं वचः।

ब्रह्मन् ! सम्पूर्ण वसुधाके स्वामी भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ परीक्षित्कुमार राजा जनमेजयने उस समय पुरोहित तथा ऋत्विजोंको बुलाकर कार्य सिद्ध करनेवाली बात कही—॥ २½ ॥

यो मे हिंसितवांस्तातं तक्षकः स दुरात्मवान् ॥ ३ ॥
प्रतिकुर्यां तथा तस्य तद् भवन्तो ब्रुवन्तु मे।
अपि तत् कर्म विदितं भवतां येन पन्नगम् ॥ ४ ॥
तक्षकं सम्प्रदीप्तेऽग्नौ प्रक्षिपेयं सबान्धवम्।
यथा तेन पिता मह्यं पूर्वं दग्धो विषाग्निना।
तथाहमपि तं पापं दग्धुमिच्छामि पन्नगम् ॥ ५ ॥

'ब्राह्मणो ! जिस दुरात्मा तक्षकने मेरे पिताकी हत्या की है, उससे मैं उसी प्रकारका बदला लेना चाहता हूँ। इसके लिये मुझे क्या करना चाहिये, यह आपलोग बतावें। क्या आपलोगों-

को ऐसा कोई कर्म विदित है जिसके द्वारा मैं तक्षक नागको उसके बन्धु-बान्धवोंसहित जलती हुई आगमें झोंक सकूँ ? उसने अपनी विषाग्निसे पूर्वकालमें मेरे पिताको जिस प्रकार दग्ध किया था, उसी प्रकार मैं भी उस पापी सर्पको जलाकर भस्म कर देना चाहता हूँ' ॥ ३—५ ॥

ऋत्विज ऊचुः

अस्ति राजन् महत् सत्रं त्वदर्थं देवनिर्मितम् ।
सर्पसत्रमिति ख्यातं पुराणे परिपठ्यते ॥ ६ ॥

ऋत्विजोंने कहा—राजन् ! इसके लिये एक महान् यज्ञ है, जिसका देवताओंने आपके लिये पहलेसे ही निर्माण कर रक्खा है । उसका नाम है सर्पसत्र । पुराणोंमें उसका वर्णन आया है ॥

आहर्ता तस्य सत्रस्य त्वन्नान्योऽस्ति नराधिप ।
इति पौराणिकाः प्राहुरस्माकं चास्ति स क्रतुः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! उस यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है—ऐसा पौराणिक विद्वान् कहते हैं । उस यज्ञका विधान हमलोगोंको मालूम है ॥ ७ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिर्मेने दग्धं हि तक्षकम् ।
हुताशनमुखे दीप्ते प्रविष्टमिति सत्तम ॥ ८ ॥

साधुशिरोमणे ! ऋत्विजोंके ऐसा कहनेपर राजर्षि जनमेजय-को विश्वास हो गया कि अब तक्षक निश्चय ही प्रज्वलित अग्निके मुखमें समाकर भस्म हो जायगा ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्मन्त्रविदस्तान् राजा ब्राह्मणांस्तदा ।
आहरिष्यामि तत् सत्रं सम्भाराः सम्भ्रियन्तु मे ॥ ९ ॥

तब राजाने उस समय उन मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे कहा—'मैं उस यज्ञका अनुष्ठान करूँगा । आपलोग उसके लिये आवश्यक सामग्री संग्रह कीजिये' ॥ ९ ॥

ततस्ते ऋत्विजस्तस्य शास्त्रतो द्विजसत्तम ।
तं देशं मापयामासुर्यज्ञायतनकारणात् ॥ १० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! तब उन ऋत्विजोंने शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञमण्डप बनानेके लिये वहाँकी भूमि नाप ली ॥ १० ॥

यथावद् वेदविद्वांसः सर्वे बुद्धेः परं गताः ।
ऋद्ध्या परमया युक्तमिष्टं द्विजगणैर्युतम् ॥ ११ ॥
प्रभूतधनधान्याढ्यमृत्विग्भिः सुनिषेवितम् ।
निर्माय चापि विधिवद् यज्ञायतनमीप्सितम् ॥ १२ ॥
राजानं दीक्षयामासुः सर्पसत्राप्तये तदा ।
इदं चासीत् तत्र पूर्वं सर्पसत्रे भविष्यति ॥ १३ ॥

वे सभी ऋत्विज वेदोंके यथावत् विद्वान् तथा परम बुद्धिमान् थे । उन्होंने विधिपूर्वक मनके अनुरूप एक यज्ञ-मण्डप बनाया, जो परम समृद्धिसे सम्पन्न, उत्तम द्विजोंके समुदायसे सुशोभित, प्रचुर धनधान्यसे परिपूर्ण तथा ऋत्विजोंसे सुसेवित था । उस यज्ञमण्डपका निर्माण कराकर ऋत्विजोंने सर्पयज्ञकी सिद्धिके लिये उस समय राजा जनमेजयको दीक्षा दी । इसी समय जब कि सर्पसत्र अभी प्रारम्भ होनेवाला था, वहाँ पहले ही यह घटना घटित हुई ॥ ११—१३ ॥

निमित्तं महदुत्पन्नं यज्ञविघ्नकरं तदा ।
यज्ञस्यायतने तस्मिन् क्रियमाणे वचोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥
स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः ।
इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तदा ॥ १५ ॥

उस यज्ञमें विघ्न डालनेवाला बहुत बड़ा कारण प्रकट हो गया । जब वह यज्ञमण्डप बनाया जा रहा था, उस समय वास्तुशास्त्रके पारङ्गत विद्वान्, बुद्धिमान् एवं अनुभवी सूत्रधार शिल्पवेत्ता सूतने वहाँ आकर कहा—॥ १४-१५ ॥

यस्मिन् देशे च काले च मापनेयं प्रवर्तिता ।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतुः ॥ १६ ॥

'जिस स्थान और समयमें यह यज्ञमण्डप मापनेकी क्रिया प्रारम्भ हुई है, उसे देखकर यह मालूम होता है कि एक ब्राह्मणको निमित्त बनाकर यह यज्ञ पूर्ण न हो सकेगा' ॥ १६ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु राजासौ प्राग्दीक्षाकालमब्रवीत् ।
क्षत्तारं न हि मे कश्चिदज्ञातः प्रविशेदिति ॥ १७ ॥

यह सुनकर राजा जनमेजयने दीक्षा लेनेसे पहले ही सेवकको यह आदेश दे दिया—'मुझे सूचित किये बिना किसी अपरिचित व्यक्तिको यज्ञमण्डपमें प्रवेश न करने दिया जाय' ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रोपक्रमसम्बन्धी इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पसत्रका आरम्भ और उसमें सर्पोंका विनाश

सौतिरुवाच

ततः कर्म प्रववृते सर्पसत्रविधानतः ।
पर्यक्रामंश्च विधिवत् स्वे स्वे कर्मणि याजकाः ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! तदनन्तर सर्प-यज्ञकी विधिसे कार्य प्रारम्भ हुआ । सब याजक विधिपूर्वक अपने-अपने कर्ममें संलग्न हो गये ॥ १ ॥

प्रावृत्य कृष्णवासांसि धूम्रसंरक्तलोचनाः।
जुहुवुर्मन्त्रवच्चैव समिद्धं जातवेदसम् ॥ २ ॥

सबकी आँखें धूएँसे लाल हो रही थीं। वे सभी ऋत्विज काले वस्त्र पहनकर मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें होम करने लगे ॥ २ ॥

कम्पयन्तश्च सर्वेषामुरगाणां मनांसि च।
सर्पानाजुहुवुस्तत्र सर्वानग्निमुखे तदा ॥ ३ ॥

वे समस्त सर्पोंके हृदयमें कँपकँपी पैदा करते हुए उनके नाम ले-लेकर उन सबका वहाँ आगके मुखमें होम करने लगे ॥

ततः सर्पाः समापेतुः प्रदीप्ते हव्यवाहने।
विचेष्टमानाः कृपणमाह्वयन्तः परस्परम् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् सर्पगण तड़फड़ाते और दीनस्वरमें एक-दूसरेको पुकारते हुए प्रज्वलित अग्निमें टपाटप गिरने लगे ॥ ४ ॥

विस्फुरन्तः श्वसन्तश्च वेष्टयन्तः परस्परम्।
पुच्छैः शिरोभिश्च भृशं चित्रभानुं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥

वे उछलते, लम्बी साँसें लेते, पूँछ और फनोंसे एक-दूसरेको लपेटते हुए धधकती आगके भीतर अधिकाधिक संख्यामें गिरने लगे ॥ ५ ॥

श्वेताः कृष्णाश्च नीलाश्च स्थविराः शिशवस्तथा।
नदन्तो विविधान् नादान् पेतुर्दीप्ते विभावसौ ॥ ६ ॥

सफेद, काले, नीले, बूढ़े और बच्चे सभी प्रकारके सर्प विविध प्रकारसे चीत्कार करते हुए जलती आगमें विवश होकर गिर रहे थे ॥ ६ ॥

क्रोशयोजनमात्रा हि गोकर्णस्य प्रमाणतः।
पतन्त्यजस्रं वेगेन वह्नावग्निमतां वर ॥ ७ ॥

कोई एक कोस लम्बे थे, तो कोई चार कोस और किन्हीं-किन्हींकी लम्बाई तो केवल गायके कानके बराबर थी। अग्निहोत्रियोंमें श्रेष्ठ शौनक! वे छोटे-बड़े सभी सर्प बड़े वेगसे आगकी ज्वालामें निरन्तर आहुति बन रहे थे ॥ ७ ॥

एवं शतसहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
अवशानि विनष्टानि पन्नगानां तु तत्र वै ॥ ८ ॥

इस प्रकार लाखों, करोड़ों तथा अरबों सर्प वहाँ विवश होकर नष्ट हो गये ॥ ८ ॥

तुरगा इव तत्रान्ये हस्तिहस्ता इवापरे।
मत्ता इव च मातङ्गा महाकाया महाबलाः ॥ ९ ॥

कुछ सर्पोंकी आकृति घोड़ोंके समान थी और कुछकी हाथीकी सूँडके सदृश। कितने ही विशालकाय महाबली नाग मतवाले गजराजोंको मात कर रहे थे ॥ ९ ॥

उच्चावचाश्च बहवो नानावर्णा विषोल्बणाः।
घोराश्च परिघप्रख्या दन्दशूका महाबलाः।
प्रपेतुरग्नावुरगा मातृवाग्दण्डपीडिताः ॥ १० ॥

भयंकर विषवाले छोटे-बड़े अनेक रंगके बहुसंख्यक सर्प, जो देखनेमें भयानक, परिघके समान मोटे, अकारण ही डँस लेनेवाले और अत्यन्त शक्तिशाली थे, अपनी माताके शापसे पीड़ित होकर स्वयं ही आगमें पड़ रहे थे ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रोपक्रमे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रोपक्रम-विषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पयज्ञके ऋत्विजोंकी नामावली, सर्पोंका भयंकर विनाश, तक्षकका इन्द्रकी शरणमें जाना तथा वासुकिका अपनी बहिनसे आस्तीकको यज्ञमें भेजनेके लिये कहना

शौनक उवाच

सर्पसत्रे तदा राज्ञः पाण्डवेयस्य धीमतः।
जनमेजयस्य के त्वासन्नृत्विजः परमर्षयः ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन! पाण्डववंशी बुद्धिमान् राजा जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें कौन-कौनसे महर्षि ऋत्विज बने थे? ॥ १ ॥

के सदस्या बभूवुश्च सर्पसत्रे सुदारुणे।
विषादजननेऽत्यर्थं पन्नगानां महाभये ॥ २ ॥

उस अत्यन्त भयंकर सर्पसत्रमें, जो सर्पोंके लिये महान् भयदायक और विषादजनक था, कौन-कौनसे मुनि सदस्य हुए थे? ॥ २ ॥

सर्वं विस्तरशस्तात भवाञ्छंसितुमर्हति।
सर्पसत्रविधानज्ञविज्ञेयाः के च सूतज ॥ ३ ॥

तात! ये सब बातें आप विस्तारपूर्वक बताइये। सूतपुत्र! यह भी सूचित कीजिये कि सर्पसत्रकी विधिको जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ समझे जानेयोग्य कौन-कौनसे महर्षि वहाँ उपस्थित थे ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नामानीह मनीषिणाम्।
ये ऋत्विजः सदस्याश्च तस्यासन् नृपतेस्तदा ॥ ४ ॥
तत्र होता बभूवाथ ब्राह्मणश्चण्डभार्गवः।
च्यवनस्यान्वये ख्यातो जातो वेदविदां वरः ॥ ५ ॥

उद्गाता ब्राह्मणो वृद्धो विद्वान् कौत्सोऽथ जैमिनिः ।
ब्रह्माभवच्छार्ङ्गरवोऽथाध्वर्युश्चापि पिङ्गलः ॥ ६ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनकजी! मैं आपको उन मनीषी महात्माओंके नाम बता रहा हूँ, जो उस समय राजा जनमेजयके ऋत्विज और सदस्य थे। उस यज्ञमें वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण चण्डभार्गव होता थे। उनका जन्म च्यवन मुनिके वंशमें हुआ था। वे उस समयके विख्यात कर्मकाण्डी थे। वृद्ध एवं विद्वान् ब्राह्मण कौत्स उद्गाता, जैमिनि ब्रह्मा तथा शार्ङ्गरव और पिङ्गल अध्वर्यु थे ॥ ४—६ ॥

सदस्यश्चाभवद् व्यासः पुत्रशिष्यसहायवान् ।
उद्दालकः प्रमतकः श्वेतकेतुश्च पिङ्गलः ॥ ७ ॥
असितो देवलश्चैव नारदः पर्वतस्तथा ।
आत्रेयः कुण्डजठरौ द्विजः कालघटस्तथा ॥ ८ ॥
वात्स्यः श्रुतश्रवा वृद्धो जपस्वाध्यायशीलवान् ।
कोहलो देवशर्मा च मौद्गल्यः समसौरभः ॥ ९ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
सदस्याश्चाभवंस्तत्र सत्रे पारीक्षितस्य ह ॥१०॥

इसी प्रकार पुत्र और शिष्योंसहित भगवान् वेदव्यास, उद्दालक, प्रमतक, श्वेतकेतु, पिङ्गल, असित, देवल, नारद, पर्वत, आत्रेय, कुण्ड, जठर, द्विजश्रेष्ठ कालघट, वात्स्य, जप और स्वाध्यायमें लगे रहनेवाले बूढ़े श्रुतश्रवा, कोहल, देवशर्मा, मौद्गल्य तथा समसौरभ—ये और अन्य बहुत-से वेदविद्याके पारङ्गत ब्राह्मण जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें सदस्य बने थे ॥ ७–१० ॥

जुह्वत्स्वृत्विक्ष्वथ तदा सर्पसत्रे महाक्रतौ ।
अहयः प्रापतंस्तत्र घोराः प्राणिभयावहाः ॥११॥

उस समय उस महान् यज्ञ सर्पसत्रमें ज्यों-ज्यों ऋत्विज लोग आहुतियाँ डालते, त्यों-त्यों प्राणिमात्रको भय देनेवाले घोर सर्प वहाँ आ-आकर गिरते थे ॥ ११ ॥

वसामेदोवहाः कुल्या नागानां सम्प्रवर्तिताः ।
ववौ गन्धश्च तुमुलो दह्यतामनिशं तदा ॥१२॥

नागोंकी चर्बी और मेदसे भरे हुए कितने ही नाले बह चले। निरन्तर जलनेवाले सर्पोंकी तीखी दुर्गन्ध चारों ओर फैल रही थी ॥ १२ ॥

पततां चैव नागानां धिष्ठितानां तथाम्बरे ।
अश्रूयतानिशं शब्दः पच्यतां चाग्निना भृशम् ॥१३॥

जो आगमें पड़ रहे थे, जो आकाशमें ठहरे हुए थे और जो जलती हुई आगकी ज्वालामें पक रहे थे, उन सभी सर्पोंका करुण क्रन्दन निरन्तर जोर-जोरसे सुनायी पड़ता था ॥ १३ ॥

तक्षकस्तु स नागेन्द्रः पुरन्दरनिवेशनम् ।
गतः श्रुत्वैव राजानं दीक्षितं जनमेजयम् ॥१४॥

नागराज तक्षकने जब सुना कि राजा जनमेजयने सर्पयज्ञकी दीक्षा ली है, तब उसे सुनते ही वह देवराज इन्द्रके भवनमें चला गया ॥ १४ ॥

ततः सर्वं यथावृत्तमाख्याय भुजगोत्तमः ।
अगच्छच्छरणं भीत आगः कृत्वा पुरन्दरम् ॥१५॥

वहाँ उसने सब बातें ठीक-ठीक कह सुनायीं। फिर सर्पोंमें श्रेष्ठ तक्षकने अपराध करनेके कारण भयभीत हो इन्द्रदेवकी शरण ली ॥ १५ ॥

तमिन्द्रः प्राह सुप्रीतो न तवास्तीह तक्षक ।
भयं नागेन्द्र तस्माद् वै सर्पसत्रात् कदाचन ॥१६॥

तब इन्द्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—'नागराज तक्षक! तुम्हें यहाँ उस सर्पयज्ञसे कदापि कोई भय नहीं है ॥१६॥

प्रसादितो मया पूर्वं तवार्थाय पितामहः ।
तस्मात् तव भयं नास्ति व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥१७॥

'तुम्हारे लिये मैंने पहलेसे ही पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न कर लिया है, अतः तुम्हें कुछ भी भय नहीं है। तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये' ॥ १७ ॥

सौतिरुवाच

एवमाश्वासितस्तेन ततः स भुजगोत्तमः ।
उवास भवने तस्मिञ्छक्रस्य मुदितः सुखी ॥१८॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—इन्द्रके इस प्रकार आश्वासन देनेपर सर्पोंमें श्रेष्ठ तक्षक उस इन्द्रभवनमें ही सुखी एवं प्रसन्न होकर रहने लगा ॥ १८ ॥

अजस्रं निपतत्स्वग्नौ नागेषु भृशदुःखितः ।
अल्पशेषपरीवारो वासुकिः पर्यतप्यत ॥१९॥

नाग निरन्तर उस यज्ञकी आगमें आहुति बनते जा रहे थे। सर्पोंका परिवार अब बहुत थोड़ा बच गया था। यह देख वासुकि नाग अत्यन्त दुखी हो मन-ही-मन संतप्त होने लगे ॥

कश्मलं चाविशद् घोरं वासुकिं पन्नगोत्तमम् ।
स घूर्णमानहृदयो भगिनीमिदमब्रवीत् ॥२०॥

सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकिपर भयानक मोह-सा छा गया, उनके हृदयमें चक्कर आने लगा। अतः वे अपनी बहिनसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

दह्यन्त्यङ्गानि मे भद्रे न दिशः प्रतिभान्ति च ।
सीदामीव च सम्मोहात् घूर्णतीव च मे मनः ॥२१॥
दृष्टिर्भ्राम्यति मेऽतीव हृदयं दीर्यतीव च ।
पतिष्याम्यवशोऽद्याहं तस्मिन् दीप्ते विभावसौ ॥२२॥

'भद्रे! मेरे अङ्गोंमें जलन हो रही है। मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं। मैं शिथिल-सा हो रहा हूँ और मोहवश मेरे मस्तिष्कमें चक्कर-सा आ रहा है, मेरे नेत्र घूम रहे हैं,

हृदय अत्यन्त विदीर्ण-सा होता जा रहा है। जान पड़ता है, आज मैं भी विवश होकर उस यज्ञकी प्रज्वलित अग्निमें गिर पड़ूँगा ॥ २१-२२ ॥

पारिक्षितस्य यज्ञोऽसौ वर्ततेऽस्मज्जिघांसया।
व्यक्तं मयापि गन्तव्यं प्रेतराजनिवेशनम् ॥२३॥

'जनमेजयका वह यज्ञ हमलोगोंकी हिंसाके लिये ही हो रहा है। निश्चय ही अब मुझे भी यमलोक जाना पड़ेगा ॥ २३ ॥

अयं स कालः सम्प्राप्तो यदर्थमसि मे स्वसः।
जरत्कारौ मया दत्ता त्रायस्वास्मान् सबान्धवान् ॥२४॥

'बहिन! जिसके लिये मैंने तुम्हारा विवाह जरत्कारु मुनिसे किया था, उसका यह अवसर आ गया है। तुम बान्धवोंसहित हमारी रक्षा करो ॥ २४ ॥

आस्तीकः किल यज्ञं तं वर्तन्तं भुजगोत्तमे।
प्रतिषेत्स्यति मां पूर्वं स्वयमाह पितामहः ॥२५॥

'श्रेष्ठ नागकन्ये! पूर्वकालमें साक्षात् ब्रह्माजीने मुझसे कहा था—'आस्तीक उस यज्ञको बंद कर देगा' ॥ २५ ॥

तद् वत्से ब्रूहि वत्सं स्वं कुमारं वृद्धसम्मतम्।
ममाद्य त्वं सभृत्यस्य मोक्षार्थं वेदवित्तमम् ॥२६॥

'अतः वत्से! आज तुम बन्धु-बान्धवोंसहित मेरे जीवनको संकटसे छुड़ानेके लिये वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र कुमार आस्तीकसे कहो। वह बालक होनेपर भी वृद्ध पुरुषोंके लिये भी आदरणीय है' ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे वासुकिवाक्ये त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रके विषयमें वासुकिवचन-सम्बन्धी तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥५३॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

माताकी आज्ञासे मामाको सान्त्वना देकर आस्तीकका सर्पयज्ञमें जाना

सौतिरुवाच

तत आहूय पुत्रं स्वं जरत्कारुर्भुजङ्गमा।
वासुकेर्नागराजस्य वचनादिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तब नागकन्या जरत्कारु नागराज वासुकिके कथनानुसार अपने पुत्रको बुलाकर इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

अहं तव पितुः पुत्र भ्रात्रा दत्ता निमित्ततः।
कालः स चायं सम्प्राप्तस्तत् कुरुष्व यथातथम् ॥ २ ॥

'बेटा! मेरे भैयाने एक निमित्तको लेकर तुम्हारे पिताके साथ मेरा विवाह किया था। उसकी पूर्तिका यही उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ है। अतः तुम यथावत्‌रूपसे उस उद्देश्यकी पूर्ति करो' ॥ २ ॥

आस्तीक उवाच

किं निमित्तं मम पितुर्दत्ता त्वं मातुलेन मे।
तन्ममाचक्ष्व तत्त्वेन श्रुत्वा कर्तास्मि तत् तथा ॥ ३ ॥

आस्तीकने पूछा—मा! मामाजीने किस निमित्तको लेकर पिताजीके साथ तुम्हारा विवाह किया था? वह मुझे ठीक-ठीक बताओ। उसे सुनकर मैं उसकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करूँगा॥

सौतिरुवाच

तत आचष्ट सा तस्मै बान्धवानां हितैषिणी।
भगिनी नागराजस्य जरत्कारुरविक्लवा ॥ ४ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर अपने भाई-बन्धुओंका हित चाहनेवाली नागराजकी बहिन जरत्कारु शान्तचित्त हो आस्तीकसे बोली ॥ ४ ॥

जरत्कारुरुवाच

पन्नगानामशेषाणां माता कद्रूरिति श्रुता।
तया शप्ता रुषितया सुता यस्मान्निबोध तत् ॥ ५ ॥

जरत्कारुने कहा—वत्स! सम्पूर्ण नागोंकी माता कद्रू नामसे विख्यात हैं। उन्होंने किसी समय रुष्ट होकर अपने पुत्रोंको शाप दे दिया था। जिस कारणसे वह शाप दिया, वह बताती हूँ, सुनो ॥ ५ ॥

उच्चैःश्रवाः सोऽश्वराजो यन्मिथ्या न कृतो मम।
विनतार्थाय पणिते दासीभावाय पुत्रकाः ॥ ६ ॥
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः।
तत्र पञ्चत्वमापन्नाः प्रेतलोकं गमिष्यथ ॥ ७ ॥

(अश्वोंका राजा जो उच्चैःश्रवा है, उसके रंगको लेकर विनताके साथ कद्रूने बाजी लगायी थी। उसमें यह शर्त थी 'जो हारे वह जीतनेवालीकी दासी बने'। कद्रू उच्चैःश्रवाकी पूँछ काली बता चुकी थी। अतः उसने अपने पुत्रोंसे कहा—'तुम लोग छलपूर्वक उस घोड़ेकी पूँछ काले रंगकी कर दो।' सर्प इससे संहमत न हुए। तब उन्होंने सर्पोंको शाप देते हुए कहा—) 'पुत्रो! तुमलोगोंने मेरे कहनेसे अश्वराज उच्चैःश्रवाकी पूँछका रंग न बदल कर विनताके साथ जो मेरी दासी होनेकी शर्त थी, उसमें—उस घोड़ेके सम्बन्धमें विनताके कथनको मिथ्या नहीं कर दिखाया, इसलिये जनमेजयके यज्ञमें तुमलोगोंको आग जलाकर भस्म कर देगी और तुम सभी मरकर प्रेतलोकको चले जाओगे' ॥ ६-७ ॥

तां च शप्तवतीं देवः साक्षाल्लोकपितामहः।
एवमस्त्विति तद्वाक्यं प्रोवाचानुमुमोद च ॥ ८ ॥

कद्रूने जब इस प्रकार शाप दे दिया, तब साक्षात् लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने 'एवमस्तु' कहकर उनके वचनका अनुमोदन किया ॥ ८ ॥

वासुकिश्चापि तच्छ्रुत्वा पितामहवचस्तदा।
अमृते मथिते तात देवाञ्छरणमीयिवान् ॥ ९ ॥

तात ! मेरे भाई वासुकिने भी उस समय पितामहकी बात सुनी थी। फिर अमृत-मन्थनका कार्य हो जानेपर वे देवताओंकी शरणमें गये ॥ ९ ॥

सिद्धार्थाश्च सुराः सर्वे प्राप्यामृतमनुत्तमम्।
भ्रातरं मे पुरस्कृत्य पितामहमुपागमन् ॥ १० ॥
ते तं प्रसादयामासुः सुराः सर्वेऽब्जसम्भवम्।
राज्ञा वासुकिना सार्धं शापोऽसौ न भवेदिति ॥ ११ ॥

देवतालोग मेरे भाईकी सहायतासे उत्तम अमृत पाकर अपना मनोरथ सिद्ध कर चुके थे। अतः वे मेरे भाईको आगे करके पितामह ब्रह्माजीके पास गये। वहाँ समस्त देवताओंने नागराज वासुकिके साथ रहकर पितामह ब्रह्माजीको प्रसन्न किया। उन्हें प्रसन्न करनेका उद्देश्य यह था कि माताका वह शाप लागू न हो ॥

देवा ऊचुः

वासुकिर्नागराजोऽयं दुःखितो ज्ञातिकारणात्।
अभिशापः स मातुस्तु भगवन् न भवेत् कथम् ॥ १२ ॥

देवता बोले—भगवन् ! ये नागराज वासुकि अपने जाति-भाइयोंके लिये बहुत दुखी हैं। कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे माताका शाप इन लोगोंपर लागू न हो ॥ १२ ॥

ब्रह्मोवाच

जरत्कारुर्जरत्कारुं यां भार्यां समवाप्स्यति।
तत्र जातो द्विजः शापान्मोक्षयिष्यति पन्नगान् ॥ १३ ॥

ब्रह्माजीने कहा—जरत्कारु मुनि जरत्कारु नामवाली जिस पत्नीको ग्रहण करेंगे, उसके गर्भसे उत्पन्न ब्राह्मण सर्पोंको माताके शापसे मुक्त करेगा ॥ १३ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वासुकिः पन्नगोत्तमः।
प्रादान्मामरप्रख्य तव पित्रे महात्मने ॥ १४ ॥
प्रागेवानागते काले तस्मात् त्वं मय्यजायथाः।
अयं स कालः सम्प्राप्तो भयान्नस्त्रातुमर्हसि ॥ १५ ॥
भ्रातरं चापि मे तस्मात् त्रातुमर्हसि पावकात्।
न मोघं तु कृतं तत् स्याद् यदहं तव धीमते।
पित्रे दत्ता विमोक्षार्थं कथं वा पुत्र मन्यसे ॥ १६ ॥

देवताके समान तेजस्वी पुत्र ! ब्रह्माजीकी वह बात सुनकर नागश्रेष्ठ वासुकिने मुझे तुम्हारे महात्मा पिताकी सेवामें समर्पित कर दिया। यह अवसर आनेसे बहुत पहले इसी निमित्तसे मेरा विवाह किया गया। तदनन्तर उन महर्षिद्वारा मेरे गर्भसे तुम्हारा जन्म हुआ। जनमेजयके सर्पयज्ञका वह पूर्वनिर्दिष्ट काल आज उपस्थित है (उस यज्ञमें निरन्तर सर्प जल रहे हैं), अतः उस भयसे तुम उन सबका उद्धार करो। मेरे भाईको भी उस भयंकर अग्निसे बचा लो। जिस उद्देश्यको लेकर तुम्हारे बुद्धिमान् पिताकी सेवामें मैं दी गयी, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। अथवा बेटा ! सर्पोंको इस संकटसे बचानेके लिये तुम क्या उचित समझते हो ? ॥ १४–१६ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सास्तीको मातरं तदा।
अब्रवीद् दुःखसंतप्तं वासुकिं जीवयन्निव ॥ १७ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—माताके ऐसा कहनेपर आस्तीकने उससे कहा—'मा ! तुम्हारी जैसी आज्ञा है वैसा ही करूँगा।' इसके बाद वे दुःखपीड़ित वासुकिको जीवनदान देते हुए-से बोले—॥ १७ ॥

अहं त्वां मोक्षयिष्यामि वासुके पन्नगोत्तम।
तस्माच्छापान्महासत्त्व सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १८ ॥

'महान् शक्तिशाली नागराज वासुके ! मैं आपको माताके उस शापसे छुड़ा दूँगा। यह आपसे सत्य कहता हूँ ॥ १८ ॥

भव स्वस्थमना नाग न हि ते विद्यते भयम्।
प्रयतिष्ये तथा राजन् यथा श्रेयो भविष्यति ॥ १९ ॥

'नागप्रवर ! आप निश्चिन्त रहें। आपके लिये कोई भय नहीं है। राजन् ! जैसे भी आपका कल्याण होगा, मैं वैसा प्रयत्न करूँगा ॥ १९ ॥

न मे वागनृतं प्राह स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
तं वै नृपवरं गत्वा दीक्षितं जनमेजयम् ॥ २० ॥
वाग्भिर्मङ्गलयुक्ताभिस्तोषयिष्येऽद्य मातुल।
यथा स यज्ञो नृपतेर्निवर्तिष्यति सत्तम ॥ २१ ॥

'मैंने कभी हँसी-मजाकमें भी झूठी बात नहीं कही है, फिर इस संकटके समय तो कह ही कैसे सकता हूँ। सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मामाजी ! सर्पयज्ञके लिये दीक्षित नृपश्रेष्ठ जनमेजयके पास जाकर अपनी मङ्गलमयी वाणीसे आज उन्हें ऐसा संतुष्ट करूँगा, जिससे राजाका वह यज्ञ बंद हो जायगा ॥

स सम्भावय नागेन्द्र मयि सर्वं महामते।
न ते मयि मनो जातु मिथ्या भवितुमर्हति ॥ २२ ॥

'महाबुद्धिमान् नागराज ! मुझमें यह सब कुछ करनेकी योग्यता है, आप इसपर विश्वास रक्खें। आपके मनमें मेरे प्रति जो आशा-भरोसा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो सकता' ॥

वासुकिरुवाच

आस्तीक परिघूर्णामि हृदयं मे विदीर्यते।
दिशो न प्रतिजानामि ब्रह्मदण्डनिपीडितः ॥ २३ ॥

वासुकि बोले—आस्तीक ! माताके शापरूप ब्रह्मदण्डसे पीड़ित होनेके कारण मुझे चक्कर आ रहा है, मेरा हृदय विदीर्ण होने लगा है और मुझे दिशाओंका ज्ञान नहीं हो रहा है॥२३॥

आस्तीक उवाच

न संतापस्त्वया कार्यः कथंचित् पन्नगोत्तम ।
प्रदीप्ताग्नेः समुत्पन्नं नाशयिष्यामि ते भयम् ॥२४॥

आस्तीकने कहा—नागप्रवर ! आपको मनमें किसी प्रकार संताप नहीं करना चाहिये । सर्पयज्ञकी धधकती हुई आगसे जो भय आपको प्राप्त हुआ है, मैं उसका नाश कर दूँगा॥

ब्रह्मदण्डं महाघोरं कालाग्निसमतेजसम् ।
नाशयिष्यामि मात्र त्वं भयं कार्षीः कथंचन ॥२५॥

कालाग्निके समान दाहक और अत्यन्त भयंकर शापका यहाँ मैं अवश्य नाश कर डालूँगा। अतः आप उससे किसी तरह भय न करें॥ २५॥

सौतिरुवाच

ततः स वासुकेर्घोरमपनीय मनोज्वरम् ।
आधाय चात्मनोऽङ्गेषु जगाम त्वरितो भृशम् ॥२६॥
जनमेजयस्य तं यज्ञं सर्वैः समुदितं गुणैः ।
मोक्षाय भुजगेन्द्राणामास्तीको द्विजसत्तमः ॥२७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—तदनन्तर नागराज वासुकिके भयंकर चिन्ता-ज्वरको दूर कर और उसे अपने ऊपर लेकर द्विजश्रेष्ठ आस्तीक बड़ी उतावलीके साथ नागराज वासुकि आदिको प्राण-संकटसे छुड़ानेके लिये राजा जनमेजयके उस सर्पयज्ञमें गये, जो समस्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न था॥ २६-२७॥

स गत्वापश्यदास्तीको यज्ञायतनमुत्तमम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिः सूर्यवह्निसमप्रभैः ॥२८॥

वहाँ पहुँचकर आस्तीकने परम उत्तम यज्ञमण्डप देखा, जो सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी अनेक सदस्योंसे भरा हुआ था॥

स तत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन् द्विजसत्तमः ।
अभितुष्टाव तं यज्ञं प्रवेशार्थी परंतपः ॥२९॥

द्विजश्रेष्ठ आस्तीक जब यज्ञमण्डपमें प्रवेश करने लगे, उस समय द्वारपालोंने उन्हें रोक दिया । तब काम-क्रोध आदि शत्रुओंको संतप्त करनेवाले आस्तीक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा रखकर उस यज्ञकी स्तुति करने लगे॥ २९॥

स प्राप्य यज्ञायतनं वरिष्ठं
द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
तुष्टाव राजानमनन्तकीर्ति-
मृत्विक्सदस्यांश्च तथैव चाग्निम् ॥३०॥

इस प्रकार उस परम उत्तम यज्ञमण्डपके निकट पहुँचकर पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ विप्रवर आस्तीकने अक्षय कीर्तिसे सुशोभित यजमान राजा जनमेजय, ऋत्विजों, सदस्यों तथा अग्निदेवका स्तवन आरम्भ किया॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे आस्तीकागमने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रमें आस्तीकका आगमन-विषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आस्तीकके द्वारा यजमान, यज्ञ, ऋत्विज, सदस्यगण और अग्निदेवकी स्तुति-प्रशंसा

आस्तीक उवाच

सोमस्य यज्ञो वरुणस्य यज्ञः
प्रजापतेर्यज्ञ आसीत् प्रयागे ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः॥ १ ॥

आस्तीकने कहा—भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! चन्द्रमाका जैसा यज्ञ हुआ था, वरुणने जैसा यज्ञ किया था और प्रयागमें प्रजापति ब्रह्माजीका यज्ञ जिस प्रकार समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हुआ था, उसी प्रकार तुम्हारा यह यज्ञ भी उत्तम गुणोंसे युक्त है । हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो॥१॥

शक्रस्य यज्ञः शतसंख्य उक्त-
स्तथा पूरोस्तुल्यसंख्यं शतं वै ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः॥ २ ॥

भरतकुलशिरोमणि परीक्षित्कुमार ! इन्द्रके यज्ञोंकी संख्या सौ बतायी गयी है, राजा पूरुके यज्ञोंकी संख्या भी उनके समान ही सौ है । उन सबके यज्ञोंके तुल्य ही तुम्हारा यह यज्ञ शोभा पा रहा है । हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो॥ २॥

यमस्य यज्ञो हरिमेधसश्च
यथा यज्ञो रन्तिदेवस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः॥ ३ ॥

जनमेजय ! यमराजका यज्ञ, हरिमेधाका यज्ञ तथा राजा रन्तिदेवका यज्ञ जिस प्रकार श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न था, वैसे ही तुम्हारा यह यज्ञ है । हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो॥ ३॥

गयस्य यज्ञः शशबिन्दोश्च राज्ञो
यज्ञस्तथा वैश्रवणस्य राज्ञः ।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः॥ ४ ॥

भरतवंशियोंमें अग्रगण्य जनमेजय ! महाराज गयका यज्ञ, राजा शशबिन्दुका यज्ञ तथा राजाधिराज कुबेरका यज्ञ जिस प्रकार उत्तम विधि-विधानसे सम्पन्न हुआ था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥ ४ ॥

नृगस्य यज्ञस्त्वजमीढस्य चासीद्
यथा यज्ञो दाशरथेश्च राज्ञः।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ५ ॥

परीक्षित्कुमार ! राजा नृग, राजा अजमीढ़ और महाराज दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकार यज्ञ किया था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ भी है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥५॥

यज्ञः श्रुतो दिवि देवस्य सूनो-
र्युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! अजमीढ़वंशी धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिरके यज्ञकी ख्याति स्वर्गके श्रेष्ठ देवताओंने भी सुन रक्खी थी, वैसा ही तुम्हारा भी यह यज्ञ है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥ ६ ॥

कृष्णस्य यज्ञः सत्यवत्याः सुतस्य
स्वयं च कर्म प्रचकार यत्र।
तथा यज्ञोऽयं तव भारताग्र्य
पारिक्षित स्वस्ति नोऽस्तु प्रियेभ्यः ॥ ७ ॥

भरताग्रगण्य जनमेजय ! सत्यवतीनन्दन व्यासजीका यज्ञ जिसमें उन्होंने स्वयं सब कार्य सम्पन्न किया था, जैसा हो पाया था, वैसा ही तुम्हारा यह यज्ञ भी है। हमारे प्रियजनोंका कल्याण हो ॥ ७ ॥

इमे च ते सूर्यसमानवर्चसः
समासते वृत्रहणः क्रतुं यथा।
नैषां ज्ञातुं विद्यते ज्ञानमद्य
दत्तं येभ्यो न प्रणश्येत् कदाचित् ॥ ८ ॥

तुम्हारे ये ऋत्विज सूर्यके समान तेजस्वी हैं और इन्द्रके यज्ञकी भाँति तुम्हारे इस यज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं। कोई भी ऐसी जानने योग्य वस्तु नहीं है, जिसका इन्हें ज्ञान न हो। इन्हें दिया हुआ दान कभी नष्ट नहीं हो सकता ॥

ऋत्विक् समो नास्ति लोकेषु चैव
द्वैपायनेनेति विनिश्चितं मे।
एतस्य शिष्याः क्षितिमाचरन्ति
सर्वर्त्विजः कर्मसु स्वेषु दक्षाः ॥ ९ ॥

द्वैपायन व्यासजीके समान पारलौकिक साधनोंमें कुशल दूसरा कोई ऋत्विज नहीं है, यह मेरा निश्चित मत है। इनके शिष्य ही अपने-अपने कर्मोंमें निपुण होता, उद्गाता आदि सभी प्रकारके ऋत्विज हैं, जो यज्ञ करानेके लिये सम्पूर्ण भूमण्डलमें विचरते रहते हैं ॥ ९ ॥

विभावसुश्चित्रभानुर्महात्मा
हिरण्यरेता हुतभुक् कृष्णवर्त्मा।
प्रदक्षिणावर्तशिखः प्रदीप्तो
हव्यं तवेदं हुतभुग् वष्टि देवः ॥ १० ॥

जो विभावसु, चित्रभानु, महात्मा, हिरण्यरेता, हविष्यभोजी तथा कृष्णवर्त्मा कहलाते हैं, वे अग्निदेव तुम्हारे इस यज्ञमें दक्षिणावर्त शिखाओंसे प्रज्वलित हो दी हुई आहुतिको भोग लगाते हुए तुम्हारे इस हविष्यकी सदा इच्छा रखते हैं ॥ १० ॥

नेह त्वदन्यो विद्यते जीवलोके
समो नृपः पालयिता प्रजानाम्।
धृत्या च ते प्रीतमनाः सदाहं
त्वं वा वरुणो धर्मराजो यमो वा ॥ ११ ॥

इस मृत्युलोकमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई ऐसा राजा नहीं है, जो तुम्हारी भाँति प्रजाका पालन कर सके। तुम्हारे धैर्यसे मेरा मन सदा प्रसन्न रहता है। तुम साक्षात् वरुण, धर्मराज एवं यमके समान प्रभावशाली हो ॥ ११ ॥

शक्रः साक्षाद् वज्रपाणिर्यथेह
त्राता लोकेऽस्मिंस्त्वं तथेह प्रजानाम्।
मतस्त्वं नः पुरुषेन्द्रेह लोके
न च त्वदन्यो भूपतिरस्ति जज्ञे ॥ १२ ॥

पुरुषोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! जैसे साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार तुम भी इस लोकमें हम प्रजावर्गके पालक माने गये हो। संसारमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई भूपाल तुम-जैसा प्रजापालक नहीं है ॥ १२ ॥

खट्वाङ्गनाभागदिलीपकल्प
ययातिमान्धातृसमप्रभाव।
आदित्यतेजःप्रतिमानतेजा
भीष्मो यथा राजसि सुव्रतस्त्वम् ॥ १३ ॥

राजन् ! तुम खट्वाङ्ग, नाभाग और दिलीपके समान प्रतापी हो। तुम्हारा प्रभाव राजा ययाति और मान्धाताके समान है। तुम अपने तेजसे भगवान् सूर्यके प्रचण्ड तेजकी समानता कर रहे हो। जैसे भीष्मपितामहने उत्तम ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी इस यज्ञमें परम उत्तम व्रतका पालन करते हुए शोभा पा रहे हो ॥ १३ ॥

वाल्मीकिवत् ते निभृतं स्ववीर्यं
वसिष्ठवत् ते नियतश्च कोपः।
प्रभुत्वमिन्द्रत्वसमं मतं मे
द्युतिश्च नारायणवद् विभाति ॥ १४ ॥

महर्षि वाल्मीकिकी भाँति तुम्हारा अद्भुत पराक्रम तुममें ही छिपा हुआ है। महर्षि वसिष्ठजीके समान तुमने अपने क्रोधको काबूमें कर रक्खा है। मेरी ऐसी मान्यता है कि तुम्हारा प्रभुत्व इन्द्रके ऐश्वर्यके तुल्य है और तुम्हारी अङ्गकान्ति भगवान् नारायणके समान सुशोभित होती है॥ १४॥

यमो यथा धर्मविनिश्चयज्ञः
कृष्णो यथा सर्वगुणोपपन्नः।
श्रियां निवासोऽसि यथा वसूनां
निधानभूतोऽसि तथा क्रतूनाम्॥१५॥

तुम यमराजकी भाँति धर्मके निश्चित सिद्धान्तको जाननेवाले हो। भगवान् श्रीकृष्णकी भाँति सर्वगुणसम्पन्न हो। वसुगणोंके पास जो सम्पत्तियाँ हैं, वैसी ही सम्पदाओंके तुम निवासस्थान हो तथा यज्ञोंकी तो तुम साक्षात् निधि ही हो॥

दम्भोद्भवेनासि समो बलेन
रामो यथा शास्त्रविदस्त्रविच्च।
और्वत्रिताभ्यामसि तुल्यतेजा
दुष्प्रेक्षणीयोऽसि भगीरथेन॥१६॥

राजन्! तुम बलमें दम्भोद्भवके समान और अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें परशुरामके सदृश हो। तुम्हारा तेज और्व और त्रित नामक महर्षियोंके तुल्य है। राजा भगीरथकी भाँति तुम्हारी ओर देखना भी कठिन है॥ १६॥

सौतिरुवाच

एवं स्तुताः सर्व एव प्रसन्ना
राजा सदस्या ऋत्विजो हव्यवाहः।
तेषां दृष्ट्वा भावितानीङ्गितानि
प्रोवाच राजा जनमेजयोऽथ॥१७॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—आस्तीकके इस प्रकार स्तुति करनेपर यजमान राजा जनमेजय, सदस्य, ऋत्विज और अग्निदेव सभी बड़े प्रसन्न हुए। इन सबके मनोभावों तथा बाह्य चेष्टाओंको लक्ष्य करके राजा जनमेजय इस प्रकार बोले॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे आस्तीककृतराजस्तवे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीकद्वारा सर्पसत्रमें राजा जनमेजयकी स्तुति-विषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५५॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजाका आस्तीकको वर देनेके लिये तैयार होना, तक्षक नागकी व्याकुलता तथा आस्तीकका वर माँगना

जनमेजय उवाच

बालोऽप्ययं स्थविर इवावभाषते
नायं बालः स्थविरोऽयं मतो मे।
इच्छाम्यहं वरमस्मै प्रदातुं
तन्मे विप्राः संविदध्वं यथावत्॥ १॥

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणो! यह बालक है, तो भी वृद्ध पुरुषोंके समान बात करता है, इसलिये मैं इसे बालक नहीं, वृद्ध मानता हूँ और इसको वर देना चाहता हूँ। इस विषयमें आपलोग अच्छी तरह विचार करके अपनी सम्मति दें॥ १॥

सदस्या ऊचुः

बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञां
विद्वान् यो वै स पुनर्वै यथावत्।
सर्वान् कामांस्त्वत्त एवार्हतेऽद्य
यथा च नस्तक्षक एति शीघ्रम्॥ २॥

सदस्य बोले—ब्राह्मण यदि बालक हो तो भी यहाँ राजाओंके लिये सम्माननीय ही है। यदि वह विद्वान् हो तब तो कहना ही क्या है? अतः यह ब्राह्मण बालक आज आपसे यथोचित रीतिसे अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको पानेके योग्य है, किंतु वर देनेसे पहले तक्षक नाग चाहे जैसे भी शीघ्रतापूर्वक हमारे पास आ पहुँचे, वैसा उपाय करना चाहिये॥ २॥

सौतिरुवाच

व्याहर्तुकामे वरदे नृपे द्विजं
वरं वृणीष्वेति ततोऽभ्युवाच।
होता वाक्यं नातिहृष्टान्तरात्मा
कर्मण्यस्मिंस्तक्षको नैति तावत्॥ ३॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! तदनन्तर वर देनेके लिये उद्यत राजा जनमेजय विप्रवर आस्तीकसे यह कहना ही चाहते थे कि 'तुम मुँहमाँगा वर माँग लो।' इतनेमें ही होता, जिसका मन अधिक प्रसन्न नहीं था, बोल उठा—'हमारे इस यज्ञ-कर्ममें तक्षक नाग तो अभीतक आया ही नहीं'॥ ३॥

जनमेजय उवाच

यथा चेदं कर्म समाप्यते मे
यथा च वै तक्षक एति शीघ्रम्।
तथा भवन्तः प्रयतन्तु सर्वे
परं शक्त्या स हि मे विद्विषाणः॥ ४॥

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणो! जैसे भी यह कर्म पूरा हो जाय और जिस प्रकार भी तक्षक नाग शीघ्र यहाँ आ जाय,

आपलोग पूरी शक्ति लगाकर वैसा ही प्रयत्न कीजिये; क्योंकि मेरा असली शत्रु तो वही है ॥ ४ ॥

ऋत्विज ऊचुः

यथा शास्त्राणि नः प्राहुर्यथा शंसति पावकः।
इन्द्रस्य भवने राजंस्तक्षको भयपीडितः ॥ ५ ॥

ऋत्विज बोले—राजन्! हमारे शास्त्र जैसा कहते हैं तथा अग्निदेव जैसी बात बता रहे हैं, उसके अनुसार तो तक्षक नाग भयसे पीड़ित हो इन्द्रके भवनमें छिपा हुआ है ॥ ५ ॥

यथा सूतो लोहिताक्षो महात्मा
पौराणिको वेदितवान् पुरस्तात्।
स राजानं प्राह पृष्टस्तदानीं
यथाहुर्विप्रास्तद्वदेतन्नृदेव ॥ ६ ॥

लाल नेत्रोंवाले पुराणवेत्ता महात्मा सूतजीने पहले ही यह बात सूचित कर दी थी। तब राजाने सूतजीसे इसके विषयमें पूछा। पूछनेपर उन्होंने राजासे कहा—'नरदेव! ब्राह्मणलोग जैसी बात कह रहे हैं, वह ठीक वैसी ही है ॥६॥

पुराणमागम्य ततो ब्रवीम्यहं
दत्तं तस्मै वरमिन्द्रेण राजन्।
वसेह त्वं मत्सकाशे सुगुप्तो
न पावकस्त्वां प्रदहिष्यतीति ॥ ७ ॥

'राजन्! पुराणको जानकर मैं यह कह रहा हूँ कि इन्द्रने तक्षकको वर दिया है—'नागराज! तुम यहाँ मेरे समीप सुरक्षित होकर रहो। सर्पसत्रकी आग तुम्हें नहीं जला सकेगी'॥

एतच्छ्रुत्वा दीक्षितस्तप्यमान
आस्ते होतारं चोदयन् कर्मकाले।
होता च यत्तोऽस्याजुहावाथ मन्त्रै-
रथो महेन्द्रः स्वयमाजगाम ॥ ८ ॥
विमानमारुह्य महानुभावः
सर्वैर्देवैः परिसंस्तूयमानः।
बलाहकैश्चाप्यनुगम्यमानो
विद्याधरैरप्सरसां गणैश्च ॥ ९ ॥

यह सुनकर यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करनेवाले यजमान राजा जनमेजय संतप्त हो उठे और कर्मके समय होताको इन्द्रसहित तक्षक नागका आकर्षण करनेके लिये प्रेरित करने लगे। तब होताने एकाग्रचित्त होकर मन्त्रोंद्वारा इन्द्रसहित तक्षकका आवाहन किया। तब स्वयं देवराज इन्द्र विमानपर बैठकर आकाशमार्गसे चल पड़े। उस समय सम्पूर्ण देवता सब ओरसे घेरकर उन महानुभाव इन्द्रकी स्तुति कर रहे थे। अप्सराएँ, मेघ और विद्याधर भी उनके पीछे-पीछे आ रहे थे ॥ ८-९ ॥

तस्योत्तरीये निहितः स नागो
भयोद्विग्नः शर्म नैवाभ्यगच्छत्।
ततो राजा मन्त्रविदोऽब्रवीत् पुनः
क्रुद्धो वाक्यं तक्षकस्यान्तमिच्छन् ॥ १० ॥

तक्षक नाग उन्हींके उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) में छिपा था। भयसे उद्विग्न होनेके कारण तक्षकको तनिक भी चैन नहीं आता था। इधर राजा जनमेजय तक्षकका नाश चाहते हुए कुपित होकर पुनः मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे बोले॥१०॥

जनमेजय उवाच

इन्द्रस्य भवने विप्रा यदि नागः स तक्षकः।
तमिन्द्रेणैव सहितं पातयध्वं विभावसौ ॥ ११ ॥

जनमेजयने कहा—विप्रगण! यदि तक्षक नाग इन्द्रके विमानमें छिपा हुआ है तो उसे इन्द्रके साथ ही अग्निमें गिरा दो॥

सौतिरुवाच

जनमेजयेन राज्ञा तु नोदितस्तक्षकं प्रति।
होता जुहाव तत्रस्थं तक्षकं पन्नगं तथा ॥ १२ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—राजा जनमेजयके द्वारा इस प्रकार तक्षककी आहुतिके लिये प्रेरित हो होताने इन्द्रके समीपवर्ती तक्षक नागका अग्निमें आवाहन किया—उसके नामकी आहुति डाली ॥ १२ ॥

हूयमाने तथा चैव तक्षकः सपुरन्दरः।
आकाशे ददृशे चैव क्षणेन व्यथितस्तदा ॥ १३ ॥

इस प्रकार आहुति दी जानेपर क्षणभरमें इन्द्रसहित तक्षक नाग आकाशमें दिखायी दिया। उस समय उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी ॥ १३ ॥

पुरन्दरस्तु तं यज्ञं दृष्ट्वोरुभयमाविशत्।
हित्वा तु तक्षकं त्रस्तः स्वमेव भवनं ययौ ॥ १४ ॥

उस यज्ञको देखते ही इन्द्र अत्यन्त भयभीत हो उठे और तक्षक नागको वहीं छोड़कर बड़ी घबराहटके साथ अपने भवनको ही चलते बने ॥ १४ ॥

इन्द्रे गते तु नागेन्द्रस्तक्षको भयमोहितः।
मन्त्रशक्त्या पावकार्चिःसमीपमवशो गतः ॥ १५ ॥

इन्द्रके चले जानेपर नागराज तक्षक भयसे मोहित हो मन्त्रशक्तिसे खिंचकर विवशतापूर्वक अग्निकी ज्वालाके समीप आने लगा ॥ १५ ॥

ऋत्विज ऊचुः

वर्तते तव राजेन्द्र कर्मैतद् विधिवत् प्रभो।
अस्मै तु द्विजमुख्याय वरं त्वं दातुमर्हसि ॥ १६ ॥

ऋत्विजोंने कहा—राजेन्द्र! आपका यह यज्ञकर्म विधि-

पूर्वक सम्पन्न हो रहा है। अब आप इन विप्रवर आस्तीकको मनोवाञ्छित वर दे सकते हैं ॥ १६ ॥

जनमेजय उवाच

बालाभिरूपस्य तवाप्रमेय
वरं प्रयच्छामि यथानुरूपम्।
वृणीष्व यत् तेऽभिमतं हृदि स्थितं
तत् ते प्रदास्याम्यपि चेददेयम् ॥ १७ ॥

जनमेजयने कहा—ब्राह्मणबालक ! तुम अप्रमेय हो--तुम्हारी प्रतिभाकी कोई सीमा नहीं है। मैं तुम-जैसे विद्वान्‌के लिये वर देना चाहता हूँ। तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट कामना हो, उसे बताओ। वह देने योग्य न होगी, तो भी तुम्हें अवश्य दे दूँगा ॥ १७ ॥

ऋत्विज ऊचुः

अयमायाति तूर्णं स तक्षकस्ते वशं नृप।
श्रूयतेऽस्य महान् नादो नदतो भैरवं रवम् ॥ १८ ॥

ऋत्विज बोले—राजन् ! यह तक्षक नाग अब शीघ्र ही तुम्हारे वशमें आ रहा है। वह बड़ी भयानक आवाजमें चीत्कार कर रहा है। उसकी भारी चिल्लाहट अब सुनायी देने लगी है ॥ १८ ॥

नूनं मुक्तो वज्रभृता स नागो
भ्रष्टो नाकान्मन्त्रविस्रस्तकायः।
घूर्णन्नाकाशे मष्टसंज्ञोऽभ्युपैति
तीव्रान् निःश्वासान् निःश्वसन् पन्नगेन्द्रः ॥१९॥

निश्चय ही इन्द्रने उस नागराज तक्षकको त्याग दिया है। उसका विशाल शरीर मन्त्रद्वारा आकृष्ट होकर स्वर्गलोकसे नीचे गिर पड़ा है। वह आकाशमें चक्कर काटता अपनी सुध-बुध खो चुका है और बड़े वेगसे लम्बी साँसें छोड़ता हुआ अग्निकुण्डके समीप आ रहा है ॥ १९ ॥

सौतिरुवाच

पतिष्यमाणे नागेन्द्रे तक्षके जातवेदसि।
इदमन्तरमित्येव तदाऽऽस्तीकोऽभ्यचोदयत् ॥ २० ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! नागराज तक्षक अब कुछ ही क्षणोंमें आगकी ज्वालामें गिरनेवाला था। उस समय आस्तीकने यह सोचकर कि 'यही वर माँगनेका अच्छा अवसर है' राजाको वर देनेके लिये प्रेरित किया ॥ २० ॥

आस्तीक उवाच

वरं ददासि चेन्मह्यं वृणोमि जनमेजय।
सत्रं ते विरमत्वेतन्न पतेयुरिहोरगाः ॥ २१ ॥

आस्तीकने कहा—राजा जनमेजय ! यदि तुम मुझे वर देना चाहते हो, तो सुनो, मैं माँगता हूँ कि तुम्हारा यह यज्ञ बंद हो जाय और अब इसमें सर्प न गिरने पावें ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तदा तेन ब्रह्मन् पारिक्षितस्तु सः।
नातिहृष्टमनाश्चेदमास्तीकं वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

ब्रह्मन् ! आस्तीकके ऐसा कहनेपर वे परीक्षित्‌-कुमार जनमेजय खिन्नचित्त होकर बोले—॥ २२ ॥

सुवर्णं रजतं गाश्च यच्चान्यन्मन्यसे विभो।
तत् ते दद्यां वरं विप्र न निवर्तेत् क्रतुर्मम ॥ २३ ॥

'विप्रवर ! आप सोना, चाँदी, गौ तथा अन्य अभीष्ट वस्तुओंको, जिन्हें आप ठीक समझते हों, माँग लें। प्रभो ! वह मुँहमाँगा वर मैं आपको दे सकता हूँ, किंतु मेरा यह यज्ञ बंद नहीं होना चाहिये' ॥ २३ ॥

आस्तीक उवाच

सुवर्णं रजतं गाश्च न त्वां राजन् वृणोम्यहम्।
सत्रं ते विरमत्वेतत् स्वस्ति मातृकुलस्य नः ॥ २४ ॥

आस्तीकने कहा—राजन् ! मैं तुमसे सोना, चाँदी और गौएँ नहीं माँगूँगा, मेरी यही इच्छा है कि तुम्हारा यह यज्ञ बंद हो जाय, जिससे मेरी माताके कुलका कल्याण हो ॥

सौतिरुवाच

आस्तीकेनैवमुक्तस्तु राजा पारिक्षितस्तदा।
पुनः पुनरुवाचेदमास्तीकं वदतां वरः ॥ २५ ॥
अन्यं वरय भद्रं ते वरं द्विजवरोत्तम।
अयाचत न चाप्यन्यं वरं स भृगुनन्दन ॥ २६ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—भृगुनन्दन शौनक! आस्तीकके ऐसा कहनेपर उस समय वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजयने उनसे बार-बार अनुरोध किया, 'विप्रशिरोमणे ! आपका कल्याण हो, कोई दूसरा वर माँगिये।' किंतु आस्तीकने दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ २५-२६ ॥

ततो वेदविदस्तात सदस्याः सर्व एव तम्।
राजानमूचुः सहिता लभतां ब्राह्मणो वरम् ॥ २७ ॥

तब सम्पूर्ण वेदवेत्ता सभासदोंने एक साथ संगठित होकर राजासे कहा—'ब्राह्मणको (स्वीकार किया हुआ) वर मिलना ही चाहिये' ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि आस्तीकवरप्रदानं नाम षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें आस्तीकको वरप्रदान नामक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सर्पयज्ञमें दग्ध हुए प्रधान-प्रधान सर्पोंके नाम

शौनक उवाच

ये सर्पाः सर्पसत्रेऽस्मिन् पतिता हव्यवाहने ।
तेषां नामानि सर्वेषां श्रोतुमिच्छामि सूतज ॥ १ ॥

शौनकजीने पूछा—सूतनन्दन ! इस सर्पसत्रकी धधकती हुई आगमें जो-जो सर्प गिरे थे, उन सबके नाम मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

सौतिरुवाच

सहस्राणि बहून्यस्मिन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
न शक्यं परिसंख्यातुं बहुत्वाद् द्विजसत्तम ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! इस यज्ञमें सहस्रों, लाखों एवं अरबों सर्प गिरे थे, उनकी संख्या बहुत होनेके कारण गणना नहीं की जा सकती ॥ २ ॥

यथास्मृति तु नामानि पन्नगानां निबोध मे ।
उच्यमानानि मुख्यानां हुतानां जातवेदसि ॥ ३ ॥

परंतु सर्पयज्ञकी अग्निमें जिन प्रधान-प्रधान नागोंकी आहुति दी गयी थी, उन सबके नाम अपनी स्मृतिके अनुसार बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

वासुकेः कुलजातांस्तु प्राधान्येन निबोध मे ।
नीलरक्तान् सितान् घोरान् महाकायान् विषोल्बणान् ॥

पहले वासुकिके कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य-मुख्य सर्पोंके नाम सुनो—वे सब-के-सब नीले, लाल, सफेद और भयानक थे। उनके शरीर विशाल और विष अत्यन्त भयंकर थे॥ ४॥

अवशान् मातृवाग्दण्डपीडितान् कृपणान् हुतान् ।
कोटिशो मानसः पूर्णः शलः पालो हलीमकः ॥ ५ ॥
पिच्छलः कौणपश्चक्रः कालवेगः प्रकालनः ।
हिरण्यबाहुः शरणः कक्षकः कालदन्तकः ॥ ६ ॥

वे बेचारे सर्प माताके शापसे पीड़ित हो विवशतापूर्वक सर्पयज्ञकी आगमें होम दिये गये थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—कोटिश, मानस, पूर्ण, शल, पाल, हलीमक, पिच्छल, कौणप, चक्र, कालवेग, प्रकालन, हिरण्यबाहु, शरण, कक्षक और कालदन्तक ॥ ५-६ ॥

एते वासुकिजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहने ।
अन्ये च बहवो विप्र तथा वै कुलसम्भवाः ।
प्रदीप्ताग्नौ हुताः सर्वे घोररूपा महाबलाः ॥ ७ ॥

ये वासुकिके वंशज नाग थे, जिन्हें अग्निमें प्रवेश करना पड़ा। विप्रवर ! ऐसे ही दूसरे भी बहुत-से महाबली और भयंकर सर्प थे, जो उसी कुलमें उत्पन्न हुए थे। वे सब-के-सब सर्पसत्रकी प्रज्वलित अग्निमें आहुति बन गये थे ॥ ७ ॥

तक्षकस्य कुले जातान् प्रवक्ष्यामि निबोध तान् ।
पुच्छाण्डको मण्डलकः पिण्डसेक्ता रभेणकः ॥ ८ ॥
उच्छिखः शरभो भङ्गो बिल्वतेजा विरोहणः ।
शिली शलकरो मूकः सुकुमारः प्रवेपनः ॥ ९ ॥
मुद्गरः शिशुरोमा च सुरोमा च महाहनुः ।
एते तक्षकजा नागाः प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥ १० ॥

अब तक्षकके कुलमें उत्पन्न नागोंका वर्णन करूँगा, उनके नाम सुनो—पुच्छाण्डक, मण्डलक, पिण्डसेक्ता, रभेणक, उच्छिख, शरभ, भङ्ग, बिल्वतेजा, विरोहण, शिली, शलकर, मूक, सुकुमार, प्रवेपन, मुद्गर, शिशुरोमा, सुरोमा और महाहनु—ये तक्षकके वंशज नाग थे, जो सर्पसत्रकी आगमें समा गये ॥ ८-१० ॥

पारावतः पारिजातः पाण्डरो हरिणः कृशः ।
विहङ्गः शरभो मेदः प्रमोदः संहतापनः ॥ ११ ॥
ऐरावतकुलादेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।

पारावत, पारिजात, पाण्डर, हरिण, कृश, विहङ्ग, शरभ, मेद, प्रमोद और संहतापन—ये ऐरावतके कुलसे आकर आगमें आहुति बन गये थे ॥ ११½ ॥

कौरव्यकुलजान् नागाञ्छृणु मे त्वं द्विजोत्तम ॥ १२ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! अब तुम मुझसे कौरव्य-कुलमें उत्पन्न हुए नागोंके नाम सुनो ॥ १२ ॥

एरकः कुण्डलो वेणी वेणीस्कन्धः कुमारकः ।
बाहुकः शृङ्गवेरश्च धूर्तकः प्रातरातकौ ॥ १३ ॥
कौरव्यकुलजास्त्वेते प्रविष्टा हव्यवाहनम् ।

एरक, कुण्डल, वेणी, वेणीस्कन्ध, कुमारक, बाहुक, शृङ्गवेर, धूर्तक, प्रातर और आतक—ये कौरव्य-कुलके नाग यज्ञाग्निमें जल मरे थे ॥ १३½ ॥

धृतराष्ट्रकुले जाताञ्छृणु नागान् यथातथम् ॥ १४ ॥
कीर्त्यमानान् मया ब्रह्मन् वातवेगान् विषोल्बणान् ।
शङ्कुकर्णः पिठरकः कुठारमुखसेचकौ ॥ १५ ॥
पूर्णाङ्गदः पूर्णमुखः प्रहासः शकुनिर्दरिः ।
अमाहठः कामठकः सुषेणो मानसोऽव्ययः ॥ १६ ॥
भैरवो मुण्डवेदाङ्गः पिशङ्गश्चोद्रपारकः ।
ऋषभो वेगवान् नागः पिण्डारकमहाहनू ॥ १७ ॥
रक्ताङ्गः सर्वसारङ्गः समृद्धपटवासकौ ।
वराहको वीरणकः सुचित्रश्चित्रवेगिकः ॥ १८ ॥



आस्तीकने तक्षकको अग्निकुण्डमें गिरनेसे रोक दिया

पराशरस्तरुणको मणिः स्कन्धस्तथारुणिः ।
इति नागा मया ब्रह्मन् कीर्तिताः कीर्तिवर्धनाः ॥ १९ ॥
प्राधान्येन बहुत्वात् तु न सर्वे परिकीर्तिताः ।
एतेषां प्रसवो यश्च प्रसवस्य च संततिः ॥ २० ॥
न शक्यं परिसंख्यातुं ये दीप्तं पावकं गताः ।
त्रिशीर्षाः सप्तशीर्षाश्च दशशीर्षास्तथापरे ॥ २१ ॥

ब्रह्मन्! अब धृतराष्ट्र-कुलमें उत्पन्न नागोंके नामोंका मुझसे यथावत् वर्णन सुनो । वे वायुके समान वेगशाली और अत्यन्त विषैले थे । (उनके नाम इस प्रकार हैं—) शङ्कुकर्ण, पिठरक, कुठार, मुखसेचक, पूर्णाङ्गद, पूर्णमुख, प्रहास, शकुनि, दरि, अमाहठ, कामठक, सुषेण, मानस, अव्यय, भैरव, मुण्ड-वेदाङ्ग, पिशङ्ग, उद्रपारक, ऋषभ, वेगवान् नाग, पिण्डारक, महाहनु, रक्ताङ्ग, सर्वसारङ्ग, समृद्ध, पटवासक, वराहक, वीरणक, सुचित्र, चित्रवेगिक, पराशर, तरुणक, मणि, स्कन्ध और आरुणि—(ये सभी धृतराष्ट्रवंशी नाग सर्पसत्रकी आगमें जलकर भस्म हो गये थे) । ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने अपने कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले मुख्य-मुख्य नागोंका वर्णन किया है । उनकी संख्या बहुत है, इसलिये सबका नामोल्लेख नहीं किया गया है । इन सबकी संतानोंकी और संतानोंकी संततिकी, जो प्रज्वलित अग्निमें जल मरी थीं, गणना नहीं की जा सकती । किसीके तीन सिर थे तो किसीके सात तथा कितने ही दस-दस सिरवाले नाग थे ॥ १४—२१ ॥

कालानलविषा घोरा हुताः शतसहस्रशः ।
महाकाया महावेगाः शैलश्रृङ्गसमुच्छ्रयाः ॥ २२ ॥

उनके विष प्रलयाग्निके समान दाहक थे । वे नाग बड़े ही भयंकर थे । उनके शरीर विशाल और वेग महान् थे । वे ऊँचे तो ऐसे थे, मानो पर्वतके शिखर हों । ऐसे नाग लाखोंकी संख्यामें यज्ञाग्निकी आहुति बन गये ॥ २२ ॥

योजनायामविस्तारा द्वियोजनसमायताः ।
कामरूपाः कामबला दीप्तानलविषोल्बणाः ॥ २३ ॥
दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्डनिपीडिताः ॥ २४ ॥

उनकी लम्बाई-चौड़ाई एक-एक, दो-दो योजनतककी थी । वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा इच्छानुरूप बल-पराक्रमसे सम्पन्न थे । वे सब-के-सब धधकती हुई आगके समान भयंकर विषसे भरे थे । माताके शापरूपी ब्रह्मदण्डसे पीड़ित होनेके कारण वे उस महासत्रमें जलकर भस्म हो गये ॥ २३—२४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पनामकथने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पनामकथन-विषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

यज्ञकी समाप्ति एवं आस्तीकका सर्पोंसे वर प्राप्त करना

सौतिरुवाच

इदमत्यद्भुतं चान्यदास्तीकस्यानुशुश्रुम ।
तथा वरैश्छन्द्यमाने राज्ञा पारिक्षितेन हि ॥ १ ॥
इन्द्रहस्ताच्च्युतो नागः ख एव यदतिष्ठत ।
ततश्चिन्तापरो राजा बभूव जनमेजयः ॥ २ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! आस्तीकके सम्बन्धमें यह एक और अद्भुत बात मैंने सुन रखी है कि जब राजा जनमेजयने उनसे पूर्वोक्त रूपसे वर माँगनेका अनुरोध किया और उनके वर माँगनेपर इन्द्रके हाथसे छूटकर गिरा हुआ तक्षक नाग आकाशमें ही ठहर गया, तब महाराज जनमेजय-को बड़ी चिन्ता हुई ॥ १-२ ॥

हूयमाने भृशं दीप्ते विधिवद् वसुरेतसि ।
न स्म स प्रापतद् वह्नौ तक्षको भयपीडितः ॥ ३ ॥

क्योंकि अग्नि पूर्णरूपसे प्रज्वलित थी और उसमें विधि-पूर्वक आहुतियाँ दी जा रही थीं तो भी भयसे पीड़ित तक्षक नाग उस अग्निमें नहीं गिरा ॥ ३ ॥

शौनक उवाच

किं सूत तेषां विप्राणां मन्त्रग्रामो मनीषिणाम् ।
न प्रत्यभात् तदाग्नौ यत् स पपात न तक्षकः ॥ ४ ॥

शौनकजीने पूछा—सूत ! उस यज्ञमें बड़े-बड़े मनीषी ब्राह्मण उपस्थित थे । क्या उन्हें ऐसे मन्त्र नहीं सूझे, जिनसे तक्षक शीघ्र अग्निमें आ गिरे ? क्या कारण था जो तक्षक अग्निकुण्डमें न गिरा ? ॥ ४ ॥

सौतिरुवाच

तमिन्द्रहस्ताद् वित्रस्तं विसंज्ञं पन्नगोत्तमम् ।
आस्तीकस्तिष्ठ तिष्ठेति वाचस्तिस्रोऽभ्युदैरयत् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक ! इन्द्रके हाथसे छूटनेपर नागप्रवर तक्षक भयसे थर्रा उठा । उसकी चेतना लुप्त हो गयी । उस समय आस्तीकने उसे लक्ष्य करके तीन बार इस प्रकार कहा—'ठहर जा, ठहर जा, ठहर जा' ॥ ५ ॥

वितस्थे सोऽन्तरिक्षे च हृदयेन विदूयता ।
यथा तिष्ठति वै कश्चित् खं च गां चान्तरा नरः ॥ ६ ॥

तब तक्षक पीड़ित हृदयसे आकाशमें उसी प्रकार ठहर

गया, जैसे कोई मनुष्य आकाश और पृथ्वीके बीचमें लटक रहा हो ॥ ६ ॥

ततो राजाब्रवीद् वाक्यं सदस्यैश्चोदितो भृशम्।
काममेतद् भवत्वेवं यथाऽऽस्तीकस्य भाषितम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर सभासदोंके बार-बार प्रेरित करनेपर राजा जनमेजयने यह बात कही—'अच्छा, आस्तीकने जैसा कहा है, वही हो ॥

समाप्यतामिदं कर्म पन्नगाः सन्त्वनामयाः।
प्रीयतामयमास्तीकः सत्यं सूतवचोऽस्तु तत् ॥ ८ ॥

'यह यज्ञकर्म समाप्त किया जाय। नागगण कुशलपूर्वक रहें और ये आस्तीक प्रसन्न हों। साथ ही सूतजीकी कही हुई बात भी सत्य हो' ॥ ८ ॥

ततो हलहलाशब्दः प्रीतिदः समजायत।
आस्तीकस्य वरे दत्ते तथैवोपरराम च ॥ ९ ॥
स यज्ञः पाण्डवेयस्य राज्ञः पारिक्षितस्य ह।
प्रीतिमांश्चाभवद् राजा भारतो जनमेजयः ॥ १० ॥

जनमेजयके द्वारा आस्तीकको यह वरदान प्राप्त होते ही सब ओर प्रसन्नता बढ़ानेवाली हर्षध्वनि छा गयी और पाण्डववंशी महाराज जनमेजयका वह यज्ञ बंद हो गया। ब्राह्मणको वर देकर भरतवंशी राजा जनमेजयको भी प्रसन्नता हुई ॥ ९-१० ॥

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो ये तत्रासन् समागताः।
तेभ्यश्च प्रददौ वित्तं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ११ ॥

उस यज्ञमें जो ऋत्विज और सदस्य पधारे थे, उन सबको राजा जनमेजयने सैकड़ों और सहस्रोंकी संख्यामें धन-दान किया ॥ ११ ॥

लोहिताक्षाय सूताय तथा स्थपतये विभुः।
येनोक्तं तस्य तत्राग्रे सर्पसत्रनिवर्तने ॥ १२ ॥
निमित्तं ब्राह्मण इति तस्मै वित्तं ददौ बहु।
दत्त्वा द्रव्यं यथान्यायं भोजनाच्छादनान्वितम् ॥ १३ ॥
प्रीतस्तस्मै नरपतिरप्रमेयपराक्रमः।
ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १४ ॥

लोहिताक्ष सूत तथा शिल्पीको, जिसने यज्ञके पहले ही बता दिया था कि इस सर्पसत्रको बंद करनेमें एक ब्राह्मण निमित्त बनेगा, प्रभावशाली राजा जनमेजयने बहुत धन दिया। जिनके पराक्रमकी कहीं तुलना नहीं है, उन नरेश्वर जनमेजयने प्रसन्न होकर यथायोग्य द्रव्य और भोजन-वस्त्र आदिका दान करनेके पश्चात् शास्त्रीय विधिके अनुसार अवभृथ-स्नान किया ॥

आस्तीकं प्रेषयामास गृहानेव सुसंस्कृतम्।
राजा प्रीतमनाः प्रीतं कृतकृत्यं मनीषिणम् ॥ १५ ॥
पुनरागमनं कार्यमिति चैनं वचोऽब्रवीत्।
भविष्यसि सदस्यो मे वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ १६ ॥

आस्तीक शुभ-संस्कारोंसे सम्पन्न और मनीषी विद्वान् थे। अपना कर्तव्य पूर्ण कर लेनेके कारण वे कृतकृत्य एवं प्रसन्न थे। राजा जनमेजयने उन्हें प्रसन्नचित्त होकर घरके लिये विदा दी और कहा—'ब्रह्मन्! मेरे भावी अश्वमेध नामक महायज्ञमें आप सदस्य हों और उस समय पुनः पधारनेकी कृपा करें' ॥

तथेत्युक्त्वा प्रदुद्राव तदाऽऽस्तीको मुदा युतः।
कृत्वा स्वकार्यमतुलं तोषयित्वा च पार्थिवम् ॥ १७ ॥

आस्तीकने प्रसन्नतापूर्वक 'बहुत अच्छा' कहकर राजाकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने अनुपम कार्यका साधन करके राजाको संतुष्ट करनेके पश्चात् वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ १७ ॥

स गत्वा परमप्रीतो मातुलं मातरं च ताम्।
अभिगम्योपसंगृह्य तथावृत्तं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

वे अत्यन्त प्रसन्न हो घर जाकर मामा और मातासे मिले और उनके चरणोंमें प्रणाम करके वहाँका सब समाचार सुनाया ॥

सौतिरुवाच

एतच्छ्रुत्वा प्रीयमाणाः समेता
ये तत्रासन् पन्नगा वीतमोहाः।
आस्तीके वै प्रीतिमन्तो बभूवु-
रूचुश्चैनं वरमिष्टं वृणीष्व ॥ १९ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक! सर्पसत्रसे बचे हुए जो-जो नाग मोहरहित हो उस समय वासुकि नागके यहाँ उपस्थित थे, वे सब आस्तीकके मुखसे उस यज्ञके बंद होनेका समाचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। आस्तीकपर उनका प्रेम बहुत बढ़ गया और वे उनसे बोले—'वत्स! तुम कोई अभीष्ट वर माँग लो' ॥ १९ ॥

भूयो भूयः सर्वशस्तेऽब्रुवंस्तं
किं ते प्रियं करवामाद्य विद्वन्।
प्रीता वयं मोक्षिताश्चैव सर्वे
कामं किं ते करवामाद्य वत्स ॥ २० ॥

वे सब-के-सब बार-बार यह कहने लगे—'विद्वन्! आज हम तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करें? वत्स! तुमने हमें मृत्युके मुखसे बचाया है; अतः हम सब लोग तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। बोलो, तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करें?' ॥ २० ॥

आस्तीक उवाच

सायं प्रातर्ये प्रसन्नात्मरूपा
लोके विप्रा मानवा ये परेऽपि।
धर्माख्यानं ये पठेयुर्ममेदं
तेषां युष्मन्नैव किंचिद् भयं स्यात् ॥ २१ ॥

आस्तीकने कहा—नागगण! लोकमें जो ब्राह्मण

अथवा कोई दूसरा मनुष्य प्रसन्नचित्त होकर मेरे इस धर्ममय उपाख्यानका पाठ करे, उसे आपलोगोंसे कोई भय न हो ॥

तैश्चाप्युक्तो भागिनेयः प्रसन्नै-
रेतत् सत्यं काममेवं वरं ते।
प्रीत्या युक्ताः कामितं सर्वशस्ते
कर्तारः स्म प्रवणा भागिनेय ॥ २२ ॥

यह सुनकर सभी सर्प बहुत प्रसन्न हुए और अपने भानजेसे बोले—'प्रिय वत्स ! तुम्हारी यह कामना पूर्ण हो । भगिनीपुत्र ! हम बड़े प्रेम और नम्रतासे युक्त होकर सर्वथा तुम्हारे इस मनोरथको पूर्ण करते रहेंगे ॥ २२ ॥

असितं चार्तिमन्तं च सुनीथं चापि यः स्मरेत्।
दिवा वा यदि वा रात्रौ नास्य सर्पभयं भवेत् ॥ २३ ॥

'जो कोई असित, आर्तिमान् और सुनीथ मन्त्रका दिन अथवा रातके समय स्मरण करेगा, उसे सर्पोंसे कोई भय नहीं होगा॥ २३॥

यो जरत्कारुणा जातो जरत्कारौ महायशाः।
आस्तीकः सर्पसत्रे वः पन्नगान् योऽभ्यरक्षत।
तं स्मरन्तं महाभागा न मां हिंसितुमर्हथ ॥ २४ ॥

'(मन्त्र और उनके भाव इस प्रकार हैं—) जरत्कारु ऋषिसे जरत्कारु नामक नागकन्यामें जो आस्तीक नामक यशस्वी ऋषि उत्पन्न हुए तथा जिन्होंने सर्पसत्रमें तुम सर्पोंकी रक्षा की थी, उनका मैं स्मरण कर रहा हूँ । महाभाग्यवान् सर्पो ! तुम लोग मुझे मत डँसो ॥ २४ ॥

सर्पापसर्प भद्रं ते गच्छ सर्प महाविष।
जनमेजयस्य यज्ञान्ते आस्तीकवचनं स्मर ॥ २५ ॥

'महाविषधर सर्प ! तुम भाग जाओ ! तुम्हारा कल्याण हो ! अब तुम जाओ । जनमेजयके यज्ञकी समाप्तिमें आस्तीकको तुमने जो वचन दिया था, उसका स्मरण करो ॥ २५ ॥

आस्तीकस्य वचः श्रुत्वा यः सर्पो न निवर्तते।
शतधा भिद्यते मूर्ध्नि शिंशवृक्षफलं यथा ॥ २६ ॥

'जो सर्प आस्तीकके वचनकी शपथ सुनकर भी नहीं लौटेगा, उसके फनके शीशमके फलके समान सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे' ॥

सौतिरुवाच

स एवमुक्तस्तु तदा द्विजेन्द्रः
समागतैस्तैर्भुजगेन्द्रमुख्यैः ।
सम्प्राप्य प्रीतिं विपुलां महात्मा
ततो मनो गमनायाथ दध्रे ॥ २७ ॥

मोक्षयित्वा तु भुजगान् सर्पसत्राद् द्विजोत्तमः।
जगाम काले धर्मात्मा दिष्टान्तं पुत्रपौत्रवान् ॥ २८ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—विप्रवर शौनक ! उस समय वहाँ आये हुए प्रधान-प्रधान नागराजोंके इस प्रकार कहनेपर महात्मा आस्तीकको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई । तदनन्तर उन्होंने वहाँसे चले जानेका विचार किया । इस प्रकार सर्प-सत्रसे नागोंका उद्धार करके द्विजश्रेष्ठ धर्मात्मा आस्तीकने विवाह करके पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न किये और समय आनेपर (प्रारब्ध शेष होनेसे) मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ २७-२८ ॥

इत्याख्यानं मयाऽऽस्तीकं यथावत् तव कीर्तितम्।
यत् कीर्तयित्वा सर्पेभ्यो न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २९ ॥

इस प्रकार मैंने आपसे आस्तीकके उपाख्यानका यथावत् वर्णन किया है; जिसका पाठ कर लेनेपर कहीं भी सर्पोंसे भय नहीं होता ॥ २९ ॥

यथा कथितवान् ब्रह्मन् प्रमतिः पूर्वजस्तव।
पुत्राय रुरवे प्रीतः पृच्छते भार्गवोत्तम ॥ ३० ॥
यद् वाक्यं श्रुतवांश्चाहं तथा च कथितं मया।
आस्तीकस्य कवेर्विप्र श्रीमच्चरितमादितः ॥ ३१ ॥

ब्रह्मन् ! भृगुवंश-शिरोमणे ! आपके पूर्वज प्रमतिने अपने पुत्र रुरुके पूछनेपर जिस प्रकार आस्तीकोपाख्यान कहा था और जिसे मैंने भी सुना था, उसी प्रकार विद्वान् महात्मा आस्तीकके मङ्गलमय चरित्रका मैंने प्रारम्भसे ही वर्णन किया है ॥ ३०-३१ ॥

श्रुत्वा धर्मिष्ठमाख्यानमास्तीकं पुण्यवर्धनम्।
यन्मां त्वं पृष्टवान् ब्रह्मञ्छ्रुत्वा डुण्डुभभाषितम्।
व्येतु ते सुमहद् ब्रह्मन् कौतूहलमरिन्दम ॥ ३२ ॥

आस्तीकका यह धर्ममय उपाख्यान पुण्यकी वृद्धि करनेवाला है । काम-क्रोधादि शत्रुओंका दमन करनेवाले ब्राह्मण ! कथा-प्रसङ्गमें डुण्डुभकी बात सुनकर आपने मुझसे जिसके विषयमें पूछा था, वह सब उपाख्यान मैंने कह सुनाया । इसे सुनकर आपके मनका महान् कौतूहल अब निवृत्त हो जाना चाहिये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि आस्तीकपर्वणि सर्पसत्रे अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत आस्तीकपर्वमें सर्पसत्रविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(अंशावतरणपर्व)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

महाभारतका उपक्रम

शौनक उवाच

भृगुवंशात् प्रभृत्येव त्वया मे कीर्तितं महत्।
आख्यानमखिलं तात सौते प्रीतोऽस्मि तेन ते ॥ १ ॥

शौनकजी बोले—तात सूतनन्दन ! आपने भृगुवंशसे ही प्रारम्भ करके जो मुझे यह सब महान् उपाख्यान सुनाया है, इससे मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ १ ॥

वक्ष्यामि चैव भूयस्त्वां यथावत् सूतनन्दन।
याः कथा व्याससम्पन्नास्ताश्च भूयो विचक्ष्व मे ॥ २ ॥

सूतपुत्र ! अब मैं पुनः आपसे यह कहना चाहता हूँ कि भगवान् व्यासने जो कथाएँ कही हैं, उनका मुझसे यथावत् वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

तस्मिन् परमदुष्पारे सर्पसत्रे महात्मनाम्।
कर्मान्तरेषु यज्ञस्य सदस्यानां तथाध्वरे ॥ ३ ॥
या बभूवुः कथाश्चित्रा येष्वर्थेषु यथातथम्।
त्वत्त इच्छामहे श्रोतुं सौते त्वं वै प्रचक्ष्व नः ॥ ४ ॥

जिसका पार होना कठिन था, ऐसे सर्पयज्ञमें आये हुए महात्माओं एवं सभासदोंको जब यज्ञकर्मसे अवकाश मिलता था, उस समय उनमें जिन-जिन विषयोंको लेकर जो-जो विचित्र कथाएँ होती थीं उन सबका आपके मुखसे हम यथार्थ वर्णन सुनना चाहते हैं। सूतनन्दन ! आप हमसे अवश्य कहें ॥ ३-४ ॥

सौतिरुवाच

कर्मान्तरेष्वकथयन् द्विजा वेदाश्रयाः कथाः।
व्यासस्त्वकथयच्चित्रमाख्यानं भारतं महत् ॥ ५ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक ! यज्ञकर्मसे अवकाश मिलनेपर अन्य ब्राह्मण तो वेदोंकी कथाएँ कहते थे, परंतु व्यासदेवजी अति विचित्र महाभारतकी कथा सुनाया करते थे॥

शौनक उवाच

महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम्।
जनमेजयेन पृष्टः सन् कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ ६ ॥
श्रावयामास विधिवत् तदा कर्मान्तरे तु सः।
तामहं विधिवत् पुण्यां श्रोतुमिच्छामि वै कथाम्॥ ७ ॥

शौनकजी बोले—सूतनन्दन ! महाभारत नामक इतिहास तो पाण्डवोंके यशका विस्तार करनेवाला है। सर्पयज्ञके विभिन्न कर्मोंके बीचमें अवकाश मिलनेपर जब राजा जनमेजय प्रश्न करते, तब श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी उन्हें विधिपूर्वक महाभारतकी कथा सुनाते थे। मैं उसी पुण्यमयी कथाको विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ ६-७॥

मनःसागरसम्भूतां महर्षेर्भावितात्मनः।
कथयस्व सतां श्रेष्ठ सर्वरत्नमयीमिमाम् ॥ ८ ॥

यह कथा पवित्र अन्तःकरणवाले महर्षि वेदव्यासके हृदयरूपी समुद्रसे प्रकट हुए, सब प्रकारके शुभ विचाररूपी रत्नोंसे परिपूर्ण है। साधुशिरोमणे ! आप इस कथाको मुझे सुनाइये ॥ ८ ॥

सौतिरुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि महदाख्यानमुत्तमम्।
कृष्णद्वैपायनमतं महाभारतमादितः ॥ ९ ॥

उग्रश्रवाजीने कहा—शौनक ! मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ महाभारत नामक उत्तम उपाख्यानका आरम्भसे ही वर्णन करूँगा, जो श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासको अभिमत है ॥ ९ ॥

शृणु सर्वमशेषेण कथ्यमानं मया द्विज।
शंसितुं तन्महान् हर्षो ममापीह प्रवर्तते ॥ १० ॥

विप्रवर ! मेरेद्वारा कही जानेवाली इस सम्पूर्ण महाभारत-कथाको आप पूर्णरूपसे सुनिये। यह कथा सुनाते समय मुझे भी महान् हर्ष प्राप्त होता है ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें कथानुबन्धविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

जनमेजयके यज्ञमें व्यासजीका आगमन, सत्कार तथा राजाकी प्रार्थनासे व्यासजीका वैशम्पायनजीसे महाभारत-कथा सुनानेके लिये कहना

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम्।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान् कृष्णद्वैपायनस्तदा ॥ १ ॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! जब विद्वान् महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनने यह सुना कि राजा जनमेजय सर्पयज्ञकी दीक्षा ले चुके हैं, तब वे वहाँ आये ॥ १ ॥

जनयामास यं काली शक्तेः पुत्रात् पराशरात्।
कन्यैव यमुनाद्वीपे पाण्डवानां पितामहम् ॥ २ ॥

वेदव्यासजीको सत्यवतीने कन्यावस्थामें ही शक्तिनन्दन पराशरजीसे यमुनाजीके द्वीपमें उत्पन्न किया था। वे पाण्डवोंके पितामह हैं ॥ २ ॥

जातमात्रश्च यः सद्य इष्ट्या देहमवीवृधत्।
वेदांश्चाधिजगे साङ्गान् सेतिहासान् महायशाः ॥ ३ ॥
यन्नैति तपसा कश्चिन्न वेदाध्ययनेन च।
न व्रतैर्नोपवासैश्च न प्रशान्त्या न मन्युना ॥ ४ ॥

जन्म लेते ही उन्होंने अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया तथा उन महायशस्वी व्यासजीको (स्वतः ही) अङ्गों और इतिहासों-सहित सम्पूर्ण वेदों और उस परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो गया, जिसे कोई तपस्या, वेदाध्ययन, व्रत, उपवास, शम और यज्ञ आदिके द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३-४ ॥

विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः।
परावरज्ञो ब्रह्मर्षिः कविः सत्यव्रतः शुचिः ॥ ५ ॥

वे वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे और उन्होंने एक ही वेदको चार भागोंमें विभक्त किया था। ब्रह्मर्षि व्यासजी परब्रह्म और अपरब्रह्मके ज्ञाता, कवि (त्रिकालदर्शी), सत्यव्रतपरायण तथा परम पवित्र हैं ॥ ५ ॥

यः पाण्डुं धृतराष्ट्रं च विदुरं चाप्यजीजनत्।
शान्तनोः संततिं तन्वन् पुण्यकीर्तिर्महायशाः ॥ ६ ॥

उनकी कीर्ति पुण्यमयी है और वे महान् यशस्वी हैं। उन्होंने ही शान्तनुकी संतान-परम्पराका विस्तार करनेके लिये पाण्डु, धृतराष्ट्र तथा विदुरको जन्म दिया था ॥ ६ ॥

जनमेजयस्य राजर्षेः स महात्मा सदस्तदा।
विवेश सहितः शिष्यैर्वेदवेदाङ्गपारगैः ॥ ७ ॥

उन महात्मा व्यासने वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् शिष्योंके साथ उस समय राजर्षि जनमेजयके यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया ॥

तत्र राजानमासीनं ददर्श जनमेजयम्।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्देवैरिव पुरन्दरम् ॥ ८ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने सिंहासनपर बैठे हुए राजा जनमेजयको देखा, जो बहुत-से सभासदोंद्वारा इस प्रकार घिरे हुए थे, मानो देवराज इन्द्र देवताओंसे घिरे हुए हों ॥ ८ ॥

तथा मूर्धाभिषिक्तैश्च नानाजनपदेश्वरैः।
ऋत्विग्भिर्ब्रह्मकल्पैश्च कुशलैर्यज्ञसंस्तरे ॥ ९ ॥

जिनके मस्तकोंपर अभिषेक किया गया था, ऐसे अनेक जनपदोंके नरेश तथा यज्ञानुष्ठानमें कुशल ब्रह्माजीके समान योग्यतावाले ऋत्विज भी उन्हें सब ओरसे घेरे हुए थे ॥ ९ ॥

जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम्।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ॥१०॥

भरतश्रेष्ठ राजर्षि जनमेजय महर्षि व्यासको आया देख बड़ी प्रसन्नताके साथ उठकर खड़े हो गये और अपने सेवक-गणोंके साथ तुरंत ही उनकी अगवानी करनेके लिये चल दिये ॥

काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ॥११॥

जैसे इन्द्र बृहस्पतिजीको आसन देते हैं, उसी प्रकार राजाने सदस्योंकी अनुमति लेकर व्यासजीके लिये सुवर्णका विष्टर दे आसनकी व्यवस्था की ॥ ११ ॥

तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम्।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥१२॥

देवर्षियोंद्वारा पूजित वरदायक व्यासजी जब वहाँ बैठ गये, तब राजेन्द्र जनमेजयने शास्त्रीय विधिके अनुसार उनका पूजन किया ॥

पाद्यमाचमनीयं च अर्घ्यं गां च विधानतः।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयत् ॥१३॥

उन्होंने अपने पितामह श्रीकृष्णद्वैपायनको विधि-विधानके साथ पाद्य, आचमनीय, अर्घ्य और गौ भेंट की, जो इन वस्तुओंको पानेके अधिकारी थे ॥ १३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां पाण्डवाज्जनमेजयात्।
गां चैव समनुज्ञाप्य व्यासः प्रीतोऽभवत् तदा ॥१४॥

पाण्डववंशी जनमेजयसे वह पूजा ग्रहण करके गौके सम्बन्धमें अपना आदर व्यक्त करते हुए व्यासजी उस समय बड़े प्रसन्न हुए ॥

तथा च पूजयित्वा तं प्रणयात् प्रपितामहम्।
उपोपविश्य प्रीतात्मा पर्यपृच्छदनामयम् ॥१५॥

पितामह व्यासजीका प्रेमपूर्वक पूजन करके जनमेजयका चित्त प्रसन्न हो गया और वे उनके पास बैठकर कुशल-मङ्गल पूछने लगे ॥

भगवानपि तं दृष्ट्वा कुशलं प्रतिवेद्य च।
सदस्यैः पूजितः सर्वैः सदस्यान् प्रत्यपूजयत् ॥१६॥

भगवान् व्यासने भी जनमेजयकी ओर देखकर अपना कुशल-समाचार बताया तथा अन्य सभासदोंद्वारा सम्मानित हो उनका भी सम्मान किया ॥ १६ ॥

ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः।
इदं पश्चाद् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत् कृताञ्जलिः ॥१७॥

तदनन्तर सब सदस्योंसहित राजा जनमेजयने हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ व्यासजीसे इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १७ ॥

जनमेजय उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च भवान् प्रत्यक्षदर्शिवान्।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ॥१८॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन्! आप कौरवों और पाण्डवों-को प्रत्यक्ष देख चुके हैं; अतः मैं आपके द्वारा वर्णित उनके चरित्रको सुनना चाहता हूँ ॥ १८ ॥

कथं समभवद् भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ॥१९॥

वे तो राग-द्वेष आदि दोषोंसे रहित सत्कर्म करनेवाले थे, उनमें भेद-बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई ? तथा प्राणियोंका अन्त करनेवाला उनका वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ ? ॥ १९ ॥

पितामहानां सर्वेषां दैवेनानिष्टचेतसाम्।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ॥२०॥

द्विजश्रेष्ठ ! जान पड़ता है, प्रारब्धने ही प्रेरणा करके मेरे सब प्रपितामहोंके मनको युद्धरूपी अनिष्टमें लगा दिया था । उनके इस सम्पूर्ण वृत्तान्तका आप यथावत् रूपसे वर्णन करें ॥

सौतिरुवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ॥२१॥

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जनमेजयकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने पास ही बैठे हुए अपने शिष्य वैशम्पायनको उस समय इस प्रकार आदेश दिया ॥ २१ ॥

व्यास उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत् पुरा।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ॥२२॥

व्यासजी बोले—वैशम्पायन ! पूर्वकालमें कौरवों और पाण्डवोंमें जिस प्रकार फूट पड़ी थी; जिसे तुम मुझसे सुन चुके हो, वह सब इस समय इन राजा जनमेजयको सुनाओ ॥

गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ॥२३॥
राज्ञे तस्मै सदस्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च सर्वशः।
भेदं सर्वविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ॥२४॥

उस समय गुरुदेव व्यासजीकी यह आज्ञा पाकर विप्रवर वैशम्पायनने राजा जनमेजय, सभासद्‌गण तथा अन्य सब भूपालोंसे कौरव-पाण्डवोंमें जिस प्रकार फूट पड़ी और उनका सर्वनाश हुआ, वह सब पुरातन इतिहास कहना प्रारम्भ किया ॥ २३-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि कथानुबन्धे षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें कथानुबन्धविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

कौरव-पाण्डवोंमें फूट और युद्ध होनेके वृत्तान्तका सूत्ररूपमें निर्देश

वैशम्पायन उवाच

गुरवे प्राङ्नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः।
सम्पूज्य च द्विजान् सर्वांस्तथान्यान् विदुषो जनान् ॥१॥
महर्षेर्विश्रुतस्येह सर्वलोकेषु धीमतः।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यास्य महात्मनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! मैं सबसे पहले श्रद्धा-भक्तिपूर्वक एकाग्रचित्तसे अपने गुरुदेव श्रीव्यासजी महाराजको साष्टाङ्ग नमस्कार करके सम्पूर्ण द्विजों तथा अन्यान्य विद्वानों-का समादर करते हुए यहाँ सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात महर्षि एवं महात्मा इन परम बुद्धिमान् व्यासजीके मतका पूर्णरूपसे वर्णन करता हूँ ॥ १-२ ॥

श्रोतुं पात्रं च राजंस्त्वं प्राप्येमां भारतीं कथाम्।
गुरोर्वक्त्रपरिस्पन्दो मनः प्रोत्साहतीव मे ॥ ३ ॥

जनमेजय ! तुम इस महाभारतकी कथाको सुननेके लिये उत्तम पात्र हो और मुझे यह कथा उपलब्ध है तथा श्रीगुरुजीके मुखारविन्दसे मुझे यह आदेश मिल गया है कि मैं तुम्हें कथा सुनाऊँ, इससे मेरे मनको बड़ा उत्साह प्राप्त होता है॥

शृणु राजन् यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत्।
राज्यार्थे द्यूतसम्भूतो वनवासस्तथैव च ॥ ४ ॥
यथा च युद्धमभवत् पृथिवीक्षयकारकम्।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ॥ ५ ॥

राजन् ! जिस प्रकार कौरव और पाण्डवोंमें फूट पड़ी, वह प्रसङ्ग सुनो । राज्यके लिये जो जुआ खेला गया, उससे उनमें फूट हुई और उसीके कारण पाण्डवोंका वनवास हुआ। भरतश्रेष्ठ ! फिर जिस प्रकार पृथ्वीके वीरोंका विनाश करनेवाला महाभारत-युद्ध हुआ, वह तुम्हारे प्रश्नके अनुसार तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ४-५ ॥

मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम्।
नचिरादेव विद्वांसो वेदे धनुषि चाभवन् ॥ ६ ॥

अपने पिता महाराज पाण्डुके स्वर्गवासी हो जानेपर वे वीर पाण्डव वनसे अपने राजभवनमें आकर रहने लगे । वहाँ थोड़े ही दिनोंमें वे वेद तथा धनुर्वेदके पूरे पण्डित हो गये ॥

तांस्तथा सत्त्ववीर्यौजःसम्पन्नान् पौरसम्मतान्।
नामृष्यन् कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवाञ्छ्रीयशोभृतः ॥ ७ ॥

सत्त्व (धैर्य और उत्साह), वीर्य (पराक्रम) तथा ओज (देहबल) से सम्पन्न होनेके कारण पाण्डवलोग पुरवासियोंके प्रेम और सम्मानके पात्र थे । उनके धन, सम्पत्ति और

यशकी वृद्धि होने लगी। यह सब देखकर कौरव उनके उत्कर्षको सहन न कर सके ॥ ७ ॥

ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सहसौबलः।
तेषां निग्रहनिर्वासान् विविधांस्ते समारभन् ॥ ८॥

तब क्रूर दुर्योधन, कर्ण और शकुनि तीनोंने मिलकर पाण्डवोंको वशमें करने या देशसे निकाल देनेके लिये नाना प्रकारके यत्न आरम्भ किये ॥ ८ ॥

ततो दुर्योधनः शूरः कुलिङ्गस्य मते स्थितः।
पाण्डवान् विविधोपायै राज्यहेतोरपीडयत् ॥ ९॥

शकुनिकी सम्मतिसे चलनेवाले शूरवीर दुर्योधनने राज्यके लिये भाँति-भाँतिके उपाय करके पाण्डवोंको पीड़ा दी ॥ ९ ॥

ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः।
जरयामास तद् वीरः सहान्नेन वृकोदरः ॥१०॥

उस पापी धृतराष्ट्रपुत्रने भीमसेनको विष दे दिया, किंतु वीरवर भीमसेनने भोजनके साथ उस विषको भी पचा लिया॥

प्रमाणकोट्यां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम्।
तोयेषु भीमं गङ्गायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥११॥

फिर दुर्योधनने गङ्गाके प्रमाणकोटि नामक तीर्थपर सोये हुए भीमसेनको बाँधकर गङ्गाजीके गहरे जलमें डाल दिया और स्वयं चुपचाप नगरमें लौट आया ॥ ११ ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा संछिद्य बन्धनम्।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो गतव्यथः ॥१२॥

जब कुन्तीनन्दन महाबाहु भीमकी आँख खुली, तब वे सारा बन्धन तोड़कर बिना किसी पीड़ाके उठ खड़े हुए॥१२॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत्।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥१३॥

एक दिन दुर्योधनने भीमसेनको सोते समय उनके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें काले साँपोंसे डँसवा दिया, किंतु शत्रुघाती भीम मर न सके ॥ १३ ॥

तेषां तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः।
मोक्षणे प्रतिकारे च विदुरोऽवहितोऽभवत् ॥१४॥

कौरवोंके द्वारा किये हुए उन सभी अपकारोंके समय पाण्डवोंको उनसे छुड़ाने अथवा उनका प्रतीकार करनेके लिये परम बुद्धिमान् विदुरजी सदा सावधान रहते थे ॥ १४ ॥

स्वर्गस्थो जीवलोकस्य यथा शक्रः सुखावहः।
पाण्डवानां तथा नित्यं विदुरोऽपि सुखावहः ॥१५॥

जैसे स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले इन्द्र सम्पूर्ण जीव-जगत्‌को सुख पहुँचाते रहते हैं, उसी प्रकार विदुरजी भी सदा पाण्डवोंको सुख दिया करते थे ॥ १५ ॥

यदा तु विविधोपायैः संवृतैर्विवृतैरपि।
नाशकद् विनिहन्तुं तान् दैवभाव्यर्थरक्षितान् ॥१६॥

ततः सम्मन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ॥१७॥

भविष्यमें जो घटना घटित होनेवाली थी, उसके लिये मानो दैव ही पाण्डवोंकी रक्षा कर रहा था। जब छिपकर या प्रकटरूपमें किये हुए अनेक उपायोंसे भी दुर्योधन पाण्डवोंका नाश न कर सका, तब उसने कर्ण और दुःशासन आदि मन्त्रियोंसे सलाह करके धृतराष्ट्रकी आज्ञासे वारणावत नगरमें एक लाहका घर बनानेकी आज्ञा दी ॥ १६-१७ ॥

सुतप्रियैषी तान् राजा पाण्डवानम्बिकासुतः।
ततो विवासयामास राज्यभोगबुभुक्षया ॥१८॥

अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र अपने पुत्रका प्रिय चाहनेवाले थे। अतः उन्होंने राज्यभोगकी इच्छासे पाण्डवोंको हस्तिनापुर छोड़कर वारणावतके लाक्षागृहमें रहनेकी आज्ञा दे दी ॥ १८ ॥

ते प्रातिष्ठन्त सहिता नगरान्नागसाह्वयात्।
प्रस्थाने चाभवन्मन्त्री क्षत्ता तेषां महात्मनाम् ॥१९॥
तेन मुक्ता जतुगृहान्निशीथे प्राद्रवन् वनम्।

मातासहित पाँचों पाण्डव एक साथ हस्तिनापुरसे प्रस्थित हुए। उन महात्मा पाण्डवोंके प्रस्थानकालमें विदुरजी सलाह देनेवाले हुए। उन्हींकी सलाह एवं सहायतासे पाण्डवलोग लाक्षागृहसे बचकर आधीरातके समय वनमें भाग निकले थे॥

ततः सम्प्राप्य कौन्तेया नगरं वारणावतम् ॥२०॥
न्यवसन्त महात्मानो मात्रा सह परंतपाः।
धृतराष्ट्रेण चाज्ञप्ता उषिता जातुषे गृहे ॥२१॥
पुरोचनाद् रक्षमाणाः संवत्सरमतन्द्रिताः।
सुरुङ्गां कारयित्वा तु विदुरेण प्रचोदिताः ॥२२॥
आदीप्य जातुषं वेश्म दग्ध्वा चैव पुरोचनम्।
प्राद्रवन् भयसंविग्ना मात्रा सह परंतपाः ॥२३॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे शत्रुओंका दमन करनेवाले कुन्तीकुमार महात्मा पाण्डव वारणावत नगरमें आकर लाक्षा-गृहमें अपनी माताके साथ रहने लगे। पुरोचनसे सुरक्षित हो सदा सजग रहकर उन्होंने एक वर्षतक वहाँ निवास किया। फिर विदुरकी प्रेरणासे (विदुरके भेजे हुए आदमियोंसे) पाण्डवोंने एक सुरंग खुदवायी। तत्पश्चात् वे शत्रुसंतापी पाण्डव उस लाक्षागृहमें आग लगा पुरोचनको दग्ध करके भयसे व्याकुल हो मातासहित सुरंगद्वारा वहाँसे निकल भागे।

ददृशुर्दारुणं रक्षो हिडिम्बं वननिर्झरे।
हत्वा च तं राक्षसेन्द्रं भीताः समवबोधनात् ॥२४॥
निशि सम्प्राद्रवन् पार्था धार्तराष्ट्रभयार्दिताः।
प्राप्ता हिडिम्बा भीमेन यत्र जातो घटोत्कचः ॥२५॥

तत्पश्चात् वनमें एक झरनेके पास उन्होंने एक भयंकर राक्षसको देखा, जिसका नाम हिडिम्ब था। राक्षसराज

हिडिम्बको मारकर पाण्डवलोग प्रकट होनेके भयसे रातमें ही वहाँसे दूर निकल गये। उस समय उन्हें धृतराष्ट्रके पुत्रोंका भय सता रहा था। हिडिम्ब-वधके पश्चात् भीमको हिडिम्बा नामकी राक्षसी पत्नीरूपमें प्राप्त हुई, जिसके गर्भसे घटोत्कचका जन्म हुआ ॥

एकचक्रां ततो गत्वा पाण्डवाः संशितव्रताः।
वेदाध्ययनसम्पन्नास्तेऽभवन् ब्रह्मचारिणः ॥२६॥

तदनन्तर कठोर व्रतका पालन करनेवाले पाण्डव एकचक्रा नगरीमें जाकर वेदाध्ययनपरायण ब्रह्मचारी बन गये ॥२६॥

ते तत्र नियताः कालं कंचिदूषुर्नरर्षभाः।
मात्रा सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२७॥

उस एकचक्रा नगरीमें वे नरश्रेष्ठ पाण्डव अपनी माताके साथ एक ब्राह्मणके घरमें कुछ कालतक टिके रहे ॥ २७ ॥

तत्रासससाद क्षुधितं पुरुषादं वृकोदरः।
भीमसेनो महाबाहुर्बकं नाम महाबलम् ॥२८॥

उस नगरके समीप एक मनुष्यभक्षी राक्षस रहता था, जिसका नाम था बक। एक दिन महाबाहु भीमसेन उस क्षुधातुर महाबली राक्षस बकके समीप गये ॥ २८ ॥

तं चापि पुरुषव्याघ्रो बाहुवीर्येण पाण्डवः।
निहत्य तरसा वीरो नागरान् पर्यसान्त्वयत् ॥२९॥

नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन वीरवर भीमने अपने बाहुबलसे उस राक्षसको वेगपूर्वक मारकर वहाँके नगरनिवासियोंको धीरज बँधाया ॥ २९ ॥

ततस्ते शुश्रुवुः कृष्णां पञ्चालेषु स्वयंवराम्।
श्रुत्वा चैवाभ्यगच्छन्त गत्वा चैवालभन्त ताम् ॥३०॥
ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसंवत्सरोषिताः।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिंदमाः ॥३१॥

वहीं सुननेमें आया कि पाञ्चालदेशकी राजकुमारी कृष्णाका स्वयंवर होनेवाला है। यह सुनकर पाण्डव वहाँ गये और जाकर उन्होंने राजकुमारीको प्राप्त कर लिया। द्रौपदीको प्राप्त करनेके बाद पहचान लिये जानेपर भी वे एक वर्षतक पाञ्चाल देशमें ही रहे। फिर वे शत्रुदमन पाण्डव पुनः हस्तिनापुर लौट आये ॥ ३०-३१ ॥

ते उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति ॥३२॥
अस्माभिः खाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः।
तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम् ॥३३॥
वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमत्सराः।
तयोस्ते वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः ॥३४॥
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः।
तत्र ते न्यवसन् पार्थाः संवत्सरगणान् बहून् ॥३५॥
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीभृतः।
एवं धर्मप्रधानास्ते सत्यव्रतपरायणाः ॥३६॥
अप्रमत्तोत्थिताः क्षान्ताः प्रतपन्तोऽहितान् बहून्।

वहाँ आनेपर राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मजीने उनसे कहा—'तात! तुम्हें अपने भाई कौरवोंके साथ लड़ने-झगड़नेका अवसर न प्राप्त हो इसके लिये हमने विचार किया है कि तुमलोग खाण्डवप्रस्थमें रहो। वहाँ अनेक जनपद उससे जुड़े हुए हैं। वहाँ सुन्दर विभागपूर्वक बड़ी-बड़ी सड़कें बनी हुई हैं। अतः तुमलोग ईर्ष्याका त्याग करके खाण्डवप्रस्थमें रहनेके लिये जाओ।' उन दोनोंके इस प्रकार आज्ञा देनेपर सब पाण्डव अपने समस्त सुहृदोंके साथ सब प्रकारके रत्न लेकर खाण्डवप्रस्थको चले गये। वहाँ वे कुन्तीपुत्र अपने अस्त्र-शस्त्रोंके प्रतापसे अन्यान्य राजाओंको अपने वशमें करते हुए बहुत वर्षोंतक निवास करते रहे। इस प्रकार धर्मको प्रधानता देनेवाले, सत्यव्रतके पालनमें तत्पर, सदा सावधान एवं सजग रहनेवाले, क्षमाशील पाण्डव वीर बहुत-से शत्रुओंको संतप्त करते हुए वहाँ निवास करने लगे ॥ ३२-३६½ ॥

अजयद् भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महायशाः ॥ ३७ ॥
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा।
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा ॥ ३८ ॥

महायशस्वी भीमसेनने पूर्वदिशापर विजय पायी। वीर अर्जुनने उत्तर, नकुलने पश्चिम और शत्रु वीरोंका संहार करनेवाले सहदेवने दक्षिण दिशापर विजय प्राप्त की ॥ ३७-३८ ॥

एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम्।
पञ्चभिः सूर्यसंकाशैः सूर्येण च विराजता ॥ ३९ ॥
षट्सूर्येवाभवत् पृथ्वी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः।
ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४० ॥
वनं प्रस्थापयामास तेजस्वी सत्यविक्रमः।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं भ्रातरं सव्यसाचिनम् ॥ ४१ ॥
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं स्थिरात्मानं गुणैर्युतम्।
(धैर्यात् सत्याच्च धर्माच्च विजयाच्चाधिकप्रियः।
अर्जुनो भ्रातरं ज्येष्ठं नात्यवर्तत जातुचित् ॥)
स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वने वसन् ॥ ४२ ॥

इस तरह सब पाण्डवोंने समूची पृथ्वीको अपने वशमें कर लिया। वे पाँचों भाई सूर्यके समान तेजस्वी थे और आकाशमें नित्य उदित होनेवाले सूर्य तो प्रकाशित थे ही; इस तरह सत्यपराक्रमी पाण्डवोंके होनेसे यह पृथ्वी मानो छः सूर्योंसे प्रकाशित होनेवाली बन गयी। तदनन्तर कोई निमित्त बन जानेके कारण सत्यपराक्रमी तेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने अपने प्राणोंसे भी अत्यन्त प्रिय, स्थिर-बुद्धि तथा सद्गुणयुक्त भाई नरश्रेष्ठ सव्यसाची अर्जुनको वनमें भेज दिया। अर्जुन अपने धैर्य, सत्य, धर्म और विजयशीलताके कारण भाइयोंको अधिक प्रिय थे। उन्होंने अपने बड़े भाईकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं किया था। वे पूरे बारह वर्ष और

एक मासतक वनमें रहे ॥ ३९-४२ ॥

(तीर्थयात्रां च कृतवान् नागकन्यामवाप्य च ।
पाण्ड्यस्य तनयां लब्ध्वा तत्र ताभ्यां सहोषितः ॥)
ततोऽगच्छद्धृषीकेशं द्वारवत्यां कदाचन ।
लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम् ॥ ४३ ॥
अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ।
सा शचीव महेन्द्रेण श्रीः कृष्णेनेव संगता ॥ ४४ ॥
सुभद्रा युयुजे प्रीत्या पाण्डवेनार्जुनेन ह ।

उसी समय उन्होंने निर्मल तीर्थोंकी यात्रा की और नाग-कन्या उलूपीको पाकर पाण्ड्यदेशीय नरेश चित्रवाहनकी पुत्री चित्राङ्गदाको भी प्राप्त किया और उन-उन स्थानोंमें उन दोनोंके साथ कुछ कालतक निवास किया। तत्पश्चात् वे किसी समय द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। वहाँ अर्जुनने मङ्गलमय वचन बोलनेवाली कमललोचना सुभद्राको, जो वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी छोटी बहिन थी, पत्नीरूपमें प्राप्त किया। जैसे इन्द्रसे शची और भगवान् विष्णुसे लक्ष्मी संयुक्त हुई हैं, उसी प्रकार सुभद्रा बड़े प्रेमसे पाण्डुनन्दन अर्जुनसे मिली॥४३-४४½॥

अतर्पयच्च कौन्तेयः खाण्डवे हव्यवाहनम् ॥ ४५ ॥
बीभत्सुर्वासुदेवेन सहितो नृपसत्तम ।
नातिभारो हि पार्थस्य केशवेन सहाभवत् ॥ ४६ ॥
व्यवसायसहायस्य विष्णोः शत्रुवधेष्विव ।

तत्पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुनने खाण्डवप्रस्थमें भगवान् वासुदेवके साथ रहकर अग्निदेवको तृप्त किया। नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णका साथ होनेसे अर्जुनको इस कार्यमें ठीक उसी तरह अधिक परिश्रम या भारका अनुभव नहीं हुआ, जैसे दृढ़ निश्चयको सहायक बनाकर देवशत्रुओंका वध करते समय भगवान् विष्णुको भार या परिश्रमकी प्रतीति नहीं होती है ॥ ४५-४६½ ॥

पार्थायाग्निर्ददौ चापि गाण्डीवं धनुरुत्तमम् ॥ ४७ ॥
इषुधी चाक्षयैर्बाणै रथं च कपिलक्षणम् ।
मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं यत्र महासुरम् ॥ ४८ ॥

तदनन्तर अग्निदेवने संतुष्ट हो अर्जुनको उत्तम गाण्डीव धनुष, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर और एक कपिध्वज रथ प्रदान किया। उसी समय अर्जुनने महान् असुर मयको खाण्डव वनमें जलनेसे बचाया था ॥ ४७-४८ ॥

स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमाचिताम् ।
तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः ॥ ४९ ॥

इससे संतुष्ट होकर उसने अर्जुनके लिये एक दिव्य सभा-भवनका निर्माण किया, जो सब प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित था। खोटी बुद्धिवाले मूर्ख दुर्योधनके मनमें उस सभाको ले लेनेके लिये लोभ पैदा हुआ ॥ ४९ ॥

ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम् ।
वनं प्रस्थापयामास सप्त वर्षाणि पञ्च च ॥ ५० ॥
अज्ञातमेकं राष्ट्रे च ततो वर्षं त्रयोदशम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु ॥ ५१ ॥

तब उसने शकुनिकी सहायतासे कपटपूर्ण जुएके द्वारा युधिष्ठिरको ठग लिया और उन्हें बारह वर्षतक वनमें और तेरहवें वर्ष एक राष्ट्रमें अज्ञातरूपसे वास करनेके लिये भेज दिया। इसके बाद चौदहवें वर्षमें पाण्डवोंने लौटकर अपना राज्य और धन माँगा ॥ ५०-५१ ॥

नालभन्त महाराज ततो युद्धमवर्तत ।
ततस्ते क्षत्रमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम् ॥ ५२ ॥
राज्यं विहतभूयिष्ठं प्रत्यपद्यन्त पाण्डवाः ।
एवमेतत् पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
भेदो राज्यविनाशाय जयश्च जयतां वर ॥ ५३ ॥

महाराज ! जब इस प्रकार न्यायपूर्वक माँगनेपर भी उन्हें राज्य नहीं मिला, तब दोनों दलोंमें युद्ध छिड़ गया। फिर तो पाण्डव-वीरोंने क्षत्रियकुलका संहार करके राजा दुर्योधनको भी मार डाला और अपने राज्यको, जिसका अधिकांश भाग उजाड़ हो गया था, पुनः अपने अधिकारमें कर लिया। विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! अनायास महान् कर्म करनेवाले पाण्डवोंका यही पुरातन इतिहास है। इस प्रकार राज्यके विनाशके लिये उनमें फूट पड़ी और युद्धके बाद उन्हें विजय प्राप्त हुई ॥ ५२-५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि भारतसूत्रं नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें भारतसूत्रनामक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(इस अध्यायमें ५३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल ५५ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

महाभारतकी महत्ता

जनमेजय उवाच

कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम ।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत् ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपने कुरुवंशियोंके चरित्ररूप महान् महाभारत-नामक सम्पूर्ण इतिहासका बहुत संक्षेपसे वर्णन किया है ॥ १ ॥

कथां त्वनघ चित्रार्थां कथयस्व तपोधन।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ॥ २ ॥

निष्पाप तपोधन! अब उस विचित्र अर्थवाली कथाको विस्तारके साथ कहिये; क्योंकि उसे विस्तारपूर्वक सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ २ ॥

स भवान् विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ ३ ॥

विप्रवर! आप पुनः पूरे विस्तारके साथ यह कथा सुनावें। मैं अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते तृप्त नहीं हो रहा हूँ ॥ ३ ॥

न तत् कारणमल्पं वै धर्मज्ञा यत्र पाण्डवाः।
अवध्यान् सर्वशो जघ्नुः प्रशस्यन्ते च मानवैः ॥ ४ ॥

सब मनुष्योंद्वारा जिनकी प्रशंसा की जाती है, उन धर्मज्ञ पाण्डवोंने जो युद्धभूमिमें समस्त अवध्य सैनिकोंका भी वध किया था, इसका कोई छोटा या साधारण कारण नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

किमर्थं ते नरव्याघ्राः शक्ताः सन्तो ह्यनागसः।
प्रयुज्यमानान् संक्लेशान् क्षान्तवन्तो दुरात्मनाम् ॥ ५ ॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव शक्तिशाली और निरपराध थे तो भी उन्होंने दुरात्मा कौरवोंके दिये हुए महान् क्लेशोंको कैसे चुपचाप सहन कर लिया? ॥ ५ ॥

कथं नागायुतप्राणो बाहुशाली वृकोदरः।
परिक्लिश्यन्नपि क्रोधं धृतवान् वै द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

द्विजोत्तम! अपनी विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनमें तो दस हजार हाथियोंका बल था। फिर उन्होंने क्लेश उठाते हुए भी क्रोधको किसलिये रोक रक्खा था? ॥ ६ ॥

कथं सा द्रौपदी कृष्णा क्लिश्यमाना दुरात्मभिः।
शक्ता सती धार्तराष्ट्रान् नादहत् क्रोधचक्षुषा ॥ ७ ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णा भी सब कुछ करनेमें समर्थ, सती-साध्वी देवी थीं। धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्रोंद्वारा सतायी जानेपर भी उन्होंने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टिसे उन सबको जलाकर भस्म क्यों नहीं कर दिया? ॥ ७ ॥

कथं व्यसनिनं द्यूते पार्थौ माद्रीसुतौ तदा।
अन्वयुस्ते नरव्याघ्रा बाध्यमाना दुरात्मभिः ॥ ८ ॥

कुन्तीके दोनों पुत्र भीमसेन और अर्जुन तथा माद्रीनन्दन नकुल और सहदेव भी उस समय दुष्ट कौरवोंद्वारा अकारण सताये गये थे। उन चारों भाइयोंने जुएके दुर्व्यसनमें फँसे हुए राजा युधिष्ठिरका साथ क्यों दिया? ॥ ८ ॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः सुतो धर्मस्य धर्मवित्।
अनर्हः परमं क्लेशं सोढवान् स युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मपुत्र युधिष्ठिर धर्मके ज्ञाता थे, महान् क्लेशमें पड़ने योग्य कदापि नहीं थे, तो भी उन्होंने वह सब कैसे सहन कर लिया? ॥ ९ ॥

कथं च बहुलाः सेनाः पाण्डवः कृष्णसारथिः।
अस्यन्नेकोऽनयत् सर्वाः पितृलोकं धनंजयः ॥ १० ॥

भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सारथि थे, उन पाण्डुनन्दन अर्जुनने अकेले ही बाणोंकी वर्षा करके समस्त सेनाओंको, जिनकी संख्या बहुत बड़ी थी, किस प्रकार यमलोक पहुँचा दिया? ॥ १० ॥

एतदाचक्ष्व मे सर्वं यथावृत्तं तपोधन।
यद् यच्च कृतवन्तस्ते तत्र तत्र महारथाः ॥ ११ ॥

तपोधन! यह सब वृत्तान्त आप ठीक-ठीक मुझे बताइये। उन महारथी वीरोंने विभिन्न स्थानों और अवसरोंमें जो-जो कर्म किये थे, वह सब सुनाइये ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षणं कुरु महाराज विपुलोऽयमनुक्रमः।
पुण्याख्यानस्य वक्तव्यः कृष्णद्वैपायनेरितः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी बोले—महाराज! इसके लिये कुछ समय नियत कीजिये; क्योंकि इस पवित्र आख्यानका श्रीव्यासजीके द्वारा जो क्रमानुसार वर्णन किया गया है, वह बहुत विस्तृत है और वह सब आपके समक्ष कहकर सुनाना है ॥ १२ ॥

महर्षेः सर्वलोकेषु पूजितस्य महात्मनः।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ॥ १३ ॥

सर्वलोकपूजित अमित तेजस्वी महामना महर्षि व्यासजीके सम्पूर्ण मतका यहाँ वर्णन करूँगा ॥ १३ ॥

इदं शतसहस्रं हि श्लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
सत्यवत्यात्मजेनेह व्याख्यातममितौजसा ॥ १४ ॥

असीम प्रभावशाली सत्यवतीनन्दन व्यासजीने पुण्यात्मा पाण्डवोंकी यह कथा एक लाख श्लोकोंमें कही है ॥ १४ ॥

य इदं श्रावयेद् विद्वान् ये चेदं शृणुयुर्नराः।
ते ब्रह्मणः स्थानमेत्य प्राप्नुयुर्देवतुल्यताम् ॥ १५ ॥

जो विद्वान् इस आख्यानको सुनाता है और जो मनुष्य सुनते हैं, वे ब्रह्मलोकमें जाकर देवताओंके समान हो जाते हैं ॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
श्राव्याणामुत्तमं चेदं पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ १६ ॥

यह ऋषियोंद्वारा प्रशंसित पुरातन इतिहास श्रवण करनेयोग्य सब ग्रन्थोंमें श्रेष्ठ है। यह वेदोंके समान ही पवित्र तथा उत्तम है ॥ १६ ॥

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी ॥ १७ ॥

अक्षुद्रान् दानशीलांश्च सत्यशीलाननास्तिकान्।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्छ्रावयित्वार्थमश्नुते ॥ १८ ॥

इसमें अर्थ और धर्मका भी पूर्णरूपसे उपदेश किया जाता है। इस परम पावन इतिहाससे मोक्षबुद्धि प्राप्त होती है। जिनका स्वभाव अथवा विचार खोटा नहीं है, जो दानशील, सत्यवादी और आस्तिक हैं, ऐसे लोगोंको व्यासद्वारा विरचित वेदस्वरूप इस महाभारतका जो श्रवण कराता है, वह विद्वान् अभीष्ट अर्थको प्राप्त कर लेता है ॥ १७-१८ ॥

भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यादसंशयम्।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुरुषोऽपि सुदारुणः ॥ १९ ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो राहुणा चन्द्रमा यथा।
जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा ॥ २० ॥

साथ ही वह भ्रूणहत्या-जैसे पापको भी नष्ट कर देता है, इसमें संशय नहीं है। इस इतिहासको श्रवण करके अत्यन्त क्रूर मनुष्य भी राहुसे छूटे हुए चन्द्रमाकी भाँति सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। यह 'जय' नामक इतिहास विजयकी इच्छावाले पुरुषको अवश्य सुनना चाहिये ॥ १९-२० ॥

महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत्।
इदं पुंसवनं श्रेष्ठमिदं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २१ ॥

इसका श्रवण करनेवाला राजा भूमिपर विजय पाता और सब शत्रुओंको परास्त कर देता है। यह पुत्रकी प्राप्ति करानेवाला और महान् मङ्गलकारी श्रेष्ठ साधन है ॥ २१ ॥

महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥ २२ ॥

युवराज तथा रानीको बारम्बार इसका श्रवण करते रहना चाहिये, इससे वह वीर पुत्र अथवा राज्यसिंहासनपर बैठनेवाली कन्याको जन्म देती है ॥ २२ ॥

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥ २३ ॥

अमित मेधावी व्यासजीने इसे पुण्यमय धर्मशास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा है ॥ २३ ॥

सम्प्रत्याचक्षते चेदं तथा श्रोष्यन्ति चापरे।
पुत्राः शुश्रूषवः सन्ति प्रेष्याश्च प्रियकारिणः ॥ २४ ॥

जो वर्तमानकालमें इसका पाठ करते हैं तथा जो भविष्यमें इसे सुनेंगे, उनके पुत्र सेवापरायण और सेवक स्वामीका प्रिय करनेवाले होंगे ॥ २४ ॥

शरीरेण कृतं पापं वाचा च मनसैव च।
सर्वं संत्यजति क्षिप्रं य इदं शृणुयान्नरः ॥ २५ ॥

जो मानव इस महाभारतको सुनता है, वह शरीर, वाणी और मनके द्वारा किये हुए सम्पूर्ण पापोंको त्याग देता है ॥ २५ ॥

भरतानां महज्जन्म शृण्वतामनसूयताम्।
नास्ति व्याधिभयं तेषां परलोकभयं कुतः ॥ २६ ॥

जो दूसरोंके दोष न देखनेवाले भरतवंशियोंके महान् जन्म-वृत्तान्तरूप महाभारतका श्रवण करते हैं, उन्हें इस लोकमें भी रोग-व्याधिका भय नहीं होता, फिर परलोकमें तो हो ही कैसे सकता है? ॥ २६ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च।
कृष्णद्वैपायनेनेदं कृतं पुण्यचिकीर्षुणा ॥ २७ ॥
कीर्तिं प्रथयता लोके पाण्डवानां महात्मनाम्।
अन्येषां क्षत्रियाणां च भूरिद्रविणतेजसाम् ॥ २८ ॥
सर्वविद्यावदातानां लोके प्रथितकर्मणाम्।
य इदं मानवो लोके पुण्यार्थे ब्राह्मणाञ्छुचीन् ॥ २९ ॥
श्रावयेत महापुण्यं तस्य धर्मः सनातनः।
कुरूणां प्रथितं वंशं कीर्तयन् सततं शुचिः ॥ ३० ॥

लोकमें जिनके महान् कर्म विख्यात हैं, जो सम्पूर्ण विद्याओंके ज्ञानद्वारा उद्भासित होते थे और जिनके धन एवं तेज महान् थे, ऐसे महामना पाण्डवों तथा अन्य क्षत्रियोंकी उज्ज्वल कीर्तिको लोकमें फैलानेवाले और पुण्यकर्मके इच्छुक श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने इस पुण्यमय महाभारत ग्रन्थका निर्माण किया है। यह धन, यश, आयु, पुण्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। जो मानव इस लोकमें पुण्यके लिये पवित्र ब्राह्मणोंको इस परम पुण्यमय ग्रन्थका श्रवण कराता है, उसे शाश्वत धर्मकी प्राप्ति होती है। जो सदा कौरवोंके इस विख्यात वंशका कीर्तन करता है, वह पवित्र हो जाता है ॥ २७-३० ॥

वंशमाप्नोति विपुलं लोके पूज्यतमो भवेत्।
योऽधीते भारतं पुण्यं ब्राह्मणो नियतव्रतः ॥ ३१ ॥
चतुरो वार्षिकान् मासान् सर्वपापैः प्रमुच्यते।
विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् ॥ ३२ ॥

इसके सिवा, उसे विपुल वंशकी प्राप्ति होती है और वह लोकमें अत्यन्त पूजनीय होता है। जो ब्राह्मण नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए वर्षाके चार महीनेतक निरन्तर इस पुण्यप्रद महाभारतका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। जो महाभारतका पाठ करता है, उसे सम्पूर्ण वेदोंका पारङ्गत विद्वान् जानना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

देवा राजर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मर्षयस्तथा।
कीर्त्यन्ते धूतपाप्मानः कीर्त्यते केशवस्तथा ॥ ३३ ॥

इसमें देवताओं, राजर्षियों तथा पुण्यात्मा ब्रह्मर्षियोंके, जिन्होंने अपने सब पाप धो दिये हैं, चरित्रका वर्णन किया गया है। इसके सिवा इस ग्रन्थमें भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका भी कीर्तन किया जाता है ॥ ३३ ॥

भगवांश्चापि देवेशो यत्र देवी च कीर्त्यते।
अनेकजननो यत्र कार्तिकेयस्य सम्भवः ॥ ३४ ॥

देवेश्वर भगवान् शिव और देवी पार्वतीका भी इसमें वर्णन है तथा अनेक माताओंसे उत्पन्न होनेवाले कार्तिकेयजीके जन्मका प्रसङ्ग भी इसमें कहा गया है ॥ ३४ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यते ।
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणों तथा गौओंके माहात्म्यका निरूपण भी इस ग्रन्थमें किया गया है । इस प्रकार यह महाभारत सम्पूर्ण श्रुतियोंका समूह है । धर्मात्मा पुरुषोंको सदा इसका श्रवण करना चाहिये ॥

य इदं श्रावयेद् विद्वान् ब्राह्मणानिह पर्वसु ।
धूतपाप्मा जितस्वर्गो ब्रह्म गच्छति शाश्वतम् ॥ ३६ ॥

जो विद्वान् पर्वके दिन ब्राह्मणोंको इसका श्रवण कराता है, उसके सब पाप धुल जाते हैं और वह स्वर्गलोकको जीतकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

(यस्तु राजा शृणोतीदमखिलामश्नुते महीम् ।
प्रसूते गर्भिणी पुत्रं कन्या चाशु प्रदीयते ॥
वणिजः सिद्धयात्राः स्युर्वीरा विजयमाप्नुयुः ।
आस्तिकाञ्छ्रावयेन्नित्यं ब्राह्मणाननसूयकान् ॥
वेदविद्याव्रतस्नातान् क्षत्रियाञ्जयमास्थितान् ।
स्वधर्मनित्यान् वैश्यांश्च श्रावयेत् क्षत्रसंश्रितान् ॥)

जो राजा इस महाभारतको सुनता है, वह सारी पृथ्वीके राज्यका उपभोग करता है । गर्भवती स्त्री इसका श्रवण करे तो वह पुत्रको जन्म देती है । कुमारी कन्या इसे सुने तो उसका शीघ्र विवाह हो जाता है । व्यापारी वैश्य यदि महाभारत श्रवण करें तो उनकी व्यापारके लिये की हुई यात्रा सफल होती है । शूरवीर सैनिक इसे सुननेसे युद्धमें विजय पाते हैं । जो आस्तिक और दोषदृष्टिसे रहित हों, उन ब्राह्मणोंको नित्य इसका श्रवण कराना चाहिये । वेद-विद्याका अध्ययन एवं ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण करके जो स्नातक हो चुके हैं, उन विजयी क्षत्रियोंको और क्षत्रियोंके अधीन रहनेवाले स्वधर्मपरायण वैश्योंको भी महाभारत श्रवण कराना चाहिये ॥

(एष धर्मः पुरा दृष्टः सर्वधर्मेषु भारत ।
ब्राह्मणाच्छ्रवणं राजन् विशेषेण विधीयते ॥
भूयो वा यः पठेन्नित्यं स गच्छेत् परमां गतिम् ।
श्लोकं वाप्यनु गृह्णीत तथार्धश्लोकमेव वा ॥
अपि पादं पठेन्नित्यं न च निर्भारतो भवेत् ।)

भारत ! सब धर्मोंमें यह महाभारत-श्रवणरूप श्रेष्ठ धर्म पूर्वकालसे ही देखा गया है । राजन् ! विशेषतः ब्राह्मणके मुखसे इसे सुननेका विधान है । जो वारम्बार अथवा प्रतिदिन इसका पाठ करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है । प्रतिदिन चाहे एक श्लोक या आधे श्लोक अथवा श्लोकके एक चरणका ही पाठ कर ले, किंतु महाभारतके अध्ययनसे शून्य कभी नहीं रहना चाहिये ॥

(इह नैकाश्रयं जन्म राजर्षीणां महात्मनाम् ॥
इह मन्त्रपदं युक्तं धर्मं चानेकदर्शनम् ।
इह युद्धानि चित्राणि राज्ञां वृद्धिरिहैव च ॥
ऋषीणां च कथास्तात इह गन्धर्वरक्षसाम् ।
इह तत् तत् समासाद्य विहितो वाक्यविस्तरः ॥
तीर्थानां नाम पुण्यानां देशानां चेह कीर्तनम् ।
वनानां पर्वतानां च नदीनां सागरस्य च ॥)

इस महाभारतमें महात्मा राजर्षियोंके विभिन्न प्रकारके जन्म-वृत्तान्तोंका वर्णन है । इसमें मन्त्र-पदोंका प्रयोग है । अनेक दृष्टियों (मतों) के अनुसार धर्मके स्वरूपका विवेचन किया गया है । इस ग्रन्थमें विचित्र युद्धोंका वर्णन तथा राजाओंके अभ्युदयकी कथा है । तात ! इस महाभारतमें ऋषियों तथा गन्धर्वों एवं राक्षसोंकी भी कथाएँ हैं । इसमें विभिन्न प्रसङ्गोंको लेकर विस्तारपूर्वक वाक्यरचना की गयी है । इसमें पुण्यतीर्थों, पवित्र देशों, वनों, पर्वतों, नदियों और समुद्रके भी माहात्म्यका प्रतिपादन किया गया है ॥

(देशानां चैव पुण्यानां पुराणां चैव कीर्तनम् ।
उपचारस्तथैवाग्र्यो वीर्यमप्यतिमानुषम् ॥
इह सत्कारयोगश्च भारते परमर्षिणा ।
रथाश्ववारणेन्द्राणां कल्पना युद्धकौशलम् ॥
वाक्यजातिरनेका च सर्वमस्मिन् समर्पितम् ।)

पुण्यप्रदेशों तथा नगरोंका भी वर्णन किया गया है । श्रेष्ठ उपचार और अलौकिक पराक्रमका भी वर्णन है । इस महाभारतमें महर्षि व्यासने सत्कार-योग (स्वागत-सत्कारके विविध प्रकार) का निरूपण किया है तथा रथसेना, अश्वसेना और गज-सेनाकी व्यूहरचना तथा युद्धकौशलका वर्णन किया है । इसमें अनेक शैलीकी वाक्ययोजना—कथोपकथनका समावेश हुआ है । सारांश यह कि इस ग्रन्थमें सभी विषयोंका वर्णन है ॥

श्रावयेद् ब्राह्मणाञ्छ्राद्धे यश्चेमं पादमन्ततः ।
अक्षय्यं तस्य तच्छ्राद्धमुपावर्तेत् पितॄनिह ॥ ३७ ॥

जो श्राद्ध करते समय अन्तमें ब्राह्मणोंको महाभारतके श्लोकका एक चतुर्थांश भी सुना देता है, उसका किया हुआ वह श्राद्ध अक्षय होकर पितरोंको अवश्य प्राप्त हो जाता है ॥

अह्ना यदेनः क्रियते इन्द्रियैर्मनसापि वा ।
ज्ञानादज्ञानतो वापि प्रकरोति नरश्च यत् ॥ ३८ ॥
तन्महाभारताख्यानं श्रुत्वैव प्रविलीयते ।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥ ३९ ॥

दिनमें इन्द्रियों अथवा मनके द्वारा जो पाप बन जाता है अथवा मनुष्य-जानकर या अनजानमें जो पाप कर बैठता है, वह सब महाभारतकी कथा सुनते ही नष्ट हो जाता है । इसमें भरतवंशियोंके महान् जन्म-वृत्तान्तका वर्णन है, इसलिये इसको 'महाभारत' कहते हैं ॥ ३८-३९ ॥

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
भरतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतः ॥ ४० ॥
महतो ह्येनसो मर्त्यान् मोचयेदनुकीर्तितः ।
त्रिभिर्वर्षैर्लब्धकामः कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥ ४१ ॥
नित्योत्थितः शुचिः शक्तो महाभारतमादितः ।
तपो नियममास्थाय कृतमेतन्महर्षिणा ॥ ४२ ॥
तस्मान्नियमसंयुक्तैः श्रोतव्यं ब्राह्मणैरिदम् ।
कृष्णप्रोक्तामिमां पुण्यां भारतीमुत्तमां कथाम् ॥ ४३ ॥
श्रावयिष्यन्ति ये विप्रा ये च श्रोष्यन्ति मानवाः ।
सर्वथा वर्तमाना वै न ते शोच्याः कृताकृतैः ॥ ४४ ॥

जो महाभारत नामका यह निरुक्त (व्युत्पत्तियुक्त अर्थ) जानता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । यह भरतवंशी क्षत्रियोंका महान् और अद्भुत इतिहास है । अतः निरन्तर पाठ करनेपर मनुष्योंको बड़े-से-बड़े पापसे छुड़ा देता है । शक्तिशाली आप्तकाम मुनिवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स्नान-संध्या आदिसे शुद्ध हो आदिसे ही महाभारतकी रचना करते थे । महर्षिने तपस्या और नियमका आश्रय लेकर तीन वर्षोंमें इस ग्रन्थको पूरा किया है । इसलिये ब्राह्मणोंको भी नियममें स्थित होकर ही इस कथाका श्रवण करना चाहिये । जो ब्राह्मण श्रीव्यासजीकी कही हुई इस पुण्यदायिनी उत्तम भारती कथाका श्रवण करायेंगे और जो मनुष्य इसे सुनेंगे, वे सब प्रकारकी चेष्टा करते हुए भी इस बातके लिये शोक करने योग्य नहीं हैं कि उन्होंने अमुक कर्म क्यों किया और अमुक कर्म क्यों नहीं किया ॥४०—४४॥

नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि ।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४५ ॥

धर्मकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यके द्वारा यह सारा महाभारत इतिहास पूर्णरूपसे श्रवण करनेयोग्य है । ऐसा करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है ॥ ४५ ॥

न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः ।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥ ४६ ॥

इस महान् पुण्यदायक इतिहासको सुननेमात्रसे ही मनुष्यको जो संतोष प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेनेसे भी नहीं मिलता ॥ ४६ ॥

शृण्वञ्छ्राद्धः पुण्यशीलः श्रावयंश्चेदमद्भुतम् ।
नरः फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥ ४७ ॥

जो पुण्यात्मा मनुष्य श्रद्धापूर्वक इस अद्भुत इतिहासको सुनता और सुनाता है, वह राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञका फल पाता है ॥ ४७ ॥

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महागिरिः ।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥ ४८ ॥

जैसे ऐश्वर्यपूर्ण समुद्र और महान् पर्वत मेरु दोनों रत्नोंकी खान कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत रत्नस्वरूप कथाओं और उपदेशोंका भण्डार कहा जाता है ॥ ४८ ॥

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
श्रव्यं श्रुतिसुखं चैव पावनं शीलवर्धनम् ॥ ४९ ॥

यह महाभारत वेदोंके समान पवित्र और उत्तम है । यह सुनने योग्य तो है ही, सुनते समय कानोंको सुख देनेवाला भी है । इसके श्रवणसे अन्तःकरण पवित्र होता और उत्तम शील-स्वभावकी वृद्धि होती है ॥ ४९ ॥

य इदं भारतं राजन् वाचकाय प्रयच्छति ।
तेन सर्वा मही दत्ता भवेत् सागरमेखला ॥ ५० ॥

राजन् ! जो वाचकको यह महाभारत दान करता है, उसके द्वारा समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका दान सम्पन्न हो जाता है ॥ ५० ॥

पारिक्षित कथां दिव्यां पुण्याय विजयाय च ।
कथ्यमानां मया कृत्स्नां शृणु हर्षकरीमिमाम् ॥ ५१ ॥

जनमेजय ! मेरेद्वारा कही हुई इस आनन्ददायिनी दिव्य कथाको तुम पुण्य और विजयकी प्राप्तिके लिये पूर्णरूपसे सुनो॥

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ॥ ५२ ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इस ग्रन्थका निर्माण करनेवाले महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायनने महाभारत नामक इस अद्भुत इतिहासको तीन वर्षोंमें पूर्ण किया है ॥ ५२ ॥

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ ५३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जो बात इस ग्रन्थमें है, वही अन्यत्र भी है । जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि महाभारतप्रशंसायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें महाभारतप्रशंसा-विषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

(इस अध्यायमें ५३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक और कुल ६४½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

राजा उपरिचरका चरित्र तथा सत्यवती, व्यासादि प्रमुख पात्रोंकी संक्षिप्त जन्मकथा

वैशम्पायन उवाच

राजोपरिचरो नाम धर्मनित्यो महीपतिः।
बभूव मृगयां गन्तुं सदा किल धृतव्रतः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पहले उपरिचर नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो नित्य-निरन्तर धर्ममें ही लगे रहते थे। साथ ही सदा हिंसक पशुओंके शिकारके लिये वनमें जानेका उनका नियम था॥ १॥

स चेदिविषयं रम्यं वसुः पौरवनन्दनः।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह रमणीयं महीपतिः॥ २॥

पौरवनन्दन राजा उपरिचर वसुने इन्द्रके कहनेसे अत्यन्त रमणीय चेदिदेशका राज्य स्वीकार किया था॥ २॥

तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं निवसन्तं तपोनिधिम्।
देवाः शक्रपुरोगा वै राजानमुपतस्थिरे॥ ३॥
इन्द्रत्वमर्हो राजायं तपसेत्यनुचिन्त्य वै।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात् तपसः संन्यवर्तयन्॥ ४॥

एक समयकी बात है, राजा वसु अस्त्र-शस्त्रोंका त्याग करके आश्रममें निवास करने लगे। उन्होंने बड़ा भारी तप किया, जिससे वे तपोनिधि माने जाने लगे। उस समय इन्द्र आदि देवता यह सोचकर कि यह राजा तपस्याके द्वारा इन्द्रपद प्राप्त करना चाहता है, उनके समीप गये। देवताओंने राजाको प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन्हें शान्तिपूर्वक समझाया और तपस्यासे निवृत्त कर दिया॥ ३-४॥

देवा ऊचुः

न संकीर्येत धर्मोऽयं पृथिव्यां पृथिवीपते।
त्वया हि धर्मो विधृतः कृत्स्नं धारयते जगत्॥ ५॥

देवता बोले—पृथ्वीपते! तुम्हें ऐसी चेष्टा रखनी चाहिये जिससे इस भूमिपर वर्णसंकरता न फैलने पावे (तुम्हारे न रहनेसे अराजकता फैलनेका भय है; जिससे प्रजा स्वधर्ममें स्थित नहीं रह सकेगी। अतः तुम्हें तपस्या न करके इस वसुधाका संरक्षण करना चाहिये)। राजन्! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित धर्म ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रहा है॥ ५॥

इन्द्र उवाच

लोके धर्मं पालय त्वं नित्ययुक्तः समाहितः।
धर्मयुक्तस्ततो लोकान् पुण्यान् प्राप्स्यसि शाश्वतान्॥ ६॥

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम इस लोकमें सदा सावधान और प्रयत्नशील रहकर धर्मका पालन करो। धर्मयुक्त रहनेपर तुम सनातन पुण्यलोकोंको प्राप्त कर सकोगे॥ ६॥

दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं सखाभूतो मम प्रियः।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप॥ ७॥

यद्यपि मैं स्वर्गमें रहता हूँ और तुम भूमिपर; तथापि आजसे तुम मेरे प्रिय सखा हो गये। नरेश्वर! इस पृथ्वीपर जो सबसे सुन्दर एवं रमणीय देश हो, उसीमें तुम निवास करो॥ ७॥

पशव्यश्चैव पुण्यश्च प्रभूतधनधान्यवान्।
स्वारक्ष्यश्चैव सौम्यश्च भोग्यैर्भूमिगुणैर्युतः॥ ८॥
अर्थवानेष देशो हि धनरत्नादिभिर्युतः।
वसुपूर्णा च वसुधा वस चेदिषु चेदिप॥ ९॥
धर्मशीला जनपदाः सुसंतोषाश्च साधवः।
न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा॥ १०॥
न च पित्रा विभज्यन्ते पुत्रा गुरुहिते रताः।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशान् संधुक्षयन्ति च॥ ११॥
सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः सदा चेदिषु मानद।
न तेऽस्त्यविदितं किंचित् त्रिषु लोकेषु यद् भवेत्॥ १२॥

इस समय चेदि देश पशुओंके लिये हितकर, पुण्यजनक, प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न, स्वर्गके समान सुखद होनेके कारण रक्षणीय, सौम्य तथा भोग्य पदार्थों और भूमिसम्बन्धी उत्तम गुणोंसे युक्त है। यह देश अनेक पदार्थोंसे युक्त और धन-रत्न आदिसे सम्पन्न है। यहाँकी वसुधा वास्तवमें वसु (धन-सम्पत्ति) से भरी-पूरी है। अतः तुम चेदि देशके पालक होकर उसीमें निवास करो। यहाँके जनपद धर्मशील, संतोषी और साधु हैं। यहाँ हास-परिहासमें भी कोई झूठ नहीं बोलता, फिर अन्य अवसरोंपर तो बोल ही कैसे सकता है। पुत्र सदा गुरुजनोंके हितमें लगे रहते हैं, पिता अपने जीते-जी उनका बँटवारा नहीं करते। यहाँके लोग बैलोंको भार ढोनेमें नहीं लगाते और दीनों एवं अनाथोंका पोषण करते हैं। मानद! चेदि देशमें सब वर्णोंके लोग सदा अपने-अपने धर्ममें स्थित रहते हैं। तीनों लोकोंमें जो कोई घटना होगी, वह सब यहाँ रहते हुए भी तुमसे छिपी न रहेगी—तुम सर्वज्ञ बने रहोगे॥ ८—१२॥

देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत्।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते॥ १३॥

जो देवताओंके उपभोगमें आने योग्य है, ऐसा स्फटिक मणिका बना हुआ एक दिव्य, आकाशचारी एवं विशाल विमान मैंने तुम्हें भेंट किया है। वह आकाशमें तुम्हारी सेवाके लिये सदा उपस्थित रहेगा॥ १३॥

त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि देवो विग्रहवानिव॥ १४॥

सम्पूर्ण मनुष्योंमें एक तुम्हीं इस श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मूर्तिमान् देवताकी भाँति सबके ऊपर-ऊपर विचरोगे ॥ १४ ॥

ददामि ते वैजयन्तीं मालामम्लानपङ्कजाम्।
धारयिष्यति संग्रामे या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ॥ १५ ॥

मैं तुम्हें यह वैजयन्ती माला देता हूँ, जिसमें पिरोये हुए कमल कभी कुम्हलाते नहीं हैं। इसे धारण कर लेनेपर यह माला संग्राममें तुम्हें अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे बचायेगी ॥ १५ ॥

लक्षणं चैतदेवेह भविता ते नराधिप।
इन्द्रमालेति विख्यातं धन्यमप्रतिमं महत् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! यह माला ही इन्द्रमालाके नामसे विख्यात होकर इस जगत्में तुम्हारी पहचान करानेके लिये परम धन्य एवं अनुपम चिह्न होगी ॥ १६ ॥

यष्टिं च वैणवीं तस्मै ददौ वृत्रनिषूदनः।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्रने राजाको प्रेमोपहारस्वरूप बाँसकी एक छड़ी दी, जो शिष्ट पुरुषोंकी रक्षा करनेवाली थी ॥ १७ ॥

तस्याः शक्रस्य पूजार्थं भूमौ भूमिपतिस्तदा।
प्रवेशं कारयामास गते संवत्सरे तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर भूपाल वसुने इन्द्रकी पूजाके लिये उस छड़ीको भूमिमें गाड़ दिया ॥ १८ ॥

ततः प्रभृति चाद्यापि यष्टेः क्षितिपसत्तमैः।
प्रवेशः क्रियते राजन् यथा तेन प्रवर्तितः ॥ १९ ॥

राजन् ! तबसे लेकर आजतक श्रेष्ठ राजाओंद्वारा छड़ी धरतीमें गाड़ी जाती है। वसुने जो प्रथा चला दी, वह अबतक चली आती है ॥ १९ ॥

अपरेद्युस्ततस्तस्याः क्रियतेऽत्युच्छ्रयो नृपैः।
अलंकृतायाः पिटकैर्गन्धमाल्यैश्च भूषणैः ॥ २० ॥
माल्यदामपरिक्षिप्ता विधिवत् क्रियतेऽपि च।
भगवान् पूज्यते चात्र हंसरूपेण चेश्वरः ॥ २१ ॥

दूसरे दिन अर्थात् नवीन संवत्सरके प्रथम दिन प्रतिपदाको वह छड़ी वहाँसे निकालकर बहुत ऊँचे स्थानमें रखी जाती है; फिर कपड़ेकी पेटी, चन्दन, माला और आभूषणोंसे उसको सजाया जाता है। उसमें विधिपूर्वक फूलोंके हार और सूत लपेटे जाते हैं। तत्पश्चात् उसी छड़ीपर देवेश्वर भगवान् इन्द्रका हंसरूपसे पूजन किया जाता है ॥ २०-२१ ॥

स्वयमेव गृहीतेन वसोः प्रीत्या महात्मनः।
स तां पूजां महेन्द्रस्तु दृष्ट्वा देवः कृतां शुभाम् ॥ २२ ॥
वसुना राजमुख्येन प्रीतिमानब्रवीत् प्रभुः।
ये पूजयिष्यन्ति नरा राजानश्च महं मम ॥ २३ ॥
कारयिष्यन्ति च मुदा यथा चेदिपतिर्नृपः।
तेषां श्रीर्विजयश्चैव सराष्ट्राणां भविष्यति ॥ २४ ॥

इन्द्रने महात्मा वसुके प्रेमवश स्वयं हंसका रूप धारण करके वह पूजा ग्रहण की। नृपश्रेष्ठ वसुके द्वारा की हुई उस शुभ पूजाको देखकर प्रभावशाली भगवान् महेन्द्र प्रसन्न हो गये और इस प्रकार बोले—'चेदिदेशके अधिपति उपरिचर वसु जिस प्रकार मेरी पूजा करते हैं, उसी तरह जो मनुष्य तथा राजा मेरी पूजा करेंगे और मेरे इस उत्सवको रचायेंगे, उनको और उनके समूचे राष्ट्रको लक्ष्मी एवं विजयकी प्राप्ति होगी ॥ २२-२४ ॥

तथा स्फीतो जनपदो मुदितश्च भविष्यति।
एवं महात्मना तेन महेन्द्रेण नराधिप ॥ २५ ॥
वसुः प्रीत्या मघवता महाराजोऽभिसत्कृतः।
उत्सवं कारयिष्यन्ति सदा शक्रस्य ये नराः ॥ २६ ॥
भूमिरत्नादिभिर्दानैस्तथा पूज्या भवन्ति ते।
वरदानमहायज्ञैस्तथा शक्रोत्सवेन च ॥ २७ ॥

'इतना ही नहीं, उनका सारा जनपद ही उत्तरोत्तर उन्नतिशील और प्रसन्न होगा।' राजन् ! इस प्रकार महात्मा महेन्द्रने, जिन्हें मघवा भी कहते हैं, प्रेमपूर्वक महाराज वसुका भलीभाँति सत्कार किया। जो मनुष्य भूमि तथा रत्न आदिका दान करते हुए सदा देवराज इन्द्रका उत्सव रचायेंगे, वे इन्द्रोत्सवद्वारा इन्द्रका वरदान पाकर उसी उत्तम गतिको पा जायँगे, जिसे भूमिदान आदिके पुण्योंसे युक्त मानव प्राप्त करते हैं ॥ २५-२७ ॥

सम्पूजितो मघवता वसुश्चेदीश्वरो नृपः।
पालयामास धर्मेण चेदिस्थः पृथिवीमिमाम् ॥ २८ ॥

इन्द्रके द्वारा उपर्युक्त रूपसे सम्मानित चेदिराज वसुने चेदि देशमें ही रहकर इस पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया ॥ २८ ॥

इन्द्रप्रीत्या चेदिपतिश्चकारेन्द्रमहं वसुः।
पुत्राश्चास्य महावीर्याः पञ्चासन्नमितौजसः ॥ २९ ॥

इन्द्रकी प्रसन्नताके लिये चेदिराज वसु प्रतिवर्ष इन्द्रोत्सव मनाया करते थे। उनके अनन्त बलशाली महापराक्रमी पाँच पुत्र थे ॥ २९ ॥

नानाराज्येषु च सुतान् स सम्राडभ्यषेचयत्।
महारथो मागधानां विश्रुतो यो बृहद्रथः ॥ ३० ॥

सम्राट् वसुने विभिन्न राज्योंपर अपने पुत्रोंको अभिषिक्त कर दिया। उनमें महारथी बृहद्रथ मगध देशका विख्यात राजा हुआ ॥ ३० ॥

प्रत्यग्रहः कुशाम्बश्च यमाहुर्मणिवाहनम्।
मावेल्लश्च यदुश्चैव राजन्यश्चापराजितः ॥ ३१ ॥

दूसरे पुत्रका नाम प्रत्यग्रह था, तीसरा कुशाम्ब था, जिसे मणिवाहन भी कहते हैं। चौथा मावेल्ल था। पाँचवाँ राजकुमार यदु था, जो युद्धमें किसीसे पराजित नहीं होता था ॥ ३१ ॥

एते तस्य सुता राजन् राजर्षेर्भूरितेजसः।
न्यवासयन् नामभिः स्वैस्ते देशांश्च पुराणि च ॥ ३२ ॥

राजा जनमेजय! महातेजस्वी राजर्षि वसुके इन पुत्रोंने अपने-अपने नामसे देश और नगर बसाये ॥ ३२ ॥

वासवाः पञ्च राजानः पृथग्वंशाश्च शाश्वताः।
वसन्तमिन्द्रप्रासादे आकाशे स्फाटिके च तम् ॥ ३३ ॥
उपतस्थुर्महात्मानं गन्धर्वाप्सरसो नृपम्।
राजोपरिचरेत्येवं नाम तस्याथ विश्रुतम् ॥ ३४ ॥

पाँचों वसुपुत्र भिन्न-भिन्न देशोंके राजा थे और उन्होंने पृथक्-पृथक् अपनी सनातन वंशपरम्परा चलायी। चेदिराज वसु इन्द्रके दिये हुए स्फटिक मणिमय विमानमें रहते हुए आकाशमें ही निवास करते थे। उस समय उन महात्मा नरेशकी सेवामें गन्धर्व और अप्सराएँ उपस्थित होती थीं। सदा ऊपर-ही-ऊपर चलनेके कारण उनका नाम 'राजा उपरिचर'के रूपमें विख्यात हो गया ॥ ३३-३४ ॥

पुरोपवाहिनीं तस्य नदीं शुक्तिमतीं गिरिः।
अरौत्सीच्चेतनायुक्तः कामात् कोलाहलः किल ॥ ३५ ॥

उनकी राजधानीके समीप शुक्तिमती नदी बहती थी। एक समय कोलाहल नामक सचेतन पर्वतने कामवश उस दिव्यरूपधारिणी नदीको रोक लिया ॥ ३५ ॥

गिरिं कोलाहलं तं तु पदा वसुरताडयत्।
निश्चक्राम ततस्तेन प्रहारविवरेण सा ॥ ३६ ॥

उसके रोकनेसे नदीकी धारा रुक गयी। यह देख उपरिचर वसुने कोलाहल पर्वतपर अपने पैरसे प्रहार किया। प्रहार करते ही पर्वतमें दरार पड़ गयी, जिससे निकलकर वह नदी पहलेके समान बहने लगी ॥ ३६ ॥

तस्यां नद्यामजनयन्मिथुनं पर्वतः स्वयम्।
तस्माद् विमोक्षणात् प्रीता नदी राज्ञे न्यवेदयत् ॥ ३७ ॥

पर्वतने उस नदीके गर्भसे एक पुत्र और एक कन्या, जुड़वीं संतान उत्पन्न की थी। उसके अवरोधसे मुक्त करनेके कारण प्रसन्न हुई नदीने राजा उपरिचरको अपनी दोनों संतानें समर्पित कर दीं ॥ ३७ ॥

यः पुमानभवत् तत्र तं स राजर्षिसत्तमः।
वसुर्वसुप्रदश्चक्रे सेनापतिमरिन्दमः ॥ ३८ ॥

उनमें जो पुरुष था, उसे शत्रुओंका दमन करनेवाले धनदाता राजर्षिप्रवर वसुने अपना सेनापति बना लिया ॥ ३८ ॥

चकार पत्नीं कन्यां तु तथा तां गिरिकां नृपः।
वसोः पत्नी तु गिरिका कामकालं न्यवेदयत् ॥ ३९ ॥
ऋतुकालमनुप्राप्ता स्नाता पुंसवने शुचिः।
तदहः पितरश्चैनमूचुर्जहि मृगानिति ॥ ४० ॥
तं राजसत्तमं प्रीतास्तदा मतिमतां वर।
स पितॄणां नियोगं तमनतिक्रम्य पार्थिवः ॥ ४१ ॥
चकार मृगयां कामी गिरिकामेव संस्मरन्।
अतीवरूपसम्पन्नां साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥ ४२ ॥

और जो कन्या थी उसे राजाने अपनी पत्नी बना लिया। उसका नाम था गिरिका। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ जनमेजय! एक दिन ऋतुकालको प्राप्त हो स्नानके पश्चात् शुद्ध हुई वसुपत्नी गिरिकाने पुत्र उत्पन्न होने योग्य समयमें राजासे समागमकी इच्छा प्रकट की। उसी दिन पितरोंने राजाओंमें श्रेष्ठ वसुपर प्रसन्न हो उन्हें आज्ञा दी 'तुम हिंसक पशुओंका वध करो।' तब राजा पितरोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करके कामनावश साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान अत्यन्त रूप और सौन्दर्यके वैभवसे सम्पन्न गिरिकाका ही चिन्तन करते हुए हिंसक पशुओंको मारनेके लिये वनमें गये ॥ ३९-४२ ॥

अशोकैश्चम्पकैश्चूतैरनेकैरतिमुक्तकैः।
पुन्नागैः कर्णिकारैश्च वकुलैर्दिव्यपाटलैः ॥ ४३ ॥
पाटलैर्नारिकेलैश्च चन्दनैश्चार्जुनैस्तथा।
एतै रम्यैर्महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥ ४४ ॥
कोकिलाकुलसंनादं मत्तभ्रमरनादितम्।
वसन्तकाले तत् तस्य वनं चैत्ररथोपमम् ॥ ४५ ॥

राजाका वह वन देवताओंके चैत्ररथ नामक वनके समान शोभा पा रहा था। वसन्तका समय था; अशोक, चम्पा, आम, अतिमुक्तक (माधवीलता), पुन्नाग (नागकेसर), कनेर, मौलसिरी, दिव्य पाटल, पाटल, नारियल, चन्दन तथा अर्जुन—ये स्वादिष्ठ फलोंसे युक्त, रमणीय तथा पवित्र महावृक्ष उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। कोकिलाओंके कल-कूजनसे समस्त वन गूँज उठा था। चारों ओर मतवाले भौंरे कल-कल नाद कर रहे थे ॥ ४३-४५ ॥

मन्मथाभिपरीतात्मा नापश्यद् गिरिकां तदा।
अपश्यन् कामसंतप्तश्चरमाणो यदृच्छया ॥ ४६ ॥

यह उद्दीपन-सामग्री पाकर राजाका हृदय कामवेदनासे पीड़ित हो उठा। उस समय उन्हें अपनी रानी गिरिकाका दर्शन नहीं हुआ। उसे न देखकर कामाग्निसे संतप्त हो वे इच्छानुसार इधर-उधर घूमने लगे ॥ ४६ ॥

पुष्पसंछन्नशाखाग्रं पल्लवैरुपशोभितम्।
अशोकं स्तवकैश्छन्नं रमणीयमपश्यत ॥ ४७ ॥

घूमते-घूमते उन्होंने एक रमणीय अशोकका वृक्ष देखा, जो पल्लवोंसे सुशोभित और पुष्पके गुच्छोंसे आच्छादित था। उसकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे ढके हुए थे ॥ ४७ ॥

अधस्तात् तस्य छायायां सुखासीनो नराधिपः।
मधुगन्धैश्च संयुक्तं पुष्पगन्धमनोहरम् ॥ ४८ ॥

राजा उसी वृक्षके नीचे उसकी छायामें सुखपूर्वक बैठ गये। वह वृक्ष मकरन्द और सुगन्धसे भरा था। फूलोंकी गन्धसे वह बरबस मनको मोहे लेता था ॥ ४८ ॥

वायुना प्रेर्यमाणस्तु धूम्राय मुदमन्वगात्।
तस्य रेतः प्रचस्कन्द चरतो गहने वने ॥ ४९ ॥

उस समय कामोद्दीपक वायुसे प्रेरित हो राजाके मनमें रतिके लिये स्त्रीविषयक प्रीति उत्पन्न हुई। इस प्रकार वनमें विचरनेवाले राजा उपरिचरका वीर्य स्खलित हो गया ॥४९॥

स्कन्नमात्रं च तद् रेतो वृक्षपत्रेण भूमिपः।
प्रतिजग्राह मिथ्या मे न पतेद् रेत इत्युत ॥ ५० ॥

उसके स्खलित होते ही राजाने यह सोचकर कि मेरा वीर्य व्यर्थ न जाय, उसे वृक्षके पत्तेपर उठा लिया ॥५०॥

इदं मिथ्या परिस्कन्नं रेतो मे न भवेदिति।
ऋतुश्च तस्याः पत्न्या मे न मोघः स्यादिति प्रभुः ॥ ५१ ॥
संचिन्त्यैवं तदा राजा विचार्य च पुनः पुनः।
अमोघत्वं च विज्ञाय रेतसो राजसत्तमः ॥ ५२ ॥

उन्होंने विचार किया 'मेरा यह स्खलित वीर्य व्यर्थ न हो, साथ ही मेरी पत्नी गिरिकाका ऋतुकाल भी व्यर्थ न जाय' इस प्रकार बारम्बार विचारकर राजाओंमें श्रेष्ठ वसुने उस वीर्यको अमोघ बनानेका ही निश्चय किया ॥ ५१-५२ ॥

शुक्रप्रस्थापने कालं महिष्याः प्रसमीक्ष्य वै।
अभिमन्त्र्याथ तच्छुक्रमारात् तिष्ठन्तमाशुगम् ॥ ५३ ॥
सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्वज्ञो गत्वा श्येनं ततोऽब्रवीत्।
मत्प्रियार्थमिदं सौम्य शुक्रं मम गृहं नय ॥ ५४ ॥
गिरिकायाः प्रयच्छाशु तस्या ह्यार्तवमद्य वै।
गृहीत्वा तत् तदा श्येनस्तूर्णमुत्पत्य वेगवान् ॥ ५५ ॥

तदनन्तर रानीके पास अपना वीर्य भेजनेका उपयुक्त अवसर देख उन्होंने उस वीर्यको पुत्रोत्पत्तिकारक मन्त्रोंद्वारा अभिमन्त्रित किया। राजा वसु धर्म और अर्थके सूक्ष्मतत्त्वको जाननेवाले थे। उन्होंने अपने विमानके समीप ही बैठे हुए शीघ्रगामी श्येन पक्षी (बाज) के पास जाकर कहा—'सौम्य! तुम मेरा प्रिय करनेके लिये यह वीर्य मेरे घर ले जाओ और महारानी गिरिकाको शीघ्र दे दो; क्योंकि आज ही उनका ऋतुकाल है।' बाज वह वीर्य लेकर बड़े वेगके साथ तुरंत वहाँसे उड़ गया ॥ ५३–५५ ॥

जवं परममास्थाय प्रदुद्राव विहंगमः।
तमपश्यदथायान्तं श्येनं श्येनस्तथापरः ॥ ५६ ॥

वह आकाशचारी पक्षी सर्वोत्तम वेगका आश्रय ले उड़ा जा रहा था, इतनेहीमें एक दूसरे बाजने उसे आते देखा ॥५६॥

अभ्यद्रवच्च तं सद्यो दृष्ट्वैवामिषशङ्कया।
तुण्डयुद्धमथाकाशे तावुभौ सम्प्रचक्रतुः ॥ ५७ ॥

उस बाजको देखते ही उसके पास मांस होनेकी आशंकासे दूसरा बाज तत्काल उसपर टूट पड़ा। फिर वे दोनों पक्षी आकाशमें एक दूसरेको चोंचोंसे मारते हुए युद्ध करने लगे ॥

युध्यतोरपतद् रेतस्तच्चापि यमुनाम्भसि।
तत्राद्रिकेति विख्याता ब्रह्मशापाद् वराप्सराः ॥ ५८ ॥
मीनभावमनुप्राप्ता बभूव यमुनाचरी।
श्येनपादपरिभ्रष्टं तद् वीर्यमथ वासवम् ॥ ५९ ॥
जग्राह तरसोपेत्य साद्रिका मत्स्यरूपिणी।
कदाचिदपि मत्सीं तां बबन्धुर्मत्स्यजीविनः ॥ ६० ॥
मासे च दशमे प्राप्ते तदा भरतसत्तम।
उज्जह्रुरुदरात् तस्याः स्त्रीं पुमांसं च मानुषम् ॥ ६१ ॥

उन दोनोंके युद्ध करते समय वह वीर्य यमुनाजीके जलमें गिर पड़ा। अद्रिका नामसे विख्यात एक सुन्दरी अप्सरा ब्रह्माजीके शापसे मछली होकर वहीं यमुनाजीके जलमें रहती थी। बाजके पंजेसे छूटकर गिरे हुए वसुसम्बन्धी उस वीर्यको मत्स्यरूपधारिणी अद्रिकाने वेगपूर्वक आकर निगल लिया। भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् दसवाँ मास आनेपर मत्स्यजीवी मल्लाहोंने उस मछलीको जालमें बाँध लिया और उसके उदरको चीरकर एक कन्या और एक पुरुष निकाला ॥ ५८–६१ ॥

आश्चर्यभूतं तद् गत्वा राज्ञेऽथ प्रत्यवेदयन्।
काये मत्स्या इमौ राजन् सम्भूतौ मानुषाविति ॥ ६२ ॥

यह आश्चर्यजनक घटना देखकर मछेरोंने राजाके पास जाकर निवेदन किया—'महाराज! मछलीके पेटसे ये दो मनुष्य बालक उत्पन्न हुए हैं' ॥ ६२ ॥

तयोः पुमांसं जग्राह राजोपरिचरस्तदा।
स मत्स्यो नाम राजासीद् धार्मिकः सत्यसंगरः ॥ ६३ ॥

मछेरोंकी बात सुनकर राजा उपरिचरने उस समय उन दोनों बालकोंमेंसे जो पुरुष था, उसे स्वयं ग्रहण कर लिया। वही मत्स्य नामक धर्मात्मा एवं सत्यप्रतिज्ञ राजा हुआ ॥ ६३ ॥

साप्सरा मुक्तशापा च क्षणेन समपद्यत।
या पुरोक्ता भगवता तिर्यग्योनिगता शुभा ॥ ६४ ॥
मानुषौ जनयित्वा त्वं शापमोक्षमवाप्स्यसि।
ततः सा जनयित्वा तौ विशस्ता मत्स्यघातिना ॥ ६५ ॥
संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च।
सिद्धर्षिचारणपथं जगामाथ वराप्सराः ॥ ६६ ॥

इधर वह शुभलक्षणा अप्सरा अद्रिका क्षणभरमें शापमुक्त हो गयी। भगवान् ब्रह्माजीने पहले ही उससे कह दिया था कि 'तिर्यग् योनिमें पड़ी हुई तुम दो मानव-संतानोंको जन्म देकर शापसे छूट जाओगी।' अतः मछली मारनेवाले मल्लाहने जब उसे काटा तो वह मानव-बालकोंको जन्म देकर मछलीका रूप छोड़ दिव्य रूपको प्राप्त हो गयी। इस प्रकार

वह सुन्दरी अप्सरा सिद्ध महर्षि और चारणोंके पथसे स्वर्गलोकमें चली गयी ॥ ६४-६६ ॥

सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यसगन्धिनी।
राज्ञा दत्ता च दाशाय कन्येयं ते भवत्विति ॥ ६७ ॥

उन जुड़वी संतानोंमें जो कन्या थी, मछलीकी पुत्री होनेसे उसके शरीरसे मछलीकी गन्ध आती थी। अतः राजाने उसे मल्लाहको सौंप दिया और कहा—'यह तेरी पुत्री होकर रहे' ॥ ६७ ॥

रूपसत्त्वसमायुक्ता सर्वैः समुदिता गुणैः।
सा तु सत्यवती नाम मत्स्यघात्यभिसंश्रयात् ॥ ६८ ॥
आसीत् सा मत्स्यगन्धैव कंचित् कालं शुचिस्मिता।
शुश्रूषार्थं पितुर्नावं वाहयन्तीं जले च ताम् ॥ ६९ ॥
तीर्थयात्रां परिक्रामन्नपश्यद् वै पराशरः।
अतीवरूपसम्पन्नां सिद्धानामपि काङ्क्षिताम् ॥ ७० ॥

वह रूप और सत्त्व (सत्य) से संयुक्त तथा समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण 'सत्यवती' नामसे प्रसिद्ध हुई। मछेरोंके आश्रयमें रहनेके कारण वह पवित्र मुसकानवाली कन्या कुछ कालतक मत्स्यगन्धा नामसे ही विख्यात रही। वह पिताकी सेवाके लिये यमुनाजीके जलमें नाव चलाया करती थी। एक दिन तीर्थयात्राके उद्देश्यसे सब ओर विचरनेवाले महर्षि पराशरने उसे देखा। वह अतिशय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थी। सिद्धोंके हृदयमें भी उसे पानेकी अभिलाषा जाग उठती थी ॥ ६८-७० ॥

दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम्।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनिपुङ्गवः ॥ ७१ ॥

उसकी हँसी बड़ी मोहक थी, उसकी जाँघें कदलीकी-सी शोभा धारण करती थीं। उस दिव्य वसुकुमारीको देखकर परम बुद्धिमान् मुनिवर पराशरने उसके साथ समागमकी इच्छा प्रकट की ॥ ७१ ॥

संगमं मम कल्याणि कुरुष्वेत्यभ्यभाषत।
साब्रवीत् पश्य भगवन् पारावारे स्थितानृषीन् ॥ ७२ ॥

और कहा—'कल्याणी ! मेरे साथ संगम करो।' वह बोली—'भगवन् ! देखिये, नदीके आर-पार दोनों तटोंपर बहुत-से ऋषि खड़े हैं ॥ ७२ ॥

आवयोर्दृष्टयोरेभिः कथं तु स्यात् समागमः।
एवं तयोक्तो भगवान् नीहारमसृजत् प्रभुः ॥ ७३ ॥

'और हम दोनोंको देख रहे हैं। ऐसी दशामें हमारा समागम कैसे हो सकता है ?' उसके ऐसा कहनेपर शक्तिशाली भगवान् पराशरने कुहरेकी सृष्टि की ॥ ७३ ॥

येन देशः स सर्वस्तु तमोभूत इवाभवत्।
दृष्ट्वा सृष्टं तु नीहारं ततस्तं परमर्षिणा ॥ ७४ ॥
विस्मिता साभवत् कन्या व्रीडिता च तपस्विनी।

जिससे वहाँका सारा प्रदेश अन्धकारसे आच्छादित-सा हो गया। महर्षिद्वारा कुहरेकी सृष्टि देखकर वह तपस्विनी कन्या आश्चर्यचकित एवं लज्जित हो गयी ॥ ७४½ ॥

सत्यवत्युवाच

विद्धि मां भगवन् कन्यां सदा पितृवशानुगाम् ॥ ७५ ॥

सत्यवतीने कहा—भगवन् ! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं सदा अपने पिताके अधीन रहनेवाली कुमारी कन्या हूँ ॥

त्वत्संयोगाच्च दुष्येत कन्याभावो ममानघ।
कन्यात्वे दूषिते वापि कथं शक्ष्ये द्विजोत्तम ॥ ७६ ॥
गृहं गन्तुमृषे चाहं धीमन् न स्थातुमुत्सहे।
एतत् संचिन्त्य भगवन् विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ ७७ ॥

निष्पाप महर्षे ! आपके संयोगसे मेरा कन्याभाव (कुमारीपन) दूषित हो जायगा। द्विजश्रेष्ठ ! कन्याभाव दूषित हो जानेपर मैं कैसे अपने घर जा सकती हूँ। बुद्धिमान् मुनीश्वर ! अपने कन्यापनके कलङ्कित हो जानेपर मैं जीवित रहना नहीं चाहती। भगवन् ! इस बातपर भलीभाँति विचार करके जो उचित जान पड़े, वह कीजिये ॥ ७६-७७ ॥

एवमुक्तवतीं तां तु प्रीतिमानृषिसत्तमः।
उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ ७८ ॥
वृणीष्व च वरं भीरु यं त्वमिच्छसि भामिनि।
वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते ॥ ७९ ॥

सत्यवतीके ऐसा कहनेपर मुनिश्रेष्ठ पराशर प्रसन्न होकर बोले—'भीरु ! मेरा प्रिय कार्य करके भी तुम कन्या ही रहोगी। भामिनि ! तुम जो चाहो, वह मुझसे वर माँग लो। शुचिस्मिते ! आजसे पहले कभी भी मेरा अनुग्रह व्यर्थ नहीं गया है' ॥ ७८-७९ ॥

एवमुक्ता वरं वव्रे गात्रसौगन्ध्यमुत्तमम्।
स चास्यै भगवान् प्रादान्मनसः काङ्क्षितं भुवि ॥ ८० ॥

महर्षिके ऐसा कहनेपर सत्यवतीने अपने शरीरमें उत्तम सुगन्ध होनेका वरदान माँगा। भगवान् पराशरने इस भूतलपर उसे वह मनोवाञ्छित वर दे दिया ॥ ८० ॥

ततो लब्धवरा प्रीता स्त्रीभावगुणभूषिता।
जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा ॥ ८१ ॥
तेन गन्धवतीत्येवं नामास्याः प्रथितं भुवि।
तस्यास्तु योजनाद् गन्धमाजिघ्रन्त नरा भुवि ॥ ८२ ॥
तस्या योजनगन्धेति ततो नामापरं स्मृतम्।

तदनन्तर वरदान पाकर प्रसन्न हुई सत्यवती नारीपनके समागमोचित गुण (सद्यः ऋतुस्नान आदि) से विभूषित हो गयी और उसने अद्भुतकर्मा महर्षि पराशरके साथ समागम किया। उसके शरीरसे उत्तम गन्ध फैलनेके कारण पृथ्वीपर उसका गन्धवती नाम विख्यात हो गया। इस पृथ्वीपर

एक योजन दूरके मनुष्य भी उसकी दिव्य सुगन्धका अनुभव करते थे इस कारण उसका दूसरा नाम योजनगन्धा हो गया ॥ ८१-८२½ ॥

इति सत्यवती हृष्टा लब्ध्वा वरमनुत्तमम् ॥ ८३ ॥
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा।
जज्ञे च यमुनाद्वीपे पाराशर्यः स वीर्यवान् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार परम उत्तम वर पाकर हर्षोल्लाससे भरी हुई सत्यवतीने महर्षि पराशरका संयोग प्राप्त किया और तत्काल ही एक शिशुको जन्म दिया। यमुनाके द्वीपमें अत्यन्त शक्तिशाली पराशरनन्दन व्यास प्रकट हुए ॥ ८३-८४ ॥

स मातरमनुज्ञाप्य तपस्येव मनो दधे।
स्मृतोऽहं दर्शयिष्यामि कृत्येष्विति च सोऽब्रवीत् ॥८५॥

उन्होंने मातासे यह कहा—'आवश्यकता पड़नेपर तुम मेरा स्मरण करना। मैं अवश्य दर्शन दूँगा।' इतना कहकर माताकी आज्ञा ले व्यासजीने तपस्यामें ही मन लगाया॥८५॥

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात्।
न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः ॥८६॥

इस प्रकार महर्षि पराशरद्वारा सत्यवतीके गर्भसे द्वैपायन व्यासजीका जन्म हुआ। वे बाल्यावस्थामें ही यमुनाके द्वीपमें छोड़ दिये गये, इसलिये 'द्वैपायन' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ८६ ॥

(ततः सत्यवती हृष्टा जगाम स्वं निवेशनम्।
तस्यास्त्वायोजनाद् गन्धमाजिघ्रन्ति नरा भुवि ॥
दाशराजस्तु तद्गन्धमाजिघ्रन् प्रीतिमावहत्।)

तदनन्तर सत्यवती प्रसन्नतापूर्वक अपने घरपर गयी। उस दिनसे भूमण्डलके मनुष्य एक योजन दूरसे ही उसकी दिव्य गन्धका अनुभव करने लगे। उसका पिता दाशराज भी उसकी गन्ध सूँघकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥

दाश उवाच

(त्वामाहुर्मत्स्यगन्धेति कथं बाले सुगन्धता।
अपास्य मत्स्यगन्धत्वं केन दत्ता सुगन्धता ॥)

दाशराजने पूछा—बेटी! तेरे शरीरसे मछलीकी-सी दुर्गन्ध आनेके कारण लोग तुझे 'मत्स्यगन्धा' कहा करते थे, फिर तुझमें यह सुगन्ध कहाँसे आ गयी? किसने यह मछलीकी दुर्गन्ध दूर कर तेरे शरीरको सुगन्ध प्रदान की है?

सत्यवत्युवाच

(शक्तेः पुत्रो महाप्राज्ञः पराशर इति स्मृतः ॥
नावं वाहयमानाया मम दृष्ट्वा सुगर्हितम्।
अपास्य मत्स्यगन्धत्वं योजनाद् गन्धतां ददौ ॥
ऋषेः प्रसादं दृष्ट्वा तु जनाः प्रीतिमुपागमन्।)

सत्यवती बोली—पिताजी! महर्षि शक्तिके पुत्र महाज्ञानी पराशर हैं, (वे यमुनाजीके तटपर आये थे; उस समय) मैं नाव खे रही थी। उन्होंने मेरी दुर्गन्धताकी ओर लक्ष्य करके मुझपर कृपा की और मेरे शरीरसे मछलीकी गन्ध दूर करके ऐसी सुगन्ध दे दी, जो एक योजन दूरतक अपना प्रभाव रखती है। महर्षिका यह कृपाप्रसाद देखकर सब लोग बड़े प्रसन्न हुए।

पादापसारिणं धर्मं स तु विद्वान् युगे युगे।
आयुः शक्तिं च मर्त्यानां युगावस्थामवेक्ष्य च ॥ ८७ ॥
ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया।
विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ॥

विद्वान् द्वैपायनजीने देखा कि प्रत्येक युगमें धर्मका एक-एक पाद लुप्त होता जा रहा है। मनुष्योंकी आयु और शक्ति क्षीण हो चली है और युगकी ऐसी दुरवस्था हो गयी है। यह सब देख-सुनकर उन्होंने वेद और ब्राह्मणोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वेदोंका व्यास (विस्तार) किया। इसलिये वे व्यास नामसे विख्यात हुए ॥ ८७-८८ ॥

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ॥ ८९ ॥
प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च।
संहितास्तैः पृथक्त्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ॥ ९० ॥

सर्वश्रेष्ठ वरदायक भगवान् व्यासने चारों वेदों तथा पाँचवें वेद महाभारतका अध्ययन सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपने पुत्र शुकदेव तथा मुझ वैशम्पायनको कराया। फिर उन सबने पृथक्-पृथक् महाभारतकी संहिताएँ प्रकाशित कीं ॥८९-९०॥

तथा भीष्मः शान्तनवो गङ्गायाममितद्युतिः।
वसुवीर्यात् समभवन्महावीर्यो महायशाः ॥ ९१ ॥

अमिततेजस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म आठवें वसुके अंशसे तथा गङ्गाजीके गर्भसे उत्पन्न हुए। वे महान् पराक्रमी और अत्यन्त यशस्वी थे ॥ ९१ ॥

वेदार्थविच्च भगवानृषिर्विप्रो महायशाः।
शूले प्रोतः पुराणर्षिरचौरश्चौरशङ्कया ॥ ९२ ॥
अणीमाण्डव्य इत्येवं विख्यातः स महायशाः।
स धर्ममाहूय पुरा महर्षिरिदमुक्तवान् ॥ ९३ ॥

पूर्वकालकी बात है वेदार्थोंके ज्ञाता, महान् यशस्वी, पुरातन मुनि, ब्रह्मर्षि भगवान् अणीमाण्डव्य चोर न होते हुए भी चोरके संदेहसे शूलीपर चढ़ा दिये गये। परलोकमें जानेपर उन महायशस्वी महर्षिने पहले धर्मको बुलाकर इस प्रकार कहा—॥

इषीकया मया बाल्याद् विद्धा ह्येका शकुन्तिका।
तत् किल्बिषं स्मरे धर्म नान्यत् पापमहं स्मरे ॥ ९४ ॥

'धर्मराज! पहले कभी मैंने बाल्यावस्थाके कारण सींकसे

एक चिड़ियेके बच्चेको छेद दिया था। वही एक पाप मुझे याद आ रहा है। अपने दूसरे किसी पापका मुझे स्मरण नहीं है ॥

तन्मे सहस्रममितं कस्मान्नेहाजयत् तपः ।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधाद् यतः ॥ ९५ ॥

'मैंने अगणित सहस्रगुना तप किया है। फिर उस तपने मेरे छोटे-से पापको क्यों नहीं नष्ट कर दिया। ब्राह्मणका वध समस्त प्राणियोंके वधसे बड़ा है ॥ ९५ ॥

तस्मात् त्वं किल्बिषी धर्म शूद्रयोनौ जनिष्यसि ।
तेन शापेन धर्मोऽपि शूद्रयोनावजायत ॥९६॥

'(तुमने मुझे शूलीपर चढ़वाकर वही पाप किया है) इसलिये तुम पापी हो। अतः पृथ्वीपर शूद्रकी योनिमें तुम्हें जन्म लेना पड़ेगा।' अणीमाण्डव्यके उस शापसे धर्म भी शूद्रकी योनिमें उत्पन्न हुए ॥ ९६ ॥

विद्वान् विदुररूपेण धार्मी तनुरकिल्बिषी ।
संजयो मुनिकल्पस्तु जज्ञे सूतो गवल्गणात् ॥ ९७ ॥

पापरहित विद्वान् विदुरके रूपमें धर्मराजका शरीर ही प्रकट हुआ था। उसी समय गवल्गणसे संजय नामक सूतका जन्म हुआ, जो मुनियोंके समान ज्ञानी और धर्मात्मा थे ॥ ९७ ॥

सूर्याच्च कुन्तिकन्याया जज्ञे कर्णो महाबलः ।
सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः ॥ ९८ ॥

राजा कुन्तिभोजकी कन्या कुन्तीके गर्भसे सूर्यके अंशसे महाबली कर्णकी उत्पत्ति हुई। वह बालक जन्मके साथ ही कवचधारी था। उसका मुख शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कुण्डलकी प्रभासे प्रकाशित होता था ॥ ९८ ॥

अनुग्रहार्थं लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
वसुदेवात् तु देवक्यां प्रादुर्भूतो महायशाः ॥ ९९ ॥

उन्हीं दिनों विश्ववन्दित महायशस्वी भगवान् विष्णु जगत्‌के जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये वसुदेवजीके द्वारा देवकी-के गर्भसे प्रकट हुए ॥ ९९ ॥

अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः ।
अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम् ॥१००॥

वे भगवान् आदि-अन्तसे रहित, द्युतिमान्, सम्पूर्ण जगत्‌के कर्ता तथा प्रभु हैं। उन्हींको अव्यक्त अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म और त्रिगुणमय प्रधान कहते हैं ॥ १०० ॥

आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम् ।
पुरुषं विश्वकर्माणं सत्त्वयोगं ध्रुवाक्षरम् ॥१०१॥
अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम् ।
धातारमजमव्यक्तं यमाहुः परमव्ययम् ॥१०२॥
कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजमव्ययम् ।
पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूतपितामहः ॥१०३॥

आत्मा, अव्यय, प्रकृति (उपादान), प्रभव (उत्पत्ति-कारण), प्रभु (अधिष्ठाता), पुरुष (अन्तर्यामी), विश्वकर्मा, सत्त्वगुणसे प्राप्त होने योग्य तथा प्रणवाक्षर भी वे ही हैं; उन्हींको अनन्त, अचल, देव, हंस, नारायण, प्रभु, धाता, अजन्मा, अव्यक्त, पर, अव्यय, कैवल्य, निर्गुण, विश्वरूप, अनादि, जन्म-रहित और अविकारी कहा गया है। वे सर्वव्यापी, परम पुरुष परमात्मा, सबके कर्ता और सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं १०१-१०३

धर्मसंवर्धनार्थाय प्रजज्ञेऽन्धकवृष्णिषु ।
अस्त्रज्ञौ तु महावीर्यौ सर्वशास्त्रविशारदौ ॥१०४॥

उन्होंने ही धर्मकी वृद्धिके लिये अन्धक और वृष्णि-कुलमें बलराम और श्रीकृष्णरूपमें अवतार लिया था। वे दोनों भाई सम्पूर्ण अस्त्र-शास्त्रोंके ज्ञाता, महापराक्रमी और समस्त शास्त्रोंके ज्ञानमें परम प्रवीण थे ॥ १०४ ॥

सात्यकिः कृतवर्मा च नारायणमनुव्रतौ ।
सत्यकाद्धृदिकाच्चैव जज्ञातेऽस्त्रविशारदौ ॥१०५॥

सत्यकसे सात्यकि और हृदिकसे कृतवर्माका जन्म हुआ था। वे दोनों अस्त्रविद्यामें अत्यन्त निपुण और भगवान् श्रीकृष्णके अनुगामी थे ॥ १०५ ॥

भरद्वाजस्य च स्कन्नं द्रोण्यां शुक्रमवर्धत ।
महर्षेरुग्रतपसस्तस्माद् द्रोणो व्यजायत ॥१०६॥

एक समय उग्रतपस्वी महर्षि भरद्वाजका वीर्य किसी द्रोणी (पर्वतकी गुफा) में स्खलित होकर धीरे-धीरे पुष्ट होने लगा। उसीसे द्रोणका जन्म हुआ ॥ १०६ ॥

गौतमान्मिथुनं जज्ञे शरस्तम्बाच्छरद्वतः ।
अश्वत्थाम्नश्च जननी कृपश्चैव महाबलः ॥१०७॥

किसी समय गौतमगोत्रीय शरद्वान्‌का वीर्य सरकंडेके समूह-पर गिरा और दो भागोंमें बँट गया। उसीसे एक कन्या और एक पुत्रका जन्म हुआ। कन्याका नाम कृपी था, जो अश्वत्थामाकी जननी हुई। पुत्र महाबली कृपके नामसे विख्यात हुआ ॥ १०७ ॥

अश्वत्थामा ततो जज्ञे द्रोणादेव महाबलः ।
तथैव धृष्टद्युम्नोऽपि साक्षादग्निसमद्युतिः ॥१०८॥
वैताने कर्मणि ततः पावकात् समजायत ।
वीरो द्रोणविनाशाय धनुरादाय वीर्यवान् ॥१०९॥

तदनन्तर द्रोणाचार्यसे महाबली अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इसी प्रकार यज्ञकर्मका अनुष्ठान होते समय प्रज्वलित अग्निसे धृष्टद्युम्नका प्रादुर्भाव हुआ, जो साक्षात् अग्निदेवके समान तेजस्वी था। पराक्रमी वीर धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यका विनाश करनेके लिये धनुष लेकर प्रकट हुआ था ॥ १०८-१०९ ॥

तत्रैव वेद्यां कृष्णापि जज्ञे तेजस्विनी शुभा ।
विभ्राजमाना वपुषा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥११०॥

उसी यज्ञकी वेदीसे शुभस्वरूपा तेजस्विनी द्रौपदी उत्पन्न हुई, जो परम उत्तम रूप धारण करके अपने सुन्दर शरीरसे अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥ ११० ॥

प्रह्लादशिष्यो नग्नजित् सुबलश्चाभवत् ततः ।
तस्य प्रजा धर्महन्त्री जज्ञे देवप्रकोपनात् ॥१११॥
गान्धारराजपुत्रोऽभूच्छकुनिः सौबलस्तथा ।
दुर्योधनस्य जननी जज्ञातेऽर्थविशारदौ ॥११२॥

प्रह्लादका शिष्य नग्नजित् राजा सुबलके रूपमें प्रकट हुआ । देवताओंके कोपसे उसकी संतति (शकुनि) धर्मका नाश करनेवाली हुई । गान्धारराज सुबलका पुत्र शकुनि एवं सौबल नामसे विख्यात हुआ तथा उनकी पुत्री गान्धारी दुर्योधनकी माता थी । ये दोनों भाई-बहिन अर्थ-शास्त्रके ज्ञानमें निपुण थे ॥ १११-११२ ॥

कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्चैव महाबलः ॥११३॥
धर्मार्थकुशलो धीमान् मेधावी धूतकल्मषः ।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥११४॥
पाण्डोस्तु जज्ञिरे पञ्च पुत्रा देवसमाः पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद् युधिष्ठिरः ॥११५॥

राजा विचित्रवीर्यकी क्षेत्रभूता अम्बिका और अम्बालिकाके गर्भसे कृष्णद्वैपायन व्यासद्वारा राजा धृतराष्ट्र और महाबली पाण्डुका जन्म हुआ । द्वैपायन व्याससे ही शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे विदुरजीका भी जन्म हुआ था । वे धर्म और अर्थके ज्ञानमें निपुण, बुद्धिमान्, मेधावी और निष्पाप थे । पाण्डुसे दो स्त्रियोंके द्वारा पृथक्-पृथक् पाँच पुत्र उत्पन्न हुए, जो सब-के-सब देवताओंके समान थे । उन सबमें बड़े युधिष्ठिर थे । वे उत्तम गुणोंमें भी सबसे बढ़-चढ़कर थे ॥ ११३-११५ ॥

धर्माद् युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः ।
इन्द्राद् धनंजयः श्रीमान् सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥११६॥
जज्ञाते रूपसम्पन्नावश्विभ्यां च यमावपि ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥११७॥

युधिष्ठिर धर्मसे, भीमसेन वायुदेवतासे, सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीमान् अर्जुन इन्द्रदेवसे तथा सुन्दर रूपवाले नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारोंसे उत्पन्न हुए थे । वे जुड़वें पैदा हुए थे । नकुल और सहदेव सदा गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहते थे ॥ ११६-११७ ॥

तथा पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
दुर्योधनप्रभृतयो युयुत्सुः करणस्तथा ॥११८॥

परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए । इनके अतिरिक्त युयुत्सु भी उन्हींका पुत्र था । वह वैश्यजातीय मातासे उत्पन्न होनेके कारण 'करण' कहलाता था ॥

ततो दुःशासनश्चैव दुःसहश्चापि भारत ।
दुर्मर्षणो विकर्णश्च चित्रसेनो विविंशतिः ॥११९॥
जयः सत्यव्रतश्चैव पुरुमित्रश्च भारत ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च एकादश महारथाः ॥१२०॥

भरतवंशी जनमेजय ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें दुर्योधन, दुःशासन, दुःसह, दुर्मर्षण, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति, जय, सत्यव्रत, पुरुमित्र तथा वैश्यापुत्र युयुत्सु—ये ग्यारह महारथी थे ॥ ११९-१२० ॥

अभिमन्युः सुभद्रायामर्जुनादभ्यजायत ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य पौत्रः पाण्डोर्महात्मनः ॥१२१॥

अर्जुनद्वारा सुभद्राके गर्भसे अभिमन्युका जन्म हुआ । वह महात्मा पाण्डुका पौत्र और भगवान् श्रीकृष्णका भानजा था ॥

पाण्डवेभ्यो हि पाञ्चाल्यां द्रौपद्यां पञ्च जज्ञिरे ।
कुमारा रूपसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥१२२॥

पाण्डवोंद्वारा द्रौपदीके गर्भसे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए थे, जो बड़े ही सुन्दर और सब शास्त्रोंमें निपुण थे ॥ १२२ ॥

प्रतिविन्ध्यो युधिष्ठिरात् सुतसोमो वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥१२३॥
तथैव सहदेवाच्च श्रुतसेनः प्रतापवान् ।
हिडिम्बायां च भीमेन वने जज्ञे घटोत्कचः ॥१२४॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक तथा सहदेवसे प्रतापी श्रुतसेनका जन्म हुआ था । भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासे वनमें घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२३-१२४ ॥

शिखण्डी द्रुपदाज्जज्ञे कन्या पुत्रत्वमागता ।
यां यक्षः पुरुषं चक्रे स्थूणः प्रियचिकीर्षया ॥१२५॥

राजा द्रुपदसे शिखण्डी नामकी एक कन्या हुई, जो आगे चलकर पुत्ररूपमें परिणत हो गयी । स्थूणाकर्ण नामक यक्षने उसका प्रिय करनेकी इच्छासे उसे पुरुष बना दिया था ॥ १२५ ॥

कुरूणां विग्रहे तस्मिन् समागच्छन् बहून् यथा ।
राज्ञां शतसहस्राणि योत्स्यमानानि संयुगे ॥१२६॥
तेषामपरिमेयानां नामधेयानि सर्वशः ।
न शक्यानि समाख्यातुं वर्षाणामयुतैरपि ।
एते तु कीर्तिता मुख्या यैराख्यानमिदं ततम् ॥१२७॥

---

१. वैश्यायां क्षत्रियाज्जातः करणः परिकीर्तितः । (वैश्य माता और क्षत्रिय पितासे उत्पन्न पुत्र 'करण' कहलाता है) इस धर्मशास्त्रीय वचनके अनुसार युयुत्सुकी 'करण' संज्ञा बतायी गयी है ।

कौरवोंके उस महासमरमें युद्ध करनेके लिये राजाओंके कई लाख योद्धा आये थे। दस हजार वर्षोंतक गिनती की जाय तो भी उन असंख्य योद्धाओंके नाम पूर्णतः नहीं बताये जा सकते। यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य राजाओंके नाम बताये गये हैं, जिनके चरित्रोंमें इस महाभारत-कथाका विस्तार हुआ है ॥ १२६-१२७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि व्यासाद्युत्पत्तौ त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें व्यास आदिकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

(इस अध्यायमें १२७ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक और कुल १३१½ श्लोक हैं।)

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंद्वारा क्षत्रियवंशकी उत्पत्ति और वृद्धि तथा उस समयके धार्मिक राज्यका वर्णन; असुरोंका जन्म और उनके भारसे पीड़ित पृथ्वीका ब्रह्माजीकी शरणमें जाना तथा ब्रह्माजीका देवताओंको अपने अंशसे पृथ्वीपर जन्म लेनेका आदेश

जनमेजय उवाच

य एते कीर्तिता ब्रह्मन् ये चान्ये नानुकीर्तिताः।
सम्यक् ताञ्छ्रोतुमिच्छामि राज्ञश्चान्यान् सहस्रशः॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! आपने यहाँ जिन राजाओंके नाम बताये हैं और जिन दूसरे नरेशोंके नाम यहाँ नहीं लिये हैं, उन सब सहस्रों राजाओंका मैं भलीभाँति परिचय सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

यदर्थमिह सम्भूता देवकल्पा महारथाः।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

महाभाग! वे देवतुल्य महारथी इस पृथ्वीपर जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उत्पन्न हुए थे, उसका यथावत् वर्णन कीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

रहस्यं खल्विदं राजन् देवानामिति नः श्रुतम्।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयम्भुवे ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! यह देवताओंका रहस्य है, ऐसा मैंने सुन रक्खा है। स्वयम्भू ब्रह्माजीको नमस्कार करके आज उसी रहस्यका तुमसे वर्णन करूँगा ।३।

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥ ४ ॥
तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति।
ब्राह्मणान् क्षत्रिया राजन् सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः॥ ५ ॥

पूर्वकालमें जमदग्निनन्दन परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित करके उत्तम पर्वत महेन्द्रपर तपस्या की थी। उस समय जब भृगुनन्दनने इस लोकको क्षत्रियशून्य कर दिया था, क्षत्रिय-नारियोंने पुत्रकी अभिलाषासे ब्राह्मणोंकी शरण ग्रहण की थी ॥ ४–५ ॥

ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः संशितव्रताः।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नानृतौ तथा ॥ ६ ॥

नररत्न! वे कठोर व्रतधारी ब्राह्मण केवल ऋतुकालमें ही उनके साथ मिलते थे; न तो कामवश और न बिना ऋतुकालके ही ॥ ६ ॥

तेभ्यश्च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः।
ततः सुषुविरे राजन् क्षत्रियान् वीर्यवत्तरान् ॥ ७ ॥
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये।
एवं तद् ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ॥ ८ ॥
जातं वृद्धं च धर्मेण सुदीर्घेणायुषान्वितम्।
चत्वारोऽपि ततो वर्णा बभूवुर्ब्राह्मणोत्तराः ॥ ९ ॥

राजन्! उन सहस्रों क्षत्राणियोंने ब्राह्मणोंसे गर्भ धारण किया और पुनः क्षत्रियकुलकी वृद्धिके लिये अत्यन्त बलशाली क्षत्रियकुमारों तथा कुमारियोंको जन्म दिया। इस प्रकार तपस्वी ब्राह्मणोंद्वारा क्षत्राणियोंके गर्भसे धर्मपूर्वक क्षत्रियसंतानकी उत्पत्ति और वृद्धि हुई। वे सब संतानें दीर्घायु होती थीं। तदनन्तर जगत्में पुनः ब्राह्मणप्रधान चारों वर्ण प्रतिष्ठित हुए ॥ ७–९ ॥

अभ्यगच्छन्नृतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा।
तथैवान्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ १० ॥
ऋतौ दारांश्च गच्छन्ति तत् तथा भरतर्षभ।
ततोऽवर्धन्त धर्मेण सहस्रशतजीविनः ॥ ११ ॥

उस समय सब लोग ऋतुकालमें ही पत्नीसमागम करते थे; केवल कामनावश या ऋतुकालके बिना नहीं करते थे। इसी प्रकार पशु-पक्षी आदिकी योनिमें पड़े हुए जीव भी ऋतुकालमें ही अपनी स्त्रियोंसे संयोग करते थे। भरतश्रेष्ठ! उस समय धर्मका आश्रय लेनेसे सब लोग सहस्र एवं शत वर्षोंतक जीवित रहते थे और उत्तरोत्तर उन्नति करते थे ॥

ताः प्रजाः पृथिवीपाल धर्मव्रतपरायणाः।
आधिभिर्व्याधिभिश्चैव विमुक्ताः सर्वशो नराः ॥ १२ ॥

भूपाल! उस समयकी प्रजा धर्म एवं व्रतके पालनमें तत्पर रहती थी; अतः सभी लोग रोगों तथा मानसिक चिन्ताओंसे मुक्त रहते थे ॥ १२ ॥

अथेमां सागरापाङ्गीं गां गजेन्द्रगताखिलाम् ।
अध्यतिष्ठत् पुनः क्षत्रं सशैलवनपत्तनाम् ॥ १३ ॥

गजराजके समान गमन करनेवाले राजा जनमेजय ! तदनन्तर धीरे-धीरे समुद्रसे घिरी हुई पर्वत, वन और नगरों-सहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर पुनः क्षत्रियजातिका ही अधिकार हो गया ॥ १३ ॥

प्रशासति पुनः क्षत्रे धर्मेणेमां वसुन्धराम् ।
ब्राह्मणाद्यास्ततो वर्णा लेभिरे मुदमुत्तमाम् ॥ १४ ॥

जब पुनः क्षत्रिय शासक धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका पालन करने लगे, तब ब्राह्मण आदि वर्णोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥ १४ ॥

कामक्रोधोद्भवान् दोषान् निरस्य च नराधिपाः ।
धर्मेण दण्डं दण्ड्येषु प्रणयन्तोऽन्वपालयन् ॥ १५ ॥

उन दिनों राजालोग काम और क्रोधजनित दोषोंको दूर करके दण्डनीय अपराधियोंको धर्मानुसार दण्ड देते हुए पृथ्वीका पालन करते थे ॥ १५ ॥

तथा धर्मपरे क्षत्रे सहस्राक्षः शतक्रतुः ।
स्वादु देशे च काले च वर्षेणापालयत् प्रजाः ॥ १६ ॥

इस तरह धर्मपरायण क्षत्रियोंके शासनमें सारा देश-काल अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होने लगा । उस समय सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्र समयपर वर्षा करके प्रजाओंका पालन करते थे ॥

न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
न च स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ॥ १७ ॥

राजन् ! उन दिनों कोई भी बाल्यावस्थामें नहीं मरता था । कोई भी पुरुष युवावस्था प्राप्त हुए बिना स्त्री-सुखका अनुभव नहीं करता था ॥ १७ ॥

एवमायुष्मतीभिस्तु प्रजाभिर्भरतर्षभ ।
इयं सागरपर्यन्ता समापूर्यत मेदिनी ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! ऐसी व्यवस्था हो जानेसे समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी दीर्घकालतक जीवित रहनेवाली प्रजाओंसे भर गयी ॥

ईजिरे च महायज्ञैः क्षत्रिया बहुदक्षिणैः ।
साङ्गोपनिषदान् वेदान् विप्राश्चाधीयते तदा ॥ १९ ॥

क्षत्रियलोग बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा यजन करते थे । ब्राह्मण अङ्गों और उपनिषदोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करते थे ॥ १९ ॥

न च विक्रीणते ब्रह्म ब्राह्मणाश्च तदा नृप ।
न च शूद्रसमभ्याशे वेदानुच्चारयन्त्युत ॥ २० ॥

राजन् ! उस समय ब्राह्मण न तो वेदका विक्रय करते और न शूद्रोंके निकट वेदमन्त्रोंका उच्चारण ही करते थे ॥

कारयन्तः कृषिं गोभिस्तथा वैश्याः क्षिताविह ।
युञ्जते धुरि नो गाश्च कृशाङ्गांश्चाप्यजीवयन् ॥ २१ ॥

वैश्यगण बैलोंद्वारा इस पृथ्वीपर दूसरोंसे खेती कराते हुए भी स्वयं उनके कंधेपर जुआ नहीं रखते थे—उन्हें बोझ ढोनेमें नहीं लगाते थे और दुर्बल अङ्गोंवाले निकम्मे पशुओंको भी दाना-घास देकर उनके जीवनकी रक्षा करते थे ॥ २१ ॥

फेनपांश्च तथा वत्सान् न दुहन्ति स्म मानवाः ।
न कूटमानैर्वणिजः पण्यं विक्रीणते तदा ॥ २२ ॥

जबतक बछड़े केवल दूधपर रहते, घास नहीं चरते, तबतक मनुष्य गौओंका दूध नहीं दुहते थे । व्यापारीलोग बेचने योग्य वस्तुओंका झूठे माप-तौलद्वारा विक्रय नहीं करते थे ॥ २२ ॥

कर्माणि च नरव्याघ्र धर्मोपेतानि मानवाः ।
धर्ममेवानुपश्यन्तश्चक्रुर्धर्मपरायणाः ॥ २३ ॥

नरश्रेष्ठ ! सब मनुष्य धर्मकी ही ओर दृष्टि रखकर धर्ममें ही तत्पर हो धर्मयुक्त कर्मोंका ही अनुष्ठान करते थे ॥ २३ ॥

स्वकर्मनिरताश्चासन् सर्वे वर्णा नराधिप ।
एवं तदा नरव्याघ्र धर्मो न ह्रसते क्वचित् ॥ २४ ॥

राजन् ! उस समय सब वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मके पालनमें लगे रहते थे । नरश्रेष्ठ ! इस प्रकार उस समय कहीं भी धर्मका ह्रास नहीं होता था ॥ २४ ॥

काले गावः प्रसूयन्ते नार्यश्च भरतर्षभ ।
भवन्त्यृतुषु वृक्षाणां पुष्पाणि च फलानि च ॥ २५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! गौएँ तथा स्त्रियाँ भी ठीक समयपर ही संतान उत्पन्न करती थीं । ऋतु आनेपर ही वृक्षोंमें फूल और फल लगते थे ॥ २५ ॥

एवं कृतयुगे सम्यग् वर्तमाने तदा नृप ।
आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्बहुभिर्भृशम् ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! इस तरह उस समय सब ओर सत्ययुग छा रहा था । सारी पृथ्वी नाना प्रकारके प्राणियोंसे खूब भरी-पूरी रहती थी ॥ २६ ॥

एवं समुदिते लोके मानुषे भरतर्षभ ।
असुरा जज्ञिरे क्षेत्रे राज्ञां तु मनुजेश्वर ॥ २७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार सम्पूर्ण मानव-जगत् बहुत प्रसन्न था । मनुजेश्वर ! इसी समय असुरलोग राजपत्नियोंके गर्भसे जन्म लेने लगे ॥ २७ ॥

आदित्यैर्हि तदा दैत्या बहुशो निर्जिता युधि ।
ऐश्वर्याद् भ्रंशिताः स्वर्गात् सम्बभूवुः क्षिताविह ॥ २८ ॥

उन दिनों अदितिके पुत्रों (देवताओं) द्वारा दैत्यगण अनेक बार युद्धमें पराजित हो चुके थे । स्वर्गके ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होनेपर वे इस पृथ्वीपर ही जन्म लेने लगे ॥ २८ ॥

इह देवत्वमिच्छन्तो मानुषेषु मनस्विनः ।
जज्ञिरे भुवि भूतेषु तेषु तेष्वसुरा विभो ॥ २९ ॥

प्रभो ! यहीं रहकर देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छासे वे मनस्वी असुर भूतलपर मनुष्यों तथा भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें जन्म लेने लगे ॥ २९ ॥

गोष्वश्वेषु च राजेन्द्र खरोष्ट्रमहिषेषु च ।
क्रव्यात्सु चैव भूतेषु गजेषु च मृगेषु च ॥ ३० ॥
जातैरिह महीपाल जायमानैश्च तैर्मही ।
न शशाकात्मनाऽऽत्मानमियं धारयितुं धरा ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र ! गौओं, घोड़ों, गदहों, ऊँटों, भैंसों, कच्चे मांस खानेवाले पशुओं, हाथियों और मृगोंकी योनिमें भी यहाँ असुरोंने जन्म लिया और अभीतक वे जन्म धारण करते जा रहे थे। उन सबसे यह पृथ्वी इस प्रकार भर गयी कि अपने-आपको भी धारण करनेमें समर्थ न हो सकी ॥३०-३१॥

अथ जाता महीपालाः केचिद् बहुमदान्विताः ।
दितेः पुत्रा दनोश्चैव तदा लोक इह च्युताः ॥ ३२ ॥
वीर्यवन्तोऽवलिप्तास्ते नानारूपधरा महीम् ।
इमां सागरपर्यन्तां परीयुररिमर्दनाः ॥ ३३ ॥

स्वर्गसे इस लोकमें गिरे हुए तथा राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए कितने ही दैत्य और दानव अत्यन्त मदसे उन्मत्त रहते थे। वे पराक्रमी होनेके साथ ही अहंकारी भी थे। अनेक प्रकारके रूप धारण कर अपने शत्रुओंका मान मर्दन करते हुए समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर विचरते रहते थे ।३२-३३।

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्छूद्रांश्चैवाप्यपीडयन् ।
अन्यानि चैव सत्त्वानि पीडयामासुरोजसा ॥ ३४ ॥

वे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रोंको भी सताया करते थे। अन्यान्य जीवोंको भी अपने बल और पराक्रमसे पीड़ा देते थे ॥ ३४ ॥

त्रासयन्तोऽभिनिघ्नन्तः सर्वभूतगणांश्च ते ।
विचेरुः सर्वशो राजन् महीं शतसहस्रशः ॥ ३५ ॥

राजन् ! वे असुर लाखोंकी संख्यामें उत्पन्न हुए थे और समस्त प्राणियोंको डराते-धमकाते तथा उनकी हिंसा करते हुए भूमण्डलमें सब ओर घूमते रहते थे ॥ ३५ ॥

आश्रमस्थान् महर्षींश्च धर्षयन्तस्ततस्ततः ।
अब्रह्मण्या वीर्यमदा मत्ता मदबलेन च ॥ ३६ ॥

वे वेद और ब्राह्मणके विरोधी, पराक्रमके नशेमें चूर तथा अहंकार और बलसे मतवाले होकर इधर-उधर आश्रमवासी महर्षियोंका भी तिरस्कार करने लगे ॥३६॥

एवं वीर्यबलोत्सिक्तैर्भूरियत्नैर्महासुरैः ।
पीड्यमाना मही राजन् ब्रह्माणमुपचक्रमे ॥ ३७ ॥

राजन् ! जब इस प्रकार बल और पराक्रमके मदसे उन्मत्त महादैत्य विशेष यत्नपूर्वक इस पृथ्वीको पीड़ा देने लगे, तब यह ब्रह्माजीकी शरणमें जानेको उद्यत हुई ॥ ३७ ॥

न ह्यमां भूतसत्त्वौघाः पन्नगाः सनगां महीम् ।
तदा धारयितुं शेकुः संक्रान्तां दानवैर्बलात् ॥ ३८ ॥
ततो मही महीपाल भारार्ता भयपीडिता ।
जगाम शरणं देवं सर्वभूतपितामहम् ॥ ३९ ॥
सा संवृतं महाभागैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
ददर्श देवं ब्रह्माणं लोककर्तारमव्ययम् ॥ ४० ॥

दानवोंने बलपूर्वक जिसपर अधिकार कर लिया था, पर्वतों और वृक्षोंसहित उस पृथ्वीको उस समय कच्छप और दिग्गज आदिकी सङ्गठित शक्तियाँ तथा शेषनाग भी धारण करनेमें समर्थ न हो सके। महीपाल ! तब असुरोंके भारसे आतुर तथा भयसे पीड़ित हुई पृथ्वी सम्पूर्ण भूतोंके पितामह भगवान् ब्रह्माजीकी शरणमें उपस्थित हुई। ब्रह्मलोकमें जाकर पृथ्वीने उन लोकस्रष्टा अविनाशी देव भगवान् ब्रह्माजीका दर्शन किया, जिन्हें महाभाग देवता, द्विज और महर्षि घेरे हुए थे ॥३८-४०॥

गन्धर्वैरप्सरोभिश्च देवकर्मसु निष्ठितैः ।
वन्द्यमानं मुदोपेतैर्ववन्दे चैनमेत्य सा ॥ ४१ ॥

देवकर्ममें संलग्न रहनेवाले अप्सराएँ और गन्धर्व उन्हें प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम करते थे। पृथ्वीने उनके निकट जाकर प्रणाम किया ॥ ४१ ॥

अथ विज्ञापयामास भूमिस्तं शरणार्थिनी ।
संनिधौ लोकपालानां सर्वेषामेव भारत ॥ ४२ ॥
तत् प्रधानात्मनस्तस्य भूमेः कृत्यं स्वयम्भुवः ।
पूर्वमेवाभवद् राजन् विदितं परमेष्ठिनः ॥ ४३ ॥

भारत ! तदनन्तर शरण चाहनेवाली भूमिने समस्त लोकपालोंके समीप अपना सारा दुःख ब्रह्माजीसे निवेदन किया। राजन् ! स्वयम्भू ब्रह्मा सबके कारणरूप हैं, अतः पृथ्वीका जो आवश्यक कार्य था वह उन्हें पहलेसे ही ज्ञात हो गया था ॥ ४२-४३ ॥

स्रष्टा हि जगतः कस्मान्न सम्बुध्येत भारत ।
ससुरासुरलोकानामशेषेण मनोगतम् ॥ ४४ ॥

भारत ! भला जो जगत्‌के स्रष्टा हैं, वे देवताओं और असुरोंसहित समस्त जगत्‌का सम्पूर्ण मनोगत भाव क्यों न समझ लें ॥

तामुवाच महाराज भूमिं भूमिपतिः प्रभुः ।
प्रभवः सर्वभूतानामीशः शम्भुः प्रजापतिः ॥ ४५ ॥

महाराज ! जो इस भूमिके पालक और प्रभु हैं, सबकी उत्पत्तिके कारण तथा समस्त प्राणियोंके अधीश्वर हैं, वे कल्याणमय प्रजापति ब्रह्माजी उस समय भूमिसे इस प्रकार बोले॥



अवतारके लिये प्रार्थना

ब्रह्मोवाच

यदर्थमभिसम्प्राप्ता मत्सकाशं वसुन्धरे।
तदर्थं संनियोक्ष्यामि सर्वानेव दिवौकसः॥ ४६॥

ब्रह्माजीने कहा—वसुन्धरे! तुम जिस उद्देश्यसे मेरे पास आयी हो, उसकी सिद्धिके लिये मैं सम्पूर्ण देवताओंको नियुक्त कर रहा हूँ॥४६॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स महीं देवो ब्रह्मा राजन् विसृज्य च।
आदिदेश तदा सर्वान् विबुधान् भूतकृत् स्वयम्॥ ४७॥
अस्या भूमेर्निरसितुं भारं भागैः पृथक् पृथक्।
अस्यामेव प्रसूयध्वं विरोधायेति चाब्रवीत्॥ ४८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्माजीने ऐसा कहकर उस समय पृथ्वीको तो विदा कर दिया और समस्त देवताओंको यह आदेश दिया—'देवताओ! तुम इस पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अपने-अपने अंशसे पृथ्वीके विभिन्न भागोंमें पृथक्-पृथक् जन्म ग्रहण करो। वहाँ असुरोंसे विरोध करके अभीष्ट उद्देश्यकी सिद्धि करनी होगी॥ ४७-४८॥

तथैव स समानीय गन्धर्वाप्सरसां गणान्।
उवाच भगवान् सर्वानिदं वचनमर्थवत्॥ ४९॥

इसी प्रकार भगवान् ब्रह्माने सम्पूर्ण गन्धर्वों और अप्सराओंको भी बुलाकर यह अर्थसाधक वचन कहा॥४९॥

ब्रह्मोवाच

स्वैः स्वैरंशैः प्रसूयध्वं यथेष्टं मानुषेषु च।
अथ शक्रादयः सर्वे श्रुत्वा सुरगुरोर्वचः।
तथ्यमर्थ्यं च पथ्यं च तस्य ते जगृहुस्तदा॥ ५०॥

ब्रह्माजी बोले—तुम सब लोग अपने-अपने अंशसे मनुष्योंमें इच्छानुसार जन्म ग्रहण करो। तदनन्तर इन्द्र आदि सब देवताओंने देवगुरु ब्रह्माजीकी सत्य, अर्थ-साधक और हितकर बात सुनकर उस समय उसे शिरोधार्य कर लिया॥५०॥

अथ ते सर्वशोंऽशैः स्वैर्गन्तुं भूमिं कृतक्षणाः।
नारायणममित्रघ्नं वैकुण्ठमुपचक्रमुः॥ ५१॥

अब वे अपने-अपने अंशोंसे भूलोकमें सब ओर जानेका निश्चय करके शत्रुओंका नाश करनेवाले भगवान् नारायणके समीप वैकुण्ठधाममें जानेको उद्यत हुए॥ ५१॥

यः स चक्रगदापाणिः पीतवासाः शितिप्रभः।
पद्मनाभः सुरारिघ्नः पृथुचार्वञ्चितेक्षणः॥ ५२॥

जो अपने हाथोंमें चक्र और गदा धारण करते हैं, पीताम्बर पहनते हैं, जिनके अङ्गोंकी कान्ति श्याम रंगकी है, जिनकी नाभिसे कमलका प्रादुर्भाव हुआ है, जो देव-शत्रुओंके नाशक तथा विशाल और मनोहर नेत्रोंसे युक्त हैं॥ ५२॥

प्रजापतिपतिर्देवः सुरनाथो महाबलः।
श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः॥ ५३॥

जो प्रजापतियोंके भी पति, दिव्यस्वरूप, देवताओंके रक्षक, महाबली, श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता तथा सम्पूर्ण देवताओंद्वारा पूजित हैं॥ ५३॥

तं भुवः शोधनायेन्द्र उवाच पुरुषोत्तमम्।
अंशेनावतरेत्येवं तथेत्याह च तं हरिः॥ ५४॥

उन भगवान् पुरुषोत्तमके पास जाकर इन्द्रने उनसे कहा—'प्रभो! आप पृथ्वीका शोधन (भार-हरण) करनेके लिये अपने अंशसे अवतार ग्रहण करें।' तब श्रीहरिने 'तथास्तु' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली॥ ५४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अंशावतरणपर्वणि चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥ ६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अंशावतरणपर्वमें चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६४॥

(सम्भवपर्व)

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

मरीचि आदि महर्षियों तथा अदिति आदि दक्षकन्याओंके वंशका विवरण

वैशम्पायन उवाच

अथ नारायणेनेन्द्रश्चकार सह संविदम्।
अवतर्तुं महीं स्वर्गादंशतः सहितः सुरैः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! देवताओंसहित इन्द्रने भगवान् विष्णुके साथ स्वर्ग एवं वैकुण्ठसे पृथ्वीपर अंशतः अवतार ग्रहण करनेके सम्बन्धमें कुछ सलाह की॥ १॥

आदिश्य च स्वयं शक्रः सर्वानेव दिवौकसः।
निर्जगाम पुनस्तस्मात् क्षयान्नारायणस्य ह॥ २॥

तत्पश्चात् सभी देवताओंको तदनुसार कार्य करनेके लिये आदेश देकर वे भगवान् नारायणके निवासस्थान वैकुण्ठधामसे पुनः चले आये॥ २॥

तेऽमरारिविनाशाय सर्वलोकहिताय च।
अवतेरुः क्रमेणैव महीं स्वर्गाद् दिवौकसः ॥ ३ ॥

तब देवतालोग सम्पूर्ण लोकोंके हित तथा राक्षसोंके विनाशके लिये स्वर्गसे पृथ्वीपर आकर क्रमशः अवतीर्ण होने लगे ॥ ३ ॥

ततो ब्रह्मर्षिवंशेषु पार्थिवर्षिकुलेषु च।
जज्ञिरे राजशार्दूल यथाकामं दिवौकसः ॥ ४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वे देवगण अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मर्षियों अथवा राजर्षियोंके वंशमें उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥

दानवान् राक्षसांश्चैव गन्धर्वान् पन्नगांस्तथा।
पुरुषादानि चान्यानि जघ्नुः सत्त्वान्यनेकशः ॥ ५ ॥
दानवा राक्षसाश्चैव गन्धर्वाः पन्नगास्तथा।
न तान् बलस्थान् बाल्येऽपि जघ्नुर्भरतसत्तम ॥ ६ ॥

वे दानव, राक्षस, दुष्ट गन्धर्व, सर्प तथा अन्यान्य मनुष्यभक्षी जीवोंका बारम्बार संहार करने लगे। भरतश्रेष्ठ ! वे बचपनमें भी इतने बलवान् थे कि दानव, राक्षस, गन्धर्व तथा सर्प उनका बाल बाँका तक नहीं कर पाते थे ॥ ५-६ ॥

जनमेजय उवाच

देवदानवसङ्घानां गन्धर्वाप्सरसां तथा।
मानवानां च सर्वेषां तथा वै यक्षरक्षसाम् ॥ ७ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन सम्भवं कृत्स्नमादितः।
प्राणिनां चैव सर्वेषां सम्भवं वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

जनमेजय बोले--भगवन् ! मैं देवता, दानवसमुदाय, गन्धर्व, अप्सरा, मनुष्य, यक्ष, राक्षस तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। आप कृपा करके आरम्भसे ही इन सबकी उत्पत्तिका यथावत् वर्णन कीजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयम्भुवे।
सुरादीनामहं सम्यग् लोकानां प्रभवाप्ययम् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा--अच्छा, मैं स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा एवं नारायणको नमस्कार करके तुमसे देवता आदि सम्पूर्ण लोगोंकी उत्पत्ति और नाशका यथावत् वर्णन करता हूँ ॥

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ १० ॥

ब्रह्माजीके मानस पुत्र छः महर्षि विख्यात हैं—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु ॥ १० ॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपात् तु इमाः प्रजाः।
प्रजज्ञिरे महाभागा दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥ ११ ॥

मरीचिके पुत्र कश्यप थे और कश्यपसे ही ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। (ब्रह्माजीके एक पुत्र दक्ष भी हैं) प्रजापति दक्षके परम सौभाग्यशालिनी तेरह कन्याएँ थीं ॥ ११ ॥

अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका तथा।
क्रोधा प्राधा च विश्वा च विनता कपिला मुनिः ॥ १२ ॥
कद्रूश्च मनुजव्याघ्र दक्षकन्यैव भारत।
एतासां वीर्यसम्पन्नं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ १३ ॥

नरश्रेष्ठ ! उनके नाम इस प्रकार हैं–अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा (क्रूरा), प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि और कद्रू। भारत ! ये सभी दक्षकी कन्याएँ हैं। इनके बल-पराक्रमसम्पन्न पुत्र-पौत्रोंकी संख्या अनन्त है ॥

अदित्यां द्वादशादित्याः सम्भूता भुवनेश्वराः।
ये राजन् नामतस्तांस्ते कीर्तयिष्यामि भारत ॥ १४ ॥

अदितिके पुत्र बारह आदित्य हुए, जो लोकेश्वर हैं। भरतवंशी नरेश ! उन सबके नाम तुम्हें बता रहा हूँ ॥ १४ ॥

धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥ १५ ॥
एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥ १६ ॥

धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे जाते हैं। इन सब आदित्योंमें विष्णु छोटे हैं; किंतु गुणोंमें वे सबसे बढ़कर हैं ॥ १५-१६ ॥

एक एव दितेः पुत्रो हिरण्यकशिपुः स्मृतः।
नाम्ना ख्यातास्तु तस्येमे पञ्च पुत्रा महात्मनः ॥ १७ ॥

दितिका एक ही पुत्र हिरण्यकशिपु अपने नामसे विख्यात हुआ। उस महामना दैत्यके पाँच पुत्र थे ॥ १७ ॥

प्रह्लादः पूर्वजस्तेषां संह्लादस्तदनन्तरम्।
अनुह्लादस्तृतीयोऽभूत् तस्माच्च शिबिबाष्कलौ ॥ १८ ॥

उन पाँचोंमें प्रथमका नाम प्रह्लाद है। उससे छोटेको संह्लाद कहते हैं। तीसरेका नाम अनुह्लाद है। उसके बाद चौथे शिबि और पाँचवें बाष्कल हैं ॥ १८ ॥

प्रह्लादस्य त्रयः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत।
विरोचनश्च कुम्भश्च निकुम्भश्चेति भारत ॥ १९ ॥

भारत ! प्रह्लादके तीन पुत्र हुए, जो सर्वत्र विख्यात हैं। उनके नाम ये हैं—विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ ॥ १९ ॥

विरोचनस्य पुत्रोऽभूद् बलिरेकः प्रतापवान्।
बलेश्च प्रथितः पुत्रो बाणो नाम महासुरः ॥ २० ॥

विरोचनके एक ही पुत्र हुआ, जो महाप्रतापी बलिके नामसे प्रसिद्ध है। बलिका विश्वविख्यात पुत्र बाणनामक महान् असुर है ॥ २० ॥

रुद्रस्यानुचरः श्रीमान् महाकालेति यं विदुः।
चतुस्त्रिंशद् दनोः पुत्राः ख्याताः सर्वत्र भारत ॥ २१ ॥

जिसे सब लोग भगवान् शंकरके पार्षद श्रीमान् महाकाल-के नामसे जानते हैं। भारत ! दनुके चौंतीस पुत्र हुए, जो सर्वत्र विख्यात हैं ॥ २१ ॥

तेषां प्रथमजो राजा विप्रचित्तिर्महायशाः।
शम्बरो नमुचिश्चैव पुलोमा चेति विश्रुतः ॥ २२ ॥
असिलोमा च केशी च दुर्जयश्चैव दानवः।
अयःशिरा अश्वशिरा अश्वशङ्कुश्च वीर्यवान् ॥ २३ ॥
तथा गगनमूर्धा च वेगवान् केतुमांश्च सः।
स्वर्भानुरश्वोऽश्वपतिर्वृषपर्वाजकस्तथा ॥ २४ ॥
अश्वग्रीवश्च सूक्ष्मश्च तुहुण्डश्च महाबलः।
इषुपादेकचक्रश्च विरूपाक्षो हराहरौ ॥ २५ ॥
निचन्द्रश्च निकुम्भश्च कुपटः कपटस्तथा।
शरभः शलभश्चैव सूर्याचन्द्रमसौ तथा।
एते ख्याता दनोर्वंशे दानवाः परिकीर्तिताः ॥ २६ ॥

उनमें महायशस्वी राजा विप्रचित्ति सबसे बड़ा था। उसके बाद शम्बर, नमुचि, पुलोमा, असिलोमा, केशी, दुर्जय, अयःशिरा, अश्वशिरा, पराक्रमी अश्वशङ्कु, गगनमूर्धा, वेगवान्, केतुमान्, स्वर्भानु, अश्व, अश्वपति, वृषपर्वा, अजक, अश्वग्रीव, सूक्ष्म, महाबली तुहुण्ड, इषुपाद, एकचक्र, विरू-पाक्ष, हर, अहर, निचन्द्र, निकुम्भ, कुपट, कपट, शरभ, शलभ, सूर्य और चन्द्रमा हैं। ये दनुके वंशमें विख्यात दानव बताये गये हैं ॥ २२–२६ ॥

अन्यौ तु खलु देवानां सूर्याचन्द्रमसौ स्मृतौ।
अन्यौ दानवमुख्यानां सूर्याचन्द्रमसौ तथा ॥ २७ ॥

देवताओंमें जो सूर्य और चन्द्रमा माने गये हैं, वे दूसरे हैं और प्रधान दानवोंमें सूर्य तथा चन्द्रमा दूसरे हैं ॥ २७ ॥

इमे च वंशाः प्रथिताः सत्त्ववन्तो महाबलाः।
दनुपुत्रा महाराज दश दानववंशजाः ॥ २८ ॥

महाराज ! ये विख्यात दानववंश कहे गये हैं, जो बड़े धैर्यवान् और महाबलवान् हुए हैं। दनुके पुत्रोंमें निम्नाङ्कित दानवोंके दस कुल बहुत प्रसिद्ध हैं ॥ २८ ॥

एकाक्षो मृतपा वीरः प्रलम्बनरकावपि।
वातापी शत्रुतपनः शठश्चैव महासुरः ॥ २९ ॥
गविष्ठश्च वनायुश्च दीर्घजिह्वश्च दानवः।
असंख्येयाः स्मृतास्तेषां पुत्राः पौत्राश्च भारत ॥ ३० ॥

एकाक्ष, वीर मृतपा, प्रलम्ब, नरक, वातापी, शत्रुतपन, महान् असुर शठ, गविष्ठ, वनायु तथा दानव दीर्घजिह्व। भारत! इन सबके पुत्र-पौत्र असंख्य बताये गये हैं ॥२९-३०॥

सिंहिका सुषुवे पुत्रं राहुं चन्द्रार्कमर्दनम्।
सुचन्द्रं चन्द्रहर्तारं तथा चन्द्रप्रमर्दनम् ॥ ३१ ॥

सिंहिकाने राहु नामक पुत्रको उत्पन्न किया, जो चन्द्रमा और सूर्यका मान-मर्दन करनेवाला है। इसके सिवा सुचन्द्र, चन्द्रहर्ता तथा चन्द्रप्रमर्दनको भी उसीने जन्म दिया ॥३१॥

क्रूरस्वभावं क्रूरायाः पुत्रपौत्रमनन्तकम्।
गणः क्रोधवशो नाम क्रूरकर्मारिमर्दनः ॥ ३२ ॥

क्रूरा (क्रोधा) के क्रूर स्वभाववाले असंख्य पुत्र-पौत्र उत्पन्न हुए। शत्रुओंका नाश करनेवाला क्रूरकर्मा क्रोधवश नामक गण भी क्रूराकी ही संतान हैं ॥ ३२ ॥

दनायुषः पुनः पुत्राश्चत्वारोऽसुरपुङ्गवाः।
विक्षरो बलवीरौ च वृत्रश्चैव महासुरः ॥ ३३ ॥

दनायुके असुरोंमें श्रेष्ठ चार पुत्र हुए—विक्षर, बल, वीर और महान् असुर वृत्र ॥ ३३ ॥

कालायाः प्रथिताः पुत्राः कालकल्पाः प्रहारिणः।
प्रविख्याता महावीर्या दानवेषु परंतपाः ॥ ३४ ॥

कालाके विख्यात पुत्र अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करनेमें कुशल और साक्षात् कालके समान भयंकर थे। दानवोंमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे महान् पराक्रमी और शत्रुओंको संताप देनेवाले थे ॥ ३४ ॥

विनाशनश्च क्रोधश्च क्रोधहन्ता तथैव च।
क्रोधशत्रुस्तथैवान्ये कालकेया इति श्रुताः ॥ ३५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—विनाशन, क्रोध, क्रोधहन्ता तथा क्रोधशत्रु। कालकेय नामसे विख्यात दूसरे-दूसरे असुर भी कालाके ही पुत्र थे ॥ ३५ ॥

असुराणामुपाध्यायः शुक्रस्त्वृषिसुतोऽभवत्।
ख्याताश्चोशनसः पुत्राश्चत्वारोऽसुरयाजकाः ॥ ३६ ॥

असुरोंके उपाध्याय (अध्यापक एवं पुरोहित) शुक्राचार्य महर्षि भृगुके पुत्र थे। उन्हें उशना भी कहते हैं। उशनाके चार पुत्र हुए, जो असुरोंके पुरोहित थे ॥ ३६ ॥

त्वष्टाधरस्तथात्रिश्च द्वावन्यौ रौद्रकर्मिणौ।
तेजसा सूर्यसंकाशा ब्रह्मलोकपरायणाः ॥ ३७ ॥

इनके अतिरिक्त त्वष्टाधर तथा अत्रि ये दो पुत्र और हुए, जो रौद्र कर्म करने और करानेवाले थे। उशनाके सभी पुत्र सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्रह्मलोकको ही परम आश्रय माननेवाले थे ॥ ३७ ॥

इत्येष वंशप्रभवः कथितस्ते तरस्विनाम्।
असुराणां सुराणां च पुराणे संश्रुतो मया ॥ ३८ ॥

राजन् ! मैंने पुराणमें जैसा सुन रक्खा है, उसके अनुसार तुमसे यह वेगशाली असुरों और देवताओंके वंशकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बताया है ॥ ३८ ॥

एतेषां यदपत्यं तु न शक्यं तदशेषतः।
प्रसंख्यातुं महीपाल गुणभूतमनन्तकम् ॥ ३९ ॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च तथैव गरुडारुणौ ।
आरुणिर्वारुणिश्चैव वैनतेयाः प्रकीर्तिताः ॥ ४० ॥

महीपाल ! इनकी जो संतानें हैं, उन सबकी पूर्णरूपसे गणना नहीं की जा सकती; क्योंकि वे सब अनन्त गुने हैं। तार्क्ष्य, अरिष्टनेमि, गरुड, अरुण, आरुणि तथा वारुणि—ये विनताके पुत्र कहे गये हैं ॥ ३९-४० ॥

शेषोऽनन्तो वासुकिश्च तक्षकश्च भुजङ्गमः ।
कूर्मश्च कुलिकश्चैव काद्रवेयाः प्रकीर्तिताः ॥ ४१ ॥

शेष, अनन्त, वासुकि, तक्षक, कूर्म और कुलिक आदि नागगण कद्रूके पुत्र कहलाते हैं ॥ ४१ ॥

भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा ।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥ ४२ ॥
सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चापि विश्रुतः ।
भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद् वशी ॥ ४३ ॥
तथा शालिशिरा राजन् पर्जन्यश्च चतुर्दशः ।
कलिः पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडशः ।
इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्तिताः ॥ ४४ ॥

राजन् ! भीमसेन, उग्रसेन, सुपर्ण, वरुण, गोपति, धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा, सत्यवाक्, अर्कपर्ण, विख्यात प्रयुत, भीम, सर्वज्ञ और जितेन्द्रिय चित्ररथ, शालिशिरा, चौदहवें पर्जन्य, पंद्रहवें कलि और सोलहवें नारद—ये सब देवगन्धर्व जातिवाले सोलह पुत्र मुनिके गर्भसे उत्पन्न कहे गये हैं ॥ ४२-४४ ॥

अथ प्रभूतान्यन्यानि कीर्तयिष्यामि भारत ।
अनवद्यां मनुं वंशामसुरां मार्गणप्रियाम् ॥ ४५ ॥
अरूपां सुभगां भासीमिति प्राधा व्यजायत ।
सिद्धः पूर्णश्च बर्हिश्च पूर्णायुश्च महायशाः ॥ ४६ ॥
ब्रह्मचारी रतिगुणः सुपर्णश्चैव सप्तमः ।
विश्वावसुश्च भानुश्च सुचन्द्रो दशमस्तथा ॥ ४७ ॥
इत्येते देवगन्धर्वाः प्राधेयाः परिकीर्तिताः ।
इमं त्वप्सरसां वंशं विदितं पुण्यलक्षणम् ॥ ४८ ॥
प्राधासूत महाभागा देवी देवर्षितः पुरा ।
अलम्बुषा मिश्रकेशी विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा ॥ ४९ ॥
अरुणा रक्षिता चैव रम्भा तद्वन्मनोरमा ।
केशिनी च सुबाहुश्च सुरता सुरजा तथा ॥ ५० ॥
सुप्रिया चातिबाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहूः ।
तुम्बुरुश्चेति चत्वारः स्मृता गन्धर्वसत्तमाः ॥ ५१ ॥

भारत ! इसके अतिरिक्त अन्य बहुत-से वंशोंकी उत्पत्तिका वर्णन करता हूँ। प्राधा नामवाली दक्षकन्याने अनवद्या, मनु, वंशा, असुरा, मार्गणप्रिया, अरूपा, सुभगा और भासी इन कन्याओंको उत्पन्न किया। सिद्ध, पूर्ण, बर्हि, महायशस्वी पूर्णायु, ब्रह्मचारी, रतिगुण, सातवें सुपर्ण, आठवें विश्वावसु, नवें भानु और दसवें सुचन्द्र—ये दस देव-गन्धर्व भी प्राधाके ही पुत्र बताये गये हैं। इनके सिवा महाभागा देवी प्राधाने पहले देवर्षि (कश्यप) के समागमसे इन प्रसिद्ध अप्सराओंके शुभ लक्षणवाले समुदायको उत्पन्न किया था। उनके नाम ये हैं— अलम्बुषा, मिश्रकेशी, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अरुणा, रक्षिता, रम्भा, मनोरमा, केशिनी, सुबाहु, सुरता, सुरजा और सुप्रिया। अतिबाहु, सुप्रसिद्ध हाहा और हूहू तथा तुम्बुरु—ये चार श्रेष्ठ गन्धर्व भी प्राधाके ही पुत्र माने गये हैं ॥

अमृतं ब्राह्मणा गावो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ।
अपत्यं कपिलायास्तु पुराणे परिकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

अमृत, ब्राह्मण, गौएँ, गन्धर्व तथा अप्सराएँ—ये सब पुराणमें कपिलाकी संतानें बतायी गयी हैं ॥ ५२ ॥

इति ते सर्वभूतानां सम्भवः कथितो मया ।
यथावत् सम्परिख्यातो गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ ५३ ॥
भुजङ्गानां सुपर्णानां रुद्राणां मरुतां तथा ।
गवां च ब्राह्मणानां च श्रीमतां पुण्यकर्मणाम् ॥ ५४ ॥

राजन् ! इस प्रकार मैंने तुम्हें सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बताया है। इसी तरह गन्धर्वों, अप्सराओं, नागों, सुपर्णों, रुद्रों, मरुद्गणों, गौओं तथा श्रीसम्पन्न पुण्यकर्मा ब्राह्मणोंके जन्मकी कथा भी भलीभाँति कही है ॥ ५३-५४ ॥

आयुष्यश्चैव पुण्यश्च धन्यः श्रुतिसुखावहः ।
श्रोतव्यश्चैव सततं श्राव्यश्चैवानसूयता ॥ ५५ ॥

यह प्रसङ्ग आयु देनेवाला, पुण्यमय, प्रशंसनीय तथा सुननेमें सुखद है। मनुष्यको चाहिये कि वह दोषदृष्टि न रखकर सदा इसे सुने और सुनावे ॥ ५५ ॥

इमं तु वंशं नियमेन यः पठेत्
महात्मनां ब्राह्मणदेवसंनिधौ ।
अपत्यलाभं लभते स पुष्कलं
श्रियं यशः प्रेत्य च शोभनां गतिम् ॥ ५६ ॥

जो ब्राह्मण और देवताओंके समीप महात्माओंकी इस वंशावलीका नियमपूर्वक पाठ करता है, वह प्रचुर संतान, सम्पत्ति और यश प्राप्त करता है तथा मृत्युके पश्चात् उत्तम गति पाता है ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आदित्यादिवंशकथने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आदित्यादिवंशकथन-विषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

महर्षियों तथा कश्यप-पत्नियोंकी संतान-परम्पराका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ।
एकादश सुताः स्थाणोः ख्याताः परमतेजसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ब्रह्माके मानस पुत्र छः महर्षियोंके नाम तुम्हें ज्ञात हो चुके हैं। उनके सातवें पुत्र थे स्थाणु। स्थाणुके परम तेजस्वी ग्यारह पुत्र विख्यात हैं ॥ १ ॥

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः ।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः ॥ २ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः ।
स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः ॥ ३ ॥

मृगव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शत्रुसंतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परम-कान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं ॥ २-३ ॥

मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
षडेते ब्रह्मणः पुत्रा वीर्यवन्तो महर्षयः ॥ ४ ॥

मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये ब्रह्माजीके छः पुत्र बड़े शक्तिशाली महर्षि हैं ॥ ४ ॥

त्रयस्त्वङ्गिरसः पुत्रा लोके सर्वत्र विश्रुताः ।
बृहस्पतिरुतथ्यश्च संवर्तश्च धृतव्रताः ॥ ५ ॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप ।
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥ ६ ॥

अङ्गिराके तीन पुत्र हुए, जो लोकमें सर्वत्र विख्यात हैं। उनके नाम ये हैं—बृहस्पति, उतथ्य और संवर्त। ये तीनों ही उत्तम व्रत धारण करनेवाले हैं। मनुजेश्वर! अत्रिके बहुत-से पुत्र सुने जाते हैं। वे सब-के-सब वेदवेत्ता, सिद्ध और शान्तचित्त महर्षि हैं ॥ ५-६ ॥

राक्षसाश्च पुलस्त्यस्य वानराः किंनरास्तथा ।
यक्षाश्च मनुजव्याघ्र पुत्रास्तस्य च धीमतः ॥ ७ ॥

नरश्रेष्ठ! बुद्धिमान् पुलस्त्य मुनिके पुत्र राक्षस, वानर, किंनर तथा यक्ष हैं ॥ ७ ॥

पुलहस्य सुता राजञ्छरभाश्च प्रकीर्तिताः ।
सिंहाः किम्पुरुषा व्याघ्रा ऋक्षा ईहामृगास्तथा ॥ ८ ॥

राजन्! पुलहके शरभ, सिंह, किम्पुरुष, व्याघ्र, रीछ और ईहामृग (भेड़िया) जातिके पुत्र हुए ॥ ८ ॥

क्रतोः क्रतुसमाः पुत्राः पतङ्गसहचारिणः ।
विश्रुतास्त्रिषु लोकेषु सत्यव्रतपरायणाः ॥ ९ ॥

क्रतु (यज्ञ) के पुत्र क्रतुके ही समान पवित्र, तीनों लोकोंमें विख्यात, सत्यवादी, व्रतपरायण तथा भगवान् सूर्यके आगे चलनेवाले साठ हजार वालखिल्य ऋषि हुए ॥ ९ ॥

दक्षस्त्वजायताङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् भगवानृषिः ।
ब्रह्मणः पृथिवीपाल शान्तात्मा सुमहातपाः ॥ १० ॥

भूमिपाल! ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे महातपस्वी शान्त-चित्त महर्षि भगवान् दक्ष उत्पन्न हुए ॥ १० ॥

वामादजायताङ्गुष्ठाद् भार्या तस्य महात्मनः ।
तस्यां पञ्चाशतं कन्याः स एवाजनयन्मुनिः ॥ ११ ॥

इसी प्रकार उन महात्माके बायें अँगूठेसे उनकी पत्नीका प्रादुर्भाव हुआ। महर्षिने उसके गर्भसे पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ ११ ॥

ताः सर्वास्त्वनवद्याङ्ग्यः कन्याः कमललोचनाः ।
पुत्रिकाः स्थापयामास नष्टपुत्रः प्रजापतिः ॥ १२ ॥

वे सभी कन्याएँ परम सुन्दर अङ्गोंवाली तथा विकसित कमलके सदृश विशाल लोचनोंसे सुशोभित थीं। प्रजापति दक्षके पुत्र जब नष्ट हो गये, तब उन्होंने अपनी उन कन्याओंको पुत्रिका बनाकर रखा (और उनका विवाह पुत्रिका-धर्मके अनुसार ही किया*) ॥ १२ ॥

ददौ स दश धर्माय सप्तविंशतिमिन्दवे ।
दिव्येन विधिना राजन् कश्यपाय त्रयोदश ॥ १३ ॥

राजन्! दक्षने दस कन्याएँ धर्मको, सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको और तेरह कन्याएँ महर्षि कश्यपको दिव्य विधिके अनुसार समर्पित कर दीं ॥ १३ ॥

नामतो धर्मपत्न्यस्ताः कीर्त्यमाना निबोध मे ।
कीर्तिर्लक्ष्मीर्धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा ॥ १४ ॥
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश ।
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयम्भुवा ॥ १५ ॥

अब मैं धर्मकी पत्नियोंके नाम बता रहा हूँ, सुनो—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और

---

* मनुस्मृतिमें प्रजापति दक्षको ही पुत्रिका-विधिका प्रवर्तक बताकर उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम् ॥
(मनु० ९ । १२७)

जिसके पुत्र न हों वह निम्नाङ्कित विधिसे अपनी कन्याको पुत्रिका बना ले। वह संकल्प कर ले कि इस कन्याके गर्भसे जो बालक उत्पन्न हो, वह मेरा श्राद्धादि कर्म करनेवाला पुत्ररूप हो।

मति—ये धर्मकी दस पत्नियाँ हैं। स्वयम्भू ब्रह्माजीने इन सबको धर्मका द्वार निश्चित किया है अर्थात् इनके द्वारा धर्ममें प्रवेश होता है ॥ १४-१५ ॥

सप्तविंशतिः सोमस्य पत्न्यो लोकस्य विश्रुताः।
कालस्य नयने युक्ताः सोमपत्न्यः शुचिव्रताः ॥ १६ ॥

चन्द्रमाकी सत्ताईस स्त्रियाँ समस्त लोकोंमें विख्यात हैं। वे पवित्र व्रत धारण करनेवाली सोमपत्नियाँ काल-विभागका ज्ञापन करनेमें नियुक्त हैं ॥ १६ ॥

सर्वा नक्षत्रयोगिन्यो लोकयात्राविधानतः।
पैतामहो मुनिर्देवस्तस्य पुत्रः प्रजापतिः।
तस्याष्टौ वसवः पुत्रास्तेषां वक्ष्यामिविस्तरम्॥ १७ ॥
धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १८ ॥

लोक-व्यवहारका निर्वाह करनेके लिये वे सब-की-सब नक्षत्र-वाचक नामोंसे युक्त हैं। पितामह ब्रह्माजीके स्तनसे उत्पन्न होनेके कारण मुनिवर धर्मदेव उनके पुत्र माने गये हैं। प्रजापति दक्ष भी ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं। दक्षकी कन्याओंके गर्भसे धर्मके आठ पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्हें वसुगण कहते हैं। अब मैं वसुओंका विस्तारपूर्वक परिचय देता हूँ। धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं ॥ १७-१८ ॥

धूम्रायास्तु धरः पुत्रो ब्रह्मविद्यो ध्रुवस्तथा।
चन्द्रमास्तु मनस्विन्याः श्वासायाः श्वसनस्तथा॥ १९ ॥
रतायाश्चाप्यहः पुत्रः शाण्डिल्याश्च हुताशनः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च प्रभातायाः सुतौ स्मृतौ ॥ २० ॥

धर और ब्रह्मवेत्ता ध्रुव धूम्राके पुत्र हैं। चन्द्रमा मनस्विनीके और अनिल श्वासाके पुत्र हैं। अह रताके और अनल शाण्डिलीके पुत्र हैं तथा प्रत्यूष और प्रभास ये दोनों प्रभाताके पुत्र बताये गये हैं ॥ १९-२० ॥

धरस्य पुत्रो द्रविणो हुतहव्यवहस्तथा।
ध्रुवस्य पुत्रो भगवान् कालो लोकप्रकालनः ॥ २१ ॥

धरके दो पुत्र हुए—द्रविण और हुतहव्यवह। सब लोकोंको अपना ग्रास बनानेवाले भगवान् काल ध्रुवके पुत्र हैं ॥ २१ ॥

सोमस्य तु सुतो वर्चा वर्चस्वी येन जायते।
मनोहरायाः शिशिरः प्राणोऽथ रमणस्तथा ॥ २२ ॥

सोमके मनोहरा नामक स्त्रीके गर्भसे प्रथम तो वर्चा नामक पुत्र हुआ, जिससे लोग वर्चस्वी (तेज, कान्ति और पराक्रमसे सम्पन्न) होते हैं, फिर शिशिर, प्राण तथा रमण नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २२ ॥

अह्नः सुतस्तथा ज्योतिः शमः शान्तस्तथा मुनिः।
अग्नेः पुत्रः कुमारस्तु श्रीमाञ्छरवणालयः ॥ २३ ॥

अहके चार पुत्र हुए—ज्योति, शम, शान्त तथा मुनि। अनलके पुत्र श्रीमान् कुमार (स्कन्द) हुए, जिनका जन्मकालमें सरकंडोंके वनमें निवास था ॥ २३ ॥

तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः।
कृत्तिकाभ्युपपत्तेश्च कार्तिकेय इति स्मृतः ॥ २४ ॥

शाख, विशाख और नैगमेय[1]—ये तीनों कुमारके छोटे भाई हैं। छः कृत्तिकाओंको मातारूपमें स्वीकार कर लेनेके कारण कुमारका दूसरा नाम कार्तिकेय भी है ॥ २४ ॥

अनिलस्य शिवा भार्या तस्याः पुत्रो मनोजवः।
अविज्ञातगतिश्चैव द्वौ पुत्रावनिलस्य तु ॥ २५ ॥

अनिलकी भार्याका नाम शिवा है। उसके दो पुत्र हैं—मनोजव तथा अविज्ञातगति। इस प्रकार अनिलके दो पुत्र कहे गये हैं ॥ २५ ॥

प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाथ देवलम्।
द्वौ पुत्रौ देवलस्यापि क्षमावन्तौ मनीषिणौ।
बृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी ॥ २६ ॥
योगसक्ता जगत् कृत्स्नमसक्ता विचचार ह।
प्रभासस्य तु भार्या सा वसूनामष्टमस्य ह ॥ २७ ॥

देवल नामक सुप्रसिद्ध मुनिको प्रत्यूषका पुत्र माना जाता है। देवलके भी दो पुत्र हुए। वे दोनों ही क्षमावान् और मनीषी थे। बृहस्पतिकी बहिन स्त्रियोंमें श्रेष्ठ एवं ब्रह्मवादिनी थीं। वे योगमें तत्पर हो सम्पूर्ण जगत्में अनासक्त भावसे विचरती रहीं। वे ही वसुओंमें आठवें वसु प्रभासकी धर्मपत्नी थीं ॥ २६-२७ ॥

विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः।
कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां च वर्धकिः ॥ २८ ॥

शिल्पकर्मके ब्रह्मा महाभाग विश्वकर्मा उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। वे सहस्रों शिल्पोंके निर्माता तथा देवताओंके बढ़ई कहे जाते हैं ॥ २८ ॥

भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः।
यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह ॥ २९ ॥

वे सब प्रकारके भूषणोंको बनानेवाले और शिल्पियोंमें श्रेष्ठ हैं। उन्होंने देवताओंके असंख्य दिव्य विमान बनाये हैं॥२९॥

मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः।
पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम् ॥ ३० ॥

मनुष्य भी महात्मा विश्वकर्माके शिल्पका आश्रय ले जीवन

---

१. किसी-किसीके मतमें शाख, विशाख और नैगमेय- ये तीनों नाम कुमार कार्तिकेयके ही हैं। किन्हींके मतमें कुमार कार्तिकेयके पुत्रोंकी संज्ञा शाख, विशाख और नैगमेय है। कल्पभेदसे सभी ठीक हो सकते हैं।

निर्वाह करते हैं और सदा उन अविनाशी विश्वकर्माकी पूजा करते रहते हैं ॥ ३० ॥

स्तनं तु दक्षिणं भित्त्वा ब्रह्मणो नरविग्रहः ।
निःसृतो भगवान् धर्मः सर्वलोकसुखावहः ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीके दाहिने स्तनको विदीर्ण करके मनुष्यरूपमें भगवान् धर्म प्रकट हुए, जो सम्पूर्ण लोकोंको सुख देनेवाले हैं ॥

त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूतमनोहराः ।
शमः कामश्च हर्षश्च तेजसा लोकधारिणः ॥ ३२ ॥

उनके तीन श्रेष्ठ पुत्र हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके मनको हर लेते हैं। उनके नाम हैं—शम, काम और हर्ष। वे अपने तेजसे सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाले हैं ॥ ३२ ॥

कामस्य तु रतिर्भार्या शमस्य प्राप्तिरङ्गना ।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३३ ॥

कामकी पत्नीका नाम रति है। शमकी भार्या प्राप्ति है। हर्षकी पत्नी नन्दा है। इन्हींमें सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं॥३३॥

मरीचेः कश्यपः पुत्रः कश्यपस्य सुरासुराः ।
जज्ञिरे नृपशार्दूल लोकानां प्रभवस्तु सः ॥ ३४ ॥

मरीचिके पुत्र कश्यप और कश्यपके सम्पूर्ण देवता तथा असुर उत्पन्न हुए। नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार कश्यप सम्पूर्ण लोकोंके आदि कारण हैं ॥ ३४ ॥

त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी ।
असूयत महाभागा सान्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥ ३५ ॥
द्वादशैवादितेः पुत्राः शक्रमुख्या नराधिप ।
तेषामवरजो विष्णुर्यत्र लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ३६ ॥

त्वष्टाकी पुत्री संज्ञा भगवान् सूर्यकी धर्मपत्नी हैं। वे परम सौभाग्यवती हैं। उन्होंने अश्विनी (घोड़ी) का रूप धारण करके अन्तरिक्षमें दोनों अश्विनीकुमारोंको जन्म दिया। राजन्! अदितिके इन्द्र आदि बारह पुत्र ही हैं। उनमें भगवान् विष्णु सबसे छोटे हैं, जिनमें ये सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं॥३५-३६॥

त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव ।
अन्वयं सम्प्रवक्ष्यामि पक्षैश्च कुलतो गणान् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा प्रजापति और वषट्कार—ये तैंतीस मुख्य देवता हैं। अब मैं तुम्हें इनके पक्ष और कुल आदिके उल्लेखपूर्वक वंश और गण आदिका परिचय देता हूँ ॥ ३७ ॥

रुद्राणामपरः पक्षः साध्यानां मरुतां तथा ।
वसूनां भार्गवं विद्याद् विश्वेदेवांस्तथैव च ॥ ३८ ॥

रुद्रोंका एक अलग पक्ष या गण है, साध्य, मरुत् तथा वसुओंका भी पृथक्-पृथक् गण है। इसी प्रकार भार्गव तथा विश्वेदेवगणको भी जानना चाहिये ॥ ३८ ॥

वैनतेयस्तु गरुडो बलवानरुणस्तथा ।
बृहस्पतिश्च भगवानादित्येष्वेव गण्यते ॥ ३९ ॥

विनतानन्दन गरुड, बलवान् अरुण तथा भगवान् बृहस्पतिकी गणना आदित्योंमें ही की जाती है ॥ ३९ ॥

अश्विनौ गुह्यकान् विद्धि सर्वौषध्यस्तथा पशून् ।
एते देवगणा राजन् कीर्तितास्तेऽनुपूर्वशः ॥ ४० ॥

अश्विनीकुमार, सर्वौषधि तथा पशु इन सबको गुह्यक-समुदायके भीतर समझो। राजन्! ये देवगण तुम्हें क्रमशः बताये गये हैं ॥ ४० ॥

यान् कीर्तयित्वा मनुजः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
ब्रह्मणो हृदयं भित्त्वा निःसृतो भगवान् भृगुः ॥ ४१ ॥

मनुष्य इन सबका कीर्तन करके सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। भगवान् भृगु ब्रह्माजीके हृदयका भेदन करके प्रकट हुए थे॥

भृगोः पुत्रः कविर्विद्वाञ्छुक्रः कविसुतो ग्रहः ।
त्रैलोक्यप्राणयात्रार्थं वर्षावर्षे भयाभये ।
स्वयम्भुवा नियुक्तः सन् भुवनं परिधावति ॥ ४२ ॥

भृगुके विद्वान् पुत्र कवि हुए और कविके पुत्र शुक्राचार्य हुए, जो ग्रह होकर तीनों लोकोंके जीवनकी रक्षाके लिये वृष्टि, अनावृष्टि तथा भय और अभय उत्पन्न करते हैं। स्वयम्भू ब्रह्माजीकी प्रेरणासे वे समस्त लोकोंका चक्कर लगाते रहते हैं॥

योगाचार्यो महाबुद्धिर्दैत्यानामभवद् गुरुः ।
सुराणां चापि मेधावी ब्रह्मचारी यतव्रतः ॥ ४३ ॥

महाबुद्धिमान् शुक्र ही योगके आचार्य और दैत्योंके गुरु हुए। वे ही योगबलसे मेधावी, ब्रह्मचारी एवं व्रतपरायण बृहस्पतिके रूपमें प्रकट हो देवताओंके भी गुरु होते हैं॥४३॥

तस्मिन् नियुक्ते विधिना योगक्षेमाय भार्गवे ।
अन्यमुत्पादयामास पुत्रं भृगुरनिन्दितम् ॥ ४४ ॥

ब्रह्माजीने जब भृगुपुत्र शुक्रको जगत्के योगक्षेमके कार्यमें नियुक्त कर दिया, तब महर्षि भृगुने एक दूसरे निर्दोष पुत्रको जन्म दिया ॥ ४४ ॥

च्यवनं दीप्ततपसं धर्मात्मानं यशस्विनम् ।
यः स रोषाच्च्युतो गर्भान्मातुर्मोक्षाय भारत ॥ ४५ ॥

जिसका नाम था च्यवन। महर्षि च्यवनकी तपस्या सदा उद्दीप्त रहती है। वे धर्मात्मा और यशस्वी हैं। भारत! वे अपनी माताको संकटसे बचानेके लिये रोषपूर्वक गर्भसे च्युत हो गये थे (इसीलिये च्यवन कहलाये) ॥ ४५ ॥

आरुषी तु मनोः कन्या तस्य पत्नी मनीषिणः ।
और्वस्तस्यां समभवदूरुं भित्त्वा महायशाः ॥ ४६ ॥

मनुकी पुत्री आरुषी मनीषी च्यवन मुनिकी पत्नी थी। उससे महायशस्वी और्व मुनिका जन्म हुआ। वे अपनी माताकी ऊरु (जाँघ) फाड़कर प्रकट हुए थे इसलिये और्व कहलाये॥

महातेजा महावीर्यो बाल एव गुणैर्युतः।
ऋचीकस्तस्य पुत्रस्तु जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥ ४७ ॥

वे महान् तेजस्वी और अत्यन्त शक्तिशाली थे। बचपनमें ही अनेक सद्गुण उनकी शोभा बढ़ाने लगे। और्वके पुत्र ऋचीक तथा ऋचीकके पुत्र जमदग्नि हुए ॥ ४७ ॥

जमदग्नेस्तु चत्वार आसन् पुत्रा महात्मनः।
रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः।
सर्वशस्त्रेषु कुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी ॥ ४८ ॥

महात्मा जमदग्निके चार पुत्र थे, जिनमें परशुरामजी सबसे छोटे थे; किंतु उनके गुण छोटे नहीं थे। वे श्रेष्ठ सद्गुणोंसे विभूषित थे, सम्पूर्ण शस्त्रविद्यामें कुशल, क्षत्रिय-कुलका संहार करनेवाले तथा जितेन्द्रिय थे ॥ ४८ ॥

और्वस्यासीत् पुत्रशतं जमदग्निपुरोगमम्।
तेषां पुत्रसहस्राणि बभूवुर्भुवि विस्तरः ॥ ४९ ॥

और्व मुनिके जमदग्नि आदि सौ पुत्र थे। फिर उनके भी सहस्रों पुत्र हुए। इस प्रकार इस पृथ्वीपर भृगुवंशका विस्तार हुआ ॥ ४९ ॥

द्वौ पुत्रौ ब्रह्मणस्त्वन्यौ ययोस्तिष्ठति लक्षणम्।
लोके धाता विधाता च यौ स्थितौ मनुना सह ॥ ५० ॥

ब्रह्माजीके दो पुत्र और थे, जिनका धारण-पोषण और सृष्टिरूप लक्षण लोकमें सदा ही उपलब्ध होता है। उनके नाम हैं धाता और विधाता। ये मनुके साथ रहते हैं ॥ ५० ॥

तयोरेव स्वसा देवी लक्ष्मीः पद्मगृहा शुभा।
तस्यास्तु मानसाः पुत्रास्तुरगा व्योमचारिणः ॥ ५१ ॥
वरुणस्य भार्या या ज्येष्ठा शुक्राद् देवी व्यजायत।
तस्याः पुत्रं बलं विद्धि सुरां च सुरनन्दिनीम् ॥ ५२ ॥

कमलोंमें निवास करनेवाली शुभस्वरूपा लक्ष्मीदेवी उन दोनोंकी बहिन हैं। आकाशमें विचरनेवाले अश्व लक्ष्मीदेवीके मानस पुत्र हैं। राजन्! वरुणके बीजसे उनकी ज्येष्ठ पत्नी देवीने एक पुत्र और एक पुत्रीको जन्म दिया। उसके पुत्रको तो बल और देवनन्दिनी पुत्रीको सुरा समझो ॥ ५१-५२ ॥

प्रजानामन्नकामानामन्योन्यपरिभक्षणात्।
अधर्मस्तत्र संजातः सर्वभूतविनाशकः ॥ ५३ ॥

तदनन्तर एक समय ऐसा आया, जब प्रजा भूखसे पीड़ित हो भोजनकी इच्छासे एक दूसरेको मारकर खाने लगी, उस समय वहाँ अधर्म प्रकट हुआ, जो समस्त प्राणियोंका नाश करनेवाला है ॥ ५३ ॥

तस्यापि निर्ऋतिर्भार्या नैर्ऋता येन राक्षसाः।
घोरास्तस्यास्त्रयः पुत्राः पापकर्मरताः सदा ॥ ५४ ॥

अधर्मकी स्त्री निर्ऋति हुई, जिससे नैर्ऋत नामवाले तीन भयंकर राक्षस पुत्र उत्पन्न हुए, जो सदा पापकर्ममें ही लगे रहनेवाले हैं ॥ ५४ ॥

भयो महाभयश्चैव मृत्युर्भूतान्तकस्तथा।
न तस्य भार्या पुत्रो वा कश्चिदस्त्यन्तको हि सः ॥ ५५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—भय, महाभय और मृत्यु। उनमें मृत्यु समस्त प्राणियोंका अन्त करनेवाला है। उसके पत्नी या पुत्र कोई नहीं है, क्योंकि वह सबका अन्त करनेवाला है ॥ ५५ ॥

काकीं श्येनीं तथा भासीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम्।
ताम्रा तु सुषुवे देवी पञ्चैता लोकविश्रुताः ॥ ५६ ॥

देवी ताम्राने काकी, श्येनी, भासी, धृतराष्ट्री तथा शुकी—इन पाँच लोकविख्यात कन्याओंको उत्पन्न किया ॥ ५६ ॥

उलूकान् सुषुवे काकी श्येनी श्येनान् व्यजायत।
भासी भासानजनयद् गृध्रांश्चैव जनाधिप ॥ ५७ ॥

जनेश्वर! काकीने उल्लुओं और श्येनीने बाजोंको जन्म दिया; भासीने मुर्गों तथा गीधोंको उत्पन्न किया ॥ ५७ ॥

धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः।
चक्रवाकांश्च भद्रा तु जनयामास सैव तु ॥ ५८ ॥
शुकी च जनयामास शुकानेव यशस्विनी।
कल्याणगुणसम्पन्ना सर्वलक्षणपूजिता ॥ ५९ ॥

कल्याणमयी धृतराष्ट्रीने सब प्रकारके हंसों, कलहंसों तथा चक्रवाकोंको जन्म दिया। कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे युक्त यशस्विनी शुकीने शुकों (तोतों) को ही उत्पन्न किया ॥ ५८-५९ ॥

नव क्रोधवशा नारीः प्रजज्ञे क्रोधसम्भवाः।
मृगी च मृगमन्दा च हरी भद्रमना अपि ॥ ६० ॥
मातङ्गी त्वथ शार्दूली श्वेता सुरभिरेव च।
सर्वलक्षणसम्पन्ना सुरसा चैव भामिनी ॥ ६१ ॥

क्रोधवशाने नौ प्रकारकी क्रोधजनित कन्याओंको जन्म दिया। उनके नाम ये हैं मृगी, मृगमन्दा, हरी, भद्रमना, मातङ्गी, शार्दूली, श्वेता, सुरभि तथा सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न सुन्दरी सुरसा ॥ ६०-६१ ॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्च परंतप ॥ ६२ ॥
ततस्त्वैरावतं नागं जज्ञे भद्रमनाः सुतम्।
ऐरावतः सुतस्तस्या देवनागो महागजः ॥ ६३ ॥

नरश्रेष्ठ! समस्त मृग मृगीकी संतानें हैं। परंतप! मृगमन्दासे रीछ तथा सृमर (छोटी जातिके मृग) उत्पन्न हुए। भद्रमनाने ऐरावत हाथीको अपने पुत्ररूपमें उत्पन्न किया। देवताओंका हाथी महान गजराज ऐरावत भद्रमनाका ही पुत्र है ॥ ६२-६३ ॥

हर्याश्च हर्योऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः।
गोलांगूलांश्च भद्रं ते हर्याः पुत्रान् प्रचक्षते ॥ ६४ ॥
प्रजज्ञे त्वथ शार्दूली सिंहान् व्याघ्राननेकशः।
द्वीपिनश्च महासत्त्वान् सर्वानेव न संशयः ॥ ६५ ॥

राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, वेगवान् घोड़े और वानर हरीके पुत्र हैं। गायके समान पूँछवाले लंगूरोंको भी हरीका ही पुत्र बताया जाता है। शार्दूलीने सिंहों, अनेक प्रकारके बाघों और महान् बलशाली सभी प्रकारके चीतोंको भी जन्म दिया; इसमें संशय नहीं है ॥ ६४-६५ ॥

मातङ्ग्यपि च मातङ्गानपत्यानि नराधिप।
दिशां गजं तु श्वेताख्यं श्वेताजनयदाशुगम् ॥ ६६ ॥
तथा दुहितरौ राजन् सुरभिर्वै व्यजायत।
रोहिणीं चैव भद्रं ते गन्धर्वीं तु यशस्विनीम् ॥ ६७ ॥

नरेश्वर! मातङ्गीने मतवाले हाथियोंको संतानके रूपमें उत्पन्न किया। श्वेताने शीघ्रगामी दिग्गज श्वेतको जन्म दिया। राजन्! तुम्हारा भला हो, सुरभिने दो कन्याओंको उत्पन्न किया। उनमेंसे एकका नाम रोहिणी था और दूसरीका गन्धर्वी। गन्धर्वी बड़ी यशस्विनी थी ॥ ६६-६७ ॥

विमलामपि भद्रं ते अनलामपि भारत।
रोहिण्यां जज्ञिरे गावो गन्धर्व्यां वाजिनः सुताः।
सप्त पिण्डफलान् वृक्षाननलापि व्यजायत ॥ ६८ ॥

भारत! तत्पश्चात् रोहिणीने विमला और अनला नामवाली दो कन्याएँ और उत्पन्न कीं। रोहिणीसे गाय-बैल और गन्धर्वीसे घोड़े ही पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए। अनलाने सात प्रकारके वृक्षोंको उत्पन्न किया, जिनमें पिण्डाकार फल लगते हैं ॥

अनलायाः शुकी पुत्री कङ्कस्तु सुरसासुतः।
अरुणस्य भार्या श्येनी तु वीर्यवन्तौ महाबलौ ॥ ६९ ॥
सम्पातिं जनयामास वीर्यवन्तं जटायुषम्।
सुरसाजनयन्नागान् कद्रूः पुत्रांस्तु पन्नगान् ॥ ७० ॥
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु विख्यातौ गरुडारुणौ।

अनलाके शुकी नामकी एक कन्या भी हुई। कङ्क पक्षी सुरसाका पुत्र है। अरुणकी पत्नी श्येनीने दो महाबली और पराक्रमी पुत्र उत्पन्न किये। एकका नाम था सम्पाती और दूसरेका जटायु। जटायु बड़ा शक्तिशाली था। सुरसा और कद्रूने नाग एवं पन्नग जातिके पुत्रोंको उत्पन्न किया। विनताके दो ही पुत्र विख्यात हैं, गरुड और अरुण ॥६९-७०½॥

(सुरसाजनयत् सर्पाञ्छतमेकशिरोधरान्।
सुरसाकन्यका जातास्तिस्रः कमललोचनाः ॥
वनस्पतीनां वृक्षाणां वीरुधां चैव मातरः।
अनला रुहा च द्वे प्रोक्ते वीरुधां चैव ताः स्मृताः॥
गृह्णन्ति ये विना पुष्पं फलानि तरवः पृथक्।
अनलासुतास्ते विज्ञेयाः तानेवाहुर्वनस्पतीन् ॥
पुष्पैः फलग्रहान् वृक्षान् रुहायाः प्रसवान् विभो।
लतागुल्मानि वल्यश्च त्वक्सारतृणजातयः ॥
वीरुधायाः प्रजास्ताः स्युरत्रवंशः समाप्यते।)

सुरसाने एक सौ एक सिरवाले सर्पोंको जन्म दिया था। सुरसासे तीन कमलनयनी कन्याएँ उत्पन्न हुईं, जो वनस्पतियों, वृक्षों और लता-गुल्मोंकी जननी हुईं। उनके नाम इस प्रकार हैं—अनला, रुहा और वीरुधा। जो वृक्ष बिना फूलके ही फल ग्रहण करते हैं उन सबको अनलाका पुत्र जानना चाहिये; वे ही वनस्पति कहलाते हैं। प्रभो! जो फूलसे फल ग्रहण करते हैं उन वृक्षोंको रुहाकी संतान समझो। लता, गुल्म, वल्ली, बाँस और तिनकोंकी जितनी जातियाँ हैं उन सबकी उत्पत्ति वीरुधासे हुई है। यहाँ वंशवर्णन समाप्त होता है ॥

इत्येष सर्वभूतानां महतां मनुजाधिप।
प्रभवः कीर्तितः सम्यङ्मया मतिमतां वर ॥ ७१ ॥
यं श्रुत्वा पुरुषः सम्यङ्मुक्तो भवति पाप्मनः।
सर्वज्ञतां च लभते गतिमग्र्यां च विन्दति ॥ ७२ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा जनमेजय! इस प्रकार मैंने सम्पूर्ण महाभूतोंकी उत्पत्तिका भलीभाँति वर्णन किया है। जिसे अच्छी तरह सुनकर मनुष्य सब पापोंसे पूर्णतः मुक्त हो जाता है और सर्वज्ञता तथा उत्तम गति प्राप्त कर लेता है ॥ ७१-७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अंशावतरण-विषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

(इस अध्यायमें ७२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक और कुल ७६½ श्लोक हैं)

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

देवता और दैत्य आदिके अंशावतारोंका दिग्दर्शन

जनमेजय उवाच

देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
सिंहव्याघ्रमृगाणां च पन्नगानां पतत्रिणाम् ॥ १ ॥
सर्वेषां चैव भूतानां सम्भवं भगवन्नहम्।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन मानुषेषु महात्मनाम्।
जन्म कर्म च भूतानामेतेषामनुपूर्वशः ॥ २ ॥

---

१. खर्जूरं तालहिन्तालौ ताली खर्जूरिका तथा। गुणका नारिकेलश्च सप्त पिण्डफला द्रुमाः ॥ (खजूर, ताल, हिन्ताल, ताली, छोटे खजूर, सोपारी और नारियल—ये सात पिण्डाकार फलवाले वृक्ष हैं।)

जनमेजयने कहा–भगवन्! मैं मनुष्य-योनिमें अंशतः उत्पन्न हुए देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, हरिण, सर्प, पक्षी एवं सम्पूर्ण भूतोंके जन्मका वृत्तान्त यथार्थ-रूपसे सुनना चाहता हूँ। मनुष्योंमें जो महात्मा पुरुष हैं, उनके तथा इन सभी प्राणियोंके जन्म-कर्मका क्रमशः वर्णन सुनना चाहता हूँ॥ १-२॥

वैशम्पायन उवाच

मानुषेषु मनुष्येन्द्र सम्भूता ये दिवौकसः।
प्रथमं दानवांश्चैव तांस्ते वक्ष्यामि सर्वशः॥ ३॥
विप्रचित्तिरिति ख्यातो य आसीद् दानवर्षभः।
जरासन्ध इति ख्यातः स आसीन्मनुजर्षभः॥ ४॥
दितेः पुत्रस्तु यो राजन् हिरण्यकशिपुः स्मृतः।
स जज्ञे मानुषे लोके शिशुपालो नरर्षभः॥ ५॥

वैशम्पायनजी बोले–नरेन्द्र! मनुष्योंमें जो देवता और दानव प्रकट हुए थे, उन सबके जन्मका ही पहले तुम्हें परिचय दे रहा हूँ। विप्रचित्ति नामसे विख्यात जो दानवोंका राजा था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ जरासन्ध नामसे विख्यात हुआ। राजन्! हिरण्यकशिपु नामसे प्रसिद्ध जो दितिका पुत्र था, वही मनुष्यलोकमें नरश्रेष्ठ शिशुपालके रूपमें उत्पन्न हुआ॥

संह्राद इति विख्यातः प्रह्रादस्यानुजस्तु यः।
स शल्य इति विख्यातो जज्ञे बाह्लीकपुङ्गवः॥ ६॥
अनुह्रादस्तु तेजस्वी योऽभूत् ख्यातो जघन्यजः।
धृष्टकेतुरिति ख्यातः स बभूव नरेश्वरः॥ ७॥

प्रह्रादका छोटा भाई जो संह्रादके नामसे विख्यात था, वही बाह्लीक देशका सुप्रसिद्ध राजा शल्य हुआ। प्रह्रादका ही दूसरा छोटा भाई जिसका नाम अनुह्राद था, धृष्टकेतु नामक राजा हुआ॥ ६-७॥

यस्तु राजञ्छिबिर्नाम दैतेयः परिकीर्तितः।
द्रुम इत्यभिविख्यातः स आसीद् भुवि पार्थिवः॥ ८॥

राजन्! जो शिबि नामका दैत्य कहा गया है, वही इस पृथ्वीपर द्रुम नामसे विख्यात राजा हुआ॥ ८॥

बाष्कलो नाम यस्तेषामासीदसुरसत्तमः।
भगदत्त इति ख्यातः स जज्ञे पुरुषर्षभः॥ ९॥

असुरोंमें श्रेष्ठ जो बाष्कल था, वही नरश्रेष्ठ भगदत्तके नामसे उत्पन्न हुआ॥ ९॥

अयःशिरा अश्वशिरा अयःशङ्कुश्च वीर्यवान्।
तथा गगनमूर्धा च वेगवांश्चात्र पञ्चमः॥ १०॥
पञ्चैते जज्ञिरे राजन् वीर्यवन्तो महासुराः।
केकयेषु महात्मानः पार्थिवर्षभसत्तमाः।
केतुमानिति विख्यातो यस्ततोऽन्यः प्रतापवान्॥ ११॥
अमितौजा इति ख्यातः सोग्रकर्मा नराधिपः।
स्वर्भानुरिति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः॥ १२॥
उग्रसेन इति ख्यात उग्रकर्मा नराधिपः।
यस्त्वश्व इति विख्यातः श्रीमानासीन्महासुरः॥ १३॥
अशोको नाम राजाभून्महावीर्योऽपराजितः।
तस्मादवरजो यस्तु राजन्नश्वपतिः स्मृतः॥ १४॥
दैतेयः सोऽभवद् राजा हार्दिक्यो मनुजर्षभः।
वृषपर्वेति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः॥ १५॥
दीर्घप्रज्ञ इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः।
अजकस्त्ववरो राजन् य आसीद् वृषपर्वणः॥ १६॥
स शाल्व इति विख्यातः पृथिव्यामभवन्नृपः।
अश्वग्रीव इति ख्यातः सत्त्ववान् यो महासुरः॥ १७॥
रोचमान इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः।
सूक्ष्मस्तु मतिमान् राजन् कीर्तिमान् यः प्रकीर्तितः॥ १८॥
बृहद्रथ इति ख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः।
तुहुण्ड इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः॥ १९॥
सेनाबिन्दुरिति ख्यातः स बभूव नराधिपः।
इषुपान्नाम यस्तेषामसुराणां बलाधिकः॥ २०॥
नग्नजिन्नाम राजासीद् भुवि विख्यातविक्रमः।
एकचक्र इति ख्यात आसीद् यस्तु महासुरः॥ २१॥
प्रतिविन्ध्य इति ख्यातो बभूव प्रथितः क्षितौ।
विरूपाक्षस्तु दैतेयश्चित्रयोधी महासुरः॥ २२॥
चित्रधर्मेति विख्यातः क्षितावासीत् स पार्थिवः।
हरस्त्वरिहरो वीर आसीद् यो दानवोत्तमः॥ २३॥
सुबाहुरिति विख्यातः श्रीमानासीत् स पार्थिवः।
अहरस्तु महातेजाः शत्रुपक्षक्षयंकरः॥ २४॥
बाह्लीको नाम राजा स बभूव प्रथितः क्षितौ।
निचन्द्रश्चन्द्रवक्त्रस्तु य आसीदसुरोत्तमः॥ २५॥
मुञ्जकेश इति ख्यातः श्रीमानासीत् स पार्थिवः।
निकुम्भस्त्वजितः संख्ये महामतिरजायत॥ २६॥
भूमौ भूमिपतिः श्रेष्ठो देवाधिप इति स्मृतः।
शरभो नाम यस्तेषां दैतेयानां महासुरः॥ २७॥
पौरवो नाम राजर्षिः स बभूव नरोत्तमः।
कुपटस्तु महावीर्यः श्रीमान् राजन् महासुरः॥ २८॥
सुपार्श्व इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः।
क्रथस्तु राजन् राजर्षिः क्षितौ जज्ञे महासुरः॥ २९॥
पार्वतेय इति ख्यातः काञ्चनाचलसंनिभः।
द्वितीयः शलभस्तेषामसुराणां बभूव ह॥ ३०॥
प्रह्लादो नाम बाह्लीकः स बभूव नराधिपः।
चन्द्रस्तु दितिजश्रेष्ठो लोके ताराधिपोपमः॥ ३१॥
चन्द्रवर्मेति विख्यातः काम्बोजानां नराधिपः।
अर्क इत्यभिविख्यातो यस्तु दानवपुङ्गवः॥ ३२॥
ऋषिको नाम राजर्षिर्बभूव नृपसत्तमः।
मृतपा इति विख्यातो य आसीदसुरोत्तमः॥ ३३॥

पश्चिमानूपकं विद्धि तं नृपं नृपसत्तम।
गविष्ठस्तु महातेजा यः प्रख्यातो महासुरः॥ ३४॥
द्रुमसेन इति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः।
मयूर इति विख्यातः श्रीमान् यस्तु महासुरः॥ ३५॥
स विश्व इति विख्यातो बभूव पृथिवीपतिः।
सुपर्ण इति विख्यातस्तस्मादवरजस्तु यः॥ ३६॥
कालकीर्तिरिति ख्यातः पृथिव्यां सोऽभवन्नृपः।
चन्द्रहन्तेति यस्तेषां कीर्तितः प्रवरोऽसुरः॥ ३७॥
शुनको नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः।
विनाशनस्तु चन्द्रस्य य आख्यातो महासुरः॥ ३८॥
जानकिर्नाम विख्यातः सोऽभवन्मनुजाधिपः।
दीर्घजिह्वस्तु कौरव्य य उक्तो दानवर्षभः॥ ३९॥
काशिराजः स विख्यातः पृथिव्यां पृथिवीपते।
ग्रहं तु सुषुवे यं तु सिंहिकार्केन्दुमर्दनम्।
स क्राथ इति विख्यातो बभूव मनुजाधिपः॥ ४०॥

अयःशिरा, अश्वशिरा, वीर्यवान् अयःशङ्कु, गगनमूर्धा और वेगवान्—राजन्! ये पाँच पराक्रमी महादैत्य केकय देशके प्रधान-प्रधान महात्मा राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए। उनसे भिन्न केतुमान् नामसे प्रसिद्ध प्रतापी महान् असुर अमितौजा नामसे विख्यात राजा हुआ, जो भयानक कर्म करनेवाला था। स्वर्भानु नामवाला जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही भयंकर कर्म करनेवाला राजा उग्रसेन कहलाया। अश्व नामसे विख्यात जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही किसीसे परास्त न होनेवाला महापराक्रमी राजा अशोक हुआ। राजन्! उसका छोटा भाई जो अश्वपति नामक दैत्य था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ हार्दिक्य नामवाला राजा हुआ। वृषपर्वा नामसे प्रसिद्ध जो श्रीमान् महादैत्य था, वह पृथ्वीपर दीर्घप्रज्ञ नामक राजा हुआ। राजन्! वृषपर्वाका छोटा भाई जो अजक था, वही इस भूमण्डलमें शाल्व नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। अश्वग्रीव नामवाला जो धैर्यवान् महादैत्य था, वह पृथ्वीपर रोचमान नामसे विख्यात राजा हुआ। राजन्! बुद्धिमान् और यशस्वी सूक्ष्म नामसे प्रसिद्ध जो दैत्य कहा गया है, वह इस पृथ्वीपर बृहद्रथ नामसे विख्यात राजा हुआ है। असुरोंमें श्रेष्ठ जो तुहुण्ड नामक दैत्य था, वही यहाँ सेनाबिन्दु नामसे विख्यात राजा हुआ। असुरोंके समाजमें जो सबसे अधिक बलवान् था, वह इषुपाद नामक दैत्य इस पृथ्वीपर विख्यात पराक्रमी नग्नजित् नामक राजा हुआ। एकचक्र नामसे प्रसिद्ध जो महान् असुर था, वही इस पृथ्वीपर प्रतिविन्ध्य नामसे विख्यात राजा हुआ। विचित्र युद्ध करनेवाला महादैत्य विरूपाक्ष इस पृथ्वीपर चित्रधर्मा नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। शत्रुओंका संहार करनेवाला जो वीर दानवश्रेष्ठ हर था, वही सुबाहु नामक श्रीसम्पन्न राजा हुआ। शत्रुपक्षका विनाश करनेवाला महातेजस्वी अहर इस भूमण्डलमें बाह्लिक नामसे विख्यात राजा हुआ। चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाला जो असुरश्रेष्ठ निचन्द्र था, वही मुंजकेश नामसे विख्यात श्रीसम्पन्न राजा हुआ। परम बुद्धिमान् निकुम्भ जो युद्धमें अजेय था, वह इस भूमिपर भूपालोंमें श्रेष्ठ देवाधिप कहलाया। दैत्योंमें जो शरभ नामसे प्रसिद्ध महान् असुर था, वही मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजर्षि पौरव हुआ। राजन्! महापराक्रमी महान् असुर कुपट ही इस पृथ्वीपर राजा सुपार्श्वके रूपमें उत्पन्न हुआ। महाराज! महादैत्य क्रथ इस पृथ्वीपर राजर्षि पार्वतेयके नामसे उत्पन्न हुआ, उसका शरीर मेरु पर्वतके समान विशाल था। असुरोंमें शलभ नामसे प्रसिद्ध जो दूसरा दैत्य था, वह बाह्लीकवंशी राजा प्रह्लाद हुआ। दैत्यश्रेष्ठ चन्द्र इस लोकमें चन्द्रमाके समान सुन्दर और चन्द्रवर्मा नामसे विख्यात काम्बोज देशका राजा हुआ। अर्क नामसे विख्यात जो दानवोंका सरदार था, वही नरपतियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि ऋषिक हुआ। नृपशिरोमणे! मृतपा नामसे प्रसिद्ध जो श्रेष्ठ असुर था, उसे पश्चिम अनूप देशका राजा समझो। गविष्ठ नामसे प्रसिद्ध जो महातेजस्वी असुर था, वही इस पृथ्वीपर द्रुमसेन नामक राजा हुआ। मयूर नामसे प्रसिद्ध जो श्रीमान् एवं महान् असुर था, वही विश्व नामसे विख्यात राजा हुआ। मयूरका छोटा भाई सुपर्ण ही भूमण्डलमें कालकीर्ति नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। दैत्योंमें जो चन्द्रहन्ता नामसे प्रसिद्ध श्रेष्ठ असुर कहा गया है, वही मनुष्योंका स्वामी राजर्षि शुनक हुआ। इसी प्रकार जो चन्द्रविनाशन नामक महान् असुर बताया गया है, वही जानकि नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! दीर्घजिह्व-नामसे प्रसिद्ध दानवराज ही इस पृथ्वीपर काशिराजके नामसे विख्यात था। सिंहिकाने सूर्य और चन्द्रमाका मान मर्दन करनेवाले जिस राहुनामक ग्रहको जन्म दिया था, वही यहाँ क्राथ नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ॥ १०—४०॥

दनायुषस्तु पुत्राणां चतुर्णां प्रवरोऽसुरः।
विक्षरो नाम तेजस्वी वसुमित्रो नृपः स्मृतः॥ ४१॥

दनायुके चार पुत्रोंमें जो सबसे बड़ा है, वह विक्षर नामक तेजस्वी असुर यहाँ राजा वसुमित्र बताया गया है॥ ४१॥

द्वितीयो विक्षराद् यस्तु नराधिप महासुरः।
पाण्ड्यराष्ट्राधिप इति विख्यातः सोऽभवन्नृपः॥ ४२॥

नराधिप! विक्षरसे छोटा उसका दूसरा भाई बल, जो असुरोंका राजा था, पाण्ड्य देशका सुविख्यात राजा हुआ॥ ४२॥

बली वीर इति ख्यातो यस्त्वासीदसुरोत्तमः।
पौण्ड्रमात्स्यक इत्येवं बभूव स नराधिपः॥ ४३॥

महाबली वीरनामसे विख्यात जो श्रेष्ठ असुर (विक्षरका तीसरा भाई) था, पौण्ड्रमात्स्यक नामसे प्रसिद्ध राजा हुआ॥

वृत्र इत्यभिविख्यातो यस्तु राजन् महासुरः।
मणिमान्नाम राजर्षिः स बभूव नराधिपः॥ ४४॥

राजन् ! जो वृत्र नामसे विख्यात (और विक्षरका चौथा भाई) महान् असुर था, वही पृथ्वीपर राजर्षि मणिमान्के नामसे प्रसिद्ध भूपाल हुआ ॥ ४४ ॥

क्रोधहन्तेति यस्तस्य बभूवावरजोऽसुरः ।
दण्ड इत्यभिविख्यातः स आसीन्नृपतिः क्षितौ॥ ४५ ॥

क्रोधहन्ता नामक असुर जो उसका छोटा भाई (कालाके पुत्रोंमें तीसरा) था, वह इस पृथ्वीपर दण्ड नामसे विख्यात नरेश हुआ ॥ ४५ ॥

क्रोधवर्धन इत्येवं यस्त्वन्यः परिकीर्तितः ।
दण्डधार इति ख्यातः सोऽभवन्मनुजर्षभः ॥ ४६ ॥

क्रोधवर्धन नामक जो दूसरा दैत्य कहा गया है, वह मनुष्योंमें श्रेष्ठ दण्डधार नामसे विख्यात हुआ ॥ ४६ ॥

कालेयानां तु ये पुत्रास्तेषामष्टौ नराधिपाः ।
जज्ञिरे राजशार्दूल शार्दूलसमविक्रमाः ॥ ४७ ॥

नृपश्रेष्ठ ! कालेय नामक दैत्योंके जो पुत्र थे, उनमेंसे आठ इस पृथ्वीपर सिंहके समान पराक्रमी राजा हुए ॥४७॥

मगधेषु जयत्सेनस्तेषामासीत् स पार्थिवः ।
अष्टानां प्रवरस्तेषां कालेयानां महासुरः ॥ ४८ ॥

उन आठों कालेयोंमें श्रेष्ठ जो महान् असुर था, वही मगध देशमें जयत्सेन नामक राजा हुआ ॥ ४८ ॥

द्वितीयस्तु ततस्तेषां श्रीमान् हरिहयोपमः ।
अपराजित इत्येवं स बभूव नराधिपः ॥ ४९ ॥

उन कालेयोंमेंसे जो दूसरा इन्द्रके समान श्रीसम्पन्न था, वही अपराजित नामक राजा हुआ ॥ ४९ ॥

तृतीयस्तु महातेजा महामायो महासुरः ।
निषादाधिपतिर्जज्ञे भुवि भीमपराक्रमः ॥ ५० ॥

तीसरा जो महान् तेजस्वी और महामायावी महादैत्य था, वह इस पृथ्वीपर भयङ्कर पराक्रमी निषादनरेशके रूपमें उत्पन्न हुआ ॥ ५० ॥

तेषामन्यतमो यस्तु चतुर्थः परिकीर्तितः ।
श्रेणिमानिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥ ५१ ॥

कालेयोंमेंसे ही एक जो चौथा बताया गया है, वह इस भूमण्डलमें राजर्षिप्रवर श्रेणिमान्के नामसे विख्यात हुआ ।५१।

पञ्चमस्त्वभवत् तेषां प्रवरो यो महासुरः ।
महौजा इति विख्यातो बभूवेह परंतपः ॥ ५२ ॥

कालेयोंमें जो पाँचवाँ श्रेष्ठ महादैत्य था, वही इस लोकमें शत्रुतापन महौजाके नामसे विख्यात हुआ ॥ ५२ ॥

षष्ठस्तु मतिमान् यो वै तेषामासीन्महासुरः ।
अभीरुरिति विख्यातः क्षितौ राजर्षिसत्तमः ॥ ५३ ॥

उन कालेयोंमें जो छठा महान् असुर था, वह भूमण्डलमें राजर्षिशिरोमणि अभीरुके नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ५३ ॥

समुद्रसेनस्तु नृपस्तेषामेवाभवद् गणात् ।
विश्रुतः सागरान्तायां क्षितौ धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ५४ ॥

उन्हींमेंसे सातवाँ असुर राजा समुद्रसेन हुआ, जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर सब ओर विख्यात और धर्म एवं अर्थतत्त्वका ज्ञाता था ॥ ५४ ॥

बृहन्नामाष्टमस्तेषां कालेयानां नराधिप ।
बभूव राजा धर्मात्मा सर्वभूतहिते रतः ॥ ५५ ॥

राजन् ! कालेयोंमें जो आठवाँ था, वह बृहत् नामसे प्रसिद्ध सर्वभूतहितकारी धर्मात्मा राजा हुआ ॥ ५५ ॥

कुक्षिस्तु राजन् विख्यातो दानवानां महाबलः ।
पार्वतीय इति ख्यातः काञ्चनाचलसंनिभः ॥ ५६ ॥

महाराज ! दानवोंमें कुक्षिनामसे प्रसिद्ध जो महाबली राजा था, वह पार्वतीय नामक राजा हुआ; जो मेरुगिरिके समान तेजस्वी एवं विशाल था ॥ ५६ ॥

क्रथनश्च महावीर्यः श्रीमान् राजा महासुरः ।
सूर्याक्ष इति विख्यातः क्षितौ जज्ञे महीपतिः ॥ ५७ ॥

महापराक्रमी क्रथन नामक जो श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वह भूमण्डलमें पृथ्वीपति राजा सूर्याक्ष नामसे उत्पन्न हुआ ॥

असुराणां तु यः सूर्यः श्रीमांश्चैव महासुरः ।
दरदो नाम बाह्लीको वरः सर्वमहीक्षिताम् ॥ ५८ ॥

असुरोंमें जो सूर्य नामक श्रीसम्पन्न महान् असुर था, वही पृथ्वीपर सब राजाओंमें श्रेष्ठ दरद नामक बाह्लीकराज हुआ ॥

गणः क्रोधवशो नाम यस्ते राजन् प्रकीर्तितः ।
ततः संजज्ञिरे वीराः क्षिताविह नराधिपाः ॥ ५९ ॥

राजन् ! क्रोधवश नामक जिन असुरगणोंका तुम्हें परिचय दिया है, उन्हींमेंसे कुछ लोग इस पृथ्वीपर निम्नाङ्कित वीर राजाओंके रूपमें उत्पन्न हुए ॥ ५९ ॥

मद्रकः कर्णवेष्टश्च सिद्धार्थः कीटकस्तथा ।
सुवीरश्च सुबाहुश्च महावीरोऽथ बाह्लिकः ॥ ६० ॥
क्रथो विचित्रः सुरथः श्रीमान् नीलश्च भूमिपः ।
चीरवासाश्च कौरव्य भूमिपालश्च नामतः ॥ ६१ ॥
दन्तवक्त्रश्च नामासीद् दुर्जयश्चैव दानवः ।
रुक्मी च नृपशार्दूलो राजा च जनमेजयः ॥ ६२ ॥
आषाढो वायुवेगश्च भूरितेजास्तथैव च ।
एकलव्यः सुमित्रश्च वाटधानोऽथ गोमुखः ॥ ६३ ॥
कारूषकाश्च राजानः क्षेमधूर्तिस्तथैव च ।
श्रुतायुरुद्वहश्चैव बृहत्सेनस्तथैव च ॥ ६४ ॥
क्षेमोग्रतीर्थः कुहरः कलिङ्गेषु नराधिपः ।
मतिमांश्च मनुष्येन्द्र ईश्वरश्चेति विश्रुतः ॥ ६५ ॥

मद्रक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ, कीटक, सुवीर, सुबाहु, महावीर, बाह्लिक, क्रथ, विचित्र, सुरथ, श्रीमान् नील नरेश,

चीरवासा, भूमिपाल, दन्तवक्त्र, दानव दुर्जय, नृपश्रेष्ठ रुक्मी, राजा जनमेजय, आषाढ, वायुवेग, भूरितेजा, एकलव्य, सुमित्र, वाटधान, गोमुख, करूषदेशके अनेक राजा, क्षेमधूर्ति, श्रुतायु, उद्वह, बृहत्सेन, क्षेम, उग्रतीर्थ, कलिङ्ग-नरेश कुहर तथा परम बुद्धिमान् मनुष्योंका राजा ईश्वर ।६०—६५।

गणात् क्रोधवशादेव राजपूगोऽभवत् क्षितौ ।
जातः पुरा महाभागो महाकीर्तिर्महाबलः ॥ ६६ ॥

इतने राजाओंका समुदाय पहले इस पृथ्वीपर क्रोधवश नामक दैत्यगणसे उत्पन्न हुआ था । ये सब राजा परम सौभाग्यशाली, महान् यशस्वी और अत्यन्त बलशाली थे ॥ ६६ ॥

कालनेमिरिति ख्यातो दानवानां महाबलः ।
स कंस इति विख्यात उग्रसेनसुतो बली ॥ ६७ ॥

दानवोंमें जो महाबली कालनेमि था, वही राजा उग्रसेनके पुत्र बलवान् कंसके नामसे विख्यात हुआ ॥ ६७ ॥

यस्त्वासीद् देवको नाम देवराजसमद्युतिः ।
स गन्धर्वपतिर्मुख्यः क्षितौ जज्ञे नराधिपः ॥ ६८ ॥

इन्द्रके समान कान्तिमान् राजा देवकके रूपमें इस पृथ्वीपर श्रेष्ठ गन्धर्वराज ही उत्पन्न हुआ था ॥ ६८ ॥

बृहस्पतेर्बृहत्कीर्तेर्देवर्षेर्विद्धि भारत ।
अंशाद् द्रोणं समुत्पन्नं भारद्वाजमयोनिजम् ॥ ६९ ॥

भारत ! महान् कीर्तिशाली देवर्षि बृहस्पतिके अंशसे अयोनिज भरद्वाजनन्दन द्रोण उत्पन्न हुए, यह जान लो ।६९।

धन्विनां नृपशार्दूल यः सर्वास्त्रविदुत्तमः ।
महाकीर्तिर्महातेजाः स जज्ञे मनुजेश्वर ॥ ७० ॥

नृपश्रेष्ठ राजा जनमेजय ! आचार्य द्रोण समस्त धनुर्धर वीरोंमें उत्तम और सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता थे । उनकी कीर्ति बहुत दूरतक फैली हुई थी । वे महान् तेजस्वी थे ॥ ७० ॥

धनुर्वेदे च वेदे च यं तं वेदविदो विदुः ।
वरिष्ठं चित्रकर्माणं द्रोणं स्वकुलवर्धनम् ॥ ७१ ॥

वेदवेत्ता विद्वान् द्रोणको धनुर्वेद और वेद दोनोंमें सर्वश्रेष्ठ मानते थे । वे विचित्र कर्म करनेवाले तथा अपने कुलकी मर्यादाको बढ़ानेवाले थे ॥ ७१ ॥

महादेवान्तकाभ्यां च कामात् क्रोधाच्च भारत ।
एकत्वमुपपन्नानां जज्ञे शूरः परंतपः ॥ ७२ ॥
अश्वत्थामा महावीर्यः शत्रुपक्षभयावहः ।
वीरः कमलपत्राक्षः क्षितावासीन्नराधिप ॥ ७३ ॥

भारत ! उनके यहाँ महादेव, यम, काम और क्रोधके सम्मिलित अंशसे शत्रुसंतापी शूरवीर अश्वत्थामाका जन्म हुआ, जो इस पृथ्वीपर महापराक्रमी और शत्रुपक्षका संहार करनेवाला वीर था । राजन् ! उसके नेत्र कमलदलके समान विशाल थे ॥ ७२-७३ ॥

जज्ञिरे वसवस्त्वष्टौ गङ्गायां शान्तनोः सुताः ।
वसिष्ठस्य च शापेन नियोगाद् वासवस्य च ॥ ७४ ॥

महर्षि वशिष्ठके शाप और इन्द्रके आदेशसे आठों वसु गङ्गाजीके गर्भसे राजा शान्तनुके पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ॥

तेषामवरजो भीष्मः कुरूणामभयंकरः ।
मतिमान् वेदविद् वाग्मी शत्रुपक्षक्षयंकरः ॥ ७५ ॥

उनमें सबसे छोटे भीष्म थे, जिन्होंने कौरववंशको निर्भय बना दिया था । वे परम बुद्धिमान्, वेदवेत्ता, वक्ता तथा शत्रुपक्षका संहार करनेवाले थे ॥ ७५ ॥

जामदग्न्येन रामेण सर्वास्त्रविदुषां वरः ।
योऽयुध्यत महातेजा भार्गवेण महात्मना ॥ ७६ ॥

सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भीष्मने भृगुवंशी महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध किया था ॥ ७६ ॥

यस्तु राजन् कृपो नाम ब्रह्मर्षिरभवत् क्षितौ ।
रुद्राणां तु गणाद् विद्धि सम्भूतमतिपौरुषम् ॥ ७७ ॥

महाराज ! जो कृप नामसे प्रसिद्ध ब्रह्मर्षि इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे, उनका पुरुषार्थ असीम था । उन्हें रुद्रगणके अंशसे उत्पन्न हुआ समझो ॥ ७७ ॥

शकुनिर्नाम यस्त्वासीद् राजा लोके महारथः ।
द्वापरं विद्धि तं राजन् सम्भूतमरिमर्दनम् ॥ ७८ ॥

राजन् ! जो इस जगत्‌में महारथी राजा शकुनिके नामसे विख्यात था, उसे तुम द्वापरके अंशसे उत्पन्न हुआ मानो । वह शत्रुओंका मान-मर्दन करनेवाला था ॥ ७८ ॥

सात्यकिः सत्यसन्धश्च योऽसौ वृष्णिकुलोद्वहः ।
पक्षात् स जज्ञे मरुतां देवानामरिमर्दनः ॥ ७९ ॥

वृष्णिवंशका भार वहन करनेवाले जो सत्यप्रतिज्ञ शत्रुमर्दन सात्यकि थे, वे मरुत्-देवताओंके अंशसे उत्पन्न हुए थे॥

द्रुपदश्चैव राजर्षिस्तत एवाभवद् गणात् ।
मानुषे नृप लोकेऽस्मिन् सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ८० ॥

राजा जनमेजय ! सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ राजर्षि द्रुपद भी इस मनुष्यलोकमें उस मरुद्गणसे ही उत्पन्न हुए थे ॥

ततश्च कृतवर्माणं विद्धि राजञ्जनाधिपम् ।
तमप्रतिमकर्माणं क्षत्रियर्षभसत्तमम् ॥ ८१ ॥

महाराज ! अनुपम कर्म करनेवाले, क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ राजा कृतवर्माको भी तुम मरुद्गणोंसे ही उत्पन्न मानो ॥ ८१ ॥

मरुतां तु गणाद् विद्धि संजातमरिमर्दनम् ।
विराटं नाम राजानं परराष्ट्रप्रतापनम् ॥ ८२ ॥

शत्रुराष्ट्रको संताप देनेवाले शत्रुमर्दन राजा विराटको भी मरुद्गणोंसे ही उत्पन्न समझो ॥ ८२ ॥

अरिष्टायास्तु यः पुत्रो हंस इत्यभिविश्रुतः ।
स गन्धर्वपतिर्जज्ञे कुरुवंशविवर्धनः ॥ ८३ ॥
धृतराष्ट्र इति ख्यातः कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
दीर्घबाहुर्महातेजाः प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ॥ ८४ ॥
मातुर्दोषादृषेः कोपादन्ध एव व्यजायत ।

अरिष्टाका पुत्र जो हंस नामसे विख्यात गन्धर्वराज था, वही कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले व्यासनन्दन धृतराष्ट्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। धृतराष्ट्रकी बाँहें बहुत बड़ी थीं। वे महातेजस्वी नरेश प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) थे। वे माताके दोष और महर्षिके क्रोधसे अन्धे ही उत्पन्न हुए ॥ ८३-८४½ ॥

तस्यैवावरजो भ्राता महासत्त्वो महाबलः ॥ ८५ ॥
स पाण्डुरिति विख्यातः सत्यधर्मरतः शुचिः ।
अत्रेस्तु सुमहाभागं पुत्रं पुत्रवतां वरम् ।
विदुरं विद्धि तं लोके जातं बुद्धिमतां वरम् ॥ ८६ ॥

उन्हींके छोटे भाई महान् शक्तिशाली महाबली पाण्डुके नामसे विख्यात हुए। वे सत्य-धर्ममें तत्पर और पवित्र थे। पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ और बुद्धिमानोंमें उत्तम परम सौभाग्यशाली विदुरको तुम इस लोकमें सूर्यपुत्र धर्मके अंशसे उत्पन्न हुआ समझो ॥ ८५-८६ ॥

कलेरंशस्तु संजज्ञे भुवि दुर्योधनो नृपः ।
दुर्बुद्धिर्दुर्मतिश्चैव कुरूणामयशस्करः ॥ ८७ ॥

खोटी बुद्धि और दूषित विचारवाले कुरुकुलकलङ्क राजा दुर्योधनके रूपमें इस पृथ्वीपर कलिका अंश ही उत्पन्न हुआ था ॥ ८७ ॥

जगतो यस्तु सर्वस्य विद्विष्टः कलिपूरुषः ।
यः सर्वां घातयामास पृथिवीं पृथिवीपते ॥ ८८ ॥

राजन् ! वह कलिस्वरूप पुरुष सबका द्वेषपात्र था। उसने सारी पृथ्वीके वीरोंको लड़ाकर मरवा दिया था ॥ ८८ ॥

उद्दीपितं येन वैरं भूतान्तकरणं महत् ।
पौलस्त्या भ्रातरश्चास्य जज्ञिरे मनुजेष्विह ॥ ८९ ॥

उसके द्वारा प्रज्वलित की हुई वैरकी भारी आग असंख्य प्राणियोंके विनाशका कारण बन गयी। पुलस्त्य-कुलके राक्षस भी मनुष्योंमें दुर्योधनके भाइयोंके रूपमें उत्पन्न हुए थे ॥

शतं दुःशासनादीनां सर्वेषां क्रूरकर्मणाम् ।
दुर्मुखो दुःसहश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ९० ॥
दुर्योधनसहायास्ते पौलस्त्या भरतर्षभ ।
वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः ॥ ९१ ॥

उसके दुःशासन आदि सौ भाई थे। वे सभी क्रूरतापूर्ण कर्म किया करते थे। दुर्मुख, दुःसह तथा अन्य कौरव जिनका नाम यहाँ नहीं लिया गया है, दुर्योधनके सहायक थे। भरतश्रेष्ठ ! धृतराष्ट्रके वे सब पुत्र पूर्वजन्मके राक्षस थे। धृतराष्ट्र-पुत्र युयुत्सु वैश्यजातीय स्त्रीसे उत्पन्न हुआ था। वह दुर्योधन आदि सौ भाइयोंके अतिरिक्त था ॥

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतामेषां नामधेयानि वा विभो ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्येण कीर्तय ॥ ९२ ॥

जनमेजयने कहा—प्रभो ! धृतराष्ट्रके जो सौ पुत्र थे, उनके नाम मुझे बड़े-छोटेके क्रमसे एक-एक करके बताइये ॥ ९२ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव दुर्मुखश्च तथापरः ॥ ९३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च जलसन्धः सुलोचनः ।
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ॥ ९४ ॥
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुश्चित्राङ्गदश्च ह ॥ ९५ ॥
दुर्मदो दुष्प्रधर्षश्च विवित्सुर्विकटः समः ।
ऊर्णनाभः पद्मनाभस्तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ९६ ॥
सेनापतिः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ।
चित्रबाहुश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ॥ ९७ ॥
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्रचापसुकुण्डलौ ।
भीमवेगो भीमबलो बलाकी भीमविक्रमौ ॥ ९८ ॥
उग्रायुधो भीमशरः कनकायुर्दृढायुधः ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ९९ ॥
जरासन्धो दृढसन्धः सत्यसन्धः सहस्रवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः क्षेममूर्तिस्तथैव च ॥१००॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधनः ॥१०१॥
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ।
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तानुयायिनौ ॥१०२॥
कवची निषङ्गी दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ।
उग्रो भीमरथो वीरो वीरबाहुरलोलुपः ॥१०३॥
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथश्च यः ।
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी दीर्घलोचनः ॥१०४॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकाङ्गदः ।
कुण्डजश्चित्रकश्चैव दुःशला च शताधिका ॥१०५॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! सुनो—१ दुर्योधन, २ युयुत्सु, ३ दुःशासन, ४ दुःसह, ५ दुःशल, ६ दुर्मुख, ७ विविंशति, ८ विकर्ण, ९ जलसन्ध, १० सुलोचन, ११ विन्द, १२ अनुविन्द, १३ दुर्धर्ष, १४ सुबाहु, १५ दुष्प्रधर्षण, १६ दुर्मर्षण, १७ दुर्मुख, १८ दुष्कर्ण, १९ कर्ण, २० चित्र, २१ उपचित्र, २२ चित्राक्ष,

१. अत्रि शब्दसे यहाँ 'सूर्य' को ग्रहण किया गया है। नीलकण्ठने भी यही अर्थ लिया है।

२३ चारु, २४ चित्राङ्गद, २५ दुर्मद, २६ दुष्प्रधर्ष, २७ विवित्सु, २८ विकट, २९ सम, ३० ऊर्णनाभ, ३१ पद्मनाभ, ३२ नन्द, ३३ उपनन्द, ३४ सेनापति, ३५ सुषेण, ३६ कुण्डोदर, ३७ महोदर, ३८ चित्रबाहु, ३९ चित्रवर्मा, ४० सुवर्मा, ४१ दुर्विरोचन, ४२ अयोबाहु, ४३ महाबाहु, ४४ चित्रचाप, ४५ सुकुण्डल, ४६ भीमवेग, ४७ भीमबल, ४८ बलाकी, ४९ भीम, ५० विक्रम, ५१ उग्रायुध, ५२ भीमशर, ५३ कनकायु, ५४ दृढायुध, ५५ दृढवर्मा, ५६ दृढक्षत्र, ५७ सोमकीर्ति, ५८ अनूदर, ५९ जरासन्ध, ६० दृढसन्ध, ६१ सत्यसन्ध, ६२ सहस्रवाक्, ६३ उग्रश्रवा, ६४ उग्रसेन, ६५, क्षेममूर्ति, ६६ अपराजित, ६७ पण्डितक, ६८ विशालाक्ष, ६९ दुराधन, ७० दृढहस्त, ७१ सुहस्त, ७२ वातवेग, ७३ सुवर्चा, ७४ आदित्यकेतु, ७५ बह्वाशी, ७६ नागदत्त, ७७ अनुयायी, ७८ कवची, ७९ निषङ्गी, ८० दण्डी, ८१ दण्डधार, ८२ धनुर्ग्रह, ८३ उग्र, ८४ भीमरथ, ८५ वीर, ८६ वीरबाहु, ८७ अलोलुप, ८८ अभय, ८९ रौद्रकर्मा, ९० दृढरथ, ९१ अनाधृष्य, ९२ कुण्डभेदी, ९३ विरावी, ९४ दीर्घलोचन, ९५ दीर्घबाहु, ९६ महाबाहु, ९७ व्यूढोरु, ९८ कनकाङ्गद, ९९ कुण्डज और १०० चित्रक—ये धृतराष्ट्रके सौ पुत्र थे। इनके सिवा दुःशला नामकी एक कन्या थी ॥९३—१०५॥

वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च धार्तराष्ट्रः शताधिकः।
एतदेकशतं राजन् कन्या चैका प्रकीर्तिता ॥१०६॥

धृतराष्ट्रका वह पुत्र जिसका नाम युयुत्सु था, वैश्याके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। वह दुर्योधन आदि सौ पुत्रोंसे अतिरिक्त था। राजन्! इस प्रकार धृतराष्ट्रके एक सौ एक पुत्र तथा एक कन्या बतायी गयी है ॥ १०६ ॥

नामधेयानुपूर्व्या च ज्येष्ठानुज्येष्ठतां विदुः।
सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ॥१०७॥

इनके नामोंका जो क्रम दिया गया है, उसीके अनुसार विद्वान् पुरुष इन्हें जेठा और छोटा समझते हैं। धृतराष्ट्रके सभी पुत्र उत्कृष्ट रथी, शूरवीर और युद्धकी कलामें कुशल थे ॥

सर्वे वेदविदश्चैव राजञ्छास्त्रे च पारगाः।
सर्वे संग्रामविद्यासु विद्याभिजनशोभिनः ॥१०८॥

राजन्! वे सब-के-सब वेदवेत्ता, शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान्, संग्राम-विद्यामें प्रवीण तथा उत्तम विद्या और उत्तम कुलसे सुशोभित थे ॥ १०८ ॥

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते।
दुःशलां समये राजन् सिन्धुराजाय कौरवः ॥१०९॥
जयद्रथाय प्रददौ सौबलानुमते तदा।
धर्मस्यांशं तु राजानं विद्धि राजन् युधिष्ठिरम् ॥११०॥

भूपाल! उन सबका सुयोग्य स्त्रियोंके साथ विवाह हुआ था। महाराज! कुरुराज दुर्योधनने समय आनेपर शकुनिकी सलाहसे अपनी बहिन दुःशलाका विवाह सिन्धुदेशके राजा जयद्रथके साथ कर दिया। जनमेजय! राजा युधिष्ठिरको तो तुम धर्मका अंश जानो ॥ १०९-११० ॥

भीमसेनं तु वातस्य देवराजस्य चार्जुनम्।
अश्विनोस्तु तथैवांशौ रूपेणाप्रतिमौ भुवि ॥१११॥
नकुलः सहदेवश्च सर्वभूतमनोहरौ।
यस्तु वर्चा इति ख्यातः सोमपुत्रः प्रतापवान् ॥११२॥
सोऽभिमन्युर्बृहत्कीर्तिरर्जुनस्य सुतोऽभवत्।
यस्यावतरणे राजन् सुरान् सोमोऽब्रवीदिदम् ॥११३॥

भीमसेनको वायुका और अर्जुनको देवराज इन्द्रका अंश जानो। रूप-सौन्दर्यकी दृष्टिसे इस पृथ्वीपर जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था, वे समस्त प्राणियोंका मन मोह लेनेवाले नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारोंके अंशसे उत्पन्न हुए थे। वर्चा नामसे विख्यात जो चन्द्रमाका प्रतापी पुत्र था, वही महायशस्वी अर्जुनकुमार अभिमन्यु हुआ। जनमेजय!—उसके अवतार-कालमें चन्द्रमाने देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥

नाहं दद्यां प्रियं पुत्रं मम प्राणैर्गरीयसम्।
समयः क्रियतामेष न शक्यमतिवर्तितुम् ॥११४॥

'मेरा पुत्र मुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है, अतः मैं इसे अधिक दिनोंके लिये नहीं दे सकता। इसलिये मृत्युलोकमें इसके रहनेकी कोई अवधि निश्चित कर दी जाय। फिर उस अवधिका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता ॥११४॥

सुरकार्यं हि नः कार्यमसुराणां क्षितौ वधः।
तत्र यास्यत्ययं वर्चा न च स्थास्यति वै चिरम् ॥११५॥

'पृथ्वीपर असुरोंका वध करना देवताओंका कार्य है और वह हम सबके लिये करनेयोग्य है। अतः उस कार्यकी सिद्धिके लिये यह वर्चा भी वहाँ अवश्य जायगा। परंतु दीर्घकालतक वहाँ नहीं रह सकेगा ॥ ११५ ॥

ऐन्द्रिर्नरस्तु भविता यस्य नारायणः सखा।
सोऽर्जुनेत्यभिविख्यातः पाण्डोः पुत्रः प्रतापवान् ॥११६॥

'भगवान् नर, जिनके सखा भगवान् नारायण हैं, इन्द्रके अंशसे भूतलमें अवतीर्ण होंगे। वहाँ उनका नाम अर्जुन होगा और वे पाण्डुके प्रतापी पुत्र माने जायँगे ॥ ११६ ॥

तस्यायं भविता पुत्रो बालो भुवि महारथः।
ततः षोडश वर्षाणि स्थास्यत्यमरसत्तमाः ॥११७॥

'श्रेष्ठ देवगण! पृथ्वीपर यह वर्चा उन्हीं अर्जुनका पुत्र होगा, जो बाल्यावस्थामें ही महारथी माना जायगा। जन्म लेनेके बाद सोलह वर्षकी अवस्थातक यह वहाँ रहेगा ।११७।

अस्य षोडशवर्षस्य स संग्रामो भविष्यति।
यत्रांशा वः करिष्यन्ति कर्म वीरनिषूदनम् ॥११८॥

'इसके सोलहवें वर्षमें वह महाभारत-युद्ध होगा, जिसमें आपलोगोंके अंशसे उत्पन्न हुए वीर-पुरुष शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला अद्भुत पराक्रम कर दिखायेंगे ॥ ११८ ॥

नरनारायणाभ्यां तु स संग्रामो विना कृतः।
चक्रव्यूहं समास्थाय योधयिष्यन्ति वः सुराः ॥११९॥
विमुखाञ्छात्रवान् सर्वान् कारयिष्यति मे सुतः।
बालः प्रविश्य च व्यूहमभेद्यं विचरिष्यति ॥१२०॥

'देवताओ! एक दिन जब कि उस युद्धमें नर और नारायण (अर्जुन और श्रीकृष्ण) उपस्थित न रहेंगे, उस समय शत्रुपक्षके लोग चक्रव्यूहकी रचना करके आपलोगोंके साथ युद्ध करेंगे। उस युद्धमें मेरा यह पुत्र समस्त शत्रु-सैनिकोंको युद्धसे मार भगायेगा और बालक होनेपर भी उस अभेद्य व्यूहमें घुसकर निर्भय विचरण करेगा ॥११९-१२०॥

महारथानां वीराणां कदनं च करिष्यति।
सर्वेषामेव शत्रूणां चतुर्थांशं नयिष्यति ॥१२१॥
दिनार्धेन महाबाहुः प्रेतराजपुरं प्रति।
ततो महारथैर्वीरैः समेत्य बहुशो रणे ॥१२२॥
दिनक्षये महाबाहुर्मया भूयः समेष्यति।
एकं वंशकरं पुत्रं वीरं वै जनयिष्यति ॥१२३॥
प्रणष्टं भारतं वंशं स भूयो धारयिष्यति।
एतत् सोमवचः श्रुत्वा तथास्त्विति दिवौकसः ॥१२४॥
प्रत्यूचुः सहिताः सर्वे ताराधिपमपूजयन्।
एवं ते कथितं राजंस्तव जन्म पितुः पितुः ॥१२५॥

'तथा बड़े-बड़े महारथी वीरोंका संहार कर डालेगा। आधे दिनमें ही महाबाहु अभिमन्यु समस्त शत्रुओंके एक चौथाई भागको यमलोक पहुँचा देगा। तदनन्तर बहुत-से महारथी एक साथ ही उसपर टूट पड़ेंगे और वह महाबाहु उन सबका सामना करते हुए संध्या होते-होते पुनः मुझसे आ मिलेगा। वह एक ही वंशप्रवर्तक वीर पुत्रको जन्म देगा, जो नष्ट हुए भरतकुलको पुनः धारण करेगा।' सोमका यह वचन सुनकर समस्त देवताओंने 'तथास्तु' कहकर उनकी बात मान ली और सबने चन्द्रमाका पूजन किया। राजा जनमेजय! इस प्रकार मैंने तुम्हारे पिताके पिताका जन्म-रहस्य बताया है ॥ १२१-१२५ ॥

अग्नेर्भागं तु विद्धि त्वं धृष्टद्युम्नं महारथम्।
शिखण्डिनमथो राजन् स्त्रीपूर्वं विद्धि राक्षसम् ॥१२६॥

महाराज! महारथी धृष्टद्युम्नको तुम अग्निका भाग समझो। शिखण्डी राक्षसके अंशसे उत्पन्न हुआ था। वह पहले कन्यारूपमें उत्पन्न होकर पुनः पुरुष हो गया था ॥

द्रौपदेयाश्च ये पञ्च बभूवुर्भरतर्षभ।
विश्वान् देवगणान् विद्धि संजातान् भरतर्षभ ॥१२७॥

भरतर्षभ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि द्रौपदीके जो पाँच पुत्र थे, उनके रूपमें पाँच विश्वेदेवगण ही प्रकट हुए थे ॥ १२७ ॥

प्रतिविन्ध्यः सुतसोमः श्रुतकीर्तिस्तथापरः।
नाकुलिस्तु शतानीकः श्रुतसेनश्च वीर्यवान् ॥१२८॥

उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, नकुलनन्दन शतानीक तथा पराक्रमी श्रुतसेन ॥

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत्।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणासदृशी भुवि ॥१२९॥

वसुदेवजीके पिताका नाम था शूरसेन। वे यदुवंशके एक श्रेष्ठ पुरुष थे। उनके पृथा नामवाली एक कन्या हुई, जिसके समान रूपवती स्त्री इस पृथ्वीपर दूसरी नहीं थी ॥ १२९ ॥

पितुः स्वस्रीयपुत्राय सोऽनपत्याय वीर्यवान्।
अग्रमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यस्य वै तदा ॥१३०॥

उग्रसेनके फुफेरे भाई कुन्तिभोज संतानहीन थे। पराक्रमी शूरसेनने पहले कभी उनके सामने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं अपनी पहली संतान आपको दे दूँगा' ॥१३०॥

अग्रजातेति तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षया।
अददात् कुन्तिभोजाय स तां दुहितरं तदा ॥१३१॥

तदनन्तर सबसे पहले उनके यहाँ कन्या ही उत्पन्न हुई। शूरसेनने अनुग्रहकी इच्छासे राजा कुन्तिभोजको अपनी वह पुत्री पृथा प्रथम संतान होनेके कारण गोद दे दी ॥१३१॥

सा नियुक्ता पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने।
उग्रं पर्यचरद् घोरं ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥१३२॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः।
तमुग्रं शंसितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥१३३॥

पिताके घरपर रहते समय पृथाको ब्राह्मणों और अतिथियोंके स्वागत-सत्कारका कार्य सौंपा गया था। एक दिन उसने कठोर व्रतका पालन करनेवाले भयंकर क्रोधी तथा उग्र प्रकृतिवाले एक ब्राह्मण महर्षिकी, जो धर्मके विषयमें अपने निश्चयको छिपाये रखते थे और लोग जिन्हें दुर्वासाके नामसे जानते हैं, सेवा की। वे ऊपरसे तो उग्रस्वभावके थे, परंतु उनका हृदय महान् होनेके कारण सबके द्वारा प्रशंसित था। पृथाने पूरा प्रयत्न करके अपनी सेवाओंद्वारा मुनिको संतुष्ट किया ॥ १३२-१३३ ॥

तुष्टोऽभिचारसंयुक्तमाचचक्षे यथाविधि।
उवाच चैनां भगवान् प्रीतोऽस्मि सुभगे तव ॥१३४॥

भगवान् दुर्वासाने संतुष्ट होकर पृथाको प्रयोगविधि-सहित एक मन्त्रका विधिपूर्वक उपदेश किया और कहा—

'सुभगे ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ १३४ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
तस्य तस्य प्रसादात् त्वं देवि पुत्राञ्जनिष्यसि ॥१३५॥

'देवि ! तुम इस मन्त्रद्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, उसी-उसीके कृपाप्रसादसे पुत्र उत्पन्न करोगी' ॥

एवमुक्ता च सा बाला तदा कौतूहलान्विता ।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥१३६॥

दुर्वासाके ऐसा कहनेपर वह सती-साध्वी यशस्विनी बाला यद्यपि अभी कुमारी कन्या थी, तो भी कौतूहलवश उसने भगवान् सूर्यका आवाहन किया ॥ १३६ ॥

प्रकाशकर्ता भगवांस्तस्यां गर्भं दधौ तदा ।
अजीजनत् सुतं चास्यां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥१३७॥

तब सम्पूर्ण जगत्में प्रकाश फैलानेवाले भगवान् सूर्यने कुन्तीके उदरमें गर्भ स्थापित किया और उस गर्भसे एक ऐसे पुत्रको जन्म दिया, जो समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ।१३७।

सकुण्डलं सकवचं देवगर्भश्रियान्वितम् ।
दिवाकरसमं दीप्त्या चारुसर्वाङ्गभूषितम् ॥१३८॥

वह कुण्डल और कवचके साथ ही प्रकट हुआ था । देवताओंके बालकोंमें जो सहज कान्ति होती है, उसीसे वह सुशोभित था । अपने तेजसे वह सूर्यके समान जान पड़ता था । उसके सभी अङ्ग मनोहर थे, जो उसके सम्पूर्ण शरीर-की शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १३८ ॥

निगूहमाना जातं वै बन्धुपक्षभयात् तदा ।
उत्ससर्ज जले कुन्ती तं कुमारं यशस्विनम् ॥१३९॥

उस समय कुन्तीने पिता-माता आदि बान्धव-पक्षके भय-से उस यशस्वी कुमारको छिपाकर एक पेटीमें रखकर जलमें छोड़ दिया ॥ १३९ ॥

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः ।
राधायाः कल्पयामास पुत्रं सोऽधिरथस्तदा ॥१४०॥

जलमें छोड़े हुए उस बालकको राधाके पति महायशस्वी अधिरथ सूतने लेकर राधाकी गोदमें दे दिया और उसे राधा-का पुत्र बना लिया ॥ १४० ॥

चक्रतुर्नामधेयं च तस्य बालस्य तावुभौ ।
दम्पती वसुषेणेति दिक्षु सर्वासु विश्रुतम् ॥१४१॥

उन दोनों दम्पतिने उस बालकका नाम वसुषेण रक्खा । वह सम्पूर्ण दिशाओंमें भलीभाँति विख्यात था ॥

संवर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेषूत्तमोऽभवत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि जजाप जयतां वरः ॥१४२॥

बड़ा होनेपर वह बलवान् बालक सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेकी कलामें उत्तम हुआ । उस विजयी वीरने सम्पूर्ण वेदाङ्गोंका अध्ययन कर लिया ॥ १४२ ॥

यस्मिन् काले जपन्नास्ते धीमान् सत्यपराक्रमः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् तस्मिन् काले महात्मनः ॥१४३॥

वसुषेण (कर्ण) बड़ा बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी था । जिस समय वह जपमें लगा होता, उस समय उस महात्माके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणोंके माँगनेपर न दे डाले ॥ १४३ ॥

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा पुत्रार्थे भूतभावनः ।
ययाचे कुण्डले वीरं कवचं च सहाङ्गजम् ॥१४४॥

भूतभावन इन्द्रने अपने पुत्र अर्जुनके हितके लिये ब्राह्मणका रूप धारण करके वीर कर्णसे दोनों कुण्डल तथा उसके शरीरके साथ ही उत्पन्न हुआ कवच माँगा ॥ १४४ ॥

उत्कृत्य कर्णो ह्यददात् कवचं कुण्डले तथा ।
शक्तिं शक्रो ददौ तस्मै विस्मितश्चेदमब्रवीत् ॥१४५॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यस्मिन् क्षेप्स्यसि दुर्धर्ष स एको न भविष्यति ॥१४६॥

कर्णने अपने शरीरमें चिपके हुए कवच और कुण्डलोंको उधेड़कर दे दिया । इन्द्रने विस्मित होकर कर्णको एक शक्ति प्रदान की और कहा—'दुर्धर्ष वीर ! तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और राक्षसोंमेंसे जिसपर भी इस शक्तिको चलाओगे, वह एक व्यक्ति निश्चय ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा' ॥ १४५-१४६ ॥

पुरा नाम च तस्यासीद् वसुषेण इति क्षितौ ।
ततो वैकर्तनः कर्णः कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥१४७॥

पहले कर्णका नाम इस पृथ्वीपर वसुषेण था । फिर कवच और कुण्डल काटनेके कारण वह वैकर्तन नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ १४७ ॥

आमुक्तकवचो वीरो यस्तु जज्ञे महायशाः ।
स कर्ण इति विख्यातः पृथायाः प्रथमः सुतः ॥१४८॥

जो महायशस्वी वीर कवच धारण किये हुए ही उत्पन्न हुआ, वह पृथाका प्रथम पुत्र कर्ण नामसे ही सर्वत्र विख्यात था ॥

स तु सूतकुले वीरो ववृधे राजसत्तम ।
कर्णं नरवरश्रेष्ठं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥१४९॥

महाराज ! वह वीर सूतकुलमें पाला-पोसा जाकर बड़ा हुआ था । नरश्रेष्ठ कर्ण सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था ॥

दुर्योधनस्य सचिवं मित्रं शत्रुविनाशनम् ।
दिवाकरस्य तं विद्धि राजन्नंशमनुत्तमम् ॥१५०॥

वह दुर्योधनका मन्त्री और मित्र होनेके साथ ही उसके शत्रुओंका नाश करनेवाला था । राजन् ! तुम कर्णको साक्षात् सूर्यदेवका सर्वोत्तम अंश जानो ॥ १५० ॥

यस्तु नारायणो नाम देवदेवः सनातनः ।
तस्यांशो मानुषेष्वासीद् वासुदेवः प्रतापवान् ॥१५१॥

देवताओंके भी देवता जो सनातन पुरुष भगवान् नारायण हैं, उन्हींके अंशस्वरूप प्रतापी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण मनुष्योंमें अवतीर्ण हुए थे ॥ १५१ ॥

शेषस्यांशश्च नागस्य बलदेवो महाबलः ।
सनत्कुमारं प्रद्युम्नं विद्धि राजन् महौजसम् ॥१५२॥

महाबली बलदेवजी शेषनागके अंश थे । राजन् ! महातेजस्वी प्रद्युम्नको तुम सनत्कुमारका अंश जानो ॥ १५२ ॥

एवमन्ये मनुष्येन्द्रा बहवोंऽशा दिवौकसाम् ।
जज्ञिरे वसुदेवस्य कुले कुलविवर्धनाः ॥१५३॥

इस प्रकार वसुदेवजीके कुलमें बहुतसे दूसरे-दूसरे नरेन्द्र उत्पन्न हुए, जो देवताओंके अंश थे । वे सभी अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ १५३ ॥

गणस्त्वप्सरसां यो वै मया राजन् प्रकीर्तितः ।
तस्य भागः क्षितौ जज्ञे नियोगाद् वासवस्य ह ॥१५४॥

महाराज ! मैंने अप्सराओंके जिस समुदायका वर्णन किया है, उसका अंश भी इन्द्रके आदेशसे इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ था ॥ १५४ ॥

तानि षोडश देवीनां सहस्राणि नराधिप ।
बभूवुर्मानुषे लोके वासुदेवपरिग्रहः ॥१५५॥

नरेश्वर ! वे अप्सराएँ मनुष्यलोकमें सोलह हजार देवियोंके रूपमें उत्पन्न हुई थीं, जो सब-की-सब भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ हुईं ॥ १५५ ॥

श्रियस्तु भागः संजज्ञे रत्यर्थं पृथिवीतले ।
भीष्मकस्य कुले साध्वी रुक्मिणी नाम नामतः ॥१५६॥

नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करनेके लिये भूतलपर विदर्भराज भीष्मकके कुलमें सती-साध्वी रुक्मिणीदेवीके नामसे लक्ष्मीजीका ही अंश प्रकट हुआ था ॥

द्रौपदी त्वथ संजज्ञे शचीभागादनिन्दिता ।
द्रुपदस्य कुले कन्या वेदिमध्यादनिन्दिता ॥१५७॥

सती-साध्वी द्रौपदी शचीके अंशसे उत्पन्न हुई थी । वह राजा द्रुपदके कुलमें यज्ञकी वेदीके मध्यभागसे एक अनिन्द्य सुन्दरी कुमारी कन्याके रूपमें प्रकट हुई थी ॥ १५७ ॥

नातिह्रस्वा न महती नीलोत्पलसुगन्धिनी ।
पद्मायताक्षी सुश्रोणी स्वसिताञ्चितमूर्धजा ॥१५८॥

वह न तो बहुत छोटी थी और न बहुत बड़ी ही । उसके अङ्गोंसे नीलकमलकी सुगन्ध फैलती रहती थी । उसके नेत्र कमलदलके समान सुन्दर और विशाल थे, नितम्बभाग बड़ा ही मनोहर था और उसके काले-काले घुँघराले बालोंका सौन्दर्य भी अद्भुत था ॥ १५८ ॥

सर्वलक्षणसम्पूर्णा वैदूर्यमणिसंनिभा ।
पञ्चानां पुरुषेन्द्राणां चित्तप्रमथनी रहः ॥१५९॥

वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा वैदूर्य मणिके समान कान्तिमती थी । एकान्तमें रहकर वह पाँचों पुरुषप्रवर पाण्डवोंके मनको मुग्ध किये रहती थी ॥ १५९ ॥

सिद्धिर्धृतिश्च ये देव्यौ पञ्चानां मातरौ तु ते ।
कुन्ती माद्री च जज्ञाते मतिस्तु सुबलात्मजा ॥१६०॥

सिद्धि और धृति नामवाली जो दो देवियाँ हैं, वे ही पाँचों पाण्डवोंकी दोनों माताओं—कुन्ती और माद्रीके रूपमें उत्पन्न हुई थीं । सुबल-नरेशकी पुत्री गान्धारीके रूपमें साक्षात् मतिदेवी ही प्रकट हुई थीं ॥ १६० ॥

इति देवासुराणां ते गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
अंशावतरणं राजन् राक्षसानां च कीर्तितम् ॥१६१॥
ये पृथिव्यां समुद्भूता राजानो युद्धदुर्मदाः ।
महात्मानो यदूनां च ये जाता विपुले कुले ॥१६२॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मया ते परिकीर्तिताः ।
धन्यं यशस्यं पुत्रीयमायुष्यं विजयावहम् ।
इदमंशावतरणं श्रोतव्यमनसूयता ॥१६३॥

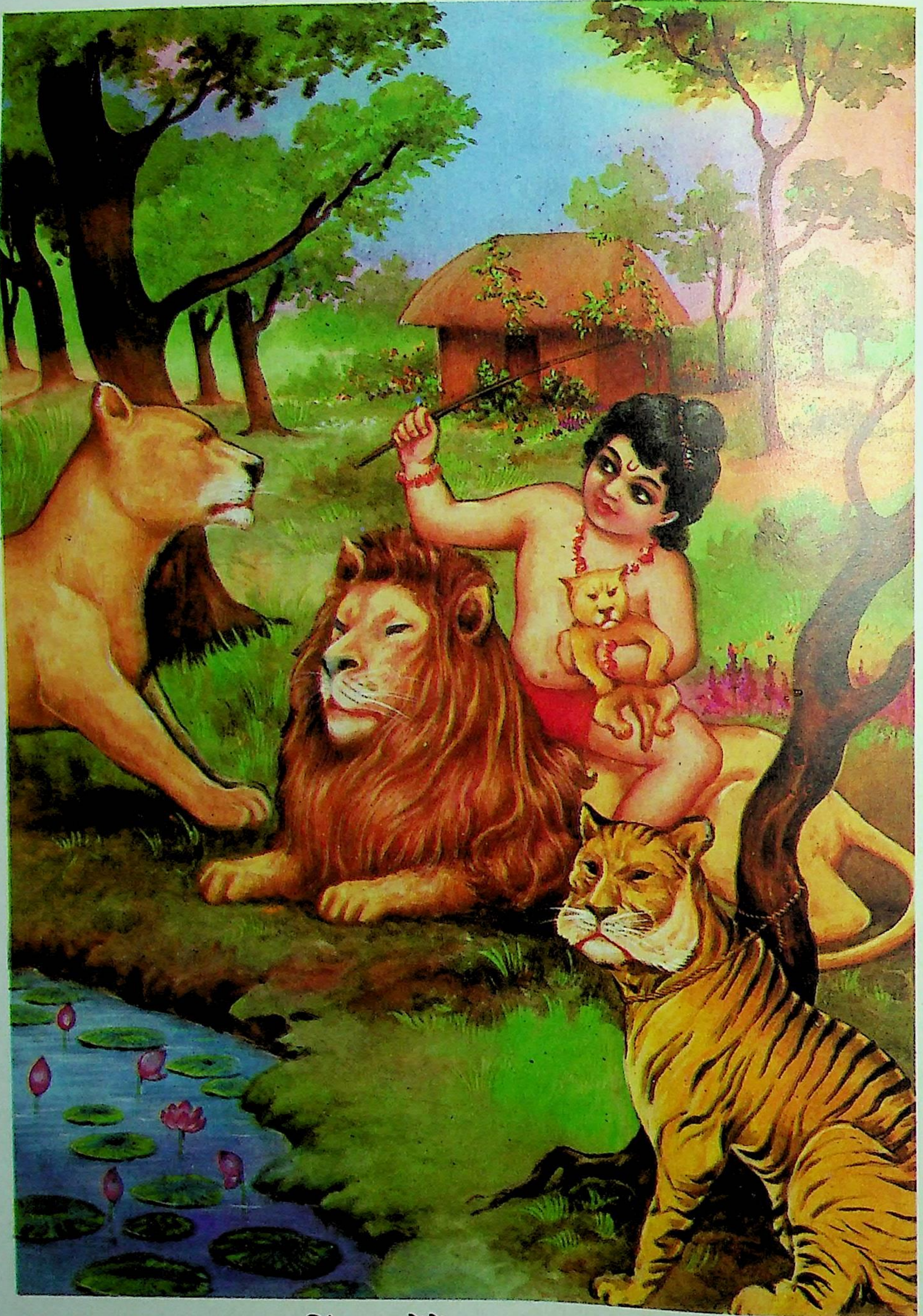
राजन् ! इस प्रकार तुम्हें देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, अप्सराओं तथा राक्षसोंके अंशोंका अवतरण बताया गया । युद्धमें उन्मत्त रहनेवाले जो-जो राजा इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुए थे और जो-जो महात्मा क्षत्रिय यादवोंके विशाल कुलमें प्रकट हुए थे, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य जो भी रहे हैं, उन सबके स्वरूपका परिचय मैंने तुम्हें दे दिया है । मनुष्यको चाहिये कि वह दोष-दृष्टिका त्याग करके इस अंशावतरणके प्रसङ्गको सुने । यह धन, यश, पुत्र, आयु तथा विजयकी प्राप्ति करानेवाला है ॥ १६१-१६३ ॥

अंशावतरणं श्रुत्वा देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
प्रभवाप्ययवित् प्राज्ञो न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥१६४॥

देवता, गन्धर्व तथा राक्षसोंके इस अंशावतरणको सुनकर विश्वकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान परमात्माके स्वरूपको जाननेवाला प्राज्ञ पुरुष बड़ी-बड़ी विपत्तियोंमें भी दुखी नहीं होता ॥ १६४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अंशावतरणसमाप्तौ सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अंशावतरणसमाप्तिविषयक सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥



सिंह-बाघोंमें बालक भरत

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तकी अद्भुत शक्ति तथा राज्यशासनकी क्षमताका वर्णन

जनमेजय उवाच

त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन् देवदानवरक्षसाम्।
अंशावतरणं सम्यग् गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैंने आपके मुखसे देवता, दानव, राक्षस, गन्धर्व तथा अप्सराओंके अंशावतरणका वर्णन अच्छी तरह सुन लिया ॥ १ ॥

इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ॥ २ ॥

विप्रवर! अब इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आपके द्वारा वर्णित कुरुवंशका वृत्तान्त पुनः आदिसे ही सुनना चाहता हूँ ॥२॥

वैशम्पायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान्।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे! पूरुवंशका विस्तार करनेवाले एक राजा हो गये हैं, जिनका नाम था दुष्यन्त। वे महान् पराक्रमी तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके पालक थे ॥ ३ ॥

चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुङ्क्ते मनुजेश्वरः।
समुद्रावरणांश्चापि देशान् स समितिंजयः ॥ ४ ॥
आम्लेच्छावधिकान् सर्वान् स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ॥ ५ ॥

राजा दुष्यन्त पृथ्वीके चारों भागोंका तथा समुद्रसे आवृत सम्पूर्ण देशोंका भी पूर्णरूपसे पालन करते थे। उन्होंने अनेक युद्धोंमें विजय पायी थी। रत्नाकर समुद्रतक फैले हुए, चारों वर्णके लोगोंसे भरे-पूरे तथा म्लेच्छदेशकी सीमासे मिले-जुले सम्पूर्ण भूभागोंका वे शत्रुमर्दन नरेश अकेले ही शासन तथा संरक्षण करते थे ॥ ४-५ ॥

न वर्णसंकरकरो न कृष्याकरकृज्जनः।
न पापकृत् कश्चिदासीत् तस्मिन् राजनि शासति ॥ ६ ॥

उस राजाके शासनकालमें कोई मनुष्य वर्णसंकर संतान उत्पन्न नहीं करता था; पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा करती थी और सारी भूमि ही रत्नोंकी खान बनी हुई थी, इसलिये कोई भी खेती करने या रत्नोंकी खानका पता लगानेकी चेष्टा नहीं करता था। पाप करनेवाला तो उस राज्यमें कोई था ही नहीं ॥ ६ ॥

धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ७ ॥
नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि।
नासीद् व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ८ ॥

नरश्रेष्ठ! सभी लोग धर्ममें अनुराग रखते और उसीका सेवन करते थे। अतः धर्म और अर्थ दोनों ही उन्हें स्वतः प्राप्त हो जाते थे। तात! राजा दुष्यन्त जब इस देशके शासक थे, उस समय कहीं चोरोंका भय नहीं था। भूखका भय तो नाममात्रको भी नहीं था। इस देशपर दुष्यन्तके शासनकालमें रोग-व्याधिका डर तो बिल्कुल ही नहीं रह गया था ॥

स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निःस्पृहाः।
तमाश्रित्य महीपालमासंश्चैवाकुतोभयाः ॥ ९ ॥

सब वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्मके पालनमें रत रहते थे। देवाराधन आदि कर्मोंको निष्कामभावसे ही करते थे। राजा दुष्यन्तका आश्रय लेकर समस्त प्रजा निर्भय हो गयी थी ॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥ १० ॥

मेघ समयपर पानी बरसाता और अनाज रसयुक्त होते थे। पृथ्वी सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा पशु-धनसे परिपूर्ण थी ॥ १० ॥

स्वकर्मनिरता विप्रा नानृतं तेषु विद्यते।
स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ॥ ११ ॥

ब्राह्मण अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें तत्पर थे। उनमें झूठ एवं छल-कपट आदिका अभाव था। राजा दुष्यन्त स्वयं भी नवयुवक थे। उनका शरीर वज्रके सदृश दृढ था। वे अद्भुत एवं महान् पराक्रमसे सम्पन्न थे ॥ ११ ॥

उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत् सवनकाननम्।
चतुष्पथगदायुद्धे सर्वप्रहरणेषु च ॥ १२ ॥
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः।
बले विष्णुसमश्चासीत् तेजसा भास्करोपमः ॥ १३ ॥

वे अपने दोनों हाथोंद्वारा उपवनों और काननोंसहित मन्दराचलको उठाकर ले जानेकी शक्ति रखते थे। गदायुद्धके प्रक्षेप[1], विक्षेप[2], परिक्षेप[3] और अभिक्षेप[4]—इन चारों प्रकारोंमें कुशल तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें अत्यन्त निपुण

---

१. दूरवर्ती शत्रुपर गदा फेंकना 'प्रक्षेप' कहलाता है।
२. समीपवर्ती शत्रुपर गदाकी कोटिसे प्रहार करना 'विक्षेप' कहा गया है। ३. जब शत्रु बहुत हों तो सब ओर गदाको घुमाते हुए शत्रुओंपर उसका प्रहार करना 'परिक्षेप' है। ४. गदाके अग्रभागसे मारना 'अभिक्षेप' कहलाता है।

थे। घोड़े और हाथीकी पीठपर बैठनेकी कलामें वे अत्यन्त प्रवीण थे। बलमें भगवान् विष्णुके समान और तेजमें भगवान् सूर्यके सदृश थे ॥ १२-१३ ॥

अक्षोभ्यत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः।
सम्मतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान् ॥ १४ ॥
भूयो धर्मपरैर्भावैर्मुदितं जनमादिशत् ॥ १५ ॥

वे समुद्रके समान अक्षोभ्य और पृथ्वीके समान सहनशील थे। महाराज दुष्यन्तका सर्वत्र सम्मान था। उनके नगर तथा राष्ट्रके लोग सदा प्रसन्न रहते थे। वे अत्यन्त धर्मयुक्त भावनासे सदा प्रसन्न रहनेवाली प्रजाका शासन करते थे ॥ १४-१५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दुष्यन्तका शिकारके लिये वनमें जाना और विविध हिंसक वन-जन्तुओंका वध करना

जनमेजय उवाच

सम्भवं भरतस्याहं चरितं च महामतेः।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैं परम बुद्धिमान् भरतकी उत्पत्ति और चरित्रको तथा शकुन्तलाकी उत्पत्तिके प्रसङ्गको भी यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुन्तला।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन् विस्तरं त्वहम् ॥ २ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वज्ञ सर्वं मतिमतां वर।

भगवन्! वीरवर दुष्यन्तने शकुन्तलाको कैसे प्राप्त किया? मैं पुरुषसिंह दुष्यन्तके उस चरित्रको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। तत्त्वज्ञ मुने! आप बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं। अतः ये सब बातें बताइये ॥ २½ ॥

वैशम्पायन उवाच

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः ॥ ३ ॥
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः।
बलेन चतुरङ्गेण वृतः परमवल्गुना ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—एक समयकी बात है, महाबाहु राजा दुष्यन्त बहुत-से सैनिक और सवारियोंको साथ लिये सैकड़ों हाथी-घोड़ोंसे घिरकर परम सुन्दर चतुरङ्गिणी सेनाके साथ एक गहन वनकी ओर चले ॥ ३-४ ॥

खड्गशक्तिधरैर्वीरैर्गदामुसलपाणिभिः।
प्रासतोमरहस्तैश्च ययौ योधशतैर्वृतः ॥ ५ ॥

जब राजाने यात्रा की, उस समय खड्ग, शक्ति, गदा, मुसल, प्रास और तोमर हाथमें लिये सैकड़ों योद्धा उन्हें घेरे हुए थे ॥ ५ ॥

सिंहनादैश्च योधानां शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः।
रथनेमिस्वनैश्चैव सनागवरबृंहितैः ॥ ६ ॥
नानायुधधरैश्चापि नानावेषधरैस्तथा।
हेषितस्वनमिश्रैश्च क्ष्वेडितास्फोटितस्वनैः ॥ ७ ॥
आसीत् किलकिलाशब्दस्तस्मिन् गच्छति पार्थिवे।
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया नृपशोभया ॥ ८ ॥
ददृशुस्तं स्त्रियस्तत्र शूरमात्मयशस्करम्।
शक्रोपमममित्रघ्नं परवारणवारणम् ॥ ९ ॥

महाराज दुष्यन्तके यात्रा करते समय योद्धाओंके सिंहनाद, शङ्ख और नगाड़ोंकी आवाज, रथके पहियोंकी घरघराहट, बड़े-बड़े गजराजोंकी चिग्घाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, नाना प्रकारके आयुध तथा भाँति-भाँतिके वेष धारण करनेवाले योद्धाओंद्वारा की हुई गर्जना और ताल ठोंकनेकी आवाजोंसे चारों ओर भारी कोलाहल मच गया था। महलके श्रेष्ठ शिखर-पर बैठी हुई स्त्रियाँ उत्तम राजोचित शोभासे सम्पन्न शूरवीर दुष्यन्तको देख रही थीं। वे अपने यशको बढ़ानेवाले, इन्द्रके समान पराक्रमी और शत्रुओंका नाश करनेवाले थे। शत्रुरूपी मतवाले हाथीको रोकनेके लिये उनमें सिंहके समान शक्ति थी ॥ ६—९ ॥

पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र वज्रपाणिं स्म मेनिरे।
अयं स पुरुषव्याघ्रो रणे वसुपराक्रमः ॥ १० ॥
यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः।

वहाँ देखती हुई स्त्रियोंने उन्हें वज्रपाणि इन्द्रके समान समझा और आपसमें वे इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो! देखो तो सही, ये ही वे पुरुषसिंह महाराज दुष्यन्त हैं, जो संग्रामभूमिमें वसुओंके समान पराक्रम दिखाते हैं, जिनके बाहुबलमें पड़कर शत्रुओंका अस्तित्व मिट जाता है' ॥ १०½ ॥

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम् ॥ ११ ॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्धनि।
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ॥ १२ ॥

ऐसी बातें करती हुई वे स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे महाराज दुष्यन्तकी स्तुति करतीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा

करती थीं। यत्र-तत्र खड़े हुए श्रेष्ठ ब्राह्मण सब ओर इनकी स्तुति-प्रशंसा करते थे ॥ ११-१२ ॥

निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया ।
तं देवराजप्रतिमं मत्तवारणधूर्गतम् ॥ १३ ॥
द्विजक्षत्रियविट्शूद्रा निर्यान्तमनुजग्मिरे ।
ददृशुर्वर्धमानास्ते आशीर्भिश्च जयेन च ॥ १४ ॥

इस प्रकार महाराज वनमें हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ नगरसे बाहर निकले। वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे। मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर यात्रा करनेवाले उन महाराज दुष्यन्तके पीछे-पीछे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णोंके लोग गये और सब आशीर्वाद एवं विजयसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदयकी कामना करते हुए उनकी ओर देखते रहे ॥ १३-१४ ॥

सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तथा ।
न्यवर्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह ॥ १५ ॥

नगर और जनपदके लोग बहुत दूरतक उनके पीछे-पीछे गये। फिर महाराजकी आज्ञा होनेपर लौट आये ॥ १५ ॥

सुपर्णप्रतिमेनाथ रथेन वसुधाधिपः ।
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा ॥ १६ ॥
स गच्छन् ददृशे धीमान् नन्दनप्रतिमं वनम् ।
बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम् ॥ १७ ॥

उनका रथ गरुडके समान वेगशाली था। उसके द्वारा यात्रा करनेवाले नरेशने घरघराहटकी आवाजसे पृथ्वी और आकाशको गुँजा दिया। जाते-जाते बुद्धिमान् दुष्यन्तने एक नन्दनवनके समान मनोहर वन देखा, जो बेल, आक, खैर, कैथ और धव (बाकली) आदि वृक्षोंसे भर-पूर था ॥

विषमं पर्वतप्रस्थैरश्मभिश्च समावृतम् ।
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ॥ १८ ॥

पर्वतकी चोटीसे गिरे हुए बहुत-से शिलाखण्ड वहाँ इधर-उधर पड़े थे। ऊँची-नीची भूमिके कारण वह वन बड़ा दुर्गम जान पड़ता था। अनेक योजनतक फैले हुए उस वनमें कहीं जल या मनुष्यका पता नहीं चलता था ॥ १८ ॥

मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः ।
तद् वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ॥ १९ ॥
लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन् विविधान् मृगान् ।
बाणगोचरसम्प्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान् बहून् ॥ २० ॥
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः ।
दूरस्थान् सायकैः कांश्चिदभिनत् स नराधिपः ॥ २१ ॥
अभ्याशमागतांश्चान्यान् खड्गेन निरकृन्तत ।
कांश्चिदेणान् समाजघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ॥ २२ ॥

वह सब ओर मृग और सिंह आदि भयंकर जन्तुओं तथा अन्य वनवासी जीवोंसे भरा हुआ था। नरश्रेष्ठ राजा दुष्यन्तने सेवक, सैनिक और सवारियोंके साथ नाना प्रकारके हिंसक पशुओंका शिकार करते हुए उस वनको रौंद डाला। वहाँ बाणोंके लक्ष्यमें आये हुए बहुत-से व्याघ्रोंको महाराज दुष्यन्तने मार गिराया और कितनोंको सायकोंसे बींध डाला। शक्तिशाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ नरेशने कितने ही दूरवर्ती हिंसक पशुओंको बाणोंद्वारा घायल किया। जो निकट आ गये, उन्हें तलवारसे काट डाला और कितने ही एण जातिके पशुओंको शक्तिनामक शस्त्रद्वारा मौतके घाट उतार दिया ॥

गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचारामितविक्रमः ।
तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकम्पनैः ॥ २३ ॥
चचार स विनिघ्नन् वै स्वैरचारान् वनद्विपान् ।
राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ॥ २४ ॥
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुः स्म मृगाधिपाः ।
तत्र विद्रुतयूथानि हतयूथपतीनि च ॥ २५ ॥
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः ।
शुष्कांश्चापि नदीर्गत्वा जलनैराश्यकर्शिताः ॥ २६ ॥
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः ।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि ॥ २७ ॥

असीम पराक्रमवाले राजा गदा घुमानेकी कलामें अत्यन्त प्रवीण थे। अतः वे तोमर, तलवार, गदा तथा मुसलोंकी मारसे स्वेच्छापूर्वक विचरनेवाले जंगली हाथियोंका वध करते हुए वहाँ सब ओर विचरने लगे। अद्भुत पराक्रमी नरेश और उनके युद्ध-प्रेमी सैनिकोंने उस विशाल वनका कोना-कोना छान डाला। अतः सिंह और बाघ उस वनको छोड़कर भाग गये। पशुओंके कितने ही झुंड, जिनके यूथपति मारे गये थे, व्यग्र होकर भागे जा रहे थे और कितने ही यूथ इधर-उधर आर्त-नाद करते थे। वे प्याससे पीड़ित हो सूखी नदियोंमें जाकर जब जल नहीं पाते, तब निराशासे अत्यन्त खिन्न हो दौड़नेके परिश्रमसे क्लान्तचित्त होनेके कारण मूर्च्छित होकर गिर पड़ते थे। भूख, प्यास और थकावटसे चूर-चूर हो बहुत-से पशु धरतीपर गिर पड़े ॥ २३—२७ ॥

केचित् तत्र नरव्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः ।
केचिदग्निमथोत्पाद्य संसाध्य च वनेचराः ॥ २८ ॥
भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकुट्य विधिवत् तदा ।
तत्र केचिद् गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः ॥ २९ ॥
संकोच्याग्रकरान् भीताः प्रद्रवन्ति स्म वेगिताः ।
शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ॥ ३० ॥

वहाँ कितने ही व्याघ्र-स्वभावके नृशंस जंगली मनुष्य भूखे होनेके कारण कुछ मृगोंको कच्चे ही चबा गये। कितने ही वनमें विचरनेवाले व्याध वहाँ आग जलाकर मांस पकानेकी अपनी रीतिके अनुसार मांसको कूट-कूट कर राँधने

और खाने लगे। उस वनमें कितने ही बलवान् और मतवाले हाथी अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे क्षत-विक्षत होकर सूँडको समेटे हुए भयके मारे वेगपूर्वक भाग रहे थे। उस समय उनके घावोंसे बहुत-सा रक्त बह रहा था और वे मल-मूत्र करते जाते थे ॥ २८-३० ॥

वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान् बहून्।
तद् वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम्।
व्यरोचत मृगाकीर्णं राज्ञा हतमृगाधिपम् ॥ ३१ ॥

बड़े-बड़े जंगली हाथियोंने भी वहाँ भागते समय बहुत-से मनुष्योंको कुचल डाला। वहाँ बाणरूपी जलकी धारा बरसानेवाले सैन्यरूपी बादलोंने उस वनरूपी व्योमको सब ओरसे घेर लिया था। महाराज दुष्यन्तने जहाँके सिंहोंको मार डाला था, वह हिंसक पशुओंसे भरा हुआ वन बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

तपोवन और कण्वके आश्रमका वर्णन तथा राजा दुष्यन्तका उस आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ततो मृगसहस्राणि हत्वा सबलवाहनः।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद् विवेश ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सेना और सवारियोंके साथ राजा दुष्यन्तने सहस्रों हिंसक पशुओंका वध करके एक हिंसक पशुका ही पीछा करते हुए दूसरे वनमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः।
स वनस्यान्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत् ॥ २ ॥

उस समय उत्तम बलसे युक्त महाराज दुष्यन्त अकेले ही थे तथा भूख, प्यास और थकावटसे शिथिल हो रहे थे। उस वनके दूसरे छोरमें पहुँचनेपर उन्हें एक बहुत बड़ा ऊसर मैदान मिला, जहाँ वृक्ष आदि नहीं थे ॥ २ ॥

तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम्।
मनःप्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ॥ ३ ॥
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद् वनम्।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ॥ ४ ॥

उस वृक्षशून्य ऊसर भूमिको लाँघकर महाराज दुष्यन्त दूसरे विशालवनमें जा पहुँचे, जो अनेक उत्तम आश्रमोंसे सुशोभित था। देखनेमें अत्यन्त सुन्दर होनेके साथ ही वह मनमें अद्भुत आनन्दोल्लासकी सृष्टि कर रहा था। उस वनमें शीतल वायु चल रही थी। वहाँके वृक्ष फूलोंसे भरे थे और वनमें सब ओर व्याप्त हो उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ अत्यन्त सुखद हरी-हरी कोमल घास उगी हुई थी ॥ ३-४ ॥

विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ॥ ५ ॥

वह वन बहुत बड़ा था और मीठी बोली बोलनेवाले विविध विहंगमोंके कलरवोंसे गूँज रहा था। उसमें कहीं कोकिलोंकी कुहू-कुहू सुन पड़ती थी तो कहीं झींगुरोंकी झीनी झनकार गूँज रही थी ॥ ५ ॥

प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम्।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ६ ॥

वहाँ सब ओर बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले विशाल वृक्ष अपनी सुखद शीतल छाया किये हुए थे और उन वृक्षोंके नीचे सब ओर भ्रमर मँड़रा रहे थे। इस प्रकार वहाँ सर्वत्र बड़ी भारी शोभा छा रही थी ॥ ६ ॥

नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी।
षट्पदैर्नाप्यपाकीर्णस्तस्मिन् वै काननेऽभवत् ॥ ७ ॥

उस वनमें एक भी वृक्ष ऐसा नहीं था, जिसमें फूल और फल न लगे हों तथा भौंरे न बैठे हों। काँटेदार वृक्ष तो वहाँ ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता था ॥ ७ ॥

विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ॥ ८ ॥

सब ओर अनेकानेक पक्षी चहक रहे थे। भाँति-भाँतिके पुष्प उस वनकी अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे थे। सभी ऋतुओंमें फूल देनेवाले सुखद छायायुक्त वृक्ष वहाँ चारों ओर फैले हुए थे ॥ ८ ॥

मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम्।
मारुताकलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशाखिनः ॥ ९ ॥
पुष्पवृष्टिं विचित्रां तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः।
दिवःस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ॥ १० ॥

महान् धनुर्धर राजा दुष्यन्तने इस प्रकार मनको मोह लेनेवाले उस उत्तम वनमें प्रवेश किया। उस समय फूलोंसे भरी हुई डालियोंवाले वृक्ष वायुके झकोरोंसे हिल-हिलकर उनके ऊपर बार-बार अद्भुत पुष्प-वर्षा करने लगे। वे वृक्ष इतने

ऊँचे थे, मानो आकाशको छू लेंगे। उनपर बैठे हुए मीठी बोली बोलनेवाले पक्षियोंके मधुर शब्द वहाँ गूँज रहे थे॥ ९-१०॥

विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः।
तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु॥ ११॥
रुवन्ति रावान् मधुरान् षट्पदा मधुलिप्सवः।
तत्र प्रदेशांश्च बहून् कुसुमोत्करमण्डितान्॥ १२॥
लतागृहपरिक्षिप्तान् मनसः प्रीतिवर्धनान्।
सम्पश्यन् सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा॥ १३॥

उस वनमें पुष्परूपी विचित्र वस्त्र धारण करनेवाले वृक्ष अद्भुत शोभा पा रहे थे। फूलोंके भारसे झुके हुए उनके कोमल पल्लवोंपर बैठे हुए मधुलोभी भ्रमर मधुर गुंजार कर रहे थे। राजा दुष्यन्तने वहाँ बहुत-से ऐसे रमणीय प्रदेश देखे जो फूलोंके ढेरसे सुशोभित तथा लतामण्डपोंसे अलंकृत थे। मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले उन मनोहर प्रदेशोंका अवलोकन करके उस समय महातेजस्वी राजाको बड़ा हर्ष हुआ॥ ११-१३॥

परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमान्वितैः।
अशोभत वनं तत् तु महेन्द्रध्वजसंनिभैः॥ १४॥

फूलोंसे लदे हुए वृक्ष एक दूसरेसे अपनी डालियोंको सटाकर मानो गले मिल रहे थे। वे गगनचुम्बी वृक्ष इन्द्रकी ध्वजाके समान जान पड़ते थे और उनके कारण उस वनकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ १४॥

सिद्धचारणसंघैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिन्नरम्॥ १५॥

सिद्ध-चारणसमुदाय तथा गन्धर्व और अप्सराओंके समूह भी उस वनका अत्यन्त सेवन करते थे। वहाँ मतवाले वानर और किन्नर निवास करते थे॥ १५॥

सुखः शीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः।
परिक्रामन् वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया॥ १६॥

उस वनमें शीतल, सुगन्ध, सुखदायिनी मन्द वायु फूलोंके पराग वहन करती हुई मानो रमणकी इच्छासे बार-बार वृक्षोंके समीप आती थी॥ १६॥

एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसंनिभम्॥ १७॥

वह वन मालिनी नदीके कछारमें फैला हुआ था और ऊँची ध्वजाओंके समान ऊँचे वृक्षोंसे भरा होनेके कारण अत्यन्त मनोहर जान पड़ता था। राजाने इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त उस वनका भलीभाँति अवलोकन किया॥ १७॥

प्रेक्षमाणो वनं तत् तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम्।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम्॥ १८॥

इस प्रकार राजा अभी वनकी शोभा देख ही रहे थे कि उनकी दृष्टि एक उत्तम आश्रमपर पड़ी, जो अत्यन्त रमणीय और मनोरम था। वहाँ बहुत-से पक्षी हर्षोल्लासमें भरकर चहक रहे थे॥ १८॥

नानावृक्षसमाकीर्णं सम्प्रज्वलितपावकम्।
तं तदाप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत्॥ १९॥

नाना प्रकारके वृक्षोंसे भर-पूर उस वनमें स्थान-स्थानपर अग्निहोत्रकी आग प्रज्वलित हो रही थी। इस प्रकार उस अनुपम आश्रमका श्रीमान् दुष्यन्त नरेशने मन-ही-मन बड़ा सम्मान किया॥ १९॥

यतिभिर्वालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम्।
अग्न्यगारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम्॥ २०॥

वहाँ बहुत-से त्यागी विरागी यति, बालखिल्य ऋषि तथा अन्य मुनिगण निवास करते थे। अनेकानेक अग्निहोत्र-गृह उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ इतने फूल झड़कर गिरे थे कि उनके बिछौने-से बिछ गये थे॥ २०॥

महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च।
मालिनीमभितो राजन् नदीं पुण्यां सुखोदकाम्॥ २१॥

बड़े-बड़े तूनके वृक्षोंसे उस आश्रमकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। राजन्! बीचमें पुण्यसलिला मालिनी नदी बहती थी, जिसका जल बड़ा ही सुखद एवं स्वादिष्ट था। उसके दोनों तटोंपर वह आश्रम फैला हुआ था॥ २१॥

नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोवनमनोरमाम्।
तत्र व्यालमृगान् सौम्यान् पश्यन् प्रीतिमवाप सः॥ २२॥

मालिनीमें अनेक प्रकारके जलपक्षी निवास करते थे तथा तटवर्ती तपोवनके कारण उसकी मनोहरता और बढ़ गयी थी। वहाँ विषधर सर्प और हिंसक वनजन्तु भी सौम्यभाव (हिंसा-शून्य कोमलवृत्ति) से रहते थे। यह सब देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ २२॥

तं चाप्रतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम्॥ २३॥

श्रीमान् दुष्यन्त नरेश अप्रतिरथ वीर थे—उस समय उनकी समानता करनेवाला भूमण्डलमें दूसरा कोई रथी योद्धा नहीं था। वे उक्त आश्रमके समीप जा पहुँचे, जो देवताओंके लोक-सा प्रतीत होता था। वह आश्रम सब ओरसे अत्यन्त मनोहर था॥ २३॥

नदीं चाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव धिष्ठिताम्॥ २४॥

राजाने आश्रमसे सटकर बहनेवाली पुण्यसलिला मालिनी नदीकी ओर भी दृष्टिपात किया; जो वहाँ समस्त प्राणियोंकी जननी-सी विराज रही थी॥ २४॥

सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम्।
सकिन्नरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम्॥ २५॥

उसके तटपर चकवा-चकई किलोल कर रहे थे। नदीके जलमें बहुत-से फूल इस प्रकार बह रहे थे, मानो फेन हों। उसके तटप्रान्तमें किन्नरोंके निवास-स्थान थे। वानर और रीछ भी उस नदीका सेवन करते थे॥ २५॥

पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम्।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम्॥ २६॥

अनेक सुन्दर पुलिन मालिनीकी शोभा बढ़ा रहे थे। वेद-शास्त्रोंके पवित्र स्वाध्यायकी ध्वनिसे उस सरिताका निकटवर्ती प्रदेश गूँज रहा था। मतवाले हाथी, सिंह और बड़े-बड़े सर्प भी मालिनीके तटका आश्रय लेकर रहते थे॥ २६॥

तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः।
आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम्॥ २७॥

उसके तटपर ही कश्यपगोत्रीय महात्मा कण्वका वह उत्तम एवं रमणीय आश्रम था। वहाँ महर्षियोंके समुदाय निवास करते थे॥ २७॥

नदीमाश्रमसम्बद्धां दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तथा।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा॥ २८॥

उस मनोहर आश्रम और आश्रमसे सटी हुई नदीको देखकर राजाने उस समय उसमें प्रवेश करनेका विचार किया॥

अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया।
नरनारायणस्थानं गङ्गयेवोपशोभितम्॥ २९॥

टापुओंसे युक्त तथा सुरम्य तटवाली मालिनी नदीसे सुशोभित वह आश्रम गङ्गा नदीसे शोभायमान भगवान् नर-नारायणके आश्रम-सा जान पड़ता था॥ २९॥

मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद् वनम्।
तत् स चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरर्षभः॥ ३०॥
अतीवगुणसम्पन्नमनिर्देश्यं च वर्चसा।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम्॥ ३१॥
ध्वजिनीमश्वसम्बाधां पदातिगजसंकुलाम्।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः॥ ३२॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अत्यन्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न कश्यपगोत्रीय महर्षि तपोधन कण्वका, जिनके तेजका वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता था, दर्शन करनेके लिये कुबेरके चैत्ररथवनके समान मनोहर उस महान् वनमें प्रवेश किया, जहाँ मतवाले मयूर अपनी केकाध्वनि फैला रहे थे। वहाँ पहुँचकर नरेशने रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई अपनी चतुरङ्गिणी सेनाको उस तपोवनके किनारे ठहरा दिया और कहा—॥ ३०—३२॥

मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम्।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम॥ ३३॥

'सेनापति! और सैनिको! मैं रजोगुणरहित तपस्वी महर्षि कश्यपनन्दन कण्वका दर्शन करनेके लिये उनके आश्रममें जाऊँगा। जबतक मैं वहाँसे लौट न आऊँ, तबतक तुमलोग यहीं ठहरो'॥ ३३॥

तद् वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा मुदं चावाप पुष्कलाम्॥ ३४॥

इस प्रकार आदेश दे नरेश्वर दुष्यन्तने नन्दनवनके समान सुशोभित उस तपोवनमें पहुँचकर भूख-प्यासको भुला दिया। वहाँ उन्हें बड़ा आनन्द मिला॥ ३४॥

सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम्॥ ३५॥

वे नरेश मुकुट आदि राजचिह्नोंको हटाकर साधारण वेष-भूषामें मन्त्रियों और पुरोहितके साथ उस उत्तम आश्रमके भीतर गये॥ ३५॥

दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाव्ययम्।
ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य ह।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम्॥ ३६॥

वहाँ वे तपस्याके भण्डार अविकारी महर्षि कण्वका दर्शन करना चाहते थे। राजाने उस आश्रमको देखा, मानो दूसरा ब्रह्मलोक हो। नाना प्रकारके पक्षी वहाँ कलरव कर रहे थे। भ्रमरोंके गुञ्जनसे सारा आश्रम गूँज रहा था॥ ३६॥

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु॥ ३७॥

श्रेष्ठ ऋग्वेदी ब्राह्मण पद और क्रमपूर्वक ऋचाओंका पाठ कर रहे थे। नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अनेक प्रकारके यज्ञसम्बन्धी कर्मोंमें पढ़ी जाती हुई वैदिक ऋचाओंको सुना॥ ३७॥

यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम्।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः॥ ३८॥
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः।
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः॥ ३९॥

यज्ञविद्या और उसके अङ्गोंकी जानकारी रखनेवाले यजुर्वेदी विद्वान् भी आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले सामवेदी महर्षियोंद्वारा वहाँ मधुरस्वरसे सामवेदका गान किया जा रहा था। मनको संयम-में रखकर नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सामवेदी और अथर्ववेदी महर्षि भारुण्डसंज्ञक साममन्त्रोंके गीत गाते और अथर्ववेदके मन्त्रोंका उच्चारण करते थे; जिससे उस आश्रमकी बड़ी शोभा होती थी॥ ३८-३९॥

अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते॥ ४०॥

श्रेष्ठ अथर्ववेदीय विद्वान् तथा पूगयज्ञिय नामक सामके गायक सामवेदी महर्षि पद और क्रमसहित अपनी-अपनी संहिताका पाठ करते थे॥ ४०॥

शब्दसंस्कारसंयुक्तैर्ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः ।
नादितः स बभौ श्रीमान् ब्रह्मलोक इवापरः ॥ ४१ ॥

दूसरे द्विजबालक शब्द-संस्कारसे सम्पन्न थे—वे स्थान, करण और प्रयत्नका ध्यान रखते हुए संस्कृतवाक्योंका उच्चारण कर रहे थे। इन सबके तुमुल शब्दोंसे गूँजता हुआ वह सुन्दर आश्रम द्वितीय ब्रह्मलोकके समान सुशोभित होता था ॥ ४१ ॥

यज्ञसंस्तरविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः ।
न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसम्पन्नैर्वेदपारगैः ॥ ४२ ॥
नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥ ४३ ॥
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥ ४४ ॥
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
पक्षिवानररुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥ ४५ ॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥ ४६ ॥

यज्ञवेदीकी रचनाके ज्ञाता, क्रम और शिक्षामें कुशल, न्यायके तत्त्व और आत्मानुभवसे सम्पन्न, वेदोंके पारङ्गत, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक वाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें कुशल तथा विभिन्न शाखाओंकी गुणविधियोंका एक शाखामें उपसंहार करनेकी कलामें निपुण, उपासना आदि विशेषकार्योंके ज्ञाता, मोक्षधर्ममें तत्पर, अपने सिद्धान्तकी स्थापना करके उसमें शङ्का उठाकर उसके परिहारपूर्वक उस सिद्धान्तके समर्थनमें परम प्रवीण, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष तथा शिक्षा और कल्प—वेदके इन छहों अङ्गोंके विद्वान्, पदार्थ, शुभाशुभ कर्म, सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंको जाननेवाले तथा कार्य (द्रव्यवर्ग) और कारण (मूल प्रकृति) के ज्ञाता, पशु-पक्षियोंकी बोली समझनेवाले, व्यासग्रन्थका आश्रय लेकर मन्त्रोंकी व्याख्या करनेवाले तथा विभिन्न शास्त्रोंके प्रमुख विद्वान् वहाँ रहकर जो शब्दोच्चारण कर रहे थे; उन सबको राजा दुष्यन्तने सुना। कुछ लोकरञ्जन करनेवाले लोगोंकी बातें भी उस आश्रममें चारों ओर सुनायी पड़ती थीं ॥ ४२—४६ ॥

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान् नियतान् संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान् विप्रान् ददर्श परवीरहा ॥ ४७ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुष्यन्तने स्थान-स्थानपर नियमपूर्वक उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंको जप और होममें लगे हुए देखा ॥

आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ४८ ॥

वहाँ प्रयत्नपूर्वक तैयार किये हुए बहुत सुन्दर एवं विचित्र आसन देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४८ ॥

देवतायतनानां च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥ ४९ ॥

द्विजोंद्वारा की हुई देवालयोंकी पूजा-पद्धति देखकर नृपश्रेष्ठ दुष्यन्तने ऐसा समझा कि मैं ब्रह्मलोकमें आ पहुँचा हूँ ॥

स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नातृप्यत् प्रेक्षमाणो वै तपोवनगुणैर्युतम् ॥ ५० ॥

वह श्रेष्ठ एवं शुभ आश्रम कश्यपनन्दन महर्षि कण्वकी तपस्यासे सुरक्षित तथा तपोवनके उत्तम गुणोंसे संयुक्त था। राजा उसे देखकर तृप्त नहीं होते थे ॥ ५० ॥

स काश्यपस्यायतनं महाव्रतै-
र्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः ।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा
विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ॥ ५१ ॥

महर्षि कण्वका वह आश्रम, जिसमें वे स्वयं रहते थे, सब ओरसे महान् व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी महर्षियोंद्वारा घिरा हुआ था। वह अत्यन्त मनोहर, मङ्गलमय और एकान्त स्थान था। शत्रुनाशक राजा दुष्यन्तने मन्त्री और पुरोहितके साथ उसकी सीमामें प्रवेश किया ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तका शकुन्तलाके साथ वार्तालाप, शकुन्तलाके द्वारा अपने जन्मका कारण बतलाना तथा उसी प्रसंगमें विश्वामित्रकी तपस्यासे इन्द्रका चिन्तित होकर मेनकाको मुनिका तपोभङ्ग करनेके लिये भेजना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महाबाहु राजा दुष्यन्त साथ आये हुए अपने उन मन्त्रियोंको भी बाहर छोड़कर अकेले ही उस आश्रममें गये, किंतु वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि नहीं दिखायी दिये ॥ १ ॥

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम् ।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं संनादयन्निव ॥ २ ॥

महर्षि कण्वको न देखकर और आश्रमको सूना पाकर

राजाने सम्पूर्ण वनको प्रतिध्वनित करते हुए-से पूछा—'यहाँ कौन है ?' ॥ २ ॥

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी ।
निश्चक्रामाश्रमात् तस्मात् तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥

दुष्यन्तके उस शब्दको सुनकर एक मूर्तिमती लक्ष्मी-सी सुन्दरी कन्या तापसीका वेष धारण किये आश्रमके भीतर-से निकली ॥ ३ ॥

सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
(सुव्रताभ्यागतं तं तु पूज्यं प्राप्तमथेश्वरम् ।
रूपयौवनसम्पन्ना शीलाचारवती शुभा ।
सा तमायतपद्माक्षं व्यूढोरस्कं सुसंहतम् ॥
सिंहस्कन्धं दीर्घबाहुं सर्वलक्षणपूजितम् ।
विस्पष्टं मधुरां वाचं साब्रवीज्जनमेजय ।)
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥

जनमेजय ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली वह सुन्दरी कन्या रूप, यौवन, शील और सदाचारसे सम्पन्न थी । राजा दुष्यन्तके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित थे । उनकी छाती चौड़ी, शरीरकी गठन सुन्दर, कंधे सिंहके सदृश और भुजाएँ लंबी थीं । वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे । श्याम नेत्रोंवाली उस शुभलक्षणा कन्याने सम्मान्य राजा दुष्यन्तको देखते ही मधुर वाणीमें उनके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए शीघ्रतापूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'अतिथिदेव ! आपका स्वागत है' ॥ ४ ॥

आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलं च नराधिपम् ॥ ५ ॥

महाराज ! फिर आसन, पाद्य और अर्घ्य अर्पण करके उनका समादर करनेके पश्चात् उसने राजासे पूछा—'आपका शरीर नीरोग है न ? घरपर कुशल तो है ?' ॥ ५ ॥

यथावदर्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥

उस समय विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके आरोग्य और कुशल पूछकर वह तपस्विनी कन्या मुसकराती हुई-सी बोली—'कहिये आपकी क्या सेवा की जाय ?' ॥ ६ ॥

(आश्रमस्याभिगमने किं त्वं कार्यं चिकीर्षसि ।
कस्त्वमद्येह सम्प्राप्तो महर्षेराश्रमं शुभम् ॥)

'आपके आश्रमकी ओर पधारनेका क्या कारण है ? आप यहाँ कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं ? आपका परिचय क्या है ? आप कौन हैं ? और आज यहाँ महर्षिके इस शुभ आश्रमपर (किस उद्देश्यसे) आये हैं ?'

तामब्रवीत् ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम् ।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत् प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

उसके द्वारा विधिवत् किये हुए आतिथ्य सत्कारको ग्रहण करके राजाने उस सर्वाङ्गसुन्दरी एवं मधुरभाषिणी कन्याकी ओर देखकर कहा ॥ ७ ॥

(दुष्यन्त उवाच

राजर्षेरस्मि पुत्रोऽहमिलिलस्य महात्मनः ।
दुष्यन्त इति मे नाम सत्यं पुष्करलोचने ॥)
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ ८ ॥

दुष्यन्त बोले—कमललोचने ! मैं राजर्षि महात्मा इलिल* का पुत्र हूँ और मेरा नाम दुष्यन्त है । मैं यह सत्य कहता हूँ । भद्रे ! मैं परम भाग्यशाली महर्षि कण्वकी उपासना करने—उनके सत्सङ्गका लाभ लेनेके लिये आया हूँ । शोभने ! बताओ तो, भगवान् कण्व कहाँ गये हैं ? ॥ ८ ॥

शकुन्तलोवाच

गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥ ९ ॥

शकुन्तला बोली—अभ्यागत ! मेरे पूज्य पिताजी फल लानेके लिये आश्रमसे बाहर गये हैं । अतः दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये । लौटनेपर उनसे मिलियेगा ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसम्पन्नामित्युवाच महीपतिः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा दुष्यन्तने देखा—महर्षि कण्व आश्रमपर नहीं हैं और वह तापसी कन्या उन्हें वहाँ ठहरनेके लिये कह रही है; साथ ही उनकी दृष्टि इस बातकी ओर भी गयी कि यह कन्या सर्वाङ्गसुन्दरी, अपूर्व शोभासे सम्पन्न तथा मनोहर मुसकानसे सुशोभित है । इसका शरीर सौन्दर्यकी प्रभासे प्रकाशित हो रहा है, तपस्या तथा मन-इन्द्रियोंके संयमने इसमें अपूर्व तेज भर दिया है । यह अनुपम रूप और नयी जवानीसे उद्भासित हो रही है, यह सब सोचकर राजाने पूछा—॥ १०-११ ॥

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवंरूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥ १२ ॥

'मनोहर कटिप्रदेशसे सुशोभित सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और किसलिये इस वनमें आयी हो ? शोभने ! तुममें ऐसे अद्भुत रूप और गुणोंका विकास कैसे हुआ है ? ॥

दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ १३ ॥

'शुभे ! तुमने दर्शनमात्रसे मेरे मनको हर लिया है ।

* दुष्यन्तके पिताके 'इलिल' और 'ईलिन' दोनों ही नाम मिलते हैं ।

कल्याणि ! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूँ, अतः मुझे सब कुछ ठीक-ठीक बताओ ॥ १३ ॥

(शृणु मे नागनासोरु वचनं मत्तकाशिनि ॥
राजर्षेरन्वये जातः पूरोरस्मि विशेषतः ।
वृणे त्वामद्य सुश्रोणि दुष्यन्तो वरवर्णिनि ॥
न मेऽन्यत्र क्षत्रियायां मनो जातु प्रवर्तते ।
ऋषिपुत्रीषु चान्यासु नावर्णासु परासु वा ॥
तस्मात् प्रणिहितात्मानं विद्धि मां कलभाषिणि ।
तस्य मे त्वयि भावोऽस्ति क्षत्रिया ह्यसि का वद ॥
न हि मे भीरु विप्रायां मनः प्रसहते गतिम् ।
भजे त्वामायतापाङ्गि भक्तं भजितुमर्हसि ॥
भुङ्क्ष्व राज्यं विशालाक्षि बुद्धिं मा त्वन्यथा कृथाः ।)

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली मतवाली सुन्दरी ! मेरी बात सुनो; मैं राजर्षि पूरुके वंशमें उत्पन्न राजा दुष्यन्त हूँ । आज मैं अपनी पत्नी बनानेके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ । क्षत्रिय-कन्याके सिवा दूसरी किसी स्त्रीकी ओर मेरा मन कभी नहीं जाता । अन्यान्य ऋषिपुत्रियों, अपनेसे भिन्न वर्णकी कुमारियों तथा परायी स्त्रियोंकी ओर भी मेरे मनकी गति नहीं होती । मधुरभाषिणि ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं अपने मनको पूर्णतः संयममें रखता हूँ । ऐसा होनेपर भी तुमपर मेरा अनुराग हो रहा है, अतः तुम क्षत्रिय-कन्या ही हो । बताओ, तुम कौन हो ? भीरु ! ब्राह्मण-कन्याकी ओर आकृष्ट होना मेरे मनको कदापि सह्य नहीं है । विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ; तुम्हारी सेवा चाहता हूँ; तुम मुझे स्वीकार करो । विशाललोचने ! मेरा राज्य भोगो । मेरे प्रति अन्यथा विचार न करो, मुझे पराया न समझो' ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या तेन राज्ञा तमाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ॥ १४ ॥

उस आश्रममें राजाके इस प्रकार पूछनेपर वह कन्या हँसती हुई मिठासभरे वचनोंमें उनसे इस प्रकार बोली—॥ १४ ॥

कण्वस्याहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

'महाराज दुष्यन्त ! मैं तपस्वी, धृतिमान्, धर्मज्ञ तथा महात्मा भगवान् कण्वकी पुत्री मानी जाती हूँ ॥ १५ ॥

(अस्वतन्त्रास्मि राजेन्द्र काश्यपो मे गुरुः पिता ।
तमेव प्रार्थय स्वार्थं नायुक्तं कर्तुमर्हसि ॥)

'राजेन्द्र ! मैं परतन्त्र हूँ । कश्यपनन्दन महर्षि कण्व मेरे गुरु और पिता हैं । उन्हींसे आप अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करें । आपको अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये' ॥

दुष्यन्त उवाच

ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद् धर्मोऽपि न चलेत् संशितव्रतः ॥ १६ ॥

दुष्यन्त बोले—महाभागे ! विश्ववन्द्य कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं । वे बड़े कठोर व्रतका पालन करते हैं । साक्षात् धर्मराज भी अपने सदाचारसे विचलित हो सकते हैं, परंतु महर्षि कण्व नहीं ॥ १६ ॥

कथं त्वं तस्य दुहिता सम्भूता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तन्मे छेत्तुमिहार्हसि ॥ १७ ॥

ऐसी दशामें तुम-जैसी सुन्दरी देवी उनकी पुत्री कैसे हो सकती है ? इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह हो रहा है । मेरे इस संदेहका निवारण तुम्हीं कर सकती हो ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत् पुरा ।
शृणु राजन् यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ॥ १८ ॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! ये सब बातें मुझे जिस प्रकार ज्ञात हुई हैं, मेरा यह जन्म आदि पूर्वकालमें जिस प्रकार हुआ है और मैं जिस प्रकार कण्व मुनिकी पुत्री हूँ, वह सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता रही हूँ; सुनिये ॥ १८ ॥

(अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापेनावृतो मूर्खः स्तेन आत्मापहारकः ॥)

जिसका स्वरूप तो अन्य प्रकारका है, किंतु जो सत्पुरुषोंके सामने उसका अन्य प्रकारसे ही परिचय देता है, अर्थात् जो पापात्मा होते हुए भी अपनेको धर्मात्मा कहता है, वह मूर्ख, पापसे आवृत, चोर एवं आत्मवञ्चक है ॥

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यचोदयत् ।
(ऊर्ध्वरेता यथासि त्वं कुतस्त्येयं शकुन्तला ।
पुत्री त्वत्तः कथं जाता सत्यं मे ब्रूहि काश्यप ॥)
तस्मै प्रोवाच भगवान् यथा तच्छृणु पार्थिव ॥ १९ ॥

पृथ्वीपते ! एक दिन किसी ऋषिने यहाँ आकर मेरे जन्मके सम्बन्धमें मुनिसे पूछा—'कश्यपनन्दन ! आप तो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं, फिर यह शकुन्तला कहाँसे आयी ? आपसे पुत्रीका जन्म कैसे हुआ ? यह मुझे सच-सच बताइये ।' उस समय भगवान् कण्वने उससे जो बात बतायी, वही कहती हूँ, सुनिये ॥ १९ ॥

कण्व उवाच

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत् तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥ २० ॥

कण्व बोले—पहलेकी बात है, महर्षि विश्वामित्र बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे । उन्होंने देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपनी तपस्यासे अत्यन्त संतापमें डाल दिया ॥ २० ॥

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति ।
भीतः पुरंदरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इन्द्रको यह भय हो गया कि तपस्यासे अधिक शक्ति-

शाली होकर ये विश्वामित्र मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देंगे, अतः उन्होंने मेनकासे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे ।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥२२॥
असावादित्यसंकाशो विश्वामित्रो महातपाः ।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ॥२३॥

'मेनके ! अप्सराओंके जो दिव्य गुण हैं, वे तुममें सबसे अधिक हैं। कल्याणि ! तुम मेरा भला करो और मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, सुनो। वे सूर्यके समान तेजस्वी, महातपस्वी विश्वामित्र घोर तपस्यामें संलग्न हो मेरे मनको कम्पित कर रहे हैं ॥ २२-२३ ॥

मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे ।
शंसितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्तते ॥२४॥

'सुन्दरी मेनके ! उन्हें तपस्यासे विचलित करनेका यह महान् भार मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। विश्वामित्रका अन्तःकरण शुद्ध है। उन्हें पराजित करना अत्यन्त कठिन है और वे इस समय घोर तपस्यामें लगे हैं ॥ २४ ॥

स मां न च्यावयेत् स्थानात् तं वै गत्वा प्रलोभय ।
चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मेऽविघ्नमुत्तमम् ॥२५॥

'अतः ऐसा करो, जिससे वे मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट न कर सकें। तुम उनके पास जाकर उन्हें लुभाओ, उनकी तपस्यामें विघ्न डाल दो और इस प्रकार मेरे विघ्नके निवारणका उत्तम साधन प्रस्तुत करो ॥ २५ ॥

रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषणैः ।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ॥२६॥

'वरारोहे ! अपने रूप, जवानी, मधुर स्वभाव, हाव-भाव, मन्द मुसकान और सरस वार्तालाप आदिके द्वारा मुनिको लुभाकर उन्हें तपस्यासे निवृत्त कर दो' ॥ २६ ॥

मेनकोवाच

महातेजाः स भगवांस्तथैव च महातपाः ।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ॥२७॥

मेनका बोली—देवराज ! भगवान् विश्वामित्र बड़े भारी तेजस्वी और महान् तपस्वी हैं। वे क्रोधी भी बहुत हैं। उनके इस स्वभावको आप भी जानते हैं ॥ २७ ॥

तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः ।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ॥२८॥

जिन महात्माके तेज, तप और क्रोधसे आप भी उद्विग्न हो उठते हैं, उनसे मैं कैसे नहीं डरूँगी ? ॥ २८ ॥

महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत् ।
क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद् ब्राह्मणो बलात् ॥२९॥

शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः ।
यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ॥३०॥

विश्वामित्र ऋषि वे ही हैं, जिन्होंने महाभाग महर्षि वसिष्ठका उनके प्यारे पुत्रोंसे सदाके लिये वियोग करा दिया; जो पहले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर भी तपस्याके बलसे ब्राह्मण बन गये; जिन्होंने अपने शौच-स्नानकी सुविधाके लिये अगाध जलसे भरी हुई उस दुर्गम नदीका निर्माण किया, जिसे लोकमें सब मनुष्य अत्यन्त पुण्यमयी कौशिकी नदीके नामसे जानते हैं ॥ २९-३० ॥

बभार यत्रास्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः ।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ॥३१॥

विश्वामित्र महर्षि वे ही हैं, जिनकी पत्नीका पूर्वकालमें संकटके समय शापवश व्याध बने हुए धर्मात्मा राजर्षि मतङ्गने भरण-पोषण किया था ॥ ३१ ॥

अतीतकाले दुर्भिक्षे अभ्येत्य पुनराश्रमम् ।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ॥३२॥

दुर्भिक्ष बीत जानेपर उन शक्तिशाली मुनिने पुनः आश्रमपर आकर उस नदीका नाम 'पारा' रख दिया था ॥ ३२ ॥

मतङ्गं याजयाञ्चक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम् ।
त्वं च सोमं भयाद् यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ॥३३॥

सुरेश्वर ! उन्होंने मतङ्ग मुनिके किये हुए उपकारसे प्रसन्न होकर स्वयं पुरोहित बनकर उनका यज्ञ कराया; जिसमें उनके भयसे आप भी सोमपान करनेके लिये पधारे थे ॥ ३३ ॥

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा ।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ।
गुरुशापहतस्यापि त्रिशङ्कोः शरणं ददौ ॥३४॥

उन्होंने ही कुपित होकर दूसरे लोककी सृष्टि की और नक्षत्र-सम्पत्तिसे रूठकर प्रतिश्रवण आदि नूतन नक्षत्रोंका निर्माण किया था। ये वे ही महात्मा हैं, जिन्होंने गुरुके शापसे हीनावस्थामें पड़े हुए राजा त्रिशङ्कुको भी शरण दी थी ॥ ३४ ॥

(ब्रह्मर्षिशापं राजर्षिः कथं मोक्ष्यति कौशिकः ।
अवमत्य तदा देवैर्यज्ञाङ्गं तद् विनाशितम् ॥
अन्यानि च महातेजा यज्ञाङ्गान्यसृजत् प्रभुः ।
निनाय च तदा स्वर्गं त्रिशङ्कुं स महातपाः ॥)

उस समय यह सोचकर कि 'विश्वामित्र ब्रह्मर्षि वसिष्ठके शापको कैसे छुड़ा देंगे ?' देवताओंने उनकी अवहेलना करके त्रिशङ्कुके यज्ञकी वह सारी सामग्री नष्ट कर दी। परंतु महातेजस्वी शक्तिशाली विश्वामित्रने दूसरी यज्ञ-सामग्रियोंकी सृष्टि कर ली तथा उन महातपस्वीने त्रिशङ्कुको स्वर्गलोकमें पहुँचा ही दिया ॥

एतानि यस्य कर्माणि तस्याहं भृशमुद्विजे।
यथासौ न दहेत् क्रुद्धस्तथाऽऽज्ञापय मां विभो॥३५॥

जिनके ऐसे-ऐसे अद्भुत कर्म हैं, उन महात्मासे मैं बहुत डरती हूँ। प्रभो! जिससे वे कुपित हो मुझे भस्म न कर दें, ऐसे कार्यके लिये मुझे आज्ञा दीजिये॥ ३५॥

तेजसा निर्दहेल्लोकान् कम्पयेद् धरणीं पदा।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेद् दिशः॥३६॥

वे अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर सकते हैं, पैरके आघातसे पृथ्वीको कँपा सकते हैं, विशाल मेरुपर्वतको छोटा बना सकते हैं और सम्पूर्ण दिशाओंमें तुरंत उलट-फेर कर सकते हैं॥ ३६॥

तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम्।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत्॥३७॥

ऐसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्वी और जितेन्द्रिय महात्माका मुझ-जैसी नारी कैसे स्पर्श कर सकती है?॥

हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम्।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत्॥३८॥

सुरश्रेष्ठ! अग्नि जिनका मुख है, सूर्य और चन्द्रमा जिनकी आँखोंके तारे हैं और काल जिनकी जिह्वा है, उन तेजस्वी महर्षिको मेरी-जैसी स्त्री कैसे छू सकती है?॥ ३८॥

यमश्च सोमश्च महर्षयश्च
साध्या विश्वे वालखिल्याश्च सर्वे।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्
तस्मात् कस्मान्मादृशी नोद्विजेत॥३९॥

यमराज, चन्द्रमा, महर्षिगण, साध्यगण, विश्वेदेव और सम्पूर्ण बालखिल्य ऋषि—ये भी जिनके प्रभावसे उद्विग्न रहते हैं, उन विश्वामित्र मुनिसे मेरी-जैसी स्त्री कैसे नहीं डरेगी?

त्वयैवमुक्ता च कथं समीप-
मृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र।
रक्षां तु मे चिन्तय देवराज
यथा त्वदर्थं रक्षिताहं चरेयम्॥४०॥

सुरेन्द्र! आपके इस प्रकार वहाँ जानेका आदेश देनेपर मैं उन महर्षिके समीप कैसे नहीं जाऊँगी? किंतु देवराज! पहले मेरी रक्षाका कोई उपाय सोचिये; जिससे सुरक्षित रहकर मैं आपके कार्यकी सिद्धिके लिये चेष्टा कर सकूँ॥ ४०॥

कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः
प्रक्रीडितायां विवृणोतु देव।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये
सहायभूतस्तु तव प्रसादात्॥४१॥

देव! मैं वहाँ जाकर जब क्रीड़ामें निमग्न हो जाऊँ, उस समय वायुदेव आवश्यकता समझकर मेरा वस्त्र उड़ा दें और इस कार्यमें आपके प्रसादसे कामदेव भी मेरे सहायक हों॥ ४१॥

वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायात्
तस्मिन् काले तमृषिं लोभयन्त्याः।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मि-
स्ततो ययौ साऽऽश्रमं कौशिकस्य॥४२॥

जब मैं ऋषिको लुभाने लगूँ, उस समय वनसे सुगन्धभरी वायु चलनी चाहिये। 'तथास्तु' कहकर इन्द्रने जब इस प्रकारकी व्यवस्था कर दी, तब मेनका विश्वामित्र मुनिके आश्रमपर गयी॥ ४२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७१॥

(इस अध्यायमें ४२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक और कुल ५७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

मेनका-विश्वामित्र-मिलन, कन्याकी उत्पत्ति, शकुन्त पक्षियोंके द्वारा उसकी रक्षा और कण्वका उसे अपने आश्रमपर लाकर शकुन्तला नाम रखकर पालन करना

कण्व उवाच

एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम्।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह॥ १॥

(शकुन्तला दुष्यन्तसे कहती है—) महर्षि कण्वने (पूर्वोक्त ऋषिसे शेष वृत्तान्त इस प्रकार) कहा— मेनकाके ऐसा कहनेपर इन्द्रदेवने वायुको उसके साथ जानेका आदेश दिया। तब मेनका वायुदेवके साथ समयानुसार वहाँसे प्रस्थित हुई॥ १॥

अथापश्यद् वरारोहा तपसा दग्धकिल्बिषम्।
विश्वामित्रं तप्यमानं मेनका भीरुराश्रमे॥ २॥

वनमें पहुँचकर भीरु स्वभाववाली सुन्दरी मेनकाने एक आश्रममें विश्वामित्र मुनिको तप करते देखा। वे तपस्याद्वारा अपने समस्त पाप दग्ध कर चुके थे॥ २॥

अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडदृषिसंनिधौ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसंनिभम्॥ ३॥

उस समय महर्षिको प्रणाम करके वह अप्सरा उनके समीपवर्ती स्थानमें ही भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करने लगी। इतनेमें ही वायुने मेनकाका चन्द्रमाके समान उज्ज्वल वस्त्र उसके शरीरसे हटा दिया ॥ ३ ॥

सागच्छत् त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिप्सती।
स्मयमानेव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी ॥ ४ ॥

यह देख सुन्दरी मेनका लजाकर वायुदेवको कोसती एवं मुसकराती हुई-सी वह वस्त्र लेनेकी इच्छासे तुरंत ही उस स्थानकी ओर दौड़ी गयी, जहाँ वह गिरा था ॥ ४ ॥

पश्यतस्तस्य तत्रर्षेरप्यग्निसमतेजसः।
विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
गृद्धां वाससि सम्भ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद् विवृतां तदा ॥ ६ ॥

अग्निके समान तेजस्वी महर्षि विश्वामित्रके देखते-देखते वहाँ यह घटना घटित हुई। वह अनिन्द्य सुन्दरी विषम परिस्थितिमें पड़ गयी थी और घबराकर वस्त्र लेनेकी इच्छा कर रही थी। उसका रूप-सौन्दर्य अवर्णनीय था। तरुणावस्था भी अद्भुत थी। उस सुन्दरी अप्सराको मुनिवर विश्वामित्रने वहाँ नंगी देख लिया ॥ ५-६ ॥

तस्या रूपगुणान् दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा।
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः ॥ ७ ॥

उसके रूप और गुणोंको देखते ही विप्रवर विश्वामित्र कामके अधीन हो गये। सम्पर्कमें आनेके कारण मेनकामें उनका अनुराग हो गया ॥ ७ ॥

न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा ॥ ८ ॥
रममाणौ यथाकामं यथैकदिवसं तथा।
(कामक्रोधावजितवान् मुनिर्नित्यं क्षमान्वितः।
चिरार्जितस्य तपसः क्षयं स कृतवानृषिः ॥
तपसः संक्षयादेव मुनिर्मोहं समाविशत्।
कामरागाभिभूतस्य मुनेः पार्श्वं जगाम सा ॥)
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥ ९ ॥
प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम्।
जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु ॥ १० ॥
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम्।
तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन्।
नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः ॥ १२ ॥

उन्होंने मेनकाको अपने निकट आनेका निमन्त्रण दिया। अनिन्द्य सुन्दरी मेनका तो यह चाहती ही थी, उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये वह राजी हो गयी। तदनन्तर वे दोनों वहाँ सुदीर्घ कालतक इच्छानुसार विहार तथा रमण करते रहे। वह महान् काल उन्हें एक दिनके समान प्रतीत हुआ। काम और क्रोधपर विजय न पा सकनेवाले उन सदा क्षमाशील महर्षिने दीर्घकालसे उपार्जित की हुई तपस्याको नष्ट कर दिया। तपस्याका क्षय होनेसे मुनिके मनपर मोह छा गया। तब मेनका काम तथा रागके वशीभूत हुए मुनिके पास गयी। ब्रह्मन्! फिर मुनिने मेनकाके गर्भसे हिमालयके रमणीय शिखरपर मालिनी नदीके किनारे शकुन्तलाको जन्म दिया। मेनकाका काम पूरा हो चुका था; वह उस नवजात गर्भको मालिनीके तटपर छोड़कर तुरंत इन्द्रलोकको चली गयी। सिंह और व्याघ्रोंसे भरे हुए निर्जन वनमें उस शिशुको सोते देख शकुन्तों (पक्षियों) ने उसे सब ओरसे पाँखोंद्वारा ढक लिया; जिससे कच्चे मांस खानेवाले गीध आदि जीव वनमें इस कन्याकी हिंसा न कर सकें ॥ ८—१२ ॥

पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम्।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ॥ १३ ॥
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम्।
(मां दृष्ट्वैवान्वपद्यन्त पादयोः पतिता द्विजाः।
अब्रुवञ्छकुनाः सर्वे कलं मधुरभाषिणः ॥

इस प्रकार वहाँ शकुन्त ही मेनकाकुमारीकी रक्षा कर रहे थे। उसी समय आचमन करनेके लिये जब मैं मालिनीतटपर गया तो देखा—यह रमणीय निर्जन वनमें पक्षियोंसे घिरी हुई सो रही है। मुझे देखते ही वे सब मधुरभाषी पक्षी मेरे पैरोंपर गिर गये और सुन्दर वाणीमें इस प्रकार कहने लगे ॥

द्विजा ऊचुः

विश्वामित्रसुतां ब्रह्मन् न्यासभूतां भरस्व वै।
कामक्रोधावजितवान् सखा ते कौशिकीं गतः ॥
तस्मात् पोषय तत्पुत्रीं दयावानिति तेऽब्रुवन्।

पक्षी बोले—ब्रह्मन्! यह विश्वामित्रकी कन्या आपके यहाँ धरोहरके रूपमें आयी है। आप इसका पालन-पोषण कीजिये। कौशिकीके तटपर गये हुए आपके सखा विश्वामित्र काम और क्रोधको नहीं जीत सके थे। आप दयालु हैं; इसलिये उनकी पुत्रीका पालन कीजिये। इस प्रकार पक्षियोंने कहा ॥

कण्व उवाच

सर्वभूतरुतज्ञोऽहं दयावान् सर्वजन्तुषु।
निर्जनेऽपि महारण्ये शकुनैः परिवारिताम् ॥)
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ॥ १४ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—ब्रह्मन्! मैं समस्त प्राणियोंकी बोली समझता हूँ और सब जीवोंके प्रति दयाभाव रखता हूँ। अतः उस निर्जन महावनमें पक्षियोंसे घिरी हुई इस कन्याको वहाँसे लाकर मैंने इसे अपनी पुत्रीके पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ १३-१४ ॥

शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते ।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ॥ १५ ॥

जो गर्भाधानके द्वारा शरीरका निर्माण करता है, जो अभयदान देकर प्राणोंकी रक्षा करता है और जिसका अन्न भोजन किया जाता है, धर्मशास्त्रमें क्रमशः ये तीनों पुरुष पिता कहे गये हैं ॥ १५ ॥

निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता ।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥ १६ ॥

निर्जन वनमें इसे शकुन्तोंने घेर रक्खा था, इसलिये 'शकुन्तान् लाति रक्षकत्वेन गृह्णाति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस कन्याका नाम मैंने 'शकुन्तला' रख दिया ॥ १६ ॥

एवं दुहितरं विद्धि मम विप्र शकुन्तलाम् ।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता ॥ १७ ॥

ब्रह्मन् ! इस प्रकार शकुन्तला मेरी बेटी हुई, आप यह जान लें। प्रशंसनीय शील-स्वभाववाली शकुन्तला भी मुझे अपना पिता मानती है ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच

एतदाचष्ट पृष्टः सन् मम जन्म महर्षये ।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥ १८ ॥
कण्वं हि पितरं मन्ये पितरं स्वमजानती ।
इति ते कथितं राजन् यथावृत्तं श्रुतं मया ॥ १९ ॥

शकुन्तला कहती है—राजन् ! उन महर्षिके पूछनेपर पिता कण्वने मेरे जन्मका यह वृत्तान्त उन्हें बताया था। इस तरह आप मुझे कण्वकी ही पुत्री समझिये। मैं अपने जन्मदाता पिताको तो जानती नहीं, कण्वको ही पिता मानती हूँ । महाराज ! इस प्रकार जो वृत्तान्त मैंने सुन रक्खा था, वह सब आपको बता दिया ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(इस अध्यायमें १९ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक और कुल २४½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तला और दुष्यन्तका गान्धर्व विवाह और महर्षि कण्वके द्वारा उसका अनुमोदन

दुष्यन्त उवाच

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

दुष्यन्त बोले—कल्याणि ! तुम जैसी बातें कह चुकी हो, उनसे भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि तुम क्षत्रिय-कन्या हो (क्योंकि विश्वामित्र मुनि जन्मसे तो क्षत्रिय ही हैं)। सुश्रोणि ! मेरी पत्नी बन जाओ । बोलो, मैं तुम्हारी प्रसन्नताके लिये क्या करूँ ॥

सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने ॥ २ ॥
आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च ।
सर्वं राज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ॥ ३ ॥

सोनेके हार, सुन्दर वस्त्र, तपाये हुए सुवर्णके दो कुण्डल, विभिन्न नगरोंके बने हुए सुन्दर और चमकीले मणिरत्ननिर्मित आभूषण, स्वर्णपदक और कोमल मृगचर्म आदि वस्तुएँ तुम्हारे लिये मैं अभी लाये देता हूँ । शोभने ! अधिक क्या कहूँ, मेरा सारा राज्य आजसे तुम्हारा हो जाय, तुम मेरी महारानी बन जाओ ॥

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुन्दरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥

भीरु ! सुन्दरि ! गान्धर्व विवाहके द्वारा मुझे अङ्गीकार करो । रम्भोरु ! विवाहोंमें गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहलाता है ॥

शकुन्तलोवाच

फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ॥ ५ ॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! मेरे पिता कण्व फल लानेके लिये इस आश्रमसे बाहर गये हैं । दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये । वे ही मुझे आपकी सेवामें समर्पित करेंगे ॥ ५ ॥

(पिता हि मे प्रभुर्नित्यं दैवतं परमं मतम् ।
यस्य वा दास्यति पिता स मे भर्ता भविष्यति ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
अमन्यमाना राजेन्द्र पितरं मे तपस्विनम् ।
अधर्मेण हि धर्मिष्ठ कथं वरमुपास्महे ॥

महाराज ! पिता ही मेरे प्रभु हैं । उन्हें ही मैं सदा अपना सर्वोत्कृष्ट देवता मानती हूँ । पिताजी मुझे जिसको सौंप देंगे, वही मेरा पति होगा । कुमारावस्थामें पिता, जवानीमें पति और बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करता है । अतः स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये । धर्मिष्ठ राजेन्द्र ! मैं अपने तपस्वी पिताकी अवहेलना करके अधर्मपूर्वक पतिका वरण कैसे कर सकती हूँ ?

दुष्यन्त उवाच

मा मैवं वद सुश्रोणि तपोराशिं दयात्मकम् ।

दुष्यन्त बोले—सुन्दरी! ऐसा न कहो। तपोराशि महात्मा कण्व बड़े ही दयालु हैं।

शकुन्तलोवाच

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः ॥
अग्निर्दहति तेजोभिः सूर्यो दहति रश्मिभिः ।
राजा दहति दण्डेन ब्राह्मणो मन्युना दहेत् ॥
क्रोधितो मन्युना हन्ति वज्रपाणिरिवासुरान् ।)

शकुन्तलाने कहा—राजन्! ब्राह्मण क्रोधके द्वारा ही प्रहार करते हैं। वे हाथमें लोहेका हथियार नहीं धारण करते। अग्नि अपने तेजसे, सूर्य अपनी किरणोंसे, राजा दण्डसे और ब्राह्मण क्रोधसे दग्ध करते हैं। कुपित ब्राह्मण अपने क्रोधसे अपराधीको वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंको।

दुष्यन्त उवाच

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥ ६ ॥

दुष्यन्त बोले—वरारोहे! तुम्हारा शील और स्वभाव प्रशंसाके योग्य है। मैं चाहता हूँ, तुम मुझे स्वेच्छासे स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ ठहरा हूँ। मेरा मन तुममें ही लगा हुआ है ॥ ६ ॥

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः ।
आत्मनो मित्रमात्मैव तथाऽऽत्मा चात्मनः पिता ।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥ ७ ॥

आत्मा ही अपना बन्धु है। आत्मा ही अपना आश्रय है। आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना पिता है, अतः तुम स्वयं ही धर्मपूर्वक आत्मसमर्पण करने योग्य हो ॥ ७ ॥

अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः ।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ॥ ८ ॥
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः ।
तेषां धर्म्यान् यथापूर्वं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥

धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे संक्षेपसे आठ प्रकारके ही विवाह माने गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा आठवाँ पैशाच।* स्वायम्भुव मनुका कथन है कि इनमें बादवालोंकी अपेक्षा पहलेवाले विवाह धर्मानुकूल हैं ॥

प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान् ब्राह्मणस्योपधारय ।
षडानुपूर्व्या क्षत्रस्य विद्धि धर्म्याननिन्दिते ॥ १० ॥

पूर्वकथित जो चार विवाह—ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य हैं; उन्हें ब्राह्मणके लिये उत्तम समझो। अनिन्दिते! ब्राह्मसे लेकर गान्धर्वतक क्रमशः छः विवाह क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल जानो ॥ १० ॥

राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः ।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या अधर्म्यौ द्वौ स्मृताविह ॥ ११ ॥

राजाओंके लिये तो राक्षस विवाहका भी विधान है। वैश्यों और शूद्रोंमें आसुर विवाह ग्राह्य माना गया है। अन्तिम पाँच विवाहोंमें तीन तो धर्मसम्मत हैं और दो अधर्मरूप माने गये हैं ॥ ११ ॥

पैशाच आसुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता ॥ १२ ॥

पैशाच और आसुर विवाह कदापि करने योग्य नहीं हैं। इस विधिके अनुसार विवाह करना चाहिये। यह धर्मका मार्ग बताया गया है ॥ १२ ॥

गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्किथाः ।
पृथग् वा यदि वा मिश्रौ कर्तव्यौ नात्र संशयः ॥ १३ ॥

गान्धर्व और राक्षस—दोनों विवाह क्षत्रियजातिके लिये धर्मानुकूल ही हैं। अतः उनके विषयमें तुम्हें संदेह नहीं करना चाहिये। वे दोनों विवाह परस्पर मिले हों या पृथक्-पृथक् हों, क्षत्रियके लिये करने योग्य ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥ १४ ॥

अतः सुन्दरी! मैं तुम्हें पानेके लिये इच्छुक हूँ। तुम भी मुझे पानेकी इच्छा रखकर गान्धर्व विवाहके द्वारा मेरी पत्नी बन जाओ ॥ १४ ॥

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥ १५ ॥

शकुन्तलाने कहा—पौरवश्रेष्ठ! यदि यह गान्धर्व विवाह धर्मका मार्ग है, यदि आत्मा स्वयं ही अपना दान

---

* कन्याको वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत करके सजातीय योग्य वरके हाथमें देना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है। अपने घरपर देवयज्ञ करके यज्ञान्तमें ऋत्विक्को अपनी कन्याका दान करना 'दैव' विवाह कहा गया है। वर और कन्या दोनों साथ रहकर धर्माचरण करें, इस बुद्धिसे कन्यादान करना 'प्राजापत्य' विवाह माना गया है। वरसे एक गाय और एक बैल शुल्कके रूपमें लेकर कन्यादान करना 'आर्ष' विवाह बताया गया है। वरसे मूल्यके रूपमें बहुत-सा धन लेकर कन्या देना 'आसुर' विवाह माना गया है। वर और वधू दोनों एक दूसरेको स्वेच्छासे स्वीकार कर लें, यह 'गान्धर्व' विवाह है। जब घरके लोग सोये हों अथवा असावधान हों, उस दशामें कन्याको चुरा लेना 'पैशाच' विवाह है। युद्ध करके मार-काट मचाकर रोती हुई कन्याको उसके रोते हुए भाई-बन्धुओंसे छीन लाना 'राक्षस' विवाह माना गया है।

करनेमें समर्थ है तो इसके लिये मैं तैयार हूँ; किंतु प्रभो ! मेरी एक शर्त है, उसे सुन लीजिये ॥ १५ ॥

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः ॥ १६ ॥
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ॥ १७ ॥

और उसका पालन करनेके लिये मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा कीजिये। वह शर्त क्या है, यह मैं एकान्तमें आपसे कह रही हूँ--महाराज दुष्यन्त ! मेरे गर्भसे आपके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके बाद युवराज हो, ऐसी मेरी इच्छा है। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ। यदि यह शर्त इसी रूपमें आपको स्वीकार हो तो आपके साथ मेरा समागम हो सकता है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन्।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुन्तलाकी यह बात सुनकर राजा दुष्यन्तने बिना कुछ सोचे-विचारे यह उत्तर दे दिया कि 'ऐसा ही होगा।' वे शकुन्तलासे बोले--'शुचिस्मिते ! मैं शीघ्र तुम्हें अपने नगरमें ले चलूँगा ॥१८॥

यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ॥ १९ ॥
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह।
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः ॥ २० ॥
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम्।
तया त्वा नाययिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते ॥ २१ ॥

'सुश्रोणि ! तुम राजभवनमें ही रहने योग्य हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ।' ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलाका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया और उसके साथ एकान्तवास किया। फिर उसे विश्वास दिलाकर वहाँसे विदा हुए। जाते समय उन्होंने बार-बार कहा—'पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारे लिये चतुरङ्गिणी सेना भेजूँगा और उसीके साथ अपने राजभवनमें बुलवाऊँगा' ॥१९-२१॥

(एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम्।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां स्मितपूर्वमुदैक्षत ॥
प्रदक्षिणीकृतां देवीं राजा सम्परिषस्वजे।
शकुन्तला ह्यश्रुमुखी पपात नृपपादयोः ॥
तां देवीं पुनरुत्थाप्य मा शुचेति पुनः पुनः।
शपेयं सुकृतेनैव प्रापयिष्ये नृपात्मजे ॥)

अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलासे ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने उसे अपनी भुजाओंमें भर लिया और उसकी ओर मुसकराते हुए देखा। देवी शकुन्तला राजाकी परिक्रमा करके खड़ी थी ! उस समय उन्होंने उसे हृदयसे लगा लिया! शकुन्तलाके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वह नरेशके चरणोंमें गिर पड़ी। राजाने देवी शकुन्तलाको फिर उठाकर बार-बार कहा—'राजकुमारी ! चिन्ता न करो। मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हें अवश्य बुला लूँगा।'

वैशम्पायन उवाच

इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय।
मनसा चिन्तयन् प्रायात् काश्यपं प्रति पार्थिवः ॥ २२ ॥
भगवांस्तपसा युक्तः श्रुत्वा किं नु करिष्यति।
एवं स चिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार शकुन्तलासे प्रतिज्ञा करके नरेश्वर राजा दुष्यन्त आश्रमसे चल दिये। उनके मनमें महर्षि कण्वकी ओरसे बड़ी चिन्ता थी कि तपस्वी भगवान् कण्व यह सब सुनकर न जाने क्या कर बैठेंगे ? इस तरह चिन्ता करते हुए ही राजाने अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ २२-२३ ॥

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत्।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम् ॥२४॥

उनके गये दो ही घड़ी बीती थी कि महर्षि कण्व भी आश्रमपर आ गये; परंतु शकुन्तला लज्जावश पहलेके समान पिताके समीप नहीं गयी ॥ २४ ॥

(शङ्कितैव च विप्रर्षिमुपचक्राम सा शनैः।
ततोऽस्य राजञ्जग्राह आसनं चाप्यकल्पयत् ॥
शकुन्तला च सव्रीडा तमृषिं नाभ्यभाषत।
तस्मात् स्वधर्मात् स्खलिता भीता सा भरतर्षभ ॥
अभवद् दोषदर्शित्वाद् ब्रह्मचारिण्ययन्त्रिता।
स तदा व्रीडितां दृष्ट्वा ऋषिस्तां प्रत्यभाषत ॥

तत्पश्चात् वह डरती हुई ब्रह्मर्षिके निकट धीरे-धीरे गयी। फिर उसने उनके लिये आसन लेकर बिछाया। शकुन्तला इतनी लज्जित हो गयी थी कि महर्षिसे कोई बाततक न कर सकी। भरतश्रेष्ठ ! वह अपने धर्मसे गिर जानेके कारण भयभीत हो रही थी। जो कुछ समय पहलेतक स्वाधीन ब्रह्मचारिणी थी, वही उस समय अपना दोष देखनेके कारण घबरा गयी थी। शकुन्तलाको लज्जामें डूबी हुई देख महर्षि कण्वने उससे कहा ॥

कण्व उवाच

सव्रीडैव च दीर्घायुः पुरेव भविता न च।
वृत्तं कथय रम्भोरु मा त्रासं च प्रकल्पय ॥

कण्व बोले—बेटी ! तू सलज्ज रहकर ही दीर्घायु होगी। अब पहले जैसी चपल न रह सकेगी। शुभे ! सारी बातें स्पष्ट बता; भय न कर ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृच्छ्रादतिशुभा सव्रीडा श्रीमती तदा।
सगद्गदमुवाचेदं काश्यपं सा शुचिस्मिता॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन्! पवित्र मुसकानवाली वह सुन्दरी अत्यन्त सदाचारिणी थी; तो भी अपने व्यवहारसे लज्जाका अनुभव करती हुई महर्षि कण्वसे बड़ी कठिनाईके साथ गद्‌गदकण्ठ होकर बोली॥

शकुन्तलोवाच

राजा ताताजगामेह दुष्यन्त इलिलात्मजः।
मया पतिर्वृतो योऽसौ दैवयोगादिहागतः॥
तस्य तात प्रसीदस्व भर्ता मे सुमहायशाः।
अतः सर्वं तु यद् वृत्तं दिव्यज्ञानेन पश्यसि।
अभयं क्षत्रियकुले प्रसादं कर्तुमर्हसि॥)

शकुन्तला बोली-तात! इलिलकुमार महाराज दुष्यन्त इस वनमें आये थे। दैवयोगसे इस आश्रमपर भी उनका आगमन हुआ और मैंने उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। पिताजी! आप उनपर प्रसन्न हों। वे महायशस्वी नरेश अब मेरे स्वामी हैं। इसके बादका सारा वृत्तान्त आप दिव्य ज्ञानदृष्टिसे देख सकते हैं। क्षत्रियकुलको अभयदान देकर उनपर कृपादृष्टि करें॥

विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः।
उवाच भगवान् प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा॥ २५॥

महातपस्वी भगवान् कण्व दिव्यज्ञानसे सम्पन्न थे। वे दिव्य दृष्टिसे देखकर शकुन्तलाकी तात्कालिक अवस्थाको जान गये; अतः प्रसन्न होकर बोले—॥ २५॥

त्वयाद्य भद्रे रहसि मामनादृत्य यः कृतः।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः॥ २६॥

'भद्रे! आज तुमने मेरी अवहेलना करके जो एकान्तमें किसी पुरुषके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह तुम्हारे धर्मका नाशक नहीं है॥ २६॥

क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः॥ २७॥

'क्षत्रियके लिये गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहा गया है। स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरेको चाहते हों, उस दशामें उन दोनोंका एकान्तमें जो मन्त्रहीन सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे गान्धर्व विवाह कहा गया है॥ २७॥

धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः।
अभ्यगच्छः पतिं यत् त्वं भजमानं शकुन्तले॥ २८॥
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः।
य इमां सागरापाङ्गीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम्॥ २९॥

'शकुन्तले! महामना दुष्यन्त धर्मात्मा और श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे तुम्हें चाहते थे। तुमने योग्य पतिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है; इसलिये लोकमें तुम्हारे गर्भसे एक महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा, जो समुद्रसे घिरी हुई इस समूची पृथ्वीका उपभोग करेगा॥ २८-२९॥

परं चाभिप्रयातस्य चक्रं तस्य महात्मनः।
भविष्यत्यप्रतिहतं सततं चक्रवर्तिनः॥ ३०॥

'शत्रुओंपर आक्रमण करनेवाले उस महामना चक्रवर्ती नरेशकी सेना सदा अप्रतिहत होगी। उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकेगा'॥ ३०॥

ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत्।
विनिधाय ततो भारं संनिधाय फलानि च॥ ३१॥

तदनन्तर शकुन्तलाने उनके लाये हुए फलके भारको लेकर यथास्थान रख दिया। फिर उनके दोनों पैर धोये तथा जब वे भोजन और विश्राम कर चुके, तब वह मुनिसे इस प्रकार बोली॥ ३१॥

शकुन्तलोवाच

मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ ३२॥

शकुन्तलाने कहा—भगवन्! मैंने पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा दुष्यन्तका पतिरूपमें वरण किया है। अतः मन्त्रियोंसहित उन नरेशपर आपको कृपा करनी चाहिये॥ ३२॥

कण्व उवाच

प्रसन्न एव तस्याहं त्वत्कृते वरवर्णिनि।
(ऋतवो बहवस्ते वै गता व्यर्थाः शुचिस्मिते।
सार्थकं साम्प्रतं ह्येतन्न च पापोऽस्ति तेऽनघे॥)
गृहाण च वरं मत्तस्त्वं शुभे यदभीप्सितम्॥ ३३॥

कण्व बोले—उत्तम वर्णवाली पुत्री! मैं तुम्हारे भलेके लिये राजा दुष्यन्तपर भी प्रसन्न ही हूँ। शुचिस्मिते! अबतक तेरे बहुत-से ऋतु व्यर्थ बीत गये हैं। इस बार यह सार्थक हुआ है। अनघे! तुम्हें पाप नहीं लगेगा। शुभे! तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो॥ ३३॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा।
शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया॥ ३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब शकुन्तलाने दुष्यन्तके हितकी इच्छासे यह वर माँगा कि पुरुवंशी नरेश सदा धर्ममें स्थिर रहें और वे कभी राज्यसे भ्रष्ट न हों॥ ३४॥

(एवमस्त्विति तां प्राह कण्वो धर्मभृतां वरः।
पस्पर्श चापि पाणिभ्यां सुतां श्रीमिव रूपिणीम्॥

उस समय धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कण्वने उससे कहा—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो)। यह कहकर उन्होंने मूर्तिमती लक्ष्मी-सी पुत्री शकुन्तलाका दोनों हाथोंसे स्पर्श किया और कहा॥

(कण्व उवाच

अद्यप्रभृति देवी त्वं दुष्यन्तस्य महात्मनः।
पतिव्रतानां या वृत्तिस्तां वृत्तिमनुपालय ॥)

कण्व बोले—बेटी! आजसे तू महात्मा राजा दुष्यन्तकी महारानी है। अतः पतिव्रता स्त्रियोंका जो बर्ताव तथा सदाचार है, उसका निरन्तर पालन कर ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(इस अध्यायमें ३४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १९½ श्लोक और कुल ५३½ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तलाके पुत्रका जन्म, उसकी अद्भुत शक्ति, पुत्रसहित शकुन्तलाका दुष्यन्तके यहाँ जाना, दुष्यन्त-शकुन्तला-संवाद, आकाशवाणीद्वारा शकुन्तलाकी शुद्धिका समर्थन और भरतका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तलाम्।
(गर्भश्च ववृधे तस्यां राजपुत्र्यां महात्मनः।
शकुन्तला चिन्तयन्ती राजानं कार्यगौरवात् ॥
दिवारात्रमनिद्रैव स्नानभोजनवर्जिता ॥
राजप्रेषणिका विप्राश्चतुरङ्गबलैः सह।
अद्य श्वो वा परश्वो वा समायान्तीति निश्चिता ॥
दिवसान् पक्षानृतून् मासानयनानि च सर्वशः।
गण्यमानेषु सर्वेषु व्यतीयुस्त्रीणि भारत ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! जब शकुन्तलासे पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके राजा दुष्यन्त चले गये, तब क्षत्रियकन्या शकुन्तलाके उदरमें उन महात्मा दुष्यन्तके द्वारा स्थापित किया हुआ गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने और पुष्ट होने लगा। शकुन्तला कार्यकी गुरुतापर दृष्टि रखकर निरन्तर राजा दुष्यन्तका ही चिन्तन करती रहती थी। उसे न तो दिनमें नींद आती थी और न रातमें ही। उसका स्नान और भोजन छूट गया था। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि राजाके भेजे हुए ब्राह्मण चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आज, कल या परसोंतक मुझे लेनेके लिये अवश्य आ जायँगे। भरतनन्दन! शकुन्तलाको दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा वर्ष—इन सबकी गणना करते-करते तीन वर्ष बीत गये ॥

गर्भं सुषाव वामोरूः कुमारममितौजसम् ॥ १ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम्।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौष्यन्तिं जनमेजय ॥ २ ॥

जनमेजय! तदनन्तर पूरे तीन वर्ष व्यतीत होनेके बाद सुन्दर जाँघोंवाली शकुन्तलाने अपने गर्भसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न, अमित पराक्रमी कुमारको जन्म दिया, जो दुष्यन्तके वीर्यसे उत्पन्न हुआ था ॥ १-२ ॥

(तस्मै तदान्तरिक्षात् तु पुष्पवृष्टिः पपात ह।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥
गायन्त्यो मधुरं तत्र देवैः शक्रोऽभ्युवाच ह।

उस समय आकाशसे उस बालकके लिये फूलोंकी वर्षा हुई, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और अप्सराएँ मधुर स्वरमें गाती हुई नृत्य करने लगीं। उस अवसरपर वहाँ देवताओं-सहित इन्द्रने आकर कहा ॥

शक्र उवाच

शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ॥
बलं तेजश्च रूपं च न समं भुवि केनचित्।
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरवः ॥
अनेकानि सहस्राणि राजसूयादिभिर्मखैः।
स्वार्थं ब्राह्मणसात् कृत्वा दक्षिणाममितां ददात् ॥

इन्द्र बोले—शकुन्तले! तुम्हारा यह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। पृथ्वीपर कोई भी इसके बल, तेज तथा रूपकी समानता नहीं कर सकता। यह पूरुवंशका रत्न सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा। राजसूय आदि यज्ञोंद्वारा सहस्रों बार अपना सारा धन ब्राह्मणोंके अधीन करके उन्हें अपरिमित दक्षिणा देगा ॥

वैशम्पायन उवाच

देवतानां वचः श्रुत्वा कण्वाश्रमनिवासिनः।
सभाजयन्त कण्वस्य सुतां सर्वे महर्षयः ॥
शकुन्तला च तच्छ्रुत्वा परं हर्षमवाप सा।
द्विजानाहूय मुनिभिः सत्कृत्य च महायशाः ॥)
जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः।
विधिवत् कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इन्द्रादि देवताओंका यह वचन सुनकर कण्वके आश्रममें रहनेवाले सभी महर्षि कण्वकन्या शकुन्तलाके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। यह सब सुनकर शकुन्तलाको भी बड़ा हर्ष हुआ। पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कण्वने मुनियोंसे ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका पूर्ण सत्कार करके बालकका विधिपूर्वक जातकर्म आदि संस्कार कराया। वह बुद्धिमान् बालक प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥ ३ ॥

दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो महान्।
चक्राङ्कितकरः श्रीमान् महामूर्धा महाबलः ॥ ४ ॥

वह सफेद और नुकीले दाँतोंसे शोभा पा रहा था। उसके शरीरका गठन सिंहके समान था। वह ऊँचे कदका था। उसके हाथोंमें चक्रके चिह्न थे। वह अद्भुत शोभासे सम्पन्न, विशाल मस्तकवाला और महान् बलवान् था ॥ ४ ॥

कुमारो देवगर्भाभः स तत्राशु व्यवर्धत।
षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ ५ ॥
सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ॥ ६ ॥

देवताओंके बालक-सा प्रतीत होनेवाला वह तेजस्वी कुमार वहाँ शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगा। छः वर्षकी अवस्थामें ही वह बलवान् बालक कण्वके आश्रममें सिंहों, व्याघ्रों, वराहों, भैंसों और हाथियोंको पकड़कर खींच लाता और आश्रमके समीपवर्ती वृक्षोंमें बाँध देता था ॥ ५-६ ॥

आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति।
(ततश्च राक्षसान् सर्वान् पिशाचांश्च रिपून् रणे।
मुष्टियुद्धेन तान्जित्वा ऋषीनाराधयत् तदा ॥
कश्चिद् दितिसुतस्तं तु हन्तुकामो महाबलः।
वध्यमानांस्तु दैतेयानमर्षी तं समभ्ययात् ॥
तमागतं प्रहस्यैव बाहुभ्यां परिगृह्य च।
दृढं चाबध्य बाहुभ्यां पीडयामास तं तदा ॥
मर्दितो न शशाकास्य मोचितुं बलवत्तया।
प्राक्रोशद् भैरवं तत्र द्वारेभ्यो निःसृतं त्वसृक् ॥
तेन शब्देन वित्रस्ता मृगाः सिंहादयो गणाः।
सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रमाश्रमस्थाश्च सुस्रुवुः ॥
निरसुं जानुभिः कृत्वा विससर्ज च सोऽपतत्।
तं दृष्ट्वा विस्मयं चक्रुः कुमारस्य विचेष्टितम् ॥
नित्यकालं वध्यमाना दैतेया राक्षसैः सह।
कुमारस्य भयादेव नैव जग्मुस्तदाश्रमम् ॥)
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ॥ ७ ॥

फिर वह सबका दमन करते हुए उनकी पीठपर चढ़ जाता और क्रीडा करते हुए उन्हें सब ओर दौड़ाता हुआ दौड़ता था। वहाँ सब राक्षस और पिशाच आदि शत्रुओंको युद्धमें मुष्टिप्रहारके द्वारा परास्त करके वह राजकुमार ऋषि-मुनियोंकी आराधनामें लगा रहता था। एक दिन कोई महाबली दैत्य उसे मार डालनेकी इच्छासे उस वनमें आया। वह उसके द्वारा प्रतिदिन सताये जाते हुए दूसरे दैत्योंकी दशा देखकर अमर्षमें भरा हुआ था। उसके आते ही राजकुमारने हँसकर उसे दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और अपनी बाँहोंमें दृढ़तापूर्वक कसकर दबाया। वह बहुत जोर लगानेपर भी अपनेको उस बालकके चंगुलसे छुड़ा न सका, अतः भयंकर स्वरसे चीत्कार करने लगा। उस समय दबावके कारण उसकी इन्द्रियोंसे रक्त बह चला। उसकी चीत्कारसे भयभीत हो मृग और सिंह आदि जंगली जीव मल-मूत्र करने लगे तथा आश्रमपर रहनेवाले प्राणियोंकी भी यही दशा हुई। दुष्यन्तकुमारने घुटनोंसे मार-मारकर उस दैत्यके प्राण ले लिये; तत्पश्चात् उसे छोड़ दिया। उसके हाथसे छूटते ही वह दैत्य गिर पड़ा। उस बालकका यह पराक्रम देखकर सब लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। कितने ही दैत्य और राक्षस प्रतिदिन उस दुष्यन्तकुमारके हाथों मारे जाते थे। कुमारके भयसे ही उन्होंने कण्वके आश्रमपर जाना छोड़ दिया। यह देख कण्वके आश्रममें रहनेवाले ऋषियोंने उसका नया नामकरण किया— ॥ ७ ॥

अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ॥ ८ ॥
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः।

'यह सब जीवोंका दमन करता है, इसलिये 'सर्वदमन' नामसे प्रसिद्ध हो।' तबसे उस कुमारका नाम सर्वदमन हो गया। वह पराक्रम, तेज और बलसे सम्पन्न था ॥ ८½ ॥

(अप्रेषयति दुष्यन्ते महिष्यास्तनयस्य च।
पाण्डुभावपरीताङ्गीं चिन्तया समभिप्लुताम् ॥
लम्बालकां कृशां दीनां तथा मलिनवाससम्।
शकुन्तलां च सम्प्रेक्ष्य प्रदध्यौ स मुनिस्तदा ॥
शास्त्राणि सर्ववेदाश्च द्वादशाब्दस्य चाभवन् ॥)

राजा दुष्यन्तने अपनी रानी और पुत्रको बुलानेके लिये जब किसी भी मनुष्यको नहीं भेजा, तब शकुन्तला चिन्तामग्न हो गयी। उसके सारे अङ्ग सफेद पड़ने लगे। उसके खुले हुए लंबे केश लटक रहे थे, वस्त्र मैले हो गये थे, वह अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखायी देती थी। शकुन्तलाको इस दयनीय दशामें देखकर कण्व मुनिने कुमार सर्वदमनके लिये विद्याका चिन्तन किया। इससे उस बारह वर्षके ही बालकके हृदयमें समस्त शास्त्रों और सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्रकाशित हो गया ॥

तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ॥ ९ ॥
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम्।

महर्षि कण्वने उस कुमार और उसके लोकोत्तर कर्मको देखकर शकुन्तलासे कहा—'अब इसके युवराज-पदपर अभिषिक्त होनेका समय आया है ॥ ९½ ॥

(शृणु भद्रे मम सुते मम वाक्यं शुचिस्मिते।
पतिव्रतानां नारीणां विशिष्टमिति चोच्यते ॥

'मेरी कल्याणमयी पुत्री! मेरा यह वचन सुनो। पवित्र मुसकानवाली शकुन्तले! पतिव्रता स्त्रियोंके लिये यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है; इसलिये बता रहा हूँ ॥

पतिशुश्रूषणं पूर्वं मनोवाक्कायचेष्टितैः।
अनुज्ञाता मया पूर्वं पूजयैतद् व्रतं तव ॥
एतेनैव च वृत्तेन विशिष्टां लप्स्यसे श्रियम्।

'सती स्त्रियोंके लिये सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वे मन, वाणी, शरीर और चेष्टाओंद्वारा निरन्तर पतिकी सेवा करती रहें। मैंने पहले भी तुम्हें इसके लिये आदेश दिया है। तुम अपने इस व्रतका पालन करो। इस पतिव्रतोचित आचार-व्यवहारसे ही विशिष्ट शोभा प्राप्त कर सकोगी ॥

तस्माद् भद्रे प्रयातव्यं समीपं पौरवस्य ह ॥
स्वयं नायाति मत्वा ते गतं कालं शुचिस्मिते ।
गत्वाऽऽराधय राजानं दुष्यन्तं हितकाम्यया ॥

'भद्रे ! तुम्हें पूरुनन्दन दुष्यन्तके पास जाना चाहिये। वे स्वयं नहीं आ रहे हैं, ऐसा सोचकर तुमने बहुत-सा समय उनकी सेवासे दूर रहकर बिता दिया। शुचिस्मिते ! अब तुम अपने हितकी इच्छासे स्वयं जाकर राजा दुष्यन्तकी आराधना करो ॥

दौष्यन्तिं यौवराज्यस्थं दृष्ट्वा प्रीतिमवाप्स्यसि ।
देवतानां गुरूणां च क्षत्रियाणां च भामिनि ।
भर्तॄणां च विशेषेण हितं संगमनं सताम् ॥
तस्मात् पुत्रि कुमारेण गन्तव्यं मत्प्रियेप्सया ।
प्रतिवाक्यं न दद्यास्त्वं शापिता मम पादयोः ॥

'वहाँ दुष्यन्तकुमार सर्वदमनको युवराज-पदपर प्रतिष्ठित देख तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। देवता, गुरु, क्षत्रिय, स्वामी तथा साधु पुरुष—इनका सङ्ग विशेष हितकर है। अतः बेटी! तुम्हें मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे कुमारके साथ अवश्य अपने पतिके यहाँ जाना चाहिये। मैं अपने चरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम मुझे मेरी इस आज्ञाके विपरीत कोई उत्तर न देना' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुतां तत्र पौत्रं कण्वोऽभ्यभाषत ।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय पौरवम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुत्रीसे ऐसा कहकर महर्षि कण्वने उसके पुत्र भरतको दोनों बाँहोंसे पकड़कर अङ्कमें भर लिया और उसका मस्तक सूँघकर कहा ॥

कण्व उवाच

सोमवंशोद्भवो राजा दुष्यन्तो नाम विश्रुतः ।
तस्याग्रमहिषी चैषा तव माता शुचिव्रता ॥
गन्तुकामा भर्तृवशं त्वया सह सुमध्यमा ।
गत्वाभिवाद्य राजानं यौवराज्यमवाप्स्यसि ॥
स पिता तव राजेन्द्रस्तस्य त्वं वशगो भव ।
पितृपैतामहं राज्यमनुतिष्ठस्व भावतः ॥

कण्व बोले—वत्स ! चन्द्रवंशमें दुष्यन्त नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं। पवित्र व्रतका पालन करनेवाली यह तुम्हारी माता उन्हींकी महारानी है। यह सुन्दरी तुम्हें साथ लेकर अब पतिकी सेवामें जाना चाहती है। तुम वहाँ जाकर राजाको प्रणाम करके युवराज-पद प्राप्त करोगे। वे महाराज दुष्यन्त ही तुम्हारे पिता हैं। तुम सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहना और बाप-दादेके राज्यका प्रेमपूर्वक पालन करना ॥

शकुन्तले शृणुष्वेदं हितं पथ्यं च भामिनि ।
पतिव्रताभावगुणान् हित्वा साध्यं न किंचन ॥
पतिव्रतानां देवा वै तुष्टाः सर्ववरप्रदाः ।
प्रसादं च करिष्यन्ति ह्यापदर्थे च भामिनि ॥
पतिप्रसादात् पुण्यगतिं प्राप्नुवन्ति न चाशुभम् ।
तस्माद् गत्वा तु राजानमाराधय शुचिस्मिते ॥)

(फिर कण्व शकुन्तलासे बोले–) 'भामिनि ! शकुन्तले! यह मेरी हितकर एवं लाभप्रद बात सुनो। पतिव्रताभाव-सम्बन्धी गुणोंको छोड़कर तुम्हारे लिये और कोई वस्तु साध्य नहीं है। पतिव्रताओंपर सम्पूर्ण वरोंको देनेवाले देवतालोग भी संतुष्ट रहते हैं। भामिनि ! वे आपत्तिके निवारणके लिये अपने कृपा-प्रसादका भी परिचय देंगे। शुचिस्मिते ! पतिव्रता देवियाँ पतिके प्रसादसे पुण्यगतिको ही प्राप्त होती हैं; अशुभ गतिको नहीं। अतः तुम जाकर राजाकी आराधना करो' ॥

तस्य तद् बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ॥ १० ॥
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितो गृहात् ।
भर्तुः प्रापयतागारं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ ११ ॥

फिर उस बालकके बलको समझकर कण्वने अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित मेरी पुत्री शकुन्तला और इसके पुत्रको शीघ्र ही इस घरसे ले जाकर पतिके घरमें पहुँचा दो ॥ १०-११ ॥

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥ १२ ॥

'स्त्रियोंका अपने भाई-बन्धुओंके यहाँ अधिक दिनोंतक रहना अच्छा नहीं होता। वह उनकी कीर्ति, शील तथा पातिव्रत्य धर्मका नाश करनेवाला होता है। अतः इसे अविलम्ब पतिके घरमें पहुँचा दो' ॥ १२ ॥

(वैशम्पायन उवाच

धर्माभिपूजितं पुत्रं काश्यपेन निशाम्य तु ।
काश्यपात् प्राप्य चानुज्ञां मुमुदे च शकुन्तला ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कश्यपनन्दन कण्वने धर्मानुसार मेरे पुत्रका बड़ा आदर किया है, यह देखकर तथा उनकी ओरसे पतिके घर जानेकी आज्ञा पाकर शकुन्तला मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई ॥

कण्वस्य वचनं श्रुत्वा प्रतिगच्छेति चासकृत्।
तथेत्युक्त्वा तु कण्वं च मातरं पौरवोऽब्रवीत् ॥
किं चिरायसि मातस्त्वं गमिष्यामो नृपालयम्।

कण्वके मुखसे बारंबार 'जाओ-जाओ' यह आदेश सुनकर पूरुनन्दन सर्वदमनने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और मातासे कहा—'मा ! तुम क्यों विलम्ब करती हो, चलो राजमहल चलें' ॥

एवमुक्त्वा तु तां देवीं दुष्यन्तस्य महात्मनः ॥
अभिवाद्य मुनेः पादौ गन्तुमैच्छत् स पौरवः।

देवी शकुन्तलासे ऐसा कहकर पौरवराजकुमारने मुनिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर महात्मा राजा दुष्यन्तके यहाँ जानेका विचार किया ॥

शकुन्तला च पितरमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥
प्रदक्षिणीकृत्य तदा पितरं वाक्यमब्रवीत्।
अज्ञानान्मे पिता चेति दुरुक्तं वापि चानृतम् ॥
अकार्यं वाप्यनिष्टं वा क्षन्तुमर्हति काश्यप।

शकुन्तलाने भी हाथ जोड़कर पिताको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके उस समय यह बात कही—'भगवन् ! काश्यप ! आप मेरे पिता हैं, यह समझकर मैंने अज्ञानवश यदि कोई कठोर या असत्य बात कह दी हो अथवा न करने योग्य या अप्रिय कार्य कर डाला हो, तो उसे आप क्षमा कर देंगे' ॥

एवमुक्तो नतशिरा मुनिर्नोवाच किंचन ॥
मनुष्यभावात् कण्वोऽपि मुनिरश्रूण्यवर्तयत्।

शकुन्तलाके ऐसा कहनेपर सिर झुकाकर बैठे हुए कण्व मुनि कुछ बोल न सके; मानव-स्वभावके अनुसार करुणाका उदय हो जानेसे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥

अब्भक्षान् वायुभक्षांश्च शीर्णपर्णाशनान् मुनीन् ॥
फलमूलाशिनो दान्तान् कृशान् धमनिसंततान्।
व्रतिनो जटिलान् मुण्डान् वल्कलाजिनसंवृतान् ॥

उनके आश्रममें बहुत-से ऐसे मुनि रहते थे, जो जल पीकर, वायु पीकर अथवा सूखे पत्ते खाकर तपस्या करते थे। फल-मूल खाकर रहनेवाले भी बहुत थे। वे सब-के-सब जितेन्द्रिय एवं दुर्बल शरीरवाले थे। उनके शरीरकी नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं। उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले उन महर्षियोंमेंसे कितने ही सिरपर जटा धारण करते थे और कितने ही सिर मुड़ाये रहते थे। कोई वल्कल धारण करते थे और कोई मृगचर्म लपेटे रहते थे ॥

समाहूय मुनीन् कण्वः कारुण्यादिदमब्रवीत् ॥
मया तु लालिता नित्यं मम पुत्री यशस्विनी।
वने जाता विवृद्धा च न च जानाति किंचन ॥
अश्रमेण पथा सर्वैर्नीयतां क्षत्रियालयम्।)

महर्षि कण्वने उन मुनियोंको बुलाकर करुण भावसे कहा—'महर्षियो ! यह मेरी यशस्विनी पुत्री वनमें उत्पन्न हुई और यहीं पलकर इतनी बड़ी हुई है। मैंने सदा इसे लाड़-प्यार किया है। यह कुछ नहीं जानती है। विप्रगण ! तुम सबलोग इसे ऐसे मार्गसे राजा दुष्यन्तके घर ले जाओ जिसमें अधिक श्रम न हो' ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य दुष्यन्तस्य पुरं प्रति ॥ १३ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर वे सभी महातेजस्वी शिष्य (पुत्र-सहित) शकुन्तलाको आगे करके दुष्यन्तके नगरकी ओर चले ॥

गृहीत्वामरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम्।
आजगाम ततः सुभ्रूर्दुष्यन्तं विदिताद् वनात् ॥ १४ ॥

तदनन्तर सुन्दर भौंहोंवाली शकुन्तला कमलके समान नेत्रोंवाले देवबालकके सदृश तेजस्वी पुत्रको साथ ले अपने परिचित तपोवनसे चलकर महाराज दुष्यन्तके यहाँ आयी ॥१४॥

अभिसृत्य च राजानं विदिता च प्रवेशिता।
सह तेनैव पुत्रेण बालार्कसमतेजसा ॥ १५ ॥

राजाके यहाँ पहुँचकर अपने आगमनकी सूचना दे अनुमति लेकर वह उसी बालसूर्यके समान तेजस्वी पुत्रके साथ राजसभामें प्रविष्ट हुई ॥ १५ ॥

निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागताः।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ॥ १६ ॥

सब शिष्यगण राजाको महर्षिका संदेश सुनाकर पुनः आश्रमको लौट आये और शकुन्तला न्यायपूर्वक महाराजके प्रति सम्मानका भाव प्रकट करती हुई पुत्रसे बोली—॥ १६ ॥

(अभिवादय राजानं पितरं ते दृढव्रतम्।
एवमुक्त्वा तु पुत्रं सा लज्जानतमुखी स्थिता ॥
स्तम्भमालिङ्ग्य राजानं प्रसीदस्वेत्युवाच सा।
शाकुन्तलोऽपि राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥
हर्षेणोत्फुल्लनयनो राजानं चान्ववैक्षत।
दुष्यन्तो धर्मबुद्ध्या तु चिन्तयन्नेव सोऽब्रवीत् ॥

'बेटा ! दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ये महाराज तुम्हारे पिता हैं; इन्हें प्रणाम करो।' पुत्रसे ऐसा कहकर शकुन्तला लज्जासे मुख नीचा किये एक खंभेका सहारा लेकर खड़ी हो गयी और महाराजसे बोली—'देव ! प्रसन्न हों।' शकुन्तलाका पुत्र भी हाथ जोड़कर राजाको प्रणाम करके उन्हींकी ओर देखने लगा। उसके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे। राजा दुष्यन्तने उस समय धर्मबुद्धिसे कुछ विचार करते हुए ही कहा ॥

दुष्यन्त उवाच

किमागमनकार्यं ते ब्रूहि त्वं वरवर्णिनि।
करिष्यामि न संदेहः सपुत्राया विशेषतः॥

दुष्यन्त बोले—सुन्दरि ! यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या उद्देश्य है ? बताओ । विशेषतः उस दशामें, जब कि तुम पुत्रके साथ आयी हो, मैं तुम्हारा कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा; इसमें संदेह नहीं ॥

शकुन्तलोवाच

प्रसीदस्व महाराज वक्ष्यामि पुरुषोत्तम ॥)

शकुन्तलाने कहा—महाराज ! आप प्रसन्न हों । पुरुषोत्तम ! मैं अपने आगमनका उद्देश्य बताती हूँ, सुनिये ॥

अयं पुत्रस्त्वया राजन् यौवराज्येऽभिषिच्यताम्।
त्वया ह्ययं सुतो राजन् मय्युत्पन्नः सुरोपमः।
यथासमयमेतस्मिन् वर्तस्व पुरुषोत्तम ॥ १७ ॥

राजन् ! यह आपका पुत्र है । इसे आप युवराज-पदपर अभिषिक्त कीजिये । महाराज ! यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है । पुरुषोत्तम ! इसके लिये आपने मेरे साथ जो शर्त कर रक्खी है, उसका पालन कीजिये ॥ १७ ॥

यथा मत्सङ्गमे पूर्वं यः कृतः समयस्त्वया।
तं स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ १८ ॥

महाभाग ! आपने कण्वके आश्रमपर मेरे साथ समागमके समय पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसका इस समय स्मरण कीजिये ॥

सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥ १९ ॥

राजा दुष्यन्तने शकुन्तलाका यह वचन सुनकर सब बातोंको याद रखते हुए भी उससे इस प्रकार कहा—'दुष्ट तपस्विनि ! मुझे कुछ भी याद नहीं है । तुम किसकी स्त्री हो ?' ॥ १९ ॥

धर्मकामार्थसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत् कुरु ॥ २० ॥

'तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थको लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बातका मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है । तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो' ॥ २० ॥

सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी।
निःसंज्ञेव च दुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला ॥ २१ ॥

सुन्दर अङ्गवाली तपस्विनी शकुन्तला दुष्यन्तके ऐसा कहनेपर लज्जित हो दुःखसे बेहोश-सी हो गयी और खंभेकी तरह निश्चलभावसे खड़ी रह गयी ॥ २१ ॥

संरम्भामर्षताम्राक्षी स्फुरमाणोष्ठसम्पुटा।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग् राजानमैक्षत ॥ २२ ॥

क्रोध और अमर्षसे उसकी आँखें लाल हो गयीं, ओठ फड़कने लगे और मानो जला देगी, इस भावसे टेढ़ी चितवन-द्वारा राजाकी ओर देखने लगी ॥ २२ ॥

आकारं गूहमाना च मन्युना च समीरिता।
तपसा सम्भृतं तेजो धारयामास वै तदा ॥ २३ ॥

क्रोध उसे उत्तेजित कर रहा था, फिर भी उसने अपने आकारको छिपाये रक्खा और तपस्याद्वारा संचित किये हुए अपने तेजको वह अपने भीतर ही धारण किये रही ॥ २३ ॥

सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा दुःखामर्षसमन्विता।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे।
न जानामीति निःशङ्कं यथान्यः प्राकृतो जनः ॥ २५ ॥

वह दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार-सा करती रही, फिर दुःख और अमर्षमें भरकर पतिकी ओर देखती हुई क्रोध-पूर्वक बोली—'महाराज ! आप जान-बूझकर भी दूसरे-दूसरे निम्न कोटिके मनुष्योंकी भाँति निःशङ्क होकर ऐसी बात क्यों कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' ॥ २४-२५ ॥

अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः ॥ २६ ॥

'इस विषयमें यहाँ क्या झूठ है और क्या सच, इस बातको आपका हृदय ही जानता होगा । उसीको साक्षी बनाकर—हृदयपर हाथ रखकर सही-सही बात कहिये, जिससे आपका कल्याण हो । आप अपने आत्माकी अवहेलना न कीजिये ॥ २६ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥ २७ ॥

'(आपका स्वरूप तो कुछ और है' परंतु आप बन कुछ और रहे हैं ।) जो अपने असली स्वरूपको छिपाकर अपने-को कुछ-का-कुछ दिखाता है, अपने आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ २७ ॥

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं
न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम्।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य
तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥ २८ ॥

'आप समझ रहे हैं कि उस समय मैं अकेला था (कोई देखनेवाला नहीं था), परंतु आपको पता नहीं कि वह सनातन मुनि (परमात्मा) सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान है । वह सबके पाप-पुण्यको जानता है और आप उसीके निकट रहकर पाप कर रहे हैं ॥ २८ ॥

(धर्म एव हि साधूनां सर्वेषां हितकारणम्।
नित्यं मिथ्याविहीनानां न च दुःखावहो भवेत् ॥)

मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद् वेत्ति मामिति।
विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवान्तरपूरुषः ॥२९॥

'जो सदा असत्यसे दूर रहनेवाले हैं, उन समस्त साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें केवल धर्म ही हितकारक है। धर्म कभी दुःखदायक नहीं होता। मनुष्य पाप करके यह समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता; किंतु उसका यह समझना भारी भूल है; क्योंकि सब देवता और अन्तर्यामी परमात्मा भी मनुष्यके उस पाप-पुण्यको देखते और जानते हैं॥ २९॥

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥३०॥

'सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात, दोनों संध्याएँ और धर्म—ये सभी मनुष्यके भले-बुरे आचार-व्यवहारको जानते हैं॥ ३०॥

यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम्।
हृदि स्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥३१॥

'जिसपर हृदयस्थित कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञ परमात्मा संतुष्ट रहते हैं, सूर्यपुत्र यमराज उसके सभी पापोंको स्वयं नष्ट कर देते हैं॥ ३१॥

न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम् ॥३२॥

'परंतु जिस दुरात्मापर अन्तर्यामी संतुष्ट नहीं होते, यमराज उस पापीको उसके पापोंका स्वयं ही दण्ड देते हैं॥ ३२॥

योऽवमन्यात्मनाऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्मापि न कारणम् ॥३३॥
स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्थाः पतिव्रताम्।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ॥३४॥

'जो स्वयं अपने आत्माका तिरस्कार करके कुछ-का-कुछ समझता और करता है, देवता भी उसका भला नहीं कर सकते और उसका आत्मा भी उसके हितका साधन नहीं कर सकता। मैं स्वयं आपके पास आयी हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नीका तिरस्कार न कीजिये। मैं आपके द्वारा आदर पाने योग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आयी हुई आपहीकी पत्नी हूँ, तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं॥

किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥३५॥

'आप किसलिये नीच पुरुषकी भाँति भरी सभामें मुझे अपमानित कर रहे हैं? मैं सूने जंगलमें तो नहीं रो रही हूँ? फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते?॥ ३५॥

यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ॥३६॥

'महाराज दुष्यन्त! यदि मेरे उचित याचना करनेपर भी आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो आज आपके सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे॥ ३६॥

भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥३७॥

'पति ही पत्नीके भीतर गर्भरूपसे प्रवेश करके पुत्ररूपमें जन्म लेता है। यही जाया (जन्म देनेवाली स्त्री) का जायात्व है, जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं॥ ३७॥

यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते।
तत् तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥३८॥

'शास्त्रके ज्ञाता पुरुषके इस प्रकार जो संतान उत्पन्न होती है, वह संततिकी परम्पराद्वारा अपने पहलेके मरे हुए पितामहोंका उद्धार कर देती है॥ ३८॥

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥३९॥

'पुत्र 'पुत्' नामक नरकसे पिताका त्राण करता है, इसलिये साक्षात् ब्रह्माजीने उसे 'पुत्र' कहा है॥ ३९॥

(पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः॥)

'मनुष्य पुत्रसे पुण्यलोकोंपर विजय पाता है, पौत्रसे अक्षय सुखका भागी होता है तथा पौत्रके पुत्रसे प्रपितामहगण आनन्दके भागी होते हैं॥

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥४०॥

'वही भार्या है, जो घरके काम-काजमें कुशल हो। वही भार्या है, जो संतानवती हो। वही भार्या है, जो अपने पतिको प्राणोंके समान प्रिय मानती हो और वही भार्या है, जो पतिव्रता हो॥ ४०॥

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥४१॥

'भार्या पुरुषका आधा अङ्ग है। भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है। भार्या धर्म, अर्थ और कामका मूल है और संसार-सागरसे तरनेकी इच्छावाले पुरुषके लिये भार्या ही प्रमुख साधन है॥ ४१॥

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः ॥४२॥

'जिनके पत्नी है, वे ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते हैं। सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं। पत्नीवाले पुरुष सुखी और प्रसन्न रहते हैं तथा जो पत्नीसे युक्त हैं, वे मानो लक्ष्मीसे सम्पन्न हैं (क्योंकि पत्नी ही घरकी लक्ष्मी है)॥ ४२॥

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥४३॥

'पत्नी ही एकान्तमें प्रिय वचन बोलनेवाली सङ्गिनी या मित्र है। धर्मकार्योंमें ये स्त्रियाँ पिताकी भाँति पतिकी हितैषिणी होती हैं और संकटके समय माताकी भाँति दुःखमें हाथ बँटाती तथा कष्ट-निवारणकी चेष्टा करती हैं ॥ ४३ ॥

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दाराः परा गतिः ॥४४॥

'परदेशमें यात्रा करनेवाले पुरुषके साथ यदि उसकी स्त्री हो तो वह घोर-से-घोर जंगलमें भी विश्राम पा सकता है—सुखसे रह सकता है। लोक-व्यवहारमें भी जिसके स्त्री है, उसीपर सब विश्वास करते हैं। इसलिये स्त्री ही पुरुषकी श्रेष्ठ गति है ॥४४॥

संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम्।
भार्यैवान्वेति भर्तारं सततं या पतिव्रता ॥४५॥

'पति संसारमें हो या मर गया हो, अथवा अकेले ही नरकमें पड़ा हो; पतिव्रता स्त्री ही सदा उसका अनुगमन करती है ॥ ४५ ॥

प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते।
पूर्वं मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति ॥४६॥

'साध्वी स्त्री यदि पहले मर गयी हो तो परलोकमें जाकर वह पतिकी प्रतीक्षा करती है और यदि पहले पति मर गया हो तो सती स्त्री पीछेसे उसका अनुसरण करती है ॥४६॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् पाणिग्रहणमिष्यते।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिहलोके परत्र च ॥ ४७ ॥

'राजन्! इसीलिये सुशीला स्त्रीका पाणिग्रहण करना सबके लिये अभीष्ट होता है; क्योंकि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीको इहलोकमें तो पाता ही है, परलोकमें भी प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम् ॥ ४८ ॥

'पत्नीके गर्भसे अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए आत्माको ही विद्वान् पुरुष पुत्र कहते हैं, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी उस धर्मपत्नीको जो पुत्रकी माता बन चुकी है, माताके ही समान देखे ॥ ४८ ॥

(अन्तरात्मैव सर्वस्य पुत्रनाम्नोच्यते सदा।
गती रूपं च चेष्टा च आवर्ता लक्षणानि च ॥
पितॄणां यानि दृश्यन्ते पुत्राणां सन्ति तानि च।
तेषां शीलाचारगुणास्तत्सम्पर्काच्छुभाशुभाः ॥)

'सबका अन्तरात्मा ही सदा पुत्र नामसे प्रतिपादित होता है। पिताकी जैसी चाल होती है, जैसे रूप, चेष्टा, आवर्त (भँवर) और लक्षण आदि होते हैं, पुत्रमें भी वैसी ही चाल और वैसे ही रूप-लक्षण आदि देखे जाते हैं। पिताके सम्पर्कसे ही पुत्रोंमें शुभ-अशुभ शील, गुण एवं आचार आदि आते हैं ॥

भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाननम्।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ॥ ४९ ॥

'जैसे दर्पणमें अपना मुँह देखा जाता है, उसी प्रकार पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुए अपने आत्माको ही पुत्ररूपमें देखकर पिताको वैसा ही आनन्द होता है, जैसा पुण्यात्मा पुरुषको स्वर्गलोककी प्राप्ति हो जानेपर होता है ॥ ४९ ॥

दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्ताः सलिलेष्विव ॥ ५० ॥

'जैसे धूपसे तपे हुए जीव जलमें स्नान कर लेनेपर शान्तिका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार जो मानसिक दुःख और चिन्ताओंकी आगमें जल रहे हैं तथा जो नाना प्रकारके रोगोंसे पीड़ित हैं, वे मानव अपनी पत्नीके समीप होनेपर आनन्दका अनुभव करते हैं ॥५०॥

(विप्रवासकृशा दीना नरा मलिनवाससः।
तेऽपि स्वदारांस्तुष्यन्ति दरिद्रा धनलाभवत् ॥)

'जो परदेशमें रहकर अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं, जो दीन और मलिन वस्त्र धारण करनेवाले हैं, वे दरिद्र मनुष्य भी अपनी पत्नीको पाकर ऐसे संतुष्ट होते हैं, मानो उन्हें कोई धन मिल गया हो ॥

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥ ५१ ॥

'रति, प्रीति तथा धर्म पत्नीके ही अधीन हैं, ऐसा सोचकर पुरुषको चाहिये कि वह कुपित होनेपर भी पत्नीके साथ कोई अप्रिय बर्ताव न करे ॥ ५१ ॥

(आत्मनोऽर्धमिति श्रौतं सा रक्षति धनं प्रजाः।
शरीरं लोकयात्रां वै धर्मं स्वर्गमृषीन् पितॄन् ॥)

'पत्नी अपना आधा अङ्ग है, यह श्रुतिका वचन है। वह धन, प्रजा, शरीर, लोकयात्रा, धर्म, स्वर्ग, ऋषि तथा पितर—इन सबकी रक्षा करती है ॥

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥ ५२ ॥

'स्त्रियाँ पतिके आत्माके जन्म लेनेका सनातन पुण्य क्षेत्र हैं। ऋषियोंमें भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्रीके संतान उत्पन्न कर सकें ॥ ५२ ॥

प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ ५३ ॥

'जब पुत्र धरतीकी धूलमें सना हुआ पास आता और पिताके अङ्गोंसे लिपट जाता है, उस समय जो सुख मिलता है, उससे बढ़कर और क्या हो सकता है? ॥ ५३ ॥

स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम्।
प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥ ५४ ॥

अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः ।
न भरेथाः कथं नु त्वं धर्मज्ञः सन् स्वमात्मजम् ॥ ५५ ॥

'देखिये, आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवनसे आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोदमें बैठनेके लिये उत्सुक है; फिर आप किसलिये इसका तिरस्कार करते हैं। चींटियाँ भी अपने अण्डोंका पालन ही करती हैं; उन्हें फोड़तीं नहीं। फिर आप धर्मज्ञ होकर भी अपने पुत्रका भरण-पोषण क्यों नहीं करते ?॥ ५४-५५ ॥

(ममाण्डानीति वर्धन्ते कोकिलानपि वायसाः ।
किं पुनस्त्वं न मन्येथाः सर्वज्ञः पुत्रमीदृशम् ॥
मलयाच्चन्दनं जातमतिशीतं वदन्ति वै ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य चन्दनादधिकं भवेत् ॥)

''ये मेरे अपने ही अण्डे हैं' ऐसा समझकर कौए कोयल-के अण्डोंका भी पालन-पोषण करते हैं; फिर आप सर्वज्ञ होकर अपनेसे ही उत्पन्न हुए ऐसे सुयोग्य पुत्रका सम्मान क्यों नहीं करते ? लोग मलयगिरिके चन्दनको अत्यन्त शीतल बताते हैं, परंतु गोदमें सटाये हुए शिशुका स्पर्श चन्दनसे भी अधिक शीतल एवं सुखद होता है ॥

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥ ५६ ॥

'अपने शिशु पुत्रको हृदयसे लगा लेनेपर उसका स्पर्श जितना सुखदायक जान पड़ता है, वैसा सुखद स्पर्श न तो कोमल वस्त्रोंका है, न रमणीय सुन्दरियोंका है और न शीतल जलका ही है ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥ ५७ ॥

'मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चतुष्पदों (चौपायों) में गौ श्रेष्ठतम है, गौरवशाली व्यक्तियोंमें गुरु श्रेष्ठ है और स्पर्श करनेयोग्य वस्तुओंमें पुत्र ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५७ ॥

स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥ ५८ ॥

'आपका यह पुत्र देखनेमें कितना प्यारा है। यह आपके अङ्गोंसे लिपटकर आपका स्पर्श करे। संसारमें पुत्रके स्पर्शसे बढ़कर सुखदायक स्पर्श और किसीका नहीं है ॥ ५८ ॥

त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताहमरिंदम ।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकविनाशनम् ॥ ५९ ॥
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरव ।
इति वागन्तरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत् पुरा ॥ ६० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले सम्राट् ! मैंने पूरे तीन वर्षों-तक अपने गर्भमें धारण करनेके पश्चात् आपके इस पुत्रको जन्म दिया है। यह आपके शोकका विनाश करनेवाला होगा। पौरव ! पहले जब मैं सौरमें थी, उस समय आकाश-वाणीने मुझसे कहा था कि यह बालक सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा ॥ ५९-६० ॥

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद् ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ॥ ६१ ॥

'प्रायः देखा जाता है कि दूसरे गाँवकी यात्रा करके लौटे हुए मनुष्य घर आनेपर बड़े स्नेहसे पुत्रोंको गोदमें उठा लेते हैं और उनके मस्तक सूँघकर आनन्दित होते हैं ॥ ६१ ॥

वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रग्रामं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥ ६२ ॥

'पुत्रोंके जातकर्म संस्कारके समय वेदज्ञ ब्राह्मण जिस वैदिक मन्त्र-समुदायका उच्चारण करते हैं, उसे आप भी जानते हैं॥ ६२॥

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

'(उस मन्त्रसमुदायका भाव इस प्रकार है—) हे बालक ! तुम मेरे अङ्ग-अङ्गसे प्रकट हुए हो; हृदयसे उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नामसे प्रसिद्ध मेरे आत्मा ही हो, अतः वत्स ! तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो ॥ ६३ ॥

जीवितं त्वदधीनं मे संतानमपि चाक्षयम् ।
तस्मात् त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ॥ ६४ ॥

'मेरा जीवन तथा अक्षय संतान-परम्परा भी तुम्हारे ही अधीन है, अतः पुत्र ! तुम अत्यन्त सुखी होकर सौ वर्षोंतक जीवन धारण करो ॥ ६४ ॥

त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात् पुरुषोऽपरः ।
सरसीवामलेऽऽत्मानं द्वितीयं पश्य वै सुतम् ॥ ६५ ॥

'यह बालक आपके अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ है; मानो एक पुरुषसे दूसरा पुरुष प्रकट हुआ है। निर्मल सरोवरमें दिखायी देनेवाले प्रतिबिम्बकी भाँति अपने द्वितीय आत्मारूप इस पुत्रको देखिये ॥ ६५ ॥

यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात् प्रणीयते ।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन् द्विधा कृतः ॥ ६६ ॥
मृगावकृष्टेन पुरा मृगयां परिधावता ।
अहमासादिता राजन् कुमारी पितुराश्रमे ॥ ६७ ॥

'जैसे गार्हपत्य अग्निसे आहवनीय अग्निका प्रणयन (प्राकट्य) होता है, उसी प्रकार यह बालक आपसे उत्पन्न हुआ है, मानो आप एक होकर भी अब दो रूपोंमें प्रकट हो गये हैं। राजन् ! आजसे कुछ वर्ष पहले आप शिकार खेलने वनमें गये थे। वहाँ एक हिंसक पशुके पीछे आकृष्ट हो आप दौड़ते हुए मेरे पिताजीके आश्रमपर पहुँच गये, जहाँ

मुझ कुमारी कन्याको आपने गान्धर्व विवाहद्वारा पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ ६६-६७ ॥

उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका ।
विश्वाची च घृताची च षडेवाप्सरसां वराः ॥ ६८ ॥

'उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची—ये छः अप्सराएँ ही अन्य सब अप्सराओंसे श्रेष्ठ हैं ॥

तासां सा मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः ।
दिवः सम्प्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत् ॥ ६९ ॥

'उन सबमें भी मेनका नामवाली अप्सरा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साक्षात् ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुई है । उसीने स्वर्गलोकसे भूतलपर आकर विश्वामित्रजीके सम्पर्कसे मुझे उत्पन्न किया था ॥ ६९ ॥

(श्रीमानृषिर्धर्मपरो वैश्वानर इवापरः ।
ब्रह्मयोनिः कुशो नाम विश्वामित्रपितामहः ॥
कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनाभश्च धार्मिकः ।
गाधिस्तस्य सुतो राजन् विश्वामित्रस्तु गाधिजः॥
एवंविधः पिता राजन् मेनका जननी वरा ॥)

'महाराज! पूर्वकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक धर्मपरायण तेजस्वी महर्षि हो गये हैं, जो दूसरे अग्निदेवके समान प्रतापी थे । उनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीसे हुई थी । वे महर्षि विश्वामित्रके प्रपितामह थे । कुशके बलवान् पुत्रका नाम कुशनाभ था। वे बड़े धर्मात्मा थे । राजन् ! कुशनाभके पुत्र गाधि हुए और गाधिसे विश्वामित्रका जन्म हुआ । ऐसे कुलीन महर्षि मेरे पिता हैं और मेनका मेरी श्रेष्ठ माता है ॥

सा मां हिमवतः प्रस्थे सुषुवे मेनकाप्सराः ।
अवकीर्य च मां याता परात्मजमिवासती ॥ ७० ॥

'उस मेनका अप्सराने हिमालयके शिखरपर मुझे जन्म दिया; किंतु वह असद् व्यवहार करनेवाली अप्सरा मुझे परायी संतानकी तरह वहीं छोड़कर चली गयी ॥ ७० ॥

(पक्षिणः पुण्यवन्तस्ते सहिता धर्मतस्तदा ।
पक्षैस्तैरभिगुप्ता च तस्मादस्मि शकुन्तला ॥
ततोऽहमृषिणा दृष्टा काश्यपेन महात्मना ।
जलार्थमग्निहोत्रस्य गतं दृष्ट्वा तु पक्षिणः ॥
न्यासभूतामिव मुनेः प्रददुर्मां दयावतः ।
स मारणिमिवादाय स्वमाश्रममुपागमत् ॥
सा वै सम्भाविता राजन्ननुक्रोशान्महर्षिणा ।
तेनैव स्वसुतेवाहं राजन् वै परमर्षिणा ॥
विश्वामित्रसुता चाहं वर्धिता मुनिना नृप ।
यौवने वर्तमानां च दृष्टवानसि मां नृप ॥
आश्रमे पर्णशालायां कुमारीं विजने वने ।
धात्रा प्रचोदितां शून्ये पित्रा विरहितां मिथः ॥
वाग्भिस्त्वं सूनृताभिर्मामपत्यार्थमचूचुदः ।
अकार्षीस्त्वाश्रमे वासं धर्मकामार्थनिश्चितम् ॥
गान्धर्वेण विवाहेन विधिना पाणिमग्रहीः ।
साहं कुलं च शीलं च सत्यवादित्वमात्मनः ॥
स्वधर्मं च पुरस्कृत्य त्वामद्य शरणं गता ।
तस्मान्नार्हसि संश्रुत्य तथेति वितथं वचः ॥
स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा परित्यक्तुमुपस्थिताम् ।
त्वन्नाथां लोकनाथस्त्वं नार्हसि त्वमनागसम् ॥)

'वे पक्षी भी पुण्यवान् हैं, जिन्होंने एक साथ आकर उस समय धर्मपूर्वक अपने पंखोंसे मेरी रक्षा की। शकुन्तों (पक्षियों) ने मेरी रक्षा की, इसलिये मेरा नाम शकुन्तला हो गया । तदनन्तर महात्मा कश्यपनन्दन कण्वकी दृष्टि मुझपर पड़ी । वे अग्निहोत्रके लिये जल लानेके हेतु उधर गये हुए थे। उन्हें देखकर पक्षियोंने उन दयालु महर्षिको मुझे धरोहरकी भाँति सौंप दिया । वे मुझे अरणी (शमी) की भाँति लेकर अपने आश्रमपर आये । राजन् ! महर्षिने कृपापूर्वक अपनी पुत्रीके समान मेरा पालन-पोषण किया । नरेश्वर ! इस प्रकार मैं विश्वामित्र मुनिकी पुत्री हूँ और महात्मा कण्वने मुझे पाल-पोसकर बड़ी किया है। आपने युवावस्थामें मुझे देखा था । निर्जन वनमें आश्रमकी पर्णकुटीके भीतर सूने स्थानमें, जब कि मेरे पिता उपस्थित नहीं थे, विधाताकी प्रेरणासे प्रभावित मुझ कुमारी कन्याको आपने अपने मीठे वचनोंद्वारा संतानोत्पादनके निमित्त सहवासके लिये प्रेरित किया । धर्म, अर्थ एवं कामकी ओर दृष्टि रखकर मेरे साथ आश्रममें निवास किया। गान्धर्व विवाहकी विधिसे आपने मेरा पाणिग्रहण किया है । वही मैं आज अपने कुल, शील, सत्यवादिता और धर्मको आगे रखकर आपकी शरणमें आयी हूँ । इसलिये पूर्वकालमें वैसी प्रतिज्ञा करके अब उसे असत्य न कीजिये । आप जगत्के रक्षक हैं, मेरे प्राणनाथ हैं । मैं सर्वथा निरपराध हूँ और स्वयं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ, अतः अपने धर्मको पीछे करके मेरा परित्याग न कीजिये ॥

किं नु कर्माशुभं पूर्वं कृतवत्यन्यजन्मनि ।
यदहं बान्धवैस्त्यक्ता बाल्ये सम्प्रति च त्वया ॥ ७१ ॥

'मैंने पूर्व जन्मान्तरोंमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे बाल्यावस्थामें तो मेरे बान्धवोंने मुझे त्याग दिया और इस समय आप पतिदेवताके द्वारा भी मैं त्याग दी गयी ॥ ७१ ॥

कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम् ।
इमं तु बालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मनः ॥ ७२ ॥

'महाराज! आपके द्वारा स्वेच्छासे त्याग दी जानेपर मैं पुनः अपने आश्रमको लौट जाऊँगी, किंतु अपने इस नन्हे-से पुत्रका त्याग आपको नहीं करना चाहिये, ॥ ७२ ॥

दुष्यन्त उवाच

न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले ।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ॥ ७३ ॥
मेनका निरनुक्रोशा बन्धकी जननी तव ।
यया हिमवतः पृष्ठे निर्माल्यमिव चोज्झिता ॥ ७४ ॥

दुष्यन्त बोले—शकुन्तले ! मैं तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न इस पुत्रको नहीं जानता । स्त्रियाँ प्रायः झूठ बोलनेवाली होती हैं । तुम्हारी बातपर कौन श्रद्धा करेगा ? तुम्हारी माता वेश्या मेनका बड़ी क्रूरहृदया है, जिसने तुम्हें हिमालयके शिखरपर निर्माल्यकी तरह उतार फेंका है ॥ ७३-७४ ॥

स चापि निरनुक्रोशः क्षत्रयोनिः पिता तव ।
विश्वामित्रो ब्राह्मणत्वे लुब्धः कामवशं गतः ॥ ७५ ॥

और तुम्हारे क्षत्रियजातीय पिता विश्वामित्र भी, जो ब्राह्मण बननेके लिये लालायित थे और मेनकाको देखते ही कामके अधीन हो गये थे, बड़े निर्दयी जान पड़ते हैं ॥ ७५ ॥

मेनकाप्सरसां श्रेष्ठा महर्षीणां पिता च ते ।
तयोरपत्यं कस्मात् त्वं पुंश्चलीव प्रभाषसे ॥ ७६ ॥

मेनका अप्सराओंमें श्रेष्ठ बतायी जाती है और तुम्हारे पिता विश्वामित्र भी महर्षियोंमें उत्तम समझे जाते हैं। तुम उन्हीं दोनोंकी संतान होकर व्यभिचारिणी स्त्रीके समान क्यों झूठी बातें बना रही हो ॥ ७६ ॥

अश्रद्धेयमिदं वाक्यं कथयन्ती न लज्जसे ।
विशेषतो मत्सकाशे दुष्टतापसि गम्यताम् ॥ ७७ ॥

तुम्हारी यह बात श्रद्धा करनेके योग्य नहीं है । इसे कहते समय तुम्हें लज्जा नहीं आती ? विशेषतः मेरे समीप ऐसी बातें कहनेमें तुम्हें संकोच होना चाहिये । दुष्ट तपस्विनि ! तुम चली जाओ यहाँसे ॥ ७७ ॥

क्व महर्षिः स चैवाग्र्यः साप्सराः क्व च मेनका ।
क्व च त्वमेवं कृपणा तापसीवेषधारिणी ॥ ७८ ॥

कहाँ वे मुनिशिरोमणि महर्षि विश्वामित्र, कहाँ अप्सराओंमें श्रेष्ठ मेनका और कहाँ तुम-जैसी तापसीका वेष धारण करनेवाली दीन-हीन नारी ? ॥ ७८ ॥

अतिकायश्च ते पुत्रो बालोऽतिबलवानयम् ।
कथमल्पेन कालेन शालस्तम्भ इवोद्गतः ॥ ७९ ॥

तुम्हारे इस पुत्रका शरीर बहुत बड़ा है । बाल्यावस्थामें ही यह अत्यन्त बलवान् जान पड़ता है । इतने थोड़े समयमें यह साखूके खंभे-जैसा लम्बा कैसे हो गया ? ॥ ७९ ॥

सुनिकृष्टा च ते योनिः पुंश्चलीव प्रभाषसे ।
यदृच्छया कामरागाज्जाता मेनकया ह्यसि ॥ ८० ॥

तुम्हारी जाति नीच है । तुम कुलटा-जैसी बातें करती हो । जान पड़ता है, मेनकाने अकस्मात् भोगासक्तिके वशीभूत होकर तुम्हें जन्म दिया है ॥ ८० ॥

सर्वमेतत् परोक्षं मे यत् त्वं वदसि तापसि ।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ॥ ८१ ॥

तुम जो कुछ कहती हो, वह सब मेरी आँखोंके सामने नहीं हुआ है । तापसी ! मैं तुम्हें नहीं पहचानता । तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं चली जाओ ॥ ८१ ॥

शकुन्तलोवाच

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥ ८२ ॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! आप दूसरोंके सरसों बराबर दोषोंको तो देखते रहते हैं, किंतु अपने बेलके समान बड़े-बड़े दोषोंको देखकर भी नहीं देखते ॥ ८२ ॥

मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानु मेनकाम् ।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यन्त तव जन्मनः ॥ ८३ ॥

मेनका देवताओंमें रहती है और देवता मेनकाके पीछे चलते हैं—उसका आदर करते हैं (उसी मेनकासे मेरा जन्म हुआ है); अतः महाराज दुष्यन्त ! आपके जन्म और कुलसे मेरा जन्म और कुल बढ़कर है ॥ ८३ ॥

क्षितावटसि राजेन्द्र अन्तरिक्षे चराम्यहम् ।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥ ८४ ॥

राजेन्द्र ! आप केवल पृथ्वीपर घूमते हैं, किंतु मैं आकाशमें भी चल सकती हूँ । तनिक ध्यानसे देखिये, मुझमें और आपमें सुमेरु पर्वत और सरसोंका-सा अन्तर है ॥ ८४ ॥

महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥ ८५ ॥

नरेश्वर ! मेरे प्रभावको देख लो । मैं इन्द्र, कुबेर, यम और वरुण—सभीके लोकोंमें निरन्तर आने-जानेकी शक्ति रखती हूँ ॥ ८५ ॥

सत्यश्चापि प्रवादोऽयं यं प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
निदर्शनार्थं न द्वेषाच्छ्रुत्वा तं क्षन्तुमर्हसि ॥ ८६ ॥

अनघ ! लोकमें एक कहावत प्रसिद्ध है और वह सत्य भी है, जिसे मैं दृष्टान्तके तौरपर आपसे कहूँगी; द्वेषके कारण नहीं । अतः उसे सुनकर क्षमा कीजियेगा ॥ ८६ ॥

विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥ ८७ ॥

कुरूप मनुष्य जबतक आइनेमें अपना मुँह नहीं देख लेता, तबतक वह अपनेको दूसरोंसे अधिक रूपवान् समझता है ॥ ८७ ॥

यदा स्वमुखमादर्शे विकृतं सोऽभिवीक्षते ।
तदान्तरं विजानीते आत्मानं चेतरं जनम् ॥ ८८ ॥

किंतु जब कभी आइनेमें वह अपने विकृत मुखका दर्शन कर लेता है, तब अपने और दूसरोंमें क्या अन्तर है, यह उसकी समझमें आ जाता है ॥ ८८ ॥

अतीवरूपसम्पन्नो न कंचिदवमन्यते ।
अतीव जल्पन् दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ॥ ८९ ॥

जो अत्यन्त रूपवान् है, वह किसी दूसरेका अपमान नहीं करता; परंतु जो रूपवान् न होकर भी अपने रूपकी प्रशंसामें अधिक बातें बनाता है, वह मुखसे खोटे वचन कहता और दूसरोंको पीडित करता है ॥ ८९ ॥

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥ ९० ॥

मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करनेवाले दूसरे लोगोंकी भली-बुरी बातें सुनकर उनमेंसे बुरी बातोंको ही ग्रहण करता है; ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य वस्तुओंके रहते हुए भी विष्ठाको ही अपना भोजन बनाता है ॥ ९० ॥

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥ ९१ ॥

परंतु विद्वान् पुरुष दूसरे वक्ताओंके शुभाशुभ वचनको सुनकर उनमेंसे गुणयुक्त बातोंको ही अपनाता है, ठीक उसी तरह, जैसे हंस पानीको छोड़कर केवल दूध ग्रहण कर लेता है ॥

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥ ९२ ॥

साधु पुरुष दूसरोंकी निन्दाका अवसर आनेपर जैसे अत्यन्त संतप्त हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य दूसरोंकी निन्दाका अवसर मिलनेपर बहुत संतुष्ट होता है ॥

अभिवाद्य यथा वृद्धान् सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम् ।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥ ९३ ॥
सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः ।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ॥ ९४ ॥

जैसे साधु पुरुष बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम करके बड़े प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मूर्ख मानव साधु पुरुषोंकी निन्दा करके संतोषका अनुभव करते हैं। साधु पुरुष दूसरोंके दोष न देखते हुए सुखसे जीवन बिताते हैं, किंतु मूर्ख मनुष्य सदा दूसरोंके दोष ही देखा करते हैं। जिन दोषोंके कारण दुष्टात्मा मनुष्य साधु पुरुषोंद्वारा निन्दाके योग्य समझे जाते हैं, दुष्टलोग वैसे ही दोषोंका साधु पुरुषोंपर आरोप करके उनकी निन्दा करते हैं ॥ ९३-९४ ॥

अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जनमित्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ॥ ९५ ॥

संसारमें इससे बढ़कर हँसीकी दूसरी कोई बात नहीं हो सकती कि जो दुर्जन हैं, वे स्वयं ही सज्जन पुरुषोंको दुर्जन कहते हैं ॥

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ॥ ९६ ॥

जो सत्यरूपी धर्मसे भ्रष्ट है, वह पुरुष क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयंकर है। उससे नास्तिक भी भय खाता है; फिर आस्तिक मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है ॥

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते ।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ॥ ९७ ॥

जो स्वयं ही अपने तुल्य पुत्र उत्पन्न करके उसका सम्मान नहीं करता, उसकी सम्पत्तिको देवता नष्ट कर देते हैं और वह उत्तम लोकोंमें नहीं जाता ॥ ९७ ॥

कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन् ।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात् पुत्रं न संत्यजेत् ॥ ९८ ॥

पितरोंने पुत्रको कुल और वंशकी प्रतिष्ठा बताया है, अतः पुत्र सब धर्मोंमें उत्तम है। इसलिये पुत्रका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ९८ ॥

स्वपत्नीप्रभवान् पञ्च लब्धान् क्रीतान् विवर्धितान् ।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान् पुत्रान् वै मनुरब्रवीत् ॥ ९९ ॥

अपनी पत्नीसे उत्पन्न एक और अन्य स्त्रियोंसे उत्पन्न लब्ध, क्रीत, पोषित तथा उपनयनादिसे संस्कृत--ये चार मिलाकर कुल पाँच प्रकारके पुत्र मनुजीने बताये हैं ॥ ९९ ॥

धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः ।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ॥ १०० ॥

ये सभी पुत्र मनुष्योंको धर्म और कीर्तिकी प्राप्ति करानेवाले तथा मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होते हैं। पुत्र धर्मरूपी नौकाका आश्रय ले अपने पितरोंका नरकसे उद्धार कर देते हैं ॥

स त्वं नृपतिशार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि ।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन् पृथिवीपते ।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहार्हसि ॥ १०१ ॥

अतः नृपश्रेष्ठ ! आप अपने पुत्रका परित्याग न करें। पृथ्वीपते ! नरेन्द्रप्रवर ! आप अपने आत्मा, सत्य और धर्मका पालन करते हुए अपने सिरपर कपटका बोझ न उठावें ॥

वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ॥ १०२ ॥

सौ कुँए खोदवानेकी अपेक्षा एक बावड़ी बनवाना उत्तम है। सौ बावड़ियोंकी अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है।

सौ यज्ञ करनेकी अपेक्षा एक पुत्रको जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रोंकी अपेक्षा भी सत्यका पालन श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥१०३॥

एक हजार अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्यभाषणका पुण्य दूसरी ओर यदि तराजूपर रक्खा जाय, तो हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका पलड़ा ही भारी होता है ॥ १०३ ॥

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वा समम् ॥१०४॥

राजन् ! सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन और समस्त तीर्थोंका स्नान भी सत्य वचनकी समानता कर सकेगा या नहीं, इसमें संदेह ही है (क्योंकि सत्य उनसे भी श्रेष्ठ है) ॥ १०४ ॥

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥१०५॥

सत्यके समान कोई धर्म नहीं है। सत्यसे उत्तम कुछ भी नहीं है और झूठसे बढ़कर तीव्रतर पाप इस जगत्‌में दूसरा कोई नहीं है ॥

राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते ॥१०६॥

राजन् ! सत्य परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। सत्य सबसे बड़ा नियम है। अतः महाराज ! आप अपनी सत्य प्रतिज्ञाको न छोड़िये। सत्य आपका जीवनसङ्गी हो ॥ १०६ ॥

अनृते चेत् प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत् स्वयम् ।
आत्मना हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम् ॥१०७॥

यदि आपकी झूठमें ही आसक्ति है और मेरी बातपर श्रद्धा नहीं करते हैं तो मैं स्वयं ही चली जाती हूँ। आप-जैसेके साथ रहना मुझे उचित नहीं है ॥ १०७ ॥

(पुत्रत्वे शङ्कमानस्य बुद्धिर्दीपकदीपना ।
गतिः स्वरः स्मृतिः सत्त्वं शीलविज्ञानविक्रमाः ॥
धृष्णुप्रकृतिभावौ च आवर्ता रोमराजयः ।
समा यस्य यतः स्युस्ते तस्य पुत्रो न संशयः ॥
सादृश्येनोद्धृतं बिम्बं तव देहाद् विशाम्पते ।
ताततेति भाषमाणं वै मा स्म राजन् वृथा कृथाः ॥)

यह मेरा पुत्र है या नहीं, ऐसा संदेह होनेपर बुद्धि ही इसका निर्णय करनेवाली अथवा इस रहस्यपर प्रकाश डालनेवाली है। चाल-ढाल, स्वर, स्मरणशक्ति, उत्साह, शील-स्वभाव, विज्ञान, पराक्रम, साहस, प्रकृतिभाव, आवर्त (भँवर) तथा रोमावली—जिसकी ये सब वस्तुएँ जिससे सर्वथा मिलती-जुलती हों, वह उसीका पुत्र है, इसमें संशय नहीं है। राजन् ! आपके शरीरसे पूर्ण समानता लेकर यह बिम्बकी भाँति प्रकट हुआ है और आपको 'तात' कहकर पुकार रहा है। आप इसकी आशा न तोड़ें ॥

त्वामृतेऽपि हि दुष्यन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरन्तामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥१०८॥

महाराज दुष्यन्त ! मैं एक बात कहे देती हूँ, आपके सहयोगके बिना भी मेरा यह पुत्र चारों समुद्रोंसे घिरी हुई गिरिराज हिमालयरूपी मुकुटसे सुशोभित समूची पृथ्वीका शासन करेगा ॥ १०८ ॥

(शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ।
एवमुक्तो महेन्द्रेण भविष्यति न चान्यथा ॥
साक्षित्वे बहवोऽप्युक्ता देवदूतादयो मताः ।
न ब्रुवन्ति यथा सत्यमुताहोऽप्यनृतं किल ॥
असाक्षिणी मन्दभाग्या गमिष्यामि यथाऽऽगतम् ।)

देवराज इन्द्रका वचन है 'शकुन्तले ! तुम्हारा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा।' यह कभी मिथ्या नहीं हो सकता। यद्यपि देवदूत आदि बहुत-से साक्षी बताये गये हैं, तथापि इस समय वे क्या सत्य है और क्या असत्य—इसके विषयमें कुछ नहीं कह रहे हैं। अतः साक्षीके अभावमें यह भाग्यहीन शकुन्तला जैसे आयी है, वैसे ही लौट जायगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्तं वागुवाचाशरीरिणी ॥१०९॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्च वृतं तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा दुष्यन्तसे इतनी बातें कहकर शकुन्तला वहाँसे चलनेको उद्यत हुई। इतनेमें ही ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य और मन्त्रियोंसे घिरे हुए दुष्यन्तको सम्बोधित करते हुए आकाशवाणी हुई ॥ १०९½ ॥

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ॥११०॥
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।
(सर्वेभ्यो ह्यङ्गमङ्गेभ्यः साक्षादुत्पद्यते सुतः ।
आत्मा चैष सुतो नाम तथैव तव पौरव ॥
आहितं ह्यात्मनाऽऽत्मानं परिरक्ष इमं सुतम् ।
अनन्यां स्वां प्रतीक्षस्व मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥
स्त्रियः पवित्रमतुलमेतद् दुष्यन्त धर्मतः ।
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति ॥)
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ॥१११॥
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ।
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधा कृतम् ॥११२॥

'दुष्यन्त ! माता तो केवल भाथी (धौंकनी) के

समान है। पुत्र पिताका ही होता है; क्योंकि जो जिसके द्वारा उत्पन्न होता है, वह उसीका स्वरूप है—इस न्यायसे पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है, अतः दुष्यन्त ! तुम पुत्रका पालन करो। शकुन्तलाका अनादर मत करो। पौरव ! पुत्र साक्षात् अपना ही शरीर है। वह पिताके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न होता है। वास्तवमें वह पुत्रनामसे प्रसिद्ध अपना आत्मा ही है। ऐसा ही यह तुम्हारा पुत्र भी है। अपने द्वारा ही गर्भमें स्थापित किये हुए आत्मस्वरूप इस पुत्रकी तुम रक्षा करो। शकुन्तला तुम्हारे प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाली धर्म-पत्नी है। इसे इसी दृष्टिसे देखो ! उसका अनादर मत करो। दुष्यन्त ! स्त्रियाँ अनुपम पवित्र वस्तु हैं, यह धर्मतः स्वीकार किया गया है। प्रत्येक मासमें इनके जो रजःस्राव होता है, वह इनके सारे दोषोंको दूर कर देता है। नरदेव ! वीर्यका आधान करनेवाला पिता ही पुत्र बनता है और वह यमलोकसे अपने पितृगणका उद्धार करता है। तुमने ही इस गर्भका आधान किया था। शकुन्तला सत्य कहती है। जाया (पत्नी) दो भागोंमें विभक्त हुए पतिके अपने ही शरीरको पुत्ररूपमें उत्पन्न करती है ॥ ११०–११२ ॥

तस्माद् भरस्व दुष्यन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप।
अभूतिरेषा यत् त्यक्त्वा जीवेज्जीवन्तमात्मजम् ॥ ११३॥

'इसलिये राजा दुष्यन्त ! तुम शकुन्तलासे उत्पन्न हुए अपने पुत्रका पालन-पोषण करो। अपने जीवित पुत्रको त्यागकर जीवन धारण करना बड़े दुर्भाग्यकी बात है ॥

शाकुन्तलं महात्मानं दौष्यन्तिं भर पौरव।
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ॥ ११४॥
तस्माद् भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः।

'पौरव ! यह महामना बालक शकुन्तला और दुष्यन्त दोनोंका पुत्र है। हम देवताओंके कहनेसे तुम इसका भरण-पोषण करोगे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र भरतके नामसे विख्यात होगा' ॥ ११४½ ॥

(एवमुक्त्वा ततो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
पतिव्रतेति संहृष्टाः पुष्पवृष्टिं ववर्षिरे ॥)
तच्छ्रुत्वा पौरवो राजा व्याहृतं त्रिदिवौकसाम् ॥ ११५॥
पुरोहितममात्यांश्च सम्प्रहृष्टोऽब्रवीदिदम्।
शृण्वन्त्वेतद् भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ॥ ११६॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् !) ऐसा कहकर देवता तथा तपस्वी ऋषि शकुन्तलाको पतिव्रता बतलाते हुए उसपर फूलोंकी वर्षा करने लगे। पूरुवंशी राजा दुष्यन्त देवताओंकी यह बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और पुरोहित तथा मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आपलोग इस देवदूतका कथन भलीभाँति सुन लें ॥ ११५–११६ ॥

अहं चाप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम्।
यद्यहं वचनादस्या गृह्णीयामि ममात्मजम् ॥ ११७॥
भवेद्धि शङ्क्यो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम्।

'मैं भी अपने इस पुत्रको इसी रूपमें जानता हूँ। यदि केवल शकुन्तलाके कहनेसे मैं इसे ग्रहण कर लेता, तो सब लोग इसपर संदेह करते और यह बालक विशुद्ध नहीं माना जाता' ॥ ११७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥ ११८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! इस प्रकार देवदूतके वचनसे उस बालककी शुद्धता प्रमाणित करके राजा दुष्यन्तने हर्ष और आनन्दमें मग्न हो उस समय अपने उस पुत्रको ग्रहण किया ॥ ११८ ॥

ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वशः।
कारयामास मुदितः प्रीतिमानात्मजस्य ह ॥ ११९॥

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने पिताको जो-जो कार्य करने चाहिये, वे सब उपनयन आदि संस्कार बड़े आनन्द और प्रेमके साथ अपने उस पुत्रके लिये (शास्त्र और कुलकी मर्यादाके अनुसार) कराये ॥ ११९ ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च वन्दिभिः।
स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृपः ॥ १२०॥

और उसका मस्तक सूँघकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसे हृदयसे लगा लिया। उस समय ब्राह्मणोंने उन्हें आशीर्वाद दिया और वन्दीजनोंने उनके गुण गाये। महाराजने पुत्र-स्पर्शजनित परम आनन्दका अनुभव किया ॥ १२० ॥

तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १२१॥

दुष्यन्तने अपनी पत्नी शकुन्तलाका भी धर्मपूर्वक आदर-सत्कार किया और उसे समझाते हुए कहा—॥ १२१॥

कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धो वै त्वया सह।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥ १२२॥

'देवि ! मैंने तुम्हारे साथ जो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था, उसे साधारण जनता नहीं जानती थी। अतः तुम्हारी शुद्धिके लिये ही मैंने यह उपाय सोचा था ॥ १२२॥

(ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव पृथग्विधाः।
त्वां देवि पूजयिष्यन्ति निर्विशङ्कं पतिव्रताम् ॥)

'देवि ! तुम निःसंदेह पतिव्रता हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये सभी पृथक्-पृथक् तुम्हारा पूजन (समादर) करेंगे ॥

मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम्।
पुत्रश्चायं वृतो राज्ये मया तस्माद् विचारितम् ॥ १२३॥

'यदि इस प्रकार तुम्हारी शुद्धि न होती तो लोग यही समझते कि तुमने स्त्री-स्वभावके कारण कामवश मुझसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया और मैंने भी कामके अधीन होकर ही तुम्हारे पुत्रको राज्यपर बिठानेकी प्रतिज्ञा कर ली। हम दोनोंके धार्मिक सम्बन्धपर किसीका विश्वास नहीं होता; इसीलिये यह उपाय सोचा गया था ॥ १२३ ॥

यच्च कोपितयात्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत् क्षान्तं ते मया शुभे ॥१२४॥

'प्रिये! विशाललोचने! तुमने भी कुपित होकर जो मेरे लिये अत्यन्त अप्रिय वचन कहे हैं, वे सब मेरे प्रति तुम्हारा अत्यन्त प्रेम होनेके कारण ही कहे गये हैं। अतः शुभे! मैंने वह सब अपराध क्षमा कर दिया है ॥ १२४ ॥

(अनृतं वाप्यनिष्टं वा दुरुक्तं वापि दुष्कृतम्।
त्वयाप्येवं विशालाक्षि क्षन्तव्यं मम दुर्वचः ॥
क्षान्त्या पतिकृते नार्यः पातिव्रत्यं व्रजन्ति ताः।)

'विशाल नेत्रोंवाली देवि! इसी प्रकार तुम्हें भी मेरे कहे हुए असत्य, अप्रिय, कटु एवं पापपूर्ण दुर्वचनोंके लिये मुझे क्षमा कर देना चाहिये। पतिके लिये क्षमाभाव धारण करनेसे स्त्रियाँ पातिव्रत्य-धर्मको प्राप्त होती हैं' ॥

तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम्।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥१२५॥

जनमेजय! अपनी प्यारी रानीसे ऐसी बात कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अन्न, पान और वस्त्र आदिके द्वारा उसका आदर-सत्कार किया ॥ १२५ ॥

(स मातरमुपस्थाय रथन्तर्यामभाषत।
मम पुत्रो वने जातस्तव शोकप्रणाशनः ॥
ऋणादद्य विमुक्तोऽहमस्मि पौत्रेण ते शुभे।
विश्वामित्रसुता चेयं कण्वेन च विवर्धिता ॥
स्नुषा तव महाभागे प्रसीदस्व शकुन्तलाम्।
पुत्रस्य वचनं श्रुत्वा पौत्रं सा परिषस्वजे ॥
पादयोः पतितां तत्र रथन्तर्या शकुन्तलाम्।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥
उवाच वचनं सत्यं लक्षयँल्लक्षणानि च।
तव पुत्रो विशालाक्षि चक्रवर्ती भविष्यति ॥
तव भर्ता विशालाक्षि त्रैलोक्यविजयी भवेत्।
दिव्यान् भोगाननुप्राप्ता भव त्वं वरवर्णिनि ॥
एवमुक्ता रथन्तर्या परं हर्षमवाप सा।
शकुन्तलां तदा राजा शास्त्रोक्तेनैव कर्मणा ॥
ततोऽग्रमहिषीं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताम्।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सैनिकानां च भूपतिः ॥)

तदनन्तर वे अपनी माता रथन्तर्याके पास जाकर बोले—'माँ! यह मेरा पुत्र है, जो वनमें उत्पन्न हुआ है। यह तुम्हारे शोकका नाश करनेवाला होगा। शुभे! तुम्हारे इस पौत्रको पाकर आज मैं पितृ-ऋणसे मुक्त हो गया। महाभागे! यह तुम्हारी पुत्र-वधू है। महर्षि विश्वामित्रने इसे जन्म दिया और महात्मा कण्वने पाला है। तुम शकुन्तलापर कृपादृष्टि रक्खो।' पुत्रकी यह बात सुनकर राजमाता रथन्तर्याने पौत्रको हृदयसे लगा लिया और अपने चरणोंमें पड़ी हुई शकुन्तलाको दोनों भुजाओंमें भरकर वे हर्षके आँसू बहाने लगीं। साथ ही पौत्रके शुभ लक्षणोंकी ओर संकेत करती हुई बोलीं—'विशालाक्षि! तेरा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। तेरे पतिको तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त हो। सुन्दरि! तुम्हें सदा दिव्य भोग प्राप्त होते रहें।' यह कहकर राजमाता रथन्तर्या अत्यन्त हर्षसे विभोर हो उठीं। उस समय राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार समस्त आभूषणोंसे विभूषित शकुन्तलाको पटरानीके पदपर अभिषिक्त करके ब्राह्मणों तथा सैनिकोंको बहुत धन अर्पित किया ॥

दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥१२६॥

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने शकुन्तलाकुमारका नाम भरत रखकर उसे युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १२६ ॥

(भरते भारमावेश्य कृतकृत्योऽभवन्नृपः।
ततो वर्षशतं पूर्णं राज्यं कृत्वा नराधिपः ॥
कृत्वा दानानि दुष्यन्तः स्वर्गलोकमुपेयिवान्।)

फिर भरतको राज्यका भार सौंपकर महाराज दुष्यन्त कृतकृत्य हो गये। वे पूरे सौ वर्षोंतक राज्य भोगकर विविध प्रकारके दान दे अन्तमें स्वर्गलोक सिधारे ॥

तस्य तत् प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत् ॥१२७॥

महात्मा राजा भरतका विख्यात चक्र[1] सब ओर घूमने लगा। वह अत्यन्त प्रकाशमान, दिव्य और अजेय था। वह महान् चक्र अपनी भारी आवाजसे सम्पूर्ण जगत्‌को प्रतिध्वनित करता चलता था ॥ १२७ ॥

स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनः।
चचार च सतां धर्मं प्राप चानुत्तमं यशः ॥१२८॥

उन्होंने सब राजाओंको जीतकर अपने अधीन कर लिया तथा सत्पुरुषोंके धर्मका पालन और उत्तम यशका उपार्जन किया ॥ १२८ ॥

स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान्।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥१२९॥

१. चक्रके विशेषणोंसे यहाँ यही अनुमान होता है कि भरतके पास सुदर्शन चक्रके समान ही कोई चक्र था।

महाराज भरत समस्त भूमण्डलमें विख्यात, प्रतापी एवं चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्होंने देवराज इन्द्रकी भाँति बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ १२९ ॥

याजयामास तं कण्वो विधिवद् भूरिदक्षिणम्।
श्रीमान् गोविततं नाम वाजिमेधमवाप सः।
यस्मिन् सहस्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥१३०॥

महर्षि कण्वने आचार्य होकर भरतसे प्रचुर दक्षिणाओंसे युक्त 'गोवितत' नामक अश्वमेध यज्ञका विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाया। श्रीमान् भरतने उस यज्ञका पूरा फल प्राप्त किया। उसमें महाराज भरतने आचार्य कण्वको एक सहस्र पद्म स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणारूपमें दीं ॥ १३० ॥

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥१३१॥

भरतसे ही इस भूखण्डका नाम भारत (अथवा भूमिका नाम भारती) हुआ। उन्हींसे यह कौरववंश भरतवंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उनके बाद उस कुलमें पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भरतवंशी) कहे जाते हैं ॥ १३१ ॥

भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः।
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः ॥१३२॥
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः।
तेषां तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत।
महाभागान् देवकल्पान् सत्यार्जवपरायणान् ॥१३३॥

भरतके कुलमें देवताओंके समान महापराक्रमी तथा ब्रह्माजीके समान तेजस्वी बहुत-से राजर्षि हो गये हैं; जिनके सम्पूर्ण नामोंकी गणना असम्भव है। जनमेजय! इनमें जो मुख्य हैं, उन्हींके नामोंका तुमसे वर्णन करूँगा। वे सभी महाभाग नरेश देवताओंके समान तेजस्वी तथा सत्य, सरलता आदि धर्मोंमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १३२-१३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(इस अध्यायमें १३३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८९॥ श्लोक और कुल २२२½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दक्ष, वैवस्वत मनु तथा उनके पुत्रोंकी उत्पत्ति; पुरूरवा, नहुष और ययातिके चरित्रोंका संक्षेपसे वर्णन

वैशम्पायन उवाच

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढस्य चानघ ॥ १ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः।
तथैव भरतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय! अब मैं दक्ष प्रजापति, वैवस्वत मनु, भरत, कुरु, पूरु, अजमीढ, यादव, कौरव तथा भरतवंशियोंकी कुल-परम्पराका तुमसे वर्णन करूँगा। उनका कुल परम पवित्र, महान् मङ्गलकारी तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है ॥१-२½॥

तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ॥ ३ ॥
दश प्राचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः।
मुखजेनाग्निना यैस्ते पूर्वं दग्धा महीरुहाः ॥ ४ ॥

प्रचेताके दस पुत्र थे, जो अपने तेजके द्वारा सदा प्रकाशित होते थे। वे सब-के-सब महर्षियोंके समान तेजस्वी, सत्पुरुष और पुण्यकर्मा माने गये हैं। उन्होंने पूर्वकालमें अपने मुखसे प्रकट की हुई अग्निद्वारा उन बड़े-बड़े वृक्षोंको जलाकर भस्म कर दिया था (जो प्राणियोंको पीड़ा दे रहे थे)॥ ३-४ ॥

तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः।
सम्भूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः ॥ ५ ॥

उक्त दस प्रचेताओंद्वारा (मारिषाके गर्भसे) प्राचेतस दक्षका जन्म हुआ तथा दक्षसे ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। नरश्रेष्ठ! वे सम्पूर्ण जगत्के पितामह हैं ॥ ५ ॥

वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः।
आत्मतुल्यानजनयत् सहस्रं संशितव्रतान् ॥ ६ ॥

प्राचेतस मुनि दक्षने वीरिणीसे समागम करके अपने ही समान गुण-शीलवाले एक हजार पुत्र उत्पन्न किये। वे सब-के-सब अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले थे ॥ ६ ॥

सहस्रसंख्यान् सम्भूतान् दक्षपुत्रांश्च नारदः।
मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

एक सहस्रकी संख्यामें प्रकट हुए उन दक्ष-पुत्रोंको देवर्षि नारदजीने मोक्ष-शास्त्रका अध्ययन कराया। परम उत्तम सांख्य-ज्ञानका उपदेश किया ॥ ७ ॥

ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ॥ ८ ॥

जनमेजय! जब वे सभी विरक्त होकर घरसे निकल गये, तब

प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छासे प्रजापति दक्षने पुत्रिकाके द्वारा पुत्र (दौहित्र) होनेपर उस पुत्रिकाको ही पुत्र मानकर पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ ८ ॥

ददौ दश स धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥ ९ ॥

उन्होंने दस कन्याएँ धर्मको, तेरह कश्यपको और कालका संचालन करनेमें नियुक्त नक्षत्रस्वरूपा सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको ब्याह दीं ॥ ९ ॥

त्रयोदशानां पत्नीनां या तु दाक्षायणी वरा।
मारीचः कश्यपस्त्वस्यामादित्यान् समजीजनत्॥ १० ॥
इन्द्रादीन् वीर्यसम्पन्नान् विवस्वन्तमथापि च।
विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ॥ ११ ॥

मरीचिनन्दन कश्यपने अपनी तेरह पत्नियोंमेंसे जो सबसे बड़ी दक्ष-कन्या अदिति थीं, उनके गर्भसे इन्द्र आदि बारह आदित्योंको जन्म दिया, जो बड़े पराक्रमी थे। तदनन्तर उन्होंने अदितिसे ही विवस्वान्‌को उत्पन्न किया। विवस्वान्‌के पुत्र यम हुए, जो वैवस्वत कहलाते हैं। वे समस्त प्राणियोंके नियन्ता हैं॥

मार्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः।
यमश्चापि सुतो जज्ञे ख्यातस्तस्यानुजः प्रभुः ॥ १२ ॥

विवस्वान्‌के ही पुत्र परम बुद्धिमान् मनु हुए, जो बड़े प्रभावशाली हैं। मनुके बाद उनसे यम नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई, जो सर्वत्र विख्यात हैं। यमराज मनुके छोटे भाई तथा प्राणियोंका नियमन करनेमें समर्थ हैं ॥ १२ ॥

धर्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् मनु बड़े धर्मात्मा थे, जिनपर सूर्यवंशकी प्रतिष्ठा हुई। मानवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह मनुवंश उन्हींसे विख्यात हुआ ॥ १३ ॥

ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः।
ततोऽभवन्महाराज ब्रह्म क्षत्रेण संगतम् ॥ १४ ॥

उन्हीं मनुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब मानव उत्पन्न हुए हैं। महाराज! तभीसे ब्राह्मणकुल क्षत्रियसे सम्बद्ध हुआ ॥ १४ ॥

ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमधारयन्।
वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ॥ १५ ॥
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम्।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ॥ १६ ॥
नाभागारिष्टदशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते।
पञ्चाशत् तु मनोः पुत्रास्तथैवान्येऽभवन् क्षितौ ॥ १७ ॥

उनमेंसे ब्राह्मणजातीय मानवोंने छहों अङ्गोंसहित वेदोंको धारण किया। वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारूष, शर्याति, आठवीं इला, नवें क्षत्रिय-धर्मपरायण पृषध्र तथा दसवें नाभागारिष्ट—इन दसोंको मनुपुत्र कहा जाता है। मनुके इस पृथ्वीपर पचास पुत्र और हुए ॥ १५—१७ ॥

अन्योन्यभेदात् ते सर्वे विनेशुरिति नः श्रुतम्।
पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ॥ १८ ॥

परंतु आपसकी फूटके कारण वे सब-के-सब नष्ट हो गये, ऐसा हमने सुना है। तदनन्तर इलाके गर्भसे विद्वान् पुरूरवाका जन्म हुआ ॥ १८ ॥

सा वै तस्याभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम्।
त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवाः ॥ १९ ॥

सुना जाता है, इला पुरूरवाकी माता भी थी और पिता भी*। राजा पुरूरवा समुद्रके तेरह द्वीपोंका शासन और उपभोग करते थे ॥ १९ ॥

अमानुषैर्वृतः सत्त्वैर्मानुषः सन् महायशाः।
विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवाः ॥ २० ॥
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि।

महायशस्वी पुरूरवा मनुष्य होकर भी मानवेतर प्राणियोंसे घिरे रहते थे। वे अपने बल-पराक्रमसे उन्मत्त हो ब्राह्मणोंके साथ विवाद करने लगे। बेचारे ब्राह्मण चीखते-चिल्लाते रहते थे तो भी वे उनका सारा धन-रत्न छीन लेते थे ॥ २०½ ॥

सनत्कुमारस्तं राजन् ब्रह्मलोकादुपेत्य ह ॥ २१ ॥
अनुदर्शं ततश्चक्रे प्रत्यगृह्णान्न चाप्यसौ।
ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्यः शप्तो व्यनश्यत ॥ २२ ॥

जनमेजय! ब्रह्मलोकसे सनत्कुमारजीने आकर उन्हें बहुत समझाया और ब्राह्मणोंपर अत्याचार न करनेका उपदेश दिया, किंतु वे उनकी शिक्षा ग्रहण न कर सके। तब क्रोधमें भरे हुए महर्षियोंने तत्काल उन्हें शाप दे दिया, जिससे वे नष्ट हो गये ॥ २१-२२ ॥

लोभान्वितो बलमदान्नष्टसंज्ञो नराधिपः।
स हि गन्धर्वलोकस्थानुर्वश्या सहितो विराट् ॥ २३ ॥
आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन् यथावद् विहितांस्त्रिधा।
षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ॥ २४ ॥
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः।
नहुषं वृद्धशर्माणं रजिं गयमनेनसम् ॥ २५ ॥
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान् प्रचक्षते।
आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान् सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥

* वास्तवमें इला माता ही थी। जन्मदाता पिता चन्द्रमाके पुत्र बुध थे, परंतु इला जब पुरुषरूपमें परिणत हुई तो उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्नने ही पुरूरवाको राज्य दिया था, इसलिये वे पिता भी कहे जाते हैं।

राजा पुरूरवा लोभसे अभिभूत थे और बलके घमंडमें आकर अपनी विवेक-शक्ति खो बैठे थे। वे शोभाशाली नरेश ही गन्धर्वलोकमें स्थित और विधिपूर्वक स्थापित त्रिविध अग्नियोंको उर्वशीके साथ इस धरातलपर लाये थे। इलानन्दन पुरूरवाके छः पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—आयु, धीमान्, अमावसु, दृढायु, वनायु और शतायु। ये सभी उर्वशीके पुत्र हैं। उनमेंसे आयुके स्वर्भानुकुमारीके गर्भसे उत्पन्न पाँच पुत्र बताये जाते हैं—नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, गय तथा अनेना। आयुनन्दन नहुष बड़े बुद्धिमान् और सत्य-पराक्रमी थे ॥ २३—२६ ॥

राज्यं शशास सुमहद् धर्मेण पृथिवीपते।
पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् गन्धर्वोरगराक्षसान् ॥२७॥
नहुषः पालयामास ब्रह्मक्षत्रमथो विशः।
स हत्वा दस्युसंघातानृषीन् करमदापयत् ॥२८॥

पृथ्वीपते! उन्होंने अपने विशाल राज्यका धर्मपूर्वक शासन किया। पितरों, देवताओं, ऋषियों, ब्राह्मणों, गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका भी पालन किया। राजा नहुषने झुंड-के-झुंड डाकुओं और लुटेरोंका वध करके ऋषियोंको भी कर देनेके लिये विवश किया ॥२७-२८॥

पशुवच्चैव तान् पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान्।
कारयामास चेन्द्रत्वमभिभूय दिवौकसः ॥२९॥
तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा।
यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम् ॥३०॥
नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः।
यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः ॥३१॥

अपने इन्द्रत्वकालमें पराक्रमी नहुषने महर्षियोंको पशुकी तरह वाहन बनाकर उनकी पीठपर सवारी की थी। उन्होंने तेज, तप, ओज और पराक्रमद्वारा समस्त देवताओंको तिरस्कृत करके इन्द्रपदका उपभोग किया था। राजा नहुषने छः प्रियवादी पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—यति, ययाति, संयाति, आयाति, अयति और ध्रुव। इनमें यति योगका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत मुनि हो गये थे ॥ २९-३१ ॥

ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत् सत्यपराक्रमः।
स पालयामास महीमीजे च बहुभिर्मखैः ॥३२॥

तब नहुषके दूसरे पुत्र सत्यपराक्रमी ययाति सम्राट् हुए। उन्होंने इस पृथ्वीका पालन तथा बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया॥

अतिभक्त्या पितॄनर्चन् देवांश्च प्रयतः सदा।
अन्वगृह्णात् प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः ॥३३॥
तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥३४॥

महाराज ययाति किसीसे परास्त होनेवाले नहीं थे। वे सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर बड़े भक्ति-भावसे देवताओं तथा पितरोंका पूजन करते और समस्त प्रजापर अनुग्रह रखते थे। महाराज जनमेजय! राजा ययातिके देवयानी और शर्मिष्ठाके गर्भसे महान् धनुर्धर पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी समस्त सद्गुणोंके भण्डार थे ॥ ३३-३४ ॥

देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च।
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥३५॥

यदु और तुर्वसु—ये दो देवयानीके पुत्र थे और द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे ॥

स शाश्वतीः समा राजन् प्रजा धर्मेण पालयन्।
जरामार्च्छन्महाघोरां नाहुषो रूपनाशिनीम् ॥३६॥

राजन्! वे सर्वदा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते थे। एक समय नहुषपुत्र ययातिको अत्यन्त भयानक वृद्धावस्था प्राप्त हुई, जो रूप और सौन्दर्यका नाश करनेवाली है ॥३६॥

जराभिभूतः पुत्रान् स राजा वचनमब्रवीत्।
यदुं पूरुं तुर्वसुं च द्रुह्युं चानुं च भारत ॥३७॥

जनमेजय! वृद्धावस्थासे आक्रान्त होनेपर राजा ययातिने अपने समस्त पुत्रों यदु, पूरु, तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुसे कहा—।३७।

यौवनेन चरन् कामान् युवा युवतिभिः सह।
विहर्तुमहमिच्छामि साह्यं कुरुत पुत्रकाः ॥३८॥

'पुत्रो! मैं युवावस्थासे सम्पन्न हो जवानीके द्वारा कामोपभोग करते हुए युवतियोंके साथ विहार करना चाहता हूँ। तुम मेरी सहायता करो' ॥ ३८ ॥

तं पुत्रो देवयानेयः पूर्वजो वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं भवतः कार्यमस्माकं यौवनेन ते ॥३९॥

यह सुनकर देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुने पूछा—'भगवन्! हमारी जवानी लेकर उसके द्वारा आपको कौन-सा कार्य करना है' ॥ ३९ ॥

ययातिरब्रवीत् तं वै जरा मे प्रतिगृह्यताम्।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥४०॥

तब ययातिने उससे कहा—'तुम मेरा बुढ़ापा ले लो और मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोपभोग करूँगा ॥ ४० ॥

यजतो दीर्घसत्रैर्मे शापाच्चोशनसो मुनेः।
कामार्थः परिहीणोऽयं तप्येयं तेन पुत्रकाः ॥४१॥

'पुत्रो! अबतक तो मैं दीर्घकालीन यज्ञोंके अनुष्ठानमें लगा रहा और अब मुनिवर शुक्राचार्यके शापसे बुढ़ापेने मुझे धर दबाया है, जिससे मेरा कामरूप पुरुषार्थ छिन गया। इसीसे मैं संतप्त हो रहा हूँ ॥ ४१ ॥

मामकेन शरीरेण राज्यमेकः प्रशास्तु वः।
अहं तन्वाभिनवया युवा काममवाप्नुयाम् ॥४२॥

'तुममेंसे कोई एक व्यक्ति मेरा वृद्ध शरीर लेकर उसके द्वारा राज्यशासन करे । मैं नूतन शरीर पाकर युवावस्थासे सम्पन्न हो विषयोंका उपभोग करूँगा' ॥ ४२ ॥

ते न तस्य प्रत्यगृह्णन् यदुप्रभृतयो जराम् ।
तमब्रवीत् ततः पूरुः कनीयान् सत्यविक्रमः ॥४३॥
राजंश्चराभिनवया तन्वा यौवनगोचरः ।
अहं जरां समादाय राज्ये स्थास्यामि तेऽऽज्ञया ॥४४॥

राजाके ऐसा कहनेपर भी वे यदु आदि चार पुत्र उनकी वृद्धावस्था न ले सके । तब सबसे छोटे पुत्र सत्यपराक्रमी पूरुने कहा—'राजन् ! आप मेरे नूतन शरीरसे नौजवान होकर विषयोंका उपभोग कीजिये । मैं आपकी आज्ञासे बुढ़ापा लेकर राज्यसिंहासनपर बैठूँगा' ॥ ४३-४४ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिस्तपोवीर्यसमाश्रयात् ।
संचारयामास जरां तदा पुत्रे महात्मनि ॥४५॥

पूरुके ऐसा कहनेपर राजर्षि ययातिने तप और वीर्यके आश्रयसे अपनी वृद्धावस्थाका अपने महात्मा पुत्र पूरुमें संचार कर दिया ॥ ४५ ॥

पौरवेणाथ वयसा राजा यौवनमास्थितः ।
यायातेनापि वयसा राज्यं पूरुरकारयत् ॥४६॥

ययाति स्वयं पूरुकी नयी अवस्था लेकर नौजवान बन गये । इधर पूरु भी राजा ययातिकी अवस्था लेकर उसके द्वारा राज्यका पालन करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो वर्षसहस्राणि ययातिरपराजितः ।
स्थितः स नृपशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमः ॥४७॥

तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ ययाति एक सहस्र वर्षतक युवावस्थामें स्थित रहे ॥ ४७ ॥

ययातिरपि पत्नीभ्यां दीर्घकालं विहृत्य च ।
विश्वाच्या सहितो रेमे पुनश्चैत्ररथे वने ॥४८॥

उन्होंने अपनी दोनों पत्नियोंके साथ दीर्घकालतक विहार करके चैत्ररथ वनमें जाकर विश्वाची अप्सराके साथ रमण किया ॥

नाध्यगच्छत् तदा तृप्तिं कामानां स महायशाः ।
अवेत्य मनसा राजन्निमां गाथां तदा जगौ ॥४९॥

परंतु उस समय भी महायशस्वी ययाति काम-भोगसे तृप्त न हो सके । राजन् ! उन्होंने मनसे विचारकर यह निश्चय कर लिया कि विषयोंके भोगनेसे भोगेच्छा कभी शान्त नहीं हो सकती । तब राजाने (संसारके हितके लिये) यह गाथा गायी—॥ ४९ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥५०॥

'विषय-भोगकी इच्छा विषयोंका उपभोग करनेसे कभी शान्त नहीं हो सकती । घीकी आहुति डालनेसे अधिक प्रज्वलित होनेवाली आगकी भाँति वह और भी बढ़ती ही जाती है ॥ ५० ॥

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥५१॥

'रत्नोंसे भरी हुई सारी पृथ्वी, संसारका सारा सुवर्ण, सारे पशु और सुन्दरी स्त्रियाँ किसी एक पुरुषको मिल जायँ, तो भी वे सब-के-सब उसके लिये पर्याप्त नहीं होंगे । वह और भी पाना चाहेगा । ऐसा समझकर शान्ति धारण करे—भोगेच्छाको दबा दे ॥ ५१ ॥

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥५२॥

'जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसी भी प्राणीके प्रति बुरा भाव नहीं करता, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥५३॥

'जब सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होनेके कारण यह पुरुष किसीसे नहीं डरता और जब उससे भी दूसरे प्राणी नहीं डरते तथा जब वह न तो किसीकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है' ॥ ५३ ॥

इत्यवेक्ष्य महाप्राज्ञः कामानां फल्गुतां नृप ।
समाधाय मनो बुद्ध्या प्रत्यगृह्णाज्जरां सुतात् ॥५४॥

जनमेजय ! परम बुद्धिमान् महाराज ययातिने इस प्रकार भोगोंकी निःसारताका विचार करके बुद्धिके द्वारा मनको एकाग्र किया और पुत्रसे अपना बुढ़ापा वापस ले लिया ॥ ५४ ॥

दत्त्वा च यौवनं राजा पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
अतृप्त एव कामानां पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥५५॥

पूरुको उसकी जवानी लौटाकर राजाने उसे राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और भोगोंसे अतृप्त रहकर ही अपने पुत्र पूरुसे कहा—॥ ५५ ॥

त्वया दायादवानस्मि त्वं मे वंशकरः सुतः ।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥५६॥

'बेटा ! तुम्हारे-जैसे पुत्रसे ही मैं पुत्रवान् हूँ । तुम्हीं मेरे वंश-प्रवर्तक पुत्र हो । तुम्हारा वंश इस जगत्‌में पौरव वंशके नामसे विख्यात होगा' ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स नृपशार्दूल पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
ततः सुचरितं कृत्वा भृगुतुङ्गे महातपाः ॥५७॥
कालेन महता पश्चात् कालधर्ममुपेयिवान् ।
कारयित्वा त्वनशनं सदारः स्वर्गमाप्तवान् ॥५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर पूरुका राज्याभिषेक करनेके पश्चात् राजा ययातिने अपनी पत्नियोंके साथ भृगुतुङ्ग पर्वतपर जाकर सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए वहाँ बड़ी भारी तपस्या की । इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होनेके बाद स्त्रियोंसहित निराहार व्रत करके उन्होंने स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ ५७—५८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

कचका शिष्यभावसे शुक्राचार्य और देवयानीकी सेवामें संलग्न होना और अनेक कष्ट सहनेके पश्चात् मृतसंजीविनी विद्या प्राप्त करना

जनमेजय उवाच

ययातिः पूर्वजोऽस्माकं दशमो यः प्रजापतेः ।
कथं स शुक्रतनयां लेभे परमदुर्लभाम् ॥ १ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन ।
आनुपूर्व्या च मे शंस राज्ञो वंशकरान् पृथक् ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन ! हमारे पूर्वज महाराज ययातिने,जो प्रजापतिसे दसवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुए थे,शुक्राचार्यकी अत्यन्त दुर्लभ पुत्री देवयानीको पत्नीरूपमें कैसे प्राप्त किया ? मैं इस वृत्तान्तको विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ । आप मुझसे सभी वंश-प्रवर्त्तक राजाओंका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये॥ १-२॥

वैशम्पायन उवाच

ययातिरासीन्नृपतिर्देवराजसमद्युतिः ।
तं शुक्रवृषपर्वाणौ वव्राते वै यथा पुरा ॥ ३ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि पृच्छते जनमेजय ।
देवयान्याश्च संयोगं ययातेर्नाहुषस्य च ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे । पूर्वकालमें शुक्राचार्य और वृषपर्वाने ययातिका अपनी-अपनी कन्याके पतिके रूपमें जिस प्रकार वरण किया, वह सब प्रसंग तुम्हारे पूछनेपर मैं तुमसे कहूँगा । साथ ही यह भी बताऊँगा कि नहुषनन्दन ययाति तथा देवयानीका संयोग किस प्रकार हुआ ॥ ३-४ ॥

सुराणामसुराणां च समजायत वै मिथः ।
ऐश्वर्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ५ ॥

एक समय चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीके ऐश्वर्यके लिये देवताओं और असुरोंमें परस्पर बड़ा भारी संघर्ष हुआ ॥ ५ ॥

जिगीषया ततो देवा वव्रिरेऽङ्गिरसं मुनिम् ।
पौरोहित्येन याज्यार्थे काव्यं तूशनसं परे ॥ ६ ॥
ब्राह्मणौ तावुभौ नित्यमन्योन्यस्पर्धिनौ भृशम् ।
तत्र देवा निजघ्नुर्यान् दानवान् युधि संगतान् ॥ ७ ॥
तान् पुनर्जीवयामास काव्यो विद्याबलाश्रयात् ।
ततस्ते पुनरुत्थाय योधयांचक्रिरे सुरान् ॥ ८ ॥

उसमें विजय पानेकी इच्छासे देवताओंने अङ्गिरा मुनिके पुत्र बृहस्पतिका पुरोहितके पदपर वरण किया और दैत्योंने शुक्राचार्यको पुरोहित बनाया । वे दोनों ब्राह्मण सदा आपसमें बहुत लाग-डाट रखते थे । देवताओंने उस युद्धमें आये हुए जिन दानवोंको मारा था, उन्हें शुक्राचार्यने अपनी संजीविनी विद्याके बलसे पुनः जीवित कर दिया । अतः वे पुनः उठकर देवताओंसे युद्ध करने लगे ॥ ६-८ ॥

असुरास्तु निजघ्नुर्यान् सुरान् समरमूर्धनि ।
न तान् संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ९ ॥

परंतु असुरोंने युद्धके मुहानेपर जिन देवताओंको मारा था, उन्हें उदारबुद्धि बृहस्पति जीवित न कर सके ॥ ९ ॥

न हि वेद स तां विद्यां यां काव्यो वेत्ति वीर्यवान् ।
संजीविनीं ततो देवा विषादमगमन् परम् ॥१०॥

क्योंकि शक्तिशाली शुक्राचार्य जिस संजीविनी विद्याको जानते थे, उसका ज्ञान बृहस्पतिको नहीं था । इससे देवताओंको बड़ा विषाद हुआ ॥ १० ॥

ते तु देवा भयोद्विग्नाः काव्यादुशनसस्तदा ।
ऊचुः कचमुपागम्य ज्येष्ठं पुत्रं बृहस्पतेः ॥११॥

इससे देवता शुक्राचार्यके भयसे उद्विग्न हो उस समय बृहस्पतिके ज्येष्ठ पुत्र कचके पास जाकर बोले—॥ ११ ॥

भजमानान् भजस्वास्मान् कुरु नः साह्यमुत्तमम् ।
या सा विद्या निवसति ब्राह्मणेऽमिततेजसि ॥१२॥

शुक्रे तामाहर क्षिप्रं भागभाङ् नो भविष्यसि।
वृषपर्वसमीपे हि शक्यो द्रष्टुं त्वया द्विजः ॥१३॥

'ब्रह्मन्! हम आपके सेवक हैं। आप हमें अपनाइये और हमारी उत्तम सहायता कीजिये। अमिततेजस्वी ब्राह्मण शुक्राचार्यके पास जो मृतसंजीविनी विद्या है, उसे शीघ्र सीखकर यहाँ ले आइये। इससे आप हम देवताओंके साथ यज्ञमें भाग प्राप्त कर सकेंगे। राजा वृषपर्वाके समीप आपको विप्रवर शुक्राचार्यका दर्शन हो सकता है ॥ १२-१३ ॥

रक्षते दानवांस्तत्र न स रक्षत्यदानवान्।
तमाराधयितुं शक्तो भवान् पूर्ववयाः कविम् ॥१४॥

'वहाँ रहकर वे दानवोंकी रक्षा करते हैं। जो दानव नहीं हैं, उनकी रक्षा नहीं करते। आपकी अभी नयी अवस्था है, अतः आप शुक्राचार्यकी आराधना (करके उन्हें प्रसन्न) करनेमें समर्थ हैं ॥ १४ ॥

देवयानीं च दयितां सुतां तस्य महात्मनः।
त्वमाराधयितुं शक्तो नान्यः कश्चन विद्यते ॥१५॥

'उन महात्माकी प्यारी पुत्रीका नाम देवयानी है, उसे अपनी सेवाओंद्वारा आप ही प्रसन्न कर सकते हैं। दूसरा कोई इसमें समर्थ नहीं है ॥ १५ ॥

शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च।
देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तां प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥१६॥

'अपने शील-स्वभाव, उदारता, मधुर व्यवहार, सदाचार तथा इन्द्रियसंयमद्वारा देवयानीको संतुष्ट कर लेनेपर आप निश्चय ही उस विद्याको प्राप्त कर लेंगे' ॥ १६ ॥

तथेत्युक्त्वा ततः प्रायाद् बृहस्पतिसुतः कचः।
तदाभिपूजितो देवैः समीपे वृषपर्वणः ॥ १७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर बृहस्पतिपुत्र कच देवताओंसे सम्मानित हो वहाँसे वृषपर्वाके समीप गये ॥ १७ ॥

स गत्वा त्वरितो राजन् देवैः सम्प्रेषितः कचः।
असुरेन्द्रपुरे शुक्रं दृष्ट्वा वाक्यमुवाच ह ॥ १८ ॥

राजन्! देवताओंके भेजे हुए कच तुरंत दानवराज वृषपर्वाके नगरमें जाकर शुक्राचार्यसे मिले और इस प्रकार बोले— ॥

ऋषेरङ्गिरसः पौत्रं पुत्रं साक्षाद् बृहस्पतेः।
नाम्ना कचमिति ख्यातं शिष्यं गृह्णातु मां भवान् ॥ १९ ॥

'भगवन्! मैं अङ्गिरा ऋषिका पौत्र तथा साक्षात् बृहस्पतिका पुत्र हूँ। मेरा नाम कच है। आप मुझे अपने शिष्यके रूपमें ग्रहण करें ॥ १९ ॥

ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरौ।
अनुमन्यस्व मां ब्रह्मन् सहस्रं परिवत्सरान् ॥ २० ॥

'ब्रह्मन्! आप मेरे गुरु हैं। मैं आपके समीप रहकर एक हजार वर्षों तक उत्तम ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। इसके लिये आप मुझे अनुमति दें' ॥ २० ॥

शुक्र उवाच

कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः।
अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः ॥ २१ ॥

शुक्राचार्यने कहा—कच! तुम्हारा भलीभाँति स्वागत है। मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ। तुम मेरे लिये आदरके पात्र हो, अतः मैं तुम्हारा सम्मान एवं सत्कार करूँगा। तुम्हारे आदर-सत्कारसे मेरेद्वारा बृहस्पतिका आदर-सत्कार होगा ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

कचस्तु तं तथेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह तद् व्रतम्।
आदिष्टं कविपुत्रेण शुक्रेणोशनसा स्वयम् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब कचने 'बहुत अच्छा' कहकर महाकान्तिमान् कविपुत्र शुक्राचार्यके आदेशके अनुसार स्वयं ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया ॥ २२ ॥

व्रतस्य प्राप्तकालं स यथोक्तं प्रत्यगृह्णत।
आराधयन्नुपाध्यायं देवयानीं च भारत ॥ २३ ॥
नित्यमाराधयिष्यंस्तौ युवा यौवनगोचरे।
गायन् नृत्यन् वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ॥ २४ ॥

जनमेजय! नियत समय तकके लिये व्रतकी दीक्षा लेनेवाले कचको शुक्राचार्यने भली-भाँति अपना लिया। कच आचार्य शुक्र तथा उनकी पुत्री देवयानी दोनोंकी नित्य आराधना करने लगे। वे नवयुवक थे और जवानीमें प्रिय लगनेवाले कार्य—गायन और नृत्य करके तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजाकर देवयानीको संतुष्ट रखते थे ॥ २३-२४ ॥

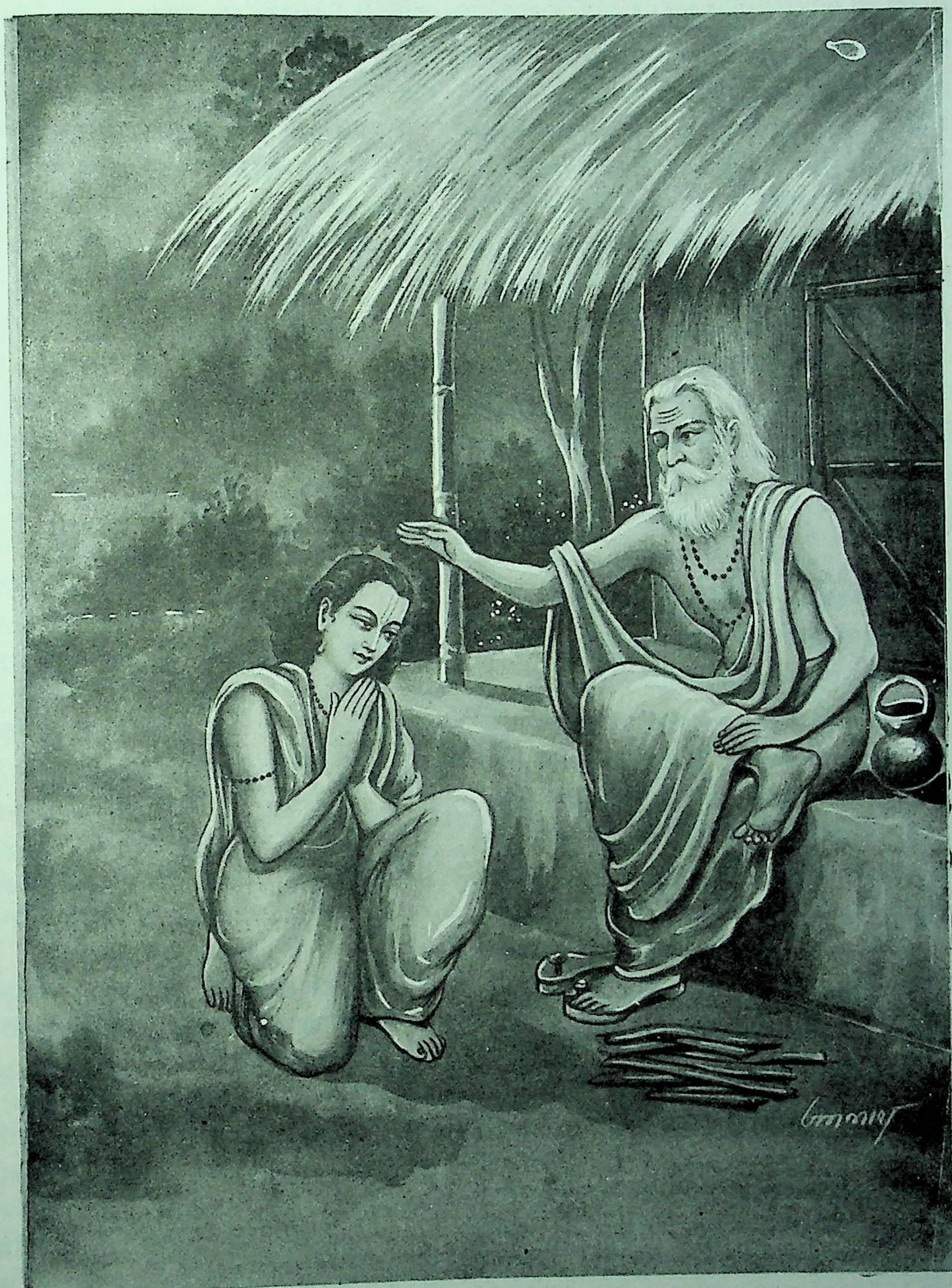
स शीलयन् देवयानीं कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम्।
पुष्पैः फलैः प्रेषणैश्च तोषयामास भारत ॥ २५ ॥

भारत! आचार्यकन्या देवयानी भी युवावस्थामें पदार्पण कर चुकी थी। कच उसके लिये फूल और फल ले आते तथा उसकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे। इस प्रकार उसकी सेवामें संलग्न रहकर वे सदा उसे प्रसन्न रखते थे ॥ २५ ॥

देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतधारणम्।
गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत् तथा ॥ २६ ॥

देवयानी भी नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले कचके ही समीप रहकर गाती और आमोद-प्रमोद करती हुई एकान्तमें उनकी सेवा करती थी ॥ २६ ॥

पञ्चवर्षशतान्येवं कचस्य चरतो व्रतम्।
तत्रातीयुरथो बुद्ध्वा दानवास्तं ततः कचम् ॥ २७ ॥
गा रक्षन्तं वने दृष्ट्वा रहस्येकममर्षिताः।
जघ्नुर्बृहस्पतेर्द्वेषाद् विद्यारक्षार्थमेव च ॥ २८ ॥



शुक्राचार्य और कच

इस प्रकार वहाँ रहकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए कचके पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो गये। तब दानवोंको यह बात मालूम हुई। तदनन्तर कचको वनके एकान्त प्रदेशमें अकेले गौएँ चराते देख बृहस्पतिके द्वेषसे और संजीवनी विद्याकी रक्षाके लिये क्रोधमें भरे हुए दानवोंने कचको मार डाला॥ २७-२८॥

हत्वा शालावृकेभ्यश्च प्रायच्छँल्लवशः कृतम्।
ततो गावो निवृत्तास्ता अगोपाः स्वं निवेशनम्॥ २९॥

उन्होंने मारनेके बाद उनके शरीरको टुकड़े-टुकड़े कर कुत्तों और सियारोंको बाँट दिया। उस दिन गौएँ बिना रक्षकके ही अपने स्थानपर लौटीं॥ २९॥

सा दृष्ट्वा रहिता गाश्च कचेनाभ्यागता वनात्।
उवाच वचनं काले देवयान्यथ भारत॥ ३०॥

जनमेजय! जब देवयानीने देखा, गौएँ तो वनसे लौट आयीं पर उनके साथ कच नहीं हैं, तब उसने उस समय अपने पितासे इस प्रकार कहा॥ ३०॥

देवयान्युवाच

आहुतं चाग्निहोत्रं ते सूर्यश्चास्तं गतः प्रभो।
अगोपाश्चागता गावः कचस्तात न दृश्यते॥ ३१॥

देवयानी बोली—प्रभो! आपने अग्निहोत्र कर लिया और सूर्यदेव भी अस्ताचलको चले गये। गौएँ भी आज बिना रक्षकके ही लौट आयी हैं। तात! तो भी कच नहीं दिखायी देते हैं॥ ३१॥

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति।
तं विना न च जीवेयमिति सत्यं ब्रवीमि ते॥ ३२॥

पिताजी! अवश्य ही कच या तो मारे गये हैं या मर गये हैं। मैं आपसे सच कहती हूँ, उनके बिना जीवित नहीं रह सकूँगी॥ ३२॥

शुक्र उवाच

अयमेहीति संशब्द्य मृतं संजीवयाम्यहम्।
ततः संजीविनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत्॥ ३३॥

शुक्राचार्यने कहा—(बेटी! चिन्ता न करो।) मैं अभी 'आओ' इस प्रकार बुलाकर मरे हुए कचको जीवित किये देता हूँ।

ऐसा कहकर उन्होंने संजीविनी विद्याका प्रयोग किया और कचको पुकारा॥ ३३॥

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि वृकाणां स विनिर्गतः।
आहूतः प्रादुरभवत् कचो हृष्टोऽथ विद्यया॥ ३४॥

फिर तो गुरुके पुकारनेपर कच विद्याके प्रभावसे हृष्ट-पुष्ट हो कुत्तोंके शरीर फाड़-फाड़कर निकल आये और वहाँ प्रकट हो गये॥ ३४॥

कस्माच्चिरायितोऽसीति पृष्टस्तामाह भार्गवीम्।
समिधश्च कुशादीनि काष्ठभारं च भामिनि॥ ३५॥

गृहीत्वा श्रमभारार्तो वटवृक्षं समाश्रितः।
गावश्च सहिताः सर्वा वृक्षच्छायामुपाश्रिताः॥ ३६॥

उन्हें देखते ही देवयानीने पूछा—'आज आपने लौटनेमें विलम्ब क्यों किया?' इस प्रकार पूछनेपर कचने शुक्राचार्यकी कन्यासे कहा—'भामिनि! मैं समिधा, कुश आदि और काष्ठका भार लेकर आ रहा था। रास्तेमें थकावट और भारसे पीड़ित हो एक वटवृक्षके नीचे ठहर गया। साथ ही सारी गौएँ भी उसी वृक्षकी छायामें आकर विश्राम करने लगीं॥ ३५-३६॥

असुरास्तत्र मां दृष्ट्वा कस्त्वमित्यभ्यचोदयन्।
बृहस्पतिसुतश्चाहं कच इत्यभिविश्रुतः॥ ३७॥

'वहाँ मुझे देखकर असुरोंने पूछा—'तुम कौन हो?' मैंने कहा—मेरा नाम कच है, मैं बृहस्पतिका पुत्र हूँ॥ ३७॥

इत्युक्तमात्रे मां हत्वा पेषीकृत्वा तु दानवाः।
दत्त्वा शालावृकेभ्यस्तु सुखं जग्मुः स्वमालयम्॥ ३८॥

'मेरे इतना कहते ही दानवोंने मुझे मार डाला और मेरे शरीरको चूर्ण करके कुत्ते-सियारोंको बाँट दिया। फिर वे सुखपूर्वक अपने घर चले गये॥ ३८॥

आहूतो विद्यया भद्रे भार्गवेण महात्मना।
त्वत्समीपमिहायातः कथंचित् समजीवितः॥ ३९॥

'भद्रे! फिर महात्मा भार्गवने जब विद्याका प्रयोग करके मुझे बुलाया है, तब किसी प्रकारसे पूर्ण जीवन लाभ करके यहाँ तुम्हारे पास आ सका हूँ'॥ ३९॥

हतोऽहमिति चाचख्यौ पृष्टो ब्राह्मणकन्यया।
स पुनर्देवयान्योक्तः पुष्पाहारो यदृच्छया॥ ४०॥

इस प्रकार ब्राह्मणकन्याके पूछनेपर कचने उससे अपने मारे जानेकी बात बतायी। तदनन्तर पुनः देवयानीने एक दिन अकस्मात् कचको फूल लानेके लिये कहा॥ ४०॥

वनं ययौ कचो विप्रो ददृशुर्दानवाश्च तम्।
पुनस्तं पेषयित्वा तु समुद्राम्भस्यमिश्रयन्॥ ४१॥

विप्रवर कच इसके लिये वनमें गये। वहाँ दानवोंने उन्हें देख लिया और फिर उन्हें पीसकर समुद्रके जलमें घोल दिया॥ ४१॥

चिरं गतं पुनः कन्या पित्रे तं संन्यवेदयत्।
विप्रेण पुनराहूतो विद्यया गुरुदेहजः।
पुनरावृत्य तद् वृत्तं न्यवेदयत तद् यथा॥ ४२॥

जब उसके लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब आचार्यकन्याने पितासे पुनः यह बात बतायी। विप्रवर शुक्राचार्यने कचका पुनः संजीविनी विद्याद्वारा आवाहन किया। इससे बृहस्पतिपुत्र कच पुनः वहाँ आ पहुँचे और उनके साथ असुरोंने जो वर्ताव किया था, वह बताया॥ ४२॥

ततस्तृतीयं हत्वा तं दग्ध्वा कृत्वा च चूर्णशः।
प्रायच्छन् ब्राह्मणायैव सुरायामसुरास्तदा ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् असुरोंने तीसरी बार कचको मारकर आगमें जलाया और उनकी जली हुई लाशका चूर्ण बनाकर मदिरामें मिला दिया तथा उसे ब्राह्मण शुक्राचार्यको ही पिला दिया ॥ ४३ ॥

देवयान्यथ भूयोऽपि पितरं वाक्यमब्रवीत्।
पुष्पाहारः प्रेषणकृत् कचस्तात न दृश्यते ॥ ४४ ॥

अब देवयानी पुनः अपने पितासे यह बात बोली—'पिताजी! कच मेरे कहनेपर प्रत्येक कार्य पूर्ण कर दिया करते हैं। आज मैंने उन्हें फूल लानेके लिये भेजा था, परंतु अभीतक वे दिखायी नहीं दिये ॥ ४४ ॥

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति।
तं विना न च जीवेयं कचं सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४५ ॥

'तात! जान पड़ता है वे मार दिये गये या मर गये। मैं आपसे सच कहती हूँ, मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती हूँ' ॥ ४५ ॥

शुक्र उवाच

बृहस्पतेः सुतः पुत्रि कचः प्रेतगतिं गतः।
विद्यया जीवितोऽप्येवं हन्यते करवाणि किम् ॥ ४६ ॥
मैवं शुचो मा रुद देवयानि
न त्वादृशी मर्त्यमनुप्रशोचते।
यस्यास्तव ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च
सेन्द्रा देवा वसवोऽथाश्विनौ च ॥ ४७ ॥
सुरद्विषश्चैव जगच्च सर्व-
मुपस्थाने संनमन्ति प्रभावात्।
अशक्योऽसौ जीवयितुं द्विजातिः
संजीवितो बध्यते चैव भूयः ॥ ४८ ॥

शुक्राचार्यने कहा—बेटी! बृहस्पतिके पुत्र कच मर गये। मैंने विद्यासे उन्हें कई बार जिलाया, तो भी वे इस प्रकार मार दिये जाते हैं, अब मैं क्या करूँ। देवयानी! तुम इस प्रकार शोक न करो, रोओ मत। तुम-जैसी शक्तिशालिनी स्त्री किसी मरनेवालेके लिये शोक नहीं करती। तुम्हें तो वेद, ब्राह्मण, इन्द्रसहित सब देवता, वसुगण, अश्विनीकुमार, दैत्य तथा सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणी मेरे प्रभावसे तीनों संध्याओंके समय मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हैं। अब उस ब्राह्मणको जिलाना असम्भव है। यदि जीवित हो जाय, तो फिर दैत्योंद्वारा मार डाला जायगा (अतः उसे जिलानेसे कोई लाभ नहीं है) ॥ ४६—४८ ॥

देवयान्युवाच

यस्याङ्गिरा वृद्धतमः पितामहो
बृहस्पतिश्चापि पिता तपोनिधिः।
ऋषेः पुत्रं तमथो वापि पौत्रं
कथं न शोचेयमहं न रुद्याम् ॥ ४९ ॥

देवयानी बोली—पिताजी! अत्यन्त वृद्ध महर्षि अंगिरा जिनके पितामह हैं, तपस्याके भण्डार बृहस्पति जिनके पिता हैं, जो ऋषिके पुत्र और ऋषिके ही पौत्र हैं; उन ब्रह्मचारी कचके लिये मैं कैसे शोक न करूँ और कैसे न रोऊँ? ॥ ४९ ॥

स ब्रह्मचारी च तपोधनश्च
सदोत्थितः कर्मसु चैव दक्षः।
कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये
प्रियो हि मे तात कचोऽभिरूपः ॥ ५० ॥

तात! वे ब्रह्मचर्यपालनमें रत थे, तपस्या ही उनका धन था। वे सदा ही सजग रहनेवाले और कार्य करनेमें कुशल थे। इसलिये कच मुझे बहुत प्रिय थे। वे सदा मेरे मनके अनुरूप चलते थे। अब मैं भोजनका त्याग कर दूँगी और कच जिस मार्गपर गये हैं, वहीं मैं भी चली जाऊँगी ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

स पीडितो देवयान्या महर्षिः
समाह्वयत् संरम्भाच्चैव काव्यः।
असंशयं मामसुरा द्विषन्ति
ये मे शिष्यानागतान् सूदयन्ति ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवयानीके कहनेसे उसके दुःखसे दुखी हुए महर्षि शुक्राचार्यने कचको पुकारा और दैत्योंके प्रति कुपित होकर बोले—'इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि असुरलोग मुझसे द्वेष करते हैं। तभी तो यहाँ आये हुए मेरे शिष्योंको ये लोग मार डालते हैं ॥ ५१ ॥

अब्राह्मणं कर्तुमिच्छन्ति रौद्रा-
स्ते मां यथा व्यभिचरन्ति नित्यम्।
अप्यस्य पापस्य भवेदिहान्तः
कं ब्रह्महत्या न दहेदपीन्द्रम् ॥ ५२ ॥

'ये भयंकर स्वभाववाले दैत्य मुझे ब्राह्मणत्वसे गिराना चाहते हैं। इसीलिये प्रतिदिन मेरे विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। इस पापका परिणाम यहाँ अवश्य प्रकट होगा। ब्रह्महत्या किसे नहीं जला देगी, चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो?॥

गुरोर्हि भीतो विद्यया चोपहूतः
शनैर्वाक्यं जठरे व्याजहार।

जब गुरुने विद्याका प्रयोग करके बुलाया, तब उनके पेटमें बैठे हुए कच भयभीत हो धीरेसे बोले।

(कच उवाच

प्रसीद भगवन् मह्यं कचोऽहमभिवादये।
यथा बहुमतः पुत्रस्तथा मन्यतु मां भवान्॥)

कचने कहा—भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न हों, मैं कच हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। जैसे पुत्रपर पिताका बहुत प्यार होता है, उसी प्रकार आप मुझे भी अपना स्नेहभाजन समझें॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् केन पथोपनीत-
स्त्वं चोदरे तिष्ठसि ब्रूहि विप्र॥ ५३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी आवाज सुनकर शुक्राचार्यने पूछा—'विप्र! किस मार्गसे जाकर तुम मेरे उदरमें स्थित हो गये? ठीक-ठीक बताओ'॥ ५३॥

कच उवाच

तव प्रसादान्न जहाति मां स्मृतिः
स्मरामि सर्वं यच्च यथा च वृत्तम्।
न त्वेवं स्यात् तपसः संक्षयो मे
ततः क्लेशं घोरमिमं सहामि॥ ५४॥

कचने कहा—गुरुदेव! आपके प्रसादसे मेरी स्मरण-शक्तिने साथ नहीं छोड़ा है। जो बात जैसे हुई है, वह सब मुझे याद है। इस प्रकार पेट फाड़कर निकल आनेसे मेरी तपस्याका नाश होगा। वह न हो, इसीलिये मैं यहाँ घोर क्लेश सहन करता हूँ॥ ५४॥

असुरैः सुरायां भवतोऽस्मि दत्तो
हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य।
ब्राह्मीं मायां चासुरीं विप्र मायां
त्वयि स्थिते कथमेवातिवर्तेत्॥ ५५॥

आचार्यपाद! असुरोंने मुझे मारकर मेरे शरीरको जलाया और चूर्ण बना दिया। फिर उसे मदिरामें मिलाकर आपको पिला दिया! विप्रवर! आप ब्राह्मी, आसुरी और दैवी तीनों प्रकारकी मायाओंको जानते हैं। आपके होते हुए कोई इन मायाओंका उल्लङ्घन कैसे कर सकता है?॥ ५५॥

शुक्र उवाच

किं ते प्रियं करवाण्यद्य वत्से
वधेन मे जीवितं स्यात् कचस्य।
नान्यत्र कुक्षेर्मम भेदनेन
दृश्येत् कचो मद्गतो देवयानि॥ ५६॥

शुक्राचार्य बोले—बेटी देवयानी! अब तुम्हारे लिये कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? मेरे वधसे ही कचका जीवित होना सम्भव है। मेरे उदरको विदीर्ण करनेके सिवा और कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे मेरे शरीरमें बैठा हुआ कच बाहर दिखायी दे॥ ५६॥

देवयान्युवाच

द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां
कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः।
कचस्य नाशे मम नास्ति शर्म
तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता॥ ५७॥

देवयानीने कहा—पिताजी! कचका नाश और आपका वध—ये दोनों ही शोक अग्निके समान मुझे जला देंगे। कचके नष्ट होनेपर मुझे शान्ति नहीं मिलेगी और आपका वध हो जानेपर मैं जीवित नहीं रह सकूँगी॥ ५७॥

शुक्र उवाच

संसिद्धरूपोऽसि बृहस्पतेः सुत
यत् त्वां भक्तं भजते देवयानी।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीविनीं त्वं
न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य॥ ५८॥

शुक्राचार्य बोले—बृहस्पतिके पुत्र कच! अब तुम सिद्ध हो गये, क्योंकि तुम देवयानीके भक्त हो और वह तुम्हें चाहती है। यदि कचके रूपमें तुम इन्द्र नहीं हो, तो मुझसे मृतसंजीविनी विद्या ग्रहण करो॥ ५८॥

न निवर्तेत् पुनर्जीवन् कश्चिदन्यो ममोदरात्।
ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद् विद्यामवाप्नुहि॥ ५९॥

केवल एक ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो मेरे पेटसे पुनः जीवित निकल सके। इसलिये तुम विद्या ग्रहण करो॥ ५९॥

पुत्रो भूत्वा भावय भावितो मा-
मस्माद्देहादुपनिष्क्रम्य तात।
समीक्षेथा धर्मवतीमवेक्षां
गुरोः सकाशात् प्राप्य विद्यां सविद्यः॥ ६०॥

तात! मेरे इस शरीरसे जीवित निकलकर मेरे लिये पुत्रके तुल्य हो मुझे पुनः जिला देना। मुझ गुरुसे विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जानेपर भी मेरे प्रति धर्मयुक्त दृष्टिसे ही देखना॥

वैशम्पायन उवाच

गुरोः सकाशात् समवाप्य विद्यां
भित्त्वा कुक्षिं निर्विचक्राम विप्रः।
कचोऽभिरूपस्तत्क्षणाद् ब्राह्मणस्य
शुक्लात्यये पौर्णमास्यामिवेन्दुः॥ ६१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गुरुसे संजीविनी विद्या प्राप्त करके सुन्दर रूपवाले विप्रवर कच तत्काल ही महर्षि शुक्राचार्यका पेट फाड़कर ठीक उसी तरह बाहर निकल आये,

जैसे दिन बीतनेपर पूर्णिमाकी संध्याको चन्द्रमा प्रकट हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वा च तं पतितं ब्रह्मराशि-
मुत्थापयामास मृतं कचोऽपि ।
विद्यां सिद्धां तामवाप्याभिवाद्य
ततः कचस्तं गुरुमित्युवाच ॥ ६२ ॥

मूर्तिमान् वेदराशिके तुल्य शुक्राचार्यको भूमिपर पड़ा देख कचने भी अपने मरे हुए गुरुको विद्याके बलसे जिलाकर उठा दिया और उस सिद्ध विद्याको प्राप्त कर लेनेपर गुरुको प्रणाम करके वे इस प्रकार बोले—॥ ६२ ॥

यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्
विद्यामविद्यस्य यथा ममायम् ।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ६३ ॥

'मैं विद्यासे शून्य था, उस दशामें मेरे इन पूजनीय आचार्य जैसे मेरे दोनों कानोंमें मृतसंजीविनी विद्यारूप अमृतकी धारा डाली है, इसी प्रकार जो कोई दूसरे ज्ञानी महात्मा मेरे कानोंमें ज्ञानरूप अमृतका अभिषेक करेंगे, उन्हें भी मैं अपना माता-पिता मानूँगा (जैसे गुरुदेव शुक्राचार्यको मानता हूँ)। गुरुदेवके द्वारा किये हुए उपकारको स्मरण रखते हुए शिष्यको उचित है कि वह उनसे कभी द्रोह न करे ॥ ६३ ॥

ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य
निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं
पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥ ६४ ॥

'जो लोग सम्पूर्ण वेदके सर्वोत्तम ज्ञानको देनेवाले तथा समस्त विद्याओंके आश्रयभूत पूजनीय गुरुदेवका उनसे विद्या प्राप्त करके भी आदर नहीं करते, वे प्रतिष्ठारहित होकर पापपूर्ण लोकों—नरकोंमें जाते हैं' ॥ ६४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुरापानाद् वञ्चनां प्राप्य विद्वान्
संज्ञानाशं चैव महातिघोरम् ।
दृष्ट्वा कचं चापि तथाभिरूपं
पीतं तदा सुरया मोहितेन ॥ ६५ ॥
समन्युरुत्थाय महानुभाव-
स्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षुः ।
सुरापानं प्रति संजातमन्युः
काव्यः स्वयं वाक्यमिदं जगाद ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विद्वान् शुक्राचार्य मदिरापानसे ठगे गये थे और उस अत्यन्त भयानक परिस्थितिको पहुँच गये थे, जिसमें तनिक भी चेत नहीं रह जाता। मदिरासे मोहित होनेके कारण ही वे उस समय अपने मनके अनुकूल चलनेवाले प्रिय शिष्य ब्राह्मणकुमार कचको भी पी गये थे। यह सब देख और सोचकर वे महानुभाव कविपुत्र शुक्र कुपित हो उठे। मदिरापानके प्रति उनके मनमें क्रोध और घृणाका भाव जाग उठा और उन्होंने ब्राह्मणोंका हित करनेकी इच्छासे स्वयं इस प्रकार घोषणा की—॥

यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चि-
न्मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्या-
दस्मिँल्लोके गर्हितः स्यात् परे च ॥ ६७ ॥

'आजसे इस जगत्का जो कोई भी मन्दबुद्धि ब्राह्मण अज्ञानसे भी मदिरापान करेगा, वह धर्मसे भ्रष्ट हो ब्रह्महत्याके पापका भागी होगा तथा इसलोक और परलोक दोनोंमें वह निन्दित होगा।६७।

मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां
मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां
देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ॥ ६८ ॥

'धर्मशास्त्रोंमें ब्राह्मण-धर्मकी जो सीमा निर्धारित की गयी है, उसीमें मेरेद्वारा स्थापित की हुई यह मर्यादा भी रहे और यह सम्पूर्ण लोकमें मान्य हो। साधु पुरुष, ब्राह्मण, गुरुओंके समीप अध्ययन करनेवाले शिष्य, देवता और समस्त जगत्के मनुष्य, मेरी बाँधी हुई इस मर्यादाको अच्छी तरह सुन लें'॥

इतीदमुक्त्वा स महानुभाव-
स्तपोनिधीनां निधिरप्रमेयः ।
तान् दानवान् दैवविमूढबुद्धी-
निदं समाहूय वचोऽभ्युवाच ॥ ६९ ॥

ऐसा कहकर तपस्याकी निधियोंकी निधि, अप्रमेय शक्तिशाली महानुभाव शुक्राचार्यने दैवने जिनकी बुद्धिको मोहित कर दिया था उन दानवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा—॥

आचक्षे वो दानवा बालिशाः स्थ
सिद्धः कचो वत्स्यति मत्सकाशे।
संजीविनीं प्राप्य विद्यां महात्मा
तुल्यप्रभावो ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः ॥ ७० ॥

'दानवो ! तुम सब मूर्ख हो। मैं तुम्हें बताये देता हूँ—महात्मा कच मुझसे संजीविनी विद्या पाकर सिद्ध हो गये हैं। इनका प्रभाव मेरे ही समान है। ये ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूप हैं ॥७०॥

(योऽकार्षीद् दुष्करं कर्म देवानां कारणात् कचः।
न तत्कीर्तिर्जरां गच्छेद् यज्ञियश्च भविष्यति ॥)
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स भार्गवः।

दानवा विस्मयाविष्टाः प्रययुः स्वं निवेशनम् ॥ ७१ ॥

'जिन महात्मा कचने देवताओंके लिये वह दुष्कर कार्य किया है, उनकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती और वे यज्ञभागके अधिकारी होंगे ।'

ऐसा कहकर शुक्राचार्यजी चुप हो गये और दानव आश्चर्यचकित होकर अपने-अपने घर चले गये ॥७१॥

गुरोरुष्य सकाशे तु दशवर्षशतानि सः ।
अनुज्ञातः कचो गन्तुमियेष त्रिदशालयम् ॥ ७२ ॥

कचने एक हजार वर्षोंतक गुरुके समीप रहकर अपना व्रत पूरा कर लिया । तब घर जानेकी अनुमति मिल जानेपर कचने देवलोकमें जानेका विचार किया ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७६॥

(इस अध्यायमें ७२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल ७४ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानीका कचसे पाणिग्रहणके लिये अनुरोध, कचकी अस्वीकृति तथा दोनोंका एक दूसरेको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

समावृतव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा ।
प्रस्थितं त्रिदशावासं देवयान्यब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
ऋषेरङ्गिरसः पौत्र वृत्तेनाभिजनेन च ।
भ्राजसे विद्यया चैव तपसा च दमेन च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब कचका व्रत समाप्त हो गया और गुरुने उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी, तब वे देवलोकको प्रस्थित हुए । उस समय देवयानीने उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षि अङ्गिराके पौत्र ! आप सदाचार, उत्तम कुल, विद्या, तपस्या तथा इन्द्रियसंयम आदिसे बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ १-२ ॥

ऋषिर्यथाङ्गिरा मान्यः पितुर्मम महायशाः ।
तथा मान्यश्च पूज्यश्च मम भूयो बृहस्पतिः ॥ ३ ॥

'महायशस्वी महर्षि अङ्गिरा जिस प्रकार मेरे पिताजीके लिये माननीय हैं, उसी प्रकार आपके पिता बृहस्पतिजी मेरे लिये आदरणीय तथा पूज्य हैं ॥ ३ ॥

एवं ज्ञात्वा विजानीहि यद् ब्रवीमि तपोधन ।
व्रतस्थे नियमोपेते यथा वर्ताम्यहं त्वयि ॥ ४ ॥

'तपोधन ! ऐसा जानकर मैं जो कहती हूँ उसपर विचार करें। आप जब व्रत और नियमोंके पालनमें लगे थे, उन दिनों मैंने आपके साथ जो बर्ताव किया है, उसे आप भूले नहीं होंगे ॥

स समावृतविद्यो मां भक्तां भजितुमर्हसि ।
गृहाण पाणिं विधिवन्मम मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

'अब आप व्रत समाप्त करके अपनी अभीष्ट विद्या प्राप्त कर चुके हैं। मैं आपसे प्रेम करती हूँ, आप मुझे स्वीकार करें ; वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक विधिवत् मेरा पाणिग्रहण कीजिये' ॥५॥

कच उवाच

पूज्यो मान्यश्च भगवान् यथा तव पिता मम ।
तथा त्वमनवद्याङ्गि पूजनीयतरा मम ॥ ६ ॥

कचने कहा—निर्दोष अङ्गोंवाली देवयानी ! जैसे तुम्हारे पिता भगवान् शुक्राचार्य मेरे लिये पूजनीय और माननीय हैं, वैसे ही तुम हो; बल्कि उनसे भी बढ़कर मेरी पूजनीया हो ॥६॥

प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्गवस्य महात्मनः ।
त्वं भद्रे धर्मतः पूज्या गुरुपुत्री सदा मम ॥ ७ ॥

भद्रे ! महात्मा भार्गवको तुम प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हो, गुरुपुत्री होनेके कारण धर्मकी दृष्टिसे सदा मेरी पूजनीया हो ॥

यथा मम गुरुर्नित्यं मान्यः शुक्रः पिता तव ।
देवयानि तथैव त्वं नैवं मां वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

देवयानी ! जैसे मेरे गुरुदेव तुम्हारे पिता शुक्राचार्य सदा मेरे माननीय हैं, उसी प्रकार तुम हो; अतः तुम्हें मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच

गुरुपुत्रस्य पुत्रो वै न त्वं पुत्रश्च मे पितुः ।
तस्मात् पूज्यश्च मान्यश्च ममापि त्वं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥
असुरैर्हन्यमाने च कच त्वयि पुनः पुनः ।
तदा प्रभृति या प्रीतिस्तां त्वमद्य स्मरस्व मे ॥ १० ॥

देवयानी बोली—द्विजोत्तम ! आप मेरे पिताके गुरुपुत्रके पुत्र हैं, मेरे पिताके नहीं; अतः मेरे लिये भी आप पूजनीय और माननीय हैं । कच ! जब असुर आपको बार-बार मार डालते थे, तबसे लेकर आजतक आपके प्रति मेरा जो प्रेम रहा है, उसे आज याद कीजिये ॥ ९-१० ॥

सौहार्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम् ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम् ॥ ११ ॥

सौहार्द और अनुरागके अवसरपर मेरी उत्तम भक्तिका परिचय आपको मिल चुका है । आप धर्मके ज्ञाता हैं । मैं आपके प्रति भक्ति रखनेवाली निरपराध अबला हूँ । आपको मेरा त्याग करना उचित नहीं है ॥ ११ ॥

कच उवाच

अनियोज्ये नियोगे मां नियुनङ्क्षि शुभव्रते ।
प्रसीद सुभ्रु त्वं मह्यं गुरोर्गुरुतरा शुभे ॥ १२ ॥
यत्रोषितं विशालाक्षि त्वया चन्द्रनिभानने ।
तत्राहमुषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भामिनि ॥ १३ ॥
भगिनी धर्मतो मे त्वं मैवं वोचः सुमध्यमे ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे न मन्युर्विद्यते मम ॥ १४ ॥

कचने कहा—उत्तम व्रतका आचरण करनेवाली सुन्दरी ! तुम मुझे ऐसे कार्यमें लगा रही हो, जिसमें लगाना कदापि उचित नहीं है । शुभे ! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होओ । तुम मेरे लिये गुरुसे भी बढ़कर गुरुतर हो । विशाल नेत्र तथा चन्द्रमाके समान मुखवाली भामिनि ! शुक्राचार्यके जिस उदरमें तुम रह चुकी हो, उसीमें मैं भी रहा हूँ । इसलिये भद्रे ! धर्मकी दृष्टिसे तुम मेरी बहिन हो । अतः सुमध्यमे ! मुझसे ऐसी बात न कहो । कल्याणी ! मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ । तुम्हारे प्रति मेरे मनमें तनिक भी रोष नहीं है ॥ १२—१४ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शिवमाशंस मे पथि ।
अविरोधेन धर्मस्य स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ।
अप्रमत्तोत्थिता नित्यमाराधय गुरुं मम ॥ १५ ॥

अब मैं जाऊँगा, इसलिये तुमसे पूछता हूँ,—तुम्हारी आज्ञा चाहता हूँ, आशीर्वाद दो कि मार्गमें मेरा मङ्गल हो । धर्मकी अनुकूलता रखते हुए बातचीतके प्रसङ्गमें कभी मेरा भी स्मरण कर लेना और सदा सावधान एवं सजग रहकर मेरे गुरुदेवकी सेवामें लगी रहना ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि याचितः ।
ततः कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति ॥ १६ ॥

देवयानी बोली—कच ! मैंने धर्मानुकूल कामके लिये आपसे प्रार्थना की है । यदि आप मुझे ठुकरा देंगे, तो आपकी यह संजीविनी विद्या सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥ १६ ॥

कच उवाच

गुरुपुत्रीति कृत्वाहं प्रत्याचक्षे न दोषतः ।
गुरुणा चाननुज्ञातः काममेवं शपस्व माम् ॥ १७ ॥

कचने कहा—देवयानी ! गुरुपुत्री समझकर ही मैंने तुम्हारे अनुरोधको टाल दिया है; तुममें कोई दोष देखकर नहीं । गुरुजीने भी इसके विषयमें मुझे कोई आज्ञा नहीं दी है । तुम्हारी जैसी इच्छा हो, मुझे शाप दे दो ॥ १७ ॥

आर्षं धर्मं ब्रुवाणोऽहं देवयानि यथा त्वया ।
शप्तो नार्होऽस्मि शापस्य कामतोऽद्य न धर्मतः ॥ १८ ॥
तस्माद् भवत्या यः कामो न तथा स भविष्यति ।
ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति ॥ १९ ॥

बहिन ! मैं आर्ष धर्मकी बात बता रहा था । इस दशामें तुम्हारे द्वारा शाप पानेके योग्य नहीं था । तुमने मुझे धर्मके अनुसार नहीं, कामके वशीभूत होकर आज शाप दिया है, इसलिये तुम्हारे मनमें जो कामना है, वह पूरी नहीं होगी । कोई भी ऋषिपुत्र (ब्राह्मणकुमार) कभी तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा ॥ १८-१९ ॥

फलिष्यति न ते विद्या यत् त्वं मामात्थ तत् तथा ।
अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति ॥ २० ॥

तुमने जो मुझे यह कहा कि तुम्हारी विद्या सफल नहीं होगी, सो ठीक है; किंतु मैं जिसे यह विद्या पढ़ा दूँगा, उसकी विद्या तो सफल होगी ही ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजश्रेष्ठो देवयानीं कचस्तदा ।
त्रिदशेशालयं शीघ्रं जगाम द्विजसत्तमः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्विजश्रेष्ठ कच देवयानीसे ऐसा कहकर तत्काल बड़ी उतावलीके साथ इन्द्रलोकको चले गये ॥ २१ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
बृहस्पतिं सभाज्येदं कचं वचनमब्रुवन् ॥ २२ ॥

उन्हें आया देख इन्द्रादि देवता बृहस्पतिजीकी सेवामें उपस्थित हो कचसे यह वचन बोले ॥ २२ ॥

देवा ऊचुः

यत् त्वयास्मद्धितं कर्म कृतं वै परमाद्भुतम् ।
न ते यशः प्रणशिता भागभाक् च भविष्यसि ॥ २३ ॥

देवता बोले—ब्रह्मन् ! तुमने हमारे हितके लिये यह बड़ा अद्भुत कार्य किया है, अतः तुम्हारे यशका कभी लोप नहीं होगा और तुम यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी होओगे ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका कलह, शर्मिष्ठाद्वारा कुएँमें गिरायी गयी देवयानीको ययातिका निकालना और देवयानीका शुक्राचार्यजीके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

कृतविद्ये कचे प्राप्ते हृष्टरूपा दिवौकसः।
कचादधीत्य तां विद्यां कृतार्था भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कच मृतसंजीविनी विद्या सीखकर आ गये, तब देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे कचसे उस विद्याको पढ़कर कृतार्थ हो गये ॥ १ ॥

सर्वं एव समागम्य शतक्रतुमथाब्रुवन्।
कालस्ते विक्रमस्याद्य जहि शत्रून् पुरन्दर ॥ २ ॥

फिर सबने मिलकर इन्द्रसे कहा—'पुरन्दर ! अब आपके लिये पराक्रम करनेका समय आ गया है, अपने शत्रुओंका संहार कीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु सहितैस्त्रिदशैर्मघवांस्तदा।
तथेत्युक्त्वा प्रचक्राम सोऽपश्यत वने स्त्रियः ॥ ३ ॥

संगठित होकर आये हुए देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर भूलोकमें आये। वहाँ एक वनमें उन्होंने बहुत-सी स्त्रियोंको देखा ॥ ३ ॥

क्रीडन्तीनां तु कन्यानां वने चैत्ररथोपमे।
वायुभूतः स वस्त्राणि सर्वाण्येव व्यमिश्रयत् ॥ ४ ॥

वह वन चैत्ररथ नामक देवोद्यानके समान मनोहर था। उसमें वे कन्याएँ जलक्रीड़ा कर रही थीं। इन्द्रने वायुका रूप धारण करके उनके सारे कपड़े परस्पर मिला दिये ॥ ४ ॥

ततो जलात् समुत्तीर्य कन्यास्ताः सहितास्तदा।
वस्त्राणि जगृहुस्तानि यथासन्नान्यनेकशः ॥ ५ ॥
तत्र वासो देवयान्याः शर्मिष्ठा जगृहे तदा।
व्यतिमिश्रमजानन्ती दुहिता वृषपर्वणः ॥ ६ ॥

तब वे सभी कन्याएँ एक साथ जलसे निकलकर अपने-अपने अनेक प्रकारके वस्त्र, जो निकट ही रक्खे हुए थे; लेने लगीं। उस सम्मिश्रणमें शर्मिष्ठाने देवयानीका वस्त्र ले लिया। शर्मिष्ठा वृषपर्वाकी पुत्री थी; दोनोंके वस्त्र मिल गये हैं, इस बातका उसे पता नहीं था ॥ ५-६ ॥

ततस्तयोर्मिथस्तत्र विरोधः समजायत।
देवयान्याश्च राजेन्द्र शर्मिष्ठायाश्च तत्कृते ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! उस समय वस्त्रोंकी अदला-बदलीको लेकर देवयानी और शर्मिष्ठा दोनोंमें वहाँ परस्पर बड़ा भारी विरोध खड़ा हो गया ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

कस्माद् गृह्णासि मे वस्त्रं शिष्या भूत्वा ममासुरि।
समुदाचारहीनाया न ते साधु भविष्यति ॥ ८ ॥

देवयानी बोली—अरी दानवकी बेटी ! मेरी शिष्या होकर तू मेरा वस्त्र कैसे ले रही है ? तू सज्जनोंके उत्तम आचारसे शून्य है, अतः तेरा भला न होगा ॥ ८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम।
स्तौति वन्दीव चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत् ॥ ९ ॥

शर्मिष्ठाने कहा—अरी ! मेरे पिता बैठे हों या सो रहे हों, उस समय तेरा पिता विनयशील सेवकके समान नीचे खड़ा होकर बार-बार वन्दीजनोंकी भाँति उनकी स्तुति करता है ॥ ९ ॥

याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ १० ॥
आदुन्वस्व विदुन्वस्व द्रुह्य कुप्यस्व याचकि।
अनायुधा सायुधाया रिक्ता क्षुभ्यसि भिक्षुकि।
लप्स्यसे प्रतियोद्धारं न हि त्वां गणयाम्यहम् ॥ ११ ॥

तू भिखमंगेकी बेटी है, तेरा बाप स्तुति करता और दान लेता है। मैं उनकी बेटी हूँ, जिनकी स्तुति की जाती है, जो दूसरोंको दान देते हैं और स्वयं किसीसे कुछ भी नहीं लेते हैं। अरी भिक्षुकि ! तू छाती पीट-पीटकर रो अथवा धूलमें लोट-लोटकर कष्ट भोग। मुझसे द्रोह रख या क्रोध कर (इसकी परवा नहीं है)। भिखमंगिन ! तू खाली हाथ है, तेरे पास कोई अस्त्र-शस्त्र भी नहीं है और देख ले, मेरे पास हथियार है। इसलिये तू मेरे ऊपर व्यर्थ ही क्रोध कर रही है। यदि लड़ना ही चाहती है, तो इधरसे भी डटकर सामना करनेवाला मुझ-जैसा योद्धा तुझे मिल जायगा। मैं तुझे कुछ भी नहीं गिनती ॥ १०-११ ॥

(प्रतिकूलं वदसि चेदितः प्रभृति याचकि।
आकृष्य मम दासीभिः प्रस्थाप्यसि बहिर्बहिः ॥)

भिक्षुकी ! अबसे यदि मेरे विरुद्ध कोई बात कहेगी, तो अपनी दासियोंसे घसीटवाकर तुझे यहाँसे बाहर निकलवा दूँगी ॥

वैशम्पायन उवाच

समुच्छ्रयं देवयानीं गतां सक्तां च वाससि ॥ १२ ॥
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे ततः स्वपुरमागमत्।
हतेयमिति विज्ञाय शर्मिष्ठा पापनिश्चया ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीने सच्ची बातें कहकर अपनी उच्चता और महत्ता सिद्ध कर दी और शर्मिष्ठाके शरीरसे अपने वस्त्रको खींचने लगी। यह देख शर्मिष्ठाने उसे कुएँमें ढकेल दिया और अब यह मर

गयी होगी, ऐसा समझकर पापमय विचारवाली शर्मिष्ठा नगरको लौट आयी ॥ १२-१३ ॥

अनवेक्ष्य ययौ वेश्म क्रोधवेगपरायणा ।
अथ तं देशमभ्यागाद् ययातिर्नहुषात्मजः ॥१४॥

वह क्रोधके आवेशमें थी, अतः देवयानीकी ओर देखे बिना ही घर लौट गयी । तदनन्तर नहुषपुत्र ययाति उस स्थानपर आये ॥ १४ ॥

श्रान्तयुग्यः श्रान्तहयो मृगलिप्सुः पिपासितः ।
स नाहुषः प्रेक्षमाण उदपानं गतोदकम् ॥१५॥

उनके रथके वाहन तथा अन्य घोड़े भी थक गये थे । वे एक हिंसक पशुको पकड़नेके लिये उसके पीछे-पीछे आये थे और प्याससे कष्ट पा रहे थे । ययाति उस जलशून्य कूपको देखने लगे ॥ १५ ॥

ददर्श राजा तां तत्र कन्यामग्निशिखामिव ।
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्याममरवर्णिनीम् ॥१६॥

वहाँ उन्हें अग्नि-शिखाके समान तेजस्विनी एक कन्या दिखायी दी, जो देवाङ्गनाके समान सुन्दरी थी । उसपर दृष्टि पड़ते ही राजाने उससे पूछा ॥ १६ ॥

सान्त्वयित्वा नृपश्रेष्ठः साम्ना परमवल्गुना ।
का त्वं ताम्रनखी श्यामा सुमृष्टमणिकुण्डला ॥१७॥

नृपश्रेष्ठ ययातिने पहले परम मधुर वचनोंद्वारा शान्त-भावसे उसे आश्वासन दिया और कहा—'तुम कौन हो ? तुम्हारे नख लाल-लाल हैं । तुम षोडशी जान पड़ती हो । तुम्हारे कानोंके मणिमय कुण्डल अत्यन्त सुन्दर और चमकीले हैं ॥ १७ ॥

दीर्घं ध्यायसि चात्यर्थं कस्माच्छोचसि चातुरा ।
कथं च पतितास्यस्मिन् कूपे वीरुत्तृणावृते ॥१८॥
दुहिता चैव कस्य त्वं वद सत्यं सुमध्यमे ।

'तुम किसी अत्यन्त घोर चिन्तामें पड़ी हो । आतुर होकर शोक क्यों कर रही हो ? तृण और लताओंसे ढके हुए इस कुएँमें कैसे गिर पड़ीं ? तुम किसकी पुत्री हो ? सुमध्यमे ! ठीक-ठीक बताओ' ॥ १८½ ॥

देवयान्युवाच

योऽसौ देवैर्हतान् दैत्यानुत्थापयति विद्यया ॥१९॥
तस्य शुक्रस्य कन्याहं स मां नूनं न बुध्यते ।

देवयानी बोली—जो देवताओंद्वारा मारे गये दैत्योंको अपनी विद्याके बलसे जिलाया करते हैं, उन्हीं शुक्राचार्यकी मैं पुत्री हूँ । निश्चय ही उन्हें इस बातका पता नहीं होगा कि मैं इस दुरवस्थामें पड़ी हूँ ॥ १९½ ॥

(पृच्छसे मां कस्त्वमसि रूपवीर्यबलान्वितः ।
ब्रूह्यत्रागमनं किं वा श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

रूप, वीर्य और बलसे सम्पन्न तुम कौन हो, जो मेरा परिचय पूछते हो । यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या कारण है, बताओ । मैं यह सब ठीक-ठीक सुनना चाहती हूँ ॥

ययातिरुवाच

ययातिर्नाहुषोऽहं तु श्रान्तोऽद्य मृगलिप्सया ।
कूपे तृणावृते भद्रे दृष्टवानस्मि त्वामिह ॥)

ययातिने कहा—भद्रे ! मैं राजा नहुषका पुत्र ययाति हूँ । एक हिंसक पशुको मारनेकी इच्छासे इधर आ निकला । थका-माँदा प्यास बुझानेके लिये यहाँ आया और तिनकोंसे ढके हुए इस कूपमें गिरी हुई तुमपर मेरी दृष्टि पड़ गयी ॥

एष मे दक्षिणो राजन् पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः ॥२०॥
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलीनस्त्वं हि मे मतः ।
जानामि त्वां हि संशान्तं वीर्यवन्तं यशस्विनम् ॥२१॥
तस्मान्मां पतितामस्मात् कूपादुद्धर्तुमर्हसि ।

(देवयानी बोली—) महाराज ! लाल नख और अङ्गुलियों-से युक्त यह मेरा दाहिना हाथ है । इसे पकड़कर आप इस कुएँसे मेरा उद्धार कीजिये । मैं जानती हूँ, आप उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए नरेश हैं । मुझे यह भी मालूम है कि आप परम शान्त स्वभाव-वाले, पराक्रमी तथा यशस्वी वीर हैं । इसलिये इस कुएँमें गिरी हुई मुझ अबलाका आप यहाँसे उद्धार कीजिये ॥ २०-२१½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामथो ब्राह्मणीं राजा विज्ञाय नहुषात्मजः ॥२२॥
गृहीत्वा दक्षिणे पाणावुज्जहार ततोऽवटात् ।
उद्धृत्य चैनां तरसा तस्मात् कूपान्नराधिपः ॥२३॥
(गच्छ भद्रे यथाकामं न भयं विद्यते तव ।
इत्युच्यमाना नृपतिं देवयानी तमुत्तरम् ॥
उवाच मां त्वमादाय गच्छ शीघ्रं प्रियो हि मे ।
गृहीताहं त्वया पाणौ तस्माद् भर्त्ता भविष्यसि ॥
इत्येवमुक्तो नृपतिराह क्षत्रकुलोद्भवः ।
त्वं भद्रे ब्राह्मणी तस्मान्मया नार्हसि सङ्गमम् ॥
सर्वलोकगुरुः काव्यस्त्वं तस्य दुहितासि वै ।
तस्मादपि भयं मेऽद्य तस्मात् कल्याणि नार्हसि ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नहुषपुत्र राजा ययातिने देवयानीको ब्राह्मणकन्या जानकर उसका दाहिना हाथ अपने हाथमें ले उसे उस कुएँसे बाहर निकाला । वेगपूर्वक कुएँसे बाहर करके राजा ययाति उससे बोले—'भद्रे ! अब जहाँ इच्छा हो जाओ । तुम्हें कोई भय नहीं है ।' राजा ययातिके ऐसा कहनेपर देवयानीने उन्हें उत्तर देते हुए कहा—'तुम मुझे शीघ्र अपने साथ ले चलो; क्योंकि तुम मेरे प्रियतम हो । तुमने मेरा हाथ पकड़ा है, अतः

तुम्हीं मेरे पति होओगे।' देवयानीके ऐसा कहनेपर राजा बोले—'भद्रे ! मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ और तुम ब्राह्मणकन्या हो। अतः मेरे साथ तुम्हारा समागम नहीं होना चाहिये। कल्याणी ! भगवान् शुक्राचार्य सम्पूर्ण जगत्‌के गुरु हैं और तुम उनकी पुत्री हो, अतः मुझे उनसे भी डर लगता है। तुम मुझ-जैसे तुच्छ पुरुषके योग्य कदापि नहीं हो' ॥

देवयान्युवाच

यदि मद्वचनादद्य मां नेच्छसि नराधिप।
त्वामेव वरये पित्रा पश्चाज्ज्ञास्यसि गच्छसि ॥)

देवयानी बोली—नरेश्वर ! यदि तुम मेरे कहनेसे आज मुझे साथ ले जाना नहीं चाहते, तो मैं पिताजीके द्वारा भी तुम्हारा ही वरण करूँगी। फिर तुम मुझे अपने योग्य मानोगे और साथ ले चलोगे ॥

आमन्त्रयित्वा सुश्रोणीं ययातिः स्वपुरं ययौ।
गते तु नाहुषे तस्मिन् देवयान्यप्यनिन्दिता ॥२४॥
(क्वचिदार्ता च रुदती वृक्षमाश्रित्य तिष्ठति।
ततश्चिरायमाणायां दुहितर्याह भार्गवः ॥
धात्रि त्वमानय क्षिप्रं देवयानीं शुचिस्मिताम्।
इत्युक्तमात्रे सा धात्री त्वरिताऽऽह्वयितुं गता ॥
यत्र यत्र सखीभिः सा गता पदमभमार्गत।
सा ददर्श तथा दीनां श्रमार्तां रुदतीं स्थिताम् ॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—) तदनन्तर सुन्दरी देवयानीकी अनुमति लेकर राजा ययाति अपने नगरको चले गये। नहुषनन्दन ययातिके चले जानेपर सती-साध्वी देवयानी आर्त-भावसे रोती हुई कहीं किसी वृक्षका सहारा लेकर खड़ी रही। जब पुत्रीके घर लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब शुक्राचार्यने धायसे कहा—'धाय ! तू पवित्र हास्यवाली मेरी बेटी देवयानीको शीघ्र यहाँ बुला ला।' उनके इतना कहते ही धाय तुरंत उसे बुलाने चली गयी। जहाँ-जहाँ देवयानी सखियोंके साथ गयी थी, वहाँ-वहाँ उसका पदचिह्न खोजती हुई धाय गयी और उसने पूर्वोक्त रूपसे श्रमपीड़ित एवं दीन होकर रोती हुई देवयानीको देखा ॥

धात्र्युवाच

वृत्तं ते किमिदं भद्रे शीघ्रं वद पिताऽऽह्वयत्।
धात्रीमाह समाहूय शर्मिष्ठावृजिनं कृतम् ॥)
उवाच शोकसंतप्ता घूर्णिकामागतां पुरः।

तब धायने पूछा—भद्रे ! यह तुम्हारा क्या हाल है ? शीघ्र बताओ। तुम्हारे पिताजीने तुम्हें बुलाया है। इसपर देवयानीने धायको अपने निकट बुलाकर शर्मिष्ठा-द्वारा किये हुए अपराधको बताया। वह शोकसे संतप्त हो अपने सामने आयी हुई धाय घूर्णिकासे बोली। करना

देवयान्युवाच

त्वरितं घूर्णिके गच्छ शीघ्रमाचक्ष्व मे पितुः ॥२५॥
नेदानीं सम्प्रवेक्ष्यामि नगरं वृषपर्वणः।

देवयानीने कहा—घूर्णिके ! तुम वेगपूर्वक जाओ और शीघ्र मेरे पिताजीसे कह दो 'अब मैं वृषपर्वाके नगरमें पैर नहीं रक्खूँगी' ॥ २२–२५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तत्र त्वरितं गत्वा घूर्णिकासुरमन्दिरम् ॥२६॥
दृष्ट्वा काव्यमुवाचेदं सम्भ्रमाविष्टचेतना।
आचचक्षे महाप्राज्ञं देवयानीं वने हताम् ॥२७॥
शर्मिष्ठया महाभाग दुहित्रा वृषपर्वणः।
श्रुत्वा दुहितरं काव्यस्तत्र शर्मिष्ठया हताम् ॥२८॥
त्वरया निर्ययौ दुःखान्मार्गमाणः सुतां वने।
दृष्ट्वा दुहितरं काव्यो देवयानीं ततो वने ॥२९॥
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत्।
आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः ॥३०॥
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृता।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीकी बात सुनकर घूर्णिका तुरंत असुरराजके महलमें गयी और वहाँ शुक्राचार्यको देखकर सम्भ्रमपूर्ण चित्तसे वह बात बतला दी। महाभाग ! उसने महाप्राज्ञ शुक्राचार्यको यह बताया कि 'वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके द्वारा देवयानी वनमें मृततुल्य कर दी गयी है।' अपनी पुत्रीको शर्मिष्ठाद्वारा मृततुल्य की गयी सुनकर शुक्राचार्य बड़ी उतावलीके साथ निकले और दुखी होकर उसे वनमें ढूँढ़ने लगे। तदनन्तर वनमें अपनी बेटी देवयानीको देखकर शुक्राचार्यने दोनों भुजाओंसे उठाकर उसे हृदयसे लगा लिया और दुखी होकर कहा—'बेटी ! सब लोग अपने ही दोष और गुणोंसे—अशुभ या शुभ कर्मोंसे दुःख एवं सुखमें पड़ते हैं। मालूम होता है, तुमसे कोई बुरा कर्म बन गया था, जिसका बदला तुम्हें इस रूपमें मिला है' ॥ २६–३०½ ॥

देवयान्युवाच

निष्कृतिर्मेऽस्तु वा मास्तु शृणुष्वावहितो मम ॥३१॥

देवयानी बोली—पिताजी ! मुझे अपने कर्मोंका फल मिले या न मिले, आप मेरी बात ध्यान देकर सुनिये ॥३१॥

शर्मिष्ठया यदुक्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः।
सत्यं किलैतत् सा प्राह दैत्यानामसि गायनः ॥३२॥

वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने आज मुझसे जो कुछ कहा है, क्या यह सच है ? वह कहती है—'आप भाटोंकी तरह दैत्योंके गुण गाया करते हैं ॥ ३२ ॥

एवं हि मे कथयति शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
वचनं तीक्ष्णपरुषं क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ॥३३॥

वृषपर्वाकी लाड़िली शर्मिष्ठा क्रोधसे लाल आँखें करके आज मुझसे इस प्रकार अत्यन्त तीखे और कठोर वचन कह रही थी—॥ ३३ ॥

स्तुवतो दुहिता नित्यं याचतः प्रतिगृह्णतः।
अहं तु स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥३४॥

'देवयानी ! तू स्तुति करनेवाले, नित्य भीख माँगनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी है और मैं तो उन महाराजकी पुत्री हूँ, जिनकी तुम्हारे पिता स्तुति करते हैं, जो स्वयं दान देते हैं और लेते एक धेला भी नहीं हैं' ॥ ३४ ॥

इदं मामाह शर्मिष्ठा दुहिता वृषपर्वणः।
क्रोधसंरक्तनयना दर्पपूर्णा पुनः पुनः ॥३५॥

वृषपर्वाकी बेटी शर्मिष्ठाने आज मुझसे ऐसी बात कही है। कहते समय उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह भारी घमंडसे भरी हुई थी और उसने एक बार ही नहीं, अपितु बार-बार उपर्युक्त बातें दुहरायी हैं ॥ ३५ ॥

यद्यहं स्तुवतस्तात दुहिता प्रतिगृह्णतः।
प्रसादयिष्ये शर्मिष्ठामित्युक्ता तु सखी मया ॥३६॥

तात ! यदि सचमुच मैं स्तुति करनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी हूँ, तो मैं शर्मिष्ठाको अपनी सेवाओंद्वारा प्रसन्न करूँगी। यह बात मैंने अपनी सखीसे कह दी थी ॥ ३६ ॥

(उक्ताप्येवं भृशं क्रुद्धा मां गृह्य विजने वने।
कूपे प्रक्षेपयामास प्रक्षिप्यैव गृहं ययौ ॥)

मेरे ऐसा कहनेपर भी अत्यन्त क्रोधमें भरी हुई शर्मिष्ठाने उस निर्जन वनमें मुझे पकड़कर कुएँमें ढकेल दिया, उसके बाद वह अपने घर चली गयी ॥

शुक्र उवाच

स्तुवतो दुहिता न त्वं याचतः प्रतिगृह्णतः।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य दुहिता देवयान्यसि ॥३७॥

शुक्राचार्यने कहा—देवयानी ! तू स्तुति करनेवाले, भीख माँगनेवाले या दान लेनेवालेकी बेटी नहीं है। तू उस पवित्र ब्राह्मणकी पुत्री है, जो किसीकी स्तुति नहीं करता और जिसकी सब लोग स्तुति करते हैं ॥ ३७ ॥

वृषपर्वैव तद् वेद शक्रो राजा च नाहुषः।
अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ॥३८॥

इस बातको वृषपर्वा, देवराज इन्द्र तथा राजा ययाति जानते हैं। निर्द्वन्द्व अचिन्त्य ब्रह्म ही मेरा ऐश्वर्ययुक्त बल है॥

यच्च किंचित् सर्वगतं भूमौ वा यदि वा दिवि।
तस्याहमीश्वरो नित्यं तुष्टेनोक्तः स्वयम्भुवा ॥३९॥

ब्रह्माजीने संतुष्ट होकर मुझे वरदान दिया है; उसके अनुसार इस भूतलपर, देवलोकमें अथवा सब प्राणियोंमें जो कुछ भी है, उन सबका मैं सदा-सर्वदा स्वामी हूँ ॥ ३९ ॥

अहं जलं विमुञ्चामि प्रजानां हितकाम्यया।
पुष्णाम्योषधयः सर्वा इति सत्यं ब्रवीमि ते ॥४०॥

मैं ही प्रजाओंके हितके लिये पानी बरसाता हूँ और मैं ही सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता हूँ, यह तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विषादमापन्नां मन्युना सम्प्रपीडिताम्।
वचनैर्मधुरैः श्लक्ष्णैः सान्त्वयामास तां पिता ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानी इस प्रकार विषादमें डूबकर क्रोध और ग्लानिसे अत्यन्त कष्ट पा रही थी, उस समय पिताने सुन्दर मधुर वचनोंद्वारा उसे समझाया ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

(इस अध्यायमें ४१ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक और कुल ५४ श्लोक हैं)

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यद्वारा देवयानीको समझाना और देवयानीका असंतोष

शुक्र उवाच

(मम विद्या हि निर्द्वन्द्वा ऐश्वर्यं हि फलं मम।
दैन्यं शाठ्यं च जैह्मं च नास्ति मे यदधर्मतः ॥)
यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ १ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥ २ ॥

शुक्राचार्यने कहा—बेटी ! मेरी विद्या द्वन्द्वरहित है। मेरा ऐश्वर्य ही उसका फल है। मुझमें दीनता, शठता, कुटिलता और अधर्मपूर्ण बर्ताव नहीं है। देवयानी ! जो मनुष्य सदा दूसरोंके कठोर वचन (दूसरोंद्वारा की हुई अपनी निन्दा) को सह लेता है, उसने इस सम्पूर्ण जगत्पर विजय प्राप्त कर ली, ऐसा समझो। जो उभरे हुए क्रोधको घोड़ेके समान वशमें कर लेता है, वही सत्पुरुषोंद्वारा सच्चा सारथि कहा गया है। किंतु जो केवल बागडोर या लगाम पकड़कर लटकता रहता है, वह नहीं ॥ १-२ ॥

यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ ३ ॥

देवयानी! जो उत्पन्न हुए क्रोधको अक्रोध (क्षमाभाव) के द्वारा मनसे निकाल देता है, समझ लो, उसने सम्पूर्ण जगत्‌को जीत लिया ॥ ३ ॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ ४ ॥

जैसे साँप पुरानी केंचुल छोड़ता है, उसी प्रकार जो मनुष्य उभड़नेवाले क्रोधको यहाँ क्षमाद्वारा त्याग देता है, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा गया है ॥ ४ ॥

यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥ ५ ॥

जो क्रोधको रोक लेता है, निन्दा सह लेता है और दूसरेके सतानेपर भी दुखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थोंका सुदृढ़ पात्र है ॥ ५ ॥

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः।
न क्रुद्ध्येद्यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ॥ ६ ॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक प्रत्येक मासमें बिना किसी थकावटके निरन्तर यज्ञ करता रहता है और दूसरा जो किसीपर भी क्रोध नहीं करता, उन दोनोंमें क्रोध न करनेवाला ही श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

(क्रुद्धस्य निष्फलान्येव दानयज्ञतपांसि च।
तस्मादक्रोधने यज्ञस्तपो दानं महाफलम् ॥
न पूतो न तपस्वी च न यज्वा न च कर्मवित्।
क्रोधस्य यो वशं गच्छेत् तस्य लोकद्वयं न च ॥
पुत्रभृत्यसुहृन्मित्रभार्या धर्मश्च सत्यता।
तस्यैतान्यपयास्यन्ति क्रोधशीलस्य निश्चितम् ॥)
यत् कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः।
न तत् प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ॥ ७ ॥

क्रोधीके यज्ञ, दान और तप—सभी निष्फल होते हैं। अतः जो क्रोध नहीं करता, उसी पुरुषके यज्ञ, तप और दान महान् फल देनेवाले होते हैं। जो क्रोधके वशीभूत हो जाता है, वह कभी पवित्र नहीं होता तथा तपस्या भी नहीं कर सकता! उसके द्वारा यज्ञका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है और वह कर्मके रहस्यको भी नहीं जानता। इतना ही नहीं, उसके लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जो स्वभावसे ही क्रोधी है, उसके पुत्र, भृत्य, सुहृद्, मित्र, पत्नी, धर्म और सत्य—ये सभी निश्चय ही उसे छोड़कर दूर चले जायँगे। अबोध बालक और बालिकाएँ अज्ञानवश आपसमें जो वैर-विरोध करते हैं, उसका अनुकरण समझदार मनुष्योंको नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे नादान बालक दूसरोंके बलाबलको नहीं जानते ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

वेदाहं तात बालापि धर्माणां यदिहान्तरम्।
अक्रोधे चातिवादे च वेद चापि बलाबलम् ॥ ८ ॥

देवयानीने कहा—पिताजी! यद्यपि मैं अभी बालिका हूँ फिर भी धर्म-अधर्मका अन्तर समझती हूँ। क्षमा और निन्दाकी सबलता और निर्बलताका भी मुझे ज्ञान है ॥ ८ ॥

शिष्यस्याशिष्यवृत्तेस्तु न क्षन्तव्यं बुभूषता।
तस्मात् संकीर्णवृत्तेषु वासो मम न रोचते ॥ ९ ॥

परंतु जो शिष्य होकर भी शिष्योचित बर्ताव नहीं करता, अपना हित चाहनेवाले गुरुको उसकी धृष्टता क्षमा नहीं करनी चाहिये। इसलिये इन संकीर्ण आचार-विचारवाले दानवोंके बीच निवास करना अब मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ९ ॥

पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ॥ १० ॥

जो पुरुष दूसरोंके सदाचार और कुलकी निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचारवाले मनुष्योंमें कल्याणकी इच्छावाले विद्वान् पुरुषको नहीं रहना चाहिये ॥ १० ॥

ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाभिजनेन वा।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ११ ॥

जो लोग आचार, व्यवहार अथवा कुलीनताकी प्रशंसा करते हों, उन साधु पुरुषोंमें ही निवास करना चाहिये और वही निवास श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ११ ॥

(सुयन्त्रिता वरा नित्यं विहीनाश्च धनैर्नराः।
दुर्वृत्ताः पापकर्माणश्चाण्डाला धनिनोऽपि वा ॥
अकारणाद् ये द्विषन्ति परिवादं वदन्ति च।
न तत्रास्य निवासोऽस्ति पाप्मभिः पापतां व्रजेत् ॥
सुकृते दुष्कृते वापि यत्र सज्जति यो नरः।
ध्रुवं रतिर्भवेत् तत्र तस्माद् दोषं न रोचयेत् ॥)
वाग् दुरुक्तं महाघोरं दुहितुर्वृषपर्वणः।
मम मथ्नाति हृदयमग्निकाम इवारणिम् ॥ १२ ॥

धनहीन मनुष्य भी यदि सदा अपने मनपर संयम रक्खें तो वे श्रेष्ठ हैं और धनवान् भी यदि दुराचारी तथा पापकर्मी हों, तो वे चाण्डालके समान हैं। जो अकारण किसीके साथ द्वेष करते हैं और दूसरोंकी निन्दा करते रहते हैं, उनके बीचमें सत्पुरुषका निवास नहीं होना चाहिये; क्योंकि पापियोंके सङ्गसे मनुष्य पापात्मा हो जाता है। मनुष्य पाप अथवा पुण्य जिसमें भी आसक्त होता है, उसीमें उसकी दृढ़ प्रीति हो जाती है, इसलिये पापकर्ममें प्रीति नहीं करनी चाहिये।

तात ! वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने जो अत्यन्त भयङ्कर दुर्वचन कहा है, वह मेरे हृदयको मथ रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे अग्नि प्रकट करनेकी इच्छावाला पुरुष अरणीकाष्ठका मन्थन करता है ॥ १२ ॥

न ह्यतो दुष्करतरं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु।
(निःसंशयो विशेषेण पुरुषं मर्मकृन्तनम्।
सुहृन्मित्रजनास्तेषु सौहृदं न च कुर्वते ॥)
यः सपत्नश्रियं दीप्तां हीनश्रीः पर्युपासते।
मरणं शोभनं तस्य इति विद्वज्जना विदुः ॥१३॥

इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात मैं अपने लिये तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं मानती हूँ। इसमें संदेह नहीं कि कटुवचन मर्मस्थलोंको विदीर्ण करनेवाला होता है। कटुवादी मनुष्योंसे उनके सगे-सम्बन्धी और मित्र भी प्रेम नहीं करते हैं। जो श्रीहीन होकर शत्रुओंकी चमकती हुई लक्ष्मीकी उपासना करता है, उस मनुष्यका तो मर जाना ही अच्छा है; ऐसा विद्वान् पुरुष अनुभव करते हैं ॥ १३ ॥

(अवमानमवाप्नोति शनैर्नीचेषु सङ्गतः।
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
शनैर्दुःखं शस्त्रविषाग्निजातं
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥
संरोहति शरैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥)

नीच पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्य धीरे-धीरे अपमानित हो जाता है। मुखसे जो कटुवचनरूपी बाण छूटते हैं, उनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है। शस्त्र, विष और अग्निसे प्राप्त होनेवाला दुःख शनैः-शनैः अनुभवमें आता है (परंतु कटुवचन तत्काल ही अत्यन्त कष्ट देने लगता है)। अतः विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह दूसरोंपर वाग्बाण न छोड़े। बाणसे बिंधा हुआ वृक्ष और फरसेसे काटा हुआ जंगल फिर पनप जाता है, परंतु वाणीद्वारा जो भयानक कटु वचन निकलता है, उससे घायल हुए हृदयका घाव फिर नहीं भरता ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(इस अध्यायमें १३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक और कुल २३½ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यका वृषपर्वाको फटकारना तथा उसे छोड़कर जानेके लिये उद्यत होना और वृषपर्वाके आदेशसे शर्मिष्ठाका देवयानीकी दासी बनकर शुक्राचार्य तथा देवयानीको संतुष्ट करना

वैशम्पायन उवाच

ततः काव्यो भृगुश्रेष्ठः समन्युरुपगम्य ह।
वृषपर्वाणमासीनमित्युवाचाविचारयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीकी बात सुनकर भृगुश्रेष्ठ शुक्राचार्य बड़े क्रोधमें भरकर वृषपर्वाके समीप गये। वह राजसिंहासनपर बैठा हुआ था। शुक्राचार्यजीने बिना कुछ सोचे-विचारे उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ २ ॥

'राजन् ! जो अधर्म किया जाता है, उसका फल तुरंत नहीं मिलता। जैसे गायकी सेवा करनेपर धीरे-धीरे कुछ कालके बाद वह ब्याती और दूध देती है अथवा धरतीको जोत-बोकर बीज डालनेसे कुछ कालके बाद पौधा उगता और यथासमय फल देता है, उसी प्रकार किया जानेवाला अधर्म धीरे-धीरे कर्ताकी जड़ काट देता है ॥ २ ॥

पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरु भुक्तमिवोदरे ॥ ३ ॥

'यदि वह (पापसे उपार्जित द्रव्यका) दुष्परिणाम अपने ऊपर नहीं दिखायी देता तो उस अन्यायोपार्जित द्रव्यका उपभोग करनेके कारण पुत्रों अथवा नाती-पोतोंपर अवश्य प्रकट होता है। जैसे खाया हुआ गरिष्ठ अन्न तुरंत नहीं तो कुछ देर बाद अवश्य ही पेटमें उपद्रव करता है, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल देता है ॥ ३ ॥

(अधीयानं हितं राजन् क्षमावन्तं जितेन्द्रियम्।)
यदघातयथा विप्रं कचमाङ्गिरसं तदा।
अपापशीलं धर्मज्ञं शुश्रूषुं मद्गृहे रतम् ॥ ४ ॥

'राजन् ! अङ्गिराके पौत्र कच विशुद्ध ब्राह्मण हैं। वे स्वाध्याय-परायण, हितैषी, क्षमावान् और जितेन्द्रिय हैं, स्वभावसे ही निष्पाप और धर्मज्ञ हैं तथा उन दिनों मेरे घरमें रहकर निरन्तर मेरी सेवामें संलग्न थे, परंतु तुमने उनका बार-बार वध करवाया था ॥ ४ ॥

वधादनर्हतस्तस्य वधाच्च दुहितुर्मम ।
वृषपर्वन् निबोधेदं त्यक्ष्यामि त्वां सबान्धवम् ।
स्थातुं त्वद्विषये राजन् न शक्ष्यामि त्वया सह ॥ ५ ॥

'वृषपर्वन् ! ध्यान देकर मेरी यह बात सुन लो, तुम्हारे द्वारा पहले वधके अयोग्य ब्राह्मणका वध किया गया है और अब मेरी पुत्री देवयानीका भी वध करनेके लिये उसे कुएँमें ढकेला गया है । इन दोनों हत्याओंके कारण मैं तुमको और तुम्हारे भाई-बन्धुओंको त्याग दूँगा । राजन् ! तुम्हारे राज्यमें और तुम्हारे साथ मैं एक क्षण भी नहीं ठहर सकूँगा ॥ ५ ॥

अहो मामभिजानासि दैत्य मिथ्याप्रलापिनम् ।
यथेममात्मनो दोषं न नियच्छस्युपेक्षसे ॥ ६ ॥

'दैत्यराज ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुमने मुझे मिथ्यावादी समझ लिया । तभी तो तुम अपने इस दोषको दूर नहीं करते और लापरवाही दिखाते हो' ॥ ६ ॥

वृषपर्वोवाच

(यदि ब्रह्मन् घातयामि यदि वाऽऽक्रोशयाम्यहम् ।
शर्मिष्ठया देवयानीं तेन गच्छाम्यसद्गतिम् ॥)

वृषपर्वा बोले—ब्रह्मन् ! यदि मैं शर्मिष्ठासे देवयानीको पिटवाता या तिरस्कृत करवाता होऊँ तो इस पापसे मुझे सद्गति न मिले ॥

नाधर्मं न मृषावादं त्वयि जानामि भार्गव ।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च तत् प्रसीदतु नो भवान् ॥ ७ ॥
यद्यस्मानपहाय त्वमितो गच्छसि भार्गव ।
समुद्रं सम्प्रवेक्ष्यामो नान्यदस्ति परायणम् ॥ ८ ॥

भृगुनन्दन ! आपपर अधर्म अथवा मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी लगाया हो, यह मैं नहीं जानता । आपमें तो सदा धर्म और सत्य प्रतिष्ठित हैं । अतः आप हमलोगोंपर कृपा करके प्रसन्न होइये । भार्गव ! यदि आप हमें छोड़कर चले जाते हैं तो हम सब लोग समुद्रमें समा जायँगे; हमारे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ७-८ ॥

(यद्येव देवान् गच्छेस्त्वं मां च त्यक्त्वा ग्रहाधिप ।
सर्वत्यागं ततः कृत्वा प्रविशामि हुताशनम् ॥)

ग्रहेश्वर ! यदि आप मुझे छोड़कर देवताओंके पक्षमें चले जायँगे तो मैं भी सर्वस्व त्याग कर जलती आगमें कूद पड़ूँगा ॥

शुक्र उवाच

समुद्रं प्रविशध्वं वा दिशो वा द्रवतासुराः ।
दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे ॥ ९ ॥

शुक्राचार्यने कहा—असुरो ! तुमलोग समुद्रमें घुस जाओ अथवा चारों दिशाओंमें भाग जाओ; मैं अपनी पुत्रीके प्रति किया गया अप्रिय बर्ताव नहीं सह सकता; क्योंकि वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ ९ ॥

प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम् ।
योगक्षेमकरस्तेऽहमिन्द्रस्येव बृहस्पतिः ॥ १० ॥

तुम देवयानीको प्रसन्न करो, क्योंकि उसीमें मेरे प्राण बसते हैं । उसके प्रसन्न हो जानेपर इन्द्रके पुरोहित बृहस्पतिकी भाँति मैं तुम्हारे योगक्षेमका वहन करता रहूँगा ॥ १० ॥

वृषपर्वोवाच

यत् किंचिदसुरेन्द्राणां विद्यते वसु भार्गव ।
भुवि हस्तिगवाश्वं च तस्य त्वं मम चेश्वरः ॥ ११ ॥

वृषपर्वा बोले—भृगुनन्दन ! असुरेश्वरोंके पास इस भूतलपर जो कुछ भी सम्पत्ति तथा हाथी-घोड़े और गाय आदि पशुधन है, उसके और मेरे भी आप ही स्वामी हैं ॥ ११ ॥

शुक्र उवाच

यत् किंचिदस्ति द्रविणं दैत्येन्द्राणां महासुर ।
तस्येश्वरोऽस्मि यद्येषा देवयानी प्रसाद्यताम् ॥ १२ ॥

शुक्राचार्यने कहा—महान् असुर ! दैत्यराजोंका जो कुछ भी धन-वैभव है, यदि उसका स्वामी मैं ही हूँ तो उसके द्वारा इस देवयानीको प्रसन्न करो ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्याह वृषपर्वा महाकविः ।
देवयान्यन्तिकं गत्वा तमर्थं प्राह भार्गवः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर वृषपर्वाने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा मान ली । तदनन्तर दोनों देवयानीके पास गये और महाकवि शुक्राचार्यने वृषपर्वाकी कही हुई सारी बात कह सुनायी ॥ १३ ॥

देवयान्युवाच

यदि त्वमीश्वरस्तात राज्ञो वित्तस्य भार्गव ।
नाभिजानामि तत् तेऽहं राजा तु वदतु स्वयम् ॥ १४ ॥

तब देवयानीने कहा—तात ! यदि आप राजाके धनके स्वामी हैं तो आपके कहनेसे मैं इस बातको नहीं मानूँगी । राजा स्वयं कहें, तो मुझे विश्वास होगा ॥ १४ ॥

वृषपर्वोवाच

यं काममभिकामासि देवयानि शुचिस्मिते ।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि यदि वापि हि दुर्लभम् ॥ १५ ॥

वृषपर्वा बोले—पवित्र मुसकानवाली देवयानी ! तुम जिस वस्तुको पाना चाहती हो, वह यदि दुर्लभ हो तो भी तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

दासीं कन्यासहस्रेण शर्मिष्ठामभिकामये।
अनु मां तत्र गच्छेत् सा यत्र दद्याच्च मे पिता ॥ १६ ॥

देवयानीने कहा—मैं चाहती हूँ, शर्मिष्ठा एक हजार कन्याओंके साथ मेरी दासी होकर रहे और पिताजी जहाँ मेरा विवाह करें, वहाँ भी वह मेरे साथ जाय ॥ १६ ॥

वृषपर्वोवाच

उत्तिष्ठ त्वं गच्छ धात्रि शर्मिष्ठां शीघ्रमानय।
यं च कामयते कामं देवयानी करोतु तम् ॥ १७ ॥

यह सुनकर वृषपर्वाने धायसे कहा—धात्री! तुम उठो, जाओ और शर्मिष्ठाको शीघ्र बुला लाओ एवं देवयानीकी जो कामना हो, उसे वह पूर्ण करे ॥ १७ ॥

(त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥)

कुलके हितके लिये एक मनुष्यको त्याग दे। गाँवके भलेके लिये एक कुलको छोड़ दे। जनपदके लिये एक गाँवकी उपेक्षा कर दे और आत्मकल्याणके लिये सारी पृथ्वीको त्याग दे ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धात्री तत्र गत्वा शर्मिष्ठां वाक्यमब्रवीत्।
उत्तिष्ठ भद्रे शर्मिष्ठे ज्ञातीनां सुखमावह ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धायने शर्मिष्ठाके पास जाकर कहा—'भद्रे शर्मिष्ठे! उठो और अपने जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाओ ॥ १८ ॥

त्यजति ब्राह्मणः शिष्यान् देवयान्या प्रचोदितः।
सा यं कामयते कामं स कार्योऽद्य त्वयानघे ॥ १९ ॥

'पापरहित राजकुमारी! आज बाबा शुक्राचार्य देवयानीके कहनेसे अपने शिष्यों—यजमानोंको त्याग रहे हैं। अतः देवयानीकी जो कामना हो, वह तुम्हें पूर्ण करनी चाहिये' ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठोवाच

यं सा कामयते कामं करवाण्यहमद्य तम्।
यद्येवमाह्वयेच्छुक्रो देवयानीकृते हि माम्।
मद्दोषान्मा गमच्छुक्रो देवयानी च मत्कृते ॥ २० ॥

शर्मिष्ठा बोली—यदि इस प्रकार देवयानीके लिये ही शुक्राचार्यजी मुझे बुला रहे हैं तो देवयानी जो कुछ चाहती है, वह सब आजसे मैं करूँगी। मेरे अपराधसे शुक्राचार्यजी न जायँ और देवयानी भी मेरे कारण अन्यत्र जानेका विचार न करे ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कन्यासहस्रेण वृता शिबिकया तदा।
पितुर्नियोगात् त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पिताकी आज्ञासे राजकुमारी शर्मिष्ठा शिबिकापर आरूढ़ हो तुरंत राजधानीसे बाहर निकली। उस समय वह एक सहस्र कन्याओंसे घिरी हुई थी ॥ २१ ॥

शर्मिष्ठोवाच

अहं दासीसहस्रेण दासी ते परिचारिका।
अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २२ ॥

शर्मिष्ठा बोली—देवयानी! मैं एक सहस्र दासियोंके साथ तुम्हारी दासी बनकर सेवा करूँगी और तुम्हारे पिता जहाँ भी तुम्हारा ब्याह करेंगे, वहाँ तुम्हारे साथ चलूँगी ॥

देवयान्युवाच

स्तुवतो दुहिताहं ते याचतः प्रतिगृह्णतः।
स्तूयमानस्य दुहिता कथं दासी भविष्यसि ॥ २३ ॥

देवयानीने कहा—अरी! मैं तो स्तुति करनेवाले और दान लेनेवाले भिक्षुककी पुत्री हूँ और तुम उस बड़े बापकी बेटी हो, जिसकी मेरे पिता स्तुति करते हैं; फिर मेरी दासी बनकर कैसे रहोगी ॥ २३ ॥

शर्मिष्ठोवाच

येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत्।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २४ ॥

शर्मिष्ठा बोली—जिस किसी उपायसे भी सम्भव हो, अपने विपद्ग्रस्त जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाना चाहिये। अतः तुम्हारे पिता जहाँ तुम्हें देंगे, वहाँ भी मैं तुम्हारे साथ चलूँगी ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिश्रुते दासभावे दुहित्रा वृषपर्वणः।
देवयानी नृपश्रेष्ठ पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! जब वृषपर्वाकी पुत्रीने दासी होनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब देवयानीने अपने पितासे कहा ॥ २५ ॥

देवयान्युवाच

प्रविशामि पुरं तात तुष्टास्मि द्विजसत्तम।
अमोघं तव विज्ञानमस्ति विद्याबलं च ते ॥ २६ ॥

देवयानी बोली—पिताजी! अब मैं नगरमें प्रवेश करूँगी। द्विजश्रेष्ठ! अब मुझे विश्वास हो गया कि आपका विज्ञान और आपकी विद्याका बल अमोघ है ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो दुहित्रा स द्विजश्रेष्ठो महायशाः।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूजितः सर्वदानवैः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी पुत्री देवयानीके ऐसा कहनेपर महायशस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्राचार्यने समस्त दानवोंसे पूजित एवं प्रसन्न होकर नगरमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

(इस अध्यायमें २७ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक और कुल ३२½ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

सखियोंसहित देवयानी और शर्मिष्ठाका वन-विहार, राजा ययातिका आगमन, देवयानीकी उनके साथ बातचीत तथा विवाह

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य देवयानी नृपोत्तम।
वनं तदेव निर्याता क्रीडार्थं वरवर्णिनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर दीर्घ-कालके पश्चात् उत्तम वर्णवाली देवयानी फिर उसी वनमें विहारके लिये गयी ॥ १ ॥

तेन दासीसहस्रेण सार्धं शर्मिष्ठया तदा।
तमेव देशं सम्प्राप्ता यथाकामं चचार सा ॥ २ ॥
ताभिः सखीभिः सहिता सर्वाभिर्मुदिता भृशम्।
क्रीडन्त्योऽभिरताः सर्वाः पिबन्त्यो मधुमाधवीम् ॥ ३ ॥
खादन्त्यो विविधान् भक्ष्यान् विदशन्त्यः फलानि च।
पुनश्च नाहुषो राजा मृगलिप्सुर्यदृच्छया ॥ ४ ॥
तमेव देशं सम्प्राप्तो जलार्थी श्रमकर्शितः।
ददर्श देवयानीं स शर्मिष्ठां ताश्च योषितः ॥ ५ ॥

उस समय उसके साथ एक हजार दासियोंसहित शर्मिष्ठा भी सेवामें उपस्थित थी[1]। वनके उसी प्रदेशमें जाकर वह उन समस्त सखियोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक इच्छानुसार विचरने लगी। वे सभी किशोरियाँ वहाँ भाँति-भाँतिके खेल खेलती हुई आनन्दमें मग्न हो गयीं। वे कभी वासन्तिक पुष्पोंके मकरन्दका पान करतीं, कभी नाना प्रकारके भोज्य पदार्थोंका स्वाद लेतीं और कभी फल खाती थीं। इसी समय नहुषपुत्र राजा ययाति पुनः शिकार खेलनेके लिये दैवेच्छासे उसी स्थानपर आ गये। वे परिश्रम करनेके कारण अधिक थक गये थे और जल पीना चाहते थे। उन्होंने देवयानी, शर्मिष्ठा तथा अन्य युवतियोंको भी देखा ॥ २–५ ॥

पिबन्तीर्ललमानाश्च दिव्याभरणभूषिताः।
(आसने प्रवरे दिव्ये सर्वाभरणभूषिते।)
उपविष्टां च ददर्श देवयानीं शुचिस्मिताम् ॥ ६ ॥

वे सभी दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो पीनेयोग्य रस-का पान और भाँति-भाँति की क्रीडाएँ कर रही थीं। राजाने पवित्र मुसकानवाली देवयानीको वहाँ समस्त आभूषणोंसे विभूषित परम सुन्दर दिव्य आसनपर बैठी हुई देखा ॥ ६ ॥

रूपेणाप्रतिमां तासां स्त्रीणां मध्ये वराङ्गनाम्।
शर्मिष्ठया सेव्यमानां पादसंवाहनादिभिः ॥ ७ ॥

उसके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सुन्दरी उन स्त्रियोंके मध्यमें बैठी हुई थी और शर्मिष्ठाद्वारा उसकी चरणसेवा की जा रही थी ॥ ७ ॥

ययातिरुवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां द्वे कन्ये परिवारिते।
गोत्रे च नामनी चैव द्वयोः पृच्छाम्यहं शुभे ॥ ८ ॥

ययातिने पूछा—दो हजार कुमारी सखियोंसे घिरी हुई कन्याओ ! मैं आप दोनोंके गोत्र और नाम पूछ रहा हूँ। शुभे ! आप दोनों अपना परिचय दें ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच

आख्यास्याम्यहमादत्स्व वचनं मे नराधिप।
शुक्रो नामासुरगुरुः सुतां जानीहि तस्य माम् ॥ ९ ॥

देवयानी बोली—महाराज ! मैं स्वयं परिचय देती हूँ, आप मेरी बात सुनें। असुरोंके जो सुप्रसिद्ध गुरु शुक्राचार्य हैं, मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये ॥ ९ ॥

इयं च मे सखी दासी यत्राहं तत्र गामिनी।
दुहिता दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा वृषपर्वणः ॥ १० ॥

यह दानवराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मेरी सखी और दासी है। मैं विवाह होनेपर जहाँ जाऊँगी, वहाँ यह भी जायगी ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

कथं तु ते सखी दासी कन्येयं वरवर्णिनी।
असुरेन्द्रसुता सुभ्रूः परं कौतूहलं हि मे ॥ ११ ॥

ययाति बोले—सुन्दरी ! यह असुरराजकी रूपवती कन्या सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठा आपकी सखी और दासी किस प्रकार हुई ? यह बताइये। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ११ ॥

देवयान्युवाच

सर्व एव नरश्रेष्ठ विधानमनुवर्तते।
विधानविहितं मत्वा मा विचित्राः कथाः कृथाः ॥ १२ ॥

1. किन्हीं श्लोकोंमें दो हजार और किन्हींमें एक हजार सखियोंका वर्णन आता है। यथावसर दोनों ठीक हैं।

देवयानी बोली—नरश्रेष्ठ ! सब लोग दैवके विधानका ही अनुसरण करते हैं। इसे भी भाग्यका विधान मानकर संतोष कीजिये। इस विषयकी विचित्र घटनाओंको न पूछिये॥

राजवद् रूपवेषौ ते ब्राह्मीं वाचं बिभर्षि च।
को नाम त्वं कुतश्चासि कस्य पुत्रश्च शंस मे ॥ १३ ॥

आपके रूप और वेष राजाके समान हैं और आप ब्राह्मी वाणी (विशुद्ध संस्कृत भाषा) बोल रहे हैं। मुझे बताइये; आपका क्या नाम है, कहाँसे आये हैं और किसके पुत्र हैं ? ॥१३॥

ययातिरुवाच

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः।
राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः ॥ १४ ॥

ययातिने कहा—मैंने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक सम्पूर्ण वेदका अध्ययन किया है। मैं राजा नहुषका पुत्र हूँ और इस समय स्वयं राजा हूँ। मेरा नाम ययाति है ॥ १४ ॥

देवयान्युवाच

केनास्यर्थेन नृपते इमं देशमुपागतः।
जिघृक्षुर्वारिजं किंचिदथवा मृगलिप्सया ॥ १५ ॥

देवयानीने पूछा—महाराज ! आप किस कार्यसे वनके इस प्रदेशमें आये हैं ? आप जल अथवा कमल लेना चाहते हैं या शिकारकी इच्छासे ही आये हैं ? ॥ १५ ॥

ययातिरुवाच

मृगलिप्सुरहं भद्रे पानीयार्थमुपागतः।
बहुधाप्यनुयुक्तोऽस्मि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १६ ॥

ययातिने कहा—भद्रे ! मैं एक हिंसक पशुको मारनेके लिये उसका पीछा कर रहा था, इससे बहुत थक गया हूँ और पानी पीनेके लिये यहाँ आया हूँ। अतः अब मुझे आज्ञा दीजिये॥

देवयान्युवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह।
त्वदधीनास्मि भद्रं ते सखा भर्ता च मे भव ॥ १७ ॥

देवयानीने कहा—राजन् ! आपका कल्याण हो । मैं दो हजार कन्याओं तथा अपनी सेविका शर्मिष्ठाके साथ आपके अधीन होती हूँ। आप मेरे सखा और पति हो जायँ ॥१७॥

ययातिरुवाच

विद्ध्यौशनसि भद्रं ते न त्वामर्होऽस्मि भाविनि।
अविवाह्या हि राजानो देवयानि पितुस्तव ॥ १८ ॥

ययाति बोले—शुक्रनन्दिनी देवयानी ! आपका भला हो । भाविनि ! मैं आपके योग्य नहीं हूँ। क्षत्रियलोग आपके पितासे कन्यादान लेनेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १८ ॥

देवयान्युवाच

संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम्।
ऋषिश्चाप्यृषिपुत्रश्च नाहुषाङ्ग वहस्व माम् ॥ १९ ॥

देवयानीने कहा—नहुषनन्दन ! ब्राह्मणसे क्षत्रिय जाति और क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति मिली हुई है। आप राजर्षिके पुत्र हैं और स्वयं भी राजर्षि हैं । अतः मुझसे विवाह कीजिये ॥ १९ ॥

ययातिरुवाच

एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने।
पृथग्धर्माः पृथक्छौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः ॥ २० ॥

ययाति बोले—वराङ्गने ! एक ही परमेश्वरके शरीरसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है; परंतु सबके धर्म और शौचाचार अलग-अलग हैं। ब्राह्मण उन सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २० ॥

देवयान्युवाच

पाणिधर्मो नाहुषायं न पुम्भिः सेवितः पुरा।
तं मे त्वमग्रहीरग्रे वृणोमि त्वामहं ततः ॥ २१ ॥

देवयानीने कहा—नहुषकुमार ! नारीके लिये पाणिग्रहण एक धर्म है। पहले किसी भी पुरुषने मेरा हाथ नहीं पकड़ा था। सबसे पहले आपहीने मेरा हाथ पकड़ा था। इसलिये आपहीका मैं पतिरूपमें वरण करती हूँ ॥२१॥

कथं नु मे मनस्विन्याः पाणिमन्यः पुमान् स्पृशेत्।
गृहीतमृषिपुत्रेण स्वयं वाप्यृषिणा त्वया ॥ २२ ॥

मैं मनको वशमें रखनेवाली स्त्री हूँ। आप-जैसे राजर्षि-कुमार अथवा राजर्षिद्वारा पकड़े गये मेरे हाथका स्पर्श अब दूसरा पुरुष कैसे कर सकता है ॥ २२ ॥

ययातिरुवाच

क्रुद्धादाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात्।
दुराधर्षतरो विप्रो ज्ञेयः पुंसा विजानता ॥ २३ ॥

ययाति बोले—देवि ! विज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प तथा सब ओरसे प्रज्वलित अग्निसे भी अधिक दुर्धर्ष एवं भयंकर समझे ॥२३॥

देवयान्युवाच

कथमाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात्।
दुराधर्षतरो विप्र इत्यात्थ पुरुषर्षभ ॥ २४ ॥

देवयानीने कहा—पुरुषप्रवर ! ब्राह्मण विषधर सर्प और सब ओरसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निसे भी दुर्धर्ष एवं भयंकर है, यह बात आपने कैसे कही ? ॥ २४ ॥

ययातिरुवाच

एकमाशीविषो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः ॥ २५ ॥
दुराधर्षतरो विप्रस्तस्माद् भीरु मतो मम।
अतोऽदत्तां च पित्रा त्वां भद्रे न विवहाम्यहम् ॥ २६ ॥

ययाति बोले—भद्रे ! सर्प एकको ही मारता है, शस्त्रसे भी एक ही व्यक्तिका वध होता है; परंतु क्रोधमें

भरा हुआ ब्राह्मण समस्त राष्ट्र और नगरका भी नाश कर देता है। भीरु! इसीलिये मैं ब्राह्मणको अधिक दुर्धर्ष मानता हूँ। अतः जबतक आपके पिता आपको मेरे हवाले न कर दें, तबतक मैं आपसे विवाह नहीं करूँगा ॥ २५-२६ ॥

देवयान्युवाच

दत्तां वहस्व तन्मा त्वं पित्रा राजन् वृतो मया।
अयाचतो भयं नास्ति दत्तां च प्रतिगृह्णतः ॥ २७ ॥
(तिष्ठ राजन् मुहूर्तं तु प्रेषयिष्याम्यहं पितुः।

देवयानीने कहा—राजन्! मैंने आपका वरण कर लिया है, अब आप मेरे पिताके देनेपर ही मुझसे विवाह करें। आप स्वयं तो उनसे याचना करते नहीं हैं; उनके देनेपर ही मुझे स्वीकार करेंगे। अतः आपको उनके कोपका भय नहीं है। राजन्! दो घड़ी ठहर जाइये। मैं अभी पिताके पास संदेश भेजती हूँ ॥ २७ ॥

गच्छ त्वं धात्रिके शीघ्रं ब्रह्मकल्पमिहानय ॥
स्वयंवरे वृतं शीघ्रं निवेदय च नाहुषम् ॥)

धाय! शीघ्र जाओ और मेरे ब्रह्मतुल्य पिताको यहाँ बुला ले आओ। उनसे यह भी कह देना कि देवयानीने स्वयंवरकी विधिसे नहुषनन्दन राजा ययातिका पतिरूपमें वरण किया है ॥

वैशम्पायन उवाच

त्वरितं देवयान्याथ संदिष्टं पितुरात्मनः।
सर्वं निवेदयामास धात्री तस्मै यथातथम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार देवयानीने तुरंत धायको भेजकर अपने पिताको संदेश दिया। धायने जाकर शुक्राचार्यसे सब बातें ठीक-ठीक बता दीं ॥ २८ ॥

श्रुत्वैव च स राजानं दर्शयामास भार्गवः।
दृष्ट्वैव चागतं शुक्रं ययातिः पृथिवीपतिः।
ववन्दे ब्राह्मणं काव्यं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥ २९ ॥

सब समाचार सुनते ही शुक्राचार्यने वहाँ आकर राजाको दर्शन दिया। विप्रवर शुक्राचार्यको आया देख राजा ययातिने उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर विनम्रभावसे खड़े हो गये ॥ २९ ॥

देवयान्युवाच

राजायं नाहुषस्तात दुर्गमे पाणिमग्रहीत्।
नमस्ते देहि मामस्मै लोके नान्यं पतिं वृणे ॥ ३० ॥

देवयानी बोली—तात! ये नहुषपुत्र राजा ययाति हैं। इन्होंने संकटके समय मेरा हाथ पकड़ा था। आपको नमस्कार है। आप मुझे इन्हींकी सेवामें समर्पित कर दें। मैं इस जगत्में इनके सिवा दूसरे किसी पतिका वरण नहीं करूँगी ॥ ३० ॥

शुक्र उवाच

वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज ॥ ३१ ॥

शुक्राचार्यने कहा—वीर नहुषनन्दन! मेरी इस लाड़ली पुत्रीने तुम्हें पतिरूपमें वरण किया है; अतः मेरी दी हुई इस कन्याको तुम अपनी पटरानीके रूपमें ग्रहण करो ॥

ययातिरुवाच

अधर्मो न स्पृशेदेष महान् मामिह भार्गव।
वर्णसंकरजो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ॥ ३२ ॥

ययाति बोले—भार्गव ब्रह्मन्! मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि इस विवाहमें यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला वर्णसंकरजनित महान् अधर्म मेरा स्पर्श न करे ॥ ३२ ॥

शुक्र उवाच

अधर्मात् त्वां विमुञ्चामि वृणु त्वं वरमीप्सितम्।
अस्मिन् विवाहे मा म्लासीरहं पापं नुदामि ते ॥ ३३ ॥

शुक्राचार्यने कहा—राजन्! मैं तुम्हें अधर्मसे मुक्त करता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो वर माँग लो। इस विवाहको लेकर तुम्हारे मनमें ग्लानि नहीं होनी चाहिये। मैं तुम्हारे सारे पापको दूर करता हूँ ॥ ३३ ॥

वहस्व भार्यां धर्मेण देवयानीं सुमध्यमाम्।
अनया सह सम्प्रीतिमतुलां समवाप्नुहि ॥ ३४ ॥

तुम सुन्दरी देवयानीको धर्मपूर्वक अपनी पत्नी बनाओ और इसके साथ रहकर अतुल सुख एवं प्रसन्नता प्राप्त करो ॥

इयं चापि कुमारी ते शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
सम्पूज्या सततं राजन् मा चैनां शयने ह्वयेः ॥ ३५ ॥

महाराज! वृषपर्वाकी पुत्री यह कुमारी शर्मिष्ठा भी तुम्हें समर्पित है। इसका सदा आदर करना, किंतु इसे अपनी सेजपर कभी न बुलाना ॥ ३५ ॥

(रहस्येनां समाहूय न वदेर्न च संस्पृशेः।
वहस्व भार्यां भद्रं ते यथाकाममवाप्स्यसि ॥)

तुम्हारा कल्याण हो। इस शर्मिष्ठाको एकान्तमें बुलाकर न तो इससे बात करना और न इसके शरीरका स्पर्श ही करना। अब तुम विवाह करके इसे अपनी पत्नी बनाओ। इससे तुम्हें इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो ययातिस्तु शुक्रं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
शास्त्रोक्तविधिना राजा विवाहमकरोच्छुभम् ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर राजा ययातिने उनकी परिक्रमा की और शास्त्रोक्त विधिसे मङ्गलमय विवाह-कार्य सम्पन्न किया ॥ ३६ ॥

लब्ध्वा शुक्रान्महद् वित्तं देवयानीं तदोत्तमाम्।
द्विसहस्रेण कन्यानां तथा शर्मिष्ठया सह ॥ ३७ ॥

सम्पूजितश्च शुक्रेण दैत्यैश्च नृपसत्तमः।
जगाम स्वपुरं हृष्टोऽनुज्ञातोऽथ महात्मना ॥ ३८ ॥

शुक्राचार्यसे देवयानी-जैसी उत्तम कन्या, शर्मिष्ठा और दो हजार अन्य कन्याओं तथा महान् वैभवको पाकर दैत्यों एवं शुक्राचार्यसे पूजित हो, उन महात्माकी आज्ञा ले नृपश्रेष्ठ ययाति बड़े हर्षके साथ अपनी राजधानीको गये ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत ययात्युपाख्यानविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

(इस अध्यायमें ३८ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक और कुल ४१ श्लोक हैं)

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

ययातिसे देवयानीको पुत्र-प्राप्ति; ययाति और शर्मिष्ठाका एकान्त मिलन और उनसे एक पुत्रका जन्म

वैशम्पायन उवाच

ययातिः स्वपुरं प्राप्य महेन्द्रपुरसंनिभम्।
प्रविश्यान्तःपुरं तत्र देवयानीं न्यवेशयत् ॥ १ ॥
देवयान्याश्चानुमते सुतां तां वृषपर्वणः।
अशोकवनिकाभ्याशे गृहं कृत्वा न्यवेशयत् ॥ २ ॥
वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठां वार्षपर्वणीम्।
वासोभिरन्नपानैश्च संविभज्य सुसत्कृताम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ययातिकी राजधानी महेन्द्रपुरी (अमरावती) के समान थी। उन्होंने वहाँ आकर देवयानीको तो अन्तःपुरमें स्थान दिया और उसीकी अनुमतिसे अशोकवाटिकाके समीप एक महल बनवाकर उसमें वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाको उसकी एक हजार दासियोंके साथ ठहराया और उन सबके लिये अन्न, वस्त्र तथा पेय आदिकी अलग-अलग व्यवस्था करके शर्मिष्ठाका समुचित सत्कार किया ॥

(अशोकवनिकामध्ये देवयानी समागता।
शर्मिष्ठया सा क्रीडित्वा रमणीये मनोरमे ॥
तत्रैव तां तु निर्दिश्य राज्ञा सह ययौ गृहम्।
एवमेव सह प्रीत्या मुमुदे बहुकालतः ॥)

देवयानी ययातिके साथ परम रमणीय एवं मनोरम अशोक-वाटिकामें आती और शर्मिष्ठाके साथ वन-विहार करके उसे वहीं छोड़कर स्वयं राजाके साथ महलमें चली जाती थी। इस तरह वह बहुत समयतक प्रसन्नतापूर्वक आनन्द भोगती रही ॥

देवयान्या तु सहितः स नृपो नहुषात्मजः।
विजहार बहूनब्दान् देववन्मुदितः सुखी ॥ ४ ॥

नहुषकुमार राजा ययातिने देवयानीके साथ बहुत वर्षोंतक देवताओंकी भाँति विहार किया ! वे उसके साथ बहुत प्रसन्न और सुखी थे ॥ ४ ॥

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते देवयानी वराङ्गना।
लेभे गर्भं प्रथमतः कुमारं च व्यजायत ॥ ५ ॥

ऋतुकाल आनेपर सुन्दरी देवयानीने गर्भ धारण किया और समयानुसार प्रथम पुत्रको जन्म दिया ॥ ५ ॥

गते वर्षसहस्रे तु शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा चान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार एक हजार वर्ष व्यतीत हो जानेपर युवावस्थाको प्राप्त हुई वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने अपनेको रजस्वलावस्थामें देखा और चिन्तामग्न हो गयी ॥ ६ ॥

(शुद्धा स्नाता तु शर्मिष्ठा सर्वालंकारभूषिता।
अशोकशाखामालम्ब्य सुफुल्लैः स्तबकैर्वृताम् ॥
आदर्शे मुखमुद्वीक्ष्य भर्तृदर्शनलालसा।
शोकमोहसमाविष्टा वचनं चेदमब्रवीत् ॥
अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसाम्।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियसंदर्शनाद्धि माम् ॥
एवमुक्तवती सा तु शर्मिष्ठा पुनरब्रवीत् ॥)

स्नान करके शुद्ध हो समस्त आभूषणोंसे विभूषित हुई शर्मिष्ठा सुन्दर पुष्पोंके गुच्छोंसे भरी अशोक-शाखाका आश्रय लिये खड़ी थी। दर्पणमें अपना मुँह देखकर उसके मनमें पतिके दर्शनकी लालसा जाग उठी और वह शोक एवं मोहसे युक्त हो इस प्रकार बोली—'हे अशोक वृक्ष! जिनका हृदय शोकमें डूबा हुआ है, उन सबके शोकको तुम दूर करनेवाले हो। इस समय मुझे प्रियतमका दर्शन कराकर अपने ही जैसे नामवाली बना दो' ऐसा कहकर शर्मिष्ठा फिर बोली— ॥

ऋतुकालश्च सम्प्राप्तो न च मेऽस्ति पतिर्वृतः।
किं प्राप्तं किं नु कर्तव्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥ ७ ॥

'मुझे ऋतुकाल प्राप्त हो गया; किंतु अभीतक मैंने पतिका वरण नहीं किया है। यह कैसी परिस्थिति आ गयी। अब क्या करना चाहिये अथवा क्या करनेसे सुकृत (पुण्य) होगा ॥ ७ ॥

देवयानी प्रजातासौ वृथाहं प्राप्तयौवना।
यथा तया वृतो भर्ता तथैवाहं वृणोमि तम् ॥ ८ ॥

'देवयानी तो पुत्रवती हो गयी; किंतु मुझे जो जवानी मिली है, वह व्यर्थ जा रही है। जिस प्रकार उसने पतिका वरण किया है, उसी तरह मैं भी उन्हीं महाराजका क्यों न पतिके रूपमें वरण कर लूँ ॥ ८ ॥

राज्ञा पुत्रफलं देयमिति मे निश्चिता मतिः।
अपीदानीं स धर्मात्मा इयान्मे दर्शनं रहः ॥ ९ ॥

'मेरे याचना करनेपर राजा मुझे पुत्ररूप फल दे सकते हैं, इस बातका मुझे पूरा विश्वास है; परंतु क्या वे धर्मात्मा नरेश इस समय मुझे एकान्तमें दर्शन देंगे ?' ॥ ९ ॥

अथ निष्क्रम्य राजासौ तस्मिन् काले यदृच्छया ।
अशोकवनिकाभ्याशे शर्मिष्ठां प्रेक्ष्य विष्ठितः ॥ १० ॥

शर्मिष्ठा इस प्रकार विचार कर ही रही थी कि राजा ययाति उसी समय दैववश महलसे बाहर निकले और अशोकवाटिका-के निकट शर्मिष्ठाको देखकर ठहर गये ॥ १० ॥

तमेकं रहिते दृष्ट्वा शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
प्रत्युद्गम्याञ्जलिं कृत्वा राजानं वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

मनोहर हासवाली शर्मिष्ठाने उन्हें एकान्तमें अकेला देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की तथा हाथ जोड़कर राजासे यह बात कही ॥ ११ ॥

शर्मिष्ठोवाच

सोमस्येन्द्रस्य विष्णोर्वा यमस्य वरुणस्य च ।
तव वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं द्रष्टुमर्हति ॥ १२ ॥
रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन् वेत्थ मां सदा ।
सा त्वां याचे प्रसाद्याहमृतुं देहि नराधिप ॥ १३ ॥

शर्मिष्ठाने कहा—नहुषनन्दन ! चन्द्रमा, इन्द्र, विष्णु, यम, वरुण अथवा आपके महलमें कौन किसी स्त्रीकी ओर दृष्टि डाल सकता है ? (अतएव यहाँ मैं सर्वथा सुरक्षित हूँ) महाराज ! मेरे रूप, कुल और शील कैसे हैं, यह तो आप सदासे ही जानते हैं। मैं आज आपको प्रसन्न करके यह प्रार्थना करती हूँ कि मुझे ऋतुदान दीजिये—मेरे ऋतुकालको सफल बनाइये ॥

ययातिरुवाच

वेद्मि त्वां शीलसम्पन्नां दैत्यकन्यामनिन्दिताम् ।
रूपं च ते न पश्यामि सूच्यग्रमपि निन्दितम् ॥ १४ ॥

ययातिने कहा—शर्मिष्ठे ! तुम दैत्यराजकी सुशील और निर्दोष कन्या हो । मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ । तुम्हारे शरीर अथवा रूपमें सूईकी नोक बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है, जो निन्दाके योग्य हो ॥ १४ ॥

अब्रवीदुशना काव्यो देवयानीं यदावहम् ।
नेयमाह्वयितव्या ते शयने वार्षपर्वणी ॥ १५ ॥

परंतु क्या करूँ; जब मैंने देवयानीके साथ विवाह किया था, उस समय कविपुत्र शुक्राचार्यने मुझसे स्पष्ट कहा था कि 'वृषपर्वाकी पुत्री इस शर्मिष्ठाको अपनी सेजपर न बुलाना' ॥ १५ ॥

शर्मिष्ठोवाच

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥ १६ ॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! परिहासयुक्त वचन असत्य हो तो भी वह हानिकारक नहीं होता । अपनी स्त्रियोंके प्रति, विवाहके समय, प्राणसंकटके समय तथा सर्वस्वका अपहरण होते समय यदि कभी विवश होकर असत्य भाषण करना पड़े तो वह दोषकारक नहीं होता । ये पाँच प्रकारके असत्य पापशून्य बताये गये हैं ॥ १६ ॥

पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा
वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां
मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ॥ १७ ॥

महाराज ! किसी निर्दोष प्राणीका प्राण बचानेके लिये गवाही देते समय किसीके पूछनेपर अन्यथा (असत्य) भाषण करनेवाले-को यदि कोई पतित कहता है तो उसका कथन मिथ्या है । परंतु जहाँ अपने और दूसरे दोनोंके ही प्राण बचानेका प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ केवल अपने प्राण बचानेके लिये मिथ्या बोलनेवालेका असत्यभाषण उसका नाश कर देता है ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

राजा प्रमाणं भूतानां स नश्येत मृषा वदन् ।
अर्थकृच्छ्रमपि प्राप्य न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ॥ १८ ॥

ययाति बोले—देवि ! सब प्राणियोंके लिये राजा ही प्रमाण है । वह यदि झूठ बोलने लगे, तो उसका नाश हो जाता है । अतः अर्थ-संकटमें पड़नेपर भी मैं झूठा काम नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

समावेतौ मतौ राजन् पतिः सख्याश्च यः पतिः ।
समं विवाहमित्याहुः सख्या मेऽसि वृतः पतिः ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! अपना पति और सखीका पति दोनों बराबर माने गये हैं । सखीके साथ ही उसकी सेवामें रहनेवाली दूसरी कन्याओंका भी विवाह हो जाता है । मेरी सखीने आपको अपना पति बनाया है, अतः मैंने भी बना लिया ॥ १९ ॥

(सह दत्तासि काव्येन देवयान्या महर्षिणा ।
पूज्या पोषयितव्येति न मृषा कर्तुमर्हसि ॥
सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राण्याभरणानि च ।
याचितॄणां ददासि त्वं गोभूम्यादीनि यानि च ॥
बाह्यकं दानमित्युक्तं न शरीराश्रितं नृप ।
दुष्करं पुत्रदानं च आत्मदानं च दुष्करम् ॥
शरीरदानात् तत् सर्वं दत्तं भवति नाहुष ।
यस्य यस्य यथा कामस्तस्य तस्य ददाम्यहम् ॥
इत्युक्त्वा नगरे राजंस्त्रिकालं घोषितं त्वया ॥
अनृतं तत्तु राजेन्द्र वृथा घोषितमेव च ।
तत् सत्यं कुरु राजेन्द्र यथा वैश्रवणस्तथा ॥)

राजन् ! महर्षि शुक्राचार्यने देवयानीके साथ मुझे भी यह कहकर आपको समर्पित किया है कि तुम इसका भी पालन-पोषण और आदर करना। आप उनके वचनको मिथ्या न करें। महाराज ! आप प्रतिदिन याचकोंको जो सुवर्ण, मणि, रत्न, वस्त्र, आभूषण, गौ और भूमि आदि दान करते हैं, वह बाह्य दान कहा गया है। वह शरीरके आश्रित नहीं है। पुत्रदान और शरीरदान अत्यन्त कठिन है। नहुषनन्दन ! शरीरदानसे उपर्युक्त सब दान सम्पन्न हो जाता है। राजन् ! 'जिसकी जैसी इच्छा होगी उस-उस मनुष्यको मैं मुँहमाँगी वस्तु दूँगा' ऐसा कहकर आपने नगरमें जो तीनों समय दानकी घोषणा करायी है, वह मेरी प्रार्थना ठुकरा देनेपर झूठी सिद्ध होगी। वह सारी घोषणा ही व्यर्थ समझी जायगी। राजेन्द्र ! आप कुबेरकी भाँति अपनी उस घोषणाको सत्य कीजिये ॥

ययातिरुवाच

दातव्यं याचमानेभ्य इति मे व्रतमाहितम्।
त्वं च याचसि मां कामं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ २० ॥

ययाति बोले—याचकोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ दी जायँ, ऐसा मेरा व्रत है। तुम भी मुझसे अपने मनोरथकी याचना करती हो; अतः बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ २० ॥

शर्मिष्ठोवाच

अधर्मात् पाहि मां राजन् धर्मं च प्रतिपादय।
त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम् ॥ २१ ॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! मुझे अधर्मसे बचाइये और धर्मका पालन कराइये। मैं चाहती हूँ, आपसे संतानवती होकर इस लोकमें उत्तम धर्मका आचरण करूँ ॥ २१ ॥

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद् धनम् ॥ २२ ॥

महाराज ! तीन व्यक्ति धनके अधिकारी नहीं हैं—पत्नी, दास और पुत्र। ये जो धन प्राप्त करते हैं वह उसीका होता है जिसके अधिकारमें ये हैं। अर्थात् पत्नीके धनपर पतिका, सेवकके धनपर स्वामीका और पुत्रके धनपर पिताका अधिकार होता है ॥ २२ ॥

देवयान्या भुजिष्यास्मि वश्या च तव भार्गवी।
सा चाहं च त्वया राजन् भजनीये भजस्व माम् ॥ २३ ॥

मैं देवयानीकी सेविका हूँ और वह आपके अधीन है; अतः राजन् ! वह और मैं दोनों ही आपके सेवन करने योग्य हैं। अतः मेरा सेवन कीजिये ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजा स तथ्यमित्यभिजज्ञिवान्।
पूजयामास शर्मिष्ठां धर्मं च प्रत्यपादयत् ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाके ऐसा कहनेपर राजाने उसकी बातोंको ठीक समझा। उन्होंने शर्मिष्ठाका सत्कार किया और धर्मानुसार उसे अपनी भार्या बनाया ॥ २४ ॥

स समागम्य शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च।
अन्योन्यं चाभिसम्पूज्य जग्मतुस्तौ यथागतम् ॥ २५ ॥

फिर शर्मिष्ठाके साथ समागम किया और इच्छानुसार कामोपभोग करके एक दूसरेका आदर-सत्कार करनेके पश्चात् दोनों जैसे आये थे वैसे ही अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥ २५ ॥

तस्मिन् समागमे सुभ्रूः शर्मिष्ठा चारुहासिनी।
लेभे गर्भं प्रथमतस्तस्मान्नृपतिसत्तमात् ॥ २६ ॥

सुन्दर भौंह तथा मनोहर मुसकानवाली शर्मिष्ठाने उस समागममें नृपश्रेष्ठ ययातिसे पहले-पहल गर्भ धारण किया ॥ २६ ॥

प्रजज्ञे च ततः काले राजन् राजीवलोचना।
कुमारं देवगर्भाभं राजीवनिभलोचनम् ॥ २७ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर समय आनेपर कमलके समान नेत्रोंवाली शर्मिष्ठाने देवबालक-जैसे सुन्दर एक कमलनयन कुमारको उत्पन्न किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

(इस अध्यायमें २७ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११ श्लोक और कुल ३८ श्लोक हैं)

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका संवाद, ययातिसे शर्मिष्ठाके पुत्र होनेकी बात जानकर देवयानीका रूठकर पिताके पास जाना, शुक्राचार्यका ययातिको बूढ़े होनेका शाप देना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा कुमारं जातं तु देवयानी शुचिस्मिता।
चिन्तयामास दुःखार्ता शर्मिष्ठां प्रति भारत ॥ १ ॥
अभिगम्य च शर्मिष्ठां देवयान्यब्रवीदिदम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पवित्र मुसकानवाली देवयानीने जब सुना कि शर्मिष्ठाके पुत्र हुआ है, तब वह दुःखसे पीड़ित हो शर्मिष्ठाके व्यवहारको लेकर बड़ी चिन्ता करने लगी। वह शर्मिष्ठाके पास गयी और इस प्रकार बोली ॥ १½ ॥

देवयान्युवाच

किमिदं वृजिनं सुभ्रु कृतं वै कामलुब्धया ॥ २ ॥

देवयानीने कहा—सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठे ! तुमने कामलोलुप होकर यह कैसा पाप कर डाला ? ॥ २ ॥

शर्मिष्ठोवाच

ऋषिरभ्यागतः कश्चिद् धर्मात्मा वेदपारगः ।
स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ॥ ३ ॥

शर्मिष्ठा बोली—सखी ! कोई धर्मात्मा ऋषि आये थे, जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे । मैंने उन वरदायक ऋषिसे धर्मानुसार कामकी याचना की ॥ ३ ॥

नाहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते ।
तस्मादृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥

शुचिस्मिते ! मैं न्यायविरुद्ध कामका आचरण नहीं करती । उन ऋषिसे ही मुझे संतान पैदा हुई है, यह तुमसे सत्य कहती हूँ ॥ ४ ॥

देवयान्युवाच

शोभनं भीरु यद्येवमथ स ज्ञायते द्विजः ।
गोत्रनामाभिजनतो वेत्तुमिच्छामि तं द्विजम् ॥ ५ ॥

देवयानीने कहा—भीरु ! यदि ऐसी बात है, तो बहुत अच्छा हुआ । क्या उन द्विजके गोत्र, नाम और कुलका कुछ परिचय मिला है ? मैं उनको जानना चाहती हूँ ॥ ५ ॥

शर्मिष्ठोवाच

तपसा तेजसा चैव दीप्यमानं यथा रविम् ।
तं दृष्ट्वा मम सम्प्रष्टुं शक्तिर्नासीच्छुचिस्मिते ॥ ६ ॥

शर्मिष्ठा बोली—शुचिस्मिते ! वे अपने तप और तेजसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे । उन्हें देखकर मुझे कुछ पूछनेका साहस ही नहीं हुआ ॥ ६ ॥

देवयान्युवाच

यद्येतदेवं शर्मिष्ठे न मन्युर्विद्यते मम ।
अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठाच्छ्रेष्ठाच्च वै द्विजात् ॥ ७ ॥

देवयानीने कहा—शर्मिष्ठे ! यदि ऐसी बात है; यदि तुमने ज्येष्ठ और श्रेष्ठ द्विजसे संतान प्राप्त की है तो तुम्हारे ऊपर मेरा क्रोध नहीं रहा ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमेवमुक्त्वा तु सम्प्रहस्य च ते मिथः ।
जगाम भार्गवी वेश्म तथ्यमित्यवजग्मुषी ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों आपसमें इस प्रकार बातें करके हँस पड़ीं । देवयानीको प्रतीत हुआ कि शर्मिष्ठा ठीक कहती है; अतः वह चुपचाप महलमें चली गयी ॥ ८ ॥

ययातिर्देवयान्यां तु पुत्रावजनयन्नृपः ।
यदुं च तुर्वसुं चैव शक्रविष्णू इवापरौ ॥ ९ ॥

राजा ययातिने देवयानीके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे यदु और तुर्वसु । वे दोनों दूसरे इन्द्र और विष्णुकी भाँति प्रतीत होते थे ॥ ९ ॥

तस्मादेव तु राजर्षेः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च त्रीन् कुमारानजीजनत् ॥ १० ॥

उन्हीं राजर्षिसे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने तीन पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम थे द्रुह्यु, अनु और पूरु ॥ १० ॥

ततः काले तु कस्मिंश्चिद् देवयानी शुचिस्मिता ।
ययातिसहिता राजन्जगाम रहितं वनम् ॥ ११ ॥

राजन् ! तदनन्तर किसी समय पवित्र मुसकानवाली देवयानी ययातिके साथ एकान्त वनमें गयी ॥ ११ ॥

ददर्श च तदा तत्र कुमारान् देवरूपिणः ।
क्रीडमानान् सुविश्रब्धान् विस्मिता चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

वहाँ उसने देवताओंके समान सुन्दर रूपवाले कुछ बालकोंको निर्भय होकर क्रीड़ा करते देखा । उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो वह इस प्रकार बोली ॥ १२ ॥

देवयान्युवाच

कस्यैते दारका राजन् देवपुत्रोपमाः शुभाः ।
वर्चसा रूपतश्चैव सदृशा मे मतास्तव ॥ १३ ॥

देवयानीने पूछा—राजन् ! ये देवबालकोंके तुल्य शुभ लक्षणसम्पन्न कुमार किसके हैं ? तेज और रूपमें तो ये मुझे आपहीके समान जान पड़ते हैं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्ट्वा तु राजानं कुमारान् पर्यपृच्छत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजासे इस प्रकार पूछकर उसने उन कुमारोंसे प्रश्न किया ॥ १३½ ॥

देवयान्युवाच

किं नामधेयं वंशो वः पुत्रकाः कश्च वः पिता ।
प्रब्रूत मे यथातथ्यं श्रोतुमिच्छामि तं ह्यहम् ॥ १४ ॥

देवयानीने पूछा—बच्चो ! तुम्हारे कुलका क्या नाम है ? तुम्हारे पिता कौन हैं ? यह मुझे ठीक-ठीक बताओ । मैं तुम्हारे पिताका नाम सुनना चाहती हूँ ॥ १४ ॥

(एवमुक्ताः कुमारास्ते देवयान्या सुमध्यया ।)
तेऽदर्शयन् प्रदेशिन्या तमेव नृपसत्तमम् ।
शर्मिष्ठां मातरं चैव तथाऽऽचख्युश्च दारकाः ॥ १५ ॥

सुन्दरी देवयानीके इस प्रकार पूछनेपर उन बालकोंने पिताका परिचय देते हुए तर्जनी अँगुलीसे उन्हीं नृपश्रेष्ठ ययातिको दिखा दिया और शर्मिष्ठाको अपनी माता बताया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा सहितास्ते तु राजानमुपचक्रमुः।
नाभ्यनन्दत तान् राजा देवयान्यास्तदान्तिके ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे सब बालक एक साथ राजाके समीप आ गये; परंतु उस समय देवयानीके निकट राजाने उनका अभिनन्दन नहीं किया—उन्हें गोदमें नहीं उठाया ॥ १६ ॥



रुदन्तस्तेऽथ शर्मिष्ठामभ्ययुर्बालकास्ततः।
श्रुत्वा तु तेषां बालानां सव्रीड इव पार्थिवः ॥ १७ ॥

तब वे बालक रोते हुए शर्मिष्ठाके पास चले गये। उनकी बातें सुनकर राजा ययाति लज्जित-से हो गये ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा तु तेषां बालानां प्रणयं पार्थिवं प्रति।
बुद्ध्वा च तत्त्वं सा देवी शर्मिष्ठामिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उन बालकोंका राजाके प्रति विशेष प्रेम देखकर देवयानी सारा रहस्य समझ गयी और शर्मिष्ठासे इस प्रकार बोली ॥ १८ ॥

देवयान्युवाच

(अभ्यागच्छति मां कश्चिदृषिरित्येवमब्रवीः।
ययातिमेव नूनं त्वं प्रोत्साहयसि भामिनि ॥
पूर्वमेव मया प्रोक्तं त्वया तु वृजिनं कृतम्।)
मदधीना सती कस्मादकार्षीर्विप्रियं मम।
तमेवासुरधर्मं त्वमास्थिता न बिभेषि मे ॥ १९ ॥

देवयानी बोली—भामिनि! तुम तो कहती थीं कि मेरे पास कोई ऋषि आया करते हैं। यह बहाना लेकर तुम राजा ययातिको ही अपने पास आनेके लिये प्रोत्साहन देती रहीं। मैंने पहले ही कह दिया था कि तुमने कोई पाप किया है। शर्मिष्ठे! तुमने मेरे अधीन होकर भी मुझे अप्रिय लगनेवाला बर्ताव क्यों किया? तुम फिर उसी असुर-धर्मपर उतर आयीं। मुझसे डरती भी नहीं हो? ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठोवाच

यदुक्तमृषिरित्येव तत् सत्यं चारुहासिनि।
न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते ॥ २० ॥

शर्मिष्ठा बोली—मनोहर मुसकानवाली सखी! मैंने जो ऋषि कहकर अपने स्वामीका परिचय दिया था, सो सत्य ही है। मैं न्याय और धर्मके अनुकूल आचरण करती हूँ, अतः तुमसे नहीं डरती ॥ २० ॥

यदा त्वया वृतो भर्ता वृत एव तदा मया।
सखीभर्ता हि धर्मेण भर्ता भवति शोभने ॥ २१ ॥
पूज्यासि मम मान्या च ज्येष्ठा च ब्राह्मणी ह्यसि।
त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत् ॥ २२ ॥
(त्वत्पित्रा गुरुणा मे च सह दत्ते उभे शुभे।
तव भर्ता च पूज्यश्च पोष्यां पोषयतीह माम् ॥)

जब तुमने पतिका वरण किया था, उसी समय मैंने भी कर लिया। शोभने! जो सखीका स्वामी होता है, वही उसके अधीन रहनेवाली अन्य अविवाहिता सखियोंका भी धर्मतः पति होता है। तुम ज्येष्ठ हो, ब्राह्मणकी पुत्री हो, अतः मेरे लिये माननीय एवं पूजनीय हो; परंतु ये राजर्षि मेरे लिये तुमसे भी अधिक पूजनीय हैं। क्या यह बात तुम नहीं जानतीं? ॥ २१-२२ ॥

शुभे! तुम्हारे पिता और मेरे गुरु (शुक्राचार्य) जीने हम दोनोंको एक ही साथ महाराजकी सेवामें समर्पित किया है। तुम्हारे पति और पूजनीय महाराज ययाति भी मुझे पालन करने योग्य मानकर मेरा पोषण करते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तस्यास्ततो वाक्यं देवयान्यब्रवीदिदम्।
राजन् नाद्येह वत्स्यामि विप्रियं मे कृतं त्वया ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाका यह वचन सुनकर देवयानीने कहा—'राजन्! अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी। आपने मेरा अत्यन्त अप्रिय किया है' ॥ २३ ॥

सहसोत्पतितां श्यामां दृष्ट्वा तां साश्रुलोचनाम्।
तूर्णं सकाशं काव्यस्य प्रस्थितां व्यथितस्तदा ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर तरुणी देवयानी आँखोंमें आँसू भरकर सहसा उठी और तुरंत ही शुक्राचार्यजीके पास जानेके लिये वहाँसे चल दी। यह देख उस समय राजा ययाति व्यथित हो गये ॥ २४ ॥

अनुवव्राज सम्भ्रान्तः पृष्ठतः सान्त्वयन् नृपः।
न्यवर्तत न चैव स्म क्रोधसंरक्तलोचना ॥ २५ ॥

वे व्याकुल हो देवयानीको समझाते हुए उसके पीछे-पीछे गये, किंतु वह नहीं लौटी। उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं ॥ २५ ॥

अविब्रुवन्ती किंचित् सा राजानं साश्रुलोचना।
अचिरादेव सम्प्राप्ता काव्यस्योशनसोऽन्तिकम् ॥ २६ ॥

वह राजासे कुछ न बोलकर केवल नेत्रोंसे आँसू बहाये जाती थी। कुछ ही देरमें वह कविपुत्र शुक्राचार्यके पास जा पहुँची ॥ २६ ॥

सा तु दृष्ट्वैव पितरमभिवाद्याग्रतः स्थिता।
अनन्तरं ययातिस्तु पूजयामास भार्गवम् ॥ २७ ॥

पिताको देखते ही वह प्रणाम करके उनके सामने खड़ी हो गयी। तदनन्तर राजा ययातिने भी शुक्राचार्यकी वन्दना की ॥ २७ ॥

देवयान्युवाच

अधर्मेण जितो धर्मः प्रवृत्तमधरोत्तरम्।
शर्मिष्ठयातिवृत्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २८ ॥

देवयानीने कहा—पिताजी ! अधर्मने धर्मको जीत लिया। नीचकी उन्नति हुई और उच्चकी अवनति। वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मुझे लाँघकर आगे बढ़ गयी ॥ २८ ॥

त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञानेन ययातिना।
दुर्भगाया मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

इन महाराज ययातिसे ही उसके तीन पुत्र हुए हैं, किंतु तात ! मुझ भाग्यहीनाके दो ही पुत्र हुए हैं। यह मैं आपसे ठीक बता रही हूँ ॥ २९ ॥

धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह।
अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत् कथयामि ते ॥ ३० ॥

भृगुश्रेष्ठ ! ये महाराज धर्मज्ञके रूपमें प्रसिद्ध हैं; किंतु इन्होंने ही मर्यादाका उल्लङ्घन किया है। कविनन्दन ! यह आपसे यथार्थ कह रही हूँ ॥ ३० ॥

शुक्र उवाच

धर्मज्ञः सन् महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम्।
तस्माज्जरा त्वामचिराद् धर्षयिष्यति दुर्जया ॥ ३१ ॥

शुक्राचार्यने कहा—महाराज ! तुमने धर्मज्ञ होकर भी अधर्मको प्रिय मानकर उसका आचरण किया है। इसलिये जिसको जीतना कठिन है, वह वृद्धावस्था तुम्हें शीघ्र ही धर दबायेगी ॥ ३१ ॥



ययातिरुवाच

ऋतुं वै याचमानाया भगवन् नान्यचेतसा।
दुहितुर्दानवेन्द्रस्य धर्म्यमेतत् कृतं मया ॥ ३२ ॥
ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमानृतुम्।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन् स इह ब्रह्मवादिभिः ॥ ३३ ॥
अभिकामां स्त्रियं यश्च गम्यां रहसि याचितः।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः ॥ ३४ ॥

ययाति बोले—भगवन् ! दानवराजकी पुत्री मुझसे ऋतुदान माँग रही थी; अतः मैंने धर्म-सम्मत मानकर यह कार्य किया, किसी दूसरे विचारसे नहीं। ब्रह्मन् ! जो पुरुष न्याययुक्त ऋतुकी याचना करनेवाली स्त्रीको ऋतुदान नहीं देता, वह ब्रह्मवादी विद्वानोंद्वारा भ्रूणहत्या करनेवाला कहा जाता है। जो न्यायसम्मत कामनासे युक्त गम्या स्त्रीके द्वारा एकान्तमें प्रार्थना करनेपर उसके साथ समागम नहीं करता, वह धर्मशास्त्रमें विद्वानोंद्वारा गर्भकी हत्या करनेवाला बताया जाता है। ३२—३४।

(यद् यद् याचति मां कश्चित् तत् तद् देयमिति व्रतम्।
त्वया च सापि दत्ता मे नान्यं नाथमिहेच्छति ॥
मत्वैतन्मे धर्म इति कृतं ब्रह्मन् क्षमस्व माम्।)
इत्येतानि समीक्ष्याहं कारणानि भृगूद्वह।
अधर्मभयसंविग्नः शर्मिष्ठामुपजग्मिवान् ॥ ३५ ॥

ब्रह्मन् ! मेरा यह व्रत है कि मुझसे कोई जो भी वस्तु माँगे, उसे वह अवश्य दे दूँगा। आपके ही द्वारा मुझे सौंपी हुई शर्मिष्ठा इस जगत्‌में दूसरे किसी पुरुषको अपना पति

बनाना नहीं चाहती थी। अतः उसकी इच्छा पूर्ण करना धर्म समझकर मैंने वैसा किया है। आप इसके लिये मुझे क्षमा करें। भृगुश्रेष्ठ ! इन्हीं सब कारणोंका विचार करके अधर्मके भयसे उद्विग्न हो मैं शर्मिष्ठाके पास गया था ॥ ३५ ॥

शुक्र उवाच

नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते मदधीनोऽसि पार्थिव।
मिथ्याचारस्य धर्मेषु चौर्यं भवति नाहुष ॥ ३६ ॥

शुक्राचार्यने कहा—राजन् ! तुम्हें इस विषयमें मेरे आदेशकी भी प्रतीक्षा करनी चाहिये थी; क्योंकि तुम मेरे अधीन हो। नहुषनन्दन ! धर्ममें मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुषको चोरीका पाप लगता है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्रुद्धेनोशनसा शप्तो ययातिर्नाहुषस्तदा।
पूर्वं वयः परित्यज्य जरां सद्योऽन्वपद्यत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—क्रोधमें भरे हुए शुक्राचार्यके शाप देनेपर नहुषपुत्र राजा ययाति उसी समय पूर्वावस्था (यौवन) का परित्याग करके तत्काल बूढ़े हो गये ॥ ३७ ॥

ययातिरुवाच

अतृप्तो यौवनस्याहं देवयान्यां भृगूद्वह।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मञ्जरेयं न विशेच्च माम् ॥ ३८ ॥

ययाति बोले—भृगुश्रेष्ठ ! मैं देवयानीके साथ युवावस्थामें रहकर तृप्त नहीं हो सका हूँ; अतः ब्रह्मन् ! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये, जिससे यह बुढ़ापा मेरे शरीरमें प्रवेश न करे ॥ ३८ ॥

शुक्र उवाच

नाहं मृषा ब्रवीम्येतज्जरां प्राप्तोऽसि भूमिप।
जरां त्वेतां त्वमन्यस्मिन् संक्रामय यदीच्छसि ॥ ३९ ॥

शुक्राचार्यजीने कहा—भूमिपाल ! मैं झूठ नहीं बोलता; बूढ़े तो तुम हो ही गये; किंतु तुम्हें इतनी सुविधा देता हूँ कि यदि चाहो तो किसी दूसरेसे जवानी लेकर इस बुढ़ापाको उसके शरीरमें डाल सकते हो ॥ ३९ ॥

ययातिरुवाच

राज्यभाक् स भवेद् ब्रह्मन् पुण्यभाक् कीर्तिभाक् तथा।
यो मे दद्याद् वयः पुत्रस्तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ४० ॥

ययाति बोले—ब्रह्मन् ! मेरा जो पुत्र अपनी युवावस्था मुझे दे, वही पुण्य और कीर्तिका भागी होनेके साथ ही मेरे राज्यका भी भागी हो। आप इसका अनुमोदन करें ॥ ४० ॥

शुक्र उवाच

संक्रामयिष्यसि जरां यथेष्टं नहुषात्मज।
मामनुध्याय भावेन न च पापमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
वयो दास्यति ते पुत्रो यः स राजा भविष्यति।
आयुष्मान् कीर्तिमांश्चैव बह्वपत्यस्तथैव च ॥ ४२ ॥

शुक्राचार्यने कहा—नहुषनन्दन ! तुम भक्तिभावसे मेरा चिन्तन करके अपनी वृद्धावस्थाका इच्छानुसार दूसरेके शरीरमें संचार कर सकोगे। उस दशामें तुम्हें पाप भी नहीं लगेगा। जो पुत्र तुम्हें (प्रसन्नतापूर्वक) अपनी युवावस्था देगा, वही राजा होगा, साथ ही दीर्घायु, यशस्वी तथा अनेक संतानोंसे युक्त होगा ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(इस अध्यायमें ४२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक तथा कुल ४६½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

ययातिका अपने पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुसे अपनी युवावस्था देकर वृद्धावस्था लेनेके लिये आग्रह और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देना, फिर अपने पुत्र पूरुको जरावस्था देकर उनकी युवावस्था लेना तथा उन्हें वर प्रदान करना

वैशम्पायन उवाच

जरां प्राप्य ययातिस्तु स्वपुरं प्राप्य चैव हि।
पुत्रं ज्येष्ठं वरिष्ठं च यदुमित्यब्रवीद् वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा ययाति बुढ़ापा लेकर वहाँसे अपने नगरमें आये और अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र यदुसे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ॥ २ ॥

ययातिने कहा—तात ! कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मुझे बुढ़ापेने घेर लिया; मेरे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और बाल सफेद हो गये; किंतु मैं अभी जवानीके भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ ॥ २ ॥

त्वं यदो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम्॥ ३॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनस्ते यौवनं त्वहम्।
दत्त्वा स्वं प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह॥ ४॥

यदो! तुम बुढ़ापेके साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा विषयोंका उपभोग करूँ। एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी देकर बुढ़ापेके साथ अपना दोष वापस ले लूँगा॥ ३-४॥

यदुरुवाच

जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः।
तस्माज्जरां न ते राजन् ग्रहीष्य इति मे मतिः॥ ५॥

यदु बोले—राजन्! बुढ़ापेमें खाने-पीनेसे अनेक दोष प्रकट होते हैं; अतः मैं आपकी वृद्धावस्था नहीं लूँगा, यही मेरा निश्चित विचार है॥ ५॥

सितश्मश्रुर्निरानन्दो जरया शिथिलीकृतः।
वलीसंगतगात्रस्तु दुर्दर्शो दुर्बलः कृशः॥ ६॥

महाराज! मैं उस बुढ़ापेको लेनेकी इच्छा नहीं करता, जिसके आनेपर दाढ़ी-मूँछके बाल सफेद हो जाते हैं; जीवनका आनन्द चला जाता है। वृद्धावस्था एकदम शिथिल कर देती है। सारे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और मनुष्य इतना दुर्बल तथा कृशकाय हो जाता है कि उसकी ओर देखते नहीं बनता॥ ६॥

अशक्तः कार्यकरणे परिभूतः स यौवतैः।
सहोपजीविभिश्चैव तां जरां नाभिकामये॥ ७॥

बुढ़ापेमें काम-काज करनेकी शक्ति नहीं रहती, युवतियाँ तथा जीविका पानेवाले सेवक भी तिरस्कार करते हैं; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता॥ ७॥

सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप।
जरां ग्रहीतुं धर्मज्ञ तस्मादन्यं वृणीष्व वै॥ ८॥

धर्मज्ञ नरेश्वर! आपके बहुत-से पुत्र हैं, जो आपको मुझसे भी अधिक प्रिय हैं; अतः बुढ़ापा लेनेके लिये किसी दूसरे पुत्रको चुन लीजिये॥ ८॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि।
तस्मादराज्यभाक् तात प्रजा तव भविष्यति॥ ९॥

ययातिने कहा—तात! तुम मेरे हृदयसे उत्पन्न (औरस पुत्र) होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देते; इसलिये तुम्हारी संतान राज्यकी अधिकारिणी नहीं होगी॥ ९॥

तुर्वसो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह।
यौवनेन चरेयं वै विषयांस्तव पुत्रक॥ १०॥

(अब उन्होंने तुर्वसुको बुलाकर कहा—) तुर्वसो! बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो। बेटा! मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोंका उपभोग करूँगा॥ १०॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम्।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह॥ ११॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर मैं तुम्हें जवानी लौटा दूँगा और बुढ़ापेसहित अपने दोषको वापस ले लूँगा॥ ११॥

तुर्वसुरुवाच

न कामये जरां तात कामभोगप्रणाशिनीम्।
बलरूपान्तकरणीं बुद्धिप्राणप्रणाशिनीम्॥ १२॥

तुर्वसु बोले—तात! काम-भोगका नाश करनेवाली वृद्धावस्था मुझे नहीं चाहिये। वह बल तथा रूपका अन्त कर देती है और बुद्धि एवं प्राणशक्तिका भी नाश करनेवाली है॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि।
तस्मात् प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति॥ १३॥

ययातिने कहा—तुर्वसो! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देता है, इसलिये तेरी संतति नष्ट हो जायगी॥ १३॥

संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च।
पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि॥ १४॥

मूढ़! जिनके आचार और धर्म वर्णसंकरोंके समान हैं, जो प्रतिलोमसंकर जातियोंमें गिने जाते हैं तथा जो कच्चा मांस खानेवाले एवं चाण्डाल आदिकी श्रेणीमें हैं, ऐसे लोगोंका तू राजा होगा॥

गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च।
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि॥ १५॥

जो गुरु-पत्नियोंमें आसक्त हैं, जो पशु-पक्षी आदिका-सा आचरण करनेवाले हैं तथा जिनके सारे आचार-विचार भी पशुओंके समान हैं, तू उन पापात्मा म्लेच्छोंका राजा होगा॥ १५॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तुर्वसुं शप्त्वा ययातिः सुतमात्मनः।
शर्मिष्ठायाः सुतं द्रुह्युमिदं वचनमब्रवीत्॥ १६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा ययातिने इस प्रकार अपने पुत्र तुर्वसुको शाप देकर शर्मिष्ठाके पुत्र द्रुह्युसे यह बात कही॥ १६॥

ययातिरुवाच

द्रुह्यो त्वं प्रतिपद्यस्व वर्णरूपविनाशिनीम्।
जरां वर्षसहस्रं मे यौवनं स्वं ददस्व च॥ १७॥

ययातिने कहा—द्रुह्यो ! कान्ति तथा रूपका नाश करनेवाली यह वृद्धावस्था तुम ले लो और एक हजार वर्षोंके लिये अपनी जवानी मुझे दे दो ॥ १७ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चादास्यामि भूयोऽहं पाप्मानं जरया सह ॥ १८ ॥

हजार वर्ष पूर्ण हो जानेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी तुम्हें दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष फिर ले लूँगा ॥ १८ ॥

द्रुह्युरुवाच

न गजं न रथं नाश्वं जीर्णो भुङ्क्ते न च स्त्रियम् ।
वाक्सङ्गश्चास्य भवति तां जरां नाभिकामये ॥ १९ ॥

द्रुह्यु बोले—पिताजी ! बूढ़ा मनुष्य हाथी, घोड़े और रथपर नहीं चढ़ सकता; स्त्रीका भी उपभोग नहीं कर सकता । उसकी वाणी भी लड़खड़ाने लगती है; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता ॥ १९ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्माद् द्रुह्यो प्रियः कामो न ते सम्पत्स्यते क्वचित् ॥ २० ॥

ययाति बोले—द्रुह्यो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी जवानी मुझे नहीं दे रहा है; इसलिये तेरा प्रिय मनोरथ कभी सिद्ध नहीं होगा ॥ २० ॥

यत्राश्वरथमुख्यानामश्वानां स्याद् गतं न च ।
हस्तिनां पीठकानां च गर्दभानां तथैव च ॥ २१ ॥
बस्तानां च गवां चैव शिबिकायास्तथैव च ।
उडुपप्लवसंतारो यत्र नित्यं भविष्यति ।
अराजा भोजशब्दं त्वं तत्र प्राप्स्यसि सान्वयः ॥ २२ ॥

जहाँ घोड़े जुते हुए उत्तम रथों, घोड़ों, हाथियों, पीठकों (पालकियों), गदहों, बकरों, बैलों और शिबिका आदिकी भी गति नहीं है, जहाँ प्रतिदिन नावपर बैठकर ही घूमना-फिरना होगा, ऐसे प्रदेशमें तू अपनी संतानोंके साथ चला जायगा और वहाँ तेरे वंशके लोग राजा नहीं, भोज कहलायँगे ॥ २१-२२ ॥

ययातिरुवाच

अनो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
एकं वर्षसहस्रं तु चरेयं यौवनेन ते ॥ २३ ॥

तदनन्तर ययातिने अनुसे कहा—अनो ! तुम बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा एक हजार वर्षतक सुख भोगूँगा ॥ २३ ॥

अनुरुवाच

जीर्णः शिशुवदादत्तेऽकालेऽन्नमशुचिर्यथा ।
न जुहोति च कालेऽग्निं तां जरां नाभिकामये ॥ २४ ॥

अनु बोले—पिताजी ! बूढ़ा मनुष्य बच्चोंकी तरह असमयमें भोजन करता है, अपवित्र रहता है तथा समयपर अग्निहोत्र नहीं करता, अतः ऐसी वृद्धावस्थाको मैं नहीं लेना चाहता ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
जरादोषस्त्वया प्रोक्तस्तस्मात् त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ २५ ॥
प्रजाश्च यौवनप्राप्ता विनशिष्यन्त्यनो तव ।
अग्निप्रस्कन्दनपरस्त्वं चाप्येवं भविष्यसि ॥ २६ ॥

ययातिने कहा—अनो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी युवावस्था मुझे नहीं दे रहा है और बुढ़ापेके दोष बतला रहा है, अतः तू वृद्धावस्थाके समस्त दोषोंको प्राप्त करेगा और तेरी संतान जवान होते ही मर जायगी तथा तू भी बूढ़े-जैसा होकर अग्निहोत्रका त्याग कर देगा ॥

ययातिरुवाच

पूरो त्वं मे प्रियः पुत्रस्त्वं वरीयान् भविष्यसि ।
जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् ययातिने पूरुसे कहा—पूरो ! तुम मेरे प्रिय पुत्र हो । गुणोंमें तुम श्रेष्ठ होओगे । तात ! मुझे बुढ़ापेने घेर लिया; सब अङ्गोंमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और सिरके बाल सफेद हो गये । बुढ़ापाके ये सारे चिह्न मुझे एक ही साथ प्राप्त हुए हैं ॥

काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ।
पूरो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
कंचित् कालं चरेयं वै विषयान् वयसा तव ॥ २८ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ २९ ॥

कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मेरी यह दशा हुई है; किंतु मैं जवानीके भोगोंसे अभी तृप्त नहीं हुआ हूँ । पूरो ! तुम बुढ़ापेके साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी युवावस्था लेकर उसके द्वारा कुछ कालतक विषयभोग करूँगा । एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं तुम्हें पुनः तुम्हारी जवानी दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष ले लूँगा ॥ २८-२९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पूरुः पितरमञ्जसा ।
यथाऽऽत्थ मां महाराज तत् करिष्यामि ते वचः ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ययातिके ऐसा कहनेपर पूरुने अपने पितासे विनयपूर्वक कहा—'महाराज ! आप मुझे जैसा आदेश दे रहे हैं, आपके उस वचनका मैं पालन करूँगा ॥

(गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम् ।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः ॥
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।)

'गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन मनुष्योंके लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करनेवाला है । गुरुके ही प्रसादसे इन्द्रने

तीनों लोकोंका शासन किया है। गुरुस्वरूप पिताकी अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको पा लेता है॥

प्रतिपत्स्यामि ते राजन् पाप्मानं जरया सह।
गृहाण यौवनं मत्तश्चर कामान् यथेप्सितान्॥ ३१॥

'राजन्! मैं बुढ़ापेके साथ आपका दोष ग्रहण कर लूँगा। आप मुझसे जवानी ले लें और इच्छानुसार विषयोंका उपभोग करें॥ ३१॥

जरयाहं प्रतिच्छन्नो वयोरूपधरस्तव।
यौवनं भवते दत्त्वा चरिष्यामि यथाऽऽत्थ माम्॥ ३२॥

'मैं वृद्धावस्थासे आच्छादित हो आपकी आयु एवं रूप धारण करके रहूँगा और आपको जवानी देकर आप मेरे लिये जो आज्ञा देंगे, उसका पालन करूँगा'॥ ३२॥

ययातिरुवाच

पूरो प्रीतोऽस्मि ते वत्स प्रीतश्चेदं ददामि ते।
सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति॥ ३३॥

ययाति बोले—वत्स! पूरो! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और प्रसन्न होकर तुम्हें यह वर देता हूँ, 'तुम्हारे राज्यमें सारी प्रजा समस्त कामनाओंसे सम्पन्न होगी'॥ ३३॥

एवमुक्त्वा ययातिस्तु स्मृत्वा काव्यं महातपाः।
संक्रामयामास जरां तदा पूरौ महात्मनि॥ ३४॥

ऐसा कहकर महातपस्वी ययातिने शुक्राचार्यका स्मरण किया और अपनी वृद्धावस्था महात्मा पूरुको देकर उनकी युवावस्था ले ली॥ ३४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ ८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८४॥

(इस अध्यायमें ३४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक तथा कुल ३५½ श्लोक हैं।)

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका विषय-सेवन और वैराग्य तथा पूरुका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

पौरवेणाथ वयसा ययातिर्नहुषात्मजः।
प्रीतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान् प्रियान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नहुषके पुत्र नृपश्रेष्ठ ययातिने पूरुकी युवावस्थासे अत्यन्त प्रसन्न होकर अभीष्ट विषयभोगोंका सेवन आरम्भ किया॥ १॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम्।
धर्माविरुद्धं राजेन्द्र यथार्हति स एव हि॥ २॥

राजेन्द्र! उनकी जैसी कामना होती, जैसा उत्साह होता और जैसा समय होता, उसके अनुसार वे सुखपूर्वक धर्मानुकूल भोगोंका उपभोग करते थे। वास्तवमें उसके योग्य वे ही थे॥

देवानतर्पयद् यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत् पितॄनपि।
दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान्॥ ३॥

उन्होंने यज्ञोंद्वारा देवताओंको, श्राद्धोंसे पितरोंको, इच्छाके अनुसार अनुग्रह करके दीन-दुखियोंको और मुँहमाँगी भोग्य वस्तुएँ देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया॥ ३॥

अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः।
आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून् संनिग्रहेण च॥ ४॥
धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन्।
ययातिः पालयामास साक्षादिन्द्र इवापरः॥ ५॥

वे अतिथियोंको अन्न और जल देकर, वैश्योंको उनके धन-वैभवकी रक्षा करके, शूद्रोंको दयाभावसे, लुटेरोंको कैद करके तथा सम्पूर्ण प्रजाको धर्मपूर्वक संरक्षणद्वारा प्रसन्न रखते थे। इस प्रकार साक्षात् दूसरे इन्द्रके समान राजा ययातिने समस्त प्रजाका पालन किया॥ ४-५॥

स राजा सिंहविक्रान्तो युवा विषयगोचरः।
अविरोधेन धर्मस्य चचार सुखमुत्तमम्॥ ६॥

वे राजा सिंहके समान पराक्रमी और नवयुवक थे। सम्पूर्ण विषय उनके अधीन थे और वे धर्मका विरोध न करते हुए उत्तम सुखका उपभोग करते थे॥ ६॥

स सम्प्राप्य शुभान् कामांस्तृप्तः खिन्नश्च पार्थिवः।
कालं वर्षसहस्रान्तं सस्मार मनुजाधिपः॥ ७॥
परिसंख्याय कालज्ञः कलाः काष्ठाश्च वीर्यवान्।
यौवनं प्राप्य राजर्षिः सहस्रपरिवत्सरान्॥ ८॥
विश्वाच्या सहितो रेमे व्यभ्राजन्नन्दने वने।
अलकायां स कालं तु मेरुशृङ्गे तथोत्तरे॥ ९॥
यदा स पश्यते कालं धर्मात्मा तं महीपतिः।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह॥ १०॥

वे नरेश शुभ भोगोंको प्राप्त करके पहले तो तृप्त एवं आनन्दित होते थे; परंतु जब यह बात ध्यानमें आती कि ये हजार वर्ष भी पूरे हो जायँगे, तब उन्हें बड़ा खेद होता था। कालतत्त्वको जाननेवाले पराक्रमी राजा ययाति एक-एक कला और काष्ठा-की गिनती करके एक हजार वर्षके समयकी अवधिका स्मरण रखते थे। राजर्षि ययाति हजार वर्षोंकी जवानी पाकर नन्दनवनमें विश्वाची अप्सराके साथ रमण करते और प्रकाशित

होते थे। वे अलकापुरीमें तथा उत्तर दिशावर्ती मेरुशिखरपर भी इच्छानुसार विहार करते थे। धर्मात्मा नरेशने जब देखा कि समय अब पूरा हो गया, तब वे अपने पुत्र पूरुके पास आकर बोले—॥ ७–१० ॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालमरिंदम।
सेविता विषयाः पुत्र यौवनेन मया तव ॥ ११ ॥

'शत्रुदमन पुत्र! मैंने तुम्हारी जवानीके द्वारा अपनी रुचि, उत्साह और समयके अनुसार विषयोंका सेवन किया है॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ १२ ॥

'परंतु विषयोंकी कामना उन विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती; अपितु घीकी आहुति पड़नेसे अग्निकी भाँति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है ॥ १२ ॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ॥ १३ ॥

'इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णाका त्याग कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥१४॥

'खोटी बुद्धिवाले लोगोंके लिये जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जो एक प्राणान्तक रोग है, उस तृष्णाको त्याग देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है ॥ १४ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वभिजायते ॥ १५ ॥

'देखो, विषयभोगमें आसक्तचित्त हुए मेरे एक हजार वर्ष बीत गये, तो भी प्रतिदिन उन विषयोंके लिये ही तृष्णा पैदा होती है ॥ १५ ॥

तस्मादेनामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह ॥ १६ ॥

'अतः मैं इस तृष्णाको छोड़कर परब्रह्म परमात्मामें मन लगा द्वन्द्व और ममतासे रहित हो वनमें मृगोंके साथ विचरूँगा॥

पूरो प्रीतोऽस्मि भद्रं ते गृहाणेदं स्वयौवनम्।
राज्यं चेदं गृहाण त्वं त्वं हि मे प्रियकृत् सुतः ॥ १७ ॥

'पूरो! तुम्हारा भला हो, मैं प्रसन्न हूँ। अपनी यह जवानी ले लो। साथ ही यह राज्य भी अपने अधिकारमें कर लो; क्योंकि तुम मेरा प्रिय करनेवाले पुत्र हो' ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिपेदे जरां राजा ययातिर्नाहुषस्तदा।
यौवनं प्रतिपेदे च पूरुः स्वं पुनरात्मनः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय नहुषनन्दन राजा ययातिने अपनी वृद्धावस्था वापस ले ली और पूरुने पुनः अपनी युवावस्था प्राप्त कर ली ॥ १८ ॥

अभिषेक्तुकामं नृपतिं पूरुं पुत्रं कनीयसम्।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन् ॥ १९ ॥

जब ब्राह्मण आदि वर्णोंने देखा कि महाराज ययाति अपने छोटे पुत्र पूरुको राजाके पदपर अभिषिक्त करना चाहते हैं, तब उनके पास आकर इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि ॥ २० ॥

'प्रभो! शुक्राचार्यके नाती और देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुके होते हुए उन्हें लाँघकर आप पूरुको राज्य क्यों देते हैं?॥

यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतो जातस्तमनु तुर्वसुः।
शर्मिष्ठायाः सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पूरुरेव च ॥ २१ ॥

'यदु आपके ज्येष्ठ पुत्र हैं। उनके बाद तुर्वसु उत्पन्न हुए हैं। तदनन्तर शर्मिष्ठाके पुत्र क्रमशः द्रुह्यु, अनु और पूरु हैं॥

कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति।
एतत् सम्बोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय ॥ २२ ॥

'ज्येष्ठ पुत्रोंका उल्लङ्घन करके छोटा पुत्र राज्यका अधिकारी कैसे हो सकता है? हम आपको इस बातका स्मरण दिला रहे हैं। आप धर्मका पालन कीजिये' ॥ २२ ॥

ययातिरुवाच

ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथंचन ॥ २३ ॥

ययातिने कहा—ब्राह्मण आदि सब वर्णके लोग मेरी बात सुनें, मुझे ज्येष्ठ पुत्रको किसी तरह राज्य नहीं देना है॥

मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगो नानुपालितः।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः ॥ २४ ॥

मेरे ज्येष्ठ पुत्र यदुने मेरी आज्ञाका पालन नहीं किया है। जो पिताके प्रतिकूल हो, वह सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें पुत्र नहीं माना गया है ॥ २४ ॥

मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः।
स पुत्रः पुत्रवद् यश्च वर्तते पितृमातृषु ॥ २५ ॥

जो माता और पिताकी आज्ञा मानता है, उनका हित चाहता है, उनके अनुकूल चलता है तथा माता-पिताके प्रति पुत्रोचित बर्ताव करता है, वही वास्तवमें पुत्र है ॥ २५ ॥

(पुदिति नरकस्याख्या दुःखं हि नरकं विदुः ।
पुतस्त्राणात् ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ॥
आत्मनः सदृशः पुत्रः पितृदेवर्षिपूजने ।
यो बहूनां गुणकरः स पुत्रो ज्येष्ठ उच्यते ॥
ज्येष्ठांशभाक् स गुणकृदिह लोके परत्र च ।
श्रेयान् पुत्रो गुणोपेतः स पुत्रो नेतरो वृथा ॥
वदन्ति धर्मं धर्मज्ञाः पितॄणां पुत्रकारणात् ।)

'पुत्' यह नरकका नाम है। नरकको दुःखरूप ही मानते हैं पुत् नामक नरकसे त्राण (रक्षा) करनेके कारण ही लोग इहलोक और परलोकमें पुत्रकी इच्छा करते हैं । अपने अनुरूप पुत्र देवताओं, ऋषियों और पितरोंके पूजनका अधिकारी होता है । जो बहुत-से मनुष्योंके लिये गुणकारक (लाभदायक) हो, उसीको ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं। वह गुणकारक पुत्र ही इहलोक और परलोकमें ज्येष्ठके अंशका भागी होता है । जो उत्तम गुणोंसे सम्पन्न है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना गया है, दूसरा नहीं। गुणहीन पुत्र व्यर्थ कहा गया है। धर्मज्ञ पुरुष पुत्रके ही कारण पितरोंके धर्मका बखान करते हैं ॥

यदुनाहमवज्ञातस्तथा तुर्वसुनापि च ।
द्रुह्युना चानुना चैव मय्यवज्ञा कृता भृशम् ॥ २६ ॥

यदुने मेरी अवहेलना की है; तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुने भी मेरा बड़ा तिरस्कार किया है ॥ २६ ॥

पूरुणा तु कृतं वाक्यं मानितं च विशेषतः ।
कनीयान् मम दायादो धृता येन जरा मम ॥ २७ ॥

पूरुने मेरी आज्ञाका पालन किया;मेरी बातको अधिक आदर दिया है, इसीने मेरा बुढ़ापा ले रक्खा था । अतः मेरा यह छोटा पुत्र ही वास्तवमें मेरे राज्य और धनको पानेका अधिकारी है ॥

मम कामः स च कृतः पूरुणा मित्ररूपिणा ।
शुक्रेण च वरो दत्तः काव्येनोशनसा स्वयम् ॥ २८ ॥
पुत्रो यस्त्वानुवर्तेत स राजा पृथिवीपतिः ।
भवतोऽनुनयाम्येवं पूरू राज्येऽभिषिच्यताम् ॥ २९ ॥

पूरुने मित्ररूप होकर मेरी कामनाएँ पूर्ण की हैं । स्वयं शुक्राचार्यने मुझे वर दिया है कि 'जो पुत्र तुम्हारा अनुसरण करे, वही राजा एवं समस्त भूमण्डलका पालक हो' । अतः मैं आपलोगोंसे विनयपूर्ण आग्रह करता हूँ कि पूरुको ही राज्यपर अभिषिक्त करें ॥ २८-२९ ॥

प्रकृतय ऊचुः

यः पुत्रो गुणसम्पन्नो मातापित्रोर्हितः सदा ।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि सत्तमः ॥ ३० ॥

प्रजावर्गके लोग बोले—जो पुत्र गुणवान् और सदा माता-पिताका हितैषी हो, वह छोटा होनेपर भी श्रेष्ठतम है । वही सम्पूर्ण कल्याणका भागी होने योग्य है ॥ ३० ॥

अर्हः पूरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत् तव ।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ॥ ३१ ॥

पूरु आपका प्रिय करनेवाले पुत्र हैं, अतः शुक्राचार्यके वरदानके अनुसार ये ही इस राज्यको पानेके अधिकारी हैं । इस निश्चयके विरुद्ध कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता ॥

वैशम्पायन उवाच

पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत् ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नगर और राज्यके लोगोंने संतुष्ट होकर जब इस प्रकार कहा, तब नहुषनन्दन ययातिने अपने पुत्र पूरुको ही अपने राज्यपर अभिषिक्त किया ॥३२॥

दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः ।
पुरात् स निर्ययौ राजा ब्राह्मणैस्तापसैः सह ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पूरुको राज्य दे वनवासकी दीक्षा लेकर राजा ययाति तपस्वी ब्राह्मणोंके साथ नगरसे बाहर निकल गये ॥

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः ।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः॥ ३४ ॥

यदुसे यादव क्षत्रिय उत्पन्न हुए, तुर्वसुकी संतान यवन कहलायी, द्रुह्युके पुत्र भोज नामसे प्रसिद्ध हुए और अनुसे म्लेच्छजातियाँ उत्पन्न हुईं ॥ ३४ ॥

पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कारयितुं वशी ॥ ३५ ॥

राजा जनमेजय ! पूरुसे पौरव वंश चला; जिसमें तुम उत्पन्न हुए हो । तुम्हें इन्द्रिय-संयमपूर्वक एक हजार वर्षोंतक यह राज्य करना है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पूरुराज्याभिषेके (?)

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पूर्वयायातसमाप्तौ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानके प्रसङ्गमें पूर्वयायातसमाप्तिविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

(इस अध्यायमें ३५ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक कुल ३८½ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

वनमें राजा ययातिकी तपस्या और उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

एवं स नाहुषो राजा ययातिः पुत्रमीप्सितम्।
राज्येऽभिषिच्य मुदितो वानप्रस्थोऽभवन्मुनिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार नहुषनन्दन राजा ययाति अपने प्रिय पुत्र पूरुका राज्याभिषेक करके प्रसन्नतापूर्वक वानप्रस्थ मुनि हो गये॥ १॥

उषित्वा च वने वासं ब्राह्मणैः संशितव्रतः।
फलमूलाशनो दान्तस्ततः स्वर्गमितो गतः॥ २॥

वे वनमें ब्राह्मणोंके साथ रहकर कठोर व्रतका पालन करते हुए फल-मूलका आहार तथा मन और इन्द्रियोंका संयम करते थे, इससे वे स्वर्गलोकमें गये॥ २॥

स गतः स्वर्निवासं तं निवसन् मुदितः सुखी।
कालेन चातिमहता पुनः शक्रेण पातितः॥ ३॥
निपतन् प्रच्युतः स्वर्गादप्राप्तो मेदिनीतलम्।
स्थित आसीदन्तरिक्षे स तदेति श्रुतं मया॥ ४॥

स्वर्गलोकमें जाकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ सुखपूर्वक रहने लगे और बहुत कालके बाद इन्द्रद्वारा वे पुनः स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये। स्वर्गसे भ्रष्ट हो पृथ्वीपर गिरते समय वे भूतलतक नहीं पहुँचे, आकाशमें ही स्थिर हो गये, ऐसा मैंने सुना है॥ ३-४॥

तत एव पुनश्चापि गतः स्वर्गमिति श्रुतम्।
राज्ञा वसुमता सार्धमष्टकेन च वीर्यवान्॥ ५॥
प्रतर्दनेन शिबिना समेत्य किल संसदि।

फिर यह भी सुननेमें आया है कि वे पराक्रमी राजा ययाति मुनिसमाजमें राजा वसुमान्, अष्टक, प्रतर्दन और शिबिसे मिलकर पुनः वहांसे साधु पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे स्वर्गलोकमें चले गये॥ ५½॥

जनमेजय उवाच

कर्मणा केन स दिवं पुनः प्राप्तो महीपतिः॥ ६॥

जनमेजयने पूछा—मुने! किस कर्मसे वे भूपाल पुनः स्वर्गमें पहुँचे थे?॥ ६॥

सर्वमेतदशेषेण श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ॥ ७॥

विप्रवर! मैं ये सारी बातें पूर्णरूपसे यथावत् सुनना चाहता हूँ। इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आप इस प्रसङ्गका वर्णन करें॥ ७॥

देवराजसमो ह्यासीद् ययातिः पृथिवीपतिः।
वर्धनः कुरुवंशस्य विभावसुसमद्युतिः॥ ८॥

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान थे॥ ८॥

तस्य विस्तीर्णयशसः सत्यकीर्तेर्महात्मनः।
चरितं श्रोतुमिच्छामि दिवि चेह च सर्वशः॥ ९॥

उनका यश चारों ओर फैला था। मैं उन सत्यकीर्ति महात्मा ययातिका चरित्र, जो इहलोक और स्वर्गलोकमें सर्वत्र प्रसिद्ध है, सुनना चाहता हूँ॥ ९॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि ययातेरुत्तमां कथाम्।
दिवि चेह च पुण्यार्थां सर्वपापप्रणाशिनीम्॥ १०॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय! ययातिकी उत्तम कथा इहलोक और स्वर्गलोकमें भी पुण्यदायक है। वह सब पापोंका नाश करनेवाली है, मैं तुमसे उसका वर्णन करता हूँ॥

ययातिर्नाहुषो राजा पूरुं पुत्रं कनीयसम्।
राज्येऽभिषिच्य मुदितः प्रवव्राज वनं तदा॥ ११॥
अन्त्येषु स विनिक्षिप्य पुत्रान् यदुपुरोगमान्।
फलमूलाशनो राजा वने संन्यवसच्चिरम्॥ १२॥

नहुषपुत्र महाराज ययातिने अपने छोटे पुत्र पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके यदु आदि अन्य पुत्रोंको सीमान्त (किनारेके देशों) में रख दिया। फिर बड़ी प्रसन्नताके साथ वे वनमें गये। वहाँ फलमूलका आहार करते हुए उन्होंने दीर्घकालतक वनमें निवास किया॥ ११-१२॥

शंसितात्मा जितक्रोधस्तर्पयन् पितृदेवताः।
अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन् वानप्रस्थविधानतः॥ १३॥

उन्होंने अपने मनको शुद्ध करके क्रोधपर विजय पायी और प्रतिदिन देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करते हुए वानप्रस्थाश्रमकी विधिसे शास्त्रीय विधानके अनुसार अग्निहोत्र प्रारम्भ किया॥

अतिथीन् पूजयामास वन्येन हविषा विभुः।
शिलोञ्छवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः॥ १४॥

वे राजा शिलोञ्छवृत्तिका आश्रय ले यज्ञशेष अन्नका भोजन करते थे। भोजनसे पूर्व वनमें उपलब्ध होनेवाले फल, मूल आदि हविष्यके द्वारा अतिथियोंका आदर-सत्कार करते थे॥ १४॥

पूर्णं वर्षसहस्रं च एवंवृत्तिरभून्नृपः।
अब्भक्षः शरदस्त्रिंशदासीन्नियतवाङ्मनाः॥ १५॥

राजाको इसी वृत्तिसे रहते हुए पूरे एक हजार वर्ष बीत गये। उन्होंने मन और वाणीपर संयम करके तीस वर्षोंतक केवल जलका आहार किया॥ १५॥

ततश्च वायुभक्षोऽभूत् संवत्सरमतन्द्रितः।
तथा पञ्चाग्निमध्ये च तपस्तेपे स वत्सरम्॥ १६॥

तत्पश्चात् वे आलस्यरहित हो एक वर्षतक केवल वायु पीकर रहे।

फिर एक वर्षतक पाँच अग्नियोंके बीचमें बैठकर तपस्या की। १६।

एकपादः स्थितश्चासीत् षण्मासाननिलाशनः।
पुण्यकीर्तिस्ततः स्वर्गं जगामावृत्य रोदसी ॥ १७ ॥

इसके बाद छः महीनोंतक हवा पीकर वे एक पैरसे खड़े रहे। तदनन्तर पुण्यकीर्ति महाराज ययाति पृथ्वी और आकाशमें अपना यश फैलाकर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

इन्द्रके पूछनेपर ययातिका अपने पुत्र पूरुको दिये हुए उपदेशकी चर्चा करना

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गतः स तु राजेन्द्रो निवसन् देववेश्मनि।
पूजितस्त्रिदशैः साध्यैर्मरुद्भिर्वसुभिस्तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! स्वर्गलोकमें जाकर महाराज ययाति देवभवनमें निवास करने लगे। वहाँ देवताओं, साध्यगणों, मरुद्गणों तथा वसुओंने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया ॥ १ ॥

देवलोकं ब्रह्मलोकं संचरन् पुण्यकृद् वशी।
अवसत् पृथिवीपालो दीर्घकालमिति श्रुतिः ॥ २ ॥

सुना जाता है कि पुण्यात्मा तथा जितेन्द्रिय राजा ययाति देवलोक और ब्रह्मलोकमें भ्रमण करते हुए वहाँ दीर्घकालतक रहे ॥

स कदाचिन्नृपश्रेष्ठो ययातिः शक्रमागमत्।
कथान्ते तत्र शक्रेण स पृष्टः पृथिवीपतिः ॥ ३ ॥

एक दिन नृपश्रेष्ठ ययाति देवराज इन्द्रके पास आये। दोनोंमें वार्तालाप हुआ और अन्तमें इन्द्रने राजा ययातिसे पूछा ॥

शक्र उवाच

यदा स पूरुस्तव रूपेण राजन्
जरां गृहीत्वा प्रचचार भूमौ।
तदा च राज्यं सम्प्रदायैव तस्मै
त्वया किमुक्तः कथयेह सत्यम् ॥ ४ ॥

इन्द्रने पूछा—राजन्! जब पूरु तुमसे वृद्धावस्था लेकर तुम्हारे स्वरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगा, तुम सत्य कहो, उस समय राज्य देकर तुमने उसको क्या आदेश दिया था? ॥ ४ ॥

ययातिरुवाच

गङ्गायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव ॥ ५ ॥

ययातिने कहा—(देवराज! मैंने अपने पुत्र पूरुसे कहा था कि) बेटा! गङ्गा और यमुनाके बीचका यह सारा प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें रहेगा। यह पृथ्वीका मध्य भाग है, इसके तुम राजा होओगे और तुम्हारे भाई सीमान्त देशोंके अधिपति होंगे ॥ ५ ॥

(न च कुर्यान्नरो दैन्यं शाठ्यं क्रोधं तथैव च।
जैह्म्यं च मत्सरं वैरं सर्वत्रैव न कारयेत् ॥
मातरं पितरं चैव विद्वांसं च तपोधनम्।
क्षमावन्तं च देवेन्द्र नावमन्येत बुद्धिमान् ॥
शक्तस्तु क्षमते नित्यमशक्तः क्रुध्यते नरः।
दुर्जनः सुजनं द्वेष्टि दुर्बलो बलवत्तरम् ॥
रूपवन्तमरूपी च धनवन्तं च निर्धनः।
अकर्मी कर्मिणं द्वेष्टि धार्मिकं च न धार्मिकः ॥
निर्गुणो गुणवन्तं च शक्रैतत् कलिलक्षणम्।)

देवेन्द्र! (इसके बाद मैंने यह आदेश दिया कि) मनुष्य दीनता, शठता और क्रोध न करे। कुटिलता, मात्सर्य और वैर कहीं न करे। माता, पिता, विद्वान्, तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुषका बुद्धिमान् मनुष्य कभी अपमान न करे। शक्तिशाली पुरुष सदा क्षमा करता है। शक्तिहीन मनुष्य सदा क्रोध करता है। दुष्ट मानव साधु पुरुषसे और दुर्बल अधिक बलवान्से द्वेष करता है। कुरूप मनुष्य रूपवान्से, निर्धन धनवान्से, अकर्मण्य कर्मनिष्ठसे और अधार्मिक धर्मात्मासे द्वेष करता है। इसी प्रकार गुणहीन मनुष्य गुणवान्से डाह रखता है। इन्द्र! यह कलिका लक्षण है।

अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः।
अमानुषेभ्यो मानुषाश्च प्रधाना
विद्वांस्तथैवाविदुषः प्रधानः ॥ ६ ॥

क्रोध करनेवालोंसे वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो कभी क्रोध नहीं करता। इसी प्रकार असहनशीलसे सहनशील उत्तम है, मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मूर्खोंसे विद्वान् उत्तम है ॥ ६ ॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ७ ॥

यदि कोई किसीकी निन्दा करता या उसे गाली देता हो तो वह भी बदलेमें निन्दा या गाली-गलौज न करे; क्योंकि जो गाली या निन्दा सह लेता है, उस पुरुषका आन्तरिक दुःख ही गाली देनेवाले या अपमान करनेवालेको जला डालता है। साथ ही उसके पुण्यको भी वह ले लेता है ॥ ७ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम्॥ ८॥

क्रोधवश किसीके मर्म-स्थानमें चोट न पहुँचाये (ऐसा बर्ताव न करे, जिससे किसीको मार्मिक पीड़ा हो)। किसीके प्रति कठोर बात भी मुँहसे न निकाले। अनुचित उपायसे शत्रुको भी वशमें न करे। जो जीको जलानेवाली हो, जिससे दूसरेको उद्वेग होता हो, ऐसी बात मुँहसे न बोले; क्योंकि पापीलोग ही ऐसी बातें बोला करते हैं॥ ८॥

अरुन्तुदं परुषं तीक्ष्णवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम्॥ ९॥

जो स्वभावका कठोर हो, दूसरोंके मर्ममें चोट पहुँचाता हो, तीखी बातें बोलता हो और कठोर वचनरूपी काँटोंसे दूसरे मनुष्यको पीड़ा देता हो, उसे अत्यन्त लक्ष्मीहीन (दरिद्र या अभागा) समझे। (उसको देखना भी बुरा है; क्योंकि) वह कड़वी बोलीके रूपमें अपने मुँहमें बँधी हुई एक पिशाचिनीको ढो रहा है॥

सद्भिः पुरस्तादभिपूजितः स्यात्
सद्भिस्तथा पृष्ठतो रक्षितः स्यात्।
सदासतामतिवादांस्तितिक्षेत्
सतां वृत्तं चाददीतार्यवृत्तः॥ १०॥

(अपना बर्ताव और व्यवहार ऐसा रक्खे, जिससे) साधु पुरुष सामने तो सत्कार करें ही, पीठ-पीछे भी उनके द्वारा अपनी रक्षा हो। दुष्ट लोगोंकी कही हुई अनुचित बातें सदा सह लेनी चाहिये तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके सदाचारका आश्रय लेकर साधु पुरुषोंके व्यवहारको ही अपनाना चाहिये॥ १०॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥ ११॥

दुष्ट मनुष्योंके मुखसे कटु वचनरूपी बाण सदा छूटते रहते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे वाग्बाण दूसरोंके मर्मस्थानोंपर ही चोट करते हैं। अतः विद्वान् पुरुष दूसरेके प्रति ऐसी कठोर वाणीका प्रयोग न करे॥ ११॥

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक्॥ १२॥

सभी प्राणियोंके प्रति दया और मैत्रीका बर्ताव, दान और सबके प्रति मधुर वाणीका प्रयोग—तीनों लोकोंमें इनके समान कोई वशीकरण नहीं है॥ १२॥

तस्मात् सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित्।
पूज्यान् सम्पूजयेद् दद्यान्न च याचेत् कदाचन॥ १३॥

इसलिये कभी कठोर वचन न बोले। सदा सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोले। पूजनीय पुरुषोंका पूजन (आदर-सत्कार) करे। दूसरोंको दान दे और स्वयं कभी किसीसे कुछ न माँगे॥ १३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ ८७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८७॥

(इस अध्यायमें १३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक, कुल १७½ श्लोक हैं)

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गसे पतन और अष्टकका उनसे प्रश्न करना

इन्द्र उवाच

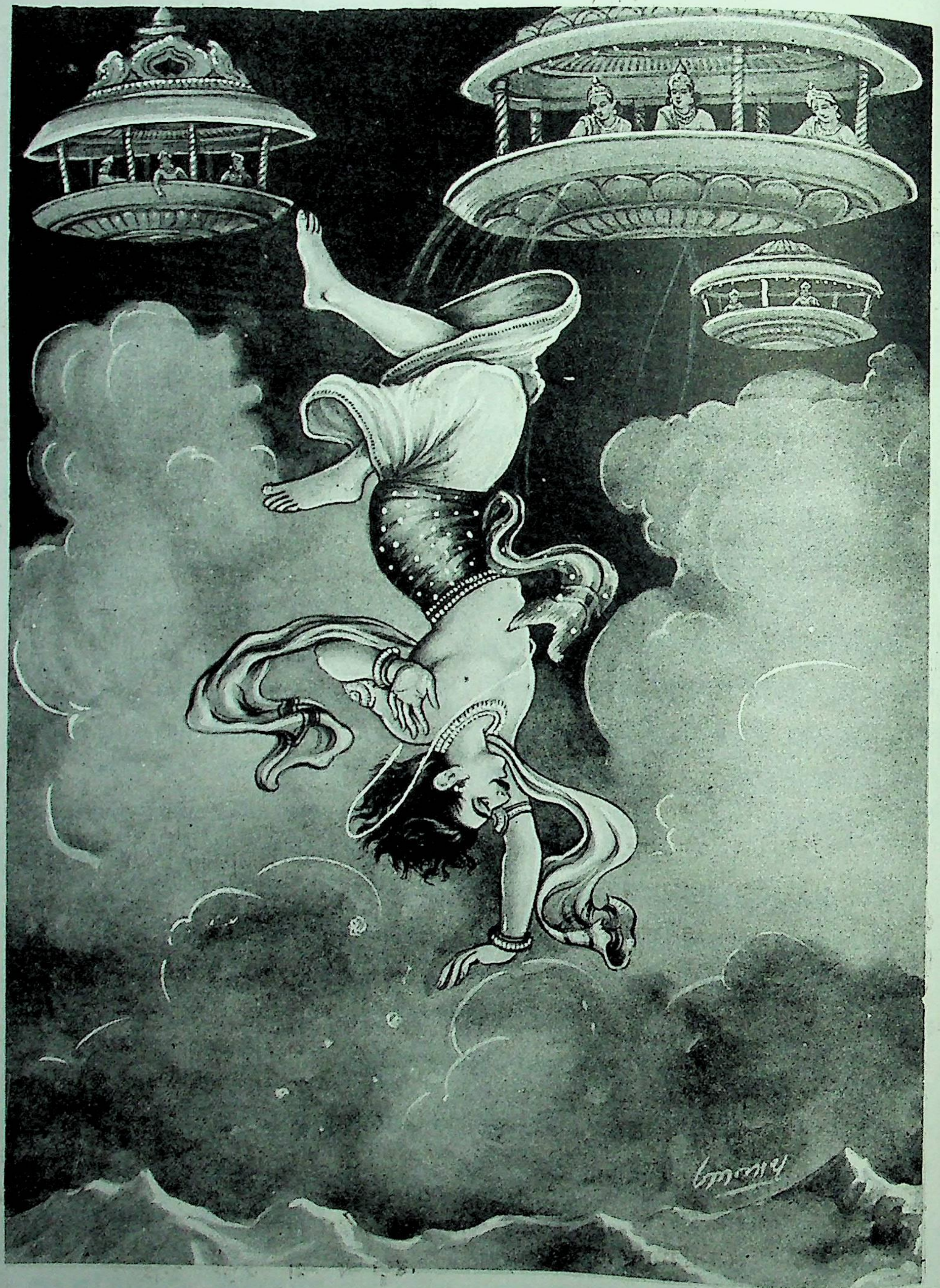
सर्वाणि कर्माणि समाप्य राजन्
गृहं परित्यज्य वनं गतोऽसि।
तत् त्वां पृच्छामि नहुषस्य पुत्र
केनासि तुल्यस्तपसा ययाते॥ १॥

इन्द्रने कहा—राजन्! तुम सम्पूर्ण कर्मोंको समाप्त करके घर छोड़कर वनमें चले गये थे। अतः नहुषपुत्र ययाते! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम तपस्यामें किसके समान हो॥ १॥

ययातिरुवाच

नाहं देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु महर्षिषु।
आत्मनस्तपसा तुल्यं कंचित् पश्यामि वासव॥ २॥

ययातिने कहा—इन्द्र! मैं देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों और महर्षियोंमेंसे किसीको भी तपस्यामें अपनी बराबरी करनेवाला नहीं देखता हूँ॥ २॥



ययातिका पतन

इन्द्र उवाच

यदावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च
अल्पीयसश्चाविदितप्रभावः ।
तस्माल्लोकास्त्वन्तवन्तस्तवेमे
क्षीणे पुण्ये पतितास्यद्य राजन् ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—राजन्! तुमने अपने समान, अपनेसे बड़े और छोटे लोगोंका प्रभाव न जानकर सबका तिरस्कार किया है, अतः तुम्हारे इन पुण्यलोकोंमें रहनेकी अवधि समाप्त हो गयी; क्योंकि (दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण) तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया, इसलिये अब तुम यहाँसे नीचे गिरोगे ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

सुरर्षिगन्धर्वनरावमानात्
क्षयं गता मे यदि शक्र लोकाः ।
इच्छाम्यहं सुरलोकाद् विहीनः
सतां मध्ये पतितुं देवराज ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—देवराज इन्द्र! देवता, ऋषि, गन्धर्व और मनुष्य आदिका अपमान करनेके कारण यदि मेरे पुण्य-लोक क्षीण हो गये हैं तो इन्द्रलोकसे भ्रष्ट होकर मैं साधु पुरुषोंके बीचमें गिरनेकी इच्छा करता हूँ ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

सतां सकाशे पतितासि राजं-
श्च्युतः प्रतिष्ठां यत्र लब्धासि भूयः ।
एतद् विदित्वा च पुनर्ययाते
त्वं मावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले—राजा ययाति! तुम यहाँसे च्युत होकर साधु पुरुषोंके समीप गिरोगे और वहाँ अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर लोगे। यह सब जानकर तुम फिर कभी अपने बराबर तथा अपनेसे बड़े लोगोंका अपमान न करना ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रहायामरराजजुष्टान्
पुण्याँल्लोकान् पतमानं ययातिम् ।
सम्प्रेक्ष्य राजर्षिवरोऽष्टकस्त-
मुवाच सद्धर्मविधानगोप्ता ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवराज इन्द्रके सेवन करने योग्य पुण्यलोकोंका परित्याग करके राजा ययाति नीचे गिरने लगे। उस समय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ अष्टकने उन्हें गिरते देखा। वे उत्तम धर्म-विधिके पालक थे। उन्होंने ययातिसे कहा ॥ ६ ॥



अष्टक उवाच

कस्त्वं युवा वासवतुल्यरूपः
स्वतेजसा दीप्यमानो यथाग्निः ।
पतस्युदीर्णाम्बुधरान्धकारात्
खात् खेचराणां प्रवरो यथार्कः ॥ ७ ॥

अष्टकने पूछा—इन्द्रके समान सुन्दर रूपवाले तरुण पुरुष तुम कौन हो? तुम अपने तेजसे अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहे हो। मेघरूपी घने अन्धकारवाले आकाशसे आकाशचारी ग्रहोंमें श्रेष्ठ सूर्यके समान तुम कैसे गिर रहे हो? ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा च त्वां सूर्यपथात् पतन्तं
वैश्वानरार्कद्युतिमप्रमेयम् ।
किं नु स्विदेतत् पततीति सर्वे
वितर्कयन्तः परिमोहिताः स्मः ॥ ८ ॥

तुम्हारा तेज सूर्य और अग्निके सदृश है। तुम अप्रमेय शक्तिशाली जान पड़ते हो। तुम्हें सूर्यके मार्गसे गिरते देख हम सब लोग मोहित होकर इस तर्क-वितर्कमें पड़े हैं कि 'यह क्या गिर रहा है?' ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा च त्वां धिष्ठितं देवमार्गे
शक्रार्कविष्णुप्रतिमप्रभावम् ।
अभ्युद्गतास्त्वां वयमद्य सर्वे
तत्त्वं प्रपाते तव जिज्ञासमानाः ॥ ९ ॥

तुम इन्द्र, सूर्य और विष्णुके समान प्रभावशाली हो। तुम्हें आकाशमें स्थित देखकर हम सब लोग अब यह जाननेके

लिये तुम्हारे निकट आये हैं कि तुम्हारे पतनका यथार्थ कारण क्या है ? ॥ ९ ॥

न चापि त्वां धृष्णुमः प्रष्टुमग्रे
न च त्वमस्मान् पृच्छसि ये वयं स्मः।
तत् त्वां पृच्छामि स्पृहणीयरूप
कस्य त्वं वा किंनिमित्तं त्वमागाः ॥ १० ॥

हम पहले तुमसे कुछ पूछनेका साहस नहीं कर सकते और तुम भी हमसे हमारा परिचय नहीं पूछते हो; कि हम कौन हैं ? इसलिये मैं ही तुमसे पूछता हूँ । मनोरम रूपवाले महापुरुष ! तुम किसके पुत्र हो ? और किसलिये यहाँ आये हो ? ॥ १० ॥

भयं तु ते व्येतु विषादमोहौ
त्यजाशु चैवेन्द्रसमप्रभाव ।
त्वां वर्तमानं हि सतां सकाशे
नालं प्रसोढुं बलहापि शक्रः ॥ ११ ॥

इन्द्रके तुल्य शक्तिशाली पुरुष ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये । अब तुम्हें विषाद और मोहको भी तुरंत त्याग देना चाहिये । इस समय तुम संतोंके समीप विद्यमान हो । बल दानवका नाश करनेवाले इन्द्र भी अब तुम्हारा तेज सहन करनेमें असमर्थ हैं ॥ ११ ॥

सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानां
सतां सदैवामरराजकल्प ।
ते संगताः स्थावरजङ्गमेशाः
प्रतिष्ठितस्त्वं सदृशेषु सत्सु ॥ १२ ॥

देवेश्वर इन्द्रके समान तेजस्वी महानुभाव ! सुखसे वञ्चित होनेवाले साधु पुरुषोंके लिये सदा संत ही परम आश्रय हैं । वे स्थावर और जङ्गम सब प्राणियोंपर शासन करनेवाले सत्पुरुष यहाँ एकत्र हुए हैं । तुम अपने समान पुण्यात्मा संतोंके बीचमें स्थित हो ॥ १२ ॥

प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः ।
प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे सतां चाभ्यागतः प्रभुः ॥ १३ ॥

जैसे तपनेकी शक्ति अग्निमें है, बोये हुए बीजको धारण करनेकी शक्ति पृथ्वीमें है, प्रकाशित होनेकी शक्ति सूर्यमें है, इसी प्रकार संतोंपर शासन करनेकी शक्ति केवल अतिथिमें है ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका संवाद

ययातिरुवाच

अहं ययातिर्नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सर्वभूतावमानात् ।
प्रभ्रंशितः सुरसिद्धर्षिलोकात्
परिच्युतः प्रपताम्यल्पपुण्यः ॥ १ ॥

ययातिने कहा—महात्मन् ! मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता ययाति हूँ । समस्त प्राणियोंका अपमान करनेसे मेरा पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं देवताओं, सिद्धों तथा महर्षियोंके लोकसे च्युत होकर नीचे गिर रहा हूँ ॥ १ ॥

अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भ्य-
स्तेनाभिवादं भवतां न प्रयुञ्जे ।
यो विद्यया तपसा जन्मना वा
वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ २ ॥

मैं आपलोगोंसे अवस्थामें बड़ा हूँ, अतः आपलोगोंको प्रणाम नहीं कर रहा हूँ । द्विजातियोंमें जो विद्या, तप और अवस्थामें बड़ा होता है, वह पूजनीय माना जाता है ॥ २ ॥

अष्टक उवाच

अवादीस्त्वं वयसा यः प्रवृद्धः
स वै राजन् नाभ्यधिकः कथ्यते च ।
यो विद्यया तपसा सम्प्रवृद्धः
स एव पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ ३ ॥

अष्टक बोले—राजन् ! आपने कहा है कि जो अवस्थामें बड़ा हो, वही अधिक सम्माननीय कहा जाता है । परंतु द्विजोंमें तो जो विद्या और तपस्यामें बढ़ा-चढ़ा हो, वही पूज्य होता है ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

प्रतिकूलं कर्मणां पापमाहु-
स्तद् वर्ततेऽप्रवणं पापलोक्यम् ।
सन्तोऽसतां नानुवर्तन्ति चैतद्
यथा चैषामनुकूलास्तथाऽऽसन् ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—पापको पुण्यकर्मोंका नाशक बताया जाता है, वह नरककी प्राप्ति करानेवाला है और वह उद्दण्ड

पुरुषोंमें ही देखा जाता है। दुराचारी पुरुषोंके दुराचारका श्रेष्ठ पुरुष अनुसरण नहीं करते हैं। पहलेके साधु पुरुष भी उन श्रेष्ठ पुरुषोंके ही अनुकूल आचरण करते थे ॥ ४ ॥

अभूद् धनं मे विपुलं गतं तद्
विचेष्टमानो नाधिगन्ता तदस्मि।
एवं प्रधार्यात्महिते निविष्टो
यो वर्तते स विजानाति धीरः ॥ ५ ॥

मेरे पास पुण्यरूपी बहुत धन था; किंतु दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण वह सब नष्ट हो गया। अब मैं चेष्टा करके भी उसे नहीं पा सकता। मेरी इस दुरवस्थाको समझ-बूझकर जो आत्मकल्याणमें संलग्न रहता है, वही ज्ञानी और वही धीर है ॥ ५ ॥

महाधनो यो यजते सुयज्ञै-
र्यः सर्वविद्यासु विनीतबुद्धिः।
वेदानधीत्य तपसाऽऽयोज्य देहं
दिवं समायात् पुरुषो वीतमोहः ॥ ६ ॥

जो मनुष्य बहुत धनी होकर उत्तम यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करता है, सम्पूर्ण विद्याओंको पाकर जिसकी बुद्धि विनययुक्त है तथा जो वेदोंको पढ़कर अपने शरीरको तपस्यामें लगा देता है, वह पुरुष मोहरहित होकर स्वर्गमें जाता है॥ ६ ॥

न जातु हृष्येन्महता धनेन
वेदानधीयीतानहंकृतः स्यात्।
नानाभावा बहवो जीवलोके
दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः।
तत् तत् प्राप्य न विहन्येत धीरो
दिष्टं बलीय इति मत्वाऽऽत्मबुद्ध्या ॥ ७ ॥

महान् धन पाकर कभी हर्षसे उल्लसित न हो, वेदोंका अध्ययन करे; किंतु अहंकारी न बने। इस जीव-जगत्‌में भिन्न-भिन्न स्वभाववाले बहुतसे प्राणी हैं, वे सभी प्रारब्धके अधीन हैं, अतः उनके धनादि पदार्थोंके लिये किये हुए उद्योग और अधिकार सभी व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिये धीर पुरुषको चाहिये कि वह अपनी बुद्धिसे 'प्रारब्ध ही बलवान् है' यह जानकर दुःख या सुख जो भी मिले, उसमें विकार-को प्राप्त न हो ॥ ७ ॥

सुखं हि जन्तुर्यदि वापि दुःखं
दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्त्या।
तस्माद् दिष्टं बलवन्मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ॥ ८ ॥

जीव जो सुख अथवा दुःख पाता है, वह प्रारब्धसे ही प्राप्त होता है, अपनी शक्तिसे नहीं। अतः प्रारब्धको ही बलवान् मानकर मनुष्य किसी प्रकार भी हर्ष अथवा शोक न करे॥ ८ ॥

दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्
समेन वर्तेत सदैव धीरः।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित्॥ ९ ॥

दुःखोंसे संतप्त न हो और सुखोंसे हर्षित न हो। धीर पुरुष सदा समभावसे ही रहे और भाग्यको ही प्रबल मानकर किसी प्रकार चिन्ता एवं हर्षके वशीभूत न हो ॥ ९ ॥

भये न मुह्याम्यष्टकाहं कदाचित्
संतापो मे मानसो नास्ति कश्चित्।
धाता यथा मां विदधीत लोके
ध्रुवं तथाहं भवितेति मत्वा ॥ १० ॥

अष्टक! मैं कभी भयमें पड़कर मोहित नहीं होता, मुझे कोई मानसिक संताप भी नहीं होता; क्योंकि मैं समझता हूँ कि विधाता इस संसारमें मुझे जैसे रक्खेगा, वैसे ही रहूँगा॥

संस्वेदजा अण्डजाश्चोद्भिदश्च
सरीसृपाः कृमयोऽथाप्सु मत्स्याः।
तथाश्मानस्तृणकाष्ठं च सर्वे
दिष्टक्षये स्वां प्रकृतिं भजन्ति ॥ ११ ॥

स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, सरीसृप, कृमि, जलमें रहने-वाले मत्स्य आदि जीव तथा पर्वत, तृण और काष्ठ—ये सभी प्रारब्ध-भोगका सर्वथा क्षय हो जानेपर अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुद्ध्वा
कस्मात् संतापमष्टकाहं भजेयम्।
किं कुर्यां वै किं च कृत्वा न तप्ये
तस्मात् संतापं वर्जयाम्यप्रमत्तः ॥ १२ ॥

अष्टक! मैं सुख तथा दुःख दोनोंकी अनित्यताको जानता हूँ, फिर मुझे संताप हो तो कैसे? मैं क्या करूँ और क्या करके संतप्त न होऊँ, इन बातोंकी चिन्ता छोड़ चुका हूँ। अतः सावधान रहकर शोक-संतापको अपनेसे दूर रखता हूँ ॥ १२ ॥

(दुःखे न खिद्येन्न सुखेन माद्येत्
समेन वर्तेत स धीरधर्मा।
दिष्टं बलीयः समवेक्ष्य बुद्ध्या
न सज्जते ह्यत्र भृशं मनुष्यः ॥)

जो दुःखमें खिन्न नहीं होता, सुखसे मतवाला नहीं हो उठता और सबके साथ समान भावसे बर्ताव करता है, वह धीर कहा गया है। विज्ञ मनुष्य बुद्धिसे प्रारब्धको अत्यन्त बलवान् समझकर यहाँ किसी भी विषयमें अधिक आसक्त नहीं होता ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं नृपतिं ययाति-
मथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छत्।

मातामहं सर्वगुणोपपन्नं
तत्र स्थितं स्वर्गलोके यथावत् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययाति समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे और नातेमें अष्टकके नाना लगते थे। वे अन्तरिक्षमें वैसे ही ठहरे हुए थे, मानो स्वर्गलोकमें हों। जब उन्होंने उपर्युक्त बातें कहीं, तब अष्टकने उनसे पुनः प्रश्न किया ॥ १३ ॥

अष्टक उवाच

ये ये लोकाः पार्थिवेन्द्र प्रधाना-
स्त्वया भुक्ता यं च कालं यथावत् ।
तान् मे राजन् ब्रूहि सर्वान् यथावत्
क्षेत्रज्ञवद् भाषसे त्वं हि धर्मान् ॥ १४ ॥

अष्टक बोले—महाराज ! आपने जिन-जिन प्रधान लोकोंमें रहकर जितने समयतक वहाँके सुखोंका भलीभाँति उपभोग किया है, उन सबका मुझे यथार्थ परिचय दीजिये। राजन् ! आप तो महात्माओंकी भाँति धर्मोंका उपदेश कर रहे हैं ॥

ययातिरुवाच

राजाहमासमिह सार्वभौम-
स्ततो लोकान् महतश्चाजयं वै ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १५ ॥

ययातिने कहा—अष्टक ! मैं पहले समस्त भूमण्डलमें प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा था। तदनन्तर सत्कर्मोंद्वारा बड़े-बड़े लोकोंपर मैंने विजय प्राप्त की और उनमें एक हजार वर्षोंतक निवास किया। इसके बाद उनसे भी उच्चतम लोकमें जा पहुँचा ॥ १५ ॥

ततः पुरीं पुरुहूतस्य रम्यां
सहस्रद्वारां शतयोजनायताम् ।
अध्यावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १६ ॥

वहाँ सौ योजन विस्तृत और एक हजार दरवाजोंसे युक्त इन्द्रकी रमणीय पुरी प्राप्त हुई। उसमें मैंने केवल एक हजार वर्षोंतक निवास किया और उसके बाद उससे भी ऊँचे लोकमें गया ॥ १६ ॥

ततो दिव्यमजरं प्राप्य लोकं
प्रजापतेर्लोकपतेर्दुरापम् ।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर लोकपालोंके लिये भी दुर्लभ प्रजापतिके उस दिव्य लोकमें जा पहुँचा, जहाँ जरावस्थाका प्रवेश नहीं है। वहाँ एक हजार वर्षतक रहा, फिर उससे भी उत्तम लोकमें चला गया ॥ १७ ॥

स देवदेवस्य निवेशने च
विहृत्य लोकानवसं यथेष्टम् ।
सम्पूज्यमानस्त्रिदशैः समस्तै-
स्तुल्यप्रभावद्युतिरीश्वराणाम् ॥ १८ ॥

वह देवाधिदेव ब्रह्माजीका धाम था। वहाँ मैं अपनी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें विहार करता हुआ सम्पूर्ण देवताओंसे सम्मानित होकर रहा। उस समय मेरा प्रभाव और तेज देवेश्वरोंके समान था ॥ १८ ॥

तथावसं नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
सहाप्सरोभिर्विहरन् पुण्यगन्धान्
पश्यन् नगान् पुष्पितांश्चारुरूपान् ॥ १९ ॥

इसी प्रकार मैं नन्दनवनमें इच्छानुसार रूप धारण करके अप्सराओंके साथ विहार करता हुआ दस लाख वर्षोंतक रहा। वहाँ मुझे पवित्र गन्ध और मनोहर रूपवाले वृक्ष देखनेको मिले, जो फूलोंसे लदे हुए थे ॥ १९ ॥

तत्र स्थितं मां देवसुखेषु सक्तं
कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम् ।
दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो
ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिः प्लुतेन स्वरेण ॥ २० ॥

वहाँ रहकर मैं देवलोकके सुखोंमें आसक्त हो गया। तदनन्तर बहुत अधिक समय बीत जानेपर एक भयंकर रूपधारी देवदूत आकर मुझसे ऊँची आवाजमें तीन बार बोला—'गिर जाओ, गिर जाओ, गिर जाओ' ॥ २० ॥

एतावन्मे विदितं राजसिंह
ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात् क्षीणपुण्यः ।
वाचोऽश्रौषं चान्तरिक्षे सुराणां
सानुक्रोशाः शोचतां मां नरेन्द्र ॥ २१ ॥

राजशिरोमणे ! मुझे इतना ही ज्ञात हो सका है। तदनन्तर पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं नन्दन वनसे नीचे गिर पड़ा। नरेन्द्र ! उस समय मेरे लिये शोक करनेवाले देवताओंकी अन्तरिक्षमें यह दयाभरी वाणी सुनायी पड़ी— ॥ २१ ॥

अहो कष्टं क्षीणपुण्यो ययातिः
पतत्यसौ पुण्यकृत् पुण्यकीर्तिः ।
तानब्रुवं पतमानस्ततोऽहं
सतां मध्ये निपतेयं कथं नु ॥ २२ ॥

'अहो ! बड़े कष्टकी बात है कि पवित्र कीर्तिवाले ये पुण्यकर्मा महाराज ययाति पुण्य क्षीण होनेके कारण नीचे गिर रहे हैं।' तब नीचे गिरते हुए मैंने उनसे पूछा—'देवताओ ! मैं साधु पुरुषोंके बीच गिरूँ, इसका क्या उपाय है ?' ॥ २२ ॥

तैराख्याता भवतां यज्ञभूमिः
समीक्ष्य चेमां त्वरितमुपागतोऽस्मि।
हविर्गन्धं देशिकं यज्ञभूमे-
र्धूमापाङ्गं प्रतिगृह्य प्रतीतः ॥ २३ ॥

तब देवताओंने मुझे आपकी यज्ञभूमिका परिचय दिया। मैं इसीको देखता हुआ तुरंत यहाँ आ पहुँचा हूँ। यज्ञभूमिका परिचय देनेवाली हविष्यकी सुगन्धका अनुभव तथा धूम-प्रान्तका अवलोकन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता और सान्त्वना मिली है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

(इस अध्यायमें २३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक और कुल २४ श्लोक हैं)

नवतितमोऽध्यायः

अष्टक और ययातिका संवाद

अष्टक उवाच

यदावसो नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम्।
किं कारणं कार्तयुगप्रधान
हित्वा च त्वं वसुधामन्वपद्यः ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—सत्ययुगके निष्पाप राजाओंमें प्रधान नरेश! जब आप इच्छानुसार रूप धारण करके दस लाख वर्षोंतक नन्दनवनमें निवास कर चुके हैं, तब क्या कारण है कि आप उसे छोड़कर भूतलपर चले आये ? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

ज्ञातिः सुहृत् स्वजनो वा यथेह
क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं
त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसङ्घाः ॥ २ ॥

ययाति बोले—जैसे इस लोकमें जाति-भाई, सुहृद् अथवा स्वजन कोई भी क्यों न हो, धन नष्ट हो जानेपर उसे सब मनुष्य त्याग देते हैं; उसी प्रकार परलोकमें जिसका पुण्य समाप्त हो गया है, उस मनुष्यको देवराज इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता तुरंत त्याग देते हैं ॥ २ ॥

अष्टक उवाच

तस्मिन् कथं क्षीणपुण्या भवन्ति
सम्मुह्यते मेऽत्र मनोऽतिमात्रम्।
किं वा विशिष्टाः कस्य धामोपयान्ति
तद् वै ब्रूहि क्षेत्रवित् त्वं मतो मे ॥ ३ ॥

अष्टकने पूछा—देवलोकमें मनुष्योंके पुण्य कैसे क्षीण होते हैं ? इस विषयमें मेरा मन अत्यन्त मोहित हो रहा है। प्रजापतिका वह कौन-सा धाम है, जिसमें विशिष्ट (अपुनरावृत्तिकी योग्यतावाले) पुरुष जाते हैं ? यह बताइये; क्योंकि आप मुझे क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) जान पड़ते हैं ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
लालप्यमाना नरदेव सर्वे।
ते कङ्कगोमायुबलाशनार्थे
क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति ॥ ४ ॥

ययाति बोले—नरदेव! जो अपने मुखसे अपने पुण्य-कर्मोंका बखान करते हैं, वे सभी इस भौम नरकमें आ गिरते हैं। यहाँ वे गीधों, गीदड़ों और कौओं[1] आदिके खाने योग्य इस शरीरके लिये बड़ा भारी परिश्रम करके क्षीण होते और पुत्र-पौत्रादिरूपसे बहुधा विस्तारको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

तस्मादेतद् वर्जनीयं नरेन्द्र
दुष्टं लोके गर्हणीयं च कर्म।
आख्यातं ते पार्थिव सर्वमेव
भूयश्चेदानीं वद किं ते वदामि ॥ ५ ॥

इसलिये नरेन्द्र! इस लोकमें जो दुष्ट और निन्दनीय कर्म हो उसको सर्वथा त्याग देना चाहिये। भूपाल! मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, बोलो, अब और तुम्हें क्या बताऊँ ? ॥ ५ ॥

अष्टक उवाच

यदा तु तान् वितुदन्ते वयांसि
तथा गृध्राः शितिकण्ठाः पतङ्गाः।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
न भौममन्यं नरकं शृणोमि ॥ ६ ॥

अष्टकने पूछा—जब मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् पक्षी, गीध, नीलकण्ठ और पतङ्ग ये नोच-नोचकर खा लेते हैं, तब वे कैसे और किस रूपमें उत्पन्न होते हैं ? मैंने अबतक भौम नामक किसी दूसरे नरकका नाम नहीं सुना था ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

ऊर्ध्वं देहात् कर्मणा जृम्भमाणाद्
व्यक्तं पृथिव्यामनुसंचरन्ति।

[1] बल शब्दका अर्थ यहाँ कौआ किया गया है; जो 'स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं ना काकसीरिणोः' अमरकोषके इस वाक्यसे समर्थित होता है।

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
नावेक्षन्ते वर्षपूगाननेकान् ॥ ७ ॥

ययाति बोले—कर्मसे उत्पन्न होने और बढ़नेवाले शरीरको पाकर गर्भसे निकलनेके पश्चात् जीव सबके समक्ष इस पृथ्वीपर (विषयोंमें) विचरते हैं। उनका यह विचरण ही भौम नरक कहा गया है। इसीमें वे पड़ते हैं। इसमें पड़नेपर वे व्यर्थ बीतनेवाले अनेक वर्षसमूहोंकी ओर दृष्टिपात नहीं करते ॥७॥

षष्टिं सहस्राणि पतन्ति व्योम्नि
तथा अशीतिं परिवत्सराणि।
तान् वै तुदन्ति पततः प्रपातं
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ॥ ८ ॥

कितने ही प्राणी आकाश(स्वर्गादि)में साठ हजार वर्ष रहते हैं। कुछ अस्सी हजार वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं। इसके बाद वे भूमिपर गिरते हैं। यहाँ उन गिरनेवाले जीवोंको तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके भयानक राक्षस(दुष्ट प्राणी) अत्यन्त पीड़ा देते हैं ॥८॥

अष्टक उवाच

यदेनसस्ते पततस्तुदन्ति
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
कथंभूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ९ ॥

अष्टकने पूछा—तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके वे भयंकर राक्षस पापवश आकाशसे गिरते हुए जिन जीवोंको सताते हैं, वे गिरकर कैसे जीवित रहते हैं? किस प्रकार इन्द्रिय आदिसे युक्त होते हैं? और कैसे गर्भमें आते हैं? ॥ ९ ॥

ययातिरुवाच

अस्रं रेतः पुष्पफलानुपृक्त-
मन्वेति तद् वै पुरुषेण सृष्टम्।
स वै तस्या रज आपद्यते वै
स गर्भभूतः समुपैति तत्र ॥ १० ॥

ययाति बोले—अन्तरिक्षसे गिरा हुआ प्राणी अस्र (जल) होता है। फिर वही क्रमशः नूतन शरीरका बीजभूत वीर्य बन जाता है। वह वीर्य फूल और फलरूपी शेष कर्मोंसे संयुक्त होकर तदनुरूप योनिका अनुसरण करता है। गर्भाधान करनेवाले पुरुषके द्वारा स्त्रीसंसर्ग होनेपर वह वीर्यमें आविष्ट हुआ जीव उस स्त्रीके रजसे मिल जाता है। तदनन्तर वही गर्भरूपमें परिणत हो जाता है ॥ १० ॥

वनस्पतीनोषधीश्चाविशन्ति
अपो वायुं पृथिवीं चान्तरिक्षम्।
चतुष्पदं द्विपदं चापि सर्व-
मेवम्भूता गर्भभूता भवन्ति ॥११॥

जीव जलरूपसे गिरकर वनस्पतियों और ओषधियोंमें प्रवेश करते हैं। जल, वायु, पृथ्वी और अन्तरिक्ष आदिमें प्रवेश करते हुए कर्मानुसार पशु अथवा मनुष्य सब कुछ होते हैं। इस प्रकार भूमिपर आकर फिर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार गर्भभावको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

अन्यद् वपुर्विदधातीह गर्भ-
मुताहोस्वित् स्वेन कायेन याति।
आपद्यमानो नरयोनिमेता-
माचक्ष्व मे संशयात् प्रब्रवीमि ॥ १२ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! इस मनुष्ययोनिमें आनेवाला जीव अपने इसी शरीरसे गर्भमें आता है या दूसरा शरीर धारण करता है। आप यह रहस्य मुझे बताइये। मैं संशय होनेके कारण पूछता हूँ ॥ १२ ॥

शरीरभेदाभिसमुच्छ्रयं च
चक्षुःश्रोत्रे लभते केन संज्ञाम्।
एतत् तत्त्वं सर्वमाचक्ष्व पृष्टः
क्षेत्रज्ञं त्वां तात मन्याम सर्वे ॥ १३ ॥

गर्भमें आनेपर वह भिन्न-भिन्न शरीररूपी आश्रयको, आँख और कान आदि इन्द्रियोंको तथा चेतनाको भी कैसे उपलब्ध करता है? मेरे पूछनेपर ये सब बातें आप बताइये। तात! हम सब लोग आपको क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) मानते हैं ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच

वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनि-
मृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम्।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः
क्रमेण संवर्धयतीह गर्भम् ॥ १४ ॥

ययाति बोले—ऋतुकालमें पुष्परससे संयुक्त वीर्यको वायु गर्भाशयमें खींच लाता है। वहाँ गर्भाशयमें सूक्ष्मभूत उसपर अधिकार कर लेते हैं और वह क्रमशः गर्भकी वृद्धि करता रहता है ॥ १४ ॥

स जायमानो विगृहीतमात्रः
संज्ञामधिष्ठाय ततो मनुष्यः।
स श्रोत्राभ्यां वेदयतीह शब्दं
स वै रूपं पश्यति चक्षुषा च ॥ १५ ॥

वह गर्भ बढ़कर जब सम्पूर्ण अवयवोंसे सम्पन्न हो जाता है, तब चेतनताका आश्रय ले योनिसे बाहर निकलकर मनुष्य कहलाता है। वह कानोंसे शब्द सुनता है, आँखोंसे रूप देखता है ॥ १५ ॥

घ्राणेन गन्धं जिह्वयाथो रसं च
त्वचा स्पर्शं मनसा वेद भावम्।

इत्यष्टकेहोपहितं हि विद्धि
महात्मनां प्राणभृतां शरीरे ॥ १६ ॥

नासिकासे सुगन्ध लेता है । जिह्वासे रसका आस्वादन करता है। त्वचासे स्पर्श और मनसे आन्तरिक भावोंका अनुभव करता है। अष्टक ! इस प्रकार महात्मा प्राणधारियोंके शरीरमें जीवकी स्थापना होती है ॥ १६ ॥

अष्टक उवाच

यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा
निखन्यते वापि निकृष्यते वा।
अभावभूतः स विनाशमेत्य
केनात्मना चेतयते परस्तात् ॥ १७ ॥

अष्टकने पूछा—जो मनुष्य मर जाता है, वह जलाया जाता है या गाड़ दिया जाता है अथवा जलमें बहा दिया जाता है। इस प्रकार विनाश होकर स्थूल शरीरका अभाव हो जाता है। फिर वह चेतन जीवात्मा किस शरीरके आधारपर रहकर चैतन्ययुक्त व्यवहार करता है? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

हित्वा सोऽसून् सुप्तवन्निष्टनित्वा
पुरोधाय सुकृतं दुष्कृतं वा।
अन्यां योनिं पवनाग्रानुसारी
हित्वा देहं भजते राजसिंह ॥ १८ ॥

ययाति बोले—राजसिंह ! जैसे मनुष्य श्वास लेते हुए प्राणयुक्त स्थूल शरीरको छोड़कर स्वप्नमें विचरण करता है, वैसे ही यह चेतन जीवात्मा अस्फुट शब्दोच्चारणके साथ इस मृतक स्थूल शरीरको त्यागकर सूक्ष्म शरीरसे संयुक्त होता है और फिर अथवा पापको आगे रखकर वायुके समान वेगसे चलता हुआ अन्य योनिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति
पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति।
कीटाः पतङ्गाश्च भवन्ति पापा
न मे विवक्षास्ति महानुभाव ॥ १९ ॥
चतुष्पदा द्विपदाः षट्पदाश्च
तथाभूता गर्भभूता भवन्ति।
आख्यातमेतन्निखिलेन सर्वं
भूयस्तु किं पृच्छसि राजसिंह ॥ २० ॥

पुण्य करनेवाले मनुष्य पुण्य-योनियोंमें जाते हैं और पाप करनेवाले मनुष्य पाप-योनिमें जाते हैं। इस प्रकार पापी जीव कीट-पतङ्ग आदि होते हैं। महानुभाव ! इन सब विषयोंको विस्तारके साथ कहनेकी इच्छा नहीं होती। नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार जीव गर्भमें आकर चार पैर, छः पैर और दो पैरवाले प्राणियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। यह सब मैंने पूरा-पूरा बता दिया। अब और क्या पूछना चाहते हो? ॥ १९-२० ॥

अष्टक उवाच

किंस्वित् कृत्वा लभते तात लोकान्
मर्त्यः श्रेष्ठांस्तपसा विद्यया वा।
तन्मे पृष्टः शंस सर्वं यथाव-
च्छुभाँल्लोकान् येन गच्छेत् क्रमेण ॥ २१ ॥

अष्टकने पूछा—तात ! मनुष्य कौन-सा कर्म करके उत्तम लोक प्राप्त करता है ? वे लोक तपसे प्राप्त होते हैं या विद्यासे ? मैं यही पूछता हूँ। जिस कर्मके द्वारा क्रमशः श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति हो सके, वह सब यथार्थरूपसे बताइये ॥

ययातिरुवाच

तपश्च दानं च शमो दमश्च
ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो
द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम्।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः
पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥ २२ ॥

ययाति बोले—राजन् ! साधु पुरुष स्वर्गलोकके सात महान् दरवाजे बतलाते हैं, जिनसे प्राणी उसमें प्रवेश करते हैं। उनके नाम ये हैं—तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियोंके प्रति दया। वे तप आदि द्वार सदा ही पुरुषके अभिमानरूप तमसे आच्छादित होनेपर नष्ट हो जाते हैं, यह संत पुरुषोंका कथन है ॥ २२ ॥

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका
न चास्य तद् ब्रह्म फलं ददाति ॥ २३ ॥

जो वेदोंका अध्ययन करके अपनेको सबसे बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्याद्वारा दूसरोंके यशका नाश करता है, उसके पुण्यलोक अन्तवान् (विनाशशील) होते हैं और उसका पढ़ा हुआ वेद भी उसे फल नहीं देता ॥ २३ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ २४ ॥

अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञ—ये चार कर्म मनुष्यको भयसे मुक्त करनेवाले हैं; परंतु वे ही ठीकसे न किये जायँ, अभिमानपूर्वक उनका अनुष्ठान किया जाय तो वे उलटे भय प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

न मानमान्यो मुदमाददीत
न संतापं प्राप्नुयाच्चावमानात्।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके
नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ॥ २५ ॥

विद्वान् पुरुष सम्मानित होनेपर अधिक आनन्दित न हो और अपमानित होनेपर संतप्त न हो । इस लोकमें संत पुरुष ही सत्पुरुषोंका आदर करते हैं । दुष्ट पुरुषोंको 'यह सत्पुरुष है' ऐसी बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती ॥ २५ ॥

इति दद्यामिति यज इत्यधीय इति व्रतम् ।
इत्येतानि भयान्याहुस्तानि वर्ज्यानि सर्वशः ॥ २६ ॥

मैं यह दे सकता हूँ, इस प्रकार यजन करता हूँ, इस तरह स्वाध्यायमें लगा रहता हूँ और यह मेरा व्रत है; इस प्रकार जो अहंकारपूर्वक वचन हैं, उन्हें भयरूप कहा गया है । ऐसे वचनोंको सर्वथा त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

ये चाश्रयं वेदयन्ते पुराणं
मनीषिणो मानसमार्गरुद्धम् ।
तद्वः श्रेयस्तेन संयोगमेत्य
परां शान्तिं प्राप्नुयुः प्रेत्य चेह ॥ २७ ॥

जो सबका आश्रय है, पुराण (कूटस्थ) है तथा जहाँ मनकी गति भी रुक जाती है वह (परब्रह्म परमात्मा) तुम सब लोगोंके लिये कल्याणकारी हो । जो विद्वान् उसे जानते हैं, वे उस परब्रह्म परमात्मासे संयुक्त होकर इहलोक और परलोकमें परम शान्तिको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका आश्रमधर्मसम्बन्धी संवाद

अष्टक उवाच

चरन् गृहस्थः कथमेति धर्मान्
कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा ।
वानप्रस्थः सत्पथे संनिविष्टो
बहून्यस्मिन् सम्प्रति वेदयन्ति ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—महाराज ! वेदज्ञ विद्वान् इस धर्मके अन्तर्गत बहुत-से कर्मोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका द्वार बताते हैं; अतः मैं पूछता हूँ, आचार्यकी सेवा करनेवाला ब्रह्मचारी, गृहस्थ, सन्मार्गमें स्थित वानप्रस्थ और संन्यासी किस प्रकार धर्माचरण करके उत्तम लोकमें जाता है ? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः
पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी ।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः
स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥ २ ॥

ययाति बोले—शिष्यको उचित है कि गुरुके बुलानेपर उसके समीप जाकर पढ़े । गुरुकी सेवामें बिना कहे लगा रहे, रातमें गुरुजीके सो जानेके बाद सोये और सबेरे उनसे पहले ही उठ जाय । वह मृदुल (विनम्र), जितेन्द्रिय, धैर्यवान्, सावधान और स्वाध्यायशील हो । इस नियमसे रहनेवाला ब्रह्मचारी सिद्धिको पाता है ॥ २ ॥

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत
दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च ।
अनाददानश्च परैरदत्तं
सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥ ३ ॥

गृहस्थ पुरुष न्यायसे प्राप्त हुए धनको पाकर उससे यज्ञ करे, दान दे और सदा अतिथियोंको भोजन करावे । दूसरोंकी वस्तु उनके दिये बिना ग्रहण नहीं करे । यह गृहस्थ-धर्मका प्राचीन एवं रहस्यमय स्वरूप है ॥ ३ ॥

स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो
दाता परेभ्यो न परोपतापी ।
तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां
वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥ ४ ॥

वानप्रस्थ मुनि वनमें निवास करे । आहार और विहारको नियमित रक्खे । अपने ही पराक्रम एवं परिश्रमसे जीवन-निर्वाह करे, पापसे दूर रहे । दूसरोंको दान दे और किसीको कष्ट न पहुँचावे । ऐसा मुनि परम मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः ।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार-
श्चरन् देशानेकचरः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

संन्यासी शिल्पकलासे जीवन-निर्वाह न करे । शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो । सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रक्खे । सबसे अलग रहे । गृहस्थके घरमें न सोये । परिग्रहका भार न लेकर अपनेको हल्का रक्खे । थोड़ा-थोड़ा चले । अकेला ही अनेक स्थानोंमें भ्रमण करता रहे । ऐसा संन्यासी ही वास्तवमें भिक्षु कहलाने योग्य है ॥ ५ ॥

रात्र्या यया वाभिजिताश्च लोका
भवन्ति कामाभिजिताः सुखाश्च ।
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वा-
नरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा ॥ ६ ॥

जिस समय रूप, रस आदि विषय तुच्छ प्रतीत होने लगें, इच्छानुसार जीत लिये जायँ तथा उनके परित्यागमें ही सुख जान पड़े, उसी समय विद्वान् पुरुष मनको वशमें करके समस्त संग्रहोंका त्याग कर वनवासी होनेका प्रयत्न करे ॥ ६ ॥

दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च
ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति
विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ॥ ७ ॥

जो वनवासी मुनि वनमें ही अपने पञ्चभूतात्मक शरीरका परित्याग करता है, वह दस पीढ़ी पूर्वके और दस पीढ़ी बादके जाति-भाइयोंको तथा इक्कीसवें अपनेको भी पुण्यलोकोंमें पहुँचा देता है ॥ ७ ॥

अष्टक उवाच

कतिस्विदेव मुनयः कति मौनानि चाप्युत ।
भवन्तीति तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ८ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! मुनि कितने हैं? और मौन कितने प्रकारके हैं? यह बताइये, हम इसे सुनना चाहते हैं॥८॥

ययातिरुवाच

अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं स मुनिः स्याज्जनाधिप ॥ ९ ॥

ययातिने कहा—जनेश्वर! अरण्यमें निवास करते समय जिसके लिये ग्राम पीछे होता है और ग्राममें वास करते समय जिसके लिये अरण्य पीछे होता है, वह मुनि कहलाता है ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

कथंस्विद् वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं कथं भवति पृष्ठतः ॥ १० ॥

अष्टकने पूछा—अरण्यमें निवास करनेवालेके लिये ग्राम और ग्राममें निवास करनेवालेके लिये अरण्य पीछे कैसे है?॥१०॥

ययातिरुवाच

न ग्राम्यमुपयुञ्जीत य आरण्यो मुनिर्भवेत् ।
तथास्य वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ॥ ११ ॥

ययातिने कहा—जो मुनि वनमें निवास करता है और गाँवोंमें प्राप्त होनेवाली वस्तुओंका उपयोग नहीं करता, इस प्रकार वनमें निवास करनेवाले उस (वानप्रस्थ) मुनिके लिये गाँव पीछे समझा जाता है ॥ ११ ॥

अनग्निरनिकेतश्चाप्यगोत्रचरणो मुनिः ।
कौपीनाच्छादनं यावत् तावदिच्छेच्च चीवरम् ॥ १२ ॥
यावत् प्राणाभिसंधानं तावदिच्छेच्च भोजनम् ।
तथास्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः ॥ १३ ॥

जो अग्नि और गृहको त्याग चुका है, जिसका गोत्र और चरण (वेदकी शाखा एवं जाति) से भी सम्बन्ध नहीं रह गया है, जो मौन रहता और उतने ही वस्त्रकी इच्छा रखता है जितनेसे लंगोटी और ओढ़नेका काम चल जाय; इसी प्रकार जितनेसे प्राणोंकी रक्षा हो सके उतना ही भोजन चाहता है; इस नियमसे गाँवमें निवास करनेवाले उस (संन्यासी) मुनिके लिये अरण्य पीछे समझा जाता है ॥ १२-१३ ॥

यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः ।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो मुनि सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर कर्मोंको त्याग चुका है और इन्द्रिय-संयमपूर्वक सदा मौनमें स्थित हैं, ऐसा संन्यासी लोकमें परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम् ।
असितं सितकर्माणं कस्तमर्हति नार्चितुम् ॥ १५ ॥

जिसके दाँत शुद्ध और साफ हैं, जिसके नख (और केश) कटे हुए हैं, जो सदा स्नान करता है तथा यम-नियमादिसे अलङ्कृत (है, उन्हें धारण किये हुए) है, शीतोष्णको सहनेसे जिसका शरीर श्याम पड़ गया है, जिसके आचरण उत्तम हैं—ऐसा संन्यासी किसके लिये पूजनीय नहीं है? ॥ १५ ॥

तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः ।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १६ ॥

तपस्यासे मांस, हड्डी तथा रक्तके क्षीण हो जानेपर जिसका शरीर कृश और दुर्बल हो गया है, वह (वानप्रस्थ) मुनि इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है ॥ १६ ॥

यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १७ ॥

जब (वानप्रस्थ) मुनि सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित एवं भलीभाँति मौनावलम्बी हो जाता है, तब वह इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है ॥१७॥

आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
अथास्य लोकः सर्वोऽयं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १८ ॥

जब संन्यासी मुनि गाय-बैलोंकी तरह मुखसे ही आहार ग्रहण करता है, हाथ आदिका भी सहारा नहीं लेता, तब उसके द्वारा ये सब लोक जीत लिये गये समझे जाते हैं और वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये समर्थ समझा जाता है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

अष्टक-ययाति-संवाद और ययातिद्वारा दूसरोंके दिये हुए पुण्यदानको अस्वीकार करना

अष्टक उवाच

कतरस्त्वनयोः पूर्वं देवानामेति सात्मताम्।
उभयोर्धावतो राजन् सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! सूर्य और चन्द्रमाकी तरह अपने-अपने लक्ष्यकी ओर दौड़ते हुए वानप्रस्थ और संन्यासी इन दोनोंमेंसे पहले कौन-सा देवताओंके आत्मभाव (ब्रह्म) को प्राप्त होता है ?॥ १ ॥

ययातिरुवाच

अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः।
ग्राम एव वसन् भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः ॥ २ ॥

ययाति बोले—कामवृत्तिवाले गृहस्थोंके बीच ग्राममें ही वास करते हुए भी जो जितेन्द्रिय और गृहरहित संन्यासी है, वही उन दोनों प्रकारके मुनियोंमें पहले ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥

अवाप्य दीर्घमायुस्तु यः प्राप्तो विकृतिं चरेत्।
तप्यते यदि तत् कृत्वा चरेत् सोऽन्यत् तपस्ततः॥ ३ ॥

जो वानप्रस्थ बड़ी आयु पाकर भी विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे विकृत हो उन्हींमें विचरने लगता है, उसे यदि विषयोपभोगके अनन्तर पश्चात्ताप होता है तो उसे मोक्षके लिये पुनः तपका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३ ॥

पापानां कर्मणां नित्यं बिभियाद् यस्तु मानवः।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ ४ ॥

किंतु जो वानप्रस्थ मनुष्य पापकर्मोंसे नित्य भय करता है और सदा अपने धर्मका आचरण करता है, वह अत्यन्त सुखरूप मोक्षको अनायास ही प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

तद् वै नृशंसं तदसत्यमाहु-
र्यः सेवतेऽधर्ममनर्थबुद्धिः ।
अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजं-
स्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम् ॥ ५ ॥

राजन्! जो पापबुद्धिवाला मनुष्य अधर्मका आचरण करता है, उसका वह आचरण नृशंस (पापमय) और असत्य कहा गया है एवं उस अजितेन्द्रियका धन भी वैसा ही पापमय और असत्य है। परंतु वानप्रस्थ मुनिका जो धर्मपालन है, वही सरलता है, वही समाधि है और वही श्रेष्ठ आचरण है ॥ ५ ॥

अष्टक उवाच

केनासि दूतः प्रहितोऽसि राजन्
युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः ।
कुत आयातः कतरस्यां दिशि त्व-
मुताहोस्वित् पार्थिवं स्थानमस्ति ॥ ६ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! आपको यहाँ किसने बुलाया? किसने भेजा है? आप अवस्थामें तरुण, फूलोंकी मालासे सुशोभित, दर्शनीय तथा उत्तम तेजसे उद्भासित जान पड़ते हैं। आप कहाँसे आये हैं? किस दिशामें भेजे गये हैं? अथवा क्या आपके लिये इस पृथ्वीपर कोई उत्तम स्थान है?॥ ६॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः
प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद् विप्रहीणः।
उक्त्वाहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं
त्वरन्ति मां लोकपा ब्रह्मणो ये ॥ ७ ॥

ययातिने कहा—मैं अपने पुण्यका क्षय होनेसे भौम नरकमें प्रवेश करनेके लिये आकाशसे गिर रहा हूँ। ब्रह्माजीके जो लोकपाल हैं, वे मुझे गिरनेके लिये जल्दी मचा रहे हैं; अतः आपलोगोंसे पूछकर विदा लेकर इस पृथ्वीपर गिरूँगा ॥ ७ ॥

सतां सकाशे तु वृतः प्रपात-
स्ते संगता गुणवन्तस्तु सर्वे।
शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष
पतिष्यता भूमितलं नरेन्द्र ॥ ८ ॥

नरेन्द्र! मैं जब इस पृथ्वीतलपर गिरनेवाला था, उस समय मैंने इन्द्रसे यह वर माँगा था कि मैं साधु पुरुषोंके समीप गिरूँ। वह वर मुझे मिला, जिसके कारण आप सब सद्‌गुणी संतोंका सङ्ग प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥

अष्टक उवाच

पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं
यदि लोकाः पार्थिव सन्ति मेऽत्र।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ९ ॥

अष्टक बोले—महाराज! मेरा विश्वास है कि आप पारलौकिक धर्मके ज्ञाता हैं। मैं आपसे एक बात पूछता हूँ—क्या अन्तरिक्ष या स्वर्गलोकमें मुझे प्राप्त होनेवाले पुण्यलोक भी हैं? यदि हों तो (उनके प्रभावसे) आप नीचे न गिरें, आपका पतन न हो ॥ ९ ॥

ययातिरुवाच

यावत् पृथिव्यां विहितं गवाश्वं
सहारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च।

तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै
तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ १० ॥

ययातिने कहा—नरेन्द्रसिंह ! इस पृथ्वीपर जंगली और पर्वतीय पशुओंके साथ जितने गाय, घोड़े आदि पशु रहते हैं, स्वर्गमें तुम्हारे लिये उतने ही लोक विद्यमान हैं । तुम इसे निश्चय जानो ॥ १० ॥

अष्टक उवाच

तांस्ते ददामि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोका दिवि राजेन्द्र सन्ति ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ ११ ॥

अष्टक बोले—राजेन्द्र ! स्वर्गमें मेरे लिये जो लोक विद्यमान हैं, वे सब आपको देता हूँ; परंतु आपका पतन न हो । अन्तरिक्ष या द्युलोकमें मेरे लिये जो स्थान हैं, उनमें आप शीघ्र ही मोहरहित होकर चले जायँ ॥ ११ ॥

ययातिरुवाच

नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च
प्रतिग्रहे वर्तते राजमुख्य ।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्य-
स्तथाददं पूर्वमहं नरेन्द्र ॥ १२ ॥

ययातिने कहा—नृपश्रेष्ठ ! ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही प्रतिग्रह लेता है । मेरे-जैसा क्षत्रिय कदापि नहीं । नरेन्द्र ! जैसे दान करना चाहिये, उस विधिसे पहले मैंने भी सदा उत्तम ब्राह्मणोंको बहुत दान दिये हैं ॥ १२ ॥

नाब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्
याच्ञापि स्याद् ब्राह्मणी वीरपत्नी ।
सोऽहं नैवाकृतपूर्वं चरेयं
विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ १३ ॥

जो ब्राह्मण नहीं है, उसे दीन याचक बनकर कभी जीवन नहीं बिताना चाहिये । याचना तो विद्यासे दिग्विजय करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणकी पत्नी है अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको ही याचना करनेका अधिकार है । मुझे उत्तम सत्कर्म करनेकी इच्छा है; अतः ऐसा कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ, जो पहले कभी नहीं किया हो ॥ १३ ॥

प्रतर्दन उवाच

पृच्छामि त्वां स्पृहणीयरूप
प्रतर्दनोऽहं यदि मे सन्ति लोकाः ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १४ ॥

प्रतर्दन बोले—वाञ्छनीय रूपवाले श्रेष्ठ पुरुष ! मैं प्रतर्दन हूँ और आपसे पूछता हूँ, यदि अन्तरिक्ष अथवा स्वर्गमें मेरे भी लोक हों तो बताइये । मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ १४ ॥

ययातिरुवाच

सन्ति लोका बहवस्ते नरेन्द्र
अप्येकैकः सप्तसप्ताप्यहानि ।
मधुच्युतो घृतपृक्ता विशोका-
स्ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ १५ ॥

ययातिने कहा—नरेन्द्र ! आपके तो बहुत लोक हैं, यदि एक-एक लोकमें सात-सात दिन रहा जाय तो भी उनका अन्त नहीं है । वे सब-के-सब अमृतके झरने बहाते हैं एवं घृत (तेज) से युक्त हैं । उनमें शोकका सर्वथा अभाव है । वे सभी लोक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रतर्दन उवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ १६ ॥

प्रतर्दन बोले—महाराज ! वे सभी लोक मैं आपको देता हूँ, आप नीचे न गिरें । जो मेरे लोक हैं वे सब आपके हो जायँ । वे अन्तरिक्षमें हों या स्वर्गमें, आप शीघ्र मोहरहित होकर उनमें चले जाइये ॥ १६ ॥

ययातिरुवाच

न तुल्यतेजाः सुकृतं कामयेत
योगक्षेमं पार्थिव पार्थिवः सन् ।
दैवादेशादापदं प्राप्य विद्वां-
श्चरेन्नृशंसं न हि जातु राजा ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—राजन् ! कोई भी राजा समान तेजस्वी होकर दूसरेसे पुण्य तथा योग-क्षेमकी इच्छा न करे । विद्वान् राजा दैववश भारी आपत्तिमें पड़ जानेपर भी कोई पापमय कार्य न करे ॥ १७ ॥

धर्म्यं मार्गं यतमानो यशस्यं
कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः ।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्
कुर्यादेवं कृपणं मां यथाऽऽत्थ ॥ १८ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले राजाको उचित है कि वह प्रयत्नपूर्वक धर्म और यशके मार्गपर ही चले । जिसकी बुद्धि धर्ममें लगी हो उस मेरे-जैसे मनुष्यको जान-बूझकर ऐसा दीनतापूर्ण कार्य नहीं करना चाहिये, जिसके लिये आप मुझसे कह रहे हैं ॥ १८ ॥

कुर्यादपूर्वं न कृतं यदन्यै-
विधित्समानः किमु तत्र साधु ।
(धर्माधर्मौ सुविनिश्चित्य सम्यक्
कार्याकार्येष्वप्रमत्तश्चरेद् यः ।
स वै धीमान् सत्यसन्धः कृतात्मा
राजा भवेल्लोकपालो महिम्ना ॥
यदा भवेत् संशयो धर्मकार्ये
कामार्थे वा यत्र विन्दन्ति सम्यक् ।
कार्यं तत्र प्रथमं धर्मकार्यं
न तौ कुर्यादर्थकामौ स धर्मः ॥)
ब्रुवाणमेनं नृपतिं ययातिं
नृपोत्तमो वसुमानब्रवीत् तम् ॥ १९ ॥

जो शुभ कर्म करनेकी इच्छा रखता है, वह ऐसा काम नहीं कर सकता, जिसे अन्य राजाओंने नहीं किया हो। जो धर्म और अधर्मका भलीभाँति निश्चय करके कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें सावधान होकर विचरता है, वही राजा बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ और मनस्वी है । वह अपनी महिमासे लोकपाल होता है । जब धर्मकार्यमें संशय हो अथवा जहाँ न्यायतः काम और अर्थ दोनों आकर प्राप्त हों, वहाँ पहले धर्मकार्यका ही सम्पादन करना चाहिये, अर्थ और कामका नहीं। यही धर्म है। इस प्रकारकी बातें कहनेवाले राजा ययातिसे नृपश्रेष्ठ वसुमान् बोले ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस तरह श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायात-विषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(इस अध्यायमें १९ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल २१ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका वसुमान् और शिबिके प्रतिग्रहको अस्वीकार करना तथा अष्टक आदि चारों राजाओंके साथ स्वर्गमें जाना

वसुमानुवाच

पृच्छामि त्वां वसुमानौषदश्वि-
र्यद्यस्ति लोको दिवि मे नरेन्द्र ।
यद्यन्तरिक्षे प्रथितो महात्मन्
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १ ॥

वसुमान्‌ने कहा—नरेन्द्र ! मैं उषदश्वका पुत्र वसुमान् हूँ और आपसे पूछ रहा हूँ । यदि स्वर्ग या अन्तरिक्षमें मेरे लिये भी कोई विख्यात लोक हों तो बताइये । महात्मन् ! मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

यदन्तरिक्षं पृथिवी दिशश्च
यत्तेजसा तपते भानुमांश्च ।
लोकास्तावन्तो दिवि संस्थिता वै
ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ २ ॥

ययातिने कहा—राजन् ! पृथ्वी, आकाश और दिशाओंके जितने प्रदेशको सूर्यदेव अपनी किरणोंसे तपाते और प्रकाशित करते हैं; उतने लोक तुम्हारे लिये स्वर्गमें स्थित हैं । वे अन्तवान् न होकर चिरस्थायी हैं और आपकी प्रतीक्षा करते हैं ॥

वसुमानुवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
क्रीणीष्वैतांस्तृणकेनापि राजन्
प्रतिग्रहस्ते यदि धीमन् प्रदुष्टः ॥ ३ ॥

वसुमान् बोले—राजन् ! वे सभी लोक मैं आपके लिये देता हूँ, आप नीचे न गिरें । मेरे लिये जितने पुण्यलोक हैं, वे सब आपके हो जायँ । धीमन् ! यदि आपको प्रतिग्रह लेनेमें दोष दिखायी देता हो तो एक मुट्ठी तिनका मुझे मूल्यके रूपमें देकर मेरे इन सभी लोकोंको खरीद लें ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

न मिथ्याहं विक्रयं वै स्मरामि
वृथा गृहीतं शिशुकाच्छङ्कमानः ।
कुर्यां न चैवाकृतपूर्वमन्यै-
र्विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—मैंने इस प्रकार कभी झूठ-मूठकी खरीद-बिक्री की हो अथवा छलपूर्वक व्यर्थ कोई वस्तु ली हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। मैं कालचक्रसे शङ्कित रहता हूँ । जिसे पूर्ववर्ती अन्य महापुरुषोंने नहीं किया वह कार्य मैं भी नहीं कर सकता हूँ; क्योंकि मैं सत्कर्म करना चाहता हूँ ॥

वसुमानुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
अहं न तान् वै प्रतिगन्ता नरेन्द्र
सर्वे लोकास्तव ते वै भवन्तु ॥ ५ ॥

वसुमान् बोले—राजन् ! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरेद्वारा स्वतः अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये । नरेन्द्र ! निश्चय जानिये, मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा। वे सब आपके ही अधिकारमें रहें ॥५॥

शिबिरुवाच

पृच्छामि त्वां शिबिरौशीनरोऽहं
ममापि लोका यदि सन्तीह तात ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ६ ॥

शिबिने कहा—तात ! मैं उशीनरका पुत्र शिबि आपसे पूछता हूँ । यदि अन्तरिक्ष या स्वर्गमें मेरे भी पुण्यलोक हों, तो बताइये; क्योंकि मैं आपको उक्त धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं वाचा हृदयेनापि साधून्
परीप्समानान् नावमंस्था नरेन्द्र ।
तेनानन्ता दिवि लोकाः श्रितास्ते
विद्युद्रूपाः स्वनवन्तो महान्तः ॥ ७ ॥

ययाति बोले—नरेन्द्र ! जो-जो साधु पुरुष तुमसे कुछ माँगनेके लिये आये, उनका तुमने वाणीसे कौन कहे, मनसे भी अपमान नहीं किया। इस कारण स्वर्गमें तुम्हारे लिये अनन्त लोक विद्यमान हैं, जो विद्युत्के समान तेजोमय, भाँति-भाँतिके सुमधुर शब्दोंसे युक्त तथा महान् हैं ॥ ७ ॥

शिबिरुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
न चाहं तान् प्रतिपत्स्ये ह दत्त्वा
यत्र गत्वा नानुशोचन्ति धीराः ॥ ८ ॥

शिबिने कहा—महाराज ! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरेद्वारा स्वयं अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये । उन सबको देकर निश्चय ही मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा । वे लोक ऐसे हैं, जहाँ जाकर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करते ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

यथा त्वमिन्द्रप्रतिमप्रभाव-
स्ते चाप्यनन्ता नरदेव लोकाः ।
तथाद्य लोके न रमेऽन्यदत्ते
तस्माच्छिबे नाभिनन्दामि देयम् ॥ ९ ॥

ययाति बोले—नरदेव शिबि ! जिस प्रकार तुम इन्द्रके समान प्रभावशाली हो, उसी प्रकार तुम्हारे वे लोक भी अनन्त हैं; तथापि दूसरेके दिये हुए लोकमें मैं विहार नहीं कर सकता, इसीलिये तुम्हारे दिये हुएका अभिनन्दन नहीं करता ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

न चेदेकैकशो राजँल्लोकान् नः प्रतिनन्दसि ।
सर्वे प्रदाय भवते गन्तारो नरकं वयम् ॥ १० ॥

अष्टकने कहा—राजन् ! यदि आप हममेंसे एक-एकके दिये हुए लोकोंको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण नहीं करते तो हम सब लोग अपने पुण्यलोक आपकी सेवामें समर्पित करके नरक (भूलोक) में जानेको तैयार हैं ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

यदर्होऽहं तद् यतध्वं सन्तः सत्याभिनन्दिनः ।
अहं तन्नाभिजानामि यत् कृतं न मया पुरा ॥ ११ ॥

ययाति बोले—मैं जिसके योग्य हूँ, उसीके लिये यत्न करो; क्योंकि साधु पुरुष सत्यका ही अभिनन्दन करते हैं । मैंने पूर्वकालमें जो कर्म नहीं किया, उसे अब भी करने योग्य नहीं समझता ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

कस्यैते प्रतिदृश्यन्ते रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
यानारुह्य नरो लोकानभिवाञ्छति शाश्वतान् ॥ १२ ॥

अष्टकने कहा—आकाशमें ये किसके पाँच सुवर्णमय रथ दिखायी देते हैं, जिनपर आरूढ़ होकर मनुष्य सनातन लोकोंमें जानेकी इच्छा करता है ॥ १२ ॥

ययातिरुवाच

युष्मानेते वहिष्यन्ति रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
उच्चैः सन्तः प्रकाशन्ते ज्वलन्तोऽग्निशिखा इव ॥ १३ ॥

ययाति बोले—ऊपर आकाशमें स्थित प्रज्वलित अग्निकी लपटोंके समान जो पाँच सुवर्णमय रथ प्रकाशित हो रहे हैं, ये आपलोगोंको ही स्वर्गमें ले जायँगे ॥ १३ ॥

(वैशम्पायन उवाच)

(एतस्मिन्नन्तरे चैव माधवी तु तपोधना ।
मृगचर्मपरीताङ्गी परिणामे मृगव्रतम् ॥
मृगैः सह चरन्ती सा मृगाहारविचेष्टिता ।
यज्ञवाटं मृगगणैः प्रविश्य भृशविस्मिता ॥
आघ्रायन्ती धूमगन्धं मृगैरेव चचार सा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय तपस्विनी माधवी उधर आ निकली । उसने मृगचर्मसे अपने सब अङ्गोंको ढक रक्खा था । वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर वह मृगोंके साथ विचरती हुई मृगव्रतका पालन कर रही थी । उसकी भोजन-सामग्री और चेष्टा मृगोंके ही तुल्य थी । वह मृगोंके झुंडके साथ यज्ञमण्डपमें प्रवेश करके अत्यन्त

विस्मित हुई और यज्ञीय धूमकी सुगन्ध लेती हुई मृगोंके साथ वहाँ विचरने लगी ॥

यज्ञवाटमटन्ती सा पुत्रांस्तानपराजितान् ॥
पश्यन्ती यज्ञमाहात्म्यं मुदं लेभे च माधवी ।

यज्ञशालामें घूम-घूमकर अपने अपराजित पुत्रोंको देखती और यज्ञकी महिमाका अनुभव करती हुई माधवी बहुत प्रसन्न हुई ॥

असंस्पृशन्तं वसुधां ययातिं नाहुषं तदा ॥
दिविष्ठं प्राप्तमाज्ञाय ववन्दे पितरं तदा ।
ततो वसुमनाः पृच्छन् मातरं वै तपस्विनीम् ॥

उसने देखा, स्वर्गवासी नहुषनन्दन महाराज ययाति आये हैं, परंतु पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे हैं (आकाशमें ही स्थित हैं) । अपने पिताको पहचानकर माधवीने उन्हें प्रणाम किया । तब वसुमनाने अपनी तपस्विनी मातासे प्रश्न करते हुए कहा ॥

वसुमना उवाच

भवत्या यत् कृतमिदं वन्दनं वरवर्णिनि ।
कोऽयं देवोऽथवा राजा यदि जानासि मे वद ॥

वसुमना बोले—मा ! तुम श्रेष्ठ वर्णकी देवी हो । तुमने इन महापुरुषको प्रणाम किया है। ये कौन हैं ? कोई देवता हैं या राजा ? यदि जानती हो, तो मुझे बताओ ॥

माधव्युवाच

शृणुध्वं सहिताः पुत्रा नाहुषोऽयं पिता मम ।
ययातिर्मम पुत्राणां मातामह इति श्रुतः ॥
पूरुं मे भ्रातरं राज्ये समावेश्य दिवं गतः ।
केन वा कारणेनैव इह प्राप्तो महायशाः ॥

माधवीने कहा—पुत्रो ! तुम सब लोग एक साथ सुन लो—'ये मेरे पिता नहुषनन्दन महाराज ययाति हैं। मेरे पुत्रोंके सुविख्यात मातामह (नाना) ये ही हैं । इन्होंने मेरे भाई पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके स्वर्गलोककी यात्रा की थी; परंतु न जाने किस कारणसे ये महायशस्वी महाराज पुनः यहाँ आये हैं' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा स्थानभ्रष्टेति चाब्रवीत् ।
सा पुत्रस्य वचः श्रुत्वा सम्भ्रमाविष्टचेतना ॥
माधवी पितरं प्राह दौहित्रपरिवारितम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! माताकी यह बात सुनकर वसुमनाने कहा—माँ ! ये अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गये हैं । पुत्रका यह वचन सुनकर माधवी भ्रान्तचित्त हो उठी और दौहित्रोंसे घिरे हुए अपने पितासे इस प्रकार बोली ॥

माधव्युवाच

तपसा निर्जिताँल्लोकान् प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
पुत्राणामिव पौत्राणां धर्मादधिगतं धनम् ॥
स्वार्थमेव वदन्तीह ऋषयो वेदपारगाः ।
तस्माद् दानेन तपसा अस्माकं दिवमाव्रज ॥

माधवीने कहा—पिताजी ! मैंने तपस्याद्वारा जिन लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन्हें आप ग्रहण करें । पुत्रों और पौत्रोंकी भाँति पुत्री और दौहित्रोंका धर्माचरणसे प्राप्त किया हुआ धन भी अपने ही लिये है, यह वेदवेत्ता ऋषि कहते हैं; अतः आप हमलोगोंके दान एवं तपस्याजनित पुण्यसे स्वर्गलोकमें जाइये ॥

ययातिरुवाच

यदि धर्मफलं ह्येतच्छोभनं भविता तथा ।
दुहित्रा चैव दौहित्रैस्तारितोऽहं महात्मभिः ॥

ययाति बोले—यदि यह धर्मजनित फल है, तब तो इसका शुभ परिणाम अवश्यम्भावी है । आज मुझे मेरी पुत्री तथा महात्मा दौहित्रोंने तारा है ॥

तस्मात् पवित्रं दौहित्रमद्यप्रभृति पैतृके ।
भविष्यति न संदेहः पितॄणां प्रीतिवर्धनम् ॥

इसलिये आजसे पितृ-कर्म (श्राद्ध) में दौहित्र परम पवित्र समझा जायगा । इसमें संशय नहीं कि वह पितरोंका हर्ष बढ़ानेवाला होगा ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥
भोक्तारः परिवेष्टारः श्रावितारः पवित्रकाः ।

श्राद्धमें तीन वस्तुएँ पवित्र मानी जायँगी—दौहित्र, कुतप और तिल । साथ ही इसमें तीन गुण भी प्रशंसित होंगे—पवित्रता, अक्रोध और अत्वरा (उतावलेपनका अभाव) । तथा श्राद्धमें भोजन करनेवाले, परोसनेवाले और (वैदिक या पौराणिक मन्त्रोंका पाठ) सुनानेवाले—ये तीन प्रकारके मनुष्य भी पवित्र माने जायँगे ॥

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करे ॥
स कालः कुतपो नाम पितॄणां दत्तमक्षयम् ।

दिनके आठवें भागमें जब सूर्यका ताप घटने लगता है, उस समयका नाम कुतप है । उसमें पितरोंके लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है ॥

तिलाः पिशाचाद् रक्षन्ति दर्भा रक्षन्ति राक्षसात् ॥
रक्षन्ति श्रोत्रियाः पङ्क्तिं यतिभिर्भुक्तमक्षयम् ।

तिल पिशाचोंसे श्राद्धकी रक्षा करते हैं, कुश राक्षसोंसे

---

१. ये वसुमान् नामसे भी प्रसिद्ध थे ।

बचाते हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण पङ्क्तिकी रक्षा करते हैं और यदि यतिगण श्राद्धमें भोजन कर लें, तो वह अक्षय हो जाता है ॥

लब्ध्वा पात्रं तु विद्वांसं श्रोत्रियं सुव्रतं शुचिम् ॥
स कालः कालतो दत्तं नान्यथा काल इष्यते ।

उत्तम व्रतका आचरण करनेवाला पवित्र श्रोत्रिय ब्राह्मण श्राद्धका उत्तम पात्र है। वह जब प्राप्त हो जाय, वही श्राद्धका उत्तम काल समझना चाहिये। उसको दिया हुआ दान उत्तम कालका दान है। इसके सिवा और कोई उपयुक्त काल नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययातिस्तु पुनः प्रोवाच बुद्धिमान् ।
सर्वे ह्यवभृथस्नातास्त्वरध्वं कार्यगौरवात् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! बुद्धिमान् ययाति उपर्युक्त बात कहकर पुनः अपने दौहित्रोंसे बोले—'तुम सब लोग अवभृथस्नान कर चुके हो। अब महत्त्वपूर्ण कार्यकी सिद्धिके लिये शीघ्र तैयार हो जाओ' ॥

अष्टक उवाच

आतिष्ठस्व रथान् राजन् विक्रमस्व विहायसम् ।
वयमप्यनुयास्यामो यदा कालो भविष्यति ॥ १४ ॥

अष्टक बोले—राजन्! आप इन रथोंमें बैठिये और आकाशमें ऊपरकी ओर बढ़िये। जब समय होगा, तब हम भी आपका अनुसरण करेंगे ॥ १४ ॥

ययातिरुवाच

सर्वैरिदानीं गन्तव्यं सह स्वर्गजितो वयम् ।
एष नो विरजाः पन्था दृश्यते देवसद्मनः ॥ १५ ॥

ययाति बोले—हम सब लोगोंने साथ-साथ स्वर्गपर विजय पायी है, इसलिये इस समय सबको वहाँ चलना चाहिये। देवलोकका यह रजोहीन सात्त्विक मार्ग हमें स्पष्ट दिखायी दे रहा है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेऽधिरुह्य रथान् सर्वे प्रयाता नृपसत्तमाः ।
आक्रमन्तो दिवं भाभिर्धर्मेणावृत्य रोदसी ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वे सभी नृपश्रेष्ठ उन दिव्य रथोंपर आरूढ़ हो धर्मके बलसे स्वर्गमें पहुँचनेके लिये चल दिये। उस समय पृथ्वी और आकाशमें उनकी प्रभा व्याप्त हो रही थी ॥ १६ ॥

(अष्टकश्च शिबिश्चैव काशिराजः प्रतर्दनः ।
ऐक्ष्वाकवो वसुमनाश्चत्वारो भूमिपाश्च ह ॥
सर्वे ह्यवभृथस्नाताः स्वर्गताः साधवः सह ।)

अष्टक, शिबि, काशिराज प्रतर्दन तथा इक्ष्वाकुवंशी वसुमना—ये चारों साधु नरेश यज्ञान्त-स्नान करके एक साथ स्वर्गमें गये ॥

अष्टक उवाच

अहं मन्ये पूर्वमेकोऽस्मि गन्ता
सखा चेन्द्रः सर्वथा मे महात्मा ।
कस्मादेवं शिबिरौशीनरोऽय-
मेकोऽत्यगात् सर्ववेगेन वाहान् ॥ १७ ॥

अष्टक बोले—राजन्! महात्मा इन्द्र मेरे बड़े मित्र हैं, अतः मैं तो समझता था कि अकेला मैं ही सबसे पहले उनके पास पहुँचूँगा। परंतु ये उशीनरपुत्र शिबि अकेले सम्पूर्ण वेगसे हम सबके वाहनोंको लाँघकर आगे बढ़ गये हैं, ऐसा कैसे हुआ? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

अददद् देवयानाय यावद् वित्तमविन्दत ।
उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि वः शिबिः ॥ १८ ॥

ययातिने कहा—राजन्! उशीनरके पुत्र शिबिने ब्रह्मलोकके मार्गकी प्राप्तिके लिये अपना सर्वस्व दान कर दिया था, इसलिये ये तुम सब लोगोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १८ ॥

दानं तपः सत्यमथापि धर्मो
ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्यमथो विधित्सा ।
राजन्नेतान्यप्रमेयाणि राज्ञः
शिबेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्ध्या ॥ १९ ॥

नरेश्वर! दान, तपस्या, सत्य, धर्म, ह्री, श्री, क्षमा, सौम्यभाव और व्रत-पालनकी अभिलाषा—राजा शिबिमें ये सभी गुण अनुपम हैं तथा बुद्धिमें भी उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है ॥ १९ ॥

एवंवृत्तो ह्रीनिषेवश्च यस्मात्
तस्माच्छिबिरत्यगाद् वै रथेन ।

राजा शिबि ऐसे सदाचारसम्पन्न और लज्जाशील हैं! (इनमें अभिमानकी मात्रा छू भी नहीं गयी है।) इसीलिये शिबि हम सबसे आगे बढ़ गये हैं।

वैशम्पायन उवाच

अथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छ-
न्मातामहं कौतुकेनेन्द्रकल्पम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अष्टकने कौतूहलवश इन्द्रके तुल्य अपने नाना राजा ययातिसे पुनः प्रश्न किया ॥ २० ॥

पृच्छामि त्वां नृपते ब्रूहि सत्यं
कुतश्च कश्चासि सुतश्च कस्य ।
कृतं त्वया यद्धि न तस्य कर्ता
लोके त्वदन्यः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा ॥ २१ ॥

महाराज! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। आप उसे सच-सच बताइये। आप कहाँसे आये हैं, कौन हैं और किसके पुत्र हैं?

आपने जो कुछ किया है, उसे करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण इस संसारमें नहीं है ॥ २१ ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सार्वभौमस्त्विहासम् ।
गुह्यं चार्थं मामकेभ्यो ब्रवीमि
मातामहोऽहं भवतां प्रकाशम् ॥ २२ ॥

ययातिने कहा—मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता राजा ययाति हूँ । इस लोकमें मैं चक्रवर्ती नरेश था । आप सब लोग मेरे अपने हैं; अतः आपसे गुप्त बात भी खोलकर बतलाये देता हूँ । मैं आपलोगोंका नाना हूँ । (यद्यपि पहले भी यह बात बता चुका हूँ, तथापि पुनः स्पष्ट कर देता हूँ) ॥२२॥

सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय
प्रादामहं छादनं ब्राह्मणेभ्यः ।
मेध्यानश्वानेकशतान् सुरूपां-
स्तदा देवाः पुण्यभाजो भवन्ति ॥ २३ ॥

मैंने इस सारी पृथ्वीको जीत लिया था । मैं ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र दिया करता था । मनुष्य जब एक सौ सुन्दर पवित्र अश्वोंका दान करते हैं, तब वे पुण्यात्मा देवता होते हैं ॥ २३ ॥

अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः
पूर्णामिमामखिलां वाहनेन ।
गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यै-
स्तदाददं गाः शतमर्बुदानि ॥ २४ ॥

मैंने तो सवारी, गौ, सुवर्ण तथा उत्तम धनसे परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान कर दी थी एवं सौ अर्बुद (दस अरब) गौओंका दान भी किया था ॥ २४ ॥

सत्येन वै द्यौश्च वसुन्धरा च
तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु ।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं
सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति ॥ २५ ॥

सत्यसे ही पृथ्वी और आकाश टिके हुए हैं । इसी प्रकार सत्यसे ही मनुष्य-लोकमें अग्नि प्रज्वलित होती है । मैंने कभी व्यर्थ बात मुँहसे नहीं निकाली है; क्योंकि साधु पुरुष सदा सत्यका ही आदर करते हैं ॥ २५ ॥

यदष्टक प्रब्रवीमीह सत्यं
प्रतर्दनं चौपदश्विं तथैव ।
सर्वे च लोका मुनयश्च देवाः
सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम् ॥२६॥

अष्टक ! मैं तुमसे, प्रतर्दनसे और उपदश्वके पुत्र वसुमान्से भी यहाँ जो कुछ कहता हूँ; वह सब सत्य ही है । मेरे मनका यह विश्वास है कि समस्त लोक, मुनि और देवता सत्यसे ही पूजनीय होते हैं ॥ २६ ॥

यो नः स्वर्गजितः सर्वान् यथा वृत्तं निवेदयत् ।
अनुसूयुर्द्विजाग्र्येभ्यः स लभेन्नः सलोकताम् ॥ २७ ॥

जो मनुष्य हृदयमें ईर्ष्या न रखकर स्वर्गपर अधिकार करनेवाले हम सब लोगोंके इस वृत्तान्तको यथार्थरूपसे श्रेष्ठ द्विजोंके सामने सुनायेगा, वह हमारे ही समान पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेगा ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राजा स महात्मा ह्यतीव
स्वैर्दौहित्रैस्तारितोऽमित्रसाहः ।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा
स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययाति बड़े महात्मा थे । शत्रुओंके लिये अजेय और उनके कर्म अत्यन्त उदार थे । उनके दौहित्रोंने उनका उद्धार किया और वे अपने सत्कर्मोंद्वारा सम्पूर्ण भूमण्डलको व्याप्त करके पृथ्वी छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायातसमाप्तौ त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातसमाप्तिविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(इस अध्यायमें २८ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २०½ श्लोक तथा कुल ४८½ श्लोक हैं)



चतुर्नवतितमोऽध्यायः

पूरुवंशका वर्णन

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान् नृपान् ।
यद्वीर्यान् यादृशांश्चापि यावतो यत्पराक्रमान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—भगवन् ! अब मैं पूरुके वंशका विस्तार करनेवाले राजाओंका परिचय सुनना चाहता हूँ । उनका बल और पराक्रम कैसा था ? वे कैसे और कितने थे ? ॥ १ ॥

न ह्यस्मिन् शीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः।
प्रजाविरहितो वापि भूतपूर्वः कथंचन ॥ २ ॥

मेरा विश्वास है कि इस वंशमें पहले कभी किसी प्रकार भी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ है, जो शीलरहित, बल-पराक्रमसे शून्य अथवा संतानहीन रहा हो ॥ २ ॥

तेषां प्रथितवृत्तानां राज्ञां विज्ञानशालिनाम्।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥ ३ ॥

तपोधन ! जो अपने सदाचारके लिये प्रसिद्ध और विवेक-सम्पन्न थे, उन सभी पूरुवंशी राजाओंके चरित्रको मुझे विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
पूरोर्वंशधरान् वीरांञ्छक्रप्रतिमतेजसः।
भूरिद्रविणविक्रान्तान् सर्वलक्षणपूजितान् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा। पूरुके वंशमें उत्पन्न हुए वीर नरेश इन्द्रके समान तेजस्वी, अत्यन्त धनवान्, परम पराक्रमी तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे। (उन सबका परिचय देता हूँ) ॥ ४ ॥

प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः।
पूरोः पौष्ट्यामजायन्त प्रवीरो वंशकृत् ततः ॥ ५ ॥

पूरुके पौष्टी नामक पत्नीके गर्भसे प्रवीर, ईश्वर तथा रौद्राश्व नामक तीन महारथी पुत्र हुए। इनमेंसे प्रवीर अपनी वंश-परम्पराको आगे बढ़ानेवाले हुए ॥ ५ ॥

मनस्युरभवत् तस्माच्छूरसेनीसुतः प्रभुः।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ॥ ६ ॥

प्रवीरके पुत्रका नाम मनस्यु था, जो शूरसेनीके पुत्र और शक्तिशाली थे। कमलके समान नेत्रवाले मनस्युने चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समस्त पृथ्वीका पालन किया ॥ ६ ॥

शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः।
मनस्योरभवन् पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ॥ ७ ॥

मनस्युके सौवीरीके गर्भसे तीन पुत्र हुए—शक्त, संहनन और वाग्मी। वे सभी शूरवीर और महारथी थे ॥ ७ ॥

अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः।
रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः ॥ ८ ॥
यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावन्तो बहुश्रुताः।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ ९ ॥

पूरुके तीसरे पुत्र मनस्वी रौद्राश्वके मिश्रकेशी अप्सराके गर्भसे अन्वग्भानु आदि दस महाधनुर्धर पुत्र हुए, जो सभी यज्ञकर्ता, शूरवीर, संतानवान्, अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा धर्मपरायण थे ॥

ऋचेयुरथ कक्षेयुः कृकणेयुश्च वीर्यवान्।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महायशाः ॥ १० ॥
तेजेयुर्बलवान् धीमान् सत्येयुश्चेन्द्रविक्रमः।
धर्मेयुः संनतेयुश्च दशमो देवविक्रमः ॥ ११ ॥

(उन सबके नाम इस प्रकार हैं—) ऋचेयु[1], कक्षेयु, पराक्रमी कृकणेयु, स्थण्डिलेयु, वनेयु, महायशस्वी जलेयु, बलवान् और बुद्धिमान् तेजेयु, इन्द्रके समान पराक्रमी सत्येयु, धर्मेयु तथा दसवें देवतुल्य पराक्रमी संनतेयु ॥ १०-११ ॥

अनाधृष्टिरभूत् तेषां विद्वान् भुवि तथैकराट्।
ऋचेयुरथ विक्रान्तो देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥

ऋचेयु जिनका एक नाम अनाधृष्टि भी है, अपने सब भाइयोंमें वैसे ही विद्वान् और पराक्रमी हुए, जैसे देवताओंमें इन्द्र। वे भूमण्डलके चक्रवर्ती राजा थे ॥ १२ ॥

अनाधृष्टिसुतस्त्वासीद् राजसूयाश्वमेधकृत्।
मतिनार इति ख्यातो राजा परमधार्मिकः ॥ १३ ॥

अनाधृष्टिके पुत्रका नाम मतिनार था। राजा मतिनार राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ करनेवाले एवं परम धर्मात्मा थे ॥ १३ ॥

मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ॥ १४ ॥

राजन् ! मतिनारके चार पुत्र हुए, जो अत्यन्त पराक्रमी थे। उनके नाम ये हैं—तंसु, महान्, अतिरथ और अनुपम तेजस्वी द्रुह्यु ॥ १४ ॥

तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन्।
आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

इनमें महापराक्रमी तंसुने पौरव वंशका भार वहन करते हुए उज्ज्वल यशका उपार्जन किया और सारी पृथ्वीको जीत लिया ॥

ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान्।
सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतां वरः ॥ १६ ॥

पराक्रमी तंसुने ईलिन नामक पुत्र उत्पन्न किया, जो विजयी पुरुषोंमें श्रेष्ठ था। उसने भी सारी पृथ्वी जीत ली थी ॥ १६ ॥

रथन्तर्यां सुतान् पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः।
ईलिनो जनयामास दुष्यन्तप्रभृतीन् नृपान् ॥ १७ ॥

ईलिनने रथन्तरी नामवाली अपनी पत्नीके गर्भसे पञ्च महाभूतोंके समान दुष्यन्त आदि पाँच राजपुत्रोंको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया ॥ १७ ॥

दुष्यन्तं शूरभीमौ च प्रवसुं वसुमेव च।
तेषां श्रेष्ठोऽभवद् राजा दुष्यन्तो जनमेजय ॥ १८ ॥

(उनके नाम ये हैं—) दुष्यन्त, शूर, भीम, प्रवसु तथा वसु। जनमेजय ! इनमें सबसे बड़े होनेके कारण दुष्यन्त राजा हुए ॥

दुष्यन्ताद् भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः।
तस्माद् भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद् यशः ॥ १९ ॥

१. ऋचेयु, अन्वग्भानु और अनाधृष्टि एक ही व्यक्तिके नाम हैं।

दुष्यन्तसे विद्वान् राजा भरतका जन्म हुआ, जो शकुन्तलाके पुत्र थे। उन्हींसे भरतवंशका महान् यश फैला ॥ १९ ॥

भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत्।
नाभ्यनन्दत तान् राजा नानुरूपा ममेत्युत ॥२०॥

भरतने अपनी तीन रानियोंसे नौ पुत्र उत्पन्न किये। किंतु 'ये मेरे अनुरूप नहीं हैं' ऐसा कहकर राजाने उन शिशुओंका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

ततस्तान् मातरः क्रुद्धाः पुत्रान् निन्युर्यमक्षयम्।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत् ॥२१॥

तब उन शिशुओंकी माताओंने कुपित होकर उनको मार डाला। इससे महाराज भरतका वह पुत्रोत्पादन व्यर्थ हो गया ॥ २१ ॥

ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद् भुमन्युं नाम भारत ॥२२॥

भारत! तब महाराज भरतने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया और महर्षि भरद्वाजकी कृपासे एक पुत्र प्राप्त किया, जिसका नाम भुमन्यु था ॥ २२ ॥

ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥२३॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर पौरवकुलका आनन्द बढ़ानेवाले भरतने अपनेको पुत्रवान् समझकर भुमन्युको युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥ २३ ॥

ततो दिविरथो नाम भुमन्योरभवत् सुतः।
सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ॥२४॥
पुष्करिण्यामृचीकश्च भुमन्योरभवन् सुताः।
तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षिताम् ॥२५॥

भुमन्युके दिविरथ नामक पुत्र हुआ। उसके सिवा सुहोत्र, सुहोता, सुहवि, सुयजु तथा ऋचीक भी भुमन्युके ही पुत्र थे। ये सब पुष्करिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इन सब क्षत्रियोंमें सुहोत्र ही ज्येष्ठ थे। अतः उन्हींको राज्य मिला ॥ २४-२५ ॥

राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद् बहुभिः सवैः।
सुहोत्रः पृथिवीं कृत्स्नां बुभुजे सागराम्बराम् ॥२६॥
पूर्णां हस्तिगजाश्वैश्च बहुरत्नसमाकुलाम्।
ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ॥२७॥
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णा मनुष्यकलिला भृशम्।
सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः ॥२८॥

राजा सुहोत्रने राजसूय तथा अश्वमेध आदि अनेक यज्ञोंद्वारा यजन किया और समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका, जो हाथी-घोड़ोंसे परिपूर्ण तथा अनेक प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न थी, उपभोग किया। जब राजा सुहोत्र धर्मपूर्वक प्रजाका शासन कर रहे थे, उस समय सारी पृथ्वी हाथी, घोड़ों, रथ और मनुष्योंसे खचाखच भरी थी। उन पशु आदिके भारी भारसे पीड़ित होकर राजा सुहोत्रके शासनकालकी पृथ्वी मानो नीचे धँसी जाती थी ॥ २६-२८ ॥

चैत्ययूपाङ्किता चासीद् भूमिः शतसहस्रशः।
प्रवृद्धजनसस्या च सर्वदैव व्यरोचत ॥२९॥

उनके राज्यकी भूमि लाखों चैत्यों (देव-मन्दिरों) और यज्ञयूपोंसे चिह्नित दिखायी देती थी। सब लोग हृष्ट-पुष्ट होते थे। खेतीकी उपज अधिक हुआ करती थी। इस प्रकार उस राज्यकी पृथ्वी सदा ही अपने वैभवसे सुशोभित होती थी ॥ २९ ॥

ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात् पृथिवीपतेः।
अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥३०॥

भारत! राजा सुहोत्रसे ऐक्ष्वाकीने अजमीढ, सुमीढ तथा पुरुमीढ नामक तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ३० ॥

अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन् वंशः प्रतिष्ठितः।
षट् पुत्रान् सोऽप्यजनयत् तिसृषु स्त्रीषु भारत ॥३१॥

उनमें अजमीढ ज्येष्ठ थे। उन्हींपर वंशकी मर्यादा टिकी हुई थी। जनमेजय! उन्होंने भी तीन स्त्रियोंके गर्भसे छः पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

ऋक्षं धूमिन्यथो नीली दुष्यन्तपरमेष्ठिनौ।
केशिन्यजनयज्जह्नुं सुतौ व्रजनरूपिणौ ॥३२॥

उनकी धूमिनी नामवाली स्त्रीने ऋक्षको, नीलीने दुष्यन्त और परमेष्ठीको तथा केशिनीने जह्नु, व्रजन तथा रूपिण इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ३२ ॥

तथेमे सर्वपञ्चाला दुष्यन्तपरमेष्ठिनोः।
अन्वयाः कुशिका राजन् जह्नोरमिततेजसः ॥३३॥

इनमें दुष्यन्त और परमेष्ठीके सभी पुत्र पाञ्चाल कहलाये। राजन्! अमिततेजस्वी जह्नुके वंशज कुशिक नामसे प्रसिद्ध हुए॥

व्रजनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम्।
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे राजन् वंशकरः सुतः ॥३४॥

व्रजन तथा रूपिणके ज्येष्ठ भाई ऋक्षको राजा कहा गया है। ऋक्षसे संवरणका जन्म हुआ। राजन्! वे वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्र थे ॥ ३४ ॥

आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुंधराम्।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम् ॥३५॥

जनमेजय! ऋक्षपुत्र संवरण जब इस पृथ्वीका शासन कर रहे थे, उस समय प्रजाका बहुत बड़ा संहार हुआ था, ऐसा हमने सुना है ॥ ३५ ॥

व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ॥३६॥

इस तरह नाना प्रकारसे क्षय होनेके कारण वह सारा राज्य नष्ट-सा हो गया। सबको भूख, मृत्यु, अनावृष्टि और व्याधि आदिके कष्ट सताने लगे ॥ ३६ ॥

अभ्यघ्नन् भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च।
चालयन् वसुधां चेमां बलेन चतुरङ्गिणा ॥३७॥
अभ्ययात् तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम्।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ॥३८॥

शत्रुओंकी सेनाएँ भरतवंशी योद्धाओंका नाश करने लगीं। पाञ्चालनरेशने इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए चतुरङ्गिणी सेनाके साथ संवरणपर आक्रमण किया और उनकी सारी भूमि वेगपूर्वक जीतकर दस अक्षौहिणी सेनाओंद्वारा संवरणको भी युद्धमें परास्त कर दिया ॥ ३७-३८ ॥

ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः।
राजा संवरणस्तस्मात् पलायत महाभयात् ॥३९॥

तदनन्तर स्त्री, पुत्र, सुहृद् और मन्त्रियोंके साथ राजा संवरण महान् भयके कारण वहाँसे भाग चले ॥ ३९ ॥

सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत् तदा।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः ॥४०॥

उस समय उन्होंने सिंधु नामक महानदके तटवर्ती निकुञ्जमें, जो एक पर्वतके समीपसे लेकर नदीके तटतक फैला हुआ था, निवास किया ॥ ४० ॥

तत्रावसन् बहून् कालान् भारता दुर्गमाश्रिताः।
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान् ॥४१॥

वहाँ उस दुर्गका आश्रय लेकर भरतवंशी क्षत्रिय बहुत वर्षोंतक टिके रहे। उन सबको वहाँ रहते हुए एक हजार वर्ष बीत गये ॥ ४१ ॥

अथाभ्यगच्छद् भरतान् वसिष्ठो भगवानृषिः।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ॥४२॥
अर्घ्यमभ्याहरंस्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा।
निवेद्य सर्वमृषये सत्कारेण सुवर्चसे ॥४३॥
तमासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा।
पुरोहितो भवान् नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि ॥४४॥

इसी समय उनके पास भगवान् महर्षि वसिष्ठ आये। उन्हें आया देख भरतवंशियोंने प्रयत्नपूर्वक उनकी अगवानी की और प्रणाम करके सबने उनके लिये अर्घ्य अर्पण किया। फिर उन तेजस्वी महर्षिको सत्कारपूर्वक अपना सर्वस्व समर्पण करके उत्तम आसनपर बिठाकर राजाने स्वयं उनका वरण करते हुए कहा—'भगवन्! हम पुनः राज्यके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। आप हमारे पुरोहित हो जाइये' ॥ ४२-४४ ॥

ओमित्येवं वसिष्ठोऽपि भारतान् प्रत्यपद्यत।
अथाभ्यषिञ्चत् साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम् ॥४५॥
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम्।
भरताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत् पुरोत्तमम् ॥४६॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वसिष्ठजीने भी भरतवंशियोंको अपनाया और समस्त भूमण्डलमें उत्कृष्ट पूरुवंशी संवरणको समस्त क्षत्रियोंके सम्राट्-पदपर अभिषिक्त कर दिया, ऐसा हमारे सुननेमें आया है। तत्पश्चात् महाराज संवरण, जहाँ प्राचीन भरतवंशी राजा रहते थे, उस श्रेष्ठ नगरमें निवास करने लगे ॥ ४५-४६ ॥

पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः।
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः ॥४७॥
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः।
ततः संवरणात् सौरी तपती सुषुवे कुरुम् ॥४८॥

फिर उन्होंने सब राजाओंको जीतकर उन्हें करद बना लिया। तदनन्तर वे महाबली नरेश अजमीढवंशी संवरण पुनः पृथ्वीका राज्य पाकर बहुत दक्षिणावाले बहुसंख्यक महायज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करने लगे। कुछ कालके पश्चात् सूर्यकन्या तपतीने संवरणके वीर्यसे कुरु नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४७-४८ ॥

राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे।
तस्य नाम्नाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ॥४९॥

कुरुको धर्मज्ञ मानकर सम्पूर्ण प्रजावर्गके लोगोंने स्वयं उनका राजाके पदपर वरण किया। उन्हींके नामसे पृथ्वीपर कुरुजाङ्गलदेश प्रसिद्ध हुआ ॥ ४९ ॥

कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः।
अश्ववन्तमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ॥५०॥
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुम।
पञ्चैतान् वाहिनी पुत्रान् व्यजायत मनस्विनी ॥५१॥

उन महातपस्वी कुरुने अपनी तपस्याके बलसे कुरुक्षेत्रको पवित्र बना दिया। उनके पाँच पुत्र सुने गये हैं—अश्ववान्, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि तथा सुप्रसिद्ध जनमेजय। इन पाँचों पुत्रोंको उनकी मनस्विनी पत्नी वाहिनीने जन्म दिया था॥

अविक्षितः परिक्षित् तु शबलाश्वस्तु वीर्यवान्।
आदिराजो विराजश्च शाल्मलिश्च महाबलः ॥५२॥
उच्चैःश्रवा भङ्गकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः।
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः।
जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ॥५३॥

अश्ववान्‌का दूसरा नाम अविक्षित् था। उसके आठ पुत्र हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—परिक्षित्, पराक्रमी शबलाश्व, आदिराज, विराज, महाबली शाल्मलि, उच्चैःश्रवा,

भङ्गकार तथा आठवाँ जितारि। इनके वंशमें जनमेजय आदि अन्य सात महारथी भी हुए, जो अपने कर्मजनित गुणोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ ५२-५३ ॥

परिक्षितोऽभवन् पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः।
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ॥५४॥
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः।
जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलाः ॥५५॥
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च।
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ॥५६॥
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः।
सर्वे धर्मार्थकुशलाः सर्वभूतहिते रताः ॥५७॥

परिक्षित्के सभी पुत्र धर्म और अर्थके ज्ञाता थे; जिनके नाम इस प्रकार हैं—कक्षसेन, उग्रसेन, पराक्रमी चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन। जनमेजयके महाबली पुत्र भूमण्डलमें विख्यात थे। उनमें प्रथम पुत्रका नाम धृतराष्ट्र था। उनसे छोटे क्रमशः पाण्डु, वाह्लीक, महातेजस्वी निषध, बलवान् जाम्बूनद, कुण्डोदर, पदाति तथा वसाति थे। इनमें वसाति आठवाँ था। ये सभी धर्म और अर्थमें कुशल तथा समस्त प्राणियोंके हितमें संलग्न रहनेवाले थे ॥ ५४—५७ ॥

धृतराष्ट्रोऽथ राजाऽऽसीत् तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः।
हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ॥५८॥
हविःश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः।
धृतराष्ट्रसुतानां तु त्रीनेतान् प्रथितान् भुवि ॥५९॥
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत।
प्रतीपः प्रथितस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ॥६०॥

इनमें धृतराष्ट्र राजा हुए। उनके पुत्र कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, कुण्डिन, हविःश्रवा, इन्द्राभ, भुमन्यु और अपराजित थे। भारत! इनके सिवा प्रतीप, धर्मनेत्र और सुनेत्र—ये तीन पुत्र और थे। धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें ये ही तीन इस भूतलपर अधिक विख्यात थे। इनमें भी प्रतीपकी प्रसिद्धि अधिक थी। भूमण्डलमें उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था ॥ ५८—६० ॥

प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ।
देवापिः शान्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥६१॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया।
शान्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥६२॥

भरतश्रेष्ठ! प्रतीपके तीन पुत्र हुए—देवापि, शान्तनु और महारथी वाह्लीक। इनमेंसे देवापि धर्माचरणद्वारा कल्याण-प्राप्तिकी इच्छासे वनको चले गये, इसलिये शान्तनु एवं महारथी बाह्लीकने इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया ॥ ६१-६२ ॥

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥६३॥

राजन्! भरतके वंशमें सभी नरेश धैर्यवान् एवं शक्तिशाली थे। उस वंशमें बहुत-से श्रेष्ठ नृपतिगण देवर्षियोंके समान थे ॥ ६३ ॥

एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥६४॥

ऐसे ही और भी कितने ही देवतुल्य महारथी मनुवंशमें उत्पन्न हुए थे, जो महाराज पुरूरवाके वंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशवर्णनविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दक्ष प्रजापतिसे लेकर पूरुवंश, भरतवंश एवं पाण्डुवंशकी परम्पराका वर्णन

जनमेजय उवाच

श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन् पूर्वेषां सम्भवो महान्।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन् राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैंने आपके मुखसे पूर्ववर्ती राजाओंकी उत्पत्तिका महान् वृत्तान्त सुना। इस पूरुवंशमें उत्पन्न हुए उदार राजाओंके नाम भी मैंने भलीभाँति सुन लिये ॥

किंतु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति।
प्रीणात्यतो भवान् भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ॥ २ ॥
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ॥ ३ ॥

परंतु संक्षेपसे कहा हुआ यह प्रिय आख्यान सुनकर मुझे पूर्णतः तृप्ति नहीं हो रही है। अतः आप पुनः विस्तारपूर्वक मुझसे इसी दिव्य कथाका वर्णन कीजिये। दक्ष प्रजापति और मनुसे लेकर उन सब राजाओंका पवित्र जन्म-प्रसंग किसको प्रसन्न नहीं करेगा? ॥ २-३ ॥

सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम्।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवस्थितम् ॥ ४ ॥

उत्तम धर्म और गुणोंके माहात्म्यसे अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुआ इन राजाओंका श्रेष्ठ और उज्ज्वल यश तीनों लोकोंमें व्याप्त हो रहा है ॥ ४ ॥

गुणप्रभाववीर्यौजःसत्त्वोत्साहवतामहम्　।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसम्मिताम् ॥ ५ ॥

ये सभी नरेश उत्तम गुण, प्रभाव, बल-पराक्रम, ओज, सत्त्व (धैर्य) और उत्साहसे सम्पन्न थे। इनकी कथा अमृत-के समान मधुर है, उसे सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम्।
प्रोच्यमानमिदं कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालमें मैंने महर्षि कृष्णद्वैपायनके मुखसे जिसका भलीभाँति श्रवण किया था, वह सम्पूर्ण प्रसङ्ग तुम्हें सुनाता हूँ। अपने वंशकी उत्पत्तिका वह शुभ वृत्तान्त सुनो ॥ ६ ॥

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनुर्मनो-रिला इलायाः पुरूरवाः पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद् ययातिः; ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥ ७ ॥

उशनसो दुहिता देवयानी; वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम ॥ ८ ॥

दक्षसे अदिति, अदितिसे विवस्वान् (सूर्य), विवस्वान्से मनु, मनुसे इला, इलासे पुरूरवा, पुरूरवासे आयु, आयुसे नहुष और नहुषसे ययातिका जन्म हुआ। ययातिके दो पत्नियाँ थीं; पहली शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी तथा दूसरी वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा ॥ ७-८ ॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९ ॥

यहाँ उनके वंशका परिचय देनेवाला यह श्लोक कहा जाता है—

देवयानीने यदु और तुर्वसु नामवाले दो पुत्रोंको जन्म दिया और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ९ ॥

तत्र यदोर्यादवाः; पूरोः पौरवाः ॥ १० ॥

इनमें यदुसे यादव और पूरुसे पौरव हुए ॥ १० ॥

पूरोस्तु भार्या कौसल्या नाम। तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम; यस्त्रीनश्वमेधानाजहार, विश्वजिता चेष्ट्वा वनं विवेश ॥ ११ ॥

पूरुकी पत्नीका नाम कौसल्या था (उसीको पौष्टी भी कहते हैं)। उसके गर्भसे पूरुके जनमेजय नामक पुत्र हुआ (इसीका दूसरा नाम प्रवीर है); जिसने तीन अश्वमेध यज्ञों-का अनुष्ठान किया था और विश्वजित् यज्ञ करके वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया था ॥ ११ ॥

जनमेजयः खल्वनन्तां नामोपयेमे माधवीम्। तस्या-मस्य जज्ञे प्राचिन्वान्; यः प्राचीं दिशं जिगाय यावत् सूर्योदयात्, ततस्तस्य प्राचिन्वत्वम् ॥ १२ ॥

जनमेजयने मधुवंशकी कन्या अनन्ताके साथ विवाह किया था। उसके गर्भसे उनके प्राचिन्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने उदयाचलसे लेकर सारी प्राची दिशाको एक ही दिनमें जीत लिया था; इसीलिये उसका नाम प्राचिन्वान् हुआ ॥ १२ ॥

प्राचिन्वान् खल्वश्मकीमुपयेमे यादवीम्। तस्या-मस्य जज्ञे संयातिः ॥ १३ ॥

प्राचिन्वान्ने यदुकुलकी कन्या अश्मकीको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे उन्हें संयाति नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥

संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गीं नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे अहंयातिः ॥ १४ ॥

संयातिने दृषद्वान्की पुत्री वराङ्गीसे विवाह किया। उसके गर्भसे उन्हें अहंयाति नामक पुत्र हुआ ॥ १४ ॥

अहंयातिः खलु कृतवीर्यदुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम। तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः ॥ १५ ॥

अहंयातिने कृतवीर्यकुमारी भानुमतीको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे अहंयातिके सार्वभौम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

सार्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम। तामुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम ॥ १६ ॥

सार्वभौमने युद्धमें जीतकर केकयकुमारी सुनन्दाका अपहरण किया और उसीको अपनी पत्नी बनाया। उससे उनको जयत्सेन नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

जयत्सेनो खलु वैदर्भीमुपयेमे सुश्रवां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अवाचीनः ॥ १७ ॥

जयत्सेनने विदर्भराजकुमारी सुश्रवासे विवाह किया। उसके गर्भसे उनके अवाचीन नामक पुत्र हुआ ॥ १७ ॥

अवाचीनोऽपि वैदर्भीमपरामेवोपयेमे मर्यादां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अरिहः ॥ १८ ॥

अवाचीनने भी विदर्भराजकुमारी मर्यादाके साथ विवाह किया, जो आगे बतायी जानेवाली देवातिथिकी पत्नीसे भिन्न थी। उसके गर्भसे उन्हें 'अरिह' नामक पुत्र हुआ ॥ १८ ॥

अरिहः खल्वाङ्गीमुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः ॥ १९ ॥

अरिहने अङ्गदेशकी राजकुमारीसे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें महाभौम नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥

महाभौमः खलु प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अयुतनायी; यः पुरुषमेधाना-मयुतमानयत्, तेनास्यायुतनायित्वम् ॥ २० ॥

महाभौमने प्रसेनजित्की पुत्री सुयज्ञासे विवाह किया उसके गर्भसे उन्हें अयुतनायी नामक पुत्र प्राप्त हुआ;

जिसने दस हजार पुरुषमेध 'यज्ञ' किये । अयुत यज्ञोंका आनयन (अनुष्ठान) करनेके कारण ही उनका नाम अयुतनायी हुआ ॥ २० ॥

अयुतनायी खलु पृथुश्रवसो दुहितरमुपयेमे कामां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अक्रोधनः ॥ २१ ॥

अयुतनायीने पृथुश्रवाकी पुत्री कामासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अक्रोधनका जन्म हुआ ॥ २१ ॥

स खलु कालिङ्गीं करम्भां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे देवातिथिः ॥ २२ ॥

अक्रोधनने कलिङ्गदेशकी राजकुमारी करम्भासे विवाह किया। जिसके गर्भसे उनके देवातिथि नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥२२॥

देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहो नाम ॥ २३ ॥

देवातिथिने विदेहराजकुमारी मर्यादासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अरिह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

अरिहः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यां पुत्रमजीजनदृक्षम् ॥ २४ ॥

अरिहने अङ्गराजकुमारी सुदेवाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे ऋक्ष नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ २४ ॥

ऋक्षः खलु तक्षकदुहितरमुपयेमे ज्वालां नाम । तस्यां पुत्रं मतिनारं नामोत्पादयामास ॥ २५ ॥

ऋक्षने तक्षककी पुत्री ज्वालाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे मतिनार नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

मतिनारः खलु सरस्वत्यां गुणसमन्वितं द्वादशवार्षिकं सत्रमाहरत् । समाप्ते च सत्रे सरस्वत्यभिगम्य तं भर्तारं वरयामास । तस्यां पुत्रमजीजनत् तंसुं नाम ॥ २६ ॥

मतिनारने सरस्वतीके तटपर उत्तम गुणोंसे युक्त द्वादशवार्षिक यज्ञका अनुष्ठान किया । उसके समाप्त होनेपर सरस्वतीने उनके पास आकर उन्हें पतिरूपमें वरण किया । मतिनारने उसके गर्भसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥२६॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

तंसुं सरस्वती पुत्रं मतिनारादजीजनत् ।
ईलिनं जनयामास कालिङ्ग्यां तंसुरात्मजम् ॥२७॥

यहाँ वंशपरम्पराका सूचक श्लोक इस प्रकार है—

सरस्वतीने मतिनारसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया और तंसुने कलिङ्गराजकुमारीके गर्भसे ईलिन नामक पुत्रको जन्म दिया ॥

ईलिनस्तु रथन्तर्यां दुष्यन्तादीन् पञ्च पुत्रानजीजनत् ॥ २८ ॥

ईलिनने रथन्तरीके गर्भसे दुष्यन्त आदि पाँच पुत्र उत्पन्न किये ॥ २८ ॥

दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे भरतः ॥ २९ ॥

दुष्यन्तने विश्वामित्रकी पुत्री शकुन्तलाके साथ विवाह किया; जिसके गर्भसे उनके पुत्र भरतका जन्म हुआ ॥२९॥

अत्रानुवंशश्लोकौ भवतः—

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥३०॥

यहाँ वंशपरम्पराके सूचक दो श्लोक हैं—

'माता तो भाथी (धौंकनी) के समान है । वास्तवमें पुत्र पिताका ही होता है; जिससे उसका जन्म होता है, वही उस बालकके रूपमें प्रकट होता है । दुष्यन्त ! तुम अपने पुत्रका भरण-पोषण करो; शकुन्तलाका अपमान न करो ॥

रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥३१॥

'गर्भाधान करनेवाला पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है। नरदेव ! पुत्र यमलोकसे पिताका उद्धार कर देता है । तुम्हीं इस गर्भके आधान करनेवाले हो । शकुन्तलाका कथन सत्य है' ॥

ततोऽस्य भरतत्वम् । भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ॥३२॥

आकाशवाणीने भरण-पोषणके लिये कहा था, इसलिये उस बालकका नाम भरत हुआ । भरतने राजा सर्वसेनकी पुत्री सुनन्दासे विवाह किया । वह काशीकी राजकुमारी थी। उसके गर्भसे भरतके भुमन्यु नामक पुत्र हुआ ॥ ३२ ॥

भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम । तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥ ३३ ॥

भुमन्युने दशार्हकन्या विजयासे विवाह किया; जिसके गर्भसे सुहोत्रका जन्म हुआ ॥ ३३ ॥

सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम । तस्यामस्य जज्ञे हस्ती; य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास । एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥ ३४ ॥

सुहोत्रने इक्ष्वाकुकुलकी कन्या सुवर्णासे विवाह किया । उसके गर्भसे उन्हें हस्ती नामक पुत्र हुआ; जिसने यह हस्तिनापुर नामक नगर बसाया था । हस्तीके बसानेसे ही यह नगर 'हास्तिनपुर' कहलाया ॥ ३४ ॥

हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम । तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनो नाम ॥ ३५ ॥

हस्तीने त्रिगर्तराजकी पुत्री यशोधराके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे विकुण्ठन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥३५॥

विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अजमीढो नाम ॥ ३६ ॥

विकुण्ठनने दशार्हकुलकी कन्या सुदेवासे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें अजमीढ नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अजमीढस्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव कैकेय्यां गान्धार्यां विशालायामृक्षायां चेति। पृथक् पृथग् वंशधरा नृपतयः। तत्र वंशकरः संवरणः ॥३७॥

अजमीढके कैकेयी, गान्धारी, विशाला तथा ऋक्षासे एक सौ चौबीस पुत्र हुए। वे सब पृथक्-पृथक् वंशप्रवर्तक राजा हुए। इनमें राजा संवरण कुरुवंशके प्रवर्तक हुए॥

संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ॥ ३८ ॥

संवरणने सूर्यकन्या तपतीसे विवाह किया; जिसके गर्भसे कुरुका जन्म हुआ ॥ ३८ ॥

कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम। तस्यामस्य जज्ञे विदूरः ॥ ३९ ॥

कुरुने दशार्हकुलकी कन्या शुभाङ्गीसे विवाह किया। उसके गर्भसे कुरुके विदूर नामक पुत्र हुआ ॥ ३९ ॥

विदूरस्तु माधवीमुपयेमे सम्प्रियां नाम। तस्यामस्य जज्ञे अनश्वा नाम ॥ ४० ॥

विदूरने मधुवंशकी कन्या सम्प्रियासे विवाह किया; जिसके गर्भसे उन्हें अनश्वा नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ४० ॥

अनश्वा खलु मागधीमुपयेमे अमृतां नाम। तस्यामस्य जज्ञे परिक्षित् ॥ ४१ ॥

अनश्वाने मगधराजकुमारी अमृताको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे उनके परिक्षित् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४१॥

परिक्षित् खलु बाहुदामुपयेमे सुयशां नाम। तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः ॥ ४२ ॥

परिक्षित्ने बाहुदराजकी पुत्री सुयशाके साथ विवाह किया; जिससे उनके भीमसेन नामक पुत्र हुआ ॥ ४२ ॥

भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम। तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवा नाम ॥ ४३ ॥

भीमसेनने केकयदेशकी राजकुमारी कुमारीको अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भसे प्रतिश्रवाका जन्म हुआ ॥ ४३ ॥

प्रतिश्रवसः प्रतीपः खलु। शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम। तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं बाह्लीकं चेति ॥ ४४ ॥

प्रतिश्रवासे प्रतीप उत्पन्न हुआ। उसने शिबिदेशकी राजकन्या सुनन्दासे विवाह किया और उसके गर्भसे देवापि, शान्तनु तथा बाह्लीक—इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ४४ ॥

देवापिः खलु बाल एवारण्यं विवेश। शान्तनुस्तु महीपालो बभूव ॥ ४५ ॥

देवापि बाल्यावस्थामें ही वनको चले गये; अतः शान्तनु राजा हुए ॥ ४५ ॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते।
पुनर्युवा च भवति तस्मात् तं शान्तनुं विदुः ॥
इति तदस्य शान्तनुत्वम् ॥ ४६ ॥

शान्तनुके विषयमें यह अनुवंशश्लोक उपलब्ध होता है—वे जिस-जिस बूढ़ेको अपने दोनों हाथोंसे छू देते थे, वह बड़े सुख और शान्तिका अनुभव करता था तथा पुनः नौजवान हो जाता था। इसीलिये लोग उन्हें शान्तनुके रूपमें जानने लगे। यही उनके शान्तनु नाम पड़नेका कारण हुआ॥

शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नामः यमाहुर्भीष्ममिति ॥ ४७ ॥

शान्तनुने भागीरथी गङ्गाको अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भसे उन्हें देवव्रत नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे लोग 'भीष्म' कहते हैं ॥ ४७ ॥

भीष्मः खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं मातरमुदवाहयत्; यामाहुर्गन्धकालीति ॥ ४८ ॥

भीष्मने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके साथ माता सत्यवतीका विवाह कराया; जिसे गन्धकाली भी कहते हैं॥

तस्यां पूर्वं कानीनो गर्भः पराशराद् द्वैपायनोऽभवत्। तस्यामेव शान्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः ॥ ४९ ॥

सत्यवतीके गर्भसे पहले कन्यावस्थामें महर्षि पराशरसे द्वैपायन व्यास उत्पन्न हुए थे। फिर उसी सत्यवतीके राजा शान्तनुद्वारा दो पुत्र और हुए ॥ ४९ ॥

विचित्रवीर्यश्चित्राङ्गदश्च। तयोरप्राप्तयौवन एव चित्राङ्गदो गन्धर्वेण हतः। विचित्रवीर्यस्तु राजाऽऽसीत् ॥ ५० ॥

जिनका नाम था- विचित्रवीर्य और चित्राङ्गद। उनमेंसे चित्राङ्गद युवावस्थामें पदार्पण करनेसे पहले ही एक गन्धर्वके द्वारा मारे गये; परंतु विचित्रवीर्य राजा हुए ॥ ५० ॥

विचित्रवीर्यः खलु कौसल्यात्मजे अम्बिकाम्बालिके काशिराजदुहितरावुपयेमे ॥ ५१ ॥

विचित्रवीर्यने अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया। वे दोनों काशिराजकी पुत्रियाँ थीं और उनकी माताका नाम कौसल्या था ॥ ५१ ॥

विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तः। ततः सत्यवत्यचिन्तयन्मा दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजेदिति ॥ ५२ ॥

विचित्रवीर्यके अभी कोई संतान नहीं हुई थी; तभी उनका देहावसान हो गया। तब सत्यवतीको यह चिन्ता हुई कि 'राजा दुष्यन्तका यह वंश नष्ट न हो जाय' ॥ ५२ ॥

सा द्वैपायनमृषिं मनसा चिन्तयामास । स तस्याः पुरतः स्थितः, किं करवाणीति ॥५३॥

उसने मन-ही-मन द्वैपायन महर्षि व्यासका चिन्तन किया । फिर तो व्यासजी उसके आगे प्रकट हो गये और बोले—'क्या आज्ञा है ?' ॥ ५३ ॥

सा तमुवाच—भ्राता तवानपत्य एव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः । साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति ॥ ५४ ॥

सत्यवतीने उनसे कहा—'बेटा ! तुम्हारे भाई विचित्रवीर्य संतानहीन अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गये । अतः उनके वंशकी रक्षाके लिये उत्तम संतान उत्पन्न करो' ॥ ५४ ॥

स तथेत्युक्त्वा त्रीन् पुत्रानुत्पादयामास; धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति ॥ ५५ ॥

उन्होंने 'तथास्तु' कहकर धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर—इन तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ५५ ॥

तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूव गान्धार्यां वरदानाद् द्वैपायनस्य ॥ ५६ ॥

उनमेंसे राजा धृतराष्ट्रके गान्धारीके गर्भसे व्यासजीके दिये हुए वरदानके प्रभावसे सौ पुत्र हुए ॥ ५६ ॥

तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुः; दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ॥ ५७ ॥

धृतराष्ट्रके उन सौ पुत्रोंमें चार प्रधान थे—दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन ॥ ५७ ॥

पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम माद्री च इत्युभे स्त्रीरत्ने ॥ ५८ ॥

पाण्डुकी दो पत्नियाँ थीं; कुन्तिभोजकी कन्या पृथा और माद्री । ये दोनों ही स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा थीं ॥ ५८ ॥

अथ पाण्डुर्मृगयां चरन् मैथुनगतमृषिमपश्यन्मृग्यां वर्तमानम् । तथैवाद्भुतमनासादितकामरसमतृप्तं च बाणेनाजघान ॥ ५९ ॥

एक दिन राजा पाण्डुने शिकार खेलते समय एक मृगरूपधारी ऋषिको मृगीरूपधारिणी अपनी पत्नीके साथ मैथुन करते देखा । वह अद्भुत मृग अभी काम-रसका आस्वादन नहीं कर सका था । उसे अतृप्त अवस्थामें ही राजाने बाणसे मार दिया ॥ ५९ ॥

स बाणविद्ध उवाच पाण्डुम—चरता धर्ममिमं येन त्वयाभिज्ञेन कामरसस्याहमनवाप्तकामरसो निहतस्तस्मात् त्वमप्येतामवस्थामासाद्यानवाप्तकामरसः पञ्चत्वमाप्स्यसि क्षिप्रमेवेति । स विवर्णरूपस्तथा पाण्डुः शापं परिहरमाणो नोपासर्पत भार्ये । वाक्यं चोवाच—॥ ६० ॥

बाणसे घायल होकर उस मुनिने पाण्डुसे कहा—'राजन् ! तुम भी इस मैथुन धर्मका आचरण करनेवाले तथा काम-रसके ज्ञाता हो, तो भी तुमने मुझे उस दशामें मारा है, जब कि मैं काम-रससे तृप्त नहीं हुआ था । इस कारण इसी अवस्थामें पहुँचकर काम-रसका आस्वादन करनेसे पहले ही शीघ्र मृत्युको प्राप्त हो जाओगे ।' यह सुनकर राजा पाण्डु उदास हो गये और शापका परिहार करते हुए पत्नियोंके सहवाससे दूर रहने लगे । उन्होंने कहा—॥ ६० ॥

स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहं शृणोमि च नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति । सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच । सा तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास । धर्माद् युधिष्ठिरं मारुताद् भीमसेनं शक्राद‌र्जुनमिति ॥ ६१ ॥

'देवियो ! अपनी चपलताके कारण मुझे यह शाप मिला है । सुनता हूँ, संतानहीनको पुण्यलोक नहीं प्राप्त होते हैं । अतः तुम मेरे लिये पुत्र उत्पन्न करो ।' यह बात उन्होंने कुन्तीसे कही । उनके ऐसा कहनेपर कुन्तीने तीन पुत्र उत्पन्न किये—धर्मराजसे युधिष्ठिरको, वायुदेवसे भीमसेनको और इन्द्रसे अर्जुनको जन्म दिया ॥ ६१ ॥

तां संहृष्टः पाण्डुरुवाच—

इयं ते सपत्न्यनपत्या; साध्वस्या अपत्यमुत्पाद्यतामिति । एवमस्त्विति कुन्ती तां विद्यां माद्र्याः प्रायच्छत् ॥ ६२ ॥

इससे पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने कुन्तीसे कहा—'यह तुम्हारी सौत माद्री तो संतानहीन ही रह गयी, इसके गर्भसे भी सुन्दर संतान उत्पन्न होनेकी व्यवस्था करो ।' 'ऐसा ही हो' कहकर कुन्तीने अपनी वह विद्या (जिससे देवता आकृष्ट होकर चले आते थे) माद्रीको भी दे दी ॥ ६२ ॥

माद्र्यामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ॥६३॥

माद्रीके गर्भसे अश्विनीकुमारोंने नकुल और सहदेवको उत्पन्न किया ॥ ६३ ॥

माद्रीं खल्वलंकृतां दृष्ट्वा पाण्डुर्भावं चक्रे च तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः ॥ ६४ ॥

तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह उवाच कुन्तीम्; यमयोरप्रमत्तया त्वया भवितव्यमिति ॥ ६५ ॥

एक दिन माद्रीको शृङ्गार किये देख पाण्डु उसके प्रति आसक्त हो गये और उसका स्पर्श होते ही उनका शरीर छूट गया । तदनन्तर वहाँ चिताकी आगमें स्थित पतिके शवके साथ माद्री चितापर आरूढ़ हो गयी और कुन्तीसे बोली—'बहिन ! मेरे जुड़वें बच्चोंके भी लालन-पालनमें तुम सदा सावधान रहना' ॥ ६४-६५ ॥

ततस्ते पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हास्तिनपुरमानीय तापसैर्भीष्मस्य च विदुरस्य च निवेदिताः । सर्ववर्णानां च निवेद्यान्तर्हितास्तापसा बभूवुः प्रेक्ष्यमाणानां तेषाम् ॥ ६६ ॥

इसके बाद तपस्वी मुनियोंने कुन्तीसहित पाण्डवोंको वनसे हस्तिनापुरमें लाकर भीष्म तथा विदुरजीको सौंप दिया। साथ ही समस्त प्रजावर्गके लोगोंको भी सारे समाचार बताकर वे तपस्वी उन सबके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ६६ ॥

तच्च वाक्यमुपश्रुत्य भगवतामन्तरिक्षात् पुष्पवृष्टिः पपात; देवदुन्दुभयश्च प्रणेदुः ॥ ६७ ॥

उन ऐश्वर्यशाली मुनियोंकी बात सुनकर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं ॥ ६७ ॥

प्रतिगृहीताश्च पाण्डवाः पितुर्निधनमावेदयन् तस्यौर्ध्वदेहिकं न्यायतश्च कृतवन्तः । तांस्तत्र निवसतः पाण्डवान् बाल्यात् प्रभृति दुर्योधनो नामर्षयत् ॥ ६८ ॥

भीष्म और धृतराष्ट्रके द्वारा अपना लिये जानेपर पाण्डवोंने उनसे अपने पिताकी मृत्युका समाचार बताया, तत्पश्चात् पिताकी और्ध्वदैहिक क्रियाको विधिपूर्वक सम्पन्न करके पाण्डव वहीं रहने लगे। दुर्योधनको बाल्यावस्थासे ही पाण्डवोंका साथ रहना सहन नहीं हुआ ॥ ६८ ॥

पापाचारो राक्षसीं बुद्धिमाश्रितोऽनेकैरुपायैरुद्धर्तुं च व्यवसितः; भावित्वाच्चार्थस्य न शकितास्ते समुद्धर्तुम् ॥ ६९ ॥

पापाचारी दुर्योधन राक्षसी बुद्धिका आश्रय ले अनेक उपायोंसे पाण्डवोंकी जड़ उखाड़नेका प्रयत्न करता रहता था। परंतु जो होनेवाली बात है, वह होकर ही रहती है; इसलिये दुर्योधन आदि पाण्डवोंको नष्ट करनेमें सफल न हो सके ॥ ६९ ॥

ततश्च धृतराष्ट्रेण व्याजेन वारणावतमनुप्रेषिता गमनमरोचयन् ॥ ७० ॥

इसके बाद धृतराष्ट्रने किसी बहानेसे पाण्डवोंको जब वारणावत नगरमें जानेके लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने वहाँसे जाना स्वीकार कर लिया ॥ ७० ॥

तत्रापि जतुगृहे दग्धुं समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेनेति ॥ ७१ ॥

वहाँ भी उन्हें लाक्षागृहमें जला डालनेका प्रयत्न किया गया; किंतु पाण्डवोंके विदुरजीकी सलाहके अनुसार काम करनेके कारण विरोधीलोग उनको दग्ध करनेमें समर्थ न हो सके ॥ ७१ ॥

तस्माच्च हिडिम्बमन्तरा हत्वा एकचक्रां गताः ॥ ७२ ॥

पाण्डव वारणावतसे अपनेको छिपाते हुए चल पड़े और मार्गमें हिडिम्ब राक्षसका वध करके वे एकचक्रा नगरीमें जा पहुँचे ॥ ७२ ॥

तस्यामप्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरमधिगताः ॥ ७३ ॥

एकचक्रामें भी बक नामवाले राक्षसका संहार करके वे पाञ्चाल नगरमें चले गये ॥ ७३ ॥

तत्र द्रौपदीं भार्यामविन्दन्, स्वविषयं चाभिजग्मुः ॥ ७४ ॥

वहाँ पाण्डवोंने द्रौपदीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और फिर अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें लौट आये ॥ ७४ ॥

कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः । प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः, सुतसोमं वृकोदरः, श्रुतकीर्तिमर्जुनः, शतानीकं नकुलः, श्रुतकर्माणं सहदेव इति ॥ ७५ ॥

वहाँ कुशलपूर्वक रहते हुए उन्होंने द्रौपदीसे पाँच पुत्र उत्पन्न किये। युधिष्ठिरने प्रतिविन्ध्यको, भीमसेनने सुतसोमको, अर्जुनने श्रुतकीर्तिको, नकुलने शतानीकको और सहदेवने श्रुतकर्माको जन्म दिया ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरे लेभे। तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ॥ ७६ ॥

भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्काम्। तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिरने शिविदेशके राजा गोवासनकी पुत्री देविकाको स्वयंवरमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे एक पुत्रको जन्म दिया; जिसका नाम यौधेय था। भीमसेनने भी काशिराजकी कन्या बलन्धराके साथ विवाह किया; उसे प्राप्त करनेके लिये बल एवं पराक्रमका शुल्क रक्खा गया था अर्थात् यह शर्त थी कि जो अधिक बलवान् हो, वही उसके साथ विवाह कर सकता है। भीमसेनने उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम सर्वग था ॥ ७६-७७ ॥

अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीं भार्यामुदावहत् । स्वविषयं चाभ्याजगाम कुशली । तस्यां पुत्रमभिमन्युमतीव गुणसम्पन्नं दयितं वासुदेवस्याजनयत् ॥ ७८ ॥

अर्जुनने द्वारकामें जाकर मङ्गलमय वचन बोलनेवाली वासुदेवकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसे लेकर कुशलपूर्वक अपनी राजधानीमें चले आये। वहाँ उसके गर्भसे अत्यन्त गुणसम्पन्न अभिमन्यु नामक पुत्रको उत्पन्न किया; जो वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको बहुत प्रिय था ॥ ७८ ॥

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत् । तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत् ॥ ७९ ॥

नकुलने चेदिनरेशकी पुत्री करेणुमतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे निरमित्र नामक पुत्रको जन्म दिया ॥

सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरम् । तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम ॥ ८० ॥

सहदेवने भी मद्रदेशकी राजकुमारी विजयाको स्वयंवरमें प्राप्त किया । वह मद्रराज द्युतिमान्की पुत्री थी । उसके गर्भसे उन्होंने सुहोत्र नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ८० ॥

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ॥ ८१ ॥

भीमसेनने पहले ही हिडिम्बाके गर्भसे घटोत्कच नामक राक्षसजातीय पुत्रको उत्पन्न किया था ॥ ८१ ॥

इत्येत एकादश पाण्डवानां पुत्राः । तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार ये पाण्डवोंके ग्यारह पुत्र हुए । इनमेंसे अभिमन्युका ही वंश चला ॥ ८२ ॥

स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम । तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽभवत् । तमुत्सङ्गेन प्रतिजग्राह पृथा नियोगात् पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य, षाण्मासिकं गर्भमहमेनं जीवयिष्यामीति ॥ ८३ ॥

अभिमन्युने विराटकी पुत्री उत्तराके साथ विवाह किया था । उसके गर्भसे अभिमन्युके एक पुत्र हुआ; जो मरा हुआ था । पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे कुन्तीने उसे अपनी गोदमें ले लिया । उन्होंने यह आश्वासन दिया कि छः महीनेके इस मरे हुए बालकको मैं जीवित कर दूँगा ॥ ८३ ॥

स भगवता वासुदेवेनासंजातबलवीर्यपराक्रमोऽकालजातोऽस्त्राग्निना दग्धस्तेजसा स्वेन संजीवितः । जीवयित्वा चैनमुवाच—परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति ॥ ८४ ॥

परिक्षित् खलु माद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरम् । तस्यां भवान् जनमेजयः ॥ ८५ ॥

अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे झुलसकर वह असमयमें (समयसे पहले) ही पैदा हो गया था । उसमें बल, वीर्य और पराक्रम नहीं था । परंतु भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने तेजसे जीवित कर दिया । इसको जीवित करके वे इस प्रकार बोले—'इस कुलके परिक्षीण (नष्ट) होनेपर इसका जन्म हुआ है; अतः यह बालक परिक्षित् नामसे विख्यात हो ।' परिक्षित्ने तुम्हारी माता माद्रवतीके साथ विवाह किया, जिसके गर्भसे तुम जनमेजय नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ८४-८५ ॥

भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते; शतानीकः शङ्कुकर्णश्च । शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नोऽश्वमेधदत्त इति ॥ ८६ ॥

तुम्हारी पत्नी वपुष्टमाके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए हैं— शतानीक और शङ्कुकर्ण । शतानीककी पत्नी विदेहराजकुमारीके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रका नाम है अश्वमेधदत्त ॥ ८६ ॥

एष पूरोर्वंशः पाण्डवानां च कीर्तितः; धन्यः पुण्यः परमपवित्रः सततं श्रोतव्यो ब्राह्मणैर्नियमवद्भिरनन्तरं क्षत्रियैः स्वधर्मनिरतैः प्रजापालनतत्परैर्वैश्यैरपि च श्रोतव्योऽधिगम्यश्च तथा शूद्रैरपि त्रिवर्णशुश्रूषुभिः श्रद्दधानैरिति ॥ ८७ ॥

यह पूरु तथा पाण्डवोंके वंशका वर्णन किया गया; जो धन और पुण्यकी प्राप्ति करानेवाला एवं परम पवित्र है, नियमपरायण ब्राह्मणों, अपने धर्ममें स्थित प्रजापालक क्षत्रियों, वैश्यों तथा तीनों वर्णोंकी सेवा करनेवाले श्रद्धालु शूद्रोंको भी सदा इसका श्रवण एवं स्वाध्याय करना चाहिये ॥ ८७ ॥

इतिहासमिमं पुण्यमशेषतः श्रावयिष्यन्ति ये नराः श्रोष्यन्ति वा नियतात्मानो विमत्सरा मैत्रा वेदपरास्तेऽपि स्वर्गजितः पुण्यलोका भवन्ति सततं देवब्राह्मणमनुष्याणां मान्याः सम्पूज्याश्च ॥ ८८ ॥

जो पुण्यात्मा मनुष्य मनको वशमें करके ईर्ष्या छोड़कर सबके प्रति मैत्रीभाव रखते हुए वेदपरायण हो इस सम्पूर्ण पुण्यमय इतिहासको सुनावेंगे अथवा सुनेंगे वे स्वर्गलोकके अधिकारी होंगे और देवता, ब्राह्मण तथा मनुष्योंके लिये सदैव आदरणीय तथा पूजनीय होंगे ॥ ८८ ॥

परं हीदं भारतं भगवता व्यासेन प्रोक्तं पावनं ये ब्राह्मणादयो वर्णाः श्रद्दधाना अमत्सरा मैत्रा वेदसम्पन्नाः श्रोष्यन्ति, तेऽपि स्वर्गजितः सुकृतिनोऽशोच्याः कृताकृते भवन्ति ॥ ८९ ॥

जो ब्राह्मण आदि वर्णोंके लोग मात्सर्यरहित, मैत्रीभावसे संयुक्त और वेदाध्ययनसे सम्पन्न हो श्रद्धापूर्वक भगवान् व्यासके द्वारा कहे हुए इस परम पावन महाभारत ग्रन्थको सुनेंगे, वे भी स्वर्गके अधिकारी और पुण्यात्मा होंगे तथा उनके लिये इस बातका शोक नहीं रह जायगा कि उन्होंने अमुक कर्म क्यों किया और अमुक कर्म क्यों नहीं किया ॥ ८९ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः ॥९०॥

इस विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

'यह महाभारत वेदोंके समान पवित्र, उत्तम तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है। मनको वशमें रखनेवाले साधु पुरुषोंको सदैव इसका श्रवण करना चाहिये॥ ९०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशानुकीर्तनविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

महाभिषको ब्रह्माजीका शाप तथा शापग्रस्त वसुओंके साथ गङ्गाकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो राजाऽऽसीत् पृथिवीपतिः।
महाभिष इति ख्यातः सत्यवाक् सत्यविक्रमः ॥ १ ॥
सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च।
तोषयामास देवेशं स्वर्गं लेभे ततः प्रभुः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न महाभिष नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो सत्यवादी होनेके साथ ही सत्यपराक्रमी भी थे। उन्होंने एक हजार अश्वमेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंद्वारा देवेश्वर इन्द्रको संतुष्ट किया और उन यज्ञोंके पुण्यसे उन शक्तिशाली नरेशने स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया॥ १-२॥

ततः कदाचिद् ब्रह्माणमुपासांचक्रिरे सुराः।
तत्र राजर्षयो ह्यासन् स च राजा महाभिषः ॥ ३ ॥

तदनन्तर एक समय सब देवता ब्रह्माजीकी सेवामें उनके समीप बैठे हुए थे। वहाँ बहुत-से राजर्षि तथा पूर्वोक्त राजा महाभिष भी उपस्थित थे॥ ३॥

अथ गङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा समुपायात् पितामहम्।
तस्या वासः समुद्धूतं मारुतेन शशिप्रभम् ॥ ४ ॥

इसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा ब्रह्माजीके समीप आयी। उस समय वायुके झोंकेसे उसके शरीरका चाँदनीके समान उज्ज्वल वस्त्र सहसा ऊपरकी ओर उठ गया॥ ४॥

ततोऽभवन् सुरगणाः सहसावाङ्मुखास्तदा।
महाभिषस्तु राजर्षिरशङ्को दृष्टवान् नदीम् ॥ ५ ॥

यह देख सब देवताओंने तुरंत अपना मुँह नीचेकी ओर कर लिया; किंतु राजर्षि महाभिष निःशङ्क होकर देवनदीकी ओर देखते ही रह गये॥ ५॥

सोऽपध्यातो भगवता ब्रह्मणा तु महाभिषः।
उक्तश्च जातो मर्त्येषु पुनर्लोकानवाप्स्यसि ॥ ६ ॥
ययाऽऽहृतमनाश्चासि गङ्गया त्वं हि दुर्मते।
सा ते वै मानुषे लोके विप्रियाण्याचरिष्यति ॥ ७ ॥

तब भगवान् ब्रह्माने महाभिषको शाप देते हुए कहा—'दुर्मते! तुम मनुष्योंमें जन्म लेकर फिर पुण्यलोकोंमें आओगे। जिस गङ्गाने तुम्हारे चित्तको चुरा लिया है, वही मनुष्यलोकमें तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करेगी॥ ६-७॥

यदा ते भविता मन्युस्तदा शापाद् विमोक्ष्यसे।

'जब तुम्हें गङ्गापर क्रोध आ जायगा, तब तुम भी शापसे छूट जाओगे।'

वैशम्पायन उवाच

स चिन्तयित्वा नृपतिर्नृपानन्यांस्तपोधनान् ॥ ८ ॥
प्रतीपं रोचयामास पितरं भूरितेजसम्।
महाभिषं तु तं दृष्ट्वा नदी धैर्याच्च्युतं नृपम् ॥ ९ ॥
तमेव मनसा ध्यायन्त्युपावर्तत् सरिद्वरा।
सा तु विध्वस्तवपुषः कश्मलाभिहतान् नृप ॥ १० ॥
ददर्श पथि गच्छन्ती वसून् देवान् दिवौकसः।
तथारूपांश्च तान् दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितां वरा ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा महाभिषने अन्य बहुत-से तपस्वी राजाओंका चिन्तन करके महातेजस्वी राजा प्रतीपको ही अपना पिता बनानेके योग्य चुना—उन्हींको पसंद किया। महानदी गङ्गा राजा महाभिषको धैर्य खोते देख मन-ही-मन उन्हींका चिन्तन करती हुई लौटी। मार्गसे जाती हुई गङ्गाने वसुदेवताओंको देखा। उनका शरीर स्वर्गसे नीचे गिर रहा था। वे मोहाच्छन्न एवं मलिन दिखायी दे रहे थे। उन्हें इस रूपमें देखकर नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाने पूछा—॥ ८–११॥

किमिदं नष्टरूपाः स्थ कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम्।
तामूचुर्वसवो देवाः शप्ताः स्मो वै महानदि ॥ १२ ॥
अल्पेऽपराधे संरम्भाद् वसिष्ठेन महात्मना।
विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम् ॥ १३ ॥
संध्यां वसिष्ठमासीनं तमत्यभिसृताः पुरा।
तेन कोपाद् वयं शप्ता योनौ सम्भवतेति ह ॥ १४ ॥

'तुमलोगोंका दिव्य रूप नष्ट कैसे हो गया? देवता सकुशल तो हैं न?' तब वसुदेवताओंने गङ्गासे कहा—'महानदी! महात्मा वशिष्ठने थोड़े-से अपराधपर क्रोधमें आकर हमें शाप दे दिया है। पहलेकी बात है एक दिन जब वशिष्ठजी पेड़ोंकी आड़में संध्योपासना कर रहे थे, हम सब मोहवश उनका उल्लङ्घन करके चले गये (और उनकी धेनुका अपहरण कर लिया)। इससे कुपित होकर उन्होंने हमें शाप दिया कि 'तुमलोग मनुष्य-योनिमें जन्म लो'॥ १२—१४॥

न निवर्तयितुं शक्यं यदुक्तं ब्रह्मवादिना।
त्वमस्मान् मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान् वसून् भुवि॥१५॥

'उन ब्रह्मवादी महर्षिने जो बात कह दी है, वह टाली नहीं जा सकती; अतः हमारी प्रार्थना है कि तुम पृथ्वीपर मानव-पत्नी होकर हम वसुओंको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न करो॥१५॥

न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे।
इत्युक्ता तैश्च वसुभिस्तथेत्युक्त्वाब्रवीदिदम्॥१६॥

'शुभे! हमें मानुषी स्त्रियोंके उदरमें प्रवेश न करना पड़े, इसी-लिये हमने यह अनुरोध किया है।' वसुओंके ऐसा कहनेपर गङ्गाजी 'तथास्तु' कहकर यों बोलीं॥ १६॥

गङ्गोवाच

मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्ता भविष्यति।

गङ्गाजीने कहा—वसुओ! मर्त्यलोकमें ऐसे श्रेष्ठ पुरुष कौन हैं; जो तुमलोगोंके पिता होंगे।

वसव ऊचुः

प्रतीपस्य सुतो राजा शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
भविता मानुषे लोके स नः कर्ता भविष्यति॥१७॥

वसुगण बोले—प्रतीपके पुत्र राजा शान्तनु लोकविख्यात साधु पुरुष होंगे। मनुष्यलोकमें वे ही हमारे जनक होंगे॥१७॥

गङ्गोवाच

ममाप्येवं मतं देवा यथा मां वदतानघाः।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम्॥१८॥

गङ्गाजीने कहा—निष्पाप देवताओ! तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही मेरा भी विचार है। मैं राजा शान्तनुका प्रिय करूँगी और तुम्हारे इस अभीष्ट कार्यको भी सिद्ध करूँगी॥

वसव ऊचुः

जातान् कुमारान् स्वानप्सु प्रक्षेप्तुं वै त्वमर्हसि।
यथा न चिरकालं नो निष्कृतिः स्यात् त्रिलोकगे॥

वसुगण बोले—तीनों लोकोंमें प्रवाहित होनेवाली गङ्गे! हमलोग जब तुम्हारे गर्भसे जन्म लें, तब तुम पैदा होते ही हमें अपने जलमें फेंक देना; जिससे शीघ्र ही हमारा मर्त्यलोकसे छुटकारा हो जाय॥ १९॥

गङ्गोवाच

एवमेतत् करिष्यामि पुत्रस्तस्य विधीयताम्।
नास्य मोघः संगमः स्यात् पुत्रहेतोर्मया सह॥२०॥

गङ्गाजीने कहा—ठीक है, मैं ऐसा ही करूँगी; परंतु उस राजाका मेरे साथ पुत्रके लिये किया हुआ सम्बन्ध व्यर्थ न हो जाय, इसलिये उनके लिये एक पुत्रकी भी व्यवस्था होनी चाहिये॥

वसव ऊचुः

तुरीयार्धं प्रदास्यामो वीर्यस्यैकैकशो वयम्।
तेन वीर्येण पुत्रस्ते भविता तस्य चेप्सितः॥२१॥

वसुगण बोले—हम सब लोग अपने तेजका एक-एक अष्टमांश देंगे। उस तेजसे जो तुम्हारा एक पुत्र होगा, वह उस राजाकी इच्छाके अनुरूप होगा॥ २१॥

न सम्पत्स्यति मर्त्येषु पुनस्तस्य तु संततिः।
तस्मादपुत्रः पुत्रस्ते भविष्यति स वीर्यवान्॥२२॥

किंतु मर्त्यलोकमें उसकी कोई संतान न होगी। अतः तुम्हारा वह पुत्र संतानहीन होनेके साथ ही अत्यन्त पराक्रमी होगा॥

एवं ते समयं कृत्वा गङ्गया वसवः सह।
जग्मुः संहृष्टमनसो यथासंकल्पमञ्जसा॥२३॥

इस प्रकार गङ्गाजीके साथ शर्त करके वसुगण प्रसन्नता-पूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार चले गये॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि महाभिषोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः॥ ९६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें महाभिषोपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥९६॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

राजा प्रतीपका गङ्गाको पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करना और शान्तनुका जन्म, राज्याभिषेक तथा गङ्गासे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रतीपो राजाऽऽसीत् सर्वभूतहितः सदा।
निषसाद समा बह्वीर्गङ्गाद्वारगतो जपन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर इस पृथ्वीपर राजा प्रतीप राज्य करने लगे। वे सदा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते थे। एक समय महाराज प्रतीप गङ्गाद्वार

(हरिद्वार) में गये और बहुत वर्षोंतक जप करते हुए एक आसनपर बैठे रहे ॥ १ ॥

तस्य रूपगुणोपेता गङ्गा स्त्रीरूपधारिणी ।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माल्लोभनीयतमाकृतिः ॥ २ ॥
अधीयानस्य राजर्षेर्दिव्यरूपा मनस्विनी ।
दक्षिणं शालसंकाशमूरुं भेजे शुभानना ॥ ३ ॥

उस समय मनस्विनी गङ्गा सुन्दर रूप और उत्तम गुणोंसे युक्त युवती स्त्रीका रूप धारण करके जलसे निकलीं और स्वाध्यायमें लगे हुए राजर्षि प्रतीपके शाल-जैसे विशाल दाहिने ऊरु (जाँघ) पर जा बैठीं । उस समय उनकी आकृति बड़ी लुभावनी थी; रूप देवाङ्गनाओंके समान था और मुख अत्यन्त मनोहर था ॥ २-३ ॥

प्रतीपस्तु महीपालस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
करोमि किं ते कल्याणि प्रियं यत् तेऽभिकाङ्क्षितम् ॥

अपनी जाँघपर बैठी हुई उस यशस्विनी नारीसे राजा प्रतीपने पूछा—'कल्याणि ! मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? तुम्हारी क्या इच्छा है ?' ॥ ४ ॥

स्त्र्युवाच

त्वामहं कामये राजन् भजमानां भजस्व माम् ।
त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः ॥ ५ ॥

स्त्री बोली—राजन् ! मैं आपको ही चाहती हूँ । आपके प्रति मेरा अनुराग है, अतः आप मुझे स्वीकार करें; क्योंकि कामके अधीन होकर अपने पास आयी हुई स्त्रियों-का परित्याग साधु पुरुषोंने निन्दित माना है ॥ ५ ॥

प्रतीप उवाच

नाहं परस्त्रियं कामाद् गच्छेयं वरवर्णिनि ।
न चासवर्णां कल्याणि धर्म्यमेतद्धि मे व्रतम् ॥ ६ ॥

प्रतीपने कहा—सुन्दरी ! मैं कामवश परायी स्त्रीके साथ समागम नहीं कर सकता । जो अपने वर्णकी न हो, उससे भी मैं सम्बन्ध नहीं रख सकता । कल्याणि ! यह मेरा धर्मानुकूल व्रत है ॥ ६ ॥

स्त्र्युवाच

नाश्रेयस्यस्मि नागम्या न वक्तव्या च कर्हिचित् ।
भजन्तीं भज मां राजन् दिव्यां कन्यां वरस्त्रियम् ॥ ७ ॥

स्त्री बोली—राजन् ! मैं अशुभ या अमङ्गल करनेवाली नहीं हूँ, समागमके अयोग्य भी नहीं हूँ और ऐसी भी नहीं हूँ कि कभी कोई मुझपर कलङ्क लगावे । मैं आपके प्रति अनुरक्त होकर आयी हुई दिव्य कन्या एवं सुन्दरी स्त्री हूँ ; अतः आप मुझे स्वीकार करें ॥ ७ ॥

प्रतीप उवाच

त्वया निवृत्तमेतत् तु यन्मां चोदयसि प्रियम् ।
अन्यथा प्रतिपन्नं मां नाशयेद् धर्मविप्लवः ॥ ८ ॥

प्रतीपने कहा—सुन्दरी ! तुम जिस प्रिय मनोरथकी पूर्तिके लिये मुझे प्रेरित कर रही हो, उसका निराकरण भी तुम्हारे द्वारा ही हो गया । यदि मैं धर्मके विपरीत तुम्हारा यह प्रस्ताव स्वीकार कर लूँ तो धर्मका यह विनाश मेरा भी नाश कर डालेगा ॥

प्राप्य दक्षिणमूरुं मे त्वमाश्लिष्टा वराङ्गने ।
अपत्यानां स्नुषाणां च भीरु विद्ध्येतदासनम् ॥ ९ ॥

वराङ्गने ! तुम मेरी दाहिनी जाँघपर आकर बैठी हो । भीरु ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि यह पुत्र, पुत्री तथा पुत्रवधूका आसन है ॥ ९ ॥

सव्योरुः कामिनीभोग्यस्त्वया स च विवर्जितः ।
तस्मादहं नाचरिष्ये त्वयि कामं वराङ्गने ॥ १० ॥

पुरुषकी बायीं जाँघ ही कामिनीके उपभोगके योग्य है; किंतु तुमने उसका त्याग कर दिया है । अतः वराङ्गने ! मैं तुम्हारे प्रति कामयुक्त आचरण नहीं करूँगा ॥ १० ॥

स्नुषा मे भव सुश्रोणि पुत्रार्थे त्वां वृणोम्यहम् ।
स्नुषापक्षं हि वामोरु त्वमागम्य समाश्रिता ॥ ११ ॥

सुश्रोणि ! तुम मेरी पुत्रवधू हो जाओ । मैं अपने पुत्रके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ; क्योंकि वामोरु ! तुमने यहाँ आकर मेरी उसी जाँघका आश्रय लिया है, जो पुत्रवधूके पक्षकी है ॥

स्त्र्युवाच

एवमप्यस्तु धर्मज्ञ संयुज्येयं सुतेन ते ।
त्वद्भक्त्या तु भजिष्यामि प्रख्यातं भारतं कुलम् ॥ १२ ॥

स्त्री बोली—धर्मज्ञ नरेश ! आप जैसा कहते हैं, वैसा भी हो सकता है । मैं आपके पुत्रके साथ संयुक्त होऊँगी । आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, उसके कारण मैं विख्यात भरतवंशका सेवन करूँगी ॥ १२ ॥

पृथिव्यां पार्थिवा ये च तेषां यूयं परायणम् ।
गुणा न हि मया शक्या वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ १३ ॥

पृथ्वीपर जितने राजा हैं, उन सबके आपलोग उत्तम आश्रय हैं । सौ वर्षोंमें भी आपलोगोंके गुणोंका वर्णन मैं नहीं कर सकती ॥ १३ ॥

कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम् ।
समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद् विभो ॥ १४ ॥
तत् सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ।
एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम् ॥ १५ ॥
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः ।

आपके कुलमें जो विख्यात राजा हो गये हैं, उनकी साधुता सर्वोपरि है। धर्मज्ञ! मैं एक शर्तके साथ आपके पुत्रसे विवाह करूँगी। प्रभो! मैं जो कुछ भी आचरण करूँ, वह सब आपके पुत्रको स्वीकार होना चाहिये। वे उसके विषयमें कभी कुछ विचार न करें। इस शर्तपर रहती हुई मैं आपके पुत्रके प्रति अपना प्रेम बढ़ाऊँगी। मुझसे जो पुण्यात्मा एवं प्रिय पुत्र उत्पन्न होंगे, उनके द्वारा आपके पुत्रको स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥ १४-१५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्ता तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा प्रतीपने 'तथास्तु' कहकर उसकी शर्त स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् वह वहीं अन्तर्धान हो गयी ॥ १६ ॥

पुत्रजन्म प्रतीक्षन् वै स राजा तदधारयत्।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ॥ १७ ॥
तपस्तेपे सुतस्यार्थे सभार्यः कुरुनन्दन।

इसके बाद पुत्रके जन्मकी प्रतीक्षा करते हुए राजा प्रतीपने उसकी बात याद रक्खी। कुरुनन्दन! इन्हीं दिनों क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ प्रतीप अपनी पत्नीको साथ लेकर पुत्रके लिये तपस्या करने लगे ॥ १७½ ॥

(प्रतीपस्य तु भार्यायां गर्भः श्रीमानवर्धत।
श्रिया परमया युक्तः शरच्छुक्ले यथा शशी ॥
ततस्तु दशमे मासि प्राजायत रविप्रभम्।
कुमारं देवगर्भाभं प्रतीपमहिषी तदा ॥)
तयोः समभवत् पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ॥ १८ ॥

प्रतीपकी पत्नीकी कुक्षिमें एक तेजस्वी गर्भका आविर्भाव हुआ, जो शरद् ऋतुके शुक्ल पक्षमें परम कान्तिमान् चन्द्रमाकी भाँति प्रतिदिन बढ़ने लगा। तदनन्तर दसवाँ मास प्राप्त होनेपर प्रतीपकी महारानीने एक देवोपम पुत्रको जन्म दिया, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था। उन बूढ़े राजदम्पतिके यहाँ पूर्वोक्त राजा महाभिष ही पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

शान्तस्य जज्ञे संतानस्तस्मादासीत् स शान्तनुः।

शान्त पिताकी संतान होनेसे वे शान्तनु कहलाये।

(तस्य जातस्य कृत्यानि प्रतीपोऽकारयत् प्रभुः।
जातकर्मादि विप्रेण वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ॥

शक्तिशाली राजा प्रतीपने उस बालकके आवश्यक कृत्य (संस्कार) करवाये। ब्राह्मण पुरोहितने वेदोक्त क्रियाओंद्वारा उसके जात-कर्म आदि सम्पन्न किये ॥

नामकर्म च विप्रास्तु चक्रुः परमसत्कृतम्।
शान्तनोरवनीपाल वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ॥

जनमेजय! तदनन्तर बहुत-से ब्राह्मणोंने मिलकर वेदोक्त विधियोंके अनुसार शान्तनुका नामकरण-संस्कार भी किया ॥

ततः संवर्धितो राजा शान्तनुर्लोकपालकः।
स तु लेभे परां निष्ठां प्राप्य धर्मविदां वरः ॥
धनुर्वेदे च वेदे च गतिं स परमां गतः।
यौवनं चापि सम्प्राप्तः कुमारो वदतां वरः ॥)

तत्पश्चात् बड़े होनेपर राजकुमार शान्तनु लोकरक्षाका कार्य करने लगे। वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने धनुर्वेदमें उत्तम योग्यता प्राप्त करके वेदाध्ययनमें भी ऊँची स्थिति प्राप्त की। वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ वे राजकुमार धीरे-धीरे युवावस्थामें पहुँच गये ॥

संस्मरंश्चाक्षयाँल्लोकान् विजातान् स्वेन कर्मणा ॥ १९ ॥
पुण्यकर्मकृदेवासीच्छान्तनुः कुरुसत्तमः।
प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ॥ २० ॥

अपने सत्कर्मोंद्वारा उपार्जित अक्षय पुण्यलोकोंका स्मरण करके कुरुश्रेष्ठ शान्तनु सदा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानमें ही लगे रहते थे। युवावस्थामें पहुँचे हुए राजकुमार शान्तनुको राजा प्रतीपने आदेश दिया—॥ १९-२० ॥

पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव।
त्वामाव्रजेद् यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ॥ २१ ॥
कामयानाभिरूपाढ्या दिव्या स्त्री पुत्रकाम्यया।
सा त्वया नानुयोक्तव्या कासि कस्यासि चाङ्गने ॥ २२ ॥

'शान्तनो! पूर्वकालमें मेरे समीप एक दिव्य नारी आयी थी। उसका आगमन तुम्हारे कल्याणके लिये ही हुआ था। बेटा! यदि वह सुन्दरी कभी एकान्तमें तुम्हारे पास आवे, तुम्हारे प्रति कामभावसे युक्त हो और तुमसे पुत्र पानेकी इच्छा रखती हो, तो तुम उत्तम रूपसे सुशोभित उस दिव्य नारीसे 'अङ्गने! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो?' इत्यादि प्रश्न न करना ॥ २१-२२ ॥

यच्च कुर्यान्न तत् कर्म सा प्रष्टव्या त्वयानघ।
मन्नियोगाद् भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम् ॥ २३ ॥

'अनघ! वह जो कार्य करे, उसके विषयमें भी तुम्हें कुछ पूछ-ताछ नहीं करनी चाहिये। यदि वह तुम्हें चाहे, तो मेरी आज्ञासे उसे अपनी पत्नी बना लेना।' ये बातें राजा प्रतीपने अपने पुत्रसे कहीं ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शान्तनुं तदा।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अपने पुत्र शान्तनुको ऐसा आदेश देकर राजा प्रतीपने उसी समय उन्हें अपने राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और स्वयं वनमें प्रवेश किया ॥ २४ ॥

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजसमद्युतिः ।
बभूव मृगयाशीलः शान्तनुर्वनगोचरः ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् राजा शान्तनु देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे हिंसक पशुओंको मारनेके उद्देश्यसे वनमें घूमते रहते थे ॥ २५ ॥

स मृगान् महिषांश्चैव विनिघ्नन् राजसत्तमः ।
गङ्गामनुचचारैकः सिद्धचारणसेविताम् ॥ २६ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ शान्तनु हिंसक पशुओं और जंगली भैंसोंको मारते हुए सिद्ध एवं चारणोंसे सेवित गङ्गाजीके तटपर अकेले ही विचरण करते थे ॥ २६ ॥

स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥ २७ ॥

महाराज जनमेजय ! एक दिन उन्होंने एक परम सुन्दरी नारी देखी, जो अपने तेजस्वी शरीरसे ऐसी प्रकाशित हो रही थी, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही दूसरा शरीर धारण करके आ गयी हो ॥ २७ ॥

सर्वानवद्यां सुदतीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
सूक्ष्माम्बरधरामेकां पद्मोदरसमप्रभाम् ॥ २८ ॥

उसके सारे अङ्ग परम सुन्दर और निर्दोष थे । दाँत तो और भी सुन्दर थे। वह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थी। उसके शरीरपर महीन साड़ी शोभा पा रही थी और कमलके भीतरी भागके समान उसकी कान्ति थी, वह अकेली थी ॥ २८ ॥

तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूद् विस्मितो रूपसम्पदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ॥ २९ ॥

उसे देखते ही राजा शान्तनुके शरीरमें रोमाञ्च हो आया; वे उसकी रूप-सम्पत्तिसे आश्चर्यचकित हो उठे और दोनों नेत्रोंद्वारा उसकी सौन्दर्य-सुधाका पान करते हुए-से तृप्त नहीं होते थे ॥ २९ ॥

सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ॥ ३० ॥

वह भी वहाँ विचरते हुए महातेजस्वी राजा शान्तनुको देखते ही मुग्ध हो गयी। स्नेहवश उसके हृदयमें सौहार्दका उदय हो आया। वह विलासिनी राजाको देखते-देखते तृप्त नहीं होती थी ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ।
देवी वा दानवी वा त्वं गन्धर्वी चाथ वाप्सराः ॥ ३१ ॥
यक्षी वा पन्नगी चापि मानुषी वा सुमध्यमे ।
याचे त्वां सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने ॥ ३२ ॥

तब राजा शान्तनु उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें बोले--'सुमध्यमे ! तुम देवी, दानवी, गन्धर्वी, अप्सरा, यक्षी, नागकन्या अथवा मानवी, कुछ भी क्यों न होओ; देवकन्याके समान सुशोभित होनेवाली सुन्दरी ! मैं तुमसे याचना करता हूँ कि मेरी पत्नी हो जाओ' ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शान्तनूपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शान्तनूपाख्यानविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

(इस अध्यायमें ३२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक और कुल ३८ श्लोक हैं)

अष्टनवतितमोऽध्यायः

शान्तनु और गङ्गाका कुछ शर्तोंके साथ सम्बन्ध, वसुओंका जन्म और शापसे उद्धार तथा भीष्मकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
(यशस्विनी च साऽऽगच्छच्छान्तनोर्भूतये तदा ।
सा च दृष्ट्वा नृपश्रेष्ठं चरन्तं तीरमाश्रितम् ॥)
वसूनां समयं स्मृत्वाथाभ्यगच्छदनिन्दिता ॥ १ ॥
(प्रजार्थिनी राजपुत्रं शान्तनुं पृथिवीपतिम् ।
प्रतीपवचनं चापि संस्मृत्यैव स्वयं नृप ॥
कालोऽयमिति मत्वा सा वसूनां शापचोदिता ।)
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा ।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! राजा शान्तनुका मधुर मुसकानयुक्त मनोहर वचन सुनकर यशस्विनी गङ्गा उनकी ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये उनके पास आयीं। तटपर विचरते हुए उन नृपश्रेष्ठको देखकर सती साध्वी गङ्गाको वसुओंको दिये हुए वचनका स्मरण हो आया। साथ ही राजा प्रतीपकी बात भी याद आ गयी। तब यही उपयुक्त समय है, ऐसा मानकर वसुओंको मिले हुए शापसे प्रेरित हो वे स्वयं संतानोत्पादनकी इच्छासे पृथ्वीपति महाराज शान्तनुके समीप चली आयीं और अपनी मधुर वाणीसे महाराजके मनको आनन्द प्रदान करती हुई बोलीं--'भूपाल ! मैं आपकी महारानी बनूँगी एवं आपके अधीन रहूँगी ॥ १-२ ॥

यत् तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
न तद् वारयितव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम् ॥ ३ ॥

'(परंतु एक शर्त है—) राजन्! मैं भला या बुरा जो कुछ भी करूँ, उसके लिये आपको मुझे नहीं रोकना चाहिये और मुझसे कभी अप्रिय वचन भी नहीं कहना चाहिये ॥ ३ ॥

एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम् ॥ ४ ॥

'पृथ्वीपते! ऐसा बर्ताव करनेपर ही मैं आपके समीप रहूँगी। यदि आपने कभी मुझे किसी कार्यसे रोका या अप्रिय वचन कहा तो मैं निश्चय ही आपका साथ छोड़ दूँगी' ॥ ४ ॥

तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय बहुत अच्छा कहकर राजाने जब उसकी शर्त मान ली, तब उन नृपश्रेष्ठको पतिरूपमें प्राप्त करके उस देवीको अनुपम आनन्द मिला ॥ ५ ॥

(रथमारोप्य तां देवीं जगाम स तया सह।
सा च शान्तनुमभ्यागात् साक्षाल्लक्ष्मीरिवापरा॥)

तब राजा शान्तनु देवी गङ्गाको रथपर बिठाकर उनके साथ अपनी राजधानीको चले गये। साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित होनेवाली गङ्गादेवी शान्तनुके साथ गयीं॥

आसाद्य शान्तनुस्तां च बुभुजे कामतो वशी।
न प्रष्टव्येति मन्वानो न स तां किंचिदूचिवान् ॥ ६ ॥

इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले राजा शान्तनु उस देवीको पाकर उसका इच्छानुसार उपभोग करने लगे। पिताका यह आदेश था कि उससे कुछ पूछना मत; अतः उनकी आज्ञा मानकर राजाने उससे कोई बात नहीं पूछी ॥ ६ ॥

स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च।
उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः ॥ ७ ॥

उसके उत्तम शील-स्वभाव, सदाचार, रूप, उदारता, सद्गुण तथा एकान्त सेवासे महाराज शान्तनु बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ७ ॥

दिव्यरूपा हि सा देवी गङ्गा त्रिपथगामिनी।
मानुषं विग्रहं कृत्वा श्रीमन्तं वरवर्णिनी ॥ ८ ॥
भाग्योपनतकामस्य भार्या चोपनताभवत्।
शान्तनोर्नृपसिंहस्य देवराजसमद्युतेः ॥ ९ ॥

त्रिपथगामिनी दिव्यरूपिणी देवी गङ्गा ही अत्यन्त सुन्दर मनुष्य-देह धारण करके देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी नृपशिरोमणि महाराज शान्तनुको, जिन्हें भाग्यसे इच्छानुसार सुख अपने-आप मिल रहा था, सुन्दरी पत्नीके रूपमें प्राप्त हुई थीं ॥ ८-९ ॥

सम्भोगस्नेहचातुर्यैर्हावभावसमन्वितैः।
राजानं रमयामास यथा रेमे तथैव सः ॥ १० ॥

गङ्गादेवी हाव-भावसे युक्त सम्भोग-चातुरी और प्रणय-चातुरीसे राजाको जैसे-जैसे रमातीं, उसी-उसी प्रकार वे उनके साथ रमण करते थे ॥ १० ॥

स राजा रतिसक्तत्वादुत्तमस्त्रीगुणैर्हृतः।
संवत्सरानृतून् मासान् बुबुधे न बहून् गतान् ॥ ११ ॥

उस दिव्य नारीके उत्तम गुणोंने उनके चित्तको चुरा लिया था; अतः वे राजा उसके साथ रति-भोगमें आसक्त हो गये। कितने ही वर्ष, ऋतु और मास व्यतीत हो गये, किंतु उसमें आसक्त होनेके कारण राजाको कुछ पता न चला॥११॥

रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः।
अष्टावजनयत् पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान् ॥ १२ ॥

उसके साथ इच्छानुसार रमण करते हुए महाराज शान्तनुने उसके गर्भसे देवताओंके समान तेजस्वी आठ पुत्र उत्पन्न किये॥ १२ ॥

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत।
प्रीणाम्यहं त्वामित्युक्त्वा गङ्गा स्रोतस्यमज्जयत्॥ १३ ॥

भारत! जो-जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वह गङ्गाजीके जलमें फेंक देती और कहती—'(वत्स! इस प्रकार शापसे मुक्त करके) मैं तुम्हें प्रसन्न कर रही हूँ।' ऐसा कहकर गङ्गा प्रत्येक बालकको धारामें डुबो देती थी ॥ १३ ॥

तस्य तन्न प्रियं राज्ञः शान्तनोरभवत् तदा।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद् भीतो महीपतिः ॥ १४ ॥

पत्नीका यह व्यवहार राजा शान्तनुको अच्छा नहीं लगता था, तो भी वे उस समय उससे कुछ नहीं कहते थे। राजाको यह डर बना हुआ था कि कहीं यह मुझे छोड़कर चली न जाय ॥ १४ ॥

अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसतीमिव।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन् पुत्रमात्मनः ॥ १५ ॥

तदनन्तर जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, तब हँसती हुई-सी अपनी स्त्रीसे राजाने अपने पुत्रका प्राण बचानेकी इच्छासे दुःखातुर होकर कहा— ॥ १५ ॥

मा वधीः कस्य कासीति किं हिनत्सि सुतानिति।
पुत्रघ्नि सुमहत् पापं सम्प्राप्तं ते सुगर्हितम् ॥ १६ ॥

'अरी! इस बालकका वध न कर, तू किसकी कन्या है? कौन है? क्यों अपने ही बेटोंको मारे डालती है। पुत्रघातिनि! तुझे पुत्रहत्याका यह अत्यन्त निन्दित और भारी पाप लगा है' ॥ १६ ॥

स्त्र्युवाच

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः ॥ १७ ॥

स्त्री बोली—पुत्रकी इच्छा रखनेवाले नरेश ! तुम पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे इस पुत्रको नहीं मारूँगी; परंतु यहाँ मेरे रहनेका समय अब समाप्त हो गया; जैसी कि पहले ही शर्त हो चुकी है ॥ १७ ॥

अहं गङ्गा जह्नुसुता महर्षिगणसेविता।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुषिताहं त्वया सह ॥ १८ ॥

मैं जह्नुकी पुत्री और महर्षियोंद्वारा सेवित गङ्गा हूँ। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये तुम्हारे साथ रह रही थी॥

इमेऽष्टौ वसवो देवा महाभागा महौजसः।
वसिष्ठशापदोषेण मानुषत्वमुपागताः ॥ १९ ॥

ये तुम्हारे आठ पुत्र महातेजस्वी महाभाग वसु देवता हैं। वसिष्ठजीके शाप-दोषसे ये मनुष्य-योनिमें आये थे ॥ १९ ॥

तेषां जनयिता नान्यस्त्वदृते भुवि विद्यते।
मद्विधा मानुषी धात्री लोके नास्तीह काचन ॥ २० ॥

तुम्हारे सिवा दूसरा कोई राजा इस पृथ्वीपर ऐसा नहीं था, जो उन वसुओंका जनक हो सके। इसी प्रकार इस जगत्‌में मेरी-जैसी दूसरी कोई मानवी नहीं है, जो उन्हें गर्भमें धारण कर सके ॥ २० ॥

तस्मात् तज्जननीहेतोर्मानुषत्वमुपागता।
जनयित्वा वसूनष्टौ जिता लोकास्त्वयाक्षयाः ॥ २१ ॥

अतः इन वसुओंकी जननी होनेके लिये मैं मानव शरीर धारण करके आयी थी। राजन् ! तुमने आठ वसुओंको जन्म देकर अक्षय लोक जीत लिये हैं ॥ २१ ॥

देवानां समयस्त्वेष वसूनां संश्रुतो मया।
जातं जातं मोक्षयिष्ये जन्मतो मानुषादिति ॥ २२ ॥

वसु देवताओंकी यह शर्त थी और मैंने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो-जो वसु जन्म लेगा, उसे मैं जन्मते ही मनुष्य-योनिसे छुटकारा दिला दूँगी ॥ २२ ॥

तत् ते शापाद् विनिर्मुक्ता आपवस्य महात्मनः।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि पुत्रं पाहि महाव्रतम् ॥ २३ ॥

इसलिये अब वे वसु महात्मा आपव (वसिष्ठ) के शापसे मुक्त हो चुके हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी। तुम इस महान् व्रतधारी पुत्रका पालन करो ॥ २३ ॥

(अयं तव सुतस्तेषां वीर्येण कुलनन्दनः।
सम्भूतोऽति जनानन्यान् भविष्यति न संशयः ॥)

यह तुम्हारा पुत्र सब वसुओंके पराक्रमसे सम्पन्न होकर अपने कुलका आनन्द बढ़ानेके लिये प्रकट हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि यह बालक बल और पराक्रममें दूसरे सब लोगोंसे बढ़कर होगा ॥

एष पर्यायवासो मे वसूनां संनिधौ कृतः।
मत्प्रसूतिं विजानीहि गङ्गादत्तमिमं सुतम् ॥ २४ ॥

यह बालक वसुओंमेंसे प्रत्येकके एक-एक अंशका आश्रय है—सम्पूर्ण वसुओंके अंशसे इसकी उत्पत्ति हुई है। मैंने तुम्हारे लिये वसुओंके समीप प्रार्थना की थी कि 'राजाका एक पुत्र जीवित रहे'। इसे मेरा बालक समझना और इसका नाम 'गङ्गादत्त' रखना ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मोत्पत्तावष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्मोत्पत्तिविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(इस अध्यायमें २४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक और कुल २८½ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

महर्षि वसिष्ठद्वारा वसुओंको शाप प्राप्त होनेकी कथा

शान्तनुरुवाच

आपवो नाम को न्वेष वसूनां किं च दुष्कृतम्।
यस्याभिशापात् ते सर्वे मानुषीं योनिमागताः ॥ १ ॥

शान्तनुने पूछा—देवि ! ये आपव नामके महात्मा कौन हैं ? और वसुओंका क्या अपराध था, जिससे आपवके शापसे उन सबको मनुष्य-योनिमें आना पड़ा ॥ १ ॥

अनेन च कुमारेण त्वया दत्तेन किं कृतम्।
यस्य चैव कृतेनायं मानुषेषु निवत्स्यति ॥ २ ॥

और तुम्हारे दिये हुए इस पुत्रने कौन-सा कर्म किया है, जिसके कारण यह मनुष्यलोकमें निवास करेगा ॥ २ ॥

ईशा वै सर्वलोकस्य वसवस्ते च वै कथम्।
मानुषेषूदपद्यन्त तन्ममाचक्ष्व जाह्नवि ॥ ३ ॥

जाह्नवि ! वसु तो समस्त लोकोंके अधीश्वर हैं, वे कैसे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए ? यह सब बात मुझे बताओ ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तदा गङ्गा राजानमिदमब्रवीत्।
भर्तारं जाह्नवी देवी शान्तनुं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! अपने पति राजा शान्तनुके इस प्रकार पूछनेपर जह्नु-पुत्री गङ्गादेवीने उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

गङ्गोवाच

यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भरतसत्तम।
वसिष्ठनामा स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ॥ ५ ॥

गङ्गा बोलीं—भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें वरुणने जिन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त किया था, वे वसिष्ठ नामक मुनि ही 'आपव' नामसे विख्यात हैं ॥ ५ ॥

तस्याश्रमपदं पुण्यं मृगपक्षिसमन्वितम्।
मेरोः पार्श्वे नगेन्द्रस्य सर्वर्तुकुसुमावृतम् ॥ ६ ॥

गिरिराज मेरुके पार्श्वभागमें उनका पवित्र आश्रम है; जो मृग और पक्षियोंसे भरा रहता है। सभी ऋतुओंमें विकसित होनेवाले फूल उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ६ ॥

स वारुणिस्तपस्तेपे तस्मिन् भरतसत्तम।
वने पुण्यकृतां श्रेष्ठः स्वादुमूलफलोदके ॥ ७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! उस वनमें स्वादिष्ट फल, मूल और जलकी सुविधा थी, पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठ उसीमें तपस्या करते थे ॥ ७ ॥

दक्षस्य दुहिता या तु सुरभीत्यभिशब्दिता।
गां प्रजाता तु सा देवी कश्यपाद् भरतर्षभ ॥ ८ ॥

महाराज ! दक्ष प्रजापतिकी पुत्रीने, जो देवी सुरभि नामसे विख्यात है, कश्यपजीके सहवाससे एक गौको जन्म दिया ॥

अनुग्रहार्थं जगतः सर्वकामदुहां वरा।
तां लेभे गां तु धर्मात्मा होमधेनुं स वारुणिः ॥ ९ ॥

वह गौ सम्पूर्ण जगत्पर अनुग्रह करनेके लिये प्रकट हुई थी तथा समस्त कामनाओंको देनेवालोंमें श्रेष्ठ थी। वरुणपुत्र धर्मात्मा वसिष्ठने उस गौको अपनी होमधेनुके रूपमें प्राप्त किया ॥

सा तस्मिंस्तापसारण्ये वसन्ती मुनिसेविते।
चचार पुण्ये रम्ये च गौरपेतभया तदा ॥ १० ॥

वह गौ मुनियोंद्वारा सेवित उस पवित्र एवं रमणीय तापस-वनमें रहती हुई सब ओर निर्भय होकर चरती थी ॥ १० ॥

अथ तद् वनमाजग्मुः कदाचिद् भरतर्षभ।
पृथ्वाद्या वसवः सर्वे देवा देवर्षिसेवितम् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिन उस देवर्षिसेवित वनमें पृथु आदि वसु तथा सम्पूर्ण देवता पधारे ॥ ११ ॥

ते सदारा वनं तच्च व्यचरन्त समन्ततः।
रेमिरे रमणीयेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥ १२ ॥

वे अपनी स्त्रियोंके साथ उस वनमें चारों ओर विचरने तथा रमणीय पर्वतों और वनोंमें रमण करने लगे ॥ १२ ॥

तत्रैकस्याथ भार्या तु वसोर्वासवविक्रम।
संचरन्ती वने तस्मिन् गां ददर्श सुमध्यमा ॥ १३ ॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महीपाल ! उन वसुओंमेंसे एककी सुन्दरी पत्नीने उस वनमें घूमते समय उस गौको देखा ॥ १३ ॥

नन्दिनीं नाम राजेन्द्र सर्वकामधुगुत्तमाम्।
सा विस्मयसमाविष्टा शीलद्रविणसम्पदा ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवालोंमें उत्तम नन्दिनी नामवाली उस गायको देखकर उसकी शीलसम्पत्तिसे वह वसु-पत्नी आश्चर्यचकित हो उठी ॥ १४ ॥

द्यवे वै दर्शयामास तां गां गोवृषभेक्षण।
आपीनां च सुदोग्ध्रीं च सुवालधिखुरां शुभाम् ॥ १५ ॥
उपपन्नां गुणैः सर्वैः शीलेनानुत्तमेन च।
एवंगुणसमायुक्तां वसवे वसुनन्दिनी ॥ १६ ॥
दर्शयामास राजेन्द्र पुरा पौरवनन्दन।
द्यौस्तदा तां तु दृष्ट्वैव गां गजेन्द्रेन्द्रविक्रम ॥ १७ ॥
उवाच राजंस्तां देवीं तस्या रूपगुणान् वदन्।
एषा गौरुत्तमा देवी वारुणेरसितेक्षणा ॥ १८ ॥
ऋषेस्तस्य वरारोहे यस्येदं वनमुत्तमम्।
अस्याः क्षीरं पिबेन्मर्त्यः स्वादु यो वै सुमध्यमे ॥ १९ ॥
दशवर्षसहस्राणि स जीवेत् स्थिरयौवनः।
एतच्छ्रुत्वा तु सा देवी नृपोत्तम सुमध्यमा ॥ २० ॥
तमुवाचानवद्याङ्गी भर्तारं दीप्ततेजसम्।
अस्ति मे मानुषे लोके नरदेवात्मजा सखी ॥ २१ ॥

वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले महाराज ! उस देवीने द्यो नामक वसुको वह शुभ गाय दिखायी, जो भलीभाँति हृष्ट-पुष्ट थी। दूधसे भरे हुए उसके थन बड़े सुन्दर थे, पूँछ और खुर भी बहुत अच्छे थे। वह सुन्दर गाय सभी सद्गुणोंसे सम्पन्न और सर्वोत्तम शील-स्वभावसे युक्त थी। पूरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले सम्राट् ! इस प्रकार पूर्वकालमें वसुका आनन्द बढ़ानेवाली देवीने अपने पति वसुको ऐसे सद्गुणोंवाली गौका दर्शन कराया। गजराजके समान पराक्रमी महाराज ! द्यौने उस गायको देखते ही उसके रूप और गुणोंका वर्णन करते हुए अपनी पत्नीसे कहा—'यह कजरारे नेत्रोंवाली उत्तम गौ दिव्य है। वरारोहे ! यह उन वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठकी गाय है, जिनका यह उत्तम तपोवन है। सुमध्यमे ! जो मनुष्य इसका स्वादिष्ट दूध पी लेगा, वह दस हजार वर्षोंतक जीवित रहेगा और उतने समयतक उसकी युवावस्था स्थिर रहेगी।' नृपश्रेष्ठ ! सुन्दर कटि-प्रदेश और निर्दोष अङ्गोंवाली वह देवी यह बात सुनकर अपने तेजस्वी पतिसे बोली—'प्राणनाथ ! मनुष्यलोकमें एक राजकुमारी मेरी सखी है ॥ १५—२१ ॥

नाम्ना जितवती नाम रूपयौवनशालिनी।
उशीनरस्य राजर्षेः सत्यसंधस्य धीमतः ॥ २२ ॥
दुहिता प्रथिता लोके मानुषे रूपसम्पदा।
तस्या हेतोर्महाभाग सवत्सां गां ममेप्सिताम् ॥ २३ ॥

'उसका नाम है जितवती। वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सुशोभित है। सत्यप्रतिज्ञ बुद्धिमान् राजर्षि उशीनरकी पुत्री है। रूपसम्पत्तिकी दृष्टिसे मनुष्यलोकमें उसकी बड़ी ख्याति है। महाभाग! उसीके लिये वछड़ेसहित यह गाय लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा है॥ २२-२३॥

आनयस्वामरश्रेष्ठ त्वरितं पुण्यवर्धन।
यावदस्याः पयः पीत्वा सा सखी मम मानद॥२४॥
मानुषेषु भवत्वेका जरारोगविवर्जिता।
एतन्मम महाभाग कर्तुमर्हस्यनिन्दित॥२५॥

'सुरश्रेष्ठ! आप पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं। इस गायको शीघ्र ले आइये। मानद! जिससे इसका दूध पीकर मेरी वह सखी मनुष्यलोकमें अकेली ही जरावस्था एवं रोग-व्याधिसे बची रहे। महाभाग! आप निन्दारहित हैं; मेरे इस मनोरथको पूर्ण कीजिये॥ २४-२५॥

प्रियं प्रियतरं ह्यस्मान्नास्ति मेऽन्यत् कथंचन।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्या देव्याः प्रियचिकीर्षया॥२६॥
पृथ्वाद्यैर्भ्रातृभिः सार्धं द्यौस्तदा तां जहार गाम्।
तया कमलपत्राक्ष्या नियुक्तो द्यौस्तदा नृप॥२७॥
ऋषेस्तस्य तपस्तीव्रं न शशाक निरीक्षितुम्।
हृता गौः सा तदा तेन प्रपातस्तु न तर्कितः॥२८॥

'मेरे लिये किसी तरह भी इससे बढ़कर प्रिय अथवा प्रियतर वस्तु दूसरी नहीं है।'

उस देवीका यह वचन सुनकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे द्यो नामक वसुने पृथु आदि अपने भाइयोंकी सहायतासे उस गौका अपहरण कर लिया। राजन्! कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली पत्नीसे प्रेरित होकर द्योने गौका अपहरण तो कर लिया; परंतु उस समय उन महर्षि वसिष्ठकी तीव्र तपस्याके प्रभावकी ओर वे दृष्टिपात नहीं कर सके और न यही सोच सके कि ऋषिके कोपसे मेरा स्वर्गसे पतन हो जायगा॥

अथाश्रमपदं प्राप्तः फलान्यादाय वारुणिः।
न चापश्यत् स गां तत्र सवत्सां काननोत्तमे॥२९॥

कुछ समयके बाद वरुणनन्दन वसिष्ठजी फल-मूल लेकर आश्रमपर आये; परंतु उस सुन्दर काननमें उन्हें बछड़ेसहित अपनी गाय नहीं दिखायी दी॥ २९॥

ततः स मृगयामास वने तस्मिंस्तपोधनः।
नाध्यगच्छच्च मृगयंस्तां गां मुनिरुदारधीः॥३०॥

तब तपोधन वसिष्ठजी उस वनमें गायकी खोज करने लगे; परंतु खोजनेपर भी वे उदारबुद्धि महर्षि उस गायको न पा सके॥ ३०॥

ज्ञात्वा तथापनीतां तां वसुभिर्दिव्यदर्शनः।
ययौ क्रोधवशं सद्यः शशाप च वसूंस्तदा॥३१॥

तब उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा और यह जान गये कि वसुओंने उसका अपहरण किया है। फिर तो वे क्रोधके वशीभूत हो गये और तत्काल वसुओंको शाप दे दिया—॥ ३१॥

यस्मान्मे वसवो जह्रुर्गां वै दोग्ध्रीं सुवालधिम्।
तस्मात् सर्वे जनिष्यन्ति मानुषेषु न संशयः॥३२॥

'वसुओंने सुन्दर पूँछवाली मेरी कामधेनु गायका अपहरण किया है, इसलिये वे सब-के-सब मनुष्य-योनिमें जन्म लेंगे, इसमें संशय नहीं है'॥ ३२॥

एवं शशाप भगवान् वसूंस्तान् भरतर्षभ।
वशं क्रोधस्य सम्प्राप्त आपवो मुनिसत्तमः॥३३॥

भरतर्षभ! इस प्रकार मुनिवर भगवान् वसिष्ठने क्रोधके आवेशमें आकर उन वसुओंको शाप दिया॥ ३३॥

शप्त्वा च तान् महाभागस्तपस्येव मनो दधे।
एवं स शप्तवान् राजन् वसूनष्टौ तपोधनः॥३४॥
महाप्रभावो ब्रह्मर्षिर्देवान् क्रोधसमन्वितः।
अथाश्रमपदं प्राप्तास्ते वै भूयो महात्मनः॥३५॥
शप्ताः स्म इति जानन्त ऋषिं तमुपचक्रमुः।
प्रसादयन्तस्तमृषिं वसवः पार्थिवर्षभ॥३६॥
लेभिरे न च तस्मात् ते प्रसादमृषिसत्तमात्।
आपवात् पुरुषव्याघ्र सर्वधर्मविशारदात्॥३७॥

उन्हें शाप देकर उन महाभाग महर्षिने फिर तपस्यामें ही मन लगाया। राजन्! तपस्याके धनी ब्रह्मर्षि वसिष्ठका प्रभाव बहुत बड़ा है। इसीलिये उन्होंने क्रोधमें भरकर देवता होनेपर भी उन आठों वसुओंको शाप दे दिया। तदनन्तर हमें शाप मिला है, यह जानकर वे वसु पुनः महामना वसिष्ठके आश्रमपर आये और उन महर्षिको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगे। नृपश्रेष्ठ! महर्षि आपव समस्त धर्मोंके ज्ञानमें निपुण थे। महाराज! उनको प्रसन्न करनेकी पूरी चेष्टा करनेपर भी वे वसु उन मुनिश्रेष्ठसे उनका कृपाप्रसाद न पा सके॥ ३४-३७॥

उवाच च स धर्मात्मा शप्ता यूयं धरादयः।
अनुसंवत्सरात् सर्वे शापमोक्षमवाप्स्यथ॥३८॥

उस समय धर्मात्मा वसिष्ठने उनसे कहा—'मैंने धर आदि तुम सभी वसुओंको शाप दे दिया है; परंतु तुमलोग तो प्रति वर्ष एक-एक करके सब-के-सब शापसे मुक्त हो जाओगे॥

अयं तु यत्कृते यूयं मया शप्ताः स वत्स्यति।
द्यौस्तदा मानुषे लोके दीर्घकालं स्वकर्मणा॥३९॥

'किंतु यह द्यो, जिसके कारण तुम सबको शाप मिला है, मनुष्यलोकमें अपने कर्मानुसार दीर्घकालतक निवास करेगा॥ ३९॥

नानृतं तच्चिकीर्षामि क्रुद्धो युष्मान् यदब्रुवम्।
न प्रजास्यति चाप्येष मानुषेषु महामनाः॥४०॥

'मैंने क्रोधमें आकर तुमलोगोंसे जो कुछ कहा है, उसे असत्य करना नहीं चाहता। ये महामना द्यो मनुष्यलोकमें संतानकी उत्पत्ति नहीं करेंगे ॥ ४० ॥

भविष्यति च धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः।
पितुः प्रियहिते युक्तः स्त्रीभोगान् वर्जयिष्यति ॥४१॥

'और धर्मात्मा तथा सब शास्त्रोंमें निपुण विद्वान् होंगे; पिताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका परित्याग कर देंगे' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा वसून् सर्वान् स जगाम महानृषिः।
ततो मामुपजग्मुस्ते समेता वसवस्तदा ॥४२॥

उन सब वसुओंसे ऐसी बात कहकर वे महर्षि वहाँसे चल दिये। तब वे सब वसु एकत्र होकर मेरे पास आये ॥४२॥

अयाचन्त च मां राजन् वरं तच्च मया कृतम्।
जाताञ्जातान् प्रक्षिपास्मान् स्वयं गङ्गे त्वमम्भसि ॥४३॥

राजन्! उस समय उन्होंने मुझसे याचना की और मैंने उसे पूर्ण किया। उनकी याचना इस प्रकार थी—'गङ्गे! हम ज्यों-ज्यों जन्म लें, तुम स्वयं हमें अपने जलमें डाल देना' ॥ ४३ ॥

एवं तेषामहं सम्यक् शप्तानां राजसत्तम।
मोक्षार्थं मानुषाल्लोकाद् यथावत् कृतवत्यहम् ॥४४॥

राजशिरोमणे! इस प्रकार उन शापग्रस्त वसुओंको इस मनुष्यलोकसे मुक्त करनेके लिये मैंने यथावत् प्रयत्न किया है॥

अयं शापादृषेस्तस्य एक एव नृपोत्तम।
द्यौ राजन् मानुषे लोके चिरं वत्स्यति भारत ॥४५॥

भारत! नृपश्रेष्ठ! यह एकमात्र द्यो ही महर्षिके शापसे दीर्घकालतक मनुष्यलोकमें निवास करेगा ॥ ४५ ॥

(अयं देवव्रतश्चैव गङ्गादत्तश्च मे सुतः।
द्विनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ॥
अयं कुमारः पुत्रस्ते विवृद्धः पुनरेष्यति।
अहं च ते भविष्यामि आह्वानोपगता नृप ॥)

राजन्! मेरा यह पुत्र देवव्रत और गङ्गादत्त—दो नामोंसे विख्यात होगा। आपका बालक गुणोंमें आपसे भी बढ़कर होगा। (अच्छा, अब जाती हूँ) आपका यह पुत्र अभी शिशु-अवस्थामें है। बड़ा होनेपर फिर आपके पास आ जायगा और आप जब मुझे बुलायेंगे तभी मैं आपके सामने उपस्थित हो जाऊँगी॥

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय सा देवी तत्रैवान्तरधीयत।
आदाय च कुमारं तं जगामाथ यथेप्सितम् ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ये सब बातें बता कर गङ्गादेवी उस नवजात शिशुको साथ ले वहीं अन्तर्धान हो गयीं और अपने अभीष्ट स्थानको चली गयीं ॥ ४६ ॥

स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत्।
द्युनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ॥४७॥

उस बालकका नाम हुआ देवव्रत। कुछ लोग गाङ्गेय भी कहते थे। द्यु[1] नामवाले वसु शान्तनुके पुत्र होकर गुणोंमें उनसे भी बढ़ गये ॥ ४७ ॥

शान्तनुश्चापि शोकार्तो जगाम स्वपुरं ततः।
तस्याहं कीर्तयिष्यामि शान्तनोरधिकान् गुणान् ॥४८॥

इधर शान्तनु शोकसे आतुर हो पुनः अपने नगरको लौट गये। शान्तनुके उत्तम गुणोंका मैं आगे चलकर वर्णन करूँगा ॥ ४८ ॥

महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य महात्मनः।
यस्येतिहासो द्युतिमान् महाभारतमुच्यते ॥४९॥

उन भरतवंशी महात्मा नरेशके महान् सौभाग्यका भी मैं वर्णन करूँगा, जिनका उज्ज्वल इतिहास 'महाभारत' नामसे विख्यात है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आपवोपाख्याने नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आपवोपाख्यानविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥९९॥

(इस अध्यायमें ४९ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल ५१ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

शान्तनुके रूप, गुण और सदाचारकी प्रशंसा, गङ्गाजीके द्वारा सुशिक्षित पुत्रकी प्राप्ति तथा देवव्रतकी भीष्म-प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजर्षिसत्कृतः।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनु बड़े बुद्धिमान् थे; देवता तथा राजर्षि भी उनका सत्कार करते थे। वे धर्मात्मा नरेश सम्पूर्ण जगत्में सत्यवादीके रूपमें विख्यात थे ॥ १ ॥

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम्।
नित्यान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥ २ ॥

[1] 'द्यु' का ही नाम 'द्यो' है, जैसा कि पहले कई बार आ चुका है।

उन महाबली नरश्रेष्ठ शान्तनुमें इन्द्रियसंयम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज आदि सद्गुण सदा विद्यमान थे ॥ २ ॥

एवं स गुणसम्पन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः ।
आसीद् भरतवंशस्य गोप्ता सर्वजनस्य च ॥ ३ ॥

इस प्रकार उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एवं धर्म और अर्थके साधनमें कुशल राजा शान्तनु भरत-वंशका पालन तथा सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते थे ॥ ३ ॥

कम्बुग्रीवः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
अन्वितः परिपूर्णार्थैः सर्वैर्नृपतिलक्षणैः ॥ ४ ॥

उनकी ग्रीवा शङ्खके समान शोभा पाती थी । कंधे विशाल थे । वे मतवाले हाथीके समान पराक्रमी थे । उनमें सभी राजोचित शुभ लक्षण पूर्ण सार्थक होकर निवास करते थे॥

तस्य कीर्तिमतो वृत्तमवेक्ष्य सततं नराः ।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थिताः ॥ ५ ॥

उन यशस्वी महाराजके धर्मपूर्ण सदाचारको देखकर सब मनुष्य सदा इसी निश्चयपर पहुँचे थे कि काम और अर्थसे धर्म ही श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

एतान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ।
न चास्य सदृशः कश्चिद् धर्मतः पार्थिवोऽभवत् ॥ ६ ॥

महान् शक्तिशाली पुरुषश्रेष्ठ शान्तनुमें ये सभी सद्गुण विद्यमान थे । उनके समान धर्मपूर्वक शासन करनेवाला दूसरा कोई राजा नहीं था ॥ ६ ॥

वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम् ।
तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ७ ॥

वे धर्ममें सदा स्थिर रहनेवाले और सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे; अतः समस्त राजाओंने मिलकर राजा शान्तनुको राजराजेश्वर (सम्राट्) के पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ७ ॥

वीतशोकभयाबाधाः सुखस्वप्नविबोधनाः ।
पतिं भारत गोप्तारं समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ८ ॥

जनमेजय ! जब सब राजाओंने शान्तनुको अपना स्वामी तथा रक्षक बना लिया, तब किसीको शोक, भय और मानसिक संताप नहीं रहा । सब लोग सुखसे सोने और जागने लगे ॥ ८ ॥

तेन कीर्तिमता शिष्टाः शक्रप्रतिमतेजसा ।
यज्ञदानक्रियाशीलाः समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ९ ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी और कीर्तिशाली शान्तनुके शासनमें रहकर अन्य राजालोग भी दान और यज्ञ कर्मोंमें स्वभावतः प्रवृत्त होने लगे ॥ ९ ॥

शान्तनुप्रमुखैर्गुप्ते लोके नृपतिभिस्तदा ।
नियमात् सर्ववर्णानां धर्मोत्तरमवर्तत ॥ १० ॥

उस समय शान्तनुप्रधान राजाओंद्वारा सुरक्षित जगत्में सभी वर्णोंके लोग नियमपूर्वक प्रत्येक वर्तावमें धर्मको ही प्रधानता देने लगे ॥ १० ॥

ब्रह्म पर्यचरत् क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः ।
ब्रह्मक्षत्रानुरक्ताश्च शूद्राः पर्यचरन् विशः ॥ ११ ॥

क्षत्रियलोग ब्राह्मणोंकी सेवा करते, वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुरक्त रहते तथा शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुराग रखते हुए वैश्योंकी सेवामें तत्पर रहते थे ॥ ११ ॥

स हास्तिनपुरे रम्ये कुरूणां पुटभेदने ।
वसन् सागरपर्यन्तामन्वशासद् वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

महाराज शान्तनु कुरुवंशकी रमणीय राजधानी हस्तिनापुरमें निवास करते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका शासन और पालन करते थे ॥ १२ ॥

स देवराजसदृशो धर्मज्ञः सत्यवागृजुः ।
दानधर्मतपोयोगाच्छ्रिया परमया युतः ॥ १३ ॥

वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी, धर्मज्ञ, सत्यवादी तथा सरल थे । दान, धर्म और तपस्या तीनोंके योगसे उनमें दिव्य कान्तिकी वृद्धि हो रही थी॥ १३ ॥

अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत् प्रियदर्शनः ।
तेजसा सूर्यकल्पोऽभूद् वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः कोपे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १४ ॥

उनमें न राग था न द्वेष । चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्यारा लगता था । वे तेजमें सूर्य और वेगमें वायुके समान जान पड़ते थे; क्रोधमें यमराज और क्षमामें पृथ्वीकी समानता करते थे ॥ १४ ॥

वधः पशुवराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम् ।
शान्तनौ पृथिवीपाले नावर्तत तथा नृप ॥ १५ ॥

जनमेजय ! महाराज शान्तनुके इस पृथ्वीका पालन करते समय पशुओं, वराहों, मृगों तथा पक्षियोंका वध नहीं होता था ॥ १५ ॥

ब्रह्मधर्मोत्तरे राज्ये शान्तनुर्विनयात्मवान् ।
समं शशास भूतानि कामरागविवर्जितः ॥ १६ ॥

उनके राज्यमें ब्रह्म और धर्मकी प्रधानता थी । महाराज शान्तनु बड़े विनयशील तथा काम-राग आदि दोषोंसे दूर रहनेवाले थे । वे सब प्राणियोंका समानभावसे शासन करते थे ॥ १६ ॥

देवर्षिपितृयज्ञार्थमारभ्यन्त तदा क्रियाः ।
न चाधर्मेण केषांचित् प्राणिनामभवद् वधः ॥ १७ ॥

उन दिनों देवयज्ञ, ऋषियज्ञ तथा पितृयज्ञके लिये कर्मोंका आरम्भ होता था । अधर्मका भय होनेके कारण किसी भी प्राणीका वध नहीं किया जाता था ॥ १७ ॥

अमुखानामनाथानां तिर्यग्योनिषु वर्तताम्।
स एव राजा सर्वेषां भूतानामभवत् पिता ॥ १८ ॥

दुःखी, अनाथ एवं पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए जीव—इन सब प्राणियोंका वे राजा शान्तनु ही पिताके समान पालन करते थे ॥ १८ ॥

तस्मिन् कुरुपतिश्रेष्ठे राजराजेश्वरे सति।
श्रिता वागभवत् सत्यं दानधर्माश्रितं मनः ॥ १९ ॥

कुरुवंशी नरेशोंमें श्रेष्ठ राजराजेश्वर शान्तनुके शासनकालमें सबकी वाणी सत्यके आश्रित थी—सभी सत्य बोलते थे और सबका मन दान एवं धर्ममें लगता था ॥ १९ ॥

स समाः षोडशाष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथापराः।
रतिमप्राप्नुवन् स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ॥ २० ॥

राजा शान्तनु सोलह, आठ, चार और आठ कुल छत्तीस वर्षोंतक स्त्रीविषयक अनुरागका अनुभव न करते हुए वनमें रहे ॥ २० ॥

तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ॥ २१ ॥

वसुके अवतारभूत गाङ्गेय उनके पुत्र हुए, जिनका नाम देवव्रत था। वे पिताके समान ही रूप, आचार, व्यवहार तथा विद्यासे सम्पन्न थे ॥ २१ ॥

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥ २२ ॥

लौकिक और अलौकिक सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें वे पारङ्गत थे। उनके बल, सत्त्व (धैर्य) तथा वीर्य (पराक्रम) महान् थे। वे महारथी वीर थे ॥ २२ ॥

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन् नदीम्।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान् नृपः ॥ २३ ॥

एक समय किसी हिंसक पशुको बाणोंसे बींधकर राजा शान्तनु उसका पीछा करते हुए भागीरथी गङ्गाके तटपर आये। उन्होंने देखा कि गङ्गाजीमें बहुत थोड़ा जल रह गया है ॥

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः।
स्यन्दते किं त्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥ २४ ॥

उसे देखकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज शान्तनु इस चिन्तामें पड़ गये कि यह सरिताओंमें श्रेष्ठ देवनदी आज पहलेकी तरह क्यों नहीं बह रही है ॥ २४ ॥

ततो निमित्तमन्विच्छन् ददर्श स महामनाः।
कुमारं रूपसम्पन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥ २५ ॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम्।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर उन महामना नरेशने इसके कारणका पता लगाते हुए जब आगे बढ़कर देखा, तब मालूम हुआ कि एक परम सुन्दर मनोहर रूपसे सम्पन्न विशालकाय कुमार देवराज इन्द्रके समान दिव्यास्त्रका अभ्यास कर रहा है और अपने तीखे बाणोंसे समूची गङ्गाकी धाराको रोककर खड़ा है ॥ २५-२६ ॥

तां शरैराचितां दृष्ट्वा नदीं गङ्गां तदन्तिके।
अभवद् विस्मितो राजा दृष्ट्वा कर्मातिमानुषम् ॥ २७ ॥

राजाने उसके निकटकी गङ्गा नदीको उसके बाणोंसे व्याप्त देखा। उस बालकका यह अलौकिक कर्म देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २७ ॥

जातमात्रं पुरा दृष्ट्वा तं पुत्रं शान्तनुस्तदा।
नोपलेभे स्मृतिं धीमानभिज्ञातुं तमात्मजम् ॥ २८ ॥

शान्तनुने अपने पुत्रको पहले पैदा होनेके समय ही देखा था; अतः उन बुद्धिमान् नरेशको उस समय उसकी याद नहीं आयी; इसीलिये वे अपने ही पुत्रको पहचान न सके ॥

स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया।
सम्मोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

बालकने अपने पिताको देखकर उन्हें मायासे मोहित कर दिया और मोहित करके शीघ्र वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २९ ॥

तदद्भुतं ततो दृष्ट्वा तत्र राजा स शान्तनुः।
शङ्कमानः सुतं गङ्गामब्रवीद् दर्शयेति ह ॥ ३० ॥

यह अद्भुत बात देखकर राजा शान्तनुको कुछ संदेह हुआ और उन्होंने गङ्गासे अपने पुत्रको दिखानेको कहा ॥ ३० ॥

दर्शयामास तं गङ्गा बिभ्रती रूपमुत्तमम्।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ॥ ३१ ॥

तब गङ्गाजी परम सुन्दर रूप धारण करके अपने पुत्रका दाहिना हाथ पकड़े सामने आयीं और दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कुमार देवव्रतको दिखाया ॥ ३१ ॥

अलंकृतामाभरणैर्विरजोऽम्बरसंवृताम्।
दृष्टपूर्वामपि स तां नाभ्यजानात् स शान्तनुः ॥ ३२ ॥

गङ्गा दिव्य आभूषणोंसे अलङ्कृत हो स्वच्छ-सुन्दर साड़ी पहने हुई थीं। इससे उनका अनुपम सौन्दर्य इतना बढ़ गया था कि पहलेकी देखी होनेपर भी राजा शान्तनु उन्हें पहचान न सके ॥ ३२ ॥

गङ्गोवाच

यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः।
स चायं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदुत्तमः ॥ ३३ ॥

गङ्गाजीने कहा—महाराज! पूर्वकालमें आपने अपने जिस आठवें पुत्रको मेरे गर्भसे प्राप्त किया था, यह वही है। पुरुषसिंह! यह सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें अत्यन्त उत्तम है ॥



गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम्।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो ॥ ३४ ॥

राजन्! मैंने इसे पाल-पोसकर बड़ा कर दिया है। अब आप अपने इस पुत्रको ग्रहण कीजिये। नरश्रेष्ठ! स्वामिन्! इसे घर ले जाइये ॥ ३४ ॥

वेदानधिजगे साङ्गान् वसिष्ठादेष वीर्यवान्।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ॥ ३५ ॥

आपका यह बलवान् पुत्र महर्षि वसिष्ठसे छहों अङ्गोंसहित समस्त वेदोंका अध्ययन कर चुका है। यह अस्त्र-विद्याका भी पण्डित है, महान् धनुर्धर है और युद्धमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी है ॥ ३५ ॥

सुराणां सम्मतो नित्यमसुराणां च भारत।
उशना वेद यच्छास्त्रमयं तद् वेद सर्वशः ॥ ३६ ॥

भारत! देवता और असुर भी इसका सदा सम्मान करते हैं। शुक्राचार्य जिस (नीति) शास्त्रको जानते हैं, उसका यह भी पूर्ण रूपसे जानकार है ॥ ३६ ॥

तथैवाङ्गिरसः पुत्रः सुरासुरनमस्कृतः।
यद् वेद शास्त्रं तच्चापि कृत्स्नमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ ३७ ॥
तव पुत्रे महाबाहौ साङ्गोपाङ्गं महात्मनि।
ऋषिः परैरनाधृष्यो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥ ३८ ॥
यदस्त्रं वेद रामश्च तदेतस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
महेष्वासमिमं राजन् राजधर्मार्थकोविदम् ॥ ३९ ॥
मया दत्तं निजं पुत्रं वीरं वीर गृहं नय।

इसी प्रकार अङ्गिराके पुत्र देव-दानव-वन्दित बृहस्पति जिस शास्त्रको जानते हैं, वह भी आपके इस महाबाहु महात्मा पुत्रमें अङ्ग और उपाङ्गोंसहित पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है। जो दूसरोंसे परास्त नहीं होते, वे प्रतापी महर्षि जमदग्निनन्दन परशुराम जिस अस्त्र-विद्याको जानते हैं, वह भी मेरे इस पुत्रमें प्रतिष्ठित है। वीरवर महाराज! यह कुमार राजधर्म तथा अर्थ-शास्त्रका महान् पण्डित है। मेरे दिये हुए इस महाधनुर्धर वीर पुत्रको आप घर ले जाइये ॥ ३७—३९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

(इत्युक्त्वा सा महाभागा तत्रैवान्तरधीयत।)
तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शान्तनुः ॥ ४० ॥
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति।
पौरवस्तु पुरीं गत्वा पुरन्दरपुरोपमाम् ॥ ४१ ॥
सर्वकामसमृद्धार्थं मेने सोऽऽत्मानमात्मना।
पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ॥ ४२ ॥
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत्।
पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ॥ ४३ ॥
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ।
स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ॥ ४४ ॥
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः।
स कदाचिद् वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर महाभागा गङ्गादेवी वहीं अन्तर्धान हो गयीं। गङ्गाजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर महाराज शान्तनु सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले अपने पुत्रको लेकर राजधानीमें आये। उनका हस्तिनापुर इन्द्रनगरी अमरावतीके समान सुन्दर था। पूरुवंशी राजा शान्तनु पुत्रसहित उसमें जाकर अपने आपको सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न एवं सफलमनोरथ मानने लगे। तदनन्तर उन्होंने सबको अभय देनेवाले महात्मा एवं गुणवान् पुत्रको राजकाजमें सहयोग करनेके लिये समस्त पौरवोंके बीचमें युवराज-पदपर अभिषिक्त कर दिया। जनमेजय! शान्तनुके उस महायशस्वी पुत्रने अपने आचार-व्यवहारसे पिताको, पौरव-समाजको तथा समूचे राष्ट्रको प्रसन्न कर लिया। अमित-पराक्रमी राजा शान्तनुने वैसे गुणवान् पुत्रके साथ आनन्द-पूर्वक रहते हुए चार वर्ष व्यतीत किये। एक दिन वे यमुना नदीके निकटवर्ती वनमें गये ॥ ४०—४५ ॥

महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद् गन्धमुत्तमम्।
तस्य प्रभवमन्विच्छन् विचचार समन्ततः ॥ ४६ ॥

वहाँ राजाको अवर्णनीय एवं परम उत्तम सुगन्धका अनुभव हुआ। वे उसके उद्गमस्थानका पता लगाते हुए सब ओर विचरने लगे ॥ ४६ ॥

स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम्।
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम्॥ ४७॥

घूमते-घूमते उन्होंने मल्लाहोंकी एक कन्या देखी, जो देवाङ्गनाओंके समान रूपवती थी। श्याम नेत्रोंवाली उस कन्याको देखते ही राजाने पूछा—॥ ४७॥

कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि।
साब्रवीद् दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरिम्॥ ४८॥
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः।
रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम्॥ ४९॥
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शान्तनुः।
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा॥ ५०॥

'भीरु! तू कौन है, किसकी पुत्री है और क्या करना चाहती है?' वह बोली—'राजन्! आपका कल्याण हो। मैं निषादकन्या हूँ और अपने पिता महामना निषादराजकी आज्ञासे धर्मार्थ नाव चलाती हूँ।' राजा शान्तनुने रूप, माधुर्य तथा सुगन्धसे युक्त देवाङ्गनाके तुल्य उस निषादकन्याको देखकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की। तदनन्तर उसके पिताके समीप जाकर उन्होंने उसका वरण किया॥ ४८—५०॥

पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः पितरं सोऽऽत्मकारणात्।
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम्॥ ५१॥

उन्होंने उसके पितासे पूछा—'मैं अपने लिये तुम्हारी कन्या चाहता हूँ।' यह सुनकर निषादराजने राजा शान्तनुको यह उत्तर दिया—॥ ५१॥

जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी।
हृदि कामस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर॥ ५२॥

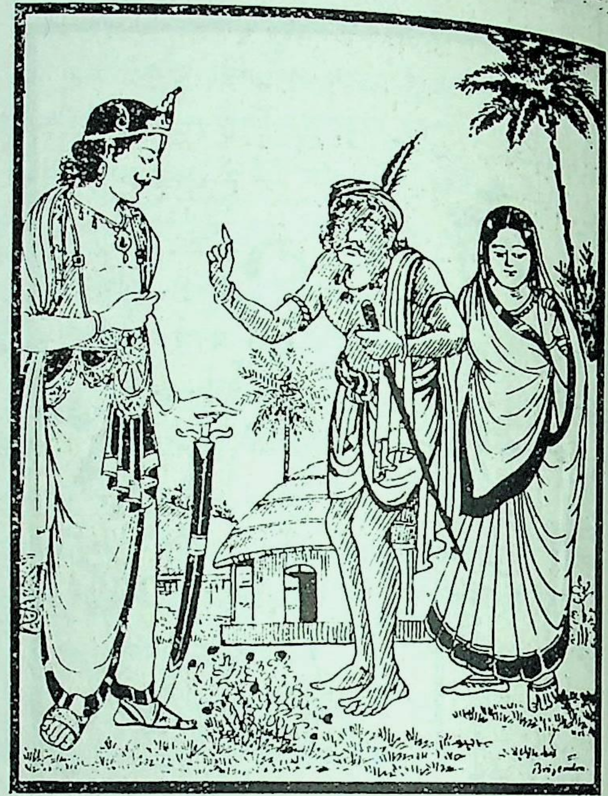
'जनेश्वर! जबसे इस सुन्दरी कन्याका जन्म हुआ है, तभीसे मेरे मनमें यह चिन्ता है कि इसका किसी श्रेष्ठ वरके साथ विवाह करना चाहिये; किंतु मेरे हृदयमें एक अभिलाषा है, उसे सुन लीजिये॥ ५२॥

यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः॥ ५३॥

'पापरहित नरेश! यदि इस कन्याको अपनी धर्मपत्नी बनानेके लिये आप मुझसे माँग रहे हैं, तो सत्यको सामने रखकर मेरी इच्छा पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कीजिये; क्योंकि आप सत्यवादी हैं॥ ५३॥

समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहमिमां नृप।
न हि मे त्वत्समः कश्चिद् वरो जातु भविष्यति॥ ५४॥

'राजन्! मैं इस कन्याको एक शर्तके साथ आपकी सेवामें दूँगा। मुझे आपके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ वर कभी नहीं मिलेगा'॥ ५४॥



शान्तनुरुवाच

श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं तव।
दातव्यं चेत् प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन॥ ५५॥

शान्तनुने कहा—निषाद! पहले तुम्हारे अभीष्ट वरको सुन लेनेपर मैं उसके विषयमें कुछ निश्चय कर सकता हूँ। यदि देने योग्य होगा, तो दूँगा और देने योग्य नहीं होगा, तो कदापि नहीं दे सकता॥ ५५॥

दाश उवाच

अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव॥ ५६॥

निषाद बोला—पृथ्वीपते! इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, आपके बाद उसीका राजाके पदपर अभिषेक किया जाय, अन्य किसी राजकुमारका नहीं॥ ५६॥

वैशम्पायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत॥ ५७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनु प्रचण्ड कामाग्निसे जल रहे थे, तो भी उनके मनमें निषादको वह वर देनेकी इच्छा नहीं हुई॥ ५७॥

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः॥ ५८॥

कामकी वेदनासे उनका चित्त चञ्चल था। वे उस

निषादकन्याका ही चिन्तन करते हुए उस समय हस्तिनापुरको लौट गये ॥ ५८ ॥

ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम्।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर एक दिन राजा शान्तनु ध्यानस्थ होकर कुछ सोच रहे थे—चिन्तामें पड़े थे। इसी समय उनके पुत्र देवव्रत अपने पिताके पास आये और इस प्रकार बोले—॥५९॥

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः।
तत् किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ॥ ६० ॥

'पिताजी! आपका तो सब ओरसे कुशल-मङ्गल है, भूमण्डलके सभी नरेश आपकी आज्ञाके अधीन हैं; फिर किसलिये आप निरन्तर दुखी होकर शोक और चिन्तामें डूबे रहते हैं ॥ ६० ॥

ध्यायन्निव च मां राजन्नाभिभाषसि किंचन।
न चाश्वेन विनिर्यासि विवर्णो हरिणः कृशः ॥ ६१ ॥

'राजन्! आप इस तरह मौन बैठे रहते हैं, मानो किसीका ध्यान कर रहे हों; मुझसे कोई बातचीत तक नहीं करते। घोड़ेपर सवार हो कहीं बाहर भी नहीं निकलते। आपकी कान्ति मलिन होती जा रही है। आप पीले और दुबले हो गये हैं॥

व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै।
एवमुक्तः स पुत्रेण शान्तनुः प्रत्यभाषत ॥ ६२ ॥

'आपको कौन-सा रोग लग गया है, यह मैं जानना चाहता हूँ, जिससे मैं उसका प्रतीकार कर सकूँ।' पुत्रके ऐसा कहनेपर शान्तनुने उत्तर दिया—॥ ६२ ॥

असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु।
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ॥ ६३ ॥

'बेटा! इसमें संदेह नहीं कि मैं चिन्तामें डूबा रहता हूँ। वह चिन्ता कैसी है, सो बताता हूँ, सुनो। भारत! तुम इस विशाल वंशमें मेरे एक ही पुत्र हो ॥ ६३ ॥

शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ॥ ६४ ॥

'तुम भी सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें लगे रहते हो और पुरुषार्थके लिये सदैव उद्यत रहते हो। बेटा! मैं इस जगत्‌की अनित्यताको लेकर निरन्तर शोकग्रस्त एवं चिन्तित रहता हूँ ॥ ६४ ॥

कथंचित् तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम्।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥ ६५ ॥

'गङ्गानन्दन! यदि किसी प्रकार तुमपर कोई विपत्ति आयी, तो उसी दिन हमारा यह वंश समाप्त हो जायगा। इसमें संदेह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे लिये सौ पुत्रोंसे भी बढ़कर हो ॥ ६५ ॥

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान् कर्तुमिहोत्सहे।
संतानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥ ६६ ॥

'मैं पुनः व्यर्थ विवाह नहीं करना चाहता; किंतु हमारी वंशपरम्पराका लोप न हो, इसीके लिये मुझे पुनः पत्नीकी कामना हुई है। तुम्हारा कल्याण हो ॥ ६६ ॥

अनपत्यतैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्मवादिनः ।
(चक्षुरेकं च पुत्रश्च अस्ति नास्ति च भारत।
चक्षुर्नाशे तनोर्नाशः पुत्रनाशे कुलक्षयः ॥)
अग्निहोत्रं त्रयीविद्यासंतानमपि चाक्षयम् ॥ ६७ ॥
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।

'धर्मवादी विद्वान् कहते हैं कि एक पुत्रका होना संतानहीनताके ही तुल्य है। भारत! एक आँख अथवा एक पुत्र यदि है, तो वह भी नहींके बराबर है। नेत्रका नाश होनेपर मानो शरीरका ही नाश हो जाता है, इसी प्रकार पुत्रके नष्ट होनेपर कुल-परम्परा ही नष्ट हो जाती है। अग्निहोत्र, तीनों वेद तथा शिष्य-प्रशिष्यके क्रमसे चलनेवाले विद्याजनित वंशकी अक्षय परम्परा—ये सब मिलकर भी जन्मसे होनेवाली संतानकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ॥ ६७½ ॥

एवमेतन्मनुष्येषु तच्च सर्वप्रजास्विति ॥ ६८ ॥

'इस प्रकार संतानका महत्त्व जैसा मनुष्योंमें मान्य है, उसी प्रकार अन्य सब प्राणियोंमें भी है ॥ ६८ ॥

यदपत्यं महाप्राज्ञ तत्र मे नास्ति संशयः।
एषा त्रयीपुराणानां देवतानां च शाश्वती ॥ ६९ ॥
(अपत्यं कर्म विद्या च त्रीणि ज्योतींषि भारत।
यदिदं कारणं तात सर्वमाख्यातमञ्जसा ॥)

'भारत! महाप्राज्ञ! इस बातमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि संतान, कर्म और विद्या—ये तीन ज्योतियाँ हैं; इनमें भी जो संतान है, उसका महत्त्व सबसे अधिक है। यही वेदत्रयी पुराण तथा देवताओंका भी सनातन मत है। तात! मेरी चिन्ताका जो कारण है, वह सब तुम्हें स्पष्ट बता दिया॥

त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत।
नान्यत्र युद्धात् तस्मात् ते निधनं विद्यते क्वचित्॥ ७० ॥

'भारत! तुम शूरवीर हो। तुम कभी किसीकी बात सहन नहीं कर सकते और सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें ही लगे रहते हो; अतः युद्धके सिवा और किसी कारणसे कभी तुम्हारी मृत्यु होनेकी सम्भावना नहीं है ॥ ७० ॥

सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वयि शान्ते कथं भवेत्।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ॥ ७१ ॥

'इसीलिये मैं इस संदेहमें पड़ा हूँ कि तुम्हारे शान्त हो जानेपर इस वंशपरम्पराका निर्वाह कैसे होगा? तात! यही

मेरे दुःखका कारण है; वह सब-का-सब तुम्हें बता दिया' ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ॥ ७२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाके दुःखका वह सारा कारण जानकर परम बुद्धिमान् देवव्रतने अपनी बुद्धिसे भी उसपर विचार किया ॥ ७२ ॥

अभ्यगच्छत् तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम्।
तमपृच्छत् तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥ ७३ ॥

तदनन्तर वे उसी समय तुरंत अपने पिताके हितैषी बूढ़े मन्त्रीके पास गये और पिताके शोकका वास्तविक कारण क्या है, इसके विषयमें उनसे पूछ-ताछ की ॥ ७३ ॥

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥ ७४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष देवव्रतके भलीभाँति पूछनेपर वृद्ध मन्त्रीने बताया कि महाराज एक कन्यासे विवाह करना चाहते हैं ॥ ७४ ॥

(सूतं भूयोऽपि संतप्त आह्वयामास वै पितुः ॥
सूतस्तु कुरुमुख्यस्य उपयातस्तदाज्ञया।
तमुवाच महाप्राज्ञो भीष्मो वै सारथिं पितुः ॥

उसके बाद भी दुःखसे दुखी देवव्रतने पिताके सारथिको बुलाया। राजकुमारकी आज्ञा पाकर कुरुराज शान्तनुका सारथि उनके पास आया। तब महाप्राज्ञ भीष्मने पिताके सारथिसे पूछा ॥

भीष्म उवाच

त्वं सारथे पितुर्मह्यं सखासि रथयुग् यतः।
अपि जानासि यदि वै कस्यां भावो नृपस्य तु ॥
यथा वक्ष्यसि मे पृष्टः करिष्ये न तदन्यथा।

भीष्म बोले—सारथे ! तुम मेरे पिताके सखा हो, क्योंकि उनका रथ जोतनेवाले हो। क्या तुम जानते हो कि महाराजका अनुराग किस स्त्रीमें है ? मेरे पूछनेपर तुम जैसा कहोगे, वैसा ही करूँगा, उसके विपरीत नहीं करूँगा।

सूत उवाच

दाशकन्या नरश्रेष्ठ तत्र भावः पितुर्गतः।
वृतः स नरदेवेन तदा वचनमब्रवीत् ॥
योऽस्यां पुमान् भवेद् गर्भः स राजा त्वदनन्तरम्।
नाकामयत तं दातुं पिता तव वरं तदा ॥
स चापि निश्चयस्तस्य न च दद्यामतोऽन्यथा।
एवं ते कथितं वीर कुरुष्व यदनन्तरम् ॥)

सूत बोला—नरश्रेष्ठ ! एक धीवरकी कन्या है, उसीके प्रति आपके पिताका अनुराग हो गया है। महाराजने धीवरसे उस कन्याको माँगा भी था, परंतु उस समय उसने यह शर्त रक्खी कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र हो, वही आपके बाद राजा होना चाहिये।' आपके पिताजीके मनमें धीवरको ऐसा वर देनेकी इच्छा नहीं हुई। इधर उसका भी पक्का निश्चय है कि यह शर्त स्वीकार किये बिना मैं अपनी कन्या नहीं दूँगा। वीर ! यही वृत्तान्त है, जो मैंने आपसे निवेदन कर दिया। इसके बाद आप जैसा उचित समझें, वैसा करें ॥

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥ ७५ ॥

यह सुनकर कुमार देवव्रतने उस समय बूढ़े क्षत्रियोंके साथ निषादराजके पास जाकर स्वयं अपने पिताके लिये उसकी कन्या माँगी ॥ ७५ ॥

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत् प्रतिपूज्य च।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥ ७६ ॥

भारत ! उस समय निषादने उनका बड़ा सत्कार किया और विधिपूर्वक पूजा करके आसनपर बैठनेके पश्चात् साथ आये हुए क्षत्रियोंकी मण्डलीमें दाशराजने उनसे कहा ॥ ७६ ॥

दाश उवाच

(राज्यशुल्का प्रदातव्या कन्येयं याचतां वर।
अपत्यं यद् भवेत् तस्याः स राजास्तु पितुः परम् ॥)

दाशराज बोला—याचकोंमें श्रेष्ठ राजकुमार ! इस कन्याको देनेमें मैंने राज्यको ही शुल्क रक्खा है। इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही पिताके बाद राजा हो।

त्वमेव नाथः पर्याप्तः शान्तनोर्भरतर्षभ।
पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः ॥ ७७ ॥

भरतर्षभ ! राजा शान्तनुके पुत्र अकेले आप ही सबकी रक्षाके लिये पर्याप्त हैं। शस्त्रधारियोंमें आप सबसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं; परंतु तो भी मैं अपनी बात आपके सामने रक्खूँगा ॥

को हि सम्बन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौनमीदृशम्।
अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ॥ ७८ ॥

ऐसे मनोऽनुकूल और स्पृहणीय उत्तम विवाह-सम्बन्धको ठुकराकर कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके मनमें संताप न हो ? भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो ॥ ७८ ॥

अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः।
यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी ॥ ७९ ॥

यह कन्या एक आर्य पुरुषकी संतान है, जो गुणोंमें आपलोगोंके ही समान हैं और जिनके वीर्यसे इस सुन्दरी सत्यवतीका जन्म हुआ है ॥ ७९ ॥

तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ॥ ८० ॥

तात ! उन्होंने अनेक बार मुझसे आपके पिताके विषय-में चर्चा की थी। वे कहते थे, सत्यवतीको व्याहने योग्य तो केवल धर्मज्ञ राजा शान्तनु ही हैं ॥ ८० ॥

अर्थितश्चापि राजर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया।
स चाप्यासीत् सत्यवत्या भृशमर्थी महायशाः ॥ ८१ ॥
कन्यापितृत्वात् किंचित् तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥ ८२ ॥

महान् कीर्तिवाले राजर्षि शान्तनु सत्यवतीको पहले भी बहुत आग्रहपूर्वक माँग चुके हैं; किंतु उनके माँगनेपर भी मैंने उनकी बात अस्वीकार कर दी थी। युवराज ! मैं कन्याका पिता होनेके कारण कुछ आपसे भी कहूँगा ही। आपके यहाँ जो सम्बन्ध हो रहा है, उसमें मुझे केवल एक दोष दिखायी देता है, बलवान्‌के साथ शत्रुता ॥ ८१-८२ ॥

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा।
न स जातु चिरं जीवेत् त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥ ८३ ॥

परंतप ! आप जिसके शत्रु होंगे, वह गन्धर्व हो या असुर, आपके कुपित होनेपर कभी चिरजीवी नहीं हो सकता॥

एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन पार्थिव।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ॥ ८४ ॥

पृथ्वीनाथ ! बस, इस विवाहमें इतना ही दोष है, दूसरा कोई नहीं। परंतप ! आपका कल्याण हो, कन्याको देने या न देनेमें केवल यही दोष विचारणीय है; इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ॥ ८५ ॥

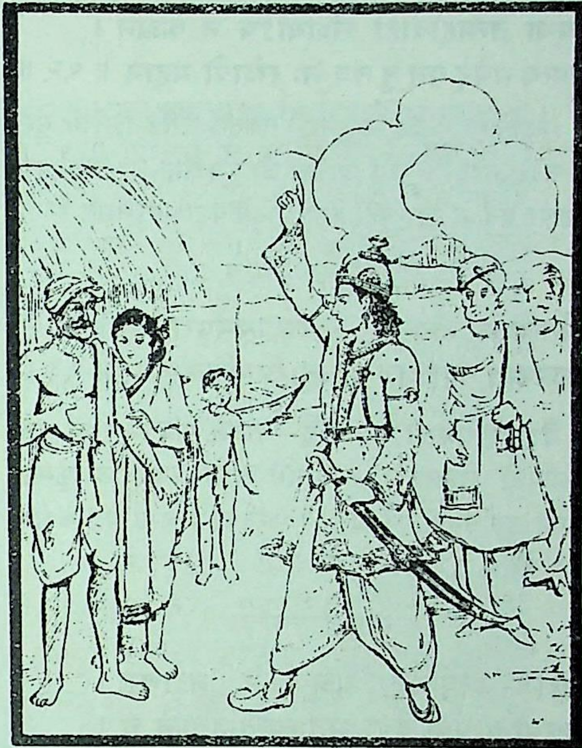
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! निषादके ऐसा कहनेपर गङ्गानन्दन देवव्रतने पिताके मनोरथकी पूर्ण करने-के लिये सब राजाओंके सुनते-सुनते यह उचित उत्तर दिया—॥

इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतां वर।
नैव जातो न वाजात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥ ८६ ॥

'सत्यवानोंमें श्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो और ग्रहण करो। ऐसी बात कह सकनेवाला कोई मनुष्य न अबतक पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ॥

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥ ८७ ॥

'लो, तुम जो कुछ चाहते या कहते हो, वैसा ही करूँगा। इस सत्यवतीके गर्भसे जो पुत्र पैदा होगा, वही हमारा राजा बनेगा' ॥ ८७ ॥



इत्युक्तः पुनरेवाथ तं दाशः प्रत्यभाषत।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥ ८८ ॥

भरतवंशावतंस जनमेजय ! देवव्रतके ऐसा कहनेपर निषाद उनसे फिर बोला। वह राज्यके लिये उनसे कोई दुष्कर प्रतिज्ञा कराना चाहता था ॥ ८८ ॥

त्वमेव नाथः सम्प्राप्तः शान्तनोरमितद्युते।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन् प्रभुर्दानाय चेश्वरः ॥ ८९ ॥

उसने कहा—'अमित तेजस्वी युवराज ! आप ही महाराज शान्तनुकी ओरसे मालिक बनकर यहाँ आये हैं। धर्मात्मन् ! इस कन्यापर भी आपका पूरा अधिकार है। आप जिसे चाहें, इसे दे सकते हैं। आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ ८९ ॥

इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिन्दम ॥ ९० ॥

'परंतु सौम्य ! इस विषयमें मुझे आपसे कुछ और कहना है और वह आवश्यक कार्य है; अतः आप मेरे इस कथनको सुनिये। शत्रुदमन ! कन्याओंके प्रति स्नेह रखनेवाले सगे-सम्बन्धियोंका जैसा स्वभाव होता है, उसीसे प्रेरित होकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगा ॥ ९० ॥

यत् त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥ ९१ ॥

'सत्यधर्मपरायण राजकुमार ! आपने सत्यवतीके हितके लिये इन राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही योग्य है ॥ ९१ ॥

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद् यत् तु तत्र नः संशयो महान् ॥ ९२ ॥

'महाबाहो ! वह टल नहीं सकती; उसके विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है, परंतु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद इस प्रतिज्ञापर दृढ़ न रहे, यही हमारे मनमें बड़ा भारी संशय है' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।
प्रत्यजानात् तदा राजन् पितुः प्रियचिकीर्षया ॥ ९३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निषादराजके इस अभिप्रायको समझकर सत्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले कुमार देवव्रतने उस समय पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे यह कठोर प्रतिज्ञा की ॥ ९३ ॥

गाङ्गेय उवाच

दाशराज निबोधेदं वचनं मे नरोत्तम ।
(ऋषयो वाथवा देवा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
यानि यानीह शृण्वन्तु नास्ति वक्ता हि मत्समः ॥
इदं वचनमादत्स्व सत्येन मम जल्पतः ।)
शृण्वतां भूमिपालानां यद् ब्रवीमि पितुः कृते ॥ ९४ ॥

भीष्मने कहा—नरश्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह बात सुनो । जो-जो ऋषि, देवता एवं अन्तरिक्षके प्राणी यहाँ हों, वे सब भी सुनें । मेरे समान वचन देनेवाला दूसरा नहीं है । निषाद ! मैं सत्य कहता हूँ, पिताके हितके लिये सब भूमिपालोंके सुनते हुए मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरी इस बातको समझो ॥ ९४ ॥

राज्यं तावत् पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ॥ ९५ ॥

राजाओ ! राज्य तो मैंने पहले ही छोड़ दिया है; अब संतानके लिये भी अटल निश्चय कर रहा हूँ ॥ ९५ ॥

अद्यप्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥ ९६ ॥

निषादराज ! आजसे मेरा आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा । मेरे पुत्र न होनेपर भी स्वर्गमें मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे ॥ ९६ ॥

(न हि जन्मप्रभृत्युक्तं मम किंचिदिहानृतम् ।
यावत् प्राणा ध्रियन्ते वै मम देहं समाश्रिताः ॥
तावन्न जनयिष्यामि पित्रे कन्यां प्रयच्छ मे ।
परित्यजाम्यहं राज्यं मैथुनं चापि सर्वशः ॥
ऊर्ध्वरेता भविष्यामि दाश सत्यं ब्रवीमि ते ।)

मैंने जन्मसे लेकर अबतक कोई झूठ बात नहीं कही है । जबतक मेरे शरीरमें प्राण रहेंगे, तबतक मैं संतान नहीं उत्पन्न करूँगा । तुम पिताजीके लिये अपनी कन्या दे दो । दाश ! मैं राज्य तथा मैथुनका सर्वथा परित्याग करूँगा और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होकर रहूँगा—यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥ ९७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—देवव्रतका यह वचन सुनकर धर्मात्मा निषादराजके रोंगटे खड़े हो गये । उसने तुरंत उत्तर दिया—'मैं यह कन्या आपके पिताके लिये अवश्य देता हूँ' ॥

ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवाः सर्षिगणास्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ९८ ॥

उस समय अन्तरिक्षमें अप्सरा, देवता तथा ऋषिगण फूलोंकी वर्षा करने लगे और बोल उठे—'ये भयंकर प्रतिज्ञा करनेवाले राजकुमार भीष्म हैं (अर्थात् भीष्मके नामसे इनकी ख्याति होगी)' ॥ ९८ ॥

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥ ९९ ॥

तत्पश्चात् भीष्म पिताके मनोरथकी सिद्धिके लिये उस यशस्विनी निषादकन्यासे बोले—'माताजी ! इस रथपर बैठिये । अब हमलोग अपने घर चलें' ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भाविनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ॥ १०० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भीष्मने उस भामिनीको रथपर बैठा लिया और हस्तिनापुर आकर उसे महाराज शान्तनुको सौंप दिया ॥ १०० ॥

तस्य तद् दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ १०१ ॥

उनके इस दुष्कर कर्मकी सब राजालोग एकत्र होकर और अलग-अलग भी प्रशंसा करने लगे । सबने एक स्वरसे कहा, 'यह राजकुमार वास्तवमें भीष्म है' ॥ १०१ ॥

तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शान्तनुः ।
स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने ॥ १०२ ॥

भीष्मके द्वारा किये हुए उस दुष्कर कर्मकी बात सुनकर राजा शान्तनु बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने उन महात्मा भीष्मको स्वच्छन्द मृत्युका वरदान दिया ॥ १०२ ॥



देवव्रत (भीष्म) की भीषण प्रतिज्ञा

न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि ।
त्वत्तो ह्यनुज्ञां सम्प्राप्य मृत्युः प्रभवितानघ ॥१०३॥

वे बोले—'मेरे निष्पाप पुत्र ! तुम जबतक यहाँ जीवित रहना चाहोगे, तबतक मृत्यु तुम्हारे ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती । तुमसे आज्ञा लेकर ही मृत्यु तुमपर अपना प्रभाव प्रकट कर सकती है' ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवतीलाभोपाख्याने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवतीलाभोपाख्यानविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

(इस अध्यायमें १०३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक और कुल ११६½ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीके गर्भसे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्यकी उत्पत्ति, शान्तनु और चित्राङ्गदका निधन तथा विचित्रवीर्यका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

(चेदिराजसुतां ज्ञात्वा दाशराजेन वर्धिताम् ।
विवाहं कारयामास शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥)
ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शान्तनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसम्पन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—सत्यवती चेदिराज वसुकी पुत्री है और निषादराजने इसका पालन-पोषण किया है—यह जानकर राजा शान्तनुने उसके साथ शास्त्रीय विधिसे विवाह किया। तदनन्तर विवाह सम्पन्न हो जानेपर राजा शान्तनुने उस रूपवती कन्याको अपने महलमें रक्खा ॥ १ ॥

ततः शान्तनवो धीमान् सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान् पुरुषेश्वरः ॥ २ ॥

कुछ कालके पश्चात् सत्यवतीके गर्भसे शान्तनुका बुद्धिमान् पुत्र वीर चित्राङ्गद उत्पन्न हुआ, जो बड़ा ही पराक्रमी तथा समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ था ॥ २ ॥

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥ ३ ॥

इसके बाद महापराक्रमी और शक्तिशाली राजा शान्तनुने दूसरे पुत्र महान् धनुर्धर राजा विचित्रवीर्यको जन्म दिया॥३॥

अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान् कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ विचित्रवीर्य अभी यौवनको प्राप्त भी नहीं हुए थे कि बुद्धिमान् महाराज शान्तनुकी मृत्यु हो गयी ॥ ४ ॥

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५ ॥

शान्तनुके स्वर्गवासी हो जानेपर भीष्मने सत्यवतीकी सम्मतिसे शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर चित्राङ्गदको राज्यपर बिठाया ॥ ५ ॥

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित् सदृशमात्मनः ॥ ६ ॥

चित्राङ्गद अपने शौर्यके घमंडमें आकर सब राजाओंका तिरस्कार करने लगे । वे किसी भी मनुष्यको अपने समान नहीं मानते थे ॥ ६ ॥

तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा ।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात् तदा ॥ ७ ॥

मनुष्योंपर ही नहीं, वे देवताओं तथा असुरोंपर भी आक्षेप करते थे । तब एक दिन उन्हींके समान नामवाला महाबली गन्धर्वराज चित्राङ्गद उनके पास आया ॥ ७ ॥

(*गन्धर्व उवाच*

त्वं वै सदृशनामासि युद्धं देहि नृपात्मज ।
नाम चान्यत् प्रगृणीष्व यदि युद्धं न दास्यसि ॥
त्वयाहं युद्धमिच्छामि त्वत्सकाशात् तु नामतः ।
आगतोऽस्मि वृथाभाष्यो न गच्छेन्नामतो यथा ॥)

गन्धर्वने कहा—राजकुमार ! तुम मेरे सदृश नाम धारण करते हो, अतः मुझे युद्धका अवसर दो और यदि यह न कर सको तो अपना दूसरा नाम रख लो । मैं तुमसे युद्ध करना चाहता हूँ । नामकी एकताके कारण ही मैं तुम्हारे निकट आया हूँ । मेरे नामद्वारा व्यर्थ पुकारा जानेवाला मनुष्य मेरे सामनेसे सकुशल नहीं जा सकता ॥

तेनास्य सुमहद् युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह ।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः ।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद् रणः ॥ ८ ॥
तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले ।
मायाधिकोऽवधीद् वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर उसके साथ कुरुक्षेत्रमें राजा चित्राङ्गदका बड़ा भारी युद्ध हुआ। गन्धर्वराज और कुरुराज दोनों ही बड़े बलवान् थे । उनमें सरस्वती नदीके तटपर तीन वर्षोंतक युद्ध होता रहा । अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त उस घमासान युद्धमें

मायामें बढ़े-चढ़े हुए गन्धर्वने कुरुश्रेष्ठ वीर चित्राङ्गदका वध कर डाला ॥ ८-९ ॥

स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिंदमम्।
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः ॥ १० ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ चित्राङ्गदको मारकर युद्ध समाप्त करके वह गन्धर्व स्वर्गलोकमें चला गया ॥ १० ॥

तस्मिन् पुरुषशार्दूले निहते भूरितेजसि।
भीष्मः शान्तनवो राजा प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ११ ॥

उन महान् तेजस्वी पुरुषसिंह चित्राङ्गदके मारे जानेपर शान्तनुनन्दन भीष्मने उनके प्रेत-कर्म करवाये ॥ ११ ॥

विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम्।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्य अभी बालक थे, युवावस्थामें नहीं पहुँचे थे तो भी महाबाहु भीष्मने उन्हें कुरुदेशके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥ १३ ॥

महाराज जनमेजय! तब विचित्रवीर्य भीष्मजीकी आज्ञाके अधीन रहकर अपने बाप-दादोंके राज्यका शासन करने लगे ॥

स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥ १४ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म धर्म एवं राजनीति आदि शास्त्रोंमें कुशल थे; अतः राजा विचित्रवीर्य धर्मपूर्वक उनका सम्मान करते थे और भीष्मजी भी इन अल्पवयस्क नरेशकी सब प्रकारसे रक्षा करते थे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि चित्राङ्गदोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें चित्राङ्गदोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

(इस अध्यायमें १४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक और कुल १७ श्लोक हैं)

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा स्वयंवरसे काशिराजकी कन्याओंका हरण, युद्धमें सब राजाओं तथा शाल्वकी पराजय, अम्बिका और अम्बालिकाके साथ विचित्रवीर्यका विवाह तथा निधन

वैशम्पायन उवाच

हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि कौरव।
पालयामास तद् राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! चित्राङ्गदके मारे जानेपर दूसरे भाई विचित्रवीर्य अभी बहुत छोटे थे, अतः सत्यवतीकी रायसे भीष्मजीने ही उस राज्यका पालन किया ॥

सम्प्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥ २ ॥

जब विचित्रवीर्य धीरे-धीरे युवावस्थामें पहुँचे, तब बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीने उनकी वह अवस्था देख विचित्रवीर्यके विवाहका विचार किया ॥ २ ॥

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः।
शुश्राव सहिता राजन् वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥ ३ ॥

राजन्! उन दिनों काशिराजकी तीन कन्याएँ थीं, जो अप्सराओंके समान सुन्दर थीं। भीष्मजीने सुना, वे तीनों कन्याएँ साथ ही स्वयंवरसभामें पतिका वरण करनेवाली हैं ॥

ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित्।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥ ४ ॥

तब माता सत्यवतीकी आज्ञा ले रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुविजयी भीष्म एकमात्र रथके साथ वाराणसी पुरीको गये ॥

तत्र राज्ञः समुदितान् सर्वतः समुपागतान्।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ॥ ५ ॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्मने देखा, सब ओरसे आये हुए राजाओंका समुदाय स्वयंवर-सभामें जुटा हुआ है और वे कन्याएँ भी स्वयंवरमें उपस्थित हैं ॥ ५ ॥

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ॥ ६ ॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिन्तया ॥ ७ ॥

उस समय सब ओर राजाओंके नाम ले-लेकर उन सबका परिचय दिया जा रहा था। इतनेमें ही शान्तनुनन्दन भीष्म, जो अब वृद्ध हो चले थे, वहाँ अकेले ही आ पहुँचे। उन्हें देखकर वे सब परम सुन्दरी कन्याएँ उद्विग्न-सी होकर, ये बूढ़े हैं, ऐसा सोचती हुई वहाँसे दूर भाग गयीं ॥ ६-७ ॥

वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः।
किं कारणमिहायातो निर्लज्जो भरतर्षभः ॥ ८ ॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि ॥ ९ ॥
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः।

वहाँ जो नीच स्वभावके नरेश एकत्र थे, वे आपसमें ये बातें कहते हुए उनकी हँसी उड़ाने लगे—'भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तो बड़े धर्मात्मा सुने जाते थे। ये बूढ़े हो गये हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, सिरके बाल सफेद हो चुके हैं; फिर क्या कारण है कि यहाँ आये हैं? ये तो बड़े निर्लज्ज जान पड़ते हैं। अपनी प्रतिज्ञा झूठी करके ये लोगोंमें क्या कहेंगे—कैसे मुँह दिखायेंगे? भूमण्डलमें व्यर्थ ही यह बात फैल गयी है कि भीष्मजी ब्रह्मचारी हैं' ॥ ८-९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! क्षत्रियोंकी ये बातें सुनकर भीष्म अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १० ॥

भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः।
उवाच च महीपालान् राजञ्जलदनिस्वनः ॥ ११ ॥
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः।
आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः ॥ १२ ॥
अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि।
प्रयच्छन्त्यपरे कन्या मिथुनेन गवामपि ॥ १३ ॥

राजन्! वे शक्तिशाली तो थे ही; उन्होंने उस समय स्वयं ही समस्त कन्याओंका वरण किया। इतना ही नहीं, प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीष्मने उन कन्याओंको उठाकर रथपर चढ़ा लिया और समस्त राजाओंको ललकारते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—'विद्वानोंने कन्याको यथाशक्ति वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके गुणवान् वरको बुलाकर उसे कुछ धन देनेके साथ ही कन्यादान करना उत्तम (ब्राह्म विवाह) बताया है। कुछ लोग एक जोड़ा गाय और बैल लेकर कन्यादान करते हैं (यह आर्ष विवाह है) ॥ ११-१३ ॥

वित्तेन कथितेनान्ये बलेनान्येऽनुमान्य च।
प्रमत्तामुपयन्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ॥ १४ ॥

'कितने ही मनुष्य नियत धन लेकर कन्यादान करते हैं (यह आसुर विवाह है)। कुछ लोग बलसे कन्याका हरण करते हैं (यह राक्षस विवाह है)। दूसरे लोग वर और कन्याकी परस्पर अनुमति होनेपर विवाह करते हैं (यह गान्धर्व विवाह है)। कुछ लोग अचेत अवस्थामें पड़ी हुई कन्याको उठा ले जाते हैं (यह पैशाच विवाह है)। कुछ लोग वर और कन्याको एकत्र करके स्वयं ही उनसे प्रतिज्ञा कराते हैं कि हम दोनों गार्हस्थ्य धर्मका पालन करेंगे; फिर कन्यापिता दोनोंकी पूजा करके अलङ्कारयुक्त कन्याका वरके लिये दान करता है; इस प्रकार विवाहित होनेवाले (प्राजापत्य विवाहकी रीतिसे) पत्नीकी उपलब्धि करते हैं ॥ १४ ॥

आर्षं विधिं पुरस्कृत्य दारान् विन्दन्ति चापरे।
अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिर्वृतम् ॥ १५ ॥

'कुछ लोग आर्ष विधि (यज्ञ) करके ऋत्विजको कन्या देते हैं। इस प्रकार विवाहित होनेवाले (दैव विवाहकी रीतिसे) पत्नी प्राप्त करते हैं। इस तरह विद्वानोंने यह विवाहका आठवाँ प्रकार माना है। इन सबको तुमलोग समझो ॥ १५ ॥

स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ॥ १६ ॥

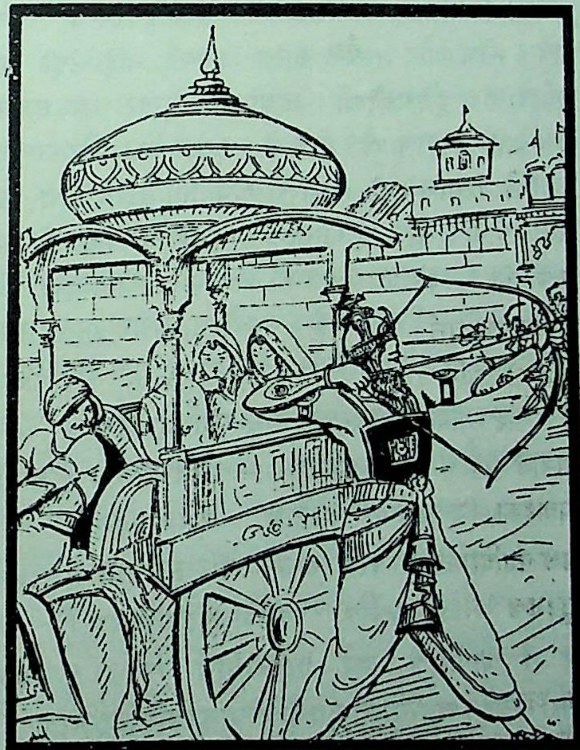
'क्षत्रिय स्वयंवरकी प्रशंसा करते और उसमें जाते हैं; परंतु उसमें भी समस्त राजाओंको परास्त करके जिस कन्याका अपहरण किया जाता है, धर्मवादी विद्वान् क्षत्रियके लिये उसे सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ १६ ॥

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥ १७ ॥

'अतः भूमिपालो! मैं इन कन्याओंको यहाँसे बलपूर्वक हर ले जाना चाहता हूँ। तुमलोग अपनी सारी शक्ति लगाकर विजय अथवा पराजयके लिये मुझे रोकनेका प्रयत्न करो ॥ १७ ॥

स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः।
एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ॥ १८ ॥
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम्।
आमन्त्र्य च स तान् प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः॥१९॥

'राजाओ! मैं युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके यहाँ डटा हुआ हूँ।' परम पराक्रमी कुरुकुलश्रेष्ठ भीष्मजी उन महीपालों तथा



काशिराजसे उपर्युक्त बातें कहकर उन समस्त कन्याओंको, जिन्हें वे उठाकर अपने रथपर बिठा चुके थे, साथ लेकर सबको ललकारते हुए वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चल दिये ॥ १८-१९ ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः।
संस्पृशन्तः स्वकान् बाहून् दशन्तो दशनच्छदान् ।२०।

फिर तो समस्त राजा इस अपमानको न सह सके; वे अपनी भुजाओंका स्पर्श करते (ताल ठोकते) और दाँतोंसे ओठ चबाते हुए अपनी जगहसे उछल पड़े ॥ २० ॥

तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम्।
आमुञ्चतां च वर्माणि सम्भ्रमः सुमहानभूत् ॥ २१ ॥

सब लोग जल्दी-जल्दी अपने आभूषण उतारकर कवच पहनने लगे। उस समय बड़ा भारी कोलाहल मच गया ॥

ताराणामिव सम्पातो बभूव जनमेजय।
भूषणानां च सर्वेषां कवचानां च सर्वशः ॥ २२ ॥
सवर्मभिर्भूषणैश्च प्रकीर्यद्भिरितस्ततः।
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूकषायीकृतलोचनाः ॥ २३ ॥
सूतोपक्लृप्तान् रुचिरान् सदश्वैरुपकल्पितान्।
रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः ॥ २४ ॥
प्रयान्तमथ कौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः।
ततः समभवद् युद्धं तेषां तस्य च भारत।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २५ ॥

जनमेजय! जल्दबाजीके कारण उन सबके आभूषण और कवच इधर-उधर गिर पड़ते थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमण्डलसे तारे टूट-टूट कर गिर रहे हों। कितने ही योद्धाओंके कवच और गहने इधर-उधर बिखर गये। क्रोध और अमर्षके कारण उनकी भौंहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयी थीं। सारथियोंने सुन्दर रथ सजाकर उनमें सुन्दर अश्व जोत दिये थे। उन रथोंपर बैठकर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो हथियार उठाये हुए उन वीरोंने जाते हुए कुरुनन्दन भीष्मजीका पीछा किया। जनमेजय! तदनन्तर उन राजाओं और भीष्मजीका घोर संग्राम हुआ। भीष्मजी अकेले थे और राजालोग बहुत। उनमें रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम छिड़ गया ॥ २२–२५ ॥

ते त्विषून् दश साहस्रांस्तस्मिन् युगपदाक्षिपन्।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वांस्तथान्तरा ॥ २६ ॥
अच्छिनच्छरवर्षेण महता लोमवाहिना।
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवार्य तम् ॥ २७ ॥
ववृषुः शरवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः।
स तं बाणमयं वर्षं शरैरावार्य सर्वतः ॥ २८ ॥
ततः सर्वान् महीपालान् पर्यविध्यात् त्रिभिस्त्रिभिः।
एकैकस्तु ततो भीष्मं राजन् विव्याध पञ्चभिः ॥ २९ ॥

राजन्! उन नरेशोंने भीष्मजीपर एक ही साथ दस हजार बाण चलाये; परंतु भीष्मजीने उन सबको अपने ऊपर आनेसे पहले बीचमें ही विशाल पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया। तब वे सब राजा उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, जैसे बादल पर्वतपर पानीकी धारा बरसाते हैं। भीष्मजीने सब ओरसे उस बाण-वर्षाको रोककर उन सभी राजाओंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया। तब उनमेंसे प्रत्येकने भीष्मजीको पाँच-पाँच बाण मारे ॥ २६–२९ ॥

स च तान् प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमन्।
तद् युद्धमासीत् तुमुलं घोरं देवासुरोपमम् ॥ ३० ॥
पश्यतां लोकवीराणां शरशक्तिसमाकुलम्।
स धनूंषि ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च ॥ ३१ ॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शतशोऽथ सहस्रशः।
तस्यातिपुरुषानन्याँल्लाघवं रथचारिणः ॥ ३२ ॥
रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन्।
तान् विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ ३३ ॥
कन्याभिः सहितः प्रायाद् भारतो भारतान् प्रति।
ततस्तं पृष्ठतो राजञ्छाल्वराजो महारथः ॥ ३४ ॥
अभ्यगच्छदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे।
वारणं जघने भिन्दन् दन्ताभ्यामपरो यथा ॥ ३५ ॥
वासितामनुसम्प्राप्तो यूथपो बलिनां वरः।
स्त्रीकामस्तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिवः ॥ ३६ ॥
शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेण प्रचोदितः।
ततः स पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः ॥ ३७ ॥
तद्वाक्याकुलितः क्रोधाद् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्।
विततेषुधनुष्पाणिर्विकुञ्चितललाटभृत् ॥ ३८ ॥

फिर भीष्मजीने भी अपना पराक्रम प्रकट करते हुए प्रत्येक योद्धाको दो-दो बाणोंसे बींध डाला। बाणों और शक्तियोंसे व्याप्त उनका वह तुमुल युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था। उस समराङ्गणमें भीष्मने लोकविख्यात वीरोंके देखते-देखते उनके धनुष, ध्वजाके अग्रभाग, कवच और मस्तक सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें काट गिराये। युद्धमें रथसे विचरनेवाले भीष्मजीकी दूसरे वीरोंसे बढ़कर हाथकी फुर्ती और आत्मरक्षा आदिकी शत्रुओंने भी सराहना की। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण भीष्मजीने उन सब योद्धाओंको जीतकर कन्याओंको साथ ले भरतवंशियोंकी राजधानी हस्तिनापुरको प्रस्थान किया। राजन्! तब महारथी शाल्वराजने पीछेसे आकर युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मपर आक्रमण किया। शाल्वके शारीरिक बलकी कोई सीमा नहीं थी। जैसे हथिनीके पीछे लगे हुए एक गजराजके पृष्ठभागमें उसीका पीछा करनेवाला दूसरा यूथपति दाँतोंसे प्रहार करके उसे विदीर्ण करना चाहता है, उसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु शाल्वराज स्त्रीको पानेकी इच्छासे ईर्ष्या और क्रोधके वशीभूत हो भीष्मका पीछा करते हुए उनसे बोला—'अरे ओ! खड़ा रह, खड़ा रह।' तब शत्रुसेनाका संहार करनेवाले पुरुषसिंह भीष्म उसके

वचनोंको सुनकर क्रोधसे व्याकुल हो धूमरहित अग्निके समान जलने लगे और हाथमें धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। उनके ललाटमें सिकुड़न आ गयी ॥ ३०—३८ ॥

क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसम्भ्रमः।
निवर्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ॥ ३९ ॥

महारथी भीष्मने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले भय और घबराहट छोड़कर शाल्वकी ओर अपना रथ लौटाया ॥ ३९ ॥

निवर्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमे ॥ ४० ॥

उन्हें लौटते देख सब राजा भीष्म और शाल्वके युद्धमें कुछ भाग न लेकर केवल दर्शक बन गये ॥ ४० ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे।
अन्योन्यमभ्यवर्तेतां बलविक्रमशालिनौ ॥ ४१ ॥

वे दोनों बलवान् वीर मैथुनकी इच्छावाली गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो साँड़ोंकी तरह हुंकार करते हुए एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही बल और पराक्रमसे सुशोभित थे ॥

ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजा शाल्व शान्तनुनन्दन भीष्म-पर सैकड़ों और हजारों शीघ्रगामी बाणोंकी बौछार करने लगा ॥

पूर्वमभ्यर्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः।
विस्मिताः समपद्यन्त साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ ४३ ॥

शाल्वने पहले ही भीष्मको पीड़ित कर दिया। यह देखकर सभी राजा आश्चर्यचकित हो गये और 'वाह-वाह' करने लगे ॥ ४३ ॥

लाघवं तस्य ते दृष्ट्वा समरे सर्वपार्थिवाः।
अपूजयन्त संहृष्टा वाग्भिः शाल्वं नराधिपम् ॥ ४४ ॥

युद्धमें उसकी फुर्ती देख सब राजा बड़े प्रसन्न हुए और अपनी वाणीद्वारा शाल्वनरेशकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४४ ॥

क्षत्रियाणां ततो वाचः श्रुत्वा परपुरंजयः।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ॥ ४५ ॥

शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने क्षत्रियोंकी वे बातें सुनकर कुपित हो शाल्वसे कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४५ ॥

सारथिं चाब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्रैष पार्थिवः।
यावदेनं निहन्म्यद्य भुजङ्गमिव पक्षिराट् ॥ ४६ ॥

फिर सारथिसे कहा—'जहाँ यह राजा शाल्व है, उधर ही रथ ले चलो। जैसे पक्षिराज गरुड सर्पको दबोच लेते हैं, उसी प्रकार मैं इसे अभी मार डालता हूँ' ॥ ४६ ॥

ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग् योजयामास कौरवः।
तेनाश्वांश्चतुरोऽमृद्नाच्छाल्वराजस्य भूपते ॥ ४७ ॥

जनमेजय! तदनन्तर कुरुनन्दन भीष्मने धनुषपर उचित रीतिसे वारुणास्त्रका संधान किया और उसके द्वारा शाल्वराजके चारों घोड़ोंको रौंद डाला ॥ ४७ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराजस्य कौरवः।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत् तस्य सारथिम् ॥ ४८ ॥

नृपश्रेष्ठ! फिर अपने अस्त्रोंसे राजा शाल्वके अस्त्रोंका निवारण करके कुरुवंशी भीष्मने उसके सारथिको भी मार डाला॥

अस्त्रेण चास्याथैन्द्रेण न्यवधीत् तुरगोत्तमान्।
कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठ भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ४९ ॥
जित्वा विसर्जयामास जीवन्तं नृपसत्तमम्।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ॥ ५० ॥
स्वराज्यमन्वशाच्चैव धर्मेण नृपतिस्तदा।
राजानो ये च तत्रासन् स्वयंवरदिदृक्षवः ॥ ५१ ॥
स्वान्येव तेऽपि राष्ट्राणि जग्मुः परपुरंजयाः।
एवं विजित्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५२ ॥
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरवः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा प्रशास्ति वसुधामिमाम् ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् ऐन्द्रास्त्रद्वारा उसके उत्तम अश्वोंको यमलोक पहुँचा दिया। नरश्रेष्ठ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने कन्याओंके लिये युद्ध करके शाल्वको जीत लिया और नृपश्रेष्ठ शाल्वका भी केवल प्राणमात्र छोड़ दिया। जनमेजय! उस समय शाल्व अपनी राजधानीको लौट गया और धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगा। इसी प्रकार शत्रुनगरीपर विजय पाने-वाले जो-जो राजा वहाँ स्वयंवर देखनेकी इच्छासे आये थे, वे भी अपने-अपने देशको चले गये। प्रहार करनेवाले योद्धाओं-में श्रेष्ठ भीष्म उन कन्याओंको जीतकर हस्तिनापुरको चल दिये; जहाँ रहकर धर्मात्मा कुरुवंशी राजा विचित्रवीर्य इस पृथ्वीका शासन करते थे ॥ ४९—५३ ॥

यथा पितास्य कौरव्यः शान्तनुर्नृपसत्तमः।
सोऽचिरेणैव कालेन अत्यक्रामन्नराधिप ॥ ५४ ॥
वनानि सरितश्चैव शैलांश्च विविधान् द्रुमान्।
अक्षतः क्षपयित्वारीन् संख्येऽसंख्येयविक्रमः ॥ ५५ ॥

उनके पिता कुरुश्रेष्ठ नृपशिरोमणि शान्तनु जिस प्रकार राज्य करते थे, वैसा ही वे भी करते थे। जनमेजय! भीष्म-जी थोड़े ही समयमें वन, नदी, पर्वतोंको लाँघते और नाना प्रकारके वृक्षोंको लाँघते और पीछे छोड़ते हुए आगे बढ़ गये। युद्धमें उनका पराक्रम अवर्णनीय था। उन्होंने स्वयं अक्षत रहकर शत्रुओंको ही क्षति पहुँचायी थी ॥ ५४-५५ ॥

आनयामास काश्यस्य सुताः सागरगासुतः।
स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिनीरिव चानुजाः ॥ ५६ ॥

यथा दुहितरश्चैव परिगृह्य ययौ कुरून्।
आनिन्ये स महाबाहुर्भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥ ५७ ॥

धर्मात्मा गङ्गानन्दन भीष्म काशिराजकी कन्याओंको पुत्र-वधू, छोटी बहिन एवं पुत्रीकी भाँति साथ रखकर कुरुदेशमें ले आये। वे महाबाहु अपने भाई विचित्रवीर्यका प्रिय करनेकी इच्छासे उन सबको लाये थे ॥ ५६-५७ ॥

ताः सर्वगुणसम्पन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ॥ ५८ ॥

भाई भीष्मने अपने पराक्रमद्वारा हरकर लायी हुई उन सर्वसद्गुणसम्पन्न कन्याओंको अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यके हाथमें दे दिया ॥ ५८ ॥

एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम्।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ॥ ५९ ॥
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान्।
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्ध सती तदा ॥ ६० ॥

धर्मज्ञ एवं जितात्मा भीष्मजी इस प्रकार धर्मपूर्वक अलौकिक पराक्रम करके माता सत्यवतीसे सलाह ले एक निश्चयपर पहुँचकर भाई विचित्रवीर्यके विवाहकी तैयारी करने लगे। काशिराजकी उन कन्याओंमें जो सबसे बड़ी थी, वह बड़ी सती-साध्वी थी। उसने जब सुना कि भीष्मजी मेरा विवाह अपने छोटे भाईके साथ करेंगे, तब वह उनसे इस प्रकार बोली—॥ ५९-६० ॥

मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः।
तेन चास्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः ॥ ६१ ॥

'धर्मात्मन्! मैंने पहलेसे ही मन-ही-मन सौभ नामक विमानके अधिपति राजा शाल्वको पतिरूपमें वरण कर लिया था। उन्होंने भी पूर्वकालमें मेरा वरण किया था। मेरे पिताजीकी भी यही इच्छा थी कि मेरा विवाह शाल्वके साथ हो॥

मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन् स्वयंवरे।
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ॥ ६२ ॥

'उस स्वयंवरमें मुझे राजा शाल्वका ही वरण करना था। धर्मज्ञ! इन सब बातोंको सोच-समझकर जो धर्मका सार प्रतीत हो, वही कार्य कीजिये' ॥ ६२ ॥

एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि।
चिन्तामभ्यगमद् वीरो युक्तां तस्यैव कर्मणः ॥ ६३ ॥

जब उस कन्याने ब्राह्मणमण्डलीके बीच वीरवर भीष्मजीसे इस प्रकार कहा, तब वे उस वैवाहिक कर्मके विषयमें युक्तियुक्त विचार करने लगे ॥ ६३ ॥

विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥ ६४ ॥

वे स्वयं भी धर्मके ज्ञाता थे; फिर भी वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ भलीभाँति विचार करके उन्होंने काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाको उस समय शाल्वके यहाँ जानेकी अनुमति दे दी ॥ ६४ ॥

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६५ ॥

शेष दो कन्याओंका नाम अम्बिका और अम्बालिका था। उन्हें भीष्मजीने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार छोटे भाई विचित्रवीर्यको पत्नीरूपमें प्रदान किया ॥ ६५ ॥

तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥ ६६ ॥

उन दोनोंका पाणिग्रहण करके रूप और यौवनके अभिमानसे भरे हुए धर्मात्मा विचित्रवीर्य कामात्मा बन गये॥

ते चापि बृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्धजे।
रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ॥ ६७ ॥

उनकी वे दोनों पत्नियाँ सयानी थीं। उनकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी थी। उनके केश नीले और घुँघराले थे; हाथ-पैरोंके नख लाल और ऊँचे थे; नितम्ब और उरोज स्थूल और उभरे हुए थे ॥ ६७ ॥

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते।
विचित्रवीर्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुः शुभे ॥ ६८ ॥

वे यह जानकर संतुष्ट थीं कि हम दोनोंको अपने अनुरूप पति मिले हैं; अतः वे दोनों कल्याणमयी देवियाँ विचित्रवीर्यकी बड़ी सेवा-पूजा करने लगीं ॥ ६८ ॥

स चाश्विरूपसदृशो देवतुल्यपराक्रमः।
सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनो रहः ॥ ६९ ॥

विचित्रवीर्यका रूप अश्विनीकुमारोंके समान था। वे देवताओंके समान पराक्रमी थे। एकान्तमें वे सभी नारियोंके मनको मोह लेनेकी शक्ति रखते थे ॥ ६९ ॥

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥ ७० ॥

राजा विचित्रवीर्यने उन दोनों पत्नियोंके साथ सात वर्षोंतक निरन्तर विहार किया; अतः उस असंयमके परिणामस्वरूप वे युवावस्थामें ही राजयक्ष्माके शिकार हो गये ॥ ७० ॥

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥ ७१ ॥

उनके हितैषी सगे-सम्बन्धियोंने नामी और विश्वसनीय चिकित्सकोंके साथ उनके रोग-निवारणकी पूरी चेष्टा की, तो भी जैसे सूर्य अस्ताचलको चले जाते हैं, उसी प्रकार वे कौरवनरेश यमलोकको चले गये ॥ ७१ ॥

धर्मात्मा स तु गाङ्गेयश्चिन्ताशोकपरायणः ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि तस्य सम्यगकारयत् ॥ ७२ ॥
राज्ञो विचित्रवीर्यस्य सत्यवत्या मते स्थितः ।
ऋत्विग्भिः सहितो भीष्मः सर्वैश्च कुरुपुङ्गवैः ॥ ७३ ॥

धर्मात्मा गङ्गानन्दन भीष्मजी भाईकी मृत्युसे चिन्ता और शोकमें डूब गये । फिर माता सत्यवतीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले उन भीष्मजीने ऋत्विजों तथा कुरुकुलके समस्त श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ राजा विचित्रवीर्यके सभी प्रेतकार्य अच्छी तरह कराये ॥ ७२-७३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्योपरमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यका निधनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीका भीष्मसे राज्यग्रहण और संतानोत्पादनके लिये आग्रह तथा भीष्मके द्वारा अपनी प्रतिज्ञा बतलाते हुए उसकी अस्वीकृति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १ ॥
समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च भाविनी ।
प्रसमीक्ष्य महाभागा गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य कौरव्यस्य यशस्विनः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं च प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली सत्यवती अपने पुत्रके वियोगसे अत्यन्त दीन और कृपण हो गयी । उसने पुत्रवधुओंके साथ पुत्रके प्रेतकार्य करके अपनी दोनों बहुओं तथा शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको धीरज बँधाया । फिर उस महाभागा मङ्गलमयी देवीने धर्म, पितृकुल तथा मातृकुलकी ओर देखकर गङ्गानन्दन भीष्मसे कहा—'बेटा ! सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले परम यशस्वी कुरुनन्दन महाराज शान्तनुके पिण्ड, कीर्ति और वंश ये सब अब तुम्हींपर अवलम्बित हैं ॥ १-३ ॥

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥ ४ ॥

'जैसे शुभ कर्म करके स्वर्गलोकमें जाना निश्चित है, जैसे सत्य बोलनेसे आयुका बढ़ना अवश्यम्भावी है, वैसे ही तुममें धर्मका होना भी निश्चित है ॥ ४ ॥

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ५ ॥

'धर्मज्ञ ! तुम सब धर्मोंको संक्षेप और विस्तारसे जानते हो । नाना प्रकारकी श्रुतियों और समस्त वेदाङ्गोंका भी तुम्हें पूर्ण ज्ञान है ॥ ५ ॥

व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ ६ ॥

'मैं तुम्हारी धर्मनिष्ठा और कुलोचित सदाचारको भी देखती हूँ । संकटके समय शुक्राचार्य और बृहस्पतिकी भाँति तुम्हारी बुद्धि उपयुक्त कर्तव्यका निर्णय करनेमें समर्थ है ॥ ६ ॥

तस्मात् सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर ।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

'अतः धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्म ! तुमपर अत्यन्त विश्वास रखकर ही मैं तुम्हें एक आवश्यक कार्यमें लगाना चाहती हूँ । तुम पहले उसे सुन लो; फिर उसका पालन करनेकी चेष्टा करो ॥ ७ ॥

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते ।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ॥ ९ ॥
तयोरुत्पादयापत्यं संतानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥ १० ॥

'मेरा पुत्र और तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य जो पराक्रमी होनेके साथ ही तुम्हें अत्यन्त प्रिय था, छोटी अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया । नरश्रेष्ठ ! उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था । तुम्हारे भाईकी ये दोनों सुन्दरी रानियाँ, जो काशिराजकी कन्याएँ हैं, मनोहर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न हैं । इनके हृदयमें पुत्र पानेकी अभिलाषा है । भारत ! तुम हमारे कुलकी संतानपरम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये स्वयं ही इन दोनोंके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करो । महाबाहो ! मेरी आज्ञासे यह धर्मकार्य तुम अवश्य करो ॥ ८-१० ॥

राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च ।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ॥ ११ ॥

'राज्यपर अपना अभिषेक करो और भारतीय प्रजाका पालन करते रहो । धर्मके अनुसार विवाह कर लो; पितरोंको नरकमें न गिरने दो' ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोच्यमानो मात्रा स सुहृद्भिश्च परंतपः ।
इत्युवाचाथ धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता और सुहृदोंके ऐसा कहनेपर शत्रुदमन धर्मात्मा भीष्मने यह धर्मानुकूल उत्तर दिया—॥ १२ ॥

असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः ।
राज्यार्थे नाभिषिच्येयं नोपेयां जातु मैथुनम् ।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम् ॥ १३ ॥
जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे ।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः ॥ १४ ॥

'माता ! तुमने जो कुछ कहा है, वह धर्मयुक्त है, इसमें संशय नहीं; परंतु मैं राज्यके लोभसे न तो अपना अभिषेक कराऊँगा और न स्त्रीसहवास ही करूँगा। संतानोत्पादन और राज्य ग्रहण न करनेके विषयमें जो मेरी कठोर प्रतिज्ञा है, उसे तो तुम जानती ही हो। सत्यवती ! तुम्हारे लिये शुल्क देनेके हेतु जो-जो बातें हुई थीं, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं। उन प्रतिज्ञाओंको पुनः सच्ची करनेके लिये मैं अपना दृढ़ निश्चय बताता हूँ ॥ १३-१४ ॥

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥ १५ ॥

'मैं तीनों लोकोंका राज्य, देवताओंका साम्राज्य अथवा इन दोनोंसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तुको भी एकदम त्याग सकता हूँ; परंतु सत्यको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता ॥

त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्च रसमात्मनः ।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् १६

'पृथ्वी अपनी गंध छोड़ दे, जल अपने रसका परित्याग कर दे, तेज रूपका और वायु स्पर्श नामक स्वाभाविक गुणका त्याग कर दे ॥ १६ ॥

प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम् ।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत्॥१७॥

'सूर्य प्रभा और अग्नि अपनी उष्णताको छोड़ दे, आकाश शब्दका और चन्द्रमा अपनी शीतलताका परित्याग कर दे ॥

विक्रमं वृत्रहा जह्याद् धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥ १८ ॥

'इन्द्र पराक्रमको छोड़ दें और धर्मराज धर्मकी उपेक्षा कर दें; परंतु मैं किसी प्रकार सत्यको छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

(तत्र जात्वन्यथा कुर्यां लोकानामपि संक्षये ।
अमरत्वस्य वा हेतोस्त्रैलोक्यसदनस्य वा ॥
एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा ।)

माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम् ॥ १९ ॥
जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम ।
इच्छन् सृजेथास्त्रींल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा॥ २०॥
जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थं यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥ २१ ॥

'सारे संसारका नाश हो जाय, मुझे अमरत्व मिलता हो या त्रिलोकीका राज्य प्राप्त हो, तो भी मैं अपने किये हुए प्रणको नहीं तोड़ सकता।' महान् तेजोरूप धनसे सम्पन्न अपने पुत्र भीष्मके ऐसा कहनेपर माता सत्यवती इस प्रकार बोली—'बेटा ! तुम सत्यपराक्रमी हो। मैं जानती हूँ, सत्यमें तुम्हारी दृढ़ निष्ठा है। तुम चाहो तो अपने ही तेजसे नयी त्रिलोकीकी रचना कर सकते हो। मैं उस सत्यको भी नहीं भूल सकी हूँ, जिसकी तुमने मेरे लिये घोषणा की थी। फिर भी मेरा आग्रह है कि तुम आपद्धर्मका विचार करके बाप-दादोंके दिये हुए इस राज्यभारको वहन करो ॥ १९–२१ ॥

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत् ।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परंतप ॥ २२ ॥

'परंतप ! जिस उपायसे तुम्हारे वंशकी परम्परा नष्ट न हो, धर्मकी भी अवहेलना न होने पावे और प्रेमी सुहृद् भी संतुष्ट हो जायँ, वही करो' ॥ २२ ॥

लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ॥ २३ ॥

पुत्रकी कामनासे दीन वचन बोलनेवाली और मुखसे धर्मरहित बात कहनेवाली सत्यवतीसे भीष्मने फिर यह बात कही—॥ २३ ॥

राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान् व्यनीनशः ।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥ २४ ॥

'राजमाता ! धर्मकी ओर दृष्टि डालो, हम सबका नाश न करो। क्षत्रियका सत्यसे विचलित होना किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं माना गया है ॥ २४ ॥

शान्तनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयं भुवि ।
तत् ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ॥ २५ ॥

'राजमाता ! महाराज शान्तनुकी संतानपरम्परा भी जिस उपायसे इस भूतलपर अक्षय बनी रहे, वह धर्मयुक्त उपाय मैं तुम्हें बतलाऊँगा। वह सनातन क्षत्रियधर्म है ॥ २५ ॥

श्रुत्वा तं प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः ।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ॥ २६ ॥

उसे आपद्धर्मके निर्णयमें कुशल विद्वान् पुरोहितोंसे सुनकर और लोकतन्त्रकी ओर भी देखकर निश्चय करो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म-सत्यवती-संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मकी सम्मतिसे सत्यवतीद्वारा व्यासका आवाहन और व्यासजीका माताकी आज्ञासे कुरुवंशकी वृद्धिके लिये विचित्रवीर्यकी पत्नियोंके गर्भसे संतानोत्पादन करनेकी स्वीकृति देना

भीष्म उवाच

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं संतानवृद्धये ।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम् ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—मातः! भरतवंशकी संतानपरम्पराको बढ़ाने और सुरक्षित रखनेके लिये जो नियत उपाय है, उसे मैं बता रहा हूँ; सुनो। किसी गुणवान्* ब्राह्मणको धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंके गर्भसे संतान उत्पन्न कर सके॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया ।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब सत्यवती कुछ हँसती और साथ ही लजाती हुई भीष्मजीसे इस प्रकार बोली। बोलते समय उसकी वाणी संकोचसे कुछ अस्पष्ट-सी हो जाती थी ॥ ३ ॥

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
विश्वासात् ते प्रवक्ष्यामि संतानाय कुलस्य नः ॥ ४ ॥

उसने कहा—'महाबाहु भीष्म ! तुम जैसा कहते हो वही ठीक है। तुमपर विश्वास होनेसे अपने कुलकी संततिकी रक्षाके लिये तुम्हें मैं एक बात बतलाती हूँ ॥ ४ ॥

न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धर्मं तथाविधम् ।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परा गतिः ॥ ५ ॥

'ऐसे आपद्धर्मको देखकर वह बात तुम्हें बताये बिना मैं नहीं रह सकती। तुम्हीं हमारे कुलमें मूर्तिमान् धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो और तुम्हीं परम गति हो ॥ ५ ॥

तस्मान्निशम्य सत्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम् ।
(यस्तु राजा वसुर्नाम श्रुतस्ते भरतर्षभ ।
तस्य शुक्रादहं मत्स्याद् धृता कुक्षौ पुरा किल ॥
मातरं मे जलाद्धृत्वा दाशः परमधर्मवित् ।
मां तु स्वगृहमानीय दुहितृत्वे ह्यकल्पयत् ॥)
धर्मयुक्तस्य धर्मार्थं पितुरासीत् तरी मम ॥ ६ ॥

'अतः मेरी सच्ची बात सुनकर उसके बाद जो कर्तव्य हो, उसे करो।

'भरतश्रेष्ठ ! तुमने महाराज वसुका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें मैं उन्हींके वीर्यसे उत्पन्न हुई थी। मुझे एक मछलीने अपने पेटमें धारण किया था। एक परम धर्मज्ञ मल्लाहने जलमेंसे मेरी माताको पकड़ा, उसके पेटसे मुझे निकाला और अपने घर लाकर अपनी पुत्री बनाकर रक्खा। मेरे उन धर्मपरायण पिताके पास एक नौका थी, जो (धनके लिये नहीं) धर्मार्थ चलायी जाती थी ॥ ६ ॥

सा कदाचिदहं तत्र गता प्रथमयौवनम् ।
अथ धर्मविदां श्रेष्ठः परमर्षिः पराशरः ॥ ७ ॥

---

* यहाँ गुणवान्‌का अर्थ है—नियोगकी विधिको जाननेवाला संयमी पुरुष। मनु महाराजने स्त्रियोंके आपद्धर्मके प्रसङ्गमें लिखा है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥
(मनुस्मृति ९ । ६१)

विधवा स्त्रीके साथ सहवासके लिये (पतिपक्षके गुरुजनोंद्वारा) नियुक्त पुरुष अपने सारे शरीरपर घी चुपड़कर (सौन्दर्य बिगाड़कर), वाणीको संयममें रखकर (चुपचाप रहकर) रात्रिमें सहवास करे। इस प्रकार वह एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी न करे।

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥
(मनुस्मृति ९ । ६३)

विधवामें नियोगके लिये विधिके अनुसार (अर्थात् कामवश न होकर कर्तव्य बुद्धिसे) चित्तको संयमित और इन्द्रियोंको अनासक्त रखते हुए नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर दोनों परस्पर पिता और पुत्रवधूके समान बर्ताव करें (अर्थात् स्त्री उसको पिताके समान समझकर बरते और पुरुष उसे पुत्रवधूके समान मानकर बर्ताव करे)।

कलियुगमें मनुष्योंके असंयमी और कामी होनेके कारण नियोग वर्जित है।

आजगाम तरीं धीमांस्तरिष्यन् यमुनां नदीम् ।
स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याब्रवीत् तदा ॥ ८ ॥
सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं वचः ।
उक्त्वा जन्म कुलं मह्यमसि दाशसुतेत्यहम् ॥ ९ ॥

'एक दिन मैं उसी नावपर गयी हुई थी। उन दिनों मेरे यौवनका प्रारम्भ था। उसी समय धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् महर्षि पराशर यमुना नदी पार करनेके लिये मेरी नावपर आये। मैं उन्हें पार ले जा रही थी, तबतक वे मुनिश्रेष्ठ काम-पीड़ित हो मेरे पास आ मुझे समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले और उन्होंने मुझसे अपने जन्म और कुलका परिचय दिया। इसपर मैंने कहा—'भगवन्! मैं तो निषादकी पुत्री हूँ' ॥ ७-९ ॥

तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत ।
वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे ॥ १० ॥

'भारत! एक ओर मैं पिताजीसे डरती थी और दूसरी ओर मुझे मुनिके शापका भी डर था। उस समय महर्षिने मुझे दुर्लभ वर देकर उत्साहित किया, जिससे मैं उनके अनुरोधको टाल न सकी ॥ १० ॥

अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत् ।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत ॥ ११ ॥
मत्स्यगन्धो महानासीत् पुरा मम जुगुप्सितः ।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रादात् स मे मुनिः ॥ १२ ॥

'यद्यपि मैं चाहती नहीं थी, तो भी उन्होंने मुझ अबला-को अपने तेजसे तिरस्कृत करके नौकापर ही मुझे अपने वशमें कर लिया। उस समय उन्होंने कुहरा उत्पन्न करके सम्पूर्ण लोकको अन्धकारसे आवृत कर दिया था। भारत! पहले मेरे शरीरसे अत्यन्त घृणित मछलीकी-सी बड़ी तीव्र दुर्गन्ध आती थी। उसको मिटाकर मुनिने मुझे यह उत्तम गन्ध प्रदान की थी ॥

ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम् ।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ १३ ॥

'तदनन्तर मुनिने मुझसे कहा—'तुम इस यमुनाके ही द्वीपमें मेरे द्वारा स्थापित इस गर्भको त्यागकर फिर कन्या ही हो जाओगी' ॥ १३ ॥

पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः ।
कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः ॥ १४ ॥

'उस गर्भसे पराशरजीके पुत्र महान् योगी महर्षि व्यास प्रकट हुए। वे ही द्वैपायन नामसे विख्यात हैं। वे मेरे कन्यावस्थाके पुत्र हैं ॥ १४ ॥

यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च ॥ १५ ॥

'वे भगवान् द्वैपायन मुनि अपने तपोबलसे चारों वेदोंका पृथक्-पृथक् विस्तार करके लोकमें 'व्यास' पदवीको प्राप्त हुए हैं। शरीरका रंग साँवला होनेसे उन्हें लोग 'कृष्ण' भी कहते हैं ॥ १५ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः ।
समुत्पन्नः स तु महान् सह पित्रा ततो गतः ॥ १६ ॥

'वे सत्यवादी, शान्त, तपस्वी और पापशून्य हैं। वे उत्पन्न होते ही बड़े होकर उस द्वीपसे अपने पिताके साथ चले गये थे ॥ १६ ॥

स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः ।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

'मेरे और तुम्हारे आग्रह करनेपर वे अनुपम तेजस्वी व्यास अवश्य ही अपने भाईके क्षेत्रमें कल्याणकारी संतान उत्पन्न करेंगे ॥ १७ ॥

स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृच्छ्रेषु मामिति ।
तं स्मरिष्ये महाबाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि ॥ १८ ॥

'उन्होंने जाते समय मुझसे कहा था कि संकटके समय मुझे याद करना। महाबाहु भीष्म! यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो मैं उन्हींका स्मरण करूँ ॥ १८ ॥

तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥ १९ ॥

'भीष्म! तुम्हारी अनुमति मिल जाय, तो महातपस्वी व्यास निश्चय ही विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंसे पुत्रोंको उत्पन्न करेंगे' ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति ॥ २० ॥
अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मं धर्मानुबन्धनम् ।
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ॥ २२ ॥
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते भृशम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महर्षि व्यासका नाम लेते ही भीष्मजी हाथ जोड़कर बोले—'माताजी! जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका बारंबार विचार करता है तथा यह भी जानता है कि किस प्रकार अर्थसे अर्थ, धर्मसे धर्म और कामसे कामरूप फलकी प्राप्ति होती है और वह परिणाममें कैसे सुखद होता है तथा किस प्रकार अर्थादिके सेवनसे विपरीत फल (अर्थनाश आदि) प्रकट होते हैं, इन बातोंपर पृथक्-पृथक् भलीभाँति विचार करके जो धीर पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करता है, वही बुद्धिमान् है। तुमने जो बात कही है, वह धर्मयुक्त तो है ही, हमारे

कुलके लिये भी हितकर और कल्याणकारी है; इसलिये मुझे बहुत अच्छी लगी है' ॥ २०-२२½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन् प्रतिज्ञाते भीष्मेण कुरुनन्दन ॥ २३ ॥
कृष्णद्वैपायनं काली चिन्तयामास वै मुनिम्।
स वेदान् विब्रुवन् धीमान् मातुर्विज्ञाय चिन्तितम्॥२४॥
प्रादुर्बभूवाविदितः क्षणेन कुरुनन्दन।
तस्मै पूजां ततः कृत्वा सुताय विधिपूर्वकम् ॥ २५ ॥
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्नवैरभ्यषिञ्चत।
मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन! उस समय भीष्मजीके इस प्रकार अपनी सम्मति देनेपर काली (सत्यवती) ने मुनिवर कृष्णद्वैपायनका चिन्तन किया। जनमेजय! माताने मेरा स्मरण किया है, यह जानकर परम बुद्धिमान् व्यासजी वेदमन्त्रोंका पाठ करते हुए क्षणभरमें वहाँ प्रकट हो गये। वे कब किधरसे आ गये, इसका पता किसीको न चला। सत्यवतीने अपने पुत्रका भलीभाँति सत्कार किया और दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन करके अपने स्तनोंके झरते हुए दूधसे उनका अभिषेक किया। अपने पुत्रको दीर्घकालके बाद देखकर सत्यवतीकी आँखोंसे स्नेह और आनन्दके आँसू बहने लगे ॥ २३-२६ ॥

तामद्भिः परिषिच्यार्तां महर्षिरभिवाद्य च।
मातरं पूर्वजः पुत्रो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तदनन्तर सत्यवतीके प्रथम पुत्र महर्षि व्यासने अपने कमण्डलुके पवित्र जलसे दुःखिनी माताका अभिषेक किया और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ २७ ॥

भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥ २८ ॥

'धर्मके तत्त्वको जाननेवाली माताजी! आपकी जो हार्दिक इच्छा हो, उसके अनुसार कार्य करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ। आज्ञा दीजिये, मैं आपकी कौन-सी प्रिय सेवा करूँ' ॥ २८ ॥

तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत् पुरोधाः परमर्षये।
स च तां प्रतिजग्राह विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् पुरोहितने महर्षिका विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारणके साथ पूजन किया और महर्षिने उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ २९ ॥

पूजितो मन्त्रपूर्वं तु विधिवत् प्रीतिमाप सः।
तमासनगतं माता पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३० ॥
सत्यवत्यथ वीक्ष्यैनमुवाचेदमनन्तरम्।

विधि और मन्त्रोच्चारणपूर्वक की हुई उस पूजासे व्यासजी बहुत प्रसन्न हुए। जब वे आसनपर बैठ गये, तब माता सत्यवतीने उनका कुशल-क्षेम पूछा और उनकी ओर देखकर इस प्रकार कहा—॥ ३०½ ॥

मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे ॥ ३१ ॥
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः।
विधानविहितः सत्यं यथा मे प्रथमः सुतः ॥ ३२ ॥
विचित्रवीर्यो ब्रह्मर्षे तथा मेऽवरजः सुतः।
यथैव पितृतो भीष्मस्तथा त्वमपि मातृतः ॥ ३३ ॥
भ्राता विचित्रवीर्यस्य यथा वा पुत्र मन्यसे।
अयं शान्तनवः सत्यं पालयन् सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

'विद्वन्! माता और पिता दोनोंसे पुत्रोंका जन्म होता है, अतः उनपर दोनोंका समान अधिकार है। जैसे पिता पुत्रोंका स्वामी है, उसी प्रकार माता भी है। इसमें संदेह नहीं है। ब्रह्मर्षे! विधाताके विधान या मेरे पूर्वजन्मोंके पुण्यसे जिस प्रकार तुम मेरे प्रथम पुत्र हो, उसी प्रकार विचित्रवीर्य मेरा सबसे छोटा पुत्र था। जैसे एक पिताके नाते भीष्म उसके भाई हैं, उसी प्रकार एक माताके नाते तुम भी विचित्रवीर्यके भाई ही हो। बेटा! मेरी तो ऐसी ही मान्यता है; फिर तुम जैसा समझो। ये सत्यपराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सत्यका पालन कर रहे हैं ॥ ॥ ३१-३४ ॥

बुद्धिं न कुरुतेऽपत्ये तथा राज्यानुशासने।
स त्वं व्यपेक्षया भ्रातुः संतानाय कुलस्य च ॥ ३५ ॥
भीष्मस्य चास्य वचनान्नियोगाच्च ममानघ।
अनुक्रोशाच्च भूतानां सर्वेषां रक्षणाय च ॥ ३६ ॥
आनृशंस्याच्च यद् ब्रूयां तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि।
यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे ॥ ३७ ॥
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च धर्मतः।
तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक ॥ ३८ ॥
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च।

'अनघ! संतानोत्पादन तथा राज्य-शासन करनेका इनका विचार नहीं है; अतः तुम अपने भाईके पारलौकिक हितका विचार करके तथा कुलकी संतान-परम्पराकी रक्षाके लिये भीष्मके अनुरोध और मेरी आज्ञासे सब प्राणियोंपर दया करके उनकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे और अपने अन्तःकरणकी कोमल वृत्तिको देखते हुए मैं जो कुछ कहूँ, उसे सुनकर उसका पालन करो। तुम्हारे छोटे भाईकी पत्नियाँ देवकन्याओंके समान सुन्दर रूप तथा युवावस्थासे सम्पन्न हैं। उनके मनमें धर्मतः पुत्र पानेकी कामना है। पुत्र! तुम इसके लिये समर्थ हो, अतः उन दोनोंके गर्भसे ऐसी संतानोंको जन्म दो, जो इस कुल-परम्पराकी रक्षा तथा वृद्धिके लिये सर्वथा सुयोग्य हों' ॥ ३५-३८½ ॥

व्यास उवाच

वेत्थ धर्मं सत्यवति परं चापरमेव च ॥ ३९ ॥
तथा तव महाप्राज्ञे धर्मे प्रणिहिता मतिः ।
तस्मादहं त्वन्नियोगाद् धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ४० ॥
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम् ।
भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥ ४१ ॥

व्यासजीने कहा—माता सत्यवती ! आप पर और अपर दोनों प्रकारके धर्मोंको जानती हैं । महाप्राज्ञे ! आपकी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहती है । अतः मैं आपकी आज्ञासे धर्मको ही दृष्टिमें रखकर (कामके वश न होकर ही) आपकी इच्छाके अनुरूप कार्य करूँगा । यह सनातन मार्ग शास्त्रोंमें देखा गया है । मैं अपने भाईके लिये मित्र और वरुणके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूँगा ॥ ३९-४१ ॥

व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ।
संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ॥ ४२ ॥
न हि मामव्रतोपेता उपेयात् काचिदङ्गना ।

विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंको मेरे बताये अनुसार एक वर्षतक विधिपूर्वक व्रत (जितेन्द्रिय होकर केवल संतानार्थ साधन) करना होगा, तभी वे शुद्ध होंगी । जिसने व्रतका पालन नहीं किया है, ऐसी कोई भी स्त्री मेरे समीप नहीं आ सकती ॥ ४२½ ॥

सत्यवत्युवाच

सद्यो यथा प्रपद्येते देव्यौ गर्भं तथा कुरु ॥ ४३ ॥

सत्यवतीने कहा—बेटा ! ये दोनों रानियाँ जिस प्रकार शीघ्र गर्भ धारण करें, वह उपाय करो ॥ ४३ ॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजानाथा विनश्यति ।
नश्यन्ति च क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता ॥ ४४ ॥

राज्यमें इस समय कोई राजा नहीं है । बिना राजाके राज्यकी प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जाती है । यज्ञ-दान आदि क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं । उस राज्यमें न वर्षा होती है, न देवता वास करते हैं ॥ ४४ ॥

कथं चाराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो ।
तस्माद् गर्भं समाधत्स्व भीष्मः संवर्धयिष्यति ॥ ४५ ॥

प्रभो ! तुम्हीं सोचो, बिना राजाका राज्य कैसे सुरक्षित और अनुशासित रह सकता है । इसलिये शीघ्र गर्भाधान करो । भीष्म बालकको पाल-पोसकर बड़ा कर लेंगे ॥ ४५ ॥

व्यास उवाच

यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः ।
विरूपतां मे सहतां तयोरेतत् परं व्रतम् ॥ ४६ ॥

व्यासजी बोले—माँ ! यदि मुझे समयका नियम न रखकर शीघ्र ही अपने भाईके लिये पुत्र प्रदान करना है, तो उन देवियोंके लिये यह उत्तम व्रत आवश्यक है कि वे मेरे असुन्दर रूपको देखकर शान्त रहें; डरें नहीं ॥ ४६ ॥

यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।
अद्यैव गर्भं कौसल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥ ४७ ॥

यदि कौसल्या (अम्बिका) मेरे गन्ध, रूप, वेष और शरीरको सहन कर ले तो वह आज ही एक उत्तम बालकको अपने गर्भमें पा सकती है ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महातेजा व्यासः सत्यवतीं तदा ।
शयने सा च कौसल्या शुचिवस्त्रा ह्यलंकृता ॥ ४८ ॥
समागमनमाकाङ्क्षेदिति सोऽन्तर्हितो मुनिः ।
ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ॥ ४९ ॥
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ।
कौसल्ये धर्मतन्त्रं त्वां यद् ब्रवीमि निबोध तत् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहनेके बाद महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ व्यासजी सत्यवतीसे फिर 'अच्छा तो कौसल्या (ऋतु-स्नानके पश्चात्) शुद्ध वस्त्र और शृङ्गार धारण करके शय्यापर मिलनकी प्रतीक्षा करे' यों कहकर अन्तर्धान हो गये । तदनन्तर देवी सत्यवतीने एकान्तमें आयी हुई अपनी पुत्रवधू अम्बिकाके पास जाकर उससे (आपद्) धर्म और अर्थसे युक्त हितकारक वचन कहा—'कौसल्ये ! मैं तुमसे जो धर्मसङ्गत बात कह रही हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ४८-५० ॥

भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ।
व्यथितां मां च सम्प्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ॥ ५१ ॥
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्यास्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ॥ ५२ ॥

'मेरे भाग्यका नाश हो जानेसे अब भरतवंशका उच्छेद हो चला है, यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है । इसके कारण मुझे व्यथित और पितृकुलको पीड़ित देख भीष्मने इस कुलकी वृद्धिके लिये मुझे एक सम्मति दी है । बेटी ! उस सम्मतिकी सार्थकता तुम्हारे अधीन है । तुम भीष्मके बताये अनुसार मुझे उस अवस्थामें पहुँचाओ, जिससे मैं अपने अभीष्टकी सिद्धि देख सकूँ ॥ ५१-५२ ॥

नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ॥ ५३ ॥
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ।

'सुश्रोणि ! इस नष्ट होते हुए भरतवंशका पुनः उद्धार करो ।

तुम देवराज इन्द्रके समान एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दो। वही हमारे कुलके इस महान् राज्य-भारको वहन करेगा' ॥ ५३½ ॥

सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद् धर्मचारिणीम्।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ५४ ॥

कौसल्या धर्मका आचरण करनेवाली थी। सत्यवतीने धर्मको सामने रखकर ही उसे किसी प्रकार समझा-बुझाकर (बड़ी कठिनतासे) इस कार्यके लिये तैयार किया। उसके बाद ब्राह्मणों, देवर्षियों तथा अतिथियोंको भोजन कराया ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवत्युपदेशे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवती-उपदेशविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(इस अध्यायमें ५४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल ५६ श्लोक हैं)



पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा विचित्रवीर्यके क्षेत्रसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सत्यवती ठीक समयपर अपनी ऋतुस्नाता पुत्रवधूको शय्यापर बैठाती हुई धीरेसे बोली— ॥ १ ॥

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥

'कौसल्ये! तुम्हारे एक देवर हैं, वे ही आज तुम्हारे पास गर्भाधानके लिये आयेंगे। तुम सावधान होकर उनकी प्रतीक्षा करो। वे ठीक आधी रातके समय यहाँ पधारेंगे' ॥ २ ॥

श्वश्र्वास्तद् वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे।
साचिन्तयत् तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥ ३ ॥

सासकी यह बात सुनकर कौसल्या पवित्र शय्यापर शयन करके उस समय मन-ही-मन भीष्म तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियों-का चिन्तन करने लगी ॥ ३ ॥

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

उस समय नियोगविधिके अनुसार सत्यवादी महर्षि व्यासने अम्बिकाके महलमें (शरीरपर घी चुपड़े हुए, संयत-चित्त, कुत्सित रूपमें) प्रवेश किया। उस समय बहुतसे दीपक वहाँ प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४ ॥

तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

व्यासजीके शरीरका रंग काला था, उनकी जटाएँ पिंगल वर्णकी और आँखें चमक रही थीं तथा दाढ़ी-मूँछ भूरे रंगकी दिखायी देती थी। उन्हें देखकर देवी कौसल्याने (भयके मारे) अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥ ५ ॥

सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया।
भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

माताका प्रिय करनेकी इच्छासे व्यासजीने उसके साथ समागम किया; परंतु काशिराजकी कन्या भयके मारे उनकी ओर अच्छी तरह देख न सकी ॥ ६ ॥

ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह।
अप्यस्या गुणवान् पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥

जब व्यासजी उसके महलसे बाहर निकले, तब माता सत्यवतीने आकर उनसे पूछा—'बेटा! क्या अम्बिकाके गर्भसे कोई गुणवान् राजकुमार उत्पन्न होगा?' ॥ ७ ॥

निशम्य तद् वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः।
नागायुतसमप्राणो विद्वान् राजर्षिसत्तमः ॥ ८ ॥
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति।
तस्य चापि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महात्मनः ॥ ९ ॥

माताका यह वचन सुनकर सत्यवतीनन्दन व्यासजी बोले—'माँ! वह दस हजार हाथियोंके समान बलवान्, विद्वान्, राजर्षियोंमें श्रेष्ठ, परम सौभाग्यशाली, महापराक्रमी तथा अत्यन्त बुद्धिमान् होगा। उस महामनाके भी सौ पुत्र होंगे ॥ ८-९ ॥

किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥ १० ॥
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन।
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम् ॥ ११ ॥
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि।

'किंतु माताके दोषसे वह बालक अन्धा ही होगा।' व्यासजीकी यह बात सुनकर माताने कहा—'तपोधन! कुरुवंश-का राजा अन्धा हो यह उचित नहीं है। अतः कुरुवंशके लिये दूसरा राजा दो, जो जातिभाइयों तथा समस्त कुलका संरक्षक और पिताका वंश बढ़ानेवाला हो' ॥ १०-११½ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः ॥ १२ ॥

महायशस्वी व्यासजी 'तथास्तु' कहकर वहाँसे निकल गये ॥ १२ ॥

सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ।
पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ॥ १३ ॥
ऋषिमावाहयत् सत्या यथा पूर्वमरिंदम ।
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ॥ १४ ॥
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ।
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ॥ १५ ॥

प्रसवका समय आनेपर कौसल्याने उसी अन्धे पुत्रको जन्म दिया । जनमेजय ! तत्पश्चात् देवी सत्यवतीने अपनी दूसरी पुत्रवधूको समझा-बुझाकर गर्भाधानके लिये तैयार किया और इसके लिये पूर्ववत् महर्षि व्यासका आवाहन किया । फिर महर्षिने उसी (नियोगकी संयमपूर्ण) विधिसे देवी अम्बालिका-के साथ समागम किया । भारत ! महर्षि व्यासको देखकर वह भी कान्तिहीन तथा पाण्डुवर्णकी-सी हो गयी ॥ १३–१५ ॥

तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उसे भयभीत, विषादग्रस्त तथा पाण्डुवर्णकी-सी देख सत्यवतीनन्दन व्यासने यों कहा—॥ १६ ॥

यस्मात् पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह ।
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति ॥ १७ ॥

'अम्बालिके ! तुम मुझे विरूप देखकर पाण्डुवर्णकी-सी हो गयी थीं, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र पाण्डु रंगका ही होगा ॥ १७ ॥

नाम चास्यैतदेवेह भविष्यति शुभानने ।
इत्युक्त्वा स निरक्रामद् भगवानृषिसत्तमः ॥ १८ ॥

'शुभानने ! इस बालकका नाम भी संसारमें 'पाण्डु' ही होगा ।' ऐसा कहकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् व्यास वहाँसे निकल गये ॥ १८ ॥

ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाब्रवीत् ।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ॥ १९ ॥

उस महलसे निकलनेपर सत्यवतीने अपने पुत्रसे उसके विषयमें पूछा । तब व्यासजीने भी मातासे उस बालकके पाण्डुवर्ण होनेकी बात बता दी ॥ १९ ॥

तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत ।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥ २० ॥

उसके बाद सत्यवतीने पुनः एक दूसरे पुत्रके लिये उनसे याचना की । महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर माताकी आज्ञा स्वीकार कर ली ॥ २० ॥

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ।
पाण्डुं लक्षणसम्पन्नं दीप्यमानमिव श्रिया ॥ २१ ॥

तदनन्तर देवी अम्बालिकाने समय आनेपर एक पाण्डु वर्ण-के पुत्रको जन्म दिया । वह अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित हो रहा था ॥ २१ ॥

यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ।
ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत् ॥ २२ ॥

यह वही बालक था, जिसके पुत्र महाधनुर्धारी पाँच पाण्डव हुए । इसके बाद ऋतुकाल आनेपर सत्यवतीने अपनी बड़ी बहू अम्बिकाको पुनः व्यासजीसे मिलनेके लिये नियुक्त किया ॥ २२ ॥

सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम् ।
नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा ॥ २३ ॥

परंतु देवकन्याके समान सुन्दरी अम्बिकाने महर्षिके उस कुत्सित रूप और गन्धका चिन्तन करके भयके मारे देवी सत्यवतीकी आज्ञा नहीं मानी ॥ २३ ॥

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम् ।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ॥ २४ ॥

काशिराजकी पुत्री अम्बिकाने अप्सराके समान सुन्दरी अपनी एक दासीको अपने ही आभूषणोंसे विभूषित करके काले-कलूटे महर्षि व्यासके पास भेज दिया ॥ २४ ॥

सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ॥ २५ ॥

महर्षिके आनेपर उस दासीने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा मिलनेपर वह शय्या-पर बैठी और सत्कारपूर्वक उनकी सेवा-पूजा करने लगी ॥ २५ ॥

कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ।
तया सहोषितो राजन् महर्षिः संशितव्रतः ॥ २६ ॥
उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ।
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः ।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २७ ॥

एकान्तमें मिलकर उसपर महर्षि व्यास बहुत संतुष्ट हुए । राजन् ! कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि जब उसके साथ शयन करके उठे, तब इस प्रकार बोले—'शुभे ! अब तू दासी नहीं रहेगी । तेरे उदरमें एक अत्यन्त श्रेष्ठ बालक आया है । वह लोकमें धर्मात्मा तथा समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ होगा' ॥ २६-२७ ॥



स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥ २८ ॥

वही बालक विदुर हुआ, जो श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका पुत्र था। एक पिताका होनेके कारण वह राजा धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डुका भाई था ॥ २८ ॥

धर्मो विदुररूपेण शापात् तस्य महात्मनः।
माण्डव्यस्यार्थतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ॥ २९ ॥

महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्मराज ही विदुर-रूपमें उत्पन्न हुए थे। वे अर्थतत्त्वके ज्ञाता और काम-क्रोधसे रहित थे ॥ २९ ॥

कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत् सत्यवत्यै न्यवेदयत्।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥ ३० ॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने सत्यवतीको भी सब बातें बता दीं। उन्होंने यह रहस्य प्रकट कर दिया कि अम्बिकाने अपनी दासी-को भेजकर मेरे साथ छल किया है, अतः शूद्रा दासीके गर्भसे ही पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ३० ॥

स धर्मस्यानृणो भूत्वा पुनर्मात्रा समेत्य च।
तस्यै गर्भं समावेद्य तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३१ ॥

इस तरह व्यासजी (मातृ-आज्ञापालन रूप) धर्मसे उऋण होकर फिर अपनी माता सत्यवतीसे मिले और उन्हें गर्भका समाचार बताकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३१ ॥

एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥ ३२ ॥

विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें व्यासजीसे ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवकुमारोंके समान तेजस्वी और कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्यसुतोत्पत्तौ पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यके पुत्रोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०५॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि माण्डव्यका शूलीपर चढ़ाया जाना

जनमेजय उवाच

किं कृतं कर्म धर्मेण येन शापमुपेयिवान्।
कस्य शापाच्च ब्रह्मर्षेः शूद्रयोनावजायत ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! धर्मराजने ऐसा कौन-सा कर्म किया था, जिससे उन्हें शाप प्राप्त हुआ? किस ब्रह्मर्षिके शापसे वे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः।
धृतिमान् सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालमें माण्डव्य नामसे विख्यात एक ब्राह्मण थे, जो धैर्यवान्, सब धर्मोंके ज्ञाता, सत्यनिष्ठ एवं तपस्वी थे ॥ २ ॥

स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः।
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ॥ ३ ॥

वे अपने आश्रमके द्वारपर एक वृक्षके नीचे दोनों बाँहें ऊपरको उठाये हुए मौनव्रत धारण करके खड़े रहकर बड़ी भारी तपस्या करते थे। माण्डव्यजी बहुत बड़े योगी थे ॥ ३ ॥

तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपसि वर्ततः।
तमाश्रममनुप्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः ॥ ४ ॥

उस कठोर तपस्यामें लगे हुए महर्षिके बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन उनके आश्रमपर चोरीका माल लिये हुए बहुत-से लुटेरे आये ॥ ४ ॥

अनुसार्यमाणा बहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ।
ते तस्यावसथे लोप्त्रं दस्यवः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवानागते बले।
तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद् रक्षिणां बलम् ॥ ६ ॥
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः।
तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम् ॥ ७ ॥

कतमेन पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन् यथा शीघ्रतरं वयम्॥ ८॥

जनमेजय! उन चोरोंका बहुत-से सैनिक पीछा कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ! वे दस्यु वह चोरीका माल महर्षिके आश्रममें रखकर भयके मारे प्रजा-रक्षक सेनाके आनेके पहले वहीं कहीं छिप गये। उनके छिप जानेपर रक्षकोंकी सेना शीघ्रतापूर्वक वहाँ आ पहुँची। राजन्! चोरोंका पीछा करनेवाले लोगोंने इस प्रकार तपस्यामें लगे हुए उन महर्षिको जब वहाँ देखा, तो पूछा कि 'द्विजश्रेष्ठ! बताइये, चोर किस रास्तेसे भगे हैं? जिससे वही मार्ग पकड़कर हम तीव्र गतिसे उनका पीछा करें'॥ ५-८॥

तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः।
न किंचिद् वचनं राजन्नब्रवीत् साध्वसाधु वा॥ ९॥

राजन्! उन रक्षकोंके इस प्रकार पूछनेपर तपस्याके धनी उन महर्षिने भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा॥ ९॥

ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम्।
ददृशुस्तत्र लीनांस्तांश्चौरांस्तद् द्रव्यमेव च॥ १०॥

तब उन राजपुरुषोंने उस आश्रममें ही चोरोंको खोजना आरम्भ किया और वहीं छिपे हुए चोरों तथा चोरीके मालको भी देख लिया॥ १०॥

ततः शङ्का समभवद् रक्षिणां तं मुनिं प्रति।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन्॥ ११॥

फिर तो रक्षकोंको मुनिके प्रति मनमें संदेह उत्पन्न हो गया और वे उन्हें बाँधकर राजाके पास ले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने राजासे सब बातें बतायीं और उन चोरोंको भी राजाके हवाले कर दिया॥ ११॥

तं राजा सह तैश्चौरैरन्वशाद् वध्यतामिति।
स रक्षिभिस्तैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः॥ १२॥

राजाने उन चोरोंके साथ महर्षिको भी प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। रक्षकोंने उन महातपस्वी मुनिको नहीं पहचाना और उन्हें शूलीपर चढ़ा दिया॥ १२॥

ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ॥ १३॥

इस प्रकार वे रक्षक माण्डव्य मुनिको शूलीपर चढ़ाकर वह सारा धन साथ ले राजाके पास लौट गये॥ १३॥

शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाभ्यपद्यत॥ १४॥

धर्मात्मा ब्रह्मर्षि माण्डव्य दीर्घकालतक उस शूलके अग्रभागपर बैठे रहे। वहाँ भोजन न मिलनेपर भी उनकी मृत्यु नहीं हुई॥ १४॥

धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत्।
शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना॥ १५॥
संतापं परमं जग्मुर्मुनयस्तपसान्विताः।
ते रात्रौ शकुना भूत्वा संनिपत्य तु भारत।
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन् द्विजोत्तमम्॥ १६॥

वे प्राण धारण किये रहे और स्मरणमात्र करके ऋषियोंको अपने पास बुलाने लगे। शूलीकी नोकपर तपस्या करनेवाले उन महात्मासे प्रभावित होकर सभी तपस्वी मुनियोंको बड़ा संताप हुआ। वे रातमें पक्षियोंका रूप धारण करके वहाँ उड़ते हुए आये और अपनी शक्तिके अनुसार स्वरूपको प्रकाशित करते हुए उन विप्रवर माण्डव्य मुनिसे पूछने लगे—॥

श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् किं पापं कृतवानसि।
येनेह समनुप्राप्तं शूले दुःखभयं महत्॥ १७॥

'ब्रह्मन्! हम सुनना चाहते हैं कि आपने कौन-सा पाप किया है, जिससे यहाँ शूलपर बैठनेका यह महान् कष्ट आपको प्राप्त हुआ है?'॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने षडधिकशततमोऽध्यायः॥ १०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०६॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

माण्डव्यका धर्मराजको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान्।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब उन मुनिश्रेष्ठने उन तपस्वी मुनियोंसे कहा—'मैं किसपर दोष लगाऊँ; दूसरे किसीने मेरा अपराध नहीं किया है'॥ १॥

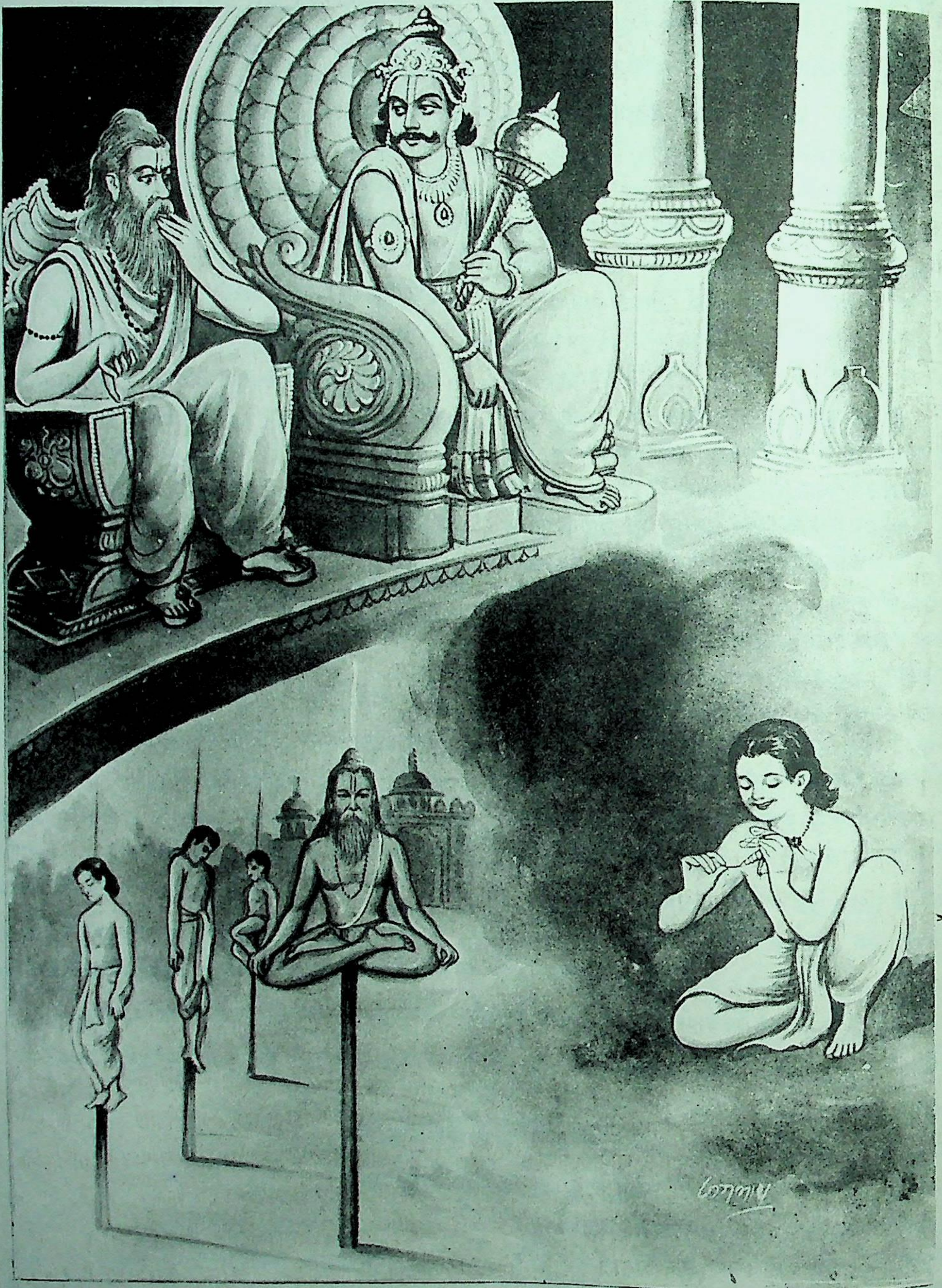
तं दृष्ट्वा रक्षिणस्तत्र तथा बहुतिथेऽहनि।
न्यवेदयंस्तथा राज्ञे यथावृत्तं नराधिप॥ २॥

महाराज! रक्षकोंने बहुत दिनोंतक उन्हें शूलपर बैठे देख राजाके पास जा वह सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन किया॥ २॥

श्रुत्वा च वचनं तेषां निश्चित्य सह मन्त्रिभिः।
प्रसादयामास तथा शूलस्थमृषिसत्तमम्॥ ३॥

उनकी बात सुनकर मन्त्रियोंके साथ परामर्श करके राजाने शूलीपर बैठे हुए उन मुनिश्रेष्ठको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया॥ ३॥

धर्मराज और अणिमाण्डव्य



अणिमाण्डव्य ऋषि शूलीपर

राजोवाच

यन्मयापकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम।
प्रसादये त्वां तत्राहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि ॥ ४ ॥

राजाने कहा—मुनिवर ! मैंने मोह अथवा अज्ञानवश जो अपराध किया है, उसके लिये आप मुझपर क्रोध न करें। मैं आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः।
कृतप्रसादं राजा तं ततः समवतारयत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाके यों कहनेपर मुनि उनपर प्रसन्न हो गये। राजाने उन्हें प्रसन्न जानकर शूलीसे उतार दिया ॥ ५ ॥

अवतार्य च शूलाग्रात् तच्छूलं निश्चकर्ष ह।
अशक्नुवंश्च निष्क्रष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे ॥ ६ ॥

नीचे उतारकर उन्होंने शूलके अग्रभागके सहारे उनके शरीरके भीतरसे शूलको निकालनेके लिये खींचा। खींचकर निकालनेमें असफल होनेपर उन्होंने उस शूलको मूलभागमें काट दिया ॥ ६ ॥

स तथान्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः।
तेनातितपसा लोकान् विजिग्ये दुर्लभान् परैः ॥ ७ ॥

तबसे वे मुनि शूलाग्रभागको अपने शरीरके भीतर लिये हुए ही विचरने लगे। उस अत्यन्त घोर तपस्याके द्वारा महर्षिने ऐसे पुण्यलोकोंपर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्लभ हैं॥

अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु गीयते।
स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमात्मवित् ॥ ८ ॥
आसनस्थं ततो धर्मं दृष्ट्वोपालभत प्रभुः।
किं नु तद् दुष्कृतं कर्म मया कृतमजानता ॥ ९ ॥
यस्येयं फलनिर्वृत्तिरीदृश्यासादिता मया।
शीघ्रमाचक्ष्व मे तत्त्वं पश्य मे तपसो बलम् ॥ १० ॥

अणी कहते हैं शूलके अग्रभागको, उससे युक्त होनेके कारण वे मुनि तभीसे सभी लोकोंमें 'अणी-माण्डव्य' कहलाने लगे। एक समय परमात्मतत्त्वके ज्ञाता विप्रवर माण्डव्यने धर्मराजके भवनमें जाकर उन्हें दिव्य आसनपर बैठे देखा। उस समय उन शक्तिशाली महर्षिने उन्हें उलाहना देते हुए पूछा—'मैंने अनजानमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिसके फलका भोग मुझे इस रूपमें प्राप्त हुआ ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ। फिर मेरी तपस्याका बल देखो' ॥ ८–१० ॥

धर्म उवाच

पतङ्गिकानां पुच्छेषु त्वयेषीका प्रवेशिता।
कर्मणस्तस्य ते प्राप्तं फलमेतत् तपोधन ॥ ११ ॥

धर्मराज बोले—तपोधन ! तुमने फतिंगोंके पुच्छ-भागमें सींक घुसेड़ दी थी। उसी कर्मका यह फल तुम्हें प्राप्त हुआ है॥

स्वल्पमेव यथा दत्तं दानं बहुगुणं भवेत्।
अधर्म एवं विप्रर्षे बहुदुःखफलप्रदः ॥ १२ ॥

विप्रर्षे ! जैसे थोड़ा-सा भी किया हुआ दान कईगुना फल देनेवाला होता है, वैसे ही अधर्म भी बहुत दुःखरूपी फल देनेवाला होता है ॥ १२ ॥

अणीमाण्डव्य उवाच

कस्मिन् काले मया तत् तु कृतं ब्रूहि यथातथम्।
तेनोक्तो धर्मराजेन बालभावे त्वया कृतम् ॥ १३ ॥

अणीमाण्डव्यने पूछा—अच्छा, तो ठीक-ठीक बताओ, मैंने किस समय--किस आयुमें वह पाप किया था ?

धर्मराजने उत्तर दिया—'बाल्यावस्थामें तुम्हारे द्वारा यह पाप हुआ था' ॥ १३ ॥



अणीमाण्डव्य उवाच

बालो हि द्वादशाद् वर्षाज्जन्मतो यत् करिष्यति।
न भविष्यत्यधर्मोऽत्र न प्रज्ञास्यन्ति वै दिशः ॥ १४ ॥

अणीमाण्डव्यने कहा—धर्म-शास्त्रके अनुसार जन्मसे लेकर बारह वर्षकी आयुतक बालक जो कुछ भी करेगा, उसमें अधर्म नहीं होगा; क्योंकि उस समयतक बालकको धर्म-शास्त्रके आदेशका ज्ञान नहीं हो सकेगा ॥ १४ ॥

अल्पेऽपराधेऽपि महान् मम दण्डस्त्वया कृतः।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि ॥ १५ ॥

धर्मराज ! तुमने थोड़े-से अपराधके लिये मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है। ब्राह्मणका वध सम्पूर्ण प्राणियोंके वधसे भी अधिक भयंकर है ॥ १५ ॥

शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः सम्भविष्यसि।
मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम् ॥ १६ ॥

अतः धर्म ! तुम मनुष्य होकर शूद्रयोनिमें जन्म लोगे। आजसे संसारमें मैं धर्मके फलको प्रकट करनेवाली मर्यादा स्थापित करता हूँ ॥ १६ ॥

आ चतुर्दशकाद् वर्षान्न भविष्यति पातकम्।
परतः कुर्वतामेवं दोष एव भविष्यति ॥ १७ ॥

चौदह वर्षकी उम्रतक किसीको पाप नहीं लगेगा। उससे अधिककी आयुमें पाप करनेवालोंको ही दोष लगेगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एतेन त्वपराधेन शापात् तस्य महात्मनः।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसी अपराधके कारण महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्म ही विदुररूपसे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

धर्मे चार्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः ॥ १९ ॥

वे धर्म-शास्त्र एवं अर्थशास्त्रके पण्डित, लोभ और क्रोधसे रहित, दीर्घदर्शी, शान्तिपरायण तथा कौरवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०७॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके जन्म तथा भीष्मजीके धर्मपूर्ण शासनसे कुरुदेशकी सर्वाङ्गीण उन्नतिका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

(धृतराष्ट्रे च पाण्डौ च विदुरे च महात्मनि।)
तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम्।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धृतराष्ट्र, पाण्डु और महात्मा विदुर—इन तीनों कुमारोंके जन्मसे कुरुवंश, कुरुजाङ्गल देश और कुरुक्षेत्र—इन तीनोंकी बड़ी उन्नति हुई ॥ १ ॥

ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥ २ ॥

पृथ्वीपर खेतीकी उपज बहुत बढ़ गयी, सभी अन्न सरस होने लगे, बादल ठीक समयपर वर्षा करते थे, वृक्षोंमें बहुत-से फल और फूल लगने लगे ॥ २ ॥

वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

घोड़े-हाथी आदि वाहन हृष्ट-पुष्ट रहते थे, मृग और पक्षी बड़े आनन्दसे दिन बिताते थे, फूलों और मालाओंमें अनुपम सुगन्ध होती थी और फलोंमें अनोखा रस होता था ॥ ३ ॥

वणिग्भिश्चान्वकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः।
शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन् ॥ ४ ॥

सभी नगर व्यापार-कुशल वैश्यों तथा शिल्पकलामें निपुण कारीगरोंसे भरे रहते थे। शूर-वीर, विद्वान् और संत सुखी हो गये ॥ ४ ॥

नाभवन् दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य डाकू नहीं था। पापमें रुचि रखनेवाले लोगोंका सर्वथा अभाव था। राष्ट्रके विभिन्न प्रान्तोंमें सत्ययुग छा रहा था ॥ ५ ॥

धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्त प्रजास्तदा ॥ ६ ॥

उस समयकी प्रजा सत्य-व्रतके पालनमें तत्पर हो स्वभावतः यज्ञ-कर्ममें लगी रहती और धर्मानुकूल कर्मोंमें संलग्न रहकर एक-दूसरेको प्रसन्न रखती हुई सदा उन्नतिके पथपर बढ़ती जाती थी ॥ ६ ॥

मानक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवर्जिताः।
अन्योन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥ ७ ॥

सब लोग अभिमान और क्रोधसे रहित तथा लोभसे दूर रहनेवाले थे; सभी एक-दूसरेको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे। लोगोंके आचार-व्यवहारमें धर्मकी ही प्रधानता थी ॥७॥

तन्महोदधिवत् पूर्णं नगरं वै व्यरोचत।
द्वारतोरणनिर्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ॥ ८ ॥

समुद्रकी भाँति सब प्रकारसे भरा-पूरा कौरवनगर मेघ-समूहोंके समान बड़े-बड़े दरवाजों, फाटकों और गोपुरोंसे सुशोभित था ॥ ८ ॥

प्रासादशतसम्बाधं महेन्द्रपुरसंनिभम्।
नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ॥ ९ ॥

सैकड़ों महलोंसे संयुक्त वह पुरी देवराज इन्द्रकी अमरावतीके समान शोभा पाती थी। वहाँके लोग नदियों, वनखण्डों, बावलियों, छोटे-छोटे जलाशयों, पर्वतशिखरों तथा रमणीय काननोंमें प्रसन्नतापूर्वक विहार करते थे ॥ ९ ॥

उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस्तथा।
विस्पर्धमाना व्यचरंस्तथा देवर्षिचारणैः ॥ १० ॥

उस समय दक्षिणकुरु देशके निवासी उत्तरकुरुमें रहनेवाले लोगों, देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंके साथ होड़-सी लगाते हुए स्वच्छन्द विचरण करते थे ॥ १० ॥

नाभवत् कृपणः कश्चिन्नाभवन् विधवाः स्त्रियः ।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ॥ ११ ॥

कौरवोंद्वारा बढ़ाये हुए उस रमणीय जनपदमें न तो कोई कंजूस था और न विधवा स्त्रियाँ देखी जाती थीं ॥ ११ ॥

कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
बभूवुः सर्वर्द्धियुतास्तस्मिन् राष्ट्रे सदोत्सवाः ॥ १२ ॥

उस राष्ट्रके कुओं, बगीचों, सभाभवनों, बावलियों तथा ब्राह्मणोंके घरोंमें सब प्रकारकी समृद्धियाँ भरी रहती थीं और वहाँ नित्य-नूतन उत्सव हुआ करते थे ॥ १२ ॥

भीष्मेण धर्मतो राजन् सर्वतः परिरक्षिते ।
बभूव रमणीयश्च चैत्ययूपशताङ्कितः ॥ १३ ॥

जनमेजय ! भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे धर्मपूर्वक सुरक्षित भूमण्डलमें वह कुरुदेश सैकड़ों देवस्थानों और यज्ञस्तम्भोंसे चिह्नित होनेके कारण बड़ी शोभा पाता था ॥ १३ ॥

स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याभिप्रवर्धितः ।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ॥ १४ ॥

वह देश दूसरे राष्ट्रोंका भी शोधन करके निरन्तर उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहा था । राष्ट्रमें सब ओर भीष्मजीके द्वारा चलाया हुआ धर्मका शासन चल रहा था ॥ १४ ॥

क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः सततोत्सवाः ॥ १५ ॥

उन महात्मा कुमारोंके यज्ञोपवीतादि संस्कार किये जानेके समय नगर और देशके सभी लोग निरन्तर उत्सव मनाते थे ॥ १५ ॥

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप ।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ १६ ॥

जनमेजय ! कुरुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषों तथा अन्य नगरनिवासियोंके घरोंमें सदा सब ओर यही बात सुनायी देती थी कि 'दान दो और अतिथियोंको भोजन कराओ' ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत् परिपालिताः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा परम बुद्धिमान् विदुर—इन तीनों भाइयोंका भीष्मजीने जन्मसे ही पुत्रकी भाँति पालन किया ॥

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥ १८ ॥

उन्होंने ही उनके सब संस्कार कराये । फिर वे ब्रह्मचर्यव्रतके पालन और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर हो गये । परिश्रम और व्यायाममें भी उन्होंने बड़ी कुशलता प्राप्त की । फिर धीरे-धीरे वे युवावस्थाको प्राप्त हुए ॥ १८ ॥

धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि ।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ॥ १९ ॥

धनुर्वेद, घोड़ेकी सवारी, गदायुद्ध, ढाल-तलवारके प्रयोग, गजशिक्षा तथा नीतिशास्त्रमें वे तीनों भाई पारंगत हो गये ॥ १९ ॥

इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥ २० ॥

उन्हें इतिहास, पुराण तथा नाना प्रकारके शिष्टाचारोंका भी ज्ञान कराया गया । वे वेद-वेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञ तथा सर्वत्र एक निश्चित सिद्धान्तके माननेवाले थे ॥ २० ॥

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ २१ ॥

पाण्डु धनुर्विद्यामें उस समयके मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर पराक्रमी थे । इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र दूसरे लोगोंकी अपेक्षा शारीरिक बलमें बहुत बढ़कर थे ॥ २१ ॥

त्रिषु लोकेषु न त्वासीत् कश्चिद् विदुरसम्मितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन् धर्मे च परमं गतः ॥ २२ ॥

राजन् ! तीनों लोकोंमें विदुरजीके समान दूसरा कोई भी मनुष्य धर्मपरायण तथा धर्ममें ऊँची अवस्थाको प्राप्त (आत्मद्रष्टा)* नहीं था ॥ २२ ॥

प्रणष्टं शन्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्तत ॥ २३ ॥

नष्ट हुए शान्तनुके वंशका पुनः उद्धार हुआ देखकर समस्त राष्ट्रके लोग परस्पर कहने लगे—॥ २३ ॥

वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम् ॥ २४ ॥
धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥ २५ ॥

'वीर पुत्रोंको जन्म देनेवाली स्त्रियोंमें काशिराजकी दोनों पुत्रियाँ सबसे श्रेष्ठ हैं, देशोंमें कुरुजाङ्गल देश सबसे उत्तम है; सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें भीष्मजीका स्थान सबसे ऊँचा है तथा नगरोंमें हस्तिनापुर सर्वोत्तम है ।' धृतराष्ट्र अंधे होनेके कारण और विदुरजी पारशव (शूद्राके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न) होनेसे राज्य न पा सके; अतः सबसे छोटे पाण्डु ही राजा हुए ॥ २४-२५ ॥

---

* 'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' याज्ञवल्क्य-स्मृतिके इस कथनके अनुसार आत्मदर्शन ही सबसे उत्कृष्ट धर्म है ।

कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम्॥ २६॥

एक समयकी बात है, सम्पूर्ण नीतिज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको जाननेवाले विदुरजीसे इस प्रकार न्यायोचित वचन बोले॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुराज्याभिषेकेऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः॥ १०८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुराज्याभिषेकविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१०८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं।)

नवाधिकशततमोऽध्यायः
राजा धृतराष्ट्रका विवाह

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम्।
अत्यन्यान् पृथिवीपालान् पृथिव्यामधिराज्यभाक्॥ १॥

भीष्मजीने कहा—बेटा विदुर! हमारा यह कुल अनेक सद्गुणोंसे सम्पन्न होकर इस जगत्में विख्यात हो रहा है। यह अन्य भूपालोंको जीतकर इस भूमण्डलके साम्राज्यका अधिकारी हुआ है॥ १॥

रक्षितं राजभिः पूर्वं धर्मविद्भिर्महात्मभिः।
नोत्सादमगमच्चेदं कदाचिदिह नः कुलम्॥ २॥

पहलेके धर्मज्ञ एवं महात्मा राजाओंने इसकी रक्षा की थी; अतः हमारा यह कुल इस भूतलपर कभी उच्छिन्न नहीं हुआ॥ २॥

मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु॥ ३॥

(बीचमें संकटकाल उपस्थित हुआ था किंतु) मैंने, माता सत्यवतीने तथा महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने मिलकर पुनः इस कुलको स्थापित किया है। तुम तीनों भाई इस कुलके तंतु हो और तुम्हींपर अब इसकी प्रतिष्ठा है॥ ३॥

तच्चैतद् वर्धते भूयः कुलं सागरवद् यथा।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः॥ ४॥

वत्स! यह हमारा वही कुल आगे भी जिस प्रकार समुद्रकी भाँति बढ़ता रहे, निःसंदेह वही उपाय मुझे और तुम्हें भी करना चाहिये॥ ४॥

श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च॥ ५॥

सुना जाता है, यदुवंशी शूरसेनकी कन्या पृथा (जो अब राजा कुन्तिभोजकी गोद ली हुई पुत्री है) भलीभाँति हमारे कुलके अनुरूप है। इसी प्रकार गान्धारराज सुबल और मद्रनरेशके यहाँ भी एक-एक कन्या सुनी जाती है॥ ५॥

कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः।
उचितार्श्चैव सम्बन्धे तेऽस्माकं क्षत्रियर्षभाः॥ ६॥

बेटा! वे सब कन्याएँ बड़ी सुन्दरी तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं। वे श्रेष्ठ क्षत्रियगण हमारे साथ विवाह-सम्बन्ध करनेके सर्वथा योग्य हैं॥ ६॥

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर।
संतानार्थं कुलस्यास्य यद् वा विदुर मन्यसे॥ ७॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुर! मेरी राय है कि इस कुलकी संतानपरम्पराको बढ़ानेके लिये उक्त कन्याओंका वरण करना चाहिये अथवा जैसी तुम्हारी सम्मति हो, वैसा किया जाय॥ ७॥

विदुर उवाच

भवान् पिता भवान् माता भवान् नः परमो गुरुः।
तस्मात् स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम्॥ ८॥

विदुर बोले—प्रभो! आप हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं और आप ही परम गुरु हैं; अतः स्वयं विचार करके जिस बातमें इस कुलका हित हो, वह कीजिये॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गान्धारीं सुबलात्मजाम्।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम्॥ ९॥
गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा।
इति शुश्राव तत्त्वेन भीष्मः कुरुपितामहः॥ १०॥
ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत।
अचक्षुरिति तत्रासीत् सुबलस्य विचारणा॥ ११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसके बाद भीष्मजीने ब्राह्मणोंसे गान्धारराज सुबलकी पुत्री शुभलक्षणा गान्धारीके विषयमें सुना कि वह भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले वरदायक भगवान् शंकरकी आराधना करके अपने लिये सौ पुत्र होनेका वरदान प्राप्त कर चुकी है। भारत! जब इस बातका ठीक-ठीक पता लग गया, तब कुरुपितामह भीष्मने गान्धारराजके पास अपना दूत भेजा। धृतराष्ट्र अंधे हैं, इस बातको लेकर सुबलके मनमें बड़ा विचार हुआ॥ ९—११॥

कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम्॥ १२॥

परंतु उनके कुल, प्रसिद्धि और आचार आदिके विषयमें बुद्धिपूर्वक विचार करके उसने धर्मपरायणा गान्धारीका धृतराष्ट्रके लिये वाग्दान कर दिया॥ १२॥

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम्।
आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ॥ १३ ॥
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा ॥ १४ ॥
नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया।
ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात् ॥ १५ ॥
स्वसारं वयसा लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान्।
तां तदा धृतराष्ट्राय ददौ परमसत्कृताम्।
भीष्मस्यानुमते चैव विवाहं समकारयत् ॥ १६ ॥

जनमेजय ! गान्धारीने जब सुना कि धृतराष्ट्र अंधे हैं और पिता-माता मेरा विवाह उन्हींके साथ करना चाहते हैं, तब उन्होंने रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसीसे अपनी आँखें बाँध लीं। राजन्! गान्धारी बड़ी पतिव्रता थीं। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि मैं (सदा पतिके अनुकूल रहूँगी,) उनके दोष नहीं देखूँगी। तदनन्तर एक दिन गान्धारराजकुमार शकुनि युवावस्था तथा लक्ष्मीके समान मनोहर शोभासे युक्त अपनी बहिन गान्धारीको साथ लेकर कौरवोंके यहाँ गये और उन्होंने बड़े आदर-सत्कारके साथ धृतराष्ट्रको अपनी बहिन सौंप दी। शकुनिने भीष्मजीकी सम्मतिके अनुसार विवाह-कार्य सम्पन्न किया ॥ १३—१६ ॥

दत्त्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम्।
पुनरायात् स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ॥ १७ ॥

वीरवर शकुनिने अपनी बहिनका विवाह करके यथायोग्य दहेज दिया। बदलेमें भीष्मजीने भी उनका बड़ा सम्मान किया। तत्पश्चात् वे अपनी राजधानीको लौट आये ॥ १७ ॥

गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥ १८ ॥

भारत ! सुन्दर शरीरवाली गान्धारीने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार तथा सद्व्यवहारोंसे समस्त कौरवोंको प्रसन्न कर लिया ॥ १८ ॥

वृत्तेनाराध्य तान् सर्वान् गुरून् पतिपरायणा।
वाचापि पुरुषानन्यान् सुव्रता नान्वकीर्तयत् ॥ १९ ॥

इस प्रकार सुन्दर बर्तावसे समस्त गुरुजनोंकी प्रसन्नता प्राप्त करके उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिपरायणा गान्धारीने कभी दूसरे पुरुषोंका नामतक नहीं लिया ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रविवाहे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रविवाहविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीको दुर्वासासे मन्त्रकी प्राप्ति, सूर्यदेवका आवाहन तथा उनके संयोगसे कर्णका जन्म एवं कर्णके द्वारा इन्द्रको कवच और कुण्डलोंका दान

वैशम्पायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत्।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ शूरसेन हो गये हैं, जो वसुदेवजीके पिता थे। उन्हें एक कन्या हुई, जिसका नाम पृथा रक्खा गया। इस भूमण्डलमें उसके रूपकी तुलनामें दूसरी कोई स्त्री नहीं थी ॥ १ ॥

पितृष्वस्रीयाय स तामनपत्याय भारत।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ॥ २ ॥

भारत ! सत्यवादी शूरसेनने अपने फुफेरे भाई संतानहीन कुन्तिभोजसे पहले ही यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि मैं तुम्हें अपनी पहली संतान भेंट कर दूँगा ॥ २ ॥

अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षिणे।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥ ३ ॥

उन्हें पहले कन्या ही उत्पन्न हुई। अतः कृपाकाङ्क्षी महात्मा सखा राजा कुन्तिभोजको उनके मित्र शूरसेनने वह कन्या दे दी ॥ ३ ॥

सा नियुक्ता पितुर्गेहे देवतातिथिपूजने।
उग्रं पर्यचरत् तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ ५ ॥

पिता कुन्तिभोजके घरपर पृथाको देवताओंके पूजन और अतिथियोंके सत्कारका कार्य सौंपा गया था। एक समय वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले तथा धर्मके विषयमें अपने निश्चयको सदा गुप्त रखनेवाले एक ब्राह्मण महर्षि आये, जिन्हें लोग दुर्वासाके नामसे जानते हैं। पृथा उनकी सेवा करने लगी। वे बड़े उग्र स्वभावके थे। उनका हृदय बड़ा कठोर था; फिर भी राजकुमारी पृथाने सब प्रकारके यत्नोंसे उन्हें पूर्ण संतुष्ट कर लिया ॥ ४-५ ॥

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवीच्चैव तां मुनिः ॥ ६ ॥

दुर्वासाजीने पृथापर आनेवाले भावी संकटका विचार करके

उनके धर्मकी रक्षाके लिये उसे एक वशीकरण-मन्त्र दिया और उसके प्रयोगकी विधि भी बता दी। तत्पश्चात् वे मुनि उससे बोले—॥ ६ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
तस्य तस्य प्रसादेन पुत्रस्तव भविष्यति ॥ ७ ॥

'शुभे! तुम इस मन्त्रद्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, उसी-उसीके अनुग्रहसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा' ॥ ७ ॥

तथोक्ता सा तु विप्रेण कुन्ती कौतूहलान्विता।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ ८ ॥

ब्रह्मर्षि दुर्वासाके यों कहनेपर कुन्तीके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ। वह यशस्विनी राजकन्या यद्यपि अभी कुमारी थी, तो भी उसने मन्त्रकी परीक्षाके लिये सूर्यदेवका आवाहन किया ॥ ८ ॥

सा ददर्श तमायान्तं भास्करं लोकभावनम्।
विस्मिता चानवद्याङ्गी दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ ९ ॥

आवाहन करते ही उसने देखा, सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति और पालन करनेवाले भगवान् भास्कर आ रहे हैं। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्ती चकित हो उठी ॥ ९ ॥

तां समासाद्य देवस्तु विवस्वानिदमब्रवीत्।
अयमस्म्यसितापाङ्गि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १० ॥

इधर भगवान् सूर्य उसके पास आकर इस प्रकार बोले— 'श्याम नेत्रोंवाली कुन्ती! यह मैं आ गया। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' ॥ १० ॥

(आहूतोपस्थितं भद्रे ऋषिमन्त्रेण चोदितम्।
विद्धि मां पुत्रलाभाय देवमर्कं शुचिस्मिते ॥)

'भद्रे! मैं दुर्वासा ऋषिके दिये हुए मन्त्रसे प्रेरित हो तुम्हारे बुलाते ही तुम्हें पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये उपस्थित हुआ हूँ। पवित्र मुसकानवाली कुन्ती! तुम मुझे सूर्यदेव समझो।'

कुन्त्युवाच

कश्चिन्मे ब्राह्मणः प्रादाद् वरं विद्यां च शत्रुहन्।
तद्विजिज्ञासयाऽऽह्वानं कृतवत्यस्मि ते विभो ॥ ११ ॥

कुन्तीने कहा—शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रभो! एक ब्राह्मणने मुझे वरदानके रूपमें देवताओंके आवाहनका मन्त्र प्रदान किया है। उसीकी परीक्षाके लिये मैंने आपका आवाहन किया था ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नपराधे त्वां शिरसाहं प्रसादये।
योषितो हि सदा रक्ष्याः स्वापराद्धापि नित्यशः ॥ १२ ॥

यद्यपि मुझसे यह अपराध हुआ है, तो भी इसके लिये आपके चरणोंमें मस्तक रखकर मैं यह प्रार्थना करती हूँ कि आप क्षमापूर्वक प्रसन्न हो जाइये। स्त्रियोंसे अपना अपराध हो जाय, तो भी श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा उनकी रक्षा ही करनी चाहिये ॥ १२ ॥

सूर्य उवाच

वेदाहं सर्वमेवैतद् यद् दुर्वासा वरं ददौ।
संत्यज्य भयमेवेह क्रियतां संगमो मम ॥ १३ ॥

सूर्यदेव बोले—शुभे! मैं यह सब जानता हूँ कि दुर्वासाने तुम्हें वर दिया है। तुम भय छोड़कर यहाँ मेरे साथ समागम करो ॥ १३ ॥

अमोघं दर्शनं मह्यमाहूतश्चास्मि ते शुभे।
वृथाह्वानेऽपि ते भीरु दोषः स्यान्नात्र संशयः ॥ १४ ॥

शुभे! मेरा दर्शन अमोघ है और तुमने मेरा आवाहन किया है। भीरु! यदि यह आवाहन व्यर्थ हुआ, तो भी निःसंदेह तुम्हें बड़ा दोष लगेगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता बहुविधं सान्त्वपूर्वं विवस्वता।
सा तु नैच्छद् वरारोहा कन्याहमिति भारत ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! भगवान् सूर्यने कुन्तीको समझाते हुए इस तरहकी बहुत-सी बातें कहीं; किंतु मैं अभी कुमारी कन्या हूँ, यह सोचकर सुन्दरी कुन्तीने उनसे समागमकी इच्छा नहीं की ॥ १५ ॥

बन्धुपक्षभयाद् भीता लज्जया च यशस्विनी।
तामर्कः पुनरेवेदमब्रवीद् भरतर्षभ ॥ १६ ॥

यशस्विनी कुन्ती भाई-बन्धुओंमें बदनामी फैलनेके डरसे भी डरी हुई थी और नारीसुलभ लज्जासे भी वह विवश थी। भरतश्रेष्ठ! उस समय सूर्यदेवने पुनः उससे कहा— ॥ १६ ॥

(पुत्रस्ते निर्मितः सुभ्रु शृणु यादृक्शुभानने ॥
आदित्ये कुण्डले बिभ्रत् कवचं चैव मामकम्।
शस्त्रास्त्राणामभेद्यं च भविष्यति शुचिस्मिते ॥
न न किंचन देयं तु ब्राह्मणेभ्यो भविष्यति।
चोद्यमानो मया चापि नाक्षमं चिन्तयिष्यति।
दास्यत्येव हि विप्रेभ्यो मानी चैव भविष्यति ॥)

'सुन्दर मुख एवं सुन्दर भौंहोंवाली राजकुमारी! तुम्हारे लिये जैसे पुत्रका निर्माण होगा, वह सुनो—शुचिस्मिते! वह माता अदितिके दिये हुए दिव्य कुण्डलों और मेरे कवचको धारण किये हुए उत्पन्न होगा। उसका वह कवच किन्हीं अस्त्र-शस्त्रोंसे टूट न सकेगा। उसके पास कोई भी वस्तु ब्राह्मणोंके लिये अदेय न होगी। मेरे कहनेपर भी वह कभी अयोग्य कार्य या विचारको अपने मनमें स्थान न देगा। ब्राह्मणोंके याचना करनेपर वह उन्हें सब प्रकारकी वस्तुएँ देगा ही। साथ ही वह बड़ा स्वाभिमानी होगा॥

मत्प्रसादान्न ते राज्ञि भविता दोष इत्युत।
एवमुक्त्वा स भगवान् कुन्तिराजसुतां तदा ॥ १७ ॥
प्रकाशकर्ता तपनः सम्बभूव तया सह।
तत्र वीरः समभवत् सर्वशस्त्रभृतां वरः।
आमुक्तकवचः श्रीमान् देवगर्भः श्रियान्वितः ॥ १८ ॥

'रानी ! मेरी कृपासे तुम्हें दोष भी नहीं लगेगा।' कुन्तिराजकुमारी कुन्तीसे यों कहकर प्रकाश और गरमी उत्पन्न करनेवाले भगवान् सूर्यने उसके साथ समागम किया। इससे उसी समय एक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने जन्मसे ही कवच पहन रक्खा था और वह देवकुमारके समान तेजस्वी तथा शोभासम्पन्न था ॥ १७-१८ ॥

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः।
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ १९ ॥

जन्मके साथ ही कवच धारण किये उस बालकका मुख जन्मजात कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था। इस प्रकार कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सब लोकोंमें विख्यात है ॥ १९ ॥

प्रादाच्च तस्यै कन्यात्वं पुनः स परमद्युतिः।
दत्त्वा च तपतां श्रेष्ठो दिवमाचक्रमे ततः ॥ २० ॥

उत्तम प्रकाशवाले भगवान् सूर्यने कुन्तीको पुनः कन्यात्व प्रदान किया। तत्पश्चात् तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्य देवलोकमें चले गये ॥ २० ॥

दृष्ट्वा कुमारं जातं सा वार्ष्णेयी दीनमानसा।
एकाग्रं चिन्तयामास किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥ २१ ॥

उस नवजात कुमारको देखकर वृष्णिवंशकी कन्या कुन्तीके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ। उसने एकाग्रचित्तसे विचार किया कि अब क्या करनेसे अच्छा परिणाम निकलेगा ॥

गूहमानापचारं सा बन्धुपक्षभयात् तदा।
उत्ससर्ज कुमारं तं जले कुन्ती महाबलम् ॥ २२ ॥

उस समय कुटुम्बीजनोंके भयसे अपने उस अनुचित कृत्यको छिपाती हुई कुन्तीने महाबली कुमार कर्णको जलमें छोड़ दिया ॥ २२ ॥

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः।
पुत्रत्वे कल्पयामास सभार्यः सूतनन्दनः ॥ २३ ॥

जलमें छोड़े हुए उस नवजात शिशुको महायशस्वी सूतपुत्र अधिरथने, जिसकी पत्नीका नाम राधा था, ले लिया। उसने और उसकी पत्नीने उस बालकको अपना पुत्र बना लिया ॥

नामधेयं च चक्राते तस्य बालस्य तावुभौ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ॥ २४ ॥

उन दम्पतिने उस बालकका नामकरण इस प्रकार किया; यह वसु (कवच-कुण्डलादि धन) के साथ उत्पन्न हुआ है, इसलिये वसुषेण नामसे प्रसिद्ध हो ॥ २४ ॥

स वर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेषूद्यतोऽभवत्।
आ पृष्ठतापादादित्यमुपातिष्ठत वीर्यवान् ॥ २५ ॥

वह बलवान् बालक बड़े होनेके साथ ही सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें निपुण हुआ। पराक्रमी कर्ण प्रातःकालसे लेकर जबतक सूर्य पृष्ठभागकी ओर न चले जाते, सूर्योपस्थान करता रहता था ॥ २५ ॥

तस्मिन् काले तु जपतस्तस्य वीरस्य धीमतः।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् किंचिद् वसु महीतले ॥ २६ ॥

उस समय मन्त्र-जपमें लगे हुए बुद्धिमान् वीर कर्णके लिये इस पृथ्वीपर कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणोंके माँगनेपर न दे सके ॥ २६ ॥

(ततः काले तु कस्मिंश्चित् स्वप्नान्ते कर्णमब्रवीत्।
आदित्यो ब्राह्मणो भूत्वा शृणु वीर वचो मम ॥
प्रभातायां रजन्यां त्वामागमिष्यति वासवः।
न तस्य भिक्षा दातव्या विप्ररूपी भविष्यति ॥
निश्चयोऽस्यापहर्तुं ते कवचं कुण्डले तथा।
अतस्त्वां बोधयाम्येष स्मर्तासि वचनं मम ॥

किसी समयकी बात है, सूर्यदेवने ब्राह्मणका रूप धारण करके कर्णको स्वप्नमें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा—'वीर ! मेरी बात सुनो—आजकी रात बीत जानेपर सबेरा होते ही इन्द्र तुम्हारे पास आयेंगे। उस समय वे ब्राह्मण-वेषमें होंगे। यहाँ आकर इन्द्र यदि तुमसे भिक्षा माँगें तो उन्हें देना मत। उन्होंने तुम्हारे कवच और कुण्डलोंका अपहरण करनेका निश्चय किया है। अतः मैं तुम्हें सचेत किये देता हूँ। तुम मेरी यह बात याद रखना ॥'

कर्ण उवाच

शक्रो मां विप्ररूपेण यदि वै याचते द्विज।
कथं चास्मै न दास्यामि यथा चास्म्यवबोधितः ॥
विप्राः पूज्यास्तु देवानां सततं प्रियमिच्छताम्।
तं देवदेवं जानन् वै न शक्तोम्यवमन्त्रणे ॥

कर्णने कहा—ब्रह्मन् ! इन्द्र यदि ब्राह्मणका रूप धारण करके सचमुच मुझसे याचना करेंगे, तो मैं आपकी चेतावनीके अनुसार कैसे उन्हें वह वस्तु नहीं दूँगा। ब्राह्मण तो सदा अपना प्रिय चाहनेवाले देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। देवाधिदेव इन्द्र ही ब्राह्मणरूपमें आये हैं, यह जान लेनेपर भी मैं उनकी अवहेलना नहीं कर सकूँगा ॥

सूर्य उवाच

यद्येवं शृणु मे वीर वरं ते सोऽपि दास्यति।
शक्तिं त्वमपि याचेथाः सर्वशत्रुविबाधिनीम् ॥

सूर्य बोले—वीर ! यदि ऐसी बात है तो सुनो, बदलेमें इन्द्र भी तुम्हें वर देंगे। उस समय तुम उनसे सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका निराकरण करनेवाली बरछी माँग लेना ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजः स्वप्ने तत्रैवान्तरधीयत।
कर्णः प्रबुद्धस्तं स्वप्नं चिन्तयानोऽभवत् तदा ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—स्वप्नमें यों कहकर

ब्राह्मण-वेषधारी सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये । तब कर्ण जाग गया और स्वप्नकी बातोंका चिन्तन करने-लगा ॥'

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत् ।
कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युतिः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् एक दिन महातेजस्वी देवराज इन्द्र ब्राह्मण बनकर भिक्षाके लिये कर्णके पास आये और उससे उन्होंने कवच और कुण्डलोंको माँगा ॥ २७ ॥

स्वशरीरात् समुत्कृत्य कवचं स्वं निसर्गजम् ।
कर्णस्तु कुण्डले छित्त्वा प्रायच्छत् स कृताञ्जलिः ॥ २८ ॥

तब कर्णने हाथ जोड़कर देवराज इन्द्रको अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवचको शरीरसे उधेड़कर एवं दोनों कुण्डलोंको भी काटकर दे दिया ॥ २८ ॥

प्रतिगृह्य तु देवेशस्तुष्टस्तेनास्य कर्मणा ।
(अहो साहसमित्येवं मनसा वासवो हसन् ।
देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ॥
न तं पश्यामि को ह्येतत् कर्म कर्ता भविष्यति ।
प्रीतोऽस्मि कर्मणा तेन वरं वृणु यमिच्छसि ॥

कवच और कुण्डलोंको लेकर उसके इस कर्मसे संतुष्ट हो इन्द्रने मन-ही-मन हँसते हुए कहा—'अहो ! यह तो बड़े साहसका काम है । देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—इनमेंसे किसीको भी मैं ऐसा साहसी नहीं देखता । भला, कौन ऐसा कार्य कर सकता है ।' यों कहकर वे स्पष्ट वाणीमें बोले—'वीर ! मैं तुम्हारे इस कर्मसे प्रसन्न हूँ, इसलिये तुम जो चाहो, वही वर मुझसे माँग लो ॥'

कर्ण उवाच

इच्छामि भगवद्दत्तां शक्तिं शत्रुनिबर्हणीम् ।

कर्णने कहा—भगवन् ! मैं आपकी दी हुई वह अमोघ बरछी चाहता हूँ, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है ॥

वैशम्पायन उवाच)

ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब देवराज इन्द्रने बदलेमें उसे अपनी ओरसे एक बरछी प्रदान की और कहा—॥ २९ ॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
यमेकं जेतुमिच्छेथाः सोऽनया न भविष्यति ॥ ३० ॥

'वीरवर ! तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षसोंमेंसे जिस एकको जीतना चाहोगे, वही इस शक्तिके प्रहारसे नष्ट हो जायगा' ॥ ३० ॥

प्राङ् नाम तस्य कथितं वसुषेण इति क्षितौ ।
कर्णो वैकर्तनश्चैव कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥ ३१ ॥

पहले इस पृथ्वीपर उसका नाम वसुषेण कहा जाता था । तत्पश्चात् अपने शरीरसे कवचको कतर डालनेके कारण वह कर्ण और वैकर्तन नामसे भी प्रसिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कर्णसम्भवे दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कर्णकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं ।)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीद्वारा स्वयंवरमें पाण्डुका वरण और उनके साथ विवाह

वैशम्पायन उवाच

सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता ।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा कुन्तिभोजकी पुत्री विशाल नेत्रोंवाली पृथा धर्म, सुन्दर रूप तथा उत्तम गुणोंसे सम्पन्न थी । वह एकमात्र धर्ममें ही रत रहनेवाली और महान् व्रतोंका पालन करनेवाली थी ॥ १ ॥

तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम् ।
व्यवृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥ २ ॥

स्त्रीजनोचित सर्वोत्तम गुण अधिक मात्रामें प्रकट होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । मनोहर रूप तथा युवावस्थासे सुशोभित उस तेजस्विनी राजकन्याके लिये कई राजाओंने महाराज कुन्तिभोजसे याचना की ॥ २ ॥

ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय नराधिपान् ।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! तब कन्याके पिता राजा कुन्तिभोजने उन सब राजाओंको बुलाकर अपनी पुत्री पृथाको स्वयंवरमें उपस्थित किया ॥ ३ ॥

ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी ।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥ ४ ॥

मनस्विनी कुन्तीने सब राजाओंके बीच रङ्गमञ्चपर बैठे हुए भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ पाण्डुको देखा ॥ ४ ॥

सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम् ।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ॥ ५ ॥

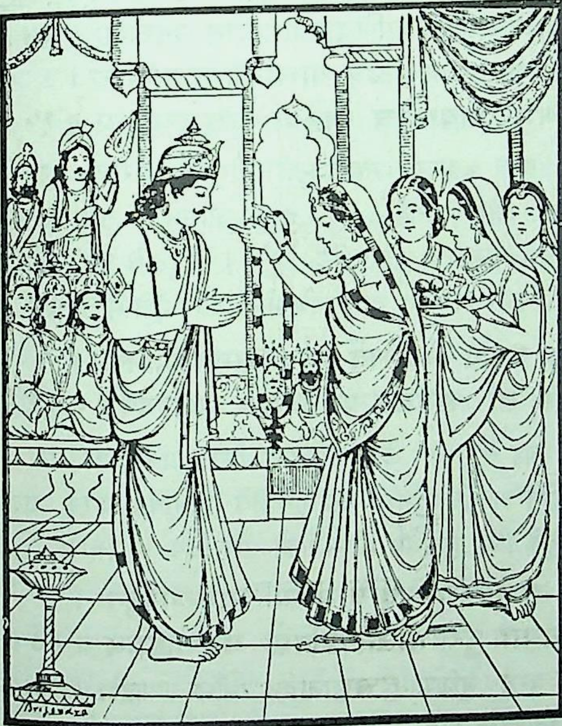
उनमें सिंहके समान अभिमान जाग रहा था । उनकी छाती बहुत चौड़ी थी । उनके नेत्र बैलकी आँखोंके समान बड़े-बड़े थे । उनका बल महान् था । वे सब राजाओंकी

प्रभाको अपने तेजसे आच्छादित करके भगवान् सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५ ॥

तिष्ठन्तं राजसमितौ पुरन्दरमिवापरम् ।
तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा ॥ ६ ॥
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाकुलाभवत् ।
ततः कामपरीताङ्गी सकृत् प्रचलमानसा ॥ ७ ॥

उस राजसमाजमें वे द्वितीय इन्द्रके समान विराजमान थे। निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तिभोजकुमारी शुभलक्षणा कुन्ती स्वयंवरकी रंगभूमिमें नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर मन-ही-मन उन्हें पानेके लिये व्याकुल हो उठी। उसके सब अङ्ग कामसे व्याप्त हो गये और चित्त एकबारगी चञ्चल हो उठा ॥ ६-७ ॥

व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत् ।
तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः ॥ ८ ॥
यथागतं समाजग्मुर्गजैरश्वै रथैस्तथा ।
ततस्तस्याः पिता राजन् विवाहमकरोत् प्रभुः ॥ ९ ॥



कुन्तीने लजाते-लजाते राजा पाण्डुके गलेमें जयमाला डाल दी। सब राजाओंने जब सुना कि कुन्तीने महाराज पाण्डुका वरण कर लिया, तब वे हाथी, घोड़े एवं रथों आदि वाहनोंद्वारा जैसे आये थे, वैसे ही अपने-अपने स्थानको लौट गये। राजन्! तब उसके पिताने (पाण्डुके साथ शास्त्रविधिके अनुसार) कुन्तीका विवाह कर दिया ॥ ८—९ ॥

स तया कुन्तिभोजस्य दुहित्रा कुरुनन्दनः ।
युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मघवानिव ॥ १० ॥

अनन्त सौभाग्यशाली कुरुनन्दन पाण्डु कुन्तिभोज-कुमारी कुन्तीसे संयुक्त हो शचीके साथ इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ॥ १० ॥

कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तिभोजो महीपतिः ।
कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम् ।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥ ११ ॥
ततो बलेन महता नानाध्वजपताकिना ।
स्तूयमानः स चाशीर्भिर्ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ॥ १२ ॥
सम्प्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! महाराज कुन्तिभोजने कुन्ती और पाण्डुका विवाहसंस्कार सम्पन्न करके उस समय उन्हें नाना प्रकारके धन और रत्नोंद्वारा सम्मानित किया। तत्पश्चात् पाण्डुको उनकी राजधानीमें भेज दिया। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! तब कौरवनन्दन राजा पाण्डु नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित विशाल सेनाके साथ चले। उस समय बहुत-से ब्राह्मण एवं महर्षि आशीर्वाद देते हुए उनकी स्तुति करवाते थे। हस्तिनापुरमें आकर उन शक्तिशाली नरेशने अपनी प्यारी पत्नी कुन्तीको राजमहलमें पहुँचा दिया ॥ ११—१३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीविवाहे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीविवाहविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

माद्रीके साथ पाण्डुका विवाह तथा राजा पाण्डुकी दिग्विजय

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः ।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान् मतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शान्तनुनन्दन परम बुद्धिमान् भीष्मजीने यशस्वी राजा पाण्डुके द्वितीय विवाहके लिये विचार किया ॥ १ ॥

सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥ २ ॥

वे बूढ़े मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों तथा चतुरङ्गिणी सेनाके साथ मद्रराजकी राजधानीमें गये ॥ २ ॥

तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं वाह्लीकपुङ्गवः ।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥ ३ ॥

वाह्लीकशिरोमणि राजा शल्य भीष्मजीका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये नगरसे बाहर आये और यथोचित स्वागत-सत्कार करके उन्हें राजधानीके भीतर ले गये ॥ ३ ॥

दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
मधुपर्कं च मद्रेशः पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ४ ॥

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क अर्पण करके मद्रराजने भीष्मजीसे उनके आगमनका प्रयोजन पूछा ॥ ४ ॥

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः ।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम ॥ ५ ॥

तब कुरुकुलका भार वहन करनेवाले भीष्मजीने मद्रराजसे इस प्रकार कहा—'शत्रुदमन ! तुम मुझे कन्याके लिये आया हुआ समझो ॥ ५ ॥

श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी ।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥ ६ ॥

'सुना है, तुम्हारी एक यशस्विनी बहिन है, जो बड़े साधु स्वभावकी है; उसका नाम माद्री है । मैं उस यशस्विनी माद्रीका अपने पाण्डुके लिये वरण करता हूँ ॥ ६ ॥

युक्तरूपो हि सम्बन्धे त्वं नो राजन् वयं तव ।
एतत् संचिन्त्य मद्रेश गृहाणास्मान् यथाविधि ॥ ७ ॥

'राजन् ! तुम हमारे यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा योग्य हो और हम भी तुम्हारे योग्य हैं । मद्रेश्वर ! यों विचारकर तुम हमें विधिपूर्वक अपनाओ' ॥ ७ ॥

तमेवंवादिनं भीष्मं प्रत्यभाषत मद्रपः ।
न हि मेऽन्यो वरस्त्वत्तः श्रेयानिति मतिर्मम ॥ ८ ॥

भीष्मजीके यों कहनेपर मद्रराजने उत्तर दिया—'मेरा विश्वास है कि आपलोगोंसे श्रेष्ठ वर मुझे ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलेगा ॥ ८ ॥

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित् कुलेऽस्मिन् नृपसत्तमैः ।
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे ॥ ९ ॥

'परंतु इस कुलमें पहलेके श्रेष्ठ राजाओंने कुछ शुल्क लेनेका नियम चला दिया है । वह अच्छा हो या बुरा, मैं उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

व्यक्तं तद् भवतश्चापि विदितं नात्र संशयः ।
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान् देहीति सत्तम ॥ १० ॥

'यह बात सबपर प्रकट है, निस्संदेह आप भी इसे जानते होंगे । साधुशिरोमणे ! इस दशामें आपके लिये यह कहना उचित नहीं है कि मुझे कन्या दे दो ॥ १० ॥

कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत् ।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन् ॥ ११ ॥

'वीर ! वह हमारा कुलधर्म है और हमारे लिये वही परम प्रमाण है । शत्रुदमन ! इसीलिये मैं आपसे निश्चितरूपसे यह नहीं कह पाता कि कन्या दे दूँगा' ॥ ११ ॥

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः ।
धर्म एष परो राजन् स्वयमुक्तः स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥

यह सुनकर जनेश्वर भीष्मजीने मद्रराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'राजन् ! यह उत्तम धर्म है । स्वयं स्वयम्भू ब्रह्माजीने इसे धर्म कहा है ॥ १२ ॥

नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः ।
विदितेयं च ते शल्य मर्यादा साधुसम्मता ॥ १३ ॥

'यदि तुम्हारे पूर्वजोंने इस विधिको स्वीकार कर लिया है तो इसमें कोई दोष नहीं है । शल्य ! साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम्हारी यह कुलमर्यादा हम सबको विदित है' ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा स महातेजाः शातकुम्भं कृताकृतम् ।
रत्नानि च विचित्राणि शल्यायादात् सहस्रशः ॥ १४ ॥
गजानश्वान् रथांश्चैव वासांस्याभरणानि च ।
मणिमुक्ताप्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजच्छुभम् ॥ १५ ॥

यह कहकर महातेजस्वी भीष्मजीने राजा शल्यको सोना और उसके बने हुए आभूषण तथा सहस्रों विचित्र प्रकारके रत्न भेंट किये । बहुत-से हाथी, घोड़े, रथ, वस्त्र, अलंकार तथा मणि-मोती और मूँगे भी दिये ॥

ततः प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः सम्प्रीतमानसः ।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभे ॥ १६ ॥

वह सारा धन लेकर शल्यका चित्त प्रसन्न हो गया । उन्होंने अपनी बहिनको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके राजा पाण्डुके लिये कुरुश्रेष्ठ भीष्मजीको सौंप दिया ॥ १६ ॥

स तां माद्रीमुपादाय भीष्मः सागरगासुतः ।
आजगाम पुरीं धीमान् प्रविष्टो गजसाह्वयम् ॥ १७ ॥

परम बुद्धिमान् गङ्गानन्दन भीष्म माद्रीको लेकर हस्तिनापुरमें आये ॥ १७ ॥

तत इष्टेऽहनि प्राप्ते मुहूर्ते साधुसम्मते ।
जग्राह विधिवत् पाणिं माद्र्याः पाण्डुर्नराधिपः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा अनुमोदित शुभ दिन और सुन्दर मुहूर्त आनेपर राजा पाण्डुने माद्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥ १८ ॥

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा कुरुनन्दनः ।
स्थापयामास तां भार्यां शुभे वेश्मनि भाविनीम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर कुरुनन्दन राजा पाण्डुने अपनी कल्याणमयी भार्याको सुन्दर महलमें ठहराया ॥

स ताभ्यां व्यचरत् सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः ।
कुन्त्या माद्र्या च राजेन्द्रो यथाकामं यथासुखम् ॥ २० ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों कुन्ती और माद्रीके साथ आनन्दपूर्वक यथेष्ट विहार करने लगे ॥

ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः ।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत् पुरात् प्रभो ॥ २१ ॥

जनमेजय ! कुरुवंशी राजा पाण्डु तीस रात्रियोंतक विहार करके समूची पृथ्वीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा लेकर राजधानीसे बाहर निकले ॥ २१ ॥

स भीष्मप्रमुखान् वृद्धानभिवाद्य प्रणम्य च ।
धृतराष्ट्रं च कौरव्यं तथान्यान् कुरुसत्तमान् ।
आमन्त्र्य प्रययौ राजा तैश्चैवाप्यनुमोदितः ॥ २२ ॥
मङ्गलाचारयुक्ताभिराशीर्भिरभिनन्दितः ।
गजवाजिरथौघेन बलेन महतागमत् ॥ २३ ॥

उन्होंने भीष्म आदि बड़े-बूढ़ोंके चरणोंमें मस्तक झुकाया । कुरुनन्दन धृतराष्ट्र तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियोंको प्रणाम करके उन सबकी आज्ञा ली और उनका अनुमोदन मिलनेपर मङ्गलाचारयुक्त आशीर्वादोंसे अभिनन्दित हो हाथी, घोड़ों तथा रथसमुदायसे युक्त विशाल सेनाके साथ प्रस्थान किया ॥

स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुंधराम् ।
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात् पाण्डुः शत्रूननेकशः ॥ २४ ॥

राजा पाण्डु देवकुमारके समान तेजस्वी थे । उन्होंने इस पृथ्वीपर विजय पानेकी इच्छासे हृष्ट-पुष्ट सैनिकोंके साथ अनेक शत्रुओंपर धावा किया ॥ २४ ॥

पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः[1] समरे जिताः ।
पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ॥ २५ ॥

कौरवकुलके सुयशको बढ़ानेवाले, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी राजा पाण्डुने सबसे पहले पूर्वके अपराधी दशार्णोंपर धावा करके उन्हें युद्धमें परास्त किया ॥ २५ ॥

ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम् ।
प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसंकुलाम् ॥ २६ ॥
आगस्कारी महीपानां बहूनां बलदर्पितः ।
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दीर्घो राजगृहे हतः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् वे नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे युक्त और बहुसंख्यक हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदलोंसे भरी हुई भारी सेना लेकर मगधदेशमें गये । वहाँ राजगृहमें अनेक राजाओंका अपराधी बलाभिमानी मगधराज दीर्घ उनके हाथसे मारा गया ॥ २६-२७ ॥

ततः कोशं समादाय वाहनानि च भूरिशः ।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः ॥ २८ ॥

उसके बाद भारी खजाना और वाहन आदि लेकर पाण्डुने मिथिलापर चढ़ाई की और विदेहवंशी क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया ॥ २८ ॥

तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु च नरर्षभ ।
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद् यशः ॥ २९ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार वे पाण्डु काशी, सुह्म तथा पुण्ड्र देशोंपर विजय पाते हुए अपने बाहुबल और पराक्रमसे कुरुकुलके यशका विस्तार करने लगे ॥ २९ ॥

तं शरौघमहाज्वालं शस्त्रार्चिषमरिंदमम् ।
पाण्डुपावकमासाद्य व्यदह्यन्त नराधिपाः ॥ ३० ॥

उस समय शत्रुदमन राजा पाण्डु प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित थे । बाणोंका समुदाय उनकी बढ़ती हुई ज्वालाके समान जान पड़ता था । खड्ग आदि शस्त्र लपटोंके समान प्रतीत होते थे । उनके पास आकर बहुत-से राजा भस्म हो गये ॥ ३० ॥

ते ससेनाः ससेनेन विध्वंसितबला नृपाः ।
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरुकर्मसु योजिताः ॥ ३१ ॥

सेनासहित राजा पाण्डुने सामने आये हुए सैन्यसहित नरपतियोंकी सारी सेनाएँ नष्ट कर दीं और उन्हें अपने अधीन करके कौरवोंके आज्ञापालनमें नियुक्त कर दिया ॥ ३१ ॥

तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः ।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरंदरम् ॥ ३२ ॥

पाण्डुके द्वारा परास्त हुए समस्त भूपालगण देवताओंमें इन्द्रकी भाँति इस पृथ्वीपर सब मनुष्योंमें एकमात्र उन्हींको शूरवीर मानने लगे ॥ ३२ ॥

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः ।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥ ३३ ॥

भूतलके समस्त राजाओंने उनके सामने हाथ जोड़कर मस्तक टेक दिये और नाना प्रकारके रत्न एवं धन लेकर उनके पास आये ॥ ३३ ॥

मणिमुक्ताप्रवालं च सुवर्णं रजतं बहु ।
गोरत्नान्यश्वरत्नानि रथरत्नानि कुञ्जरान् ॥ ३४ ॥
खरोष्ट्रमहिषीश्चैव यच्च किंचिदजाविकम् ।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च ।
तत् सर्वं प्रतिजग्राह राजा नागपुराधिपः ॥ ३५ ॥

राजाओंके दिये हुए ढेर-के-ढेर मणि, मोती, मूँगे, सुवर्ण, चाँदी, गोरत्न, अश्वरत्न, रथरत्न, हाथी, गदहे, ऊँट, भैंसें, बकरे, भेड़ें, कम्बल, मृगचर्म, रत्न, रङ्कु मृगके चर्मसे बने हुए बिछौने आदि जो कुछ भी सामान प्राप्त हुए, उन सबको हस्तिनापुराधीश राजा पाण्डुने ग्रहण कर लिया ॥ ३४—३५ ॥

तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः ।
हर्षयिष्यन् स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥ ३६ ॥

वह सब लेकर महाराज पाण्डु अपने राष्ट्रके लोगोंका

१. विन्ध्यपर्वतके पूर्व-दक्षिणकी ओर स्थित उस प्रदेशका प्राचीन नाम दशार्ण है, जिससे होकर धसान नदी बहती है । विदिशा (आधुनिक भिलसा) इसी प्रदेशकी राजधानी थी ।

हर्ष बढ़ाते हुए पुनः हस्तिनापुर चले आये। उस समय उनकी सवारीके अश्व आदि भी बहुत प्रसन्न थे ॥ ३६ ॥

शन्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः।
प्रणष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ॥ ३७ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी शन्तनु तथा परम बुद्धिमान् भरतकी कीर्ति-कथा जो नष्ट-सी हो गयी थी, उसे महाराज पाण्डुने पुनरुज्जीवित कर दिया ॥ ३७ ॥

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥ ३८ ॥

जिन राजाओंने पहले कुरुदेशके धन तथा कुरुराष्ट्रका अपहरण किया था, उनको हस्तिनापुरके सिंह पाण्डुने करद बना दिया ॥ ३८ ॥

इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च संगताः।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ॥ ३९ ॥

बहुत-से राजा तथा राजमन्त्री एकत्र होकर इस तरहकी बातें कर रहे थे। उनके साथ नगर और जनपदके लोग भी इस चर्चामें सम्मिलित थे। उन सबके हृदयमें पाण्डुके प्रति विश्वास तथा हर्षोल्लास छा रहा था ॥ ३९ ॥

प्रत्युद्ययुश्च तं प्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः।
ते नदूरमिवाध्वानं गत्वा नागपुरालयात् ॥ ४० ॥
आवृतं ददृशुर्हृष्टा लोकं बहुविधैर्धनैः।
नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तदा ॥ ४१ ॥
हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैस्तथाविभिः।
नान्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ॥ ४२ ॥

राजा पाण्डु जब नगरके निकट आये, तब भीष्म आदि सब कौरव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक देखा, राजा पाण्डु और उनका दल बड़े उत्साहके साथ आ रहे हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे लोग हस्तिनापुरसे थोड़ी ही दूरतक जाकर वहाँसे लौट रहे हों। उनके साथ भाँति-भाँतिके धन, एवं नाना प्रकारके वाहनोंपर लादकर लाये हुए छोटे-बड़े रत्न, श्रेष्ठ हाथी, घोड़े, रथ, गौएँ, ऊँट तथा भेड़ आदि भी थे। भीष्मके साथ कौरवोंने वहाँ जाकर देखा, तो उस धन-वैभवका कहीं अन्त नहीं दिखायी दिया ॥ ४०—४२ ॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौसल्यानन्दवर्धनः।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ॥ ४३ ॥

कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डुने निकट आकर पितृव्य भीष्मके चरणोंमें प्रणाम किया और नगर तथा जनपदके लोगोंका भी यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४३ ॥

प्रमृद्य परराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम्।
पुत्रमाश्लिष्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४४ ॥

शत्रुओंके राज्योंको धूलमें मिलाकर कृतकृत्य होकर लौटे हुए अपने पुत्र पाण्डुका आलिङ्गन करके भीष्मजी हर्षके आँसू बहाने लगे ॥ ४४ ॥

स तूर्यशतशङ्खानां भेरीणां च महास्वनैः।
हर्षयन् सर्वशः पौरान् विवेश गजसाह्वयम् ॥ ४५ ॥

सैकड़ों शङ्ख, तुरही एवं नगारोंकी तुमुल ध्वनिसे समस्त पुरवासियोंको आनन्दित करते हुए पाण्डुने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदिग्विजये द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुदिग्विजयविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुका पत्नियोंसहित वनमें निवास तथा विदुरका विवाह

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम्।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बड़े भाई धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर राजा पाण्डुने अपने बाहुबलसे जीते हुए धनको भीष्म, सत्यवती तथा माता अम्बिका और अम्बालिकाको भेंट किया ॥ १ ॥

विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद् धनम्।
सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत् ॥ २ ॥

उन्होंने विदुरजीके लिये भी वह धन भेजा। धर्मात्मा पाण्डुने अन्य सुहृदोंको भी उस धनसे तृप्त किया ॥ २ ॥

ततः सत्यवतीं भीष्मं कौसल्यां च यशस्विनीम्।
शुभैः पाण्डुजितैरर्थैस्तोषयामास भारत ॥ ३ ॥
ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम्।
जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम् ॥ ४ ॥

भारत! तत्पश्चात् सत्यवतीने पाण्डुद्वारा जीतकर लाये हुए शुभ धनके द्वारा भीष्म और यशस्विनी कौसल्याको[1] भी संतुष्ट किया। माता कौसल्याने अनुपम तेजस्वी नरश्रेष्ठ पाण्डुको उसी प्रकार हृदयसे लगाकर उनका अभिनन्दन किया, जैसे शची अपने पुत्र जयन्तका अभिनन्दन करती हैं ॥ ३—४ ॥

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥ ५ ॥

वीरवर पाण्डुके पराक्रमसे धृतराष्ट्रने बड़े-बड़े सौ अश्वमेध यज्ञ किये तथा प्रत्येक यज्ञमें एक-एक लाख स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा दी ॥ ५ ॥

१. काशिराज कोसलकी कन्या होनेसे अम्बिका और अम्बालिका दोनों ही कौसल्या कहलाती थीं।

सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रीस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥ ६ ॥
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा पाण्डुने आलस्यको जीत लिया था । वे कुन्ती और माद्रीकी प्रेरणासे राजमहलोंका निवास और सुन्दर शय्याएँ छोड़कर वनमें रहने लगे । पाण्डु सदा वनमें रहकर शिकार खेला करते थे ॥ ६-७ ॥

स चरन् दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशालवनेषु च ॥ ८ ॥

वे हिमालयके दक्षिण भागकी रमणीय भूमिमें विचरते हुए पर्वतके शिखरोंपर तथा ऊँचे शालवृक्षोंसे सुशोभित वनोंमें निवास करते थे ॥ ८ ॥

रराज कुन्त्या माद्र्या च पाण्डुः सह वने चरन् ।
करेण्वोरिव मध्यस्थः श्रीमान् पौरंदरो गजः ॥ ९ ॥

कुन्ती और माद्रीके साथ वनमें विचरते हुए महाराज पाण्डु दो हथिनियोंके बीचमें स्थित ऐरावत हाथीकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ९ ॥

भारतं सह भार्याभ्यां खड्गबाणधनुर्धरम् ।
विचित्रकवचं वीरं परमास्त्रविदं नृपम् ।
देवोऽयमित्यमन्यन्त चरन्तं वनवासिनः ॥ १० ॥

तलवार, बाण, धनुष और विचित्र कवच धारण करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ भ्रमण करनेवाले महान् अस्त्रवेत्ता भरतवंशी राजा पाण्डुको देखकर वनवासी मनुष्य यह समझते थे कि ये कोई देवता हैं ॥ १० ॥

तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्यमतन्द्रिताः ।
उपाजह्रुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रेरित हो बहुत-से मनुष्य आलस्य छोड़कर वनमें महाराज पाण्डुके लिये इच्छानुसार भोगसामग्री पहुँचाया करते थे ॥ ११ ॥

अथ पारशवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।
रूपयौवनसम्पन्नां स शुश्रावापगासुतः ॥ १२ ॥

एक समय गङ्गानन्दन भीष्मजीने सुना कि राजा देवकके यहाँ एक कन्या है, जो शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न की गयी है । वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न है ॥ १२ ॥

ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥ १३ ॥

तब इन भरतश्रेष्ठने उसका वरण किया और उसे अपने यहाँ ले आकर उसके साथ परम बुद्धिमान् विदुरजीका विवाह कर दिया ॥ १३ ॥

तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः ।
पुत्रान् विनयसम्पन्नानात्मनः सदृशान् गुणैः ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन विदुरने उसके गर्भसे अपने ही समान गुणवान् और विनयशील अनेक पुत्र उत्पन्न किये ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विदुरपरिणये त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विदुरविवाहविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके गान्धारीसे एक सौ पुत्र तथा एक कन्याकी तथा सेवा करनेवाली वैश्यजातीय युवतीसे युयुत्सु नामक एक पुत्रकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात् परः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रके उनकी पत्नी गान्धारीके गर्भसे एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए । धृतराष्ट्रकी एक दूसरी पत्नी वैश्यजातिकी कन्या थी । उससे भी एक पुत्रका जन्म हुआ । यह पूर्वोक्त सौ पुत्रोंसे भिन्न था ॥ १ ॥

पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः ।
देवेभ्यः समपद्यन्त संतानाय कुलस्य वै ॥ २ ॥

पाण्डुके कुन्ती और माद्रीके गर्भसे पाँच महारथी पुत्र उत्पन्न हुए । वे सब कुरुकुलकी संतानपरम्पराकी रक्षाके लिये देवताओंके अंशसे प्रकट हुए थे ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच

कथं पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां द्विजसत्तम ।
कियता चैव कालेन तेषामायुश्च किं परम् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! गान्धारीसे सौ पुत्र किस प्रकार और कितने समयमें उत्पन्न हुए ? और उन सबकी पूरी आयु कितनी थी ? ॥ ३ ॥

कथं चैकः स वैश्यायां धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ।
कथं च सदृशीं भार्यां गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥ ४ ॥

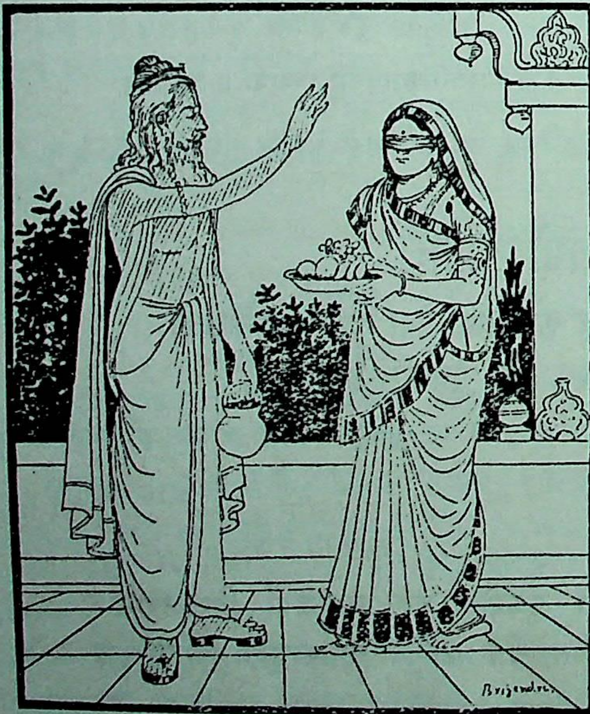
आनुकूल्ये वर्तमानां धृतराष्ट्रोऽभ्यवर्तत।
कथं च शप्तस्य सतः पाण्डोस्तेन महात्मना ॥ ५ ॥
समुत्पन्ना दैवतेभ्यः पुत्राः पञ्च महारथाः।
एतद् विद्वन् यथान्यायं विस्तरेण तपोधन ॥ ६ ॥
कथयस्व न मे तृप्तिः कथ्यमानेषु बन्धुषु।

वैश्यजातीय स्त्रीके गर्भसे धृतराष्ट्रका वह एक पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? राजा धृतराष्ट्र सदा अपने अनुकूल चलनेवाली योग्य पत्नी धर्मपरायणा गान्धारीके साथ कैसा वर्ताव करते थे ? महात्मा मुनिद्वारा शापको प्राप्त हुए राजा पाण्डुके वे पाँचों महारथी पुत्र देवताओंके अंशसे कैसे उत्पन्न हुए ? विद्वान् तपोधन ! ये सब बातें यथोचित रूपसे विस्तारपूर्वक कहिये। अपने बन्धुजनोंकी यह चर्चा सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ ४–६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षुच्छ्रमाभिपरिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम् ॥ ७ ॥
तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ।
सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक समयकी बात है, महर्षि व्यास भूख और परिश्रमसे खिन्न होकर धृतराष्ट्रके यहाँ आये। उस समय गान्धारीने भोजन और विश्रामकी व्यवस्थाद्वारा उन्हें



संतुष्ट किया। तब व्यासजीने गान्धारीको वर देनेकी इच्छा प्रकट की। गान्धारीने अपने पतिके समान ही सौ पुत्र माँगे।७-८।

ततः कालेन सा गर्भं धृतराष्ट्रादथाग्रहीत्।
संवत्सरद्वयं तं तु गान्धारी गर्भमाहितम् ॥ ९ ॥
अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत्।
श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम् ॥ १० ॥

तदनन्तर समयानुसार गान्धारीने धृतराष्ट्रसे गर्भ धारण किया। दो वर्ष व्यतीत हो गये, तबतक गान्धारी उस गर्भको धारण किये रही। फिर भी प्रसव नहीं हुआ। इसी बीचमें गान्धारीने जब यह सुना कि कुन्तीके गर्भसे प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रका जन्म हुआ है, तब उसे बड़ा दुःख हुआ ॥ ९-१० ॥

उदरस्यात्मनः स्थैर्यमुपलभ्यान्वचिन्तयत्।
अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः ॥ ११ ॥
सोदरं घातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता।
ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता ॥ १२ ॥

उसे अपने उदरकी स्थिरतापर बड़ी चिन्ता हुई। गान्धारी दुःखसे मूर्च्छित हो रही थी। उसने धृतराष्ट्रकी अनजानमें ही महान् प्रयत्न करके अपने उदरपर आघात किया। तब उसके गर्भसे एक मांसका पिण्ड प्रकट हुआ, जो लोहेके पिण्डके समान कड़ा था ॥ ११-१२॥

द्विवर्षसम्भृतां कुक्षौ तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे।
अथ द्वैपायनो ज्ञात्वा त्वरितः समुपागमत् ॥ १३ ॥

उसने दो वर्षोंतक उसे पेटमें धारण किया था, तो भी उसने उसे इतना कड़ा देखकर फेंक देनेका विचार किया। इधर यह बात महर्षि व्यासको मालूम हुई। तब वे बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ॥ १३ ॥

तां स मांसमयीं पेशीं ददर्श जपतां वरः।
ततोऽब्रवीत् सौबलेयीं किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्यासजीने उस मांसपिण्डको देखा और गान्धारीसे पूछा—'तुम इसका क्या करना चाहती थीं ?'।१४।

सा चात्मनो मतं सत्यं शशंस परमर्षये।

और उसने महर्षिको अपने मनकी बात सच-सच बता दी।

गान्धार्युवाच

ज्येष्ठं कुन्तीसुतं जातं श्रुत्वा रविसमप्रभम् ॥ १५ ॥
दुःखेन परमेणेदमुदरं पातितं मया।
शतं च किल पुत्राणां वितीर्णं मे त्वया पुरा ॥ १६ ॥
इयं च मे मांसपेशी जाता पुत्रशताय वै।

गान्धारीने कहा—मुने ! मैंने सुना है, कुन्तीके एक ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो सूर्यके समान तेजस्वी है। यह समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखके कारण मैंने अपने उदरपर आघात करके गर्भ गिराया है। आपने पहले मुझे ही सौ पुत्र होनेका वरदान दिया था; परंतु आज इतने दिनों बाद मेरे गर्भसे सौ पुत्रोंकी जगह यह मांसपिण्ड पैदा हुआ है ॥ १५-१६½ ॥

व्यास उवाच

एवमेतत् सौबलेयि नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥

व्यासजीने कहा—सुबलकुमारी! यह सब मेरे वरदानके अनुसार ही हो रहा है; वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम् ॥ १८ ॥

मैंने कभी हास-परिहासके समय भी झूठी बात मुँहसे नहीं निकाली है। फिर वरदान आदि अन्य अवसरोंपर कही हुई मेरी बात झूठी कैसे हो सकती है। तुम शीघ्र ही सौ मटके (कुण्ड) तैयार कराओ और उन्हें घीसे भरवा दो ॥ १८ ॥

सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम्।
शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमां च परिषेचय ॥ १९ ॥

फिर अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रखकर उनकी रक्षाकी भी पूरी व्यवस्था करो। इस मांसपिण्डको ठंडे जलसे सींचो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा सिच्यमाना त्वष्ठीला बभूव शतधा तदा।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय सींचे जानेपर उस मांसपिण्डके सौ टुकड़े हो गये। वे अलग-अलग अँगूठेके पोरुवे बराबर सौ गर्भोंके रूपमें परिणत हो गये ॥ २० ॥

एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशाम्पते।
मांसपेश्यास्तदा राजन् क्रमशः कालपर्ययात् ॥ २१ ॥

राजन्! कालके परिवर्तनसे क्रमशः उस मांसपिण्डके यथायोग्य पूरे एक सौ एक भाग हुए ॥ २१ ॥

ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा।
स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां वै व्यदधात् ततः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् गान्धारीने उन सभी गर्भोंको उन पूर्वोक्त कुण्डोंमें रक्खा। वे सभी कुण्ड अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रक्खे हुए थे। उनकी रक्षाकी ठीक-ठीक व्यवस्था कर दी गयी ॥ २२ ॥

शशंस चैव भगवान् कालेनैतावता पुनः।
उद्घाटनीयान्येतानि कुण्डानीति च सौबलीम् ॥ २३ ॥

तब भगवान् व्यासने गान्धारीसे कहा—'इतने-ही दिन अर्थात् पूरे दो वर्षोंतक प्रतीक्षा करनेके बाद इन कुण्डोंका ढक्कन खोल देना चाहिये' ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् व्यासस्तथा प्रतिनिधाय च।
जगाम तपसे धीमान् हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ २४ ॥

यों कहकर और पूर्वोक्त प्रकारसे रक्षाकी व्यवस्था कराकर परम बुद्धिमान भगवान् व्यास हिमालय पर्वतपर तपस्याके लिये चले गये ॥ २४ ॥

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥

तदनन्तर दो वर्ष बीतनेपर जिस क्रमसे वे गर्भ उन कुण्डोंमें स्थापित किये गये थे, उसी क्रमसे उनमें सबसे पहले राजा दुर्योधन उत्पन्न हुआ। जन्मकालके प्रमाणसे राजा युधिष्ठिर उससे भी ज्येष्ठ थे ॥ २५ ॥

तदाख्यातं तु भीष्माय विदुराय च धीमते।
यस्मिन्नहनि दुर्धर्षो जज्ञे दुर्योधनस्तदा ॥ २६ ॥
तस्मिन्नेव महाबाहुर्जज्ञे भीमोऽपि वीर्यवान्।
स जातमात्र एवाथ धृतराष्ट्रसुतो नृप ॥ २७ ॥
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च।
तं खराः प्रत्यभाषन्त गृध्रगोमायुवायसाः ॥ २८ ॥

दुर्योधनके जन्मका समाचार परम बुद्धिमान् भीष्म तथा विदुरजीको बताया गया। जिस दिन दुर्धर्ष वीर दुर्योधनका जन्म हुआ, उसी दिन परम पराक्रमी महाबाहु भीमसेन भी उत्पन्न हुए। राजन्! धृतराष्ट्रका वह पुत्र जन्म लेते ही गदहेके रेंकनेकी-सी आवाजमें रोने-चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर बदलेमें दूसरे गदहे भी रेंकने लगे। गीध, गीदड़ और कौए भी कोलाहल करने लगे ॥ २६—२८ ॥

वाताश्च प्रववुश्चापि दिग्दाहश्चाभवत् तदा।
ततस्तु भीतवद् राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २९ ॥
समानीय बहून् विप्रान् भीष्मं विदुरमेव च।
अन्यांश्च सुहृदो राजन् कुरून् सर्वांस्तथैव च ॥ ३० ॥

बड़े जोरकी आँधी चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा होने लगा। राजन्! तब राजा धृतराष्ट्र भयभीत-से हो उठे और बहुत-से ब्राह्मणोंको, भीष्मजी और विदुरजीको, दूसरे-दूसरे सुहृदों तथा समस्त कुरुवंशियोंको अपने समीप बुलवाकर उन-से इस प्रकार बोले— ॥ २९-३० ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः।
प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन् वाच्यमस्ति नः ॥ ३१ ॥

'आदरणीय गुरुजनो! हमारे कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजकुमार युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ हैं। वे अपने गुणोंसे राज्यको पानेके अधिकारी हो चुके हैं। उनके विषयमें हमें कुछ नहीं कहना है ॥ ३१ ॥

अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति।
एतद् विब्रूत मे तथ्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ॥ ३२ ॥

'किंतु उनके बाद मेरा यह पुत्र ही ज्येष्ठ है। क्या यह भी राजा बन सकेगा? इस बातपर विचार करके आपलोग ठीक-ठीक बतायें। जो बात अवश्य होनेवाली है, उसे स्पष्ट कहें' ॥ ३२ ॥

वाक्यस्यैतस्य निधने दिक्षु सर्वासु भारत ।
क्रव्यादाः प्राणदन् घोराः शिवाश्चाशिवशंसिनः ॥ ३३ ॥

जनमेजय ! धृतराष्ट्रकी यह बात समाप्त होते ही चारों दिशाओंमें भयंकर मांसाहारी जीव गर्जना करने लगे। गीदड़ अमङ्गलसूचक बोली बोलने लगे ॥ ३३ ॥

लक्षयित्वा निमित्तानि तानि घोराणि सर्वशः ।
तेऽब्रुवन् ब्राह्मणा राजन् विदुरश्च महामतिः ॥ ३४ ॥
यथेमानि निमित्तानि घोराणि मनुजाधिप ।
उत्थितानि सुते जाते ज्येष्ठे ते पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥
व्यक्तं कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव ।
तस्य शान्तिः परित्यागे गुप्तावपनयो महान् ॥ ३६ ॥

राजन् ! सब ओर होनेवाले उन भयानक अपशकुनोंको लक्ष्य करके ब्राह्मणलोग तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ नरेश्वर ! आपके ज्येष्ठ पुत्रके जन्म लेनेपर जिस प्रकार ये भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि आपका यह पुत्र समूचे कुलका संहार करनेवाला होगा। यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो सब विघ्नोंकी शान्ति हो जायगी और यदि इसकी रक्षा की गयी तो आगे चलकर बड़ा भारी उपद्रव खड़ा होगा ॥ ३४–३६ ॥

शतमेकोनमप्यस्तु पुत्राणां ते महीपते ।
त्यजैनमेकं शान्तिं चेत् कुलस्येच्छसि भारत ॥ ३७ ॥

'महीपते ! आपके निन्यानबे पुत्र ही रहें; भारत ! यदि आप अपने कुलकी शान्ति चाहते हैं तो इस एक पुत्रको त्याग दें ॥ ३७ ॥

एकेन कुरु वै क्षेमं कुलस्य जगतस्तथा ।
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ॥ ३८ ॥
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।
स तथा विदुरेणोक्तस्तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ ३९ ॥
न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ।
ततः पुत्रशतं पूर्णं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ॥ ४० ॥

'केवल एक पुत्रके त्यागद्वारा इस सम्पूर्ण कुलका तथा समस्त जगत्‌का कल्याण कीजिये। नीति कहती है कि समूचे कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशके हितके लिये एक गाँवका परित्याग कर दे और आत्माके कल्याणके लिये सारे भूमण्डलको त्याग दे।' विदुर तथा उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके यों कहनेपर भी पुत्रस्नेहके बन्धनमें बँधे हुए राजा धृतराष्ट्रने वैसा नहीं किया। जनमेजय ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके पूरे सौ पुत्र हुए ॥ ३८-४० ॥

माससमात्रेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका ।
गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता ॥ ४१ ॥
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत् किल ।
तस्मिन् संवत्सरे राजन् धृतराष्ट्रान्महायशाः ॥ ४२ ॥
जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप ।
एवं पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ ४३ ॥
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका ।
युयुत्सुश्च महातेजा वैश्यापुत्रः प्रतापवान् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर एक ही मासमें गान्धारीसे एक कन्या उत्पन्न हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी। जिन दिनों गर्भ धारण करनेके कारण गान्धारीका पेट बढ़ गया था और वह क्लेशमें पड़ी रहती थी, उन दिनों महाराज धृतराष्ट्रकी सेवामें एक वैश्यजातीय स्त्री रहती थी। राजन् ! उस वर्ष धृतराष्ट्रके अंशसे उस वैश्यजातीय भार्याके द्वारा महायशस्वी बुद्धिमान् युयुत्सुका जन्म हुआ। जनमेजय ! युयुत्सु करण कहे जाते थे। इस प्रकार बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके एक सौ वीर महारथी पुत्र हुए। तत्पश्चात् एक कन्या हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी। इन सबके सिवा महातेजस्वी परम प्रतापी वैश्यापुत्र युयुत्सु भी थे ॥ ४१–४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि गान्धारीपुत्रोत्पत्तौ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें गान्धारीपुत्रोत्पत्तिविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

दुःशलाके जन्मकी कथा

जनमेजय उवाच

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामादितः कथितं त्वया ।
ऋषेः प्रसादात् तु शतं न च कन्या प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! महर्षि व्यासके प्रसादसे धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हुए, यह बात आपने मुझे पहले ही बता दी थी। परंतु उस समय यह नहीं कहा था कि उन्हें एक कन्या भी हुई ॥ १ ॥

वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च कन्या चैका शताधिका ।
गान्धारराजदुहिता शतपुत्रेति चानघ ॥ २ ॥
उक्ता महर्षिणा तेन व्यासेनामिततेजसा ।
कथं त्विदानीं भगवन् कन्यां त्वं तु ब्रवीषि मे ॥ ३ ॥

अनघ! इस समय आपने वैश्यापुत्र युयुत्सु तथा सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक कन्याकी भी चर्चा की है। अमिततेजस्वी महर्षि व्यासने गान्धारराजकुमारीको सौ पुत्र होनेका ही वरदान दिया था। भगवन्! फिर आप मुझसे यह कैसे कहते हैं कि एक कन्या भी हुई॥ २-३॥

यदि भागशतं पेशी कृता तेन महर्षिणा।
न प्रजास्यति चेद् भूयः सौबलेयी कथंचन॥ ४॥
कथं तु सम्भवस्तस्या दुःशलाया वदस्व मे।
यथावदिह विप्रर्षे परं मेऽत्र कुतूहलम्॥ ५॥

यदि महर्षिने उक्त मांसपिण्डके सौ भाग किये और यदि सुबलपुत्री गान्धारीने किसी प्रकार फिर गर्भ धारण या प्रसव नहीं किया, तो उस दुःशला नामवाली कन्याका जन्म किस प्रकार हुआ? ब्रह्मर्षे! यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताइये। मुझे इस विषयमें बड़ा कौतूहल हो रहा है॥ ४-५॥

वैशम्पायन उवाच

साध्वयं प्रश्न उद्दिष्टः पाण्डवेय ब्रवीमि ते।
तां मांसपेशीं भगवान् स्वयमेव महातपाः॥ ६॥
शीताभिरद्भिरासिच्य भागं भागमकल्पयत्।
यो यथा कल्पितो भागस्तं तं धात्र्या तथा नृप॥ ७॥
घृतपूर्णेषु कुण्डेषु एकैकं प्राक्षिपत् तदा।
एतस्मिन्नन्तरे साध्वी गान्धारी सुदृढव्रता॥ ८॥
दुहितुः स्नेहसंयोगमनुध्याय वराङ्गना।
मनसाचिन्तयद् देवी एतत् पुत्रशतं मम॥ ९॥
भविष्यति न संदेहो न ब्रवीत्यन्यथा मुनिः।
ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद् यदि॥ १०॥

वैशम्पायनजीने कहा—पाण्डवनन्दन! तुमने यह बहुत अच्छा प्रश्न पूछा है। मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ। महातपस्वी भगवान् व्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डको शीतल जलसे सींचकर उसके सौ भाग किये। राजन्! उस समय जो भाग जैसा बना, उसे धायद्वारा वे एक-एक करके घीसे भरे हुए कुण्डोंमें डलवाते गये। इसी बीचमें पूर्ण दृढ़तासे सतीव्रतका पालन करनेवाली साध्वी एवं सुन्दरी गान्धारी कन्याके स्नेह-सम्बन्धका विचार करके मन-ही-मन सोचने लगी—इसमें संदेह नहीं कि इस मांसपिण्डसे मेरे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे; क्योंकि व्यासमुनि कभी झूठ नहीं बोलते; परंतु मुझे अधिक संतोष तो तब होता, यदि एक पुत्री भी हो जाती॥ ६—१०॥

एका शताधिका बाला भविष्यति कनीयसी।
ततो दौहित्रजाल्लोकादबाह्योऽसौ पतिर्मम॥ ११॥

यदि सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक छोटी कन्या हो जायगी तो मेरे ये पति दौहित्रके पुण्यसे प्राप्त होनेवाले उत्तम लोकोंसे भी वञ्चित नहीं रहेंगे॥ ११॥

अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत्।
यदि नाम ममापि स्याद् दुहितैका शताधिका॥ १२॥
कृतकृत्या भवेयं वै पुत्रदौहित्रसंवृता।
यदि सत्यं तपस्तप्तं दत्तं वाप्यथवा हुतम्॥ १३॥
गुरवस्तोषिता वापि तथास्तु दुहिता मम।
एतस्मिन्नेव काले तु कृष्णद्वैपायनः स्वयम्॥ १४॥
व्यभजत् स तदा पेशीं भगवानृषिसत्तमः।
गणयित्वा शतं पूर्णमंशानामाह सौबलीम्॥ १५॥

कहते हैं, स्त्रियोंका दामादमें पुत्रसे भी अधिक स्नेह होता है। यदि मुझे भी सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक पुत्री प्राप्त हो जाय तो मैं पुत्र और दौहित्र दोनोंसे घिरी रहकर कृतकृत्य हो जाऊँ। यदि मैंने सचमुच तप, दान अथवा होम किया हो तथा गुरुजनोंको सेवाद्वारा प्रसन्न कर लिया हो, तो मुझे पुत्री अवश्य प्राप्त हो। इसी बीचमें मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डके विभाग कर दिये और पूरे सौ अंशोंकी गणना करके गान्धारीसे कहा॥ १२—१५॥

व्यास उवाच

पूर्णं पुत्रशतं त्वेतन्न मिथ्या वागुदाहृता।
दौहित्रयोगाय भाग एकः शिष्टः शतात् परः।
एषा ते सुभगा कन्या भविष्यति यथेप्सिता॥ १६॥

व्यासजी बोले—गान्धारी! मैंने झूठी बात नहीं कही थी; ये पूरे सौ पुत्र हैं। सौके अतिरिक्त एक भाग और बचा है, जिससे दौहित्रका योग होगा। इस अंशसे तुम्हें अपने मनके अनुरूप एक सौभाग्यशालिनी कन्या प्राप्त होगी॥ १६॥

ततोऽन्यं घृतकुम्भं च समानाय्य महातपाः।
तं चापि प्राक्षिपत् तत्र कन्याभागं तपोधनः॥ १७॥
एतत् ते कथितं राजन् दुःशलाजन्म भारत।
ब्रूहि राजेन्द्र किं भूयो वर्तयिष्यामि तेऽनघ॥ १८॥

यों कहकर महातपस्वी व्यासजीने घीसे भरा हुआ एक और घड़ा मँगाया और उन तपोधन मुनिने उस कन्याभागको उसीमें डाल दिया। भरतवंशी नरेश! इस प्रकार मैंने तुम्हें दुःशलाके जन्मका प्रसङ्ग सुना दिया। अनघ! बोलो, अब पुनः और क्या कहूँ॥ १७-१८॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि दुःशलोत्पत्तौ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें दुःशलाकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११५॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंकी नामावली

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक् पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्यात् प्रकीर्तय ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठ कौन था ? फिर उससे छोटा और उससे भी छोटा कौन था ? उन सबके अलग-अलग नाम क्या थे ? इन सब बातोंका क्रमशः वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसंधः समः सहः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥ ३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रशरासनः ॥ ४ ॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ५ ॥
चित्रवाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ॥ ६ ॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ॥ ७ ॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ८ ॥
दृढसंधो जरासंधः सत्यसंधः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥ ९ ॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥ १० ॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ॥ ११ ॥
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥ १२ ॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—(जनमेजय ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंके नाम क्रमशः ये हैं—) १ दुर्योधन, २ युयुत्सु, ३ दुश्शासन, ४ दुस्सह, ५ दुश्शल, ६ जलसंध, ७ सम, ८ सह, ९ विन्द, १० अनुविन्द, ११ दुर्धर्ष, १२ सुबाहु, १३ दुष्प्रधर्षण, १४ दुर्मर्षण, १५ दुर्मुख, १६ दुष्कर्ण, १७ कर्ण, १८ विविंशति, १९ विकर्ण, २० शल, २१ सत्त्व, २२ सुलोचन, २३ चित्र, २४ उपचित्र, २५ चित्राक्ष, २६ चारुचित्रशरासन (चित्र-चाप), २७ दुर्मद, २८ दुर्विगाह, २९ विवित्सु, ३० विकटानन (विकट), ३१ ऊर्णनाभ, ३२ सुनाभ (पद्मनाभ), ३३ नन्द, ३४ उपनन्द, ३५ चित्रबाण (चित्रबाहु), ३६ चित्रवर्मा, ३७ सुवर्मा, ३८ दुर्विरोचन, ३९ अयोबाहु, ४० महाबाहु चित्राङ्ग (चित्राङ्गद), ४१ चित्रकुण्डल (सुकुण्डल), ४२ भीमवेग, ४३ भीमबल, ४४ बलाकी, ४५ बलवर्धन (विक्रम), ४६ उग्रायुध, ४७ सुषेण, ४८ कुण्डोदर, ४९ महोदर, ५० चित्रायुध (दृढ़ायुध), ५१ निषङ्गी, ५२ पाशी, ५३ वृन्दारक, ५४ दृढ़वर्मा, ५५ दृढ़क्षत्र, ५६ सोमकीर्ति, ५७ अनूदर, ५८ दृढ़संध, ५९ जरासंध, ६० सत्यसंध, ६१ सदःसुवाक् (सहस्रवाक्), ६२ उग्रश्रवा, ६३ उग्रसेन, ६४ सेनानी (सेनापति), ६५ दुष्पराजय, ६६ अपराजित, ६७ पण्डितक, ६८ विशालाक्ष, ६९ दुराधर (दुराधन), ७० दृढहस्त, ७१ सुहस्त, ७२ वातवेग, ७३ सुवर्चा, ७४ आदित्यकेतु, ७५ बह्वाशी, ७६ नागदत्त, ७७ अग्रयायी (अनुयायी), ७८ कवची, ७९ क्रथन, ८० दण्डी, ८१ दण्डधार, ८२ धनुर्ग्रह, ८३ उग्र, ८४ भीमरथ, ८५ वीरबाहु, ८६ अलोलुप, ८७ अभय, ८८ रौद्रकर्मा, ८९ दृढ़रथाश्रय (दृढ़रथ), ९० अनाधृष्य, ९१ कुण्डभेदी, ९२ विरावी, ९३ विचित्र कुण्डलोंसे सुशोभित प्रमथ, ९४ प्रमाथी, ९५ वीर्यवान् दीर्घरोमा (दीर्घलोचन), ९६ दीर्घबाहु, ९७ महाबाहु व्यूढोरु, ९८ कनकध्वज (कनकाङ्गद), ९९ कुण्डाशी (कुण्डज) तथा १०० विरजा—धृतराष्ट्रके ये सौ पुत्र थे । इनके सिवा दुःशला नामक एक कन्या थी, जो सौसे अधिक थी* ॥ २–१४ ॥

इति पुत्रशतं राजन् कन्या चैव शताधिका ।
नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ॥ १५ ॥

राजन् ! इस प्रकार धृतराष्ट्रके सौ पुत्र और उन सौके अतिरिक्त एक कन्या बतायी गयी । राजन् ! जिस क्रमसे इनके नाम लिये गये हैं, उसी क्रमसे इनका जन्म हुआ समझो ॥ १५ ॥

---

* आदिपर्वके सरसठवें अध्यायमें भी धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंके नाम आये हैं । वहाँ जो नाम दिये गये हैं, उनमेंसे अधिकांश नाम इस अध्यायमें भी ज्यों-के-त्यों हैं । कुछ नामोंमें साधारण अन्तर है, जिन्हें यहाँ कोष्ठकमें दे दिया गया है । इस प्रकार यहाँ और वहाँके

सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ १६ ॥

ये सभी अतिरथी शूरवीर थे । सबने युद्धविद्यामें निपुणता प्राप्त कर ली थी । सब-के-सब वेदोंके विद्वान् तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके मर्मज्ञ थे ॥ १६ ॥

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥ १७ ॥

दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ॥ १८ ॥

जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने समयपर भलीभाँति जाँच-पड़ताल करके अपने सभी पुत्रोंका उनके योग्य स्त्रियोंके साथ विवाह कर दिया । भरतश्रेष्ठ ! महाराज धृतराष्ट्रने विवाहके योग्य समय आनेपर अपनी पुत्री दुःशलाका राजा जयद्रथके साथ विधिपूर्वक विवाह किया ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रपुत्रनामकथने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रपुत्रनामवर्णनविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुके द्वारा मृगरूपधारी मुनिका वध तथा उनसे शापकी प्राप्ति

जनमेजय उवाच

कथितो धार्तराष्ट्राणामार्षः सम्भव उत्तमः ।
अमनुष्यो मनुष्याणां भवता ब्रह्मवादिना ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! आपने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके जन्मका उत्तम प्रसंग सुनाया है, जो महर्षि व्यासकी कृपासे सम्भव हुआ था । आप ब्रह्मवादी हैं । आपने यद्यपि यह मनुष्योंके जन्मका वृत्तान्त बताया है, तथापि यह दूसरे मनुष्योंमें कभी नहीं देखा गया ॥ १ ॥

नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः ।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन् पाण्डवानां च कीर्तय ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंके पृथक्-पृथक् नाम भी जो आपने कहे हैं, वे मैंने अच्छी तरह सुन लिये । अब पाण्डवों-के जन्मका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

ते हि सर्वे महात्मानो देवराजपराक्रमाः ।
त्वयैवांशावतरणे देवभागाः प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥

वे सब महात्मा पाण्डव देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे । आपने ही अंशावतरणके प्रसंगमें उन्हें देवताओंका अंश बताया था ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुमतिमानुषकर्मणाम् ।
तेषामाजननं सर्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी ! वे ऐसे पराक्रम कर दिखाते थे, जो मनुष्योंकी शक्तिके परे हैं; अतः मैं उनके जन्मसम्बन्धी वृत्तान्तको सम्पूर्णतासे सुनना चाहता हूँ; कृपा करके कहिये ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा पाण्डुर्महारण्ये मृगव्यालनिषेविते ।
चरन् मैथुनधर्मस्थं ददर्श मृगयूथपम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! एक समय राजा पाण्डु मृगों और सर्पोंसे सेवित विशाल वनमें विचर रहे थे । उन्होंने मृगोंके एक यूथपतिको देखा, जो मृगीके साथ मैथुन कर रहा था ॥ ५ ॥

ततस्तां च मृगीं तं च रुक्मपुङ्खैः सुपत्रिभिः ।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः पाण्डुः पञ्चभिराशुगैः ॥ ६ ॥

उसे देखते ही राजा पाण्डुने पाँच सुन्दर एवं सुनहरे पंखोंसे युक्त तीखे तथा शीघ्रगामी बाणोंद्वारा, उस मृगी और मृगको भी बींध डाला ॥ ६ ॥

स च राजन् महातेजा ऋषिपुत्रस्तपोधनः ।
भार्यया सह तेजस्वी मृगरूपेण संगतः ॥ ७ ॥

राजन् ! उस मृगके रूपमें एक महातेजस्वी तपोधन ऋषिपुत्र थे, जो अपनी मृगीरूपधारिणी पत्नीके साथ तेजस्वी मृग बनकर समागम कर रहे थे ॥ ७ ॥

संसक्तश्च तया मृग्या मानुषीमीरयन् गिरम् ।
क्षणेन पतितो भूमौ विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ८ ॥

वे उस मृगीसे सटे हुए ही मनुष्योंकी-सी बोली बोलते हुए क्षणभरमें पृथ्वीपर गिर पड़े । उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे विलाप करने लगे ॥ ८ ॥

नामोंकी एकता की गयी है । थोड़े-से नाम ऐसे भी हैं, जिनका मेल नहीं मिलता । नामोंके क्रममें भी दोनों स्थलोंमें अन्तर है । सम्भव है, उनके दो-दो नाम रहे हों और दोनों स्थलोंमें भिन्न-भिन्न नामोंका उल्लेख हो ।



मृग उवाच

काममन्युपरीता हि बुद्ध्या विरहिता अपि।
वर्जयन्ति नृशंसानि पापेष्वपि रता नराः ॥ ९ ॥
न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः।
विधिपर्यागतानर्थान् प्राज्ञो न प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

मृगने कहा—राजन्! जो मनुष्य काम और क्रोधसे घिरे हुए, बुद्धिशून्य तथा पापोंमें संलग्न रहनेवाले हैं, वे भी ऐसे क्रूरतापूर्ण कर्मको त्याग देते हैं। बुद्धि प्रारब्धको नहीं ग्रसती (नहीं लाँघ सकती), प्रारब्ध ही बुद्धिको अपना ग्रास बना लेता है (भ्रष्ट कर देता है)। प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले पदार्थोंको बुद्धिमान् पुरुष भी नहीं जान पाता ॥ ९-१० ॥

शश्वद्धर्मात्मनां मुख्ये कुले जातस्य भारत।
कामलोभाभिभूतस्य कथं ते चलिता मतिः ॥ ११ ॥

भारत! सदा धर्ममें मन लगानेवाले क्षत्रियोंके प्रधान कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, तो भी काम और लोभके वशीभूत होकर तुम्हारी बुद्धि धर्मसे कैसे विचलित हुई? ॥ ११ ॥

पाण्डुरुवाच

शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता।
राज्ञां मृग न मां मोहात् त्वं गर्हयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

पाण्डु बोले—शत्रुओंके वधमें राजाओंकी जैसी वृत्ति बतायी गयी है, वैसी ही मृगोंके वधमें भी मानी गयी है; अतः मृग! तुम्हें मोहवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥

अच्छद्मना मायया च मृगाणां वध इष्यते।
स एव धर्मो राज्ञां तु तद्वि त्वं किं नु गर्हसे ॥ १३ ॥

प्रकट या अप्रकट रूपसे मृगोंका वध हमारे लिये अभीष्ट है। वह राजाओंके लिये धर्म है, फिर तुम उसकी निन्दा कैसे करते हो? ॥ १३ ॥

अगस्त्यः सत्रमासीनश्चकार मृगयामृषिः।
आरण्यान् सर्वदेवेभ्यो मृगान् प्रोक्षन् महावने ॥ १४ ॥
प्रमाणदृष्टधर्मेण कथमस्मान् विगर्हसे।
अगस्त्यस्याभिचारेण युष्माकं विहितो वधः ॥ १५ ॥

महर्षि अगस्त्य एक सत्रमें दीक्षित थे, तब उन्होंने भी मृगया की थी। सभी देवताओंके हितके लिये उन्होंने सत्रमें विघ्न करनेवाले पशुओंको महान् वनमें खदेड़ दिया था। अगस्त्य ऋषिके उक्त हिंसाकर्मके अनुसार (मुझ क्षत्रियके लिये तो) तुम्हारा वध करना ही उचित है। मैं प्रमाणसिद्ध धर्मके अनुकूल वर्ताव करता हूँ, तो भी तुम क्यों मेरी निन्दा करते हो? ॥ १४-१५ ॥

मृग उवाच

न रिपून् वै समुद्दिश्य विमुञ्चन्ति नराः शरान्।
रन्ध्र एषां विशेषेण वधः काले प्रशस्यते ॥ १६ ॥

मृगने कहा—मनुष्य अपने शत्रुओंपर भी, विशेषतः जब वे संकटकालमें हों, बाण नहीं छोड़ते। उपयुक्त अवसर (संग्राम आदि) में ही शत्रुओंके वधकी प्रशंसा की जाती है ॥

पाण्डुरुवाच

प्रमत्तमप्रमत्तं वा विवृतं घ्नन्ति चौजसा।
उपायैर्विविधैस्तीक्ष्णैः कस्मान्मृग विगर्हसे ॥ १७ ॥

पाण्डु बोले—मृग! राजालोग नाना प्रकारके तीक्ष्ण उपायोंद्वारा बलपूर्वक खुले-आम मृगका वध करते हैं; चाहे वह सावधान हो या असावधान। फिर तुम मेरी निन्दा क्यों करते हो? ॥ १७ ॥

मृग उवाच

नाहं घ्नन्तं मृगान् राजन् विगर्हे चात्मकारणात्।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाद्यानृशंस्यतः ॥ १८ ॥

मृगने कहा—राजन्! मैं अपने मारे जानेके कारण इस बातके लिये तुम्हारी निन्दा नहीं करता कि तुम मृगोंको मारते हो। मुझे तो इतना ही कहना है कि तुम्हें दयाभावका आश्रय लेकर मेरे मैथुनकर्मसे निवृत्त होनेतक प्रतीक्षा करनी चाहिये थी ॥ १८ ॥

सर्वभूतहिते काले सर्वभूतेप्सिते तथा।
को हि विद्वान् मृगं हन्याच्चरन्तं मैथुनं वने ॥ १९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके लिये हितकर और अभीष्ट है, उस समयमें वनके भीतर मैथुन करनेवाले किसी मृगको कौन विवेकशील पुरुष मार सकता है? ॥ १९ ॥

अस्यां मृग्यां च राजेन्द्र हर्षान्मैथुनमाचरम्।
पुरुषार्थफलं कर्तुं तत् त्वया विफलीकृतम् ॥ २० ॥

राजेन्द्र ! मैं बड़े हर्ष और उल्लासके साथ अपने कामरूपी पुरुषार्थको सफल करनेके लिये इस मृगीके साथ मैथुन कर रहा था; किंतु तुमने उसे निष्फल कर दिया ॥ २० ॥

पौरवाणां महाराज तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वंशे जातस्य कौरव्य नानुरूपमिदं तव ॥ २१ ॥

महाराज ! क्लेशरहित कर्म करनेवाले कुरुवंशियोंके कुलमें जन्म लेकर तुमने जो यह कार्य किया है, यह तुम्हारे अनुरूप नहीं है ॥ २१ ॥

नृशंसं कर्म सुमहत् सर्वलोकविगर्हितम्।
अस्वर्ग्यमयशस्यं चाप्यधर्मिष्ठं च भारत ॥ २२ ॥

भारत ! अत्यन्त कठोरतापूर्ण कर्म सम्पूर्ण लोकोंमें निन्दित है। वह स्वर्ग और यशको हानि पहुँचानेवाला है। इसके सिवा वह महान् पापकृत्य है ॥ २२ ॥

स्त्रीभोगानां विशेषज्ञः शास्त्रधर्मार्थतत्त्ववित्।
नार्हस्त्वं सुरसंकाश कर्तुमस्वर्ग्यमीदृशम् ॥ २३ ॥

देवतुल्य महाराज ! तुम स्त्री-भोगोंके विशेषज्ञ तथा शास्त्रीय धर्म एवं अर्थके तत्त्वको जाननेवाले हो। तुम्हें ऐसा नरकप्रद पापकार्य नहीं करना चाहिये था ॥ २३ ॥

त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ॥ २४ ॥

नृपशिरोमणे ! तुम्हारा कर्तव्य तो यह है कि धर्म, अर्थ और कामसे हीन जो पापाचारी मनुष्य कठोरतापूर्ण कर्म करनेवाले हों, उन्हें दण्ड दो ॥ २४ ॥

किं कृतं ते नरश्रेष्ठ मामिहानागसं घ्नता।
मुनिं मूलफलाहारं मृगवेषधरं नृप ॥ २५ ॥
वसमानमरण्येषु नित्यं शमपरायणम्।
त्वयाहं हिंसितो यस्मात् तस्मात् त्वामप्यहं शपे ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ ! मैं तो फल-मूलका आहार करनेवाला एक मुनि हूँ और मृगका रूप धारण करके शम-दमके पालनमें तत्पर हो सदा जंगलोंमें ही निवास करता हूँ। मुझ निरपराधको मारकर यहाँ तुमने क्या लाभ उठाया ? तुमने मेरी हत्या की है, इसलिये बदलेमें मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ ॥ २५-२६ ॥

द्वयोर्नृशंसकर्तारमवशं काममोहितम्।
जीवितान्तकरो भाव एवमेवागमिष्यति ॥ २७ ॥

तुमने मैथुन-धर्ममें आसक्त दो स्त्री-पुरुषोंका निष्ठुरतापूर्वक वध किया है। तुम अजितेन्द्रिय एवं कामसे मोहित हो; अतः इसी प्रकार मैथुनमें आसक्त होनेपर जीवनका अन्त करनेवाली मृत्यु निश्चय ही तुमपर आक्रमण करेगी ॥ २७ ॥

अहं हि किंदमो नाम तपसा भावितो मुनिः।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ॥ २८ ॥
मृगो भूत्वा मृगैः सार्धं चरामि गहने वने।
न तु ते ब्रह्महत्येयं भविष्यत्यविजानतः ॥ २९ ॥

मेरा नाम किंदम है। मैं तपस्यामें संलग्न रहनेवाला मुनि हूँ, अतः मनुष्योंमें—मानव-शरीरसे यह काम करनेमें मुझे लज्जाका अनुभव हो रहा था। इसीलिये मृग बनकर अपनी मृगीके साथ मैथुन कर रहा था। मैं प्रायः इसी रूपमें मृगोंके साथ घने वनमें विचरता रहता हूँ। तुम्हें मुझे मारनेसे ब्रह्महत्या तो नहीं लगेगी; क्योंकि तुम यह बात नहीं जानते थे (कि यह मुनि है) ॥ २८-२९ ॥

मृगरूपधरं हत्वा मामेवं काममोहितम्।
अस्य तु त्वं फलं मूढ प्राप्स्यसीदृशमेव हि ॥ ३० ॥

परंतु जब मैं मृगरूप धारण करके कामसे मोहित था, उस अवस्थामें तुमने अत्यन्त क्रूरताके साथ मुझे मारा है; अतः मूढ़ ! तुम्हें अपने इस कर्मका ऐसा ही फल अवश्य मिलेगा ॥ ३० ॥

प्रियया सह संवासं प्राप्य कामविमोहितः।
त्वमप्यस्यामवस्थायां प्रेतलोकं गमिष्यसि ॥ ३१ ॥

तुम भी जब कामसे सर्वथा मोहित होकर अपनी प्यारी पत्नीके साथ समागम करने लगोगे, तब इस—मेरी अवस्थामें ही यमलोक सिधारोगे ॥ ३१ ॥

अन्तकाले हि संवासं यया गन्तासि कान्तया।
प्रेतराजपुरं प्राप्तं सर्वभूतदुरत्ययम्।
भक्त्या मतिमतां श्रेष्ठ सैव त्वानुगमिष्यति ॥ ३२ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज ! अन्तकाल आनेपर तुम जिस प्यारी पत्नीके साथ समागम करोगे, वही समस्त प्राणियोंके लिये दुर्गम यमलोकमें जानेपर भक्तिभावसे तुम्हारा अनुसरण करेगी ॥ ३२ ॥

वर्तमानः सुखे दुःखं यथाहं प्रापितस्त्वया।
तथा त्वां च सुखं प्राप्तं दुःखमभ्यागमिष्यति ॥ ३३ ॥

मैं सुखमें मग्न था, तथापि तुमने जिस प्रकार मुझे दुःखमें डाल दिया, उसी प्रकार तुम भी जब प्रेयसी पत्नीके संयोग-सुखका अनुभव करोगे, उसी समय तुम्हारे ऊपर दुःख टूट पड़ेगा ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो जीवितात् स व्यमुच्यत।
मृगः पाण्डुश्च दुःखार्तः क्षणेन समपद्यत ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर वे मृगरूपधारी मुनि अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उनका देहान्त हो गया तथा राजा पाण्डु भी क्षणभरमें दुःखसे आतुर हो उठे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुमृगशापे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुको मृगका शाप नामक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका अनुताप, संन्यास लेनेका निश्चय तथा पत्नियोंके अनुरोधसे वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

तं व्यतीतमतिक्रम्य राजा स्वमिव बान्धवम्।
सभार्यः शोकदुःखार्तः पर्यदेवयदातुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन मृगरूपधारी मुनिको मरा हुआ छोड़कर राजा पाण्डु जब आगे बढ़े, तब पत्नीसहित शोक और दुःखसे आतुर हो अपने सगे भाई-बन्धुकी भाँति उनके लिये विलाप करने लगे तथा अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे ॥ १ ॥

पाण्डुरुवाच

सतामपि कुले जाताः कर्मणा बत दुर्गतिम्।
प्राप्नुवन्त्यकृतात्मानः कामजालविमोहिताः ॥ २ ॥

पाण्डु बोले—खेदकी बात है कि श्रेष्ठ पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्य भी अपने अन्तःकरणपर वश न होनेके कारण कामके फंदेमें फँसकर विवेक खो बैठते हैं और अनुचित कर्म करके उसके द्वारा भारी दुर्गतिमें पड़ जाते हैं ॥ २ ॥

शश्वद्धर्मात्मना जातो बाल एव पिता मम।
जीवितान्तमनुप्राप्तः कामात्मैवेति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

हमने सुना है, सदा धर्ममें मन लगाये रहनेवाले महाराज शन्तनुसे जिनका जन्म हुआ था, वे मेरे पिता विचित्रवीर्य भी कामभोगमें आसक्तचित्त होनेके कारण ही छोटी अवस्थामें ही मृत्युको प्राप्त हुए थे ॥ ३ ॥

तस्य कामात्मनः क्षेत्रे राज्ञः संयतवाग्वृषिः।
कृष्णद्वैपायनः साक्षाद् भगवान् मामजीजनत् ॥ ४ ॥

उन्हीं कामासक्त नरेशकी पत्नीसे वाणीपर संयम रखनेवाले ऋषिप्रवर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने मुझे उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

तस्याद्य व्यसने बुद्धिः संजातेयं ममाधमा।
त्यक्तस्य देवैरनयान्मृगयां परिधावतः ॥ ५ ॥

मैं शिकारके पीछे दौड़ता रहता हूँ; मेरी इसी अनीतिके कारण जान पड़ता है देवताओंने मुझे त्याग दिया है। इसी-लिये तो ऐसे विशुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेपर भी आज व्यसनमें फँसकर मेरी यह बुद्धि इतनी नीच हो गयी ॥ ५ ॥

मोक्षमेव व्यवस्यामि बन्धो हि व्यसनं महत्।
सुवृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ६ ॥

अतः अब मैं इस निश्चयपर पहुँच रहा हूँ कि मोक्षके मार्गपर चलनेसे ही अपना कल्याण है। स्त्री-पुत्र आदिका बन्धन ही सबसे महान् दुःख है। आजसे मैं अपने पिता वेदव्यास-जीकी उस उत्तम वृत्तिका आश्रय लूँगा, जिससे पुण्यका कभी नाश नहीं होता ॥ ६ ॥

अतीव तपसाऽऽत्मानं योजयिष्याम्यसंशयम्।
तस्मादेकोऽहमेकाकी एकैकस्मिन् वनस्पतौ ॥ ७ ॥
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डश्चरिष्याम्याश्रमानिमान्।
पांसुना समवच्छन्नः शून्यागारकृतालयः ॥ ८ ॥

मैं अपने शरीर और मनको निःसंदेह अत्यन्त कठोर तपस्यामें लगाऊँगा। इसलिये अब अकेला (स्त्रीरहित) और एकाकी (सेवक आदिसे भी अलग) रहकर एक-एक वृक्षके नीचे फलकी भिक्षा माँगूँगा। सिर मुँड़ाकर मौनी संन्यासी हो इन वानप्रस्थियोंके आश्रमोंमें विचरूँगा। उस समय मेरा शरीर धूलसे भरा होगा और निर्जन एकान्त स्थानमें मेरा निवास होगा ॥ ७-८ ॥

वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः।
न शोचन् न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ९ ॥

अथवा वृक्षोंका तल ही मेरा निवासगृह होगा। मैं प्रिय एवं अप्रिय सब प्रकारकी वस्तुओंको त्याग दूँगा। न मुझे किसीके वियोगका शोक होगा और न किसीकी प्राप्ति या संयोगसे हर्ष ही होगा। निन्दा और स्तुति दोनों मेरे लिये समान होंगी ॥ ९ ॥

निराशीर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
न चाप्यवहसन् कंचिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीं क्वचित् ॥ १० ॥

न मुझे आशीर्वादकी इच्छा होगी न नमस्कारकी। मैं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित और संग्रह-परिग्रहसे दूर रहूँगा। न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न क्रोधसे किसीपर भौंहें टेढ़ी करूँगा ॥ १० ॥

प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वभूतहिते रतः।
जङ्गमाजङ्गमं सर्वमविहिंसंश्चतुर्विधम् ॥ ११ ॥

मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी तथा सदा सब भूतोंके हित-साधनमें मैं संलग्न रहूँगा। (स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज, जरायुज—) चार प्रकारके जो चराचर प्राणी हैं, उनमेंसे किसीकी भी मैं हिंसा नहीं करूँगा ॥ ११ ॥

स्वासु प्रजास्विव सदा समः प्राणभृतां प्रति।
एककालं चरन् भैक्ष्यं कुलानि दश पञ्च वा ॥ १२ ॥

जैसे पिता अपनी अनेक संतानोंमें सर्वदा समभाव रखता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा सदा समान भाव होगा। (पहले कहे अनुसार) मैं केवल एक समय वृक्षोंसे भिक्षा माँगूँगा अथवा यह सम्भव न हुआ तो दस-पाँच घरोंमें घूमकर (थोड़ी-थोड़ी) भिक्षा ले लूँगा ॥ १२ ॥

असम्भवे वा भैक्ष्यस्य चरन्ननशनान्यपि ।
अल्पमल्पं च भुञ्जानः पूर्वालाभे न जातुचित् ॥ १३ ॥
अन्यान्यपि चरँल्लोभादलाभे सप्त पूरयन् ।
अलाभे यदि वा लाभे समदर्शी महातपाः ॥ १४ ॥

अथवा यदि भिक्षा मिलनी असम्भव हो जाय, तो कई दिनतक उपवास ही करता चलूँगा। (भिक्षा मिल जानेपर भी) भोजन थोड़ा-थोड़ा ही करूँगा। ऊपर बताये हुए एक प्रकारसे भिक्षा न मिलनेपर ही दूसरे प्रकारका आश्रय लूँगा। ऐसा तो कभी न होगा कि लोभवश दूसरे-दूसरे बहुत-से घरोंमें जाकर भिक्षा लूँ। यदि कहीं कुछ न मिला तो भिक्षाकी पूर्तिके लिये सात घरोंपर फेरी लगा लूँगा। यदि मिला तो और न मिला तो, दोनों ही दशाओंमें समान दृष्टि रखते हुए भारी तपस्यामें लगा रहूँगा ॥ १३-१४ ॥

वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥ १५ ॥
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ।
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन् न च द्विषन् ॥ १६ ॥

एक आदमी बसूलेसे मेरी एक बाँह काटता हो और दूसरा मेरी दूसरी बाँहपर चन्दन छिड़कता हो तो उन दोनोंमेंसे एकके अकल्याणका और दूसरेके कल्याणका चिन्तन नहीं करूँगा। जीने अथवा मरनेकी इच्छावाले मनुष्य जैसी चेष्टाएँ करते हैं, वैसी कोई चेष्टा मैं नहीं करूँगा। न जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष ॥ १५-१६ ॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
ताः सर्वाः समतिक्रम्य निमेषादिव्यवस्थिताः ॥ १७ ॥
तासु चाप्यनवस्थासु त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
सम्परित्यक्तधर्मार्थः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ १८ ॥

जीवित पुरुषोंद्वारा अपने अभ्युदयके लिये जो-जो कर्म किये जा सकते हैं, उन समस्त सकाम कर्मोंको मैं त्याग दूँगा; क्योंकि वे सब कालसे सीमित हैं। अनित्य फल देनेवाली क्रियाओंके लिये जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा चेष्टा की जाती है, उस चेष्टाको भी मैं सर्वथा त्याग दूँगा; धर्मके फलको भी छोड़ दूँगा। अपने अन्तःकरणके मलको सर्वथा धोकर शुद्ध हो जाऊँगा ॥ १७-१८ ॥

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित् तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ॥ १९ ॥

मैं सब पापोंसे सर्वथा मुक्त हो अविद्याजनित समस्त बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके वशमें न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा ॥ १९ ॥

एतया सततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ २० ॥

सदा इस प्रकारकी धृति (धारणा) द्वारा उक्त रूपसे व्यवहार करता हुआ भयरहित मोक्षमार्गमें स्थित होकर इस देहका विसर्जन करूँगा ॥ २० ॥

नाहं सुकृपणे मार्गे स्ववीर्यक्षयशोचिते ।
स्वधर्मात् सततापेते चरेयं वीर्यवर्जितः ॥ २१ ॥

मैं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो गया हूँ। मेरा गृहस्थाश्रम संतानोत्पादन आदि धर्मसे सर्वथा शून्य है और मेरे लिये अपने वीर्यक्षयके कारण सर्वथा शोचनीय हो रहा है; अतः इस अत्यन्त दीनतापूर्ण मार्गपर अब मैं नहीं चल सकता ॥ २१ ॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि योऽन्यं कृपणचक्षुषा ।
उपैति वृत्तिं कामात्मा स शुनां वर्तते पथि ॥ २२ ॥

जो सत्कार या तिरस्कार पाकर दीनतापूर्ण दृष्टिसे देखता हुआ किसी दूसरे पुरुषके पास जीविकाकी आशासे जाता है, वह कामात्मा मनुष्य तो कुत्तोंके मार्गपर चलता है ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निःश्वासपरमो नृपः ।
अवेक्षमाणः कुन्तीं च माद्रीं स समभाषत ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर राजा पाण्डु अत्यन्त दुःखसे आतुर हो लंबी साँस खींचते और कुन्ती-माद्रीकी ओर देखते हुए उन दोनोंसे इस प्रकार बोले—॥ २३ ॥

कौसल्या विदुरः क्षत्ता राजा च सह बन्धुभिः ।
आर्या सत्यवती भीष्मस्ते च राजपुरोहिताः ॥ २४ ॥
ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः संशितव्रताः ।
पौरवृद्धाश्च ये तत्र निवसन्त्यस्मदाश्रयाः ।
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्राजितो वनम् ॥ २५ ॥

'(देवियो! तुम दोनों हस्तिनापुरको लौट जाओ और) माता अम्बिका, अम्बालिका, भाई विदुर, संजय, बन्धुओंसहित राजा धृतराष्ट्र, दादी सत्यवती, चाचा भीष्मजी, राजपुरोहितगण, कठोरव्रतका पालन तथा सोमपान करनेवाले महात्मा ब्राह्मण तथा वृद्ध पुरवासीजन आदि जो लोग वहाँ हमलोगोंके आश्रित होकर निवास करते हैं, उन सबको प्रसन्न करके कहना, 'राजा पाण्डु संन्यासी होकर वनमें चले गये' ॥ २४-२५ ॥

निशम्य वचनं भर्तुर्वनवासे धृतात्मनः ।
तत्समं वचनं कुन्ती माद्री च समभाषताम् ॥ २६ ॥

वनवासके लिये दृढ़ निश्चय करनेवाले पतिदेवका यह वचन सुनकर कुन्ती और माद्रीने उनके योग्य बात कही—॥ २६ ॥



अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ ।
आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्तुं तपो महत् ॥ २७ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! संन्यासके सिवा और भी तो आश्रम हैं, जिनमें आप हम धर्मपत्नियोंके साथ रहकर भारी तपस्या कर सकते हैं ॥ २७ ॥

शरीरस्यापि मोक्षाय स्वर्ग्यं प्राप्य महाफलम् ।
त्वमेव भविता भर्ता स्वर्गस्यापि न संशयः ॥ २८ ॥

'आपकी वह तपस्या स्वर्गदायक महान् फलकी प्राप्ति कराकर इस शरीरसे भी मुक्ति दिलानेमें समर्थ हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि उस तपके प्रभावसे आप ही स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र भी हो सकते हैं ॥ २८ ॥

प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे ।
त्यक्तकामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः ॥ २९ ॥

'हम दोनों कामसुखका परित्याग करके पतिलोककी प्राप्तिका ही परम लक्ष्य लेकर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई भारी तपस्या करेंगी ॥ २९ ॥

यदि चावां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
अद्यैवावां प्रहास्यावो जीवितं नात्र संशयः ॥ ३० ॥

'महाप्राज्ञ नरेश्वर ! यदि आप हम दोनोंको त्याग देंगे तो आज ही हम अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३० ॥

पाण्डुरुवाच

यदि व्यवसितं ह्येतद् युवयोर्धर्मसंहितम् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ३१ ॥

पाण्डुने कहा—देवियो ! यदि तुम दोनोंका यही धर्मयुक्त निश्चय है तो (ठीक है, मैं संन्यास न लेकर वानप्रस्थाश्रममें ही रहूँगा तथा) आजसे अपने पिता वेदव्यासजीकी अक्षय फलवाली जीवनचर्याका अनुसरण करूँगा ॥ ३१ ॥

त्यक्त्वा ग्राम्यसुखाहारं तप्यमानो महत् तपः ।
वल्कली फलमूलाशी चरिष्यामि महावने ॥ ३२ ॥

भोगियोंके सुख और आहारका परित्याग करके भारी तपस्यामें लग जाऊँगा । वल्कल पहनकर फल-मूलका भोजन करते हुए महान् वनमें विचरूँगा ॥ ३२ ॥

अग्नौ जुह्वन्नुभौ कालावुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चीरचर्मजटाधरः ॥ ३३ ॥

दोनों समय स्नान-संध्या और अग्निहोत्र करूँगा । चिथड़े, मृगचर्म और जटा धारण करूँगा । बहुत थोड़ा आहार ग्रहण करके शरीरसे दुर्बल हो जाऊँगा ॥ ३३ ॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासानवेक्षकः ।
तपसा दुश्चरेणेदं शरीरमुपशोषयन् ॥ ३४ ॥
एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ ३५ ॥

सर्दी, गरमी और आँधीका वेग सहूँगा । भूख-प्यासकी परवा नहीं करूँगा तथा दुष्कर तपस्या करके इस शरीरको सुखा डालूँगा । एकान्तमें रहकर आत्म-चिन्तन करूँगा । कच्चे (कन्द-मूल आदि) और पक्के (फल आदि) से जीवन-निर्वाह करूँगा । देवताओं और पितरोंको जंगली फल-मूल, जल तथा मन्त्रपाठद्वारा तृप्त करूँगा ॥ ३४-३५ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ३६ ॥

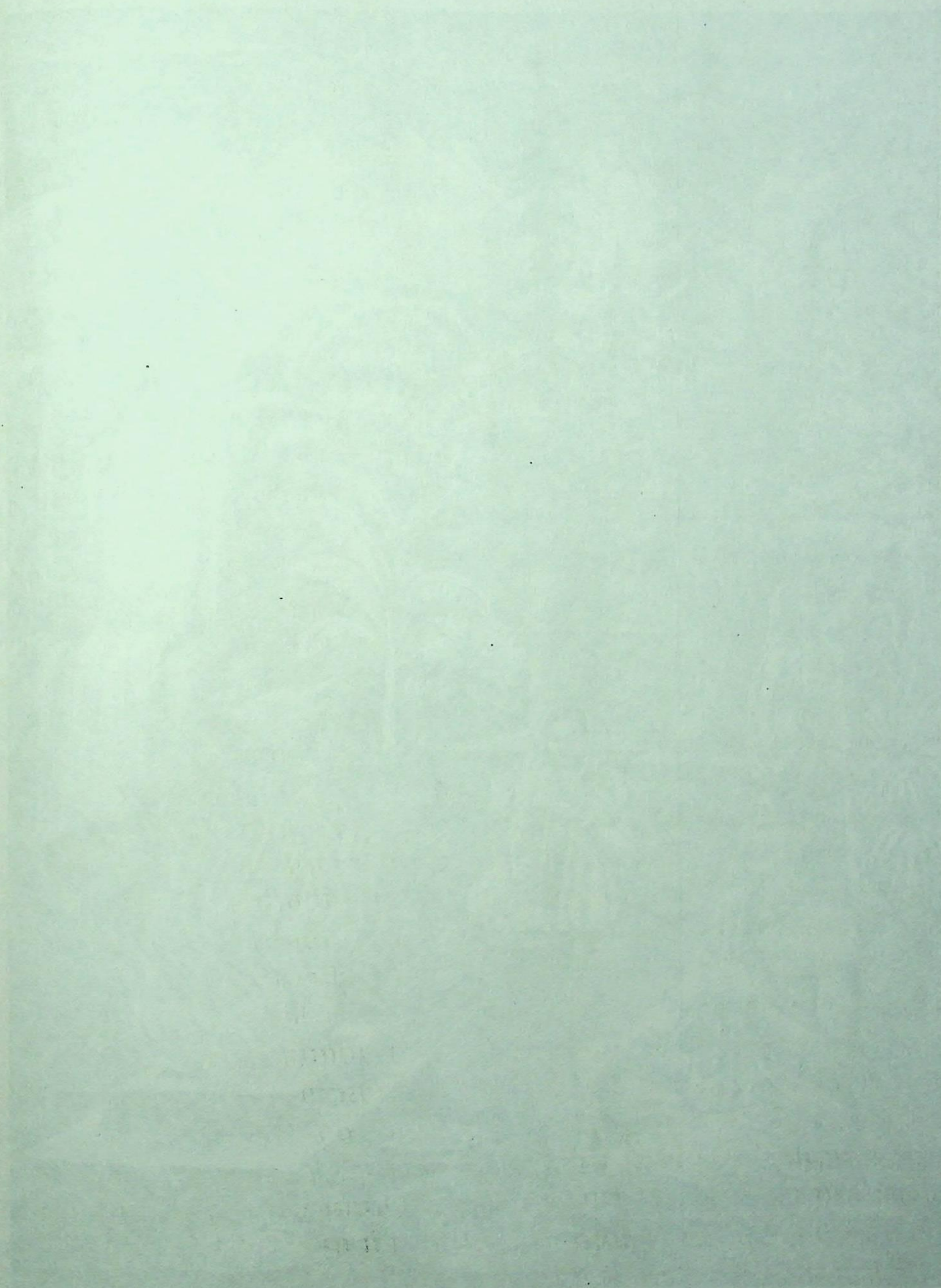
मैं वानप्रस्थ आश्रममें रहनेवालोंका तथा कुटुम्बीजनोंका भी दर्शन और अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३६ ॥

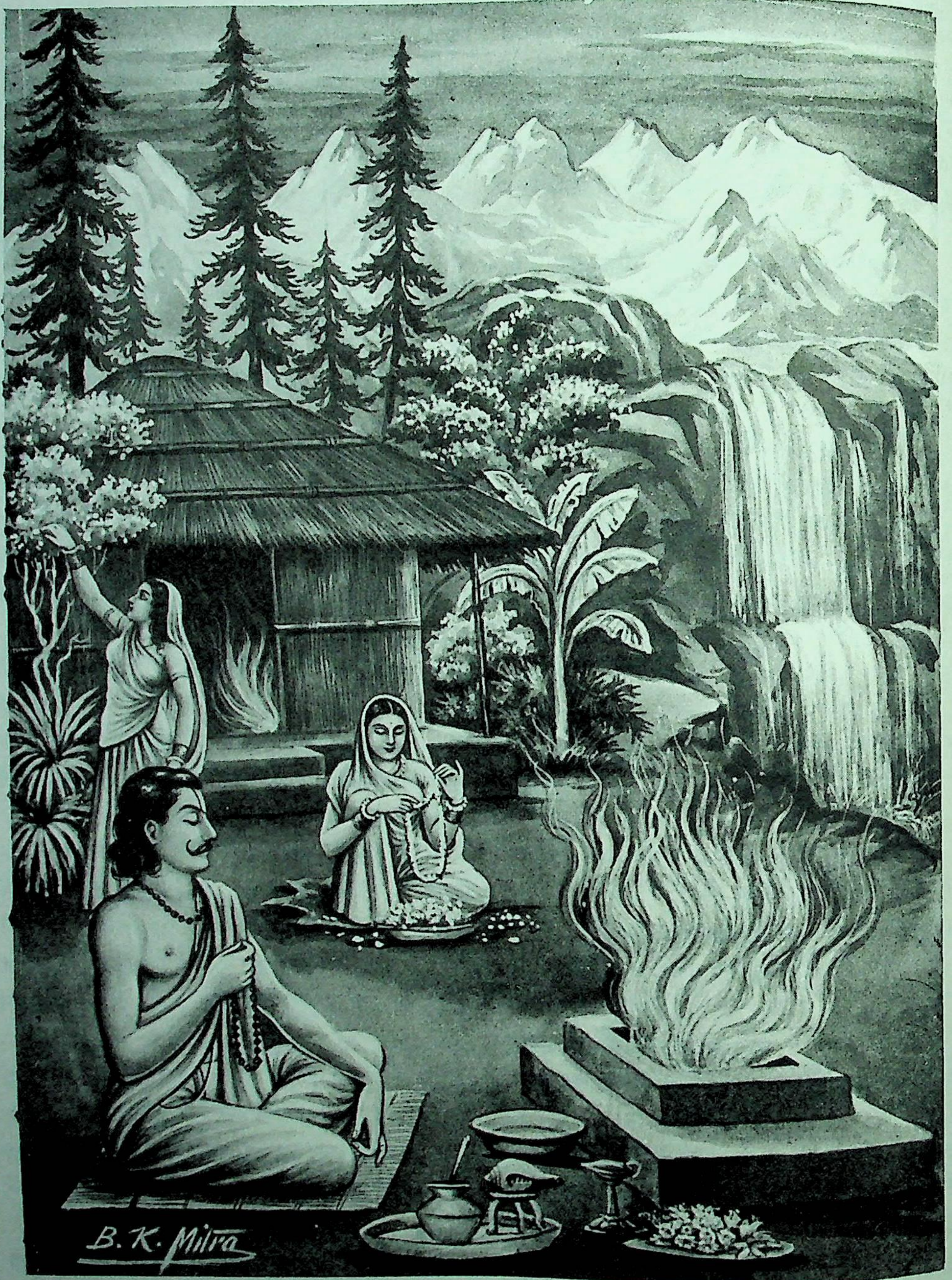
एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
काङ्क्षमाणोऽहमास्थास्ये देहस्यास्या समापनात् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार मैं वानप्रस्थ-आश्रमसम्बन्धी शास्त्रोंकी कठोर-से-कठोर विधियोंके पालनकी आकाङ्क्षा करता हुआ तबतक वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित रहूँगा जबतक कि शरीरका अन्त न हो जाय ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा भार्ये ते राजा कौरवनन्दनः ।
ततश्चूडामणिं निष्कमङ्गदे कुण्डलानि च ॥ ३८ ॥
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च ।
प्रदाय सर्वं विप्रेभ्यः पाण्डुः पुनरभाषत ॥ ३९ ॥





शतशृङ्ग पर्वतपर पाण्डुका तप

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा पाण्डुने अपनी दोनों पत्नियोंसे यों कहकर अपने सिरपेंच, निष्क (वक्षःस्थलके आभूषण), बाजूबंद, कुण्डल और बहुमूल्य वस्त्र तथा माद्री और कुन्तीके भी शरीरके गहने उतारकर सब ब्राह्मणोंको दे दिये। फिर सेवकोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

गत्वा नागपुरं वाच्यं पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ।
अर्थं कामं सुखं चैव रतिं च परमात्मिकाम् ॥ ४० ॥
प्रतस्थे सर्वमुत्सृज्य सभार्यः कुरुनन्दनः ।

'तुमलोग हस्तिनापुरमें जाकर कह देना कि कुरुनन्दन राजा पाण्डु अर्थ, काम, विषयसुख और स्त्रीविषयक रति आदि सब कुछ छोड़कर अपनी पत्नियोंके साथ वानप्रस्थ हो गये हैं' ॥ ४०½ ॥

ततस्तस्यानुयातारस्ते चैव परिचारकाः ॥ ४१ ॥
श्रुत्वा भरतसिंहस्य विविधाः करुणा गिरः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा हाहेति परिचुक्रुशुः ॥ ४२ ॥

भरतसिंह पाण्डुकी यह करुणायुक्त चित्र-विचित्र वाणी सुनकर उनके अनुचर और सेवक सभी हाय-हाय करके भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ ४१-४२ ॥

उष्णमश्रु विमुञ्चन्तस्तं विहाय महीपतिम् ।
ययुर्नागपुरं तूर्णं सर्वमादाय तद् धनम् ॥ ४३ ॥

उस समय नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बहाते हुए वे सेवक राजा पाण्डुको छोड़कर और बचा हुआ सारा धन लेकर तुरंत हस्तिनापुरको चले गये ॥ ४३ ॥

ते गत्वा नगरं राज्ञो यथावृत्तं महात्मनः ।
कथयांचक्रिरे राज्ञस्तद् धनं विविधं ददुः ॥ ४४ ॥

उन्होंने हस्तिनापुरमें जाकर महात्मा राजा पाण्डुका सारा समाचार राजा धृतराष्ट्रसे ज्यों-का-त्यों कह सुनाया और वह नाना प्रकारका धन धृतराष्ट्रको ही सौंप दिया ॥ ४४ ॥

श्रुत्वा तेभ्यस्ततः सर्वं यथावृत्तं महावने ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठः पाण्डुमेवान्वशोचत ॥ ४५ ॥

फिर उन सेवकोंसे उस महान् वनमें पाण्डुके साथ घटित हुई सारी घटनाओंको यथावत् सुनकर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र सदा पाण्डुकी ही चिन्तामें दुखी रहने लगे ॥ ४५ ॥

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित् ।
भ्रातृशोकसमाविष्टस्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ ४६ ॥

शय्या, आसन और नाना प्रकारके भोगोंमें कभी उनकी रुचि नहीं होती थी । वे भाईके शोकमें मग्न हो सदा उन्हींकी बात सोचते रहते थे ॥ ४६ ॥

राजपुत्रस्तु कौरव्य पाण्डुर्मूलफलाशनः ।
जगाम सह पत्नीभ्यां ततो नागशतं गिरिम् ॥ ४७ ॥

जनमेजय ! राजकुमार पाण्डु फल-मूलका आहार करते हुए अपनी दोनों पत्नियोंके साथ वहाँसे नागशत नामक पर्वतपर चले गये ॥ ४७ ॥

स चैत्ररथमासाद्य कालकूटमतीत्य च ।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् चैत्ररथ नामक वनमें जाकर कालकूट और हिमालय पर्वतको लाँघते हुए वे गन्धमादनपर चले गये ॥४८॥

रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः ।
उवास स महाराज समेषु विषमेषु च ॥ ४९ ॥
इन्द्रद्युम्नसरः प्राप्य हंसकूटमतीत्य च ।
शतशृङ्गे महाराज तापसः समतप्यत ॥ ५० ॥

महाराज! उस समय महाभूत, सिद्ध और महर्षिगण उनकी रक्षा करते थे । वे ऊँची-नीची जमीनपर सो लेते थे । इन्द्रद्युम्न सरोवरपर पहुँचकर तथा उसके बाद हंसकूटको लाँघते हुए वे शतशृङ्ग पर्वतपर जा पहुँचे। जनमेजय ! वहाँ वे तपस्वी-जीवन बिताते हुए भारी तपस्यामें संलग्न हो गये ॥४९-५०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुचरितेऽष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुचरितविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

तत्रापि तपसि श्रेष्ठे वर्तमानः स वीर्यवान् ।
सिद्धचारणसङ्घानां बभूव प्रियदर्शनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ भी श्रेष्ठ तपस्यामें लगे हुए पराक्रमी राजा पाण्डु सिद्ध और चारणोंके समुदायको अत्यन्त प्रिय लगने लगे—इन्हें देखते ही वे प्रसन्न हो जाते थे ॥ १ ॥

शुश्रूषुरनहंवादी संयतात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वर्गं गन्तुं पराक्रान्तः स्वेन वीर्येण भारत ॥ २ ॥

भारत ! वे ऋषि-मुनियोंकी सेवा करते, अहंकारसे दूर रहते और मनको वशमें रखते थे । उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियों-को जीत लिया था । वे अपनी ही शक्तिसे स्वर्गलोकमें जानेके लिये सदा सचेष्ट रहने लगे ॥ २ ॥

केषांचिदभवद् भ्राता केषांचिदभवत् सखा ।
ऋषयस्त्वपरे चैनं पुत्रवत् पर्यपालयन् ॥ ३ ॥

कितने ही ऋषियोंका उनपर भाईके समान प्रेम था। कितनोंके वे मित्र हो गये थे और दूसरे बहुत-से महर्षि उन्हें अपने पुत्रके समान मानकर सदा उनकी रक्षा करते थे ॥ ३ ॥

स तु कालेन महता प्राप्य निष्कल्मषं तपः ।
ब्रह्मर्षिसदृशः पाण्डुर्बभूव भरतर्षभ ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा पाण्डु दीर्घकालतक पापरहित तपस्याका अनुष्ठान करके ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावशाली हो गये थे ॥ ४ ॥

अमावास्यां तु सहिता ऋषयः संशितव्रताः ।
ब्रह्माणं द्रष्टुकामास्ते सम्प्रतस्थुर्महर्षयः ॥ ५ ॥

एक दिन अमावास्या तिथिको कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ऋषि-महर्षि एकत्र हो ब्रह्माजीके दर्शनकी इच्छासे ब्रह्मलोकके लिये प्रस्थित हुए ॥ ५ ॥

सम्प्रयातानृषीन् दृष्ट्वा पाण्डुर्वचनमब्रवीत् ।
भवन्तः क्व गमिष्यन्ति ब्रूत मे वदतां वराः ॥ ६ ॥

ऋषियोंको प्रस्थान करते देख पाण्डुने उनसे पूछा—'वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वरो ! आपलोग कहाँ जायँगे ? यह मुझे बताइये' ॥

ऋषय ऊचुः

समवायो महानद्य ब्रह्मलोके महात्मनाम् ।
देवानां च ऋषीणां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो द्रष्टुकामाः स्वयम्भुवम् ॥ ७ ॥

ऋषि बोले—राजन् ! आज ब्रह्मलोकमें महात्मा देवताओं, ऋषि-मुनियों तथा महामना पितरोंका बहुत बड़ा समूह एकत्र होनेवाला है । अतः हम वहीं स्वयम्भू ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये जायँगे ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डुरुत्थाय सहसा गन्तुकामो महर्षिभिः ।
स्वर्गपारं तितीर्षुः स शतशृङ्गादुदङ्मुखः ॥ ८ ॥
प्रतस्थे सह पत्नीभ्यामब्रुवंस्तं च तापसाः ।
उपर्युपरि गच्छन्तः शैलराजमुदङ्मुखाः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर महाराज पाण्डु भी महर्षियोंके साथ जानेके लिये सहसा उठ खड़े हुए। उनके मनमें स्वर्गके पार जानेकी इच्छा जाग उठी और वे उत्तरकी ओर मुँह करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ शतशृङ्ग पर्वतसे चल दिये । यह देख गिरिराज हिमालयके ऊपर-ऊपर उत्तराभिमुख यात्रा करनेवाले तपस्वी मुनियोंने कहा—॥

दृष्टवन्तो गिरौ रम्ये दुर्गान् देशान् बहून् वयम् ।
विमानशतसम्बाधां गीतस्वरनिनादिताम् ॥ १० ॥

आक्रीडभूमिं देवानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
उद्यानानि कुबेरस्य समानि विषमाणि च ॥ ११ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! इस रमणीय पर्वतपर हमने बहुत-से ऐसे प्रदेश देखे हैं, जहाँ जाना बहुत कठिन है । वहाँ देवताओं, गन्धर्वों तथा अप्सराओंकी क्रीडाभूमि है, जहाँ सैकड़ों विमान खचाखच भरे रहते हैं और मधुर गीतोंके स्वर गूँजते रहते हैं । इसी पर्वतपर कुबेरके अनेक उद्यान हैं, जहाँकी भूमि कहीं समतल है और कहीं नीची-ऊँची ॥ १०-११ ॥

महानदीनितम्बांश्च गहनान् गिरिगह्वरान् ।
सन्ति नित्यहिमा देशा निर्वृक्षमृगपक्षिणः ॥ १२ ॥

'इस मार्गमें हमने कई बड़ी-बड़ी नदियोंके दुर्गम तट और कितनी ही पर्वतीय घाटियाँ देखी हैं । यहाँ बहुत-से ऐसे स्थल हैं, जहाँ सदा बर्फ जमी रहती है तथा जहाँ वृक्ष, पशु और पक्षियोंका नाम भी नहीं है ॥ १२ ॥

सन्ति क्वचिन्महादर्यो दुर्गाः काश्चिद् दुरासदाः ।
नातिक्रामेत पक्षी यान् कुत एवेतरे मृगाः ॥ १३ ॥

'कहीं-कहीं बहुत बड़ी गुफाएँ हैं, जिनमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है । कइयोंके तो निकट भी पहुँचना कठिन है। ऐसे स्थलोंको पक्षी भी नहीं पार कर सकता, फिर मृग आदि अन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १३ ॥

वायुरेको हि यात्यत्र सिद्धाश्च परमर्षयः ।
गच्छन्त्यौ शैलराजेऽस्मिन् राजपुत्र्यौ कथं त्विमे ॥१४॥
न सीदेतामदुःखार्हे मा गमो भरतर्षभ ।

'इस मार्गपर केवल वायु चल सकती है तथा सिद्ध महर्षि भी जा सकते हैं । इस पर्वतराजपर चलती हुई ये दोनों राजकुमारियाँ कैसे कष्ट न पायेंगी ? भरतवंश-शिरोमणे ! ये दोनों रानियाँ दुःख सहन करनेके योग्य नहीं हैं; अतः आप न चलिये' ॥ १४½ ॥

पाण्डुरुवाच

अप्रजस्य महाभागा न द्वारं परिचक्षते ॥ १५ ॥
स्वर्गे तेनाभितप्तोऽहमप्रजस्तु ब्रवीमि वः ।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्तस्तेन तप्ये तपोधनाः ॥ १६ ॥

पाण्डुने कहा—महाभाग महर्षिगण ! संतानहीनके लिये स्वर्गका दरवाजा बंद रहता है, ऐसा लोग कहते हैं । मैं भी संतानहीन हूँ, इसलिये दुःखसे संतप्त होकर आपलोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ । तपोधनो ! मैं पितरोंके ऋणसे अबतक छूट नहीं सका हूँ, इसलिये चिन्तासे संतप्त हो रहा हूँ ॥

देहनाशे ध्रुवो नाशः पितॄणामेष निश्चयः ।
ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ॥ १७ ॥

निःसंतान-अवस्थामें मेरे इस शरीरका नाश होनेपर

मेरे पितरोंका पतन अवश्य हो जायगा । मनुष्य इस पृथ्वीपर चार प्रकारके ऋणोंसे युक्त होकर जन्म लेते हैं ॥ १७ ॥

पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः ।
एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः ॥ १८ ॥
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ।
यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ॥ १९ ॥

(उन ऋणोंके नाम ये हैं—) पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण और मनुष्य-ऋण । उन सबका ऋण धर्मतः हमें चुकाना चाहिये । जो मनुष्य यथासमय इन ऋणोंका ध्यान नहीं रखता, उसके लिये पुण्यलोक सुलभ नहीं होते । यह मर्यादा धर्मज्ञ पुरुषोंने स्थापित की है । यज्ञोंद्वारा मनुष्य देवताओंको तृप्त करता है, स्वाध्याय और तपस्याद्वारा मुनियोंको संतोष दिलाता है ॥ १८-१९ ॥

पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ।
ऋषिदेवमनुष्याणां परिमुक्तोऽस्मि धर्मतः ॥ २० ॥
त्रयाणामितरेषां तु नाश आत्मनि नश्यति ।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्त इदानीमस्मि तापसाः ॥ २१ ॥

पुत्रोत्पादन और श्राद्धकर्मोंद्वारा पितरोंको तथा दयापूर्ण बर्तावद्वारा वह मनुष्योंको संतुष्ट करता है । मैं धर्मकी दृष्टिसे ऋषि, देव तथा मनुष्य—इन तीनों ऋणोंसे मुक्त हो चुका हूँ । अन्य अर्थात् पितरोंके ऋणका नाश तो इस शरीरके नाश होनेपर भी शायद ही हो सके । तपस्वी मुनियो ! मैं अबतक पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सका ॥ २०-२१ ॥

इह तस्मात् प्रजाहेतोः प्रजायन्ते नरोत्तमाः ।
यथैवाहं पितुः क्षेत्रे जातस्तेन महर्षिणा ॥ २२ ॥
तथैवास्मिन् मम क्षेत्रे कथं वै सम्भवेत् प्रजा ।

इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुष पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पत्तिका प्रयत्न करते और स्वयं ही पुत्ररूपमें जन्म लेते हैं । जैसे मैं अपने पिताके क्षेत्रमें महर्षि व्यासद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, उसी प्रकार मेरे इस क्षेत्रमें भी कैसे संतानकी उत्पत्ति हो सकती है ? ॥ २२½ ॥

ऋषय ऊचुः

अस्ति वै तव धर्मात्मन् विद्मो देवोपमं शुभम् ॥ २३ ॥
अपत्यमनघं राजन् वयं दिव्येन चक्षुषा ।
दैवोदिष्टं नरव्याघ्र कर्मणेहोपपादय ॥ २४ ॥

ऋषि बोले—धर्मात्मा नरेश ! तुम्हें पापरहित देवोपम शुभ संतान होनेका योग है, यह हम दिव्यदृष्टिसे जानते हैं । नरव्याघ्र ! भाग्यने जिसे दे रक्खा है, उस फलको प्रयत्नद्वारा प्राप्त कीजिये ॥ २३—२४ ॥

अक्लिष्टं फलमव्यग्रो विन्दते बुद्धिमान् नरः ।
तस्मिन् दृष्टे फले राजन् प्रयत्नं कर्तुमर्हसि ॥ २५ ॥
अपत्यं गुणसम्पन्नं लब्धा प्रीतिकरं ह्यसि ।

बुद्धिमान् मनुष्य व्यग्रता छोड़कर बिना क्लेशके ही अभीष्ट फलको प्राप्त कर लेता है । राजन् ! आपको उस दृष्ट फलके लिये प्रयत्न करना चाहिये । आप निश्चय ही गुणवान् और हर्षोत्पादक संतान प्राप्त करेंगे ॥ २५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा तापसवचः पाण्डुश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तपस्वी मुनियोंका यह वचन सुनकर राजा पाण्डु बड़े सोच-विचारमें पड़ गये ॥ २६ ॥

आत्मनो मृगशापेन जानन्नुपहतां क्रियाम् ।
सोऽब्रवीद् विजने कुन्तीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।
अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय ॥ २७ ॥

वे जानते थे कि मृगरूपधारी मुनिके शापसे मेरा संतानोत्पादन-विषयक पुरुषार्थ नष्ट हो चुका है । एक दिन वे अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्तीसे एकान्तमें इस प्रकार बोले—'देवि ! यह हमारे लिये आपत्तिकाल है, इस समय संतानोत्पादनके लिये जो आवश्यक प्रयत्न हो, उसका तुम समर्थन करो ॥ २७ ॥

अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता ।
इति कुन्ति विदुर्धीराः शाश्वतं धर्मवादिनः ॥ २८ ॥
इष्टं दत्तं तपस्तप्तं नियमश्च स्वनुष्ठितः ।
सर्वमेवानपत्यस्य न पावनमिहोच्यते ॥ २९ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंमें संतान ही धर्ममयी प्रतिष्ठा है—कुन्ती ! सदा धर्मका प्रतिपादन करनेवाले धीर पुरुष ऐसा ही मानते हैं । संतानहीन मनुष्य इस लोकमें यज्ञ, दान, तप और नियमोंका भलीभाँति अनुष्ठान कर ले, तो भी उसके किये हुए सब कर्म पवित्र नहीं कहे जाते ॥ २८-२९ ॥

सोऽहमेवं विदित्वैतत् प्रपश्यामि शुचिस्मिते ।
अनपत्यः शुभाँल्लोकान् न प्राप्स्यामीति चिन्तयन् ॥ ३० ॥

'पवित्र मुसकानवाली कुन्तिभोजकुमारी ! इस प्रकार सोच-समझकर मैं तो यही देख रहा हूँ कि संतानहीन होनेके कारण मुझे शुभ लोकोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । मैं निरन्तर इसी चिन्तामें डूबा रहता हूँ ॥ ३० ॥

मृगाभिशापान्नष्टं मे जननं ह्यकृतात्मनः ।
नृशंसकारिणो भीरु यथैवोपहतं पुरा ॥ ३१ ॥

'मेरा मन अपने वशमें नहीं, मैं क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला हूँ । भीरु ! इसीलिये मृगके शापसे मेरी संतानोत्पादन-शक्ति उसी प्रकार नष्ट हो गयी है, जिस प्रकार मैंने उस मृगका वध करके उसके मैथुनमें बाधा डाली थी ॥ ३१ ॥

इमे वै बन्धुदायादाः षट् पुत्रा धर्मदर्शने ।
षडेवाबन्धुदायादाः पुत्रास्ताञ्छृणु मे पृथे ॥ ३२ ॥

'पृथे ! धर्मशास्त्रमें ये आगे बताये जानेवाले छः पुत्र 'बन्धुदायाद' कहे गये हैं, जो कुटुम्बी होनेसे सम्पत्तिके उत्तराधिकारी होते हैं; और छः प्रकारके पुत्र 'अबन्धुदायाद' हैं, जो कुटुम्बी न होनेपर भी उत्तराधिकारी बताये गये हैं।* इन सबका वर्णन मुझसे सुनो ॥ ३२ ॥

स्वयंजातः प्रणीतश्च तत्समः पुत्रिकासुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः भगिन्यां यश्च जायते ॥ ३३ ॥

'पहला पुत्र वह है, जो विवाहिता पत्नीसे अपने द्वारा उत्पन्न किया गया हो; उसे 'स्वयं-जात' कहते हैं । दूसरा प्रणीत कहलाता है, जो अपनी ही पत्नीके गर्भसे किसी उत्तम पुरुषके अनुग्रहसे उत्पन्न होता है। तीसरा जो अपनी पुत्रीका पुत्र हो, वह भी उसके ही समान माना गया है । चौथे प्रकारके पुत्रकी पौनर्भव संज्ञा है,† जो दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न हुआ हो । पाँचवें प्रकारके पुत्रकी कानीन संज्ञा है (विवाहसे पहले ही जिस कन्याको इस शर्तके साथ दिया जाता है कि इसके गर्भसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र मेरा पुत्र समझा जायगा उस कन्याके पुत्रको 'कानीन' कहते हैं) ।‡ जो बहिनका पुत्र (भानजा) है, वह छठा कहा गया है ॥ ३३ ॥

दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत् स्वयं च यः ।
सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः ॥ ३४ ॥

'अब छः प्रकारके अबन्धुदायाद पुत्र कहे जाते हैं— दत्त (जिसे माता-पिताने स्वयं समर्पित कर दिया हो), क्रीत (जिसे धन आदि देकर खरीद लिया गया हो), कृत्रिम—जो स्वयं मैं आपका पुत्र हूँ, यों कहकर समीप आया हो, सहोढ (जो कन्यावस्थामें ही गर्भवती होकर ब्याही गयी हो, उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र सहोढ कहलाता है), ज्ञातिरेता (अपने कुलका पुत्र) तथा अपनेसे हीन जातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र। ये सभी अबन्धुदायाद हैं ॥ ३४ ॥

पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम् ।
उत्तमादवराः पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि ॥ ३५ ॥

'इनमेंसे पूर्व-पूर्वके अभावमें ही दूसरे-दूसरे पुत्रकी अभिलाषा करे । आपत्तिकालमें नीची जातिके पुरुष श्रेष्ठ पुरुषसे भी पुत्रोत्पत्तिकी इच्छा कर सकते हैं ॥ ३५ ॥

अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः ।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

'पृथे ! अपने वीर्यके बिना भी मनुष्य किसी श्रेष्ठ पुरुषके सम्बन्धसे श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त कर लेते हैं और वह धर्मका फल देनेवाला होता है, यह बात स्वायम्भुव मनुने कही है ॥ ३६ ॥

तस्मात् प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात् स्वयम् ।
सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनि ॥ ३७ ॥

'अतः यशस्विनी कुन्ती ! मैं स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित होनेके कारण तुम्हें आज दूसरेके पास भेजूँगा । तुम मेरे सदृश अथवा मेरी अपेक्षा भी श्रेष्ठ पुरुषसे संतान प्राप्त करो' ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुपृथासंवादे ऊनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डु-पृथा-संवादविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डुको व्युषिताश्वके मृत शरीरसे उसकी पतिव्रता पत्नी भद्राके द्वारा पुत्र-प्राप्तिका कथन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत ।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! इस प्रकार कहे जानेपर कुन्ती अपने पति कुरुश्रेष्ठ वीरवर राजा पाण्डुसे इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन ।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २ ॥

'धर्मज्ञ ! आप मुझसे किसी तरह ऐसी बात न कहें;

* बन्धु शब्दका अर्थ संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभमें आत्मबन्धु, पितृबन्धु, मातृबन्धु माना गया है, इसलिये बन्धुका अर्थ कुटुम्बी किया है । दायादका अर्थ उसी कोषमें 'उत्तराधिकारी' है । इसीलिये बन्धुदायादका अर्थ 'कुटुम्बी होनेसे 'उत्तराधिकारी' किया है । इसके विपरीत, अबन्धुदायादका अर्थ अबन्धु यानी कुटुम्बी न होनेपर उत्तराधिकारी किया है ।

† 'पौनर्भव'का अर्थ पद्मचन्द्रकोषके अनुसार दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र लिया गया है ।

‡ कानीन—यह अर्थ नीलकण्ठजीने अपनी टीकामें किया है ।

मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ और कमलके समान विशाल नेत्रोंवाले आपमें ही अनुराग रखती हूँ ॥ २ ॥

त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥

'महाबाहु वीर भारत ! आप ही मेरे गर्भसे धर्मपूर्वक अनेक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ ३ ॥

स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं आपके साथ ही स्वर्गलोकमें चलूँगी। कुरुनन्दन ! पुत्रकी उत्पत्तिके लिये आप ही मेरे साथ समागम कीजिये ॥ ४ ॥

न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम्।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ॥ ५ ॥

'मैं आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषसे समागम करनेकी बात मनमें भी नहीं ला सकती। फिर इस पृथ्वीपर आपसे श्रेष्ठ दूसरा मनुष्य है भी कौन ॥ ५ ॥

इमां च तावद् धर्मात्मन् पौराणीं शृणु मे कथाम्।
परिश्रुतां विशालाक्ष कीर्तयिष्यामि यामहम् ॥ ६ ॥

'धर्मात्मन् ! पहले आप मेरे मुँहसे यह पौराणिक कथा सुन लीजिये। विशालाक्ष ! यह जो कथा मैं कहने जा रही हूँ, सर्वत्र विख्यात है ॥ ६ ॥

व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः।
पुरा परमधर्मिष्ठः पूरोर्वंशविवर्धनः ॥ ७ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें एक परम धर्मात्मा राजा हो गये हैं। उनका नाम था व्युषिताश्व। वे पूरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥

तस्मिंश्च यजमाने वै धर्मात्मनि महाभुजे।
उपागमंस्ततो देवाः सेन्द्रा देवर्षिभिः सह ॥ ८ ॥

'एक समय वे महाबाहु धर्मात्मा नरेश जब यज्ञ करने लगे, उस समय इन्द्र आदि देवता देवर्षियोंके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ८ ॥

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः।
व्युषिताश्वस्य राजर्षेस्ततो यज्ञे महात्मनः ॥ ९ ॥
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव चक्रुः कर्म स्वयं तदा।
व्युषिताश्वस्ततो राजन्नति मर्त्यान् व्यरोचत ॥ १० ॥

'उसमें देवराज इन्द्र सोमपान करके उन्मत्त हो उठे थे तथा ब्राह्मणलोग पर्याप्त दक्षिणा पाकर हर्षसे फूल उठे थे। महामना राजर्षि व्युषिताश्वके यज्ञमें उस समय देवता और ब्रह्मर्षि स्वयं सब कार्य कर रहे थे। राजन् ! इससे व्युषिताश्व सब मनुष्योंसे ऊँची स्थितिमें पहुँचकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ९-१० ॥

सर्वभूतान् प्रति यथा तपनः शिशिरात्यये।
स विजित्य गृहीत्वा च नृपतीन् राजसत्तमः ॥ ११ ॥
प्राच्यानुदीच्यान् पाश्चात्त्यान् दाक्षिणात्यानकालयत्।
अश्वमेधे महायज्ञे व्युषिताश्वः प्रतापवान् ॥ १२ ॥

'राजा व्युषिताश्व समस्त भूतोंके प्रीतिपात्र थे। राजाओंमें श्रेष्ठ प्रतापी व्युषिताश्वने अश्वमेध नामक महान् यज्ञमें पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण—चारों दिशाओंके राजाओंको जीतकर अपने वशमें कर लिया—ठीक जिस प्रकार शिशिर-कालके अन्तमें भगवान् सूर्यदेव सभी प्राणियोंपर विजय कर लेते हैं—सबको तपाने लगते हैं ॥ ११-१२ ॥

बभूव स हि राजेन्द्रो दशनागबलान्वितः।
अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ॥ १३ ॥
व्युषिताश्वे यशोवृद्धे मनुष्येन्द्रे कुरूत्तम।
व्युषिताश्वः समुद्रान्तां विजित्येमां वसुंधराम् ॥ १४ ॥
अपालयत् सर्ववर्णान् पिता पुत्रानिवौरसान्।
यजमानो महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ॥ १५ ॥

'उन महाराजमें दस हाथियोंका बल था। कुरुश्रेष्ठ ! पुराणवेत्ता विद्वान् यशमें बढ़े-चढ़े हुए नरेन्द्र व्युषिताश्वके विषयमें यह यशोगाथा गाते हैं—'राजा व्युषिताश्व समुद्र-पर्यन्त इस सारी पृथ्वीको जीतकर जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार सभी वर्णके लोगोंका पालन करते थे। उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको बहुत धन दिया ॥ १३-१५ ॥

अनन्तरत्नान्यादाय स जहार महाक्रतून्।
सुषाव च बहून् सोमान् सोमसंस्थास्ततान च ॥ १६ ॥

'अनन्त रत्नोंकी भेंट लेकर उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये। अनेक सोमयागोंका आयोजन करके उनमें बहुत-सा सोमरस संग्रह करके अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम आदि सात प्रकारकी सोम-याग-संस्थाओंका भी अनुष्ठान किया ॥ १६ ॥

आसीत् काक्षीवती चास्य भार्या परमसम्मता।
भद्रा नाम मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि ॥ १७ ॥

'नरेन्द्र ! राजा कक्षीवान्की पुत्री भद्रा उनकी अत्यन्त प्यारी पत्नी थी। उन दिनों इस पृथ्वीपर उसके रूपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री न थी ॥ १७ ॥

कामयामासतुस्तौ च परस्परमिति श्रुतम्।
स तस्यां कामसम्पन्नो यक्ष्मणा समपद्यत ॥ १८ ॥

'मैंने सुना है, वे दोनों पति-पत्नी एक दूसरेको बहुत चाहते थे। पत्नीके प्रति अत्यन्त कामासक्त होनेके कारण राजा व्युषिताश्व राजयक्ष्माके शिकार हो गये ॥ १८ ॥

तेनाचिरेण कालेन जगामास्तमिवांशुमान्।
तस्मिन् प्रेते मनुष्येन्द्रे भार्यास्य भृशदुःखिता ॥ १९ ॥

'इस कारण वे थोड़े ही समयमें सूर्यकी भाँति अस्त हो गये। उन महाराजके परलोकवासी हो जानेपर उनकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ ॥ १९ ॥

अपुत्रा पुरुषव्याघ्र विललापेति नः श्रुतम्।
भद्रा परमदुःखार्ता तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

'नरव्याघ्र जनेश्वर! हमने सुना है कि भद्राके तबतक कोई पुत्र नहीं हुआ था। इस कारण वह अत्यन्त दुःखसे आतुर होकर विलाप करने लगी; वह विलाप सुनिये' ॥ २० ॥

भद्रोवाच

नारी परमधर्मज्ञ सर्वा भर्तृविनाकृता।
पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता ॥ २१ ॥

भद्रा बोली—परमधर्मज्ञ महाराज! जो कोई भी विधवा स्त्री पतिके बिना जीवन धारण करती है, वह निरन्तर दुःखमें डूबी रहनेके कारण वास्तवमें जीती नहीं, अपितु मृततुल्या है ॥ २१ ॥

पतिं विना मृतं श्रेयो नार्याः क्षत्रियपुङ्गव।
त्वद्गतिं गन्तुमिच्छामि प्रसीदस्व नयस्व माम् ॥ २२ ॥
त्वया हीना क्षणमपि नाहं जीवितुमुत्सहे।
प्रसादं कुरु मे राजन्नितस्तूर्णं नयस्व माम् ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! पतिके न रहनेपर नारीकी मृत्यु हो जाय, इसीमें उसका कल्याण है। अतः मैं भी आपके ही मार्गपर चलना चाहती हूँ, प्रसन्न होइये और मुझे अपने साथ ले चलिये। आपके बिना एक क्षण भी जीवित रहनेका मुझमें उत्साह नहीं है। राजन्! कृपा कीजिये और यहाँसे शीघ्र मुझे ले चलिये ॥ २२-२३ ॥

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि समेषु विषमेषु च।
त्वामहं नरशार्दूल गच्छन्तमनिवर्तितुम् ॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ! आप जहाँ कभी न लौटनेके लिये गये हैं, वहाँका मार्ग समतल हो या विषम, मैं आपके पीछे-पीछे अवश्य चली चलूँगी ॥ २४ ॥

छायेवानुगता राजन् सततं वशवर्तिनी।
भविष्यामि नरव्याघ्र नित्यं प्रियहिते रता ॥ २५ ॥

राजन्! मैं छायाकी भाँति आपके पीछे लगी रहूँगी एवं सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी। नरव्याघ्र! मैं सदा आपके प्रिय और हितमें लगी रहूँगी ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति मां राजन् कष्टा हृदयशोषणाः।
आधयोऽभिभविष्यन्ति त्वामृते पुष्करेक्षण ॥ २६ ॥

कमलके समान नेत्रोंवाले महाराज! आपके बिना आजसे हृदयको सुखा देनेवाले कष्ट और मानसिक चिन्ताएँ मुझे सताती रहेंगी ॥ २६ ॥

अभाग्यया मया नूनं वियुक्ताः सहचारिणः।
तेन मे विप्रयोगोऽयमुपपन्नस्त्वया सह ॥ २७ ॥

मुझ अभागिनीने निश्चय ही कितने ही जीवनसङ्गियों (स्त्री-पुरुषों)में बिछोह कराया होगा। इसीलिये आज आपके साथ मेरा वियोग घटित हुआ है ॥ २७ ॥

विप्रयुक्ता तु या पत्या मुहूर्तमपि जीवति।
दुःखं जीवति सा पापा नरकस्थेव पार्थिव ॥ २८ ॥

महाराज! जो स्त्री पतिसे बिछुड़ जानेपर दो घड़ी भी जीवन धारण करती है, वह पापिनी नरकमें पड़ी हुई-सी दुःखमय जीवन बिताती है ॥ २८ ॥

संयुक्ता विप्रयुक्ताश्च पूर्वदेहे कृता मया।
तदिदं कर्मभिः पापैः पूर्वदेहेषु संचितम् ॥ २९ ॥
दुःखं मामनुसम्प्राप्तं राजंस्त्वद्विप्रयोगजम्।
अद्यप्रभृत्यहं राजन् कुशसंस्तरशायिनी।
भविष्याम्यसुखाविष्टा त्वद्दर्शनपरायणा ॥ ३० ॥

राजन्! पूर्वजन्मके शरीरमें स्थित रहकर मैंने एक साथ रहनेवाले कुछ स्त्री-पुरुषोंमें अवश्य वियोग कराया है। उन्हीं पापकर्मोंद्वारा मेरे पूर्वशरीरोंमें जो बीजरूपसे संचित हो रहा था, वही यह आपके वियोगका दुःख आज मुझे प्राप्त हुआ है। महाराज! मैं दुःखमें डूबी हुई हूँ, अतः आजसे आपके दर्शनकी इच्छा रखकर मैं कुशके बिछौनेपर सोऊँगी ॥ २९-३० ॥

दर्शयस्व नरव्याघ्र शाधि मामसुखान्विताम्।
कृपणां चाथ करुणं विलपन्तीं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ नरेश्वर! करुण विलाप करती हुई मुझ दीन-दुखिया अबलाको आज अपना दर्शन और कर्तव्यका आदेश दीजिये ॥ ३१ ॥

कुन्त्युवाच

एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः।
तं शवं सम्परिष्वज्य वाक् किलान्तर्हिताब्रवीत् ॥ ३२ ॥

कुन्तीने कहा—महाराज! इस प्रकार जब राजाके शवका आलिङ्गन करके वह बार-बार अनेक प्रकारसे विलाप करने लगी, तब आकाशवाणी बोली—॥ ३२ ॥

उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव।
जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि ॥ ३३ ॥

'भद्रे! उठो और जाओ, इस समय मैं तुम्हें वर देता हूँ। चारुहासिनि! मैं तुम्हारे गर्भसे कई पुत्रोंको जन्म दूँगा। ३३।

आत्मकीये वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम्।
अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह ॥ ३४ ॥

'वरारोहे! तुम ऋतुस्नाता होनेपर चतुर्दशी या अष्टमीकी रातमें अपनी शय्यापर मेरे इस शवके साथ सो जाना' ॥ ३४ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता।
यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा ॥ ३५ ॥

आकाशवाणीके यों कहनेपर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली

पतिव्रता भद्रादेवीने पतिकी पूर्वोक्त आज्ञाका अक्षरशः पालन किया ॥ ३५ ॥

सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ।
त्रीन् शाल्वांश्चतुरो मद्रान् सुतान् भरतसत्तम ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! रानी भद्राने उस शवके द्वारा सात पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें तीन शाल्वदेशके और चार मद्रदेशके शासक हुए ॥ ३६ ॥

तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ।
शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगबलान्वितः ॥ ३७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! इसी प्रकार आप भी मेरे गर्भसे मानसिक संकल्पद्वारा अनेक पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं; क्योंकि आप तपस्या और योगबलसे सम्पन्न हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि व्युषिताश्वोपाख्याने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें व्युषिताश्वोपाख्यानविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको समझाना और कुन्तीका पतिकी आज्ञासे पुत्रोत्पत्तिके लिये धर्मदेवताका आवाहन करनेके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया राजा तां देवीं पुनरब्रवीत्।
धर्मविद् धर्मसंयुक्तमिदं वचनमुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीके यों कहनेपर धर्मज्ञ राजा पाण्डुने देवी कुन्तीसे पुनः यह धर्मयुक्त बात कही ॥

पाण्डुरुवाच

एवमेतत् पुरा कुन्ति व्युषिताश्वश्चकार ह।
यथा त्वयोक्तं कल्याणि स ह्यासीदमरोपमः ॥ २ ॥

पाण्डु बोले—कुन्ती ! तुम्हारा कहना ठीक है । पूर्वकालमें राजा व्युषिताश्वने जैसा तुमने कहा है, वैसा ही किया था। कल्याणी ! वे देवताओंके समान तेजस्वी थे ॥ २ ॥

अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्त्वं निबोध मे।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

अब मैं तुम्हें यह धर्मका तत्त्व बतलाता हूँ, सुनो । यह पुरातन धर्मतत्त्व धर्मज्ञ महात्मा ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया है ॥ ३ ॥

धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते।
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव वा ॥ ४ ॥
यद् ब्रूयात तत् तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः।
विशेषतः पुत्रगृध्यी हीनः प्रजननात् स्वयम् ॥ ५ ॥
यथाहमनवद्याङ्गि पुत्रदर्शनलालसः।
तथा रक्ताङ्गुलितलः पद्मपत्रनिभः शुभे ॥ ६ ॥
प्रसादार्थं मया तेऽयं शिरस्यभ्युद्यतोऽञ्जलिः।
मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात् ॥ ७ ॥
पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि।
त्वत्कृतेऽहं पृथुश्रोणि गच्छेयं पुत्रिणां गतिम् ॥ ८ ॥

साधु पुरुष इसीको प्राचीन धर्म कहते हैं । राजकन्ये ! पति अपनी पत्नीसे जो बात कहे, वह धर्मके अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिये—ऐसा वेदज्ञ पुरुषोंका कथन है । विशेषतः ऐसा पति, जो पुत्रकी अभिलाषा रखता हो और स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो, जो बात कहे, वह अवश्य माननी चाहिये । निर्दोष अङ्गोंवाली शुभलक्षणे ! मैं चूँकि पुत्रका मुँह देखनेके लिये लालायित हूँ, अतएव तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मस्तकके समीप यह अञ्जलि धारण करता हूँ, जो लाल-लाल अङ्गुलियोंसे युक्त तथा कमलदलके समान सुशोभित है । सुन्दर केशोंवाली प्रिये ! तुम मेरे आदेशसे तपस्यामें बढ़े-चढ़े हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणके साथ समागम करके गुणवान् पुत्र उत्पन्न करो । सुश्रोणि ! तुम्हारे प्रयत्नसे मैं पुत्रवानोंकी गति प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी अभिलाषा है ॥ ४-८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः कुन्ती पाण्डुं परपुरंजयम्।
प्रत्युवाच वरारोहा भर्तुः प्रियहिते रता ॥ ९ ॥

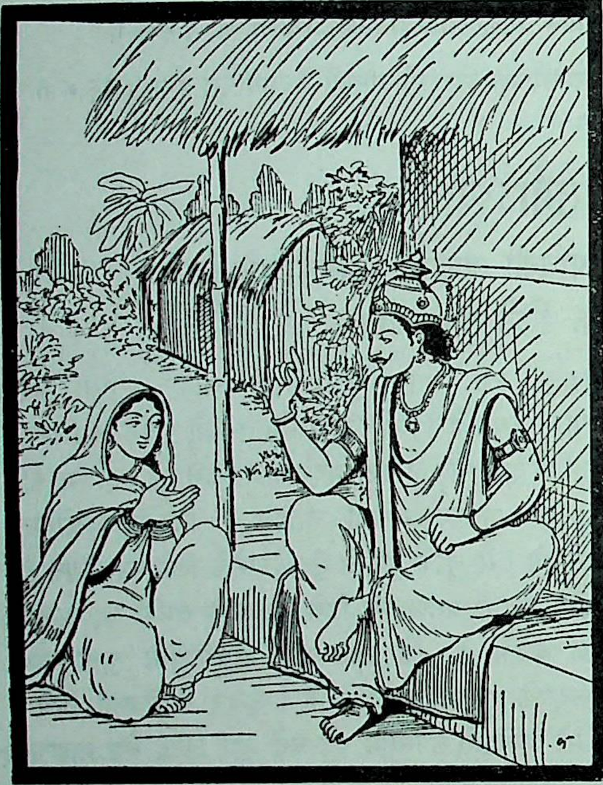
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कही जानेपर पतिके प्रिय और हितमें लगी रहनेवाली सुन्दराङ्गी कुन्ती शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज पाण्डुसे इस प्रकार बोली—॥ ९ ॥

(अधर्मः सुमहानेष स्त्रीणां भरतसत्तम।
यत् प्रसादयते भर्ता प्रसाद्यः क्षत्रियर्षभ ॥
शृणु चेदं महाबाहो मम प्रीतिकरं वचः ॥)

'भरतश्रेष्ठ ! क्षत्रियशिरोमणे ! स्त्रियोंके लिये यह बड़े अधर्मकी बात है कि पति ही उनसे प्रसन्न होनेके लिये बार-बार अनुरोध करे; क्योंकि नारीका ही यह कर्तव्य है कि वह पतिको प्रसन्न रखे । महाबाहो ! आप मेरी यह बात सुनिये । इससे आपको बड़ी प्रसन्नता होगी ।

पितृवेश्मन्यहं बाला नियुक्तातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरं तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १० ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमहं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयम् ॥ ११ ॥

'बाल्यावस्थामें जब मैं पिताके घर थी, मुझे अतिथियोंके सत्कारका काम सौंपा गया था । वहाँ कठोर व्रतका पालन



करनेवाले एक उग्रस्वभावके ब्राह्मणकी, जिनका धर्मके विषयमें निश्चय दूसरोंको अज्ञात है तथा जिन्हें लोग दुर्वासा कहते हैं, मैंने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की । अपने मनको संयममें रखनेवाले उन महात्माको मैंने सब प्रकारके यत्नोंद्वारा संतुष्ट किया ॥ १०-११ ॥

स मेऽभिचारसंयुक्तमाचष्ट भगवान् वरम् ।
मन्त्रं त्विमं च मे प्रादादब्रवीचैव मामिदम् ॥ १२ ॥

'तब भगवान् दुर्वासाने वरदानकें रूपमें मुझे प्रयोगविधि-सहित एक मन्त्रका उपदेश दिया और मुझसे इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि ।
अकामो वा सकामो वा वशं ते समुपैष्यति ॥ १३ ॥

'तुम इस मन्त्रसे जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, वह निष्काम हो या सकाम, निश्चय ही तुम्हारे अधीन हो जायगा ॥ १३ ॥

तस्य तस्य प्रसादात् ते राज्ञि पुत्रो भविष्यति ।
इत्युक्ताहं तदानेन पितृवेश्मनि भारत ॥ १४ ॥

'राजकुमारी ! उस देवताके प्रसादसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा ।' भारत ! इस प्रकार मेरे पिताके घरमें उस ब्राह्मणने उस समय मुझसे यह बात कही थी ॥ १४ ॥

ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तस्य कालोऽयमागतः ।
अनुज्ञाता त्वया देवमाह्वयेयमहं नृप ।
तेन मन्त्रेण राजर्षे यथास्यान्नौ प्रजा हिता ॥ १५ ॥

'उस ब्राह्मणकी बात सत्य ही होगी । उसके उपयोगका यह अवसर आ गया है । महाराज ! आपकी आज्ञा होनेपर मैं उस मन्त्रद्वारा किसी देवताका आवाहन कर सकती हूँ । जिससे राजर्षे ! हम दोनोंके लिये हितकर संतान प्राप्त हो ॥ १५ ॥

(यां मे विद्यां महाराज अददात् स महायशाः ।
तयाहूतः सुरः पुत्रं प्रदास्यति सुरोपमम् ।
अनपत्यकृतं यस्ते शोकं हि व्यपनेष्यति ॥
अपत्यकाम एवं स्यान्ममापत्यं भवेदिति ।)

'महाराज ! उन महायशस्वी महर्षिने जो विद्या मुझे दी थी, उसके द्वारा आवाहन करनेपर कोई भी देवता आकर देवोपम पुत्र प्रदान करेगा, जो आपके संतानहीनताजनित शोकको दूर कर देगा; इस प्रकार मुझे संतान प्राप्त होगी और आपकी पुत्रकामना सफल हो जायगी ॥

आवाहयामि कं देवं ब्रूहि सत्यवतां वर ।
त्वत्तोऽनुज्ञाप्रतीक्षां मां विद्ध्यस्मिन् कर्मणि स्थिताम् ॥

'सत्यवानोंमें श्रेष्ठ नरेश ! बताइये, मैं किस देवताका आवाहन करूँ । आप समझ लें, मैं (आपके संतोषार्थ) इस कार्यके लिये तैयार हूँ । केवल आपसे आज्ञा मिलनेकी प्रतीक्षामें हूँ' ॥ १६ ॥

पाण्डुरुवाच

(धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि त्वं नो धात्री कुलस्य हि ।
नमो महर्षये तस्मै येन दत्तो वरस्तव ॥
न चाधर्मेण धर्मज्ञे शक्याः पालयितुं प्रजाः ॥)
अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक् ॥ १७ ॥

पाण्डु बोले—प्रिये ! मैं धन्य हूँ, तुमने मुझपर महान् अनुग्रह किया । तुम्हीं मेरे कुलको धारण करनेवाली हो । उन महर्षिको नमस्कार है, जिन्होंने तुम्हें वैसा वर दिया । धर्मज्ञे ! अधर्मसे प्रजाका पालन नहीं हो सकता । इसलिये वरारोहे ! तुम आज ही विधिपूर्वक इसके लिये प्रयत्न करो । शुभे ! सबसे पहले धर्मका आवाहन करो, क्योंकि वे ही सम्पूर्ण लोकोंमें धर्मात्मा हैं ॥ १७ ॥

अधर्मेण न नो धर्मः संयुज्यति कथंचन ।
लोकश्चायं वरारोहे धर्मोऽयमिति मन्यते ॥ १८ ॥
धार्मिकश्च कुरूणां स भविष्यति न संशयः ।
धर्मेण चापि दत्तस्य नाधर्मे रंस्यते मनः ॥ १९ ॥
तस्माद् धर्मं पुरस्कृत्य नियता त्वं शुचिस्मिते ।
उपचाराभिचाराभ्यां धर्ममावाहयस्व वै ॥ २० ॥

(इस प्रकार करनेपर) हमारा धर्म कभी किसी तरह अधर्मसे संयुक्त नहीं हो सकता । वरारोहे ! लोक भी उनको

साक्षात् धर्मका स्वरूप मानता है। धर्मसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र कुरुवंशियोंमें सबसे अधिक धर्मात्मा होगा—इसमें संशय नहीं है। धर्मके द्वारा दिया हुआ जो पुत्र होगा, उसका मन अधर्ममें नहीं लगेगा। अतः शुचिस्मिते! तुम मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर धर्मको भी सामने रखते हुए उपचार (पूजा) और अभिचार (प्रयोग-विधि) के द्वारा धर्मदेवताका आवाहन करो ॥ १८—२० ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने पति पाण्डुके यों कहनेपर नारियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीने 'तथास्तु' कहकर उन्हें प्रणाम किया और आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीपुत्रोत्पत्त्यनुज्ञाने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीको पुत्रोत्पत्तिके लिये आदेशविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

संवत्सरधृते गर्भे गान्धार्या जनमेजय।
आह्वयामास वै कुन्ती गर्भार्थं धर्ममच्युतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब गान्धारीको गर्भ धारण किये एक वर्ष बीत गया, उस समय कुन्तीने गर्भ धारण करनेके लिये अच्युतस्वरूप भगवान् धर्मका आवाहन किया ॥ १ ॥

सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह।
जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा ॥ २ ॥

देवी कुन्तीने बड़ी उतावलीके साथ धर्मदेवताके लिये पूजाके उपहार अर्पित किये। तत्पश्चात् पूर्वकालमें महर्षि दुर्वासाने जो मन्त्र दिया था, उसका विधिपूर्वक जप किया ॥ २ ॥

आजगाम ततो देवो धर्मो मन्त्रबलात् ततः।
विमाने सूर्यसंकाशे कुन्ती यत्र जपस्थिता ॥ ३ ॥

तब मन्त्रबलसे आकृष्ट हो भगवान् धर्म सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर बैठकर उस स्थानपर आये, जहाँ कुन्तीदेवी जपमें लगी हुई थीं ॥ ३ ॥

विहस्य तां ततो ब्रूयाः कुन्ति किं ते ददाम्यहम्।
सा तं विहस्यमानापि पुत्रं देह्यब्रवीदिदम् ॥ ४ ॥

तब धर्मने हँसकर कहा—'कुन्ती! बोलो, तुम्हें क्या दूँ?' धर्मके द्वारा हास्यपूर्वक इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती बोली—'मुझे पुत्र दीजिये' ॥ ४ ॥

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर योगमूर्ति धारण किये हुए धर्मके साथ समागम करके सुन्दराङ्गी कुन्तीने एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया, जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला था ॥ ५ ॥

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते ॥ ६ ॥

समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवरं सुतम्।
जातमात्रे सुते तस्मिन् वागुवाचाशरीरिणी ॥ ७ ॥

तदनन्तर जब चन्द्रमा ज्येष्ठा नक्षत्रपर थे, सूर्य तुला राशिपर विराजमान थे, शुक्ल पक्षकी 'पूर्णा' नामवाली पञ्चमी तिथि थी और अत्यन्त श्रेष्ठ अभिजित् नामक आठवाँ मुहूर्त विद्यमान था; उस समय कुन्तीदेवीने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया, जो महान् यशस्वी था। उस पुत्रके जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई—॥ ६-७ ॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति नरोत्तमः।
विक्रान्तः सत्यवाक् त्वेव राजा पृथ्व्यां भविष्यति॥
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः।
भविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ ९ ॥
यशसा तेजसा चैव वृत्तेन च समन्वितः।

'यह श्रेष्ठ पुरुष धर्मात्माओंमें अग्रगण्य होगा और इस पृथ्वीपर पराक्रमी एवं सत्यवादी राजा होगा। पाण्डुका यह प्रथम पुत्र 'युधिष्ठिर' नामसे विख्यात हो तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि एवं ख्याति प्राप्त करेगा; यह यशस्वी, तेजस्वी तथा सदाचारी होगा' ॥ ८-९½ ॥

धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत् ॥ १० ॥

उस धर्मात्मा पुत्रको पाकर राजा पाण्डुने पुनः (आग्रहपूर्वक) कुन्तीसे कहा—॥ १० ॥

प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु।
(अश्वमेधः क्रतुश्रेष्ठो ज्योतिश्श्रेष्ठो दिवाकरः।
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो बलश्रेष्ठस्तु मारुतः॥
मारुतं मरुतां श्रेष्ठं सर्वप्राणिभिरीडितम्।
आवाहय त्वं नियमात् पुत्रार्थं वरवर्णिनि॥
स नो यं दास्यति सुतं स प्राणबलवान् नृषु।)
ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा ॥ ११ ॥

'प्रिये! क्षत्रियको बलसे ही बड़ा कहा गया है। अतः एक ऐसे पुत्रका वरण करो, जो बलमें सबसे श्रेष्ठ हो।

जैसे अश्वमेध सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, सूर्यदेव सम्पूर्ण प्रकाश करनेवालोंमें प्रधान हैं और ब्राह्मण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वायुदेव बलमें सबसे बढ़-चढ़कर हैं। अतः सुन्दरी ! अबकी बार तुम पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे समस्त प्राणियोंद्वारा प्रशंसित देवश्रेष्ठ वायुका विधिपूर्वक आवाहन करो। वे हमलोगोंके लिये जो पुत्र देंगे, वह मनुष्योंमें सबसे अधिक प्राणशक्तिसे सम्पन्न और बलवान् होगा।'

स्वामीके इस प्रकार कहनेपर कुन्तीने तब वायुदेवका ही आवाहन किया ॥ ११ ॥

ततस्तामागतो वायुर्मृगारूढो महाबलः।
किं ते कुन्ति ददाम्यद्य ब्रूहि यत् ते हृदि स्थितम् ॥१२॥

तब महाबली वायु मृगपर आरूढ़ हो कुन्तीके पास आये और यों बोले—'कुन्ती ! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, वह कहो। मैं तुम्हें क्या दूँ ?' ॥ १२ ॥

सा सलज्जा विहस्याह पुत्रं देहि सुरोत्तम।
बलवन्तं महाकायं सर्वदर्पप्रभञ्जनम् ॥ १३ ॥

कुन्तीने लज्जित होकर मुसकराते हुए कहा—'सुरश्रेष्ठ ! मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये, जो महाबली और विशालकाय होनेके साथ ही सबके घमंडको चूर करनेवाला हो' ॥ १३ ॥

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः।
तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाशरीरिणी ॥ १४ ॥
सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत।
इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे ॥ १५ ॥
यदङ्कात् पतितो मातुः शिलां गात्रैर्व्यचूर्णयत्।
(कुन्ती तु सह पुत्रेण यात्वा सुरुचिरं सरः।
स्नात्वा तु सुतमादाय दशमेऽहनि यादवी ॥
दैवतान्यर्चयिष्यन्ती निर्जगामाश्रमात् पृथा।
शैलाभ्याशेन गच्छन्त्यास्तदा भरतसत्तम ॥
निश्चक्राम महान् व्याघ्रो जिघांसन् गिरिगह्वरात्॥
तमापतन्तं शार्दूलं विकृष्याथ कुरूत्तमः।
निर्बिभेद शरैः पाण्डुस्त्रिभिस्त्रिदशविक्रमः ॥
नादेन महता तां तु पूरयन्तं गिरेर्गुहाम्।)
कुन्ती व्याघ्रभयोद्विग्ना सहसोत्पतिता किल ॥ १६ ॥

वायुदेवसे भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमका जन्म हुआ। जनमेजय ! उस महाबली पुत्रको लक्ष्य करके आकाशवाणीने कहा—'यह कुमार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है।' भीमसेनके जन्म लेते ही एक अद्भुत घटना यह हुई कि अपनी माताकी गोदसे गिरनेपर उन्होंने अपने अङ्गोंसे एक पर्वतकी चट्टानको चूर-चूर कर दिया। बात यह थी कि यदुकुलनन्दिनी कुन्ती प्रसवके दसवें दिन पुत्रको गोदमें लिये उसके साथ एक सुन्दर सरोवरके निकट गयी और स्नान करके लौटकर देवताओंकी पूजा करनेके लिये कुटियासे बाहर निकली। भरतनन्दन ! वह पर्वतके समीप होकर जा रही थी कि इतनेमें ही उसको मार डालनेकी इच्छासे एक बहुत बड़ा व्याघ्र उस पर्वतकी कन्दरासे बाहर निकल आया। देवताओंके समान पराक्रमी कुरुश्रेष्ठ पाण्डुने उस व्याघ्रको दौड़कर आते देख धनुष खींच लिया और तीन बाणोंसे मारकर उसे विदीर्ण कर दिया। उस समय वह अपनी विकट गर्जनासे पर्वतकी सारी गुफाको प्रतिध्वनित कर रहा था। कुन्ती बाघके भयसे सहसा उछल पड़ी ॥ १४-१६ ॥

नान्वबुध्यत संसुप्तमुत्सङ्गे स्वे वृकोदरम्।
ततः स वज्रसंघातः कुमारो न्यपतद् गिरौ ॥ १७ ॥

उस समय उसे इस बातका ध्यान नहीं रहा कि मेरी गोदमें भीमसेन सोया हुआ है। उतावलीमें वह वज्रके समान शरीरवाला कुमार पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

पतता तेन शतधा शिला गात्रैर्विचूर्णिता।
तां शिलां चूर्णितां दृष्ट्वा पाण्डुर्विस्मयमागतः ॥ १८ ॥

गिरते समय उसने अपने अङ्गोंसे उस पर्वतकी शिलाको चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। पत्थरकी चट्टानको चूर-चूर हुआ देख महाराज पाण्डु बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १८ ॥

(मघे चन्द्रमसा युक्ते सिंहे चाभ्युदिते गुरौ।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पुण्ये त्रयोदशे ॥
मैत्रे मुहूर्ते सा कुन्ती सुषुवे भीममच्युतम् ॥)
यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ॥ १९ ॥

जब चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर विराजमान थे, बृहस्पति सिंह लग्नमें सुशोभित थे, सूर्यदेव दोपहरके समय आकाशके मध्यभागमें तप रहे थे, उस समय पुण्यमयी त्रयोदशी तिथिको मैत्र मुहूर्तमें कुन्तीदेवीने अविचल शक्तिवाले भीमसेनको जन्म दिया था। भरतश्रेष्ठ भूपाल ! जिस दिन भीमसेनका जन्म हुआ था, उसी दिन हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी भी उत्पत्ति हुई ॥ १९ ॥

जाते वृकोदरे पाण्डुरिदं भूयोऽन्वचिन्तयत्।
कथं नु मे वरः पुत्रो लोकश्रेष्ठो भवेदिति ॥ २० ॥

भीमसेनके जन्म लेनेपर पाण्डुने फिर इस प्रकार विचार किया कि मैं कौन-सा उपाय करूँ, जिससे मुझे सब लोगोंसे श्रेष्ठ उत्तम पुत्र प्राप्त हो ॥ २० ॥

दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥ २१ ॥

यह संसार दैव तथा पुरुषार्थपर अवलम्बित है। इनमें दैव तभी सुलभ (सफल) होता है, जब समयपर उद्योग किया जाय ॥ २१ ॥

इन्द्रो हि राजा देवानां प्रधान इति नः श्रुतम्।
अप्रमेयबलोत्साहो वीर्यवानमितद्युतिः ॥ २२ ॥
तं तोषयित्वा तपसा पुत्रं लप्स्ये महाबलम्।
यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान् भविष्यति ॥ २३ ॥



बालक भीमके शरीरकी चोटसे चट्टान टूट गयी

अमानुषान् मानुषांश्च संग्रामे स हनिष्यति ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् तप्स्ये महत् तपः ॥ २४ ॥

मैंने सुना है कि देवराज इन्द्र ही सब देवताओंमें प्रधान हैं, उनमें अथाह बल और उत्साह है । वे बड़े पराक्रमी एवं अपार तेजस्वी हैं । मैं तपस्याद्वारा उन्हींको संतुष्ट करके महाबली पुत्र प्राप्त करूँगा । वे मुझे जो पुत्र देंगे, वह निश्चय ही सबसे श्रेष्ठ होगा तथा संग्राममें अपना सामना करनेवाले मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों (दैत्य-दानव आदि) को भी मारनेमें समर्थ होगा । अतः मैं मन, वाणी और क्रियाद्वारा बड़ी भारी तपस्या करूँगा ॥ २२-२४ ॥

ततः पाण्डुर्महाराजो मन्त्रयित्वा महर्षिभिः ।
दिदेश कुन्त्याः कौरव्यो व्रतं सांवत्सरं शुभम् ॥ २५ ॥

ऐसा निश्चय करके कुरुनन्दन महाराज पाण्डुने महर्षियोंसे सलाह लेकर कुन्तीको शुभदायक सांवत्सर व्रतका उपदेश दिया ॥ २५ ॥

आत्मना च महाबाहुरेकपादस्थितोऽभवत् ।
उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना ॥ २६ ॥
आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् ।
सूर्येण सह धर्मात्मा पर्यतप्यत भारत ॥ २७ ॥
तं तु कालेन महता वासवः प्रत्यपद्यत ।

और भारत ! वे महाबाहु धर्मात्मा पाण्डु स्वयं देवताओंके ईश्वर इन्द्रदेवकी आराधना करनेके लिये चित्तवृत्तियोंको अत्यन्त एकाग्र करके एक पैरसे खड़े हो सूर्यके साथ-साथ उग्र तप करने लगे अर्थात् सूर्योदय होनेके समय एक पैरसे खड़े होते और सूर्यास्ततक उसी रूपमें खड़े रहते ।

इस तरह दीर्घकाल व्यतीत हो जानेपर इन्द्रदेव उनपर प्रसन्न हो उनके समीप आये और इस प्रकार बोले ॥ २६-२७½ ॥

शक्र उवाच

पुत्रं तव प्रदास्यामि त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें ऐसा पुत्र दूँगा, जो तीनों लोकोंमें विख्यात होगा ॥ २८ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव सुहृदां चार्थसाधकम् ।
दुर्हृदां शोकजननं सर्वबान्धवनन्दनम् ॥ २९ ॥
सुतं तेऽग्र्यं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम् ।

वह ब्राह्मणों, गौओं तथा सुहृदोंके अभीष्ट मनोरथकी पूर्ति करनेवाला, शत्रुओंको शोक देनेवाला और समस्त बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करनेवाला होगा, मैं तुम्हें सम्पूर्ण शत्रुओंका विनाश करनेवाला सर्वश्रेष्ठ पुत्र प्रदान करूँगा ॥ २९½ ॥

इत्युक्तः कौरवो राजा वासवेन महात्मना ॥ ३० ॥
उवाच कुन्तीं धर्मात्मा देवराजवचः स्मरन् ।
उदर्कस्तव कल्याणि तुष्टो देवगणेश्वरः ॥ ३१ ॥
दातुमिच्छति ते पुत्रं यथा संकल्पितं त्वया ।
अतिमानुषकर्माणं यशस्विनमरिंदमम् ॥ ३२ ॥
नीतिमन्तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
दुराधर्षं क्रियावन्तमतीवाद्भुतदर्शनम् ॥ ३३ ॥

महात्मा इन्द्रके यों कहनेपर धर्मात्मा कुरुनन्दन महाराज पाण्डु बड़े प्रसन्न हुए और देवराजके वचनोंका स्मरण करते हुए कुन्तीदेवीसे बोले—'कल्याणि ! तुम्हारे व्रतका भावी परिणाम मङ्गलमय है । देवताओंके स्वामी इन्द्र हमलोगोंपर संतुष्ट हैं और तुम्हें तुम्हारे संकल्पके अनुसार श्रेष्ठ पुत्र देना चाहते हैं । वह अलौकिक कर्म करनेवाला, यशस्वी, शत्रुदमन, नीतिज्ञ, महामना, सूर्यके समान तेजस्वी, दुर्धर्ष, कर्मठ तथा देखनेमें अत्यन्त अद्भुत होगा ॥ ३०-३३ ॥

पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ।
लब्धः प्रसादो देवेन्द्रात् तमाह्वय शुचिस्मिते ॥ ३४ ॥

'सुश्रोणि ! अब ऐसे पुत्रको जन्म दो, जो क्षत्रियोचित तेजका भंडार हो । पवित्र मुसकानवाली कुन्ती ! मैंने देवेन्द्रकी कृपा प्राप्त कर ली है । अब तुम उन्हींका आवाहन करो' ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज पाण्डुके यों कहनेपर यशस्विनी कुन्तीने इन्द्रका आवाहन किया । तदनन्तर देवराज इन्द्र आये और उन्होंने अर्जुनको जन्म दिया ॥ ३५ ॥



(उत्तराभ्यां तु पूर्वाभ्यां फल्गुनीभ्यां ततो दिवा।
जातस्तु फाल्गुने मासि तेनासौ फाल्गुनः स्मृतः॥)

वह फाल्गुन मासमें दिनके समय पूर्वाफल्गुनी और उत्तरा-फल्गुनी नक्षत्रोंके संधिकालमें उत्पन्न हुआ। फाल्गुनमास और फल्गुनी नक्षत्रमें जन्म लेनेके कारण उस बालकका नाम 'फाल्गुन' हुआ॥

जातमात्रे कुमारे तु वागुवाचाशरीरिणी।
महागम्भीरनिर्घोषा नभो नादयती तदा॥ ३६॥
शृण्वतां सर्वभूतानां तेषां चाश्रमवासिनाम्।
कुन्तीमाभाष्य विस्पष्टमुवाचेदं शुचिस्मिताम्॥ ३७॥

कुमार अर्जुनके जन्म लेते ही अत्यन्त गम्भीर नादसे समूचे आकाशको गुँजाती हुई आकाशवाणीने पवित्र मुसकानवाली कुन्तीदेवीको सम्बोधित करके समस्त प्राणियों और आश्रमवासियोंके सुनते हुए अत्यन्त स्पष्ट भाषामें इस प्रकार कहा—॥ ३६-३७॥

कार्तवीर्यसमः कुन्ति शिवतुल्यपराक्रमः।
एष शक्र इवाजय्यो यशस्ते प्रथयिष्यति॥ ३८॥
अदित्या विष्णुना प्रीतिर्यथाभूदभिवर्धिता।
तथा विष्णुसमः प्रीतिं वर्धयिष्यति तेऽर्जुनः॥ ३९॥

'कुन्तिभोजकुमारी! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुनके समान तेजस्वी, भगवान् शिवके समान पराक्रमी और देवराज इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारे यशका विस्तार करेगा। जैसे भगवान् विष्णुने वामनरूपमें प्रकट होकर देवमाता अदितिके हर्षको बढ़ाया था, उसी प्रकार यह विष्णुतुल्य अर्जुन तुम्हारी प्रसन्नताको बढ़ायेगा॥ ३८-३९॥

एष मद्रान् वशे कृत्वा कुरूंश्च सह सोमकैः।
चेदिकाशिकरूषांश्च कुरुलक्ष्मीं वहिष्यति॥ ४०॥

'तुम्हारा यह वीर पुत्र मद्र, कुरु, सोमक, चेदि, काशि तथा करूप नामक देशोंको वशमें करके कुरुवंशकी लक्ष्मीका पालन करेगा॥ ४०॥

(गत्वोत्तरदिशं वीरो विजित्य युधि पार्थिवान्।
धनरत्नौघममितमानयिष्यति पाण्डवः॥)
एतस्य भुजवीर्येण खाण्डवे हव्यवाहनः।
मेदसा सर्वभूतानां तृप्तिं यास्यति वै पराम्॥ ४१॥

'वीर अर्जुन उत्तर दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको युद्धमें जीतकर असंख्य धन-रत्नोंकी राशि ले आयेगा। इसके बाहुबलसे खाण्डववनमें अग्निदेव समस्त प्राणियोंके मेदका आस्वादन करके पूर्ण तृप्ति लाभ करेंगे॥ ४१॥

ग्रामणीश्च महीपालानेष जित्वा महाबलः।
भ्रातृभिः सहितो वीरस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति॥ ४२॥

'यह महाबली श्रेष्ठ वीर बालक समस्त क्षत्रियसमूहका नायक होगा और युद्धमें भूमिपालोंको जीतकर भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा॥ ४२॥

जामदग्न्यसमः कुन्ति विष्णुतुल्यपराक्रमः।
एष वीर्यवतां श्रेष्ठो भविष्यति महायशाः॥ ४३॥

'कुन्ती! यह परशुरामके समान वीर योद्धा, भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और महान् यशस्वी होगा॥ ४३॥

एष युद्धे महादेवं तोषयिष्यति शंकरम्।
अस्त्रं पाशुपतं नाम तस्मात् तुष्टादवाप्स्यति॥ ४४॥
निवातकवचा नाम दैत्या विबुधविद्विषः।
शक्राज्ञया महाबाहुस्तान् वधिष्यति ते सुतः॥ ४५॥

'यह युद्धमें देवाधिदेव भगवान् शंकरको संतुष्ट करेगा और संतुष्ट हुए उन महेश्वरसे पाशुपत नामक अस्त्र प्राप्त करेगा। निवातकवच नामक दैत्य देवताओंसे सदा द्वेष रखते हैं। तुम्हारा यह महाबाहु पुत्र इन्द्रकी आज्ञासे उन सब दैत्योंका संहार कर डालेगा॥ ४४-४५॥

तथा दिव्यानि चास्त्राणि निखिलेनाहरिष्यति।
विप्रणष्टां श्रियं चायमाहर्ता पुरुषर्षभः॥ ४६॥

'तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ यह अर्जुन सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका पूर्ण रूपसे ज्ञान प्राप्त करेगा और अपनी खोयी हुई सम्पत्तिको पुनः वापस ले आयेगा'॥ ४६॥

एतामत्यद्भुतां वाचं कुन्ती शुश्राव सूतके।
वाचमुच्चारितामुच्चैस्तां निशम्य तपस्विनाम्॥ ४७॥
बभूव परमो हर्षः शतशृङ्गनिवासिनाम्।
तथा देवनिकायानां सेन्द्राणां च दिवौकसाम्॥ ४८॥

कुन्तीने सौरीमेंसे ही यह अत्यन्त अद्भुत बात सुनी। उच्चस्वरमें उच्चारित वह आकाशवाणी सुनकर शतशृङ्ग-निवासी तपस्वी मुनियों तथा विमानोंपर स्थित इन्द्र आदि देवसमूहोंको बड़ा हर्ष हुआ॥ ४७-४८॥

आकाशे दुन्दुभीनां च बभूव तुमुलः स्वनः।
उदतिष्ठन्महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः॥ ४९॥

तदनन्तर आकाशमें फूलोंकी वर्षाके साथ देव-दुन्दुभियों-का तुमुल नाद बड़े जोरसे गूँज उठा॥ ४९॥

समवेत्य च देवानां गणाः पार्थमपूजयन्।
काद्रवेया वैनतेया गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
प्रजानां पतयः सर्वे सप्त चैव महर्षयः॥ ५०॥
भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च
विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः।
यश्चोदितो भास्करेऽभूत् प्रणष्टे
सोऽप्यत्रात्रिर्भगवानाजगाम॥ ५१॥

फिर झुंड-के-झुंड देवता वहाँ एकत्र होकर अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे। कद्रूके पुत्र (नाग), विनताके पुत्र (गरुड़ पक्षी), गन्धर्व, अप्सराएँ, प्रजापति, सप्तर्षिगण—भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ तथा जो नक्षत्रके रूपमें सूर्यास्त होनेके पश्चात् उदित होते हैं, वे भगवान् अत्रि भी वहाँ आये॥ ५०-५१॥

मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
दक्षः प्रजापतिश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५२ ॥

मरीचि और अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं प्रजापति दक्ष, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी आयीं ॥ ५२ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधराः सर्वालंकारभूषिताः।
उपगायन्ति बीभत्सुं नृत्यन्तेऽप्सरसां गणाः ॥ ५३ ॥

उन सबने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे। वे सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे। अप्सराओंका पूरा दल वहाँ जुट गया था। वे सभी अर्जुनके गुण गाने और नृत्य करने लगीं ॥ ५३ ॥

तथा महर्षयश्चापि जेपुस्तत्र समन्ततः।
गन्धर्वैः सहितः श्रीमान् प्रागायत च तुम्बुरुः ॥ ५४ ॥

महर्षि भी वहाँ सब ओर खड़े होकर माङ्गलिक मन्त्रोंका जप करने लगे। गन्धर्वोंके साथ श्रीमान् तुम्बुरुने मधुर स्वरसे गीत गाना प्रारम्भ किया ॥ ५४ ॥

भीमसेनोग्रसेनौ च ऊर्णायुरनघस्तथा।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चास्तथाष्टमः ॥ ५५ ॥
युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्चित्ररथस्तथा।
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः ॥ ५६ ॥
कलिः पञ्चदशश्चैव नारदश्चात्र षोडशः।
ऋत्वा बृहत्त्वा बृहकः करालश्च महामनाः ॥ ५७ ॥
ब्रह्मचारी बहुगुणः सुवर्णश्चेति विश्रुतः।
विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रश्च शरुस्तथा ॥ ५८ ॥
गीतमाधुर्यसम्पन्नौ विख्यातौ च हहाहुहू।
इत्येते देवगन्धर्वा जग्मुस्तत्र नराधिप ॥ ५९ ॥

भीमसेन तथा उग्रसेन, ऊर्णायु और अनघ, गोपति एवं धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा तथा आठवें युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि एवं चित्ररथ, तेरहवें शालिशिरा और चौदहवें पर्जन्य, पंद्रहवें कलि और सोलहवें नारद, ऋत्वा और बृहत्त्वा, बृहक एवं महामना कराल, ब्रह्मचारी तथा विख्यात गुणवान् सुवर्ण, विश्वावसु एवं भुमन्यु, सुचन्द्र और शरु तथा गीतमाधुर्यसे सम्पन्न सुविख्यात हाहा और हूहू—राजन्! ये सब देवगन्धर्व वहाँ पधारे थे ॥ ५५–५९ ॥

तथैवाप्सरसो हृष्टाः सर्वालंकारभूषिताः।
ननृतुर्वै महाभागा जगुश्चायतलोचनाः ॥ ६० ॥

इसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बड़े-बड़े नेत्रोंवाली परम सौभाग्यशालिनी अप्सराएँ भी हर्षोल्लासमें भरकर वहाँ नृत्य करने लगीं ॥ ६० ॥

अनूचानानवद्या च गुणमुख्या गुणावरा।
अद्रिका च तथा सोमा मिश्रकेशी त्वलम्बुषा ॥ ६१ ॥
मरीचिः शुचिका चैव विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा।
अम्बिका लक्षणा क्षेमा देवी रम्भा मनोरमा ॥ ६२ ॥
असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया च वपुस्तथा।
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी ॥ ६३ ॥
काम्या शारद्वती चैव ननृतुस्तत्र सङ्घशः।
मेनका सहजन्या च कर्णिका पुञ्जिकस्थला ॥ ६४ ॥
ऋतुस्थला घृताची च विश्वाची पूर्वचित्त्यपि।
उम्लोचेति च विख्याता प्रम्लोचेति च ता दश ॥ ६५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनूचाना और अनवद्या, गुणमुख्या एवं गुणावरा, अद्रिका तथा सोमा, मिश्रकेशी और अलम्बुषा, मरीचि और शुचिका, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अम्बिका, लक्षणा, क्षेमा, देवी, रम्भा, मनोरमा, असिता और सुबाहु, सुप्रिया एवं वपु, पुण्डरीका एवं सुगन्धा, सुरसा और प्रमाथिनी, काम्या तथा शारद्वती आदि। ये झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नाचने लगीं। इनमें मेनका, सहजन्या, कर्णिका और पुञ्जिकस्थला, ऋतुस्थला एवं घृताची, विश्वाची और पूर्वचित्ति, उम्लोचा और प्रम्लोचा—ये दस विख्यात हैं ॥ ६१-६५ ॥

उर्वश्येकादशी तासां जगुश्चायतलोचनाः।
धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ॥ ६६ ॥
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा।
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः।[1]
महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः ॥ ६७ ॥

इन्हीं प्रधान अप्सराओंकी श्रेणीमें ग्यारहवीं उर्वशी है। ये सभी विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियाँ वहाँ गीत गाने लगीं। धाता और अर्यमा, मित्र और वरुण, अंश एवं भग, इन्द्र, विवस्वान् और पूषा, त्वष्टा एवं सविता, पर्जन्य तथा विष्णु—ये बारह आदित्य माने गये हैं। ये सभी पाण्डुनन्दन अर्जुनका महत्त्व बढ़ाते हुए आकाशमें खड़े थे ॥ ६६-६७ ॥

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतप ॥ ६८ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पते।
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रास्तत्रावतस्थिरे ॥ ६९ ॥

शत्रुदमन महाराज! मृगव्याध और सर्प, महायशस्वी निर्ऋति एवं अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य और पिनाकी, दहन तथा ईश्वर, कपाली एवं स्थाणु तथा भगवान् भग—ये ग्यारह रुद्र भी वहाँ आकाशमें आकर खड़े थे ॥ ६८-६९ ॥

अश्विनौ वसवश्चाष्टौ मरुतश्च महाबलाः।
विश्वेदेवास्तथा साध्यास्तत्रासन् परितः स्थिताः ॥ ७० ॥

दोनों अश्विनीकुमार तथा आठों वसु, महाबली मरुद्गण एवं विश्वेदेवगण तथा साध्यगण वहाँ सब ओर विद्यमान थे ॥ ७० ॥

---

१. यहाँ आदित्योंके तेरह नाम हैं। जान पड़ता है, बारह महीनोंके बारह आदित्य और अधिमास या मलमासके प्रकाशक तेरहवें विष्णु हैं। इसीलिये उसे पुरुषोत्तममास कहते हैं। अधिमासकी पृथक् गणना न होनेसे बारह मासोंके प्रकाशक आदित्य बारह ही कहे गये हैं।

कर्कोटकोऽथ सर्पश्च वासुकिश्च भुजङ्गमः।
कश्यपश्चाथ कुण्डश्च तक्षकश्च महोरगः॥ ७१॥
आययुस्तपसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः।
एते चान्ये च बहवस्तत्र नागा व्यवस्थिताः॥ ७२॥

कर्कोटक सर्प तथा वासुकि नाग, कश्यप और कुण्ड, महानाग और तक्षक—ये तथा और भी बहुत-से महाबली, महाक्रोधी और तपस्वी नाग वहाँ आकर खड़े थे॥ ७१-७२॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्चासितध्वजः।
अरुणश्चारुणिश्चैव वैनतेया व्यवस्थिताः॥ ७३॥

तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि, गरुड एवं असितध्वज, अरुण तथा आरुणि—विनताके ये पुत्र भी उस उत्सवमें उपस्थित थे॥ ७३॥

तांश्च देवगणान् सर्वांस्तपःसिद्धा महर्षयः।
विमानगिर्यग्रगतान् ददृशुर्नेतरे जनाः॥ ७४॥

वे सब देवगण विमान और पर्वतके शिखरपर खड़े थे। उन्हें तपःसिद्ध महर्षि ही देख पाते थे, दूसरे लोग नहीं॥ ७४॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः।
अधिकां स्म ततो वृत्तिमवर्तन् पाण्डवान् प्रति॥ ७५॥

वह महान् आश्चर्य देखकर वे श्रेष्ठ मुनिगण बड़े विस्मयमें पड़े। तबसे पाण्डवोंके प्रति उनमें अधिक प्रेम और आदरका भाव पैदा हो गया॥ ७५॥

पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः।
वक्तुमैच्छद् धर्मपत्नीं कुन्ती त्वेनमथाब्रवीत्॥ ७६॥

तदनन्तर महायशस्वी राजा पाण्डु पुत्र-लोभसे आकृष्ट हो अपनी धर्मपत्नी कुन्तीसे फिर कुछ कहना चाहते थे, किंतु कुन्ती उन्हें रोकती हुई बोली—॥ ७६॥

नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।
अतः परं स्वैरिणी स्याद् बन्धकी पञ्चमे भवेत्॥ ७७॥

'आर्यपुत्र! आपत्तिकालमें भी तीनसे अधिक चौथी संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं दी है। इस विधिके द्वारा तीन-से अधिक चौथी संतान चाहनेवाली स्त्री स्वैरिणी होती है और पाँचवें पुत्रके उत्पन्न होनेपर तो वह कुलटा समझी जाती है॥

स त्वं विद्वन् धर्ममिममधिगम्य कथं नु माम्।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे॥ ७८॥

'विद्वन्! आप धर्मको जानते हुए भी प्रमादसे कहनेवालेके समान धर्मका लोप करके अब फिर मुझे संतानोत्पत्तिके लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं' ॥ ७८॥

(पाण्डुरुवाच
एवमेतद् धर्मशास्त्रं यथा वदसि तत् तथा।)

पाण्डुने कहा—प्रिये! वास्तवमें धर्मशास्त्रका ऐसा ही मत है। तुम जो कुछ कहती हो, वह ठीक है।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक, मिलाकर कुल ८८½ श्लोक हैं।)

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति तथा पाण्डु-पुत्रोंके नामकरण-संस्कार

वैशम्पायन उवाच

कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्ट्रात्मजेषु च।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुन्तीके तीन पुत्र उत्पन्न हो गये और धृतराष्ट्रके भी सौ पुत्र हो गये, तब माद्रीने पाण्डुसे एकान्तमें कहा—॥ १॥

न मेऽस्ति त्वयि संतापो विगुणेऽपि परंतप।
नावरत्वे वरार्हायाः स्थित्वा चानघ नित्यदा॥ २॥
गान्धार्याश्चैव नृपते जातं पुत्रशतं तथा।
श्रुत्वा न मे तथा दुःखमभवत् कुरुनन्दन॥ ३॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले निष्पाप कुरुनन्दन! आप संतान उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित हो गये, आपकी इस न्यूनता या दुर्बलताको लेकर मेरे मनमें कोई संताप नहीं है। यद्यपि मैं सदा कुन्तीदेवीकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेके कारण पटरानीके पदपर बैठनेकी अधिकारिणी थी, तो भी जो सदा मुझे छोटी बनकर रहना पड़ता है, इसके लिये भी मुझे कोई दुःख नहीं है। राजन्! गान्धारी तथा राजा धृतराष्ट्रके जो सौ पुत्र हुए हैं, वह समाचार सुनकर भी मुझे वैसा दुःख नहीं हुआ था॥ २-३॥

इदं तु मे महद् दुःखं तुल्यतायामपुत्रता।
दिष्ट्या त्विदानीं भर्तुर्मे कुन्त्यामप्यस्ति संततिः॥ ४॥

'परंतु इस बातका मेरे मनमें बहुत दुःख है कि मैं और कुन्तीदेवी दोनों समानरूपसे आपकी पत्नियाँ हैं, तो भी उन्हें तो पुत्र हुआ और मैं संतानहीन ही रह गयी। यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय मेरे प्राणनाथको कुन्तीके गर्भसे पुत्रकी प्राप्ति हो गयी है॥ ४॥

यदि त्वपत्यसंतानं कुन्तिराजसुता मयि।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात् तव चापि हितं भवेत्॥ ५॥

'यदि कुन्तिराजकुमारी मेरे गर्भसे भी कोई संतान उत्पन्न

करा सकें, तो यह उनका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह होगा और इससे आपका भी हित हो सकता है ॥ ५ ॥

संरम्भो हि सपत्नीत्वाद् वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति ।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥ ६ ॥

'सौत होनेके कारण मेरे मनमें एक अभिमान है, जो कुन्ती-देवीसे कुछ निवेदन करनेमें बाधक हो रहा है; अतः यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो आप स्वयं ही मेरे लिये कुन्तीदेवीको प्रेरित कीजिये' ॥ ६ ॥

पाण्डुरुवाच

ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते ।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥ ७ ॥

पाण्डु बोले—माद्री ! यह बात मेरे मनमें भी निरन्तर घूमती रहती है, किंतु इस विषयमें तुमसे कुछ कहनेका साहस नहीं होता था; क्योंकि पता नहीं, तुम यह प्रस्ताव सुनकर प्रसन्न होओगी या बुरा मान जाओगी। यह संदेह बराबर बना रहता था ॥ ७ ॥

तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम् ।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥

परंतु आज इस विषयमें तुम्हारी सम्मति जानकर अब मैं इसके लिये प्रयत्न करूँगा। मुझे विश्वास है, मेरे कहनेपर कुन्तीदेवी निश्चय ही मेरी बात मान लेंगी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत् ।
कुलस्य मम संतानं लोकस्य च कुरु प्रियम् ॥ ९ ॥
मम चापिण्डनाशाय पूर्वेषामपि चात्मनः ।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा पाण्डुने एकान्तमें कुन्तीसे यह बात कही—'कल्याणि ! मेरी कुल-परम्पराका विच्छेद न हो और सम्पूर्ण जगत्का प्रिय हो, ऐसा कार्य करो। मेरे तथा अपने पूर्वजोंके लिये पिण्डका अभाव न हो और मेरा भी प्रिय हो, इसके लिये तुम परम उत्तम कल्याण-मय कार्य करो ॥ ९-१० ॥

यशसोऽर्थाय चैव त्वं कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
प्राप्याधिपत्यमिन्द्रेण यज्ञैरिष्टं यशोऽर्थिना ॥ ११ ॥

'अपने यशका विस्तार करनेके लिये तुम अत्यन्त दुष्कर कर्म करो, जैसे इन्द्रने स्वर्गका साम्राज्य प्राप्त कर लेनेके बाद भी केवल यशकी कामनासे अनेकानेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ११ ॥

तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम् ।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भाविनि ॥ १२ ॥

'भामिनि ! मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण अत्यन्त कठोर तपस्या करके भी यशके लिये गुरुजनोंकी शरण ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

तथा राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणाश्च तपोधनाः ।
चक्रुरुच्चावचं कर्म यशसोऽर्थाय दुष्करम् ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण राजर्षियों तथा तपस्वी ब्राह्मणोंने भी यशके लिये छोटे-बड़े कठिन कर्म किये हैं ॥ १३ ॥

सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते ।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥ १४ ॥

'अनिन्दिते ! इसी प्रकार तुम भी इस माद्रीको नौकापर बिठाकर पार लगा दो; इसे भी संतति देकर उत्तम यश प्राप्त करो' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम् ।
तस्मात् ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज पाण्डुके यों कहनेपर कुन्तीने माद्रीसे कहा—'तुम एक बार किसी देवताका चिन्तन करो, उससे तुम्हें योग्य संतानकी प्राप्ति होगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५ ॥

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥ १६ ॥

तब माद्रीने मन-ही-मन कुछ विचार करके दोनों अश्विनी-कुमारोंका स्मरण किया। तब उन दोनोंने आकर माद्रीके गर्भसे दो जुड़वें पुत्र उत्पन्न किये ॥ १६ ॥

नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तथैव तावपि यमौ वागुवाचाशरीरिणी ॥ १७ ॥

उनमेंसे एकका नाम नकुल था और दूसरेका सहदेव। पृथ्वीपर सुन्दर रूपमें उन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं था। पहलेकी तरह उन दोनों यमल संतानोंके विषयमें भी आकाशवाणीने कहा— ॥ १७ ॥

सत्त्वरूपगुणोपेतौ भवतोऽत्यश्विनाविति ।
भासतस्तेजसात्यर्थं रूपद्रविणसम्पदा ॥ १८ ॥

'ये दोनों बालक अश्विनीकुमारोंसे भी बढ़कर बुद्धि, रूप और गुणोंसे सम्पन्न होंगे। अपने तेज तथा बढ़ी-चढ़ी रूप-सम्पत्तिके द्वारा ये दोनों सदा प्रकाशित रहेंगे' ॥ १८ ॥

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशाम्पते ॥ १९ ॥

तदनन्तर शतशृङ्गनिवासी ऋषियोंने उन सबके नाम-करण-संस्कार किये। उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनकी भक्ति और कर्मके अनुसार उनके नाम रक्खे ॥ १९ ॥

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥ २० ॥

कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्रका नाम युधिष्ठिर, मझलेका नाम भीमसेन और तीसरेका नाम अर्जुन रक्खा गया ॥ २० ॥

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम्।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥ २१ ॥

उन प्रसन्नचित्त ब्राह्मणोंने माद्रीपुत्रोंमेंसे जो पहले उत्पन्न हुआ, उसका नाम नकुल और दूसरेका सहदेव निश्चित किया ॥

अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्च संवत्सरा इव ॥ २२ ॥

वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डवगण प्रतिवर्ष एक-एक करके उत्पन्न हुए थे, तो भी देवस्वरूप होनेके कारण पाँच संवत्सरोंकी भाँति एक-से सुशोभित हो रहे थे ॥ २२ ॥

महासत्त्वा महावीर्या महाबलपराक्रमाः।
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान् महौजसः ॥ २३ ॥
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः।
ऋषीणामपि सर्वेषां शतशृङ्गनिवासिनाम् ॥ २४ ॥
प्रिया बभूवुस्तासां च तथैव मुनियोषिताम्।
कुन्तीमथ पुनः पाण्डुर्माद्र्यर्थे समचोदयत् ॥ २५ ॥

वे सभी महान् धैर्यशाली, अधिक बीर्यवान्, महाबली और पराक्रमी थे। उन देवस्वरूप महान् तेजस्वी पुत्रोंको देखकर महाराज पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे आनन्दमें मग्न हो गये। वे सभी बालक शतशृङ्गनिवासी समस्त मुनियों और मुनिपत्नियोंके प्रिय थे। तदनन्तर पाण्डुने माद्रीसे संतानकी उत्पत्ति करानेके लिये कुन्तीको पुनः प्रेरित किया ॥ २३—२५ ॥

तमुवाच पृथा राजन् रहस्युक्ता तदा सती।
उक्ता सकृद् द्वन्द्वमेषा लेभे तेनास्मि वञ्चिता ॥ २६ ॥

राजन्! जब एकान्तमें पाण्डुने कुन्तीसे वह बात कही, तब सती कुन्ती पाण्डुसे इस प्रकार बोली—'महाराज! मैंने इसे एक पुत्रके लिये नियुक्त किया था, किंतु इसने दो पा लिये। इससे मैं ठगी गयी ॥ २६ ॥

बिभेम्यस्याः परिभवात् कुस्त्रीणां गतिरीदृशी।
नाज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ॥ २७ ॥
तस्मान्नाहं नियोक्तव्या त्वयैषोऽस्तु वरो मम।
एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः ॥ २८ ॥
सम्भूताः कीर्तिमन्तश्च कुरुवंशविवर्धनाः।
शुभलक्षणसम्पन्नाः सोमवत् प्रियदर्शनाः ॥ २९ ॥

'अब तो मैं इसके द्वारा मेरा तिरस्कार न हो जाय, इस बातके लिये डरती हूँ। खोटी स्त्रियोंकी ऐसी ही गति होती है। मैं ऐसी मूर्खा हूँ कि मेरी समझमें यह बात नहीं आयी कि दो देवताओंके आवाहनसे दो पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होती है। अतः राजन्! अब मुझे इसके लिये आप इस कार्यमें नियुक्त न कीजिये। मैं आपसे यही वर माँगती हूँ।' इस प्रकार पाण्डुके देवताओंके दिये हुए पाँच महाबली पुत्र उत्पन्न हुए, जो यशस्वी होनेके साथ ही कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले और उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे। चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्रिय लगता था ॥ २७-२९ ॥

सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥ ३० ॥
विवर्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ॥ ३१ ॥

उनका अभिमान सिंहके समान था, वे बड़े-बड़े धनुष धारण करते थे। उनकी चाल-ढाल भी सिंहके ही समान थी। देवताओंके समान पराक्रमी तथा सिंहकी-सी गर्दनवाले वे नरश्रेष्ठ बढ़ने लगे। उस पुण्यमय हिमालयके शिखरपर पलते और पुष्ट होते हुए वे पाण्डुपुत्र वहाँ एकत्र होनेवाले महर्षियोंको आश्चर्यचकित कर देते थे ॥ ३०-३१ ॥

(जातमात्रानुपादाय शतशृङ्गनिवासिनः।
पाण्डोः पुत्रानमन्यन्त तापसाः स्वानिवात्मजान् ॥
ततस्तु वृष्णयः सर्वे वसुदेवपुरोगमाः।
पाण्डुः शापभयाद् भीतः शतशृङ्गमुपेयिवान्।
तत्रैव मुनिभिः सार्धं तापसोऽभूत् तपश्चरन् ॥
शाकमूलफलाहारस्तपस्वी नियतेन्द्रियः।
ध्यानयोगपरो राजा बभूवेति च वादकाः ॥
प्रब्रुवन्ति स्म बहवस्तच्छ्रुत्वा शोककर्शिताः।
पाण्डोः प्रीतिसमायुक्ताः कदा श्रोष्याम सत्कथाः॥
इत्येवं कथयन्तस्ते वृष्णयः सह बान्धवैः।
पाण्डोः पुत्रागमं श्रुत्वा सर्वे हर्षसमन्विताः ॥
सभाजयन्तस्तेऽन्योन्यं सुदेवं वचोऽब्रुवन्।

शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनि पाण्डुके पुत्रोंको जन्मकालसे ही संरक्षणमें लेकर अपने औरस पुत्रोंकी भाँति उनका लाड़-प्यार करते थे। उधर द्वारकामें वसुदेव आदि सब वृष्णिवंशी राजा पाण्डुके विषयमें इस प्रकार विचार कर रहे थे—'अहो! राजा पाण्डु किंदम मुनिके शापसे भयभीत हो शतशृङ्ग पर्वतपर चले गये हैं और वहीं ऋषि-मुनियोंके साथ तपस्यामें तत्पर हो पूरे तपस्वी बन गये हैं। वे शाक, मूल और फल भोजन करते हैं, तपमें लगे रहते हैं, इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं और सदा ध्यानयोगका ही साधन करते हैं। ये बातें बहुत-से संदेशवाहक मनुष्य बता रहे थे।' यह समाचार सुनकर प्रायः सभी यदुवंशी उनके प्रेमी होनेके नाते शोकमग्न रहते थे। वे सोचते थे—'कब हमें महाराज पाण्डुका शुभ संवाद सुननेको मिलेगा।' एक दिन अपने भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर सब वृष्णिवंशी जब इस प्रकार पाण्डुके विषयमें कुछ बातें कर रहे थे, उसी समय उन्होंने पाण्डुके पुत्र होनेका समाचार सुना। सुनते ही सब-के-सब हर्षविभोर हो उठे और परस्पर सद्भाव प्रकट करते हुए वसुदेवजीसे इस प्रकार बोले—

वृष्णय ऊचुः

न भवेरन् क्रियाहीनाः पाण्डोः पुत्रा महायशः ।
पाण्डोः प्रियहितान्वेषी प्रेषय त्वं पुरोहितम् ॥

वृष्णियोंने कहा—महायशस्वी वसुदेवजी ! हम चाहते हैं कि राजा पाण्डुके पुत्र संस्कारहीन न हों; अतः आप पाण्डुके प्रिय और हितकी इच्छा रखकर उनके पास किसी पुरोहितको भेजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

वसुदेवस्तथेत्युक्त्वा विससर्ज पुरोहितम् ।
युक्तानि च कुमाराणां पारिबर्हाण्यनेकशः ॥
कुन्तीं माद्रीं च संदिश्य दासीदासपरिच्छदम् ।
गाश्च रौप्यं हिरण्यं च प्रेषयामास भारत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर वसुदेवजीने पुरोहितको भेजा; साथ ही उन कुमारोंके लिये उपयोगी अनेक प्रकारकी वस्त्राभूषण-सामग्री भी भेजी । कुन्ती और माद्रीके लिये भी दासी, दास, वस्त्राभूषण आदि आवश्यक सामान, गौएँ, चाँदी और सुवर्ण भिजवाये ॥

तानि सर्वाणि संगृह्य प्रययौ स पुरोहितः ।
तमागतं द्विजश्रेष्ठं काश्यपं वै पुरोहितम् ॥
पूजयामास विधिवत् पाण्डुः परपुरञ्जयः ।
पृथा माद्री च संहृष्टे वसुदेवं प्रशंसताम् ॥

उन सब सामग्रियोंको एकत्र करके अपने साथ ले पुरोहितने वनको प्रस्थान किया । शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले राजा पाण्डुने पुरोहित द्विजश्रेष्ठ काश्यपके आनेपर उनका विधिपूर्वक पूजन किया । कुन्ती और माद्रीने प्रसन्न होकर वसुदेवजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

ततः पाण्डुः क्रियाः सर्वाः पाण्डवानामकारयत् ।
गर्भाधानादिकृत्यानि चौलोपनयनानि च ॥
काश्यपः कृतवान् सर्वमुपाकर्म च भारत ।
चौलोपनयनादूर्ध्वमृषभाक्षा यशस्विनः ॥
वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः ।

तब पाण्डुने अपने पुत्रोंके गर्भाधानसे लेकर चूडाकरण और उपनयनतक सभी संस्कार-कर्म करवाये । भारत ! पुरोहित काश्यपने उनके सब संस्कार सम्पन्न किये । बैलोंके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाले वे यशस्वी पाण्डव चूडाकरण और उपनयनके पश्चात् उपाकर्म करके वेदाध्ययनमें लगे और उसमें पारंगत हो गये ॥

शर्यातेः पृषतः पुत्रः शुको नाम परंतपः ॥
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा स महात्मा महामखैः ॥
आराध्य देवताः सर्वाः पितॄनपि महामतिः ।
शतशृङ्गे तपस्तेपे शाकमूलफलाशनः ॥
तेनोपकरणश्रेष्ठैः शिक्षया चोपबृंहिताः ।
तत्प्रसादाद् धनुर्वेदे समपद्यन्त पारगाः ॥

भारत ! शर्यातिवंशजके एक पुत्र पृषत् थे, जिनका नाम था शुक । वे अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करनेवाले थे । उन शुकने किसी समय अपने धनुषके बलसे जीतकर समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर अधिकार कर लिया था । अश्वमेध-जैसे सौ बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान एवं सम्पूर्ण देवताओं तथा पितरोंकी आराधना करके परम बुद्धिमान् महात्मा राजा शुक शतशृङ्ग पर्वतपर आकर शाक और फल-मूलका आहार करते हुए तपस्या करने लगे । उन्हीं तपस्वी नरेशने श्रेष्ठ उपकरणों और शिक्षाके द्वारा पाण्डवोंकी योग्यता बढ़ायी । राजर्षि शुकके कृपा-प्रसादसे सभी पाण्डव धनुर्वेदमें पारंगत हो गये ॥

गदायां पारगो भीमस्तोमरेषु युधिष्ठिरः ।
असिचर्मणि निष्णातौ यमौ सत्त्ववतां वरौ ॥
धनुर्वेदे गतः पारं सव्यसाची परंतपः ।
शुकेन समनुज्ञातो मत्समोऽयमिति प्रभो ।
अनुज्ञाय ततो राजा शक्तिं खड्गं तथा शरान् ॥
धनुश्च ददतां श्रेष्ठः तालमात्रं महाप्रभम् ।
विपाठक्षुरनाराचान् गृध्रपत्रानलंकृतान् ॥
ददौ पार्थाय संहृष्टो महोरगसमप्रभान् ।
अवाप्य सर्वशस्त्राणि मुदितो वासवात्मजः ॥
मेने सर्वान् महीपालान् अपर्याप्तान् स्वतेजसः ।

भीमसेन गदा-संचालनमें पारंगत हुए और युधिष्ठिर तोमर फेंकनेमें । धैर्यवान् और शक्तिशाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ दोनों माद्रीपुत्र ढाल-तलवार चलानेकी कलामें निपुण हुए । परंतप सव्यसाची अर्जुन धनुर्वेदके पारगामी विद्वान् हुए । राजन् ! जब दाताओंमें श्रेष्ठ शुकने जान लिया कि अर्जुन मेरे समान धनुर्वेदके ज्ञाता हो गये, तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर शक्ति, खड्ग, बाण, ताड़के समान विशाल अत्यन्त चमकीला धनुष तथा विपाठ, क्षुर एवं नाराच अर्जुनको दिये । विपाठ आदि सभी प्रकारके बाण गीधकी पाँखोंसे युक्त तथा अलंकृत थे । वे देखनेमें बड़े-बड़े सर्पोंके समान जान पड़ते थे । इन सब अस्त्र-शस्त्रोंको पाकर इन्द्रपुत्र अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे यह अनुभव करने लगे कि भूमण्डलके कोई भी नरेश तेजमें मेरी समानता नहीं कर सकते ॥

एकवर्षान्तरास्त्वेवं परस्परमरिंदमाः ।
अन्ववर्धन्त पार्थाश्च माद्रीपुत्रौ तथैव च ॥)

शत्रुदमन पाण्डवोंकी आयुमें परस्पर एक-एक वर्षका अन्तर था । कुन्ती और माद्री दोनों देवियोंके पुत्र दिन-दिन बढ़ने लगे ॥

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥ ३२ ॥

फिर तो जैसे जलमें कमल बढ़ता है, उसी प्रकार कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले जो एक सौ पाँच बालक हुए थे, वे सब थोड़े ही समयमें बढ़कर सयाने हो गये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं ।)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुकी मृत्यु और माद्रीका उनके साथ चितारोहण

वैशम्पायन उवाच

दर्शनीयांस्ततः पुत्रान् पाण्डुः पञ्च महावने ।
तान् पश्यन् पर्वते रम्ये स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस महान् वनमें रमणीय पर्वत-शिखरपर महाराज पाण्डु उन पाँचों दर्शनीय पुत्रोंको देखते हुए अपने बाहुबलके सहारे प्रसन्नतापूर्वक निवास करने लगे ॥ १ ॥

(पूर्णे चतुर्दशे वर्षे फाल्गुनस्य च धीमतः ।
तदा उत्तरफल्गुन्यां प्रवृत्ते स्वस्तिवाचने ॥
रक्षणे विस्मृता कुन्ती व्यग्रा ब्राह्मणभोजने ।
पुरोहितेन सहिता ब्राह्मणान् पर्यवेषयत् ॥
तस्मिन् काले समाहूय माद्रीं मदनमोहितः ।)
सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे ।
भूतसम्मोहने राजा सभार्यो व्यचरद् वनम् ॥ २ ॥

एक दिनकी बात है, बुद्धिमान् अर्जुनका चौदहवाँ वर्ष पूरा हुआ था। उनकी जन्म-तिथिको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें ब्राह्मणलोगोंने स्वस्तिवाचन प्रारम्भ किया। उस समय कुन्ती-देवीको महाराज पाण्डुकी देख-भालका ध्यान न रहा। वे ब्राह्मणोंको भोजन करानेमें लग गयीं। पुरोहितके साथ स्वयं ही उनको रसोई परोसने लगीं। इसी समय काममोहित पाण्डु माद्रीको बुलाकर अपने साथ ले गये। उस समय चैत्र और वैशाखके महीनोंकी संधिका समय था, समूचा वन भाँति-भाँतिके सुन्दर पुष्पोंसे अलंकृत हो अपनी अनुपम शोभासे समस्त प्राणियोंको मोहित कर रहा था, राजा पाण्डु अपनी छोटी रानीके साथ वनमें विचरने लगे ॥ २ ॥

पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्पसमृद्धिभिः ॥ ३ ॥
जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम् ।
पाण्डोर्वनं तत् सम्प्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥ ४ ॥

पलाश, तिलक, आम, चम्पा, पारिभद्रक तथा और भी बहुत-से वृक्ष फल-फूलोंकी समृद्धिसे भरे हुए थे, जो उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे। नाना प्रकारके जलाशयों तथा कमलोंसे सुशोभित उस वनकी मनोहर छटा देखकर राजा पाण्डुके मनमें कामका संचार हो गया ॥ ३-४ ॥

प्रहृष्टमनसं तत्र विचरन्तं यथामरम् ।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥ ५ ॥

वे मनमें हर्षोल्लास भरकर देवताकी भाँति वहाँ विचर रहे थे। उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहिने अकेली उनके पीछे-पीछे जा रही थी ॥ ५ ॥

समीक्षमाणः स तु तां वयःस्थां तनुवाससम् ।
तस्य कामः प्रववृधे गहनेऽग्निरिवोद्गतः ॥ ६ ॥

वह युवावस्थासे युक्त थी और उसके शरीरपर झीनी-झीनी साड़ी सुशोभित थी। उसकी ओर देखते ही पाण्डुके मनमें कामनाकी आग जल उठी, मानो घने वनमें दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी हो ॥ ६ ॥

रहस्येकां तु तां दृष्ट्वा राजा राजीवलोचनाम् ।
न शशाक नियन्तुं तं कामं कामवशीकृतः ॥ ७ ॥

एकान्त प्रदेशमें कमलनयनी माद्रीको अकेली देखकर राजा कामका वेग रोक न सके, वे पूर्णतः कामदेवके अधीन हो गये थे ॥ ७ ॥

तत एनां बलाद् राजा निजग्राह रहो गताम् ।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥ ८ ॥

अतः एकान्तमें मिली हुई माद्रीको महाराज पाण्डुने बलपूर्वक पकड़ लिया। देवी माद्री राजाकी पकड़से छूटनेकेलिये यथाशक्ति चेष्टा करती हुई उन्हें बार-बार रोक रही थी ॥ ८ ॥

स तु कामपरीतात्मा तं शापं नान्वबुध्यत ।
माद्रीं मैथुनधर्मेण सोऽन्वगच्छद् बलादिव ॥ ९ ॥
जीवितान्ताय कौरव्य मन्मथस्य वशं गतः ।
शापजं भयमुत्सृज्य विधिना सम्प्रचोदितः ॥ १० ॥

परंतु उनके मनपर तो कामका वेग सवार था; अतः उन्होंने मृगरूपधारी मुनिसे प्राप्त हुए शापका विचार नहीं किया। कुरुनन्दन जनमेजय! वे कामके वशमें हो गये थे, इसलिये प्रारब्धसे प्रेरित हो शापके भयकी अवहेलना करके स्वयं ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये बलपूर्वक मैथुन करनेकी इच्छा रखकर माद्रीसे लिपट गये ॥ ९-१० ॥

तस्य कामात्मनो बुद्धिः साक्षात् कालेन मोहिता ।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रणष्टा सह चेतसा ॥ ११ ॥

साक्षात् कालने कामात्मा पाण्डुकी बुद्धि मोह ली थी। उनकी बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर विचारशक्तिके साथ-साथ स्वयं भी नष्ट हो गयी थी ॥ ११ ॥

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले परम धर्मात्मा महाराज पाण्डु इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी माद्रीसे समागम करके कालके गालमें पड़ गये ॥ १२ ॥

ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ॥ १३ ॥

तब माद्री राजाके शवसे लिपटकर बार-बार अत्यन्त दुःखभरी वाणीमें विलाप करने लगी ॥ १३ ॥

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः॥ १४ ॥

इतनेमें ही पुत्रोंसहित कुन्ती और दोनों पाण्डुनन्दन माद्रीकुमार एक साथ उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ राजा पाण्डु मृतकावस्थामें पड़े थे ॥ १४ ॥

ततो माद्र्यब्रवीद् राजन्नार्ता कुन्तीमिदं वचः।
एकैव त्वमिहागच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः॥ १५ ॥

जनमेजय ! यह देख शोकातुर माद्रीने कुन्तीसे कहा—'बहिन! आप अकेली ही यहाँ आयें। बच्चोंको वहीं रहने दें'॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवाधाय दारकान्।
हताहमिति विक्रुश्य सहसैवाजगाम सा॥ १६ ॥

माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्तीने सब बालकोंको वहीं रोक दिया और 'हाय! मैं मारी गयी' इस प्रकार आर्तनाद करती हुई सहसा माद्रीके पास आ पहुँची ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता॥ १७ ॥

आकर उसने देखा, पाण्डु और माद्री धरतीपर पड़े हुए हैं। यह देख कुन्तीके सम्पूर्ण शरीरमें शोकाग्नि व्याप्त हो गयी और वह अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगी—॥ १७॥

रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान्।
कथं त्वामत्यतिक्रान्तः शापं जानन् वनौकसः॥ १८ ॥

'माद्री! मैं सदा वीर एवं जितेन्द्रिय महाराजकी रक्षा करती आ रही थी। उन्होंने मृगके शापकी बात जानते हुए भी तुम्हारे साथ बलपूर्वक समागम कैसे किया?॥ १८॥

ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम्॥ १९ ॥

'माद्री! तुम्हें तो महाराजकी रक्षा करनी चाहिये थी। तुमने एकान्तमें उन्हें लुभाया क्यों?॥ १९॥

कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम्।
तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत॥ २० ॥

'वे तो उस शापका चिन्तन करते हुए सदा दीन और उदास बने रहते थे, फिर तुझको एकान्तमें पाकर उनके मनमें कामजनित हर्ष कैसे उत्पन्न हुआ?॥ २०॥

धन्या त्वमसि बाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा।
दृष्टवत्यसि यद् वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः॥ २१ ॥

'बाह्लीकराजकुमारी! तुम धन्य हो, मुझसे बड़भागिनी हो; क्योंकि तुमने हर्षोल्लाससे भरे हुए महाराजके मुखचन्द्र-का दर्शन किया है'॥ २१॥

माद्र्युवाच

विलपन्त्या मया देवि वार्यमाणेन चासकृत्।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा॥ २२ ॥

माद्री बोली—महारानी! मैंने रोते-बिलखते बार-बार महाराजको रोकनेकी चेष्टा की; परंतु वे तो उस शापजनित दुर्भाग्यको मोहके कारण मानो सत्य करना चाहते थे, इसलिये अपने-आपको रोक न सके॥ २२॥

वैशम्पायन उवाच

(तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती शोकाग्नितापिता।
पपात सहसा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः॥
निश्चेष्टा पतिता भूमौ मोहान्नैव चचाल सा॥
कुन्तीमुत्थाप्य माद्री च मोहेनाविष्टचेतनाम्।
एह्येहीति तां कुन्तीं दर्शयामास कौरवम्॥
पादयोः पतिता कुन्ती पुनरुत्थाय भूमिपम्।
सस्मितेन तु वक्त्रेण गदन्तमिव भारत।
परिरभ्य तदा मोहाद् विललापाकुलेन्द्रिया॥
माद्री चापि समालिङ्ग्य राजानं विललाप सा॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्ती शोकाग्निसे संतप्त हो जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी और गिरते ही मूर्च्छा आ जानेके कारण निश्चेष्ट पड़ी रही, हिल-डुल भी न सकी। वह मूर्च्छावश अचेत हो गयी थी। माद्रीने उसे उठाया और कहा—'बहिन! आइये, आइये!' यों कहकर उसने कुन्तीको कुरुराज पाण्डुका दर्शन कराया। कुन्ती उठकर पुनः महाराज पाण्डुके चरणोंमें गिर पड़ी। महाराजके मुखपर मुसकराहट थी और ऐसा जान पड़ता था मानो वे अभी-अभी कोई बात कहने जा रहे हैं। उस समय मोहवश उन्हें हृदयसे लगाकर कुन्ती विलाप करने लगी। उसकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी थीं। इसी प्रकार माद्री भी राजाका आलिङ्गन करके करुण विलाप करने लगी॥

तं तथाधिगतं पाण्डुमृषयः सह चारणैः।
अभ्येत्य सहिताः सर्वे शोकादश्रूण्यवर्तयन्॥
अस्तं गतमिवादित्यं सुशुष्कमिव सागरम्।
दृष्ट्वा पाण्डुं नरव्याघ्रं शोचन्ति स्म महर्षयः॥
समानशोका ऋषयः पाण्डवाश्च बभूविरे।
ते समाश्वासिते विप्रैः विलेपतुरनिन्दिते॥

इस प्रकार मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए पाण्डुके पास चारणोंसहित सभी ऋषि-मुनि जुट आये और शोकवश आँसू बहाने लगे। अस्ताचलको पहुँचे हुए सूर्य तथा एकदम सूखे हुए समुद्रकी भाँति नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर सभी महर्षि शोकमग्न हो गये। उस समय ऋषियोंको तथा पाण्डुपुत्रोंको समान-रूपसे शोकका अनुभव हो रहा था। ब्राह्मणोंने पाण्डुकी दोनों

सती-साध्वी रानियोंको समझा-बुझाकर बहुत आश्वासन दिया, तो भी उनका विलाप बंद नहीं हुआ ॥

कुन्त्युवाच

हा राजन् कस्य नौ हित्वा गच्छसि त्रिदशालयम् ॥
हा राजन् मम मन्दायाः कथं माद्रीं समेत्य वै ।
निधनं प्राप्तवान् राजन् मद्भाग्यपरिसंक्षयात् ॥
युधिष्ठिरं भीमसेनमर्जुनं च यमावुभौ ।
कस्य हित्वा प्रियान् पुत्रान् प्रयातोऽसि विशाम्पते ॥
नूनं त्वां त्रिदशा देवाः प्रतिनन्दन्ति भारत ।
यथा हि तप उग्रं ते चरितं विप्रसंसदि ॥
आवाभ्यां सहितो राजन् गमिष्यसि दिवं शुभम् ।
आजमीढाजमीढानां कर्मणा चरितां गतिम् ॥

कुन्ती बोली—हा ! महाराज ! आप हम दोनोंको किसे सौंपकर स्वर्गलोकमें जा रहे हैं । हाय ! मैं कितनी भाग्यहीना हूँ । मेरे राजा ! आप किस लिये अकेली माद्रीसे मिलकर सहसा कालके गालमें चले गये । मेरा भाग्य नष्ट हो जानेके कारण ही आज यह दिन देखना पड़ा है । प्रजानाथ ! युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव—इन प्यारे पुत्रोंको किसके जिम्मे छोड़कर आप चले गये ? भारत ! निश्चय ही देवता आपका अभिनन्दन करते होंगे; क्योंकि आपने ब्राह्मणोंकी मण्डलीमें रहकर कठोर तपस्या की है । अजमीढ-कुलनन्दन ! आपके पूर्वजोंने पुण्य-कर्मोंद्वारा जिस गतिको प्राप्त किया है, उसी शुभ स्वर्गीय गतिको आप हम दोनों पत्नियोंके साथ प्राप्त करेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

विलपित्वा भृशं त्वेवं निःसंज्ञे पतिते भुवि ।
युधिष्ठिरमुखाः सर्वे पाण्डवा वेदपारगाः ।
तेऽप्यागत्य पितुर्मूले निःसंज्ञाः पतिता भुवि ॥
पाण्डोः पादौ परिष्वज्य विलपन्ति स्म पाण्डवाः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अत्यन्त विलाप करके कुन्ती और माद्री दोनों अचेत हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं । युधिष्ठिर आदि सभी पाण्डव वेदविद्यामें पारंगत हो चुके थे, वे भी पिताके समीप आकर संज्ञाशून्य हो पृथ्वीपर गिर पड़े । सभी पाण्डव पाण्डुके चरणोंको हृदयसे लगाकर विलाप करने लगे ॥

कुन्त्युवाच

अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम ।
अवश्यम्भाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय ॥ २३ ॥
अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान् पालय दारकान् ॥ २४ ॥
अवाप्य पुत्राँल्लब्धात्मा वीरपत्नीत्वमर्थये ।

कुन्तीने कहा—माद्री ! मैं इनकी ज्येष्ठ धर्मपत्नी हूँ, अतः धर्मके ज्येष्ठ फलपर भी मेरा ही अधिकार है । जो अवश्यम्भावी बात है, उससे मुझे मत रोको । मैं मृत्युके वशमें पड़े हुए अपने स्वामीका अनुगमन करूँगी । अब तुम इन्हें छोड़कर उठो और इन बच्चोंका पालन करो । पुत्रोंको पाकर मेरा लौकिक मनोरथ पूर्ण हो चुका है; अब मैं पतिके साथ दग्ध होकर वीरपत्नीका पद पाना चाहती हूँ ॥ २३-२४ ॥

माद्र्युवाच

अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम् ।
न हि तृप्तास्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम् ॥ २५ ॥

माद्री बोली—रणभूमिसे कभी पीठ न दिखानेवाले अपने पतिदेवके साथ मैं ही जाऊँगी; क्योंकि उनके साथ होनेवाले कामभोगसे मैं तृप्त नहीं हो सकी हूँ । आप बड़ी बहिन हैं, इसलिये मुझे आपको आज्ञा प्रदान करनी चाहिये ॥ २५ ॥

मां चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद् भरतसत्तमः ।
तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने ॥ २६ ॥

ये भरतश्रेष्ठ मेरे प्रति आसक्त हो मुझसे समागम करके मृत्युको प्राप्त हुए हैं; अतः मुझे किसी प्रकार परलोकमें पहुँचकर उनकी उस कामवासनाकी निवृत्ति करनी चाहिये ॥

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम् ॥ २७ ॥

आर्ये ! मैं आपके पुत्रोंके साथ अपने सगे पुत्रोंकी भाँति बर्ताव नहीं कर सकूँगी । उस दशामें मुझे पाप लगेगा ॥

तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ॥ २८ ॥

अतः आप ही जीवित रहकर मेरे पुत्रोंका भी अपने पुत्रोंके समान ही पालन कीजियेगा । इसके सिवा ये महाराज मेरी ही कामना रखकर मृत्युके अधीन हुए हैं ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ऋषयस्तान् समाश्वास्य पाण्डवान् सत्यविक्रमान् ।
ऊचुः कुन्तीं च माद्रीं च समाश्वास्य तपस्विनः ॥
सुभगे बालपुत्रे तु न मर्तव्यं कथंचन ।
पाण्डवांश्चापि नेष्यामः कुरुराष्ट्रं परंतपान् ॥
अधर्मेष्वर्थजातेषु धृतराष्ट्रश्च लोभवान् ।
स कदाचिन्न वर्तेत पाण्डवेषु यथाविधि ॥
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च ।
माद्र्याश्च बलिनां श्रेष्ठः शल्यो भ्राता महारथः ॥
भर्त्रा तु मरणं सार्धं फलवन्नात्र संशयः ।
युवाभ्यां दुष्करं चैतद् वदन्ति द्विजपुङ्गवाः ।
मृते भर्तरि या साध्वी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
यमैश्च नियमैः श्रान्ता मनोवाक्कायजैः शुभैः ।
व्रतोपवासनियमैः कृच्छ्रैश्चान्द्रायणादिभिः ।
भूशय्यां क्षारलवणवर्जनं चैकभोजनम् ॥

येन केनापि विधिना देहशोषणतत्परा ।
देहपोषणसंयुक्ता विषयैर्हतचेतना ॥
देहव्ययेन नरकं महदाप्नोत्यसंशयः ।
तस्मात्संशोषयेद् देहं विषया नाशमाप्नुयुः ॥
भर्तारं चिन्तयन्ती सा भर्तारं निस्तरेच्छुभा ।
तारितश्चापि भर्ता स्यादात्मा पुत्रस्तथैव च ॥
तस्माज्जीवितमेवैतद् युवयोर्विद्म शोभनम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर तपस्वी ऋषियोंने सत्यपराक्रमी पाण्डवोंको धीरज बँधाकर कुन्ती और माद्रीको भी आश्वासन देते हुए कहा—'सुभगे ! तुम दोनोंके पुत्र अभी बालक हैं, अतः तुम्हें किसी प्रकार देह-त्याग नहीं करना चाहिये । हमलोग शत्रुदमन पाण्डवोंको कौरव राष्ट्रकी राजधानीमें पहुँचा देंगे । राजा धृतराष्ट्र अधर्ममय धनके लिये लोभ रखता है, अतः वह कभी पाण्डवोंके साथ यथायोग्य बर्ताव नहीं कर सकता । कुन्तीके रक्षक एवं सहायक वृष्णिवंशी और राजा कुन्तिभोज हैं तथा माद्रीके बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी शल्य उसके भाई हैं । इसमें संदेह नहीं कि पतिके साथ मृत्यु स्वीकार करना पत्नीके लिये महान् फलदायक होता है; तथापि तुम दोनोंके लिये यह कार्य अत्यन्त कठोर है, यह बात सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हैं । जो स्त्री साध्वी होती है, वह अपने पतिकी मृत्यु हो जानेके बाद ब्रह्मचर्यके पालनमें अविचल भावसे लगी रहती है, यम और नियमोंके पालनका क्लेश सहन करती है और मन, वाणी एवं शरीरद्वारा किये जानेवाले शुभ कर्मों तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत, उपवास और नियमोंका अनुष्ठान करती है । वह क्षार (पापड़ आदि) और लवणका त्याग करके एक बार ही भोजन करती और भूमिपर शयन करती है । वह जिस किसी प्रकारसे अपने शरीरको सुखानेके प्रयत्नमें लगी रहती है । किंतु विषयोंके द्वारा नष्ट हुई बुद्धिवाली जो नारी देहको पुष्ट करनेमें ही लगी रहती है, वह तो इस (दुर्लभ मनुष्य-) शरीरको व्यर्थ ही नष्ट करके निःसंदेह महान् नरकको प्राप्त होती है । अतः साध्वी स्त्रीको उचित है कि वह अपने शरीरको सुखाये, जिससे सम्पूर्ण विषय-कामनाएँ नष्ट हो जायँ । इस प्रकार उपर्युक्त धर्मका पालन करनेवाली जो शुभलक्षणा नारी अपने पतिदेवका चिन्तन करती रहती है, वह अपने पतिका भी उद्धार कर देती है । इस तरह वह स्वयं अपनेको, अपने पतिको एवं पुत्रको भी संसारसे तार देती है । अतः हमलोग तो यही अच्छा मानते हैं कि तुम दोनों जीवन-धारण करो' ॥

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डोश्च निर्देशः तथा विप्रगणस्य च ।
आज्ञा शिरसि निक्षिप्ता करिष्यामि च तत् तथा ॥
यथाऽऽहुर्भगवन्तो हि तन्मन्ये शोभनं परम् ।
भर्तुश्च मम पुत्राणां मम चैव न संशयः ॥

कुन्ती बोली—महात्माओ ! हमारे लिये महाराज पाण्डुकी आज्ञा जैसे शिरोधार्य है, उसी प्रकार आप सब ब्राह्मणोंकी भी है । आपका आदेश मैं सिर-माथे रखती हूँ । आप जैसा कहेंगे, वैसा ही करूँगी । पूज्यपाद विप्रगण जैसा कहते हैं, उसीको मैं अपने पति, पुत्रों तथा अपने आपके लिये भी परम कल्याणकारी समझती हूँ—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥

माद्र्युवाच

कुन्ती समर्था पुत्राणां योगक्षेमस्य धारणे ।
अस्या हि न समा बुद्ध्या यद्यपि स्यादरुन्धती ॥
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च ।
नाहं त्वमिव पुत्राणां समर्था धारणे तथा ॥
साहं भर्तारमन्वेष्ये अतृप्ता नन्वहं तथा ।
भर्तृलोकस्य तु ज्येष्ठा देवी मामनुमन्यताम् ॥
धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य सत्यधर्मस्य धीमतः ।
पादौ परिचरिष्यामि तदार्ये ह्यनुमन्यताम् ॥

माद्रीने कहा—कुन्तीदेवी सभी पुत्रोंके योग-क्षेमके निर्वाहमें—पालन-पोषणमें समर्थ हैं । कोई भी स्त्री, चाहे वह अरुन्धती ही क्यों न हो, बुद्धिमें इनकी समानता नहीं कर सकती । वृष्णिवंशके लोग तथा महाराज कुन्तिभोज भी कुन्तीके रक्षक एवं सहायक हैं । बहिन ! पुत्रोंके पालन-पोषणकी शक्ति जैसी आपमें है, वैसी मुझमें नहीं है । अतः मैं पतिका ही अनुगमन करना चाहती हूँ । पतिके संयोग-सुखसे मेरी तृप्ति भी नहीं हुई है । अतः आप बड़ी महारानीसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे पतिलोकमें जानेकी आज्ञा दें । मैं वहीं धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और बुद्धिमान् पतिके चरणोंकी सेवा करूँगी । आर्ये ! आप मेरी इस इच्छाका अनुमोदन करें ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाराज मद्रराजसुता शुभा ।
ददौ कुन्त्यै यमौ माद्री शिरसाभिप्रणम्य च ॥
अभिवाद्य ऋषीन् सर्वान् परिष्वज्य च पाण्डवान् ।
मूर्ध्न्युपाघ्राय बहुशः पार्थानात्मसुतौ तथा ॥
हस्ते युधिष्ठिरं गृह्य माद्री वाक्यमभाषत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! यों कहकर मद्रदेशकी राजकुमारी सती-साध्वी माद्रीने कुन्तीको प्रणाम करके अपने दोनों जुड़वें पुत्र उन्हींको सौंप दिये । तत्पश्चात् उसने महर्षियोंको मस्तक नवाकर पाण्डवोंको हृदयसे लगा लिया और बारंबार कुन्तीके तथा अपने पुत्रोंके मस्तक सूँघकर युधिष्ठिरका हाथ पकड़कर कहा ॥

माद्रयुवाच

कुन्ती माता अहं धात्री युष्माकं तु पिता मृतः।
युधिष्ठिरः पिता ज्येष्ठश्चतुर्णां धर्मतः सदा॥
वृद्धानुशासने सक्ताः सत्यधर्मपरायणाः।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम्॥
तस्मात् सर्वे कुरुध्वं वै गुरुवृत्तिमतन्द्रिताः॥

माद्री बोली—बच्चों! कुन्तीदेवी ही तुम सबोंकी असली माता हैं, मैं तो केवल दूध पिलानेवाली धाय थी। तुम्हारे पिता तो मर गये। अब बड़े भैया युधिष्ठिर ही धर्मतः तुम चारों भाइयोंके पिता हैं। तुम सब बड़े-बूढ़ों—गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहना और सत्य एवं धर्मके पालनसे कभी मुँह न मोड़ना। ऐसा करनेवाले लोग कभी नष्ट नहीं होते और न कभी उनकी पराजय ही होती है। अतः तुम सब भाई आलस्य छोड़कर गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहना॥

वैशम्पायन उवाच

ऋषीणां च पृथायाश्च नमस्कृत्य पुनः पुनः।
आयासकृपणा माद्री प्रत्युवाच पृथां तथा॥
धन्या त्वमसि वार्ष्णेयि नास्ति स्त्री सदृशी त्वया।
वीर्यं तेजश्च योगं च माहात्म्यं च यशस्विनाम्॥
कुन्ति द्रक्ष्यसि पुत्राणां पञ्चानाममितौजसाम्।
ऋषीणां संनिधावेषां मया वागभ्युदीरिता॥
स्वर्गं दिदृक्षमाणायाः ममैषा न वृथा भवेत्।
आर्या चाप्यभिवाद्या च मम पूज्या च सर्वतः॥
ज्येष्ठा वरिष्ठा त्वं देवि भूषिता स्वगुणैः शुभैः।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि त्वया यादवनन्दिनि॥
धर्मं स्वर्गं च कीर्तिं च त्वत्कृतेऽहमवाप्नुयाम्।
यथा तथा विधत्स्वेह मा च कार्षीर्विचारणाम्॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! तत्पश्चात् माद्रीने ऋषियों तथा कुन्तीको बारंबार नमस्कार करके, क्लेशसे क्लान्त होकर कुन्तीदेवीसे दीनतापूर्वक कहा—'वृष्णिकुलनन्दिनि! आप धन्य हैं। आपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है; क्योंकि आपको इन अमिततेजस्वी तथा यशस्वी पाँचों पुत्रोंके बल, पराक्रम, तेज, योगबल तथा माहात्म्य देखनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। मैंने स्वर्गलोकमें जानेकी इच्छा रखकर इन महर्षियोंके समीप जो यह बात कही है, वह कदापि मिथ्या न हो। देवि! आप मेरी गुरु, वन्दनीया तथा पूजनीया हैं; अवस्थामें बड़ी तथा गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। समस्त नैसर्गिक सद्गुण आपकी शोभा बढ़ाते हैं। यादवनन्दिनि! अब मैं आपकी आज्ञा चाहती हूँ। आपके प्रयत्नद्वारा जैसे भी मुझे धर्म, स्वर्ग तथा कीर्तिकी प्राप्ति हो, वैसा सहयोग आप इस अवसरपर करें। मनमें किसी दूसरे विचारको स्थान न दें'॥

बाष्पसंदिग्धया वाचा कुन्त्युवाच यशस्विनी॥
अनुज्ञातासि कल्याणि त्रिदिवे संगमोऽस्तु ते।
भर्त्रा सह विशालाक्षि क्षिप्रमद्यैव भामिनि॥
संगता स्वर्गलोके त्वं रमेथाः शाश्वतीः समाः॥)
राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम्।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु॥ २९॥

तब यशस्विनी कुन्तीने बाष्पगद्गद वाणीमें कहा—'कल्याणि! मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी। विशाललोचने! तुम्हें आज ही स्वर्गलोकमें पतिका समागम प्राप्त हो। भामिनि! तुम स्वर्गमें पतिसे मिलकर अनन्त वर्षोंतक प्रसन्न रहो।'

माद्री बोली—'मेरे इस शरीरको महाराजके शरीरके साथ ही अच्छी प्रकार ढँककर दग्ध कर देना चाहिये। बड़ी बहिन! आप मेरा यह प्रिय कार्य कर दें॥ २९॥

दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम।
अतोऽन्यन्न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किंचन॥ ३०॥

'मेरे पुत्रोंका हित चाहती हुई सावधान रहकर उनका पालन-पोषण करें। इसके सिवा दूसरी कोई बात मुझे आपसे कहने योग्य नहीं जान पड़ती'॥ ३०॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम्।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी॥ ३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीसे यह कहकर पाण्डुकी यशस्विनी धर्मपत्नी माद्री चिताकी आगपर रक्खे हुए नरश्रेष्ठ पाण्डुके शवके साथ स्वयं भी चितापर जा बैठी॥ ३१॥

(ततः पुरोहितः स्नात्वा प्रेतकर्मणि पारगः।
हिरण्यशकलान्याज्यं तिलान् दधि च तण्डुलान्॥
उदकुम्भं सपरशुं समानीय तपस्विभिः।
अश्वमेधाग्निमाहृत्य यथान्यायं समन्ततः॥
काश्यपः कारयामास पाण्डोः प्रेतस्य तां क्रियाम्॥

तदनन्तर प्रेतकर्मके पारंगत विद्वान् पुरोहित काश्यपने स्नान करके सुवर्णखण्ड, घृत, तिल, दही, चावल, जलसे भरा घड़ा और फरसा आदि वस्तुओंको एकत्र करके तपस्वी मुनियोंद्वारा अश्वमेधकी अग्नि मँगवायी और उसे चारों ओरसे चितासे छुलाकर यथायोग्य शास्त्रीय विधिसे पाण्डुका दाह-संस्कार करवाया॥

अहताम्बरसंवीतो भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
उदकं कृतवांस्तत्र पुरोहितमते स्थितः॥
अर्हतस्तस्य कृत्यानि शतशृङ्गनिवासिनः।

तापसा विधिवच्चक्रुश्चारणा ऋषिभिः सह ॥)

भाइयोंसहित निष्पाप युधिष्ठिरने नूतन वस्त्र धारण करके पुरोहितकी आज्ञाके अनुसार जलाञ्जलि देनेका कार्य पूरा किया। शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियों और चारणोंने आदरणीय राजा पाण्डुके परलोक-सम्बन्धी सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न किये॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डूपरमे चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके परलोकगमनविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५०½ श्लोक मिलाकर, कुल ८१½ श्लोक हैं।)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ऋषियोंका कुन्ती और पाण्डवोंको लेकर हस्तिनापुर जाना और उन्हें भीष्म आदिके हाथों सौंपना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डोरुपरमं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयांचक्रिरे मिथः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा पाण्डुकी मृत्यु हुई देख वहाँ रहनेवाले, देवताओंके समान तेजस्वी सम्पूर्ण मन्त्रज्ञ महर्षियोंने आपसमें सलाह की॥ १॥

तापसा ऊचुः

हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः।
अस्मिन् स्थाने तपस्तप्त्वा तापसाञ्शरणं गतः॥ २ ॥

तपस्वी बोले—महान् यशस्वी महात्मा राजा पाण्डु अपना राज्य तथा राष्ट्र छोड़कर इस स्थानपर तपस्या करते हुए तपस्वी मुनियोंकी शरणमें रहते थे॥ २॥

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः॥ ३ ॥

वे राजा पाण्डु अपनी पत्नी और नवजात पुत्रोंको आपलोगोंके पास धरोहर रखकर यहाँसे स्वर्गलोक चले गये॥ ३॥

तस्येमानात्मजान् देहं भार्यां च सुमहात्मनः।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नः स्मृतः॥ ४ ॥

उनके इन पुत्रोंको, पाण्डु और माद्रीके शरीरोंकी अस्थियोंको तथा उन महात्मा नरेशकी महारानी कुन्तीको लेकर हमलोग उनकी राजधानीमें चलें। इस समय हमारे लिये यही धर्म प्रतीत होता है॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः।
पाण्डोः पुत्रान् पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम्॥ ५ ॥
उदारमनसः सिद्धा गमने चक्रिरे मनः।
भीष्माय पाण्डवान् दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार परस्पर सलाह करके उन देवतुल्य उदारचेता सिद्ध महर्षियोंने पाण्डवोंको भीष्म एवं धृतराष्ट्रके हाथों सौंप देनेके लिये पाण्डुपुत्रोंको आगे करके हस्तिनापुर नगरमें जानेका विचार किया॥ ५-६॥

तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरे ते च तापसाः॥ ७ ॥

उन सब तपस्वी मुनियोंने पाण्डुपत्नी कुन्ती, पाँचों पाण्डवों तथा पाण्डु और माद्रीके शरीरकी अस्थियोंको साथ लेकर उसी क्षण वहाँसे प्रस्थान कर दिया॥ ७॥

सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत॥ ८ ॥

पुत्रोंपर सदा स्नेह रखनेवाली कुन्ती पहले बहुत सुख भोग चुकी थी, परंतु अब विपत्तिमें पड़कर बहुत लंबे मार्गपर चल पड़ी; तो भी उसने स्वदेश जानेकी उत्कण्ठा अथवा महर्षियोंके योगजनित प्रभावसे उस मार्गको अल्प ही माना॥ ८॥

सा त्वदीर्घेण कालेन सम्प्राप्ता कुरुजाङ्गलम्।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद यशस्विनी॥ ९ ॥

यशस्विनी कुन्ती थोड़े ही समयमें कुरुजाङ्गल देशमें जा पहुँची और नगरके वर्धमान नामक द्वारपर गयी॥ ९॥

द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः॥ १० ॥

तब तपस्वी मुनियोंने द्वारपालसे कहा—'राजाको हमारे आनेकी सूचना दो!' द्वारपालने सभामें जाकर क्षणभरमें समाचार दे दिया॥ १०॥

तं चारणसहस्राणां मुनीनामागमं तदा।
श्रुत्वा नागपुरे नृणां विस्मयः समपद्यत॥ ११ ॥

सहस्रों चारणोंसहित मुनियोंका हस्तिनापुरमें आगमन सुनकर उस समय वहाँके लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ॥ ११॥

मुहूर्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः।
सदारास्तापसान् द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ॥ १२ ॥

दो घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते समस्त पुरवासी स्त्रियों और बालकोंको साथ लिये तपस्वी मुनियोंका दर्शन करनेके लिये नगरसे बाहर निकल आये ॥ १२ ॥

स्त्रीसङ्घाः क्षत्रसङ्घाश्च यानसङ्घसमास्थिताः।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानां च योषितः ॥ १३ ॥

झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ और क्षत्रियोंके समुदाय अनेक सवारियोंपर बैठकर बाहर निकले। ब्राह्मणोंके साथ उनकी स्त्रियाँ भी नगरसे बाहर निकलीं ॥ १३ ॥

तथा विट्शूद्रसङ्घानां महान् व्यतिकरोऽभवत्।
न कश्चिदकरोदीर्ष्यामभवन् धर्मबुद्धयः ॥ १४ ॥

शूद्रों और वैश्योंके समुदायका बहुत बड़ा मेला जुट गया। किसीके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं था। सबकी बुद्धि धर्ममें लगी हुई थी ॥ १४ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः।
प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार शन्तनुनन्दन भीष्म, सोमदत्त, बाह्लिक, प्रज्ञाचक्षु राजर्षि धृतराष्ट्र, संजय तथा स्वयं विदुरजी भी वहाँ आ गये ॥ १५ ॥

सा च सत्यवती देवी कौसल्या च यशस्विनी।
राजदारैः परिवृता गान्धारी चापि निर्ययौ ॥ १६ ॥

देवी सत्यवती, काशिराजकुमारी यशस्विनी कौसल्या तथा राजघरानेकी स्त्रियोंसे घिरी हुई गान्धारी भी अन्तःपुरसे निकलकर वहाँ आयीं ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधनपुरोगमाः।
भूषिता भूषणैश्चित्रैः शतसंख्या विनिर्ययुः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र विचित्र आभूषणोंसे विभूषित हो नगरसे बाहर निकले ॥ १७ ॥

तान् महर्षिगणान् दृष्ट्वा शिरोभिरभिवाद्य च।
उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ॥ १८ ॥

उन महर्षियोंका दर्शन करके सबने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर सभी कौरव पुरोहितके साथ उनके समीप बैठ गये ॥ १८ ॥

तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च।
उपोपविविशुः सर्वे पौरा जानपदा अपि ॥ १९ ॥

इसी प्रकार नगर तथा जनपदके सब लोग भी धरतीपर माथा टेककर सबको अभिवादन और प्रणाम करके आस-पास बैठ गये ॥ १९ ॥

तमकूजमभिज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा।
पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनार्घ्येण च प्रभो ॥ २० ॥
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत्।
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

राजन्! उस समय वहाँ आये हुए समस्त जनसमुदायको चुप-चाप बैठे देख भीष्मजीने पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा सब महर्षियोंकी यथोचित पूजा करके उन्हें अपने राज्य तथा राष्ट्रका कुशल-समाचार निवेदन किया। तब उन महर्षियोंमें जो सबसे अधिक वृद्ध थे, वे जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले मुनि अन्य सब ऋषियोंकी अनुमति लेकर इस प्रकार बोले—॥ २०-२१ ॥

यः स कौरव्य दायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः।
कामभोगान् परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥ २२ ॥
(स यथोक्तं तपस्तेपे तत्र मूलफलाशनः ॥
पत्नीभ्यां सह धर्मात्मा कंचित् कालमतन्द्रितः।
तेन वृत्तसमाचारैस्तपसा च तपस्विनः।
तोषितास्तापसास्तत्र शतशृङ्गनिवासिनः ॥)
ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना।
साक्षाद् धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

'कुरुनन्दन भीष्मजी! वे जो आपके पुत्र महाराज पाण्डु विषयभोगोंका परित्याग करके यहाँसे शतशृङ्ग पर्वतपर चले गये थे, उन धर्मात्माने वहाँ फल-मूल खाकर रहते हुए सावधान रहकर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कुछ कालतक शास्त्रोक्त विधिसे भारी तपस्या की। उन्होंने अपने उत्तम आचार-व्यवहार और तपस्यासे शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियोंको संतुष्ट कर लिया था। वहाँ नित्य ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए महाराज पाण्डुको किसी दिव्य हेतुसे साक्षात् धर्मराजद्वारा यह पुत्र प्राप्त हुआ है, जिसका नाम युधिष्ठिर है ॥ २२-२३ ॥

तथैनं बलिनां श्रेष्ठं तस्य राज्ञो महात्मनः।
मातरिश्वा ददौ पुत्रं भीमं नाम महाबलम् ॥ २४ ॥

'उसी प्रकार उन महात्मा राजाको साक्षात् वायु देवताने यह महाबली भीम नामक पुत्र प्रदान किया है, जो समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है ॥ २४ ॥

पुरुहूतादयं जज्ञे कुन्त्यामेव धनंजयः।
यस्य कीर्तिर्महेष्वासान् सर्वानभिभविष्यति ॥ २५ ॥

'यह तीसरा पुत्र धनंजय है, जो इन्द्रके अंशसे कुन्तीके ही गर्भसे उत्पन्न हुआ है। इसकी कीर्ति समस्त बड़े-बड़े धनुर्धरोंको तिरस्कृत कर देगी ॥ २५ ॥

यौ तु माद्री महेष्वासावसूत पुरुषोत्तमौ।
अश्विभ्यां पुरुषव्याघ्राविमौ तावपि पश्यत ॥ २६ ॥

'माद्रीदेवीने अश्विनीकुमारोंसे जिन दो पुरुषरत्नोंको उत्पन्न किया है, वे ये ही दोनों महाधनुर्धर नरश्रेष्ठ हैं। इन्हें भी आपलोग देखें ॥ २६ ॥

(नकुलः सहदेवश्च तावप्रमिततेजसौ।
पाण्डवौ नरशार्दूलाविमावप्यपराजितौ ॥)
चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना।
नष्टः पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥ २७ ॥

'इनके नाम हैं नकुल और सहदेव। ये दोनों भी अनन्त तेजसे सम्पन्न हैं। ये नरश्रेष्ठ पाण्डुकुमार भी किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हैं। नित्य धर्ममें तत्पर रहनेवाले यशस्वी राजा पाण्डुने वनमें निवास करते हुए अपने पितामहके उच्छिन्न वंशका पुनः उद्धार किया है ॥ २७ ॥

पुत्राणां जन्मवृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च।
पश्यन्तः सततं पाण्डोः परां प्रीतिमवाप्स्यथ ॥ २८ ॥

'पाण्डुपुत्रोंके जन्म, उनकी वृद्धि तथा वेदाध्ययन आदि देखकर आपलोग सदा अत्यन्त प्रसन्न होंगे ॥ २८ ॥

वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥ २९ ॥

'साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारका पालन करते हुए राजा पाण्डु उत्तम पुत्रोंकी उपलब्धि करके आजसे सत्रह दिन पहले पितृलोकवासी हो गये ॥ २९ ॥

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम्।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥ ३० ॥

'जब वे चितापर सुलाये गये और उन्हें अग्निके मुखमें होम दिया गया, उस समय देवी माद्री अपने जीवनका मोह छोड़कर उसी अग्निमें प्रविष्ट हो गयी ॥ ३० ॥

सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता।
तस्यास्तस्य च यत् कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥

'वह पतिव्रता देवी महाराज पाण्डुके साथ ही पति-लोकको चली गयी। अब आपलोग माद्री और पाण्डुके लिये जो कार्य आवश्यक समझें, वह करें ॥ ३१ ॥

(पृथां च शरणं प्राप्तां पाण्डवांश्च यशस्विनः।
यथावदनुगृह्णन्तु धर्मो ह्येष सनातनः ॥)
इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सह मात्रा परंतपाः ॥ ३२ ॥

'शरणमें आयी हुई कुन्ती तथा यशस्वी पाण्डवोंको आपलोग यथोचित रूपसे अपनाकर अनुगृहीत करें; क्योंकि यही सनातन धर्म है। ये पाण्डु और माद्री दोनोंके शरीरोंकी अस्थियाँ हैं और ये ही उनके श्रेष्ठ पुत्र हैं, जो शत्रुओंको संतप्त करनेकी शक्ति रखते हैं। आप माद्री और पाण्डुकी श्राद्ध-क्रिया करनेके साथ ही मातासहित इन पुत्रोंको भी अनुगृहीत करें ॥ ३२ ॥

प्रेतकार्ये निवृत्ते तु पितृमेधं महायशाः।
लभतां सर्वधर्मज्ञः पाण्डुः कुरुकुलोद्वहः ॥ ३३ ॥

'सपिण्डीकरणपर्यन्त प्रेतकार्य निवृत्त हो जानेपर कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष महायशस्वी एवं सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डुको पितृमेध (यज्ञ) का भी लाभ मिलना चाहिये' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् कुरूणामेव पश्यताम्।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! समस्त कौरवोंसे ऐसी बात कहकर उनके देखते-देखते वे सभी तपस्वी मुनि गुह्यकोंके साथ क्षणभरमें वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥

गन्धर्वनगराकारं तथैवान्तर्हितं पुनः।
ऋषिसिद्धगणं दृष्ट्वा विस्मयं ते परं ययुः ॥ ३५ ॥
(कौरवाः सहसोत्पत्य साधु साध्विति विस्मिताः ॥)

गन्धर्वनगरके समान उन महर्षियों और सिद्धोंके समुदायको इस प्रकार अन्तर्धान होते देख वे सभी कौरव सहसा उछलकर 'साधु-साधु' ऐसा कहते हुए बड़े विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ऋषिसंवादे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ऋषिसंवादविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं।)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डु और माद्रीकी अस्थियोंका दाह-संस्कार तथा भाई-बन्धुओंद्वारा उनके लिये जलाञ्जलिदान

धृतराष्ट्र उवाच

पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय।
राजवद् राजसिंहस्य माद्र्याश्चैव विशेषतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! राजाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुके तथा विशेषतः माद्रीके भी समस्त प्रेतकार्य राजोचित ढंगसे कराओ ॥

पशून् वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्र्याश्च येभ्यो यावच्च वाञ्छितम् ॥ २ ॥
यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र्यास्तथा कुरु।
यथा न वायुर्नादित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम् ॥ ३ ॥

पाण्डु और माद्रीके लिये नाना प्रकारके पशु, वस्त्र, रत्न

और धन दान करो । इस अवसरपर जिनको जितना चाहिये, उतना धन दो । कुन्तीदेवी माद्रीका जिस प्रकार सत्कार करना चाहें, वैसी व्यवस्था करो । माद्रीकी अस्थियोंको वस्त्रोंसे अच्छी प्रकार ढँक दो, जिससे उसे वायु तथा सूर्य भी न देख सकें ॥ २–३ ।

न शोच्यः पाण्डुरनघः प्रशस्यः स नराधिपः ।
यस्य पञ्च सुता वीरा जाताः सुरसुतोपमाः ॥ ४ ॥

निष्पाप राजा पाण्डु शोचनीय नहीं, प्रशंसनीय हैं, जिन्हें देवकुमारोंके समान पाँच वीर पुत्र प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत ।
पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमपूजिते ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विदुरने धृतराष्ट्रसे 'तथास्तु' कहकर भीष्मजीके साथ परम पवित्र स्थानमें पाण्डुका अन्तिम-संस्कार कराया ॥ ५ ॥

ततस्तु नगरात् तूर्णमाज्यगन्धपुरस्कृताः ।
निर्हृताः पावका दीप्ताः पाण्डो राजन् पुरोहितैः ॥ ६ ॥

राजन् ! तदनन्तर शीघ्र ही पाण्डुका दाह-संस्कार करनेके लिये पुरोहितगण घृत और सुगन्ध आदिके साथ प्रज्वलित अग्नि लिये नगरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

अथैनामार्तवैः पुष्पैर्गन्धैश्च विविधैर्वरैः ।
शिबिकां तामलंकृत्य वाससाऽऽच्छाद्य सर्वशः॥ ७ ॥

इसके बाद वसन्त ऋतुमें सुलभ नाना प्रकारके सुन्दर पुष्पों तथा श्रेष्ठ गन्धोंसे एक शिबिका (वैकुण्ठी) को सजाकर उसे सब ओरसे वस्त्रद्वारा ढँक दिया गया ॥ ७ ॥

तां तथा शोभितां माल्यैर्वासोभिश्च महाधनैः ।
अमात्या ज्ञातयश्चैनं सुहृदश्चोपतस्थिरे ॥ ८ ॥

इस प्रकार बहुमूल्य वस्त्रों और पुष्पमालाओंसे सुशोभित उस शिबिकाके समीप मन्त्री, भाई-बन्धु और सुहृद्-सम्बन्धी—सब लोग उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

नृसिंहं नरयुक्तेन परमालंकृतेन तम् ।
अवहन् यानमुख्येन सह माद्र्या सुसंयतम् ॥ ९ ॥

उसमें माद्रीके साथ पाण्डुकी अस्थियाँ भली-भाँति बाँधकर रक्खी गयी थीं । मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली और अच्छी तरह सजायी हुई उस शिबिकाके द्वारा वे सभी बन्धु-बान्धव माद्रीसहित नरश्रेष्ठ पाण्डुकी अस्थियोंको ढोने लगे ॥ ९ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण चामरव्यजनेन च ।
सर्ववादित्रनादैश्च समलंचक्रिरे ततः ॥ १० ॥

शिबिकाके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था । चँवर डुलाये जा रहे थे । सब प्रकारके बाजों-गाजोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी ॥ १० ॥

रत्नानि चाप्युपादाय बहूनि शतशो नराः ।
प्रददुः काङ्क्षमाणेभ्यः पाण्डोस्तस्यौर्ध्वदेहिके ॥ ११ ॥

सैकड़ों मनुष्योंने उन महाराज पाण्डुके दाह-संस्कारके दिन बहुत-से रत्न लेकर याचकोंको दिये ॥ ११ ॥

अथच्छत्राणि शुभ्राणि चामराणि बृहन्ति च ।
आजह्रुः कौरवस्यार्थे वासांसि रुचिराणि च ॥ १२ ॥

इसके बाद कुरुराज पाण्डुके लिये अनेक श्वेत छत्र, बहुतेरे बड़े-बड़े चँवर तथा कितने ही सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लोग वहाँ ले आये ॥ १२ ॥

याजकैः शुक्लवासोभिर्हूयमाना हुताशनाः ।
अगच्छन्नग्रतस्तस्य दीप्यमानाः स्वलंकृताः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव सहस्रशः ।
रुदन्तः शोकसंतप्ता अनुजग्मुर्नराधिपम् ॥ १४ ॥

पुरोहितलोग सफेद वस्त्र धारण करके अग्निहोत्रकी अग्निमें आहुति डालते जाते थे । वे अग्नियाँ माला आदिसे अलंकृत एवं प्रज्वलित हो पाण्डुकी पालकीके आगे-आगे चल रही थीं । सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शोकसे संतप्त हो रोते हुए महाराज पाण्डुकी शिबिकाके पीछे जा रहे थे ॥ १३-१४ ॥

अयमस्मानपाहाय दुःखे चाधाय शाश्वते ।
कृत्वा चास्माननाथांश्च क्व यास्यति नराधिपः ॥ १५ ॥

वे कहते जाते थे—'हाय ! ये महाराज हमलोगोंको छोड़कर, हमें सदाके लिये भारी दुःखमें डालकर और हम सबको अनाथ करके कहाँ जा रहे हैं' ॥ १५ ॥

क्रोशन्तः पाण्डवाः सर्वे भीष्मो विदुर एव च ।
रमणीये वनोद्देशे गङ्गातीरे समे शुभे ॥ १६ ॥
न्यासयामासुरथ तां शिबिकां सत्यवादिनः ।
सभार्यस्य नृसिंहस्य पाण्डोरक्लिष्टकर्मणः ॥ १७ ॥

समस्त पाण्डव, भीष्म तथा विदुरजी क्रन्दन करते हुए जा रहे थे । वनके रमणीय प्रदेशमें गङ्गाजीके शुभ एवं समतल तटपर उन लोगोंने, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले सत्यवादी नरश्रेष्ठ पाण्डु और उनकी पत्नी माद्रीकी उस शिबिकाको रक्खा ॥ १६-१७ ॥

ततस्तस्य शरीरं तु सर्वगन्धाधिवासितम् ।
शुचिकालीयकादिग्धं दिव्यचन्दनरूषितम् ॥ १८ ॥
पर्यषिञ्चञ्जलेनाशु शातकुम्भमयैर्घटैः ।
चन्दनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन् ॥ १९ ॥
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुङ्गरसेन च ।
अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन् ॥ २० ॥

तदनन्तर राजा पाण्डुकी अस्थियोंको सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित करके उनपर पवित्र काले अगरका लेप किया

गया। फिर उन्हें दिव्य चन्दनसे चर्चित करके सोनेके कलशों-द्वारा लाये हुए गङ्गाजलसे भाई-बन्धुओंने उसका अभिषेक किया। तत्पश्चात् उनपर सब ओरसे काले अगरसे मिश्रित तुङ्गरस नामक गन्ध-द्रव्यका एवं श्वेत चन्दनका लेप किया गया। इसके बाद उन्हें सफेद स्वदेशी वस्त्रोंसे ढक दिया गया ॥ १८-२० ॥

संछन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः।
शुशुभे स नरव्याघ्रो महार्हशयनोचितः ॥ २१ ॥

इस प्रकार बहुमूल्य शय्यापर शयन करने योग्य नरश्रेष्ठ राजा पाण्डुकी अस्थियाँ वस्त्रोंसे आच्छादित हो जीवित मनुष्यकी भाँति शोभा पाने लगीं ॥ २१ ॥

(हयमेधाग्निना सर्वे याजकाः सपुरोहिताः।
वेदोक्तेन विधानेन क्रियाश्चक्रुः समन्त्रकम् ॥)
याजकैरभ्यनुज्ञाते प्रेतकर्मण्यनुष्ठिते।
घृतावसिक्तं राजानं सह माद्र्या स्वलंकृतम् ॥ २२ ॥

समस्त याजकों और पुरोहितोंने अश्वमेधकी अग्निसे वेदोक्त विधिके अनुसार मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं। याजकोंकी आज्ञा लेकर प्रेतकर्म आरम्भ करते समय माद्री-सहित अलंकारयुक्त राजाका घृतसे अभिषेक किया गया ॥ २२ ॥

तुङ्गपद्मकमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना।
अन्यैश्च विविधैर्गन्धैर्विधिना समदाहयन् ॥ २३ ॥

फिर तुङ्ग और पद्मकमिश्रित सुगन्धित चन्दन तथा अन्य विविध प्रकारके गन्ध-द्रव्योंसे भाई-बन्धुओंने युधिष्ठिर-द्वारा विधिपूर्वक उन दोनोंका दाह-संस्कार कराया ॥ २३ ॥

ततस्तयोः शरीरे द्वे दृष्ट्वा मोहवशं गता।
हा हा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि ॥ २४ ॥

उस समय उन दोनोंकी अस्थियोंको देखकर माता कौसल्या (अम्बालिका) 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहती हुई सहसा मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

तां प्रेक्ष्य पतितामार्तां पौरजानपदो जनः।
रुरोद दुःखसंतप्तो राजभक्त्या कृपान्वितः ॥ २५ ॥

उसे इस प्रकार शोकातुर हो भूमिपर पड़ी देख नगर और जनपदके लोग राजभक्ति तथा दयासे द्रवित एवं दुःखसे संतप्त हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २५ ॥

कुन्त्याश्चैवार्तनादेन सर्वाणि च विचुक्रुशुः।
मानुषैः सह भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि ॥ २६ ॥

कुन्तीके आर्तनादसे मनुष्योंसहित समस्त पशु और पक्षी आदि प्राणी भी करुणक्रन्दन करने लगे ॥ २६ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवो विदुरश्च महामतिः।
सर्वशः कौरवाश्चैव प्राणदन् भृशदुःखिताः ॥ २७ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर तथा सम्पूर्ण कौरव भी अत्यन्त दुःखमें निमग्न हो रोने लगे ॥ २७ ॥

ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः ॥ २८ ॥

तदनन्तर भीष्म, विदुर, राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डवोंके सहित कुरु-कुलकी सभी स्त्रियोंने राजा पाण्डुके लिये जलाञ्जलि दी॥

चुक्रुशुः पाण्डवाः सर्वे भीष्मः शान्तनवस्तथा।
विदुरो ज्ञातयश्चैव चक्रुश्चाप्युदकक्रियाः ॥ २९ ॥

उस समय सभी पाण्डव पिताके लिये रो रहे थे। शन्तनु-नन्दन भीष्म, विदुर तथा अन्य भाई-बन्धुओंकी भी यही दशा थी। सबने जलाञ्जलि देनेकी क्रिया पूरी की ॥ २९ ॥

कृतोदकांस्तानादाय पाण्डवाञ्छोककर्शितान्।
सर्वाः प्रकृतयो राजन् शोचमाना न्यवारयन् ॥ ३० ॥

जलाञ्जलिदान करके शोकसे दुर्बल हुए पाण्डवोंको साथ ले मन्त्री आदि सब लोग स्वयं भी दुखी हो उन सबको समझा-बुझाकर शोक करनेसे रोकने लगे ॥ ३० ॥

यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः।
तथैव नागरा राजन् शिश्यिरे ब्राह्मणादयः ॥ ३१ ॥
तद्गतानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत् ।
बभूव पाण्डवैः सार्धं नगरं द्वादश क्षपाः ॥ ३२ ॥

राजन्! बारह रात्रियोंतक जिस प्रकार बन्धु-बान्धवोंसहित पाण्डव भूमिपर सोये, उसी प्रकार ब्राह्मण आदि नागरिक भी धरतीपर ही सोते रहे। उतने दिनोंतक हस्तिनापुर नगर पाण्डवोंके साथ आनन्द और हर्षोल्लाससे शून्य रहा। बूढ़ोंसे लेकर बच्चेतक सभी वहाँ दुःखमें डूबे रहे। सारा नगर ही अस्वस्थचित्त हो गया था ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदाहे षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके दाहसंस्कारसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर, कुल ३३ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंकी बालक्रीडा, दुर्योधनका भीमसेनको विष खिलाना तथा गङ्गामें ढकेलना और भीमका नागलोकमें पहुँचकर आठ कुण्डोंके दिव्य रसका पान करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुन्ती,

राजा धृतराष्ट्र तथा बन्धुओंसहित भीष्मजीने पाण्डुके लिये उस समय अमृतस्वरूप स्वधामय श्राद्ध-दान किया ॥ १ ॥

कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः।
रत्नौघान् विप्रमुख्येभ्यो दत्त्वा ग्रामवरांस्तथा ॥ २ ॥

उन्होंने समस्त कौरवों तथा सहस्रों मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें रत्नोंके ढेर तथा उत्तम-उत्तम गाँव दिये ॥ २ ॥

कृतशौचांस्ततस्तांस्तु पाण्डवान् भरतर्षभान्।
आदाय विविशुः सर्वे पुरं वारणसाह्वयम् ॥ ३ ॥

मरणाशौचसे निवृत्त होकर भरतवंशशिरोमणि पाण्डवोंने जब शुद्धिका स्नान कर लिया, तब उन्हें साथ लेकर सबने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

सततं स्मानुशोचन्तस्तमेव भरतर्षभम्।
पौरजानपदाः सर्वे मृतं स्वमिव बान्धवम् ॥ ४ ॥

नगर और जनपदके सभी लोग मानो कोई अपना ही भाई-बन्धु मर गया हो, इस प्रकार उन भरतकुलतिलक पाण्डुके लिये निरन्तर शोकमग्न हो गये ॥ ४ ॥

श्राद्धावसाने तु तदा दृष्ट्वा तं दुःखितं जनम्।
सम्मूढां दुःखशोकार्तां व्यासो मातरमब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्राद्धकी समाप्तिपर सब लोगोंको दुखी देखकर व्यासजीने दुःख-शोकसे आतुर एवं मोहमें पड़ी हुई माता सत्यवतीसे कहा—॥ ५ ॥

अतिक्रान्तसुखाः कालाः पर्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापिष्ठदिवसाः पृथिवी गतयौवना ॥ ६ ॥

'मा ! अब सुखके दिन बीत गये। बड़ा भयंकर समय उपस्थित होनेवाला है। उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं। पृथ्वीकी जवानी चली गयी ॥ ६ ॥

बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः।
लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति ॥ ७ ॥

'अब ऐसा भयंकर समय आयेगा, जिसमें सब ओर छल-कपट और मायाका बोलबाला होगा। संसारमें अनेक प्रकारके दोष प्रकट होंगे और धर्म-कर्म तथा सदाचारका लोप हो जायगा ॥ ७ ॥

कुरूणामनयाच्चापि पृथिवी न भविष्यति।
गच्छ त्वं योगमास्थाय युक्ता वस तपोवने ॥ ८ ॥

'दुर्योधन आदि कौरवोंके अन्यायसे सारी पृथ्वी वीरोंसे शून्य हो जायगी; अतः तुम योगका आश्रय लेकर यहाँसे चली जाओ और योगपरायण हो तपोवनमें निवास करो ॥ ८ ॥

मा द्राक्षीस्त्वं कुलस्यास्य घोरं संक्षयमात्मनः।
तथेति समनुज्ञाय सा प्रविश्याब्रवीत् स्नुषाम् ॥ ९ ॥

'तुम अपनी आँखोंसे इस कुलका भयंकर संहार न देखो।' तब व्यासजीसे 'तथास्तु' कहकर सत्यवती अंदर गयी और अपनी पुत्रवधूसे बोली—॥ ९ ॥

अम्बिके तव पौत्रस्य दुर्नयात् किल भारताः।
सानुबन्धा विनङ्क्ष्यन्ति पौराश्चैवेति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

'अम्बिके ! तुम्हारे पौत्रके अन्यायसे भरतवंशी वीर तथा इस नगरके लोग सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट हो जायँगे—ऐसी बात मैंने सुनी है ॥ १० ॥

तत् कौसल्यामिमामार्तां पुत्रशोकाभिपीडिताम्।
वनमादाय भद्रं ते गच्छामि यदि मन्यसे ॥ ११ ॥

'अतः तुम्हारी राय हो, तो पुत्रशोकसे पीड़ित इस दुःखिनी अम्बालिकाको साथ ले मैं वनमें चली जाऊँ। तुम्हारा कल्याण हो' ॥ ११ ॥

तथेत्युक्ता त्वम्बिकया भीष्ममामन्त्र्य सुव्रता।
वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १२ ॥

अम्बिका भी 'तथास्तु' कहकर साथ जानेको तैयार हो गयी। जनमेजय ! फिर उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सत्यवती भीष्मजीसे पूछकर अपनी दोनों पतोहुओंको साथ ले वनको चली गयी ॥ १२ ॥

ताः सुघोरं तपस्तप्त्वा देव्यो भरतसत्तम।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा ॥ १३ ॥

भरतवंशशिरोमणि महाराज जनमेजय ! तब वे देवियाँ वनमें अत्यन्त घोर तपस्या करके शरीर त्यागकर अभीष्ट गतिको प्राप्त हो गयीं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथाप्तवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा।
संव्यवर्धन्त भोगांस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय पाण्डवोंके वेदोक्त (समावर्तन आदि) संस्कार हुए। वे पिताके घरमें नाना प्रकारके भोग भोगते हुए पलने और पुष्ट होने लगे ॥ १४ ॥

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम्।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक खेलते हुए वे सदा प्रसन्न रहते थे। सब प्रकारकी बालक्रीड़ाओंमें अपने तेजसे वे बढ़-चढ़कर सिद्ध होते थे ॥ १५ ॥

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे।
धार्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् स परिमर्दति ॥ १६ ॥

दौड़नेमें, दूर रक्खी हुई किसी प्रत्यक्ष वस्तुको सबसे पहले पहुँचकर उठा लेनेमें, खान-पानमें तथा धूल उछालनेके

खेलमें भीमसेन धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका मानमर्दन कर डालते थे ॥ १६ ॥

हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन् निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवैः ॥ १७ ॥
शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद् वृकोदरः ॥ १८ ॥
कचेषु च निगृह्यैनान् विनिहत्य बलाद् बली ।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंऽसकान् ॥ १९ ॥

राजन् ! हर्षसे खेल-कूदमें लगे हुए उन कौरवोंको पकड़कर भीमसेन कहीं छिप जाते थे । कभी उनके सिर पकड़कर पाण्डवोंसे लड़ा देते थे । धृतराष्ट्रके एक सौ एक कुमार बड़े बलवान् थे; किंतु भीमसेन विना अधिक कष्ट उठाये अकेले ही उन सबको अपने वशमें कर लेते थे । बलवान् भीम उनके बाल पकड़कर बलपूर्वक उन्हें एक दूसरेसे टकरा देते और उनके चीखने-चिल्लानेपर भी उन्हें धरतीपर घसीटते रहते थे । उस समय उनके घुटने, मस्तक और कंधे छिल जाया करते थे ॥ १७–१९ ॥

दश बालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति ॥ २० ॥

वे जलमें क्रीड़ा करते समय अपनी दोनों भुजाओंसे धृतराष्ट्रके दस बालकोंको पकड़ लेते और देरतक पानीमें गोते लगाते रहते थे । जब वे अधमरे-से हो जाते, तब उन्हें छोड़ते थे ॥२०॥

फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते तदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ॥ २१ ॥

जब कौरव वृक्षपर चढ़कर फल तोड़ने लगते, तब भीमसेन पैरसे ठोकर मारकर उन पेड़ोंको हिला देते थे ॥ २१ ॥

प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ॥ २२ ॥

उनके वेगपूर्वक प्रहारसे आहत हो वे वृक्ष हिलने लगते और उनपर चढ़े हुए धृतराष्ट्रकुमार भयभीत हो फलोंसहित नीचे गिर पड़ते थे ॥ २२ ॥

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ॥ २३ ॥

कुश्तीमें, दौड़ लगानेमें तथा शिक्षाके अभ्यासमें धृतराष्ट्रकुमार सदा लाग-डाँट रखते हुए भी कभी भीमसेनकी बराबरी नहीं कर पाते थे ॥ २३ ॥

एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ॥ २४ ॥

इसी प्रकार भीमसेन भी धृतराष्ट्रपुत्रोंसे स्पर्धा रखते हुए उनके अत्यन्त अप्रिय कार्योंमें ही लगे रहते थे । परंतु उनके मनमें कौरवोंके प्रति द्वेष नहीं था, वे बालस्वभावके कारण ही वैसा करते थे ॥ २४ ॥

ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ॥ २५ ॥

तब धृतराष्ट्रका प्रतापी पुत्र दुर्योधन यह जानकर कि भीमसेनमें अत्यन्त विख्यात बल है, उनके प्रति दुष्टभाव प्रदर्शित करने लगा ॥ २५ ॥

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।
मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत ॥ २६ ॥

वह सदा धर्मसे दूर रहता और पापकर्मोंपर ही दृष्टि रखता था । मोह और ऐश्वर्यके लोभसे उसके मनमें पापपूर्ण विचार भर गये थे ॥ २६ ॥

अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ॥ २७ ॥

वह अपने भाइयोंके साथ विचार करने लगा कि 'यह मध्यम पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन भीम बलवानोंमें सबसे बढ़कर है । इसे धोखा देकर कैद कर लेना चाहिये ॥२७॥

प्राणवान् विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।
स्पर्धते चापि सहितानस्मानेको वृकोदरः ॥ २८ ॥

'यह बलवान् और पराक्रमी तो है ही, महान् शौर्यसे भी सम्पन्न है । भीमसेन अकेला ही हम सब लोगोंसे होड़ बद लेता है॥ २८ ॥

तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।
अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ॥ २९ ॥
प्रसह्य बन्धने बद्ध्वा प्रशासिष्ये वसुंधराम् ।
एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ॥ ३० ॥

'इसलिये नगरोद्यानमें जब वह सो जाय, तब उसे उठाकर हमलोग गङ्गाजीमें फेंक दें । इसके बाद उसके छोटे भाई अर्जुन और बड़े भाई युधिष्ठिरको बलपूर्वक कैदमें डालकर मैं अकेला ही सारी पृथ्वीका शासन करूँगा ।'

ऐसा निश्चय करके पापी दुर्योधन महात्मा भीमसेनका अनिष्ट करनेके लिये सदा मौका ढूँढ़ता रहता था ॥ २९-३० ॥

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥ ३१ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधनने गङ्गातटपर जल-विहारके लिये ऊनी और सूती कपड़ोंके विचित्र एवं विशाल गृह तैयार कराये ॥ ३१ ॥

सर्वकामैः सुपूर्णानि पताकोच्छ्रायवन्ति च ।
तत्र संजनयामास नानागाराण्यनेकशः ॥ ३२ ॥

वे गृह सब प्रकारकी अभीष्ट सामग्रियोंसे भरे-पूरे थे । उनके ऊपर ऊँची-ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं । उनमें उसने अलग-अलग अनेक प्रकारके बहुत-से कमरे बनवाये थे ॥

उदकक्रीडनं नाम कारयामास भारत।
प्रमाणकोट्यां तं देशं स्थलं किंचिदुपेत्य ह ॥ ३३ ॥

भारत ! गङ्गातटवर्ती प्रमाणकोटि तीर्थमें किसी स्थानपर जाकर दुर्योधनने यह सारा आयोजन करवाया था। उसने उस स्थानका नाम रक्खा था उदकक्रीडन ॥ ३३ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथापि च।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ॥ ३४ ॥

वहाँ रसोईके काममें कुशल कितने ही मनुष्योंने जुटकर खाने-पीनेके बहुत-से भक्ष्य[1], भोज्य[2], पेय[3], चोष्य[4] और लेह्य[5] पदार्थ तैयार किये ॥ ३४ ॥

न्यवेदयंस्तत् पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर राजपुरुषोंने दुर्योधनको सूचना दी कि 'सब तैयारी पूरी हो गयी है।' तब खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने पाण्डवोंसे कहा---॥ ३५ ॥

गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम्।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ॥ ३६ ॥

'आज हमलोग भाँति-भाँतिके उद्यान और वनोंसे सुशोभित गङ्गाजीके तटपर चलें। वहाँ हम सब भाई एक साथ जलविहार करेंगे' ॥ ३६ ॥

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
ते रथैर्नगराकारैर्देशजैश्च गजोत्तमैः ॥ ३७ ॥
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह।
उद्यानवनमासाद्य विसृज्य च महाजनम् ॥ ३८ ॥
विशन्ति स्म तदा वीराः सिंहा इव गिरेर्गुहाम्।
उद्यानमभिपश्यन्तो भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ३९ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिरने 'एवमस्तु' कहकर दुर्योधनकी बात मान ली। फिर वे सभी शूरवीर कौरव पाण्डवोंके साथ नगराकार रथों तथा स्वदेशमें उत्पन्न श्रेष्ठ हाथियोंपर सवार हो नगरसे निकले और उद्यान-वनके समीप पहुँचकर साथ आये हुए प्रजावर्गके बड़े-बड़े लोगोंको विदा करके जैसे सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करे, उसी प्रकार वे सब वीर भ्राता उद्यानकी शोभा देखते हुए उसमें प्रविष्ट हुए ॥ ३७--३९ ॥

उपस्थानगृहैः शुभ्रैर्वलभीभिश्च शोभितम्।
गवाक्षकैस्तथा जालैर्यन्त्रैः सांचारिकैरपि ॥ ४० ॥
सम्मार्जितं सौधकारैश्चित्रकारैश्च चित्रितम्।
दीर्घिकाभिश्च पूर्णाभिस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४१ ॥
जलं तच्छुशुभे छन्नं फुल्लैर्जलरुहैस्तथा।
उपच्छन्ना वसुमती तथा पुष्पैर्यथर्तुकैः ॥ ४२ ॥

वह उद्यान राजाओंकी गोष्ठी और बैठकके स्थानोंसे, श्वेत वर्णके छज्जोंसे, जालियों और झरोखोंसे तथा इधर-उधर ले जाने योग्य जलवर्षक यन्त्रोंसे सुशोभित हो रहा था। महल बनानेवाले शिल्पियोंने उस उद्यान एवं क्रीडाभवनको झाड़-पोंछकर साफ कर दिया था। चित्रकारोंने वहाँ चित्रकारी की थी। जलसे भरी बावलियों तथा तालाबों-द्वारा उसकी बड़ी शोभा हो रही थी। खिले हुए कमलोंसे आच्छादित वहाँका जल बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था। ऋतुके अनुकूल खिलकर झड़े हुए फूलोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी ढँक गयी थी ॥४०--४२॥

तत्रोपविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह।
उपपन्नान् बहून् कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ॥ ४३ ॥

वहाँ पहुँचकर समस्त कौरव और पाण्डव यथायोग्य स्थानोंपर बैठ गये और स्वतः प्राप्त हुए नाना प्रकारके भोगोंका उपभोग करने लगे ॥ ४३ ॥

अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥ ४४ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम्।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उस सुन्दर उद्यानमें क्रीडाके लिये आये हुए कौरव और पाण्डव एक-दूसरेके मुँहमें खानेकी वस्तुएँ डालने लगे। उस समय पापी दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके भोजनमें कालकूट नामक विष डलवा दिया ॥ ४४-४५ ॥

स्वयमुत्थाय चैवाथ हृदयेन क्षुरोपमः।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद् यथा ॥ ४६ ॥
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत्।
प्रतीच्छितं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ॥ ४७ ॥
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥ ४८ ॥

उस पापात्माका हृदय छूरेके समान तीखा था; परंतु बातें वह ऐसी करता था, मानो उनसे अमृत झर रहा हो। वह सगे भाई और हितैषी सुहृद्की भाँति स्वयं भीमसेनके लिये भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थ परोसने लगा। भीमसेन भोजनके दोषसे अपरिचित थे; अतः दुर्योधनने जितना परोसा, वह सब-का-सब खा गये। यह देख नीच दुर्योधन मन-ही-मन हँसता हुआ-सा अपने-आपको कृतार्थ मानने लगा॥

---

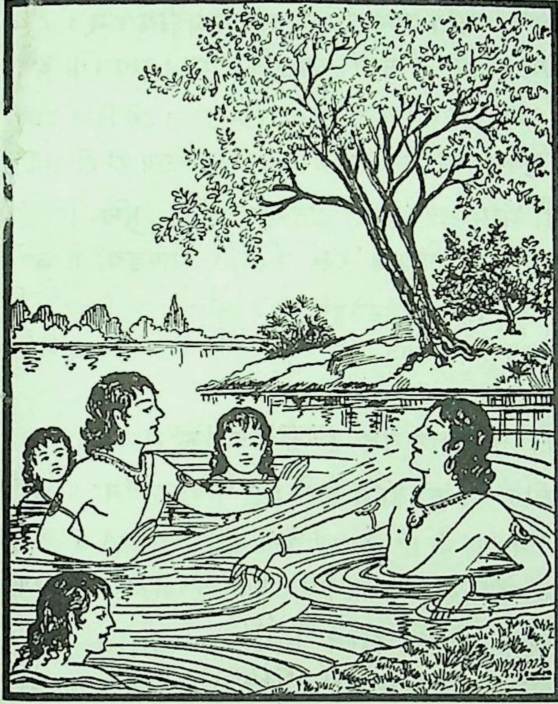
१. दाँतोंसे काट-काटकर खाये जानेवाले मालपूए आदिको भक्ष्य कहते हैं। २. दाँतका सहारा न लेकर केवल जिह्वाके व्यापारसे जिसे भोजन किया जाता है, जैसे हलुआ, खीर आदि। ३. पीनेयोग्य दुग्ध आदि। ४. चूसनेयोग्य वस्तु जिसका रसमात्र ग्रहण किया जाय और बाकी चीजको त्याग दिया जाय, वह चोष्य है, जैसे ईख-आम आदि। ५. लेह्य---चाटने योग्य चटनी आदि।



कुमार भीमसेनका साँपोंपर कोप

ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पा' वा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥ ४९ ॥

तत्र भोजनके पश्चात् पाण्डव तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी प्रसन्नचित्त हो एक साथ जल-क्रीडा करने लगे ॥ ४९ ॥



क्रीडावसाने ते सर्वे शुचिवस्त्राः स्वलंकृताः ।
दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ॥ ५० ॥
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ।
खिन्नस्तु बलवान् भीमो व्यायम्याभ्यधिकं तदा ॥ ५१ ॥

जलक्रीडा समाप्त होनेपर दिनके अन्तमें विहारसे थके हुए वे समस्त कुरुश्रेष्ठ वीर शुद्ध वस्त्र धारणकर सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित हो उन क्रीडाभवनोंमें ही रात बितानेका विचार करने लगे । बलवान् भीमसेन उस समय अधिक परिश्रम करनेके कारण बहुत थक गये थे ॥ ५०-५१ ॥

वाहयित्वा कुमारांस्ताञ्जलक्रीडागतांस्तदा ।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापावाप्य तत् स्थलम् ॥ ५२ ॥

वे जलक्रीड़ाके लिये आये हुए उन कुमारोंको साथ लेकर विश्राम करनेकी इच्छासे प्रमाणकोटिके उस गृहमें आये और वहीं एक स्थानमें सो गये ॥ ५२ ॥

शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः ।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥ ५३ ॥

पाण्डुनन्दन भीम थके तो थे ही, विषके मदसे भी अचेत हो रहे थे । उनके अङ्ग-अङ्गमें विषका प्रभाव फैल गया था। अतः वहाँ ठंडी हवा पाकर ऐसे सोये कि जडके समान निश्चेष्ट प्रतीत होने लगे ॥ ५३ ॥

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम् ।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत् ॥ ५४ ॥

तब दुर्योधनने स्वयं लताओंके पाशमें वीरवर भीमको कसकर बाँधा । वे मुर्देके समान हो रहे थे । फिर उसने गङ्गाजीके ऊँचे तटसे उन्हें जलमें ढकेल दिया ॥ ५४ ॥

स निःसङ्गो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
आक्रामन्नागभवने तदा नागकुमारकान् ॥ ५५ ॥
ततः समेत्य बहुभिस्तदा नागैर्महाविषैः ।
अदश्यत भृशं भीमो महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ॥ ५६ ॥

भीमसेन बेहोशीकी ही दशामें जलके भीतर डूबकर नागलोकमें जा पहुँचे। उस समय कितने ही नागकुमार उनके शरीरसे दब गये । तब बहुत-से महाविषधर नागोंने मिलकर अपनी भयंकर विषवाली बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे भीमसेनको खूब डँसा ॥ ५५-५६ ॥

ततोऽस्य दश्यमानस्य तद् विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जङ्गमेन तु ॥ ५७ ॥

उनके द्वारा डँसे जानेसे कालकूट विषका प्रभाव नष्ट हो गया । सर्पोंके जङ्गम विषने खाये हुए स्थावर विषको हर लिया ॥ ५७ ॥

दंष्ट्राश्च दंष्ट्रिणां तेषां मर्मस्वपि निपातिताः ।
त्वचं नैवास्य विभिदुः सारत्वात् पृथुवक्षसः ॥ ५८ ॥

चौड़ी छातीवाले भीमसेनकी त्वचा लोहेके समान कठोर थी; अतः यद्यपि उनके मर्मस्थानोंमें सर्पोंने दाँत गड़ाये थे, तो भी वे उनकी त्वचाको भेद न सके ॥ ५८ ॥

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
पोथयामास तान् सर्वान् केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन भीम जाग उठे । उन्होंने अपने सारे बन्धनोंको तोड़कर उन सभी सर्पोंको पकड़-पकड़कर धरतीपर दे मारा । कितने ही सर्प भयके मारे भाग खड़े हुए ॥

हतावशेषा भीमेन सर्वे वासुकिमभ्ययुः ।
ऊचुश्च सर्पराजानं वासुकिं वासवोपमम् ॥ ६० ॥

भीमके हाथों मरनेसे बचे हुए सभी सर्प इन्द्रके समान तेजस्वी नागराज वासुकिके समीप गये और इस प्रकार बोले—॥

अयं नरो वै नागेन्द्र ह्यप्सु बद्ध्वा प्रवेशितः ।
यथा च नो मतिर्वीर विषपीतो भविष्यति ॥ ६१ ॥

'नागेन्द्र ! एक मनुष्य है, जिसे बाँधकर जलमें डाल दिया गया है ! वीरवर ! जैसा कि हमारा विश्वास है, उसने विष पी लिया होगा ॥ ६१ ॥

निश्चेष्टोऽस्मानुप्राप्तः स च दष्टोऽन्वबुध्यत ।
ससंज्ञश्चापि संवृत्तश्छित्त्वा बन्धनमाशु नः ॥ ६२ ॥

पोथयन्तं महाबाहुं त्वं वै तं ज्ञातुमर्हसि।

'वह हमलोगोंके पास बेहोशीकी हालतमें आया था, किंतु हमारे डँसनेपर जाग उठा और होशमें आ गया। होशमें आनेपर तो वह महाबाहु अपने सारे बन्धनोंको शीघ्र तोड़कर हमें पछाड़ने लगा है। आप चलकर उसे पहचानें' ॥ ६२½ ॥

ततो वासुकिरभ्येत्य नागैरनुगतस्तदा ॥ ६३ ॥
पश्यति स्म महाबाहुं भीमं भीमपराक्रमम्।
आर्यकेण च दृष्टः स पृथाया आर्यकेण च ॥ ६४ ॥
तदा दौहित्रदौहित्रः परिष्वक्तः सुपीडितम्।
सुप्रीतश्चाभवत् तस्य वासुकिः स महायशाः ॥ ६५ ॥
अब्रवीत् तं च नागेन्द्रः किमस्य क्रियतां प्रियम्।
धनौघो रत्ननिचयो वसु चास्य प्रदीयताम् ॥ ६६ ॥

तब वासुकिने उन नागोंके साथ आकर भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमसेनको देखा। उसी समय नागराज आर्यकने भी उन्हें देखा, जो पृथाके पिता शूरसेनके नाना थे। उन्होंने अपने दौहित्रके दौहित्रको कसकर छातीसे लगा लिया। महायशस्वी नागराज वासुकि भी भीमसेनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'इनका कौन-सा प्रिय कार्य किया जाय? इन्हें धन, सोना और रत्नोंकी राशि भेंट की जाय' ॥ ६३—६६ ॥

एवमुक्तस्तदा नागो वासुकिं प्रत्यभाषत।
यदि नागेन्द्र तुष्टोऽसि किमस्य धनसंचयैः ॥ ६७ ॥

उनके यों कहनेपर आर्यक नागने वासुकिसे कहा—'नागराज! यदि आप प्रसन्न हैं तो यह धनराशि लेकर क्या करेगा॥

रसं पिबेत् कुमारोऽयं त्वयि प्रीते महाबलः।
बलं नागसहस्रस्य यस्मिन् कुण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥

'आपके संतुष्ट होनेपर तो इस महाबली राजकुमारको आपकी आज्ञासे उस कुण्डका रस पीना चाहिये, जिससे एक हजार हाथियोंका बल प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

यावत् पिबति बालोऽयं तावदस्मै प्रदीयताम्।
एवमस्त्विति तं नागं वासुकिः प्रत्यभाषत ॥ ६९ ॥

'यह बालक जितना रस पी सके, उतना इसे दिया जाय।' यह सुनकर वासुकिने आर्यक नागसे कहा 'ऐसा ही हो' ॥ ६९ ॥

ततो भीमस्तदा नागैः कृतस्वस्त्ययनः शुचिः।
प्राङ्मुखश्चोपविष्टश्च रसं पिबति पाण्डवः ॥ ७० ॥

तब नागोंने भीमसेनके लिये स्वस्तिवाचन किया। फिर वे पाण्डुकुमार पवित्र हो पूर्वाभिमुख बैठकर कुण्डका रस पीने लगे ॥ ७० ॥

एकोच्छ्वासात् ततः कुण्डं पिबति स्म महाबलः।
एवमष्टौ स कुण्डानि ह्यपिबत् पाण्डुनन्दनः ॥ ७१ ॥

वे एक ही साँसमें एक कुण्डका रस पी जाते थे। इस प्रकार उन महाबली पाण्डुनन्दनने आठ कुण्डोंका रस पी लिया॥

ततस्तु शयने दिव्ये नागदत्ते महाभुजः।
अशेत भीमसेनस्तु यथासुखमरिंदमः ॥ ७२ ॥

इसके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेन नागोंकी दी हुई दिव्य शय्यापर सुखपूर्वक सो गये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमसेनरसपाने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके रसपानसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके न आनेसे कुन्ती आदिकी चिन्ता, नागलोकसे भीमसेनका आगमन तथा उनके प्रति दुर्योधनकी कुचेष्टा

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पाण्डवाः।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर समस्त कौरव और पाण्डव क्रीड़ा और विहार समाप्त करके भीमसेनके बिना ही हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः ॥ २ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन् वृकोदरम्।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥

रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य अनेक प्रकारकी सवारियों-द्वारा वहाँसे चलकर वे आपसमें यह कह रहे थे कि भीमसेन तो हमलोगोंसे आगे ही चले गये हैं। पापी दुर्योधनने भीमसेनको वहाँ न देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो भाइयोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन् पापमात्मनि।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति ॥ ४ ॥

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे, उनके पवित्र हृदयमें दुर्योधनके पापपूर्ण विचारका भानतक न हुआ। वे अपने ही अनुमानसे दूसरेको भी साधु ही देखते और समझते थे ॥

सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः।
अभिवाद्याब्रवीत् कुन्तीमम्ब भीम इहागतः ॥ ५ ॥

भाईपर स्नेह रखनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उस समय माताके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके बोले—'माँ ! भीमसेन यहाँ आया है क्या ? ॥ ५ ॥

क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे ।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः ॥ ६ ॥
तदर्थं न च तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम् ।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव सः ॥ ७ ॥

'मातः ! वह कहाँ गया होगा ? शुभे ! यहाँ भी तो मैं उसे नहीं देख रहा हूँ । वहाँ हमलोगोंने भीमसेनके लिये उद्यान और वनका कोना-कोना खोज डाला । फिर भी जब वीरवर भीमको हम देख न सके, तब सबने यही समझ लिया कि वह हमलोगोंसे पहले ही चला गया होगा ॥६-७॥

आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनान्तरात्मना ।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु ॥ ८ ॥

'महाभागे ! हम उसके लिये अत्यन्त व्याकुल हृदयसे यहाँ आये हैं । यहाँ आकर वह कहीं चला गया ? अथवा तुमने उसे कहीं भेजा है ? ॥ ८ ॥

कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि ।
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति शोभने ॥ ९ ॥

'यशस्विनि ! महाबाहु भीमसेनका पता बताओ । शोभने ! वीर भीमसेनके विषयमें मेरा हृदय शङ्कित हो गया है ॥ ९ ॥

यतः प्रसुप्तं मन्येऽहं भीमं नेति हतस्तु सः ।
इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता ॥ १० ॥
हा हेति कृत्वा सम्भ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ।
न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति ॥ ११ ॥

'जहाँ मैं भीमसेनको सोया हुआ समझता था, वहीं किसीने उसे मार तो नहीं डाला ?'

बुद्धिमान् धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती 'हाय-हाय' करके घबरा उठी और युधिष्ठिरसे बोली—'बेटा ! मैंने भीमको नहीं देखा है । वह मेरे पास आया ही नहीं ॥ १०-११ ॥

शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह ।
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता ॥ १२ ॥
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत् ।
क्व गतो भगवन् क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ॥ १३ ॥

'तुम अपने छोटे भाइयोंके साथ शीघ्र उसे ढूँढ़नेका प्रयत्न करो ।' कुन्तीका हृदय पुत्रकी चिन्तासे व्यथित हो रहा था, उसने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरसे उपर्युक्त बात कहकर विदुरजीको बुलवाया और इस प्रकार कहा—'भगवन् ! भीमसेन नहीं दिखायी देता, वह कहाँ चला गया ? ॥ १२-१३ ॥

उद्यानान्निर्गताः सर्वे भ्रातरो भ्रातृभिः सह ।
तत्रैकस्तु महाबाहुर्भीमो नाभ्येति मामिह ॥ १४ ॥

'उद्यानसे सब लोग अपने भाइयोंके साथ चलकर यहाँ आ गये । किंतु अकेला महाबाहु भीम अबतक मेरे पास लौटकर नहीं आया ! ॥ १४ ॥

न च प्रीणयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ॥ १५ ॥

'वह सदा दुर्योधनकी आँखोंमें खटकता रहता है । दुर्योधन क्रूर, दुर्बुद्धि, क्षुद्र, राज्यका लोभी तथा निर्लज्ज है ॥

निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥ १६ ॥

'अतः सम्भव है, वह क्रोधमें वीर भीमसेनको धोखा देकर मार भी डाले । इसी चिन्तासे मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है, हृदय दग्ध-सा हो रहा है' ॥ १६ ॥

विदुर उवाच

मैवं वदस्व कल्याणि शेषसंरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत् तव ॥ १७ ॥

विदुरजीने कहा—कल्याणी ! ऐसी बात मुँहसे न निकालो, शेष पुत्रोंकी रक्षा करो । यदि दुर्योधनको उलाहना देकर इस विषयमें पूछ-ताछ की जायगी तो वह दुष्टात्मा तुम्हारे शेष पुत्रों-पर भी प्रहार कर सकता है ॥ १७ ॥

दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः ।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ॥ १८ ॥

महामुनि व्यासने पहले जैसा कहा है, उसके अनुसार तुम्हारे ये सभी पुत्र दीर्घजीवी हैं, अतः तुम्हारा पुत्र भीमसेन कहीं भी क्यों न गया हो, अवश्य लौटेगा और तुम्हें आनन्द प्रदान करेगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विद्वान् विदुर यों कहकर अपने घरमें चले गये । इधर कुन्ती चिन्तामग्न होकर अपने चारों पुत्रोंके साथ चुपचाप घरमें बैठ रही ॥ १९ ॥

ततोऽष्टमे तु दिवसे प्रत्यबुध्यत पाण्डवः ।
तस्मिंस्तदा रसे जीर्णे सोऽप्रमेयबलो बली ॥ २० ॥

उधर, नागलोकमें सोये हुए बलवान् भीमसेन आठवें दिन, जब वह रस पच गया, जगे । उस समय उनके बलकी कोई सीमा नहीं रही ॥ २० ॥

दृष्ट्वा प्रतिबुध्यन्तं पाण्डवं ते भुजङ्गमाः ।
सान्त्वयामासुरव्यग्रा वचनं चेदमब्रुवन् ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन भीमको जगा हुआ देख सब नागोंने शान्त-चित्तसे उन्हें आश्वासन दिया और यह बात कही—॥ २१ ॥

यत् ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसम्भृतः।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

'महाबाहो! तुमने जो यह शक्तिपूर्ण रस पीया है, इसके कारण तुम्हारा बल दस हजार हाथियोंके समान होगा और तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे ॥ २२ ॥

गच्छाद्य त्वं च स्वगृहं स्नातो दिव्यैरिमैर्जलैः।
भ्रातरस्तेऽनुतप्यन्ति त्वां विना कुरुपुङ्गव ॥ २३ ॥

'आज तुम इस दिव्य जलसे स्नान करो और अपने घर लौट जाओ। कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारे बिना तुम्हारे सब भाई निरन्तर दुःख और चिन्तामें डूबे रहते हैं' ॥ २३ ॥

ततः स्नातो महाबाहुः शुचिः शुक्लाम्बरस्रजः।
ततो नागस्य भवने कृतकौतुकमङ्गलः ॥ २४ ॥
ओषधीभिर्विषघ्नीभिः सुरभीभिर्विशेषतः।
भुक्तवान् परमान्नं च नागैर्दत्तं महाबलः ॥ २५ ॥

तब महाबाहु भीमसेन स्नान करके शुद्ध हो गये। उन्होंने श्वेत वस्त्र और श्वेत पुष्पोंकी माला धारण की। तत्पश्चात् नागराजके भवनमें उनके लिये कौतुक एवं मङ्गलाचार सम्पन्न किये गये। फिर उन महाबली भीमने विष-नाशक सुगन्धित ओषधियोंके साथ नागोंकी दी हुई खीर खायी ॥ २४-२५ ॥

पूजितो भुजगैर्वीर आशीर्भिश्चाभिनन्दितः।
दिव्याभरणसंछन्नो नागानामन्त्र्य पाण्डवः ॥ २६ ॥
उदतिष्ठत् प्रहृष्टात्मा नागलोकादरिंदमः।
उत्क्षिप्तः स तु नागेन जलाज्जलरुहेक्षणः ॥ २७ ॥
तस्मिन्नेव वनोद्देशे स्थापितः कुरुनन्दनः।
ते चान्तर्दधिरे नागाः पाण्डवस्यैव पश्यतः ॥ २८ ॥

इसके बाद नागोंने वीर भीमसेनका आदर-सत्कार करके उन्हें शुभाशीर्वादोंसे प्रसन्न किया। दिव्य आभूषणोंसे विभूषित शत्रुदमन भीमसेन नागोंकी आज्ञा ले प्रसन्नचित्त हो नागलोकसे जानेको उद्यत हुए। तब किसी नागने कमलनयन कुरुनन्दन भीमको जलसे ऊपर उठाकर उसी वनमें (गङ्गा-तटवर्ती प्रमाणकोटिमें) रख दिया। फिर वे नाग पाण्डुपुत्र भीमके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ॥ २६–२८ ॥

तत उत्थाय कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।
आजगाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमञ्जसा ॥ २९ ॥

तब महाबली कुन्तीकुमार महाबाहु भीमसेन वहाँसे उठकर शीघ्र ही अपनी माताके समीप आ गये ॥ २९ ॥

ततोऽभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च।
कनीयसः समाघ्राय शिरःस्वरिविमर्दनः ॥ ३० ॥

तदनन्तर शत्रुमर्दन भीमने माता और बड़े भाईको प्रणाम करके स्नेहपूर्वक छोटे भाइयोंका सिर सूँघा ॥ ३० ॥

तैश्चापि सम्परिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः।
अन्योन्यगतसौहार्दाद् दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रुवन् ॥ ३१ ॥

माता तथा उन नरश्रेष्ठ भाइयोंने भी उन्हें हृदयसे लगाया और एक दूसरेके प्रति स्नेहाधिक्यके कारण सबने भीमके आगमनसे अपने सौभाग्यकी सराहना की—'अहोभाग्य! अहोभाग्य!' कहा ॥ ३१ ॥

ततस्तत् सर्वमाचष्ट दुर्योधनविचेष्टितम्।
भ्रातॄणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीमसेनने दुर्योधनकी वे सारी कुचेष्टाएँ अपने भाइयोंको बतायीं ॥ ३२ ॥

नागलोके च यद् वृत्तं गुणदोषमशेषतः।
तच्च सर्वमशेषेण कथयामास पाण्डवः ॥ ३३ ॥

और नागलोकमें जो गुण-दोषपूर्ण घटनाएँ घटी थीं, उन सबको भी पाण्डुनन्दन भीमने पूर्णरूपसे कह सुनाया ॥ ३३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत्।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ॥ ३४ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसे मतलबकी बात कही—'भैया भीम! तुम सर्वथा चुप हो जाओ। तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया गया है, वह कहीं किसी प्रकार भी न कहना' ॥ ३४ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत् तदा ॥ ३५ ॥

यों कहकर महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ उस समयसे खूब सावधान रहने लगे ॥ ३५ ॥

सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान्।
धर्मात्मा विदुरस्तेषां पार्थानां प्रददौ मतिम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको हाथसे गला घोंटकर मार डाला। उस समय भी धर्मात्मा विदुरने उन कुन्तीपुत्रोंको यही सलाह दी कि वे चुपचाप सब कुछ सहन कर लें ॥ ३६ ॥

भोजने भीमसेनस्य पुनः प्राक्षेपयद् विषम्।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भृतं लोमहर्षणम् ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रकुमारने भीमसेनके भोजनमें पुनः नया, तीखा और सत्त्वके रूपमें परिणत रोंगटे खड़े कर देनेवाला कालकूट नामक विष डलवा दिया ॥ ३७ ॥

वैश्यापुत्रस्तदाचष्ट पार्थानां हितकाम्यया।
तच्चापि भुक्त्वाजरयदविकारं वृकोदरः ॥ ३८ ॥

वैश्यापुत्र युयुत्सुने कुन्तीपुत्रोंके हितकी कामनासे यह बात उन्हें बता दी। परंतु भीमने उस विषको भी खाकर बिना किसी विकारके पचा लिया ॥ ३८ ॥

विकारं न ह्यजनयत् सुतीक्ष्णमपि तद् विषम्।
भीमसंहनने भीमे अजीर्यत वृकोदरे ॥ ३९ ॥

यद्यपि वह विष बड़ा तेज था, तो भी उनके लिये कोई विगाड़ न कर सका । भयंकर शरीरवाले भीमसेनके उदरमें वृक नामकी अग्नि थी; अतः वहाँ जाकर वह विष पच गया ॥ ३९ ॥

एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ताञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ४० ॥

इस प्रकार दुर्योधन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि अनेक उपायोंद्वारा पाण्डवोंको मार डालना चाहते थे ॥ ४० ॥

पाण्डवाश्चापि तत् सर्वं प्रत्यजानन्नमर्षिताः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ ४१ ॥

पाण्डव भी यह सब जान लेते और क्रोधमें भर जाते थे, तो भी विदुरकी रायके अनुसार चलनेके कारण अपने अमर्षको प्रकट नहीं करते थे ॥ ४१ ॥

कुमारान् क्रीडमानांस्तान् दृष्ट्वा राजातिदुर्मदान् ।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तान् न्यवेदयत् ॥ ४२ ॥
शरस्तम्बे समुद्भूतं वेदशास्त्रार्थपारगम् ।
अधिजग्मुश्च कुरवो धनुर्वेदं कृपात् तु ते ॥ ४३ ॥

राजा धृतराष्ट्रने उन कुमारोंको खेल-कूदमें लगे रहनेसे अत्यन्त उद्दण्ड होते देख उन्हें शिक्षा देनेके लिये गौतम-गोत्रीय कृपाचार्यकी खोज करायी, जो सरकंडेके समूहसे उत्पन्न हुए और विविध शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे । उन्हींको गुरु बनाकर कुरुकुलके उन सभी कुमारोंको उन्हें सौंप दिया गया; फिर वे कुरुवंशी बालक कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन करने लगे ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमप्रत्यागमने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२८

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कृपाचार्य, द्रोण और अश्वत्थामाकी उत्पत्ति तथा द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्र-शस्त्रकी प्राप्तिकी कथा

जनमेजय उवाच

कृपस्यापि मम ब्रह्मन् सम्भवं वक्तुमर्हसि ।
शरस्तम्बात् कथं जज्ञे कथं वास्त्राण्यवाप्तवान् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! कृपाचार्यका जन्म किस प्रकार हुआ ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें । वे सरकंडेके समूहसे किस तरह उत्पन्न हुए एवं उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान् नाम गौतमः ।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो ॥ २ ॥
न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत ।
यथास्य बुद्धिरभवद् धनुर्वेदे परंतप ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! महर्षि गौतमके शरद्वान् गौतम * नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र थे । प्रभो ! कहते हैं, वे सरकंडोंके साथ उत्पन्न हुए थे । परंतप ! उनकी बुद्धि धनुर्वेदमें जितनी लगती थी, उतनी वेदोंके अध्ययनमें नहीं ॥ २-३ ॥

अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मचारिणः ।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह ॥ ४ ॥

जैसे अन्य ब्रह्मचारी तपस्यापूर्वक वेदोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने तपस्यायुक्त होकर सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये ॥ ४ ॥

धनुर्वेदपरत्वाच्च तपसा विपुलेन च ।
भृशं संतापयामास देवराजं स गौतमः ॥ ५ ॥

वे धनुर्वेदमें पारंगत तो थे ही, उनकी तपस्या भी बड़ी भारी थी; इससे गौतमने देवराज इन्द्रको अत्यन्त चिन्तामें डाल दिया था ॥ ५ ॥

ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः ।
प्राहिणोत् तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव ॥ ६ ॥

कौरव ! तब देवराजने जानपदी नामकी एक देवकन्या-को उनके पास भेजा और यह आदेश दिया कि 'तुम शरद्वान्-की तपस्यामें विघ्न डालो' ॥ ६ ॥

सा हि गत्वाऽऽश्रमं तस्य रमणीयं शरद्वतः ।
धनुर्बाणधरं बाला लोभयामास गौतमम् ॥ ७ ॥

वह जानपदी शरद्वान्के रमणीय आश्रमपर जाकर धनुष-बाण धारण करनेवाले गौतमको लुभाने लगी ॥ ७ ॥

तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने ।
लोकेऽप्रतिमसंस्थानां प्रोत्फुल्लनयनोऽभवत् ॥ ८ ॥

गौतमने एक वस्त्र धारण करनेवाली उस अप्सराको वनमें देखा । संसारमें उसके सुन्दर शरीरकी कहीं तुलना नहीं थी । उसे देखकर शरद्वान्के नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे ॥ ८ ॥

धनुश्च हि शरास्तस्य कराभ्यामपतन् भुवि ।
वेपथुश्चापि तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत ॥ ९ ॥

उनके हाथोंसे धनुष और बाण छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े तथा उसकी ओर देखनेसे उनके शरीरमें कम्प हो आया ॥ ९ ॥

* गौतमगोत्रीय होनेके कारण शरद्वान्को भी गौतम कहा जाता था।

स तु ज्ञानगरीयस्त्वात् तपसश्च समर्थनात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्येण परमेण ह ॥ १० ॥

शरद्वान् ज्ञानमें बहुत बढ़े-चढ़े थे और उनमें तपस्याकी भी प्रबल शक्ति थी। अतः वे महाप्राज्ञ मुनि अत्यन्त धीरतापूर्वक अपनी मर्यादामें स्थित रहे ॥ १० ॥

यस्तस्य सहसा राजन् विकारः समदृश्यत ।
तेन सुस्राव रेतोऽस्य स च तन्नान्वबुध्यत ॥ ११ ॥

राजन्! किंतु उनके मनमें सहसा जो विकार देखा गया, इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया; परंतु इस बातका उन्हें भान नहीं हुआ ॥ ११ ॥

धनुश्च सशरं त्यक्त्वा तथा कृष्णाजिनानि च ।
स विहायाश्रमं तं च तां चैवाप्सरसं मुनिः ॥ १२ ॥
जगाम रेतस्तत् तस्य शरस्तम्बे पपात च ।
शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ॥ १३ ॥

वे मुनि बाणसहित धनुष, काला मृगचर्म, वह आश्रम और वह अप्सरा—सबको वहीं छोड़कर वहाँसे चल दिये। उनका वह वीर्य सरकंडेके समुदायपर गिर पड़ा। राजन्! वहाँ गिरनेपर उनका वीर्य दो भागोंमें बँट गया ॥ १२-१३ ॥

तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ।
मृगयां चरतो राज्ञः शन्तनोस्तु यदृच्छया ॥ १४ ॥
कश्चित् सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ।
धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च ॥ १५ ॥
ज्ञात्वा द्विजस्य चापत्ये धनुर्वेदान्तगस्य ह ।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं धनुः ॥ १६ ॥
स तदादाय मिथुनं राजा च कृपयान्वितः ।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ॥ १७ ॥

तदनन्तर गौतमनन्दन शरद्वान्‌के उसी वीर्यसे एक पुत्र और एक कन्याकी उत्पत्ति हुई। उस दिन दैवेच्छासे राजा शन्तनु वनमें शिकार खेलने आये थे। उनके किसी सैनिकने वनमें उन युगल संतानोंको देखा। वहाँ बाणसहित धनुष और काला मृगचर्म देखकर उसने यह जान लिया कि 'ये दोनों किसी धनुर्वेदके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणकी संतानें हैं' ऐसा निश्चय होनेपर उसने राजाको वे दोनों बालक और बाणसहित धनुष दिखाया। राजा उन्हें देखते ही कृपाके वशीभूत हो गये और उन दोनोंको साथ ले अपने घर आ गये। वे किसीके पूछनेपर यही परिचय देते थे कि 'ये दोनों मेरी ही संतानें हैं' ॥ १४–१७ ॥

ततः संवर्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत् ।
प्रातीपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ प्रतीपनन्दन शन्तनुने शरद्वान्‌के उन दोनों बालकोंका पालन-पोषण किया और यथासमय उन्हें सब संस्कारोंसे सम्पन्न किया ॥ १८ ॥

गौतमोऽपि ततोऽभ्येत्य धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति ॥ १९ ॥
तस्मात् तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ।
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ॥ २० ॥

गौतम (शरद्वान्) भी उस आश्रमसे अन्यत्र जाकर धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर रहने लगे। राजा शन्तनुने यह सोचकर कि मैंने इन बालकोंको कृपापूर्वक पाला-पोसा है, उन दोनोंके वे ही नाम रख दिये—कृप और कृपी। राजाके द्वारा पालित हुई अपनी दोनों संतानोंका हाल गौतमने तपोबलसे जान लिया ॥ १९–२० ॥

आगत्य तस्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
चतुर्विधं धनुर्वेदं शास्त्राणि विविधानि च ॥ २१ ॥
निखिलेनास्य तत् सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा ।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्यतां गतः ॥ २२ ॥

और वहाँ गुप्तरूपसे आकर अपने पुत्रको गोत्र आदि सब बातोंका पूरा परिचय दे दिया। चार प्रकारके[१] धनुर्वेद, नाना प्रकारके शास्त्र तथा उन सबके गूढ रहस्यका भी पूर्णरूपसे उसको उपदेश दिया। इससे कृप थोड़े ही समयमें धनुर्वेदके उत्कृष्ट आचार्य हो गये ॥ २१-२२ ॥

ततोऽधिजग्मुः सर्वे ते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाः सह यादवैः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रके महारथी पुत्र, पाण्डव तथा यादव—सबने उन्हीं कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन किया ॥ २३ ॥

वृष्णयश्च नृपाश्चान्ये नानादेशसमागताः ।

वृष्णिवंशी तथा भिन्न-भिन्न देशोंसे आये हुए अन्य नरेश भी उनसे धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे।

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया ॥ २४ ॥
इष्वस्त्रज्ञान् पर्यपृच्छदाचार्यान् वीर्यसम्मतान् ।
नाल्पधीर्नामहाभागस्तथानानास्त्रकोविदः ॥ २५ ॥
नादेवसत्त्वो विनयेत् कुरूनस्त्रे महाबलान् ।
इति संचिन्त्य गाङ्गेयस्तदा भरतसत्तमः ॥ २६ ॥

---

१. धनुर्वेदके चार भेद इस प्रकार हैं—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा मन्त्रमुक्त। छोड़े जानेवाले बाण आदिको 'मुक्त' कहते हैं। जिन्हें हाथमें लेकर प्रहार किया जाय, उन खड्ग आदिको 'अमुक्त' कहते हैं। जिस अस्त्रको चलाने और समेटनेकी कला मालूम हो, वह अस्त्र 'मुक्तामुक्त' कहलाता है। जिसे मन्त्र पढ़कर चला तो दिया जाय किंतु उसके उपसंहारकी विधि मालूम न हो, वह अस्त्र 'मन्त्रमुक्त' कहा गया है, शस्त्र, अस्त्र, प्रत्यस्त्र और परमास्त्र—ये भी धनुर्वेदके चार भेद हैं। इसी प्रकार आदान, संधान, विमोक्ष और संहार—इन चार क्रियाओंके भेदसे भी धनुर्वेदके चार भेद होते हैं।

द्रोणाय वेदविदुषे भारद्वाजाय धीमते ।
पाण्डवान् कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान् नरर्षभ ॥ २७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कृपाचार्यके द्वारा पूर्णतः शिक्षा मिल जानेपर पितामह भीष्मने अपने पौत्रोंमें विशिष्ट योग्यता लानेके लिये उन्हें और अधिक शिक्षा देनेकी इच्छासे ऐसे आचार्योंकी खोज प्रारम्भ की, जो बाण-संचालनकी कलामें निपुण और अपने पराक्रमके लिये सम्मानित हों। उन्होंने सोचा—'जिसकी बुद्धि थोड़ी है, जो महान् भाग्यशाली नहीं है, जिसने नाना प्रकारकी अस्त्र-विद्यामें निपुणता नहीं प्राप्त की है तथा जो देवताओंके समान शक्तिशाली नहीं है, वह इन महाबली कौरवोंको अस्त्रविद्याकी शिक्षा नहीं दे सकता।' नरश्रेष्ठ ! यों विचारकर भरतश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने भरद्वाजवंशी, वेदवेत्ता तथा बुद्धिमान् द्रोणको आचार्यके पदपर प्रतिष्ठित करके उनको शिष्यरूपमें पाण्डवों तथा कौरवोंको समर्पित कर दिया ॥ २४—२७ ॥

शास्त्रतः पूजितश्चैव सम्यक् तेन महात्मना ।
स भीष्मेण महाभागस्तुष्टोऽस्त्रविदुषां वरः ॥ २८ ॥

अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ महाभाग द्रोण महात्मा भीष्मके द्वारा शास्त्रविधिसे भलीभाँति पूजित होनेपर बहुत संतुष्ट हुए ॥ २८ ॥

प्रतिजग्राह तान् सर्वान् शिष्यत्वेन महायशाः ।
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ॥ २९ ॥

फिर उन महायशस्वी आचार्य द्रोणने उन सबको शिष्यरूपमें स्वीकार किया और सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा दी ॥ २९ ॥

तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशस्त्रविशारदाः ।
बभूवुः कौरवा राजन् पाण्डवाश्चामितौजसः ॥ ३० ॥

राजन् ! अमिततेजस्वी पाण्डव तथा कौरव—सभी थोड़े ही समयमें सम्पूर्ण शस्त्रविद्यामें परम प्रवीण हो गये ॥ ३० ॥

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्रोणः कथं चास्त्राण्यवाप्तवान् ।
कथं चागात् कुरून् ब्रह्मन् कस्य पुत्रः स वीर्यवान् ३१

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! द्रोणाचार्यकी उत्पत्ति कैसे हुई? उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-विद्या प्राप्त की? वे कुरुदेशमें कैसे आये ? तथा वे महापराक्रमी द्रोण किसके पुत्र थे ? ॥ ३१ ॥

कथं चास्य सुतो जातः सोऽश्वत्थामास्त्रवित्तमः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ३२ ॥

साथ ही अस्त्र-शस्त्रके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा, जो द्रोणका पुत्र था, कैसे उत्पन्न हुआ ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ । आप विस्तारपूर्वक कहिये ॥३२॥

वैशम्पायन उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः ।
भरद्वाज इति ख्यातः सततं संशितव्रतः ॥ ३३ ॥

सोऽभिषेक्तुं ततो गङ्गां पूर्वमेवागमन्नदीम् ।
महर्षिभिर्भरद्वाजो हविर्धाने चरन् पुरा ॥ ३४ ॥
ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः ।
रूपयौवनसम्पन्नां मदद्दप्तां मदालसाम् ॥ ३५ ॥
तस्याः पुनर्नदीतीरे वसनं पर्यवर्तत ।
व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! गङ्गाद्वारमें भगवान् भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि रहते थे । वे सदा अत्यन्त कठोर व्रतोंका पालन करते थे । एक दिन उन्हें एक विशेष प्रकारके यज्ञका अनुष्ठान करना था । इसलिये वे भरद्वाज मुनि महर्षियोंको साथ लेकर गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये । वहाँ पहुँचकर महर्षिने प्रत्यक्ष देखा, घृताची अप्सरा पहलेसे ही स्नान करके नदीके तटपर खड़ी हो वस्त्र बदल रही है । वह रूप और यौवनसे सम्पन्न थी। जवानीके नशेमें मदसे उन्मत्त हुई जान पड़ती थी । उसका वस्त्र खिसक गया और उसे उस अवस्थामें देखकर ऋषिके मनमें कामवासना जाग उठी ॥ ३३—३६ ॥

तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ ३७ ॥

परम बुद्धिमान् भरद्वाजजीका मन उस अप्सरामें आसक्त हुआ; इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया । ऋषिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश)में रख दिया ॥ ३७॥

ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ३८ ॥

तब उन बुद्धिमान् महर्षिको उस कलशसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह द्रोणसे जन्म लेनेके कारण द्रोण नामसे ही विख्यात हुआ । उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदाङ्गोंका अध्ययन किया ॥ ३८ ॥

अग्निवेशं महाभागं भरद्वाजः प्रतापवान् ।
प्रत्यपादयदाग्नेयमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ३९ ॥

प्रतापी महर्षि भरद्वाज अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे । उन्होंने महाभाग अग्निवेशको आग्नेय अस्त्रकी शिक्षा दी थी ॥ ३९ ॥

अग्नेस्तु जातः स मुनिस्ततो भरतसत्तम ।
भारद्वाजं तदाग्नेयं महास्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ ४० ॥

जनमेजय ! अग्निवेश मुनि साक्षात् अग्निके पुत्र थे । उन्होंने अपने गुरुपुत्र भरद्वाजनन्दन द्रोणको उस आग्नेय नामक महान् अस्त्रकी शिक्षा दी ॥ ४० ॥

भरद्वाजसखा चासीत् पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः ॥ ४१ ॥

उन दिनों पृषत नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल महर्षि भरद्वाजके मित्र थे । उन्हें भी उसी समय एक पुत्र हुआ, जिसका नाम द्रुपद था ॥ ४१ ॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥ ४२ ॥

वह राजकुमार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ था। वह प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रममें जाकर द्रोणके साथ खेलता और अध्ययन करता था ॥ ४२ ॥

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वर ॥ ४३ ॥

नरेश्वर जनमेजय! पृषतकी मृत्यु हो जानेपर महाबाहु द्रुपद उत्तर-पञ्चाल देशके राजा हुए ॥ ४३ ॥

भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा।
तत्रैव च वसन् द्रोणस्तपस्तेपे महातपाः ॥ ४४ ॥

कुछ दिनों बाद भगवान् भरद्वाज भी स्वर्गवासी हो गये और महातपस्वी द्रोण उसी आश्रममें रहकर तपस्या करने लगे ॥ ४४ ॥

वेदवेदाङ्गविद्वान् स तपसा दग्धकिल्बिषः।
ततः पितृनियुक्तात्मा पुत्रलोभान्महायशाः ॥ ४५ ॥
शारद्वतीं ततो भार्यां कृपीं द्रोणोऽन्वविन्दत।
अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रताम् ॥ ४६ ॥

वे वेदों और वेदाङ्गोंके विद्वान् तो थे ही, तपस्याद्वारा अपनी सम्पूर्ण पापराशिको दग्ध कर चुके थे। उनका महान् यश सब ओर फैल चुका था। एक समय पितरोंने उनके मनमें पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रेरणा दी; अतः द्रोणाचार्यने पुत्रके लोभसे शरद्वान्की पुत्री कृपीको धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण किया। कृपी सदा अग्निहोत्र, धर्मानुष्ठान तथा इन्द्रिय-संयममें उनका साथ देती थी ॥ ४५-४६ ॥

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च।
स जातमात्रो व्यनदद् यथैवोच्चैःश्रवा हयः ॥ ४७ ॥

गौतमी कृपीने द्रोणसे अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया। उस बालकने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके समान शब्द किया ॥ ४७ ॥

तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत्।
अश्वस्येवास्य यत् स्थाम नदतः प्रदिशो गतम् ॥ ४८ ॥
अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति।
सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत् ॥ ४९ ॥

उसे सुनकर अन्तरिक्षमें स्थित किसी अदृश्य चेतनने कहा—'इस बालकके चिल्लाते समय अश्वके समान शब्द सम्पूर्ण दिशाओंमें गूँज उठा है; अतः यह अश्वत्थामा नामसे ही प्रसिद्ध होगा।' उस पुत्रसे भरद्वाजनन्दन द्रोणको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ४८-४९ ॥

तत्रैव च वसन् धीमान् धनुर्वेदपरोऽभवत्।
स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम् ॥ ५० ॥
सर्वज्ञानविदं विप्रं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन् दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥ ५१ ॥

बुद्धिमान् द्रोण उसी आश्रममें रहकर धनुर्वेदका अभ्यास करने लगे। राजन्! किसी समय उन्होंने सुना कि 'महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजी इस समय सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले वे विप्रवर ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दान करना चाहते हैं ॥ ५०-५१ ॥

स रामस्य धनुर्वेदं दिव्यान्यस्त्राणि चैव ह।
श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च ॥ ५२ ॥

द्रोणने यह सुनकर कि परशुरामजीके पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है, उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा की। इसी प्रकार उन्होंने उनसे नीति-शास्त्रकी शिक्षा लेनेका भी विचार किया ॥ ५२ ॥

ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः।
वृतः प्रायान्महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥ ५३ ॥

फिर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले तपस्वी शिष्योंसे घिरे हुए महातपस्वी महाबाहु द्रोण परम उत्तम महेन्द्र पर्वतपर गये ॥ ५३ ॥

ततो महेन्द्रमासाद्य भारद्वाजो महातपाः।
क्षान्तं दान्तममित्रघ्नमपश्यद् भृगुनन्दनम् ॥ ५४ ॥

महेन्द्र पर्वतपर पहुँचकर महान् तपस्वी द्रोणने क्षमा एवं शम-दम आदि गुणोंसे युक्त शत्रुनाशक भृगुनन्दन परशुरामजीका दर्शन किया ॥ ५४ ॥

ततो द्रोणो वृतः शिष्यैरुपगम्य भृगूद्वहम्।
आचख्यावात्मनो नाम जन्म चाङ्गिरसः कुले ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् शिष्योंसहित द्रोणने भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीके समीप जाकर अपना नाम बताया और यह भी कहा कि 'मेरा जन्म आङ्गिरस कुलमें हुआ है' ॥ ५५ ॥

निवेद्य शिरसा भूमौ पादौ चैवाभ्यवादयत्।
ततस्तं सर्वमुत्सृज्य वनं जिगमिषुं तदा ॥ ५६ ॥
जामदग्न्यं महात्मानं भारद्वाजोऽब्रवीदिदम्।
भरद्वाजात् समुत्पन्नं तथा त्वं मामयोनिजम् ॥ ५७ ॥
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजर्षभ।

इस प्रकार नाम और गोत्र बताकर उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक टेक दिया और परशुरामजीके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर सर्वस्व त्यागकर वनमें जानेकी इच्छा रखनेवाले महात्मा जमदग्निकुमारसे द्रोणने इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ! मैं महर्षि भरद्वाजसे उत्पन्न उनका अयोनिज पुत्र हूँ। आपको यह ज्ञात हो कि मैं धनकी इच्छासे आया हूँ। मेरा नाम द्रोण है' ॥ ५६-५७½ ॥

तमब्रवीन्महात्मा स सर्वक्षत्रियमर्दनः ॥ ५८ ॥

यह सुनकर समस्त क्षत्रियोंका संहार करनेवाले महात्मा परशुराम उनसे यों बोले—॥ ५८ ॥

स्वागतं ते द्विजश्रेष्ठ यदिच्छसि वदस्व मे ।
एवमुक्तस्तु रामेण भारद्वाजोऽब्रवीद् वचः ॥ ५९ ॥
रामं प्रहरतां श्रेष्ठं दित्सन्तं विविधं वसु ।
अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ॥ ६० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारा स्वागत है। तुम जो कुछ भी चाहते हो, मुझसे कहो।' उनके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजकुमार द्रोणने नाना प्रकारके धन-रत्नोंका दान करनेकी इच्छावाले, योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामसे कहा—'महान् व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! मैं आपसे ऐसे धनकी याचना करता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो' ॥ ५९–६० ॥

राम उवाच

हिरण्यं मम यच्चान्यद् वसु किंचिदिह स्थितम्।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत् तपोधन ॥ ६१ ॥
तथैवेयं धरा देवी सागरान्ता सपत्तना ।
कश्यपाय मया दत्ता कृत्स्ना नगरमालिनी ॥ ६२ ॥

परशुरामजी बोले—तपोधन ! मेरे पास यहाँ जो कुछ सुवर्ण तथा अन्य प्रकारका धन था, वह सब मैंने ब्राह्मणोंको दे दिया। इसी प्रकार ग्राम और नगरोंकी पङ्क्तियोंसे सुशोभित होनेवाली समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी महर्षि कश्यपको दे दी है ॥ ६१–६२ ॥

शरीरमात्रमेवाद्य ममेदमवशेषितम् ।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च ॥ ६३ ॥

अब मेरा यह शरीरमात्र बचा है। साथ ही नाना प्रकारके बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अवशिष्ट है ॥ ६३ ॥

अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्मयोद्यतम् ।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ॥ ६४ ॥

अतः तुम अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अथवा यह शरीर माँग लो। इसे देनेके लिये मैं सदा प्रस्तुत हूँ। द्रोण ! बोलो, मैं तुम्हें क्या दूँ ? शीघ्र उसे कहो ॥ ६४ ॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव ।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥ ६५ ॥

द्रोणने कहा—भृगुनन्दन ! आप मुझे प्रयोग, रहस्य तथा संहारविधिसहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्रदान करें ॥ ६५ ॥

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः ।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥ ६६ ॥

तब 'तथास्तु' कहकर भृगुवंशी परशुरामजीने द्रोणको सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका भी उपदेश किया ॥ ६६ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥ ६७ ॥

वह सब ग्रहण करके द्विजश्रेष्ठ द्रोण अस्त्रविद्याके पूरे पण्डित हो गये और अत्यन्त प्रसन्न हो अपने प्रिय सखा द्रुपदके पास गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणस्य भार्गवादस्त्रप्राप्तौ ऊनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्रविद्याकी प्राप्तिविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणका द्रुपदसे तिरस्कृत हो हस्तिनापुरमें आना, राजकुमारोंसे उनकी भेंट, उनकी बीटा[1] और अँगूठीको कुएँमेंसे निकालना एवं भीष्मका उन्हें अपने यहाँ सम्मानपूर्वक रखना

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत् पार्थिवं राजन् सखायं विद्धि मामिह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रतापी द्रोण राजा द्रुपदके यहाँ जाकर उनसे इस प्रकार बोले—'राजन् ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं तुम्हारा मित्र द्रोण यहाँ तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ' ॥ १ ॥

इत्येवमुक्तः सख्या स प्रीतिपूर्वं जनेश्वरः ।
भारद्वाजेन पाञ्चालो नामृष्यत वचोऽस्य तत् ॥ २ ॥

मित्र द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहे जानेपर पञ्चालदेशके नरेश द्रुपद उनकी इस बातको सह न सके ॥ २ ॥

सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूः कषायीकृतलोचनः ।
ऐश्वर्यमदसम्पन्नो द्रोणं राजाब्रवीदिदम् ॥ ३ ॥

क्रोध और अमर्षसे उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, आँखोंमें लाली छा गयी; धन और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर वे राजा द्रोणसे यों बोले ॥ ३ ॥

द्रुपद उवाच

अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ।
यन्मां ब्रवीषि प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ ४ ॥

द्रुपदने कहा—ब्रह्मन् ! तुम्हारी बुद्धि सर्वथा संस्कार-शून्य—अपरिपक्व है। तुम्हारी यह बुद्धि यथार्थ नहीं है। तभी तो तुम धृष्टतापूर्वक मुझसे कह रहे हो कि 'राजन् ! मैं तुम्हारा सखा हूँ' ॥ ४ ॥

१. जौके आकारकी बनी हुई काठकी मोटी गुल्लीको 'बीटा' कहते हैं।

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ॥ ५ ॥

ओ मूढ़ ! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे-जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता नहीं होती ॥ ५ ॥

सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ॥ ६ ॥

समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-ही-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है । पहले तुम्हारे साथ जो मेरी मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय मैं और तुम दोनों समान शक्तिशाली थे ॥ ६ ॥

न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्यचित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ॥ ७ ॥

लोकमें किसी भी मनुष्यके हृदयमें मैत्री अमिट होकर नहीं रहती । समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है ॥ ७ ॥

मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ।
आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीका भरोसा न करो । हम दोनों एक दूसरेके मित्र थे—इस भावको हृदयसे निकाल दो । द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि स्वार्थको लेकर हुई थी ॥ ८ ॥

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा ।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ९ ॥

सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्‌का, मूर्ख विद्वान्‌का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो ॥ ९ ॥

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ १० ॥

जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्हींमें विवाह और मैत्रीका सम्बन्ध हो सकता है । हृष्ट-पुष्ट और दुर्बलमें (धनवान् और निर्धनमें) कभी मित्रता नहीं हो सकती ॥ १० ॥

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ११ ॥

जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) का मित्र नहीं हो सकता । जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता । इसी प्रकार जो राजा नहीं है, वह किसी राजाका मित्र कदापि नहीं हो सकता । फिर तुम पुरानी मित्रताका क्यों स्मरण करते हो ? ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १२ ॥

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा द्रुपदके यों कहनेपर प्रतापी द्रोण क्रोधसे जल उठे और दो घड़ीतक गहरी चिन्तामें डूबे रहे । वे बुद्धिमान् तो थे ही, पाञ्चाल-नरेशसे बदला लेनेके विषयमें मन-ही-मन कुछ निश्चय करके कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुर नगरमें चले गये ॥ १२-१३ ॥

स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने ।
भारद्वाजोऽवसत् तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ॥ १४ ॥

हस्तिनापुरमें पहुँचकर द्विजश्रेष्ठ द्रोण गौतमगोत्रीय कृपाचार्यके घरमें गुप्तरूपसे निवास करने लगे ॥ १४ ॥

ततोऽस्य तनुजः पार्थान् कृपस्यानन्तरं प्रभुः ।
अस्त्राणि शिक्षयामास नावुध्यन्त च तं जनाः ॥ १५ ॥

वहाँ उनके पुत्र शक्तिशाली अश्वत्थामा कृपाचार्यके बाद पाण्डवोंको स्वयं ही अस्त्रविद्याकी शिक्षा देने लगे; किंतु लोग उन्हें पहचान न सके ॥ १५ ॥

एवं स तत्र गूढात्मा कंचित् कालमुवास ह ।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ॥ १६ ॥
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन् मुदा ।
पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ॥ १७ ॥

इस प्रकार द्रोणने वहाँ अपने आपको छिपाये रखकर कुछ कालतक निवास किया । तदनन्तर एक दिन कौरव-पाण्डव सभी वीर कुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ मिलकर वहाँ गुल्ली-डंडा खेलने लगे । उस समय खेलमें लगे हुए उन कुमारोंकी वह वीटा कुएँमें गिर पड़ी ॥ १६-१७ ॥

ततस्ते यत्नमातिष्ठन् वीटामुद्धर्तुमादृताः ।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥ १८ ॥

तब वे उस बीटाको निकालनेके लिये बड़ी तत्परताके साथ प्रयत्नमें लग गये; परंतु उसे प्राप्त करनेका कोई भी उपाय उनके ध्यानमें नहीं आया ॥ १८ ॥

ततोऽन्योन्यमवैक्षन्त व्रीडयावनताननाः ।
तस्या योगमविन्दन्तो भृशं चोत्कण्ठिताभवन् ॥ १९ ॥

इस कारण लज्जासे नतमस्तक होकर वे एक दूसरेकी ओर देखने लगे । गुल्ली निकालनेका कोई उपाय न मिलनेके कारण वे अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये ॥ १९ ॥

तेऽपश्यन् ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम् ।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥ २० ॥

इसी समय उन्होंने एक श्याम वर्णके ब्राह्मणको थोड़ी ही दूरपर बैठे देखा, जो अग्निहोत्र करके किसी प्रयोजनसे वहाँ रुके हुए थे । वे आपत्तिग्रस्त जान पड़ते थे । उनके सिरके बाल सफेद हो गये थे और शरीर अत्यन्त दुर्बल था ॥ २० ॥

ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥ २१ ॥

उन महात्मा ब्राह्मणको देखकर वे सभी कुमार उनके पास गये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये। उनका उत्साह भङ्ग हो गया था। कोई काम करनेकी इच्छा नहीं होती थी। मनमें भारी निराशा भर गयी थी ॥ २१ ॥

अथ द्रोणः कुमारांस्तान् दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ २२ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोण यह देखकर कि इन कुमारोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण नहीं हुआ है—ये उसी प्रयोजनसे मेरे पास आये हैं, उस समय मन्द मुसकराहटके साथ बड़े कौशलसे बोले—॥ २२ ॥

अहो वो धिग् बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम्।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ॥ २३ ॥

'अहो! तुमलोगोंके क्षत्रियबलको धिक्कार है और तुमलोगोंकी इस अस्त्र-विद्या-विषयक निपुणताको भी धिक्कार है; क्योंकि तुमलोग भरतवंशमें जन्म लेकर भी कुएँमें गिरी हुई गुल्लीको नहीं निकाल पाते ॥ २३ ॥

वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम्।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ॥ २४ ॥

'देखो, मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी इस अँगूठी दोनोंको सींकोंसे निकाल सकता हूँ। तुमलोग मेरी जीविकाकी व्यवस्था करो' ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा कुमारांस्तान् द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम्।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिंदमः ॥ २५ ॥

उन कुमारोंसे यों कहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणने उस निर्जल कुएँमें अपनी अँगूठी डाल दी ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत् तदा द्रोणं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।

उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने द्रोणसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

कृपस्यानुमते ब्रह्मन् भिक्षामाप्नुहि शाश्वतीम् ॥ २६ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच प्रहस्य भरतानिदम्।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आप कृपाचार्यकी अनुमति ले सदा यहीं रहकर भिक्षा प्राप्त करें ॥ २६½ ॥

उनके यों कहनेपर द्रोणने हँसकर उन भरतवंशी राजकुमारोंसे कहा।

द्रोण उवाच

एषा मुष्टिरिषीकाणां मयास्त्रेणाभिमन्त्रिता ॥ २७ ॥

द्रोण बोले—ये मूठी भर सींकें हैं, जिन्हें मैंने अस्त्र-मन्त्रके द्वारा अभिमन्त्रित किया है ॥ २७ ॥

अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते।
भेत्स्यामीषिकया वीटां तामिषीकां तथान्यया ॥ २८ ॥

तुमलोग इसका बल देखो, जो दूसरेमें नहीं है। मैं पहले एक सींकसे उस गुल्लीको बींध दूँगा; फिर दूसरी सींकसे उस पहली सींकको बींधूँगा ॥ २८ ॥

तामन्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम।

इसी प्रकार दूसरीको तीसरीसे बींधते हुए अनेक सींकोंका संयोग होनेपर मुझे गुल्ली मिल जायगी।

वैशम्पायन उवाच

ततो यथोक्तं द्रोणेन तत् सर्वं कृतमञ्जसा ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्रोणने जैसा कहा था, वह सब कुछ अनायास ही कर दिखाया ॥ २९ ॥

तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ॥ ३० ॥

यह अद्भुत कार्य देखकर उन कुमारोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। इसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर वे इस प्रकार बोले ॥ ३० ॥

कुमारा ऊचुः

मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर।

कुमारोंने कहा—ब्रह्मर्षे! अब आप शीघ्र ही इस अँगूठीको भी निकाल दीजिये।

वैशम्पायन उवाच

ततः शरं समादाय धनुर्द्रोणो महायशाः ॥ ३१ ॥
शरेण विद्ध्वा मुद्रां तामूर्ध्वमावाहयत् प्रभुः।
सशरं समुपादाय कूपादङ्गुलिवेष्टनम् ॥ ३२ ॥
ददौ ततः कुमाराणां विस्मितानामविस्मितः।
मुद्रिकामुद्धृतां दृष्ट्वा तमाहुस्ते कुमारकाः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महायशस्वी द्रोणने धनुष-बाण लेकर बाणसे उस अँगूठीको बींध दिया और उसे ऊपर निकाल लिया। शक्तिशाली द्रोणने इस प्रकार कुएँसे बाणसहित अँगूठी निकालकर उन आश्चर्यचकित कुमारोंके हाथमें दे दी; किंतु वे स्वयं तनिक भी विस्मित नहीं हुए। उस अँगूठीको कुएँसे निकाली हुई देखकर उन कुमारोंने द्रोणसे कहा ॥ ३१—३३ ॥

कुमारा ऊचुः

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे ॥ ३४ ॥

कुमार बोले—ब्रह्मन्! हम आपको प्रणाम करते हैं। यह अद्भुत अस्त्र-कौशल दूसरे किसीमें नहीं है। आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं—यह हम जानना चाहते हैं। बताइये, हमलोग आपकी क्या सेवा करें? ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो द्रोणः प्रत्युवाच कुमारकान्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुमारोंके इस प्रकार पूछनेपर द्रोणने उनसे कहा ।

द्रोण उवाच

आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम् ॥ ३५ ॥
स एव सुमहातेजाः साम्प्रतं प्रतिपत्स्यते ।

द्रोण बोले—तुम सब लोग भीष्मजीके पास जाकर मेरे रूप और गुणोंका परिचय दो । वे महातेजस्वी भीष्मजी ही मुझे इस समय पहचान सकते हैं ॥ ३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा च गत्वा च भीष्ममूचुः कुमारकाः ॥ ३६ ॥
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तच्च कर्म तथाविधम् ।
भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—'बहुत अच्छा' कहकर वे कुमार भीष्मजीके पास गये और ब्राह्मणकी सच्ची बातों तथा उनके उस अद्भुत पराक्रमको भी उन्होंने भीष्मजीसे कह सुनाया । कुमारोंकी बातें सुनकर भीष्मजी समझ गये कि वे आचार्य द्रोण हैं ॥ ३६-३७ ॥

युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च ।
अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम् ॥ ३८ ॥
परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः ।
हेतुमागमने तच्च द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३९ ॥

फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही इन कुमारोंके उपयुक्त गुरु हो सकते हैं, भीष्मजी स्वयं ही आकर उन्हें सत्कारपूर्वक घर ले गये । वहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ द्रोणाचार्यसे उनके आगमनका कारण पूछा और द्रोणने वह सब कारण इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३८-३९ ॥

द्रोण उवाच

महर्षेरग्निवेशस्य सकाशमहमच्युत ।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदजिघृक्षया ॥ ४० ॥

द्रोणाचार्यने कहा—अपनी प्रतिज्ञासे कभी च्युत न होनेवाले भीष्मजी ! पहलेकी बात है, मैं अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा तथा धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये महर्षि अग्निवेशके समीप गया था ॥ ४० ॥

ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः ।
अवसं सुचिरं तत्र गुरुशुश्रूषणे रतः ॥ ४१ ॥

वहाँ मैं विनीत हृदयसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सिरपर जटा धारण किये बहुत वर्षोंतक रहा । गुरुकी सेवामें निरन्तर संलग्न रहकर मैंने दीर्घकालतक उनके आश्रममें निवास किया ॥ ४१ ॥

पाञ्चालो राजपुत्रश्च यज्ञसेनो महाबलः ।
इष्वस्त्रहेतोर्न्यवसत् तस्मिन्नेव गुरौ प्रभुः ॥ ४२ ॥

उन दिनों पञ्चालराजकुमार महाबली यज्ञसेन द्रुपद भी, जो बड़े शक्तिशाली थे, धनुर्वेदकी शिक्षा पानेके लिये उन्हीं गुरुदेव अग्निवेशके समीप रहते थे ॥ ४२ ॥

स मे तत्र सखा चासीदुपकारी प्रियश्च मे ।
तेनाहं सह संगम्य वर्तयन् सुचिरं प्रभो ॥ ४३ ॥

वे उस गुरुकुलमें मेरे बड़े ही उपकारी और प्रिय मित्र थे । प्रभो ! उनके साथ मिल-जुलकर मैं बहुत दिनोंतक आश्रममें रहा ॥ ४३ ॥

बाल्यात् प्रभृति कौरव्य सहाध्ययनमेव च ।
स मे सखा सदा तत्र प्रियवादी प्रियंकरः ॥ ४४ ॥

बचपनसे ही हम दोनोंका अध्ययन साथ-साथ चलता था । द्रुपद वहाँ मेरे घनिष्ठ मित्र थे । वे सदा मुझसे प्रिय वचन बोलते और मेरा प्रिय कार्य करते थे ॥ ४४ ॥

अब्रवीदिति मां भीष्म वचनं प्रीतिवर्धनम् ।
अहं प्रियतमः पुत्रः पितुर्द्रोण महात्मनः ॥ ४५ ॥

भीष्मजी ! वे एक दिन मुझसे मेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली यह बात बोले—'द्रोण ! मैं अपने महात्मा पिताका अत्यन्त प्रिय पुत्र हूँ ॥ ४५ ॥

अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चालो यदा तदा ।
त्वद्भोग्यं भविता तात सखे सत्येन ते शपे ॥ ४६ ॥
मम भोगाश्च वित्तं च त्वदधीनं सुखानि च ।
एवमुक्त्वाथ वव्राज कृतास्त्रः पूजितो मया ॥ ४७ ॥

'तात ! जब पञ्चालनरेश मुझे राज्यपर अभिषिक्त करेंगे, उस समय मेरा राज्य तुम्हारे उपभोगमें आयेगा । सखे ! मैं सत्यकी सौगंध खाकर कहता हूँ—मेरे भोग, वैभव और सुख सब तुम्हारे अधीन होंगे ।' यों कहकर वे अस्त्रविद्यामें निपुण हो मुझसे सम्मानित होकर अपने देशको लौट गये ॥ ४६-४७ ॥

तच्च वाक्यमहं नित्यं मनसा धारयंस्तदा ।
सोऽहं पितृनियोगेन पुत्रलोभाद् यशस्विनीम् ॥ ४८ ॥
नातिकेशीं महाप्रज्ञामुपयेमे महाव्रताम् ।
अग्निहोत्रे च सत्रे च दमे च सततं रताम् ॥ ४९ ॥

उनकी उस समय कही हुई इस बातको मैं अपने मनमें सदा याद रखता था । कुछ दिनोंके बाद पितरोंकी प्रेरणासे मैंने पुत्र-प्राप्तिके लोभसे परम बुद्धिमती, महान् व्रतका पालन करनेवाली, अग्निहोत्र, सत्र तथा शम-दमके पालनमें मेरे साथ सदा संलग्न रहनेवाली शरद्वान्‌की पुत्री यशस्विनी कृपीसे, जिसके केश बहुत बड़े नहीं थे, विवाह किया ॥ ४८-४९ ॥

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमौरसम् ।
भीमविक्रमकर्माणमादित्यसमतेजसम् ॥ ५० ॥

उस गौतमी कृपीने मुझसे मेरे औरस पुत्र अश्वत्थामाको प्राप्त किया, जो सूर्यके समान तेजस्वी तथा भयंकर पराक्रम एवं पुरुषार्थ करनेवाला है ॥ ५० ॥

पुत्रेण तेन प्रीतोऽहं भरद्वाजो मया यथा ।

गोक्षीरं पिबतो दृष्ट्वा धनिनस्तत्र पुत्रकान्।
अश्वत्थामारुदद् बालस्तन्मे संदेहयद् दिशः ॥ ५१ ॥

उस पुत्रसे मुझे उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी मुझसे मेरे पिता भरद्वाजको हुई थी। एक दिनकी बात है, गोधनके धनी ऋषिकुमार गायका दूध पी रहे थे। उन्हें देखकर मेरा छोटा बच्चा अश्वत्थामा भी बाल-स्वभावके कारण दूध पीनेके लिये मचल उठा और रोने लगा। इससे मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया—मुझे दिशाओंके पहचाननेमें भी संशय होने लगा ॥ ५१ ॥

न स्नातकोऽवसीदेत वर्तमानः स्वकर्मसु।
इति संचिन्त्य मनसा तं देशं बहुशो भ्रमन् ॥ ५२ ॥
विशुद्धमिच्छन् गाङ्गेय धर्मोपेतं प्रतिग्रहम्।
अन्तादन्तं परिक्रम्य नाध्यगच्छं पयस्विनीम् ॥ ५३ ॥

मैंने मन-ही-मन सोचा, यदि मैं किसी कम गायवाले ब्राह्मणसे गाय माँगता हूँ तो कहीं ऐसा न हो कि वह अपने अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें लगा हुआ स्नातक गोदुग्धके बिना कष्टमें पड़ जाय; अतः जिसके पास बहुत-सी गौएँ हों, उसीसे धर्मानुकूल विशुद्ध दान लेनेकी इच्छा रखकर मैंने उस देशमें कई बार भ्रमण किया। गङ्गानन्दन! एक देशसे दूसरे देशमें घूमनेपर भी मुझे दूध देनेवाली कोई गाय न मिल सकी ॥ ५२-५३ ॥

अथ पिष्टोदकेनैनं लोभयन्ति कुमारकाः।
पीत्वा पिष्टरसं बालः क्षीरं पीतं मयापि च ॥ ५४ ॥
ननर्तोत्थाय कौरव्य हृष्टो बाल्याद् विमोहितः।
तं दृष्ट्वा नृत्यमानं तु बालैः परिवृतं सुतम् ॥ ५५ ॥
हास्यतामुपसम्प्राप्तं कश्मलं तत्र मेऽभवत्।
द्रोणं धिगस्त्वधनिनं यो धनं नाधिगच्छति ॥ ५६ ॥

मैं लौटकर आया तो देखता हूँ कि छोटे-छोटे बालक आटेके पानीसे अश्वत्थामाको ललचा रहे हैं और वह अज्ञान-मोहित बालक उस आटेके जलको ही पीकर मारे हर्षके फूला नहीं समाता तथा यह कहता हुआ उठकर नाच रहा है कि 'मैंने दूध पी लिया'। कुरुनन्दन! बालकोंसे घिरे हुए अपने पुत्रको इस प्रकार नाचते और उसकी हँसी उड़ायी जाती देख मेरे मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उस समय कुछ लोग इस प्रकार कह रहे थे, 'इस धनहीन द्रोणको धिक्कार है, जो धनका उपार्जन नहीं करता ॥ ५४—५६ ॥

पिष्टोदकं सुतो यस्य पीत्वा क्षीरस्य तृष्णया।
नृत्यति स्म मुदाविष्टः क्षीरं पीतं मयाप्युत ॥ ५७ ॥
इति सम्भाषतां वाचं श्रुत्वा मे बुद्धिरच्यवत्।
आत्मानं चात्मना गर्हन् मनसेदं व्यचिन्तयम् ॥ ५८ ॥
अपि चाहं पुरा विप्रैर्वर्जितो गर्हितो वसे।
परोपसेवां पापिष्ठां न च कुर्यां धनेप्सया ॥ ५९ ॥

'जिसका बेटा दूधकी लालसासे आटा मिला हुआ जल पीकर आनन्दमग्न हो यह कहता हुआ नाच रहा है कि 'मैंने भी दूध पी लिया।' इस प्रकारकी बातें करनेवाले लोगोंकी आवाज मेरे कानोंमें पड़ी तो मेरी बुद्धि स्थिर न रह सकी। मैं स्वयं ही अपने आपकी निन्दा करता हुआ मन-ही-मन इस प्रकार सोचने लगा—'मुझे दरिद्र जानकर पहलेसे ही ब्राह्मणोंने मेरा साथ छोड़ दिया। मैं धनाभावके कारण निन्दित होकर उपवास भले ही कर लूँगा, परंतु धनके लोभसे दूसरों-की सेवा, जो अत्यन्त पापपूर्ण कर्म है, कदापि नहीं कर सकता' ॥ ५७-५९ ॥

इति मत्वा प्रियं पुत्रं भीष्मादाय ततो ह्यहम्।
पूर्वस्नेहानुरागित्वात् सदारः सौमकिं गतः ॥ ६० ॥

भीष्मजी! ऐसा निश्चय करके मैं अपने प्रिय पुत्र और पत्नीको साथ लेकर पहलेके स्नेह और अनुरागके कारण राजा द्रुपदके यहाँ गया ॥ ६० ॥

अभिषिक्तं तु श्रुत्वैव कृतार्थोऽस्मीति चिन्तयन्।
प्रियं सखायं सुप्रीतो राज्यस्थं समुपागमम् ॥ ६१ ॥

मैंने सुन रक्खा था कि द्रुपदका राज्याभिषेक हो चुका है, अतः मैं मन-ही-मन अपनेको कृतार्थ मानने लगा और बड़ी प्रसन्नताके साथ राज्यसिंहासनपर बैठे हुए अपने प्रिय सखाके समीप गया ॥ ६१ ॥

संस्मरन् संगमं चैव वचनं चैव तस्य तत्।
ततो द्रुपदमागम्य सखिपूर्वमहं प्रभो ॥ ६२ ॥
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र सखायं विद्धि मामिति।
उपस्थितस्तु द्रुपदं सखिवच्चास्मि संगतः ॥ ६३ ॥

उस समय मुझे द्रुपदकी मैत्री और उनकी कही हुई पूर्वोक्त बातोंका बारंबार स्मरण हो आता था। तदनन्तर अपने पहलेके सखा द्रुपदके पास पहुँचकर मैंने कहा—'नरश्रेष्ठ! मुझ अपने मित्रको पहचानो तो सही।' प्रभो! मैं द्रुपदके पास पहुँचनेपर उनसे मित्रकी ही भाँति मिला ॥ ६२-६३ ॥

स मां निराकारमिव प्रहसन्निदमब्रवीत्।
अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ॥ ६४ ॥

परंतु द्रुपदने मुझे नीच मनुष्यके समान समझकर उपहास करते हुए इस प्रकार कहा—'ब्राह्मण! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त असंगत एवं अशुद्ध है ॥ ६४ ॥

यदात्थ मां त्वं प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज।
संगतानीह जीर्यन्ति कालेन परिजीर्यतः ॥ ६५ ॥

'तभी तो तुम मुझसे यह कहनेकी धृष्टता कर रहे हो कि 'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ?' समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है ॥ ६५ ॥

सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम्।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ॥ ६६ ॥

'पहले तुम्हारे साथ मेरी जो मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय हम दोनोंकी शक्ति समान थी (किंतु अब वैसी बात नहीं है)। जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता)का, जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता ॥ ६६ ॥

साम्याद्धि सख्यं भवति वैषम्यान्नोपपद्यते ।
न सख्यमजरं लोके विद्यते जातु कस्यचित् ॥ ६७ ॥

'सब बातोंमें समानता होनेसे ही मित्रता होती है। विषमता होनेपर मैत्रीका होना असम्भव है। फिर लोकमें कभी किसीकी मैत्री अजर-अमर नहीं होती ॥ ६७ ॥

कालो वैनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ।
मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ॥ ६८ ॥

'समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है। इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीकी उपासना (भरोसा) न करो। हम दोनों एक दूसरेके मित्र थे, इस भावको हृदयसे निकाल दो ॥ ६८ ॥

आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ।
न ह्यनाढ्यः सखाढ्यस्य नाविद्वान् विदुषः सखा॥ ६९ ॥
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ।
न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ॥ ७० ॥
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रियाहीनैर्धनच्युतैः ।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ॥ ७१ ॥
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ।
अहं त्वया न जानामि राज्यार्थे संविदं कृताम् ॥ ७२ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह (साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि) स्वार्थको लेकर हुई थी। सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्का, मूर्ख विद्वान्का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो ? मन्दमते ! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे-जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता हो सकती है? जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका, जो रथी नहीं है, वह रथीका तथा जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता। फिर तुम मुझे जीर्ण-शीर्ण मित्रताका स्मरण क्यों दिलाते हो ? मैंने अपने राज्यके लिये तुमसे कोई प्रतिज्ञा की थी, इसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है ॥ ६९-७२ ॥

एकरात्रं तु ते ब्रह्मन् कामं दास्यामि भोजनम् ।
एवमुक्तस्त्वहं तेन सदारः प्रस्थितस्तदा ॥ ७३ ॥

'ब्रह्मन् ! तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हें एक रातके लिये अच्छी तरह भोजन दे सकता हूँ।' राजा द्रुपदके यों कहनेपर मैं पत्नी और पुत्रके साथ वहाँसे चल दिया ॥ ७३ ॥

तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय यां कर्तास्म्यचिरादिव ।
द्रुपदेनैवमुक्तोऽहं मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ ७४ ॥

चलते समय मैंने एक प्रतिज्ञा की थी, जिसे शीघ्र पूर्ण करूँगा। द्रुपदके द्वारा जो इस प्रकार तिरस्कारपूर्ण वचन मेरे प्रति कहा गया है, उसके कारण मैं क्षोभसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूँ ॥ ७४ ॥

अभ्यागच्छं कुरून् भीष्म शिष्यैरर्थी गुणान्वितैः।
ततोऽहं भवतः कामं संवर्धयितुमागतः ॥ ७५ ॥
इदं नागपुरं रम्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

भीष्मजी ! मैं गुणवान् शिष्योंके द्वारा अपने अभीष्टकी सिद्धि चाहता हुआ आपके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये पञ्चालदेशसे कुरुराज्यके भीतर इस रमणीय हस्तिनापुर नगरमें आया हूँ। बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ७५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मो भारद्वाजमभाषत ॥ ७६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रोणाचार्यके यों कहनेपर भीष्मने उनसे कहा ॥ ७६ ॥

भीष्म उवाच

अपज्यं क्रियतां चापं साध्वस्त्रं प्रतिपादय ।
भुङ्क्ष्व भोगान् भृशं प्रीतः पूज्यमानः कुरुक्षये ॥ ७७ ॥

भीष्मजी बोले—विप्रवर ! अब आप अपने धनुषकी डोरी उतार दीजिये और यहाँ रहकर राजकुमारोंको धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी अच्छी शिक्षा दीजिये। कौरवोंके घरमें सदा सम्मानित रहकर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग कीजिये ॥ ७७ ॥

कुरूणामस्ति यद् वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम् ।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव ॥ ७८ ॥

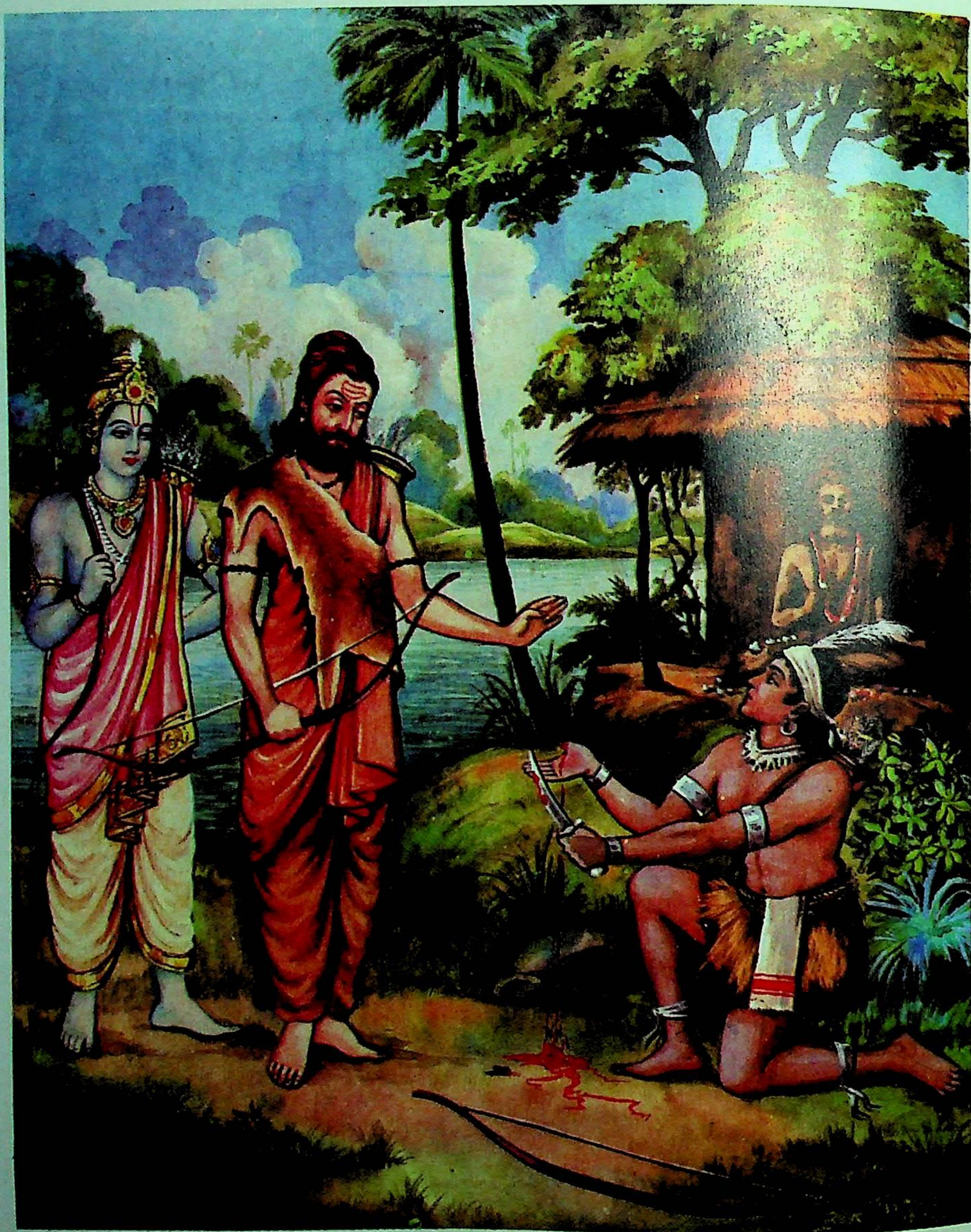
कौरवोंके पास जो धन, राज्य-वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं। समस्त कौरव आपके अधीन हैं ॥

यच्च ते प्रार्थितं ब्रह्मन् कृतं तदिति चिन्त्यताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि विप्रर्षे महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥ ७९ ॥

ब्रह्मन् ! आपने जो माँग की है, उसे पूर्ण हुई समझिये। ब्रह्मर्षे ! आप आये, यह हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने यहाँ पधारकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मद्रोणसमागमे त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म-द्रोण-समागमविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥



एकलव्यकी गुरु-दक्षिणा

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यद्वारा राजकुमारोंकी शिक्षा, एकलव्यकी गुरुभक्ति तथा आचार्यद्वारा शिष्योंकी परीक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्पूजितो द्रोणो भीष्मेण द्विपदां वरः।
विशश्राम महातेजाः पूजितः कुरुवेश्मनि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मनुष्योंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी द्रोणाचार्यने भीष्मजीके द्वारा पूजित हो कौरवोंके घरमें विश्राम किया। वहाँ उनका बड़ा सम्मान किया गया ॥ १ ॥

विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन् पौत्रानादाय कौरवान्।
शिष्यत्वेन ददौ भीष्मो वसूनि विविधानि च ॥ २ ॥
गृहं च सुपरिच्छन्नं धनधान्यसमाकुलम्।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ॥ ३ ॥

गुरु द्रोणाचार्य जब विश्राम कर चुके, तब सामर्थ्यशाली भीष्मजीने अपने कुरुवंशी पौत्रोंको लेकर उन्हें शिष्यरूपमें समर्पित किया। साथ ही अत्यन्त प्रसन्न होकर भरद्वाजनन्दन द्रोणको नाना प्रकारके धन-रत्न और सुन्दर सामग्रियोंसे सुसज्जित तथा धन-धान्यसे सम्पन्न भवन प्रदान किया ॥ २-३ ॥

स ताञ्शिष्यान् महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च द्रोणो मुदितमानसः ॥ ४ ॥

महाधनुर्धर आचार्य द्रोणने प्रसन्नचित्त होकर उन धृतराष्ट्र-पुत्रों तथा पाण्डवोंको शिष्यरूपमें ग्रहण किया ॥ ४ ॥

प्रतिगृह्य च तान् सर्वान् द्रोणो वचनमब्रवीत्।
रहस्येकः प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तथा ॥ ५ ॥

उन सबको ग्रहण कर लेनेपर एक दिन एकान्तमें जब द्रोणाचार्य पूर्ण विश्वासयुक्त मनसे अकेले बैठे थे, तब उन्होंने अपने पास बैठे हुए सब शिष्योंसे यह बात कही ॥ ५ ॥

द्रोण उवाच

कार्यं मे काङ्क्षितं किंचिद्धृदि सम्परिवर्तते।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं मे तदेतद् वदतानघाः ॥ ६ ॥

द्रोण बोले—निष्पाप राजकुमारो ! मेरे मनमें एक कार्य करनेकी इच्छा है। अस्त्रशिक्षा प्राप्त कर लेनेके पश्चात् तुम-लोगोंको मेरी वह इच्छा पूर्ण करनी होगी। इस विषयमें तुम्हारे क्या विचार हैं, बतलाओ ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन् विशाम्पते।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतप ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा जनमेजय ! आचार्यकी वह बात सुनकर सब कौरव चुप रह गये; परंतु अर्जुनने वह सब कार्य पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली ॥ ७ ॥

ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ॥ ८ ॥

तब आचार्यने बारम्बार अर्जुनका मस्तक सूँघा और उन्हें प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर वे हर्षके आवेशमें रो पड़े ॥ ८ ॥

ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ॥ ९ ॥

तब पराक्रमी द्रोणाचार्य पाण्डवों (तथा अन्य शिष्यों) को नाना प्रकारके दिव्य एवं मानव अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा देने लगे ॥ ९ ॥

राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय दूसरे-दूसरे राजकुमार भी अस्त्रविद्या-की शिक्षा लेनेके लिये द्विजश्रेष्ठ द्रोणके पास आने लगे ॥ १० ॥

वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात् तदा ॥ ११ ॥

वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रिय, नाना देशोंके राजकुमार तथा राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण—ये सभी आचार्य द्रोणके पास (अस्त्र-शिक्षा लेनेके लिये) आये ॥ ११ ॥

स्पर्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्रोऽत्यमर्षणः।
दुर्योधनं समाश्रित्य सोऽवमन्यत पाण्डवान् ॥ १२ ॥

सूतपुत्र कर्ण सदा अर्जुनसे लाग-डाँट रखता और अत्यन्त अमर्षमें भरकर दुर्योधनका सहारा ले पाण्डवोंका अपमान किया करता था ॥ १२ ॥

अभ्ययात् स ततो द्रोणं धनुर्वेदचिकीर्षया।
शिक्षाभुजबलोद्योगैस्तेषु सर्वेषु पाण्डवः।
अस्त्रविद्यानुरागाच्च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥ १३ ॥
तुल्येष्वस्त्रप्रयोगेषु लाघवे सौष्ठवेषु च।
सर्वेषामेव शिष्याणां बभूवाभ्यधिकोऽर्जुनः ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन (सदा अभ्यासमें लगे रहनेसे) धनुर्वेद-की जिज्ञासा, शिक्षा, बाहुबल और उद्योगकी दृष्टिसे उन सभी शिष्योंमें श्रेष्ठ एवं आचार्य द्रोणकी समानता करने योग्य हो गये। उनका अस्त्रविद्यामें बड़ा अनुराग था, इसलिये वे तुल्य अस्त्रोंके प्रयोग, फुर्ती और सफाईमें भी सबसे बढ़-चढ़कर निकले ॥ १३-१४ ॥

ऐन्द्रिमप्रतिमं द्रोण उपदेशेष्वमन्यत ।
एवं सर्वकुमाराणामिष्वस्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ १५ ॥

आचार्य द्रोण उपदेश ग्रहण करनेमें अर्जुनको अनुपम प्रतिभाशाली मानते थे। इस प्रकार आचार्य सब कुमारोंको अस्त्रविद्याकी शिक्षा देते रहे ॥ १५ ॥

कमण्डलुं च सर्वेषां प्रायच्छच्चिरकारणात् ।
पुत्राय च ददौ कुम्भमविलम्बनकारणात् ॥ १६ ॥
यावत् ते नोपगच्छन्ति तावदस्मै परां क्रियाम् ।
द्रोण आचष्ट पुत्राय तत् कर्म जिष्णुरौहत ॥ १७ ॥

वे अन्य सब शिष्योंको तो पानी लानेके लिये कमण्डलु देते, जिससे उन्हें लौटनेमें कुछ विलम्ब हो जाय; परंतु अपने पुत्र अश्वत्थामाको बड़े मुँहका घड़ा देते, जिससे उसके लौटनेमें विलम्ब न हो (अतः अश्वत्थामा सबसे पहले पानी भरकर उनके पास लौट आता था)। जबतक दूसरे शिष्य लौट नहीं आते, तबतक वे अपने पुत्र अश्वत्थामाको अस्त्र-संचालनकी कोई उत्तम विधि बतलाते थे। अर्जुनने उनके इस कार्यको जान लिया ॥ १६-१७ ॥

ततः स वारुणास्त्रेण पूरयित्वा कमण्डलुम् ।
सममाचार्यपुत्रेण गुरुमभ्येति फाल्गुनः ॥ १८ ॥
आचार्यपुत्रात् तस्मात् तु विशेषोपचयेऽपृथक् ।
न व्यहीयत मेधावी पार्थोऽप्यस्त्रविदां वरः ॥ १९ ॥
अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद् गुरुपूजने ।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ॥ २० ॥

अतः वे वारुणास्त्रसे तुरंत ही अपना कमण्डलु भरकर आचार्यपुत्रके साथ ही गुरुके समीप आ जाते थे, इसलिये आचार्यपुत्रसे किसी भी गुणकी वृद्धिमें वे अलग या पीछे न रहे। यही कारण था कि मेधावी अर्जुन अश्वत्थामासे किसी बातमें कम न रहे। वे अस्त्रवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ थे। अर्जुन अपने गुरुदेवकी सेवा-पूजाके लिये भी उत्तम यत्न करते थे। अस्त्रोंके अभ्यासमें भी उनकी अच्छी लगन थी। इसीलिये वे द्रोणाचार्यके बड़े प्रिय हो गये ॥ १८–२० ॥

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रं प्रति फाल्गुनम् ।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥ २१ ॥
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कदाचन ।
न चाख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ॥ २२ ॥

अर्जुनको धनुष-बाणके अभ्यासमें निरन्तर लगा हुआ देख द्रोणाचार्यने रसोइयेको एकान्तमें बुलाकर कहा—'तुम अर्जुनको कभी अँधेरेमें भोजन न परोसना और मेरी यह बात भी अर्जुनसे कभी न कहना' ॥ २१-२२ ॥

ततः कदाचिद् भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने ।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ॥ २३ ॥

तदनन्तर एक दिन जब अर्जुन भोजन कर रहे थे, बड़े जोरसे हवा चलने लगी; उससे वहाँका जलता हुआ दीपक बुझ गया ॥ २३ ॥

भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नास्यादन्यत्र वर्तते ।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अनुग्रहणकारणात् ॥ २४ ॥

उस समय भी कुन्तीनन्दन अर्जुन भोजन करते ही रहे। उन तेजस्वी अर्जुनका हाथ अभ्यासवश अँधेरेमें भी मुखसे अन्यत्र नहीं जाता था ॥ २४ ॥

तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः ।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ॥ २५ ॥

उसे अभ्यासका ही चमत्कार मानकर महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुन रातमें भी धनुर्विद्याका अभ्यास करने लगे ॥ २५ ॥

तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत ।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

भारत! उनके धनुषकी प्रत्यञ्चाका टंकार द्रोणने सोते समय सुना। तब वे उठकर उनके पास गये और उन्हें हृदयसे लगाकर बोले ॥ २६ ॥

द्रोण उवाच

प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

द्रोणने कहा—अर्जुन! मैं ऐसा करनेका प्रयत्न करूँगा, जिससे इस संसारमें दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च ।
रथेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर द्रोणाचार्य अर्जुनको पुनः घोड़ों, हाथियों, रथों तथा भूमिपर रहकर युद्ध करनेकी शिक्षा देने लगे ॥ २८ ॥

गदायुद्धेऽसिचर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु ।
द्रोणः संकीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ॥ २९ ॥

उन्होंने कौरवोंको गदायुद्ध, खड्ग चलाने तथा तोमर, प्रास और शक्तियोंके प्रयोगकी कला एवं एक ही साथ अनेक शस्त्रोंके प्रयोग अथवा अकेले ही अनेक शत्रुओंसे युद्ध करनेकी शिक्षा दी ॥ २९ ॥

तस्य तत् कौशलं श्रुत्वा धनुर्वेदजिघृक्षवः ।
राजानो राजपुत्राश्च समाजग्मुः सहस्रशः ॥ ३० ॥

द्रोणाचार्यका वह अस्त्रकौशल सुनकर सहस्रों राजा और राजकुमार धनुर्वेदकी शिक्षा लेनेके लिये वहाँ एकत्रित हो गये ॥ ३० ॥

ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः ।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ॥ ३१ ॥

महाराज! तदनन्तर निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र एकलव्य द्रोणके पास आया ॥ ३१ ॥

न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन् ।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ॥ ३२ ॥

परंतु उसे निषादपुत्र समझकर धर्मज्ञ आचार्यने धनुर्विद्या-विषयक शिष्य नहीं बनाया । कौरवोंकी ओर दृष्टि रखकर ही उन्होंने ऐसा किया ॥ ३२ ॥

स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परंतपः ।
अरण्यमनुसम्प्राप्य कृत्वा द्रोणं महीमयम् ॥ ३३ ॥
तस्मिन्नाचार्यवृत्तिं च परमामास्थितस्तदा ।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः ॥ ३४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले एकलव्यने द्रोणाचार्यके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और वनमें लौटकर उनकी मिट्टीकी मूर्ति बनायी तथा उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना रखकर उसने धनुर्विद्याका अभ्यास प्रारम्भ किया । वह बड़े नियमके साथ रहता था ॥ ३३-३४ ॥

परया श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च ।
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप सः ॥ ३५ ॥

आचार्यमें उत्तम श्रद्धा रखकर उत्तम और भारी अभ्यासके बलसे उसने बाणोंके छोड़ने, लौटाने और संधान करनेमें बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त कर ली ॥ ३५ ॥

अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाताः कदाचित् कुरुपाण्डवाः ।
रथैर्विनिर्ययुः सर्वे मृगयामरिमर्दन ॥ ३६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय ! तदनन्तर एक दिन समस्त कौरव और पाण्डव आचार्य द्रोणकी अनुमतिसे रथोंपर बैठकर (हिंसक पशुओंका) शिकार खेलनेके लिये निकले ॥ ३६ ॥

तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिद् यदृच्छया ।
राजन्ननुजगामैकः श्वानमादाय पाण्डवान् ॥ ३७ ॥

इस कार्यके लिये आवश्यक सामग्री लेकर कोई मनुष्य स्वेच्छानुसार अकेला ही उन पाण्डवोंके पीछे-पीछे चला । उसने साथमें एक कुत्ता भी ले रक्खा था ॥ ३७ ॥

तेषां विचरतां तत्र तत्तत्कर्मचिकीर्षया ।
श्वा चरन् स वने मूढो नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ३८ ॥

वे सब अपना-अपना काम पूरा करनेकी इच्छासे वनमें इधर-उधर विचर रहे थे । उनका वह मूढ़ कुत्ता वनमें घूमता-घामता निषादपुत्र एकलव्यके पास जा पहुँचा ॥ ३८ ॥

स कृष्णं मलदिग्धाङ्गं कृष्णाजिनजटाधरम् ।
नैषादिं श्वा समालक्ष्य भषंस्तस्थौ तदन्तिके ॥ ३९ ॥

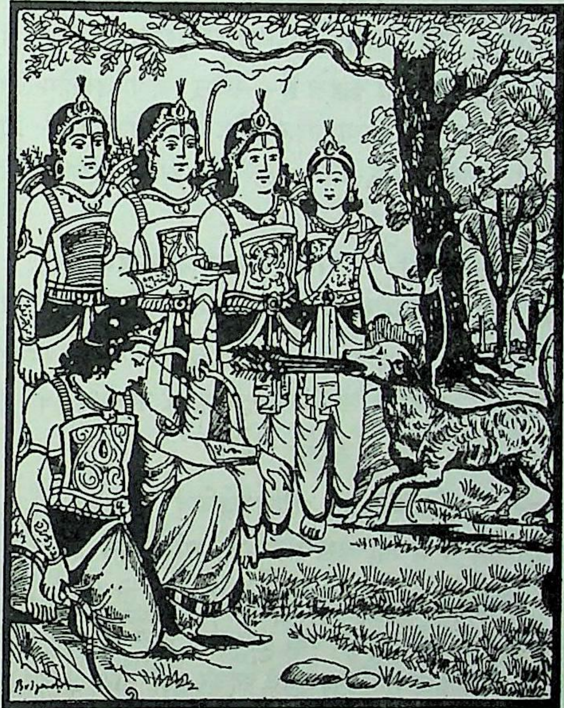
एकलव्यके शरीरका रंग काला था । उसके अङ्गोंमें मैल जम गया था और उसने काला मृगचर्म एवं जटा धारण कर रखी थी । निषादपुत्रको इस रूपमें देखकर वह कुत्ता भौं-भौं करके भूँकता हुआ उसके पास खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

तदा तस्याथ भषतः शुनः सप्त शरान् मुखे ।
लाघवं दर्शयन्नस्त्रे मुमोच युगपद् यथा ॥ ४० ॥

यह देख भीलने अपने अस्त्रलाघवका परिचय देते हुए उस भूँकनेवाले कुत्तेके मुखमें मानो एक ही साथ सात बाण मारे ॥ ४० ॥

स तु श्वा शरपूर्णास्यः पाण्डवानाजगाम ह ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवा वीराः परं विस्मयमागताः ॥ ४१ ॥

उसका मुँह बाणोंसे भर गया और वह उसी अवस्थामें पाण्डवोंके पास आया । उसे देखकर पाण्डव वीर बड़े विस्मयमें पड़े ॥ ४१ ॥



लाघवं शब्दवेधित्वं दृष्ट्वा तत् परमं तदा ।
प्रेक्ष्य तं व्रीडिताश्चासन् प्रशशंसुश्च सर्वशः ॥ ४२ ॥

वह हाथकी फुर्ती और शब्दके अनुसार लक्ष्य बेधनेकी उत्तम शक्ति देखकर उस समय सब राजकुमार उस कुत्तेकी ओर दृष्टि डालकर लज्जित हो गये और सब प्रकारसे बाण मारनेवालेकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४२ ॥

तं ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वननिवासिनम् ।
ददृशुः पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ४३ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् पाण्डवोंने उस वनवासी वीरकी वनमें खोज करते हुए उसे निरन्तर बाण चलाते हुए देखा ॥ ४३ ॥

न चैनमभ्यजानंस्ते तदा विकृतदर्शनम् ।
अथैनं परिपप्रच्छुः को भवान् कस्य वेत्युत ॥ ४४ ॥

उस समय उसका रूप बदल गया था। पाण्डव उसे पहचान न सके; अतः पूछने लगे—'तुम कौन हो, किसके पुत्र हो?' ॥ ४४ ॥

एकलव्य उवाच

निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुषः सुतम्।
द्रोणशिष्यं च मां वित्त धनुर्वेदकृतश्रमम् ॥ ४५ ॥

एकलव्यने कहा—वीरो! आपलोग मुझे निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र तथा द्रोणाचार्यका शिष्य जानें। मैंने धनुर्वेदमें विशेष परिश्रम किया है ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते तमाज्ञाय तत्त्वेन पुनरागम्य पाण्डवाः।
यथावृत्तं वने सर्वं द्रोणायाचख्युरद्भुतम् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे पाण्डवलोग उस निषादका यथार्थ परिचय पाकर लौट आये और वनमें जो अद्भुत घटना घटी थी, वह सब उन्होंने द्रोणाचार्यसे कह सुनायी ॥ ४६ ॥

कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन्।
रहो द्रोणं समासाद्य प्रणयादिदमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

जनमेजय! कुन्तीनन्दन अर्जुन बार-बार एकलव्यका स्मरण करते हुए एकान्तमें द्रोणसे मिलकर प्रेमपूर्वक यों बोले ॥ ४७ ॥

अर्जुन उवाच

तदाहं परिरभ्यैकः प्रीतिपूर्वमिदं वचः।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति ॥ ४८ ॥

अर्जुनने कहा—आचार्य! उस दिन तो आपने मुझ अकेलेको हृदयसे लगाकर बड़ी प्रसन्नताके साथ यह बात कही थी कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बढ़कर नहीं होगा ॥ ४८ ॥

अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीर्यवान्।
अन्योऽस्ति भवतः शिष्यो निषादाधिपतेः सुतः ॥ ४९ ॥

फिर आपका यह अन्य शिष्य निषादराजका पुत्र अस्त्रविद्यामें मुझसे बढ़कर कुशल और सम्पूर्ण लोकसे भी अधिक पराक्रमी कैसे हुआ? ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव तं द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम्।
सव्यसाचिनमादाय नैषादिं प्रति जग्मिवान् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आचार्य द्रोण उस निषादपुत्रके विषयमें दो घड़ीतक मानो कुछ सोचते-विचारते रहे; फिर कुछ निश्चय करके वे सव्यसाची अर्जुनको साथ ले उसके पास गये ॥ ५० ॥

ददर्श मलदिग्धाङ्गं जटिलं चीरवाससम्।
एकलव्यं धनुष्पाणिमस्यन्तमनिशं शरान् ॥ ५१ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने एकलव्यको देखा, जो हाथमें धनुष ले निरन्तर बाणोंकी वर्षा कर रहा था। उसके शरीरपर मैल जम गया था। उसने सिरपर जटा धारण कर रक्खी थी और वस्त्रके स्थानपर चिथड़े लपेट रक्खे थे ॥ ५१ ॥

एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमन्तिकात्।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम् ॥ ५२ ॥

इधर एकलव्यने आचार्य द्रोणको समीप आते देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और उनके दोनों चरण पकड़कर पृथ्वीपर माथा टेक दिया ॥ ५२ ॥

पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत् स निषादजः।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥ ५३ ॥

फिर उस निषादकुमारने अपनेको शिष्यरूपसे उनके चरणोंमें समर्पित करके गुरु द्रोणकी विधिपूर्वक पूजा की और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया ॥ ५३ ॥

ततो द्रोणोऽब्रवीद् राजन्नेकलव्यमिदं वचः।
यदि शिष्योऽसि मे वीर वेतनं दीयतां मम ॥ ५४ ॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम्।

राजन्! तब द्रोणाचार्यने एकलव्यसे यह बात कही—'वीर! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरुदक्षिणा दो' ॥

यह सुनकर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ और इस प्रकार बोला ॥ ५४½ ॥

एकलव्य उवाच

किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः ॥ ५५ ॥
न हि किंचिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम।

एकलव्यने कहा—भगवन्! मैं आपको क्या दूँ? स्वयं गुरुदेव ही मुझे इसके लिये आज्ञा दें। ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आचार्य! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो गुरुके लिये अदेय हो ॥ ५५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

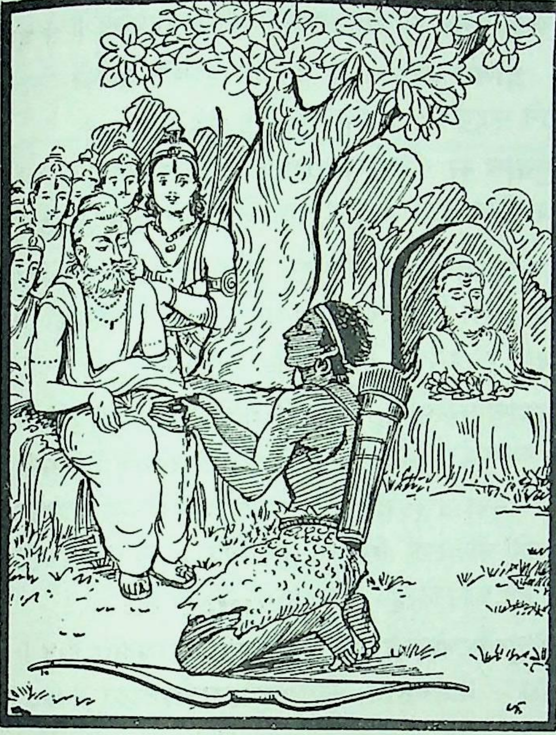
तमब्रवीत् त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ॥ ५६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब द्रोणाचार्यने उससे कहा—'तुम मुझे दाहिने हाथका अँगूठा दे दो' ॥ ५६ ॥

एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम्।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन् सत्ये च नियतः सदा ॥ ५७ ॥
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः।
छित्त्वाविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ॥ ५८ ॥

द्रोणाचार्यका यह दारुण वचन सुनकर सदा सत्यपर अटल रहनेवाले एकलव्यने अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हुए पहलेकी ही भाँति प्रसन्नमुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच-

विचार किये अपना दाहिना अँगूठा काटकर द्रोणाचार्यको दे दिया ॥ ५७–५८ ॥



(स सत्यसंधं नैषादिं दृष्ट्वा प्रीतोऽब्रवीदिदम् ।
एवं कर्तव्यमिति वा एकलव्यमभाषत ॥)
ततः शरं तु नैषादिरङ्गुलीभिर्व्यकर्षत ।
न तथा च स शीघ्रोऽभूद् यथा पूर्वं नराधिप ॥ ५९ ॥

द्रोणाचार्य निषादनन्दन एकलव्यको सत्यप्रतिज्ञ देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने संकेतसे उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमाके संयोगसे बाण पकड़कर किस प्रकार धनुषकी डोरी खींचनी चाहिये। तबसे वह निषादकुमार अपनी अँगुलियोंद्वारा ही बाणोंका संधान करने लगा। राजन्! उस अवस्थामें वह उतनी शीघ्रतासे बाण नहीं चला पाता था, जैसे पहले चलाया करता था॥ ५९ ॥

ततोऽर्जुनः प्रीतमना बभूव विगतज्वरः ।
द्रोणश्च सत्यवागासीन्नान्योऽभिभविताऽर्जुनम् ॥ ६० ॥

इस घटनासे अर्जुनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उनकी भारी चिन्ता दूर हो गयी। द्रोणाचार्यका भी वह कथन सत्य हो गया कि अर्जुनको दूसरा कोई पराजित नहीं कर सकता॥ ६० ॥

द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यौ बभूवतुः ।
दुर्योधनश्च भीमश्च सदा संरब्धमानसौ ॥ ६१ ॥

उस समय द्रोणके दो शिष्य गदायुद्धमें सुयोग्य निकले—दुर्योधन और भीमसेन। ये दोनों सदा एक दूसरेके प्रति मनमें क्रोध (स्पर्द्धा) से भरे रहते थे॥ ६१ ॥

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
तथाति पुरुषानन्यान् त्सारुकौ यमजावुभौ ॥ ६२ ॥

अश्वत्थामा धनुर्वेदके रहस्योंकी जानकारीमें सबसे बढ़-चढ़कर हुआ। नकुल और सहदेव दोनों भाई तलवारकी मूठ पकड़कर युद्ध करनेमें अत्यन्त कुशल हुए। वे इस कलामें अन्य सब पुरुषोंसे बढ़-चढ़कर थे॥ ६२ ॥

युधिष्ठिरो रथश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनंजयः ।
प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर रथपर बैठकर युद्ध करनेमें श्रेष्ठ थे। परंतु अर्जुन सब प्रकारकी युद्ध-कलाओंमें सबसे बढ़कर थे। वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीमें रथयूथपतियोंके भी यूथपतिके रूपमें प्रसिद्ध थे॥ ६३ ॥

बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च निष्ठितः ।
अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥ ६४ ॥

बुद्धि, मनकी एकाग्रता, बल और उत्साहके कारण वे सम्पूर्ण अस्त्रविद्याओंमें प्रवीण हुए। अस्त्रोंके अभ्यास तथा गुरुके प्रति अनुरागमें भी अर्जुनका स्थान सबसे ऊँचा था॥ ६४ ॥

तुल्येष्वस्त्रोपदेशेषु सौष्ठवेन च वीर्यवान् ।
एकः सर्वकुमाराणां बभूवातिरथोऽर्जुनः ॥ ६५ ॥

यद्यपि सबको समानरूपसे अस्त्रविद्याका उपदेश प्राप्त होता था तो भी पराक्रमी अर्जुन अपनी विशिष्ट प्रतिभाके कारण अकेले ही समस्त कुमारोंमें अतिरथी हुए॥ ६५ ॥

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनंजयम् ।
धार्तराष्ट्रा दुरात्मानो नामृष्यन्त परस्परम् ॥ ६६ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्र बड़े दुरात्मा थे। वे भीमसेनको बलमें अधिक और अर्जुनको अस्त्रविद्यामें प्रवीण देखकर परस्पर सहन नहीं कर पाते थे॥ ६६ ॥

तांस्तु सर्वान् समानीय सर्वविद्यास्त्रशिक्षितान् ।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभः ॥ ६७ ॥

जब सम्पूर्ण धनुर्विद्या तथा अस्त्र-संचालनकी कलामें वे सभी कुमार सुशिक्षित हो गये, तब नरश्रेष्ठ द्रोणने उन सबको एकत्र करके उनके अस्त्रज्ञानकी परीक्षा लेनेका विचार किया॥ ६७ ॥

कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिः कृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥ ६८ ॥

उन्होंने कारीगरोंसे एक नकली गीध बनवाकर वृक्षके अग्रभागपर रखवा दिया। राजकुमारोंको इसका पता नहीं था। आचार्यने उसी गीधको बींधने योग्य लक्ष्य बताया॥ ६८ ॥

द्रोण उवाच

शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठध्वं संधितेषवः ॥ ६९ ॥

द्रोण बोले—तुम सब लोग इस गीधको बींधनेके लिये शीघ्र ही धनुष लेकर उसपर बाण चढ़ाकर खड़े हो जाओ॥ ६९ ॥

मद्वाक्यसमकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम्।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥ ७० ॥

फिर मेरी आज्ञा मिलनेके साथ ही इसका सिर काट गिराओ। पुत्रो! मैं एक-एकको बारी-बारीसे इस कार्यमें नियुक्त करूँगा; तुमलोग मेरे बताये अनुसार कार्य करो ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसां वरः।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्च तम् ॥७१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अङ्गिरागोत्रवाले ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ आचार्य द्रोणने सबसे पहले युधिष्ठिरसे कहा—'दुर्धर्ष वीर! तुम धनुषपर बाण चढ़ाओ और मेरी आज्ञा मिलते ही उसे छोड़ दो' ॥ ७१ ॥

ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परंतपः।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ७२ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले युधिष्ठिर गुरुकी आज्ञासे प्रेरित हो सबसे पहले धनुष लेकर गीधको बींधनेके लिये लक्ष्य बनाकर खड़े हो गये ॥ ७२ ॥

ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम्।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥ ७३ ॥

भरतश्रेष्ठ! तब धनुष तानकर खड़े हुए कुरुनन्दन युधिष्ठिरसे दो घड़ी बाद आचार्य द्रोणने इस प्रकार कहा—॥

पश्यैनं तं द्रुमाग्रस्थं भासं नरवरात्मज।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ ७४ ॥

'राजकुमार! वृक्षकी शिखापर बैठे हुए इस गीधको देखो।' तब युधिष्ठिरने आचार्यको उत्तर दिया—'भगवन्! मैं देख रहा हूँ' ॥ ७४ ॥

स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत।

मानो दो घड़ी और बिताकर द्रोणाचार्य फिर उनसे बोले।

द्रोण उवाच

अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन् वापि प्रपश्यसि ॥ ७५ ॥

द्रोणने कहा—क्या तुम इस वृक्षको, मुझको अथवा अपने भाइयोंको भी देखते हो? ॥ ७५ ॥

तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम्।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन् भासं चेति पुनः पुनः ॥ ७६ ॥

यह सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनसे इस प्रकार बोले—'हाँ, मैं इस वृक्षको, आपको, अपने भाइयोंको तथा गीधको भी बारंबार देख रहा हूँ' ॥ ७६ ॥

तमुवाचापसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन् ॥ ७७ ॥

उनका उत्तर सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन अप्रसन्न-से हो गये और उन्हें झिड़कते हुए बोले, 'हट जाओ यहाँसे, तुम इस लक्ष्यको नहीं बींध सकते' ॥ ७७ ॥

ततो दुर्योधनादींस्तान् धार्तराष्ट्रान् महायशाः।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ॥ ७८ ॥

तदनन्तर महायशस्वी आचार्यने उसी क्रमसे दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रोंको भी उनकी परीक्षा लेनेके लिये बुलाया और उन सबसे उपर्युक्त बातें पूछीं ॥ ७८ ॥

अन्यांश्च शिष्यान् भीमादीन् राज्ञश्चैवान्यदेशजान्।
तथा च सर्वे तत् सर्वं पश्याम इति कुत्सिताः ॥ ७९ ॥

उन्होंने भीम आदि अन्य शिष्यों तथा दूसरे देशके राजाओंसे भी, जो वहाँ शिक्षा पा रहे थे, वैसा ही प्रश्न किया। प्रश्नके उत्तरमें सभीने (युधिष्ठिरकी भाँति ही) कहा—'हम सब कुछ देख रहे हैं।' यह सुनकर आचार्यने उन सबको झिड़ककर हटा दिया ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणशिष्यपरीक्षायामेकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आचार्य द्रोणके द्वारा शिष्योंकी परीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ८० श्लोक हैं)

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा लक्ष्यवेध, द्रोणका ग्राहसे छुटकारा और अर्जुनको ब्रह्मशिर नामक अस्त्रकी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततो धनंजयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
त्वयेदानीं प्रहर्तव्यमेतल्लक्ष्यं विलोक्यताम् ॥ १ ॥

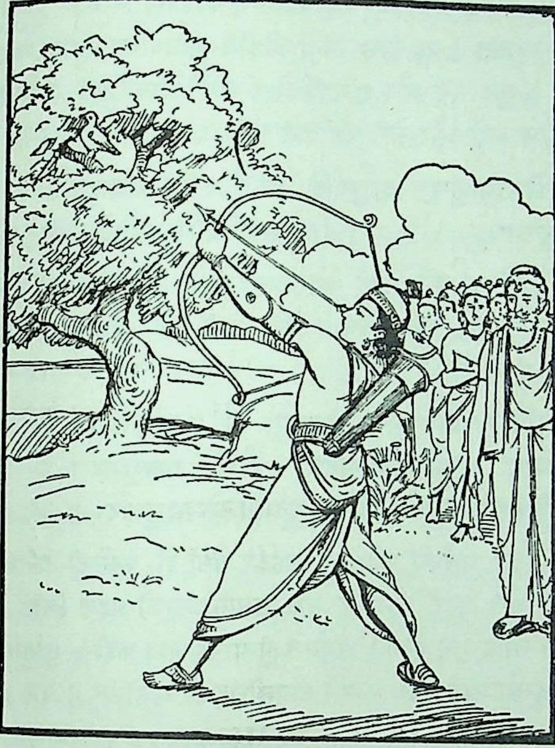
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्रोणाचार्यने अर्जुनसे मुसकराते हुए कहा—'अब तुम्हें इस लक्ष्यका वेध करना है। इसे अच्छी तरह देख लो ॥ १ ॥

मद्वाक्यसमकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥ २ ॥

'मेरी आज्ञा मिलनेके साथ ही तुम्हें इसपर बाण छोड़ना होगा। बेटा! धनुष तानकर खड़े हो जाओ और दो घड़ी मेरे आदेशकी प्रतीक्षा करो' ॥ २ ॥

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर अर्जुनने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार (गोल) प्रतीत होने लगा। फिर वे गुरुकी आज्ञासे प्रेरित हो गीधकी ओर लक्ष्य करके खड़े हो गये ॥ ३ ॥



मुहूर्तादिव तं द्रोणस्तथैव समभाषत।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चार्जुन ॥ ४ ॥

मानो दो घड़ी बाद द्रोणाचार्यने उनसे भी उसी प्रकार प्रश्न किया—'अर्जुन ! क्या तुम उस वृक्षपर बैठे हुए गीधको, वृक्षको और मुझे भी देखते हो ?' ॥ ४ ॥

पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥ ५ ॥

जनमेजय ! यह प्रश्न सुनकर अर्जुनने द्रोणाचार्यसे कहा—'मैं केवल गीधको देखता हूँ। वृक्षको अथवा आपको नहीं देखता' ॥ ५ ॥

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ॥ ६ ॥

इस उत्तरसे द्रोणका मन प्रसन्न हो गया। मानो दो घड़ी बाद दुर्धर्ष द्रोणाचार्यने पाण्डव-महारथी अर्जुनसे फिर पूछा—॥ ६ ॥

भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ॥ ७ ॥

'वत्स ! यदि तुम इस गीधको देखते हो तो फिर बताओ, उसके अङ्ग कैसे हैं ?' अर्जुन बोले—'मैं गीधका मस्तक भर देख रहा हूँ, उसके सम्पूर्ण शरीरको नहीं' ॥ ७ ॥

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत् पार्थं स मुमोचाविचारयन् ॥ ८ ॥

अर्जुनके यों कहनेपर द्रोणाचार्यके शरीरमें (हर्षातिरेकसे) रोमाञ्च हो आया और वे अर्जुनसे बोले, 'चलाओ बाण' ! अर्जुनने बिना सोचे-विचारे बाण छोड़ दिया ॥ ८ ॥

ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥ ९ ॥

फिर तो पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने चलाये हुए तीखे क्षुर नामक बाणसे वृक्षपर बैठे हुए उस गीधका मस्तक वेगपूर्वक काट गिराया ॥ ९ ॥

तस्मिन् कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम्।
मेने च द्रुपदं संख्ये सानुबन्धं पराजितम् ॥ १० ॥

इस कार्यमें सफलता प्राप्त होनेपर आचार्यने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उन्हें यह विश्वास हो गया कि राजा द्रुपद युद्धमें अर्जुनद्वारा अपने भाई-बन्धुओंसहित अवश्य पराजित हो जायँगे ॥ १० ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य सशिष्योऽङ्गिरसां वरः।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर किसी समय आङ्गिरसवंशियोंमें उत्तम आचार्य द्रोण अपने शिष्योंके साथ गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये ॥ ११ ॥

अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालचोदितः ॥ १२ ॥

वहाँ जलमें गोता लगाते समय कालसे प्रेरित हो एक बलवान् जलजन्तु ग्राहने द्रोणाचार्यकी पिंडली पकड़ ली ॥ १२ ॥

स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान् सर्वानचोदयत्।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ॥ १३ ॥

वे अपनेको छुड़ानेमें समर्थ होते हुए भी मानो हड़बड़ाये हुए अपने सभी शिष्योंसे बोले—'इस ग्राहको मारकर मुझे बचाओ' ॥ १३ ॥

तद्वाक्यसमकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः।
अवार्यैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत् ॥ १४ ॥

उनके इस आदेशके साथ ही बीभत्सु (अर्जुन)ने पाँच अमोघ एवं तीखे बाणोंद्वारा पानीमें डूबे हुए उस ग्राहपर प्रहार किया ॥ १४ ॥

इतरे त्वथ सम्मूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे।
तं तु दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम् ॥ १५ ॥

विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमांश्चाभवत् तदा ।
स पार्थबाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः ॥ १६ ॥
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घां त्यक्त्वा महात्मनः ।
अथाब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ॥ १७ ॥

परंतु दूसरे राजकुमार हक्के-बक्के-से होकर अपने-अपने स्थानपर ही खड़े रह गये । अर्जुनको तत्काल कार्यमें तत्पर देख द्रोणाचार्यने उन्हें अपने सब शिष्योंसे बढ़कर माना और उस समय वे उनपर बहुत प्रसन्न हुए । अर्जुनके बाणोंसे ग्राहके टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह महात्मा द्रोणकी पिंडली छोड़कर मर गया । तब द्रोणाचार्यने महारथी महात्मा अर्जुनसे कहा— ॥ १५-१७ ॥

गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्तनम् ॥ १८ ॥

'महाबाहो ! यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र मैं तुम्हें प्रयोग और उपसंहारके साथ बता रहा हूँ । यह सब अस्त्रोंसे बढ़कर है तथा इसे धारण करना भी अत्यन्त कठिन है । तुम इसे ग्रहण करो ॥ १८ ॥

न च ते मानुषेष्वेतत् प्रयोक्तव्यं कथंचन ।
जगद् विनिर्दहेदेतदल्पतेजसि पातितम् ॥ १९ ॥

'मनुष्योंपर तुम्हें इस अस्त्रका प्रयोग किसी भी दशामें नहीं करना चाहिये । यदि किसी अल्प तेजवाले पुरुषपर इसे चलाया गया तो यह उसके साथ ही समस्त संसारको भस्म कर सकता है ॥ १९ ॥

असामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते ।
तद् धारयेथाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ॥ २० ॥

'तात ! यह अस्त्र तीनों लोकोंमें असाधारण बताया गया है । तुम मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर इस अस्त्रको धारण करो और मेरी यह बात सुनो ॥ २० ॥

बाधेतामानुषः शत्रुर्यदि त्वां वीर कश्चन ।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदस्त्रमिदमाहवे ॥ २१ ॥

'वीर ! यदि कोई अमानव शत्रु तुम्हें युद्धमें पीड़ा देने लगे तो तुम उसका वध करनेके लिये इस अस्त्रका प्रयोग कर सकते हो' ॥ २१ ॥

तथेति सम्प्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः ।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः ।
भविता त्वत्समो नान्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः ॥ २२ ॥

तब अर्जुनने 'तथास्तु' कहकर वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और हाथ जोड़कर उस उत्तम अस्त्रको ग्रहण किया । उस समय गुरु द्रोणने अर्जुनसे पुनः यह बात कही—'संसारमें दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान धनुर्धर न होगा' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणग्राहमोक्षणे द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रोणाचार्यका ग्राहसे छुटकारा नामक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजकुमारोंका रङ्गभूमिमें अस्त्र-कौशल दिखाना

वैशम्पायन उवाच

कृतास्त्रान् धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद् राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ १ ॥
कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
गाङ्गेयस्य च सांनिध्ये व्यासस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! जब द्रोणने देखा कि धृतराष्ट्रके पुत्र तथा पाण्डव अस्त्र-विद्याकी शिक्षा समाप्त कर चुके, तब उन्होंने कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक, गङ्गानन्दन भीष्म, महर्षि व्यास तथा विदुरजीके निकट राजा धृतराष्ट्रसे कहा— ॥ १-२ ॥

राजन् सम्प्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥ ३ ॥
ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।

'राजन् ! आपके कुमार अस्त्र-विद्याकी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं । कुरुश्रेष्ठ ! यदि आपकी अनुमति हो तो वे अपनी सीखी हुई अस्त्र-संचालनकी कलाका प्रदर्शन करें' ।

यह सुनकर महाराज धृतराष्ट्र अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे बोले ॥ ३½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

भारद्वाज महत् कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—द्विजश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन ! आपने (राजकुमारोंको अस्त्रकी शिक्षा देकर) बहुत बड़ा कार्य किया है ॥ ४ ॥

यदानुमन्यसे कालं यस्मिन् देशे यथा यथा ।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्व माम् ॥ ५ ॥

आप कुमारोंकी अस्त्र-शिक्षाके प्रदर्शनके लिये जब जो

समय ठीक समझें, जिस स्थानपर जिस-जिस प्रकारका प्रबन्ध आवश्यक मानें, उस-उस तरहकी तैयारी करनेके लिये स्वयं ही मुझे आज्ञा दें ॥ ५ ॥

स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात् पुरुषाणां सचक्षुषाम्।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान् ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान्॥ ६ ॥

आज मैं नेत्रहीन होनेके कारण दुखी होकर, जिनके पास आँखें हैं, उन मनुष्योंके सुख और सौभाग्यको पानेके लिये तरस रहा हूँ; क्योंकि वे अस्त्र-कौशलका प्रदर्शन करनेके लिये भाँति-भाँतिके पराक्रम करनेवाले मेरे पुत्रोंको देखेंगे ॥ ६ ॥

क्षत्तर्यद् गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत् तथा।
न हीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल॥ ७ ॥

(आचार्यसे इतना कहकर राजा धृतराष्ट्र विदुरसे बोले—) 'धर्मवत्सल ! विदुर ! गुरु द्रोणाचार्य जो काम जैसे कहते हैं, उसी प्रकार उसे करो। मेरी रायमें इसके समान प्रिय कार्य दूसरा नहीं होगा' ॥ ७ ॥

ततो राजानमामन्त्र्य निर्गतो विदुरो बहिः।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम्॥ ८ ॥

तदनन्तर राजाकी आज्ञा लेकर विदुरजी (आचार्य द्रोणके साथ) बाहर निकले। महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणने रङ्गमण्डपके लिये एक भूमि पसंद की और उसका माप करवाया ॥ ८ ॥

समामवृक्षां निर्गुल्मामुदक्प्रस्रवणान्विताम्।
तस्यां भूमौ बलिं चक्रे तिथौ नक्षत्रपूजिते॥ ९ ॥
अवघुष्टे समाजे च तदर्थं वदतां वरः।
रङ्गभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि॥ १० ॥
प्रेक्षागारं सुविहितं चक्रुस्ते तस्य शिल्पिनः।
राज्ञः सर्वायुधोपेतं स्त्रीणां चैव नरर्षभ॥ ११ ॥
मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः।
विपुलानुच्छ्रयोपेतान् शिबिकाश्च महाधनाः॥ १२ ॥

वह भूमि समतल थी। उसमें वृक्ष या झाड़-झंखाड़ नहीं थे। वह उत्तर दिशाकी ओर नीची थी। वक्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणने वास्तुपूजन देखनेके लिये डिण्डिम-घोष कराके वीरसमुदायको आमन्त्रित किया और उत्तम नक्षत्रसे युक्त तिथिमें उस भूमिपर वास्तुपूजन किया। तत्पश्चात् उनके शिल्पियोंने उस रङ्गभूमिमें वास्तु-शास्त्रके अनुसार विधिपूर्वक एक अति विशाल प्रेक्षागृहकी[1] नींव डाली तथा राजा और राजघरानेकी स्त्रियोंके बैठनेके लिये वहाँ सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न बहुत सुन्दर भवन बनाया। जनपदके लोगोंने अपने बैठनेके लिये वहाँ ऊँचे और विशाल मञ्च बनवाये तथा (स्त्रियोंको लानेके लिये) बहुमूल्य शिबिकाएँ तैयार करायीं ॥ ९-१२ ॥

तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा कृपं चाचार्यसत्तमम्॥ १३ ॥
(बाह्लीकं सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च।
कुरूनन्यांश्च सचिवानादाय नगराद् बहिः॥)
मुक्ताजालपरिक्षिप्तं वैदूर्यमणिशोभितम्।
शातकुम्भमयं दिव्यं प्रेक्षागारमुपागमत्॥ १४ ॥

तत्पश्चात् जब निश्चित दिन आया, तब मन्त्रियोंसहित राजा धृतराष्ट्र भीष्मजी तथा आचार्यप्रवर कृपको आगे करके बाह्लीक, सोमदत्त, भूरिश्रवा तथा अन्यान्य कौरवों और मन्त्रियोंको साथ ले नगरसे बाहर उस दिव्य प्रेक्षागृहमें आये। उसमें मोतियोंकी झालरें लगी थीं, वैदूर्यमणियोंसे उस भवनको सजाया गया था तथा उसकी दीवारोंमें स्वर्णखण्ड मढ़े गये थे ॥ १३-१४ ॥

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः॥ १५ ॥
हर्षादारुरुहुर्मञ्चान् मेरुं देवस्त्रियो यथा।
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद् द्रुतम्॥ १६ ॥
दर्शनेप्सु समभ्यागात् कुमाराणां कृतास्त्रताम्।
क्षणेनैकस्थतां तत्र दर्शनेप्सु जगाम ह॥ १७ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ जनमेजय ! परम सौभाग्यशालिनी गान्धारी, कुन्ती तथा राजभवनकी सभी स्त्रियाँ वस्त्राभूषणोंसे सज-धजकर दास-दासियों और आवश्यक सामग्रियोंके साथ उस भवनमें आयीं तथा जैसे देवाङ्गनाएँ मेरुपर्वतपर चढ़ती हैं, उसी प्रकार वे हर्षपूर्वक मञ्चोंपर चढ़ गयीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णोंके लोग कुमारोंका अस्त्र-कौशल देखनेकी इच्छासे तुरंत नगरसे निकलकर आ गये। क्षणभरमें वहाँ विशाल जनसमुदाय एकत्र हो गया ॥ १५-१७ ॥

प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत् तदा॥ १८ ॥

अनेक प्रकारके बाजोंके बजनेसे तथा मनुष्योंके बढ़ते हुए कौतूहलसे वह जनसमूह उस समय क्षुब्ध महासागरके समान जान पड़ता था ॥ १८ ॥

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः॥ १९ ॥
रङ्गमध्यं तदाऽऽचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह।
नभो जलधरैर्हीनं साङ्गारक इवांशुमान्॥ २० ॥

तदनन्तर श्वेत वस्त्र और श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये आचार्य द्रोणने अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया; मानो मेघरहित आकाशमें चन्द्रमाने मङ्गलके साथ पदार्पण किया हो। आचार्यके सिर और दाढ़ी-मूँछके

---

१. जो उत्सव या नाटक आदिको सुविधापूर्वक देखनेके उद्देश्यसे बनाया गया हो, उसे प्रेक्षागृह या प्रेक्षाभवन कहते हैं।

बाल सफेद हो गये थे। वे श्वेत पुष्पोंकी माला और श्वेत चन्दनसे सुशोभित हो रहे थे ॥ १९-२० ॥

स यथासमयं चक्रे बलिं बलवतां वरः।
ब्राह्मणांस्तु सुमन्त्रज्ञान् कारयामास मङ्गलम् ॥ २१ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ द्रोणने यथासमय देव-पूजा की और श्रेष्ठ मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंसे मङ्गलपाठ करवाया ॥ २१ ॥

(सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राणि विविधानि च।
प्रददौ दक्षिणां राजा द्रोणस्य च कृपस्य च ॥)
सुखपुण्याहघोषस्य पुण्यस्य समनन्तरम्।
विविशुर्विविधं गृह्य शस्त्रोपकरणं नराः ॥ २२ ॥

उस समय राजा धृतराष्ट्रने सुवर्ण, मणि, रत्न तथा नाना प्रकारके वस्त्र आचार्य द्रोण और कृपको दक्षिणारूपमें दिये। फिर सुखमय पुण्याहवाचन तथा दान-होम आदि पुण्यकर्मोंके अनन्तर नाना प्रकारकी शस्त्र-सामग्री लेकर बहुत-से मनुष्योंने उस रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

ततो बद्धाङ्गुलित्राणा बद्धकक्षा महारथाः।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ॥ २३ ॥

उसके बाद भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ वे वीर राजकुमार बड़े-बड़े रथोंके साथ दस्ताने पहने, कमर कसे, पीठपर तूणीर बाँधे और धनुष लिये हुए उस रङ्गमण्डपके भीतर आये ॥ २३ ॥

अनुज्येष्ठं तु ते तत्र युधिष्ठिरपुरोगमाः।
(रणमध्ये स्थितं द्रोणमभिवाद्य नरर्षभाः।
पूजां चक्रुर्यथान्यायं द्रोणस्य च कृपस्य च ॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि उन राजकुमारोंने जेठे-छोटेके क्रमसे स्थित हो उस रङ्गभूमिके मध्यभागमें बैठे हुए आचार्य द्रोणको प्रणाम करके द्रोण और कृप दोनों आचार्योंकी यथोचित पूजा की ॥

आशीर्भिश्च प्रयुक्ताभिः सर्वे संहृष्टमानसाः।
अभिवाद्य पुनः शस्त्रान् बलिपुष्पैः समन्वितान् ॥
रक्तचन्दनसम्मिश्रैः स्वयमार्चन्त कौरवाः।
रक्तचन्दनदिग्धाश्च रक्तमाल्यानुधारिणः ॥
सर्वे रक्तपताकाश्च सर्वे रक्तान्तलोचनाः।
द्रोणेन समनुज्ञाता गृह्य शस्त्रं परंतपाः ॥
धनूंषि पूर्वं संगृह्य तप्तकाञ्चनभूषिताः।
सज्यानि विविधाकारैः शरैः संधाय कौरवाः ॥
ज्याघोषं तलघोषं च कृत्वा भूतान्यपूजयन्।)
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ॥ २४ ॥

फिर उनसे आशीर्वाद पाकर उन सबका मन प्रसन्न हो गया। तत्पश्चात् पूजाके पुष्पोंसे आच्छादित अस्त्र-शस्त्रोंको प्रणाम करके कौरवोंने रक्त चन्दन और फूलोंद्वारा पुनः स्वयं उनका पूजन किया। वे सब-के-सब लाल चन्दनसे चर्चित तथा लाल रंगकी मालाओंसे विभूषित थे। सबके रथोंपर लाल रंगकी पताकाएँ थीं। सभीके नेत्रोंके कोने लाल रंगके थे। तदनन्तर तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित एवं शत्रुओंको संताप देनेवाले कौरव-राजकुमारोंने आचार्य द्रोणकी आज्ञा पाकर पहले अपने अस्त्र एवं धनुष लेकर डोरी चढ़ायी और उसपर भाँति-भाँतिकी आकृतिके बाणोंका संधान करके प्रत्यञ्चाका टंकार करते और ताल ठोंकते हुए समस्त प्राणियोंका आदर किया। तत्पश्चात् वे महापराक्रमी राजकुमार वहाँ परम अद्भुत अस्त्र-कौशल प्रकट करने लगे ॥ २४ ॥

केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षाञ्चक्रुः सुविस्मिताः ॥ २५ ॥

कितने ही मनुष्य बाण लग जानेके डरसे अपना मस्तक झुका देते थे। दूसरे लोग अत्यन्त विस्मित होकर बिना किसी भयके सब कुछ देखते थे ॥ २५ ॥

ते स्म लक्ष्याणि बिभिदुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ॥ २६ ॥

वे राजकुमार घोड़ोंपर सवार हो अपने नामके अक्षरोंसे सुशोभित और बड़ी फुर्तीके साथ छोड़े हुए नाना प्रकारके बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक लक्ष्यवेध करने लगे ॥ २६ ॥

तत् कुमारबलं तत्र गृहीतशरकार्मुकम्।
गन्धर्वनगराकारं प्रेक्ष्य ते विस्मिताभवन् ॥ २७ ॥

धनुष-बाण लिये हुए राजकुमारोंके उस समुदायको गन्धर्वनगरके समान अद्भुत देख वहाँ समस्त दर्शक आश्चर्य-चकित हो गये ॥ २७ ॥

सहसा चुक्रुशुश्चान्ये नराः शतसहस्रशः।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत ॥ २८ ॥

जनमेजय! सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें एक-एक जगह बैठे हुए लोग आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखते हुए सहसा 'साधु-साधु (वाह-वाह)' कहकर कोलाहल मचा देते थे ॥ २८ ॥

कृत्वा धनुषि ते मार्गान् रथचर्यासु चासकृत्।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलः ॥ २९ ॥

उन महाबली राजकुमारोंने पहले धनुष-बाणके पैंतरे दिखाये। तदनन्तर रथ-संचालनके विविध मार्गों (शीघ्र ले जाना, लौटा लाना, दायें, बायें और मण्डलाकार चलाना आदि) का अवलोकन कराया। फिर कुश्ती लड़ने तथा हाथी और घोड़ेकी पीठपर बैठकर युद्ध करनेकी चातुरीका परिचय दिया ॥ २९ ॥

गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः।
त्सरुमार्गान् यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ॥ ३० ॥

इसके बाद वे ढाल और तलवार लेकर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए खड्ग चलानेके शास्त्रोक्त मार्ग (ऊपर-नीचे

और अगल-बगलमें घुमानेकी कला) का प्रदर्शन करने लगे। उन्होंने रथ, हाथी, घोड़े और भूमि—इन सभी भूमियोंपर यह युद्ध-कौशल दिखाया ॥ ३० ॥

लाघवं सौष्ठवं शोभां स्थिरत्वं दृढमुष्टिताम्।
ददृशुस्तत्र सर्वेषां प्रयोगं खड्गचर्मणोः ॥ ३१ ॥

दर्शकोंने उन सबके ढाल-तलवारके प्रयोगोंको देखा। उसकलामें उनकी फुर्ती, चतुरता, शोभा, स्थिरता और मुट्ठीकी दृढ़ताका अवलोकन किया ॥ ३१ ॥

अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाचलौ ॥ ३२ ॥

तदनन्तर सदा एक दूसरेको जीतनेका उत्साह रखनेवाले दुर्योधन और भीमसेन हाथमें गदा लिये रङ्गभूमिमें उतरे। उस समय वे एक-एक शिखरवाले दो पर्वतोंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३२ ॥

बद्धकक्षौ महाबाहू पौरुषे पर्यवस्थितौ।
बृंहन्तौ वासितार्हेतोः समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३३ ॥

वे दोनों महाबाहु कमर कसकर पुरुषार्थ दिखानेके लिये आमने-सामने डटकर खड़े थे और गर्जना कर रहे थे, मानो दो मतवाले गजराज किसी हथिनीके लिये एक दूसरेसे भिड़ना चाहते और चिग्घाड़ते हों ॥ ३३ ॥

तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ।
चेरतुर्मण्डलगतौ समदाविव कुञ्जरौ ॥ ३४ ॥

वे दोनों महाबली योद्धा अपनी-अपनी गदाको दायें-बायें मण्डलाकार घुमाते हुए दो मदोन्मत्त हाथियोंकी भाँति मण्डलके भीतर विचरने लगे ॥ ३४ ॥

विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्याः पाण्डवारणिः।
न्यवेदयेतां तत् सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ॥ ३५ ॥

विदुर धृतराष्ट्रको और पाण्डव जननी कुन्ती गान्धारीको उन राजकुमारोंकी सारी चेष्टाएँ बताती जाती थीं ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वण्यस्त्रदर्शने त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्र-कौशलदर्शनविषयक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ४२½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेन, दुर्योधन तथा अर्जुनके द्वारा अस्त्रकौशलका प्रदर्शन

वैशम्पायन उवाच

कुरुराजे हि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधेवाभवज्जनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुरुराज दुर्योधन और बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन रङ्गभूमिमें उतरकर गदा-युद्ध कर रहे थे, उस समय दर्शक जनता उनके प्रति पक्षपात-पूर्ण स्नेह करनेके कारण मानो दो दलोंमें बँट गयी ॥ १ ॥

हा वीर कुरुराजेति हा भीम इति जल्पताम्।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ॥ २ ॥

कुछ कहते, 'अहो! वीर कुरुराज कैसा अद्भुत पराक्रम दिखा रहे हैं।' दूसरे बोल उठते, 'वाह! भीमसेन तो गजब-का हाथ मारते हैं।' इस तरहकी बातें करनेवाले लोगोंकी भारी आवाजें वहाँ सहसा सब ओर गूँजने लगीं ॥ २ ॥

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रङ्गमालोक्य बुद्धिमान्।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥ ३ ॥

फिर तो सारी रङ्गभूमिमें क्षुब्ध महासागरके समान हलचल मच गयी। यह देख बुद्धिमान् द्रोणाचार्यने अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामासे कहा ॥ ३ ॥

द्रोण उवाच

वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि।
मा भूद् रङ्गप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ॥ ४ ॥

द्रोण बोले—वत्स! ये दोनों महापराक्रमी वीर अस्त्र-विद्यामें अत्यन्त अभ्यस्त हैं। तुम इन दोनोंको युद्धसे रोको, जिससे भीमसेन और दुर्योधनको लेकर रङ्गभूमिमें सब ओर क्रोध न फैल जाय ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

(तत उत्थाय वेगेन अश्वत्थामा न्यवारयत्।
गुरोराज्ञा भीम इति गान्धारे गुरुशासनम्।
अलं योग्यकृतं वेगमलं साहसमित्युत ॥)
ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेलाविवार्णवौ ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अश्वत्थामाने बड़े वेगसे उठकर भीमसेन और दुर्योधनको रोकते हुए कहा—'भीम! तुम्हारे गुरुकी आज्ञा है, गान्धारीनन्दन! आचार्यका आदेश है, तुम दोनोंका युद्ध बंद होना चाहिये। तुम दोनों ही योग्य हो, तुम्हारा एक-दूसरेके प्रति वेगपूर्वक आक्रमण अवाञ्छनीय है। तुम दोनोंका यह दुःसाहस अनुचित है। अतः इसे बंद करो।' इस प्रकार कहकर प्रलयकालीन वायुसे विक्षुब्ध उत्ताल तरङ्गोंवाले दो समुद्रोंकी भाँति गदा उठाये हुए दुर्योधन और भीमसेनको गुरुपुत्र अश्वत्थामाने युद्धसे रोक दिया ॥ ५ ॥

ततो रङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम् ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् द्रोणाचार्यने महान् मेघोंके समान कोलाहल करनेवाले बाजोंको बंद कराकर रङ्गभूमिमें उपस्थित हो यह बात कही—॥ ६ ॥

यो मे पुत्रात् प्रियतरः सर्वशस्त्रविशारदः ।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ॥ ७ ॥

'दर्शकगण ! जो मुझे पुत्रसे भी अधिक प्रिय है, जिसने सम्पूर्ण शस्त्रोंमें निपुणता प्राप्त की है तथा जो भगवान् नारायण-के समान पराक्रमी है, उस इन्द्रकुमार कुन्तीपुत्र अर्जुनका कौशल आपलोग देखें' ॥ ७ ॥

आचार्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः पूर्णतूणः सकार्मुकः ॥ ८ ॥
काञ्चनं कवचं बिभ्रत् प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ।
सार्कः सेन्द्रायुधतडित् ससंध्य इव तोयदः ॥ ९ ॥

तदनन्तर आचार्यके कहनेसे स्वस्तिवाचन कराकर तरुण वीर अर्जुन गोहके चमड़ेके बने हुए हाथके दस्ताने पहने, बाणोंसे भरा तरकस लिये धनुषसहित रङ्गभूमिमें दिखायी दिये। वे श्याम शरीरपर सोनेका कवच धारण किये ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो सूर्य, इन्द्रधनुष, विद्युत् और संध्याकालसे युक्त मेघ शोभा पाता हो ॥ ८-९ ॥

ततः सर्वस्य रङ्गस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत् ।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशङ्खानि समन्ततः ॥ १० ॥

फिर तो समूचे रङ्गमण्डपमें हर्षोल्लास छा गया। सब ओर भाँति-भाँतिके बाजे और शंख बजने लगे ॥ १० ॥

एष कुन्तीसुतः श्रीमानेष मध्यमपाण्डवः ।
एष पुत्रो महेन्द्रस्य कुरूणामेष रक्षिता ॥ ११ ॥
एषोऽस्त्रविदुषां श्रेष्ठ एष धर्मभृतां वरः ।
एष शीलवतां चापि शीलज्ञाननिधिः परः ॥ १२ ॥
इत्येवं तुमुला वाचः शृण्वत्याः प्रेक्षकेरिताः ।
कुन्त्याः प्रस्रवसंयुक्तैरस्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत् ॥ १३ ॥

'ये कुन्तीके तेजस्वी पुत्र हैं। ये ही पाण्डुके मझले बेटे हैं। ये देवराज इन्द्रकी संतान हैं। ये ही कुरुवंशके रक्षक हैं। अस्त्र-विद्याके विद्वानोंमें ये सबसे उत्तम हैं। ये धर्मात्माओं और शीलवानोंमें श्रेष्ठ हैं। शील और ज्ञानकी तो ये सर्वोत्तम निधि हैं।' उस समय दर्शकोंके मुखसे तुमुल ध्वनिके साथ निकली हुई ये बातें सुनकर कुन्तीके स्तनोंसे दूध और नेत्रोंसे स्नेहके आँसू बहने लगे। उन दुग्धमिश्रित आँसुओंसे कुन्ती-देवीका वक्षःस्थल भीग गया ॥ ११-१३ ॥

तेन शब्देन महता पूर्णश्रुतिरथाब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठो विदुरं हृष्टमानसः ॥ १४ ॥

वह महान् कोलाहल धृतराष्ट्रके कानोंमें भी गूँज उठा। तब नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र प्रसन्नचित्त होकर विदुरसे पूछने लगे—॥ १४ ॥

क्षत्तः क्षुब्धार्णवनिभः किमेष सुमहास्वनः ।
सहसैवोत्थितो रङ्गे भिन्दन्निव नभस्तलम् ॥ १५ ॥

'विदुर ! विक्षुब्ध महासागरके समान यह कैसा महान् कोलाहल हो रहा है ? यह शब्द मानो आकाशको विदीर्ण करता हुआ रङ्गभूमिमें सहसा व्यक्त हो उठा है' ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

एष पार्थो महाराज फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
अवतीर्णः सकवचस्तत्रैष सुमहास्वनः ॥ १६ ॥

विदुरने कहा—महाराज ! ये पाण्डुनन्दन अर्जुन कवच बाँधकर रङ्गभूमिमें उतरे हैं। इसी कारण यह भारी आवाज हो रही है ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि रक्षितोऽस्मि महामते ।
पृथारणिसमुद्भूतैस्त्रिभिः पाण्डववह्निभिः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महामते ! कुन्तीरूपी अरणिसे प्रकट हुए इन तीनों पाण्डवरूपी अग्नियोंसे मैं धन्य हो गया। इन तीनोंके द्वारा मैं सर्वथा अनुगृहीत और सुरक्षित हूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् प्रमुदिते रङ्गे कथंचित् प्रत्युपस्थिते ।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्यायास्त्रलाघवम् ॥ १८ ॥
आग्नेयेनासृजद् वह्निं वारुणेनासृजत् पयः ।
वायव्येनासृजद् वायुं पार्जन्येनासृजद् घनान् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार आनन्दातिरेकसे मुखरित हुआ वह रङ्गमण्डप जब किसी तरह कुछ शान्त हुआ, तब अर्जुनने आचार्यको अपनी अस्त्रसंचालन-की फुर्ती दिखानी आरम्भ की। उन्होंने पहले आग्नेयास्त्रसे आग पैदा की, फिर वारुणास्त्रसे जल उत्पन्न करके उसे बुझा दिया। वायव्यास्त्रसे आँधी चला दी और पर्जन्यास्त्रसे बादल पैदा कर दिये ॥ १८-१९ ॥

भौमेन प्राविशद् भूमिं पार्वतेनासृजद् गिरीन् ।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ २० ॥

उन्होंने भौमास्त्रसे पृथ्वी और पार्वतास्त्रसे पर्वतोंको उत्पन्न कर दिया; फिर अन्तर्धानास्त्रके द्वारा वे स्वयं अदृश्य हो गये। २०।

क्षणात् प्रांशुः क्षणाद्ध्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः ।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनावतरन्महीम् ॥ २१ ॥

वे क्षणभरमें बहुत लंबे हो जाते और क्षणभरमें ही बहुत छोटे बन जाते थे। एक क्षणमें रथके धुरेपर खड़े होते

तो दूसरे क्षण रथके बीचमें दिखायी देते थे। फिर पलक मारते-मारते पृथ्वीपर उतरकर अस्त्र-कौशल दिखाने लगते थे ॥ २१ ॥

सुकुमारं च सूक्ष्मं च गुरुं चापि गुरुप्रियः।
सौष्ठवेनाभिसंक्षिप्तः सोऽविध्यद् विविधैः शरैः॥ २२ ॥

अपने गुरुके प्रिय शिष्य अर्जुनने बड़ी फुर्ती और खूबसूरतीके साथ सुकुमार, सूक्ष्म और भारी निशानेको भी बिना हिलाये-डुलाये नाना प्रकारके बाणोंद्वारा बींध दिया ॥ २२ ॥

भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम्।
पञ्च बाणानसंयुक्तान् सम्मुमोचैकबाणवत्॥ २३ ॥

रङ्गभूमिमें लोहेका बना हुआ सूअर इस प्रकार रक्खा गया था कि वह सब ओर चक्कर लगा रहा था। उस घूमते हुए सूअरके मुखमें अर्जुनने एक ही साथ एक बाणकी भाँति पाँच बाण मारे। वे पाँचों बाण एक दूसरेसे सटे हुए नहीं थे ॥ २३ ॥

गव्ये विषाणकोषे च चले रज्ज्ववलम्बिनि।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम्॥ २४ ॥

एक जगह गायका सींग एक रस्सीमें लटकाया गया था, जो हिल रहा था। महापराक्रमी अर्जुनने उस सींगके छेदमें लगातार इक्कीस बाण गड़ा दिये ॥ २४ ॥

इत्येवमादि सुमहत् खड्गे धनुषि चानघ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि ह्यदर्शयत्॥ २५ ॥

निष्पाप जनमेजय! इस प्रकार उन्होंने बड़ा भारी अस्त्र-कौशल दिखाया। खड्ग, धनुष और गदा आदिके भी शस्त्र-कुशल अर्जुनने अनेक पैंतरे और हाथ दिखलाये ॥ २५ ॥

ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन् कर्मणि भारत।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने॥ २६ ॥
द्वारदेशात् समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः॥ २७ ॥

भारत! इस प्रकार अस्त्रकौशल दिखानेका अधिकांश कार्य जब समाप्त हो चला, मनुष्योंका कोलाहल और बाजे-गाजेका शब्द जब शान्त होने लगा, उसी समय दरवाजेकी ओरसे किसीका अपनी भुजाओंपर ताल ठोंकनेका भारी शब्द सुनायी पड़ा; मानो वज्र आपसमें टकरा रहे हों। वह शब्द किसी वीरके माहात्म्य तथा बलका सूचक था ॥ २६-२७ ॥

दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद् भूमिर्विदीर्यते।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः॥ २८ ॥

उसे सुनकर लोग कहने लगे, 'कहीं पहाड़ तो नहीं फट गये! पृथ्वी तो नहीं विदीर्ण हो गयी! अथवा जलकी धारासे परिपूर्ण घनीभूत बादलोंकी गम्भीर गर्जनासे आकाश-मण्डल तो नहीं गूँज रहा है?' ॥ २८ ॥

रङ्गस्यैवं मतिरभूत् क्षणेन वसुधाधिप।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा॥ २९ ॥

राजन्! उस रङ्गमण्डपमें बैठे हुए लोगोंके मनमें क्षणभरमें उपर्युक्त विचार आने लगे। उस समय सभी दर्शक दरवाजेकी ओर मुँह घुमाकर देखने लगे ॥ २९ ॥

पञ्चभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतो बभौ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः॥ ३० ॥

इधर कुन्तीकुमार पाँचों भाइयोंसे घिरे हुए आचार्य द्रोण पाँच तारोंवाले हस्त नक्षत्रसे संयुक्त चन्द्रमाकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ३० ॥

अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम्।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत्॥ ३१ ॥
स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधै-
र्गदाग्रपाणिः समवस्थितैर्वृतः।
बभौ यथा दानवसंक्षये पुरा
पुरन्दरो देवगणैः समावृतः॥ ३२ ॥

शत्रुहन्ता बलवान् दुर्योधन भी उठकर खड़ा हो गया। अश्वत्थामासहित उसके सौ भाइयोंने आकर उसे चारों ओरसे घेर लिया। हाथोंमें आयुध उठाये खड़े हुए अपने भाइयोंसे घिरा हुआ गदाधारी दुर्योधन पूर्वकालमें दानवसंहारके समय देवताओंसे घिरे देवराज इन्द्रके समान शोभा पाने लगा। ३१-३२।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अस्त्रदर्शने चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्रदर्शनविषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कर्णका रङ्गभूमिमें प्रवेश तथा राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः।
विवेश रङ्गं विस्तीर्णं कर्णः परपुरंजयः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! आश्चर्यसे आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए द्वारपालोंने जब भीतर जानेका मार्ग दे दिया, तब शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले कर्णने उस विशाल रङ्गमण्डपमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः।
सधनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः॥ २ ॥

उसने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए दिव्य कवचको धारण कर रक्खा था। दोनों कानोंके कुण्डल उसके मुखको उद्भासित कर रहे थे। हाथमें धनुष लिये और कमरमें तलवार बाँधे वह वीर पैरोंसे चलनेवाले पर्वतकी भाँति सुशोभित हो रहा था॥ २॥

कन्यागर्भः पृथुयशाः पृथायाः पृथुलोचनः।
तीक्ष्णांशोर्भास्करस्यांशः कर्णोऽरिगणसूदनः॥ ३ ॥

कुन्तीने कन्यावस्थामें ही उसे अपने गर्भमें धारण किया था। उसका यश सर्वत्र फैला हुआ था। उसके दोनों नेत्र बड़े-बड़े थे। शत्रुसमुदायका संहार करनेवाला कर्ण प्रचण्ड किरणोंवाले भगवान् भास्करका अंश था॥ ३॥

सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः॥ ४ ॥

उसमें सिंहके समान बल, साँड़के समान वीर्य तथा गजराजके समान पराक्रम था, वह दीप्तिसे सूर्य, कान्तिसे चन्द्रमा तथा तेजरूपी गुणसे अग्निके समान जान पड़ता था॥ ४॥

प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा।
असंख्येयगुणः श्रीमान् भास्करस्यात्मसम्भवः॥ ५ ॥

उसका शरीर बहुत ऊँचा था, अतः वह सुवर्णमय ताड़के वृक्ष-सा प्रतीत होता था। उसके अङ्गोंकी गठन सिंह-जैसी जान पड़ती थी। उसमें असंख्य गुण थे। उसकी तरुण अवस्था थी। वह साक्षात् भगवान् सूर्यसे उत्पन्न हुआ था, अतः (उन्हींके समान) दिव्य शोभासे सम्पन्न था॥ ५॥

स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम्।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत्॥ ६ ॥

उस समय महाबाहु कर्णने रङ्गमण्डपमें सब ओर दृष्टि डालकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्यको इस प्रकार प्रणाम किया, मानो उनके प्रति उसके मनमें अधिक आदरका भाव न हो॥ ६॥

स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत्॥ ७ ॥

रङ्गभूमिमें जितने लोग थे, वे सब निश्चल होकर एकटक दृष्टिसे देखने लगे। यह कौन है, यह जाननेके लिये उनका चित्त चञ्चल हो उठा। वे सब-के-सब उत्कण्ठित हो गये॥७॥

सोऽब्रवीन्मेघगम्भीरस्वरेण वदतां वरः।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम्॥ ८ ॥

इतनेमें ही वक्ताओंमें श्रेष्ठ सूर्यपुत्र कर्ण, जो पाण्डवोंका भाई लगता था, अपने अज्ञात भ्राता इन्द्रकुमार अर्जुनसे मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोला—॥ ८॥

पार्थ यत् ते कृतं कर्म विशेषवदहं ततः।
करिष्ये पश्यतां नृणां माऽऽत्मना विस्मयं गमः॥ ९ ॥

'कुन्तीनन्दन! तुमने इन दर्शकोंके समक्ष जो कार्य किया है, मैं उससे भी अधिक अद्भुत कर्म कर दिखाऊँगा। अतः तुम अपने पराक्रमपर गर्व न करो'॥ ९॥

असमाप्ते ततस्तस्य वचने वदतां वर।
यन्त्रोत्क्षिप्त इवोत्तस्थौ क्षिप्रं वै सर्वतो जनः॥ १० ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ जनमेजय! कर्णकी बात अभी पूरी हीन हो पायी थी कि सब ओरके मनुष्य तुरंत उठकर खड़े हो गये, मानो उन्हें किसी यन्त्रसे एक साथ उठा दिया गया हो॥ १०॥

प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत्।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वाविवेश ह॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ! उस समय दुर्योधनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई और अर्जुनके चित्तमें क्षणभरमें लज्जा और क्रोधका संचार हो आया॥ ११॥

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा।
यत् कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः॥ १२ ॥

तब सदा युद्धसे ही प्रेम करनेवाले महाबली कर्णने द्रोणाचार्यकी आज्ञा लेकर, अर्जुनने वहाँ जो-जो अस्त्र-कौशल प्रकट किया था, वह सब कर दिखाया॥ १२॥

अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत्॥ १३ ॥

भारत! तदनन्तर भाइयोंसहित दुर्योधनने वहाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ कर्णको हृदयसे लगाकर कहा॥ १३॥

दुर्योधन उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद।
अहं च कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम्॥ १४ ॥

दुर्योधन बोला—महाबाहो! तुम्हारा स्वागत है। मानद! तुम यहाँ पधारे, यह हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। मैं तथा कौरवोंका यह राज्य सब तुम्हारे हैं। तुम इनका यथेष्ट उपभोग करो॥ १४॥

कर्ण उवाच

कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छाम्यहं प्रभो॥ १५ ॥

कर्णने कहा—प्रभो! आपने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा कर दिया, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं आपके साथ मित्रता चाहता हूँ और अर्जुनके साथ मेरी द्वन्द्व-युद्ध करनेकी इच्छा है॥ १५॥

दुर्योधन उवाच

भुङ्क्ष्व भोगान् मया सार्धं बन्धूनां प्रियकृद् भव।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिंदम॥ १६॥

दुर्योधन बोला—शत्रुदमन! तुम मेरे साथ उत्तम भोग भोगो। अपने भाई-बन्धुओंका प्रिय करो और समस्त शत्रुओंके मस्तकपर पैर रक्खो॥ १६॥

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम्॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अर्जुनने अपने-आपको कर्णद्वारा तिरस्कृत-सा मानकर दुर्योधन आदि सौ भाइयोंके बीचमें अविचल-से खड़े हुए कर्णको सम्बोधित करके कहा॥ १७॥

अर्जुन उवाच

अनाहूतोपसृष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम्।
ये लोकास्तान् हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे॥ १८॥

अर्जुन बोले—कर्ण! बिना बुलाये आनेवालों और बिना बुलाये बोलनेवालोंको जो (निन्दनीय) लोक प्राप्त होते हैं, मेरे द्वारा मारे जानेपर तुम उन्हीं लोकोंमें जाओगे॥ १८॥

कर्ण उवाच

रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्तते॥ १९॥

कर्णने कहा—अर्जुन! यह रङ्गमण्डप तो सबके लिये साधारण है, इसमें तुम्हारा क्या लगा है? जो बल और पराक्रममें श्रेष्ठ होते हैं, वे ही राजा कहलाने योग्य हैं। धर्म भी बलका ही अनुसरण करता है॥ १९॥

किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत।
गुरोः समक्षं यावत् ते हराम्यद्य शिरः शरैः॥ २०॥

भारत! आक्षेप करना तो दुर्बलोंका प्रयास है। इससे क्या लाभ है? साहस हो तो बाणोंसे बातचीत करो। मैं आज तुम्हारे गुरुके सामने ही बाणोंद्वारा तुम्हारा सिर धड़से अलग किये देता हूँ॥ २०॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरंजयः।
भ्रातृभिस्त्वरयाऽऽश्लिष्टो रणायोपजगाम तम्॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोणकी आज्ञा ले तुरंत अपने भाइयोंसे गले मिलकर युद्धके लिये कर्णकी ओर बढ़े॥ २१॥

ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः॥ २२॥

तब भाइयोंसहित दुर्योधनने भी धनुष-बाण ले युद्धके लिये तैयार खड़े हुए कर्णका आलिङ्गन किया॥ २२॥

ततः सविद्युत्स्तनितैः सेन्द्रायुधपुरोगमैः।
आवृतं गगनं मेघैर्बलाकापङ्क्तिहासिभिः॥ २३॥

उस समय बकपंक्तियोंके व्याजसे हास्यकी छटा बिखेरनेवाले बादलोंने बिजलीकी चमक, गड़गड़ाहट और इन्द्रधनुषके साथ समूचे आकाशको ढक लिया॥ २३॥

ततः स्नेहाद्धरिहयं दृष्ट्वा रङ्गावलोकिनम्।
भास्करोऽप्यनयन्नाशं समीपोपगतान् घनान्॥ २४॥

तत्पश्चात् अर्जुनके प्रति स्नेह होनेके कारण इन्द्रको रङ्गभूमिका अवलोकन करते देख भगवान् सूर्यने भी अपने समीपके बादलोंको छिन्न-भिन्न कर दिया॥ २४॥

मेघच्छायोपगूढस्तु ततोऽदृश्यत फाल्गुनः।
सूर्यातपपरिक्षिप्तः कर्णोऽपि समदृश्यत॥ २५॥

तब अर्जुन मेघकी छायामें छिपे हुए दिखायी देने लगे और कर्ण भी सूर्यकी प्रभासे प्रकाशित दीखने लगा॥ २५॥

धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन् देशे व्यवस्थिताः।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन्॥ २६॥

धृतराष्ट्रके पुत्र जिस ओर कर्ण था, उसी ओर खड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म जिधर अर्जुन थे, उस ओर खड़े थे॥ २६॥

द्विधा रङ्गः समभवत् स्त्रीणां द्वैधमजायत।
कुन्तिभोजसुता मोहं विज्ञातार्था जगाम ह॥ २७॥

रङ्गभूमिके पुरुषों और स्त्रियोंमें भी कर्ण और अर्जुनको लेकर दो दल हो गये। कुन्तिभोजकुमारी कुन्तीदेवी वास्तविक रहस्यको जानती थीं (कि ये दोनों मेरे ही पुत्र हैं), अतः चिन्ताके कारण उन्हें मूर्च्छा आ गयी॥ २७॥

तां तथा मोहमापन्नां विदुरः सर्वधर्मवित्।
कुन्तीमाश्वासयामास प्रेष्याभिश्चन्दनोदकैः॥ २८॥

उन्हें इस प्रकार मूर्च्छामें पड़ी हुई देख सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने दासियोंद्वारा चन्दनमिश्रित जल छिड़कवाकर होशमें लानेकी चेष्टा की॥ २८॥

ततः प्रत्यागतप्राणा तावुभौ परिदंशितौ।
पुत्रौ दृष्ट्वा सुसम्भ्रान्ता नान्वपद्यत किंचन॥ २९॥

इससे कुन्तीको होश तो आ गया; किंतु अपने दोनों पुत्रोंको युद्धके लिये कवच धारण किये देख वे बहुत घबरा गयीं। उन्हें रोकनेका कोई उपाय उनके ध्यानमें नहीं आया॥ २९॥

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत्।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित्॥ ३०॥

उन दोनोंको विशाल धनुष उठाये देख द्वन्द्व-युद्धकी नीति-रीतिमें कुशल और समस्त धर्मोंके ज्ञाता शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने इस प्रकार कहा—॥ ३० ॥

अयं पृथायास्तनयः कनीयान् पाण्डुनन्दनः।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ॥ ३१ ॥
त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम्।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणम् ॥ ३२ ॥

'कर्ण! ये कुन्तीदेवीके सबसे छोटे पुत्र पाण्डुनन्दन अर्जुन कुरुवंशके रत्न हैं, जो तुम्हारे साथ द्वन्द्व-युद्ध करेंगे। महाबाहो! इसी प्रकार तुम भी अपने माता-पिता तथा कुलका परिचय दो और उन नरेशके नाम बताओ, जिनका वंश तुमसे विभूषित हुआ है ॥ ३१-३२ ॥

ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा।
वृथाकुलसमाचारैर्न युध्यन्ते नृपात्मजाः ॥ ३३ ॥

'इसे जान लेनेके बाद यह निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे या नहीं; क्योंकि राजकुमार नीच कुल और हीन आचार-विचारवाले लोगोंके साथ युद्ध नहीं करते' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम्।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कृपाचार्यके यों कहनेपर कर्णका मुख लज्जासे नीचेको झुक गया। जैसे वर्षाके पानीसे भींगकर कमल मुरझा जाता है, उसी प्रकार कर्णका मुँह म्लान हो गया ॥ ३४ ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥ ३५ ॥

तब दुर्योधनने कहा—आचार्य! शास्त्रीय सिद्धान्तके अनुसार राजाओंकी तीन योनियाँ हैं—उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुष, शूरवीर तथा सेनापति (अतः शूरवीर होनेके कारण कर्ण भी राजा ही हैं) ॥ ३५ ॥

यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥ ३६ ॥

यदि ये अर्जुन राजासे भिन्न पुरुषके साथ रणभूमिमें लड़ना नहीं चाहते तो मैं कर्णको इसी समय अङ्गदेशके राज्यपर अभिषिक्त करता हूँ ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ततो राजानमामन्त्र्य गाङ्गेयं च पितामहम्।
अभिषेकस्य सम्भारान् समानीय द्विजातिभिः ॥)
ततस्तस्मिन् क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः।
काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ॥ ३७ ॥
अभिषिक्तोऽङ्गराज्ये स श्रिया युक्तो महाबलः।
(समौलिहारकेयूरैः सहस्ताभरणाङ्गदैः।
राजलिङ्गैस्तथान्यैश्च भूषितो भूषणैः शुभैः ॥)
सच्छत्रवालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर दुर्योधनने राजा धृतराष्ट्र और गङ्गानन्दन भीष्मकी आज्ञा ले ब्राह्मणोंद्वारा अभिषेकका सामान मँगवाया। फिर उसी समय महाबली एवं महारथी कर्णको सोनेके सिंहासनपर बिठाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंने लावा और फूलोंसे युक्त सुवर्णमय कलशोंके जलसे अङ्गदेशके राज्यपर अभिषिक्त किया। तब मुकुट,



हार, केयूर, कंगन, अंगद, राजोचित चिह्न तथा अन्य शुभ आभूषणोंसे विभूषित हो वह छत्र, चँवर तथा जय-जयकारके साथ राज्यश्रीसे सुशोभित होने लगा ॥ ३७-३८ ॥

(सभाज्यमानो विप्रैश्च प्रदत्त्वा ह्यमितं वसु।)
उवाच कौरवं राजन् वचनं स वृषस्तदा।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददानि ते ॥ ३९ ॥
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥ ४० ॥

फिर ब्राह्मणोंसे समादृत हो राजा कर्णने उन्हें असीम धन प्रदान किया। राजन्! उस समय उसने कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनसे कहा—'नृपतिशिरोमणे! आपने मुझे जो यह राज्य प्रदान किया है, इसके अनुरूप मैं आपको क्या भेंट दूँ? बताइये, आप जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगा।' यह सुनकर दुर्योधनने कहा—'अङ्गराज! मैं तुम्हारे साथ ऐसी मित्रता

चाहता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो' ॥ ३९-४० ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाच तम्।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः ॥ ४१ ॥

उसके यों कहनेपर कर्णने 'तथास्तु' कहकर उसके साथ मैत्री कर ली। फिर वे दोनों बड़े हर्षसे एक दूसरेको हृदयसे लगाकर आनन्दमग्न हो गये ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कर्णाभिषेके पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कर्णके राज्याभिषेकसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१३५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं।)

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा कर्णका तिरस्कार और दुर्योधनद्वारा उसका सम्मान

वैशम्पायन उवाच

ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः।
विवेशाधिरथो रङ्गं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर लाठी ही जिसका सहारा था, वह अधिरथ कर्णको पुकारता हुआ-सा काँपता-काँपता रङ्गभूमिमें आया। उसकी चादर खिसककर गिर पड़ी थी और वह पसीनेसे लथपथ हो रहा था ॥ १ ॥

तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥ २ ॥

पिताके गौरवसे बँधा हुआ कर्ण अधिरथको देखते ही धनुष त्यागकर सिंहासनसे नीचे उतर आया। उसका मस्तक अभिषेकके जलसे भीगा हुआ था। उसी दशामें उसने अधिरथके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया ॥ २ ॥

ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससम्भ्रमः।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद् रथसारथिः ॥ ३ ॥

अधिरथने अपने दोनों पैरोंको कपड़ेके छोरसे छिपा लिया और 'बेटा! बेटा!' पुकारते हुए अपनेको कृतार्थ समझा ॥ ३ ॥

परिष्वज्य च तस्याथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः।
अङ्गराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥ ४ ॥

उसने स्नेहसे विह्वल होकर कर्णको हृदयसे लगा लिया और अङ्गदेशके राज्यपर अभिषेक होनेसे भीगे हुए उसके मस्तकको आँसुओंसे पुनः अभिषिक्त कर दिया ॥ ४ ॥

तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवः।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत् प्रहसन्निव ॥ ५ ॥

अधिरथको देखकर पाण्डुकुमार भीमसेन यह समझ गये कि कर्ण सूतपुत्र है; फिर तो वे हँसते हुए-से बोले—॥ ५ ॥

न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम्।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥ ६ ॥

'अरे ओ सूतपुत्र! तू तो अर्जुनके हाथसे मरने योग्य भी नहीं है। तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथमें लेना चाहिये; क्योंकि यही तेरे कुलके अनुरूप है ॥ ६ ॥

अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥ ७ ॥

'नराधम! जैसे यज्ञमें अग्निके समीप रक्खे हुए पुरोडाशको कुत्ता नहीं पा सकता, उसी प्रकार तू भी अङ्गदेशका राज्य भोगने योग्य नहीं है' ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः।
गगनस्थं विनिःश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ॥ ८ ॥

भीमसेनके यों कहनेपर क्रोधके मारे कर्णका होठ कुछ काँपने लगा और उसने लंबी साँस लेकर आकाशमण्डलमें स्थित भगवान् सूर्यकी ओर देखा ॥ ८ ॥

ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः।
भ्रातृपद्मवनात् तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ॥ ९ ॥

इसी समय महाबली दुर्योधन कुपित हो मदोन्मत्त गजराजकी भाँति भ्रातृ-समूहरूपी कमलवनसे उछलकर बाहर निकल आया ॥ ९ ॥

सोऽब्रवीद् भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम्।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥ १० ॥

उसने वहाँ खड़े हुए भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनसे कहा—'वृकोदर! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ १० ॥

क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ॥ ११ ॥

'क्षत्रियोंमें बलकी ही प्रधानता है। बलवान् होनेपर क्षत्रबन्धु (हीन क्षत्रिय) से भी युद्ध करना चाहिये (अथवा मुझ क्षत्रियका मित्र होनेके कारण कर्णके साथ तुम्हें युद्ध करना चाहिये)। शूरवीरों और नदियोंकी उत्पत्तिके वास्तविक कारणको जान लेना बहुत कठिन है ॥ ११ ॥

सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम्।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम् ॥ १२ ॥

'जिसने सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को व्याप्त कर रखा है, वह तेजस्वी अग्नि जलसे प्रकट हुआ है। दानवोंका संहार करनेवाला वज्र महर्षि दधीचिकी हड्डियोंसे निर्मित हुआ है ॥१२॥

आग्नेयः कृत्तिकापुत्रो रौद्रो गाङ्गेय इत्यपि।
श्रूयते भगवान् देवः सर्वगुह्यमयो गुहः॥ १३॥

'सुना जाता है, सर्वगुह्यस्वरूप भगवान् स्कन्ददेव अग्नि, कृत्तिका, रुद्र तथा गङ्गा—इन सबके पुत्र हैं ॥१३॥

क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः।
विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम्॥ १४॥

'कितने ही ब्राह्मण क्षत्रियोंसे उत्पन्न हुए हैं, उनका नाम तुमने भी सुना ही होगा तथा विश्वामित्र आदि क्षत्रिय भी अक्षय ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो चुके हैं॥ १४॥

आचार्यः कलशाज्जातो द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
गौतमस्यान्ववाये च शरस्तम्बाच्च गौतमः॥ १५॥

'समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हमारे आचार्य द्रोणका जन्म कलशसे हुआ है। महर्षि गौतमके कुलमें कृपाचार्यकी उत्पत्ति भी सरकंडोंके समूहसे हुई है॥ १५॥

भवतां च यथा जन्म तदप्यागमितं मया।
सकुण्डलं सकवचं सर्वलक्षणलक्षितम्।
कथमादित्यसदृशं मृगी व्याघ्रं जनिष्यति॥ १६॥

'तुम सब भाइयोंका जन्म जिस प्रकार हुआ है, वह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है। समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित तथा कुण्डल और कवचके साथ उत्पन्न हुआ सूर्यके समान तेजस्वी कर्ण किसी सूत जातिकी स्त्रीका पुत्र कैसे हो सकता है। क्या कोई हरिणी अपने पेटसे बाघ पैदा कर सकती है? ॥ १६॥

(कथमादित्यसंकाशं सूतोऽमुं जनयिष्यति।
एवं क्षत्रगुणैर्युक्तं शूरं समितिशोभनम्॥)
पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाङ्गराज्यं नरेश्वरः।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्तिना॥ १७॥

'इस सूर्य-सदृश तेजस्वी वीरको, जो इस प्रकार क्षत्रियोचित गुणोंसे सम्पन्न तथा समराङ्गणको सुशोभित करनेवाला है, कोई सूत जातिका मनुष्य कैसे उत्पन्न कर सकता है? राजा कर्ण अपने इस बाहुबलसे तथा मुझ-जैसे आज्ञापालक मित्रकी सहायतासे अङ्गदेशका ही नहीं, समूची पृथ्वीका राज्य पानेका अधिकारी है॥ १७॥

यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम्।
रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम्॥ १८॥

'जिस मनुष्यसे मेरा यह बर्ताव नहीं सहा जाता हो, वह रथपर चढ़कर पैरोंसे अपने धनुषको नवावे—हमारे साथ युद्धके लिये तैयार हो जाय'॥ १८॥

ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत्।
साधुवादानुसम्बद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत्॥ १९॥

यह सुनकर समूचे रङ्गमण्डपमें दुर्योधनको मिलनेवाले साधुवादके साथ ही (युद्धकी सम्भावनासे) महान् हाहाकार मच गया। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये ॥१९॥

ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याग्रकरे नृपः।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद् रङ्गाद् विनिर्ययौ॥ २०॥

तब दुर्योधन कर्णके हाथकी अँगुलियाँ पकड़कर मशालकी रोशनी करा उस रङ्गभूमिसे बाहर निकल गया॥ २०॥

पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम्॥ २१॥

राजन्! समस्त पाण्डव भी द्रोण, कृपाचार्य और भीष्मजीके साथ अपने-अपने निवासस्थानको चल दिये ॥२१॥

अर्जुनेति जनः कश्चित् कश्चित् कर्णेति भारत।
कश्चिद् दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा॥ २२॥

भारत! उस समय दर्शकोंमेंसे कोई अर्जुनकी, कोई कर्णकी और कोई दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए चले गये॥ २२॥

कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम्।
पुत्रमङ्गेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरजायत॥ २३॥

दिव्य लक्षणोंसे लक्षित अपने पुत्र अङ्गराज कर्णको पहचानकर कुन्तीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई; किंतु वह दूसरोंपर प्रकट न हुई॥ २३॥

दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत॥ २४॥

जनमेजय! उस समय कर्णको मित्रके रूपमें पाकर दुर्योधनका भी अर्जुनसे होनेवाला भय शीघ्र दूर हो गया ॥२४॥

स चापि वीरः कृतशस्त्रनिश्रमः
परेण साम्नाभ्यवदत् सुयोधनम्।
युधिष्ठिरस्याप्यभवत् तदा मति-
र्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ॥ २५॥

वीरवर कर्णने शस्त्रोंके अभ्यासमें बड़ा परिश्रम किया था, वह भी दुर्योधनके साथ परम स्नेह और सान्त्वनापूर्ण बातें करने लगा। उस समय युधिष्ठिरको भी यह विश्वास हो गया कि इस पृथ्वीपर कर्णके समान धनुर्धर कोई नहीं है ।२५।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अस्त्रदर्शने षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अस्त्र-कौशलदर्शनविषयक एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१३६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणका शिष्योंद्वारा द्रुपदपर आक्रमण करवाना, अर्जुनका द्रुपदको बंदी बनाकर लाना और द्रोणद्वारा द्रुपदको आधा राज्य देकर मुक्त कर देना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च कृतास्त्रान् प्रसमीक्ष्य सः।
गुर्वर्थं दक्षिणाकाले प्राप्तेऽमन्यत वै गुरुः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देख द्रोणाचार्यने गुरु-दक्षिणा लेनेका समय आया जान मन-ही-मन कुछ निश्चय किया॥ १॥

ततः शिष्यान् समानीय आचार्योऽर्थमचोदयत्।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते॥ २॥

जनमेजय! तदनन्तर आचार्यने अपने शिष्योंको बुलाकर उन सबसे गुरुदक्षिणाके लिये इस प्रकार कहा—॥ २॥

पञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात् परमदक्षिणा॥ ३॥

'शिष्यो! पञ्चालराज द्रुपदको युद्धमें कैद करके मेरे पास ले आओ। तुम्हारा कल्याण हो। यही मेरे लिये सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी'॥ ३॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः॥ ४॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्रतापूर्वक प्रहार करनेवाले वे सब राजकुमार (युद्धके लिये उद्यत हो) रथोंमें बैठकर गुरुदक्षिणा चुकानेके लिये आचार्य द्रोणके साथ ही वहाँसे प्रस्थित हुए॥ ४॥

ततोऽभिजग्मुः पञ्चालान् निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः॥ ५॥
दुर्योधनश्च कर्णश्च युयुत्सुश्च महाबलः।
दुःशासनो विकर्णश्च जलसंधः सुलोचनः॥ ६॥
एते चान्ये च बहवः कुमारा बहुविक्रमाः।
अहं पूर्वमहं पूर्वमित्येवं क्षत्रियर्षभाः॥ ७॥

तदनन्तर दुर्योधन, कर्ण, महाबली युयुत्सु, दुःशासन, विकर्ण, जलसंध तथा सुलोचन—ये और दूसरे भी बहुत-से महापराक्रमी नरश्रेष्ठ क्षत्रियशिरोमणि राजकुमार 'पहले मैं युद्ध करूँगा, पहले मैं युद्ध करूँगा' इस प्रकार कहते हुए पञ्चाल-देशमें जा पहुँचे और वहाँके निवासियोंको मारते-पीटते हुए महाबली राजा द्रुपदकी राजधानीको भी रौंदने लगे॥ ५—७॥

ततो वररथारूढाः कुमाराः सादिभिः सह।
प्रविश्य नगरं सर्वे राजमार्गमुपाययुः॥ ८॥

उत्तम रथोंपर बैठे हुए वे सभी राजकुमार घुड़सवारोंके साथ नगरमें घुसकर वहाँके राजपथपर चलने लगे॥ ८॥

तस्मिन् काले तु पाञ्चालः श्रुत्वा दृष्ट्वा महद् बलम्।
भ्रातृभिः सहितो राजंस्त्वरया निर्ययौ गृहात्॥ ९॥

जनमेजय! उस समय पञ्चालराज द्रुपद कौरवोंका आक्रमण सुनकर और उनकी विशाल सेनाको अपनी आँखों देखकर बड़ी उतावलीके साथ भाइयोंसहित राजभवनसे बाहर निकले॥ ९॥

ततस्तु कृतसंनाहा यज्ञसेनसहोदराः।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तः प्रणेदुः सर्व एव ते॥ १०॥

महाराज यज्ञसेन (द्रुपद) और उनके सब भाइयोंने कवच धारण किये। फिर वे सभी लोग बाणोंकी बौछार करते हुए जोर-जोरसे गर्जना करने लगे॥ १०॥

ततो रथेन शुभ्रेण समासाद्य तु कौरवान्।
यज्ञसेनः शरान् घोरान् ववर्ष युधि दुर्जयः॥ ११॥

राजा द्रुपदको युद्धमें जीतना बहुत कठिन था। वे चमकीले रथपर सवार हो कौरवोंके सामने जा पहुँचे और भयानक बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

पूर्वमेव तु सम्मन्त्र्य पार्थो द्रोणमथाब्रवीत्।
दर्पोद्रेकात् कुमाराणामाचार्यं द्विजसत्तमम्॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कौरवों तथा अन्य राजकुमारोंको अपने बल और पराक्रमका बड़ा घमंड था; इसलिये अर्जुनने पहले ही अच्छी तरह सलाह करके विप्रवर द्रोणाचार्यसे कहा—॥ १२॥

एषां पराक्रमस्यान्ते वयं कुर्याम साहसम्।
एतैरशक्यः पाञ्चालो ग्रहीतुं रणमूर्धनि॥ १३॥

'गुरुदेव! इनके पराक्रम दिखानेके पश्चात् हमलोग युद्ध करेंगे। हमारा विश्वास है, ये लोग युद्धमें पञ्चालराजको बंदी नहीं बना सकते'॥ १३॥

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
अर्धक्रोशे तु नगरादतिष्ठद् बहिरेव सः॥ १४॥

यों कहकर पापरहित कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने भाइयोंके साथ नगरसे बाहर ही आधे कोसकी दूरीपर ठहर गये थे॥ १४॥

द्रुपदः कौरवान् दृष्ट्वा प्राधावत समन्ततः।
शरजालेन महता मोहयन् कौरवीं चमूम्॥ १५॥
तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे तत्र कौरवाः॥ १६॥

राजा द्रुपदने कौरवोंको देखकर उनपर सब ओरसे धावा बोल दिया और बाणोंका बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर कौरव-सेनाको मूर्च्छित कर दिया। युद्धमें फुर्ती दिखानेवाले राजा द्रुपद रथपर बैठकर यद्यपि अकेले ही बाणवर्षा कर रहे थे, तो भी अत्यन्त भयके कारण कौरव उन्हें अनेक-सा मानने लगे। १५-१६।

द्रुपदस्य शरा घोरा विचेरुः सर्वतो दिशम्।
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्च सहस्रशः ॥ १७॥
प्रावाद्यन्त महाराज पाञ्चालानां निवेशने।
सिंहनादश्च संजज्ञे पाञ्चालानां महात्मनाम् ॥ १८॥
धनुर्ज्यातलशब्दश्च संस्पृश्य गगनं महान्।

द्रुपदके भयंकर बाण सब दिशाओंमें विचरने लगे। महाराज! उनकी विजय होती देख पाञ्चालोंके घरोंमें शङ्ख, भेरी और मृदङ्ग आदि सहस्रों बाजे एक साथ बज उठे। महान् आत्मबलसे सम्पन्न पाञ्चाल-सैनिकोंका सिंहनाद बड़े जोरोंसे होने लगा। साथ ही उनके धनुषोंकी प्रत्यञ्चाओंका महान् टंकार आकाशमें फैलकर गूँजने लगा ॥ १७-१८½ ॥

दुर्योधनो विकर्णश्च सुबाहुर्दीर्घलोचनः ॥ १९॥
दुःशासनश्च संक्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरन्।
सोऽतिविद्धो महेष्वासः पार्षतो युधि दुर्जयः ॥ २०॥
व्यधमत् तान्यनीकानि तत्क्षणादेव भारत।
दुर्योधनं विकर्णं च कर्णं चापि महाबलम् ॥ २१॥
नानानृपसुतान् वीरान् सैन्यानि विविधानि च।
अलातचक्रवत् सर्वं चरन् बाणैरतर्पयत् ॥ २२॥

उस समय दुर्योधन, विकर्ण, सुबाहु, दीर्घलोचन और दुःशासन बड़े क्रोधमें भरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे। भारत! युद्धमें परास्त न होनेवाले महान् धनुर्धर द्रुपदने अत्यन्त घायल होकर तत्काल ही उन सबकी सेनाओंको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। वे अलातचक्रकी भाँति सब ओर घूमकर दुर्योधन, विकर्ण, महाबली कर्ण, अनेक वीर राजकुमार तथा उनकी विविध सेनाओंको बाणोंसे तृप्त करने लगे ॥ १९–२२ ॥

(दुःशासनं च दशभिर्विकर्णं विंशकैः शरैः।
शकुनिं विंशकैस्तीक्ष्णैर्दशभिर्मर्मभेदिभिः ॥
कर्णदुर्योधनौ चोभौ शरैः सर्वाङ्गसंधिषु।
अष्टाविंशतिभिः सर्वैः पृथक् पृथगरिन्दमः ॥
सुबाहुं पञ्चभिर्विद्ध्वा तथान्यान् विविधैः शरैः।
विव्याध सहसा भूयो ननाद बलवत्तरम् ॥
विनद्य कोपात् पाञ्चालः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
धनूंषि रथयन्त्रं च हयांश्चित्रध्वजानपि।
चकर्त सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत् ॥)
ततस्तु नागराः सर्वे मुसलैर्यष्टिभिस्तदा।
अभ्यवर्षन्त कौरव्यान् वर्षमाणा घना इव ॥ २३॥

उन्होंने दुःशासनको दस, विकर्णको बीस तथा शकुनिको अत्यन्त तीखे तीस मर्मभेदी बाण मारकर घायल कर दिया। तत्पश्चात् शत्रुदमन द्रुपदने कर्ण और दुर्योधनके सम्पूर्ण अङ्गोंकी संधियोंमें पृथक्-पृथक् अट्ठाईस बाण मारे। सुबाहुको पाँच बाणोंसे घायल करके अन्य योद्धाओंको भी अनेक प्रकारके सायकोंद्वारा सहसा बींध डाला और तब बड़े जोरसे सिंहनाद किया। इस प्रकार क्रोधपूर्वक गर्जना करके सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ पाञ्चालराज द्रुपदने शत्रुओंके धनुष, रथ, घोड़े तथा रंग-बिरंगी ध्वजाओंको भी काट दिया। तत्पश्चात् सारे पाञ्चाल सैनिक सिंह-समूहके समान गर्जना करने लगे। फिर तो उस नगरके सभी निवासी कौरवोंपर टूट पड़े और बरसनेवाले बादलोंकी भाँति उनपर मूसल एवं डंडोंकी वर्षा करने लगे ॥ २३ ॥

सबालवृद्धास्ते पौराः कौरवानभ्ययुस्तदा।
श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं कौरवा नेव भारत ॥ २४॥
द्रवन्ति स्म नदन्ति स्म क्रोशन्तः पाण्डवान् प्रति।
(पाञ्चालशरभिन्नाङ्गो भयमासाद्य वै वृषः।
कर्णो रथादवप्लुत्य पलायनपरोऽभवत् ॥)
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा आर्तानां लोमहर्षणम् ॥ २५॥
अभिवाद्य ततो द्रोणं रथानारुरुहुस्तदा।
युधिष्ठिरं निवार्याशु मा युध्यस्वेति पाण्डवम् ॥ २६॥

उस समय बालकसे लेकर बूढ़ेतक सभी पुरवासी कौरवोंका सामना कर रहे थे। जनमेजय! गुप्तचरोंके मुखसे यह समाचार सुनकर कि वहाँ तुमुल युद्ध हो रहा है, कौरव वहाँ नहींके बराबर हो गये हैं, पञ्चालराज द्रुपदके बाणोंसे कर्णके सम्पूर्ण अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये, वह भयभीत हो रथसे कूदकर भाग चला है तथा कौरव-सैनिक चीखते-चिल्लाते और कराहते हुए हम पाण्डवोंकी ओर भागते आ रहे हैं; पाण्डवलोग पीड़ित सैनिकोंका रोमाञ्चकारी आर्तनाद कानमें पड़ते ही आचार्य द्रोणको प्रणाम करके रथोंपर जा बैठे और शीघ्र वहाँसे चल दिये। अर्जुनने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको यह कहकर रोक दिया कि 'आप युद्ध न कीजिये' ॥ २४–२६॥

माद्रेयौ चक्ररक्षौ तु फाल्गुनश्च तदाकरोत्।
सेनाग्रगो भीमसेनः सदाभूद् गदया सह ॥ २७॥

उस समय अर्जुनने माद्रीकुमार नकुल और सहदेवको अपने रथके पहियोंका रक्षक बनाया, भीमसेन सदा गदा हाथमें लेकर सेनाके आगे-आगे चलते थे ॥ २७ ॥

तदा शत्रुस्वनं श्रुत्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
अयाज्जवेन कौन्तेयो रथेनानादयन् दिशः ॥ २८॥

तब शत्रुओंका सिंहनाद सुनकर भाइयोंसहित निष्पाप अर्जुन रथकी घरघराहटसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़े ॥ २८ ॥

पाञ्चालानां ततः सेनामुद्धूतार्णवनिःस्वनाम्।
भीमसेनो महाबाहुर्दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २९ ॥
प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा।
स्वयमभ्यद्रवद् भीमो नागानीकं गदाधरः ॥ ३० ॥

पाञ्चालोंकी सेना उत्ताल तरङ्गोंवाले विक्षुब्ध महासागर-की भाँति गर्जना कर रही थी। महाबाहु भीमसेन दण्ड-पाणि यमराजकी भाँति उस विशाल सेनामें घुस गये, ठीक उसी तरह जैसे समुद्रमें मगर प्रवेश करता है। गदाधारी भीम स्वयं हाथियोंकी सेनापर टूट पड़े ॥ २९-३० ॥

स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चातुलः।
अहनत् कुञ्जरानीकं गदया कालरूपधृत् ॥ ३१ ॥

कुन्तीकुमार भीम युद्धमें कुशल तो थे ही, बाहुबलमें भी उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था। उन्होंने कालरूप धारणकर गदाकी मारसे उस गजसेनाका संहार आरम्भ किया ॥ ३१ ॥

ते गजा गिरिसंकाशाः क्षरन्तो रुधिरं बहु।
भीमसेनस्य गदया भिन्नमस्तकपिण्डकाः ॥ ३२ ॥
पतन्ति द्विरदा भूमौ वज्रघातादिवाचलाः।
गजानश्वान् रथांश्चैव पातयामास पाण्डवः ॥ ३३ ॥
पदातींश्च रथांश्चैव न्यवधीदर्जुनाग्रजः।
गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान् वने ॥ ३४ ॥
चालयन् रथनागांश्च संचचाल वृकोदरः।

भीमसेनकी गदासे मस्तक फट जानेके कारण वे पर्वतोंके समान विशालकाय गजराज लोहूके झरने बहाते हुए वज्रके आघातसे (पंख कटे हुए) पहाड़ोंकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ते थे। अर्जुनके बड़े भाई पाण्डुनन्दन भीमने हाथियों, घोड़ों एवं रथोंको धराशायी कर दिया। पैदलों तथा रथियोंका संहार कर डाला। जैसे ग्वाला वनमें डंडेसे पशुओंको हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन रथियों और हाथियोंको खदेड़ते हुए उनका पीछा करने लगे ॥ ३२—३४½ ॥

वैशम्पायन उवाच

भारद्वाजप्रियं कर्तुमुद्यतः फाल्गुनस्तदा ॥ ३५ ॥
पार्षतं शरजालेन क्षिपन्नागात् स पाण्डवः।
हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च समन्ततः ॥ ३६ ॥
पातयन् समरे राजन् युगान्ताग्निरिव ज्वलन्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस समय द्रोणाचार्यका प्रिय करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन द्रुपदपर बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए उनपर चढ़ आये। वे रणभूमिमें घोड़ों, रथों और हाथियोंके झुंडोंका सब ओरसे संहार करते हुए प्रलयकालीन अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३५-३६½ ॥

ततस्ते हन्यमाना वै पाञ्चालाः सृञ्जयास्तथा ॥ ३७ ॥
शरैर्नानाविधैस्तूर्णं पार्थं संछाद्य सर्वशः।
सिंहनादं मुखैः कृत्वा समयुध्यन्त पाण्डवम् ॥ ३८ ॥

उनके बाणोंसे घायल हुए पाञ्चाल और सृञ्जय वीरोंने तुरंत ही नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनको सब ओरसे ढक दिया और मुखसे सिंहनाद करते हुए उनसे लोहा लेना आरम्भ किया ॥ ३७-३८ ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं सुमहाद्भुतदर्शनम्।
सिंहनादस्वनं श्रुत्वा नामृष्यत् पाकशासनिः ॥ ३९ ॥

वह युद्ध अत्यन्त भयानक और देखनेमें बड़ा ही अद्भुत था। शत्रुओंका सिंहनाद सुनकर इन्द्रकुमार अर्जुन उसे सहन न कर सके ॥ ३९ ॥

ततः किरीटी सहसा पाञ्चालान् समरेऽद्रवत्।
छादयन्निषुजालेन महता मोहयन्निव ॥ ४० ॥

उस युद्धमें किरीटधारी पार्थने बाणोंका बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर पाञ्चालोंको आच्छादित और मोहित-सा करते हुए उनपर सहसा आक्रमण किया ॥ ४० ॥

शीघ्रमभ्यस्यतो बाणान् संदधानस्य चानिशम्।
नान्तरं ददृशे किंचित् कौन्तेयस्य यशस्विनः ॥ ४१ ॥

यशस्वी अर्जुन बड़ी फुर्तीसे बाण छोड़ते और निरन्तर नये-नये बाणोंका संधान करते थे। उनके धनुषपर बाण रखने और छोड़नेमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं दिखायी पड़ता था ॥ ४१ ॥

(न दिशो नान्तरिक्षं च तदा नैव च मेदिनी।
अदृश्यत महाराज तत्र किंचन संयुगे ॥
बाणान्धकारे बलिना कृते गाण्डीवधन्वना।)

महाराज! उस युद्धमें न तो दिशाओंका पता चलता था न आकाशका और न पृथ्वी अथवा और कुछ भी ही दिखायी देता था। बलवान् वीर गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा घोर अन्धकार फैला दिया था।

सिंहनादश्च संजज्ञे साधुशब्देन मिश्रितः।
ततः पञ्चालराजस्तु तथा सत्यजिता सह ॥ ४२ ॥
त्वरमाणोऽभिदुद्राव महेन्द्रं शम्बरो यथा।
महता शरवर्षेण पार्थः पाञ्चालमावृणोत् ॥ ४३ ॥

उस समय पाण्डव-दलमें साधुवादके साथ-साथ सिंहनाद हो रहा था। उधर पञ्चालराज द्रुपदने अपने भाई सत्यजित्को साथ लेकर तीव्र गतिसे अर्जुनपर धावा किया, ठीक उसी तरह जैसे शम्बरासुरने देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया था। परंतु कुन्तीनन्दन अर्जुनने बाणोंकी भारी बौछार करके पञ्चाल-नरेशको ढक दिया ॥ ४२-४३ ॥

ततो हलहलाशब्द आसीत् पाञ्चालके बले।
जिघृक्षति महासिंहो गजानामिव यूथपम् ॥ ४४ ॥

और जैसे महासिंह हाथियोंके यूथपतिको पकड़नेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार अर्जुन द्रुपदको पकड़ना ही चाहते थे कि पाञ्चालोंकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ ४४ ॥

दृष्ट्वा पार्थं तदाऽऽयान्तं सत्यजित् सत्यविक्रमः ।
पाञ्चालं वै परिप्रेप्सुर्धनंजयमुपाद्रवत् ॥ ४५ ॥
ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ युद्धाय समुपागतौ ।
व्यक्षोभयेतां तौ सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ॥ ४६ ॥

सत्यपराक्रमी सत्यजित्ने देखा कि कुन्तीपुत्र धनञ्जय पञ्चालनरेशको पकड़नेके लिये निकट बढ़े आ रहे हैं, तो वे उनकी रक्षाके लिये अर्जुनपर चढ़ आये; फिर तो इन्द्र और बलिकी भाँति अर्जुन और पाञ्चाल सत्यजित्ने युद्धके लिये आमने-सामने आकर सारी सेनाओंको क्षोभमें डाल दिया ॥ ४५-४६ ॥

ततः सत्यजितं पार्थो दशभिर्मर्मभेदिभिः ।
विव्याध बलवद् गाढं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४७ ॥

तब अर्जुनने दस मर्मभेदी बाणोंद्वारा सत्यजित्पर बलपूर्वक गहरा आघात करके उन्हें घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४७ ॥

ततः शरशतैः पार्थं पाञ्चालः शीघ्रमार्दयत् ।
पार्थस्तु शरवर्षेण छाद्यमानो महारथः ॥ ४८ ॥
वेगं चक्रे महावेगो धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
ततः सत्यजितश्चापं छित्त्वा राजानमभ्ययात् ॥ ४९ ॥

फिर पाञ्चाल वीर सत्यजित्ने भी शीघ्र ही सौ बाण मारकर अर्जुनको पीड़ित कर दिया। उनके बाणोंकी वर्षासे आच्छादित होकर महान् वेगशाली महारथी अर्जुनने धनुषकी प्रत्यञ्चाको झाड़-पोंछकर बड़े वेगसे बाण छोड़ना आरम्भ किया और सत्यजित्के धनुषको काटकर वे राजा द्रुपदपर चढ़ आये ॥ ४८-४९ ॥

अथान्यद् धनुरादाय सत्यजिद् वेगवत्तरम् ।
साश्वं ससूतं सरथं पार्थं विव्याध सत्वरः ॥ ५० ॥

तब सत्यजित्ने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तुरंत ही घोड़े, सारथि एवं रथसहित अर्जुनको बींध डाला ॥५०॥

स तं न ममृषे पार्थः पाञ्चालेनार्दितो युधि ।
ततस्तस्य विनाशार्थं सत्वरं व्यसृजच्छरान् ॥ ५१ ॥

युद्धमें पाञ्चाल वीर सत्यजित्से पीड़ित हो अर्जुन उनके पराक्रमको न सह सके और उनके विनाशके लिये उन्होंने शीघ्र ही बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ५१ ॥

हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ तौ पार्ष्णिसारथी ।
स तथा भिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ॥ ५२ ॥
हयेषु विनियुक्तेषु विमुखोऽभवदाहवे ।
स सत्यजितमालोक्य तथा विमुखमाहवे ॥ ५३ ॥
वेगेन महता राजन्नभ्यवर्षत पाण्डवम् ।
तदा चक्रे महद् युद्धमर्जुनो जयतां वरः ॥ ५४ ॥

सत्यजित्के घोड़े, ध्वजा, धनुष, मुट्ठी तथा पार्श्वरक्षक एवं सारथि दोनोंको अर्जुनने क्षत-विक्षत कर दिया। इस प्रकार बार-बार धनुषके छिन्न-भिन्न होने और घोड़ोंके मारे जानेपर सत्यजित् समरभूमिसे भाग गये। राजन्! उन्हें इस तरह युद्धसे विमुख हुआ देख पञ्चालनरेश द्रुपदने पाण्डुनन्दन अर्जुनपर बड़े वेगसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ की। तब विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने उनसे बड़ा भारी युद्ध प्रारम्भ किया ॥ ५२—५४ ॥

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा ध्वजं चोर्व्यामपातयत् ।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान् सूतं च सायकैः ॥ ५५ ॥

उन्होंने पञ्चालराजका धनुष काटकर उनकी ध्वजाको भी धरतीपर काट गिराया। फिर पाँच बाणोंसे उनके घोड़ों और सारथिको घायल कर दिया ॥ ५५ ॥

तत उत्सृज्य तच्चापमाददानं शरावरम् ।
खड्गमुद्धृत्य कौन्तेयः सिंहनादमथाकरोत् ॥ ५६ ॥

तत्पश्चात् उस कटे हुए धनुषको त्यागकर जब वे दूसरा धनुष और तूणीर लेने लगे, उस समय अर्जुनने म्यानसे तलवार निकालकर सिंहके समान गर्जना की ॥ ५६ ॥

पाञ्चालस्य रथस्येषामाप्लुत्य सहसापतत् ।
पाञ्चालरथमास्थाय अवित्रस्तो धनंजयः ॥ ५७ ॥
विक्षोभ्याम्भोनिधिं पार्थस्तं नागमिव सोऽग्रहीत् ।
ततस्तु सर्वपाञ्चाला विद्रवन्ति दिशो दश ॥ ५८ ॥

और सहसा पञ्चालनरेशके रथके डंडेपर कूद पड़े। इस प्रकार द्रुपदके रथपर चढ़कर निर्भीक अर्जुनने जैसे गरुड़ समुद्रको क्षुब्ध करके सर्पको पकड़ लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने काबूमें कर लिया। तब समस्त पाञ्चाल सैनिक (भयभीत हो) दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ ५७-५८ ॥

दर्शयन् सर्वसैन्यानां स बाह्वोर्बलमात्मनः ।
सिंहनादस्वनं कृत्वा निर्जगाम धनंजयः ॥ ५९ ॥

समस्त सैनिकोंको अपना बाहुबल दिखाते हुए अर्जुन सिंहनाद करके वहाँसे लौटे ॥ ५९ ॥

आयान्तमर्जुनं दृष्ट्वा कुमाराः सहितास्तदा ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ६० ॥

अर्जुनको आते देख सब राजकुमार एकत्र हो महात्मा द्रुपदके नगरका विध्वंस करने लगे ॥ ६० ॥

अर्जुन उवाच

सम्बन्धी कुरुवीराणां द्रुपदो राजसत्तमः ।
मा वधीस्तद्बलं भीम गुरुदानं प्रदीयताम् ॥ ६१ ॥

तब अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन! राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपद कौरववीरोंके सम्बन्धी हैं, अतः इनकी सेनाका संहार न करो; केवल गुरुदक्षिणाके रूपमें द्रोणके प्रति महाराज द्रुपदको ही दे दो ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तदा राजन्नर्जुनेन निवारितः।
अतृप्तो युद्धधर्मेषु न्यवर्तत महाबलः॥ ६२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अर्जुनके मना करनेपर महाबली भीमसेन युद्धधर्मसे तृप्त न होनेपर भी उससे निवृत्त हो गये॥ ६२॥

ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि।
उपाजह्रुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ॥ ६३॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उन पाण्डवने यज्ञसेन द्रुपदको मन्त्रियोंसहित संग्रामभूमिमें बंदी बनाकर द्रोणाचार्यको उपहारके रूपमें दे दिया॥ ६३॥

भग्नदर्पं हृतधनं तं तथा वशमागतम्।
स वैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत्॥ ६४॥

उनका अभिमान चूर्ण हो गया था, धन छीन लिया गया था और वे पूर्णरूपसे वशमें आ चुके थे; उस समय द्रोणाचार्यने मन-ही-मन पिछले वैरका स्मरण करके राजा द्रुपदसे कहा—॥ ६४॥

विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते॥ ६५॥

'राजन्! मैंने बलपूर्वक तुम्हारे राष्ट्रको रौंद डाला। तुम्हारी राजधानी मिट्टीमें मिला दी। अब तुम शत्रुके वशमें पड़े हुए जीवनको लेकर यहाँ आये हो। बोलो, अब पुरानी मित्रता चाहते हो क्या?'॥ ६५॥

एवमुक्त्वा प्रहस्यैनं किंचित् स पुनरब्रवीत्।
मा भैः प्राणभयाद् वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम्॥ ६६॥

यों कहकर द्रोणाचार्य कुछ हँसे। उसके बाद फिर उनसे इस प्रकार बोले—'वीर! प्राणोंपर संकट आया जानकर भयभीत न होओ। हम क्षमाशील ब्राह्मण हैं॥ ६६॥

आश्रमे क्रीडितं यत् तु त्वया बाल्ये मया सह।
तेन संवर्द्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ॥ ६७॥

'क्षत्रियशिरोमणे! तुम बचपनमें मेरे साथ आश्रममें जो खेले-कूदे हो, उससे तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह एवं प्रेम बहुत बढ़ गया है॥ ६७॥

प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप।
वरं ददामि ते राजन् राज्यस्यार्धमवाप्नुहि॥ ६८॥

'नरेश्वर! मैं पुनः तुमसे मैत्रीके लिये प्रार्थना करता हूँ। राजन्! मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम इस राज्यका आधा भाग मुझसे ले लो॥ ६८॥

अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हसि।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव॥ ६९॥

'यज्ञसेन! तुमने कहा था—जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता; इसीलिये मैंने तुम्हारा राज्य लेनेका प्रयत्न किया है॥ ६९॥

राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे॥ ७०॥

'गङ्गाके दक्षिण प्रदेशके तुम राजा हो और उत्तरके भूभागका राजा मैं हूँ। पाञ्चाल! अब यदि उचित समझो तो मुझे अपना मित्र मानो'॥ ७०॥

द्रुपद उवाच

अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन् विक्रान्तेषु महात्मसु।
प्रीये त्वयाहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम्॥ ७१॥

द्रुपदने कहा—ब्रह्मन्! आप-जैसे पराक्रमी महात्माओंमें ऐसी उदारताका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ और आपके साथ सदा बनी रहनेवाली मैत्री एवं प्रेम चाहता हूँ॥ ७१॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स तं द्रोणो मोक्षयामास भारत।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत्॥ ७२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! द्रुपदके यों कहनेपर द्रोणाचार्यने उन्हें छोड़ दिया और प्रसन्नचित्त हो उनका आदर-सत्कार करके उन्हें आधा राज्य दे दिया॥ ७२॥

माकन्दीमथ गङ्गायास्तीरे जनपदायुताम्।
सोऽध्यावसद् दीनमनाः काम्पिल्यं च पुरोत्तमम्॥ ७३॥
दक्षिणांश्चापि पञ्चालान् यावच्चर्मण्वती नदी।
द्रोणेन चैवं द्रुपदः परिभूयाथ पालितः॥ ७४॥

तदनन्तर राजा द्रुपद दीनतापूर्ण हृदयसे गङ्गातटवर्ती अनेक जनपदोंसे युक्त माकन्दीपुरीमें तथा नगरोंमें श्रेष्ठ काम्पिल्य नगरमें निवास एवं चर्मण्वती नदीके दक्षिणतटवर्ती पाञ्चालदेशका शासन करने लगे। इस प्रकार द्रोणाचार्यने द्रुपदको परास्त करके पुनः उनकी रक्षा की॥ ७३-७४॥

क्षात्रेण च बलेनास्य नापश्यत् स पराजयम्।
हीनं विदित्वा चात्मानं ब्राह्मेण स बलेन तु॥ ७५॥
पुत्रजन्म परीप्सन् वै पृथिवीमन्वसंचरत्।
अहिच्छत्रं च विषयं द्रोणः समभिपद्यत॥ ७६॥

द्रुपदको अपने क्षात्रबलके द्वारा द्रोणाचार्यकी पराजय होती नहीं दिखायी दी। वे अपनेको ब्राह्मण-बलसे हीन जानकर (द्रोणाचार्यको पराजित करनेके लिये) शक्तिशाली पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे पृथ्वीपर विचरने लगे। इधर द्रोणाचार्यने (उत्तर-पञ्चालवर्ती) अहिच्छत्र नामक राज्यको अपने अधिकारमें कर लिया॥ ७५-७६॥

एवं राजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता।
युधि निर्जित्य पार्थेन द्रोणाय प्रतिपादिता ॥ ७७ ॥

राजन्! इस प्रकार अनेक जनपदोंसे सम्पन्न अहिच्छत्रा नामवाली नगरीको युद्धमें जीतकर अर्जुनने द्रोणाचार्यको गुरु-दक्षिणामें दे दिया ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रुपदशासने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रुपदपर द्रोणके शासनका वर्णन करनेवाला एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ८४½ श्लोक हैं)

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका युवराजपदपर अभिषेक, पाण्डवोंके शौर्य, कीर्ति और बलके विस्तारसे धृतराष्ट्रको चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात् तथार्जवात्।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर धृतराष्ट्रने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता तथा अविचल सौहार्द आदि सद्गुणोंके कारण पालन करने योग्य प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये युवराजपदपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १-२ ॥

ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पितुरन्तर्दधे कीर्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ॥ ३ ॥

इसके बाद थोड़े ही दिनोंमें कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने अपने शील (उत्तम स्वभाव), वृत्त (सदाचार एवं सद्व्यवहार) तथा समाधि (मनोयोगपूर्वक प्रजापालनकी प्रवृत्ति) के द्वारा अपने पिता महाराज पाण्डुकी कीर्तिको भी ढक दिया ॥ ३ ॥

असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः।
संकर्षणादशिक्षद् वै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ॥ ४ ॥

पाण्डुनन्दन भीमसेन बलरामजीसे नित्यप्रति खड्गयुद्ध, गदायुद्ध तथा रथयुद्धकी शिक्षा लेने लगे ॥ ४ ॥

समाप्तशिक्षो भीमस्तु द्युमत्सेनसमो बले।
पराक्रमेण सम्पन्नो भ्रातृणामचरद् वशे ॥ ५ ॥

शिक्षा समाप्त होनेपर भीमसेन बलमें राजा द्युमत्सेनके समान हो गये और पराक्रमसे सम्पन्न हो अपने भाइयोंके अनुकूल रहने लगे ॥ ५ ॥

प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा।
क्षुरनाराचभल्लानां विपाठानां च तत्त्ववित् ॥ ६ ॥
ऋजुवक्रविशालानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत्।
लाघवे सौष्ठवे चैव नान्यः कश्चन विद्यते ॥ ७ ॥
बीभत्सुसदृशो लोके इति द्रोणो व्यवस्थितः।
ततोऽब्रवीद् गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि ॥ ८ ॥

अर्जुन अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मुट्ठीसे धनुषको पकड़नेमें, हाथोंकी फुर्तीमें और लक्ष्यको बींधनेमें बड़े चतुर निकले। वे क्षुर[1], नाराच[2], भल्ल[3] और विपाठ[4] नामक ऋजु, वक्र और विशाल* अस्त्रोंके संचालनका गूढ़ तत्त्व अच्छी तरह जानते और उनका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते थे। इसलिये द्रोणाचार्यको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि फुर्ती और सफाईमें अर्जुनके समान दूसरा कोई योद्धा इस जगत्में नहीं है। एक दिन द्रोणने कौरवोंकी भरी सभामें निद्राको जीतनेवाले अर्जुनसे कहा— ॥ ६—८ ॥

अगस्त्यस्य धनुर्वेदे शिष्यो मम गुरुः पुरा।
अग्निवेश इति ख्यातस्तस्य शिष्योऽस्मि भारत ॥ ९ ॥
तीर्थात् तीर्थं गमयितुमहमेतत् समुद्यतः।
तपसा यन्मया प्राप्तममोघमशनिप्रभम् ॥ १० ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम यद् दहेत् पृथिवीमपि।
ददता गुरुणा चोक्तं न मनुष्येष्विदं त्वया ॥ ११ ॥
भारद्वाज विमोक्तव्यमल्पवीर्येष्वपि प्रभो।
त्वया प्राप्तमिदं वीर दिव्यं नान्योऽर्हति त्विदम् ॥ १२ ॥
समयस्तु त्वया रक्ष्यो मुनिसृष्टो विशाम्पते।
आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञातिग्रामस्य पश्यतः ॥ १३ ॥

'भारत! मेरे गुरु अग्निवेश नामसे विख्यात हैं। उन्होंने पूर्वकालमें महर्षि अगस्त्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की थी। मैं उन्हीं महात्मा अग्निवेशका शिष्य हूँ। एक पात्र (गुरु) से दूसरे (सुयोग्य शिष्य) को इसकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे सर्वथा उद्यत

१. क्षुर उस बाणको कहते हैं, जिसके बगलमें तेज धार होती है, जैसे नाईका छूरा।

२. नाराच सीधे बाणको कहते हैं, जिसका अग्रभाग तीखा होता है।

३. भल्ल उस बाणको कहते हैं, जिसकी नोकका पिछला भाग चौड़ा और नोकदार होता है।

४. विपाठ नामक बाणकी आकृति खनतीकी भाँति होती है। यह दूसरे बाणोंसे बड़ा होता है।

* उपर्युक्त बाणोंमें क्षुर और नाराच सीधा है, भल्ल टेढ़ा है और विपाठ विशाल है।

होकर मैंने तुम्हें यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र प्रदान किया, जो मुझे बड़ी तपस्यासे मिला था। वह अमोघ अस्त्र वज्रके समान प्रकाशमान है। उसमें समूची पृथ्वीको भी भस्म कर डालनेकी शक्ति है। मुझे वह अस्त्र देते समय गुरु अग्निवेशजीने कहा था, 'शक्तिशाली भारद्वाज! तुम यह अस्त्र मनुष्योंपर न चलाना। मनुष्येतर प्राणियोंमें भी जो अल्पवीर्य हों, उनपर भी इस अस्त्रको न छोड़ना।' वीर अर्जुन! इस दिव्य अस्त्रको तुमने मुझसे पा लिया है। दूसरा कोई इसे नहीं प्राप्त कर सकता। राजकुमार! इस अस्त्रके सम्बन्धमें मुनिके बताये हुए इस नियमका तुम्हें भी पालन करना चाहिये। अब तुम अपने भाई-बन्धुओंके सामने ही मुझे एक गुरु-दक्षिणा दो'। ९-१३।

ददानीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीद् गुरुः।
युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युध्यमानस्त्वयानघ ॥ १४ ॥

तब अर्जुनने प्रतिज्ञा की—'अवश्य दूँगा।' उनके यों कहनेपर गुरु द्रोण बोले—'निष्पाप अर्जुन! यदि युद्ध-भूमिमें मैं भी तुम्हारे विरुद्ध लड़नेको आऊँ तो तुम (अवश्य) मेरा सामना करना' ॥ १४ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः।
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहते हुए उनकी इस आज्ञाका पालन करनेकी प्रतिज्ञा की और गुरुके दोनों चरण पकड़कर उन्होंने सर्वोत्तम उपदेश प्राप्त कर लिया ॥ १५ ॥

स्वभावादगमच्छब्दो महीं सागरमेखलाम्।
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद् धनुर्धरः ॥ १६ ॥

इस प्रकार समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर सब ओर अपने आप ही यह बात फैल गयी कि संसारमें अर्जुनके समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है ॥ १६ ॥

गदायुद्धेऽसियुद्धे च रथयुद्धे च पाण्डवः।
पारगश्च धनुर्युद्धे बभूवाथ धनंजयः ॥ १७ ॥

पाण्डुनन्दन धनंजय गदा, खड्ग, रथ तथा धनुषद्वारा युद्ध करनेकी कलामें पारंगत हुए ॥ १७ ॥

नीतिमान् सकलां नीतिं विबुधाधिपतेस्तदा।
अवाप्य सहदेवोऽपि भ्रातॄणां ववृते वशे ॥ १८ ॥
द्रोणेनैव विनीतश्च भ्रातॄणां नकुलः प्रियः।
चित्रयोधी समाख्यातो बभूवातिरथोदितः ॥ १९ ॥

सहदेव भी उस समय द्रोणके रूपमें अवतीर्ण देवताओंके आचार्य बृहस्पतिसे सम्पूर्ण नीतिशास्त्रकी शिक्षा पाकर नीतिमान् हो अपने भाइयोंके अधीन (अनुकूल) होकर रहते थे। नकुलने भी द्रोणाचार्यसे ही अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा पायी थी। वे अपने भाइयोंको बहुत ही प्रिय थे और विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेमें उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अतिरथी वीर कहे जाते थे ॥ १८-१९ ॥

त्रिवर्षकृतयज्ञस्तु गन्धर्वाणामुपप्लवे।
अर्जुनप्रमुखैः पार्थैः सौवीरः समरे हतः ॥ २० ॥
न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान्।
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजाऽऽसीद् यवनाधिपः ॥ २१ ॥

सौवीर देशका राजा, जो गन्धर्वोंके उपद्रव करनेपर भी लगातार तीन वर्षोंतक बिना किसी विघ्न-बाधाके यज्ञोंका अनुष्ठान करता रहा, युद्धमें अर्जुन आदि पाण्डवोंके हाथों मारा गया। पराक्रमी राजा पाण्डु भी जिसे वशमें न ला सके थे, उस यवनदेश (यूनान) के राजाको भी जीतकर अर्जुनने अपने अधीन कर लिया ॥ २०-२१ ॥

अतीव बलसम्पन्नः सदा मानी कुरून् प्रति।
विपुलो नाम सौवीरः शस्तः पार्थेन धीमता ॥ २२ ॥
दत्तामित्र इति ख्यातं संग्रामे कृतनिश्चयम्।
सुमित्रं नाम सौवीरमर्जुनोऽदमयच्छरैः ॥ २३ ॥

जो अत्यन्त बली तथा कौरवोंके प्रति सदा अभिमान एवं उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करनेवाला था, वह सौवीरनरेश विपुल भी बुद्धिमान् अर्जुनके हाथसे संग्रामभूमिमें मारा गया। जो सदा युद्धके लिये दृढ़ संकल्प किये रहता था, जिसे लोग दत्तामित्रके नामसे जानते थे, उस सौवीरनिवासी सुमित्रका भी अर्जुनने अपने बाणोंसे दमन कर दिया ॥ २२-२३ ॥

भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः।
अर्जुनः समरे प्राच्यान् सर्वानेकरथोऽजयत् ॥ २४ ॥

इसके सिवा अर्जुनने केवल भीमसेनकी सहायतासे एकमात्र रथपर आरूढ़ हो युद्धमें पूर्व दिशाके सम्पूर्ण योद्धाओं तथा दस हजार रथियोंको जीत लिया ॥ २४ ॥

तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणामजयद् दिशम्।
धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनंजयः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार एकमात्र रथसे यात्रा करके धनंजयने दक्षिण दिशापर भी विजय पायी और अपने 'धनंजय' नामको सार्थक करते हुए कुरुदेशकी राजधानीमें धनकी राशि पहुँचायी ।२५।

एवं सर्वे महात्मानः पाण्डवा मनुजोत्तमाः।
परराष्ट्राणि निर्जित्य स्वराष्ट्रं ववृधुः पुरा ॥ २६ ॥

जनमेजय! इस तरह नरश्रेष्ठ महामना पाण्डवोंने प्राचीन कालमें दूसरे राष्ट्रोंको जीतकर अपने राष्ट्रकी अभिवृद्धि की ।२६।

ततो बलमतिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम्।
दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु।
स चिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि ॥ २७ ॥

तब दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले पाण्डवोंके अत्यन्त विख्यात बल-पराक्रमकी बात जानकर उनके प्रति राजा धृतराष्ट्रका भाव सहसा दूषित हो गया। अत्यन्त चिन्तामें निमग्न हो जानेके कारण उन्हें रातमें नींद नहीं आती थी ।२७।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायामष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रकी चिन्ता-विषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३८॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कणिकका धृतराष्ट्रको कूटनीतिका उपदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा पाण्डुसुतान् वीरान् बलोद्रिक्तान् महौजसः।
धृतराष्ट्रो महीपालश्चिन्तामगमदातुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डुके वीर पुत्रोंको महान् तेजस्वी और बलमें बढ़े-चढ़े सुनकर महाराज धृतराष्ट्र व्याकुल हो बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १ ॥

तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम्।
कणिकं मन्त्रिणां श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः ॥ २ ॥

तब उन्होंने राजनीति और अर्थ-शास्त्रके पण्डित तथा उत्तम मन्त्रके ज्ञाता मन्त्रिप्रवर कणिकको बुलाकर इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम।
तत्र मे निश्चिततमं संधिविग्रहकारणम्।
कणिक त्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजश्रेष्ठ! पाण्डवोंकी दिनोंदिन उन्नति और सर्वत्र ख्याति हो रही है। इस कारण मैं उनसे डाह रखने लगा हूँ। कणिक! तुम भली-भाँति निश्चय करके बतलाओ, मुझे उनके साथ संधि करनी चाहिये या विग्रह? मैं तुम्हारी बात मानूँगा ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

स प्रसन्नमनास्तेन परिपृष्टो द्विजोत्तमः।
उवाच वचनं तीक्ष्णं राजशास्त्रार्थदर्शनम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार पूछनेपर विप्रवर कणिक मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए तथा राजनीतिके सिद्धान्तका परिचय देनेवाली तीखी बात कहने लगे—॥ ४ ॥

शृणु राजन्निदं तत्र प्रोच्यमानं मयानघ।
न मेऽभ्यसूया कर्तव्या श्रुत्वैतत् कुरुसत्तम ॥ ५ ॥

'निष्पाप नरेश! इस विषयमें मेरी कही हुई ये बातें सुनिये। कुरुवंशशिरोमणे! इसे सुनकर आप मेरे प्रति दोष-दृष्टि न कीजियेगा ॥ ५ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात् परेषां विवरानुगः ॥ ६ ॥

'राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। राजा अपना छिद्र—अपनी दुर्बलता प्रकट न होने दे; परंतु दूसरोंके छिद्र या दुर्बलतापर सदा ही दृष्टि रक्खे और यदि शत्रुओंकी निर्बलताका पता चल जाय तो उनपर आक्रमण कर दे ॥६॥

नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ॥ ७ ॥

'जो सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं; इसलिये सब कार्य दण्डके द्वारा ही सिद्ध करे ॥ ७ ॥

नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात्।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ ८ ॥
नासम्यक्कृतकारी स्यादुपक्रम्य कदाचन।
कण्टको ह्यपि दुश्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ॥ ९ ॥

'राजाको इतनी सावधानी रखनी चाहिये, जिससे शत्रु उसकी कमजोरी न देख सके और यदि शत्रुकी कमजोरी प्रकट हो जाय तो उसपर अवश्य चढ़ाई करे। जैसे कछुआ अपने अङ्गोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा अपने सब अङ्गों (राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृत्) की रक्षा करे और अपनी कमजोरीको छिपाये रक्खे। यदि कोई कार्य शुरू कर दे तो उसे पूरा किये बिना कभी न छोड़े; क्योंकि शरीरमें गड़ा हुआ काँटा यदि आधा टूटकर भीतर रह जाय तो वह बहुत दिनोंतक मवाद देता रहता है ॥८-९॥

वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम्।
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ॥ १० ॥
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत्।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन ॥ ११ ॥

'अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रुओंका वध कर दिया जाय, इसीकी नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं। अत्यन्त पराक्रमी शत्रुको भी आपत्तिमें पड़ा देख उसे सुगमतापूर्वक नष्ट कर दे। इसी

प्रकार जो अच्छी तरह युद्ध करनेवाला शत्रु है, उसे भी आपत्तिकालमें ही अनायास ही मार भगाये। आपत्तिके समय शत्रुका संहार अवश्य ही करे। उस समय उसके सम्बन्ध या सौहार्द आदिका विचार कदापि न करे। तात! शत्रु दुर्बल हो, तो भी किसी प्रकार उसकी उपेक्षा न करे ॥१०-११॥

अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात्।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाश्रयेत्॥ १२॥

'क्योंकि जैसे थोड़ी-सी भी आग ईंधनका सहारा मिल जानेपर समूचे वनको जला देती है, उसी प्रकार छोटा शत्रु भी दुर्ग आदि प्रबल आश्रयका सहारा लेकर विनाशकारी बन जाता है। अंधा बननेका अवसर आनेपर अंधा बन जाय—अर्थात् अपनी असमर्थताके समय शत्रुके दोषोंको न देखे। उस समय सब ओरसे धिक्कार और निन्दा मिलनेपर भी उसे अनसुनी कर दे, अर्थात् उसकी ओरसे कान बंद करके बहरा बन जाय ॥ १२ ॥

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम्।
सान्त्वादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुं वशे स्थितम्॥ १३॥

'ऐसे समयमें अपने धनुषको तिनकेके समान बना दे अर्थात् शत्रुकी दृष्टिमें सर्वथा दीन-हीन एवं असमर्थ बन जाय; परंतु व्याधकी भाँति सोये—अर्थात् जैसे व्याध झूठे ही नींदका बहाना करके सो जाता है और जब मृग विश्वस्त होकर आसपास चरने लगते हैं, तब उठकर उन्हें बाणोंसे घायल कर देता है, उसी प्रकार शत्रुको मारनेका अवसर देखते हुए ही अपने स्वरूप और मनोभावको छिपाकर असमर्थ पुरुषोंका-सा व्यवहार करे। इस प्रकार कपटपूर्ण बर्तावसे वशमें आये हुए शत्रुको साम आदि उपायोंसे विश्वास उत्पन्न करके मार डाले ॥ १३ ॥

दया न तस्मिन् कर्तव्या शरणागत इत्युत।
निरुद्विग्नो हि भवति नहताज्जायते भयम्॥ १४॥

'यह मेरी शरणमें आया है, यह सोचकर उसके प्रति दया नहीं दिखानी चाहिये। शत्रुको मार देनेसे ही राजा निर्भय हो सकता है। यदि शत्रु मारा नहीं गया तो उससे सदा ही भय बना रहता है ॥ १४ ॥

हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम्।
हन्यात् त्रीन् पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः॥ १५॥

'जो सहज शत्रु है, उसे मुँहमाँगी वस्तु देकर—दानके द्वारा विश्वास उत्पन्न करके मार डाले। इसी प्रकार जो पहलेका अपकारी शत्रु हो और पीछे सेवक बन गया हो, उसे भी जीवित न छोड़े। शत्रुपक्षके त्रिवर्ग[1], पञ्चवर्ग[1] और सप्तवर्ग[2]का सर्वथा नाश कर डाले ॥ १५ ॥

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य नित्यशः।
ततः सहायांस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम्॥ १६॥

'पहले तो सदा शत्रुपक्षके मूलका ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायकों और शत्रुपक्षसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगोंका संहार कर दे ॥ १६ ॥

छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ॥ १७॥

'यदि मूल आधार नष्ट हो जाय तो उसके आश्रयसे जीवन धारण करनेवाले सभी शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। यदि वृक्षकी जड़ काट दी जाय तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं ? ॥ १७ ॥

एकाग्रः स्यादविवृतो नित्यं विवरदर्शकः।
राजन् नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत्॥ १८॥

'राजा सदा शत्रुकी गतिविधिको जाननेके लिये एकाग्र रहे। अपने राज्यके सभी अङ्गोंको गुप्त रक्खे। राजन्! सदा अपने शत्रुओंकी कमजोरीपर दृष्टि रक्खे और उनसे सदा सतर्क (सावधान) रहे ॥ १८ ॥

अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः।
लोकान् विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद् यथा वृकः॥ १९॥

'अग्निहोत्र और यज्ञ करके, गेरुए वस्त्र, जटा और मृगचर्म धारण करके पहले लोगोंमें विश्वास उत्पन्न करे; फिर अवसर देखकर भेड़ियेकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़े और उन्हें नष्ट कर दे ॥ १९ ॥

अङ्कुशं शौचमित्याहुरर्थानामुपधारणे।
आनाम्य फलितां शाखां पक्वं पक्वं प्रशातयेत्॥ २०॥

'कार्यसिद्धिके लिये शौच-सदाचार आदिका पालन एक प्रकारका अङ्कुश (लोगोंको आकृष्ट करनेका साधन) बताया गया है। फलोंसे लदी हुई वृक्षकी शाखाको अपनी ओर कुछ झुकाकर ही मनुष्य उसके पके-पके फलको तोड़े ॥ २० ॥

---

१. तीन प्रकारकी शक्तियाँ ही यहाँ त्रिवर्ग कही गयी हैं। इनके नाम ये हैं—प्रभुशक्ति (ऐश्वर्यशक्ति), उत्साहशक्ति और मन्त्रशक्ति। दुर्ग आदिपर आक्रमण करके शत्रुकी ऐश्वर्य-शक्तिका नाश करे। विश्वसनीय व्यक्तियोंद्वारा अपने उत्कर्षका वर्णन कराकर शत्रुको तेजोहीन बनाना, उसके उत्साह एवं साहसको घटा देना ही उत्साहशक्तिका नाश करना है। गुप्तचरोंद्वारा उनकी गुप्त मन्त्रणाको प्रकट कर देना ही मन्त्रशक्तिका नाश करना है।

१. अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और सेना—ये पाँच प्रकृतियाँ ही पञ्चवर्ग हैं।

२. साम, दान, भेद, दण्ड, उद्बन्धन, विषप्रयोग और आग लगाना—शत्रुको वशमें करने या दबानेके ये सात साधन ही सप्तवर्ग हैं।

फलार्थोऽयं समारम्भो लोके पुंसां विपश्चिताम् ।
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालस्य पर्ययः ॥ २१ ॥

'लोकमें विद्वान् पुरुषोंका यह सारा आयोजन ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये होता है । जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तबतक शत्रुको कंधेपर बिठाकर ढोना पड़े, तो ढोये भी ॥ २१ ॥

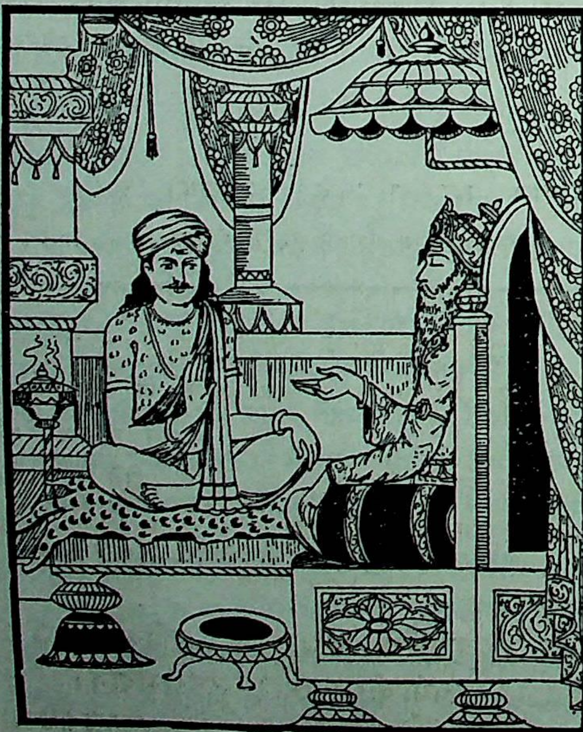
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ।
अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन् ॥ २२ ॥
कृपा न तस्मिन् कर्तव्या हन्यादेवापकारिणम् ।
हन्यादमित्रं सान्त्वेन तथा दानेन वा पुनः ॥ २३ ॥
तथैव भेददण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशातयेत् ।

'परंतु जब अपने अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़ेको पत्थरपर पटककर फोड़ डालते हैं । शत्रु बहुत दीनतापूर्ण वचन बोले, तो भी उसे जीवित नहीं छोड़ना चाहिये। उसपर दया नहीं करनी चाहिये । अपकारी शत्रुको मार ही डालना चाहिये । साम अथवा दान तथा भेद एवं दण्ड सभी उपायोंद्वारा शत्रुको मार डाले—उसे मिटा दे' ॥ २२-२३½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं सान्त्वेन दानेन भेदैर्दण्डेन वा पुनः ॥ २४ ॥
अमित्रः शक्यते हन्तुं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ।

धृतराष्ट्रने पूछा—कणिक ! साम, दान, भेद अथवा दण्डके द्वारा शत्रुका नाश कैसे किया जा सकता है, यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥ २४½ ॥



कणिक उवाच

शृणु राजन् यथावृत्तं वने निवसतः पुरा ॥ २५ ॥
जम्बुकस्य महाराज नीतिशास्त्रार्थदर्शिनः ।

कणिकने कहा—महाराज ! इस विषयमें नीतिशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाले एक वनवासी गीदड़का प्राचीन वृत्तान्त सुनाता हूँ, सुनिये ॥ २५½ ॥

अथ कश्चित् कृतप्रज्ञः शृगालः स्वार्थपण्डितः ॥ २६ ॥
सखिभिर्न्यवसत् सार्धं व्याघ्राखुवृकबभ्रुभिः ।
तेऽपश्यन् विपिने तस्मिन् बलिनं मृगयूथपम् ॥ २७ ॥
अशक्ता ग्रहणे तस्य ततो मन्त्रममन्त्रयन् ।

एक वनमें कोई बड़ा बुद्धिमान् और स्वार्थ साधनेमें कुशल गीदड़ अपने चार मित्रों—बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवलेके साथ निवास करता था । एक दिन उन सबने हरिणोंके एक सरदारको देखा, जो बड़ा बलवान् था । वे सब उसे पकड़नेमें सफल न हो सके, अतः सबने मिलकर यह सलाह की ॥ २६-२७½ ॥

जम्बुक उवाच

असकृद् यतितो ह्येष हन्तुं व्याघ्र वने त्वया ॥ २८ ॥
युवा वै जवसम्पन्नो बुद्धिशाली न शक्यते ।
मूषिकोऽस्य शयानस्य चरणौ भक्षयत्वयम् ॥ २९ ॥
यथैनं भक्षितैः पादैर्व्याघ्रो गृह्णातु वै ततः ।
ततो वै भक्षयिष्यामः सर्वे मुदितमानसाः ॥ ३० ॥

गीदड़ने कहा—भाई बाघ ! तुमने वनमें इस हरिणको मारनेके लिये कई बार यत्न किया, परंतु यह बड़े वेगसे दौड़नेवाला, जवान और बुद्धिमान् है, इसलिये पकड़में नहीं आता । मेरी राय है कि जब यह हरिण सो रहा हो, उस समय यह चूहा इसके दोनों पैरोंको काट खाये । (फिर कटे हुए पैरोंसे यह उतना तेज नहीं दौड़ सकता ।) उस अवस्थामें बाघ उसे पकड़ ले; फिर तो हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर उसे खायँगे ॥ २८—३० ॥

जम्बुकस्य तु तद् वाक्यं तथा चक्रुः समाहिताः ।
मूषिकाभक्षितैः पादैर्मृगं व्याघ्रोऽवधीत् तदा ॥ ३१ ॥

गीदड़की वह बात सुनकर सबने सावधान होकर वैसा ही किया । चूहेके द्वारा काटे हुए पैरोंसे लड़खड़ाते हुए मृगको बाघने तत्काल ही मार डाला ॥ ३१ ॥

दृष्ट्वैवाचेष्टमानं तु भूमौ मृगकलेवरम् ।
स्नात्वाऽऽगच्छत भद्रं वो रक्षामीत्याह जम्बुकः ॥ ३२ ॥

पृथ्वीपर हरिणके शरीरको निश्चेष्ट पड़ा देख गीदड़ने कहा—'आपलोगोंका भला हो। स्नान करके आइये। तबतक मैं इसकी रखवाली करता हूँ' ॥ ३२ ॥

शृगालवचनात् तेऽपि गताः सर्वे नदीं ततः।
स चिन्तापरमो भूत्वा तस्थौ तत्रैव जम्बुकः॥ ३३॥

गीदड़के कहनेसे वे (बाघ आदि) सब साथी नदीमें (नहानेके लिये) चले गये। इधर वह गीदड़ किसी चिन्तामें निमग्न होकर वहीं खड़ा रहा॥ ३३॥

अथाजगाम पूर्वं तु स्नात्वा व्याघ्रो महाबलः।
ददर्श जम्बुकं चैव चिन्ताकुलितमानसम्॥ ३४॥

इतनेमें ही महाबली बाघ स्नान करके सबसे पहले वहाँ लौट आया। आनेपर उसने देखा, गीदड़का चित्त चिन्तासे व्याकुल हो रहा है॥ ३४॥

व्याघ्र उवाच

किं शोचसि महाप्राज्ञ त्वं नो बुद्धिमतां वरः।
अशित्वा पिशितान्यद्य विहरिष्यामहे वयम्॥ ३५॥

तब बाघने पूछा—महामते! क्यों सोचमें पड़े हो? हमलोगोंमें तुम्हीं सबसे बड़े बुद्धिमान् हो। आज इस हरिणका मांस खाकर हमलोग मौजसे घूमें-फिरेंगे॥ ३५॥

जम्बुक उवाच

शृणु मे त्वं महाबाहो यद् वाक्यं मूषिकोऽब्रवीत्।
धिग् बलं मृगराजस्य मयाद्यायं मृगो हतः॥ ३६॥

गीदड़ बोला—महाबाहो! चूहेने (तुम्हारे विषयमें) जो बात कही है, उसे तुम मुझसे सुनो। वह कहता था, 'मृगोंके राजा बाघके बलको धिक्कार है! आज इस मृगको तो मैंने मारा है॥ ३६॥

मद्बाहुबलमाश्रित्य तृप्तिमद्य गमिष्यति।
गर्जमानस्य तस्यैवमतो भक्ष्यं न रोचये॥ ३७॥

'मेरे बाहुबलका आश्रय लेकर आज वह अपनी भूख बुझायेगा।' उसने इस प्रकार गरज-गरजकर (घमंडभरी) बातें कही हैं, अतः उसकी सहायतासे प्राप्त हुए इस भोजनको ग्रहण करना मुझे अच्छा नहीं लगता॥ ३७॥

व्याघ्र उवाच

ब्रवीति यदि स ह्येवं काले ह्यस्मिन् प्रबोधितः।
स्वबाहुबलमाश्रित्य हनिष्येऽहं वनेचरान्॥ ३८॥
खादिष्ये तत्र मांसानि इत्युक्त्वा प्रस्थितो वनम्।
एतस्मिन्नेव काले तु मूषिकोऽप्याजगाम ह॥ ३९॥
तमागतमभिप्रेत्य शृगालोऽप्यब्रवीद् वचः।

बाघने कहा—यदि वह ऐसी बात कहता है, तब तो उसने इस समय मेरी आँखें खोल दीं—मुझे सचेत कर दिया। आजसे मैं अपने ही बाहुबलके भरोसे वनजन्तुओंका वध किया करूँगा और उन्हींका मांस खाऊँगा।

यों कहकर बाघ वनमें चला गया। इसी समय चूहा भी (नहा-धोकर) वहाँ आ पहुँचा। उसे आया देख गीदड़ने कहा॥ ३८-३९½॥

जम्बुक उवाच

शृणु मूषिक भद्रं ते नकुलो यदिहाब्रवीत्॥ ४०॥

गीदड़ बोला—चूहा भाई! तुम्हारा भला हो। नेवलेने यहाँ जो बात कही है, उसे सुन लो॥ ४०॥

मृगमांसं न खादेयं गरमेतन्न रोचते।
मूषिकं भक्षयिष्यामि तद् भवाननुमन्यताम्॥ ४१॥

वह कह रहा था कि 'बाघके काटनेसे इस हरिणका मांस जहरीला हो गया है, मैं तो इसे खाऊँगा नहीं; क्योंकि यह मुझे पसंद नहीं है। यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं चूहेको ही खा लूँ'॥ ४१॥

तच्छ्रुत्वा मूषिको वाक्यं संत्रस्तः प्रगतो बिलम्।
ततः स्नात्वा स वै तत्र आजगाम वृको नृप॥ ४२॥

यह बात सुनकर चूहा अत्यन्त भयभीत होकर बिलमें घुस गया। राजन्! तत्पश्चात् भेड़िया भी स्नान करके वहाँ आ पहुँचा॥ ४२॥

तमागतमिदं वाक्यमब्रवीज्जम्बुकस्तदा।
मृगराजो हि संक्रुद्धो न ते साधु भविष्यति॥ ४३॥
सकलत्रस्त्विहायाति कुरुष्व यदनन्तरम्।
एवं संचोदितस्तेन जम्बुकेन तदा वृकः॥ ४४॥
ततोऽवलुम्पनं कृत्वा प्रयातः पिशिताशनः।
एतस्मिन्नेव काले तु नकुलोऽप्याजगाम ह॥ ४५॥

उसके आनेपर गीदड़ने इस प्रकार कहा—'भेड़िया भाई! आज बाघ तुमपर बहुत नाराज हो गया है, अतः तुम्हारी खैर नहीं; वह अभी बाघिनको साथ लेकर यहाँ आ रहा है। इसलिये अब तुम्हें जो उचित जान पड़े, वह करो।' गीदड़के इस प्रकार कहनेपर कच्चा मांस खानेवाला वह भेड़िया दुम दबाकर भाग गया। इतनेमें ही नेवला भी आ पहुँचा॥ ४३—४५॥

तमुवाच महाराज नकुलं जम्बुको वने।
स्वबाहुबलमाश्रित्य निर्जितास्तेऽन्यतो गताः॥ ४६॥
मम दत्त्वा नियुद्धं त्वं भुङ्क्ष्व मांसं यथेप्सितम्।

महाराज! उस नेवलेसे गीदड़ने वनमें इस प्रकार कहा—'ओ नेवले! मैंने अपने बाहुबलका आश्रय ले उन सबको परास्त कर दिया है। वे हार मानकर अन्यत्र चले गये। यदि तुझमें हिम्मत हो तो पहले मुझसे लड़ ले; फिर इच्छानुसार मांस खाना'॥ ४६½॥

नकुल उवाच

मृगराजो वृकश्चैव बुद्धिमानपि मूषिकः॥ ४७॥
निर्जिता यत् त्वया वीरास्तस्माद् वीरतरो भवान्।
न त्वयाप्युत्सहे योद्धुमित्युक्त्वा सोऽप्युपागमत्॥ ४८॥

नेवलेने कहा—जब बाघ, भेड़िया और बुद्धिमान् चूहा—ये सभी वीर तुमसे परास्त हो गये, तब तो तुम वीर-शिरोमणि हो। मैं भी तुम्हारे साथ युद्ध नहीं कर सकता। यों कहकर नेवला भी चला गया ॥ ४७-४८ ॥

कणिक उवाच

एवं तेषु प्रयातेषु जम्बुको हृष्टमानसः।
खादति स्म तदा मांसमेकः सन् मन्त्रनिश्चयात् ॥ ४९ ॥

कणिक कहते हैं—इस प्रकार उन सबके चले जानेपर अपनी युक्तिमें सफल हो जानेके कारण गीदड़का हृदय हर्षसे खिल उठा। तब उसने अकेले ही वह मांस खाया ॥ ४९ ॥

एवं समाचरन्नित्यं सुखमेधेत भूपतिः।
भयेन भेदयेद् भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा ॥ ५० ॥

राजन्! ऐसा ही आचरण करनेवाला राजा सदा सुखसे रहता और उन्नतिको प्राप्त होता है। डरपोकको भय दिखाकर फोड़ ले तथा जो अपनेसे शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वशमें करे ॥ ५० ॥

लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा।
एवं ते कथितं राजञ्शृणु चाप्यपरं तथा ॥ ५१ ॥

लोभीको धन देकर तथा बराबर और कमजोरको पराक्रमसे वशमें करे। राजन्! इस प्रकार आपसे नीतियुक्त बर्तावका वर्णन किया गया। अब दूसरी बातें सुनिये ॥ ५१ ॥

पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ ५२ ॥

पुत्र, मित्र, भाई, पिता अथवा गुरु—कोई भी क्यों न हो, जो शत्रुके स्थानपर आ जायँ—शत्रुवत् बर्ताव करने लगें, तो उन्हें वैभव चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ॥ ५२ ॥

शपथेनाप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथंचन।
उभौ चेत् संशयोपेतौ श्रद्धावांस्तत्र वर्द्धते ॥ ५३ ॥

सौगंध खाकर, धन अथवा जहर देकर या धोखेसे भी शत्रुको मार डाले। किसी तरह भी उसकी उपेक्षा न करे। यदि दोनों राजा समानरूपसे विजयके लिये यत्नशील हों और उनकी जीत संदेहास्पद जान पड़ती हो तो उनमें भी जो मेरे इस नीतिपूर्ण कथनपर श्रद्धा-विश्वास रखता है, वही उन्नतिको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥ ५४ ॥

यदि गुरु भी घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यको न जानता हो तथा बुरे मार्गपर चलता हो तो उसे भी दण्ड देना उचित माना जाता है ॥ ५४ ॥

क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता।
न चाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित् कोपसंयुतः ॥ ५५ ॥
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च ॥ ५६ ॥

मनमें क्रोध भरा हो, तो भी ऊपरसे क्रोधशून्य बना रहे और मुसकराकर बातचीत करे। कभी क्रोधमें आकर किसी दूसरेका तिरस्कार न करे। भारत! शत्रुपर प्रहार करनेसे पहले और प्रहार करते समय भी उससे मीठे वचन ही बोले। शत्रुको मारकर भी उसके प्रति दया दिखाये, उसके लिये शोक करे तथा रोये और आँसू बहाये ॥ ५५-५६ ॥

आश्वासयेच्चापि परं सान्त्वधर्मार्थवृत्तिभिः।
अथास्य प्रहरेत् काले यदा विचलिते पथि ॥ ५७ ॥

शत्रुको समझा-बुझाकर, धर्म बताकर, धन देकर और सद्व्यवहार करके आश्वासन दे—अपने प्रति उसके मनमें विश्वास उत्पन्न करे; फिर समय आनेपर ज्यों ही वह मार्गसे विचलित हो, त्यों ही उसपर प्रहार करे ॥ ५७ ॥

अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्य तिष्ठतः।
स हि प्रच्छाद्यते दोषः शैलो मेघैरिवासितैः ॥ ५८ ॥

धर्मके आचरणका ढोंग करनेसे घोर अपराध करनेवालेका दोष भी उसी प्रकार ढक जाता है, जैसे पर्वत काले मेघोंकी घटासे ढक जाता है ॥ ५८ ॥

यः स्यादनुप्राप्तवधस्तस्यागारं प्रदीपयेत्।
अधनान् नास्तिकांश्चौरान् विषये स्वे न वासयेत् ॥ ५९ ॥

जिसे शीघ्र ही मार डालनेकी इच्छा हो, उसके घरमें आग लगा दे। धनहीनों, नास्तिकों और चोरोंको अपने राज्यमें न रहने दे ॥ ५९ ॥

प्रत्युत्थानासनाद्येन सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिविश्रब्धघाती स्यात् तीक्ष्णदंष्ट्रो निमग्नकः ॥ ६० ॥

(शत्रुके) आनेपर उठकर अगवानी करे, आसन और भोजन दे और कोई प्रिय वस्तु भेंट करे। ऐसे बर्तावोंसे अपने प्रति जिसका पूर्ण विश्वास हो गया हो, उसे भी (अपने लाभके लिये) मारनेमें संकोच न करे। सर्पकी भाँति तीखे दाँतोंसे काटे, जिससे शत्रु फिर उठकर बैठ न सके ॥ ६० ॥

अशङ्कितेभ्यः शङ्केत शङ्कितेभ्यश्च सर्वशः।
अशङ्क्याद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ॥ ६१ ॥

जिनसे भय प्राप्त होनेका संदेह न हो, उनसे भी सशङ्क (चौकन्ना) ही रहे और जिनसे भयकी आशङ्का हो, उनकी

ओरसे तो सब प्रकारसे सावधान रहे ही। जिनसे भयकी शङ्का नहीं है, ऐसे लोगोंसे यदि भय उत्पन्न होता है तो वह मूलोच्छेद कर डालता है ॥ ६१ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ६२ ॥

जो विश्वासपात्र नहीं है, उसपर कभी विश्वास न करे; परंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अति विश्वास न करे; क्योंकि अति विश्वाससे उत्पन्न होनेवाला भय राजाकी जड़-मूलका भी नाश कर डालता है ॥ ६२ ॥

चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य वा।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ॥ ६३ ॥

भलीभाँति जाँच-परखकर अपने तथा शत्रुके राज्यमें गुप्तचर रक्खे। शत्रुके राज्यमें ऐसे गुप्तचरोंको नियुक्त करे, जो पाखण्ड-वेशधारी अथवा तपस्वी आदि हों ॥ ६३ ॥

उद्यानेषु विहारेषु देवतायतनेषु च।
पानागारेषु रथ्यासु सर्वतीर्थेषु चाप्यथ ॥ ६४ ॥
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च।
समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ॥ ६५ ॥

उद्यान, घूमने-फिरनेके स्थान, देवालय, मद्यपानके अड्डे, गली या सड़क, सम्पूर्ण तीर्थस्थान, चौराहे, कुएँ, पर्वत, वन, नदी तथा जहाँ मनुष्योंकी भीड़ इकट्ठी होती हो, उन सभी स्थानोंमें अपने गुप्तचरोंको घुमाता रहे ॥६४-६५॥

वाचा भृशं विनीतः स्याद्धृदयेन तथा क्षुरः।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सृष्टो रौद्राय कर्मणे ॥ ६६ ॥

राजा बातचीतमें अत्यन्त विनयशील हो, परंतु हृदय छूरेके समान तीखा बनाये रक्खे। अत्यन्त भयानक कर्म करनेके लिये उद्यत हो तो भी मुसकराकर ही वार्तालाप करे॥६६॥

अञ्जलिः शपथः सान्त्वं शिरसा पादवन्दनम्।
आशाकरणमित्येवं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ६७ ॥

अवसर देखकर हाथ जोड़ना, शपथ खाना, आश्वासन देना, पैरोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करना और आशा बँधाना—ये सब ऐश्वर्य-प्राप्तिकी इच्छावाले राजाके कर्तव्य हैं ॥ ६७ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च जीर्येत कर्हिचित् ॥ ६८ ॥

नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्षके समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों परंतु फल न हों (वह बातोंसे लोगोंको फलकी आशा दिलाये, उसकी पूर्ति न करे)। फल लगनेपर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो (लोगोंकी स्वार्थसिद्धिमें वह विघ्न डाले या विलम्ब करे)। वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पकेके समान (अर्थात् स्वार्थ-साधकोंकी दुराशाको पूर्ण न होने दे)। कभी स्वयं जीर्ण न हो (तात्पर्य यह कि अपना धन खर्च करके शत्रुओंका पोषण करते हुए अपने आपको निर्धन न बना दे) ॥ ६८ ॥

त्रिवर्गे त्रिविधा पीडा ह्यनुबन्धस्तथैव च।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडास्तु परिवर्जयेत् ॥ ६९ ॥

धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थोंके सेवनमें तीन प्रकारकी बाधा—अड़चन उपस्थित होती है*। उसी प्रकार उनके तीन ही प्रकारके फल होते हैं। (धर्मका फल है अर्थ एवं काम अर्थात् भोगकी प्राप्ति, अर्थका फल है धर्मका सेवन एवं भोगकी प्राप्ति और काम अर्थात् भोगका फल है—इन्द्रियतृप्ति।) इन (तीनों प्रकारके) फलोंको शुभ (वरणीय) जानना चाहिये; परंतु (उक्त तीनों प्रकारकी) बाधाओंसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये। (त्रिविध पुरुषार्थोंका सेवन इस प्रकार करना चाहिये कि तीनों एक दूसरेके बाधक न हों। अर्थात् जीवनमें तीनोंका सामञ्जस्य ही सुखदायक है।) ॥ ६९ ॥

धर्मं विचरतः पीडा सापि द्वाभ्यां नियच्छति।
अर्थं चाप्यर्थलुब्धस्य कामं चातिप्रवर्तिनः ॥ ७० ॥

धर्मका अनुष्ठान करनेवाले धर्मात्मा पुरुषके धर्ममें काम और अर्थ—इन दोनोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली पीड़ा बाधा पहुँचाती है। इसी प्रकार अर्थलोभीके अर्थमें और अत्यन्त भोगासक्तके काममें भी शेष दो वर्गोंद्वारा प्राप्त होनेवाली पीड़ा बाधा उपस्थित करती है ॥ ७० ॥

अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैः सह ॥ ७१ ॥

राजा अपने हृदयसे अहंकारको निकाल दे। चित्तको एकाग्र रक्खे। सबसे मधुर बोले। दूसरोंके दोष प्रकाशित न करे। सब विषयोंपर दृष्टि रक्खे और शुद्धचित्त हो द्विजोंके साथ बैठकर मन्त्रणा करे ॥ ७१ ॥

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ७२ ॥

राजा यदि संकटमें हो तो कोमल या भयंकर—जिस किसी भी कर्मके द्वारा उस दुरवस्थासे अपना उद्धार करे; फिर समर्थ होनेपर धर्मका आचरण करे ॥ ७२ ॥

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ७३ ॥

कष्ट सहे बिना मनुष्य कल्याणका दर्शन नहीं करता। प्राण-संकटमें पड़कर यदि वह पुनः जीवित रह जाता है तो अपना भला देखता है ॥ ७३ ॥

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुर्बुद्धिं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ ७४ ॥

जिसकी बुद्धि संकटमें पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकालकी बातें (राजा नल तथा श्रीरामचन्द्रजी आदिके जीवनका वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे। जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे भविष्यमें लाभकी आशा दिलाकर तथा विद्वान् पुरुषको तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे ॥७४॥

योऽरिणा सह संधाय शयीत कृतकृत्यवत्।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ॥ ७५ ॥

* इन बाधाओंको श्लोक ७० में स्पष्ट किया गया है।

जैसे वृक्षके ऊपरकी शाखापर सोया हुआ पुरुष जब गिरता है, तब होशमें आता है उसी प्रकार जो अपने शत्रुके साथ संधि करके कृतकृत्यकी भाँति सोता (निश्चिन्त हो जाता) है, वह शत्रुसे धोखा खानेपर सचेत होता है ॥ ७५ ॥

मन्त्रसंवरणे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता ।
आकारमभिरक्षेत चारेणाप्यनुपालितः ॥ ७६ ॥

राजाको चाहिये कि वह दूसरोंके दोष प्रकाशित न करके अपनी गुप्त मन्त्रणाको सदा छिपाये रखनेकी चेष्टा करे । दूसरोंके गुप्तचरोंसे तो अपने आकारतकको (क्रोध और हर्ष आदिको सूचित करनेवाली चेष्टातकको) गुप्त रक्खे; परंतु अपने गुप्तचरसे भी सदा अपनी गुप्त मन्त्रणाकी रक्षा करे ॥ ७६ ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ ७७ ॥

राजा मछलीमारोंकी भाँति दूसरोंके मर्म विदीर्ण किये बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना तथा बहुतोंके प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं पाता ॥ ७७ ॥

कर्शितं व्याधितं क्लिन्नमपानीयमघासकम् ।
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्तव्यमरेर्बलम् ॥ ७८ ॥

जब शत्रुकी सेना दुर्बल, रोगग्रस्त, जल या कीचड़में फँसी, भूख-प्याससे पीड़ित और सब ओरसे विश्वस्त होकर निश्चेष्ट पड़ी हो, उस समय उसपर प्रहार करना चाहिये ॥ ७८ ॥

नार्थिकोऽर्थिनमभ्येति कृतार्थे नास्ति संगतम् ।
तस्मात् सर्वाणि साध्यानि सावशेषाणि कारयेत् ॥ ७९ ॥

धनवान् मनुष्य किसी धनीके पास नहीं जाता । जिसके सब काम पूरे हो चुके हैं, वह किसीके साथ मैत्री निभानेकी चेष्टा नहीं करता; अतः अपनेद्वारा सिद्ध होनेवाले दूसरोंके कार्य ही अधूरे रख दे (जिससे अपने कार्यके लिये उनका आना-जाना बना रहे) ॥ ७९ ॥

संग्रहे विग्रहे चैव यत्नः कार्योऽनसूयता ।
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ८० ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको दूसरोंके दोष न बताकर सदा आवश्यक सामग्रीके संग्रह और शत्रुओंके साथ विग्रह (युद्ध) करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये; साथ ही यत्नपूर्वक अपने उत्साहको बनाये रखना चाहिये ॥ ८० ॥

नास्य कृत्यानि बुध्येरन् मित्राणि रिपवस्तथा ।
आरब्धान्येव पश्येरन् सुपर्यवसितान्यपि ॥ ८१ ॥

मित्र और शत्रु—किसीको भी यह पता न चले कि राजा कब क्या करना चाहता है । कार्यके आरम्भ अथवा समाप्त हो जानेपर ही (सब) लोग उसे देखें ॥ ८१ ॥

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ८२ ॥

जबतक अपने ऊपर भय आया न हो, तबतक डरे हुएकी भाँति उसको टालनेका प्रयत्न करना चाहिये; परंतु जब भयको सामने आया देखे, तब निडर होकर शत्रुपर प्रहार करना चाहिये ॥ ८२ ॥

दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः ।
स मृत्युमुपगृह्णीयाद् गर्भमश्वतरी यथा ॥ ८३ ॥

जो मनुष्य दण्डके द्वारा वशमें किये हुए शत्रुपर दया करता है, वह मौतको ही अपनाता है—ठीक उसी तरह जैसे खचरी गर्भके रूपमें अपनी मृत्युको ही उदरमें धारण करती है ॥ ८३ ॥

अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरः स्थितम् ।
न तु बुद्धिक्षयात् किंचिदतिक्रामेत् प्रयोजनम् ॥ ८४ ॥

जो कार्य भविष्यमें करना हो, उसपर बुद्धिसे विचार करे और विचारनेके पश्चात् तदनुकूल व्यवस्था करे । इसी प्रकार जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे भी बुद्धिसे विचारकर ही करे । बुद्धिसे निश्चय किये बिना किसी भी कार्य या उद्देश्यका परित्याग न करे ॥ ८४ ॥

उत्साहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ।
विभज्य देशकालौ च दैवं धर्मादयस्त्रयः ।
नैःश्रेयसौ तु तौ ज्ञेयौ देशकालाविति स्थितिः ॥ ८५ ॥

ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको देश और कालका विभाग करके ही यत्नपूर्वक उत्साह एवं उद्यम करना चाहिये। इसी प्रकार देश-कालके विभागपूर्वक ही प्रारब्धकर्म तथा धर्म, अर्थ और कामका सेवन करना चाहिये । देश और कालको ही मङ्गलके प्रधान हेतु समझना चाहिये । यही नीति-शास्त्रका सिद्धान्त है ॥ ८५ ॥

तालवत् कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः ।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान् ॥ ८६ ॥

छोटे शत्रुकी भी उपेक्षा कर दी जाय, तो वह ताड़के वृक्षकी भाँति जड़ जमा लेता है और घने वनमें छोड़ी हुई आगकी भाँति शीघ्र ही महान् विनाशकारी बन जाता है ॥ ८६ ॥

अग्निं स्तोकमिवात्मानं संधुक्षयति यो नरः ।
स वर्धमानो ग्रसते महान्तमपि संचयम् ॥ ८७ ॥

जो मनुष्य थोड़ी-सी अग्निकी भाँति अपने आपको (सहायक सामग्रियोंद्वारा धीरे-धीरे) प्रज्वलित या समृद्ध करता रहता है, वह एक दिन बहुत बड़ा होकर शत्रुरूपी ईंधनकी बहुत बड़ी राशिको भी अपना ग्रास बना लेता है ॥ ८७ ॥

आशां कालवतीं कुर्यात् कालं विघ्नेन योजयेत् ।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं वापि हेतुतः ॥ ८८ ॥

यदि किसीको किसी बातकी आशा दे तो उसे शीघ्र पूरी न करके दीर्घकालतक लटकाये रक्खे। जब उसे पूर्ण करनेका समय आये, तब उसमें कोई विघ्न डाल दे और इस प्रकार समयकी अवधिको बढ़ा दे। उस विघ्नके पड़नेमें कोई उपयुक्त कारण बता दे और उस कारणको भी युक्तियोंसे सिद्ध कर दे ॥ ८८ ॥

क्षुरो भूत्वा हरेत् प्राणान् निशितः कालसाधनः।
प्रतिच्छन्नो लोमहारी द्विषतां परिकर्तनः ॥ ८९ ॥

लोहेका बना हुआ छूरा शानपर चढ़ाकर तेज किया जाता और चमड़ेके सम्पुटमें छिपाकर रखा जाता है तो वह समय आनेपर (सिर आदि अङ्गोंके समस्त) बालोंको काट देता है। उसी प्रकार राजा अनुकूल अवसरकी अपेक्षा रखकर अपने मनोभावको छिपाये हुए अनुकूल साधनोंका संग्रह करता रहे और छूरेकी तरह तीक्ष्ण या निर्दय होकर शत्रुओंके प्राण ले ले—उनका मूलोच्छेद कर डाले ॥ ८९ ॥

पाण्डवेषु यथान्यायमन्येषु च कुरूद्वह।
वर्तमानो न मज्जेस्त्वं तथा कृत्यं समाचर ॥ ९० ॥

सर्वकल्याणसम्पन्नो विशिष्ट इति निश्चयः।
तस्मात् त्वं पाण्डुपुत्रेभ्यो रक्षात्मानं नराधिप ॥ ९१ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! आप भी इसी नीतिका अनुसरण करके पाण्डवों तथा दूसरे लोगोंके साथ यथोचित बर्ताव करते रहें। परंतु ऐसा कार्य करें, जिससे स्वयं संकटके समुद्रमें डूब न न जायँ। आप समस्त कल्याणकारी साधनोंसे सम्पन्न और सबसे श्रेष्ठ हैं, यही सबका निश्चय है; अतः नरेश्वर ! आप पाण्डुके पुत्रोंसे अपनी रक्षा कीजिये ॥ ९०-९१ ॥

भ्रातृव्या बलिनो यस्मात् पाण्डुपुत्रा नराधिप।
पश्चात्तापो यथा न स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ९२ ॥

राजन्! आपके भतीजे पाण्डव बहुत बलवान् हैं; अतः ऐसी नीति काममें लाइये, जिससे आगे चलकर आपको पछताना न पड़े॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रतस्थे कणिकः स्वगृहं ततः।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यः शोकार्तः समपद्यत ॥ ९३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर कणिक अपने घरको चले गये। इधर कुरुवंशी धृतराष्ट्र शोकसे व्याकुल हो गये॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कणिकवाक्ये एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कणिकवाक्यविषयक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

(जतुगृहपर्व)

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके प्रति पुरवासियोंका अनुराग देखकर दुर्योधनकी चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः सुबलपुत्रस्तु राजा दुर्योधनश्च ह।
दुःशासनश्च कर्णश्च दुष्टं मन्त्रममन्त्रयन् ॥ १ ॥
ते कौरव्यमनुज्ञाप्य धृतराष्ट्रं नराधिपम्।
दहने तु सपुत्रायाः कुन्त्या बुद्धिमकारयन् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सुबलपुत्र शकुनि, राजा दुर्योधन, दुःशासन और कर्णने (आपसमें) एक दुष्टतापूर्ण गुप्त सलाह की। उन्होंने कुरुनन्दन महाराज धृतराष्ट्रसे आज्ञा लेकर पुत्रोंसहित कुन्तीको आगमें जला डालनेका विचार किया ॥ १-२ ॥

तेषामिङ्गितभावज्ञो विदुरस्तत्त्वदर्शिवान्।
आकारेण च तं मन्त्रं बुबुधे दुष्टचेतसाम् ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञानी विदुर उनकी चेष्टाओंसे उनके मनका भाव समझ गये और उनकी आकृतिसे ही उन दुष्टोंकी गुप्त मन्त्रणाका भी उन्होंने पता लगा लिया ॥ ३ ॥

ततो विदितवेद्यात्मा पाण्डवानां हिते रतः।
पलायने मतिं चक्रे कुन्त्याः पुत्रैः सहानघः ॥ ४ ॥

विदुरजीने मन-ही-मन जानने योग्य सभी बातें जान लीं। वे सदा पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते थे, अतः निष्पाप विदुरने यही निश्चय किया कि कुन्ती अपने पुत्रोंके साथ यहाँसे भाग जाय ॥ ४ ॥

ततो वातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
ऊर्मिक्षमां दृढां कृत्वा कुन्तीमिदमुवाच ह ॥ ५ ॥

उन्होंने एक सुदृढ़ नाव बनवायी, जिसे चलानेके लिये उसमें यन्त्र[1] लगाया गया था। वह वायुके वेग और लहरोंके थपेड़ोंका सामना करनेमें समर्थ थी। उसमें झंडियाँ और पताकाएँ फहरा रही थीं। उस नावको तैयार कराके विदुरजीने कुन्तीसे कहा—॥ ५ ॥

एष जातः कुलस्यास्य कीर्तिवंशप्रणाशनः।
धृतराष्ट्रः परीतात्मा धर्मं त्यजति शाश्वतम् ॥ ६ ॥

१. इससे महाभारतकालमें यन्त्रयुक्त नौकाओं (जहाजों) का निर्माण सूचित होता है।

इयं वारिपथे युक्ता तरङ्गपवनक्षमा ।
नौर्यया मृत्युपाशात् त्वं सपुत्रा मोक्ष्यसे शुभे ॥ ७ ॥

'देवि ! राजा धृतराष्ट्र इस कुरुकुलकी कीर्ति एवं वंशपरम्पराका नाश करनेवाले पैदा हुए हैं। इनका चित्त पुत्रोंके प्रति ममतासे व्याप्त हुआ है, इसलिये ये सनातन धर्मका त्याग कर रहे हैं। शुभे ! जलके मार्गमें यह नाव तैयार है, जो हवा और लहरोंके वेगको भलीभाँति सह सकती है। इसीके द्वारा (कहीं अन्यत्र जाकर) तुम पुत्रोंसहित मौतकी फाँसीसे छूट सकोगी' ॥ ६-७ ॥

तच्छ्रुत्वा व्यथिता कुन्ती पुत्रैः सह यशस्विनी ।
नावमारुह्य गङ्गायां प्रययौ भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यह बात सुनकर यशस्विनी कुन्तीको बड़ी व्यथा हुई। वे पुत्रोंसहित (वारणावतके लाक्षागृहसे बचकर) नावपर जा चढ़ीं और गङ्गाजीकी धारापर यात्रा करने लगीं ॥ ८ ॥

ततो विदुरवाक्येन नावं विक्षिप्य पाण्डवाः ।
धनं चादाय तैर्दत्तमरिष्टं प्राविशन् वनम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर विदुरजीके कहनेसे पाण्डवोंने नावको वहीं डुबा दिया और उन कौरवोंके दिये हुए धनको लेकर विघ्न-बाधाओंसे रहित वनमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥

निषादी पञ्चपुत्रा तु जातुषे तत्र वेश्मनि ।
कारणाभ्यागता दग्धा सह पुत्रैरनागसा ॥ १० ॥

वारणावतके उस लाक्षागृहमें निषाद जातिकी एक स्त्री किसी कारणवश अपने पाँच पुत्रोंके साथ आकर ठहर गयी थी। वह बेचारी निरपराध होनेपर भी उसमें पुत्रोंसहित जलकर भस्म हो गयी ॥ १० ॥

स च म्लेच्छाधमः पापो दग्धस्तत्र पुरोचनः ।
वञ्चिताश्च दुरात्मानो धार्तराष्ट्राः सहानुगाः ॥ ११ ॥

म्लेच्छोंमें (भी) नीच पापी पुरोचन भी उसी घरमें जल मरा और धृतराष्ट्रके दुरात्मा पुत्र अपने सेवकोंसहित धोखा खा गये ॥ ११ ॥

अविज्ञाता महात्मानो जनानामक्षतास्तथा ।
जनन्या सह कौन्तेया मुक्ता विदुरमन्त्रिताः ॥ १२ ॥

विदुरकी सलाहके अनुसार काम करनेवाले महात्मा कुन्तीपुत्र अपनी माताके साथ मृत्युसे बच गये। उन्हें किसी प्रकारकी क्षति नहीं पहुँची। साधारण लोगोंको उनके जीवित रहनेकी बात ज्ञात न हो सकी ॥ १२ ॥

ततस्तस्मिन् पुरे लोका नगरे वारणावते ।
दृष्ट्वा जतुगृहं दग्धमन्वशोचन्त दुःखिताः ॥ १३ ॥

तदनन्तर वारणावत नगरमें वहाँके लोगोंने लाक्षागृहको दग्ध हुआ देख (अत्यन्त) दुखी हो पाण्डवोंके लिये (बड़ा) शोक किया ॥ १३ ॥

राज्ञे च प्रेषयामासुर्यथावृत्तं निवेदितुम् ।
संवृत्तस्ते महान् कामः पाण्डवान् दग्धवानसि ॥ १४ ॥
सकामो भव कौरव्य भुङ्क्ष्व राज्यं सपुत्रकः ।
तच्छ्रुत्वा धृतराष्ट्रस्तु सह पुत्रेण शोचयन् ॥ १५ ॥

तथा राजा धृतराष्ट्रके पास यथावत् समाचार कहनेके लिये किसीको भेजकर कहलाया—'कुरुनन्दन ! तुम्हारा महान् मनोरथ पूरा हो गया। पाण्डवोंको तुमने जला दिया। अब तुम कृतार्थ हो जाओ और पुत्रोंके साथ राज्य भोगो।' यह सुनकर पुत्रसहित धृतराष्ट्र शोकमग्न हो गये ॥ १४-१५ ॥

प्रेतकार्याणि च तथा चकार सह बान्धवैः ।
पाण्डवानां तथा क्षत्ता भीष्मश्च कुरुसत्तमः ॥ १६ ॥

उन्होंने, विदुरजीने तथा कुरुकुलशिरोमणि भीष्मजीने भी भाई-बन्धुओंके साथ (पुत्तल-विधिसे) पाण्डवोंके प्रेतकार्य (दाह और श्राद्ध आदि) सम्पन्न किये ॥ १६ ॥

जनमेजय उवाच

पुनर्विस्तरशः श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम ।
दाहं जतुगृहस्यैव पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ १७ ॥

जनमेजय बोले—विप्रवर ! मैं लाक्षागृहके जलने और पाण्डवोंके उससे बच जानेका वृत्तान्त पुनः विस्तारसे सुनना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

सुनृशंसमिदं कर्म तेषां क्रूरोपसंहितम् ।
कीर्तयस्व यथावृत्तं परं कौतूहलं मम ॥ १८ ॥

क्रूर कणिकके उपदेशसे किया हुआ कौरवोंका यह कर्म अत्यन्त निर्दयतापूर्ण था। आप उसका ठीक-ठीक वर्णन कीजिये। मुझे यह सब सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु विस्तरशो राजन् वदतो मे परंतप ।
दाहं जतुगृहस्यैतत् पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! मैं लाक्षागृहके जलने और पाण्डवोंके उससे बच जानेका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कहता हूँ, सुनो ॥ १९ ॥

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनंजयम् ।
दुर्योधनो लक्षयित्वा पर्यतप्यत दुर्मनाः ॥ २० ॥

भीमसेनको सबसे अधिक बलवान् और अर्जुनको अस्त्र-विद्यामें सबसे श्रेष्ठ देखकर दुर्योधन सदा संतप्त होता रहता था। उसके मनमें बड़ा दुःख था ॥ २० ॥

ततो वैकर्तनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ते जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ २१ ॥

तब सूर्यपुत्र कर्ण और सुबलकुमार शकुनि आदि अनेक उपायोंसे पाण्डवोंको मार डालनेकी इच्छा करने लगे ॥ २१ ॥

पाण्डवा अपि तत् सर्वं प्रतिचक्रुर्यथागतम् ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ २२ ॥

पाण्डवोंने भी जब जैसा संकट आया, सबका निवारण किया और विदुरकी सलाह मानकर वे कौरवोंके षड्यन्त्रका कभी भंडाफोड़ नहीं करते थे ॥ २२ ॥

गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयांचक्रिरे तेषां गुणान् संसत्सु भारत ॥ २३ ॥

भारत ! उन दिनों पाण्डवोंको सर्वगुणसम्पन्न देख नगरके निवासी भरी सभाओंमें उनके सद्गुणोंकी प्रशंसा करते थे॥

राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ॥ २४ ॥

वे जहाँ कहीं चौराहोंपर और सभाओंमें इकट्ठे होते वहीं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरको राज्यप्राप्तिके योग्य बताते थे ॥

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥ २५ ॥

वे कहते, 'प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र नेत्रहीन होनेके कारण जब पहले ही राज्य न पा सके, तब (अब) वे कैसे राजा हो सकते हैं ॥ २५ ॥

तथा शांतनवो भीष्मः सत्यसंधो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥ २६ ॥

'महान् व्रतका पालन करनेवाले शंतनुनन्दन भीष्म तो सत्यप्रतिज्ञ हैं । वे पहले ही राज्य ठुकरा चुके हैं, अतः अब उसे कदापि ग्रहण न करेंगे ॥ २६ ॥

ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥ २७ ॥

'पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिर यद्यपि अभी तरुण हैं, तो भी उनका शील-स्वभाव वृद्धोंके समान है । वे सत्यवादी, दयालु और वेदवेत्ता हैं; अतः अब हमलोग उन्हींका विधि-पूर्वक राज्याभिषेक करें ॥ २७ ॥

स हि भीष्मं शांतनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित् ।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ॥ २८ ॥

'महाराज युधिष्ठिर बड़े धर्मज्ञ हैं । वे शंतनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रोंसहित धृतराष्ट्रका आदर करते हुए उन्हें नाना प्रकारके भोगोंसे सम्पन्न रक्खेंगे' ॥ २८ ॥

तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम् ।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरमें अनुरक्त हो उपर्युक्त उद्गार प्रकट करनेवाले लोगोंकी बातें सुनकर खोटी बुद्धिवाला दुर्योधन भीतर-ही-भीतर जलने लगा ॥ २९ ॥

स तप्यमानो दुष्टात्मा तेषां वाचो न चक्षमे ।
ईर्ष्यया चापि संतप्तो धृतराष्ट्रमुपागमत् ॥ ३० ॥

इस प्रकार संतप्त हुआ वह दुष्टात्मा लोगोंकी बातोंको सहन न कर सका । वह ईर्ष्याकी आगसे जलता हुआ धृतराष्ट्रके पास आया ॥ ३० ॥

ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरं प्रतिपूज्य सः ।
पौरानुरागसंतप्तः पश्चादिदमभाषत ॥ ३१ ॥

वहाँ अपने पिताको अकेला पाकर पुरवासियोंके युधिष्ठिर-विषयक अनुरागसे दुखी हुए दुर्योधनने पहले पिताके प्रति आदर प्रदर्शित किया । तत्पश्चात् इस प्रकार कहा ॥ ३१ ॥

दुर्योधन उवाच

श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः ।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ॥ ३२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने परस्पर वार्तालाप करते हुए पुरवासियोंके मुखसे (बड़ी) अशुभ बातें सुनी हैं । वे आपका और भीष्मजीका अनादर करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको राजा बनाना चाहते हैं ॥ ३२ ॥

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति ।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥ ३३ ॥

भीष्मजी तो इस बातको मान लेंगे; क्योंकि वे स्वयं राज्य भोगना नहीं चाहते । परंतु नगरके लोग हमारे लिये बहुत बड़े कष्टका आयोजन करना चाहते हैं ॥ ३३ ॥

पितृतः प्राप्तवान् राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात् प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥ ३४ ॥

पाण्डुने अपने सद्गुणोंके कारण पितासे राज्य प्राप्त कर लिया और आप अंधे होनेके कारण अधिकारप्राप्त राज्यको भी नहीं पा सके ॥ ३४ ॥

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥ ३५ ॥

यदि ये पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पाण्डुके राज्यको, जिसका उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, प्राप्त कर लेते हैं तो निश्चय ही उनके बाद उनका पुत्र ही इस राज्यका अधिकारी होगा और उसके बाद पुनः उसीकी पुत्रपरम्परामें दूसरे-दूसरे लोग इसके अधिकारी होते जायँगे ॥ ३५ ॥



ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥ ३६ ॥

महाराज ! ऐसी दशामें हमलोग अपने पुत्रोंसहित राज-परम्परासे वञ्चित होनेके कारण सब लोगोंकी अवहेलनाके पात्र बन जायँगे ॥ ३६ ॥

सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः ।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ ३७ ॥

राजन् ! आप कोई ऐसी नीति काममें लाइये, जिससे हमें दूसरोंके दिये हुए अन्नसे गुजारा करके सदा नरकतुल्य कष्ट न भोगना पड़े ॥ ३७ ॥

यदि त्वं हि पुरा राजन्निदं राज्यमवाप्तवान् ।
ध्रुवं प्राप्स्याम च वयं राज्यमप्यवशे जने ॥ ३८ ॥

राजन् ! यदि पहले ही आपने यह राज्य पा लिया होता तो आज हम अवश्य ही इसे प्राप्त कर लेते; फिर तो लोगोंका कोई वश नहीं चलता ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनेर्ष्यायां चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें दुर्योधनकी ईर्ष्याविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४०॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे पाण्डवोंको वारणावत भेज देनेका प्रस्ताव

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा तु पुत्रस्य प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कणिकस्य च वाक्यानि तानि श्रुत्वा स सर्वशः ॥ १ ॥
धृतराष्ट्रो द्विधाचित्तः शोकार्तः समपद्यत ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिः सौबलस्तथा ॥ २ ॥
दुःशासनचतुर्थास्ते मन्त्रयामासुरेकतः ।
ततो दुर्योधनो राजा धृतराष्ट्रमभाषत ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने पुत्रकी यह बात सुनकर तथा कणिकके उन वचनोंका स्मरण करके प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्रका चित्त सब प्रकारसे दुविधामें पड़ गया । वे शोकसे आतुर हो गये । दुर्योधन, कर्ण, सुबल-पुत्र शकुनि तथा चौथे दुःशासन इन सबने एक जगह बैठकर सलाह की; फिर राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे कहा— ॥ १-३ ॥

पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात् तान् विवासयतां भवान् ।
निपुणेनाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ ४ ॥

'पिताजी ! हमें पाण्डवोंसे भय न हो, इसलिये आप किसी उत्तम उपायसे उन्हें यहाँसे हटाकर वारणावत नगरमें भेज दीजिये' ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रस्तु पुत्रेण श्रुत्वा वचनमीरितम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ५ ॥

अपने पुत्रकी कही हुई यह बात सुनकर धृतराष्ट्र दो घड़ीतक भारी चिन्तामें पड़े रहे; फिर दुर्योधनसे बोले ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद् विशेषतः ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! पाण्डु अपने जीवनभर धर्मको ही नित्य मानकर सम्पूर्ण ज्ञातिजनोंके साथ धर्मानुकूल व्यवहार ही करते थे; मेरे प्रति तो विशेषरूपसे ॥ ६ ॥

नासौ किंचिद् विजानाति भोजनादि चिकीर्षितम् ।
निवेदयति नित्यं हि मम राज्यं धृतव्रतः ॥ ७ ॥

वे इतने भोले-भाले थे कि अपने स्नान-भोजन आदि अभीष्ट कर्तव्योंके सम्बन्धमें भी कुछ नहीं जानते थे । वे उत्तम व्रतका पालन करते हुए प्रतिदिन मुझसे यही कहते थे कि 'यह राज्य तो आपका ही है' ॥ ७ ॥

तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौरवाणां सुसम्मतः ॥ ८ ॥

उनके पुत्र युधिष्ठिर भी वैसे ही धर्मपरायण हैं, जैसे स्वयं पाण्डु थे । वे उत्तम गुणोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण जगत्में विख्यात तथा पूरुवंशियोंके अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ८ ॥

स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः ।
पितृपैतामहाद् राज्यात् ससहायो विशेषतः ॥ ९ ॥

फिर उन्हें उनके बाप-दादोंके राज्यसे बलपूर्वक कैसे हटाया जा सकता है ? विशेषतः ऐसे समयमें, जब कि उनके सहायक अधिक हैं ॥ ९ ॥

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम् ।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ॥ १० ॥

पाण्डुने सभी मन्त्रियों तथा सैनिकोंका सदा पालन-पोषण किया था । उनका ही नहीं, उनके पुत्र-पौत्रोंके भी भरण-पोषणका विशेष ध्यान रक्खा था ॥ १० ॥

ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः ।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ॥ ११ ॥

तात ! पाण्डुने पहले नागरिकोंके साथ बड़ा ही सद्भाव-पूर्ण व्यवहार किया है । अब वे विद्रोही होकर युधिष्ठिरके हितके लिये भाई-बन्धुओंके साथ हम सब लोगोंकी हत्या क्यों न कर डालेंगे ? ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि ।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने भी अपने हृदयमें इस दोष (प्रजाके विरोधी होने) की सम्भावना की थी और इसीपर दृष्टि रखकर पहले ही अर्थ और सम्मानके द्वारा समस्त प्रजाका आदर-सत्कार किया है ॥ १२ ॥

ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः ।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥ १३ ॥

अब निश्चय ही वे लोग मुख्यतासे हमारे सहायक होंगे । राजन् ! इस समय खजाना और मन्त्रिमण्डल हमारे ही अधीन हैं ॥ १३ ॥

स भवान् पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति ।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥ १४ ॥

अतः आप किसी मृदुल उपायसे ही जितना शीघ्र सम्भव हो, पाण्डवोंको वारणावत नगरमें भेज दें ॥ १४ ॥

यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन् भविष्यति ।
तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत ॥ १५ ॥

भरतवंशके महाराज ! जब यह राज्य पूरी तरहसे मेरे अधिकारमें आ जायगा, उस समय कुन्तीदेवी अपने पुत्रोंके साथ पुनः यहाँ आकर रह सकती हैं ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि सम्परिवर्तते ।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! मेरे हृदयमें भी यही बात घूम रही है; किंतु हमलोगोंका यह अभिप्राय पापपूर्ण है, इसलिये मैं इसे खोलकर कह नहीं पाता ॥ १६ ॥

न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः ।
विवास्यमानान् कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् ॥ १७ ॥

मुझे यह भी विश्वास है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और कृपाचार्य—इनमेंसे कोई भी कुन्तीपुत्रोंको यहाँसे अन्यत्र भेजे जानेकी कदापि अनुमति नहीं देंगे ॥ १७ ॥

समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक ।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥ १८ ॥

बेटा ! इन सभी कुरुवंशियोंके लिये हमलोग और पाण्डव समान हैं । ये धर्मपरायण मनस्वी महापुरुष उनके प्रति विषम व्यवहार करना नहीं चाहेंगे ॥ १८ ॥

ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम् ।
कथं न वध्यतां तात गच्छाम जगतस्तथा ॥ १९ ॥

दुर्योधन ! यदि हम पाण्डवोंके साथ विषम व्यवहार करेंगे तो सम्पूर्ण कुरुवंशी और ये (भीष्म, द्रोण आदि) महात्मा एवं सम्पूर्ण जगत्के लोग हमें वध करने योग्य क्यों न समझेंगे ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः ।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ॥२०॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! भीष्म तो सदा ही मध्यस्थ हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मेरे पक्षमें हैं, द्रोणाचार्य भी उधर ही रहेंगे, जिधर उनका पुत्र होगा—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥ २० ॥

कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत् ।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ॥२१॥

जिस पक्षमें ये दोनों होंगे, उसी ओर शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य भी रहेंगे । वे अपने बहनोई द्रोण और भानजे अश्वत्थामाको कभी छोड़ न सकेंगे ॥ २१ ॥

क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः ।
न चैकः स समर्थोऽस्मान् पाण्डवार्थेऽधिबाधितुम् ॥२२॥

विदुर भी हमारे आर्थिक बन्धनमें हैं, यद्यपि वे छिपे-छिपे हमारे शत्रुओंके स्नेहपाशमें बँधे हैं । परंतु वे अकेले पाण्डवोंके हितके लिये हमें बाधा पहुँचानेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥ २२ ॥

स विस्रब्धः पाण्डुपुत्रान् सह मात्रा प्रवासय ।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ॥२३॥

इसलिये आप पूर्ण निश्चिन्त होकर पाण्डवोंको उनकी माताके साथ वारणावत भेज दीजिये और ऐसी व्यवस्था कीजिये, जिससे वे आज ही चले जायँ ॥ २३ ॥

विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय ॥२४॥

मेरे हृदयमें भयंकर काँटा-सा चुभ रहा है, जो मुझे नींद नहीं लेने देता । शोककी आग प्रज्वलित हो उठी है, आप (मेरे द्वारा प्रस्तावित) इस कार्यको पूरा करके मेरे हृदयकी शोकाग्निको बुझा दीजिये ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि दुर्योधनपरामर्शे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें दुर्योधनपरामर्शविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके आदेशसे पाण्डवोंकी वारणावत-यात्रा

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा सर्वाः प्रकृतयः शनैः।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः॥ १॥
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित् कुशलमन्त्रिणः।
कथयांचक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम्॥ २॥
अयं समाजः सुमहान् रमणीयतमो भुवि।
उपस्थितः पशुपतेर्नगरे वारणावते॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन और उसके छोटे भाइयोंने धन देकर तथा आदर-सत्कार करके सम्पूर्ण अमात्य आदि प्रकृतियोंको धीरे-धीरे अपने वशमें कर लिया। कुछ चतुर मन्त्री धृतराष्ट्रकी आज्ञासे (चारों ओर) इस बातकी चर्चा करने लगे कि 'वारणावत नगर बहुत सुन्दर है। उस नगरमें इस समय भगवान् शिवकी पूजाके लिये जो बहुत बड़ा मेला लग रहा है, वह तो इस पृथ्वीपर सबसे अधिक मनोहर है॥ १–३॥

सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे।
इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः॥ ४॥

'वह पवित्र नगर समस्त रत्नोंसे भरा-पूरा तथा मनुष्योंके मनको मोह लेनेवाला स्थान है।' धृतराष्ट्रके कहनेसे वे इस प्रकारकी बातें करने लगे॥ ४॥

कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप॥ ५॥

राजन् ! वारणावत नगरकी रमणीयताका जब इस प्रकार (यत्र-तत्र) वर्णन होने लगा, तब पाण्डवोंके मनमें वहाँ जानेका विचार उत्पन्न हुआ॥ ५॥

यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति।
उवाचैतानेत्य तदा पाण्डवानम्बिकासुतः॥ ६॥

जब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रको यह विश्वास हो गया कि पाण्डव वहाँ जानेके लिये उत्सुक हैं, तब वे उनके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ ६॥

(अधीतानि च शास्त्राणि युष्माभिरिह कृत्स्नशः।
अस्त्राणि च तथा द्रोणाद् गौतमाच्च विशेषतः॥
इदमेवंगते ताताश्चिन्तयामि समन्ततः।
रक्षणे व्यवहारे च राज्यस्य सततं हिते॥)
ममैते पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः।
रमणीयतमं लोके नगरं वारणावतम्॥ ७॥

'बेटो ! तुमलोगोंने सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लिये। आचार्य द्रोण और कृपसे अस्त्र-शस्त्रोंकी भी विशेषरूपसे शिक्षा प्राप्त कर ली। प्रिय पाण्डवो ! ऐसी दशामें मैं एक बात सोच रहा हूँ। सब ओरसे राज्यकी रक्षा, राजकीय व्यवहारोंकी रक्षा तथा राज्यके निरन्तर हित-साधनमें लगे रहनेवाले मेरे ये मन्त्रीलोग प्रतिदिन बारंबार कहते हैं कि वारणावत नगर संसारमें सबसे अधिक सुन्दर है॥ ७॥

ते ताता यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथामराः॥ ८॥

'पुत्रो ! यदि तुमलोग वारणावत नगरमें उत्सव देखने जाना चाहो तो अपने कुटुम्बियों और सेवकवर्गके साथ वहाँ जाकर देवताओंकी भाँति विहार करो॥ ८॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायकेभ्यश्च सर्वशः।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुवर्चसः॥ ९॥
कंचित् कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम्।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिनः पुनरेष्यथ॥ १०॥

'ब्राह्मणों और गायकोंको विशेषरूपसे रत्न एवं धन दो तथा अत्यन्त तेजस्वी देवताओंके समान कुछ कालतक वहाँ इच्छानुसार विहार करते हुए परम सुख प्राप्त करो। तत्पश्चात् पुनः सुखपूर्वक इस हस्तिनापुर नगरमें ही चले आना'॥ ९-१०॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुध्य युधिष्ठिरः।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम्॥ ११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर धृतराष्ट्रकी उस इच्छाका रहस्य समझ गये, परंतु अपनेको असहाय जानकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी बात मान ली॥ ११॥

ततो भीष्मं शांतनवं विदुरं च महामतिम्।
द्रोणं च बाह्लिकं चैव सोमदत्तं च कौरवम्॥ १२॥
कृपमाचार्यपुत्रं च भूरिश्रवसमेव च।
मान्यानन्यानमात्यांश्च ब्राह्मणांश्च तपोधनान्॥ १३॥
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम्।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा॥ १४॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने शंतनुनन्दन भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर, द्रोण, बाह्लिक, कुरुवंशी सोमदत्त, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, अन्यान्य माननीय मन्त्रियों, तपस्वी ब्राह्मणों, पुरोहितों, पुरवासियों तथा यशस्विनी गान्धारीदेवीसे मिलकर धीरे-धीरे दीनभावसे इस प्रकार कहा—॥ १२–१४॥

रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात्॥ १५॥

'हम महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञासे रमणीय वारणावत नगरमें, जहाँ बड़ा भारी मेला लग रहा है, परिवारसहित जानेवाले हैं ॥ १५ ॥

प्रसन्नमनसः सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत ।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान् न पापं प्रसहिष्यते ॥ १६ ॥

'आप सब लोग प्रसन्नचित्त होकर हमें अपने पुण्यमय आशीर्वाद दीजिये । आपके आशीर्वादसे हमारी वृद्धि होगी और पापका हमपर वश नहीं चल सकेगा' ॥ १६ ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः ।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्तन्त पाण्डवान् ॥ १७ ॥
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः ।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित् सर्वशः पाण्डुनन्दनाः ॥ १८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके इस प्रकार कहनेपर वे समस्त कुरुवंशी प्रसन्नवदन होकर पाण्डवोंके अनुकूल हो कहने लगे—'पाण्डुकुमारो ! मार्गमें सर्वदा सब प्राणियोंसे तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें कहींसे किसी प्रकारका अशुभ न प्राप्त हो' ॥ १७-१८ ॥

ततः कृतस्वस्त्ययना राज्यलम्भाय पार्थिवाः ।
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि प्रययुर्वारणावतम् ॥ १९ ॥

तब राज्य-लाभके लिये स्वस्तिवाचन करा समस्त आवश्यक कार्य पूर्ण करके राजकुमार पाण्डव वारणावत नगरको गये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि वारणावतयात्रायां द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें वारणावतयात्राविषयक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल २१ श्लोक हैं)

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

दुर्योधनके आदेशसे पुरोचनका वारणावत नगरमें लाक्षागृह बनाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत ।
दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत् स दुरात्मवान् ॥ १ ॥
स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
ममेयं वसुसम्पूर्णा पुरोचन वसुंधरा ।
यथेयं मम तद्वत् ते स तां रक्षितुमर्हसि ॥ ३ ॥
न हि मे कश्चिदन्योऽस्ति विश्वासिकतरस्त्वया ।
सहायो येन संधाय मन्त्रयेयं यथा त्वया ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको इस प्रकार वारणावत जानेकी आज्ञा दे दी, तब दुरात्मा दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई । भरतश्रेष्ठ ! उसने अपने मन्त्री पुरोचनको एकान्तमें बुलाया और उसका दाहिना हाथ पकड़कर कहा, 'पुरोचन ! यह धन-धान्यसे सम्पन्न पृथ्वी जैसे मेरी है, वैसे ही तुम्हारी भी है; अतः तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये । मेरा तुमसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा विश्वासपात्र सहायक नहीं है, जिससे मिलकर इतनी गुप्त सलाह कर सकूँ, जैसे तुम्हारे साथ करता हूँ ॥ १-४ ॥

संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर ।
निपुणेनाभ्युपायेन यद् ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ५ ॥

'तात ! तुम मेरी इस गुप्त मन्त्रणाकी रक्षा करो—इसे दूसरोंपर प्रकट न होने दो और अच्छे उपायद्वारा मेरे शत्रुओंको उखाड़ फेंको । मैं तुमसे जो कहता हूँ, वही करो ॥ ५ ॥



पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम् ।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ ६ ॥

'पिताजीने पाण्डवोंको वारणावत जानेकी आज्ञा दी है। वे उनके आदेशसे (कुछ दिनोंतक) वहाँ रहकर उत्सवमें भाग लेंगे—मेलेमें घूमे-फिरेंगे ॥ ६ ॥

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥ ७ ॥

'अतः तुम खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथपर बैठकर आज ही वहाँ पहुँच जाओ, ऐसी चेष्टा करो ॥ ७ ॥

तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम् ।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥ ८ ॥

'वहाँ जाकर नगरके निकट ही एक ऐसा भवन तैयार कराओ जिसमें चारों ओर कमरे हों तथा जो सब ओरसे सुरक्षित हो। वह भवन बहुत धन खर्च करके सुन्दर-से-सुन्दर बनवाना चाहिये ॥ ८ ॥

शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित् ।
आग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय ॥ ९ ॥

'सन तथा राल आदि, जो कोई भी आग भड़कानेवाले द्रव्य संसारमें हैं, उन सबको उस मकानकी दीवारोंमें लगवाना ॥ ९ ॥

सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया ।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय ॥ १० ॥

'घी, तेल, चर्बी तथा बहुत-सी लाह मिट्टीमें मिलवाकर उसीसे दीवारोंको लिपवाना ॥ १० ॥

शणं तैलं घृतं चैव जतु दारूणि चैव हि ।
तस्मिन् वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः ॥ ११ ॥
यथा च तन्न पश्येरन् परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः ।
आग्नेयमिति तत् कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः ॥ १२ ॥
वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान् परमार्चितान् ।
वासयेथाः पाण्डवेयान् कुन्तीं च ससुहृज्जनाम् ॥ १३ ॥

'उस घरके चारों ओर सन, तेल, घी, लाह और लकड़ी आदि सब वस्तुएँ संग्रह करके रखना। अच्छी तरह देख-भाल करनेपर भी पाण्डवों तथा दूसरे लोगोंको भी इस बातकी शङ्का न हो कि यह घर आग भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है, इस तरह पूरी सावधानीके साथ उस राजभवनका निर्माण कराना चाहिये। इस प्रकार महल बन जानेपर जब पाण्डव वहाँ जायँ, तब उन्हें तथा सुहृदोंसहित कुन्तीदेवीको भी बड़े आदर-सत्कारके साथ उसीमें रखना ॥ ११–१३ ॥

आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च ।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ॥ १४ ॥
यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते ।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत् कालस्य पर्ययः ॥ १५ ॥

'वहाँ पाण्डवोंके लिये दिव्य आसन, सवारी और शय्या आदिकी ऐसी (सुन्दर) व्यवस्था कर देना, जिसे सुनकर मेरे पिताजी संतुष्ट हों। जबतक समय बदलनेके साथ ही अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धि न हो जाय, तबतक सब काम इस तरह करना चाहिये कि वारणावत नगरके लोगोंको इसके विषयमें कुछ भी ज्ञात न हो सके ॥ १४-१५ ॥

ज्ञात्वा च तान् सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान् ।
अग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः ॥ १६ ॥

'जब तुम्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो जाय कि पाण्डवलोग यहाँ विश्वस्त होकर रहने लगे हैं, इनके मनमें कहींसे कोई खटका नहीं रह गया है, तब उनके सो जानेपर घरके दरवाजेकी ओरसे आग लगा देना ॥ १६ ॥

दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः ।
न गर्हयेयुरस्मान् वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित् ॥ १७ ॥

'उस समय लोग यही समझेंगे कि अपने ही घरमें आग लगी थी, उसीमें पाण्डव जल गये। अतः वे पाण्डवोंकी मृत्युके लिये कभी हमारी निन्दा नहीं करेंगे' ॥ १७ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः ।
प्रायाद् रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥ १८ ॥

पुरोचनने दुर्योधनके सामने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की एवं खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथपर आरूढ़ हो वहाँसे वारणावत नगरके लिये प्रस्थान किया ॥ १८ ॥

स गत्वा त्वरितं राजन् दुर्योधनमते स्थितः ।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ॥ १९ ॥

राजन्! पुरोचन दुर्योधनकी रायके अनुसार चलता था। वारणावतमें शीघ्र ही पहुँचकर उसने राजकुमार दुर्योधनके कथनानुसार सब काम पूरा कर लिया ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पुरोचनोपदेशे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पुरोचनके प्रति दुर्योधनकृत उपदेशविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी वारणावत-यात्रा तथा उनको विदुरका गुप्त उपदेश

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु रथान् युक्तान् सदश्वैरनिलोपमैः ।
आरोहमाणा भीष्मस्य पादौ जगृहुरार्तवत् ॥ १ ॥
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
अन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ॥ २ ॥

एवं सर्वान् कुरून् वृद्धानभिवाद्य यतव्रताः।
समालिङ्‌ग्य समानान् वै बालैश्चाप्यभिवादिताः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंसे जुते हुए रथोंपर चढ़नेके लिये उद्यत हो उत्तम व्रतको धारण करनेवाले पाण्डवोंने अत्यन्त दुखी-से होकर पितामह भीष्मके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोण, कृपाचार्य, विदुर तथा दूसरे बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया। इस प्रकार क्रमशः सभी वृद्ध कौरवोंको प्रणाम करके समान अवस्थावाले लोगोंको हृदयसे लगाया। फिर बालकोंने आकर पाण्डवोंको प्रणाम किया ॥ १—३ ॥

सर्वा मातॄस्तथाऽऽपृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्।
सर्वाः प्रकृतयश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ॥ ४ ॥

इसके बाद सब माताओंसे आज्ञा ले उनकी परिक्रमा करके तथा समस्त प्रजाओंसे भी बिदा लेकर वे वारणावत नगरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ४ ॥

विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथान्ये कुरुपुङ्गवाः।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वीयुः शोककर्शिताः ॥ ५ ॥
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा।
दीनान् दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः ॥ ६ ॥

उस समय महाज्ञानी विदुर तथा कुरुकुलके अन्य श्रेष्ठ पुरुष एवं पुरवासी मनुष्य शोकसे कातर हो नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके पीछे-पीछे चलने लगे। तब कुछ निर्भय ब्राह्मण पाण्डवोंको अत्यन्त दीन-दशामें देखकर बहुत दुखी हो इस प्रकार कहने लगे—॥ ५—६ ॥

विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु न च धर्मं प्रपश्यति ॥ ७ ॥

'अत्यन्त मन्दबुद्धि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र पाण्डवोंको सर्वथा विषम दृष्टिसे देखते हैं। धर्मकी ओर उनकी दृष्टि नहीं है ॥ ७ ॥

न हि पापमपापात्मा रोचयिष्यति पाण्डवः।
भीमो वा बलिनां श्रेष्ठः कौन्तेयो वा धनंजयः ॥ ८ ॥

'निष्पाप अन्तःकरणवाले पाण्डुकुमार युधिष्ठिर, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेन अथवा कुन्तीनन्दन अर्जुन कभी पापसे प्रीति नहीं करेंगे ॥ ८ ॥

कुत एव महात्मानौ माद्रीपुत्रौ करिष्यतः।
तान् राज्यं पितृतः प्राप्तान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥ ९ ॥

'फिर महात्मा दोनों माद्रीकुमार कैसे पाप कर सकेंगे। पाण्डवोंको अपने पितासे जो राज्य प्राप्त हुआ था, धृतराष्ट्र उसे सहन नहीं कर रहे हैं ॥ ९ ॥

अधर्म्यमिदमत्यन्तं कथं भीष्मोऽनुमन्यते।
विवास्यमानानस्थाने नगरे योऽभिमन्यते ॥ १० ॥

'इस अत्यन्त अधर्मयुक्त कार्यके लिये भीष्मजी कैसे अनुमति दे रहे हैं ? पाण्डवोंको अनुचितरूपसे यहाँसे निकालकर जो रहने योग्य स्थान नहीं, उस वारणावत नगरमें भेजा जा रहा है ! फिर भी भीष्मजी चुपचाप क्यों इसे मान लेते हैं ? ॥ १० ॥

पितेव हि नृपोऽस्माकमभूच्छांतनवः पुरा।
विचित्रवीर्यो राजर्षिः पाण्डुश्च कुरुनन्दनः ॥ ११ ॥

'पहले शंतनुकुमार राजर्षि विचित्रवीर्य तथा कुरुकुलको आनन्द देनेवाले महाराज पाण्डु हमारे राजा थे। केवल राजा ही नहीं, वे पिताके समान हमारा पालन-पोषण करते थे ॥ ११ ॥

स तस्मिन् पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति।
राजपुत्रानिमान् बालान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ पाण्डु जब देवभाव (स्वर्ग) को प्राप्त हो गये हैं, तब उनके इन छोटे-छोटे राजकुमारोंका भार धृतराष्ट्र नहीं सहन कर पा रहे हैं ॥ १२ ॥

वयमेतदनिच्छन्तः सर्व एव पुरोत्तमात्।
गृहान् विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥

'हमलोग यह नहीं चाहते, इसलिये हम सब घर-द्वार छोड़कर इस उत्तम नगरीसे वहीं चलेंगे, जहाँ युधिष्ठिर जा रहे हैं' ॥ १३ ॥

तांस्तथावादिनः पौरान् दुःखितान् दुःखकर्शितः।
उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

शोकसे दुर्बल धर्मराज युधिष्ठिर अपने लिये दुखी उन पुरवासियोंको ऐसी बातें करते देख मन-ही-मन कुछ सोचकर उनसे बोले—॥ १४ ॥

पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः।
अशङ्कमानैस्तत् कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम् ॥ १५ ॥

'बन्धुओ ! राजा धृतराष्ट्र मेरे माननीय पिता, गुरु एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे जो आज्ञा दें, उसका हमें निःशङ्क होकर पालन करना चाहिये; यही हमारा व्रत है ॥ १५ ॥

भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान् कृत्वा प्रदक्षिणम्।
प्रतिनन्द्य तथाशीर्भिर्निवर्तध्वं यथा गृहम् ॥ १६ ॥
यदा तु कार्यमस्माकं भवद्भिरुपपत्स्यते।
तदा करिष्यथास्माकं प्रियाणि च हितानि च ॥ १७ ॥

'आपलोग हमारे हितचिन्तक हैं, अतः हमें अपने आशीर्वादसे संतुष्ट करें और हमें दाहिने करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही अपने घरको लौट जायँ। जब आपलोगोंके द्वारा हमारा कोई कार्य सिद्ध होनेवाला होगा, उस समय आप हमारे प्रिय और हितकारी कार्य कीजियेगा' ॥ १६-१७ ॥

एवमुक्तास्तदा पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
आशीर्भिश्चाभिनन्द्यैतानग्मुर्नगरमेव हि ॥ १८ ॥

उनके यों कहनेपर पुरवासी उन्हें आशीर्वादसे प्रसन्न करते हुए दाहिने करके नगरको ही लौट गये ॥ १८ ॥

पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सत्यधर्मवित्।
बोधयन् पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥

पुरवासियोंके लौट जानेपर सत्यधर्मके ज्ञाता विदुरजी पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरको दुर्योधनके कपटका बोध कराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १९ ॥

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥ २० ॥

विदुरजी बुद्धिमान् तथा मूढ़ म्लेच्छोंकी निरर्थक-सी प्रतीत होनेवाली भाषाके भी ज्ञाता थे। इसी प्रकार युधिष्ठिर भी उस म्लेच्छभाषाको समझ लेनेवाले तथा बुद्धिमान् थे। अतः उन्होंने युधिष्ठिरसे ऐसी कहनेयोग्य बात कही, जो म्लेच्छभाषाके जानकार एवं बुद्धिमान् पुरुषको उस भाषामें कहे हुए रहस्यका ज्ञान करा देनेवाली थी, किंतु जो उस भाषाके अनभिज्ञ पुरुषको वास्तविक अर्थका बोध नहीं कराती थी ॥ २० ॥

यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम्।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद् यथा ॥ २१ ॥

'जो शत्रुकी नीति-शास्त्रका अनुसरण करनेवाली बुद्धिको समझ लेता है, वह उसे समझ लेनेपर कोई ऐसा उपाय करे, जिससे वह यहाँ शत्रु-जनित संकटसे बच सके ॥ २१ ॥

अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम्।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥ २२ ॥

'एक ऐसा तीखा शस्त्र है, जो लोहेका बना तो नहीं है, परंतु शरीरको नष्ट कर देता है। जो उसे जानता है, ऐसे उस शस्त्रके आघातसे बचनेका उपाय जाननेवाले पुरुषको शत्रु नहीं मार सकते* ॥ २२ ॥

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ २३ ॥

'घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंवाले जंगलको जलाने और सर्दीको नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वनमें फैल जानेपर भी बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको नहीं जला सकती—यों समझकर जो अपनी रक्षाका उपाय करता है, वही जीवित रहता है† ॥ २३ ॥

नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः।
नाधृतिर्बुद्धिमाप्नोति बुध्यस्वैवं प्रबोधितः ॥ २४ ॥

'जिसके आँखें नहीं हैं, वह मार्ग नहीं जान पाता; अंधेको दिशाओंका ज्ञान नहीं होता और जो धैर्य खो देता है, उसे सद्बुद्धि नहीं प्राप्त होती। इस प्रकार मेरे समझानेपर तुम मेरी बातको भलीभाँति समझ लो * ॥ २४ ॥

अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शस्त्रमलोहजम्।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ॥ २५ ॥

'शत्रुओंके दिये हुए बिना लोहेके बने शस्त्रको जो मनुष्य ग्रहण कर लेता है, वह साहीके बिलमें घुसकर आगसे बच जाता है † ॥ २५ ॥

चरन् मार्गान् विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन् नानुपीड्यते ॥ २६ ॥

'मनुष्य घूम-फिरकर रास्तेका पता लगा लेता है, नक्षत्रोंसे दिशाओंको समझ लेता है तथा जो अपनी पाँचों इन्द्रियोंका स्वयं ही दमन करता है, वह शत्रुओंसे पीड़ित नहीं होता' ‡ ॥ २६ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं ज्ञातमित्येव पाण्डवः ॥ २७ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरने विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरजीसे कहा—'मैंने आपकी बात अच्छी तरह समझ ली' ॥ २७ ॥

अनुशिक्ष्यानुगम्यैतान् कृत्वा चैव प्रदक्षिणम्।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥ २८ ॥

इस तरह पाण्डवोंको बारंबार कर्तव्यकी शिक्षा देते हुए कुछ दूरतक उनके पीछे-पीछे जाकर विदुरजी उनको जानेकी आज्ञा दे उन्हें अपने दाहिने करके पुनः अपने घरको लौट गये ॥ २८ ॥

निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा।
अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

विदुर, भीष्मजी तथा नगरनिवासियोंके लौट जानेपर कुन्ती अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास जाकर बोली— ॥ २९ ॥

क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद् वयम् ॥ ३० ॥

---

* यहाँ संकेतसे यह बात बतायी गयी है कि शत्रुओंने तुम्हारे लिये एक ऐसा भवन तैयार करवाया है, जो आगको भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है। शस्त्रका शुद्धरूप सस्त्र है, जिसका अर्थ घर होता है।

† तात्पर्य यह है, वहाँ जो तुम्हारा पार्श्ववर्ती होगा, वह पुरोचन ही तुम्हें आगमें जलाकर नष्ट करना चाहता है। तुम उस आगसे बचनेके लिये एक सुरंग तैयार करा लेना। कक्षघ्नका शुद्ध रूप कुक्षिघ्न है, जिसका अर्थ है कुक्षिचर या पार्श्ववर्ती।

* अर्थात् दिशा आदिका ठीक ज्ञान पहलेसे ही कर लेना, जिससे रातमें भटकना न पड़े।

† तात्पर्य यह कि उस सुरंगसे यदि तुम बाहर निकल जाओगे तो लाक्षागृहमें लगी हुई आगसे बच सकोगे।

‡ अर्थात् यदि तुम पाँचों भाई एकमत रहोगे तो शत्रु तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा।

'बेटा ! विदुरजीने सब लोगोंके बीचमें जो अस्पष्ट-सी बात कही थी, उसे सुनकर तुमने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार किया था; परंतु हमलोग वह बात अबतक नहीं समझ पा रहे हैं ॥ ३० ॥

यदीदं शक्यमस्माभिर्ज्ञातुं न च सदोषवत्।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं संवादं तव तस्य च ॥ ३१ ॥

'यदि उसे हम भी समझ सकें और हमारे जाननेसे कोई दोष न आता हो तो तुम्हारी और उनकी सारी बातचीतका रहस्य मैं सुनना चाहती हूँ' ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत्।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित् स्यादिति धर्मधीः॥ ३२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ ! जिनकी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहती है, उन विदुरजीने (सांकेतिक भाषामें) मुझसे कहा था, 'तुम जिस घरमें ठहरोगे, वहाँसे आगका भय है, यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिये। साथ ही वहाँका कोई भी मार्ग ऐसा न हो, जो तुमसे अपरिचित रहे ॥ ३२ ॥

जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत्।
विज्ञातमिति तत् सर्वं प्रत्युक्तो विदुरो मया ॥ ३३ ॥

'यदि तुम अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखोगे तो सारी पृथ्वीका राज्य प्राप्त कर लोगे, यह बात भी उन्होंने मुझसे बतायी थी और इन्हीं बातोंके लिये मैंने विदुरजीको उत्तर दिया था कि 'मैं सब समझ गया' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नागरं जनम् ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंने फाल्गुन शुक्ला अष्टमीके दिन रोहिणी नक्षत्रमें यात्रा की थी। वे यथासमय वारणावत पहुँचकर वहाँके नागरिकोंसे मिले ॥ ३४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि वारणावतगमने चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावतयात्रा-विषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१४४

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

वारणावतमें पाण्डवोंका स्वागत, पुरोचनका सत्कारपूर्वक उन्हें ठहराना, लाक्षागृहमें निवासकी व्यवस्था और युधिष्ठिर एवं भीमसेनकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद् वारणावतात्।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ॥ १ ॥
श्रुत्वाऽऽगतान् पाण्डुपुत्रान् नानायानैः सहस्रशः।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठान् श्रुत्वैव परया मुदा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके शुभागमनका समाचार सुनकर वारणावत नगरसे वहाँके समस्त प्रजाजन अत्यन्त प्रसन्न हो आलस्य छोड़कर शास्त्रविधिके अनुसार सब तरहकी माङ्गलिक वस्तुओंकी भेंट लेकर हजारोंकी संख्यामें नाना प्रकारकी सवारियोंके द्वारा उनकी अगवानीके लिये आये ॥ १-२ ॥

ते समासाद्य कौन्तेयान् वारणावतका जनाः।
कृत्वा जयाशिषः सर्वे परिवार्यावतस्थिरे ॥ ३ ॥

कुन्तीकुमारोंके निकट पहुँचकर वारणावतके सब लोग उनकी जय-जयकार करते और आशीर्वाद देते हुए उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

तैर्वृतः पुरुषव्याघ्रो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
विबभौ देवसंकाशो वज्रपाणिरिवामरैः ॥ ४ ॥

उनसे घिरे हुए पुरुषसिंह धर्मराज युधिष्ठिर, जो देवताओंके समान तेजस्वी थे, इस प्रकार शोभा पा रहे थे मानो देवमण्डलीके बीच साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र हों ॥ ४ ॥

सत्कृताश्चैव पौरैस्ते पौरान् सत्कृत्य चानघ।
अलंकृतं जनाकीर्णं विविशुर्वारणावतम् ॥ ५ ॥

निष्पाप जनमेजय ! पुरवासियोंने पाण्डवोंका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। फिर पाण्डवोंने भी नागरिकोंको आदरपूर्वक अपनाकर जनसमुदायसे भरे हुए सजे-सजाये वारणावत नगरमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

ते प्रविश्य पुरीं वीरास्तूर्णं जग्मुरथो गृहान्।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु ॥ ६ ॥

राजन् ! नगरमें प्रवेश करके वीर पाण्डव सबसे पहले शीघ्रतापूर्वक स्वधर्मपरायण ब्राह्मणोंके घरोंमें गये ॥ ६ ॥

नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तदा।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहाण्यपि ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् वे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार नगरके अधिकारी क्षत्रियोंके यहाँ गये। इसी प्रकार वे क्रमशः वैश्यों और शूद्रोंके घरोंपर भी उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ ।
जग्मुरावसथं पश्चात् पुरोचनपुरस्सराः ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नगरनिवासी मनुष्योंद्वारा पूजित एवं सम्मानित हो पाण्डवलोग पुरोचनको आगे करके डेरेपर गये ॥ ८ ॥

तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च ।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ॥ ९ ॥

वहाँ पुरोचनने उनके लिये खाने-पीनेकी उत्तम वस्तुएँ, सुन्दर शय्याएँ और श्रेष्ठ आसन प्रस्तुत किये ॥ ९ ॥



तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः ।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ॥ १० ॥

उस भवनमें पुरोचनद्वारा उनका बड़ा सत्कार हुआ। वे अत्यन्त बहुमूल्य सामग्रियोंका उपयोग करते थे और बहुत-से नगरनिवासी श्रेष्ठ पुरुष उनकी सेवामें उपस्थित रहते थे। इस प्रकार वे (बड़े आनन्दसे) वहाँ रहने लगे ॥ १० ॥

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ॥ ११ ॥

दस दिनोंतक वहाँ रह लेनेके पश्चात् पुरोचनने पाण्डवोंसे उस नूतन गृहके सम्बन्धमें चर्चा की, जो कहनेको तो 'शिव-भवन' था, परंतु वास्तवमें अशिव (अमङ्गलकारी) था ॥ ११ ॥

तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात् कैलासमिव गुह्यकाः ॥ १२ ॥

पुरोचनके कहनेसे वे पुरुषसिंह पाण्डव अपनी सब सामग्रियों और सेवकोंके साथ उस नये भवनमें गये; मानो गुह्यकगण कैलास पर्वतपर जा रहे हों ॥ १२ ॥

तच्चागारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरः ।
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥ १३ ॥

उस घरको अच्छी तरह देखकर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा—'भाई ! यह भवन तो आग भड़कानेवाली वस्तुओंसे बना जान पड़ता है ॥ १३ ॥

जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ।
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परंतप ॥ १४ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेन ! मुझे इस घरकी दीवारोंसे घी और लाह मिली हुई चर्बीकी गन्ध आ रही है। अतः स्पष्ट जान पड़ता है कि इस घरका निर्माण अग्निदीपक पदार्थोंसे ही हुआ है ॥ १४ ॥

शणसर्जरसंव्यक्तमानीय गृहकर्मणि ।
मुञ्जबल्वजवंशादि द्रव्यं सर्वं घृतोक्षितम् ॥ १५ ॥
शिल्पिभिः सुकृतं ह्याप्तैर्विनीतैर्वेश्मकर्मणि ।
विश्वस्तं मामयं पापो दग्धुकामः पुरोचनः ॥ १६ ॥
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ।
इमां तु तां महाबुद्धिर्विदुरो दृष्टवांस्तथा ॥ १७ ॥
आपदं तेन मां पार्थ स सम्बोधितवान् पुरा ।
ते वयं बोधितास्तेन नित्यमस्मद्धितैषिणा ॥ १८ ॥
पित्रा कनीयसा स्नेहाद् बुद्धिमन्तोऽशिवं गृहम् ।
अनार्यैः सुकृतं गूढैर्दुर्योधनवशानुगैः ॥ १९ ॥

'गृहनिर्माणके कर्ममें सुशिक्षित एवं विश्वसनीय कारीगरोंने अवश्य ही घर बनाते समय सन, राल, मूँज, बल्वज (मोटे तिनकोंवाली घास) और बाँस आदि सब द्रव्योंको घीसे सींचकर बड़ी खूबीके साथ इन सबके द्वारा इस सुन्दर भवनकी रचना की है । यह मन्दबुद्धि पापी पुरोचन दुर्योधनकी आज्ञाके अधीन हो सदा इस घातमें लगा रहता है कि जब हमलोग विश्वस्त होकर सोये हों, तब वह आग लगाकर (घरके साथ ही) हमें जला दे। यही उसकी इच्छा है। भीमसेन ! परम बुद्धिमान् विदुरजीने हमारे ऊपर आनेवाली इस विपत्तिको यथार्थरूपमें समझ लिया था; इसीलिये उन्होंने पहले ही मुझे सचेत कर दिया। विदुरजी हमारे छोटे पिता और सदा हमलोगोंका हित चाहनेवाले हैं। अतः उन्होंने स्नेहवश हम बुद्धिमानोंको इस अशिव (अमङ्गलकारी) गृहके सम्बन्धमें, जिसे दुर्योधनके वशवर्ती दुष्ट कारीगरोंने छिपकर कौशलसे बनाया है, पहले ही सब कुछ समझा दिया' ॥ १५—१९ ॥

भीमसेन उवाच

यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥ २० ॥

भीमसेन बोले—भैया ! यदि आप यह मानते हों कि इस घरका निर्माण अग्निको उद्दीप्त करनेवाली वस्तुओंसे हुआ

है तो हमलोग जहाँ पहले रहते थे, कुशलपूर्वक पुनः उसी घरमें क्यों न लौट चलें ? ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर बोले—भाई ! हमलोगोंको यहाँ अपनी बाह्य चेष्टाओंसे मनकी बात प्रकट न करते हुए और यहाँसे भाग छूटनेके लिये मनोऽनुकूल निश्चित मार्गका पता लगाते हुए पूरी सावधानीके साथ यहीं रहना चाहिये। मुझे ऐसा करना ही अच्छा लगता है ॥ २१ ॥

यदि विन्देत चाकारमस्माकं स पुरोचनः।
क्षिप्रकारी ततो भूत्वा प्रदह्यादपि हेतुतः ॥ २२ ॥

यदि पुरोचन हमारी किसी भी चेष्टासे हमारे भीतरी मनोभावको ताड़ लेगा तो वह शीघ्रतापूर्वक अपना काम बनानेके लिये उद्यत हो हमें किसी-न-किसी हेतुसे जला भी सकता है ॥

नायं बिभेत्युपक्रोशादधर्माद् वा पुरोचनः।
तथा हि वर्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ॥ २३ ॥

यह मूढ़ पुरोचन निन्दा अथवा अधर्मसे नहीं डरता एवं दुर्योधनके वशमें होकर उसकी आज्ञाके अनुसार आचरण करता है ॥ २३ ॥

अपि चेह प्रदग्धेषु भीष्मोऽस्मासु पितामहः।
कोपं कुर्यात् किमर्थं वा कौरवान् कोपयीत सः ॥ २४ ॥

यदि यहाँ हमारे जल जानेपर पितामह भीष्म कौरवोंपर क्रोध भी करें तो वह अनावश्यक है; क्योंकि फिर किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये वे कौरवोंको कुपित करेंगे ॥ २४ ॥

अथवापीह दग्धेषु भीष्मोऽस्माकं पितामहः।
धर्म इत्येव कुप्येरन् ये चान्ये कुरुपुङ्गवाः ॥ २५ ॥

अथवा सम्भव है कि यहाँ हमलोगोंके जल जानेपर हमारे पितामह भीष्म तथा कुरुकुलके दूसरे श्रेष्ठ पुरुष धर्म समझकर ही उन आततायियोंपर क्रोध करें। (परंतु वह क्रोध हमारे किस कामका होगा ?) ॥ २५ ॥

वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेमहि।
स्पशैर्नो घातयेत् सर्वान् राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥ २६ ॥

यदि हम जलनेके भयसे डरकर भाग चलें तो भी राज्यलोभी दुर्योधन हम सबको अपने गुप्तचरोंद्वारा मरवा सकता है ॥ २६ ॥

अपदस्थान् पदे तिष्ठन्नपक्षान् पक्षसंस्थितः।
हीनकोशान् महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ॥ २७ ॥

इस समय वह अधिकारपूर्ण पदपर प्रतिष्ठित है और हम उससे वञ्चित हैं। वह सहायकोंके साथ है और हम असहाय हैं। उसके पास बहुत बड़ा खजाना है और हमारे पास उसका सर्वथा अभाव है। अतः निश्चय ही वह अनेक प्रकारके उपायोंद्वारा हमारी हत्या करा सकता है ॥ २७ ॥

तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम्।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित् क्वचित् ॥ २८ ॥

इसलिये इस पापात्मा पुरोचन तथा पापी दुर्योधनको भी धोखेमें रखते हुए हमें यहीं कहीं किसी गुप्त स्थानमें निवास करना चाहिये ॥ २८ ॥

ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम्।
तथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम् ॥ २९ ॥

हम सब मृगयामें रत रहकर यहाँकी भूमिपर सब ओर विचरें, इससे भाग निकलनेके लिये हमें बहुत-से मार्ग ज्ञात हो जायँगे ॥ २९ ॥

भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम्।
गूढश्वासान्न नस्तत्र हुताशः सम्प्रधक्ष्यति ॥ ३० ॥

इसके सिवा आजसे ही हम जमीनमें एक सुरंग तैयार करें, जो ऊपरसे अच्छी तरह ढकी हो। वहाँ हमारी साँसतक छिपी रहेगी (फिर हमारे कार्योंकी तो बात ही क्या है)। उस सुरंगमें घुस जानेपर आग हमें नहीं जला सकेगी ॥ ३० ॥

वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः।
पौरो वापि जनः कश्चित् तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥ ३१ ॥

हमें आलस्य छोड़कर इस प्रकार कार्य करना चाहिये, जिससे यहाँ रहते हुए भी हमारे सम्बन्धमें पुरोचनको कुछ भी ज्ञात न हो सके और किसी पुरवासीको भी हमारी कानोंकान खबर न हो ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमसेनयुधिष्ठिरसंवादे पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें भीमसेन-युधिष्ठिर-संवादविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४५ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरके भेजे हुए खनकद्वारा लाक्षागृहमें सुरंगका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य सुहृत् कश्चित् खनकः कुशलो नरः।
विविक्ते पाण्डवान् राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक सुरंग खोदनेवाला मनुष्य विदुरजीका हितैषी एवं विश्वासपात्र था। वह अपने काममें बड़ा चतुर था। एक दिन वह एकान्त-

में पाण्डवोंसे मिला और इस प्रकार कहने लगा—॥ १ ॥

प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो ह्यहम् ।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ॥ २ ॥
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिति पाण्डवान् ।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥ ३ ॥

'मुझे विदुरजीने भेजा है। मैं सुरंग खोदनेके काममें बड़ा निपुण हूँ। मुझे आप पाण्डवोंका प्रिय कार्य करना है, अतः आपलोग बतायें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? विदुरने गुप्तरूपसे मुझसे यह कहा है कि तुम वारणावतमें जाकर विश्वासपूर्वक पाण्डवोंका हित सम्पादन करो। अतः आप आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूँ ? ॥ २-३ ॥



कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रात्रावस्यां पुरोचनः ।
भवनस्य तव द्वारि प्रदास्यति हुताशनम् ॥ ४ ॥

'इसी कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रातको पुरोचन आपके घरके दरवाजेपर आग लगा देगा ॥ ४ ॥

मात्रा सह प्रदग्धव्याः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
इति व्यवसितं तस्य धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ ५ ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनकी यह चेष्टा है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव अपनी माताके साथ जला दिये जायँ ॥ ५ ॥

किंचिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव ।
त्वया च तत् तथेत्युक्तमेतद् विश्वासकारणम् ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन ! विदुरजीने म्लेच्छभाषामें आपको कुछ संकेत किया था और आपने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार किया था। यह बात मैं विश्वास दिलानेके लिये कहता हूँ' ॥ ६ ॥

उवाच तं सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै ॥ ७ ॥
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ।
न विद्यते कवेः किंचिदविज्ञातं प्रयोजनम् ॥ ८ ॥

तब सत्यवादी कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने उससे कहा— 'सौम्य ! मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम विदुरजीके हितैषी, ईमानदार, विश्वसनीय, प्रिय तथा उनके प्रति सदा अविचल भक्ति रखनेवाले हो। हमारा कोई भी ऐसा प्रयोजन नहीं है, जो परम ज्ञानी विदुरजीको ज्ञात न हो ॥ ७-८ ॥

यथा तस्य तथा नस्त्वं निर्विशेषा वयं त्वयि ।
भवतश्च यथा तस्य पालयास्मान् यथा कविः ॥ ९ ॥

'तुम विदुरजीके लिये जैसे आदरणीय और विश्वसनीय हो, वैसे ही हमारे लिये भी हो। तुमसे हमारा कोई अन्तर नहीं है। हमलोग जिस प्रकार विदुरजीके पालनीय हैं, वैसे ही तुम्हारे भी हैं। जैसे वे हमारी रक्षा करते हैं, वैसे ही तुम भी करो ॥ ९ ॥

इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः ।
पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥ १० ॥

'यह घर आग भड़कानेवाले पदार्थोंसे बना है। हमारा विश्वास है कि दुर्योधनके आदेशसे पुरोचनने हमारे लिये ही इसे बनवाया है ॥ १० ॥

स पापः कोषवांश्चैव ससहायश्च दुर्मतिः ।
अस्मानपि च पापात्मा नित्यकालं प्रबाधते ॥ ११ ॥

'पापी दुर्योधनके पास खजाना है और उसके बहुत-से सहायक भी हैं; इसीलिये वह दुर्बुद्धि पापात्मा सदा हमें सताया करता है ॥ ११ ॥

स भवान् मोक्षयत्वस्मान् यत्नेनास्माद्धुताशनात् ।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात् सुयोधनः ॥ १२ ॥

'तुम यत्न करके हमलोगोंको इस आगसे बचा लो; अन्यथा हमलोगोंके यहाँ दग्ध हो जानेपर दुर्योधनका मनोरथ सफल हो जायगा ॥ १२ ॥

समृद्धमायुधागारमिदं तस्य दुरात्मनः ।
वप्रान्तं निष्प्रतीकारमाश्रित्येदं कृतं महत् ॥ १३ ॥
इदं तदशुभं नूनं तस्य कर्म चिकीर्षितम् ।
प्रागेव विदुरो वेद तेनास्मानन्वबोधयत् ॥ १४ ॥

'यह उस दुरात्माका अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ आयुधागार है। इसीके सहारे इस महान् गृहका निर्माण किया गया है। इसमें चहारदीवारीके निकटतक कहीं कोई बाहर निकलनेका मार्ग नहीं है। अवश्य ही दुर्योधनका यह अशुभ कर्म, जिसे वह पूर्ण करना चाहता है, पहले ही विदुरजीको मालूम हो

गया था। इसीलिये उन्होंने हमें इसकी जानकारी करा दी ॥ १३-१४ ॥

सेयमापदनुप्राप्ता क्षत्ता यां दृष्टवान् पुरा।
पुरोचनस्याविदितानस्मांस्त्वं प्रतिमोचय ॥ १५ ॥

'विदुरजीकी दृष्टिमें जो बहुत पहले आ चुकी थी, वही यह विपत्ति आज हमलोगोंपर आयी-की-आयी है। तुम हमें इस संकटसे इस तरह मुक्त करो, जिससे पुरोचनको हमारे विषयमें कुछ भी पता न चले' ॥ १५ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महाबिलम् ॥ १६ ॥

तब उस सुरंग खोदनेवालेने 'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा की और कार्यसिद्धिके प्रयत्नमें लग गया। खाईकी सफाई करनेके व्याजसे उसने एक बहुत बड़ी सुरंग तैयार कर दी ॥ १६ ॥

चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्येनातिमहद् बिलम्।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ॥ १७ ॥

भारत ! उसने उस भवनके ठीक बीचसे वह महान् सुरंग निकाली। उसके मुहानेपर किवाड़ लगे थे। वह भूमिके समान सतहमें ही बनी थी; अतः किसीको ज्ञात नहीं हो पाती थी ॥ १७ ॥

पुरोचनभयादेव व्यदधात् संवृतं मुखम्।
स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप ॥ १८ ॥
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद् वनम्।
विश्वस्तवदविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम्।
अतुष्टा तुष्टवद् राजन्नूषुः परमविस्मिताः ॥ १९ ॥

पुरोचनके भयसे उस सुरंग खोदनेवालेने उसके मुखको बंद कर दिया था। दुष्टबुद्धि पुरोचन सर्वदा मकानके द्वारपर ही निवास करता था और पाण्डवगण भी रात्रिके समय शस्त्र सम्हाले सावधानीके साथ उस द्वारपर ही रहा करते थे। (इसलिये पुरोचनको आग लगानेका अवसर नहीं मिलता था।) वे दिनमें हिंस्र पशुओंके मारनेके बहाने एक वनसे दूसरे वनमें विचरते रहते थे। पाण्डव भीतरसे तो विश्वास न करनेके कारण सदा चौकन्ने रहते थे, परंतु ऊपरसे पुरोचनको ठगनेके लिये विश्वस्तकी भाँति व्यवहार करते थे। राजन् ! वे संतुष्ट न होते हुए भी संतुष्टकी भाँति निवास करते और अत्यन्त विस्मययुक्त रहते थे ॥ १८-१९ ॥

न चैनानन्वबुध्यन्त नरा नगरवासिनः।
अन्यत्र विदुरामात्यात् तस्मात् खनकसत्तमात् ॥ २० ॥

विदुरके मन्त्री और खोदाईके काममें श्रेष्ठ उस खनकको छोड़कर नगरके निवासी भी पाण्डवोंके विषयमें कुछ नहीं जान पाते थे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहवासे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें जतुगृहवासविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४६ ॥

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

लाक्षागृहका दाह और पाण्डवोंका सुरंगके रास्ते निकल जाना

वैशम्पायन उवाच

तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान्।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥ १ ॥
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंको एक वर्षसे वहाँ प्रसन्नचित्त हो विश्वस्तकी तरह रहते हुए देख पुरोचनको बड़ा हर्ष हुआ। उसके इस प्रकार प्रसन्न होनेपर धर्मके ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

अस्मानयं सुविश्वस्तान् वेत्ति पापः पुरोचनः।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥ ३ ॥

'पापी पुरोचन हमलोगोंको पूर्ण विश्वस्त समझ रहा है। इस क्रूरको अबतक हमलोगोंने धोखा दिया है। अब मेरी रायमें हमारे भाग निकलनेका यह उपयुक्त अवसर आ गया है ॥ ३ ॥

आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम्।
षट् प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिताः ॥ ४ ॥

'इस आयुधागारमें आग लगाकर पुरोचनको जला करके इसके भीतर छः प्राणियोंको रखकर हम इस तरह भाग निकलें कि कोई हमें देख न सके' ॥ ४ ॥

अथ दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम्।
चक्रे निशि महाराज आजग्मुस्तत्र योषितः ॥ ५ ॥
ता विहृत्य यथाकामं भुक्त्वा पीत्वा च भारत।
जग्मुर्निशि गृहानेव समनुज्ञाप्य माधवीम् ॥ ६ ॥

महाराज ! तदनन्तर एक दिन रात्रिके समय कुन्तीने दान देनेके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराया। उसमें बहुत-सी स्त्रियाँ भी आयी थीं। भारत ! वे सब स्त्रियाँ इच्छानुसार घूम-

फिरकर खा-पी लेनेके बाद कुन्तीदेवीसे आज्ञा ले रातमें फिर अपने-अपने घरोंको ही लौट गयीं ॥ ५-६ ॥

निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन् भोज्ये यदृच्छया ।
अन्नार्थिनी समभ्यागात् सपुत्रा कालचोदिता ॥ ७ ॥
सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला ।
सह सर्वैः सुतै राजंस्तस्मिन्नेव निवेशने ॥ ८ ॥
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप ।
अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा ॥ ९ ॥
तदुपादीपयद् भीमः शेते यत्र पुरोचनः ।
ततो जतुगृहद्वारं दीपयामास पाण्डवः ॥ १० ॥

परंतु दैवेच्छासे उस भोजके समय एक भीलनी अपने पाँच बेटोंके साथ वहाँ भोजनकी इच्छासे आयी, मानो कालने ही उसे प्रेरित करके वहाँ भेजा था। वह भीलनी मदिरा पीकर मतवाली हो चुकी थी। उसके पुत्र भी शराब पीकर मस्त थे। राजन्! शराबके नशेमें बेहोश होनेके कारण अपने सब पुत्रोंके साथ वह उसी घरमें सो गयी। उस समय वह अपनी सुध-बुध खोकर मृतक-सी हो रही थी। रातमें जब सब लोग सो गये, उस समय सहसा बड़े जोरकी आँधी चली। तब भीमसेनने उस जगह आग लगा दी, जहाँ पुरोचन सो रहा था। फिर उन्होंने लाक्षागृहके प्रमुख द्वारपर आग लगायी ॥ ७—१० ॥

समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने ।
ज्ञात्वा तु तद् गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥
सुरङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्धमरिंदमाः ।
ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः ॥ १२ ॥
प्रादुरासीत् तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः ।
तदवेक्ष्य गृहं दीप्तमाहुः पौराः कृशाननाः ॥ १३ ॥

इसके पश्चात् उन्होंने उस घरके चारों ओर आग लगा दी। जब वह सारा घर अग्निकी लपेटमें आ गया, तब यह जानकर शत्रुओंका दमन करनेवाले पाण्डव अपनी माताके साथ सुरंगमें घुस गये; फिर तो वहाँ अग्निकी भयंकर लपटें उठने लगीं, भीषण ताप फैल गया। घरको जलानेवाली उस आगका महान् चट-चट शब्द सुनायी देने लगा। इससे उस नगरका जनसमूह जाग उठा। उस घरको जलता देख पुरवासियोंके मुखपर दीनता छा गयी। वे व्याकुल होकर कहने लगे ॥ ११—१३ ॥

पौरा ऊचुः

दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना ।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ॥ १४ ॥
अहो धिग् धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा ।
यः शुचीन् पाण्डुदायादान् दाहयामास शत्रुवत् ॥ १५ ॥

पुरवासी बोले—अहो! पुरोचनका अन्तःकरण अपने वशमें नहीं था। उस पापीने दुर्योधनकी आज्ञासे अपने ही विनाशके लिये इस घरको बनवाया और जला भी दिया! अहो! धिक्कार है, धृतराष्ट्रकी बुद्धि बहुत बिगड़ गयी है, जिसने शुद्ध हृदयवाले पाण्डुपुत्रोंको शत्रुकी भाँति आगमें जला दिया ॥ १४-१५ ॥

दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः ।
अनागसः सुविश्वस्तान् यो ददाह नरोत्तमान् ॥ १६ ॥

सौभाग्यकी बात है कि यह अत्यन्त खोटी बुद्धिवाला पापात्मा पुरोचन भी इस समय दग्ध हो गया है, जिसने बिना किसी अपराधके अपने ऊपर पूर्ण विश्वास करनेवाले नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको जला दिया है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः ।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार वारणावतके लोग विलाप करने लगे। वे रातभर उस घरको चारों ओरसे घेरकर खड़े रहे ॥ १७ ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः ।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः ॥ १८ ॥

उधर समस्त पाण्डव भी अत्यन्त दुखी हो अपनी माताके साथ सुरंगके मार्गसे निकलकर तुरंत ही दूर चले गये। उन्हें कोई भी देख न सका ॥ १८ ॥

तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः ।
न शेकुः सहसा गन्तुं सह मात्रा परंतपाः ॥ १९ ॥

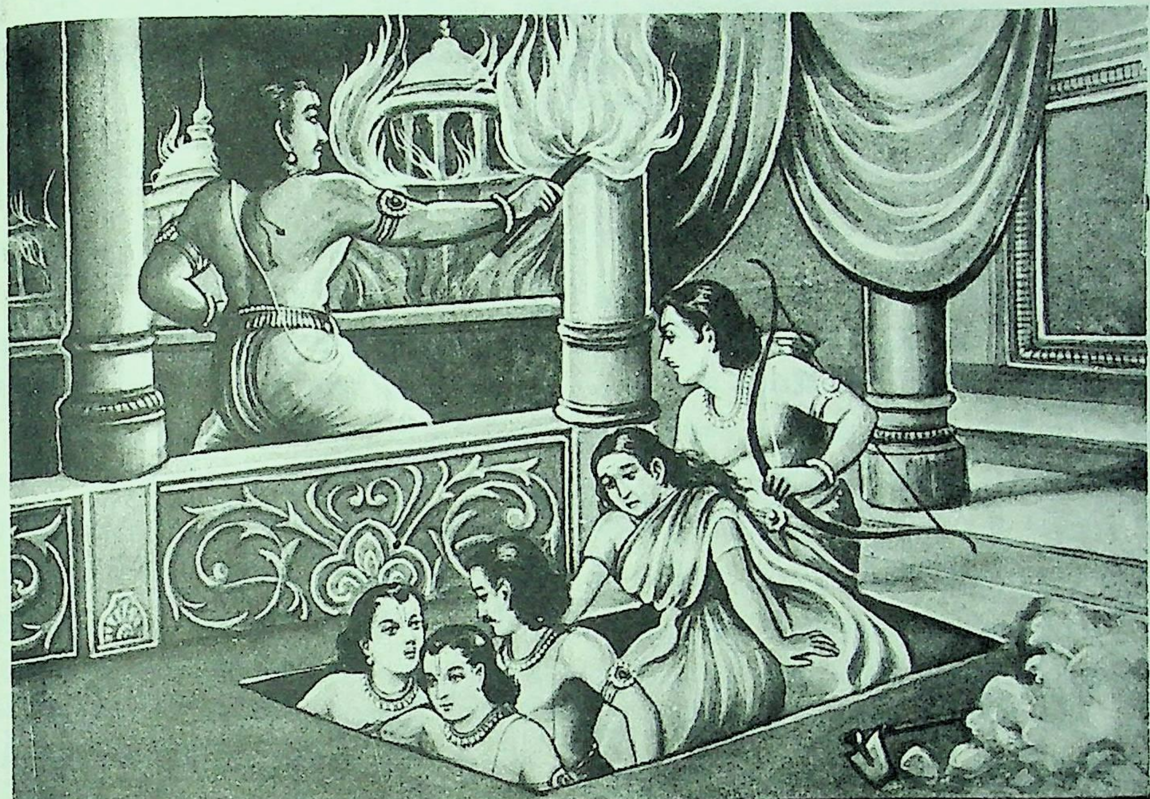
नींद न ले सकनेके कारण आलस्य और भयसे युक्त परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ जल्दी-जल्दी चल नहीं पाते थे ॥ १९ ॥

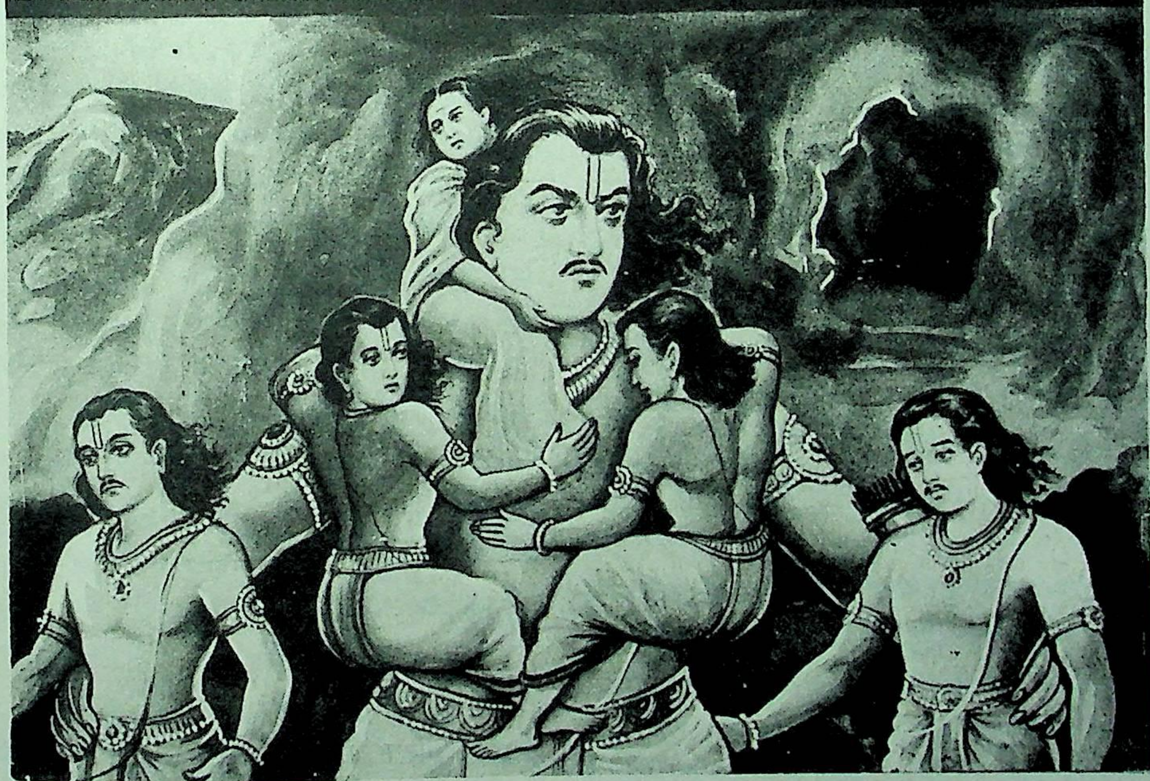
भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः ।
जगाम भ्रातॄनादाय सर्वान् मातरमेव च ॥ २० ॥
स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान् ।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ सुमहाबलः ॥ २१ ॥

राजेन्द्र! भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन अपने सब भाइयों तथा माताको भी साथ लिये चल रहे थे। वे महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे। उन्होंने माताको तो कंधेपर चढ़ा लिया और नकुल-सहदेवको गोदमें उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे ॥ २०-२१ ॥

उरसा पादपान् भञ्जन् महीं पद्भ्यां विदारयन् ।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहा वृकोदरः ॥ २२ ॥

सुरंगद्वारा मातासहित पाण्डवोंका लाक्षागृहसे निकलना





भीम अपने चारों भाइयोंको तथा माताको उठाकर ले चले

तेजस्वी भीम वायुके समान वेगशाली थे। वे अपनी छातीके धक्केसे वृक्षोंको तोड़ते और पैरोंकी ठोकरसे पृथ्वीको विदीर्ण करते हुए तीव्र गतिसे आगे बढ़े जा रहे थे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि जतुगृहदाहे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें जतुगृहदाहविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४७॥

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

विदुरजीके भेजे हुए नाविकका पाण्डवोंको गङ्गाजीके पार उतारना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु यथासम्प्रत्ययं कविः ।
विदुरः प्रेषयामास तद् वनं पुरुषं शुचिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय परम ज्ञानी विदुरजीने अपने विश्वासके अनुसार एक शुद्ध विचारवाले पुरुषको उस वनमें भेजा ॥ १ ॥

स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान् ददृशे वने ।
जनन्या सह कौरव्य मापयानान् नदीजलम् ॥ २ ॥

कुरुनन्दन ! उसने विदुरजीके बताये अनुसार ठीक स्थानपर पहुँचकर वनमें मातासहित पाण्डवोंको देखा, जो नदीमें कितना जल है, इसका अनुमान लगा रहे थे ॥ २ ॥

विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः ।
ततस्तस्यापि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ॥ ३ ॥
ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा ।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ॥ ४ ॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विस्रम्भिभिः कृताम् ॥ ५ ॥

परम बुद्धिमान् महात्मा विदुरको गुप्तचरद्वारा उस पापासक्त पुरोचनकी चेष्टाओंका भी पता चल गया था। इसीलिये उन्होंने उस समय उस बुद्धिमान् मनुष्यको वहाँ भेजा था। उसने मन और वायुके समान वेगसे चलनेवाली एक नाव पाण्डवोंको दिखायी, जो सब प्रकारसे हवाका वेग सहनेमें समर्थ और ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित थी। उस नौकाको चलानेके लिये यन्त्र लगाया गया था। वह नाव गङ्गाजीके पावन तटपर विद्यमान थी और उसे विश्वासी मनुष्योंने बनाकर तैयार किया था ॥ ३–५ ॥

ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम् ।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ॥ ६ ॥

तदनन्तर उस मनुष्यने कहा—'युधिष्ठिरजी ! ज्ञानी विदुरजीके द्वारा पहले कही हुई यह बात, जो मेरी विश्वसनीयताको सूचित करनेवाली है, पुनः सुनिये। मैं आपको संकेतके तौरपर स्मरण दिलानेके लिये इसे कहता हूँ ॥ ६ ॥

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥ ७ ॥

'(तुमसे विदुरजीने कहा था—)'घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंके जंगलको जलानेवाली और सर्दीको नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वनमें फैल जानेपर भी बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको नहीं जला सकती। यों समझकर जो अपनी रक्षाका उपाय करता है, वही जीवित रहता है' ॥ ७ ॥

तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयानया ।
भूयश्चैवाह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ॥ ८ ॥
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे ।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेतासि न संशयः ॥ ९ ॥

'इस संकेतसे आप यह जान लें कि 'मैं विश्वासपात्र हूँ और विदुरजीने ही मुझे भेजा है।' इसके सिवा, सर्वतोभावेन अर्थसिद्धिका ज्ञान रखनेवाले विदुरजीने पुनः मुझसे आपके लिये यह संदेश दिया कि 'कुन्तीनन्दन ! तुम युद्धमें भाइयोंसहित दुर्योधन, कर्ण और शकुनिको अवश्य परास्त करोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ८-९ ॥

इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी ।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद् देशान्न संशयः ॥१०॥

'यह नौका जलमार्गके लिये उपयुक्त है। जलमें यह बड़ी सुगमतासे चलनेवाली है। यह नाव तुम सब लोगोंको इस देशसे दूर छोड़ देगी, इसमें संदेह नहीं है' ॥ १० ॥

अथ तान् व्यथितान् दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान् ।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रस्थितानब्रवीत् पुनः ॥११॥

इसके बाद मातासहित नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको अत्यन्त दुखी देख नाविकने उन सबको नावपर चढ़ाया और जब वे गङ्गाके मार्गसे प्रस्थान करने लगे, तब फिर इस प्रकार कहा—॥११॥

विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य वचो मुहुः ।
अरिष्टं गच्छताव्यग्राः पन्थानमिति चाब्रवीत् ॥१२॥

'विदुरजीने आप सभी पाण्डुपुत्रोंको भावनाद्वारा हृदयसे

लगाकर और मस्तक सूँघकर यह आशीर्वाद फिर कहलाया है कि 'तुम शान्तचित्त हो कुशलपूर्वक मार्गपर बढ़ते जाओ' ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वा स तु तान् वीरान् पुमान् विदुरचोदितः।
तारयामास राजेन्द्र गङ्गां नावा नरर्षभान् ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! विदुरजीके भेजनेसे आये हुए उस नाविकने उन शूरवीर नरश्रेष्ठ पाण्डवोंसे ऐसी बात कहकर उसी नावसे उन्हें गङ्गाजीके पार उतार दिया ॥ १३ ॥

तारयित्वा ततो गङ्गां पारं प्राप्तांश्च सर्वशः।
जयाशिषः प्रयुज्याथ यथागतमगाद्धि सः ॥ १४ ॥

पार उतारनेके पश्चात् जब वे गङ्गाजीके दूसरे तटपर जा पहुँचे, तब उन सबके लिये 'जय हो, जय हो' यह आशीर्वाद सुनाकर वह नाविक जैसे आया था, उसी प्रकार लौट गया ॥ १४ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानः प्रतिसंदिश्य वै कवेः।
गङ्गामुत्तीर्य वेगेन जग्मुर्गूढमलक्षिताः ॥ १५ ॥

महात्मा पाण्डव भी विद्वान् विदुरजीको उनके संदेशका उत्तर देकर गङ्गापार हो अपनेको छिपाते हुए वेगपूर्वक वहाँसे चल दिये। कोई भी उन्हें देख या पहचान न सका ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि गङ्गोत्तरणे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंके गङ्गापार होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४८ ॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके द्वारा पाण्डवोंके लिये शोकप्रकाश एवं जलाञ्जलिदान तथा पाण्डवोंका वनमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उधर रात व्यतीत होनेपर वारणावत नगरके सारे नागरिक बड़ी उतावलीके साथ पाण्डुकुमारोंकी दशा देखनेके लिये उस लाक्षागृहके समीप आये ॥ १ ॥

निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः।
जातुषं तद् गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ॥ २ ॥

आते ही वे (सब) लोग आग बुझानेमें लग गये। उस समय उन्होंने देखा कि सारा घर लाखका बना था, जो जलकर खाक हो गया। उसीमें मन्त्री पुरोचन भी जल गया था। २।

नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ॥ ३ ॥

(यह देख) वे (सभी) नागरिक चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे कि 'अवश्य ही पापाचारी दुर्योधनने पाण्डवोंका विनाश करनेके लिये इस भवनका निर्माण करवाया था ॥ ३ ॥

विदिते धृतराष्ट्रस्य धार्तराष्ट्रो न संशयः।
दग्धवान् पाण्डुदायादान् न ह्येनं प्रतिषिद्धवान् ॥ ४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने धृतराष्ट्रकी जानकारीमें पाण्डुपुत्रोंको जलाया है और धृतराष्ट्रने इसे मना नहीं किया ॥ ४ ॥

नूनं शांतनवोऽपीह न धर्ममनुवर्तते।
द्रोणश्च विदुरश्चैव कृपश्चान्ये च कौरवाः ॥ ५ ॥

'निश्चय ही इस विषयमें शंतनुनन्दन भीष्म भी धर्मका अनुसरण नहीं कर रहे हैं। द्रोण, विदुर, कृपाचार्य तथा अन्य कौरवोंकी भी यही दशा है ॥ ५ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान् दग्धवानसि ॥ ६ ॥

'अब हमलोग दुरात्मा धृतराष्ट्रके पास यह संदेश भेज दें कि तुम्हारी सबसे बड़ी कामना पूरी हो गयी। तुम पाण्डवोंको जलानेमें सफल हो गये' ॥ ६ ॥

ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम्।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन्होंने पाण्डवोंको ढूँढ़नेके लिये जब आगको इधर-उधर हटाया, तब पाँच पुत्रोंके साथ निरपराध भीलनीकी जली लाश देखी ॥ ७ ॥

खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम्।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ॥ ८ ॥

उसी सुरंग खोदनेवाले पुरुषने घरको साफ करते समय सुरंगके छेदको धूलसे ढक दिया था। इससे दूसरे लोगोंकी दृष्टि उसपर नहीं पड़ी ॥ ८ ॥

ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर वारणावतके नागरिकोंने धृतराष्ट्रको यह सूचित कर दिया कि पाण्डव तथा मन्त्री पुरोचन आगमें जल गये ॥ ९ ॥

श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद् राजा सुमहदप्रियम्।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः ॥ १० ॥

महाराज धृतराष्ट्र पाण्डुपुत्रोंके विनाशका यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर बहुत दुखी हो विलाप करने लगे—॥

अद्य पाण्डुर्मृतो राजा मम भ्राता महायशाः ।
तेषु वीरेषु दग्धेषु मात्रा सह विशेषतः ॥ ११ ॥

'अहो ! मातासहित इन शूरवीर पाण्डवोंके दग्ध हो जानेपर विशेषरूपसे ऐसा लगता है, मानो मेरे भाई महायशस्वी राजा पाण्डुकी मृत्यु आज हुई है ॥ ११ ॥

गच्छन्तु पुरुषाः शीघ्रं नगरं वारणावतम् ।
सत्कारयन्तु तान् वीरान् कुन्तिराजसुतां च ताम् ॥ १२ ॥

'मेरे कुछ लोग शीघ्र ही वारणावत नगरमें जायँ और कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती तथा वीरवर पाण्डवोंका आदरपूर्वक दाहसंस्कार करायें ॥ १२ ॥

कारयन्तु च कुल्यानि शुभानि च बृहन्ति च ।
ये च तत्र मृतास्तेषां सुहृदो यान्तु तानपि ॥ १३ ॥

'उन सबके कुलोचित शुभ और महान् संस्कारकी व्यवस्था करें तथा जो-जो उस घरमें जलकर मरे हैं, उनके सुहृद् एवं सगे-सम्बन्धी भी उन मृतकोंका दाह-संस्कार करनेके लिये वहाँ जायँ ॥

एवं गते मयाऽशक्यं यद् यत् कारयितुं हितम् ।
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च तत् सर्वं क्रियतां धनैः ॥ १४ ॥
एवमुक्त्वा ततश्चक्रे ज्ञातिभिः परिवारितः ।
उदकं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १५ ॥

'इस दशामें मुझे पाण्डवों तथा कुन्तीका हित करनेके लिये जो-जो कार्य करना चाहिये या जो-जो कार्य मुझसे हो सकता है, वह सब धन खर्च करके सम्पन्न किया जाय ।' यों कहकर अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्रने जातिभाइयोंसे घिरे रहकर पाण्डवोंके लिये जलाञ्जलि देनेका कार्य किया ॥ १४-१५ ॥

(समेतास्तु ततः सर्वे भीष्मेण सह कौरवाः ।
धृतराष्ट्रः सपुत्रश्च गङ्गामभिमुखा ययुः ॥
एकवस्त्रा निरानन्दा निराभरणवेष्टनाः ।
उदकं कर्तुकामा वै पाण्डवानां महात्मनाम् ॥)

उस समय भीष्म, सब कौरव तथा पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र एकत्र हो महात्मा पाण्डवोंको जलाञ्जलि देनेकी इच्छासे गङ्गाजीके निकट गये । उन सबके शरीरपर एक-एक ही वस्त्र था । वे सभी आभूषण और पगड़ी आदि उतारकर आनन्दशून्य हो रहे थे ॥

रुरुदुः सहिताः सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
हा युधिष्ठिर कौरव्य हा भीम इति चापरे ॥ १६ ॥

उस समय सब लोग अत्यन्त शोकमग्न हो एक साथ रोने और विलाप करने लगे । कोई कहता—'हा कुरुवंश-विभूषण युधिष्ठिर !' दूसरे कहते—'हा भीमसेन !' ॥ १६ ॥

हा फाल्गुनेति चाप्यन्ये हा यमाविति चापरे ।
कुन्तीमार्ताश्च शोचन्त उदकं चक्रिरे जनाः ॥ १७ ॥

अन्य कोई बोलते—'हा अर्जुन !' और इसी प्रकार दूसरे लोग 'हा नकुल-सहदेव !' कहकर पुकार उठते थे । सब लोगोंने कुन्तीदेवीके लिये शोकार्त होकर जलाञ्जलि दी ॥ १७ ॥

अन्ये पौरजनाश्चैवमन्वशोचन्त पाण्डवान् ।
विदुरस्त्वल्पशश्चक्रे शोकं वेद परं हि सः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार दूसरे-दूसरे पुरवासीजन भी पाण्डवोंके लिये बहुत शोक करने लगे । विदुरजीने बहुत थोड़ा शोक मनाया; क्योंकि वे वास्तविक वृत्तान्तसे परिचित थे ॥ १८ ॥

(ततः प्रव्यथितो भीष्मः पाण्डुराजसुतान् मृतान् ।
सह मात्रेति तच्छ्रुत्वा विललाप रुरोद च ॥

भीष्म उवाच

न हि तौ नोत्सहेयातां भीमसेनधनंजयौ ।
तरसा वेगितात्मानौ निर्भेत्तुमपि मन्दिरम् ।
परासुत्वं न पश्यामि पृथायाः सह पाण्डवैः ॥
सर्वथा विकृतं नीतं यदि ते निधनं गताः ।
धर्मराजः स निर्दिष्टो ननु विप्रैर्युधिष्ठिरः ॥
सत्यव्रतो धर्मदत्तः सत्यवाक्छुभलक्षणः ।
कथं कालवशं प्राप्तः पाण्डवेयो युधिष्ठिरः ॥
आत्मानमुपमां कृत्वा परेषां वर्तते तु यः ।
सह मात्रा तु कौरव्यः कथं कालवशं गतः ॥
यौवराज्येऽभिषिक्तेन पितुर्येनाहृतं यशः ।
आत्मनश्च पितुश्चैव सत्यधर्मस्य वृत्तिभिः ॥
कालेन स हि सम्भग्नो धिक् कृतान्तमनर्थकम् ॥
यच्च सा वनवासेन क्लेशिता दुःखभागिनी ।
पुत्रगृध्नुतया कुन्ती न भर्तारं मृता त्वनु ॥
अल्पकालं कुले जाता भर्तुः प्रीतिमवाप या ।
दग्धाद्य सह पुत्रैः सा असम्पूर्णमनोरथा ॥
पीनस्कन्धश्चारुबाहुर्मेरुकूटसमो युवा ।
मृतो भीम इति श्रुत्वा मनो न श्रद्दधाति मे ॥
अनिन्द्यानि च यो गच्छन् क्षिप्रहस्तो दृढायुधः ।
प्रपत्तिमाँल्लब्धलक्ष्यो रथयानविशारदः ॥
दूरपाती त्वसम्भ्रान्तो महावीर्यो महास्त्रवित् ।
अदीनात्मा नरव्याघ्रः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥
येन प्राच्याःससौवीरा दाक्षिणात्याश्च निर्जिताः ।
ख्यापितं येन शूरेण त्रिषु लोकेषु पौरुषम् ॥
यस्मिञ्जाते विशोकाभूत् कुन्ती पाण्डुश्च वीर्यवान् ।
पुरन्दरसमो जिष्णुः कथं कालवशं गतः ॥
कथं तावृषभस्कन्धौ सिंहविक्रान्तगामिनौ ।
मर्त्यधर्ममनुप्राप्तौ यमावरिनिबर्हणौ ॥

तदनन्तर भीष्मजी यह सुनकर कि राजा पाण्डुके पुत्र अपनी माताके साथ जल मरे हैं, अत्यन्त व्यथित

हो उठे और रोने एवं विलाप करने लगे ॥

भीष्मजी बोले—वे दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन उत्साह-शून्य हो गये हों, ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। यदि वे वेगसे अपने शरीरका धक्का देते तो सुदृढ़ मकानको भी तोड़-फोड़ सकते थे। अतः पाण्डवोंके साथ कुन्तीकी मृत्यु हो गयी है, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता। यदि सचमुच उन सबकी मृत्यु हो चुकी है, तब तो यह सभी प्रकारसे बहुत बुरी बात हुई है। ब्राह्मणोंने तो धर्मराज युधिष्ठिरके विषयमें यह कहा था कि ये धर्मके दिये हुए राजकुमार सत्यव्रती, सत्यवादी एवं शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न होंगे। ऐसे वे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर कालके अधीन कैसे हो गये? जो अपने आपको आदर्श बनाकर तदनुरूप दूसरोंके साथ बर्ताव करते थे, वे ही कुरुकुल-शिरोमणि युधिष्ठिर अपनी माताके साथ कालके अधीन कैसे हो गये? जिन्होंने युवराजपदपर अभिषिक्त होते ही पिताके समान ही अपने सत्य एवं धर्मपूर्ण बर्तावके द्वारा अपना ही नहीं, राजा पाण्डुके भी यशका विस्तार किया था, वे युधिष्ठिर भी कालके अधीन हो गये। ऐसे निकम्मे कालको धिक्कार है। उत्तम कुलमें उत्पन्न कुन्ती, जो पुत्रोंके अभिलाषा रखनेके कारण ही वनवासका कष्ट भोगती और दुःखपर दुःख उठाती रही तथा पतिके मरनेपर भी उनका अनुगमन न कर सकी, जिसे बहुत थोड़े समयतक ही पतिका प्रेम प्राप्त हुआ था, वही कुन्तिभोजकुमारी अभी अपने मनोरथ पूरे भी न कर पायी थी कि पुत्रोंके साथ दग्ध हो गयी! जिनके भरे हुए कंधे और मनोहर भुजाएँ थीं, जो मेरु-शिखरके समान सुन्दर एवं तरुण थे, वे भीमसेन मर गये, यह सुनकर भी मनको विश्वास नहीं होता। जो सदा उत्तम मार्गोंपर चलते थे, जिनके हाथोंमें बड़ी फुर्ती थी, जिनके आयुध अत्यन्त दृढ़ थे, जो गुरुजनोंके आश्रित रहते थे, जिनका निशाना कभी चूकता नहीं था, जो रथ हाँकनेमें कुशल, दूरतकका लक्ष्य बेधनेवाले, कभी व्याकुल न होनेवाले, महापराक्रमी और महान् अस्त्रोंके ज्ञाता थे, जिनके हृदयमें कभी दीनता नहीं आती थी, जो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी तथा सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ थे, जिन्होंने प्राच्य, सौवीर और दाक्षिणात्य नरेशोंको परास्त किया था, जिस शूरवीरने तीनों लोकोंमें अपने पुरुषार्थको प्रसिद्ध किया था और जिनके जन्म लेनेपर कुन्ती और महापराक्रमी पाण्डु भी शोकरहित हो गये थे, वे इन्द्रके समान विजयी वीर अर्जुन भी कालके अधीन कैसे हो गये? जो बैलके-से हृष्ट-पुष्ट कंधोंसे सुशोभित थे तथा सिंहकी-सी मस्तानी चालसे चलते थे, वे शत्रुओंका संहार करनेवाले नकुल-सहदेव सहसा मृत्युको कैसे प्राप्त हो गये?

वैशम्पायन उवाच

तस्य विक्रन्दितं श्रुत्वा उदकं च प्रसिञ्चतः।
देशकालं समाज्ञाय विदुरः प्रत्यभाषत ॥
मा शोचीस्त्वं नरव्याघ्र जहि शोकं महाव्रत।
न तेषां विद्यते पापं प्राप्तकालं कृतं मया।
एतच्च तेभ्य उदकं विप्रसिञ्च न भारत ॥
सोऽब्रवीत् किंचिदुत्सार्य कौरवाणामशृण्वताम्।
क्षत्तारमुपसंगृह्य बाष्पोत्पीडकलस्वरः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जलाञ्जलि-दान देते समय भीष्मजीका यह विलाप सुनकर विदुरजीने देश और कालका भलीभाँति विचार करके कहा—'नरश्रेष्ठ! आप दुखी न हों। महाव्रती वीर! आप शोक त्याग दें, पाण्डवोंकी मृत्यु नहीं हुई है। मैंने उस अवसरपर जो उचित था, वह कार्य कर दिया है। भारत! आप उन पाण्डवोंके लिये जलाञ्जलि न दें।' तब भीष्मजी विदुरका हाथ पकड़कर उन्हें कुछ दूर हटा ले गये, जहाँसे कौरवलोग उनकी बात न सुन सकें। फिर वे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले ॥

भीष्म उवाच

कथं ते तात जीवन्ति पाण्डोः पुत्रा महारथाः।
कथमस्मत्कृते पक्षः पाण्डोर्न हि निपातितः ॥
कथं मत्प्रमुखाः सर्वे प्रमुक्ता महतो भयात्।
जननी गरुडेनेव कुमारास्ते समुद्धृताः ॥

भीष्मजीने कहा—तात! पाण्डुके वे महारथी पुत्र कैसे जीवित बच गये? पाण्डुका पक्ष किस तरह हमारे लिये नष्ट होनेसे बच गया? जैसे गरुड़ने अपनी माताकी रक्षा की थी, उसी प्रकार तुमने किस तरह पाण्डुकुमारोंको बचाकर हम सब लोगोंकी महान् भयसे रक्षा की है?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौरव्य कौरवाणामशृण्वताम्।
आचचक्षे स धर्मात्मा भीष्मायाद्भुतकर्मणे ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पूछे जानेपर धर्मात्मा विदुरने कौरवोंके न सुनते हुए अद्भुत कर्म करनेवाले भीष्मजीसे इस प्रकार कहा—॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्रस्य शकुने राज्ञो दुर्योधनस्य च।
विनाशे पाण्डुपुत्राणां कृतो मतिविनिश्चयः ॥
ततो जतुगृहं गत्वा दहनेऽस्मिन् नियोजिते।
पृथायाश्च सपुत्राया धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥
ततः खनकमाहूय सुरङ्गां वै बिले तदा।
सगुहां कारयित्वा ते कुन्त्या पाण्डुसुतास्तदा ॥
निष्कामिता मया पूर्वं मा स्म शोके मनः कृथाः।
निर्गताः पाण्डवा राजन् मात्रा सह परंतपाः।
अग्निदाहान्महाघोरान्मया तस्मादुपायतः।
मा स्म शोकमिमं कार्षीर्जीवन्त्येव च पाण्डवाः

प्रच्छन्ना विचरिष्यन्ति यावत् कालस्य पर्ययः ॥
तस्मिन् युधिष्ठिरं काले द्रक्ष्यन्ति भुवि भूमिपाः ।)

विदुर बोले—धृतराष्ट्र, शकुनि तथा राजा दुर्योधनका यह पक्का विचार हो गया था कि पाण्डवोंको नष्ट कर दिया जाय । तदनन्तर लाक्षागृहमें जानेपर जब दुर्योधनकी आज्ञासे पुत्रोंसहित कुन्तीको जला देनेकी योजना बन गयी, तब मैंने एक भूमि खोदनेवालेको बुलाकर भूगर्भमें गुफासहित सुरंग खुदवायी और कुन्तीसहित पाण्डवोंको घरमें आग लगनेसे पहले ही निकाल लिया, अतः आप अपने मनमें शोकको स्थान न दीजिये । राजन् ! शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डव अपनी माताके साथ उस महाभयंकर अग्निदाहसे दूर निकल गये हैं । मेरे पूर्वोक्त उपायसे ही यह कार्य सम्भव हो सका है । पाण्डव निश्चय ही जीवित हैं, अतः आप उनके लिये शोक न कीजिये । जबतक यह समय बदलकर अनुकूल नहीं हो जाता, तबतक वे पाण्डव छिपे रहकर इस भूतलपर विचरेंगे । अनुकूल समय आनेपर सब राजा इस पृथ्वीपर युधिष्ठिरको देखेंगे ॥

पाण्डवाश्चापि निर्गत्य नगराद् वारणावतात् ।
नदीं गङ्गामनुप्राप्ता मातृषष्ठा महाबलाः ॥ १९ ॥

(इधर) महाबली पाण्डव भी वारणावत नगरसे निकलकर माताके साथ गङ्गा नदीके तटपर पहुँचे ॥ १९ ॥

दाशानां भुजवेगेन नद्याः स्रोतोजवेन च ।
वायुना चानुकूलेन तूर्णं पारमवाप्नुवन् ॥ २० ॥

वे नाविकोंकी भुजाओं तथा नदीके प्रवाहके वेगसे अनुकूल वायुकी सहायता पाकर जल्दी ही पार उतर गये ॥ २० ॥

ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशम् ।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर नाव छोड़ रातमें नक्षत्रोंद्वारा सूचित मार्गको पहचानकर वे दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥ २१ ॥

यतमाना वनं राजन् गहनं प्रतिपेदिरे ।
ततः श्रान्ताः पिपासार्ता निद्रान्धाः पाण्डुनन्दनाः ॥ २२ ॥
पुनरूचुर्महावीर्यं भीमसेनमिदं वचः ।
इतः कष्टतरं किं नु यद् वयं गहने वने ।
दिशश्च न विजानीमो गन्तुं चैव न शक्नुमः ॥ २३ ॥

राजन् ! इस प्रकार आगे बढ़नेकी चेष्टा करते हुए वे सब-के-सब एक घने जंगलमें जा पहुँचे । उस समय पाण्डवलोग थके-माँदे, प्याससे पीड़ित और (अधिक जगनेसे) नींदमें अंधे-से हो रहे थे । वे महापराक्रमी भीमसेनसे पुनः इस प्रकार बोले—'भारत ! इससे बढ़कर महान् कष्ट क्या होगा कि हमलोग इस घने जंगलमें फँसकर दिशाओंको भी नहीं जान पाते तथा चलने-फिरनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं ॥

तं च पापं न जानीमो यदि दग्धः पुरोचनः ।
कथं तु विप्रमुच्येम भयादस्मादलक्षिताः ॥ २४ ॥

'हमें यह भी पता नहीं है कि पापी पुरोचन जल गया या नहीं । हम दूसरोंसे छिपे रहकर किस प्रकार इस महान् कष्टसे छुटकारा पा सकेंगे ? ॥ २४ ॥

पुनरस्मानुपादाय तथैव व्रज भारत ।
त्वं हि नो बलवानेको यथा सततगस्तथा ॥ २५ ॥

'भैया ! तुम पुनः पूर्ववत् हम सबको लेकर चलो । हमलोगोंमें एक तुम्हीं अधिक बलवान् और उसी प्रकार निरन्तर चलने-फिरनेमें भी समर्थ हो' ॥ २५ ॥

इत्युक्तो धर्मराजेन भीमसेनो महाबलः ।
आदाय कुन्तीं भ्रातॄंश्च जगामाशु महाबलः ॥ २६ ॥

धर्मराजके यों कहनेपर महाबली भीमसेन माता कुन्ती तथा भाइयोंको अपने ऊपर चढ़ाकर बड़ी शीघ्रताके साथ चलने लगे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि पाण्डववनप्रवेशे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें पाण्डवोंका वनमें प्रवेशविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं)

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

माता कुन्तीके लिये भीमसेनका जल ले आना, माता और भाइयोंको भूमिपर सोये देखकर भीमका विषाद एवं दुर्योधनके प्रति क्रोध

वैशम्पायन उवाच

तेन विक्रममाणेन ऊरुवेगसमीरितम् ।
वनं सवृक्षविटपं व्याघूर्णितमिवाभवत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनके चलते समय उनके महान् वेगसे आन्दोलित हो वृक्ष और शाखाओंसहित वह सम्पूर्ण वन घूमता-सा प्रतीत होने लगा ॥ १ ॥

जङ्घावातो ववौ चास्य शुचिशुक्रागमे यथा ।
आवर्जितलतावृक्षं मार्गं चक्रे महाबलः ॥ २ ॥

जैसे ज्येष्ठ और आषाढ़ मासके संधिकालमें जोर-जोरसे हवा चलने लगती है, उसी प्रकर उनकी पिंडलियोंके वेगपूर्वक संचालनसे आँधी-सी उठ रही थी। महाबली भीम जिस मार्गसे चलते, वहाँकी लताओं और वृक्षोंको पैरोंसे रौंदकर जमीनके बराबर कर देते थे ॥ २॥

स मृद्नन् पुष्पितांश्चैव फलितांश्च वनस्पतीन्।
अवरुज्य ययौ गुल्मान् पथस्तस्य समीपजान् ॥ ३ ॥

उनके मार्गके निकट जो फल और फूलोंसे लदे हुए वनस्पति एवं गुल्म आदि होते, उन्हें तोड़कर वे पैरोंसे रौंदते जाते थे ॥ ३ ॥

स रोषित इव क्रुद्धो वने भञ्जन् महाद्रुमान्।
त्रिप्रस्रुतमदः शुष्मी षष्टिवर्षो मतङ्गराट् ॥ ४ ॥

जैसे तीन अङ्गोंसे मद बहानेवाला साठ वर्षका तेजस्वी गजराज (किसी कारणसे) कुपित हो वनके बड़े-बड़े वृक्षोंको तोड़ने लगता है, उसी प्रकार महातेजस्वी भीमसेन उस वनके विशाल वृक्षोंको धराशायी करते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ४ ॥

गच्छतस्तस्य वेगेन तार्क्ष्यमारुतरंहसः।
भीमस्य पाण्डुपुत्राणां मूर्च्छेव समजायत ॥ ५ ॥

गरुड़ और वायुके समान तीव्र गतिवाले भीमसेनके चलते समय उनके (महान्) वेगसे अन्य पाण्डुपुत्रोंको मूर्च्छा-सी आ जाती थी ॥ ५ ॥

असकृच्चापि संतीर्य दूरपारं भुजप्लवैः।
पथि प्रच्छन्नमासेदुर्धार्तराष्ट्रभयात् तदा ॥ ६ ॥

मार्गमें आये हुए जल-प्रवाहको, जिसका पाट दूरतक फैला होता था, दोनों भुजाओंके बेड़ेद्वारा ही बारंबार पार करके वे सब पाण्डव दुर्योधनके भयसे किसी गुप्त स्थानमें जाकर रहते थे ॥ ६ ॥

कृच्छ्रेण मातरं चैव सुकुमारीं यशस्विनीम्।
अवहत् स तु पृष्ठेन रोधस्सु विषमेषु च ॥ ७ ॥

भीमसेन अपनी सुकुमारी एवं यशस्विनी माता कुन्तीको पीठपर बिठाकर नदीके ऊँचे-नीचे कगारोंपर बड़ी कठिनाईसे ले जाते थे ॥ ७ ॥

अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम्।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ! वे संध्या होते-होते वनके ऐसे भयंकर प्रदेशमें जा पहुँचे, जहाँ फल-मूल और जलकी बहुत कमी थी। वहाँ क्रूर स्वभाववाले पक्षी और हिंसक पशु रहते थे ॥८॥

घोरा समभवत् संध्या दारुणा मृगपक्षिणः।
अप्रकाशा दिशः सर्वा वातैरासन्ननार्तवैः ॥ ९ ॥

वह संध्या बड़ी भयानक प्रतीत होती थी। क्रूर स्वभाववाले पशु और पक्षी वहाँ वास करते थे। बिना ऋतुकी प्रचण्ड हवाओंके चलनेसे सम्पूर्ण दिशाएँ (धूलसे आच्छादित हो) अन्धकारपूर्ण हो रही थीं ॥ ९ ॥

शीर्णपर्णफलै राजन् बहुगुल्मक्षुपैर्द्रुमैः।
भग्नावभग्नभूयिष्ठैर्नानाद्रुमसमाकुलैः ॥ १० ॥

राजन्! (हवाके झोंकोंसे) वनके बहुसंख्यक छोटे-बड़े वृक्ष और गुल्म-लता आदि झुक-झुककर टूट गये थे। उनके पत्ते और फल इधर-उधर बिखर गये थे और उनपर पक्षी शब्द कर रहे थे। इन सबके कारण सम्पूर्ण दिशाओंमें अँधेरा छा रहा था ॥ १० ॥

ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः।
नाशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ॥ ११ ॥

वे कुरुकुलरत्न पाण्डव उस समय अधिक परिश्रम और प्यासके कारण बहुत कष्ट पा रहे थे। थकावटसे उनकी नींद भी बहुत बढ़ गयी थी, जिससे पीड़ित होकर वे आगे जानेमें असमर्थ हो गये ॥ ११ ॥

न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने।
ततस्तृषापरिक्रान्ता कुन्ती पुत्रानथाब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब उन सबने उस नीरस विशाल जंगलमें डेरा डाल दिया। तत्पश्चात् प्याससे पीड़ित कुन्तीदेवी अपने पुत्रोंसे बोली— ॥ १२ ॥

माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता।
तृष्णया हि परीतास्मि पुत्रान् भृशमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

'मैं पाँच पाण्डुपुत्रोंकी माता हूँ और उन्हींके बीचमें स्थित हूँ, तो भी प्याससे व्याकुल हूँ' इस प्रकार कुन्ती-देवीने अपने बेटोंके समक्ष यह बात बार-बार दुहरायी ॥ १३ ॥

तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात् प्रजल्पितम्।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ॥ १४ ॥

माताका वात्सल्यसे कहा हुआ वह वचन सुनकर भीमसेनका हृदय करुणासे भर आया। वे मन-ही-मन संतप्त हो उठे और स्वयं ही (पानी लानेके लिये) जानेकी तैयारी करने लगे ॥

ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत्।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ॥ १५ ॥

उस समय भीमने उस विशाल, निर्जन एवं भयंकर वनमें प्रवेश करके एक बहुत सुन्दर और विस्तृत छायावाले पीपलका पेड़ देखा ॥ १५ ॥

तत्र निक्षिप्य तान् सर्वानुवाच भरतर्षभः।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ॥ १६ ॥

राजन्! भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भीमसेनने उन सबको वहीं

बिठाकर कहा—'आपलोग यहाँ विश्राम करें, तबतक मैं पानीका पता लगाता हूँ ॥ १६ ॥

एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ॥ १७ ॥

'ये जलचर सारस पक्षी बड़ी मीठी बोली बोल रहे हैं; (अतः) यहाँ (पासमें) अवश्य कोई महान् जलाशय होगा—ऐसा मेरा विश्वास है' ॥ १७ ॥

अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः ॥ १८ ॥

भारत! तब बड़े भाई युधिष्ठिरने 'जाओ!' कहकर उन्हें अनुमति दे दी। आज्ञा पाकर भीमसेन वहीं गये, जहाँ ये जलचर सारस पक्षी कलरव कर रहे थे ॥ १८ ॥

स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ।
तेषामर्थे च जग्राह भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलः।
उत्तरीयेण पानीयमानयामास भारत ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पानी पीकर स्नान कर लेनेके पश्चात् भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले भीम उनके लिये भी चादरमें पानी ले आये ॥ १९ ॥

गव्यूतिमात्रादागत्य त्वरितो मातरं प्रति।
शोकदुःखपरीतात्मा निःशश्वासोरगो यथा ॥ २० ॥

दो कोस दूरसे जल्दी-जल्दी चलकर भीमसेन अपनी माताके पास आये। उनका मन शोक और दुःखसे व्याप्त था और वे सर्पकी भाँति लंबी साँस खींच रहे थे ॥ २० ॥

स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च वसुधातले।
भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥ २१ ॥

माता और भाइयोंको धरतीपर सोया देख भीमसेन मन-ही-मन अत्यन्त शोकसे संतप्त हो गये और इस प्रकार विलाप करने लगे— ॥ २१ ॥

अतः कष्टतरं किं नु द्रष्टव्यं हि भविष्यति।
यत् पश्यामि महीसुप्तान् भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ॥ २२ ॥

'हाय! मैं कितना भाग्यहीन हूँ कि आज अपने भाइयोंको पृथ्वीपर सोया देख रहा हूँ। इससे महान् कष्टकी बात देखनेमें क्या आयेगी ॥ २२ ॥

शयनेषु परार्ध्येषु ये पुरा वारणावते।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ॥ २३ ॥

'आजसे पहले जब हमलोग वारणावत नगरमें थे, उस समय जिन्हें बहुमूल्य शय्याओंपर भी नींद नहीं आती थी, वे ही आज धरतीपर सो रहे हैं! ॥ २३ ॥

स्वसारं वसुदेवस्य शत्रुसङ्घावमर्दिनः।
कुन्तिराजसुतां कुन्तीं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥ २४ ॥

स्नुषां विचित्रवीर्यस्य भार्यां पाण्डोर्महात्मनः।
तथैव चास्मज्जननीं पुण्डरीकोदरप्रभाम् ॥ २५ ॥
सुकुमारतरामेनां महार्हशयनोचिताम्।
शयानां पश्यताद्येह पृथिव्यामतथोचिताम् ॥ २६ ॥

'जो शत्रुसमूहका संहार करनेवाले वसुदेवजीकी बहिन तथा महाराज कुन्तिभोजकी कन्या हैं, समस्त शुभ लक्षणोंके कारण जिनका सदा समादर होता आया है, जो राजा विचित्रवीर्यकी पुत्रवधू तथा महात्मा पाण्डुकी धर्मपत्नी हैं, जिन्होंने हम-जैसे पुत्रोंको जन्म दिया है, जिनकी अङ्गकान्ति कमलके भीतरी भागके समान है, जो अत्यन्त सुकुमार और बहुमूल्य शय्यापर शयन करनेके योग्य हैं, देखो, आज वे ही कुन्तीदेवी यहाँ भूमिपर सोयी हैं! ये कदापि इस तरह शयन करनेके योग्य नहीं हैं ॥ २४-२६ ॥

धर्मादिन्द्राच्च वाताच्च सुषुवे या सुतानिमान्।
सेयं भूमौ परिश्रान्ता शेते प्रासादशायिनी ॥ २७ ॥

'जिन्होंने धर्म, इन्द्र और वायुके द्वारा हम-जैसे पुत्रोंको उत्पन्न किया है, वे राजमहलमें सोनेवाली महारानी कुन्ती आज परिश्रमसे थककर यहाँ पृथ्वीपर पड़ी हैं ॥ २७ ॥

किं नु दुःखतरं शक्यं मया द्रष्टुमतः परम्।
योऽहमद्य नरव्याघ्रान् सुप्तान् पश्यामि भूतले ॥ २८ ॥

'इससे बढ़कर दुःख मैं और क्या देख सकता हूँ जब कि अपने नरश्रेष्ठ भाइयोंको आज मुझे धरतीपर सोते देखना पड़ रहा है ॥ २८ ॥

त्रिषु लोकेषु यो राज्यं धर्मनित्योऽर्हते नृपः।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत् कथम् ॥ २९ ॥

'जो नित्य धर्मपरायण नरेश तीनों लोकोंका राज्य पानेके अधिकारी हैं, वे ही आज साधारण मनुष्योंकी भाँति थके-माँदे पृथ्वीपर कैसे पड़े हैं ॥ २९ ॥

अयं नीलाम्बुदश्यामो नरेष्वप्रतिमोऽर्जुनः।
शेते प्राकृतवद् भूमौ ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३० ॥

'मनुष्योंमें जिनकी कहीं समता नहीं है, वे नील मेघके समान श्याम कान्तिवाले अर्जुन आज प्राकृत जनोंकी भाँति पृथ्वी-पर सो रहे हैं; इससे महान् दुःख और क्या हो सकता है ॥

अश्विनाविव देवानां याविमौ रूपसम्पदा।
तौ प्राकृतवदद्येमौ प्रसुप्तौ धरणीतले ॥ ३१ ॥

'जो अपनी रूप-सम्पत्तिसे देवताओंमें अश्विनीकुमारोंके समान जान पड़ते हैं, वे ही ये दोनों नकुल-सहदेव आज यहाँ साधारण मनुष्योंके समान जमीनपर सोये पड़े हैं ॥ ३१ ॥

ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांसनाः।
स जीवेत सुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ॥ ३२ ॥

'जिसके कुटुम्बी पक्षपातयुक्त और कुलको कलङ्क लगानेवाले नहीं होते, वह पुरुष गाँवके अकेले वृक्षकी भाँति संसारमें सुखपूर्वक जीवन धारण करता है ॥ ३२ ॥

एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत् पर्णफलान्वितः ।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीयः सुपूजितः ॥ ३३ ॥

'गाँवमें यदि एक ही वृक्ष पत्र और फल-फूलोंसे सम्पन्न हो तो वह दूसरे सजातीय वृक्षोंसे रहित होनेपर भी चैत्य (देववृक्ष) माना जाता है तथा उसे पूज्य मानकर उसकी खूब पूजा की जाती है ॥ ३३ ॥

येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः ।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः ॥ ३४ ॥

'जिनके बहुत-से शूरवीर भाई-बन्धु धर्मपरायण होते हैं, वे भी संसारमें नीरोग रहते और सुखसे जीते हैं ॥ ३४ ॥

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः ।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ॥ ३५ ॥

'जो बलवान्, धनसम्पन्न तथा मित्रों और भाई-बन्धुओंको आनन्दित करनेवाले हैं, वे जंगलके वृक्षोंकी भाँति एक-दूसरेके सहारे जीवन धारण करते हैं ॥ ३५ ॥

वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना ।
विवासिता न दग्धाश्च कथंचिद् दैवसंश्रयात् ॥ ३६॥

'दुरात्मा धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंने तो हमें घरसे निकाल दिया और जलानेकी भी चेष्टा की, परंतु किसी तरह भाग्यके भरोसे हम बच गये हैं ॥ ३६ ॥

तस्मान्मुक्ता वयं दाहादिमं वृक्षमुपाश्रिताः ।
कां दिशं प्रतिपत्स्यामः प्राप्ताः क्लेशमनुत्तमम् ॥ ३७॥

'आज उस अग्निदाहसे मुक्त हो हम इस वृक्षके नीचे आश्रय ले रहे हैं। हमें किस दिशामें जाना है, इसका भी पता नहीं है। हम भारी-से-भारी कष्ट उठा रहे हैं ॥ ३७ ॥

सकामो भव दुर्बुद्धे धार्तराष्ट्राल्पदर्शन ।
नूनं देवाः प्रसन्नास्ते नानुज्ञां मे युधिष्ठिरः ॥ ३८ ॥
प्रयच्छति वधे तुभ्यं तेन जीवसि दुर्मते ।
नन्वद्य त्वां सहामात्यं सकर्णानुजसौबलम् ॥ ३९ ॥
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यत् ते न क्रुध्यते नृपः ॥ ४० ॥
धर्मात्मा पाण्डवश्रेष्ठः पापाचार युधिष्ठिरः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुः क्रोधसंदीप्तमानसः ॥ ४१ ॥
करं करेण निष्पिष्य निःश्वसन् दीनमानसः ।
पुनर्दीनमना भूत्वा शान्तार्चिरिव पावकः ॥ ४२ ॥
भ्रातॄन् महीतले सुप्तानवैक्षत वृकोदरः ।
विश्वस्तानिव संविष्टान् पृथग्जनसमानिव ॥ ४३ ॥

'ओ दुर्बुद्धि अल्पदर्शी धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधन ! आज तेरी कामना पूरी हुई। निश्चय ही देवता तुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो राजा युधिष्ठिर मुझे तेरा वध करनेकी आज्ञा नहीं दे रहे हैं। दुर्मते ! यही कारण है कि तू अबतक जी रहा है। रे पापाचारी ! मैं आज ही जाकर कुपित हो मन्त्रियों, कर्ण, छोटे भाई और शकुनिसहित तुझे यमलोक भेज सकता हूँ। किंतु क्या करूँ, पाण्डवश्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिर तुझपर कोप नहीं कर रहे हैं'।

यों कहकर महाबाहु भीम मन-ही-मन क्रोधसे जलते और हाथसे हाथ मलते हुए दीनभावसे लंबी साँसें खींचने लगे। बुझी हुई लपटोंवाली अग्निकी भाँति दीनहृदय होकर वे पुनः धरतीपर सोये हुए भाइयोंकी ओर देखने लगे। उनके वे सभी भाई साधारण लोगोंकी भाँति भूमिपर ही निश्चिन्ततापूर्वक सो रहे थे ॥ ३८-४३ ॥

नातिदूरेण नगरं वनादस्माद्धि लक्षये ।
जागर्तव्ये स्वपन्तीमे हन्त जागर्म्यहं स्वयम् ॥ ४४ ॥
पास्यन्तीमे जलं पश्चात् प्रतिबुद्धा जितक्लमाः ।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ॥ ४५ ॥

उस समय भीम इस प्रकार विचार करने लगे—'अहो ! इस वनसे थोड़ी ही दूरीपर कोई नगर दिखायी देता है। जब कि जागना चाहिये, ऐसे समय भी ये मेरे भाई सो रहे हैं। अच्छा, मैं स्वयं ही जागरण करूँ। थकावट दूर होनेपर जब ये नींदसे उठेंगे, तभी पानी पियेंगे।' ऐसा निश्चय करके भीमसेन स्वयं उस समय जागरण करने लगे ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि जतुगृहपर्वणि भीमजलाहरणे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत जतुगृहपर्वमें भीमसेनके जल ले आनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ।

(हिडिम्बवधपर्व)

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बके भेजनेसे हिडिम्बा राक्षसीका पाण्डवोंके पास आना और भीमसेनसे उसका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः ।
अविदूरे वनात् तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जहाँ पाण्डव कुन्तीसहित सो रहे थे, उस वनसे थोड़ी दूरपर एक शाल-वृक्षका आश्रय ले हिडिम्ब नामक राक्षस रहता था ॥ १ ॥

क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः।
प्रावृड्जलधरश्यामः पिङ्गाक्षो दारुणाकृतिः॥ २॥

वह बड़ा क्रूर और मनुष्यमांस खानेवाला था। उसका बल और पराक्रम महान् था। वह वर्षाकालके मेघकी भाँति काला था। उसकी आँखें भूरे रंगकी थीं और आकृतिसे क्रूरता टपक रही थी॥ २॥

दंष्ट्राकरालवदनः पिशितेप्सुः क्षुधार्दितः।
लम्बस्फिग्लम्बजठरो रक्तश्मश्रुशिरोरुहः॥ ३॥

उसका मुख बड़ी-बड़ी दाढ़ोंके कारण विकराल दिखायी देता था। वह भूखसे पीड़ित था और मांस मिलनेकी आशामें बैठा था। उसके नितम्ब और पेट लम्बे थे। दाढ़ी, मूँछ और सिरके बाल लाल रंगके थे॥ ३॥

महावृक्षगलस्कन्धः शङ्कुकर्णो विभीषणः।
यदृच्छया तानपश्यत् पाण्डुपुत्रान् महारथान्॥ ४॥

उसका गला और कंधे महान् वृक्षके समान जान पड़ते थे। दोनों कान भालेके समान लम्बे और नुकीले थे। वह देखनेमें बड़ा भयानक था। दैवेच्छासे उसकी दृष्टि उन महारथी पाण्डवोंपर पड़ी॥ ४॥

विरूपरूपः पिङ्गाक्षः करालो घोरदर्शनः।
पिशितेप्सुः क्षुधार्तश्च तानपश्यद् यदृच्छया॥ ५॥

बेडौल रूप तथा भूरी आँखोंवाला वह विकराल राक्षस देखनेमें बड़ा डरावना था। भूखसे व्याकुल होकर वह कच्चा मांस खाना चाहता था। उसने अकस्मात् पाण्डवोंको देख लिया॥ ५॥



ऊर्ध्वाङ्गुलिः स कण्डूयन् धुन्वन् रूक्षान् शिरोरुहान्।
जृम्भमाणो महावक्त्रः पुनः पुनरवेक्ष्य च॥ ६॥

तब अङ्गुलियोंको ऊपर उठाकर सिरके रूखे बालोंको खुजलाता और फटकारता हुआ वह विशाल मुखवाला राक्षस पाण्डवोंकी ओर बार-बार देखकर जँभाई लेने लगा॥ ६॥

हृष्टो मानुषमांसस्य महाकायो महाबलः।
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत्॥ ७॥

मनुष्यका मांस मिलनेकी सम्भावनासे उसे बड़ा हर्ष हुआ। उस महाबली विशालकाय राक्षसने मनुष्यकी गन्ध पाकर अपनी बहिनसे इस प्रकार कहा—॥ ७॥

उपपन्नश्चिरस्याद्य भक्षोऽयं मम सुप्रियः।
स्नेहस्रवान् प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे सुखम्॥ ८॥

'आज बहुत दिनोंके बाद ऐसा भोजन मिला है, जो मुझे बहुत प्रिय है। इस समय मेरी जीभ लार टपका रही है और बड़े सुखसे लप-लप कर रही है॥ ८॥

अष्टौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्यापातदुस्सहाः।
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च॥ ९॥

'आज मैं अपनी आठों दाढ़ोंको, जिनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं और जिनकी चोट प्रारम्भसे ही अत्यन्त दुःसह होती है, दीर्घकालके पश्चात् मनुष्योंके शरीरों और चिकने मांसमें डुबाऊँगा॥ ९॥

आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि।
उष्णं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु॥ १०॥

'मैं मनुष्यकी गर्दनपर चढ़कर उसकी नाड़ियोंको काट दूँगा और उसका गरम-गरम, फेनयुक्त तथा ताजा खून खूब छककर पीऊँगा॥ १०॥

गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः।
मानुषो बलवान् गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे॥ ११॥

'बहिन! जाओ, पता तो लगाओ, ये कौन इस वनमें आकर सो रहे हैं? मनुष्यकी तीव्र गन्ध आज मेरी नासिकाको मानो तृप्त किये देती है॥ ११॥

हत्वैतान् मानुषान् सर्वानानयस्व ममान्तिकम्।
अस्मद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते॥ १२॥

'तुम इन सब मनुष्योंको मारकर मेरे पास ले आओ। ये हमारी हदमें सो रहे हैं, (इसलिये) इनसे तुम्हें तनिक भी खटका नहीं है॥ १२॥

एषामुत्कृत्य मांसानि मानुषाणां यथेष्टतः।
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम॥ १३॥

'फिर हम दोनों एक साथ बैठकर इन मनुष्योंके मांस नोच-नोचकर जी-भर खायेंगे। तुम मेरी इस आज्ञाका तुरंत पालन करो॥ १३॥

भक्षयित्वा च मांसानि मानुषाणां प्रकामतः।
नृत्याव सहितावावां दत्ततालावनेकशः ॥ १४ ॥

'इच्छानुसार मनुष्यमांस खाकर हम दोनों ताल देते हुए साथ-साथ अनेक प्रकारके नृत्य करें' ॥ १४ ॥

एवमुक्ता हिडिम्बा तु हिडिम्बेन तदा वने।
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणेव राक्षसी ॥ १५ ॥
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ।
ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान् पृथया सह।
शयानान् भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय वनमें हिडिम्बके यों कहनेपर हिडिम्बा अपने भाईकी बात मानकर मानो बड़ी उतावलीके साथ उस स्थानपर गयी, जहाँ पाण्डव थे। वहाँ जाकर उसने कुन्तीके साथ पाण्डवोंको सोते और किसीसे परास्त न होनेवाले भीमसेनको जागते देखा ॥ १५-१६ ॥

दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम्।
राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १७ ॥

धरतीपर उगे हुए साखूके पौधेकी भाँति मनोहर भीमसेनको देखते ही वह राक्षसी (मुग्ध हो) उन्हें चाहने लगी। इस पृथ्वीपर वे अनुपम रूपवान् थे ॥ १७ ॥

अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ॥ १८ ॥

(उसने मन-ही-मन सोचा—) 'इन श्यामसुन्दर तरुण वीरकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, कंधे सिंहके-से हैं, ये महान् तेजस्वी हैं, इनकी ग्रीवा शङ्खके समान सुन्दर और नेत्र कमलदलके सदृश विशाल हैं। ये मेरे लिये उपयुक्त पति हो सकते हैं ॥ १८ ॥

नाहं भ्रातृवचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम्।
पतिस्नेहोऽतिबलवान् न तथा भ्रातृसौहृदम् ॥ १९ ॥
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च भवेद् भ्रातुर्ममैव च।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥ २० ॥

'मेरे भाईकी बात क्रूरतासे भरी है, अतः मैं कदापि उसका पालन नहीं करूँगी। (नारीके हृदयमें) पतिप्रेम ही अत्यन्त प्रबल होता है। भाईका सौहार्द उसके समान नहीं होता। इन सबको मार देनेपर इनके मांससे मुझे और मेरे भाईको केवल दो घड़ीके लिये तृप्ति मिल सकती है और यदि न मारूँ तो बहुत वर्षोंतक इनके साथ आनन्द भोगूँगी' ॥ १९-२० ॥

सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम्।
उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ॥ २१ ॥
लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता।
स्मितपूर्वमिदं वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥
कुतस्त्वमसि सम्प्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥ २३ ॥

हिडिम्बा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली थी। वह मानवजातिकी स्त्रीके समान सुन्दर रूप बनाकर लजीली ललनाकी भाँति धीरे-धीरे महाबाहु भीमसेनके पास गयी। दिव्य आभूषण उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। तब उसने मुसकराकर भीमसेनसे इस प्रकार पूछा— 'पुरुषरत्न ! आप कौन हैं और कहाँसे आये हैं ? ये देवताओंके समान सुन्दर रूपवाले पुरुष कौन हैं, जो यहाँ सो रहे हैं ? ॥ २१-२३ ॥

केयं वै बृहती श्यामा सुकुमारी तवानघ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वगृहे यथा ॥ २४ ॥

'और अनघ ! ये सबसे बड़ी उम्रवाली श्यामा[1] सुकुमारी देवी आपकी कौन लगती हैं, जो इस वनमें आकर भी ऐसी निःशङ्क होकर सो रही हैं, मानो अपने घरमें ही हों ॥ २४ ॥

नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम्।
वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥ २५ ॥

'इन्हें यह पता नहीं है कि यह गहन वन राक्षसोंका निवासस्थान है। यहाँ हिडिम्ब नामक पापात्मा राक्षस रहता है॥

तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपम ॥ २६ ॥

'वह मेरा भाई है। उस राक्षसने दुष्टभावसे मुझे यहाँ भेजा है। देवोपम वीर ! वह आपलोगोंका मांस खाना चाहता है ॥ २६ ॥

साहं त्वामभिसम्प्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम्।
नान्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

'आपका तेज देवकुमारोंका-सा है, मैं आपको देखकर अब दूसरेको अपना पति बनाना नहीं चाहती। मैं यह सच्ची बात आपसे कह रही हूँ ॥ २७ ॥

एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर।
कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ॥ २८ ॥

'धर्मज्ञ ! इस बातको समझकर आप मेरे प्रति उचित बर्ताव कीजिये। मेरे तन-मनको कामदेवने मथ डाला है। मैं आपकी सेविका हूँ, आप मुझे स्वीकार कीजिये ॥ २८ ॥

त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात् पुरुषादकात्।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममानघ ॥ २९ ॥

'महाबाहो ! मैं इस नरभक्षी राक्षससे आपकी रक्षा करूँगी। हम दोनों पर्वतोंकी दुर्गम कन्दराओंमें निवास करेंगे। अनघ ! आप मेरे पति हो जाइये ॥ २९ ॥

(इच्छामि वीर भद्रं ते मा मा प्राणा विहासिषुः।
त्वया ह्यहं परित्यक्ता न जीवेयमरिंदम ॥)

---

१. तपाये हुए सोनेके समान वर्णवाली स्त्रीको 'श्यामा' कहा जाता है, जैसा कि इस वचनसे सिद्ध है—

'तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते।'

अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥ ३० ॥

'वीर ! आपका भला चाहती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि आपके ठुकरानेसे मेरे प्राण ही मुझे छोड़कर चले जायँ। शत्रुदमन ! यदि आपने मुझे त्याग दिया तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकती। मैं आकाशमें विचरनेवाली हूँ। जहाँ इच्छा हो, वहीं विचरण कर सकती हूँ। आप मेरे साथ भिन्न-भिन्न लोकों और प्रदेशोंमें विहार करके अनुपम प्रसन्नता प्राप्त कीजिये' ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच

(एष ज्येष्ठो मम भ्राता मान्यः परमको गुरुः।
अनिविष्टश्च तन्माहं परिविद्यां कथंचन ॥)
मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान् कथं त्विमान्।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥ ३१ ॥

भीमसेन बोले—राक्षसी ! ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, जो मेरे लिये परम सम्माननीय गुरु हैं; इन्होंने अभीतक विवाह नहीं किया है, ऐसी दशामें मैं तुझसे विवाह करके किसी प्रकार परिवेत्ता* नहीं बनना चाहता। कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो इस जगत्‌में सामर्थ्यशाली होते हुए भी, सुखपूर्वक सोये हुए इन बन्धुओंको, माताको तथा बड़े भ्राताको भी किसी प्रकार अरक्षित छोड़कर जा सके ? ॥ ३१ ॥

को हि सुप्तानिमान् भ्रातॄन् दत्त्वा राक्षसभोजनम्।
मातरं च नरो गच्छेत् कामार्त इव मद्विधः ॥ ३२ ॥

मुझ-जैसा कौन पुरुष कामपीड़ितकी भाँति इन सोये हुए भाइयों और माताको राक्षसका भोजन बनाकर (अन्यत्र) जा सकता है ? ॥ ३२ ॥

राक्षस्युवाच

यत् ते प्रियं तत् करिष्ये सर्वानेतान् प्रबोधय।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात् पुरुषादकात् ॥ ३३ ॥

राक्षसीने कहा—आपको जो प्रिय लगे, मैं वही करूँगी। आप इन सब लोगोंको जगा दीजिये। मैं इच्छानुसार उस मनुष्यभक्षी राक्षससे इन सबको छुड़ा लूँगी ॥ ३३ ॥

भीमसेन उवाच

सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् मातरं चैव राक्षसि।
न भयाद् बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥ ३४ ॥

भीमसेनने कहा—राक्षसी ! मेरे भाई और माता इस वनमें सुखपूर्वक सो रहे हैं, तुम्हारे दुरात्मा भाईके भयसे मैं इन्हें जगाऊँगा नहीं ॥ ३४ ॥

न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम्।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥ ३५ ॥

भीरु ! सुलोचने ! मेरे पराक्रमको राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व तथा यक्ष भी नहीं सह सकते हैं ॥ ३५ ॥

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद् वापीच्छसि तत् कुरु।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥ ३६ ॥

अतः भद्रे ! तुम जाओ या रहो; अथवा तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वही करो। तन्वङ्गि ! अथवा यदि तुम चाहो तो अपने नरमांसभक्षी भाईको ही भेज दो ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि भीमहिडिम्बासंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें भीम-हिडिम्बा-संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बका आना, हिडिम्बाका उससे भयभीत होना और भीम तथा हिडिम्बासुरका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः।
अवतीर्य द्रुमात् तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब यह सोचकर कि मेरी बहिनको गये बहुत देर हो गयी, राक्षसराज हिडिम्ब उस वृक्षसे उतरा और शीघ्र ही पाण्डवोंके पास आ गया ॥ १ ॥

लोहिताक्षो महाबाहुरूर्ध्वकेशो महाननः।
मेघसंघातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रो भयानकः ॥ २ ॥

उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, केश ऊपरको उठे हुए थे और विशाल मुख था। उसके शरीरका रंग ऐसा काला था, मानो मेघोंकी काली घटा छा रही हो। तीखे दाढ़ोंवाला वह राक्षस बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ २ ॥

तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम्।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ॥ ३ ॥

देखनेमें विकराल उस राक्षस हिडिम्बको आते देखकर ही हिडिम्बा भयसे थर्रा उठी और भीमसेनसे इस प्रकार बोली— ॥ ३ ॥

आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः।
साहं त्वां भ्रातृभिः सार्धं यद् ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ४ ॥

* जो निर्दोष बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए ही अपना विवाह कर लेता है, वह 'परिवेत्ता' कहलाता है। शास्त्रोंमें वह निन्दनीय माना गया है।

'(देखिये,) यह दुष्टात्मा नरभक्षी राक्षस क्रोधमें भरा हुआ इधर ही आ रहा है, अतः मैं भाइयोंसहित आपसे जो कहती हूँ, वैसा कीजिये ॥ ४ ॥

अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता।
आरुहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ॥ ५ ॥

'वीर ! मैं इच्छानुसार चल सकती हूँ, मुझमें राक्षसोंका सम्पूर्ण बल है। आप मेरे इस कटिप्रदेश या पीठपर बैठ जाइये। मैं आपको आकाश-मार्गसे ले चलूँगी ॥ ५ ॥

प्रबोधयैतान् संसुप्तान् मातरं च परंतप।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ॥ ६ ॥

'परंतप ! आप इन सोये हुए भाइयों और माताजीको भी जगा दीजिये। मैं आप सब लोगोंको लेकर आकाश-मार्गसे उड़ चलूँगी' ॥ ६ ॥

भीम उवाच

मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥ ७ ॥

भीमसेन बोले—सुन्दरी ! तुम डरो मत, मेरे सामने यह राक्षस कुछ भी नहीं है। सुमध्यमे ! मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे मार डालूँगा ॥ ७ ॥

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥ ८ ॥

भीरु ! यह नीच राक्षस युद्धमें मेरे आक्रमणका वेग सह सके, ऐसा बलवान् नहीं है। ये अथवा सम्पूर्ण राक्षस भी मेरा सामना नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ।
ऊरू परिघसंकाशौ संहतं चाप्युरो महत् ॥ ९ ॥

हाथीकी सूँड़-जैसी मोटी और सुन्दर गोलाकार मेरी इन दोनों भुजाओंकी ओर देखो। मेरी ये जाँघें परिघके समान हैं और मेरा विशाल वक्षःस्थल भी सुदृढ़ एवं सुगठित है ॥ ९ ॥

विक्रमं मे यथेन्द्रस्य साद्य द्रक्ष्यसि शोभने।
मावमंस्थाः पृथुश्रोणि मत्वा मामिह मानुषम् ॥ १० ॥

शोभने ! मेरा पराक्रम (भी) इन्द्रके समान है, जिसे तुम अभी देखोगी। विशाल नितम्बोंवाली राक्षसी ! तुम मुझे मनुष्य समझकर यहाँ मेरा तिरस्कार न करो ॥ १० ॥

हिडिम्बोवाच

नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम्।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥ ११ ॥

हिडिम्बाने कहा—नरश्रेष्ठ ! आपका स्वरूप तो देवताओंके समान है ही। मैं आपका तिरस्कार नहीं करती। मैं तो इसलिये कहती थी कि मनुष्योंपर ही इस राक्षसका प्रभाव मैं (कई बार) देख चुकी हूँ ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस नरभक्षी राक्षस हिडिम्बने क्रोधमें भरकर भीमसेनकी कही हुई उपर्युक्त बातें सुनीं ॥ १२ ॥

अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः।
स्रग्दामपूरितशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ॥ १३ ॥
सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम्।
सर्वाभरणसंयुक्तं सुसूक्ष्माम्बरवाससम् ॥ १४ ॥

(तत्पश्चात्) उसने अपनी बहिनके मनुष्योचित रूपकी ओर दृष्टिपात किया। उसने अपनी चोटीमें फूलोंके गजरे लगा रक्खे थे। उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर जान पड़ता था। उसकी भौंहें, नासिका, नेत्र और केशान्तभाग—सभी सुन्दर थे। नख और त्वचा बहुत ही सुकुमार थी। उसने अपने अङ्गोंको समस्त आभूषणोंसे विभूषित कर रक्खा था तथा शरीरपर अत्यन्त सुन्दर महीन साड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३-१४ ॥

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम्।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥ १५ ॥

उसे इस प्रकार सुन्दर एवं मनोहर मानव-रूप धारण किये देख राक्षसके मनमें यह संदेह हुआ कि हो-न-हो यह पतिरूपमें किसी पुरुषका वरण करना चाहती है। यह विचार मनमें आते ही वह कुपित हो उठा ॥ १५ ॥

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अपनी बहिनपर उस राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया था। फिर तो उसने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखते हुए कहा— ॥ १६ ॥

को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद् विप्रमोहिता ॥ १७ ॥

'हिडिम्बे ! मैं (भूखा हूँ और) भोजन चाहता हूँ। कौन दुर्बुद्धि मानव मेरे इस अभीष्टकी सिद्धिमें विघ्न डाल रहा है। तू अत्यन्त मोहके वशीभूत होकर क्या मेरे क्रोधसे नहीं डरती है ? ॥ १७ ॥

धिक् त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥ १८ ॥

'मनुष्यको पति बनानेकी इच्छा रखकर मेरा अप्रिय

करनेवाली दुराचारिणी ! तुझे धिक्कार है । तू पूर्ववर्ती सम्पूर्ण राक्षसराजोंके कुलमें कलङ्क लगानेवाली है ॥ १८ ॥

यानिमानाश्रिताकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान् हनिष्यामि त्वया सह ॥ १९ ॥

'जिन लोगोंका आश्रय लेकर तूने मेरा महान् अप्रिय कार्य किया है, यह देख, मैं उन सबको आज तेरे साथ ही मार डालता हूँ' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः।
वधायाभिपपातैनान् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ २० ॥

हिडिम्बासे यों कहकर लाल-लाल आँखें किये हिडिम्ब दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ हिडिम्बा और पाण्डवोंका वध करनेकी इच्छासे उनकी ओर झपटा ॥ २० ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ तेजस्वी भीम उसे इस प्रकार हिडिम्बापर टूटते देख उसकी भर्त्सना करते हुए बोले—'अरे खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी बहिनपर अत्यन्त क्रुद्ध हुए उस राक्षसकी ओर देखकर भीमसेन हँसते हुए-से इस प्रकार बोले—॥ २२ ॥

किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ॥ २३ ॥

'हिडिम्ब ! सुखपूर्वक सोये हुए मेरे इन भाइयोंको जगानेसे तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा । खोटी बुद्धिवाले नरभक्षी राक्षस ! तू पूरे वेगसे आकर मुझसे भिड़ ॥ २३ ॥

मय्येव प्रहरेहि त्वं न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ २४ ॥

'आ, मुझपर ही प्रहार कर । हिडिम्बा स्त्री है, इसे मारना उचित नहीं है—विशेषतः इस दशामें, जब कि इसने कोई अपराध नहीं किया है । तेरा अपराध तो दूसरेके द्वारा हुआ है ॥ २४ ॥

न हीयं स्ववशा बाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनङ्गेन शरीरान्तरचारिणा ॥ २५ ॥

'यह भोली-भाली स्त्री अपने वशमें नहीं है । शरीरके भीतर विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर आज यह मुझे अपना पति बनाना चाहती है ॥ २५ ॥

भगिनी तव दुर्वृत्त रक्षसां वै यशोहर ।
त्वन्नियोगेन चैवेयं रूपं मम समीक्ष्य च ॥ २६ ॥

कामयत्यद्य मां भीरुस्तव नैषापराध्यति ।
अनङ्गेन कृते दोषे नेमां गर्हितुमर्हसि ॥ २७ ॥

'राक्षसोंकी कीर्तिको नष्ट करनेवाले दुराचारी हिडिम्ब ! तेरी यह बहिन तेरी आज्ञासे ही यहाँ आयी है; परंतु मेरा रूप देखकर यह बेचारी अब मुझे चाहने लगी है, अतः तेरा कोई अपराध नहीं कर रही है । कामदेवके द्वारा किये हुए अपराधके कारण तुझे इसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥२६-२७॥

मयि तिष्ठति दुष्टात्मन् न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
संगच्छस्व मया सार्धमेकेनैको नराशन ॥ २८ ॥

'दुष्टात्मन् ! तू मेरे रहते इस स्त्रीको नहीं मार सकता । नरभक्षी राक्षस ! तू मुझ अकेलेके साथ अकेला ही भिड़ जा।२८।

अहमेको नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ।
अद्य मद्बलनिष्पिष्टं शिरो राक्षस दीर्यताम् ।
कुञ्जरस्येव पादेन विनिष्पिष्टं बलीयसः ॥ २९ ॥

'आज मैं अकेला ही तुझे यमलोक भेज दूँगा। निशाचर ! जैसे अत्यन्त बलवान् हाथीके पैरसे दबकर किसीका भी मस्तक पिस जाता है, उसी प्रकार मेरे बलपूर्वक आघातसे कुचला जाकर तेरा सिर फट जायगा ॥ २९ ॥

अद्य गात्राणि ते कङ्काः श्येना गोमायवस्तथा ।
कर्षन्तु भुवि संहृष्टा निहतस्य मया मृधे ॥ ३० ॥

'आज मेरेद्वारा युद्धमें तेरा वध हो जानेपर हर्षमें भरे हुए गीध, बाज और गीदड़ धरतीपर पड़े हुए तेरे अङ्गोंको इधर-उधर घसीटेंगे ॥ ३० ॥

क्षणेनाद्य करिष्येऽहमिदं वनमराक्षसम् ।
पुरा यद् दूषितं नित्यं त्वया भक्षयता नरान् ॥ ३१ ॥

'आजसे पहले सदा मनुष्योंको खा-खाकर तूने जिसे अपवित्र कर दिया है, उसी वनको आज मैं क्षणभरमें राक्षसोंसे सूना कर दूँगा ॥ ३१ ॥

अद्य त्वां भगिनी रक्षः कृष्यमाणं मयासकृत् ।
द्रक्ष्यत्यद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महाद्विपम् ॥ ३२ ॥

'राक्षस ! जैसे सिंह पर्वताकार महान् गजराजको घसीट ले जाता है, उसी प्रकार आज मेरेद्वारा बार-बार घसीटे जानेवाले तुझको तेरी बहिन अपनी आँखों देखेगी ॥ ३२ ॥

निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥ ३३ ॥

'राक्षसकुलाङ्गार ! मेरेद्वारा तेरे मारे जानेपर वनवासी मनुष्य बिना किसी विघ्न-बाधाके इस वनमें विचरण करेंगे' ॥

हिडिम्ब उवाच

गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत् कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ॥ ३४ ॥

हिडिम्ब बोला—अरे ओ मनुष्य ! व्यर्थ गर्जने तथा बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ ? यह सब कुछ पहले करके दिखा, फिर डींग हाँकना; अब देर न कर ॥ ३४ ॥

बलिनं मन्यसे यच्चाप्यात्मानं सपराक्रमम् ।
ज्ञास्यस्यद्य समागम्य मयाऽऽत्मानं बलाधिकम् ॥ ३५ ॥
न तावदेतान् हिंसिष्ये स्वपन्त्वेते यथासुखम् ।
एष त्वामेव दुर्बुद्धे निहन्म्यद्याप्रियंवदम् ॥ ३६ ॥
पीत्वा तवासृग् गात्रेभ्यस्ततः पश्चादिमानपि ।
हनिष्यामि ततः पश्चादिमां विप्रियकारिणीम् ॥ ३७ ॥

तू अपने-आपको जो बड़ा बलवान् और पराक्रमी समझ रहा है, उसकी सचाईका पता तो तब लगेगा, जब आज मेरे साथ भिड़ेगा। तभी तू जान सकेगा कि मुझसे तुझमें कितना अधिक बल है। दुर्बुद्धे ! मैं पहले इन सबकी हिंसा नहीं करूँगा। ये थोड़ी देरतक सुखपूर्वक सो लें। तू मुझे बड़ी कड़वी बातें सुना रहा है, अतः सबसे पहले तुझे ही अभी मारे देता हूँ। पहले तेरे अङ्गोंका ताजा खून पीकर उसके बाद तेरे इन भाइयोंका भी वध करूँगा। तदनन्तर अपना अप्रिय करनेवाली इस हिडिम्बाको भी मार डालूँगा ॥ ३५–३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर क्रोधमें भरा हुआ वह नरभक्षी राक्षस अपनी एक बाँह ऊपर उठाये शत्रुदमन भीमसेनपर टूट पड़ा ॥ ३८ ॥

तस्याभिद्रवतस्तूर्णं भीमो भीमपराक्रमः ।
वेगेन प्रहितं बाहुं निजग्राह हसन्निव ॥ ३९ ॥

झपटते ही बड़े वेगसे उसने भीमसेनपर हाथ चलाया। तब तो भयंकर पराक्रमी भीमसेनने तुरंत ही उसके हाथको हँसते हुए-से पकड़ लिया ॥ ३९ ॥

निगृह्य तं बलाद् भीमो विस्फुरन्तं चकर्ष ह ।
तस्माद् देशाद् धनूंष्यष्टौ सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४० ॥

वह राक्षस उनके हाथसे छूटनेके लिये छटपटाने और उछल-कूद मचाने लगा; परंतु भीमसेन उसे पकड़े हुए ही बलपूर्वक उस स्थानसे आठ धनुष (बत्तीस हाथ) दूर घसीट ले गये—उसी प्रकार जैसे सिंह किसी छोटे मृगको घसीट-कर ले जाय ॥ ४० ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धः पाण्डवेन बलार्दितः ।
भीमसेनं समालिङ्ग्य व्यनदद् भैरवं रवम् ॥ ४१ ॥

पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा बलपूर्वक पीड़ित होनेपर वह राक्षस क्रोधमें भर गया और भीमसेनको भुजाओंसे कसकर भयंकर गर्जना करने लगा ॥ ४१ ॥

पुनर्भीमो बलादेनं विचकर्ष महाबलः ।
मा शब्दः सुखसुप्तानां भ्रातॄणां मे भवेदिति ॥ ४२ ॥

तब महाबली भीमसेन यह सोचकर पुनः उसे बलपूर्वक कुछ दूर खींच ले गये कि सुखपूर्वक सोये हुए भाइयोंके कानोंमें शब्द न पहुँचे ॥ ४२ ॥

अन्योन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥ ४३ ॥

फिर तो दोनों एक-दूसरेसे गुथ गये और बलपूर्वक अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। हिडिम्ब और भीमसेन दोनोंने बड़ा भारी पराक्रम प्रकट किया ॥ ४३ ॥

बभञ्जतुस्तदा वृक्षाँल्लताश्चाकर्षतुस्तदा ।
मत्ताविव च संरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥ ४४ ॥

जैसे साठ वर्षकी अवस्थावाले दो मतवाले गजराज कुपित हो परस्पर युद्ध करते हों, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेसे भिड़कर वृक्षोंको तोड़ने और लताओंको खींच-खींचकर उजाड़ने लगे ॥ ४४ ॥

(पादपानुद्वहन्तौ तावुरुवेगेन वेगितौ ।
स्फोटयन्तौ लताजालान्यूरुभ्यां प्राप्य सर्वतः ॥
वित्रासयन्तौ शब्देन सर्वतो मृगपक्षिणः ।
बलेन बलिनौ मत्तावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥
भीमराक्षसयोर्युद्धं तदावर्तत दारुणम् ॥
ऊरुबाहुपरिक्लेशात् कर्षन्तावितरेतरम् ।
ततः शब्देन महता गर्जन्तौ तौ परस्परम् ॥
पाषाणसंघट्टनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ।
अन्योन्यं तौ समालिङ्ग्य विकर्षन्तौ परस्परम् ॥)

वे दोनों वृक्ष उठाये बड़े वेगसे एक दूसरेकी ओर दौड़ते थे, अपनी जाँघोंकी टक्करसे चारों ओरकी लताओंको छिन्न-भिन्न किये देते थे तथा गर्जन-तर्जनके द्वारा सब ओर पशु-पक्षियोंको आतङ्कित कर देते थे। बलसे उन्मत्त हुए वे दोनों महाबली योद्धा एक-दूसरेको मार डालना चाहते थे। उस समय भीमसेन और हिडिम्बासुरमें बड़ा भयंकर युद्ध चल रहा था। वे दोनों एक-दूसरेकी भुजाओंको मरोड़ते और जाँघोंको घुटनोंसे दबाते हुए दोनों एक दूसरे-को अपनी ओर खींचते थे। तदनन्तर वे बड़े जोरसे गर्जते हुए परस्पर इस प्रकार प्रहार करने लगे, मानो दो चट्टानें आपसमें टकरा रही हों। तत्पश्चात् वे एक दूसरेसे गुथ गये और दोनों दोनोंको भुजाओंमें कसकर इधर-उधर खींच ले जानेकी चेष्टा करने लगे ॥

तयोः शब्देन महता विबुद्धास्ते नरर्षभाः।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥ ४५ ॥

उन दोनोंकी भारी गर्जनासे वे नरश्रेष्ठ पाण्डव मातासहित जाग उठे और उन्होंने अपने सामने खड़ी हुई हिडिम्बाको देखा॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बयुद्धे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्ब-युद्ध-विषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बाका कुन्ती आदिसे अपना मनोभाव प्रकट करना तथा भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वातिमानुषम्।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जागनेपर हिडिम्बाका अलौकिक रूप देख वे पुरुषसिंह पाण्डव माता कुन्तीके साथ बड़े विस्मयमें पड़े ॥ १ ॥

ततः कुन्ती समीक्ष्यैनां विस्मिता रूपसम्पदा।
उवाच मधुरं वाक्यं सान्त्वपूर्वमिदं शनैः ॥ २ ॥
कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वासि वरवर्णिनि।
केन कार्येण सम्प्राप्ता कुतश्चागमनं तव ॥ ३ ॥

तदनन्तर कुन्तीने उसकी रूप-सम्पत्तिसे चकित हो उसकी ओर देखकर उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें इस प्रकार धीरे-धीरे पूछा—'देवकन्याओंकी-सी कान्तिवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? तुम किस कामसे यहाँ आयी हो और कहाँसे तुम्हारा शुभागमन हुआ है ? ॥ २-३ ॥

यदि वास्य वनस्य त्वं देवता यदि वाप्सराः।
आचक्ष्व मम तत् सर्वं किमर्थं चेह तिष्ठसि ॥ ४ ॥

'यदि तुम इस वनकी देवी अथवा अप्सरा हो तो वह सब मुझे ठीक-ठीक बता दो; साथ ही यह भी कहो कि किस कामके लिये यहाँ खड़ी हो ?' ॥ ४ ॥



हिडिम्बोवाच

यदेतत् पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत्।
निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ॥ ५ ॥

हिडिम्बा बोली—देवि ! यह जो नील मेघके समान विशाल वन आप देख रही हैं, यह राक्षस हिडिम्बका और मेरा निवासस्थान है ॥ ५ ॥

तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भाविनि।
भ्रात्रा सम्प्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसता ॥ ६ ॥

महाभागे ! आप मुझे उस राक्षसराज हिडिम्बकी बहिन समझें। आर्ये ! मेरे भाईने मुझे आपकी और आपके पुत्रोंकी हत्या करनेकी इच्छासे भेजा था ॥ ६ ॥

क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता त्विह।
अद्राक्षं नवहेमाभं तव पुत्रं महाबलम् ॥ ७ ॥

उसकी बुद्धि बड़ी क्रूरतापूर्ण है। उसके कहनेसे मैं यहाँ आयी और नूतन सुवर्णकी-सी आभावाले आपके महाबली पुत्र-पर मेरी दृष्टि पड़ी ॥ ७ ॥

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे।
चोदिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥ ८ ॥

शुभे ! उन्हें देखते ही समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर मैं आपके पुत्रकी वशवर्तिनी हो गयी ॥ ८ ॥

ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥ ९ ॥

तदनन्तर मैंने आपके महाबली पुत्रको पतिरूपमें वरण कर लिया और इस बातके लिये प्रयत्न किया कि उन्हें (तथा आप सब लोगोंको) लेकर यहाँसे अन्यत्र भाग चलूँ; परंतु आपके पुत्रकी स्वीकृति न मिलनेसे मैं इस कार्यमें सफल न हो सकी ॥ ९ ॥

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान् सर्वांस्तवात्मजान् ॥ १० ॥

मेरे लौटनेमें देर होती जान वह मनुष्यभक्षी राक्षस स्वयं ही आपके इन सब पुत्रोंको मार डालनेके लिये आया।१०।

स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता।
बलादितो विनिष्क्षिप्य व्यपनीतो महात्मना ॥ ११ ॥

परंतु मेरे प्राणवल्लभ तथा आपके बुद्धिमान् पुत्र महात्मा भीम उसे बलपूर्वक यहाँसे रगड़ते हुए दूर हटा ले गये हैं ॥ ११ ॥

विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम्।
पश्यैवं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ॥ १२ ॥

देखिये, युद्धमें पराक्रम दिखानेवाले वे दोनों मनुष्य और राक्षस जोर-जोरसे गर्ज रहे हैं और बड़े वेगसे गुत्थम-गुत्थ होकर एक-दूसरेको अपनी ओर खींच रहे हैं ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिडिम्बाकी यह बात सुनते ही युधिष्ठिर उछलकर खड़े हो गये । अर्जुन, नकुल और पराक्रमी सहदेवने भी ऐसा ही किया ॥ १३ ॥

तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम्।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन्होंने देखा कि वे दोनों प्रचण्ड बलशाली सिंहोंकी भाँति आपसमें गुथ गये हैं और अपनी-अपनी विजय चाहते हुए एक-दूसरेको घसीट रहे हैं ॥ १४ ॥

अथान्योन्यं समाश्लिष्य विकर्षन्तौ पुनः पुनः।
दावाग्निधूमसदृशं चक्रतुः पार्थिवं रजः ॥ १५ ॥

एक दूसरेको भुजाओंमें भरकर बार-बार खींचते हुए उन दोनों योद्धाओंने धरतीकी धूलको दावानलके धूएँके समान बना दिया ॥ १५ ॥

वसुधारेणुसंवीतौ वसुधाधरसंनिभौ।
बभ्राजतुर्यथा शैलौ नीहारेणाभिसंवृतौ ॥ १६ ॥

दोनोंका शरीर पृथ्वीकी धूलमें सना हुआ था । दोनों ही पर्वतोंके समान विशालकाय थे । उस समय वे दोनों कुहरेसे ढँके हुए दो पहाड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १६ ॥

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥ १७ ॥

भीमसेनको राक्षसद्वारा पीड़ित देख अर्जुन धीरे-धीरे हँसते हुए-से बोले— ॥ १७ ॥

भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम्।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शितम् ॥ १८ ॥

'महाबाहु भैया भीमसेन ! डरना मत; अबतक हमलोग नहीं जानते थे कि तुम भयंकर राक्षससे भिड़कर अत्यन्त परिश्रमके कारण कष्ट पा रहे हो ॥ १८ ॥

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम्।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥ १९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! अब मैं तुम्हारी सहायताके लिये उपस्थित हूँ । इस राक्षसको अवश्य मार गिराऊँगा । नकुल और सहदेव माताजीकी रक्षा करेंगे' ॥ १९ ॥

भीम उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः सम्भ्रमस्त्वया।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥ २० ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन ! तटस्थ होकर चुपचाप देखते रहो । तुम्हें घबरानेकी आवश्यकता नहीं । मेरी दोनों भुजाओंके बीचमें आकर अब यह राक्षस कदापि जीवित नहीं रह सकता ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा।
गन्तव्ये न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिंदम ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—शत्रुओंका दमन करनेवाले भीम ! इस पापी राक्षसको देरतक जीवित रखनेसे क्या लाभ ? हमलोगोंको आगे चलना है, अतः यहाँ अधिक समयतक ठहरना सम्भव नहीं है ॥

पुरा संरज्यते प्राची पुरा संध्या प्रवर्तते।
रौद्रे मुहूर्ते रक्षांसि प्रबलानि भवन्त्युत ॥ २२ ॥

उधर सामने पूर्वदिशामें अरुणोदयकी लालिमा फैल रही है । प्रातः-संध्याका समय होनेवाला है । इस रौद्र मुहूर्तमें राक्षस प्रबल हो जाते हैं ॥ २२ ॥

त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो विभीषणम्।
पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ॥ २३ ॥

अतः भीमसेन ! जल्दी करो । इसके साथ खिलवाड़ न करो । इस भयानक राक्षसको मार डालो । यह अपनी माया फैलाये, इसके पहले ही इसपर अपनी भुजाओंकी शक्तिका प्रयोग करो ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

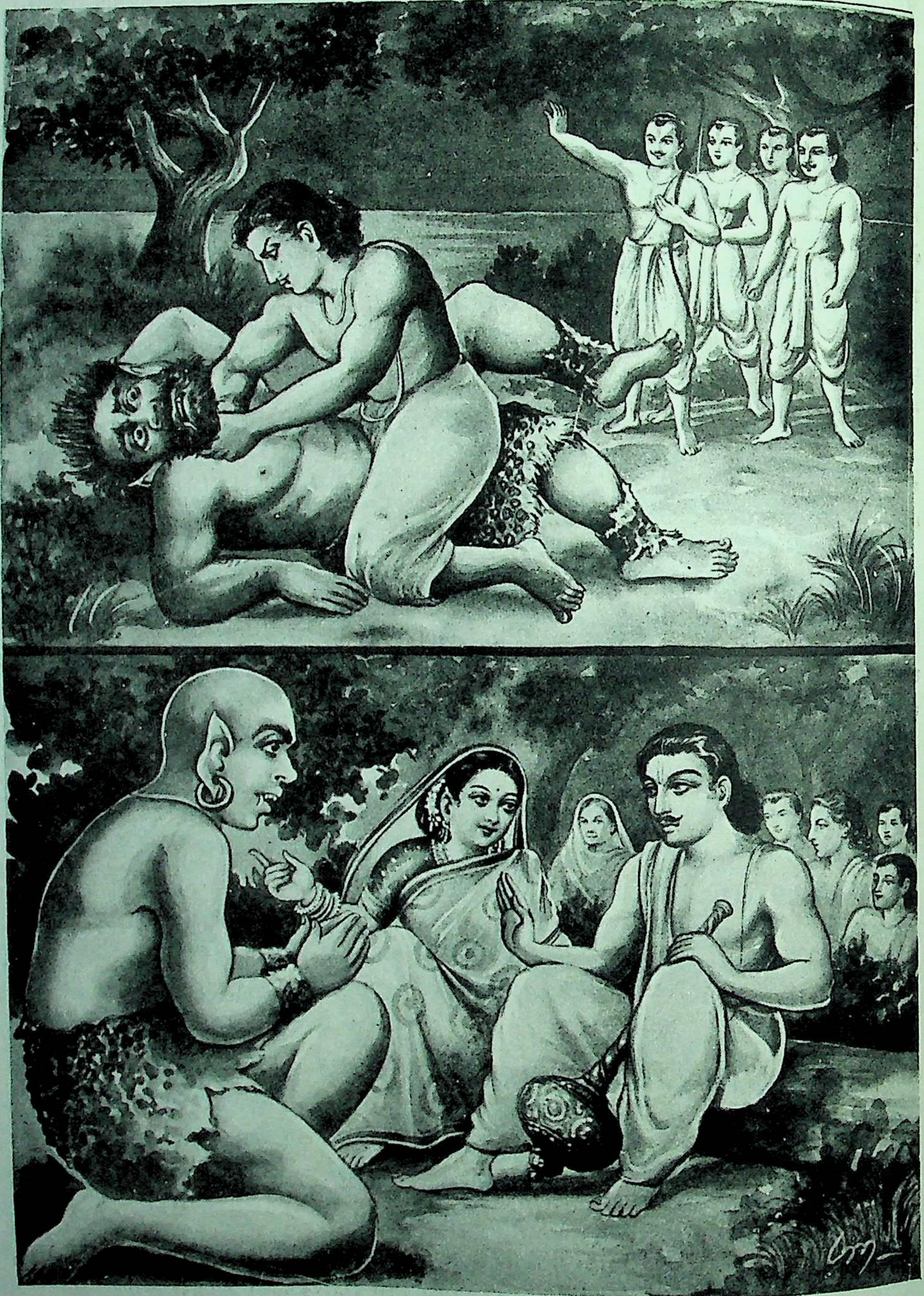
अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषाज्ज्वलन्निव।
बलमाहारयामास यद् वायोर्जगतः क्षये ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके यों कहनेपर भीम रोषसे जल उठे और प्रलयकालमें वायुका जो बल प्रकट होता है, उसे उन्होंने अपने भीतर धारण कर लिया ॥ २४ ॥

ततस्तस्याम्बुदाभस्य भीमो रोषात् तु रक्षसः।
उत्क्षिप्याभ्रामयद् देहं तूर्णं शतगुणं तदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् काले मेघके समान उस राक्षसके शरीरको भीमने क्रोधपूर्वक तुरंत ऊपर उठा लिया और उसे सौ बार घुमाया ॥ २५ ॥

हिडिम्ब-वध



भीमसेन और घटोत्कच

भीम उवाच

वृथामांसैर्वृथापुष्टो वृथावृद्धो वृथामतिः।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यसि ॥ २६ ॥

इसके बाद भीम उस राक्षससे बोले—अरे निशाचर ! तू व्यर्थ मांससे व्यर्थ ही पुष्ट होकर व्यर्थ ही बड़ा हुआ है । तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है । इसीसे तू व्यर्थ मृत्युके योग्य है । इसलिये आज तू व्यर्थ ही अपनी इहलीला समाप्त करेगा (बाहुयुद्धमें मृत्यु होनेके कारण तू स्वर्ग और कीर्तिसे वञ्चित हो जायगा) ॥ २६ ॥

क्षेममद्य करिष्यामि यथा वनमकण्टकम्।
न पुनर्मानुषान् हत्वा भक्षयिष्यसि राक्षस ॥ २७ ॥

राक्षस ! आज तुझे मारकर मैं इस वनको निष्कण्टक एवं मङ्गलमय बना दूँगा, जिससे फिर तू मनुष्योंको मारकर नहीं खा सकेगा ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच

यदि वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेष निपात्यताम् ॥ २८ ॥

अर्जुन बोले—भैया ! यदि तुम युद्धमें इस राक्षसको अपने लिये भार समझ रहे हो तो मैं तुम्हारी सहायता करता हूँ । तुम इसे शीघ्र मार गिराओ ॥ २८ ॥

अथवाप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ॥ २९ ॥

वृकोदर ! अथवा मैं ही इसे मार डालूँगा । तुम अधिक युद्ध करके थक गये हो । अतः कुछ देर अच्छी तरह विश्राम कर लो ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
निष्पिष्यैनं बलाद् भूमौ पशुमारममारयत् ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी यह बात सुनकर भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भर गये । उन्होंने बल-पूर्वक राक्षसको पृथ्वीपर दे मारा और उसे रगड़ते हुए पशुकी तरह मारना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम्।
पूरयंस्तद् वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार भीमसेनकी मार पड़नेपर वह राक्षस जलसे भीगे हुए नगारेकी-सी ध्वनिसे सम्पूर्ण वनको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे चीखने लगा ॥ ३१ ॥

बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान् पाण्डुनन्दनः।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान् ॥ ३२ ॥

तब महाबाहु बलवान् पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसे दोनों भुजाओंसे बाँधकर उलटा मोड़ दिया और उसकी कमर तोड़-कर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाया ॥ ३२ ॥

हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः।
अपूजयन् नरव्याघ्रं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३३ ॥

हिडिम्बको मारा गया देख वे महान् वेगशाली पाण्डव अत्यन्त हर्षसे उल्लसित हो उठे और उन्होंने शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम्।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार भयंकर पराक्रमी महात्मा भीमकी प्रशंसा करके अर्जुनने पुनः उनसे यह बात कही—॥ ३४ ॥

न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात् सुयोधनः ॥ ३५ ॥

'प्रभो ! मैं समझता हूँ, इस वनसे नगर अब दूर नहीं है । तुम्हारा कल्याण हो । अब हमलोग शीघ्र चलें, जिससे दुर्योधनको हमारा पता न लग सके' ॥ ३५ ॥

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा सह मात्रा महारथाः।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥ ३६ ॥

तब सभी पुरुषसिंह महारथी पाण्डव '(ठीक है,) ऐसा ही करें' यों कहकर माताके साथ वहाँसे चल दिये । हिडिम्बा राक्षसी भी उनके साथ हो ली ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बवधे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्बासुरके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको हिडिम्बाके वधसे रोकना, हिडिम्बाकी भीमसेनके लिये प्रार्थना, भीमसेन और हिडिम्बाका मिलन तथा घटोत्कचकी उत्पत्ति

(वैशम्पायन उवाच

सा तानेवापतत् तूर्णं भगिनी तस्य रक्षसः।
अब्रुवाणा हिडिम्बा तु राक्षसी पाण्डवान् प्रति ॥

अभिवाद्य ततः कुन्तीं धर्मराजं च पाण्डवम्।
अभिपूज्य च तान् सर्वान् भीमसेनमभाषत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिडिम्बासुरकी बहिन राक्षसी हिडिम्बा बिना कुछ कहे-सुने तुरंत पाण्डवोंके ही पास आयी और फिर माता कुन्ती तथा पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम करके उन सबके प्रति समादरका भाव प्रकट करती हुई भीमसेनसे बोली ॥

हिडिम्बोवाच

अहं ते दर्शनादेव मन्मथस्य वशं गता।
क्रूरं भ्रातृवचो हित्वा सा त्वामेवानुरुन्धती ॥
राक्षसे रौद्रसंकाशे तवापश्यं विचेष्टितम्।
अहं शुश्रूषुरिच्छेयं तव गात्रं निषेवितुम् ॥)

हिडिम्बाने कहा—(आर्यपुत्र !) आपके दर्शनमात्रसे मैं कामदेवके अधीन हो गयी और अपने भाईके क्रूरतापूर्ण बचनोंकी अवहेलना करके आपका ही अनुसरण करने लगी। उस भयंकर आकृतिवाले राक्षसपर आपने जो पराक्रम प्रकट किया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है; अतः मैं सेविका आपके शरीरकी सेवा करना चाहती हूँ ॥

भीमसेन उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम्।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—हिडिम्बे ! राक्षस मोहिनी मायाका आश्रय लेकर बहुत दिनोंतक वैरका स्मरण रखते हैं, अतः तू भी अपने भाईके ही मार्गपर चली जा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः।
शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥ २ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा—पुरुषसिंह भीम ! यद्यपि तुम क्रोधसे भरे हुए हो, तो भी स्त्रीका वध न करो। पाण्डुनन्दन ! शरीरकी रक्षाकी अपेक्षा भी अधिक तत्परतासे धर्मकी रक्षा करो ॥ २ ॥

वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम्।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति ॥ ३ ॥

महाबली हिडिम्ब हमलोगोंको मारनेके अभिप्रायसे आ रहा था। अतः तुमने जो उसका वध किया, वह उचित ही है। उस राक्षसकी बहिन हिडिम्बा यदि क्रोध भी करे तो हमारा क्या कर लेगी ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर हिडिम्बाने हाथ जोड़कर कुन्तीदेवी तथा उनके पुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ ४ ॥

आर्ये जानासि यद् दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम्।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥ ५ ॥

'आर्ये ! स्त्रियोंको इस जगत्‌में जो कामजनित पीड़ा होती है, उसे आप जानती ही हैं। शुभे ! आपके पुत्र भीमसेनकी ओरसे मुझे वही कामदेवजनित कष्ट प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

सोढं तत् परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः ॥ ६ ॥

'मैंने समयकी प्रतीक्षामें उस महान् दुःखको सहन किया है। अब वह समय आ गया है। आशा है, मुझे अभीष्ट सुखकी प्राप्ति होगी ॥ ६ ॥

मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥ ७ ॥

'शुभे ! मैंने अपने हितैषी सुहृदों, स्वजनों तथा स्वधर्मका परित्याग करके आपके पुत्र पुरुषसिंह भीमसेनको अपना पति चुना है ॥ ७ ॥

वीरेणाहं तथानेन त्वया चापि यशस्विनि।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ८ ॥

'यशस्विनि ! यदि ये वीरवर भीमसेन या आप मेरी इस प्रार्थनाको ठुकरा देंगी तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ॥ ८ ॥

तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि।
मत्वा मूढेति तन्मा त्वं भक्ता वानुगतेति वा ॥ ९ ॥

'अतः वरवर्णिनि ! आपको मुझे एक मूढ़ स्वभावकी स्त्री मानकर या अपनी भक्ता जानकर अथवा अनुचरी (सेविका) समझकर मुझपर कृपा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ह।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम्।
पुनश्चैवानयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥ १० ॥

'महाभागे ! मुझे अपने इस पुत्रसे, जो मेरे मनोनीत पति हैं, मिलनेका अवसर दीजिये। मैं इन देवस्वरूप स्वामीको लेकर अपने अभीष्ट स्थानपर जाऊँगी और पुनः निश्चित समयपर इन्हें आपके समीप ले आऊँगी। शुभे ! आप मेरा विश्वास कीजिये ॥

अहं हि मनसा ध्याता सर्वान् नेष्यामि वः सदा।
(न यातुधान्यहं त्वार्ये न चास्मि रजनीचरी।
कन्या रक्षस्सु साध्व्यस्मि राज्ञि सालकटङ्कटी ॥
पुत्रेण तव संयुक्ता युवतिर्देववर्णिनी।
सर्वान् वोऽहमुपस्थास्ये पुरस्कृत्य वृकोदरम् ॥
अप्रमत्ता प्रमत्तेषु शुश्रूषुरसकृत् त्वहम्।)
वृजिनात् तारयिष्यामि दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ११ ॥
पृष्ठेन वो वहिष्यामि शीघ्रं गतिमभीप्सतः।
यूयं प्रसादं कुरुत भीमसेनो भजेत माम् ॥ १२ ॥

'आप अपने मनसे जब-जब मेरा स्मरण करेंगे, तब-तब सदा ही (सेवामें उपस्थित हो) मैं आपलोगोंको अभीष्ट स्थानोंमें पहुँचा दिया करूँगी। आर्ये ! मैं न तो यातुधानी हूँ और न निशाचरी ही हूँ। महारानी ! मैं राक्षस जातिकी सुशीला कन्या हूँ और मेरा नाम सालकटङ्कटी है। मैं देवोपम कान्तिसे युक्त और युवावस्थासे सम्पन्न हूँ। मेरे हृदयका संयोग आपके पुत्र भीमसेनके साथ हुआ है। मैं वृकोदरको सामने रखकर आप सब लोगोंकी सेवामें उपस्थित रहूँगी। आपलोग असावधान हों, तो भी मैं पूरी सावधानी रखकर निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहूँगी। आपको संकटोंसे बचाऊँगी। दुर्गम एवं विषम स्थानोंमें यदि आप शीघ्रतापूर्वक अभीष्ट लक्ष्यतक जाना चाहते हों तो मैं आप सब लोगोंको अपनी पीठपर बिठाकर वहाँ पहुँचाऊँगी। आपलोग मुझपर कृपा करें, जिससे भीमसेन मुझे स्वीकार कर लें ॥ ११-१२ ॥

आपदस्तरणे प्राणान् धारयेद् येन तेन वा।
सर्वमावृत्य कर्तव्यं तं धर्ममनुवर्तता ॥ १३ ॥

'जिस उपायसे भी आपत्तिसे छुटकारा मिले और प्राणोंकी रक्षा हो सके, धर्मका अनुसरण करनेवाले पुरुषको वह सब स्वीकार करके उस उपायको काममें लाना चाहिये ॥ १३ ॥

आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः।
व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते ॥ १४ ॥

'जो आपत्तिकालमें धर्मको धारण करता है, वही धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ है। धर्मपालनमें सङ्कट उपस्थित होना ही धर्मात्मा पुरुषोंके लिये आपत्ति कही जाती है ॥ १४ ॥

पुण्यं प्राणान् धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते।
येन येनाचरेद् धर्मं तस्मिन् गर्हा न विद्यते ॥ १५ ॥

'पुण्य ही प्राणोंको धारण करता है, इसलिये पुण्य प्राणदाता कहलाता है; अतः जिस-जिस उपायसे धर्मका आचरण हो सके, उसके करनेमें कोई निन्दाकी बात नहीं है ॥ १५ ॥

(महतोऽत्र स्त्रियं कामाद् बाधितां त्राहि मामपि।
धर्मार्थकाममोक्षेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥
तं तु धर्ममिति प्राहुर्मुनयो धर्मवत्सलाः।
दिव्यज्ञानेन पश्यामि अतीतानागतानहम् ॥
तस्माद् वक्ष्यामि वः श्रेय आसन्नं सर उत्तमम्।
अद्यासाद्य सरः स्नात्वा विश्रम्य च वनस्पतौ ॥
व्यासं कमलपत्राक्षं दृष्ट्वा शोकं विहास्यथ।
धार्तराष्ट्राद् विवासश्च दहनं वारणावते।
त्राणं च विदुरात् तुभ्यं विदितं ज्ञानचक्षुषा ॥
आवासे शालिहोत्रस्य स च वासं विधास्यति।
वर्षवातातपसहः अयं पुण्यो वनस्पतिः ॥
पीतमात्रे तु पानीये क्षुत्पिपासे विनश्यतः।
तपसा शालिहोत्रेण सरो वृक्षश्च निर्मितः ॥
कादम्बाः सारसा हंसाः कुरर्यः कुररैः सह।
रुवन्ति मधुरं गीतं गान्धर्वस्वनमिश्रितम् ॥

'मैं महती कामवेदनासे पीड़ित एक नारी हूँ, अतः आप मेरी भी रक्षा कीजिये। साधु पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके सभी पुरुषार्थोंके लिये शरणागतोंपर दया करते हैं। धर्मानुरागी महर्षि दयाको ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं। मैं दिव्य ज्ञानसे भूत और भविष्यकी घटनाओंको देखती हूँ। अतः आपलोगोंके कल्याणकी बात बता रही हूँ। यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक उत्तम सरोवर है। आपलोग आज वहाँ जाकर उस सरोवरमें स्नान करके वृक्षके नीचे विश्राम करें। कुछ दिन बाद कमलनयन व्यासजीका दर्शन पाकर आपलोग शोकमुक्त हो जायँगे। दुर्योधनके द्वारा आपलोगोंका हस्तिनापुरसे निकाला जाना, वारणावत नगरमें जलाया जाना और विदुरजीके प्रयत्नसे आप सब लोगोंकी रक्षा होनी, आदि बातें उन्हें ज्ञान-दृष्टिसे ज्ञात हो गयी हैं। वे महात्मा व्यास शालिहोत्र मुनिके आश्रममें निवास करेंगे। उनके आश्रमका वह पवित्र वृक्ष सर्दी, गर्मी और वर्षाको अच्छी तरह सहनेवाला है। वहाँ केवल जल पी लेनेसे भूख-प्यास दूर हो जाती है। शालिहोत्र मुनिने अपनी तपस्याद्वारा पूर्वोक्त सरोवर और वृक्षका निर्माण किया है। वहाँ कादम्ब, सारस, हंस, कुररी और कुरर आदि पक्षी संगीतकी ध्वनिसे मिश्रित मधुर गीत गाते रहते हैं' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती वचनमब्रवीत्।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिडिम्बाका यह वचन सुनकर कुन्तीदेवीने सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥

कुन्त्युवाच

त्वं हि धर्मभृतां श्रेष्ठ मयोक्तं शृणु भारत।
राक्षस्येषा हि वाक्येन धर्मं वदति साधु वै ॥
भावेन दुष्टा भीमं सा किं करिष्यति राक्षसी।
भजतां पाण्डवं वीरमपत्यार्थं यदीच्छसि ॥)

कुन्ती बोली—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भारत ! मैं जो कहती हूँ, उसे तुम सुनो; यह राक्षसी अपनी वाणीद्वारा तो उत्तम धर्मका ही प्रतिपादन करती है। यदि इसकी हार्दिक भावना भीमसेनके प्रति दूषित हो, तो भी यह उनका क्या बिगाड़ लेगी ? अतः यदि तुम्हारी सम्मति हो तो यह संतानके लिये कुछ कालतक मेरे वीर पुत्र पाण्डुनन्दन भीमसेनकी सेवामें रहे ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले—हिडिम्बे ! तुम जैसा कह रही हो, वह सब ठीक है; इसमें संशय नहीं है। परंतु सुमध्यमे ! मैं जैसे कहूँ, उसी प्रकार तुम्हें सत्यपर स्थिर रहना चाहिये ॥ १६॥

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम्।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद् रवेः ॥ १७ ॥

भद्रे ! जब भीमसेन स्नान, नित्यकर्म तथा माङ्गलिक वेशभूषा आदि धारण कर लें, तब तुम प्रतिदिन उनके साथ रहकर सूर्यास्त होनेसे पहलेतक ही उनकी सेवा कर सकती हो ॥ १७ ॥

अहस्सु विहरानेन यथाकामं मनोजवा।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥ १८ ॥

तुम मनके समान वेगसे चलने-फिरनेवाली हो, अतः दिन-भर तो तुम इनके साथ अपनी इच्छाके अनुसार विहार करो, परंतु रातको सदा ही तुम्हें भीमसेनको (हमारे पास) पहुँचा देना होगा ॥ १८ ॥

(प्राक् संध्यातो विमोक्तव्यो रक्षितव्यश्च नित्यशः।
एवं रमस्व भीमेन यावद् गर्भस्य वेदनम् ॥
एष ते समयो भद्रे शुश्रूष्यश्चाप्रमत्तया।
नित्यानुकूलया भूत्वा कर्तव्यं शोभनं त्वया ॥

संध्याकाल आनेसे पहले ही इन्हें छोड़ देना होगा और नित्य-निरन्तर इनकी रक्षा करनी होगी। इस शर्तपर तुम



भीमसेनके साथ सुखपूर्वक तबतक रहो, जबतक कि तुम्हें यह पता न चल जाय कि तुम्हारे गर्भमें बालक आ गया है। भद्रे ! यही तुम्हारे लिये पालन करने योग्य नियम है। तुम्हें सावधान होकर भीमसेनकी सेवा करनी चाहिये और नित्य उनके अनुकूल होकर सदा उनकी भलाईमें संलग्न रहना चाहिये ॥

युधिष्ठिरेणैवमुक्ता कुन्त्या चाङ्केऽधिरोपिता।
भीमार्जुनान्तरगता यमाभ्यां च पुरस्कृता ॥
तिर्यग् युधिष्ठिरे याति हिडिम्बा भीमगामिनी।
शालिहोत्रसरो रम्यमासेदुस्ते जलार्थिनः ॥
तत् तथेति प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा।
वनस्पतितलं गत्वा परिमृज्य गृहं यथा ॥
पाण्डवानां च वासं सा कृत्वा पर्णमयं तथा।
आत्मनश्च तथा कुन्त्या एकोद्देशे चकार सा ॥
पाण्डवास्तु ततः स्नात्वा शुद्धाः संध्यामुपास्य च।
तृषिताः क्षुत्पिपासार्ता जलमात्रेण वर्तयन् ॥
शालिहोत्रस्ततो ज्ञात्वा क्षुधार्तान् पाण्डवांस्तदा।
मनसा चिन्तयामास पानीयं भोजनं महत्।
ततस्ते पाण्डवाः सर्वे विश्रान्ताः पृथया सह ॥
यथा जतुगृहे वृत्तं राक्षसेन कृतं च यत्।
कृत्वा कथा बहुविधाः कथान्ते पाण्डुनन्दनम् ॥
कुन्तिराजसुता वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥

युधिष्ठिरके यों कहनेपर कुन्तीने हिडिम्बाको अपने हृदयसे लगा लिया। तदनन्तर वह युधिष्ठिरसे कुछ दूरीपर रहकर भीमके साथ चल पड़ी। वह चलते समय भीम और अर्जुनके बीचमें रहती थी। नकुल और सहदेव सदा उसे आगे करके चलते थे। (इस प्रकार) वे (सब) लोग जल पीनेकी इच्छासे शालिहोत्र मुनिके रमणीय सरोवरके तटपर जा पहुँचे। वहाँ कुन्ती तथा युधिष्ठिरने पहले जो शर्त रक्खी थी, उसे स्वीकार करके हिडिम्बा राक्षसीने वैसा ही कार्य करनेकी प्रतिज्ञा की। तत्पश्चात् उसने वृक्षके नीचे जाकर घरकी तरह झाड़ू लगायी और पाण्डवोंके लिये निवासस्थानका निर्माण किया। उन सबके लिये पर्णशाला तैयार करनेके बाद उसने अपने और कुन्तीके लिये एक दूसरी जगह कुटी बनायी। तदनन्तर पाण्डवोंने स्नान करके शुद्ध हो संध्योपासना किया और भूख-प्याससे पीड़ित होनेपर भी केवल जलका आहार किया। उस समय शालिहोत्र मुनिने उन्हें भूखसे व्याकुल जान मन-ही-मन उनके लिये प्रचुर अन्न-पानकी सामग्रीका चिन्तन किया (और उससे पाण्डवोंको भोजन कराया)। तदनन्तर कुन्तीदेवीसहित सब पाण्डव विश्राम करने लगे। विश्रामके समय उनमें नाना प्रकारकी बातें होने लगीं—किस प्रकार लाक्षागृहमें उन्हें जलानेका प्रयत्न किया गया तथा फिर राक्षस हिडिम्बने उन लोगोंपर किस प्रकार आक्रमण किया इत्यादि प्रसङ्ग उनकी चर्चाके विषय थे। बातचीत समाप्त

होनेपर कुन्तिराजकुमारी कुन्तीने पाण्डुनन्दन भीमसेनसे इस प्रकार कहा ॥

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डुस्तथा मान्यस्तव ज्येष्ठो युधिष्ठिरः।
अहं धर्मविधानेन मान्या गुरुतरा तव ॥
तस्मात् पाण्डुहितार्थं मे युवराज हितं कुरु।
निकृता धार्तराष्ट्रेण पापेनाकृतबुद्धिना।
दुष्कृतस्य प्रतीकारं न पश्यामि वृकोदर ॥
तस्मात् कतिपयाहेन योगक्षेमं भविष्यति ॥
क्षेमं दुर्गमिमं वासं वसिष्यामो यथासुखम्।
इदमद्य महद् दुःखं धर्मकृच्छ्रं वृकोदर ॥
दृष्ट्वैव त्वां महाप्राज्ञ अनङ्गाभिप्रचोदिता।
युधिष्ठिरं च मां चैव वरयामास धर्मतः ॥
धर्मार्थं देहि पुत्रं त्वं स नः श्रेयः करिष्यति।
प्रतिवाक्यं तु नेच्छामि हत्याभ्यां वचनं कुरु ॥)

कुन्ती बोली—युवराज! तुम्हारे लिये जैसे महाराज पाण्डु माननीय थे, वैसे ही बड़े भाई युधिष्ठिर भी हैं। धर्म-शास्त्रकी दृष्टिसे मैं उनकी अपेक्षा भी अधिक गौरवकी पात्र तथा सम्माननीय हूँ। अतः तुम महाराज पाण्डुके हितके लिये मेरी एक हितकर आज्ञाका पालन करो। वृकोदर! अपवित्र बुद्धिवाले पापात्मा दुर्योधनने हमारे साथ जो दुष्टता की है, उसके प्रतिशोधका उपाय मुझे कोई नहीं दिखायी देता। अतः कुछ दिनोंके बाद भले ही हमारा योगक्षेम सिद्ध हो। यह निवासस्थान अत्यन्त दुर्गम होनेके कारण हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा। हम यहाँ सुखपूर्वक रहेंगे। महाप्राज्ञ भीमसेन! आज यह हमारे सामने अत्यन्त दुःखद धर्मसंकट उपस्थित हुआ है कि हिडिम्बा तुम्हें देखते ही कामसे प्रेरित हो मेरे और युधिष्ठिरके पास आकर धर्मतः तुम्हें पतिके रूपमें वरण कर चुकी है। मेरी आज्ञा है कि तुम उसे धर्मके लिये एक पुत्र प्रदान करो। वह हमारे लिये कल्याण-कारी होगा। मैं इस विषयमें तुम्हारा कोई प्रतिवाद नहीं सुनना चाहती। तुम हम दोनोंके सामने प्रतिज्ञा करो ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
शृणु राक्षसि सत्येन समयं ते वदाम्यहम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! 'बहुत अच्छा' कहकर भीमसेनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की (और हिडिम्बाके साथ गान्धर्व-विवाह कर लिया)। तत्पश्चात् भीमसेन हिडिम्बासे इस प्रकार बोले—'राक्षसी! सुनो, मैं सत्यकी शपथ खाकर तुम्हारे सामने एक शर्त रखता हूँ ॥ १९ ॥

यावत् कालेन भवति पुत्रस्योत्पादनं शुभे।
तावत् कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ २० ॥

'शुभे! सुमध्यमे! जबतक तुम्हें पुत्रकी उत्पत्ति न हो जाय तभीतक मैं तुम्हारे साथ विहारके लिये चलूँगा' ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके हिडिम्बा राक्षसी भीमसेनको साथ ले वहाँसे ऊपर आकाशमें उड़ गयी ॥ २१ ॥

शैलशृङ्गेषु रम्येषु देवतायतनेषु च।
मृगपक्षिविघुष्टेषु रमणीयेषु सर्वदा ॥ २२ ॥
कृत्वा च परमं रूपं सर्वाभरणभूषिता।
संजल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम् ॥ २३ ॥
तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु।
सरस्सु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च ॥ २४ ॥
नदीद्वीपप्रदेशेषु वैदूर्यसिकतासु च।
सुतीर्थवनतोयासु तथा गिरिनदीषु च ॥ २५ ॥
काननेषु विचित्रेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु।
हिमवद्गिरिकुञ्जेषु गुहासु विविधासु च ॥ २६ ॥
प्रफुल्लशतपत्रेषु सरस्स्वमलवारिषु।
सागरस्य प्रदेशेषु मणिहेमचितेषु च ॥ २७ ॥
पल्वलेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च।
देवारण्येषु पुण्येषु तथा पर्वतसानुषु ॥ २८ ॥
गुह्यकानां निवासेषु तापसायतनेषु च।
सर्वर्तुफलरम्येषु मानसेषु सरस्सु च ॥ २९ ॥
बिभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम्।
रमयन्ती तथा भीमं तत्र तत्र मनोजवा ॥ ३० ॥

उसने रमणीय पर्वतशिखरोंपर, देवताओंके निवासस्थानों-में तथा जहाँ बहुतसे पशु-पक्षी मधुर शब्द करते रहते हैं, ऐसे सुरम्य प्रदेशोंमें सदा परम सुन्दर रूप धारण करके, सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो मीठी-मीठी बातें करके पाण्डुनन्दन भीमसेनको सुख पहुँचाया। इसी प्रकार पुष्पित वृक्षों और लताओंसे सुशोभित दुर्गम वनोंमें, कमल और उत्पल आदिसे अलंकृत रमणीय सरोवरोंमें, नदियोंके द्वीपोंमें तथा जहाँकी वालुका वैदूर्यमणिके समान है, जिनके घाट, तटवर्ती वन तथा जल सभी सुन्दर एवं पवित्र हैं, उन पर्वतीय नदियोंमें, विकसित वृक्षों और लता-वल्लरियोंसे विभूषित विचित्र काननोंमें, हिमवान् पर्वतके कुञ्जों और भाँति-भाँतिकी गुफाओंमें, खिले हुए कमलसमूहसे युक्त निर्मल जलवाले सरोवरोंमें, मणियों और सुवर्णसे सम्पन्न समुद्र-तटवर्ती प्रदेशोंमें, छोटे-छोटे सुन्दर तालाबोंमें, बड़े-बड़े शालवृक्षोंके जंगलोंमें, पवित्र देववनोंमें, पर्वतीय शिखरोंपर, गुह्यकोंके निवासस्थानोंमें, सभी ऋतुओंके फलोंसे सम्पन्न तपस्वी मुनियोंके सुरम्य आश्रमोंमें तथा मानसरोवर एवं अन्य जलाशयोंमें घूम-फिरकर हिडिम्बाने

परम सुन्दर रूप धारण करके पाण्डुनन्दन भीमसेनके साथ रमण किया । वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी, अतः उन-उन स्थानोंमें भीमसेनको आनन्द प्रदान करती हुई विचरती रहती थी ॥ २२-३० ॥

प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम् ॥ ३१ ॥

कुछ कालके पश्चात् उस राक्षसीने भीमसेनसे एक महान् बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी आँखें विकराल, मुख विशाल और कान शङ्कुके समान थे । वह देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

भीमनादं सुताम्रोष्ठं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाबलम् ।
महेष्वासं महावीर्यं महासत्त्वं महाभुजम् ॥ ३२ ॥
महाजवं महाकायं महामायमरिंदमम् ।
दीर्घघोणं महोरस्कं विकटोद्बद्धपिण्डिकम् ॥ ३३ ॥

उसकी आवाज बड़ी भयानक थी । सुन्दर लाल-लाल ओठ, तीखी दाढ़ें, महान् बल, बहुत बड़ा धनुष, महान् पराक्रम, अत्यन्त धैर्य और साहस, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, महान् वेग और विशाल शरीर--ये उसकी विशेषताएँ थीं । वह महामायावी राक्षस अपने शत्रुओंका दमन करनेवाला था । उसकी नाक बहुत बड़ी, छाती चौड़ी तथा पैरोंकी दोनों पिंडलियाँ टेढ़ी और ऊँची थीं ॥ ३२-३३ ॥

अमानुषं मानुषजं भीमवेगं महाबलम् ।
यः पिशाचानतीत्यान्यान् बभूवातीव राक्षसान् ॥ ३४ ॥

यद्यपि उसका जन्म मनुष्यसे हुआ था तथापि उसकी आकृति और शक्ति अमानुषिक थी । उसका वेग भयंकर और बल महान् था । वह दूसरे पिशाचों तथा राक्षसोंसे बहुत अधिक शक्तिशाली था ॥ ३४ ॥

बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशाम्पते ।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद् बली ॥ ३५ ॥

राजन् ! अवस्थामें बालक होनेपर भी वह मनुष्योंमें युवक-सा प्रतीत होता था । उस बलवान् वीरने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंमें बड़ी निपुणता प्राप्त की थी ॥ ३५ ॥

सद्यो हि गर्भान् राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च ।
कामरूपधराश्चैव भवन्ति बहुरूपिकाः ॥ ३६ ॥

राक्षसियाँ जब गर्भ धारण करती हैं, तब तत्काल ही उसको जन्म दे देती हैं । वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली और नाना प्रकारके रूप बदलनेवाली होती हैं ॥ ३६ ॥

प्रणम्य विकचः पादावगृह्णात् स पितुस्तदा ।
मातुश्च परमेष्वासस्तौ च नामास्य चक्रतुः ॥ ३७ ॥

उस महान् धनुर्धर बालकने पैदा होते ही पिता और माताके चरणोंमें प्रणाम किया । उसके सिरमें बाल नहीं उगे थे । उस समय पिता और माताने उसका इस प्रकार नामकरण किया ॥ ३७ ॥

घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ॥ ३८ ॥

बालककी माताने भीमसेनसे कहा—'इसका घट (सिर) उत्कच[1] अर्थात् केशरहित है ।' उसके इस कथनसे ही उसका नाम घटोत्कच हो गया ॥ ३८ ॥

अनुरक्तश्च तानासीत् पाण्डवान् स घटोत्कचः ।
तेषां च दयितो नित्यमात्मनित्यो बभूव ह ॥ ३९ ॥

घटोत्कचका पाण्डवोंके प्रति बड़ा अनुराग था और पाण्डवोंको भी वह बहुत प्रिय था । वह सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहता था ॥ ३९ ॥

संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥ ४० ॥

तदनन्तर हिडिम्बा पाण्डवोंसे यह कहकर कि भीमसेनके साथ रहनेका मेरा समय समाप्त हो गया, आवश्यकताके समय पुनः मिलनेकी प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थानको चली गयी ॥ ४० ॥

घटोत्कचो महाकायः पाण्डवान् पृथया सह ।
अभिवाद्य यथान्यायमब्रवीच्च प्रभाष्य तान् ॥ ४१ ॥
किं करोम्यहमार्याणां निःशङ्कं वदतानघाः ।
तं ब्रुवन्तं भैमसेनिं कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् विशालकाय घटोत्कचने कुन्तीसहित पाण्डवोंको यथायोग्य प्रणाम करके उन्हें सम्बोधित करके कहा—'निष्पाप गुरुजन ! आप निःशङ्क होकर बतायें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' इस प्रकार पूछनेवाले भीमसेन-कुमारसे कुन्तीने कहा—॥ ४१-४२ ॥

त्वं कुरूणां कुले जातः साक्षाद् भीमसमो ह्यसि ।
ज्येष्ठः पुत्रोऽसि पञ्चानां साहाय्यं कुरु पुत्रक ॥ ४३ ॥

'बेटा ! तुम्हारा जन्म कुरुकुलमें हुआ है । तुम मेरे लिये साक्षात् भीमसेनके समान हो । पाँचों पाण्डवोंके ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः हमारी सहायता करो' ॥ ४३ ॥

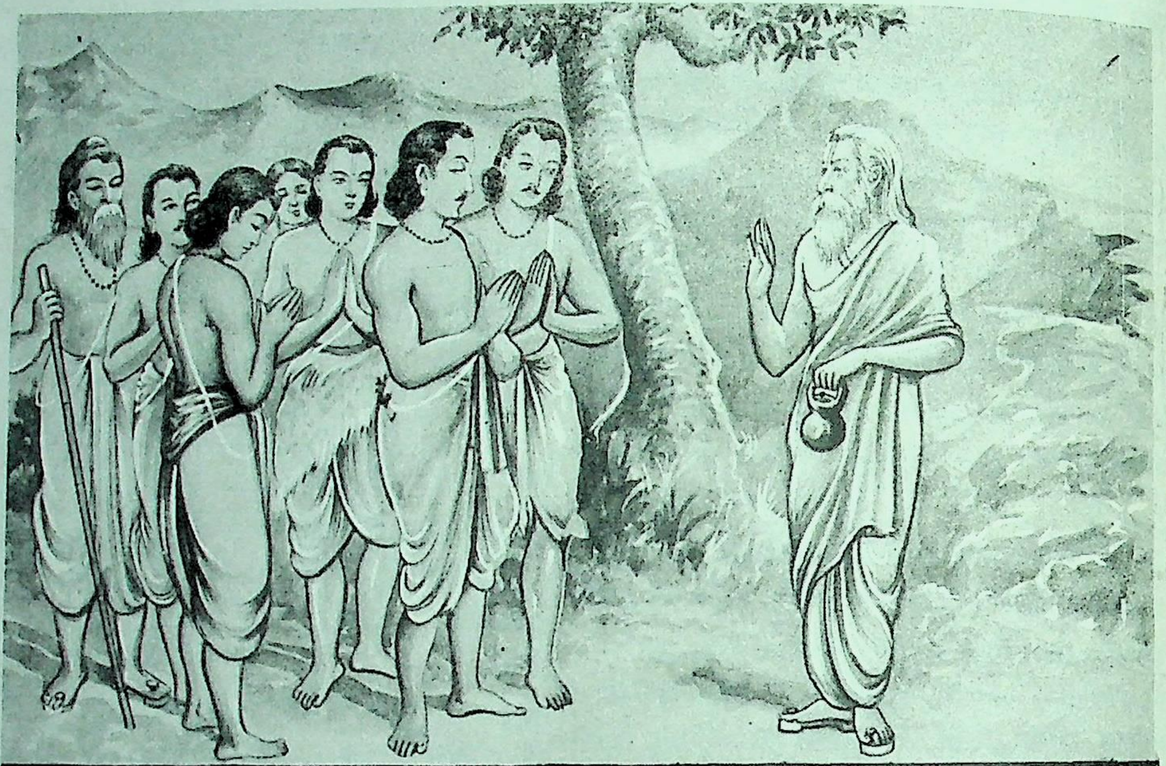
वैशम्पायन उवाच

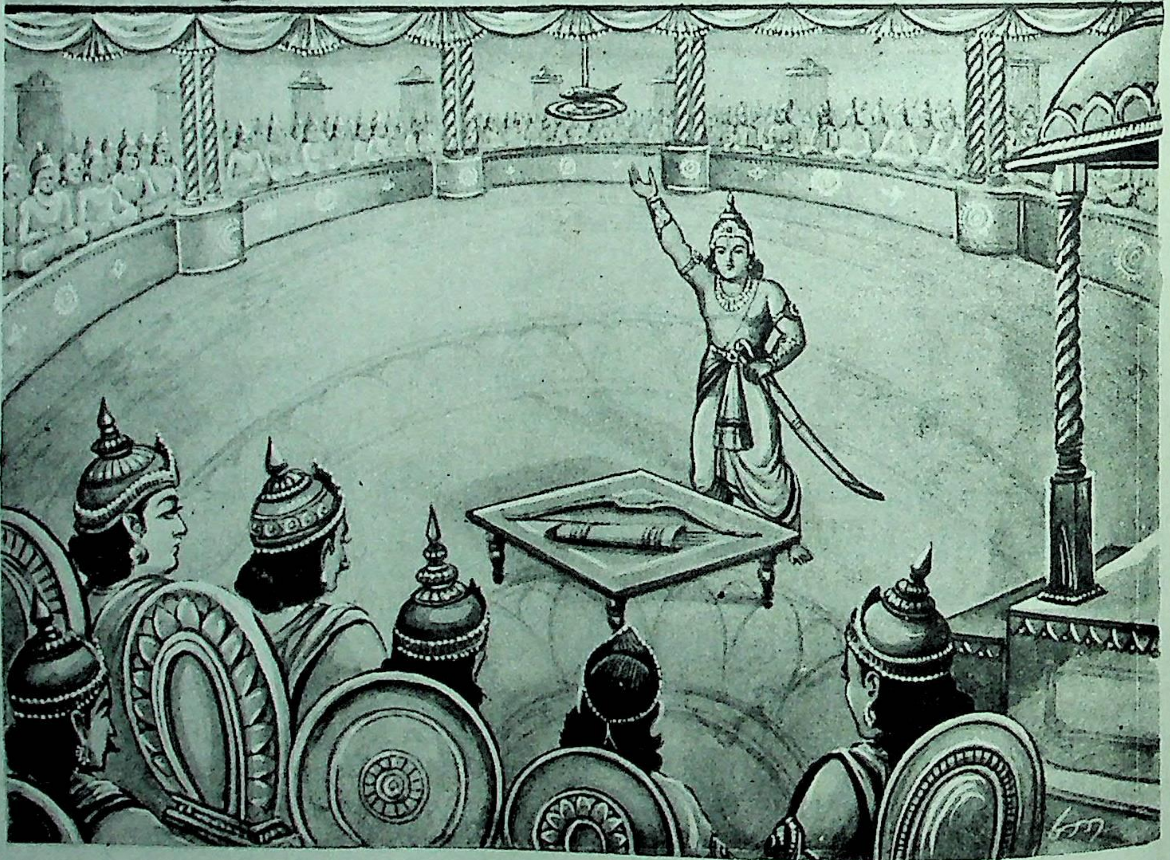
पृथयाप्येवमुक्तस्तु प्रणम्यैव वचोऽब्रवीत् ।
यथा हि रावणो लोके इन्द्रजिच्च महाबलः ।
वर्ष्मवीर्यसमो लोके विशिष्टश्चाभवं नृषु ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीके यों कहनेपर घटोत्कचने प्रणाम करके ही उनसे कहा—

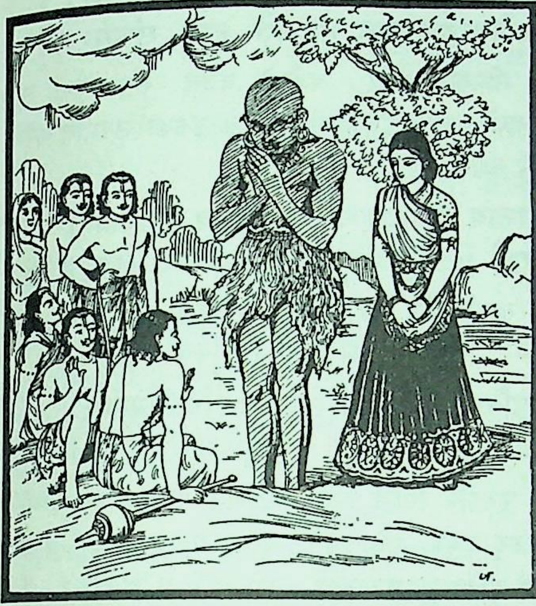
[1] कोई-कोई उत्कचका अर्थ 'ऊपर उठे हुए बालोंवाला' भी करते हैं।

पाण्डवोंकी व्यासजीसे भेंट





धृष्टद्युम्नकी घोषणा



'दादीजी ! लोकमें जैसे रावण और मेघनाद बहुत बड़े बलवान् थे; उसी प्रकार इस मानव-जगत्में मैं भी उन्हींके समान विशालकाय और महापराक्रमी हूँ; बल्कि उनसे भी बढ़कर हूँ ॥ ४४ ॥

कृत्यकाल उपस्थास्ये पितॄनिति घटोत्कचः ।
आमन्त्र्य रक्षसां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ॥ ४५ ॥

'जब मेरी आवश्यकता होगी, उस समय मैं स्वयं अपने पितृवर्गकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा ।' यों कहकर राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच पाण्डवोंसे आज्ञा लेकर उत्तर दिशाकी ओर चला गया ॥ ४५ ॥

स हि सृष्टो मघवता शक्तिहेतोर्महात्मना ।
कर्णस्याप्रतिवीर्यस्य प्रतियोद्धा महारथः ॥ ४६ ॥

महामना इन्द्रने अनुपम पराक्रमी कर्णकी शक्तिका आघात सहन करनेके लिये घटोत्कचकी सृष्टि की थी । वह कर्णके सम्मुख युद्ध करनेमें समर्थ महारथी वीर था ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि घटोत्कचोत्पत्तौ चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें घटोत्कचकी उत्पत्तिविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ १५४

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको व्यासजीका दर्शन और उनका एकचक्रा नगरीमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान् बहून् ।
अपक्रम्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे महारथी पाण्डव उस स्थानसे हटकर एक वनसे दूसरे वनमें जाकर बहुत-से हिंसक पशुओंको मारते हुए बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़े ॥ १ ॥

मत्स्यांस्त्रिगर्तान् पञ्चालान् कीचकानन्तरेण च ।
रमणीयान् वनोद्देशान् प्रेक्षमाणाः सरांसि च ॥ २ ॥

मत्स्य, त्रिगर्त, पञ्चाल तथा कीचक—इन जनपदोंके भीतर होकर रमणीय वनस्थलियों और सरोवरोंको देखते हुए वे लोग यात्रा करने लगे ॥ २ ॥

जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः ।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ॥ ३ ॥
क्वचिद् वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥ ४ ॥

उन सबने अपने सिरपर जटाएँ रख ली थीं । वल्कल और मृगचर्मसे अपने शरीरको ढँक लिया था और तपस्वीका-सा वेष धारण कर रक्खा था । इस प्रकार वे महारथी महात्मा पाण्डव माता कुन्तीदेवीके साथ कहीं तो उन्हें पीठपर ढोते हुए तीव्र गतिसे चलते थे, कहीं इच्छानुसार धीरे-धीरे पाँव बढ़ाते थे और कहीं पुनः अपनी चाल तेज कर देते थे ॥ ३-४ ॥

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥ ५ ॥

पाण्डवलोग सब शास्त्रोंके ज्ञाता थे और प्रतिदिन उपनिषद्, वेद-वेदाङ्ग तथा नीतिशास्त्रका स्वाध्याय किया करते थे । एक दिन जब वे स्वाध्यायमें लगे थे, उन्हें पितामह व्यासजीका दर्शन हुआ ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परंतपाः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवोंने उस समय महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायनको प्रणाम किया और अपनी माताके साथ वे सब लोग उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ६ ॥

व्यास उवाच

मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
यथा तु तैरधर्मेण धार्तराष्ट्रैर्विवासिताः ॥ ७ ॥
तद् विदित्वास्मि सम्प्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम् ।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत् सुखाय वः ॥ ८ ॥

तब व्यासजीने कहा—भरतश्रेष्ठ पाण्डुकुमारो !

मैंने पहले ही तुमलोगोंपर आये हुए इस संकटको जान लिया था। धृतराष्ट्रके पुत्रोंने तुम्हें जिस प्रकार अधर्मपूर्वक राज्यसे बहिष्कृत किया है, वह सब जानकर तुम्हारा परम हित करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ। इसके लिये तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये; यह सब तुम्हारे भावी सुखके लिये हो रहा है ॥ ७-८ ॥

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः।
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम साम्प्रतम् ॥ ९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मेरे लिये तुमलोग और धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि सब समान ही हैं। फिर भी जहाँ दीनता और बचपन है, वहीं मनुष्य अधिक स्नेह करते हैं; इसी कारण इस समय तुमलोगोंपर मेरा अधिक स्नेह है ॥ ९ ॥

स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत।
इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम्।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः ॥ १० ॥

मैं स्नेहपूर्वक तुमलोगोंका हित करना चाहता हूँ। इसलिये मेरी बात सुनो। यहाँ पास ही जो यह रमणीय नगर है, इसमें रोग-व्याधिका भय नहीं है। अतः तुम सब लोग यहीं छिपकर रहो और मेरे पुनः आनेकी प्रतीक्षा करो ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत् प्रभुः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार पाण्डवोंको भलीभाँति आश्वासन देकर सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यास उन सबके साथ एकचक्रा नगरीके निकट गये। वहाँ उन्होंने कुन्तीको इस प्रकार सान्त्वना दी ॥ ११ ॥

व्यास उवाच

जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा महात्मा पुरुषर्षभः।
पृथिव्यां पार्थिवान् सर्वान् प्रशासिष्यति धर्मराट् ॥ १२ ॥

व्यासजी बोले—जीवित पुत्रोंवाली बहू! तुम्हारे ये पुत्र नरश्रेष्ठ महात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सदा धर्मपरायण हैं; अतः ये धर्मसे ही सारी पृथ्वीको जीतकर भूमण्डलके सम्पूर्ण राजाओंपर शासन करेंगे ॥ १२ ॥

पृथिवीमखिलां जित्वा सर्वां सागरमेखलाम्।
भीमसेनार्जुनबलाद् भोक्ष्यते नात्र संशयः ॥ १३ ॥

भीमसेन और अर्जुनके बलसे समुद्रपर्यन्त सारी वसुधाको अपने अधिकारमें करके ये उसका उपभोग करेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

पुत्रास्तव च माद्र्याश्च सर्व एव महारथाः।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसः सदा ॥ १४ ॥

तुम्हारे और माद्रीके सभी महारथी पुत्र सदा अपने राज्यमें प्रसन्नचित्त हो सुखपूर्वक विचरेंगे ॥ १४ ॥

यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्रा निर्जित्य पृथिवीमिमाम्।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १५ ॥

पुरुषोंमें सिंहके समान बलवान् पाण्डव इस पृथ्वीको जीतकर प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न राजसूय तथा अश्वमेध आदि यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करेंगे ॥ १५ ॥

अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखेन च।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः ॥ १६ ॥

तुम्हारे ये पुत्र अपने सुहृदोंके समुदायको उत्तम भोग एवं ऐश्वर्य-सुखके द्वारा अनुगृहीत करके बाप-दादोंके राज्यका पालन एवं उपभोग करेंगे ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा निवेश्यैनान् ब्राह्मणस्य निवेशने।
अब्रवीत् पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर महर्षि द्वैपायनने इन सबको एक ब्राह्मणके घरमें ठहरा दिया और पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे कहा— ॥ १७ ॥

इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ॥ १८ ॥

'तुमलोग यहाँ एक मासतक मेरी प्रतीक्षा करो। मैं पुनः आऊँगा। देश और कालका विचार करके ही कोई कार्य करना चाहिये; इससे तुम्हें बड़ा सुख मिलेगा' ॥ १८ ॥

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप।
जगाम भगवान् व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः ॥ १९ ॥

राजन्! उस समय सबने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा स्वीकार की। तदनन्तर शक्तिशाली महर्षि भगवान् व्यास जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि एकचक्राप्रवेशे व्यासदर्शने पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें पाण्डवोंका एकचक्रानगरीमें प्रवेश और व्यासजीका दर्शनविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५५ ॥

(बकवधपर्व)

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणपरिवारका कष्ट दूर करनेके लिये कुन्तीकी भीमसेनसे बातचीत तथा ब्राह्मणके चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः।
अत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! कुन्तीके महारथी पुत्र पाण्डव जब एकचक्रा नगरीमें पहुँच गये, उसके बाद उन्होंने क्या किया ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! एकचक्रा नगरीमें जाकर महारथी कुन्तीपुत्र थोड़े दिनोंतक एक ब्राह्मणके घरमें रहे। २।

रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च।
पार्थिवानपि चोद्देशान् सरितश्च सरांसि च॥ ३॥
चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः॥ ४॥

जनमेजय ! उस समय वे सभी पाण्डव भाँति-भाँतिके रमणीय वनों, सुन्दर भूभागों, सरिताओं और सरोवरोंका दर्शन करते हुए भिक्षाके द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। अपने उत्तम गुणोंके कारण वे सभी नागरिकोंके प्रीति-पात्र हो गये थे ॥ ३-४ ॥

(दर्शनीया द्विजाः शुद्धा देवगर्भोपमाः शुभाः।
भैक्षानर्हाश्च राज्यार्हाः सुकुमारास्तपस्विनः॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना भैक्षं नार्हन्ति नित्यशः।
कार्यार्थिनश्चरन्तीति तर्कयन्त इति ब्रुवन्।
बन्धूनामागमान्नित्यमुपचिन्त्य तु नागराः।
भाजनानि च पूर्णानि भक्ष्यभोज्यैरकारयन्॥
मौनव्रतेन संयुक्ता भैक्षं गृह्णन्ति पाण्डवाः।
माता चिरगतान् दृष्ट्वा शोचन्तीति च पाण्डवाः।
त्वरमाणा निवर्तन्ते मातृगौरवयन्त्रिताः॥)

उन्हें देखकर नगरनिवासी आपसमें तर्क-वितर्क करते हुए इस प्रकारकी बातें करते थे—'ये ब्राह्मणलोग तो देखने ही योग्य हैं। इनके आचार-विचार शुद्ध एवं सुन्दर हैं। इनकी आकृति देवकुमारोंके समान जान पड़ती है। ये भीख माँगने-योग्य नहीं, राज्य करनेके योग्य हैं। सुकुमार होते हुए भी तपस्यामें लगे हैं। इनमें सब प्रकारके शुभ लक्षण शोभा पाते हैं। ये कदापि भिक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। शायद किसी कार्यवश भिक्षुकोंके वेशमें विचर रहे हैं।' वे नागरिक पाण्डवोंके आगमनको अपने बन्धुजनोंका ही आगमन मानकर उनके लिये भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे भरे हुए पात्र तैयार रखते थे और मौनव्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उनसे वह भिक्षा ग्रहण करते थे। हमें आये हुए बहुत देर हो गयी, इसलिये माताजी चिन्तामें पड़ी होंगी—यह सोचकर माताके गौरव-पाशमें बँधे हुए पाण्डव बड़ी उतावलीके साथ उनके पास लौट आते थे ॥

निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि।
तया विभक्तान् भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक् पृथक्॥ ५॥

प्रतिदिन रात्रिके आरम्भमें भिक्षा लाकर वे माता कुन्तीको सौंप देते और वे बाँटकर जिसके लिये जितना हिस्सा देतीं, उतना ही पृथक्-पृथक् लेकर पाण्डवलोग भोजन करते थे ॥ ५ ॥

अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परंतपाः।
अर्धं सर्वस्य भैक्षस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः॥ ६॥

वे चारों वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आधी भिक्षाका उपभोग करते थे और सम्पूर्ण भिक्षाका आधा भाग अकेले महाबली भीमसेन खाते थे ॥ ६ ॥

तथा तु तेषां वसतां तस्मिन् राष्ट्रे महात्मनाम्।
अतिचक्राम सुमहान् कालोऽथ भरतर्षभ॥ ७॥

भरतवंशशिरोमणे ! इस प्रकार उस राष्ट्रमें निवास करते हुए महात्मा पाण्डवोंका बहुत समय बीत गया ॥ ७ ॥

ततः कदाचिद् भैक्षाय गतास्ते पुरुषर्षभाः।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह॥ ८॥

तदनन्तर एक दिन नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि चार भाई भिक्षाके लिये गये; किंतु भीमसेन किसी कार्यविशेषके सम्बन्धसे कुन्तीके साथ वहाँ घरपर ही रह गये थे ॥ ८ ॥

अथार्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत॥ ९॥

भारत ! उस दिन ब्राह्मणके घरमें सहसा बड़े जोरका भयानक आर्तनाद होने लगा, जिसे कुन्तीने सुना ॥ ९ ॥

रोरूयमाणांस्तान् दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा।
कारुण्यात् साधुभावाच्च कुन्ती राजन् न चक्षमे॥ १०॥

राजन्! उन ब्राह्मण-परिवारके लोगोंको बहुत रोते और विलाप करते देख कुन्तीदेवी अत्यन्त दयालुता तथा साधु-स्वभावके कारण सहन न कर सकीं ॥ १० ॥

मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥ ११ ॥
वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १२ ॥

उस समय उनका दुःख मानो कुन्तीदेवीके हृदयको मथे डालता था। अतः कल्याणमयी कुन्ती भीमसेनसे इस प्रकार करुणायुक्त वचन बोलीं—'बेटा! हमलोग इस ब्राह्मणके घरमें दुर्योधनसे अज्ञात रहकर बड़े सुखसे निवास करते हैं। यहाँ हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हम अपने दुःख और दैन्यको भूल गये हैं ॥ ११-१२ ॥

सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किं न्वहम्।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरुषिताः सुखम् ॥ १३ ॥

'इसलिये पुत्र! मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि इस ब्राह्मणका मैं कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिसे किसीके घरमें सुखपूर्वक रहनेवाले लोग किया करते हैं ॥ १३ ॥

एतावान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन् न नश्यति।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥

'तात! जिसके प्रति किया हुआ उपकार उसका बदला चुकाये बिना नष्ट नहीं होता, वही पुरुष है (और इतना ही उसका पौरुष—(मानवता है कि) दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्यका प्रत्युपकार कर दे ॥ १४ ॥

तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम्।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥ १५ ॥

'इस समय निश्चय ही इस ब्राह्मणपर कोई भारी दुःख आ पड़ा है। यदि उसमें मैं इसकी सहायता करूँ तो वास्तविक उपकार हो सकता है' ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

ज्ञायतामस्य यद् दुःखं यतश्चैव समुत्थितम्।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—माँ! पहले यह मालूम करो कि इस ब्राह्मणको क्या दुःख है और वह किस कारणसे प्राप्त हुआ है। जान लेनेपर अत्यन्त दुष्कर होगा, तो भी मैं इसका कष्ट दूर करनेके लिये उद्योग करूँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम्।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशाम्पते ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे माँ-बेटे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि पुनः पत्नीसहित ब्राह्मणका आर्तनाद उनके कानोंमें पड़ा ॥ १७ ॥

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥ १८ ॥

तब कुन्तीदेवी तुरंत ही उस महात्मा ब्राह्मणके अन्तःपुरमें घुस गयीं—ठीक उसी तरह जैसे घरके भीतर बँधे हुए बछड़ेवाली गाय स्वयं ही उसके पास पहुँच जाती है ॥ १८ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ॥ १९ ॥

भीतर जाकर कुन्तीने ब्राह्मणको वहाँ पत्नी, पुत्र और कन्याके साथ नीचे मुँह किये बैठे देखा ॥ १९ ॥

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम्।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥ २० ॥

ब्राह्मणदेवता कह रहे थे—जगत्के इस जीवनको धिक्कार है; क्योंकि यह सारहीन, निरर्थक, दुःखकी जड़, पराधीन और अत्यन्त अप्रियका भागी है ॥ २० ॥

जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥ २१ ॥

जीनेमें महान् दुःख है। जीवनकालमें बड़ी भारी चिन्ताका सामना करना पड़ता है। जिसने जीवन धारण कर रक्खा है, उसे दुःखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥ २१ ॥

आत्मा ह्येको हि धर्मार्थौ कामं चैव निषेवते।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमनन्तकम् ॥ २२ ॥

जीवात्मा अकेला ही धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है। इनका वियोग होना भी उसके लिये महान् और अनन्त दुःखका कारण होता है ॥ २२ ॥

आहुः केचित् परं मोक्षं स च नास्ति कथंचन।
अर्थप्राप्तौ तु नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ॥ २३ ॥

कुछ लोग चारों पुरुषार्थोंमें मोक्षको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं, किंतु वह भी मेरे लिये किसी प्रकार सुलभ नहीं है। अर्थकी प्राप्ति होनेपर तो नरकका सम्पूर्ण दुःख भोगना ही पड़ता है ॥ २३ ॥

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम्।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥ २४ ॥

धनकी इच्छा सबसे बड़ा दुःख है किंतु धन प्राप्त करनेमें तो और भी अधिक दुःख है और जिसकी धनमें आसक्ति हो गयी है*, उसे उस धनका वियोग होनेपर

* यावन्तो यस्य संयोगा द्रव्यैरिष्टैर्भवन्त्युत।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥

इतना महान् दुःख होता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है।२४।

न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम्॥२५॥

मुझे ऐसा कोई उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे इस विपत्तिसे छुटकारा पा सकूँ अथवा पुत्र और स्त्रीके साथ किसी निरापद स्थानमें भाग चलूँ॥२५॥

यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत् तथा।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम्॥२६॥

ब्राह्मणी! तुम इस बातको ठीक-ठीक जानती हो कि पहले तुम्हारे साथ किसी ऐसे स्थानमें चलनेके लिये जहाँ सब प्रकारसे अपना भला हो, मैंने प्रयत्न किया था; परंतु उस समय तुमने मेरी बात नहीं सुनी॥२६॥

इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयासकृत्॥२७॥

मूढमते! मैं बार-बार तुमसे अन्यत्र चलनेके लिये अनुरोध करता। उस समय तुम कहने लगती थीं—'यहीं मेरा जन्म हुआ, यहीं बड़ी हुई तथा मेरे पिता भी यहीं रहते थे'॥

स्वर्गतोऽपि पिता वृद्धस्तथा माता चिरं तव।
बान्धवा भूतपूर्वाश्च तत्र वासे तु का रतिः॥२८॥

अरी! तुम्हारे बूढ़े पिता-माता और पहलेके भाई-बन्धु जिसे छोड़कर बहुत दिन हुए स्वर्गलोकको चले गये, वहीं निवास करनेके लिये यह आसक्ति कैसी!॥२८॥

सोऽयं ते बन्धुकामाया अशृण्वत्या वचो मम।
बन्धुप्रणाशः सम्प्राप्तो भृशं दुःखकरो मम॥२९॥

तुमने बन्धु-बान्धवोंके साथ रहनेकी इच्छा रखकर जो मेरी बात नहीं सुनी, उसीका यह फल है कि आज समस्त भाई-बन्धुओंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है, जो मेरे लिये अत्यन्त दुःखका कारण है॥२९॥

अथवा मद्विनाशोऽयं न हि शक्ष्यामि कंचन।
परित्यक्तुमहं बन्धुं स्वयं जीवन् नृशंसवत्॥३०॥

अथवा यह मेरे ही विनाशका समय है; क्योंकि मैं स्वयं जीवित रहकर क्रूर मनुष्यकी भाँति दूसरे किसी भाई-बन्धुका त्याग नहीं कर सकूँगा॥३०॥

सहधर्मचरीं दान्तां नित्यं मातृसमां मम।
सखायं विहितां देवैर्नित्यं परमिकां गतिम्॥३१॥

प्रिये! तुम मेरी सहधर्मिणी और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली हो। सदा सावधान रहकर माताके समान मेरा पालन-पोषण करती हो। देवताओंने तुम्हें मेरी सखी (सहायिका) बनाया है। तुम सदा मेरी परम गति (सबसे बड़ा सहारा) हो॥३१॥

पित्रा मात्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्यभागिनीम्।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत् परिणीय च॥३२॥

तुम्हारे पिता-माताने तुम्हें सदाके लिये मेरे गृहस्थाश्रमकी अधिकारिणी बनाया है। मैंने विधिपूर्वक तुम्हारा वरण करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक तुम्हारे साथ विवाह किया है॥३२॥

कुलीनां शीलसम्पन्नामपत्यजननीमपि।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम्॥३३॥
परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम्।
कुत एव परित्यक्तुं सुतं शक्ष्याम्यहं स्वयम्॥३४॥
बालमप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम्।
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना॥३५॥
यया दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे॥३६॥

तुम कुलीन, सुशीला और संतानवती हो, सती-साध्वी हो। तुमने कभी मेरा अपकार नहीं किया है। तुम नित्य मेरे अनुकूल चलनेवाली धर्मपत्नी हो। अतः मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें नहीं त्याग सकूँगा। फिर स्वयं ही अपने उस पुत्रका त्याग तो कैसे कर सकूँगा, जो अभी निरा बच्चा है, जिसने युवावस्थामें प्रवेश नहीं किया है तथा जिसके शरीरमें अभी जवानीके लक्षणतक नहीं प्रकट हुए हैं। साथ ही अपनी इस कन्याको कैसे त्याग दूँ, जिसे महात्मा ब्रह्माजीने उसके भावी पतिके लिये धरोहरके रूपमें मेरे यहाँ रख छोड़ा है! जिसके होनेसे मैं पितरोंके साथ दौहित्रजनित पुण्यलोकोंको पानेकी आशा रखता हूँ, उसी अपनी बालिकाको स्वयं ही जन्म देकर मैं मौतके मुखमें कैसे छोड़ सकता हूँ!॥३३—३६॥

मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः।
कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यावुभौ स्मृतौ॥३७॥

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पिताका अधिक स्नेह पुत्रपर होता है तथा कुछ दूसरे लोग पुत्रीपर ही अधिक स्नेह बताते हैं; किंतु मेरे लिये तो दोनों ही समान हैं॥३७॥

यस्यां लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम्।
अपापां तामहं बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे॥३८॥

जिसपर पुण्यलोक, वंशपरम्परा और नित्य सुख—सब कुछ सदा निर्भर रहते हैं, उस निष्पाप बालिकाका परित्याग मैं कैसे कर सकता हूँ॥३८॥

आत्मानमपि चोत्सृज्य तप्स्यामि परलोकगः।
त्यक्ता ह्येते मया व्यक्तं नेह शक्ष्यन्ति जीवितुम्॥३९॥

अपनेको भी त्यागकर परलोकमें जानेपर मैं सदा इस बातके लिये संतप्त होता रहूँगा कि मेरेद्वारा त्यागे हुए ये बच्चे अवश्य ही यहाँ जीवित नहीं रह सकेंगे॥३९॥

एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः ।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना ॥ ४० ॥

इनमेंसे किसीका भी त्याग विद्वानोंने निर्दयतापूर्ण तथा निन्दनीय बताया है और मेरे मर जानेपर ये सभी मेरे बिना मर जायँगे ॥ ४० ॥

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम् ।
अहो धिक् कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः ।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम् ॥ ४१ ॥

अहो ! मैं बड़ी कठिन विपत्तिमें फँस गया हूँ । इससे पार होनेकी मुझमें शक्ति नहीं है । धिक्कार है इस जीवनको । हाय ! मैं बन्धु-बान्धवोंके साथ आज किस गतिको प्राप्त होऊँगा ? सबके साथ मर जाना ही अच्छा है । मेरा जीवित रहना कदापि उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणचिन्तायां षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणकी चिन्ताविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणीका स्वयं मरनेके लिये उद्यत होकर पतिसे जीवित रहनेके लिये अनुरोध करना

ब्राह्मण्युवाच

न संतापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित् ।
न हि संतापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली—प्राणनाथ ! आपको साधारण मनुष्योंकी भाँति कभी संताप नहीं करना चाहिये । आप विद्वान् हैं, आपके लिये यह संतापका अवसर नहीं है ॥ १ ॥

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।
अवश्यम्भाविन्यर्थे वै संतापो नेह विद्यते ॥ २ ॥

एक-न-एक दिन संसारमें सभी मनुष्योंको अवश्य मरना पड़ेगा; अतः जो बात अवश्य होनेवाली है, उसके लिये यहाँ शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २ ॥

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ।
व्यथां जहि सुबुद्ध्या त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ॥ ३ ॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद् भर्तृहितमाचरेत् ॥ ४ ॥

पत्नी, पुत्र और पुत्री—ये सब अपने ही लिये अभीष्ट होते हैं । आप उत्तम बुद्धि-विवेकका आश्रय लेकर शोक-संताप छोड़िये । मैं स्वयं वहाँ (राक्षसके समीप) चली जाऊँगी । पत्नीके लिये लोकमें सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्राणोंको भी निछावर करके पतिकी भलाई करे ॥ ३-४ ॥

तच्च तत्र कृतं कर्म तवापीदं सुखावहम् ।
भवत्यमुत्र चाक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम् ॥ ५ ॥

पतिके हितके लिये किया हुआ मेरा वह प्राणोत्सर्गरूप कर्म आपके लिये तो सुखकारक होगा ही, मेरे लिये भी परलोकमें अक्षय सुखका साधक और इस लोकमें यशकी प्राप्ति करानेवाला होगा ॥ ५ ॥

एष चैव गुरुर्धर्मो यं प्रवक्ष्याम्यहं तव ।
अर्थश्च तव धर्मश्च भूयानत्र प्रदृश्यते ॥ ६ ॥

यह सबसे बड़ा धर्म है, जो मैं आपसे बता रही हूँ । इसमें आपके लिये अधिक-से-अधिक स्वार्थ और धर्मका लाभ दिखायी देता है ॥ ६ ॥

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि ।
कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ॥ ७ ॥

जिस उद्देश्यसे पत्नीकी अभिलाषा की जाती है, आपने वह उद्देश्य मुझसे सिद्ध कर लिया है । एक पुत्री और एक पुत्र आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हो चुके हैं । इस प्रकार आपने मुझे भी उऋण कर दिया है ॥ ७ ॥

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा ।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥ ८ ॥

इन दोनों संतानोंका पालन-पोषण और संरक्षण करनेमें आप समर्थ हैं । आपकी तरह मैं इन दोनोंके पालन-पोषण तथा रक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सकूँगी ॥ ८ ॥

मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वप्राणधनेश्वर ।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भरेयं च कथं त्वहम् ॥ ९ ॥

मेरे सर्वस्वके स्वामी प्राणेश्वर ! आपके न रहनेपर मेरे इन दोनों बच्चोंकी क्या दशा होगी ? मैं किस तरह इन बालकोंका भरण-पोषण करूँगी ? ॥ ९ ॥

कथं हि विधवानाथा बालपुत्रा विना त्वया ।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ॥ १० ॥

मेरा पुत्र अभी बालक है, आपके बिना मैं अनाथ विधवा सन्मार्गपर स्थित रहकर इन दोनों बच्चोंको कैसे जिलाऊँगी ॥ १० ॥

अहंकृतावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम् ।
अयुक्तैस्तव सम्बन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ॥ ११ ॥

जो आपके यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा अयोग्य हैं, ऐसे

अहंकारी और घमंडीलोग जब मुझसे इस कन्याको माँगेंगे, तब मैं उनसे इसकी रक्षा कैसे कर सकूँगी ॥ ११ ॥

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम् ॥ १२ ॥
साहं विचाल्यमाना वै प्रार्थ्यमाना दुरात्मभिः ।
स्थातुं पथि न शक्ष्यामि सज्जनेष्टे द्विजोत्तम ॥ १३ ॥

जैसे पक्षी पृथ्वीपर डाले हुए मांसके टुकड़ेको लेनेके लिये झपटते हैं, उसी प्रकार सब लोग विधवा स्त्रीको वशमें करना चाहते हैं। द्विजश्रेष्ठ ! दुराचारी मनुष्य जब बार-बार मुझसे याचना करते हुए मुझे मर्यादासे विचलित करनेकी चेष्टा करेंगे, उस समय मैं श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा अभिलषित मार्गपर स्थिर नहीं रह सकूँगी ॥ १२-१३ ॥

कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥ १४ ॥

आपके कुलकी इस एकमात्र निरपराध बालिकाको मैं बाप-दादोंके द्वारा पालित धर्ममार्गपर लगाये रखनेमें कैसे समर्थ होऊँगी ॥ १४ ॥

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् गुणानाधातुमीप्सितान् ।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥ १५ ॥

आप धर्मके ज्ञाता हैं, आप जैसे अपने बालकको सद्गुणी बना सकते हैं, उस प्रकार मैं आपके न रहनेपर सब ओरसे आश्रयहीन हुए इस अनाथ बालकमें वाञ्छनीय उत्तम गुणोंका आधान कैसे कर सकूँगी ॥ १५ ॥

इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम् ।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा ॥ १६ ॥

जैसे अनधिकारी शूद्र वेदकी श्रुतिको प्राप्त करना चाहता हो, उसी प्रकार अयोग्य पुरुष मेरी अवहेलना करके आपकी इस अनाथ बालिकाको भी ग्रहण करना चाहेंगे ॥ १६ ॥

तां चेदहं न दित्सेयं त्वद्गुणैरुपबृंहिताम् ।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वाङ्क्षा इवाध्वरात् ॥ १७ ॥

आपके ही उत्तम गुणोंसे सम्पन्न अपनी इस पुत्रीको यदि मैं उन अयोग्य पुरुषोंके हाथमें न देना चाहूँगी तो वे बलपूर्वक इसे उसी प्रकार हर ले जायँगे, जैसे कौए यज्ञसे हविष्यका भाग लेकर उड़ जायँ ॥ १७ ॥

सम्प्रेक्षमाणा पुत्रं ते नानुरूपमिवात्मनः ।
अनर्हवशमापन्नामिमां चापि सुतां तव ॥ १८ ॥
अवज्ञाता च लोकेषु तथाऽऽत्मानमजानती ।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन् मरिष्यामि न संशयः ॥ १९ ॥

ब्रह्मन् ! आपके इस पुत्रको आपके अनुरूप न देखकर और आपकी इस पुत्रीको भी अयोग्य पुरुषके वशमें पड़ी देखकर तथा लोकमें घमंडी मनुष्योंद्वारा अपमानित हो अपनेको पूर्ववत् सम्मानित अवस्थामें न पाकर मैं प्राण त्याग दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १८-१९ ॥

तौ च हीनौ मया बालौ त्वया चैव तथाऽऽत्मजौ ।
विनश्येतां न संदेहो मत्स्याविव जलक्षये ॥ २० ॥

जैसे पानी सूख जानेपर वहाँकी मछलियाँ नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार मुझसे और आपसे रहित होकर अपने ये दोनों बच्चे निस्संदेह नष्ट हो जायँगे ॥ २० ॥

त्रितयं सर्वथाप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम् ।
त्वया विहीनं तस्मात् त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

नाथ ! इस प्रकार आपके बिना मैं और ये दोनों बच्चे—तीनों ही सर्वथा विनष्ट हो जायँगे—इसमें तनिक भी संशय नहीं है। इसलिये आप केवल मुझे त्याग दीजिये ॥ २१ ॥

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम् ।
गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

ब्रह्मन् ! पुत्रवती स्त्रियाँ यदि अपने पतिसे पहले ही मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो यह उनके लिये परम सौभाग्यकी बात है। धर्मज्ञ विद्वान् ऐसा ही मानते हैं ॥ २२ ॥

(मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं का पतिं नाभिनन्दति ॥)

पिता, माता और पुत्र—ये सब परिमित मात्रामें ही सुख देते हैं, अपरिमित सुखको देनेवाला तो केवल पति है। ऐसे पतिका कौन स्त्री आदर नहीं करेगी ?

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया ।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥ २३ ॥

आर्यपुत्र ! आपके लिये मैंने यह पुत्र और पुत्री भी छोड़ दी, समस्त बन्धु-बान्धवोंको भी छोड़ दिया और अब अपना यह जीवन भी त्याग देनेको उद्यत हूँ ॥ २३ ॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥ २४ ॥

स्त्री यदि सदा अपने स्वामीके प्रिय और हितमें लगी रहे तो यह उसके लिये बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों और नाना प्रकारके दानोंसे भी बढ़कर है ॥ २४ ॥

तदिदं यच्चिकीर्षामि धर्मं परमसम्मतम् ।
इष्टं चैव हितं चैव तव चैव कुलस्य च ॥ २५ ॥

अतः मैं जो यह कार्य करना चाहती हूँ, यह श्रेष्ठ पुरुषोंसे सम्मत धर्म है और आपके तथा इस कुलके लिये सर्वथा अनुकूल एवं हितकारक है ॥ २५ ॥

इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः ।
आपद्धर्मप्रमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम् ॥ २६ ॥

अनुकूल संतान, धन, प्रिय सुहृद् तथा पत्नी—ये सभी आपद्धर्मसे छूटनेके लिये ही वाञ्छनीय हैं; ऐसा साधु पुरुषोंका मत है ॥ २६ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ २७ ॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री तथा धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥

दृष्टादृष्टफलार्थं हि भार्या पुत्रो धनं गृहम् ।
सर्वमेतद् विधातव्यं बुधानामेष निश्चयः ॥ २८ ॥

पत्नी, पुत्र, धन और घर—ये सब वस्तुएँ दृष्ट और अदृष्ट फल (लौकिक और पारलौकिक लाभ) के लिये संग्रहणीय हैं । विद्वानोंका यह निश्चय है ॥ २८ ॥

एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धनः ।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः ॥ २९ ॥

एक ओर सम्पूर्ण कुल हो और दूसरी ओर उस कुलकी वृद्धि करनेवाला शरीर हो तो उन दोनोंकी तुलना करनेपर वह सारा कुल उस शरीरके बराबर नहीं हो सकता; यह विद्वानोंका निश्चय है ॥ २९ ॥

स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना ।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥ ३० ॥

आर्य ! अतः आप मेरे द्वारा अभीष्ट कार्यकी सिद्धि कीजिये और स्वयं प्रयत्न करके अपनेको इस संकटसे बचाइये । मुझे राक्षसके पास जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरे दोनों बच्चोंका पालन कीजिये ॥ ३० ॥

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ॥ ३१ ॥

धर्मज्ञ विद्वानोंने धर्म-निर्णयके प्रसङ्गमें नारीको अवध्य बताया है । राक्षसोंको भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं । इसलिये सम्भव है, वह राक्षस भी मुझे स्त्री-समझकर न मारे ॥

निस्संशयं वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः ।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ॥ ३२ ॥

पुरुष वहाँ जायँ, तो वह राक्षस उनका वध कर ही डालेगा इसमें संशय नहीं है; परंतु स्त्रियोंके वधमें संदेह है । (यदि राक्षसने धर्मका विचार किया तो मेरे बच जानेकी आशा है) अतः धर्मज्ञ आर्यपुत्र ! आप मुझे ही वहाँ भेजें ॥ ३२ ॥

भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो महान् ।
त्वत् प्रसूतिः प्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्यजीवितम् ॥ ३३ ॥

मैंने सब प्रकारके भोग भोग लिये, मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ प्राप्त कर लीं, महान् धर्मका अनुष्ठान भी पूरा कर लिया और आपसे प्यारी संतान भी प्राप्त कर ली । अब यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो उससे मुझे दुःख न होगा ॥

जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा ।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ॥ ३४ ॥

मुझसे पुत्र उत्पन्न हो गया, मैं बूढ़ी भी हो चली और सदा आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखती आयी हूँ । इन सब बातोंपर विचार करके ही अब मैं मरनेका निश्चय कर रही हूँ ॥ ३४ ॥

उत्सृज्यापि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम् ।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव ॥ ३५ ॥

आर्य ! मुझे त्याग करके आप दूसरी स्त्री भी प्राप्त कर सकते हैं । उससे आपका गृहस्थ-धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो जायगा ॥

न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम् ।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥ ३६ ॥

कल्याणस्वरूप हृदयेश्वर ! बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह करनेवाले पुरुषोंको भी पाप नहीं लगता । परंतु स्त्रियोंको अपने पूर्वपतिका उल्लङ्घन करनेपर बड़ा भारी पाप लगता है ।३६।

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम् ।
आत्मानं तारयाद्याशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥ ३७ ॥

इन सब बातोंको विचार करके और अपने देहके त्यागको निन्दित कर्म मानकर आप अब शीघ्र ही अपनेको, अपने कुलको और इन दोनों बच्चोंको भी संकटसे बचा लीजिये ।३७।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत ।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! ब्राह्मणीके यों कहनेपर उसके पति ब्राह्मणदेवता अत्यन्त दुखी हो उसे हृदयसे लगाकर उसके साथ ही धीरे-धीरे आँसू बहाने लगे ।३८।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणीवाक्ये सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणीवाक्यविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मण-कन्याके त्याग और विवेकपूर्ण वचन तथा कुन्तीका उन सबके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु ।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुःखमें डूबे हुए माता-पिताका यह (अत्यन्त शोकपूर्ण) वचन सुनकर कन्याके सम्पूर्ण अङ्गोंमें दुःख व्याप्त हो गया; उसने माता और पिता दोनोंसे कहा— ॥ १ ॥

किमेवं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत् ।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥ २ ॥

'आप दोनों इस प्रकार अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अनाथकी भाँति क्यों बार-बार रो रहे हैं ? मेरी भी बात सुनिये और उसे सुनकर जो उचित जान पड़े, वह कीजिये ।२।

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः ।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्राहि सर्वं मयैकया ॥ ३ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि एक-न-एक दिन आप दोनोंको धर्मतः मेरा परित्याग करना पड़ेगा । जब मैं त्याज्य ही हूँ, तब आज ही मुझे त्यागकर मुझ अकेलीके द्वारा इस समूचे कुलकी रक्षा कर लीजिये ॥ ३ ॥

इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति ।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥ ४ ॥

'संतानकी इच्छा इसीलिये की जाती है कि यह मुझे संकटसे उबारेगी । अतः इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें नौकाकी भाँति मेरा उपयोग करके आपलोग शोक-सागरसे पार हो जाइये ॥ ४ ॥

इह वा तारयेद् दुर्गादुत वा प्रेत्य भारत ।
सर्वथा तारयेत् पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ॥ ५ ॥

'जो पुत्र इस लोकमें दुर्गम संकटसे पार लगाये अथवा मृत्युके पश्चात् परलोकमें उद्धार करे—सब प्रकार पिताको तार दे, उसे ही विद्वानोंने वास्तवमें पुत्र कहा है ॥ ५ ॥

आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रान् मयि नित्यं पितामहाः ।
तत् स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः ॥ ६ ॥

'पितरलोग मुझसे उत्पन्न होनेवाले दौहित्रसे अपने उद्धारकी सदा अभिलाषा रखते हैं, इसलिये मैं स्वयं ही पिताके जीवनकी रक्षा करती हुई उन सबका उद्धार करूँगी ॥ ६ ॥

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि ।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥ ७ ॥

'यदि आप परलोकवासी हो गये तो यह मेरा नन्हा-सा भाई थोड़े ही समयमें नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ।७।

तातेऽपि हि गते स्वर्गं विनष्टे च ममानुजे ।
पिण्डः पितॄणां व्युच्छिद्येत् तत् तेषां विप्रियं भवेत् ॥ ८ ॥

'पिता स्वर्गवासी हो जायँ और मेरा भैया भी नष्ट हो जाय, तो पितरोंका पिण्ड ही लुप्त हो जायगा, जो उनके लिये बहुत ही अप्रिय होगा ॥ ८ ॥

पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम् ।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥ ९ ॥

'पिता, माता और भाई—तीनोंसे परित्यक्त होकर मैं एक दुःखसे दूसरे महान् दुःखमें पड़कर निश्चय ही मर जाऊँगी । यद्यपि मैं ऐसा दुःख भोगनेके योग्य नहीं हूँ, तथापि आप लोगोंके बिना मुझे वह सब भोगना ही पड़ेगा ॥ ९ ॥

त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते माता भ्राता च मे शिशुः ।
संतानश्चैव पिण्डश्च प्रतिष्ठास्यत्यसंशयम् ॥ १० ॥

'यदि आप मृत्युके संकटसे मुक्त एवं नीरोग रहे तो मेरी माता, मेरा नन्हा-सा भाई, संतान-परम्परा और पिण्ड (श्राद्ध-कर्म) ये सब स्थिर रहेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल ।
स कृच्छ्रान्मोचयात्मानं मां च धर्मे नियोजय ॥ ११ ॥

'कहते हैं पुत्र अपना आत्मा है, पत्नी मित्र है; किंतु पुत्री निश्चय ही संकट है, अतः आप इस संकटसे अपनेको बचा लीजिये और मुझे भी धर्ममें लगाइये ॥ ११ ॥

अनाथा कृपणा बाला यत्रक्वचनगामिनी ।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा सदा ॥ १२ ॥

'पिताजी ! आपके बिना मैं सदाके लिये दीन और असहाय हो जाऊँगी, अनाथ और दयनीय समझी जाऊँगी । अरक्षित बालिका होनेके कारण मुझे जहाँ कहीं भी जानेके लिये विवश होना पड़ेगा ॥ १२ ॥

अथवाहं करिष्यामि कुलस्यास्य विमोचनम् ।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १३ ॥

'अथवा मैं अपनेको मृत्युके मुखमें डालकर इस कुलको संकटसे छुड़ाऊँगी । यह अत्यन्त दुष्कर कर्म कर लेनेसे मेरी मृत्यु सफल हो जायगी ॥ १३ ॥

अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम ।
पीडिताहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि ॥ १४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ पिताजी ! यदि आप मुझे त्यागकर स्वयं राक्षसके पास चले जायँगे तो मैं बड़े दुःखमें पड़ जाऊँगी । अतः मेरी ओर भी देखिये ॥ १४ ॥

तदसदर्थे धर्मार्थे प्रसवार्थे स सत्तम।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥ १५ ॥

'अतः हे साधुशिरोमणे ! आप मेरे लिये, धर्मके लिये तथा संतानकी रक्षाके लिये भी अपनी रक्षा कीजिये और मुझे, जिसको एक दिन छोड़ना ही है, आज ही त्याग दीजिये ॥ १५ ॥

अवश्यकरणीये च मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
किं त्वतः परमं दुःखं यद् वयं स्वर्गते त्वयि ॥ १६ ॥
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत्।
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते क्लेशादस्मात् सबान्धवे।
अमृते वसती लोके भविष्यामि सुखान्विता ॥ १७ ॥

'पिताजी ! जो काम अवश्य करना है, उसका निश्चय करनेमें आपको अपना समय व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये (शीघ्र मेरा त्याग करके इस कुलकी रक्षा करनी चाहिये) । हमलोगोंके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि आपके स्वर्गवासी हो जानेपर हम दूसरोंसे अन्नकी भीख माँगते हुए कुत्तोंकी तरह इधर-उधर दौड़ते फिरें । यदि मुझे त्यागकर आप अपने भाई-बन्धुओंसहित इस क्लेशसे मुक्त हो नीरोग बने रहें तो मैं अमरलोकमें निवास करती हुई बहुत सुखी होऊँगी ॥

इतः प्रदाने देवाश्च पितरश्चेति न श्रुतम्।
त्वया दत्तेन तोयेन भविष्यन्ति हिताय वै ॥ १८ ॥

'यद्यपि ऐसे दानसे देवता और पितर प्रसन्न नहीं होते, ऐसा मैंने सुन रक्खा है, तथापि आपके द्वारा दी हुई जलाञ्जलिसे वे प्रसन्न होकर अवश्य हमारा हित-साधन करनेवाले होंगे' ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम्।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस तरह उस कन्याके मुखसे नाना प्रकारका विलाप सुनकर पिता-माता और वह कन्या तीनों फूट-फूटकर रोने लगे ॥ १९ ॥

ततः प्ररुदितान् सर्वान् निशम्याथ सुतस्तदा।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥ २० ॥

तब उन सबको रोते देख ब्राह्मणका नन्हा-सा बालक उन सबकी ओर प्रफुल्ल नेत्रोंसे देखता हुआ तोतली भाषामें अस्पष्ट एवं मधुर वचन बोला—॥ २० ॥

मा पिता रुद मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाब्रवीत्।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमनुसर्पति ॥ २१ ॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत्।
अनेनाहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥ २२ ॥

'पिताजी ! न रोओ, माँ ! न रोओ, बहिन ! न रोओ, वह हँसता हुआ-सा प्रत्येकके पास जाता और सबसे यही बात कहता था । तदनन्तर उसने एक तिनका उठा लिया और अत्यन्त हर्षमें भरकर कहा—'मैं इसीसे उस नरभक्षी राक्षसको मार डालूँगा' ॥ २१-२२ ॥

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत्।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥ २३ ॥

यद्यपि वे सब लोग दुःखमें डूबे हुए थे, तथापि उस बालककी अस्पष्ट तोतली बोली सुनकर उनके हृदयमें सहसा अत्यन्त प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी ॥ २३ ॥

अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान्।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

'अब यही अपनेको प्रकट करनेका अवसर है' यह जानकर कुन्तीदेवी उन सबके निकट गयीं और अपनी अमृतमयी वाणीसे उन मृतक (तुल्य) मानवोंको जीवन प्रदान करती हुई-सी बोलीं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणकन्यापुत्रवाक्ये अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणकी कन्या और पुत्रके वचन-सम्बन्धी एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके पूछनेपर ब्राह्मणका उनसे अपने दुःखका कारण बताना

कुन्त्युवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः।
विदित्वाप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥ १ ॥

कुन्तीने पूछा—ब्रह्मन् ! आपलोगोंके इस दुःखका कारण क्या है ? मैं यह ठीक-ठीक जानना चाहती हूँ । उसे जानकर यदि मिटाया जा सकेगा तो मिटानेकी चेष्टा करूँगी ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद् यद् ब्रवीषि तपोधने।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—तपोधने ! आप जो कुछ कह रही हैं, वह आप-जैसे सज्जनोंके अनुरूप ही है; परंतु हमारे इस दुःखको मनुष्य नहीं मिटा सकता ॥ २ ॥

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः।
(इतो गव्यूतिमात्रेऽस्ति यमुनागह्वरे गुहा।
तस्यां घोरः स वसति जिघांसुः पुरुषादकः॥)
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः॥ ३॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः।
(तेनेयं पुरुषादेन भक्ष्यमाणा दुरात्मना।
अनाथा नगरी नाथं त्रातारं नाधिगच्छति॥)
रक्षत्यसुरराण्नित्यमिमं जनपदं बली॥ ४॥
नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम्॥ ५॥

इस नगरके पास ही यहाँसे दो कोसकी दूरीपर यमुनाके किनारे घने जंगलमें एक गुफा है, उसीमें एक भयंकर हिंसाप्रिय नरभक्षी राक्षस रहता है। उसका नाम है बक। वह राक्षस अत्यन्त बलवान् है। वही इस जनपद और नगरका स्वामी है। वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्यभक्षी राक्षस मनुष्यके ही मांससे पुष्ट हुआ है। उस दुरात्मा नरभक्षी निशाचरद्वारा प्रतिदिन खायी जाती हुई यह नगरी अनाथ हो रही है। इसे कोई रक्षक या स्वामी नहीं मिल रहा है। राक्षसोचित-बलसे सम्पन्न वह शक्तिशाली असुरराज सदा इस जनपद, नगर और देशकी रक्षा करता है। उसके कारण हमें शत्रुराज्यों तथा हिंसक प्राणियोंसे कभी भय नहीं होता। ३-५॥

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति॥ ६॥

उसके लिये कर नियत किया गया है—बीस खारी अगहनीके चावलका भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो वह सब सामान लेकर उसके पास जाता है॥ ६॥

एकैकश्चापि पुरुषस्तत् प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः॥ ७॥

प्रत्येक गृहस्थ अपनी बारी आनेपर उसे भोजन देता है। यद्यपि यह बारी बहुत वर्षोंके बाद आती है, तथापि लोगोंके लिये उसकी पूर्ति बहुत कठिन होती है॥ ७॥

तद्विमोक्षाय ये केचिद् यतन्ति पुरुषाः क्वचित्।
सपुत्रदारांस्तान् हत्वा तद् रक्षो भक्षयत्युत॥ ८॥

जो कोई पुरुष कभी उससे छूटनेका प्रयत्न करते हैं, वह राक्षस उन्हें पुत्र और स्त्रीसहित मारकर खा जाता है। ८॥

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयमिहास्थितः।
उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मन्दधीः।
अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम्॥ ९॥

वास्तवमें जो यहाँका राजा है, वह वेत्रकीयगृह नामक स्थानमें रहता है। परंतु वह न्यायके मार्गपर नहीं चलता। वह मन्दबुद्धि राजा यत्न करके भी ऐसा कोई उपाय नहीं करता, जिससे सदाके लिये प्रजाका संकट दूर हो जाय। ९॥

एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये।
विषये नित्यवास्तव्याः कुराजानमुपाश्रिताः॥ १०॥

निश्चय ही हमलोग ऐसा ही दुःख भोगनेके योग्य हैं; क्योंकि इस दुर्बल राजाके राज्यमें निवास करते हैं, यहाँके नित्य निवासी हो गये हैं और इस दुष्ट राजाके आश्रयमें रहते हैं॥ १०॥

ब्राह्मणाः कस्य वक्तव्याः कस्य वाच्छन्दचारिणः।
गुणैरेते हि वत्स्यन्ति कामगाः पक्षिणो यथा॥ ११॥

ब्राह्मणोंको कौन आदेश दे सकता है अथवा वे किसके अधीन रह सकते हैं। ये तो इच्छानुसार विचरनेवाले पक्षियों-की भाँति देश या राजाके गुण देखकर ही कहीं भी निवास करते हैं॥ ११॥

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
त्रयस्य संचयेनास्य ज्ञातीन् पुत्रांश्च तारयेत्॥ १२॥

नीति कहती है, पहले अच्छे राजाको प्राप्त करे। उसके बाद पत्नीकी और फिर धनकी उपलब्धि करे। इन तीनोंके संग्रहद्वारा अपने जाति-भाइयों तथा पुत्रोंको संकटसे बचाये॥

विपरीतं मया चेदं त्रयं सर्वमुपार्जितम्।
तदिमामापदं प्राप्य भृशं तप्यामहे वयम्॥ १३॥

मैंने इन तीनोंका विपरीत ढंगसे उपार्जन किया है (अर्थात् दुष्ट राजाके राज्यमें निवास किया, कुराज्यमें विवाह किया और विवाहके पश्चात् धन नहीं कमाया); इसलिये इस विपत्तिमें पड़कर हमलोग भारी कष्ट पा रहे हैं॥ १३॥

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया॥ १४॥

वही आज हमारी बारी आयी है, जो समूचे कुलका विनाश करनेवाली है। मुझे उस राक्षसको करके रूपमें नियत भोजन और एक पुरुषकी बलि देनी पड़ेगी॥ १४॥

न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन॥ १५॥

मेरे पास धन नहीं है, जिससे कहींसे किसी पुरुषको खरीद लाऊँ। अपने सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तो मैं कदापि उस राक्षसके हाथमें नहीं दे सकूँगा॥ १५॥

गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम्॥ १६॥

उस निशाचरसे छूटनेका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः मैं अत्यन्त दुस्तर दुःखके महासागरमें डूबा हुआ हूँ॥ १६॥

सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम् ।
ततो नः सहितान् क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥ १७ ॥

अब इन बान्धवजनोंके साथ ही मैं राक्षसके पास जाऊँगा; फिर वह नीच निशाचर एक ही साथ हम सबको खा जायगा ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीप्रश्ने एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्तीप्रश्नविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती और ब्राह्मणकी बातचीत

कुन्त्युवाच

न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात् कथंचन ।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन् ! आपको अपने ऊपर आये हुए इस भयसे किसी प्रकार विषाद नहीं करना चाहिये । इस परिस्थितिमें उस राक्षससे छूटनेका उपाय मेरी समझमें आ गया ॥

एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी ।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥ २ ॥

आपके तो एक ही नन्हा-सा पुत्र और एक ही तपस्विनी कन्या है; अतः इन दोनोंका तथा आपकी पत्नीका भी वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ २ ॥

मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥ ३ ॥

विप्रवर ! मेरे पाँच पुत्र हैं; उनमेंसे एक आपके लिये उस पापी राक्षसकी बलि-सामग्री लेकर चला जायगा ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाहमेतत् करिष्यामि जीवितार्थी कथंचन ।
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणान् वियोजयन् ॥ ४ ॥

ब्राह्मणने कहा—मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये किसी तरह ऐसा नहीं करूँगा । एक तो ब्राह्मण, दूसरे अतिथि-के प्राणोंका नाश मैं अपने तुच्छ स्वार्थके लिये कराऊँ ! यह कदापि सम्भव नहीं है ॥ ४ ॥

न त्वेतदकुलीनासु नाधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद् ब्राह्मणार्थे विसृजेदात्मानमपि चात्मजम् ॥ ५ ॥

ऐसा निन्दनीय कार्य नीच और अधर्मी जनतामें भी नहीं देखा जाता । उचित तो यह है कि ब्राह्मणके लिये स्वयं अपनेको और अपने पुत्रको भी निछावर कर दे ॥ ५ ॥

आत्मनस्तु मया श्रेयो बोद्धव्यमिति रोचते ।
ब्रह्मवध्याऽऽत्मवध्या वा श्रेयानात्मवधो मम ॥ ६ ॥
ब्रह्मवध्या परं पापं निष्कृतिर्नात्र विद्यते ।
अबुद्धिपूर्वं कृत्वापि वरमात्मवधो मम ॥ ७ ॥

इसीमें मुझे अपना कल्याण समझना चाहिये तथा यही मुझे अच्छा लगता है । ब्रह्महत्या और आत्महत्यामें मुझे आत्महत्या ही श्रेष्ठ जान पड़ती है । ब्रह्महत्या बहुत बड़ा पाप है । इस जगत्‌में उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है । अनजानमें भी ब्रह्महत्या करनेकी अपेक्षा मेरी दृष्टिमें आत्म-हत्या कर लेना अच्छा है ॥ ६-७ ॥

न त्वहं वधमाकाङ्क्षे स्वयमेवात्मनः शुभे ।
परैः कृते वधे पापं न किंचिन्मयि विद्यते ॥ ८ ॥

कल्याणि ! मैं स्वयं तो आत्महत्याकी इच्छा करता नहीं; परंतु यदि दूसरोंने मेरा वध कर दिया तो उसके लिये मुझे कोई पाप नहीं लगेगा ॥ ८ ॥

अभिसंधिकृते तस्मिन् ब्राह्मणस्य वधे मया ।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ॥ ९ ॥
आगतस्य गृहं त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥ १० ॥

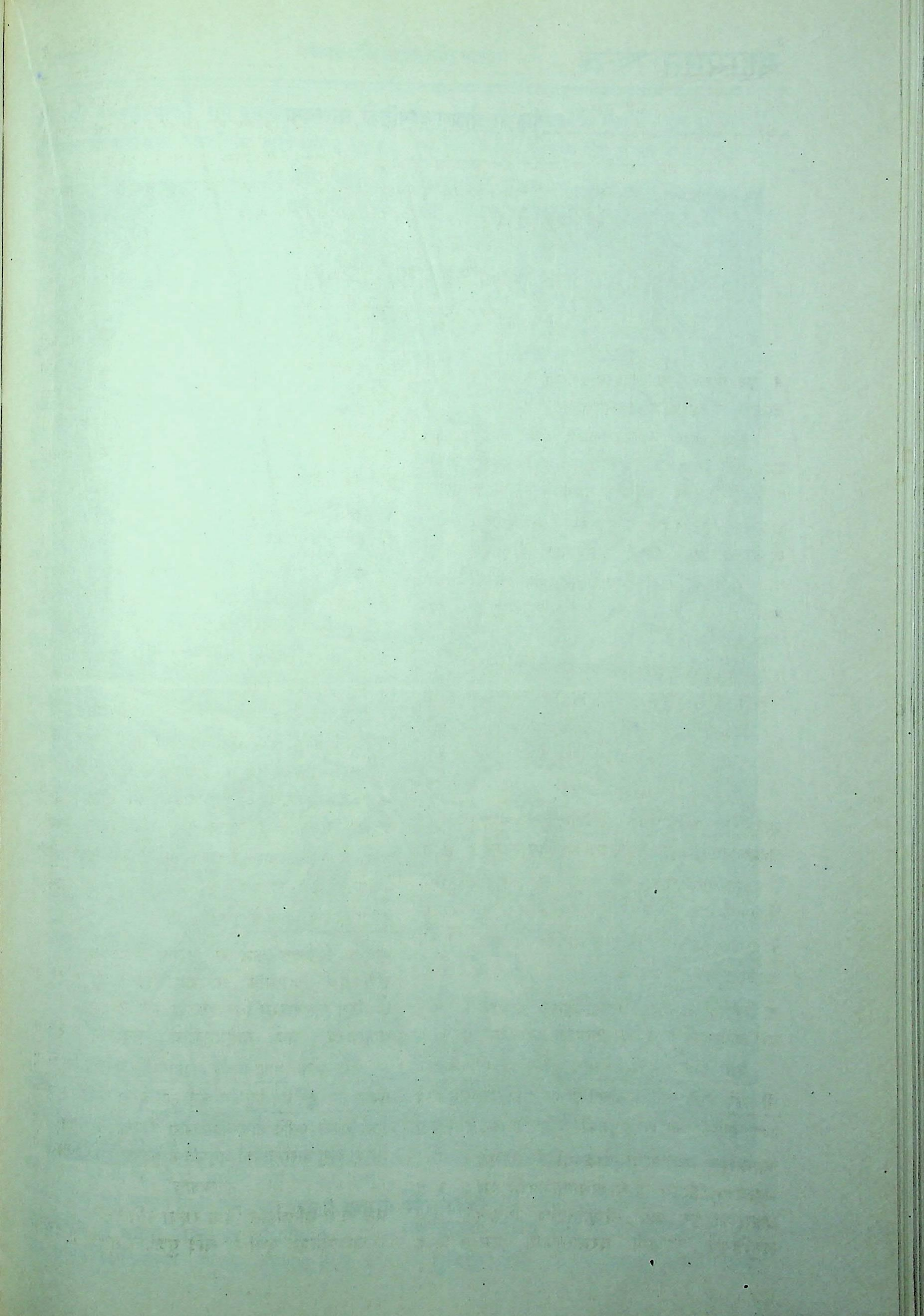
यदि मैंने जान-बूझकर ब्राह्मणका वध करा दिया तो वह बड़ा ही नीच और क्रूरतापूर्ण कर्म होगा । उससे छुटकारा पानेका कोई उपाय मुझे नहीं सूझता । घरपर आये हुए तथा शरणार्थीका त्याग और अपनी रक्षाके लिये याचना करनेवालेका वध—यह विद्वानोंकी रायमें अत्यन्त क्रूर एवं निन्दित कर्म है ॥ ९-१० ॥

कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कथंचन ।
इति पूर्वे महात्मान आपद्धर्मविदो विदुः ॥ ११ ॥
श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम् ।
ब्राह्मणस्य वधं नाहमनुमंस्ये कदाचन ॥ १२ ॥

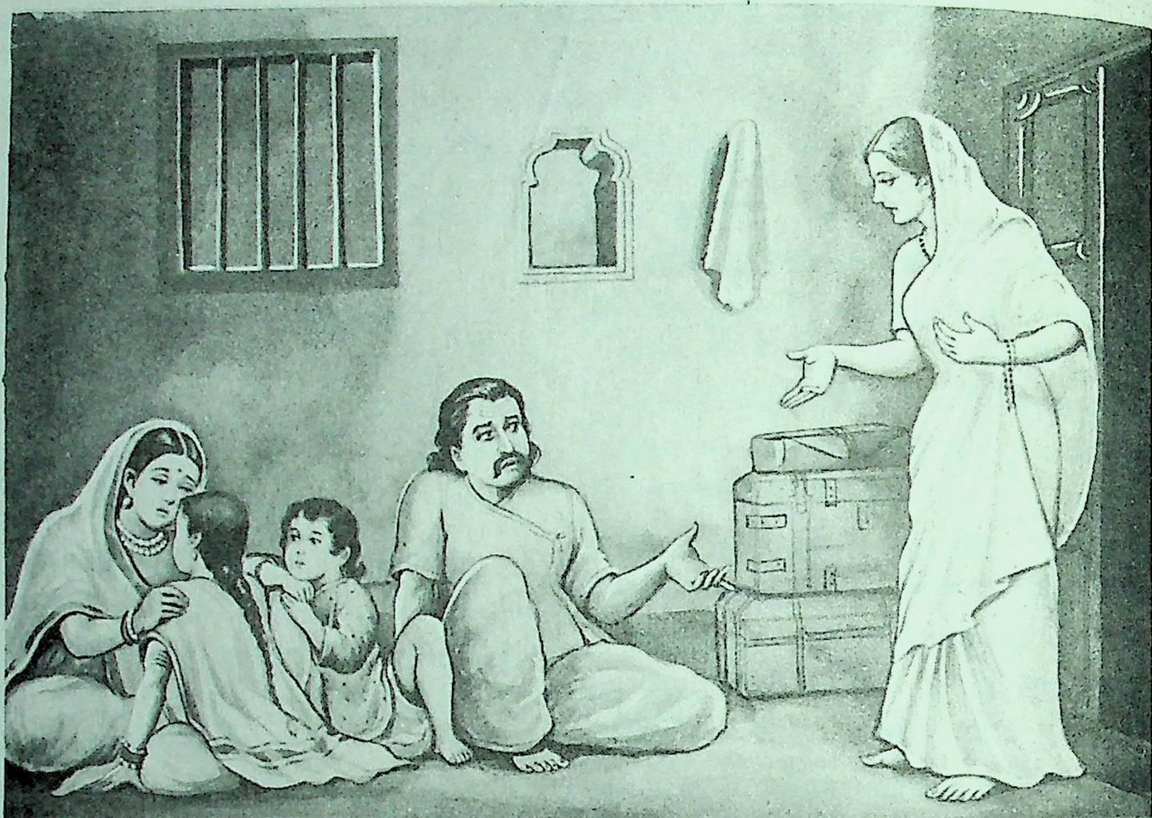
आपद्धर्मके ज्ञाता प्राचीन महात्माओंने कहा है कि किसी प्रकार भी क्रूर एवं निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये । अतः आज अपनी पत्नीके साथ स्वयं मेरा विनाश हो जाय, यह श्रेष्ठ है; किंतु ब्राह्मणवधकी अनुमति मैं कदापि नहीं दे सकता ॥

कुन्त्युवाच

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा ।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १३ ॥



कुन्तीद्वारा ब्राह्मण-दम्पतिको सान्त्वना





बकासुरपर भीमका प्रहार

न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने ।
वीर्यवान् मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥ १४ ॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन् ! मेरा भी यह स्थिर विचार है कि ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी चाहिये । यों तो मुझे भी अपना कोई पुत्र अप्रिय नहीं है, चाहे मेरे सौ पुत्र ही क्यों न हों । किंतु वह राक्षस मेरे पुत्रका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है ॥ १३-१४ ॥

राक्षसाय च तत् सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम् ।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ॥ १५ ॥

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि वह सारा भोजन राक्षसके पास पहुँचा देगा और उससे अपने आपको भी छुड़ा लेगा ॥ १५ ॥

समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः ।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ॥ १६ ॥

मैंने पहले भी बहुत-से बलवान् और विशालकाय राक्षस देखे हैं, जो मेरे वीर पुत्रसे भिड़कर अपने प्राणों-से हाथ धो बैठे हैं ॥ १६ ॥

न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् व्याहर्तव्यं कथंचन ।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान् विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥ १७ ॥

परंतु ब्रह्मन् ! आपको किसीसे भी किसी तरह यह बात कहनी नहीं चाहिये । नहीं तो लोग मन्त्र सीखनेके लोभसे कौतूहलवश मेरे पुत्रोंको तंग करेंगे ॥ १७ ॥

गुरुणा चाननुज्ञातो ग्राहयेद् यत् सुतो मम ।
न स कुर्यात् तथा कार्यं विद्ययेति सतां मतम् ॥ १८ ॥

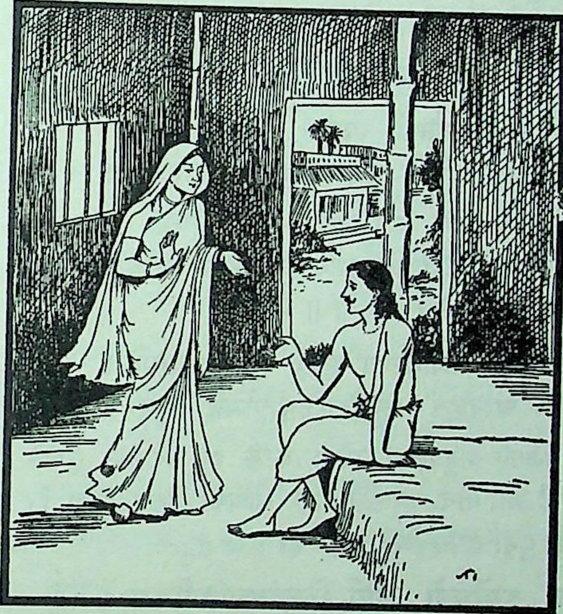
और यदि मेरा पुत्र गुरुकी आज्ञा लिये बिना अपना मन्त्र किसीको सिखा देगा तो वह सीखनेवाला मनुष्य उस मन्त्रसे वैसा कार्य नहीं कर सकेगा, जैसा मेरा पुत्र कर लेता है । इस विषयमें साधु पुरुषोंका ऐसा ही मत है ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः सम्पूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥ १९ ॥

कुन्तीदेवीके यों कहनेपर पत्नीसहित वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कुन्तीके अमृत-तुल्य जीवनदायक मधुर वचनोंकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १९ ॥

ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥ २० ॥

तदनन्तर कुन्ती और ब्राह्मणने मिलकर वायुनन्दन उक्त भीमसेनसे कहा—'तुम यह काम कर दो ।' भीमसेनने उन दोनोंसे 'तथास्तु' कहा ॥ २० ॥



इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि भीमबकवधाङ्गीकारे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें भीमके द्वारा बकवधकी स्वीकृतिविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनको राक्षसके पास भेजनेके विषयमें युधिष्ठिर और कुन्तीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्षमादाय पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीमसेनने यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'मैं इस कार्यको पूरा करूँगा', उसी समय पूर्वोक्त सब पाण्डव भिक्षा लेकर वहाँ आये ॥ १ ॥

आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥ २ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने भीमसेनकी आकृतिसे ही समझ लिया कि आज ये कुछ करनेवाले हैं; फिर उन्होंने एकान्तमें अकेले बैठकर मातासे पूछा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चित् स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन

कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? वे आपकी रायसे अथवा स्वयं ही कुछ करनेको उतारू हो रहे हैं ? ॥ ३ ॥

कुन्त्युवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः।
ब्राह्मणार्थे महत् कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥ ४ ॥

कुन्तीने कहा—बेटा ! शत्रुओंको संतप्त करनेवाला भीमसेन मेरी ही आज्ञासे ब्राह्मणके हितके लिये तथा सम्पूर्ण नगरको संकटसे छुड़ानेके लिये आज एक महान् कार्य करेगा ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम्।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ ! आपने यह असह्य और दुष्कर साहस क्यों किया ? साधु पुरुष अपने पुत्रके परित्यागको अच्छा नहीं बताते ॥ ५ ॥

कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात् कृतं त्वया ॥ ६ ॥

दूसरेके बेटेके लिये आप अपने पुत्रको क्यों त्याग देना चाहती हैं ? पुत्रका त्याग करके आपने लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध कार्य किया है ॥ ६ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥ ७ ॥

जिसके बाहुबलका भरोसा करके हम सब लोग सुखसे सोते हैं और नीच शत्रुओंने जिस राज्यको हड़प लिया है, उसको पुनः वापस लेना चाहते हैं, ॥ ७ ॥

यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ॥ ८ ॥

जिस अमिततेजस्वी वीरके पराक्रमका चिन्तन करके शकुनिसहित दुर्योधनको दुःखके मारे सारी रात नींद नहीं आती थी, ॥ ८ ॥

यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद् वयम्।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥ ९ ॥

जिस वीरके बलसे हमलोग लाक्षागृह तथा दूसरे-दूसरे पापपूर्ण अत्याचारोंसे बच पाये और दुष्ट पुरोचन भी मारा गया, ॥ ९ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम्।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥ १० ॥
तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥ ११ ॥

जिसके बल-पराक्रमका आश्रय लेकर हमलोग धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारकर धन-धान्यसे सम्पन्न इस (सम्पूर्ण) पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई ही मानते हैं, उस बलवान् पुत्रके त्यागका निश्चय आपने किस बुद्धिसे किया है ? क्या आप अनेक दुःखोंके कारण अपनी चेतना खो बैठी हैं ? आपकी बुद्धि लुप्त हो गयी है ॥ १०-११ ॥

कुन्त्युवाच

युधिष्ठिर न संतापस्त्वया कार्यो वृकोदरे।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद् व्यवसायः कृतो मया ॥ १२ ॥

कुन्तीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम्हें भीमसेनके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैंने जो यह निश्चय किया है, वह बुद्धिकी दुर्बलतासे नहीं किया है ॥ १२ ॥

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः।
अज्ञाता धार्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १३ ॥
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता।
एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन् न नश्यति ॥ १४ ॥

बेटा ! हमलोग यहाँ इस ब्राह्मणके घरमें बड़े सुखसे रहे हैं। धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हमारी कानों-कान खबर नहीं होने पायी है। इस घरमें हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हमने अपने पिछले दुःख और क्रोधको भुला दिया है। पार्थ ! ब्राह्मणके इस उपकारसे उऋण होनेका यही एक उपाय मुझे दिखायी दिया। मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट न हो (जो उपकारको भुला न दे) ॥ १३-१४ ॥

यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः।
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत्।
हिडिम्बस्य वधाच्चैवं विश्वासो मे वृकोदरे ॥ १५ ॥

दूसरा मनुष्य उसके लिये जितना उपकार करे, उससे कईगुना अधिक प्रत्युपकार स्वयं उसके प्रति करना चाहिये। मैंने उस दिन लाक्षागृहमें भीमसेनका महान् पराक्रम देखा तथा हिडिम्बवधकी घटना भी मेरी आँखोंके सामने हुई। इससे भीमसेनपर मेरा पूरा विश्वास हो गया है ॥ १५ ॥

बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत्।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥ १६ ॥

भीमका महान् बाहुबल दस हजार हाथियोंके समान है, जिससे वह हाथीके समान बलशाली तुम सब भाइयोंको वारणावत नगरसे ढोकर लाया है ॥ १६ ॥

वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते।
योऽभ्युदीयाद् युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ॥ १७ ॥

भीमसेनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं है। वह युद्धमें सर्वश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्रका भी सामना कर सकता है ॥ १७ ॥

जातमात्रः पुरा चैव ममाङ्कात् पतितो गिरौ।
शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥ १८ ॥

पहलेकी बात है, जब वह नवजात शिशुके रूपमें था, उसी समय मेरी गोदसे छूटकर पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा था। जिस चट्टानपर यह गिरा, वह इसके शरीरकी गुरुताके कारण चूर-चूर हो गयी थी ॥ १८ ॥

तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥ १९ ॥

अतः पाण्डुनन्दन ! मैंने भीमसेनके बलको अपनी बुद्धिसे भलीभाँति समझकर तब ब्राह्मणके शत्रुरूपी राक्षससे बदला लेनेका निश्चय किया है ॥ १९ ॥

नेदं लोभान्न चाज्ञानान्न च मोहाद् विनिश्चितम्।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥ २० ॥

मैंने न लोभसे, न अज्ञानसे और न मोहसे ऐसा विचार किया है, अपितु बुद्धिके द्वारा खूब सोच-समझकर विशुद्ध धर्मानुकूल निश्चय किया है ॥ २० ॥

अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! मेरे इस निश्चयसे दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायँगे। एक तो ब्राह्मणके यहाँ निवास करनेका ऋण चुक जायगा और दूसरा लाभ यह है कि ब्राह्मण और पुरवासियोंकी रक्षा होनेके कारण महान् धर्मका पालन हो जायगा ॥ २१ ॥

यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित्।
क्षत्रियः स शुभाँल्लोकानाप्नुयादिति मे मतिः ॥ २२ ॥

जो क्षत्रिय कभी ब्राह्मणके कार्योंमें सहायता करता है, वह उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है—यह मेरा विश्वास है ॥

क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम्।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च ॥ २३ ॥

यदि क्षत्रिय किसी क्षत्रियको ही प्राणसंकटसे मुक्त कर दे तो वह इस लोक और परलोकमें भी महान् यशका भागी होता है ॥ २३ ॥

वैश्यस्यार्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ॥ २४ ॥

जो क्षत्रिय इस भूतलपर वैश्यके कार्यमें सहायता पहुँचाता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंमें प्रजाको प्रसन्न करनेवाला राजा होता है ॥ २४ ॥

शूद्रं तु मोचयेद् राजा शरणार्थिनमागतम्।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते ॥ २५ ॥

इसी प्रकार जो राजा अपनी शरणमें आये हुए शूद्रको प्राणसंकटसे बचाता है, वह इस संसारमें उत्तम धन-धान्यसे सम्पन्न एवं राजाओंद्वारा सम्मानित श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ॥

एवं मां भगवान् व्यासः पुरा पौरवनन्दन।
प्रोवाचासुकरप्रज्ञस्तस्मादेवं चिकीर्षितम् ॥ २६ ॥

पौरववशको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! इस प्रकार पूर्वकालमें दुर्लभ विवेक-विज्ञानसे सम्पन्न भगवान् व्यासने मुझसे कहा था; इसीलिये मैंने ऐसी चेष्टा की है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीयुधिष्ठिरसंवादे एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्ती-युधिष्ठिर-संवाद-विषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६१ ॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके पास जाना और स्वयं भोजन करना तथा युद्ध करके उसे मार गिराना

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम्।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! आपने समझ-बूझकर जो कुछ निश्चय किया है, वह सब उचित है। आपने संकटमें पड़े हुए ब्राह्मणपर दया करके ही ऐसा विचार किया है ॥ १ ॥

ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम्।
सर्वथा ब्राह्मणस्यार्थे यदनुक्रोशवत्यसि ॥ २ ॥

निश्चय ही भीमसेन उस राक्षसको मारकर लौट आयेंगे; क्योंकि आप सर्वथा ब्राह्मणकी रक्षाके लिये ही उसपर इतनी दयालु हुई हैं ॥ २ ॥

यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः।
तथायं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ॥ ३ ॥

आपको यत्नपूर्वक ब्राह्मणपर अनुग्रह तो करना ही चाहिये; किंतु ब्राह्मणसे यह कह देना चाहिये कि वे इस प्रकार मौन रहें कि नगरनिवासियोंको यह बात मालूम न होने पाये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

(युधिष्ठिरेण सम्मन्त्र्य ब्राह्मणार्थमरिंदम।
कुन्ती प्रविश्य तान् सर्वान् सान्त्वयामास भारत ॥)
ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ॥ ४ ॥

आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपपादयन् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्राह्मण (की रक्षा) के निमित्त युधिष्ठिरसे इस प्रकार सलाह करके कुन्ती-देवीने भीतर जाकर समस्त ब्राह्मण-परिवारको सान्त्वना दी। तदनन्तर रात बीतनेपर पाण्डुनन्दन भीमसेन भोजन-सामग्री लेकर उस स्थानपर गये, जहाँ वह नरभक्षी राक्षस रहता था। बक राक्षसके वनमें पहुँचकर महाबली पाण्डुकुमार भीमसेन उसके लिये लाये हुए अन्नको स्वयं खाते हुए राक्षसका नाम ले-लेकर उसे पुकारने लगे ॥ ४-५ ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात् तदा।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ६ ॥

भीमके इस प्रकार पुकारनेसे वह राक्षस कुपित हो उठा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर जहाँ भीमसेन बैठकर भोजन कर रहे थे, वहाँ आया ॥ ६ ॥

महाकायो महावेगो दारयन्निव मेदिनीम्।
लोहिताक्षः करालश्च लोहितश्मश्रुमूर्धजः ॥ ७ ॥

उसका शरीर बहुत बड़ा था। वह इतने महान् वेगसे चलता था, मानो पृथ्वीको विदीर्ण कर देगा। उसकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। आकृति बड़ी विकराल जान पड़ती थी। उसके दाढ़ी, मूँछ और सिरके बाल लाल रंगके थे ॥७॥

आकर्णाद् भिन्नवक्त्रश्च शङ्कुकर्णो विभीषणः।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा संदश्य दशनच्छदम् ॥ ८ ॥

मुँहका फैलाव कानोंके समीपतक था, कान भी शङ्कुके समान लंबे और नुकीले थे। बड़ा भयानक था वह राक्षस। उसने भौंहें ऐसी टेढ़ी कर रखी थीं कि वहाँ तीन रेखाएँ उभड़ आयी थीं और वह दाँतोंसे ओठ चबा रहा था ॥ ८ ॥

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भीमसेनको वह अन्न खाते देख राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया और उसने आँखें तरेरकर कहा— ॥ ९ ॥

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम्।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥ १० ॥

'यमलोकमें जानेकी इच्छा रखनेवाला यह कौन दुर्बुद्धि मनुष्य है, जो मेरी आँखोंके सामने मेरे ही लिये तैयार करके लाये हुए इस अन्नको स्वयं खा रहा है ?' ॥ १० ॥

भीमसेनस्ततः श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥ ११ ॥

भारत ! उसकी बात सुनकर भीमसेन मानो जोर-जोरसे हँसने लगे और उस राक्षसकी अवहेलना करते हुए मुँह फेरकर खाते ही रह गये ॥ ११ ॥

एवं स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ।
अभ्यद्रवद् भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ॥ १२ ॥

अब तो वह नरभक्षी राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे भयंकर गर्जना करता हुआ दोनों हाथ ऊपर उठाकर उनकी ओर दौड़ा ॥ १२ ॥

तथापि परिभूयैनं प्रेक्षमाणो वृकोदरः।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ॥ १३ ॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥ १४ ॥

तो भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेन उस राक्षसकी ओर देखते हुए उसका तिरस्कार करके उस अन्नको खाते ही रहे। तब उसने अत्यन्त अमर्षमें भरकर कुन्तीनन्दन भीमसेनके पीछे खड़े हो अपने दोनों हाथोंसे उनकी पीठपर प्रहार किया ॥ १३-१४ ॥

तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुङ्क्त एव सः ॥ १५ ॥

इस प्रकार बलवान् राक्षसके दोनों हाथोंसे भयानक चोट खाकर भी भीमसेनने उसकी ओर देखा तक नहीं, वे भोजन करनेमें ही संलग्न रहे ॥ १५ ॥

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद् बली ॥ १६ ॥

तब उस बलवान् राक्षसने पुनः अत्यन्त कुपित हो एक वृक्ष उखाड़कर भीमसेनको मारनेके लिये फिर उनपर धावा किया ॥ १६ ॥

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥ १७ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महाबली भीमसेनने धीरे-धीरे वह सब अन्न खाकर, आचमन करके मुँह-हाथ धो लिये, फिर वे अत्यन्त प्रसन्न हो युद्धके लिये डट गये ॥ १७ ॥

क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥ १८ ॥

जनमेजय ! कुपित राक्षसके द्वारा चलाये हुए उस वृक्षको पराक्रमी भीमसेनने बायें हाथसे हँसते हुए-से पकड़ लिया ॥ १८ ॥

ततः स पुनरुद्यम्य वृक्षान् बहुविधान् बली।
प्राहिणोद् भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥

तब उस बलवान् निशाचरने पुनः बहुत-से वृक्षोंको उखाड़ा और भीमसेनपर चला दिया। पाण्डुनन्दन भीमने भी उसपर अनेक वृक्षोंद्वारा प्रहार किया ॥ १९ ॥

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम्।
घोररूपं महाराज नरराक्षसराजयोः ॥ २० ॥

महाराज ! नरराज तथा राक्षसराजका वह भयंकर वृक्ष-युद्ध उस वनके समस्त वृक्षोंके विनाशका कारण बन गया ॥ २० ॥

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम्।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर बकासुरने अपना नाम सुनाकर महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेनकी ओर दौड़कर दोनों बाँहोंसे उन्हें पकड़ लिया ॥ २१ ॥

भीमसेनोऽपि तद् रक्षः परिरभ्य महाभुजः।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद् बली ॥ २२ ॥

महाबाहु बलवान् भीमसेनने भी उस विशाल भुजाओं-वाले राक्षसको दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया और बलपूर्वक उसे इधर-उधर खींचने लगे। उस समय बकासुर उनके बाहुपाशसे छूटनेके लिये छटपटा रहा था ॥ २२ ॥

स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम्।
समयुज्यत तीव्रेण क्लमेन पुरुषादकः ॥ २३ ॥

भीमसेन उस राक्षसको खींचते थे तथा राक्षस भीमसेनको खींच रहा था। इस खींचा-खींचीमें वह नरभक्षी राक्षस बहुत थक गया ॥ २३ ॥

तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥

उन दोनोंके महान् वेगसे धरती जोरसे काँपने लगी। उन दोनोंने उस समय बड़े-बड़े वृक्षोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ २४ ॥

हीयमानं तु तद् रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम्।
निष्पिष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ॥ २५ ॥

उस नरभक्षी राक्षसको कमजोर पड़ते देख भीमसेन उसे पृथ्वीपर पटककर रगड़ने और दोनों घुटनोंसे मारने लगे ।२५।

ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥ २६ ॥
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः।
तद् रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने एक घुटनेसे बलपूर्वक राक्षसकी पीठ दबाकर दाहिने हाथसे उसकी गर्दन पकड़ ली और बायें हाथसे कमरका लँगोट पकड़कर उस राक्षसको दुहरा मोड़ दिया। उस समय वह बड़ी भयानक आवाजमें चीत्कार कर रहा था ॥ २६-२७ ॥

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात् प्रादुरासीद् विशाम्पते।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥ २८ ॥

राजन् ! भीमसेनके द्वारा उस घोर राक्षसकी जब कमर तोड़ी जा रही थी, उस समय उसके मुखसे (बहुत-सा) खून गिरा ।२८।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकभीमसेनयुद्धे द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१६२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुर और भीमसेनका युद्धविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २९ श्लोक हैं।)

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

बकासुरके वधसे राक्षसोंका भयभीत होकर पलायन और नगरनिवासियोंकी प्रसन्नता

वैशम्पायन उवाच

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम्।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद् बकः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पसलीकी हड्डियोंके टूट जानेपर पर्वतके समान विशालकाय बकासुर भयंकर चीत्कार करके प्राणरहित हो गया ॥ १ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद् राजन् सहैव परिचारिभिः ॥ २ ॥
तान् भीतान् विगतज्ञानान् भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान् समये च न्यवेशयत् ॥ ३ ॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ४ ॥

जनमेजय ! उस चीत्कारसे भयभीत हो उस राक्षसके परिवारके लोग अपने सेवकोंके साथ घरसे बाहर निकल आये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने उन्हें भयसे अचेत देखकर ढाढ़स बँधाया और उनसे यह शर्त करा ली कि 'अबसे कभी तुमलोग मनुष्योंकी हिंसा न करना। जो हिंसा करेंगे, उनका शीघ्र ही इसी प्रकार वध कर दिया जायगा' ॥ २-४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ५ ॥

भारत ! भीमकी यह बात सुनकर उन राक्षसोंने 'एवमस्तु' कहकर वह शर्त स्वीकार कर ली ॥ ५ ॥

ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥ ६ ॥

भारत ! तबसे नगरनिवासी मनुष्योंने अपने नगरमें राक्षसोंको बड़े सौम्य स्वभावका देखा ॥ ६ ॥

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम् ।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ॥ ७ ॥

तदनन्तर भीमसेनने उस राक्षसकी लाश उठाकर नगरके दरवाजेपर गिरा दी और स्वयं दूसरोंकी दृष्टिसे अपनेको बचाते हुए चले गये ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा भीमबलोद्भूतं बकं विनिहतं तदा ।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुस्ततस्ततः ॥ ८ ॥

भीमसेनके बलसे बकासुरको पछाड़ा एवं मारा गया देख उस राक्षसके कुटुम्बीजन भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग गये ॥

ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत् ।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥

उस राक्षसको मारनेके पश्चात् भीमसेन ब्राह्मणके उसी घरमें गये तथा वहाँ उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ ९ ॥

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात् कल्यमेव तु ।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् जब सबेरा हुआ और लोग नगरसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा बकासुर खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर मरा पड़ा है ॥ १० ॥

तमद्रिकूटसदृशं विनिकीर्णं भयानकम् ।
दृष्ट्वा संहृष्टरोमाणो बभूवुस्तत्र नागराः ॥ ११ ॥

पर्वतशिखरके समान भयानक उस राक्षसको नगरके दरवाजेपर फेंका हुआ देखकर नगरनिवासी मनुष्योंके शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ११ ॥

एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ।
ततः सहस्रशो राजन् नरा नगरवासिनः ॥ १२ ॥
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशाम्पते ॥ १३ ॥

राजन् ! उन्होंने एकचक्रा नगरीमें जाकर नगरभरमें यह समाचार फैला दिया; फिर तो हजारों नगरनिवासी मनुष्य स्त्री, बच्चों और बूढ़ोंके साथ बकासुरको देखनेके लिये वहाँ आये । उस समय वह अमानुषिक कर्म देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । जनमेजय ! उन सभी लोगोंने देवताओंकी पूजा की ॥ १२-१३ ॥

ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चागम्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव ते ॥ १४ ॥

इसके बाद उन्होंने यह जाननेके लिये कि आज भोजन पहुँचानेकी किसकी बारी थी, दिन आदिकी गणना की । फिर उस ब्राह्मणकी बारीका पता लगनेपर सब लोग उसके पास आकर पूछने लगे ॥ १४ ॥

एवं पृष्टः स बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।
उवाच नागरान् सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ॥ १५ ॥

इस प्रकार उनके बार-बार पूछनेपर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने पाण्डवोंको गुप्त रखते हुए समस्त नागरिकोंसे इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महामनाः ॥ १६ ॥

'कल जब मुझे भोजन पहुँचानेकी आज्ञा मिली, उस समय मैं अपने बन्धुजनोंके साथ रो रहा था । इस दशामें मुझे एक विशाल हृदयवाले मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणने देखा ॥ १६ ॥

परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशं पुरस्य च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणश्रेष्ठो विश्वास्य प्रहसन्निव ॥ १७ ॥

'देखकर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणदेवताने पहले मुझसे सम्पूर्ण नगरके कष्टका कारण पूछा । इसके बाद अपनी अलौकिक शक्तिका विश्वास दिलाकर हँसते हुए-से कहा—॥ १७ ॥

प्रापयिष्याम्यहं तस्मा अन्नमेतद् दुरात्मने ।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! आज मैं स्वयं ही उस दुरात्मा राक्षसके लिये भोजन ले जाऊँगा ।' उन्होंने यह भी बताया कि 'आपको मेरे लिये भय नहीं करना चाहिये' ॥ १८ ॥

स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति ।
तेन नूनं भवेदेतत् कर्म लोकहितं कृतम् ॥ १९ ॥

'वे वह भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके वनकी ओर गये । अवश्य उन्होंने ही यह लोक-हितकारी कर्म किया होगा' ॥ १९ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥ २० ॥

तब तो वे सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आश्चर्यचकित हो आनन्दमें निमग्न हो गये । उस समय उन्होंने ब्राह्मणोंके उपलक्ष्यमें महान् उत्सव मनाया ॥ २० ॥

ततो जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति ।
तदद्भुततमं द्रष्टुं पार्थास्तत्रैव चावसन् ॥ २१ ॥

इसके बाद उस अद्भुत घटनाको देखनेके लिये जनपदमें रहनेवाले सब लोग नगरमें आये और पाण्डवलोग भी (पूर्ववत्) वहीं निवास करने लगे ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकवधे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुरवधविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६३ ॥

(चैत्ररथपर्व)

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका एक ब्राह्मणसे विचित्र कथाएँ सुनना

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम्।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन् किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! पुरुषसिंह पाण्डवोंने उस प्रकार बकासुरका वध करनेके पश्चात् कौन-सा कार्य किया?॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव न्यवसन् राजन् निहत्य बकराक्षसम्।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! बकासुरका वध करनेके पश्चात् पाण्डवलोग ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषदोंका स्वाध्याय करते हुए वहीं ब्राह्मणके घरमें रहने लगे॥ २॥

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः।
प्रतिश्रयार्थी तद् वेश्म ब्राह्मणस्य जगाम ह॥ ३॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक कठोर नियमोंका पालन करनेवाला ब्राह्मण ठहरनेके लिये उन ब्राह्मणदेवताके घरपर आया॥ ३॥

स सम्यक् पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै सदा सर्वातिथिव्रतः॥ ४॥

उन विप्रवरका सदा घरपर आये हुए सभी अतिथियोंकी सेवा करनेका व्रत था। उन्होंने आगन्तुक ब्राह्मणकी भलीभाँति पूजा करके उसे ठहरनेके लिये स्थान दिया॥ ४॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः।
उपासांचक्रिरे विप्रं कथयन्तं कथाः शुभाः॥ ५॥

वह ब्राह्मण बड़ी सुन्दर एवं कल्याणमयी कथाएँ कह रहा था, (अतः उन्हें सुननेके लिये) सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव माता कुन्तीके साथ उसके निकट जा बैठे॥ ५॥

कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा।
राज्ञश्च विविधाश्चर्यान् देशांश्चैव पुराणि च॥ ६॥

उसने अनेक देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, नाना प्रकारके आश्चर्यजनक स्थानों तथा नगरोंका वर्णन किया॥ ६॥

स तत्राकथयद् विप्रः कथान्ते जनमेजय।
पञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम्॥ ७॥

जनमेजय! बातचीतके अन्तमें उस ब्राह्मणने वहाँ यह भी बताया कि पञ्चालदेशमें यज्ञसेनकुमारी द्रौपदीका अद्भुत स्वयंवर होने जा रहा है॥ ७॥

धृष्टद्युम्नस्य चोत्पत्तिमुत्पत्तिं च शिखण्डिनः।
अयोनिजत्वं कृष्णाया द्रुपदस्य महामखे॥ ८॥

धृष्टद्युम्न और शिखण्डीकी उत्पत्ति तथा द्रुपदके महायज्ञमें कृष्णा (द्रौपदी) का बिना माताके गर्भके ही (यज्ञकी वेदीसे) जन्म होना आदि बातें भी उसने कहीं॥ ८॥

तदद्भुततमं श्रुत्वा लोके तस्य महात्मनः।
विस्तरेणैव पप्रच्छुः कथान्ते पुरुषर्षभाः॥ ९॥

उस महात्मा ब्राह्मणका इस लोकमें अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होनेवाला यह वचन सुनकर कथाके अन्तमें पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंने विस्तारपूर्वक जाननेके लिये पूछा॥ ९॥

पाण्डवा ऊचुः

कथं द्रुपदपुत्रस्य धृष्टद्युम्नस्य पावकात्।
वेदीमध्याच्च कृष्णायाः सम्भवः कथमद्भुतः॥ १०॥

पाण्डव बोले—द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नका यज्ञाग्निसे और कृष्णाका यज्ञवेदीके मध्यभागसे अद्भुत जन्म किस प्रकार हुआ?॥ १०॥

कथं द्रोणान्महेष्वासात् सर्वाण्यस्त्राण्यशिक्षत।
कथं विप्र सखायौ तौ भिन्नौ कस्य कृतेन वा॥ ११॥

धृष्टद्युम्नने महाधनुर्धर द्रोणसे सब अस्त्रोंकी शिक्षा किस प्रकार प्राप्त की? ब्रह्मन्! द्रुपद और द्रोणमें किस प्रकार मैत्री हुई? और किस कारणसे उनमें वैर पड़ गया?॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तैश्चोदितो राजन् स विप्रः पुरुषर्षभैः।
कथयामास तत् सर्वं द्रौपदीसम्भवं तदा॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंके इस प्रकार पूछनेपर आगन्तुक ब्राह्मणने उस समय द्रौपदीकी उत्पत्तिका सारा वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया। १२।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥१६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें ब्राह्मणकथाविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणके द्वारा द्रुपदके अपमानित होनेका वृत्तान्त

ब्राह्मण उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूवर्षिर्महातपाः।
भरद्वाजो महाप्राज्ञः सततं संशितव्रतः॥ १॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—गङ्गाद्वारमें एक महाबुद्धिमान् और परम तपस्वी भरद्वाज नामक महर्षि रहते थे, जो सदा कठोर व्रतका पालन करते थे॥ १॥

सोऽभिषेक्तुं गतो गङ्गां पूर्वमेवागतां सतीम्।
ददर्शाप्सरसं तत्र घृताचीमाप्लुतामृषिः॥ २॥

एक दिन वे गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये। वहाँ पहलेसे ही आकर सुन्दरी अप्सरा घृताची नामवाली गङ्गाजीमें गोते लगा रही थी। महर्षिने उसे देखा॥ २॥

तस्या वायुर्नदीतीरे वसनं व्यहरत् तदा।
अपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे तदा॥ ३॥

जब नदीके तटपर खड़ी हो वह वस्त्र बदलने लगी, उस समय वायुने उसकी साड़ी उड़ा दी। वस्त्र हट जानेसे उसे नग्नावस्थामें देखकर महर्षिने उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की॥ ३॥

तस्यां संसक्तमनसः कौमारब्रह्मचारिणः।
चिरस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे॥ ४॥

मुनिवर भरद्वाजने कुमारावस्थासे ही दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। घृताचीमें चित्त आसक्त हो जानेके कारण उनका वीर्य स्खलित हो गया। महर्षिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश) में रख दिया॥ ४॥

ततः समभवद् द्रोणः कुमारस्तस्य धीमतः।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः॥ ५॥

उसीसे बुद्धिमान् भरद्वाजजीके द्रोण नामक पुत्र हुआ। उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदाङ्गोंका भी अध्ययन कर लिया॥ ५॥

भरद्वाजस्य तु सखा पृषतो नाम पार्थिवः।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः॥ ६॥

पृषत नामके एक राजा भरद्वाज मुनिके मित्र थे। उन्हीं दिनों राजा पृषतके भी द्रुपद नामक पुत्र हुआ॥ ६॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्षतः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः॥ ७॥

क्षत्रियशिरोमणि पृषतकुमार द्रुपद प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाकर द्रोणके साथ खेलते और अध्ययन करते थे॥ ७॥

ततस्तु पृषतेऽतीते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
द्रोणोऽपि रामं शुश्राव दित्सन्तं वसु सर्वशः॥ ८॥
वनं तु प्रस्थितं रामं भरद्वाजसुतोऽब्रवीत्।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तम॥ ९॥

पृषतकी मृत्युके पश्चात् द्रुपद राजा हुए। इधर द्रोणने भी यह सुना कि परशुरामजी अपना सारा धन दान कर देना चाहते हैं और वनमें जानेके लिये उद्यत हैं। तब वे भरद्वाजनन्दन द्रोण परशुरामजीके पास जाकर बोले—'द्विजश्रेष्ठ! मुझे द्रोण जानिये। मैं धनकी कामनासे यहाँ आया हूँ'॥ ८-९॥

राम उवाच

शरीरमात्रमेवाद्य मया समवशेषितम्।
अस्त्राणि वा शरीरं वा ब्रह्मन्नेकतमं वृणु॥ १०॥

परशुरामजीने कहा—ब्रह्मन्! अब तो केवल मैंने अपने शरीरको ही बचा रक्खा है (शरीरके सिवा सब कुछ दान कर दिया)। अतः अब तुम मेरे अस्त्रों अथवा यह शरीर—दोनोंमेंसे किसी एकको माँग लो॥ १०॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि चैव सर्वाणि तेषां संहारमेव च।
प्रयोगं चैव सर्वेषां दातुमर्हति मे भवान्॥ ११॥

द्रोण बोले—भगवन्! आप मुझे सम्पूर्ण अस्त्र तथा उन सबके प्रयोग और उपसंहारकी विधि भी प्रदान करें॥ ११॥

ब्राह्मण उवाच

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रददौ भृगुनन्दनः।
प्रतिगृह्य तदा द्रोणः कृतकृत्योऽभवत् तदा॥ १२॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—तब भृगुनन्दन परशुरामजीने 'तथास्तु' कहकर अपने सब अस्त्र द्रोणको दे दिये। उन सबको ग्रहण करके द्रोण उस समय कृतार्थ हो गये॥ १२॥

सम्प्रहृष्टमना द्रोणो रामात् परमसम्मतम्।
ब्रह्मास्त्रं समनुप्राप्य नरेष्वभ्यधिकोऽभवत्॥ १३॥

उन्होंने परशुरामजीसे प्रसन्नचित्त होकर परम सम्मानित ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त किया और मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर हो गये॥ १३॥

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान्।
अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः सखायं विद्धि मामिति॥ १४॥

तब पुरुषसिंह प्रतापी द्रोणने राजा द्रुपदके पास जाकर कहा—'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ, मुझे पहचानो'॥ १४॥

द्रुपद उवाच

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते॥ १५॥

द्रुपदने कहा—जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका; जो रथी नहीं है, वह रथी वीरका और इसी प्रकार जो

राजा नहीं है, वह किसी राजाका मित्र होने योग्य नहीं है; फिर तुम पहलेकी मित्रताकी अभिलाषा क्यों करते हो ? ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चाल्यं प्रति बुद्धिमान्।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १६ ॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—बुद्धिमान् द्रोणने पाञ्चालराज द्रुपदसे बदला लेनेका मन-ही-मन निश्चय किया। फिर वे कुरुवंशी राजाओंकी राजधानी हस्तिनापुरमें गये ॥ १६ ॥

तस्मै पौत्रान् समादाय वसूनि विविधानि च।
प्राप्ताय प्रददौ भीष्मः शिष्यान् द्रोणाय धीमते ॥ १७ ॥

वहाँ जानेपर बुद्धिमान् द्रोणको नाना प्रकारके धन लेकर भीष्मजीने अपने सभी पौत्रोंको उन्हें शिष्यरूपमें सौंप दिया ॥

द्रोणः शिष्यांस्ततः पार्थानिदं वचनमब्रवीत्।
समानीय तु ताञ्शिष्यान् द्रुपदस्यासुखाय वै ॥ १८ ॥

तब द्रोणने सब शिष्योंको एकत्र करके, जिनमें कुन्तीके पुत्र तथा अन्य लोग भी थे, द्रुपदको कष्ट देनेके उद्देश्यसे इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

आचार्यवेतनं किंचिद्धृदि यद् वर्तते मम।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं स्यात् तदृतं वदतानघाः।
सोऽर्जुनप्रमुखैरुक्तस्तथास्त्विति गुरुस्तदा ॥ १९ ॥

'निष्पाप शिष्यगण ! मेरे मनमें तुमलोगोंसे कुछ गुरुदक्षिणा लेनेकी इच्छा है। अस्त्रविद्यामें पारङ्गत होनेपर तुम्हें वह दक्षिणा देनी होगी। इसके लिये सच्ची प्रतिज्ञा करो।' तब अर्जुन आदि शिष्योंने अपने गुरुसे कहा—'तथास्तु (ऐसा ही होगा)' ॥ १९ ॥

यदा च पाण्डवाः सर्वे कृतास्त्राः कृतनिश्चयाः।
ततो द्रोणोऽब्रवीद् भूयो वेतनार्थमिदं वचः ॥ २० ॥

जब समस्त पाण्डव अस्त्रविद्यामें पारङ्गत हो गये और प्रतिज्ञापालनके निश्चयपर दृढ़तापूर्वक डटे रहे, तब द्रोणाचार्यने गुरुदक्षिणा लेनेके लिये पुनः यह बात कही— ॥ २० ॥

पार्षतो द्रुपदो नामच्छत्रवत्यां नरेश्वरः।
तस्मादाकृष्य तद् राज्यं मम शीघ्रं प्रदीयताम् ॥ २१ ॥

'अहिच्छत्रा नगरीमें पृषतके पुत्र राजा द्रुपद रहते हैं। उनसे उनका राज्य छीनकर शीघ्र मुझे अर्पित कर दो' ॥

(धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः पञ्चालान् पाण्डवा ययुः ॥
यज्ञसेनेन संगम्य कर्णदुर्योधनादयः।
निर्जिताः संन्यवर्तन्त तथान्ये क्षत्रियर्षभाः ॥)
ततः पाण्डुसुताः पञ्च निर्जित्य द्रुपदं युधि।
द्रोणाय दर्शयामासुर्बद्ध्वा ससचिवं तदा ॥ २२ ॥

(गुरुकी आज्ञा पाकर) धृतराष्ट्रपुत्रोंसहित पाण्डव पञ्चाल देशमें गये। वहाँ राजा द्रुपदके साथ युद्ध होनेपर कर्ण, दुर्योधन आदि कौरव तथा दूसरे-दूसरे प्रमुख क्षत्रिय वीर परास्त होकर रणभूमिसे भाग गये। तब पाँचों पाण्डवोंने द्रुपदको युद्धमें परास्त कर दिया और मन्त्रियोंसहित उन्हें कैद करके द्रोणके सम्मुख ला दिया ॥ २२ ॥

(महेन्द्र इव दुर्धर्षो महेन्द्र इव दानवम्।
महेन्द्रपुत्रः पाञ्चालं जितवानर्जुनस्तदा ॥
तद् दृष्ट्वा तु महावीर्यं फाल्गुनस्यामितौजसः।
व्यस्मयन्त जनाः सर्वे यज्ञसेनस्य बान्धवाः ॥
नास्त्यर्जुनसमो वीर्ये राजपुत्र इति ब्रुवन् ॥)

महेन्द्रपुत्र अर्जुन महेन्द्र पर्वतके समान दुर्धर्ष थे। जैसे महेन्द्रने दानवराजको परास्त किया था, उसी प्रकार उन्होंने पाञ्चालराजपर विजय पायी। अमिततेजस्वी अर्जुनका वह महान् पराक्रम देख राजा द्रुपदके समस्त बान्धवजन बड़े विस्मित हुए और मन-ही-मन कहने लगे—'अर्जुनके समान शक्तिशाली दूसरा कोई राजकुमार नहीं है' ॥

द्रोण उवाच

प्रार्थयामि त्वया सख्यं पुनरेव नराधिप।
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति ॥ २३ ॥
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन त्वया सह।
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! मैं फिर भी तुमसे मित्रताके लिये प्रार्थना करता हूँ। यज्ञसेन ! तुमने कहा था, जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता; अतः मैंने राज्य-प्राप्तिके लिये तुम्हारे साथ युद्धका प्रयास किया है। तुम गङ्गाके दक्षिणतटके राजा रहो और मैं उत्तरतटका ॥ २३-२४ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्तो हि पाञ्चाल्यो भारद्वाजेन धीमता।
उवाचास्त्रविदां श्रेष्ठो द्रोणं ब्राह्मणसत्तमम् ॥ २५ ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—बुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणके यों कहनेपर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पञ्चालनरेश द्रुपदने विप्रवर द्रोणसे इस प्रकार कहा— ॥ २५ ॥

एवं भवतु भद्रं ते भारद्वाज महामते।
सख्यं तदेव भवतु शश्वद् यदभिमन्यसे ॥ २६ ॥

'महामते द्रोण ! एवमस्तु, आपका कल्याण हो। आपकी जैसी राय है, उसके अनुसार हम दोनोंकी वही पुरानी मैत्री सदा बनी रहे' ॥ २६ ॥

एवमन्योन्यमुक्त्वा तौ कृत्वा सख्यमनुत्तमम्।
जग्मतुर्द्रोणपाञ्चाल्यौ यथागतमरिंदमौ ॥ २७ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणाचार्य और द्रुपद एक दूसरेसे उपर्युक्त बातें कहकर परम उत्तम मैत्रीभाव स्थापित करके इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २७ ॥

असत्कारः स तु महान् मुहूर्तमपि तस्य तु ।
नापैति हृदयाद् राज्ञो दुर्मनाः स कृशोऽभवत् ॥ २८ ॥

उस समय उनका जो महान् अपमान हुआ, वह दो घड़ीके लिये भी राजा द्रुपदके हृदयसे निकल नहीं पाया। वे मन-ही-मन बहुत दुखी थे और उनका शरीर भी बहुत दुर्बल हो गया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदके यज्ञसे धृष्टद्युम्न और द्रौपदीकी उत्पत्ति

ब्राह्मण उवाच

अमर्षी द्रुपदो राजा कर्मसिद्धान् द्विजर्षभान् ।
अन्विच्छन् परिचक्राम ब्राह्मणावसथान् बहून् ॥ १ ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—राजा द्रुपद अमर्षमें भर गये थे, अतः उन्होंने कर्मसिद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ढूँढ़नेके लिये बहुत-से ब्रह्मर्षियोंके आश्रमोंमें भ्रमण किया ॥ १ ॥

पुत्रजन्म परीप्सन् वै शोकोपहतचेतनः ।
नास्ति श्रेष्ठमपत्यं मे इति नित्यमचिन्तयत् ॥ २ ॥

वे अपने लिये एक श्रेष्ठ पुत्र चाहते थे। उनका चित्त शोकसे व्याकुल रहता था। वे रात-दिन इसी चिन्तामें पड़े रहते थे कि मेरे कोई श्रेष्ठ संतान नहीं है ॥ २ ॥

जातान् पुत्रान् स निर्वेदाद् धिग् बन्धूनिति चाब्रवीत् ।
निःश्वासपरमश्चासीद् द्रोणं प्रतिचिकीर्षया ॥ ३ ॥

जो पुत्र या भाई-बन्धु उत्पन्न हो चुके थे, उन्हें वे खेदवश धिक्कारते रहते थे। द्रोणसे बदला लेनेकी इच्छा रखकर राजा द्रुपद सदा लंबी साँसें खींचा करते थे ॥ ३ ॥

प्रभावं विनयं शिक्षां द्रोणस्य चरितानि च ।
क्षात्रेण च बलेनास्य चिन्तयन् नाध्यगच्छत ॥ ४ ॥
प्रतिकर्तुं नृपश्रेष्ठो यतमानोऽपि भारत ।
अभितः सोऽथ कल्माषीं गङ्गाकूले परिभ्रमन् ॥ ५ ॥
ब्राह्मणावसथं पुण्यमाससाद महीपतिः ।
तत्र नास्नातकः कश्चिन्न चासीदव्रती द्विजः ॥ ६ ॥

जनमेजय ! नृपश्रेष्ठ द्रुपद द्रोणाचार्यसे बदला लेनेके लिये यत्न करनेपर भी उनके प्रभाव, विनय, शिक्षा एवं चरित्रका चिन्तन करके क्षात्रबलके द्वारा उन्हें परास्त करनेका कोई उपाय न जान सके। वे कृष्णवर्णा यमुना तथा गङ्गा दोनोंके तटोंपर घूमते हुए ब्राह्मणोंकी एक पवित्र बस्तीमें जा पहुँचे। वहाँ उन महाभाग नरेशने एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं देखा, जिसने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करके वेद-वेदाङ्गकी शिक्षा न प्राप्त की हो ॥ ४–६ ॥

तथैव च महाभागः सोऽपश्यत् संशितव्रतौ ।
याजोपयाजौ ब्रह्मर्षी शाम्यन्तौ परमेष्ठिनौ ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन महाभागने वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले दो ब्रह्मर्षियोंको देखा, जिनके नाम थे याज और उपयाज। वे दोनों ही परम शान्त और परमेष्ठी ब्रह्माके तुल्य प्रभावशाली थे ॥ ७ ॥

संहिताध्ययने युक्तौ गोत्रतश्चापि काश्यपौ ।
तारणेयौ युक्तरूपौ ब्राह्मणावृषिसत्तमौ ॥ ८ ॥

वे वैदिक संहिताके अध्ययनमें सदा संलग्न रहते थे। उनका गोत्र काश्यप था। वे दोनों ब्राह्मण सूर्यदेवके भक्त, बड़े ही योग्य तथा श्रेष्ठ ऋषि थे ॥ ८ ॥

स तावामन्त्रयामास सर्वकामैरतन्द्रितः ।
बुद्ध्वा बलं तयोस्तत्र कनीयांसमुपह्वरे ॥ ९ ॥
प्रपेदे छन्दयन् कामैरुपयाजं धृतव्रतम् ।
पादशुश्रूषणे युक्तः प्रियवाक् सर्वकामदः ॥ १० ॥
अर्चयित्वा यथान्यायमुपयाजमुवाच सः ।
येन मे कर्मणा ब्रह्मन् पुत्रः स्याद् द्रोणमृत्यवे ॥ ११ ॥
उपयाज कृते तस्मिन् गवां दातास्मि तेऽर्बुदम् ।
यद् वा तेऽन्यद् द्विजश्रेष्ठ मनसः सुप्रियं भवेत् ।
सर्वं तत् ते प्रदाताहं न हि मेऽत्रास्ति संशयः ॥ १२ ॥

उन दोनोंकी शक्तिको समझकर आलस्यरहित राजा द्रुपदने उन्हें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग-पदार्थ अर्पण करनेका संकल्प लेकर निमन्त्रित किया। उन दोनोंमेंसे जो छोटे उपयाज थे, वे अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले थे। द्रुपद एकान्तमें उनसे मिले और इच्छानुसार भोग्य वस्तुएँ अर्पण करके उन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा करने लगे। सम्पूर्ण मनोभिलषित पदार्थोंको देनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय वचन बोलते हुए द्रुपद मुनिके चरणोंकी सेवामें लग गये और यथायोग्य पूजन करके उपयाजसे बोले—'विप्रवर उपयाज ! जिस कर्मसे मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो द्रोणाचार्यको मार सके। उस कर्मके पूरा होनेपर मैं आपको एक

अर्बुद (दस करोड़) गायें दूँगा। द्विजश्रेष्ठ ! इसके सिवा और भी जो आपके मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली वस्तु होगी, वह सब आपको अर्पित करूँगा, इसमें कोई संशय नही है' ॥ ९-१२ ॥

इत्युक्तो नाहमित्येवं तमृषिः प्रत्यभाषत।
आराधयिष्यन् द्रुपदः स तं पर्यचरत् पुनः ॥ १३ ॥

द्रुपदके यों कहनेपर ऋषि उपयाजने उन्हें जवाब दे दिया, 'मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा।' परंतु द्रुपद उन्हें प्रसन्न करनेका निश्चय करके पुनः उनकी सेवामें लगे रहे ॥ १३ ॥

ततः संवत्सरस्यान्ते द्रुपदं स द्विजोत्तमः।
उपयाजोऽब्रवीत् काले राजन् मधुरया गिरा ॥ १४ ॥
ज्येष्ठो भ्राता ममागृह्णाद् विचरन् गहने वने।
अपरिज्ञातशौचायां भूमौ निपतितं फलम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर द्विजश्रेष्ठ उपयाजने उपयुक्त अवसरपर मधुर वाणीमें द्रुपदसे कहा—'राजन्! मेरे बड़े भाई याज एक समय घने वनमें विचर रहे थे। उन्होंने एक ऐसी जमीनपर गिरे हुए फलको उठा लिया, जिसकी शुद्धिके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं था ॥ १४-१५ ॥

तदपश्यमहं भ्रातुरसाम्प्रतमनुव्रजन्।
विमर्शं संकरादाने नायं कुर्यात् कदाचन ॥ १६ ॥

'मैं भी भाईके पीछे-पीछे जा रहा था; अतः मैंने उनके इस अयोग्य कार्यको देख लिया और सोचा कि ये अपवित्र वस्तुको ग्रहण करनेमें भी कभी कोई विचार नहीं करते ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा फलस्य नापश्यद् दोषान् पापानुबन्धकान्।
विविनक्ति न शौचं यः सोऽन्यत्रापि कथं भवेत् ॥ १७ ॥

'जिन्होंने देखकर भी फलके पापजनक दोषोंकी ओर दृष्टिपात नहीं किया, जो किसी वस्तुको लेनेमें शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं करते, वे दूसरे कार्योंमें भी कैसा बर्ताव करेंगे, कहा नहीं जा सकता ॥ १७ ॥

संहिताध्ययनं कुर्वन् वसन् गुरुकुले च यः।
भैक्ष्यमुत्सृष्टमन्येषां भुङ्क्ते स च यदा तदा ॥ १८ ॥
कीर्तयन् गुणमन्नानामघृणी च पुनः पुनः।
तं वै फलार्थिनं मन्ये भ्रातरं तर्कचक्षुषा ॥ १९ ॥

'गुरुकुलमें रहकर संहिताभागका अध्ययन करते हुए भी जो दूसरोंकी त्यागी हुई भिक्षाको जब-तब खा लिया करते थे और घृणाशून्य होकर बार-बार उस अन्नके गुणोंका वर्णन करते रहते थे, उन अपने भाईको जब मैं तर्ककी दृष्टिसे देखता हूँ तो वे मुझे फलके लोभी जान पड़ते हैं ॥ १८-१९ ॥

तं वै गच्छस्व नृपते स त्वां संयाजयिष्यति।
जुगुप्समानो नृपतिर्मनसेदं विचिन्तयन् ॥ २० ॥
उपयाजवचः श्रुत्वा याजस्याश्रममभ्यगात्।
अभिसम्पूज्य पूजार्हमथ याजमुवाच ह ॥ २१ ॥

'राजन्! तुम उन्हींके पास जाओ। वे तुम्हारा यज्ञ करा



देंगे।' राजा द्रुपद उपयाजकी बात सुनकर याजके इस चरित्रकी मन-ही-मन निन्दा करने लगे, तो भी अपने कार्यका विचार करके याजके आश्रमपर गये और पूजनीय याज मुनिका पूजन करके तब उनसे इस प्रकार बोले—॥ २०-२१ ॥

अयुतानि ददान्यष्टौ गवां याजय मां विभो।
द्रोणवैराभिसंतप्तं प्रह्लादयितुमर्हसि ॥ २२ ॥

'भगवन्! मैं आपको अस्सी हजार गौएँ भेंट करता हूँ। आप मेरा यज्ञ करा दीजिये। मैं द्रोणके वैरसे संतप्त हो रहा हूँ। आप मुझे प्रसन्नता प्रदान करें ॥ २२ ॥

स हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ब्रह्मास्त्रे चाप्यनुत्तमः।
तस्माद् द्रोणः पराजैष्ट मां वै स सखिविग्रहे ॥ २३ ॥

'द्रोणाचार्य ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और ब्रह्मास्त्रके प्रयोगमें भी सर्वोत्तम हैं; इसलिये मित्र मानने-न-माननेके प्रश्नको लेकर होनेवाले झगड़ेमें उन्होंने मुझे पराजित कर दिया है ॥ २३ ॥

क्षत्रियो नास्ति तस्यास्यां पृथिव्यां कश्चिदग्रणीः।
कौरवाचार्यमुख्यस्य भारद्वाजस्य धीमतः ॥ २४ ॥

'परम बुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोण इन दिनों कुरुवंशी राजकुमारोंके प्रधान आचार्य हैं। इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसा क्षत्रिय नहीं है, जो अस्त्रविद्यामें उनसे आगे बढ़ा हो ॥ २४ ॥

द्रोणस्य शरजालानि प्राणिदेहहराणि च।
षडरत्नि धनुश्चास्य दृश्यते परमं महत् ॥ २५ ॥
स हि ब्राह्मणवेषेण क्षात्रं वेगमसंशयम्।
प्रतिहन्ति महेष्वासो भारद्वाजो महामनाः ॥ २६ ॥

'द्रोणाचार्यके बाणसमूह प्राणियोंके शरीरका संहार करनेवाले हैं। उनका छः हाथका लंबा धनुष बहुत बड़ा दिखायी देता है। इसमें संदेह नहीं कि महान् धनुर्धर महामना द्रोण ब्राह्मण-वेशमें (अपने ब्राह्मतेजके द्वारा) क्षत्रिय-तेजको प्रतिहत कर देते हैं ॥ २५-२६ ॥

क्षत्रोच्छेदाय विहितो जामदग्न्य इवास्थितः ।
तस्य ह्यस्त्रबलं घोरमप्रधृष्यं नरैर्भुवि ॥ २७ ॥

'मानो जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी भाँति क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये उनकी सृष्टि हुई है। उनका अस्त्रबल बड़ा भयंकर है। पृथ्वीके सब मनुष्य मिलकर भी उसे दबा नहीं सकते ॥ २७ ॥

ब्राह्मं संधारयंस्तेजो हुताहुतिरिवानलः ।
समेत्य स दहत्याजौ क्षात्रधर्मपुरस्सरः ॥ २८ ॥

'घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान वे प्रचण्ड ब्राह्मतेज धारण करते हैं और युद्धमें क्षात्रधर्मको आगे रखकर विपक्षियोंसे भिड़ंत होनेपर वे उन्हें भस्म कर डालते हैं ॥ २८ ॥

ब्रह्मक्षत्रे च विहिते ब्राह्मं तेजो विशिष्यते ।
सोऽहं क्षात्राद् बलाद्धीनो ब्राह्मं तेजः प्रपेदिवान्॥ २९ ॥

'यद्यपि द्रोणाचार्यमें ब्राह्मतेजके साथ-साथ क्षात्रतेज भी विद्यमान है, तथापि आपका ब्राह्मतेज उनसे बढ़कर है। मैं केवल क्षात्रबलके कारण द्रोणाचार्यसे हीन हूँ; अतः मैंने आपके ब्राह्मतेजकी शरण ली है ॥ २९ ॥

द्रोणाद् विशिष्टमासाद्य भवन्तं ब्रह्मवित्तमम् ।
द्रोणान्तकमहं पुत्रं लभेयं युधि दुर्जयम् ॥ ३० ॥

'आप वेदवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण द्रोणाचार्यसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। मैं आपकी शरण लेकर एक ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो युद्धमें दुर्जय और द्रोणाचार्यका विनाशक हो ॥ ३० ॥

तत् कर्म कुरु मे याज वितराम्यर्बुदं गवाम् ।
तथेत्युक्त्वा तु तं याजो याज्यार्थमुपकल्पयत् ॥ ३१ ॥

'याजजी ! मेरे इस मनोरथको पूर्ण करनेवाला यज्ञ कराइये। उसके लिये मैं आपको एक अर्बुद गौएँ दक्षिणामें दूँगा।'

तब याजने 'तथास्तु' कहकर यजमानकी अभीष्टसिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञ और उसके साधनोंका स्मरण किया ॥ ३१ ॥

गुर्वर्थं इति चाकाममुपयाजमचोदयत् ।
याजो द्रोणविनाशाय प्रतिजज्ञे तथा च सः ॥ ३२ ॥
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य उपयाजो महातपाः ।
आचख्यौ कर्म वैतानं तदा पुत्रफलाय वै ॥ ३३ ॥

'यह बहुत बड़ा कार्य है' ऐसा विचार करके याजने इस कार्यके लिये किसी प्रकारकी कामना न रखनेवाले उपयाजको भी प्रेरित किया तथा याजने द्रोणके विनाशके लिये वैसा पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। इसके बाद महातपस्वी उपयाजने राजा द्रुपदको अभीष्ट पुत्ररूपी फलकी सिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञकर्मका उपदेश किया ॥ ३२-३३ ॥

स च पुत्रो महावीर्यो महातेजा महाबलः ।
इष्यते यद्विधो राजन् भविता ते तथाविधः ॥ ३४ ॥

और कहा—'राजन् ! इस यज्ञसे तुम जैसा पुत्र चाहते हो, वैसा ही तुम्हें होगा। तुम्हारा वह पुत्र महान् पराक्रमी, महातेजस्वी और महाबली होगा' ॥ ३४ ॥

भारद्वाजस्य हन्तारं सोऽभिसंधाय भूपतिः ।
आजह्रे तत् तथा सर्वं द्रुपदः कर्मसिद्धये ॥ ३५ ॥

तदनन्तर द्रोणके घातक पुत्रका संकल्प लेकर राजा द्रुपदने कर्मकी सिद्धिके लिये उपयाजके कथनानुसार सारी व्यवस्था की ॥ ३५ ॥

याजस्तु हवनस्यान्ते देवीमाज्ञापयत् तदा ।
प्रेहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम् ॥ ३६ ॥
(कुमारश्च कुमारी च पितृवंशविवृद्धये ।)

हवनके अन्तमें याजने द्रुपदकी रानीको आज्ञा दी—'पृषतकी पुत्रवधू ! महारानी ! शीघ्र मेरे पास हविष्य ग्रहण करनेके लिये आओ। तुम्हें एक पुत्र और एक कन्याकी प्राप्ति होनेवाली है, वे कुमार और कुमारी अपने पिताके कुलकी वृद्धि करनेवाले होंगे' ॥ ३६ ॥

राज्युवाच

अवलिप्तं मुखं ब्रह्मन् दिव्यान् गन्धान् बिभर्मि च ।
सुतार्थे नोपलब्धास्मि तिष्ठ याज मम प्रिये ॥ ३७ ॥

रानी बोली—ब्रह्मन् ! अभी मेरे मुखमें ताम्बूल आदिका रंग लगा है ! मैं अपने अङ्गोंमें दिव्य सुगन्धित अङ्गराग धारण कर रही हूँ, अतः मुँह धोये और स्नान किये बिना पुत्रदायक हविष्यका स्पर्श करनेके योग्य नहीं हूँ, इसलिये याजजी ! मेरे इस प्रिय कार्यके लिये थोड़ी देर ठहर जाइये ॥ ३७ ॥

याज उवाच

याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजाभिमन्त्रितम् ।
कथं कामं न संदध्यात् सा त्वं विप्रेहि तिष्ठ वा ॥ ३८ ॥

याजने कहा—इस हविष्यको स्वयं याजने पकाकर तैयार किया है और उपयाजने इसे अभिमन्त्रित किया है; अतः तुम आओ या वहीं खड़ी रहो, यह हविष्य यजमानकी कामनाको पूर्ण कैसे नहीं करेगा ? ॥ ३८ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते ।
उत्तस्थौ पावकात् तस्मात् कुमारो देवसंनिभः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण कहता है—यों कहकर याजने उस संस्कार-युक्त हविष्यकी आहुति ज्यों ही अग्निमें डाली, त्यों ही उस अग्निसे देवताके समान तेजस्वी एक कुमार प्रकट हुआ॥ ३९॥

ज्वालावर्णो घोररूपः किरीटी वर्म चोत्तमम्।
बिभ्रत् सखड्गः सशरो धनुष्मान् विनदन् मुहुः॥ ४०॥

उसके अङ्गोंकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित हो रही थी। उसका रूप भय उत्पन्न करनेवाला था। उसके माथेपर किरीट सुशोभित था। उसने अङ्गोंमें उत्तम कवच धारण कर रक्खा था। हाथोंमें खड्ग, बाण और धनुष धारण किये वह बार-बार गर्जना कर रहा था॥ ४०॥

सोऽध्यारोहद् रथवरं तेन च प्रययौ तदा।
ततः प्रणेदुः पञ्चालाः प्रहृष्टाः साधु साध्विति॥ ४१॥

वह कुमार उसी समय एक श्रेष्ठ रथपर जा चढ़ा, मानो उसके द्वारा युद्धके लिये यात्रा कर रहा हो। यह देखकर पाञ्चालोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे जोर-जोरसे बोल उठे, 'बहुत अच्छा', 'बहुत अच्छा'॥ ४१॥

हर्षाविष्टांस्ततश्चैतान् नेयं सेहे वसुंधरा।
भयापहो राजपुत्रः पाञ्चालानां यशस्करः॥ ४२॥
राज्ञः शोकापहो जात एष द्रोणवधाय वै।
इत्युवाच महद् भूतमदृश्यं खेचरं तदा॥ ४३॥

उस समय हर्षोल्लाससे भरे हुए इन पाञ्चालोंका भार यह पृथ्वी नहीं सह सकी। आकाशमें कोई अदृश्य महाभूत इस प्रकार कहने लगा—'यह राजकुमार पाञ्चालोंके भयको दूर करके उनके यशकी वृद्धि करनेवाला होगा। यह राजा द्रुपदका शोक दूर करनेवाला है। द्रोणाचार्यके वधके लिये ही इसका जन्म हुआ है'॥ ४२-४३॥

कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात् समुत्थिता।
सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायतलोचना॥ ४४॥

तत्पश्चात् यज्ञकी वेदीमेंसे एक कुमारी कन्या भी प्रकट हुई, जो पाञ्चाली कहलायी। वह बड़ी सुन्दरी एवं सौभाग्य-शालिनी थी। उसका एक-एक अङ्ग देखने ही योग्य था। उसकी श्याम आँखें बड़ी-बड़ी थीं॥ ४४॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा।
ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूश्चारुपीनपयोधरा॥ ४५॥

उसके शरीरकी कान्ति श्याम थी। नेत्र ऐसे जान पड़ते मानो खिले हुए कमलके दल हों। केश काले-काले और घुँघराले थे। नख उभरे हुए और लाल रंगके थे। भौंहें बड़ी सुन्दर थीं। दोनों उरोज स्थूल और मनोहर थे॥ ४५॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षादमरवर्णिनी।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रधावति॥ ४६॥

वह ऐसी जान पड़ती मानो साक्षात् देवी दुर्गा ही मानवशरीर धारण करके प्रकट हुई हों। उसके अङ्गोंसे नील कमलकी-सी सुगन्ध प्रकट होकर एक कोसतक चारों ओर फैल रही थी॥ ४६॥

या बिभर्ति परं रूपं यस्या नास्त्युपमा भुवि।
देवदानवयक्षाणामीप्सितां देवरूपिणीम्॥ ४७॥

उसने परम सुन्दर रूप धारण कर रक्खा था। उस समय पृथ्वीपर उसके-जैसी सुन्दर स्त्री दूसरी नहीं थी। देवता, दानव और यक्ष भी उस देवोपम कन्याको पानेके लिये लालायित थे॥ ४७॥

तां चापि जातां सुश्रोणीं वागुवाचाशरीरिणी।
सर्वयोषिद्वरा कृष्णा निनीषुः क्षत्रियान् क्षयम्॥ ४८॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली उस कन्याके प्रकट होनेपर भी आकाशवाणी हुई—'इस कन्याका नाम कृष्णा है। यह समस्त युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं सुन्दरी है और क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये प्रकट हुई है॥ ४८॥

सुरकार्यमियं काले करिष्यति सुमध्यमा।
अस्या हेतोः कौरवाणां महदुत्पत्स्यते भयम्॥ ४९॥

'यह सुमध्यमा समयपर देवताओंका कार्य सिद्ध करेगी। इसके कारण कौरवोंको बहुत बड़ा भय प्राप्त होगा'॥ ४९॥

तच्छ्रुत्वा सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत्।
न चैतान् हर्षसम्पूर्णानियं सेहे वसुंधरा॥ ५०॥

वह आकाशवाणी सुनकर समस्त पाञ्चाल सिंहोंके समुदाय-की भाँति गर्जना करने लगे। उस समय हर्षमें भरे हुए उन पाञ्चालोंका वेग पृथ्वी नहीं सह सकी॥ ५०॥

तौ दृष्ट्वा पार्षती याजं प्रपेदे वै सुतार्थिनी।
न वै मदन्यां जननीं जानीयातामिमाविति॥ ५१॥

उन दोनों पुत्र और पुत्रीको देखकर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली राजा पृषतकी पुत्रवधू महर्षि याजकी शरणमें गयी और बोली—'भगवन्! आप ऐसी कृपा करें, जिससे ये दोनों बच्चे मेरे सिवा और किसीको अपनी माता न समझें'॥ ५१॥

तथेत्युवाच तं याजो राज्ञः प्रियचिकीर्षया।
तयोश्च नामनी चक्रुर्द्विजाः सम्पूर्णमानसाः॥ ५२॥

तब राजाका प्रिय करनेकी इच्छासे याजने कहा—'ऐसा ही होगा।' उस समय सम्पूर्ण द्विजोंने सफल-मनोरथ होकर उन बालकोंके नामकरण किये॥ ५२॥

धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद्युत्सम्भवादपि।
धृष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति॥ ५३॥

यह द्रुपदकुमार धृष्ट, अमर्षशील तथा द्युम्न (तेजोमय कवच-कुण्डल एवं क्षात्रतेज) आदिके साथ उत्पन्न होनेके कारण 'धृष्टद्युम्न' नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ५३ ॥

कृष्णेत्येवाब्रुवन् कृष्णां कृष्णाभूत् सा हि वर्णतः।
तथा तन्मिथुनं जज्ञे द्रुपदस्य महामखे ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने कुमारीका नाम कृष्णा रक्खा; क्योंकि वह शरीरसे कृष्ण (श्याम) वर्णकी थी। इस प्रकार द्रुपदके महान् यज्ञमें वे जुड़वीं संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ५४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यमानीय स्वं निवेशनम्।
उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥
अमोक्षणीयं दैवं हि भावि मत्वा महामतिः।
तथा तत् कृतवान् द्रोण आत्मकीर्त्यनुरक्षणात् ॥ ५६ ॥

परम बुद्धिमान् प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोण यह सोचकर कि प्रारब्धके भावी विधानको टालना असम्भव है, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको अपने घर ले आये और उन्होंने उसे अस्त्रविद्याकी शिक्षा देकर उसका बहुत बड़ा उपकार किया। द्रोणाचार्यने अपनी कीर्तिकी रक्षाके लिये वह उदारतापूर्ण कार्य किया ॥ ५५-५६ ॥

(ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा जतुगृहे वृत्तं ब्राह्मणाः सपुरोहिताः।
पाञ्चालराजं द्रुपदमिदं वचनमब्रुवन् ॥
धार्तराष्ट्राः सहामात्या मन्त्रयित्वा परस्परम्।
पाण्डवानां विनाशाय मतिं चक्रुः सुदुष्कराम् ॥
दुर्योधनेन प्रहितः पुरोचन इति श्रुतः।
वारणावतमासाद्य कृत्वा जतुगृहं महत् ॥
तस्मिन् गृहे सुविश्वस्तान् पाण्डवान् पृथया सह।
अर्धरात्रे महाराज दग्धवान् स पुरोचनः।
अग्निना तु स्वयमपि दग्धः क्षुद्रो नृशंसकृत् ॥
एतच्छ्रुत्वा सुसंहृष्टो धृतराष्ट्रः सबान्धवः ॥
श्रुत्वा तु पाण्डवान् दग्धान् धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
एतावदुक्त्वा करुणं धृतराष्ट्रस्तु मारिष ॥
अल्पशोकः प्रहृष्टात्मा शशास विदुरं तदा।
पाण्डवानां महाप्राज्ञ कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ॥
अद्य पाण्डुर्हतः क्षत्तः पाण्डवानां विनाशने।
तस्माद् भागीरथीं गत्वा कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ॥
अहो विधिवशादेव गतास्ते यमसादनम्।
इत्युक्त्वा प्रारुदत् तत्र धृतराष्ट्रः ससौबलः ॥
श्रुत्वा भीष्मेण विधिवत् कृतवानौर्ध्वदेहिकम्।
पाण्डवानां विनाशाय कृतं कर्म दुरात्मना ॥
एतत्कार्यस्य कर्ता तु न दृष्टो न श्रुतः पुरा।
एतद् वृत्तं महाराज पाण्डवान् प्रति नः श्रुतम् ॥
श्रुत्वा तु वचनं तेषां यज्ञसेनो महामतिः।
यथा तज्जनकः शोचेदौरसस्य विनाशने।
तथातप्यत पाञ्चालः पाण्डवानां विनाशने ॥
समाहूय प्रकृतयः सहिताः सह बान्धवैः।
कारुण्यादेव पाञ्चालः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—लाक्षागृहमें पाण्डवोंके साथ जो घटना घटित हुई थी, उसे सुनकर ब्राह्मणों तथा पुरोहितोंने पाञ्चालराज द्रुपदसे इस प्रकार कहा—'राजन्! धृतराष्ट्रके पुत्रोंने अपने मन्त्रियोंके साथ परस्पर सलाह करके पाण्डवोंके विनाशका विचार कर लिया था। ऐसा क्रूरतापूर्ण विचार दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है। दुर्योधनके भेजे हुए उसके पुरोचन नामक सेवकने वारणावत नगरमें जाकर एक विशाल लाक्षागृहका निर्माण कराया था। उस भवनमें पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ पूर्ण विश्वस्त होकर रहते थे। महाराज! एक दिन आधी रातके समय पुरोचनने लाक्षागृहमें आग लगा दी। वह नीच और नृशंस पुरोचन स्वयं भी उसी आगमें जलकर भस्म हो गया। यह समाचार सुनकर कि 'पाण्डव जल गये' अम्बिका-नन्दन धृतराष्ट्रको अपने भाई-बन्धुओंके साथ बड़ा हर्ष हुआ। धृतराष्ट्रकी आत्मा हर्षसे खिल उठी थी, तो भी ऊपरसे कुछ शोकका प्रदर्शन करते हुए उन्होंने विदुरजीसे बड़ी करुण भाषामें यह वृत्तान्त बताया और उन्हें आज्ञा दी कि 'महामते! पाण्डवोंका श्राद्ध और तर्पण करो। विदुर! पाण्डवोंके मरनेसे मुझे ऐसा दुःख हुआ है मानो मेरे भाई पाण्डु आज ही स्वर्गवासी हुए हों। अतः गङ्गाजीके तटपर चलकर उनके लिये श्राद्ध और तर्पणकी व्यवस्था करो। अहो! भाग्यवश ही बेचारे पाण्डव यमलोकको चले गये।' यों कहकर धृतराष्ट्र और शकुनि फूट-फूटकर रोने लगे। भीष्मजीने यह समाचार सुनकर उनका विधिपूर्वक और्ध्वदैहिक संस्कार सम्पन्न किया है। इस प्रकार दुरात्मा दुर्योधनने पाण्डवोंके विनाशके लिये यह भयंकर षड्यन्त्र किया था। आजसे पहले हमने किसीको ऐसा नहीं देखा या सुना था जो इस तरहका जघन्य कार्य कर सके। महाराज! पाण्डवोंके सम्बन्धमें यह वृत्तान्त हमारे सुननेमें आया है' ॥

ब्राह्मण और पुरोहितका यह वचन सुनकर परम बुद्धिमान् राजा द्रुपद शोकमें डूब गये। जैसे अपने सगे पुत्रकी मृत्यु होनेपर उसके पिताको शोक होता है उसी प्रकार पाण्डवोंके नष्ट होनेका समाचार सुनकर पाञ्चालराजको पीड़ा हुई। उन्होंने अपने भाई-बन्धुओंके साथ समस्त प्रजाको बुलवाया और बड़ी करुणासे यह बात कही ॥

द्रुपद उवाच

अहो रूपमहो धैर्यमहो वीर्यं च शिक्षितम्।
चिन्तयामि दिवारात्रमर्जुनं प्रति बान्धवाः ॥
भ्रातृभिः सहितो मात्रा सोऽदह्यत हुताशने।
किमाश्चर्यमिदं लोके कालो हि दुरतिक्रमः ॥

मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यामि साम्प्रतम्।
अन्तर्गतेन दुःखेन दह्यमानो दिवानिशम्।
याजोपयाजौ सत्कृत्य याचितौ तौ मयानघौ॥
भारद्वाजस्य हन्तारं देवीं चाप्यर्जुनस्य वै।
लोकस्तद् वेद यच्चैव तथा याजेन वै श्रुतम्॥
याजेन पुत्रकामीयं हुत्वा चोत्पादितावुभौ।
धृष्टद्युम्नश्च कृष्णा च मम तुष्टिकरावुभौ॥
किं करिष्यामि ते नष्टाः पाण्डवाः पृथया सह।

द्रुपद बोले—बन्धुओ! अर्जुनका रूप अद्भुत था। उनका धैर्य आश्चर्यजनक था। उनका पराक्रम और उनकी अस्त्र-शिक्षा भी अलौकिक थी। मैं दिन-रात अर्जुनकी ही चिन्तामें डूबा रहता हूँ। हाय! वे अपने भाइयों और माताके साथ आगमें जल गये। संसारमें इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है? सच है, कालका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है। मेरी तो प्रतिज्ञा झूठी हो गयी। अब मैं लोगोंसे क्या कहूँगा। आन्तरिक दुःखसे दिन-रात दग्ध होता रहता हूँ। मैंने निष्पाप याज और उपयाजका सत्कार करके उनसे दो संतानोंकी याचना की थी। एक तो ऐसा पुत्र माँगा, जो द्रोणाचार्यका वध कर सके और दूसरी ऐसी कन्याके लिये प्रार्थना की, जो वीर अर्जुनकी पटरानी बन सके। मेरे इस उद्देश्यको सब लोग जानते हैं और महर्षि याजने भी यही घोषित किया था। उन्होंने पुत्रेष्टि-यज्ञ करके धृष्टद्युम्न और कृष्णाको उत्पन्न किया था। इन दोनों संतानोंको पाकर मुझे बड़ा संतोष हुआ। अब क्या करूँ? कुन्तीसहित पाण्डव तो नष्ट हो गये॥

ब्राह्मण उवाच

इत्येवमुक्त्वा पाञ्चालः शुशोच परमातुरः॥
दृष्ट्वा शोचन्तमत्यर्थं पाञ्चालगुरुरब्रवीत्।
पुरोधाः सत्त्वसम्पन्नः सम्यग्विद्याविशेषवान्॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—ऐसा कहकर पाञ्चालराज द्रुपद अत्यन्त दुखी एवं शोकातुर हो गये। पाञ्चालराजके गुरु बड़े सात्त्विक और विशिष्ट विद्वान् थे। उन्होंने राजाको भारी शोकमें डूबा देखकर कहा॥

गुरुरुवाच

वृद्धानुशासने सक्ताः पाण्डवा धर्मचारिणः।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम्॥
मया दृष्टमिदं सत्यं शृणुष्व मनुजाधिप।
ब्राह्मणैः कथितं सत्यं वेदेषु च मया श्रुतम्॥
बृहस्पतिमुखेनाथ पौलोम्या च पुरा श्रुतम्।
नष्ट इन्द्रो बिसग्रन्थ्यामुपश्रुत्या तु दर्शितः॥
उपश्रुतिर्महाराज पाण्डवार्थे मया श्रुता।
यत्र वा तत्र जीवन्ति पाण्डवास्ते न संशयः॥

गुरु बोले—महाराज! पाण्डवलोग बड़े-बूढ़ोंके आज्ञा-पालनमें तत्पर रहनेवाले तथा धर्मात्मा हैं। ऐसे लोग न तो नष्ट होते हैं और न पराजित ही होते हैं। नरेश्वर! मैंने जिस सत्यका साक्षात्कार किया है, वह सुनिये। ब्राह्मणोंने तो इस सत्यका प्रतिपादन किया ही है, वेदके मन्त्रोंमें भी मैंने इसका श्रवण किया है। पूर्वकालमें इन्द्राणीने बृहस्पतिजीके मुखसे उपश्रुतिकी महिमा सुनी थी। उत्तरायणकी अधिष्ठात्री देवी उपश्रुतिने ही अदृष्ट हुए इन्द्रका कमलनालकी ग्रन्थिमें दर्शन कराया था। महाराज! इसी प्रकार मैंने भी पाण्डवोंके विषयमें उपश्रुति सुन रक्खी है। वे पाण्डव कहीं-न-कहीं अवश्य जीवित हैं, इसमें संशय नहीं है॥

मया दृष्टानि लिङ्गानि ध्रुवमेष्यन्ति पाण्डवाः॥
यन्निमित्तमिहायान्ति तच्छृणुष्व नराधिप॥
स्वयंवरः क्षत्रियाणां कन्यादाने प्रदर्शितः।
स्वयंवरस्तु नगरे घुष्यतां राजसत्तम॥
यत्र वा निवसन्तस्ते पाण्डवाः पृथया सह।
दूरस्था वा समीपस्थाः स्वर्गस्था वापि पाण्डवाः॥
श्रुत्वा स्वयंवरं राजन् समेष्यन्ति न संशयः।
तस्मात् स्वयंवरो राजन् घुष्यतां मा चिरं कृथाः॥

मैंने ऐसे (शुभ) चिह्न देखे हैं, जिनसे सूचित होता है कि पाण्डव यहाँ अवश्य पधारेंगे। नरेश्वर! वे जिस निमित्तसे यहाँ आ सकते हैं, वह सुनिये—क्षत्रियोंके लिये कन्यादानका श्रेष्ठ मार्ग स्वयंवर बताया गया है। नृपश्रेष्ठ! आप सम्पूर्ण नगरमें स्वयंवरकी घोषणा करा दें। फिर पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ दूर हों, निकट हों अथवा स्वर्गमें ही क्यों न हों—जहाँ कहीं भी होंगे, स्वयंवरका समाचार सुनकर यहाँ अवश्य आयेंगे, इसमें संशय नहीं है। अतः राजन्! आप (सर्वत्र) स्वयंवरकी सूचना करा दें, इसमें विलम्ब न करें॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा पुरोहितेनोक्तं पाञ्चालः प्रीतिमांस्तदा।
घोषयामास नगरे द्रौपद्यास्तु स्वयंवरम्॥
पुष्यमासे तु रोहिण्यां शुक्लपक्षे शुभे तिथौ।
दिवसैः पञ्चसप्तत्या भविष्यति स्वयंवरः॥
देवगन्धर्वयक्षाश्च ऋषयश्च तपोधनाः।
स्वयंवरं द्रष्टुकामा गच्छन्त्येव न संशयः॥
तव पुत्रा महात्मानो दर्शनीया विशेषतः।
यदृच्छया तु पाञ्चाली गच्छेद् वा मध्यमं पतिम्॥
को हि जानाति लोकेषु प्रजापतिविधिं परम्।
तस्मात् सपुत्रा गच्छेथा ब्राह्मण्यै यदि रोचते॥
नित्यकालं सुभिक्षास्ते पञ्चालास्तु तपोधने॥
यज्ञसेनस्तु राजासौ ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः।
ब्रह्मण्या नागराश्चाथ ब्राह्मणाश्चातिथिप्रियाः॥
नित्यकालं प्रदास्यन्ति आमन्त्रणमयाचितम्॥

अहं च तत्र गच्छामि ममैभिः सह शिष्यकैः।
एकसार्थाः प्रयाताः स्मो ब्राह्मण्यै यदि रोचते॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—पुरोहितकी बात सुनकर पञ्चालराजको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने नगरमें द्रौपदीका स्वयंवर घोषित करा दिया। पौषमासके शुक्लपक्षमें शुभ तिथि (एकादशी) को रोहिणी नक्षत्रमें वह स्वयंवर होगा, जिसके लिये आजसे पचहत्तर दिन शेष हैं। ब्राह्मणी (कुन्ती)! देवता, गन्धर्व, यक्ष और तपस्वी ऋषि भी स्वयंवर देखनेके लिये अवश्य जाते हैं। तुम्हारे सभी महात्मा पुत्र देखनेमें परम सुन्दर हैं। पञ्चालराजपुत्री कृष्णा इनमेंसे किसीको अपनी इच्छासे पति चुन सकती है अथवा तुम्हारे मँझले पुत्रको अपना पति बना सकती है। संसारमें विधाताके उत्तम विधानको कौन जान सकता है? अतः यदि मेरी बात तुम्हें अच्छी लगे, तो तुम अपने पुत्रोंके साथ पञ्चालदेशमें अवश्य जाओ। तपोधने! पञ्चालदेशमें सदा सुभिक्ष रहता है। राजा यज्ञसेन सत्यप्रतिज्ञ होनेके साथ ही ब्राह्मणोंके भक्त हैं। वहाँके नागरिक भी ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले हैं। उस नगरके ब्राह्मण भी अतिथियोंके बड़े प्रेमी हैं। वे प्रतिदिन बिना माँगे ही न्यौता देंगे। मैं भी अपने इन शिष्योंके साथ वहीं जाता हूँ। ब्राह्मणी! यदि ठीक जान पड़े तो चलो। हम सब लोग एक साथ ही वहाँ चले चलेंगे॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं ब्राह्मणो विरराम ह।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर वे ब्राह्मण चुप हो गये॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीप्रादुर्भावविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३८ श्लोक मिलाकर कुल ९४ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी अपने पुत्रोंसे पूछकर पञ्चालदेशमें जानेकी तैयारी

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेया ब्राह्मणात् संशितव्रतात्।
सर्वे चास्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कठोर व्रतवाले उस ब्राह्मणसे यह सुनकर उन सब महाबली कुन्तीपुत्रोंका मन विचलित हो गया॥ १॥

ततः कुन्ती सुतान् दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी॥ २॥

तब सत्यवादिनी कुन्तीने अपने सभी पुत्रोंका मन उस स्वयंवरकी ओर आकृष्ट देख युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा॥२॥

कुन्त्युवाच

चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः॥ ३॥

कुन्ती बोली—बेटा! हमलोग यहाँ इन महात्मा ब्राह्मणके घरमें बहुत दिनोंसे रह रहे हैं। इस रमणीय नगरमें हम आनन्दपूर्वक घूमे-फिरे और यहाँ हमें (पर्याप्त) भिक्षा भी उपलब्ध हुई॥ ३॥

यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिंदम॥ ४॥

शत्रुदमन! यहाँ जो रमणीय वन और उपवन हैं, उन सबको हमने बार-बार देख लिया॥ ४॥

पुनर्दृष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा।
भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन॥ ५॥

वीर! यदि उन्हींको हम फिर देखनेके लिये जायँ तो वे हमें उतनी प्रसन्नता नहीं दे सकते। कुरुनन्दन! अब भिक्षा भी यहाँ हमें पहले-जैसी नहीं मिल रही है॥ ५॥

ते वयं साधु पञ्चालान् गच्छाम यदि मन्यसे।
अपूर्वदर्शनं वीर रमणीयं भविष्यति॥ ६॥

यदि तुम्हारी राय हो तो अब हमलोग सुखपूर्वक पञ्चालदेशमें चलें। वीर! उस देशको हमने पहले कभी नहीं देखा है, इसलिये वह बड़ा रमणीय प्रतीत होगा॥ ६॥

सुभिक्षाश्चैव पञ्चालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन।
यज्ञसेनश्च राजासौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुम॥ ७॥

शत्रुनाशन! सुना जाता है, पञ्चालदेशमें बड़ा सुकाल है (इसलिये भिक्षा बहुतायतसे मिलती है)। हमने यह भी सुना है कि राजा यज्ञसेन ब्राह्मणोंके बड़े भक्त हैं॥७॥

एकत्र चिरवासश्च क्षमो न च मतो मम।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे॥ ८॥

बेटा! एक स्थानपर बहुत दिनोंतक रहना मुझे उचित नहीं जान पड़ता; अतः यदि तुम ठीक समझो तो हमलोग सुखपूर्वक वहाँ चलें॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम्।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः॥ ९॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ! आप जिस कार्यको ठीक समझती हैं, वह हमारे लिये परम हितकर है; परंतु अपने छोटे भाइयोंके

सम्बन्धमें मैं नहीं जानता कि वे जानेके लिये उद्यत हैं या नहीं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाब्रुवंस्तदा ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब कुन्तीने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे भी चलनेके विषयमें पूछा। उन सबने भी 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दे दी ॥ १० ॥

तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन् सुतैः सह।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

राजन्! तब कुन्तीने उन ब्राह्मणदेवतासे विदा लेकर अपने पुत्रोंके साथ महात्मा द्रुपदकी रमणीय नगरीकी ओर जानेकी तैयारी की ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पञ्चालदेशयात्रायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पञ्चालदेशकी यात्राविषयक एक सौ सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका पाण्डवोंको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाना

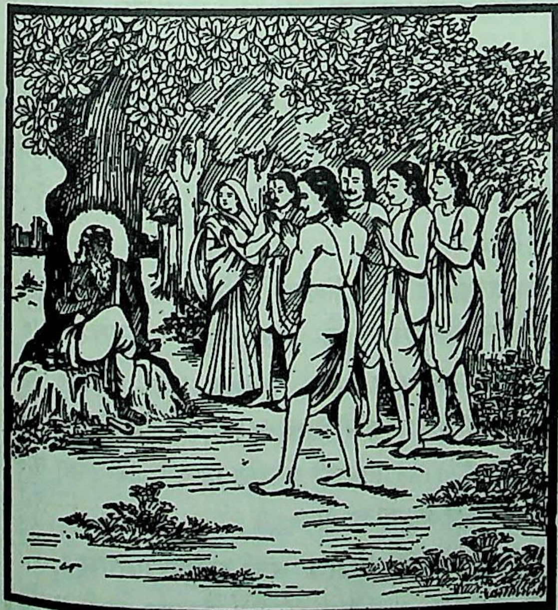
वैशम्पायन उवाच

वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु।
आजगामाथ तान् द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा पाण्डव जब गुप्तरूपसे वहाँ निवास कर रहे थे, उसी समय सत्यवती-नन्दन व्यासजी उनसे मिलनेके लिये वहाँ आये ॥ १ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य प्रत्युद्गम्य परंतपाः।
प्रणिपत्याभिवाद्यैनं तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २ ॥
समनुज्ञाप्य तान् सर्वानासीनान् मुनिरब्रवीत्।
प्रच्छन्नं पूजितः पार्थैः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३ ॥

उन्हें आया देख शत्रुसंतापन पाण्डवोंने आगे बढ़कर उनकी



अगवानी की और प्रणामपूर्वक उनका अभिवादन करके वे सब उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। कुन्तीपुत्रों-द्वारा गुप्तरूपसे पूजित हो मुनिवर व्यासने उन सबको आज्ञा देकर बिठाया और जब वे बैठ गये, तब उनसे प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार पूछा—॥ २-३ ॥

अपि धर्मेण वर्तध्वं शास्त्रेण च परंतपाः।
अपि विप्रेषु पूजा वः पूजार्हेषु न हीयते ॥ ४ ॥

'शत्रुओंको संतप्त करनेवाले वीरो! तुमलोग शास्त्रकी आज्ञा और धर्मके अनुसार चलते हो न? पूजनीय ब्राह्मणोंकी पूजा करनेमें तो तुम्हारी ओरसे कभी भूल नहीं होती?' ॥ ४ ॥

अथ धर्मार्थवद् वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर महर्षि भगवान् व्यासने उनसे धर्म और अर्थ-युक्त बातें कहीं। फिर विचित्र-विचित्र कथाएँ सुनाकर वे पुनः उनसे इस प्रकार बोले ॥ ५ ॥

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः।
विलग्नमध्या सुश्रोणी सुभ्रूः सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥

व्यासजीने कहा—पहलेकी बात है, तपोवनमें किसी महात्मा ऋषिकी कोई कन्या रहती थी, जिसकी कटि कृश तथा नितम्ब और भौंहें सुन्दर थीं। वह कन्या समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थी ॥ ६ ॥

कर्मभिः स्वकृतैः सा तु दुर्भगा समपद्यत।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ७ ॥

परंतु अपने ही किये हुए कर्मोंके कारण वह कन्या दुर्भाग्यके वश हो गयी, इसलिये वह रूपवती और सदाचारिणी होनेपर भी कोई पति न पा सकी ॥ ७ ॥

ततस्तप्तुमथारेभे पत्यर्थमसुखा ततः।
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ॥ ८ ॥

तब पतिके लिये दुखी होकर उसने तपस्या प्रारम्भ की और कहते हैं उग्र तपस्याके द्वारा उसने भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर लिया ॥ ८ ॥

तस्याः स भगवांस्तुष्टस्तामुवाच यशस्विनीम्।
वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मीति शङ्करः ॥ ९ ॥

उसपर संतुष्ट हो भगवान् शङ्करने उस यशस्विनी कन्यासे कहा—'शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम कोई वर माँगो । मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ' ॥ ९ ॥

अथेश्वरमुवाचेदमात्मनः सा वचो हितम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ १० ॥

तब उसने भगवान् शङ्करसे अपने लिये हितकर वचन कहा—'प्रभो ! मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती हूँ ।' इस वाक्यको उसने बार-बार दुहराया ॥ १० ॥

तामथ प्रत्युवाचेदमीशानो वदतां वरः ।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति भारताः ॥ ११ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् शिवने उससे कहा—'भद्रे ! तुम्हारे पाँच भरतवंशी पति होंगे' ॥ ११ ॥

एवमुक्ता ततः कन्या देवं वरदमब्रवीत् ।
एकमिच्छाम्यहं देव त्वत्प्रसादात् पतिं प्रभो ॥ १२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर वह कन्या उन वरदायक देवता भगवान् शिवसे इस प्रकार बोली—'देव ! प्रभो ! मैं आपकी कृपासे एक ही पति चाहती हूँ' ॥ १२ ॥

पुनरेवाब्रवीद् देव इदं वचनमुत्तमम् ।
पञ्चकृत्वस्त्वया ह्युक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः ॥ १३ ॥

तब भगवान्ने पुनः उससे यह उत्तम बात कही—'भद्रे ! तुमने मुझसे पाँच बार कहा है कि मुझे पति दीजिये ॥

देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद् भविष्यति ।
द्रुपदस्य कुले जज्ञे सा कन्या देवरूपिणी ॥ १४ ॥

'अतः दूसरा शरीर धारण करनेपर तुम्हें जैसा मैंने कहा है, वह वरदान प्राप्त होगा ।' वही देवरूपिणी कन्या राजा द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई है ॥ १४ ॥

निर्दिष्टा भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ।
पाञ्चालनगरे तस्मान्निवसध्वं महाबलाः ।
सुखिनस्तामनुप्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥ १५ ॥

वह महाराज पृषतकी पौत्री सती-साध्वी कृष्णा तुमलोगोंकी पत्नी नियत की गयी है; अतः महाबली वीरो ! अब तुम पञ्चालनगरमें जाकर रहो । द्रौपदीको पाकर तुम सब लोग सुखी होओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवान् स पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥ १६ ॥

महान् सौभाग्यशाली और महातपस्वी पितामह व्यासजी पाण्डवोंसे ऐसा कहकर उन सबसे और कुन्तीसे विदा ले वहाँसे चल दिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीजन्मान्तरकथने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मान्तरकथनविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६८॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पञ्चाल-यात्रा और अर्जुनके द्वारा चित्ररथ गन्धर्वकी पराजय एवं उन दोनोंकी मित्रता

वैशम्पायन उवाच

गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः ।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् व्यासके चले जानेपर पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव प्रसन्नचित्त हो अपनी माताको आगे करके वहाँसे पञ्चालदेशकी ओर चल दिये ॥१॥

आमन्त्र्य ब्राह्मणं पूर्वमभिवाद्यानुमान्य च ।
समैरुदङ्मुखैर्मार्गैर्यथोद्दिष्टं परंतपाः ॥ २ ॥

परंतप ! कुन्तीकुमारोंने पहले ही अपने आश्रयदाता ब्राह्मणसे पूछकर जानेकी आज्ञा ले ली थी और चलते समय बड़े आदरके साथ उन्हें प्रणाम किया । वे सब लोग उत्तर दिशाकी ओर जानेवाले सीधे मार्गोंद्वारा उत्तराभिमुख हो अपने अभीष्ट स्थान पञ्चालदेशकी ओर बढ़ने लगे ॥ २ ॥

ते त्वगच्छन्नहोरात्रात् तीर्थं सोमाश्रयायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥ ३ ॥

एक दिन और एक रात चलकर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव गङ्गाजीके तटपर सोमाश्रयायण नामक तीर्थमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनंजयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ॥ ४ ॥

उस समय उनके आगे-आगे महारथी अर्जुन उजाला तथा रक्षा करनेके लिये जलती हुई मशाल उठाये चल रहे थे ॥ ४ ॥

तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन् स्त्रियः ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ॥ ५ ॥

उस तीर्थकी गङ्गाके रमणीय तथा एकान्त जलमें गन्धर्वराज अङ्गारपर्ण (चित्ररथ) अपनी स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा कर रहा था । वह बड़ा ही ईर्ष्यालु था और जलक्रीड़ा करनेके लिये ही वहाँ आया था ॥ ५ ॥

शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम् ।
तेन शब्देन चाविष्टश्चुक्रोध बलवद् बली ॥ ६ ॥

उसने गङ्गाजीकी ओर बढ़ते हुए पाण्डवोंके पैरोंकी धमक सुनी । उस शब्दको सुनते ही वह बलवान् गन्धर्व क्रोधके आवेशमें आकर बड़े जोरसे कुपित हो उठा ॥ ६ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परंतपान्।
विस्फारयन् धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

परंतप पाण्डवोंको अपनी माताके साथ वहाँ देख वह अपने भयानक धनुषको टंकारता हुआ इस प्रकार बोला—॥ ७॥

संध्या संरज्यते घोरा पूर्वरात्रागमेषु या।
अशीतिभिर्लवैर्हीनं तन्मुहूर्तं प्रचक्षते॥ ८॥
विहितं कामचाराणां यक्षगन्धर्वरक्षसाम्।
शेषमन्यन्मनुष्याणां कर्मचारेषु वै स्मृतम्॥ ९॥

'रात्रि प्रारम्भ होनेके पहले जो पश्चिम दिशामें भयंकर संध्याकी लाली छा जाती है, उस समय अस्सी लवको छोड़कर सारा मुहूर्त इच्छानुसार विचरनेवाले यक्षों, गन्धर्वों तथा राक्षसोंके लिये निश्चित बताया जाता है। शेष दिनका सब समय मनुष्योंके कार्यवश विचरनेके लिये माना गया है॥ ८-९॥

लोभात् प्रचारं चरतस्तासु वेलासु वै नरान्।
उपक्रान्तानि गृह्णीमो राक्षसैः सह बालिशान्॥ १०॥

'जो मनुष्य लोभवश हमलोगोंकी वेलामें इधर घूमते हुए आ जाते हैं, उन मूर्खोंको हम गन्धर्व और राक्षस कैद कर लेते हैं॥ १०॥

अतो रात्रौ प्राप्नुवन्तो जलं ब्रह्मविदो जनाः।
गर्हयन्ति नरान् सर्वान् बलस्थान् नृपतीनपि॥ ११॥

'इसीलिये वेदवेत्ता पुरुष रातके समय जलमें प्रवेश करनेवाले सम्पूर्ण मनुष्यों और बलवान् राजाओंकी भी निन्दा करते हैं॥ ११॥

आरात् तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथीजलम्॥ १२॥
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम्।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा॥ १३॥

'अरे, ओ मनुष्यो! दूर ही खड़े रहो। मेरे समीप न आना। तुम्हें ज्ञात कैसे नहीं हुआ कि मैं गन्धर्वराज अङ्गारपर्ण गङ्गाजीके जलमें उतरा हुआ हूँ। तुमलोग मुझे (अच्छी तरह) जान लो, मैं अपने ही बलका भरोसा करनेवाला स्वाभिमानी, ईर्ष्यालु तथा कुबेरका प्रिय मित्र हूँ॥ १२-१३॥

अङ्गारपर्णमित्येवं ख्यातं चेदं वनं मम।
अनुगङ्गं चरन् कामांश्चित्रं यत्र रमाम्यहम्॥ १४॥

'मेरा यह वन भी अङ्गारपर्ण नामसे ही विख्यात है। मैं गङ्गाजीके तटपर विचरता हुआ इस वनमें इच्छानुसार विचित्र क्रीड़ाएँ करता रहता हूँ॥ १४॥

न कौणपाः शृङ्गिणो वा न देवा न च मानुषाः।
इदं समुपसर्पन्ति तत् किं समनुसर्पथ॥ १५॥

'मेरी उपस्थितिमें यहाँ राक्षस, यक्ष, देवता अथवा मनुष्य—कोई भी नहीं आने पाते; फिर तुमलोग कैसे आ रहे हो?'॥

अर्जुन उवाच

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते।
रात्रावहनि संध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः॥ १६॥

अर्जुन बोले—दुर्मते! समुद्र, हिमालयकी तराई और गङ्गानदीके तटपर रात, दिन अथवा संध्याके समय किसका अधिकार सुरक्षित है?॥ १६॥

भुक्तो वाप्यथवाभुक्तो रात्रावहनि खेचर।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम्॥ १७॥

आकाशचारी गन्धर्व! सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीके तटपर आनेके लिये यह नियम नहीं है कि यहाँ कोई खाकर आये या विना खाये, रातमें आये या दिनमें। इसी प्रकार काल आदिका भी कोई नियम नहीं है॥ १७॥

वयं च शक्तिसम्पन्ना अकाले त्वामधृष्णुम।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः॥ १८॥

अरे ओ क्रूर! हमलोग तो शक्तिसम्पन्न हैं। असमयमें भी आकर तुम्हें कुचल सकते हैं। जो युद्ध करनेमें असमर्थ हैं, वे दुर्बल मनुष्य ही तुमलोगोंकी पूजा करते हैं॥ १८॥

पुरा हिमवतश्चैषा हेमशृङ्गाद् विनिस्सृता।
गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा समपद्यत॥ १९॥
गङ्गां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम्।
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा॥ २०॥
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये।
इयं भूत्वा चैकवप्रा शुचिराकाशगा पुनः॥ २१॥
देवेषु गङ्गा गन्धर्व प्राप्नोत्यलकनन्दताम्।
तथा पितॄन् वैतरणी दुस्तरा पापकर्मभिः।
गङ्गा भवति वै प्राप्य कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्॥ २२॥

प्राचीन कालमें हिमालयके स्वर्णशिखरसे निकली हुई गङ्गा सात धाराओंमें विभक्त हो समुद्रमें जाकर मिल गयी हैं। जो पुरुष गङ्गा, यमुना, प्लक्षकी जड़से प्रकट हुई सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी—इन सात नदियोंका जल पीते हैं, उनके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यह गङ्गा बड़ी पवित्र नदी है। एकमात्र आकाश ही इनका तट है। गन्धर्व! ये आकाशमार्गसे विचरती हुई गङ्गा देवलोकमें अलकनन्दा नाम धारण करती हैं। ये ही वैतरणी होकर पितृलोकमें बहती हैं। वहाँ पापियोंके लिये इनके पार जाना अत्यन्त कठिन होता है। इस लोकमें आकर इनका नाम गङ्गा होता है। यह श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीका कथन है॥

असम्बाधा देवनदी स्वर्गसम्पादनी शुभा।
कथमिच्छसि तां रोद्धुं नैष धर्मः सनातनः॥ २३॥

ये कल्याणमयी देवनदी सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाली हैं। तुम उन्हीं गङ्गाजीपर किसलिये रोक लगाना चाहते हो ? यह सनातन धर्म नहीं है ॥ २३ ॥

अनिवार्यमसम्बाधं तव वाचा कथं वयम्।
न स्पृशेम यथाकामं पुण्यं भागीरथीजलम् ॥ २४ ॥

जिसे कोई रोक नहीं सकता, जहाँ पहुँचनेमें कोई बाधा नहीं है, भागीरथीके उस पावन जलका तुम्हारे कहनेसे हम अपने इच्छानुसार स्पर्श क्यों न करें ? ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

अङ्गारपर्णस्तच्छ्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम्।
मुमोच बाणान् निशितानहीनाशीविषानिव ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी वह बात सुनकर अङ्गारपर्ण क्रोधित हो गया और धनुष नवाकर विषैले साँपोंकी भाँति तीखे बाण छोड़ने लगा ॥ २५ ॥

उल्मुकं भ्रामयंस्तूर्णं पाण्डवश्चर्म चोत्तरम्।
व्यपोहत शरांस्तस्य सर्वानेव धनंजयः ॥ २६ ॥

यह देख पाण्डुनन्दन धनंजयने तुरंत ही मशाल घुमाकर



और उत्तम ढालसे रोककर उसके सभी बाण व्यर्थ कर दिये ॥

अर्जुन उवाच

विभीषिका वै गन्धर्व नास्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते।
अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तेयं फेनवत् प्रविलीयते ॥ २७ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व ! जो अस्त्रविद्याके विद्वान् हैं, उनपर तुम्हारी यह घुड़की नहीं चल सकती। अस्त्रविद्याके मर्मज्ञोंपर फैलायी हुई तुम्हारी यह माया फेनकी तरह विलीन हो जायगी ॥ २७ ॥

मानुषानति गन्धर्वान् सर्वान् गन्धर्व लक्षये।
तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ॥ २८ ॥

गन्धर्व ! मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण गन्धर्व मनुष्योंसे अधिक शक्तिशाली होते हैं, इसलिये मैं तुम्हारे साथ मायासे नहीं, दिव्यास्त्रसे युद्ध करूँगा ॥ २८ ॥

पुरास्त्रमिदमाग्नेयं प्रादात् किल बृहस्पतिः।
भरद्वाजाय गन्धर्व गुरुर्मान्यः शतक्रतोः ॥ २९ ॥

गन्धर्व ! यह आग्नेय अस्त्र पूर्वकालमें इन्द्रके माननीय गुरु बृहस्पतिजीने भरद्वाज मुनिको दिया था ॥ २९ ॥

भरद्वाजादग्निवेश्यः अग्निवेश्याद् गुरुर्मम।
साध्विदं मह्यमददद् द्रोणो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ३० ॥

भरद्वाजसे इसे अग्निवेश्यने और अग्निवेश्यसे मेरे गुरु द्रोणाचार्यने प्राप्त किया है। फिर विप्रवर द्रोणाचार्यने यह उत्तम अस्त्र मुझे प्रदान किया ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहास्य रथं तु तत् ॥ ३१ ॥
विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलः।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥ ३२ ॥
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनंजयः।
भ्रातॄन् प्रति चकर्षाथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो गन्धर्वपर वह प्रज्वलित आग्नेय अस्त्र चला दिया। उस अस्त्रने गन्धर्वके रथको जलाकर भस्म कर दिया। वह रथहीन गन्धर्व व्याकुल हो गया और अस्त्रके तेजसे मूढ होकर नीचे मुँह किये गिरने लगा। महाबली अर्जुनने उसके फूलकी मालाओंसे सुशोभित केश पकड़ लिये और घसीटकर अपने भाइयोंके पास ले आये। अस्त्रके आघातसे वह गन्धर्व अचेत हो गया था ॥ ३१-३३ ॥

युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥ ३४ ॥

उस गन्धर्वकी पत्नीका नाम कुम्भीनसी था। उसने अपने पतिके जीवनकी रक्षाके लिये महाराज युधिष्ठिरकी शरण ली ॥

गन्धर्व्युवाच

त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे।
गन्धर्वी शरणं प्राप्ता नाम्ना कुम्भीनसी प्रभो ॥ ३५ ॥

गन्धर्वी बोली—महाभाग ! मेरी रक्षा कीजिये और मेरे इन पतिदेवको आप छोड़ दीजिये। प्रभो ! मैं गन्धर्व-पत्नी कुम्भीनसी आपकी शरणमें आयी हूँ ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम्।
को निहन्याद् रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—तात ! शत्रुसूदन अर्जुन ! यह गन्धर्व युद्धमें हार गया और अपना यश खो चुका। अब स्त्री इसकी रक्षिका बनकर आयी है। यह स्वयं कोई पराक्रम नहीं कर सकता। ऐसे दीन-हीन शत्रुको कौन मारता है? इसे जीवित छोड़ दो ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व ! जीवन धारण करो। जाओ, अब शोक न करो। इस समय कुरुराज युधिष्ठिर तुम्हें अभयदान दे रहे हैं ॥ ३७ ॥

गन्धर्व उवाच

जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यङ्गारपर्णताम्।
न च श्लाघे बलेनाङ्ग न नाम्ना जनसंसदि ॥ ३८ ॥

गन्धर्वने कहा—अर्जुन ! मैं परास्त हो गया, अतः अपने पहले नाम अङ्गारपर्णको छोड़ देता हूँ। अब मैं जनसमुदायमें अपने बलकी श्लाघा नहीं करूँगा और न इस नामसे अपना परिचय ही दूँगा ॥ ३८ ॥

साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम्।
गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ॥ ३९ ॥

(आजकी पराजयसे) मुझे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि मैंने दिव्यास्त्रधारी अर्जुनको (मित्ररूपमें) प्राप्त किया है और अब मैं इन्हें गन्धर्वोंकी मायासे संयुक्त करना चाहता हूँ ॥

अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥४०॥

इनके दिव्यास्त्रकी अग्निसे मेरा यह विचित्र एवं उत्तम रथ दग्ध हो गया है। पहले मैं विचित्र रथके कारण 'चित्ररथ' कहलाता था; परंतु अब मेरा नाम 'दग्धरथ' हो गया ॥४०॥

सम्भृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥ ४१ ॥

मैंने पूर्वकालमें यहाँ तपस्याद्वारा जो यह विद्या प्राप्त की है, उसे आज अपने प्राणदाता महात्मा मित्रको अर्पित करूँगा ॥

संस्तम्भयित्वा तरसा जितं शरणमागतम्।
यो रिपुं योजयेत् प्राणैः कल्याणं किं न सोऽर्हति ॥४२॥

जिन्होंने अपने वेगसे शत्रुकी शक्तिको कुण्ठित करके उसपर विजय पायी और फिर जब वह शत्रु शरणमें आ गया, तब जो उसे प्राणदान दे रहे हैं, वे किस कल्याणकी प्राप्तिके अधिकारी नहीं हैं? ॥ ४२ ॥

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः।
ददौ स विश्वावसवे मम विश्वावसुर्ददौ ॥ ४३ ॥

यह चाक्षुषी नामक विद्या है, जिसे मनुने सोमको दिया। सोमने विश्वावसुको दिया और विश्वावसुने मुझे प्रदान किया है ॥ ४३ ॥

सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति।
आगमोऽस्या मया प्रोक्तो वीर्यं प्रतिनिबोध मे ॥ ४४ ॥

यह गुरुकी दी हुई विद्या यदि किसी कायरको मिल गयी तो नष्ट हो जाती है। (इस प्रकार) मैंने इसके उपदेशकी परम्पराका वर्णन किया है। अब इसका बल भी मुझसे सुन लीजिये ॥ ४४ ॥

यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन।
तत् पश्येद् यादृशं चेच्छेत् तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥ ४५ ॥

तीनों लोकोंमें जो कोई भी वस्तु है, उसमेंसे जिस वस्तुको आँखसे देखनेकी इच्छा हो, उसे इस विद्याके प्रभावसे कोई भी देख सकता है और जिस रूपमें देखना चाहे, उसी रूपमें देख सकता है ॥ ४५ ॥

एकपादेन षण्मासान् स्थितो विद्यां लभेदिमाम्।
अनुनेष्याम्यहं विद्यां स्वयं तुभ्यं व्रतेऽकृते ॥ ४६ ॥

जो एक पैरसे छः महीनेतक खड़ा रहकर तपस्या करे, वही इस विद्याको पा सकता है। परंतु आपको इस व्रतका पालन या तपस्या किये बिना ही मैं स्वयं उक्त विद्याकी प्राप्ति कराऊँगा ॥ ४६ ॥

विद्यया ह्यनया राजन् वयं नृभ्यो विशेषिताः।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रदर्शिनः ॥ ४७ ॥

राजन् ! इस विद्याके बलसे ही हमलोग मनुष्योंसे श्रेष्ठ माने जाते हैं और देवताओंके तुल्य प्रभाव दिखा सकते हैं ॥

गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम।
भ्रातृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम् ॥ ४८ ॥

पुरुषशिरोमणे ! मैं आपको और आपके भाइयोंको अलग-अलग गन्धर्वलोकके सौ-सौ घोड़े भेंट करता हूँ ॥४८॥

देवगन्धर्ववाहास्ते दिव्यवर्णा मनोजवाः।
क्षीणाक्षीणा भवन्त्येते न हीयन्ते च रंहसः ॥ ४९ ॥

वे घोड़े देवताओं और गन्धर्वोंके वाहन हैं। उनके शरीरकी कान्ति दिव्य है। वे मनके समान वेगशाली और आवश्यकताके अनुसार दुबले-मोटे होते हैं; किंतु उनका वेग कभी कम नहीं होता ॥ ४९ ॥

पुरा कृतं महेन्द्रस्य वज्रं वृत्रनिबर्हणम्।
दशधा शतधा चैव तच्छीर्णं वृत्रमूर्धनि ॥ ५० ॥

पूर्वकालमें वृत्रासुरका संहार करनेके निमित्त इन्द्रके लिये जिस वज्रका निर्माण किया गया था, वृत्रासुरके मस्तक-

पर पड़ते ही उसके दस बड़े और सौ छोटे टुकड़े हो गये ॥

ततो भागीकृतो देवैर्वज्रभाग उपास्यते।
लोके यशो धनं किंचित् सैव वज्रतनुः स्मृता ॥ ५१ ॥

तबसे अनेक भागोंमें बँटे हुए उस वज्रके प्रत्येक भागकी देवतालोग उपासना करते हैं। लोकमें उत्कृष्ट धन और यश आदि जो कुछ भी वस्तु है, उसे वज्रका स्वरूप माना गया है ॥ ५१ ॥

वज्रपाणिर्ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रं वज्ररथं स्मृतम्।
वैश्या वै दानवज्राश्च कर्मवज्रा यवीयसः ॥ ५२ ॥

(अग्निमें आहुतिं देनेके कारण) ब्राह्मणका दाहिना हाथ वज्र है। क्षत्रियका रथ वज्र है। वैश्यलोग जो दान करते हैं, वह भी वज्र है और शूद्रलोग जो सेवाकार्य करते हैं, उसे भी वज्र ही समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

क्षत्रवज्रस्य भागेन अवध्या वाजिनः स्मृताः।
रथाङ्गं वडवा सूते शूराश्चाश्वेषु ये मताः ॥ ५३ ॥

क्षत्रियके रथरूपी वज्रका एक विशिष्ट अङ्ग होनेसे घोड़ोंको अवध्य बताया गया है। गन्धर्वदेशकी घोड़ी रथको वहन करनेवाले रथाङ्ग-स्वरूप (वज्रस्वरूप) घोड़ेको जन्म देती है। वे घोड़े सब अश्वोंमें शूरवीर माने जाते हैं ॥ ५३ ॥

कामवर्णाः कामजवाः कामतः समुपस्थिताः।
इति गन्धर्वजाः कामं पूरयिष्यन्ति मे हयाः ॥ ५४ ॥

गन्धर्व-देशके घोड़ोंकी यह विशेषता है कि वे इच्छानुसार अपना रंग बदल लेते हैं। सवारकी इच्छाके अनुसार अपने वेगको घटा-बढ़ा सकते हैं। जब आवश्यकता या इच्छा हो, तभी वे उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार मेरे गन्धर्वदेशीय घोड़े आपकी इच्छा पूर्ण करते रहेंगे ॥ ५४ ॥

अर्जुन उवाच

यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा।
विद्याधनं श्रुतं वापि न तद् गन्धर्व रोचये ॥ ५५ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व ! यदि तुमने प्रसन्न होकर अथवा प्राणसंकटसे बचानेके कारण मुझे विद्या, धन अथवा शास्त्र प्रदान किया है तो मैं इस तरहका दान लेना पसंद नहीं करता ॥ ५५ ॥

गन्धर्व उवाच

संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥ ५६ ॥

गन्धर्व बोला—महापुरुषोंके साथ जो समागम होता है, वह प्रीतिको बढ़ानेवाला होता है—ऐसा देखनेमें आता है। आपने मुझे जीवनदान दिया है, इससे प्रसन्न होकर मैं आपको चाक्षुषी विद्या भेंट करता हूँ ॥ ५६ ॥

त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम्।
तथैव योग्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

साथ ही आपसे भी मैं उत्तम आग्नेयास्त्र ग्रहण करूँगा। भरतकुलभूषण अर्जुन ! ऐसा करनेसे ही हम दोनोंमें दीर्घकाल-तक समुचित सौहार्द बना रहेगा ॥ ५७ ॥

अर्जुन उवाच

त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान् संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ।
सखे तद् ब्रूहि गन्धर्व युष्मभ्यो यद् भयं भवेत् ॥ ५८ ॥

अर्जुनने कहा—ठीक है, मैं यह अस्त्रविद्या देकर



तुमसे घोड़े ले लूँगा। हम दोनोंकी मैत्री सदा बनी रहे। सखे गन्धर्वराज ! बताओ तो सही, तुमलोगोंसे हम मनुष्योंको क्यों भय प्राप्त होता है ? ॥ ५८ ॥

कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद् येन स्म धर्षिताः।
यान्तो वेदविदः सर्वे सन्तो रात्रावरिंदमाः ॥ ५९ ॥

गन्धर्व ! हम सब लोग वेदवेत्ता हैं और शत्रुओंका दमन करनेकी शक्ति रखते हैं; फिर भी रातमें यात्रा करते समय जो तुमने हमलोगोंपर आक्रमण किया है, इसका क्या कारण है ? इसपर भी प्रकाश डालो ॥ ५९ ॥

गन्धर्व उवाच

अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ॥ ६० ॥

गन्धर्व बोला—पाण्डुकुमारो ! आपलोग (विवाहित न होनेके कारण) त्रिविध अग्नियोंकी सेवा नहीं करते। (अध्ययन पूरा करके समावर्तन संस्कारसे सम्पन्न हो गये हैं, अतः) प्रतिदिन अग्निकी आहुति भी नहीं देते। आपके आगे कोई ब्राह्मण पुरोहित भी नहीं है। इन्हीं कारणोंसे मैंने आपपर आक्रमण किया है ॥ ६० ॥

(जानता च मया तस्मात् तेजश्चाभिजनं च वः।
इयं मतिमतां श्रेष्ठ धर्षितुं वै कृता मतिः॥
को हि वस्त्रिषु लोकेषु न वेद भरतर्षभ।
स्वैर्गुणैर्विस्तृतं श्रीमद् यशोऽग्र्यं भूरिवर्चसाम्)
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पिशाचोरगदानवाः।
विस्तरं कुरुवंशस्य धीमन्तः कथयन्ति ते॥ ६१॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इसीलिये मैंने आपलोगोंके तेज और कुलोचित प्रभावको जानते हुए भी आपपर आक्रमण करनेका विचार किया। भरतश्रेष्ठ! आपलोग महान् तेजस्वी हैं। आपने अपने गुणोंसे जिस शोभाशाली श्रेष्ठ यशका विस्तार किया है, उसे तीनों लोकोंमें कौन नहीं जानता। बुद्धिमान् यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, नाग और दानव कुरुकुलकी यशोगाथाका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं॥ ६१॥

नारदप्रभृतीनां तु देवर्षीणां मया श्रुतम्।
गुणान् कथयतां वीर पूर्वेषां तव धीमताम्॥ ६२॥

वीर! नारद आदि देवर्षियोंके मुखसे भी मैंने आपके बुद्धिमान् पूर्वजोंका गुणगान सुना है॥ ६२॥

स्वयं चापि मया दृष्टश्चरता सागराम्बराम्।
इमां वसुमतीं कृत्स्नां प्रभावः सुकुलस्य ते॥ ६३॥

तथा समुद्रसे घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरते हुए मैंने स्वयं भी आपके उत्तम कुलका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है॥

वेदे धनुषि चाचार्यमभिजानामि तेऽर्जुन।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु भारद्वाजं यशस्विनम्॥ ६४॥

अर्जुन! तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्वी भरद्वाजनन्दन द्रोणको भी, जो आपके वेद और धनुर्वेदके आचार्य रहे हैं, मैं अच्छी तरह जानता हूँ॥ ६४॥

धर्मं वायुं च शक्रं च विजानाम्यश्विनौ तथा।
पाण्डुं च कुरुशार्दूल षडेतान् कुरुवर्धनान्।
पितॄनेतानहं पार्थ देवमानुषसत्तमान्॥ ६५॥

कुरुश्रेष्ठ! धर्म, वायु, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार तथा महाराज पाण्डु—ये छः महापुरुष कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले हैं। पार्थ! ये देवताओं तथा मनुष्योंके सिरमौर छहों व्यक्ति आपलोगोंके पिता हैं। मैं इन सबको जानता हूँ॥ ६५॥

दिव्यात्मानो महात्मानः सर्वशस्त्रभृतां वराः।
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः॥ ६६॥

आप सब भाई देवस्वरूप, महात्मा, समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शूरवीर हैं तथा आपलोगोंने ब्रह्मचर्यव्रतका भलीभाँति पालन किया है॥ ६६॥

उत्तमां च मनोबुद्धिं भवतां भावितात्मनाम्।
जानन्नपि च वः पार्थ कृतवानिह धर्षणाम्॥ ६७॥

आपलोगोंका अन्तःकरण शुद्ध है, मन और बुद्धि भी उत्तम है। पार्थ! आपके विषयमें यह सब कुछ जानते हुए भी मैंने यहाँ आक्रमण किया था॥ ६७॥

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान् क्षन्तुमर्हति।
धर्षणामात्मनः पश्यन् बाहुद्रविणमाश्रितः॥ ६८॥

कुरुनन्दन! इसका कारण यह है कि अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाला कोई भी पुरुष जब स्त्रीके समीप अपना तिरस्कार होता देखता है, तब उसे सहन नहीं कर पाता।६८।

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्धते।
यतस्ततो मां कौन्तेय सदारं मन्युराविशत्॥ ६९॥

कुन्तीनन्दन! इसके सिवा एक बात यह भी है कि रातके समय हमलोगोंका बल बहुत बढ़ जाता है। इसीसे स्त्रीके साथ रहनेके कारण मुझमें क्रोधका आवेश हो गया था॥६९॥

सोऽहं त्वयेह विजितः संख्ये तापत्यवर्धन।
येन तेनेह विधिना कीर्त्यमानं निबोध मे॥ ७०॥

तपतीके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन! आपने जिस कारण युद्धमें मुझे पराजित किया है, उसे (भी) बतलाता हूँ; सुनिये॥ ७०॥

ब्रह्मचर्यं परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि।
यस्मात् तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मि विजितस्त्वया॥ ७१॥

ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा धर्म है और वह तुममें निश्चितरूपसे विद्यमान है। कुन्तीनन्दन! इसीलिये युद्धमें मैं तुमसे हार गया हूँ॥ ७१॥

यस्तु स्यात् क्षत्रियः कश्चित् कामवृत्तः परंतप।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत् कथंचन॥ ७२॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! यदि दूसरा कोई कामासक्त क्षत्रिय रातमें मुझसे युद्ध करने आता तो किसी प्रकार जीवित नहीं बच सकता था॥ ७२॥

यस्तु स्यात् कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुरस्कृतः।
जयेन्नक्तंचरान् सर्वान् स पुरोहितधूर्गतः॥ ७३॥

किंतु कुन्तीकुमार! कामासक्त होनेपर भी यदि कोई पुरुष किसी ब्राह्मणको आगे करके चले तो वह समस्त निशाचरोंपर विजय पा सकता है; क्योंकि उस दशामें उसका सारा भार पुरोहितपर होता है॥ ७३॥

तस्मात् तापत्य यत्किंचिन्नृणां श्रेय इहेप्सितम्।
तस्मिन् कर्मणि योक्तव्या दान्तात्मानः पुरोहिताः॥ ७४॥

अतः तपतीनन्दन! मनुष्योंको इस लोकमें जो भी कल्याणकारी कार्य करना अभीष्ट हो, उसमें वह मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पुरोहितोंको नियुक्त करे॥ ७४॥

वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः॥ ७५॥

जो छहों अङ्गोंसहित वेदके स्वाध्यायमें तत्पर, ईमानदार, सत्यवादी, धर्मात्मा और मनको वशमें रखनेवाले हों, ऐसे ही ब्राह्मण राजाओंके पुरोहित होने चाहिये॥ ७५॥

जयश्च नियतो राज्ञः स्वर्गश्च तदनन्तरम्।
यस्य स्याद् धर्मविद् वाग्मी पुरोधाः शीलवान् शुचिः॥

जिसके यहाँ धर्मज्ञ, वक्ता, शीलवान् और ईमानदार ब्राह्मण पुरोहित हो, उस राजाको इस लोकमें निश्चय ही विजय प्राप्त होती है और मरनेके बाद उसे स्वर्गलोक मिलता है॥ ७६॥

लाभं लब्धुमलब्धं वा लब्धं वा परिरक्षितुम्।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम्॥ ७७॥

राजाको किसी अप्राप्त वस्तु या धनको प्राप्त करने अथवा उपलब्ध धन आदिकी रक्षा करनेके लिये गुणवान् ब्राह्मणको पुरोहित बनाना चाहिये॥ ७७॥

पुरोहितमते तिष्ठेद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम्॥ ७८॥

जो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीपर अपना अधिकार चाहे या अपने लिये ऐश्वर्य पाना चाहे, उसे पुरोहितकी आज्ञाके अधीन रहना चाहिये॥ ७८॥

न हि केवलशौर्येण तापत्याभिजनेन च।
जयेदब्राह्मणः कश्चिद् भूमिं भूमिपतिः क्वचित्॥ ७९॥

तपतीनन्दन! कोई भी राजा कहीं भी पुरोहितकी सहायताके बिना केवल अपने बल अथवा कुलीनताके भरोसे भूमिपर विजय नहीं पाता॥ ७९॥

तस्मादेवं विजानीहि कुरूणां वंशवर्धन।
ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम्॥ ८०॥

अतः कौरवोंके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन! आप यह जान लें कि जहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंकी प्रधानता हो, उसी राज्यकी दीर्घकालतक रक्षा की जा सकती है॥ ८०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि गन्धर्वपराभवे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें गन्धर्वपराभवविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६९॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ८२ श्लोक हैं)

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

सूर्यकन्या तपतीको देखकर राजा संवरणका मोहित होना

अर्जुन उवाच

तापत्य इति यद् वाक्यमुक्तवानसि मामिह।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि तापत्यार्थं विनिश्चितम्॥ १॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व! तुमने 'तपतीनन्दन' कहकर जो बात यहाँ मुझसे कही है, उसके सम्बन्धमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि तापत्यका निश्चित अर्थ क्या है?॥ १॥

तपती नाम का चैषा तापत्या यत्कृते वयम्।
कौन्तेया हि वयं साधो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्॥ २॥

साधुस्वभाव गन्धर्वराज! यह तपती कौन है, जिसके कारण हमलोग तापत्य कहलाते हैं? हम तो अपनेको कुन्तीका पुत्र समझते हैं। अतः 'तापत्य'का यथार्थ रहस्य क्या है, यह जाननेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है॥ २॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स गन्धर्वः कुन्तीपुत्रं धनंजयम्।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु श्रावयामास वै कथाम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उनके यों कहनेपर गन्धर्वने कुन्तीनन्दन धनंजयको वह कथा सुनानी प्रारम्भ की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है॥ ३॥

गन्धर्व उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि कथामेतां मनोरमाम्।
यथावदखिलां पार्थ सर्वबुद्धिमतां वर॥ ४॥

गन्धर्व बोला—समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार! इस विषयमें एक बहुत मनोरम कथा है, जिसे मैं यथार्थ एवं पूर्णरूपसे आपको सुनाऊँगा॥ ४॥

उक्तवानस्मि येन त्वां तापत्य इति यद् वचः।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना भव॥ ५॥

मैंने जिस कारण अपने वक्तव्यमें तुम्हें 'तापत्य' कहा है, वह बता रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ५॥

य एष दिवि धिष्ण्येन नाकं व्याप्नोति तेजसा।
एतस्य तपती नाम बभूव सदृशी सुता॥ ६॥
विवस्वतो वै देवस्य सावित्र्यवरजा विभो।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु तपती तपसा युता॥ ७॥

ये जो आकाशमें उदित हो अपने तेजोमण्डलके द्वारा यहाँसे स्वर्गलोकतक व्याप्त हो रहे हैं, इन्हीं भगवान् सूर्यदेवके तपती नामकी एक पुत्री हुई, जो पिताके अनुरूप ही थी। प्रभो! वह सावित्रीदेवीकी छोटी बहिन थी। वह तपस्यामें संलग्न रहनेके कारण तीनों लोकोंमें तपती नामसे विख्यात हुई॥ ६-७॥

न देवी नासुरी चैव न यक्षी न च राक्षसी।
नाप्सरा न च गन्धर्वी तथा रूपेण काचन॥ ८॥

उस समय देवता, असुर, यक्ष एवं राक्षस जातिकी स्त्री, कोई अप्सरा तथा गन्धर्वपत्नी भी उसके समान रूपवती न थी॥ ८॥

सुविभक्तानवद्याङ्गी स्वसितायतलोचना।
स्वाचारा चैव साध्वी च सुवेषा चैव भामिनी॥ ९॥
न तस्याः सदृशं कंचित् त्रिषु लोकेषु भारत।
भर्तारं सविता मेने रूपशीलगुणश्रुतैः॥ १०॥

उसके शरीरका एक-एक अवयव बहुत सुन्दर, सुविभक्त और निर्दोष था। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और कजरारी थीं। वह सुन्दरी सदाचार, साधु-स्वभाव और मनोहर वेशसे सुशोभित थी। भारत ! भगवान् सूर्यने तीनों लोकोंमें किसी भी पुरुषको ऐसा नहीं पाया, जो रूप, शील, गुण और शास्त्रज्ञानकी दृष्टिसे उसका पति होने योग्य हो॥ ९-१०॥

सम्प्राप्तयौवनां पश्यन् देयां दुहितरं तु ताम्।
नोपलेभे ततः शान्ति सम्प्रदानं विचिन्तयन्॥ ११॥

वह युवावस्थाको प्राप्त हो गयी। अब उसका किसीके साथ विवाह कर देना आवश्यक था। उसे उस अवस्थामें देखकर भगवान् सूर्य इस चिन्तामें पड़े कि इसका विवाह किसके साथ किया जाय। यही सोचकर उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी॥ ११॥

अथर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो बली।
सूर्यमाराधयामास नृपः संवरणस्तदा॥ १२॥

कुन्तीनन्दन ! उन्हीं दिनों महाराज ऋक्षके पुत्र राजा संवरण कुरुकुलके श्रेष्ठ एवं बलवान् पुरुष थे। उन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना प्रारम्भ की॥ १२॥

अर्घ्यमाल्योपहाराद्यैर्गन्धैश्च नियतः शुचिः।
नियमैरुपवासैश्च तपोभिर्विविधैरपि॥ १३॥
शुश्रूषुरनहंवादी शुचिः पौरवनन्दन।
अंशुमन्तं समुद्यन्तं पूजयामास भक्तिमान्॥ १४॥

पौरवनन्दन ! वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर पवित्र हो अर्घ्य, पुष्प, गन्ध एवं नैवेद्य आदि सामग्रियोंसे तथा भाँति-भाँतिके नियम, व्रत एवं तपस्याओंद्वारा बड़े भक्तिभावसे उदय होते हुए सूर्यकी पूजा करते थे। उनके हृदयमें सेवाका भाव था। वे शुद्ध तथा अहंकारशून्य थे॥ १३-१४॥

ततः कृतज्ञं धर्मज्ञं रूपेणासदृशं भुवि।
तपत्याः सदृशं मेने सूर्यः संवरणं पतिम्॥ १५॥

रूपमें इस पृथ्वीपर उनके समान दूसरा कोई पुरुष नहीं था। वे कृतज्ञ और धर्मज्ञ थे। अतः सूर्यदेवने राजा संवरणको ही तपतीके योग्य पति माना॥ १५॥

दातुमैच्छत् ततः कन्यां तस्मै संवरणाय ताम्।
नृपोत्तमाय कौरव्य विश्रुताभिजनाय च॥ १६॥

कुरुनन्दन ! उन्होंने नृपश्रेष्ठ संवरणको, जिनका उत्तम कुल सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात था, अपनी कन्या देनेकी इच्छा की॥ १६॥

यथा हि दिवि दीप्तांशुः प्रभासयति तेजसा।
तथा भुवि महीपालो दीप्त्या संवरणोऽभवत्॥ १७॥

जैसे आकाशमें उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यदेव अपने तेजसे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर राजा संवरण अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित थे॥ १७॥

यथार्चयन्ति चादित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः।
तथा संवरणं पार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः॥ १८॥

पार्थ ! जैसे ब्रह्मवादी महर्षि उगते हुए सूर्यकी आराधना करते हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रजाएँ महाराज संवरणकी उपासना करती थीं॥ १८॥

स सोममति कान्तत्वादादित्यमति तेजसा।
बभूव नृपतिः श्रीमान् सुहृदां दुर्हृदामपि॥ १९॥

वे अपनी कमनीय कान्तिसे चन्द्रमाको और तेजसे सूर्यदेवको भी तिरस्कृत करते थे। राजा संवरण मित्रों तथा शत्रुओंकी मण्डलीमें भी अपनी दिव्य शोभासे प्रकाशित होते थे॥ १९॥

एवंगुणस्य नृपतेस्तथावृत्तस्य कौरव।
तस्मै दातुं मनश्चक्रे तपतीं तपनः स्वयम्॥ २०॥

कुरुनन्दन ! ऐसे उत्तम गुणोंसे विभूषित तथा श्रेष्ठ आचार-व्यवहारसे युक्त राजा संवरणको भगवान् सूर्यने स्वयं ही अपनी पुत्री तपतीको देनेका निश्चय कर लिया॥ २०॥

स कदाचिदथो राजा श्रीमानमितविक्रमः।
चचार मृगयां पार्थ पर्वतोपवने किल॥ २१॥

कुन्तीनन्दन ! एक दिन अमितपराक्रमी श्रीमान् राजा संवरण पर्वतके समीपवर्ती उपवनमें हिंसक पशुओंका शिकार कर रहे थे॥ २१॥

चरतो मृगयां तस्य क्षुत्पिपासासमन्वितः।
ममार राज्ञः कौन्तेय गिरावप्रतिमो हयः॥ २२॥
स मृताश्वश्चरन् पार्थ पद्भ्यामेव गिरौ नृपः।
ददर्शासदृशीं लोके कन्यामायतलोचनाम्॥ २३॥

कुन्तीपुत्र ! शिकार खेलते समय ही राजाका अनुपम अश्व पर्वतपर भूख-प्याससे पीड़ित हो मर गया। पार्थ ! घोड़ेकी मृत्यु हो जानेसे राजा संवरण पैदल ही उस पर्वत-शिखरपर विचरने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने एक विशाललोचना कन्या देखी, जिसकी समता करनेवाली स्त्री कहीं नहीं थी॥ २२-२३॥

स एक एकामासाद्य कन्यां परबलार्दनः।
तस्थौ नृपतिशार्दूलः पश्यन्नविचलेक्षणः॥ २४॥

शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले नृपश्रेष्ठ संवरण अकेले थे और वह कन्या भी अकेली ही थी। उसके पास पहुँचकर राजा एकटक नेत्रोंसे उसकी ओर देखते हुए खड़े रह गये॥ २४॥

स हि तां तर्कयामास रूपतो नृपतिः श्रियम्।
पुनः संतर्कयामास रवेर्भ्रष्टामिव प्रभाम्॥ २५॥

पहले तो उसका रूप देखकर नरेशने अनुमान किया कि हो-न-हो ये साक्षात् लक्ष्मी हैं; फिर उनके ध्यानमें यह बात

आयी कि सम्भव है, भगवान् सूर्यकी प्रभा ही सूर्यमण्डलसे च्युत होकर इस कन्याके रूपमें आकाशसे पृथ्वीपर आ गयी हो॥२५॥

वपुषा वर्चसा चैव शिखामिव विभावसोः।
प्रसन्नत्वेन कान्त्या च चन्द्ररेखामिवामलाम्॥ २६॥

शरीर और तेजसे वह आगकी ज्वाला-सी जान पड़ती थी। उसकी प्रसन्नता और कमनीय कान्तिसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह निर्मल चन्द्रकला हो॥ २६॥

गिरिपृष्ठे तु सा यस्मिन् स्थिता स्वसितलोचना।
विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी॥ २७॥

सुन्दर कजरारे नेत्रोंवाली वह दिव्य कन्या जिस पर्वत-शिखरपर खड़ी थी, वहाँ वह सोनेकी दमकती हुई प्रतिमा-सी सुशोभित हो रही थी॥२७॥

तस्या रूपेण स गिरिर्वेषेण च विशेषतः।
स सवृक्षक्षुपलतो हिरण्मय इवाभवत्॥ २८॥

विशेषतः उसके रूप और वेशसे विभूषित हो वृक्ष, गुल्म और लताओंसहित वह पर्वत सुवर्णमय-सा जान पड़ता था॥ २८॥

अवमेने च तां दृष्ट्वा सर्वलोकेषु योषितः।
अवाप्तं चात्मनो मेने स राजा चक्षुषः फलम्॥ २९॥

उसे देखकर राजा संवरणकी समस्त लोकोंकी सुन्दरी युवतियोंमें अनादर-बुद्धि हो गयी। राजा यह मानने लगे कि आज मुझे अपने नेत्रोंका फल मिल गया॥ २९॥

जन्मप्रभृति यत् किंचिद् दृष्टवान् स महीपतिः।
रूपं न सदृशं तस्यास्तर्कयामास किंचन॥ ३०॥

भूपाल संवरणने जन्मसे लेकर (उस दिनतक) जो कुछ देखा था, उसमें कोई भी रूप उन्हें उस (दिव्य किशोरी)के सदृश नहीं प्रतीत हुआ॥ ३०॥

तया बद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा।
न चचाल ततो देशाद् बुबुधे न च किंचन॥ ३१॥

उस कन्याने उस समय अपने उत्तम गुणमय पाशोंसे राजाके मन और नेत्रोंको बाँध लिया। वे अपने स्थानसे हिल-डुलतक न सके। उन्हें किसी बातकी सुध-बुध (भी) न रही॥३१॥

अस्या नूनं विशालाक्ष्याः सदेवासुरमानुषम्।
लोकं निर्मथ्य धात्रेदं रूपमाविष्कृतं कृतम्॥ ३२॥

वे सोचने लगे, निश्चय ही ब्रह्माने देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण लोकोंके सौन्दर्य-सिन्धुको मथकर इस विशाल नेत्रोंवाली किशोरीके इस मनोहर रूपका आविष्कार किया होगा॥ ३२॥

एवं संतर्कयामास रूपद्रविणसम्पदा।
कन्यामसदृशीं लोके नृपः संवरणस्तदा॥ ३३॥

इस प्रकार उस समय उसकी रूप-सम्पत्तिसे राजा संवरणने यही अनुमान किया कि संसारमें इस दिव्य कन्याकी समता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है॥ ३३॥

तां च दृष्ट्वैव कल्याणीं कल्याणाभिजनो नृपः।
जगाम मनसा चिन्तां कामबाणेन पीडितः॥ ३४॥

कल्याणमय कुलमें उत्पन्न हुए वे नरेश उस कल्याण-स्वरूपा कामिनीको देखते ही काम-बाणसे पीड़ित हो गये। उनके मनमें चिन्ताकी आग जल उठी॥ ३४॥

दह्यमानः स तीव्रेण नृपतिर्मन्मथाग्निना।
अप्रगल्भां प्रगल्भस्तां तदोवाच मनोहराम्॥ ३५॥

तदनन्तर तीव्र कामाग्निसे जलते हुए राजा संवरणने लज्जारहित होकर उस लज्जाशीला एवं मनोहारिणी कन्यासे इस प्रकार पूछा—॥ ३५॥

कासि कस्यासि रम्भोरु किमर्थं चेह तिष्ठसि।
कथं च निर्जनेऽरण्ये चरस्येका शुचिस्मिते॥ ३६॥

'रम्भोरु! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो? और किसलिये यहाँ खड़ी हो? पवित्र मुसकानवाली! तुम इस निर्जन वनमें अकेली कैसे विचर रही हो?॥ ३६॥

त्वं हि सर्वानवद्याङ्गी सर्वाभरणभूषिता।
विभूषणमिवैतेषां भूषणानामभीप्सितम्॥ ३७॥

'तुम्हारे सभी अङ्ग परम सुन्दर एवं निर्दोष हैं। तुम सब प्रकारके (दिव्य) आभूषणोंसे विभूषित हो। सुन्दरि! इन आभूषणोंसे तुम्हारी शोभा नहीं है, अपितु तुम स्वयं ही इन आभूषणोंकी शोभा बढ़ानेवाली अभीष्ट आभूषणके समान हो॥

न देवीं नासुरीं चैव न यक्षीं न च राक्षसीम्।
न च भोगवतीं मन्ये न गन्धर्वीं न मानुषीम्॥ ३८॥

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, तुम न तो देवाङ्गना हो न असुरकन्या, न यक्षकुलकी स्त्री हो न राक्षसवंशकी, न नागकन्या हो न गन्धर्वकन्या। मैं तुम्हें मानवी भी नहीं मानता॥ ३८॥

या हि दृष्टा मया काश्चिच्छ्रुता वापि वराङ्गनाः।
न तासां सदृशीं मन्ये त्वामहं मत्तकाशिनि॥ ३९॥

'यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी! मैंने अब-तक जो कोई भी सुन्दरी स्त्रियाँ देखी अथवा सुनी हैं, उनमेंसे किसीको भी मैं तुम्हारे समान नहीं मानता॥ ३९॥

दृष्ट्वैव चारुवदने चन्द्रात् कान्ततरं तव।
वदनं पद्मपत्राक्षं मां मथ्नातीव मन्मथः॥ ४०॥

'सुमुखि! जबसे मैंने चन्द्रमासे भी बढ़कर कमनीय एवं कमलदलके समान विशाल नेत्रोंसे युक्त तुम्हारे मुखका दर्शन किया है, तभीसे मन्मथ मुझे मथ-सा रहा है'॥ ४०॥

एवं तां स महीपालो बभाषे न तु सा तदा।
कामार्तं निर्जनेऽरण्ये प्रत्यभाषत किंचन॥ ४१॥

इस प्रकार राजा संवरण उस सुन्दरीसे बहुत कुछ कह गये; परंतु उसने उस समय उस निर्जन वनमें उन काम-पीड़ित नरेशको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ४१ ॥

ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्यायतेक्षणा।
सौदामिनीव चाभ्रेषु तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४२ ॥

राजा संवरण उन्मत्तकी भाँति प्रलाप करते रह गये और वह विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी वहीं उनके सामने ही बादलोंमें बिजलीकी भाँति अन्तर्धान हो गयी ॥ ४२ ॥

तामन्वेष्टुं स नृपतिः परिचक्राम सर्वतः।
वनं वनजपत्राक्षीं भ्रमन्नुन्मत्तवत् तदा ॥ ४३ ॥

तब वे नरेश कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली उस (दिव्य) कन्याको ढूँढ़नेके लिये वनमें सब ओर उन्मत्तकी भाँति भ्रमण करने लगे ॥ ४३ ॥

अपश्यमानः स तु तां बहु तत्र विलप्य च।
निश्चेष्टः पार्थिवश्रेष्ठो मुहूर्तं स व्यतिष्ठत ॥ ४४ ॥

जब कहीं भी उसे देख न सके, तब वे नृपश्रेष्ठ वहाँ बहुत विलाप करते-करते मूर्च्छित हो दो घड़ीतक निश्चेष्ट पड़े रहे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तपती और संवरणकी बातचीत

गन्धर्व उवाच

अथ तस्यामदृश्यायां नृपतिः काममोहितः।
पातनः शत्रुसङ्घानां पपात धरणीतले ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! जब तपती अदृश्य हो गयी, तब काममोहित राजा संवरण, जो शत्रुसमुदायको मार गिरानेवाले थे, स्वयं ही बेहोश होकर धरतीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमावथ सा चारुहासिनी।
पुनः पीनायतश्रोणी दर्शयामास तं नृपम् ॥ २ ॥

जब वे इस प्रकार मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, तब स्थूल एवं विशाल श्रोणीप्रदेशवाली तपतीने मन्द-मन्द मुसकराते हुए अपनेको राजा संवरणके सामने प्रकट कर दिया ॥ २ ॥

अथाबभाषे कल्याणी वाचा मधुरया नृपम्।
तं कुरूणां कुलकरं कामाभिहतचेतसम् ॥ ३ ॥
उवाच मधुरं वाक्यं तपती प्रहसन्निव।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते न त्वमर्हस्यरिंदम ॥ ४ ॥
मोहं नृपतिशार्दूल गन्तुमाविष्कृतः क्षितौ।
एवमुक्तोऽथ नृपतिर्वाचा मधुरया तदा ॥ ५ ॥
ददर्श विपुलश्रोणीं तामेवाभिमुखे स्थिताम्।
अथ तामसितापाङ्गीमाबभाषे स पार्थिवः ॥ ६ ॥
मन्मथाग्निपरीतात्मा संदिग्धाक्षरया गिरा।
साधु त्वमसितापाङ्गि कामार्तं मत्तकाशिनि ॥ ७ ॥
भजस्व भजमानं मां प्राणा हि प्रजहन्ति माम्।
त्वदर्थं हि विशालाक्षि मामयं निशितैः शरैः ॥ ८ ॥
कामः कमलगर्भाभे प्रतिविध्यन् न शाम्यति।
दष्टमेवमनाक्रन्दे भद्रे काममहाहिना ॥ ९ ॥

कुरुवंशका विस्तार करनेवाले राजा संवरण कामाग्निसे पीड़ित हो अचेत हो गये थे। उस समय जैसे कोई हँसकर मधुर वचन बोलता हो, उसी प्रकार कल्याणी तपती मीठी वाणीमें उन नरेशसे बोली—'शत्रुदमन! उठिये, उठिये; आपका कल्याण हो। राजसिंह! आप इस भूतलके विख्यात सम्राट् हैं। आपको इस प्रकार मोहके वशीभूत नहीं होना चाहिये।' तपतीने जब मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा, तब राजा संवरणने आँखें खोलकर देखा। वही विशाल नितम्बोंवाली सुन्दरी सामने खड़ी थी। राजाके अन्तःकरणमें कामजनित आग जल रही थी। वे उस कजरारे नेत्रोंवाली सुन्दरीसे लड़खड़ाती वाणीमें बोले—'श्यामलोचने! तुम आ गयीं, अच्छा हुआ। यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी! मैं कामसे पीड़ित तुम्हारा सेवक हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो, अन्यथा मेरे प्राण मुझे छोड़कर चले जायँगे। विशालाक्षि! कमलके भीतरी भाग[illegible]-सी कान्तिवाली सुन्दरि! तुम्हारे लिये कामदेव मुझे अपने तीखे बाणोंद्वारा बार-बार घायल कर रहा है। यह (एक क्षणके लिये भी) शान्त नहीं होता। भद्रे! ऐसे समयमें जब मेरा कोई भी रक्षक नहीं है, मुझे कामरूपी महासर्पने डस लिया है ॥ ३—९ ॥

सा त्वं पीनायतश्रोणि मामाप्नुहि वरानने।
त्वदधीना हि मे प्राणाः किंनरोद्गीतभाषिणि ॥ १० ॥

'स्थूल एवं विशाल नितम्बोंवाली वरानने! मेरे समीप आओ। किन्नरोंकी-सी मीठी बोली बोलनेवाली! मेरे प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं ॥ १० ॥

चारुसर्वानवद्याङ्गि पद्मेन्दुप्रतिमानने।
न ह्यहं त्वदृते भीरु शक्ष्यामि खलु जीवितुम् ॥ ११ ॥

'भीरु! तुम्हारे सभी अङ्ग मनोहर तथा अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हैं। तुम्हारा मुख कमल और चन्द्रमाके समान सुशोभित होता है। मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकूँगा ॥

कामः कमलपत्राक्षि प्रतिविध्यति मामयम्।
तस्मात् कुरु विशालाक्षि मय्यनुक्रोशमङ्गने ॥ १२ ॥

'कमलदलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरि! यह काम-

देव मुझे (अपने बाणोंसे) घायल कर रहा है; विशाललोचने! इसलिये तुम मुझपर दया करो ॥ १२ ॥

भक्तं मामसितापाङ्गि न परित्यक्तुमर्हसि ।
त्वं हि मां प्रीतियोगेन त्रातुमर्हसि भाविनि ॥ १३ ॥

'कजरारे नेत्रोंवाली भामिनि! मैं तुम्हारा भक्त हूँ। तुम मेरा परित्याग न करो। तुम्हें तो प्रेमपूर्वक मेरी रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

त्वद्दर्शनकृतस्नेहं मनश्चलति मे भृशम् ।
न त्वां दृष्ट्वा पुनश्चान्यां द्रष्टुं कल्याणि रोचते ॥ १४ ॥

'मेरा मन तुम्हारे दर्शनके साथ ही तुमसे अनुरक्त हो गया है। इसलिये वह अत्यन्त चञ्चल हो उठा है। कल्याणि! तुम्हें देख लेनेके बाद फिर दूसरी स्त्रीकी ओर देखनेकी रुचि मुझे नहीं रह गयी है ॥ १४ ॥

प्रसीद वशगोऽहं ते भक्तं मां भज भाविनि ।
दृष्ट्वैव त्वां वरारोहे मन्मथो भृशमङ्गने ॥ १५ ॥
अन्तर्गतं विशालाक्षि विध्यति स्म पतत्त्रिभिः ।
मन्मथाग्निसमुद्भूतं दाहं कमललोचने ॥ १६ ॥
प्रीतिसंयोगयुक्ताभिरद्भिः प्रह्लादयस्व मे ।
पुष्पायुधं दुराधर्षं प्रचण्डशरकार्मुकम् ॥ १७ ॥
त्वद्दर्शनसमुद्भूतं विध्यन्तं दुस्सहैः शरैः ।
उपशामय कल्याणि आत्मदानेन भाविनि ॥ १८ ॥

'मैं सर्वथा तुम्हारे अधीन हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जाओ। महानुभावे! मुझ भक्तको अङ्गीकार करो। वरारोहे! विशाल नेत्रोंवाली अङ्गने! जबसे मैंने तुम्हें देखा है, तभीसे कामदेव मेरे अन्तःकरणको अपने बाणोंद्वारा घायल कर रहा है। कमललोचने! तुम प्रेमपूर्वक समागमके जलसे मेरे कामाग्निजनित दाहको बुझाकर मुझे आह्लाद प्रदान करो। कल्याणि! तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न हुआ कामदेव फूलोंके आयुध लेकर भी अत्यन्त दुर्धर्ष हो रहा है। उसके धनुष और बाण दोनों ही बड़े प्रचण्ड हैं। वह अपने दुस्सह बाणोंसे मुझे बींध रहा है। महानुभावे! तुम आत्मदान देकर मेरे उस कामको शान्त करो ॥

गान्धर्वेण विवाहेन मामुपेहि वराङ्गने ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ १९ ॥

'वराङ्गने! गान्धर्व विवाहद्वारा तुम मुझे प्राप्त होओ। सब विवाहोंमें गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है' ॥ १९ ॥

तपत्युवाच

नाहमीशाऽऽत्मनो राजन् कन्या पितृमती ह्यहम् ।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्याचस्व पितरं मम ॥ २० ॥

तपतीने कहा—राजन्! मैं ऐसी कन्या हूँ, जिसके पिता विद्यमान हैं; अतः अपने इस शरीरपर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यदि आपका मुझपर प्रेम है तो मेरे पिताजीसे मुझे माँग लीजिये ॥ २० ॥

यथा हि ते मया प्राणाः संगृहीता नरेश्वर ।
दर्शनादेव भूयस्त्वं तथा प्राणान् ममाहरः ॥ २१ ॥

'नरेश्वर! जैसे आपके प्राण मेरे अधीन हैं, उसी प्रकार आपने भी दर्शनमात्रसे ही मेरे प्राणोंको हर लिया है ॥ २१ ॥

न चाहमीशा देहस्य तस्मान्नृपतिसत्तम ।
समीपं नोपगच्छामि न स्वतन्त्रा हि योषितः ॥ २२ ॥
का हि सर्वेषु लोकेषु विश्रुताभिजनं नृपम् ।
कन्या नाभिलषेन्नाथं भर्तारं भक्तवत्सलम् ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ! मैं अपने शरीरकी स्वामिनी नहीं हूँ, इसलिये आपके समीप नहीं आ सकती; कारण कि स्त्रियाँ कभी स्वतन्त्र नहीं होतीं। आपका कुल सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है। आप-जैसे भक्तवत्सल नरेशको कौन कन्या अपना पति बनानेकी इच्छा नहीं करेगी? ॥ २२-२३ ॥

तस्मादेवं गते काले याचस्व पितरं मम ।
आदित्यं प्रणिपातेन तपसा नियमेन च ॥ २४ ॥

ऐसी दशामें आप यथासमय नमस्कार, तपस्या और नियमके द्वारा मेरे पिता भगवान् सूर्यको प्रसन्न करके उनसे मुझे माँग लीजिये ॥ २४ ॥

स चेत् कामयते दातुं तव मामरिसूदन ।
भविष्याम्यद्य ते राजन् सततं वशवर्तिनी ॥ २५ ॥

शत्रुसूदन नरेश! यदि वे मुझे आपकी सेवामें देना चाहेंगे तो मैं आजसे सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी ॥ २५ ॥

अहं हि तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता ।
अस्य लोकप्रदीपस्य सवितुः क्षत्रियर्षभ ॥ २६ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! मैं इन्हीं अखिलभुवनभास्कर भगवान् सविता-



की पुत्री और सावित्रीकी छोटी बहिन हूँ। मेरा नाम तपती है ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीकी सहायतासे राजा संवरणको तपतीकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

एवमुक्त्वा ततस्तूर्णं जगामोर्ध्वमनिन्दिता।
स तु राजा पुनर्भूमौ तत्रैव निपपात ह ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! यों कहकर वह अनिन्द्य-सुन्दरी तपती तत्काल ऊपर (आकाशमें) चली गयी और वे राजा संवरण फिर वहीं (मूर्च्छित हो) पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

अन्वेषमाणः सबलस्तं राजानं नृपोत्तमम्।
अमात्यः सानुयात्रश्च तं ददर्श महावने ॥ २ ॥

इधर उनके मन्त्री सेना और अनुचरोंको साथ लिये उन श्रेष्ठ नरेशको खोजते हुए आ रहे थे। उस महान् वनमें पहुँचकर मन्त्रीने राजाको देखा ॥ २ ॥

क्षितौ निपतितं काले शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम्।
तं हि दृष्ट्वा महेष्वासं निरस्तं पतितं भुवि ॥ ३ ॥
बभूव सोऽस्य सचिवः सम्प्रदीप्त इवाग्निना।
त्वरया चोपसंगम्य स्नेहादागतसम्भ्रमः ॥ ४ ॥

वे समय पाकर गिरे हुए ऊँचे इन्द्रध्वजकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे। तपतीसे विमुक्त उन महान् धनुर्धर महाराजको इस प्रकार पृथ्वीपर पड़ा देख राजमन्त्री ऐसे व्याकुल हो उठे मानो उनके शरीरमें आग लग गयी हो। वे तुरंत उनके पास जा पहुँचे। स्नेहवश उनके हृदयमें घबराहट पैदा हो गयी थी॥

तं समुत्थापयामास नृपतिं काममोहितम्।
भूतलाद् भूमिपालेशं पितेव पतितं सुतम् ॥ ५ ॥
प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्त्या नयेन च।
अमात्यस्तं समुत्थाप्य बभूव विगतज्वरः ॥ ६ ॥

राजमन्त्री अवस्थामें तो बड़े-बूढ़े थे ही, बुद्धि, कीर्ति और नीतिमें भी बढ़े-चढ़े थे। उन्होंने जैसे पिता अपने गिरे हुए पुत्रको धरतीसे उठा ले, उसी प्रकार कामवेदनासे मूर्च्छित हुए भूमिपालोंके भी स्वामी महाराज संवरणको शीघ्रतापूर्वक पृथ्वीपरसे उठा लिया। राजाको उठाकर और उन्हें जीवित पाकर उनकी चिन्ता दूर हो गयी ॥ ५-६ ॥

उवाच चैनं कल्याण्या वाचा मधुरयोत्थितम्।
मा भैर्मनुजशार्दूल भद्रमस्तु तवानघ ॥ ७ ॥

वे उठकर बैठे हुए महाराजसे कल्याणमयी मधुर वाणीमें बोले—'नरश्रेष्ठ ! आप डरें नहीं। अनघ ! आपका कल्याण हो'॥

क्षुत्पिपासापरिश्रान्तं तर्कयामास वै नृपम्।
पतितं पातनं संख्ये शात्रवाणां महीतले ॥ ८ ॥

युद्धमें शत्रुदलको पृथ्वीपर गिरा देनेवाले नरेशको भूमिपर गिरा देख मन्त्रीने यह अनुमान लगाया कि ये भूख-प्याससे पीड़ित एवं थके-माँदे हैं ॥ ८ ॥

वारिणा च सुशीतेन शिरस्तस्याभ्यषेचयत्।
अस्फुटन्मुकुटं राज्ञः पुण्डरीकसुगन्धिना ॥ ९ ॥

गिरनेपर राजाका मुकुट छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था (इससे अनुमान होता था कि राजा युद्धमें घायल नहीं हुए हैं)। मन्त्रीने राजाके मस्तकको कमलकी सुगन्धसे युक्त ठंडे जलसे सींचा ॥९॥

ततः प्रत्यागतप्राणस्तद् बलं बलवान् नृपः।
सर्वं विसर्जयामास तमेकं सचिवं विना ॥ १० ॥

उससे राजाको चेत हो आया। बलवान् नरेशने एकमात्र अपने मन्त्रीके सिवा सारी सेनाको लौटा दिया ॥ १० ॥

ततस्तस्याज्ञया राज्ञो विप्रतस्थे महद् बलम्।
स तु राजा गिरिप्रस्थे तस्मिन् पुनरुपाविशत् ॥ ११ ॥

महाराजकी आज्ञासे तुरंत वह विशाल सेना राजधानीकी ओर चल दी; परंतु वे राजा संवरण फिर उसी पर्वत-शिखरपर जा बैठे ॥ ११ ॥

ततस्तस्मिन् गिरिवरे शुचिर्भूत्वा क्र अलिः।
आरिराधयिषुः सूर्यं तस्थावूर्ध्वमु [illegible] तौ ॥ १२ ॥

तदनन्तर उस श्रेष्ठ पर्वतपर स्नानादिसे पवित्र हो भगवान् सूर्यकी आराधना करनेके लिये हाथ जोड़ ऊपरकी ओर मुँह किये वे भूमिपर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

जगाम मनसा चैव वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
पुरोहितममित्रघ्नस्तदा संवरणो नृपः ॥ १३ ॥

उस समय शत्रुओंका नाश करनेवाले राजा संवरणने अपने पुरोहित मुनिवर वसिष्ठका मन-ही-मन स्मरण किया ॥

नक्तं दिनमथैकत्र स्थिते तस्मिञ्जनाधिपे।
अथाजगाम विप्रर्षिस्तदा द्वादशमेऽहनि ॥ १४ ॥

वे रात-दिन एक ही जगह खड़े होकर तपस्यामें लगे रहे। तब बारहवें दिन महर्षि वसिष्ठका (वहाँ) शुभागमन हुआ ॥

स विदित्वैव नृपतिं तपत्या हृतमानसम्।
दिव्येन विधिना ज्ञात्वा भावितात्मा महानृषिः ॥ १५ ॥

विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि वसिष्ठ दिव्यज्ञानसे पहले ही जान गये कि सूर्यकन्या तपतीने राजाका चित्त चुरा लिया है ॥ १५ ॥

तथा तु नियतात्मानं तं नृपं मुनिसत्तमः।
आबभाषे स धर्मात्मा तस्यैवार्थचिकीर्षया ॥ १६ ॥

इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर तपस्यामें लगे हुए उक्त नरेशसे धर्मात्मा मुनिवर वसिष्ठने उन्हींकी कार्य-सिद्धिके लिये कुछ बातचीत की ॥ १६ ॥

स तस्य मनुजेन्द्रस्य पश्यतो भगवानृषिः।
ऊर्ध्वमाचक्रमे द्रष्टुं भास्करं भास्करद्युतिः ॥ १७ ॥

उक्त महाराजके देखते-देखते सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनि सूर्यदेवसे मिलनेके लिये ऊपरको गये ॥

सहस्रांशुं ततो विप्रः कृताञ्जलिरुपस्थितः।
वसिष्ठोऽहमिति प्रीत्या स चात्मानं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ दोनों हाथ जोड़कर सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्यदेवके समीप गये और 'मैं वसिष्ठ हूँ' यों कहकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे अपना समाचार निवेदित किया॥१८॥

(*वसिष्ठ उवाच*

अजाय लोकत्रयपावनाय
भूतात्मने गोपतये वृषाय।
सूर्याय सर्गप्रलयालयाय
नमो महाकारुणिकोत्तमाय ॥
विवस्वते ज्ञानभृदन्तरात्मने
जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे।
स्वयम्भुवे दीप्तसहस्रचक्षुषे
सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ॥
नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥)

फिर वसिष्ठजी बोले—जो अजन्मा, तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी, किरणोंके अधिपति, धर्मस्वरूप, सृष्टि और प्रलयके अधिष्ठान तथा परम दयालु देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उन भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो ज्ञानियोंके अन्तरात्मा, जगत्को प्रकाशित करनेवाले, संसारके हितैषी, स्वयम्भू तथा सहस्रों उद्दीप्त नेत्रोंसे सुशोभित हैं, उन अमिततेजस्वी सुरश्रेष्ठ भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो जगत्के एकमात्र नेत्र हैं, संसारकी सृष्टि, पालन और संहारके हेतु हैं, तीनों वेद जिनके स्वरूप हैं, जो त्रिगुणात्मक स्वरूप धारण करके ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामसे प्रसिद्ध हैं, उन भगवान् सविताको नमस्कार है ॥

तमुवाच महातेजा विवस्वान् मुनिसत्तमम्।
महर्षे स्वागतं तेऽस्तु कथयस्व यथेप्सितम् ॥ १९ ॥

तब महातेजस्वी भगवान् सूर्यने मुनिवर वसिष्ठसे कहा—'महर्षे ! तुम्हारा स्वागत है ! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, उसे कहो ॥ १९ ॥

यदिच्छसि महाभाग मत्तः प्रवदतां वर।
तत् ते दद्यामभिप्रेतं यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ २० ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाभाग ! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, तुम्हारी वह अभीष्ट वस्तु कितनी ही दुर्लभ क्यों न हो, तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ २० ॥

(स्तुतोऽसि वरदस्तेऽहं वरं वरय सुव्रत।
स्तुतिस्त्वयोक्ता भक्तानां जप्येयं वरदोऽस्म्यहम् ॥)

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! तुमने जो मेरा स्तवन किया है, इसके लिये मैं तुम्हें वर देनेको उद्यत हूँ, कोई वर माँगो। तुम्हारे द्वारा कही हुई वह स्तुति भक्तोंके लिये निरन्तर जप करने योग्य है। मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ' ॥

एवमुक्तः स तेनर्षिर्वसिष्ठः प्रत्यभाषत।
प्रणिपत्य विवस्वन्तं भानुमन्तं महातपाः ॥ २१ ॥

उनके यों कहनेपर महातपस्वी मुनिवर वसिष्ठ मरीचिमाली भगवान् भास्करको प्रणाम करके इस प्रकार बोले ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

यैषा ते तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता।
तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो ॥ २२ ॥

वसिष्ठजीने कहा—विभावसो ! यह जो आपकी तपती नामकी पुत्री एवं सावित्रीकी छोटी बहिन है, इसे मैं आपसे राजा संवरणके लिये माँगता हूँ ॥ २२ ॥

स हि राजा बृहत्कीर्तिर्धर्मार्थविदुदारधीः।
युक्तः संवरणो भर्ता दुहितुस्ते विहंगम ॥ २३ ॥

उस राजाकी कीर्ति बहुत दूरतक फैली हुई है। वे धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा उदार बुद्धिवाले हैं; अतः आकाशचारी सूर्यदेव ! महाराज संवरण आपकी पुत्रीके लिये सुयोग्य पति होंगे ॥ २३ ॥

इत्युक्तः स तदा तेन ददानीत्येव निश्चितः।
प्रत्यभाषत तं विप्रं प्रतिनन्द्य दिवाकरः ॥ २४ ॥

वसिष्ठजीके यों कहनेपर अपनी कन्या देनेका निश्चय करके भगवान् सूर्यने ब्रह्मर्षिका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा— ॥ २४ ॥

वरः संवरणो राज्ञां त्वमृषीणां वरो मुने।
तपती योषितां श्रेष्ठा किमन्यदपवर्जनात् ॥ २५ ॥

'मुने ! संवरण राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, आप महर्षियोंमें उत्तम हैं और तपती युवतियोंमें सर्वश्रेष्ठ है; अतः उसके दानसे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है' ॥ २५ ॥

ततः सर्वानवद्याङ्गीं तपतीं तपनः स्वयम्।
ददौ संवरणस्यार्थे वसिष्ठाय महात्मने ॥ २६ ॥

तदनन्तर साक्षात् भगवान् सूर्यने अनिन्द्यसुन्दरी तपतीको राजा संवरणकी पत्नी होनेके लिये महात्मा वसिष्ठको अर्पित कर दिया ॥ २६ ॥

प्रतिजग्राह तां कन्यां महर्षिस्तपतीं तदा।
वसिष्ठोऽथ विसृष्टस्तु पुनरेवाजगाम ह ॥ २७ ॥

यत्र विख्यातकीर्तिः स कुरूणामृषभोऽभवत् ।
स राजा मन्मथाविष्टस्तद्गतेनान्तरात्मना ॥ २८ ॥

ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उस कन्याको ग्रहण किया और वहाँसे विदा होकर वे तपतीके साथ पुनः उस स्थानपर आये, जहाँ विख्यातकीर्ति, कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ राजा संवरण कामके वशीभूत हो मन-ही-मन तपतीका चिन्तन करते हुए बैठे थे ॥

दृष्ट्वा च देवकन्यां तां तपतीं चारुहासिनीम् ।
वसिष्ठेन सहायान्तीं संहृष्टोऽभ्यधिकं बभौ ॥ २९ ॥

मनोहर मुसकानवाली देवकन्या तपतीको वसिष्ठजीके साथ आती देख राजा संवरण अत्यन्त हर्षोल्लाससे युक्त हो



अधिक शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

रुरुचे साधिकं सुभ्रूरापतन्ती नभस्तलात् ।
सौदामिनीव विभ्रष्टा द्योतयन्ती दिशस्त्विषा ॥ ३० ॥

सुन्दर भौंहोंवाली तपती आकाशसे पृथ्वीपर आते समय गिरी हुई बिजलीके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी प्रभासे प्रकाशित करती हुई अधिक सुशोभित हो रही थी ॥ ३० ॥

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रे तु तस्य राज्ञः समाहिते ।
आजगाम विशुद्धात्मा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ३१ ॥

राजाने क्लेश सहन करते हुए बारह राततक एकाग्रचित्त होकर ध्यान लगाया था। तब विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् वसिष्ठ मुनि राजाके पास आये थे ॥ ३१ ॥

तपसाऽऽराध्य वरदं देवं गोपतिमीश्वरम् ।
लेभे संवरणो भार्यां वसिष्ठस्यैव तेजसा ॥ ३२ ॥

सबके अधीश्वर वरदायक देवशिरोमणि भगवान् सूर्यको तपस्याद्वारा प्रसन्न करके महाराज संवरणने वसिष्ठजीके ही तेजसे तपतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ ३२ ॥

ततस्तस्मिन् गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते ।
जग्राह विधिवत् पाणिं तपत्याः स नरर्षभः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठने देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित उस उत्तम पर्वतपर विधिपूर्वक तपतीका पाणिग्रहण किया ॥

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातस्तस्मिन्नेव धराधरे ।
सोऽकामयत राजर्षिर्विहर्तुं सह भार्यया ॥ ३४ ॥

उसके बाद वसिष्ठजीकी आज्ञा लेकर राजर्षि संवरणने उसी पर्वतपर अपनी पत्नीके साथ विहार करनेकी इच्छा की ॥ ३४ ॥

ततः पुरे च राष्ट्रे च वनेषूपवनेषु च ।
आदिदेश महीपालस्तमेव सचिवं तदा ॥ ३५ ॥

उन दिनों भूपालने नगर, राष्ट्र, वन तथा उपवनोंकी देख-भाल एवं रक्षाके लिये मन्त्रीको ही आदेश देकर विदा किया ॥ ३५ ॥

नृपतिं त्वभ्यनुज्ञाप्य वसिष्ठोऽथापचक्रमे ।
सोऽथ राजा गिरौ तस्मिन् विजहारामरो यथा ॥ ३६ ॥

वसिष्ठजी भी राजासे विदा ले अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर राजा संवरण उस पर्वतपर देवताकी भाँति विहार करने लगे ॥ ३६ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि काननेषु वनेषु च ।
रेमे तस्मिन् गिरौ राजा तथैव सह भार्यया ॥ ३७ ॥

वे उसी पर्वतके वनों और काननोंमें अपनी पत्नीके साथ उसी प्रकार बारह वर्षोंतक रमण करते रहे ॥ ३७ ॥

तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन् समा द्वादश सत्तम ।
न ववर्ष सहस्राक्षो राष्ट्रे चैवास्य भारत ॥ ३८ ॥

अर्जुन! उन दिनों महाराज संवरणके राज्य और नगरमें इन्द्रने बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं की ॥ ३८ ॥

ततस्तस्यामनावृष्ट्यां प्रवृत्तायामरिंदम ।
प्रजाः क्षयमुपाजग्मुः सर्वाः सस्थाणुजङ्गमाः ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन! उस अनावृष्टिके समय प्रायः स्थावर एवं जगम सभी प्रकारकी प्रजाका क्षय होने लगा ॥ ३९ ॥

तस्मिंस्तथाविधे काले वर्तमाने सुदारुणे ।
नावश्यायः पपातोर्व्यां ततः सस्यानि नारुहन् ॥ ४० ॥

ऐसे भयंकर समयमें पृथ्वीपर ओसकी एक बूँदतक न गिरी। परिणाम यह हुआ कि खेती उगती ही नहीं थी ॥ ४० ॥

ततो विभ्रान्तमनसो जनाः क्षुद्भयपीडिताः ।
गृहाणि सम्परित्यज्य बभ्रमुः प्रदिशो दिशः ॥ ४१ ॥

तब सभी लोगोंका चित्त व्याकुल हो उठा। मनुष्य भूखके भयसे पीड़ित हो घरोंको छोड़कर दिशा-विदिशाओंमें मारे-मारे फिरने लगे ॥ ४१ ॥

ततस्तस्मिन् पुरे राष्ट्रे त्यक्तदारपरिग्रहाः ।
परस्परममर्यादाः क्षुधार्ता जघ्निरे जनाः ॥ ४२ ॥

तत् क्षुधार्तैर्निराहारैः शवभूतैस्तथा नरैः।
अभवत् प्रेतराजस्य पुरं प्रेतैरिवावृतम् ॥ ४३ ॥

फिर तो उस नगर और राष्ट्रके लोग क्षुधासे पीड़ित हो सनातन मर्यादाको छोड़कर स्त्री, पुत्र एवं परिवार आदिका त्याग करके परस्पर एक दूसरेको मारने और लूटने-खसोटने लगे। राजाका नगर ऐसे लोगोंसे भर गया, जो भूखसे आतुर हो उपवास करते-करते मुर्दोंके समान हो रहे थे। उन नर-कंकालोंसे परिपूर्ण वह नगर प्रेतोंसे घिरे हुए यमराजके निवासस्थान-सा जान पड़ता था॥ ४२-४३ ॥

ततस्तत् तादृशं दृष्ट्वा स एव भगवानृषिः।
अभ्यवर्षत धर्मात्मा वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ४४ ॥

प्रजाकी ऐसी दुरवस्था देख धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठने ही (अपने तपोबलसे) उस राज्यमें वर्षा की ॥ ४४ ॥

तं च पार्थिवशार्दूलमानयामास तत् पुरम्।
तपत्या सहितं राजन् व्युषितं शाश्वतीः समाः।
ततः प्रवृष्टस्तत्रासीद् यथापूर्वं सुरारिहा ॥ ४५ ॥

साथ ही वे नृपश्रेष्ठ संवरणको, जो बहुत वर्षोंसे प्रवासी हो रहे थे, तपतीके साथ नगरमें ले आये। उनके आनेपर दैत्यहन्ता देवराज इन्द्र वहाँ पूर्ववत् वर्षा करने लगे ॥ ४५ ॥

तस्मिन् नृपतिशार्दूले प्रविष्टे नगरं पुनः।
प्रववर्ष सहस्राक्षः सस्यानि जनयन् प्रभुः ॥ ४६ ॥

उन श्रेष्ठ राजाके नगरमें प्रवेश करनेपर भगवान् इन्द्रने वहाँ अन्नका उत्पादन बढ़ानेके लिये पुनः अच्छी वर्षा की ॥ ४६ ॥

ततः सराष्ट्रं मुमुदे तत् पुरं परया मुदा।
तेन पार्थिवमुख्येन भावितं भावितात्मना ॥ ४७ ॥

तबसे शुद्ध अन्तःकरणवाले नृपश्रेष्ठ संवरणके द्वारा पालित सब लोग प्रसन्न रहने लगे। उस राज्य और नगरमें बड़ा आनन्द छा गया ॥ ४७ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि पुनरीजे नराधिपः।
तपत्या सहितः पत्न्या यथा शच्या मरुत्पतिः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर तपतीके सहित महाराज संवरणने शचीके साथ इन्द्रके समान सुशोभित होते हुए बारह वर्षोंतक यज्ञ किया ॥

गन्धर्व उवाच

एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यया मतः ॥ ४९ ॥

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार भगवान् सूर्यकी पुत्री महाभागा तपती आपके पूर्वपुरुष संवरणकी पत्नी हुई थी, जिससे मैंने आपको तपतीनन्दन माना है ॥४९॥

तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपः।
तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥ ५० ॥

तपस्वीजनोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! महाराज संवरणने तपतीके गर्भसे कुरुको उत्पन्न किया था; अतः उसी वंशमें जन्म लेनेके कारण आपलोग तापत्य हुए ॥ ५० ॥

(कुरूद्भवा यतो यूयं कौरवाः कुरवस्तथा।
पौरवा आजमीढाश्च भारता भरतर्षभ ॥
तापत्यमखिलं प्रोक्तं वृत्तान्तं तव पूर्वकम्।
पुरोहितमुखा यूयं भुङ्ग्ध्वं वै पृथिवीमिमाम् ॥)

भरतश्रेष्ठ उन्हीं कुरुसे उत्पन्न होनेके कारण आप सब लोग 'कौरव' तथा 'कुरुवंशी' कहलाते हैं। इसी प्रकार पूरुसे उत्पन्न होनेके कारण 'पौरव', अजमीढकुलमें जन्म लेनेसे 'आजमीढ' तथा भरतकुलमें उत्पन्न होनेसे 'भारत' कहलाते हैं। इस प्रकार आपलोगोंकी वंशजननी तपतीका सारा पुरातन वृत्तान्त मैंने बता दिया। अब आपलोग पुरोहितको आगे रखकर इस पृथ्वीका पालन एवं उपभोग करें ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्यानसमाप्तौ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानकी समाप्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गन्धर्वका वसिष्ठजीकी महत्ता बताते हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको पुरोहित बनानेके लिये आग्रह करना

वैशम्पायन उवाच

स गन्धर्ववचः श्रुत्वा तत् तदा भरतर्षभ।
अर्जुनः परया भक्त्या पूर्णचन्द्र इवाबभौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! गन्धर्वका यह कथन सुनकर अर्जुन अत्यन्त भक्तिभावके कारण पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभा पाने लगे ॥ १ ॥

उवाच च महेष्वासो गन्धर्वं कुरुसत्तमः।
जातकौतूहलोऽतीव वसिष्ठस्य तपोबलात् ॥ २ ॥

फिर महाधनुर्धर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने गन्धर्वसे कहा—'सखे ! वसिष्ठके तपोबलकी बात सुनकर मेरे हृदयमें बड़ी उत्कण्ठा पैदा हो गयी है ॥ २ ॥

वसिष्ठ इति तस्यैतदृषेर्नाम त्वयेरितम्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं यथावत् तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

'तुमने उन महर्षिका नाम वसिष्ठ बताया था। उनका यह नाम क्यों पड़ा ? इसे मैं सुनना चाहता हूँ। तुम यथार्थ रूपसे मुझे बताओ ॥ ३ ॥

य एष गन्धर्वपते पूर्वेषां नः पुरोहितः ।
आसीदेतन्ममाचक्ष्व क एष भगवानृषिः ॥ ४ ॥

'गन्धर्वराज ! ये जो हमारे पूर्वजोंके पुरोहित थे, वे भगवान् वसिष्ठ मुनि कौन हैं ? यह मुझसे कहो' ॥ ४ ॥

गन्धर्व उवाच

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वसिष्ठोऽरुन्धतीपतिः ।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि ॥ ५ ॥
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः ।
इन्द्रियाणां वशकरो वशिष्ठ इति चोच्यते ॥ ६ ॥

गन्धर्वने कहा—वसिष्ठजी ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। उनकी पत्नीका नाम अरुन्धती है। जिन्हें देवता भी कभी जीत नहीं सके, वे काम और क्रोध नामक दोनों शत्रु वसिष्ठजीकी तपस्यासे सदाके लिये पराभूत होकर उनके चरण दबाते रहे हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण वे वशिष्ठ कहलाते हैं॥ ५-६ ॥

यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानामुदारधीः ।
विश्वामित्रापराधेन धारयन् मन्युमुत्तमम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रके अपराधसे मनमें पवित्र क्रोध धारण करते हुए भी उन उदारबुद्धि महर्षिने कुशिकवंशका समूलोच्छेद नहीं किया ॥ ७ ॥

पुत्रव्यसनसंतप्तः शक्तिमानप्यशक्तवत् ।
विश्वामित्रविनाशाय न चक्रे कर्म दारुणम् ॥ ८ ॥

विश्वामित्रके द्वारा अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेसे वे संतप्त थे, उनमें बदला लेनेकी शक्ति भी थी, तो भी उन्होंने असमर्थकी भाँति सब कुछ सह लिया एवं विश्वामित्रका विनाश करनेके लिये कोई दारुण कर्म नहीं किया ॥ ८ ॥

मृतांश्च पुनराहर्तुं शक्तः पुत्रान् यमक्षयात् ।
कृतान्तं नातिचक्राम वेलामिव महोदधिः ॥ ९ ॥

वे अपने मरे हुए पुत्रोंको यमलोकसे वापस ला सकते थे; परंतु जैसे महासागर अपने तटका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार वे यमराजकी मर्यादाको लाँघनेके लिये उद्यत नहीं हुए ॥ ९ ॥

यं प्राप्य विजितात्मानं महात्मानं नराधिपाः ।
इक्ष्वाकवो महीपाला लेभिरे पृथिवीमिमाम् ॥ १० ॥

उन्हीं जितात्मा महात्मा वसिष्ठ मुनिको (पुरोहितरूपमें) पाकर इक्ष्वाकुवंशी भूपालोंने (दीर्घकालतक) इस (समूची) पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया था ॥ १० ॥

पुरोहितमिमं प्राप्य वसिष्ठमृषिसत्तमम् ।
ईजिरे क्रतुभिश्चैव नृपास्ते कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! इन्हीं मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको पुरोहितरूपमें पाकर उन नरपतियोंने बहुत-से यज्ञ भी किये थे ॥ ११ ॥

स हि तान् याजयामास सर्वान् नृपतिसत्तमान् ।
ब्रह्मर्षिः पाण्डवश्रेष्ठ बृहस्पतिरिवामरान् ॥ १२ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! जैसे बृहस्पतिजी सम्पूर्ण देवताओंका यज्ञ कराते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उन सम्पूर्ण श्रेष्ठ राजाओंका यज्ञ कराया था ॥ १२ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः ।
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् पुरोधाः प्रतिदृश्यताम् ॥ १३ ॥

इसलिये जिसके मनमें धर्मकी प्रधानता हो, जो वेदोक्त धर्मका ज्ञाता और मनके अनुकूल हो; ऐसे किसी गुणवान् ब्राह्मणको आपलोग भी पुरोहित बनानेका निश्चय करें ॥ १३ ॥

क्षत्रियेणाभिजातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता ।
पूर्वं पुरोहितः कार्यः पार्थ राज्याभिवृद्धये ॥ १४ ॥

पार्थ ! पृथ्वीको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले कुलीन क्षत्रियको अपने राज्यकी वृद्धिके लिये पहले (किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको) पुरोहित नियुक्त कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥

महीं जिगीषता राज्ञा ब्रह्म कार्यं पुरस्सरम् ।
तस्मात् पुरोहितः कश्चिद् गुणवान् विजितेन्द्रियः ।
विद्वान् भवतु वो विप्रो धर्मकामार्थतत्त्ववित् ॥ १५ ॥

पृथ्वीको जीतनेकी इच्छावाले राजाको उचित है कि वह ब्राह्मणको अपने आगे रक्खे; अतः कोई गुणवान्, जितेन्द्रिय, वेदाभ्यासी, विद्वान् तथा धर्म, काम और अर्थका तत्त्वज्ञ ब्राह्मण आपका पुरोहित हो ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पुरोहितकरणकथने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पुरोहित बनानेके लिये कथनसम्बन्धी एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीके अद्भुत क्षमा-बलके आगे विश्वामित्रजीका पराभव

अर्जुन उवाच

किंनिमित्तमभूद् वैरं विश्वामित्रवसिष्ठयोः ।
वसतोराश्रमे दिव्ये शंस नः सर्वमेव तत् ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा—गन्धर्वराज ! विश्वामित्र और वसिष्ठ मुनि तो अपने-अपने दिव्य आश्रममें निवास करते हैं, फिर उनमें वैर किस कारण हुआ ? ये सब बातें मुझसे कहो ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

इदं वासिष्ठमाख्यानं पुराणं परिचक्षते ।
पार्थ सर्वेषु लोकेषु यथावत् तन्निबोध मे ॥ २ ॥

गन्धर्वने कहा—पार्थ ! वसिष्ठजीके इस उपाख्यानको

सब लोकोंमें बहुत पुराना बतलाते हैं। उसे यथार्थरूपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ २ ॥

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवो भरतर्षभ ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्मसम्भवः ॥ ३ ॥

भरतवंशशिरोमणे! कान्यकुब्ज देशमें एक बहुत बड़े राजा थे, जो इस लोकमें गाधिके नामसे विख्यात थे। वे कुशिकके औरस पुत्र बताये जाते हैं ॥ ३ ॥

तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः ।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ॥ ४ ॥

उन्हीं धर्मात्मा नरेशके पुत्र विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, जो सेना और वाहनोंसे सम्पन्न होकर शत्रुओंका मानमर्दन किया करते थे ॥ ४ ॥

स चचार सहामात्यो मृगयां गहने वने ।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रम्येषु मरुधन्वसु ॥ ५ ॥
व्यायामकर्शितः सोऽथ मृगलिप्सुः पिपासितः ।
आजगाम नरश्रेष्ठ वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ६ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया ॥ ७ ॥

एक दिन वे अपने मन्त्रियोंके साथ गहन वनमें आखेटके लिये गये। मरुप्रदेशके सुरम्य वनोंमें उन्होंने वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए एक हिंसक पशुको पकड़नेके लिये उसका पीछा किया। अधिक परिश्रमके कारण उन्हें बड़ा कष्ट सहना पड़ा। नरश्रेष्ठ! वे प्याससे पीड़ित हो महर्षि वसिष्ठके आश्रममें आये। मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाराज विश्वामित्रको आया देख पूजनीय पुरुषोंकी पूजा करनेवाले महर्षि वसिष्ठने उनका सत्कार करते हुए आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये आमन्त्रित किया ॥ ५-७ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तं स्वागतेन च भारत ।
तथैव परिजग्राह वन्येन हविषा तदा ॥ ८ ॥

भारत! पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्वागत-भाषण तथा वन्य हविष्य आदिसे उन्होंने विश्वामित्रजीका सत्कार किया॥८॥

तस्याथ कामधुग् धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
उक्ता कामान् प्रयच्छेति सा कामान् दुह्यते सदा ॥ ९ ॥

महात्मा वसिष्ठजीके यहाँ एक कामधेनु थी, जो 'अमुक-अमुक मनोरथोंको पूर्ण करो' यह कहनेपर सदा उन-उन कामनाओंको पूर्ण कर दिया करती थी ॥ ९ ॥

ग्राम्यारण्याश्चौषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चामृतनिभं रसायनमनुत्तमम् ॥ १० ॥
भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि च तथार्जुन ॥ ११ ॥
रत्नानि च महार्हाणि वासांसि विविधानि च ।
तैः कामैः सर्वसम्पूर्णैः पूजितश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

ग्रामीण तथा जंगली अन्न, फल-मूल, दूध, षड्रस भोजन, अमृतके समान मधुर परम उत्तम रसायन, खाने, पीने और चबाने योग्य भाँति-भाँतिके पदार्थ, अमृतके समान स्वादिष्ट चटनी आदि तथा चूसने योग्य ईख आदि वस्तुएँ तथा भाँति-भाँतिके बहुमूल्य रत्न एवं वस्त्र आदि सब सामग्रियोंको उस कामधेनुने प्रस्तुत कर दिया। सब प्रकारसे उन सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंके द्वारा हे अर्जुन! राजा विश्वामित्र भलीभाँति पूजित हुए ॥ १०-१२ ॥

सामात्यः सबलश्चैव तुतोष स भृशं तदा ।
षडुन्नतां सुपार्श्वोरुं पृथुपञ्चसमावृताम् ॥ १३ ॥

उस समय वे अपनी सेना और मन्त्रियोंके साथ बहुत संतुष्ट हुए। महर्षिकी धेनुका मस्तक, ग्रीवा, जाँघें, गलकम्बल, पूँछ और थन—ये छः अङ्ग बड़े एवं विस्तृत थे।* उसके पार्श्वभाग तथा ऊरु बड़े सुन्दर थे। वह पाँच पृथुल अङ्गोंसे सुशोभित थी† ॥ १३ ॥

मण्डूकनेत्रां स्वाकारां पीनोधसमनिन्दिताम् ।
सुवालधिं शङ्कुकर्णां चारुशृङ्गां मनोरमाम् ॥ १४ ॥

उसकी आँखें मेढक-जैसी थीं। आकृति बड़ी सुन्दर थी। चारों थन मोटे और फैले हुए थे। वह सर्वथा प्रशंसाके योग्य थी। सुन्दर पूँछ, नुकीले कान और मनोहर सींगोंके कारण वह बड़ी मनोरम जान पड़ती थी ॥ १४ ॥

पुष्टायतशिरोग्रीवां विस्मितः सोऽभिवीक्ष्य ताम् ।
अभिनन्द्य स तां राजा नन्दिनीं गाधिनन्दनः ॥ १५ ॥

उसके सिर और गर्दन विस्तृत एवं पुष्ट थे। उसका नाम नन्दिनी था। उसे देखकर विस्मित हुए गाधिनन्दन विश्वामित्रने उसका अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

अब्रवीच्च भृशं तुष्टः स राजा तमृषिं तदा ।
अर्बुदेन गवां ब्रह्मन् मम राज्येन वा पुनः ॥ १६ ॥
नन्दिनीं सम्प्रयच्छस्व भुङ्क्ष्व राज्यं महामुने ।

और अत्यन्त संतुष्ट होकर राजा विश्वामित्रने उस समय उन महर्षिसे कहा—'ब्रह्मन्! आप दस करोड़ गायें अथवा मेरा सारा राज्य

* गौओंके मस्तक आदि छः अङ्गोंका बड़ा एवं विस्तृत होना शुभ माना गया है। जैसा कि शास्त्रका वचन है—

शिरो ग्रीवा सक्थिनी च सास्ना पुच्छमथ स्तनाः ।
शुभान्येतानि धेनूनामायतानि प्रचक्षते ॥

† गौओंका ललाट, दोनों नेत्र और दोनों कान—ये पाँचों अङ्ग पृथु (पुष्ट एवं विस्तृत) हों तो विद्वानोंद्वारा अच्छे माने जाते हैं। जैसा कि शास्त्रका वचन है—

ललाटं श्रवणौ चैव नयनद्वितयं तथा ।
पृथून्येतानि शस्यन्ते धेनूनां पञ्च सूरिभिः ॥

[नीलकण्ठी टीकासे]

लेकर इस नन्दिनीको मुझे दे दें। महामुने! इसे देकर आप राज्य भोग करें' ॥ १६½ ॥

वसिष्ठ उवाच

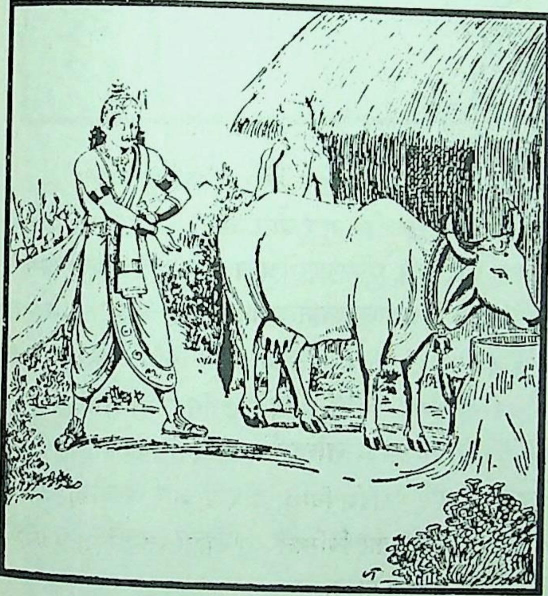
देवतातिथिपित्रर्थं याज्यार्थं च पयस्विनी ॥ १७ ॥
अदेया नन्दिनीयं वै राज्येनापि तवानघ ।

वसिष्ठजीने कहा—अनघ! देवता, अतिथि और पितरोंकी पूजा एवं यज्ञके हविष्य आदिके लिये यह दुधारू गाय नन्दिनी अपने यहाँ रहती है, इसे तुम्हारा राज्य लेकर भी नहीं दिया जा सकता ॥ १७½ ॥

विश्वामित्र उवाच

क्षत्रियोऽहं भवान् विप्रस्तपस्स्वाध्यायसाधनः ॥ १८ ॥

विश्वामित्रजी बोले—मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप तपस्या तथा स्वाध्यायका साधन करनेवाले ब्राह्मण हैं ॥ १८ ॥



ब्राह्मणेषु कुतो वीर्यं प्रशान्तेषु धृतात्मसु ।
अर्बुदेन गवां यस्त्वं न ददासि ममेप्सितम् ॥ १९ ॥
स्वधर्मं न प्रहास्यामि नेष्यामि च बलेन गाम् ।
(क्षत्रियोऽस्मि न विप्रोऽहं बाहुवीर्योऽस्मि धर्मतः ।
तस्माद् भुजबलेनेमां हरिष्यामीह पश्यतः ॥)

ब्राह्मण अत्यधिक शान्त और जितात्मा होते हैं। उनमें बल और पराक्रम कहाँसे आ सकता है; फिर क्या बात है जो आप मेरी अभीष्ट वस्तुको एक अर्बुद गाय लेकर भी नहीं दे रहे हैं। मैं अपना धर्म नहीं छोड़ूँगा, इस गायको बलपूर्वक ले जाऊँगा। मैं क्षत्रिय हूँ, ब्राह्मण नहीं हूँ। मुझे धर्मतः अपना बाहुबल प्रकट करनेका अधिकार है; अतः बाहुबलसे ही आपके देखते-देखते इस गायको हर ले जाऊँगा ॥ १९½ ॥

वसिष्ठ उवाच

बलस्थश्चासि राजा च बाहुवीर्यश्च क्षत्रियः ॥ २० ॥
यथेच्छसि तथा क्षिप्रं कुरु मा त्वं विचारय ।

वसिष्ठजीने कहा—तुम सेनाके साथ हो, राजा हो और अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाले क्षत्रिय हो। जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा शीघ्र कर डालो, विचार न करो ॥ २०½ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तथा पार्थ विश्वामित्रो बलादिव ॥ २१ ॥
हंसचन्द्रप्रतीकाशां नन्दिनीं तां जहार गाम् ।
कशादण्डप्रणुदितां काल्यमानामितस्ततः ॥ २२ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! वसिष्ठजीके यों कहनेपर विश्वामित्रने मानो बलपूर्वक ही हंस और चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाली उस नन्दिनी गायका अपहरण कर लिया। उसे कोड़ों और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँका जा रहा था ॥ २१-२२ ॥

हम्भायमाना कल्याणी वसिष्ठस्याथ नन्दिनी ।
आगम्याभिमुखी पार्थ तस्थौ भगवदुन्मुखी ॥ २३ ॥
भृशं च ताड्यमाना वै न जगामाश्रमात् ततः ।

अर्जुन! उस समय कल्याणमयी नन्दिनी डकराती हुई महर्षि वसिष्ठके सामने आकर खड़ी हो गयी और उन्हींकी ओर मुँह करके देखने लगी। उसके ऊपर जोर-जोरसे मार पड़ रही थी, तो भी वह आश्रमसे अन्यत्र नहीं गयी ॥ २३½ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणोमि ते रवं भद्रे विनदन्त्याः पुनः पुनः ॥ २४ ॥
ह्रियसे त्वं बलाद् भद्रे विश्वामित्रेण नन्दिनि ।
किं कर्तव्यं मया तत्र क्षमावान् ब्राह्मणो ह्यहम् ॥ २५ ॥

वसिष्ठजी बोले—भद्रे! तुम बार-बार क्रन्दन कर रही हो। मैं तुम्हारा आर्तनाद सुनता हूँ, परंतु क्या करूँ? कल्याणमयी नन्दिनि! विश्वामित्र तुम्हें बलपूर्वक हर ले जा रहे हैं। इसमें मैं क्या कर सकता हूँ। मैं एक क्षमाशील ब्राह्मण हूँ ॥ २४-२५ ॥

गन्धर्व उवाच

सा भयान्नन्दिनी तेषां बलानां भरतर्षभ ।
विश्वामित्रभयोद्विग्ना वसिष्ठं समुपागमत् ॥ २६ ॥

गन्धर्व कहता है—भरतवंशशिरोमणे! नन्दिनी विश्वामित्रके भयसे उद्विग्न हो उठी थी। वह उनके सैनिकोंके भयसे मुनिवर वसिष्ठकी शरणमें गयी ॥ २६ ॥

गौरुवाच

कशाग्रदण्डाभिहतां क्रोशन्तीं मामनाथवत् ।
विश्वामित्रबलैर्घोरैर्भगवन् किमुपेक्षसे ॥ २७ ॥

गौने कहा—भगवन्! विश्वामित्रके निर्दय सैनिक मुझे कोड़ों और डंडोंसे पीट रहे हैं। मैं अनाथकी भाँति क्रन्दन कर रही हूँ। आप क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं? ॥ २७ ॥

गन्धर्व उवाच

नन्दिन्यामेवं क्रन्दन्त्यां धर्षितायां महामुनिः ।
न चुक्षुभे तदा धैर्यान्न चचाल धृतव्रतः ॥ २८ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! नन्दिनी इस प्रकार अपमानित होकर करुण क्रन्दन कर रही थी, तो भी दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महामुनि वसिष्ठ न तो क्षुब्ध हुए और न धैर्यसे ही विचलित हुए ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् ।
क्षमा मां भजते यस्माद् गम्यतां यदि रोचते ॥ २९ ॥

वसिष्ठजी बोले—भद्रे ! क्षत्रियोंका बल उनका तेज है और ब्राह्मणोंका बल उनकी क्षमा है। चूँकि मुझे क्षमा अपनाये हुए है, अतः तुम्हारी रुचि हो, तो जा सकती हो ॥ २९ ॥

नन्दिन्युवाच

किं नु त्यक्तास्मि भगवन् यदेवं त्वं प्रभाषसे ।
अत्यक्ताहं त्वया ब्रह्मन् नेतुं शक्या न वै बलात् ॥३०॥

नन्दिनीने कहा—भगवन् ! क्या आपने मुझे त्याग दिया, जो ऐसी बात कहते हैं ? ब्रह्मन् ! आपने त्याग न दिया हो, तो कोई मुझे बलपूर्वक नहीं ले जा सकता ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

न त्वां त्यजामि कल्याणि स्थीयतां यदि शक्यते ।
दृढेन दाम्ना बद्ध्वैष वत्सस्ते ह्रियते बलात् ॥ ३१ ॥

वसिष्ठजी बोले—कल्याणि ! मैं तुम्हारा त्याग नहीं करता। तुम यदि रह सको तो यहीं रहो। यह तुम्हारा बछड़ा मजबूत रस्सीसे बाँधकर बलपूर्वक ले जाया जा रहा है॥

गन्धर्व उवाच

स्थायतामिति तच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य पयस्विनी ।
ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ रौद्रदर्शना ॥ ३२ ॥

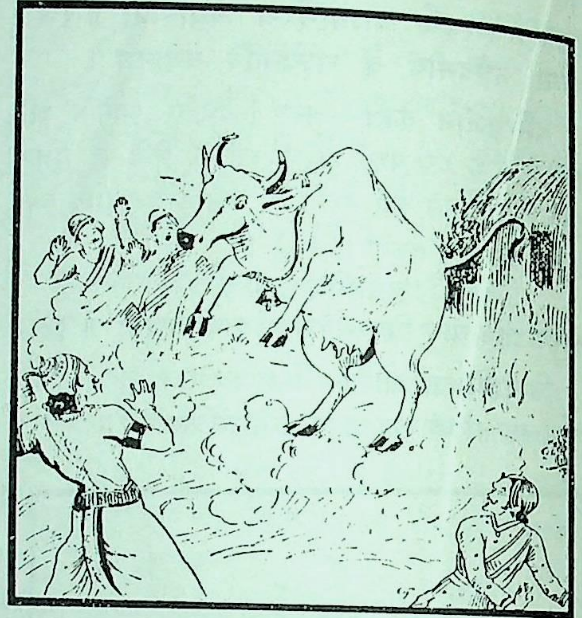
गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! 'यहीं रहो' वसिष्ठजीका यह वचन सुनकर नन्दिनीने अपने सिर और गर्दनको ऊपरकी ओर उठाया। उस समय वह देखनेमें बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥ ३२ ॥

क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हम्भारवघनस्वना ।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं व्यद्रावयत सर्वशः ॥ ३३ ॥

क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयी थीं। उसके डकरानेकी आवाज जोर-जोरसे सुनायी देने लगी। उसने विश्वामित्रकी उस सेनाको चारों ओर खदेड़ना शुरू किया॥३३॥

कशाग्रदण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः ।
क्रोधरक्तेक्षणा क्रोधं भूय एव समाददे ॥ ३४ ॥

कोड़ोंके अग्रभाग और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँके जानेके कारण उसके नेत्र पहलेसे ही क्रोधके कारण रक्तवर्णके हो गये थे। फिर उसने और भी क्रोध धारण किया ॥३४॥



आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ ।
अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् ॥ ३५ ॥
असृजत् पह्लवान् पुच्छात् प्रस्रवाद् द्रविडाञ्छकान् ।
योनिदेशाच्च यवनान् शकृतः शबरान् बहून् ॥ ३६ ॥

क्रोधके कारण उसके शरीरसे अपूर्व दीप्ति प्रकट हो रही थी। वह दोपहरके सूर्यकी भाँति उद्भासित हो उठी। उसने अपनी पूँछसे बारंबार अङ्गारकी भारी वर्षा करते हुए पूँछसे ही पह्लवोंकी सृष्टि की, थनोंसे द्रविडों और शकोंको उत्पन्न किया, योनिदेशसे यवनों और गोबरसे बहुतेरे शबरोंको जन्म दिया ॥ ३५-३६ ॥

मूत्रतश्चासृजत् कांश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः ।
पौण्ड्रान् किरातान् यवनान् सिंहलान् बर्बरान् खसान् ॥

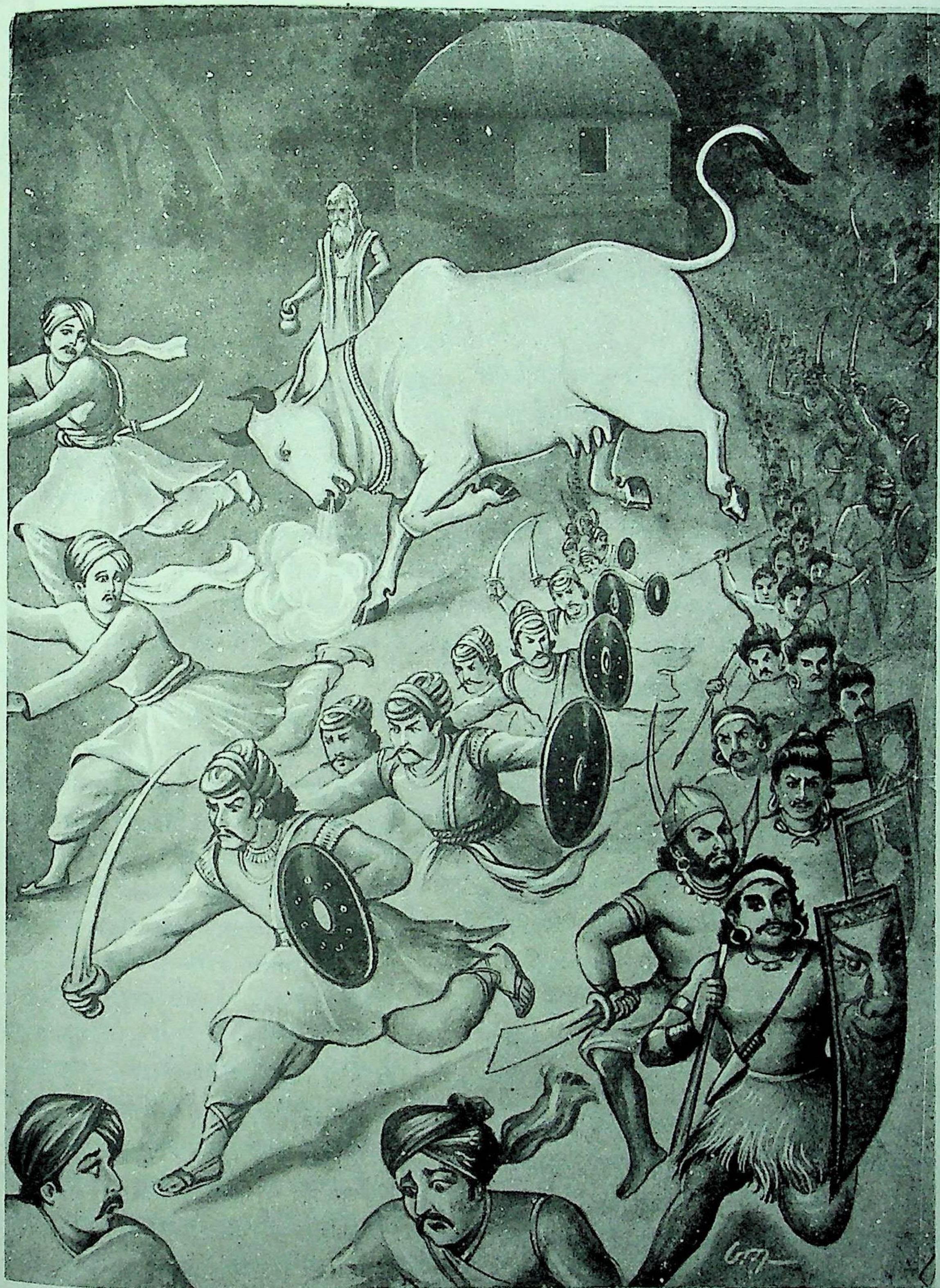
कितने ही शबर उसके मूत्रसे प्रकट हुए। उसके पार्श्व-भागसे पौण्ड्र, किरात, यवन, सिंहल, बर्बर और खसोंकी सृष्टि हुई ॥ ३७ ॥

चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान् हूणान् सकेरलान् ।
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान् बहुविधानपि ॥ ३८ ॥

इसी प्रकार उस गौने फेनसे चिबुक, पुलिन्द, चीन, हूण, केरल आदि बहुत प्रकारके म्लेच्छोंकी सृष्टि की ॥३८॥

तैर्विसृष्टैर्महासैन्यैर्नानाम्लेच्छगणैस्तदा ।
नानावरणसंच्छन्नैर्नानायुधधरैस्तथा ॥ ३९ ॥
अवाकीर्यत संरब्धैर्विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
एकैकश्च तदा योधः पञ्चभिः सप्तभिर्वृतः ॥ ४० ॥

उसके द्वारा रचे गये नाना प्रकारके म्लेच्छगणोंकी वे विशाल सेनाएँ जो अनेक प्रकारके कवच आदिसे आच्छादित



विश्वामित्रकी सेनापर नन्दिनीका कोप

थीं। सबने भाँति-भाँतिके आयुध धारण कर रक्खे थे और सभी सैनिक क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने विश्वामित्रके देखते-देखते उनकी सेनाको तितर-बितर कर दिया। विश्वामित्रके एक-एक सैनिकको म्लेच्छ-सेनाके पाँच-पाँच, सात-सात योद्धाओंने घेर रक्खा था ॥ ३९-४० ॥

अस्त्रवर्षेण महता वध्यमानं बलं तदा।
प्रभग्नं सर्वतस्त्रस्तं विश्वामित्रस्य पश्यतः ॥ ४१ ॥

उस समय अस्त्र-शस्त्रोंकी भारी वर्षासे घायल होकर विश्वामित्रकी सेनाके पाँव उखड़ गये और उनके सामने ही वे सभी योद्धा भयभीत हो सब ओर भाग चले ॥ ४१ ॥

न च प्राणैर्वियुज्यन्ते केचित् तत्रास्य सैनिकाः।
विश्वामित्रस्य संक्रुद्धैर्वासिष्ठैर्भरतर्षभ ॥ ४२ ॥

भरतश्रेष्ठ! क्रोधमें भरे हुए होनेपर भी वसिष्ठसेनाके सैनिक विश्वामित्रके किसी भी योद्धाका प्राण नहीं लेते थे ॥ ४२ ॥

सा गौस्तत् सकलं सैन्यं कालयामास दूरतः।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं काल्यमानं त्रियोजनम् ॥ ४३ ॥
क्रोशमानं भयोद्विग्नं त्रातारं नाध्यगच्छत।

इस प्रकार नन्दिनी गायने उनकी सारी सेनाको दूर भगा दिया। विश्वामित्रकी वह सेना तीन योजनतक खदेड़ी गयी वह सेना भयसे व्याकुल होकर चीखती-चिल्लाती रही; किंतु कोई भी संरक्षक उसे नहीं मिला ॥ ४३½ ॥

(विश्वामित्रस्ततो दृष्ट्वा क्रोधाविष्टः स रोदसी।
ववर्ष शरवर्षाणि वसिष्ठे मुनिसत्तमे ॥
घोररूपांश्च नाराचान् क्षुरान् भल्लान् महामुनिः।
विश्वामित्रप्रयुक्तांस्तान् वैणवेन व्यमोचयत् ॥
वसिष्ठस्य तदा दृष्ट्वा कर्मकौशलमाहवे ॥
विश्वामित्रोऽपि कोपेन भूयः शत्रुनिपातनः।
दिव्यास्त्रवर्षं तस्मै तु प्राहिणोन्मुनये रुषा ॥
आग्नेयं वारुणं चैन्द्रं याम्यं वायव्यमेव च।
विससर्ज महाभागे वसिष्ठे ब्रह्मणः सुते ॥
अस्त्राणि सर्वतो ज्वालां विसृजन्ति प्रपेदिरे।
युगान्तसमये घोराः पतङ्गस्येव रश्मयः ॥
वसिष्ठोऽपि महातेजा ब्रह्मशक्तिप्रयुक्तया।
यष्ट्या निवारयामास सर्वाण्यस्त्राणि स स्मयन् ॥
ततस्ते भस्मसाद्भूताः पतन्ति स्म महीतले ।
अपोह्य दिव्यान्यस्त्राणि वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥

यह देखकर विश्वामित्र क्रोधसे व्याप्त हो मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको लक्षित करके पृथिवी और आकाशमें बाणोंकी वर्षा करने लगे; परंतु महामुनि वसिष्ठने विश्वामित्रके चलाये हुए भयंकर नाराच, क्षुर और भल्ल नामक बाणोंको केवल बाँसकी छड़ीसे निवारण कर दिया। युद्धमें वसिष्ठ मुनिका वह कार्य-कौशल देखकर शत्रुओंको मार गिरानेवाले विश्वामित्र भी पुनः कुपित हो महर्षि वसिष्ठपर रोषपूर्वक दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उन्होंने ब्रह्माजीके पुत्र महाभाग वसिष्ठपर आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, याम्यास्त्र और वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। वे सब अस्त्र प्रलयकालके सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके समान सब ओरसे आगकी लपटें छोड़ते हुए महर्षिपर टूट पड़े; परंतु महातेजस्वी वसिष्ठने मुसकराते हुए ब्राह्मबलसे प्रेरित हुई छड़ीके द्वारा इन सब अस्त्रोंको पीछे लौटा दिया। फिर तो वे सभी अस्त्र भस्मीभूत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इस प्रकार उन दिव्यास्त्रोंका निवारण करके वसिष्ठजीने विश्वामित्रसे यह बात कही ॥

वसिष्ठ उवाच

निर्जितोऽसि महाराज दुरात्मन् गाधिनन्दन।
यदि तेऽस्ति परं शौर्यं तद् दर्शय मयि स्थिते ॥

वसिष्ठजी बोले—महाराज दुरात्मा गाधिनन्दन! अब तू परास्त हो चुका है। यदि तुझमें और भी उत्तम पराक्रम है तो मेरे ऊपर दिखा। मैं तेरे सामने डटकर खड़ा हूँ ॥

गन्धर्व उवाच

विश्वामित्रस्तथा चोक्तो वसिष्ठेन नराधिप।
नोवाच किंचिद् व्रीडाढ्यो विद्रावितमहाबलः ॥)

गन्धर्व कहता है—राजन्! विश्वामित्रकी वह विशाल सेना खदेड़ी जा चुकी थी। वसिष्ठके द्वारा पूर्वोक्तरूपसे ललकारे जानेपर वे लज्जित होकर कुछ भी उत्तर न दे सके ॥

दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं ब्रह्मतेजोभवे तदा ॥ ४४ ॥
विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत्।
धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ॥ ४५ ॥

ब्रह्मतेजका यह अत्यन्त आश्चर्यजनक चमत्कार देखकर विश्वामित्र क्षत्रियत्वसे खिन्न एवं उदासीन हो यह बात बोले—'क्षत्रिय-बल तो नाममात्रका ही बल है, उसे धिक्कार है। ब्रह्मतेजजनित बल ही वास्तविक बल है' ॥ ४४-४५ ॥

बलाबलं विनिश्चित्य तप एव परं बलम्।
स राज्यं स्फीतमुत्सृज्य तां च दीप्तां नृपश्रियम् ॥ ४६ ॥
भोगांश्च पृष्ठतः कृत्वा तपस्येव मनो दधे ।
स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान् विष्टभ्य तेजसा ॥ ४७ ॥
तताप सर्वान् दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्।
अपिबच्च ततः सोममिन्द्रेण सह कौशिकः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार बलाबलका विचार करके उन्होंने तपस्याको ही सर्वोत्तम बल निश्चित किया और अपने समृद्धिशाली राज्य तथा देदीप्यमान राज्यलक्ष्मीको छोड़कर, भोगोंको पीछे

करके तपस्यामें ही मन लगाया। इस तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हो उद्दीप्त तेजवाले विश्वामित्रजीने अपने प्रभावसे सम्पूर्ण लोकोंको स्तब्ध एवं संतप्त कर दिया और (अन्ततोगत्वा) ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया; फिर वे इन्द्रके साथ सोमपान करने लगे॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे विश्वामित्रपराभवे चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १७४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठजीके चरित्रके प्रसङ्गमें विश्वामित्रपराभवविषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १० ½ श्लोक मिलाकर कुल ५८ ½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिके शापसे कल्माषपादका राक्षस होना, विश्वामित्रकी प्रेरणासे राक्षसद्वारा वसिष्ठके पुत्रोंका भक्षण और वसिष्ठका शोक

गन्धर्व उवाच

कल्माषपाद इत्येवं लोके राजा बभूव ह।
इक्ष्वाकुवंशजः पार्थ तेजसासदृशो भुवि॥ १॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! इक्ष्वाकुवंशमें एक राजा हुए, जो लोकमें कल्माषपादके नामसे प्रसिद्ध थे। इस पृथ्वीपर वे एक असाधारण तेजस्वी राजा थे॥ १॥

स कदाचिद् वनं राजा मृगयां निर्ययौ पुरात्।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च चचार रिपुमर्दनः॥ २॥

एक दिन वे नगरसे निकलकर वनमें हिंसक पशुओंको मारनेके लिये गये। वहाँ वे रिपुमर्दन नरेश वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए इधर-उधर विचरने लगे॥ २॥

तस्मिन् वने महाघोरे खड्गांश्च बहुशोऽहनत्।
हत्वा च सुचिरं श्रान्तो राजा निववृते ततः॥ ३॥

उस महाभयानक वनमें उन्होंने बहुत-से गैंड़े भी मारे। बहुत देरतक हिंस्र पशुओंको मारकर जब राजा थक गये, तब वहाँसे नगरकी ओर लौटे॥ ३॥

अकामयत् तं याज्यार्थे विश्वामित्रः प्रतापवान्।
स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम्॥ ४॥
तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि।
अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम्॥ ५॥

प्रतापी विश्वामित्र उन्हें अपना यजमान बनाना चाहते थे। राजा कल्माषपाद युद्धमें कभी पराजित नहीं होते थे। उस दिन वे भूख-प्याससे पीड़ित थे और ऐसे तंग रास्तेपर आ पहुँचे थे, जहाँ एक ही आदमी आ-जा सकता था। वहाँ आनेपर उन्होंने देखा, सामनेकी ओरसे मुनिश्रेष्ठ महामना वसिष्ठकुमार आ रहे हैं॥ ४-५॥

शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्धनम्।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद् वसिष्ठस्य महात्मनः॥ ६॥

वे वसिष्ठजीके वंशकी वृद्धि करनेवाले महाभाग शक्ति थे। महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े वे ही थे॥ ६॥

अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत्।
तथा ऋषिरुवाचैनं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा॥ ७॥

उन्हें देखकर राजाने कहा—'हमारे रास्तेसे हट जाओ।' तब शक्ति मुनिने मधुर वाणीमें उन्हें समझाते हुए कहा—॥

मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये॥ ८॥

'महाराज! मार्ग तो मुझे ही मिलना चाहिये। यही सनातन धर्म है। सभी धर्मोंमें राजाके लिये यही उचित है कि वह ब्राह्मणको मार्ग दे'॥ ८॥

एवं परस्परं तौ तु पथोऽर्थं वाक्यमूचतुः।
अपसर्पापसर्पेति वागुत्तरमकुर्वताम्॥ ९॥

इस प्रकार वे दोनों आपसमें रास्तेके लिये वाग्युद्ध करने लगे। एक कहता, 'तुम हटो' तो दूसरा कहता, 'नहीं, तुम हटो।' इस प्रकार वे उत्तर-प्रत्युत्तर करने लगे॥ ९॥

ऋषिस्तु नापचक्राम तस्मिन् धर्मपथे स्थितः।
नापि राजा मुनेर्मानात् क्रोधाच्चाथ जगाम ह॥ १०॥
अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः।
जघान कशया मोहात् तदा राक्षसवन्मुनिम्॥ ११॥

ऋषि तो धर्मके मार्गमें स्थित थे, अतः वे रास्ता छोड़कर नहीं हटे। उधर राजा भी मान और क्रोधके वशीभूत हो मुनिके मार्गसे इधर-उधर नहीं हट सके। राजाओंमें श्रेष्ठ कल्माषपादने मार्ग न छोड़नेवाले शक्ति मुनिके ऊपर मोहवश राक्षसकी भाँति कोड़ेसे आघात किया॥ १०-११॥

कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः।
तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः॥ १२॥

कोड़ेकी चोट खाकर मुनिश्रेष्ठ शक्तिने क्रोधसे मूर्छित हो उन उत्तम नरेशको शाप दे दिया॥ १२॥

हंसि राक्षसवद् यस्माद् राजापसद तापसम्।
तस्मात् त्वमद्यप्रभृति पुरुषादो भविष्यसि॥ १३॥
मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम्।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिना॥ १४॥

तपस्याकी प्रबल शक्तिसे सम्पन्न शक्तिमुनिने कहा—'राजाओंमें नीच कल्माषपाद! तू एक तपस्वी ब्राह्मणको



राक्षसकी भाँति मार रहा है, इसलिये आजसे नरभक्षी राक्षस हो जायगा तथा अबसे तू मनुष्योंके मांसमें आसक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरता रहेगा। नृपाधम! जा यहाँसे' ॥ १३-१४ ॥

ततो याज्यनिमित्ते तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
वैरमासीत् तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत ॥ १५ ॥

उन्हीं दिनों यजमानके लिये विश्वामित्र और वसिष्ठमें वैर चल रहा था। उस समय विश्वामित्र राजा कल्माषपादके पास आये ॥ १५ ॥

तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान् ॥ १६ ॥

अर्जुन! जब राजा तथा ऋषिपुत्र दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उग्रतपस्वी प्रतापी विश्वामित्र मुनि उनके निकट चले गये ॥ १६ ॥

ततः स बुबुधे पश्चात् तमृषिं नृपसत्तमः।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा ॥ १७ ॥

तदनन्तर नृपश्रेष्ठ कल्माषपादने वसिष्ठके समान तेजस्वी वसिष्ठ मुनिके पुत्र उन महर्षि शक्तिको पहचाना ॥ १७ ॥

अन्तर्धाय तदाऽऽत्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत।
तावुभावतिचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम् ॥ १८ ॥

भारत! तब विश्वामित्रजीने भी अपनेको अदृश्य करके अपना प्रिय करनेकी इच्छासे राजा और शक्ति दोनोंको चकमा दिया ॥ १८ ॥

स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन् ॥ १९ ॥

जब शक्तिने शाप दे दिया, तब नपतिशिरोमणि कल्माषपाद उनकी स्तुति करते हुए उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनके शरण होने चले ॥ १९ ॥

तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुसत्तम।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति ॥ २० ॥

कुरुश्रेष्ठ! राजाके मनोभावको समझकर उक्त विश्वामित्रजीने एक राक्षसको राजाके भीतर प्रवेश करनेके लिये आज्ञा दी ॥ २० ॥

शापात् तस्य तु विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाज्ञया।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा ॥ २१ ॥

ब्रह्मर्षि शक्तिके शाप तथा विश्वामित्रजीकी आज्ञासे किंकर नामक राक्षसने तब राजाके भीतर प्रवेश किया ॥ २१ ॥

रक्षसा तं गृहीतं तु विदित्वा मुनिसत्तमः।
विश्वामित्रोऽप्यपाक्रामत् तस्माद् देशादरिंदम ॥ २२ ॥

शत्रुसूदन! राक्षसने राजाको आविष्ट कर लिया है, यह जानकर मुनिवर विश्वामित्रजी भी उस स्थानसे चले गये ॥ २२ ॥

ततः स नृपतिस्तेन रक्षसान्तर्गतेन वै।
बलवत् पीडितः पार्थ नान्वबुध्यत किंचन ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन! भीतर घुसे हुए राक्षससे अत्यन्त पीड़ित हो उन नरेशको किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ॥ २३ ॥

ददर्शाथ द्विजः कश्चिद् राजानं प्रस्थितं वनम्।
अयाचत क्षुधापन्नः समांसं भोजनं तदा ॥ २४ ॥

एक दिन किसी ब्राह्मणने (राक्षससे आविष्ट) राजाको वनकी ओर जाते देखा और भूखसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण उनसे मांससहित भोजन माँगा ॥ २४ ॥

तमुवाचाथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहस्तदा।
आस्स्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तं प्रतिपालयन् ॥ २५ ॥

तब राजर्षि मित्रसह (कल्माषपाद) ने उस द्विजसे कहा— 'ब्रह्मन्! आप यहाँ बैठिये और दो घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये ॥ २५ ॥

निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम्।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ च द्विजसत्तमः ॥ २६ ॥

'मैं वनसे लौटनेपर आपको यथेष्ट भोजन दूँगा।' यह कहकर राजा चले गये और वह ब्राह्मण (वहाँ) ठहर गया ॥ २६ ॥

ततो राजा परिक्रम्य यथाकामं यथासुखम्।
निवृत्तोऽन्तःपुरं पार्थ प्रविवेश महामनाः ॥ २७ ॥

पार्थ! तत्पश्चात् महामना राजा मित्रसह इच्छानुसार मौजसे घूम-फिरकर जब लौटे, तब अन्तःपुरमें चले गये ॥ २७ ॥

ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम्।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ॥ २८ ॥
गच्छामुष्मिन् वनोद्देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते।
अन्नार्थी तं त्वमन्नेन समांसेनोपपादय ॥ २९ ॥

वहाँ आधी रातके समय उन्हें ब्राह्मणको भोजन देनेकी प्रतिज्ञाका स्मरण हुआ। फिर तो वे उठ बैठे और तुरंत रसोइयेको बुलाकर बोले—'जाओ, वनके अमुक प्रदेशमें

एक ब्राह्मण भोजनके लिये मेरी प्रतीक्षा करता है। उसे तुम मांसयुक्त भोजनसे तृप्त करो' ॥ २८-२९ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्ततः सूदः सोऽनासाद्यामिषं क्वचित्।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः ॥ ३० ॥

गन्धर्व कहता है—उनके यों कहनेपर रसोइयेने मांसके लिये खोज की; परंतु जब कहीं भी मांस नहीं मिला, तब उसने दुखी होकर राजाको इस बातकी सूचना दी ॥ ३० ॥

राजा तु रक्षसाऽऽविष्टः सूदमाह गतव्यथः।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

राजापर राक्षसका आवेश था, अतः उन्होंने रसोइयेसे निश्चिन्त होकर कहा—'उस ब्राह्मणको मनुष्यका मांस ही खिला दो' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥ ३१ ॥

तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं वध्यघातिनाम्।
गत्वाऽऽजहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ॥ ३२ ॥

तब रसोइया 'तथास्तु' कहकर वध्यभूमिमें जल्लादोंके घर गया और (उनसे) निर्भय होकर तुरंत ही मनुष्यका मांस ले आया ॥

एतत् संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै।
तस्मै प्रादाद् ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने ॥ ३३ ॥

फिर उसको तुरंत विधिपूर्वक राँधकर अन्नके साथ उसे उस तपस्वी एवं भूखे ब्राह्मणको दे दिया ॥ ३३ ॥

स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३४ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने तपःसिद्ध दृष्टिसे उस अन्नको देखा और 'यह खाने योग्य नहीं है' यों समझकर क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे देखते हुए कहा ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण उवाच

यस्मादभोज्यमन्नं मे ददाति स नृपाधमः।
तस्मात् तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणने कहा—वह नीच राजा मुझे न खाने योग्य अन्न दे रहा है, अतः उसी मूर्खकी जिह्वा ऐसे अन्नके लिये लालायित रहेगी ॥ ३५ ॥

सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना तथा।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम् ॥ ३६ ॥

जैसा कि शक्ति मुनिने कहा है, वह मनुष्योंके मांसमें आसक्त हो समस्त प्राणियोंका उद्वेगपात्र बनकर इस पृथ्वीपर विचरेगा ॥ ३६ ॥

द्विरनुव्याहृते राज्ञः स शापो बलवानभूत्।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाभवन्नृपः ॥ ३७ ॥

दो बार इस तरहकी बात कही जानेके कारण राजाका शाप प्रबल हो गया। उसके साथ उनमें राक्षसके बलका समावेश हो जानेके कारण राजाकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो गयी ॥

ततः स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसापहृतेन्द्रियः।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा न चिरादिव भारत ॥ ३८ ॥

भारत! राक्षसने राजाके मन और इन्द्रियोंको काबूमें कर लिया था, अतः उन नृपश्रेष्ठने कुछ ही दिनों बाद उक्त शक्ति मुनिको अपने सामने देखकर कहा—॥ ३८ ॥

यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं मयि त्वया।
तस्मात् त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं पुरुषानहम् ॥ ३९ ॥

'चूँकि तुमने मुझे यह सर्वथा अयोग्य शाप दिया है, अतः अब मैं तुम्हींसे मनुष्योंका भक्षण आरम्भ करूँगा' ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य च।
शक्तिनं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम् ॥ ४० ॥

यों कहकर राजाने तत्काल ही शक्तिके प्राण ले लिये और जैसे बाघ अपनी रुचिके अनुकूल पशुको चबा जाता है, उसी प्रकार वे भी शक्तिको खा गये ॥ ४० ॥

शक्तिनं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद् रक्षः संदिदेश ह ॥ ४१ ॥

शक्तिको मारा गया देख विश्वामित्र बार-बार वसिष्ठके पुत्रोंपर ही आक्रमण करनेके लिये उस राक्षसको प्रेरित करते थे ॥ ४१ ॥

स ताञ्छक्त्यवरान् पुत्रान् वसिष्ठस्य महात्मनः।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ४२ ॥

जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह छोटे मृगोंको खा जाता है, उसी प्रकार उन (राक्षसभावापन्न) नरेशने महात्मा वसिष्ठके उन सब पुत्रोंको भी, जो शक्तिसे छोटे थे, (मारकर) खा लिया ॥ ४२ ॥

वसिष्ठो घातिताञ्छ्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान्।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

वसिष्ठने यह सुनकर भी कि विश्वामित्रने मेरे पुत्रोंको मरवा डाला है, अपने शोकके वेगको उसी प्रकार धारण कर लिया, जैसे महान् पर्वत सुमेरु इस पृथ्वीको ॥ ४३ ॥

चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः।
न त्वेव कौशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ॥ ४४ ॥

उस समय (अपनी पुत्रवधुओंके दुःखसे दुःखित हो) वसिष्ठने अपने शरीरको त्याग देनेका विचार कर लिया; परंतु विश्वामित्रका मूलोच्छेद करनेकी बात बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठके मनमें हो नहीं आयी ॥ ४४ ॥

स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः।
गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत् ॥ ४५ ॥

महर्षि भगवान् वसिष्ठने मेरुपर्वतके शिखरसे अपने आपको उसी पर्वतकी शिलापर गिराया; परंतु उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो वे रूईके ढेरपर गिरे हों ॥ ४५ ॥

न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव ।
तदाग्निमिद्धं भगवान् संविवेश महावने ॥ ४६ ॥

पाण्डुनन्दन ! जब (इस प्रकार) गिरनेसे भी वे नहीं मरे, तब वे भगवान् वसिष्ठ महान् वनके भीतर धधकते हुए दावानलमें घुस गये ॥ ४६ ॥

तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः ।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत् ततः ॥ ४७ ॥

यद्यपि उस समय अग्नि प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो रही थी, तो भी उन्हें जला न सकी । शत्रुसूदन अर्जुन ! उनके प्रभावसे वह दहकती हुई आग भी उनके लिये शीतल हो गयी ॥

स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः ।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाम्भसि ॥ ४८ ॥

तब शोकके आवेशसे युक्त महामुनि वसिष्ठने सामने समुद्र देखकर अपने कण्ठमें बड़ी भारी शिला बाँध ली और तत्काल जलमें कूद पड़े ॥ ४८ ॥

स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः ।
न ममार यदा विप्रः कथंचित् संशितव्रतः ।
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥

परंतु समुद्रकी लहरोंके वेगने उन महामुनिको किनारे लाकर डाल दिया । कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जब किसी प्रकार न मर सके, तब खिन्न होकर अपने आश्रमपर ही लौट पड़े ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे वसिष्ठशोके पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरित्रके प्रसङ्गमें वसिष्ठशोकविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कल्माषपादका शापसे उद्धार और वसिष्ठजीके द्वारा उन्हें अश्मक नामक पुत्रकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः ।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात् ततः ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! तदनन्तर मुनिवर वसिष्ठ आश्रमको अपने पुत्रोंसे सूना देख अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और पुनः आश्रम छोड़कर चल दिये ॥ १ ॥

सोऽपश्यत् सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा ।
वृक्षान् बहुविधान् पार्थ हरन्तीं तीरजान् बहून् ॥ २ ॥

कुन्तीनन्दन ! वर्षाका समय था; उन्होंने देखा, एक नदी नूतन जलसे लबालब भरी है और तटवर्ती बहुत-से वृक्षोंको (अपने जलकी धारामें) बहाये लिये जाती है ॥ २ ॥

अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन ।
अम्भस्यस्या निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः ॥ ३ ॥

कौरवनन्दन ! (उसे देखकर) दुःखसे युक्त वसिष्ठजीके मनमें फिर यह विचार आया कि मैं इसी नदीके जलमें डूब जाऊँ ॥

ततः पाशैस्तदाऽऽत्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः ।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ॥ ४ ॥

तब अत्यन्त दुःखी हुए महामुनि वसिष्ठ अपने शरीरको पाशोंद्वारा अच्छी तरह बाँधकर उस महानदीके जलमें कूद पड़े ॥

अथ छित्त्वा नदी पाशांस्तस्यारिबलसूदन ।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ॥ ५ ॥

शत्रुसेनाका संहार करनेवाले अर्जुन ! उस नदीने वसिष्ठजीके बन्धन काटकर उन्हें स्थलमें पहुँचा दिया और उन्हें विपाश (बन्धनरहित) करके छोड़ दिया ॥ ५ ॥

उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः ।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥ ६ ॥

तब पाशमुक्त हो महर्षि जलसे निकल आये और उन्होंने उस नदीका नाम 'विपाशा' (व्यास) रख दिया ॥ ६ ॥

शोकबुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत ।
सोऽगच्छत् पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ ७ ॥

उस समय (पुत्रवधओंके संतोषके लिये) उन्होंने शोक-बुद्धि कर ली थी, इसलिये वे किसी एक स्थानमें नहीं ठहरते थे; पर्वतों, नदियों और सरोवरोंके तटपर चक्कर लगाते रहते थे ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा ।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत् ॥ ८ ॥

(इस तरह घूमते-घूमते) महर्षिने पुनः हिमालय पर्वतसे निकली हुई एक भयंकर नदीको देखा, जिसमें बड़े प्रचण्ड ग्राह रहते थे । उन्होंने फिर उसीकी प्रखर धारामें अपने-आपको डाल दिया । ८ ।

सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥ ९ ॥

वह श्रेष्ठ नदी ब्रह्मर्षि वसिष्ठको अग्निके समान तेजस्वी जान सैकड़ों धाराओंमें फूटकर इधर-उधर भाग चली। इसीलिये वह 'शतद्रु' नामसे विख्यात हुई ॥ ९ ॥

ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राप्यात्मानमात्मना।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाश्रमं ययौ ॥ १० ॥

वहाँ भी अपनेको स्वयं ही स्थलमें पड़ा देख 'मैं मर नहीं सकता' यों कहकर वे फिर अपने आश्रमपर ही चले गये ॥ १० ॥

स गत्वा विविधाञ्छैलान् देशान् बहुविधांस्तथा।
अदृश्यन्त्याख्यया वध्वाथाश्रमेऽनुसृतोऽभवत् ॥ ११ ॥

इस तरह नाना प्रकारके पर्वतों और बहुसंख्यक देशोंमें भ्रमण करके वे पुनः जब अपने आश्रमके समीप आये, उस समय उनकी पुत्रवधू अदृश्यन्ती उनके पीछे हो ली ॥ ११ ॥

अथ शुश्राव संगत्या वेदाध्ययननिःस्वनम्।
पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

मुनिको पीछेकी ओरसे संगतिपूर्वक छहों अङ्गोंसे अलंकृत तथा स्फुट अर्थोंसे युक्त वेदमन्त्रोंके अध्ययनका शब्द सुन पड़ा ॥ १२ ॥

अनुव्रजति को न्वेष मामित्येवाथ सोऽब्रवीत्।
अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत।
शक्तेर्भार्या महाभाग तपोयुक्ता तपस्विनी ॥ १३ ॥

तब उन्होंने पूछा—'मेरे पीछे-पीछे कौन आ रहा है?' उक्त पुत्रवधूने उत्तर दिया, 'महाभाग! मैं तपमें ही संलग्न रहनेवाली महर्षि शक्तिकी अनाथ पत्नी अदृश्यन्ती हूँ' ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

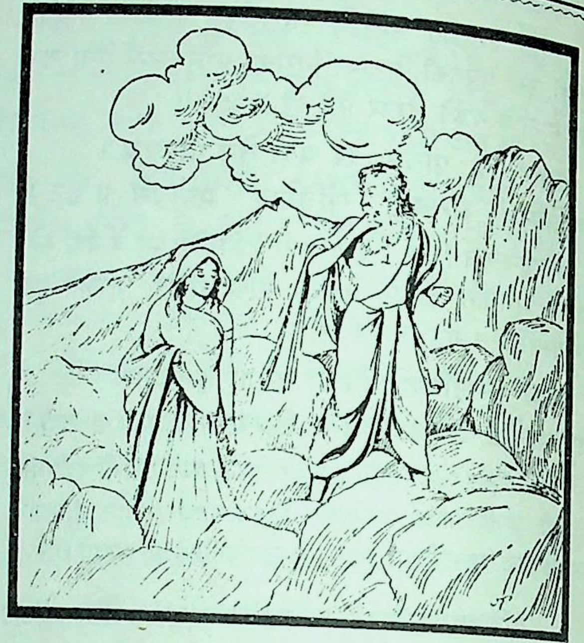
पुत्रि कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्वनः।
पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ॥ १४ ॥

वसिष्ठजीने पूछा—बेटी! पहले शक्तिके मुँहसे मैं अङ्गोंसहित वेदका जैसा पाठ सुना करता था, ठीक उसी प्रकार यह किसके द्वारा किये हुए साङ्ग वेदके अध्ययनकी ध्वनि मेरे कानोंमें आ रही है? ॥ १४ ॥

अदृश्यन्त्युवाच

अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते।
समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ॥ १५ ॥

अदृश्यन्ती बोली—भगवन्! यह मेरे उदरमें उत्पन्न हुआ आपके पुत्र शक्तिका बालक है। मुने! उसे मेरे गर्भमें



ही वेदाभ्यास करते बारह वर्ष हो गये हैं ॥ १५ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तया हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः।
अस्ति संतानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ न्यवर्तत ॥ १६ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! अदृश्यन्तीके यों कहनेपर भगवान् पुरुषोत्तमका भजन करनेवाले महर्षि वसिष्ठ बड़े प्रसन्न हुए और 'मेरी वंशपरम्पराका लोप नहीं हुआ है,' यों कहकर मरनेके संकल्पसे विरत हो गये ॥ १६ ॥

ततः प्रतिनिवृत्तः स तया वध्वा सहानघ।
कल्माषपादमासीनं ददर्श विजने वने ॥ १७ ॥

अनघ! तब वे अपनी पुत्रवधूके साथ आश्रमकी ओर लौटने लगे। इतनेमें ही मुनिने निर्जन वनमें बैठे हुए राजा कल्माषपादको देखा ॥ १७ ॥

स तु दृष्ट्वैव तं राजा क्रुद्ध उत्थाय भारत।
आविष्टो रक्षसोग्रेण इयेषात्तुं तदा मुनिम् ॥ १८ ॥

भारत! भयानक राक्षससे आविष्ट हुए राजा कल्माषपाद मुनिको देखते ही क्रोधमें भरकर उठे और उसी समय उन्हें खा जानेकी इच्छा करने लगे ॥ १८ ॥

अदृश्यन्ती तु तं दृष्ट्वा क्रूरकर्माणमग्रतः।
भयसंविग्नया वाचा वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

उस क्रूरकर्मा राक्षसको सामने देख अदृश्यन्तीने भयाकुल वाणीमें वसिष्ठजीसे यह कहा— ॥ १९ ॥

असौ मृत्युरिवोग्रेण दण्डेन भगवन्नितः।
प्रगृहीतेन काष्ठेन राक्षसोऽभ्येति दारुणः ॥ २० ॥

'भगवन्! यह भयंकर राक्षस एक बहुत बड़ा काठ लेकर इधर ही आ रहा है, मानो साक्षात् यमराज भयानक दण्ड लिये आ रहे हों ॥ २० ॥

तं निवारयितुं शक्तो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन।
त्वदृतेऽद्य महाभाग सर्ववेदविदां वर ॥ २१ ॥

'महाभाग ! आप सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। (इस समय) इस भूतलपर आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है, जो उस राक्षसका वेग रोक सके ॥ २१ ॥

पाहि मां भगवन् पापादस्माद् दारुणदर्शनात्।
राक्षसोऽयमिहात्तुं वै नूनमावां समीहते ॥ २२ ॥

'भगवन् ! देखनेमें अत्यन्त भयंकर इस पापीसे मेरी रक्षा कीजिये। निश्चय ही यह राक्षस यहाँ हम दोनोंको खा जानेकी घातमें लगा है' ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

मा भैः पुत्रि न भेतव्यं राक्षसात् तु कथंचन।
नैतद् रक्षो भयं यस्मात् पश्यसि त्वमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

वसिष्ठजीने कहा—बेटी ! भयभीत न हो। इस राक्षससे तो किसी प्रकार न डरो। जिससे तुम्हें भय उपस्थित दिखायी देता है, यह वास्तवमें राक्षस नहीं है ॥ २३ ॥

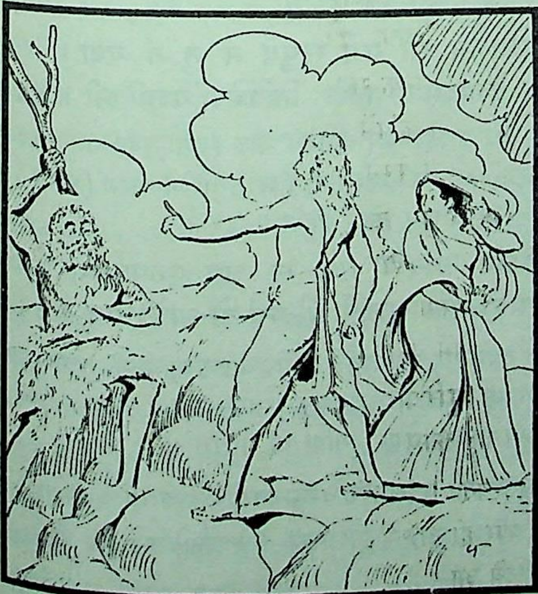
राजा कल्माषपादोऽयं वीर्यवान् प्रथितो भुवि।
स एषोऽस्मिन् वनोद्देशे निवसत्यतिभीषणः ॥ २४ ॥

ये भूमण्डलमें विख्यात पराक्रमी राजा कल्माषपाद हैं। ये ही इस वनमें अत्यन्त भीषण रूप धारण करके रहते हैं ॥ २४ ॥

गन्धर्व उवाच

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य वसिष्ठो भगवानृषिः।
वारयामास तेजस्वी हुंकारेणैव भारत ॥ २५ ॥

गन्धर्व कहता है—भारत ! उस राक्षसको आते देख तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने हुंकारमात्रसे ही रोक दिया ॥ २५ ॥



मन्त्रपूतेन च पुनः स तमभ्युक्ष्य वारिणा।
मोक्षयामास वै शापात् तस्माद् योगान्नराधिपम् ॥ २६ ॥

और मन्त्रपूत जलसे उसके छींटे देकर अपने योगके प्रभावसे राजाको उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

स हि द्वादश वर्षाणि वासिष्ठस्यैव तेजसा।
ग्रस्त आसीद् ग्रहेणेव पर्वकाले दिवाकरः ॥ २७ ॥

जैसे पर्वकालमें सूर्य राहुद्वारा ग्रस्त हो जाता है, उसी प्रकार राजा कल्माषपाद बारह वर्षोंतक वसिष्ठजीके पुत्र शक्तिके ही तेज (शापके प्रभाव) से ग्रस्त रहे ॥ २७ ॥

रक्षसा विप्रमुक्तोऽथ स नृपस्तद् वनं महत्।
तेजसा रञ्जयामास संध्याभ्रमिव भास्करः ॥ २८ ॥

उस (मन्त्रपूत जलके प्रभावसे) राक्षसने भी राजाको छोड़ दिया। फिर तो भगवान् भास्कर जैसे संध्याकालीन बादलोंको अपनी (अरुण) किरणोंसे रँग देते हैं, उसी प्रकार राजाने अपने (सहज) तेजसे उस महान् वनको अनुरञ्जित कर दिया ॥ २८ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञामभिवाद्य कृताञ्जलिः।
उवाच नृपतिः काले वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर सचेत होनेपर राजा कल्माषपादने तत्काल ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा— ॥

सौदासोऽहं महाभाग याज्यस्ते मुनिसत्तम।
अस्मिन् काले यदिष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ३० ॥

'महाभाग मुनिश्रेष्ठ ! मैं आपका यजमान सौदास हूँ। इस समय आपकी जो अभिलाषा हो, कहिये—मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

वृत्तमेतद् यथाकालं गच्छ राज्यं प्रशाधि वै।
ब्राह्मणं तु मनुष्येन्द्र मावमंस्थाः कदाचन ॥ ३१ ॥

वसिष्ठजीने कहा—नरेन्द्र ! मेरी जो अभिलाषा थी, वह समयानुसार सिद्ध हो गयी। अब जाओ, अपना राज्य सँभालो। (आजसे फिर) कभी ब्राह्मणका अपमान न करना ॥ ३१ ॥

राजोवाच

नावमंस्ये महाभाग कदाचिद् ब्राह्मणानहम्।
त्वन्निदेशे स्थितः सम्यक् पूजयिष्याम्यहं द्विजान् ॥ ३२ ॥

राजा बोले—महाभाग ! मैं कभी ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करूँगा। आपकी आज्ञाके पालनमें संलग्न हो (सदा) ब्राह्मणोंकी भलीभाँति पूजा करूँगा ॥ ३२ ॥

इक्ष्वाकूणां च येनाहमनृणः स्यां द्विजोत्तम।
तत् त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि सर्ववेदविदां वर ॥ ३३ ॥

समस्त वेदवेत्ताओंमें अग्रगण्य द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे एक

पुत्र प्राप्त करना चाहता हूँ, जिसके द्वारा मैं अपने इक्ष्वाकुवंशी पितरोंके ऋणसे उऋण हो सकूँ ॥ ३३ ॥

अपत्यमीप्सितं मह्यं दातुमर्हसि सत्तम।
शीलरूपगुणोपेतमिक्ष्वाकुकुलवृद्धये ॥ ३४ ॥

साधुशिरोमणे ! इक्ष्वाकुवंशकी वृद्धिके लिये आप मुझे ऐसी अभीष्ट संतान दीजिये, जो उत्तम स्वभाव, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ ३४ ॥

गन्धर्व उवाच

ददानीत्येव तं तत्र राजानं प्रत्युवाच ह।
वसिष्ठः परमेष्वासं सत्यसंधो द्विजोत्तमः ॥ ३५ ॥

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन ! तब सत्यप्रतिज्ञ विप्रवर वसिष्ठने महान् धनुर्धर राजा कल्माषपादसे उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें वैसा ही पुत्र दूँगा' ॥ ३५ ॥

ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सह तेन वै।
ख्यातां पुरीमिमां लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वर ॥ ३६ ॥

मनुजेश्वर ! तदनन्तर यथासमय राजाके साथ वसिष्ठजी उनकी राजधानीमें गये, जो लोकोंमें अयोध्या पुरीके नामसे प्रसिद्ध है ॥ ३६ ॥

तं प्रजाः प्रतिमोदन्त्यः सर्वाः प्रत्युद्गतास्तदा।
विपाप्मानं महात्मानं दिवौकस इवेश्वरम् ॥ ३७ ॥

अपने पापरहित महात्मा नरेशका आगमन सुनकर अयोध्याकी सारी प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी अगवानीके लिये ठीक उसी तरह बाहर निकल आयी, जैसे देवतालोग अपने स्वामी इन्द्रका स्वागत करते हैं ॥ ३७ ॥

सुचिराय मनुष्येन्द्रो नगरीं पुण्यलक्षणाम्।
विवेश सहितस्तेन वसिष्ठेन महर्षिणा ॥ ३८ ॥
ददृशुस्तं महीपालमयोध्यावासिनो जनाः।
पुरोहितेन सहितं दिवाकरमिवोदितम् ॥ ३९ ॥

बहुत वर्षोंके बाद राजाने उस पुण्यमयी नगरीमें प्रसिद्ध महर्षि वसिष्ठके साथ प्रवेश किया। अयोध्यावासी लोगोंने पुरोहितके साथ आये हुए राजा कल्माषपादका उसी प्रकार दर्शन किया, जैसे (प्रातःकाल) प्रजा उदित हुए भगवान् सूर्यका दर्शन करती है ॥ ३८-३९ ॥

स च तां पूरयामास लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां वरः।
अयोध्यां व्योम शीतांशुः शरत्काल इवोदितः ॥ ४० ॥

जैसे शीतल किरणोंवाले चन्द्रमा शरत्कालमें उदित हो आकाशको अपनी ज्योत्स्नासे जगमग कर देते हैं, उसी प्रकार लक्ष्मीवानोंमें श्रेष्ठ नरेशने उस अयोध्यापुरीको शोभासे परिपूर्ण कर दिया ॥ ४० ॥

संसिक्तमृष्टपन्थानं पताकाध्वजशोभितम्।
मनः प्रह्लादयामास तस्य तत् पुरमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

नगरकी सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था। सब ओर लगी हुई ध्वजा-पताकाएँ उस पुरीकी शोभा बढ़ा रही थीं। इस प्रकार राजाकी वह उत्तम नगरी दर्शकोंके मनको उत्तम आह्लाद प्रदान कर रही थी ॥ ४१ ॥

तुष्टपुष्टजनाकीर्णा सा पुरी कुरुनन्दन।
अशोभत तदा तेन शक्रेणेवामरावती ॥ ४२ ॥

कुरुनन्दन ! जैसे इन्द्रसे अमरावतीकी शोभा होती है, उसी प्रकार संतुष्ट एवं पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई अयोध्यापुरी उस समय महाराज कल्माषपादकी उपस्थितिसे बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ४२ ॥

ततः प्रविष्टे राजर्षौ तस्मिंस्तत् पुरमुत्तमम्।
राज्ञस्तस्याज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

राजर्षि कल्माषपादके उस उत्तम नगरीमें प्रवेश करनेके पश्चात् उक्त महाराजकी आज्ञाके अनुसार महारानी (मदयन्ती) महर्षि वसिष्ठजीके समीप गयीं ॥ ४३ ॥

ऋतावथ महर्षिः स सम्बभूव तया सह।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् भगवद्भक्त महर्षि वसिष्ठने ऋतुकालमें शास्त्रकी अलौकिक विधिके अनुसार महारानीके साथ नियोग किया ॥ ४४ ॥

ततस्तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिसत्तमः।
राज्ञाभिवादितस्तेन जगाम मुनिराश्रमम् ॥ ४५ ॥

तदनन्तर रानीकी कुक्षिमें गर्भ स्थापित हो जानेपर उक्त राजासे वन्दित हो (उनसे विदा लेकर) मुनिवर वसिष्ठ अपने आश्रमको लौट गये ॥ ४५ ॥

दीर्घकालेन सा गर्भं सुषुवे न तु तं यदा।
तदा देव्यश्मना कुक्षिं निर्बिभेद यशस्विनी ॥ ४६ ॥

जब बहुत समय बीतनेके बाद (भी) वह गर्भ बाहर न निकला, तब यशस्विनी रानी (मदयन्ती)ने अश्म (पत्थर) से अपने गर्भाशयपर प्रहार किया ॥ ४६ ॥

ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभः।
अश्मको नाम राजर्षिः पौदन्यं यो न्यवेशयत् ॥ ४७ ॥

तदनन्तर बारहवें वर्षमें बालकका जन्म हुआ। वही पुरुषश्रेष्ठ राजर्षि अश्मकके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिन्होंने पौदन्य नामका नगर बसाया था ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे सौदाससुतोत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरित्रके प्रसङ्गमें सौदासको पुत्र-प्राप्तिविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिपुत्र पराशरका जन्म और पिताकी मृत्युका हाल सुनकर कुपित हुए पराशरको शान्त करनेके लिये वसिष्ठजीका उन्हें और्वोपाख्यान सुनाना

गन्धर्व उवाच

आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत।
शक्तेः कुलकरं राजन् द्वितीयमिव शक्तिनम्॥ १॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! तदनन्तर (वसिष्ठजीके) आश्रममें रहती हुई अदृश्यन्तीने शक्तिके वंशको बढ़ानेवाले एक पुत्रको जन्म दिया, मानो उस बालकके रूपमें दूसरे शक्ति मुनि ही हों॥ १॥

जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान् स्वयम्॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! मुनिवर भगवान् वसिष्ठने स्वयं अपने पौत्रके जातकर्म आदि संस्कार किये॥ २॥

परासुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः॥ ३॥

उस बालकने गर्भमें आकर परासु (मरनेकी इच्छावाले) वसिष्ठ मुनिको पुनः जीवित रहनेके लिये उत्साहित किया था; इसलिये वह लोकमें 'पराशर'के नामसे विख्यात हुआ॥ ३॥

अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनिः।
जन्मप्रभृति तस्मिंस्तु पितरीवान्ववर्तत॥ ४॥

धर्मात्मा पराशर मुनि वसिष्ठको ही अपना पिता मानते थे और जन्मसे ही उनके प्रति पितृभाव रखते थे॥ ४॥

स तात इति विप्रर्षिर्वसिष्ठं प्रत्यभाषत।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप॥ ५॥

परंतप कुन्तीकुमार! एक दिन ब्रह्मर्षि पराशरने अपनी माता अदृश्यन्तीके सामने ही वसिष्ठजीको 'तात' कहकर पुकारा॥ ५॥

तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वती तमुवाच ह॥ ६॥

बेटेके मुखसे परिपूर्ण अर्थका बोधक 'तात' यह मधुर वचन सुनकर अदृश्यन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वह उससे बोली—॥ ६॥

मा तात तात तातेति ब्रूह्येनं पितरं पितुः।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे॥ ७॥

'बेटा! ये तुम्हारे पिताके भी पिता हैं। तुम इन्हें 'तात तात!' कहकर न पुकारो। वत्स! तुम्हारे पिताको तो वनके भीतर राक्षस खा गया॥ ७॥

मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवानघ।
आर्य एष पिता तस्य पितुस्तव यशस्विनः॥ ८॥

'अनघ! तुम जिन्हें तात मानते हो, ये तुम्हारे तात नहीं हैं। ये तो तुम्हारे यशस्वी पिताके भी पूजनीय पिता हैं'॥ ८॥

स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः॥ ९॥

माताके यों कहनेपर सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ महामना पराशर दुःखसे आतुर हो उठे। उन्होंने उसी समय सब लोकोंको नष्ट कर डालनेका विचार किया॥ ९॥

तं तथा निश्चितात्मानं स महात्मा महातपाः।
ऋषिर्ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मैत्रावरुणिरन्त्यधीः॥ १०॥
वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु।

उनके मनका ऐसा निश्चय जान ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातपस्वी, महात्मा एवं तात्त्विक बुद्धिवाले मित्रावरुणनन्दन वसिष्ठजीने पराशरको ऐसा करनेसे रोक दिया। जिस हेतु और युक्तिसे वे उन्हें रोकनेमें सफल हुए, वह (बताता हूँ,) सुनिये॥ १०॥

वसिष्ठ उवाच

कृतवीर्य इति ख्यातो बभूव पृथिवीपतिः॥ ११॥
याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः।
स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च॥ १२॥
सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पतिः।
तस्मिन् नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कथंचन॥ १३॥
बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम्।
भृगूणां तु धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व एव ते॥ १४॥
याचिष्णवोऽभिजग्मुस्तांस्ततो भार्गवसत्तमान्।
भूमौ तु निदधुः केचिद् भृगवो धनमक्षयम्॥ १५॥

वसिष्ठजीने (पराशरसे) कहा—वत्स! इस पृथ्वीपर कृतवीर्य नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे। वे नृपश्रेष्ठ वेदज्ञ भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यजमान थे। तात! उन महाराजने सोमयज्ञ करके उसके अन्तमें उन अग्रभोजी भार्गवोंको विपुल धन और धान्य देकर उसके द्वारा पूर्ण संतुष्ट किया। राजाओंमें श्रेष्ठ कृतवीर्यके स्वर्गवासी हो जानेपर उनके वंशजोंको किसी तरह द्रव्यकी आवश्यकता आ पड़ी। भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यहाँ धन है, यह जानकर वे सभी राजपुत्र उन श्रेष्ठ भार्गवोंके पास याचक बनकर गये। उस समय कुछ भार्गवोंने अपनी अक्षय धनराशिको धरतीमें गाड़ दिया॥ ११—१५॥

ददुः केचिद् द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम्।
भृगवस्तु ददुः केचित् तेषां वित्तं यथेप्सितम्॥ १६॥

कुछने क्षत्रियोंसे भय समझकर अपना धन ब्राह्मणोंको दे दिया और कुछ भृगुवंशियोंने उन क्षत्रियोंको यथेष्ट धन दे भी दिया ॥ १६ ॥

क्षत्रियाणां तदा तात कारणान्तरदर्शनात्।
ततो महीतलं तात क्षत्रियेण यदृच्छया ॥ १७ ॥
खनताधिगतं वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि।
तद् वित्तं ददृशुः सर्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः ॥ १८ ॥

तात! कुछ दूसरे-दूसरे कारणोंका विचार करके उस समय उन्होंने क्षत्रियोंको धन प्रदान किया था। वत्स! तदनन्तर किसी क्षत्रियने अकस्मात् धरती खोदते-खोदते किसी भृगुवंशीके घरमें गड़ा हुआ धन पा लिया। तब सभी श्रेष्ठ क्षत्रियोंने एकत्र होकर उस धनको देखा ॥ १७-१८ ॥

अवमन्य ततः क्रोधाद् भृगूंस्ताञ्छरणागतान्।
निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः॥ १९॥

फिर तो उन्होंने क्रोधमें भरकर शरणमें आये हुए भृगुवंशियोंका भी अपमान किया। उन महान् धनुर्धर वीरोंने (वहाँ आये हुए) समस्त भार्गवोंको तीखे बाणोंसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १९ ॥

आगर्भादवकृन्तन्तश्चेरुः सर्वां वसुन्धराम्।
तत उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात् तदा ॥ २० ॥
भृगुपत्न्यो गिरिं दुर्गं हिमवन्तं प्रपेदिरे।
तासामन्यतमा गर्भं भयाद् दध्रे महौजसम् ॥ २१ ॥
ऊरुणैकेन वामोरुर्भर्तुः कुलविवृद्धये।
तद् गर्भमुपलभ्याशु ब्राह्मणी या भयार्दिता ॥ २२ ॥
गत्वैका कथयामास क्षत्रियाणामुपह्वरे।
ततस्ते क्षत्रिया जग्मुस्तं गर्भं हन्तुमुद्यताः ॥ २३ ॥

तदनन्तर भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करते हुए वे क्रोधान्ध क्षत्रिय सारी पृथ्वीपर विचरने लगे। इस प्रकार भृगुवंशका उच्छेद आरम्भ होनेपर भृगुवंशियोंकी पत्नियाँ उस समय भयके मारे हिमालयकी दुर्गम कन्दरामें जा छिपीं। उनमेंसे एक स्त्रीने अपने महान् तेजस्वी गर्भको भयके मारे एक ओरकी जाँघको चीरकर उसमें रख लिया। उस वामोरुने अपने पतिके वंशकी वृद्धिके लिये ऐसा साहस किया था। उस गर्भका समाचार जानकर कोई ब्राह्मणी बहुत डर गयी और उसने शीघ्र ही अकेली जाकर क्षत्रियोंके समीप उसकी खबर पहुँचा दी। फिर तो वे क्षत्रियलोग उस गर्भकी हत्या करनेके लिये उद्यत हो वहाँ गये ॥ २०-२३ ॥

ददृशुर्ब्राह्मणीं तेऽथ दीप्यमानां स्वतेजसा।
अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह ॥ २४ ॥

उन्होंने देखा, वह ब्राह्मणी अपने तेजसे प्रकाशित हो रही है। उसी समय उस ब्राह्मणीका वह गर्भस्थ शिशु उसकी जाँघ फाड़कर बाहर निकल आया ॥ २४ ॥

मुष्णन् दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः।
ततश्चक्षुर्विहीनास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः ॥ २५ ॥

बाहर निकलते ही दोपहरके प्रचण्ड सूर्यकी भाँति उस तेजस्वी शिशुने (अपने तेजसे) उन क्षत्रियोंकी आँखोंकी ज्योति छीन ली। तब वे अंधे होकर उस पर्वतके बीहड़ स्थानोंमें भटकने लगे ॥ २५ ॥

ततस्ते मोहमापन्ना राजानो नष्टदृष्टयः।
ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम् ॥ २६ ॥

फिर मोहके वशीभूत हो अपनी दृष्टिको खो देनेवाले क्षत्रियोंने पुनः दृष्टि प्राप्त करनेके लिये उसी सती-साध्वी ब्राह्मणीकी शरण ली ॥ २६ ॥

ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः।
ज्योतिःप्रहीणा दुःखार्ताः शान्तार्चिष इवाग्नयः ॥ २७ ॥
भगवत्याः प्रसादेन गच्छेत् क्षत्रं सचक्षुषम्।
उपारम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मिणः ॥ २८ ॥

वे क्षत्रिय उस समय आँखकी ज्योतिसे वञ्चित हो बुझी हुई लपटोंवाली आगके समान अत्यन्त दुःखसे आतुर एवं अचेत हो रहे थे। अतः वे उस महान् सौभाग्यशालिनी देवीसे इस प्रकार बोले—'देवि! यदि आपकी कृपा हो तो नेत्र पाकर यह क्षत्रियोंका दल अब लौट जायगा, थोड़ी देर विश्राम करके हम सभी पापाचारी यहाँसे साथ ही चले जायँगे ॥ २७-२८ ॥

सपुत्रा त्वं प्रसादं नः कर्तुमर्हसि शोभने।
पुनर्दृष्टिप्रदानेन राज्ञः संत्रातुमर्हसि ॥ २९ ॥

'शोभने! तुम अपने पुत्रके साथ हम सबपर प्रसन्न हो जाओ और पुनः नूतन दृष्टि देकर हम सभी राजपुत्रोंकी रक्षा करो' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पितरोंद्वारा और्वके क्रोधका निवारण

ब्राह्मण्युवाच

नाहं गृह्णामि वस्ताता दृष्टीर्नास्मि रुषान्विता।
अयं तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः ॥ १ ॥

ब्राह्मणीने कहा—पुत्रो! मैंने तुम्हारी दृष्टि नहीं ली है; मुझे तुमपर क्रोध भी नहीं है। परंतु मेरी जाँघसे पैदा हुआ यह भृगुवंशी बालक निश्चय ही तुम्हारे ऊपर आज कुपित हुआ है ॥ १ ॥

तेन चक्षूंषि वस्ताता व्यक्तं कोपान्महात्मना।
स्मरता निहतान् बन्धूनादत्तानि न संशयः॥ २॥

पुत्रो! यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस महात्मा शिशुने तुमलोगोंद्वारा मारे गये अपने बन्धु-बान्धवोंका स्मरण करके क्रोधवश तुम्हारी आँखें ले ली हैं, इसमें संशय नहीं है॥२॥

गर्भानपि यदा यूयं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः।
तदायमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः॥ ३॥

बच्चो! जबसे तुमलोग भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करने लगे, तबसे मैंने अपने इस गर्भको सौ वर्षोंतक एक जाँघमें छिपाकर रक्खा था॥ ३॥

षडङ्गश्चाखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव ह।
विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया॥ ४॥

भृगुकुलका पुनः प्रिय करनेकी इच्छासे छहों अङ्गों-सहित सम्पूर्ण वेद इस बालकको गर्भमें ही प्राप्त हो गये थे॥

सोऽयं पितृवधाद् व्यक्तं क्रोधाद् वो हन्तुमिच्छति।
तेजसा तस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः॥ ५॥

अतः यह बालक अपने पिताके वधसे कुपित हो निश्चय ही तुमलोगोंको मार डालना चाहता है। इसीके दिव्य तेजसे तुम्हारी नेत्र-ज्योति छिन गयी है॥ ५॥

तमेव यूयं याचध्वमौर्वं मम सुतोत्तमम्।
अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीः प्रमोक्ष्यति॥ ६॥

इसलिये तुमलोग मेरे इस उत्तम पुत्र और्वसे ही याचना करो। यह तुमलोगोंके नतमस्तक होनेसे संतुष्ट होकर पुनः तुम्हारी खोयी हुई नेत्रोंकी ज्योति दे देगा॥ ६॥

वसिष्ठ उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम्।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः॥ ७॥

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर! ब्राह्मणीके यों कहनेपर उन सब क्षत्रियोंने तब और्वको (प्रणाम करके) कहा—'आप प्रसन्न होइये।' तब (उनके विनययुक्त वचन सुनकर) और्वने प्रसन्न हो (अपने तपके प्रभावसे) उनको नेत्रोंकी ज्योति दे दी॥ ७॥

अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः।
स और्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्त्वा व्यजायत॥ ८॥

वे साधुशिरोमणि ब्रह्मर्षि अपनी माताका ऊरु भेदन करके उत्पन्न हुए थे, इसी कारण लोकमें 'और्व' नामसे उनकी ख्याति हुई॥ ८॥

चक्षूंषि प्रतिलब्ध्वा च प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः।
भार्गवस्तु मुनिर्मेने सर्वलोकपराभवम्॥ ९॥

तदनन्तर अपनी खोयी हुई आँखें पाकर वे क्षत्रियलोग लौट गये; इधर भृगुवंशी और्व मुनिने सम्पूर्ण लोकोंके पराभवका विचार किया॥ ९॥

स चक्रे तात लोकानां विनाशाय महामनाः।
सर्वेषामेव कार्त्स्न्येन मनः प्रवणमात्मनः॥ १०॥

वत्स पराशर! उन महामना मुनिने समस्त लोकोंका पूर्णरूपसे विनाश करनेकी ओर अपना मन लगाया॥१०॥

इच्छन्नपचितिं कर्तुं भृगूणां भृगुनन्दनः।
सर्वलोकविनाशाय तपसा महतैधितः॥ ११॥

भृगुकुलको आनन्दित करनेवाले उस कुमारने (क्षत्रियों-द्वारा मारे गये अपने भृगुवंशी पूर्वजोंका सम्मान करने)(अथवा उनके वधका बदला लेने) के लिये सब लोकोंके विनाशका निश्चय किया और बहुत बड़ी तपस्याद्वारा अपनी शक्तिको बढ़ाया॥ ११॥

तापयामास ताँल्लोकान् सदेवासुरमानुषान्।
तपसोग्रेण महता नन्दयिष्यन् पितामहान्॥ १२॥

उसने अपने पितरोंको आनन्दित करनेके लिये अत्यन्त उग्र तपस्याद्वारा देवता, असुर और मनुष्योंसहित उन सभी लोकोंको संतप्त कर दिया॥ १२॥

ततस्तं पितरस्तात विज्ञाय कुलनन्दनम्।
पितृलोकादुपागम्य सर्व ऊचुरिदं वचः॥ १३॥

तात! तदनन्तर सभी पितरोंने अपने कुलका आनन्द बढ़ानेवाले और्व मुनिका वह निश्चय जानकर पितृलोकसे आकर यह बात कही॥ १३॥

पितर ऊचुः

और्व दृष्टः प्रभावस्ते तपसोग्रस्य पुत्रक।
प्रसादं कुरु लोकानां नियच्छ क्रोधमात्मनः॥ १४॥

पितर बोले—बेटा और्व! तुम्हारी उग्र तपस्याका प्रभाव हमने देख लिया। अब अपना क्रोध रोको और सम्पूर्ण लोकोंपर प्रसन्न हो जाओ॥ १४॥

नानीशैर्हि तदा तात भृगुभिर्भावितात्मभिः।
वधो ह्युपेक्षितः सर्वैः क्षत्रियाणां विहिंसताम्॥ १५॥

तात! यह न समझना कि जिस समय क्षत्रियलोग हमारी हिंसा कर रहे थे, उस समय शुद्ध अन्तःकरणवाले हम भृगुवंशी ब्राह्मणोंने असमर्थ होनेके कारण अपने कुलके वधको चुपचाप सह लिया॥ १५॥

आयुषा विप्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत्।
तदास्माभिर्वधस्तात क्षत्रियैरीप्सितः स्वयम्॥ १६॥

वत्स! जब हमारी आयु बहुत बड़ी हो गयी (और तब भी मौत नहीं आयी), उस दशामें हमलोगोंको (बड़ा) खेद हुआ और हमने (जान-बूझकर) क्षत्रियोंसे स्वयं अपना वध करानेकी इच्छा की॥ १६॥

निखातं यच्च वै वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि।
वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान् कोपयिष्णुभिः॥ १७॥

किसी भृगुवंशीने अपने घरमें जो धन गाड़ दिया था, वह भी वैर बढ़ानेके लिये ही किया गया था। हम चाहते थे कि क्षत्रियलोग हमारे ऊपर कुपित हो जायँ ॥ १७ ॥

किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजोत्तम।
यदस्माकं धनाध्यक्षः प्रभूतं धनमाहरत् ॥ १८ ॥

द्विजश्रेष्ठ! (यदि ऐसी बात न होती तो) स्वर्गलोककी इच्छावाले हम भार्गवोंको धनसे क्या काम था; क्योंकि साक्षात् कुबेरने हमें प्रचुर धनराशि लाकर दी थी ॥ १८ ॥

यदा तु मृत्युरादातुं न नः शक्नोति सर्वशः।
तदास्माभिरयं दृष्ट उपायस्तात सम्मतः ॥ १९ ॥

तात! जब मौत हमें अपने अङ्कमें न ले सकी, तब हम-लोगोंने सर्वसम्मतिसे यह उपाय ढूँढ़ निकाला था ॥ १९ ॥

आत्महा च पुमांस्तात न लोकाँल्लभते शुभान्।
ततोऽस्माभिः समीक्ष्यैवं नात्मनाऽऽत्मा निपातितः॥ २०॥

बेटा! आत्महत्या करनेवाला पुरुष शुभ लोकोंको नहीं पाता, इसीलिये हमने खूब सोच-विचारकर अपने ही हाथों अपना वध नहीं किया ॥ २० ॥

न चैतन्नः प्रियं तात यदिदं कर्तुमिच्छसि।
नियच्छेदं मनः पापात् सर्वलोकपराभवात् ॥ २१ ॥

वत्स! तुम जो यह (सब) करना चाहते हो, वह भी हमें प्रिय नहीं है। सम्पूर्ण लोकोंका पराभव बहुत बड़ा पाप है, अतः उधरसे मनको रोको ॥ २१ ॥

मा वधीः क्षत्रियांस्तात न लोकान् सप्त पुत्रक।
दूषयन्तं तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि ॥ २२ ॥

तात! क्षत्रियोंको न मारो। बेटा! भू आदि सात लोकोंका भी संहार न करो। यह जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह (तुम्हारे) तपस्या-जनित तेजको दूषित करनेवाला है, अतः इसीको मारो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वंवारणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वक्रोधनिवारण-विषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

और्व और पितरोंकी बातचीत तथा और्वका अपनी क्रोधाग्निको बडवानलरूपसे समुद्रमें त्यागना

और्व उवाच

उक्तवानस्मि यां क्रोधात् प्रतिज्ञां पितरस्तदा।
सर्वलोकविनाशाय न सा मे वितथा भवेत् ॥ १ ॥

और्वने कहा—पितरो! मैंने क्रोधवश उस समय जो सम्पूर्ण लोकोंके विनाशकी प्रतिज्ञा कर ली थी, वह झूठी नहीं होनी चाहिये ॥ १ ॥

वृथारोषप्रतिज्ञो वै नाहं भवितुमुत्सहे।
अनिस्तीर्णो हि मां रोषो दहेदग्निरिवारणिम् ॥ २ ॥

जिसका क्रोध और प्रतिज्ञा निष्फल होते हों, ऐसा बननेकी मेरी इच्छा नहीं है। यदि मेरा क्रोध सफल नहीं हुआ तो वह मुझको उसी प्रकार जला देगा, जैसे आग अरणी काष्ठको जला देती है ॥ २ ॥

यो हि कारणतः क्रोधं संजातं क्षन्तुमर्हति।
नालं स मनुजः सम्यक् त्रिवर्गं परिरक्षितुम् ॥ ३ ॥

जो किसी कारणवश उत्पन्न हुए क्रोधको सह लेता है, वह मनुष्य धर्म, अर्थ और कामकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ३ ॥

अशिष्टानां नियन्ता हि शिष्टानां परिरक्षिता।
स्थाने रोषः प्रयुक्तः स्यान्नृपैः सर्वजिगीषुभिः ॥ ४ ॥

सबको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले राजाओंद्वारा उचित अवसरपर प्रयोगमें लाया हुआ रोष दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंकी रक्षा करनेवाला हो ॥ ४ ॥

अश्रौषमहमूरुस्थो गर्भशय्यागतस्तदा।
आरावं मातृवर्गस्य भृगूणां क्षत्रियैर्वधे ॥ ५ ॥

मैं जिन दिनों माताकी एक जाँघमें गर्भ-शय्यापर सोता था, उन दिनों क्षत्रियोंद्वारा भार्गवोंका वध होनेपर माताओंका करुण क्रन्दन मुझे स्पष्ट सुनायी देता था ॥ ५ ॥

संहारो हि यदा लोके भृगूणां क्षत्रियाधमैः।
आगर्भोच्छेदनात् क्रान्तस्तदा मां मन्युराविशत् ॥ ६ ॥

इन नीच क्षत्रियोंने जब गर्भके बच्चोंतकके सिर काट-काटकर संसारमें भृगुवंशी ब्राह्मणोंका संहार आरम्भ कर दिया, तब मुझमें क्रोधका आवेश हुआ ॥ ६ ॥

सम्पूर्णकोशाः किल मे मातरः पितरस्तथा।
भयात् सर्वेषु लोकेषु नाधिजग्मुः परायणम् ॥ ७ ॥

जिनकी कोख भरी हुई थी, वे मेरी माताएँ और पितृगण भी भयके मारे समस्त लोकोंमें भागते फिरे; किंतु उन्हें कहीं भी शरण नहीं मिली ॥ ७ ॥

तान् भृगूणां यदा दारान् कश्चिन्नाभ्युपपद्यत।
माता तदा दधारेयमूरुणैकेन मां शुभा ॥ ८ ॥

जब भार्गवोंकी पत्नियोंका कोई भी रक्षक नहीं मिला, तब मेरी इस कल्याणमयी माताने मुझे अपनी एक जाँघमें छिपा-कर रक्खा था ॥ ८ ॥

प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥

जबतक जगत्‌में कोई भी पापकर्मको रोकनेवाला होता है, तबतक सम्पूर्ण लोकोंमें पापियोंका होना सम्भव नहीं होता ॥ ९ ॥

यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित्।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ॥ १० ॥

जब पापी मनुष्यको कहीं कोई रोकनेवाला नहीं मिलता, तब बहुतेरे मनुष्य पाप करनेमें लग जाते हैं ॥ १० ॥

जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान् न नियच्छति।
ईशः सन् सोऽपि तेनैव कर्मणा सम्प्रयुज्यते ॥ ११ ॥

जो मनुष्य शक्तिमान् एवं समर्थ होते हुए भी जान-बूझकर पापको नहीं रोकता, वह भी उसी पापकर्मसे लिप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

राजभिश्चेश्वरैश्चैव यदि वै पितरो मम।
शक्तैर्न शकितास्त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम् ॥ १२ ॥
अत एषामहं क्रुद्धो लोकानामीश्वरो ह्यहम्।
भवतां च वचो नालमहं समभिवर्तितुम् ॥ १३ ॥

इस लोकमें अपना जीवन सबको प्रिय है, यह समझकर सबका शासन करनेवाले राजालोग सामर्थ्य होते हुए भी मेरे पिताओंकी रक्षा न कर सके, इसीलिये मैं भी इन सब लोकोंपर कुपित हुआ हूँ। मुझमें इन्हें दण्ड देनेकी शक्ति है। अतः (इस विषयमें) मैं आपलोगोंका वचन माननेमें असमर्थ हूँ।१२-१३।

ममापि चेद् भवेदेवमीश्वरस्य सतो महत्।
उपेक्षमाणस्य पुनर्लोकानां किल्बिषाद् भयम् ॥ १४ ॥

यदि मैं भी शक्ति रहते हुए लोगोंके इस महान् पापाचारको उदासीनभावसे चुपचाप देखता रहूँ, तो मुझे भी उनलोगोंके पापसे भय हो सकता है ॥ १४ ॥

यश्चायं मन्युजो मेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति।
दहेदेष च मामेव निगृहीतः स्वतेजसा ॥ १५ ॥

मेरे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह आग (सम्पूर्ण) लोकोंको अपनी लपटोंसे लपेट लेना चाहती है, यदि मैं इसे रोक दूँ तो यह मुझे ही अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगी ॥१५॥

भवतां च विजानामि सर्वलोकहितेप्सुताम्।
तस्माद् विधध्वं यच्छ्रेयो लोकानां मम चेश्वराः ॥ १६ ॥

मैं यह भी जानता हूँ कि आपलोग समस्त जगत्‌का हित चाहनेवाले हैं। अतः शक्तिशाली पितरो! आपलोग ऐसा करें, जिससे इन लोकोंका और मेरा भी कल्याण हो।१६।

पितर ऊचुः

य एष मन्युजस्तेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति।
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ॥ १७ ॥

पितर बोले—और्व! तुम्हारे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह अग्नि सब लोकोंको अपना ग्रास बनाना चाहती है, उसे तुम जलमें छोड़ दो, तुम्हारा कल्याण हो; क्योंकि (सभी) लोक जलमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १७ ॥

आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ॥ १८ ॥

सभी रस जलके परिणाम हैं तथा सम्पूर्ण जगत् (भी) जलका परिणाम माना गया है। अतः द्विजश्रेष्ठ! तुम अपनी इस क्रोधाग्निको जलमें ही छोड़ दो ॥ १८ ॥

अयं तिष्ठतु ते विप्र यदीच्छसि महोदधौ।
मन्युजोऽग्निर्दहन्नापो लोका ह्यापोमयाः स्मृताः ॥ १९ ॥

विप्रवर! यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह क्रोधाग्नि जलको जलाती हुई समुद्रमें स्थित रहे, क्योंकि सभी लोक जलके परिणाम माने गये हैं ॥ १९ ॥

एवं प्रतिज्ञा सत्येयं तवानघ भविष्यति।
न चैवं सामरा लोका गमिष्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

अनघ! ऐसा करनेसे तुम्हारी प्रतिज्ञा भी सच्ची हो जायगी और देवताओंसहित समस्त लोक भी नष्ट नहीं होंगे ॥

वसिष्ठ उवाच

ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुङ्क्ते महोदधौ ॥ २१ ॥
महद्धयशिरो भूत्वा यत् तद् वेदविदो विदुः।
तमग्निमुद्गिरद् वक्त्रात् पिबत्यापो महोदधौ ॥ २२ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर! तब और्वने (अपनी) उस क्रोधाग्निको समुद्रमें डाल दिया। आज भी वह बहुत बड़ी घोड़ीके मुखकी-सी आकृति धारण करके महासागरके जलका पान करती रहती है। वेदज्ञ पुरुष उससे (भलीभाँति) परिचित हैं। वह वड़वा अपने मुखसे वही आग उगलती हुई महासागरका जल पीती रहती है ॥ २१-२२ ॥

तस्मात् त्वमपि भद्रं ते न लोकान् हन्तुमर्हसि।
पराशर पराँल्लोकान् जानञ्ज्ञानवतां वर ॥ २३ ॥

ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पराशर! तुम्हारा कल्याण हो, तुम परलोकको भलीभाँति जानते हो; अतः तुम्हें भी समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पुलस्त्य आदि महर्षियोंके समझानेसे पराशरके द्वारा राक्षससत्रकी समाप्ति

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तः स विप्रर्षिर्वसिष्ठेन महात्मना।
न्ययच्छदात्मनः क्रोधं सर्वलोकपराभवात्॥ १॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! महात्मा वसिष्ठके यों कहनेपर उन ब्रह्मर्षि पराशरने अपने क्रोधको समस्त लोकोंके पराभवसे रोक लिया॥ १॥

ईजे च स महातेजाः सर्ववेदविदां वरः।
ऋषी राक्षससत्रेण शाक्तेयोऽथ पराशरः॥ २॥

तब सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी शक्तिनन्दन पराशरने राक्षससत्रका अनुष्ठान किया॥ २॥

ततो वृद्धांश्च बालांश्च राक्षसान् स महामुनिः।
ददाह वितते यज्ञे शक्तेर्वधमनुस्मरन्॥ ३॥

उस विस्तृत यज्ञमें अपने पिता शक्तिके वधका बार-बार चिन्तन करते हुए महामुनि पराशरने राक्षस जातिके बूढ़ों तथा बालकोंको भी जलाना आरम्भ किया॥ ३॥

न हि तं वारयामास वसिष्ठो रक्षसां वधात्।
द्वितीयामस्य मा भाङ्क्षं प्रतिज्ञामिति निश्चयात्॥ ४॥

उस समय महर्षि वसिष्ठने यह सोचकर कि इसकी दूसरी प्रतिज्ञाको न तोड़ूँ, उन्हें राक्षसोंके वधसे नहीं रोका॥ ४॥

त्रयाणां पावकानां च सत्रे तस्मिन् महामुनिः।
आसीत् पुरस्ताद् दीप्तानां चतुर्थ इव पावकः॥ ५॥

उस सत्रमें तीन प्रज्वलित अग्नियोंके समक्ष महामुनि पराशर चौथे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ५॥

तेन यज्ञेन शुभ्रेण हूयमानेन शक्तिजः।
तद्विदीपितमाकाशं सूर्येणेव घनात्यये॥ ६॥

(पापी राक्षसोंका संहार करनेके कारण) वह यज्ञ अत्यन्त निर्मल एवं शुद्ध समझा जाता था। शक्तिनन्दन पराशरद्वारा उसमें यज्ञ-सामग्रीका हवन आरम्भ होते ही (वह इतना प्रज्वलित हो उठा कि) उसके तेजसे सम्पूर्ण आकाश ठीक उसी तरह उद्भासित होने लगा, जैसे वर्षा बीतनेपर सूर्यकी प्रभासे उद्दीप्त हो उठता है॥ ६॥

तं वसिष्ठादयः सर्वे मुनयस्तत्र मेनिरे।
तेजसा दीप्यमानं वै द्वितीयमिव भास्करम्॥ ७॥

उस समय वसिष्ठ आदि सभी मुनियोंको वहाँ तेजसे प्रकाशमान महर्षि पराशर दूसरे सूर्यके समान जान पड़ते थे॥

ततः परमदुष्प्रापमन्यैर्ऋषिरुदारधीः।
समापिपयिषुः सत्रं तमत्रिः समुपागमत्॥ ८॥

तदनन्तर दूसरोंके लिये उस यज्ञको बंद करना अत्यन्त कठिन जानकर उदारबुद्धि महर्षि अत्रि स्वयं उस यज्ञको समाप्त करानेकी इच्छासे पराशरके पास आये॥ ८॥

तथा पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्चैव महाक्रतुः।
तत्राजग्मुरमित्रघ्न रक्षसां जीवितेप्सया॥ ९॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुन! उसी प्रकार पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और महाक्रतुने भी राक्षसोंके जीवनकी रक्षाके लिये वहाँ पदार्पण किया॥ ९॥

पुलस्त्यस्तु वधात् तेषां रक्षसां भरतर्षभ।
उवाचेदं वचः पार्थ पराशरमरिंदमम्॥ १०॥

भरतकुलभूषण कुन्तीकुमार! उन राक्षसोंका विनाश होता देख महर्षि पुलस्त्यने शत्रुसूदन पराशरसे यह बात कही—॥ १०॥

कच्चित् तातापविघ्नं ते कच्चिन्नन्दसि पुत्रक।
अजानतामदोषाणां सर्वेषां रक्षसां वधात्॥ ११॥

'तात! तुम्हारे इस यज्ञमें कोई विघ्न तो नहीं पड़ा? बेटा! तुम्हारे पिताकी हत्याके विषयमें कुछ भी न जाननेवाले इन सभी निर्दोष राक्षसोंका वध करके क्या तुम्हें प्रसन्नता होती है?॥ ११॥

प्रजोच्छेदमिमं मह्यं न हि कर्तुं त्वमर्हसि।
नैष तात द्विजातीनां धर्मो दृष्टस्तपस्विनाम्॥ १२॥

'वत्स! मेरी संततिका तुम्हें इस प्रकार उच्छेद नहीं करना चाहिये। तात! यह हिंसा तपस्वी ब्राह्मणोंका धर्म कभी नहीं मानी गयी॥ १२॥

शम एव परो धर्मस्तमाचर पराशर।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन् कुरुषे त्वं पराशर॥ १३॥

'पराशर! शान्त रहना ही (ब्राह्मणोंका) श्रेष्ठ धर्म है, अतः उसीका आचरण करो। तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर भी यह पापकर्म करते हो?॥ १३॥

शक्तिं चापि हि धर्मज्ञं नातिक्रान्तुमिहार्हसि।
प्रजायाश्च ममोच्छेदं न चैवं कर्तुमर्हसि॥ १४॥

'तुम्हारे पिता शक्ति धर्मके ज्ञाता थे, तुम्हें (इस अधर्म-कृत्यद्वारा) उनकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। फिर मेरी संतानोंका विनाश करना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है॥ १४॥

शापाद्धि शक्तेर्वासिष्ठ तदा तदुपपादितम्।
आत्मजेन स दोषेण शक्तिर्नीत इतो दिवम्॥ १५॥

'वसिष्ठकुलभूषण! शक्तिके शापसे ही उस समय वैसी

दुर्घटना हो गयी थी। वे अपने ही अपराधसे इस लोकको छोड़कर स्वर्गवासी हुए हैं (इसमें राक्षसोंका कोई दोष नहीं है)॥

न हि तं राक्षसः कश्चिच्छक्तो भक्षयितुं मुने।
आत्मनैवात्मनस्तेन दृष्टो मृत्युस्तदाभवत्॥ १६॥

'मुने! कोई भी राक्षस उन्हें खा नहीं सकता था। अपने ही शापसे (राजाको नरभक्षी राक्षस बना देनेके कारण) उन्हें उस समय अपनी मृत्यु देखनी पड़ी॥ १६॥

निमित्तभूतस्तत्रासीद् विश्वामित्रः पराशर।
राजा कल्माषपादश्च दिवमारुह्य मोदते॥ १७॥

'पराशर! विश्वामित्र तथा राजा कल्माषपाद भी इसमें निमित्तमात्र ही थे (तुम्हारे पूर्वजोंकी मृत्युमें तो प्रारब्ध ही प्रधान है)। इस समय तुम्हारे पिता शक्ति स्वर्गमें जाकर आनन्द भोगते हैं॥ १७॥

ये च शक्त्यवराः पुत्रा वसिष्ठस्य महामुने।
ते च सर्वे मुदा युक्ता मोदन्ते सहिताः सुरैः॥ १८॥

'महामुने! वसिष्ठजीके शक्तिसे छोटे जो पुत्र थे, वे सभी देवताओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक सुख भोग रहे हैं॥ १८॥

सर्वमेतद् वसिष्ठस्य विदितं वै महामुने।
रक्षसां च समुच्छेद एष तात तपस्विनाम्॥ १९॥
निमित्तभूतस्त्वं चात्र क्रतौ वासिष्ठनन्दन।
तत् सत्रं मुञ्च भद्रं ते समाप्तमिदमस्तु ते॥ २०॥

'महर्षे! तुम्हारे पितामह वसिष्ठजीको ये सब बातें विदित हैं। तात शक्तिनन्दन! तेजस्वी राक्षसोंके विनाशके लिये आयोजित इस यज्ञमें तुम भी निमित्तमात्र ही बने हो (वास्तवमें यह सब उन्हींके पूर्वकर्मोंका फल है)। अतः अब इस यज्ञको छोड़ दो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे इस सत्रकी समाप्ति हो जानी चाहिये'॥ १९-२०॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तः पुलस्त्येन वसिष्ठेन च धीमता।
तदा समापयामास सत्रं शाक्तो महामुनिः॥ २१॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! पुलस्त्यजी तथा परम बुद्धिमान् वसिष्ठजीके यों कहनेपर महामुनि शक्तिपुत्र पराशरने उसी समय यज्ञको समाप्त कर दिया॥ २१॥

सर्वराक्षससत्राय सम्भृतं पावकं तदा।
उत्तरे हिमवत्पार्श्वे उत्ससर्ज महावने॥ २२॥

सम्पूर्ण राक्षसोंके विनाशके उद्देश्यसे किये जानेवाले उस सत्रके लिये जो अग्नि संचित की गयी थी, उसे उन्होंने उत्तरदिशामें हिमालयके आस-पासके विशाल वनमें छोड़ दिया॥

स तत्राद्यापि रक्षांसि वृक्षानश्मन एव च।
भक्षयन् दृश्यते वह्निः सदा पर्वणि पर्वणि॥ २३॥

वह अग्नि आज भी वहाँ सदा प्रत्येक पर्वके अवसरपर राक्षसों, वृक्षों और पत्थरोंको जलाती हुई देखी जाती है॥२३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें औवोपाख्यान-विषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८०॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा कल्माषपादको ब्राह्मणी आङ्गिरसीका शाप

अर्जुन उवाच

राज्ञा कल्माषपादेन गुरौ ब्रह्मविदां वरे।
कारणं किं पुरस्कृत्य भार्या वै संनियोजिता॥ १॥

अर्जुनने पूछा—गन्धर्वराज! किस कारणको सामने रखकर राजा कल्माषपादने ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गुरु वसिष्ठजीके साथ अपनी पत्नीका नियोग कराया था?॥ १॥

जानता वै परं धर्मं वसिष्ठेन महात्मना।
अगम्यागमनं कस्मात् कृतं तेन महर्षिणा॥ २॥

तथा उत्तम धर्मके ज्ञाता महात्मा महर्षि वसिष्ठने यह परस्त्रीगमनका पाप कैसे किया?॥ २॥

अधर्मिष्ठं वसिष्ठेन कृतं चापि पुरा सखे।
एतन्मे संशयं सर्वं छेत्तुमर्हसि पृच्छतः॥ ३॥

सखे! पूर्वकालमें महर्षि वसिष्ठने जो यह अधर्म-कार्य किया, उसका क्या कारण है? यह मेरा संशय है, जिसे मैं पूछता हूँ। आप मेरे इन सारे संशयोंका निवारण कीजिये॥३॥

गन्धर्व उवाच

धनंजय निबोधेदं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
वसिष्ठं प्रति दुर्धर्ष तथा मित्रसहं नृपम्॥ ४॥

गन्धर्वने कहा—दुर्धर्ष वीर धनंजय! आप महर्षि वसिष्ठ तथा राजा मित्रसहके विषयमें जो कुछ मुझसे पूछ रहे हैं, उसका समाधान सुनिये॥ ४॥

कथितं ते मया सर्वं यथा शप्तः स पार्थिवः।
शक्तिना भरतश्रेष्ठ वासिष्ठेन महात्मना॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ! वसिष्ठपुत्र महात्मा शक्तिसे राजा कल्माषपादको जिस प्रकार शाप प्राप्त हुआ, वह सब प्रसङ्गमें आपसे कह चुका हूँ॥ ५॥

स तु शापवशं प्राप्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणः।
निर्जगाम पुराद् राजा सहदारः परंतपः॥ ६॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा कल्माषपाद शापके परवश हो अपनी पत्नीके साथ नगरसे बाहर निकल गये। उस समय उनकी आँखें क्रोधसे व्याप्त हो रही थीं॥ ६॥

अरण्यं निर्जनं गत्वा सदारः परिचक्रमे।
नानामृगगणाकीर्णं नानासत्त्वसमाकुलम्॥ ७॥

अपनी स्त्रीके साथ निर्जन वनमें जाकर वे चारों ओर चक्कर लगाने लगे। वह महान् वन भाँति-भाँतिके मृगोंसे भरा हुआ था। उसमें नाना प्रकारके जीव-जन्तु निवास करते थे॥

नानागुल्मलताच्छन्नं नानाद्रुमसमावृतम्।
अरण्यं घोरसंनादं शापग्रस्तः परिभ्रमन्॥ ८॥

अनेक प्रकारकी लताओं तथा गुल्मोंसे आच्छादित और विविध प्रकारके वृक्षोंसे आवृत वह (गहन) वन भयंकर शब्दोंसे गूँजता रहता था। शापग्रस्त राजा कल्माषपाद उसीमें भ्रमण करने लगे॥ ८॥

स कदाचित् क्षुधाविष्टो मृगयन् भक्ष्यमात्मनः।
ददर्श सुपरिक्लिष्टः कस्मिंश्चिन्निर्जने वने॥ ९॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणीं चैव मिथुनायोपसंगतौ।
तौ तं वीक्ष्य सुवित्रस्तावकृतार्थौ प्रधावितौ॥ १०॥

एक दिन भूखसे व्याकुल हो वे अपने लिये भोजनकी तलाश करने लगे। बहुत क्लेश उठानेके बाद उन्होंने देखा कि उस वनके किसी निर्जन प्रदेशमें एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी मैथुनके लिये एकत्र हुए हैं। वे दोनों अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पाये थे, इतनेहीमें उन राक्षसाविष्ट कल्माषपादको देखकर अत्यन्त भयभीत हो (वहाँसे) भाग चले॥ ९-१०॥

तयोः प्रद्रवतोर्विप्रं जग्राह नृपतिर्बलात्।
दृष्ट्वा गृहीतं भर्तारमथ ब्राह्मण्यभाषत॥ ११॥

उन भागते हुए दम्पतिमेंसे ब्राह्मणको राजाने बलपूर्वक पकड़ लिया। पतिको राक्षसके हाथमें पड़ा देख ब्राह्मणी बोली—॥

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि सुव्रत।
आदित्यवंशप्रभवस्त्वं हि लोके परिश्रुतः॥ १२॥

'राजन्! मैं आपसे जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश! आपका जन्म सूर्यवंशमें हुआ है। आप सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात हैं॥ १२॥

अप्रमत्तः स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतः।
शापोपहत दुर्धर्ष न पापं कर्तुमर्हसि॥ १३॥

'आप सदा प्रमादशून्य होकर धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। गुरुजनोंकी सेवामें सदा संलग्न रहते हैं। दुर्धर्ष वीर! यद्यपि आप इस समय शापसे ग्रस्त हैं, तो भी आपको पापकर्म नहीं करना चाहिये॥ १३॥

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते भर्तृव्यसनकर्शिता।
अकृतार्था ह्यहं भर्त्रा प्रसवार्थं समागता॥ १४॥
प्रसीद नृपतिश्रेष्ठ भर्तायं मे विसृज्यताम्।

'मेरा ऋतुकाल प्राप्त है, मैं पतिके कष्टसे दुःख पा रही हूँ। मै संतानकी इच्छासे पतिके समीप आयी थी और उनसे मिलकर अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पायी हूँ। नृपश्रेष्ठ! ऐसी दशामें आप मुझपर प्रसन्न होइये और मेरे इन पतिदेवताको छोड़ दीजिये'॥ १४½॥

एवं विक्रोशमानायास्तस्यास्तु स नृशंसवत्॥ १५॥
भर्तारं भक्षयामास व्याघ्रो मृगमिवेप्सितम्।
तस्याः क्रोधाभिभूताया यान्यश्रूण्यपतन् भुवि॥ १६॥
सोऽग्निः समभवद् दीप्तस्तं च देशं व्यदीपयत्।
ततः सा शोकसंतप्ता भर्तृव्यसनकर्शिता॥ १७॥
कल्माषपादं राजर्षिमशपद् ब्राह्मणी रुषा।
यस्मान्ममाकृतार्थायास्त्वया क्षुद्र नृशंसवत्॥ १८॥
प्रेक्षन्त्या भक्षितो मेऽद्य प्रियो भर्ता महायशाः।
तस्मात् त्वमपि दुर्बुद्धे मच्छापपरिविक्षतः॥ १९॥
पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्ष्यसि जीवितम्।
यस्य चर्षेर्वसिष्ठस्य त्वया पुत्रा विनाशिताः॥ २०॥
तेन संगम्य ते भार्या तनयं जनयिष्यति।
स ते वंशकरः पुत्रो भविष्यति नृपाधम॥ २१॥

इस प्रकार ब्राह्मणी करुण विलाप करती हुई याचना कर रही थी, तो भी जैसे व्याघ्र मनचाहे मृगको मारकर खा जाता है, उसी प्रकार राजाने अत्यन्त निर्दयीकी भाँति ब्राह्मणीके पतिको खा लिया। उस समय क्रोधसे पीड़ित हुई ब्राह्मणीके नेत्रोंसे धरतीपर आँसुओंकी जो बूँदें गिरीं, वे सब प्रज्वलित अग्नि बन गयीं। उस अग्निने उस स्थानको जलाकर भस्म कर दिया। तदनन्तर पतिके वियोगसे व्यथित एवं शोकसंतप्त ब्राह्मणीने रोषमें भरकर राजर्षि कल्माषपादको शाप दिया—'ओ नीच! मेरी पतिविषयक कामना अभी पूर्ण नहीं हो पायी थी, तभी तूने अत्यन्त क्रूरकी भाँति मेरे देखते-देखते आज मेरे महायशस्वी प्रियतम पतिको अपना ग्रास बना लिया है; अतः दुर्बुद्धे! तू भी मेरे शापसे पीड़ित हुआ ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम करते ही तत्काल प्राण त्याग देगा। जिन महर्षि वसिष्ठके पुत्रोंका तुमने संहार किया है, उन्हींसे समागम करके तेरी पत्नी पुत्र पैदा करेगी। नृपाधम! वही पुत्र तेरा वंश चलानेवाला होगा'॥ १५-२१॥

एवं शप्त्वा तु राजानं सा तमाङ्गिरसी शुभा।
तस्यैव संनिधौ दीप्तं प्रविवेश हुताशनम्॥ २२॥

इस प्रकार राजाको शाप देकर वह सती साध्वी आङ्गिरसी राजा कल्माषपादके समीप ही प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर गयी॥

वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतदवैक्षत।
ज्ञानयोगेन महता तपसा च परंतप॥ २३॥

शत्रुसूदन अर्जुन ! महाभाग वसिष्ठजी अपनी बड़ी भारी तपस्या तथा ज्ञानयोगके प्रभावसे ये सब बातें जानते थे ॥ २३ ॥

मुक्तशापश्च राजर्षिः कालेन महता ततः ।
ऋतुकालेऽभिपतितो मदयन्त्या निवारितः ॥ २४ ॥

दीर्घकालके पश्चात् वे राजर्षि जब शापसे मुक्त हुए, तब ऋतुकालमें अपनी पत्नीके पास गये । परंतु उनकी रानी मदयन्तीने उन्हें (उक्त शापकी याद दिलाकर) रोक दिया ॥ २४ ॥

न हि सस्मार स नृपस्तं शापं काममोहितः ।
देव्याः सोऽथ वचः श्रुत्वा सम्भ्रान्तो नृपसत्तमः ॥ २५ ॥

राजा कल्माषपाद कामसे मोहित हो रहे थे । इसलिये उन्हें शापका स्मरण नहीं रहा । महारानी मदयन्तीकी बात सुनकर वे नृपश्रेष्ठ बड़े सम्भ्रम (घबराहट) में पड़ गये ॥ २५ ॥

तं शापमनुसंस्मृत्य पर्यतप्यद् भृशं तदा ।
एतस्मात् कारणाद् राजा वसिष्ठं संन्ययोजयत् ।
स्वदारेषु नरश्रेष्ठ शापदोषसमन्वितः ॥ २६ ॥

उस शापको बार-बार याद करके उन्हें बड़ा संताप हुआ । नरश्रेष्ठ ! इसी कारण शापदोषसे युक्त राजा कल्माषपादने महर्षि वसिष्ठका अपनी पत्नीके साथ नियोग कराया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वसिष्ठोपाख्याने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठोपाख्यानविषयक एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका धौम्यको अपना पुरोहित बनाना

अर्जुन उवाच

अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद् गन्धर्व वेदवित् ।
पुरोहितस्तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्वराज ! हमारे अनुरूप जो कोई वेदवेत्ता पुरोहित हों, उनका नाम बताओ; क्योंकि तुम्हें सब कुछ ज्ञात है ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

यवीयान् देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति ।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणुध्वं यदीच्छथ ॥ २ ॥

गन्धर्व बोला—कुन्तीनन्दन ! इसी वनके उत्कोचक तीर्थमें महर्षि देवलके छोटे भाई धौम्य मुनि तपस्या करते हैं । यदि आपलोग चाहें तो उन्हींका पुरोहितके पदपर वरण करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद् यथाविधि ।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

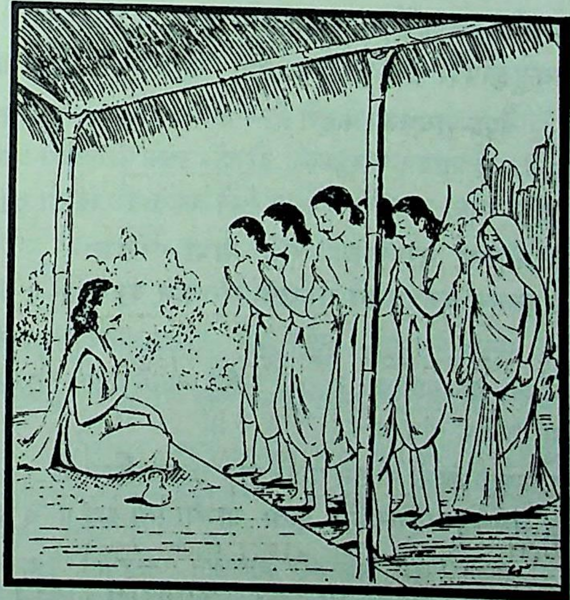
वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुनने (बहुत) प्रसन्न होकर गन्धर्वको विधिपूर्वक आग्नेयास्त्र प्रदान किया और यह बात कही— ॥ ३ ॥

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम ।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ॥ ४ ॥
तेऽन्योन्यमभिसम्पूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह ।
रम्याद् भागीरथीतीराद् यथाकामं प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

'गन्धर्वप्रवर ! तुमने जो घोड़े दिये हैं, वे अभी तुम्हारे ही पास रहें । आवश्यकताके समय हम तुमसे ले लेंगे, तुम्हारा कल्याण हो ।' अर्जुनकी यह बात पूरी होनेपर गन्धर्वराज और पाण्डवोंने एक-दूसरेका बड़ा सत्कार किया । फिर पाण्डवगण गङ्गाके रमणीय तटसे अपनी इच्छाके अनुसार चल दिये ॥ ४-५ ॥

तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते ।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥ ६ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर उत्कोचक तीर्थमें धौम्यके आश्रमपर जाकर पाण्डवोंने धौम्यका पौरोहित्य-कर्मके लिये वरण किया ॥ ६ ॥



तान् धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः ।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ धौम्यने जंगली फल-मूल

अर्पण करके तथा पुरोहितीके लिये स्वीकृति देकर उन सबका सत्कार किया ॥ ७ ॥

ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः।
ब्राह्मणं तं पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ॥ ८ ॥

पाण्डवोंने उन ब्राह्मणदेवताको पुरोहित बनाकर यह भलीभाँति विश्वास कर लिया कि 'हमें अपना राज्य और धन अब मिले हुएके ही समान है।' साथ ही उन्हें यह भी भरोसा हो गया कि 'स्वयंवरमें द्रौपदी हमें मिल जायगी' ॥ ८ ॥

पुरोहितेन तेनाथ गुरुणा संगतास्तदा।
नाथवन्तमिवात्मानं मेनिरे भरतर्षभाः ॥ ९ ॥

उन गुरु एवं पुरोहितके साथ हो जानेसे उस समय भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डवोंने अपने-आपको सनाथ-सा समझा ॥

स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ॥ १० ॥

उदारबुद्धि धौम्य वेदार्थके तत्त्वज्ञ थे, वे पाण्डवोंके गुरु हुए। उन धर्मज्ञ मुनिने धर्मज्ञ कुन्तीकुमारोंको अपना यजमान बना लिया ॥ १० ॥

वीरांस्तु सहितान् मेने प्राप्तराज्यान् स्वधर्मतः।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान् देवानिव द्विजः ॥ ११ ॥

धौम्यको भी यह विश्वास हो गया कि ये बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साहसे युक्त देवोपम वीर संगठित होकर स्वधर्मके अनुसार अपना राज्य अवश्य प्राप्त कर लेंगे ॥ ११ ॥

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥ १२ ॥

धौम्यने पाण्डवोंके लिये स्वस्तिवाचन किया। तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक साथ द्रौपदीके स्वयंवरमें जानेका निश्चय किया ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि धौम्यपुरोहितकरणे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें धौम्यको पुरोहित बनानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८२ ॥

(स्वयंवरपर्व)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पञ्चालयात्रा और मार्गमें ब्राह्मणोंसे बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वे नरश्रेष्ठ पाँचों भाई पाण्डव राजकुमारी द्रौपदी, उसके पञ्चालदेश और वहाँके महान् उत्सवको देखनेके लिये वहाँसे चल दिये ॥ १ ॥

ते प्रयाता नरव्याघ्राः सह मात्रा परंतपाः।
ब्राह्मणान् ददृशुर्मार्गे गच्छतः संगतान् बहून् ॥ २ ॥

मनुष्योंमें सिंहके समान वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ यात्रा कर रहे थे। उन्होंने मार्गमें देखा, बहुत-से ब्राह्मण एक साथ जा रहे हैं ॥ २ ॥

त ऊचुर्ब्राह्मणा राजन् पाण्डवान् ब्रह्मचारिणः।
क्व भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वाभ्यागता इह ॥ ३ ॥

राजन्! उन ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने पाण्डवोंसे पूछा—'आपलोग कहाँ जायँगे और कहाँसे आ रहे हैं?' ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आगतानेकचक्रायाः सोदर्यानेकचारिणः।
भवन्तो वै विजानन्तु सह मात्रा द्विजर्षभाः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले—विप्रवरो! आपलोगोंको मालूम हो कि हमलोग एक साथ विचरनेवाले सहोदर भाई हैं और अपनी माताके साथ एकचक्रा नगरीसे आ रहे हैं ॥ ४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गच्छताद्यैव पञ्चालान् द्रुपदस्य निवेशने।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—आज ही पञ्चाल देशको चलिये। वहाँ राजा द्रुपदके दरबारमें महान् धन-धान्यसे सम्पन्न स्वयंवरका बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ॥ ५ ॥

एकसार्थं प्रयाताः स्म वयं तत्रैव गामिनः।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ॥ ६ ॥

हम सबलोग एक साथ चले हैं और वहीं जा रहे हैं। वहाँ अत्यन्त अद्भुत और बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ॥ ६ ॥

यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः।
वेदीमध्यात् समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा ॥ ७ ॥

यज्ञसेन नामवाले महाराज द्रुपदके एक पुत्री है, जो यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है। उसके नेत्र विकसित कमलदलके समान सुन्दर हैं ॥ ७ ॥

दर्शनीयानवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी ।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी द्रोणशत्रोः प्रतापिनः ॥ ८ ॥

उसका एक-एक अङ्ग निर्दोष है । वह मनस्विनी सुकुमारी द्रुपदकन्या देखने ही योग्य है । द्रोणाचार्यके शत्रु प्रतापी धृष्टद्युम्नकी वह वहिन है ॥ ८ ॥

यो जातः कवची खड्गी सशरः सशरासनः ।
सुसमिद्धे महाबाहुः पावके पावकोपमः ॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्न वे ही हैं, जो कवच, खड्ग, धनुष और बाणके साथ उत्पन्न हुए हैं । महाबाहु धृष्टद्युम्न प्रज्वलित अग्निसे प्रकट होनेके कारण अग्निके समान ही तेजस्वी हैं ॥ ९ ॥

स्वसा तस्यानवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रवाति वै ॥ १० ॥

द्रौपदी निर्दोष अङ्गों तथा पतली कमरवाली है और उसके शरीरसे नीलकमलके समान सुगन्ध निकलकर एक कोसतक फैलती रहती है । वह उन्हीं धृष्टद्युम्नकी बहिन है ॥ १० ॥

यज्ञसेनस्य च सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम् ।
गच्छामो वै वयं द्रष्टुं तं च दिव्यं महोत्सवम् ॥ ११ ॥

यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदीका स्वयंवर नियत हुआ है । अतः हमलोग उस राजकुमारीको तथा उस स्वयंवरके दिव्य महोत्सवको देखनेके लिये वहाँ जा रहे हैं ॥ ११ ॥

राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः ॥ १२ ॥
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः ।
महारथा कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः ॥ १३ ॥

(वहाँ) कितने ही प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, यज्ञ करनेवाले, स्वाध्यायशील, पवित्र, नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले, महात्मा एवं तरुण अवस्थावाले दर्शनीय राजा और राजकुमार अनेक देशोंसे पधारेंगे । अस्त्रविद्यामें निपुण महारथी भूमिपाल भी वहाँ आयँगे ॥ १२-१३ ॥

ते तत्र विविधान् दायान् विजयार्थं नरेश्वराः ।
प्रदास्यन्ति धनं गाश्च भक्ष्यं भोज्यं च सर्वशः ॥ १४ ॥

वे नरपतिगण अपनी-अपनी विजयके उद्देश्यसे वहाँ नाना प्रकारके उपहार, धन, गौएँ, भक्ष्य और भोज्य आदि सब प्रकारकी वस्तुएँ दान करेंगे ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वं दृष्ट्वा चैव स्वयंवरम् ।
अनुभूयोत्सवं चैव गमिष्यामो यथेप्सितम् ॥ १५ ॥

उनका वह सब दान ग्रहण कर, स्वयंवरको देखकर और उत्सवका आनन्द लेकर फिर हमलोग अपने-अपने अभीष्ट स्थानको चले जायँगे ॥ १५ ॥

नटा वैतालिकास्तत्र नर्तकाः सूतमागधाः ।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ॥ १६ ॥

वहाँ अनेक देशोंके नट, वैतालिक, नर्तक, सूत, मागध तथा अत्यन्त बलवान् मल्ल आयँगे ॥ १६ ॥

एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च ।
सहास्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ ॥ १७ ॥

महात्माओ ! इस प्रकार हमारे साथ खेल करके, तमाशा देखकर और नाना प्रकारके दान ग्रहण करके फिर आपलोग भी लौट आइयेगा ॥ १७ ॥

दर्शनीयांश्च वः सर्वान् देवरूपानवस्थितान् ।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत् संगत्यैकतमं वरम् ॥ १८ ॥

आप सब लोगोंका रूप तो देवताओंके समान है, आप सभी दर्शनीय हैं, आपलोगोंको (वहाँ उपस्थित) देखकर द्रौपदी दैवयोगसे आपमेंसे ही किसी एकको अपना वर चुन सकती है ॥ १८ ॥

अयं भ्राता तव श्रीमान् दर्शनीयो महाभुजः ।
नियुज्यमानो विजये संगत्या द्रविणं बहु ।
आहरिष्यन्नयं नूनं प्रीतिं वो वर्धयिष्यति ॥ १९ ॥

आपलोगोंके ये भाई अर्जुन तो बड़े सुन्दर और दर्शनीय हैं । इनकी भुजाएँ बहुत बड़ी हैं । इन्हें यदि विजयके कार्यमें नियुक्त कर दिया जाय, तो ये दैवात् बहुत बड़ी धनराशि जीत लाकर निश्चय ही आपलोगोंकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे ।

युधिष्ठिर उवाच

परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं चैव महोत्सवम् ।
भवद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम् ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणो ! हम भी द्रुपदकन्याके उस श्रेष्ठ स्वयंवर-महोत्सवको देखनेके लिये आपलोगोंके साथ चलेंगे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवागमने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवागमनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ १८३

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्रुपदकी राजधानीमें जाकर कुम्हारके यहाँ रहना, स्वयंवरसभाका वर्णन तथा धृष्टद्युम्नकी घोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय।
राज्ञा दक्षिणपञ्चालान् द्रुपदेनाभिरक्षितान्॥ १॥

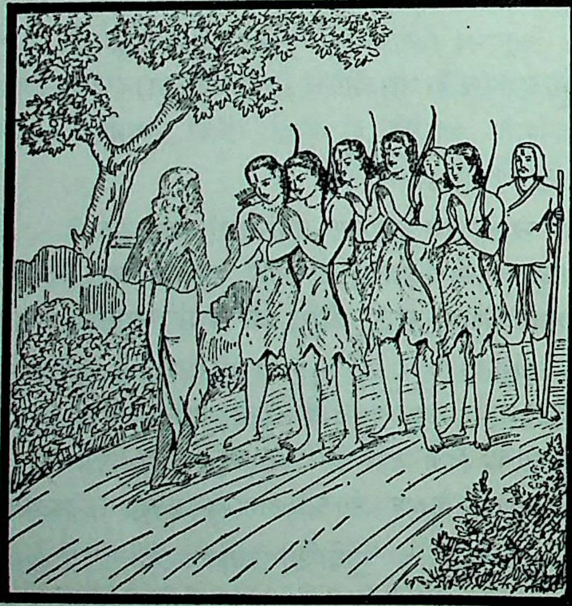
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन ब्राह्मणोंके यों कहनेपर पाण्डवलोग (उन्हींके साथ) राजा द्रुपदके द्वारा पालित दक्षिणपाञ्चाल देशकी ओर चले॥ १॥

ततस्ते सुमहात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम्।
ददृशुः पाण्डवा वीरा मुनिं द्वैपायनं तदा॥ २॥

तदनन्तर उन पाण्डववीरोंको मार्गमें पापरहित, शुद्धचित्त एवं श्रेष्ठ महात्मा द्वैपायन मुनिका दर्शन हुआ॥ २॥

तस्मै यथावत् सत्कारं कृत्वा तेन च सत्कृताः।
कथान्ते चाभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम्॥ ३॥

पाण्डवोंने उनका यथावत् सत्कार किया और उन्होंने पाण्डवोंका। फिर उनमें आवश्यक बातचीत हुई। वार्तालाप



समाप्त होनेपर व्यासजीकी आज्ञा ले पाण्डव पुनः द्रुपदकी राजधानीकी ओर चल दिये॥ ३॥

पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः॥ ४॥

महारथी पाण्डव मार्गमें अनेकानेक रमणीय वन और सरोवर देखते तथा उन-उन स्थानोंमें डेरा डालते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये॥ ४॥

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः।
आनुपूर्व्येण सम्प्राप्ताः पञ्चालान् पाण्डुनन्दनाः॥ ५॥

(प्रतिदिन) स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले, पवित्र, मधुर प्रकृतिवाले तथा प्रियवादी पाण्डुकुमार इस तरह चलकर क्रमशः पाञ्चालदेशमें जा पहुँचे॥ ५॥

ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा॥ ६॥

द्रुपदके नगर और उसकी चहारदीवारीको देखकर पाण्डवोंने उस समय एक कुम्हारके घरमें अपने रहनेकी व्यवस्था की॥ ६॥

तत्र भैक्षं समाजह्रुर्ब्राह्मीं वृत्तिमाश्रिताः।
तान् सम्प्राप्तांस्तथा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित्॥ ७॥

वहाँ ब्राह्मणवृत्तिका आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर लाते (और उसीसे निर्वाह करते) थे। इस प्रकार वहाँ पहुँचे हुए पाण्डववीरोंको कहीं कोई भी मनुष्य पहचान न सके॥ ७॥

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः॥ ८॥

राजा द्रुपदके मनमें सदा यही इच्छा रहती थी कि मैं पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ द्रौपदीका ब्याह करूँ। परंतु वे अपने इस मनोभावको किसीपर प्रकट नहीं करते थे॥ ८॥

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय।
दृढं धनुरनानम्यं कारयामास भारत॥ ९॥

भरतवंशी जनमेजय! पाञ्चालनरेशने कुन्तीकुमार अर्जुनको खोज निकालनेकी इच्छासे एक ऐसा दृढ़ धनुष बनवाया, जिसे दूसरा कोई झुका भी न सके॥ ९॥

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम्।
तेन यन्त्रेण सहितं राजा लक्ष्यं चकार सः॥ १०॥

राजाने एक कृत्रिम आकाश-यन्त्र भी बनवाया, (जो तीव्रवेगसे आकाशमें घूमता रहता था)। उस यन्त्रके छिद्रके ऊपर उन्होंने उसीके बराबरका लक्ष्य तैयार कराकर रखवा दिया। (इसके बाद उन्होंने यह घोषणा करा दी)॥ १०॥

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति॥ ११॥

द्रुपदने घोषणा की—जो वीर इस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर इन प्रस्तुत बाणोंद्वारा ही यन्त्रके छेदके भीतरसे इसे लाँघकर लक्ष्यवेध करेगा, वही मेरी पुत्रीको प्राप्त कर सकेगा।

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत् ।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा द्रुपदने जब स्वयंवरकी घोषणा करा दी, तब उसे सुनकर सब राजा वहाँ उनकी राजधानीमें एकत्र होने लगे ॥ १२ ॥

ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ॥ १३ ॥

बहुत-से महात्मा ऋषि-मुनि भी स्वयंवर देखनेके लिये आये । राजन् ! दुर्योधन आदि कुरुवंशी भी कर्णके साथ वहाँ आये थे ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाश्च महाभागा देशेभ्यः समुपागमन् ।
ततोऽर्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना ॥ १४ ॥
उपोपविष्टा मञ्चेषु द्रष्टुकामाः स्वयंवरम् ।
ततः पौरजनाः सर्वे सागरोद्धूतनिःस्वनाः ॥ १५ ॥

भिन्न-भिन्न देशोंसे कितने ही महाभाग ब्राह्मणोंने भी पदार्पण किया था । महामना राजा द्रुपदने (वहाँ पधारे हुए) नरपतियोंका भलीभाँति स्वागत-सत्कार एवं सेवा-पूजा की । तत्पश्चात् वे सभी नरेश स्वयंवर देखनेकी इच्छासे वहाँ रखे हुए मञ्चोंपर बैठे । उस नगरके समस्त निवासी भी यथास्थान आकर बैठ गये । उन सबका कोलाहल क्षुब्ध हुए समुद्रके भयंकर गर्जनके समान सुनायी पड़ता था ॥ १४-१५ ॥

शिशुमारशिरः प्राप्य न्यविशंस्ते स्म पार्थिवाः ।
प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे ।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥ १६ ॥

वहाँकी बैठक शिशुमारकी आकृतिमें सजायी गयी थी । शिशुमारके शिरोभागमें सब राजा अपने-अपने मञ्चोंपर बैठे थे । नगरसे ईशानकोणमें सुन्दर एवं समतल भूमिपर स्वयंवरसभाका रङ्गमण्डप सजाया गया था, जो सब ओरसे सुन्दर भवनोंद्वारा घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था ।

प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः ।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलंकृतः ॥ १७ ॥

उसके सब ओर चहारदीवारी और खाई बनी थीं । अनेक फाटक और दरवाजे उस मण्डपकी शोभा बढ़ा रहे थे । विचित्र चँदोवेसे उस सभाभवनको सब ओरसे सजाया गया था ॥ १७ ॥

तूर्यौघशतसंकीर्णः परार्ध्यागुरुधूपितः ।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः ॥ १८ ॥

वहाँ सैकड़ों प्रकारके बाजे बज रहे थे । बहुमूल्य अगुरु-धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी । फर्शपर चन्दनके जलका छिड़काव किया गया था । सब ओर फूलोंकी मालाएँ और हार टँगे थे, जिससे वहाँकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी ।

कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः ।
सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ॥ १९ ॥

उस रङ्गमण्डपके चारों ओर कैलासशिखरके समान ऊँचे और श्वेत रंगके गगनचुम्बी महल बने हुए थे ॥ १९ ॥

सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषणैः ।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ॥ २० ॥

उन्हें भीतरसे सोनेके जालीदार पर्दों और झालरोंसे सजाया गया था । फर्श और दीवारोंमें मणि एवं रत्न जड़े गये थे । उत्तम सुखपूर्वक चढ़ने योग्य सीढ़ियाँ बनी थीं । बड़े-बड़े आसन और बिछावन आदि बिछाये गये थे ॥ २० ॥

स्रग्दामसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः ।
हंसांशुवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ॥ २१ ॥

अनेक प्रकारकी मालाएँ और हार उन भवनोंकी शोभा बढ़ा रहे थे । अगुरुकी सुगन्ध छा रही थी । वे हंस और चन्द्रमा-की किरणोंके समान श्वेत दिखायी देते थे । उनके भीतरसे निकली हुई धूपकी सुगन्ध चारों ओर एक योजनतक फैल रही थी ॥ २१ ॥

असम्बाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः ।
बहुधा तु पिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ॥ २२ ॥

उन महलोंमें सैकड़ों दरवाजे थे । उनके भीतर आने-जानेके लिये बिल्कुल रोक-टोक नहीं थी और वे भाँति-भाँति-की शय्याओं तथा आसनोंसे सुशोभित थे । उनकी दीवारोंको अनेक प्रकारकी धातुओंके रंगोंसे रँगा गया था । अतः वे राजमहल हिमालयके बहुरंगे शिखरोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२ ॥

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः ।
स्पर्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ॥ २३ ॥

उन्हीं सतमहले मकानों या विमानोंमें, जो अनेक प्रकारके बने हुए थे, सब राजालोग परस्पर एक दूसरेसे होड़ रखते हुए सुन्दर-से-सुन्दर शृङ्गार धारण करके बैठे ॥ २३ ॥

तत्रोपविष्टान् ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान् ।
राजसिंहान् महाभागान् कृष्णागुरुविभूषितान् ॥ २४ ॥
महाप्रसादान् ब्रह्मण्यान् स्वराष्ट्रपरिरक्षिणः ।
प्रियान् सर्वस्य लोकस्य सुकृतैः कर्मभिः शुभैः ॥ २५ ॥
मञ्चेषु च परार्ध्येषु पौरजानपदा जनाः ।
कृष्णादर्शनसिद्ध्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥ २६ ॥

नगर और जनपदके लोगोंने जब देखा कि उक्त विमानोंमें बहुमूल्य मञ्चोंके ऊपर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न परम सौभाग्यशाली, कालागुरुसे विभूषित, महान् कृपाप्रसादसे युक्त, ब्राह्मणभक्त, अपने-अपने राष्ट्रके रक्षक

और शुभ पुण्यकर्मोंके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत्‌के प्रिय श्रेष्ठ नरपतिगण आकर बैठ गये हैं, तब राजकुमारी द्रौपदीके दर्शनका लाभ लेनेके लिये वे भी सब ओर सुख-पूर्वक जा बैठे ॥ २४–२६ ॥

ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन्।
ऋद्धिं पाञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥ २७ ॥

वे पाण्डव भी पाञ्चालनरेशकी उस सर्वोत्तम समृद्धिका अवलोकन करते हुए ब्राह्मणोंके साथ उन्हींकी पङ्क्तिमें बैठे थे।

ततः समाजो ववृधे स राजन् दिवसान् बहून्।
रत्नप्रदानबहुलः शोभितो नटनर्तकैः ॥ २८ ॥

राजन्! नगरमें बहुत दिनोंसे लोगोंकी भीड़ बढ़ रही थी। राजसमाजके द्वारा प्रचुर धन-रत्नोंका दान किया जा रहा था। बहुतेरे नट और नर्तक अपनी कला दिखाकर उस समाजकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २८ ॥

वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे।
आप्लुताङ्गी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ॥ २९ ॥
मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम्।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ॥ ३० ॥

सोलहवें दिन अत्यन्त मनोहर समाज जुटा। भरतश्रेष्ठ! उसी दिन स्नान करके सुन्दर वस्त्र और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो हाथोंमें सोनेकी बनी हुई कामदार जयमाला लिये द्रुपदराजकुमारी उस रङ्ग-भूमिमें उतरी ॥ २९-३० ॥

पुरोहितः सोमकानां मन्त्रविद् ब्राह्मणः शुचिः।
परिस्तीर्य जुहावाग्निमाज्येन विधिवत् तदा ॥ ३१ ॥

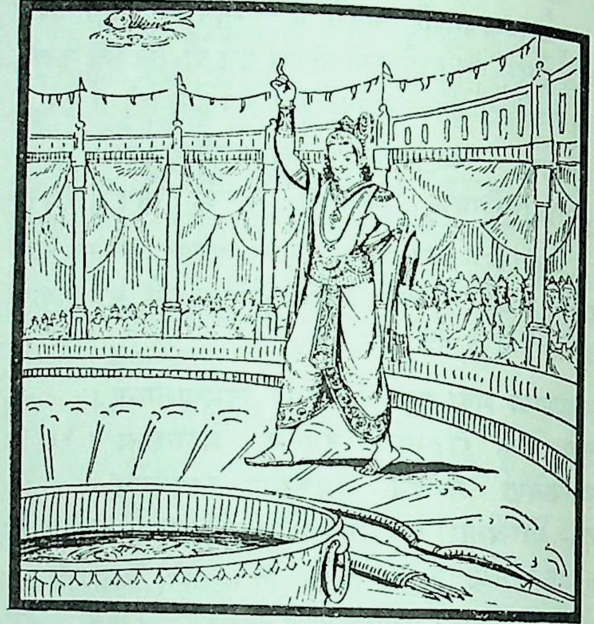
तब सोमकवंशी क्षत्रियोंके पवित्र एवं मन्त्रज्ञ ब्राह्मण पुरोहितने अग्निवेदीके चारों ओर कुशा बिछाकर वेदोक्त विधिके अनुसार प्रज्वलित अग्निमें घीकी आहुति डाली ॥ ३१ ॥

संतर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अग्निदेवको तृप्त करके ब्राह्मणोंसे स्वस्ति-वाचन कराकर चारों ओर बजनेवाले सब प्रकारके बाजे बंद करा दिये गये ॥ ३२ ॥

निःशब्दे तु कृते तस्मिन् धृष्टद्युम्नो विशाम्पते।
कृष्णामादाय विधिवन्मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३३ ॥
रङ्गमध्ये गतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥ ३४ ॥

महाराज! बाजोंकी आवाज बंद हो जानेपर जब स्वयंवर-सभामें सन्नाटा छा गया, तब विधिके अनुसार धृष्टद्युम्न द्रौपदीको (साथ) लेकर रङ्गमण्डपके बीचमें खड़ा हो मेघ और दुन्दुभि-के समान स्वर तथा मेघगर्जनकी-सी गम्भीर वाणीमें यह अर्थयुक्त उत्तम एवं मधुर वचन बोला— ॥ ३३-३४ ॥



इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः
शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं
शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ॥ ३५ ॥

'यहाँ आये हुए भूपालगण! आपलोग (ध्यान देकर) मेरी बात सुनें। यह धनुष है, ये बाण हैं और यह निशाना है। आपलोग आकाशमें छोड़े हुए पाँच पैने बाणोंद्वारा उस यन्त्रके छेदके भीतरसे लक्ष्यको बेधकर गिरा दें ॥ ३५ ॥

एतन्महत् कर्म करोति यो वै
कुलेन रूपेण बलेन युक्तः।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं
कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥ ३६ ॥

'मैं सच कहता हूँ, झूठ नहीं बोलता—जो उत्तम कुल, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ बलसे सम्पन्न वीर यह महान् कर्म कर दिखायेगा, आज यह मेरी बहिन कृष्णा उसीकी धर्मपत्नी होगी'।

तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः
पश्चादिदं तां भगिनीमुवाच।
नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च
संकीर्तयन् भूमिपतीन् समेतान् ॥ ३७ ॥

यों कहकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने वहाँ आये हुए राजाओंके नाम, गोत्र और पराक्रमका वर्णन करते हुए अपनी बहिन द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नवाक्ये चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नवाक्यविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका द्रौपदीको स्वयंवरमें आये हुए राजाओंका परिचय देना

धृष्टद्युम्न उवाच

दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनस्तथा ॥ १ ॥
युयुत्सुर्वायुवेगश्च भीमवेगरवस्तथा।
उग्रायुधो बलाकी च करकायुर्विरोचनः ॥ २ ॥
कुण्डकश्चित्रसेनश्च सुवर्चाः कनकध्वजः।
नन्दको बाहुशाली च तुहुण्डो विकटस्तथा ॥ ३ ॥
एते चान्ये च बहवो धार्तराष्ट्रा महाबलाः।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन ! यह देखो—दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन, युयुत्सु, वायुवेग, भीमवेगरव, उग्रायुध, बलाकी, करकायु, विरोचन, कुण्डक, चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज, नन्दक, बाहुशाली, तुहुण्ड तथा विकट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली धृतराष्ट्रपुत्र जो सब-के-सब वीर हैं, तुम्हें प्राप्त करनेके लिये कर्णके साथ यहाँ पधारे हैं ॥ १-४ ॥

असंख्याता महात्मानः पार्थिवाः क्षत्रियर्षभाः।
शकुनिः सौबलश्चैव वृषकोऽथ बृहद्बलः ॥ ५ ॥
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः।
अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतां वरौ ॥ ६ ॥
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ।
बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च पार्थिवः ॥ ७ ॥
सहदेवजयत्सेनौ मेघसंधिश्च पार्थिवः।
विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च ॥ ८ ॥
वार्द्धक्षेमिः सुशर्मा च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः।
सुकेतुः सह पुत्रेण सुनाम्ना च सुवर्चसा ॥ ९ ॥
सुचित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा।
सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा ॥ १० ॥
अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः।
समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान् ॥ ११ ॥
जलसंधः पितापुत्रौ विदण्डो दण्ड एव च।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान् ॥ १२ ॥
कालिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा।
मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः ॥ १३ ॥
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च।
कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्राश्चास्य महारथाः ॥ १४ ॥
समवेतास्त्रयः शूरा भूरिर्भूरिश्रवाः शलः।
सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढधन्वा च पौरवः ॥ १५ ॥

इनके सिवा और भी असंख्य महामना क्षत्रियशिरोमणि भूमिपाल यहाँ आये हैं। उधर देखो, गान्धारराज सुबलके पुत्र शकुनि, वृषक और बृहद्बल बैठे हैं। गान्धारराजके ये सभी पुत्र यहाँ पधारे हैं। अश्वत्थामा और भोज—ये दोनों महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं और तुम्हारे लिये गहने-कपड़ोंसे सज-धजकर यहाँ आये हैं। राजा बृहन्त, मणिमान्, दण्डधार, सहदेव, जयत्सेन, राजा मेघसंधि, अपने दोनों पुत्रों शङ्ख और उत्तरके साथ राजा विराट, वृद्धक्षेमके पुत्र सुशर्मा, राजा सेनाबिन्दु, सुकेतु और उनके पुत्र सुवर्चा, सुचित्र, सुकुमार, वृक, सत्यधृति, सूर्यध्वज, रोचमान, नील, चित्रायुध, अंशुमान्, चेकितान, महाबली श्रेणिमान्, समुद्रसेनके प्रतापी पुत्र चन्द्रसेन, जलसंध, विदण्ड और उनके पुत्र दण्ड, पौण्ड्रक वासुदेव, पराक्रमी भगदत्त, कलिङ्गनरेश, ताम्रलिप्त-नरेश, पाटनके राजा, अपने दो पुत्रों वीर रुक्माङ्गद तथा रुक्मरथके साथ महारथी मद्रराज शल्य, कुरुवंशी सोमदत्त तथा उनके तीन महारथी शूरवीर पुत्र भूरि, भूरिश्रवा और शल, काम्बोजदेशीय सुदक्षिण, पूरुवंशी दृढधन्वा ॥ ५-१५ ॥

बृहद्बलः सुषेणश्च शिबिरौशीनरस्तथा।
पटच्चरनिहन्ता च कारूषाधिपतिस्तथा ॥ १६ ॥
संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान्।
साम्बश्च चारुदेष्णश्च प्राद्युम्निः सगदस्तथा ॥ १७ ॥
अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महामतिः।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १८ ॥
विदूरथश्च कङ्कश्च शङ्कुश्च सगवेषणः।
आशावहोऽनिरुद्धश्च शमीकः सारिमेजयः ॥ १९ ॥
वीरो वातपतिश्चैव झिल्लीपिण्डारकस्तथा।
उशीनरश्च विक्रान्तो वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः ॥ २० ॥

महाबली, सुषेण, उशीनरदेशीय शिबि तथा चोर-डाकुओंको मार डालनेवाले कारूषाधिपति भी यहाँ आये हैं। इधर संकर्षण, वासुदेव, (भगवान् श्रीकृष्ण) रुक्मिणीनन्दन पराक्रमी प्रद्युम्न, साम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध, श्रीकृष्णके बड़े भाई गद, अक्रूर, सात्यकि, परम बुद्धिमान् उद्धव, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, पृथु, विपृथु, विदूरथ, कङ्क, शङ्कु, गवेषण, आशावह, अनिरुद्ध, शमीक, सारिमेजय, वीर, वातपति, झिल्लीपिण्डारक तथा पराक्रमी उशीनर—ये सब वृष्णिवंशी कहे गये हैं ॥ १६-२० ॥

भागीरथो बृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः।
बृहद्रथो बाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः ॥ २१ ॥
उलूकः कैतवो राजा चित्राङ्गदशुभाङ्गदौ।
वत्सराजश्च मतिमान् कोसलाधिपतिस्तथा ॥ २२ ॥
शिशुपालश्च विक्रान्तो जरासंधस्तथैव च।

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ॥ २३ ॥
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ।
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थे लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥ २४ ॥

भगीरथवंशी बृहत्क्षत्र, सिन्धुराज जयद्रथ, बृहद्रथ, बाह्लीक, महारथी श्रुतायु, उलूक, राजा कैतव, चित्राङ्गद, शुभाङ्गद, बुद्धिमान् वत्सराज, कोसलनरेश, पराक्रमी शिशुपाल तथा जरासंध—ये तथा और भी अनेक जनपदोंके शासक भूमण्डलमें विख्यात बहुत-से क्षत्रिय वीर तुम्हारे लिये यहाँ पधारे हैं। भद्रे ! ये पराक्रमी नरेश तुम्हें पानेके उद्देश्यसे इस उत्तम लक्ष्यका भेदन करेंगे । शुभे ! जो इस निशानेको वेध डाले, उसीका आज तुम वरण करना ॥ २१-२४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजनामकीर्तने पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें राजाओंके नामका परिचयविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८५ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजाओंका लक्ष्यवेधके लिये उद्योग और असफल होना

वैशम्पायन उवाच

तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः
परस्परं स्पर्धमाना नरेन्द्राः ।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः
सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ॥ १ ॥
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव
शीलेन वित्तेन च यौवनेन ।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना
मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सब नवयुवक राजा अनेक आभूषणोंसे विभूषित हो कानोंमें कुण्डल पहने और परस्पर लाग-डाँट रखते हुए, हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये अपने-अपने आसनोंसे उठने लगे । उन्हें अपनेमें ही सबसे अधिक अस्त्रविद्या और बलके होनेका अभिमान था; सभीको अपने रूप, पराक्रम, कुल, शील, धन और जवानीका बड़ा घमंड था । वे सभी मस्तकसे वेगपूर्वक मदकी धारा बहानेवाले हिमाचलप्रदेशके गजराजोंकी भाँति उन्मत्त हो रहे थे ॥

परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः
संकल्पजेनाभिपरिप्लुताङ्गाः ।
कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा
नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ॥ ३ ॥

वे एक दूसरेको बड़ी स्पर्धासे देख रहे थे । उनके सभी अङ्गोंमें कामोन्माद व्याप्त हो रहा था । 'कृष्णा तो मेरी ही होनेवाली है' यह कहते हुए वे अपने राजोचित आसनोंसे सहसा उठकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

ते क्षत्रिया रङ्गगताः समेता
जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम् ।
चकाशिरे पर्वतराजकन्या-
मुमां यथा देवगणाः समेताः ॥ ४ ॥

द्रुपदकुमारीको पानेकी इच्छासे रङ्गमण्डपमें एकत्र हुए वे क्षत्रियनरेश गिरिराजनन्दिनी उमाके विवाहमें इकट्ठे हुए देवताओंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः
कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः ।
रङ्गावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थं
द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ५ ॥

कामदेवके बाणोंकी चोटसे उनके सभी अङ्गोंमें निरन्तर पीड़ा हो रही थी । उनका मन द्रौपदीमें ही लगा हुआ था । द्रुपदकुमारीको पानेके लिये रङ्गभूमिमें उतरे हुए वे सभी नरेश वहाँ अपने सुहृद् राजाओंसे भी ईर्ष्या करने लगे।

अथाययुर्देवगणा विमानै
रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च ।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव
यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ॥ ६ ॥

इसी समय रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, समस्त साध्यगण तथा मरुद्गण यमराज और कुबेरको आगे करके अपने-अपने विमानोंपर बैठकर वहाँ आये ॥ ६ ॥

दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च
देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च
गन्धर्वमुख्याः सहसाप्सरोभिः ॥ ७ ॥

दैत्य, सुपर्ण, नाग, देवर्षि, गुह्यक, चारण तथा विश्वावसु, नारद और पर्वत आदि प्रधान-प्रधान गन्धर्व भी अप्सराओंको साथ लिये सहसा आकाशमें उपस्थित हो गये ॥ ७ ॥

हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च
वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथाप्रधानम् ।
प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते
स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ॥ ८ ॥

(अन्य राजालोग द्रौपदीकी प्राप्तिके लिये लक्ष्य

बेधनेके विचारमें पड़े थे, किंतु) भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार चलनेवाले महान् यदुश्रेष्ठ, जिनमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक वंशके प्रमुख व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, चुपचाप अपनी जगहपर बैठे-बैठे देख रहे थे ॥

दृष्ट्वा तु तान् मत्तगजेन्द्ररूपान्
पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान् ।
भस्मावृताङ्गानिव हव्यवाहान्
कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ॥ ९ ॥

यदुवंशी वीरोंके प्रधान नेता श्रीकृष्णने लक्ष्मीके सम्मुख विराजमान गजराजों तथा राखमें छिपी हुई आगके समान मतवाले हाथीकी-सी आकृतिवाले पाण्डवोंको, जो अपने सब अङ्गोंमें भस्म लपेटे हुए थे, देखकर (तुरंत) पहचान लिया ॥

शशंस रामाय युधिष्ठिरं स
भीमं सजिष्णुं च यमौ च वीरौ ।
शनैः शनैस्तान् प्रसमीक्ष्य रामो
जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ह ॥ १० ॥

और बलरामजीसे धीरे-धीरे कहा—'भैया ! वह देखिये, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और दोनों जुड़वे वीर नकुल-सहदेव उधर बैठे हैं ।' बलरामजीने उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दृष्टिपात किया ॥ १० ॥

अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः
कृष्णागतैर्नेत्रमनःस्वभावैः ।
व्यायच्छमाना ददृशुर्न तान् वै
संदष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः ॥ ११ ॥

दूसरे-दूसरे वीर राजा, राजकुमार एवं राजाओंके पौत्र अपने नेत्रों, मन और स्वभावको द्रौपदीकी ओर लगाकर उसीको देख रहे थे, अतः पाण्डवोंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी । वे जोशमें आकर दाँतोंसे ओठ चबा रहे थे और रोषसे उनकी आँखें लाल हो रही थीं ॥ ११ ॥

तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते
वीरौ यमौ चैव महानुभावौ ।
तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे
कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार वे महाबाहु कुन्तीपुत्र तथा दोनों महानुभाव वीर नकुल-सहदेव सब-के-सब द्रौपदीको देखकर तुरंत कामदेवके बाणोंसे घायल हो गये ॥ १२ ॥

देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्
सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम् ।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणम् ॥ १३ ॥

राजन् ! उस समय वहाँका आकाश देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे खचाखच भरा था । सुपर्ण, नाग, असुर और सिद्धोंका समुदाय वहाँ जुट गया था । सब ओर दिव्य सुगन्ध व्याप्त हो रही थी और दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की जा रही थी ॥

महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च
बभूव तत् संकुलमन्तरिक्षम् ।
विमानसम्बाधमभूत् समन्तात्
सवेणुवीणापणवानुनादम् ॥ १४ ॥

बृहत् शब्द करनेवाली दुन्दुभियोंके नादसे सारा अन्तरिक्ष गूँज उठा था । चारों ओरका आकाश विमानोंसे ठसाठस भरा था और वहाँ बाँसुरी, वीणा तथा ढोलकी मधुर ध्वनि हो रही थी ॥ १४ ॥

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण
कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च ।
सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्य-
द्रौणायनिक्राथसुनीथवक्राः ॥ १५ ॥
कलिङ्गवङ्गाधिपपाण्ड्यपौण्ड्रा
विदेहराजो यवनाधिपश्च ।
अन्ये च नानानृपपुत्रपौत्रा
राष्ट्राधिपाः पङ्कजपत्रनेत्राः ॥ १६ ॥
किरीटहाराङ्गदचक्रवालै-
र्विभूषिताङ्गाः पृथुबाहवस्ते ।
अनुक्रमं विक्रमसत्त्वयुक्ता
बलेन वीर्येण च नर्दमानाः ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे नृपतिगण द्रौपदीके लिये क्रमशः अपना पराक्रम प्रकट करने लगे । कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, अश्वत्थामा, क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिङ्गराज, वङ्गनरेश, पाण्ड्यनरेश, पौण्ड्र देशके अधिपति, विदेहके राजा, यवनदेशके अधिपति तथा अन्यान्य अनेक राष्ट्रोंके स्वामी, बहुतेरे राजा, राजपुत्र तथा राजपौत्र, जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलपत्रके समान शोभा पा रहे थे, जिनके विभिन्न अङ्गोंमें किरीट, हार, अङ्गद (बाजूबंद) तथा कड़े आदि आभूषण शोभा दे रहे थे तथा जिनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, वे सब-के-सब पराक्रमी और धैर्यसे युक्त हो अपने बल और शक्तिपर गर्जते हुए क्रमशः उस धनुषपर अपना बल दिखाने लगे ॥

तत् कार्मुकं संहननोपपन्नं
सज्यं न शेकुर्मनसापि कर्तुम् ।
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः ॥ १८ ॥
विचेष्टमाना धरणीतलस्था
यथाबलं शैक्ष्यगुणक्रमाश्च ।
गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा
विनिःश्वसन्तः शमयाम्बभूवुः ॥ १९ ॥

परंतु वे उस सुदृढ़ धनुषपर हाथसे कौन कहे, मनसे

भी प्रत्यञ्चा न चढ़ा सके। अपने बल, शिक्षा और गुणके अनुसार उसपर जोर लगाते समय वे सभी नरेन्द्र उस सुदृढ़ एवं चमचमाते हुए धनुषके झटकेसे दूर फेंक दिये जाते और लड़खड़ाकर धरतीपर जा गिरते थे। फिर तो उनका उत्साह समाप्त हो जाता, किरीट और हार खिसककर गिर जाते और वे लंबी साँसें खींचते हुए शान्त होकर बैठ जाते थे॥१८-१९॥

हाहाकृतं तद् धनुषा दृढेन
विस्रस्तहाराङ्गदचक्रवालम्।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकाम
राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत्॥ २०॥

उस सुदृढ़ धनुषके झटकेसे जिनके हार, बाजूबंद और कड़े आदि आभूषण दूर जा गिरे थे, वे नरेश उस समय द्रौपदीको पानेकी आशा छोड़कर अत्यन्त व्यथित हो हाहाकार कर उठे॥

सर्वान् नृपांस्तान् प्रसमीक्ष्य कर्णो
धनुर्धराणां प्रवरो जगाम।
उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्
सज्यं चकाराशु युयोज बाणान्॥ २१॥

उन सब राजाओंकी यह अवस्था देख धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण उस धनुषके पास गया और तुरंत ही उसे उठाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तथा शीघ्र ही उस धनुषपर वे पाँचों बाण जोड़ दिये॥ २१॥*

दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा
भित्त्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम्।
धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञ-
मत्यग्निसोमार्कमथार्कपुत्रम्॥ २२॥

अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी सूर्य-पुत्र कर्ण द्रौपदीके प्रति आसक्त होनेके कारण जब लक्ष्य भेदनेकी प्रतिज्ञा करके उठा, तब उसे देखकर महाधनुर्धर पाण्डवोंने यह विश्वास कर लिया कि अब यह इस उत्तम लक्ष्यको भेदकर पृथ्वीपर गिरा देगा॥ २२॥

दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चै-
र्जगाद नाहं वरयामि सूतम्।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं
तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत्॥ २३॥

कर्णको देखकर द्रौपदीने उच्च स्वरसे यह बात कही—'मैं सूत जातिके पुरुषका वरण नहीं करूँगी'। यह सुनकर कर्णने अमर्षयुक्त हँसीके साथ भगवान् सूर्यकी ओर देखा और उस प्रकाशमान धनुषको डाल दिया॥ २३॥

एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः॥ २४॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम्॥ २५॥

इस प्रकार जब वे सभी क्षत्रिय सब ओरसे हट गये, तब यमराजके समान बलवान्, धीर, वीर, चेदिराज दमघोषपुत्र महाबुद्धिमान् शिशुपाल धनुष उठानेके लिये चला। परंतु उसपर हाथ लगाते ही वह घुटनोंके बल पृथ्वी-पर गिर पड़ा॥ २४-२५॥

ततो राजा महावीर्यो जरासंधो महाबलः।
धनुषोऽभ्याशमागत्य तस्थौ गिरिरिवाचलः॥ २६॥

तदनन्तर महापराक्रमी एवं महाबली राजा जरासंध धनुषके निकट आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा हो गया॥ २६॥

धनुषा पीड्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम्।
तत उत्थाय राजा स स्वराष्ट्राण्यभिजग्मिवान्॥ २७॥

परंतु उठाते समय धनुषका झटका खाकर वह भी घुटनेके बल गिर पड़ा। तब वहाँसे उठकर राजा जरासंध अपने राज्यको चला गया॥ २७॥

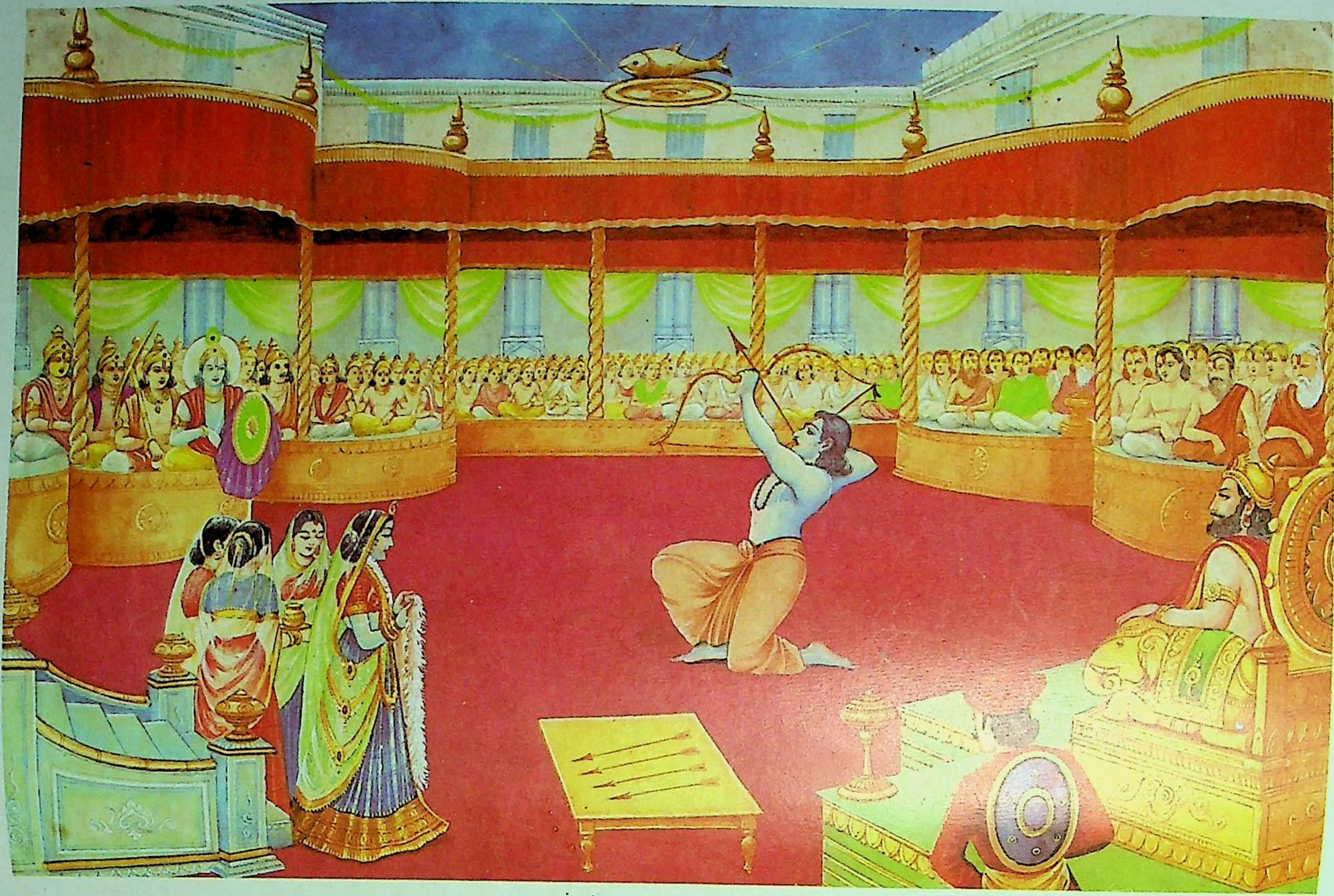
ततः शल्यो महावीरो मद्रराजो महाबलः।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम्॥ २८॥

तत्पश्चात् महावीर एवं महाबली मद्रराज शल्य आये। पर उन्होंने भी उस धनुषको चढ़ाते समय धरतीपर घुटने टेक दिये।

(ततो दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः परंतपः।
मानी दृढास्त्रसम्पन्नः सर्वैश्च नृपलक्षणैः॥
उत्थितः सहसा तत्र भ्रातृमध्ये महाबलः।
विलोक्य द्रौपदीं हृष्टो धनुषोऽभ्याशमागमत्॥
स बभौ धनुरादाय शक्रश्चापधरो यथा।
आरोपयंस्तु तद् राजा धनुषा बलिना तदा॥
उत्तानशय्यमपतदङ्गुल्यन्तरताडितः।
स ययौ ताडितस्तेन व्रीडन्निव नराधिपः॥)

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाला धृतराष्ट्रपुत्र महाबली राजा दुर्योधन सहसा अपने भाइयोंके बीचसे उठकर खड़ा हो गया। उसके अस्त्र-शस्त्र बड़े मजबूत थे। वह स्वाभिमानी होनेके साथ ही समस्त राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न था। द्रौपदीको देखकर उसका हृदय हर्षसे खिल उठा और वह शीघ्रतापूर्वक धनुषके पास आया। उस धनुषको हाथमें लेकर वह चापधारी इन्द्रके समान शोभा पाने लगा। राजा दुर्योधन उस मजबूत धनुषपर जब प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा, उस

* कर्णके द्वारा प्रत्यञ्चा और बाण चढ़ानेकी बात दाक्षिणात्य पाठमें कहीं नहीं है। भण्डारकरकी प्रतिमें भी मुख्य पाठमें यह वर्णन नहीं है। नीलकण्ठी पाठमें भी इससे पूर्व श्लोक १५में तथा उत्तर अ० १८७ श्लोक ४ एवं १९ में भी ऐसा ही उल्लेख है कि कर्ण धनुषपर प्रत्यञ्चा और बाण नहीं चढ़ा सका था; इससे यही सिद्ध होता है कि कर्णने बाण नहीं चढ़ाया था।



द्रौपदी-स्वयंवर

समय उसके अंगुलियोंके बीचमें झटकेसे ऐसी चोट लगी कि वह चित्त लोट गया। धनुषकी चोट खाकर राजा दुर्योधन अत्यन्त लज्जित होता हुआ-सा अपने स्थानपर लौट गया॥

तस्मिंस्तु सम्भ्रान्तजने समाजे
निक्षिप्तवादेषु जनाधिपेषु।
कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं
सज्यं धनुस्तत् सशरं प्रवीरः॥ २९॥

(जब इस प्रकार बड़े-बड़े प्रभावशाली राजा लक्ष्यवेध न कर सके, तब) सारा समाज सम्भ्रम (घबराहट) में पड़ गया और लक्ष्यवेधकी बात-चीततक बंद हो गयी, उसी समय प्रमुख वीर कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसपर बाण-संधान करनेकी अभिलाषा की॥ २९॥

(ततो वरिष्ठः सुरदानवाना-
मुदारधीर्वृष्णिकुलप्रवीरः।
जहर्ष रामेण स पीड्य हस्तं
हस्तं गतां पाण्डुसुतस्य मत्वा॥
न जज्ञुरन्ये नृपवीरमुख्याः
संछन्नरूपानथ पाण्डुपुत्रान्।)

यह देख देवता और दानवोंके आदरणीय, वृष्णिवंश-के प्रमुख वीर उदारबुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ उनका हाथ दबाते हुए बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें यह विश्वास हो गया कि द्रौपदी अब पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें आ गयी। पाण्डवोंने अपना रूप छिपा रक्खा था, अतः दूसरे कोई राजा या प्रमुख वीर उन्हें पहचान न सके।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजपराङ्मुखीभवने षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें सम्पूर्ण राजाओंके विमुख होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त करना

वैशम्पायन उवाच

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः।
अथोदतिष्ठद् विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सब राजाओंने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ानेके कार्यसे मुँह मोड़ लिया, तब उदारबुद्धि अर्जुन ब्राह्मणमण्डलीके बीचसे उठकर खड़े हुए॥ १॥

उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च।
दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम्॥ २॥

इन्द्रकी ध्वजाके समान (लंबे) अर्जुनको उठकर धनुषकी ओर जाते देख बड़े-बड़े ब्राह्मण अपने-अपने मृगचर्म हिलाते हुए जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे॥ २॥

केचिदासन् विमनसः केचिदासन् मुदान्विताः।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः॥ ३॥

कुछ ब्राह्मण उदास हो गये और कुछ प्रसन्नताके मारे फूल उठे तथा कुछ चतुर एवं बुद्धिजीवी ब्राह्मण आपसमें इस प्रकार कहने लगे—॥ ३॥

यत् कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः॥ ४॥
तत् कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा।
वटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः॥ ५॥

'ब्राह्मणो! कर्ण और शल्य आदि बलवान्, धनुर्वेद-परायण तथा लोकविख्यात क्षत्रिय जिसे झुका (तक) न सके, उसी धनुषपर अस्त्र-ज्ञानसे शून्य और शारीरिक बलकी दृष्टिसे अत्यन्त दुर्बल यह निरा ब्राह्मण-बालक कैसे प्रत्यञ्चा चढ़ा सकेगा॥ ४-५॥

अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते॥ ६॥

'इसने बालोचित चपलताके कारण इस कार्यकी कठिनाई-पर विचार नहीं किया है। यदि इसमें यह सफल न हुआ तो समस्त राजाओंमें ब्राह्मणोंकी बड़ी हँसी होगी॥ ६॥

यद्येष दर्पाद्धर्षाद् वाप्यथ ब्राह्मणचापलात्।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मा गमत्॥ ७॥

'यदि यह अभिमान, हर्ष अथवा ब्राह्मणसुलभ चञ्चलताके कारण धनुषपर डोरी चढ़ानेके लिये आगे बढ़ा है तो इसे रोक देना चाहिये; अच्छा तो यही होगा कि यह जाय ही नहीं'॥ ७॥

ब्राह्मणा ऊचुः

नावहास्या भविष्यामो न च लाघवमास्थिताः।
न च विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम्॥ ८॥

ब्राह्मण बोले—(भाइयो!) हमारी हँसी नहीं होगी। न हमें किसीके सामने छोटा ही बनना पड़ेगा और लोकमें हमलोग राजाओंके द्वेषपात्र भी नहीं होंगे। (अतः इन बातों-की चिन्ता छोड़ दो)॥ ८॥

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव॥ ९॥

कुछ ब्राह्मणोंने कहा—'यह सुन्दर युवक नागराज ऐरावतके शुण्ड-दण्डके समान हृष्ट-पुष्ट दिखायी देता है। इसके कंधे सुपुष्ट और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। यह धैर्यमें हिमालयके समान जान पड़ता है ॥ ९ ॥

सिंहखेलगतिः श्रीमान् मत्तनागेन्द्रविक्रमः ।
सम्भाव्यमस्मिन् कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते ॥ १० ॥

'इसकी सिंहके समान मस्तानी चाल है। यह शोभाशाली तरुण मतवाले गजराजके समान पराक्रमी प्रतीत होता है। इस वीरके लिये यह कार्य करना सम्भव है। इसका उत्साह देखकर भी ऐसा ही अनुमान होता है ॥ १० ॥

शक्तिरस्य महोत्साहा न ह्यशक्तः स्वयं व्रजेत् ।
न च तद् विद्यते किंचित् कर्म लोकेषु यद् भवेत् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु ।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ॥ १२ ॥
दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा ।
ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन् ॥ १३ ॥
सुखं दुःखं महद्ध्रस्वं कर्म यत् समुपागतम् ।
(धनुर्वेदे च वेदे च योगेषु विविधेषु च ।
न तं पश्यामि मेदिन्यां ब्राह्मणाभ्यधिको भवेत् ॥
मन्त्रयोगबलेनापि महताऽऽत्मबलेन वा ।
जृम्भयेयुरमुं लोकमथवा द्विजसत्तमाः ॥)
जामदग्न्येन रामेण निर्जिताः क्षत्रिया युधि ॥ १४ ॥

'इसमें शक्ति और महान् उत्साह है। यदि यह असमर्थ होता तो स्वयं ही धनुषके पास जानेका साहस नहीं करता। सम्पूर्ण लोकोंमें देवता, असुर आदिके रूपमें विचरनेवाले पुरुषोंका ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो ब्राह्मणोंके लिये असाध्य हो। ब्राह्मणलोग जल पीकर, हवा खाकर अथवा फलाहार करके (भी) दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हैं। अतः वे शरीरसे दुबले होनेपर भी अपने तेजके कारण अत्यन्त बलवान् होते हैं। ब्राह्मण भला-बुरा, सुखद-दुःखद और छोटा-बड़ा जो भी कर्म प्राप्त होता है, कर लेता है; अतः किसी भी कर्मको करते समय उस ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये। मैं भूमण्डलमें ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता जो धनुर्वेद, वेद तथा नाना प्रकारके योगोंमें ब्राह्मणसे बढ़-चढ़कर हो। श्रेष्ठ ब्राह्मण मन्त्र-बल, योग-बल अथवा महान् आत्म-बलसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को स्तब्ध कर सकते हैं। (अतः उसके प्रति तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये।) देखो, जमदग्निनन्दन परशुरामजीने अकेले ही (सम्पूर्ण) क्षत्रियोंको युद्धमें जीत लिया था ॥ ११—१४ ॥

पीतः समुद्रोऽगस्त्येन ह्यगाधो ब्रह्मतेजसा ।
तस्माद् ब्रुवन्तु सर्वेऽत्र बटुरेष धनुर्महान् ॥ १५ ॥
आरोपयतु शीघ्रं वै तथेत्यूचुर्द्विजर्षभाः ।

'महर्षि अगस्त्यने अपने ब्रह्मतेजके प्रभावसे अगाध समुद्रको पी डाला। इसलिये आप सब लोग यहाँ आशीर्वाद दें कि यह महान् ब्रह्मचारी शीघ्र ही इस धनुषको चढ़ा दे (और लक्ष्य-वेध करनेमें सफल हो)।' यह सुनकर वे श्रेष्ठ ब्राह्मण उसी प्रकार आशीर्वादकी वर्षा करने लगे ॥ १५½ ॥

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः ॥ १६ ॥
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः ।
स तद् धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार जब ब्राह्मणलोग भाँति-भाँतिकी बातें कर रहे थे, उसी समय अर्जुन धनुषके पास जाकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये। फिर उन्होंने धनुषके चारों ओर घूमकर उसकी परिक्रमा की ॥ १५—१७ ॥

प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम् ।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चार्जुनो धनुः ॥ १८ ॥

इसके बाद वरदायक भगवान् शंकरको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करके अर्जुनने वह धनुष उठा लिया ॥ १८ ॥

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैः
राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः ।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ॥ १९ ॥
तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः ।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण
शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ॥ २० ॥

रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् पुरुषसिंह राजालोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुषपर डोरी न चढ़ा सके, उसी धनुषपर विष्णुके समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी वीरोंमें श्रेष्ठताका अभिमान रखनेवाले इन्द्रकुमार अर्जुनने पलक मारते-मारते प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। इसके बाद उन्होंने वे पाँच बाण भी अपने हाथमें ले लिये ॥ १९-२० ॥

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम् ।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः ॥ २१ ॥

और उन्हें चलाकर बात-की-बातमें (लक्ष्य) वेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो यन्त्रके छेदसे सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय आकाशमें बड़े जोरका हर्षनाद हुआ और सभामण्डपमें तो उससे भी महान् आनन्द-कोलाहल छा गया ॥ २१ ॥

पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः
पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ॥ २२ ॥

देवतालोग शत्रुहन्ता अर्जुनके मस्तकपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२ ॥

चैलानि विव्यधुस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रशः ।
विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः ।
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात् पुष्पवृष्टयः ॥ २३ ॥
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन् ।
सूतमागधसङ्घाश्चाप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ॥ २४ ॥

सहस्रों ब्राह्मण (हर्षमें भरकर) वहाँ अपने दुपट्टे हिलाने लगे (मानो अर्जुनकी विजय-ध्वजा फहरा रहे हों) फिर तो जो लोग (लक्ष्यवेध करनेमें असमर्थ हो; हार मान चुके थे) वे राजा लोग सब ओरसे हाहाकार करने लगे। उस रङ्गभूमिमें आकाशसे सब ओर फूलोंकी वर्षा हो रही थी। बाजा बजानेवाले लोग सैकड़ों अङ्गोंवाली तुरही आदि बजाने लगे। सूत और मागधगण वहाँ मीठे स्वरसे यशोगान करने लगे ॥ २३-२४ ॥

तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः ।
सह सैन्यैश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥ २५ ॥

अर्जुनको देखकर शत्रुसूदन द्रुपदके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने अपनी सेनाके साथ उनकी सहायता करनेका निश्चय किया ॥ २५ ॥

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं
सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥ २६ ॥

उस समय जब महान् कोलाहल बढ़ने लगा, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर पुरुषोत्तम नकुल और सहदेवको साथ लेकर डेरेपर ही चले गये ॥ २६ ॥

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा
पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य ।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम
जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ २७ ॥
(स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यं
विनापि हासं हसतीव कन्या ।
मदादृतेऽपि स्खलतीव भावै-
र्वाचा विना व्याहरतीव दृष्ट्या ॥
समेत्य तस्योपरि सोत्ससर्ज
समागतानां पुरतो नृपाणाम् ।
विन्यस्य मालां विनयेन तस्थौ
विहाय राज्ञः सहसा नृपात्मजा ॥
शचीव देवेन्द्रमथाग्निदेवं
स्वाहेव लक्ष्मीश्च यथा मुकुन्दम् ।
उषेव सूर्यं मदनं रतिश्च
महेश्वरं पर्वतराजपुत्री ।
रामं यथा मैथिलराजपुत्री
भैमी यथा राजवरं नलं हि ॥)

लक्ष्यको बिंधकर धरतीपर गिरा देख इन्द्रके तुल्य पराक्रमी अर्जुनपर दृष्टि डालकर हाथमें सुन्दर श्वेत फूलोंकी जयमाला लिये द्रौपदी मन्द-मन्द मुसकराती हुई कुन्तीकुमारके समीप गयी। उसका रूप जिन्होंने बार-बार देखा था, उनके लिये भी वह नित्य नयी-सी जान पड़ती थी। वह द्रुपदकुमारी बिना हँसीके भी हँसती-सी प्रतीत होती थी। मदसेवनके बिना भी (आन्तरिक अनुराग-सूचक) भावोंके द्वारा लड़खड़ाती-सी चलती थी और बिना बोले भी केवल दृष्टिसे ही बातचीत करती-सी जान पड़ती थी। निकट जाकर राजकुमारी द्रौपदीने वहाँ जुटे हुए समस्त राजाओंके समक्ष उन सबकी उपेक्षा करके सहसा वह माला अर्जुनके गलेमें डाल दी और विनयपूर्वक खड़ी हो गयी। जैसे शचीने देवराज इन्द्रका, स्वाहाने अग्निदेवका, लक्ष्मीने भगवान् विष्णुका, उषाने सूर्यदेवका, रतिने कामदेवका, गिरिराजकुमारी उमाने महेश्वरका, विदेहराजनन्दिनी सीताने श्रीरामका तथा भीम-कुमारी दमयन्तीने नृपश्रेष्ठ नलका वरण किया था, उसी प्रकार द्रौपदीने पाण्डुपुत्र अर्जुनका वरण कर लिया ॥ २७ ॥

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे
द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः ।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा
पत्न्या तया चाप्यनुगम्यमानः ॥ २८ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले अर्जुन इस प्रकार उस स्वयंवर-सभामें (स्त्री-रत्न द्रौपदीको जीतकर) उसे अपने साथ ले रङ्गभूमिसे बाहर निकले। पत्नी द्रौपदी उनके पीछे-पीछे चल रही थी। उस समय उपस्थित ब्राह्मणोंने उनका बड़ा सत्कार किया ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि लक्ष्यच्छेदने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें लक्ष्यछेदन-विषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदको मारनेके लिये उद्यत हुए राजाओंका सामना करनेके लिये भीम और अर्जुनका उद्यत होना और उनके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णका बलरामजीसे वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे ।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा द्रुपद उस ब्राह्मणको कन्या देना चाहते हैं, यह जानकर उस समय राजाओंको बड़ा क्रोध हुआ और वे एक दूसरेको देखकर तथा समीप आकर इस प्रकार कहने लगे— ॥ १ ॥

अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान् ।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥ २ ॥

'(अहो ! देखो तो सही,) यह राजा द्रुपद (यहाँ) एकत्र हुए हमलोगोंको तिनकेकी तरह तुच्छ समझकर और हमारा उल्लङ्घन करके युवतियोंमें श्रेष्ठ अपनी कन्याका विवाह एक ब्राह्मणके साथ करना चाहता है ॥ २ ॥

अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते ।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान् न मन्यते ॥ ३ ॥

'यह वृक्ष लगाकर अब फल लगनेके समय उसे काटकर गिरा रहा है। अतः हमलोग इस दुरात्माको मार डालें; क्योंकि यह हमें कुछ नहीं समझ रहा है ॥ ३ ॥

न ह्यर्हत्येष सम्मानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ॥ ४ ॥

'यह राजा द्रुपद गुणोंके कारण हमसे वृद्धोचित सम्मान पानेका अधिकारी भी नहीं है; राजाओंसे द्वेष करनेवाले इस दुराचारीको पुत्रसहित हमलोग मार डालें ॥ ४ ॥

अयं हि सर्वानाहूय सत्कृत्य च नराधिपान् ।
गुणवद् भोजयित्वान्नं ततः पश्चान्न मन्यते ॥ ५ ॥

'पहले तो इसने हम सब राजाओंको बुलाकर सत्कार किया, उत्तम गुणयुक्त भोजन कराया और ऐसा करनेके बाद यह हमारा अपमान कर रहा है ॥ ५ ॥

अस्मिन् राजसमावाये देवानामिव संनये ।
किमयं सदृशं कञ्चिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ॥ ६ ॥

'देवताओंके समूहकी भाँति उत्तम नीतिसे सुशोभित राजाओंके इस समुदायमें क्या इसने किसी भी नरेशको अपनी पुत्रीके योग्य नहीं देखा है ? ॥ ६ ॥

न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति ।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः ॥ ७ ॥

'स्वयंवरमें कन्याद्वारा वरण प्राप्त करनेका अधिकार ही ब्राह्मणोंको नहीं है। (लोगोंमें) यह बात प्रसिद्ध है कि स्वयंवर क्षत्रियोंका ही होता है ॥ ७ ॥

अथवा यदि कन्येयं न च कञ्चिद् बुभूषति ।
अग्नावेनां परिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः ॥ ८ ॥

'अथवा राजाओ ! यदि यह कन्या हमलोगोंमेंसे किसीको अपना पति बनाना न चाहे तो हम इसे जलती हुई आगमें झोंककर अपने-अपने राज्यको चल दें ॥ ८ ॥

ब्राह्मणो यदि चापल्याल्लोभाद् वा कृतवानिदम् ।
विप्रियं पार्थिवेन्द्राणां नैष वध्यः कथंचन ॥ ९ ॥

'यद्यपि इस ब्राह्मणने चपलताके कारण अथवा राजकन्याके प्रति लोभ होनेसे हम राजाओंका अप्रिय किया है, तथापि ब्राह्मण होनेके कारण हमें किसी प्रकार इसका वध नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

ब्राह्मणार्थे हि नो राज्यं जीवितं हि वसूनि च ।
पुत्रपौत्रं च यच्चान्यदस्माकं विद्यते धनम् ॥ १० ॥

'क्योंकि हमारा राज्य, जीवन, रत्न, पुत्र-पौत्र तथा और भी जो धन-वैभव है, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। (ब्राह्मणोंके लिये हम इन सब चीजोंका त्याग कर सकते हैं)॥

अवमानभयाच्चैव स्वधर्मस्य च रक्षणात् ।
स्वयंवराणामन्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ॥ ११ ॥

'द्रुपदको तो हम इसलिये दण्ड देना चाहते हैं कि (हमारा) अपमान न हो, हमारे धर्मकी रक्षा हो और दूसरे स्वयंवरोंकी भी ऐसी दुर्गति न हो' ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः ।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥ १२ ॥

यों कहकर परिघ-जैसी मोटी बाँहोंवाले वे श्रेष्ठ भूपाल हर्ष (और उत्साह) में भरकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये द्रुपदको मारनेकी इच्छासे उनकी ओर वेगसे दौड़े ॥ १२ ॥

तान् गृहीतशरावापान् क्रुद्धानापततो बहून् ।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद् ब्राह्मणाञ्छरणं गतः ॥ १३ ॥

उन बहुतसे राजाओंको क्रोधमें भरकर धनुष लिये आते देख द्रुपद अत्यन्त भयभीत हो ब्राह्मणोंकी शरणमें गये ॥ १३ ॥

वेगेनापततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान् ।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिंदमौ ॥ १४ ॥

मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति उन नरेशोंको वेगसे आते देख शत्रुदमन महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन भीम और अर्जुन उनका सामना करनेके लिये आ गये ॥

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते
महीक्षितो बद्धगोधाङ्गुलित्राः ।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रा-
वमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥ १५ ॥

तब हाथोंमें गोहके चमड़ेके दस्ताने पहने और आयुधोंको ऊपर उठाये अमर्षमें भरे हुए वे (सभी) नरेश कुरुराजकुमार अर्जुन और भीमसेनको मारनेके लिये उनपर टूट पड़े ॥ १५ ॥

ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा
महाबलो वज्रसमानसारः ।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो
निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥ १६ ॥

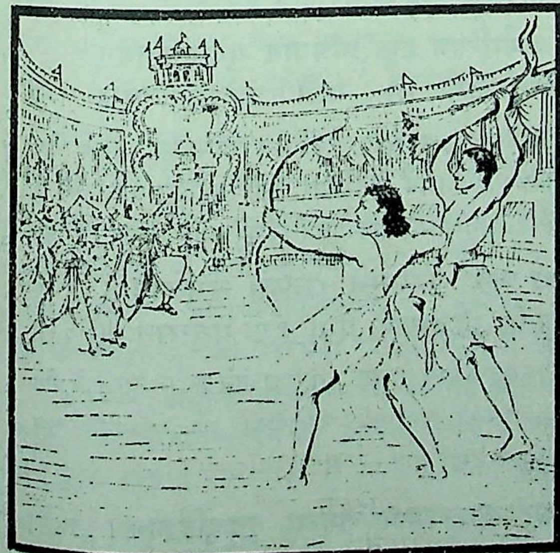
तब तो वज्रके समान शक्तिशाली तथा अद्भुत एवं भयानक कर्म करनेवाले अद्वितीय वीर महाबली भीमसेनने गजराजकी भाँति अपने दोनों हाथोंसे एक वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ॥ १६ ॥

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी
दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम् ।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य
पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥ १७ ॥

फिर मोटी और विशाल भुजाओंवाले शत्रुनाशन कुन्तीकुमार भीमसेन उसी वृक्षको हाथमें लेकर भयंकर दण्ड उठाये हुए दण्डधारी यमराजकी भाँति पुरुषोत्तम अर्जुनके समीप खड़े हो गये ॥ १७ ॥

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
विसिष्मिये चापि भयं विहाय
तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥ १८ ॥

असाधारण बुद्धिवाले तथा देवराज इन्द्रके समान महापराक्रमी, अचिन्त्यकर्मा अर्जुन अपने भाई भीमसेनके उस (अद्भुत) कार्यको देखकर चकित हो उठे और भय छोड़कर धनुष हाथमें लिये हुए युद्धके लिये डट गये ॥ १८ ॥



तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णोः सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं
हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥ १९ ॥

जिनकी बुद्धि लोकोत्तर और कर्म अचिन्त्य हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन तथा उनके भाई भीमसेनका वह (साहसपूर्ण) कार्य देखकर भयंकर पराक्रमी एवं हलको ही आयुधके रूपमें धारण करनेवाले अपने भ्राता बलरामजीसे यह बात कही—॥ १९ ॥

य एष सिंहर्षभखेलगामी
महद्धनुः कर्षति तालमात्रम्[1] ।
एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति
यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ॥ २० ॥

यस्त्वेष वृक्षं तरसावभज्य
राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः ।
वृकोदरान्नान्य इहैतदद्य
कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥ २१ ॥

'भैया संकर्षण ! ये जो श्रेष्ठ सिंहके समान चालसे लीलापूर्वक चल रहे हैं और तालके बराबर विशाल धनुषको खींच रहे हैं, वे अर्जुन ही हैं; इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है। यदि मैं वासुदेव हूँ तो मेरी यह बात झूठी नहीं है। और ये जो बड़े वेगसे वृक्ष उखाड़कर सहसा समस्त राजाओंका सामना करनेके लिये उद्यत हुए हैं, भीमसेन हैं; क्योंकि इस समय पृथ्वीपर भीमसेनके सिवा दूसरा कोई ऐसा वीर नहीं है, जो युद्ध-भूमिमें यह अद्भुत पराक्रम कर सके ॥

योऽसौ पुरस्तात् कमलायताक्ष-
स्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो
विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः ॥ २२ ॥

'अच्युत ! जो विकसित कमल-दलके समान विशाल नेत्रोंवाले, दुबले-पतले, विनयशील, गोरे, महान् सिंहकी-सी चालसे चलनेवाले तथा लंबी, सुन्दर एवं मनोहर नाकवाले पुरुष (अभी यहाँसे) निकले हैं, वे धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं ।२२।

यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ
द्वावश्विनेयाविति मे वितर्कः ।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहा-
न्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च ॥ २३ ॥

'उनके साथ युगल कार्तिकेय-जैसे जो दो कुमार थे, वे

1. ऊर्ध्वविस्तृतदोर्मानै तालमित्यभिधीयते । इस वचनके अनुसार एक मनुष्य अपनी बाँहको ऊपर उठाकर खड़ा हो तो उस हाथसे लेकर पैरतककी लंबाईको 'ताल' कहते हैं।

अश्विनीकुमारोंके पुत्र नकुल और सहदेव रहे हैं—ऐसा मेरा अनुमान है; क्योंकि मैंने सुन रखा है कि उस लाक्षागृहके दाहसे पाण्डव और कुन्तीदेवी—सभी बचकर निकल गये थे ॥'

(यथा नृपाः पाण्डवमाजिमध्ये
तं प्राब्रवीच्चक्रधरो हलायुधम् ।
बलं विजानन् पुरुषोत्तमस्तदा
न कार्यमार्येण च सम्भ्रमस्त्वया॥
भीमानुजो योधयितुं समर्थ
एको हि पार्थः ससुरासुरान् बहून्।
अलं विजेतुं किमु मानुषान् नृपान्
साहाय्यमस्मान् यदि सव्यसाची।
स वाञ्छति स्म प्रयताम वीर
पराभवः पाण्डुसुते न चास्ति ॥)

राजालोग रण-भूमिमें पाण्डु-पुत्र अर्जुनके प्रति अपना क्रोध जैसे प्रकट कर रहे थे, उसे सुनकर अर्जुनके बलको जानते हुए चक्रधारी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीसे कहा—'भैया ! आपको घबराना नहीं चाहिये । यदि बहुत-से देवता और असुर एकत्र हो जायँ, तो भी भीमके छोटे भाई कुन्तीकुमार अर्जुन उन सबके साथ अकेले ही युद्ध करनेमें समर्थ हैं । फिर इन मानव-भूपालोंपर विजय पाना कौन बड़ी बात है । यदि सव्यसाची अर्जुन हमारी सहायता लेना चाहेंगे तो हम इसके लिये प्रयत्न करेंगे । वीरवर ! मेरा विश्वास है कि पाण्डुपुत्र अर्जुनकी पराजय नहीं हो सकती ॥'

तमब्रवीन्निर्जलतोयदाभो
हलायुधोऽनन्तरजं प्रतीतः ।
प्रीतोऽस्मि दृष्ट्वा हि पितृष्वसारं
पृथां विमुक्तां सह कौरवाग्र्यैः ॥ २४ ॥

जलहीन मेघके समान गौरवर्णवाले हलधर (बलरामजी) ने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णकी बातपर विश्वास करके उनसे कहा—'भैया ! कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर पाण्डवोंसहित अपनी बुआ कुन्तीको लाक्षागृहसे बची हुई देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कर्ण तथा शल्यकी पराजय और द्रौपदीसहित भीम-अर्जुनका अपने डेरेपर जाना

वैशम्पायन उवाच

अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः ।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अपने मृगचर्म और कमण्डलुओंको हिलाते और उछालते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अर्जुनसे कहने लगे—'तुम डरना नहीं, हम (सब) लोग (तुम्हारी ओरसे) शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे' ॥ १ ॥

तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव ।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठथ पार्श्वतः ॥ २ ॥

इस प्रकारकी बातें करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे अर्जुनने हँसते हुए-से कहा—'आपलोग दर्शक होकर बगलमें चुपचाप खड़े रहें ॥ २ ॥

अहमेनानजिह्माग्रैः शतशो विकिरञ्छरैः ।
वारयिष्यामि संक्रुद्धान् मन्त्रैराशीविषानिव ॥ ३ ॥

'मैं (अकेला ही) सीधी नोकवाले सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करके क्रोधमें भरे हुए इन शत्रुओंको उसी प्रकार रोक दूँगा, जैसे मन्त्रज्ञ लोग अपने मन्त्रों(के बल)से विषैले सर्पोंको कुण्ठित कर देते हैं ॥ ३ ॥

इति तद् धनुरादाय शुल्कावाप्तं महाबलः ।
भ्रात्रा भीमेन सहितस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ४ ॥

यों कहकर महाबली अर्जुनने उसी स्वयंवरमें लक्ष्यवेधके लिये प्राप्त हुए धनुषको झुकाकर (उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और उसे हाथमें लेकर) भाई भीमसेनके साथ वे पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ ४ ॥

ततः कर्णमुखान् दृष्ट्वा क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान् ।
सम्पेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ॥ ५ ॥

तदनन्तर कर्ण आदि रणोन्मत्त क्षत्रियोंको आते देख वे दोनों भाई निर्भय हो उनपर उसी तरह टूट पड़े, जैसे दो (मतवाले) हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर बढ़े जा रहे हों ।

ऊचुश्च वाचः परुषास्ते राजानो युयुत्सवः ।
आहवे हि द्विजस्यापि वधो दृष्टो युयुत्सतः ॥ ६ ॥

तब युद्धके लिये उत्सुक उन राजाओंने कठोर स्वरमें ये बातें कहीं—'युद्धकी इच्छावाले ब्राह्मणका भी रणभूमिमें वध शास्त्रानुकूल देखा गया है' ॥ ६ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानः सहसा दुद्रुवुर्द्विजान् ।
ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे ॥ ७ ॥

यों कहकर वे राजालोग सहसा ब्राह्मणोंकी ओर दौड़े । महातेजस्वी कर्ण अर्जुनकी ओर युद्धके लिये बढ़ा ।

युद्धार्थी वासिताहेतोर्गजः प्रतिगजं यथा ।
भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली ॥ ८ ॥

ठीक उसी तरह, जैसे हथिनीके लिये लड़नेकी इच्छा रखकर एक हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे हाथीसे भिड़नेके लिये जा रहा हो, महाबली मद्रराज शल्य भीमसेनसे जा भिड़े ।

दुर्योधनादयः सर्वे ब्राह्मणैः सह संगताः ।
मृदुपूर्वमयत्नेन प्रत्ययुध्यंस्तदाहवे ॥ ९ ॥

दुर्योधन आदि सभी (भूपाल) एक साथ अन्यान्य ब्राह्मणोंके साथ उस युद्ध-भूमिमें विना किसी प्रयासके (खेल-सा करते हुए) कोमलतापूर्वक (शीत) युद्ध करने लगे ॥ ९ ॥

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः ।
कर्णं वैकर्तनं श्रीमान् विकृष्य बलवद् धनुः ॥ १० ॥

तब तेजस्वी अर्जुनने अपने धनुषको जोरसे खींचकर अपनी ओर वेगसे आते हुए सूर्यपुत्र कर्णको कई तीक्ष्ण बाण मारे ॥ १० ॥

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम् ।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात् तमनुधावति ॥ ११ ॥

उन दुःसह तेजवाले तीखे बाणोंके वेगपूर्वक आघातसे राधानन्दन कर्णको मूर्च्छा आने लगी । वह बड़ी कठिनाईसे अर्जुनकी ओर बढ़ा ॥ ११ ॥

तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजिगीषिणौ ॥ १२ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ वे दोनों योद्धा हाथोंकी फुर्ती दिखानेमें बेजोड़ थे, उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा—यह बताना असम्भव था । दोनों ही एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर बड़े क्रोधसे लड़ रहे थे ॥ १२ ॥

कृते प्रतिकृतं पश्य पश्य बाहुबलं च मे ।
इति शूरार्थवचनैरभाषेतां परस्परम् ॥ १३ ॥

'देखो, तुमने जिस अस्त्रका प्रयोग किया था, उसे रोकनेके लिये मैंने यह अस्त्र चलाया है । देख लो, मेरी भुजाओंका बल !' इस प्रकार शौर्यसूचक वचनोंद्वारा वे आपसमें बातें भी करते जाते थे ॥ १३ ॥

ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि ।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णः संरब्धः समयोधयत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर अर्जुनके बाहुबलकी इस पृथ्वीपर कहीं समता नहीं है, यह जानकर सूर्यपुत्र कर्ण अत्यन्त क्रोधपूर्वक जमकर युद्ध करने लगा ॥ १४ ॥

अर्जुनेन प्रयुक्तांस्तान् बाणान् वेगवतस्तदा ।
प्रतिहत्य ननादोच्चैः सैन्यानि तदपूजयन् ॥ १५ ॥

उस समय अर्जुनद्वारा चलाये हुए उन सभी वेगशाली बाणोंको काटकर कर्ण बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा । समस्त सैनिकोंने उसके इस अद्भुत कार्यकी सराहना की ॥ १५ ॥

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे ।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च ॥ १६ ॥

कर्ण बोला—विप्रवर ! युद्धमें आपके बाहुबलसे मैं (बहुत) संतुष्ट हूँ । आपमें थकावट या विषादका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता और आपने सभी अस्त्र-शस्त्रोंको जीतकर मानो अपने काबूमें कर लिया है । (आपकी यह सफलता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है) ॥ १६ ॥

किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम ।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद् वा विष्णुरच्युतः ॥ १७ ॥

विप्रशिरोमणे ! आप मूर्तिमान् धनुर्वेद हैं ? या परशुराम ? अथवा आप स्वयं इन्द्र या अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णु हैं ? ॥ १७ ॥

आत्मप्रच्छादनार्थं वै बाहुवीर्यमुपाश्रितः ।
विप्ररूपं विधायेदं मन्ये मां प्रतियुध्यसे ॥ १८ ॥

मैं समझता हूँ, आप इन्हींमेंसे कोई हैं और अपने स्वरूपको छिपानेके लिये यह ब्राह्मणवेष धारण करके बाहुबलका आश्रय ले मेरे साथ युद्ध कर रहे हैं ॥ १८ ॥

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः ।
पुमान् योधयितुं शक्तः पाण्डवाद् वा किरीटिनः ॥ १९ ॥

क्योंकि युद्धमें मेरे कुपित होनेपर साक्षात् शचीपति इन्द्र अथवा किरीटधारी पाण्डु-नन्दन अर्जुनके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा सामना नहीं कर सकता ॥ १९ ॥

तमेवं वादिनं तत्र फाल्गुनः प्रत्यभाषत ।
नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मि रामः प्रतापवान् ॥ २० ॥

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—"कर्ण ! न तो मैं धनुर्वेद हूँ और न प्रतापी परशुराम ।

ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
ब्राह्मे पौरंदरे चास्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात् ॥ २१ ॥
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वां वै वीर स्थिरो भव ।

मैं तो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम और योद्धाओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मण हूँ । गुरुका उपदेश पाकर ब्रह्मास्त्र तथा इन्द्रास्त्र दोनोंमें पारंगत हो गया हूँ । वीर ! आज मैं तुम्हें युद्धमें जीतनेके लिये खड़ा हूँ, तुम भी स्थिरतापूर्वक खड़े रहो ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत ॥ २२ ॥

ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी यह बात सुनकर महारथी कर्ण ब्राह्मतेजको अजेय मानता हुआ उस समय युद्ध छोड़कर हट गया॥ २२½॥

अपरस्मिन् वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ॥ २३॥
बलिनौ युद्धसम्पन्नौ विद्यया च बलेन च।
अन्योन्यमाह्वयन्तौ तु मत्ताविव महागजौ॥ २४॥

इसी समय दूसरे स्थानको अपना रणक्षेत्र बनाकर वहीं बलवान् वीर शल्य और भीमसेन एक दूसरेको ललकारते हुए दो मतवाले गजराजोंकी भाँति युद्ध कर रहे थे। दोनों ही विद्या, बल और युद्धकी कलासे सम्पन्न थे॥ २३-२४॥

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम्।
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः॥ २५॥

वे घूँसों और घुटनोंसे एक दूसरेको मारने लगे। दोनों एक दूसरेको दूरतक ठेल ले जाते, नीचे गिरानेका प्रयत्न करते, कभी अपनी ओर खींचते और कभी अगल-बगलसे पैंतरे देकर गिरानेकी चेष्टा करते थे॥ २५॥

आचकर्षतुरन्योन्यं मुष्टिभिश्चापि जघ्नतुः।
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत् तयोः॥ २६॥
पाषाणसम्पातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः।
मुहूर्तं तौ तदान्योन्यं समरे पर्यकर्षताम्॥ २७॥

इस प्रकार वे एक दूसरेको खींचते और मुक्कोंसे मारते थे। उस समय घूँसोंकी मारसे दोनोंके शरीरोंपर अत्यन्त भयंकर 'चट-चट' शब्द हो रहा था। वे परस्पर इस प्रकार प्रहार कर रहे थे, मानो पत्थर टकरा रहे हों। लगभग दो घड़ीतक दोनों उस युद्धमें एक दूसरेको खींचते और ठेलते रहे॥ २६-२७॥

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे।
अपातयत् कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा॥ २८॥

तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीमसेनने दोनों हाथोंसे शल्यको ऊपर उठाकर उस युद्धभूमिमें पटक दिया। यह देख ब्राह्मणलोग हँसने लगे॥ २८॥

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली॥ २९॥

कुरुश्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने एक आश्चर्यकी बात यह की कि महाबली शल्यको पृथ्वीपर पटककर भी मार नहीं डाला॥ २९॥

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम्॥ ३०॥

भीमसेनके द्वारा शल्यके पछाड़ दिये जाने और अर्जुनसे कर्णके डर जानेपर सभी राजा (युद्धका विचार छोड़) शङ्कित हो भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥ ३०॥

ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च॥ ३१॥

और एक साथ ही बोल उठे—'अहो! ये दोनों श्रेष्ठ ब्राह्मण धन्य हैं। पता तो लगाओ, इनकी जन्मभूमि कहाँ है तथा ये रहनेवाले कहाँके हैं?॥ ३१॥

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे।
अन्यत्र रामाद् द्रोणाद् वा पाण्डवाद् वा किरीटिनः॥ ३२॥

'परशुराम, द्रोण अथवा पाण्डुनन्दन अर्जुनके सिवा दूसरा ऐसा कौन है, जो युद्धमें राधानन्दन कर्णका सामना कर सके॥

कृष्णाद् वा देवकीपुत्रात् कृपाद् वापि शरद्वतः।
को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे॥ ३३॥

'(इसी प्रकार) देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यके सिवा दूसरा कौन है, जो समरभूमिमें दुर्योधनके साथ लोहा ले सके॥ ३३॥

तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम्।
बलदेवादृते वीरात् पाण्डवाद् वा वृकोदरात्॥ ३४॥
वीराद् दुर्योधनाद् वान्यः शक्तः पातयितुं रणे।
क्रियतामवहारोऽस्माद् युद्धाद् ब्राह्मणसंवृतात्॥ ३५॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ मद्रराज शल्यको भी वीरवर बलदेव, पाण्डुनन्दन भीमसेन अथवा वीर दुर्योधनको छोड़कर दूसरा कौन रणभूमिमें गिरा सकता है। अतः ब्राह्मणोंसे घिरे हुए इस युद्धक्षेत्रसे हमलोगोंको हट जाना चाहिये॥ ३४-३५॥

ब्राह्मणा हि सदा रक्ष्याः सापराधापि नित्यदा।
अथैनानुपलभ्येह पुनर्योत्स्याम हृष्टवत्॥ ३६॥

'क्योंकि ब्राह्मण अपराधी हों, तो भी सदा ही उनकी रक्षा करनी चाहिये। पहले इनका ठीक-ठीक परिचय ले लें, फिर (ये चाहें तो) हम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करेंगे'॥ ३६॥

तांस्तथावादिनः सर्वान् प्रसमीक्ष्य क्षितीश्वरान्।
अथान्यान् पुरुषांश्चापि कृत्वा तत् कर्म संयुगे॥ ३७॥

उन सब राजाओं तथा अन्य लोगोंको ऐसी बातें करते देख और युद्धमें वह महान् पराक्रम दिखाकर भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न थे॥ ३७॥

वैशम्पायन उवाच

तत् कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः
कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः।
निवारयामास महीपतींस्तान्
धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान्॥ ३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेनका वह अद्भुत कार्य देख भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचते हुए कि ये दोनों भाई कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन ही हैं,

उन सब राजाओंको यह समझाकर कि 'इन्होंने धर्मपूर्वक द्रौपदीको प्राप्त किया है' अनुनयपूर्वक युद्धसे रोका ॥ ३८ ॥

एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद् युद्धविशारदाः।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके समझानेसे वे सभी युद्धकुशल श्रेष्ठ नरेश युद्धसे निवृत्त हो गये और विस्मित होकर अपने-अपने डेरोंको चले गये ॥ ३९ ॥

वृत्तो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्रासन् समागताः ॥ ४० ॥

वहाँ जो दर्शक एकत्र हुए थे, वे 'इस रङ्गमण्डपके उत्सवसे ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई; पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको ब्राह्मणोंने प्राप्त किया,' यों कहते हुए (अपने-अपने निवासस्थानको) चले गये ॥ ४० ॥

ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनंजयौ ॥ ४१ ॥

रुरुमृगके चर्मको वस्त्रके रूपमें धारण करनेवाले ब्राह्मणोंसे घिरे होनेके कारण भीमसेन और अर्जुन बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ पाते थे ॥ ४१ ॥

विमुक्तौ जनसम्बाधाच्छत्रुभिः परिवीक्षितौ।
कृष्णयानुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ॥ ४२ ॥

जनताकी भीड़से बाहर निकलनेपर शत्रुओंने उन्हें अच्छी तरह देखा। आगे-आगे वे दोनों नरवीर थे और उनके पीछे-पीछे द्रौपदी चली जा रही थी। द्रौपदीके साथ वहाँ उन दोनोंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४२ ॥

पौर्णमास्यां घनैर्मुक्तौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ।
तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥
अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्षकालेऽभिगच्छति।
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ॥ ४४ ॥
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः।
विपरीतं मतं जातं व्यासस्यापि महात्मनः ॥ ४५ ॥

वे ऐसे लगते थे, जैसे पूर्णमासी तिथिको मेघोंकी घटासे निकलकर चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशित हो रहे हों। इधर भिक्षाका समय बीत जानेपर भी जब पुत्र नहीं लौटे, तब उनकी माता कुन्तीदेवी स्नेहवश अनेक प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबकर उनके विनाशकी आशङ्का करने लगीं—'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको पहिचानकर उनकी हत्या कर डाली हो ? अथवा दृढतापूर्वक वैरभावको मनमें रखनेवाले महाभयंकर मायावी राक्षसोंने तो मेरे बच्चोंको नहीं मार डाला ? क्या महात्मा व्यासके भी निश्चित मतके विपरीत कोई बात हो गयी ?' ॥ ४३—४५ ॥

इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा।
ततः सुप्तजनप्राये दुर्दिने मेघसम्प्लुते ॥ ४६ ॥
महत्यथापराह्णे तु घनैः सूर्य इवावृतः।
ब्राह्मणैः प्राविशत् तत्र जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार पुत्रस्नेहमें पगी कुन्तीदेवी जब चिन्तामें मग्न हो रही थीं, आकाशमें मेघोंकी भारी घटा घिर आनेके कारण जब दुर्दिन-सा हो रहा था और जनता सब काम छोड़कर सोये हुए-की भाँति अपने-अपने घरोंपर निश्चेष्ट होकर बैठी थी, उसी समय दिनके तीसरे पहरमें बादलोंसे घिरे हुए सूर्यके समान ब्राह्मणमण्डलीसे घिरे हुए अर्जुनने वहाँ उस कुम्हारके घरमें प्रवेश किया ॥ ४६—४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवप्रत्यागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवप्रत्यागमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती, अर्जुन और युधिष्ठिरकी बातचीत, पाँचों पाण्डवोंका द्रौपदीके साथ विवाहका विचार तथा बलराम और श्रीकृष्णकी पाण्डवोंसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां
पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ
भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ महानुभाव कुन्तीपुत्र भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घरमें प्रवेश करके अत्यन्त प्रसन्न हो माताको द्रौपदीकी प्राप्ति सूचित करते हुए बोले—'माँ ! हमलोग भिक्षा लाये हैं' ॥ १ ॥

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ
प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां
कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ २ ॥

उस समय कुन्तीदेवी कुटियाके भीतर थीं। उन्होंने अपने पुत्रोंको देखे बिना ही उत्तर दे दिया—'(भिक्षा लाये हो तो) तुम सभी भाई मिलकर उसे पाओ।' तत्पश्चात् द्रौपदीको देखकर कुन्तीने चिन्तित होकर कहा—'हाय ! मेरे मुँहसे बड़ी अनुचित बात निकल गयी' ॥ २ ॥

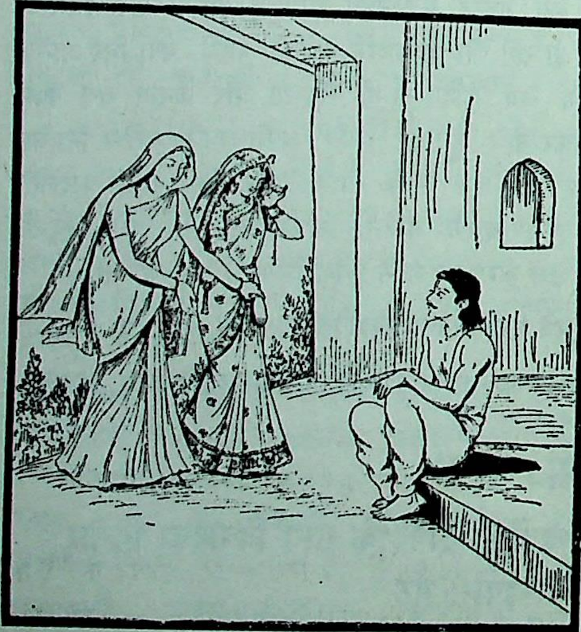
साधर्मभीता परिचिन्तयन्ती
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम्।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती
युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम्॥ ३॥

कुन्तीदेवी अधर्मके भयसे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं; (परंतु मनोनुकूल पतिकी प्राप्तिसे) द्रौपदीके मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। कुन्तीदेवी द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गयीं और उनसे उन्होंने यह बात कही—॥ ३॥

कुन्त्युवाच

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः
तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं
समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात्॥ ४॥

कुन्तीने कहा—बेटा! यह राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीमसेन और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी (इसे देखे बिना ही) भूलसे (भिक्षा ही समझकर) अनुरूप उत्तर दे दिया—'तुम सबलोग मिलकर इसे पाओ'॥ ४॥



मया कथं नानृतमुक्तमद्य
भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि।
पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो
न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च॥ ५॥

कुरुश्रेष्ठ! बताओ, अब कैसे मेरी बात झूठी न हो? और क्या किया जाय, जिससे इस पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको न तो पाप लगे और न नीच योनियोंमें ही भटकना पड़े॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो मतिमान् नृवीरो
मात्रा मुहूर्तं तु विचिन्त्य राजा।
कुन्तीं समाश्वास्य कुरुप्रवीरो
धनंजयं वाक्यमिदं बभाषे॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुरुश्रेष्ठ नरवीर राजा युधिष्ठिर बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने माताकी यह बात सुनकर दो घड़ीतक (मन-ही-मन) कुछ विचार किया। फिर कुन्तीदेवीको भलीभाँति आश्वासन देकर उन्होंने धनंजयसे यह बात कही—॥ ६॥

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी
त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह
गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः॥ ७॥

'अर्जुन! तुमने द्रौपदीको जीता है, तुम्हारे ही साथ इस राजकुमारीकी शोभा होगी। शत्रुओंका सामना करनेवाले वीर! तुम अग्नि प्रज्वलित करो और (अग्निदेवके साक्ष्यमें) विधिपूर्वक इस राजकन्याका पाणि-ग्रहण करो'॥ ७॥

अर्जुन उवाच

मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं
कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः।
भवान् निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा॥ ८॥
अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे
पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी।
वृकोदरोऽहं च यमौ च राज-
न्नियं च कन्या भवतो नियोज्याः॥ ९॥

अर्जुन बोले—नरेन्द्र! आप मुझे अधर्मका भागी न बनाइये। (बड़े भाईके अविवाहित रहते छोटे भाईका विवाह हो जाय,) यह धर्म नहीं है; ऐसा व्यवहार तो अनार्योंमें देखा गया है। पहले आपका विवाह होना चाहिये; तत्पश्चात् अचिन्त्यकर्मा महाबाहु भीमसेनका और फिर मेरा। तत्पश्चात् नकुल फिर वेगवान् सहदेव विवाह कर सकते हैं। राजन्! भैया भीमसेन, मैं, नकुल-सहदेव तथा यह राजकन्या—सभी आपकी आज्ञाके अधीन हैं॥ ८-९॥

एवं गते यत् करणीयमत्र
धर्म्यं यशस्यं कुरु तद् विचिन्त्य।
पाञ्चालराजस्य हितं च यत् स्यात्
प्रशाधि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते॥ १०॥

ऐसी दशामें आप यहाँ अपनी बुद्धिसे विचार करके जो धर्म और यशके अनुकूल तथा पाञ्चालराजके लिये भी हितकर

कार्य हो, वह कीजिये और उसके लिये हमें आज्ञा दीजिये। हम सब लोग आपके अधीन हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

जिष्णोर्वचनमाज्ञाय भक्तिस्नेहसमन्वितम्।
दृष्टिं निवेशयामासुः पाञ्चाल्यां पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके ये भक्तिभाव तथा स्नेहसे भरे वचन सुननेके बाद समस्त पाण्डवोंने पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदीकी ओर देखा ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा ते तत्र पश्यन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम्।
सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ॥ १२ ॥

यशस्विनी कृष्णा भी उन सबको देख रही थी। वहाँ बैठे हुए पाण्डवोंने द्रौपदीको देखकर आपसमें भी एक दूसरे-पर दृष्टिपात किया और सबने अपने हृदयमें द्रुपदराजकुमारी-को बसा लिया ॥ १२ ॥

तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम्।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥ १३ ॥

द्रुपदकुमारीपर दृष्टि पड़ते ही उन सभी अमिततेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर मन्मथ प्रकट हो गया।

काम्यं हि रूपं पाञ्चाल्या विधात्रा विहितं स्वयम्।
बभूवाधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ॥ १४ ॥

विधाताने पाञ्चालीका कमनीय रूप स्वयं ही रचा और सँवारा था। वह संसारकी अन्य स्त्रियोंसे बहुत अधिक आकर्षक और समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेने-वाला था ॥ १४ ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
द्वैपायनवचः कृत्स्नं सस्मार मनुजर्षभः ॥ १५ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उनकी आकृति देखकर ही उनके मनका भाव समझ लिया। फिर उन्हें द्वैपायन वेदव्यासजीके सारे वचनोंका स्मरण हो आया।

अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् मिथोभेदभयान्नृपः।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥ १६ ॥

द्रौपदीको लेकर हम सब भाइयोंमें फूट न पड़ जाय, इस भयसे राजाने अपने सभी बन्धुओंसे कहा—'कल्याणमयी द्रौपदी हम सब लोगोंकी पत्नी होगी' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचस्तत् प्रसमीक्ष्य सर्वे
ज्येष्ठस्य पाण्डोस्तनयास्तदानीम्।
तमेवार्थं ध्यायमाना मनोभिः
सर्वे च ते तस्थुरदीनसत्त्वाः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय अपने बड़े भाईका यह वचन सुनकर उदार हृदयवाले समस्त पाण्डव मन-ही-मन उसीका चिन्तन करते हुए चुपचाप बैठे रह गये ॥ १७ ॥

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरा-
नाशंसमानः सहरौहिणेयः।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां
यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ॥ १८ ॥

इधर वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण रोहिणीनन्दन बलरामजीके साथ कुरुकुलके प्रमुख वीर पाण्डवोंको पहिचान-कर कुम्हारके घरमें, जहाँ वे नरश्रेष्ठ निवास करते थे, मिलनेके लिये गये ॥ १८ ॥

तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं
ददर्श कृष्णः सहरौहिणेयः।
अजातशत्रुं परिवार्य तांश्चा-
प्युपोपविष्टाञ्ज्वलनप्रकाशान् ॥ १९ ॥

वहाँ बलरामसहित श्रीकृष्णने मोटी और विशाल भुजाओंसे सुशोभित अजातशत्रु युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे हुए अग्निके समान तेजस्वी अन्य चारों भाइयोंको देखा ॥ १९ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य
कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥ २० ॥

वहाँ जाकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे 'मैं श्रीकृष्ण हूँ' यों कहकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिरके दोनों चरणोंका स्पर्श किया ॥ २० ॥

तथैव तस्याप्यनु रौहिणेय-
स्तौ चापि दृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन्।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरा-
वगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥ २१ ॥

उन्हींके साथ उसी प्रकार बलरामजीने भी (अपना नाम बताकर) उनके चरण छूए। पाण्डव भी उन दोनोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। जनमेजय! फिर उन यदुवीरोंने अपनी बूआ कुन्तीके भी चरणोंका स्पर्श किया ॥ २१ ॥

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः
पप्रच्छ कृष्णं कुशलं विलोक्य।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह
गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥ २२ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर अजातशत्रु युधिष्ठिरने श्रीकृष्णको देखकर कुशल-समाचार पूछा और कहा—'वसुदेवनन्दन!

हम तो यहाँ छिपकर रहते हैं, फिर आपने हम सब लोगोंको कैसे पहचान लिया ?' ॥ २२ ॥



तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य
गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन्।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य
कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥ २३ ॥

तब भगवान् वासुदेवने हँसकर उत्तर दिया—'राजन्! आग कितनी ही छिपी क्यों न हो, वह पहचानमें आ ही जाती है। भला, पाण्डवोंको छोड़कर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो वैसा अद्भुत कर्म कर दिखाता ॥ २३ ॥

दिष्ट्या सर्वे पावकाद् विप्रमुक्ता
यूयं घोरात् पाण्डवाः शत्रुसाहाः।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः
सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् ॥ २४ ॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है कि शत्रुओंका सामना करनेकी शक्ति रखनेवाले आप सभी पाण्डव उस भयंकर अग्निकाण्डसे जीवित बच गये। पापी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अपने मन्त्रियों-सहित इस षड्यन्त्रमें सफल न हो सका, यह भी सौभाग्यकी ही बात है ॥ २४ ॥

भद्रं वोऽस्तु निहितं यद् गुहायां
विवर्धध्वं ज्वलना इवैधमानाः।
मा वो विदुः पार्थिवाः केचिदेव
यास्यावहे शिविरायैव तावत् ॥
सोऽनुज्ञातः पाण्डवेनाव्ययश्रीः
प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्धम् ॥ २५ ॥

'हमारे अन्तःकरणमें जो कल्याणकी भावना निहित है, वह आपको प्राप्त हो। आपलोग सदा प्रज्वलित अग्निकी भाँति बढ़ते रहें। अभी आपलोगोंको कोई भी राजा पहचान न सकें, इसलिये हमलोग भी अपने शिविरको ही लौट जायँगे।' यों कहकर युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अक्षय शोभासे सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीके साथ शीघ्र वहाँसे चल दिये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि रामकृष्णागमने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें बलराम और श्रीकृष्णका आगमनविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९० ॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका गुप्तरूपसे वहाँका सब हाल देखकर राजा द्रुपदके पास आना तथा द्रौपदीके विषयमें द्रुपदका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ।
अन्वगच्छत् तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुरुनन्दन भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घर जा रहे थे, उसी समय पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न गुप्तरूपसे उनके पीछे लग गये ॥ १ ॥

सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः।
स्वयमाराग्निलीनोऽभूद् भार्गवस्य निवेशने ॥ २ ॥

उन्होंने चारों ओर अपने सेवकोंको बैठा दिया और स्वयं भी अज्ञातरूपसे कुम्हारके घरके पास ही छिपे रहे ॥ २ ॥

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ३ ॥

सायंकाल होनेपर शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल सहदेवने भिक्षा लाकर युधिष्ठिरको निवेदन की। इन सबका अन्तःकरण उदार था ॥ ३ ॥

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां ता-
मुवाच काले वचनं वदान्या।
त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे
बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ॥ ४ ॥

तब उदारहृदया कुन्तीने उस समय द्रौपदीसे कहा—'भद्रे ! तुम भोजनका प्रथम भाग लेकर उससे देवताओंको बलि अर्पण करो तथा ब्राह्मणको भिक्षा दो ॥ ४ ॥

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः
परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्र-
मर्धं चतुर्धा मम चात्मनश्च ॥ ५ ॥

'तथा अपने आस-पास जो दूसरे मनुष्य आश्रितभावसे रहते और भोजन चाहते हैं, उन्हें भी अन्न परोसो । तदनन्तर जो शेष बच जाय, उसके शीघ्र ही इस प्रकार विभाग करो । अन्नका आधा भाग एकके लिये रक्खो, फिर शेषके छः भाग करके चार भाइयोंके लिये चार भाग अलग-अलग रख दो, उसके बाद मेरे लिये और अपने लिये भी एक-एक भाग पृथक्-पृथक् परोस दो ॥ ५ ॥

अर्धं तु भीमाय च देहि भद्रे
य एष नागर्षभतुल्यरूपः ।
गौरो युवा संहननोपपन्न
एषो हि वीरो बहुभुक् सदैव ॥ ६ ॥

'कल्याणी ! ये जो गजराजके समान शरीरवाले हृष्ट-पुष्ट गोरे युवक बैठे हैं, इनका नाम भीम है, इन्हें अन्नका आधा भाग दे दो । वीरवर भीम सदासे ही अधिक भोजन करनेवाले हैं' ॥ ६ ॥

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री
तस्या वचः साधु विशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी
ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥ ७ ॥

सासकी आज्ञाका पालन करनेमें ही अपना कल्याण मानती हुई साध्वी राजकुमारी द्रौपदीने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुन्तीदेवीने जैसा कहा था, ठीक वैसा ही किया । सबने उस अन्नका भोजन किया ॥ ७ ॥

कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार
माद्रीपुत्रः सहदेवस्तरस्वी ।
यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर वेगवान् वीर माद्रीकुमार सहदेवने धरतीपर कुशकी शय्या बिछा दी । फिर समस्त पाण्डव वीर अपने-अपने मृगचर्म बिछाकर भूमिपर ही सोये ॥ ८ ॥

अगस्त्यशास्तामभितो दिशं तु
शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम् ।
कुन्ती पुरस्तात् तु बभूव तेषां
पादान्तरे चाथ बभूव कृष्णा ॥ ९ ॥

अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः
पादोपधानीव कृता कुशेषु ।
न तत्र दुःखं मनसापि तस्या
न चावमेने कुरुपुङ्गवांस्तान् ॥ १० ॥

उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके सिर दक्षिण दिशाकी ओर थे । कुन्ती उनके मस्तककी ओर और द्रौपदी पैरोंकी ओर पृथ्वीपर ही पाण्डवोंके साथ सोयी, मानो उन कुशासनोंपर वह उनके पैरोंकी तकिया बन गयी । वहाँ उस परिस्थितिमें रहकर भी द्रौपदीके मनमें तनिक भी दुःख नहीं हुआ और उसने उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंका किंचिन्मात्र भी तिरस्कार नहीं किया ॥ ९-१० ॥

ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः
कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्
खड्गान् गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥ ११ ॥

वे शूरवीर पाण्डव वहाँ सेनापतियोंके योग्य अद्भुत कथाएँ कहने लगे । उन्होंने नाना प्रकारके दिव्यास्त्रों, रथों, हाथियों, तलवारों, गदाओं और फरसोंके विषयमें भी चर्चाएँ कीं ॥ ११ ॥

तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः
पाञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम् ।
शुश्राव कृष्णां च तदा विषण्णां
ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः ॥ १२ ॥

उनकी कही हुई वे सभी बातें उस समय पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्नने सुनीं और उन सभी लोगोंने वहाँ सोयी हुई द्रौपदीको भी देखा ॥ १२ ॥

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं
वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन
निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ॥ १३ ॥

तदनन्तर राजकुमार धृष्टद्युम्न रातमें पाण्डवोंका इतिहास तथा उनकी कही हुई सारी बातें राजा द्रुपदको पूर्णरूपसे सुनानेके लिये बड़ी उतावलीके साथ राजभवनमें गये ॥ १३ ॥

पाञ्चालराजस्तु विषण्णरूप-
स्तान् पाण्डवानप्रतिविन्दमानः ।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा
क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥ १४ ॥

पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवोंका पता न पानेके कारण बहुत खिन्न थे । धृष्टद्युम्नके आनेपर महात्मा द्रुपदने उससे पूछा—'बेटा ! मेरी पुत्री कृष्णा कहाँ गयी ? कौन उसे ले गया ? ॥ १४ ॥

कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन
वैश्येन वा करदेनोपपन्ना।
कच्चित् पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं
कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने ॥ १५ ॥

'कहीं किसी शूद्रने अथवा नीच जातिके पुरुषद्वारा ऊँची जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न मनुष्यने या कर देनेवाले वैश्यने तो मेरी पुत्रीको प्राप्त नहीं कर लिया? और इस प्रकार उन्होंने मेरे सिरपर अपना कीचड़से सना पाँव तो नहीं रख दिया? मालाके समान सुकुमारी और हृदयपर धारण करने योग्य मेरी लाड़ली पुत्री श्मशानके समान अपवित्र किसी पुरुषके हाथमें तो नहीं पड़ गयी? ॥ १५ ॥

कच्चित् सवर्णप्रवरो मनुष्य
उद्रिक्तवर्णोऽप्युत एव कच्चित्।
कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः
कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र ॥ १६ ॥

'क्या द्रौपदीको पानेवाला मनुष्य अपने समान वर्ण (क्षत्रियकुल) का ही कोई श्रेष्ठ पुरुष है? अथवा वह अपनेसे भी श्रेष्ठ ब्राह्मणकुलका है? बेटा! मेरी कृष्णाका स्पर्श कर किसी निम्नवर्णवाले मनुष्यने आज मेरे मस्तकपर अपना बायाँ पैर तो नहीं रख दिया? ॥ १६ ॥

कच्चिन्न तप्स्ये परमप्रतीतः
संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण।
वदस्व तत्त्वेन महानुभाव
कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाद्य ॥ १७ ॥

'क्या ऐसा सौभाग्य होगा कि मैं नरश्रेष्ठ अर्जुनसे द्रौपदीका विवाह करके अत्यन्त प्रसन्न होऊँ और कभी भी संतप्त न हो सकूँ? महानुभाव पुत्र! ठीक-ठीक बताओ, आज जिसने मेरी पुत्रीको जीता है, वह पुरुष कौन है? ॥ १७ ॥

विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित्
कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्राः।
कच्चित् तु पार्थेन यवीयसाद्य
धनुर्गृहीतं निहतं च लक्ष्यम् ॥ १८ ॥

'क्या कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विचित्रवीर्यकुमार पाण्डुके शूरवीर पुत्र अभी जीवित हैं? क्या आज कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने ही उस धनुषको उठाया और लक्ष्यको मार गिराया था?' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नप्रत्यागमने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नका प्रत्यागमनविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१९१॥

(वैवाहिकपर्व)

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नके द्वारा द्रौपदी तथा पाण्डवोंका हाल सुनकर राजा द्रुपदका उनके पास पुरोहितको भेजना तथा पुरोहित और युधिष्ठिरकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः
पित्रे शशंसाथ स राजपुत्रः।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो
वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपदके यों कहनेपर सोमकशिरोमणि राजकुमार धृष्टद्युम्न अत्यन्त हर्षमें भरकर वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था एवं जो कृष्णाको ले गया, वह कौन था, वह सब समाचार कहने लगे॥ १ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

योऽसौ युवा व्यायतलोहिताक्षः
कृष्णाजिनी देवसमानरूपः।
यः कार्मुकाग्र्यं कृतवानधिज्यं
लक्ष्यं च यः पातितवान् पृथिव्याम्॥ २ ॥

असज्जमानश्च ततस्तरस्वी
वृतो द्विजाग्र्यैरभिपूज्यमानः।
चक्राम वज्रीव दितेः सुतेषु
सर्वैश्च देवै ऋषिभिश्च जुष्टः ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्न बोले—महाराज! जिन विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले, कृष्णमृगचर्मधारी तथा देवताके समान मनोहर रूपवाले तरुण वीरने श्रेष्ठ धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और लक्ष्यको वेधकर पृथ्वीपर गिराया था, वे किसीका भी साथ न करके अकेले ही बड़े वेगसे आगे बढ़े। उस समय बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरे हुए थे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। सम्पूर्ण देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित देवराज इन्द्र जैसे दैत्योंकी सेनाके भीतर निःशङ्क होकर विचरते हैं, उसी प्रकार वे नवयुवक वीर निर्भीक होकर राजाओंके बीचसे निकले॥

कृष्णा प्रगृह्याजिनमन्वयात् तं
नागं यथा नागवधूः प्रहृष्टा।
अमृष्यमाणेषु नराधिपेषु
क्रुद्धेषु वै तत्र समापतत्सु॥ ४॥
ततोऽपरः पार्थिवसङ्घमध्ये
प्रवृद्धमारुज्य महीप्ररोहम्।
प्रकालयन्नेव स पार्थिवौघान्
क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव॥ ५॥

उस समय राजकुमारी कृष्णा अत्यन्त प्रसन्न हो उनका मृगचर्म थामकर ठीक उसी तरह उनके पीछे-पीछे जा रही थी, जैसे गजराजके पीछे हथिनी जा रही हो। यह देख राजा लोग सहन न कर सके और क्रोधमें भरकर युद्ध करनेके लिये उसपर चारों ओरसे टूट पड़े। तब एक दूसरा वीर बहुत बड़े वृक्षको उखाड़कर राजाओंकी उस मण्डलीमें कूद पड़ा और जैसे कोपमें भरे हुए यमराज समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार वह उन नरेशोंको मानो कालके गालमें भेजने लगा॥ ४-५॥

तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र
कृष्णामुपादाय गतौ नराग्र्यौ।
विभ्राजमानाविव चन्द्रसूर्यौ
बाह्यां पुराद् भार्गवकर्मशालाम्॥ ६॥

नरेन्द्र! चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले वे दोनों नरश्रेष्ठ सब राजाओंके देखते-देखते द्रौपदीको साथ ले नगरसे बाहर कुम्हारके घरमें चले गये॥ ६॥

तत्रोपविष्टार्चिरिवानलस्य
तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः।
तथाविधैरेव नरप्रवीरै-
रुपोपविष्टैस्त्रिभिरग्निकल्पैः॥ ७॥

उस घरमें अग्निशिखाके समान तेजस्विनी एक स्त्री बैठी हुई थीं। मेरा अनुमान है कि वे उन वीरोंकी माता रही होंगी। उनके आस-पास अग्नितुल्य तेजस्वी वैसे ही तीन श्रेष्ठ नरवीर और बैठे हुए थे॥ ७॥

तस्यास्ततस्तावभिवाद्य पादौ
उक्ता च कृष्णा त्वभिवादयेति।
स्थितां च तत्रैव निवेद्य कृष्णां
भिक्षाप्रचाराय गता नराग्र्याः॥ ८॥

इन दोनों वीरोंने माताके चरणोंमें प्रणाम करके द्रौपदीसे भी उन्हें प्रणाम करनेके लिये कहा। प्रणाम करके वहीं खड़ी हुई कृष्णाको उन्होंने माताको सौंप दिया और स्वयं वे नरश्रेष्ठ वीर भिक्षा लानेके लिये चले गये॥ ८॥

तेषां तु भैक्षं प्रतिगृह्य कृष्णा
दत्त्वा बलिं ब्राह्मणसाच्च कृत्वा।
तां चैव वृद्धां परिवेष्य तांश्च
नरप्रवीरान् स्वयमप्यभुङ्क्त॥ ९॥

जब वे लौटे तब उनकी भिक्षामें मिले हुए अन्नको लेकर (उनकी माताके आज्ञानुसार) द्रौपदीने देवताओंको बलि समर्पित की, ब्राह्मणोंको दिया और उन वृद्धा स्त्री तथा उन प्रमुख नरवीरोंको अलग-अलग भोजन परोसकर अन्तमें स्वयं भी बचे हुए अन्नको खाया॥ ९॥

सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव
कृष्णा च तेषां चरणोपधाने।
आसीत् पृथिव्यां शयनं च तेषां
दर्भाजिनाग्र्यास्तरणोपपन्नम्॥ १०॥

राजन्! भोजनके बाद वे सब सो गये। कृष्णा उनके पैरोंके समीप सोयी। धरतीपर ही उनकी शय्या बिछी थी। नीचे कुशकी चटाइयाँ थीं और ऊपर मृगचर्म बिछा हुआ था।१०।

ते नर्दमाना इव कालमेघाः
कथा विचित्राः कथयाम्बभूवुः।
न वैश्यशूद्रौपयिकीः कथास्ता
न च द्विजानां कथयन्ति वीराः॥ ११॥

सोते समय वे वर्षाकालके मेघके समान गम्भीर गर्जना करते हुए आपसमें बड़ी विचित्र बातें करने लगे। वे पाँचों वीर जो बातें कह रहे थे, वे वैश्यों, शूद्रों तथा ब्राह्मणों-जैसी नहीं थीं॥ ११॥

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते
यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन्।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा
मुक्तान् हि पार्थाञ्छृणुमोऽग्निदाहात्।१२।

राजन्! जिस प्रकार वे युद्धका वर्णन करते थे, उससे यह मान लेनेमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि वे लोग क्षत्रियशिरोमणि हैं। हमने सुना है, कुन्तीके पुत्र लाक्षा-गृहकी आगमें जलनेसे बच गये हैं। अतः हमारे मनमें जो पाण्डवोंसे सम्बन्ध करनेकी अभिलाषा थी, अवश्य वही सफल हुई जान पड़ती है॥ १२॥

यथा हि लक्ष्यं निहतं धनुश्च
सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य।
यथा हि भाषन्ति परस्परं ते
छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः॥ १३॥

जिस प्रकार उन्होंने धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ायी, जिस तरह दुर्भेद्य लक्ष्यको बेध गिराया और जिस प्रकार वे सभी भाई आपसमें बातें करते हैं, उससे यह निश्चय हो जाता है कि कुन्तीके पुत्र ही ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए विचर रहे हैं॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः
पुरोहितं प्रेषयामास तेषाम्।

विद्याम युष्मानिति भाषमाणो
महात्मानः पाण्डुसुतास्तु कच्चित्॥ १४॥

जनमेजय! इस समाचारसे राजा द्रुपदको बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने उसी समय उनके पास अपने पुरोहितको भेजते हुए कहा—'आप उनलोगोंसे कहियेगा कि मैं आपलोगोंका परिचय जानना चाहता हूँ। क्या आपलोग महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं?' ॥ १४ ॥

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा
गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम्।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथाव-
दुवाच चानुक्रमविक्रमेण॥ १५॥

राजाका अनुरोध मानकर पुरोहितजी गये और उन सबकी प्रशंसा करके राजा द्रुपदके वचनोंको ठीक-ठीक एकके बाद एक करके क्रमशः कहने लगे—॥ १५ ॥

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः
पाञ्चालराजो वरदो वरार्हाः।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा
हर्षस्य नान्तं प्रतिपद्यते सः॥ १६॥

'वरदानके योग्य वीर पुरुषो! वर देनेमें समर्थ पाञ्चालदेशके राजा द्रुपद आपलोगोंका परिचय जानना चाहते हैं। इन वीर पुरुषको लक्ष्यवेध करते देखकर उन्हें हर्षकी सीमा नहीं रह गयी है ॥ १६ ॥

आख्यात च ज्ञातिकुलानुपूर्वीं
पदं शिरस्सु द्विषतां कुरुध्वम्।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं
पाञ्चालराजस्य च सानुगस्य॥ १७॥

'आपलोग अपनी जाति और कुल आदिका यथावत् वर्णन करें, शत्रुओंके माथेपर पैर रक्खें और मेरे तथा अनुचरोंसहित पाञ्चालराजके हृदयको आनन्द प्रदान करें ॥ १७ ॥

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः
प्रियः सखा चात्मसमो बभूव।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं
स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय॥ १८॥

'महाराज पाण्डु राजा द्रुपदके आत्माके समान प्रिय मित्र थे। इसलिये उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं अपनी इस पुत्रीका विवाह पाण्डुकुमारसे करूँ। इसे राजा पाण्डुको पुत्रवधूके रूपमें समर्पित करूँ ॥ १८ ॥

अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो
हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहु-
र्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम्॥ १९॥

सर्वाङ्गसुन्दर शूरवीरो! राजा द्रुपदके हृदयमें नित्य निरन्तर यह कामना रही है कि मोटी एवं विशाल भुजाओंवाले अर्जुन मेरी इस पुत्रीका धर्मपूर्वक पाणिग्रहण करें ॥ १९ ॥

कृतं हि तत् स्यात् सुकृतं ममेदं
यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत्।

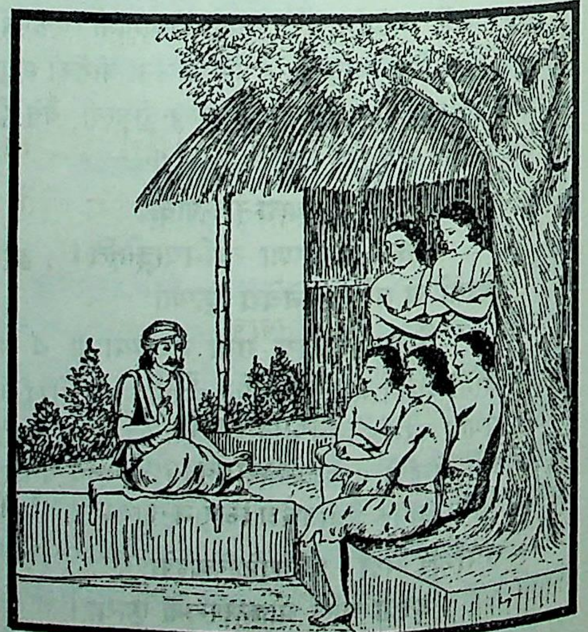
'उनका यह कहना है कि यदि मेरा यह मनोरथ पूर्ण हो जाय, तो मैं समझूँगा कि यह मेरे शुभ कर्मोंका फल प्राप्त हुआ है। यही मेरे लिये यश, पुण्य और हितकी बात होगी' ॥ १९½ ॥

अथोक्तवाक्यं हि पुरोहितं स्थितं
ततो विनीतं समुदीक्ष्य राजा॥ २०॥
समीपतो भीममिदं शशास
प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथास्मै।
मान्यः पुरोधा द्रुपदस्य राज्ञः
तस्मै प्रयोज्याभ्यधिका हि पूजा॥ २१॥

जब विनयशील पुरोहितजी यह बात कह चुके, तब राजा युधिष्ठिरने उनकी ओर देखकर पास बैठे हुए भीमसेनको यह आज्ञा दी कि इन्हें पाद्य और अर्घ्य समर्पित करो। ये महाराज द्रुपदके माननीय पुरोहित हैं। अतः इनका हमें विशेष आदर-सत्कार करना चाहिये' ॥ २०-२१ ॥

भीमस्ततस्तत् कृतवान् नरेन्द्र
तां चैव पूजां प्रतिगृह्य हर्षात्।
सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तदा
युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच॥ २२॥

जनमेजय! तब भीमसेनने पाद्य, अर्घ्य निवेदन करके उनका विधिवत् पूजन किया। उनकी दी हुई पूजाको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करके पुरोहितजी जब बड़े सुखसे आसनपर बैठ गये, तब राजा युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणदेवतासे इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥



पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा
स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात् ।
प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा
सा तेन वीरेण तथानुवृत्ता ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन्! पाञ्चालराज द्रुपदने यह कन्या अपनी इच्छासे नहीं दी है, उन्होंने अपने धर्मके अनुसार लक्ष्यवेधकी शर्त करके अपनी कन्या देनेका निश्चय किया था। उस वीर पुरुषने उसी शर्तको पूर्ण करके यह कन्या प्राप्त की है ॥ २३॥

न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा
न चापि शीले न कुले न गोत्रे ।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण
विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥ २४॥
सेयं तथानेन महात्मनेह
कृष्णा जिता पार्थिवसङ्घमध्ये ।
नैवंगते सौमकिरद्य राजा
संतापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ॥ २५ ॥

'राजाने वहाँ वर्ण, शील, कुल और गोत्रके विषयमें कोई अभिप्राय नहीं व्यक्त किया था। धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर लक्ष्यवेध कर देनेपर ही कन्यादानकी घोषणा की थी। इस महात्मा वीरने उसी घोषणाके अनुसार राजाओंकी मण्डलीमें राजकुमारी कृष्णापर विजय पायी है। ऐसी दशामें सोमकवंशी राजा द्रुपदको अब सुखका अभाव करनेवाला संताप नहीं करना चाहिये ॥ २४-२५ ॥

कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः
स चापि सम्पत्स्यति पार्थिवस्य ।
सम्प्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्या-
मिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ॥ २६ ॥

'ब्राह्मण! राजा द्रुपदकी जो पहलेकी अभिलाषा है, वह भी पूरी होगी। इस राजकन्याको हम सर्वथा ग्रहण करने योग्य एवं उत्तम मानते हैं ॥ २६ ॥

न तद् धनुर्मन्दबलेन शक्यं
मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि ।
न चाकृतास्त्रेण न हीनजेन
लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ॥ २७ ॥

'कोई बलहीन पुरुष उस विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सकता था। जिसने अस्त्रविद्याकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, ऐसे पुरुषके अथवा किसी नीच कुलके मनुष्यके लिये भी उस लक्ष्यको गिराना असम्भव था ॥ २७ ॥

तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं
पाञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य ।
न चापि तत्पातनमन्यथेह
कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ॥ २८ ॥

'अतः पाञ्चालराजको अब अपनी पुत्रीके लिये पश्चात्ताप करना उचित नहीं है। इस पृथ्वीपर उस वीरके सिवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उस लक्ष्यको वेध सके' ॥ २८ ॥

एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे तु
पाञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः ।
तत्राजगामाशु नरो द्वितीयो
निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥ २९ ॥

राजा युधिष्ठिर यों कह ही रहे थे कि पाञ्चालराज द्रुपदके पाससे एक दूसरा मनुष्य यह समाचार देनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आया कि 'राजभवनमें आपलोगोंके लिये भोजन तैयार है' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पुरोहितयुधिष्ठिरसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पुरोहितयुधिष्ठिरसंवादविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९२॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों और कुन्तीका द्रुपदके घरमें जाकर सम्मानित होना और राजा द्रुपदद्वारा पाण्डवोंके शील-स्वभावकी परीक्षा

दूत उवाच

जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा
विवाहहेतोरुपसंस्कृतं च ।
तदाप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः
कृष्णां च तत्रैव चिरं न कार्यम् ॥ १ ॥

दूत बोला—महाराज द्रुपदने विवाहके निमित्त बरातियोंको जिमानेके लिये उत्तम भोजनसामग्री तैयार करायी है। अतः आपलोग सम्पूर्ण दैनिक कार्योंसे निवृत्त हो उसे पायें। राजकुमारी कृष्णाको भी विवाहविधिसे वहीं प्राप्त करें। इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः
सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः ।
एतान् समारुह्य समेत सर्वे
पाञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥ २ ॥

ये सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित तथा राजाओंकी सवारीके

योग्य विचित्र रथ खड़े हैं, इनमें उत्तम घोड़े जुते हुए हैं; इनपर सवार हो आप सब लोग महाराज द्रुपदके महलमें पधारें।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते
पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि
कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ वे सभी कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितजीको विदा करके उन विशाल रथोंपर आरूढ़ हो (राजभवनकी ओर) चले। उस समय कुन्ती और कृष्णा एक साथ एक ही सवारीपर बैठी हुई थीं ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य
यान्युक्तवान् भारत धर्मराजः।
जिज्ञासयैवाथ कुरूत्तमानां
द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥ ४ ॥

भारत ! उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने जो बातें कही थीं, उन्हें पुरोहितके मुखसे सुनकर उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके शील-स्वभावकी परीक्षाके लिये राजा द्रुपदने अनेक प्रकारकी वस्तुओंका संग्रह किया ॥ ४ ॥

फलानि माल्यानि च संस्कृतानि
वर्माणि चर्माणि तथाऽऽसनानि।
गाश्चैव राजन्नथ चैव रज्जू-
र्बीजानि चान्यानि कृषीनिमित्तम् ॥ ५ ॥
अन्येषु शिल्पेषु च यान्यपि स्युः
सर्वाणि कृत्यान्यखिलेन तत्र।
क्रीडानिमित्तान्यपि यानि तत्र
सर्वाणि तत्रोपजहार राजा ॥ ६ ॥

राजन् ! (सब प्रकारके) फल, सुन्दर ढंगसे बनायी हुई मालाएँ, कवच, ढाल, आसन, गौएँ, रस्सियाँ, बीज एवं खेतीके अन्य सामान तथा अन्य कारीगरियोंके सब सामान पूर्णरूपसे वहाँ संगृहीत किये गये थे। इसके सिवा, खेलके लिये जो आवश्यक वस्तुएँ होती हैं, उन सबको राजा द्रुपदने वहाँ जुटाकर रक्खा था ॥ ५-६ ॥

वर्माणि चर्माणि च भानुमन्ति
खड्गा महान्तोऽश्वरथाश्च चित्राः।
धनूंषि चाग्र्याणि शराश्च चित्राः
शक्त्यृष्टयः काञ्चनभूषणाश्च ॥ ७ ॥
प्रासा भुशुण्ड्यश्च परश्वधाश्च
सांग्रामिकं चैव तथैव सर्वम्।
शय्यासनान्युत्तमवस्तुवन्ति
तथैव वासो विविधं च तत्र ॥ ८ ॥

दूसरी ओर कवच, चमकती हुई ढालें, तलवारें, बड़े-बड़े विचित्र घोड़े तथा रथ, श्रेष्ठ धनुष, विचित्र बाण, सुवर्ण-भूषित शक्तियाँ एवं ऋष्टियाँ, प्रास, भुशुण्डियाँ, फरसे तथा सब प्रकारकी युद्धसामग्री, उत्तम वस्तुओंसे युक्त शय्या-आसन और नाना प्रकारके वस्त्र भी वहाँ संग्रह करके रक्खे गये थे ॥ ७-८ ॥

कुन्ती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वी-
मन्तःपुरं द्रुपदस्याविवेश।
स्त्रियश्च तां कौरवराजपत्नीं
प्रत्यर्चयामासुरदीनसत्त्वाः ॥ ९ ॥

कुन्तीदेवी सती-साध्वी कृष्णाको साथ ले द्रुपदके रनिवासमें गयीं। वहाँकी उदारहृदया स्त्रियोंने कौरवराज पाण्डुकी धर्मपत्नीका (बड़ा) आदर-सत्कार किया ॥ ९ ॥

तान् सिंहविक्रान्तगतीन् निरीक्ष्य
महर्षभाक्षानजिनोत्तरीयान्।
गूढोत्तरांसान् भुजगेन्द्रभोग-
प्रलम्बबाहून् पुरुषप्रवीरान् ॥ १० ॥
राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे
पुत्राश्च राज्ञः सुहृदस्तथैव।
प्रेष्याश्च सर्वे निखिलेन राजन्
हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥ ११ ॥

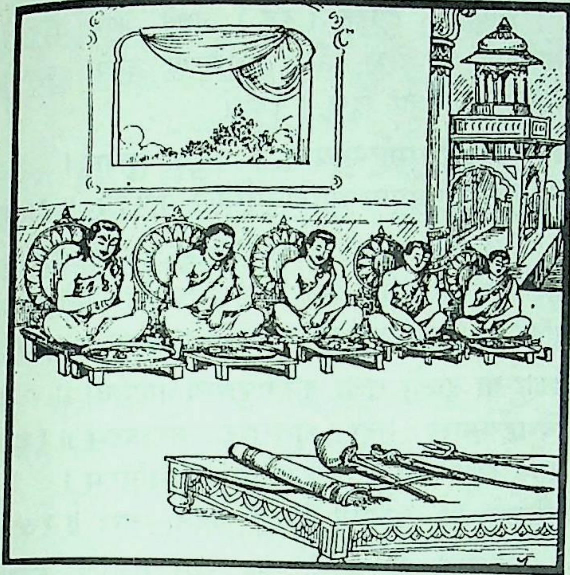
राजन् ! पाण्डवोंकी चाल-ढाल सिंहके समान पराक्रम-सूचक थी, उनकी आँखें साँड़के समान बड़ी-बड़ी थीं, उन्होंने काले मृगचर्मके ही दुपट्टे ओढ़ रक्खे थे, उनकी हँसलीकी हड्डियाँ मांससे छिपी हुई थीं और भुजाएँ नागराजके शरीरके समान मोटी एवं विशाल थीं। उन पुरुषसिंह पाण्डवोंको देखकर राजा द्रुपद, उनके सभी पुत्र, मन्त्री, इष्ट-मित्र और समस्त नौकर-चाकर ये सब-के-सब वहाँ बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ १०-११ ॥

ते तत्र वीराः परमासनेषु
सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः।
यथानुपूर्वं विविशुर्नराग्र्याः
तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥ १२ ॥

वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव वहाँ लगे हुए पादपीठसहित बहुमूल्य श्रेष्ठ सिंहासनोंपर बिना किसी हिचक या संकोचके मनमें तनिक भी विस्मय न करते हुए बड़े-छोटेके क्रमसे जा बैठे ॥ १२ ॥

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं
पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः
सम्भोजकाश्चाप्युपजह्रुरन्नम् ॥ १३ ॥

तब स्वच्छ और सुन्दर पोशाक पहिने हुए दास-दासी तथा रसोइयोंने सोने-चाँदीके बरतनोंमें राजाओंके भोजन करने योग्य अनेक प्रकारकी सामान्य और विशेष भोजन-सामग्री लाकर परोसी ॥ १३ ॥



ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा
यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्
सांग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः॥ १४॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ पाण्डव वहाँ अपनी रुचिके अनुसार उन सब वस्तुओंको खाकर बहुत अधिक प्रसन्न हुए। राजन्! (तदनन्तर वहाँ संग्रह की हुई अन्य) सब वैभव-भोगकी सामग्रियोंको छोड़कर वे वीर पहले उसी स्थानपर गये, जहाँ युद्धकी सामग्रियाँ रक्खी गयी थीं॥ १४॥

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो
राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः
कुन्तीसुतान् पार्थिव राजपुत्रान्॥ १५॥

जनमेजय! यह सब देखकर राजा द्रुपद, राजकुमार और सभी प्रधान मन्त्री बड़े प्रसन्न हुए और उनके पास जाकर उन्होंने अपने मनमें यही निश्चय किया कि ये राजकुमार कुन्तीदेवी-के ही पुत्र हैं॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि युधिष्ठिरादिपरीक्षणे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परीक्षाविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९३॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपद और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा व्यासजीका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम्।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः॥ १॥
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम्।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत॥ २॥
वैश्यान् वा गुणसम्पन्नानथवा शूद्रयोनिजान्।
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतोदिशम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महातेजस्वी, उदारचित्त पांञ्चालराज द्रुपदने अत्यन्त कान्तिमान् कुन्तीपुत्र राजकुमार युधिष्ठिरको (अपने पास) बुलाकर ब्राह्मणोचित आतिथ्य-सत्कारके द्वारा उन्हें अपनाकर पूछा—'हमें कैसे ज्ञात हो कि आपलोग किस वर्णके हैं? हम आपको क्षत्रिय, ब्राह्मण, गुणसम्पन्न वैश्य अथवा शूद्र क्या समझें? अथवा मायाका आश्रय लेकर ब्राह्मणरूपसे सब दिशाओंमें विचरनेवाले आपलोगोंको हम कोई देवता मानें? १—३॥

कृष्णाहेतोरनुप्राप्ता देवाः संदर्शनार्थिनः।
ब्रवीतु नो भवान् सत्यं संदेहो ह्यत्र नो महान्॥ ४॥

जान पड़ता है, आप कृष्णाको पानेके लिये यहाँ दर्शक बनकर आये हुए देवता ही हैं। आप सच्ची बात हमें बता दें; क्योंकि आपके विषयमें हमको बड़ा संदेह हो रहा है॥ ४॥

अपि नः संशयस्यान्ते मनः संतुष्टिमावहेत्।
अपि नो भागधेयानि शुभानि स्युः परंतप॥ ५॥

परंतप! आपसे रहस्यकी बात सुनकर क्या हमारे इस संशयका नाश और मनको संतोष होगा और क्या हमारा भाग्य उदय होगा? ॥ ५॥

इच्छया ब्रूहि तत् सत्यं सत्यं राजसु शोभते।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु॥ ६॥

आप स्वेच्छासे ही सच्ची बात बतायें, राजाओंमें इष्ट[1] और

१-स्मृतियोंमें इष्ट और पूर्तका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते॥

'अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदोंकी आज्ञाका निरन्तर पालन, अतिथियोंका सत्कार तथा बलिवैश्वदेव कर्म—ये **'इष्ट'** कहलाते हैं। बावली, कुआँ, पोखरे आदि बनवाना, देवमन्दिर निर्माण कराना, अन्नदान देना और बगीचे लगाना—**इनका** नाम पूर्त है।

पूर्तकी अपेक्षा सत्यकी ही अधिक महिमा है; अतः असत्य नहीं बोलना चाहिये ॥ ६ ॥

श्रुत्वा ह्यमरसंकाश तव वाक्यमरिंदम।
ध्रुवं विवाहकरणमास्थास्यामि विधानतः ॥ ७ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी शत्रुसूदन ! मैं आपकी बात सुनकर निश्चय ही विधिपूर्वक विवाहकी तैयारी करूँगा ॥७॥

युधिष्टिर उवाच

मा राजन् विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले—पाञ्चालराज ! आप उदास न हों, आपको प्रसन्न होना चाहिये । आपके मनमें जो अभीष्ट कामना थी, वह निश्चय ही आज पूरी हुई है, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

वयं हि क्षत्रिया राजन् पाण्डोः पुत्रा महात्मनः।
ज्येष्ठं मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ॥ ९ ॥

राजन् ! हमलोग क्षत्रिय ही हैं, महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं । मुझे कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र समझिये, ये दोनों भीमसेन और अर्जुन हैं ॥ ९ ॥

आभ्यां तव सुता राजन् निर्जिता राजसंसदि।
यमौ च तत्र कुन्ती च यत्र कृष्णा व्यवस्थिता ॥ १० ॥

राजन् ! इन्हीं दोनोंने समस्त राजाओंके समूहमें आपकी पुत्रीको जीता है । उधर वे दोनों नकुल और सहदेव हैं । माता कुन्ती वहीं गयी हैं, जहाँ राजकुमारी कृष्णा है ॥ १०॥

व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यह्रदं गता ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! अब आपकी मानसिक चिन्ता निकल जानी चाहिये । हम सब लोग क्षत्रिय ही हैं । आपकी यह पुत्री कृष्णा कमलिनीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरको प्राप्त हुई है ।

इति तथ्यं महाराज सर्वमेतद् ब्रवीमि ते।
भवान् हि गुरुरस्माकं परमं च परायणम् ॥ १२ ॥

महाराज ! यह सब मैं आपसे सच्ची बात कह रहा हूँ । आप हमारे बड़े तथा परम आश्रय हैं ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत् तं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरकी ये बातें सुनकर महाराज द्रुपदकी आँखोंमें हर्षके आँसू छलक आये । वे आनन्दमें मग्न हो गये और (गला भर आनेके कारण) उन युधिष्ठिरको तत्काल (कुछ) उत्तर न दे सके ॥१३॥

यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परंतपः।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन द्रुपदने (बड़े) यत्नसे अपने (हर्षके आवेश) को रोका और युधिष्ठिरको उनके कथनके अनुरूप ही उत्तर दिया ॥ १४ ॥

पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात्।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥ १५ ॥

फिर उन धर्मात्मा पाञ्चाल-नरेशने यह पूछा कि 'आपलोग वारणावत नगरसे किस प्रकार भाग निकले ?' पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वे सारी बातें उन्हें क्रमशः कह सुनायीं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम्।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ॥ १६ ॥
आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वरः ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमारके मुखसे वह सारा समाचार सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज द्रुपदने उस समय राजा धृतराष्ट्रकी बड़ी निन्दा की और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी की कि 'हम तुम्हें तुम्हारा राज्य दिलवाकर रहेंगे' ॥ १६-१७ ॥

ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥ १८ ॥
तत्र ते न्यवसन् राजन् यज्ञसेनेन पूजिताः।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥ १९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् कुन्ती, कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजा द्रुपदके द्वारा निर्दिष्ट किये हुए विशाल भवनमें गये और यज्ञसेन (द्रुपद) से सम्मानित हो वहीं रहने लगे । इस प्रकार विश्वास जम जानेपर महाराज द्रुपदने अपने पुत्रोंके साथ जाकर युधिष्ठिरसे कहा—॥१८-१९॥

गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥ २० ॥

'ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले महाबाहु अर्जुन आजके पुण्यमय दिवसमें मेरी पुत्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करें और (अपने कुलोचित) मङ्गलाचारका पालन प्रारम्भ कर दें ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः।
ममापि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद् विशाम्पते ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'राजन् ! विवाह तो मेरा भी करना होगा' ॥२१॥

द्रुपद उवाच

भवान् वा विधिवत् पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥ २२ ॥

द्रुपद बोले--वीर ! तब आप ही विधिपूर्वक मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण करें अथवा आप अपने भाइयोंमेंसे जिसके साथ चाहें, उसीके साथ कृष्णाको विवाहकी आज्ञा दे दें।२२।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने कहा--राजन् ! द्रौपदी तो हम सभी भाइयोंकी पटरानी होगी । मेरी माताने पहले हम सब लोगोंको ऐसी ही आज्ञा दे रखी है ॥ २३ ॥

अहं चाप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता सुता तव ॥ २४ ॥

मैं तथा पाण्डव भीमसेन भी अभीतक अविवाहित हैं और आपकी इस रत्नस्वरूपा कन्याको अर्जुनने जीता है ॥२४॥

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सह भोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ २५ ॥

महाराज ! हम लोगोंमें यह शर्त हो चुकी है कि रत्नको हम सब लोग बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे । नृपशिरोमणे ! हम अपनी उस (पुरानी) शर्तको छोड़ना या तोड़ना (नहीं चाहते) ॥ २५ ॥

सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान् ॥ २६ ॥

अतः कृष्णा धर्मके अनुसार हम सभीकी महारानी होगी । इसलिये वह प्रज्वलित अग्निके सामने क्रमशः हम सबका पाणिग्रहण करे ॥ २६ ॥

द्रुपद उवाच

एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥ २७ ॥

द्रुपद बोले--'कुरुनन्दन ! एक राजाकी बहुत-सी रानियाँ (अथवा एक पुरुषकी अनेक स्त्रियाँ) हों, ऐसा विधान तो वेदोंमें देखा गया है; परंतु एक स्त्रीके अनेक पुरुष पति हों, ऐसा कहीं सुननेमें नहीं आया है * ॥ २७ ॥

लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी ॥ २८ ॥

तुम धर्मके ज्ञाता और पवित्र हो, अतः तुम्हें लोक और वेदके विरुद्ध यह अधर्म नहीं करना चाहिये । तुम कुन्तीके पुत्र हो; तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्यों हो रही है ? ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने कहा--महाराज ! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, हम उसकी गतिको नहीं जानते। पूर्वकालके प्रचेता आदि जिस मार्गसे गये हैं, उसीका हमलोग क्रमशः अनुसरण करते हैं ॥ २९ ॥

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ ३० ॥

मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती । हमारी माताने हमें ऐसा ही करनेकी आज्ञा दी है और मेरे मनमें भी यही ठीक जँचा है ॥

एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शङ्का तत्र ते स्यात् कथंचिदपि पार्थिव ॥ ३१ ॥

राजन् ! यह अटल धर्म है । आप बिना किसी सोच-विचारके इसका पालन करें । पृथ्वीपते ! आपको इस विषयमें किसी प्रकारकी आशङ्का नहीं होनी चाहिये ॥ ३१ ॥

द्रुपद उवाच

त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्वितिकर्तव्यं श्वः काले करवामहे ॥ ३२ ॥

द्रुपद बोले--कुन्तीनन्दन ! तुम, कुन्तीदेवी और मेरा पुत्र धृष्टद्युम्न-ये सब लोग मिलकर यह निश्चय करके बतायें कि क्या करना चाहिये ? उसे ही कल ठीक समयपर हमलोग करेंगे ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत ।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद् यदृच्छया ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! तदनन्तर वे सब लोग मिलकर इस विषयमें सलाह करने लगे । राजन् ! इसी समय भगवान् वेदव्यास वहाँ अकस्मात् आ पहुँचे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्वैपायनागमने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें वेदव्यासके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

---

* इस विषयमें यह श्रुतिका वचन प्रसिद्ध है—'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सहपतयः' अर्थात् एक पुरुषकी बहुत-सी स्त्रियाँ होती हैं, किंतु एक स्त्रीके लिये बहुत-से पति नहीं होते

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके सामने द्रौपदीका पाँच पुरुषोंसे विवाह होनेके विषयमें द्रुपद, धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिरका अपने-अपने विचार व्यक्त करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः ।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं सर्वेऽभ्यवादयन् ॥ १ ॥

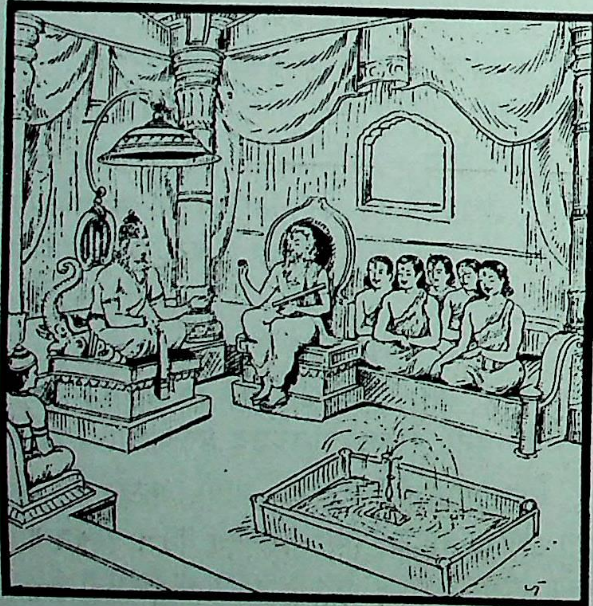
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे पाण्डव तथा महायशस्वी पाञ्चालराज द्रुपद—सबने खड़े होकर महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीको प्रणाम किया ॥ १ ॥

प्रतिनन्द्य स तां पूजां पृष्ट्वा कुशलमन्ततः ।
आसने काञ्चने शुद्धे निषसाद महामनाः ॥ २ ॥

उनके द्वारा की हुई पूजाको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अन्तमें सबसे कुशल-मङ्गल पूछकर महामना व्यासजी शुद्ध सुवर्णमय आसनपर विराजमान हुए ॥ २ ॥

अनुज्ञातास्तु ते सर्वे कृष्णेनामिततेजसा ।
आसनेषु महार्हेषु निषेदुर्द्विपदां वराः ॥ ३ ॥

फिर अमित-तेजस्वी व्यासजीकी आज्ञा पाकर वे सभी नरश्रेष्ठ बहुमूल्य आसनोंपर बैठे ॥ ३ ॥



ततो मुहूर्तान्मधुरां वाणीमुच्चार्य पार्षतः ।
पप्रच्छ तं महात्मानं द्रौपद्यर्थे विशाम्पते ॥ ४ ॥
कथमेका बहूनां स्याद् धर्मपत्नी न संकरः ।
एतन्मे भगवान् सर्वं प्रब्रवीतु यथातथम् ॥ ५ ॥

राजन् ! तदनन्तर दो घड़ीके बाद राजा द्रुपदने मीठी वाणी बोलकर महात्मा व्यासजीसे द्रौपदीके विषयमें पूछा—'भगवन् ! एक ही स्त्री बहुत-से पुरुषोंकी धर्मपत्नी कैसे हो सकती है ? जिससे संकरताका दोष न लगे, यह सब आप ठीक-ठीक बतावें' ॥ ४-५ ॥

व्यास उवाच

अस्मिन् धर्मे विप्रलब्धे लोकवेदविरोधके ।
यस्य यस्य मतं यद् यच्छ्रोतुमिच्छामि तस्य तत् ॥ ६ ॥

व्यासजीने कहा—अत्यन्त गहन होनेके कारण शास्त्रीय आवरणके द्वारा ढके हुए, अतएव इस लोक-वेद-विरुद्ध धर्मके सम्बन्धमें तुममेंसे जिसका-जिसका जो-जो मत हो, उसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः ।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम ॥ ७ ॥

द्रुपद बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मेरी रायमें तो यह अधर्म ही है; क्योंकि यह लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध है। बहुत-से पुरुषोंकी एक ही पत्नी हो, ऐसा व्यवहार कहीं भी नहीं है ॥

न चाप्याचरितः पूर्वैरयं धर्मो महात्मभिः ।
न चाप्यधर्मो विद्वद्भिश्चरितव्यः कथंचन ॥ ८ ॥

पूर्ववर्ती महात्मा पुरुषोंने भी ऐसे धर्मका आचरण नहीं किया है; और विद्वान् पुरुषोंको किसी प्रकार भी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

ततोऽहं न करोम्येनं व्यवसायं क्रियां प्रति ।
धर्मः सदैव संदिग्धः प्रतिभाति हि मे त्वयम् ॥ ९ ॥

इसलिये मैं इस धर्मविरोधी आचारको काममें नहीं लाना चाहता । मुझे तो इस कार्यके धर्मसंगत होनेमें सदा ही संदेह जान पड़ता है ॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ ।
ब्रह्मन् समभिवर्तेत सवृत्तः संस्तपोधन ॥ १० ॥

धृष्टद्युम्न बोले—द्विजश्रेष्ठ ! आप ब्राह्मण हैं, तपोधन हैं; आप ही बताइये, बड़ा भाई सदाचारी होते हुए भी अपने छोटे भाईकी स्त्रीके साथ समागम कैसे कर सकता है ? ॥ १० ॥

न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद् गतिं विद्म कथंचन ।
अधर्मो धर्म इति वा व्यवसायो न शक्यते ॥ ११ ॥
कर्तुमस्मद्विधैर्ब्रह्मंस्ततोऽयं न व्यवस्यते ।
पञ्चानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन ॥ १२ ॥

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण हम

उसकी गतिको सर्वथा नहीं जानते; अतः यह कार्य अधर्म है या धर्म, इसका निश्चय करना हम-जैसे लोगोंके लिये असम्भव है। ब्रह्मन्! इसीलिये हम किसी तरह भी ऐसी सम्मति नहीं दे सकते कि राजकुमारी कृष्णा पाँच पुरुषोंकी धर्मपत्नी हो ॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन ॥ १३ ॥
श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती; परंतु इस विवाहमें मेरे मनकी प्रवृत्ति हो रही है, इसलिये यह किसी प्रकार भी अधर्म नहीं है। पुराणोंमें भी सुना जाता है कि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जटिला नामवाली गौतम गोत्रकी कन्याने सात ऋषियोंके साथ विवाह किया था ॥ १३-१४ ॥

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः।
संगताभूद् दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार कण्डु मुनिकी पुत्री वार्क्षीने तपस्यासे पवित्र अन्तःकरणवाले दस प्रचेताओंके साथ, जिनका एक ही नाम था और जो आपसमें भाई-भाई थे, विवाहसम्बन्ध स्थापित किया था ॥ १५ ॥

गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥ १६ ॥

धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ व्यासजी! गुरुजनोंकी आज्ञाको धर्मसंगत बताया गया है और समस्त गुरुओंमें माता परम गुरु मानी गयी है ॥ १६ ॥

सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद् भुज्यतामिति।
तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

हमारी माताने भी यही बात कही है कि तुम सब लोग भिक्षाकी भाँति इसका उपभोग करो; अतः द्विजश्रेष्ठ! हम पाँचों भाइयोंके साथ होनेवाले इस विवाहसम्बन्धको परम धर्म मानते हैं ॥ १७ ॥

कुन्त्युवाच

एवमेतद् यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात् कथम् ॥ १८ ॥

कुन्तीने कहा—धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक है। (अवश्य मैंने द्रौपदीके साथ पाँचों भाइयोंके विवाहसम्बन्धकी आज्ञा दे दी है।) मुझे झूठसे बहुत भय लगता है; बताइये, मैं झूठके पापसे कैसे बच सकूँगी? ॥ १८ ॥

व्यास उवाच

अनृतान्मोक्ष्यसे भद्रे धर्मश्चैष सनातनः।
न तु वक्ष्यामि सर्वेषां पाञ्चाल शृणु मे स्वयम् ॥ १९ ॥

व्यासजी बोले—भद्रे! तुम झूठसे बच जाओगी। (पाण्डवोंके लिये) यह सनातन धर्म है। (कुन्तीसे यों कहकर वे द्रुपदसे बोले) पाञ्चालराज! (इस विवाहमें एक रहस्य है, जिसे) मैं सबके सामने नहीं कहूँगा। तुम स्वयं एकान्तमें चलकर मुझसे सुन लो ॥ १९ ॥

यथायं विहितो धर्मो यतश्चायं सनातनः।
यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः ॥ २० ॥

जिस प्रकार और जिस कारणसे यह सनातन धर्मके अनुकूल कहा गया है और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने जिस प्रकार इसकी धर्मानुकूलताका प्रतिपादन कियां है, उसपर विचार करनेसे निस्संदेह यही सिद्ध होता है कि यह विवाह धर्मसम्मत है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय भगवान् व्यासो द्वैपायनः प्रभुः।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शक्तिशाली द्वैपायन भगवान् व्यासजी अपने आसनसे उठे और राजा द्रुपदका हाथ पकड़कर राजभवनके भीतर चले गये॥

पाण्डवाश्चापि कुन्ती च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
विविशुर्यत्र तत्रैव प्रतीक्षन्ते स्म तावुभौ ॥ २२ ॥

पाँचों पाण्डव, कुन्तीदेवी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—ये सब लोग जहाँ बैठे थे, वहीं उन दोनों (व्यास और द्रुपद) की प्रतीक्षा करने लगे ॥ २२ ॥

ततो द्वैपायनस्तस्मै नरेन्द्राय महात्मने।
आचख्यौ तद् यथा धर्मो बहूनामेकपत्निता ॥ २३ ॥

तदनन्तर व्यासजीने उन महात्मा नरेशको वह कथा सुनायी, जिसके अनुसार यहाँ बहुत-से पुरुषोंका एक ही पत्नीसे विवाह करना धर्मसम्मत माना गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि व्यासवाक्ये पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें व्यास-वाक्यविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१९५॥



षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका द्रुपदको पाण्डवों तथा द्रौपदीके पूर्वजन्मकी कथा सुनाकर दिव्य दृष्टि देना और द्रुपदका उनके दिव्य रूपोंकी झाँकी करना

व्यास उवाच

पुरा वै नैमिषारण्ये देवाः सत्रमुपासते।
तत्र वैवस्वतो राजञ्शामित्रमकरोत् तदा॥ १॥

व्यासजीने कहा—पाञ्चालनरेश ! पूर्व कालकी बात है, नैमिषारण्य क्षेत्रमें देवता लोग एक यज्ञ कर रहे थे। उस समय वहाँ सूर्यपुत्र यम शामित्र (यज्ञ)-कार्य करते थे।

ततो यमो दीक्षितस्तत्र राजन्
नामारयत् कंचिदपि प्रजानाम्।
ततः प्रजास्ता बहुला बभूवुः
कालातिपातान्मरणप्रहीणाः॥ २॥

राजन्! उस यज्ञकी दीक्षा लेनेके कारण यमराजने मानव-प्रजाकी मृत्युका काम बंद कर रखा था। इस प्रकार मृत्युका नियत समय बीत जानेसे सारी प्रजा अमर होकर दिनों-दिन बढ़ने लगी। धीरे-धीरे उसकी संख्या बहुत बढ़ गयी॥ २॥

सोमश्च शक्रो वरुणः कुबेरः
साध्या रुद्रा वसवोऽथाश्विनौ च।
प्रजापतिर्भुवनस्य प्रणेता
समाजग्मुस्तत्र देवास्तथान्ये॥ ३॥
ततोऽब्रुवन् लोकगुरुं समेता
भयात् तीव्रान्मानुषाणां च वृद्धया।
तस्माद् भयादुद्विजन्तः सुखेप्सवः
प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम्॥ ४॥

चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, साध्यगण, रुद्रगण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा अन्य सब देवता मिलकर जहाँ सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्माजी रहते थे, वहाँ गये। वहाँ जाकर वे सब देवता लोकगुरु ब्रह्माजीसे बोले—'भगवन्! मनुष्योंकी संख्या बहुत बढ़ रही है। इससे हमें बड़ा भय लगता है। उस भयसे हम सबलोग व्याकुल हो उठे हैं और सुख पानेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हैं'॥ ३-४॥

पितामह उवाच

किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदामराः।
मा वो मर्त्यसकाशाद् वै भयं भवितुमर्हति॥ ५॥

ब्रह्माजीने कहा—तुम्हें मनुष्योंसे क्यों भय लगता है? जब कि तुम सभीलोग अमर हो, तब तुम्हें मरणधर्मा मनुष्योंसे कभी भयभीत नहीं होना चाहिये॥ ५॥

देवा ऊचुः

मर्त्या अमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहागताः॥ ६॥

देवता बोले—जो मरणशील थे, वे अमर हो गये। अब हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं रह गया। यह अन्तर मिट जानेसे ही हमें अधिक घबराहट हो रही है। हमारी विशेषता बनी रहे, इसीलिये हम यहाँ आये हैं॥ ६॥

श्रीभगवानुवाच

वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतो-
स्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः।
तस्मिन्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये
तत एषां भवितैवान्तकालः॥ ७॥
वैवस्वतस्यैव तनुर्विभक्ता
वीर्येण युष्माकमुत प्रयुक्ता।
सैषामन्तो भविता ह्यन्तकाले
न तत्र वीर्यं भविता नरेषु॥ ८॥

भगवान् ब्रह्माजीने कहा—सूर्यपुत्र यमराज यज्ञके कार्यमें लगे हैं, इसीलिये ये मनुष्य मर नहीं रहे हैं। जब वे यज्ञका सारा काम पूरा करके इधर ध्यान देंगे, तब इन मनुष्योंका अन्तकाल उपस्थित होगा। तुमलोगोंके बलके प्रभावसे जब सूर्यनन्दन यमराजका शरीर यज्ञकार्यसे अलग होकर अपने कार्यमें प्रयुक्त होगा, तब वही अन्तकाल आनेपर मनुष्योंकी मृत्युका कारण बनेगा। उस समय मनुष्योंमें इतनी शक्ति नहीं होगी कि वे मृत्युसे अपनेको बचा सकें॥ ७-८॥

व्यास उवाच

ततस्तु ते पूर्वजदेववाक्यं
श्रुत्वा जग्मुर्यत्र देवा यजन्ते।
समासीनास्ते समेता महाबला
भागीरथ्यां ददृशुः पुण्डरीकम्॥ ९॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! तब वे अपने पूर्वज देवता ब्रह्माजीका वचन सुनकर फिर वहीं चले गये, जहाँ सब देवता यज्ञ कर रहे थे। एक दिन वे सभी महाबली देवगण गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये और वहाँ तटपर बैठे। उसी समय उन्हें भागीरथीके जलमें बहता हुआ एक कमल दिखायी दिया॥ ९॥

दृष्ट्वा च तद् विस्मितास्ते बभूवु-
स्तेषामिन्द्रस्तत्र शूरो जगाम।
सोऽपश्यद् योषामथ पावकप्रभां
यत्र देवी गङ्गा सततं प्रसूता॥ १०॥

उसे देखकर वे सब देवता चकित हो गये। उनमें सबसे प्रधान और शूरवीर इन्द्र उस कमलका पता लगानेके लिये

गङ्गाजीके मूल-स्थानकी ओर गये। गङ्गोत्तरीके पास, जहाँ गङ्गादेवीका जल सदा अविच्छिन्नरूपसे झरता रहता है, पहुँचकर इन्द्रने एक अग्निके समान तेजस्विनी युवती देखी॥

सा तत्र योषा रुदती जलार्थिनी
गङ्गां देवीं व्यवगाह्य व्यतिष्ठत्।
तस्याश्रुबिन्दुः पतितो जले य-
स्तत् पद्ममासीदथ तत्र काञ्चनम्॥११॥

वह युवती वहाँ जलके लिये आयी थी और भगवती गङ्गाकी धारामें प्रवेश करके रोती हुई खड़ी थी। उसके आँसुओंका एक-एक बिन्दु, जो जलमें गिरता था, वहाँ सुवर्णमय कमल बन जाता था॥११॥

तदद्भुतं प्रेक्ष्य वज्री तदानी-
मपृच्छत् तां योषितमन्तिकाद् वै।
का त्वं भद्रे रोदिषि कस्य हेतो-
र्वाक्यं तथ्यं कामयेऽहं ब्रवीहि॥१२॥

यह अद्भुत दृश्य देखकर वज्रधारी इन्द्रने उस समय उस युवतीके निकट जाकर पूछा—'भद्रे! तुम कौन हो और किस लिये रोती हो? बताओ, मैं तुमसे सच्ची बात जानना चाहता हूँ'॥१२॥

स्त्र्युवाच

त्वं वेत्स्यसे मामिह यास्मि शक्र
यदर्थं चाहं रोदिमि मन्दभाग्या।
आगच्छ राजन् पुरतो गमिष्ये
द्रष्टासि तद् रोदिमि यत्कृतेऽहम्॥१३॥

युवती बोली—देवराज इन्द्र! मैं एक भाग्यहीन अबला हूँ; कौन हूँ और किस लिये रो रही हूँ, यह सब तुम्हें ज्ञात हो जायगा। तुम मेरे पीछे-पीछे आओ, मैं आगे-आगे चल रही हूँ। वहाँ चलकर स्वयं ही देख लोगे कि मैं किस लिये रोती हूँ॥१३॥

व्यास उवाच

तां गच्छन्तीमन्वगच्छत् तदानीं
सोऽपश्यदारात् तरुणं दर्शनीयम्।
सिद्धासनस्थं युवतीसहायं
क्रीडन्तमैक्षद् गिरिराजमूर्ध्नि॥१४॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! यों कहकर आगे-आगे जाती हुई उस स्त्रीके पीछे-पीछे उस समय इन्द्र भी गये। गिरिराज हिमालयके शिखरपर पहुँचकर उन्होंने देखा—पास ही एक परम सुन्दर तरुण पुरुष सिद्धासनसे बैठे हैं, उनके साथ एक युवती भी है। इन्द्रने उस युवतीके साथ उन्हें क्रीडा-विनोद करते देखा॥१४॥

तमब्रवीद् देवराजो ममेदं
त्वं विद्धि विद्वन् भुवनं वशे स्थितम्।
ईशोऽहमस्मीति समन्युरब्रवीद्
दृष्ट्वा तमक्षैः सुभृशं प्रमत्तम्॥१५॥

वे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे क्रीडामें अत्यन्त तन्मय हो रहे थे, अतः इधर-उधर उनका ध्यान नहीं जाता था। उन्हें इस प्रकार असावधान देख देवराज इन्द्रने कुपित होकर कहा—'महानुभाव! यह सारा जगत् मेरे अधिकारमें है, मेरी आज्ञाके अधीन है; मैं इस जगत्का ईश्वर हूँ'॥१५॥

क्रुद्धं च शक्रं प्रसमीक्ष्य देवो
जहास शक्रं च शनैरुदैक्षत।
संस्तम्भितोऽभूदथ देवराज-
स्तेनेक्षितः स्थाणुरिवावतस्थे॥१६॥

इन्द्रको क्रोधमें भरा देख वे देवपुरुष हँस पड़े। उन्होंने धीरेसे आँख उठाकर उनकी ओर देखा। उनकी दृष्टि पड़ते ही देवराज इन्द्रका शरीर स्तम्भित हो गया (अकड़ गया)। वे ठूँठे काठकी भाँति निश्चेष्ट हो गये॥१६॥

यदा तु पर्याप्तमिहास्य क्रीडया
तदा देवीं रुदतीं तामुवाच।
आनीयतामेष यतोऽहमारा-
न्नैनं दर्पः पुनरप्याविशेत॥१७॥

जब उनकी वह क्रीडा समाप्त हुई, तब वे उस रोती हुई देवीसे बोले—'इस इन्द्रको जहाँ मैं हूँ, यहीं—मेरे समीप ले आओ, जिससे फिर इसके भीतर अभिमानका प्रवेश न हो'॥१७॥

ततः शक्रः स्पृष्टमात्रस्तया तु
स्रस्तैरङ्गैः पतितोऽभूद् धरण्याम्।
तमब्रवीद् भगवानुग्रतेजा
मैवं पुनः शक्र कृथाः कथंचित्॥१८॥

तदनन्तर उस स्त्रीने ज्यों ही इन्द्रका स्पर्श किया, उनके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और वे धरतीपर गिर पड़े। तब उग्र तेजस्वी भगवान् रुद्रने उनसे कहा—'इन्द्र! फिर किसी प्रकार भी ऐसा घमंड न करना॥१८॥

निवर्तयैनं च महाद्रिराजं
बलं च वीर्यं च तवाप्रमेयम्।
छिद्रस्य चैवाविश मध्यमस्य
यत्रासते त्वद्विधाः सूर्यभासः॥१९॥

'तुममें अनन्त बल और पराक्रम है, अतः इस गुफाके दरवाजेपर लगे हुए इस महान् पर्वतराजको हटा दो और इसी गुफाके भीतर घुस जाओ, जहाँ सूर्यके समान तेजस्वी तुम्हारे-जैसे और भी इन्द्र रहते हैं'॥१९॥

स तद् विवृत्य विवरं महागिरे-
स्तुल्यद्युतींश्चतुरोऽन्यान् ददर्श।

स तानभिप्रेक्ष्य बभूव दुःखितः
कच्चिन्नाहं भविता वै यथेमे ॥ २० ॥

उन्होंने उस महान् पर्वतकी कन्दराका द्वार खोलकर उसमें अपने ही समान तेजस्वी अन्य चार इन्द्रोंको भी देखा। उन्हें देखकर वे बहुत दुखी हुए और सोचने लगे—'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि मैं भी इन्हींके समान दुर्दशामें पड़ जाऊँ' ॥ २० ॥

ततो देवो गिरिशो वज्रपाणिं
विवृत्य नेत्रे कुपितोऽभ्युवाच।
दरीमेतां प्रविश त्वं शतक्रतो
यन्मां बाल्यादवमंस्थाः पुरस्तात् ॥ २१ ॥

तब पर्वतपर शयन करनेवाले महादेवजीने आँखें तरेरकर कुपित हो वज्रधारी इन्द्रसे कहा—'शतक्रतो! तुमने मूर्खतावश पहले मेरा अपमान किया है, इसलिये अब इस कन्दरामें प्रवेश करो' ॥ २१ ॥

उक्तस्त्वेवं विभुना देवराजः
प्रावेपतार्तो भृशमेवाभिषङ्गात्।
स्रस्तैरङ्गैरनिलेनेव नुन्न-
मश्वत्थपत्रं गिरिराजमूर्ध्नि ॥ २२ ॥

उस पर्वत-शिखरपर भगवान् रुद्रके यों कहनेपर देवराज इन्द्र पराभवकी आशङ्कासे अत्यन्त दुखी हो गये, उनके सारे अङ्ग शिथिल पड़ गये और हवासे हिलनेवाले पीपलके पत्तेकी तरह वे थर-थर काँपने लगे ॥ २२ ॥

स प्राञ्जलिर्वै वृषवाहनेन
प्रवेपमानः सहसैवमुक्तः।
उवाच देवं बहुरूपमुग्र-
स्रष्टाशेषस्य भुवनस्य त्वं भवाद्यः ॥ २३ ॥

वृषभवाहन भगवान् शंकरके द्वारा इस प्रकार सहसा गुहा-प्रवेशकी आज्ञा मिलनेपर काँपते हुए इन्द्रने हाथ जोड़कर उन अनेक रूपधारी उग्रस्वरूप रुद्रदेवसे कहा—'जगद्योने! आप ही समस्त जगत्की उत्पत्ति करनेवाले आदिपुरुष हैं' ॥ २३ ॥

तमब्रवीदुग्रवर्चाः प्रहस्य
नैवंशीलाः शेषमिहाप्नुवन्ति।
एतेऽप्येवं भवितारः पुरस्तात्
तस्मादेतां दरीमाविश्य शेष्व ॥ २४ ॥

तब भयंकर तेजवाले रुद्रने हँसकर कहा—'तुम्हारे-जैसे शील-स्वभाववाले लोगोंको यहाँ प्रसादकी प्राप्ति नहीं होती। ये लोग भी पहले तुम्हारेही-जैसे थे, अतः तुम भी इस कन्दरा-में घुसकर शयन करो ॥ २४ ॥

तत्र ह्येवं भवितारो न संशयो
योनिं सर्वे मानुषीमाविशध्वम्।
तत्र यूयं कर्म कृत्वाविषह्यं
बहूनन्यान् निधनं प्रापयित्वा ॥ २५ ॥

आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकं
स्वकर्मणा पूर्वजितं महार्हम्।
सर्वं मया भाषितमेतदेवं
कर्तव्यमन्यद् विविधार्थयुक्तम् ॥ २६ ॥

'वहाँ भविष्यमें निश्चय ही तुमलोग ऐसे ही होनेवाले हो—तुम सबको मनुष्ययोनिमें प्रवेश करना पड़ेगा। उस जन्ममें तुम अनेक दुःसह कर्म करके बहुतोंको मौतके घाट उतारकर पुनः अपने शुभ कर्मोंद्वारा पहलेसे ही उपार्जित पुण्यात्माओंके निवासयोग्य इन्द्रलोकमें आ जाओगे। मैंने जो कुछ कहा है, वह सब कुछ तुम्हें करना होगा। इसके सिवा और भी नाना प्रकारके प्रयोजनोंसे युक्त कार्य तुम्हारे द्वारा सम्पन्न होंगे' ॥ २५-२६ ॥

पूर्वेन्द्रा ऊचुः

गमिष्यामो मानुषं देवलोकाद्
दुराधरो विहितो यत्र मोक्षः।
देवास्त्वस्मानादधीरञ्जनन्यां
धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च।
अस्त्रैर्दिव्यैर्मानुषान् योधयित्वा
आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकम् ॥ २७ ॥

पहलेके चारों इन्द्र बोले—भगवन्! हम आपकी आज्ञाके अनुसार देवलोकसे मनुष्यलोकमें जायँगे, जहाँ दुर्लभ मोक्षका साधन भी सुलभ होता है। परंतु वहाँ हमें धर्म, वायु, इन्द्र और दोनों अश्विनीकुमार—ये ही देवता माताके गर्भमें स्थापित करें। तदनन्तर हम दिव्यास्त्रोंद्वारा मानव-वीरोंसे युद्ध करके पुनः इन्द्रलोकमें चले आयेंगे ॥ २७ ॥

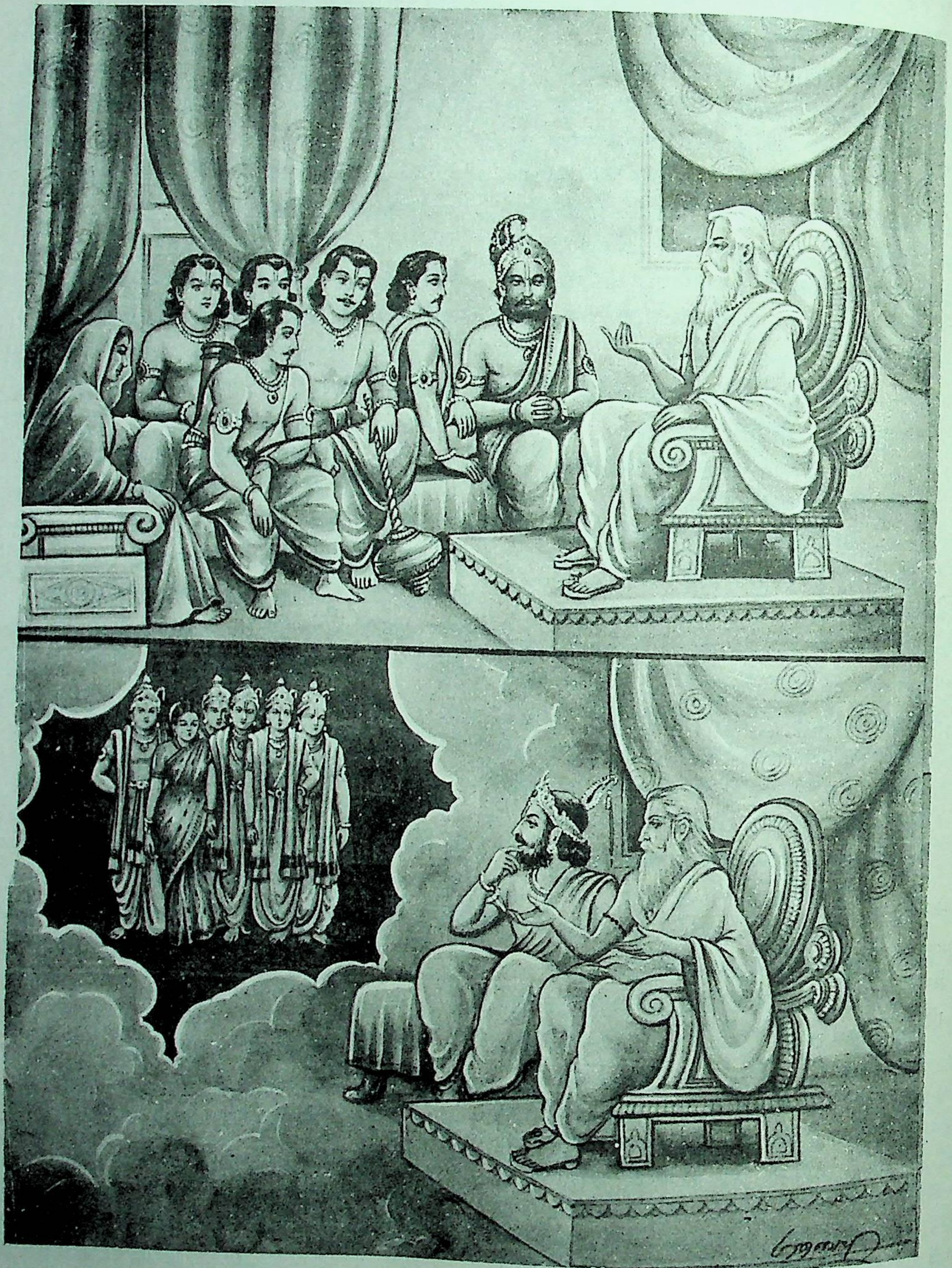
व्यास उवाच

एतच्छ्रुत्वा वज्रपाणिर्वचस्तु
देवश्रेष्ठं पुनरेवेदमाह।
वीर्येणाहं पुरुषं कार्यहेतो-
र्दद्यामेषां पञ्चमं मत्प्रसूतम् ॥ २८ ॥
विश्वभुग् भूतधामा च शिबिरिन्द्रः प्रतापवान्।
शान्तिश्चतुर्थस्तेषां वै तेजस्वी पञ्चमः स्मृतः ॥ २९ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! पूर्ववर्ती इन्द्रोंका यह वचन सुनकर वज्रधारी इन्द्रने पुनः देवश्रेष्ठ महादेवजीसे इस प्रकार कहा—'भगवन्! मैं अपने वीर्यसे अपने ही अंशभूत पुरुषको देवताओंके कार्यके लिये समर्पित करूँगा, जो इन चारोंके साथ पाँचवाँ होगा। उसे मैं स्वयं ही उत्पन्न करूँगा। विश्वभुक्, भूतधामा, प्रतापी इन्द्र शिबि, चौथे शान्ति और पाँचवें तेजस्वी—ये ही उन पाँचोंके नाम हैं ॥ २८-२९ ॥

तेषां कामं भगवानुग्रधन्वा
प्रादादिष्टं संनिसर्गाद् यथोक्तम्।
तां चाप्येषां योषितं लोककान्तां
श्रियं भार्यां व्यदधान्मानुषेषु ॥ ३० ॥

पाण्डव, द्रुपद और व्यासजीमें बातचीत



व्यासजीद्वारा पाण्डवोंके पूर्वजन्मके वृत्तान्तका वर्णन

उग्र धनुष धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने उन सबको उनकी अभीष्ट कामना पूर्ण होनेका वरदान दिया, जिसे वे अपने साधुस्वभावके कारण भगवान्‌के सामने प्रकट कर चुके थे। साथ ही उस लोककमनीया युवती स्त्रीको, जो स्वर्गलोककी लक्ष्मी थी, मनुष्यलोकमें उनकी पत्नी निश्चित की ॥ ३० ॥

तैरेव सार्धं तु ततः स देवो
जगाम नारायणमप्रमेयम् ।
अनन्तमव्यक्तमजं पुराणं
सनातनं विश्वमनन्तरूपम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन्हींके साथ महादेवजी अनन्त, अप्रमेय, अव्यक्त, अजन्मा, पुराणपुरुष, सनातन, विश्वरूप एवं अनन्त-मूर्ति भगवान् नारायणके पास गये ॥ ३१ ॥

स चापि तद् व्यदधात् सर्वमेव
ततः सर्वे सम्बभूवुर्धरण्याम् ।
स चापि केशौ हरिरुद्बवर्ह
शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् ॥ ३२ ॥

उन्होंने भी उन्हीं सब बातोंके लिये आज्ञा दी। तत्पश्चात् वे सब लोग पृथ्वीपर प्रकट हुए। उस समय भगवान् नारायणने अपने मस्तकसे दो केश निकाले, जिनमें एक श्वेत था और दूसरा श्याम ॥ ३२ ॥

तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां
कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणीं च ।
तयोरेको बलदेवो बभूव
योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः ।
कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव
केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥ ३३ ॥

वे दोनों केश यदुवंशकी दो स्त्रियों—देवकी तथा रोहिणीके भीतर प्रविष्ट हुए। उनमेंसे रोहिणीके बलदेव प्रकट हुए, जो भगवान् नारायणका श्वेत केश थे; दूसरा केश, जिसे श्याम-वर्णका बताया गया है, वही देवकीके गर्भसे भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ * ॥ ३३ ॥

ये ते पूर्वं शक्ररूपा निबद्धा-
स्तस्यां दर्यां पर्वतस्योत्तरस्य ।
इहैव ते पाण्डवा वीर्यवन्तः
शक्रस्यांशः पाण्डवः सव्यसाची ॥ ३४ ॥

उत्तरवर्ती हिमालयकी कन्दरामें पहले जो इन्द्रस्वरूप पुरुष बंदी बनाकर रक्खे गये थे, वे ही ये चारों पराक्रमी पाण्डव यहाँ विद्यमान हैं और साक्षात् इन्द्रका अंशभूत जो पाँचवाँ पुरुष प्रकट होनेवाला था, वही पाण्डुकुमार सव्यसाची अर्जुन है ॥ ३४ ॥

एवमेते पाण्डवाः सम्बभूवु-
र्ये ते राजन् पूर्वमिन्द्रा बभूवुः ।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा
भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा ॥ ३५ ॥
कथं हि स्त्री कर्मणा ते महीतलात्
समुत्तिष्ठेदन्यतो दैवयोगात् ।
यस्या रूपं सोमसूर्यप्रकाशं
गन्धश्चास्याः क्रोशमात्रात् प्रवाति ॥ ३६ ॥

राजन्! इस प्रकार ये पाण्डव प्रकट हुए हैं, जो पहले इन्द्र रह चुके हैं। यह दिव्यरूपा द्रौपदी वही स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पहलेसे ही इनकी पत्नी नियत हो चुकी है। महाराज! यदि इस कार्यमें देवताओंका सहयोग न होता तो तुम्हारे इस यज्ञकर्मद्वारा यज्ञवेदीकी भूमिसे ऐसी दिव्य नारी कैसे प्रकट हो सकती थी, जिसका रूप सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाश बिखेर रहा है और जिसकी सुगन्ध एक कोसतक फैलती रहती है ॥ ३५-३६ ॥

इदं चान्यत् प्रीतिपूर्वं नरेन्द्र
ददानि ते वरमत्यद्भुतं च ।
दिव्यं चक्षुः पश्य कुन्तीसुतांस्त्वं
पुण्यैर्दिव्यैः पूर्वदेहैरुपेतान् ॥ ३७ ॥

नरेन्द्र! मैं तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक एक और अद्भुत वरके रूपमें यह दिव्य दृष्टि देता हूँ; इससे सम्पन्न होकर तुम कुन्तीके पुत्रोंको उनके पूर्वकालिक पुण्यमय दिव्य शरीरोंसे सम्पन्न देखो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासः परमोदारकर्मा
शुचिर्विप्रस्तपसा तस्य राज्ञः ।
चक्षुर्दिव्यं प्रददौ तांश्च सर्वान्
राजापश्यत् पूर्वदेहैर्यथावत् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर परम उदारकर्मवाले पवित्र ब्रह्मर्षि व्यासजीने अपनी तपस्याके प्रभावसे राजा द्रुपदको दिव्यदृष्टि प्रदान की, जिससे उन्होंने समस्त पाण्डवोंको पूर्वशरीरोंसे सम्पन्न वास्तविक रूपमें देखा ॥

ततो दिव्यान् हेमकिरीटमालिनः
शक्रप्रख्यान् पावकादित्यवर्णान् ।
बद्धापीडांश्चारुरूपांश्च यूनो
व्यूढोरस्कांस्तालमात्रान् ददर्श ॥ ३९ ॥

वे दिव्य शरीरसे सुशोभित थे। उनके मस्तकपर सुवर्ण-मय किरीट और गलेमें सुन्दर सोनेकी माला शोभा पा रही थी। उनकी छवि इन्द्रके ही समान थी। वे अग्नि और सूर्य-

---

* भगवान् नारायण सच्चिदानन्दघन हैं; उनके नाम, रूप, लीला और धाम—सभी चिन्मय हैं। उन्होंने अपने श्याम और श्वेत केशोंको द्वारमात्र बनाकर स्वयं ही सम्पूर्णरूपसे अपनेको प्रकट किया था।

के समान कान्तिमान् थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें सब तरहके दिव्य अलंकार धारण कर रक्खे थे। उनकी युवावस्था थी तथा रूप अत्यन्त मनोहर था। उन सबकी छाती चौड़ी थी और वे तालवृक्षके समान लंबे थे। इस रूपमें राजा द्रुपदने उनका दर्शन किया ॥ ३९ ॥

दिव्यैर्वस्त्रैररजोभिः सुगन्धै-
र्माल्यैश्चाग्र्यैः शोभमानानतीव।
साक्षात् त्र्यक्षान् वा वसूंश्चापि रुद्रा-
नादित्यान् वा सर्वगुणोपपन्नान् ॥ ४० ॥

वे दिव्य निर्मल वस्त्रों, उत्तम गन्धों और सुन्दर मालाओंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे तथा साक्षात् त्रिनेत्र महादेव, वसुगण, रुद्रगण अथवा आदित्यगणोंके समान तेजस्वी एवं सर्वगुणसम्पन्न दिखायी देते थे ॥ ४० ॥

तान् पूर्वेन्द्रानभिवीक्ष्याभिरूपान्
शक्रात्मजं चेन्द्ररूपं निशम्य।
प्रीतो राजा द्रुपदो विस्मितश्च
दिव्यां मायां तामवेक्ष्याप्रमेयाम् ॥ ४१ ॥

चारों पाण्डवोंको परम सुन्दर पूर्वकालिक इन्द्रोंके रूपमें तथा इन्द्रपुत्र अर्जुनको भी इन्द्रके ही स्वरूपमें देखकर उस अप्रमेय दिव्य मायापर दृष्टिपात करके राजा द्रुपद अत्यन्त प्रसन्न एवं आश्चर्यचकित हो उठे ॥ ४१ ॥

तां चैवाग्र्यां स्त्रियमतिरूपयुक्तां
दिव्यां साक्षात् सोमवह्निप्रकाशाम्।
योग्यां तेषां रूपतेजोयशोभिः
पत्नीं मत्वा हृष्टवान् पार्थिवेन्द्रः ॥ ४२ ॥

उन राजराजेश्वरने अपनी पुत्रीको भी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, अत्यन्त रूपवती और साक्षात् चन्द्रमा तथा अग्निके समान प्रकाशित होनेवाली दिव्य नारीके रूपमें देखा। साथ ही यह मान लिया कि द्रौपदी रूप, तेज और यशकी दृष्टिसे अवश्य उन पाण्डवोंकी पत्नी होने योग्य है। इससे उन्हें महान् हर्ष हुआ ॥ ४२ ॥

स तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यरूपं
जग्राह पादौ सत्यवत्याः सुतस्य।
नैतच्चित्रं परमर्षे त्वयीति
प्रसन्नचेताः स उवाच चैनम् ॥ ४३ ॥

यह महान् आश्चर्य देखकर द्रुपदने सत्यवतीनन्दन व्यासजीके चरण पकड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उनसे कहा—'महर्षे! आपमें ऐसी अद्‌भुत शक्तिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है।' तब व्यासजी प्रसन्नचित्त हो द्रुपदसे बोले ॥

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ४४ ॥

व्यासजीने कहा—राजन्! (अपनी पुत्रीके एक और जन्मका वृत्तान्त भी सुनो—) एक तपोवनमें किसी महात्मा मुनिकी कोई कन्या रहती थी। सती-साध्वी एवं रूपवती होनेपर भी उसे योग्य पतिकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ ४४ ॥

तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम्।
तामुवाचेश्वरः प्रीतो वृणु काममिति स्वयम् ॥ ४५ ॥

उसने कठोर तपस्याद्वारा भगवान् शंकरको संतुष्ट किया; महादेवजी प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट होकर उस मुनि-कन्यासे बोले—'तुम मनोवाञ्छित वर माँगो' ॥ ४५ ॥

सैवमुक्ताब्रवीत् कन्या देवं वरदमीश्वरम्।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ ४६ ॥

उनके यों कहनेपर उस मुनि-कन्याने वरदायक महेश्वरसे बार-बार कहा—'मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती हूँ' ॥

ददौ तस्यै स देवेशस्तं वरं प्रीतमानसः।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति शंकरः ॥ ४७ ॥

देवेश्वर भगवान् शंकर प्रसन्नचित्त होकर उसे वर देते हुए बोले—'भद्रे! तुम्हारे पाँच पति होंगे' ॥ ४७ ॥

सा प्रसादयती देवमिदं भूयोऽभ्यभाषत।
एकं पतिं गुणोपेतं त्वत्तोऽर्हामीति शंकर ॥ ४८ ॥

यह सुनकर उसने महादेवजीको प्रसन्न करते हुए पुनः यह बात कही—'शंकरजी! मैं तो आपसे एक ही गुणवान् पति प्राप्त करना चाहती हूँ' ॥ ४८ ॥

तां देवदेवः प्रीतात्मा पुनः प्राह शुभं वचः।
पञ्चकृत्वस्त्वयोक्तोऽहं पतिं देहीति वै पुनः ॥ ४९ ॥
तत् तथा भविता भद्रे वचस्तद् भद्रमस्तु ते।
देहमन्यं गतायास्ते सर्वमेतद् भविष्यति ॥ ५० ॥

तब देवाधिदेव महादेवजीने मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट होकर उससे यह शुभ वचन कहा—'भद्रे! तुमने 'पति दीजिये' इस वाक्यको पाँच बार दुहराया है; इसलिये मैंने जो पहले कहा है, वैसा ही होगा, तुम्हारा कल्याण हो। किंतु तुम्हें दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर यह सब होगा' ॥ ४९-५० ॥

द्रुपदैषा हि सा जज्ञे सुता वै देवरूपिणी।
पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ॥ ५१ ॥

द्रुपद! वही मुनिकन्या तुम्हारी इस दिव्यरूपिणी पुत्रीके रूपमें फिर उत्पन्न हुई है। अतः यह पृषत-वंशकी सती कन्या कृष्णा पहलेसे ही पाँच पतियोंकी पत्नी नियत की गयी है ॥ ५१ ॥

स्वर्गश्रीः पाण्डवार्थं तु समुत्पन्ना महामखे।
सेह तप्त्वा तपो घोरं दुहितृत्वं तवागता ॥ ५२ ॥

यह स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पाण्डवोंके लिये तुम्हारे महायज्ञमें प्रकट हुई है। इसने अत्यन्त घोर तपस्या

करके इस जन्ममें तुम्हारी पुत्री होनेका सौभाग्य प्राप्त किया है।५२।

सैषा देवी रुचिरा देवजुष्टा
पञ्चानामेका स्वकृतेनेह कर्मणा।
सृष्टा स्वयं देवपत्नी स्वयम्भुवा
श्रुत्वा राजन् द्रुपदेष्टं कुरुष्व ॥ ५३ ॥

महाराज द्रुपद ! वही यह देवसेवित सुन्दरी देवी अपने ही कर्मसे पाँच पुरुषोंकी एक ही पत्नी नियत की गयी है। स्वयं ब्रह्माजीने इसे देवस्वरूप पाण्डवोंकी पत्नी होनेके लिये रचा है। यह सब सुनकर तुम्हें जो अच्छा लगे, वह करो ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पञ्चेन्द्रोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाँच इन्द्रोंके उपाख्यानका वर्णन करनेवाला एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१९६॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह

द्रुपद उवाच

अश्रुत्वैवं वचनं ते महर्षे
मया पूर्वं यतितं संविधातुम्।
न वै शक्यं विहितस्यापयानं
तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ १ ॥

द्रुपद बोले—'ब्रह्मर्षे ! आपके इस वचनको न सुननेके कारण ही पहले मैंने वैसा करने (कृष्णाको एक ही योग्य पतिसे ब्याहने) का प्रयत्न किया था; परंतु विधाताने जो रच रक्खा है, उसे टाल देना असम्भव है; अतः उसी पूर्वनिश्चित विधानका पालन करना उचित है ॥ १ ॥

दिष्टस्य ग्रन्थिरनिवर्तनीयः
स्वकर्मणा विहितं नेह किंचित्।
कृतं निमित्तं हि वरैकहेतो-
स्तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ २ ॥

भाग्यमें जो लिख दिया है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता। अपने प्रयत्नसे यहाँ कुछ नहीं हो सकता। एक वरकी प्राप्तिके लिये जो साधन (तप) किया गया, वही पाँच पतियोंकी प्राप्तिका कारण बन गया; अतः दैवके द्वारा पूर्वनिश्चित विधानका ही पालन करना उचित है ॥ २ ॥

यथैव कृष्णोक्तवती पुरस्ता-
न्नैकं पतिं मे भगवान् ददातु।
स चाप्येवं वरमित्यब्रवीत् तां
देवो हि वेत्ता परमं यदत्र ॥ ३ ॥

पूर्वजन्ममें कृष्णाने अनेक बार भगवान् शंकरसे कहा—'प्रभो ! मुझे पति दें।' जैसा उसने कहा, वैसा ही वर उन्होंने भी उसे दे दिया। अतः इसमें कौन-सा उत्तम रहस्य छिपा है, उसे वे भगवान् ही जानते हैं ॥ ३ ॥

यदि चैवं विहितः शंकरेण
धर्मोऽधर्मो वा नात्र ममापराधः।
गृह्णन्त्विमे विधिवत् पाणिमस्या
यथोपजोषं विहितैषां हि कृष्णा ॥ ४ ॥

यदि साक्षात् शंकरने ऐसा विधान किया हैं तो यह धर्म हो या अधर्म, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। ये पाण्डवलोग विधिपूर्वक प्रसन्नतासे इसका पाणिग्रहण करें; विधाताने ही कृष्णाको इन पाण्डवोंकी पत्नी बनाया है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भगवान् धर्मराज-
मद्यैव पुण्याहमुत वः पाण्डवेय।
अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः
पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाद्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! आज ही तुम लोगोंके लिये पुण्य-दिवस है। आज चन्द्रमा भरण-पोषणकारक पुष्य नक्षत्रपर जा रहे हैं; इसलिये आज पहले तुम्हीं कृष्णाका पाणिग्रहण करो' ॥ ५ ॥

ततो राजा यज्ञसेनः सपुत्रो
जन्यार्थमुक्तं बहु तत् तदग्र्यम्।
समानयामास सुतां च कृष्णा-
माप्लाव्य रत्नैर्बहुभिर्विभूष्य ॥ ६ ॥

व्यासजीका यह आदेश सुनकर पुत्रोंसहित राजा द्रुपदने वर-वधूके लिये कथित समस्त उत्तम वस्तुओंको मँगवाया और अपनी पुत्री कृष्णाको स्नान कराकर बहुत-से रत्नमय आभूषणोंद्वारा विभूषित किया ॥ ६ ॥

ततस्तु सर्वे सुहृदो नृपस्य
समाजग्मुः सहिता मन्त्रिणश्च।
द्रष्टुं विवाहं परमप्रतीता
द्विजाश्च पौराश्च यथा प्रधानाः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् राजाके सभी सुहृद्-सम्बन्धी, मन्त्री, ब्राह्मण और पुरवासी अत्यन्त प्रसन्न हो विवाह देखनेके लिये आये और बड़ोंको आगे करके बैठे ॥ ७ ॥

ततोऽस्य वेश्माग्र्यजनोपशोभितं
विस्तीर्णपद्मोत्पलभूषिताजिरम् ।
बलौघरत्नौघविचित्रमाबभौ
नभो यथा निर्मलतारकान्वितम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजा द्रुपदका वह भवन श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुशोभित होने लगा। उसके आँगनको विस्तृत कमल और उत्पल आदिसे सजाया गया था। वहाँ एक ओर सेनाएँ खड़ी थीं और दूसरी ओर रत्नोंका ढेर लगा था। इससे वह राजभवन निर्मल तारकाओंसे संयुक्त आकाशकी भाँति विचित्र शोभा धारण कर रहा था ॥ ८ ॥

ततस्तु ते कौरवराजपुत्रा
विभूषिताः कुण्डलिनो युवानः ।
महार्हवस्त्राम्बरचन्दनोक्षिताः
कृताभिषेकाः कृतमङ्गलक्रियाः ॥ ९ ॥

इधर युवावस्थासे सम्पन्न कौरव-राजकुमार पाण्डव वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और कुण्डलोंसे अलंकृत हो अभिषेक और मङ्गलाचार करके बहुमूल्य कपड़ों एवं केसर, चन्दनसे सुशोभित हुए ॥ ९ ॥

पुरोहितेनाग्निसमानवर्चसा
सहैव धौम्येन यथाविधि प्रभो ।
क्रमेण सर्वे विविशुस्ततः सदो
महर्षभा गोष्ठमिवाभिनन्दिनः ॥ १० ॥

तब अग्निके समान तेजस्वी अपने पुरोहित धौम्यजीके साथ विधिपूर्वक बड़े-छोटेके क्रमसे वे सभी प्रसन्नतापूर्वक विवाहमण्डपमें गये—ठीक उसी तरह, जैसे बड़े-बड़े साँड गोशालामें प्रवेश करें ॥ १० ॥

ततः समाधाय स वेदपारगो
जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम् ।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रवि-
न्नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वेदके पारंगत विद्वान् मन्त्रज्ञ पुरोहित धौम्यने (वेदीपर) प्रज्वलित अग्निकी स्थापना करके उसमें मन्त्रोंद्वारा आहुति दी और युधिष्ठिरको बुलाकर कृष्णाके साथ उनका गँठबन्धन कर दिया ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणी
समानयामास स वेदपारगः ।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं
पुरोहितो राजगृहाद् विनिर्ययौ ॥ १२ ॥

वेदोंके परिपूर्ण विद्वान् पुरोहितने उन दोनों दम्पतिका पाणिग्रहण कराकर उनसे अग्निकी परिक्रमा करवायी, फिर (अन्य शास्त्रोक्त विधियोंका अनुष्ठान करके) उनका विवाह-कार्य सम्पन्न कर दिया। इसके बाद संग्राममें शोभा पानेवाले युधिष्ठिरको छुट्टी देकर पुरोहितजी भी उस राजभवनसे बाहर चले गये ॥ १२ ॥

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा
वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदा करम् ।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो
महारथाः कौरववंशवर्धनाः ॥ १३ ॥

इसी क्रमसे कौरव-कुलकी वृद्धि करनेवाले, उत्तम शोभा धारण करनेवाले महारथी राजकुमार पाण्डवोंने एक-एक दिन परम सुन्दरी द्रौपदीका पाणिग्रहण किया ॥ १३ ॥

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं
जगाद देवर्षिरतीतमानुषम् ।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा
बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ॥ १४ ॥

देवर्षिने वहाँ घटित हुई इस अद्भुत, उत्तम एवं अलौकिक घटनाका वर्णन किया है कि सुन्दर कटिप्रदेशवाली महानुभावा द्रौपदी प्रतिवार विवाहके दूसरे दिन कन्याभावको ही प्राप्त हो जाती थी ॥ १४ ॥

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ
महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम् ।
शतं रथानां वरहेममालिनां
चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥ १५ ॥

विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर द्रुपदने महारथी पाण्डवोंको दहेजमें बहुत-सा धन और नाना प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ समर्पित कीं। सुन्दर सुवर्णकी मालाओं और सुवर्ण-जटित जुओंसे सुशोभित सौ रथ प्रदान किये, जिनमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे ॥ १५ ॥

शतं गजानामपि पद्मिनां तथा
शतं गिरीणामिव हेमशृङ्गिणाम् ।
तथैव दासीशतमग्र्ययौवनं
महार्हवेषाभरणाम्बरस्रजम् ॥ १६ ॥

पद्म आदि उत्तम लक्षणोंसे युक्त सौ हाथी तथा पर्वतोंके समान ऊँचे और सुनहरे हौदोंसे सुशोभित सौ हाथी और (साथ ही) बहुमूल्य शृङ्गार-सामग्री, वस्त्राभूषण एवं हार धारण करनेवाली एक सौ नवयौवना दासियाँ भी भेंट कीं ॥ १६ ॥

पृथक् पृथग् दिव्यदृशां पुनर्ददौ
तदा धनं सौमकिरग्निसाक्षिकम् ।
तथैव वस्त्राणि विभूषणानि
प्रभावयुक्तानि महानुभावः ॥ १७ ॥

सोमकवंशमें उत्पन्न महानुभाव राजा द्रुपदने इस प्रकार अग्निको साक्षी बनाकर प्रत्येक सुन्दर दृष्टिवाले

पाण्डवोंके लिये अलग-अलग प्रचुर धन तथा प्रभुत्व-सूचक बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण अर्पित किये ॥ १७ ॥

कृते विवाहे च ततस्तु पाण्डवाः
प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम् ।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः
पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥ १८ ॥

विवाहके पश्चात् इन्द्रके समान महाबली पाण्डव प्रचुर रत्नराशिके साथ लक्ष्मीस्वरूपा द्रौपदीको पाकर पाञ्चालराज द्रुपदके ही नगरमें सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ १८ ॥

(सर्वेऽप्यतुष्यन् नृप पाण्डवेया-
स्तस्याः शुभैः शीलसमाधिवृत्तैः ।
सा चाप्येषा याज्ञसेनी तदानीं
विवर्धयामास मुदं स्वसुव्रतैः ॥)

राजन् ! सभी पाण्डव द्रौपदीकी सुशीलता, एकाग्रता और सद्व्यवहारसे बहुत संतुष्ट थे (और द्रौपदीको भी संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करते थे) । इसी प्रकार द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उस समय अपने उत्तम नियमोंद्वारा पाण्डवोंका आनन्द बढ़ाती थी ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्रौपदीविवाहे सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें द्रौपदीविवाहविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१९७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका द्रौपदीको उपदेश और आशीर्वाद तथा भगवान् श्रीकृष्णका पाण्डवोंके लिये उपहार भेजना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवैः सह संयोगं गतस्य द्रुपदस्य ह ।
न बभूव भयं किंचिद् देवेभ्योऽपि कथंचन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंसे सम्बन्ध हो जानेपर राजा द्रुपदको देवताओंसे भी किसी प्रकारका कुछ भी भय नहीं रहा, फिर मनुष्योंसे तो हो ही कैसे सकता था ॥ १ ॥

कुन्तीमासाद्य ता नार्यो द्रुपदस्य महात्मनः ।
नाम संकीर्तयन्त्योऽस्या जग्मुः पादौ स्वमूर्धभिः ॥ २ ॥

महात्मा द्रुपदके कुटुम्बकी स्त्रियाँ कुन्तीके पास आकर अपने नाम ले-लेकर उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर प्रणाम करने लगीं ॥ २ ॥

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला ।
कृताभिवादना श्वश्र्वास्तस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

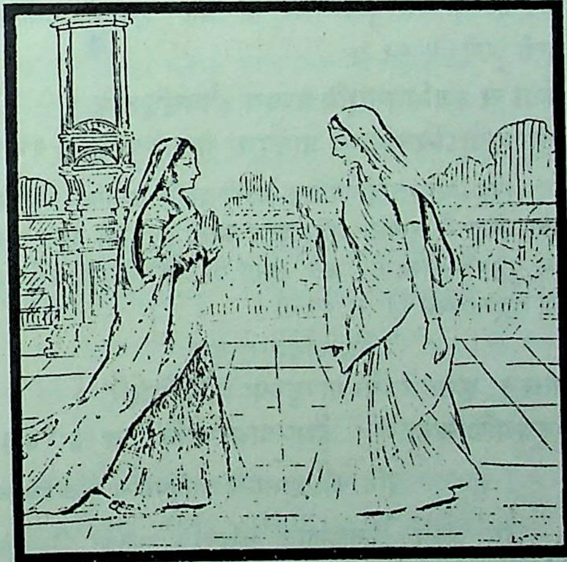
कृष्णा भी रेशमी साड़ी पहने माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करनेके पश्चात् सासके चरणोंमें प्रणाम करके उनके सामने हाथ जोड़ विनीत भावसे खड़ी हुई ॥ ३ ॥

रूपलक्षणसम्पन्नां शीलाचारसमन्विताम् ।
द्रौपदीमवदत् प्रेम्णा पृथाऽऽशीर्वचनं स्नुषाम् ॥ ४ ॥

सुन्दर रूप तथा उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न, शील और सदाचारसे सुशोभित अपनी बहू द्रौपदीको सामने देख कुन्ती-देवी उसे प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देती हुई बोलीं—॥ ४ ॥

यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ॥ ५ ॥
यथा वैश्रवणे भद्रा वसिष्ठे चाप्यरुन्धती ।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तृषु ॥ ६ ॥

'बेटी ! जैसे इन्द्राणी इन्द्रमें, स्वाहा अग्निमें, रोहिणी



चन्द्रमामें, दमयन्ती नलमें, भद्रा कुबेरमें, अरुन्धती वसिष्ठमें तथा लक्ष्मी भगवान् नारायणमें भक्ति-भाव एवं प्रेम रखती हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने पतियोंमें अनुरक्त रहो ॥ ५-६ ॥

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता ।
सुभगा भोगसम्पन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम अनन्त सौख्यसे सम्पन्न होकर दीर्घजीवी तथा वीर पुत्रोंकी जननी बनो । सौभाग्यशालिनी, भोग-सामग्रीसे सम्पन्न, पतिके साथ यज्ञमें बैठनेवाली तथा पतिव्रता होओ ॥ ७ ॥

अतिथीनागतान् साधून् वृद्धान् बालांस्तथा गुरून् ।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद् गच्छन्तु ते समाः ॥८॥

'अपने घरपर आये हुए अतिथियों, साधु पुरुषों, बड़े-बूढ़ों, बालकों तथा गुरुजनोंका यथायोग्य सत्कार करनेमें ही तुम्हारा प्रत्येक वर्ष बीते ॥ ८ ॥

कुरुजाङ्गलमुख्येषु राष्ट्रेषु नगरेषु च ।
अनु त्वमभिषिच्यस्व नृपतिं धर्मवत्सला ॥ ९ ॥

'तुम्हारे पति कुरु-जाङ्गल देशके प्रधान-प्रधान राष्ट्रों तथा नगरोंके राजा हों और उनके साथ ही रानीके पदपर तुम्हारा अभिषेक हो । धर्मके प्रति तुम्हारे हृदयमें स्वाभाविक स्नेह हो ॥ ९ ॥

पतिभिर्निर्जितामुर्वीं विक्रमेण महाबलैः ।
कुरु ब्राह्मणसात् सर्वामश्वमेधे महाक्रतौ ॥ १० ॥

'तुम्हारे महाबली पतियोंद्वारा पराक्रमसे जीती हुई इस समूची पृथ्वीको तुम अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंके हवाले कर दो ॥ १० ॥

पृथिव्यां यानि रत्नानि गुणवन्ति गुणान्विते ।
तान्याप्नुहि त्वं कल्याणि सुखिनी शरदां शतम् ॥११॥

'कल्याणमयी गुणवती बहू ! पृथ्वीपर जितने गुणवान् रत्न हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हों और तुम सौ वर्षतक सुखी रहो ॥ ११ ॥

यथा च त्वाभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम् ।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम् ॥ १२॥

'बहू ! आज तुम्हें वैवाहिक रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित देखकर जिस प्रकार मैं तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ, उसी प्रकार जब तुम पुत्रवती होओगी, उस समय भी अभिनन्दन करूँगी; तुम सद्गुणसम्पन्न हो' ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु कृतदारेभ्यः पाण्डुभ्यः प्राहिणोद्धरिः ।
वैदूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च ॥ १३ ॥
वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः ।
कम्बलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च ॥ १४ ॥
शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च ।
वैदूर्यवज्रचित्राणि शतशो भाजनानि च ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विवाह हो जानेपर पाण्डवोंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने वैदूर्य-मणि-जटित सोनेके बहुत-से आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र, अनेक देशोंके बने हुए कोमल स्पर्शवाले कम्बल, मृगचर्म, सुन्दर रत्न, शय्याएँ, आसन, भाँति-भाँतिके बड़े-बड़े वाहन तथा वैदूर्य और वज्रमणि (हीरे) से खचित सैकड़ों बर्तन भेंटके तौरपर भेजे ॥ १३–१५ ॥

रूपयौवनदाक्षिण्यैरुपेताश्च स्वलंकृताः ।
प्रेष्याः सम्प्रददौ कृष्णो नानादेश्याः स्वलंकृताः ॥ १६ ॥

रूप-यौवन और चातुर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत अनेक देशोंकी सजी-धजी बहुत-सी सुन्दरी सेविकाएँ भी समर्पित कीं ॥ १६ ॥

गजान् विनीतान् भद्रांश्च सदश्वांश्च स्वलंकृतान् ।
रथांश्च दान्तान् सौवर्णैः शुभ्रैः पट्टैरलंकृतान् ॥ १७ ॥
कोटिशश्च सुवर्णं च तेषामकृतकं तथा ।
वीथीकृतममेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः ॥ १८ ॥

इसके सिवा अमेयात्मा मधुसूदनने सुशिक्षित और वशमें रहनेवाले अच्छी जातिके हाथी, गहनोंसे सजे हुए उत्तम घोड़े, चमकते हुए सोनेके पत्रोंसे सुशोभित और सधे हुए घोड़ोंसे युक्त बहुत-से सुन्दर रथ, करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ तथा पंक्तिमें रखी हुई सुवर्णकी ढेरियाँ उनके लिये भेजीं ॥ १७-१८ ॥

तत् सर्वं प्रतिजग्राह धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
मुदा परमया युक्तो गोविन्दप्रियकाम्यया ॥ १९ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये वह सारा उपहार ग्रहण कर लिया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९८ ॥

(विदुरागमनराज्यलम्भपर्व)

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके विवाहसे दुर्योधन आदिकी चिन्ता, धृतराष्ट्रका पाण्डवोंके प्रति प्रेमका दिखावा और दुर्योधनकी कुमन्त्रणा

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञां चरैराप्तैः प्रवृत्तिरुपनीयत ।
पाण्डवैरुपसम्पन्ना द्रौपदी पतिभिः शुभा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर सब राजाओंको अपने विश्वसनीय गुप्तचरोंद्वारा यह यथार्थ समाचार मिल गया कि शुभलक्षणा द्रौपदीका विवाह पाँचों पाण्डवोंके साथ हुआ है ॥ १ ॥

येन तद् धनुरादाय लक्ष्यं विद्धं महात्मना ।
सोऽर्जुनो जयतां श्रेष्ठो महाबाणधनुर्धरः ॥ २ ॥

जिन महात्मा पुरुषने वह धनुष लेकर लक्ष्यको वेधा था, वे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ तथा महान् धनुष-बाण धारण करनेवाले स्वयं अर्जुन थे ॥ २ ॥

यः शल्यं मद्रराजं वै प्रोत्क्षिप्यापातयद् बली ।
त्रासयामास संक्रुद्धो वृक्षेण पुरुषान् रणे ॥ ३ ॥
न चास्य सम्भ्रमः कश्चिदासीत् तत्र महात्मनः ।
स भीमो भीमसंस्पर्शः शत्रुसेनाङ्गपातनः ॥ ४ ॥

जिस बलवान् वीरने अत्यन्त कुपित हो मद्रराज शल्यको उठाकर पृथ्वीपर पटक दिया था और हाथमें वृक्ष ले रणभूमिमें समस्त योद्धाओंको भयभीत कर डाला था तथा जिस महातेजस्वी शूरवीरको उस समय तनिक भी घबराहट नहीं हुई थी, वह शत्रुसेनाके हाथी, घोड़े आदि अङ्गोंको मार गिरानेवाला तथा स्पर्शमात्रसे भय उत्पन्न करनेवाला महाबली भीमसेन था ॥ ३-४ ॥

ब्रह्मरूपधराञ्छ्रुत्वा प्रशान्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
कौन्तेयान् मनुजेन्द्राणां विस्मयः समजायत ॥ ५ ॥

ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रशान्त भावसे बैठे हुए वे वीर पुरुष कुन्तीपुत्र पाण्डव ही थे, यह सुनकर वहाँ आये हुए राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ५ ॥

सपुत्रा हि पुरा कुन्ती दग्धा जतुगृहे श्रुता ।
पुनर्जातानिव च तांस्तेऽमन्यन्त नराधिपाः ॥ ६ ॥

उन्होंने पहले सुन रक्खा था कि कुन्ती अपने पुत्रोंसहित लाक्षागृहमें जल गयी। अब उन्हें जीवित सुनकर वे राजा-लोग यह मानने लगे कि इन पाण्डवोंका फिर नया जन्म-सा हुआ है ॥ ६ ॥

धिगकुर्वंस्तदा भीष्मं धृतराष्ट्रं च कौरवम् ।
कर्मणातिनृशंसेन पुरोचनकृतेन वै ॥ ७ ॥

पुरोचनके किये हुए अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्मका स्मरण हो आनेसे उस समय सभी नरेश कुरुवंशी धृतराष्ट्र तथा भीष्मको धिक्कारने लगे ॥ ७ ॥

(धार्मिकान् वृत्तसंपन्नान् मातुः प्रियहिते रतान् ।
यदा तानीदृशान् पार्थानुत्सादयितुमिच्छति ॥

'देखो न; धर्मात्मा, सदाचारी तथा माताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाले कुन्तीकुमारोंको भी यह धृतराष्ट्र नष्ट करना चाहता है (भला, इससे बढ़कर निन्दनीय कौन होगा)।'

ततः स्वयंवरे वृत्ते धार्तराष्ट्राः स्म भारत ।
मन्त्रयन्ते ततः सर्वे कर्णसौबलदूषिताः ॥

जनमेजय ! उधर स्वयंवर समाप्त होनेपर धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, जिन्हें कर्ण और शकुनिने बिगाड़ रक्खा था, इस प्रकार सलाह करने लगे।

शकुनिरुवाच

कश्चिच्छत्रुः कर्शनीयः पीडनीयस्तथापरः ।
उत्सादनीयाः कौन्तेयाः सर्वे क्षत्रस्य मे मताः ॥

शकुनि बोला—संसारमें कोई शत्रु तो ऐसा होता है, जिसे सब प्रकारसे दुर्बल कर देना उचित है; दूसरा ऐसा होता है, जिसे सदा पीड़ा दी जाय। परंतु कुन्तीके ये सभी पुत्र तो समस्त क्षत्रियोंके लिये समूल नष्ट कर देने योग्य हैं। इनके विषयमें मेरा यही मत है।

एवं पराजिताः सर्वे यदि यूय गमिष्यथ ।
अकृत्वा संविदं कांचित् तद् वस्तप्स्यत्यसंशयम् ॥

यदि इस प्रकार पराजित होकर आप सब लोग इन (पाण्डवोंके विनाशकी) युक्ति निश्चित किये बिना ही चले जायँगे, तो अवश्य ही यह भूल आपलेगोंको सदा संतप्त करती रहेगी।

अयं देशश्च कालश्च पाण्डवोद्धरणाय नः ।
न चेदेवं करिष्यध्वं लोके हास्या भविष्यथ ॥

पाण्डवोंको जड़मूलसहित विनष्ट करनेके लिये हमारे सामने यही उपयुक्त देश और काल उपस्थित है। यदि आपलोग ऐसा नहीं करेंगे तो संसारमें उपहासके पात्र होंगे।

यमेते संश्रिता वस्तुं कामयन्ते च भूमिपम् ।
सोऽल्पवीर्यबलो राजा द्रुपदो वै मतो मम ॥

ये पाण्डव जिस राजाके आश्रयमें रहनेकी इच्छा रखते हैं, उस द्रुपदका बल और पराक्रम मेरी रायमें बहुत थोड़ा है।

यावदेतान् न जानन्ति जीवतो वृष्णिपुङ्गवाः ।
चैद्यश्च पुरुषव्याघ्रः शिशुपालः प्रतापवान् ॥

जबतक वृष्णिवंशके श्रेष्ठ वीर यह नहीं जानते कि पाण्डव जीवित हैं, पुरुषसिंह चेदिराज प्रतापी शिशुपाल भी जबतक इस बातसे अनभिज्ञ है, तभीतक पाण्डवोंको मार डालना चाहिये।

एकीभावं गता राज्ञा द्रुपदेन महात्मना ।
दुराधर्षतरा राजन् भविष्यन्ति न संशयः ॥

राजन् ! जब ये महात्मा राजा द्रुपदके साथ मिलकर एक हो जायँगे, तब इन्हें परास्त करना अत्यन्त कठिन हो जायगा, इसमें संशय नहीं है।

यावदत्वरतां सर्वे प्राप्नुवन्ति नराधिपाः ।
तावदेव व्यवस्यामः पाण्डवानां वधं प्रति ॥

जबतक सब राजा ढीले पड़े हैं, तभीतक हमें पाण्डवोंके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर लेना चाहिये।

मुक्ता जतुगृहाद् भीमाद् आशीविषमुखादिव ।
पुनर्यदीह मुच्यन्ते महन्नो भयमाविशेत् ॥

विषधर सर्पके मुख-सदृश भयंकर लाक्षागृहसे तो वे बच ही गये हैं। यदि फिर यहाँ हमारे हाथसे छूट जाते हैं तो उनसे हमलोगोंको महान् भय प्राप्त हो सकता है।

तेषामिहोपयातानामेषां च पुरवासिनाम्।
अन्तरे दुष्करं स्थातुं मेषयोर्महतोरिव ॥

यदि वे वृष्णिवंशी और चेदिवंशी वीर यहाँ आ जायँ और यहाँके नागरिक भी अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो जायँ तो इनके बीचमें खड़ा होना उतना ही कठिन होगा, जितना आपसमें लड़ते हुए दो विशाल मेढ़ोंके बीचमें ठहरना।

हलधृक्प्रगृहीतानि बलानि बलिनां स्वयम्।
यावन्न कुरुसेनायां पतन्ति पतगा इव ॥
तावत् सर्वाभिसारेण पुरमेतद् विनाश्यताम्।
एतदत्र परं मन्ये प्राप्तकालं नरर्षभाः ॥

जबतक हल धारण करनेवाले बलरामजीके द्वारा संचालित बलवान् योद्धाओंकी सेनाएँ स्वयं ही आकर कौरव-सेनारूपी खेतीपर टिड्डियोंकी भाँति टूट न पड़ें, तबतक हम सब लोग एक साथ आक्रमण करके इस नगरको नष्ट कर दें। नरश्रेष्ठ वीरो ! मैं इस अवसरपर यही सर्वोत्तम कर्त्तव्य मानता हूँ!

वैशम्पायन उवाच

शकुनेर्वचनं श्रुत्वा भाषमाणस्य दुर्मतेः।
सौमदत्तिरिदं वाक्यं जगाद परमं ततः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—दुर्बुद्धि शकुनिका यह प्रस्ताव सुनकर सोमदत्त-कुमार भूरिश्रवाने यह उत्तम बात कही।

सौमदत्तिरुवाच

प्रकृतीः सप्त वै ज्ञात्वा आत्मनश्च परस्य च।
तथा देशं च कालं च षड्विधांश्च नयेद् गुणान् ॥

भूरिश्रवा बोले—अपने पक्षकी और शत्रुपक्षकी भी सातों प्रकृतियोंको[1] ठीक-ठीक जानकर ही देश और कालका ज्ञान रखते हुए छः प्रकारके गुणोंका[2] यथावसर प्रयोग करना चाहिये।

स्थानं वृद्धिं क्षयं चैव भूमिं मित्राणि विक्रमम्।
समीक्ष्याथाभियुञ्जीत परं व्यसनपीडितम् ॥

स्थान, वृद्धि, क्षय, भूमि, मित्र तथा पराक्रम—इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए यदि शत्रु संकटसे पीड़ित हो तभी उसपर आक्रमण करना चाहिये।

ततोऽहं पाण्डवान् मन्ये मित्रकोशसमन्वितान्।
बलस्थान् विक्रमस्थांश्च स्वकृतैः प्रकृतिप्रियान् ॥

इस दृष्टिसे देखनेपर मैं पाण्डवोंको मित्र और खजाना दोनोंसे सम्पन्न समझता हूँ। वे बलवान् तो हैं ही, पराक्रमी भी हैं और अपने सत्कर्मोंद्वारा समस्त प्रजाके प्रिय हो रहे हैं।

वपुषा हि तु भूतानां नेत्राणि हृदयानि च।
श्रोत्रं मधुरया वाचा रमयत्यर्जुनो नृणाम् ॥

अर्जुन अपने शरीरकी गठनसे (सभी) मनुष्योंके नेत्रों तथा हृदयको आनन्द प्रदान करते हैं और मीठी-मीठी वाणी-द्वारा सबके कानोंको सुख पहुँचाते हैं।

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन भेजिरे।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा च चकार तत् ॥

केवल प्रारब्धसे ही प्रजा उनकी सेवा नहीं करती। प्रजाके मनको जो प्रिय लगता है, उसकी पूर्ति अर्जुन अपने प्रयत्नोंद्वारा करते रहते हैं।

न ह्ययुक्तं न चासक्तं नानृतं न च विप्रियम्।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य भारती ॥

मनोहर वचन बोलनेवाले अर्जुनकी वाणी कभी ऐसा वचन नहीं बोलती, जो अयुक्त, आसक्तिपूर्ण, मिथ्या तथा अप्रिय हो।

तानेवंगुणसम्पन्नान् सम्पन्नान् राजलक्षणैः।
न तान् पश्यामि ये शक्ताः समुच्छेत्तुं यथा बलात् ॥

समस्त पाण्डव राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न तथा उपर्युक्त गुणोंसे विभूषित हैं। मैं ऐसे किन्हीं वीरोंको नहीं देखता, जो अपने बलसे पाण्डवोंका वास्तवमें उच्छेद कर सकें।

प्रभावशक्तिर्विपुला मन्त्रशक्तिश्च पुष्कला।
तथैवोत्साहशक्तिश्च पार्थेष्वभ्यधिका सदा ॥

उनकी प्रभावशक्ति विपुल है, मन्त्रशक्ति भी प्रचुर है तथा उत्साहशक्ति भी पाण्डवोंमें सबसे अधिक है।

मौलमित्रबलानां च कालज्ञो वै युधिष्ठिरः।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनेति युधिष्ठिरः ॥
अमित्रं यतते जेतुं न रोषेणेति मे मतिः ॥

युधिष्ठिर इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि कब स्वाभाविक बलका प्रयोग करना चाहिये तथा कब मित्र और सैन्यबलका। राजा युधिष्ठिर साम, दान, भेद और दण्ड-नीतिके द्वारा ही यथासमय शत्रुको जीतनेका प्रयत्न करते हैं, क्रोधके द्वारा नहीं—ऐसा मेरा विश्वास है।

परिक्रीय धनैः शत्रून् मित्राणि च बलानि च।
मूलं च सुदृढं कृत्वा हन्त्यरीन् पाण्डवस्तदा ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर प्रचुर धन देकर शत्रुओंको, मित्रों-

---

१. राज्यके स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—इन सात अङ्गोंको सात प्रकृतियाँ कहते हैं।

२. संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं। इनमें शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता।

को तथा सेनाओंको भी खरीद लेते हैं और अपनी नींवको सुदृढ़ करके शत्रुओंका नाश करते हैं ।

अशक्यान् पाण्डवान् मन्ये देवैरपि सवासवैः ।
येषामर्थे सदा युक्तौ कृष्णसंकर्षणावुभौ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि इन्द्र आदि देवता भी उन पाण्डवोंका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, जिनकी सहायताके लिये कृष्ण और बलराम दोनों सदा कमर कसे रहते हैं ।

श्रेयश्च यदि मन्यध्वं मन्मतं यदि वो मतम् ।
संविदं पाण्डवैः सार्धं कृत्वा याम यथागतम् ॥

यदि आपलोग मेरी बातको हितकर मानते हों, यदि मेरे मतके अनुकूल ही आपलोगोंका मत हो, तो हमलोग पाण्डवोंसे मेल करके जैसे आये हैं, वैसे ही लौट चलें ।

गोपुराट्टालकैरुच्चैरुपतल्पशतैरपि ।
गुप्तं पुरवरश्रेष्ठमेतदद्भिश्च संवृतम् ॥
तृणधान्येन्धनरसैः तथा यन्त्रायुधौषधैः ।
युक्तं बहुकपाटैश्च द्रव्यागारतुषादिकैः ॥

यह श्रेष्ठ नगर गोपुरों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं तथा सैकड़ों उपतल्पोंसे सुरक्षित है । इसके चारों ओर जलसे भरी खाई है । घास-चारा, अनाज, ईंधन, रस, यन्त्र, आयुध तथा औषध आदिकी यहाँ बहुतायत है । बहुत-से कपाट, द्रव्यागार और भूसा आदिसे भी यह नगर भरपूर है ।

भीमोच्छ्रितमहाचक्रं बृहदट्टालसंवृतम् ।
दृढप्राकारनिर्यूहं शतघ्नीजालसंवृतम् ॥

यहाँ बड़े भयंकर और ऊँचे विशाल चक्र हैं । बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंकी पंक्ति इस नगरको घेरे हुए है । इसकी चहारदीवारी और छज्जे सुदृढ़ हैं । शतघ्नी (तोप) नामक अस्त्रोंके समुदायसे यह नगरी घिरी हुई है ।

ऐष्टको दारवो वप्रो मानुषश्चेति यः स्मृतः ।
प्राकारकर्तृभिर्वीरैः नृगर्भस्तत्र पूजितः ॥

इसकी रक्षाके लिये तीन प्रकारका घेरा बना है—एक तो ईंटोंका, दूसरा काठका और तीसरा मानव-सैनिकोंका । चहारदिवारी बनानेवाले वीरोंने यहाँ नरगर्भकी पूजा की है ।

तदेतन्नरगर्भेण पाण्डरेण विराजते ।
सालेनानेकतालेन सर्वतः संवृतं पुरम् ॥
अनुरक्ताः प्रकृतयो द्रुपदस्य महात्मनः ।
दानमानार्चिताः सर्वे बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥

इस प्रकार यह नगर श्वेत नरगर्भसे शोभित है । अनेक ताड़के बराबर ऊँचे शालवृक्षोंकी पंक्तियोंद्वारा यह श्रेष्ठ नगरी सब ओरसे घिरी हुई है । महामना राजा द्रुपदकी सभी प्रजा और प्रकृतियाँ (मन्त्री आदि) उनमें अनुराग रखती है । बाहर और भीतरके सभी कर्मचारियोंका दान और मान-द्वारा सत्कार किया जाता है ।

प्रतिरुद्धानिमाञ्ज्ञात्वा राजभिर्भीमविक्रमैः ।
उपयास्यन्ति दाशार्हाः समुदग्रोच्छ्रितायुधाः ॥

भयानक-पराक्रमी राजाओंद्वारा पाण्डवोंको सब ओरसे घिरा हुआ जानकर समस्त यदुवंशी वीर प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र लिये यहाँ उपस्थित हो जायँगे ।

तस्मात् संधिं वयं कृत्वा धार्तराष्ट्रस्य पाण्डवैः ।
स्वराष्ट्रमेव गच्छामो यद्याप्तवचनं मम ॥
एतन्मम मतं सर्वैः क्रियतां यदि रोचते ।
एतद्धि सुकृतं मन्ये क्षेमं चापि महीक्षिताम् ॥)

अतः हम धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनकी पाण्डवोंके साथ संधि कराकर अपने राज्यमें ही लौट चलें । यदि आपलोगोंको मेरी बातपर विश्वास हो और मेरा यह मत सबको ठीक जँचता हो तो आप सब लोग इसे काममें लायें । हमारा यही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है और मैं इसीको राजाओंके लिये कल्याणकारी मानता हूँ ।

वृत्ते स्वयंवरे चैव राजानः सर्व एव ते ।
यथागतं विप्रजग्मुर्विदित्वा पाण्डवान् वृतान् ॥ ८ ॥

स्वयंवर समाप्त हो जानेपर जब यह ज्ञात हो गया कि द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है, तब वे सभी राजा जैसे आये थे, वैसे ही (अपने-अपने) देशको लौट गये ॥ ८ ॥

अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ ९ ॥
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम् ।
तं तु दुःशासनो व्रीडन् मन्दं मन्दमिवाब्रवीत् ॥ १० ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णाने श्वेतवाहन अर्जुनको (जयमाला पहनाकर उनका) वरण किया है, यह अपनी आँखों देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ा दुःख हुआ । वह अश्वत्थामा, मामा शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य तथा अपने भाइयोंके साथ (द्रुपदकी राजधानीसे) हस्तिनापुरके लिये लौट पड़ा । मार्गमें दुःशासनने लज्जित होकर दुर्योधनसे धीरे धीरे (इस प्रकार) कहा—॥ ९-१० ॥

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद् विन्देत द्रौपदीं न सः ।
न हि तं तत्त्वतो राजन् वेद कश्चिद् धनंजयम् ॥ ११ ॥

'भाईजी ! यदि अर्जुन ब्राह्मणके वेशमें न होता तो वह कदापि द्रौपदीको न पा सकता था । राजन् ! वास्तवमें किसी-को यह पता ही नहीं चला कि वह अर्जुन है ॥ ११ ॥

दैवं च परमं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ।
धिगस्तु पौरुषं तात ध्रियन्ते यत्र पाण्डवाः ॥ १२ ॥

'मैं तो भाग्यको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषका प्रयत्न निरर्थक है । तात ! हमारे पुरुषार्थको धिक्कार है, जब कि पाण्डव अभीतक जी रहे हैं' ॥ १२ ॥

एवं सम्भाषमाणास्ते निन्दन्तश्च पुरोचनम् ।
विविशुर्हास्तिनपुरं दीना विगतचेतसः ॥ १३ ॥

इस प्रकार परस्पर बातें करते और पुरोचनको कोसते हुए वे सब कौरव दुखी होकर हस्तिनापुरमें पहुँचे। (पाण्डवोंकी) सफलता देखकर, उनका चित्त ठिकाने न रहा ॥ १३ ॥

त्रस्ता विगतसंकल्पा दृष्ट्वा पार्थान् महौजसः ।
मुक्तान् हव्यभुजश्चैव संयुक्तान् द्रुपदेन च ॥ १४ ॥
धृष्टद्युम्नं तु संचिन्त्य तथैव च शिखण्डिनम् ।
द्रुपदस्यात्मजांश्चान्यान् सर्वयुद्धविशारदान् ॥ १५ ॥

महातेजस्वी कुन्तीकुमार लाक्षागृहकी आगसे जीवित बचकर राजा द्रुपदके सम्बन्धी हो गये, यह अपनी आँखों देखकर और धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रुपदके अन्य पुत्र युद्धकी सम्पूर्ण कलाओंमें दक्ष हैं, इस बातका विचार करके कौरव बहुत डर गये। उनकी आशा निराशामें परिणत हो गयी ॥ १४-१५ ॥

विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृताम् ।
व्रीडितान् धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ॥ १६ ॥
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशाम्पते ।
उवाच दिष्ट्या कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ॥ १७ ॥

विदुरजीने जब यह सुना कि पाण्डवोंने द्रौपदीको प्राप्त किया है और धृतराष्ट्रके पुत्र अपना अभिमान चूर्ण हो जानेसे लज्जित होकर लौट आये हैं, तब वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। राजन् ! तब वे धृतराष्ट्रके पास जाकर विस्मय-सूचक वाणीमें बोले—'महाराज ! हमारा अहोभाग्य है, जो कौरववंशकी वृद्धि हो रही है ॥ १६-१७ ॥



वैचित्रवीर्यस्तु वचो निशम्य विदुरस्य तत् ।
अब्रवीत् परमप्रीतो दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥ १८ ॥

भारत ! विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र विदुरकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो सहसा बोल उठे—'अहोभाग्य, अहोभाग्य' ॥ १८ ॥

मन्यते स वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया ।
दुर्योधनमविज्ञानात् प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ॥ १९ ॥

उस अंधे नरेशने अज्ञानवश यह समझ लिया कि 'द्रुपदकन्याने मेरे ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधनका वरण किया है' ॥ १९ ॥

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु ।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ॥ २० ॥

इसलिये उन्होंने आज्ञा दी—'द्रौपदीके लिये बहुत-से आभूषण मँगाओ और मेरे पुत्र दुर्योधन तथा द्रौपदीको बड़ी धूमधामसे नगरमें ले आओ' ॥ २० ॥

अथास्य पश्चाद् विदुर आचख्यौ पाण्डवान् वृतान् ।
सर्वान् कुशलिनो वीरान् पूजितान् द्रुपदेन ह ॥ २१ ॥

तब पीछेसे विदुरने उन्हें बताया कि—'द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है। वे सभी वीर राजा द्रुपदके द्वारा पूजित होकर वहाँ कुशलपूर्वक रह रहे हैं ॥ २१ ॥

तेषां सम्बन्धिनश्चान्यान् बहून् बलसमन्वितान् ।
समागतान् पाण्डवेयैस्तस्मिन्नेव स्वयंवरे ॥ २२ ॥

उसी स्वयंवरमें उनके बहुत-से अन्य सम्बन्धी भी, जो भारी सैनिकशक्तिसे सम्पन्न हैं, पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिले हैं ॥ २२ ॥

(एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य नराधिपः ।
आकारच्छादनार्थं तु दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥

विदुरका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने अपनी बदली हुई आकृतिको छिपानेके लिये कहा—'अहोभाग्य ! अहोभाग्य !'

धृतराष्ट्र उवाच

एवं विदुर भद्रं ते यदि जीवन्ति पाण्डवाः ।
साध्वाचारा तथा कुन्ती सम्बन्धो द्रुपदेन च ॥
अन्ववाये वसोर्जातः प्रकृष्टे मान्यके कुले ।
व्रतविद्यातपोवृद्धः पार्थिवानां धुरन्धरः ॥
पुत्राश्चास्य तथा पौत्राः सर्वे सुचरितव्रताः ।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवः सुमहाबलाः ॥)

धृतराष्ट्र (फिर) बोले—विदुर ! यदि ऐसी बात है, यदि (वास्तवमें) पाण्डव जीवित हैं, तो बड़े आनन्दकी बात है, तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही कुन्ती बड़ी साध्वी हैं। द्रुपदके साथ जो सम्बन्ध हुआ है, वह हमारे लिये अत्यन्त स्पृहणीय है। विदुर ! राजा द्रुपद वसुके श्रेष्ठ और सम्माननीय कुलमें उत्पन्न हुए हैं। व्रत, विद्या और तप—तीनोंमें वे बढ़े-चढ़े हैं। राजाओंमें तो वे अग्रगण्य हैं ही। उनके सभी पुत्र और पौत्र भी उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं। द्रुपदके अन्य बहुत-से सम्बन्धी भी अत्यन्त बलवान् हैं।

यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु तथैवाभ्यधिका मम ।
यथा चाभ्यधिका बुद्धिर्मम तान् प्रति तच्छृणु ॥ २३ ॥

विदुर ! युधिष्ठिर आदि जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही या उससे भी अधिक मेरे हैं। उनके प्रति मेरे मनमें अधिक अपनापनका भाव क्यों है ?, यह बताता हूँ; सुनो ॥ २३ ॥

यत् ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवश्च महाबलाः ॥ २४ ॥

वे वीर पाण्डव कुशलपूर्वक जीवित बच गये हैं और उन्हें मित्रोंका सहयोग भी प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, और भी बहुत-से महाबली नरेश उनके सम्बन्धी होते जा रहे हैं ॥ २४ ॥

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम्।
न बुभूषेद् भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ॥ २५ ॥

विदुर ! कौन ऐसा राजा है, जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर भी बन्धु-बान्धवोंसहित द्रुपदको मित्रके रूपमें पाकर जीना नहीं चाहेगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतं समाः।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजन् विदुरः स्वं निवेशनम् ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसी बातें कहनेवाले राजा धृतराष्ट्रसे विदुर (इस प्रकार) बोले—'महाराज ! सौ वर्षोंतक आपकी बुद्धि ऐसी ही बनी रहे।' राजन् ! इतना कहकर विदुरजी अपने घर चले गये ॥ २६ ॥

ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशाम्पते।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ॥२७॥

जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन और कर्णने धृतराष्ट्रके पास आकर यह बात कही—॥ २७ ॥

संनिधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥ २८॥
सपत्नवृद्धिं यत् तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः।
अभिष्टौषि च यत् क्षत्तुः समीपे द्विषतां वर ॥ २९ ॥

'महाराज ! विदुरके समीप हम आपसे आपका कोई दोष नहीं बता सकते। इस समय एकान्त है, इसलिये कहते हैं। आप यह क्या करना चाहते हैं ? पूज्य पिताजी ! आप तो शत्रुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नति मानने लगे हैं और विदुरजीके निकट हमारे वैरियोंकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ॥ २८-२९ ॥

अन्यस्मिन् नृप कर्तव्ये त्वमन्यत् कुरुषेऽनघ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥ ३० ॥

'निष्पाप नरेश ! हमें करना तो कुछ और चाहिये, किंतु आप करते कुछ और (ही) हैं। तात ! हमारे लिये तो यही उचित है कि हम सदा पाण्डवोंकी शक्तिका विनाश करते रहें ॥

ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥ ३१ ॥

'इस समय जैसा अवसर उपस्थित है, इसमें हमें क्या करना चाहिये—यही सोच-विचारकर निश्चय करना है, जिससे वे पाण्डव पुत्र बान्धव तथा सेनासहित हमारा सर्वनाश न कर बैठें' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवचनविषयक एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

द्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, शत्रुओंको वशमें करनेके उपाय

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम्।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! मैं भी तो वही करना चाहता हूँ, जैसा तुम दोनों चाहते हो; परंतु मैं अपनी आकृतिसे भी विदुरपर अपने मनका भाव प्रकट होने देना नहीं चाहता॥

ततस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ॥ २ ॥

इसीलिये विदुरके सामने विशेषतः पाण्डवोंके गुणोंका ही बखान करता हूँ, जिससे वह इशारेसे भी मेरे मनोभावको न ताड़ सके ॥ २ ॥

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तद् ब्रवीहि सुयोधन।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाशु मे ॥ ३ ॥

सुयोधन और कर्ण ! तुम दोनों समयके अनुसार जो कार्य करना आवश्यक समझते हो वह शीघ्र मुझे बताओ ॥ ३ ॥

दुर्योधन उवाच

अद्य तान् कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः।
कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! आज अत्यन्त गुप्तरूपसे कुछ ऐसे चतुर ब्राह्मणोंको नियुक्त करना चाहिये, जिनके कार्योंपर हमारा पूर्ण विश्वास हो। हमें उनके द्वारा पाण्डवोंमेंसे कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंमें फूट डालनेकी चेष्टा करनी चाहिये॥

अथवा द्रुपदो राजा महद्भिर्वित्तसंचयैः ।
पुत्राश्चास्य प्रलोभ्यन्ताममात्याश्चैव सर्वशः ॥ ५ ॥
परित्यजेद् यथा राजा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अथ तत्रैव वा तेषां निवासं रोचयन्तु ते ॥ ६ ॥

अथवा धनकी बहुत बड़ी राशि देकर राजा द्रुपद, उनके पुत्र तथा मन्त्रियोंको सर्वथा प्रलोभनमें डालना चाहिये, जिससे पञ्चालनरेश कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको त्याग दें—उन्हें अपने घर और नगरसे निकाल दें। अथवा वे ब्राह्मणलोग पाण्डवोंके मनमें वहीं रहनेकी रुचि उत्पन्न करें ॥ ५-६ ॥

इहैषां दोषवद्वासं वर्णयन्तु पृथक् पृथक् ।
ते भिद्यमानास्तत्रैव मनः कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ ७ ॥

वे अलग-अलग इन सभी पाण्डवोंसे कहें कि हस्तिनापुरका निवास आपलोगोंके लिये अत्यन्त हानिकारक होगा। इस प्रकार ब्राह्मणोंद्वारा बुद्धिभेद उत्पन्न कर देनेपर सम्भव है, पाण्डवलोग अपने मनमें वहीं (पञ्चालदेशमें ही) रहनेका निश्चय कर लें ॥ ७ ॥

अथवा कुशलाः केचिदुपायनिपुणा नराः ।
इतरेतरतः पार्थान् भेदयन्त्वनुरागतः ॥ ८ ॥

अथवा कुछ ऐसे मनुष्य भेजे जायँ, जो उपाय ढूँढ़ निकालनेमें चतुर तथा कार्यकुशल हों और प्रेमपूर्वक बातें करके कुन्तीपुत्रोंमें परस्पर फूट डाल दें ॥ ८ ॥

व्युत्थापयन्तु वा कृष्णां बहुत्वात् सुकरं हि तत् ।
अथवा पाण्डवांस्तस्यां भेदयन्तु ततश्च ताम् ॥ ९ ॥

अथवा कृष्णाको ही इस प्रकार बहका दें कि वह अपने पतियोंका परित्याग कर दे। अनेक पति होनेके कारण (उसका किसीमें भी सुदृढ़ अनुराग नहीं हो सकता; अतः) उनका परित्याग कराना सरल है। अथवा वे लोग पाण्डवोंको ही द्रौपदीकी ओरसे विलग कर दें और ऐसा होनेपर द्रौपदीको उनकी ओरसे विरक्त बना दें ॥ ९ ॥

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ॥ १० ॥

अथवा राजन् ! उपायकुशल मनुष्य छिपे रहकर भीमसेनका ही वध कर डालें; क्योंकि वही पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् है ॥ १० ॥

तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चास्मान् न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणम् ॥ ११ ॥

उसीका आश्रय लेकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पहलेसे ही हमें कुछ नहीं समझते। वह बड़े तीखे स्वभावका और शूरवीर है। वही पाण्डवोंका सबसे बड़ा सहारा है ॥ ११ ॥

तस्मिंस्त्वभिहते राजन् हतोत्साहा हतौजसः ।
यतिष्यन्ते न राज्याय स हि तेषां व्यपाश्रयः ॥ १२ ॥

राजन् ! उसके मारे जानेपर पाण्डवोंका बल और उत्साह नष्ट हो जायगा। फिर वे राज्य लेनेका प्रयत्न नहीं करेंगे। भीमसेन ही उनका सबसे बड़ा आश्रय है ॥ १२ ॥

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ॥ १३ ॥

भीमसेनको पृष्ठरक्षक पाकर ही अर्जुन युद्धमें अजेय बने हुए हैं। यदि भीम न हों तो वे रणभूमिमें कर्णकी एक चौथाईके बराबर भी नहीं हो सकेंगे ॥ १३ ॥

ते जानानास्तु दौर्बल्यं भीमसेनमृते महत् ।
अस्मान् बलवतो ज्ञात्वा न यतिष्यन्ति दुर्बलाः ॥ १४ ॥

भीमसेनके बिना अपनी बहुत बड़ी दुर्बलताका अनुभव करके वे दुर्बल पाण्डव हमें अपनेसे बलवान् जानकर राज्य लेनेका प्रयत्न नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

इहागतेषु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
प्रवर्तिष्यामहे राजन् यथाशास्त्रं निबर्हणम् ॥ १५ ॥

राजन् ! अथवा यदि वे यहाँ आकर हमारी आज्ञाके अधीन होकर रहेंगे, तब हम नीतिशास्त्रके अनुसार उनके विनाशके कार्यमें लग जायँगे ॥ १५ ॥

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ॥ १६ ॥

अथवा देखनेमें सुन्दर युवती स्त्रियोंद्वारा एक-एक पाण्डवको लुभाया जाय और इस प्रकार कृष्णाका मन उनकी ओरसे फेर दिया जाय ॥ १६ ॥

प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
तैस्तैः प्रकारैः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः ॥ १७ ॥

अथवा पाण्डवोंको यहाँ बुला लानेके लिये राधानन्दन कर्णको भेजा जाय और यहाँ लाकर विश्वसनीय कार्यकर्ताओंद्वारा विभिन्न उपायोंसे उन सबको मार गिराया जाय ॥ १७ ॥

एतेषामप्युपायानां यस्ते निर्दोषवान् मतः ।
तस्य प्रयोगमातिष्ठ पुरा कालोऽतिवर्तते ॥ १८ ॥
यावद्ध्यकृतविश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
तावदेव हि ते शक्या न शक्यास्तु ततः परम् ॥ १९ ॥

पिताजी ! इन उपायोंमेंसे जो भी आपको निर्दोष जान पड़े, उसीसे पहले काम लीजिये; क्योंकि समय बीता जा रहा है। जबतक वे राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदपर उनका पूरा विश्वास नहीं जम जाता, तभीतक उन्हें मारा जा सकता है। पूरा विश्वास जम जानेपर तो उन्हें मारना असम्भव हो जायगा ॥ १८-१९ ॥

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते।
साध्वी वा यदि वासाध्वी किं वा राधेय मन्यसे ॥

पिताजी ! शत्रुओंको वशमें करनेके लिये ये ही उपाय मेरी बुद्धिमें आते हैं; मेरा यह विचार भला है या बुरा, यह आप जानें। अथवा कर्ण ! तुम्हारी क्या राय है ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको पराक्रमसे दबानेके लिये कर्णकी सम्मति

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः।
न ह्युपायेन ते शक्याः पाण्डवाः कुरुवर्धन ॥ १ ॥

कर्णने कहा—दुर्योधन ! मेरे विचारसे तुम्हारी यह सलाह ठीक नहीं है। कुरुवर्धन ! ऐसे किसी भी उपायसे पाण्डवोंको वशमें नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥

पूर्वमेव हि ते सूक्ष्मैरुपायैर्यतितास्त्वया।
निग्रहीतुं तदा वीर न चैव शकितास्त्वया ॥ २ ॥
इहैव वर्तमानास्ते समीपे तव पार्थिव।
अजातपक्षाः शिशवः शकिता नैव बाधितुम् ॥ ३ ॥

वीर ! पहले भी तुमने अनेक गुप्त उपायोंद्वारा पाण्डवोंको दबानेकी चेष्टा की है, परंतु उनपर तुम्हारा वश नहीं चल सका। भूपाल ! वे जब बच्चे थे और यहीं तुम्हारे पास रहते थे, उस समय उनके पक्षमें कोई नहीं था, तब भी तुम उन्हें बाधा पहुँचानेमें सफल न हो सके ॥ २-३ ॥

जातपक्षा विदेशस्था विवृद्धाः सर्वशोऽद्य ते।
नोपायसाध्याः कौन्तेया ममैषा मतिरच्युत ॥ ४ ॥

अब तो वे विदेशमें हैं, उनके पक्षमें बहुत-से लोग हो गये हैं और सब प्रकारसे उनकी बढ़ती हो गयी है। अतः अब वे कुन्तीकुमार तुम्हारे बताये हुए उपायोंद्वारा वशमें आनेवाले नहीं हैं। पुरुषार्थसे कभी च्युत न होनेवाले वीर ! मेरा तो यही विचार है ॥ ४ ॥

न च ते व्यसनैर्योक्तुं शक्या दिष्टकृतेन च।
शकिताश्चेप्सवश्चैव पितृपैतामहं पदम् ॥ ५ ॥

अब वे संकटमें नहीं डाले जा सकते। भाग्यने उन्हें शक्तिशाली बना दिया है और उनमें अपने बाप-दादोंके राज्यको प्राप्त करनेकी अभिलाषा जाग उठी है ॥ ५ ॥

परस्परेण भेदश्च नाधातुं तेषु शक्यते।
एकस्यां ये रताः पत्न्यां न भिद्यन्ते परस्परम् ॥ ६ ॥

उनमें आपसमें भी फूट डालना सम्भव नहीं है। जो (एकराय होकर) एक ही पत्नीमें अनुरक्त हैं, उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

न चापि कृष्णा शक्येत तेभ्यो भेदयितुं परैः।
परिद्यूनान् वृतवती किमुताद्य मृजावतः ॥ ७ ॥

कृष्णाको भी उनकी ओरसे फूट डालकर विलग करना असम्भव है; क्योंकि जब पाण्डवलोग भिक्षाभोजी होनेके कारण दीन-हीन थे, उस अवस्थामें कृष्णाने उनका वरण किया है; अब तो वे सम्पत्तिशाली होकर स्वच्छ एवं सुन्दर वेषमें रहते हैं, अब वह क्यों उनकी ओरसे विरक्त होगी ?

ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं क्षमा ॥ ८ ॥

प्रायः स्त्रियोंका यह अभीष्ट गुण है कि एक स्त्रीमें अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी रुचि हो। पाण्डवोंके साथ रहनेमें कृष्णाको यह लाभ स्वतः प्राप्त है; अतः उसके मनमें भेद नहीं उत्पन्न किया जा सकता ॥ ८ ॥

आर्यव्रतश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः।
न संत्यक्ष्यति कौन्तेयान् राज्यदानैरपि ध्रुवम् ॥ ९ ॥

पाञ्चालराज द्रुपद श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले हैं। वे धनके लोभी नहीं हैं। अतः तुम अपना सारा राज्य दे दो, तो भी यह निश्चय है कि वे कुन्ती-पुत्रोंका परित्याग नहीं करेंगे ॥

यथास्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान्।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन ॥ १० ॥

इसी प्रकार उनका पुत्र धृष्टद्युम्न भी गुणवान् तथा पाण्डवोंका प्रेमी है। अतः मैं उन्हें पूर्वोक्त उपायोंसे वशमें करने योग्य कदापि नहीं मान सकता ॥ १० ॥

इदं त्वद्य क्षमं कर्तुमस्माकं पुरुषर्षभ।
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते ॥ ११ ॥
तावत् प्रहरणीयास्ते तत् तुभ्यं तात रोचताम्।
अस्मत्पक्षो महान् यावद् यावत् पाञ्चालको लघुः।
तावत् प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥ १२ ॥

राजन् ! इस समय हमारे लिये एक ही उपाय काममें लाने योग्य है; वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जबतक अपनी जड़ नहीं जमा लेते, तभीतक उनपर प्रहार करना चाहिये। इसीसे वे काबूमें आ सकते हैं।' तात ! मैं समझता हूँ, तुम्हें भी यह राय पसंद होगी। जबतक हमारा

पक्ष बढ़ा-चढ़ा है, और जबतक पाञ्चालराजका बल हमसे कम है, तभीतक उनपर आक्रमण कर दिया जाय। इसमें दूसरा कुछ विचार न करो ॥ ११-१२ ॥

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद् विक्रम पार्थिव ॥ १३ ॥

राजन्! गान्धारीनन्दन! जबतक पाण्डवोंके पास बहुत-से वाहन, मित्र और कुटुम्बी नहीं हो जाते, तभीतक तुम उनके ऊपर पराक्रम कर लो ॥ १३ ॥

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः।
सह पुत्रैर्महावीर्यैस्तावद् विक्रम पार्थिव ॥ १४ ॥

पृथ्वीपते! जबतक पाञ्चालनरेश अपने महापराक्रमी पुत्रोंके साथ हमारे ऊपर चढ़ाई करनेका विचार नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम अपना बल-विक्रम प्रकट कर लो ॥ १४ ॥

यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन् यादववाहिनीम्।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां पाञ्चाल्यसदनं प्रति ॥ १५ ॥

इसके लिये तुम्हें तभीतक अवसर है, जबतक कि वृष्णिकुलनन्दन श्रीकृष्ण यदुवंशियोंकी सेना साथ लिये पाण्डवोंको राज्य दिलानेके उद्देश्यसे पाञ्चालराजके घरपर नहीं आ जाते ॥ १५ ॥

वसूनि विविधान् भोगान् राज्यमेव च केवलम्।
नात्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन ॥ १६ ॥

पाण्डवोंके लिये श्रीकृष्णकी ओरसे धन-रत्न, भाँति-भाँतिके भोग तथा सारा राज्य—कुछ भी अदेय नहीं है ॥

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान् पाकशासनः ॥ १७ ॥

महात्मा भरतने पराक्रमसे ही यह पृथ्वी प्राप्त की। इन्द्रने पराक्रमसे ही तीनों लोकोंपर विजय पायी ॥ १७ ॥

विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशाम्पते।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥ १८ ॥

राजन्! क्षत्रियके लिये पराक्रमकी ही प्रशंसा की जाती है। नृपश्रेष्ठ! पराक्रम करना ही शूरवीरोंका स्वधर्म है ॥

ते बलेन वयं राजन् महता चतुरङ्गिणा।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामेह पाण्डवान् ॥ १९ ॥

राजन्! हमलोग विशाल चतुरङ्गिणी सेनाके द्वारा राजा द्रुपदको कुचलकर शीघ्र ही यहाँ पाण्डवोंको कैद कर लायें ॥

न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद् विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥ २० ॥

न सामसे, न दानसे और न भेदकी नीतिसे पाण्डवोंको वशमें किया जा सकता है। अतः उन्हें पराक्रमसे ही नष्ट करो ॥ २० ॥

तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुङ्क्ष्व मेदिनीम्।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥ २१ ॥

पराक्रमसे पाण्डवोंको जीतकर इस सारी पृथ्वीका राज्य भोगो। नरेश्वर! इसके सिवा दूसरा कोई कार्यसिद्धिका उपाय मैं नहीं देखता ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर प्रतापी धृतराष्ट्रने उसकी बड़ी सराहना की और तदनन्तर इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥

उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने।
त्वयि विक्रमसम्पन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥ २३ ॥

'कर्ण! तुम परम बुद्धिमान्, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और सूतकुलको आनन्दित करनेवाले हो। ऐसा पराक्रमयुक्त वचन तुम्हारे ही योग्य है ॥ २३ ॥

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च।
युवां च कुरुतं बुद्धिं भवेद् या नः सुखोदया ॥ २४ ॥

'परंतु मेरा विचार है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और तुम दोनों एक साथ बैठकर पुनः विचार कर लो तथा कोई ऐसी बात सोच निकालो, जो भविष्यमें भी हमें सुख देनेवाली हो' ॥ २४ ॥

तत आनाय्य तान् सर्वान् मन्त्रिणः सुमहायशाः।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥ २५ ॥

महाराज! तदनन्तर महायशस्वी धृतराष्ट्रने भीष्म, द्रोण आदि सम्पूर्ण मन्त्रियोंको बुलवाकर उनके साथ उस समय विचार आरम्भ किया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि धृतराष्ट्रमन्त्रणे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें धृतराष्ट्रमन्त्रणासम्बन्धी दो सौ पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ २०१ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मकी दुर्योधनसे पाण्डवोंको आधा राज्य देनेकी सलाह

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथंचन।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—मुझे पाण्डवोंके साथ विरोध या युद्ध किसी प्रकार भी पसंद नहीं है। मेरे लिये जैसे धृतराष्ट्र हैं, वैसे ही पाण्डु—इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम ।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र ! जैसे गान्धारीके पुत्र मेरे अपने हैं, उसी प्रकार कुन्तीके पुत्र भी हैं; इसीलिये जैसे मुझे पाण्डवोंकी रक्षा करनी चाहिये, वैसे तुम्हें भी ॥ २ ॥

यथा च मम राज्ञश्च तथा दुर्योधनस्य ते ।
तथा कुरूणां सर्वेषामन्येषामपि पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! मेरे और तुम्हारे लिये जैसे पाण्डवोंकी रक्षा आवश्यक है, वैसे ही दुर्योधन तथा अन्य समस्त कौरवोंको भी उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

एवं गते विग्रहं तैर्न रोचे
संधाय वीरैर्दीयतामर्धभूमिः ।
तेषामपीदं प्रपितामहानां
राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ॥ ४ ॥

ऐसी दशामें मैं पाण्डवोंके साथ लड़ाई-झगड़ा पसंद नहीं करता । उन वीरोंके साथ संधि करके उन्हें आधा राज्य दे दिया जाय । (दुर्योधनकी ही भाँति) उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके भी बाप-दादोंका यह राज्य है ॥ ४ ॥

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि ।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तात दुर्योधन ! जैसे तुम इस राज्यको अपनी पैतृक सम्पत्तिके रूपमें देखते हो, उसी प्रकार पाण्डव भी देखते हैं ॥

यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेया यशस्विनः ।
कुत एव तवापीदं भारतस्यापि कस्यचित् ॥ ६ ॥

यदि यशस्वी पाण्डव इस राज्यको नहीं पा सकते तो तुम्हें अथवा भरतवंशके किसी अन्य पुरुषको भी वह कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान् भरतर्षभ ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने अधर्मपूर्वक इस राज्यको हथिया लिया है; परंतु मेरा विचार यह है कि तुमसे पहले ही वे भी इस राज्यको पा चुके थे ॥ ७ ॥

मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम् ।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥ ८ ॥

पुरुषसिंह ! प्रेमपूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो । इसीमें सब लोगोंका हित है ॥ ८ ॥

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते न हितं नो भविष्यति ।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ॥ ९ ॥

यदि इसके विपरीत कुछ किया जायगा तो हमारी भलाई नहीं हो सकती और तुम्हें भी पूरा-पूरा अपयश मिलेगा—इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम् ।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥ १० ॥

अतः अपनी कीर्तिकी रक्षा करो, कीर्ति ही श्रेष्ठ बल है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, उस मनुष्यका जीवन निष्फल माना गया है ॥ १० ॥

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव ।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ११ ॥

गान्धारीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्यकी कीर्ति जबतक नष्ट नहीं होती, तभीतक वह जीवित है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो गयी, उसका तो जीवन ही नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम् ।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥ १२ ॥

महाबाहो ! कुरुकुलके लिये उचित इस उत्तम धर्मका पालन करो । अपने पूर्वजोंके अनुरूप कार्य करते रहो ॥ १२ ॥

दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्था हि दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः ॥ १३ ॥

सौभाग्यकी बात है कि कुन्तीके पुत्र जीवित हैं; यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि कुन्ती भी मरी नहीं है और सबसे बड़े सौभाग्यका विषय यह है कि पापी पुरोचन अपने (बुरे) इरादेमें सफल न होकर स्वयं नष्ट हो गया ॥ १३ ॥

यदा प्रभृति दग्धास्ते कुन्तिभोजसुतासुताः ।
तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ॥ १४ ॥
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम् ।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत् पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ॥ १५ ॥

गान्धारीकुमार ! जबसे मैंने सुना कि कुन्तीके पुत्र लाक्षागृहकी आगमें जल गये तथा कुन्ती भी उसी अवस्थाको प्राप्त हुई है, तभीसे मैं (लज्जाके मारे) जगत्के किसी भी प्राणीकी ओर आँख उठाकर देख नहीं सकता था । नरश्रेष्ठ ! लोग इस कार्यके लिये पुरोचनको उतना दोषी नहीं मानते, जितना तुम्हें दोषी समझते हैं ॥ १४-१५ ॥

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम् ।
सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥ १६ ॥

अतः महाराज ! पाण्डवोंका यह जीवित रहना और उनका दर्शन होना वास्तवमें तुम्हारे ऊपर लगे हुए कलङ्कका नाश करनेवाला है, ऐसा मानना चाहिये ॥ १६ ॥

न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।
पित्र्योऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! पाण्डववीरोंके जीते-जी उनका पैतृक अंश साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं ले सकते ॥ १७ ॥

ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः ।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥ १८ ॥

वे सब धर्ममें स्थित हैं; उन सबका एक चित्त—एक-

विचार है। इस राज्यपर तुम्हारा और उनका समान स्वत्व है, तो भी उनके साथ विशेष अधर्मपूर्ण वर्ताव करके उन्हें यहाँसे हटाया गया है॥ १८॥

यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम्॥ १९॥

यदि तुम्हें धर्मके अनुकूल चलना है, यदि मेरा प्रिय करना है और यदि (संसारमें) भलाई करनी है, तो उन्हें आधा राज्य दे दो॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि भीष्मवाक्ये द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें भीष्मवाक्य-विषयक दो सौ दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥२०२॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यकी पाण्डवोंको उपहार भेजने और बुलानेकी सम्मति तथा कर्णके द्वारा उनकी सम्मतिका विरोध करनेपर द्रोणाचार्यकी फटकार

द्रोण उवाच

मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्र हितैर्नृप।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम॥ १॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजा धृतराष्ट्र! सलाह लेनेके लिये बुलाये हुए हितैषियोंको उचित है कि वे ऐसी बात कहें, जो धर्म, अर्थ और यशकी प्राप्ति करानेवाली हो—यह हम परम्परासे सुनते आये हैं॥ १॥

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः॥ २॥

तात! मेरी भी वही सम्मति है, जो महात्मा भीष्मकी है। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य बाँट देना चाहिये, यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है॥ २॥

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित् प्रियंवदः।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत॥ ३॥

भारत! द्रुपदके पास शीघ्र ही कोई प्रिय वचन बोलनेवाला मनुष्य भेजा जाय और वह पाण्डवोंके लिये बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर जाय॥ ३॥

मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात् त्वत्संयोगोद्भवां तथा॥ ४॥
सम्प्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद् राजन् दुर्योधनं तथा।
असकृद् द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत॥ ५॥

राजा द्रुपदके पास बहूके लिये वरपक्षकी ओरसे उसे धन और रत्न लेकर जाना चाहिये। भारत! उस पुरुषको राजा द्रुपद और धृष्टद्युम्नके सामने बार-बार यह कहना चाहिये कि आपके साथ सम्बन्ध हो जानेसे राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधन अपना बड़ा अभ्युदय मान रहे हैं और उन्हें इस वैवाहिक सम्बन्धसे बड़ी प्रसन्नता हुई है॥ ४-५॥

उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत्।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान् माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन्॥ ६॥

इसी प्रकार वह कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंको सान्त्वना देते हुए बार-बार इस सम्बन्धके उचित और प्रिय होनेकी चर्चा करे॥ ६॥

हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च।
वचनात् तव राजेन्द्र द्रौपद्याः सम्प्रयच्छतु॥ ७॥

राजेन्द्र! वह आपकी आज्ञासे द्रौपदीके लिये बहुत-से सुन्दर सुवर्णमय आभूषण अर्पित करे॥ ७॥

तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च॥ ८॥

भरतश्रेष्ठ! द्रुपदके सभी पुत्रों, समस्त पाण्डवों और कुन्तीके लिये भी जो उपयुक्त आभूषण आदि हों, उन्हें भी वह अर्पित करे॥ ८॥

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात् तेषामागमनं प्रति॥ ९॥

इस प्रकार (उपहार देनेके पश्चात्) पाण्डवोंसहित द्रुपदसे सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर अन्तमें वह पाण्डवोंके हस्तिनापुरमें आनेके विषयमें प्रस्ताव करे॥ ९॥

अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम्।
दुःशासनो विकर्णश्चाप्यानेतुं पाण्डवानिह॥ १०॥

जब द्रुपदकी ओरसे पाण्डववीरोंको यहाँ आनेकी अनुमति मिल जाय, तब एक अच्छी-सी सेना साथ ले दुःशासन और विकर्ण पाण्डवोंको यहाँ ले आनेके लिये जायँ॥ १०॥

ततस्ते पाण्डवाः श्रेष्ठाः पूज्यमानाः सदा त्वया।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके॥ ११॥

यहाँ आनेके पश्चात् वे श्रेष्ठ पाण्डव आपके द्वारा सदा आदर-सत्कार प्राप्त करते हुए प्रजाकी इच्छाके अनुसार वे अपने पैतृक राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे॥ ११॥

एतत् तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि।
वृत्तमौपयिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत॥ १२॥

भरतवंशी महाराज! आपको अपने पुत्रों और पाण्डवोंके प्रति उपर्युक्त व्यवहार ही करना चाहिये—भीष्मजीके साथ मैं भी यही उचित समझता हूँ॥ १२॥

कर्ण उवाच

योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ॥ १३ ॥

कर्ण बोला—महाराज ! भीष्मजी और द्रोणाचार्यको आपकी ओरसे सदा धन और सम्मान प्राप्त होता रहता है । इन्हें आप अपना अन्तरङ्ग सुहृद् समझकर सभी कार्योंमें इनकी सलाह लेते हैं । फिर भी यदि ये आपके भलेकी सलाह न दें तो इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १३ ॥

दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनान्तरात्मना ।
ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात् सतां मतम् ॥ १४ ॥

जो अपने अन्तःकरणके दुर्भावको छिपाकर, दोषयुक्त हृदयसे कोई सलाह देता है, वह अपने ऊपर विश्वास करनेवाले साधुपुरुषोंके अभीष्ट कल्याणकी सिद्धि कैसे कर सकता है ?

न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे चेतराय वा ।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥ १५ ॥

मित्र भी अर्थसंकटके समय अथवा किसी कामकी कठिनाई आ पड़नेपर न तो कल्याण कर सकते हैं और न अकल्याण ही । सभीके लिये दुःख या सुखकी प्राप्ति भाग्यके अनुसार ही होती है ॥ १५ ॥

कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः ।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ॥ १६ ॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो या मूर्ख; बालक हो या वृद्ध तथा सहायकोंके साथ हो या असहाय, वह दैवयोगसे सर्वत्र सब कुछ पा लेता है ॥ १६ ॥

श्रूयते हि पुरा कश्चिदम्बुवीच इतीश्वरः ।
आसीद् राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ॥ १७ ॥

सुना है, पहले राजगृहमें अम्बुवीच नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करते थे । वे मागध राजाओंमेंसे एक थे ॥ १७ ॥

स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमो नृपः ।
अमात्यसंस्थः सर्वेषु कार्येष्वेवाभवत् तदा ॥ १८ ॥

उनकी कोई भी इन्द्रिय कार्य करनेमें समर्थ नहीं थी, वे (श्वासके रोगसे पीड़ित हो) एक स्थानपर पड़े-पड़े लंबी साँसें खींचा करते थे; अतः प्रत्येक कार्यमें उन्हें मन्त्रीके ही अधीन रहना पड़ता था ॥ १८ ॥

तस्यामात्यो महाकर्णिर्बभूवैकेश्वरस्तदा ।
स लब्धबलमात्मानं मन्यमानोऽवमन्यते ॥ १९ ॥

उनके मन्त्रीका नाम था महाकर्णि । उन दिनों वही वहाँका एकमात्र राजा बन बैठा था । उसे सैनिक बल प्राप्त था, अतः अपनेको सबल मानकर राजाकी अवहेलना करता था ॥

स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च ।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ॥ २० ॥

वह मूढ मन्त्री राजाके उपभोगमें आने योग्य स्त्री, रत्न, धन तथा ऐश्वर्यको भी स्वयं ही भोगता था ॥ २० ॥

तदादाय च लुब्धस्य लोभाल्लोभोऽभ्यवर्धत ।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ॥ २१ ॥

वह सब पाकर उस लोभीका लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता गया । इस प्रकार सारी चीजें लेकर वह उनके राज्यको भी हड़प लेनेकी इच्छा करने लगा ॥ २१ ॥

हीनस्य करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमस्य च ।
यतमानोऽपि तद् राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ॥ २२ ॥

यद्यपि राजा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तिसे रहित होनेके कारण केवल ऊपरको साँस ही खींचा करता था, तथापि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी वह दुष्ट मन्त्री उनका राज्य न ले सका—यह बात हमने सुन रक्खी है ॥ २२ ॥

किमन्यद् विहिता नूनं तस्य सा पुरुषेन्द्रता ।
यदि ते विहितं राज्यं भविष्यति विशाम्पते ॥ २३ ॥
मिषतः सर्वलोकस्य स्थास्यते त्वयि तद् ध्रुवम् ।
अतोऽन्यथा चेद् विहितं यतमानो न लप्स्यसे ॥ २४ ॥

राजाका राजत्व भाग्यसे ही सुरक्षित था (उनके प्रयत्नसे नहीं;)(अतः) भाग्यसे बढ़कर दूसरा सहारा क्या हो सकता है ? महाराज ! यदि आपके भाग्यमें राज्य बदा होगा तो सबलोगोंके देखते-देखते वह निश्चय ही आपके पास रहेगा और यदि भाग्यमें राज्यका विधान नहीं है, तो आप यत्न करके भी उसे नहीं पा सकेंगे ॥ २३-२४ ॥

एवं विद्वन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम् ।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम् ॥ २५ ॥

राजन् ! आप समझदार हैं, अतः इसी प्रकार विचार करके अपने मन्त्रियोंकी साधुता और असाधुताको समझ लीजिये । किसने दूषित हृदयसे सलाह दी है और किसने दोषशून्य हृदयसे, इसे भी जान लेना चाहिये ॥ २५ ॥

द्रोण उवाच

विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते ।
दुष्ट पाण्डवहेतोस्त्वं दोषमाख्यापयस्युत ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—ओ दुष्ट ! तू क्यों ऐसी बात कहता है, यह हम जानते हैं । पाण्डवोंके लिये तेरे हृदयमें जो द्वेष संचित है, उसीसे प्रेरित होकर तू मेरी बातोंमें दोष बता रहा है ॥ २६ ॥

हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्धनम् ।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत् परमं हितम् ॥ २७ ॥

कर्ण ! मैं अपनी समझसे कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाली परम हितकी बात कहता हूँ । यदि तू इसे दोषयुक्त मानता

है तो बता, क्या करनेसे कौरवोंका परम हित होगा ? ॥ २७ ॥

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते यद् ब्रवीमि परं हितम्।
कुरवो वै विनङ्क्ष्यन्ति नचिरेणैव मे मतिः ॥ २८ ॥

मैं अत्यन्त हितकी बात बता रहा हूँ। यदि उसके विपरीत कुछ किया जायगा तो कौरवोंका शीघ्र ही नाश हो जायगा—ऐसा मेरा मत है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि द्रोणवाक्ये त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें द्रोणवाक्य-विषयक दो सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥२०३॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

विदुरजीकी सम्मति—द्रोण और भीष्मके वचनोंका ही समर्थन

विदुर उवाच

राजन् निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः।
न त्वशुश्रूषमाणे वै वाक्यं सम्प्रतितिष्ठति ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! आपके (हितैषी) बान्धवोंका यह कर्तव्य है कि वे आपको संदेहरहित हितकी बात बतायें। परंतु आप सुनना नहीं चाहते, इसलिये आपके भीतर उनकी कही हुई हितकी बात भी ठहर नहीं पा रही है ॥ १॥

प्रियं हितं च तद् वाक्यमुक्तवान् कुरुसत्तमः।
भीष्मः शांतनवो राजन् प्रतिगृह्णासि तन्न च ॥ २ ॥
तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम्।
तच्च राधासुतः कर्णो मन्यते न हितं तव ॥ ३ ॥

राजन्! कुरुश्रेष्ठ शांतनुनन्दन भीष्मने आपसे प्रिय और हितकी बात कही है; परंतु आप उसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार आचार्य द्रोणने अनेक प्रकारसे आपके लिये उत्तम हितकी बात बतायी है; किंतु राधानन्दन कर्ण उसे आपके लिये हितकर नहीं मानते ॥ २-३ ॥

चिन्तयंश्च न पश्यामि राजंस्तव सुहृत्तमम्।
आभ्यां पुरुषसिंहाभ्यां यो वा स्यात् प्रज्ञयाधिकः ॥

महाराज! मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी आपके किसी ऐसे परमसुहृद् व्यक्तिको नहीं देखता, जो इन दोनों वीर महापुरुषोंसे बुद्धि या विचारशक्तिमें अधिक हो ॥ ४ ॥

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ॥ ५ ॥

राजेन्द्र! अवस्था बुद्धि और शास्त्रज्ञान—सभी बातोंमें ये दोनों बढ़े-चढ़े हैं और आपमें तथा पाण्डवोंमें समान भाव रखते हैं ॥ ५ ॥

धर्मे चानवरौ राजन् सत्यतायां च भारत।
रामाद् दाशरथेश्चैव गयाच्चैव न संशयः ॥ ६ ॥

भरतवंशी नरेश! ये दोनों धर्म और सत्यवादितामें दशरथनन्दन श्रीराम तथा राजा गयसे कम नहीं हैं। मेरा यह कथन सर्वथा संशयरहित है ॥ ६ ॥

न चोक्तवन्तावश्रेयः पुरस्तादपि किंचन।
न चाप्यपकृतं किंचिदनयोर्लक्ष्यते त्वयि ॥ ७ ॥

उन्होंने आपके सामने भी (कभी) कोई ऐसी बात नहीं कही होगी, जो आपके लिये अनिष्टकारक सिद्ध हुई हो तथा इनके द्वारा आपका कुछ अपकार हुआ हो, ऐसा भी देखनेमें नहीं आता ॥ ७ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रावनागसि नृपे त्वयि।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः कथं सत्यपराक्रमौ ॥ ८ ॥

महाराज! आपने भी इनका कोई अपराध नहीं किया है; फिर ये दोनों सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह आपको हितकारक सलाह न दें, यह कैसे हो सकता है ? ॥ ८ ॥

प्रज्ञावन्तौ नरश्रेष्ठावस्मिँल्लोके नराधिप।
त्वन्निमित्तमतो नेमौ किंचिज्जिह्मं वदिष्यतः ॥ ९ ॥

नरेश्वर! ये दोनों इस लोकमें नरश्रेष्ठ और बुद्धिमान् हैं, अतः आपके लिये ये कोई कुटिलतापूर्ण बात नहीं कहेंगे ॥

इति मे नैष्ठिकी बुद्धिर्वर्तते कुरुनन्दन।
न चार्थहेतोर्धर्मज्ञौ वक्ष्यतः पक्षसंश्रितम् ॥ १० ॥

कुरुनन्दन! इनके विषयमें मेरा यह निश्चित विचार है कि ये दोनों धर्मके ज्ञाता महापुरुष हैं, अतः स्वार्थके लिये किसी एक ही पक्षको लाभ पहुँचानेवाली बात नहीं कहेंगे ॥

एतद्धि परमं श्रेयो मन्येऽहं तव भारत।
दुर्योधनप्रभृतयः पुत्रा राजन् यथा तव ॥ ११ ॥
तथैव पाण्डवेयास्ते पुत्रा राजन् न संशयः।
तेषु चेदहितं किंचिन्मन्त्रयेयुरतद्विदः ॥ १२ ॥
मन्त्रिणस्ते न च श्रेयः प्रपश्यन्ति विशेषतः।
अथ ते हृदये राजन् विशेषः स्वेषु वर्तते।
अन्तरस्थं विवृण्वानाः श्रेयः कुर्युर्न ते ध्रुवम् ॥ १३ ॥

भारत! इन्होंने जो सम्मति दी है, इसीको मैं आपके लिये परम कल्याणकारक मानता हूँ। महाराज! जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी आपके पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है। इस बातको न जाननेवाले कुछ मन्त्री यदि आपको पाण्डवोंके अहितकी सलाह दें तो यह कहना पड़ेगा कि वे मन्त्रीलोग, आपका कल्याण किस बातमें है, यह विशेषरूपमें नहीं देख पा रहे हैं। राजन्! यदि आपके हृदयमें अपने पुत्रोंपर विशेष पक्षपात है तो आपके भीतरके छिपे

हुए भावको बाहर सबके सामने प्रकट करनेवाले लोग निश्चय ही आपका भला नहीं कर सकते ॥ ११-१३ ॥

एतदर्थमिमौ राजन् महात्मानौ महाद्युती।
नोचतुर्विवृतं किंचिन्न ह्येष तव निश्चयः ॥ १४ ॥

महाराज ! इसीलिये ये दोनों महातेजस्वी महात्मा आपके सामने कुछ खोलकर नहीं कह सके हैं। इन्होंने आपको ठीक ही सलाह दी है; परंतु आप उसे निश्चितरूपसे स्वीकार नहीं करते हैं ॥ १४ ॥

यच्चाप्यशक्यतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ।
तत् तथा पुरुषव्याघ्र तव तद् भद्रमस्तु ते ॥ १५ ॥

इन पुरुषशिरोमणियोंने जो पाण्डवोंके अजेय होनेकी बात बतायी है, वह बिल्कुल ठीक है। पुरुषसिंह ! आपका कल्याण हो ॥ १५ ॥

कथं हि पाण्डवः श्रीमान् सव्यसाची धनंजयः।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन् मघवतापि हि ॥ १६ ॥

राजन् ! दायें-बायें दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले श्रीमान् पाण्डुकुमार धनंजयको साक्षात् इन्द्र भी युद्धमें कैसे जीत सकते हैं ? ॥ १६ ॥

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान्।
कथं स युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ॥ १७ ॥

दस हजार हाथियोंके समान महान् बलवान् महाबाहु भीमसेनको युद्धमें देवता भी कैसे जीत सकते हैं ? ॥ १७ ॥

तथैव कृतिनौ युद्धे यमौ यमसुताविव।
कथं विजेतुं शक्यौ तौ रणे जीवितुमिच्छता ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जो जीवित रहना चाहता है, उसके द्वारा युद्धमें निपुण तथा यमराजके पुत्रोंकी भाँति भयंकर दोनों भाई नकुल-सहदेव कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥ १८ ॥

यस्मिन् धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे स जीयेत रणे कथम् ॥ १९ ॥

जिन ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरमें धैर्य, दया, क्षमा, सत्य और पराक्रम आदि गुण नित्य निवास करते हैं, उन्हें रणभूमिमें कैसे हराया जा सकता है ? ॥ १९ ॥

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥ २० ॥

बलरामजी जिनके पक्षपाती हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सलाहकार हैं तथा जिनके पक्षमें सात्यकि-जैसा वीर है, वे पाण्डव युद्धमें किसे नहीं परास्त कर देंगे ? ॥ २० ॥

द्रुपदः श्वशुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ॥ २१ ॥
सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रे च भारत।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक् तेषु समाचर ॥ २२ ॥

द्रुपद जिनके श्वशुर हैं और उनके पुत्र पृषतवंशी धृष्टद्युम्न आदि वीर भ्राता जिनके साले हैं, भारत ! ऐसे पाण्डवोंको रणभूमिमें जीतना असम्भव है। इस बातको जानकर तथा पहले उनके पिताका राज्य होनेके कारण वे ही धर्मपूर्वक इस राज्यके उत्तराधिकारी हैं, इस बातकी ओर ध्यान देकर आप उनके साथ उत्तम बर्ताव कीजिये। २१-२२।

इदं निर्दिष्टमयशः पुरोचनकृतं महत्।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन् प्रक्षालयात्मनः ॥ २३ ॥

राजन् ! पुरोचनके हाथों जो कुछ कराया गया, उससे आपका बहुत बड़ा अपयश सब ओर फैल गया है। अपने उस कलङ्कको आज आप पाण्डवोंपर अनुग्रह करके धो डालिये ॥ २३ ॥

तेषामनुग्रहश्चायं सर्वेषां चैव नः कुले।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ॥ २४ ॥

पाण्डवोंपर किया हुआ यह अनुग्रह हमारे कुलके सभी लोगोंके जीवनका रक्षक, परम हितकारक और सम्पूर्ण क्षत्रिय जातिका अभ्युदय करनेवाला होगा ॥ २४ ॥

द्रुपदोऽपि महान् राजा कृतवैरश्च नः पुरा।
तस्य संग्रहणं राजन् स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥ २५ ॥

राजन् ! द्रुपद भी बहुत बड़े राजा हैं और पहले हमारे साथ उनका वैर भी हो चुका है। अतः मित्रके रूपमें उनका संग्रह हमारे अपने पक्षकी वृद्धिका कारण होगा ॥ २५ ॥

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशाम्पते।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २६ ॥

पृथ्वीपते ! यदुवंशियोंकी संख्या बहुत है और वे बलवान् भी हैं। जिस ओर श्रीकृष्ण रहेंगे, उधर ही वे सभी रहेंगे। इसलिये जिस पक्षमें श्रीकृष्ण होंगे, उस पक्षकी विजय अवश्य होगी ॥ २६ ॥

यच्च साम्नैव शक्येत कार्यं साधयितुं नृप।
को दैवशप्तस्तत् कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ॥ २७ ॥

महाराज ! जो कार्य शान्तिपूर्वक समझाने-बुझानेसे ही सिद्ध हो जा सकता है, उसीको कौन दैवका मारा हुआ मनुष्य युद्धके द्वारा सिद्ध करेगा ॥ २७ ॥

श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् पौरजानपदा जनाः।
बलवद् दर्शने हृष्टास्तेषां राजन् प्रियं कुरु ॥ २८ ॥

कुन्तीके पुत्रोंको जीवित सुनकर नगर और जनपदके सभी लोग उन्हें देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं। राजन् ! उन सबका प्रिय कीजिये ॥ २८ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ॥ २९ ॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये अधर्मपरायण,

खोटी बुद्धिवाले और मूर्ख हैं; अतः इनका कहना न मानिये। २९।

उक्तमेतत् पुरा राजन् मया गुणवतस्तव।
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं वै विनङ्क्ष्यति ॥ ३० ॥

भूपाल ! आप गुणवान् हैं। आपसे तो मैंने पहले ही यह कह दिया था कि दुर्योधनके अपराधसे निश्चय ही यह समस्त प्रजा नष्ट हो जायगी ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरवाक्ये चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें विदुरवाक्यविषयक दो सौ चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ २०४ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरका द्रुपदके यहाँ जाना और पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेजनेका प्रस्ताव करना

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शांतनवो विद्वान् द्रोणश्च भगवानृषिः।
हितं च परमं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! शांतनुनन्दन भीष्म ज्ञानी हैं और भगवान् द्रोणाचार्य तो ऋषि ही ठहरे। अतः इनका वचन परम हितकारक है। तुम भी मुझसे जो कुछ कहते हो, वह सत्य ही है ॥ १ ॥

यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ॥ २ ॥

कुन्तीके वीर महारथी पुत्र जैसे पाण्डुके लड़के हैं, उसी प्रकार धर्मकी दृष्टिसे वे सब मेरे भी पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ॥ ३ ॥

जैसे मेरे पुत्रोंका यह राज्य कहा जाता है, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंका भी यह राज्य है—इसमें भी संशय नहीं है ॥ ३ ॥

क्षत्तरानय गच्छैतान् सह मात्रा सुसत्कृतान्।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥ ४ ॥

भरतवंशी विदुर ! अब तुम्हीं जाओ और उनकी माता कुन्ती तथा उस देवरूपिणी वधू कृष्णाके साथ इन पाण्डवोंको सत्कारपूर्वक ले आओ ॥ ४ ॥

दिष्ट्या जीवन्ति ते पार्था दिष्ट्या जीवति सा पृथा।
दिष्ट्या द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः ॥ ५ ॥

सौभाग्यकी बात है कि वे कुन्तीपुत्र जीवित हैं। सौभाग्यसे ही कुन्ती भी जीवित है और यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि उन महारथियोंने द्रुपदकन्याको प्राप्त कर लिया ॥ ५ ॥

दिष्ट्या वर्धामहे सर्वे दिष्ट्या शान्तः पुरोचनः।
दिष्ट्या मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते ॥ ६ ॥

महाद्युते ! सौभाग्यसे हम सबकी वृद्धि हो रही है। भाग्यकी बात है कि पापी पुरोचन शान्त हो गया और सौभाग्यसे ही मेरा महान् दुःख मिट गया ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात्।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ॥ ७ ॥
समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव ह ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरजी द्रौपदी, पाण्डव तथा महाराज यज्ञसेनके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट लेकर राजा द्रुपद और पाण्डवोंके समीप गये ॥ ७-८ ॥

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
द्रुपदं न्यायतो राजन् संयुक्तमुपतस्थिवान् ॥ ९ ॥

राजन् ! वहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् एवं धर्मज्ञ विदुर न्यायके अनुसार बड़े-छोटेके क्रमसे द्रुपद और अन्य लोगोंके साथ हृदयसे लगकर नमस्कार आदिपूर्वक मिले ॥ ९ ॥

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥ १० ॥

राजा द्रुपदने भी धर्मके अनुसार विदुरजीका आदर-सत्कार किया। फिर वे दोनों यथोचित रीतिसे एक-दूसरेके कुशल-समाचार पूछने और कहने लगे ॥ १० ॥

ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत।
स्नेहात् परिष्वज्य स तान् पप्रच्छानामयं ततः ॥ ११ ॥

भारत ! विदुरजीने वहाँ पाण्डवों तथा वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको भी देखा और स्नेहपूर्वक उन्हें हृदयसे लगाकर उन सबकी कुशल पूछी ॥ ११ ॥

तैश्चाप्यमितबुद्धिः स पूजितो हि यथाक्रमम्।
वचनाद् धृतराष्ट्रस्य स्नेहयुक्तं पुनः पुनः ॥ १२ ॥
पप्रच्छानामयं राजंस्ततस्तान् पाण्डुनन्दनान्।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥ १३ ॥
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च द्रौपद्याश्च विशाम्पते।
द्रुपदस्य च पुत्राणां यथा दत्तानि कौरवैः ॥ १४ ॥

उन्होंने भी अमित-बुद्धिमान् विदुरजीका क्रमशः आदर-सत्कार किया। तदनन्तर विदुरजीने राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञाके

अनुसार बारंबार स्नेहपूर्वक युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्रोंसे कुशल-मङ्गल एवं स्वास्थ्यविषयक प्रश्न किया । जनमेजय! फिर विदुरजीने कौरवोंकी ओरसे जैसे दिये गये थे, उसीके अनुसार पाण्डवों, कुन्ती, द्रौपदी तथा द्रुपदके पुत्रोंके लिये नाना प्रकारके रत्न और धन भेंट किये ॥ १२-१४ ॥

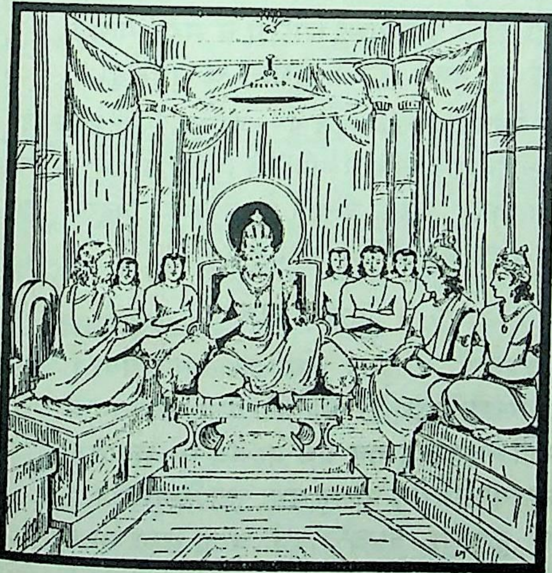
प्रोवाच चामितमतिः प्रश्रितं विनयान्वितः ।
द्रुपदं पाण्डुपुत्राणां संनिधौ केशवस्य च ॥ १५ ॥

अगाध बुद्धिवाले विदुरजी पाण्डवों तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप विनीतभावसे नम्रतापूर्वक बोले—॥ १५ ॥

विदुर उवाच

राजञ्छृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम ।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् कुशलं राजन् प्रीयमाणः पुनः पुनः ।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि सम्बन्धेन नराधिप ॥ १७ ॥

विदुरने कहा—राजन्! आप अपने मन्त्रियों और पुत्रोंके साथ मेरी बात सुनें। महाराज धृतराष्ट्रने अपने पुत्र, मन्त्री और बन्धुओंके साथ अत्यन्त प्रसन्न होकर बारंबार आपकी कुशल पूछी है। महाराज! आपके साथ यह जो सम्बन्ध हुआ है, इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १६-१७ ॥



तथा भीष्मः शांतनवः कौरवैः सह सर्वशः ।
कुशलं त्वां महाप्राज्ञः सर्वतः परिपृच्छति ॥ १८ ॥

इसी प्रकार शांतनुनन्दन महाप्राज्ञ भीष्मजी भी समस्त कौरवोंके साथ सब तरहसे आपकी कुशल पूछते हैं ॥ १८ ॥

भारद्वाजो महाप्राज्ञो द्रोणः प्रियसखस्तव ।
समाश्लेषमुपेत्य त्वां कुशलं परिपृच्छति ॥ १९ ॥

आपके प्रिय मित्र महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य भी (मन-ही-मन) आपको हृदयसे लगाकर कुशल पूछ रहे हैं ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाञ्चाल्य त्वया सम्बन्धमीयिवान् ।
कृतार्थं मन्यतेऽऽत्मानं तथा सर्वेऽपि कौरवाः ॥ २० ॥

पाञ्चालनरेश! राजा धृतराष्ट्र आपके सम्बन्धी होकर अपने आपको कृतार्थ मानते हैं। यही दशा समस्त कौरवोंकी है ॥ २० ॥

न तथा राज्यसम्प्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता ।
यथा सम्बन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥ २१ ॥

यज्ञसेन! उन्हें राज्यकी प्राप्ति भी उतनी प्रसन्नता देनेवाली नहीं जान पड़ी, जितनी प्रसन्नता आपके साथ सम्बन्धका सौभाग्य पाकर हुई है ॥ २१ ॥

एतद् विदित्वा तु भवान् प्रस्थापयतु पाण्डवान् ।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्रांश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ॥ २२ ॥

यह जानकर आप पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेज दें। समस्त कुरुवंशी पाण्डवोंको देखने और मिलनेके लिये अत्यन्त उतावले हो रहे हैं ॥ २२ ॥

विप्रोषिता दीर्घकालमेते चापि नरर्षभाः ।
उत्सुका नगरं द्रष्टुं भविष्यन्ति तथा पृथा ॥ २३ ॥

दीर्घकालसे ये परदेशमें रह रहे हैं, अतः नरश्रेष्ठ पाण्डव तथा कुन्ती—सभी लोग अपना नगर देखनेके लिये उत्सुक हो रहे होंगे ॥ २३ ॥

कृष्णामपि च पाञ्चालीं सर्वाः कुरुवरस्त्रियः ।
द्रष्टुकामाः प्रतीक्षन्ते पुरं च विषयाश्च नः ॥ २४ ॥

कौरवकुलकी सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ, हमारे हस्तिनापुर नगर तथा राष्ट्रके सभी लोग पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको देखनेकी इच्छा रखकर उसके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ २४ ॥

स भवान् पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम् ।
गमनं सहदाराणामेतदत्र मतं मम ॥ २५ ॥

अतः आप पत्नीसहित पाण्डवोंको हस्तिनापुर चलनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये। इस विषयमें मेरी सम्मति यही है ॥ २५ ॥

निसृष्टेषु त्वया राजन् पाण्डवेषु महात्मसु ।
ततोऽहं प्रेषयिष्यामि धृतराष्ट्रस्य शीघ्रगान् ।
आगमिष्यन्ति कौन्तेयाः कुन्ती च सह कृष्णया ॥ २६ ॥

राजन्! जब आप महामना पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे देंगे, तब मैं यहाँसे राजा धृतराष्ट्रके पास शीघ्रगामी दूत भेजूँगा और यह संदेश कहला दूँगा कि कुन्ती तथा कृष्णाके साथ समस्त पाण्डव हस्तिनापुरमें आयेंगे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरद्रुपदसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें विदुर-द्रुपदसंवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका हस्तिनापुरमें आना और आधा राज्य पाकर इन्द्रप्रस्थ नगरका निर्माण करना एवं भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीका द्वारकाके लिये प्रस्थान

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथाऽऽत्थ विदुराद्य माम्।
ममापि परमो हर्षः सम्बन्धेऽस्मिन् कृते प्रभो ॥ १ ॥

द्रुपद बोले-महाप्राज्ञ विदुरजी! आज आपने जो कुछ मुझसे कहा है, सब ठीक है। प्रभो! (कौरवोंके साथ) यह सम्बन्ध हो जानेसे मुझे भी महान् हर्ष हुआ है॥ १॥

गमनं चापि युक्तं स्याद् दृढमेषां महात्मनाम्।
न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा ॥ २ ॥
यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ३ ॥
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तदा गच्छन्तु पाण्डवाः।
एतौ हि पुरुषव्याघ्रावेषां प्रियहिते रतौ ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डवोंका अपने नगरमें जाना भी अत्यन्त उचित ही है। तथापि मेरे लिये अपने मुखसे इन्हें जानेके लिये कहना उचित नहीं है। यदि कुन्तीकुमार वीरवर युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव जाना उचित समझें तथा धर्मज्ञ बलराम और श्रीकृष्ण पाण्डवोंका वहाँ जाना उचित समझते हों तो ये अवश्य वहाँ जायँ; क्योंकि ये दोनों पुरुषसिंह सदा इनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं॥ २-४॥

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या तत् करिष्यामहे वयम्॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! हम सब लोग अपने सेवकोंसहित सदा आपके अधीन हैं। आप स्वयं प्रसन्नतापूर्वक हमसे जैसा कहेंगे, वही हम करेंगे॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो गमनं रोचते मम।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित्॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वसुदेव-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मुझे तो इनका जाना ही ठीक जान पड़ता है। अथवा सब धर्मोंके ज्ञाता महाराज द्रुपद जैसा उचित समझें, वैसा किया जाय'॥ ६॥

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥ ७ ॥
यथैव हि महाभागाः कौन्तेया मम साम्प्रतम्।
तथैव वासुदेवस्य पाण्डुपुत्रा न संशयः॥ ८ ॥

द्रुपद बोले—दशार्हकुलके रत्न वीरवर पुरुषोत्तम महाबाहु श्रीकृष्ण इस समय जो कर्तव्य उचित समझते हों, निश्चय ही मेरी भी वही सम्मति है। महाभाग कुन्तीपुत्र इस समय मेरे लिये जैसे अपने हैं, उसी प्रकार इन भगवान् वासुदेवके लिये भी समस्त पाण्डव उतने ही प्रिय एवं आत्मीय हैं—इसमें संशय नहीं है॥ ७-८॥

न तद् ध्यायति कौन्तेयः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम केशव जिस प्रकार इन पाण्डवोंके श्रेय (अत्यन्त हित) का ध्यान रखते हैं, उतना ध्यान कुन्ती-नन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर भी नहीं रखते॥ ९॥

(वैशम्पायन उवाच

पृथायास्तु तथा वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः।
पादौ स्पृष्ट्वा पृथायास्तु शिरसा च महीं गतः।
दृष्ट्वा तु देवरं कुन्ती शुशोच च मुहुर्मुहुः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उसी प्रकार महा-तेजस्वी विदुर कुन्तीके भवनमें गये। वहाँ उन्होंने धरतीपर माथा टेककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। विदुरको आया देख कुन्ती बार-बार शोक करने लगी।

कुन्त्युवाच

वैचित्रवीर्य ते पुत्राः कथंचिज्जीवितास्त्वया।
त्वत्प्रसादाज्जतुगृहे त्राताः प्रत्यागतास्तव॥
कूर्मश्चिन्तयते पुत्रान् यत्र वा तत्र वा गतान्।
चिन्तया वर्धयेत् पुत्रान् यथा कुशलिनस्तथा॥
तव पुत्रास्तु जीवन्ति त्वं त्राता भरतर्षभ।
यथा परभृतः पुत्रानरिष्टा वर्धयेत् सदा।
तथैव तव पुत्रास्तु मया तात सुरक्षिताः॥
दुःखास्तु बहवः प्राप्ता तथा प्राणान्तिका मया।
अतः परं न जानामि कर्तव्यं ज्ञातुमर्हसि॥

कुन्ती बोली—विदुरजी! आपके पुत्र पाण्डव किसी प्रकार आपके ही कृपाप्रसादसे जीवित हैं। लाक्षागृहमें आपने इन सबके प्राण बचाये हैं और अब यह पुनः आपके समीप जीते-जागते लौट आये हैं। कछुआ अपने पुत्रोंका, वे कहीं भी क्यों न हो, मनसे चिन्तन करता रहता है। इस चिन्तासे ही अपने पुत्रोंका वह पालन-पोषण एवं संवर्धन करता है।

उसीके अनुसार जैसे वे सकुशल जीवित रहते हैं, वैसे ही आपके पुत्र पाण्डव (आपकी ही मङ्गल-कामनासे) जी रहे हैं ! भरतश्रेष्ठ ! आप ही इनके रक्षक हैं। तात ! जैसे कोयलके पुत्रोंका पालन-पोषण सदा कौएकी माता करती है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंकी रक्षा मैंने की है। अबतक मैंने बहुत-से प्राणान्तक कष्ट उठाये हैं; इसके बाद मेरा क्या कर्तव्य है, यह मैं नहीं जानती। यह सब आप ही जानें !

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा दुःखार्ता शुशोच परमातुरा।
प्रणिपत्याब्रवीत् क्षत्ता मा शोच इति भारत॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर दुःखसे पीड़ित हुई कुन्ती अत्यन्त आतुर होकर शोक करने लगी। उस समय विदुरने उन्हें प्रणाम करके कहा, तुम शोक न करो।

विदुर उवाच

न विनश्यन्ति लोकेषु तव पुत्रा महाबलाः।
नचिरेणैव कालेन स्वराज्यस्था भवन्ति ते।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्मा शोकं कुरु माधवि॥)

विदुर बोले—यदुकुलनन्दिनी ! तुम्हारे महाबली पुत्र संसारमें (दूसरोंके सतानेसे) नष्ट नहीं हो सकते। अब वे थोड़े ही दिनोंमें समस्त बन्धुओंके साथ अपने राज्यपर अधिकार करनेवाले हैं। अतः तुम शोक मत करो।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते॥ १०॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम्।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम्॥ ११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महात्मा द्रुपदकी आज्ञा पाकर पाण्डव, श्रीकृष्ण और विदुर द्रुपदकुमारी कृष्णा और यशस्विनी कुन्तीको साथ ले आमोद-प्रमोद करते हुए हस्तिनापुरकी ओर चले॥ १०-११॥

(सुवर्णकक्ष्याग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान्।
जाम्बूनदपरिष्कारान् प्रभिन्नकरटामुखान्॥
अधिष्ठितान् महामात्रैः सर्वशस्त्रसमन्वितान्।
सहस्रं प्रददौ राजा गजानां वरवर्णिनाम्॥
रथानां च सहस्रं वै सुवर्णमणिचित्रितम्।
चतुर्युजां भानुमच्च पञ्चानां प्रददौ तदा॥
सुवर्णपरिबर्हाणां वरचामरमालिनाम्।
जात्यश्वानां च पञ्चाशत्सहस्रं प्रददौ नृपः॥
दासीनामयुतं राजा प्रददौ वरभूषणम्।
ततः सहस्रं दासानां प्रददौ वरधन्विनाम्॥
हैमानि शय्यासनभाजनानि
द्रव्याणि चान्यानि च गोधनानि।
पृथक पृथक् चैव ददौ स कोटिं
पाञ्चालराजः परमप्रहृष्टः॥
शिबिकानां शतं पूर्णं वाहान् पञ्चशतं नरान्।
एवमेतानि पाञ्चालो कन्यार्थे प्रददौ धनम्॥
हरणं चापि पाञ्चाल्या ज्ञातिदेयं तु सौमकिः।
धृष्टद्युम्नो ययौ तत्र भगिनीं गृह्य भारत॥
नानद्यमाने बहुभिः तूर्यशब्दैः सहस्रशः॥)

उस समय राजा द्रुपदने उन्हें एक हजार सुन्दर हाथी प्रदान किये, जिनकी पीठोंपर सोनेके हौदे कसे हुए थे और गलेमें सोनेके आभूषण शोभा पा रहे थे। उनके अङ्कुश भी सोनेके ही थे। जाम्बूनद नामक सुवर्णसे उन सबको सजाया गया था। उनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी। बड़े-बड़े महावत उन सबका संचालन करते थे। वे सभी गजराज सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। राजाने पाँचों पाण्डवोंके लिये चार घोड़ोंसे जुते हुए एक हजार रथ दिये, जो सुवर्ण और मणियोंसे विभूषित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करते थे और सब ओर अपनी प्रभा बिखेर रहे थे। इतना ही नहीं, राजाने अच्छी जातिके पचास हजार घोड़े भी दिये, जो सुनहरे साज-बाजसे सुसज्जित और सुन्दर चँवर तथा मालाओंसे अलंकृत थे। इनके सिवा सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित दस हजार दासियाँ भी दीं। साथ ही उत्तम धनुष धारण करनेवाले एक हजार दास पाण्डवोंको भेंट किये। बहुत-सी शय्याएँ, आसन और पात्र भी दिये जो सब-के-सब सुवर्णके बने हुए थे। दूसरे-दूसरे द्रव्य और गोधन भी समर्पित किये। इन सबकी पृथक्-पृथक् संख्या एक-एक करोड़ थी। इस प्रकार पाञ्चालराज द्रुपदने बड़े हर्ष और उल्लासके साथ पाण्डवोंको उपर्युक्त वस्तुएँ अर्पित कीं। सौ पालकियाँ और उनको ढोनेवाले पाँच सौ कहार दिये। इस प्रकार पाञ्चालराजने अपनी कन्याके लिये ये सभी वस्तुएँ तथा बहुत-सा धन दहेजमें दिया। जनमेजय ! धृष्टद्युम्न स्वयं अपनी बहिनका हाथ पकड़कर सवारीपर बैठानेके लिये ले गये। उस समय सहस्रों प्रकारके बाजे एक साथ बज उठे॥

श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान्॥ १२॥

राजा धृतराष्ट्रने पाण्डववीरोंका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये कौरवोंको भेजा॥ १२॥

विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च॥ १३॥

भारत ! विकर्ण, महान् धनुर्धर चित्रसेन, विशाल धनुषवाले द्रोणाचार्य, गौतमवंशी कृपाचार्य आदि भेजे गये थे॥

तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥ १४ ॥
(पाण्डवानागताञ्छ्रुत्वा नागरास्तु कुतूहलात्।
मण्डयां चक्रिरे तत्र नगरं नागसाह्वयम् ॥
मुक्तपुष्पावकीर्णं तज्जलसिक्तं तु सर्वशः।
धूपितं दिव्यधूपेन मण्डनैश्चापि संवृतम् ॥
पताकोच्छ्रितमाल्यं च पुरमप्रतिमं बभौ ॥
शङ्खभेरीनिनादैश्च नानावादित्रनिःस्वनैः।)
कौतूहलेन नगरं दीप्यमानमिवाभवत्।
तत्र ते पुरुषव्याघ्राः शोकदुःखविनाशनाः ॥ १५ ॥
तत उच्चावचा वाचः पौरैः प्रियचिकीर्षुभिः।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पाण्डवा हृदयंगमाः ॥ १६ ॥

इन सबसे घिरे हुए शोभाशाली महाबली वीर पाण्डवोंने तब धीरे-धीरे हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया। पाण्डवोंका आगमन सुनकर नागरिकोंने कौतूहलवश हस्तिनापुर नगरको (अच्छी तरहसे) सजा रक्खा था। सड़कोंपर सब ओर फूल बिखेरे गये थे, जलका छिड़काव किया गया था, सारा नगर दिव्य धूपकी सुगन्धसे महँ-महँ कर रहा था और भाँति-भाँतिकी प्रसाधन-सामग्रियोंसे सजाया गया था। पताकाएँ फहराती थीं और ऊँचे गृहोंमें पुष्पहार सुशोभित होते थे। शङ्ख, भेरी तथा नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे वह अनुपम नगर बड़ी शोभा पा रहा था। उस समय कौतूहलवश सारा नगर देदीप्यमान-सा हो उठा। पुरुषसिंह पाण्डव प्रजाजनोंके शोक और दुःखका निवारण करनेवाले थे; अतः वहाँ उनका प्रिय करनेकी इच्छावाले पुरवासियोंद्वारा कही हुई भिन्न-भिन्न प्रकारकी हृदय-स्पर्शिनी बातें सुनायी पड़ीं— ॥ १४–१६ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित्।
यो नः स्वानिव दायादान् धर्मेण परिरक्षति ॥ १७ ॥

(पुरवासी कह रहे थे—) 'ये ही वे नरश्रेष्ठ धर्मज्ञ युधिष्ठिर पुनः यहाँ पधार रहे हैं, जो धर्मपूर्वक अपने पुत्रोंकी भाँति हमलोगोंकी रक्षा करते थे ॥ १७ ॥

अद्य पाण्डुर्महाराजो वनादिव जनप्रियः।
आगतः प्रियमस्माकं चिकीर्षुर्नात्र संशयः ॥ १८ ॥

इनके आनेसे निःसंदेह ऐसा जान पड़ता है, आज प्रजाजनोंके प्रिय महाराज पाण्डु ही मानो हमारा प्रिय करनेके लिये वनसे चले आये हों ॥ १८ ॥

किं नु नाद्य कृतं तात सर्वेषां नः परं प्रियम्।
यन्नः कुन्तीसुता वीरा नगरं पुनरागताः ॥ १९ ॥

तात! कुन्तीके वीर पुत्र यदि पुनः इस नगरमें चले आये तो आज हम सब लोगोंका कौन-सा परम प्रिय कार्य नहीं सम्पन्न हो गया ॥ १९ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं विद्यते यदि नस्तपः।
तेन तिष्ठन्तु नगरे पाण्डवाः शरदां शतम् ॥ २० ॥

यदि हमने दान और होम किया है, यदि हमारी तपस्या शेष है तो उन सबके पुण्यसे ये पाण्डव सौ वर्षतक इसी नगरमें निवास करें' ॥ २० ॥

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ॥ २१ ॥

इतनेमें ही पाण्डवोंने धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म तथा अन्य वन्दनीय पुरुषोंके पास जाकर उन सबके चरणोंमें प्रणाम किया ॥

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण च।
न्यविशन्ताथ वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥ २२ ॥

फिर समस्त नगरवासियोंसे कुशलप्रश्न करके वे राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राजमहलोंमें गये ॥ २२ ॥

(दुर्योधनस्य महिषी काशिराजसुता तदा।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां वधूभिः सहिता तदा ॥
पाञ्चालीं प्रतिजग्राह द्रौपदीं श्रीमिवापराम्।
पूजयामास पूजार्हां शचीदेवीमिवागताम् ॥
ववन्दे तत्र गान्धारीं माधवी कृष्णया सह।
आशिषश्च प्रयुक्त्वा तु पाञ्चालीं परिषस्वजे ॥
परिष्वज्य च गान्धारी कृष्णां कमललोचनाम्।
पुत्राणां मम पाञ्चाली मृत्युरेवेत्यमन्यत।
सा चिन्त्य विदुरं प्राह युक्तितः सुबलात्मजा ॥

उस समय दुर्योधनकी रानीने, जो काशिराजकी पुत्री थी, धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अन्य वधुओंके साथ आकर द्वितीय लक्ष्मीके समान सुन्दरी पञ्चालराजकुमारी द्रौपदीकी अगवानी की। द्रौपदी सर्वथा पूजाके योग्य थी। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो साक्षात् शचीदेवीने पदार्पण किया हो। दुर्योधन-पत्नीने उसका भलीभाँति सत्कार किया। वहाँ पहुँचकर कुन्तीने अपनी बहूरानी द्रौपदीके साथ गान्धारीको प्रणाम किया। गान्धारीने आशीर्वाद देकर द्रौपदीको हृदयसे लगा लिया। कमलसदृश नेत्रोंवाली कृष्णाको हृदयसे लगाकर गान्धारी सोचने लगी कि यह पाञ्चाली तो मेरे पुत्रोंकी मृत्यु ही है। यह सोचकर सुबलपुत्री गान्धारीने युक्तिसे विदुरको बुलाकर कहा—

गान्धार्युवाच

कुन्तीं राजसुतां क्षत्तः सवधूं सपरिच्छदाम्।
पाण्डोर्निवेशनं शीघ्रं नीयतां यदि रोचते ॥
करणेन मुहूर्तेन नक्षत्रेण शुभे तिथौ।
यथासुखं तथा कुन्ती रंस्यते स्वगृहे सुतैः ॥

फिर गान्धारीने कहा—विदुर! यदि तुम्हें जँचे तो राजकुमारी कुन्तीको पुत्रवधूसहित शीघ्र ही पाण्डुके महलमें ले जाओ और वहीं इनका सारा सामान भी पहुँचा दो। उत्तम करण, मुहूर्त और नक्षत्रसहित शुभ तिथिको उस महलमें इन्हें प्रवेश करना चाहिये, जिससे कुन्तीदेवी अपने घरमें पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक रह सकें।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्येव तदा क्षत्ता कारयामास तत्तदा ॥
पूजयामासुरत्यर्थं बान्धवाः पाण्डवांस्तदा ।
नागराः श्रेणिमुख्याश्च पूजयन्ति स्म पाण्डवान् ॥
भीष्मो द्रोणस्तथा कर्णो बाह्लीकः ससुतस्तदा ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य अकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥
एवं विहरतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम् ।
नेता सर्वस्य कार्यस्य विदुरो राजशासनात् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! 'बहुत अच्छा' कहकर उसी समय विदुरने वैसी ही व्यवस्था की। सभी बन्धु-बान्धवोंने पाण्डवोंका उस समय अत्यन्त आदर-सत्कार किया। प्रमुख नागरिकों तथा सेठोंने भी पाण्डवोंका पूजन किया। भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा पुत्रसहित बाह्लीकने धृतराष्ट्रके आदेशसे पाण्डवोंका आतिथ्य-सत्कार किया। इस प्रकार हस्तिनापुरमें विहार करनेवाले महात्मा पाण्डवोंके सभी कार्योंमें विदुरजी ही नेता थे। उन्हें इसके लिये राजाकी ओरसे आदेश प्राप्त हुआ था॥

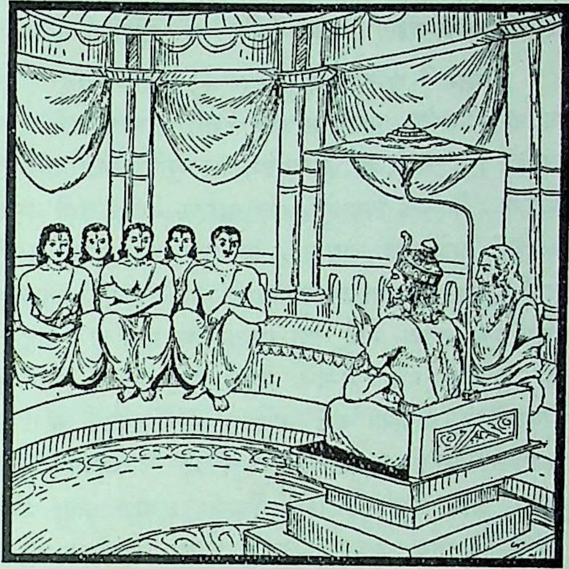
विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित् कालं महाबलाः।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शांतनवेन च ॥ २३ ॥

कुछ कालतक विश्राम कर लेनेपर उन महाबली महात्मा पाण्डवोंको राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मजीने बुलाया।२३।

(धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम ।
(पाण्डुना वर्धितं राज्यं पाण्डुना पालितं जगत् ॥
शासनान्मम कौन्तेय मम भ्राता महाबलः ।
कृतवान् दुष्करं कर्म नित्यमेव विशाम्पते ॥
तस्मात् त्वमपि कौन्तेय शासनं कुरु मा चिरम् ॥
मम पुत्रा दुरात्मानो दर्पाहंकारसंयुताः ।
शासनं न करिष्यन्ति मम नित्यं युधिष्ठिर ॥
स्वकार्यनिरतैर्नित्यमवलिप्तैर्दुरात्मभिः ।)
पुनर्वो विग्रहो मा भूत् खाण्डवप्रस्थमाविश ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अपने भाइयोंसहित ध्यान देकर सुनो। कुन्तीनन्दन! मेरी आज्ञासे पाण्डुने इस राज्यको बढ़ाया और पाण्डुने ही जगत्‌का पालन किया। मेरे भाई पाण्डु बड़े बलवान् थे। राजन्! वे मेरे कहनेसे सदा ही दुष्कर कार्य किया करते थे। कुन्तीकुमार! तुम भी यथासम्भव शीघ्र मेरी आज्ञाका पालन करो, विलम्ब न करो। मेरे दुरात्मा पुत्र दर्प और अहंकारसे भरे हुए हैं। युधिष्ठिर! वे सदा मेरी आज्ञाका पालन नहीं करेंगे। अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए उन बलाभिमानी दुरात्माओंके साथ तुम्हारा फिर कोई झगड़ा न खड़ा हो जाय, इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थमें निवास करो॥२४॥



न च वो वसतस्तत्र कश्चिच्छक्तः प्रबाधितुम् ।
संरक्ष्यमाणान् पार्थेन त्रिदशानिव वज्रिणा ॥ २५ ॥
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ।

वहाँ रहते समय कोई तुम्हें बाधा नहीं दे सकता; क्योंकि जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन वहाँ तुमलोगोंकी भलीभाँति रक्षा करेंगे। तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें चलकर रहो॥२५½॥

(धृतराष्ट्र उवाच

अभिषेकस्य सम्भारान् क्षत्तरानय मा चिरम् ।
अभिषिक्तं करिष्यामि अद्य वै कुरुनन्दनम् ॥
ब्राह्मणा नैगमश्रेष्ठाः श्रेणीमुख्याश्च सर्वशः ।
आहूयन्तां प्रकृतयो बान्धवाश्च विशेषतः ॥
पुण्याहं वाच्यतां तात गोसहस्रं तु दीयताम् ।
ग्राममुख्याश्च विप्रेभ्यो दीयन्तां सहदक्षिणाः ॥
अङ्गदे मुकुटं क्षत्तः हस्ताभरणमानय ॥
मुक्तावलीश्च हारं च निष्कादीन् कुण्डलानि च ।
कटिबन्धश्च सूत्रं च तथोदरनिबन्धनम् ॥
अष्टोत्तरसहस्रं तु ब्राह्मणाधिष्ठिता गजाः ।
जाह्नवीसलिलं शीघ्रमानयन्तु पुरोहिताः ॥
अभिषेकोदकक्लिन्नं सर्वाभरणभूषितम् ।
औपवाह्योपरिगतं दिव्यचामरवीजितम् ॥
सुवर्णमणिचित्रेण श्वेतच्छत्रेण शोभितम् ।
जयेति द्विजवाक्येन स्तूयमानं नृपैस्तथा ॥
दृष्ट्वा कुन्तीसुतं ज्येष्ठमाजमीढं युधिष्ठिरम् ।
प्रीताः प्रीतेन मनसा प्रशंसन्तु पुरे जनाः ॥

पाण्डोः कृतोपकारस्य राज्यं दत्त्वा ममैव च।
प्रतिक्रियाकृतमिदं भविष्यति न संशयः॥

(फिर) धृतराष्ट्रने (विदुरसे) कहा--विदुर ! तुम राज्याभिषेककी सामग्री लाओ, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये। मैं आज ही कुरुकुलनन्दन युधिष्ठिरका अभिषेक करूँगा। वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, नगरके सभी प्रमुख व्यापारी, प्रजावर्गके लोग और विशेषतः बन्धु-बान्धव बुलाये जायँ। तात ! पुण्याहवाचन कराओ और ब्राह्मणोंको दक्षिणाके साथ एक सहस्र गौएँ तथा मुख्य-मुख्य ग्राम दो। विदुर ! दो भुजबंद, एक सुन्दर मुकुट तथा हाथके आभूषण मँगाओ। मोतीकी कई मालाएँ, हार, पदक, कुण्डल, करधनी, कटिसूत्र तथा उदरबन्ध भी ले आओ। एक हजार आठ हाथी मँगाओ, जिनपर ब्राह्मण सवार हों। पुरोहितोंके साथ जाकर वे हाथी शीघ्र गङ्गाजीका जल ले आयें। युधिष्ठिर अभिषेकके जलसे भीगे हों, समस्त आभूषणोंसे उन्हें विभूषित किया गया हो, वे राजाकी सवारीके योग्य गजराजपर बैठे हों, उनपर दिव्य चँवर डुल रहे हों और उनके मस्तकके ऊपर सुवर्ण और मणियोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला श्वेत छत्र सुशोभित हो, ब्राह्मणोंद्वारा की हुई जय-जयकारके साथ बहुत-से नरेश उनकी स्तुति करते हों। इस प्रकार कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र अजमीढकुलतिलक युधिष्ठिरका प्रसन्न मनसे दर्शन करके प्रसन्न हुए पुरवासीजन इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करें। राजा पाण्डुने मुझे ही अपना राज्य देकर जो उपकार किया था, उसका बदला इसीसे पूर्ण होगा कि युधिष्ठिरका राज्याभिषेक कर दिया जाय; इसमें संशय नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता साधु साध्वित्यभाषत।

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! यह सुनकर भीष्म, द्रोण, कृप तथा विदुरने कहा--'बहुत अच्छा ! बहुत अच्छा !'

श्रीवासुदेव उवाच

युक्तमेतन्महाराज कौरवाणां यशस्करम्।
शीघ्रमद्यैव राजेन्द्र यथोक्तं कर्तुमर्हसि॥

(तब) भगवान् श्रीकृष्ण बोले--महाराज ! आपका यह विचार सर्वथा उत्तम तथा कौरवोंका यश बढ़ानेवाला है। राजेन्द्र ! आपने जैसा कहा है, उसे आज ही जितना शीघ्र सम्भव हो सके, पूर्ण कर डालिये।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वार्ष्णेयस्त्वरयामास तं तदा।
यथोक्तं धृतराष्ट्रस्य कारयामास कौरवः॥
तस्मिन् क्षणे महाराज कृष्णद्वैपायनस्तदा।
आगत्य कुरुभिः सर्वैः पूजितः स सुहृद्गणैः॥
मूर्धावसिक्तैः सहितो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
कारयामास विधिवत् केशवानुमते तदा॥
कृपो द्रोणश्च भीष्मश्च धौम्यश्च व्यासकेशवौ।
बाह्लीकः सोमदत्तश्च चातुर्वेद्यपुरस्कृताः॥
अभिषेकं तदा चक्रुर्भद्रपीठे सुसंयतम्।
जित्वा तु पृथिवीं कृत्स्नां वशे कृत्वा नरर्षभान्॥
राजसूयादिभिर्यज्ञैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
स्नात्वा ह्यवभृथस्नानं मोदतां बान्धवैः सह॥
एवमुक्त्वा तु ते सर्वे आशीर्भिरभिपूजयन्।
मूर्धाभिषिक्तः कौरव्य सर्वाभरणभूषितः॥
जयेति संस्तुतो राजा प्रददौ धनमक्षयम्।
सर्वमूर्धावसिक्तैश्च पूजितः कुरुनन्दनः॥
औपवाह्यमथारुह्य श्वेतच्छत्रेण शोभितः।
रराजानुगतो राजा महेन्द्र इव दैवतैः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य नगरं नागसाह्वयम्॥
प्रविवेश ततो राजा नागरैः पूजितो भृशम्॥
मूर्धाभिषिक्तं कौन्तेयमभ्यनन्दन्त बान्धवाः।
गान्धारिपुत्राः शोचन्तः सर्वे ते सह बान्धवैः॥
ज्ञात्वा शोकं तु पुत्राणां धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्नृपम्॥
समक्षं वासुदेवस्य कुरूणां च समक्षतः।

वैशम्पायनजी कहते हैं--इतना कहकर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें जल्दी करनेकी प्रेरणा दी। विदुरजीने धृतराष्ट्रके कथनानुसार सब कार्य पूर्ण कर दिया। उसी समय, राजन्, वहाँ महर्षि कृष्णद्वैपायन पधारे। समस्त कौरवोंने अपने सुहृदोंके साथ आकर उनकी पूजा की। तब वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणों तथा मूर्धाभिषिक्त नरेशोंके साथ मिलकर भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार व्यासजीने विधिपूर्वक अभिषेक-कार्य सम्पन्न किया। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भीष्म, धौम्य, व्यास, श्रीकृष्ण, बाह्लीक और सोमदत्तने चारों वेदोंके विद्वानोंको आगे रखकर भद्रपीठपर संयमपूर्वक बैठे हुए युधिष्ठिरका उस समय अभिषेक किया और सबने यह आशीर्वाद दिया कि 'राजन् ! तुम सारी पृथ्वीको जीतकर सम्पूर्ण नरेशोंको अपने अधीन करके प्रचुर दक्षिणासे युक्त राजसूय आदि यज्ञ-याग पूर्ण करनेके पश्चात् अवभृथ-स्नान करके बन्धु-बान्धवोंके साथ सुखी रहो।' जनमेजय ! यों कहकर उन सबने अपने आशीर्वादों-द्वारा युधिष्ठिरका सम्मान किया। समस्त आभूषणोंसे विभूषित, मूर्धाभिषिक्त राजा युधिष्ठिरने अक्षय धनका दान किया। उस समय सब लोगोंने जय-जयकारपूर्वक उनकी स्तुति की। समस्त मूर्धाभिषिक्त राजाओंने भी कुरुनन्दन युधिष्ठिरका पूजन किया। फिर वे राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो श्वेत छत्रसे सुशोभित हुए। उनके पीछे-पीछे बहुत-से मनुष्य चल रहे थे। उस समय देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति उनकी बड़ी शोभा हो रही थी। समस्त हस्तिनापुर नगरकी परिक्रमा करके

राजाने पुनः राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय नागरिकोंने उनका विशेष समादर किया। बन्धु-बान्धवोंने भी मूर्धाभिषिक्त राजा युधिष्ठिरका सादर अभिनन्दन किया। यह सब देखकर वे गान्धारीके दुर्योधन आदि सभी पुत्र अपने भाइयोंके साथ शोकातुर हो रहे थे। अपने पुत्रोंको शोक हुआ जानकर धृतराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा कौरवोंके समक्ष राजा युधिष्ठिरसे (इस प्रकार) कहा।

धृतराष्ट्र उवाच

अभिषेकं त्वया प्राप्तं दुष्प्रापमकृतात्मभिः।
गच्छ त्वमद्यैव नृप कृतकृत्योऽसि कौरव॥
आयुः पुरूरवा राजन् नहुषश्च ययातिना।
तत्रैव निवसन्ति स्म खाण्डवाह्वे नृपोत्तम॥
राजधानी तु सर्वेषां पौरवाणां महाभुज।
विनाशितं मुनिगणैर्लोभाद् बुधसुतस्य च॥
तस्मात् त्वं खाण्डवप्रस्थं पुरं राष्ट्रं च वर्धय।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतनिश्चयाः॥
त्वद्भक्त्या जन्तवश्चान्ये भजन्त्वेव पुरं शुभम्।
पुरं राष्ट्रं समृद्धं वै धनधान्यैः समावृतम्॥
तस्माद् गच्छस्व कौन्तेय भ्रातृभिः सहितोऽनघ।)

धृतराष्ट्र बोले—कुरुनन्दन! तुमने वह राज्याभिषेक प्राप्त किया है, जो अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ है। राजन्! तुम राज्य पाकर कृतार्थ हो गये। अतः आज ही खाण्डवप्रस्थ चले जाओ। नृपश्रेष्ठ! पुरूरवा, आयु, नहुष तथा ययाति खाण्डवप्रस्थमें ही निवास करते थे। महाबाहो! वहीं समस्त पौरव नरेशोंकी राजधानी थी। आगे चलकर मुनियोंने बुधपुत्रके लोभसे खाण्डवप्रस्थको नष्ट कर दिया था। इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थ नगरको पुनः बसाओ और अपने राष्ट्रकी वृद्धि करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सबने तुम्हारे साथ वहाँ जानेका निश्चय किया है। तुममें भक्ति रखनेके कारण दूसरे लोग भी उस सुन्दर नगरका आश्रय लेंगे। निष्पाप कुन्तीकुमार! वह नगर तथा राष्ट्र समृद्धिशाली और धन-धान्यसे सम्पन्न है। अतः तुम भाइयोंसहित वहीं जाओ।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च॥ २६॥
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः।
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन्॥ २७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात मानकर पाण्डवोंने उन्हें प्रणाम किया और आधा राज्य पाकर वे खाण्डवप्रस्थकी ओर चल दिये, जो भयंकर वनके रूपमें था। धीरे-धीरे वे खाण्डवप्रस्थमें जा पहुँचे॥ २६-२७॥

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
मण्डयां चक्रिरे तद् वै परं स्वर्गवदच्युताः॥ २८॥

तदनन्तर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले पाण्डवोंने श्रीकृष्णसहित वहाँ जाकर उस स्थानको उत्तम स्वर्गलोककी भाँति शोभायमान कर दिया॥ २८॥

(वासुदेवो जगन्नाथश्चिन्तयामास वासवम्।
महेन्द्रश्चिन्तितो राजन् विश्वकर्माणमादिशत्॥

फिर जगदीश्वर भगवान् वासुदेवने देवराज इन्द्रका चिन्तन किया। राजन्! उनके चिन्तन करनेपर इन्द्रदेवने (उनके मनकी बात जानकर) विश्वकर्माको इस प्रकार आज्ञा दी।

महेन्द्र उवाच

विश्वकर्मन् महाप्राज्ञ अद्यप्रभृति तत् पुरम्।
इन्द्रप्रस्थमिति ख्यातं दिव्यं रम्यं भविष्यति॥

इन्द्र बोले—विश्वकर्मन्! महामते! (आप जाकर खाण्डवप्रस्थ नगरका निर्माण करें।) आजसे वह दिव्य और रमणीय नगर इन्द्रप्रस्थके नामसे विख्यात होगा।

वैशम्पायन उवाच

महेन्द्रशासनाद् गत्वा विश्वकर्मा तु केशवम्।
प्रणम्य प्रणिपातार्हं किं करोमीत्यभाषत॥
वासुदेवस्तु तच्छ्रुत्वा विश्वकर्माणमूचिवान्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महेन्द्रकी आज्ञासे विश्वकर्माने खाण्डवप्रस्थमें जाकर वन्दनीय भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके कहा—मेरे लिये क्या आज्ञा है? उनकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा।

वासुदेव उवाच

कुरुष्व कुरुराजाय महेन्द्रपुरसंनिभम्।
इन्द्रेण कृतनामानमिन्द्रप्रस्थं महापुरम्॥)

श्रीकृष्ण बोले—विश्वकर्मन्! तुम कुरुराज युधिष्ठिरके लिये महेन्द्रपुरीके समान एक महानगरका निर्माण करो। इन्द्रके निश्चय किये हुए नामके अनुसार वह इन्द्र-प्रस्थ कहलायेगा।

ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः॥ २९॥

तत्पश्चात् पवित्र एवं कल्याणमय प्रदेशमें शान्तिकर्म कराके महारथी पाण्डवोंने वेदव्यासजीको अगुआ बनाकर नगर बसानेके लिये जमीनका नाप करवाया॥ २९॥

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्।
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता॥ ३०॥
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा॥ ३१॥

उसके चारों ओर समुद्रकी भाँति विस्तृत एवं अगाध जलसे भरी हुई खाइयाँ बनी थीं, जो उस नगरकी शोभा बढ़ा रही थीं। श्वेत बादलों तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल चहारदीवारी शोभा दे रही थी, जो अपनी ऊँचाईसे आकाश-मण्डलको व्याप्त करके खड़ी थी। जैसे नागोंसे भोगवती सुशोभित होती है, उसी प्रकार उस चहारदीवारीसे खाई-सहित वह श्रेष्ठ नगर सुशोभित हो रहा था ॥ ३०-३१ ॥

द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम्।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ॥ ३२ ॥

उस नगरके दरवाजे ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो पाँख फैलाये गरुड़ हों। ऐसे अनेक बड़े-बड़े फाटक और अट्टालिकायें उस नगरकी श्रीवृद्धि कर रही थीं। मेघोंकी घटाके समान सुशोभित तथा मन्दराचलके समान ऊँचे गोपुरोंद्वारा वह नगर सब ओरसे सुरक्षित था ॥ ३२ ॥

विविधैरपि निर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः।
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः ॥ ३३ ॥

नाना प्रकारके अभेद्य तथा सब ओरसे घिरे हुए शस्त्रागारोंमें शस्त्र संग्रह करके रक्खे गये थे। नगरके चारों ओर हाथसे चलायी जानेवाली लोहेकी शक्तियाँ तैयार करके रखी गयी थीं, जो दो जीभोंवाले साँपोंके समान जान पड़ती थीं। इन सबके द्वारा उस नगरकी सुरक्षा की गयी थी ॥ ३३ ॥

तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम् ॥ ३४ ॥

जिनमें अस्त्र-शस्त्रोंका अभ्यास किया जाता था, ऐसी अनेक अट्टालिकाओंसे युक्त और योद्धाओंसे सुरक्षित उस नगरकी शोभा देखते ही बनती थी। तीखे अङ्कुशों (बर्छों), शतघ्नियों (तोपों) और अन्यान्य युद्धसम्बन्धी यन्त्रोंके जालसे वह नगर शोभा पा रहा था ॥ ३४ ॥

आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत् पुरोत्तमम्।
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम् ॥ ३५ ॥

लोहेके बने हुए महान् चक्रोंद्वारा उस उत्तम नगरकी अवर्णनीय शोभा हो रही थी। वहाँ विभागपूर्वक विभिन्न स्थानोंमें जानेके लिये विशाल एवं चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं। उस नगरमें दैवी आपत्तिका नाम नहीं था ॥ ३५ ॥

विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ॥ ३६ ॥

अनेक प्रकारके श्रेष्ठ एवं शुभ्र सदनोंसे शोभित वह नगर स्वर्गलोकके समान प्रकाशित हो रहा था। उसका नाम था इन्द्रप्रस्थ ॥ ३६ ॥

मेघवृन्दमिवाकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम्।
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरव्यस्य निवेशनम् ॥ ३७ ॥

इन्द्रप्रस्थके रमणीय एवं शुभ प्रदेशमें कुरुराज युधिष्ठिर-का सुन्दर राजभवन बना हुआ था, जो आकाशमें विद्युत्की प्रभासे व्याप्त मेघमण्डलकी भाँति देदीप्यमान था ॥ ३७ ॥

शुशुभे धनसम्पूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम्।
तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदां वराः ॥ ३८ ॥
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा।
वणिजश्चाययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः ॥ ३९ ॥

अनन्त धनराशिसे परिपूर्ण होनेके कारण वह भवन धना-ध्यक्ष कुबेरके निवासस्थानकी समानता करता था। राजन्! सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण उस नगरमें निवास करनेके लिये आये, जो सम्पूर्ण भाषाओंके जानकार थे। उन सबको वहाँ-का रहना बहुत पसंद आया। अनेक दिशाओंसे धनोपार्जनकी इच्छावाले वणिक् भी उस नगरमें आये ॥ ३८-३९ ॥

सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा।
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः ॥ ४० ॥

सब प्रकारकी शिल्पकलाके जानकार मनुष्य भी उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें निवास करनेके लिये आ गये थे। नगरके चारों ओर रमणीय उद्यान थे ॥ ४० ॥

आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा।
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा ॥ ४१ ॥
शालतालतमालैश्च बकुलैश्च सकेतकैः।
मनोहरैः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः ॥ ४२ ॥

जो आम, आमड़ा, कदम्ब, अशोक, चम्पा, पुन्नाग, नागपुष्प, लकुच, कटहल, साल, ताल, तमाल, मौलसिरी और केवड़ा आदि सुन्दर फूलोंसे भरे और फलोंके भारसे झुके हुए मनोहर वृक्षोंसे सुशोभित थे। ॥ ४१-४२ ॥

प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः।
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः ॥ ४३ ॥
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः।
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतैः ॥ ४४ ॥

प्राचीन आँवले, लोध्र, खिले हुए अङ्कोल, जामुन, पाटल, कुब्जक, अतिमुक्तक लता, करवीर, पारिजात तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्ष, जिनमें सदा फल और फूल लगे रहते थे और जिनके ऊपर भाँति-भाँतिके सहस्रों पक्षी कलरव करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ४३-४४ ॥

मत्तबर्हिणसंघुष्टैः कोकिलैश्च सदामदैः।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः ॥ ४५ ॥

मतवाले मयूरोंके केकारव तथा सदा उन्मत्त रहनेवाली कोकिलोंकी काकली वहाँ गूँजती रहती थी। उन उद्यानोंमें

दर्पणके समान स्वच्छ क्रीड़ाभवन तथा नाना प्रकारके लता-मण्डप बनाये गये थे ॥ ४५ ॥

मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथा जगतिपर्वतैः ।
वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ॥ ४६ ॥
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥ ४७ ॥

मनोहर चित्रशालाओं तथा राजाओंकी विहारयात्राके लिये निर्मित हुए कृत्रिम पर्वतोंसे भी वे उद्यान बड़ी शोभा पा रहे थे। उत्तम जलसे भरी हुई अनेक प्रकारकी बावलियाँ तथा कमल और उत्पलकी सुगन्धसे वासित अत्यन्त रमणीय सरोवर जहाँ हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षी निवास करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ४६-४७ ॥

रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥ ४८ ॥

वहाँ वनसे घिरी हुई भाँति-भाँतिकी रमणीय पुष्करिणियाँ और सुरम्य एवं विशाल बहुसंख्यक तड़ाग बड़े सुन्दर जान पड़ते थे ॥ ४८ ॥

(चातुर्वर्ण्यसमाकीर्णं मान्यैः शिल्पिभिरावृतम् ।
उपयोगसमर्थैश्च सर्वद्रव्यैः समावृतम् ॥
नित्यमार्यजनोपेतं नरनारीगणैर्युतम् ॥
मत्तवारणसम्पूर्णं गोभिरुष्ट्रैः खरैरजैः ॥
सर्वदाभिगतं सद्भिः कारितं विश्वकर्मणा ॥
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ॥
पुरीं सर्वगुणोपेतां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
पौरवाणामधिपतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
कृतमङ्गलसत्कारो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
द्वैपायनं पुरस्कृत्य धौम्यस्यानुमते स्थितः ॥
भ्रातृभिःसहितो राजन् केशवेन सहाभिभूः ।
तोरणद्वारसुमुखं द्वात्रिंशद्द्वारसंयुतम् ॥
वर्धमानपुरद्वारं प्रविवेश महाद्युतिः ॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषाः श्रूयन्ते बहवो भृशम् ।
जयेति ब्राह्मणगिरः श्रूयन्ते च सहस्रशः ॥
संस्तूयमानो मुनिभिः सूतमागधवन्दिभिः ।
औपवाह्यगतो राजा राजमार्गमतीत्य च ॥
कृतमङ्गलसत्कारं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥
प्रविश्य भवनं राजा सत्कारैरभिपूजितः ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् केशवेन यथाक्रमम् ॥
ततस्तु राष्ट्रं नगरं नरनारीगणायुतम् ।
गोधनैश्च समाकीर्णं सस्यवृद्धिस्तदाभवत् ॥)

वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे ठसाठस भरा था। माननीय शिल्पी वहाँ निवास करते थे। वह पुरी उपभोगमें आनेवाली समस्त सामग्रियोंसे सम्पन्न थी। वहाँ सदा श्रेष्ठ पुरुष रहा करते थे। असंख्य नर-नारी उस नगरकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ मतवाले हाथी, ऊँट, गायें, बैल, गदहे और बकरे आदि पशु भी सदा मौजूद रहते थे। विश्वकर्माद्वारा बनायी हुई उस पुरीमें सदा साधु-महात्माओंका समागम होता था। वह इन्द्रप्रस्थ नगर स्वर्गके समान शोभा पाता था। राजन्, कौरवराज महातेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंद्वारा मङ्गल कृत्य कराकर द्वैपायन व्यासको आगे करके धौम्य मुनिकी सम्मतिके अनुसार भाइयों तथा भगवान् श्रीकृष्णके साथ बत्तीस दरवाजोंसे युक्त तोरणद्वारके सामने आकर वर्धमान नामक नगरद्वारमें प्रवेश किया। उस समय शङ्ख और नगारोंकी आवाज बड़े जोर-जोरसे सुनायी देती थी। सहस्रों ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए जयघोषका श्रवण होता था। मुनि तथा सूत, मागध और वन्दीजन राजाकी स्तुति कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर हाथीपर बैठे हुए थे। उन्होंने राजमार्गको पार करके एक उत्तम भवनमें प्रवेश किया, जहाँ माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किया गया था। उस भवनमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सत्कारोंसे सम्मानित हो राजा युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके साथ क्रमशः सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूजन किया। तदनन्तर अगणित नर-नारियोंसे सुशोभित वह राष्ट्र और नगर गोधनसे सम्पन्न हो गया और दिनोंदिन खेतीकी वृद्धि होने लगी ॥

तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत् प्रीतिरवर्धत ॥ ४९ ॥

महाराज ! पुण्यात्मा मनुष्योंसे भरे हुए उस महान् राष्ट्रमें प्रवेश करनेके बाद पाण्डवोंकी प्रसन्नता निरन्तर बढ़ती गयी ॥ ४९ ॥

तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥ ५० ॥

भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको आधा राज्य देकर वहाँसे विदा कर देनेपर समस्त पाण्डव खाण्डवप्रस्थके निवासी हो गये ॥ ५० ॥

पञ्चभिस्तैर्महेष्वासैरिन्द्रकल्पैः समन्वितम् ।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ५१ ॥

इन्द्रके समान शक्तिशाली और महान् धनुर्धर पाँचों पाण्डवोंके द्वारा वह श्रेष्ठ इन्द्रप्रस्थ नगर नागोंसे युक्त भोगवती-पुरीकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ५१ ॥

(ततस्तु विश्वकर्माणं पूजयित्वा विसृज्य च ।
द्वैपायनं च सम्पूज्य विसृज्य च नराधिप ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजा गन्तुकामं कृतक्षणम् ॥

तदनन्तर विश्वकर्माका पूजन करके राजाने उन्हें विदा कर दिया। फिर व्यासजीको सम्मानपूर्वक विदा देकर राजा युधिष्ठिरने जानेके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

तव प्रसादाद् वार्ष्णेय राज्यं प्राप्तं मयानघ।
प्रसादादेव ते वीर शून्यं राष्ट्रं सुदुर्गमम्॥
तवैव तु प्रसादेन राज्यस्थाश्च महामते॥
गतिस्त्वमन्तकाले च पाण्डवानां तु माधव।
मातास्माकं पिता देवो न पाण्डुं विद्म वै वयम्॥
ज्ञात्वा तु कृत्यं कर्तव्यं कारयस्व भवान् हि नः॥
यदिष्टमनुमन्तव्यं पाण्डवानां त्वयानघ॥

युधिष्ठिर बोले--निष्पाप वृष्णिनन्दन! आपकी ही कृपासे मैंने राज्य प्राप्त किया है। वीर! आपके ही प्रसादसे यह अत्यन्त दुर्गम एवं निर्जन प्रदेश आज धन-धान्यसे सम्पन्न राष्ट्र बन गया। महामते! आपकी ही दयासे हमलोग राज्यसिंहासनपर आसीन हुए हैं। माधव! अन्तकालमें भी आप ही हम पाण्डवोंकी गति हैं। आप ही हमारे माता-पिता और इष्टदेव हैं। हम पाण्डुको नहीं जानते। अनघ! आप स्वयं समझकर जो करने योग्य कार्य हो, वह हमसे करायें। पाण्डवोंके लिये जो अभीष्ट हो, उसी कार्यको करनेके लिये आप हमें अनुमति दें।

श्रीवासुदेव उवाच

त्वत्प्रभावान्महाभाग राज्यं प्राप्तं स्वधर्मतः।
पितृपैतामहं राज्यं कथं न स्यात् तव प्रभो॥
धार्तराष्ट्रा दुराचाराः किं करिष्यन्ति पाण्डवान्।
यथेष्टं पालय महीं सदा धर्मधुरं वह॥
धर्मोपदेशं संक्षेपाद् ब्राह्मणान् भज कौरव।
अद्यैव नारदः श्रीमानागमिष्यति सत्वरः॥
आहृत्य तस्य वाक्यानि शासनं कुरु तस्य वै॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा--महाभाग! आपको अपने ही प्रभावसे अपने ही धर्मके फलस्वरूप राज्य प्राप्त हुआ है। प्रभो! जो राज्य आपके बाप-दादोंका ही है, वह आपको कैसे नहीं मिलता। धृतराष्ट्रके पुत्र दुराचारी हैं। वे पाण्डवोंका क्या कर लेंगे? आप इच्छानुसार पृथ्वीका पालन कीजिए और सदा धर्ममर्यादाकी धुरी धारण करिये। कुरुनन्दन! संक्षेपमें आपके लिये धर्मका उपदेश इतना ही है कि ब्राह्मणोंकी सेवा करिये। आज ही बड़ी जल्दीमें आपके यहाँ श्रीनारदजी पधारेंगे, उनका आदर-सत्कार करके उनकी बातें सुनिये और उनकी आज्ञाका पालन कीजिये।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कुन्तीमभिवाद्य जनार्दनः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा गमिष्यामि नमोऽस्तु ते॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय! यों कहकर भगवान् श्रीकृष्ण कुन्तीदेवीके पास गये और उन्हें प्रणाम करके मधुर वाणीमें बोले--'बुआजी! नमस्कार। अब मैं जाऊँगा (आज्ञा दीजिये)।'

कुन्त्युवाच

जातुषं गृहमासाद्य मया प्राप्तं च केशव।
आर्येण चापि न ज्ञातं कुन्तिभोजेन चानघ॥
त्वया नाथेन गोविन्द दुःखं तीर्णं महत्तरम्।
त्वं हि नाथस्त्वनाथानां दरिद्राणां विशेषतः॥
सर्वदुःखानि शाम्यन्ति तव संदर्शनान्मम।
स्मरस्वैनान् महाप्राज्ञ तेन जीवन्ति पाण्डवाः॥

कुन्ती बोली--केशव! लाक्षागृहमें जाकर मैंने जो कष्ट भोगा है, उसे मेरे पूज्य पिता कुन्तिभोज भी नहीं जान सके हैं। गोविन्द! तुम्हारी सहायतासे ही मैं इस महान् दुःख-समुद्रसे पार हुई हूँ। प्रभो! तुम अनाथोंके, विशेषतः दीन-दुखियोंके नाथ (रक्षक) हो। तुम्हारे दर्शनसे हमारे सारे दुःख दूर हो जाते हैं। महामते! इन पाण्डवोंको सदा याद रखना। ये तुम्हारे शुभ चिन्तनसे ही जीवन धारण करते हैं।

वैशम्पायन उवाच

करिष्यामीति चामन्त्र्य अभिवाद्य पितृष्वसाम्।
गमनाय मतिं चक्रे वासुदेवः सहानुगः॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीसे यह कहकर कि मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, प्रणाम करके, विदा ले सेवकोंसहित वहाँसे जानेका विचार किया।

तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः।
ययौ द्वारवतीं राजन् पाण्डवानुमते तदा॥ ५२॥

राजन्! इस प्रकार उस पुरीको बसाकर बलरामजीके साथ वीरवर श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी अनुमति ले उस समय द्वारकापुरीको चले गये॥ ५२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि पुरनिर्माणे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें नगरनिर्माणविषयक दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ॥ २०६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९९ श्लोक मिलाकर कुल १५१ श्लोक हैं)



प्रभासक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका मिलन

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँ नारदजीका आगमन और उनमें फूट न हो, इसके लिये कुछ नियम बनानेके लिये प्रेरणा करके सुन्द और उपसुन्दकी कथाको प्रस्तावित करना

जनमेजय उवाच

एवं सम्प्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थं तपोधन।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन! इस प्रकार इन्द्रप्रस्थका राज्य प्राप्त कर लेनेके पश्चात् महात्मा पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया?॥ १॥

सर्व एव महासत्त्वा मम पूर्वपितामहाः।
द्रौपदी धर्मपत्नी च कथं तानन्ववर्तत॥ २॥

मेरे पूर्वपितामह सभी पाण्डव महान् सत्त्व (मनोबल) से सम्पन्न थे। उनकी धर्मपत्नी द्रौपदीने किस प्रकार उन सबका अनुसरण किया?॥ २॥

कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः।
वर्तमाना महाभागा नाभिद्यन्त परस्परम्॥ ३॥

वे महान् सौभाग्यशाली नरेश जब एक ही कृष्णाके प्रति अनुरक्त थे, तब उनमें आपसमें फूट कैसे नहीं हुई?॥ ३॥

श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन।
तेषां चेष्टितमन्योन्यं युक्तानां कृष्णया सह॥ ४॥

तपोधन! द्रौपदीसे सम्बन्ध रखनेवाले उन पाण्डवोंका आपसमें कैसा बर्ताव था, यह सब मैं विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः।
रेमिरे खाण्डवप्रस्थे प्राप्तराज्याः परंतपाः॥ ५॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राज्य पाकर परंतप पाण्डव द्रौपदीके साथ खाण्डवप्रस्थमें विहार करने लगे॥ ५॥

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसंधो युधिष्ठिरः।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह॥ ६॥

सत्यप्रतिज्ञ महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर उस राज्यको पाकर अपने भाइयोंके साथ धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगे॥

जितारयो महाप्राज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः॥ ७॥

वे सभी शत्रुओंपर विजय पा चुके थे, सभी महाबुद्धिमान् थे। सबने सत्यधर्मका आश्रय ले रक्खा था। इस प्रकार वे पाण्डव वहाँ बड़े आनन्दके साथ रहते थे॥ ७॥

कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः।
आसांचक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च॥ ८॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव नगरवासियोंके सम्पूर्ण कार्य करते हुए बहुमूल्य तथा राजोचित सिंहासनोंपर बैठा करते थे॥ ८॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया॥ ९॥

एक दिन जब वे सभी महामना पाण्डव अपने सिंहासनोंपर विराजमान थे, उसी समय देवर्षि नारद अकस्मात् वहाँ आ पहुँचे॥ ९॥

(पथा नक्षत्रजुष्टेन सुपर्णचरितेन च॥
चन्द्रसूर्यप्रकाशेन सेवितेन महर्षिभिः।
नभःस्थलेन दिव्येन दुर्लभेनातपस्विनाम्॥

उनका आगमन आकाशमार्गसे हुआ, जिसका नक्षत्र सेवन करते हैं, जिसपर गरुड़ चलते हैं, जहाँ चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश फैलता है और जो महर्षियोंसे सेवित है। जो लोग तपस्वी नहीं हैं, उनके लिये व्योममण्डलका वह दिव्य मार्ग दुर्लभ है॥

भूतार्चितो भूतधरं राष्ट्रं नगरभूषितम्।
अवेक्षमाणो द्युतिमानाजगाम महातपाः॥
सर्ववेदान्तगो विप्रः सर्वविद्यासु पारगः।
परेण तपसा युक्तो ब्राह्मेण तपसा वृतः॥
नये नीतौ च निरतो विश्रुतश्च महामुनिः।

सम्पूर्ण प्राणियोंद्वारा पूजित महान् तपस्वी एवं तेजस्वी देवर्षि नारद बड़े-बड़े नगरोंसे विभूषित और सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रयभूत राष्ट्रोंका अवलोकन करते हुए वहाँ आये। विप्रवर नारद सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रके ज्ञाता तथा समस्त विद्याओंके पारङ्गत पण्डित हैं। वे परमतपस्वी तथा ब्राह्मतेजसे सम्पन्न हैं; न्यायोचित बर्ताव तथा नीतिमें निरन्तर निरत रहनेवाले सुविख्यात महामुनि हैं॥

परात् परतरं प्राप्तो धर्मात् समभिजग्मिवान्॥
भावितात्मा गतरजाः शान्तो मृदुर्ऋजुर्द्विजः।
धर्मेणाधिगतः सर्वैर्देवदानवमानुषैः॥
अक्षीणवृत्तधर्मश्च संसारभयवर्जितः॥
सर्वथा कृतमर्यादो वेदेषु विविधेषु च॥
ऋक्सामयजुषां वेत्ता न्यायवृत्तान्तकोविदः॥
ऋजुरारोहवाञ्छुक्लो भूयिष्ठपथिकोऽनघः।
श्लक्ष्णया शिखयोपेतः सम्पन्नः परमत्विषा॥
अवदाते च सूक्ष्मे च दिव्ये च रुचिरे शुभे।
महेन्द्रदत्ते महती बिभ्रत् परमवाससी॥
प्राप्य दुष्प्रापमन्येन ब्रह्मवर्चसमुत्तमम्॥
भवने भूमिपालस्य बृहस्पतिरिवाप्लुतः॥

उन्होंने धर्म-बलसे परात्पर परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वे शुद्धात्मा, रजोगुणरहित, शान्त, मृदु तथा सरल स्वभावके ब्राह्मण हैं। वे देवता, दानव और मनुष्य सबको धर्मतः प्राप्त होते हैं। उनका धर्म और सदाचार कभी खण्डित नहीं हुआ है। वे संसारभयसे सर्वथा रहित हैं। उन्होंने सब प्रकारसे विविध वैदिक धर्मोंकी मर्यादा स्थापित की है। वे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदके विद्वान् हैं। न्यायशास्त्रके पारङ्गत पण्डित हैं। वे सीधे और ऊँचे कदके तथा शुक्ल वर्णके हैं। वे निष्पाप नारद अधिकांश समय यात्रामें व्यतीत करते हैं। उनके मस्तकपर सुन्दर शिखा शोभित है। वे उत्तम कान्तिसे प्रकाशित होते हैं। वे देवराज इन्द्रके दिये हुए दो बहुमूल्य वस्त्र धारण करते हैं। उनके वे दोनों वस्त्र उज्ज्वल, महीन, दिव्य, सुन्दर और शुभ हैं। दूसरोंके लिये दुर्लभ एवं उत्तम ब्रह्मतेजसे युक्त वे बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् नारदजी राजा युधिष्ठिरके महलमें उतरे।

संहितायां च सर्वेषां स्थितस्योपस्थितस्य च।
द्विपदस्य च धर्मस्य क्रमधर्मस्य पारगः॥
गाथासामानुधर्मज्ञः साम्नां परमवल्गुनाम्।
आत्मना सर्वमोक्षिभ्यः कृतिमान् कृत्यवित् तथा॥
योक्ता धर्मे बहुविधे मनो मतिमतां वरः।
विदितार्थः समश्चैव छेत्ता निगमसंशयान्॥
अर्थनिर्वचने नित्यं संशयच्छिदसंशयः।
प्रकृत्या धर्मकुशलो नानाधर्मविशारदः॥
लोपेनागमधर्मेण संक्रमेण च वृत्तिषु।
एकशब्दांश्च नानार्थानेकार्थांश्च पृथक्छ्रुतीन्॥
पृथगर्थाभिधानांश्च प्रयोगाणामवेक्षिता॥

संहिताशास्त्रमें सबके लिये स्थित और उपस्थित मानवधर्म तथा क्रमप्राप्त धर्मके वे पारगामी विद्वान् हैं। वे गाथा और साममन्त्रोंमें कहे हुए आनुषंगिक धर्मोंके भी ज्ञाता हैं तथा अत्यन्त मधुर सामगानके पण्डित हैं। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले सब लोगोंके हितके लिये नारदजी स्वयं ही प्रयत्नशील रहते हैं। कब किसका क्या कर्तव्य है, इसका उन्हें पूर्ण ज्ञान है। वे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं और मनको नाना प्रकारके धर्ममें लगाये रखते हैं। उन्हें जानने योग्य सभी अर्थोंका ज्ञान है। वे सबमें समभाव रखनेवाले हैं और वेदविषयक सम्पूर्ण संदेहोंका निवारण करनेवाले हैं। अर्थकी व्याख्याके समय सदा संशयों-का उच्छेद करते हैं। उनके हृदयमें संशयका लेश भी नहीं है। वे स्वभावतः धर्मनिपुण तथा नाना धर्मोंके विशेषज्ञ हैं। लोप, आगमधर्म तथा वृत्तिसंक्रमणके द्वारा प्रयोगमें आये हुए एक शब्दके अनेक अर्थोंको, पृथक्-पृथक् श्रवणगोचर होनेवाले अनेक शब्दोंके एक अर्थको तथा विभिन्न शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थोंको वे पूर्णरूपसे देखते और समझते हैं॥

प्रमाणभूतो लोकस्य सर्वाधिकरणेषु च।
सर्ववर्णविकारेषु नित्यं सकलपूजितः॥
स्वरेऽस्वरे च विविधे वृत्तेषु विविधेषु च।
समस्थानेषु सर्वेषु समाम्नायेषु धातुषु॥
उद्देश्यानां समाख्याता सर्वमाख्यातमुद्दिशन्।
अभिसंधिषु तत्त्वज्ञः पदान्यङ्गान्यनुस्मरन्॥
कालधर्मेण निर्दिष्टं यथार्थं च विचारयन्।
चिकीर्षितं च यो वेत्ता यथा लोकेन संवृतम्॥
विभाषितं च समयं भाषितं हृदयङ्गमम्।
आत्मने च परस्मै च स्वरसंस्कारयोगवान्॥
एषां स्वराणां वेत्ता च बोद्धा च वचनस्वरान्।
विज्ञाता चोक्तवाक्यानामेकतां बहुतां तथा॥
बोद्धा हि परमार्थांश्च विविधांश्च व्यतिक्रमान्।
अभेदतश्च बहुशो बहुशश्चापि भेदतः॥
वचनानां च विविधानादेशांश्च समीक्षिता।
नानार्थकुशलस्तत्र तद्धितेषु च सर्वशः॥
परिभूषयिता वाचां वर्णतः स्वरतोऽर्थतः।
प्रत्ययांश्च समाख्याता नियतं प्रतिधातुकम्॥
पञ्च चाक्षरजातानि स्वरसंज्ञानि यानि च।)

सभी अधिकरणों और समस्त वर्णोंके विकारोंमें निर्णय देनेके निमित्त वे सब लोगोंके लिये प्रमाणभूत हैं। सदा सब लोग उनकी पूजा करते हैं। नाना प्रकारके स्वर, व्यञ्जन, भाँति-भाँतिके छन्द, समान स्थानवाले सभी वर्ण, समाम्नाय तथा धातु—इन सबके उद्देश्योंकी नारदजी बहुत अच्छी व्याख्या करते हैं। सम्पूर्ण आख्यात प्रकरण (धातुरूप तिङन्त आदि) का प्रतिपादन कर सकते हैं। सब प्रकारकी संधियोंके सम्पूर्ण रहस्योंको जानते हैं। पदों और अङ्गोंका निरन्तर स्मरण रखते हैं, काल-धर्मसे निर्दिष्ट यथार्थ तत्त्वका विचार करनेवाले हैं तथा वे लोगोंके छिपे हुए मनोभावको—वे क्या करना चाहते हैं, इस बातको भी अच्छी तरह जानते हैं। विभाषित (वैकल्पिक), भाषित (निश्चयपूर्वक कथित) और हृदयङ्गम किये हुए समयका उन्हें यथार्थ ज्ञान है। वे अपने तथा दूसरेके लिये स्वरसंस्कार तथा योगसाधनमें तत्पर रहते हैं। वे इन प्रत्यक्ष चलनेवाले स्वरोंको भी जानते हैं, वचन-स्वरोंका भी ज्ञान रखते हैं, कही हुई बातोंके मर्मको जानते और उनकी एकता तथा अनेकताको समझते हैं। उन्हें परमार्थका यथार्थ ज्ञान है। वे नाना प्रकारके व्यतिक्रमों (अपराधों) को भी जानते हैं। अभेद और भेददृष्टिसे भी बारंबार तत्त्वविचार करते रहते हैं। वे शास्त्रीय वाक्योंके विविध आदेशोंकी भी समीक्षा करनेवाले तथा नाना प्रकारके अर्थज्ञानमें कुशल हैं, तद्धित प्रत्ययोंका उन्हें पूरा ज्ञान है। वे स्वर, वर्ण और अर्थ तीनोंसे ही वाणी-को विभूषित करते हैं। प्रत्येक धातुके प्रत्ययोंका नियमपूर्वक प्रतिपादन करनेवाले हैं। पाँच प्रकारके जो अक्षरसमूह

तथा स्वर हैं*, उनको भी वे यथार्थरूपसे जानते हैं ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ।
देवर्षेरुपविष्टस्य स्वयमर्घ्यं यथाविधि ॥ १० ॥
प्रादाद् युधिष्ठिरो धीमान् राज्यं तस्मै न्यवेदयत् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनास्तदा ॥ ११ ॥

उन्हें आया देख राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और अपना परम सुन्दर आसन उन्हें बैठनेके लिये दिया। जब देवर्षि उसपर बैठ गये, तब परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने स्वयं ही विधिपूर्वक उन्हें अर्घ्य निवेदन किया और उसीके साथ-साथ उन्हें अपना सारा राज्य समर्पित कर दिया। उनकी यह पूजा ग्रहण करके देवर्षि उस समय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ १०-११ ॥

आशीर्भिर्वर्धयित्वा च तमुवाचास्यतामिति ।
निषसादाभ्यनुज्ञातस्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
कथयामास कृष्णायै भगवन्तमुपस्थितम् ।
श्रुत्वैतद् द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता ॥ १३ ॥
जगाम तत्र यत्रास्ते नारदः पाण्डवैः सह ।
तस्याभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी ॥ १४ ॥
कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताथ द्रुपदात्मजा ।
तस्याश्चापि स धर्मात्मा सत्यवागृषिसत्तमः ॥ १५ ॥
आशिषो विविधाः प्रोच्य राजपुत्र्यास्तु नारदः ।
गम्यतामिति होवाच भगवांस्तामनिन्दिताम् ॥ १६ ॥
गतायामथ कृष्णायां युधिष्ठिरपुरोगमान् ।
विविक्ते पाण्डवान् सर्वानुवाच भगवानृषिः ॥ १७ ॥

फिर आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदयकी कामना करके बोले—'तुम भी बैठो।' नारदकी आज्ञा पाकर राजा युधिष्ठिर बैठे और कृष्णाको कहला दिया कि स्वयं भगवान् नारदजी पधारे हैं। यह सुनकर द्रौपदी भी पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो उसी स्थानपर गयी, जहाँ पाण्डवोंके साथ नारदजी विराजमान थे। धर्मका आचरण करनेवाली कृष्णा देवर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके अपने अङ्गोंको ढके हुए हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। धर्मात्मा एवं सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ भगवान् नारदने राजकुमारी द्रौपदीको नाना प्रकारके आशीर्वाद देकर उस सती-साध्वी देवीसे कहा, 'अब तुम भीतर जाओ।' कृष्णाके चले जानेपर भगवान् देवर्षिने एकान्तमें युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंसे कहा ॥ १२—१७ ॥

नारद उवाच

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १८ ॥

नारदजी बोले—पाण्डवो! यशस्विनी पाञ्चाली तुम सब लोगोंकी एक ही धर्मपत्नी है; अतः तुमलोग ऐसी नीति बना लो, जिससे तुमलोगोंमें कभी परस्पर फूट न हो ॥ १८ ॥

सुन्दोपसुन्दौ हि पुरा भ्रातरौ सहितावुभौ ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ॥ १९ ॥

पहलेकी बात है, सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर भाई-भाई थे। वे सदा साथ रहते थे एवं दूसरेके लिये अवध्य थे (केवल आपसमें ही लड़कर वे मर सकते थे)। उनकी तीनों लोकोंमें बड़ी ख्याति थी ॥ १९ ॥

एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ २० ॥

उनका एक ही राज्य था और एक ही घर। वे एक ही शय्यापर सोते, एक ही आसनपर बैठते और एक साथ ही भोजन करते थे। इस प्रकार आपसमें अटूट प्रेम होनेपर भी तिलोत्तमा अप्सराके लिये लड़कर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ॥ २० ॥



रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रीतिभावकम् ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तत् कुरुष्व युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर! इसलिये आपसकी प्रीतिको बढ़ानेवाले सौहार्दकी रक्षा करो और ऐसा कोई नियम बनाओ, जिससे यहाँ तुमलोगोंमें वैर-विरोध न हो ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुन्दोपसुन्दावसुरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
उत्पन्नश्च कथं भेदः कथं चान्योन्यमघ्नताम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने! सुन्द और उपसुन्द नामक असुर किसके पुत्र थे? उनमें कैसे विरोध उत्पन्न हुआ और किस प्रकार उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला? ॥ २२ ॥

अप्सरा देवकन्या वा कस्य चैषा तिलोत्तमा ।
यस्याः कामेन सम्मत्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ॥ २३ ॥

* कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ—इन पाँच स्थानों अथवा पाँच आभ्यन्तर प्रयत्नोंके भेदसे पाँच प्रकारके अक्षरसमूह कहे गये हैं। अ इ उ ऋ लृ ये पाँच ही मूल स्वर हैं, अन्य स्वर इन्हींके दीर्घ आदि भेद अथवा संधिज हैं।

यह तिलोत्तमा अप्सरा थी ? किसी देवताकी कन्या थी ? तथा वह किसके अधिकारमें थी ? जिसकी कामनासे उन्मत्त होकर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ॥ २३ ॥

एतत् सर्वं यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् परं कौतूहलं हि नः ॥ २४ ॥

तपोधन ! यह सब वृत्तान्त जिस प्रकार घटित हुआ था, वह सब हम विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं। ब्रह्मन् ! उसे सुननेके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि युधिष्ठिरनारदसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें युधिष्ठिर-नारद-संवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५½ श्लोक मिलाकर कुल ४९½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द-उपसुन्दकी तपस्या, ब्रह्माजीके द्वारा उन्हें वर प्राप्त होना और दैत्योंके यहाँ आनन्दोत्सव

नारद उवाच

शृणु मे विस्तरेणेममितिहासं पुरातनम्।
भ्रातृभिः सहितः पार्थ यथावृत्तं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! यह वृत्तान्त जिस प्रकार संघटित हुआ था, वह प्राचीन इतिहास तुम मुझसे भाइयोंसहित विस्तारपूर्वक सुनो ॥ १ ॥

महासुरस्यान्ववाये हिरण्यकशिपोः पुरा।
निकुम्भो नाम दैत्येन्द्रस्तेजस्वी बलवानभूत् ॥ २ ॥

प्राचीनकालमें महान् दैत्य हिरण्यकशिपुके कुलमें निकुम्भ नामसे प्रसिद्ध एक दैत्यराज हो गया है, जो अत्यन्त तेजस्वी और बलवान् था ॥ २ ॥

तस्य पुत्रौ महावीर्यौ जातौ भीमपराक्रमौ।
सुन्दोपसुन्दौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ॥ ३ ॥

उसके महाबली और भयानक पराक्रमी दो पुत्र हुए, जिनका नाम था सुन्द और उपसुन्द । वे दोनों दैत्यराज बड़े भयंकर और क्रूर हृदयके थे ॥ ३ ॥

तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसम्मतौ।
निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥ ४ ॥

उनका एक ही निश्चय होता था और एक ही कार्यके लिये वे सदा सहमत रहते थे। उनके सुख और दुःख भी एक ही प्रकारके थे । वे दोनों सदा साथ रहते थे ॥ ४ ॥

विनान्योन्यं न भुञ्जाते विनान्योन्यं न जल्पतः।
अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥ ५ ॥

उनमेंसे एकके बिना दूसरा न तो खाता-पीता और न किसीसे कुछ बात-चीत ही करता था । वे दोनों एक-दूसरेका प्रिय करते और परस्पर मीठे वचन बोलते थे ॥ ५ ॥

एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकोऽभवत् कृतः।
तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ॥ ६ ॥

उनके शील और आचरण एक-से थे, मानो एक ही जीवात्मा दो शरीरोंमें विभक्त कर दिया गया हो। वे महापराक्रमी दैत्य साथ-साथ बढ़ने लगे। वे प्रत्येक कार्यमें एक ही निश्चयपर पहुँचते थे ॥ ६ ॥

त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम्।
दीक्षां कृत्वा गतौ विन्ध्यं तावुग्रं तेपतुस्तपः ॥ ७ ॥

किसी समय वे तीनों लोकोंपर विजय पानेकी इच्छासे एकमत होकर गुरुसे दीक्षा ले विन्ध्य पर्वतपर आये और वहाँ कठोर तपस्या करने लगे ॥ ७ ॥

तौ तु दीर्घेण कालेन तपोयुक्तौ बभूवतुः।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ जटावल्कलधारिणौ ॥ ८ ॥

भूख और प्यासका कष्ट सहते हुए शिरपर जटा तथा शरीरपर वल्कल धारण किये वे दोनों भाई दीर्घकालतक भारी तपस्यामें लगे रहे ॥ ८ ॥

मलोपचितसर्वाङ्गौ वायुभक्षौ बभूवतुः।
आत्ममांसानि जुह्वन्तौ पादाङ्गुष्ठाग्रधिष्ठितौ।
ऊर्ध्वबाहू चानिमिषौ दीर्घकालं धृतव्रतौ ॥ ९ ॥

उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें मैल जम गयी थी, वे हवा पीकर रहते थे और अपने ही शरीरके मांसखण्ड काट-काटकर अग्निमें आहुति देते थे । तदनन्तर बहुत समयतक पैरोंके अंगूठोंके अग्रभागके बलपर खड़े हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये एकटक दृष्टिसे देखते हुए वे दोनों व्रत धारण करके तपस्यामें संलग्न रहे ॥ ९ ॥

तयोस्तपःप्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १० ॥

उन दैत्योंकी तपस्याके प्रभावसे दीर्घकालतक संतप्त होनेके कारण विन्ध्य पर्वत धुआँ छोड़ने लगा, यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १० ॥

ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः।
तपोविघातार्थमथो देवा विघ्नानि चक्रिरे ॥ ११ ॥

उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओंको बड़ा भय हुआ । वे देवतागण उनके तपको भंग करनेके लिये अनेक प्रकारके विघ्न डालने लगे ॥ ११ ॥

रत्नैः प्रलोभयामासुः स्त्रीभिश्चोभौ पुनः पुनः।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १२ ॥

उन्होंने बार-बार रत्नोंके ढेर तथा सुन्दरी स्त्रियोंको भेज-भेजकर उन दोनोंको प्रलोभनमें डालनेकी चेष्टा की; किंतु उन महान् व्रतधारी दैत्योंने अपने तपको भंग नहीं किया ॥ १२ ॥

अथ मायां पुनर्देवास्तयोश्चक्रुर्महात्मनोः।
भगिन्यो मातरो भार्यास्तयोश्चात्मजनस्तथा ॥ १३ ॥
प्रपात्यमाना विस्रस्ताः शूलहस्तेन रक्षसा।
भ्रष्टाभरणकेशान्ता भ्रष्टाभरणवाससः ॥ १४ ॥
अभिभाष्य ततः सर्वास्तौ त्राहीति विचुक्रुशुः।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् देवताओंने महान् आत्मबलसे सम्पन्न उन दोनों दैत्योंके सामने पुनः मायाका प्रयोग किया। उनकी मायानिर्मित बहनें, माताएँ, पत्नियाँ तथा अन्य आत्मीयजन वहाँ भागते हुए आते और उन्हें कोई शूलधारी राक्षस बार-बार खदेड़ता तथा पृथ्वीपर पटक देता था। उनके आभूषण गिर जाते, वस्त्र खिसक जाते और बालोंकी लटें खुल जाती थीं। वे सभी आत्मीयजन सुन्द-उपसुन्दको पुकारकर चीखते हुए कहते—'बेटा! मुझे बचाओ, भैया! मेरी रक्षा करो।' यह सब सुनकर भी वे दोनों महान् व्रतधारी तपस्वी अपनी तपस्यासे नहीं डिगे; अपने व्रतको नहीं तोड़ सके ॥ १३–१५ ॥

यदा क्षोभं नोपयाति नार्तिमन्यतरस्तयोः।
ततः स्त्रियस्ता भूतं च सर्वमन्तरधीयत ॥ १६ ॥

जब उन दोनोंमेंसे एक भी न तो इन घटनाओंसे क्षुब्ध हुआ और न किसीके मनमें कष्टका ही अनुभव हुआ, तब वे मायामयी स्त्रियाँ और वह राक्षस सब-के-सब अदृश्य हो गये ॥

ततः पितामहः साक्षादभिगम्य महासुरौ।
वरेणच्छन्दयामास सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ १७ ॥

तब सम्पूर्ण लोकोंके हितैषी पितामह साक्षात् भगवान् ब्रह्माने उन दोनों महादैत्योंके निकट आकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेको कहा ॥ १७ ॥

ततः सुन्दोपसुन्दौ तौ भ्रातरौ दृढविक्रमौ।
दृष्ट्वा पितामहं देवं तस्थतुः प्राञ्जली तदा ॥ १८ ॥
ऊचतुश्च प्रभुं देवं ततस्तौ सहितौ तदा।
आवयोस्तपसानेन यदि प्रीतः पितामहः ॥ १९ ॥
मायाविदावस्त्रविदौ बलिनौ कामरूपिणौ।
उभावप्यमरौ स्यावः प्रसन्नो यदि नौ प्रभुः ॥ २० ॥

तदनन्तर सुदृढ़ पराक्रमी दोनों भाई सुन्द और उपसुन्द भगवान् ब्रह्माको उपस्थित देख हाथ जोड़कर खड़े हो गये और एक साथ भगवान् ब्रह्मासे बोले—'भगवन्! यदि आप हमारी तपस्यासे प्रसन्न हैं तो हम दोनों सम्पूर्ण मायाओंके ज्ञाता, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान्, बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और अमर हो जायँ' ॥ १८–२० ॥

ब्रह्मोवाच

ऋतेऽमरत्वं युवयोः सर्वमुक्तं भविष्यति।
अन्यद् वृणीतं मृत्योश्च विधानममरैः समम् ॥ २१ ॥

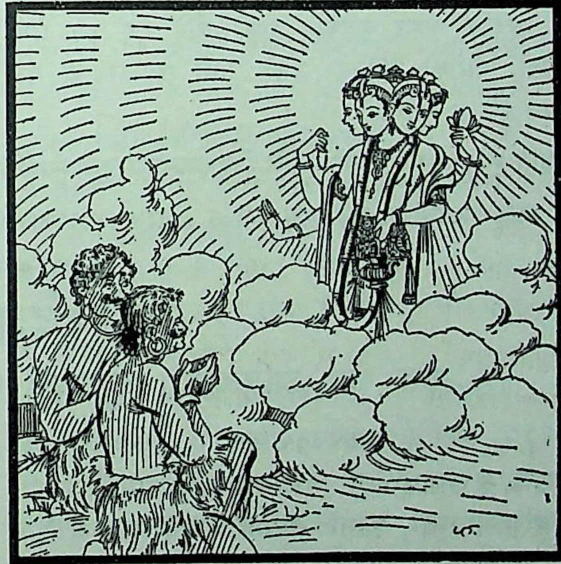
ब्रह्माजीने कहा—अमरत्वके सिवा तुम्हारी माँगी हुई सब वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त होंगी। तुम मृत्युका कोई दूसरा ऐसा विधान माँग लो, जो तुम्हें देवताओंके समान बनाये रख सके ॥

प्रभविष्याव इति यन्महदभ्युद्यतं तपः।
युवयोर्हेतुनानेन नामरत्वं विधीयते ॥ २२ ॥

हम तीनों लोकोंके ईश्वर होंगे, ऐसा संकल्प करके जो तुमलोगोंने यह बड़ी भारी तपस्या प्रारम्भ की थी, इसीलिये तुमलोगोंको अमर नहीं बनाया जाता; क्योंकि अमरत्व तुम्हारी तपस्याका उद्देश्य नहीं था ॥ २२ ॥

त्रैलोक्यविजयार्थाय भवद्भ्यामास्थितं तपः।
हेतुनानेन दैत्येन्द्रौ न वा कामं करोम्यहम् ॥ २३ ॥

दैत्यपतियो! तुम दोनोंने त्रिलोकीपर विजय पानेके लिये ही इस तपस्याका आश्रय लिया था, इसीलिये तुम्हारी अमरत्व-विषयक कामनाकी पूर्ति मैं नहीं कर रहा हूँ ॥ २३ ॥



सुन्दोपसुन्दावूचतुः

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं किंचित् स्थावरजङ्गमम्।
सर्वस्मान्नौ भयं न स्याद्दतेऽन्योन्यं पितामह ॥ २४ ॥

सुन्द और उपसुन्द बोले—पितामह! तब यह वर दीजिये कि हम दोनोंमेंसे एक-दूसरेको छोड़कर तीनों लोकोंमें जो कोई भी चर या अचर भूत हैं, उनसे हमें मृत्युका भय न हो ॥ २४ ॥

पितामह उवाच

यत् प्रार्थितं यथोक्तं च काममेतद् ददानि वाम्।
मृत्योर्विधानमेतच्च यथावद् वा भविष्यति ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा--तुमने जैसी प्रार्थना की है, तुम्हारी वह मुँहमाँगी वस्तु तुम्हें अवश्य दूँगा । तुम्हारी मृत्युका विधान ठीक इसी प्रकार होगा ॥ २५ ॥

नारद उवाच

ततः पितामहो दत्त्वा वरमेतत् तदा तयोः।
निवर्त्य तपसस्तौ च ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २६ ॥

नारदजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! उस समय उन दोनों दैत्योंको यह वरदान देकर और उन्हें तपस्यासे निवृत्त करके ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २६ ॥

लब्ध्वा वराणि दैत्येन्द्रावथ तौ भ्रातरावुभौ।
अवध्यौ सर्वलोकस्य स्वमेव भवनं गतौ ॥ २७ ॥

फिर वे दोनों भाई दैत्यराज सुन्द और उपसुन्द यह अभीष्ट वर पाकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये अवध्य हो पुनः अपने घरको ही लौट गये ॥ २७ ॥

तौ तु लब्धवरौ दृष्ट्वा कृतकामौ मनस्विनौ ।
सर्वः सुहृज्जनस्ताभ्यां प्रहर्षमुपजग्मिवान् ॥ २८ ॥

वरदान पाकर पूर्णकाम होकर लौटे हुए उन दोनों मनस्वी वीरोंको देखकर उनके सभी सगे-सम्बन्धी बड़े प्रसन्न हुए ॥ २८ ॥

ततस्तौ तु जटा भित्त्वा मौलिनौ सम्बभूवतुः।
महार्हाभरणोपेतौ विरजोऽम्बरधारिणौ ॥ २९ ॥
अकालकौमुदीं चैव चक्रतुः सार्वकालिकीम्।
नित्यप्रमुदितः सर्वस्तयोश्चैव सुहृज्जनः ॥ ३० ॥

तदनन्तर उन्होंने जटाएँ कटाकर मस्तकपर मुकुट धारण कर लिये और बहुमूल्य आभूषण तथा निर्मल वस्त्र धारण करके ऐसा प्रकाश फैलाया, मानो असमयमें ही चाँदनी छिटक गयी हो और सर्वदा दिन-रात एकरस रहने लगी हो। उनके सभी सगे-सम्बन्धी सदा आमोद-प्रमोदमें डूबे रहते थे ॥ २९-३० ॥

भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं दीयतां रम्यतामिति।
गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चासीद् गृहे गृहे ॥ ३१ ॥

प्रत्येक घरमें सर्वदा 'खाओ, भोग करो, लुटाओ, मौज करो, गाओ और पीओ' का शब्द गूँजता रहता था ॥३१॥

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं दैत्यानामभवत् पुरम् ॥ ३२ ॥

जहाँ-तहाँ जोर-जोरसे तालियाँ पीटनेकी ऊँची आवाजसे दैत्योंका वह सारा नगर हर्ष और आनन्दमें मग्न जान पड़ता था ॥ ३२ ॥

तैस्तैर्विहारैर्बहुभिर्दैत्यानां कामरूपिणाम् ।
समाः संक्रीडतां तेषामहरेकमिवाभवत् ॥ ३३ ॥

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे दैत्य वर्षोंतक भाँति-भाँतिके खेल-कूद और आमोद-प्रमोद करनेमें लगे रहे; किंतु वह सारा समय उन्हें एक दिनके समान लगा ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्यानेऽष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ २०८

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द और उपसुन्दद्वारा क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे त्रिलोकीपर विजय प्राप्त करना

नारद उवाच

उत्सवे वृत्तमात्रे तु त्रैलोक्याकाङ्क्षिणावुभौ।
मन्त्रयित्वा ततः सेनां तावाज्ञापयतां तदा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं--युधिष्ठिर ! उत्सव समाप्त हो जानेपर तीनों लोकोंको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छासे आपसमें सलाह करके उन दोनों दैत्योंने सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

सुहृद्भिरप्यनुज्ञातौ दैत्यैर्वृद्धैश्च मन्त्रिभिः।
कृत्वा प्रास्थानिकं रात्रौ मघासु ययतुस्तदा ॥ २ ॥

सुहृदों तथा दैत्यजातीय बूढ़े मन्त्रियोंकी अनुमति लेकर उन्होंने रातके समय मघा नक्षत्रमें प्रस्थान करके यात्रा प्रारम्भ की ॥ २ ॥

गदापट्टिशधारिण्या शूलमुद्गरहस्तया ।
प्रस्थितौ सह वर्मिण्या महत्या दैत्यसेनया ॥ ३ ॥
मङ्गलैः स्तुतिभिश्चापि विजयप्रतिसंहितैः।
चारणैः स्तूयमानौ तौ जग्मतुः परया मुदा ॥ ४ ॥

उनके साथ गदा, पट्टिश, शूल, मुद्गर और कवचसे सुसज्जित दैत्योंकी विशाल सेना जा रही थी। वे दोनों सेनाके साथ प्रस्थान कर रहे थे। चारणलोग विजयसूचक मङ्गल और स्तुतिपाठ करते हुए उन दोनोंके गुण गाते जाते थे। इस प्रकार उन दोनों दैत्योंने बड़े आनन्दसे यात्रा की ॥ ३-४ ॥

तावन्तरिक्षमुत्प्लुत्य दैत्यौ कामगमावुभौ।
देवानामेव भवनं जग्मतुर्युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥

युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले वे दोनों दैत्य इच्छानुसार सर्वत्र जानेकी शक्ति रखते थे; अतः आकाशमें उछलकर पहले देवताओंके ही घरोंपर जा चढ़े ॥ ५ ॥

तयोरागमनं ज्ञात्वा वरदानं च तत् प्रभोः ।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्ब्रह्मलोकं ततः सुराः ॥ ६ ॥

उनका आगमन सुनकर और ब्रह्माजीसे मिले हुए उनके वरदानका विचार करके देवतालोग स्वर्ग छोड़कर ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ६ ॥

ताविन्द्रलोकं निर्जित्य यक्षरक्षोगणांस्तदा ।
खेचराण्यपि भूतानि जघ्नतुस्तीव्रविक्रमौ ॥ ७ ॥

इस प्रकार इन्द्रलोकपर विजय पाकर वे तीव्रपराक्रमी दैत्य यक्षों, राक्षसों तथा अन्यान्य आकाशचारी भूतोंको मारने और पीड़ा देने लगे ॥ ७ ॥

अन्तर्भूमिगतान् नागाञ्जित्वा तौ च महारथौ ।
समुद्रवासिनीः सर्वा म्लेच्छजातीर्विजिग्यतुः ॥ ८ ॥

उन दोनों महारथियोंने भूमिके अंदर पातालमें रहनेवाले नागोंको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाली सम्पूर्ण म्लेच्छ जातियोंको परास्त किया ॥ ८ ॥

ततः सर्वां महीं जेतुमारब्धावुग्रशासनौ ।
सैनिकांश्च समाहूय सुतीक्ष्णं वाक्यमूचतुः ॥ ९ ॥

तदनन्तर भयंकर शासन करनेवाले वे दोनों दैत्य सारी पृथ्वीको जीतनेके लिये उद्यत हो गये और अपने सैनिकोंको बुलाकर अत्यन्त तीखे वचन बोले—॥ ९ ॥

राजर्षयो महायज्ञैर्हव्यकव्यैर्द्विजातयः ।
तेजो बलं च देवानां वर्धयन्ति श्रियं तथा ॥ १० ॥

'इस पृथ्वीपर बहुतसे राजर्षि और ब्राह्मण रहते हैं, जो बड़े-बड़े यज्ञ करके हव्य-कव्योंद्वारा देवताओंके तेज, बल और लक्ष्मीकी वृद्धि किया करते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवंप्रवृत्तानां सर्वेषामसुरद्विषाम् ।
सम्भूय सर्वैरस्माभिः कार्यः सर्वात्मना वधः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार यज्ञादि कर्मोंमें लगे हुए वे सभी लोग असुरोंके द्रोही हैं। इसलिये हम सबको संगठित होकर उन सबका सब प्रकारसे वध कर डालना चाहिये' ॥ ११ ॥

एवं सर्वान् समादिश्य पूर्वतीरे महोदधेः ।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्वतोमुखौ ॥ १२ ॥

समुद्रके पूर्वतटपर अपने समस्त सैनिकोंको ऐसा आदेश देकर मनमें क्रूर संकल्प लिये वे दोनों भाई सब ओर आक्रमण करने लगे ॥ १२ ॥

यज्ञैर्यजन्ति ये केचिद् याजयन्ति च ये द्विजाः ।
तान् सर्वान् प्रसभं हत्वा बलिनौ जग्मतुस्ततः ॥१३॥

जो लोग यज्ञ करते तथा जो ब्राह्मण आचार्य बनकर यज्ञ कराते थे, उन सबका बलपूर्वक वध करके वे महाबली दैत्य आगे बढ़ जाते थे ॥ १३ ॥

आश्रमेष्वग्निहोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
गृहीत्वा प्रक्षिपन्त्यप्सु विश्रब्धं सैनिकास्तयोः ॥ १४ ॥

उनके सैनिक शुद्धात्मा मुनियोंके आश्रमोंपर जाकर उनके अग्निहोत्रकी सामग्री उठाकर बिना किसी डर-भयके पानीमें फेंक देते थे ॥ १४ ॥

तपोधनैश्च ये क्रुद्धैः शापा उक्ता महात्मभिः ।
नाक्रामन्त तयोस्तेऽपि वरदाननिराकृताः ॥ १५ ॥

कुछ तपस्याके धनी महात्माओंने क्रोधमें भरकर उन्हें जो शाप दिये, उनके शाप भी उन दैत्योंके मिले हुए वरदानसे प्रतिहत होकर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सके ॥ १५ ॥

नाक्रामन्त यदा शापा बाणा मुक्ताः शिलास्विव ।
नियमान् सम्परित्यज्य व्यद्रवन्त द्विजातयः ॥ १६ ॥

पत्थरपर चलाये हुए बाणोंकी भाँति जब शाप उन्हें पीड़ित न कर सके, तब ब्राह्मणलोग अपने सारे नियम छोड़कर वहाँसे भाग चले ॥ १६ ॥

पृथिव्यां ये तपःसिद्धा दान्ताः शमपरायणाः ।
तयोर्भयाद् दुद्रुवुस्ते वैनतेयादिवोरगाः ॥ १७ ॥

जैसे साँप गरुड़के डरसे भाग जाते हैं, उसी प्रकार भूमण्डलके जितेन्द्रिय, शान्तिपरायण एवं तपःसिद्ध महात्मा भी उन दोनों दैत्योंके भयसे भाग जाते थे ॥ १७ ॥

मथितैराश्रमैर्भग्नैर्विकीर्णकलशस्रुवैः ।
शून्यमासीज्जगत् सर्वं कालेनेव हतं तदा ॥ १८ ॥

सारे आश्रम मथकर उजाड़ डाले गये। कलश और स्रुव तोड़-फोड़कर फेंक दिये गये। उस समय सारा जगत् कालके द्वारा विनष्ट हुएकी भाँति सूना हो गया ॥ १८ ॥

ततो राजन्नदृश्यद्भिर्ऋषिभिश्च महासुरौ ।
उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ ॥ १९ ॥

राजन्! तदनन्तर जब गुफाओंमें छिपे हुए ऋषि दिखायी न दिये, तब उन दोनोंने एक राय करके उनके वधकी इच्छासे अपने स्वरूपको अनेक जीव-जन्तुओंके रूपमें बदल लिया ॥ १९ ॥

प्रभिन्नकरटौ मत्तौ भूत्वा कुञ्जररूपिणौ ।
संलीनमपि दुर्गेषु निन्यतुर्यमसादनम् ॥ २० ॥

कठिन-से-कठिन स्थानमें छिपे हुए मुनिको भी वे मद बहानेवाले मतवाले हाथीका रूप धारण करके यमलोक पहुँचा देते थे ॥ २० ॥

सिंहौ भूत्वा पुनर्व्याघ्रौ पुनश्चान्तर्हितावुभौ ।
तैस्तैरुपायैस्तौ क्रूरावृषीन् दृष्ट्वा निजघ्नतुः ॥२१॥

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया प्रणष्टनृपतिद्विजा ।
उत्सन्नोत्सवयज्ञा च बभूव वसुधा तदा ॥ २२ ॥

वे कभी सिंह होते, कभी बाघ बन जाते और कभी अदृश्य हो जाते थे। इस प्रकार वे क्रूर दैत्य विभिन्न उपायोंद्वारा ऋषियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारने लगे। उस समय पृथ्वीपर यज्ञ और स्वाध्याय बंद हो गये। राजर्षि और ब्राह्मण नष्ट हो गये और यात्रा, विवाह आदि उत्सवों तथा यज्ञोंकी सर्वथा समाप्ति हो गयी ॥ २१-२२ ॥

हाहाभूता भयार्ता च निवृत्तविपणापणा।
निवृत्तदेवकार्या च पुण्योद्वाहविवर्जिता ॥ २३ ॥

सर्वत्र हाहाकार छा रहा था, भयका आर्तनाद सुनायी पड़ता था। बाजारोंमें खरीद-बिक्रीका नाम नहीं था। देवकार्य बंद हो गये। पुण्य और विवाहादि कर्म छूट गये थे ॥ २३ ॥

निवृत्तकृषिगोरक्षा विध्वस्तनगराश्रमा ।
अस्थिकङ्कालसंकीर्णा भूर्बभूवोग्रदर्शना ॥ २४ ॥

कृषि और गोरक्षाका नाम नहीं था, नगर और आश्रम उजड़कर खण्डहर हो गये थे। चारों ओर हड्डियाँ और कङ्काल भरे पड़े थे। इस प्रकार पृथ्वीकी ओर देखना भी भयानक प्रतीत होता था ॥ २४ ॥

निवृत्तपितृकार्यं च निर्वषट्कारमङ्गलम्।
जगत् प्रतिभयाकारं दुष्प्रेक्ष्यमभवत् तदा ॥ २५ ॥

श्राद्धकर्म लुप्त हो गया। वषट्कार और मङ्गलका कहीं नाम नहीं रह गया। सारा जगत् भयानक प्रतीत होता था। इसकी ओर देखना तक कठिन हो गया था ॥ २५ ॥

चन्द्रादित्यौ ग्रहास्तारा नक्षत्राणि दिवौकसः।
जग्मुर्विषादं तत् कर्म दृष्ट्वा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २६ ॥

सुन्द और उपसुन्दका वह भयानक कर्म देखकर चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे, नक्षत्र और देवता सभी अत्यन्त खिन्न हो उठे ॥ २६ ॥

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः ॥ २७ ॥

इस प्रकार वे दोनों दैत्य अपने क्रूर कर्मद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको जीतकर शत्रुओंसे रहित हो कुरुक्षेत्रमें निवास करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ २०९

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमाकी उत्पत्ति, उसके रूपका आकर्षण तथा सुन्दोपसुन्दको मोहित करनेके लिये उसका प्रस्थान

नारद उवाच

ततो देवर्षयः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः।
जग्मुस्तदा परामार्तिं दृष्ट्वा तत् कदनं महत् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सम्पूर्ण देवर्षि और सिद्ध-महर्षि वह महान् हत्याकाण्ड देखकर बहुत दुखी हुए ॥ १ ॥

तेऽभिजग्मुर्जितक्रोधा जितात्मानो जितेन्द्रियाः।
पितामहस्य भवनं जगतः कृपया तदा ॥ २ ॥

उन्होंने अपने मन, इन्द्रियसमुदाय तथा क्रोधको जीत लिया था। फिर भी सम्पूर्ण जगत्पर दया करके वे ब्रह्माजीके धाममें गये ॥ २ ॥

ततो ददृशुरासीनं सह देवैः पितामहम्।
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव समन्तात् परिवारितम् ॥ ३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने ब्रह्माजीको देवताओं, सिद्धों और महर्षियोंसे सब ओर घिरे हुए बैठे देखा ॥ ३ ॥

तत्र देवो महादेवस्तत्राग्निर्वायुना सह ।
चन्द्रादित्यौ च शक्रश्च पारमेष्ठ्यास्तथर्षयः ॥ ४ ॥
वैखानसा बालखिल्या वानप्रस्था मरीचिपाः।
अजाश्चैवाविमूढाश्च तेजोगर्भास्तपस्विनः ॥ ५ ॥
ऋषयः सर्व एवैते पितामहमुपागमन्।
ततोऽभिगम्य ते दीनाः सर्व एव महर्षयः ॥ ६ ॥
सुन्दोपसुन्दयोः कर्म सर्वमेव शशंसिरे।
यथा हृतं यथा चैव कृतं येन क्रमेण च ॥ ७ ॥
न्यवेदयंस्ततः सर्वमखिलेन पितामहे।
ततो देवगणाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ॥ ८ ॥
तमेवार्थं पुरस्कृत्य पितामहमचोदयन् ।
ततः पितामहः श्रुत्वा सर्वेषां तद् वचस्तदा ॥ ९ ॥
मुहूर्तमिव संचिन्त्य कर्तव्यस्य च निश्चयम्।
तयोर्वधं समुद्दिश्य विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ १० ॥

वहाँ भगवान् महादेव, वायुसहित अग्निदेव, चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मपुत्र महर्षि, वैखानस (वनवासी), बालखिल्य, वानप्रस्थ, मरीचिप, अजन्मा, अविमूढ़ तथा तेजोगर्भ आदि नाना प्रकारके तपस्वी मुनि ब्रह्माजीके पास आये थे। उन सभी महर्षियोंने निकट जाकर दीनभावसे ब्रह्माजीसे सुन्द-उपसुन्दके सारे क्रूर कर्मोंका वृत्तान्त कह सुनाया। दैत्योंने

जिस प्रकार लूट-पाट की, जैसे-जैसे और जिस क्रमसे लोगोंकी हत्याएँ कीं, वह सब समाचार पूर्णरूपसे ब्रह्माजीको बताया। तब सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंने भी इस बातको लेकर ब्रह्माजीको प्रेरणा की। ब्रह्माजीने उन सबकी बातें सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार किया। फिर उन दोनोंके वधके लिये कर्तव्यका निश्चय करके विश्वकर्माको बुलाया ॥ ४-१० ॥

दृष्ट्वा च विश्वकर्माणं व्यादिदेश पितामहः।
सृज्यतां प्रार्थनीयैका प्रमदेति महातपाः ॥ ११ ॥

उनको आया देखकर महातपस्वी ब्रह्माजीने यह आज्ञा दी कि तुम एक तरुणी स्त्रीके शरीरकी रचना करो, जो सबका मन लुभा लेनेवाली हो ॥ ११ ॥

पितामहं नमस्कृत्य तद्वाक्यमभिनन्द्य च।
निर्ममे योषितं दिव्यां चिन्तयित्वा पुनः पुनः ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके विश्वकर्माने उन्हें प्रणाम किया और खूब सोच-विचारकर एक दिव्य युवतीका निर्माण किया ॥ १२ ॥

त्रिषु लोकेषु यत् किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम्।
समानयद् दर्शनीयं तत् तदत्र स विश्ववित् ॥ १३ ॥

तीनों लोकोंमें जो कुछ भी चर और अचर दर्शनीय पदार्थ था, सर्वज्ञ विश्वकर्माने उस सबके सारांशका उस सुन्दरीके शरीरमें संग्रह किया ॥ १३ ॥

कोटिशश्चैव रत्नानि तस्या गात्रे न्यवेशयत्।
तां रत्नसंघातमयीमसृजद् देवरूपिणीम् ॥ १४ ॥

उन्होंने उस युवतीके अङ्गोंमें करोड़ों रत्नोंका समावेश किया और इस प्रकार रत्नराशिमयी उस देवरूपिणी रमणीका निर्माण किया ॥ १४ ॥

सा प्रयत्नेन महता निर्मिता विश्वकर्मणा।
त्रिषु लोकेषु नारीणां रूपेणाप्रतिमाभवत् ॥ १५ ॥

विश्वकर्माद्वारा बड़े प्रयत्नसे बनायी हुई वह दिव्य युवती अपने रूप-सौन्दर्यके कारण तीनों लोकोंकी स्त्रियोंमें अनुपम थी ॥ १५ ॥

न तस्याः सूक्ष्ममप्यस्ति यद् गात्रे रूपसम्पदा।
नियुक्ता यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम् ॥ १६ ॥

उसके शरीरमें कहीं तिलभर भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँकी रूपसम्पत्तिको देखनेके लिये लगी हुई दर्शकोंकी दृष्टि जम न जाती हो ॥ १६ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीः कामरूपा वपुष्मती।
जहार सर्वभूतानां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ १७ ॥

वह मूर्तिमती कामरूपिणी लक्ष्मीकी भाँति समस्त प्राणियोंके नेत्रों और मनको हर लेती थी ॥ १७ ॥

तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद् विनिर्मिता।
तिलोत्तमेति तत् तस्या नाम चक्रे पितामहः ॥ १८ ॥

उत्तम रत्नोंका तिल-तिलभर अंश लेकर उसके अङ्गोंका निर्माण हुआ था, इसलिये ब्रह्माजीने उसका नाम 'तिलोत्तमा' रख दिया ॥ १८ ॥

ब्रह्माणं सा नमस्कृत्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं मयि भूतेश येनास्म्यद्येह निर्मिता ॥ १९ ॥

तदनन्तर तिलोत्तमा ब्रह्माजीको नमस्कार करके हाथ जोड़कर बोली—'प्रजापते ! मुझपर किस कार्यका भार रक्खा गया है ? जिसके लिये आज मेरे शरीरका निर्माण किया गया है' ॥ १९ ॥

पितामह उवाच

गच्छ सुन्दोपसुन्दाभ्यामसुराभ्यां तिलोत्तमे।
प्रार्थनीयेन रूपेण कुरु भद्रे प्रलोभनम् ॥ २० ॥

ब्रह्माजीने कहा—भद्रे तिलोत्तमे ! तू सुन्द और उपसुन्द नामक असुरोंके पास जा और अपने अत्यन्त कमनीय रूपके द्वारा उनको लुभा ॥ २० ॥

त्वत्कृते दर्शनादेव रूपसम्पत्कृतेन वै।
विरोधः स्याद् यथा ताभ्यामन्योन्येन तथा कुरु ॥ २१ ॥

तुझे देखते ही तेरे लिये—तेरी रूपसम्पत्तिके लिये उन दोनों दैत्योंमें परस्पर विरोध हो जाय, ऐसा प्रयत्न कर ॥

नारद उवाच

सा तथेति प्रतिज्ञाय नमस्कृत्य पितामहम्।
चकार मण्डलं तत्र विबुधानां प्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब तिलोत्तमाने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वह देवमण्डलीकी परिक्रमा करने लगी ॥ २२ ॥

प्राङ्मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः।
देवाश्चैवोत्तरेणासन् सर्वतस्त्वृषयोऽभवन् ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीके दक्षिणभागमें भगवान् महेश्वर पूर्वाभिमुख होकर बैठे थे, उत्तरभागमें देवतालोग थे तथा ऋषि-मुनि ब्रह्माजीके चारों ओर बैठे थे ॥ २३ ॥

कुर्वत्या तु तदा तत्र मण्डलं तत् प्रदक्षिणम्।
इन्द्रः स्थाणुश्च भगवान् धैर्येण प्रत्यवस्थितौ ॥ २४ ॥

वहाँ तिलोत्तमाने जब देवमण्डलीकी प्रदक्षिणा आरम्भ की, तब इन्द्र और भगवान् शङ्कर दोनों धैर्यपूर्वक अपने स्थानपर ही बैठे रहे ॥ २४ ॥

द्रष्टुकामस्य चात्यर्थं गतया पार्श्वतस्तया।
अन्यदञ्चितपक्ष्माक्षं दक्षिणं निःसृतं मुखम् ॥ २५ ॥

जब वह दक्षिण पार्श्वकी ओर गयी, तब उसे देखनेकी इच्छासे भगवान् शङ्करके दक्षिणभागमें एक और मुख प्रकट हो गया, जो कमलसदृश नेत्रोंसे सुशोभित था ॥ २५ ॥

पृष्ठतः परिवर्तन्त्या पश्चिमं निःसृतं मुखम्।
गतया चोत्तरं पार्श्वमुत्तरं निःसृतं मुखम्॥ २६॥

जब वह पीछेकी ओर गयी, तब उनका पश्चिम मुख प्रकट हुआ और उत्तर पार्श्वकी ओर उसके जानेपर भगवान् शिवके उत्तरवर्ती मुखका प्राकट्य हुआ॥ २६॥

महेन्द्रस्यापि नेत्राणां पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः।
रक्तान्तानां विशालानां सहस्रं सर्वतोऽभवत्॥ २७॥

इसी प्रकार इन्द्रके भी आगे, पीछे और पार्श्वभागमें सब ओर लाल कोनेवाले सहस्रों विशाल नेत्र प्रकट हो गये॥

एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत् पुरा।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदनः॥ २८॥

इस प्रकार पूर्वकालमें अविनाशी भगवान् महादेवजीके चार मुख प्रकट हुए और बलहन्ता इन्द्रके हजार नेत्र हुए॥

तथा देवनिकायानां महर्षीणां च सर्वशः।
मुखानि चाभ्यवर्तन्त येन याति तिलोत्तमा॥ २९॥

दूसरे-दूसरे देवताओं और महर्षियोंके मुख भी जिस ओर तिलोत्तमा जाती थी, उसी ओर घूम जाते थे॥ २९॥

तस्या गात्रे निपतिता दृष्टिस्तेषां महात्मनाम्।
सर्वेषामेव भूयिष्ठमृते देवं पितामहम्॥ ३०॥

उस समय देवाधिदेव ब्रह्माजीको छोड़कर शेष सभी महानुभावोंकी दृष्टि तिलोत्तमाके शरीरपर बार-बार पड़ने लगी॥

गच्छन्त्या तु तया सर्वे देवाश्च परमर्षयः।
कृतमित्येव तत् कार्यं मेनिरे रूपसम्पदा॥ ३१॥

जब वह जाने लगी, तब सभी देवताओं और महर्षियोंको उसकी रूपसम्पत्ति देखकर यह विश्वास हो गया कि अब वह सारा कार्य सिद्ध ही है॥ ३१॥

तिलोत्तमायां तस्यां तु गतायां लोकभावनः।
सर्वान् विसर्जयामास देवानृषिगणांश्च तान्॥ ३२॥

तिलोत्तमाके चले जानेपर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने उन सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंको विदा किया॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने तिलोत्तमाप्रस्थापने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानके प्रसंगमें तिलोत्तमाप्रस्थापनविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१०॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमापर मोहित होकर सुन्द-उपसुन्दका आपसमें लड़ना और मारा जाना एवं तिलोत्तमाको ब्रह्माजीद्वारा वरप्राप्ति तथा पाण्डवोंका द्रौपदीके विषयमें नियम-निर्धारण

नारद उवाच

जित्वा तु पृथिवीं दैत्यौ निःसपत्नौ गतव्यथौ।
कृत्वा त्रैलोक्यमव्यग्रं कृतकृत्यौ बभूवतुः॥ १॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वे दोनों दैत्य सुन्द और उपसुन्द सारी पृथ्वीको जीतकर शत्रुओंसे रहित एवं व्यथारहित हो तीनों लोकोंको पूर्णतः अपने वशमें करके कृतकृत्य हो गये॥ १॥

देवगन्धर्वयक्षाणां नागपार्थिवरक्षसाम्।
आदाय सर्वरत्नानि परां तुष्टिमुपागतौ॥ २॥

देवता, गन्धर्व, यक्ष, नाग, मनुष्य तथा राक्षसोंके सभी रत्नोंको छीनकर उन दोनों दैत्योंको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ॥२॥

यदा न प्रतिषेद्धारस्तयोः सन्तीह केचन।
निरुद्योगौ तदा भूत्वा विजह्रातेऽमराविव॥ ३॥

जब त्रिलोकीमें उनका सामना करनेवाले कोई नहीं रह गये, तब वे देवताओंके समान अकर्मण्य होकर भोग-विलासमें लग गये॥ ३॥

स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुपुष्कलैः।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः॥ ४॥

सुन्दरी स्त्रियों, मनोहर मालाओं, भाँति-भाँतिके सुगन्ध-द्रव्यों, पर्याप्त भोजन-सामग्रियों तथा मनको प्रिय लगनेवाले अनेक प्रकारके पेय रसोंका सेवन करके वे बड़े आनन्दसे दिन बिताने लगे॥ ४॥

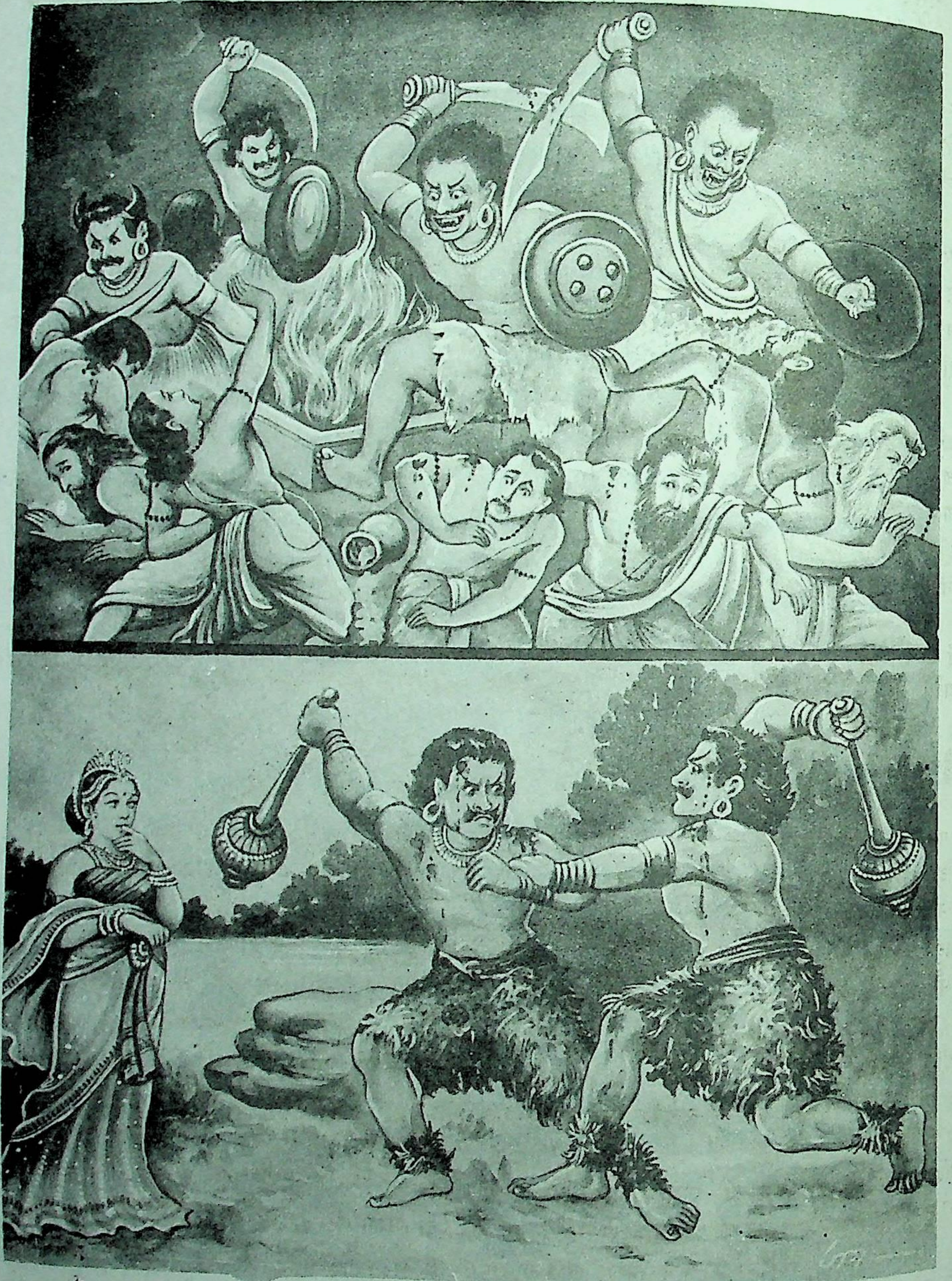
अन्तःपुरवनोद्याने पर्वतेषु वनेषु च।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव॥ ५॥

अन्तःपुरके उपवन और उद्यानमें, पर्वतोंपर, वनोंमें तथा अन्य मनोवाञ्छित प्रदेशोंमें भी वे देवताओंकी भाँति विहार करने लगे॥ ५॥

ततः कदाचिद् विन्ध्यस्य प्रस्थे समशिलातले।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः॥ ६॥

तदनन्तर एक दिन विन्ध्यपर्वतके शिखरपर जहाँकी शिलामयी भूमि समतल थी और जहाँ ऊँचे शाल वृक्षोंकी शाखाएँ फूलोंसे भरी हुई थीं, वहाँ वे दोनों दैत्य विहार करनेके लिये गये॥ ६॥

सुन्द और उपसुन्दका अत्याचार



तिलोत्तमाके लिये सुन्द और उपसुन्दका युद्ध

दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तावुभौ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषीदतुः॥ ७॥

वहाँ उनके लिये सम्पूर्ण दिव्य भोग प्रस्तुत किये गये, तदनन्तर वे दोनों भाई श्रेष्ठ आसनोंपर सुन्दरी स्त्रियोंके साथ आनन्दमग्न होकर बैठे॥ ७॥

ततो वादित्रनृत्याभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्या समुपजग्मिरे॥ ८॥

तदनन्तर बहुत-सी स्त्रियाँ प्रेमपूर्वक उनके पास आयीं और वाद्य, नृत्य, गीत एवं स्तुति-प्रशंसा आदिके द्वारा उन दोनोंका मनोरञ्जन करने लगीं॥ ८॥

ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती।
वेशं साऽऽक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा॥ ९॥

इसी समय तिलोत्तमा वहाँ वनमें फूल चुनती हुई आयी। उसके शरीरपर एक ही लाल रंगकी महीन साड़ी थी। उसने ऐसा वेश धारण कर रक्खा था, जो किसी भी पुरुषको उन्मत्त बना सकता था॥ ९॥

नदीतीरेषु जातान् सा कर्णिकारान् प्रचिन्वती।
शनैर्जगाम तं देशं यत्रास्तां तौ महासुरौ॥ १०॥

नदीके किनारे उगे हुए कनेरके फूलोंका संग्रह करती हुई वह धीरे-धीरे उसी स्थानकी ओर गयी, जहाँ वे दोनों महादैत्य बैठे थे॥ १०॥

तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ सम्बभूवतुः॥ ११॥

उन दोनोंने बहुत अच्छा मादक रस पी लिया था, जिससे उनके नेत्र नशेके कारण कुछ लाल हो गये थे। उस सुन्दर अङ्गोंवाली तिलोत्तमाको देखते ही वे दोनों दैत्य कामवेदनासे व्यथित हो उठे॥ ११॥

तावुत्थायासनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता।
उभौ च कामसम्मत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम्॥ १२॥

और अपना आसन छोड़कर खड़े हो उसी स्थानपर गये, जहाँ वह खड़ी थी। दोनों ही कामसे उन्मत्त हो रहे थे, इसलिये दोनों ही उसे अपनी स्त्री बनानेके लिये उससे प्रेमकी याचना करने लगे॥ १२॥

दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम्॥ १३॥

सुन्दने सुन्दर भौंहोंवाली तिलोत्तमाका दाहिना हाथ पकड़ा और उपसुन्दने उसका बायाँ हाथ पकड़ लिया॥ १३॥

वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च॥ १४॥

एक तो वे दुर्लभ वरदानके मदसे उन्मत्त थे, दूसरे उनपर अपने स्वाभाविक बलका नशा सवार था। इसके सिवा धनमद, रत्नमद और सुरापानके मदमें भी वे उन्मत्त हो रहे थे॥

सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ।
(तौ कटाक्षेण दैत्येन्द्रावाकर्षति मुहुर्मुहुः।
दक्षिणेन कटाक्षेण सुन्दं जग्राह कामिनी॥
वामेनैव कटाक्षेण उपसुन्दं जिघृक्षती।
गन्धाभरणरूपैस्तौ व्यामोहं जग्मतुस्तदा॥)
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः॥ १५॥

इन सभी मदोंसे उन्मत्त होनेके कारण आपसमें ही एक दूसरेपर उनकी भौंहें तन गयीं। तिलोत्तमा कटाक्षद्वारा उन दोनों दैत्यराजोंको बार-बार अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। उस कामिनीने अपने दाहिने कटाक्षसे सुन्दको आकृष्ट कर लिया और बायें कटाक्षसे वह उपसुन्दको वशमें करनेकी चेष्टा करने लगी। उसकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणराशि तथा रूप-सम्पत्तिसे वे दोनों दैत्य तत्काल मोहित हो गये। उनमें मद और कामका आवेश हो गया; अतः वे एक-दूसरेसे इस प्रकार बोले—॥

मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत॥ १६॥

सुन्दने कहा—'अरे! यह मेरी पत्नी है, तुम्हारे लिये माताके समान है।' यह सुनकर उपसुन्द बोल उठा—'नहीं-नहीं, यह मेरी भार्या है, तुम्हारे लिये तो पुत्रवधूके समान है'॥

नैषा तव ममैषेति ततस्तौ मन्युराविशत्।
तस्या रूपेण सम्मत्तौ विगतस्नेहसौहृदौ॥ १७॥

'यह तुम्हारी नहीं है, मेरी है', यही कहते-कहते उन दोनोंको क्रोध चढ़ आया। तिलोत्तमाके रूपसे मतवाले होकर वे दोनों स्नेह और सौहार्दसे शून्य हो गये॥ १७॥

तस्या हेतोर्गदे भीमे संगृह्णीतावुभौ तदा।
प्रगृह्य च गदे भीमे तस्यां तौ काममोहितौ॥ १८॥

उस सुन्दरीको पानेके लिये दोनों भाइयोंने उस समय हाथमें भयंकर गदाएँ ले लीं। दोनों ही उसके प्रति कामसे मोहित हो रहे थे॥ १८॥

अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः।
तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले॥ १९॥

'पहले मैं इसे प्राप्त करूँगा', 'नहीं; पहले मैं'; ऐसा कहते हुए दोनों एक-दूसरेको मारने लगे। इस प्रकार गदाओंकी चोट खाकर वे दोनों भयानक दैत्य धरतीपर गिर पड़े॥ १९॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गौ द्वाविवार्कौ नभश्च्युतौ।
ततस्ता विद्रुता नार्यः स च दैत्यगणस्तथा॥ २०॥
पातालमगमत् सर्वो विषादभयकम्पितः।
ततः पितामहस्तत्र सह देवैर्महर्षिभिः॥ २१॥
आजगाम विशुद्धात्मा पूजयंश्च तिलोत्तमाम्।
वरेणच्छन्दयामास भगवान् प्रपितामहः॥ २२॥

उनके सारे अङ्ग खूनसे लथ-पथ हो रहे थे। ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे दो सूर्य पृथ्वीपर गिर गये हों।

उनके मारे जानेपर वे सब स्त्रियाँ वहाँसे भाग गयीं और दैत्योंका वह सारा समुदाय विषाद और भयसे कम्पित होकर पातालमें चला गया। तत्पश्चात् विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् ब्रह्माजी देवताओं और महर्षियोंके साथ तिलोत्तमाकी प्रशंसा करते हुए वहाँ आये और भगवान् पितामहने उसे वरके द्वारा प्रसन्न किया ॥ २०–२२ ॥

वरं दित्सुः स तत्रैनां प्रीतः प्राह पितामहः।
आदित्यचरिताँल्लोकान् विचरिष्यसि भाविनि ॥ २३ ॥
तेजसा च सुदृष्टां त्वां न करिष्यति कश्चन।
एवं तस्यै वरं दत्त्वा सर्वलोकपितामहः ॥ २४ ॥
इन्द्रे त्रैलोक्यमाधाय ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः।

वर देनेके लिये उत्सुक हुए ब्रह्माजी स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक बोले—'भामिनि! जहाँतक सूर्यकी गति है, उन सभी लोकोंमें तू इच्छानुसार विचर सकेगी। तुझमें इतना तेज होगा कि कोई आँख भरकर तुझे अच्छी तरह देख भी न सकेगा।' इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी तिलोत्तमाको वरदान देकर तथा त्रिलोकीकी रक्षाका भार इन्द्रको सौंपकर पुनः ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २३-२४½ ॥

नारद उवाच

एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ ॥ २५ ॥
तिलोत्तमार्थे संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः।
तस्माद् ब्रवीमि वः स्नेहात् सर्वान् भरतसत्तमाः ॥ २६ ॥
यथा वो नात्र भेदः स्यात् सर्वेषां द्रौपदीकृते।
तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत् प्रियमिच्छथ ॥ २७ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार सुन्द और उपसुन्दने परस्पर संगठित और सभी बातोंमें एकमत रहकर भी तिलोत्तमाके लिये कुपित हो एक-दूसरेको मार डाला। अतः भरतवंशशिरोमणियो! मैं तुम सब लोगोंसे स्नेहवश कहता हूँ कि यदि मेरा प्रिय चाहते हो, तो ऐसा कुछ नियम बना लो, जिससे द्रौपदीके लिये तुम सब लोगोंमें फूट न होने पावे। तुम्हारा कल्याण हो ॥ २५–२७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा।
समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योन्यवशमागताः।
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजसः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवर्षि नारदके ऐसा कहनेपर एक दूसरेके अधीन रहनेवाले उन अमिततेजस्वी महात्मा पाण्डवोंने देवर्षिके सामने ही यह नियम बनाया—॥ २८॥

(एकैकस्य गृहे कृष्णा वसेद् वर्षमकल्मषा।)
द्रौपद्या नः सहासीनानन्योन्यं योऽभिदर्शयेत्।
स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥ २९ ॥

'हममेंसे प्रत्येकके घरमें पापरहित द्रौपदी एक-एक वर्ष निवास करे। द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए हममेंसे एक भाईको यदि दूसरा देख ले, तो वह बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें निवास करे,' ॥ २९ ॥

कृते तु समये तस्मिन् पाण्डवैर्धर्मचारिभिः।
नारदोऽप्यगमत् प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ॥ ३० ॥

धर्मका आचरण करनेवाले पाण्डवोंद्वारा यह नियम स्वीकार कर लिये जानेपर महामुनि नारदजी प्रसन्न हो अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः।
न चाभिद्यन्त ते सर्वे तदान्योन्येन भारत ॥ ३१ ॥

भारत! इस प्रकार नारदजीकी प्रेरणासे पाण्डवोंने पहले ही नियम बना लिया था। इसीलिये वे सब आपसमें कभी एक दूसरेके विरोधी नहीं हुए ॥ ३१ ॥

(एतद् विस्तरशः सर्वमाख्यातं ते नरेश्वर।
काले च तस्मिन् सम्पन्नं यथावज्जनमेजय ॥)

नरेश्वर जनमेजय! उस समय जो बातें जिस प्रकार घटित हुई थीं, वे सब मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक बतायी हैं ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

(अर्जुनवनवासपर्व)

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा ब्राह्मणके गोधनकी रक्षाके लिये नियमभङ्ग और वनकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीक्षितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार नियम बनाकर पाण्डवलोग वहाँ रहने लगे। वे अपने अस्त्र-शस्त्रोंके प्रतापसे दूसरे राजाओंको अधीन करते रहते थे ॥ १ ॥

तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम्।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्तिनी ॥ २ ॥

कृष्णा मनुष्योंमें सिंहके समान वीर और अमित तेजस्वी उन पाँचों पाण्डवोंकी आज्ञाके अधीन रहती थी ॥ २ ॥

ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः।
बभूव परमप्रीता नागैर्भोगवती यथा ॥ ३ ॥

पाण्डव द्रौपदीके साथ और द्रौपदी उन पाँचों वीर पतियोंके साथ ठीक उसी तरह अत्यन्त प्रसन्न रहती थी जैसे नागोंके रहनेसे भोगवतीपुरी परम शोभायुक्त होती है ॥ ३ ॥

वर्तमानेषु धर्मेण पाण्डवेषु महात्मसु।
व्यवर्धन् कुरवः सर्वे हीनदोषाः सुखान्विताः ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डवोंके धर्मानुसार बर्ताव करनेके कारण समस्त कुरुवंशी निर्दोष एवं सुखी रहकर निरन्तर उन्नति करने लगे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशाम्पते।
कस्यचित् तस्करा जह्रुः केचिद् गा नृपसत्तम ॥ ५ ॥

महाराज ! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् एक दिन कुछ चोरोंने किसी ब्राह्मणकी गौएँ चुरा लीं ॥ ५ ॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणः क्रोधमूर्च्छितः।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत् स पाण्डवान् ॥ ६ ॥

अपने गोधनका अपहरण होता देख ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और खाण्डवप्रस्थमें आकर उसने उच्चस्वरसे पाण्डवोंको पुकारा—॥ ६ ॥

ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः।
प्रसह्य चास्मद्विषयादभ्यधावत पाण्डवाः ॥ ७ ॥

'पाण्डवो ! हमारे गाँवसे कुछ नीच, क्रूर और पापात्मा चोर जबरदस्ती गोधन चुराकर लिये जा रहे हैं। उसकी रक्षाके लिये दौड़ो ॥ ७ ॥

ब्राह्मणस्य प्रशान्तस्य हविर्ध्वाङ्क्षैः प्रलुप्यते।
शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाभिमर्दति ॥ ८ ॥

'आज एक शान्तस्वभाव ब्राह्मणका हविष्य कौए लूटकर खा रहे हैं। नीच सियार सिंहकी सूनी गुफाको रौंद रहा है ॥ ८ ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम् ॥ ९ ॥

'जो राजा प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें वसूल करता है, किंतु प्रजाकी रक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं करता, उसे सम्पूर्ण लोकोंमें पूर्ण पापाचारी कहा गया है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणस्वे हृते चौरैर्धर्मार्थे च विलोपिते।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतामस्त्रधारणम् ॥ १० ॥

'मुझ ब्राह्मणका धन चोर लिये जा रहे हैं, मेरे गौके न रहनेपर दुग्ध आदि हविष्यके अभावसे धर्म और अर्थका लोप हो रहा है तथा मैं यहाँ आकर रो रहा हूँ। पाण्डवो ! (चोरोंको दण्ड देनेके लिये) अस्त्र धारण करो' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

रोरूयमाणस्याभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ११ ॥
श्रुत्वैव च महाबाहुर्मा भैरित्याह तं द्विजम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वह ब्राह्मण निकट आकर बहुत रो रहा था। पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन धनंजयने उसकी कही हुई सारी बातें सुनीं और सुनकर उन महाबाहुने उस ब्राह्मणसे कहा—'डरो मत' ॥ ११½ ॥

आयुधानि च यत्रासन् पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १२ ॥
कृष्णया सह तत्रास्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः।
सम्प्रवेशाय चाशक्तो गमनाय च पाण्डवः ॥ १३ ॥

महात्मा पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्र जहाँ रक्खे गये थे, वहीं धर्मराज युधिष्ठिर कृष्णाके साथ एकान्तमें बैठे थे। अतः पाण्डुपुत्र अर्जुन न तो घरके भीतर प्रवेश कर सकते थे और न खाली हाथ चोरोंका ही पीछा कर सकते थे ॥ १२-१३ ॥

तस्य चार्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः ॥ १४ ॥

इधर उस आर्त ब्राह्मणकी बातें उन्हें बार-बार शस्त्र ले आनेको प्रेरित कर रही थीं। जब वह अधिक रोने-चिल्लाने लगा, तब अर्जुनने दुखी होकर सोचा—॥ १४ ॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥

'इस तपस्वी ब्राह्मणके गोधनका अपहरण हो रहा है; अतः ऐसे समयमें इसके आँसू पोंछना मेरा कर्तव्य है। यही मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥

उपप्रेक्षणजोऽधर्मः सुमहान् स्यान्महीपतेः।
यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम् ॥ १६ ॥

'यदि मैं राजद्वारपर रोते हुए इस ब्राह्मणकी रक्षा आज नहीं करूँगा, तो महाराज युधिष्ठिरको उपेक्षाजनित महान् अधर्मका भागी होना पड़ेगा ॥ १६ ॥

अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्नधर्मश्चैव नो भवेत् ॥ १७ ॥

'इसके सिवा लोकमें यह बात फैल जायगी कि हम सब लोग किसी आर्तकी रक्षारूप धर्मके पालनमें श्रद्धा नहीं रखते। साथ ही हमें अधर्म भी प्राप्त होगा ॥ १७ ॥

अनादृत्य तु राजानं गते मयि न संशयः।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मम चैवानृतं भवेत् ॥ १८ ॥

'यदि राजाका अनादर करके मैं घरके भीतर चला जाऊँ, तो महाराज अजातशत्रुके प्रति मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या होगी ॥ १८ ॥

अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम।
सर्वमन्यत् परिहृतं धर्षणात् तु महीपतेः ॥ १९ ॥

'राजाकी उपस्थितिमें घरके भीतर प्रवेश करनेपर मुझको वनमें निवास करना होगा। इसमें महाराजके तिरस्कारके सिवा और सारी बातें तुच्छ होनेके कारण उपेक्षणीय हैं ॥ १९ ॥

अधर्मो वै महानस्तु वने वा मरणं मम।
शरीरस्य विनाशेन धर्म एव विशिष्यते ॥ २० ॥

'चाहे राजाके तिरस्कारसे मुझे नियमभङ्गका महान् दोष प्राप्त हो अथवा वनमें ही मेरी मृत्यु हो जाय तथापि शरीरको नष्ट करके भी गौ-ब्राह्मण-रक्षारूप धर्मका पालन ही श्रेष्ठ है' ॥ २० ॥



एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छ्य च विशाम्पते ॥ २१ ॥
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत।

जनमेजय! ऐसा निश्चय करके कुन्तीकुमार धनंजयने राजासे पूछकर घरके भीतर प्रवेश करके धनुष ले लिया और (बाहर आकर) प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मणसे कहा— ॥ २१½ ॥

ब्राह्मणागम्यतां शीघ्रं यावत् परधनैषिणः ॥ २२ ॥
न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद् गच्छावहे सह।
यावन्निवर्तयाम्यद्य चौरहस्ताद् धनं तव ॥ २३ ॥

'विप्रवर! शीघ्र आइये। जबतक दूसरोंके धन हड़पनेकी इच्छावाले वे क्षुद्र चोर दूर नहीं चले जाते, तभीतक हम दोनों एक साथ वहाँ पहुँच जायँ। मैं अभी आपका गोधन चोरोंके हाथसे छीनकर आपको लौटा देता हूँ' ॥ २२-२३ ॥

सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी।
शरैर्विध्वस्य तांश्चौरानवजित्य च तद् धनम् ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धनुष और कवच धारण करके ध्वजायुक्त रथपर आरूढ़ हो उन चोरोंका पीछा किया और बाणोंसे चोरोंका विनाश करके सारा गोधन जीत लिया ॥

ब्राह्मणं समुपाकृत्य यशः प्राप्य च पाण्डवः।
ततस्तद् गोधनं पार्थो दत्त्वा तस्मै द्विजातये ॥ २५ ॥
आजगाम पुरं वीरः सव्यसाची धनंजयः।
सोऽभिवाद्य गुरून् सर्वान् सर्वैश्चाप्यभिनन्दितः ॥ २६ ॥

फिर ब्राह्मणको वह सारा गोधन देकर प्रसन्न करके अनुपम यशके भागी हो पाण्डुपुत्र सव्यसाची वीर धनंजय पुनः अपने नगरमें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने समस्त गुरुजनोंको प्रणाम किया और उन सभी गुरुजनोंने उनकी बड़ी प्रशंसा एवं अभिनन्दन किया ॥ २५—२६ ॥

धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश मे प्रभो।
समयः समतिक्रान्तो भवत्संदर्शने मया ॥ २७ ॥
वनवासो गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः।

इसके बाद अर्जुनने धर्मराजसे कहा—'प्रभो! मैंने आपको द्रौपदीके साथ देखकर पहलेके निश्चित नियमको भङ्ग किया है; अतः आप इसके लिये मुझे प्रायश्चित्त करनेकी आज्ञा दीजिये। मैं वनवासके लिये जाऊँगा; क्योंकि हमलोगोंमें यह शर्त हो चुकी है' ॥ २७½ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु सहसा वाक्यमप्रियम् ॥ २८ ॥
कथमित्यब्रवीद् वाचा शोकार्तः सज्जमानया।
युधिष्ठिरो गुडाकेशं भ्राता भ्रातरमच्युतम् ॥ २९ ॥
उवाच दीनो राजा च धनंजयमिदं वचः।
प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ॥ ३० ॥

अर्जुनके मुखसे सहसा यह अप्रिय वचन सुनकर धर्मराज शोकातुर होकर लड़खड़ाती हुई वाणीमें बोले—'ऐसा क्यों करते हो?' इसके बाद राजा युधिष्ठिर धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले अपने भाई गुडाकेश धनंजयसे फिर दीन होकर बोले— 'अनघ! यदि तुम मुझको प्रमाण मानते हो, तो मेरी यह बात सुनो— ॥ २८—३० ॥

अनुप्रवेशे यद् वीर कृतवांस्त्वं मम प्रियम्।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ॥ ३१ ॥

'वीरवर! तुमने घरके भीतर प्रवेश करके तो मेरा प्रिय कार्य किया है, अतः उसके लिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ; क्योंकि मेरे हृदयमें वह अप्रिय नहीं है ॥ ३१ ॥

गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः।
यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ॥ ३२ ॥

'यदि बड़ा भाई घरमें स्त्रीके साथ बैठा हो, तो छोटे

भाईका वहाँ जाना दोषकी बात नहीं है; परंतु छोटा भाई घरमें हो, तो बड़े भाईका वहाँ जाना उसके धर्मका नाश करनेवाला है ॥ ३२ ॥

निवर्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च ते धर्षणा कृता ॥ ३३ ॥

'अतः महाबाहो ! मेरी बात मानो; वनवासका विचार छोड़ दो । न तो तुम्हारे धर्मका लोप हुआ है और न तुम्हारे-द्वारा मेरा तिरस्कार ही किया गया है' ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच

न व्याजेन चरेद् धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्।
न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥ ३४ ॥

अर्जुन बोले—प्रभो ! मैंने आपके ही मुखसे सुना है कि धर्माचरणमें कभी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये । अतः मैं सत्यकी शपथ खाकर और शस्त्र छूकर कहता हूँ कि सत्यसे विचलित नहीं होऊँगा ॥ ३४ ॥

(आज्ञा तु मम दातव्या भवता कीर्तिवर्धन।
भवदाज्ञामृते किंचिन्न कार्यमिति निश्चितम् ॥)

यशोवर्धन ! मुझे आप वनवासके लिये आज्ञा दें, मेरा यह निश्चय है कि मैं आपकी आज्ञाके बिना कोई कार्य नहीं करूँगा॥

वैशम्पायन उवाच

सोऽभ्यनुज्ञाय राजानं वनचर्याय दीक्षितः।
वने द्वादश वर्षाणि वासायानुजगाम ह ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाकी आज्ञा लेकर अर्जुनने वनवासकी दीक्षा ली और वनमें बारह बर्षोंतक रहनेके लिये वे वहाँसे चल पड़े ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनतीर्थयात्रायां द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनतीर्थयात्राविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३६ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका गङ्गाद्वारमें ठहरना और वहाँ उनका उलूपीके साथ मिलन

वैशम्पायन उवाच

तं प्रयान्तं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम्।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरववंशका यश बढ़ानेवाले महाबाहु अर्जुन जब जाने लगे, उस समय बहुत-से वेदज्ञ महात्मा ब्राह्मण उनके साथ हो लिये ॥ १ ॥

वेदवेदाङ्गविद्वांसस्तथैवाध्यात्मचिन्तकाः ।
भैक्षाश्च भगवद्भक्ताः सूताः पौराणिकाश्च ये ॥ २ ॥
कथकाश्चापरे राजन् श्रमणाश्च वनौकसः।
दिव्याख्यानानि ये चापि पठन्ति मधुरं द्विजाः ॥ ३ ॥

वेद-वेदाङ्गोंके विद्वान्, अध्यात्मचिन्तन करनेवाले, भिक्षाजीवी ब्रह्मचारी, भगवद्भक्त, पुराणोंके ज्ञाता सूत, अन्य कथा-वाचक, संन्यासी, वानप्रस्थ तथा जो ब्राह्मण मधुर स्वरसे दिव्य कथाओंका पाठ करते हैं, वे सब अर्जुनके साथ गये ॥ २-३ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः सहायैः पाण्डुनन्दनः।
वृतः श्लक्ष्णकथैः प्रायान्मरुद्भिरिव वासवः ॥ ४ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंके साथ चलते हैं, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन पूर्वोक्त पुरुषों तथा अन्य बहुत-से मधुर-भाषी सहायकोंके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ ४ ॥

रमणीयानि चित्राणि वनानि च सरांसि च।
सरितः सागरांश्चैव देशानपि च भारत ॥ ५ ॥
पुण्यान्यपि च तीर्थानि ददर्श भरतर्षभः।
स गङ्गाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ ६ ॥

भारत ! नरश्रेष्ठ अर्जुनने मार्गमें अनेक रमणीय एवं विचित्र वन, सरोवर, नदी, सागर, देश और पुण्यतीर्थ देखे । धीरे-धीरे गङ्गाद्वार (हरद्वार) में पहुँचकर शक्तिशाली पार्थने वहां डेरा डाल दिया ॥ ५-६ ॥

तत्र तस्याद्भुतं कर्म शृणु त्वं जनमेजय।
कृतवान् यद् विशुद्धात्मा पाण्डूनां प्रवरो हि सः॥ ७ ॥

जनमेजय ! गङ्गाद्वारमें अर्जुनका एक अद्भुत कार्य सुनो, जो पाण्डवोंमें श्रेष्ठ विशुद्धचित्त धनंजयने किया था ॥ ७ ॥

निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ॥ ८ ॥

भारत ! जब कुन्तीकुमार और उनके साथी ब्राह्मणलोग गङ्गाद्वारमें ठहर गये, तब उन ब्राह्मणोंने अनेक स्थानोंपर अग्निहोत्रके लिये अग्नि प्रकट की ॥ ८ ॥

तेषु प्रबोध्यमानेषु ज्वलितेषु हुतेषु च।
कृतपुष्पोपहारेषु तीरान्तरगतेषु च ॥ ९ ॥
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथि स्थितैः।
शुशुभेऽतीव तद् राजन् गङ्गाद्वारं महात्मभिः ॥ १० ॥

गङ्गाके तटपर जब अलग-अलग अग्नियाँ प्रज्वलित हो गयीं और सन्मार्गमें स्थित एवं मन-इन्द्रियोंको बशमें रखने-

वाले विद्वान् ब्राह्मणलोग स्नान करके फूलोंके उपहार चढ़ाकर जब पूर्वोक्त अग्नियोंमें आहुति दे चुके, तब उन महात्माओंके द्वारा उस गङ्गाद्वार नामक तीर्थकी शोभा बहुत बढ़ गयी ॥

तथा पर्याकुले तस्मिन् निवेशे पाण्डवर्षभः।
अभिषेकाय कौन्तेयो गङ्गामवततार ह ॥ ११ ॥

इस प्रकार विद्वान् एवं महात्मा ब्राह्मणोंसे जब उनका आश्रम भरा-पूरा हो गया, उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्नान करनेके लिये गङ्गामें उतरे ॥ ११ ॥

तत्राभिषेकं कृत्वा स तर्पयित्वा पितामहान्।
उत्तितीर्षुर्जलाद् राजन्नग्निकार्यचिकीर्षया ॥ १२ ॥
अपकृष्टो महाबाहुर्नागराजस्य कन्यया।
अन्तर्जले महाराज उलूप्या कामयानया ॥ १३ ॥

राजन्! वहाँ स्नान करके पितरोंका तर्पण करनेके पश्चात् अग्निहोत्र करनेके लिये वे जलसे निकलना ही चाहते थे कि नागराजकी पुत्री उलूपीने उनके प्रति आसक्त हो पानीके भीतरसे ही महाबाहु अर्जुनको खींच लिया ॥ १२-१३ ॥

ददर्श पाण्डवस्तत्र पावकं सुसमाहितः।
कौरव्यस्याथ नागस्य भवने परमार्चिते ॥ १४ ॥

नागराज कौरव्यके परम सुन्दर भवनमें पहुँचकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर देखा, तो वहाँ अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ॥ १४ ॥

तत्राग्निकार्यं कृतवान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अशङ्कमानेन हुतस्तेनातुष्यद्धुताशनः ॥ १५ ॥

उस समय कुन्तीपुत्र धनंजयने निर्भीक होकर उसी अग्निमें अपना अग्निहोत्रकार्य सम्पन्न किया। इससे अग्निदेव बहुत संतुष्ट हुए ॥ १५ ॥

अग्निकार्यं स कृत्वा तु नागराजसुतां तदा।
प्रहसन्निव कौन्तेय इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

अग्निहोत्रका कार्य कर लेनेके पश्चात् अर्जुनने नागराज-कन्यासे हँसते हुए-से यह बात कही---॥ १६ ॥

किमिदं साहसं भीरु कृतवत्यसि भाविनि।
कश्चायं सुभगे देशः का च त्वं कस्य वाऽऽत्मजा ॥ १७ ॥

'भीरु! तुमने ऐसा साहस क्यों किया है? भाविनि! यह कौन-सा देश है? सुभगे! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो?' ॥ १७ ॥

उलूप्युवाच

ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः।
तस्यास्मि दुहिता राजन्नुलूपी नाम पन्नगी ॥ १८ ॥

उलूपीने कहा—राजन्! ऐरावत नागके कुलमें कौरव्य नामक नाग उत्पन्न हुए हैं, मैं उन्हींकी पुत्री नागिन हूँ। मेरा नाम उलूपी है ॥ १८ ॥

साहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम्।
दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाभिमूर्छिता ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ! जब आप स्नान करनेके लिये समुद्रगामिनी नदी गङ्गामें उतरे थे, उस समय आपको देखते ही मैं काम-वेदनासे मूर्च्छित हो गयी थी ॥ १९ ॥

तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन।
अनन्यां नन्दयस्वाद्य प्रदानेनात्मनोऽनघ ॥ २० ॥

निष्पाप कुरुनन्दन! मैं आपके ही लिये कामदेवके तापसे जली जा रही हूँ। मैंने आपके सिवा दूसरेको अपना हृदय अर्पण नहीं किया है। अतः मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिये ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

ब्रह्मचर्यमिदं भद्रे मम द्वादशवार्षिकम्।
धर्मराजेन चादिष्टं नाहमस्मि स्वयंवशः ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—भद्रे! यह मेरे बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले ब्रह्मचर्यव्रतका समय है। धर्मराज युधिष्ठिरने मुझे इस व्रतके पालनकी आज्ञा दी है। अतः मैं अपने वशमें नहीं हूँ ॥ २१ ॥

तव चापि प्रियं कर्तुमिच्छामि जलचारिणि।
अनृतं नोक्तपूर्वं च मया किंचन कर्हिचित् ॥ २२ ॥

जलचारिणि! मैं तुम्हारा भी प्रिय करना चाहता हूँ। मैंने पहले कभी कोई असत्य बात नहीं कही है ॥ २२ ॥

कथं च नानृतं मे स्यात् तव चापि प्रियं भवेत्।
न च पीड्येत मे धर्मस्तथा कुर्या भुजङ्गमे ॥ २३ ॥

नागकन्ये! तुम ऐसा कोई उपाय करो, जिससे मुझे झूठका दोष न लगे, तुम्हारा भी प्रिय हो और मेरे धर्मकी भी हानि न पहुँचे ॥ २३ ॥

उलूप्युवाच

जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम्।
यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान् गुरुः ॥ २४ ॥

उलूपीने कहा—पाण्डुनन्दन! आप जिस उद्देश्यसे पृथ्वीपर विचर रहे हैं और आपके बड़े भाईने जिस प्रकार आपको ब्रह्मचर्य-पालनका आदेश दिया है, वह सब मैं जानती हूँ ॥

परस्परं वर्तमानान् द्रुपदस्यात्मजां प्रति।
यो नोऽनुप्रविशेन्मोहात् स वै द्वादशवार्षिकम् ॥ २५ ॥
वने चरेद् ब्रह्मचर्यमिति वः समयः कृतः।

आपलोगोंने आपसमें यह शर्त कर रक्खी है कि हम लोगोंमेंसे कोई भी यदि द्रौपदीके पास रहे, उस दशामें यदि दूसरा मोहवश उस घरमें प्रवेश करे, तो वह बारह वर्षोंतक वनमें रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे ॥ २५½ ॥

तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम् ॥२६॥
कृतवांस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति ।
परित्राणं च कर्तव्यमार्तानां पृथुलोचन ॥२७॥

अतः आपके बड़े भाईने वहाँ धर्मकी रक्षाके लिये केवल द्रौपदीको निमित्त बनाकर यह एक-दूसरेके प्रवासका नियम बनाया है। यहाँ आपका धर्म दूषित नहीं होता। विशाल नेत्रोंवाले अर्जुन ! आपको आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते ।
यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद् व्यतिक्रमः ॥
स च ते धर्म एव स्याद् दत्त्वा प्राणान् ममार्जुन ।
भक्तां च भज मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो ॥२९॥

मेरी रक्षा करनेसे आपके धर्मका लोप नहीं होगा। यदि आपके इस धर्मका थोड़ा-सा व्यतिक्रम हो भी जाय तो भी मुझे प्राणदान देनेसे तो आपको महान् धर्म होगा ही। अतः मेरे स्वामी कुन्तीकुमार अर्जुन ! मैं आपकी भक्त हूँ, मुझे स्वीकार कीजिये; यह आर्तरक्षण सत्पुरुषोंका मत है ॥२८-२९॥

न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय ।
प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम् ॥३०॥

महाबाहो ! यदि आप मेरी प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो निश्चय जानिये, मैं मर जाऊँगी। अतः मुझे प्राणदान देकर अत्यन्त उत्तम धर्मका अनुष्ठान कीजिये ॥ ३० ॥

शरणं च प्रपन्नास्मि त्वामद्य पुरुषोत्तम ।
दीनाननाथान् कौन्तेय परिरक्षसि नित्यशः ॥३१॥

पुरुषोत्तम ! आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। कुन्ती-कुमार ! आप प्रतिदिन न जाने कितने दीनों और अनाथोंकी रक्षा करते हैं ॥ ३१ ॥

साहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता ।
याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात् कुरु मम प्रियम् ।
स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ॥३२॥

मैं भी यही आशा लेकर शरणमें आयी हूँ और बार-बार दुखी होकर रोती-गिड़गिड़ाती हूँ। मैं आपके प्रति अनुरक्त हूँ और आपसे समागमकी याचना करती हूँ। अतः मेरा प्रिय मनोरथ पूर्ण कीजिये। मुझे आत्मदान देकर मेरी कामना सफल कीजिये ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया ।
कृतवांस्तत् तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नागराजकी कन्या उलूपीके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने धर्मको ही सामने रखकर वह सब कार्य पूर्ण किया ॥ ३३ ॥

स नागभवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान् ।
उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरव्यस्य निवेशनात् ॥३४॥

प्रतापी अर्जुनने नागराजके घरमें ही वह रात्रि व्यतीत की। फिर सूर्योदय होनेपर वे कौरव्यके भवनसे ऊपरको उठे ॥३४॥

आगतस्तु पुनस्तत्र गङ्गाद्वारं तया सह ।
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ॥३५॥

उलूपीके साथ अर्जुन फिर गङ्गाद्वारमें आ पहुँचे। साध्वी उलूपी उन्हें वहाँ छोड़कर पुनः अपने घरको लौट गयी॥

दत्त्वा वरमजेयत्वं जले सर्वत्र भारत ।
साध्या जलचराः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥३६॥
(पुत्रमुत्पादयामास स तस्यां सुमनोहरम् ।
इरावन्तं महाभागं महाबलपराक्रमम् ॥)

भारत ! जाते समय उसने अर्जुनको यह वर दिया 'कि आप जलमें सर्वत्र अजेय होंगे और सभी जलचर आपके वशमें रहेंगे, इसमें संशय नहीं है। इस प्रकार अर्जुनने उलूपीके गर्भसे अत्यन्त मनोहर तथा महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न इरावान् नामक महाभाग पुत्र उत्पन्न किया ॥३६॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वण्युलूपीसङ्गमे च त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें उलूपी-समागमविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका पूर्वदिशाके तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए मणिपूरमें जाकर चित्राङ्गदाका पाणिग्रहण करके उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न करना

वैशम्पायन उवाच

कथयित्वा च तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यः स भारत ।
प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! रातकी वह सारी घटना ब्राह्मणोंसे कहकर इन्द्रपुत्र अर्जुन हिमालयके पास चले गये ॥ १ ॥

अगस्त्यवटमासाद्य वसिष्ठस्य च पर्वतम् ।
भृगुतुङ्गे च कौन्तेयः कृतवाञ्छौचमात्मनः ॥ २ ॥

अगस्त्यवट, वसिष्ठपर्वत तथा भृगुतुङ्गपर जाकर उन्होंने शौच-स्नान आदि किये ॥ २ ॥

प्रददौ गोसहस्राणि सुबहूनि च भारत।
निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत् कुरुसत्तमः ॥ ३ ॥

भारत ! कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने उन तीर्थोंमें ब्राह्मणोंको कई हजार गौएँ दान कीं और द्विजातियोंके रहनेके लिये घर एवं आश्रम बनवा दिये ॥ ३ ॥

हिरण्यबिन्दोस्तीर्थे च स्नात्वा पुरुषसत्तमः।
दृष्टवान् पाण्डवश्रेष्ठः पुण्यान्यायतनानि च ॥ ४ ॥

हिरण्यबिंदुतीर्थमें स्नान करके पाण्डवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम अर्जुनने अनेक पवित्र स्थानोंका दर्शन किया ॥ ४ ॥

अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः ॥ ५ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् हिमालयसे नीचे उतरकर भरत-कुलभूषण नरश्रेष्ठ अर्जुन पूर्व दिशाकी ओर चल दिये ॥ ५ ॥

आनुपूर्व्येण तीर्थानि दृष्टवान् कुरुसत्तमः।
नदीं चोत्पलिनीं रम्यामरण्यं नैमिषं प्रति ॥ ६ ॥
नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम्।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत ॥ ७ ॥

भारत ! फिर उस यात्रामें कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अनेक तीर्थोंका तथा नैमिषारण्यतीर्थमें बहनेवाली रमणीय उत्पलिनी नदी, नन्दा, अपरनन्दा, यशस्विनी कौशिकी (कोसी), महानदी, गयातीर्थ और गङ्गाजीका भी दर्शन किया ॥ ६-७ ॥

एवं तीर्थानि सर्वाणि पश्यमानस्तथाऽऽश्रमान्।
आत्मनः पावनं कुर्वन् ब्राह्मणेभ्यो ददौ च गाः ॥ ८ ॥

इस प्रकार उन्होंने सब तीर्थों और आश्रमोंको देखते हुए स्नान आदिसे अपनेको पवित्र करके ब्राह्मणोंके लिये बहुत-सी गौएँ दान कीं ॥ ८ ॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित्।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ ९ ॥

तदनन्तर अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग देशोंमें जो कोई भी पवित्र तीर्थ और मन्दिर थे, उन सबमें वे गये ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च विधिवत् तानि धनं चापि ददौ ततः।
कलिङ्गराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः।
अभ्यनुज्ञाय कौन्तेयमुपावर्तन्त भारत ॥ १० ॥

और उन तीर्थोंका दर्शन करके उन्होंने विधिपूर्वक वहाँ धन-दान किया। कलिङ्ग राष्ट्रके द्वारपर पहुँचकर अर्जुनके साथ चलनेवाले ब्राह्मण उनकी अनुमति लेकर वहाँसे लौट गये ॥ १० ॥

स तु तैरभ्यनुज्ञातः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ यत्र सागरः ॥ ११ ॥

परंतु कुन्तीपुत्र शूरवीर धनंजय उन ब्राह्मणोंकी आज्ञा ले थोड़ेसे सहायकोंके साथ उस स्थानकी ओर गये, जहाँ समुद्र लहराता था ॥ ११ ॥

स कलिङ्गानतिक्रम्य देशानायतनानि च।
हर्म्याणि रमणीयानि प्रेक्षमाणो ययौ प्रभुः ॥ १२ ॥

कलिङ्ग देशको लाँघकर शक्तिशाली अर्जुन अनेक देशों, मन्दिरों तथा रमणीय अट्टालिकाओंका दर्शन करते हुए आगे बढ़े ॥ १२ ॥

महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम्।
समुद्रतीरेण शनैर्मणिपूरं जगाम ह ॥ १३ ॥

इस प्रकार वे तपस्वी मुनियोंसे सुशोभित महेन्द्र पर्वतका दर्शन कर समुद्रके किनारे-किनारे यात्रा करते हुए धीरे-धीरे मणिपूर पहुँच गये ॥ १३ ॥

तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ॥ १४ ॥

वहाँके सम्पूर्ण तीर्थों और पवित्र मन्दिरोंमें जानेके बाद महाबाहु अर्जुन मणिपूरनरेशके पास गये ॥ १४ ॥

मणिपूरेश्वरं राजन् धर्मज्ञं चित्रवाहनम्।
तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ॥ १५ ॥

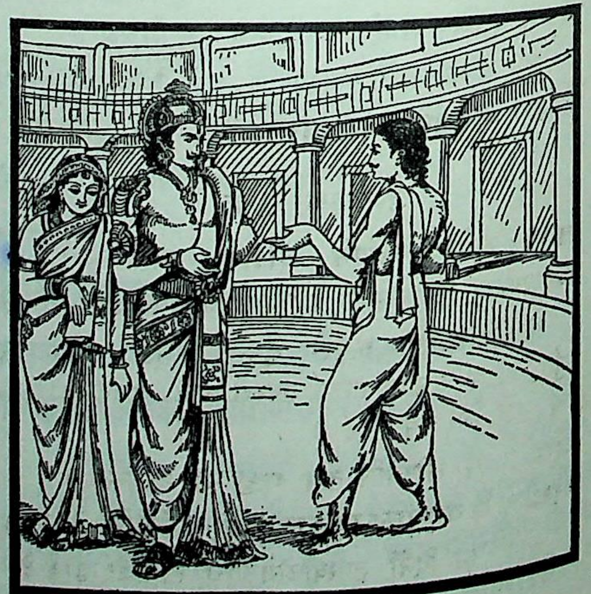
राजन् ! मणिपूरके स्वामी धर्मज्ञ चित्रवाहन थे। उनके चित्राङ्गदा नामवाली एक परम सुन्दरी कन्या थी ॥ १५ ॥

तां ददर्श पुरे तस्मिन् विचरन्तीं यदृच्छया।
दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहनीम् ॥ १६ ॥

उस नगरमें विचरण करती हुई उस सुन्दर अङ्गोंवाली चित्रवाहनकुमारीको अकस्मात् देखकर अर्जुनके मनमें उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा हुई ॥ १६ ॥

अभिगम्य च राजानमवदत् स्वं प्रयोजनम्।
देहि मे खल्विमां राजन् क्षत्रियाय महात्मने ॥ १७ ॥

अतः राजासे मिलकर उन्होंने अपना अभिप्राय इस प्रकार बताया—'महाराज ! मुझ महामनस्वी क्षत्रियको आप अपनी यह पुत्री प्रदान कर दीजिये' ॥ १७ ॥



तच्छ्रुत्वा त्वब्रवीद् राजा कस्य पुत्रोऽसि नाम किम्।
उवाच तं पाण्डवोऽहं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥१८॥

यह सुनकर राजाने पूछा—'आप किनके पुत्र हैं और आपका क्या नाम है ?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'मैं महाराज पाण्डु तथा कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। मुझे लोग धनंजय कहते हैं' ॥ १८ ॥

तमुवाचाथ राजा स सान्त्वपूर्वमिदं वचः।
राजा प्रभञ्जनो नाम कुलेऽस्मिन् सम्बभूव ह ॥१९॥

तब राजाने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'इस कुलमें पहले प्रभञ्जन नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं ॥ १९ ॥

अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम्।
उग्रेण तपसा तेन देवदेवः पिनाकधृक् ॥२०॥
ईश्वरस्तोषितः पार्थ देवदेव उमापतिः।
स तस्मै भगवान् प्रादादेकैकं प्रसवं कुले ॥२१॥

'उनके कोई पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने पुत्रकी इच्छासे उत्तम तपस्या प्रारम्भ की। पार्थ ! उन्होंने उस उग्र तपस्यासे पिनाकधारी देवाधिदेव महेश्वरको संतुष्ट कर लिया। तब देवदेवेश्वर भगवान् उमापति उन्हें वरदान देते हुए बोले, 'तुम्हारे कुलमें एक-एक संतान होती जायगी' ॥ २०-२१ ॥

एकैकः प्रसवस्तस्माद् भवत्यस्मिन् कुले सदा।
तेषां कुमाराः सर्वेषां पूर्वेषां मम जज्ञिरे ॥२२॥
एका च मम कन्येयं कुलस्योत्पादिनी भृशम्।
पुत्रो ममायमिति मे भावना पुरुषर्षभ ॥२३॥

'इस कारण हमारे इस कुलमें सदासे एक-एक संतान ही होती चली आ रही है। मेरे अन्य सभी पूर्वजोंके तो पुत्र होते आये हैं, परंतु मेरे यह एक कन्या ही हुई है। यही इस कुलकी परम्पराको चलानेवाली है। अतः भरतश्रेष्ठ ! इसके प्रति मेरी यही भावना रहती है कि 'यह मेरा पुत्र है'॥

पुत्रिका हेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ।
तस्मादेकः सुतो योऽस्यां जायते भारत त्वया ॥२४॥
एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव ॥२५॥

'यद्यपि यह पुत्री है, तो भी हेतुविधिसे (अर्थात् इससे जो प्रथम पुत्र होगा, वह मेरा ही पुत्र माना जायगा, इस हेतुसे) मैंने इसे पुत्रकी संज्ञा दे रक्खी है। भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे-द्वारा इसके गर्भसे जो एक पुत्र उत्पन्न हो, वह यहीं रहकर इस कुलपरम्पराका प्रवर्तक हो; इस कन्याके विवाहका यही शुल्क आपको देना होगा। पाण्डुनन्दन! इसी शर्तके अनुसार आप इसे ग्रहण करें' ॥ २४-२५ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय तां कन्यां प्रतिगृह्य च।
उवास नगरे तस्मिंस्तिस्रः कुन्तीसुतः समाः ॥२६॥

'तथास्तु' कहकर अर्जुनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और उस कन्याका पाणिग्रहण करके उन्होंने तीन वर्षोंतक उसके साथ उस नगरमें निवास किया ॥ २६ ॥

तस्यां सुते समुत्पन्ने परिष्वज्य वराङ्गनाम्।
आमन्त्र्य नृपतिं तं तु जगाम परिवर्तितुम् ॥२७॥

उसके गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो जानेपर उस सुन्दरीको हृदयसे लगाकर अर्जुनने विदा ली तथा राजा चित्रवाहनसे पूछकर वे पुनः तीर्थोंमें भ्रमण करनेके लिये चल दिये ॥२७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि चित्राङ्गदासंगमे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें चित्राङ्गदासमागमविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२१४॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वर्गा अप्सराका ग्राहयोनिसे उद्धार तथा वर्गाकी आत्मकथाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभ।
अभ्यगच्छत् सुपुण्यानि शोभितानि तपस्विभिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अर्जुन दक्षिण समुद्रके तटपर तपस्वीजनोंसे सुशोभित परम पुण्यमय तीर्थोंमें गये ॥ १ ॥

वर्जयन्ति स्म तीर्थानि तत्र पञ्च स्म तापसाः।
अवकीर्णानि यान्यासन् पुरस्तात् तु तपस्विभिः ॥ २ ॥

वहाँ उन दिनों तपस्वीलोग पाँच तीर्थोंको छोड़ देते थे। ये वे ही तीर्थ थे, जहाँ पूर्वकालमें बहुतेरे तपस्वी महात्मा भरे रहते थे ॥ २ ॥

अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमं च सुपावनम्।
कारन्धमं प्रसन्नं च हयमेधफलं च तत् ॥ ३ ॥

भारद्वाजस्य तीर्थं तु पापप्रशमनं महत्।
एतानि पञ्च तीर्थानि ददर्श कुरुसत्तमः ॥ ४ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अगस्त्यतीर्थ, सौभद्रतीर्थ, परम पावन पौलोमतीर्थ, अश्वमेध यज्ञका फल देनेवाला स्वच्छ

कारन्धमतीर्थ तथा पापनाशक महान् भारद्वाजतीर्थ। कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने इन पाँचों तीर्थोंका दर्शन किया ॥ ३-४ ॥

विविक्तान्युपलक्ष्याथ तानि तीर्थानि पाण्डवः।
दृष्ट्वा च वर्ज्यमानानि मुनिभिर्धर्मबुद्धिभिः ॥ ५ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने देखा, ये सभी तीर्थ बड़े एकान्तमें हैं, तो भी एकमात्र धर्ममें बुद्धिको लगाये रखनेवाले मुनि भी उन तीर्थोंको दूरसे ही छोड़ दे रहे हैं ॥ ५ ॥

तपस्विनस्ततोऽपृच्छत् प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥

तब कुरुनन्दन धनंजयने दोनों हाथ जोड़कर तपस्वी मुनियोंसे पूछा—'वेदवक्ता ऋषिगण इन तीर्थोंका परित्याग किसलिये कर रहे हैं?' ॥ ६ ॥

तापसा ऊचुः

ग्राहाः पञ्च वसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान्।
तत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ॥ ७ ॥

तपस्वी बोले—कुरुनन्दन! उन तीर्थोंमें पाँच घड़ियाल रहते हैं, जो नहानेवाले तपोधन ऋषियोंको जलके भीतर खींच ले जाते हैं; इसीलिये ये तीर्थ मुनियोंद्वारा त्याग दिये गये हैं ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः।
जगाम तानि तीर्थानि द्रष्टुं पुरुषसत्तमः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी बातें सुनकर कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन उन तपोधनोंके मना करनेपर भी उन तीर्थोंका दर्शन करनेके लिये गये ॥ ८ ॥

ततः सौभद्रमासाद्य महर्षेस्तीर्थमुत्तमम्।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ॥ ९ ॥

तदनन्तर परंतप शूरवीर अर्जुन महर्षि सुभद्रके उत्तम सौभद्रतीर्थमें सहसा उतरकर स्नान करने लगे ॥ ९ ॥

अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान्।
जग्राह चरणे ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ १० ॥

इतनेमें ही जलके भीतर विचरनेवाले एक महान् ग्राहने नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजयका एक पैर पकड़ लिया ॥ १० ॥

स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम्।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनां वरः ॥ ११ ॥

परंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु कुन्तीकुमार बहुत उछल-कूद मचाते हुए उस जलचर जीवको लिये-दिये पानीसे बाहर निकल आये ॥ ११ ॥

उत्कृष्ट एव ग्राहस्तु सोऽर्जुनेन यशस्विना।
बभूव नारी कल्याणी सर्वाभरणभूषिता ॥ १२ ॥

यशस्वी अर्जुनद्वारा पानीके ऊपर खिंच आनेपर वह ग्राह समस्त आभूषणोंसे विभूषित एक परम सुन्दरी नारीके रूपमें परिणत हो गया ॥ १२ ॥

दीप्यमाना श्रिया राजन् दिव्यरूपा मनोरमा।
तदद्भुतं महद् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १३ ॥
तां स्त्रियं परमप्रीत इदं वचनमब्रवीत्।
का वै त्वमसि कल्याणि कुतो वासि जलेचरी ॥ १४ ॥
किमर्थं च महत् पापमिदं कृतवती पुरा।

राजन्! वह दिव्यरूपिणी मनोरमा रमणी अपनी अद्भुत कान्तिसे प्रकाशित हो रही थी। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर कुन्तीनन्दन धनंजय बड़े प्रसन्न हुए और उस स्त्रीसे इस प्रकार बोले—'कल्याणी! तुम कौन हो और कैसे जलचरयोनिको प्राप्त हुई थीं? तुमने पूर्वकालमें ऐसा महान् पाप किसलिये किया? जिससे तुम्हारी यह दुर्गति हुई?' ॥ १३-१४½ ॥

वर्गोवाच

अप्सरास्मि महाबाहो देवारण्यविहारिणी ॥ १५ ॥

वर्गा बोली—महाबाहो! मैं नन्दनवनमें विहार करनेवाली एक अप्सरा हूँ ॥ १५ ॥

इष्टा धनपतेर्नित्यं वर्गा नाम महाबल।
मम सख्यश्चतस्रोऽन्याः सर्वाः कामगमाः शुभाः ॥ १६ ॥

महाबल! मेरा नाम वर्गा है। मैं कुबेरकी नित्यप्रेयसी रही हूँ। मेरी चार दूसरी सखियाँ भी हैं। वे सब इच्छानुसार गमन करनेवाली और सुन्दरी हैं ॥ १६ ॥

ताभिः सार्धं प्रयातास्मि लोकपालनिवेशनम्।
ततः पश्यामहे सर्वा ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १७ ॥

उन सबके साथ एक दिन मैं लोकपाल कुबेरके घरपर जा रही थी। मार्गमें हम सबने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्राह्मणको देखा ॥ १७ ॥

रूपवन्तमधीयानमेकमेकान्तचारिणम्।
तस्यैव तपसा राजंस्तद् वनं तेजसाऽऽवृतम् ॥ १८ ॥

वे बड़े रूपवान् थे और अकेले एकान्तमें रहकर वेदोंका स्वाध्याय करते थे। राजन्! उन्हींकी तपस्यासे वह सारा वन-प्रान्त तेजोमय हो रहा था ॥ १८ ॥

आदित्य इव तं देशं कृत्स्नं सर्वं व्यकाशयत्।
तस्य दृष्ट्वा तपस्तादृग् रूपं चाद्भुतमुत्तमम् ॥ १९ ॥
अवतीर्णाः स्म तं देशं तपोविघ्नचिकीर्षया।

वे सूर्यकी भाँति उस सम्पूर्ण प्रदेशको प्रकाशित कर रहे थे। उनकी वैसी तपस्या और वह अद्भुत एवं उत्तम रूप देखकर हम सभी अप्सराएँ उनके तपमें विघ्न डालनेकी इच्छासे उस स्थानमें उतर पड़ीं ॥ १९½ ॥

अहं च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ २० ॥
यौगपद्येन तं विप्रमभ्यगच्छाम भारत ।
गायन्त्योऽथ हसन्त्यश्च लोभयित्वा च तं द्विजम् ॥२१॥

भारत ! मैं, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा और लता पाँचों एक ही साथ उन ब्राह्मणके समीप गयीं और उन्हें लुभाती हुई हँसने तथा गाने लगीं ॥ २०-२१ ॥

स च नास्मासु कृतवान् मनो वीर कथंचन ।
नाकम्पत महातेजाः स्थितस्तपसि निर्मले ॥ २२ ॥

परंतु वीरवर ! उन्होंने किसी प्रकार भी अपने मनको हमारी ओर नहीं खिंचने दिया । वे महातेजस्वी ब्राह्मण निर्मल तपस्यामें संलग्न थे । वे उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥

सोऽशपत् कुपितोऽस्मासु ब्राह्मणः क्षत्रियर्षभ ।
ग्राहभूता जले यूयं चरिष्यथ शतं समाः ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! हमारी उद्दण्डतासे कुपित होकर उन ब्राह्मणने हमें शाप दे दिया—'तुमलोग सौ वर्षोंतक जलमें ग्राह बनकर रहोगी' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि तीर्थग्राहविमोचने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें तीर्थग्राहविमोचनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१५॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

वर्गाकी प्रार्थनासे अर्जुनका शेष चारों अप्सराओंको भी शापमुक्त करके मणिपूर जाना और चित्राङ्गदासे मिलकर गोकर्णतीर्थको प्रस्थान करना

वर्गोवाच

ततो वयं प्रव्यथिताः सर्वा भारतसत्तम ।
अयाम शरणं विप्रं तं तपोधनमच्युतम् ॥ १ ॥

वर्गा बोली—भरतवंशके महापुरुष ! उन ब्राह्मणका शाप सुनकर हमें बड़ा दुःख हुआ । तब हम सब-की-सब अपने धर्मसे च्युत न होनेवाले उन तपस्वी विप्रकी शरणमें गयीं ॥ १ ॥

रूपेण वयसा चैव कन्दर्पेण च दर्पिताः ।
अयुक्तं कृतवत्यः स्म क्षन्तुमर्हसि नो द्विज ॥ २ ॥

(और इस प्रकार बोलीं-) 'ब्रह्मन् ! हम रूप, यौवन और कामसे उन्मत्त हो गयी थीं । इसीलिये यह अनुचित कार्य कर बैठीं । आप कृपापूर्वक हमारा अपराध क्षमा करें ॥ २ ॥

एष एव वधोऽस्माकं सुपर्याप्तस्तपोधन ।
यद् वयं संशितात्मानं प्रलोब्धुं त्वामिहागताः ॥ ३ ॥

'तपोधन ! हमारा तो पूर्णरूपसे यही मरण हो गया कि हम आप-जैसे शुद्धात्मा मुनिको लुभानेके लिये यहाँ आयीं ॥

अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचारिणः ।
तस्माद् धर्मेण वर्ध त्वं नास्मान् हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

'धर्मात्मा पुरुष ऐसा मानते हैं कि स्त्रियाँ अवध्य बनायी गयी हैं । अतः आप अपने धर्माचरणद्वारा निरन्तर उन्नति कीजिये । आपको हम अबलाओंकी हत्या नहीं करनी चाहिये ॥

सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।
सत्यो भवतु कल्याण एष वादो मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

'धर्मज्ञ ! ब्राह्मण समस्त प्राणियोंपर मैत्रीभाव रखनेवाला कहा जाता है । भद्र पुरुष ! मनीषी पुरुषोंका यह कथन सत्य होना चाहिये ॥ ५ ॥

शरणं च प्रपन्नानां शिष्टाः कुर्वन्ति पालनम् ।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मस्तस्मात् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

'श्रेष्ठ महात्मा शरणागतोंकी रक्षा करते हैं । हम भी आपकी शरणमें आयी हैं; अतः आप हमारे अपराध क्षमा करें' ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा ब्राह्मणः शुभकर्मकृत् ।
प्रसादं कृतवान् वीर रविसोमसमप्रभः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वीरवर ! उनके ऐसा कहनेपर सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी तथा शुभ कर्म करनेवाले उन धर्मात्मा ब्राह्मणने उन सबपर कृपा की ॥ ७ ॥

ब्राह्मण उवाच

शतं शतसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम् ।
परिमाणं शतं त्वेतन्नेदमक्षय्यवाचकम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मण बोले—'शत' और 'शतसहस्र' शब्द ये सभी अनन्त संख्याके वाचक हैं, परंतु यहाँ जो मैंने 'शतं समाः' (तुमलोगोंको सौ वर्षोंतक ग्राह होनेके लिये) कहा है, उसमें शत शब्द सौ वर्षके परिमाणका ही वाचक है । अनन्तकालका वाचक नहीं है ॥ ८ ॥

यदा च वो ग्राहभूता गृह्णन्तीः पुरुषाञ्जले ।
उत्कर्षति जलात् तस्मात् स्थलं पुरुषसत्तमः ॥ ९ ॥
तदा यूयं पुनः सर्वाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यथ ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे हसतापि कदाचन ॥ १० ॥

जब जलमें ग्राह बनकर लोगोंको पकड़नेवाली तुम सब अप्सराओंको कोई श्रेष्ठ पुरुष जलसे बाहर स्थलपर खींच लायेगा, उस समय तुम सब लोग फिर अपना दिव्य रूप प्राप्त कर लोगी । मैंने पहले कभी हँसीमें भी झूठ नहीं कहा है ॥ ९-१० ॥

तानि सर्वाणि तीर्थानि ततः प्रभृति चैव ह ।
नारीतीर्थानि नाम्नेह ख्यातिं यास्यन्ति सर्वशः ।
पुण्यानि च भविष्यन्ति पावनानि मनीषिणाम् ॥ ११ ॥

तुमलोगोंका उद्धार हो जानेके बाद वे सभी तीर्थ इस जगत्‌में नारीतीर्थके नामसे विख्यात होंगे और मनीषी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले पुण्य तीर्थ बन जायँगे ॥ ११ ॥

वर्गोवाच

ततोऽभिवाद्य तं विप्रं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
अचिन्तयामोऽपसृत्य तस्माद् देशात् सुदुःखिताः ॥ १२ ॥
क्व नु नाम वयं सर्वाः कालेनाल्पेन तं नरम् ।
समागच्छेम यो नस्तद् रूपमापादयेत् पुनः ॥ १३ ॥

वर्गा कहती है—भारत ! तदनन्तर उन ब्राह्मणको प्रणाम और उनकी प्रदक्षिणा करके अत्यन्त दुखी हो हम सब उस स्थानसे अन्यत्र चली आयीं और इस चिन्तामें पड़ गयीं कि कहाँ जाकर हम सब लोग रहें, जिससे थोड़े ही समयमें हमें वह मनुष्य मिल जाय, जो हमें पुनः हमारे पूर्व स्वरूपकी प्राप्ति करायेगा ॥ १२-१३ ॥

ता वयं चिन्तयित्वैव मुहूर्तादिव भारत ।
दृष्टवत्यो महाभागं देवर्षिमुत नारदम् ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! हमलोग दो घड़ीसे इस प्रकार सोच-विचार कर ही रही थीं कि हमको महाभाग देवर्षि नारदजीका दर्शन प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

सम्प्रहृष्टाः स्म तं दृष्ट्वा देवर्षिममितद्युतिम् ।
अभिवाद्य च तं पार्थ स्थिताः स्म व्रीडिताननाः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन ! उन अमिततेजस्वी देवर्षिको देखकर हमें बड़ा हर्ष हुआ और उन्हें प्रणाम करके हम लज्जावश सिर झुकाकर वहाँ खड़ी हो गयीं ॥ १५ ॥

स नोऽपृच्छद् दुःखमूलमुक्तवत्यो वयं च तम् ।
श्रुत्वा तत्र यथावृत्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

फिर उन्होंने हमारे दुःखका कारण पूछा और हमने उनसे सब कुछ बता दिया। सारा हाल सुनकर वे इस प्रकार बोले—॥

दक्षिणे सागरानूपे पञ्च तीर्थानि सन्ति वै ।
पुण्यानि रमणीयानि तानि गच्छत मा चिरम् ॥ १७ ॥

'दक्षिण समुद्रके तटके समीप पाँच तीर्थ हैं, जो परम पुण्यजनक तथा अत्यन्त रमणीय हैं। तुम सब उन्हींमें चली जाओ, देर न करो॥

तत्राशु पुरुषव्याघ्रः पाण्डवेयो धनंजयः ।
मोक्षयिष्यति शुद्धात्मा दुःखादस्मान्न संशयः ॥ १८ ॥
तस्य सर्वा वयं वीर श्रुत्वा वाक्यमिहागताः ।
तदिदं सत्यमेवाद्य मोक्षिताहं त्वयानघ ॥ १९ ॥

'वहाँ पुरुषोंमें श्रेष्ठ शुद्धात्मा पाण्डुकुमार धनंजय शीघ्र ही पहुँचकर तुम्हें इस दुःखसे छुड़ायेंगे, इसमें संशय नहीं है।' वीर अर्जुन ! नारदजीका यह वचन सुनकर हम सब सखियाँ यहीं चली आयीं। अनघ ! आज सचमुच ही आपने मुझे उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ १८-१९ ॥

एतास्तु मम ताः सख्यश्चतस्रोऽन्या जले श्रिताः ।
कुरु कर्म शुभं वीर एताः सर्वा विमोक्षय ॥ २० ॥

ये मेरी चार सखियाँ और हैं, जो अभी जलमें ही पड़ी हैं। वीरवर ! आप यह पुण्य कर्म कीजिये; इन सबको शापसे छुड़ा दीजिये ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ताः पाण्डवश्रेष्ठः सर्वा एव विशाम्पते ।
तस्माच्छापाददीनात्मा मोक्षयामास वीर्यवान् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब उदारहृदय पराक्रमी पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने उन सभी अप्सराओंको उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ २१ ॥

उत्थाय च जलात् तस्मात् प्रतिलभ्य वपुः स्वकम् ।
तास्तदाप्सरसो राजन्नदृश्यन्त यथा पुरा ॥ २२ ॥

राजन् ! उस जलसे ऊपर निकलकर फिर अपना पूर्वस्वरूप प्राप्त कर लेनेपर वे अप्सराएँ उस समय पहलेकी भाँति दिखायी देने लगीं ॥ २२ ॥

तीर्थानि शोधयित्वा तु तथानुज्ञाय ताः प्रभुः ।
चित्राङ्गदां पुनर्द्रष्टुं मणिपूरं पुनर्ययौ ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन तीर्थोंका शोधन करके उन अप्सराओंको जानेकी आज्ञा दे शक्तिशाली अर्जुन चित्राङ्गदासे मिलनेके लिये पुनः मणिपूर गये ॥ २३ ॥

तस्यामजनयत् पुत्रं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
तं दृष्ट्वा पाण्डवो राजंश्चित्रवाहनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

वहाँ उन्होंने चित्राङ्गदाके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न किया था, उसका नाम बभ्रुवाहन रक्खा गया था। राजन् ! अपने उस पुत्रको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने राजा चित्रवाहनसे कहा— ॥ २४ ॥

चित्राङ्गदायाः शुल्कं त्वं गृहाण बभ्रुवाहनम् ।
अनेन च भविष्यामि ऋणान्मुक्तो नराधिप ॥ २५ ॥

'महाराज ! इस बभ्रुवाहनको आप चित्राङ्गदाके शुल्करूपमें ग्रहण कीजिये, इससे मैं आपके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा' ॥

चित्राङ्गदां पुनर्वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ।
इहैव भव भद्रं ते वर्धेथा बभ्रुवाहनम् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् पाण्डुकुमारने पुनः चित्राङ्गदासे कहा—'प्रिये ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम यहीं रहो और बभ्रुवाहनका पालन-पोषण करो ॥ २६ ॥

इन्द्रप्रस्थनिवासं मे त्वं तत्रागत्य रंस्यसि ।
कुन्तीं युधिष्ठिरं भीमं भ्रातरौ मे कनीयसौ ॥ २७ ॥
आगत्य तत्र पश्येथा अन्यानपि च बान्धवान् ।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्नन्दसे त्वमनिन्दिते ॥ २८ ॥

'फिर यथासमय हमारे निवासस्थान इन्द्रप्रस्थमें आकर तुम बड़े सुखसे रहोगी। वहाँ आनेपर माता कुन्ती, युधिष्ठिर, भीमसेन, मेरे छोटे भाई नकुल-सहदेव तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंको देखनेका तुम्हें अवसर मिलेगा। अनिन्दिते! इन्द्रप्रस्थमें मेरे समस्त बन्धु-बान्धवोंसे मिलकर तुम बहुत प्रसन्न होओगी ॥ २७-२८ ॥

धर्मे स्थितः सत्यधृतिः कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
जित्वा तु पृथिवीं सर्वां राजसूयं करिष्यति ॥ २९ ॥

'सदा धर्मपर स्थित रहनेवाले सत्यवादी कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर सारी पृथ्वीको जीतकर राजसूययज्ञ करेंगे ॥ २९ ॥

तत्रागच्छन्ति राजानः पृथिव्यां नृपसंज्ञिताः ।
बहूनि रत्नान्यादाय आगमिष्यति ते पिता ॥ ३० ॥

'उस समय वहाँ भूमण्डलके नरेशनामधारी सभी राजा आयेंगे। तुम्हारे पिता भी बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर उस समय उपस्थित होंगे ॥ ३० ॥

एकसार्थं प्रयातासि चित्रवाहनसेवया ।
द्रक्ष्यामि राजसूये त्वां पुत्रं पालय मा शुचः ॥ ३१ ॥

'चित्रवाहनकी सेवाके निमित्त उन्हींके साथ राजसूययज्ञमें तुम भी चली आना। मैं वहीं तुमसे मिलूँगा। इस समय पुत्रका पालन करो और शोक छोड़ दो ॥ ३१ ॥

बभ्रुवाहननाम्ना तु मम प्राणो महीचरः ।
तस्माद् भरस्व पुत्रं वै पुरुषं वंशवर्धनम् ॥ ३२ ॥

'बभ्रुवाहनके नामसे मेरा प्राण ही इस भूतलपर विद्यमान है, अतः तुम इस पुत्रका भरण-पोषण करो। यह इस वंशको बढ़ानेवाला पुरुषरत्न है ॥ ३२ ॥

चित्रवाहनदायादं धर्मात् पौरवनन्दनम् ।
पाण्डवानां प्रियं पुत्रं तस्मात् पालय सर्वदा ॥ ३३ ॥

'यह धर्मतः चित्रवाहनका पुत्र है; किंतु शरीरसे पूरुवंशको आनन्दित करनेवाला है। अतः पाण्डवोंके इस प्रिय पुत्रका तुम सदा पालन करो ॥ ३३ ॥

विप्रयोगेन संतापं मा कृथास्त्वमनिन्दिते ।
चित्राङ्गदामेवमुक्त्वा गोकर्णमभितोऽगमत् ॥ ३४ ॥

'सती-साध्वी प्रिये! मेरे वियोगसे तुम संतप्त न होना।' चित्राङ्गदासे ऐसा कहकर अर्जुन गोकर्णतीर्थकी ओर चल दिये ॥

आद्यं पशुपतेः स्थानं दर्शनादेव मुक्तिदम् ।
यत्र पापोऽपि मनुजः प्राप्नोत्यभयदं पदम् ॥ ३५ ॥

वह भगवान् शङ्करका आदिस्थान है और दर्शनमात्रसे मोक्ष देनेवाला है। पापी मनुष्य भी वहाँ जाकर निर्भय पद प्राप्त कर लेता है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनतीर्थयात्रायां षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका प्रभासतीर्थमें श्रीकृष्णसे मिलना और उन्हींके साथ उनका रैवतक पर्वत एवं द्वारकापुरीमें आना

वैशम्पायन उवाच

सोऽपरान्तेषु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
सर्वाण्येवानुपूर्व्येण जगामामितविक्रमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अमित-पराक्रमी अर्जुन क्रमशः अपरान्त (पश्चिम समुद्रतटवर्ती) देशके समस्त पुण्य तीर्थों और मन्दिरोंमें गये ॥ १ ॥

समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च ।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

पश्चिम समुद्रके तटपर जितने तीर्थ और देवालय थे, उन सबकी यात्रा करके वे प्रभासक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ २ ॥

प्रभासदेशं सम्प्राप्तं बीभत्सुमपराजितम् ।
सुपुण्यं रमणीयं च शुश्राव मधुसूदनः ॥ ३ ॥
ततोऽभ्यगच्छत् कौन्तेयं सखायं तत्र माधवः ।
ददृशाते तदान्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने गुप्तचरोंद्वारा यह सुना कि किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुन परम पवित्र एवं रमणीय प्रभासक्षेत्रमें आ गये हैं, तब वे अपने सखा कुन्तीनन्दनसे मिलनेके लिये वहाँ गये। उस समय प्रभासमें श्रीकृष्ण और अर्जुनने एक-दूसरेको देखा ॥ ३-४ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने ।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

दोनों ही दोनोंको हृदयसे लगाकर कुशल-प्रश्न पूछनेके



पश्चात् वे परस्पर प्रिय मित्र साक्षात् नर-नारायण ऋषि वनमें एक स्थानपर बैठ गये ॥ ५ ॥

ततोऽर्जुनं वासुदेवस्तां चर्यां पर्यपृच्छत ।
किमर्थं पाण्डवैतानि तीर्थान्यनुचरस्युत ॥ ६ ॥

तब भगवान् वासुदेवने अर्जुनसे उनकी जीवनचर्याके सम्बन्धमें पूछा—'पाण्डव ! तुम किसलिये तीर्थोंमें विचर रहे हो ?' ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनो यथावृत्तं सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
श्रुत्वोवाच च वार्ष्णेय एवमेतदिति प्रभुः ॥ ७ ॥

यह सुनकर अर्जुनने उन्हें सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया। सब कुछ सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'यह बात ऐसी ही है' ॥ ७ ॥

तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः ॥ ८ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों प्रभासक्षेत्रमें इच्छानुसार घूम-फिरकर रैवतक पर्वतपर चले गये । उन्हें रातको वहीं ठहरना था ॥ ८ ॥

पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात् तं महीधरम् ।
पुरुषा मण्डयाञ्चक्रुरुपजह्रुश्च भोजनम् ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे उनके सेवकोंने पहलेसे ही आकर उस पर्वतको सजा रक्खा था और वहाँ भोजन भी तैयार करके रख लिया था ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्यार्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः ।
सहैव वासुदेवेन दृष्टवान् नटनर्तकान् ॥ १० ॥
अभ्यनुज्ञाय तान् सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः ।
सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महामतिः ॥ ११ ॥

पाण्डुकुमार अर्जुनने भगवान् वासुदेवके साथ प्रस्तुत किये हुए सम्पूर्ण भोज्य पदार्थोंको यथारुचि खाकर नटों और नर्तकोंके नृत्य देखे। तत्पश्चात् उन सबको उपहार आदिसे सम्मानित करके जानेकी आज्ञा दे महाबुद्धिमान् पाण्डुकुमार अर्जुन सत्कारपूर्वक बिछी हुई दिव्य शय्यापर सोनेके लिये गये ॥ १०-११ ॥

ततस्तत्र महाबाहुः शयानः शयने शुभे ।
तीर्थानां पल्वलानां च पर्वतानां च दर्शनम् ।
आपगानां वनानां च कथयामास सात्वते ॥ १२ ॥

वहाँ सुन्दर शय्यापर सोये हुए महाबाहु धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णसे अनेक तीर्थों, कुण्डों, पर्वतों, नदियों तथा वनोंके दर्शनसम्बन्धी अनुभवकी विचित्र बातें कहीं ॥ १२ ॥

एवं स कथयन्नेव निद्रया जनमेजय ।
कौन्तेयोऽपि हृतस्तस्मिन् शयने स्वर्गसंनिभे ॥ १३ ॥

जनमेजय ! इस प्रकार बात करते-करते अर्जुन उस स्वर्गसदृश सुखदायिनी शय्यापर सो गये ॥ १३ ॥

मधुरेणैव गीतेन वीणाशब्देन चैव ह ।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ॥ १४ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल मधुर गीत, वीणाकी मीठी ध्वनि, स्तुति और मङ्गलपाठके शब्दोंद्वारा जगाये जानेपर उनकी नींद खुली ॥

स कृत्वावश्यकार्याणि वार्ष्णेयेनाभिनन्दितः ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् आवश्यक कार्य करके श्रीकृष्णके द्वारा अभिनन्दित हो उनके साथ सुवर्णमय रथपर बैठकर वे द्वारकापुरीको गये ॥ १५ ॥

अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उस समय कुन्तीकुमारके स्वागतके लिये समूची द्वारकापुरी सजायी गयी थी तथा वहाँके घरोंके बगीचेतक सजाये गये थे ॥ १६ ॥

दिदृक्षन्तश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः ।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुनको देखनेके लिये द्वारकावासी मनुष्य लाखोंकी संख्यामें मुख्य सड़कपर चले आये थे ॥ १७ ॥

अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च ।
भोजवृष्ण्यन्धकानां च समवायो महानभूत् ॥ १८ ॥

जहाँसे अर्जुनका दर्शन हो सके, ऐसे स्थानोंपर सैकड़ों-हजारों स्त्रियाँ आँख लगाये खड़ी थीं तथा भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषोंकी बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी थी ॥

स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः ॥ १९ ॥

भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके सब लोगोंद्वारा इस प्रकार आदर-सत्कार पाकर अर्जुनने वन्दनीय पुरुषोंको प्रणाम किया और उन सबने उनका स्वागत किया ॥ १९ ॥

कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाभिचोदितः।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ॥ २० ॥

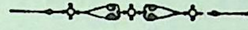
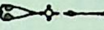
यदुकुलके समस्त कुमारोंने भी वीरवर अर्जुनका बड़ा सत्कार किया। अर्जुन अपने समान अवस्थावाले सब लोगोंसे उन्हें बारंबार हृदयसे लगाकर मिले ॥ २० ॥

कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ २१ ॥

इसके बाद नाना प्रकारके रत्न तथा भाँति-भाँतिके भोज्य-पदार्थोंसे भरपूर श्रीकृष्णके रमणीय भवनमें उन्होंने श्रीकृष्णके साथ ही अनेक रात्रियोंतक निवास किया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनद्वारकागमने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनका द्वारकागमन-विषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ २१७

(सुभद्राहरणपर्व)

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

रैवतक पर्वतके उत्सवमें अर्जुनका सुभद्रापर आसक्त होना और श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिरकी अनुमतिसे उसे हर ले जानेका निश्चय करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कतिपयाहस्य तस्मिन् रैवतके गिरौ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर कुछ दिन बीतनेके बाद रैवतक पर्वतपर वृष्णि और अन्धकवंशके लोगोंका एक बड़ा भारी उत्सव हुआ ॥ १ ॥

तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महे तस्य गिरेस्तदा ॥ २ ॥

पर्वतपर होनेवाले उस उत्सवमें भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सहस्रों ब्राह्मणोंको दान दिया ॥ २ ॥

प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः।
स देशः शोभितो राजन् कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ३ ॥

राजन्! उस पर्वतके चारों ओर रत्नजटित विचित्र राजभवन और कल्पवृक्ष थे, जिनसे उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३ ॥

वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः समवादयन्।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायनाः ॥ ४ ॥

वहाँ बाजे बजानेमें कुशल मनुष्य अनेक प्रकारके बाजे बजाते, नाचनेवाले नाचते और गायकगण गीत गाते थे ॥

अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम्।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ५ ॥

महान् तेजस्वी वृष्णिवंशियोंके बालक वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सुवर्णचित्रित सवारियोंपर बैठकर देदीप्यमान होते हुए चारों ओर घूम रहे थे ॥ ५ ॥

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत् तत्र भारत ॥ ७ ॥

द्वारकापुरीके निवासी सैकड़ों-हजारों मनुष्य अपनी स्त्रियों और सेवकोंके साथ पैदल चलकर अथवा छोटी-बड़ी सवारियोंके द्वारा आकर उस उत्सवमें सम्मिलित हुए थे। भारत! भगवान् बलराम हर्षोन्मत्त होकर वहाँ रेवतीके साथ विचर रहे थे। उनके पीछे-पीछे गन्धर्व (गायक) चल रहे थे ॥ ६-७ ॥

तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान्।
अनुगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान् ॥ ८ ॥

वृष्णिवंशके प्रतापी राजा उग्रसेन भी वहाँ आमोद-प्रमोद कर रहे थे। उनके पास बहुतसे गन्धर्व गा रहे थे और सहस्रों स्त्रियाँ उनकी सेवा कर रही थीं ॥ ८ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबौ समरदुर्मदौ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ॥ ९ ॥

युद्धमें दुर्मद वीरवर प्रद्युम्न और साम्ब दिव्य मालाएँ तथा दिव्य वस्त्र धारण करके आनन्दसे उन्मत्त हो देवताओंकी भाँति विहार करते थे ॥ ९ ॥

अक्रूरः सारणश्चैव गदो बभ्रुर्विदूरथः।
निशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १० ॥
सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारमहारवौ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ११ ॥
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक् पृथक्।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाञ्चक्रिरे तदा ॥ १२ ॥

अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्ण, पृथु, विपृथु, सत्यक, सात्यकि, भङ्गकार, महारव, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, उद्धव और जिनका नाम यहाँ नहीं लिया गया है, ऐसे अन्य यदुवंशी भी सब-के-सब अलग-अलग स्त्रियों और गन्धर्वोंसे घिरे हुए रैवतक पर्वतके उस उत्सवकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

चित्रकौतूहले तस्मिन् वर्तमाने महाद्भुते।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥ १३ ॥

उस अत्यन्त अद्भुत विचित्र कौतूहलपूर्ण उत्सवमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन एक साथ घूम रहे थे ॥ १३ ॥

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम्।
अलंकृतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा ॥ १४ ॥

इसी समय वहाँ वसुदेवजीकी सुन्दरी पुत्री सुभद्रा शृङ्गार-से सुसज्जित हो सखियोंसे घिरी हुई उधर आ निकली। वहाँ टहलते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने उसे देखा ॥ १४ ॥

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत।
तं तदैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥ १५ ॥

उसे देखते ही अर्जुनके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उनका चित्त उसीके चिन्तनमें एकाग्र हो गया । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी इस मनोदशाको भाँप लिया ॥

अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत।
वनेचरस्य किमिदं कामेनालोड्यते मनः ॥ १६ ॥

फिर वे पुरुषोत्तम हँसते हुए-से बोले—'भारत ! यह क्या, वनवासीका मन भी इस तरह कामसे उन्मथित हो रहा है?

ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥ १७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! यह मेरी और सारणकी सगी बहिन है, तुम्हारा कल्याण हो, इसका नाम सुभद्रा है। यह मेरे पिताकी बड़ी लाड़िली कन्या है। यदि तुम्हारा विचार इससे ब्याह करनेका हो तो मैं पितासे स्वयं कहूँगा' ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥ १८ ॥

अर्जुनने कहा—यह वसुदेवजीकी पुत्री, साक्षात् आप वासुदेवकी बहिन और अनुपम रूपसे सम्पन्न है, फिर यह किसका मन न मोह लेगी ॥ १८ ॥

कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम्।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥ १९ ॥

सखे ! यदि यह वृष्णिकुलकी कुमारी और आपकी बहिन सुभद्रा मेरी रानी हो सके तो निश्चय ही मेरा समस्त कल्याणमय मनोरथ पूर्ण हो जाय ॥ १९ ॥

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात् तं ब्रवीहि जनार्दन।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥ २० ॥

जनार्दन ! बताइये, इसे प्राप्त करनेका क्या उपाय हो सकता है ? यदि मनुष्यके द्वारा कर सकने योग्य होगा तो वह सारा प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नरश्रेष्ठ पार्थ ! क्षत्रियोंके विवाहका स्वयंवर एक प्रकार है, परंतु उसका परिणाम संदिग्ध होता है; क्योंकि स्त्रियोंका स्वभाव अनिश्चित हुआ करता है (पता नहीं, वे स्वयंवरमें किसका वरण करें) ॥

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

बलपूर्वक कन्याका हरण भी शूरवीर क्षत्रियोंके लिये विवाहका उत्तम हेतु कहा गया है; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ २२ ॥

स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥ २३ ॥

अतः अर्जुन ! मेरी राय तो यही है कि तुम मेरी कल्याण-मयी बहिनको बलपूर्वक हर ले जाओ। कौन जानता है, स्वयंवरमें उसकी क्या चेष्टा होगी—वह किसे वरण करना चाहेगी ? ॥ २३ ॥

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम्।
शीघ्रगान् पुरुषानन्यान् प्रेषयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥
धर्मराजाय तत् सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ॥ २५ ॥

तब अर्जुन और श्रीकृष्णने कर्तव्यका निश्चय करके कुछ दूसरे शीघ्रगामी पुरुषोंको इन्द्रप्रस्थमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास भेजा और सब बातें उन्हें सूचित करके उनकी सम्मति जाननेकी इच्छा प्रकट की। महाबाहु युधिष्ठिरने यह सुनते ही अपनी ओरसे आज्ञा दे दी ॥ २४-२५ ॥

(भीमसेनस्तु तच्छ्रुत्वा कृतकृत्योऽभ्यमन्यत।
इत्येवं मनुजैः सार्धमुक्त्वा प्रीतिमुपेयिवान् ॥)

भीमसेन यह समाचार सुनकर अपनेको कृतकृत्य मानने लगे और दूसरे लोगोंके साथ ये बातें करके उनकी बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि युधिष्ठिरानुज्ञायामष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें युधिष्ठिरकी आज्ञासम्बन्धी दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यादवोंकी युद्धके लिये तैयारी और अर्जुनके प्रति बलरामजीके क्रोधपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनंजयः।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ॥ १ ॥
वासुदेवाभ्यनुज्ञातः कथयित्वेतिकृत्यताम्।
कृष्णस्य मतमादाय प्रययौ भरतर्षभः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उस विवाहसम्बन्धी संदेशपर युधिष्ठिरकी आज्ञा मिल जानेके पश्चात् धनंजयको जब यह मालूम हुआ कि सुभद्रा रैवतक पर्वतपर गयी हुई है, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे सलाह ली। श्रीकृष्णने उन्हें आगे क्या करना है, यह बताकर सुभद्रासे विवाह करने तथा उसे हर ले जानेकी अनुमति दे दी। श्रीकृष्णकी सम्मति पाकर भरतश्रेष्ठ अर्जुन अपने विश्रामस्थानपर चले गये ॥ १-२ ॥

रथेन काञ्चनाङ्गेन कल्पितेन यथाविधि।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ॥ ३ ॥
सर्वशस्त्रोपपन्नेन जीमूतरवनादिना।
ज्वलिताग्निप्रकाशेन द्विषतां हर्षघातिना ॥ ४ ॥
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥

(भगवान्‌की आज्ञासे दारुकने) उनके सुवर्णमय रथको विधिपूर्वक सजाकर तैयार किया था। उसमें स्थान-स्थानपर छोटी-छोटी घंटिकाएँ तथा झालरें लगा दी थीं और शैब्य, सुग्रीव आदि अश्व भी उसमें जोत दिये थे। उस रथके भीतर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद थे। उसकी घर्घराहटसे मेघकी गर्जनाके समान आवाज होती थी। वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ता था। उसे देखते ही शत्रुओंका हर्ष हवा हो जाता था। नरश्रेष्ठ धनंजय कवच और तलवार बाँधकर एवं हाथोंमें दस्ताने पहनकर उसी रथके द्वारा शिकार खेलनेके बहाने रैवतक पर्वतपर गये ॥ ३—५ ॥

सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्यैव हि रैवतम्।
दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ॥ ६ ॥
प्रदक्षिणं गिरेः कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद् रथम्।
सुभद्रां चारुसर्वाङ्गीं कामबाणप्रपीडितः ॥ ७ ॥

उधर सुभद्रा गिरिराज रैवतक तथा सब देवताओंकी पूजा करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पर्वतकी परिक्रमा पूरी करके द्वारकाकी ओर लौट रही थी। अर्जुन कामदेवके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उन्होंने दौड़कर सर्वाङ्ग-



सुन्दरी सुभद्राको बलपूर्वक रथपर बिठा लिया ॥ ६-७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम्।
रथेन काञ्चनाङ्गेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥ ८ ॥

इसके बाद पुरुषसिंह धनंजय पवित्र मुसकानवाली सुभद्राको साथ ले उस सुवर्णमय रथद्वारा अपने नगरकी ओर चल दिये ॥ ८ ॥

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥ ९ ॥

सुभद्राका अपहरण होता देख समस्त सैनिकगण हल्ला मचाते हुए द्वारकापुरीकी ओर दौड़े गये ॥ ९ ॥

ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।
सभापालस्य तत् सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥ १० ॥

उन्होंने एक साथ सुधर्मासभामें पहुँचकर सभापालसे अर्जुनके उस साहसपूर्ण पराक्रमका सारा हाल कह सुनाया ॥

तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सांनाहिकीं ततः।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ ११ ॥

उनकी बातें सुनकर सभापालने सबको युद्धके लिये तैयार होनेकी सूचना देनेके उद्देश्यसे सुवर्णखचित नगाड़ा बजाया, जिसकी आवाज बहुत ऊँची और दूरतक फैलनेवाली थी ॥ ११ ॥

क्षुब्धास्तेनाथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा।
अन्नपानमपास्याथ समापेतुः समन्ततः ॥ १२ ॥

उसकी आवाज सुनकर भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीर क्षुब्ध हो उठे और खाना-पीना छोड़कर चारों ओरसे दौड़े आये ॥ १२ ॥

तत्र जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च।
मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ॥ १३ ॥
भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः ॥ १४ ॥

उस सभामें सैकड़ों सिंहासन रक्खे गये थे, जिनमें सुवर्ण जड़ा गया था। उन सिंहासनोंपर बहुमूल्य बिछौने पड़े थे। वे सभी आसन मणि और मूँगोंसे चित्रित होनेके कारण प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे। भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषसिंह महारथी वीर उन्हीं सिंहासनोंपर आकर बैठे, मानो यज्ञकी वेदियोंपर प्रज्वलित अग्निदेव शोभा पा रहे हों ॥ १३-१४ ॥

तेषां समुपविष्टानां देवानामिव संनये।
आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ॥ १५ ॥

देवसमूहकी भाँति वहाँ बैठे हुए उन यदुवंशियोंके समुदायमें सेवकोंसहित सभापालने अर्जुनकी वह सारी करतूत कह सुनायी ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥ १६ ॥

यह सुनते ही युद्धोन्मादसे लाल नेत्रोंवाले वृष्णिवंशी वीर अर्जुनके प्रति अमर्षसे भर गये और गर्वसे उछल पड़े ॥

योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च।
धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥ १७ ॥

(वे बड़ी उतावलीसे कहने लगे—)'जल्दी रथ जोतो, फौरन प्रास ले आओ, धनुष तथा बहुमूल्य एवं विशाल कवच लाओ॥

सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद् रथान् योजयतेति च।
स्वयं च तुरगान् केचिदयुञ्जन् हेमभूषितान् ॥ १८ ॥

कोई सारथियोंको पुकारकर कहने लगे—'अरे ! जल्दी रथ जोतो।' कुछ लोग स्वयं ही सोनेके आभूषणोंसे विभूषित घोड़ोंको रथोंमें जोतने लगे ॥ १८ ॥

रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत् तुमुलं महत् ॥ १९ ॥

रथ, कवच और ध्वजाओंके लाये जाते समय चारों ओर उन नर-वीरोंके कोलाहलसे वहाँ बड़ी भारी तुमुल ध्वनि व्याप्त हो गयी ॥ १९ ॥

वनमाली ततः क्षीबः कैलासशिखरोपमः।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले नील वस्त्र और वनमाला धारण करनेवाले बलरामजी उन यादवोंसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

किमिदं कुरुथाप्रज्ञास्तूर्ष्णीभूते जनार्दने।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥ २१ ॥

'मूर्खो ! श्रीकृष्ण तो चुपचाप बैठे हैं, तुम यह क्या कर रहे हो ? इनका अभिप्राय जाने बिना ही तुम इतने कुपित हो उठे। तुमलोगोंकी यह गर्जना व्यर्थ ही है ॥ २१ ॥

एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत् कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २२ ॥

'पहले परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपना अभिप्राय बतावें। तदनन्तर जो कर्तव्य इन्हें उचित जान पड़े, उसीका आलस्य छोड़कर पालन करो' ॥ २२ ॥

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा ग्राह्यरूपं हलायुधात्।
तूष्णीम्भूतास्ततः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ २३ ॥

बलरामजीकी यह मानने योग्य बात सुनकर सब यादव चुप हो गये और सब लोग उन्हें साधुवाद देने लगे ॥२३॥

समं वचो निशम्यैव बलदेवस्य धीमतः।
पुनरेव सभामध्ये सर्वे ते समुपाविशन् ॥ २४ ॥

परम बुद्धिमान् बलरामजीके उस वचनको सुननेके साथ ही वे सभी वीर फिर उस सभामें मौन होकर बैठ गये ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवं वचो रामः परंतपः।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ॥ २५ ॥

तदनन्तर परंतप बलरामजी भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—'जनार्दन ! यह सब कुछ देखते हुए भी तुम क्यों मौन होकर बैठे हो ? ॥ २५ ॥

सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥ २६ ॥

'अच्युत ! तुम्हारे संतोषके लिये ही हम सब लोगोंने अर्जुनका इतना सत्कार किया; परंतु वह खोटी बुद्धिवाला कुलाङ्गार उस सत्कारके योग्य कदापि न था ॥ २६ ॥

को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥ २७ ॥

'अपनेको कुलीन माननेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो जिस बर्तनमें खाये, उसीमें छेद करे ॥ २७ ॥

इच्छन्नेव हि सम्बन्धं कृतं पूर्वं च मानयन्।
को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ॥ २८ ॥

'सम्बन्धकी इच्छा रहते हुए भी कौन ऐसा कल्याण-कामी पुरुष होगा, जो पहलेके उपकारको मानते हुए ऐसा दुःसाहसपूर्ण कार्य करे ॥ २८ ॥

सोऽवमन्य तथास्माकमनादृत्य च केशवम्।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥ २९ ॥

'उसने हमलोगोंका अपमान और केशवका अनादर करके आज बलपूर्वक सुभद्राका अपहरण किया है, जो उसके लिये अपनी मृत्युके समान है ॥ २९ ॥

कथं हि शिरसो मध्ये कृतं तेन पदं मम ।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ॥ ३० ॥

'गोविन्द! जैसे सर्प पैरकी ठोकर नहीं सह सकता, उसी प्रकार मैं उसने जो मेरे सिरपर पैर रख दिया है, उसे कैसे सह सकूँगा ? ॥ ३० ॥

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुंधराम् ।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ॥ ३१ ॥

'अर्जुनका यह अन्याय मेरे लिये असह्य है । आज मैं अकेला ही इस वसुन्धराको कुरुवंशियोंसे विहीन कर दूँगा' ।३१।

तं तथा गर्जमानं तु मेघदुन्दुभिनिःस्वनम् ।
अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ॥ ३२ ॥

मेघ और दुन्दुभिकी गम्भीर ध्वनिके समान बलरामजीकी वैसी गर्जना सुनकर उस समय भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके समस्त वीरोंने उन्हींका अनुसरण किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि बलदेवक्रोधे एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें बलदेवक्रोधविषयक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

(हरणाहरणपर्व)

विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्वारकामें अर्जुन और सुभद्राका विवाह, अर्जुनके इन्द्रप्रस्थ पहुँचनेपर श्रीकृष्ण आदिका दहेज लेकर वहाँ जाना, द्रौपदीके पुत्र एवं अभिमन्युके जन्म, संस्कार और शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

उक्तवन्तो यथा वीर्यमसकृत् सर्ववृष्णयः ।
ततोऽब्रवीद् वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंयुतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय सभी वृष्णिवंशियोंने अपने-अपने पराक्रमके अनुसार अर्जुनसे बदला लेनेकी बात बार-बार दुहरायी । तब भगवान् वासुदेव यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोले—॥ १ ॥



नावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
सम्मानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ॥ २ ॥

'निद्राविजयी अर्जुनने इस कुलका अपमान नहीं किया है। अपितु ऐसा करके उन्होंने इस कुलके प्रति अधिक सम्मानका भाव ही प्रकट किया है, इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

अर्थलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्वतान् सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ॥ ३ ॥

'पाण्डुपुत्र अर्जुन यह जानते हैं कि सात्वतवंशके लोग सदासे ही धनके लोभी नहीं हैं, अतः धन देकर कन्या नहीं ली जा सकती । साथ ही पाण्डुपुत्र अर्जुनको यह भी मालूम है कि स्वयंवरमें कन्याके मिल जानेका पूर्ण निश्चय नहीं रहता, अतः वह भी अग्राह्य ही है ॥ ३ ॥

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ॥ ४ ॥

'भला, कौन ऐसा वीर पुरुष होगा, जो पशुकी तरह पराक्रमशून्य होकर कन्यादानकी प्रतीक्षामें बैठा रहेगा एवं इस पृथ्वीपर कौन ऐसा अधम पुरुष होगा, जो धन लेकर अपनी संतानको बेचेगा ॥ ४ ॥

एतान् दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥ ५ ॥

'मेरा विश्वास है कि कुन्तीकुमारने इन सभी दोषोंकी ओर दृष्टिपात किया है; इसीलिये उन्होंने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार बलपूर्वक कन्याका अपहरण किया है ॥ ५ ॥

उचितश्चैव सम्बन्धः सुभद्रां च यशस्विनीम् ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ॥ ६ ॥

'मेरी समझमें यह सम्बन्ध बहुत उचित है । सुभद्रा यशस्विनी है और ये कुन्तीपुत्र अर्जुन भी ऐसे ही यशस्वी हैं; अतः इन्होंने सुभद्राका बलपूर्वक हरण किया है ॥ ६ ॥

भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम् ॥ ७ ॥

'महाराज भरत तथा महायशस्वी शान्तनुके कुलमें जिनका जन्म हुआ है, जो कुन्तिभोजकुमारी कुन्तीके पुत्र हैं, ऐसे वीरवर अर्जुनको कौन अपना सम्बन्धी बनाना न चाहेगा ?॥७॥

न च पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात्।
वर्जयित्वा विरूपाक्षं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ८ ॥
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष ।

'आर्य ! इन्द्रलोक एवं रुद्रलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले विकराल नेत्रोंवाले भगवान् रुद्रको छोड़कर दूसरे किसीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो संग्राममें बलपूर्वक पार्थको परास्त कर सके ॥ ८½ ॥

स च नाम रथस्तादृङ्मदीयास्ते च वाजिनः ॥ ९ ॥
योद्धा पार्थश्च शीघ्रास्त्रः को नु तेन समो भवेत्।
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनंजयम् ॥ १० ॥
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः ।

'इस समय अर्जुनके पास मेरा सुप्रसिद्ध रथ है, मेरे ही अद्भुत घोड़े हैं और स्वयं अर्जुन शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-शस्त्र चलानेवाले योद्धा हैं । ऐसी दशामें अर्जुनकी समानता कौन कर सकता है ? आपलोग प्रसन्नताके साथ दौड़े जाइये और बड़ी सान्त्वनासे धनंजयको लौटा लाइये । मेरी तो यही परम सम्मति है ॥ ९-१०½ ॥

यदि निर्जित्य वः पार्थो बलाद् गच्छेत् स्वकं पुरम्॥ ११ ॥
प्रणश्येद् वो यशः सद्यो न तु सान्त्वे पराजयः।

'यदि अर्जुन आपलोगोंको बलपूर्वक हराकर अपने नगरमें चले गये, तब तो आपलोगोंका सारा यश तत्काल ही नष्ट हो जायगा और सान्त्वनापूर्वक उन्हें ले आनेमें अपनी पराजय नहीं है' ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ॥ १२ ॥

जनमेजय ! वासुदेवका यह वचन सुनकर यादवोंने वैसा ही किया ॥ १२ ॥

निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः।
उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ॥ १३ ॥

शक्तिशाली अर्जुन द्वारकामें लौट आये। वहाँ उन्होंने सुभद्रासे विवाह किया और एक सालसे कुछ अधिक दिनतक वे वहीं रहे ॥

विहृत्य च यथाकामं पूजितो वृष्णिनन्दनैः।
पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान् प्रभुः ॥ १४ ॥

द्वारकामें इच्छानुसार विहार करके वृष्णिवंशियोंद्वारा पूजित होकर अर्जुन वहाँसे पुष्कर तीर्थमें चले गये और वनवासका शेष समय वहीं व्यतीत किया ॥ १४ ॥

पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः ।
(ववन्दे धौम्यमासाद्य मातरं च धनंजयः ॥

बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर वे खाण्डवप्रस्थमें आये । उन्होंने धौम्यजीके पास जाकर उनको तथा माता कुन्तीको प्रणाम किया ॥

स्पृष्ट्वा च चरणौ राज्ञो भीमस्य च धनंजयः।
यमाभ्यां वन्दितो हृष्टः सस्वजे तौ ननन्द च ॥)
अभिगम्य च राजानं नियमेन समाहितः ॥ १५ ॥
अभ्यर्च्य ब्राह्मणान् पार्थो द्रौपदीमभिजग्मिवान्।

इसके बाद राजा युधिष्ठिर और भीमके चरण छुये। तदनन्तर नकुल और सहदेवने आकर अर्जुनको प्रणाम किया । अर्जुनने भी हर्षमें भरकर उन दोनोंको हृदयसे लगा लिया और उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया । फिर वहाँ राजासे मिलकर नियमपूर्वक एकाग्रचित्त हो उन्होंने ब्राह्मणोंका पूजन किया । तत्पश्चात् वे द्रौपदीके समीप गये ॥ १५½ ॥

तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात् कुरुनन्दनम् ॥ १६ ॥
तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ॥ १७ ॥

द्रौपदीने प्रणयकोपवश कुरुनन्दन अर्जुनसे कहा— 'कुन्तीकुमार ! यहाँ क्यों आये हो, वहीं जाओ, जहाँ वह सात्वतवंशकी कन्या सुभद्रा है। सच है, बोझको कितना ही कसकर बाँधा गया हो, जब उसे दूसरी बार बाँधते हैं, तब पहला बन्धन ढीला पड़ जाता है (यही हालत मेरे प्रति तुम्हारे प्रेमबन्धनकी है) ॥ १६-१७ ॥

तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं धनंजयः ।
सान्त्वयामास भूयश्च क्षमयामास चासकृत् ॥ १८ ॥

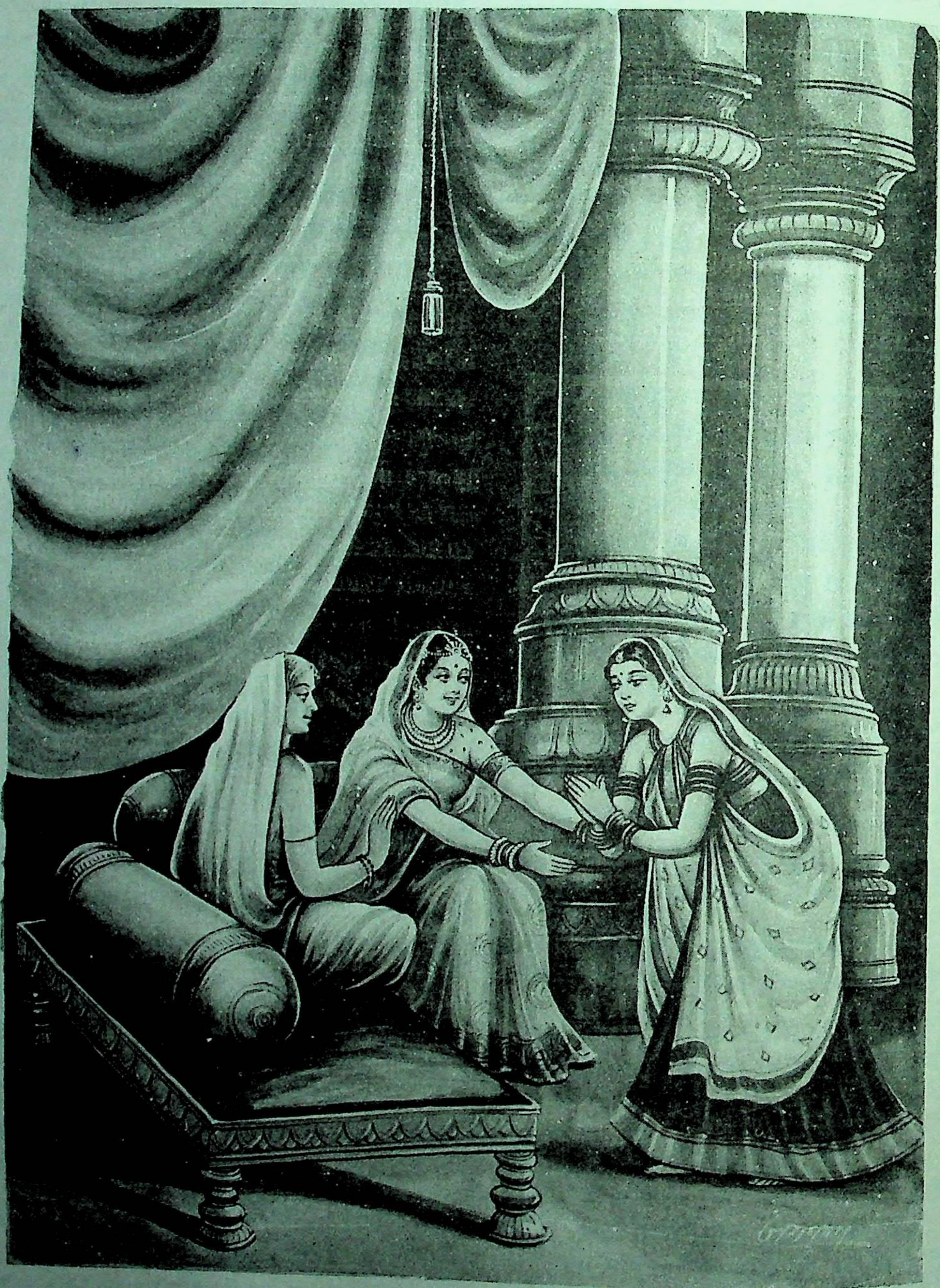
इस तरह नाना प्रकारकी बातें कहकर कृष्णा विलाप करने लगी । तब धनंजयने उसे पूर्ण सान्त्वना दी और अपने अपराधके लिये उससे बार-बार क्षमा माँगी ॥ १८ ॥

सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम्।
पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः ॥ १९ ॥

इसके बाद अर्जुनने लाल रेशमी साड़ी पहनकर आयी हुई अनिन्द्यसुन्दरी सुभद्राका ग्वालिनका-सा वेश बनाकर उसे बड़ी उतावलीके साथ महलमें भेजा ॥ १९ ॥

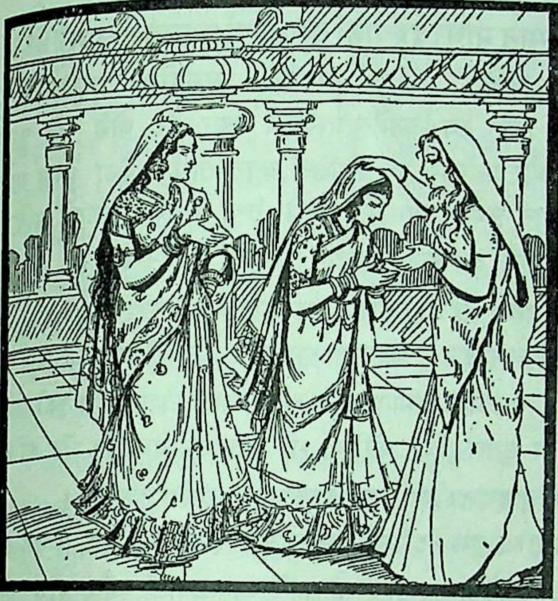
साधिकं तेन रूपेण शोभमाना यशस्विनी।
भवनं श्रेष्ठमासाद्य वीरपत्नी वराङ्गना ॥ २० ॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षी पृथां भद्रा यशस्विनी।
तां कुन्ती चारुसर्वाङ्गीमुपाजिघ्रत मूर्धनि ॥ २१ ॥

वीरपत्नी, वराङ्गना एवं यशस्विनी सुभद्रा उस वेशमें और अधिक शोभा पाने लगी । उसकी आँखें विशाल और कुछ-कुछ लाल थीं । उस यशस्विनीने सुन्दर राजभवनके भीतर जाकर राजमाता कुन्तीके चरणोंमें प्रणाम किया। कुन्ती



सुभद्राका कुन्ती और द्रौपदीकी सेवामें उपस्थित होना

उस सर्वाङ्गसुन्दरी पुत्रवधूको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघने लगी ॥ २०-२१ ॥



प्रीत्या परमया युक्ता आशीर्भिर्युञ्जतातुलाम्।
ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ॥ २२ ॥
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत्।

और उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस अनुपम वधूको अनेक आशीर्वाद दिये। तदनन्तर पूर्ण चन्द्रमाके सदृश मनोहर मुखवाली सुभद्राने तुरंत जाकर महारानी द्रौपदीके चरण छूए और कहा 'देवि! मैं आपकी दासी हूँ' ॥ २२½ ॥

प्रत्युत्थाय तदा कृष्णा स्वसारं माधवस्य च ॥ २३ ॥
परिष्वज्यावदत् प्रीत्या निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः।
तथैव मुदिता भद्रा तामुवाचैवमस्त्विति ॥ २४ ॥

उस समय द्रौपदी तुरंत उठकर खड़ी हो गयी और श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको हृदयसे लगाकर बड़ी प्रसन्नतासे बोली—'बहिन! तुम्हारे पति शत्रुरहित हों।' सुभद्राने भी आनन्दमग्न होकर कहा—'बहिन! ऐसा ही हो' ॥ २३-२४ ॥

ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः।
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय ॥ २५ ॥
श्रुत्वा तु पुण्डरीकाक्षः सम्प्राप्तं स्वं पुरोत्तमम्।
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा ॥ २६ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा सह रामेण केशवः।
वृष्ण्यन्धकमहामात्रैः सह वीरैर्महारथैः ॥ २७ ॥

जनमेजय! तत्पश्चात् महारथी पाण्डव मन-ही-मन हर्ष-विभोर हो उठे और कुन्तीदेवी भी बहुत प्रसन्न हुई। कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने जब यह सुना कि पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थ पहुँच गये हैं, तब वे शुद्धात्मा श्रीकृष्ण एवं बलराम तथा वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान-प्रधान वीर महारथियोंके साथ वहाँ आये ॥ २५-२७ ॥

भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च बहुभिर्वृतः।
सैन्येन महता शौरिरभिगुप्तः परंतपः ॥ २८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण भाइयों, पुत्रों और बहुतेरे योद्धाओंके साथ घिरे हुए तथा विशाल सेनासे सुरक्षित होकर इन्द्रप्रस्थमें पधारे ॥ २८ ॥

तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महायशाः।
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिंदमः ॥ २९ ॥

उस समय वहाँ वृष्णिवीरोंके सेनापति शत्रुदमन महायशस्वी और परम बुद्धिमान् दानपति अक्रूरजी भी आये थे ॥

अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः।
साक्षाद् बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महामनाः ॥ ३० ॥

इनके सिवा महातेजस्वी अनाधृष्टि तथा साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य परम बुद्धिमान महामनस्वी एवं परमयशस्वी उद्धव भी आये थे ॥ ३० ॥

सत्यकः सात्यकिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः।
प्रद्युम्नश्चैव साम्बश्च निशठः शङ्कुरेव च ॥ ३१ ॥
चारुदेष्णश्च विक्रान्तो झिल्ली विपृथुरेव च।
सारणश्च महाबाहुर्गदश्च विदुषां वरः ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवो वृष्णिभोजान्धकास्तथा।
आजग्मुः खाण्डवप्रस्थमादाय हरणं बहु ॥ ३३ ॥

सत्यक, सात्यकि, सात्वतवंशी कृतवर्मा, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, शङ्कु, पराक्रमी चारुदेष्ण, झिल्ली, विपृथु, महाबाहु सारण तथा विद्वानोंमें श्रेष्ठ गद—ये तथा और दूसरे भी बहुत-से वृष्णि, भोज और अन्धकवंशके लोग दहेजकी बहुत-सी सामग्री लेकर खाण्डवप्रस्थमें आये थे ॥ ३१—३३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा श्रुत्वा माधवमागतम्।
प्रतिग्रहार्थं कृष्णस्य यमौ प्रास्थापयत् तदा ॥ ३४ ॥

महाराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णका आगमन सुनकर उन्हें आदरपूर्वक लिवा लानेके लिये नकुल और सहदेवको भेजा ॥ ३४ ॥

ताभ्यां प्रतिगृहीतं तु वृष्णिचक्रं महर्द्धिमत्।
विवेश खाण्डवप्रस्थं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ३५ ॥

उन दोनोंके द्वारा स्वागतपूर्वक लाये हुए वृष्णिवंशियोंके उस परम समृद्धिशाली समुदायने खाण्डवप्रस्थमें प्रवेश किया। उस समय ध्वजा-पताकाओंसे सजाया हुआ वह नगर सुशोभित हो रहा था ॥ ३५ ॥

सम्मृष्टसिक्तपन्थानं पुष्पप्रकरशोभितम्।
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ॥ ३६ ॥

नगरकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं। उनके ऊपर जलका छिड़काव किया गया था। स्थान-स्थानपर फूलोंके गजरोंसे नगरकी सजावट की गयी थी। शीतल चन्दन, रस

तथा अन्य पवित्र सुगन्धित पदार्थोंकी सुवास सब ओर छा रही थी ॥ ३६ ॥

दह्यतागुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम् ॥ ३७ ॥

जगह-जगह जलते हुए अगुरुकी सुगन्ध फैल रही थी, सारा नगर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था। कितने ही व्यापारी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ३७ ॥

प्रतिपेदे महाबाहुः सह रामेण केशवः।
वृष्ण्यन्धकैस्तथा भोजैः समेतः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥

महाबाहु पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने बलरामजी तथा वृष्णि, अन्धक एवं भोजवंशी वीरोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥३८॥

सम्पूज्यमानः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च सहस्रशः।
विवेश भवनं राज्ञः पुरन्दरगृहोपमम् ॥ ३९ ॥

पुरवासी मनुष्यों तथा सहस्रों ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उन्होंने राजभवनके भीतर प्रवेश किया। वह घर इन्द्रभवन-की शोभाको भी तिरस्कृत कर रहा था ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु रामेण समागच्छद् यथाविधि।
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरजी बलरामजीके साथ विधिपूर्वक मिले और श्रीकृष्णका मस्तक सूँघकर उन्हें दोनों भुजाओंमें कस लिया ॥

तं प्रीयमाणो गोविन्दो विनयेनाभिपूजयन्।
भीमं च पुरुषव्याघ्रं विधिवत् प्रत्यपूजयत् ॥ ४१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर विनीतभावसे युधिष्ठिर-का सम्मान किया। नरश्रेष्ठ भीमसेनका भी उन्होंने विधिवत् पूजन किया ॥ ४१ ॥

तांश्च वृष्ण्यन्धकश्रेष्ठान् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
प्रतिजग्राह सत्कारैर्यथाविधि यथागतम् ॥ ४२ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वृष्णि और अन्धकवंशके श्रेष्ठ पुरुषोंका विधिपूर्वक यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया ॥४२॥

गुरुवत् पूजयामास कांश्चित् कांश्चिद् वयस्यवत्।
कांश्चिदभ्यवदत् प्रेम्णा कैश्चिदप्यभिवादितः ॥ ४३ ॥

कुछ लोगोंका उन्होंने गुरुकी भाँति पूजन किया, कितनोंको समवयस्क मित्रोंकी भाँति गलेसे लगाया, कुछ लोगोंसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया और कुछ लोगोंने उन्हींको प्रणाम किया ॥ ४३ ॥

तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम्।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥ ४४ ॥

महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्णने वधू तथा वरपक्षके लोगोंके लिये उत्तम धन अर्पित किया। वरके कुटुम्बीजनोंको देनेयोग्य दहेज पहले नहीं दिया गया था, उसीकी पूर्ति उन्होंने इस समय की ॥ ४४ ॥

रथानां काञ्चनाङ्गानां किङ्किणीजालमालिनाम्।
चतुर्युजामुपेतानां सूतैः कुशलशिक्षितैः ॥ ४५ ॥
सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च।
श्रीमान् माथुरदेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम् ॥ ४६ ॥

किंकिणी और झालरोंसे सुशोभित सुवर्णखचित एक हजार रथ जिनमेंसे प्रत्येकमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे और प्रत्येकमें पूर्ण शिक्षित चतुर सारथि बैठा हुआ था, श्रीमान् कृष्णने समर्पित किये तथा मथुरामण्डलकी पवित्र तेजवाली दस हजार दुधारू गौएँ दीं ॥ ४५-४६ ॥

वडवानां च शुद्धानां चन्द्रांशुसमवर्चसाम्।
ददौ जनार्दनः प्रीत्या सहस्रं हेमभूषितम् ॥ ४७ ॥

चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिवाली विशुद्ध जातिकी एक हजार सुवर्णभूषित घोड़ियाँ भी जनार्दनने प्रेमपूर्वक भेंट कीं ॥

तथैवाश्वतरीणां च दान्तानां वातरंहसाम्।
शतान्यञ्जनकेशीनां श्वेतानां पञ्च पञ्च च ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार पाँच सौ काले अयालवाली और पाँच सौ सफेद रंगवाली खच्चरियाँ समर्पित कीं, जो सभी वशमें की हुई तथा वायुके समान वेगवाली थीं ॥ ४८ ॥

स्नानपानोत्सवे चैव प्रयुक्तं वयसान्वितम्।
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम् ॥ ४९ ॥
सुवर्णशतकण्ठीनामरोमाणां स्वलंकृताम्।
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः ॥ ५० ॥

स्नान, पान और उत्सवमें जिनका उपयोग किया गया था, जो वयःप्राप्त थीं, जिनके वेष सुन्दर और कान्ति मनोहर थी, जिन्होंने सोनेके सौ-सौ मणियोंकी कण्ठियाँ पहन रक्खी थीं, जिनके शरीरमें रोमावलियाँ नहीं प्रकट हुई थीं, जो वस्त्रा-भूषणोंसे अलङ्कृत तथा सेवाके काममें पूर्ण दक्ष थीं, ऐसी एक हजार गौरवर्णा कन्याएँ भी कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने भेंट कीं ॥ ४९-५० ॥

पृष्ठ्यानामपि चाश्वानां बाह्लिकानां जनार्दनः।
ददौ शतसहस्राख्यं कन्याधनमनुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जनार्दनने उत्तम दहेजके रूपमें बाह्लीक देशके एक लाख घोड़े दिये, जो पीठपर सवारी ढोनेवाले थे ॥ ५१ ॥

कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याग्निवर्चसः।
मनुष्यभारान् दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः ॥ ५२ ॥

दशार्हवंशके रत्न भगवान् श्रीकृष्णने अग्निके समान देदीप्यमान कृत्रिम सुवर्ण (मोहर) और अकृत्रिम विशुद्ध सुवर्णके (डले) दस भार उपहारमें दिये ॥ ५२ ॥

गजानां तु प्रभिन्नानां त्रिधा प्रस्रवतां मदम्।
गिरिकूटनिकाशानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ५३ ॥
क्लृप्तानां पटुघण्टानां चारूणां हेममालिनाम्।
हस्त्यारोहैरुपेतानां सहस्रं साहसप्रियः ॥ ५४ ॥

रामः पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लाङ्गली।
प्रीयमाणो हलधरः सम्बन्धं प्रतिमानयन् ॥ ५५ ॥

जिन्हें साहसका काम प्रिय है और जो हाथमें हल धारण करते हैं, उन बलरामने प्रसन्न होकर इस नूतन सम्बन्धका आदर करते हुए अर्जुनको पाणिग्रहणके दहेजके रूपमें एक हजार मतवाले हाथी भेंट किये, जो तीन अङ्गोंसे मदकी धारा बहानेवाले थे। वे हाथी युद्धमें कभी पीछे नहीं हटते थे और देखनेमें पर्वतशिखरके समान जान पड़ते थे। उनके मस्तकोंपर सुन्दर वेषरचना की गयी थी। उन सबके पार्श्वभागमें मजबूत घण्टे लटक रहे थे तथा गलेमें सोनेके हार शोभा दे रहे थे। वे सभी हाथी बड़े सुन्दर लगते थे और उन सबके साथ महावत थे ॥ ५३—५५ ॥

स महाधनरत्नौघो वस्त्रकम्बलफेनवान्।
महागजमहाग्राहः पताकाशैवलाकुलः ॥ ५६ ॥
पाण्डुसागरमाविद्धः प्रविवेश महाधनः।
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ॥ ५७ ॥

जैसे नदियोंके जलका महान् प्रवाह समुद्रमें मिलता है, उसी प्रकार वह महान् धन और रत्नोंका भारी प्रवाह, जिसमें वस्त्र और कम्बल फेनके समान जान पड़ते थे, बड़े-बड़े हाथी महान् ग्राहोंका भ्रम उत्पन्न करते थे और जहाँ ध्वजा-पताकाएँ सेवारका काम कर रही थीं, पाण्डवरूपी महासागरमें जा मिला। यद्यपि पाण्डव-समुद्र पहलेसे ही परिपूर्ण था तथापि इस महान् धनप्रवाहने उसे और भी पूर्णतर बना दिया। यही कारण था कि वह पाण्डव-महासागर शत्रुओंके लिये शोकदायक प्रतीत होने लगा ॥ ५६-५७ ॥

प्रतिजग्राह तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
पूजयामास तांश्चैव वृष्ण्यन्धकमहारथान् ॥ ५८ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने वह सारा धन ग्रहण किया और वृष्णि तथा अन्धकवंशके उन सभी महारथियोंका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ॥ ५८ ॥

ते समेता महात्मानः कुरुवृष्ण्यन्धकोत्तमाः।
विजह्रुरमरावासे नराः सुकृतिनो यथा ॥ ५९ ॥

जैसे पुण्यात्मा मनुष्य देवलोकमें सुख भोगते हैं, उसी प्रकार कुरु, वृष्णि और अन्धकवंशके वे श्रेष्ठ महात्मा पुरुष एकत्र होकर इच्छानुसार विहार करने लगे ॥ ५९ ॥

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः।
यथायोगं यथाप्रीति विजह्रुः कुरुवृष्णयः ॥ ६० ॥

वे कौरव और वृष्णिवंशके वीर जहाँ-तहाँ वीणाकी उत्तम ध्वनिके साथ गाते-बजाते और संगीतका आनन्द लेते हुए यथावसर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार विहार करने लगे ॥

एवमुत्तमवीर्यास्ते विहृत्य दिवसान् बहून्।
पूजिताः कुरुभिर्जग्मुः पुनर्द्वारवतीं प्रति ॥ ६१ ॥

इस प्रकार वे उत्तम पराक्रमी यदुवंशी बहुत दिनोंतक इन्द्रप्रस्थमें विहार करते हुए कौरवोंसे सम्मानित हो फिर द्वारका चले गये ॥ ६१ ॥

रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥ ६२ ॥

वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी कुरुप्रवर पाण्डवोंके दिये हुए उज्ज्वल रत्नोंकी भेंट ले बलरामजीको आगे करके चले गये ॥ ६२ ॥

वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महात्मना ॥ ६३ ॥

जनमेजय ! परंतु भगवान् वासुदेव महात्मा अर्जुनके साथ रमणीय इन्द्रप्रस्थमें ही ठहर गये ॥ ६३ ॥

व्यचरद् यमुनातीरे मृगयां स महायशाः।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना ॥ ६४ ॥

महायशस्वी श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ शिकार खेलते और जंगली वराहों तथा हिंस्र पशुओंका वध करते हुए यमुनाजीके तटपर विचरते थे। इस प्रकार वे किरीटधारी अर्जुनके साथ विहार करते थे ॥ ६४ ॥

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ॥ ६५ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् श्रीकृष्णकी प्यारी बहिन सुभद्राने यशस्वी सौभद्रको जन्म दिया; ठीक, वैसे ही, जैसे शचीने जयन्तको उत्पन्न किया था ॥ ६५ ॥

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम्।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥ ६६ ॥

सुभद्राने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्युको उत्पन्न किया, जिसकी बड़ी-बड़ी बाँहें, विशाल वक्षःस्थल और बैलोंके समान विशाल नेत्र थे। वह शत्रुओंका दमन करनेवाला था ॥ ६६ ॥

अभिश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम्।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥ ६७ ॥

वह अभि (निर्भय) एवं मन्युमान् (क्रुद्ध होकर लड़नेवाला) था, इसीलिये पुरुषोत्तम अर्जुनकुमारको 'अभिमन्यु' कहते हैं ॥ ६७ ॥

स सात्वत्यामतिरथः सम्बभूव धनंजयात्।
मखे निर्मथनेनेव शमीगर्भाद्धुताशनः ॥ ६८ ॥

जैसे यज्ञमें मन्थन करनेपर शमीके गर्भसे उत्पन्न अश्वत्थसे अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार अर्जुनके द्वारा सुभद्राके गर्भसे उस अतिरथी वीरका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ६८ ॥

यस्मिञ्जाते महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत ॥ ६९ ॥

भारत ! उसके जन्म लेनेपर महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको दस हजार गौएँ तथा बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ दानमें दीं ॥ ६९ ॥

दयितो वासुदेवस्य बाल्यात् प्रभृति चाभवत् ।
पितॄणामिव सर्वेषां प्रजानामिव चन्द्रमाः ॥ ७० ॥

जैसे समस्त पितरों और प्रजाओंको चन्द्रमा प्रिय लगते हैं, उसी प्रकार अभिमन्यु बचपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रिय हो गया था ॥ ७० ॥

जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चापि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ ७१ ॥

श्रीकृष्णने जन्मसे ही उसके लालन-पालनकी सुन्दर व्यवस्थाएँ की थीं । बालक अभिमन्यु शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनों-दिन बढ़ने लगा ॥ ७१ ॥

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिंदमः ।
अर्जुनाद् वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥ ७२ ॥

उस शत्रुदमन बालकने वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुनसे चार पदों और दशविध अङ्गोंसे युक्त दिव्य एवं मानुष सब प्रकारके धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥ ७२ ॥

विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः ।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ॥ ७३ ॥

अस्त्रोंके विज्ञान, सौष्ठव (प्रयोगपटुता) तथा सम्पूर्ण क्रियाओंमें भी महाबली अर्जुनने उसे विशेष शिक्षा दी थी ॥ ७३ ॥

आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवात्मना ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनंजयः ॥ ७४ ॥

धनंजयने अभिमन्युको (अस्त्र-शस्त्रोंके) आगम और प्रयोगमें अपने समान बना दिया था । वे सुभद्राकुमारको देखकर बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ७४ ॥

सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ॥ ७५ ॥

वह दूसरोंको तिरस्कृत करनेवाले समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न, सभी उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित एवं दुर्धर्ष था । उसके कंधे वृषभके समान हृष्ट-पुष्ट थे तथा मुँह बाये हुए सर्पकी भाँति वह शत्रुओंको भयानक प्रतीत होता था ॥ ७५ ॥

सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ७६ ॥

उसमें सिंहके समान गर्व था तथा मतवाले गजराजकी भाँति पराक्रम था । वह महाधनुर्धर वीर अपने गम्भीर स्वरसे मेघ और दुन्दुभिकी ध्वनिको लजा देता था । उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनमें आह्लाद उत्पन्न करता था ॥ ७६ ॥

कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ॥ ७७ ॥

वह शूरता, पराक्रम, रूप तथा आकृति—सभी बातोंमें श्रीकृष्णके समान ही जान पड़ता था । अर्जुन अपने उस पुत्रको वैसी ही प्रसन्नतासे देखते थे, जैसे इन्द्र उन्हें देखा करते थे ॥ ७७ ॥

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा ।
लेभे पञ्च सुतान् वीराञ्छ्रेष्ठान् पञ्चाचलानिव ॥ ७८ ॥

---

१. धनुर्वेदमें निम्नाङ्कित चार पाद बताये गये हैं—मन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तामुक्त और अमुक्त । जैसा कि वचन है—

मन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तामुक्तं तथैव च ।
अमुक्तं च धनुर्वेदे चतुष्पाच्छस्त्रमीरितम् ॥

जिसका मन्त्रद्वारा केवल प्रयोग होता है, उपसंहार नहीं, उसे मन्त्रमुक्त कहते हैं । जिसे हाथमें लेकर धनुषद्वारा छोड़ा जाय, वह बाण आदि पाणिमुक्त कहा गया है । जिसके प्रयोग और उपसंहार दोनों हों, वह मुक्तामुक्त है । जो वस्तुतः छोड़ा नहीं जाता, जैसे मन्त्रद्वारा साधित (ध्वजा आदि) है, जिसको देखनेमात्रसे शत्रु भाग जाते हैं, वह अमुक्त कहलाता है । ये अथवा सूत्र, शिक्षा, प्रयोग तथा रहस्य—ये ही धनुर्वेदके चार पाद हैं ।

२. आदान, संधान, मोक्षण, निवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल तथा रहस्य—धनुर्वेदके ये दस अङ्ग हैं । यथा—

आदानमथ संधानं मोक्षणं विनिवर्तनम् ।
स्थानं मुष्टिः प्रयोगश्च प्रायश्चित्तानि मण्डलम् ॥
रहस्यं चेति दशधा धनुर्वेदाङ्गमिष्यते ।

'तरकससे बाणको निकालना आदान है । उसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर रखना संधान है, लक्ष्यपर छोड़ना मोक्षण कहा गया है । यदि बाण छोड़ देनेके बाद यह मालूम हो जाय कि हमारा विपक्षी निर्बल या शस्त्रहीन है, तो वीर पुरुष मन्त्रशक्तिसे उस बाणको लौटा लेते हैं । इस प्रकार छोड़े हुए अस्त्रको लौटा लेना विनिवर्तन कहलाता है । धनुष या उसकी प्रत्यञ्चाके धारण अथवा शर-संधानकालमें धनुष और प्रत्यञ्चाके मध्यदेशको स्थान कहा गया है । तीन या चार अँगुलियोंका सहयोग ही मुष्टि है । तर्जनी और मध्यमा अंगुलिके अथवा मध्यमा और अंगुष्ठके मध्यसे बाणका संधान करना प्रयोग कहलाता है । स्वतः या दूसरेसे प्राप्त होनेवाले ज्याघात (प्रत्यञ्चाके आघात) और बाणके आघातको रोकनेके लिये जो दस्तानों आदिका प्रयोग किया जाता है, उसका नाम प्रायश्चित्त है । चक्राकार घूमते हुए रथके साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्यका वेध मण्डल कहलाता है । शब्दके आधारपर लक्ष्य बींधना अथवा एक ही समय अनेक लक्ष्योंको बींध डालना, ये सब रहस्यके अन्तर्गत हैं ।

१. ब्रह्मास्त्र आदिको दिव्य और खड्ग आदिको मानुष कहा गया है ।

शुभलक्षणा पाञ्चालीने भी अपने पाँचों पतियोंसे पाँच श्रेष्ठ पुत्रोंको प्राप्त किया। वे सब-के-सब वीर और पर्वतके समान अविचल थे ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ॥ ७९ ॥
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान्।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकर्मा, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतसेन उत्पन्न हुए थे। इन पाँच वीर महारथी पुत्रोंको पाञ्चाली (द्रौपदी) ने उसी प्रकार जन्म दिया, जैसे अदितिने बारह आदित्योंको ।७९-८०।

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम्।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ॥ ८१ ॥

ब्राह्मणोंने युधिष्ठिरसे उनके पुत्रका नाम शास्त्रके अनुसार प्रतिविन्ध्य बताया। उनका उद्देश्य यह था कि यह प्रहार-जनित वेदनाके ज्ञानमें विन्ध्यपर्वतके समान हो। (इसे शत्रुओंके प्रहारसे तनिक भी पीड़ा न हो)॥ ८१ ॥

सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम्।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ॥ ८२ ॥

भीमसेनके सहस्र सोमयाग करनेके पश्चात् द्रौपदीने उनसे सोम और सूर्यके समान तेजस्वी महान् धनुर्धर पुत्रको उत्पन्न किया था, इसलिये उसका नाम सुतसोम रक्खा गया।८२।

श्रुतं कर्म महत् कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ॥ ८३ ॥

किरीटधारी अर्जुनने महान् एवं विख्यात कर्म करनेके पश्चात् लौटकर द्रौपदीसे पुत्र उत्पन्न किया था, इसलिये उनके पुत्रका नाम श्रुतकर्मा हुआ ॥ ८३ ॥

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ॥ ८४ ॥

कौरवकुलके महामना राजर्षि शतानीकके नामपर नकुलने अपने कीर्तिवर्द्धक पुत्रका नाम शतानीक रख दिया ॥८४॥

ततस्त्वजीजनत् कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते।
सहदेवात् सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति यं विदुः ॥ ८५ ॥

तदनन्तर कृष्णाने सहदेवसे अग्निदेवतासम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्रमें एक पुत्र उत्पन्न किया, इसलिये उसका नाम श्रुतसेन रक्खा गया (श्रुतसेन अग्निका ही नामान्तर है) ॥८५॥

एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ॥ ८६ ॥

राजेन्द्र! ये यशस्वी द्रौपदीकुमार एक-एक वर्षके अन्तरसे उत्पन्न हुए थे और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे ॥८६॥

जातकर्माण्यानुपूर्व्याच्चूडोपनयनानि च।
चकार विधिवद् धौम्यस्तेषां भरतसत्तम ॥ ८७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! पुरोहित धौम्यने क्रमशः उन सभी बालकोंके जातकर्म, चूड़ाकरण और उपनयन आदि संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये ॥ ८७ ॥

कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः।
जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद् दिव्यमानुषम् ॥ ८८ ॥

पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेवाले उन बालकोंने धौम्य मुनिसे वेदाध्ययन करनेके पश्चात् अर्जुनसे सम्पूर्ण दिव्य-एवं मानुष धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त किया ॥ ८८ ॥

दिव्यगर्भोपमैः पुत्रैर्व्यूढोरस्कैर्महारथैः।
अन्वितो राजशार्दूल पाण्डवा मुदमाप्नुवन् ॥ ८९ ॥

राजेश्वर ! देवपुत्रोंके समान चौड़ी छातीवाले उन महारथी पुत्रोंसे संयुक्त हो पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हरणाहरणपर्वणि विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हरणाहरणपर्वमें दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १॥ श्लोक मिलाकर कुल ९०½ श्लोक हैं)

(खाण्डवदाहपर्व)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके राज्यकी विशेषता, कृष्ण और अर्जुनका खाण्डववनमें जाना तथा उन दोनोंके पास ब्राह्मणवेशधारी अग्निदेवका आगमन

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान् नराधिपान्।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञासे इन्द्रप्रस्थमें रहते हुए पाण्डवोंने अन्य बहुत-से राजाओंको, जो उनके शत्रु थे, मार दिया ॥ १ ॥

आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत् सुखम्।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ॥ २ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरका आसरा लेकर सब लोग सुखसे

रहने लगे, जैसे जीवात्मा पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप अपने उत्तम शरीरको पाकर सुखसे रहता है ॥ २ ॥

स समं धर्मकामार्थान् सिषेवे भरतर्षभ।
त्रीनिवात्मसमान् बन्धून् नीतिमानिव मानयन् ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महाराज युधिष्ठिर नीतिज्ञ पुरुषकी भाँति धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंको आत्माके समान प्रिय बन्धु मानते हुए न्याय और समतापूर्वक इनका सेवन करते थे ॥ ३ ॥

तेषां समविभक्तानां क्षितौ देहवतामिव।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः ॥ ४ ॥

इस प्रकार तुल्यरूपसे बँटे हुए धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ भूतलपर मानो मूर्तिमान् होकर प्रकट हो रहे थे और राजा युधिष्ठिर चौथे पुरुषार्थ मोक्षकी भाँति सुशोभित होते थे ॥ ४ ॥

अध्येतारं परं वेदान् प्रयोक्तारं महाध्वरे।
रक्षितारं शुभाँल्लोकान् लेभिरे तं जनाधिपम् ॥ ५ ॥

प्रजाने महाराज युधिष्ठिरके रूपमें ऐसा राजा पाया था, जो परम ब्रह्म परमात्माका चिन्तन करनेवाला, बड़े-बड़े यज्ञोंमें वेदोंका उपयोग करनेवाला और शुभ लोकोंके संरक्षणमें तत्पर रहनेवाला था ॥ ५ ॥

अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः।
वर्धमानोऽखिलो धर्मस्तेनासीत् पृथिवीक्षिताम् ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिरके द्वारा दूसरे राजाओंकी चञ्चल लक्ष्मी भी स्थिर हो गयी, बुद्धि उत्तम निष्ठावाली हो गयी और सम्पूर्ण धर्मकी दिनोंदिन वृद्धि होने लगी ॥ ६ ॥

भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः ॥ ७ ॥

जैसे यथावसर उपयोगमें लाये जानेवाले चारों वेदोंके द्वारा विस्तारपूर्वक आरम्भ किया हुआ महायज्ञ शोभा पाता है, उसी प्रकार अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाले चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर अत्यन्त सुशोभित होते थे ॥ ७ ॥

तं तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवामराः ॥ ८ ॥

जैसे बृहस्पति-सदृश मुख्य-मुख्य देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार धौम्य आदि ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठते थे ॥ ८ ॥

धर्मराजे ह्यतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवामले।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च ॥ ९ ॥

निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्दप्रद राजा युधिष्ठिरके प्रति अत्यन्त प्रीति होनेके कारण उन्हें देखकर प्रजाके नेत्र और मन एक साथ प्रफुल्लित हो उठते थे ॥ ९ ॥

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन रेमिरे।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत् ॥ १० ॥

प्रजा केवल उनके पालनरूप राजोचित कर्मसे ही संतुष्ट नहीं थी, वह उनके प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव रखनेके कारण भी सदा आनन्दित रहती थी। राजाके प्रति प्रजाकी भक्ति इसलिये थी कि प्रजाके मनको जो प्रिय लगता था, राजा युधिष्ठिर उसीको क्रियाद्वारा पूर्ण करते थे ॥ १० ॥

न ह्ययुक्तं न चासत्यं नासह्यं न च वाप्रियम्।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ॥ ११ ॥

सदा मीठी बातें करनेवाले बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरके मुखसे कभी कोई अनुचित, असत्य, असह्य और अप्रिय बात नहीं निकलती थी ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च।
चिकीर्षन् सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर सब लोगोंका और अपना भी हित करनेकी चेष्टामें लगे रहकर सदा प्रसन्नतापूर्वक समय बिताते थे ॥ १२ ॥

तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः।
अवसन् पृथिवीपालांस्तापयन्तः स्वतेजसा ॥ १३ ॥

इस प्रकार सभी पाण्डव अपने तेजसे दूसरे नरेशोंको संतप्त करते हुए निश्चिन्त तथा आनन्दमग्न होकर वहाँ निवास करते थे ॥

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत्।
उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ॥ १४ ॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा— 'कृष्ण ! बड़ी गरमी पड़ रही है। चलिये, यमुनाजीमें स्नानके लिये चलें ॥ १४ ॥

सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन।
सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन ॥ १५ ॥

'मधुसूदन ! मित्रोंके साथ वहाँ जलविहार करके हमलोग शामतक फिर लौट आयेंगे। जनार्दन ! यदि आपकी रुचि हो, तो चलें' ॥ १५ ॥

वासुदेव उवाच

कुन्तीमातर्ममाप्येतद् रोचते यद् वयं जले।
सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम् ॥ १६ ॥

वासुदेव बोले—कुन्तीनन्दन ! मेरी भी ऐसी ही इच्छा हो रही है कि हमलोग सुहृदोंके साथ वहाँ चलकर सुखपूर्वक जलविहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आमन्त्र्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--भारत ! यह सलाह करके युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अर्जुन और श्रीकृष्ण सुहृदोंके साथ वहाँ गये ॥ १७ ॥

विहारदेशं सम्प्राप्य नानाद्रुममनुत्तमम् ।
गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरन्दरपुरोपमम् ॥ १८ ॥
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः ।
माल्यैश्च विविधैर्गन्धैर्युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ॥ १९ ॥
विवेशान्तःपुरं तूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः ।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ॥ २० ॥

यमुनाके तटपर जहाँ विहारस्थान था, वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्ण और अर्जुनके रनिवासकी स्त्रियाँ नाना प्रकारके सुन्दर रत्नोंके साथ क्रीड़ाभवनके भीतर चली गयीं। वह उत्तम विहारभूमि नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित थी। वहाँ बने हुए अनेक छोटे-बड़े भवनोंके कारण वह स्थान इन्द्रपुरीके समान सुशोभित होता था। अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, बहुमूल्य सरस पेय, भाँति-भाँतिके पुष्पहार और सुगन्धित द्रव्य भी थे। भारत ! वहाँ जाकर सब लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जलक्रीड़ा करने लगे ॥ १८-२० ॥

स्त्रियश्च विपुलश्रोण्यश्चारुपीनपयोधराः ।
मदस्खलितगामिन्यश्चिक्रीडुर्वामलोचनाः ॥ २१ ॥

विशाल नितम्बों और मनोहर पीन उरोजोंवाली वामलोचना वनिताएँ भी यौवनके मदके कारण डगमगाती चालसे चलकर इच्छानुसार क्रीड़ाएँ करने लगीं ॥ २१ ॥

वने काश्चिज्जले काश्चित् काश्चिद् वेश्मसु चाङ्गनाः ।
यथायोग्यं यथाप्रीति चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः ॥ २२ ॥

वे स्त्रियाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनकी रुचिके अनुसार कुछ वनमें, कुछ जलमें और कुछ घरोंमें यथोचितरूपसे क्रीड़ा करने लगीं ॥ २२ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च ।
प्रायच्छतां महाराज ते तु तस्मिन् मदोत्कटे ॥ २३ ॥

महाराज ! उस समय यौवनमदसे युक्त द्रौपदी और सुभद्राने बहुत-से वस्त्र और आभूषण बाँटे ॥ २३ ॥

काश्चित् प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथापराः ।
जहसुश्च परा नार्यो जगुश्चान्या वरस्त्रियः ॥ २४ ॥

वहाँ कुछ श्रेष्ठ स्त्रियाँ हर्षोल्लासमें भरकर नृत्य करने लगीं। कुछ जोर-जोरसे कोलाहल करने लगीं। अन्य बहुत-सी स्त्रियाँ ठठाकर हँसने लगीं तथा कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ गीत गाने लगीं ॥ २४ ॥

रुरुधुश्चापरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम् ।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ॥ २५ ॥

कुछ एक-दूसरीको पकड़कर रोकने और मृदु प्रहार करने लगीं तथा कुछ दूसरी स्त्रियाँ एकान्तमें बैठकर आपसमें कुछ गुप्त बातें करने लगीं ॥ २५ ॥

वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः ।
शब्देन पूर्यते हर्म्यं तद् वनं सुमहर्द्धिमत् ॥ २६ ॥

वहाँका राजभवन और महान् समृद्धिशाली वन वीणा, वेणु और मृदङ्ग आदि मनोहर वाद्योंकी सुमधुर ध्वनिसे सब ओर गूँजने लगा ॥ २६ ॥

तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ ।
समीपं जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोहरम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार जब वहाँ क्रीड़ा-विहारका आनन्दमय उत्सव चल रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण और अर्जुन पासके ही किसी अत्यन्त मनोहर प्रदेशमें गये ॥ २७ ॥

तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ संनिषीदतुः ॥ २८ ॥
तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च ।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥ २९ ॥

राजन् ! वहाँ जाकर शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले वे दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन दो बहुमूल्य सिंहासनोंपर बैठे और पहले किये हुए पराक्रमों तथा अन्य बहुत-सी बातोंकी चर्चा करके आमोद-प्रमोद करने लगे ॥ २८-२९ ॥

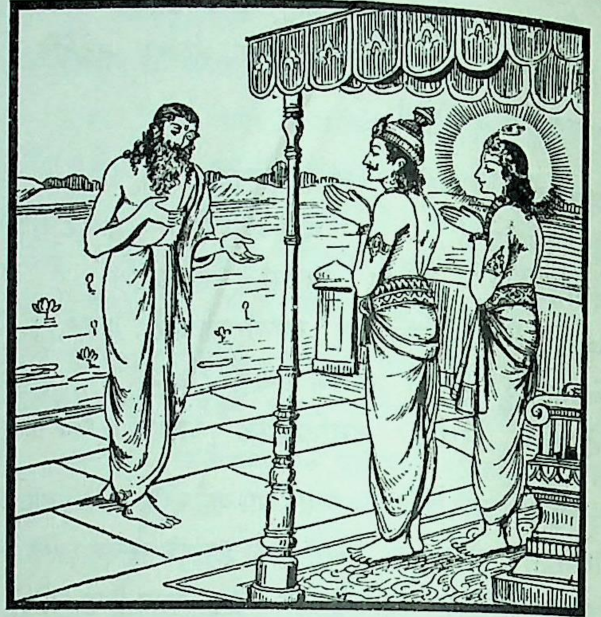
तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव ।
अभ्यागच्छत् तदा विप्रो वासुदेवधनंजयौ ॥ ३० ॥

वहाँ प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुए धनंजय और वासुदेव स्वर्गलोकमें स्थित अश्विनीकुमारोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उसी समय उन दोनोंके पास एक ब्राह्मणदेवता आये ॥ ३० ॥

बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः ।
हरिपिङ्गोज्ज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ॥ ३१ ॥

वे विशाल शालवृक्षके समान ऊँचे थे। उनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी। उनके सारे अङ्ग नीले और पीले रंगके थे, दाढ़ी-मूँछें अग्निज्वालाके समान पीत वर्णकी

थीं तथा ऊँचाईके अनुसार ही उनकी मोटाई थी ॥ ३१ ॥



तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३२ ॥

वे प्रातःकालिक सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। वे चीर-वस्त्र पहने और मस्तकपर जटा धारण किये हुए थे। उनका मुख कमलदलके समान शोभा पा रहा था। उनकी प्रभा पिङ्गल वर्णकी थी और वे अपने तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ३२ ॥

उपसृष्टं तु तं कृष्णौ भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥ ३३ ॥

वे तेजस्वी द्विजश्रेष्ठ जब निकट आ गये, तब अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही आसनसे उठकर खड़े हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि ब्राह्मणरूप्यनलागमने एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें ब्राह्मणरूपी अग्निदेवके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका खाण्डववनको जलानेके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सहायताकी याचना करना, अग्निदेव उस वनको क्यों जलाना चाहते थे, इसे बतानेके प्रसङ्गमें राजा श्वेतकिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन ब्राह्मणदेवताने अर्जुन और सात्वतवंशी भगवान् वासुदेवसे, जो विश्वविख्यात वीर थे और खाण्डववनके समीप खड़े हुए थे, कहा— ॥ १ ॥

ब्राह्मणो बहुभोक्तास्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छतम् ॥ २ ॥

'मैं अधिक भोजन करनेवाला एक ब्राह्मण हूँ और सदा अपरिमित अन्न भोजन करता हूँ। वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन ! आज मैं आप दोनोंसे भिक्षा माँगता हूँ। आपलोग एक बार पूर्ण भोजन कराकर मुझे तृप्ति प्रदान कीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनान्नेन भवांस्तृप्येत् तस्यान्नस्य यतावहे ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्ण और अर्जुन बोले—'ब्रह्मन् ! बताइये, आप किस अन्नसे तृप्त होंगे ? हम दोनों उसीके लिये प्रयत्न करेंगे' ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स भगवानब्रवीत् तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति ॥ ४ ॥

जब वे दोनों वीर 'आपके लिये किस अन्नकी व्यवस्था की जाय ?' इसी बातको बार-बार दुहराने लगे, तब उनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निदेव उन दोनोंसे इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम् ।
यदन्नमनुरूपं मे तद् युवां सम्प्रयच्छतम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणदेवताने कहा—वीरो ! मुझे अन्नकी भूख नहीं है, आपलोग मुझे अग्नि समझें। जो अन्न मेरे अनुरूप हो, वही आप दोनों मुझे दें ॥ ५ ॥

इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति ।
न च शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना ॥ ६ ॥

इन्द्र सदा इस खाण्डववनकी रक्षा करते हैं। उन महा-मनासे सुरक्षित होनेके कारण मैं इसे जला नहीं पाता ॥ ६ ॥

वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा ।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ॥ ७ ॥

इस वनमें इन्द्रका सखा तक्षक नाग अपने परिवारसहित सदा निवास करता है। उसीके लिये वज्रधारी इन्द्र सदा इसकी रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

तत्र भूतान्यनेकानि रक्षतेऽस्य प्रसङ्गतः ।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा ॥ ८ ॥

उस तक्षक नागके प्रसङ्गसे ही यहाँ रहनेवाले और भी अनेक जीवोंकी वे रक्षा करते हैं, इसलिये इन्द्रके प्रभावसे मैं इस वनको जला नहीं पाता। परंतु मैं सदा ही इसे जलानेकी इच्छा रखता हूँ ॥ ८ ॥

स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम् ॥ ९ ॥

मुझे प्रज्वलित देखकर वे मेघोंद्वारा जलकी वर्षा करने लगते हैं, यही कारण है कि जलानेकी इच्छा रखते हुए भी मैं इस खाण्डववनको दग्ध करनेमें सफल नहीं हो पाता ॥ ९ ॥

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥ १० ॥

आप दोनों अस्त्रविद्याके पूरे जानकार हैं, अतः मैं इसी उद्देश्यसे आपके पास आया हूँ कि आप दोनोंकी सहायतासे इस खाण्डववनको जला सकूँ। मैं इसी अन्नकी भिक्षा माँगता हूँ ॥ १० ॥

युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक् सर्वतो वारयिष्यथः ॥ ११ ॥

आप दोनों उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, अतः जब मैं इस वनको जलाने लगूँ, उस समय आपलोग ऊपरसे बरसती हुई जलकी धाराओं तथा इस वनसे निकलकर चारों ओर भागनेवाले प्राणियोंको रोकियेगा ॥ ११ ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवानग्निः खाण्डवं दग्धुमिच्छति।
रक्ष्यमाणं महेन्द्रेण नानासत्त्वसमायुतम् ॥ १२ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् अग्निदेव देवराज इन्द्रके द्वारा सुरक्षित और अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए खाण्डववनको किसलिये जलाना चाहते थे? ॥ १२ ॥

न ह्येतत् कारणं ब्रह्मन्नल्पं सम्प्रतिभाति मे।
यद् ददाह सुसंक्रुद्धः खाण्डवं हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

विप्रवर! मुझे इसका कोई साधारण कारण नहीं जान पड़ता, जिसके लिये कुपित होकर हव्यवाहन अग्निने समूचे खाण्डववनको भस्म कर दिया ॥ १३ ॥

एतद् विस्तरशो ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
खाण्डवस्य पुरा दाहो यथा समभवन्मुने ॥ १४ ॥

ब्रह्मन्! मुने! पूर्वकालमें खाण्डववनका दाह जिस प्रकार हुआ, वह सब विस्तारके साथ मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे ब्रुवतो राजन् सर्वमेतद् यथातथम्।
यन्निमित्तं ददाहाग्निः खाण्डवं पृथिवीपते ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज जनमेजय! अग्निदेवने जिस कारण खाण्डववनको जलाया, वह सब वृत्तान्त मैं यथावत् बतलाता हूँ, सुनो ॥ १५ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि पौराणीमृषिसंस्तुताम्।
कथामिमां नरश्रेष्ठ खाण्डवस्य विनाशिनीम् ॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ! खाण्डववनके विनाशसे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्राचीन कथा महर्षियोंद्वारा प्रस्तुत की गयी है। उसीको मैं तुमसे कहूँगा ॥ १६ ॥

पौराणः श्रूयते राजन् राजा हरिहयोपमः।
श्वेतकिर्नाम विख्यातो बलविक्रमसंयुतः ॥ १७ ॥

राजन्! सुना जाता है, प्राचीनकालमें इन्द्रके समान बल और पराक्रमसे सम्पन्न श्वेतकि नामके एक राजा थे ॥ १७ ॥

यज्वा दानपतिर्धीमान् यथा नान्योऽस्ति कश्चन।
ईजे च स महायज्ञैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ॥ १८ ॥

उस समय उनके-जैसा यज्ञ करनेवाला, दाता और बुद्धिमान् दूसरा कोई नहीं था। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले अनेक बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १८ ॥

तस्य नान्याभवद् बुद्धिर्दिवसे दिवसे नृप।
सत्रे क्रियासमारम्भे दानेषु विविधेषु च ॥ १९ ॥

राजन्! प्रतिदिन उनके मनमें यज्ञ और दानके सिवा दूसरा कोई विचार ही नहीं उठता था। वे यज्ञकर्मोंके आरम्भ और नाना प्रकारके दानोंमें ही लगे रहते थे ॥ १९ ॥

ऋत्विग्भिः सहितो धीमानेवमीजे स भूमिपः।
ततस्तु ऋत्विजश्चास्य धूमव्याकुललोचनाः ॥ २० ॥

इस प्रकार वे बुद्धिमान् नरेश ऋत्विजोंके साथ यज्ञ किया करते थे। यज्ञ करते-करते उनके ऋत्विजोंकी आँखें धूएँसे व्याकुल हो उठीं ॥ २० ॥

कालेन महता खिन्नास्तत्यजुस्ते नराधिपम्।
ततः प्रचोदयामास ऋत्विजस्तान् महीपतिः ॥ २१ ॥
चक्षुर्विकलतां प्राप्ता न प्रपेदुश्च ते क्रतुम्।
ततस्तेषामनुमते तद् विप्रैस्तु नराधिपः ॥ २२ ॥
सत्रं समापयामास ऋत्विग्भिरपरैः सह।

दीर्घकालतक आहुति देते-देते वे सभी खिन्न हो गये थे। इसलिये राजाको छोड़कर चले गये। तब राजाने उन ऋत्विजोंको पुनः यज्ञके लिये प्रेरित किया। परंतु जिनके नेत्र दुखने लगे थे, वे ऋत्विज उनके यज्ञमें नहीं आये। तब राजाने उनकी अनुमति लेकर दूसरे ब्राह्मणोंको ऋत्विज बनाया और उन्हींके साथ अपने चालू किये हुए यज्ञको पूरा किया ॥ २१-२२½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित् कालपर्यये ॥ २३ ॥
सत्रमाहर्तुकामस्य संवत्सरशतं किल ।
ऋत्विजो नाभ्यपद्यन्त समाहर्तुं महात्मनः ॥ २४ ॥

इस प्रकार यज्ञपरायण राजाके मनमें किसी समय यह संकल्प उठा कि मैं सौ वर्षोंतक चालू रहनेवाला एक सत्र प्रारम्भ करूँ; परंतु उन महात्माको वह यज्ञ आरम्भ करनेके लिये ऋत्विज ही नहीं मिले ॥ २३-२४ ॥

स च राजाकरोद् यत्नं महान्तं ससुहृज्जनः ।
प्रणिपातेन सान्त्वेन दानेन च महायशाः ॥ २५ ॥
ऋत्विजोऽनुनयामास भूयो भूयस्त्वतन्द्रितः ।
ते चास्य तमभिप्रायं न चक्रुरमितौजसः ॥ २६ ॥

उन महायशस्वी नरेशने अपने सुहृदोंको साथ लेकर इस कार्यके लिये बहुत बड़ा प्रयत्न किया। पैरोंपर पड़कर, सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर और इच्छानुसार दान देकर बार-बार निरालस्यभावसे ऋत्विजोंको मनाया, उनसे यज्ञ करानेके लिये अनुनय-विनय की; परंतु उन्होंने अमिततेजस्वी नरेशके मनोरथको सफल नहीं किया ॥ २५-२६ ॥

स चाश्रमस्थान् राजर्षिस्तानुवाच रुषान्वितः ।
यद्यहं पतितो विप्राः शुश्रूषायां न च स्थितः ॥ २७ ॥
आशु त्याज्योऽस्मि युष्माभिर्ब्राह्मणैश्च जुगुप्सितः।
तन्नार्हथ क्रतुश्रद्धां व्याघातयितुमद्य ताम् ॥ २८ ॥

तब उन राजर्षिने कुछ कुपित होकर आश्रमवासी महर्षियोंसे कहा—'ब्राह्मणो ! यदि मैं पतित होऊँ और आपलोगोंकी शुश्रूषासे मुँह मोड़ता होऊँ तो निन्दित होनेके कारण आप सभी ब्राह्मणोंके द्वारा शीघ्र ही त्याग देने योग्य हूँ, अन्यथा नहीं; अतः यज्ञ करानेके लिये मेरी इस बढ़ी हुई श्रद्धामें आपलोगोंको बाधा नहीं डालनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

अस्थाने वा परित्यागं कर्तुं मे द्विजसत्तमाः ।
प्रपन्न एव वो विप्राः प्रसादं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

'विप्रवरो ! इस प्रकार बिना किसी अपराधके मेरा परित्याग करना आपलोगोंके लिये कदापि उचित नहीं है। मैं आपकी शरणमें हूँ।आपलोग कृपापूर्वक मुझपर प्रसन्न होइये ॥२९॥

सान्त्वदानादिभिर्वाक्यैस्तत्त्वतः कार्यवत्तया।
प्रसादयित्वा वक्ष्यामि यन्नः कार्यं द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥

'श्रेष्ठ द्विजगण ! मैं कार्यार्थी होनेके कारण सान्त्वना देकर दान आदि देनेकी बात कहकर यथार्थ वचनोंद्वारा आपलोगोंको प्रसन्न करके आपकी सेवामें अपना कार्य निवेदन कर रहा हूँ ॥ ३० ॥

अथवाहं परित्यक्तो भवद्भिर्द्वेषकारणात् ।
ऋत्विजोऽन्यान् गमिष्यामि याजनार्थं द्विजोत्तमाः॥३१॥

'द्विजोत्तमो ! यदि आपलोगोंने द्वेषवश मुझे त्याग दिया तो मैं यह यज्ञ करानेके लिये दूसरे ऋत्विजोंके पास जाऊँगा' ॥ ३१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः ।
यदा न शेकू राजानं याजनार्थं परंतप ॥ ३२ ॥
ततस्ते याजकाः क्रुद्धास्तमूचुर्नृपसत्तमम् ।
तव कर्माण्यजस्रं वै वर्तन्ते पार्थिवोत्तम ॥ ३३ ॥

इतना कहकर राजा चुप हो गये। परंतप जनमेजय ! जब वे ऋत्विज राजाका यज्ञ करानेके लिये उद्यत न हो सके, तब वे रुष्ट होकर उन नृपश्रेष्ठसे बोले—'भूपालशिरोमणे ! आपके यज्ञकर्म तो निरन्तर चलते रहते हैं ॥ ३२-३३ ॥

ततो वयं परिश्रान्ताः सततं कर्मवाहिनः ।
श्रमादस्मात् परिश्रान्तान् स त्वं नस्त्यक्तुमर्हसि॥ ३४ ॥
बुद्धिमोहं समास्थाय त्वरासम्भावितोऽनघ ।
गच्छ रुद्रसकाशं त्वं स हि त्वां याजयिष्यति ॥ ३५ ॥

'अतः सदा कर्ममें लगे रहनेके कारण हमलोग थक गये हैं, पहलेके परिश्रमसे हमारा कष्ट बढ़ गया है। ऐसी दशामें बुद्धिमोहित होनेके कारण उतावले होकर आप चाहें तो हमारा त्याग कर सकते हैं। निष्पाप नरेश ! आप तो भगवान् रुद्रके ही समीप जाइये। अब वे ही आपका यज्ञ करायेंगे' ॥ ३४-३५ ॥

साधिक्षेपं वचः श्रुत्वा संक्रुद्धः श्वेतकिर्नृपः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तप उग्रं समास्थितः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणोंका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर राजा श्वेतकिको बड़ा क्रोध हुआ। वे कैलास पर्वतपर जाकर उग्र तपस्यामें लग गये ॥ ३६ ॥

आराधयन् महादेवं नियतः संशितव्रतः ।
उपवासपरो राजन् दीर्घकालमतिष्ठत ॥ ३७ ॥

राजन् ! तीक्ष्ण व्रतका पालन करनेवाले राजा श्वेतकि मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करते हुए बहुत दिनोंतक निराहार खड़े रहे ॥ ३७ ॥

कदाचिद् द्वादशे काले कदाचिदपि षोडशे ।
आहारमकरोद् राजा मूलानि च फलानि च ॥ ३८ ॥

वे कभी बारहवें दिन और कभी सोलहवें दिन फल-मूलका आहार कर लेते थे ॥ ३८ ॥

ऊर्ध्वबाहुस्त्वनिमिषस्तिष्ठन् स्थाणुरिवाचलः ।
षण्मासानभवद् राजा श्वेतकिः सुसमाहितः ॥ ३९ ॥

दोनों बाँहें ऊपर उठाकर एकटक देखते हुए राजा श्वेतकि एकाग्रचित्त हो छः महीनोंतक ठूँठकी तरह अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ३९ ॥

तं तथा नृपशार्दूलं तप्यमानं महत् तपः ।
शंकरः परमप्रीत्या दर्शयामास भारत ॥ ४० ॥

भारत ! उन नृपश्रेष्ठको इस प्रकार भारी तपस्या करते देख भगवान् शङ्करने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया ॥ ४० ॥

उवाच चैनं भगवान् स्निग्धगम्भीरया गिरा ।
प्रीतोऽस्मि नरशार्दूल तपसा ते परंतप ॥४१॥

और स्नेहपूर्वक गम्भीर वाणीमें भगवान्ने उनसे कहा—'परंतप ! नरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ ॥४१॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते यं त्वमिच्छसि पार्थिव ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रस्यामिततेजसः ॥ ४२ ॥
प्रणिपत्य महात्मानं राजर्षिः प्रत्यभाषत ।

'भूपाल ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम जैसा चाहते हो, वैसा वर माँग लो ।' अमिततेजस्वी रुद्रका यह वचन सुनकर राजर्षि श्वेतकिने परमात्मा शिवके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ ४२½ ॥

यदि मे भगवान् प्रीतः सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ४३ ॥
स्वयं मां देवदेवेश याजयस्व सुरेश्वर ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञा तेन प्रभाषितम् ॥ ४४ ॥
उवाच भगवान् प्रीतः स्मितपूर्वमिदं वचः ।

'देवदेवेश ! सुरेश्वर ! यदि मेरे ऊपर आप सर्वलोकवन्दित भगवान् प्रसन्न हुए हैं तो स्वयं चलकर मेरा यज्ञ करायें ।' राजाकी कही हुई यह बात सुनकर भगवान् शिव प्रसन्न होकर मुसकराते हुए बोले—॥ ४३-४४½ ॥

नास्माकमेष विषयो वर्तते याजनं प्रति ॥ ४५ ॥
त्वया च सुमहत् तप्तं तपो राजन् वरार्थिना ।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां समयेन परंतप ॥ ४६ ॥

'राजन् ! यज्ञ कराना हमारा काम नहीं है; परंतु तुमने यही वर माँगनेके लिये भारी तपस्या की है, अतः परंतप नरेश ! मैं एक शर्तपर तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा' ॥ ४५-४६ ॥

रुद्र उवाच

समा द्वादश राजेन्द्र ब्रह्मचारी समाहितः ।
सततं त्वाज्यधाराभिर्यदि तर्पयसेऽनलम् ॥ ४७ ॥
कामं प्रार्थयसे यं त्वं मत्तः प्राप्स्यसि तं नृप ।

रुद्र बोले—राजेन्द्र ! यदि तुम एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए बारह वर्षोंतक घृतकी निरन्तर अविच्छिन्न धाराद्वारा अग्निदेवको तृप्त करो तो मुझसे जिस कामनाके लिये प्रार्थना कर रहे हो, उसे पाओगे ॥४७½॥

एवमुक्तश्च रुद्रेण श्वेतकिर्मनुजाधिपः ॥ ४८ ॥
तथा चकार तत् सर्वं यथोक्तं शूलपाणिना ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे पुनरायान्महेश्वरः ॥ ४९ ॥

भगवान् रुद्रके ऐसा कहनेपर राजा श्वेतकिने शूलपाणि शिवकी आज्ञाके अनुसार सारा कार्य सम्पन्न किया। बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् महेश्वर पुनः आये ॥ ४८-४९ ॥

दृष्ट्वैव च स राजानं शंकरो लोकभावनः ।
उवाच परमप्रीतः श्वेतकिं नृपसत्तमम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति करनेवाले भगवान् शङ्कर नृपश्रेष्ठ श्वेतकिको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—॥ ५० ॥

तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वयेहाद्येन कर्मणा ।
याजनं ब्राह्मणानां तु विधिदृष्टं परंतप ॥ ५१ ॥

'भूपालशिरोमणे ! तुमने इस वेदविहित कर्मके द्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट किया है, परंतु परंतप ! शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ करानेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है ॥ ५१ ॥

अतोऽहं त्वां स्वयं नाद्य याजयामि परंतप ।
ममांशस्तु क्षितितले महाभागो द्विजोत्तमः ॥ ५२ ॥

'अतः परंतप ! मैं स्वयं तुम्हारा यज्ञ नहीं कराऊँगा। पृथ्वीपर मेरे ही अंशभूत एक महाभाग श्रेष्ठ द्विज हैं ॥ ५२ ॥

दुर्वासा इति विख्यातः स हि त्वां याजयिष्यति ।
मन्नियोगान्महातेजाः सम्भाराः सम्भ्रियन्तु ते ॥ ५३ ॥

'वे दुर्वासा नामसे विख्यात हैं। महातेजस्वी दुर्वासा मेरी आज्ञासे तुम्हारा यज्ञ करायेंगे; तुम सामग्री जुटाओ' ॥५३॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रेण समुदाहृतम् ।
स्वपुरं पुनरागम्य सम्भारान् पुनरार्जयत् ॥ ५४ ॥

भगवान् रुद्रका कहा हुआ यह वचन सुनकर राजा पुनः अपने नगरमें आये और यज्ञसामग्री जुटाने लगे ॥५४॥

ततः सम्भृतसम्भारो भूयो रुद्रमुपागमत् ।
सम्भृता मम सम्भाराः सर्वोपकरणानि च ॥ ५५ ॥
त्वत्प्रसादान्महादेव श्वो मे दीक्षा भवेदिति ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो महात्मनः ॥ ५६ ॥
दुर्वाससं समाहूय रुद्रो वचनमब्रवीत् ।
एष राजा महाभागः श्वेतकिर्द्विजसत्तम ॥ ५७ ॥
एनं याजय विप्रेन्द्र मन्नियोगेन भूमिपम् ।
बाढमित्येव वचनं रुद्रं त्वृषिरुवाच ह ॥ ५८ ॥

तदनन्तर सामग्री जुटाकर वे पुनः भगवान् रुद्रके पास गये और बोले—'महादेव ! आपकी कृपासे मेरी यज्ञसामग्री तथा अन्य सभी आवश्यक उपकरण जुट गये । अब कल मुझे यज्ञकी दीक्षा मिल जानी चाहिये ।' महामना राजाका यह कथन सुनकर भगवान् रुद्रने दुर्वासाको बुलाया और कहा—'द्विजश्रेष्ठ ! ये महाभाग राजा श्वेतकि हैं । विप्रेन्द्र ! मेरी आज्ञासे तुम इन भूमिपालका यज्ञ कराओ ।' यह सुनकर महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली ॥ ५५-५८ ॥

ततः सत्रं समभवत् तस्य राज्ञो महात्मनः ।
यथाविधि यथाकालं यथोक्तं बहुदक्षिणम् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर यथासमय विधिपूर्वक उन महामना नरेशका यज्ञ आरम्भ हुआ । शास्त्रमें जैसा बताया गया है, उसी ढंगसे सब कार्य हुआ । उस यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणा दी गयी ॥ ५९ ॥

तस्मिन् परिसमाप्ते तु राज्ञः सत्रे महात्मनः ।
दुर्वाससाभ्यनुज्ञाता विप्रतस्थुः स्म याजकाः ॥ ६० ॥
ये तत्र दीक्षिताः सर्वे सदस्याश्च महौजसः ।
सोऽपि राजन् महाभागः स्वपुरं प्राविशत् तदा ॥ ६१ ॥
पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
वन्दिभिः स्तूयमानश्च नागरैश्चाभिनन्दितः ॥ ६२ ॥

उन महामना नरेशका वह यज्ञ पूरा होनेपर उसमें जो महा-तेजस्वी सदस्य और ऋत्विज दीक्षित हुए थे, वे सब दुर्वासाजीकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चले गये । राजन्! वे महान् सौभाग्यशाली नरेश भी वेदोंके पारङ्गत महाभाग ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उस समय अपनी राजधानीमें गये । उस समय वन्दीजनोंने उनका यश गाया और पुरवासियोंने अभिनन्दन किया ॥ ६०—६२ ॥

एवंवृत्तः स राजर्षिः श्वेतकिर्नृपसत्तमः ।
कालेन महता चापि ययौ स्वर्गमभिष्टुतः ॥ ६३ ॥
ऋत्विग्भिः सहितः सर्वैः सदस्यैश्च समन्वितः ।
तस्य सत्रे पपौ वह्निर्हविर्द्वादश वत्सरान् ॥ ६४ ॥

नृपश्रेष्ठ राजर्षि श्वेतकिका आचार-व्यवहार ऐसा ही था । वे दीर्घकालके पश्चात् अपने यज्ञके सम्पूर्ण सदस्यों तथा ऋत्विजों-सहित देवताओंसे प्रशंसित हो स्वर्गलोकमें गये । उनके यज्ञमें अग्निने लगातार बारह वर्षोंतक घृतपान किया था ॥ ६३-६४ ॥

सततं चाज्यधाराभिरैकात्म्ये तत्र कर्मणि ।
हविषा च ततो वह्निः परां तृप्तिमगच्छत ॥ ६५ ॥

उस अद्वितीय यज्ञमें निरन्तर घीकी अविच्छिन्न धाराओंसे अग्निदेवको बड़ी तृप्ति प्राप्त हुई ॥ ६५ ॥

न चैच्छत् पुनरादातुं हविरन्यस्य कस्यचित् ।
पाण्डुवर्णो विवर्णश्च न यथावत् प्रकाशते ॥ ६६ ॥

अब उन्हें फिर दूसरे किसीका हविष्य ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रही । उनका रंग सफेद हो गया, कान्ति फीकी पड़ गयी तथा वे पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं होते थे ॥ ६६ ॥

ततो भगवतो वह्नेर्विकारः समजायत ।
तेजसा विप्रहीणश्च ग्लानिश्चैनं समाविशत् ॥ ६७ ॥

तब भगवान् अग्निदेवके उदरमें विकार हो गया । वे तेजसे हीन हो ग्लानिको प्राप्त होने लगे ॥ ६७ ॥

स लक्षयित्वा चात्मानं तेजोहीनं हुताशनः ।
जगाम सदनं पुण्यं ब्रह्मणो लोकपूजितम् ॥ ६८ ॥

अपनेको तेजसे हीन देख अग्निदेव ब्रह्माजीके लोकपूजित पुण्यधाममें गये ॥ ६८ ॥

तत्र ब्रह्माणमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ।
भगवन् परमा प्रीतिः कृता मे श्वेतकेतुना ॥ ६९ ॥

वहाँ बैठे हुए ब्रह्माजीसे वे यह वचन बोले—'भगवन्! राजा श्वेतकिने अपने यज्ञमें मुझे परम संतुष्ट कर दिया । ६९ ।

अरुचिश्चाभवत् तीव्रा तां न शक्नोम्यपोहितुम् ।
तेजसा विप्रहीणोऽस्मि बलेन च जगत्पते ॥ ७० ॥
इच्छेय त्वत्प्रसादेन स्वात्मनः प्रकृतिं स्थिराम् ।

'परंतु मुझे अत्यन्त अरुचि हो गयी है, जिसे मैं किसी प्रकार दूर नहीं कर पाता । जगत्पते ! उस अरुचिके कारण मैं तेज और बलसे हीन होता जा रहा हूँ । अतः मैं चाहता हूँ कि आपकी कृपासे मैं स्वस्थ हो जाऊँ; मेरी स्वाभाविक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे' ॥ ७०½ ॥

एतच्छ्रुत्वा हुतवहाद् भगवान् सर्वलोककृत् ॥ ७१ ॥
हव्यवाहमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ।
त्वया द्वादश वर्षाणि वसोर्धाराहुतं हविः ॥ ७२ ॥
उपयुक्तं महाभाग तेन त्वां ग्लानिराविशत् ।
तेजसा विप्रहीणत्वात् सहसा हव्यवाहन ॥ ७३ ॥
मा गमस्त्वं यथा वह्ने प्रकृतिस्थो भविष्यसि ।
अरुचिं नाशयिष्येऽहं समयं प्रतिपद्य ते ॥ ७४ ॥

अग्निदेवकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी हव्यवाहन अग्निसे हँसते हुए-से इस प्रकार बोले—'महाभाग ! तुमने बारह वर्षोंतक वसुधाराकी आहुतिके रूपमें प्राप्त हुई घृतधाराका उपभोग किया है । इसीलिये तुम्हें ग्लानि प्राप्त हुई है । हव्यवाहन ! तेजसे हीन होनेके कारण तुम्हें सहसा अपने मनमें ग्लानि नहीं आने देनी चाहिये । वह्ने ! तुम फिर पूर्ववत् स्वस्थ हो जाओगे । मैं समय पाकर तुम्हारी अरुचि नष्ट कर दूँगा ॥ ७१—७४ ॥

पुरा देवनियोगेन यत् त्वया भस्मसात् कृतम् ।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम् ॥ ७५ ॥
तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो ।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि ॥ ७६ ॥

'पूर्वकालमें देवताओंके आदेशसे तुमने दैत्योंके जिस अत्यन्त घोर निवासस्थान खाण्डववनको जलाया था, वहाँ इस समय सब प्रकारके जीव-जन्तु आकर निवास करते हैं । विभावसो ! उन्हींके मेदसे तृप्त होकर तुम स्वस्थ हो सकोगे ॥ ७५-७६ ॥

गच्छ शीघ्रं प्रदग्धुं त्वं ततो मोक्ष्यसि किल्बिषात् ।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं परमेष्ठिमुखाच्च्युतम् ॥ ७७ ॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रदुद्राव हुताशनः ।
आगम्य खाण्डवं दावमुत्तमं वीर्यमास्थितः ।
सहसा प्राज्वलच्चाग्निः क्रुद्धो वायुसमीरितः ॥ ७८ ॥

'उस वनको जलानेके लिये तुम शीघ्र ही जाओ। तभी इस ग्लानिसे छुटकारा पा सकोगे।' परमेष्ठी ब्रह्माजीके मुखसे निकली हुई यह बात सुनकर अग्निदेव बड़े वेगसे वहाँ दौड़े गये। खाण्डववनमें पहुँचकर उत्तम बलका आश्रय ले वायुका सहारा पाकर कुपित अग्निदेव सहसा प्रज्वलित हो उठे ॥ ७७-७८ ॥

प्रदीप्तं खाण्डवं दृष्ट्वा ये स्युस्तत्र निवासिनः।
परमं यत्नमातिष्ठन् पावकस्य प्रशान्तये ॥ ७९ ॥

खाण्डववनको जलते देख वहाँ रहनेवाले प्राणियोंने उस आगको बुझानेके लिये बड़ा यत्न किया ॥ ७९ ॥

करैस्तु करिणः शीघ्रं जलमादाय सत्वराः।
सिषिचुः पावकं क्रुद्धाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥

सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें हाथी अपनी सूँड़ोंमें जल लेकर शीघ्रतापूर्वक दौड़े आते और क्रोधपूर्वक उतावलीके साथ आगपर उस जलको उड़ेल दिया करते थे ॥ ८० ॥

बहुशीर्षास्ततो नागाः शिरोभिर्जलसंततिम्।
मुमुचुः पावकाभ्याशे सत्वराः क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ८१ ॥

अनेक सिरवाले नाग भी क्रोधसे मूर्च्छित हो अपने मस्तकोंद्वारा अग्निके समीप शीघ्रतापूर्वक जलकी धारा बरसाने लगे॥

तथैवान्यानि सत्त्वानि नानाप्रहरणोद्यमैः।
विलयं पावकं शीघ्रमनयन् भरतर्षभ ॥ ८२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसी प्रकार दूसरे-दूसरे जीवोंने भी अनेक प्रकारके प्रहारों (धूल झोंकने आदि) तथा उद्यमों (जल छिड़कने आदि) के द्वारा शीघ्रतापूर्वक उस आगको बुझा दिया ॥ ८२ ॥

अनेन तु प्रकारेण भूयो भूयश्च प्रज्वलन्।
सप्तकृत्वः प्रशमितः खाण्डवे हव्यवाहनः ॥ ८३ ॥

इस तरह खाण्डववनमें अग्निने बार-बार प्रज्वलित होकर सात बार उसे जलानेका प्रयास किया; परंतु प्रतिबार वहाँके निवासियोंने उन्हें बुझा दिया ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अग्निपराभवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अग्निपराभवविषयक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका अग्निकी प्रार्थना स्वीकार करके उनसे दिव्य धनुष एवं रथ आदि माँगना

वैशम्पायन उवाच

स तु नैराश्यमापन्नः सदा ग्लानिसमन्वितः।
पितामहमुपागच्छत् संक्रुद्धो हव्यवाहनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी असफलतासे अग्निदेवको बड़ी निराशा हुई। वे सदा ग्लानिमें डूबे रहने लगे और कुपित हो पितामह ब्रह्माजीके पास गये ॥ १ ॥

तच्च सर्वं यथान्यायं ब्रह्मणे संन्यवेदयत्।
उवाच चैनं भगवान् मुहूर्तं स विचिन्त्य तु ॥ २ ॥

वहाँ उन्होंने ब्रह्माजीसे सब बातें यथोचित रीतिसे कह सुनायीं। तब भगवान् ब्रह्माजी दो घड़ीतक विचार करके उनसे बोले— ॥ २ ॥

उपायः परिदृष्टो मे यथा त्वं धक्ष्यसेऽनघ।
कालं च कंचित् क्षमतां ततस्त्वं धक्ष्यसेऽनल ॥ ३ ॥

'अनघ ! तुम जिस प्रकार खाण्डववनको जलाओगे, वह उपाय तो मुझे सूझ गया है; किंतु उसके लिये तुम्हें कुछ समयतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अनल ! इसके बाद तुम खाण्डववनको जला सकोगे ॥ ३ ॥

भविष्यतः सहायौ ते नरनारायणौ तदा।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन ॥ ४ ॥

'हव्यवाहन ! उस समय नर और नारायण तुम्हारे सहायक होंगे। उन दोनोंके साथ रहकर तुम उस वनको जला सकोगे' ॥ ४ ॥

एवमस्त्विति तं वह्निर्ब्रह्माणं प्रत्यभाषत।
सम्भूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥
कालस्य महतो राजंस्तस्य वाक्यं स्वयम्भुवः।
अनुस्मृत्य जगामाथ पुनरेव पितामहम् ॥ ६ ॥

तब अग्निने ब्रह्माजीसे कहा—'अच्छा, ऐसा ही सही।' तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् नर-नारायण ऋषियोंके अवतीर्ण होनेकी बात जानकर अग्निदेवको ब्रह्माजीकी बातका स्मरण हुआ। राजन् ! तब वे पुनः ब्रह्माजीके पास गये ॥ ५-६ ॥

अब्रवीच्च तदा ब्रह्मा यथा त्वं धक्ष्यसेऽनल।
खाण्डवं दावमद्यैव मिषतोऽस्य शचीपतेः ॥ ७ ॥

उस समय ब्रह्माजीने कहा—'अनल ! अब जिस प्रकार तुम इन्द्रके देखते-देखते अभी खाण्डववन जला सकोगे, वह उपाय सुनो ॥ ७ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो।
सम्प्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

'विभावसो ! आदिदेव नर और नारायण मुनि इस

समय देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ८ ॥

अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः ॥ ९ ॥

'वहाँके लोग उन्हें अर्जुन और वासुदेवके नामसे जानते हैं। वे दोनों इस समय खाण्डववनके पास ही एक साथ बैठे हैं ॥ ९ ॥

तौ त्वं याचस्व साहाय्ये दाहार्थं खाण्डवस्य च।
ततो धक्ष्यसि तं दावं रक्षितं त्रिदशैरपि ॥ १० ॥

'उन दोनोंसे तुम खाण्डववन जलानेके कार्यमें सहायताकी याचना करो। तब तुम इन्द्रादि देवताओंसे रक्षित होनेपर भी उस वनको जला सकोगे ॥ १० ॥

तौ तु सत्त्वानि सर्वाणि यत्नतो वारयिष्यतः।
देवराजं च सहितौ तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ११ ॥

'वे दोनों वीर एक साथ होनेपर यत्नपूर्वक वनके सारे जीवोंको भी रोकेंगे और देवराज इन्द्रका भी सामना करेंगे, मुझे इसमें कोई संशय नहीं है' ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं त्वरितो हव्यवाहनः।
कृष्णपार्थावुपागम्य यमर्थं त्वभ्यभाषत ॥ १२ ॥
तं ते कथितवानस्मि पूर्वमेव नृपोत्तम।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्वग्नेर्बीभत्सुर्जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूल तत्कालसदृशं वचः।
दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ॥ १४ ॥

नृपश्रेष्ठ! यह सुनकर हव्यवाहनने तुरंत श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास आकर जो कार्य निवेदन किया, वह मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ। जनमेजय! अग्निका वह कथन सुनकर अर्जुनने इन्द्रकी इच्छाके विरुद्ध खाण्डववन जलानेकी अभिलाषा रखनेवाले जातवेदा अग्निसे उस समयके अनुकूल यह बात कही ॥

अर्जुन उवाच

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान् बहून् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—भगवन्! मेरे पास बहुत-से दिव्य एवं उत्तम अस्त्र तो हैं, जिनके द्वारा मैं एक क्या, अनेक वज्रधारियोंसे युद्ध कर सकता हूँ ॥ १५ ॥

धनुर्मे नास्ति भगवन् बाहुवीर्येण सम्मितम्।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद् विषहेन्मम ॥ १६ ॥

परंतु मेरे पास मेरे बाहुबलके अनुरूप धनुष नहीं है, जो समरभूमिमें युद्धके लिये प्रयत्न करते समय मेरा वेग सह सके ॥

शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षय्यैः क्षिप्रमस्यतः।
न हि वोढुं रथः शक्तः शरान् मम यथेप्सितान् ॥ १७ ॥

इसके सिवा शीघ्रतापूर्वक बाण चलाते रहनेके लिये मुझे इतने अधिक बाणोंकी आवश्यकता होगी, जो कभी समाप्त न हों तथा मेरी इच्छाके अनुरूप बाणोंको ढोनेके लिये शक्तिशाली रथ भी मेरे पास नहीं है ॥ १७ ॥

अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान् वातरंहसः।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ॥ १८ ॥
तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम्।
येन नागान् पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥ १९ ॥

मैं वायुके समान वेगवान् श्वेत वर्णके दिव्य अश्व तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाला एवं सूर्यके समान तेजस्वी रथ चाहता हूँ। इसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णके बल-पराक्रमके अनुसार कोई आयुध इनके पास भी नहीं है, जिससे ये नागों और पिशाचोंको युद्धमें मार सकें ॥१८-१९॥

उपायं कर्मसिद्धौ च भगवन् वक्तुमर्हसि।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ॥ २० ॥

भगवन्! इस कार्यकी सिद्धिके लिये जो उपाय सम्भव हो, वह मुझे बताइये, जिससे मैं इस महान् वनमें जल बरसाते हुए इन्द्रको रोक सकूँ ॥ २० ॥

पौरुषेण तु यत् कार्यं तत् कर्तारौ स्व पावक।
करणानि समर्थानि भगवन् दातुमर्हसि ॥ २१ ॥

भगवन् अग्निदेव! पुरुषार्थसे जो कार्य हो सकता है, उसे हमलोग करनेके लिये तैयार हैं; किंतु इसके लिये सुदृढ़ साधन जुटा देनेकी कृपा आपको करनी चाहिये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अर्जुनाग्निसंवादे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अर्जुन-अग्निसंवादविषयक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका अर्जुन और श्रीकृष्णको दिव्य धनुष, अक्षय तरकस, दिव्य रथ और चक्र आदि प्रदान करना तथा उन दोनोंकी सहायतासे खाण्डववनको जलाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् धूमकेतुर्हुताशनः।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर धूमरूपी ध्वजासे सुशोभित होनेवाले भगवान् हुताशनने दर्शनकी इच्छासे लोकपाल वरुणका चिन्तन किया ॥ १ ॥

आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जलेश्वरम्।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम्॥ २॥

अदितिके पुत्र, जलके स्वामी और सदा जलमें ही निवास करनेवाले उन वरुणदेवने, अग्निदेवने मेरा चिन्तन किया है, यह जानकर तत्काल उन्हें दर्शन दिया॥ २॥

तमब्रवीद् धूमकेतुः प्रतिगृह्य जलेश्वरम्।
चतुर्थं लोकपालानां देवदेवं सनातनम्॥ ३॥

चौथे लोकपाल सनातन देवदेव जलेश्वर वरुणका स्वागत-सत्कार करके धूमकेतु अग्निने उनसे कहा—॥ ३॥

सोमेन राज्ञा यद् दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते।
तत् प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम्॥ ४॥

'वरुणदेव! राजा सोमने आपको जो दिव्य धनुष और अक्षय तरकस दिये हैं, वे दोनों मुझे शीघ्र दीजिये। साथ ही कपियुक्त ध्वजासे सुशोभित रथ भी प्रदान कीजिये॥ ४॥

कार्यं च सुमहत् पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति।
चक्रेण वासुदेवश्च तन्ममाद्य प्रदीयताम्॥ ५॥

'आज कुन्तीपुत्र अर्जुन गाण्डीव धनुषके द्वारा और भगवान् वासुदेव चक्रके द्वारा मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे; अतः वह सब आज मुझे दे दीजिये'॥ ५॥

ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत।
तदद्भुतं महावीर्यं यशःकीर्तिविवर्धनम्॥ ६॥
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च।
सर्वायुधमहामात्रं परसैन्यप्रधर्षणम्॥ ७॥
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम्।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम्॥ ८॥
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः।
प्रादाच्चैव धनूरत्नमक्षय्ये च महेषुधी॥ ९॥

तब वरुणने अग्निदेवसे 'अभी देता हूँ' ऐसा कहकर वह धनुषोंमें रत्नके समान गाण्डीव तथा बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय एवं बड़े तरकस भी दिये। वह धनुष अद्भुत था। उसमें बड़ी शक्ति थी और वह यश एवं कीर्तिको बढ़ानेवाला था। किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे वह टूट नहीं सकता था और दूसरे सब शस्त्रोंको नष्ट कर डालनेकी शक्ति उसमें मौजूद थी। उसका आकार सभी आयुधोंसे बढ़कर था। शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करनेवाला वह एक ही धनुष दूसरे लाख धनुषोंके बराबर था। वह अपने धारण करनेवालेके राष्ट्रको बढ़ानेवाला एवं विचित्र था। अनेक प्रकारके रंगोंसे उसकी शोभा होती थी। वह चिकना और छिद्रसे रहित था। देवताओं, दानवों और गन्धर्वोंने अनन्त वर्षोंतक उसकी पूजा की थी॥ ६—९॥

रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम्।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः॥ १०॥

इसके सिवा वरुणने दिव्य घोड़ोंसे जुता हुआ एक रथ भी प्रस्तुत किया, जिसकी ध्वजापर श्रेष्ठ कपि विराजमान था। उसमें जुते हुए अश्वोंका रंग चाँदीके समान सफेद था। वे सभी घोड़े गन्धर्वदेशमें उत्पन्न तथा सोनेकी मालाओंसे विभूषित थे॥ १०॥

पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे।
सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः॥ ११॥

उनकी कान्ति सफेद बादलोंकी-सी जान पड़ती थी। वे वेगमें मन और वायुकी समानता करते थे। वह रथ सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओंसे युक्त तथा देवताओं और दानवोंके लिये भी अजेय था॥ ११॥

भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम्।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः॥ १२॥
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव।
यं स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत् प्रभुः॥ १३॥

उससे तेजोमयी किरणें छिटकती थीं। उसके चलनेपर सब ओर बड़े जोरकी आवाज गूँज उठती थी। वह रथ सब प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता था। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी प्रजापति विश्वकर्माने बड़ी भारी तपस्याके द्वारा उस रथका निर्माण किया था। उस सूर्यके समान तेजस्वी रथका 'इदमित्थम्' रूपसे वर्णन नहीं हो सकता था। पूर्वकालमें शक्तिशाली सोम (चन्द्रमा) ने उसी रथपर आरूढ़ हो दानवोंपर विजय पायी थी॥ १२-१३॥

नवमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया।
आश्रितौ तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमावुभौ॥ १४॥

वह रथ नूतन मेघके समान प्रतीत होता था और अपनी दिव्य शोभासे प्रज्वलित-सा हो रहा था। इन्द्रधनुषके समान कान्तिवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन उस श्रेष्ठ रथके समीप गये॥

तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा।
तस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः॥ १५॥

उस रथका ध्वजदण्ड बड़ा सुन्दर और सुवर्णमय था। उसके ऊपर सिंह और व्याघ्रके समान भयंकर आकृतिवाला दिव्य वानर बैठा था॥ १५॥

दिधक्षन्निव तत्र स्म संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत।
ध्वजे भूतानि तत्रासन् विविधानि महान्ति च॥ १६॥
नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति।

उस रथके शिखरपर बैठा हुआ वह वानर ऐसा जान पड़ता था, मानो शत्रुओंको भस्म कर डालना चाहता हो। उस ध्वजमें और भी नाना प्रकारके बड़े भयंकर प्राणी रहते थे, जिनकी आवाज सुनकर शत्रुसैनिकोंके होश उड़ जाते थे॥ १६½॥

स तं नानापताकाभिः शोभितं रथसत्तमम् ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च ।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रकः ॥ १८ ॥
आरुरोह तदा पार्थो विमानं सुकृती यथा ।

वह श्रेष्ठ रथ भाँति-भाँतिकी पताकाओंसे सुशोभित हो रहा था। अर्जुनने कमर कस ली, कवच और तलवार बाँध ली, दस्ताने पहन लिये तथा रथकी परिक्रमा और देवताओंको प्रणाम करके वे उसपर आरूढ़ हुए, ठीक वैसे ही, जैसे कोई पुण्यात्मा विमानपर बैठता है ॥ १७-१८½ ॥

तच्च दिव्यं धनुः श्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥ १९ ॥
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ।
हुताशनं पुरस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान् ॥ २० ॥
जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः ।
मौर्व्यां तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह ॥ २१ ॥
येऽशृण्वन् कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः ।

तदनन्तर, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिसका निर्माण किया था, उस दिव्य एवं श्रेष्ठ गाण्डीव धनुषको हाथमें लेकर अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए। पराक्रमी धनंजयने अग्निदेवको सामने रखकर उस धनुषको हाथमें उठाया और बल लगाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। महाबली पाण्डुकुमारके उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाते समय जिन लोगोंने उसकी टङ्कार सुनी, उनका हृदय व्यथित हो उठा ॥ १९-२१½ ॥

लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ २२ ॥
बभूव कल्यः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ।
वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ॥ २३ ॥

वह रथ, धनुष तथा अक्षय तरकस पाकर कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निकी सहायता करनेमें समर्थ हो गये। तदनन्तर पावकने भगवान् श्रीकृष्णको एक चक्र दिया, जिसका मध्यभाग वज्रके समान था ॥ २२-२३ ॥

आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्योऽभवत् तदा ।
अब्रवीत् पावकश्चैवमेतेन मधुसूदन ॥ २४ ॥
अमानुषानपि रणे जेष्यसि त्वमसंशयम् ।
अनेन तु मनुष्याणां देवानामपि चाहवे ॥ २५ ॥
रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानां चाधिकस्तथा ।
भविष्यसि न संदेहः प्रवरोऽपि निबर्हणे ॥ २६ ॥

उस अग्निप्रदत्त प्रिय अस्त्र चक्रको पाकर भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय सहायताके लिये समर्थ हो गये। उनसे अग्निदेवने कहा—'मधुसूदन! इस चक्रके द्वारा आप युद्धमें अमानव प्राणियोंको भी जीत लेंगे, इसमें संशय नहीं है। इसके होनेसे आप युद्धमें मनुष्यों, देवताओं, राक्षसों, पिशाचों, दैत्यों और नागोंसे भी अधिक शक्तिशाली होंगे तथा इन सबका संहार करनेमें भी निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होंगे ॥ २४-२६ ॥

क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत् त्वया माधव शत्रुषु ।
हत्वाप्रतिहतं संख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ॥ २७ ॥

'माधव! युद्धमें आप जब-जब इसे शत्रुओंपर चलायेंगे, तब-तब यह उन्हें मारकर और स्वयं किसी अस्त्रसे प्रतिहत न होकर पुनः आपके हाथमें आ जायगा' ॥ २७ ॥

वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम् ।
दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं प्रभुः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् भगवान् वरुणने भी बिजलीके समान कड़-कड़ाहट पैदा करनेवाली कौमोदकी नामक गदा भगवान्‌को भेंट की, जो दैत्योंका विनाश करनेवाली और भयंकर थी ॥ २८ ॥

ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टावर्जुनाच्युतौ ।
कृतास्त्रौ शस्त्रसम्पन्नौ रथिनौ ध्वजिनावपि ॥ २९ ॥
कल्यौ स्वो भगवन् योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सता ॥ ३० ॥

इसके बाद अस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं शस्त्रसम्पन्न अर्जुन और श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अग्निदेवसे कहा—'भगवन्! अब हम दोनों रथ और ध्वजासे युक्त हो सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंसे भी युद्ध करनेमें समर्थ हो गये हैं; फिर तक्षक नागके लिये युद्धकी इच्छा रखनेवाले अकेले वज्रधारी इन्द्रसे युद्ध करना क्या बड़ी बात है?' ॥ २९-३० ॥

अर्जुन उवाच

चक्रपाणिर्हृषीकेशो विचरन् युधि वीर्यवान् ।
चक्रेण भस्मसात् सर्वं विसृष्टेन तु वीर्यवान् ।
त्रिषु लोकेषु तन्नास्ति यन्न कुर्याज्जनार्दनः ॥ ३१ ॥

अर्जुन बोले—अग्निदेव! सबकी इन्द्रियोंके प्रेरक ये महापराक्रमी जनार्दन जब हाथमें चक्र लेकर युद्धमें विचरेंगे, उस समय त्रिलोकीमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे ये चक्रके प्रहारसे भस्म न कर सकें ॥ ३१ ॥

गाण्डीवं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी ।
अहमप्युत्सहे लोकान् विजेतुं युधि पावक ॥ ३२ ॥

पावक! मैं भी यह गाण्डीव धनुष और ये दोनों बड़े-बड़े अक्षय तरकस लेकर सम्पूर्ण लोकोंको युद्धमें जीत लेनेका उत्साह रखता हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वतः परिवार्यैवं दावमेतं महाप्रभो ।
कामं सम्प्रज्वलाद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ॥ ३३ ॥

महाप्रभो! अब आप इस सम्पूर्ण वनको चारों ओरसे घेरकर आज ही इच्छानुसार जलाइये। हम आपकी सहायताके लिये तैयार हैं ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् दाशार्हेणार्जुनेन च ।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निने तेजोमय रूप धारण करके खाण्डववनको सब ओरसे जलाना आरम्भ कर दिया ॥ ३४ ॥

सर्वतः परिवार्याथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तथा ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ॥ ३५ ॥

सात ज्वालामयी जिह्वाओंवाले अग्निदेव खाण्डववनको सब ओरसे घेरकर महाप्रलयका-सा दृश्य उपस्थित करते हुए जलाने लगे ॥ ३५ ॥

प्रतिगृह्य समाविश्य तद् वनं भरतर्षभ ।
मेघस्तनितनिर्घोषः सर्वभूतान्यकम्पयत् ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस वनको चारों ओरसे अपनी लपटोंमें लपेटकर और उसके भीतरी भागमें भी व्याप्त होकर अग्निदेव मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष करते हुए समस्त प्राणियोंको कँपाने लगे ॥ ३६ ॥

दह्यतस्तस्य च बभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्यांशुमतोंऽशुभिः ॥ ३७ ॥

भारत ! उस जलते हुए खाण्डववनका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त पर्वतराज मेरुका सम्पूर्ण कलेवर उद्दीप्त हो उठा हो ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि गाण्डीवादिदाने चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें गाण्डीवादिदानविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

खाण्डववनमें जलते हुए प्राणियोंकी दुर्दशा और इन्द्रके द्वारा जल बरसाकर आग बुझानेकी चेष्टा

वैशम्पायन उवाच

तौ रथाभ्यां रथश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ वीर दो रथोंपर बैठकर खाण्डववनके दोनों ओर खड़े हो गये और सब दिशाओंमें घूम-घूमकर प्राणियोंका महान् संहार करने लगे ॥ १ ॥



यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः ।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राभ्यधावताम् ॥ २ ॥

खाण्डववनमें रहनेवाले प्राणी जहाँ-जहाँ भागते दिखायी देते, वहीं-वहीं वे दोनों प्रमुख वीर उनका पीछा करते ॥ २ ॥

छिद्रं न स्म प्रपश्यन्ति रथयोराशुचारिणोः ।
आविद्धाविव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ॥ ३ ॥

(खाण्डववनके प्राणियोंको) शीघ्रतापूर्वक सब ओर दौड़नेवाले उन दोनों महारथियोंका छिद्र नहीं दिखायी देता था, जिससे वे भाग सकें। रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों रथारूढ़ वीर अलातचक्रकी भाँति सब ओर घूमते हुए ही दीख पड़ते थे ॥ ३ ॥

खाण्डवे दह्यमाने तु भूताः शतसहस्रशः ।
उत्पेतुर्भैरवान् नादान् विनदन्तः समन्ततः ॥ ४ ॥

जब खाण्डववनमें आग फैल गयी और वह अच्छी तरह जलने लगा, उस समय लाखों प्राणी भयानक चीत्कार करते हुए चारों ओर उछलने-कूदने लगे ॥ ४ ॥

दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथापरे ।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथापरे ॥ ५ ॥

बहुत-से प्राणियोंके शरीरका एक हिस्सा जल गया था, बहुतेरे आँचमें झुलस गये थे, कितनोंकी आँखें फूट गयी थीं और कितनोंके शरीर फट गये थे। ऐसी अवस्थामें भी सब भाग रहे थे ॥ ५ ॥

समालिङ्ग्य सुतानन्ये पितॄन् भ्रातॄनथापरे ।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ॥ ६ ॥

कोई अपने पुत्रोंको छातीसे चिपकाये हुए थे, कुछ प्राणी अपने पिता और भाइयोंसे सटे हुए थे। वे स्नेहवश एक दूसरेको छोड़ न सके और वहीं कालके गालमें समा गये ॥ ६ ॥

संदष्टदशनाश्चान्ये समुत्पेतुरनेकशः ।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ॥ ७ ॥

कुछ जानवर दाँत कटकटाते, बार-बार उछलते-कूदते और अत्यन्त चक्कर काटते हुए फिर आगमें ही पड़ जाते थे ॥ ७ ॥

दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनश्यन्तः शरीरिणः ॥ ८ ॥

कितने ही पक्षी पाँख, आँख और पञ्जोंके जल जानेसे धरतीपर गिरकर छटपटा रहे थे । स्थान-स्थानपर मरणोन्मुख जीव-जन्तु दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८ ॥

जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना ।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः समन्ततः ॥ ९ ॥

जलाशय आगसे तपकर काढ़ेकी भाँति खौल रहे थे । उनमें रहनेवाले कछुए और मछली आदि जीव सब ओर निर्जीव दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

शरीरैरपरे दीप्तैर्देहवन्त इवाग्नयः ।
अदृश्यन्त वने तत्र प्राणिनः प्राणिसंक्षये ॥ १० ॥

प्राणियोंके संहारस्थल बने हुए उस वनमें कितने ही प्राणी अपने जलते हुए अङ्गोंसे मूर्तिमान् अग्निके समान दीख पड़ते थे ॥ १० ॥

कांश्चिदुत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः ।
पातयामास विहगान् प्रदीप्ते वसुरेतसि ॥ ११ ॥

अर्जुनने कितने ही उड़ते हुए पक्षियोंको अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े करके प्रज्वलित आगमें झोंक दिया ॥ ११ ॥

ते शराचितसर्वाङ्गा निनदन्तो महारवान् ।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ॥ १२ ॥

पहले तो पक्षी बड़े वेगसे ऊपरको उड़ते, परंतु बाणोंसे सारा अङ्ग छिद जानेपर जोर-जोरसे आर्तनाद करते हुए पुनः खाण्डववनमें ही गिर पड़ते थे ॥ १२ ॥

शरैरभ्याहतानां च संघशः स्म वनौकसाम् ।
विरावः शुश्रुवे घोरः समुद्रस्येव मथ्यतः ॥ १३ ॥

बाणोंसे घायल हुए झुंड-के-झुंड वनवासी जीवोंका भयानक चीत्कार समुद्र-मन्थनके समय होनेवाले जल-जन्तुओंके करुण-क्रन्दनके समान जान पड़ता था ॥ १३ ॥

वह्नेश्चापि प्रदीप्तस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः ।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥

प्रज्वलित अग्निकी बड़ी-बड़ी लपटें आकाशमें ऊपरकी ओर उठने और देवताओंके मनमें बड़ा भारी भय उत्पन्न करने लगीं ॥ १४ ॥

तेनार्चिषा सुसंतप्ता देवाः सर्षिपुरोगमाः ।
ततो जग्मुर्महात्मानः सर्वे एव दिवौकसः ।
शतक्रतुं सहस्राक्षं देवेशमसुरार्दनम् ॥ १५ ॥

उस लपटसे संतप्त हुए देवता और महर्षि आदि सभी देवलोकवासी महात्मा असुरोंका नाश करनेवाले देवेश्वर सहस्राक्ष इन्द्रके पास गये ॥ १५ ॥

देवा ऊचुः

किं न्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना ।
कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ॥ १६ ॥

देवता बोले—अमरेश्वर ! अग्निदेव इन सब मनुष्योंको क्यों जला रहे हैं ? कहीं संसारका प्रलय तो नहीं आ गया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वृत्रहा तेभ्यः स्वयमेवान्ववेक्ष्य च ।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवताओंसे यह सुनकर वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्र स्वयं वह घटना देखकर खाण्डववनको आगके भयसे छुड़ानेके लिये चले ॥

महता रथवृन्देन नानारूपेण वासवः ।
आकाशं समवाकीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

उन्होंने अपने साथ अनेक प्रकारके विशाल रथ ले लिये और आकाशमें स्थित हो देवताओंके स्वामी वे इन्द्र जलकी वर्षा करने लगे ॥ १८ ॥

ततोऽक्षमात्रा व्यसृजन् धाराः शतसहस्रशः ।
चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति ॥ १९ ॥

देवराज इन्द्रसे प्रेरित होकर मेघ रथके धुरेके समान मोटी-मोटी असंख्य धाराएँ खाण्डववनमें गिराने लगे ॥ १९ ॥

असम्प्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः ।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित् पावकं गताः ॥ २० ॥

परंतु अग्निके तेजसे वे धाराएँ वहाँ पहुँचनेसे पहले आकाशमें ही सूख जाती थीं । अग्नितक कोई धारा पहुँची ही नहीं ॥ २० ॥

ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा ।
पुनरेव महामेघैरम्भांसि व्यसृजद् बहु ॥ २१ ॥

तब नमुचिनाशक इन्द्रदेव अग्निपर अत्यन्त कुपित हो पुनः बड़े-बड़े मेघोंद्वारा बहुत जलकी वर्षा कराने लगे ॥ २१ ॥

अर्चिर्धाराभिसम्बद्धं धूमविद्युत्समाकुलम् ।
बभूव तद् वनं घोरं स्तनयित्नुसमाकुलम् ॥ २२ ॥

आगकी लपटों और जलकी धाराओंसे संयुक्त होनेपर उस वनमें धुआँ उठने लगा । सब ओर बिजली चमकने लगी और चारों ओर मेघोंकी गड़गड़ाहटका शब्द गूँज उठा । इस प्रकार खाण्डववनकी दशा बड़ी भयंकर हो गयी ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि इन्द्रक्रोधे पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें इन्द्रकोपविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओं आदिके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तस्याथ वर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत् ।
शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वर्षा करते हुए इन्द्रकी उस जलधाराको पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने उत्तम अस्त्रका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी बौछारसे रोक दिया ॥ १ ॥

खाण्डवं च वनं सर्वं पाण्डवो बहुभिः शरैः ।
आच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव चन्द्रमाः ॥ २ ॥

अमित आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव अर्जुनने बहुत-से बाणोंकी वर्षा करके सारे खाण्डववनको ढँक दिया, जैसे कुहरा चन्द्रमाको ढक देता है ॥ २ ॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ।
संछाद्यमाने खे बाणैरस्यता सव्यसाचिना ॥ ३ ॥

सव्यसाची अर्जुनके चलाये हुए बाणोंसे सारा आकाश छा गया था; इसलिये कोई भी प्राणी उस वनसे निकल नहीं पाता था ॥ ३ ॥

तक्षकस्तु न तत्रासीन्नागराजो महाबलः ।
दह्यमाने वने तस्मिन् कुरुक्षेत्रं गतो हि सः ॥ ४ ॥

जब खाण्डववन जलाया ज़ा रहा था, उस समय महाबली नागराज तक्षक वहाँ नहीं था, कुरुक्षेत्र चला गया था ॥

अश्वसेनोऽभवत् तत्र तक्षकस्य सुतो बली ।
स यत्नमकरोत् तीव्रं मोक्षार्थं जातवेदसः ॥ ५ ॥

परंतु तक्षकका बलवान् पुत्र अश्वसेन वहीं रह गया था। उसने उस आगसे अपनेको छुड़ानेके लिये बड़ा भारी प्रयत्न किया ॥ ५ ॥

न शशाक स निर्गन्तुं निरुद्धोऽर्जुनपत्रिभिः ।
मोक्षयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा ॥ ६ ॥

किंतु अर्जुनके बाणोंसे रुँध जानेके कारण वह बाहर निकल न सका । उसकी माता सर्पिणीने उसे निगलकर उस आगसे बचाया ॥ ६ ॥

तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्य च ।
निगीर्यमाणा साक्रामत् सुतं नागी मुमुक्षया ॥ ७ ॥

उसने पहले उसका मस्तक निगल लिया । फिर धीरे-धीरे पूँछतकका भाग निगल गयी । निगलते-निगलते ही उस नागिनने पुत्रको बचानेके लिये आकाशमें उड़कर निकल भागनेकी चेष्टा की ॥ ७ ॥

तस्याः शरेण तीक्ष्णेन पृथुधारेण पाण्डवः ।
शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यच्छचीपतिः॥ ८ ॥

परंतु पाण्डुकुमार अर्जुनने मोटी धारवाले तीखे बाणसे उस भागती हुई सर्पिणीका मस्तक काट दिया । शचीपति इन्द्रने उसकी यह अवस्था अपनी आँखों देखी ॥ ८ ॥

तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम् ।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत ॥ ९ ॥

तब उसे छुड़ानेकी इच्छासे वज्रधारी इन्द्रने आँधी और वर्षा चलाकर पाण्डुकुमार अर्जुनको उस समय मोहित कर दिया । इतनेहीमें तक्षकका पुत्र अश्वसेन उस संकटसे मुक्त हो गया ॥ ९ ॥

तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः ।
द्विधा त्रिधा च खगतान् प्राणिनः पाण्डवोऽच्छिनत्॥ १०॥

तब उस भयानक मायाको देखकर नागसे ठगे गये पाण्डुपुत्र अर्जुनने आकाशमें उड़नेवाले प्राणियोंके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर डाले ॥ १० ॥

शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम् ।
पावको वासुदेवश्चाप्यप्रतिष्ठो भविष्यसि ॥ ११ ॥

फिर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने टेढ़ी चालसे चलनेवाले उस नागको शाप दिया—'अरे ! तू आश्रयहीन हो जायगा ।' अग्नि और श्रीकृष्णने भी उसका अनुमोदन किया ॥ ११ ॥

ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्याशुगैः शरैः ।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन् ॥ १२ ॥

तदनन्तर अपने साथ की हुई वञ्चनाको बार-बार स्मरण करके क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा आकाश-को आच्छादित करके इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥ १२ ॥

देवराजोऽपि तं दृष्ट्वा संरब्धं समरेऽर्जुनम् ।
स्वमस्त्रमसृजत् तीव्रं छादयित्वाखिलं नभः ॥ १३ ॥

देवराजने भी अर्जुनको युद्धमें कुपित देख सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित करते हुए अपने दुःसह अस्त्र (ऐन्द्रास्त्र) को प्रकट किया ॥ १३ ॥

ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन् सर्वसागरान् ।
वियत्स्थो जनयन् मेघाञ्जलधारासमाकुलान् ॥ १४ ॥

फिर तो बड़ी भारी आवाजके साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी । उसने समस्त समुद्रोंको क्षुब्ध करते हुए आकाशमें स्थित हो मुसलाधार पानी बरसानेवाले मेघोंको उत्पन्न किया ॥

ततोऽशनिमुचो घोरांस्तडित्स्तनितनिःस्वनान् ।
तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम् ॥ १५ ॥
वायव्यमभिमन्त्र्याथ प्रतिपत्तिविशारदः ।
तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद् विनाशितम् ॥ १६ ॥

वे भयंकर मेघ बिजलीकी कड़कड़ाहटके साथ धरतीपर वज्र गिराने लगे। उस अस्त्रके प्रतीकारकी विद्यामें कुशल अर्जुनने उन मेघोंको नष्ट करनेके लिये अभिमन्त्रित करके वायव्य नामक उत्तम अस्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रने इन्द्रके छोड़े हुए वज्र और मेघोंका ओज एवं बल नष्ट कर दिया ॥ १५-१६ ॥

जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः ।
क्षणेन चाभवद् व्योम सम्प्रशान्तरजस्तमः ॥ १७ ॥

जलकी वे सारी धाराएँ सूख गयीं और बिजलियाँ भी नष्ट हो गयीं। क्षणभरमें आकाश धूल और अन्धकारसे रहित हो गया ॥ १७ ॥

सुखशीतानिलवहं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम् ।
निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग् विविधाकृतिः ॥ १८ ॥
सिच्यमानो वसौघैस्तैः प्राणिनां देहनिःसृतैः ।
प्रजज्वालाथ सोऽर्चिष्मान् स्वनादैः पूरयञ्जगत् ॥ १९ ॥

सुखदायिनी शीतल हवा चलने लगी। सूर्यमण्डल स्वाभाविक स्थितिमें दिखायी देने लगा। अग्निदेव प्रतीकार-शून्य होनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए और अनेक रूपोंमें प्रकट हो प्राणियोंके शरीरसे निकली हुई बसाके समूहसे अभिषिक्त होकर बड़ी-बड़ी लपटोंके साथ प्रज्वलित हो उठे। उस समय अपनी आवाजसे वे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दावमहंकृताः ।
खमुत्पेतुर्महाराज सुपर्णाद्याः पतत्त्रिणः ॥ २० ॥

महाराज! उस खाण्डववनको श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सुरक्षित देख अहंकारसे युक्त सुन्दर पंख आदि अङ्गोंवाले पक्षी आकाशमें उड़ने लगे ॥ २० ॥

गरुत्मान् वज्रसदृशैः पक्षतुण्डनखैस्तथा ।
प्रहर्तुकामो न्यपतदाकाशात् कृष्णपाण्डवौ ॥ २१ ॥

एक गरुडजातीय[1] पक्षी वज्रके समान पाँख, चोंच और पंजोंसे प्रहार करनेकी इच्छा रखकर आकाशसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर झपटा ॥ २१ ॥

तथैवोरगसङ्घाताः पाण्डवस्य समीपतः ।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः ॥ २२ ॥

इसी प्रकार प्रज्वलित मुखवाले नागोंके समुदाय भी पाण्डव अर्जुनके समीप भयानक जहर उगलते हुए उनकी ओर टूट पड़े ॥ २२ ॥

तांश्चकर्त शरैः पार्थः सरोषाग्निसमुक्षितैः ।
विविशुश्चापि तं दीप्तं देहाभावाय पावकम् ॥ २३ ॥

यह देख अर्जुनने रोषाग्निप्रेरित बाणोंद्वारा उन सबके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और वे सभी अपने शरीरको भस्म करनेके लिये उस जलती हुई आगमें समा गये ॥ २३ ॥

ततोऽसुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग युद्धके लिये उत्सुक हो अनुपम गर्जना करते हुए वहाँ दौड़े आये ॥

अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः ।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसम्मूर्छितौजसः ॥ २५ ॥

किन्हींके हाथमें लोहेकी गोली छोड़नेवाले यन्त्र (तोप, बंदूक आदि) थे और कुछ लोगोंने हाथोंमें चक्र, पत्थर एवं भुशुण्डी उठा रक्खी थी। क्रोधाग्निसे बढ़े हुए तेजवाले वे सब-के-सब श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालना चाहते थे ॥ २५ ॥

तेषामतिव्याहरतां शस्त्रवर्षं प्रमुञ्चताम् ।
प्रममाथोत्तमाङ्गानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥

वे लोग बड़ी-बड़ी डींग हाँकते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उस समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे उन सबके सिर उड़ा दिये ॥ २६ ॥

कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणारिविनाशनः ।
दैत्यदानवसङ्घानां चकार कदनं महत् ॥ २७ ॥

शत्रुविनाशन महातेजस्वी श्रीकृष्णने भी चक्रद्वारा दैत्यों और दानवोंके समुदायका महान् संहार कर दिया ॥ २७ ॥

अथापरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तथा ।
वेलामिव समासाद्य व्यतिष्ठन्नमितौजसः ॥ २८ ॥

फिर दूसरे-दूसरे अमित तेजस्वी दैत्य-दानव बाणोंसे घायल और चक्रवेगसे कम्पित हो तटपर आकर रुक जानेवाली समुद्रकी लहरोंके समान एक सीमातक ही ठहर गये—आगे न बढ़ सके ॥ २८ ॥

ततः शक्रोऽतिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः ।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

तब देवताओंके महाराज इन्द्र श्वेत ऐरावतपर आरूढ़ हो अत्यन्त क्रोधपूर्वक उन दोनोंकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

वेगेनाशनिमादाय वज्रमस्त्रं च सोऽसृजत् ।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः ॥ ३० ॥

असुरसूदन इन्द्रने बड़े वेगसे अशनि-रूप अपना वज्रास्त्र उठाकर चला दिया और देवताओंसे कहा—'लो ये दोनों मारे गये' ॥ ३० ॥

ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम् ।
जगृहुः सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तथा ॥ ३१ ॥

देवराज इन्द्रको वह महान् वज्र उठाये देख देवताओंने भी अपने-अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र ले लिये ॥ ३१ ॥

कालदण्डं यमो राजन् गदां चैव धनेश्वरः ।
पाशांश्च तत्र वरुणो विचित्रां च तथाशनिम् ॥ ३२ ॥

१. यह विष्णुवाहन गरुडसे भिन्न था।

राजन्! यमराजने कालदण्ड, कुबेरने गदा तथा वरुणने पाश और विचित्र वज्र हाथमें ले लिये ॥ ३२ ॥

स्कन्दः शक्तिं समादाय तस्थौ मेरुरिवाचलः।
ओषधीर्दीप्यमानाश्च जगृहातेऽश्विनावपि ॥ ३३ ॥

देवताओंके सेनापति स्कन्द शक्ति हाथमें लेकर मेरु पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े हो गये। दोनों अश्विनीकुमारोंने भी चमकीली ओषधियाँ उठा लीं ॥ ३३ ॥

जगृहे च धनुर्धाता मुसलं तु जयस्तथा।
पर्वतं चापि जग्राह क्रुद्धस्त्वष्टा महाबलः ॥ ३४ ॥

धाताने धनुष लिया और जयने मुसल, क्रोधमें भरे हुए महाबली त्वष्टाने पर्वत उठा लिया ॥ ३४ ॥

अंशस्तु शक्तिं जग्राह मृत्युर्देवः परश्वधम्।
प्रगृह्य परिघं घोरं विचचारार्यमा अपि ॥ ३५ ॥

अंशने शक्ति हाथमें ले ली और मृत्युदेवने फरसा। अर्यमा भी भयानक परिघ लेकर युद्धके लिये विचरने लगे ॥

मित्रश्च क्षुरपर्यन्तं चक्रमादाय तस्थिवान्।
पूषा भगश्च संक्रुद्धः सविता च विशाम्पते ॥ ३६ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशाः कृष्णपार्थौ प्रदुद्रुवुः।

मित्र देवता जिसके किनारोंपर छुरे लगे हुए थे, वह चक्र लेकर खड़े हो गये। महाराज! पूषा, भग और क्रोधमें भरे हुए सविता धनुष और तलवार लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुनपर टूट पड़े ॥ ३६½ ॥

रुद्राश्च वसवश्चैव मरुतश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥
विश्वेदेवास्तथा साध्या दीप्यमानाः स्वतेजसा।
एते चान्ये च बहवो देवास्तौ पुरुषोत्तमौ ॥ ३८ ॥
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः प्रतीयुर्विविधायुधाः।

रुद्र, वसु, महाबली मरुद्गण, विश्वेदेव तथा अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले साध्यगण—ये और दूसरे बहुत-से देवता नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनकी ओर बढ़े ॥ ३७-३८½ ॥

तत्राद्भुतान्यदृश्यन्त निमित्तानि महाहवे ॥ ३९ ॥
युगान्तसमरूपाणि भूतसम्मोहनानि च।
तथा दृष्ट्वा सुसंरब्धं शक्रं देवैः सहाच्युतौ ॥ ४० ॥
अभीतौ युधि दुर्धर्षौ तस्थतुः सज्जकार्मुकौ।

उस महासंग्राममें प्रलयकालके समान रूपवाले तथा प्राणियोंको मोहमें डाल देनेवाले अद्भुत अपशकुन दिखायी देने लगे। देवताओंसहित इन्द्रको रोषमें भरा देख अपनी महिमासे च्युत न होनेवाले निर्भय तथा दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन धनुष तानकर युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ३९-४०½ ॥

आगच्छतस्ततो देवानुभौ युद्धविशारदौ ॥ ४१ ॥
व्यताडयेतां संक्रुद्धौ शरैर्वज्रोपमैस्तदा।

तदनन्तर वे दोनों युद्धकुशल वीर कुपित हो अपने वज्रोपम बाणोंद्वारा वहाँ आते हुए देवताओंको घायल करने लगे ॥ ४१½ ॥

असकृद् भग्नसंकल्पाः सुराश्च बहुशः कृताः ॥ ४२ ॥
भयाद् रणं परित्यज्य शक्रमेवाभिशिश्रियुः।

बहुतसे देवता बार-बार प्रयत्न करनेपर भी कभी सफलमनोरथ न हो सके। उनकी आशा टूट गयी और वे भयके मारे युद्ध छोड़कर इन्द्रकी ही शरणमें चले गये ॥ ४२½ ॥

दृष्ट्वा निवारितान् देवान् माधवेनार्जुनेन च ॥ ४३ ॥
आश्चर्यमगमंस्तत्र मुनयो नभसि स्थिताः।

श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा देवताओंकी गति कुण्ठित हुई देख आकाशमें खड़े हुए महर्षिगण बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ ४३½ ॥

शक्रश्चापि तयोर्वीर्यमुपलभ्यासकृद् रणे ॥ ४४ ॥
बभूव परमप्रीतो भूयश्चैतावयोधयत्।

इन्द्र भी उस युद्धमें बार-बार उन दोनों वीरोंका पराक्रम देख बड़े प्रसन्न हुए और पुनः उन दोनोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४४½ ॥

ततोऽश्मवर्षं सुमहद् व्यसृजत् पाकशासनः ॥ ४५ ॥
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः।

तदनन्तर इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उनपर पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥ ४५½ ॥

तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षितः ॥ ४६ ॥
विफलं क्रियमाणं तत् समवेक्ष्य शतक्रतुः।
भूयः संवर्धयामास तद्वर्षं पाकशासनः ॥ ४७ ॥

अर्जुनने अत्यन्त अमर्षमें भरकर अपने बाणोंद्वारा वह सारी वर्षा नष्ट कर दी। सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले पाकशासन इन्द्रने उस पत्थरोंकी वर्षाको विफल हुई देख पुनः पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा की ॥ ४६-४७ ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगैरिषुभिः पाकशासनिः।
विलयं गमयामास हर्षयन् पितरं तथा ॥ ४८ ॥

यह देख इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने पिताका हर्ष बढ़ाते हुए महान् वेगशाली बाणोंद्वारा पत्थरोंकी उस वृष्टिको फिर विलीन कर दिया ॥ ४८ ॥

तत उत्पाट्य पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत्।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥ ४९ ॥

इसके बाद इन्द्रने पाण्डुनन्दन अर्जुनको मारनेके लिये अपने दोनों हाथोंसे एक पर्वतका महान् शिखर वृक्षोंसहित उखाड़ लिया और उसे उनके ऊपर चलाया ॥ ४९ ॥

ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः।
शरैर्विध्वंसयामास गिरेः शृङ्गं सहस्रधा ॥ ५० ॥

यह देख अर्जुनने प्रज्वलित नोकवाले वेगवान् एवं सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा उस पर्वत-शिखरको हजारों टुकड़े करके गिरा दिया ॥ ५० ॥

गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः परिशीर्यतः ॥ ५१ ॥

छिन्न-भिन्न होकर गिरता हुआ वह पर्वतशिखर ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्य-चन्द्रमा आदि ग्रह आकाशसे टूटकर गिर रहे हों ॥ ५१ ॥

तेनाभिपतिता दावं शैलेन महता भृशम्।
शृङ्गेण निहतास्तत्र प्राणिनः खाण्डवालयाः ॥ ५२ ॥

वहाँ गिरे हुए उस महान् पर्वतशिखरके द्वारा खाण्डव वनमें निवास करनेवाले बहुतसे प्राणी मारे गये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि देवकृष्णार्जुनयुद्धे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें देवताओंके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२६ ॥

(मयदर्शनपर्व)

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंकी पराजय, खाण्डववनका विनाश और मयासुरकी रक्षा

वैशम्पायन उवाच

तथा शैलनिपातेन भीषिताः खाण्डवालयाः।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार पर्वत-शिखरके गिरनेसे खाण्डववनमें रहनेवाले दानव, राक्षस, नाग, चीते तथा रीछ आदि वनचर प्राणी भयभीत हो उठे ॥ १ ॥

द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा।
मृगाश्च महिषाश्चैव शतशः पक्षिणस्तथा ॥ २ ॥
समुद्विग्ना विससृपुस्तथान्या भूतजातयः।

मदकी धारा बहानेवाले हाथी, शार्दूल, केसरी, सिंह, मृग, भैंस, सैकड़ों पक्षी तथा दूसरी-दूसरी जातिके प्राणी अत्यन्त उद्विग्न हो इधर उधर भागने लगे ॥ २½ ॥

तं दावं समुदैक्षन्त कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ॥ ३ ॥
उत्पातनादशब्देन त्रासिता इव च स्थिताः।
ते वनं प्रसमीक्ष्याथ दह्यमानमनेकधा ॥ ४ ॥
कृष्णमभ्युद्यतास्त्रं च नादं मुमुचुरुल्बणम्।

उन्होंने उस जलते हुए वनको और मारनेके लिये अस्त्र उठाये श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको देखा। उत्पात और आर्तनादके शब्दसे उस वनमें खड़े हुए वे सभी प्राणी संत्रस्त-से हो उठे थे। उस वनको अनेक प्रकारसे दग्ध होते देख और अस्त्र उठाये हुए श्रीकृष्णपर दृष्टि डाल भयानक आर्तनाद करने लगे ॥ ३-४½ ॥

तेन नादेन रौद्रेण नादेन च विभावसोः ॥ ५ ॥
ररास गगनं कृत्स्नमुत्पातजलदैरिव।

उस भयंकर आर्तनाद और अग्निदेवकी गर्जनासे वहाँका सम्पूर्ण आकाश मानो उत्पातकालिक मेघोंकी गर्जनासे गूँज रहा था ॥ ५½ ॥

ततः कृष्णो महाबाहुः स्वतेजोभास्वरं महत् ॥ ६ ॥
चक्रं व्यसृजदत्युग्रं तेषां नाशाय केशवः।

तब महाबाहु श्रीकृष्णने अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले उस अत्यन्त भयंकर महान् चक्रको उन दैत्य आदि प्राणियोंके विनाशके लिये छोड़ा ॥ ६½ ॥

तेनार्ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः ॥ ७ ॥
निकृत्ताः शतशः सर्वा निपेतुरनलं क्षणात्।

उस चक्रके प्रहारसे पीड़ित हो दानव, निशाचर आदि समस्त क्षुद्र प्राणी सौ-सौ टुकड़े होकर क्षणभरमें आगमें गिर गये ॥ ७½ ॥

तत्रादृश्यन्त ते दैत्याः कृष्णचक्रविदारिताः ॥ ८ ॥
वसारुधिरसम्पृक्ताः संध्यायामिव तोयदाः।

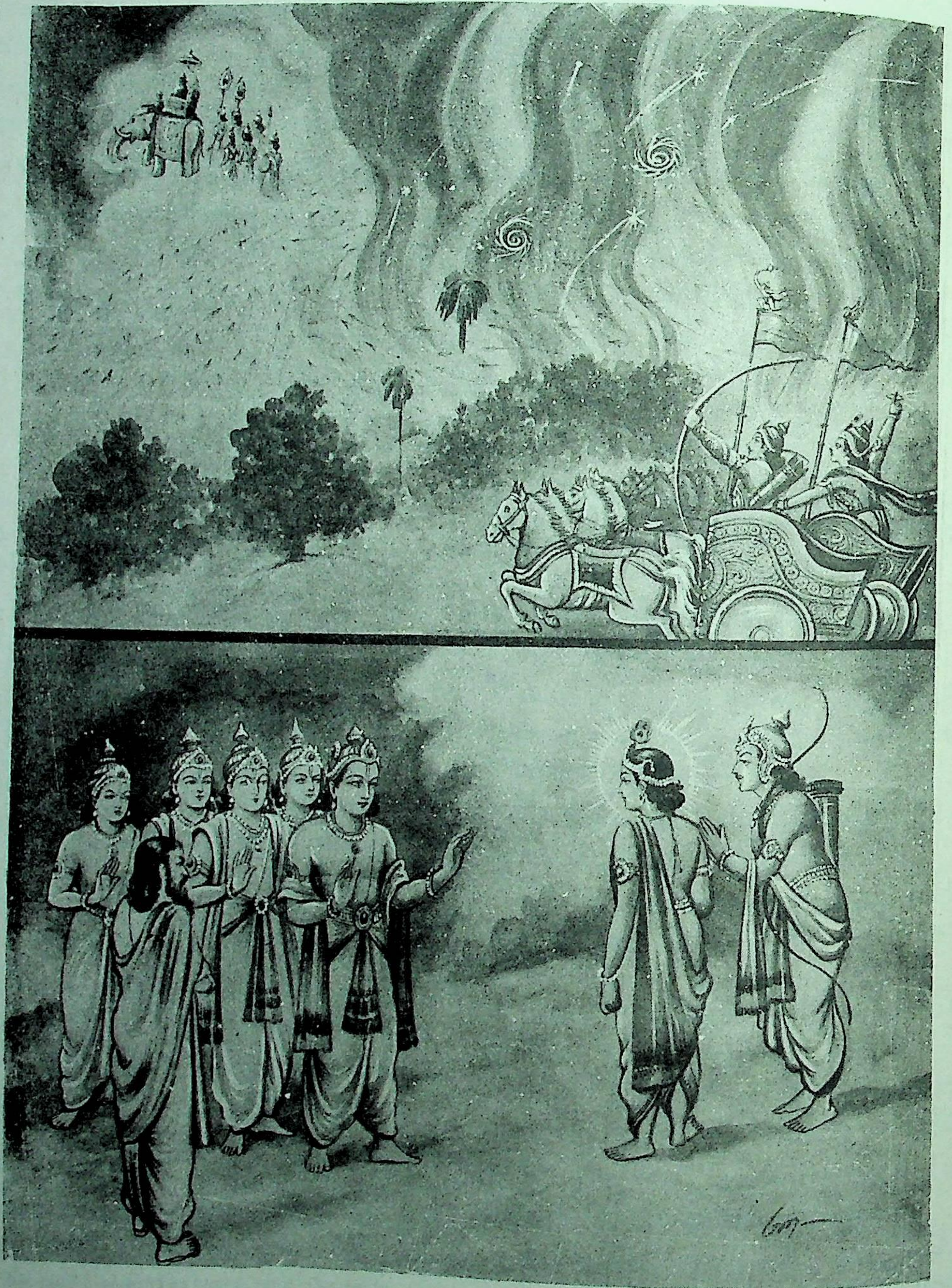
श्रीकृष्णके चक्रसे विदीर्ण हुए दैत्य मेदा तथा रक्तमें सनकर संध्याकालके मेघोंकी भाँति दिखायी देने लगे ॥ ८½ ॥

पिशाचान् पक्षिणो नागान् पशूंश्चैव सहस्रशः ॥ ९ ॥
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत् तत्र भारत।

भारत ! भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ सहस्रों पिशाचों, पक्षियों, नागों तथा पशुओंका वध करते हुए कालके समान विचर रहे थे ॥ ९½ ॥

क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्यामित्रघातिनः ॥ १० ॥
छित्त्वानेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः।

श्रीकृष्ण और अर्जुनका देवताओंसे युद्ध



अर्जुन और श्रीकृष्णको इन्द्रका वरदान

शत्रुघाती श्रीकृष्णके द्वारा बार-बार चलाया हुआ वह चक्र अनेक प्राणियोंका संहार करके पुनः उनके हाथमें चला आता था ॥ १०½ ॥

तथा तु निघ्नतस्तस्य पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ११ ॥
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ।

इस प्रकार पिशाच, नाग तथा राक्षसोंका संहार करनेवाले सर्वभूतात्मा भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप उस समय बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ११½ ॥

समेतानां च सर्वेषां दानवानां च सर्वशः ॥ १२ ॥
विजेता नाभवत् कश्चित् कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ।

वहाँ सब ओरसे सम्पूर्ण दानव एकत्र हो गये थे, तथापि उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं निकला, जो युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको जीत सके ॥ १२½ ॥

तयोर्बलात् परित्रातुं तं च दावं यदा सुराः ॥ १३ ॥
नाशक्नुवञ्छमयितुं तदाभूवन् पराङ्मुखाः ।

जब देवतालोग उन दोनोंके बलसे खाण्डववनकी रक्षा करने और उस आगको बुझानेमें सफल न हो सके, तब पीठ दिखाकर चल दिये ॥ १३½ ॥

शतक्रतुस्तु सम्प्रेक्ष्य विमुखानमरांस्तथा ॥ १४ ॥
बभूव मुदितो राजन् प्रशंसन् केशवार्जुनौ ।

राजन्! शतक्रतु इन्द्र देवताओंको विमुख हुआ देख श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए बड़े प्रसन्न हुए ॥ १४½ ॥

निवृत्तेष्वथ देवेषु वागुवाचाशरीरिणी ॥ १५ ॥
शतक्रतुं समाभाष्य महागम्भीरनिःस्वना ।

देवताओंके लौट जानेपर इन्द्रको सम्बोधित करके बड़े गम्भीर स्वरसे आकाशवाणी हुई—॥ १५½ ॥

न ते सखा संनिहितस्तक्षको भुजगोत्तमः ॥ १६ ॥
दाहकाले खाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ ।

'वासव ! तुम्हारे सखा नागप्रवर तक्षक इस समय यहाँ नहीं हैं। वे खाण्डवदाहके समय कुरुक्षेत्र चले गये थे॥१६½॥

न च शक्यौ युधा जेतुं कथंचिदपि वासव ॥ १७ ॥
वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम ।
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिवि श्रुतौ ॥ १८ ॥
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ ।
नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि ॥ १९ ॥

'भगवान् वासुदेव तथा अर्जुनको किसी प्रकार युद्धसे जीता नहीं जा सकता। मेरे कहनेसे तुम इस बातको समझ लो। ये दोनों पहलेके देवता नर और नारायण हैं। देवलोकमें भी इनकी ख्याति है। इनका बल और पराक्रम कैसा है, यह तुम भी जानते हो। ये अपराजित और दुर्धर्ष वीर हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें किसीके द्वारा भी ये युद्धमें जीते नहीं जा सकते ॥ १७–१९ ॥

अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ।
पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः ॥ २० ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिंनरपन्नगैः ।

'ये दोनों पुरातन ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण सम्पूर्ण देवताओं, असुरों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, मनुष्यों, किन्नरों तथा नागोंके लिये भी परम पूजनीय हैं ॥ २०½ ॥

तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव ॥ २१ ॥
दिष्टं चाप्यनुपश्यैतत् खाण्डवस्य विनाशनम् ।

'अतः इन्द्र ! तुम्हें देवताओंके साथ यहाँसे चले जाना ही उचित है। खाण्डववनके इस विनाशको तुम प्रारब्धका ही कार्य समझो' ॥ २१½ ॥

इति वाक्यमुपश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः ॥ २२ ॥
क्रोधामर्षौ समुत्सृज्य सम्प्रतस्थे दिवं तदा ।

यह आकाशवाणी सुनकर देवराज इन्द्रने इसे ही सत्य माना और क्रोध तथा अमर्ष छोड़कर वे उसी समय स्वर्गलोकको लौट गये ॥ २२½ ॥

तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः ॥ २३ ॥
सहिताः सेनया राजन्ननुजग्मुः पुरंदरम् ।

राजन् ! महात्मा इन्द्रको वहाँसे प्रस्थान करते देख समस्त स्वर्गवासी देवता सेनासहित उनके पीछे-पीछे चले गये ॥ २३½ ॥

देवराजं तदा यान्तं सह देवैरवेक्ष्य तु ॥ २४ ॥
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ।

उस समय देवताओंसहित देवराज इन्द्रको जाते देख वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनने सिंहनाद किया ॥ २४½ ॥

देवराजे गते राजन् प्रहृष्टौ केशवार्जुनौ ॥ २५ ॥
निर्विशङ्कं वनं वीरौ दाहयामासतुस्तदा ।

राजन् ! देवराजके चले जानेपर वीरवर केशव तथा अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो उस समय बेखटके खाण्डववनका दाह कराने लगे ॥ २५½ ॥

स मारुत इवाभ्राणि नाशयित्वार्जुनः सुरान् ॥ २६ ॥
व्यधमच्छरसङ्घातैर्देहिनः खाण्डवालयान् ।

जैसे प्रबल वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने देवताओंको भगाकर अपने बाणोंके समुदायसे खाण्डववासी प्राणियोंको मारना आरम्भ किया ॥ २६½ ॥

न च स किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ॥ २७ ॥
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ।

सव्यसाची अर्जुनके बाण चलाते समय उनके बाणोंसे

कट जानेके कारण कोई भी जीव वहाँसे बाहर न निकल सका ॥

नाशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ॥ २८ ॥
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे ।
शतं चैकेन विव्याध शतेनैकं पतत्त्रिणाम् ॥ २९ ॥

अमोघ अस्त्रधारी अर्जुनको उस समय बड़े-से-बड़े प्राणी देख भी न सके, फिर रणभूमिमें युद्ध तो कर ही कैसे सकते थे। वे कभी एक ही बाणसे सैकड़ोंको बींध डालते थे और कभी एकहीको सौ बाणोंसे घायल कर देते थे ॥ २८-२९ ॥

व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात् कालहता इव ।
न चालभन्त ते शर्म रोधस्सु विषमेषु च ॥ ३० ॥

वे सभी प्राणी प्राणशून्य होकर साक्षात् कालसे मारे हुएकी भाँति आगमें गिर पड़ते थे। वे वनके किनारे हों या दुर्गम स्थानोंमें हों, कहीं भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ३० ॥

पितृदेवनिवासेषु संतापश्चाप्यजायत ।
भूतसङ्घाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ॥ ३१ ॥

पितरों और देवताओंके लोकमें भी खाण्डववनके दाहकी गर्मी पहुँचने लगी। बहुतेरे प्राणियोंके समुदाय कातर हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ ३१ ॥

रुरुदुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः ।
तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ॥ ३२ ॥

हाथी, मृग और चीते भी रोदन करते थे। उनके आर्तनादसे गङ्गा तथा समुद्रके भीतर रहनेवाले मत्स्य भी थर्रा उठे ॥ ३२ ॥

विद्याधरगणाश्चैव ये च तत्र वनौकसः ।
न त्वर्जुनं महाबाहो नापि कृष्णं जनार्दनम् ॥ ३३ ॥
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद् योद्धुं कुतः पुनः ।

उस वनमें रहनेवाले जो विद्याधर-जातिके लोग थे, उनकी भी यही दशा थी। महाबाहो! उस समय कोई श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता था; फिर युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ॥ ३३½ ॥

एकायनगता येऽपि निष्पेतुस्तत्र केचन ॥ ३४ ॥
राक्षसा दानवा नागा जघ्ने चक्रेण तान् हरिः ।

जो कोई राक्षस, दानव और नाग वहाँ एक साथ सङ्घ बनाकर निकलते थे, उन सबको भगवान् श्रीहरि चक्रद्वारा मार देते थे ॥ ३४½ ॥

ते तु भिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद् गतासवः ॥ ३५ ॥
पेतुरन्ये महाकायाः प्रदीप्ते वसुरेतसि ।

वे तथा दूसरे विशालकाय प्राणी चक्रके वेगसे शरीर और मस्तक छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण निर्जीव हो प्रज्वलित आगमें गिर पड़ते थे ॥ ३५½ ॥

स मांसरुधिरौघैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ॥ ३६ ॥
उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत ।
दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च सम्प्रदीप्तमहाननः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वनजन्तुओंके मांस, रुधिर और मेदेके समूहसे अत्यन्त तृप्त हो अग्निदेव ऊपर आकाशचारी होकर धूमरहित हो गये। उनकी आँखें चमक उठीं, जिह्वामें दीप्ति आ गयी और उनका विशाल मुख भी अत्यन्त तेजसे प्रकाशित होने लगा ॥ ३६-३७ ॥

दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन् प्राणभृतां वसाम् ।
तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः ॥ ३८ ॥
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः ।

उनके चमकीले केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे, आँखें पिंगलवर्णकी थीं और वे प्राणियोंके मेदेका रस पी रहे थे। श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिया हुआ वह इच्छानुसार भोजन पाकर अग्निदेव बड़े प्रसन्न और पूर्ण तृप्त हो गये। उन्हें बड़ी शान्ति मिली ॥ ३८½ ॥

तथासुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ॥ ३९ ॥
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ।

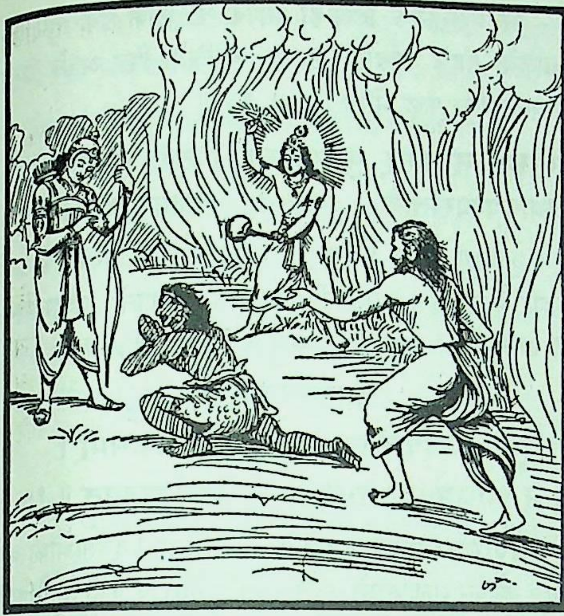
इसी समय तक्षकके निवासस्थानसे निकलकर सहसा भागते हुए मयासुरपर भगवान् मधुसूदनकी दृष्टि पड़ी। ३९½।

तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ॥ ४० ॥
शरीरवाञ्जटी भूत्वा नदन्निव बलाहकः ।

वातसारथि अग्निदेव मूर्तिमान् हो सिरपर जटा धारण किये मेघके समान गर्जना करने लगे और उस असुरको जला डालनेकी इच्छासे माँगने लगे ॥ ४०½ ॥

विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम् ॥ ४१ ॥
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः ।
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ॥ ४२ ॥
अभिधावार्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाब्रवीत् ।

मय दानवेन्द्रोंके शिल्पियोंमें श्रेष्ठ था, उसे पहचानकर भगवान् वासुदेव उसका वध करनेके लिये चक्र लेकर खड़े हो गये। मयने देखा एक ओर मुझे मारनेके लिये चक्र उठा है, दूसरी ओर अग्निदेव मुझे भस्म कर डालना चाहते हैं; तब वह अर्जुनकी शरणमें गया और बोला—'अर्जुन! दौड़ो मुझे बचाओ, बचाओ' ॥ ४१-४२½ ॥



तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनंजयः ॥ ४३ ॥
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ।

भारत ! उसका भययुक्त स्वर सुनकर कुन्तीकुमार धनंजयने उसे जीवनदान देते हुए कहा—'डरो मत' ॥ ४३½ ॥

तं न भेतव्यमित्याह मयं पार्थो दयापरः ॥ ४४ ॥

अर्जुनके मनमें दया आ गयी थी, अतः उन्होंने मयासुरसे फिर कहा—'तुम्हें डरना नहीं चाहिये' ॥ ४४ ॥

तं पार्थेनाभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद् दाशार्हः पावको न ददाह च ॥ ४५ ॥

अर्जुनके अभय-दान देनेपर भगवान् श्रीकृष्णने नमुचिके भ्राता मयासुरको मारनेकी इच्छा त्याग दी और अग्निदेवने भी उसे नहीं जलाया ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वनं पावको धीमान् दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परम बुद्धिमान् अग्निदेवने श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा इन्द्रके आक्रमणसे सुरक्षित रहकर खाण्डववनको पंद्रह दिनोंतक जलाया ॥ ४६ ॥

तस्मिन् वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा ॥ ४७ ॥

उस वनके जलाये जाते समय अश्वसेन नाग, मयासुर तथा चार शार्ङ्गक नामवाले पक्षियोंको अग्निने नहीं जलाया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि मयदानवत्राणे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें मयदानवकी रक्षाविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोपाख्यान—मन्दपाल मुनिके द्वारा जरिता-शार्ङ्गिकासे पुत्रोंकी उत्पत्ति और उन्हें बचानेके लिये मुनिका अग्निदेवकी स्तुति करना

जनमेजय उवाच

किमर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन् वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतत् प्रचक्ष्व मे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार सारे वनके जलाये जानेपर भी अग्निदेवने उन चारों शार्ङ्गकोंको क्यों दग्ध नहीं किया ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणां न कीर्तितम् ॥ २ ॥

विप्रवर ! आपने अश्वसेन नाग तथा मयदानवके न जलनेका कारण तो बताया है; परंतु शार्ङ्गकोंके दग्ध न होनेका कारण नहीं कहा है ॥ २ ॥

तदेतदद्भुतं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणामनामयम् ।
कीर्तयस्वाग्निसम्मर्दे कथं ते न विनाशिताः ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! उस भयानक अग्निकाण्डमें उन शार्ङ्गकोंका सकुशल बच जाना, यह बड़े आश्चर्यकी बात है । कृपया बताइये, उनका नाश कैसे नहीं हुआ ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

यदर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि यथाभूतमरिंदम ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! वैसे भयंकर अग्निकाण्डमें भी अग्निदेवने जिस कारणसे शार्ङ्गकोंको दग्ध नहीं किया और जिस प्रकार वह घटना घटित हुई, वह सब मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान् मन्दपाल इति श्रुतः ॥ ५ ॥

मन्दपाल नामसे विख्यात एक विद्वान् महर्षि थे । वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ और कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे ॥ ५ ॥

स मार्गमाश्रितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
स्वाध्यायवान् धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

राजन्! वे ऊर्ध्वरेता मुनियोंके मार्ग (ब्रह्मचर्य) का आश्रय लेकर सदा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न और धर्मपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर लिया था और वे सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे ॥ ६ ॥

स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम् ॥ ७ ॥

भारत! वे अपनी तपस्याको पूरी करके शरीरका त्याग करनेपर पितृलोकमें गये; किंतु वहाँ उन्हें अपने तप एवं सत्कर्मोंका फल नहीं मिला ॥ ७ ॥

स लोकानफलान् दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान् दिवौकसः ॥ ८ ॥

उन्होंने तपस्याद्वारा वशमें किये हुए लोकोंको भी निष्फल देखकर धर्मराजके पास बैठे हुए देवताओंसे पूछा ॥ ८ ॥

मन्दपाल उवाच

किमर्थमावृता लोका ममैते तपसार्जिताः।
किं मया न कृतं तत्र यस्यैतत् कर्मणः फलम् ॥ ९ ॥

मन्दपाल बोले—देवताओ! मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए ये लोक बंद क्यों हैं? (उपभोगके साधनोंसे शून्य क्यों हैं?) मैंने वहाँ कौन-सा सत्कर्म नहीं किया है, जिसका फल मुझे इस रूपमें मिला है ॥ ९ ॥

तत्राहं तत् करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम्।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः ॥ १० ॥

जिसके लिये इस तपस्याका फल ढका हुआ है, मैं उस लोकमें जाकर वह कर्म करूँगा। आपलोग मुझसे उसको बताइये ॥ १० ॥

देवा ऊचुः

ऋणिनो मानवा ब्रह्मन् जायन्ते येन तच्छृणु।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः ॥ ११ ॥
तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा श्रुतैः।
तपस्वी यज्ञकृच्चासि न च ते विद्यते प्रजा ॥ १२ ॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! मनुष्य जिस ऋणसे ऋणी होकर जन्म लेते हैं, उसे सुनिये। यज्ञकर्म, ब्रह्मचर्य-पालन और प्रजाकी उत्पत्ति—इन तीनोंके लिये सभी मनुष्योंपर ऋण रहता है, इसमें संशय नहीं है। यज्ञ, तपस्या और वेदाध्ययनके द्वारा वह सारा ऋण दूर किया जाता है। आप तपस्वी और यज्ञकर्ता तो हैं ही, आपके कोई संतान नहीं है ॥ ११-१२ ॥

त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्ष्यसि पुष्कलान् ॥ १३ ॥

अतः संतानके लिये ही आपके ये लोक ढके हुए हैं। इसलिये पहले संतान उत्पन्न कीजिये, फिर अपने प्रचुर पुण्यलोकोंका फल भोगियेगा ॥ १३ ॥

पुंनाम्नो नरकात् पुत्रस्त्रायते पितरं श्रुतिः।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व ब्रह्मसत्तम ॥ १४ ॥

श्रुतिका कथन है कि पुत्र 'पुत्' नामक नरकसे पिताका उद्धार करता है। अतः विप्रवर! आप अपनी वंशपरम्पराको अविच्छिन्न बनानेका प्रयत्न कीजिये ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम्।
क्व नु शीघ्रमपत्यं स्याद् बहुलं चेत्यचिन्तयत् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवताओंका वह वचन सुनकर मन्दपालने बहुत सोचा-विचारा कि कहाँ जानेसे मुझे शीघ्र संतान होगी ॥ १५ ॥

स चिन्तयन्नभ्यगच्छत् सुबहुप्रसवान् खगान्।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गिको भूत्वा जरितां समुपेयिवान् ॥ १६ ॥

यह सोचते हुए वे अधिक बच्चे देनेवाले पक्षियोंके यहाँ गये और शार्ङ्गिक होकर जरिता नामवाली शार्ङ्गिकासे सम्बन्ध स्थापित किया ॥ १६ ॥

तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः।
तानपास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति ॥ १७ ॥
बालान् स तानण्डगतान् सह मात्रा मुनिर्वने।

जरिताके गर्भसे चार ब्रह्मवादी पुत्रोंको मुनिने जन्म दिया। अंडेमें पड़े हुए उन बच्चोंको मातासहित वहीं छोड़कर वे मुनि वनमें लपिताके पास चले गये ॥ १७½ ॥

तस्मिन् गते महाभागे लपितां प्रति भारत ॥ १८ ॥
अपत्यस्नेहसंयुक्ता जरिता बह्वचिन्तयत्।

भारत! महाभाग मन्दपाल मुनिके लपिताके पास चले जानेपर संतानके प्रति स्नेहयुक्त जरिताको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १८½ ॥

तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान् वने ॥ १९ ॥
न जहौ पुत्रशोकार्ता जरिता खाण्डवे सुतान्।
बभार चैतान् संजातान् स्ववृत्त्या स्नेहविक्लवा ॥ २० ॥

अंडेमें स्थित उन मुनियोंको यद्यपि मन्दपालने त्याग दिया था, तो भी वे त्यागने योग्य नहीं थे। अतः पुत्र-शोकसे पीड़ित हुई जरिताने खाण्डववनमें अपने पुत्रोंको नहीं छोड़ा। वह स्नेहसे विह्वल होकर अपनी वृत्तिद्वारा उन नवजात शिशुओंका भरण-पोषण करती रही ॥ १९-२० ॥

ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्टवानृषिः।
मन्दपालश्चरंस्तस्मिन् वने लपितया सह ॥ २१ ॥

उधर वनमें लपिताके साथ विचरते हुए मन्दपाल मुनिने अग्निदेवको खाण्डववनका दाह करनेके लिये आते देखा ॥

तं संकल्पं विदित्वाग्नेर्ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान्।
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ॥ २२ ॥
पुत्रान् प्रति वदन् भीतो लोकपालं महौजसम्।

अग्निदेवके संकल्पको जानकर और अपने पुत्रोंकी बाल्यावस्थाका विचार करके ब्रह्मर्षि मन्दपाल भयभीत होकर महातेजस्वी लोकपाल अग्निसे अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये निवेदन करते हुए (ईश्वरकी भाँति) उनकी स्तुति करने लगे ॥ २२½ ॥

मन्दपाल उवाच

त्वमग्ने सर्वलोकानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ॥ २३ ॥

मन्दपालने कहा—अग्निदेव ! आप सब लोकोंके मुख हैं, आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचाते हैं ॥ २३ ॥

त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक।
त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ॥ २४ ॥

पावक ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तस्तलमें गूढ़रूपसे विचरते हैं। विद्वान् पुरुष आपको एक (अद्वितीय ब्रह्मरूप) बताते हैं। फिर दिव्य, भौम और जठरानलरूपसे आपके त्रिविध स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं ॥ २४ ॥

त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन्।
त्वया विश्वमिदं सृष्टं वदन्ति परमर्षयः ॥ २५ ॥

आपको ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान—इन आठ मूर्तियोंमें विभक्त करके ज्ञानी पुरुषोंने आपको यज्ञवाहन बनाया है। महर्षि कहते हैं कि इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि आपने ही की है ॥ २५ ॥

त्वदृते हि जगत् कृत्स्नं सद्यो नश्येद्धुताशन।
तुभ्यं कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम् ॥ २६ ॥
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम्।

हुताशन ! आपके बिना सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा। ब्राह्मणलोग आपको नमस्कार करके अपनी पत्नियों और पुत्रोंके साथ कर्मानुसार प्राप्त की हुई सनातन गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २६½ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान् सविद्युतः ॥ २७ ॥

अग्ने ! आकाशमें विद्युत्के साथ मेघोंकी जो घटा घिर आती है, उसे भी आपका ही स्वरूप कहते हैं ॥ २७ ॥

दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः।
जातवेदस्त्वयैवेदं विश्वं सृष्टं महाद्युते ॥ २८ ॥

प्रलयकालमें आपसे ही भयंकर ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालती हैं। महान् तेजस्वी जातवेदा ! आपसे ही यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है ॥ २८ ॥

तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम्।
त्वयाऽऽपो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत् ॥ २९ ॥

तथा आपके ही द्वारा कर्मोंका विधान किया गया है और सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति भी आपसे ही हुई है। आपसे ही पूर्वकालमें जलकी सृष्टि हुई है और आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥ २९ ॥

त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत् सम्प्रतिष्ठितम्।
त्वमेव दहनो देव त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः ॥ ३० ॥
त्वमश्विनौ यमौ मित्रः सोमस्त्वमसि चानिलः।

आपहीमें हव्य और कव्य यथावत् प्रतिष्ठित हैं। देव ! आप ही दग्ध करनेवाले अग्नि, धारण-पोषण करनेवाले धाता और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति हैं। आप ही युगल अश्विनीकुमार, मित्र (सूर्य), चन्द्रमा और वायु हैं ॥ ३०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा तेन मन्दपालेन पावकः ॥ ३१ ॥
तुतोष तस्य नृपते मुनेरमिततेजसः।
उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मन्दपाल मुनिके इस प्रकार स्तुति करनेपर अग्निदेव उन अमिततेजस्वी महर्षिपर बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नचित्त होकर उनसे बोले—'मैं आपके किस अभीष्ट कार्यकी सिद्धि करूँ ?' ॥ ३१-३२ ॥

तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम्।
प्रदहन् खाण्डवं दावं मम पुत्रान् विसर्जय ॥ ३३ ॥

तब मन्दपालने हाथ जोड़कर हव्यवाहन अग्निसे कहा—'भगवन् ! आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दें' ॥ ३३ ॥

तथेति तत् प्रतिश्रुत्य भगवान् हव्यवाहनः।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ३४ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् हव्यवाहनने वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की और उस समय खाण्डववनको जलानेके लिये वे प्रज्वलित हो उठे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्यानेऽष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जरिताका अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये चिन्तित होकर विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रज्वलिते वह्नौ शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः।
व्यथिताः परमोद्विग्ना नाधिजग्मुः परायणम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर जब आग प्रज्वलित हुई, तब वे शार्ङ्गक शिशु बहुत दुखी, व्यथित और अत्यन्त उद्विग्न हो गये। उस समय उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं जान पड़ता था॥ १॥

निशम्य पुत्रकान् बालान् माता तेषां तपस्विनी।
जरिता शोकदुःखार्ता विललाप सुदुःखिता॥ २॥

उन बच्चोंको छोटे जानकर उनकी तपस्विनी माता शोक और दुःखसे आतुर हुई जरिता बहुत दुखी होकर विलाप करने लगी॥ २॥

जरितोवाच

अयमग्निर्दहन् कक्षमित आयाति भीषणः।
जगत् संदीपयन् भीमो मम दुःखविवर्धनः॥ ३॥

जरिता बोली—यह भयानक आग इस वनको जलाती हुई इधर ही बढ़ी आ रही है। जान पड़ता है, यह सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर डालेगी। इसका स्वरूप भयंकर और मेरे दुःखको बढ़ानेवाला है॥ ३॥

इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः।
अबर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणाः॥ ४॥

ये सांसारिक ज्ञानसे शून्य चित्तवाले शिशु मुझे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इन्हें पाँखें नहीं निकलीं और अभीतक ये पैरोंसे भी हीन हैं, हमारे पितरोंके ये ही आधार हैं॥ ४॥

त्रासयंश्चायमायाति लेलिहानो महीरुहान्।
अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम॥ ५॥

सबको त्रास देती और वृक्षोंको चाटती हुई यह आगकी लपट इधर ही चली आ रही है। हाय! मेरे बच्चे बिना पंखके हैं, मेरे साथ उड़ नहीं सकते॥ ५॥

आदाय च न शक्नोमि पुत्रांस्तरितुमात्मना।
न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे॥ ६॥

मैं स्वयं भी इन्हें लेकर इस आगसे पार नहीं हो सकूँगी। इन्हें छोड़ भी नहीं सकती। मेरे हृदयमें इनके लिये बड़ी व्यथा हो रही है॥ ६॥

कं तु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम्।
किं नु मे स्यात् कृतं कृत्वा मन्यध्वं पुत्रकाः कथम्॥ ७॥

मैं किस बच्चेको छोड़ दूँ और किसे साथ लेकर जाऊँ? क्या करनेसे कृतकृत्य हो सकती हूँ? मेरे बच्चो! तुमलोगोंकी क्या राय है?॥ ७॥

चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन।
छादयिष्यामि वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह॥ ८॥

मैं तुमलोगोंके छुटकारेका उपाय सोचती हूँ; किंतु कुछ भी समझमें नहीं आता। अच्छा; अपने अङ्गोंसे तुमलोगोंको ढँक लूँगी और तुम्हारे साथ ही मैं भी मर जाऊँगी॥ ८॥

जरितारौ कुलं ह्येतज्ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम्।
सारिसृक्वः प्रजायेत पितॄणां कुलवर्धनः॥ ९॥
स्तम्बमित्रस्तपः कुर्याद् द्रोणो ब्रह्मविदां वरः।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा॥ १०॥

पुत्रो! तुम्हारे निर्दयी पिता पहले ही यह कहकर चल दिये कि 'जरितारि ज्येष्ठ है, अतः इस कुलकी रक्षाका भार इसीपर होगा। दूसरा पुत्र सारिसृक्व अपने पितरोंके कुलकी वृद्धि करनेवाला होगा। स्तम्बमित्र तपस्या करेगा और द्रोण ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होगा'॥ ९-१०॥

कमुपादाय शक्येयं गन्तुं कष्टापदुत्तमा।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला।
नापश्यत् स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदानलात्॥ ११॥

हाय! मुझपर बड़ी भारी कष्टदायिनी आपत्ति आ पड़ी। इन चारों बच्चोंमेंसे किसको लेकर मैं इस आगको पार कर सकूँगी। क्या करनेसे मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है?

इस प्रकार विचार करते-करते जरिता अत्यन्त विह्वल हो गयी; परंतु अपने पुत्रोंको उस आगसे बचानेका कोई उपाय उस समय उसके ध्यानमें नहीं आया॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणां शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम्।
स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट्॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बिलखती हुई अपनी मातासे वे शार्ङ्गपक्षीके बच्चे बोले—'माँ! तुम स्नेह छोड़कर जहाँ आग न हो, उधर उड़ जाओ॥

अस्मास्विह विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात् कुलसंततिः॥ १३॥

'माँ! यदि हम यहाँ नष्ट हो जायँ तो भी तुम्हारे दूसरे बच्चे हो सकते हैं; परंतु तुम्हारे नष्ट हो जानेपर तो हमारे इस कुलकी परम्परा ही लुप्त हो जायगी॥ १३॥

अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद् यत् कुलस्य नः।
तद् वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत् तव॥ १४॥

'माँ ! इन दोनों बातोंपर विचार करके जिस प्रकार हमारे कुलका कल्याण हो, वही करनेको तुम्हारे लिये यह उत्तम अवसर है ॥ १४ ॥

मा त्वं सर्वविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः ।
न हीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितुः ॥ १५ ॥

'तुम हम सब पुत्रोंपर ऐसा स्नेह न करो, जिससे सबका विनाश हो जाय । उत्तम लोककी इच्छा रखनेवाले मेरे पिताका यह कर्म व्यर्थ न हो जाय' ॥ १५ ॥

जरितोवाच

इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्यास्य समीपतः ।
तदाविशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम् ॥ १६ ॥

जरिता बोली—मेरे बच्चो ! इस वृक्षके पास भूमिमें यह चूहेका बिल है । तुमलोग जल्दी-से-जल्दी इसके भीतर घुस जाओ । इसके भीतर तुम्हें आगसे भय नहीं है ॥ १६ ॥

ततोऽहं पांसुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः ।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः ॥ १७ ॥

तुमलोगोंके घुस जानेपर मैं इस बिलका छेद धूलसे बंद कर दूँगी । बच्चो ! मेरा विश्वास है, ऐसा करनेसे इस जलती आगसे तुम्हारा बचाव हो सकेगा ॥ १७ ॥

तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहन्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वो वादो मोक्षार्थं च हुताशनात् ॥ १८ ॥

फिर आग बुझ जानेपर मैं धूल हटानेके लिये यहाँ आ जाऊँगी । आगसे बचनेके लिये मेरी यह बात तुमलोगोंको पसंद आनी चाहिये ॥ १८ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

अबर्हान् मांसभूतान् नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत् ।
पश्यमाना भयमिदं प्रवेष्टुं नात्र शक्नुमः ॥ १९ ॥

शार्ङ्गक बोले—अभी हम बिना पंखोंके बच्चे हैं, हमारा शरीर मांसका लोथड़ामात्र है । चूहा मांसभक्षी जीव है, वह हमें नष्ट कर देगा । इस भयको देखते हुए हम इस बिलमें प्रवेश नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

कथमग्निर्न नो धक्ष्येत् कथमाखुर्न नाशयेत् ।
कथं न स्यात् पिता मोघः कथं माता ध्रियेत नः ॥ २० ॥

हम तो यह सोचते हैं कि क्या उपाय हो, जिससे अग्नि हमें न जलावे, चूहा हमें न मारे एवं हमारे पिताका संतानोत्पादनविषयक प्रयत्न निष्फल न हो और हमारी माता भी जीवित रहे ? ॥ २० ॥

बिल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम् ।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान् दाहो न भक्षणम् ॥ २१ ॥

बिलमें चूहेसे हमारा विनाश हो जायगा और आकाशमें उड़नेपर अग्निसे । इन दोनों परिणामोंपर विचार करनेसे हमें आगसे जल जाना ही श्रेष्ठ जान पड़ता है, चूहेका भोजन बनना नहीं ॥ २१ ॥

गर्हितं मरणं नः स्यादाखुना भक्षिते बिले ।
शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ॥ २२ ॥

यदि हमलोगोंको बिलमें चूहेने खा लिया तो वह हमारी निन्दित मृत्यु होगी । आगसे जलकर शरीरका परित्याग करनेके लिये शिष्ट पुरुषोंकी आज्ञा है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि जरिताविलापे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें जरिताविलापविषयक दो सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२२९॥

त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जरिता और उसके बच्चोंका संवाद

जरितोवाच

अस्माद् बिलान्निष्पतितमाखुं श्येनो जहार तम् ।
क्षुद्रं पद्भ्यां गृहीत्वा च यातो नात्र भयं हि वः ॥ १ ॥

जरिताने कहा—बच्चो ! चूहा इस बिलसे निकला था, उस समय उसे बाज उठा ले गया; उस छोटेसे चूहेको वह अपने दोनों पंजोंसे पकड़कर उड़ गया । अतः अब इस बिलमें तुम्हारे लिये भय नहीं है ॥ १ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाखुं कथंचन ।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः ॥ २ ॥

शार्ङ्गक बोले—हम किसी तरह यह नहीं समझ सकते कि बाज चूहेको उठा ले गया । उस बिलमें दूसरे चूहे भी तो हो सकते हैं; हमारे लिये तो उनसे भी भय ही है ॥ २ ॥

संशयो वह्निरागच्छेद् दृष्टं वायोर्निवर्तनम् ।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो बिले स्यान्नात्र संशयः ॥ ३ ॥

आग यहाँतक आयेगी, इसमें संदेह है; क्योंकि वायुके वेगसे अग्निका दूसरी ओर पलट जाना भी देखा गया है । परंतु बिलमें तो उसके भीतर रहनेवाले जीवोंसे हमारी मृत्यु होनेमें कोई संशय ही नहीं है ॥ ३ ॥

निःसंशयात् संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ ४ ॥

माँ ! संशयरहित मृत्युसे संशययुक्त मृत्यु अच्छी है (क्योंकि उसमें बच जानेकी भी आशा होती है); अतः तुम आकाशमें उड़ जाओ। तुम्हें फिर (धर्मानुकूल रीतिसे) सुन्दर पुत्रोंकी प्राप्ति हो जायगी ॥ ४ ॥

जरितोवाच

अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततां वरम्।
बिलादाखुं समादाय श्येनं पुत्रा महाबलम् ॥ ५ ॥
तं पतन्तं महावेगात् त्वरिता पृष्ठतोऽन्वगाम्।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात् ॥ ६ ॥

जरिताने कहा—बच्चो ! जब पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली बाज बिलसे चूहेको लेकर वेगपूर्वक उड़ा जा रहा था, उस समय महान् वेगसे उड़नेवाले उस बाजके पीछे मैं भी बड़ी तीव्र गतिसे गयी और बिलसे चूहेको लें जानेके कारण उसे आशीर्वाद देती हुई बोली—॥ ५-६ ॥

यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥

'श्येनराज ! तुम मेरे शत्रुको लेकर उड़े जा रहे हो, इसलिये स्वर्गमें जानेपर तुम्हारा शरीर सोनेका हो जाय और तुम्हारे कोई शत्रु न रह जाय' ॥ ७ ॥

स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाखुः पतत्रिणा।
तदाहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ॥ ८ ॥

जब उस पक्षिप्रवर बाजने चूहेको खा लिया, तब मैं उसकी आज्ञा लेकर पुनः घर लौट आयी ॥ ८ ॥

प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम्।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ॥ ९ ॥

अतः बच्चो ! तुमलोग विश्वासपूर्वक बिलमें घुसो। वहाँ तुम्हारे लिये भय नहीं है। महान् बाजने मेरी आँखोंके सामने ही चूहेका अपहरण किया था ॥ ९ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न विद्महे हृतं मातः श्येनेनाखुं कथंचन।
अविज्ञाय न शक्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः ॥ १० ॥

शार्ङ्क बोले—माँ ! बाजने चूहेको पकड़ लिया, इसको हम नहीं जानते और जाने बिना हम इस बिलमें कभी प्रवेश नहीं कर सकते ॥ १० ॥

जरितोवाच

अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम्।
नास्ति वोऽत्र भयं पुत्राः क्रियतां वचनं मम ॥ ११ ॥

जरिताने कहा—बेटो ! मैं जानती हूँ, बाजने अवश्य चूहेको पकड़ लिया। तुमलोग मेरी बात मानो। इस बिलमें तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ ११ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२ ॥

शार्ङ्क बोले—माँ ! तुम झूठे बहाने बनाकर हमें भयसे छुड़ानेकी चेष्टा न करो। संदिग्ध कार्योंमें प्रवृत्त होना बुद्धिमानीका काम नहीं है ॥ १२ ॥

न चोपकृतमस्माभिर्न चास्मान् वेत्थ ये वयम्।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान् का सती के वयं तव ॥ १३ ॥

हमने तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया है और हम पहले कौन थे, इस बातको भी तुम नहीं जानतीं। फिर तुम क्यों कष्ट सहकर हमारी रक्षा करना चाहती हो ? तुम हमारी कौन हो और हम तुम्हारे कौन हैं ? ॥ १३ ॥

तरुणी दर्शनीयासि समर्था भर्तुरेषणे।
अनुगच्छ पतिं मातः पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ १४ ॥

माँ ! अभी तुम्हारी तरुण अवस्था है, तुम दर्शनीय सुन्दरी हो और पतिके अन्वेषणमें समर्थ भी हो। अतः पतिका ही अनुसरण करो। तुम्हें फिर सुन्दर पुत्र मिल जायँगे ॥

वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान्।
अथास्मान् न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५ ॥

हम आगमें जलकर उत्तम लोक प्राप्त करेंगे और यदि अग्निने हमें नहीं जलाया तो तुम फिर हमारे पास चली आना ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनामयम् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बच्चोंके ऐसा कहनेपर शार्ङ्गी उन्हें खाण्डववनमें छोड़कर तुरंत ऐसे स्थानमें चली गयी, जहाँ आगसे कुशलपूर्वक बिना किसी कष्टके बच जानेकी सम्भावना थी ॥ १६ ॥

ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागात् त्वरितो हव्यवाहनः।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ॥ १७ ॥

तदनन्तर तीखी लपटोंवाले अग्निदेव तुरंत वहाँ आ पहुँचे, जहाँ मन्दपालके पुत्र शार्ङ्क पक्षी मौजूद थे ॥ १७ ॥

ततस्तं ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहंगमाः।
जरितारिस्ततो वाक्यं श्रावयामास पावकम् ॥ १८ ॥

तब उस जलती हुई आगको देखकर वे पक्षी आपसमें वार्तालाप करने लगे। उनमेंसे जरितारिने अग्निदेवको यह बात सुनायी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३० ॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोंके स्तवनसे प्रसन्न होकर अग्निदेवका उन्हें अभय देना

जरितारिरुवाच

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः।
स कृच्छ्रकालं सम्प्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित्॥ १॥

जरितारि बोला—बुद्धिमान् पुरुष संकटकाल आनेके पहले ही सजग हो जाता है, वह संकटका समय आ जानेपर कभी व्यथित नहीं होता॥ १॥

यस्तु कृच्छ्रमनुप्राप्तं विचेतां नावबुध्यते।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न श्रेयो विन्दते महत्॥ २॥

जो मूढ़चित्त जीव आनेवाले संकटको नहीं जानता, वह संकटके समय व्यथित होनेके कारण महान् कल्याणसे वञ्चित रह जाता है॥ २॥

सारिसृक्क उवाच

धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः।
प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः॥ ३॥

सारिसृक्कने कहा—भैया! तुम धीर और बुद्धिमान् हो और हमारे लिये यह प्राणसंकटका समय है (अतः इससे तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो); क्योंकि बहुतोंमें कोई एक ही बुद्धिमान् और शूरवीर होता है, इसमें संशय नहीं है॥ ३॥

स्तम्बमित्र उवाच

ज्येष्ठस्तातो भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान् किं करिष्यति॥ ४॥

स्तम्बमित्र बोला—बड़ा भाई पिताके तुल्य है, बड़ा भाई ही संकटसे छुड़ाता है। यदि बड़ा भाई ही आनेवाले भय और उससे बचनेके उपायको न जाने तो छोटा भाई क्या करेगा?॥ ४॥

द्रोण उवाच

हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम्।
सप्तजिह्वाननः क्रूरो लेलिहानो विसर्पति॥ ५॥

द्रोणने कहा—यह जाज्वल्यमान अग्नि हमारे घोंसलेकी ओर तीव्र वेगसे आ रहा है। इसके मुखमें सात जिह्वाएँ हैं और यह क्रूर अग्नि समस्त वृक्षोंको चाटता हुआ सब ओर फैल रहा है॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य तेऽन्योन्यं मन्दपालस्य पुत्रकाः।
तुष्टुवुः प्रयता भूत्वा यथाग्निं शृणु पार्थिव॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार आपसमें बातें करके मन्दपालके वे पुत्र एकाग्रचित्त हो अग्निदेवकी स्तुति करने लगे; वह स्तुति सुनो॥ ६॥

जरितारिरुवाच

आत्मासि वायोर्ज्वलन शरीरमसि वीरुधाम्।
योनिरापश्च ते शुक्रं योनिस्त्वमसि चाम्भसः॥ ७॥

जरितारिने कहा—अग्निदेव! आप वायुके आत्मस्वरूप और वनस्पतियोंके शरीर हैं। तृण-लता आदिकी योनि पृथ्वी और जल तुम्हारे वीर्य हैं, जलकी योनि भी तुम्हीं हो॥ ७॥

ऊर्ध्वं चाधश्च सर्पन्ति पृष्ठतः पार्श्वतस्तथा।
अर्चिषस्ते महावीर्य रश्मयः सवितुर्यथा॥ ८॥

महावीर्य! आपकी ज्वालाएँ सूर्यकी किरणोंके समान ऊपर-नीचे, आगे-पीछे तथा अगल-बगल सब ओर फैल रही हैं॥ ८॥

सारिसृक्क उवाच

माता प्रणष्टा पितरं न विद्मः
पक्षा जाता नैव नो धूमकेतो।
न नस्त्राता विद्यते वै त्वदन्य-
स्तस्मादस्मांस्त्राहि बालांस्त्वमग्ने॥ ९॥

सारिसृक्क बोला—धूममयी ध्वजासे सुशोभित अग्निदेव! हमारी माता चली गयी; पिताका भी हमें पता नहीं है और हमारे अभी पंखतक नहीं निकले हैं। हमारा आपके सिवा दूसरा कोई रक्षक नहीं है; अतः आप ही हम बालकोंकी रक्षा करें॥ ९॥

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः।
तेन नः परिपाहि त्वमार्त्तान् वै शरणैषिणः॥ १०॥

अग्ने! आपका जो कल्याणमय स्वरूप है तथा आपकी जो सात ज्वालाएँ हैं उन सबके द्वारा आप शरणमें आनेकी इच्छावाले हम आर्त प्राणियोंकी रक्षा कीजिये॥ १०॥

त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो
नान्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव।
ऋषीनस्मान् बालकान् पालयस्व
परेणास्मान् प्रेहि वै हव्यवाह॥ ११॥

जातवेदा! एकमात्र आप ही सर्वत्र तपते हैं। देव! सूर्यकी किरणोंमें तपनेवाला पुरुष भी आपसे भिन्न नहीं है। हव्यवाहन! हम बालक ऋषि हैं; हमारी रक्षा कीजिये। हमसे दूर चले जाइये॥ ११॥

स्तम्बमित्र उवाच

सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत्।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १२ ॥

स्तम्बमित्रने कहा—अग्ने ! एकमात्र आप ही सब कुछ हैं, यह सम्पूर्ण जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है। आप ही प्राणियोंका पालन और जगत्को धारण करते हैं ॥ १२ ॥

त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधापि च ॥ १३ ॥

आप ही अग्नि, आप ही हव्यका वहन करनेवाले और आप ही उत्तम हविष्य हैं। मनीषी पुरुष आपको ही अनेक और एकरूपमें स्थित जानते हैं ॥ १३ ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
काले प्राप्ते पचसि पुनः समिद्धः।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ १४ ॥

हव्यवाह ! आप इन तीनों लोकोंकी सृष्टि करके प्रलय-काल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार कर देते हैं। अतः अग्ने ! आप सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही इसके लयस्थान भी हैं ॥ १४ ॥

द्रोण उवाच

त्वमन्नं प्राणिभिर्भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते।
नित्यप्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

द्रोण बोला—जगत्पते ! आप ही शरीरके भीतर रहकर प्राणियोंद्वारा खाये हुए अन्नको सदा उद्दीप्त होकर पचाते हैं। सम्पूर्ण विश्व आपमें ही प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो
भूमेरम्भो भूमिजातान् रसांश्च।
विश्वानादाय पुनरुत्सृज्य काले
दृष्ट्वा वृष्ट्या भावयसीह शुक्र ॥ १६ ॥

शुक्लवर्णवाले सर्वज्ञ अग्निदेव ! आप ही सूर्य होकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जलको और सम्पूर्ण पार्थिव रसों-को ग्रहण करते हैं तथा पुनः समय आनेपर आवश्यकता देखकर वर्षाके द्वारा इस पृथ्वीपर जलरूपमें उन सब रसोंको प्रस्तुत कर देते हैं ॥ १६ ॥

त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधो हरितच्छदाः।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ॥ १७ ॥

उज्ज्वल वर्णवाले अग्ने ! फिर आपसे ही हरे-हरे पत्तोंवाले वनस्पति उत्पन्न होते हैं और आपसे ही पोखरियाँ तथा कल्याणमय महासागर पूर्ण होते हैं ॥ १७ ॥

इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम्।
शिवस्त्राता भवास्माकं मास्मानद्य विनाशय ॥ १८ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले अग्निदेव ! हमारा यह शरीररूप घर रसनेन्द्रियाधिपति वरुणदेवका आलम्बन है। आप आज शीतल एवं कल्याणमय बनकर हमारे रक्षक होइये; हमें नष्ट न कीजिये ॥ १८ ॥

पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन् हुताशन।
परेण प्रेहि मुञ्चास्मान् सागरस्य गृहानिव ॥ १९ ॥

पिंगल नेत्र तथा लोहित ग्रीवावाले हुताशन ! आप कृष्ण-वर्त्मा हैं। समुद्रतटवर्ती गृहोंकी भाँति हमें भी छोड़ दीजिये। दूरसे ही निकल जाइये ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेन ब्रह्मवादिना।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्मवादी द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना की जानेपर प्रसन्नचित्त हुए अग्निने मन्दपालसे की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण करके द्रोणसे कहा ॥

अग्निरुवाच

ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्म तद् व्याहृतं त्वया।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ॥ २१ ॥

अग्नि बोले—जान पड़ता है, तुम द्रोण ऋषि हो; क्योंकि तुमने उस ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। मैं तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करूँगा, तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ २१ ॥

मन्दपालेन वै यूयं मम पूर्वं निवेदिताः।
वर्जयेः पुत्रकान् मह्यं दहन् दावमिति स्म ह ॥ २२ ॥

मन्दपाल मुनिने पहले ही मुझसे तुमलोगोंके विषयमें निवेदन किया था कि 'आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दीजियेगा' ॥ २२ ॥

तस्य तद् वचनं द्रोण त्वया यच्चेह भाषितम्।
उभयं मे गरीयस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते।
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन् स्तोत्रेण सत्तम ॥ २३ ॥

द्रोण ! तुम्हारे पिताका वह वचन और तुमने यहाँ जो कुछ कहा है, वह भी मेरे लिये गौरवकी वस्तु है। बोलो, तुम्हारी और कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ ? ब्रह्मन् ! साधुशिरो-मणे ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे इस स्तोत्रसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २३ ॥

द्रोण उवाच

इमे मार्जारकाः शुक्र नित्यमुद्वेजयन्ति नः।
एतान् कुरुष्व दंष्ट्राग्धांस्त्वं हुताशन सबान्धवान् ॥ २४ ॥

द्रोणने कहा—शुक्लस्वरूप अग्ने ! ये बिलाव हमें

प्रतिदिन उद्विग्न करते रहते हैं । हुताशन ! आप इन्हें बन्धु-बान्धवोंसहित भस्म कर डालिये ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तत् कृतवानग्निरभ्यनुज्ञाय शार्ङ्गकान् ।
ददाह खाण्डवं दावं समिद्धो जनमेजय ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शार्ङ्गकोंकी अनुमतिसे अग्निदेवने वैसा ही किया और प्रज्वलित होकर वे सम्पूर्ण खाण्डववनको जलाने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२३१॥

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मन्दपालका अपने बाल-बच्चोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

मन्दपालोऽपि कौरव्य चिन्तयामास पुत्रकान् ।
उक्त्वापि च स तिग्मांशुं नैव शर्माधिगच्छति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मन्दपाल भी अपने पुत्रोंकी चिन्तामें पड़े थे। यद्यपि वे (उनकी रक्षाके लिये) अग्निदेवसे प्रार्थना कर चुके थे, तो भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥

स तप्यमानः पुत्रार्थे लपितामिदमब्रवीत् ।
कथं नु शक्ताः शरणे लपिते मम पुत्रकाः ॥ २ ॥

पुत्रोंके लिये संतप्त होते हुए वे लपितासे बोले—'लपिते ! मेरे बच्चे अपने घोंसलेमें कैसे बच सकेंगे ? ॥ २ ॥

वर्धमाने हुतवहे वाते चाशु प्रवायति ।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ॥ ३ ॥

'जब अग्निका वेग बढ़ेगा और हवा तीव्र गतिसे चलने लगेगी, उस समय मेरे बच्चे अपनेको आगसे बचानेमें असमर्थ हो जायँगे ॥ ३ ॥

कथं त्वशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी ।
भविष्यति हि शोकार्ता पुत्रत्राणमपश्यती ॥ ४ ॥

'उनकी तपस्विनी माता स्वयं असमर्थ है, वह बेचारी उनकी रक्षा कैसे करेगी ? अपने बच्चोंके बचनेका कोई उपाय न देखकर वह शोकसे आतुर हो जायगी ॥ ४ ॥

कथमुड्डयनेऽशक्तान् पतने च ममात्मजान् ।
संतप्यमाना बहुधा वाशमाना प्रधावती ॥ ५ ॥

'मेरे बच्चे उड़ने और पंख फड़फड़ानेमें असमर्थ हैं। उन्हें उस दशामें देखकर संतप्त हो बार-बार चीत्कार करती और दौड़ती हुई जरिता किस दशामें होगी ? ॥ ५ ॥

जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्कः कथं च मे ।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी ॥ ६ ॥

'मेरा बेटा जरितारि कैसे होगा, सारिसृक्ककी क्या अवस्था होगी, स्तम्बमित्र और द्रोण कैसे होंगे ? तथा वह तपस्विनी जरिता किस हालतमें होगी ?' ॥ ६ ॥

लालप्यमानं तमृषिं मन्दपालं तथा वने ।
लपिता प्रत्युवाचेदं सासूयमिव भारत ॥ ७ ॥

भारत ! मन्दपाल मुनि जब इस प्रकार वनमें (अपनी स्त्री एवं बच्चोंके लिये) विलाप कर रहे थे, उस समय लपिताने ईर्ष्यापूर्वक कहा— ॥ ७ ॥

न ते पुत्रेष्ववेक्षास्ति यानृषीनुक्तवानसि ।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद् भयम् ॥ ८ ॥

'तुम्हें पुत्रोंको देखनेकी चिन्ता नहीं है । तुमने जिन ऋषियोंके नाम लिये हैं, वे तेजस्वी और शक्तिशाली हैं; उन्हें अग्निसे तनिक भी भय नहीं है ॥ ८ ॥

त्वयाग्नौ ते परीताश्च स्वयं हि मम संनिधौ ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ॥ ९ ॥

'मेरे पास ही तुमने अग्निदेवको स्वयं अपने पुत्र सौंपे थे और उन महात्मा अग्निने भी उनकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा की थी ॥ ९ ॥

लोकपालो न तां वाचमुक्त्वा मिथ्या करिष्यति ।
समक्षं बन्धुकृत्ये न तेन ते स्वस्थ मानसम् ॥ १० ॥

'वे लोकपाल हैं। जब बात दे चुके हैं, तब उसे झूठी नहीं करेंगे। अतः स्वस्थ पुरुष ! तुम्हारा मन अपने बच्चोंकी रक्षारूप बन्धुजनोचित कर्तव्यके पालनेके लिये उत्सुक नहीं है ॥ १० ॥

तामेव तु ममामित्रां चिन्तयन् परितप्यसे ।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराभवत् ॥ ११ ॥

'तुम तो मेरी दुश्मन उसी जरिता सौतके लिये चिन्ता करते हुए संतप्त हो रहे हो । पहले जरितामें तुम्हारा जैसा स्नेह था वैसा अवश्य ही मुझपर नहीं है ॥ ११ ॥

न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने ।
पीड्यमान उपद्रष्टुं शक्तेनात्मा कथंचन ॥ १२ ॥

'जो सहायकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली है' वह मुझ-जैसे अपने सुहृद् व्यक्तिपर स्नेह नहीं रखे और अपने आत्मीय जनको पीड़ित देखकर उसकी उपेक्षा करे, यह किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता ॥ १२ ॥

गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे ।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कुपुरुषाश्रिता ॥ १३ ॥

'अतः अब तुम उस जरिताके ही पास जाओ, जिसके लिये तुम इतने संतप्त हो रहे हो । मैं भी दुष्ट पुरुषके आश्रयमें पड़ी हुई स्त्रीकी भाँति अकेली ही विचरूँगी' ॥ १३ ॥

मन्दपाल उवाच

नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे ।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ॥ १४ ॥

मन्दपालने कहा—अरी! तू जैसा समझती है, उस भावसे मैं इस संसारमें नहीं विचरता हूँ । मेरा विचरना तो केवल सतानके लिये होता है । मेरी वह संतान ही संकटमें पड़ी हुई है ॥१४॥

भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत् स मन्दधीः ।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५ ॥

जो पैदा हुए बच्चोंका परित्याग कर भविष्यमें होनेवालोंका भरोसा करता है, वह मूर्ख है; सब लोग उसका अनादर करते हैं; तेरी जैसी इच्छा हो, वैसा कर ॥ १५ ॥

एष हि प्रज्वलन्नग्निर्लेलिहानो महीरुहान् ।
आविग्ने हृदि संतापं जनयत्यशिवं मम ॥ १६ ॥

यह प्रज्वलित आग सारे वृक्षोंको अपनी लपटोंमें लपेटती हुई मेरे उद्विग्न हृदयमें अमङ्गलसूचक संताप उत्पन्न कर रही है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्माद् देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता पुनः ।
जगाम पुत्रकानेव त्वरिता पुत्रगृद्धिनी ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब अग्निदेव उस स्थानसे हट गये, तब पुत्रोंकी लालसा रखनेवाली जरिता पुनः शीघ्रतापूर्वक अपने बच्चोंके पास गयी ॥ १७ ॥

सा तान् कुशलिनः सर्वान् विमुक्ताञ्जातवेदसः ।
रोरूयमाणान् ददृशे वने पुत्रान् निरामयान् ॥ १८ ॥

उसने देखा, सभी बच्चे आगसे बच गये हैं और सकुशल हैं । उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं हुआ है और वे वनमें जोर-जोरसे चहक रहे हैं ॥ १८ ॥

अश्रूणि मुमुचे तेषां दर्शनात् सा पुनः पुनः ।
एकैकश्येन तान् सर्वान् क्रोशमानान्वपद्यत ॥ १९ ॥

उन्हें बार-बार देखकर वह नेत्रोंसे आँसू बहाने लगी और बारी-बारीसे पुकारकर वह सभी बच्चोंसे मिली ॥ १९ ॥

ततोऽभ्यगच्छत् सहसा मन्दपालोऽपि भारत ।
अथ ते सर्व एवैनं नाभ्यनन्दंस्तदा सुताः ॥ २० ॥

भारत ! इतनेमें ही मन्दपाल मुनि भी सहसा वहाँ आ पहुँचे; किंतु उन बच्चोंमेंसे किसीने भी उस समय उनका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः ।
न चैवोचुस्तदा किंचित् तमृषिं साध्वसाधु वा ॥ २१ ॥

वे एक-एक बच्चेसे बोलते और जरिताको भी बार-बार बुलाते, परंतु वे लोग उन मुनिसे भला या बुरा कुछ भी नहीं बोले ॥ २१ ॥

मन्दपाल उवाच

ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तस्य चानुजः ।
मध्यमः कतमश्चैव कनीयान् कतमश्च ते ॥ २२ ॥

मन्दपालने पूछा—प्रिये ! तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र कौन है, उससे छोटा कौन है, मझला कौन है और सबसे छोटा कौन है ? ॥ २२ ॥

एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे ।
कृतवानपि हि त्यागं नैव शान्तिमितो लभे ॥ २३ ॥

मैं इस प्रकार दुःखसे आतुर होकर तुमसे पूछ रहा हूँ, तुम मुझे उत्तर क्यों नहीं देती ? यद्यपि मैंने तुम्हें त्याग दिया था, तो भी यहाँसे जानेपर मुझे शान्ति नहीं मिलती थी ॥ २३ ॥

जरितोवाच

किं नु ज्येष्ठेन ते कार्यं किमनन्तरजेन ते ।
किं वा मध्यमजातेन किं कनिष्ठेन वा पुनः ॥ २४ ॥

जरिता बोली—तुम्हें ज्येष्ठ पुत्रसे क्या काम है, उसके बादवालेसे भी क्या लेना है, मझले अथवा छोटे पुत्रसे भी तुम्हें क्या प्रयोजन है ? ॥ २४ ॥

यां त्वं मां सर्वतो हीनामुत्सृज्यासि गतः पुरा ।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ॥ २५ ॥

पहले तुम मुझे सबसे हीन समझकर त्यागकर जिसके पास चले गये थे, उसी मनोहर मुसकानवाली तरुणी लपिताके पास जाओ ॥ २५ ॥

मन्दपाल उवाच

न स्त्रीणां विद्यते किंचिदमुत्र पुरुषान्तरात् ।
सापत्नकमृते लोके नान्यदर्थविनाशनम् ॥ २६ ॥

मन्दपालने कहा—परलोकमें स्त्रियोंके लिये परपुरुषसे सम्बन्ध और सौतियाडाहको छोड़कर दूसरा कोई दोष उनके परमार्थका नाश करनेवाला नहीं है ॥ २६ ॥

वैराग्निदीपनं चैव भृशमुद्वेगकारि च ।
सुव्रता चापि कल्याणी सर्वभूतेषु विश्रुता ॥ २७ ॥
अरुन्धती महात्मानं वसिष्ठं पर्यशङ्कत ।
विशुद्धभावमत्यन्तं सदा प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥
सप्तर्षिमध्यगं धीरमवमेने च तं मुनिम् ।
अपध्यानेन सा तेन धूमारुणसमप्रभा ।
लक्ष्यालक्ष्या नाभिरूपा निमित्तमिव पश्यति ॥ २९ ॥

यह सौतियाडाह वैरकी आगको भड़कानेवाला और अत्यन्त उद्वेगमें डालनेवाला है। समस्त प्राणियोंमें विख्यात और उत्तम व्रतका पालन करनेवाली कल्याणमयी अरुन्धतीने उन महात्मा वसिष्ठपर भी शङ्का की थी, जिनका हृदय अत्यन्त विशुद्ध है, जो सदा उनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं और सप्तर्षिमण्डलके मध्यमें विराजमान होते हैं। ऐसे धैर्यवान् मुनिका भी उन्होंने सौतियाडाहके कारण तिरस्कार किया था। इस अशुभ चिन्तनके कारण उनकी अङ्गकान्ति धूम और अरुणके समान (मंद) हो गयी। वे कभी लक्ष्य और कभी अलक्ष्य रहकर प्रच्छन्न वेषमें मानो कोई निमित्त देखा करती हैं ॥ २७-२९ ॥

अपत्यहेतोः सम्प्राप्तं तथा त्वमपि मामिह।
इष्टमेवं गते हि त्वं सा तथैवाद्य वर्तते ॥ ३० ॥

मैं पुत्रोंसे मिलनेके लिये आया हूँ, तो भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो और इस प्रकार अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जानेपर जैसे तुम मेरे साथ संदेहयुक्त व्यवहार करती हो, वैसा ही लपिता भी करती है ॥ ३० ॥

न हि भार्येति विश्वासः कार्यः पुंसा कथंचन।
न हि कार्यमनुध्याति नारी पुत्रवती सती ॥ ३१ ॥

यह मेरी भार्या है, ऐसा मानकर पुरुषको किसी प्रकार भी स्त्रीपर विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि नारी पुत्रवती हो जानेपर पतिसेवा आदि अपने कर्तव्योंपर ध्यान नहीं देती ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सर्व एवैनं पुत्राः सम्यगुपासते।
स च तानात्मजान् सर्वानाश्वासयितुमुद्यतः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर वे सभी पुत्र यथोचितरूपसे अपने पिताके पास आ बैठे और वे मुनि भी उन सब पुत्रोंको आश्वासन देनेके लिये उद्यत हुए ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रदेवका श्रीकृष्ण और अर्जुनको वरदान तथा श्रीकृष्ण, अर्जुन और मयासुरका अग्निसे विदा लेकर एक साथ यमुनातटपर बैठना

मन्दपाल उवाच

युष्माकमपवर्गार्थं विज्ञप्तो ज्वलनो मया।
अग्निना च तथेत्येवं प्रतिज्ञातं महात्मना ॥ १ ॥

मन्दपाल बोले—मैंने अग्निदेवसे यह प्रार्थना की थी कि वे तुमलोगोंको दाहसे मुक्त कर दें। महात्मा अग्निने भी वैसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी ॥ १ ॥

अग्नेर्वचनमाज्ञाय मातुर्धर्मज्ञतां च वः।
भवतां च परं वीर्यं पूर्वं नाहमिहागतः ॥ २ ॥

अग्निके दिये हुए वचनको स्मरण करके, तुम्हारी माताकी धर्मज्ञताको जानकर और तुमलोगोंमें भी महान् शक्ति है, इस बातको समझकर ही मैं पहले यहाँ नहीं आया था ॥ २ ॥

न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका हृदि मां प्रति।
ऋषीन् वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद् विदितं च वः ॥ ३ ॥

बच्चो! तुम्हें मेरे प्रति अपने हृदयमें संताप नहीं करना चाहिये। तुमलोग ऋषि हो, यह बात अग्निदेव भी जानते हैं; क्योंकि तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका बोध हो चुका है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितान् पुत्रान् भार्यामादाय स द्विजः।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आश्वस्त किये हुए अपने पुत्रों और पत्नी जरिताको साथ ले द्विज मन्दपाल उस देशसे दूसरे देशमें चले गये ॥ ४ ॥

भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धः खाण्डवं ततः।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतो हितम् ॥ ५ ॥

उधर प्रज्वलित हुए प्रचण्ड ज्वालाओंवाले भगवान् हुताशनने भी जगत्‌का हित करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डववनको जला दिया ॥ ५ ॥

वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः।
जगाम परमां तृप्तिं दर्शयामास चार्जुनम् ॥ ६ ॥

वहाँ मज्जा और मेदकी कई नहरें बह चलीं और उन सबको पीकर अग्निदेव पूर्ण तृप्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने अर्जुनको दर्शन दिया ॥ ६ ॥

ततोऽन्तरिक्षाद् भगवानवतीर्य पुरंदरः।
मरुद्गणैर्वृतः पार्थं केशवं चेदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

उसी समय भगवान् इन्द्र मरुद्गणों एवं अन्य देवताओंके साथ आकाशसे उतरे और अर्जुन तथा श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले— ॥ ७ ॥

कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम्।
वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह ॥ ८ ॥

'आप दोनोंने यह ऐसा कार्य किया है, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इस लोकमें मनुष्योंके लिये जो दुर्लभ हो ऐसा कोई वर आप दोनों माँग लें' ॥ ८ ॥

पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः।
प्रदातुं तच्च शक्रस्तु कालं चक्रे महाद्युतिः ॥ ९ ॥

तब अर्जुनने इन्द्रसे सब प्रकारके दिव्यास्त्र माँगे। महातेजस्वी इन्द्रने उन अस्त्रोंको देनेके लिये समय निश्चित कर दिया ॥ ९ ॥



यदा प्रसन्नो भगवान् महादेवो भविष्यति।
तदा तुभ्यं प्रदास्यामि पाण्डवास्त्राणि सर्वशः ॥ १० ॥

(वे बोले—) 'पाण्डुनन्दन! जब तुमपर भगवान् महादेव प्रसन्न होंगे, तब मैं तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र प्रदान करूँगा ॥

अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन।
तपसा महता चापि दास्यामि भवतोऽप्यहम् ॥ ११ ॥
आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि च सर्वशः।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय ॥ १२ ॥

'कुरुनन्दन! वह समय कब आनेवाला है, इसे भी मैं जानता हूँ। तुम्हारे महान् तपसे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें सम्पूर्ण आग्नेय तथा सब प्रकारके वायव्य अस्त्र प्रदान करूँगा। धनंजय! उसी समय तुम मेरे सम्पूर्ण अस्त्रोंको ग्रहण करोगे'॥

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते ॥ १३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी यह वर माँगा कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे। इन्द्रने परम बुद्धिमान् श्रीकृष्णको वह वर दे दिया ॥ १३ ॥

एवं दत्त्वा वरं ताभ्यां सह देवैर्मरुत्पतिः।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ १४ ॥

इस प्रकार दोनोंको वर देकर अग्निदेवकी आज्ञा ले देवताओं-सहित देवराज भगवान् इन्द्र स्वर्गलोकको चले गये ॥ १४ ॥

पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम्।
अहानि पञ्च चैकं च विरराम सुतर्पितः ॥ १५ ॥

अग्निदेव भी मृगों और पक्षियोंसहित सम्पूर्ण वनको जलाकर पूर्ण तृप्त हो छः दिनोंतक विश्राम करते रहे ॥१५॥

जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाचाच्युतार्जुनौ ॥ १६ ॥

जीव-जन्तुओंके मांस खाकर उनके मेद तथा रक्त पीकर अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निने श्रीकृष्ण और अर्जुनसे कहा—॥१६॥

युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम्।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम् ॥ १७ ॥

'वीरो! आप दोनों पुरुषरत्नोंने मुझे आनन्दपूर्वक तृप्त कर दिया। अब मैं आपको अनुमति देता हूँ, जहाँ आपकी इच्छा हो, जाइये' ॥ १७ ॥

एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना।
अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ॥ १८ ॥
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! महात्मा अग्निदेवके इस प्रकार आज्ञा देनेपर अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा मयासुर सबने उनकी परिक्रमा की। फिर तीनों ही यमुनानदीके रमणीय तटपर जाकर एक साथ बैठे ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि वरप्रदाने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतमें व्यासनिर्मित एक लाख श्लोकोंकी संहिताके अन्तर्गत आदिपर्वके मयदर्शनपर्वमें इन्द्रवरदानविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

(आदिपर्व सम्पूर्णम्)

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप्के अनुसार गिननेपर	गद्योंको अनुष्टुप् छन्द बनाकर जोड़नेपर	कुल
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	७८७०½	(५११½)	७३६½	२८३	८८९०
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	७१०½	(१८½)	२६	×	७३६½

आदिपर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—९६२६½

महाभारतके पठन एवं श्रवणकी महिमा

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ १ ॥
यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥ २ ॥

भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनके मुखारविन्दसे निकला हुआ यह महाभारत अत्यन्त पुण्यजनक, पवित्र, पापहारी एवं कल्याणरूप है; इसकी महिमा अपार है। जो इस महाभारतकी कथाको सुनकर उसे हृदयङ्गम कर लेता है, उसे तीर्थराज पुष्करके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है ? पुष्कर-स्नानका जो फल शास्त्रोंमें कहा गया है, वह उसे इस कथाके श्रवणसे ही मिल जाता है। एक ओर तो एक मनुष्य वेदज्ञ एवं अनेक शास्त्रोंके जाननेवाले ब्राह्मणको सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली सौ गौएँ दान करता है और दूसरी ओर दूसरा मनुष्य नित्य महाभारतकी पुण्यमयी कथाका श्रवण करता है, उन दोनोंको समान फल मिलता है।

(महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वसे)

निवेदन

महाभारतका आदिपर्व पूरा हो चुका है। अब यहाँसे सभापर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वके उत्तरभारतीय (प्रधानतया नीलकण्ठी) पाठके अनुसार ८५४० श्लोक आदिपर्वमें थे। दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी समझकर ७३६½ श्लोक और ले लिये गये। इससे आदिपर्व ९२७६½ श्लोकोंका हो गया। इसी प्रकार सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये जायँगे। यों श्लोकसंख्यामें वृद्धि होती रहेगी। अनुवादमें मूलका अनुसरण करनेका यथासाध्य पूरा प्रयत्न अनुवादक तथा संशोधक महोदय कर रहे हैं, तथापि भूलें तो रहती ही होंगी। विद्वान् पाठक ध्यानसे पढ़कर भूलें बतायेंगे, तो उनकी बड़ी कृपा होगी। उन भूलोंपर विचार करके आगामी संस्करणमें उनके सुधारका प्रयत्न किया जायगा। महाभारतके ग्राहक उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं, यह आनन्दका विषय है। महाभारतके अनुरागी महानुभावोंको इस ग्रन्थके ग्राहक बढ़ाकर भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा संस्कृतिके मूर्तस्वरूप पञ्चम वेदरूप इस महान् पुण्य ग्रन्थका प्रचार-प्रसार करनेमें विशेषरूपसे सहायक बनना चाहिये। यह हमारी विनीत प्रार्थना है।

—सम्पादक 'महाभारत'

ॐ परमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

सभापर्व

(सभाक्रियापर्व)

प्रथमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाके अनुसार मयासुरद्वारा सभाभवन बनानेकी तैयारी

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा-नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! खाण्डवदाहके अनन्तर मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णके पास बैठे हुए अर्जुनकी बारंबार प्रशंसा करके हाथ जोड़कर मधुर वाणीमें उनसे कहा ॥



मय उवाच

अस्मात् कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च दिधक्षतः।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥३॥

मयासुर बोला—कुन्तीनन्दन ! आपने अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन भगवान् श्रीकृष्णसे तथा जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवसे भी मेरी रक्षा की है। अतः बताइये, मैं (इस उपकारके बदले) आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर।
प्रीतिमान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—असुरराज ! तुमने इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करके मेरे उपकारका मानो सारा बदला चुका दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। मुझपर प्रेम बनाये रखना। हम भी तुम्हारे प्रति सदा स्नेहका भाव रक्खेंगे ।४।

मय उवाच

युक्तमेतत् त्वयि विभो यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित् कर्तुमिच्छामि भारत ॥ ५ ॥

मयासुर बोला—प्रभो ! पुरुषोत्तम ! आपने जो बात कही है, वह आप-जैसे महापुरुषके अनुरूप ही है; परंतु भारत ! मैं बड़े प्रेमसे आपके लिये कुछ करना चाहता हूँ ॥

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः।
सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किंचिदिच्छामि पाण्डव ॥ ६ ॥

पाण्डुनन्दन ! मैं दानवोंका विश्वकर्मा एवं शिल्पविद्याका महान् पण्डित हूँ। अतः मैं आपके लिये किसी वस्तुका निर्माण करना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

(दानवानां पुरा पार्थ प्रासादा हि मया कृताः।
रम्याणि सुखगर्भाणि भोगाढ्यानि सहस्रशः ॥
उद्यानानि च रम्याणि सरांसि विविधानि च।
विचित्राणि च शस्त्राणि रथाः कामगमास्तथा ॥

नगराणि विशालानि साट्टप्राकारतोरणैः।
वाहनानि च मुख्यानि विचित्राणि सहस्रशः॥
बिलानि रमणीयानि सुखयुक्तानि वै भृशम्।
एतत् कृतं मया सर्वं तस्मादिच्छामि फाल्गुन॥)

कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें मैंने दानवोंके बहुत-से महल बनाये हैं। इसके सिवा देखनेमें रमणीय, सुख और भोगसाधनोंसे सम्पन्न अनेक प्रकारके रमणीय उद्यानों, भाँति-भाँतिके सरोवरों, विचित्र अस्त्र-शस्त्रों, इच्छानुसार चलनेवाले रथों, अट्टालिकाओं, चहारदिवारियों और बड़े-बड़े फाटकोंसहित विशाल नगरों, हजारों अद्भुत एवं श्रेष्ठ वाहनों तथा बहुत-सी मनोहर एवं अत्यन्त सुखदायक सुरंगोंका मैंने निर्माण किया है। अतः अर्जुन ! मैं आपके लिये भी कुछ बनाना चाहता हूँ॥

अर्जुन उवाच

प्राणकृच्छ्राद् विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया।
एवं गते न शक्ष्यामि किंचित् कारयितुं त्वया॥ ७॥

अर्जुन बोले—मयासुर ! तुम मेरेद्वारा अपनेको प्राण-संकटसे मुक्त हुआ मानते हो और इसीलिये कुछ करना चाहते हो। ऐसी दशामें मैं तुमसे कोई काम नहीं करा सकूँगा॥

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि॥ ८॥

दानव ! साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम्हारा यह संकल्प व्यर्थ हो। इसलिये तुम भगवान् श्रीकृष्णका कोई कार्य कर दो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूर्ण हो जायगा॥

चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति॥ ९॥

भरतश्रेष्ठ ! तब मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णसे काम बतानेका अनुरोध किया। उसके प्रेरणा करनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अनुमानतः दो घड़ीतक विचार किया कि 'इसे कौन-सा काम बताया जाय ?'॥ ९॥

ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति॥ १०॥
यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे॥ ११॥

तदनन्तर मन-ही-मन कुछ सोचकर प्रजापालक लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा—'शिल्पियोंमें श्रेष्ठ दैत्यराज मय ! यदि तुम मेरा कोई प्रिय कार्य करना चाहते हो तो तुम धर्मराज युधिष्ठिरके लिये जैसा ठीक समझो, वैसा एक सभाभवन बना दो॥ १०-११॥

यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम्॥ १२॥

'वह सभा ऐसी बनाओ, जिसके बन जानेपर सम्पूर्ण मनुष्यलोकके मानव देखकर विस्मित हो जायँ एवं कोई उसकी नकल न कर सके॥ १२॥

यत्र दिव्यानभिप्रायान् पश्येम हि कृतांस्त्वया।
आसुरान् मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय॥ १३॥

'मयासुर ! तुम ऐसे सभाभवनका निर्माण करो, जिसमें हम तुम्हारेद्वारा अङ्कित देवता, असुर और मनुष्योंकी शिल्पनिपुणताका दर्शन कर सकें'॥ १३॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम्॥ १४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके मयासुर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके लिये विमान-जैसी सुन्दर सभा बनानेका निश्चय किया॥ १४॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे।
सर्वमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम्॥ १५॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको ये सब बातें बताकर मयासुरको उनसे मिलाया॥

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत् तदा।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत॥ १६॥

भारत ! राजा युधिष्ठिरने उस समय मयासुरका यथायोग्य सत्कार किया और मयासुरने भी बड़े आदरके साथ उनका वह सत्कार ग्रहण किया॥ १६॥

स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशाम्पते।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत॥ १७॥

जनमेजय ! दैत्यराज मयने उस समय वहाँ पाण्डवोंको दैत्योंके अद्भुत चरित्र सुनाये॥ १७॥

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम्॥ १८॥

कुछ दिनोंतक वहाँ आरामसे रहकर दैत्योंके विश्वकर्मा मयासुरने सोच-विचारकर महात्मा पाण्डवोंके लिये सभाभवन बनानेकी तैयारी की॥ १८॥

अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः॥ १९॥
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पायसेन सहस्रशः।
धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान्॥ २०॥
सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम्।
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः॥ २१॥

उसने कुन्तीपुत्रों तथा महात्मा श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार सभा बनानेका निश्चय किया। किसी पवित्र तिथिको (शुभ मुहूर्तमें) मङ्गलानुष्ठान, स्वस्तिवाचन आदि करके

महातेजस्वी और पराक्रमी मयने हजारों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको खीर खिलाकर तृप्त किया तथा उन्हें अनेक प्रकारका धन दान किया। इसके बाद उसने सभा बनानेके लिये समस्त ऋतुओंके गुणोंसे सम्पन्न दिव्य रूपवाली मनोरम सब ओरसे दस हजार हाथकी (अर्थात् दस हजार हाथ चौड़ी और दस हजार हाथ लम्बी) धरती नपवायी ॥ १९-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभास्थाननिर्णयविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी द्वारकायात्रा

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण खाण्डवप्रस्थमें सुखपूर्वक रहकर प्रेमी पाण्डवोंके द्वारा नित्य पूजित होते रहे ॥ १ ॥

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः।
धर्मराजमथामन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥

तदनन्तर पिताके दर्शनके लिये उत्सुक होकर विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और कुन्तीकी आज्ञा लेकर वहाँसे द्वारका जानेका विचार किया ॥ २ ॥

ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥

जगद्वन्द्य केशवने अपनी बुआ कुन्तीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कुन्तीने उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया ॥ ३ ॥

ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् महायशस्वी हृषीकेश अपनी बहिन सुभद्रासे मिले। उसके पास जानेपर स्नेहवश उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये ॥ ४ ॥

अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम्।
उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥

भगवान्ने मङ्गलमय वचन बोलनेवाली कल्याणमयी सुभद्रासे बहुत थोड़े, सत्य, प्रयोजनपूर्ण, हितकारी, युक्तियुक्त एवं अकाट्य वचनोंद्वारा अपने जानेकी आवश्यकता बतायी (और उसे ढाढ़स बँधाया) ॥ ५ ॥

तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः।
सम्पूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः ॥ ६ ॥

सुभद्राने बार-बार भाईकी पूजा करके मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और माता-पिता आदि स्वजनोंसे कहनेके लिये संदेश दिये ॥ ६ ॥

तामनुज्ञाय वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम्।
ददर्शानन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥

भामिनी सुभद्राको प्रसन्न करके उससे जानेकी अनुमति लेकर वृष्णिकुलभूषण जनार्दन द्रौपदी तथा धौम्यमुनिसे मिले ॥ ७ ॥

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद् विद्वान् पार्थेन सहितो बली।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने यथोचित रीतिसे धौम्यजीको प्रणाम किया और द्रौपदीको सान्त्वना दे उसकी अनुमति लेकर वे अर्जुनके साथ अन्य भाइयोंके पास गये। पाँचों भाई पाण्डवोंसे घिरे हुए विद्वान् एवं बलवान् श्रीकृष्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ॥ ८-९ ॥

यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान् समलंकृतः ॥ १० ॥

तदनन्तर गरुडध्वज श्रीकृष्णने यात्राकालोचित कर्म करनेके लिये पवित्र हो स्नान करके अलङ्कार धारण किया ॥

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ११ ॥

फिर उन यदुश्रेष्ठने प्रचुर पुष्प-माला, जप, नमस्कार और चन्दन आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंद्वारा देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ ११ ॥

स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्यकक्षाद् विनिर्गतः ॥ १२ ॥

प्रतिष्ठित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यदुप्रवर श्रीकृष्ण यात्राकालोचित सब कार्य पूर्ण करके प्रस्थित हुए और भीतरसे चलकर बाहरी ड्योढ़ीको पार करते हुए राजभवनसे बाहर निकले ॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् दधिपात्रफलाक्षतैः।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १३ ॥

उस समय सुयोग्य ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया और भगवान्ने दहीसे भरे पात्र, अक्षत, फल आदिके साथ उन ब्राह्मणोंको धन देकर उन सबकी परिक्रमा की ॥ १३ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय ताक्ष्र्यकेतनमाशुगम् ।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते ।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥

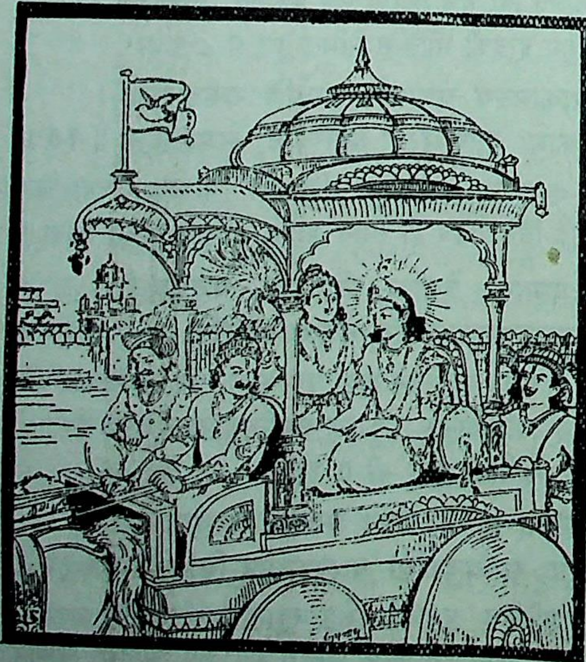
इसके बाद गरुडचिह्नित ध्वजासे सुशोभित और गदा, चक्र, खड्ग एवं शार्ङ्गधनुष आदि आयुधोंसे सम्पन्न शैब्य, सुग्रीव आदि घोड़ोंसे युक्त शुभ सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कमलनयन श्रीकृष्णने उत्तम तिथि, शुभ नक्षत्र एवं गुणयुक्त मुहूर्तमें यात्रा आरम्भ की ॥ १४-१५ ॥

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ॥ १६ ॥

उस समय श्रीकृष्णका रथ हाँकनेवाले सारथियोंमें श्रेष्ठ दारुकको हटाकर उसके स्थानमें राजा युधिष्ठिर प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथ रथपर जा बैठे ॥ १६ ॥

अभीषून् सम्प्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ।
उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् ।

कुरुराज युधिष्ठिरने घोड़ोंकी बागडोर स्वयं अपने हाथमें ले ली। फिर महाबाहु अर्जुन भी रथपर बैठ गये और सुवर्णमय दण्डसे विभूषित श्वेत चँवर लेकर दाहिनी ओरसे उनके ऊपर डुलाने लगे ॥ १७½ ॥



तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह ।
(छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ।
वैडूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम् ॥
दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वने ।
उपारुह्य रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते ॥
नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जनार्दनम् ।)
स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ॥ १९ ॥
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः ।

इसी प्रकार नकुल-सहदेवसहित बलवान् भीमसेन भी ऋत्विजों और पुरवासियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्होंने वेगपूर्वक आगे बढ़कर शार्ङ्गधनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर दिव्य मालाओंसे सुशोभित एवं सौ शलाकाओं (तिल्लियों) से युक्त स्वर्ण-विभूषित छत्र लगाया। उस छत्रमें वैदूर्यमणिका डंडा लगा हुआ था। नकुल और सहदेव भी शीघ्रतापूर्वक रथपर आरूढ़ हो श्वेत चँवर और व्यजन डुलाते हुए जनार्दनकी सेवा करने लगे। उस समय अपने समस्त फुफेरे भाइयोंसे संयुक्त शत्रुदमन केशव ऐसी शोभा पाने लगे, मानो अपने प्रिय शिष्योंके साथ गुरु यात्रा कर रहे हों ॥ १८-१९½ ॥

पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा ।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णके बिछोहसे अर्जुनको बड़ी व्यथा हो रही थी। गोविन्दने उन्हें हृदयसे लगाकर उनसे जानेकी अनुमति ली। फिर उन्होंने युधिष्ठिर और भीमसेनका चरणस्पर्श किया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनने भगवान्‌को छातीसे लगा लिया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया (तब भगवान्‌ने भी उन दोनोंको छातीसे लगा लिया) ॥ २०-२१ ॥

योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरंजयः ।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! शत्रुविजयी श्रीकृष्णने दो कोस दूर चले जानेपर युधिष्ठिरसे जानेकी अनुमति ले यह अनुरोध किया कि 'अब आप लौट जाइये' ॥ २२ ॥

ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् ।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् ।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ गोविन्दने प्रणाम करके युधिष्ठिरके पैर पकड़ लिये। फिर पाण्डुकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने यादवश्रेष्ठ कमलनयन केशवको दोनों हाथोंसे उठाकर उनका मस्तक सूँघा और 'जाओ' कहकर उन्हें जानेकी आज्ञा दी ॥ २३-२४ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः ।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात् पाण्डवान् सपदानुगान् ॥ २५ ॥
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात् तदा ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उनके साथ पुनः आनेका निश्चित वादा

करके भगवान् मधुसूदनने पैदल आये हुए नागरिकोंसहित पाण्डवोंको बड़ी कठिनाईसे लौटाया और प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुरी द्वारकाको गये, मानो इन्द्र अमरावतीको जा रहे हों। जबतक वे दिखायी दिये, तबतक पाण्डव अपने नेत्रोंद्वारा उनका अनुसरण करते रहे ॥ २५-२६ ॥

मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् ।
अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥ २७ ॥
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः ।
अकामा एव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ॥ २८ ॥

अत्यन्त प्रेमके कारण उनका मन श्रीकृष्णके साथ ही चला गया। अभी केशवके दर्शनसे पाण्डवोंका मन तृप्त नहीं हुआ था, तभी नयनाभिराम भगवान् श्रीकृष्ण सहसा अदृश्य हो गये। पाण्डवोंकी श्रीकृष्णदर्शनविषयक कामना अधूरी ही रह गयी। उन सबका मन भगवान् गोविन्दके साथ ही चला गया ॥ २७-२८ ॥

निवृत्योपययुस्तूर्णं स्वं पुरं पुरुषर्षभाः ।
स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ॥ २९ ॥

अब वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव मार्गसे लौटकर तुरंत अपने नगरकी ओर चल पड़े। उधर श्रीकृष्ण भी रथके द्वारा शीघ्र ही द्वारका जा पहुँचे ॥ २९ ॥

सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा ।
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः ।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥

सात्वतवंशी वीर सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके पीछे बैठकर यात्रा कर रहे थे और सारथि दारुक आगे था। उन दोनोंके साथ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण वेगशाली गरुडकी भाँति द्वारकामें पहुँच गये ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः ।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंसहित मार्गसे लौटकर सुहृदोंके साथ अपने श्रेष्ठ नगरके भीतर प्रविष्ट हुए ॥ ३१ ॥

विसृज्य सुहृदः सर्वान् भ्रातॄन् पुत्रांश्च धर्मराट् ।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ॥ ३२ ॥

राजन्! वहाँ पुरुषसिंह धर्मराजने समस्त सुहृदों, भाइयों और पुत्रोंको विदा करके राजमहलमें द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्नताका अनुभव किया ॥ ३२ ॥

केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् ।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥

इधर भगवान् केशव भी उग्रसेन आदि श्रेष्ठ यादवोंसे सम्मानित हो प्रसन्नतापूर्वक द्वारकापुरीके भीतर गये ॥ ३३ ॥

आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम् ।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचनः ॥ ३४ ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने राजा उग्रसेन, बूढ़े पिता वसुदेव और यशस्विनी माता देवकीको प्रणाम करके बलरामजीके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठांश्चारुदेष्णं गदं तथा ।
अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ।

तत्पश्चात् जनार्दनने प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध तथा भानु आदिको स्नेहपूर्वक हृदयसे लगाया और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा लेकर रुक्मिणीजीके महलमें प्रवेश किया ॥ ३५½ ॥

मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम् ।
विधिवत् कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ॥ ३६ ॥

इधर महाभाग मयने भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित सभामण्डप बनानेकी मन-ही-मन कल्पना की ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकायात्राविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

मयासुरका भीमसेन और अर्जुनको गदा और शङ्ख लाकर देना तथा उसके द्वारा अद्भुत सभाका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर मयासुरने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनसे कहा—'भारत! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मैं एक जगह जाऊँगा और फिर शीघ्र ही लौट आऊँगा ॥ १ ॥

(विश्रुतां त्रिषु लोकेषु पार्थ दिव्यां सभां तव ।
प्राणिनां विस्मयकरीं तव प्रीतिविवर्धिनीम् ।
पाण्डवानां च सर्वेषां करिष्यामि धनंजय ॥)

'कुन्तीकुमार धनंजय! मैं आपके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात एक दिव्य सभाका निर्माण करूँगा। जो समस्त प्राणियोंको आश्चर्यमें डालनेवाली तथा आपके साथ ही समस्त पाण्डवोंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाली होगी ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥ २ ॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति।
सभायां सत्यसंधस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥ ३ ॥

'पूर्वकालमें जब दैत्यलोग कैलास पर्वतसे उत्तर दिशामें स्थित मैनाक पर्वतपर यज्ञ करना चाहते थे, उस समय मैंने एक विचित्र एवं रमणीय मणिमय भाण्ड तैयार किया था, जो बिन्दुसरके समीप सत्यप्रतिज्ञ राजा वृषपर्वाकी सभामें रक्खा गया था ॥ २-३ ॥

आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥ ४ ॥

'भारत ! यदि वह अबतक वहीं होगा तो उसे लेकर पुनः लौट आऊँगा। फिर उसीसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यशको बढ़ानेवाली सभा तैयार करूँगा ॥ ४ ॥

मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

'जो सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, विचित्र एवं मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली होगी। कुरुनन्दन! बिन्दुसरमें एक भयंकर गदा भी है ॥ ५ ॥

निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून् ।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥

'मैं समझता हूँ, राजा वृषपर्वाने युद्धमें शत्रुओंका संहार करके वह गदा वहीं रख दी थी। वह गदा बड़ी भारी है, विशेष भार या आघात सहन करनेमें समर्थ एवं सुदृढ़ है। उसमें सोनेकी फूलियाँ लगी हुई हैं, जिनसे वह बड़ी विचित्र दिखायी देती है ॥ ६ ॥

सा वै शतसहस्रस्य सम्मिता शत्रुघातिनी ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाली वह गदा अकेली ही एक लाख गदाओंके बराबर है। जैसे गाण्डीव धनुष आपके योग्य है, वैसे ही वह गदा भीमसेनके योग्य होगी ॥ ७ ॥

वारुणश्च महाशङ्खो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ॥ ८ ॥

'वहाँ वरुणदेवका देवदत्त नामक महान् शङ्ख भी है, जो बड़ी भारी आवाज करनेवाला है। ये सब वस्तुएँ लाकर मैं आपको भेंट करूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ८ ॥

इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर मयासुर पूर्वोत्तर दिशा (ईशानकोण) में कैलाससे उत्तर मैनाक पर्वतके पास गया ॥ ९ ॥

हिरण्यशृङ्गः सुमहान् महामणिमयो गिरिः।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः।

'वहीं हिरण्यशृङ्ग नामक महामणिमय विशाल पर्वत है, जहाँ रमणीय बिन्दुसर नामक तीर्थ है। वहीं राजा भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक (तपस्या करते हुए) निवास किया था ॥ १०½ ॥

यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥ ११ ॥
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी महात्मा प्रजापतिने मुख्य-मुख्य सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था, जिनमें सोनेकी वेदियाँ और मणियोंके खंभे बने थे ॥ ११-१२ ॥

शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः ।
अत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १३ ॥

यह सब शोभाके लिये बनाया गया था, शास्त्रीय विधि अथवा सिद्धान्तके अनुसार नहीं। सहस्र नेत्रोंवाले शचीपति इन्द्रने भी वहीं यज्ञ करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १३ ॥

यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वांल्लोकान् सनातनः ।
उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और समस्त प्राणियोंके अधिपति उग्रतेजस्वी सनातन देवता महादेवजी वहीं रहकर सहस्रों भूतोंसे सेवित होते हैं ॥ १४ ॥

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः ।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥

एक हजार युग बीतनेपर वहीं नर-नारायण ऋषि, ब्रह्मा, यमराज और पाँचवें महादेवजी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं ॥

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान् बहून् ।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसम्प्रतिपत्तये ॥ १६ ॥

यह वही स्थान है, जहाँ भगवान् वासुदेवने धर्मपरम्पराकी रक्षाके लिये बहुत वर्षोंतक निरंतर श्रद्धापूर्वक यज्ञ किया था ॥

सुवर्णमालिनो यूपाश्चैत्याश्चाप्यतिभास्वराः ।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७ ॥

उस यज्ञमें स्वर्णमालाओंसे मण्डित खंभे और अत्यन्त चमकीली वेदियाँ बनी थीं। भगवान् केशवने उस यज्ञमें सहस्रों-लाखों वस्तुएँ दानमें दी थीं ॥ १७ ॥

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शङ्खं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर मयासुरने वहाँ जाकर वह गदा, शङ्ख और सभा बनानेके लिये स्फटिक मणिमय द्रव्य ले लिया, जो पहले वृषपर्वाके अधिकारमें था ॥ १८ ॥

किंकरैः सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद् धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥ १९ ॥

बहुत-से किंकर तथा राक्षस जिस महान् धनकी रक्षा करते थे, वहाँ जाकर महान् असुर मयने वह सब ले लिया ॥ १९ ॥

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥ २० ॥

वे सब वस्तुएँ लाकर उस असुरने वह अनुपम सभा तैयार की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात, दिव्य, मणिमयी और शुभ एवं सुन्दर थी ॥ २० ॥

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं चार्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

उसने उस समय वह श्रेष्ठ गदा भीमसेनको और देवदत्त नामक उत्तम शङ्ख अर्जुनको भेंट कर दिया ॥ २१ ॥

यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे ।
सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ॥ २२ ॥

उस शङ्खकी आवाज सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे। महाराज ! उस सभामें सुवर्णमय वृक्ष शोभा पाते थे॥

दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत् ।
यथा वह्नेर्यथार्कस्य सोमस्य च यथा सभा ॥ २३ ॥
भ्राजमाना तथात्यर्थं दधार परमं वपुः ।

वह सब ओरसे दस हजार हाथ विस्तृत थी (अर्थात् उसकी लंबाई और चौड़ाई भी दस-दस हजार हाथ थी)। जैसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाकी सभा प्रकाशित होती है, उसी प्रकार अत्यन्त उद्भासित होनेवाली उस सभाने बड़ा मनोहर रूप धारण किया ॥ २३½ ॥

अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥ २४ ॥

वह अपनी प्रभाद्वारा सूर्यदेवकी तेजोमयी प्रभासे टक्कर लेती थी ॥ २४ ॥

प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ।
नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता ।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा ॥ २५ ॥

वह दिव्य सभा अपने अलौकिक तेजसे निरंतर प्रदीप्त-सी जान पड़ती थी। उसकी ऊँचाई इतनी अधिक थी कि नूतन मेघोंकी घटाके समान वह आकाशको घेरकर खड़ी थी। उसका विस्तार भी बहुत था। वह रमणीय सभा पाप-तापका नाश करनेवाली थी ॥ २५ ॥

उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नप्राकारतोरणा ।
बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा ॥ २६ ॥

उत्तमोत्तम द्रव्योंसे उसका निर्माण किया गया था। उसके परकोटे और फाटक रत्नोंसे बने हुए थे। उसमें अनेक प्रकारके अद्भुत चित्र अङ्कित थे। वह बहुत धनसे पूर्ण थी। दानवोंके विश्वकर्मा मयासुरने उस सभाको बहुत सुन्दरतासे बनाया था ॥ २६ ॥

न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाथ तादृशी ।
सभा रूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान् मयः ॥ २७ ॥

बुद्धिमान् मयने जिस सभाका निर्माण किया था, उसके समान सुन्दर यादवोंकी सुधर्मा सभा अथवा ब्रह्माजीकी सभा भी नहीं थी ॥ २७ ॥

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥ २८ ॥

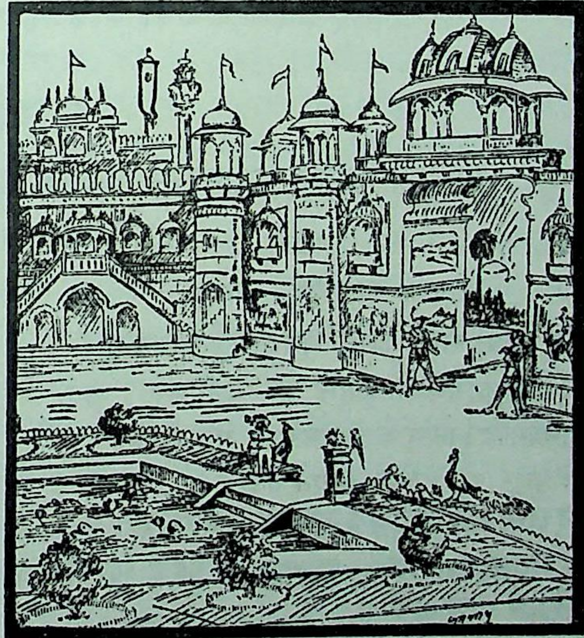
मयासुरकी आज्ञाके अनुसार आठ हजार किंकर नामक राक्षस उस सभाकी रक्षा करते और उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उठाकर ले जाते थे ॥ २८ ॥

अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः ।
रक्ताक्षाः पिङ्गलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

वे राक्षस भयंकर आकृतिवाले, आकाशमें विचरनेवाले, विशालकाय और महाबली थे। उनकी आँखें लाल और पिंगलवर्णकी थीं तथा कान सीपीके समान जान पड़ते थे। वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ २९ ॥

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ।
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥ ३० ॥

मयासुरने उस सभाभवनके भीतर एक बड़ी सुन्दर पुष्करिणी बना रक्खी थी, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी। उसमें इन्द्रनीलमणिमय कमलके पत्ते फैले हुए थे। उन कमलोंके मृणाल मणियोंके बने थे ॥ ३० ॥



पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ।
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च काञ्चनैः ।
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ॥ ३१ ॥

उसमें पद्मरागमणिमय कमलोंकी मनोहर सुगंध छा रही थी। अनेक प्रकारके पक्षी उसमें रहते थे। खिले हुए कमलों और सुनहली मछलियों तथा कछुओंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस पोखरीमें उतरनेके लिये स्फटिक-

मणिकी विचित्र सीढ़ियाँ बनी थीं। उसमें पंकरहित स्वच्छ जल भरा हुआ था। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर थी ॥ ३१ ॥

मन्दानिलसमुद्धूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम्।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३२ ॥

मन्द वायुसे उद्वेलित हो जब जलकी बूँदें उछलकर कमलके पत्तोंपर बिखर जाती थीं, उस समय वह सारी पुष्करिणी मौक्तिकबिन्दुओंसे व्याप्त जान पड़ती थी। उसके चारों ओरके घाटोंपर बड़ी-बड़ी मणियोंकी चौकोर शिलाखण्डोंसे पक्की वेदियाँ बनायी गयी थीं ॥ ३२ ॥

मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः।
दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात् प्रपतन्त्युत ॥ ३३ ॥

मणियों तथा रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण कुछ राजालोग उस पुष्करिणीके पास आकर और उसे देखकर भी उसकी यथार्थतापर विश्वास नहीं करते थे और भ्रमसे उसे स्थल समझकर उसमें गिर पड़ते थे ॥ ३३ ॥

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः।
आसन् नानाविधा लोलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥ ३४ ॥

उस सभाभवनके सब ओर अनेक प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष लहलहा रहे थे, जो सदा फूलोंसे भरे रहते थे। उनकी छाया बड़ी शीतल थी। वे मनोरम वृक्ष सदा हवाके झोंकोंसे हिलते रहते थे ॥ ३४ ॥

काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३५ ॥

केवल वृक्ष ही नहीं; उस भवनके चारों ओर अनेक सुगन्धित वन, उपवन और बावलियाँ भी थीं, जो हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियोंसे युक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ३५ ॥

जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान् स्म निषेवते ॥ ३६ ॥

वहाँ जल और स्थलमें होनेवाले कमलोंकी सुगन्ध लेकर वायु सदा पाण्डवोंकी सेवा किया करती थी ॥ ३६ ॥

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत् ॥ ३७ ॥

मयासुरने पूरे चौदह महीनोंमें इस प्रकारकी उस अद्भुत सभाका निर्माण किया था। राजन्! जब वह बनकर तैयार हो गयी, तब उसने धर्मराजको इस बातकी सूचना दी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभानिर्माणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३८½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

मयद्वारा निर्मित सभाभवनमें धर्मराज युधिष्ठिरका प्रवेश तथा सभामें स्थित महर्षियों और राजाओं आदिका वर्णन

(वैशम्पायन उवाच

तां तु कृत्वा सभां श्रेष्ठां मयश्चार्जुनमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस श्रेष्ठ सभाभवनका निर्माण करके मयासुरने अर्जुनसे कहा।

मय उवाच

एष सभा सव्यसाचिन् ध्वजो ह्यत्र भविष्यति ॥

मयासुर बोला—सव्यसाचिन्! यह है आपकी सभा, इसमें एक ध्वजा होगी ॥

भूतानां च महावीर्यो ध्वजाग्रे किङ्करो गणः।
तव विस्फारघोषेण मेघवन्निनदिष्यति ॥

उसके अग्रभागमें भूतोंका महापराक्रमी किंकर नामक गण निवास करेगा। जिस समय तुम्हारे धनुषकी टंकारध्वनि होगी, उस समय उस ध्वनिके साथ ये भूत भी मेघोंके समान गर्जना करेंगे ॥

अयं हि सूर्यसंकाशो ज्वलनस्य रथोत्तमः।
इमे च दिविजाः श्वेता वीर्यवन्तो हयोत्तमाः ॥
मायामयः कृतो ह्येष ध्वजो वानरलक्षणः।
असज्जमानो वृक्षेषु धूमकेतुरिवोच्छ्रितः ॥

यह जो सूर्यके समान तेजस्वी अग्निदेवका उत्तम रथ है और ये जो श्वेत वर्णवाले दिव्य एवं बलवान् अश्वरत्न हैं तथा यह जो वानरचिह्नसे उपलक्षित ध्वज है, इन सबका निर्माण मायासे ही हुआ है। यह ध्वज वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं है तथा अग्निकी लपटोंके समान सदा ऊपरकी ओर ही उठा रहता है ॥

बहुवर्णं हि लक्ष्येत ध्वजं वानरलक्षणम्।
ध्वजोत्कटं ह्यनवमं युद्धे द्रक्ष्यसि विष्ठितम् ॥

आपका यह वानरचिह्नित ध्वज अनेक रंगका दिखायी देता है। आप युद्धमें इस उत्कट एवं स्थिर ध्वजको कभी झुकता नहीं देखेंगे ॥

इत्युक्त्वाऽऽलिङ्ग्य बीभत्सुं विसृष्टः प्रययौ मयः।)

ऐसा कहकर मयासुरने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उनसे विदा लेकर (अभीष्ट स्थानको) चला गया ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ॥ १ ॥
साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च।
कृसरेणाथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः ॥ २ ॥
भक्ष्यप्रकारैर्विविधैः फलैश्चापि तथा नृप।
चोष्यैश्च विविधै राजन् पेयैश्च बहुविस्तरैः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने घी और मधु मिलायी हुई खीर, खिचड़ी, जीवन्तिकाके साग, सब प्रकारके हविष्य, भाँति-भाँतिके भक्ष्य तथा फल, ईख आदि नाना प्रकारके चोष्य और बहुत अधिक पेय (शर्बत) आदि सामग्रियोंद्वारा दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उस सभाभवनमें प्रवेश किया ॥ १–३ ॥

अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि।
तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान् ॥ ४ ॥

उन्होंने नये-नये वस्त्र और छोटे-बड़े अनेक प्रकारके हार आदिके उपहार देकर अनेक दिशाओंसे आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया ॥ ४ ॥

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः।
पुण्याहघोषस्तत्रासीद् दिवस्पृगिव भारत ॥ ५ ॥

भारत ! तत्पश्चात् उन्होंने प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक हजार गौएँ दीं। उस समय वहाँ ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनका गम्भीर घोष मानो स्वर्गलोकतक गूँज उठा ॥ ५ ॥

वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च ॥ ६ ॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने अनेक प्रकारके बाजे तथा भाँति-भाँतिके दिव्य सुगन्धित पदार्थोंद्वारा उस भवनमें देवताओंकी स्थापना एवं पूजा की। इसके बाद वे उस भवनमें प्रविष्ट हुए ॥६॥

तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा।
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥

वहाँ धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरकी सेवामें कितने ही मल्ल (बाहुयुद्ध करनेवाले), नट, झल्ल (लकुटियोंसे युद्ध करनेवाले), सूत और वैतालिक उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि ॥ ८ ॥

इस प्रकार पूजनका कार्य सम्पन्न करके भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति उस रमणीय सभामें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ८ ॥

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः ॥ ९ ॥

उस सभामें ऋषि तथा विभिन्न देशोंसे आये हुए नरेश पाण्डवोंके साथ बैठा करते थे ॥ ९ ॥

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्माली महाशिराः।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः ॥ १० ॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ॥ ११ ॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥ १२ ॥
दामोष्णीषस्त्रैबलिश्च पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः ॥ १३ ॥
बलिवाकः सिनीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः ॥ १४ ॥
पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥ १५ ॥
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ॥ १६ ॥
काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः।
पैङ्ग्यो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः ॥ १७ ॥
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥

असित, देवल, सत्य, सर्पिर्माली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, बक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्णद्वैपायन, शुकदेव, व्यासजीके शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा हमलोग, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुत्रसहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैबलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, बलिवाक, सिनीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जङ्घाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, काक्षीवान्, औशिज, नाचिकेत, गौतम, पैङ्ग्य, वराह, शुनक (द्वितीय), महातपस्वी शाण्डिल्य, कुक्कुर, वेणुजङ्घ, कालाप तथा कठ आदि धर्मज्ञ, जितात्मा और जितेन्द्रिय मुनि उस सभामें विराजते थे॥१०-१८॥

एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः ॥ १९ ॥

ये तथा और भी वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत बहुत-से मुनिश्रेष्ठ उस सभामें महात्मा युधिष्ठिरके पास बैठा करते थे ॥ १९ ॥

कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ॥ २० ॥

वे धर्मज्ञ, पवित्रात्मा और निर्मल महर्षि राजा युधिष्ठिरको पवित्र कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रकार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ नरेश भी वहाँ धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे ॥ २० ॥

श्रीमान् महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः।
संग्रामजिद् दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान्॥ २१॥
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः।
कम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः॥ २२॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः।
बलपौरुषसम्पन्नान् कृतास्त्रानमितौजसः।
यथासुरान् कालकेयान् देवो वज्रधरस्तथा॥ २३॥

श्रीमान् महामना धर्मात्मा मुञ्जकेतु, विवर्धन, संग्रामजित्, दुर्मुख, पराक्रमी उग्रसेन, राजा कक्षसेन, अपराजित क्षेमक, कम्बोजराज कमठ और महाबली कम्पन, जो अकेले ही बल-पौरुषसम्पन्न, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा अमिततेजस्वी यवनोंको सदा उसी प्रकार कँपाते रहते थे, जैसे वज्रधारी इन्द्रने कालकेय नामक असुरोंको कम्पित किया था। (ये सभी नरेश धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते रहते थे)॥ २१—२३॥

जटासुरो मद्रकाणां च राजा
कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः।
तथाऽऽङ्गवाङ्गौ सह पुण्ड्रकेण
पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण॥ २४॥
अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैब्यश्चामित्रकर्शनः।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा॥ २५॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः।
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयसेनश्च मागधः॥ २६॥
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्शनः।
केतुमान् वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः॥ २७॥
सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः॥ २८॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः॥ २९॥
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः॥ ३०॥
भीष्मकोऽथाकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान्।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः॥ ३१॥
केतुमान् वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः।
एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसम्मताः॥ ३२॥
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।

इनके सिवा जटासुर, मद्रराज शल्य, राजा कुन्तिभोज, किरातराज पुलिन्द, अङ्गराज, वङ्गराज, पुण्ड्रक, पाण्ड्य, उड्रराज, आन्ध्रनरेश, अङ्ग, बङ्ग, सुमित्र, शत्रुसूदन शैब्य, किरातराज सुमना, यवननरेश, चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिंगराज श्रुतायुध, मगधदेशीय जयसेन, सुकर्मा, चेकितान, शत्रुसंहारक पुरु, केतुमान्, वसुदान, विदेहराज कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, महाबली श्रुतायु, दुर्धर्ष वीर अनूपराज, क्रमजित्, सुदर्शन, पुत्रसहित शिशुपाल, करूषराज दन्तवक्त्र, वृष्णिवंशियोंके देवस्वरूप दुर्धर्ष राजकुमार, आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, शिनिपुत्र सत्यक, भीष्मक, आकृति, पराक्रमी द्युमत्सेन, महान् धनुर्धर केकयराजकुमार, सोमक-पौत्र द्रुपद, केतुमान् (द्वितीय) तथा अस्त्रविद्यामें निपुण महाबली वसुमान्—ये तथा और भी बहुतसे प्रधान क्षत्रिय उस सभामें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें बैठते थे॥ २४—३२½॥

अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः॥ ३३॥
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः।
तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः॥ ३४॥

जो महाबली राजकुमार अर्जुनके पास रहकर कृष्ण-मृगचर्म धारण किये धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे (वे भी उस सभा-भवनमें बैठकर राजा युधिष्ठिरकी उपासना करते थे)। राजन्! वृष्णिवंशको आनन्दित करनेवाले राजकुमारोंको वहीं शिक्षा मिली थी॥ ३३-३४॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ३५॥
एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते।
धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः॥ ३६॥

रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, जाम्बवतीकुमार साम्ब, सत्यक-पुत्र (सात्यकि) युयुधान, सुधर्मा, अनिरुद्ध, नरश्रेष्ठ शैब्य—ये और दूसरे भी बहुत-से राजा उस सभामें बैठते थे। पृथ्वीपते! अर्जुनके सखा तुम्बुरु गन्धर्व भी उस सभामें नित्य विराजमान होते थे॥ ३५-३६॥

उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः।
चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा॥ ३७॥

मन्त्रीसहित चित्रसेन आदि सत्ताईस गन्धर्व और अप्सराएँ सभामें बैठे हुए महात्मा युधिष्ठिरकी उपासना करती थीं॥ ३७॥

गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः।
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किन्नराः कृतनिश्रमाः॥ ३८॥
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा।
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः।
पाण्डुपुत्रान्नृषींश्चैव रमयन्त उपासते॥ ३९॥

गाने-बजानेमें कुशल, साम्य[1] और ताल[2]के विशेषज्ञ तथा प्रमाण, लय और स्थानकी जानकारीके लिये विशेष परिश्रम किये हुए मनस्वी किन्नर तुम्बुरुकी आज्ञासे वहाँ अन्य गन्धर्वोंके साथ दिव्य तान छेड़ते हुए यथोचित रीतिसे गाते और पाण्डवों

१. संगीतमें नृत्य, गीत और वाद्यकी समताको लय अथवा साम्य कहते हैं; जैसा कि अमरकोषका वाक्य है—'लयः साम्यम्'।

२. नृत्य या गीतमें उसके काल और क्रियाका परिमाण, जिसे बीच-बीचमें हाथपर हाथ मारकर सूचित करते जाते हैं, ताल कहलाता है; जैसा कि अमरकोषका वचन है—'तालः कालक्रियामानम्'।

तथा महर्षियोंका मनोरञ्जन करते हुए धर्मराजकी उपासना करते थे ॥ ३८-३९ ॥

तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः ।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ४० ॥

जैसे देवतालोग दिव्यलोककी सभामें ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार कितने ही सत्यप्रतिज्ञ और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महापुरुष उस सभामें बैठकर महाराज युधिष्ठिरकी आराधना करते थे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभाप्रवेश नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

(लोकपालसभाख्यानपर्व)

पञ्चमोऽध्यायः

नारदजीका युधिष्ठिरकी सभामें आगमन और प्रश्नके रूपमें युधिष्ठिरको शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक दिन उस सभामें महात्मा पाण्डव अन्यान्य महापुरुषों तथा गन्धर्वों आदिके साथ बैठे हुए थे ॥ १ ॥

वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥
न्यायविद् धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ॥ ३ ॥
वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान् नयवित् कविः ।
परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत् कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्यास्य महामतिः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान् ॥ ७ ॥
संधिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥ ९ ॥
लोकाननुचरन् सर्वानागमत् तां सभां नृप ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ १० ॥
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥ ११ ॥
सभास्थान् पाण्डवान् द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥ १२ ॥

उसी समय वेद और उपनिषदोंके ज्ञाता, ऋषि, देवताओंद्वारा पूजित, इतिहास-पुराणके मर्मज्ञ, पूर्वकल्पकी बातोंके विशेषज्ञ, न्यायके विद्वान्, धर्मके तत्त्वको जाननेवाले, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन छहों अङ्गोंके पण्डितोंमें शिरोमणि, ऐक्य[1], संयोगनानात्व[2] और समवायके[3] ज्ञानमें विशारद, प्रगल्भ वक्ता, मेधावी, स्मरणशक्तिसम्पन्न, नीतिज्ञ, त्रिकालदर्शी, अपर ब्रह्म और परब्रह्मको विभागपूर्वक जाननेवाले, प्रमाणोंद्वारा एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचे हुए, पञ्चावयवयुक्त[4] वाक्यके गुण-दोषको जाननेवाले, बृहस्पति-जैसे वक्ताके साथ भी उत्तर-प्रत्युत्तर करनेमें समर्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ निश्चय रखनेवाले तथा इन सम्पूर्ण चौदहों भुवनोंको ऊपर, नीचे, और तिरछे सब ओरसे प्रत्यक्ष देखनेवाले, महाबुद्धिमान्, सांख्य और योगके विभागपूर्वक ज्ञाता, देवताओं और असुरोंमें भी निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न करनेके इच्छुक, संधि और विग्रहके

---

१. परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वेदके वचनोंकी एकवाक्यता।

२. एकमें मिले हुए वचनोंको प्रयोगके अनुसार अलग-अलग करना ।

३. यज्ञके अनेक कर्मोंके एक साथ उपस्थित होनेपर अधिकारके अनुसार यजमानके साथ कर्मका जो सम्बन्ध होता है, उसका नाम समवाय है ।

४. दूसरेको किसी वस्तुका बोध करानेके लिये प्रवृत्त हुआ पुरुष जिस अनुमानवाक्यका प्रयोग करता है, उसमें पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन । जैसे किसीने कहा—'इस पर्वतपर आग है' यह वाक्य प्रतिज्ञा है । 'क्योंकि वहाँ धूम है' यह हेतु है । 'जैसे रसोईघरमें धूआँ दीखनेपर वहाँ आग देखी जाती है' यह दृष्टान्त ही उदाहरण है । 'चूँकि इस पर्वतपर धूआँ दिखायी देता है' हेतुकी इस उपलब्धिका नाम उपनय है । 'इसलिये वहाँ आग है' यह निश्चय ही निगमन है । इस वाक्यमें अनुकूल तर्कका होना गुण है और प्रतिकूल तर्कका होना दोष है, जैसे 'यदि वहाँ आग न होती, तो धूआँ भी नहीं उठता' यह अनुकूल तर्क है । जैसे कोई तालाबसे भाप उठती देखकर यह कहे कि इस तालाबमें आग है, तो उसका वह अनुमान आश्रयासिद्धरूप हेत्वाभाससे युक्त होगा ।

तत्त्वको समझनेवाले, अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका अनुमानसे निश्चय करके शत्रुपक्षके मन्त्रियों आदिको फोड़नेके लिये धन आदि बाँटनेके उपयुक्त अवसरका ज्ञान रखनेवाले, संधि (सुलह), विग्रह (कलह), यान (चढ़ाई करना), आसन (अपने स्थानपर ही चुप्पी मारकर बैठे रहना), द्वैधीभाव (शत्रुओंमें फूट डालना) और समाश्रय (किसी बलवान् राजाका आश्रय ग्रहण करना)—राजनीतिके इन छहों अङ्गोंके उपयोगके जानकार, समस्त शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, युद्ध और संगीतकी कलामें कुशल, सर्वत्र क्रोधरहित, इन उपर्युक्त गुणोंके सिवा और भी असंख्य सद्गुणोंसे सम्पन्न, मननशील, परम कान्तिमान् महातेजस्वी देवर्षि नारद लोक-लोकान्तरोंमें घूमते-फिरते पारिजात, बुद्धिमान् पर्वत तथा सौम्य, सुमुख आदि अन्य अनेक ऋषियोंके साथ सभामें स्थित पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिलनेके लिये मनके समान वेगसे वहाँ आये और उन ब्रह्मर्षिने जय-सूचक आशीर्वादोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरका अत्यन्त सम्मान किया ॥ २-१२ ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित्।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ॥ १३ ॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा।
तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय यथाविधि ॥ १४ ॥
गां चैव मधुपर्कं च सम्प्रदायार्घ्यमेव च।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डवश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने देवर्षि नारदको आया देख भाइयोंसहित सहसा उठकर उन्हें प्रेम, विनय और नम्रतापूर्वक उस समय नमस्कार किया और उन्हें उनके योग्य आसन देकर धर्मज्ञ नरेशने गौ, मधुपर्क तथा अर्घ्य आदि उपचार अर्पण करते हुए रत्नोंसे उनका विधिपूर्वक पूजन किया तथा उनकी सब इच्छाओंकी पूर्ति करके उन्हें संतुष्ट किया ॥ १३-१५ ॥

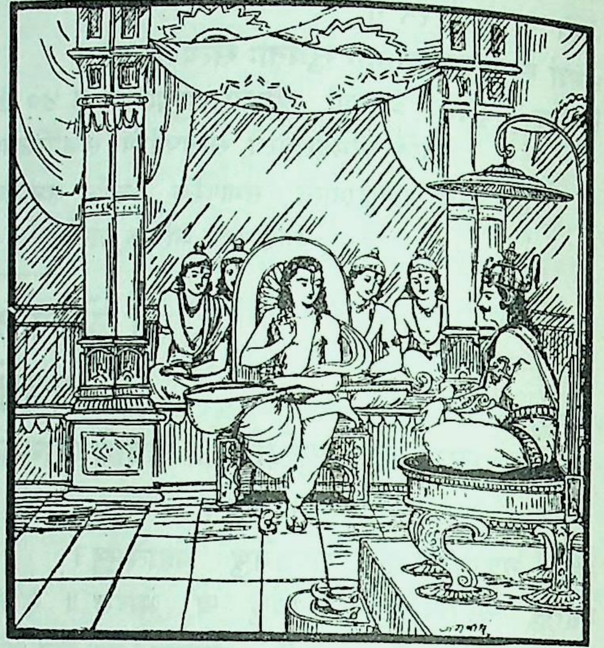
तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात्।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

राजा युधिष्ठिरसे यथोचित पूजा पाकर नारदजी भी बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार सम्पूर्ण पाण्डवोंसे पूजित होकर उन वेदवेत्ता महर्षिने युधिष्ठिरसे धर्म, काम और अर्थ तीनोंके उपदेशपूर्वक ये बातें पूछीं ॥ १६ ॥

नारद उवाच

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ १७ ॥

नारदजी बोले—राजन्! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे (यज्ञ, दान तथा कुटुम्बरक्षा आदि आवश्यक कार्योंके) निर्वाहके लिये पूरा पड़ जाता है ? क्या धर्ममें तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक



लगता है ? क्या तुम्हें इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते हैं ? (भगवच्चिन्तनमें लगे हुए) तुम्हारे मनको (किन्हीं दूसरी वृत्तियों-द्वारा) आघात या विक्षेप तो नहीं पहुँचता है ? ॥ १७॥

कच्चिदाचरितं पूर्वैर्नरदेव पितामहैः।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १८ ॥

नरदेव ! क्या तुम ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णोंकी प्रजाओंके प्रति अपने पिता-पितामहोंद्वारा व्यवहार-में लायी हुई धर्मार्थयुक्त उत्तम एवं उदार वृत्तिका व्यवहार करते हो ? ॥ १८ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ १९ ॥

तुम धनके लोभमें पड़कर धर्मको, केवल धर्ममें ही संलग्न रहकर धनको अथवा आसक्ति ही जिसका बल है, उस काम-भोगके सेवनद्वारा धर्म और अर्थ दोनोंको ही हानि तो नहीं पहुँचाते ? ॥ १९ ॥

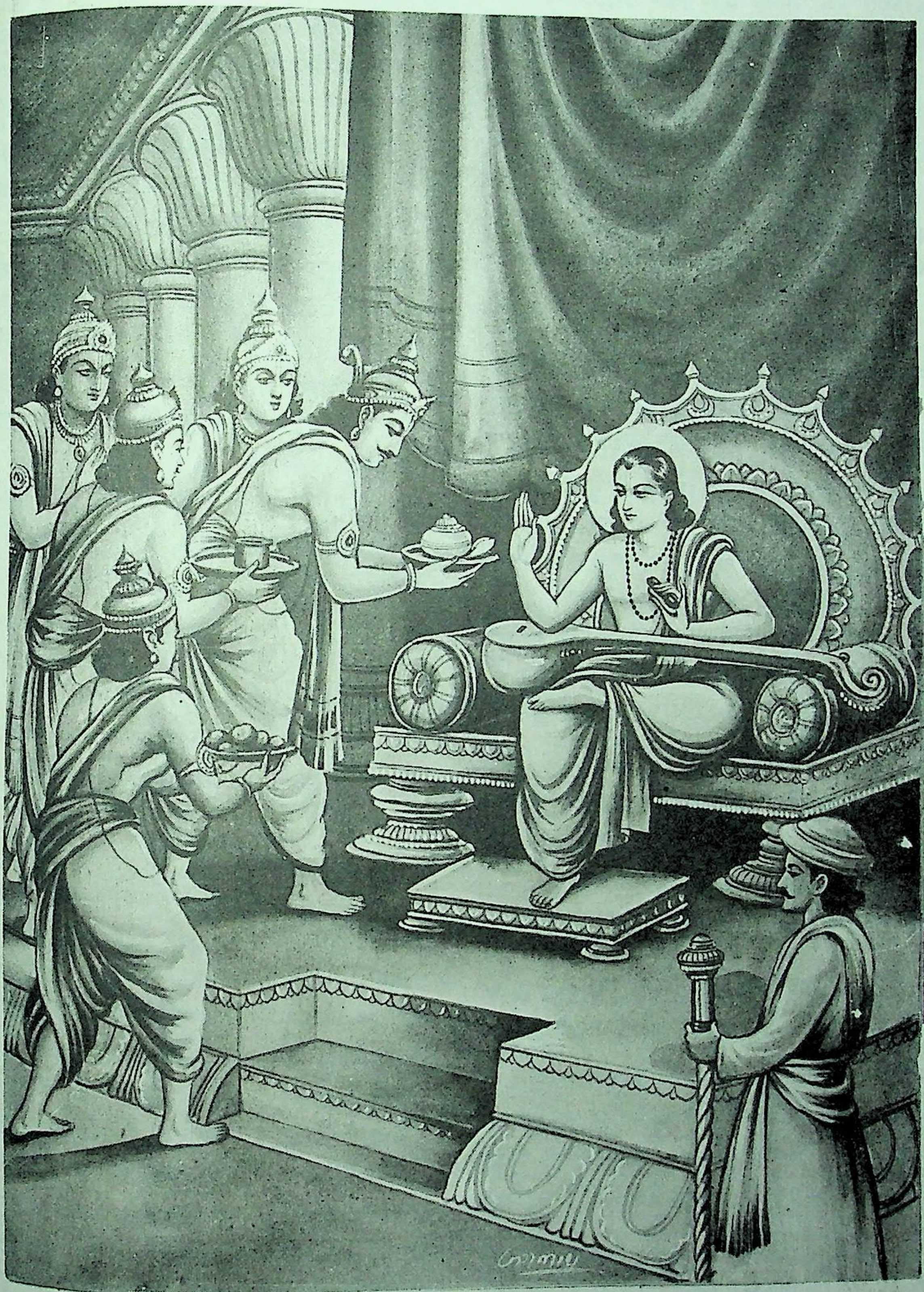
कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥ २० ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ एवं वरदायक नरेश ! तुम त्रिवर्ग-सेवनके उपयुक्त समयका ज्ञान रखते हो; अतः कालका विभाग करके नियत और उचित समयपर सदा धर्म, अर्थ एवं कामका सेवन करते हो न ? ॥ २० ॥*

* दक्षस्मृतिमें त्रिवर्गसेवनका काल-विभाग इस प्रकार बताया गया है—

पूर्वाह्णे त्वाचरेद् धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत्।
सायाह्ने चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः॥

पूर्वाह्णकालमें धर्मका आचरण करे, मध्याह्नके समय धनोपार्जन-का काम देखे और सायाह्न (रात्रि) के समय कामका सेवन करे। यह वैदिक श्रुतिका आदेश है। (नीलकण्ठीसे उद्धृत)



पाण्डवोंद्वारा देवर्षि नारदका पूजन

कच्चिद् राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ ।
बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे ॥ २१ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! क्या तुम राजोचित छः[1] गुणोंके द्वारा सातों[2] उपायोंकी, अपने और शत्रुके बलाबलकी तथा देशपाल, दुर्गपाल आदि चौदह[3] व्यक्तियोंकी भलीभाँति परख करते रहते हो ? ॥ २१ ॥

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥ २२ ॥

विजेताओंमें श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ! क्या तुम अपनी और शत्रुकी शक्तिको अच्छी तरह समझकर यदि शत्रु प्रबल हुआ तो उसके साथ संधि बनाये रखकर अपने धन और कोषकी वृद्धिके लिये आठ[4] कर्मोंका सेवन करते हो ? ॥ २२ ॥

कच्चित् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारी मन्त्री आदि सातों[5] प्रकृतियाँ कहीं शत्रुओंमें मिल तो नहीं गयी हैं ? तुम्हारे राज्यके धनीलोग बुरे व्यसनोंसे बचे रहकर सर्वथा तुमसे प्रेम करते हैं न ? ॥

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः ।
त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ॥ २४ ॥

जिनपर तुम्हें संदेह नहीं होता, ऐसे शत्रुके गुप्तचर कृत्रिम मित्र बनकर तुम्हारे मन्त्रियोंद्वारा तुम्हारी गुप्त मन्त्रणाको जानकर उसे प्रकाशित तो नहीं कर देते ? ॥ २४ ॥

मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद् वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित् संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ २५ ॥

क्या तुम मित्र, शत्रु और उदासीन लोगोंके सम्बन्धमें यह ज्ञान रखते हो कि वे कब क्या करना चाहते हैं ? उपयुक्त समयका विचार करके ही संधि और विग्रहकी नीतिका सेवन करते हो न ? ॥ २५ ॥

कच्चिद् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे ।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः ॥ २६ ॥
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥ २७ ॥

क्या तुम्हें इस बातका अनुमान है कि उदासीन एवं मध्यम व्यक्तियोंके प्रति कैसा बर्ताव करना चाहिये ? वीर ! तुमने अपने स्वयंके समान विश्वसनीय वृद्ध, शुद्ध हृदयवाले, किसी बातको अच्छी तरह समझानेमें समर्थ, उत्तम कुलमें उत्पन्न और अपने प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले पुरुषोंको ही मन्त्री बना रक्खा है न ? क्योंकि भारत ! राजाकी विजय-प्राप्तिका मूल कारण अच्छी मन्त्रणा (सलाह) और उसकी सुरक्षा ही है, (जो सुयोग्य मन्त्रीके अधीन है) ॥ २६-२७ ॥

कच्चित् संवृतमन्त्रैस्तैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ॥ २८ ॥

तात ! मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उन शास्त्रज्ञ सचिवोंद्वारा तुम्हारा राष्ट्र सुरक्षित तो है न ? शत्रुओंद्वारा उसका नाश तो नहीं हो रहा है ? ॥ २८ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् काले विबुद्ध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ २९ ॥

तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते ? समयपर जग जाते हो न ? अर्थशास्त्रके जानकार तो तुम हो ही। रात्रिके पिछले भागमें जगकर अपने अर्थ (आवश्यक कर्तव्य एवं हित) के विषयमें विचार तो करते हो न ? * ॥ २९ ॥

---

१. राजाओंमें छः गुण होने चाहिये—व्याख्यानशक्ति, प्रगल्भता, तर्ककुशलता, भूतकालकी स्मृति, भविष्यपर दृष्टि तथा नीतिनिपुणता ।

२. सात उपाय ये हैं- —मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दान, दण्ड और भेद ।

३. परीक्षाके योग्य चौदह स्थान या व्यक्ति नीतिशास्त्रमें इस प्रकार बताये गये हैं—

देशो दुर्गं रथो हस्तिवाजियोधाधिकारिणः ।
अन्तःपुरान्नगणनाशास्त्रलेख्यधनासवः ॥

देश, दुर्ग, रथ, हाथी, घोड़े, शूर सैनिक, अधिकारी, अन्तःपुर, अन्न, गणना, शास्त्र, लेख्य, धन और असु (बल), इनके जो चौदह अधिकारी हैं, राजाओंको उनकी परीक्षा करते रहना चाहिये।

४. राजाके कोष और धनकी वृद्धिके लिये आठ कर्म ये हैं—

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकरकरादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥
अष्ट संधानकर्माणि प्रयुक्तानि मनीषिभिः ॥

खेतीका विस्तार, व्यापारकी रक्षा, दुर्गकी रचना एवं रक्षा, पुलोंका निर्माण और उनकी रक्षा, हाथी बाँधना, सोने-हीरे आदि-की खानोंपर अधिकार करना, करकी वसूली और उजाड़ प्रान्तोंमें लोगोंको बसाना—मनीषी पुरुषोंद्वारा ये आठ संधानकर्म बताये गये हैं ।

५. स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग तथा सेना एवं पुरवासी—ये राज्यके सात अङ्ग ही सात प्रकृतियाँ हैं । अथवा— दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी—ये भी सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं ।

* स्मृतिमें कहा है कि—'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।'

अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने हितका चिन्तन करे ।

(नीलकण्ठी टीकासे उद्धृत)

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ ३० ॥

(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है, छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ,) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो ? ॥ ३० ॥

कच्चिदर्थान् विनिश्चित्य लघुमूलान् महोदयान्।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३१ ॥

धनकी वृद्धिके ऐसे उपायोंका निश्चय करके, जिनमें मूलधन तो कम लगाना पड़ता हो, किंतु वृद्धि अधिक होती हो, उनका शीघ्रतापूर्वक आरम्भ कर देते हो न ? वैसे कार्योंमें अथवा वैसा कार्य करनेवाले लोगोंके मार्गमें तुम विघ्न तो नहीं डालते ? ॥ ३१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम् ॥ ३२ ॥

तुम्हारे राज्यके किसान—मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं हैं ? उनके कार्य और गति-विधिपर तुम्हारी दृष्टि है न ? वे तुम्हारे अविश्वासके पात्र तो नहीं हैं अथवा तुम उन्हें बार-बार छोड़ते और पुनः कामपर लेते तो नहीं रहते ? क्योंकि महान् अभ्युदय या उन्नतिमें उन सबका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण है। (क्योंकि चिरकालसे अनुगृहीत होनेपर ही वे शांत, विश्वासपात्र और स्वामीके प्रति अनुरक्त होते हैं) ॥ ३२ ॥

आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः।
कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ॥ ३३ ॥
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित्।

कृषि आदिके कार्य विश्वसनीय, लोभरहित और बड़े-बूढ़ोंके समयसे चले आनेवाले कार्यकर्ताओंद्वारा ही कराते हो न ? राजन् ! वीरशिरोमणे ! क्या तुम्हारे कार्योंके सिद्ध हो जानेपर या सिद्धिके निकट पहुँच जानेपर ही लोग जान पाते हैं ? सिद्ध होनेसे पहले ही तुम्हारे किन्हीं कार्योंको लोग जान तो नहीं लेते ॥ ३३½ ॥

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ ३४ ॥

तुम्हारे यहाँ जो शिक्षा देनेका काम करते हैं, वे धर्म एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् होकर ही राजकुमारों तथा मुख्य-मुख्य योद्धाओंको सब प्रकारकी आवश्यक शिक्षाएँ देते हैं न ? ॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥ ३५ ॥

तुम हजारों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही तो खरीदते हो न ? अर्थात् आदरपूर्वक स्वीकार करते हो न ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है ॥ ३५ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ३६ ॥

क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी और धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं ? ॥ ३६ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ ३७ ॥

यदि एक भी मन्त्री मेधावी, शौर्यसम्पन्न, संयमी और चतुर हो तो राजा अथवा राजकुमारको विपुल सम्पत्तिकी प्राप्ति करा देता है ॥ ३७ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३८ ॥

क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह[1] और अपने पक्षके पंद्रह[2] तीर्थोंकी तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३८ ॥

कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा।
नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्षसे रिपुसूदन ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन ! तुम शत्रुओंसे अज्ञात, सतत सावधान और नित्य प्रयत्नशील रहकर अपने सम्पूर्ण शत्रुओंकी गति-विधिपर दृष्टि रखते हो न ? ॥ ३९ ॥

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ४० ॥

क्या तुम्हारे पुरोहित विनयशील, कुलीन, बहुज्ञ, विद्वान्, दोषदृष्टिसे रहित तथा शास्त्रचर्चामें कुशल हैं ? क्या तुम उनका पूर्ण सत्कार करते हो ? ॥ ४० ॥

---

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनको व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये।

२. उपर्युक्त टिप्पणीमें अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं।

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा॥ ४१॥

तुमने अग्निहोत्रके लिये विधिज्ञ, बुद्धिमान् और सरल स्वभावके ब्राह्मणको नियुक्त किया है न? वह सदा किये हुए और किये जानेवाले हवनको तुम्हें ठीक समयपर सूचित कर देता है न? ॥ ४१ ॥

कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः।
उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव॥ ४२॥

क्या तुम्हारे यहाँ हस्त-पादादि अङ्गोंकी परीक्षामें निपुण, ग्रहोंकी वक्र तथा अतिचार आदि गतियों एवं उनके शुभाशुभ परिणाम आदिको बतानेवाला तथा दिव्य, भौम एवं शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके उत्पातोंको पहलेसे ही जान लेनेमें कुशल ज्योतिषी है? ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः॥ ४३॥

तुमने प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंको उनके योग्य महान् कार्योंमें, मध्यम श्रेणीके कार्यकर्ताओंको मध्यम कार्योंमें तथा निम्न श्रेणीके सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुसार छोटे कामोंमें ही लगा रक्खा है न? ॥ ४३ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन्।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु॥ ४४॥

क्या तुम निश्छल, बाप-दादोंके क्रमसे चले आये हुए और पवित्र आचार-विचारवाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको सदा श्रेष्ठ कर्मोंमें लगाये रखते हो? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः।
राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ॥ ४५॥

भरतश्रेष्ठ! कठोर दण्डके द्वारा तुम प्रजाजनोंको अत्यन्त उद्वेगमें तो नहीं डाल देते? मन्त्रीलोग तुम्हारे राज्यका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न? ॥ ४५ ॥

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः॥ ४६॥

जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका और स्त्रियाँ कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती? ॥ ४६ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमाञ्छुचिः।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तथा॥ ४७॥

क्या तुम्हारा सेनापति हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न, शूरवीर, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, पवित्र, कुलीन, स्वामिभक्त तथा अपने कार्यमें कुशल है? ॥ ४७ ॥

कच्चिद् बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः॥ ४८॥

तुम्हारी सेनाके मुख्य-मुख्य दलपति सब प्रकारके युद्धोंमें चतुर, धृष्ट (निर्भय), निष्कपट और पराक्रमी हैं न? तुम उनका यथोचित सत्कार एवं सम्मान करते हो न? ॥ ४८ ॥

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि॥ ४९॥

अपनी सेनाके लिये यथोचित भोजन और वेतन ठीक समयपर दे देते हो न? जो उन्हें दिया जाना चाहिये, उसमें कमी या विलम्ब तो नहीं कर देते? ॥ ४९ ॥

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः।
भर्तुः कुप्यन्ति यद्भृत्याः सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः॥ ५०॥

भोजन और वेतनमें अधिक विलम्ब होनेपर भृत्यगण अपने स्वामीपर कुपित हो जाते हैं और उनका वह कोप महान् अनर्थका कारण बताया गया है ॥ ५० ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि॥ ५१॥

क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि सभी प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं? क्या वे युद्धमें तुम्हारे हितके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग करनेको सदा तैयार रहते हैं? ॥

कच्चिन्नैको बहूनर्थान् सर्वशः साम्परायिकान्।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः॥ ५२॥

तुम्हारे कर्मचारियोंमें कोई ऐसा तो नहीं है, जो अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाला और तुम्हारे शासनका उल्लङ्घन करनेवाला हो तथा युद्धके सारे साधनों एवं कार्योंको अकेला ही अपनी रुचिके अनुसार चला रहा हो? ॥ ५२ ॥

कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन्।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम्॥ ५३॥

(तुम्हारे यहाँ काम करनेवाला) कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे जब किसी कार्यको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता है, तब वह आपसे अधिक सम्मान अथवा अधिक भत्ता और वेतन पाता है न? ॥

कच्चिद् विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान्।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे॥ ५४॥

क्या तुम विद्यासे विनयशील एवं ज्ञाननिपुण मनुष्योंको उनके गुणोंके अनुसार यथायोग्य धन आदि देकर उनका सम्मान करते हो? ॥ ५४ ॥

कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ॥ ५५॥

भरतश्रेष्ठ! जो लोग तुम्हारे हितके लिये सहर्ष मृत्युका वरण कर लेते हैं अथवा भारी संकटमें पड़ जाते हैं, उनके बाल-बच्चोंकी रक्षा तुम करते हो न? ॥ ५५ ॥

कच्चिद् भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम्।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत् परिरक्षसि ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो भयसे अथवा अपनी धन-सम्पत्तिका नाश होनेसे तुम्हारी शरणमें आया हो या युद्धमें तुमसे परास्त हो गया हो, ऐसे शत्रुका तुम पुत्रके समान पालन करते हो या नहीं ? ॥ ५६ ॥

कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते।
समश्चानभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ५७॥

पृथ्वीपते ! क्या समस्त भूमण्डलकी प्रजा तुम्हें ही समदर्शी एवं माता-पिताके समान विश्वसनीय मानती है ? ॥ ५७॥

कच्चिद् व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ५८ ॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम अपने शत्रुको (स्त्री-द्यूत आदि) दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ सुनकर उसके त्रिविध बल (मन्त्र, कोष एवं भृत्य-बल अथवा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति) पर विचार करके यदि वह दुर्बल हो तो उसके ऊपर बड़े वेगसे आक्रमण कर देते हो ? ॥ ५८ ॥

यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिंदम।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम्।
बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ॥ ५९ ॥

शत्रुदमन ! क्या तुम पार्ष्णिग्राह आदि बारह[1] व्यक्तियोंके मण्डल (समुदाय) को जानकर अपने कर्तव्यका निश्चय करके और पराजयमूलक व्यसनोंका[2] अपने पक्षमें अभाव तथा शत्रुपक्षमें आधिक्य देखकर उचित अवसर आनेपर दैवका भरोसा करके अपने सैनिकोंको अग्रिम वेतन देकर शत्रुपर चढ़ाई कर देते हो ? ॥ ५९ ॥

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ६० ॥

परंतप ! शत्रुके राज्यमें जो प्रधान-प्रधान योद्धा हैं, उन्हें छिपे-छिपे यथायोग्य रत्न आदि भेंट करते रहते हो या नहीं ? ॥ ६० ॥

कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः।
परान् जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६१ ॥

कुन्तीनन्दन ! क्या तुम पहले अपनी इन्द्रियों और मनको जीतकर ही प्रमादमें पड़े हुए अजितेन्द्रिय शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करते हो ? ॥ ६१ ॥

कच्चित् ते यास्यतः शत्रून् पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद् गुणाः ॥ ६२ ॥

शत्रुओंपर तुम्हारे आक्रमण करनेसे पहले अच्छी तरह प्रयोगमें लाये हुए तुम्हारे साम, दान, भेद और दण्ड—ये चार गुण विधिपूर्वक उन शत्रुओंतक पहुँच जाते हैं न ? (क्योंकि शत्रुओंको वशमें करनेके लिये इनका प्रयोग आवश्यक है।) ॥ ६२ ॥

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६३ ॥

महाराज ! तुम अपने राज्यकी नींवको दृढ़ करके शत्रुओंपर धावा करते हो न ? उन शत्रुओंको जीतनेके लिये पूरा पराक्रम प्रकट करते हो न ? और उन्हें जीतकर उनकी पूर्णरूपसे रक्षा तो करते रहते हो न ? ॥ ६३ ॥

कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ॥ ६४ ॥

क्या धनरक्षक, द्रव्यसंग्राहक, चिकित्सक, गुप्तचर, पाचक, सेवक, लेखक और प्रहरी—इन आठ अङ्गों और हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल—इन चार* प्रकारके बलोंसे युक्त तुम्हारी सेना सुयोग्य सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित होकर शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ होती है ? ॥ ६४ ॥

---

१. विजयके इच्छुक राजाके आगे खड़े होनेवाले उसके शत्रुके शत्रु २, उन शत्रुओंके मित्र २, उन मित्रोंके मित्र २—ये छः व्यक्ति युद्धमें आगे खड़े होते हैं। विजिगीषुके पीछे पार्ष्णिग्राह (पृष्ठरक्षक) और आक्रन्द (उत्साह दिलानेवाला)—ये दो व्यक्ति खड़े होते हैं। इन दोनोंकी सहायता करनेवाले एक-एक व्यक्ति इनके पीछे खड़े होते हैं, जिनकी आसार संज्ञा है। ये क्रमशः पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार कहे जाते हैं। इस प्रकार आगेके छः और पीछेके चार मिलकर दस होते हैं। विजिगीषुके पार्श्वभागमें मध्यम और उसके भी पार्श्वभागमें उदासीन होता है। इन दोनोंको जोड़ लेनेसे इन सबकी संख्या बारह होती है। इन्हींको द्वादश राजमण्डल अथवा 'पार्ष्णिमूल' कहते हैं। अपने और शत्रुपक्षके इन व्यक्तियोंको जानना चाहिये।

२. नीतिशास्त्रके अनुसार विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह शत्रुपक्षके सैनिकोंमेंसे जो लोभी हो, किंतु जिसे वेतन न मिला हो, जो मानी हो किंतु किसी तरह अपमानित हो गया हो, जो क्रोधी हो और उसे क्रोध दिलाया गया हो, जो स्वभावसे ही डरनेवाला हो और उसे पुनः डरा दिया गया हो—इन चार प्रकारके लोगोंको फोड़ ले और अपने पक्षमें ऐसे लोग हों, तो उन्हें उचित सम्मान देकर मिला ले।

३. व्यसन दो प्रकारके हैं—दैव और मानुष। दैव व्यसन पाँच प्रकारके हैं—अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और महामारी। मानुष व्यसन भी पाँच प्रकारका है—मूर्ख पुरुषोंसे, चोरोंसे, शत्रुओंसे, राजाके प्रिय व्यक्तिसे तथा राजाके लोभसे प्रजाको प्राप्त भय।

[नीलकंठी टीकाके अनुसार]

* आठ अङ्ग और चार बल भारतकौमुदीटीकाके अनुसार लिये गये हैं।

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप।
अविहाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥ ६५ ॥

शत्रुओंको संतप्त करनेवाले महाराज! तुम शत्रुओंके राज्यमें अनाज काटने और दुर्भिक्षके समयकी उपेक्षा न करके रणभूमिमें शत्रुओंको मारते हो न? ॥ ६५ ॥

कच्चित् स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव।
अर्थान् समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६६ ॥

क्या अपने और शत्रुके राष्ट्रोंमें तुम्हारे बहुत-से अधिकारी स्थान-स्थानमें घूम-फिरकर प्रजाको वशमें करने एवं कर लेने आदि प्रयोजनोंको सिद्ध करते हैं और परस्पर मिलकर राष्ट्र एवं अपने पक्षके लोगोंकी रक्षामें लगे रहते हैं? ॥ ६६ ॥

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६७ ॥

महाराज! तुम्हारे खाद्य पदार्थ, शरीरमें धारण करनेके वस्त्र आदि तथा सूँघनेके उपयोगमें आनेवाले सुगन्धित द्रव्योंकी रक्षा विश्वस्त पुरुष ही करते हैं न? ॥ ६७ ॥

कच्चित् कोषश्च कोष्ठं च वाहनं द्वारमायुधम्।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ६८ ॥

तुम्हारे कल्याणके लिये सदा प्रयत्नशील रहनेवाले, स्वामि-भक्त मनुष्योंद्वारा ही तुम्हारे धन-भण्डार, अन्न-भण्डार, वाहन, प्रधान द्वार, अस्त्र-शस्त्र तथा आयके साधनोंकी रक्षा एवं देख-भाल की जाती है न? ॥ ६८ ॥

कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशाम्पते।
रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥ ६९ ॥

प्रजापालक नरेश! क्या तुम रसोइये आदि भीतरी सेवकों तथा सेनापति आदि बाह्य सेवकोंद्वारा भी पहले अपनी ही रक्षा करते हो, फिर आत्मीय जनोंद्वारा एवं परस्पर एक-दूसरेसे उन सबकी रक्षापर भी ध्यान देते हो? ॥ ६९ ॥

कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७० ॥

तुम्हारे सेवक पूर्वाह्णकालमें (जो कि धर्माचरणका समय है) तुमसे मद्यपान, द्यूत, क्रीड़ा और युवती स्त्री आदि दुर्व्यसनोंमें तुम्हारा समय और धनको व्यर्थ नष्ट करनेके लिये प्रस्ताव तो नहीं करते? ॥ ७० ॥

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव ॥ ७१ ॥

क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है? ॥ ७१ ॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान्।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७२ ॥

तुम अपने आश्रित कुटुम्बके लोगों, गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों, व्यापारियों, शिल्पियों तथा दीन-दुखियोंको धन-धान्य देकर उनपर सदा अनुग्रह करते रहते हो न? ॥ ७२ ॥

कच्चिदायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ॥ ७३ ॥

तुम्हारी आमदनी और खर्चको लिखने और जोड़नेके काममें लगाये हुए सभी लेखक और गणक प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें तुम्हारे सामने अपना हिसाब पेश करते हैं न? ॥ ७३ ॥

कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान् हितकामाननुप्रियान्।
नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७४ ॥

किन्हीं कार्योंमें नियुक्त किये हुए प्रौढ़, हितैषी एवं प्रिय कर्मचारियोंको पहले उनके किसी अपराधको जाँच किये बिना तुम कामसे अलग तो नहीं कर देते हो? ॥ ७४ ॥

कच्चिद् विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान्।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७५ ॥

भारत! तुम उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीके मनुष्योंको पहचानकर उन्हें उनके अनुरूप कार्योंमें ही लगाते हो न? ॥ ७५ ॥

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशाम्पते।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७६ ॥

राजन्! तुमने ऐसे लोगोंको तो अपने कामोंपर नहीं लगा रक्खा है, जो लोभी, चोर, शत्रु अथवा व्यावहारिक अनुभवसे सर्वथा शून्य हों? ॥ ७६ ॥

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् तुष्टाः कृषीवलाः ॥ ७७ ॥

चोरों, लोभियों, राजकुमारों या राजकुलकी स्त्रियोंद्वारा अथवा स्वयं तुमसे ही तुम्हारे राष्ट्रको पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है? क्या तुम्हारे राज्यके किसान संतुष्ट हैं? ॥ ७७ ॥

कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ७८ ॥

क्या तुम्हारे राज्यके सभी भागोंमें जलसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं? केवल वर्षाके पानीके भरोसे ही तो खेती नहीं होती है? ॥ ७८ ॥

कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ७९ ॥

तुम्हारे राज्यके किसानका अन्न या बीज तो नष्ट नहीं होता? क्या तुम प्रत्येक किसानपर अनुग्रह करके उसे एक रुपया सैकड़े ब्याजपर ऋण देते हो? ॥ ७९ ॥

कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८० ॥

तात ! तुम्हारे राष्ट्रमें अच्छे पुरुषोंद्वारा वार्ता—कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारका काम अच्छी तरह किया जाता है न ? क्योंकि उपर्युक्त वार्तावृत्तिपर अवलम्बित रहनेवाले लोग ही सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ॥ ८० ॥

कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः ।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८१ ॥

राजन् ! क्या तुम्हारे जनपदके प्रत्येक गाँवमें शूरवीर, बुद्धिमान् और कार्यकुशल पाँच-पाँच पञ्च मिलकर सुचारुरूपसे जनहितके कार्य करते हुए सबका कल्याण करते हैं ? ॥ ८१ ॥

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः ।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८२ ॥

क्या नगरोंकी रक्षाके लिये गाँवोंको भी नगरके ही समान बहुत-से शूरवीरोंद्वारा सुरक्षित कर दिया गया है ? सीमावर्ती गाँवोंको भी अन्य गाँवोंकी भाँति सभी सुविधाएँ दी गयी हैं ? तथा क्या वे सभी प्रान्त, ग्राम और नगर तुम्हें (कर-रूपमें एकत्र किया हुआ) धन समर्पित करते हैं* ? ॥ ८२ ॥

कच्चिद् बलेनानुगताः समानि विषमाणि च ।
पुराणि चौरान् निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८३ ॥

क्या तुम्हारे राज्यमें कुछ रक्षक पुरुष सेना साथ लेकर चोर-डाकुओंका दमन करते हुए सुगम एवं दुर्गम नगरोंमें विचरते रहते हैं ? ॥ ८३ ॥

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित् ताश्च सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ८४ ॥

तुम स्त्रियोंको सान्त्वना देकर संतुष्ट रखते हो न ? क्या वे तुम्हारे यहाँ पूर्णरूपसे सुरक्षित हैं ? तुम उनपर पूरा विश्वास तो नहीं करते ? और विश्वास करके उन्हें कोई गुप्त बात तो नहीं बता देते ? ॥ ८४ ॥

कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च ।
प्रियाण्यनुभवञ्छेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ॥ ८५ ॥

राजन् ! तुम कोई अमङ्गलसूचक समाचार सुनकर और उसके विषयमें बार-बार विचार करके भी प्रिय भोग-विलासोंका आनन्द लेते हुए अन्तःपुरमें ही सोते तो नहीं रह जाते ? ॥ ८५ ॥

कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८६ ॥

प्रजानाथ ! क्या तुम रात्रिके (पहले पहरके बाद) जो प्रथम दो (दूसरे-तीसरे) याम हैं, उन्हींमें सोकर अन्तिम पहरमें उठकर बैठ जाते और धर्म एवं अर्थका चिन्तन करते हो ? ॥ ८६ ॥

कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान् समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥ ८७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम प्रतिदिन समयपर उठकर स्नान आदिके पश्चात् वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो देश-कालके ज्ञाता मन्त्रियोंके साथ बैठकर (प्रार्थी या दर्शनार्थी) मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण करते हो न ? ॥ ८७ ॥

कच्चिद् रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिंदम ॥ ८८ ॥

शत्रुदमन ! क्या लाल वस्त्र धारण करके अलंकारोंसे अलंकृत हुए योद्धा अपने हाथोंमें तलवार लेकर तुम्हारी रक्षाके लिये सब ओरसे सेवामें उपस्थित रहते हैं ? ॥ ८८ ॥

कच्चिद् दण्ड्येषु यमवत्पूज्येषु च विशाम्पते ।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ८९ ॥

महाराज ! क्या तुम दण्डनीय अपराधियोंके प्रति यमराज और पूजनीय पुरुषोंके प्रति धर्मराजका-सा बर्ताव करते हो ? प्रिय एवं अप्रिय व्यक्तियोंकी भलीभाँति परीक्षा करके ही व्यवहार करते हो न ? ॥ ८९ ॥

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥ ९० ॥

कुन्तीकुमार ! क्या तुम ओषधिसेवन या पथ्य-भोजन आदि नियमोंके पालनद्वारा अपने शारीरिक कष्टको तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवारूप सत्सङ्गद्वारा मानसिक संतापको सदा दूर करते रहते हो ? ॥ ९० ॥

कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ९१ ॥

तुम्हारे वैद्य अष्टाङ्गचिकित्सामें * कुशल, हितैषी, प्रेमी एवं तुम्हारे शरीरको स्वस्थ रखनेके प्रयत्नमें सदा संलग्न रहनेवाले हैं न ? ॥ ९१ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा मानाद् वापि विशाम्पते ।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान् न पश्यसि कथंचन ॥ ९२ ॥

नरेश्वर ! कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम अपने यहाँ आये हुए अर्थी (याचक) और प्रत्यर्थी (राजाकी ओरसे मिली हुई वृत्ति बंद हो जानेसे दुखी हो पुनः उसीको पानेके लिये प्रार्थी) की ओर लोभ, मोह अथवा अभिमानवश किसी प्रकार आँख उठाकर देखतेतक नहीं ? ॥ ९२ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा विश्रम्भात् प्रणयेन वा ।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ॥ ९३ ॥

* सीमावर्ती गाँवका अधिपति अपने यहाँका राजकीय कर एकत्र करके ग्रामाधिपतिको दे, ग्रामाधिपति नगराधिपतिको, वह देशाधिपतिको और देशाधिपति साक्षात् राजाको वह धन अर्पित करे ।

* नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, नेत्र, रूप, शब्द तथा स्पर्श—ये आठ चिकित्साके प्रकार कहे जाते हैं ।

कहीं अपने आश्रित जनोंकी जीविकावृत्तिको तुम लोभ, मोह, आत्मविश्वास अथवा आसक्तिसे बंद तो नहीं कर देते ? ॥ ९३ ॥

कच्चित् पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ॥ ९४ ॥

तुम्हारे नगर तथा राष्ट्रके निवासी मनुष्य संगठित होकर तुम्हारे साथ विरोध तो नहीं करते ? शत्रुओंने उन्हें किसी तरह घूस देकर खरीद तो नहीं लिया है ? ॥ ९४ ॥

कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः।
मन्त्रेण बलवान् कश्चिदुभाभ्यां च कथंचन ॥ ९५ ॥

कोई दुर्बल शत्रु जो तुम्हारे द्वारा पहले बलपूर्वक पीड़ित किया गया (किंतु मारा नहीं गया), अब मन्त्रणाशक्तिसे अथवा मन्त्रणा और सेना दोनों ही शक्तियोंसे किसी तरह बलवान् होकर सिर तो नहीं उठा रहा है ? ॥ ९५ ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः।
कच्चित् प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वयाऽऽदृताः॥ ९६॥

क्या सभी मुख्य-मुख्य भूपाल तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे द्वारा सम्मान पाकर तुम्हारे लिये अपने प्राणोंकी बलि दे सकते हैं ? ॥ ९६ ॥

कच्चित् ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ॥ ९७ ॥

क्या तुम्हारे मनमें सभी विद्याओंके प्रति गुणके अनुसार आदरका भाव है ? क्या तुम ब्राह्मणों तथा साधु-संतोंकी सेवा-पूजा करते हो ? जो तुम्हारे लिये शुभ एवं कल्याणकारिणी है। इन ब्राह्मणोंको तुम सदा दक्षिणा तो देते रहते हो न ? क्योंकि वह स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ ९७ ॥

कच्चिद् धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन् कर्मणि वर्तसे ॥ ९८ ॥

तीनों वेद ही जिसके मूल हैं और पूर्वपुरुषोंने जिसका आचरण किया है, उस धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये तुम अपने पूर्वजोंकी ही भाँति प्रयत्नशील तो रहते हो ? धर्मानुकूल कर्ममें ही तुम्हारी प्रवृत्ति तो रहती है ? ॥ ९८ ॥

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ ९९ ॥

क्या तुम्हारे महलमें तुम्हारी आँखोंके सामने गुणवान् ब्राह्मण स्वादिष्ट और गुणकारक अन्न भोजन करते हैं ? और भोजनके पश्चात् उन्हें दक्षिणा दी जाती है ? ॥ ९९ ॥

कच्चित् क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ १०० ॥

अपने मनको वशमें करके एकाग्रचित्त हो वाजपेय और पुण्डरीक आदि सभी यज्ञ-यागोंका तुम पूर्णरूपसे अनुष्ठान करनेका प्रयत्न तो करते हो न ? ॥ १०० ॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् दैवतांस्तापसानपि।
चैत्यांश्च वृक्षान् कल्याणान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि॥ १०१॥

जाति-भाई, गुरुजन, वृद्ध पुरुष, देवता, तपस्वी, चैत्यवृक्ष (पीपल) आदि तथा कल्याणकारी ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो न ? ॥ १०१ ॥

कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वे नु तिष्ठति ॥ १०२॥

निष्पाप नरेश ! तुम किसीके मनमें शोक या क्रोध तो नहीं पैदा करते ? तुम्हारे पास कोई मनुष्य हाथमें मङ्गल-सामग्री लेकर सदा उपस्थित रहता है न ? ॥ १०२ ॥

कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥ १०३॥

पापरहित युधिष्ठिर ! अबतक जैसा बतलाया गया है, उसके अनुसार ही तुम्हारी बुद्धि और वृत्ति (विचार और आचार) हैं न ? ऐसी धर्मानुकूल बुद्धि और वृत्ति आयु तथा यशको बढ़ानेवाली एवं धर्म, अर्थ तथा कामको पूर्ण करनेवाली है ॥ १०३ ॥

एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तसुखमेधते ॥ १०४॥

जो ऐसी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करता है, उसका राष्ट्र कभी संकटमें नहीं पड़ता। वह राजा सारी पृथ्वीको जीतकर बड़े सुखसे दिनोंदिन उन्नति करता है ॥ १०४ ॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ॥ १०५॥

कहीं ऐसा तो नहीं होता कि शास्त्रकुशल विद्वानोंका सङ्ग न करनेवाले तुम्हारे मूर्ख मन्त्रियोंने किसी विशुद्ध हृदयवाले श्रेष्ठ एवं पवित्र पुरुषपर चोरीका अपराध लगाकर उसका सारा धन हड़प लिया हो ? और फिर अधिक धनके लोभसे वे उसे प्राणदण्ड देते हों ? ॥ १०५ ॥

दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ १०६॥

नरश्रेष्ठ ! कोई ऐसा दुष्ट चोर जो चोरी करते समय गृहरक्षकोंद्वारा देख लिया गया और चोरीके मालसहित पकड़ लिया गया हो, धनके लोभसे छोड़ तो नहीं दिया जाता ? ॥ १०६ ॥

उत्पन्नान् कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत।
अर्थान् न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता जनैः॥ १०७॥

भारत ! तुम्हारे मन्त्री चुगली करनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर विवेकशून्य हो किसी धनीके या दरिद्रके थोड़े समयमें ही अचानक पैदा हुए अधिक धनको मिथ्यादृष्टिसे तो नहीं देखते ?

या उनके बढ़े हुए धनको चोरी आदिसे लाया हुआ तो नहीं मान लेते ? ॥ १०७ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ॥१०८॥
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ॥१०९॥
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ॥११०॥

युधिष्ठिर ! तुम नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, प्रजाजनोंपर अकेले ही विचार करना, अर्थशास्त्रको न जाननेवाले मूर्खोंके साथ विचार-विमर्श, निश्चित कार्योंके आरम्भ करनेमें विलम्ब या टालमटोल, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखना, माङ्गलिक उत्सव आदि न करना तथा एक साथ ही सभी शत्रुओंपर चढ़ाई कर देना—इन राजसम्बन्धी चौदह दोषोंका त्याग तो करते हो न ? क्योंकि जिनके राज्यकी जड़ जम गयी है, ऐसे राजा भी इन दोषोंके कारण नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८-११० ॥

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलं धनम् ।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम् ॥१११॥

क्या तुम्हारे वेद सफल हैं ? क्या तुम्हारा धन सफल है ? क्या तुम्हारी स्त्री सफल है ? और क्या तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान सफल है ? ॥ १११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥११२॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवर्षे ! वेद कैसे सफल होते हैं, धनकी सफलता कैसे होती है ? स्त्रीकी सफलता कैसे मानी गयी है तथा शास्त्रज्ञान कैसे सफल होता है ? ॥ ११२ ॥

नारद उवाच

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥११३॥

नारदजीने कहा—राजन् ! वेदोंकी सफलता अग्निहोत्रसे होती है, दान और भोगसे ही धन सफल होता है, स्त्रीका फल है—रति और पुत्रकी प्राप्ति तथा शास्त्रज्ञानका फल है, शील और सदाचार ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः ।
पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥११४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर महातपस्वी नारद मुनिने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार प्रश्न किया ॥

नारद उवाच

कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात् ।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥११५॥

नारदजीने पूछा—राजन् ! कर वसूलनेका काम करनेवाले तुम्हारे कर्मचारीलोग दूरसे लाभ उठानेके लिये आये हुए व्यापारियोंसे ठीक-ठीक कर वसूल करते हैं न ? (अधिक तो नहीं लेते ?) ॥ ११५ ॥

कच्चित् ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः ।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥११६॥

महाराज ! वे व्यापारीलोग आपके नगर और राष्ट्रमें सम्मानित हो विक्रीके लिये उपयोगी सामान लाते हैं न ! उन्हें तुम्हारे कर्मचारी छलसे ठगते तो नहीं ? ॥११६॥

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः ।
नित्यमर्थविदां तात यथाधर्मार्थदर्शिनाम् ॥११७॥

तात ! तुम सदा धर्म और अर्थके ज्ञाता एवं अर्थशास्त्रके पूरे पण्डित बड़े-बूढ़े लोगोंकी धर्म और अर्थसे युक्त बातें सुनते रहते हो न ? ॥ ११७ ॥

कच्चित् ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयते मधुसर्पिषी ॥११८॥

क्या तुम्हारे यहाँ खेतीसे उत्पन्न होनेवाले अन्न तथा फल-फूल एवं गौओंसे प्राप्त होनेवाले दूध, घी आदिमेंसे मधु (अन्न) और घृत आदि धर्मके लिये ब्राह्मणोंको दिये जाते हैं ? ॥ ११८ ॥

द्रव्योपकरणं किंचित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ् नियतं सम्प्रयच्छसि ॥११९॥

नरेश्वर ! क्या तुम सदा नियमसे सभी शिल्पियोंको व्यवस्थापूर्वक एक साथ इतनी वस्तु-निर्माणकी सामग्री दे देते हो, जो कम-से-कम चौमासे भर चल सके ॥ ११९ ॥

कच्चित् कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥१२०॥

महाराज ! क्या तुम्हें किसीके किये हुए उपकारका पता चलता है ? क्या तुम उस उपकारीकी प्रशंसा करते हो और साधु पुरुषोंसे भरी हुई सभाके बीच उस उपकारीके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर-सत्कार करते हो ? ॥ १२० ॥

कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥१२१॥

भरतश्रेष्ठ ! क्या तुम संक्षेपसे सिद्धान्तका प्रतिपादन

करनेवाले सभी सूत्रग्रन्थ—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र एवं रथसूत्र आदिका संग्रह (पठन एवं अभ्यास) करते रहते हो ? ॥

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग् गृहे ते भरतर्षभ ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥१२२॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम्हारे घरपर धनुर्वेद-सूत्र, यन्त्र-सूत्र[1] और नागरिक[2] सूत्रका अच्छी तरह अभ्यास किया जाता है ? ॥ १२२ ॥

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥१२३॥

निष्पाप नरेश ! तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र (जो मन्त्रबलसे प्रयुक्त होते हैं), वेदोक्त दण्ड-विधान तथा शत्रुओंका नाश करनेवाले सब प्रकारके विषप्रयोग ज्ञात हैं न ? ॥ १२३ ॥

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात् तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥१२४॥

क्या तुम अग्नि, सर्प, रोग तथा राक्षसोंके भयसे अपने सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करते हो ? ॥ १२४ ॥

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥१२५॥

धर्मज्ञ ! क्या तुम अंधों, गूँगों, पङ्गुओं, अङ्गहीनों और बन्धु-बान्धवोंसे रहित अनाथों तथा संन्यासियोंका भी पिताकी भाँति पालन करते हो ? ॥ १२५ ॥

षडनर्था महाराज कच्चित् ते पृष्ठतः कृताः ।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता ॥१२६॥

महाराज ! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंको पीछे कर दिया (त्याग दिया) है ? ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुरूणामृषभो महात्मा
श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य ।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो
राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥१२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुश्रेष्ठ महात्मा राजा युधिष्ठिरने ब्रह्माके पुत्रोंमें श्रेष्ठ नारदजीका यह वचन सुनकर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम एवं अभिवादन किया और अत्यन्त संतुष्ट हो देवस्वरूप नारदजीसे कहा ॥१२७॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं
प्रज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा ।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा
लेभे महीं सागरमेखलां च ॥१२८॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षे ! आपने जैसा उपदेश दिया है, वैसा ही करूँगा । आपके इस प्रवचनसे मेरी प्रज्ञा और भी बढ़ गयी है ।

ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने वैसा ही आचरण किया और इसीसे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पा लिया ॥ १२८ ॥

नारद उवाच

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ॥१२९॥

नारदजीने कहा—जो राजा इस प्रकार चारों वर्णों (और वर्णाश्रमधर्म) की रक्षामें संलग्न रहता है, वह इस लोकमें अत्यन्त सुखपूर्वक विहार करके अन्तमें देवराज इन्द्रके लोकमें जाता है ॥ १२९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें नारदजीके द्वारा प्रश्नके व्याजसे राजधर्मका उपदेशविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा

वैशम्पायन उवाच

सम्पूज्याथाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात् परम् ।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदका यह उपदेश पूर्ण होनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भलीभाँति उनकी पूजा की; तदनन्तर उनसे आज्ञा लेकर उनके प्रश्नका उत्तर दिया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् न्याय्यमाहैतं यथावद् धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥

१. लोहेकी बनी हुई उन मशीनोंको, जिनके द्वारा बारूदके बलसे शीशे, काँसे और पत्थरकी गोलियाँ चलायी जाती हैं—यन्त्र कहते हैं । उन यन्त्रोंके प्रयोगकी विधिके प्रतिपादक संक्षिप्त वाक्य ही यन्त्रसूत्र हैं ।

२. नगरकी रक्षा तथा उन्नतिके साधनोंको बतानेवाले संक्षिप्त वाक्योंको ही यहाँ नागरिक सूत्र कहा गया है ।

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आपने जो यह राजधर्मका यथार्थ सिद्धान्त बताया है, वह सर्वथा न्यायोचित है । मैं आपके इस न्यायानुकूल आदेशका यथाशक्ति पालन करता हूँ ॥ २ ॥

राजभिर्यद् यथा कार्यं पुरा वैतन्न संशयः ।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कालके राजाओंने जो कार्य जैसे सम्पन्न किया, वह प्रत्येक न्यायोचित, सकारण और किसी विशेष प्रयोजनसे युक्त होता था ॥ ३ ॥

वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो ।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

प्रभो ! हम भी उन्हींके उत्तम मार्गसे चलना चाहते हैं, परंतु उस प्रकार (सर्वथा) चल नहीं पाते; जैसे वे नियतात्मा महापुरुष चला करते थे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ।
मुहूर्तात् प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ॥ ५ ॥
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः ।
अपृच्छत् पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिरने नारदजीके पूर्वोक्त प्रवचनकी बड़ी प्रशंसा की । फिर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले नारद मुनि जब शान्तिपूर्वक बैठ गये, तब दो घड़ीके बाद ठीक अवसर जानकर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर भी उनके निकट आ बैठे और सम्पूर्ण राजाओंके बीच वहाँ उनसे इस प्रकार पूछने लगे ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवान् संचरते लोकान् सदा नानाविधान् बहून् ।
ब्रह्मणा निर्मितान् पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुनिवर ! आप मनके समान वेगशाली हैं, अतः ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिनका निर्माण किया है, उन अनेक प्रकारके बहुत-से लोकोंका दर्शन करते हुए आप उनमें सदा बेरोक-टोक विचरते रहते हैं ॥ ७ ॥

ईदृशी भवता काचिद् दृष्टपूर्वा सभा क्वचित् ।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! क्या आपने पहले कहीं ऐसी या इससे भी अच्छी कोई सभा देखी है ? मैं जानना चाहता हूँ, अतः आप मुझसे यह बात बतावें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम् ।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन् मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर देवर्षि नारदजी मुसकराने लगे और उन पाण्डुकुमारको इसका उत्तर देते हुए मधुर वाणीमें बोले ॥ ९ ॥

नारद उवाच

मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता ।
सभा मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—तात ! भरतवंशी नरेश ! मणि एवं रत्नोंकी बनी हुई जैसी तुम्हारी यह सभा है, ऐसी सभा मैंने मनुष्यलोकमें न तो पहले कभी देखी है और न कानोंसे ही सुनी है ॥ १० ॥

सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः ।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ ११ ॥
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम् ।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १२ ॥
देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः ।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः ।
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम्हारा मन दिव्य सभाओंका वर्णन सुननेको उत्सुक हो तो मैं तुम्हें पितृराज यम, बुद्धिमान् वरुण, स्वर्गवासी इन्द्र, कैलासनिवासी कुबेर तथा ब्रह्माजीकी दिव्य सभाका वर्णन सुनाऊँगा, जहाँ किसी प्रकारका क्लेश नहीं है एवं जो दिव्य और अदिव्य भोगोंसे सम्पन्न तथा संसारके अनेक रूपोंसे अलंकृत है। वह देवता, पितृगण, साध्यगण, याजक तथा मनको वशमें रखनेवाले शान्त मुनिगणोंसे सेवित है । वहाँ उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहता है ॥ ११-१३ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः ।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १५ ॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर भाइयों तथा सम्पूर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षे ! हम सभी दिव्य सभाओंका वर्णन सुनना चाहते हैं। आप उनके विषयमें सब बातें बताइये ॥ १४-१५ ॥

किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन् किंविस्ताराः किमायताः ।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ॥ १६ ॥

'ब्रह्मन् ! उन सभाओंका निर्माण किस द्रव्यसे हुआ है ? उनकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है ? ब्रह्माजीकी उस दिव्य सभामें कौन-कौन सभासद् उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ?॥ १६॥

वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के ।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ॥ १७ ॥

'इसी प्रकार देवराज इन्द्र, वैवस्वत यम, वरुण तथा कुबेरकी सभामें कौन-कौन लोग उनकी उपासना करते हैं ?॥ १७॥

एतत् सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव ।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! हम सब लोग आपके मुखसे ये सब बातें यथोचित रीतिसे सुनना चाहते हैं । हमारे मनमें उसके लिये बड़ा कौतूहल है' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत ।
क्रमेण राजन् दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नः सभाः ॥ १९ ॥

पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया—'राजन् ! तुम हमसे यहाँ उन सभी दिव्य सभाओंका क्रमशः वर्णन सुनो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा-विषयक छठा अध्याय पूरा हुआ

सप्तमोऽध्यायः

इन्द्रसभाका वर्णन

नारद उवाच

शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता ।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जितार्कसमप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इन्द्रकी तेजोमयी दिव्य सभा सूर्यके समान प्रकाशित होती है । (विश्वकर्माके) प्रयत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है । स्वयं इन्द्रने (सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके) उसपर विजय पायी है ॥ १ ॥

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता ।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥

उसकी लंबाई डेढ़ सौ और चौड़ाई सौ योजनकी है । वह आकाशमें विचरनेवाली और इच्छाके अनुसार तीव्र या मन्द गतिसे चलनेवाली है । उसकी ऊँचाई भी पाँच योजनकी है ॥ २ ॥

जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा ।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥

उसमें जीर्णता, शोक और थकावट आदिका प्रवेश नहीं है । वहाँ भय नहीं है, वह मङ्गलमयी और शोभासम्पन्न है । उसमें ठहरनेके लिये सुन्दर-सुन्दर महल और बैठनेके लिये उत्तमोत्तम सिंहासन बने हुए हैं । वह रमणीय सभा दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित होती है ॥ ३ ॥

तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने ।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत ॥ ४ ॥

भारत ! कुन्तीनन्दन ! उस सभामें सर्वश्रेष्ठ सिंहासनपर देवराज इन्द्र शोभामें लक्ष्मीके समान प्रतीत होनेवाली इन्द्राणी शचीके साथ विराजते हैं ॥ ४ ॥

बिभ्रद् वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः ।
विरजोऽम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ॥ ५ ॥

उस समय वे अवर्णनीय रूप धारण करते हैं । उनके मस्तकपर किरीट रहता है और दोनों भुजाओंमें लाल रंगके बाजूबंद शोभा पाते हैं । उनके शरीरपर स्वच्छ वस्त्र और कण्ठमें विचित्र माला सुशोभित होती है । वे लज्जा, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंके साथ उस दिव्य सभामें विराजमान होते हैं ॥ ५ ॥

तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम् ।
मरुतः सर्वशो राजन् सर्वे च गृहमेधिनः ॥ ६ ॥

राजन् ! उस दिव्य सभामें सभी मरुद्गण और गृहवासी देवता सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेनेवाले महात्मा इन्द्रकी प्रतिदिन सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा ।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः ।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ८ ॥

सिद्ध, देवर्षि, साध्यदेवगण तथा मरुत्वान्—ये सभी सुवर्ण-मालाओंसे सुशोभित हो तेजस्वी रूप धारण किये एक साथ उस दिव्य सभामें बैठकर शत्रुदमन महामना देवराज इन्द्रकी उपासना करते हैं । वे सभी देवता अपने अनुचरों (सेवकों) के साथ वहाँ विराजमान होते हैं । वे दिव्यरूपधारी होनेके साथ ही उत्तमोत्तम अलंकारोंसे अलंकृत रहते हैं ॥ ७-८ ॥

तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते ।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार जिनके पाप धुल गये हैं, वे अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले सभी निर्मल देवर्षि वहाँ इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ ९ ॥

तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वराः ।

वे देवर्षिगण तेजस्वी, सोमयाग करनेवाले तथा शोक और चिन्तासे शून्य हैं ॥ ९½ ॥

पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १० ॥
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः ।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ॥ ११ ॥
पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ॥ १२ ॥
हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः ॥ १३ ॥
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥ १४ ॥
अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥

पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित, गौरशिरा मुनि, दुर्वासा, क्रोधन, श्येन, दीर्घतमा मुनि, पवित्रपाणि, सावर्णि (द्वितीय), याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि, हविष्मान्, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पराशरनन्दन व्यास, कृषीवल, वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, करालदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा तथा तुम्बुरु—ये और दूसरे अयोनिज या योनिज मुनि एवं वायु पीकर रहनेवाले तथा हविष्य-पदार्थोंको खानेवाले महर्षि सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर वज्रधारी इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ १०–१५ ॥

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
शमीकः सत्यवाक् चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ॥ १६ ॥
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चात्र महातपाः ॥ १७ ॥
कक्षीवान् गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः ।
(षडर्तुः कवषो धूम्रो रैभ्यो नलपरावसू ।
स्वस्त्यात्रेयो जरत्कारुः कहोलः काश्यपस्तथा ।
विभाण्डकर्ष्यशृङ्गौ च उन्मुखो विमुखस्तथा ॥)
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ॥ १८ ॥
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ।
(कण्वः कात्यायनो राजन् गार्ग्यः कौशिक एव च ।)
दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती ॥ १९ ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहास्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ॥ २० ॥
प्राची दिग् यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सवितार्यमा ॥ २१ ॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २२ ॥
यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैवं ग्रहास्ताराश्च भारत ।
यज्ञवाहश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २३ ॥

भरतवंशी नरेश पाण्डुनन्दन ! सहदेव, सुनीथ, महातपस्वी वाल्मीकि, सत्यवादी शमीक, सत्यप्रतिज्ञ प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपस्वी स्थाणु, कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानरमुनि, षडर्तु, कवष, धूम्र, रैभ्य, नल, परावसु, स्वस्त्यात्रेय, जरत्कारु, कहोल, काश्यप, विभाण्डक, ऋष्यशृङ्ग, उन्मुख, विमुख, कालकवृक्षीय मुनि, आश्राव्य, हिरण्मय, संवर्त, देवहव्य, पराक्रमी विष्वक्सेन, कण्व, कात्यायन, गार्ग्य, कौशिक, दिव्य जल, ओषधियाँ, श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, अर्थ, धर्म, काम, विद्युत्, जलधर मेघ, वायु, गर्जना करनेवाले बादल, प्राची दिशा, यज्ञके हविष्यको वहन करनेवाले सत्ताईस पावक,* सम्मिलित अग्नि और सोम, संयुक्त इन्द्र और अग्नि, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वेदेव, साध्य, बृहस्पति, शुक्र, विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन, तरुण, विविध यज्ञ, दक्षिणा, ग्रह, तारा और यज्ञनिर्वाहक मन्त्र—ये सभी वहाँ इन्द्रसभामें बैठते हैं ॥ १६–२३ ॥

तथैवाप्सरसो राजन् गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥ २४ ॥
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।

राजन् ! इसी प्रकार मनोहर अप्सराएँ तथा सुन्दर गन्धर्व नृत्य, वाद्य, गीत एवं नाना प्रकारके हास्योंद्वारा देवराज इन्द्रका मनोरञ्जन करते हैं ॥ २४½ ॥

स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २५ ॥
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।

इतना ही नहीं, वे स्तुति, मङ्गलपाठ और पराक्रमसूचक कर्मोंके गायनद्वारा बल और वृत्रनामक असुरोंके नाशक महात्मा इन्द्रका स्तवन करते हैं ॥ २५½ ॥

ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २६ ॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे ॥ २७ ॥

ब्रह्मर्षि, राजर्षि तथा सम्पूर्ण देवर्षि माला पहने एवं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो, नाना प्रकारके दिव्य विमानोंद्वारा अग्निके समान देदीप्यमान होते हुए वहाँ आते-जाते रहते हैं ॥ २६-२७ ॥

बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र वै ।
एते चान्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥ २८ ॥
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन् भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ २९ ॥

* नीलकण्ठने अपनी टीकामें इन सत्ताईस पावकोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—अङ्गिरा, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, निर्मन्थ्य, वैद्युत, शूर, संवर्त, लौकिक, जठराग्नि, विषग, क्रव्याद, क्षेमवान्, वैष्णव, दस्युमान्, बलद, शान्त, पुष्ट, विभावसु, ज्योतिष्मान्, भरत, भद्र, स्विष्टकृत, वसुमान्, क्रतु, सोम और पितृमान् ।

बृहस्पति और शुक्र वहाँ नित्य विराजते हैं। ये तथा और भी बहुतसे संयमी महात्मा जिनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्रिय है, चन्द्रमाकी भाँति चमकीले विमानोंद्वारा वहाँ उपस्थित होते हैं। राजन्! भृगु और सप्तर्षि, जो साक्षात् ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली हैं, ये भी इन्द्र-सभाकी शोभा बढ़ाते हैं ॥२८-२९॥

एषा सभा मया राजन् दृष्टा पुष्करमालिनी।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३० ॥

महाबाहु नरेश! शतक्रतु इन्द्रकी यह कमल-मालाओंसे सुशोभित सभा मैंने अपनी आँखों देखी है। अब यमराजकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें इन्द्र-सभा-वर्णन नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

यमराजकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम्।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! अब मैं सूर्यपुत्र यमकी सभाका वर्णन करता हूँ, सुनो। उसकी रचना भी विश्वकर्माने ही की है ॥ १ ॥

तैजसी सा सभा राजन् बभूव शतयोजना।
विस्तारायामसम्पन्ना भूयसी चापि पाण्डव ॥ २ ॥

राजन्! वह तेजोमयी विशाल सभा लम्बाई और चौड़ाईमें भी सौ योजन है तथा पाण्डुनन्दन! सम्भव है, इससे भी कुछ बड़ी हो ॥ २ ॥

अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी।
नातिशीता न चात्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥

उसका प्रकाश सूर्यके समान है। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली वह सभा सब ओरसे प्रकाशित होती है। वह न तो अधिक शीतल है, न अधिक गर्म। मनको अत्यन्त आनन्द देनेवाली है ॥ ३ ॥

न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाप्रियम्।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥

उसके भीतर न शोक है, न जीर्णता; न भूख लगती है, न प्यास। वहाँ कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित होती। दीनता, थकावट अथवा प्रतिकूलताका तो वहाँ नाम भी नहीं है ॥ ४ ॥

सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः।
सारवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुदमन! वहाँ दिव्य और मानुष, सभी प्रकारके भोग उपस्थित रहते हैं। सरस एवं स्वादिष्ट भक्ष्य-भोज्य पदार्थ प्रचुर मात्रामें संचित रहते हैं ॥ ५ ॥

लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम्।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तत्र नित्यं कामफला द्रुमाः ॥ ६ ॥

इसके सिवा चाटने योग्य, चूसने योग्य, पीने योग्य तथा हृदयको प्रिय लगनेवाली और भी स्वादिष्ट एवं मनोहर वस्तुएँ वहाँ सदा प्रस्तुत रहती हैं। उस सभामें पवित्र सुगन्ध फैलानेवाली पुष्प-मालाएँ और सदा इच्छानुसार फल देनेवाले वृक्ष लहलहाते रहते हैं ॥ ६ ॥

रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव हि।
तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते।

वहाँ ठंडे और गर्म स्वादिष्ट जल नित्य उपलब्ध होते हैं। तात! वहाँ बहुतसे पुण्यात्मा राजर्षि और निर्मल हृदयवाले ब्रह्मर्षि प्रसन्नतापूर्वक बैठकर सूर्यपुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ७½ ॥

ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ॥ ८ ॥
त्रसद्दस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ॥ ९ ॥
प्रतर्दनः शिबिर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः।
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुवः ॥ १० ॥
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः।
भरतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठो नलः ॥ ११ ॥
दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः।
व्यश्वः सदश्वो वध्र्यश्वः पृथुवेगः पृथुश्रवाः ॥ १२ ॥
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः।
रुषद्गुर्वृषसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ॥ १३ ॥
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाप्युशीनरः।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ॥ १४ ॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः।
भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ॥ १५ ॥
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान् मधुः।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान् पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा।
व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ॥ १७ ॥

राजा दशरथश्चैव ककुत्स्थोऽथ प्रवर्धनः।
अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १८ ॥
जामदग्न्यश्च रामश्च नाभागसगरौ तथा।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १९ ॥
राजा वैन्यो वारिसेनः पुरुजिज्जनमेजयः।
ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ २० ॥
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ॥ २१ ॥
अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं गयाः ॥ २२ ॥
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरिणामीरिणां शतम् ॥ २३ ॥
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम्।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः ॥ २४ ॥
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः।
शान्तनुश्चैव राजेन्द्र पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २५ ॥
उशङ्गवः शतरथो देवराजो जयद्रथः।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान् सह मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥
अथापरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः।
इष्ट्वाश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥
एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः।
तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २८ ॥

ययाति, नहुष, पूरु, मान्धाता, सोमक, नृग, त्रसद्दस्यु, राजर्षि कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमि, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिबि, मत्स्य, पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त, मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, राजा कार्तवीर्य अर्जुन, भरत, सुरथ, सुनीथ, निशठ, नल, दिवोदास, सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व, वध्यश्व, पृथुवेग, पृथुश्रवा, पृषदश्व, वसुमना, महाबली क्षुप, रुषद्रु, वृषसेन, रथ और ध्वजासे युक्त पुरुकुत्स, आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि, पुण्डरीक, शर्याति, शरभ, शुचि, अङ्ग, अरिष्ट, वेन, दुष्यन्त, सृञ्जय, जय, भाङ्गासुरि, सुनीथ, निषधेश्वर, वहीनर, करन्धम, बाह्लिक, सुद्युम्न, बलवान् मधु, इला-नन्दन पुरूरवा, बलवान् राजा मरुत्त, कपोतरोमा, तृणक, सहदेव, अर्जुन, व्यश्व, साश्व, कृशाश्व, राजा शशबिन्दु, महाराज दशरथ, ककुत्स्थ, प्रवर्धन, अलर्क, कक्षसेन, गय, गौराश्व, जमदग्निनन्दन परशुराम, नाभाग, सगर, भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथाश्व, जनक, राजा पृथु, वारिसेन, पुरुजित्, जनमेजय, ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त, राजा उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित्, अरिष्टनेमि, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, एक सौ मत्स्य, एक सौ नीप, एक सौ गय, एक सौ धृतराष्ट्र, अस्सी जनमेजय, सौ ब्रह्मदत्त, सौ वीरी, सौ ईरी, दो सौ भीष्म, एक सौ भीम, एक सौ प्रतिविन्ध्य, एक सौ नाग तथा एक सौ हय, सौ पलाश, सौ काश और सौ कुश राजा एवं शान्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु, उशङ्गव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, मन्त्रियोंसहित बुद्धिमान् राजर्षि वृषदर्भ तथा इनके सिवा सहस्रों शशबिन्दुनामक राजा, जो अधिक दक्षिणावाले अनेक महान् अश्वमेधयज्ञोंद्वारा यजन करके धर्मराजके लोकमें गये हुए हैं। राजेन्द्र ! ये सभी पुण्यात्मा, कीर्तिमान् और बहुश्रुत राजर्षि उस सभामें सूर्य-पुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ८–२८ ॥

अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २९ ॥
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथापरे ॥ ३० ॥
कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान् हव्यवाहनः।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३१ ॥
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः।
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ॥ ३२ ॥

अगस्त्य, मतङ्ग, काल, मृत्यु, यज्ञकर्ता, सिद्ध, योग-शरीरधारी, अग्निष्वात्त पितर, फेनप, ऊष्मप, स्वधावान्, बर्हिषद् तथा दूसरे मूर्तिमान् पितर, साक्षात् कालचक्र (संवत्सर आदि कालविभागके अभिमानी देवता), भगवान् हव्य-वाहन (अग्नि), दक्षिणायनमें मरनेवाले तथा सकामभावसे दुष्कर (श्रमसाध्य) कर्म करनेवाले मनुष्य, जनेश्वर कालकी आज्ञामें तत्पर यमदूत, शिंशप एवं पलाश, काश और कुश आदिके अभिमानी देवता मूर्तिमान् होकर उस सभामें धर्म-राजकी उपासना करते हैं ॥ २९–३२ ॥

एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदः।
न शक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ॥ ३३ ॥

ये तथा और भी बहुत-से लोग पितृराज यमकी सभाके सदस्य हैं, जिनके नामों और कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती ॥ ३३ ॥

असम्बाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा।
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन ! वह सभा बाधारहित है। वह रमणीय तथा इच्छानुसार गमन करनेवाली है। विश्वकर्माने दीर्घकाल-तक तपस्या करके उसका निर्माण किया है ॥ ३४ ॥

ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३५ ॥
शान्ताः संन्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोऽम्बराः ॥ ३६ ॥

भारत! वह सभा अपने तेजसे प्रज्वलित तथा उद्भासित होती रहती है। कठोर तपस्या और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी, शान्त, संन्यासी तथा अपने पुण्यकर्मसे शुद्ध एवं पवित्र हुए पुरुष उस सभामें जाते हैं। उन सबके शरीर तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं। सभी निर्मल वस्त्र धारण करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः ।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः ॥ ३७ ॥

सभी अद्भुत बाजूबंद, विचित्र हार और जगमगाते हुए कुण्डल धारण करते हैं। वे अपने पवित्र शुभ कर्मों तथा वस्त्राभूषणोंसे भी विभूषित होते हैं ॥ ३७ ॥

गन्धर्वाश्च महात्मानः सङ्घशश्चाप्सरोगणाः ।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ॥ ३८ ॥

कितने ही महामना गन्धर्व और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ उस सभामें उपस्थित हो सब प्रकारके वाद्य, नृत्य, गीत, हास्य और लास्यकी उत्तम कलाका प्रदर्शन करती हैं ॥ ३८ ॥

पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः ।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः ॥ ३९ ॥

कुन्तीकुमार! उस सभामें सदा सब ओर पवित्र गन्ध, मधुर शब्द और दिव्य मालाओंके सुखद स्पर्श प्राप्त होते रहते हैं ॥ ३९ ॥

शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम् ।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ॥ ४० ॥

सुन्दर रूप धारण करनेवाले एक करोड़ धर्मात्मा एवं मनस्वी पुरुष महात्मा यमकी उपासना करते हैं ॥ ४० ॥

ईदृशी सा सभा राजन् पितृराज्ञो महात्मनः ।
वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥ ४१ ॥

राजन्! पितृराज महात्मा यमकी सभा ऐसी ही है। अब मैं वरुणकी मूर्तिमान् पुष्कर आदि तीर्थमालाओंसे सुशोभित सभाका भी वर्णन करूँगा ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें यम-सभा-वर्णननामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

वरुणकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्यामितप्रभा ।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभप्राकारतोरणा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वरुणदेवकी दिव्य सभा अपनी अनन्त कान्तिसे प्रकाशित होती रहती है। उसकी भी लम्बाई-चौड़ाईका मान वही है, जो यमराजकी सभाका है। उसके परकोटे और फाटक बड़े सुन्दर हैं ॥ १ ॥

अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा ।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥

विश्वकर्माने उस सभाको जलके भीतर रहकर बनाया है। वह फल-फूल देनेवाले दिव्य रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित होती है ॥ २ ॥

नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि ।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥

उस सभाके भिन्न-भिन्न प्रदेश नीले-पीले, काले, सफेद और लाल रंगके लतागुल्मोंसे आच्छादित हैं। उन लताओंने मनोहर मञ्जरीपुञ्ज धारण कर रक्खे हैं ॥ ३ ॥

तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः ।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥

सभाभवनके भीतर विचित्र और मधुर स्वरसे बोलनेवाले सैकड़ों-हजारों पक्षी चहकते रहते हैं। उनके विलक्षण रूप-सौन्दर्यका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी आकृति बड़ी सुन्दर है ॥ ४ ॥

सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा ।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥

वरुणकी सभाका स्पर्श बड़ा ही सुखद है, वहाँ न सर्दी है, न गर्मी। उसका रंग श्वेत है, उसमें कितने ही कमरे और आसन (दिव्य मञ्च आदि) सजाये गये हैं। वरुणजीके द्वारा सुरक्षित वह सभा बड़ी रमणीय जान पड़ती है ॥ ५ ॥

यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः ।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ६ ॥

उसमें दिव्य रत्नों और वस्त्रोंको धारण करनेवाले तथा दिव्य अलङ्कारोंसे अलंकृत वरुणदेव वारुणी देवीके साथ विराजमान होते हैं ॥ ६ ॥

स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः ।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥

उस सभामें दिव्य हार, दिव्य सुगन्ध तथा दिव्य चन्दनका अङ्गराग धारण करनेवाले आदित्यगण जलके स्वामी वरुणकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान्॥ ८ ॥

वासुकि नाग, तक्षक, ऐरावतनाग, कृष्ण, लोहित, पद्म और पराक्रमी चित्र, ॥ ८ ॥

कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ।
(मणिनागश्च नागश्च मणिः शङ्खनखस्तथा।
कौरव्यः स्वस्तिकश्चैव एलापत्रश्च वामनः॥
अपराजितश्च दोषश्च नन्दकः पूरणस्तथा।
अभीकः शिभिकः श्वेतो भद्रो भद्रेश्वरस्तथा॥)
मणिमान् कुण्डधारश्च कर्कोटकधनंजयौ॥ ९ ॥

कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, मणिनाग, नाग, मणि, शङ्खनख, कौरव्य, स्वस्तिक, एलापत्र, वामन, अपराजित, दोष, नन्दक, पूरण, अभीक, शिभिक, श्वेत, भद्र, भद्रेश्वर, मणिमान्, कुण्डधार, कर्कोटक, धनञ्जय, ॥ ९ ॥

पाणिमान् कुण्डधारश्च बलवान् पृथिवीपते।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः॥ १० ॥
पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः।
(अनन्तश्च महानागो यं स दृष्ट्वा जलेश्वरः।
अभ्यर्चयति सत्कारैरासनेन च तं विभुम्॥
वासुकिप्रमुखाश्चैव सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः।
अनुज्ञाताश्च शेषेण यथार्हमुपविश्य च॥)
एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः॥ ११ ॥

पाणिमान्, बलवान् कुण्डधार, प्रह्लाद, मूषिकाद, जनमेजय आदि नाग जो पताका, मण्डल और फणोंसे सुशोभित वहाँ उपस्थित होते हैं, महानाग भगवान् अनन्त भी वहाँ स्थित होते हैं, जिन्हें देखते ही जलके स्वामी वरुण आसन आदि देते और सत्कारपूर्वक उनका पूजन करते हैं। वासुकि आदि सभी नाग हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े होते और भगवान् शेषकी आज्ञा पाकर यथायोग्य आसनोंपर बैठकर वहाँकी शोभा बढ़ाते हैं। युधिष्ठिर! ये तथा और भी बहुत-से नाग उस सभामें क्लेशरहित हो महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ १०-११ ॥

बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवींजयः।
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः॥ १२ ॥
सुहनुर्दुर्मुखः शङ्खः सुमनाः सुमतिस्ततः।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा॥ १३ ॥
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः॥ १४ ॥
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः।
दैत्यदानवसङ्घाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः॥ १५ ॥
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः॥ १६ ॥
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः॥ १७ ॥

विरोचनपुत्र राजा बलि, पृथ्वीविजयी नरकासुर, प्रह्लाद, विप्रचित्ति, कालखञ्ज दानव, सुहनु, दुर्मुख, शङ्ख, सुमना, सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशमुख रावण, वाली, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्राद तथा इन्द्रतापन आदि सभी दैत्यों और दानवोंके समुदाय मनोहर कुण्डल, सुन्दर हार, किरीट तथा दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये उस सभामें धर्मपाशधारी महात्मा वरुणदेवकी सदा उपासना करते हैं। वे सभी दैत्य वरदान पाकर शौर्यसम्पन्न हो मृत्यु-रहित हो गये हैं। उनका चरित्र एवं व्रत बहुत उत्तम है ॥ १२–१७ ॥

तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा।
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी॥ १८ ॥

चारों समुद्र, भागीरथी नदी, कालिन्दी, विदिशा, वेणा, नर्मदा, वेगवाहिनी, ॥ १८ ॥

विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा॥ १९ ॥

विपाशा, शतद्रु, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु, देवनदी, ॥ १९ ॥

गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा।
किम्पुना च विशल्या च तथा वैतरणी नदी॥ २० ॥

गोदावरी, कृष्णवेणा, सरिताओंमें श्रेष्ठ कावेरी, किम्पुना, विशल्या, वैतरणी, ॥ २० ॥

तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी॥ २१ ॥

तृतीया, ज्येष्ठिला, महानद शोण, चर्मण्वती, पर्णाशा, महानदी, ॥ २१ ॥

सरयूर्वारवत्याथ लाङ्गली च सरिद्वरा।
करतोया तथात्रेयी लौहित्यश्च महानदः॥ २२ ॥

सरयू, वारवत्या, सरिताओंमें श्रेष्ठ लाङ्गली, करतोया, आत्रेयी, महानद लौहित्य, ॥ २२ ॥

लङ्घती गोमती चैव संध्या त्रिःस्रोतसी तथा।
एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः॥ २३ ॥

भरतवंशी राजेन्द्र युधिष्ठिर! लङ्घती, गोमती, संध्या और त्रिस्रोतसी, ये तथा दूसरे लोकविख्यात उत्तम तीर्थ (वहाँ वरुणकी उपासना करते हैं) ॥ २३ ॥

सरितः सर्वतश्चान्यास्तीर्थानि च सरांसि च।
कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २४ ॥
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत।
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २५ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा।

समस्त सरिताएँ, जलाशय, सरोवर, कूप, झरने, पोखरे और तालाब, सम्पूर्ण दिशाएँ, पृथ्वी, पर्वत तथा सम्पूर्ण जलचर जीव अपने-अपने स्वरूप धारण करके महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ २४-२५½ ॥

गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २६ ॥
स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते।

सभी गन्धर्व और अप्सराओंके समुदाय भी गीत गाते और बाजे बजाते हुए उस सभामें वरुणदेवताकी स्तुति एवं उपासना करते हैं ॥ २६½ ॥

महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥
कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते।

रत्नयुक्त पर्वत और प्रतिष्ठित रस (मूर्तिमान् होकर) अत्यन्त मधुर कथाएँ कहते हुए वहाँ निवास करते हैं ॥ २७½ ॥

वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ॥ २८ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च।

वरुणका मन्त्री सुनाभ अपने पुत्र-पौत्रोंसे घिरा हुआ गौ तथा पुष्कर नामवाले तीर्थके साथ वरुणदेवकी उपासना करता है ॥ २८½ ॥

सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ २९ ॥

ये सभी शरीर धारण करके लोकेश्वर वरुणकी उपासना करते रहते हैं ॥ २९ ॥

एषा मया सम्पतता वारुणी भरतर्षभ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहले सब ओर घूमते हुए मैंने वरुणजीकी इस रमणीय सभाका भी दर्शन किया है। अब तुम कुबेरकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें वरुण-सभा-वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

कुबेरकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! कुबेरकी सभा सौ योजन लंबी और सत्तर योजन चौड़ी है, वह अत्यन्त श्वेतप्रभासे युक्त है ॥ १ ॥

तपसा निर्जिता राजन् स्वयं वैश्रवणेन सा।
शशिप्रभा प्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! विश्रवाके पुत्र कुबेरने स्वयं ही तपस्या करके उस सभाको प्राप्त किया है। वह अपनी धवल कान्तिसे चन्द्रमाकी चाँदनीको भी तिरस्कृत कर देती है और देखनेमें कैलासशिखर-सी जान पड़ती है ॥ २ ॥

गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥

गुह्यकगण जब उस सभाको उठाकर ले चलते हैं, उस समय वह आकाशमें सटी हुई-सी सुशोभित होती है। यह दिव्य सभा ऊँचे सुवर्णमय महलोंसे शोभायमान होती है ॥ ३ ॥

महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ॥ ४ ॥

महान् रत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है। उसकी झाँकी बड़ी विचित्र है। उससे दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है और वह दर्शकके मनको अपनी ओर खींच लेती है। श्वेत बादलोंके शिखर-सी प्रतीत होनेवाली वह सभा आकाशमें तैरती-सी दिखायी देती है ॥ ४ ॥

दिव्या हेममयैरङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता।

उस दिव्य सभाकी दीवारें विद्युत्के समान उद्दीप्त होनेवाले सुनहले रंगोंसे चित्रित की गयी हैं ॥ ४½ ॥

तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ॥ ५ ॥
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः।
दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ६ ॥

उस सभामें सूर्यके समान चमकीले दिव्य बिछौनोंसे ढके हुए तथा दिव्य पादपीठोंसे सुशोभित श्रेष्ठ सिंहासनपर कानोंमें ज्योतिसे जगमगाते कुण्डल और अङ्गोंमें विचित्र वस्त्र एवं आभूषण धारण करनेवाले श्रीमान् राजा वैश्रवण (कुबेर) सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए बैठते हैं ॥ ५-६ ॥

मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन्।
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ॥ ७ ॥

नलिन्याश्चालकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च ।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥

(अपने पास आये हुए याचकको प्रत्येक इच्छा पूर्ण करनेमें अत्यन्त) उदार मन्दार वृक्षोंके वनोंको आन्दोलित करता तथा सौगन्धिक कानन, अलका नामक पुष्करिणी और नन्दन वनकी सुगन्धका भार वहन करता हुआ हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाला गन्धवाही शीतल समीर उस सभामें कुबेर-की सेवा करता है ॥ ७-८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥

महाराज ! देवता और गन्धर्व अप्सराओंके साथ उस सभामें आकर दिव्य तानोंसे युक्त गीत गाते हैं ॥ ९ ॥

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता ।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ ११ ॥
एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ।
उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १२ ॥

मिश्रकेशी, रम्भा, चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची, मेनका, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा तथा लता आदि नृत्य और गीतमें कुशल सहस्रों अप्सराओं और गन्धर्वों-के गण कुबेरकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ १०–१२ ॥

अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ।
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥ १३ ॥

गन्धर्व और अप्सराओंके समुदायसे भरी तथा दिव्य वाद्य, नृत्य एवं गीतोंसे निरन्तर गूँजती हुई कुबेरकी वह सभा बड़ी मनोहर जान पड़ती है ॥ १३ ॥

किंनरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ॥ १४ ॥
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः ।
कशेरको गण्डकण्डूः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १५ ॥
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः ।
वराहकर्णस्ताम्रोष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १६ ॥
हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः ।
पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥ १७ ॥
वृक्षवास्यनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत ।
एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥ १८ ॥

किंनर तथा नर नामवाले गन्धर्व, मणिभद्र, धनद, श्वेत-भद्र गुह्यक, कशेरक, गण्डकण्डू, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रोष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिङ्गलक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवासी, अनिकेत तथा चीरवासा, भारत ! ये तथा दूसरे बहुत-से यक्ष लाखोंकी संख्या-में उपस्थित होकर उस सभामें कुबेरकी सेवा करते हैं ॥ १४–१८ ॥

सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबरः ।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥ १९ ॥

धन-सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी भगवती लक्ष्मी, नलकूबर, मैं तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से लोग प्रायः उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ १९ ॥

ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे ।
क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ॥ २० ॥
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ।

ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा अन्य ऋषिगण उस सभामें विराजमान होते हैं। इनके सिवा, बहुत-से पिशाच और महाबली गन्धर्व वहाँ लोकपाल महात्मा धनदकी उपासना करते हैं ॥ २०½ ॥

भगवान् भूतसङ्घैश्च वृतः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥
उमापतिः पशुपतिः शूलभृद् भगनेत्रहा ।
त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ॥ २२ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः ।
मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ॥ २३ ॥
नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः ।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! लाखों भूतसमूहोंसे घिरे हुए उग्र धनुर्धर महाबली पशुपति (जीवोंके स्वामी), शूलधारी, भगदेवता-के नेत्र नष्ट करनेवाले तथा त्रिलोचन भगवान् उमापति और क्लेशरहित देवी पार्वती ये दोनों वामन, विकट, कुब्ज, लाल नेत्रोंवाले, महान् कोलाहल करनेवाले, मेदा और मांस खानेवाले, अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले तथा वायुके समान महान् वेगशाली भयानक भूत-प्रेतादिके साथ उस सभामें सदैव धन देनेवाले अपने मित्र कुबेरके पास बैठते हैं ॥ २२–२४ ॥

प्रहृष्टाः शतशश्चान्ये बहुशः सपरिच्छदाः ।
गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हहाहुहूः ॥ २५ ॥
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथापरः ।
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ॥ २६ ॥
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते ।

इनके सिवा और भी विविध वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और प्रसन्नचित्त सैकड़ों गन्धर्वपति विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बुरु, पर्वत, शैलूष, संगीतज्ञ चित्रसेन तथा चित्ररथ—ये और अन्य गन्धर्व भी धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २५-२६½ ॥

विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः ॥ २७ ॥
उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ २८ ॥

विद्याधरोंके अधिपति चक्रधर्मा भी अपने छोटे भाइयोंके साथ वहाँ धनेश्वर भगवान् कुबेरकी आराधना करते हैं ॥ २७-२८ ॥

आसते चापि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ।
द्रुमः किम्पुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम् ॥ २९ ॥

भगदत्त आदि राजा भी उस सभामें बैठते हैं तथा किन्नरोंके स्वामी द्रुम कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २९ ॥

राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ॥ ३० ॥
विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ।

महेन्द्र, गन्धमादन एवं धर्मनिष्ठ राक्षसराज विभीषण भी यक्षों, गन्धर्वों तथा सम्पूर्ण निशाचरोंके साथ अपने भाई भगवान् कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३०½ ॥

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ॥ ३१ ॥
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ।
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ ३३ ॥

हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य, कैलास, मन्दराचल, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन और इन्द्रकील तथा सुनाभ नामवाले दोनों दिव्य पर्वत—ये तथा अन्य सब मेरु आदि बहुत-से पर्वत धनके स्वामी महामना प्रभु कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३१—३३ ॥

नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च ।
शङ्कुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ॥ ३४ ॥
काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजयश्च तपोऽधिकः ।
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ॥ ३५ ॥

भगवान् नन्दीश्वर, महाकाल तथा शङ्कुकर्ण आदि भगवान् शिवके सभी दिव्य-पार्षद काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती, तपस्वी विजय तथा गर्जनशील महाबली श्वेत वृषभ वहाँ उपस्थित रहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

धनदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च उपासते ।
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ॥ ३६ ॥
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३७ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य महादेवाद् धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचिद् भगवान् भवो धनपतेः सखा ॥ ३८ ॥

दूसरे-दूसरे राक्षस और पिशाच भी धनदाता कुबेरकी उपासना करते हैं । पार्षदोंसे घिरे हुए देवदेवेश्वर, त्रिभुवन-भावन, बहुरूपधारी, कल्याणस्वरूप, उमावल्लभ भगवान् महेश्वर जब उस सभामें पधारते हैं, तब पुलस्त्यनन्दन धनाध्यक्ष कुबेर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते और उनकी आज्ञा ले उन्हींके पास बैठ जाते हैं । उनका सदाका यही नियम है । कुबेरके सखा भगवान् शङ्कर कभी-कभी उस सभामें पदार्पण किया करते हैं ॥ ३६—३८ ॥

निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।
सर्वान् निधीन् प्रगृह्याथ उपासाते धनेश्वरम् ॥ ३९ ॥

श्रेष्ठ निधियोंमें प्रमुख और धनके अधीश्वर शङ्ख तथा पद्म—ये दोनों (मूर्तिमान् हो) अन्य सब निधियोंको साथ ले धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३९ ॥

सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टान्तरिक्षगा ।
पितामहसभां राजन् कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ॥ ४० ॥

राजन् ! कुबेरकी वैसी रमणीय सभा जो आकाशमें विचरनेवाली है, मैंने अपनी आँखों देखी है । अब मैं ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन करूँगा, उसे सुनो ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनदसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें कुबेर-सभावर्णननामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तात भारत ! अब तुम मेरे मुखसे कही हुई पितामह ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन सुनो ! वह सभा ऐसी है, इस रूपसे नहीं बतलायी जा सकती ॥ १ ॥

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान् दिवः ।
आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ २ ॥
चरन् मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयम्भुवः ।
स तामकथयन्मह्यं ब्राह्मीं तत्त्वेन पाण्डव ॥ ३ ॥

राजन् ! पहले सत्ययुगकी बात है, भगवान् सूर्य ब्रह्माजीकी सभा देखकर फिर मनुष्यलोकको देखनेके लिये बिना परिश्रमके ही द्युलोकसे उतरकर इस लोकमें आये और मनुष्यरूपसे इधर-उधर विचरने लगे । पाण्डुनन्दन ! सूर्यदेवने मुझसे उस ब्राह्मी सभाका यथार्थतः वर्णन किया ॥ २-३ ॥

अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह सभा अप्रमेय, दिव्य, ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुई तथा समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली है । उसका प्रभाव अवर्णनीय है ॥ ४ ॥

श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रवम् ॥ ५ ॥

पाण्डुकुलभूषण युधिष्ठिर ! उस सभाके अलौकिक गुण सुनकर मेरे मनमें उसके दर्शनकी इच्छा जाग उठी और मैंने सूर्यदेवसे कहा—॥ ५ ॥

भगवन् द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम् ।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ६ ॥
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी ।
तन्ममाचक्ष्व भगवन् पश्येयं तां सभां यथा ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मैं भी ब्रह्माजीकी कल्याणमयी सभाका दर्शन करना चाहता हूँ । किरणोंके स्वामी सूर्यदेव ! जिस तपस्यासे, सत्कर्मसे अथवा उपयुक्त ओषधियोंके प्रभावसे उस पापनाशिनी उत्तम सभाका दर्शन हो सके, वह मुझे बताइये। भगवन् ! मैं जैसे भी उस सभाको देख सकूँ, उस उपायका वर्णन कीजिये' ॥ ६-७ ॥

स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रिकम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मव्रतमुपास्स्व त्वं प्रयतेनान्तरात्मना ।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरी वह बात सुनकर सहस्रों किरणोंवाले भगवान् दिवाकरने कहा—'तुम एकाग्रचित्त होकर ब्रह्माजीके व्रतका पालन करो । वह श्रेष्ठ व्रत एक हजार वर्षोंमें पूर्ण होगा ।' तब मैंने हिमालयके शिखरपर आकर उस महान् व्रतका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ॥ ८-९ ॥

ततः स भगवान् सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान् ।
आगच्छत् तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः ॥ १० ॥

तदनन्तर मेरी तपस्या पूर्ण होनेपर पापरहित, क्लेशशून्य और परम शक्तिशाली भगवान् सूर्य मुझे साथ ले ब्रह्माजीकी उस सभामें गये ॥ १० ॥

एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप ।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ११ ॥

राजन् ! वह सभा 'ऐसी ही है' इस प्रकार नहीं बतायी जा सकती; क्योंकि वह एक-एक क्षणमें दूसरा अनिर्वचनीय स्वरूप धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

न वेद परिमाणं वा संस्थानं चापि भारत ।
न च रूपं मया तादृग् दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥

भारत ! उसकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है अथवा उसकी स्थिति क्या है, यह सब मैं कुछ नहीं जानता । मैंने किसी भी सभाका वैसा स्वरूप पहले कभी नहीं देखा था ॥ १२ ॥

सुसुखा सा सदा राजन् न शीता न च घर्मदा ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ॥ १३ ॥

राजन् ! वह सदा उत्तम सुख देनेवाली है । वहाँ न सर्दीका अनुभव होता है, न गर्मीका । उस सभामें पहुँच जानेपर लोगोंको भूख, प्यास और ग्लानिका अनुभव नहीं होता ॥ १३ ॥

नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः ।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा ॥ १४ ॥

वह सभा अनेक प्रकारकी अत्यन्त प्रकाशमान मणियोंसे निर्मित हुई है । वह खंभोंके आधारपर नहीं टिकी है और उसमें कभी क्षयरूप विकार न आनेके कारण वह नित्य मानी गयी है * ॥ १४ ॥

दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भासद्भिरमितप्रभैः ॥ १५ ॥
अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयम्प्रभा ।
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम् ॥ १६ ॥

अनन्त प्रभावाले नाना प्रकारके प्रकाशमान दिव्य पदार्थोंद्वारा अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक स्वयं ही प्रकाशित होनेवाली वह सभा अपने तेजसे सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करती हुई-सी स्वर्गसे भी ऊपर स्थित हुई प्रकाशित हो रही है ॥ १५-१६ ॥

तस्यां स भगवानास्ते विदधद् देवमायया ।
स्वयमेकोऽनिशं राजन् सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥

राजन् ! उस सभामें सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी देवमायाद्वारा समस्त जगत्‌की स्वयं ही सृष्टि करते हुए सदा अकेले ही विराजमान होते हैं ॥ १७ ॥

उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ।
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः ॥ १८ ॥

भारत ! वहाँ दक्ष आदि प्रजापतिगण उन भगवान् ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं । दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, प्रभावशाली कश्यप, ॥ १८ ॥

* 'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्' इस श्रुतिसे भी उसकी नित्यता ही सूचित होती है ।

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाङ्गिराः ।
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ॥ १९ ॥

भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, अङ्गिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, ॥ १९ ॥

अथर्वाङ्गिरसश्चैव बालखिल्या मरीचिपाः ।
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ॥ २० ॥
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ।
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत् कारणं भुवः ॥ २१ ॥

अथर्वाङ्गिरस, सूर्यकिरणोंका पान करनेवाले बालखिल्य, मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति, विकृति तथा पृथ्वीकी रचनाके जो अन्य कारण हैं, इन सबके अभिमानी देवता, ॥ २०-२१ ॥

अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ।
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ॥ २२ ॥

महातेजस्वी अगस्त्य, शक्तिशाली मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त, च्यवन, ॥ २२ ॥

दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यश्रृङ्गश्च धार्मिकः ।
सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो महातपाः ॥ २३ ॥

महाभाग दुर्वासा, धर्मात्मा ऋष्यश्रृङ्ग, महातपस्वी योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार, ॥ २३ ॥

असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ।
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ॥ २४ ॥

असित, देवल, तत्त्वज्ञानी जैगीषव्य, शत्रुविजयी ऋषभ, महापराक्रमी मणि, ॥ २४ ॥

आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत ।
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ॥ २५ ॥

तथा आठ अङ्गोंसे युक्त मूर्तिमान् आयुर्वेद, नक्षत्रों-सहित चन्द्रमा, अंशुमाली सूर्य, ॥ २५ ॥

वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ।
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ॥ २६ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ।

वायु, क्रतु, संकल्प और प्राण—ये तथा और भी बहुत-से मूर्तिमान् महान् व्रतधारी महात्मा ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ २६½ ॥

अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ॥ २७ ॥

अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप और दम—ये भी मूर्तिमान् होकर ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ २७ ॥

आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ॥ २८ ॥
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ।
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ॥ २९ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके बीस गण एक साथ उस सभामें आते हैं । सात अन्य गन्धर्व भी जो प्रधान हैं, वहाँ उपस्थित होते हैं । समस्त लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल, शनैश्चर, राहु तथा केतु—ये सभी ग्रह, ॥ २८-२९ ॥

मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान् वसुमानपि ।
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ॥ ३० ॥

सामगानसम्बन्धी मन्त्र, रथन्तरसाम, हरिमान्, वसुमान्, अपने स्वामी इन्द्रसहित बारह आदित्य, अग्नि-सोम आदि युगल नामोंसे कहे जानेवाले देवता, ॥ ३० ॥

मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ।
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ॥ ३१ ॥

मरुद्गण, विश्वकर्मा, वसुगण, समस्त पितृगण, सभी हविष्य, ॥ ३१ ॥

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन ! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सम्पूर्ण शास्त्र, ॥ ३२ ॥

इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ॥ ३३ ॥

इतिहास, उपवेद,* सम्पूर्ण वेदाङ्ग, ग्रह, यज्ञ, सोम और समस्त देवता, ॥ ३३ ॥

सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ।
मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ॥ ३४ ॥

सावित्री, दुर्गम दुःखसे उबारनेवाली दुर्गा, सात प्रकारकी[1] प्रणवरूपा वाणी, मेधा, धृति, श्रुति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश और क्षमा, ॥

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ॥ ३५ ॥
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः ।
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चान्ये गुरुपूजकाः ॥ ३६ ॥

साम, स्तुति, गीत, विविध गाथा तथा तर्कयुक्त भाष्य—ये सभी देहधारी होकर एवं अनेक प्रकारके नाटक, काव्य, कथा, आख्यायिका तथा कारिका आदि उस सभामें मूर्तिमान् होकर रहते हैं । इसी प्रकार गुरुजनोंकी पूजा करनेवाले जो दूसरे पुण्यात्मा पुरुष हैं, वे सभी उस सभामें स्थित होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

---

* आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद माने गये हैं ।

१. अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु और शक्ति—ये प्रणवके सात प्रकार हैं । अथवा संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, ललित, मागध और गद्य—ये वाणीके सात प्रकार जानने चाहिये ।

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवारात्रिस्तथैव च ।
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, छहों ऋतुएँ, ॥ ३७ ॥

संवत्सराः पञ्च युगमहोरात्रश्चतुर्विधः ।
कालचक्रं च तद् दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ॥ ३८ ॥
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ।

साठ संवत्सर, पाँच संवत्सरोंका युग, चार प्रकारके दिन-रात (मानव, पितर, देवता और ब्रह्माजीके दिन-रात), नित्य, दिव्य, अक्षय एवं अव्यय कालचक्र तथा धर्मचक्र भी देह धारण करके सदा ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित रहते हैं ॥ ३८½ ॥

अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ॥ ३९ ॥
कालिका सुरभी देवी सरमा चाथ गौतमी ॥ ४० ॥
प्रभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः ।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ४१ ॥
पृथ्वी गां गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च ।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥ ४२ ॥
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा ।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ४३ ॥

अदिति, दिति, दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालिका, सुरभी देवी, सरमा, गौतमी, प्रभा और कद्रू—ये दो देवियाँ, देवमाताएँ, रुद्राणी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा तथा अपरा, षष्ठी, पृथ्वी, भूतलपर उतरी हुई गङ्गादेवी, लज्जा, स्वाहा, कीर्ति, सुरादेवी, शची, पुष्टि, अरुन्धती संवृत्ति, आशा, नियति, सृष्टिदेवी, रति तथा अन्य देवियाँ भी उस सभामें प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करती हैं ॥ ३९–४३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि ।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ४४ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेव, साध्य तथा मनके समान वेगशाली पितर भी उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ ४४ ॥

पितॄणां च गणान् विद्धि सप्तैव पुरुषर्षभ ।
मूर्तिमन्तो हि चत्वारस्त्रयश्चाप्यशरीरिणः ॥ ४५ ॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि पितरोंके सात ही गण होते हैं, जिनमें चार तो मूर्तिमान् हैं और तीन अमूर्त ॥

वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत ।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४६ ॥
सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा ।
एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४७ ॥
एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाप्याय्यते पुनः ।
त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ॥ ४८ ॥
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम् ।

भारत ! सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात स्वर्गलोकमें विचरनेवाले महाभाग वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य (ये चार मूर्त हैं), एकशृङ्ग, चतुर्वेद तथा कला (ये तीन अमूर्त हैं) । ये सातों पितर क्रमशः चारों वर्णोंमें पूजित होते हैं । राजन् ! पहले इन पितरोंके तृप्त होनेसे फिर सोम देवता भी तृप्त हो जाते हैं । ये सभी पितर उक्त सभामें उपस्थित हो प्रसन्नतापूर्वक अमित तेजस्वी प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ ४६–४८½ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ॥ ४९ ॥
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते ।
स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथापरे ॥ ५० ॥
पुरंदरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ।
महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार राक्षस, पिशाच, दानव, गुह्यक, नाग, सुपर्ण तथा श्रेष्ठ पशु भी वहाँ पितामह ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं । स्थावर और जङ्गम महाभूत, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा पार्वतीसहित महादेवजी—ये सब सदा उस सभामें पधारते हैं ॥ ४९–५१ ॥

महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ।
देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ॥ ५२ ॥
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा ।

राजेन्द्र ! स्वामी कार्तिकेय भी वहाँ उपस्थित होकर सदा ब्रह्माजीकी सेवा करते हैं । भगवान् नारायण, देवर्षिगण, बालखिल्य ऋषि तथा दूसरे अयोनिज और योनिज ऋषि उस सभामें ब्रह्माजीकी आराधना करते हैं ॥ ५२½ ॥

यच्च किंचित् त्रिलोकेऽस्मिन् दृश्यते स्थाणु जङ्गमम् ।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५३ ॥

नरेश्वर ! संक्षेपमें यह समझ लो कि तीनों लोकोंमें स्थावर-जङ्गम भूतोंके रूपमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब मैंने उस सभामें देखा था ॥ ५३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ५४ ॥

पाण्डुनन्दन ! अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास संतानवान् महर्षि उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥५४॥

ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः ।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथाऽऽगतम् ॥ ५५ ॥

वे सब महर्षि तथा सम्पूर्ण देवता वहाँ इच्छानुसार ब्रह्माजीका दर्शन करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते और आज्ञा लेकर जैसे आये होते हैं, वैसे ही चले जाते हैं ॥५५॥

अतिथीनागतान् देवान् दैत्यान् नागांस्तथा द्विजान्।
यक्षान् सुपर्णान् कालेयान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५६ ॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान् सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ५७ ॥

अगाध बुद्धिवाले दयालु लोकपितामह ब्रह्माजी अपने यहाँ आये हुए सभी महाभाग अतिथियों—देवता, दैत्य, नाग, पक्षी, यक्ष, सुपर्ण, कालेय, गन्धर्व तथा अप्सराओं एवं सम्पूर्ण भूतोंसे यथायोग्य मिलते हैं और उन्हें अनुगृहीत करते हैं ॥ ५६–५७ ॥

प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयम्भूरमितद्युतिः ।
सान्त्वमानार्थसम्भोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ५८ ॥

मनुजेश्वर ! अमित तेजस्वी विश्वात्मा स्वयम्भू उन सब अतिथियोंको अपनाकर उन्हें सान्त्वना देते, उनका सम्मान करते, उनके प्रयोजनकी पूर्ति करके उन सबको आवश्यकता तथा रुचिके अनुसार भोगसामग्री प्रदान करते हैं ॥ ५८ ॥

तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत ।
आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा ॥ ५९ ॥

तात भारत ! इस प्रकार वहाँ आने-जानेवाले लोगोंसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुखदायिनी जान पड़ती है ॥ ५९ ॥

सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥ ६० ॥
सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वह सभा सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न, दिव्य तथा ब्रह्मर्षियोंके समुदायसे सेवित और पापरहित एवं ब्राह्मी श्रीसे उद्भासित और सुशोभित होती रहती है। वैसी उस सभाका मैंने दर्शन किया है। जैसे मनुष्यलोकमें तुम्हारी यह सभा दुर्लभ है, वैसे ही सम्पूर्ण लोकोंमें ब्रह्माजीकी सभा परम दुर्लभ है ॥ ६०–६१ ॥

एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत ।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ॥ ६२ ॥

भारत ! ये सभी सभाएँ मैंने पूर्वकालसे देवलोकमें देखी हैं ! मनुष्यलोकमें तो तुम्हारी यह सभा ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें ब्रह्मसभावर्णननामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

राजा हरिश्चन्द्रका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरके प्रति राजा पाण्डुका संदेश

युधिष्ठिर उवाच

प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदतां वर ।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवन् ! जैसा आपने मुझसे वर्णन किया है, उसके अनुसार सूर्यपुत्र यमकी सभामें ही अधिकांश राजालोगोंकी स्थिति बतायी गयी है ॥ १ ॥

वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो ।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा ॥ २ ॥

प्रभो ! वरुणकी सभामें तो अधिकांश नाग, दैत्येन्द्र, सरिताएँ और समुद्र ही बताये गये हैं ॥ २ ॥

तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार धनाध्यक्ष कुबेरकी सभामें यक्ष, गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा भगवान् शङ्करकी उपस्थितिका वर्णन हुआ है ॥ ३ ॥

पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीकी सभामें आपने महर्षियों, सम्पूर्ण देवगणों तथा समस्त शास्त्रोंकी स्थिति बतायी है ॥ ४ ॥

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने ।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ५ ॥

परंतु मुने ! इन्द्रकी सभामें आपने अधिकांश देवताओंकी ही उपस्थितिका वर्णन किया है और थोड़े-से विभिन्न गन्धर्वों एवं महर्षियोंकी भी स्थिति बतायी है ॥ ५ ॥

एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने ।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

महामुने ! महात्मा देवराज इन्द्रकी सभामें आपने राजर्षियोंमेंसे एकमात्र हरिश्चन्द्रका ही नाम लिया है ॥ ६ ॥

किं कर्म तेनाचरितं तपो वा नियतव्रत ।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्द्धते सुमहायशाः ॥ ७ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! उन्होंने कौन-सा कर्म अथवा कौन-सी तपस्या की है, जिससे वे महान् यशस्वी होकर देवराज इन्द्रसे स्पर्धा कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः ॥ ८ ॥

किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाचक्ष्व सुव्रत।
त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे॥ ९॥

विप्रवर ! आपने पितृलोकमें जाकर मेरे पिता महाभाग पाण्डुको भी देखा था, किस प्रकार वे आपसे मिले थे ? भगवन् ! उन्होंने आपसे क्या कहा ? यह मुझे बताइये। सुव्रत ! आपसे यह सब कुछ सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥८-९॥

नारद उवाच

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः॥ १०॥

नारदजीने कहा—शक्तिशाली राजेन्द्र ! तुमने जो राजर्षि हरिश्चन्द्रके विषयमें मुझसे पूछा है, उसके उत्तरमें मैं उन बुद्धिमान् नरेशका माहात्म्य बता रहा हूँ, सुनो ॥१०॥

(इक्ष्वाकूणां कुले जातस्त्रिशङ्कुर्नाम पार्थिवः।
अयोध्याधिपतिर्वीरो विश्वामित्रेण संस्थितः॥
तस्य सत्यवती नाम पत्नी केकयवंशजा।
तस्यां गर्भः समभवद् धर्मेण कुरुनन्दन॥
सा च काले महाभागा जन्ममासं प्रविश्य वै।
कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम्॥
स वै राजा हरिश्चन्द्रस्त्रैशङ्कव इति स्मृतः।)

इक्ष्वाकुकुलमें त्रिशङ्कु नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वीर त्रिशङ्कु अयोध्याके स्वामी थे और वहाँ विश्वामित्र मुनिके साथ रहा करते थे। उनकी पत्नीका नाम सत्यवती था, वह केकय-कुलमें उत्पन्न हुई थी। कुरुनन्दन ! रानी सत्यवतीके धर्मानुकूल गर्भ रहा। फिर समयानुसार जन्ममास प्राप्त होनेपर महाभागा रानीने एक निष्पाप पुत्रको जन्म दिया, उसका नाम हुआ हरिश्चन्द्र। वे त्रिशङ्कुकुमार ही लोक-विख्यात राजा हरिश्चन्द्र कहे गये हैं॥

स राजा बलवानासीत् सम्राट् सर्वमहीक्षिताम्।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः॥ ११॥

राजा हरिश्चन्द्र बड़े बलवान् और समस्त भूपालोंके सम्राट् थे। भूमण्डलके सभी नरेश उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सिर झुकाये खड़े रहते थे॥ ११॥

तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम्।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर॥ १२॥

जनेश्वर ! उन्होंने एकमात्र स्वर्णविभूषित जैत्र नामक रथपर चढ़कर अपने शस्त्रोंके प्रतापसे सातों द्वीपोंपर विजय प्राप्त कर ली थी॥ १२॥

स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम्।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम्॥ १३॥

महाराज ! पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर राजा हरिश्चन्द्रने राजसूय नामक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया॥ १३॥

तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभवन्॥ १४॥

राजाकी आज्ञासे समस्त भूपालोंने धन लाकर भेंट किये और उस यज्ञमें ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका कार्य किया॥

प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम्॥ १५॥

महाराज हरिश्चन्द्रने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस यज्ञमें याचकोंको, जितना उन्होंने माँगा, उससे पाँचगुना अधिक धन दान किया॥ १५॥

अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा।
प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान्॥ १६॥

जब अग्निदेवके विसर्जनका अवसर आया, उस समय उन्होंने विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको नाना प्रकार-के धन एवं रत्न देकर तृप्त किया॥ १६॥

भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम्।
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्॥ १७॥

नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, मनोवाञ्छित वस्तुओंका पुरस्कार तथा रत्नराशिका दान देकर तृप्त एवं संतुष्ट किये हुए ब्राह्मणोंने राजा हरिश्चन्द्रको आशीर्वाद दिये। इसीलिये वे अन्य राजाओंकी अपेक्षा अधिक तेजस्वी और यशस्वी हुए हैं॥ १७॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् हरिश्चन्द्रो विराजते।
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद् विद्धि भरतर्षभ॥ १८॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! यही कारण है कि उन सहस्रों राजाओंकी अपेक्षा महाराज हरिश्चन्द्र अधिक सम्मानपूर्वक इन्द्रसभामें विराजमान होते हैं—इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो॥ १८॥

समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान्।
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप॥ १९॥

नरेश्वर ! प्रतापी हरिश्चन्द्र उस महायज्ञको समाप्त करके जब सम्राट्‌के पदपर अभिषिक्त हुए, उस समय उनकी बड़ी शोभा हुई॥ १९॥

ये चान्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम्।
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ॥ २०॥

भरतकुलभूषण ! दूसरे भी जो भूपाल राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वे देवराज इन्द्रके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं॥ २०॥

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः ।
ते तत् सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतर्षभ ! जो लोग संग्राममें पीठ न दिखाकर वहीं मृत्युका वरण कर लेते हैं, वे भी देवराज इन्द्रकी उस सभामें जाकर वहाँ आनन्दका उपभोग करते हैं ॥ २१ ॥

तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम् ।
ते तत् स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यशः ॥ २२ ॥

तथा जो लोग कठोर तपस्याके द्वारा यहाँ अपने शरीरका त्याग करते हैं, वे भी उस इन्द्रसभामें जाकर तेजस्वी रूप धारण करके सदा प्रकाशित होते रहते हैं ॥ २२ ॥

पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ।
हरिश्चन्द्रे- श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ॥ २३ ॥

कौरवनन्दन कुन्तीकुमार ! तुम्हारे पिता पाण्डुने राजा हरिश्चन्द्रकी सम्पत्ति देखकर अत्यन्त चकित हो तुमसे कहनेके लिये संदेश दिया है ॥ २३ ॥

विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप ।
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! मुझे मनुष्यलोकमें आता जान उन्होंने प्रणाम करके मुझसे कहा—'देवर्षे ! आप युधिष्ठिरसे यह कहियेगा—॥

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥ २५ ॥

'भारत ! तुम्हारे भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं, तुम सारी पृथ्वीको जीतनेमें समर्थ हो; अतः राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ २५ ॥

त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ।
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि ॥ २६ ॥

'तुम-जैसे पुत्रके द्वारा वह यज्ञ सम्पन्न होनेपर मैं भी शीघ्र ही राजा हरिश्चन्द्रकी भाँति बहुत वर्षोंतक इन्द्रभवनमें आनन्द भोगूँगा' ॥ २६ ॥

एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ।
भूलोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाब्रवम् ॥ २७ ॥

तब मैंने पाण्डुसे कहा—'एवमस्तु, यदि मैं भूलोकमें जाऊँगा तो आपके पुत्र राजा युधिष्ठिरसे कह दूँगा' ॥ २७ ॥

तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव ।
गन्तासि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ॥ २८ ॥

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन ! तुम अपने पिताके संकल्पको पूरा करो । ऐसा करनेपर तुम पूर्वजोंके साथ देवराज इन्द्रके लोकमें जाओगे ॥ २८ ॥

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ॥ २९ ॥

राजन् ! इस महान् यज्ञमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है; क्योंकि यज्ञनाशक ब्रह्मराक्षस इसका छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं ॥ २९ ॥

युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥ ३० ॥

तथा इसका अनुष्ठान होनेपर कोई एक ऐसा निमित्त भी बन जाता है, जिससे पृथ्वीपर विनाशकारी युद्ध उपस्थित हो जाता है, जो क्षत्रियोंके संहार और भूमण्डलके विनाशका कारण होता है ॥ ३० ॥

एतत् संचिन्त्य राजेन्द्र यत् क्षेमं तत् समाचर ।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र ! यह सब सोच-विचारकर तुम्हें जो हितकर जान पड़े, वह करो । चारों वर्णोंकी रक्षाके लिये सदा सावधान और उद्यत रहो ॥ ३१ ॥

भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ।
एतत् ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥ ३२ ॥

संसारमें तुम्हारा अभ्युदय हो, तुम आनन्दित रहो और धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त करो । तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने विस्तारपूर्वक बता दिया । अब मैं यहाँसे द्वारका जाऊँगा, इसके लिये तुमसे अनुमति चाहता हूँ ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय ।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमारोंसे ऐसा कहकर नारदजी जिन ऋषियोंके साथ आये थे, उन्हींसे घिरे हुए पुनः चले गये ॥ ३३ ॥

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरवः ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३४ ॥

नारदजीके चले जानेपर कुरुश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञके विषयमें विचार करने लगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभापर्वणि पाण्डुसंदेशकथने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें पाण्डु-संदेश-कथनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३७½ श्लोक हैं)

(राजसूयारम्भपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसूयविषयक संकल्प और उसके विषयमें भाइयों, मन्त्रियों, मुनियों तथा श्रीकृष्णसे सलाह लेना

वैशम्पायन उवाच

ऋषेस्तद् वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः।
चिन्तयन् राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदका वह वचन सुनकर युधिष्ठिरने लंबी साँस खींची। राजसूययज्ञके सम्बन्धमें चिन्तन करते हुए उन्हें शान्ति नहीं मिली ॥ १ ॥

राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम्।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ॥ ३ ॥

राजसूययज्ञ करनेवाले महात्मा राजर्षियोंकी वैसी महिमा सुनकर तथा पुण्यकर्मोंद्वारा उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती देखकर एवं यज्ञ करनेवाले राजर्षि हरिश्चन्द्रका महान् तेज (तथा विशेष वैभव एवं आदर-सत्कार) सुनकर उनके मनमें राजसूययज्ञ करनेकी इच्छा हुई ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥ ४ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने समस्त सभासदोंका सत्कार किया और उन सब सदस्योंने भी उनका बड़ा सम्मान किया। अन्तमें (सबकी सम्मतिसे) उनका मन यज्ञ करनेके ही संकल्पपर दृढ़ हो गया ॥ ४ ॥

स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चासकृत् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उस समय बार-बार विचार करके राजसूययज्ञके अनुष्ठानमें ही मन लगाया ॥ ५ ॥

भूयश्चाद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवानुचिन्तयन्।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥ ६ ॥

अद्भुत बल और पराक्रमवाले धर्मराजने पुनः अपने धर्मका ही चिन्तन किया और सम्पूर्ण लोकोंका हित कैसे हो, इसी ओर वे ध्यान देने लगे ॥ ६ ॥

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतां वरः।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे। वे सारी प्रजापर अनुग्रह करके सबका समानरूपसे हितसाधन करने लगे ॥ ७ ॥

सर्वेषां दीयतां देयं मुञ्चन् कोपमदावुभौ।
साधु धर्मेति धर्मेति नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥ ८ ॥

क्रोध और अभिमानसे रहित होकर राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंसे कह दिया कि 'देने योग्य वस्तुएँ सबको दी जायँ अथवा सारी जनताका पावना (ऋण) चुका दिया जाय।' उनके राज्यमें 'धर्मराज। आप धन्य हैं। धर्मस्वरूप युधिष्ठिर आपको साधुवाद !' इसके सिवा और कोई बात नहीं सुनी जाती थी ॥ ८ ॥

एवंगते ततस्तस्मिन् पितरीवाश्वसञ्जनाः।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ॥ ९ ॥

उनका ऐसा व्यवहार देख सारी प्रजा उनके ऊपर पिताके समान भरोसा रखने लगी। उनके प्रति द्वेष रखनेवाला कोई नहीं रहा। इसीलिये वे 'अजातशत्रु' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥

परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात्।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः ॥ १० ॥
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात्।
वैनत्यात् सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ॥
अविग्रहा वीतभयाः स्वधर्मनिरताः सदा ॥ ११ ॥
निकामवर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा।

महाराज युधिष्ठिर सबको आत्मीय जनोंकी भाँति अपनाते, भीमसेन सबकी रक्षा करते, सव्यसाची अर्जुन शत्रुओंके संहारमें लगे रहते, बुद्धिमान् सहदेव सबको धर्मका उपदेश दिया करते और नकुल स्वभावसे ही सबके साथ विनयपूर्ण बर्ताव करते थे। इससे उनके राज्यके सभी जनपद कलहशून्य, निर्भय, स्वधर्मपरायण तथा उन्नतिशील थे। वहाँ उनकी इच्छाके अनुसार समयपर वर्षा होती थी ॥ १०-११½ ॥

वार्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥ १२ ॥
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा।
अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ॥ १३ ॥
सर्वमेव न तत्रासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे।

उन दिनों राजाके सुप्रबन्धसे व्याजकी आजीविका, यज्ञकी सामग्री, गोरक्षा, खेती और व्यापार—इन सबकी विशेष उन्नति होने लगी। निर्धन प्रजाजनोंसे पिछले वर्षका बाकी कर नहीं

लिया जाता था तथा चालू वर्षका कर वसूल करनेके लिये किसीको पीड़ा नहीं दी जाती थी। सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले युधिष्ठिरके शासनकालमें रोग तथा अग्निका प्रकोप आदि कोई भी उपद्रव नहीं था ॥ १२-१३½ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ १४ ॥
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषा कृतम्।

लुटेरोंसे, ठगोंसे, राजासे तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे प्रजाके प्रति अत्याचार या मिथ्या व्यवहार कभी नहीं सुना जाता था और आपसमें भी सारी प्रजा एक दूसरेसे मिथ्या व्यवहार नहीं करती थी ॥ १४½ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥ १५ ॥
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग् जात्यैश्च नैगमैः।
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ १६ ॥
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः।

दूसरे राजालोग विभिन्न देशके कुलीन वैश्योंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करने, उन्हें कर देने, अपने उपार्जित धन-रत्न आदिकी भेंट देने तथा संधि-विग्रहादि छः कार्योंमें राजाको सहयोग देनेके लिये उनके पास आते थे। सदा धर्ममें ही लगे रहनेवाले राजा युधिष्ठिरके शासन-कालमें राजस स्वभाववाले तथा लोभी मनुष्योंद्वारा इच्छानुसार धन आदिका उपभोग किये जानेपर भी उनका देश दिनोंदिन उन्नति करने लगा ॥ १५-१६½ ॥

सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ॥ १७ ॥

राजा युधिष्ठिरकी ख्याति सर्वत्र फैल रही थी। सभी सद्गुण उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। वे शीत एवं उष्ण आदि सभी द्वन्द्वोंको सहनेमें समर्थ तथा अपने राजोचित गुणोंसे सर्वत्र सुशोभित होते थे ॥ १७ ॥

यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः।
यत्र राजन् दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ॥ १८ ॥

राजन्! दसों दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले वे महा-यशस्वी सम्राट् जिस देशपर अधिकार जमाते, वहाँ ग्वालोंसे लेकर ब्राह्मणोंतक सारी प्रजा उनके प्रति पिता-माताके समान भाव रखकर प्रेम करने लगती थी ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदतां वरः।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस समय अपने मन्त्रियों और भाइयों-को बुलाकर उनसे बार-बार पूछा—'राजसूययज्ञके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या सम्मति है?' ॥ १९ ॥

ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २० ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उन सब मन्त्रियोंने एक साथ यज्ञकी इच्छावाले परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे उस समय यह अर्थयुक्त बात कही—॥ २० ॥

येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ॥ २१ ॥

'महाराज! राजसूययज्ञके द्वारा अभिषिक्त होनेपर राजा वरुणके गुणोंको प्राप्त कर लेता है; इसलिये प्रत्येक नरेश उस यज्ञके द्वारा सम्राट्के समस्त गुणोंको पानेकी अभिलाषा रखता है ॥ २१ ॥

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २२ ॥

'कुरुनन्दन! आप तो सम्राट्के गुणोंको पानेके सर्वथा योग्य हैं; अतः आपके हितैषी सुहृद् आपके द्वारा राजसूययज्ञके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २२ ॥

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसम्पदा।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते शंसितव्रतैः ॥ २३ ॥

'उस यज्ञका समय क्षत्रसम्पत्ति यानी सेना आदिके अधीन है। उसमें उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले ब्राह्मण सामवेदके मन्त्रोंद्वारा अग्निकी स्थापनाके लिये छः अग्निवेदियों-का निर्माण करते हैं ॥ २३ ॥

दर्वीहोमानुपादाय सर्वान् यः प्राप्नुते क्रतून्।
अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित् तेन चोच्यते ॥ २४ ॥

'जो उस यज्ञका अनुष्ठान करता है, वह 'दर्वीहोम' (अग्निहोत्र आदि) से लेकर समस्त यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है एवं यज्ञके अन्तमें जो अभिषेक होता है, उससे वह यज्ञकर्ता नरेश 'सर्वजित् सम्राट्' कहलाने लगता है ॥ २४ ॥

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम्।
अचिरात् त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

'महाबाहो! आप उस यज्ञके सम्पादनमें समर्थ हैं। हम सब लोग आपकी आज्ञाके अधीन हैं। महाराज! आप शीघ्र ही राजसूययज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ॥ २५ ॥

अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ॥ २६ ॥

'अतः किसी प्रकारका सोच-विचार न करके आप राजसूयके अनुष्ठानमें मन लगाइये।' इस प्रकार उनके सभी सुहृदोंने अलग-अलग और सम्मिलित होकर अपनी यही सम्मति प्रकट की ॥

स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसारिहा ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! शत्रुसूदन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उनका यह साहसपूर्ण, प्रिय एवं श्रेष्ठ वचन सुनकर उसे मन-ही-मन ग्रहण किया ॥ २७ ॥

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥ २८ ॥

भारत ! उन्होंने सुहृदोंका वह सम्मतिसूचक वचन सुनकर तथा यह भी जानते हुए कि राजसूययज्ञ अपने लिये साध्य है, उसके विषयमें बारम्बार मन-ही-मन विचार किया ॥ २८ ॥

स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ २९ ॥

फिर मन्त्रणाका महत्त्व जाननेवाले बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, महात्मा ऋत्विजों, मन्त्रियों तथा धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियोंके साथ इस विषयपर पुनः विचार करने लगे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदतः स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ ! राजसूय नामक उत्तम यज्ञ किसी सम्राट्के ही योग्य है, तो भी मैं उसके प्रति श्रद्धा रखने लगा हूँ; अतः आपलोग बताइये, मेरे मनमें जो यह राजसूययज्ञ करनेकी अभिलाषा हुई है, कैसी है ? ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कमलनयन जनमेजय ! राजाके इस प्रकार पूछनेपर वे सब लोग उस समय धर्मराज युधिष्ठिरसे यों बोले—॥ ३१ ॥

अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ॥ ३२ ॥
मन्त्रिणो भ्रातरश्चान्ये तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।

'धर्मज्ञ ! आप राजसूय महायज्ञ करनेके सर्वथा योग्य हैं ।' ऋत्विजों तथा महर्षियोंने जब राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा, तब उनके मन्त्रियों और भाइयोंने उन महात्माओंके वचनका बड़ा आदर किया ॥ ३२½ ॥

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनाऽऽत्मवान् ॥ ३३ ॥
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ।
सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ॥ ३४ ॥
विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति ।
न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ॥ ३५ ॥
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ॥ ३६ ॥
सर्वलोकात् परं मत्वा जगाम मनसा हरिम् ।
अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृषु ॥ ३७ ॥

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे पुनः इस विषयपर मन-ही-मन विचार किया—'जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति और साधनोंको देखकर तथा देश, काल, आय और व्ययको बुद्धिके द्वारा भलीभाँति समझ करके कार्य आरम्भ करता है, वह कष्टमें नहीं पड़ता । केवल अपने ही निश्चयसे यज्ञका आरम्भ नहीं किया जाता ।' ऐसा समझकर यत्नपूर्वक कार्यभार वहन करनेवाले युधिष्ठिरने उस कार्यके विषयमें पूर्ण निश्चय करनेके लिये जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णको ही सब लोगोंसे उत्तम माना और वे मन-ही-मन उन अप्रमेय महाबाहु श्रीहरिकी शरणमें गये, जो अजन्मा होते हुए भी धर्म एवं साधु पुरुषोंकी रक्षा आदिकी इच्छासे मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे ॥ ३३—३७ ॥

पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसम्मतैः ।
नास्य किंचिदविज्ञातं नास्य किंचिदकर्मजम् ॥ ३८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके देवपूजित अलौकिक कर्मोंद्वारा यह अनुमान किया कि श्रीकृष्णके लिये कुछ भी अज्ञात नहीं है तथा कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, जिसे वे कर न सकें ॥ ३८ ॥

न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत ।
स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
गुरुवद् भूतगुरवे प्राहिणोद् दूतमञ्जसा ।
शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ॥ ४० ॥
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ।

उनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है । इस तरह उन्होंने उन्हें सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ माना । ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि करके कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने गुरुजनोंके प्रति निवेदन करनेकी भाँति समस्त प्राणियोंके गुरु श्रीकृष्णके पास शीघ्र ही एक दूत भेजा । वह दूत शीघ्रगामी रथके द्वारा तुरंत यादवोंके यहाँ पहुँचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णसे द्वारकामें ही मिला ॥ ३९—४०½ ॥

(स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा व्यज्ञापयत माधवम् ॥

उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़ भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार निवेदन किया ॥

दूत उवाच

धर्मराजो हृषीकेश धौम्यव्यासादिभिः सह ।

पाञ्चालमात्स्यसहितैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वशः ॥
त्वद्दर्शनं महाबाहो काङ्क्षते स युधिष्ठिरः।

दूतने कहा—महाबाहु हृषीकेश ! धर्मराज युधिष्ठिर धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियों, द्रुपद और विराट आदि नरेशों तथा अपने समस्त भाइयोंके साथ आपका दर्शन करना चाहते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रसेनवचः श्रुत्वा यादवप्रवरो बली।)
दर्शनाकाङ्क्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाच्युतः ॥ ४१ ॥
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात् तदा।

वैशम्पायनजी कहते हैं—दूत इन्द्रसेनकी यह बात सुनकर यदुवंशशिरोमणि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी युधिष्ठिरके पास स्वयं भी उनके दर्शनकी अभिलाषासे दूत इन्द्रसेनके साथ इन्द्रप्रस्थ नगरमें आये ॥ ४१½ ॥

व्यतीत्य विविधान् देशांस्त्वरावान् क्षिप्रवाहनः॥४२॥

मार्गमें अनेक देशोंको लाँघते हुए वे बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़ रहे थे। उनके रथके घोड़े बहुत तेज चलनेवाले थे ॥ ४२ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः।
स गृहे पितृवद् भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः।
भीमेन च ततोऽपश्यत् स्वसारं प्रीतिमान् पितुः ॥ ४३ ॥

भगवान् जनार्दन इन्द्रप्रस्थमें आकर राजा युधिष्ठिरसे मिले। फुफेरे भाई धर्मराज युधिष्ठिर तथा भीमसेनने अपने घरमें श्रीकृष्णका पिताकी भाँति पूजन किया। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्तीसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ४३ ॥

प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा।
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत् पर्युपासितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर प्रेमी सुहृद् अर्जुनसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। फिर नकुल-सहदेवने गुरुकी भाँति उनकी सेवा-पूजा की ॥ ४४ ॥

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्यमच्युतम्।
धर्मराजः समागम्याज्ञापयत् स्वप्रयोजनम् ॥ ४५ ॥

इसके बाद उन्होंने एक उत्तम भवनमें विश्राम किया। थोड़ी देर बाद जब वे मिलनेके योग्य हुए और इसके लिये उन्होंने अवसर निकाल लिया, तब धर्मराज युधिष्ठिरने आकर उनसे अपना सारा प्रयोजन बतलाया ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया।
प्राप्यते येन तत् ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं राजसूययज्ञ करना चाहता हूँ; परंतु वह केवल चाहनेभरसे ही पूरा नहीं हो सकता। जिस उपायसे उस यज्ञकी पूर्ति हो सकती है, वह सब आपको ही ज्ञात है ॥ ४६ ॥

यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ४७ ॥

जिसमें सब कुछ सम्भव है अर्थात् जो सब कुछ कर सकता है, जिसकी सर्वत्र पूजा होती है तथा जो सर्वेश्वर होता है, वही राजा राजसूययज्ञ सम्पन्न कर सकता है ॥ ४७ ॥

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ४८ ॥

मेरे सब सुहृद् एकत्र होकर मुझसे वही राजसूययज्ञ करनेके लिये कहते हैं; परंतु इसके विषयमें अन्तिम निश्चय तो आपके कहनेसे ही होगा ॥ ४८ ॥

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते।
स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ४९ ॥

कुछ लोग प्रेम-सम्बन्धके नाते ही मेरे दोषों या त्रुटियोंको नहीं बताते हैं। दूसरे लोग स्वार्थवश वही बात कहते हैं, जो मुझे प्रिय लगे ॥ ४९ ॥

प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम्।
एवम्प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५० ॥

कुछ लोग जो अपने लिये हितकर है, उसीको मेरे लिये भी प्रिय एवं हितकर समझ बैठते हैं। इस प्रकार अपने-अपने प्रयोजनको लेकर प्रायः लोगोंकी भिन्न-भिन्न बातें देखी जाती हैं ॥ ५० ॥

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

परंतु आप उपर्युक्त सभी हेतुओंसे एवं काम-क्रोधसे रहित होकर (अपने स्वरूपमें स्थित हैं। अतः) इस लोकमें मेरे लिये जो उत्तम एवं करने योग्य हो, उसको ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें वासुदेवागमनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी राजसूययज्ञके लिये सम्मति

कृष्ण उवाच

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि ।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद् वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाराज ! आपमें सभी सद्गुण विद्यमान हैं; अतः आप राजसूययज्ञ करनेके लिये योग्य हैं । भारत ! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी आपके पूछनेपर मैं इस विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ ॥ १ ॥

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम् ।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥ २ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने पूर्वकालमें जब क्षत्रियोंका संहार किया था, उस समय लुक-छिपकर जो क्षत्रिय शेष रह



गये, वे पूर्ववर्ती क्षत्रियोंकी अपेक्षा निम्नकोटिके हैं । इस प्रकार इस समय संसारमें नाममात्रके क्षत्रिय रह गये हैं ॥ २ ॥

कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप ।
निदेशवाग्भिस्तत् ते ह विदितं भरतर्षभ ॥ ३ ॥

पृथ्वीपते ! इन क्षत्रियोंने पूर्वजोंके कथनानुसार सामूहिकरूपसे यह नियम बना लिया है कि हममेंसे जो समस्त क्षत्रियोंको जीत लेगा, वही सम्राट् होगा । भरतश्रेष्ठ ! यह बात आपको भी मालूम ही होगी ॥ ३ ॥

ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते ।
राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि ॥ ४ ॥

इस समय श्रेणिबद्ध (सब-के-सब) राजा तथा भूमण्डलके दूसरे क्षत्रिय भी अपनेको सम्राट् पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुकी संतान कहते हैं ॥ ४ ॥

ऐलवंश्यास्तु ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ राजन् ! पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुके वंशमें जो नरेश आजकल हैं, उनके एक सौ कुल विद्यमान हैं; यह बात आप अच्छी तरह जान लें ॥ ५ ॥

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ।

महाराज ! आजकल राजा ययातिके कुलमें गुणकी दृष्टिसे भोजवंशियोंका ही अधिक विस्तार हुआ है । भोजवंशी बढ़कर चारों दिशाओंमें फैल गये हैं तथा आजके सभी क्षत्रिय उन्हींकी धन-सम्पत्तिका आश्रय ले रहे हैं ॥ ६½ ॥

इदानीमेव वै राजञ्जरासंधो महीपतिः ॥ ७ ॥
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ।
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः ॥ ८ ॥

राजन् ! अभी-अभी भूपाल जरासंध उन समस्त क्षत्रियकुलोंकी राजलक्ष्मीको लाँघकर राजाओंद्वारा सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुआ है और वह अपने बल-पराक्रमसे सबपर आक्रमण करके समस्त राजाओंका सिरमौर हो रहा है ॥ ७-८ ॥

सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथोभेदममन्यत ।
प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत् ॥ ९ ॥

जरासंध मध्यभूमिका उपभोग करते हुए समस्त राजाओंमें परस्पर फूट डालनेकी नीतिको पसंद करता है । इस समय वही सबसे प्रबल एवं उत्कृष्ट राजा है । यह सारा जगत् एकमात्र उसीके वशमें है ॥ ९ ॥

स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः ।
तं स राजा जरासंधं संश्रित्य किल सर्वशः ॥ १० ॥
राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ।

महाराज ! वह अपनी राजनीतिक युक्तियोंसे इस समय सम्राट् बन बैठा है । राजन् ! कहते हैं, प्रतापी राजा शिशुपाल सब प्रकारसे जरासंधका आश्रय लेकर ही उसका प्रधान सेनापति हो गया है ॥ १०½ ॥

तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः ॥ ११ ॥
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ।

युधिष्ठिर ! मायायुद्ध करनेवाला महाबली करूषराज दन्तवक्र भी जरासंधके सामने शिष्यकी भाँति हाथ जोड़े खड़ा रहता है ॥ ११½ ॥

अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ॥ १२ ॥
जरासंधं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ।

विशालकाय अन्य दो महापराक्रमी योद्धा सुप्रसिद्ध हंस और डिम्भक भी महाबली जरासंधकी शरण ले चुके थे ॥

दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद् यमद्भुतमणिं विदुः ॥ १३ ॥

करूषदेशका राजा दन्तवक्र, करभ और मेघवाहन—ये सभी सिरपर दिव्य मणिमय मुकुट धारण करते हुए भी जरासंधको अपने मस्तककी अद्भुत मणि मानते हैं (अर्थात् उसके चरणोंमें सिर झुकाते रहते हैं) ॥ १३ ॥

मुरं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १४ ॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥ १५ ॥
स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद् भक्तिमांस्त्वयि ।

महाराज ! जो मुर और नरक नामक देशका शासन करते हैं, जिनकी सेना अनन्त है, जो वरुणके समान पश्चिम दिशाके अधिपति कहे जाते हैं, जिनकी वृद्धावस्था हो चली है तथा जो आपके पिताके मित्र रहे हैं, वे यवनाधिपति राजा भगदत्त भी वाणी तथा क्रियाद्वारा भी जरासंधके सामने विशेषरूपसे नतमस्तक रहते हैं; फिर भी वे मन-ही-मन तुम्हारे स्नेह-पाशमें बँधे हैं और जैसे पिता अपने पुत्रपर प्रेम रखता है, वैसे ही उनका तुम्हारे ऊपर वात्सल्यभाव बना हुआ है ॥

प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ॥ १६ ॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्धनः ।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १७ ॥

जो भारतभूमिके पश्चिमसे लेकर दक्षिणतकके भागपर शासन करते हैं, आपके मामा वे शत्रुसंहारक शूरवीर कुन्ति-भोजकुलवर्द्धक पुरुजित् अकेले ही स्नेहवश आपके प्रति प्रेम और आदरका भाव रखते हैं ॥ १६-१७ ॥

जरासंधं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १८ ॥
आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद् यः स चिह्नं च मामकम् ॥ १९ ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २० ॥

जिसे मैंने पहले मारा नहीं, उपेक्षावश छोड़ रक्खा है, जिसकी बुद्धि बड़ी खोटी है, जो चेदिदेशमें पुरुषोत्तम समझा जाता है, इस जगत्‌में जो अपने-आपको पुरुषोत्तम ही कहकर बताया करता है और मोहवश सदा मेरे शङ्ख-चक्र आदि चिह्नोंको धारण करता है; वङ्ग, पुण्ड्र तथा किरातदेशका जो राजा है तथा लोकमें वासुदेवके नामसे जिसकी प्रसिद्धि हो रही है, वह बलवान् राजा पौण्ड्रक भी जरासंधसे ही मिला हुआ है ॥ १८-२० ॥

चतुर्थभाक् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद् यो व्यजयत् सपाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥ २१ ॥
भ्राता यस्याकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २२ ॥

राजन् ! जो पृथ्वीके एक चौथाई भागके स्वामी हैं, इन्द्रके सखा हैं, बलवान् हैं, जिन्होंने अस्त्र-विद्याके बलसे पाण्ड्य, क्रथ और कैशिक देशोंपर विजय पायी है, जिनका भाई आकृति जमदग्निनन्दन परशुरामके समान शौर्यसम्पन्न है, वे भोज-वंशी शत्रुहन्ता राजा भीष्मक (मेरे श्वशुर होते हुए) भी मगध-राज जरासंधके भक्त हैं ॥ २१-२२ ॥

प्रियाण्याचरतः प्रह्वान् सदा सम्बन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २३ ॥

हम सदा उनका प्रिय करते रहते हैं, उनके प्रति नम्रता दिखाते हैं और उनके सगे-सम्बन्धी हैं; तो भी वे हम-जैसे अपने भक्तोंको तो नहीं अपनाते हैं और हमारे शत्रुओंसे मिलते-जुलते हैं ॥ २३ ॥

न कुलं स बलं राजन्नभ्यजानात् तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासंधमुपस्थितः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे अपने बल और कुलकी ओर भी ध्यान नहीं देते, केवल जरासंधके उज्ज्वल यशकी ओर देखकर उसके आश्रित बन गये हैं ॥ २४ ॥

उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासंधभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥ २५ ॥

प्रभो ! इसी प्रकार उत्तर दिशामें निवास करनेवाले भोजवंशियोंके अठारह कुल जरासंधके ही भयसे भागकर पश्चिम दिशामें रहने लगे हैं ॥ २५ ॥

शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥ २६ ॥
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ॥ २७ ॥
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ २८ ॥

शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति तथा शाल्वायन आदि राजा भी अपने भाइयों तथा सेवकोंके साथ दक्षिण दिशामें भाग गये हैं। जो लोग दक्षिण पञ्चाल एवं पूर्वी कुन्तिप्रदेशमें रहते थे, वे सभी क्षत्रिय तथा कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि राजपूत

भी जरासंधके भयसे पीड़ित हो उत्तर दिशाको छोड़कर दक्षिण दिशाका ही आश्रय ले चुके हैं ॥ २६–२८ ॥

तथैव सर्वपञ्चाला जरासंधभयार्दिताः ।
स्वराज्यं सम्परित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥ २९ ॥

उसी प्रकार समस्त पञ्चालदेशीय क्षत्रिय जरासंधके भयसे दुखी हो अपना राज्य छोड़कर चारों दिशाओंमें भाग गये हैं ॥ २९ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३० ॥

कुछ समय पहलेकी बात है, व्यर्थ बुद्धिवाले कंसने समस्त यादवोंको कुचलकर जरासंधकी दो पुत्रियोंके साथ विवाह किया ॥ ३० ॥

अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स्वज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३१ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान् ।

उनके नाम थे अस्ति और प्राप्ति । वे दोनों अबलाएँ सहदेवकी छोटी बहिनें थीं । निःसार बुद्धिवाला कंस जरासंधके ही बलसे अपने जाति-भाइयोंको अपमानित करके सबका प्रधान बन बैठा था । यह उसका बहुत बड़ा अत्याचार था ॥ ३१½ ॥

भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥ ३२ ॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता ।

उस दुरात्मासे पीड़ित हो भोजराजवंशके बड़े-बूढ़े लोगोंने जाति-भाइयोंकी रक्षाके लिये हमसे प्रार्थना की ॥ ३२½ ॥

दत्त्वाक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३३ ॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३४ ॥

तब मैंने आहुककी पुत्री सुतनुका विवाह अक्रूरसे करा दिया और बलरामजीको साथी बनाकर जाति-भाइयोंका कार्य सिद्ध किया । मैंने और बलरामजीने कंस और सुनामाको मार डाला ॥३३-३४ ॥

भये तु समतिक्रान्ते जरासंधे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ॥३५ ॥

इससे कंसका भय तो जाता रहा; परंतु जरासंध कुपित हो हमसे बदला लेनेको उद्यत हो गया । राजन् ! उस समय भोजवंशके अठारह कुलों (मन्त्री-पुरोहित आदि) ने मिलकर इस प्रकार विचार-विमर्श किया—॥ ३५ ॥

अनारभन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३६ ॥

'यदि हमलोग शत्रुओंका अन्त करनेवाले बड़े-बड़े अस्त्रोंद्वारा निरन्तर आघात करते रहें, तो भी तीन सौ वर्षोंमें भी उसकी सेनाका नाश नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३७ ॥

'क्योंकि बलवानोंमें श्रेष्ठ हंस और डिम्भक उसके सहायक हैं, जो बलमें देवताओंके समान हैं । उन दोनोंको यह वरदान प्राप्त है कि वे किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं मारे जा सकते' ॥ ३७ ॥

तावुभौ सहितौ वीरौ जरासंधश्च वीर्यवान् ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३८ ॥

भैया युधिष्ठिर ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि एक साथ रहनेवाले वे दोनों वीर हंस और डिम्भक तथा पराक्रमी जरासंध—ये तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥ ३८ ॥

न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः ।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ ३९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह केवल मेरा ही मत नहीं है, दूसरे भी जितने भूमिपाल हैं, उन सबका यही विचार रहा है ॥ ३९ ॥

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान् नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४० ॥

जरासंधके साथ जब सत्रहवीं बार युद्ध हो रहा था, उसमें हंस नामसे प्रसिद्ध कोई दूसरा राजा भी लड़ने आया था, वह उस युद्धमें बलरामजीके हाथसे मारा गया ॥ ४० ॥

हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४१ ॥

भारत ! यह देख किसी सैनिकने चिल्लाकर कहा—'हंस मारा गया ।' राजन् ! उसकी वह बात कानमें पड़ते ही डिम्भक अपने भाईको ही मरा हुआ जान यमुनाजीमें कूद पड़ा ॥ ४१ ॥

विना हंसेन लोकेऽस्मिन् नाहं जीवितुमुत्सहे ।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥ ४२ ॥

मैं हंसके बिना इस संसारमें जीवित नहीं रह सकता ।' ऐसा निश्चय करके डिम्भकने अपनी जान दे दी ॥

तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४३ ॥

डिम्भककी इस प्रकार मृत्यु हुई सुनकर शत्रुनगरीको जीतनेवाला हंस भी भाईके शोकसे यमुनामें ही कूद पड़ा और उसीमें डूबकर मर गया ॥ ४३ ॥

तौ स राजा जरासंधः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन दोनोंकी मृत्यु हुई सुनकर राजा जरासंध हताश हो गया और उत्साहशून्य हृदयसे अपनी राजधानीको लौट गया ॥ ४४ ॥

ततो वयममित्रघ्न तस्मिन् प्रतिगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४५ ॥

शत्रुसूदन ! उसके इस प्रकार लौट जानेपर हम सब लोग पुनः मथुरामें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ४५ ॥

यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासंधं दुहिता मगधं नृपम् ।
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ॥ ४६ ॥
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिंदम ।

शत्रुदमन राजेन्द्र ! फिर जब पतिके शोकसे पीड़ित हुई कंसकी कमललोचना भार्या अपने पिता मगधनरेश जरासंधके पास जाकर उसे बार-बार उकसाने लगी कि मेरे पतिके घातकको मार डालो, ॥ ४६½ ॥

ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ॥ ४७ ॥
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ।

तब हमलोग भी पहलेकी की हुई गुप्त मन्त्रणाको स्मरण करके उदास हो गये । महाराज ! फिर तो हम मथुरासे भाग खड़े हुए ॥ ४७-½ ॥

पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् ॥ ४८ ॥
पलायामो भयात् तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ।
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥ ४९ ॥

राजन् ! उस समय हमने यही निश्चय किया कि 'यहाँकी विशाल सम्पत्तिको पृथक्-पृथक् बाँटकर थोड़ी-थोड़ी करके पुत्र एवं भाई-बन्धुओंके साथ शत्रुके भयसे भाग चलें ।' ऐसा विचार करके हम सबने पश्चिम दिशाकी शरण ली ॥४८-४९॥

कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ।
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ॥ ५० ॥

और राजन् ! रैवतक पर्वतसे सुशोभित रमणीय कुशस्थली पुरीमें जाकर हमलोग निवास करने लगे ॥ ५० ॥

तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ।
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः॥ ५१ ॥

हमने कुशस्थली दुर्गकी ऐसी मरम्मत करायी कि देवताओंके लिये भी उसमें प्रवेश करना कठिन हो गया । अब तो उस दुर्गमें रहकर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती हैं, फिर वृष्णिकुलके महारथियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥५१॥

तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः ।
आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ॥ ५२ ॥
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन् ।

शत्रुसूदन ! हमलोग द्वारकापुरीमें सब ओरसे निर्भय होकर रहते हैं । कुरुश्रेष्ठ ! गिरिराज रैवतककी दुर्गमताका विचार करके अपनेको जरासंधके संकटसे पार हुआ मानकर हम सभी मधुवंशियोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई है ॥ ५२½ ॥

एवं वयं जरासंधादभितः कृतकिल्बिषाः ॥ ५३ ॥
सामर्थ्यवन्तः सम्बन्धाद् गोमन्तं समुपाश्रिताः ।

राजन् ! हम जरासंधके अपराधी हैं, अतः शक्तिशाली होते हुए भी जिस स्थानसे हमारा सम्बन्ध था, उसे छोड़कर गोमान् (रैवतक) पर्वतके आश्रयमें आ गये हैं ॥ ५३½ ॥

त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ॥ ५४ ॥
योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ।
अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ५५ ॥

रैवतक दुर्गकी लम्बाई तीन योजनकी है । एक-एक योजनपर सेनाओंके तीन-तीन दलोंकी छावनी है । प्रत्येक योजनके अन्तमें सौ-सौ द्वार हैं, जो सेनाओंसे सुरक्षित हैं । वीरोंका पराक्रम ही उस गढ़का प्रधान फाटक है । युद्धमें उन्मत्त होकर पराक्रम दिखानेवाले अठारह यादववंशी क्षत्रियोंसे वह दुर्ग सुरक्षित है ॥ ५४-५५ ॥

अष्टादश सहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नः कुले ।
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ॥ ५६ ॥

हमारे कुलमें अठारह हजार भाई हैं । आहुकके सौ पुत्र हैं, जिनमेंसे एक-एक देवताओंके समान पराक्रमी हैं ॥५६॥

चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ॥ ५७ ॥
एवमतिरथाः सप्त राजन्नन्यान् निबोध मे ।
कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ॥ ५८ ॥
कङ्कः शङ्कुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ।
पुत्रौ चान्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ॥ ५९ ॥

अपने भाईके साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलरामजी, साम्ब और प्रद्युम्न—ये सात अतिरथी वीर हैं । राजन् ! अब मुझसे दूसरोंका परिचय सुनिये । कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिंजय, कङ्क, शङ्कु और कुन्ति—ये सात महारथी हैं । अन्धक भोजके दो पुत्र और बूढ़े राजा उग्रसेनको भी गिन लेनेपर उन महारथियोंकी संख्या दस हो जाती है ॥ ५७–५९ ॥

वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ॥ ६० ॥

ये सभी वीर वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले, पराक्रमी और महारथी हैं, जो मध्यदेशका स्मरण करते हुए वृष्णिकुलमें निवास करते हैं ॥ ६० ॥

(वितद्रुर्झल्लिबभ्रू च उद्धवोऽथ विदूरथः ।
वसुदेवोग्रसेनौ च सप्तैते मन्त्रिपुङ्गवाः ॥
प्रसेनजिच्च यमलो राजराजगुणान्वितः ।
स्यमन्तको मणिर्यस्य रुक्मं निस्रवते बहु ॥)

वितद्रु, झल्लि, बभ्रु, उद्धव, विदूरथ, वसुदेव तथा उग्रसेन—ये सात मुख्य मन्त्री हैं। प्रसेनजित् और सत्राजित्—ये दोनों जुड़वें बन्धु कुबेरोपम सद्गुणोंसे सुशोभित हैं। उनके पास जो 'स्यमन्तक' नामक मणि है, उससे प्रचुर-मात्रामें सुवर्ण झरता रहता है॥

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत॥ ६१॥

भरतवंशशिरोमणे! आप सदा ही सम्राट्के गुणोंसे युक्त हैं। अतः भारत! आपको क्षत्रियसमाजमें अपनेको सम्राट् बना लेना चाहिये॥ ६१॥

(दुर्योधनं शान्तनवं द्रोणं द्रौणायनिं कृपम्।
कर्णं च शिशुपालं च रुक्मिणं च धनुर्धरम्॥
एकलव्यं द्रुमं श्वेतं शैब्यं शकुनिमेव च।
एतानजित्वा संग्रामे कथं शक्नोषि तं क्रतुम्॥
अथैते गौरवेणैव न योत्स्यन्ति नराधिपाः।)

दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शिशुपाल, रुक्मी, धनुर्धर एकलव्य, द्रुम, श्वेत, शैब्य तथा शकुनि—इन सब वीरोंको संग्राममें जीते बिना आप कैसे वह यज्ञ कर सकते हैं? परंतु ये नरश्रेष्ठ आपका गौरव मानकर युद्ध नहीं करेंगे॥

न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम॥ ६२॥

किंतु राजन्! मेरी सम्मति यह है कि जबतक महाबली जरासंध जीवित है, तबतक आप राजसूय यज्ञ पूर्ण नहीं कर सकते॥ ६२॥

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः॥ ६३॥

उसने सब राजाओंको जीतकर गिरिव्रजमें इस प्रकार कैद कर रक्खा है, मानो सिंहने किसी महान् पर्वतकी गुफामें बड़े-बड़े गजराजोंको रोक रक्खा हो॥ ६३॥

स हि राजा जरासंधो यियक्षुर्वसुधाधिपैः।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिंदम॥ ६४॥
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम॥ ६५॥

शत्रुदमन! राजा जरासंधने उमावल्लभ महात्मा महादेवजीकी उग्र तपस्याके द्वारा आराधना करके एक विशेष प्रकारकी शक्ति प्राप्त कर ली है; इसीलिये वे सभी राजा उससे परास्त हो गये हैं। वह राजाओंकी बलि देकर एक यज्ञ करना चाहता है। नृपश्रेष्ठ! वह अपनी प्रतिज्ञा प्रायः पूरी कर चुका है॥ ६४-६५॥

स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान्।
पुरमानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम्॥ ६६॥

क्योंकि उसने सेनाके साथ आये हुए राजाओंको एक-एक करके जीता है और अपनी राजधानीमें लाकर उन्हें कैद करके राजाओंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है॥ ६६॥

वयं चैव महाराज जरासंधभयात् तदा।
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम्॥ ६७॥

महाराज! उस समय हम भी जरासंधके भयसे ही पीडित हो मथुराको छोड़कर द्वारकापुरीमें चले गये (और अबतक वहीं निवास करते हैं)॥ ६७॥

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासंधवधाय च॥ ६८॥

राजन्! यदि आप इस यज्ञको पूर्णरूपसे सम्पन्न करना चाहते हैं तो उन कैदी राजाओंको छुड़ाने और जरासंधको मारनेका प्रयत्न कीजिये॥ ६८॥

समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन।
राजसूयश्च कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर॥ ६९॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन! ऐसा किये बिना राजसूय यज्ञका आयोजन पूर्णरूपसे सफल न हो सकेगा॥ ६९॥

(जरासंधवधोपायश्चिन्त्यतां भरतर्षभ।
तस्मिन् जिते जितं सर्वं सकलं पार्थिवं बलम्॥)

भरतश्रेष्ठ! आप जरासंधके वधका उपाय सोचिये। उसके जीत लिये जानेपर समस्त भूपालोंकी सेनाओंपर विजय प्राप्त हो जायगी॥

इत्येषा मे मती राजन् यथा वा मन्यसेऽनघ।
एवंगते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः॥ ७०॥

निष्पाप नरेश! मेरा मत तो यही है, फिर आप जैसा उचित समझें, करें। ऐसी दशामें स्वयं हेतु और युक्तियोंद्वारा कुछ निश्चय करके मुझे बताइये॥ ७०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७५½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

जरासंधके विषयमें राजा युधिष्ठिर, भीम और श्रीकृष्णकी बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति ।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नान्यो विद्यते भुवि ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आप परम बुद्धिमान् हैं, आपने जैसी बात कही है, वैसी दूसरा कोई नहीं कह सकता। इस पृथ्वीपर आपके सिवा समस्त संशयोंको मिटानेवाला और कोई नहीं है ॥ १ ॥

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्छब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥

आजकल तो घर-घरमें राजा हैं और सभी अपना-अपना प्रिय कार्य करते हैं, परंतु वे सम्राट्पदको नहीं प्राप्त कर सके; क्योंकि सम्राट्की पदवी बड़ी कठिनाईसे मिलती है ॥ २ ॥

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति ।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते ॥ ३ ॥

जो दूसरोंके प्रभावको जानता है, वह अपनी प्रशंसा कैसे कर सकता है ? दूसरेके साथ मुकाबला होनेपर भी जो प्रशंसनीय बना रह जाय, उसीकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ३ ॥

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता ।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ॥ ४ ॥

वृष्णिकुलभूषण ! यह पृथ्वी बहुत विशाल है, अनेक प्रकारके रत्नोंसे भरी हुई है, मनुष्य दूर जाकर (सत्पुरुषोंका संग करके) यह समझ पाता है कि अपना कल्याण कैसे होगा ॥ ४ ॥

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्ये तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥

मैं तो मन और इन्द्रियोंके संयमको ही सबसे उत्तम मानता हूँ, उसीसे मेरा भला होगा। राजसूय यज्ञका आरम्भ करनेपर भी उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति अपने लिये असम्भव है—मेरी तो यही धारणा है ॥ ५ ॥

एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः ।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥

जनार्दन ! ये उत्तम कुलमें उत्पन्न मनस्वी सभासद् ऐसा जानते हैं कि इनमें कभी कोई श्रेष्ठ (सर्वविजयी) भी हो सकता है ॥ ६ ॥

वयं चैव महाभाग जरासंधभयात् तदा ।
शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात् तस्य चानघ ॥ ७ ॥
अहं हि तव दुर्द्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद् विशङ्किते ॥ ८ ॥

पापरहित महाभाग ! हम भी जरासंधके भयसे तथा उसकी दुष्टतासे सदा शङ्कित रहते हैं। किसीसे परास्त न होनेवाले प्रभो! मैं तो आपके ही बाहुबलका भरोसा रखता हूँ। जब आप ही जरासंधसे शङ्कित हैं, तब तो मैं अपनेको उसके सामने कदापि बलवान् नहीं मान सकता ॥ ७-८ ॥

त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव ।
अर्जुनाद् वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै ।
एवं जानन् हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः ॥ ९ ॥

महाबाहु माधव ! आपसे, बलरामजीसे, भीमसेनसे अथवा अर्जुनसे वह मारा जा सकता है या नहीं ? वार्ष्णेय ! (आपकी शक्ति अनन्त है,) यह जानते हुए भी मैं बार-बार इसी बातपर विचार करता रहता हूँ ॥ ९ ॥

त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव ।
तच्छ्रुत्वा चाब्रवीद् भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १० ॥

केशव ! मेरे लिये सभी कार्योंमें आप ही प्रमाण हैं। युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर बोलनेमें चतुर भीमसेनने यह वचन कहा ॥ १० ॥

भीम उवाच

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति ।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ॥ ११ ॥

भीमसेन बोले—महाराज ! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा जो दुर्बल होकर भी उचित उपाय अथवा युक्तिसे काम न लेकर किसी बलवान्से भिड़ जाता है, वे दोनों दीमकोंके बनाये हुए मिट्टीके ढेरके समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् ।
जयेत् सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान् ॥ १२ ॥

परंतु जो आलस्य त्यागकर उत्तम युक्ति एवं नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है और अपने लिये हितकर एवं अभीष्ट अर्थ प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनंजये ।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और अर्जुनमें विजयकी शक्ति है। हम तीनों मिलकर मगधराज जरासंधके वधका कार्य पूरा कर लेंगे; ठीक उसी तरह, जैसे तीनों अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि कर देती हैं ॥ १३ ॥

(त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट् ।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान् सदा ॥)

गोविन्द ! आपके बुद्धिबलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिर सब कुछ पा सकते हैं। जिनकी सदा रक्षा करनेवाले आप हैं, उनकी—हम पाण्डवोंकी विजय निश्चित है ॥

कृष्ण उवाच

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमवेक्षते।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम्॥ १४॥
जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभुः॥ १५॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! अज्ञानी मनुष्य बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ तो कर देता है, परंतु उनके परिणामकी ओर नहीं देखता। अतः केवल अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए विवेकशून्य शत्रुके व्यवहारको वीर पुरुष नहीं सह सकते। युवनाश्वके पुत्र मान्धाताने जीतने योग्य शत्रुओंको जीतकर सम्राट्का पद प्राप्त किया था। भगीरथ प्रजाका पालन करनेसे, कार्तवीर्य (सहस्रबाहु अर्जुन) तपोबलसे तथा राजा भरत स्वाभाविक बलसे सम्राट् हुए थे॥ १४-१५॥

ऋद्‌ध्या मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर॥ १६॥
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः॥ १७॥

इसी प्रकार राजा मरुत्त अपनी समृद्धिके प्रभावसे सम्राट् बने थे। अबतक उन पाँच सम्राटोंका ही नाम हम सुनते आ रहे हैं; युधिष्ठिर ! वे मान्धाता आदि एक-एक गुणसे ही सम्राट् हो सके थे; परंतु आप तो सम्पूर्णरूपसे सम्राट्-पद प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्य-प्राप्तिके जो पाँच गुण—शत्रुविजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि और उत्तम नीति हैं, उन सबसे आप सम्पन्न हैं॥ १६-१७॥

बार्हद्रथो जरासंधस्तद् विद्धि भरतर्षभ।
न चैनमनुरुद्ध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः॥ १८॥

परंतु भरतश्रेष्ठ ! आपके मार्गमें बृहद्रथका पुत्र जरासंध बाधक है, यह आपको जान लेना चाहिये। क्षत्रियोंके जो एक सौ कुल हैं, वे कभी उसका अनुसरण नहीं करते, अतः वह बलसे ही अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है॥ १८॥

रत्नभाजो हि राजानो जरासंधमुपासते।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः॥ १९॥

जो रत्नोंके अधिपति हैं, ऐसे राजालोग (धन देकर) जरासंधकी उपासना करते हैं, परंतु वह उससे भी संतुष्ट नहीं होता। अपनी विवेकशून्यताके कारण अन्यायका आश्रय ले उनपर अत्याचार ही करता है॥ १९॥

मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात्।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित्॥ २०॥

आजकल वह प्रधान पुरुष बनकर मूर्धाभिषिक्त राजाको बलपूर्वक बंदी बना लेता है। जिनका विधिपूर्वक राज्यपर अभिषेक हुआ है, ऐसे पुरुषोंमेंसे कहीं किसी एकको भी हमने ऐसा नहीं देखा, जिसे उसने बलिका भाग न बना लिया हो—कैदमें न डाल रक्खा हो॥ २०॥

एवं सर्वान् वशे चक्रे जरासंधः शतावरान्।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति॥ २१॥

इस प्रकार जरासंधने लगभग सौ राजकुलोंके राजाओंमेंसे कुछको छोड़कर सबको वशमें कर लिया है। कुन्तीनन्दन ! कोई अत्यन्त दुर्बल राजा उससे भिड़नेका साहस कैसे करेगा ।२१।

प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ॥ २२॥

भरतश्रेष्ठ ! रुद्रदेवताको बलि देनेके लिये जल छिड़ककर एवं मार्जन करके शुद्ध किये हुए पशुओंकी भाँति जो पशुपतिके मन्दिरमें कैद हैं, उन राजाओंको अब अपने जीवनमें क्या प्रीति रह गयी है ?॥ २२॥

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः।
ततः स्म मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद् वयम्॥ २३॥

क्षत्रिय जब युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारा जाता है, तब यह उसका सत्कार है; अतः हमलोग जरासंधको द्वन्द्व-युद्धमें मार डालें॥ २३॥

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश।
जरासंधेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते॥ २४॥

राजन् ! जरासंधने सौमेंसे छियासी (प्रतिशत) राजाओंको तो कैद कर लिया है, केवल चौदह (प्रतिशत) बाकी हैं। उनको भी बंदी बनानेके पश्चात् वह क्रूर कर्ममें प्रवृत्त होगा॥ २४॥

प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत्।
जयेद् यश्च जरासंधं स सम्राण्नियतं भवेत्॥ २५॥

जो उसके इस कर्ममें विघ्न डालेगा, वह उज्ज्वल यशका भागी होगा तथा जो जरासंधको जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट् होगा॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १५॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

जरासंधको जीतनेके विषयमें युधिष्ठिरके उत्साहहीन होनेपर अर्जुनका उत्साहपूर्ण उद्गार

युधिष्ठिर उवाच

सम्राड्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं सम्राट्के गुणोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर स्वार्थसाधनमें तत्पर हो केवल साहसके भरोसे आपलोगोंको जरासंधके पास कैसे भेज दूँ ?॥

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम्।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत्॥ २॥

भीमसेन और अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हैं और जनार्दन आपको मैं अपना मन मानता हूँ। अपने मन और नेत्रों-को खो देनेपर मेरा यह जीवन कैसा हो जायगा ?॥ २॥

जरासंधबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम्।
यमोऽपि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम्॥ ३॥

जरासंधकी सेनाका पार पाना कठिन है। उसका पराक्रम भयानक है। युद्धमें उस सेनाका सामना करके यमराज भी विजयी नहीं हो सकते, फिर वहाँ आपलोगोंका प्रयत्न क्या कर सकता है ?॥ ३॥

(कथं जित्वा पुनर्यूयमस्मान् सम्प्रति यास्यथ।)
अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम॥ ४॥

आपलोग किस प्रकार उसे जीतकर फिर हमारे पास लौट सकेंगे ? यह कार्य हमारे लिये इष्ट फलके विपरीत फल देनेवाला जान पड़ता है। इसमें लगे हुए मनुष्यको निश्चय ही अनर्थकी प्राप्ति होती है। इसलिये अबतक हम जिसे करना चाहते थे, उस राजसूय यज्ञकी ओर ध्यान देना उचित नहीं जान पड़ता॥ ४॥

यथाहं विमृशाम्येकस्तत् तावच्छ्रूयतां मम।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः॥ ५॥

जनार्दन ! इस विषयमें मैं अकेले जैसा सोचता हूँ, मेरे उस विचारको आप सुनें। मुझे तो इस कार्यको छोड़ देना ही अच्छा लगता है। राजसूयका अनुष्ठान बहुत कठिन है। अब यह मेरे मनको निरुत्साह कर रहा है॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुःश्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुन उत्तम गाण्डीव धनुष, दो अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वजा और सभा प्राप्त कर चुके थे; इससे उत्साहित होकर वे युधिष्ठिरसे बोले॥ ६॥

अर्जुन उवाच

धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम्॥ ७॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! धनुष, शस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, भूमि, यश और बलकी प्राप्ति बड़ी कठिनाई-से होती है; किंतु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छाके अनुकूल प्राप्त हुई हैं॥ ७॥

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते॥ ८॥

अनुभवी विद्वान् उत्तम कुलमें जन्मकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; परंतु बलके समान वह भी नहीं है। मुझे तो बल-पराक्रम ही श्रेष्ठ जान पड़ता है॥ ८॥

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते॥ ९॥

महापराक्रमी राजा कृतवीर्यके कुलमें उत्पन्न होकर भी जो स्वयं निर्बल है, वह क्या करेगा ? निर्बल कुलमें जन्म लेकर भी जो बलवान् और पराक्रमी है, वही श्रेष्ठ है॥ ९॥

क्षत्रियः सर्वशो राजन् यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद् रिपून्॥ १०॥

महाराज ! शत्रुओंको जीतनेमें जिसकी प्रवृत्ति हो, वही सब प्रकारसे श्रेष्ठ क्षत्रिय है। बलवान् पुरुष सब गुणोंसे हीन हो, तो भी वह शत्रुओंके संकटसे पार हो सकता है॥

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे॥ ११॥

जो निर्बल है, वह सर्वगुणसम्पन्न होकर भी क्या करेगा ? पराक्रममें सभी गुण उसके अङ्ग बनकर रहते हैं॥

जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम्।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित् प्रमादान्नोपयुज्यते॥ १२॥

महाराज ! सिद्धि (मनोयोग) और प्रारब्धके अनुकूल पुरुषार्थ ही विजयका हेतु है। कोई बलसे संयुक्त होनेपर भी प्रमाद करे—कर्तव्यमें मन न लगावे, तो वह अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकता॥ १२॥

तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः॥ १३॥

प्रमादरूप छिद्रके कारण बलवान् शत्रु भी अपने शत्रुओं-द्वारा मारा जाता है॥ १३॥

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥ १४ ॥

बलवान् पुरुषमें जैसे दीनताका होना बड़ा भारी दोष है, वैसे ही बलिष्ठ पुरुषमें मोहका होना भी महान् दुर्गुण है। दीनता और मोह दोनों विनाशके कारण हैं; अतः विजय चाहनेवाले राजाके लिये वे दोनों ही त्याज्य हैं ॥ १४ ॥

जरासंधविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम्।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि हम राजसूय यज्ञकी सिद्धिके लिये जरासंधका विनाश तथा कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रक्षा कर सकें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है ? ॥ १५ ॥

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः।
गुणान्निःसंशयाद् राजन् नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १६ ॥

यदि हम यज्ञका आरम्भ नहीं करते हैं तो निश्चय ही हमारी अयोग्यता एवं दुर्बलता प्रकट होती है; अतः राजन्! सुनिश्चित गुणकी उपेक्षा करके आप निर्गुणताका कलङ्क क्यों स्वीकार कर रहे हैं ? ॥ १६ ॥

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १७ ॥

ऐसा करनेपर तो शान्तिकी इच्छा रखनेवाले संन्यासियोंका गेरुआ वस्त्र ही हमें सुलभ होगा, परंतु हमलोग साम्राज्यको प्राप्त करनेमें समर्थ हैं; अतः हमलोग शत्रुओंसे अवश्य युद्ध करेंगे ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधवधके लिये मन्त्रणाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनकी बातका अनुमोदन तथा युधिष्ठिरको जरासंधकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग सुनाना

वासुदेव उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा--राजन्! भरतवंशमें उत्पन्न पुरुष और कुन्ती-जैसी माताके पुत्रकी जैसी बुद्धि होनी चाहिये, अर्जुनने यहाँ उसीका परिचय दिया है ॥ १ ॥

न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ॥ २ ॥

महाराज! हमलोग यह नहीं जानते कि मौत कब आयेगी? रातमें आयेगी या दिनमें ? (क्योंकि उसके नियत समयका ज्ञान किसीको नहीं है।) हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करनेके कारण कोई अमर हो गया हो ॥ २ ॥

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम्।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥

अतः वीर पुरुषोंका इतना ही कर्तव्य है कि वे अपने हृदयके संतोषके लिये नीतिशास्त्रमें बतायी हुई नीतिके अनुसार शत्रुओंपर आक्रमण करें ॥ ३ ॥

सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः ॥ ४ ॥

दैव आदिकी प्रतिकूलतासे रहित अच्छी नीति एवं सलाह प्राप्त होनेपर आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्णरूपसे सफल होता है। शत्रुके साथ भिड़नेपर ही दोनों पक्षोंका अन्तर ज्ञात होता है। दोनों दल सभी बातोंमें समान ही हों, ऐसा सम्भव नहीं ॥ ४ ॥

अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥ ५ ॥

जिसने अच्छी नीति नहीं अपनायी है और उत्तम उपायसे काम नहीं लिया है, उसका युद्धमें सर्वथा विनाश होता है। यदि दोनों पक्षोंमें समानता हो, तो संशय ही रहता है तथा दोनोंमेंसे किसीकी भी जय अथवा पराजय नहीं होती ।५।

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः।
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥ ६ ॥

जब हमलोग नीतिका आश्रय लेकर शत्रुके शरीरके निकटतक पहुँच जायँगे, तब जैसे नदीका वेग किनारेके वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम शत्रुका अन्त क्यों न कर डालेंगे ? हम अपने छिद्रोंको छिपाये रखकर शत्रुके छिद्रको देखेंगे और अवसर मिलते ही उसपर बलपूर्वक आक्रमण कर देंगे ॥ ६ ॥

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥ ७ ॥

जिनकी सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान् हों, ऐसे शत्रुओंके साथ (सम्मुख होकर) युद्ध नहीं करना चाहिये; यह बुद्धिमानोंकी नीति है। यही नीति यहाँ मुझे भी अच्छी लगती है ॥ ७ ॥

अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत्।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ८ ॥

यदि हम छिपे-छिपे शत्रुके घरतक पहुँच जायँ तो यह

हमारे लिये कोई निन्दाकी बात नहीं होगी। फिर हम शत्रुके शरीरपर आक्रमण करके अपना काम बना लेंगे ॥ ८ ॥

एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥ ९ ॥

यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जरासंध प्राणियोंके भीतर स्थित आत्माकी भाँति सदा अकेला ही साम्राज्यलक्ष्मीका उपभोग करता है; अतः उसका और किसी उपायसे नाश होता नहीं दिखायी देता (उसके विनाशके लिये हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा) ॥ ९ ॥

अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥ १० ॥

अथवा यदि जरासंधको युद्धमें मारकर उसके पक्षमें रहनेवाले शेष सैनिकोंद्वारा हम भी मारे गये, तो भी हमें कोई हानि नहीं है। अपने जातिभाइयोंकी रक्षामें संलग्न होनेके कारण हमें स्वर्गकी ही प्राप्ति होगी ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कृष्ण कोऽयं जरासंधः किंवीर्यः किम्पराक्रमः।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—श्रीकृष्ण! यह जरासंध कौन है? उसका बल और पराक्रम कैसा है? जो प्रज्वलित अग्निके समान आपका स्पर्श करके भी पतंगके समान जलकर भस्म नहीं हो गया? ॥ ११ ॥

कृष्ण उवाच

शृणु राजञ्जरासंधो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! जरासंधका बल और पराक्रम कैसा है तथा अनेक बार हमारा अप्रिय करनेपर भी हमलोगोंने क्यों उसकी उपेक्षा कर दी, यह सब बता रहा हूँ; सुनिये ॥ १२ ॥

अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १३ ॥

मगधदेशमें बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा राज्य करते थे। वे तीन अक्षौहिणी सेनाओंके स्वामी और युद्धमें बड़े अभिमानके साथ लड़नेवाले थे ॥ १३ ॥

रूपवान् वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः।
नित्यं दीक्षाङ्किततनुः शतक्रतुरिवापरः ॥ १४ ॥

राजा बृहद्रथ बड़े ही रूपवान्, बलवान्, धनवान् और अनुपम पराक्रमी थे। उनका शरीर दूसरे इन्द्रकी भाँति सदा यज्ञकी दीक्षाके चिह्नोंसे ही सुशोभित होता रहता था ॥ १४ ॥

तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ॥ १५ ॥

वे तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, क्रोधमें यमराज और धनसम्पत्तिमें कुबेरके समान थे ॥ १५ ॥

तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ! जैसे सूर्यकी किरणोंसे यह सारी पृथ्वी आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार उनके उत्तम कुलोचित सद्गुणोंसे समस्त भूमण्डल व्याप्त हो रहा था—सर्वत्र उनके गुणोंकी चर्चा एवं प्रशंसा होती रहती थी ॥ १६ ॥

स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते।
तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ॥ १७ ॥
नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा।
स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः ॥ १८ ॥
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः।

भरतकुलभूषण! महापराक्रमी राजा बृहद्रथने काशिराजकी दो जुड़वीं कन्याओंके साथ, जो अपनी रूपसम्पत्तिसे अपूर्व शोभा पा रही थीं, विवाह किया और उन नरश्रेष्ठने एकान्तमें अपनी दोनों पत्नियोंके समीप यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम दोनोंके साथ कभी विषम व्यवहार नहीं करूँगा (अर्थात् दोनोंके प्रति समानरूपसे मेरा प्रेमभाव बना रहेगा)। जैसे दो हथिनियोंके साथ गजराज सुशोभित होता है, उसी प्रकार वे महाराज बृहद्रथ अपने मनके अनुरूप दोनों प्रिय पत्नियोंके साथ शोभा पाने लगे ॥ १७-१८½ ॥

तयोर्मध्यगतश्चापि रराज वसुधाधिपः ॥ १९ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः।

जब वे दोनों पत्नियोंके बीचमें विराजमान होते, उस समय ऐसा जान पड़ता, मानो गङ्गा और यमुनाके बीचमें मूर्तिमान् समुद्र सुशोभित हो रहा हो ॥ १९½ ॥

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् ॥ २० ॥
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन।
मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः।
नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥ २१ ॥

विषयोंमें डूबे हुए राजाकी सारी जवानी बीत गयी, परंतु उन्हें कोई वंश चलानेवाला पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। उन श्रेष्ठ नरेशने बहुत-से माङ्गलिक कृत्य, होम और पुत्रेष्टियज्ञ कराये, तो भी उन्हें वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ २०-२१ ॥

अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥ २२ ॥
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम्।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥ २३ ॥

एक दिन उन्होंने सुना कि गौतमगोत्रीय महात्मा काक्षीवान्‌के पुत्र परम उदार चण्डकौशिक मुनि तपस्यासे उपरत होकर अकस्मात् इधर आ गये हैं और एक वृक्षके नीचे बैठे हैं। यह समाचार पाकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियों (एवं पुरवासियों) के साथ उनके पास गये तथा सब प्रकारके रत्नों (मुनिजनोचित उत्कृष्ट वस्तुओं) की भेंट देकर उन्हें संतुष्ट किया ॥ २२-२३ ॥

(बृहद्रथं च स ऋषिः यथावत् प्रत्यनन्दत ।
उपविष्टश्च तेनाथ अनुज्ञातो महात्मना ॥
तमपृच्छत् तदा विप्रः किमागमनमित्यथ ।
पौरैरनुगतस्यैव पत्नीभ्यां सहितस्य च ॥

महर्षिने भी यथोचित बर्तावद्वारा बृहद्रथको प्रसन्न किया। उन महात्माकी आज्ञा पाकर राजा उनके निकट बैठे। उस समय ब्रह्मर्षि चण्डकौशिकने उनसे पूछा—'राजन्! अपनी दोनों पत्नियों और पुरवासियोंके साथ यहाँ तुम्हारा आगमन किस उद्देश्यसे हुआ है?' ॥

स उवाच मुनिं राजा भगवन् नास्ति मे सुतः ।
अपुत्रस्य वृथा जन्म इत्याहुर्मुनिसत्तम ॥

तब राजाने मुनिसे कहा—'भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मुनिश्रेष्ठ! लोग कहते हैं कि पुत्रहीन मनुष्यका जन्म व्यर्थ है ॥

तादृशस्य हि राज्येन वृद्धत्वे किं प्रयोजनम् ।
सोऽहं तपश्चरिष्यामि पत्नीभ्यां सहितो वने ॥

'इस बुढ़ापेमें पुत्रहीन रहकर मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? इसलिये अब मैं दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें रहकर तपस्या करूँगा ॥

नाप्रजस्य मुने कीर्तिः स्वर्गश्चैवाक्षयो भवेत् ।
एवमुक्तस्य राज्ञा तु मुनेः कारुण्यमागतम् ॥)

'मुने! संतानहीन मनुष्यको न तो इस लोकमें कीर्ति प्राप्त होती है और न परलोकमें अक्षय स्वर्ग ही प्राप्त होता है।' राजाके ऐसा कहनेपर महर्षिको दया आ गयी ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥ २४ ॥
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद् बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ २५ ॥

तब धैर्यसे सम्पन्न और सत्यवादी मुनिवर चण्डकौशिकने राजा बृहद्रथसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो।' यह सुनकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों रानियोंके साथ मुनिके चरणोंमें पड़ गये और पुत्रदर्शनसे निराश होनेके कारण नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले ॥ २४-२५ ॥

राजोवाच

भगवन् राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ॥ २६ ॥

राजाने कहा—भगवन्! मैं तो अब राज्य छोड़कर तपोवनकी ओर चल पड़ा हूँ। मुझ अभागे और संतानहीनको वर अथवा राज्यकी क्या आवश्यकता? ॥ २६ ॥

कृष्ण उवाच

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाम्रवृक्षस्यच्छायायां समुपाविशत् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजाका यह कातर वचन सुनकर मुनिकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो गयीं (उनका हृदय पिघल गया)। तब वे ध्यानस्थ हो गये और उसी आम्रवृक्षकी छायामें बैठे रहे ॥ २७ ॥

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ २८ ॥

उसी समय वहाँ बैठे हुए मुनिकी गोदमें एक आमका फल गिरा। वह न हवाके चलनेसे गिरा था, न किसी तोतेने ही उस फलमें अपनी चोंच गड़ायी थी ॥ २८ ॥

तत् प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसम्प्राप्तिकारणम् ॥ २९ ॥

मुनिश्रेष्ठ चण्डकौशिकने उस अनुपम फलको हाथमें ले लिया और उसे मन-ही-मन अभिमन्त्रित करके पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये राजाको दे दिया ॥ २९ ॥

उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उन महाज्ञानी महामुनिने राजासे कहा—'राजन्! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया। नरेश्वर! अब तुम अपनी राजधानीको लौट जाओ ॥ ३० ॥

(एष ते तनयो राजन् मा तप्सीस्त्वं तपो वने ।
प्रजाः पालय धर्मेण एष धर्मो महीक्षिताम् ॥

'महाराज! यह फल तुम्हें पुत्रप्राप्ति करायेगा, अब तुम वनमें जाकर तपस्या न करो; धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यही राजाओंका धर्म है ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैरिन्द्रं तर्पय चेन्दुना ।
पुत्रं राज्ये प्रतिष्ठाप्य तत आश्रममाव्रज ॥

'नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करो और देवराज इन्द्रको सोमरससे तृप्त करो। फिर पुत्रको राज्य-सिंहासनपर बिठाकर वानप्रस्थाश्रममें आ जाना ॥

अष्टौ वरान् प्रयच्छामि तव पुत्रस्य पार्थिव ।
ब्रह्मण्यतामजेयत्वं युद्धेषु च तथा रतिम् ॥

'भूपाल ! मैं तुम्हारे पुत्रके लिये आठ वर देता हूँ— वह ब्राह्मणभक्त होगा, युद्धमें अजेय होगा, उसकी युद्ध-विषयक रुचि कभी कम न होगी, ।

प्रियातिथेयतां चैव दीनानामन्ववेक्षणम् ।
तथा बलं च सुमहल्लोके कीर्तिं च शाश्वतीम् ॥
अनुरागं प्रजानां च ददौ तस्मै स कौशिकः ।)

'वह अतिथियोंका प्रेमी होगा, दीन-दुखियोंपर उसकी सदा कृपा-दृष्टि बनी रहेगी, उसका बल महान् होगा, लोकमें उसकी अक्षय कीर्तिका विस्तार होगा और प्रजाजनोंपर उसका सदा स्नेह बना रहेगा।' इस प्रकार चण्डकौशिक मुनिने उसके लिये ये आठ वर दिये ॥

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च ।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३१ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर उन परम बुद्धिमान् राजा बृहद्रथने उनके दोनों चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और अपने घरको लौट गये ॥ ३१ ॥

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः ।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन उत्तम नरेशने उचित कालका विचार करके दोनों पत्नियोंके लिये वह एक फल दे दिया ॥ ३२ ॥

ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे ।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ॥ ३३ ॥
तयोः समभवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः ।
ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३४ ॥

उन दोनों शुभस्वरूपा रानियोंने उस आमके दो टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा खा लिया । होनेवाली बात होकर ही रहती है, इसलिये तथा मुनिकी सत्यवादिताके प्रभावसे वह फल खानेके कारण दोनों रानियोंके गर्भ रह गये । उन्हें गर्भवती हुई देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३३-३४ ॥

अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते ।
प्रजायेतामुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर ! प्रसवकाल पूर्ण होनेपर उन दोनों रानियोंने यथासमय अपने गर्भसे शरीरका एक-एक टुकड़ा पैदा किया ॥ ३५ ॥

एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे ।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥ ३६ ॥

प्रत्येक टुकड़ेमें एक आँख, एक हाथ, एक पैर,



आधा पेट, आधा मुँह और कटिके नीचेका आधा भाग था । एक शरीरके उन टुकड़ोंको देखकर वे दोनों भयके मारे थर-थर काँपने लगीं ॥ ३६ ॥

उद्विग्ने सह सम्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले ।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३७ ॥

उनका हृदय उद्विग्न हो उठा; अबला ही तो थीं । उन दोनों बहिनोंने अत्यन्त दुखी होकर परस्पर सलाह करके उन दोनों टुकड़ोंको, जिनमें जीव तथा प्राण विद्यमान थे, त्याग दिया ॥ ३७ ॥

तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसम्प्लवे ।
निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥ ३८ ॥

उन दोनोंकी धायें गर्भके उन टुकड़ोंको कपड़ेसे ढककर अन्तःपुरके दरवाजेसे बाहर निकलीं और चौराहेपर फेंककर चली गयीं ॥ ३८ ॥

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी ।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥ ३९ ॥

पुरुषसिंह ! चौराहेपर फेंके हुए उन टुकड़ोंको रक्त और मांस खानेवाली जरा नामकी एक राक्षसीने उठा लिया ॥

कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी ।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४० ॥

विधाताके विधानसे प्रेरित होकर उस राक्षसीने उन दोनों टुकड़ोंको सुविधापूर्वक ले जाने योग्य बनानेकी इच्छासे उस समय जोड़ दिया ॥ ४० ॥

ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४१ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन टुकड़ोंका परस्पर संयोग होते ही एक



शरीरधारी वीर कुमार बन गया ॥ ४१ ॥

ततः सा राक्षसी राजन् विस्मयोत्फुल्ललोचना।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥ ४२ ॥

राजन्! यह देखकर राक्षसीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उसे वह शिशु वज्रके सारतत्त्वका बना जान पड़ा। राक्षसी उसे उठाकर ले जानेमें असमर्थ हो गयी ॥ ४२ ॥

बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥ ४३ ॥

उस बालकने अपने लाल हथेलीवाले हाथोंकी मुट्ठी बाँधकर मुँहमें डाल ली और अत्यन्त क्रुद्ध होकर जलसे भरे मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे रोना शुरू कर दिया ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन सम्भ्रान्तः सहसान्तःपुरे जनः।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥ ४४ ॥

परंतप नरव्याघ्र! बालकके उस रोने-चिल्लानेके शब्दसे रनिवासकी सब स्त्रियाँ घबरा उठीं तथा राजाके साथ सहसा बाहर निकलीं ॥ ४४ ॥

ते चाबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाभ्यगच्छताम् ॥ ४५ ॥

दूधसे भरे हुए स्तनोंवाली वे दोनों अबला रानियाँ भी, जो पुत्रप्राप्तिकी आशा छोड़ चुकी थीं, मलिन मुख हो सहसा बाहर निकल आयीं ॥ ४५ ॥

अथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम्।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४६ ॥

नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४७ ॥

उन दोनों रानियोंको उस प्रकार उदास, राजाको संतान पानेके लिये उत्सुक तथा उस बालकको अत्यन्त बलवान् देखकर राक्षसीने सोचा, 'मैं इस राजाके राज्यमें रहती हूँ। यह पुत्रकी इच्छा रखता है; अतः इस धर्मात्मा तथा महात्मा नरेशके बालक पुत्रकी हत्या करना मेरे लिये उचित नहीं है' ॥

सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम्।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ४८ ॥

ऐसा विचारकर उस राक्षसीने मानवीका रूप धारण किया और जैसे मेघमाला सूर्यको धारण करे, उसी प्रकार वह उस बालकको गोदमें उठाकर भूपालसे बोली ॥ ४८ ॥

राक्षस्युवाच

बृहद्रथ सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम्।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात्।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परिरक्षितः ॥ ४९ ॥

राक्षसीने कहा—बृहद्रथ! यह तुम्हारा पुत्र है, जिसे मैंने तुम्हें दिया है। तुम इसे ग्रहण करो। ब्रह्मर्षिके वरदान एवं आशीर्वादसे तुम्हारी दोनों पत्नियोंके गर्भसे इसका जन्म हुआ है। धायोंने इसे घरके बाहर लाकर डाल दिया था; किंतु मैंने इसकी रक्षा की है ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे।
तं बालमभिपद्याशु प्रस्नवैरभ्यषिञ्चताम् ॥ ५० ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतकुलभूषण! तब काशिराजकी उन दोनों शुभलक्षणा कन्याओंने उस बालकको तुरंत गोदमें लेकर उसे स्तनोंके दूधसे सींच दिया ॥ ५० ॥

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५१ ॥

यह सब देख-सुनकर राजाके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने सुवर्णकी-सी कान्तिवाली उस राक्षसीसे, जो स्वरूपसे राक्षसी नहीं जान पड़ती थी, इस प्रकार पूछा ॥ ५१ ॥

राजोवाच

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥ ५२ ॥

राजाने कहा—कमलके भीतरी भागके समान मनोहर कान्तिवाली कल्याणी! मुझे पुत्र प्रदान करनेवाली तुम कौन हो? बताओ। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम इच्छानुसार विचरनेवाली कोई देवी हो ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

जरा राक्षसीका अपना परिचय देना और उसीके नामपर बालकका नामकरण होना

राक्षस्युवाच

जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम्॥ १॥

राक्षसीने कहा—राजेन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो। मेरा नाम जरा है। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ और तुम्हारे घरमें पूजित हो सुखपूर्वक रहती चली आयी हूँ॥ १॥

गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा॥ २॥

मैं मनुष्योंके घर-घरमें सदा मौजूद रहती हूँ। कहनेको तो मैं राक्षसी ही हूँ; किंतु पूर्वकालमें ब्रह्माजीने गृहदेवीके नामसे मेरी सृष्टि की थी॥ २॥

दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी।
यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम्॥ ३॥
गृहे तस्य भवेद् वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात्।
त्वद्गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं सदा विभो॥ ४॥

और उन्होंने मुझे दानवोंके विनाशके लिये नियुक्त किया था। मैं दिव्य रूप धारण करनेवाली हूँ। जो अपने घरकी दीवारपर मुझे अनेक पुत्रोंसहित युवती स्त्रीके रूपमें भक्तिपूर्वक लिखता है (मेरा चित्र अङ्कित करता है), उसके घरमें सदा वृद्धि होती है; अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ती है। प्रभो! मैं तुम्हारे घरमें रहकर सदा पूजित होती चली आयी हूँ॥ ३-४॥

लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यभोज्यैः सुपूजिता॥ ५॥

एवं तुम्हारे घरकी दीवारोंपर मेरा ऐसा चित्र अङ्कित किया गया है, जिसमें मैं अनेक पुत्रोंसे घिरी हुई खड़ी हूँ। उस चित्रके रूपमें मेरा गन्ध, पुष्प, धूप और भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा भलीभाँति पूजन होता आ रहा है॥ ५॥

साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक॥ ६॥
संश्लेषिते मया दैवात् कुमारः समपद्यत।
तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह॥ ७॥

अतः मैं उस पूजनके बदले तुम्हारा कोई उपकार करनेकी बात सदा सोचती रहती थी। धर्मात्मन्! मैंने तुम्हारे पुत्रके शरीरके इन दोनों टुकड़ोंको देखा और दोनोंको जोड़ दिया। महाराज! दैववश तुम्हारे भाग्यसे ही उन टुकड़ोंके जुड़नेसे यह राजकुमार प्रकट हो गया है। मैं तो इसमें केवल निमित्तमात्र बन गयी हूँ॥ ६-७॥

(तस्य बालस्य यत् कृत्यं तत् कुरुष्व नराधिप।
मम नाम्ना च लोकेऽस्मिन् ख्यात एष भविष्यति॥)

राजन्! अब इस बालकके लिये जो आवश्यक संस्कार हैं, उन्हें करो। यह इस संसारमें मेरे ही नामसे विख्यात होगा॥

मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम्।
गृहसम्पूजनात् तुष्ट्या मया प्रत्यर्पितस्तव॥ ८॥

मुझमें सुमेरु पर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति है; फिर तुम्हारे इस बच्चेको खा जाना कौन बड़ी बात है? किंतु तुम्हारे घरमें जो मेरी भलीभाँति पूजा होती आयी है, उसीसे संतुष्ट होकर मैंने तुम्हें यह बालक समर्पित किया है॥ ८॥

श्रीकृष्ण उवाच

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः॥ ९॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर जरा राक्षसी वहीं अन्तर्धान हो गयी और राजा उस बालकको लेकर अपने महलमें चले आये॥ ९॥

तस्य बालस्य यत् कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम्॥ १०॥

उस समय राजाने उस बालकके जातकर्म आदि सभी आवश्यक संस्कार सम्पन्न किये और मगधदेशमें जरा राक्षसी (गृहदेवी) के पूजनका महान् उत्सव मनानेकी आज्ञा दी॥ १०॥

तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधो भवत्वयम्॥ ११॥

ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली राजा बृहद्रथने उस बालकका नाम रखते हुए कहा—'इसको जराने संधित किया (जोड़ा) है, इसलिये इसका नाम जरासंध होगा'॥ ११॥

सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः।
प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी॥ १२॥

मगधराजका वह महातेजस्वी बालक माता-पिताको आनन्द प्रदान करते हुए आकार और बलसे सम्पन्न हो घीकी आहुति दी जानेसे प्रज्वलित हुई अग्निऔर शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा॥ १२॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

चण्डकौशिक मुनिके द्वारा जरासंधका भविष्यकथन तथा पिताके द्वारा उसका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

श्रीकृष्ण उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! कुछ कालके पश्चात् महातपस्वी भगवान् चण्डकौशिक मुनि पुनः मगधदेशमें घूमते हुए आये ॥ १ ॥

तस्यागमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥

उनके आगमनसे राजा बृहद्रथको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे मन्त्री, अग्रगामी सेवक, रानी तथा पुत्रके साथ मुनिके पास गये ॥ २ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥

भारत ! पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदिके द्वारा राजाने महर्षिका पूजन किया और अपने सारे राज्यके सहित पुत्रको उन्हें सौंप दिया ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां पार्थिवाद् भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४ ॥
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन् दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥

महाराज ! राजाकी ओरसे प्राप्त हुई उस पूजाको स्वीकार करके ऐश्वर्यशाली महर्षिने मगधनरेशको सम्बोधित करके प्रसन्न चित्तसे कहा—'राजन् ! जरासंधके जन्मसे लेकर अबतककी सारी बातें मुझे दिव्य दृष्टिसे ज्ञात हो चुकी हैं । राजेन्द्र ! अब यह सुनो कि तुम्हारा पुत्र भविष्यमें कैसा होगा ? ॥ ४-५ ॥

अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥

'इसमें रूप, सत्त्व, बल और ओजका विशेष आविर्भाव होगा । इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारा यह पुत्र साम्राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होगा ॥ ६ ॥

प्रापयिष्यति तत् सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥
पततो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चास्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥

'यह पराक्रमयुक्त होकर सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेगा । जैसे उड़ते हुए गरुडके वेगको दूसरे पक्षी नहीं पा सकते, उसी प्रकार इस बलवान् राजकुमारके शौर्यका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सकेंगे । जो लोग इससे शत्रुता करेंगे, वे नष्ट हो जायँगे ॥ ७-८ ॥

देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥

'महीपते ! जैसे नदीका वेग किसी पर्वतको पीड़ा नहीं पहुँचा सकता, उसी प्रकार देवताओंके छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र भी इसे चोट नहीं पहुँचा सकेंगे ॥ ९ ॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥

'जिनके मस्तकपर राज्याभिषेक हुआ है, उन सभी राजाओंके ऊपर रहकर यह अपने तेजसे प्रकाशित होता रहेगा । जैसे सूर्य समस्त ग्रह-नक्षत्रोंकी कान्ति हर लेते हैं, उसी प्रकार यह राजकुमार समस्त राजाओंके तेजको तिरस्कृत कर देगा ॥ १० ॥

एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥

'जैसे फतिंगे आगमें जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार सेना और सवारियोंसे भरे-पूरे समृद्धिशाली नरेश भी इससे टक्कर लेते ही नष्ट हो जायँगे ॥ ११ ॥

एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥

'यह समस्त राजाओंकी संगृहीत सम्पदाओंको उसी प्रकार अपने अधिकारमें कर लेगा, जैसे नदों और नदियोंका अधिपति समुद्र वर्षा-ऋतुमें बढ़े हुए जलवाली नदियोंको अपनेमें मिला लेता है ॥ १२ ॥

एष धारयिता सम्यक् चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १३ ॥

'यह महाबली राजकुमार चारों वर्णोंको भलीभाँति धारण करेगा (उन्हें आश्रय देगा;) ठीक वैसे ही, जैसे सभी प्रकारके धान्योंको धारण करनेवाली समृद्धिशालिनी पृथ्वी शुभ और अशुभ सबको आश्रय देती है ॥ १३ ॥

अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥

'जैसे सब देहधारी समस्त प्राणियोंके आत्मारूप वायुदेवके अधीन होते हैं, उसी प्रकार सभी नरेश इसकी आज्ञाके अधीन होंगे ॥ १४ ॥

एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् ।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः ॥ १५ ॥

'यह मगधराज सम्पूर्ण लोकोंमें अत्यन्त बलवान् होगा और त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले सर्वदुःखहारी महादेव रुद्रकी आराधना करके उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करेगा' ॥ १५ ॥

एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् ।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथारिहन् ॥ १६ ॥

शत्रुसूदन नरेश ! ऐसा कहकर अपने कार्यके चिन्तनमें लगे हुए मुनिने राजा बृहद्रथको विदा कर दिया ॥ १६ ॥

प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसम्बन्धिभिर्वृतः ।
अभिषिच्य जरासंधं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ ।
अभिषिक्ते जरासंधे तदा राजा बृहद्रथः ।
पत्नीद्वयेनानुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १८ ॥

राजधानीमें प्रवेश करके अपने जाति-भाइयों और सगे-सम्बन्धियोंसे घिरे हुए मगधनरेश बृहद्रथने उसी समय जरासंधका राज्याभिषेक कर दिया। ऐसा करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ। जरासंधका अभिषेक हो जानेपर महाराज बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें चले गये ॥ १७-१८ ॥

ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते ।
जरासंधः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद् वशे ॥ १९ ॥

महाराज ! दोनों माताओं और पिताके वनवासी हो जानेपर जरासंधने अपने पराक्रमसे समस्त राजाओंको वशमें कर लिया ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः ।
सभार्यः स्वर्गमगमत् तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दीर्घकालतक तपोवनमें रहकर तपस्या करते हुए महाराज बृहद्रथ अपनी पत्नियोंके साथ स्वर्गवासी हो गये ॥ २० ॥

जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् ।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २१ ॥

इधर जरासंध भी चण्डकौशिक मुनिके कथनानुसार भगवान् शङ्करसे सारा वरदान पाकर राज्यकी रक्षा करने लगा ॥ २१ ॥

निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ ।
जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २२ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके द्वारा अपने जामाता राजा कंसके मारे जानेपर श्रीकृष्णके साथ उसका वैर बहुत बढ़ गया ॥ २२ ॥

भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत ।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥ २३ ॥
तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥ २४ ॥

भारत ! उसी वैरके कारण बलवान् मगधराजने अपनी गदा निन्यानबे बार घुमाकर गिरिव्रजसे मथुराकी ओर फेंकी। उन दिनों अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण मथुरामें ही रहते थे। वह उत्तम गदा निन्यानबे योजन दूर मथुरामें जाकर गिरी ॥ २३-२४ ॥

दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग् गदा चैव निवेदिता ।
गदावसानं तत् ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २५ ॥

पुरवासियोंने उसे देखकर उसकी सूचना भगवान् श्रीकृष्णको दी। मथुराके समीपका वह स्थान, जहाँ गदा गिरि थी, गदावसानके नामसे विख्यात हुआ ॥ २५ ॥

तस्यास्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रे विशारदौ ॥ २६ ॥

जरासंधको सलाह देनेके लिये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तथा नीतिशास्त्रमें निपुण दो मन्त्री थे, जो हंस और डिम्भकके नामसे विख्यात थे। वे दोनों किसी भी शस्त्रसे मरनेवाले नहीं थे ॥ २६ ॥

यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २७ ॥

जनमेजय ! उन दोनों महाबली वीरोंका परिचय मैंने तुम्हें पहले ही दे दिया है। मेरा ऐसा विश्वास है, जरासंध और वे तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥

एवमेव तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः ।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥ २८ ॥

वीरवर महाराज ! इस प्रकार नीतिका पालन करनेके लिये ही उस समय बलवान् कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धाओंने जरासंधकी उपेक्षा कर दी ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधप्रशंसाविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(जरासंधवधपर्व)

विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके अनुमोदन करनेपर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनकी मगध-यात्रा

वासुदेव उवाच

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः।
जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः॥ १॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—धर्मराज ! जरासंधके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक यमुनाजीमें डूब मरे। कंस भी अपने सेवकों और सहायकोंसहित कालके गालमें चला गया। अब जरासंधके नाशका यह उचित अवसर आ पहुँचा है॥ १॥

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
बाहुयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे॥ २॥

युद्धमें तो सम्पूर्ण देवता और असुर भी उसे जीत नहीं सकते, अतः मेरी समझमें यही आता है कि उसे बाहुयुद्धके द्वारा जीतना चाहिये॥ २॥

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥ ३॥

मुझमें नीति है, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हम दोनोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं, उसी प्रकार हम तीनों मिलकर जरासंधके वधका काम पूरा कर लेंगे॥ ३॥

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति॥ ४॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति॥ ५॥

जब हम तीनों एकान्तमें राजा जरासंधसे मिलेंगे, तब वह हम तीनोंमेंसे किसी एकके साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार कर लेगा; इसमें संदेह नहीं है। अपमानके भयसे, बड़े योद्धा भीमसेनके साथ लड़नेके लोभसे तथा अपने बाहुबलसे घमंडमें चूर होनेसे जरासंध निश्चय ही भीमसेनके साथ युद्ध करनेको उद्यत होगा॥ ४-५॥

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा॥ ६॥

जैसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्के विनाशके लिये एक ही यमराज काफी हैं, उसी प्रकार महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधके वधके लिये पर्याप्त हैं॥ ६॥

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे॥ ७॥

राजन् ! यदि आप मेरे हृदयको जानते हैं और यदि आपका मुझपर विश्वास है तो भीमसेन और अर्जुनको शीघ्र ही धरोहरके रूपमें मुझे दे दीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
भीमार्जुनौ समालोक्य सम्प्रहृष्टमुखौ स्थितौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान्के ऐसा कहनेपर वहाँ खड़े हुए भीमसेन और अर्जुनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उस समय उन दोनोंकी ओर देखकर युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्शन।
पाण्डवानां भवान् नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम्॥ ९॥

युधिष्ठिर बोले—अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शत्रुसूदन अच्युत ! आप ऐसी बात न कहें, न कहें। आप हम सब पाण्डवोंके स्वामी हैं, रक्षक हैं; हम सब लोग आपकी शरणमें हैं॥ ९॥

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी॥ १०॥

गोविन्द ! आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है। जिनकी राज्यलक्ष्मी विमुख हो चुकी है, उनके सम्मुख आप आते ही नहीं हैं॥ १०॥

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः॥ ११॥

आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेमात्रसे मैं यह मानता हूँ कि जरासंध मारा गया। समस्त राजा उसकी कैदसे छुटकारा पा गये और मेरा राजसूय यज्ञ भी पूरा हो गया॥

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत् कार्यं समुपपद्यते।
अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम॥ १२॥
त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मकामार्थरहितो रोगार्त इव दुःखितः॥ १३॥
न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना।
नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः॥ १४॥

जगन्नाथ ! पुरुषोत्तम ! आप सावधान होकर वही उपाय कीजिये, जिससे यह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाय। जैसे धर्म,

काम और अर्थसे रहित रोगातुर मनुष्य अत्यन्त दुखी हो जीवनसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार मैं भी आप तीनोंके बिना जीवित नहीं रह सकता। श्रीकृष्णके बिना अर्जुन और पाण्डुपुत्र अर्जुनके बिना श्रीकृष्ण नहीं रह सकते। इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंके लिये लोकमें कोई भी अजेय नहीं है; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १२-१४ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥

यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कान्तिमान् वीर भीमसेन भी आप दोनोंके साथ रहकर क्या नहीं कर सकता? ॥ १५ ॥

सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम्।
अंधं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥

चतुर सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित की हुई सेना उत्तम कार्य करती है, अन्यथा उस सेनाको अंधी और जड कहते हैं; अतः नीतिनिपुण पुरुषोंद्वारा ही सेनाका संचालन होना चाहिये ॥ १६ ॥

यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम्।
यतश्छिद्रं ततश्चापि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥

जिधर नीची जमीन होती है, उधर ही लोग जल बहाकर ले जाते हैं। जहाँ गड्ढा होता है, उधर ही धीवर भी जल बहाते हैं (इसी प्रकार आपलोग भी जैसे कार्य-साधनमें सुविधा हो, वैसा ही करें) ॥ १७ ॥

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम्।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥ १८ ॥

इसीलिये हम नीतिविधानके ज्ञाता लोकविख्यात महापुरुष श्रीगोविन्दकी शरण लेकर कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं ॥

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम्।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

इसी प्रकार सबके लिये यह उचित है कि कार्य और प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सभी कार्योंमें बुद्धि, नीति, बल, प्रयत्न और उपायसे युक्त श्रीकृष्णको ही आगे रक्खे ॥

एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत्कार्यार्थसिद्धये।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम्।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥

यदुश्रेष्ठ! इसी प्रकार समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये आपका आश्रय लेना परम आवश्यक है। अर्जुन आप श्रीकृष्णका अनुसरण करें और भीमसेन अर्जुनका। नीति, विजय और बल तीनों मिलकर पराक्रम करें, तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब महातेजस्वी भाई—श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधराज जरासंधसे भिड़नेके लिये उसकी राजधानीकी ओर चल दिये ॥ २१ ॥

वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥ २२ ॥

उन्होंने तेजस्वी स्नातक ब्राह्मणोंके-से वस्त्र पहनकर उनके द्वारा अपने क्षत्रियरूपको छिपाकर यात्रा की। उस समय हितैषी सुहृदोंने मनोहर वचनोंद्वारा उन सबका अभिनन्दन किया ॥ २२ ॥

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम्।
रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत् तदा वपुः ॥ २३ ॥
हतं मेने जरासंधं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥

जरासंधके प्रति रोषके कारण वे प्रज्वलित-से हो रहे थे। जातिभाइयोंके उद्धारके लिये उनका महान् तेज प्रकट हुआ था। उस समय सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान तेजस्वी शरीरवाले उन तीनोंका स्वरूप अत्यन्त उद्भासित हो रहा था। एक ही कार्यके लिये उद्यत हुए और युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले उन दोनों (कृष्णोंको अर्थात् नर-नारायण-रूप कृष्ण और अर्जुन) को भीमसेनको आगे लिये जाते देख युधिष्ठिरको यह निश्चय हो गया कि जरासंध अवश्य मारा जायगा ॥ २३-२४ ॥

ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ।
धर्मकामार्थलोकानां कार्याणां च प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥

क्योंकि वे दोनों महात्मा निमेष-उन्मेषसे लेकर महाप्रलय-पर्यन्त समस्त कार्योंके नियन्ता तथा धर्म, काम और अर्थ-साधनमें लगे हुए लोगोंको तत्सम्बन्धी कार्योंमें लगानेवाले ईश्वर (नर-नारायण) हैं ॥ २५ ॥

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम्।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥ २७ ॥

वे तीनों कुरुदेशसे प्रस्थित हो कुरुजाङ्गलके बीचसे होते हुए रमणीय पद्मसरोवरपर पहुँचे। फिर कालकूट पर्वतको लाँघकर गण्डकी, महाशोण, सदानीरा एवं एकपर्वतक प्रदेश-की सब नदियोंको क्रमशः पार करते हुए आगे बढ़ते गये ॥

उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान्।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां पश्यन्तो विपुला नदीः॥ २८॥
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः॥ २९॥

इससे पहले मार्गमें उन्होंने रमणीय सरयू नदी पार करके पूर्वी कोसलप्रदेशमें भी पदार्पण किया था। कोसल पार करके बहुत-सी नदियोंका अवलोकन करते हुए वे मिथिलामें गये। गङ्गा और शोणभद्रको पार करके वे तीनों अच्युत वीर पूर्वाभिमुख होकर चलने लगे। उन्होंने कुश एवं चीरसे ही अपने शरीरको ढक रक्खा था। जाते-जाते वे मगधक्षेत्रकी सीमामें पहुँच गये॥ २८-२९॥

ते शश्वद् गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम्।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम्॥ ३०॥

फिर सदा गोधनसे भरे-पूरे, जलसे परिपूर्ण तथा सुन्दर वृक्षोंसे सुशोभित गोरथ पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने मगधकी राजधानीको देखा॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्यायः॥ २०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें कृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेनकी मगधयात्रा-विषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा मगधकी राजधानीकी प्रशंसा, चैत्यक पर्वतशिखर और नगाड़ोंको तोड़-फोड़कर तीनोंका नगर एवं राजभवनमें प्रवेश तथा श्रीकृष्ण और जरासंधका संवाद

वासुदेव उवाच

एष पार्थ महान् भाति पशुमान् नित्यमम्बुमान्।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः॥ १॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन! देखो, यह मगध-देशकी सुन्दर एवं विशाल राजधानी कैसी शोभा पा रही है। यहाँ पशुओंकी अधिकता है। जलकी भी सदा पूर्ण सुविधा रहती है। यहाँ रोग-व्याधिका प्रकोप नहीं होता। सुन्दर महलोंसे भरा-पूरा यह नगर बड़ा मनोहर प्रतीत होता है॥ १॥

वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः॥ २॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम्॥ ३॥

तात! यहाँ विहारोपयोगी विपुल, वराह, वृषभ (ऋषभ), ऋषिगिरि (मातङ्ग) तथा पाँचवाँ चैत्यक नामक पर्वत है। बड़े-बड़े शिखरोंवाले ये पाँचों सुन्दर पर्वत शीतल छायावाले वृक्षोंसे सुशोभित हैं और एक साथ मिलकर एक-दूसरेके शरीरका स्पर्श करते हुए मानो गिरिव्रज नगरकी रक्षा कर रहे हैं॥ २-३॥

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोहरैः।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः॥ ४॥

वहाँ लोध नामक वृक्षोंके कई मनोहर वन हैं, जिनसे वे पाँचों पर्वत ढके हुए-से जान पड़ते हैं। उनकी शाखाओंके अग्रभागमें फूल-ही-फूल दिखायी देते हैं। लोधोंके ये सुगन्धित वन कामीजनोंको बहुत प्रिय हैं॥ ४॥

शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः।
औशीनर्यामजनयत् काक्षीवाद्यान् सुतान् मुनिः॥ ५॥

यहीं अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले महामना गौतमने उशीनरदेशकी शूद्रजातीय कन्याके गर्भसे काक्षीवान् आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया था॥ ५॥

गौतमः प्रणयात् तस्माद् यथासौ तत्र सद्मनि।
भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहात्॥ ६॥

इसी कारण वह गौतम मुनि राजाओंके प्रेमसे वहाँ आश्रममें रहता तथा मगधदेशीय राजवंशकी सेवा करता है॥ ६॥

अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन॥ ७॥

अर्जुन! पूर्वकालमें अङ्ग-वङ्ग आदि महाबली राजा भी गौतमके घरमें आकर आनन्दपूर्वक रहते थे॥ ७॥

वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकःसमीपजाः॥ ८॥

पार्थ! गौतमके आश्रमके निकट लहलहाती हुई पीपल और लोधोंकी इन सुन्दर एवं मनोरम वनपङ्क्तियोंको तो देखो॥ ८॥

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः॥ ९॥

यहाँ अर्बुद और शक्रवापी नामवाले दो नाग रहते हैं, जो अपने शत्रुओंको संतप्त करनेवाले हैं। यहीं स्वस्तिक नाग और मणि नागके भी उत्तम भवन हैं॥ ९॥

अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाप्यनुग्रहम्॥ १०॥

मनुने मगधदेशके निवासियोंको मेघोंके लिये अपरि-हार्य (अनुग्राह्य) कर दिया है; (अतः वहाँ सदा ही

बादल समयपर यथेष्ट वर्षा करते हैं)। चण्डकौशिक मुनि और मणिमान् नाग भी मगधदेशपर अनुग्रह कर चुके हैं ॥

(पाण्डरे विपुले चैव तथा वाराहकेऽपि च।
चैत्यके च गिरिश्रेष्ठे मातङ्गे च शिलोच्चये ॥
एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धमहालयाः।
यतीनामाश्रमाश्चैव मुनीनां च महात्मनाम् ॥

श्वेतवर्णके वृषभ, विपुल, वाराह, गिरिश्रेष्ठ चैत्यक तथा मातङ्ग गिरि—इन सभी श्रेष्ठ पर्वतोंपर सम्पूर्ण सिद्धोंके विशाल भवन हैं तथा यतियों, मुनियों और महात्माओंके बहुत-से आश्रम हैं ॥

वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा।
गन्धर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽऽलयाः ॥)

वृषभ, महापराक्रमी तमाल, गन्धर्वों, राक्षसों तथा नागोंके भी निवासस्थान उन पर्वतोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासंधोऽभिमन्यते ॥ ११ ॥

इस प्रकार चारों ओरसे दुर्धर्ष उस रमणीय नगरको पाकर जरासंधको यह अभिमान बना रहता है कि मुझे अनुपम अर्थसिद्धि प्राप्त होगी ॥ ११ ॥

वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि।

आज हमलोग उसके घरपर ही चलकर उसका सारा घमंड हर लेंगे ॥ ११½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ॥ १२ ॥
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम्।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें करते हुए वे सभी महातेजस्वी भाई श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधकी राजधानीमें प्रवेश करनेके लिये चल पड़े। वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे भरा-पूरा था। उसमें रहनेवाले सभी लोग हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते थे ॥ १२-१३ ॥

स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम्।
ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ॥ १४ ॥
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः।
मगधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समाद्रवन् ॥ १५ ॥

वहाँ अधिकाधिक उत्सव होते रहते थे। कोई भी उसको जीत नहीं सकता था। ऐसे गिरिव्रजके निकट वे तीनों जा पहुँचे। वे मुख्य फाटकपर न जाकर नगरके चैत्यक नामक ऊँचे पर्वतपर चले गये। उस नगरमें निवास करनेवाले मनुष्य तथा बृहद्रथ-परिवारके लोग उस पर्वतकी पूजा किया करते थे। मगधदेशकी प्रजाको यह चैत्यक पर्वत बहुत ही प्रिय था ॥ १४-१५ ॥

यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः।
तं हत्वा मासतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १६ ॥

उस स्थानपर राजा बृहद्रथने (वृषभरूपधारी) ऋषभ नामक एक मांसभक्षी राक्षससे युद्ध किया और उसे मारकर उसकी खालसे तीन बड़े-बड़े नगाड़े तैयार कराये, जिनपर चोट करनेसे महीनेभरतक आवाज होती रहती थी ॥ १६ ॥

स्वपुरे स्थापयामास तेन चानह्य चर्मणा।
यत्र ताः प्राणदन् भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ॥ १७ ॥

राजाने उन नगाड़ोंको उस राक्षसके ही चमड़ेसे मढ़ाकर अपने नगरमें रखवा दिया। जहाँ वे नगाड़े बजते थे, वहाँ दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगती थी ॥ १७ ॥

भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन्।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानाऽऽयुधास्तदा ॥ १८ ॥
मागधानां सुरुचिरं चैत्यकं तं समाद्रवन्।
शिरसीव समाघ्नन्तो जरासंधं जिघांसवः ॥ १९ ॥

इन तीनों वीरोंने उपर्युक्त तीनों नगाड़ोंको फोड़कर चैत्यक पर्वतके परकोटेपर आक्रमण किया। उन सबने अनेक प्रकारके आयुध लेकर द्वारके सामने मगधनिवासियोंके परम प्रिय उस चैत्यक पर्वतपर धावा किया था। जरासंधको मारनेकी इच्छा रखकर मानो वे उसके मस्तकपर आघात कर रहे थे ॥

स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत् तत् पुरातनम्।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन्।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २१ ॥

उस चैत्यकका विशाल शिखर बहुत पुराना, किंतु सुदृढ़ था। मगधदेशमें उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गन्ध और पुष्पकी मालाओंसे उसकी सदा पूजा की जाती थी। श्रीकृष्ण आदि तीनों वीरोंने अपनी विशाल भुजाओंसे टक्कर मारकर उस चैत्यक पर्वतके शिखरको गिरा दिया। तदनन्तर वे अत्यन्त प्रसन्न होकर मगधकी राजधानी गिरिव्रजके भीतर घुसे ॥

एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासंधमदर्शयन् ॥ २२ ॥

इसी समय वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंने अनेक अपशकुन देखकर राजा जरासंधको उनके विषयमें सूचित किया ॥ २२ ॥

पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासंधः प्रतापवान्।
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ॥ २३ ॥

पुरोहितोंने राजाको हाथीपर बिठाकर उसके चारों ओर प्रज्वलित आग घुमायी। प्रतापी राजा जरासंधने अनिष्टकी

शान्तिके लिये व्रतकी दीक्षा ले नियमोंका पालन करते हुए उपवास किया ॥ २३ ॥

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ।
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासंधेन भारत ॥ २४ ॥

भारत ! इधर भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके वेषमें अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके अपनी भुजाओंसे ही आयुधोंका काम लेते हुए जरासंधके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखकर नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ॥ २५ ॥
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ।
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ।
बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः॥ २६ ॥

उन्होंने खाने-पीनेकी वस्तुओं, फूल-मालाओं तथा अन्य आवश्यक पदार्थोंकी दूकानोंसे सजे हुए हाट-बाटकी अपूर्व शोभा और सम्पदा देखी । नगरका वह वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा, सर्वगुणसम्पन्न तथा समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला था । उस गलीकी अद्भुत समृद्धिको देखकर वे महाबली नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन एक मालीसे बलपूर्वक बहुत-सी मालाएँ लेकर नगरकी प्रधान सड़कसे चलने लगे ॥२५-२६॥

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ।
निवेशनमथाजग्मुर्जरासंधस्य धीमतः ॥ २७ ॥

उन सबके वस्त्र अनेक रंगके थे । उन्होंने गलेमें हार और कानोंमें चमकीले कुण्डल पहन रक्खे थे । वे क्रमशः बुद्धिमान् राजा जरासंधके महलके समीप जा पहुँचे ॥ २७ ॥

गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा ।
शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ॥ २८ ॥
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ।

जैसे हिमालयकी गुफाओंमें रहनेवाले सिंह गौओंका स्थान ढूँढ़ते हुए आगे बढ़ते हों, उसी प्रकार वे तीनों वीर राजभवनकी तलाश करते हुए वहाँ पहुँचे थे । महाराज ! युद्धमें विशेष शोभा पानेवाले उन तीनों वीरोंकी भुजाएँ साखूके लट्ठे-जैसी सुशोभित हो रही थीं । उनपर चन्दन और अगुरुका लेप किया गया था ॥ २८½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्शालस्कन्धानिवोद्गतान्।
व्यूढोरस्कान् मागधानां विस्मयः समपद्यत ॥ २९ ॥

शालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील और चौड़ी छातीवाले गजराजसदृश उन बलवान् वीरोंको देखकर मगधनिवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २९ ॥

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः ।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥ ३० ॥

वे नरश्रेष्ठ लोगोंसे भरी हुई तीन ड्योढ़ियोंको पार करके निर्भय एवं निश्चिन्त हो बड़े अभिमानके साथ राजा जरासंधके निकट गये ॥ ३० ॥

तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् गवार्हान् सत्कृतिं गतान् ।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ॥ ३१ ॥

वे पाद्य, मधुपर्क और गोदान पानेके योग्य थे । उनका सर्वत्र सत्कार होता था । उन्हें आया देख जरासंध उठकर खड़ा हो गया और उसने विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार किया ॥

उवाच चैतान् राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः।
मौनमासीत् तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ॥ ३२ ॥
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ।
वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥ ३३ ॥
अर्वाङ्निशीथात् परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः ।

तदनन्तर शक्तिशाली राजाने इन तीनों अतिथियोंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है ।' जनमेजय ! उस समय अर्जुन और भीमसेन तो मौन थे । उनमेंसे महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने यह बात कही—'राजेन्द्र ! ये दोनों एक नियम ले चुके हैं; अतः आधी रातसे पहले नहीं बोलते । आधी रातके बाद ये दोनों आपसे बात करेंगे' ॥ ३२-३३½ ॥

यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ॥ ३४ ॥
ततोऽर्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ।
तस्य ह्येतद् व्रतं राजन् बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३५ ॥

तब राजा उन्हें यज्ञशालामें ठहराकर स्वयं राजभवनमें चला गया । फिर आधी रात होनेपर जहाँ वे ब्राह्मण ठहरे थे, वहाँ वह गया । राजन् ! उसका यह नियम भूमण्डलमें विख्यात था ॥ ३४-३५ ॥

स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्ताञ्छ्रुत्वा स समितिंजयः ।
अप्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! युद्धविजयी राजा जरासंध स्नातक ब्राह्मणोंका आगमन सुनकर आधी रातके समय भी उनकी आवभगतके लिये उनके पास चला जाता था ॥ ३६ ॥

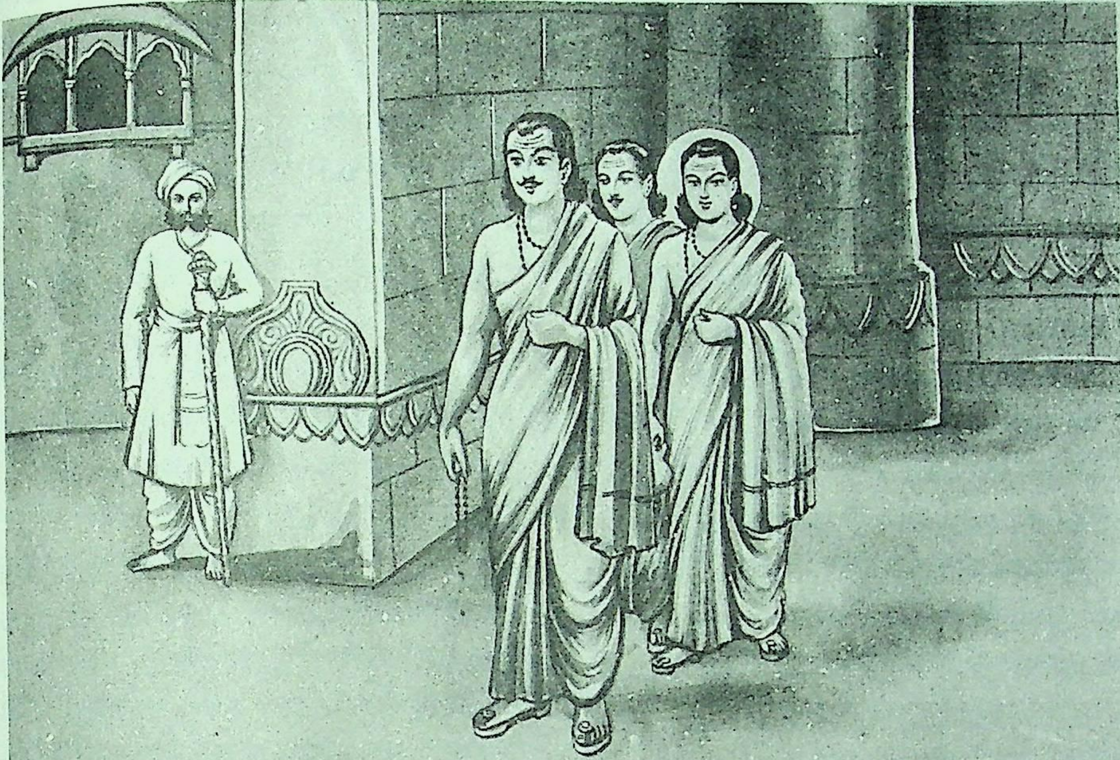
तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासंधो विस्मितश्चाभवत् तदा ॥ ३७ ॥

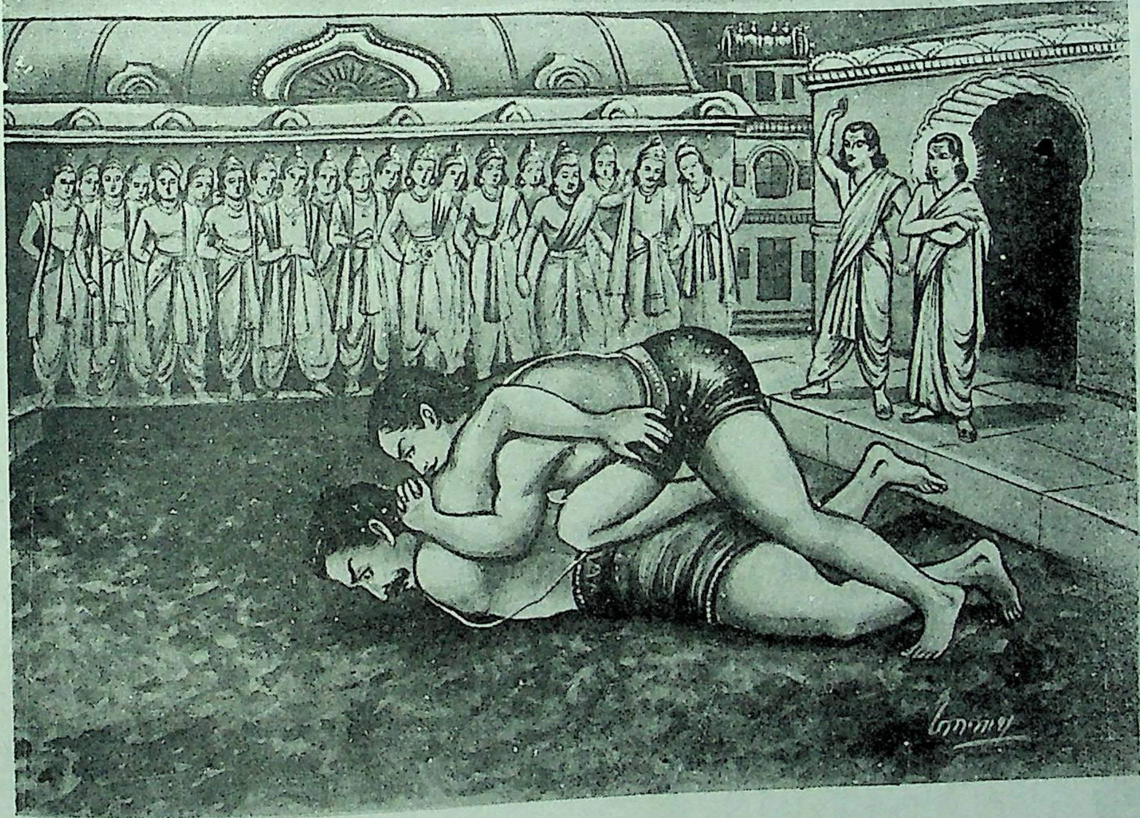
उन तीनोंको अपूर्व वेषमें देखकर नृपश्रेष्ठ जरासंधको बड़ा विस्मय हुआ । वह उनके पास गया ॥ ३७ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासंधं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ ३८ ॥
स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३९ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ राजा जरासंधको देखते ही इस प्रकार बोले—'महाराज !

जरासंधके भवनमें श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन





भीमसेन और जरासंधका युद्ध

आपका कल्याण हो।' जनमेजय! ऐसा कहकर वे तीनों खड़े हो गये तथा कभी राजा जरासंधको और कभी आपसमें एक दूसरेको देखने लगे ॥ ३८-३९ ॥

तानब्रवीज्जरासंधस्तथा पाण्डवयादवान्।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥ ४० ॥

राजेन्द्र! ब्राह्मणोंके छद्मवेषमें छिपे हुए उन पाण्डव तथा यादव वीरोंको लक्ष्य करके जरासंधने कहा—'आपलोग बैठ जायँ' ॥ ४० ॥

अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः।
सम्प्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः ॥ ४१ ॥

फिर वे सभी बैठ गये। वे तीनों पुरुषसिंह महान् यज्ञमें प्रज्वलित तीन अग्नियोंकी भाँति अपनी अपूर्व शोभासे उद्भासित हो रहे थे ॥ ४१ ॥

तानुवाच जरासंधः सत्यसंधो नराधिपः।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणवैकृतान्।
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥ ४२ ॥
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः।
के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ॥ ४३ ॥

कुरुनन्दन! उस समय सत्यप्रतिज्ञ राजा जरासंधने वेषग्रहणके विपरीत आचरणवाले उन तीनोंकी निन्दा करते हुए कहा—'ब्राह्मणो! इस मानव-जगत्में सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण समावर्तन आदि विशेष निमित्तके बिना माला और चन्दन नहीं धारण करते। मुझे भी यह अच्छी तरह मालूम है। आपलोग कौन हैं? आपके गलेमें फूलोंकी माला है और भुजाओंमें धनुषकी प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न स्पष्ट दिखायी देता है ॥ ४२-४३ ॥

बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ।
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥ ४४ ॥

'आपलोग क्षत्रियोचित तेज धारण करते हैं, परंतु ब्राह्मण होनेका परिचय दे रहे हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके रंगीन कपड़े पहने और अकारण माला तथा चन्दन लगाये हुए आप कौन हैं? सच बताइये। राजाओंमें सत्यकी ही शोभा होती है ॥ ४४ ॥

चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥ ४५ ॥

'चैत्यक पर्वतके शिखरको तोड़कर राजाका अपराध करके भी उससे भयभीत न हो छद्मवेष धारण किये द्वारके बिना ही इस नगरमें जो आपलोग घुस आये हैं, इसका क्या कारण है? ॥ ४५ ॥

वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ॥ ४६ ॥

'बताइये, ब्राह्मणके तो प्रायः वचनमें ही वीरता होती है, उसकी क्रियामें नहीं। आपलोगोंने जो यह पर्वतशिखर तोड़नेका काम किया है, यह आपके वर्ण तथा वेषके सर्वथा विपरीत है, बताइये आपने आज क्या सोच रक्खा है? ॥ ४६ ॥

एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम्।
प्रतीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वास्मदागमे ॥ ४७ ॥

'इस प्रकार मेरे यहाँ उपस्थित हो मेरेद्वारा विधिपूर्वक अर्पित की हुई इस पूजाको आपलोग ग्रहण क्यों नहीं करते हैं? फिर मेरे यहाँ आनेका प्रयोजन ही क्या है?' ॥ ४७ ॥

एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४८ ॥

जरासंधके ऐसा कहनेपर बोलनेमें चतुर महामना श्रीकृष्ण स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥ ४८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! तुम हमें (वेषके अनुसार) स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। वैसे तो स्नातक व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग होते हैं ॥ ४९ ॥

विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ॥ ५० ॥

इन स्नातकोंमें कुछ विशेष नियमका पालन करनेवाले होते हैं और कुछ साधारण। विशेष नियमका पालन करनेवाला क्षत्रिय सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान्।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद् बार्हद्रथेरितम् ॥ ५१ ॥

जो पुष्प धारण करनेवाले हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास ध्रुव है, इसीलिये हमलोग पुष्पमालाधारी हैं। क्षत्रियका बल और पराक्रम उसकी भुजाओंमें होता है, वह बोलनेमें वैसा वीर नहीं होता। बृहद्रथनन्दन! इसीलिये क्षत्रियका वचन धृष्टतारहित (विनययुक्त) बताया गया है ॥ ५१ ॥

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत्।
तद् दिदृक्षसि चेद् राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः ॥ ५२ ॥

विधाताने क्षत्रियोंका अपना बल उनकी भुजाओंमें ही भर दिया है। राजन्! यदि आज उसे देखना चाहते हो, तो निश्चय ही देख लोगे ॥ ५२ ॥

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥ ५३ ॥

धीर मनुष्य शत्रुके घरमें बिना दरवाजेके और मित्रके घरमें दरवाजेसे जाते हैं। शत्रु और मित्रके लिये ये धर्मतः द्वार बतलाये गये हैं ॥ ५३ ॥

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम्।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५४ ॥

हम अपने कार्यसे तुम्हारे घर आये हैं; अतः शत्रुसे पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। यह हमारा सनातन व्रत है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णजरासंधसंवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें श्रीकृष्णजरासंधसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ इलोक मिलाकर कुल ५७ इलोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

जरासंध और श्रीकृष्णका संवाद तथा जरासंधकी युद्धके लिये तैयारी एवं जरासंधका श्रीकृष्णके साथ वैर होनेके कारणका वर्णन

जरासंध उवाच

न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥

जरासंध बोला—ब्राह्मणो ! मुझे याद नहीं आता कि कब मैंने आपलोगोंके साथ वैर किया है ? बहुत सोचनेपर भी मुझे आपके प्रति अपने द्वारा किया हुआ अपराध नहीं दिखायी देता ॥ १ ॥

वैकृते चासति कथं मन्यध्वं मामनागसम्।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥

विप्रगण ! जब मुझसे अपराध ही नहीं हुआ है, तब मुझ निरपराधको आपलोग शत्रु कैसे मान रहे हैं ? यह बताइये। क्या यही साधु पुरुषोंका बर्ताव है ? ॥ २ ॥

अथ धर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥
अतोऽन्यथा चरँल्लोके धर्मज्ञः सन् महारथः।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥

किसीके धर्म (और अर्थ) में बाधा डालनेसे अवश्य ही मनको बड़ा संताप होता है। जो धर्मज्ञ महारथी क्षत्रिय लोकमें धर्मके विपरीत आचरण करता हुआ किसी निरपराध व्यक्तिपर दूसरोंके धन और धर्मके नाशका दोष लगाता है, वह कष्टमयी गतिको प्राप्त होता है और अपनेको कल्याणसे भी वञ्चित कर लेता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ३-४ ॥

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान् वै साधुचारिणाम्।
नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥

सत्कर्म करनेवाले क्षत्रियोंके लिये तीनों लोकोंमें क्षत्रिय-धर्म ही श्रेष्ठ है। धर्मज्ञ पुरुष क्षत्रियके लिये अन्य धर्मकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ५ ॥

तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः।
अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥

मैं अपने मनको वशमें रखकर सदा स्वधर्म (क्षत्रिय-धर्म) में स्थित रहता हूँ। प्रजाओंका भी कोई अपराध नहीं करता, ऐसी दशामें भी आपलोग प्रमादसे ही मुझे शत्रु या अपराधी बता रहे हैं ॥ ६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः।
वहते यस्तन्नियोगाद् वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो ! समूचे कुलमें कोई एक ही पुरुष कुलका भार सँभालता है। उस कुलके सभी लोगोंकी रक्षा आदिका कार्य सम्पन्न करता है। जो वैसे महापुरुष हैं, उन्हींकी आज्ञासे हमलोग आज तुम्हें दण्ड देनेको उद्यत हुए हैं ॥ ७ ॥

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥ ८ ॥

राजन् ! तुमने भूलोकनिवासी क्षत्रियोंको कैद कर लिया है। ऐसे क्रूर अपराधका आयोजन करके भी तुम अपनेको निरपराध कैसे मानते हो ? ॥ ८ ॥

राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम।
तद् राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओंकी हत्या कैसे कर सकता है ? तुम राजाओंको कैद करके उन्हें रुद्रदेवताकी भेंट चढ़ाना चाहते हो ? ॥ ९ ॥

अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥

बृहद्रथकुमार ! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगोंपर लागू होगा; क्योंकि हम धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ और धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १० ॥

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥

किसी देवताकी पूजाके लिये मनुष्योंका वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिवकी पूजा मनुष्योंकी हिंसाद्वारा कैसे करना चाहते हो ? ॥ ११ ॥

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासंध वृथामतिः ॥ १२ ॥

जरासंध ! तुम्हारी बुद्धि मारी गयी है, तुम भी उसी वर्णके हो, जिस वर्णके वे राजालोग हैं। क्या तुम अपने ही वर्णके लोगोंको पशुनाम देकर उनकी हत्या करोगे ? तुम्हारे-जैसा क्रूर दूसरा कौन है ? ॥ १२ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यत् कर्म करोति यः।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात् ॥ १३ ॥

जो जिस-जिस अवस्थामें जो-जो कर्म करता है, वह उसी-उसी अवस्थामें उसके फलको प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ॥ १४ ॥

तुम अपने ही जाति-भाइयोंके हत्यारे हो और हमलोग संकटमें पड़े हुए दीन-दुखियोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः सजातीय बन्धुओंकी वृद्धिके उद्देश्यसे हम तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आये हैं ॥ १४ ॥

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत्।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥

राजन् ! तुम जो यह मान बैठे हो कि इस जगत्के क्षत्रियोंमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, यह तुम्हारी बुद्धिका बहुत बड़ा भ्रम है ॥ १५ ॥

को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप।
नाविशेत् स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! कौन ऐसा स्वाभिमानी क्षत्रिय होगा जो अपने अभिजनको (जातीय बन्धुओंकी रक्षा परम धर्म है, इस बातको) जानते हुए भी युद्ध करके अनुपम एवं अक्षय स्वर्गलोकमें जाना नहीं चाहेगा ? ॥ १६ ॥

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद् विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! स्वर्गप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने अभीष्ट लोकोंपर विजय पाते हैं, यह बात तुम्हें भलीभाँति जाननी चाहिये ॥ १७ ॥

स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥

वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका कारण है, परोपकाररूप महान् यश भी स्वर्गका हेतु है, तपस्याको भी स्वर्गलोकका साधन बताया गया है; परंतु क्षत्रियके लिये इन तीनोंकी अपेक्षा युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्गप्राप्तिका अमोघ साधन है ॥ १८ ॥

एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः।
येनासुरान् पराजित्य जगत् पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥

क्षत्रियका यह युद्धमें मरण इन्द्रका वैजयन्त नामक प्रासाद (राजमहल) है। यह सदा सभी गुणोंसे परिपूर्ण है। इसी युद्धके द्वारा शतक्रतु इन्द्र असुरोंको परास्त करके सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद् विग्रहो वै यथा तव।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ॥ २० ॥
मावमंस्थाः परान् राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ॥ २१ ॥

हमारे साथ जो तुम्हारा युद्ध होनेवाला है, वह तुम्हारे लिये जैसा स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधक हो सकता है, वैसा युद्ध और किसको सुलभ है ? मेरे पास बहुत बड़ी सेना एवं शक्ति है, इस घमंडमें आकर मगधदेशकी अगणित सेनाओंद्वारा तुम दूसरोंका अपमान न करो। राजन् ! प्रत्येक मनुष्यमें बल एवं पराक्रम होता है। महाराज ! किसीमें तुम्हारे समान तेज है तो किसीमें तुमसे अधिक भी है ॥ २०-२१ ॥

यावदेतदसम्बुद्धं तावदेव भवेत् तव।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

भूपाल ! जबतक तुम इस बातको नहीं जानते थे, तभी-तक तुम्हारा घमंड बढ़ रहा था। अब तुम्हारा यह अभिमान हमलोगोंके लिये असह्य हो उठा है, इसलिये मैं तुम्हें यह सलाह देता हूँ ॥ २२ ॥

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥

मगधराज ! तुम अपने समान वीरोंके साथ अभिमान और घमंड करना छोड़ दो। इस घमंडको रखकर अपने पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ॥

दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥

दम्भोद्भव, कार्तवीर्य अर्जुन, उत्तर तथा बृहद्रथ—ये सभी नरेश अपनेसे बड़ोंका अपमान करके अपनी सेनासहित नष्ट हो गये ॥ २४ ॥

युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम् ॥ २५ ॥

तुमसे युद्धकी इच्छा रखनेवाले हमलोग अवश्य ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं वसुदेवपुत्र हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन हैं। मैं इन दोनोंके मामाका पुत्र और तुम्हारा प्रसिद्ध शत्रु श्रीकृष्ण हूँ। मुझे अच्छी तरह पहचान लो ॥ २५ ॥

त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ।२६।

मगधनरेश ! हम तुम्हें युद्धके लिये ललकारते हैं। तुम डटकर युद्ध करो । तुम या तो समस्त राजाओंको छोड़ दो अथवा यमलोककी राह लो ॥ २६ ॥

जरासंध उवाच

नाजितान् वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २७ ॥

जरासंधने कहा—श्रीकृष्ण ! मैं युद्धमें जीते बिना किन्हीं राजाओंको कैद करके यहाँ नहीं लाता हूँ । यहाँ कौन ऐसा शत्रु राजा है, जो दूसरोंसे अजेय होनेपर भी मेरेद्वारा जीत न लिया गया हो ?॥ २७ ॥

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत् समाचरेत् ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण ! क्षत्रियके लिये तो यह धर्मानुकूल जीविका बतायी गयी है कि वह पराक्रम करके शत्रुको अपने वशमें लाकर फिर उसके साथ मनमाना बर्ताव करे ॥ २८ ॥

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रियके व्रतको सदा याद रखता हुआ देवताको बलि देनेके लिये उपहारके रूपमें लाये हुए इन राजाओंको आज तुम्हारे भयसे कैसे छोड़ सकता हूँ ? ॥ २९ ॥

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ॥३०॥

तुम्हारी सेना मेरी व्यूहरचनायुक्त सेनाके साथ लड़ ले अथवा तुममेंसे कोई एक मुझ अकेलेके साथ युद्ध करे अथवा मैं अकेला ही तुममेंसे दो या तीनोंके साथ बारी-बारीसे या एक ही साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा जरासंधः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत् तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भयानक कर्म करनेवाले उन तीनों वीरोंके साथ युद्धकी इच्छा रखकर राजा जरासंधने अपने पुत्र सहदेवके राज्याभिषेककी आज्ञा दे दी ॥ ३१ ॥

स तु सेनापती राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मगधनरेशने वह युद्ध उपस्थित होनेपर अपने सेनापति कौशिक और चित्रसेनका स्मरण किया (जो उस समय जीवित नहीं थे) ॥ ३२ ॥

ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति डिम्भकेति च ।
पूर्वं संकथिते पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३३ ॥

राजन् ! ये वे ही थे, जिनके नाम पहले तुमसे हंस और डिम्भक बताये हैं । मनुष्यलोकके सभी पुरुष उनके प्रति बड़े आदरका भाव रखते थे ॥ ३३ ॥

तं तु राजन् विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम् ।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३४ ॥
सत्यसंधो जरासंधं भुवि भीमपराक्रमम् ।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ॥ ३५ ॥
नात्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः ।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३६ ॥

जनमेजय ! मनस्वी पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, वसुदेवपुत्र एवं बलरामके छोटे भाई भगवान् मधुसूदनने दिव्य दृष्टिसे स्मरण करके यह जान लिया था कि सिंहके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और भयानक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाला यह राजा जरासंध युद्धमें दूसरे वीरका भाग (वध्य) नियत किया गया है । यदुवंशियोंमेंसे किसीके हाथसे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती, अतः ब्रह्माजीके आदेशकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने स्वयं उसे मारनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३४—३६ ॥

(जनमेजय उवाच

किमर्थं वैरिणावास्तामुभौ तौ कृष्णमागधौ ।
कथं च निर्जितः संख्ये जरासंधेन माधवः ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! भगवान् श्रीकृष्ण और मगधराज जरासंध दोनों एक-दूसरेके शत्रु क्यों हो गये थे ? तथा जरासंधने यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको युद्धमें कैसे परास्त किया ? ॥

कश्च कंसो मागधस्य यस्य हेतोः स वैरवान् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं वैशम्पायन तत्त्वतः ॥

कंस मगधराज जरासंधका कौन था, जिसके लिये उसने भगवान्से वैर ठान लिया । वैशम्पायनजी ! ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

यादवानामन्ववाये वसुदेवो महामतिः ।
उदपद्यत वार्ष्णेयो ह्युग्रसेनस्य मन्त्रभृत् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! यदुकुलमें परम बुद्धिमान् वसुदेव उत्पन्न हुए, जो वृष्णिवंशके राजकुमार तथा राजा उग्रसेनके विश्वसनीय मन्त्री थे ॥

उग्रसेनस्य कंसस्तु बभूव बलवान् सुतः ।
ज्येष्ठो बहूनां कौरव्य सर्वशस्त्रविशारदः ॥

उग्रसेनका पुत्र बलवान् कंस हुआ, जो उनके अनेक पुत्रोंमें सबसे बड़ा था । कुरुनन्दन ! कंसने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें निपुणता प्राप्त की थी ॥

जरासंधस्य दुहिता तस्य भार्येतिविश्रुता ।
राज्यशुल्केन दत्ता सा जरासंधेन धीमता ॥

जरासंधकी पुत्री उसकी सुप्रसिद्ध पत्नी थी, जिसे बुद्धिमान् जरासंधने इस शर्तके साथ दिया था कि इसके पतिको तत्काल राजाके पदपर अभिषिक्त किया जाय ॥

तदर्थमुग्रसेनस्य मथुरायां सुतस्तदा ।
अभिषिक्तस्तदामात्यैः स वै तीव्रपराक्रमः ॥

इस शुल्ककी पूर्तिके लिये उग्रसेनके उस दुःसह पराक्रमी पुत्रको मन्त्रियोंने मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ऐश्वर्यबलमत्तस्तु स तदा बलमोहितः ।
निगृह्य पितरं भुङ्क्ते तद् राज्यं मन्त्रिभिः सह ॥

तब ऐश्वर्यके बलसे उन्मत्त और शारीरिक शक्तिसे मोहित हो कंस अपने पिताको कैद करके मन्त्रियोंके साथ उनका राज्य भोगने लगा ॥

वसुदेवस्य तत् कृत्यं न शृणोति स मन्दधीः ।
स तेन सह तद् राज्यं धर्मतः पर्यपालयत् ॥

मन्दबुद्धि कंस वसुदेवजीके कर्तव्य-विषयक उपदेशको नहीं सुनता था, तो भी उसके साथ रहकर वसुदेवजी मथुराके राज्यका धर्मपूर्वक पालन करने लगे ॥

प्रीतिमान् स तु दैत्येन्द्रो वसुदेवस्य देवकीम् ।
उवाह भार्यां स तदा दुहिता देवकस्य या ॥

दैत्यराज कंसने अत्यन्त प्रसन्न होकर वसुदेवजीके साथ देवकीका ब्याह कर दिया, जो उग्रसेनके भाई देवककी पुत्री थी ॥

तस्यामुद्वाह्यमानायां रथेन जनमेजय ।
उपारुरोह वार्ष्णेयं कंसो भूमिपतिस्तदा ॥

जनमेजय ! जब रथपर बैठकर देवकी विदा होने लगी, तब राजा कंस भी उसे पहुँचानेके लिये वृष्णिवंशविभूषण वसुदेवजीके पास उस रथपर जा बैठा ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीद् देवदूतस्य कस्यचित् ।
वसुदेवश्च शुश्राव तां वाचं पार्थिवश्च सः ॥

इसी समय आकाशमें किसी देवदूतकी वाणी स्पष्ट सुनायी देने लगी। वसुदेवजीने तो उसे सुना ही, राजा कंसने भी सुना ॥

यामेतां वहमानोऽद्य कंसोद्वहसि देवकीम् ।
अस्या यश्चाष्टमो गर्भः स ते मृत्युर्भविष्यति ॥

देवदूत कह रहा था—'कंस ! आज तू जिस देवकीको रथपर बिठाकर लिये जा रहा है, उसका आठवाँ गर्भ तेरी मृत्युका कारण होगा' ॥

सोऽवतीर्य ततो राजा खड्गमुद्धृत्य निर्मलम् ।
इयेष तस्या मूर्धानं छेत्तुं परमदुर्मतिः ॥

यह आकाशवाणी सुनते ही अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले राजा कंसने म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींच ली और देवकीका सिर काट लेनेका विचार किया ॥

स सान्त्वयंस्तदा कंसं हसन् क्रोधवशानुगम् ।
राजन्ननुनयामास वसुदेवो महामतिः ॥

राजन् ! उस समय परम बुद्धिमान् वसुदेवजी हँसते हुए क्रोधके वशीभूत हुए कंसको सान्त्वना दे उसकी अनुनय-विनय करने लगे— ॥

अहिंस्यां प्रमदामाहुः सर्वधर्मेषु पार्थिव ।
अकस्मादबलां नारीं हन्तासीमामनागसीम् ॥

'पृथ्वीपते ! प्रायः सभी धर्मोंमें नारीको अवध्य बताया गया है । क्या तुम इस निर्बल एवं निरपराध नारीको सहसा मार डालोगे ? ॥

यच्च तेऽत्र भयं राजन् शक्यते बाधितुं त्वया ।
इयं च शक्या पालयितुं समयश्चैव रक्षितुम् ॥

'राजन् ! इससे जो तुम्हें भय प्राप्त होनेवाला है, उसका तो तुम निवारण कर सकते हो । तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये और मुझे इसकी प्राणरक्षाके लिये जो शर्त निश्चित हो, उसका पालन करना चाहिये ॥

अस्यास्त्वमष्टमं गर्भं जातमात्रं महीपते ।
विध्वंसय तदा प्राप्तमेवं परिहृतं भवेत् ॥

'राजन् ! इसके आठवें गर्भको तुम पैदा होते ही नष्ट कर देना । इस प्रकार तुमपर आयी हुई विपत्ति टल सकती है' ॥

एवं स राजा कथितो वसुदेवेन भारत ।
तस्य तद् वचनं चक्रे शूरसेनाधिपस्तदा ॥
ततस्तस्यां सम्बभूवुः कुमाराः सूर्यवर्चसः ।
जाताञ्जातांस्तु तान् सर्वाञ्जघान मधुरेश्वरः ॥

भरतनन्दन ! वसुदेवजीके ऐसा कहनेपर शूरसेनदेशके राजा कंसने उनकी बात मान ली । तदनन्तर देवकीके गर्भसे सूर्यके समान तेजस्वी अनेक कुमार क्रमशः उत्पन्न हुए । मथुरानरेश कंसने जन्म लेते ही उन सबको मार डालता था ॥

अथ तस्यां समभवद् बलदेवस्तु सप्तमः ।
याम्यया मायया तं तु यमो राजा विशाम्पते ॥
देवक्या गर्भमतुलं रोहिण्या जठरेऽक्षिपत् ।
आकृष्य कर्षणात् सम्यक् संकर्षण इति स्मृतः ॥
बलश्रेष्ठतया तस्य बलदेव इति स्मृतः ।

तदनन्तर देवकीके उदरमें सातवें गर्भके रूपमें बलदेवका आगमन हुआ । राजन् ! यमराजने यमसम्बन्धिनी मायाके द्वारा उस अनुपम गर्भको देवकीके उदरसे निकालकर रोहिणी-की कुक्षिमें स्थापित कर दिया । आकर्षण होनेके कारण उस बालकका नाम संकर्षण हुआ । बलमें प्रधान होनेसे उसका नाम बलदेव हुआ ॥

पुनस्तस्यां समभवदष्टमो मधुसूदनः ॥
तस्य गर्भस्य रक्षां तु चक्रे सोऽभ्यधिकं नृपः ।

तत्पश्चात् देवकीके उदरमें आठवें गर्भके रूपमें साक्षात् भगवान् मधुसूदनका आविर्भाव हुआ । राजा कंसने बड़े यत्नसे उस गर्भकी रक्षा की ॥

ततः काले रक्षणार्थं वसुदेवस्य सात्वतः ॥
उग्रः प्रयुक्तः कंसेन सचिवः क्रूरकर्मकृत् ।
विमूढेषु प्रभावेन बालस्योत्तीर्य तत्र वै ॥
उपागम्य स घोषे तु जगाम स महाद्युतिः ।
जातमात्रं वासुदेवमथाकृष्य पिता ततः ॥
उपजह्रे परिक्रीतां सुतां गोपस्य कस्यचित् ।

तदनन्तर प्रसवकाल आनेपर सात्वतवंशी वसुदेवपर कड़ी नजर रखनेके लिये कंसने उग्र स्वभाववाले अपने क्रूरकर्मा मन्त्रीको नियुक्त किया । परंतु बालस्वरूप श्रीकृष्णके प्रभावसे रक्षकोंके निद्रासे मोहित हो जानेपर वहाँसे उठकर महातेजस्वी वसुदेवजी बालकके साथ व्रजमें चले गये। नवजात वासुदेवको मथुरासे हटाकर पिता वसुदेवने उसके बदलेमें किसी गोपकी पुत्रीको लाकर कंसको भेंट कर दिया ॥

मुमुक्षमाणस्तं शब्दं देवदूतस्य पार्थिवः ॥
जघान कंसस्तां कन्यां प्रहसन्ती जगाम सा ।
आर्येति वाशती शब्दं तस्मादार्येति कीर्तिता ॥

देवदूतके कहे हुए पूर्वोक्त शब्दका स्मरण करके उसके भयसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले कंसने उस कन्याको भी पृथ्वीपर दे मारा । परंतु वह कन्या उसके हाथसे छूटकर हँसती और आर्य शब्दका उच्चारण करती हुई वहाँसे चली गयी । इसीलिये उसका नाम 'आर्या' हुआ ॥

एवं तं वञ्चयित्वा च राजानं स महामतिः ।
वासुदेवं महात्मानं वर्धयामास गोकुले ॥

परम बुद्धिमान् वसुदेवने इस प्रकार राजा कंसको चकमा देकर गोकुलमें अपने महात्मा पुत्र वासुदेवका पालन कराया ॥

वासुदेवोऽपि गोपेषु ववृधेऽब्जमिवाम्भसि ।
अज्ञायमानः कंसेन गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥

वासुदेव भी पानीमें कमलकी भाँति गोपोंमें रहकर बड़े हुए । काठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति वे अज्ञातभावसे वहाँ रहने लगे । कंसको उनका पता न चला ॥

विप्रचक्रेऽथ तान् सर्वान् बलवान् मधुरेश्वरः ।
वर्धमानो महाबाहुस्तेजोबलसमन्वितः ॥

मथुरानरेश कंस उन सब गोपोंको बहुत सताया करता था । इधर महाबाहु श्रीकृष्ण बड़े होकर तेज और बलसे सम्पन्न हो गये ॥

ततस्ते क्लिश्यमानास्तु पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
भयेन कामादपरे गणशः पर्यवारयन् ॥

राजाके सताये हुए गोपगण भय तथा कामनासे झुंड-के-झुंड एकत्र हो कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको घेरकर संगठित होने लगे ॥

स तु लब्ध्वा बलं राजन्नुग्रसेनस्य सम्मतः ।
वसुदेवात्मजः सर्वैर्भ्रातृभिः सहितं पुनः ॥
निर्जित्य युधि भोजेन्द्रं हत्वा कंसं महाबलः ।
अभ्यषिञ्चत् ततो राज्य उग्रसेनं विशाम्पते ॥

राजन् ! इस प्रकार बलका संग्रह करके महाबली वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने उग्रसेनकी सम्मतिके अनुसार समस्त भाइयोंसहित भोजराज कंसको मारकर पुनः उग्रसेनको ही मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ततः श्रुत्वा जरासंधो माधवेन हतं युधि ।
शूरसेनाधिपं चक्रे कंसपुत्रं तदा नृपः ॥

राजन् ! जरासंधने जब यह सुना कि श्रीकृष्णने कंसको युद्धमें मार डाला है, तब उसने कंसके पुत्रको शूरसेनदेशका राजा बनाया ॥

स सैन्यं महदुत्थाप्य वासुदेवं प्रसह्य च ।
अभ्यषिञ्चत् सुतं तत्र सुताया जनमेजय ॥

जनमेजय ! उसने बड़ी भारी सेना लेकर आक्रमण किया और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको हराकर अपनी पुत्रीके पुत्रको वहाँ राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

उग्रसेनं च वृष्णींश्च महाबलसमन्वितः ।
स तत्र विप्रकुरुते जरासंधः प्रतापवान् ॥
एतद् वैरं कौरवेय जरासंधस्य माधवे ।

जनमेजय ! प्रतापी जरासंध महान् बल और सैनिक-शक्तिसे सम्पन्न था । वह उग्रसेन तथा वृष्णिवंशको सदा क्लेश पहुँचाया करता था । कुरुनन्दन ! जरासंध और श्रीकृष्णके वैरका यही वृत्तान्त है ॥

आशासितार्थे राजेन्द्र संरुरोध विनिर्जितान् ।
पार्थिवैस्तैर्नृपतिभिर्यक्ष्यमाणः समृद्धिमान् ॥
देवश्रेष्ठं महादेवं कृत्तिवासं त्रियम्बकम् ।
एतत् सर्वं यथा वृत्तं कथितं भरतर्षभ ॥
यथा तु स हतो राजा भीमसेनेन तच्छृणु ।)

राजेन्द्र ! समृद्धिशाली जरासंध कृत्तिवासा और त्र्यम्बक नामोंसे प्रसिद्ध देवश्रेष्ठ महादेवजीको भूमण्डलके राजाओंकी बलि देकर उनका यजन करना चाहता था और इसी मनोवाञ्छित

प्रयोजनकी सिद्धिके लिये उसने अपने जीते हुए समस्त राजाओंको कैदमें डाल रक्खा था। भरतश्रेष्ठ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् बताया गया। अब जिस प्रकार भीमसेनने राजा जरासंधका वध किया, वह प्रसङ्ग सुनो॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधका युद्धके लिये उद्योगविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥२२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९ श्लोक मिलाकर कुल ७५ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

जरासंधका भीमसेनके साथ युद्ध करनेका निश्चय, भीम और जरासंधका भयानक युद्ध और जरासंधकी थकावट

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः।
उवाच वाग्मी राजानं जरासंधमधोक्षजः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा जरासंधने अपने मनमें युद्धका निश्चय कर लिया है, यह देख बोलनेमें कुशल यदुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा॥ १॥

श्रीकृष्ण उवाच

त्रयाणां केन ते राजन् योद्धुमुत्सहते मनः।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि॥ २॥

श्रीकृष्णने पूछा—राजन्! हम तीनोंमेंसे किस एक व्यक्तिके साथ युद्ध करनेके लिये तुम्हारे मनमें उत्साह हो रहा है? हममेंसे कौन तुम्हारे साथ युद्धके लिये तैयार हो?॥२॥

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः।
जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः॥ ३॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी मगधनरेश राजा जरासंधने भीमसेनके साथ युद्ध करना स्वीकार किया॥ ३॥

आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च।
धारयन्नगदान् मुख्यान् निर्वृतीर्वेदनानि च।
उपतस्थे जरासंधं युयुत्सुं वै पुरोहितः॥ ४॥

जरासंधको युद्ध करनेके लिये उत्सुक देख उसके पुरोहित गोरोचन, माला, अन्यान्य माङ्गलिक वस्तुएँ तथा उत्तम-उत्तम ओषधियाँ, जो पीड़ाके समय भी सुख देनेवाली और मूर्च्छाकालमें भी होश बनाये रखनेवाली थीं, लेकर उसके पास आये॥ ४॥

कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना।
समनह्यज्जरासंधः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ ५॥

यशस्वी ब्राह्मणके द्वारा स्वस्तिवाचन सम्पन्न हो जानेपर जरासंध क्षत्रियधर्मका स्मरण करके युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गया॥ ५॥

अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुगृह्य च।
उदतिष्ठज्जरासंधो वेलातिग इवार्णवः॥ ६॥

जरासंधने किरीट उतारकर केशोंको कसकर बाँध लिया। तत्पश्चात् वह युद्धके लिये उठकर खड़ा हो गया; मानो महासागर अपनी मर्यादा—तटवर्तिनी भूमिको लाँघ जानेको उद्यत हो गया हो॥ ६॥

उवाच मतिमान् राजा भीमं भीमपराक्रमः।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम्॥ ७॥

उस समय भयानक पराक्रम करनेवाले बुद्धिमान् राजा जरासंधने भीमसेनसे कहा—'भीम! आओ, मैं तुमसे युद्ध करूँगा; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषसे लड़कर हारना भी अच्छा है'॥७॥

एवमुक्त्वा जरासंधो भीमसेनमरिंदमः।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवासुरः॥ ८॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी शत्रुदमन जरासंध भीमसेनकी ओर बढ़ा; मानो बल नामक असुर इन्द्रसे भिड़नेके लिये बढ़ा जा रहा हो॥ ८॥

ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली।
भीमसेनो जरासंधमाससाद युयुत्सया॥ ९॥

तदनन्तर बलवान् भीमसेन भी श्रीकृष्णसे सलाह लेकर स्वस्तिवाचनके अनन्तर युद्धकी इच्छासे जरासंधके पास आ धमके॥ ९॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ॥ १०॥

फिर तो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरकर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अपनी भुजाओंसे ही आयुधका काम लेते हुए परस्पर भिड़ गये॥ १०॥

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः॥ ११॥

पहले उन दोनोंने हाथ मिलाये। फिर एक-दूसरेके चरणोंका अभिवन्दन किया। तत्पश्चात् भुजाओंके मूलभागके

संचालनसे वहाँ बँधे हुए बाजूबंदकी डोरको हिलाते हुए वे दोनों वीर वहीं ताल ठोंकने लगे ॥ ११ ॥

स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥ १२ ॥

राजन् ! फिर वे दोनों हाथोंसे एक-दूसरेके कंधेपर बार-बार चोट करते हुए अङ्ग-अङ्गसे भिड़कर आपसमें गुँथ गये तथा एक-दूसरेको बार-बार रगड़ने लगे ॥ १२ ॥

चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाशनिम् ॥ १३ ॥

वे कभी हाथोंको बड़े वेगसे सिकोड़ लेते, कभी फैला देते, कभी ऊपर-नीचे चलाते और कभी मुट्ठी बाँध लेते। इस प्रकार चित्रहस्त आदि दाँव दिखाकर उन दोनोंने कक्षा-बन्धका प्रयोग किया अर्थात् एक-दूसरेकी काख या कमरमें दोनों हाथ डालकर प्रतिद्वन्द्वीको बाँध लेनेकी चेष्टा की। फिर गलेमें और गालमें ऐसे-ऐसे हाथ मारने लगे कि आगकी चिनगारी-सी निकलने लगी और वज्रपातका-सा शब्द होने लगा ॥ १३ ॥

बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे 'बाहुपाश' और 'चरणपाश' आदि दाँव-पेंचोंसे काम लेते हुए एक-दूसरेपर पैरोंसे ऐसा भीषण प्रहार करने लगे कि शरीरकी नस-नाड़ियाँतक पीड़ित हो उठीं। तदनन्तर दोनोंने दोनोंपर 'पूर्णकुम्भ' नामक दाँव लगाया (दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको परस्पर गूँथकर उन हाथोंकी हथेलियोंसे शत्रुके सिरको दबाया)। इसके बाद 'उरोहस्त'का प्रयोग किया (छातीपर थप्पड़ मारना शुरू कर दिया) ॥ १४ ॥

करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥ १५ ॥

फिर एक-दूसरेके हाथ दबाकर वे दोनों दो गजराजोंकी भाँति गर्जने लगे। दोनों ही भुजाओंसे प्रहार करते हुए मेघके समान गम्भीर स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १५ ॥

तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥ १६ ॥

थप्पड़ोंकी मार खाकर वे परस्पर घूर-घूरकर देखते और अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंके समान एक-दूसरेको खींच-खींचकर लड़ने लगे ॥ १६ ॥

अङ्गेनाङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ॥ १७ ॥

उस समय दोनों अपने अङ्गों और भुजाओंसे प्रतिद्वन्द्वीके शरीरको दबाकर शत्रुकी पीठमें अपने गलेकी हँसली भिड़ाकर उसके पेटको दोनों बाँहोंसे कस लेते और उठाकर दूर फेंकते थे ॥

उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाक्षिपत् ॥ १८ ॥

इसी प्रकार कमरमें और बगलमें भी हाथ लगाकर दोनों प्रतिद्वन्द्वीको पछाड़नेकी चेष्टा करते थे। अपने शरीरको सिकोड़कर शत्रुकी पकड़से छूट जानेकी कला दोनों जानते थे। दोनों ही मल्लयुद्धकी शिक्षामें प्रवीण थे। वे उदरके नीचे हाथ लगाकर दोनों हाथोंसे पेटको लपेट लेते और विपक्षीको कण्ठ एवं छातीतक ऊँचे उठाकर धरतीपर दे मारते थे ॥ १८ ॥



सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।
सम्पूर्णमूर्च्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥ १९ ॥

फिर वे सारी मर्यादाओंसे ऊँचे उठे हुए 'पृष्ठभङ्ग' नामक दाँव-पेंचसे काम लेने लगे (अर्थात् एक-दूसरेकी पीठको धरतीसे लगा देनेकी चेष्टामें लग गये)। दोनों भुजाओंसे सम्पूर्ण मूर्च्छा (उदर आदिमें आघात करके मूर्च्छित करनेका प्रयत्न) तथा पूर्वोक्त पूर्णकुम्भका प्रयोग करने लगे ॥ १९ ॥

तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वे अपनी इच्छाके अनुसार 'तृणपीड' (रस्सी बनानेके लिये बटे जानेवाले तिनकोंकी भाँति हाथ-पैर आदिको ऐंठना) तथा मुष्टिकाघातसहित पूर्णयोग (मुक्केको एक अङ्गमें मारनेकी चेष्टा दिखाकर दूसरे अङ्गमें आघात करना) आदि युद्धके दाँव-पेंचोंका प्रयोग एक-दूसरेपर करने लगे ॥ २० ॥

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥

शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः।
निरन्तरमभूत् तत्र जनौघैरभिसंवृतम्॥ २२॥

जनमेजय! उस समय उनका मल्लयुद्ध देखनेके लिये हजारों पुरवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ एवं वृद्ध इकट्ठे हो गये। मनुष्योंकी अपार भीड़से वह स्थान ठसाठस भर गया॥ २१-२२॥

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात् तथा।
आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव॥ २३॥

उन दोनोंकी भुजाओंके आघातसे तथा एक-दूसरेके निग्रह-प्रग्रह[1]से ऐसा भयंकर चटचट शब्द होता था, मानो वज्र और पर्वत परस्पर टकरा रहे हों॥ २३॥

उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ॥ २४॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें भरे हुए थे और एक-दूसरेकी दुर्बलता या असावधानीपर दृष्टि रखते हुए परस्पर बलपूर्वक विजय पानेकी इच्छा रखते थे॥

तद् भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपप्लवे।
बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव॥ २५॥

राजन्! उस समरभूमिमें, जहाँ वृत्रासुर और इन्द्रकी भाँति उन दोनों बलवान् वीरोंमें संघर्ष छिड़ा था, ऐसा भयंकर युद्ध हुआ कि दर्शकलोग दूर भाग खड़े हुए॥ २५॥

प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः।
आचकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः॥ २६॥

वे एक-दूसरेको पीछे ढकेलते और आगे खींचते थे। बार-बार खींचतान और छीना-झपटी करते थे। दोनोंने अपने प्रहारोंसे एक-दूसरेके शरीरमें खरौंच एवं घाव पैदा कर दिये और दोनों दोनोंको पटककर घुटनोंसे मारने तथा रगड़ने लगे॥ २६॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः॥ २७॥

फिर बड़े भारी गर्जन-तर्जनके द्वारा आपसमें डाँट बताते हुए एक-दूसरेपर ऐसे प्रहार करने लगे मानो पत्थरोंकी वर्षा कर रहे हों॥ २७॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव॥ २८॥

दोनोंकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। दोनों ही मल्लयुद्धमें कुशल थे और लोहेकी परिघ-जैसी मोटी भुजाओंको भिड़ाकर आपसमें गुँथ जाते थे॥ २८॥

कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत॥ २९॥

कार्तिक मासके पहले दिन उन दोनोंका युद्ध प्रारम्भ हुआ और दिन-रात बिना खाये-पिये अविरामगतिसे चलता रहा॥ २९॥

तद् वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात्॥ ३०॥

उन महात्माओंका वह युद्ध इसी रूपमें त्रयोदशीतक होता रहा। चतुर्दशीकी रातमें मगधनरेश जरासंध क्लेशसे थककर युद्धसे निवृत्त-सा होने लगा॥ ३०॥

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः।
उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव॥ ३१॥

राजन्! उसे इस प्रकार थका देख भगवान् श्रीकृष्ण भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनको समझाते हुए-से बोले—॥ ३१॥

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः॥ ३२॥

'कुन्तीनन्दन! शत्रु थक गया हो तो युद्धमें उसे अधिक पीड़ा देना उचित नहीं है। यदि उसे पूर्णतः पीड़ा दी जाय तो वह अपने प्राण त्याग देगा॥ ३२॥

तस्मात् ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ॥ ३३॥

'अतः पार्थ! तुम्हें राजा जरासंधको अधिक पीड़ा नहीं देनी चाहिये। भरतश्रेष्ठ! तुम अपनी भुजाओंद्वारा इनके साथ समभावसे ही युद्ध करो'॥ ३३॥

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा।
जरासंधस्य तद् रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे॥ ३४॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार भीमसेनने जरासंधको थका हुआ जानकर उसके वधका विचार किया॥ ३४॥

ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः॥ ३५॥

तदनन्तर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ वृकोदरने उस अपराजित शत्रु जरासंधको जीतनेके लिये भारी क्रोध धारण किया॥ ३५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधक्लान्तौ त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधकी थकावटसे सम्बन्ध रखनेवाला तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३॥

---

१. दोनों हाथोंसे शत्रुका कंधा पकड़कर खींचने और उसे नीचे मुख गिरानेकी चेष्टाका नाम 'निग्रह' है तथा शत्रुको उत्तान गिरा देनेके लिये उसके पैरोंको पकड़कर खींचना 'प्रग्रह' कहलाता है।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भीमके द्वारा जरासंधका वध, बंदी राजाओंकी मुक्ति, श्रीकृष्ण आदिका भेंट लेकर इन्द्रप्रस्थमें आना और वहाँसे श्रीकृष्णका द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम्।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासंधवधेप्सया॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भीमसेनने विशाल बुद्धिका सहारा ले जरासंधके वधकी इच्छासे यदुनन्दन श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कहा—॥ १॥

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम्।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा॥ २॥

'यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! जरासंधने लंगोटसे अपनी कमर खूब कस ली है। यह पापी प्राण रहते मेरे वशमें आनेवाला नहीं जान पड़ता'॥ २॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम्।
त्वरयन् पुरुषव्याघ्रो जरासंधवधेप्सया॥ ३॥

उनके ऐसा कहनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जरासंधके वधके लिये भीमसेनको उत्तेजित करते हुए कहा—॥ ३॥

यत् ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः।
बलं भीम जरासंधे दर्शयाशु तदद्य नः॥ ४॥

'भीम! तुम्हारा जो सर्वोत्कृष्ट दैवी स्वरूप है और तुम्हें वायुदेवतासे जो दिव्य बल प्राप्त हुआ है, उसे आज हमारे सामने जरासंधपर शीघ्रतापूर्वक दिखाओ॥ ४॥

(त्वयैष वध्यो दुर्बुद्धिः जरासंधो महारथः।
इत्यन्तरिक्षे त्वश्रौषं यदा वायुरपोह्यते॥

'यह खोटी बुद्धिवाला महारथी जरासंध तुम्हारे हाथोंसे ही मारा जा सकता है। यह बात आकाशमें मुझे उस समय सुनायी पड़ी थी जब कि बलरामजीके द्वारा जरासंधके प्राण लेनेकी चेष्टा की जा रही थी॥

गोमन्ते पर्वतश्रेष्ठे येनैष परिमोक्षितः।
बलदेवबलं प्राप्य कोऽन्यो जीवेत मागधात्॥

'इसीलिये गिरिश्रेष्ठ गोमन्तपर भैया बलरामने इसे जीवित छोड़ दिया था; अन्यथा बलदेवजीके काबूमें आ जानेपर इस जरासंधके सिवा दूसरा कौन जीवित बच सकता था?॥

तदस्य मृत्युर्विहितः त्वदृते न महाबल।
वायुं चिन्त्य महाबाहो जहीमं मगधाधिपम्॥)

'महाबली भीम! तुम्हारे सिवा और किसीके द्वारा इसकी मृत्यु नहीं होनेवाली है। महाबाहो! तुम वायुदेवका चिन्तन करके इस मगधराजको मार डालो'॥

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासंधमरिंदमः।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः॥ ५॥

उनके इस तरह संकेत करनेपर शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबली भीमने उस समय बलवान् जरासंधको उठाकर आकाशमें वेगसे घुमाना आरम्भ किया॥ ५॥

(ततस्तु भगवान् कृष्णो जरासंधजिघांसया।
भीमसेनं समालोक्य नलं जग्राह पाणिना॥
द्विधा चिच्छेद वै तत् तु जरासंधवधं प्रति।)

तब भगवान् श्रीकृष्णने जरासंधका वध करानेकी इच्छासे भीमसेनकी ओर देखकर एक नरकट* हाथमें ले लिया और उसे (दातुनकी भाँति) दो टुकड़ोंमें चीर डाला (तथा उसे फेंक दिया)। यह जरासंधको मारनेके लिये एक संकेत था॥

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च॥ ६॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! (भीमने उनके संकेतको समझ लिया और) उन्होंने सौ बार घुमाकर उसे धरतीपर पटक दिया और उसकी पीठको धनुषकी तरह मोड़कर दोनों घुटनोंकी चोटसे उसकी रीढ़ तोड़ डाली, फिर अपने शरीरकी रगड़से पीसते हुए भीमने बड़े जोरसे सिंहनाद किया॥ ६॥

करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः॥ ७॥

इसके बाद अपने एक हाथसे उसका एक पैर पकड़कर और दूसरे पैरपर अपना पैर रखकर महाबली भीमने उसे दो खण्डोंमें चीर डाला॥ ७॥

(पुनः संधाय तु तदा जरासंधः प्रतापवान्॥
भीमेन च समागम्य बाहुयुद्धं चकार ह।
तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्॥
सर्वलोकक्षयकरं सर्वभूतभयावहम्।
पुनः कृष्णस्तमिरिणं द्विधा विच्छिद्य माधवः॥
व्यत्यस्य प्राक्षिपत् तत् तु जरासंधवधेप्सया।

तब वे दोनों टुकड़े फिरसे जुड़ गये और प्रतापी जरासंध भीमसे भिड़कर बाहुयुद्ध करने लगा। उन दोनों वीरोंका वह युद्ध अत्यन्त भयंकर और रोमाञ्चकारी था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सम्पूर्ण जगत्‌का संहार हो जायगा। वह द्वन्द्वयुद्ध सम्पूर्ण प्राणियोंके भयको बढ़ानेवाला था। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने पुनः एक नरकट लेकर पहलेकी ही

---

* नरकट बेंतकी तरह पोले डंठलका एक पौधा होता है, जो क़लम बनानेके काम आता है।

भाँति चीरकर उसके दो टुकड़े कर दिये और उन दोनों टुकड़ोंको अलग-अलग विपरीत दिशामें फेंक दिया। जरासंधके वधके लिये यह दूसरा संकेत था ॥

भीमसेनस्तदा ज्ञात्वा निर्बिभेद च मागधम् ॥
द्विधा व्यत्यस्य पादेन प्राक्षिपच्च ननाद ह।

भीमसेनने उसे समझकर पुनः मगधराजको दो टुकड़ोंमें चीर डाला और पैरसे ही उन दोनों टुकड़ोंको विपरीत दिशाओंमें करके फेंक दिया। इसके बाद वे विकट गर्जना करने लगे ॥

शुष्कमांसास्थिमेदस्त्वग्भिन्नमस्तिष्कपिण्डकः ॥
शवभूतस्तदा राजन् पिण्डीकृत इवाबभौ।)

राजन्! उस समय जरासंधका शरीर शवरूप होकर मांसके लोंदे-सा जान पड़ने लगा। उसके शरीरके मांस, हड्डियाँ, मेदा और चमड़ा सभी सूख गये थे। मस्तिष्क और शरीर दो भागोंमें विदीर्ण हो गये थे ॥

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः।
अभवत् तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः ॥ ८ ॥
वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः।
भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह ॥ ९ ॥

जब जरासंध रगड़ा जा रहा था और पाण्डुकुमार गर्ज-गर्जकर उसे पीसे डालते थे, उस समय भीमसेनकी गर्जना और जरासंधकी चीत्कारसे जो तुमुल नाद प्रकट हुआ, वह समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला था। उसे सुनकर सभी मगधनिवासी भयसे थर्रा उठे। स्त्रियोंके तो गर्भतक गिर गये ॥ ८-९ ॥

किं नु स्याद्धिमवान् भिन्नः किं नु स्विद् दीर्यते मही।
इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात् ॥ १० ॥

भीमसेनकी गर्जना सुनकर मगधके लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि 'कहीं हिमालय पहाड़ तो नहीं फट पड़ा? कहीं पृथ्वी तो विदीर्ण नहीं हो रही है?' ॥ १० ॥

ततो राज्ञः कुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम्।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः ॥ ११ ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे तीनों वीर रातमें राजा जरासंधके प्राणहीन शरीरको सोते हुएके समान राज-भवनके द्वारपर छोड़कर वहाँसे चल दिये ॥ ११ ॥

जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम्।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णने जरासंधके ध्वजा-पताकामण्डित दिव्य रथको जोत लिया और उसपर दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको बिठाकर पहाड़ी खोहके पास जा वहाँ कैदमें पड़े हुए अपने बान्धवस्वरूप समस्त राजाओंको छुड़ाया ॥ १२ ॥

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥ १३ ॥

उस महान् भयसे छूटे हुए रत्नभोगी नरेशोंने भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर उन्हें विविध रत्नोंसे युक्त कर दिया ॥ १३ ॥

अक्षतः शस्त्रसम्पन्नो जितारिः सह राजभिः।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण क्षतरहित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। वे शत्रुपर विजय पा चुके थे, उस अवस्थामें वे उस दिव्य रथपर आरूढ़ हो कैदसे छूटे हुए राजाओंके साथ गिरिव्रज नगरसे बाहर निकले ॥ १४ ॥

यः स सोदर्यवान् नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥ १५ ॥

उस रथका नाम था सोदर्यवान्, उसमें दो महारथी योद्धा एक साथ बैठकर युद्ध कर सकते थे, इस समय भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि थे। उस रथमें बार-बार शत्रुओंपर आघात करनेकी सुविधा थी तथा वह दर्शनीय होनेके साथ ही समस्त राजाओंके लिये दुर्जय था ॥ १५ ॥

भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥ १६ ॥
शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये।

भीम और अर्जुन—ये दो योद्धा उस रथपर बैठे थे, श्रीकृष्ण सारथिका काम सँभाल रहे थे, सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंके लिये भी उसे जीतना कठिन था। इन दोनों रथियोंके द्वारा उस श्रेष्ठ रथकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो इन्द्र और विष्णु एक साथ बैठकर तारकामय संग्राममें विचर रहे हों ॥ १६½ ॥

रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ॥ १७ ॥
तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणामित्रघातिना ॥ १८ ॥

वह रथ तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था। उसमें क्षुद्र घण्टिकाओंसे युक्त झालरें लगी थीं। उसकी घर्घराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान जान पड़ती थी। वह शत्रुओंका विघातक और विजय प्रदान करनेवाला था। उसी रथपर सवार हो उसके द्वारा श्रीकृष्णने उस समय यात्रा की ॥ १७-१८ ॥

येन शक्रो दानवानां जघान नवतीर्नव।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १९ ॥

यह वही रथ था, जिसके द्वारा इन्द्रने निन्यानबे दानवोंका वध किया था। उस रथको पाकर वे तीनों नरश्रेष्ठ बहुत प्रसन्न हुए ॥ १९ ॥

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः॥ २०॥

तदनन्तर दोनों फुफेरे भाइयोंके साथ रथपर बैठे हुए महाबाहु श्रीकृष्णको देखकर मगधके निवासी बड़े विस्मित हुए॥ २०॥

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत॥ २१॥

वह रथ वायुके समान वेगशाली था, उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे। भारत! श्रीकृष्णके बैठ जानेसे उस दिव्य रथकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ २१॥

असङ्गो देवविहितस्तस्मिन् रथवरे ध्वजः।
योजनाद् ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः॥ २२॥

उस उत्तम रथपर देवनिर्मित ध्वज फहराता रहता था, जो रथसे अछूता था (रथके साथ उसका लगाव नहीं था, वह बिना आधारके ही उसके ऊपर लहराया करता था)। इन्द्रधनुषके समान प्रकाशमान बहुरंगी एवं शोभाशाली वह ध्वज एक योजन दूरसे ही दीखने लगता था॥ २२॥

चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात्।
क्षणे तस्मिन् स तेनासीच्चैत्यवृक्ष इवोत्थितः॥ २३॥
व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः।
तस्मिन् रथवरे तस्थौ गरुत्मान् पन्नगाशनः॥ २४॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने गरुडजीका स्मरण किया। गरुडजी उसी क्षण वहाँ आ गये। उस रथकी ध्वजामें बहुत-से भूत मुँह बाये हुए विकट गर्जना करते रहते थे। उन्हींके साथ सर्पभोजी गरुडजी भी उस श्रेष्ठ रथपर स्थित हो गये। उनके द्वारा वह ध्वज ऊँचे उठे हुए चैत्य वृक्षके समान सुशोभित हो गया॥ २३-२४॥

दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं बभौ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः॥ २५॥
न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते।
दिव्यो ध्वजवरो राजन् दृश्यते चेह मानुषैः॥ २६॥

अब वह उत्तम ध्वज सहस्रों किरणोंसे आवृत मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति अपने तेजसे अधिक प्रकाशित होने लगा। प्राणियोंके लिये उसकी ओर देखना कठिन हो गया। वह वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं था, अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा कटता नहीं था। राजन्! वह दिव्य और श्रेष्ठ ध्वज इस लोकके मनुष्योंको दृष्टिगोचर मात्र होता था॥ २५-२६॥

तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम्।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः॥ २७॥

मेघके समान गम्भीर घर्घर ध्वनिसे परिपूर्ण उसी दिव्य रथपर भीमसेन और अर्जुनके साथ बैठे हुए पुरुषसिंह भगवान् श्रीकृष्ण नगरसे बाहर निकले॥ २७॥

यं लेभे वासवाद् राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः।
बृहद्रथात् क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृप॥ २८॥

राजन्! इन्द्रसे उस रथको राजा वसुने प्राप्त किया था। फिर क्रमशः वसुसे बृहद्रथको और बृहद्रथसे जरासंधको वह रथ मिला था॥ २८॥

स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः।
गिरिव्रजाद् बहिस्तस्थौ समदेशे महायशाः॥ २९॥

महायशस्वी कमलनयन महाबाहु श्रीकृष्ण गिरिव्रजसे बाहर आ समतल भूमिपर खड़े हुए॥ २९॥

तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा॥ ३०॥

जनमेजय! वहाँ ब्राह्मण आदि सभी नागरिकोंने शास्त्रीय विधिसे उनका सत्कार एवं पूजन किया॥ ३०॥

बन्धनाद् विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम्।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः॥ ३१॥

कैदसे छूटे हुए राजाओंने भी मधुसूदनकी पूजा की और उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा—॥ ३१॥



नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम्॥ ३२॥

'महाबाहो! आप देवकी देवीको आनन्दित करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं, भीमसेन और अर्जुनका बल भी आपके साथ है। आपके द्वारा जो धर्मकी रक्षा हो रही है, वह आप-सरीखे धर्मावतारके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है॥ ३२॥

जरासंधह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम्।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै॥ ३३॥

'प्रभो! हम सब राजा दुःखरूपी पङ्कसे युक्त जरासंध-

रूपी भयानक कुण्डमें डूब रहे थे, आपने जो आज हमारा यह उद्धार किया है, वह आपके योग्य ही है ॥ ३३ ॥

विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे ।
दिष्ट्या मोक्षाद् यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ॥ ३४ ॥

'विष्णो ! अत्यन्त भयंकर पहाड़ी किलेमें कैद हो हम बड़े दुःखसे दिन काट रहे थे । यदुनन्दन ! आपने हमें इस संकटसे मुक्त करके अत्यन्त उज्ज्वल यश प्राप्त किया है; यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३४ ॥

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान् ।
कृतमित्येव तद् विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३५ ॥

'पुरुषसिंह ! हम आपके चरणोंमें पड़े हैं । आप हमें आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें ? कोई दुष्कर कार्य हो तो भी आपको यह समझना चाहिये मानो हम सब राजाओंने मिलकर उसे पूर्ण कर ही दिया' ॥ ३५ ॥

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३६ ॥

तब महामना भगवान् हृषीकेशने उन सबको आश्वासन देकर कहा—'राजाओ ! धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं ॥ ३६ ॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥ ३७ ॥

'धर्ममें तत्पर रहते हुए ही उन्हें सम्राट्-पद प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है । इस कार्यमें तुम सब लोग उनकी सहायता करो' ॥ ३७ ॥

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम ।
तथेत्येवाब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥ ३८ ॥

नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! तब उन सभी राजाओंने प्रसन्नचित्त हो 'तथास्तु' कहकर भगवान्‌की वह आज्ञा शिरोधार्य कर ली ॥ ३८ ॥

रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः ।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३९ ॥

इतना ही नहीं, उन भूपालोंने दशार्हकुलभूषण भगवान्‌को रत्न भेंट किये । भगवान् गोविन्दने बड़ी कठिनाईसे, उन सबपर कृपा करनेके लिये ही, वह भेंट स्वीकार की ॥ ३९ ॥

जरासंधात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर जरासंधका पुत्र महामना सहदेव पुरोहितको आगे करके सेवकों और मन्त्रियोंके साथ नगरसे बाहर निकला ॥

स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४१ ॥

उसके आगे रत्नोंका बहुत बड़ा भण्डार आ रहा था । सहदेव अत्यन्त विनीतभावसे चरणोंमें पड़कर नरदेव भगवान् वासुदेवकी शरणमें आया था ॥ ४१ ॥

(सहदेव उवाच

यत् कृतं पुरुषव्याघ्र मम पित्रा जनार्दन ।
तत् ते हृदि महाबाहो न कार्यं पुरुषोत्तम ॥

सहदेव बोला—पुरुषसिंह जनार्दन ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! मेरे पिताने जो अपराध किया है, उसे आप अपने हृदयसे निकाल दें ॥

त्वां प्रपन्नोऽस्मि गोविन्द प्रसादं कुरु मे प्रभो ।
पितुरिच्छामि संस्कारं कर्तुं देवकिनन्दन ॥

गोविन्द ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ । प्रभो ! आप मुझपर कृपा कीजिये । देवकीनन्दन ! मैं अपने पिताका दाह-संस्कार करना चाहता हूँ ॥

त्वत्तोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य भीमसेनात् तथार्जुनात् ।
निर्भयो विचरिष्यामि यथाकामं यथासुखम् ॥

आपसे, भीमसेनसे तथा अर्जुनसे आज्ञा लेकर वह कार्य करूँगा और आपकी कृपासे निर्भय हो इच्छानुसार सुखपूर्वक विचरूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विज्ञाप्यमानस्य सहदेवस्य मारिष ।
प्रहृष्टो देवकीपुत्रः पाण्डवौ च महारथौ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्रकार निवेदन करनेपर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥

क्रियतां संस्क्रिया राजन् पितुस्त इति चाब्रुवन् ।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पार्थयोश्च स मागधः ॥
प्रविश्य नगरं तूर्णं सह मन्त्रिभिरच्युत ।
चितां चन्दनकाष्ठैश्च कालेयसरलैस्तथा ॥
कालागुरुसुगन्धैश्च तैलैश्च विविधैरपि ।
घृतधाराक्षतैश्चैव सुमनोभिश्च मागधम् ॥
समन्तादवकीर्यन्त दह्यन्तं मगधाधिपम् ।

उन सबने एक स्वरसे कहा—'राजन् ! तुम अपने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करो ।' भगवान् श्रीकृष्ण तथा दोनों कुन्तीकुमारोंका यह आदेश सुनकर मगधराजकुमारने मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही नगरमें प्रवेश किया । फिर चन्दनकी लकड़ी तथा केशर, देवदारु और काला अगुरु आदि सुगन्धित काष्ठोंसे चिता बनाकर उसपर मगधराजका शव रखा गया । तत्पश्चात् जलती चितामें दग्ध होते हुए मगधराजके शरीरपर नाना प्रकारके चन्दनादि सुगन्धित तैल और घीकी धाराएँ गिरायी गयीं । सब ओरसे अक्षत और फूलोंकी वर्षा की गयी ॥

उदकं तस्य चक्रेऽथ सहदेवः सहानुजः ॥
कृत्वा पितुः स्वर्गगतिं निर्ययौ यत्र केशवः ।
पाण्डवौ च महाभागौ भीमसेनार्जुनावुभौ ॥
स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा विज्ञापयत माधवम् ।

शवदाहके पश्चात् सहदेवने अपने छोटे भाईके साथ पिताके लिये जलाञ्जलि दी । इस प्रकार पिताका पारलौकिक कार्य करके राजकुमार सहदेव नगरसे निकलकर उस स्थानमें गया, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महाभाग पाण्डुपुत्र भीमसेन और अर्जुन विद्यमान थे । उसने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥

सहदेव उवाच

इमे रत्नानि भूरीणि गोऽजाविमहिषादयः ।
हस्तिनोऽश्वाश्च गोविन्द वासांसि विविधानि च ॥
दीयतां धर्मराजाय यथा वा मन्यते भवान् ।)

सहदेवने कहा—प्रभो ! ये गाय, भैंस, भेड़-बकरे आदि पशु, बहुत-से रत्न, हाथी-घोड़े और नाना प्रकारके वस्त्र आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं । गोविन्द ! ये सब वस्तुएँ धर्मराज युधिष्ठिरको दीजिये अथवा आपकी जैसी रुचि हो, उसके अनुसार मुझे सेवाके लिये आदेश दीजिये ॥

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥

वह भयसे पीड़ित हो रहा था; पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने उसे अभयदान देकर उसके लाये हुए बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट स्वीकार कर ली ॥ ४२ ॥

अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासंधात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् जरासंधकुमारको प्रसन्नतापूर्वक वहीं पिताके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया । श्रीकृष्णने सहदेवको अपना अभिन्न सुहृद् बना लिया, इसलिये भीमसेन और अर्जुनने भी उसका बड़ा सत्कार किया ॥ ४३ ॥

विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासंधिर्महात्मभिः ॥ ४४ ॥

राजन् ! उन महात्माओंद्वारा अभिषिक्त हो महाबाहु जरासंधपुत्र तेजस्वी राजा सहदेव अपने पिताके नगरमें लौट गया ॥ ४४ ॥

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४५ ॥

और पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सर्वोत्तम शोभासे सम्पन्न हो प्रचुर रत्नोंकी भेंट ले दोनों कुन्तीकुमारोंके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ४५ ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४६ ॥

भीमसेन और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें आकर भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले और अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—॥ ४६ ॥

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासंधो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! सौभाग्यकी बात है कि महाबली भीमसेनने जरासंधको मार गिराया और समस्त राजाओंको उसकी कैदसे छुड़ा दिया ॥ ४७ ॥

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४८ ॥

'भारत ! भाग्यसे ही ये दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन अपने नगरमें पुनः सकुशल लौट आये और इन्हें कोई क्षति नहीं पहुँची' ॥ ४८ ॥

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४९ ॥

तब युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका यथायोग्य सत्कार करके भीमसेन और अर्जुनको भी प्रसन्नतापूर्वक गले लगाया ॥४९॥

ततः क्षीणे जरासंधे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् ।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥

तदनन्तर जरासंधके नष्ट होनेपर अपने दोनों भाइयोंद्वारा की हुई विजयको पाकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित आनन्दमग्न हो गये ॥ ५० ॥

(हृष्टश्च धर्मराड् वाक्यं जनार्दनमभाषत ।

फिर धर्मराजने हर्षमें भरकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ।

युधिष्ठिर उवाच

त्वां प्राप्य पुरुषव्याघ्र भीमसेनेन पातितः ।
मागधोऽसौ बलोन्मत्तो जरासंधः प्रतापवान् ॥

युधिष्ठिर बोले—पुरुषसिंह जनार्दन ! आपका सहारा पाकर ही भीमसेनने बलके अभिमानसे उन्मत्त रहनेवाले प्रतापी मगधराज जरासंधको मार गिराया है ॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं प्राप्स्यामि विगतज्वरः ।
त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य यागार्होऽस्मि जनार्दन ॥

अब मैं निश्चिन्त होकर यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयका शुभ अवसर प्राप्त करूँगा । प्रभो ! आपके बुद्धि-बलका सहारा पाकर मैं यज्ञ करनेयोग्य हो गया ॥

पीतं पृथिव्यां युद्धेन यशस्ते पुरुषोत्तम ।
जरासंधवधेनैव प्राप्तास्ते विपुलाः श्रियः ॥

पुरुषोत्तम ! इस युद्धसे भूमण्डलमें आपके यशका विस्तार हुआ । जरासंधके वधसे ही आपको प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त हुई है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य कौन्तेयः प्रादाद् रथवरं प्रभोः ।
प्रतिगृह्य तु गोविन्दो जरासंधस्य तं रथम् ॥
प्रहृष्टस्तस्य मुमुदे फाल्गुनेन जनार्दनः ।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मराजपुरस्कृतः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भगवान्‌को श्रेष्ठ रथ प्रदान किया । जरासंधके उस रथको पाकर गोविन्द बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके साथ उसमें बैठकर बड़े हर्षका अनुभव करने लगे । धर्मराज युधिष्ठिरके उस भेंटको अङ्गीकार करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ ॥

यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ५१ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ जाकर समस्त राजाओंसे उनकी अवस्थाके अनुसार क्रमशः मिले; फिर उन सबका यथायोग्य सत्कार एवं पूजन करके उन्होंने सभी नरपतियोंको विदा कर दिया ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः ।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥ ५२ ॥

राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा ले वे सब नरेश मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो अनेक प्रकारकी सवारियोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये ॥ ५२ ॥

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा ॥ ५३ ॥

जनमेजय ! इस प्रकार महाबुद्धिमान् पुरुषसिंह जनार्दनने उस समय पाण्डवोंद्वारा अपने शत्रु जरासंधका वध करवाया ॥

घातयित्वा जरासंधं बुद्धिपूर्वमरिंदमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ॥ ५४ ॥
सुभद्रां भीमसेनं च फाल्गुनं यमजौ तथा ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५५ ॥
तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना ।
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन् दिशः ॥ ५६ ॥

भारत ! जरासंधको बुद्धिपूर्वक मरवाकर शत्रुदमन श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर, कुन्ती तथा द्रौपदीसे आज्ञा ले, सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा धौम्यजीसे भी पूछकर धर्मराजके दिये हुए उसी मनके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए अपनी द्वारकापुरीको चले गये ॥ ५४—५६ ॥

ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जाते समय युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंने अनायास ही सब कार्य करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी परिक्रमा की ॥ ५७ ॥

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयं तदा ॥ ५८ ॥
संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीतिमवर्धयन् ॥ ५९ ॥

भारत ! महान् विजयको प्राप्त करके और जरासंधके द्वारा कैद किये हुए उन राजाओंको अभयदान देकर देवकी-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उक्त कर्मके द्वारा पाण्डवोंके यशका बहुत विस्तार हुआ और वे पाण्डव द्रौपदीकी भी प्रीतिको बढ़ाने लगे ॥ ५८-५९ ॥

तस्मिन् काले तु यद् युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
तद् राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम् ॥ ६० ॥

उस समय धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये जो उचित कर्तव्य था, उसका राजा युधिष्ठिरने धर्मपूर्वक पालन किया । वे प्रजाओंकी रक्षा करनेके साथ ही उन्हें धर्मका उपदेश भी देते रहते थे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधवधे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधवधविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ८६ श्लोक हैं)

(दिग्विजयपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन आदि चारों भाइयोंकी दिग्विजयके लिये यात्रा

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन श्रेष्ठ धनुष, दो विशाल एवं अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वज और अद्भुत सभाभवन पहले ही प्राप्त कर चुके थे; अब वे युधिष्ठिरसे बोले ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मुझे धनुष, अस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रीकृष्ण-जैसे सहायक, भूमि (राज्य एवं इन्द्रप्रस्थका दुर्ग), यश और बल—ये सभी दुर्लभ एवं मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं ॥ २ ॥

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम्।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान् नृपोत्तम ॥ ३ ॥

नृपश्रेष्ठ! अब मैं अपने कोषको बढ़ाना ही आवश्यक कार्य समझता हूँ। मेरी इच्छा है कि समस्त राजाओंको जीतकर उनसे कर वसूल करूँ ॥ ३ ॥

विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम्।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाभिपूजिते ॥ ४ ॥

आपकी आज्ञा हो तो उत्तम तिथि, मुहूर्त और नक्षत्रमें कुबेरद्वारा पालित उत्तर दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान करूँ॥

(एतच्छ्रुत्वा कुरुश्रेष्ठो धर्मराजः सहानुजः।
प्रहृष्टो मन्त्रिभिश्चैव व्यासधौम्यादिभिः सह ॥
ततो व्यासो महाबुद्धिरुवाचेदं वचोऽर्जुनम्।

यह सुनकर भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही मन्त्रियों तथा व्यास, धौम्य आदि महर्षियोंको बड़ा हर्ष हुआ। तत्पश्चात् परम बुद्धिमान् व्यासजीने अर्जुनसे कहा ॥

व्यास उवाच

साधु साध्विति कौन्तेय दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी।
पृथिवीमखिलां जेतुमेकोऽध्यवसितो भवान् ॥

व्यासजी बोले—कुन्तीनन्दन! मैं तुम्हें बारंबार साधुवाद देता हूँ। सौभाग्यसे तुम्हारी बुद्धिमें ऐसा संकल्प हुआ है। तुम सारी पृथ्वीको अकेले ही जीतनेके लिये उत्साहित हो रहे हो ॥

धन्यः पाण्डुर्महीपालो यस्य पुत्रस्त्वमीदृशः।
सर्वं प्राप्स्यति राजेन्द्रो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
त्वद्वीर्येण स धर्मात्मा सार्वभौमत्वमेष्यति।

राजा पाण्डु धन्य थे, जिनके पुत्र तुम ऐसे पराक्रमी निकले। तुम्हारे पराक्रमसे धर्मपुत्र धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर सब कुछ पा लेंगे। सार्वभौम सम्राट्‌के पदपर प्रतिष्ठित होंगे॥

त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राजसूयमवाप्स्यति ॥
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च।
यमयोश्चैव वीर्येण सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट् ॥

तुम्हारे बाहुबलका सहारा पाकर ये राजसूययज्ञ पूर्ण कर लेंगे। भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम नीति, भीम और अर्जुनके बल तथा नकुल और सहदेवके पराक्रमसे धर्मराज युधिष्ठिरको सब कुछ प्राप्त हो जायगा ॥

तस्माद् दिशं देवगुप्तामुदीचीं गच्छ फाल्गुन।
शक्तो भवान् सुराञ्जित्वा रत्नान्याहर्तुमोजसा ॥

इसलिये अर्जुन! तुम तो देवताओंद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशाकी यात्रा करो; क्योंकि देवताओंको जीतकर वहाँसे बलपूर्वक रत्न ले आनेमें तुम्हीं समर्थ हो ॥

प्राचीं भीमो बलश्लाघी प्रयातु भरतर्षभः।
याम्यां तत्र दिशं यातु सहदेवो महारथः ॥
प्रतीचीं नकुलो गन्ता वरुणेनाभिपालिताम्।
एषा मे नैष्ठिकी बुद्धिः क्रियतां भरतर्षभाः ॥

अपने बलद्वारा दूसरोंसे होड़ लेनेवाले भरतकुलभूषण भीमसेन पूर्व दिशाकी यात्रा करें। महारथी सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करें और नकुल वरुणपालित पश्चिम दिशापर आक्रमण करें। भरतश्रेष्ठ पाण्डवो! मेरी बुद्धिका ऐसा ही निश्चय है। तुमलोग इसका पालन करो ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा व्यासवचो हृष्टास्तमूचुः पाण्डुनन्दनाः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीकी यह बात सुनकर पाण्डवोंने बड़े हर्षके साथ कहा।

पाण्डवा ऊचुः

एवमस्तु मुनिश्रेष्ठ यथाऽऽज्ञापयसि प्रभो।)

पाण्डव बोले—मुनिश्रेष्ठ! आप जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही हो।

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी पूर्वोक्त बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ॥ ६ ॥

'भरतकुलभूषण! पूजनीय ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यात्रा करो। तुम्हारी यह यात्रा शत्रुओंका शोक और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाली हो ॥ ६ ॥

विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि।

'पार्थ! तुम्हारी विजय सुनिश्चित है, तुम अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त करोगे' ॥ ६½ ॥

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महताऽऽवृतः ॥ ७ ॥
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।

उनके इस प्रकार आदेश देनेपर कुन्तीपुत्र अर्जुन विशाल सेनाके साथ अग्निके दिये हुए अद्भुतकर्मा दिव्य रथ-द्वारा वहाँसे प्रस्थित हुए । इसी प्रकार भीमसेन तथा नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव इन सभी भाइयोंने धर्मराजसे सम्मानित हो सेनाओंके साथ दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया ॥ ७-८½ ॥

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ॥ ९ ॥
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन् दिशं व्यजयतास्त्रवित् ॥ १० ॥

राजन् ! इन्द्रकुमार अर्जुनने कुबेरकी प्रिय उत्तर दिशा-पर विजय पायी । भीमसेनने पूर्व दिशा, सहदेवने दक्षिण दिशा तथा अस्त्रवेत्ता नकुलने पश्चिम दिशाको जीता ॥ ९-१० ॥

खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥ ११ ॥

केवल धर्मराज युधिष्ठिर सुहृदोंसे घिरे हुए अपनी उत्तम राजलक्ष्मीके साथ खाण्डवप्रस्थमें रह गये थे ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें दिग्विजयका संक्षिप्त वर्णनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल २०½ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अनेक देशों, राजाओं तथा भगदत्तकी पराजय

जनमेजय उवाच

दिशामभिजयं ब्रह्मन् विस्तरेणानुकीर्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन् ! दिग्विजयका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये । अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यद्यपि कुन्तीके चारों पुत्रोंने एक ही समय इन चारों दिशाओंकी पृथ्वीपर विजय प्राप्त की थी, तो भी पहले तुम्हें अर्जुनका दिग्विजय-वृत्तान्त सुनाऊँगा ॥ २ ॥

पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥

महाबाहु धनंजयने अत्यन्त दुःसह पराक्रम प्रकट किये विना ही पहले पुलिन्द देशके भूमिपालोंको अपने वशमें किया ॥

आनर्तान् कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं च विजितं कृतवान् सहसैनिकम् ॥ ४ ॥

कुलिन्दोंके साथ-साथ कालकूट और आनर्त देशके राजाओंको जीतकर सेनासहित राजा सुमण्डलको भी जीत लिया ॥

स तेन सहितो राजन् सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

राजन् ! तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने सुमण्डलको साथी वना लिया और उनके साथ जाकर शाकलद्वीप तथा राजा प्रतिविन्ध्यपर विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥

शाकलद्वीप तथा अन्य सातों द्वीपोंमें जो राजा रहते थे, उनके साथ अर्जुनके सैनिकोंका घमासान युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

स तानपि महेष्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥

भरतकुलभूषण जनमेजय ! अर्जुनने उन महान् धनुर्धरों-को भी जीत लिया और उन सबको साथ लेकर प्राग्ज्योतिषपुरपर धावा किया ॥ ७ ॥

तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते ।
तेनासीत् सुमहद् युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

महाराज ! प्राग्ज्योतिषपुरके प्रधान राजा भगदत्त थे । उनके साथ महात्मा अर्जुनका बड़ा भारी युद्ध हुआ ॥ ८ ॥

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश किरात, चीन तथा समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले अन्य बहुतेरे योद्धाओंसे घिरे हुए थे ॥

ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजा संग्रामविगतक्लमम् ॥ १० ॥

राजा भगदत्तने अर्जुनके साथ आठ दिनोंतक युद्ध किया, तो भी उन्हें युद्धसे थकते न देख वे हँसते हुए बोले—॥ १० ॥

उपपन्नं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥

'महाबाहु कौरवनन्दन ! तुम इन्द्रके पुत्र और संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर हो। तुममें ऐसा बल और पराक्रम उचित ही है ॥ ११ ॥

अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥ १२ ॥

'मैं देवराज इन्द्रका मित्र हूँ और युद्धमें उनसे तनिक भी कम नहीं हूँ; बेटा ! तो भी मैं संग्राममें तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकूँगा ॥ १२ ॥

त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि महाबाहो तत् करिष्यामि पुत्रक॥ १३ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम्हारी इच्छा क्या है, बताओ ? मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? वत्स ! महाबाहो ! तुम जो कहोगे, वही करूँगा' ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥ १४ ॥

तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम्।
भवान् पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च।
ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! धर्मज्ञ सत्यप्रतिज्ञ कुरुकुल-रत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत दक्षिणा देकर राजसूय यज्ञ करनेवाले हैं। मैं चाहता हूँ वे चक्रवर्ती सम्राट् हों। आप उन्हें कर दीजिये। आप मेरे पिताके मित्र हैं और मुझसे भी प्रेम रखते हैं; अतः मैं आपको आज्ञा नहीं दे सकता। आप प्रेमभावसे ही उन्हें भेंट दीजिये ॥ १४-१५ ॥

भगदत्त उवाच

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः।
सर्वमेतत् करिष्यामि किं चान्यत् करवाणि ते ॥ १६ ॥

भगदत्तने कहा—कुन्तीकुमार ! मेरे लिये जैसे तुम हो वैसे राजा युधिष्ठिर हैं, मैं यह सब कुछ करूँगा। बोलो, तुम्हारे लिये और क्या करूँ ? ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनदिग्विजये भगदत्तपराजये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार महाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयप्रसंगमें भगदत्तपराजयसम्बन्धी छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अर्जुनका अनेक पर्वतीय देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः।
अनेनैव कृतं सर्वमनुजानीहि याम्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर धनंजयने भगदत्तसे कहा—'राजन् ! आपने जो कर देना स्वीकार कर लिया, इतनेसे ही मेरा सब सत्कार हो जायगा, अब आज्ञा दीजिये, मैं जाता हूँ' ॥ १ ॥

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
प्रययावुत्तरां तस्माद् दिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥

भगदत्तको जीतकर महाबाहु कुन्तीपुत्र अर्जुन वहाँसे कुबेरद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशामें गये ॥ २ ॥

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम्।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि नामक प्रदेशोंपर विजय प्राप्त की ॥ ३ ॥

विजित्य पर्वतान् सर्वान् ये च तत्र नराधिपाः।
तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ॥ ४ ॥

फिर समस्त पर्वतों और वहाँ निवास करनेवाले राजाओं-को अपने अधीन करके उन्होंने सबसे धन वसूल किये ।४।

तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान् नृपान्।
उलूकवासिनं राजन् बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् उन नरेशोंको प्रसन्न करके उन सबके साथ उलूकवासी राजा बृहन्तपर आक्रमण किया ॥ ५ ॥

मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥

जुझाऊ बाजे श्रेष्ठ मृदङ्ग आदिकी ध्वनि, रथके पहियों-की घर्घराहट और हाथियोंकी गर्जनासे वे इस पृथ्वीको कँपाते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ६ ॥

ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा।
निष्क्रम्य नगरात् तस्माद् योधयामास फाल्गुनम् ॥७॥

तब राजा बृहन्त तुरंत ही चतुरंगिणी सेनाके साथ नगर-से बाहर निकले और अर्जुनसे युद्ध करने लगे ॥ ७ ॥

सुमहान् संनिपातोऽभूद् धनंजयबृहन्तयोः।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ८ ॥

उस समय अर्जुन और बृहन्तमें बड़े जोरकी मार-काट शुरू हुई, परंतु बृहन्त पाण्डुपुत्र अर्जुनके पराक्रमको न सह सके ॥ ८ ॥

सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः।
उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारको असह्य मानकर दुर्धर्ष वीर पर्वतराज बृहन्त युद्धसे हट गये और सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ ।
सेनाबिन्दुमथो राजन् राज्यादाशु समाक्षिपत् ॥ १० ॥

जनमेजय ! अर्जुनने बृहन्तका राज्य पुनः उन्हींके हाथमें सौंपकर उलूकराजके साथ सेनाबिन्दुपर आक्रमण किया और उन्हें शीघ्र ही राज्यच्युत कर दिया ॥ १० ॥

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् ।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल तथा उत्तर उलूक देशों और वहाँके राजाओंको अपने अधीन किया ॥

तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
किरीटी जितवान् राजन् देशान् पञ्चगणांस्ततः ॥ १२ ॥

राजन् ! धर्मराजकी आज्ञासे किरीटधारी अर्जुनने वहीं रहकर अपने सेवकोंद्वारा पञ्चगण नामक देशोंको जीत लिया ॥

स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति ।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ १३ ॥

वहाँसे सेनाबिन्दुकी राजधानी देवप्रस्थमें आकर चतुरंगिणी सेनाके साथ शक्तिशाली अर्जुनने वहीं पड़ाव डाला ॥

स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन सभी पराजित राजाओंसे घिरे हुए महातेजस्वी अर्जुनने पौरव राजा विश्वगश्वपर आक्रमण किया ॥ १४ ॥

विजित्य चाहवे शूरान् पर्वतीयान् महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १५ ॥

वहाँ संग्राममें शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको परास्त करके पौरवद्वारा सुरक्षित उनकी राजधानीको भी सेनाद्वारा जीत लिया ॥ १५ ॥

पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः ।
गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥

पौरवको युद्धमें जीतकर पर्वतनिवासी लुटेरोंके सात दलोंपर, जो 'उत्सवसंकेत' कहलाते थे, पाण्डुकुमार अर्जुनने विजय प्राप्त की ॥ १६ ॥

ततः काश्मीरकान् वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥

इसके बाद क्षत्रियशिरोमणि धनंजयने काश्मीरके क्षत्रियवीरोंको तथा दस मण्डलोंके साथ राजा लोहितको भी जीत लिया ॥ १७ ॥

ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर त्रिगर्त, दार्व और कोकनद आदि बहुतसे क्षत्रियनरेशगण सब ओरसे कुन्तीनन्दन अर्जुनकी शरणमें आये ॥ १८ ॥

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः ।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १९ ॥

इसके बाद कुरुनन्दन धनंजयने रमणीय अभिसारी नगरीपर विजय पायी और उरगावासी राजा रोचमानको भी युद्धमें परास्त किया ॥ १९ ॥

ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।
प्राधमद् बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ २० ॥

तदनन्तर इन्द्रकुमार अर्जुनने राजा चित्रायुधके द्वारा सुरक्षित सुरम्य नगर सिंहपुरपर सेना लेकर आक्रमण किया और उसे युद्धमें जीत लिया ॥ २० ॥

ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः ।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत् कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥

इसके बाद पाण्डवप्रवर कुरुकुलनन्दन किरीटीने अपनी सारी सेनाके साथ धावा करके सुह्म तथा चोल देशकी सेनाओंको मथ डाला ॥ २१ ॥

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनिः ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् परम पराक्रमी इन्द्रकुमारने बड़ी भारी मार-काट मचाकर दुर्धर्ष वीर बाह्लीकोंको वशमें किया ॥ २२ ॥

गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
दरदान् सह काम्बोजैरजयत् पाकशासनिः ॥ २३ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने साथ शक्तिशालिनी सेना लेकर काम्बोजोंके साथ दरदोंको भी जीत लिया ॥ २३ ॥

प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने ये च तान् सर्वानजयत् प्रभुः ॥ २४ ॥

ईशान कोणका आश्रय ले जो लुटेरे या डाकू वनमें निवास करते थे, उन सबको शक्तिशाली धनंजयने जीतकर वशमें कर लिया ॥ २४ ॥

लोहान् परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान् महाराज व्यजयत् पाकशासनिः ॥ २५ ॥

महाराज ! लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक तथा उत्तर देशोंको भी अर्जुनने एक साथ जीत लिया ॥ २५ ॥

ऋषिकेष्वपि संग्रामो बभूवातिभयंकरः ।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ॥ २६ ॥

ऋषिकदेशमें भी ऋषिकराज और अर्जुनमें तारकामय संग्रामके समान बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ २६ ॥

स विजित्य ततो राजन्नृषिकान् रणमूर्धनि ।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ॥ २७ ॥

राजन् ! युद्धके मुहानेपर ऋषिकोंको हराकर अर्जुनने तोतेके उदरके समान हरे रंगवाले आठ घोड़े उनसे भेंट लिये ॥

मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ॥ २८ ॥

इनके सिवा, मोरके समान रंगवाले उत्तम, गतिशील और शीघ्रगामी दूसरे भी बहुतसे घोड़े वे करके रूपमें वसूल कर लाये ॥ २८ ॥

स विनिर्जित्य संग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत् पुरुषर्षभः ॥ २९ ॥

इसके बाद पुरुषोत्तम अर्जुन संग्राममें हिमवान् और निष्कुट प्रदेशके अधिपतियोंको जीतकर धवलगिरिपर आये और वहीं सेनाका पड़ाव डाला ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशजये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयके प्रसंगमें अनेक देशोंपर विजयसम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष, हाटक तथा उत्तरकुरुपर विजय प्राप्त करके अर्जुनका इन्द्रप्रस्थ लौटना

वैशम्पायन उवाच

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किम्पुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥ १ ॥
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पराक्रमी वीर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन धवलगिरिको लाँघकर द्रुमपुत्रके द्वारा सुरक्षित किम्पुरुषदेशमें गये, जहाँ किन्नरोंका निवास था । वहाँ क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले भारी संग्रामके द्वारा उन्होंने उस देशको जीत लिया और कर देते रहनेकी शर्तपर उस राजाको पुनः उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया ॥

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥ ३ ॥

किन्नरदेशको जीतकर शान्तचित्त इन्द्रकुमारने सेनाके साथ गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित हाटकदेशपर हमला किया ॥ ३ ॥

तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥

और उन गुह्यकोंको सामनीतिसे समझा-बुझाकर ही वशमें कर लेनेके पश्चात् वे परम उत्तम मानसरोवरपर गये । वहाँ कुरुनन्दन अर्जुनने समस्त ऋषि-कुल्याओं (ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध जल-स्रोतों) का दर्शन किया ॥ ४ ॥

सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्ततः ॥ ५ ॥

मानसरोवरपर पहुँचकर शक्तिशाली पाण्डुकुमारने हाटक देशके निकटवर्ती गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर भी अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ ५ ॥

तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान् हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात् तदा ॥ ६ ॥

वहाँ गन्धर्वनगरसे उन्होंने उस समय करके रूपमें तित्तिरि, कल्माष और मण्डूक नामवाले बहुत-से उत्तम घोड़े प्राप्त किये ॥ ६ ॥

(हेमकूटमथासाद्य न्यविशत् फाल्गुनस्तथा ।
तं हेमकूटं राजेन्द्र समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
हरिवर्षं विवेशाथ सैन्येन महताऽऽवृतः ।
तत्र पार्थो ददर्शाथ बहूनिह मनोरमान् ॥
नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः ।

तत्पश्चात् अर्जुनने हेमकूट पर्वतपर जाकर पड़ाव डाला । राजेन्द्र ! फिर हेमकूटको भी लाँघकर वे पाण्डुनन्दन पार्थ अपनी विशाल सेनाके साथ हरिवर्षमें जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने बहुत-से मनोरम नगर, सुन्दर वन तथा निर्मल जलसे भरी हुई नदियाँ देखीं ॥

पुरुषान् देवकल्पांश्च नारीश्च प्रियदर्शनाः ॥
तान् सर्वांस्तत्र दृष्ट्वाथ मुदा युक्तो धनंजयः ।

वहाँके पुरुष देवताओंके समान तेजस्वी थे । स्त्रियाँ भी परम सुन्दरी थीं । उन सबका अवलोकन करके अर्जुनको वहाँ बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

वशे चक्रेऽथ रत्नानि लेभे च सुबहूनि च ॥
ततो निषधमासाद्य गिरिस्थानजयत् प्रभुः ।
अथ राजन्नतिक्रम्य निषधं शैलमायतम् ॥
विवेश मध्यमं वर्षं पार्थो दिव्यमिलावृतम् ।

उन्होंने हरिवर्षको अपने अधीन कर लिया और वहाँसे बहुतेरे रत्न प्राप्त किये । इसके बाद निषधपर्वतपर जाकर

शक्तिशाली अर्जुनने वहाँके निवासियोंको पराजित किया। तदनन्तर विशाल निषधपर्वतको लाँघकर वे दिव्य इलावृत-वर्षमें पहुँचे, जो जम्बूद्वीपका मध्यवर्ती भूभाग है ॥

तत्र देवोपमान् दिव्यान् पुरुषान् देवदर्शनान् ॥
अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनंजयः ।

वहाँ अर्जुनने देवताओं-जैसे दिखायी देनेवाले देवोपम शक्तिशाली दिव्य पुरुष देखे। वे सब-के-सब अत्यन्त सौभाग्यशाली और अद्भुत थे। उससे पहले अर्जुनने कभी वैसे दिव्य पुरुष नहीं देखे थे ॥

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसंनिभाः ॥
दृष्ट्वा तानजयद् रम्यान् स तैश्च ददृशे तदा ।

वहाँके भवन अत्यन्त उज्ज्वल और भव्य थे तथा नारियाँ अप्सराओंके समान प्रतीत होती थीं। अर्जुनने वहाँके रमणीय स्त्री-पुरुषोंको देखा। इनपर भी वहाँके लोगोंकी दृष्टि पड़ी ॥

जित्वा च तान् महाभागान् करे च विनिवेश्य सः॥
रत्नान्यादाय दिव्यानि भूषणैर्वसनैः सह ।
उदीचीमथ राजेन्द्र ययौ पार्थो मुदान्वितः ॥

तत्पश्चात् उस देशके निवासियोंको अर्जुनने युद्धमें जीत लिया, जीतकर उनपर कर लगाया और फिर उन्हीं बड़भागियोंको वहाँके राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया। फिर वस्त्रों और आभूषणोंके साथ दिव्य रत्नोंकी भेंट लेकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर बढ़ गये ॥

स ददर्श महामेरुं शिखराणां प्रभुं महत् ।
तं काञ्चनमयं दिव्यं चतुर्वर्णं दुरासदम् ॥
आयतं शतसाहस्रं योजनानां तु सुस्थितम् ।
ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ॥
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः ।
काञ्चनाभरणं दिव्यं देवगन्धर्वसेवितम् ॥
नित्यपुष्पफलोपेतं सिद्धचारणसेवितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ॥

आगे जाकर उन्हें पर्वतोंके स्वामी गिरिप्रवर महामेरुका दर्शन हुआ, जो दिव्य तथा सुवर्णमय है। उसमें चार प्रकारके रंग दिखायी पड़ते हैं। वहाँतक पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है। उसकी लम्बाई एक लाख योजन है। वह परम उत्तम मेरुपर्वत महान् तेजके पुञ्ज-सा जगमगाता रहता है और अपने सुवर्णमय कान्तिमान् शिखरोंद्वारा सूर्यकी प्रभाको तिरस्कृत करता है। वह सुवर्णभूषित दिव्य पर्वत देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। सिद्ध और चारण भी वहाँ नित्य निवास करते हैं। उस पर्वतपर सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती है। उसकी ऊँचाईका कोई माप नहीं है। अधर्मपरायण मनुष्य उस पर्वतका स्पर्श नहीं कर सकते ॥

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम् ।
स्वर्गमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम् ॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम् ।
नानाविहगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ॥
तं दृष्ट्वा फाल्गुनो मेरुं प्रीतिमानभवत् तदा ।

बड़े भयंकर सर्प वहाँ विचरण करते हैं। दिव्य ओषधियाँ उस पर्वतको प्रकाशित करती रहती हैं। महागिरि मेरु ऊँचाईद्वारा स्वर्गलोकको भी घेरकर खड़ा है। दूसरे मनुष्य मनसे भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। कितनी ही नदियाँ और वृक्ष उस शैल-शिखरकी शोभा बढ़ाते हैं। भाँति-भाँतिके मनोहर पक्षी वहाँ कलरव करते रहते हैं। ऐसे मनोहर मेरुगिरिको देखकर उस समय अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

मेरोरिलावृतं वर्षं सर्वतः परिमण्डलम् ॥
मेरोस्तु दक्षिणे पार्श्वे जम्बूर्नाम वनस्पतिः ।
नित्यपुष्पफलोपेतः सिद्धचारणसेवितः ॥

मेरुके चारों ओर मण्डलाकार इलावृतवर्ष बसा हुआ है। मेरुके दक्षिण पार्श्वमें जम्बू नामका एक वृक्ष है,जो सदा फल और फूलोंसे भरा रहता है। सिद्ध और चारण उस वृक्षका सेवन करते हैं ॥

आस्वर्गमुच्छ्रिता राजन् तस्य शाखा वनस्पतेः ।
यस्य नाम्ना त्विदं द्वीपं जम्बूद्वीपमिति श्रुतम् ॥

राजन्! उक्त जम्बू-वृक्षकी शाखा ऊँचाईमें स्वर्गलोकतक फैली हुई है। उसीके नामपर इस द्वीपको जम्बूद्वीप कहते हैं ॥

तां च जम्बूं ददर्शाथ सव्यसाची परंतपः ।
तौ दृष्ट्वाप्रतिमौ लोके जम्बूं मेरुं च संस्थितौ ॥
प्रीतिमानभवद् राजन् सर्वतः स विलोकयन् ।
तत्र लेभे ततो जिष्णुः सिद्धैर्दिव्यैश्च चारणैः ॥
रत्नानि बहुसाहस्रं वस्त्राण्याभरणानि च ।
अन्यानि च महार्हाणि तत्र लब्ध्वार्जुनस्तदा ॥
आमन्त्रयित्वा तान् सर्वान् यज्ञमुद्दिश्य वै गुरोः।
अथादाय बहून् रत्नान् गमनायोपचक्रमे ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने उस जम्बूवृक्षको देखा। जम्बू और मेरुगिरि दोनों ही इस जगत्में अनुपम हैं। उन्हें देखकर अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजन्! वहाँ सब ओर दृष्टिपात करते हुए अर्जुनने सिद्धों और दिव्य चारणोंसे कई सहस्र रत्न, वस्त्र, आभूषण तथा अन्य बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर उन सबसे विदा ले बड़े भाईके यज्ञके उद्देश्यसे बहुत-से रत्नोंका संग्रह करके वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए ॥

मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा पर्वतप्रवरं प्रभुः ।
ययौ जम्बूनदीतीरे नदीं श्रेष्ठां विलोकयन् ॥
स तां मनोरमां दिव्यां जम्बूस्वादुरसावहाम् ।

पर्वतश्रेष्ठ मेरुको अपने दाहिने करके अर्जुन जम्बूनदीके तटपर गये । वे उस श्रेष्ठ सरिताकी शोभा देखना चाहते थे । वह मनोरम दिव्य नदी जलके रूपमें जम्बूवृक्षके फलोंका स्वादिष्ठ रस बहाती थी ॥

हैमपक्षिगणैर्जुष्टां सौवर्णजलजाकुलाम् ॥
हैमपङ्कां हैमजलां शुभां सौवर्णवालुकाम् ।

सुनहरे पंखोंवाले पक्षी उसका सेवन करते थे । वह नदी सुवर्णमय कमलोंसे भरी हुई थी । उसकी कीचड़ भी स्वर्णमय थी । उसके जलसे भी सुवर्णमयी आभा छिटक रही थी । उस मङ्गलमयी नदीकी बालुका भी सुवर्णके चूर्ण-सी शोभा पाती थी ॥

क्वचित् सौवर्णपद्मैश्च संकुलां हेमपुष्पकैः ॥
क्वचित् सुपुष्पितैः कीर्णां सुवर्णकुमुदोत्पलैः ।
क्वचित् तीररुहैः कीर्णां हैमवृक्षैः सुपुष्पितैः ॥

कहीं-कहीं सुवर्णमय कमलों तथा स्वर्णमय पुष्पोंसे वह व्याप्त थी । कहीं सुन्दर खिले हुए सुवर्णमय कुमुद और उत्पल छाये हुए थे । कहीं उस नदीके तटपर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए स्वर्णमय वृक्ष सब ओर फैले हुए थे ॥

तीर्थैश्च रुक्मसोपानैः सर्वतः संकुलां शुभाम् ।
विमलैर्मणिजालैश्च नृत्यगीतरवैर्युताम् ॥

उस सुन्दर सरिताके घाटोंपर सब ओर सोनेकी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं । निर्मल मणियोंके समूह उसकी शोभा बढ़ाते थे । नृत्य और गीतके मधुर शब्द उस प्रदेशको मुखरित कर रहे थे ॥

दीप्तैर्हेमवितानैश्च समन्ताच्छोभितां शुभाम् ।
तथाविधां नदीं दृष्ट्वा पार्थस्तां प्रशशंस ह ॥
अदृष्टपूर्वां राजेन्द्र दृष्ट्वा हर्षमवाप च ।

उसके दोनों तटोंपर सुनहरे और चमकीले चँदोवे तने थे, जिनके कारण जम्बू नदीकी बड़ी शोभा हो रही थी । राजेन्द्र ! ऐसी अदृष्टपूर्व नदीका दर्शन करके अर्जुनने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥

दर्शनीयान् नदीतीरे पुरुषान् सुमनोहरान् ॥
तान् नदीसलिलाहारान् सदारानमरोपमान् ।
नित्यं सुखमुदा युक्तान् सर्वालंकारशोभितान् ॥

उस नदीके तटपर बहुत-से देवोपम पुरुष अपनी स्त्रियों-के साथ विचर रहे थे । उनका सौन्दर्य देखने ही योग्य था । वे सबके मनको मोहे लेते थे । जम्बू नदीका जल ही उनका आहार था । वे सदा सुख और आनन्दमें निमग्न रहनेवाले तथा सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे ॥

तेभ्यो बहूनि रत्नानि तदा लेभे धनंजयः ।
दिव्यजाम्बूनदं हेमभूषणानि च पेशलम् ॥
लब्ध्वा तान् दुर्लभान् पार्थः प्रतीचीं प्रययौ दिशम् ।

उस समय अर्जुनने उनसे भी नाना प्रकारके रत्न प्राप्त किये । दिव्य जाम्बूनद नामक सुवर्ण और भाँति-भाँतिके आभूषण आदि दुर्लभ वस्तुएँ पाकर अर्जुन वहाँसे पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥

नागानां रक्षितं देशमजयच्चार्जुनस्ततः ॥
ततो गत्वा महाराज वारुणीं पाकशासनिः ।
गन्धमादनमासाद्य तत्रस्थानजयत् प्रभुः ॥
तं गन्धमादनं राजन्नतिक्रम्य ततोऽर्जुनः ।
केतुमालं विवेशाथ वर्षं रत्नसमन्वितम् ।
सेवितं देवकल्पैश्च नारीभिः प्रियदर्शनैः ॥

उधर जाकर अर्जुनने नागोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर विजय पायी । महाराज ! वहाँसे और पश्चिम जाकर शक्तिशाली अर्जुन गन्धमादन पर्वतपर पहुँच गये और वहाँके रहनेवालों-को जीतकर अपने अधीन बना लिया । राजन् ! इस प्रकार गन्धमादन पर्वतको लाँघकर अर्जुन रत्नोंसे सम्पन्न केतुमालवर्षमें गये, जो देवोपम पुरुषों और सुन्दरी स्त्रियोंकी निवासभूमि है ॥

तं जित्वा चार्जुनो राजन् करे च विनिवेश्य च ।
आहृत्य तत्र रत्नानि दुर्लभानि तथार्जुनः ॥
पुनश्च परिवृत्याथ मध्यं देशमिलावृतम् ।

राजन् ! उस वर्षको जीतकर अर्जुनने उसे कर देनेवाला बना दिया और वहाँसे दुर्लभ रत्न लेकर वे पुनः मध्यवर्ती इलावृतवर्षमें लौट आये ॥

गत्वा प्राचीं दिशं राजन् सव्यसाची परंतपः ॥
मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥
खशाञ्झषांश्च नद्योतान् प्रघसान् दीर्घवेणिकान् ।
पशुपांश्च कुलिन्दांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ॥
रत्नान्यादाय सर्वेभ्यो माल्यवन्तं ततो ययौ ।
तं माल्यवन्तं शैलेन्द्रं समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
भद्राश्वं प्रविवेशाथ वर्षं स्वर्गोपमं शुभम् ।

तदनन्तर शत्रुदमन सव्यसाची अर्जुनने पूर्व दिशामें प्रस्थान किया । मेरु और मन्दराचलके बीच शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर जो लोग कीचक और वेणु नामक बाँसोंकी रमणीय छायाका आश्रय लेकर रहते हैं, उन खश, झष, नद्योत, प्रघस, दीर्घवेणिक, पशुप, कुलिन्द, तङ्गण तथा परतङ्गण आदि जातियोंको हराकर उन सबसे रत्नोंकी भेंट ले अर्जुन माल्यवान् पर्वतपर गये । तत्पश्चात् गिरिराज माल्यवान्को

भी लाँघकर उन पाण्डुकुमारने भद्राश्ववर्षमें प्रवेश किया, जो स्वर्गके समान सुन्दर है ॥

तत्रामरोपमान् रम्यान् पुरुषान् सुखसंयुतान् ॥
जित्वा तान् स्ववशे कृत्वा करे च विनिवेश्य च ।
आहृत्य सर्वरत्नानि असंख्यानि ततस्ततः ॥
नीलं नाम गिरिं गत्वा तत्रस्थानजयत् प्रभुः ।

उस देशमें देवताओंके समान सुन्दर और सुखी पुरुष निवास करते थे। अर्जुनने उन सबको जीतकर अपने अधीन कर लिया और उनपर कर लगा दिया। इस प्रकार इधर-उधरसे असंख्य रत्नोंका संग्रह करके शक्तिशाली अर्जुनने नीलगिरिकी यात्रा की और वहाँके निवासियोंको पराजित किया ॥

ततो जिष्णुरतिक्रम्य पर्वतं नीलमायतम् ॥
विवेश रम्यकं वर्षं संकीर्णं मिथुनैः शुभैः ।
तं देशमथ जित्वा च करे च विनिवेश्य च ॥
अजयच्चापि बीभत्सुर्देशं गुह्यकरक्षितम् ।
तत्र लेभे च राजेन्द्र सौवर्णान् मृगपक्षिणः ॥
अगृह्णाद् यज्ञभूत्यर्थं रमणीयान् मनोरमान् ।

तदनन्तर विशाल नीलगिरिको भी लाँघकर सुन्दर नर-नारियोंसे भरे हुए रम्यकवर्षमें उन्होंने प्रवेश किया। उस देशको भी जीतकर अर्जुनने वहाँके निवासियोंपर कर लगा दिया। तत्पश्चात् गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशको जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया। राजेन्द्र! वहाँ उन्हें सोनेके मृग और पक्षी उपलब्ध हुए, जो देखनेमें बड़े ही रमणीय और मनोरम थे। उन्होंने यज्ञ-वैभवकी समृद्धिके लिये उन मृगों और पक्षियोंको ग्रहण कर लिया ॥

अन्यानि लब्ध्वा रत्नानि पाण्डवोऽथ महाबलः॥
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् सगणं तदा ।
तत्र रत्नानि दिव्यानि लब्ध्वा राजन्नथार्जुनः ॥
श्वेतपर्वतमासाद्य जित्वा पर्वतवासिनः ।
स श्वेतं पर्वतं राजन् समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
वर्षं हिरण्यकं नाम विवेशाथ महीपते ।

तदनन्तर महाबली पाण्डुनन्दन अन्य बहुत-से रत्न लेकर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशमें गये और गन्धर्वगणोंसहित उस देशपर अधिकार जमा लिया। राजन्! वहाँ भी अर्जुनको बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त हुए। तदनन्तर उन्होंने श्वेत पर्वतपर जाकर वहाँके निवासियोंको जीता। फिर उस पर्वतको लाँघकर पाण्डुकुमार अर्जुनने हिरण्यकवर्षमें प्रवेश किया ॥

स तु देशेषु रम्येषु गन्तुं तत्रोपचक्रमे ॥
मध्ये प्रासादवृन्देषु नक्षत्राणां शशी यथा ।

महाराज! वहाँ पहुँचकर वे उस देशके रमणीय प्रदेशोंमें विचरने लगे। बड़े-बड़े महलोंकी पङ्क्तियोंमें भ्रमण करते हुए श्वेताश्व अर्जुन नक्षत्रोंके बीच चन्द्रमाके समान सुशोभित होते थे ॥

महापथेषु राजेन्द्र सर्वतो यान्तमर्जुनम् ॥
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया वीर्यशोभया ।
ददृशुस्ताः स्त्रियः सर्वाः पार्थमात्मयशस्करम् ॥
तं कलापधरं शूरं सरथं सानुगं प्रभुम् ।
सवर्मसुकिरीटं वै संनद्धं सपरिच्छदम् ॥
सुकुमारं महासत्त्वं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
शक्रोपममित्रघ्नं परवारणवारणम् ॥
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र शक्तिपाणिं स्म मेनिरे ।

राजेन्द्र! जब अर्जुन उत्तम बल और शोभासे सम्पन्न हो हिरण्यकवर्षकी विशाल सड़कोंपर चलते थे, उस समय प्रासाद-शिखरोंपर खड़ी हुई वहाँकी सुन्दरी स्त्रियाँ उनका दर्शन करती थीं। कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने यशको बढ़ानेवाले थे। उन्होंने आभूषण धारण कर रक्खा था। वे शूर वीर, रथयुक्त, सेवकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली थे। उनके अङ्गोंमें कवच और मस्तकपर सुन्दर किरीट शोभा दे रहा था। वे कमर कसकर युद्धके लिये तैयार थे और सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री उनके साथ थी। वे सुकुमार, अत्यन्त धैर्यवान्, तेजके पुञ्ज, परम उत्तम, इन्द्र-तुल्य पराक्रमी, शत्रुहन्ता तथा शत्रुओंके गजराजोंकी गतिको रोक देनेवाले थे। उन्हें देखकर वहाँकी स्त्रियोंने यही अनुमान लगाया कि इस वीर पुरुषके रूपमें साक्षात् शक्तिधारी कार्तिकेय पधारे हैं ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो रणेऽद्भुतपराक्रमः ॥
अस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ।

वे आपसमें इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो! ये जो पुरुषसिंह दिखायी दे रहे हैं, संग्राममें इनका पराक्रम अद्भुत है। इनके बाहुबलका आक्रमण होनेपर शत्रुओंके समुदाय अपना अस्तित्व खो बैठते हैं ॥'

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा धनंजयम्॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टिं च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ।

इस प्रकारकी बातें करती हुई स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे अर्जुन-की ओर देखकर उनके गुण गातीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥

दृष्ट्वा ते तु मुदा युक्ताः कौतूहलसमन्विताः ॥
रत्नैर्विभूषणैश्चैव अभ्यवर्षन्त पाण्डवम् ।

वहाँके सभी निवासी बड़ी प्रसन्नताके साथ कौतूहलवश उन्हें देखते और उनके निकट रत्नों तथा आभूषणोंकी वर्षा करते थे ॥

अथ जित्वा समस्तांस्तान् करे च विनिवेश्य च॥
मणिहेमप्रवालानि रत्नान्याभरणानि च।
एतानि लब्ध्वा पार्थोऽपि शृङ्गवन्तं गिरिं ययौ॥
शृङ्गवन्तं च कौन्तेयः समतिक्रम्य फाल्गुनः॥,)
उत्तरं कुरुवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः॥ ७॥

उन सबको जीतकर तथा उनके ऊपर कर लगाकर वहाँसे मणि, सुवर्ण, मूँगे, रत्न तथा आभूषण ले अर्जुन शृङ्गवान् पर्वत-पर चले गये। वहाँसे आगे बढ़कर पाकशासनपुत्र पाण्डव अर्जुनने उत्तर कुरुवर्षमें पहुँचकर उस देशको जीतनेका विचार किया॥ ७॥

तत एनं महावीर्यं महाकाया महाबलाः।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन्॥ ८॥

इतनेहीमें महापराक्रमी अर्जुनके पास बहुतसे विशाल-काय महाबली द्वारपाल आ पहुँचे और प्रसन्नतापूर्वक बोले—॥

पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत॥ ९॥
इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव॥ १०॥

'पार्थ! इस नगरको तुम किसी तरह जीत नहीं सकते। कल्याणस्वरूप अर्जुन! यहाँसे लौट जाओ। अच्युत! तुम यहाँतक आ गये, यही बहुत हुआ। जो मनुष्य इस नगरमें प्रवेश करता है, निश्चय ही उसकी मृत्यु हो जाती है। वीर! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। यहाँतक आ पहुँचना ही तुम्हारी बहुत बड़ी विजय है॥ ९-१०॥

न चात्र किंचिज्जेतव्यमर्जुनात्र प्रदृश्यते।
उत्तराः कुरवो ह्येते नात्र युद्धं प्रवर्तते॥ ११॥
प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन।
न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राभिवीक्षितुम्॥ १२॥

'अर्जुन! यहाँ कोई जीतने योग्य वस्तु नहीं दिखायी देती। यह उत्तर कुरुदेश है। यहाँ युद्ध नहीं होता है। कुन्तीकुमार! इसके भीतर प्रवेश करके भी तुम यहाँ कुछ देख नहीं सकोगे, क्योंकि मानव-शरीरसे यहाँकी कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती॥ ११-१२॥

अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि।
तत् प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात् तव भारत॥ १३॥

'भरतकुलभूषण पुरुषसिंह! यदि यहाँ तुम युद्धके सिवा और कोई काम करना चाहते हो तो बताओ, तुम्हारे कहनेसे हम स्वयं ही उस कार्यको पूर्ण कर देंगे'॥ १३॥

ततस्तानब्रवीद् राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः॥ १४॥

राजन्! तब अर्जुनने उनसे हँसते हुए कहा—'मैं अपने भाई बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको समस्त भूमण्डलका एक-मात्र चक्रवर्ती सम्राट् बनाना चाहता हूँ॥ १४॥

न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः।
युधिष्ठिराय यत् किंचित् करपण्यं प्रदीयताम्॥ १५॥

'आपलोगोंका देश यदि मनुष्योंके विपरीत पड़ता है तो मैं इसमें प्रवेश नहीं करूँगा। महाराज युधिष्ठिरके लिये करके रूपमें कुछ धन दीजिये'॥ १५॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम्॥ १६॥

तब उन द्वारपालोंने अर्जुनको करके रूपमें बहुत-से दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य रेशमी वस्त्र एवं मृगचर्म दिये॥ १६॥

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम्।
संग्रामान् सुबहून् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा॥ १७॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान् करे च विनिवेश्य तु।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च॥ १८॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्छुकपत्रनिभानपि[1]।
मयूरसदृशानन्यान् सर्वाननिलरंहसः॥ १९॥
वृतः सुमहता राजन् बलेन चतुरङ्गिणा।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम्॥ २०॥

इस प्रकार पुरुषसिंह अर्जुनने क्षत्रिय राजाओं तथा लुटेरोंके साथ बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और उत्तर दिशापर विजय प्राप्त की। राजाओंको जीतकर उनसे कर लेते और उन्हें फिर अपने राज्यपर ही स्थापित कर देते थे। राजन्! वे वीर अर्जुन सबसे धन और भाँति-भाँतिके रत्न लेकर तथा भेंटमें मिले हुए वायुके समान वेगवाले तित्तिरि, कल्माष, सुग्गापङ्खी एवं मोर-सदृश सभी घोड़ोंको साथ लिये और विशाल चतुरङ्गिणी सेनासे घिरे हुए फिर अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थ-में लौट आये॥ १७-२०॥



१. तीतरके समान चितकबरे रंगवाले।

धर्मराजाय तत् पार्थो धनं सर्वं सवाहनम्।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ॥ २१ ॥

पार्थने घोड़ोंसहित वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया और उनकी आज्ञा लेकर वे महलमें चले गये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनोत्तरदिग्विजये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनकी उत्तर दिशापर विजय-विषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५८ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पूर्व दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान और विभिन्न देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान्।
धर्मराजमनुप्राप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥
वृतो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्द्धनः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाले भरतवंशशिरोमणि महाप्रतापी एवं पराक्रमी भीमसेन भी धर्मराजकी आज्ञा ले, शत्रुके राज्यको कुचल देनेवाली और हाथी, घोड़े एवं रथसे भरी हुई, कवच आदिसे सुसज्जित विशाल सेनाके साथ पूर्व दिशाको जीतनेके लिये चले ॥ १-२½ ॥

स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥ ३ ॥
पञ्चालान् विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः।

नरश्रेष्ठ भीमसेनने पहले पाञ्चालोंकी महानगरी अहिच्छत्रा-में जाकर भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाञ्चाल वीरोंको समझा-बुझाकर वशमें किया ॥ ३½ ॥

ततः स गण्डकाञ्छूरो विदेहान् भरतर्षभः ॥ ४ ॥
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः।
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम्।
कृतवान् भीमसेनेन महद् युद्धं निरायुधम् ॥ ५ ॥

वहाँसे आगे जाकर उन भरतवंशशिरोमणि शूर-वीर भीमने गण्डक (गण्डकी नदीके तटवर्ती) और विदेह (मिथिला) देशोंको थोड़े ही समयमें जीतकर दशार्ण देशको भी अपने अधिकारमें कर लिया। वहाँ दशार्णनरेश सुधर्माने भीमसेनके साथ बिना अस्त्र-शस्त्रके ही महान् युद्ध किया। उन दोनोंका वह मल्लयुद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ४-५ ॥

भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥ ६ ॥

भीमसेनने उस महामना राजाका यह अद्भुत पराक्रम देखकर महाबली सुधर्माको अपना प्रधान सेनापति बना दिया ॥ ६ ॥

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः।
सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ७ ॥

राजन् ! इसके बाद भयानक पराक्रमी भीमसेन पुनः विशाल सेनाके साथ पृथ्वीको कँपाते हुए पूर्व दिशाकी ओर बढ़े ॥ ७ ॥

सोऽश्वमेधेश्वरं राजन् रोचमानं सहानुगम्।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥ ८ ॥

जनमेजय ! बलवानोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीमने अश्वमेधदेशके राजा रोचमानको उनके सेवकोंसहित बलपूर्वक जीत लिया ॥ ८ ॥

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥ ९ ॥

उन्हें हराकर महापराक्रमी कुरुनन्दन कुन्तीकुमार भीमने कोमल बर्तावके द्वारा ही पूर्वदेशपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ९ ॥

ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत्।
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर दक्षिण आकर पुलिन्दोंके महान् नगर सुकुमार और वहाँके राजा सुमित्रको अपने अधीन कर लिया ॥ १० ॥

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद् भरतर्षभः।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ॥ ११ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् भरतश्रेष्ठ भीम धर्मराजकी आज्ञासे महापराक्रमी शिशुपालके यहाँ गये ॥ ११ ॥

चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम्।
उपनिष्क्रम्य नगरात् प्रत्यगृह्णात् परंतप ॥ १२ ॥

परंतप ! चेदिराज शिशुपालने भी पाण्डुकुमार भीमका अभिप्राय जानकर नगरसे बाहर आ स्वागत-सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ॥ १२ ॥

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १३ ॥

महाराज ! कुरुकुल और चेदिकुलके वे श्रेष्ठ पुरुष परस्पर मिलकर दोनोंने दोनों कुलोंके कुशल-प्रश्न पूछे ॥ १३ ॥

ततो निवेद्य तद् राष्ट्रं चेदिराजो विशाम्पते।
उवाच भीमं प्रहसन् किमिदं कुरुषेऽनघ ॥ १४ ॥

राजन् ! तदनन्तर चेदिराजने अपना राष्ट्र भीमसेनको सौंपकर हँसते हुए पूछा—'अनघ ! यह क्या करते हो ?' ॥ १४ ॥

तस्य भीमस्तदाऽऽचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम्।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥ १५ ॥

तब भीमने उससे धर्मराज जो कुछ करना चाहते थे, वह सब कह सुनाया। तदनन्तर राजा शिशुपालने उनकी बात मानकर कर देना स्वीकार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥ १६ ॥

राजन्! उसके बाद शिशुपालसे सम्मानित हो भीमसेन अपनी सेना और सवारियोंके साथ तेरह दिन वहाँ रह गये। तत्पश्चात् वहाँसे विदा हुए ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमदिग्विजयविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

भीमका पूर्व दिशाके अनेक देशों तथा राजाओंको जीतकर भारी धन-सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थमें लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत्।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेनने कुमारदेशके राजा श्रेणिमान् तथा कोसलराज बृहद्बलको परास्त किया ॥ १ ॥

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम्।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥

इसके बाद अयोध्याके धर्मज्ञ नरेश महाबली दीर्घयज्ञको पाण्डवश्रेष्ठ भीमने कोमलतापूर्ण बर्तावसे वशमें कर लिया ॥ २ ॥

ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान्।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् शक्तिशाली पाण्डुकुमारने गोपालकक्ष और उत्तर कोसल देशको जीतकर मल्लराष्ट्रके अधिपति पार्थिवको अपने अधीन कर लिया ॥ ३ ॥

ततो हिमवतः पार्श्वे समभ्येत्य जलोद्भवम्।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ॥ ४ ॥

इसके बाद हिमालयके पास जाकर बलवान् भीमने सारे जलोद्भव देशपर थोड़े ही समयमें अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ ४ ॥

एवं बहुविधान् देशान् विजिग्ये भरतर्षभः।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार भरतवशभूषण भीमसेनने अनेक देश जीते और भल्लाटके समीपवर्ती देशों तथा शुक्तिमान् पर्वतपर भी विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः।
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः।

बलवानोंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी तथा भयंकर पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेनने समरमें पीठ न दिखानेवाले काशिराज सुबाहुको बलपूर्वक हराया ॥ ६½ ॥

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥
युध्यमानं बलात् संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः।

इसके बाद पाण्डुपुत्र भीमने सुपार्श्वके निकट राजराजेश्वर क्रथको, जो युद्धमें बलपूर्वक उनका सामना कर रहे थे, हरा दिया ॥ ७½ ॥

ततो मत्स्यान् महातेजा मलदांश्च महाबलान् ॥ ८ ॥
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः।
निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ९ ॥
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान् बलात् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी कुन्तीकुमारने मत्स्य, महाबली मलद, अनघ और अभय नामक देशोंको जीतकर पशुभूमि (पशुपतिनाथके निकटवर्ती स्थान—नेपाल) को भी सब ओरसे जीत लिया। वहाँसे लौटकर महाबाहु भीमने मदधार पर्वत और सोमधेयनिवासियोंको परास्त किया। इसके बाद बलवान् भीमने उत्तराभिमुख यात्रा की और वत्सभूमिपर बलपूर्वक अधिकार जमा लिया ॥ ८–१० ॥

भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान् बहून् ॥ ११ ॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम्।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

फिर क्रमशः भर्गोंके स्वामी, निषादोंके अधिपति तथा मणिमान् आदि बहुत-से भूपालोंको अपने अधिकारमें कर लिया। तदनन्तर दक्षिण मल्लदेश तथा भोगवान् पर्वतको भीमसेनने अधिक प्रयास किये बिना ही वेगपूर्वक जीत लिया। ११-१२।

शर्मकान् वर्मकांश्चैव व्यजयत् सान्त्वपूर्वकम्।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ १४ ॥

शर्मक और वर्मकोंको उन्होंने समझा-बुझाकर ही जीत लिया। विदेह देशके राजा जनकको भी पुरुषसिंह भीमने

अधिक उग्र प्रयास किये बिना ही परास्त किया। फिर शकों और बर्बरोंपर छलसे विजय प्राप्त कर ली ॥ १३-१४ ॥

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात्।
किरातानामधिपतीनजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १५ ॥
ततः सुह्मान् प्रसुह्मांश्च सपक्षानतिवीर्यवान्।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यधाद् बली ॥ १६ ॥

विदेह देशमें ही ठहरकर कुन्तीकुमार भीमने इन्द्रपर्वतके निकटवर्ती सात किरातराजोंको जीत लिया। इसके बाद सुह्म और प्रसुह्म देशके राजाओंको, जिनके पक्षमें बहुत लोग थे, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् कुन्तीकुमार भीम युद्धमें परास्त करके मगधदेशको चल दिये ॥ १५-१६ ॥

दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन्।
तैरेव सहितैः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥

मार्गमें दण्ड-दण्डधार तथा अन्य राजाओंको जीतकर उन सबके साथ वे गिरिव्रज नगरमें आये ॥ १७ ॥

जारासंधिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद् बली ॥ १८ ॥
स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ॥ १९ ॥
स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत।
ततो विजिग्ये बलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः ॥ २० ॥
अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम्।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ २१ ॥

वहाँ जरासंधकुमार सहदेवको सान्त्वना देकर उसे कर देनेकी शर्तपर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया और उन सबके साथ बलवान् भीमने कर्णपर चढ़ाई की। पाण्डव-श्रेष्ठ भीमने पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए चतुरंगिणी सेना साथ ले शत्रुघाती कर्णके साथ युद्ध छेड़ दिया। भारत! उस युद्धमें कर्णको परास्त करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् बलवान् भीमने पर्वतीय राजाओंपर विजय प्राप्त की। तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेनने मोदागिरिके अत्यन्त बलिष्ठ राजाको अपनी भुजाओंके बलसे महासमरमें मार गिराया ॥ १८—२१ ॥

ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम्।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ॥ २२ ॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ।
निर्जित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥

महाराज! तत्पश्चात् भीमसेन पुण्ड्रकदेशके अधिपति महाबली वीर राजा वासुदेवके साथ, जो कोसी नदीके कछारमें रहनेवाले तथा महान् तेजस्वी थे, जा भिड़े। वे दोनों ही बलवान् एवं दुःसह पराक्रमवाले वीर थे। भीमने विपक्षी वासुदेव (पौण्ड्रक) को युद्धमें हराकर वङ्गदेशके राजापर आक्रमण किया ॥ २२-२३ ॥

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम्।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः।
सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः ॥ २५ ॥

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने समुद्रसेन, भूपाल चन्द्रसेन, राजा ताम्रलिप्त, कर्वटाधिपति तथा सुह्म-नरेशको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाले समस्त म्लेच्छोंको भी अपने अधीन कर लिया ॥ २४-२५ ॥

एवं बहुविधान् देशान् विजित्य पवनात्मजः।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद् बली ॥ २६ ॥

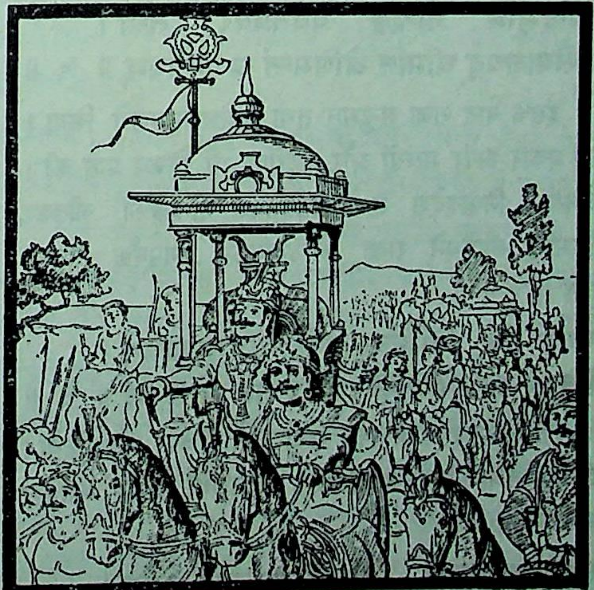
इस प्रकार पवनपुत्र बलवान् भीमने बहुत-से देशोंपर अधिकार प्राप्त करके उन सबसे धन लेकर लौहित्य देशकी यात्रा की ॥ २६ ॥

स सर्वान् म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥ २७ ॥

वहाँ उन्होंने समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले बहुत-से म्लेच्छ राजाओंको जीतकर उनसे करके रूपमें भाँति-भाँतिके रत्न वसूल किये ॥ २७ ॥

चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम्।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ॥ २८ ॥
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा।
अभ्यवर्षन् महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ॥ २९ ॥

इतना ही नहीं, उन राजाओंने भीमसेनको चन्दन, अगर, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चाँदी और बहुमूल्य मूँगे भेंट किये। कुन्ती और पाण्डुके पुत्र महात्मा भीमसेनके पास उन्होंने करोड़ोंकी संख्यामें धन-रत्नोंकी वर्षा की (करके रूपमें धन-रत्न प्रदान किये) ॥ २८-२९ ॥



इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः ।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद् धनम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर भयानक पराक्रमी भीमने इन्द्रप्रस्थमें आकर वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमप्राचीदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमके द्वारा पूर्व दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
महत्या सेनया राजन् प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेव भी धर्मराज युधिष्ठिरसे सम्मानित हो दक्षिण दिशापर विजय पानेके लिये विशाल सेनाके साथ प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

स शूरसेनान् कार्त्स्न्येन पूर्वमेवाजयत् प्रभुः ।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद् बली ॥ २ ॥

शक्तिशाली सहदेवने सबसे पहले समस्त शूरसेननिवासियोंको पूर्णरूपसे जीत लिया; फिर मत्स्यराज विराटको अपने अधीन बनाया ॥ २ ॥

अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्रं महाबलम् ।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत् ॥ ३ ॥

राजाओंके अधिपति महाबली दन्तवक्रको भी परास्त किया और उसे कर देनेवाला बनाकर फिर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया ॥ ३ ॥

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत् स पटच्चरान् ॥ ४ ॥
निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा ।
तरसैवाजयद् धीमान् श्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

इसके बाद राजा सुकुमार तथा सुमित्रको वशमें किया। इसी प्रकार अपर मत्स्यों और लुटेरोंपर भी विजय प्राप्त की। तदनन्तर निषाददेश तथा पर्वतप्रवर गोशृङ्गको जीतकर बुद्धिमान् सहदेवने राजा श्रेणिमान्‌को वेगपूर्वक परास्त किया ॥ ४-५ ॥

नरराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत् ।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥ ६ ॥

फिर नरराष्ट्रको जीतकर राजा कुन्तिभोजपर धावा किया। परंतु कुन्तिभोजने प्रसन्नताके साथ ही उसका शासन स्वीकार कर लिया ॥ ६ ॥

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम् ।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥

इसके बाद चर्मण्वतीके तटपर सहदेवने जम्भकके पुत्रको देखा, जिसे पूर्ववैरी वासुदेवने जीवित छोड़ दिया था ॥ ७ ॥

चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत ।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥

भारत ! उस जम्भपुत्रने सहदेवके साथ घोर संग्राम किया; परंतु सहदेव उसे युद्धमें जीतकर दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ॥ ८ ॥

सेकानपरसेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः ।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ९ ॥
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ ।

वहाँ महाबली माद्रीकुमारने सेक और अपरसेक देशोंपर विजय पायी और उन सबसे नाना प्रकारके रत्न भेंटमें लिये। तत्पश्चात् सेकाधिपतिको साथ ले उन्होंने नर्मदाकी ओर प्रस्थान किया ॥ ९½ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महताऽऽवृतौ ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ॥ १० ॥

अश्विनीकुमारोंके पुत्र प्रतापी सहदेवने वहाँ युद्धमें विशाल सेनासे घिरे हुए अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दको परास्त किया ॥ १० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ ।
तत्र युद्धमभूद् राजन् दिवसद्वयमच्युत ॥ ११ ॥

वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर वे भोजकट नगरमें गये। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले राजन् ! वहाँ दो दिनोंतक युद्ध होता रहा ॥ ११ ॥

स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः ।
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम् ॥ १२ ॥
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोसलान् नृपान् ।
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान् युधि ॥ १३ ॥

माद्रीनन्दनने उस संग्राममें दुर्धर्ष वीर भीष्मकको परास्त करके कोसलाधिपति, वेणानदीके तटवर्ती प्रदेशोंके स्वामी, कान्तारक तथा पूर्वकोसलके राजाओंको भी समरमें पराजित किया। तत्पश्चात् नाटकेयों और हेरम्बकोंको भी युद्धमें हराया ॥ १२-१३ ॥

मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात् ।
नाचीनानर्बुकांश्चैव राज्ञश्चैव महाबलः ॥ १४ ॥
तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः ।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ॥ १५ ॥

महाबली पाण्डुनन्दन सहदेवने मारुध तथा रम्यग्रामको बलपूर्वक परास्त करके नाचीन, अर्बुक तथा समस्त वनेचर राजाओंको जीत लिया। तदनन्तर महाबली माद्रीकुमारने राजा वाताधिपको वशमें किया ॥ १४-१५ ॥

पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः ।
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ॥ १६ ॥

फिर पुलिन्दोंको संग्राममें हराकर नकुलके छोटे भाई सहदेव दक्षिण दिशामें और आगे बढ़ गये। तत्पश्चात् उन्होंने पाण्ड्य-नरेशके साथ एक दिन युद्ध किया ॥ १६ ॥

तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ।
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् ॥ १७ ॥

उन्हें जीतकर महाबाहु सहदेव दक्षिणापथकी ओर गये और लोकविख्यात किष्किन्धा नामक गुफामें जा पहुँचे ॥ १७ ॥

तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च ।
युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥ १८ ॥

वहाँ वानरराज मैन्द और द्विविदके साथ उन्होंने सात दिनोंतक युद्ध किया; किंतु उन दोनोंका कुछ बिगाड़ न हो सका ॥ १८ ॥

ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥

तब वे दोनों महात्मा वानर अत्यन्त प्रसन्न हो सहदेवसे प्रेमपूर्वक बोले— ॥ १९ ॥

गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ॥

'पाण्डवप्रवर! तुम सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर जाओ। परम बुद्धिमान् धर्मराजके कार्यमें कोई विघ्न नहीं पड़ना चाहिये' ॥ २० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर माहिष्मती पुरीको गये और वहाँ राजा नीलके* साथ घोर युद्ध किया ॥ २१ ॥

पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान् ।
ततोऽस्य सुमहद् युद्धमासीद् भीरुभयंकरम् ॥ २२ ॥

सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम् ।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान् हव्यवाहनः ॥ २३ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुपुत्र सहदेव बड़े प्रतापी थे। उनसे राजा नीलका जो महान् युद्ध हुआ, वह कायरोंको भयभीत करनेवाला, सेनाओंका विनाशक और प्राणोंको संशयमें डालनेवाला था। भगवान् अग्निदेव राजा नीलकी सहायता कर रहे थे ॥ २२-२३ ॥

ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च ।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥

उस समय सहदेवकी सेनामें रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य और कवच सभी आगसे जलते दिखायी देने लगे ॥ २४ ॥

ततः सुसम्भ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः ।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ॥ २५ ॥

जनमेजय! इससे कुरुनन्दन सहदेवके मनमें बड़ी घबराहट हुई। वे इसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ हो गये ॥ २५ ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् वह्निः प्रत्यमित्रोऽभवद् युधि ।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ २६ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! सहदेव तो यज्ञके लिये ही चेष्टा कर रहे थे, फिर भगवान् अग्निदेव उस युद्धमें उनके विरोधी कैसे हो गये? ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र माहिष्मतीवासी भगवान् हव्यवाहनः ।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात् पारदारिकः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! सुननेमें आया है कि माहिष्मती नगरीमें निवास करनेवाले भगवान् अग्निदेव किसी समय उस नील राजाकी कन्या सुदर्शनाके प्रति आसक्त हो गये ॥ २७ ॥

नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवातीवशोभना ।
साग्निहोत्रमुपातिष्ठद् बोधनाय पितुः सदा ॥ २८ ॥

राजा नीलके एक कन्या थी, जो अनुपम सुन्दरी थी। वह सदा अपने पिताके अग्निहोत्रगृहमें अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये उपस्थित हुआ करती थी ॥ २८ ॥

व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत् प्रज्वलते न सः ।
यावच्चारुपुटौष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥

पङ्खेसे हवा करनेपर भी अग्निदेव तबतक प्रज्वलित नहीं होते थे, जबतक कि वह सुन्दरी अपने मनोहर ओष्ठसम्पुटसे फूँक मारकर हवा न देती थी ॥ २९ ॥

ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम् ।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ॥ ३० ॥

* यह इक्ष्वाकुवंशीय दुर्जयका पुत्र था। इसका दूसरा नाम दुर्योधन था। यह राजा बड़ा धर्मात्मा था। इसकी कथा अनुशासन-पर्वके दूसरे अध्यायमें आती है।

तत्पश्चात् भगवान् अग्नि उस सुदर्शना नामकी राज-कन्याको चाहने लगे। इस बातको राजा नील और सभी नागरिक जान गये ॥ ३० ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया ।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम् ।
तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद् धार्मिकस्तदा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर एक दिन ब्राह्मणका रूप धारण करके इच्छानुसार घूमते हुए अग्निदेव उस सर्वाङ्गसुन्दरी कमलनयनी कन्याके पास आये और उसके प्रति कामभाव प्रकट करने लगे। धर्मात्मा राजा नीलने शास्त्रके अनुसार उस ब्राह्मणपर शासन किया ॥ ३१ ॥

प्रजज्वाल ततः कोपाद् भगवान् हव्यवाहनः ।
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसावनिम् ॥ ३२ ॥

तब क्रोधसे भगवान् अग्निदेव अपने रूपमें प्रज्वलित हो उठे। उन्हें इस रूपमें देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक रखकर अग्निदेवको प्रणाम किया ॥ ३२ ॥

ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः ।
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः ॥ ३३ ॥
प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा ।
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य समय आनेपर राजाने उस कन्याको ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेवकी सेवामें अर्पित कर दिया और उनके चरणोंमें सिर रखकर नमस्कार किया। राजा नीलकी सुन्दरी कन्याको पत्नीरूपमें ग्रहण करके भगवान् अग्निने राजापर अपना कृपाप्रसाद प्रकट किया ॥ ३३-३४ ॥

वरेणच्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः ।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ॥ ३५ ॥

वे उनकी अभीष्ट-सिद्धिमें सर्वोत्तम सहायक हो राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे। राजाने अपनी सेनाके प्रति अभयदान माँगा ॥ ३५ ॥

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात् तां पुरीं नृपाः ।
जिगीषन्ति बलाद् राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ॥ ३६ ॥

राजन्! तभीसे जो कोई नरेश अज्ञानवश उस पुरीको बलपूर्वक जीतना चाहते, उन्हें अग्निदेव जला देते थे ॥ ३६ ॥

तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥ ३७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! उस समय माहिष्मतीपुरीमें युवती स्त्रियाँ इच्छानुसार ग्रहण करनेके योग्य नहीं रह गयी थीं (क्योंकि वे स्वतन्त्रतासे ही वरका वरण किया करती थीं) ॥ ३७ ॥

एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे ।
वरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ॥ ३८ ॥

अग्निदेवने स्त्रियोंके लिये यह वर दे दिया था कि अपने प्रतिकूल होनेके कारण ही कोई स्त्रियोंको वरका स्वयं ही वरण करनेसे रोक नहीं सकता। इससे वहाँकी स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक वरका वरण करनेके लिये विचरण किया करती थीं ॥ ३८ ॥

वर्जयन्ति च राजानस्तत् पुरं भरतर्षभ ।
भयादग्नेर्महाराज तदाप्रभृति सर्वदा ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तभीसे सब राजा (जो इस रहस्यसे परिचित थे) अग्निके भयके कारण माहिष्मती पुरीपर चढ़ाई नहीं करते थे ॥ ३९ ॥

सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ।
परीतमग्निना राजन् नाकम्पत यथाचलः ।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत् पावकं ततः ॥ ४० ॥

राजन्! धर्मात्मा सहदेव अग्निसे व्याप्त हुई अपनी सेनाको भयसे पीड़ित देख पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे, भयसे कम्पित नहीं हुए। उन्होंने आचमन करके पवित्र हो अग्निदेवसे इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

सहदेव उवाच

त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन् नमोऽस्तु ते ।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ॥ ४१ ॥

सहदेव बोले—कृष्णवर्त्मन्! हमारा यह आयोजन तो आपहीके लिये है, आपको नमस्कार है। पावक! आप देवताओंके मुख हैं, यज्ञस्वरूप हैं ॥ ४१ ॥

पावनात् पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः ।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४२ ॥

आप सबको पवित्र करनेके कारण पावक हैं और हव्य (हवनीय पदार्थ) को वहन करनेके कारण हव्यवाहन कहलाते हैं। वेद आपके लिये ही जात अर्थात् प्रकट हुए हैं, इसीलिये आप जातवेदा हैं ॥ ४२ ॥

चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो ।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४३ ॥

विभावसो! आप ही चित्रभानु, सुरेश और अनल कहलाते हैं। आप सदा स्वर्गद्वारका स्पर्श करते हैं। आप आहुति दिये हुए पदार्थोंको खाते हैं, इसलिये हुताशन हैं। प्रज्वलित होनेसे ज्वलन और शिखा (लपट) धारण करनेसे शिखी हैं ॥ ४३ ॥

वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः ।
कुमारसूस्त्वं भगवान् रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४४ ॥

आप ही वैश्वानर, पिङ्गेश, प्लवङ्ग और भूरितेजस् नाम धारण करते हैं। आपने ही कुमार कार्तिकेयको जन्म दिया है, आप

ही ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण भगवान् हैं। श्रीरुद्रका वीर्य धारण करनेसे आप रुद्रगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके उत्पादक होनेसे आपका नाम हिरण्यकृत् है ॥ ४४ ॥

अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे ।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चापो दिशन्तु मे ॥ ४५ ॥

आप अग्नि मुझे तेज दें, वायुदेव प्राणशक्ति प्रदान करें, पृथ्वी मुझमें बलका आधान करें और जल मुझे कल्याण प्रदान करें ॥ ४५ ॥

अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर ।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४६ ॥

जलको प्रकट करनेवाले महान् शक्तिसम्पन्न जातवेदा सुरेश्वर अग्निदेव ! आप देवताओंके मुख हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ॥ ४६ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि ।
नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४७ ॥

ऋषि, ब्राह्मण, देवता तथा असुर भी सदा यज्ञ करते समय आपमें आहुति डालते हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र करें ॥ ४७ ॥

धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहानिलसम्भवः ।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥

देव ! धूम आपका ध्वज है, आप शिखा धारण करनेवाले हैं, वायुसे आपका प्राकट्य हुआ है। आप समस्त पापोंके नाशक हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर आप सदा विराजमान होते हैं। अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ॥ ४८ ॥

एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतिं चैव प्रीतिं चाग्ने प्रयच्छ मे ॥ ४९ ॥

भगवन् ! मैंने पवित्र होकर प्रेमभावसे आपका इस प्रकार स्तवन किया है। अग्निदेव ! आप मुझे तुष्टि, पुष्टि, श्रवण-शक्ति एवं शास्त्रज्ञान और प्रीति प्रदान करें ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन् यो जुहुयाद् विभुम् ।
ऋद्धिमान् सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जो द्विज इस प्रकार इन श्लोकरूप आग्नेय मन्त्रोंका पाठ करते हुए (अन्तमें स्वाहा बोलकर) भगवान् अग्निदेवको आहुति समर्पित करता है, वह सदा समृद्धिशाली और जितेन्द्रिय होकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

सहदेव उवाच

यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन ।

सहदेव बोले—हव्यवाहन ! आपको यज्ञमें यह विघ्न नहीं डालना चाहिये।

एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ॥ ५१ ॥
विधिवत् पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् ।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ॥ ५२ ॥

भारत ! ऐसा कहकर नरश्रेष्ठ माद्रीकुमार सहदेव धरतीपर कुश बिछाकर अपनी भयभीत और उद्विग्न सेनाके अग्रभागमें विधिपूर्वक अग्निके सम्मुख धरना देकर बैठ गये ॥ ५१-५२ ॥

न चैनमत्यगाद् वह्निर्वेलामिव महोदधिः ।
तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ॥ ५३ ॥
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं कृता मया ।
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ॥ ५४ ॥

जैसे महासागर अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार अग्निदेव सहदेवको लाँघकर उनकी सेनामें नहीं गये। वे कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरदेव सहदेवके पास धीरे-धीरे आकर उन्हें सान्त्वना देते हुए यह वचन बोले—'कौरव्य ! उठो, उठो, मैंने यह तुम्हारी परीक्षा की है। तुम्हारे और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सम्पूर्ण अभिप्रायको मैं जानता हूँ ॥ ५३—५४ ॥

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम ।
यावद् राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति ॥ ५५ ॥
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ॥ ५६ ॥

'परंतु भरतसत्तम ! राजा नीलके कुलमें जबतक उनकी वंशपरम्परा चलती रहेगी, तबतक मुझे इस माहिष्मतीपुरीकी रक्षा करनी होगी। पाण्डुकुमार ! साथ ही मैं तुम्हारा मनोरथ भी पूर्ण करूँगा' ॥ ५५-५६ ॥

तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः ।
पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जनमेजय ! यह सुनकर माद्रीकुमार सहदेव प्रसन्नचित्त हो वहाँसे उठे और हाथ जोड़कर एवं सिर झुकाकर उन्होंने अग्निदेवका पूजन किया ॥ ५७ ॥

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाभ्यगात् तदा ।
पावकस्याज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ॥ ५८ ॥
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधाम्पतिम् ।

अग्निके लौट जानेपर उन्हींकी आज्ञासे राजा नील उस समय वहाँ आये और उन्होंने योद्धाओंके अधिपति पुरुषसिंह सहदेवका सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥ ५८½ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ॥ ५९ ॥
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद् विजयी दक्षिणां दिशम् ।

राजा नीलकी वह पूजा ग्रहणकर और उनपर कर लगाकर विजयी माद्रीकुमार सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ॥ ५९½ ॥

त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् ॥ ६० ॥
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ।
आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ॥ ६१ ॥
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ।

फिर त्रिपुरीके राजा अमितौजाको वशमें करके महाबाहु सहदेवने पौरवेश्वरको वेगपूर्वक बंदी बना लिया । तदनन्तर बड़े भारी प्रयत्नके द्वारा विशाल भुजाओंवाले माद्रीकुमारने सुराष्ट्रदेशके अधिपति कौशिकाचार्य आकृतिको वशमें किया ॥ ६०-६१½ ॥

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ॥ ६२ ॥
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ।
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ॥ ६३ ॥
स चास्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ।
प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद् युधाम्पतिः ।

महाराज ! सुराष्ट्रमें ही ठहरकर धर्मात्मा सहदेवने भोजकट-निवासी रुक्मी तथा विशाल राज्यके अधिपति परम बुद्धिमान् साक्षात् इन्द्रसखा भीष्मकके पास दूत भेजा । पुत्रसहित भीष्मकने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी ओर दृष्टि रखकर प्रेमपूर्वक ही सहदेवका शासन स्वीकार कर लिया । तदनन्तर योद्धाओंके अधिपति सहदेव वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर पुनः आगे बढ़ गये ॥ ६२-६४½ ॥

ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ॥ ६५ ॥
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ।
सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ॥ ६६ ॥
निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।

महाबलशाली महातेजस्वी माद्रीकुमारने शूर्पारक और तालाकट नामक देशोंको जीतते हुए दण्डकारण्यको अपने अधीन कर लिया । तत्पश्चात् समुद्रके द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ-जातीय राजाओं, निषादों तथा राक्षसों, कर्णप्रावरणों[1]को भी परास्त किया ॥ ६५-६६½ ॥

ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ॥ ६७ ॥

कालमुख नामसे प्रसिद्ध जो मनुष्य और राक्षस दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए योद्धा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की ॥ ६७ ॥

कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभीपत्तनं तथा ।
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ॥ ६८ ॥
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ।
एकपादांश्च पुरुषान् केरलान् वनवासिनः ॥ ६९ ॥
नगरीं संजयन्तीं च पाखण्डं करहाटकम् ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७० ॥

समूचे कोलगिरि, सुरभीपत्तन, ताम्रद्वीप, रामकपर्वत तथा तिमिंगिलनरेशको भी अपने वशमें करके परम बुद्धिमान् सहदेवने एक पैरके पुरुषों, केरलों, वनवासियों, संजयन्ती नगरी तथा पाखण्ड और करहाटक देशोंको दूतोंद्वारा संदेश देकर ही अपने अधीन कर लिया और उन सबसे कर वसूल किया ॥ ६८-७० ॥

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोण्ड्रकेरलैः ।
आन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ॥ ७१ ॥
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७२ ॥

पाण्ड्य, द्रविड, उण्ड्र, केरल, आन्ध्र, तालवन, कलिङ्ग, उष्ट्रकर्णिक, रमणीय आटवीपुरी तथा यवनोंके नगर—इन सबको उन्होंने दूतोंद्वारा ही वशमें कर लिया और सबको कर देनेके लिये विवश किया ॥ ७१-७२ ॥

(समुद्रतीरमासाद्य न्यविशत् पाण्डुनन्दनः ।
सहदेवस्ततो राजन् मन्त्रिभिः सह भारत ।
सम्प्रधार्य महाबाहुः सचिवैर्बुद्धिमत्तरैः ॥

वहाँसे समुद्रके तटपर पहुँचकर पाण्डुनन्दन सहदेवने सेनाका पड़ाव डाला । भारत ! तदनन्तर महाबाहु सहदेवने अत्यन्त बुद्धिमान् मन्त्रणा देनेमें कुशल सचिवोंके साथ बैठकर बहुत देरतक विचारविमर्श किया ॥

अनुमान्य स तां राजन् सहदेवस्त्वरान्वितः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र भ्रातुः पुत्रं घटोत्कचम् ॥

राजेन्द्र जनमेजय ! उन सबकी सम्मतिको आदर देते हुए माद्री-कुमारने अपने भतीजे राक्षसराज घटोत्कचका तुरंत चिन्तन किया ॥

ततश्चिन्तितमात्रे तु राक्षसः प्रत्यदृश्यत ।
अतिदीर्घो महाकायः सर्वाभरणभूषितः ॥

उनके चिन्तन करते ही वह बड़े डील-डौलवाला विशाल-काय राक्षस दिखायी दिया । उसने सब प्रकारके आभूषण धारण कर रक्खे थे ॥

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
विचित्रहारकेयूरः किङ्किणीमणिभूषितः ॥

उसके शरीरका रंग मेघोंकी काली घटाके समान था । उसके कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झिलमिला रहे थे । उसके गलेमें हार और भुजाओंमें केयूरकी विचित्र शोभा हो रही थी । कटिभागमें वह किंकिणीकी मणियोंसे विभूषित था ॥

हेममाली महादंष्ट्रः किरीटी कुक्षिबन्धनः ।
ताम्रकेशो हरिश्मश्रुर्भीमाक्षः कनकाङ्गदः ॥

उसके कण्ठमें सुवर्णकी माला, मस्तकपर किरीट और कमरमें करधनीकी शोभा हो रही थी । उसकी दाढ़ें बहुत बड़ी थीं, सिरके बाल ताँबेके समान लाल थे, मूँछ-दाढ़ी

---

१. जो अपने कानोंसे ही शरीरको ढक लें उन्हें 'कर्णप्रावरण' कहते हैं । प्राचीन कालमें ऐसी जातिके लोग थे, जिनके कान पैरोंतक लटकते थे ।

के बाल हरे दिखायी देते थे एवं आँखें बड़ी भयंकर थीं। उसकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमक रहे थे ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गः सूक्ष्माम्बरधरो बली।
जवेन स ययौ तत्र चालयन्निव मेदिनीम् ॥

उसने अपने सब अङ्गोंमें लाल चन्दन लगा रक्खा था। उसके कपड़े बहुत महीन थे। वह बलवान् राक्षस अपने वेगसे समूची पृथ्वीको हिलाता हुआ-सा वहाँ पहुँचा ॥

ततो दृष्ट्वा जनाः राजन्नायान्तं पर्वतोपमम्।
भयाद्धि दुद्रुवुः सर्वे सिंहात् क्षुद्रमृगा यथा ॥

राजन्! उस पर्वताकार घटोत्कचको आता देख वहाँके सब लोग भयके मारे भाग खड़े हुए; मानो किसी सिंहके भयसे जंगलके मृग आदि क्षुद्र पशु भाग रहे हों ॥

आससाद च माद्रेयं पुलस्त्यं रावणो यथा।
अभिवाद्य ततो राजन् सहदेवं घटोत्कचः ॥
प्रह्वः कृताञ्जलिस्तस्थौ किं कार्यमिति चाब्रवीत्।

घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आया, मानो रावणने महर्षि पुलस्त्यके पास पदार्पण किया हो। महाराज! तदनन्तर घटोत्कच सहदेवको प्रणाम करके उनके सामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला— 'मेरे लिये क्या आज्ञा है ?' ॥

तं मेरुशिखराकारमागतं पाण्डुनन्दनः ॥
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय चासकृत्।
पूजयित्वा सहामात्यः प्रीतो वाक्यमुवाच ह ॥

घटोत्कच मेरुपर्वतके शिखर-जैसा जान पड़ता था। उसको आया देख पाण्डुनन्दन सहदेवने दोनों भुजाओंमें भरकर उसे हृदयसे लगा लिया और बार-बार उसका मस्तक सूँघा। तत्पश्चात् उसका स्वागत-सत्कार करके मन्त्रियोंसहित सहदेव बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले ॥

सहदेव उवाच

गच्छ लङ्कां पुरीं वत्स करार्थं मम शासनात्।
तत्र दृष्ट्वा महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥
रत्नानि राजसूयार्थं विविधानि बहूनि च।
उपादाय च सर्वाणि प्रत्यागच्छ महाबल ॥

सहदेवने कहा—वत्स! तुम मेरी आज्ञासे कर लेनेके लिये लंकापुरीमें जाओ और वहाँ राक्षसराज महात्मा विभीषणसे मिलकर राजसूययज्ञके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न प्राप्त करो। महाबली वीर! उनकी ओरसे भेंटमें मिली हुई सब वस्तुएँ लेकर शीघ्र यहाँ लौट आओ ॥

नो चेदेवं वदेः पुत्र समर्थमिदमुत्तरम्।
विष्णोर्भुजबलं वीक्ष्य राजसूयमथारभत् ॥
कौन्तेयोः भ्रातृभि सार्धं सर्वं जानीहि साम्प्रतम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सर्वं वैश्रवणानुज ॥
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ मा भूत् कालस्य पर्ययः।

बेटा! यदि विभीषण तुम्हें भेंट न दें, तो उन्हें अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस प्रकार कहना—'कुबेरके छोटे भाई लंकेश्वर! कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलको देखकर भाइयोंसहित राजसूययज्ञ आरम्भ किया है। आप इस समय इन बातोंको अच्छी तरह जान लें। आपका कल्याण हो, अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा।' इतना कहकर तुम शीघ्र लौट आना; अधिक विलम्ब मत करना ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनैवमुक्तस्तु मुदा युक्तो घटोत्कचः।
तथेत्युक्त्वा महाराज प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ॥
ययौ प्रदक्षिणं कृत्वा सहदेवं घटोत्कचः।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! पाण्डुकुमार सहदेवके ऐसा कहनेपर घटोत्कच बहुत प्रसन्न हुआ और 'तथास्तु' कहकर सहदेवकी परिक्रमा करके दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया ॥

ततः कच्छगतो धीमान् दूतं माद्रवतीसुतः।
प्रेषयामास हैडिम्बं पौलस्त्याय महात्मने।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिंदमः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार समुद्रके तटपर पहुँचकर बुद्धिमान् शत्रुदमन धर्मात्मा माद्रवतीकुमारने महात्मा पुलस्त्यनन्दन विभीषणके पास प्रेमपूर्वक घटोत्कचको अपना दूत बनाकर भेजा ॥७३॥

(लङ्कामभिमुखो राजन् समुद्रमवलोकयत् ॥
कूर्मग्राहझषाकीर्णं नक्रैर्मीनैस्तथाऽऽकुलम्।
शुक्तिव्रातैः समाकीर्णं शङ्खानां निचयाकुलम् ॥

राजन्! लङ्काकी ओर जाते हुए घटोत्कचने समुद्रको देखा। वह कछुओं, मगरों, नाकों तथा मत्स्य आदि जल-जन्तुओंसे भरा हुआ था। उसमें ढेर-के-ढेर शङ्ख और सीपियाँ छा रही थीं ॥

स दृष्ट्वा रामसेतुं च चिन्तयन् रामविक्रमम्।
प्रणम्य तमतिक्रम्य याम्यां वेलामलोकयत् ॥

भगवान् श्रीरामके द्वारा बनवाये हुए पुलको देखकर घटोत्कचको भगवान्के पराक्रमका चिन्तन हो आया और उस सेतुतीर्थको प्रणाम करके उसने समुद्रके दक्षिणतटकी ओर दृष्टिपात किया ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य दक्षिणं स घटोत्कचः।
ददर्श लङ्कां राजेन्द्र नाकपृष्ठोपमां शुभाम् ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् दक्षिणतटपर पहुँचकर घटोत्कचने लङ्कापुरी देखी, जो स्वर्गके समान सुन्दर थी ॥

प्राकारेणावृतां रम्यां शुभद्वारैश्च शोभिताम् ।
प्रासादैर्बहुसाहस्रैः श्वेतरक्तैश्च संकुलाम् ॥

उसके चारों ओर चहारदीवारी बनी थी । सुन्दर फाटक उस रमणीय पुरीकी शोभा बढ़ाते थे । सफेद और लाल रंगके हजारों महलोंसे वह लंकापुरी भरी हुई थी ॥

तापनीयगवाक्षेण मुक्ताजालान्तरेण च ।
हैमराजतजालेन दान्तजालैश्च शोभिताम् ॥

वहाँके गवाक्ष (जँगले) सोनेके बने हुए थे और उनके भीतर मोतियोंकी जाली लगी हुई थी । कितने ही गवाक्ष सोने, चाँदी तथा हाथीदाँतकी जालियोंसे सुशोभित थे ॥

हर्म्यगोपुरसम्बाधां रुक्मतोरणसंकुलाम् ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादामुद्यानवनशोभिताम् ॥

कितनी ही अट्टालिकाएँ तथा गोपुर उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे । स्थान-स्थानपर सोनेके फाटक लगे हुए थे । वहाँ दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि गूँजती रहती थी । बहुत-से उद्यान और वन उस नगरीकी श्रीवृद्धि कर रहे थे ॥

पुष्पगन्धैश्च संकीर्णां रमणीयमहापथाम् ।
नानारत्नैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥

उसमें चारों ओर फूलोंकी सुगन्ध छा रही थी । वहाँकी लंबी-चौड़ी सड़कें बहुत सुन्दर थीं । भाँति-भाँतिके रत्नोंसे भरी-पुरी लंका इन्द्रकी अमरावतीपुरीको भी लज्जित कर रही थी ॥

विवेश स पुरीं लङ्कां राक्षसैश्च निषेविताम् ।
ददर्श राक्षसव्राताञ्छूलप्रासधरान् बहून् ॥

घटोत्कचने राक्षसोंसे सेवित उस लङ्कापुरीमें प्रवेश किया और देखा, झुंड-के-झुंड राक्षस त्रिशूल और भाले लिये विचर रहे हैं ॥

नानावेषधरान् दक्षान् नारीश्च प्रियदर्शनाः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ॥

वे सभी युद्धमें कुशल हैं और नाना प्रकारके वेष धारण करते हैं । घटोत्कचने वहाँकी नारियोंको भी देखा । वे सब-की-सब बड़ी सुन्दर थीं । उनके अङ्गोंमें दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य हार शोभा दे रहे थे ॥

मदरक्तान्तनयनाः पीनश्रोणिपयोधराः ।
भैमसेनिं ततो दृष्ट्वा हृष्टास्ते विस्मयं गताः ॥

उनके नेत्रोंके किनारे मदिराके नशेसे कुछ लाल हो रहे थे । उनके नितम्ब और उरोज उभरे हुए तथा मांसल थे । भीमसेनपुत्र घटोत्कचको वहाँ आया देख लङ्कानिवासी राक्षसोंको बड़ा हर्ष और विस्मय हुआ ॥

आससाद गृहं राज्ञ इन्द्रस्य सदनोपमम् ।
स द्वारपालमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥

इधर घटोत्कच इन्द्रभवनके समान मनोहर राजमहलके द्वारपर जा पहुँचा और द्वारपालसे इस प्रकार बोला ॥

घटोत्कच उवाच

कुरूणामृषभो राजा पाण्डुर्नाम महाबलः ।
कनीयांस्तस्य दायादः सहदेव इति श्रुतः ॥

घटोत्कचने कहा—कुरुकुलमें एक श्रेष्ठ राजा हो गये हैं । वे महाबली नरेश 'पाण्डु'के नामसे विख्यात थे । उनके सबसे छोटे पुत्रका नाम 'सहदेव' है ॥

कृष्णमित्रस्य तु गुरो राजसूयार्थमुद्यतः ।
तेनाहं प्रेषितो दूतः करार्थं कौरवस्य च ॥

वे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरका राजसूययज्ञ सम्पन्न करानेके लिये कटिबद्ध हैं । धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं । सहदेवने कुरुराज युधिष्ठिरके लिये कर लेनेके निमित्त मुझे दूत बनाकर यहाँ भेजा है ॥

द्रष्टुमिच्छामि पौलस्त्यं त्वं क्षिप्रं मां निवेदय ।

मैं पुलस्त्यनन्दन महाराज विभीषणसे मिलना चाहता हूँ । तुम शीघ्र जाकर उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दो ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा द्वारपालो महीपते ।
तथेत्युक्त्वा विवेशाथ भवनं स निवेदकः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! घटोत्कचका वह वचन सुनकर वह द्वारपाल 'बहुत अच्छा' कहकर सूचना देनेके लिये राजभवनके भीतर गया ॥

साञ्जलिः स समाचष्ट सर्वां दूतगिरं तदा ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥
उवाच वाक्यं धर्मात्मा समीपे मे प्रवेश्यताम् ।

वहाँ उसने हाथ जोड़कर दूतकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं । द्वारपालकी बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषणने उससे कहा—'दूतको मेरे समीप ले आओ' ॥

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र धर्मज्ञेन महात्मना ।
अथ निष्क्रम्य सम्भ्रान्तो द्वाःस्थो हैडिम्बमब्रवीत् ॥

राजेन्द्र ! धर्मज्ञ महात्मा विभीषणकी ऐसी आज्ञा होनेपर द्वारपाल बड़ी उतावलीके साथ बाहर निकला और घटोत्कच-से बोला—॥

एहि दूत नृपं द्रष्टुं क्षिप्रं प्रविश च स्वयम् ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा प्रविवेश घटोत्कचः ॥

'दूत ! आओ । महाराजसे मिलनेके लिये राजभवनमें शीघ्र प्रवेश करो ।' द्वारपालका कथन सुनकर घटोत्कचने राजभवनमें प्रवेश किया ॥

स प्रविश्य ददर्शाथ राक्षसेन्द्रस्य मन्दिरम् ।
ततः कैलाससंकाशं तप्तकाञ्चनतोरणम् ॥

तदनन्तर उसमें प्रवेश करके उसने राक्षसराज विभीषणका महल देखा, जो अपनी उज्ज्वल आभासे कैलासके समान जान पड़ता था। उसका फाटक तपाकर शुद्ध किये हुए सोनेसे तैयार किया गया था ॥

प्राकारेण परिक्षिप्तं गोपुरैश्चापि शोभितम् ।
हर्म्यप्रासादसम्बाधं नानारत्नसमन्वितम् ॥

चहारदीवारीसे घिरा हुआ वह राजमन्दिर अनेक गोपुरोंसे सुशोभित हो रहा था। उसमें बहुत-सी अट्टालिकाएँ तथा महल बने हुए थे। भाँति-भाँतिके रत्न उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे ॥

काञ्चनैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि ।
वज्रवैडूर्यगर्भैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः ।
नानाध्वजपताकाभिः सुवर्णाभिश्च चित्रितम् ।

तपाये हुए सुवर्ण, रजत (चाँदी) तथा स्फटिकमणिके बने हुए खम्भे नेत्र और मनको बरबस अपनी ओर खींच लेते थे। उन खम्भोंमें हीरे और वैडूर्य जड़े हुए थे। सुनहरे रंगकी विविध ध्वजा-पताकाओंसे उस भव्य भवनकी विचित्र शोभा हो रही थी ॥

चित्रमाल्यावृतं रम्यं तप्तकाञ्चनवेदिकम् ॥
तान् दृष्ट्वा तत्र सर्वान् स भैमसेनिर्मनोरमान् ।
प्रविशन्नेव हैडिम्बः शुश्राव मुरजस्वनम् ॥

विचित्र मालाओंसे अलंकृत तथा विशुद्ध स्वर्णमय वेदिकाओंसे विभूषित वह राजभवन बड़ा रमणीय दिखायी दे रहा था। उस महलकी इन सारी मनोरम विशेषताओंको देखकर घटोत्कचने ज्यों ही भीतर प्रवेश किया, त्यों ही उसके कानोंमें मृदंगकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी ॥

तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालमिताक्षरम् ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादं वादित्रशतसंकुलम् ॥

वहाँ वीणाके तार झंकृत हो रहे थे और उसके लयपर गीत गाया जा रहा था, जिसका एक-एक अक्षर समतालके अनुसार उच्चारित हो रहा था। सैकड़ों वाद्योंके साथ दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष गूँज रहा था ॥

स श्रुत्वा मधुरं शब्दं प्रीतिमानभवत् तदा ।
ततो विगाह्य हैडिम्बो बहुकक्षां मनोरमाम् ॥
स ददर्श महात्मानं द्वाःस्थेन भरतर्षभ ।
तं विभीषणमासीनं काञ्चने परमासने ॥

भरतश्रेष्ठ! वह मधुर शब्द सुनकर घटोत्कचके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अनेक मनोरम कक्षाओंको पार करके द्वारपालके साथ जा सुन्दर स्वर्णसिंहासनपर बैठे हुए महात्मा विभीषणका दर्शन किया ॥

दिव्ये भास्करसंकाशे मुक्तामणिविभूषिते ।
दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपधरं विभुम् ॥

उनका सिंहासन सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था और उसमें मोती तथा मणि आदि रत्न जड़े हुए थे। दिव्य आभूषणोंसे राक्षसराज विभीषणके अङ्गोंकी विचित्र शोभा हो रही थी। उनका रूप दिव्य था ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धोक्षितं शुभम् ॥
विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम् ।

वे दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके दिव्य गन्धसे अभिषिक्त हो बड़े सुन्दर दिखायी दे रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्य तथा अग्निके समान उद्भासित हो रही थी ॥

उपोपविष्टं सचिवैर्देवैरिव शतक्रतुम् ॥
यक्षैर्महारथैर्दिव्यैर्नारीभिः प्रियदर्शनैः ।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिः पूज्यमानं यथाविधि ॥

जैसे इन्द्रके पास बहुत-से देवता बैठते हैं, उसी प्रकार विभीषणके समीप उनके अनेक सचिव बैठे थे। बहुत-से दिव्य सुन्दर महारथी यक्ष अपनी स्त्रियोंके साथ मङ्गलयुक्त वाणीद्वारा विभीषणका विधिपूर्वक पूजन कर रहे थे ॥

चामरे व्यजने चाग्र्ये हेमदण्डे महाधने ।
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ॥

दो सुन्दरी नारियाँ सुवर्णमय दण्डसे विभूषित बहुमूल्य चँवर तथा व्यजन लेकर उनके मस्तकपर डुला रही थीं ॥

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टं कुबेरवरुणोपमम् ।
धर्मे चैव स्थितं नित्यमद्भुतं राक्षसेश्वरम् ॥

राक्षसराज विभीषण कुबेर और वरुणके समान राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं अद्भुत दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंसे दिव्य प्रभा छिटक रही थी। वे सदा धर्ममें स्थित रहते थे ॥

राममिक्ष्वाकुनाथं वै स्मरन्तं मनसा सदा ।
दृष्ट्वा घटोत्कचो राजन् ववन्दे तं कृताञ्जलिः ॥

वे मन-ही-मन इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते थे। राजन्! उन राक्षसराज विभीषणको देख घटोत्कचने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया ॥

प्रह्वस्तस्थौ महावीर्यः शक्रं चित्ररथो यथा ।
तं दूतमागतं दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥
पूजयित्वा यथान्यायं सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ।

और जैसे महापराक्रमी चित्ररथ इन्द्रके सामने नम्र रहते हैं, उसी प्रकार महाबली घटोत्कच भी विनीतभावसे उनके सम्मुख खड़ा हो गया। राक्षसराज विभीषणने उस दूतको आया हुआ देख उसका यथायोग्य सम्मान करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंमें कहा ॥

विभीषण उवाच

कस्य वंशे तु संजातः करमिच्छन् महीपतिः ॥
तस्यानुजान् समस्तांश्च पुरं देशं च तस्य वै ।

त्वां च कार्यं च तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥
विस्तरेण मम ब्रूहि सर्वानेतान् पृथक्-पृथक् ।

विभीषणने पूछा—दूत ! जो महाराज मुझसे कर लेना चाहते हैं, वे किसके कुलमें उत्पन्न हुए हैं। उनके समस्त भाइयों तथा ग्राम और देशका परिचय दो । मैं तुम्हारे विषयमें भी जानना चाहता हूँ तथा तुम जिस कार्यके लिये कर लेने आये हो, उस समस्त कार्यके विषयमें भी मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। तुम मेरी पूछी हुई इन सब बातोंको विस्तारपूर्वक पृथक्-पृथक् बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु हैडिम्बः पौलस्त्येन महात्मना ॥
कृताञ्जलिरुवाचाथ सान्त्वयन् राक्षसाधिपम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा विभीषणके इस प्रकार पूछनेपर हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने हाथ जोड़ राक्षसराजको आश्वासन देते हुए कहा ॥

घटोत्कच उवाच

सोमस्य वंशे राजाऽऽसीत् पाण्डुर्नाम महाबलः।
पाण्डोः पुत्राश्च पञ्चासञ्छक्रतुल्यपराक्रमाः ॥
तेषां ज्येष्ठस्तु नाम्नाभूद् धर्मपुत्र इति श्रुतः ।

घटोत्कच बोला—महाराज ! चन्द्रवंशमें पाण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाबली राजा हो गये हैं। उनके पाँच पुत्र हैं, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हैं। उन पाँचोंमें जो बड़े हैं, वे धर्मपुत्रके नामसे विख्यात हैं ॥

अजातशत्रुर्धर्मात्मा धर्मो विग्रहवानिव ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्राप्य राज्यमकारयत् ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे नगरे नागसाह्वये ॥

उनके मनमें किसीके प्रति शत्रुता नहीं है; इसलिये लोग उन्हें अजातशत्रु कहते हैं। उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है। वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं। गङ्गाके दक्षिणतटपर हस्तिनापुर नामका एक नगर है। राजा युधिष्ठिर वहीं अपना पैतृक राज्य प्राप्त करके उसकी रक्षा करते थे ॥

तद् दत्त्वा धृतराष्ट्राय शक्रप्रस्थं ययौ ततः।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शक्रप्रस्थे प्रमोदते ॥

राक्षसराज ! कुछ कालके पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुरका राज्य धृतराष्ट्रको सौंप दिया और स्वयं वे भाइयोंसहित इन्द्रप्रस्थ चले गये। इन दिनों वे वहीं आनन्दपूर्वक रहते हैं ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये तावुभौ नगरोत्तमौ ।
नित्यं धर्मे स्थितो राजा शक्रप्रस्थे प्रशासति ॥

वे दोनों श्रेष्ठ नगर गङ्गा-यमुनाके बीचमें बसे हुए हैं। नित्य धर्मपरायण राजा युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें ही रहकर शासन करते हैं ॥

तस्यानुजो महाबाहुः भीमसेनो महाबलः ।
महातेजा महावीर्यः सिंहतुल्यः स पाण्डवः ॥

उनके छोटे भाई पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेन भी बड़े बलवान् हैं। वे सिंहके समान महापराक्रमी और अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

दशनागसहस्राणां बले तुल्यः स पाण्डवः ।
तस्यानुजोऽर्जुनो नाम महावीर्यपराक्रमः ॥
सुकुमारो महासत्त्वो लोके वीर्येण विश्रुतः ।

उनमें दस हजार हाथियोंका बल है। उनसे छोटे भाईका नाम अर्जुन है, जो महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न, सुकुमार तथा अत्यन्त धैर्यवान् हैं। उनका पराक्रम विश्वमें विख्यात है ॥

कार्तवीर्यसमो वीर्ये सागरप्रतिमो बले ॥
जामदग्न्यसमो ह्यस्त्रे संख्ये रामसमोऽर्जुनः ।
रूपे शक्रसमः पार्थस्तेजसा भास्करोपमः ॥

वे कुन्तीनन्दन अर्जुन कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी, सगरपुत्रोंके समान बलवान्, परशुरामजीके समान अस्त्रविद्याके ज्ञाता, श्रीरामचन्द्रजीके समान समरविजयी, इन्द्रके समान रूपवान् तथा भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥

देवदानवगन्धर्वैः पिशाचोरगराक्षसैः ।
मानुषैश्च समस्तैश्च अजेयः फाल्गुनो रणे ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस और मनुष्य—ये सब मिलकर भी युद्धमें अर्जुनको परास्त नहीं कर सकते ॥

तेन तत् खाण्डवं दावं तर्पितं जातवेदसे ।
तरसा धर्षयित्वा तं शक्रं देवगणैः सह ॥
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तर्पयित्वा हुताशनम् ।

उन्होंने खाण्डववनको जलाकर अग्निदेवको तृप्त किया है। देवताओंसहित इन्द्रको वेगपूर्वक पराजित करके उन्होंने अग्निदेवको संतुष्ट किया और उनसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये हैं ॥

तेन लब्धा महाराज दुर्लभा देवतैरपि ॥
वासुदेवस्य भगिनी सुभद्रा नाम विश्रुता ।

महाराज ! उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया है, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ थी ॥

अर्जुनस्यानुजो राजन् नकुलश्चेति विश्रुतः ॥
दर्शनीयतमो लोके मूर्तिमानिव मन्मथः ।

राजन् ! अर्जुनके छोटे भाई नकुल नामसे विख्यात हैं, जो इस जगत्में मूर्तिमान् कामदेवके समान दर्शनीय हैं ॥

तस्यानुजो महातेजाः सहदेव इति श्रुतः ।
तेनाहं प्रेषितो राजन् सहदेवेन मारिष ॥

नकुलके छोटे भाई महातेजस्वी सहदेवके नामसे विख्यात हैं। माननीय महाराज ! उन्हीं सहदेवने मुझे यहाँ भेजा है ॥

अहं घटोत्कचो नाम भीमसेनसुतो बली।
मम माता महाभागा हिडिम्बा नाम राक्षसी॥

मेरा नाम घटोत्कच है। मैं भीमसेनका बलवान् पुत्र हूँ। मेरी सौभाग्यशालिनी माताका नाम हिडिम्बा है। वे राक्षसकुलकी कन्या हैं॥

पार्थानामुपकारार्थं चरामि पृथिवीमिमाम्।
आसीत् पृथिव्याः सर्वस्या महीपालो युधिष्ठिरः॥

मैं कुन्तीपुत्रोंका उपकार करनेके लिये ही इस पृथ्वीपर विचरता हूँ। महाराज युधिष्ठिर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक हो गये हैं॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे।
संदिदेश च स भ्रातॄन् करार्थं सर्वतोदिशम्॥

उन्होंने क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करनेकी तैयारी की है। उन्हीं महाराजने अपने सब भाइयोंको कर वसूल करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा है॥

वृष्णिवीरेण सहितः संदिदेशानुजान् नृपः।
उदीचीमर्जुनस्तूर्णं करार्थं समुपाययौ॥

वृष्णिवीर भगवान् श्रीकृष्णके साथ धर्मराजने जब अपने भाइयोंको दिग्विजयके लिये आदेश दिया, तब महाबली अर्जुन कर वसूल करनेके लिये तुरंत उत्तर दिशाकी ओर चल दिये॥

गत्वा शतसहस्राणि योजनानि महाबलः।
जित्वा सर्वान् नृपान् युद्धे हत्वा च तरसा वशी॥
स्वर्गद्वारमुपागम्य रत्नान्यादाय वै भृशम्।

उन्होंने लाख योजनकी यात्रा करके सम्पूर्ण राजाओंको युद्धमें हराया है और सामना करनेके लिये आये हुए विपक्षियोंको वेगपूर्वक मारा है। जितेन्द्रिय अर्जुनने स्वर्गके द्वारतक जाकर प्रचुर रत्न-राशि प्राप्त की है॥

अश्वांश्च विविधान् दिव्यान् सर्वानादाय फाल्गुनः॥
धनं बहुविधं राजन् धर्मपुत्राय वै ददौ।

नाना प्रकारके दिव्य अश्व उन्हें भेंटमें मिले हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके धन लाकर उन्होंने धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित किये हैं॥

भीमसेनो हि राजेन्द्र जित्वा प्राचीं दिशं बलात्॥
वशे कृत्वा महीपालान् पाण्डवाय धनं ददौ।

राजेन्द्र! युधिष्ठिरके दूसरे भाई भीमसेनने पूर्व दिशामें जाकर उसे बलपूर्वक जीता है और वहाँके राजाओंको अपने वशमें करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित किया है॥

दिशं प्रतीचीं नकुलः करार्थं प्रययौ तथा॥
सहदेवो दिशं याम्यां जित्वा सर्वान् महीक्षितः।

नकुल कर लेनेके लिये पश्चिम दिशाकी ओर गये हैं और सहदेव सम्पूर्ण राजाओंको जीतते हुए दक्षिण दिशामें बढ़ते चले आये हैं॥

मां संदिदेश राजेन्द्र करार्थमिह सत्कृतः॥
पार्थानां चरितं तुभ्यं संक्षेपात् समुदाहृतम्।

राजेन्द्र! उन्होंने बड़े सत्कारपूर्वक मुझे आपके यहाँ राजकीय कर देनेके लिये संदेश भेजा है। महाराज! पाण्डवोंका यह चरित्र मैंने अत्यन्त संक्षेपमें आपके समक्ष रक्खा है॥

तमवेक्ष्य महाराज धर्मराजं युधिष्ठिरम्॥
पावकं राजसूयं च भगवन्तं हरिं प्रभुम्।
एतानवेक्ष्य धर्मज्ञ करं त्वं दातुमर्हसि॥

आप धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखिये, पवित्र करनेवाले राजसूययज्ञ तथा जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिकी ओर भी ध्यान दीजिये। धर्मज्ञ नरेश! इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए आपको मुझे कर देना चाहिये॥

वैशम्पायन उवाच

तेन तद् भाषितं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मात्मा सचिवैः सह॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! घटोत्कचकी वह बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए॥

स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम्।
तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः॥ ७४॥

विभीषणने प्रेमपूर्वक ही उनका शासन स्वीकार कर लिया। शक्तिशाली एवं बुद्धिमान् विभीषणने उसे कालका ही विधान समझा॥ ७४॥

(ततो ददौ विचित्राणि कम्बलानि कुथानि च।
दन्तकाञ्चनपर्यङ्कान् मणिहेमविचित्रितान्॥

उन्होंने सहदेवके लिये हाथीकी पीठपर बिछाने योग्य विचित्र कम्बल (कालीन) तथा हाथीदाँत और सुवर्णके बने हुए पलंग दिये, जिनमें सोने तथा रत्न जड़े हुए थे॥

भूषणानि विचित्राणि महार्हाणि बहूनि च।
प्रवालानि च शुभ्राणि मणींश्च विविधान् बहून्॥
काञ्चनानि च भाण्डानि कलशानि घटानि च।
कटाहान्यपि चित्राणि द्रोण्यश्चैव सहस्रशः॥

इसके सिवा बहुत-से विचित्र और बहुमूल्य आभूषण भी भेंट किये। सुन्दर मूँगे, भाँति-भाँतिके मणिरत्न, सोनेके बर्तन, कलश, घड़े, विचित्र कड़ाहे और हजारों जलपात्र समर्पित किये॥

राजतानि च भाण्डानि चित्राणि च बहूनि च।
शस्त्राणि रुक्मचित्राणि मणिमुक्तैर्विचित्रितान्॥

इनके सिवा चाँदीके भी बहुत-से ऐसे बर्तन दिये, जिनमें

चित्रकारी की गयी थी। कुछ ऐसे शस्त्र भेंट किये, जिनमें सुवर्ण, मणि और मोती जड़े हुए थे ॥

यज्ञस्य तोरणे युक्तान् ददौ तालांश्चतुर्दश।
रुक्मपङ्कजपुष्पाणि शिबिका मणिभूषिताः ॥

यज्ञके फाटकपर लगाने योग्य चौदह ताड़ प्रदान किये। सुवर्णमय कमलपुष्प और मणिजटित शिबिकाएँ भी दीं ॥

मुकुटानि महार्हाणि हेमवर्णांश्च कुण्डलान्।
हेमपुष्पाण्यनेकानि रुक्ममाल्यानि चापरान् ॥
शङ्खांश्च चन्द्रसंकाशाञ्छतावर्तान् विचित्रिणः।

बहुमूल्य मुकुट, सुनहले कुण्डल, सोनेके बने हुए अनेकानेक पुष्प, सोनेके ही हार तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एवं विचित्र शतावर्त शङ्ख भेंट किये ॥

चन्दनानि च मुख्यानि रुक्मरत्नान्यनेकशः ॥
वासांसि च महार्हाणि कम्बलानि बहून्यपि।
अन्यांश्च विविधान् राजन् रत्नानि च बहूनि च ॥
स ददौ सहदेवाय तदा राजा विभीषणः।)

श्रेष्ठ चन्दन, अनेक प्रकारके सुवर्ण तथा रत्न, महँगे वस्त्र, बहुत-से कम्बल, अनेक जातिके रत्न तथा और भी भाँति-भाँतिके बहुमूल्य पदार्थ राजा विभीषणने सहदेवको भेंट किये ॥

ततः सम्प्रेषयामास रत्नानि विविधानि च।
चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ७५ ॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान्।

तथा उन्होंने नाना प्रकारके रत्न, चन्दन, अगुरुके काष्ठ, दिव्य आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और विशेष मूल्यवान् मणि-रत्न भी उसके साथ भिजवाये ॥ ७५½ ॥

(विभीषणं च राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥
प्रदक्षिणं परीत्यैव निर्जगाम घटोत्कचः।

तदनन्तर घटोत्कचने हाथ जोड़कर राजा विभीषणको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥

तानि सर्वाणि रत्नानि अष्टाशीतिर्निशाचराः ॥
आजह्रुः समुदा राजन् हैडिम्बेन तदा सह।

राजन्! घटोत्कचके साथ अट्ठासी निशाचर उन सब रत्नोंको पहुँचानेके लिये प्रसन्नतापूर्वक आये ॥

रत्नान्यादाय सर्वाणि प्रतस्थे स घटोत्कचः ॥
ततो रत्नान्युपादाय हैडिम्बो राक्षसैः सह।
अगाम तूर्णं लङ्कायाः सहदेवपदं प्रति ॥
आसेदुः पाण्डवं सर्वे लङ्घयित्वा महोदधिम् ॥

इस प्रकार उन सब रत्नोंको साथ ले घटोत्कचने राक्षसोंके साथ लङ्कासे सहदेवके पड़ावकी ओर प्रस्थान किया और समुद्र लाँघकर वे सब-के-सब पाण्डुनन्दन सहदेवके निकट आ पहुँचे ॥

सहदेवो ददर्शाथ रत्नाहारान् निशाचरान्।
आगतान् भीमसंकाशान् हैडिम्बं च तथा नृप ॥

राजन्! सहदेवने रत्न लेकर आये हुए भयंकर निशाचरों तथा घटोत्कचको भी देखा ॥

द्रमिला नैर्ऋतान् दृष्ट्वा दुद्रुवुस्ते भयार्दिताः।
भैमसेनिस्ततो गत्वा माद्रेयं प्राञ्जलिः स्थितः ॥

उस समय उन राक्षसोंको देखकर द्राविड़ सैनिक भयभीत हो सब ओर भागने लगे। इतनेमें ही भीमसेनकुमार घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आ हाथ जोड़कर खड़ा हो गया ॥

प्रीतिमानभवद् दृष्ट्वा रत्नौघं तं च पाण्डवः।
तं परिष्वज्य पाणिभ्यां दृष्ट्वा तान् प्रीतिमानभूत् ॥
विसृज्य द्रमिलान् सर्वान् गमनायोपचक्रमे।)

पाण्डुकुमार सहदेव वह रत्न-राशि देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने घटोत्कचको दोनों हाथोंसे पकड़कर गले लगाया और दूसरे राक्षसोंकी ओर देखकर भी बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इसके बाद समस्त द्राविड सैनिकोंको विदा करके सहदेव वहाँसे लौटनेकी तैयारी करने लगे ॥

न्यवर्तत ततो धीमान् सहदेवः प्रतापवान् ॥ ७६ ॥

तैयारी पूरी हो जानेपर प्रतापी और बुद्धिमान् सहदेव इन्द्रप्रस्थकी ओर चल दिये ॥ ७६ ॥

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च।
करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार बलपूर्वक जीतकर तथा सामनीतिसे समझा-बुझाकर सब राजाओंको अपने अधीन करके उन्हें करद बनाकर शत्रुदमन माद्रीनन्दन इन्द्रप्रस्थमें वापस आ गये ॥ ७७ ॥

(रत्नभारमुपादाय ययौ सह निशाचरैः।
इन्द्रप्रस्थं विवेशाथ कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥

रत्नोंका वह भारी भार साथ लिये निशाचरोंके साथ सहदेवने इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय वे पैरोंकी धमकसे सारी पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से चल रहे थे ॥

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् सहदेवः कृताञ्जलिः।
प्रह्वोऽभिवाद्य तस्थौ स पूजितश्चैव तेन वै ॥

राजन्! युधिष्ठिरको देखते ही सहदेव हाथ जोड़ नम्रतापूर्वक उनके चरणोंमें पड़ गये। फिर विनीतभावसे उनके समीप खड़े हो गये। उस समय युधिष्ठिरने भी उनका बहुत सम्मान किया ॥

लङ्काप्राप्तान् धनौघांश्च दृष्ट्वा तान् दुर्लभान् बहून्।
प्रीतिमानभवद् राजा विस्मयं च ययौ तदा ॥

लङ्कासे प्राप्त हुई अत्यन्त दुर्लभ एवं प्रचुर धनराशियोंको देखकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए ॥

कोटीसहस्रमधिकं हिरण्यस्य महात्मने।
विचित्रांस्तु मणींश्चैव गोऽजाविमहिषांस्तथा ॥)

धर्मराजाय तत् सर्वं निवेद्य भरतर्षभ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥ ७८ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उस धनराशिमें सहस्र कोटिसे भी अधिक सुवर्ण था। विचित्र मणि एवं रत्न थे। गाय, भैंस, भेड़ और बकरियोंकी संख्या भी अधिक थी। राजन्! इन सबको महात्मा धर्मराजकी सेवामें समर्पित करके कृतकृत्य हो सहदेव सुखपूर्वक राजधानीमें रहने लगे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि सहदेवदक्षिणदिग्विजये एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०० श्लोक मिलाकर कुल १७८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा।
वासुदेवजितामाशां यथासावजयत् प्रभुः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अब मैं नकुलके पराक्रम और विजयका वर्णन करूँगा। शक्तिशाली नकुलने जिस प्रकार भगवान् वासुदेवद्वारा अधिकृत पश्चिम दिशापर विजय पायी थी, वह सुनो ॥ १ ॥

निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितो दिशम्।
उद्दिश्य मतिमान् प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥

बुद्धिमान् माद्रीकुमारने विशाल सेनाके साथ खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिम दिशामें जानेके लिये प्रस्थान किया ॥ २ ॥

सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥

वे अपने सैनिकोंके महान् सिंहनाद, गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटकी तुमुल ध्वनिसे इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए जा रहे थे ॥ ३ ॥

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत्।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥ ४ ॥

जाते-जाते वे बहुत धन-धान्यसे सम्पन्न, गौओंकी बहुलतासे युक्त तथा स्वामिकार्तिकेयके अत्यन्त प्रिय रमणीय रोहीतक[1] पर्वत एवं उसके समीपवर्ती देशमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः।
मरुभूमिं स कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥
शैरीषकं महोत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥ ६ ॥

वहाँ उनका मत्तमयूर नामवाले शूरवीर क्षत्रियोंके साथ घोर संग्राम हुआ। उसपर अधिकार करनेके पश्चात् महान् तेजस्वी नकुलने समूची मरुभूमि (मारवाड़), प्रचुर धन-धान्यपूर्ण शैरीषक और महोत्थ नामक देशोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया। महोत्थ देशके अधिपति राजर्षि आक्रोशको भी जीत लिया। आक्रोशके साथ उनका बड़ा भारी युद्ध हुआ था ॥ ५-६ ॥

तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः।
शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान् मालवान् पञ्चकर्पटान् ॥ ७ ॥
तथा माध्यमिकांश्चैव वाटधानान् द्विजानथ।

तत्पश्चात् दशार्णदेशपर विजय प्राप्त करके पाण्डुनन्दन नकुलने शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पञ्चकर्पट एवं माध्यमिक देशोंको प्रस्थान किया और उन सबको जीतकर वाटधानदेशीय क्षत्रियोंको भी हराया ॥ ७½ ॥

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥
गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत् पुरुषर्षभः।

पुनः उधरसे लौटकर नरश्रेष्ठ नकुलने पुष्करारण्य-निवासी उत्सवसंकेत नामक गणोंको परास्त किया ॥ ८½ ॥

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥ ९ ॥
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम्।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥ १० ॥

समुद्रके तटपर रहनेवाले जो महाबली ग्रामणीय (ग्राम शासकके वंशज) क्षत्रिय थे, सरस्वती नदीके किनारे निवास करनेवाले जो शूद्र आभीरगण थे, मछलियोंसे जीविका चलानेवाले जो धीवर जातिके लोग थे तथा जो पर्वतोंपर वास करनेवाले दूसरे-दूसरे मनुष्य थे, उन सबको नकुलने जीतकर अपने वशमें कर लिया ॥ ९-१० ॥

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम्।

१. इसीको आजकल रोहतक (पंजाब) कहते हैं।

उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥ ११ ॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ।

फिर सम्पूर्ण पञ्चनददेश (पंजाब), अमरपर्वत, उत्तरज्योतिष, दिव्यकट नगर और द्वारपालपुरको अत्यन्त कान्तिमान् नकुलने शीघ्र ही अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ११½ ॥

रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥ १२ ॥
तान् सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥ १३ ॥

रामठ, हार, हूण तथा अन्य जो पश्चिमी नरेश थे, उन सबको पाण्डुकुमार नकुलने आज्ञामात्रसे ही अपने अधीन कर लिया । भारत ! वहीं रहकर उन्होंने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा ॥ १२-१३ ॥

स चास्य गतभी राजन् प्रतिजग्राह शासनम् ।
ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ॥ १४ ॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ।

राजन् ! उन्होंने केवल प्रेमके कारण नकुलका शासन स्वीकार कर लिया । इसके बाद शाकलदेशको जीतकर बलवान् नकुलने मद्रदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया और वहाँके शासक अपने मामा शल्यको प्रेमसे ही वशमें कर लिया ॥ १४½ ॥

स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशाम्पते ॥ १५ ॥
रत्नानि भूरीण्यादाय सम्प्रतस्थे युधाम्पतिः ।

राजन् ! राजा शल्यने सत्कारके योग्य नकुलका यथावत् सत्कार किया । शल्यसे भेटमें बहुत-से रत्न लेकर योद्धाओंके अधिपति माद्रीकुमार आगे बढ़ गये ॥ १५½ ॥

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥ १६ ॥
पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनाञ्छकान् ।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ।
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १७ ॥

तदनन्तर समुद्री टापुओंमें रहनेवाले अत्यन्त भयंकर म्लेच्छ, पह्लव, बर्बर, किरात, यवन और शकोंको जीतकर उनसे रत्नोंकी भेंट ले विजयके विचित्र उपायोंके जाननेवाले कुरुश्रेष्ठ नकुल इन्द्रप्रस्थकी ओर लौटे ॥ १६-१७ ॥

करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः ।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १८ ॥

महाराज ! उन महामना नकुलके बहुमूल्य खजानेका बोझ दस हजार हाथी बड़ी कठिनाईसे ढो रहे थे ॥ १८ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धनं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् माद्रीकुमारने इन्द्रप्रस्थमें विराजमान वीरवर राजा युधिष्ठिरसे मिलकर वह सारा धन उन्हें समर्पित कर दिया ॥ १९ ॥

एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् ।
प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवान् वासुदेवके द्वारा अपने अधिकारमें की हुई, वरुणपालित पश्चिम दिशापर विजय पाकर नकुल इन्द्रप्रस्थ लौट आये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीविजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(राजसूयपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके शासनकी विशेषता, श्रीकृष्णकी आज्ञासे युधिष्ठिरका राजसूययज्ञकी दीक्षा लेना तथा राजाओं, ब्राह्मणों एवं सगे-सम्बन्धियोंको बुलानेके लिये निमन्त्रण भेजना

वैशम्पायन उवाच

(एवं निर्जित्य पृथिवीं भ्रातरः कुरुनन्दन ।
वर्तमानाः स्वधर्मेण शशासुः पृथिवीमिमाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इस प्रकार सारी पृथ्वीको जीतकर अपने धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए पाँचों भाई पाण्डव इस भूमण्डलका शासन करने लगे ॥

चतुर्भिर्भीमसेनाद्यैर्भ्रातृभिः सहितो नृपः ।
अनुगृह्य प्रजाः सर्वाः सर्ववर्णानगोपयत् ॥

भीमसेन आदि चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह करते हुए सब वर्णके लोगोंको संतुष्ट रखते थे ॥

अविरोधेन सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ।
प्रीयतां दीयतां सर्वं मुक्त्वा कोषं बलं विना ॥
साधु धर्मेति पार्थस्य नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ।

युधिष्ठिर किसीका भी विरोध न करके सबके हितसाधनमें लगे रहते थे । 'सबको तृप्त एवं प्रसन्न किया जाय, खजाना

खोलकर सत्रको खुले हाथ दान दिया जाय, किसीपर बल-प्रयोग न किया जाय, धर्म! तुम धन्य हो।' इत्यादि बातोंके सिवा युधिष्ठिरके मुखसे और कुछ नहीं सुनाई पड़ता था॥

एवंवृत्ते जगत् तस्मिन् पितरीवान्वरज्यत॥
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता।)

उनके ऐसे बर्तावके कारण सारा जगत् उनके प्रति वैसा ही अनुराग रखने लगा, जैसे पुत्र पिताके प्रति अनुरक्त होता है। राजा युधिष्ठिरसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था, इसीलिये वे 'अजातशत्रु' कहलाते थे॥

रक्षणाद् धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात्।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः॥१॥

धर्मराज युधिष्ठिर प्रजाकी रक्षा, सत्यका पालन और शत्रुओंका संहार करते थे। उनके इन कार्योंसे निश्चिन्त एवं उत्साहित होकर प्रजावर्गके सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंके पालनमें संलग्न रहते थे॥१॥

बलीनां सम्यगादानाद् धर्मतश्चानुशासनात्।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत्॥२॥

न्यायपूर्वक कर लेने और धर्मपूर्वक शासन करनेसे उनके राज्यमें मेघ इच्छानुसार वर्षा करते थे। इस प्रकार युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जनपद धन-धान्यसे सम्पन्न हो गया था॥२॥

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक्।
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणः॥३॥

गोरक्षा, खेती और व्यापार आदि सभी कार्य अच्छे ढंगसे होने लगे। विशेषतः राजाकी सुव्यवस्थासे ही यह सब कुछ उत्तमरूपसे सम्पन्न होता था॥३॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन् प्रति परस्परम्।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः॥४॥

राजन्! औरोंकी तो बात ही क्या है, चोरों, ठगों, राजा अथवा राजाके विश्वासपात्र व्यक्तियोंके मुखसे भी वहाँ कोई झूठी बात नहीं सुनी जाती थी। केवल प्रजाके साथ ही नहीं, आपसमें भी वे लोग झूठ-कपटका बर्ताव नहीं करते थे॥४॥

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम्।
सर्वमेतत् तदा नासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे॥५॥

धर्मपरायण युधिष्ठिरके शासनकालमें अनावृष्टि, अतिवृष्टि रोग-व्याधि तथा आग लगने आदि उपद्रवोंका नाम भी नहीं था॥५॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम्।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः कथंचन॥६॥

राजा लोग उनके यहाँ स्वाभाविक भेंट देने अथवा उनका कोई प्रिय कार्य करनेके लिये ही आते थे, युद्ध आदि दूसरे किसी कामसे नहीं॥६॥

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान्।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि॥७॥

धर्मपूर्वक प्राप्त होनेवाले धनकी आयसे उनका महान् धन-भंडार इतना बढ़ गया था कि सैकड़ों वर्षोंतक खुले हाथ लुटानेपर भी उसे समाप्त नहीं किया जा सकता था॥७॥

स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे॥८॥

कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने अन्न-वस्त्रके भंडार तथा खजानेका परिमाण जानकर यज्ञ करनेका ही निश्चय किया॥

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन्।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम्॥९॥

उनके जितने हितैषी सुहृद् थे, वे सभी अलग-अलग और एक साथ यही कहने लगे—'प्रभो! यह आपके यज्ञ करनेका उपयुक्त समय आया है; अतः अब उसका आरम्भ कीजिये'॥९॥

अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः।
ऋषिः पुराणो वेदात्मा दृश्यश्चैव विजानताम्॥१०॥

वे सुहृद् इस तरहकी बातें कर ही रहे थे कि उसी समय भगवान् श्रीहरि आ पहुँचे। वे पुराणपुरुष, नारायण ऋषि, वेदात्मा एवं विज्ञानीजनोंके लिए भी अगम्य परमेश्वर हैं॥१०॥

जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाप्ययश्च ह।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः॥११॥

वे ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके उत्तम उत्पत्ति-स्थान और लयके अधिष्ठान हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके नियन्ता हैं। वे ही केशी दैत्यको मारनेवाले केशव हैं॥११॥

प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम्॥१२॥
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महताऽऽवृतः॥१३॥

वे सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंके परकोटेकी भाँति संरक्षक, आपत्तिमें अभय देनेवाले तथा उनके शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। पुरुषसिंह माधव अपने पिता वसुदेवजीको द्वारकाकी सेनाके आधिपत्यपर स्थापित करके धर्मराजके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट ले विशाल सेनाके साथ वहाँ आये थे॥१२-१३॥

तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम्।
नादयन् रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम्॥१४॥

उस धनराशिकी कहीं सीमा नहीं थी, मानो रत्नोंका

अक्षय महासागर हो। उसे लेकर रथोंकी आवाजसे समूची दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए वे उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत्।
असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना॥
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम्॥१५॥

पाण्डवोंका धन-भण्डार तो यों ही भरा-पूरा था, भगवान्ने (उन्हें अक्षय धनकी भेंट देकर) उसे और भी पूर्ण कर दिया। उनका शुभागमन पाण्डवोंके शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाला था। बिना सूर्यका अन्धकारपूर्ण जगत् सूर्योदय होनेसे जिस प्रकार प्रकाशसे भर जाता है, बिना वायुके स्थानमें वायुके चलनेसे जैसे नूतन प्राण-शक्तिका संचार हो उठता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके पदार्पण करनेपर समस्त इन्द्रप्रस्थमें हर्षोल्लास छा गया ॥ १५ ॥

तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः॥१६॥
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत्॥१७॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय! राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न होकर उनसे मिले। उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करके कुशल-मङ्गल पूछा और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये; तब धौम्य, द्वैपायन आदि ऋत्विजों तथा भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—चारों भाइयोंके साथ निकट जाकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा ॥ १६-१७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम्॥१८॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण! आपकी दयासे आपकी सेवाके लिये सारी पृथ्वी इस समय मेरे अधीन हो गयी है। वार्ष्णेय! मुझे धन भी बहुत प्राप्त हो गया है ॥ १८ ॥

सोऽहमिच्छामि तत् सर्वं विधिवद् देवकीसुत।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव॥१९॥

देवकीनन्दन माधव वह सारा धन मैं विधिपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा हव्यवाहन अग्निके उपयोगमें लाना चाहता हूँ ॥ १९ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि॥२०॥

महाबाहु दाशार्ह! अब मैं आप तथा अपने छोटे भाइयोंके साथ यज्ञ करना चाहता हूँ। इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें ॥ २० ॥

तद् दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम्॥२१॥

विशाल भुजाओंवाले गोविन्द! आप स्वयं यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। दाशार्ह! आपके यज्ञ करनेपर मैं पापरहित हो जाऊँगा ॥ २१ ॥

मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम्॥२२॥

प्रभो! अथवा मुझे अपने इन छोटे भाइयोंके साथ दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये। श्रीकृष्ण! आपकी अनुज्ञा मिलनेपर ही मैं उस उत्तम यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम्।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम्।
सम्प्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम्॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब भगवान् श्रीकृष्णने राजसूययज्ञके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उनसे इस प्रकार कहा—'राजसिंह! आप सम्राट् होने योग्य हैं, अतः आप ही इस महान् यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। आपके दीक्षा लेनेपर हम सबलोग कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २३ ॥

यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते।
नियुङ्क्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्तास्मि ते वचः॥२४॥

आप अपने इस अभीष्ट यज्ञको प्रारम्भ कीजिये। मैं आपका कल्याण करनेके लिये सदा उद्यत हूँ। मुझे आवश्यक कार्यमें लगाइये, मैं आपकी सब आज्ञाओंका पालन करूँगा' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः॥२५॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण मेरा संकल्प सफल हो गया, मेरी सिद्धि सुनिश्चित है; क्योंकि हृषीकेश! आप मेरी इच्छाके अनुसार स्वयं ही यहाँ उपस्थित हो गये हैं ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने राजसूययज्ञ करनेके लिये साधन जुटाना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः॥२७॥

उस समय शत्रुओंका संहार करनेवाले पाण्डुकुमारने योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेव तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंको आज्ञा दी ॥ २७ ॥

अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः॥२८॥

अधियज्ञांश्च सम्भारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेव हि।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥२९॥

'इस यज्ञके लिये ब्राह्मणोंके बताये अनुसार यज्ञके अङ्गभूत सामान, आवश्यक उपकरण, सब प्रकारकी माङ्गलिक वस्तुएँ तथा धौम्यजीकी बतायी हुई यज्ञोपयोगी सामग्री—इन सभी वस्तुओंको क्रमशः जैसे मिलें, वैसे शीघ्र ही अपने सेवक जाकर ले आवें ॥ २८-२९ ॥

इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुनसारथिः।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३० ॥

'इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुनका सारथि पूरु, ये मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे अन्न आदिके संग्रहके कामपर जुट जायँ ॥३०॥

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! जिनको खानेकी प्रायः सभी इच्छा करते हैं, वे रस और गन्धसे युक्त भाँति-भाँतिके मिष्टान्न आदि तैयार कराये जायँ, जो ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार प्रीति प्रदान करनेवाले हों' ॥ ३१ ॥

तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत्।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥ ३२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होते ही योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने उनसे निवेदन किया, 'यह सब व्यवस्था हो चुकी है' ॥ ३२ ॥

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत्।
वेदानिव महाभागान् साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान् ॥३३॥

राजन् ! तदनन्तर द्वैपायन व्यासजी बहुत-से ऋत्विजोंको ले आये। वे महाभाग ब्राह्मण मानो साक्षात् मूर्तिमान् वेद ही थे ॥ ३३ ॥

स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत् तस्य सत्यवतीसुतः।
धनंजयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥ ३४ ॥

स्वयं सत्यवतीनन्दन व्यासने उस यज्ञमें ब्रह्माका काम सँभाला। धनंजयगोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ सुसामा सामगान करनेवाले हुए ॥ ३४ ॥

याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥३५॥

और ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य उस यज्ञके श्रेष्ठतम अध्वर्यु थे। वसुपुत्र पैल धौम्य मुनिके साथ होता बने थे ॥३५॥

एतेषां पुत्रवर्गाश्च शिष्याश्च भरतर्षभ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इनके पुत्र और शिष्यवर्गके लोग, जो सब-के-सब वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे, 'होत्रग' (सप्त होता) हुए ॥ ३६ ॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम्।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद् देवयजनं महत् ॥ ३७ ॥

उन सबने पुण्याहवाचन कराकर उस विधिका ऊहन (अर्थात् राजसूयेन यक्ष्ये, स्वाराज्यमवाप्नवानि—मैं स्वाराज्य प्राप्त करूँ, इस उद्देश्यसे राजसूययज्ञ करूँगा, इत्यादि रूपसे संकल्प) कराकर शास्त्रोक्त विधिसे उस महान् यज्ञस्थानका पूजन कराया ॥ ३७ ॥

तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥३८॥

उस स्थानपर राजाकी आज्ञासे शिल्पियोंने देवमन्दिरोंके समान विशाल एवं सुगन्धित भवन बनाये ॥ ३८ ॥

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ॥ ३९ ॥
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम्।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत् तदा ॥४०॥

तदनन्तर राजशिरोमणि नरश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही मन्त्री सहदेवको आज्ञा दी, 'सब राजाओं तथा ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करनेके लिये तुरंत ही शीघ्रगामी दूत भेजो।' राजाकी यह बात सुनकर सहदेवने दूतोंको भेजा और कहा—॥ ३९-४० ॥

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४१ ॥

'तुमलोग सभी राज्योंमें घूम-घूमकर वहाँके राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा सब माननीय शूद्रोंको निमन्त्रित कर दो और बुला ले आओ' ॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच

समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात्।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम्।
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके आदेशसे सहदेवकी आज्ञा पाकर सब शीघ्रगामी दूत गये और उन्होंने ब्राह्मण आदि सब वर्णोंके लोगोंको निमन्त्रित किया तथा बहुतोंको वे अपने साथ ही शीघ्र बुला लाये। वे अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य व्यक्तियोंको भी साथ लाना न भूले ॥ ४२ ॥

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ४३ ॥

भारत ! तदनन्तर वहाँ आये हुए सब ब्राह्मणोंने ठीक समयपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राजसूययज्ञकी दीक्षा दी ॥४३॥

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ४४ ॥

यज्ञकी दीक्षा लेकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सहस्रों ब्राह्मणोंसे घिरे हुए यज्ञमण्डपमें गये ॥ ४४ ॥

भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥ ४५ ॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ।

उस समय उनके सगे भाई, जाति-बन्धु, सुहृद्, सहायक अनेक देशोंसे आये हुए क्षत्रिय-नरेश तथा मन्त्रिगण भी थे। नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर मूर्तिमान् धर्म ही जान पड़ते थे ।४५½।

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ॥ ४६ ॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ।

तत्पश्चात् वहाँ भिन्न-भिन्न देशोंसे ब्राह्मणलोग आये, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे ॥ ४६½ ॥

तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान् सगणानां पृथक् पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे हजारों शिल्पियोंने आत्मीयजनोंके साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंके ठहरनेके लिये पृथक्-पृथक् घर बनाये थे, जो बहुत-से अन्न और वस्त्रोंसे परिपूर्ण थे और जिनमें सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक रहनेकी सुविधाएँ थीं ॥ ४७-४८ ॥

तेषु ते न्यवसन् राजन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ॥ ४९ ॥

राजन् ! उन गृहोंमें वे ब्राह्मणलोग राजासे सत्कार पाकर निवास करने लगे। वहाँ वे नाना प्रकारकी कथाएँ कहते और नट-नर्तकोंके खेल देखते थे ॥ ४९ ॥

भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः ।
अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम् ॥ ५० ॥

वहाँ भोजन करते और बोलते हुए आनन्दमग्न महात्मा ब्राह्मणोंका निरन्तर महान् कोलाहल सुनायी पड़ता था ॥५०॥

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति ।
एवम्प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः ॥५१॥

'इनको दीजिये, इन्हें परोसिये, भोजन कीजिये, भोजन कीजिये' इसी प्रकारके शब्द वहाँ प्रतिदिन कानोंमें पड़ते थे ।५१।

गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत ।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग् ददौ ॥ ५२ ॥

भारत ! धर्मराज युधिष्ठिरने एक लाख गौएँ, उतनी ही शय्याएँ, एक लाख स्वर्णमुद्राएँ तथा उतनी ही अविवाहित युवतियाँ पृथक्-पृथक् ब्राह्मणोंको दान कीं ॥ ५२ ॥

प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः ।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे ॥ ५३ ॥

इस प्रकार स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति भूमण्डलमें अद्वितीय वीर महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका वह यज्ञ प्रारम्भ हुआ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः ॥ ५४ ॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च ।
भ्रातृणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ॥ ५५ ॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम राजा युधिष्ठिरने भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि सब भाइयों एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले अन्य जो लोग वहाँ रहते थे, उन सबको बुलानेके लिये पाण्डुपुत्र नकुलको हस्तिनापुर भेजा ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि राजसूयदीक्षायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें राजसूयदीक्षाविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५९½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें सब देशके राजाओं, कौरवों तथा यादवोंका आगमन और उन सबके भोजन-विश्राम आदिकी सुव्यवस्था

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः ।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युद्धविजयी पाण्डुकुमार नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर भीष्म और धृतराष्ट्र-को निमन्त्रित किया ॥ १ ॥

सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः ।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने बड़े सत्कारके साथ आचार्य आदिको भी न्यौता दिया। वे सब लोग बड़े प्रसन्न मनसे ब्राह्मणोंको आगे करके उस यज्ञमें गये ॥ २ ॥

संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण ! यज्ञवेत्ता धर्मराजका यज्ञ सुनकर अन्य सैकड़ों मनुष्य भी संतुष्ट हृदयसे वहाँ गये ॥ ३ ॥

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ॥ ४ ॥
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ।

भारत! धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभाको देखनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंसे सभी क्षत्रिय वहाँ नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट लेकर आये ॥ ४½ ॥

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ॥ ५ ॥
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते।
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ॥ ६ ॥
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः।
तथा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः ॥ ७ ॥
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः।
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः।
पर्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १० ॥
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा।
आकर्षाः कुन्तलाश्चैव मालवाश्चान्ध्रकास्तथा ॥ ११ ॥
द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा।
कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ॥ १२ ॥
बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते।
विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः ॥ १३ ॥
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः।

धृतराष्ट्र, भीष्म, महाबुद्धिमान् विदुर, दुर्योधन आदि सभी भाई, गान्धारराज सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, बलवान् राजा शल्य, महाबली बाह्लिक, सोमदत्त, कुरुनन्दन भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, सिन्धुराज जयद्रथ, पुत्रोंसहित द्रुपद, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश महारथी भगदत्त, जिनके साथ समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले सब जातियोंके म्लेच्छ भी थे, पर्वतीय नृपतिगण, राजा बृहद्बल, पौण्ड्रक वासुदेव, बङ्गदेशके राजा, कलिङ्गनरेश, आकर्ष, कुन्तल, मालव, आन्ध्र, द्राविड और सिंहलदेशके नरेशगण, काश्मीर-नरेश, महातेजस्वी कुन्तिभोज, राजा गौरवाहन, बाह्लिक, दूसरे शूर नृपतिगण, अपने दोनों पुत्रोंके साथ विराट, महाबली मावेल्ल तथा नाना जनपदोंके शासक राजा एवं राजकुमार उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ५-१३½ ॥

शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ॥ १४ ॥
आगच्छत् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः।
रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ॥ १५ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान्।
उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाङ्गावहस्तथा ॥ १६ ॥
वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजग्मुर्महारथाः।

भारत! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें रणदुर्मद महापराक्रमी राजा शिशुपाल भी अपने पुत्रके साथ आया था। इसके सिवा बलराम, अनिरुद्ध, कङ्क, सारण, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, पराक्रमी चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, वीर अङ्गावह तथा अन्य सभी वृष्णिवंशी महारथी उस यज्ञमें आये थे ॥ १४-१६½ ॥

एते चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ॥ १७ ॥
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम्।

ये तथा दूसरे भी बहुत-से मध्यदेशीय नरेश पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञमें सम्मिलित हुए थे ॥ १७½ ॥

ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥
बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकावृक्षशोभितान्।
तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे प्रबन्धकोंने उनके ठहरनेके लिये उत्तम भवन दिये, जो बहुत अधिक भोजनसामग्रीसे सम्पन्न थे। राजन्! उन घरोंके भीतर स्नानके लिये बावलियाँ बनी थीं और वे भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे भी सुशोभित थे। धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन सभी महात्मा नरेशोंका स्वागत-सत्कार करते थे ॥ १८-१९ ॥

सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाञ्जग्मुरावसथान् नृपाः।
कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान् द्रव्यभूषितान् ॥ २० ॥

उनसे सम्मानित हो उन्हींके बताये हुए विभिन्न भवनोंमें जाकर राजालोग ठहरते थे। वे सभी भवन कैलास-शिखरके समान ऊँचे और भव्य थे। नाना प्रकारके द्रव्योंसे विभूषित एवं मनोहर थे ॥ २० ॥

सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः।
सुवर्णजालसंवीतान् मणिकुट्टिमभूषितान् ॥ २१ ॥

वे भव्य भवन सब ओरसे सुन्दर, सफेद और ऊँचे परकोटोंद्वारा घिरे हुए थे। उनमें सोनेकी झालरें लगी थीं। उनके आँगनके फर्शमें मणि एवं रत्न जड़े हुए थे ॥ २१ ॥

सुखारोहणसोपानान् महासनपरिच्छदान्।
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ॥ २२ ॥

उनमें सुखपूर्वक ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। उन महलोंके भीतर बहुमूल्य एवं बड़े-बड़े आसन तथा अन्य आवश्यक सामान थे। उन घरोंको मालाओंसे सजाया गया था। उनमें उत्तम अगुरुकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥

हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान्।
असम्बाधान् समद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ॥ २३ ॥

वे सभी अतिथिभवन हंस और चन्द्रमाके समान सफेद थे। एक योजन दूरसे ही वे अच्छी तरह दिखायी देने लगते थे। उनमें स्थानकी संकीर्णता या तंगी नहीं थी। सबके दरवाजे बराबर थे। वे सभी गृह विभिन्न गुणों (सुख-सुविधाओं) से युक्त थे ॥ २३ ॥

बहुधातुनिबद्धाङ्गान् हिमवच्छिखरानिव।

उनकी दीवारें अनेक प्रकारकी धातुओंसे चित्रित थीं तथा वे हिमालयके शिखरोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २३½ ॥

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन् भूमिपा भूरिदक्षिणम् ॥ २४ ॥
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
तत् सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
भ्राजते स्म तदा राजन् नाकपृष्ठं यथामरैः ॥ २५ ॥

वहाँ विश्राम करनेके अनन्तर वे भूमिपाल बहुत दक्षिणा देनेवाले एवं बहुतेरे सदस्योंसे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले। जनमेजय ! उस समय राजाओं, ब्राह्मणों तथा महर्षियोंसे भरा हुआ वह यज्ञमण्डप देवताओंसे भरे-पूरे स्वर्गलोकके समान शोभा पा रहा था ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें निमन्त्रित राजाओंका आगमनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य आदिकी अगवानी करके युधिष्ठिरने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन और विविंशतिसे कहा—'इस यज्ञमें आपलोग सब प्रकारसे मुझपर अनुग्रह करें ॥ १-२ ॥

इदं वः सुमहच्चैव यदिहास्ति धनं मम।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ॥ ३ ॥

यहाँ मेरा जो यह महान् धन है, उसे आपलोग मेरी प्रार्थना मानकर इच्छानुसार सत्कर्मोंमें लगाइये ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥ ४ ॥

यज्ञदीक्षित युधिष्ठिरने ऐसा कहकर उन सबको यथायोग्य अधिकारोंमें लगाया ॥ ४ ॥

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत्।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ५ ॥

भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्रीकी देख-रेख तथा उसके बाँटने परोसनेकी व्यवस्थाका अधिकार दुःशासनको दिया। ब्राह्मणोंके स्वागत-सत्कारका भार उन्होंने अश्वत्थामाको सौंप दिया ॥ ५ ॥

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं स न्ययोजयत्।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥

राजाओंकी सेवा और सत्कारके लिये धर्मराजने संजयको नियुक्त किया। कौन काम हुआ और कौन नहीं हुआ, इसकी देख-रेखका काम महाबुद्धिमान् भीष्म और द्रोणाचार्यको मिला ॥ ६ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥
तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन् न्ययोजयत्।
बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत् तत्र रेमिरे ॥ ८ ॥

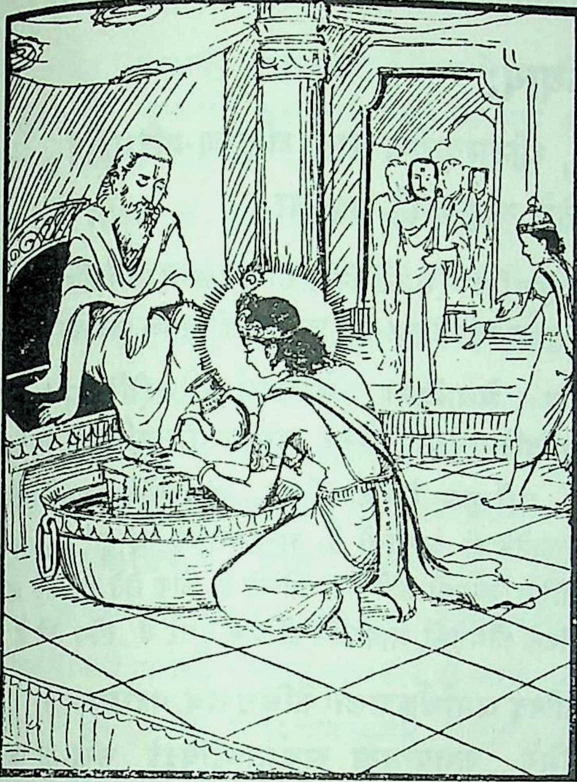
उत्तम वर्णके स्वर्ण तथा रत्नोंको परखने, रखने और दक्षिणा देनेके कार्यमें राजाने कृपाचार्यकी नियुक्ति की। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंको यथायोग्य भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगाया। नकुलके द्वारा सम्मानपूर्वक बुलाकर लाये हुए बाह्लिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ वहाँ घरके मालिककी तरह सुखपूर्वक रहने और इच्छानुसार विचरने लगे ॥ ७-८ ॥

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद् विदुरः सर्वधर्मवित्।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी धनको व्यय करनेके कार्यमें नियुक्त किये गये थे तथा राजा दुर्योधन कर देनेवाले राजाओंसे सब प्रकारकी भेंट स्वीकार करने और व्यवस्थापूर्वक रखनेका काम सँभाल रहे थे ॥ ९ ॥

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥ १० ॥

सब लोगोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण सबको संतुष्ट करनेकी इच्छासे स्वयं ही ब्राह्मणोंके चरण पखारनेमें लगे थे, जिससे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥



द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
न कश्चिदाहरत् तत्र सहस्रावरमर्हणम् ॥ ११ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरको और उनकी सभाको देखनेकी इच्छासे आये हुए राजाओंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे कम भेंट लाया हो ॥ ११ ॥

रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत्।
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ॥ १२ ॥
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम्।

प्रत्येक राजा बहुसंख्यक रत्नोंकी भेंट देकर धर्मराज युधिष्ठिरके धनकी वृद्धि करने लगा। सभी राजा यह होड़ लगाकर धन दे रहे थे कि कुरुनन्दन युधिष्ठिर किसी प्रकार मेरे ही दिये हुए रत्नोंके दानसे अपना यज्ञ सम्पूर्ण करें ॥ १२½ ॥

भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ॥ १३ ॥
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह।
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ॥ १४ ॥
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः।
राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः।
अशोभत सदो राजन् कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

राजन्! जिनके शिखर यज्ञ देखनेके लिये आये हुए देवताओंके विमानोंका स्पर्श कर रहे थे, जो जलाशयोंसे परिपूर्ण और सेनाओंसे घिरे हुए थे, उन सुन्दर भवनों, इन्द्रादि लोकपालोंके विमानों, ब्राह्मणोंके निवासस्थानों तथा परम समृद्धिसे सम्पन्न रत्नोंसे परिपूर्ण चित्र एवं विमानके तुल्य बने हुए दिव्य गृहोंसे, समागत राजाओंसे तथा असीम श्री-समृद्धियोंसे महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह सभा बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३–१५ ॥

ऋद्ध्या तु वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः।
षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद् दक्षिणावता ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिर अपनी अनुपम समृद्धिद्वारा वरुण-देवताकी बराबरी कर रहे थे। उन्होंने यज्ञमें छः अग्नियोंकी* स्थापना करके पर्याप्त दक्षिणा देकर उस यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन किया ॥ १६ ॥

सर्वाञ्जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ॥ १७ ॥

राजाने उस यज्ञमें आये हुए सब लोगोंको उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण करके संतुष्ट किया। वह यज्ञसमारोह अन्नसे भरापूरा था, उसमें खाने-पीनेकी सब सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रामें सदा प्रस्तुत रहती थीं। वह यज्ञ खा-पीकर तृप्त हुए लोगोंसे ही पूर्ण था। वहाँ कोई भूखा नहीं रहने पाता था तथा उस उत्सवसमारोहमें सब ओर रत्नोंका ही उपहार दिया जाता था ॥ १७ ॥

इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः।
तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ॥ १८ ॥

मन्त्रशिक्षामें निपुण महर्षियोंद्वारा विस्तारपूर्वक किये जानेवाले उस यज्ञमें इडा (मन्त्र-पाठ एवं स्तुति), घृतहोम तथा तिल आदि शाकल्य पदार्थोंकी आहुतियोंसे देवतालोग तृप्त हो गये ॥ १८ ॥

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार देवता तृप्त हुए उसी प्रकार दक्षिणामें अन्न और महान् धन पाकर ब्राह्मण भी तृप्त हो गये। अधिक क्या कहा जाय, उस यज्ञमें सभी वर्णके लोग बड़े प्रसन्न थे, सबको पूर्ण तृप्ति मिली थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें यज्ञकरणविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

* नीलकण्ठीकी टीकामें छः अग्नियाँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—पारम्भगीय, क्षत्र, धृति, व्युष्टि, द्विरात्र और दशपेय।—

(अर्घाभिहरणपर्व)

षट्त्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञमें ब्राह्मणों तथा राजाओंका समागम, श्रीनारदजीके द्वारा श्रीकृष्ण-महिमाका वर्णन और भीष्मजीकी अनुमतिसे श्रीकृष्णकी अग्रपूजा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अभिषेचनीय[1] कर्मके दिन सत्कारके योग्य महर्षिगण और ब्राह्मणलोग राजाओंके साथ यज्ञभवनमें गये ॥ १ ॥

नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ॥ २ ॥
समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः ॥ ३ ॥
एवमेतन्न चाप्येवमेवं चैतन्न चान्यथा।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डा वै परस्परम् ॥ ४ ॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञभवनमें राजर्षियोंके साथ बैठे हुए नारद आदि महर्षि उस समय ब्रह्माजीकी सभामें एकत्र हुए देवताओं और देवर्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे। बीच-बीचमें यज्ञसम्बन्धी एक-एक कर्मसे अवकाश पाकर अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् आपसमें जल्प[2] (वाद-विवाद) करते थे। 'यह इसी प्रकार होना चाहिये,' 'नहीं, ऐसे नहीं होना चाहिये,' 'यह बात ऐसी ही है, ऐसी ही है, इससे भिन्न नहीं है।' इस प्रकार कह-कहकर बहुत-से वितण्डावादी[3] द्विज वहाँ वाद-विवाद करते थे ॥ २-४ ॥

कृशानर्थांस्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥

कुछ विद्वान् शास्त्रनिश्चित नाना प्रकारके तर्कों और युक्तियोंसे दुर्बल पक्षोंको पुष्ट और पुष्ट पक्षोंको दुर्बल सिद्ध कर देते थे ॥

तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैरुदीरितम्।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ॥ ६ ॥

वहाँ कुछ मेधावी पण्डित, जो दूसरोंके कथनमें दोष दिखानेके ही अभ्यासी थे, अन्य लोगोंके कहे हुए अनुमान-साधित विषयको उसी तरह बीचसे ही लोक लेते थे, जैसे बाज मांसके लोथड़ेको आकाशमें ही एक दूसरे से छीन लेते हैं ॥

केचिद् धर्मार्थकुशलाः केचित् तत्र महाव्रताः।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ॥ ७ ॥

उन्हींमें कुछ लोग धर्म और अर्थके निर्णयमें अत्यन्त निपुण थे। कोई महान् व्रतका पालन करनेवाले थे। इस प्रकार सम्पूर्ण भाष्यके विद्वानोंमें श्रेष्ठ वे महात्मा अच्छी कथाएँ और शिक्षाप्रद बातें कहकर स्वयं भी सुखी होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते थे ॥ ७ ॥

सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवायता ॥ ८ ॥

जैसे नक्षत्रमालाओंद्वारा मण्डित विशाल आकाशमण्डलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वेदज्ञ देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और महर्षियोंसे वह वेदी सुशोभित हो रही थी ।८।

न तस्यां संनिधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रती।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन् युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥

राजन्! युधिष्ठिरकी यज्ञशालाके भीतर उस अन्तर्वेदीके आस-पास उस समय न तो कोई शूद्र था और न व्रतहीन द्विज ही ॥

तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम्।
तुतोष नारदः पश्यन् धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

परम बुद्धिमान् राजलक्ष्मीसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके उस धन-वैभव और यज्ञविधिको देखकर देवर्षि नारदको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १० ॥

अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप।
नारदस्तु तदा पश्यन् सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥

जनमेजय! उस समय वहाँ समस्त क्षत्रियोंका सम्मेलन देखकर मुनिवर नारदजी सहसा चिन्तित हो उठे ॥ ११ ॥

---

१. जिसमें पूजनीय पुरुषोंका अभिषेक—अर्घ्य देकर सम्मान किया जाता है, उस कर्मका नाम अभिषेचनीय है। यह राजसूययज्ञका अङ्गभूत सोमयागविशेष है।

२. यह एक प्रकारका वाद है, जिसमें वादी छल, जाति और निग्रहस्थानको लेकर अपने पक्षका मण्डन और विपक्षीके पक्षका खण्डन करता है। इसमें वादीका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय नहीं होता, किंतु स्वपक्षस्थापन और परपक्षखण्डनमात्र होता है। वादके समान इसमें भी प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच अवयव होते हैं।

३. जिस बहस या वाद-विवादका उद्देश्य अपने पक्षकी स्थापना या परपक्षका खण्डन न होकर व्यर्थकी बकवादमात्र हो, उसका नाम 'वितण्डा' है।

सस्मार च पुरा वृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ।
अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत् ॥ १२ ॥

नरश्रेष्ठ! भगवान्‌के सम्पूर्ण अंशों (देवताओं) सहित अवतार लेनेके सम्बन्धमें ब्रह्मलोकमें पहले जो चर्चा हुई थी, वह प्राचीन घटना उन्हें याद आ गयी ॥ १२ ॥

देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन।
नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥

कुरुनन्दन! नारदजीने यह जानकर कि राजाओंके इस समुदायके रूपमें वास्तवमें देवताओंका ही समागम हुआ है, मन-ही-मन कमलनयन भगवान् श्रीहरिका चिन्तन किया ॥

साक्षात् स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः ॥ १४ ॥

वे सोचने लगे—'अहो! सर्वव्यापक देवशत्रुविनाशक वैरिनगरविजयी साक्षात् भगवान् नारायणने ही अपनी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये क्षत्रियकुलमें अवतार ग्रहण किया है ॥ १४ ॥

संदिदेश पुरायोऽसौ विबुधान् भूतकृत् स्वयम्।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ॥ १५ ॥

'पूर्वकालमें सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक साक्षात् उन्हीं भगवान्‌ने देवताओंको यह आदेश दिया था कि तुमलोग भूतलपर जन्म ग्रहण करके अपना अभीष्ट साधन करते हुए आपसमें एक दूसरेको मारकर फिर देवलोकमें आ जाओगे ॥

इति नारायणः शम्भुर्भगवान् भूतभावनः।
आदिश्य विबुधान् सर्वानजायत यदुक्षये ॥ १६ ॥

'कल्याणस्वरूप भूतभावन भगवान् नारायणने सब देवताओंको यह आज्ञा देनेके पश्चात् स्वयं भी यदुकुलमें अवतार लिया ॥ १६ ॥

क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ॥ १७ ॥

'अन्धक और वृष्णियोंके कुलमें वंशधारियोंमें श्रेष्ठ वे ही भगवान् इस पृथ्वीपर प्रकट हो अपनी सर्वोत्तम कान्तिसे उसी प्रकार शोभायमान हैं, जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा सुशोभित होते हैं ॥

यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः ॥ १८ ॥

'इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता जिनके बाहुबलकी उपासना करते हैं, वे ही शत्रुमर्दन श्रीहरि यहाँ मनुष्यके समान बैठे हैं ॥ १८ ॥

अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम्।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम् ॥ १९ ॥

'अहो! ये स्वयम्भू महाविष्णु ऐसे बलसम्पन्न क्षत्रिय-समुदायको पुनः उच्छिन्न करना चाहते हैं' ॥ १९ ॥

इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास सर्ववित्।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीज्यन्तमीश्वरम् ॥ २० ॥
तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ नारदजीने इसी पुरातन वृत्तान्तका स्मरण किया और ये भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके द्वारा आराधनीय, सर्वेश्वर नारायण हैं; ऐसा समझकर वे धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् देवर्षि मेधावी धर्मराजके उस महायज्ञमें बड़े आदरके साथ बैठे रहे ॥ २०-२१ ॥

ततो भीष्मोऽब्रवीद् राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥ २२ ॥

जनमेजय! तत्पश्चात् भीष्मजीने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! अब तुम यहाँ पधारे हुए राजाओंका यथायोग्य सत्कार करो ॥ २२ ॥

आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा ॥ २३ ॥

आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र तथा राजा—इन छहोंको अर्घ्य देकर पूजने योग्य बताया गया है ॥ २३ ॥

एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान्।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥

'ये यदि एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आवें तो इनके लिये अर्घ्य निवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिये, ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषोंका कथन है। ये सभी नरेश हमारे यहाँ सुदीर्घ-कालके पश्चात् पधारे हैं ॥ २४ ॥

एषामेकैकशो राजन्नर्घ्यमानीयतामिति।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥

इसलिये राजन्! तुम बारी-बारीसे इन सबके लिये अर्घ्य दो और इन सबमें जो श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली हो, उसको सबसे पहले अर्घ्य समर्पित करो' ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मै भवान् मन्यतेऽर्घ्यमेकस्मै कुरुनन्दन।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन पितामह! इन समागत

नरेशोंमें किस एकको सबसे पहले अर्घ्य निवेदन करना आप उचित समझते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान्।
अमन्यत तदा कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी बुद्धिसे निश्चय करके भगवान् श्रीकृष्णको ही भूमण्डलमें सबसे अधिक पूजनीय माना ॥ २७ ॥

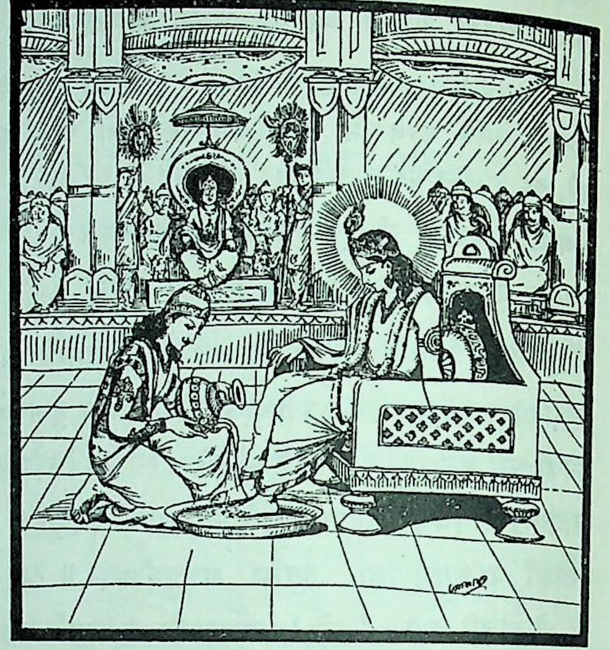
भीष्म उवाच

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥ २९ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओंके बीचमें अपने तेज, बल और पराक्रमसे उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें भुवनभास्कर भगवान् सूर्य। अन्धकारपूर्ण स्थान जैसे सूर्यका उदय होनेपर ज्योतिसे जगमग हो उठता है और वायुहीन स्थान जैसे वायुके संचारसे सजीव-सा हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हमारी यह सभा आह्लादित और प्रकाशित हो रही है (अतः ये ही अग्रपूजाके योग्य हैं) ॥

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान्।
उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥ ३० ॥

भीष्मजीकी आज्ञा मिल जानेपर प्रतापी सहदेवने वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णको विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य



निवेदन किया ॥ ३० ॥

प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णने शास्त्रीय विधिके अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया। वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीहरिकी वह पूजा राजा शिशुपाल नहीं सह सका ॥ ३१ ॥

स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि।
अपाक्षिपद् वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥ ३२ ॥

महाबली चेदिराज भरी सभामें भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरको उलाहना देकर भगवान् वासुदेवपर आक्षेप करने लगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि श्रीकृष्णार्घ्यदाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें श्रीकृष्णको अर्घ्यदानविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

शिशुपालके आक्षेपपूर्ण वचन

शिशुपाल उवाच

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु।
महीपतिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणम् ॥ १ ॥

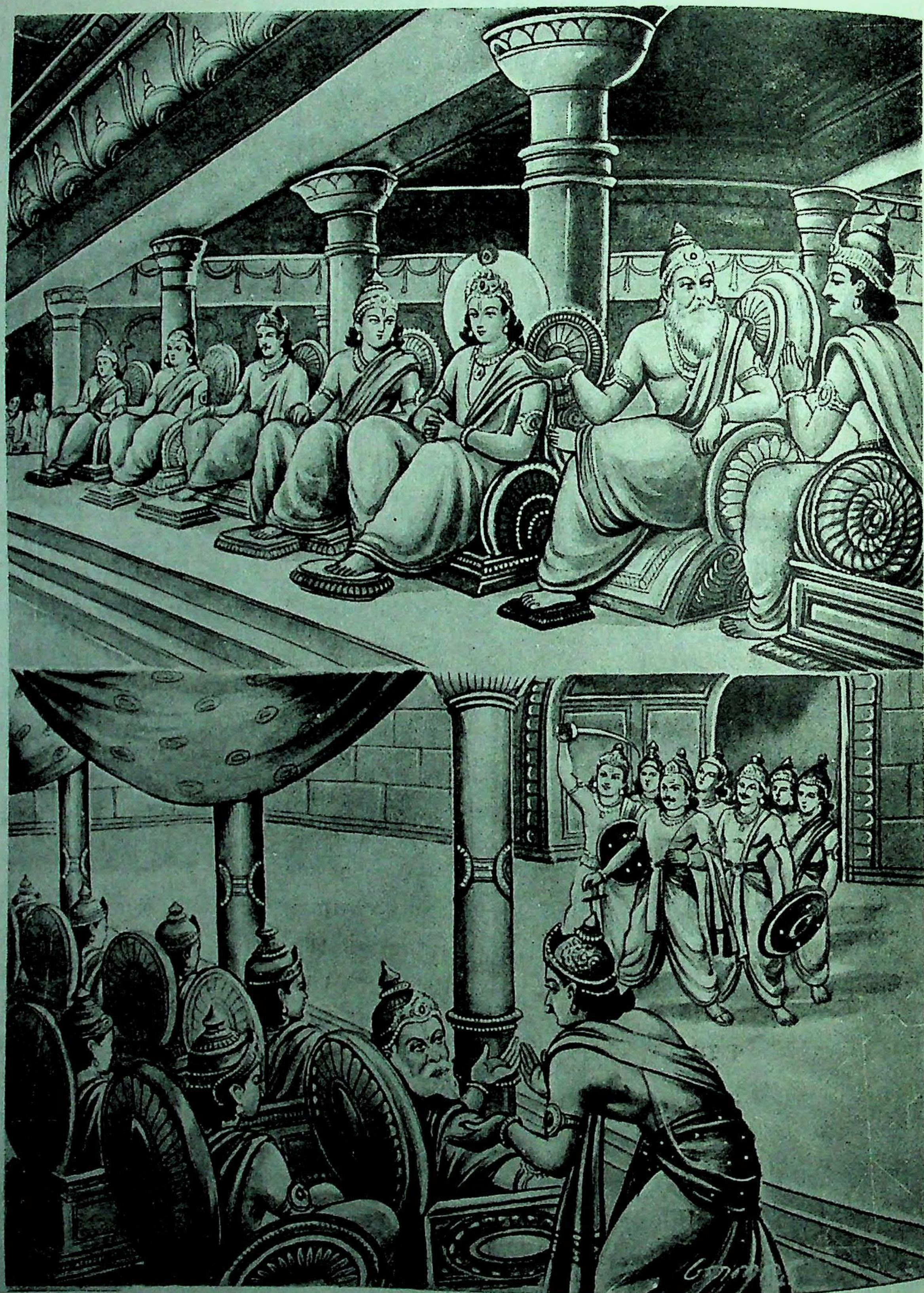
शिशुपाल बोला—कौरव्य ! यहाँ इन महात्मा भूमिपतियोंके रहते हुए यह वृष्णिवंशी कृष्ण राजाओंकी भाँति राजोचित पूजाका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता ॥ १ ॥

नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु।
यत् कामात् पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ॥ २ ॥

बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥

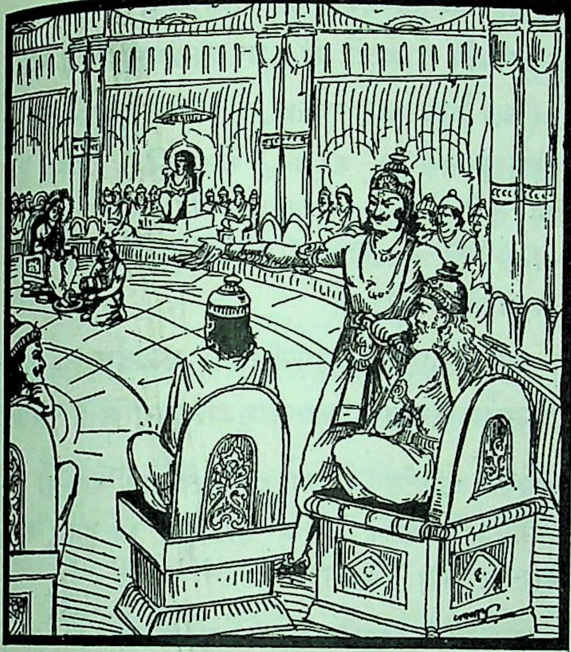
महात्मा पाण्डवोंके लिये यह विपरीत आचार कभी उचित नहीं है। पाण्डुकुमार ! तुमने स्वार्थवश कमलनयन कृष्णका पूजन किया है। पाण्डवो ! अभी तुमलोग बालक हो। तुम्हें धर्मका पता नहीं है, क्योंकि धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। ये गङ्गानन्दन भीष्म बहुत बूढ़े हो गये हैं। अब इनकी स्मरणशक्ति जवाब दे चुकी है। इनकी सूझ और समझ भी

भीष्मका युधिष्ठिरको श्रीकृष्णकी महिमा बताना



शिशुपालका युद्धके लिये उद्योग

बहुत कम हो गया है (तभी इन्होंने श्रीकृष्णपूजाकी सम्मति दी है)॥ २-३॥



त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया।
भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेष्ववमतः सताम्॥ ४॥

भीष्म तुम्हारे-जैसा धर्मात्मा पुरुष भी जब मनमाना अथवा किसीका प्रिय करनेके लिये मुँहदेखी करने लगता है, तब वह साधु पुरुषोंके समाजमें अधिक अपमानका पात्र बन जाता है॥ ४॥

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम्।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः॥ ५॥

यह सभी जानते हैं कि यदुवंशी कृष्ण राजा नहीं है, फिर सम्पूर्ण भूपालोंके बीच तुमलोगोंने जिस प्रकार इसकी पूजा की है, वैसी पूजाका अधिकारी यह कैसे हो सकता है?॥५॥

अथवा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः॥ ६॥

कुरुपुङ्गव! अथवा यदि तुम श्रीकृष्णको बड़ा-बूढ़ा समझते हो तो इसके पिता वृद्ध वसुदेवजीके रहते हुए उनका यह पुत्र कैसे पूजाका पात्र हो सकता है?॥ ६॥

अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान्।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम्॥ ७॥
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि॥ ८॥

अथवा यह मान लिया जाय कि वासुदेव कृष्ण तुम लोगोंका प्रिय चाहनेवाला और तुम्हारा अनुसरण करनेवाला सुहृद् है, इसीलिये तुमने इसकी पूजा की है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सबसे बड़े सुहृद् तो राजा द्रुपद हैं। उनके रहते यह माधव पूजा पानेका अधिकारी कैसे हो सकता है। कुरुनन्दन! अथवा यह समझ लें कि तुम कृष्णको आचार्य मानते हो, फिर भी आचार्योंमें भी बड़े-बूढ़े द्रोणाचार्यके रहते हुए इस यदुवंशीकी पूजा तुमने क्यों की है?॥ ७-८॥

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ या कुरुनन्दन।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया॥ ९॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! अथवा यदि यह कहा जाय कि तुम कृष्णको अपना ऋत्विज समझते हो तो ऋत्विजोंमें भी सबसे वृद्ध द्वैपायन वेदव्यासके रहते हुए तुमने कृष्णकी अग्रपूजा कैसे की?॥ ९॥

भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषसत्तमे।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया॥१०॥
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन॥११॥

राजन्! शान्तनुनन्दन भीष्म पुरुषशिरोमणि तथा स्वच्छन्दमृत्यु हैं। इनके रहते तुमने कृष्णकी अर्चना कैसे की? कुरुनन्दन युधिष्ठिर! सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् वीर अश्वत्थामाके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजा कैसे कर डाली?॥ १०-११॥

दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयार्चितः॥१२॥
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यमतिक्रम्य तथार्चितः।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाण्डुवत् कृतलक्षणे॥१३॥
नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः॥१४॥

पुरुषप्रवर राजाधिराज दुर्योधन और भरतवंशके आचार्य महात्मा कृपके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजाका औचित्य कैसे स्वीकार किया? तुमने किम्पुरुषोंके आचार्य द्रुमका उल्लङ्घन करके कृष्णकी अग्रपूजा क्यों की? पाण्डुके समान दुर्धर्ष वीर तथा राजोचित शुभ-लक्षणोंसे सम्पन्न भीष्मक, राजा रुक्मी और उसी प्रकार श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य तथा मद्रराज शल्यके रहते हुए तुम्हारे द्वारा कृष्णकी पूजा किस दृष्टिसे की गयी?॥ १२-१४॥

अयं च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत॥ १५॥
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः॥ १६॥

भारत! ये जो अपने बलके द्वारा सब राजाओंसे होड़ लेते हैं, विप्रवर परशुरामजीके प्रिय शिष्य हैं तथा जिन्होंने अपने बलका भरोसा करके युद्धमें अनेक राजाओंको परास्त किया है, उन महाबली कर्णको छोड़कर तुमने कृष्णकी आराधना कैसे की?॥ १५-१६॥

नैवर्त्विग् नैव चाचार्यो न राजा मधुसूदनः।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥ १७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! मधुसूदन कृष्ण न ऋत्विज है, न आचार्य है और न राजा ही है; फिर तुमने किस प्रिय कामनासे इसकी पूजा की है? ॥ १७ ॥

अथ वाभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥ १८ ॥

भारत! अथवा यदि यह मधुसूदन ही तुमलोगोंका पूजनीय देवता है, इसलिये इसकी ही पूजा तुम्हें करनी थी तो इन राजाओंको केवल अपमानित करनेके लिये बुलानेकी क्या आवश्यकता थी? ॥ १८ ॥

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात्॥१९॥

राजाओ! हम सब लोग इन महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जो कर दे रहे हैं, वह भय, लोभ अथवा कोई विशेष आश्वासन मिलनेके कारण नहीं ॥ १९ ॥

अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान् न मन्यते ॥२०॥

हमने तो यही समझा था कि यह धर्माचरणमें संलग्न रहनेवाला क्षत्रिय सम्राट्का पद पाना चाहता है तो अच्छा ही है। यही सोचकर हम उसे कर देते हैं, परंतु यह राजा युधिष्ठिर हमलोगोंको नहीं मानता है ॥ २० ॥

किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर! इससे बढ़कर दूसरा अपमान और क्या हो सकता है कि तुमने राजाओंकी सभामें जिसे राजोचित चिह्न छत्र-चँवर आदि प्राप्त नहीं हुआ है, उस कृष्णकी अर्घ्यके द्वारा पूजा की है ॥ २१ ॥

अकस्माद् धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम्।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरको अकस्मात् ही धर्मात्मा होनेका यश प्राप्त हो गया है, अन्यथा कौन ऐसा धर्मनिष्ठ पुरुष होगा जो किसी धर्मच्युतकी इस प्रकार पूजा करेगा ॥ २२ ॥

योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा।
जरासंधं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥२३॥

वृष्णिकुलमें पैदा हुए इस दुरात्माने तो कुछ ही दिन पहले महात्मा राजा जरासंधका अन्यायपूर्वक वध किया है ॥२३॥

अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात्।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घ्यस्य निवेदनात् ॥ २४ ॥

आज युधिष्ठिरका धर्मात्मापन दूर निकल गया, क्योंकि इन्होंने कृष्णको अर्घ्य निवेदन करके अपनी कायरता ही दिखायी है ॥ २४ ॥

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ॥ २५ ॥

(अब शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको देखकर कहा-) माधव! कुन्तीके पुत्र डरपोक, कायर और तपस्वी हैं। इन्होंने तुम्हें ठीक-ठीक न जानकर यदि तुम्हारी पूजा कर दी तो तुम्हें तो समझना चाहिये था कि तुम किस पूजाके अधिकारी हो? ॥ २५ ॥

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन।
पूजामनर्हः कस्मात् त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥

अथवा जनार्दन! इन कायरोंद्वारा उपस्थित की हुई इस अग्रपूजाको उसके योग्य न होते हुए भी तुमने क्यों स्वीकार कर लिया? २६ ॥

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ॥ २७ ॥

जैसे कुत्ता एकान्तमें चूकर गिरे हुए थोड़े-से हविष्य (घृत) को चाट ले और अपनेको धन्य-धन्य मानने लगे, उसी प्रकार तुम अपने लिये अयोग्य पूजा स्वीकार करके अपने आपको बहुत बड़ा मान रहे हो ॥ २७ ॥

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ २८ ॥

कृष्ण! तुम्हारी इस अग्रपूजासे हम राजाधिराजोंका कोई अपमान नहीं होता, परंतु ये कुरुवंशी पाण्डव तुम्हें अर्घ्य देकर वास्तवमें तुम्हींको ठग रहे हैं ॥ २८ ॥

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम्।
अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ २९ ॥

मधुसूदन! जैसे नपुंसकका ब्याह रचाना और अंधेको रूप दिखाना उनका उपहास ही करना है, उसी प्रकार तुम-जैसे राज्यहीनकी यह राजाओंके समान पूजा भी विडम्बना-मात्र ही है ॥ २९ ॥

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद् यथातथम् ॥ ३० ॥

आज मैंने राजा युधिष्ठिरको देख लिया; भीष्म भी जैसे हैं, उनको भी देख लिया और इस वासुदेव कृष्णका भी वास्तविक रूप क्या है, यह भी देख लिया। वास्तवमें ये सब ऐसे ही हैं ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात्।

निर्ययौ सदसस्तस्मात् सहितो राजभिस्तदा ॥ ३१ ॥ उठकर कुछ राजाओंके साथ उस सभाभवनसे जानेको उनसे ऐसा कहकर शिशुपाल अपने उत्तम आसनसे उद्यत हो गया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें शिशुपालका क्रोध-विषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शिशुपालको समझाना और भीष्मजीका उसके आक्षेपोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत्।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिर शिशुपालके समीप दौड़े गये और उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले—॥ १ ॥

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान्।
अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ॥ २ ॥

'राजन् ! तुमने जैसी बात कह डाली है, वह कदापि उचित नहीं है। किसीके प्रति इस प्रकार व्यर्थ कठोर बातें कहना महान् अधर्म है ॥ २ ॥

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ॥३॥

'शान्तनुनन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको न जानते हों ऐसी बात नहीं है, अतः तुम इनका अनादर न करो ॥ ३ ॥

पश्य चैतान् महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान् बहून्।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

'देखो ! ये सभी नरेश, जिनमेंसे कई तो तुम्हारी अपेक्षा बहुत बड़ी अवस्थाके हैं, श्रीकृष्णकी अग्रपूजाको चुपचाप सहन कर रहे हैं, इसी प्रकार तुम्हें भी इस विषयमें कुछ नहीं बोलना चाहिये ॥ ४ ॥

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम्।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥

'चेदिराज ! भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे हमारे पितामह भीष्मजी ही जानते हैं। कुरुनन्दन भीष्मजीको उनके तत्त्वका जैसा ज्ञान है, वैसा तुम्हें नहीं है' ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम्।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्में सबसे बढ़कर हैं। वे ही परम पूजनीय हैं। जो उनकी अग्रपूजा स्वीकार नहीं करता है, उसकी अनुनय-विनय नहीं करनी चाहिये। वह सान्त्वना देने या समझाने-बुझानेके योग्य भी नहीं है ॥ ६ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥

जो योद्धाओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय जिसे युद्धमें जीतकर अपने वशमें करके छोड़ देता है, वह उस पराजित क्षत्रियके लिये गुरुतुल्य पूज्य हो जाता है ॥ ७ ॥

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥

राजाओंके इस समुदायमें एक भी भूपाल ऐसा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके तेजसे परास्त न हो चुका हो ॥ ८ ॥

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥

महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है, ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं ॥ ९ ॥

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः।
जगत् सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्णके द्वारा संग्राममें अनेक क्षत्रियशिरोमणि परास्त हुए हैं। यह सम्पूर्ण जगत् वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णमें ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान्।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥ ११ ॥

इसीलिये हम दूसरे वृद्ध पुरुषोंके होते हुए भी श्रीकृष्णकी ही पूजा करते हैं, दूसरोंकी नहीं। राजन् ! तुम्हें श्रीकृष्णके प्रति वैसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये थीं। उनके प्रति तुम्हें ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये ॥ ११ ॥

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥
समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतान् सताम्।

मैंने बहुत-से ज्ञानवृद्ध महात्माओंका संग किया है। आने

यहाँ पधारे हुए उन संतोंके मुखसे अनन्तगुणशाली भगवान् श्रीकृष्णके असंख्य बहुसम्मत गुणोंका वर्णन सुना है ॥ १२½ ॥

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥ १३ ॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।

जन्मकालसे लेकर अबतक इन बुद्धिमान् श्रीकृष्णके जो-जो चरित्र बहुधा बहुतेरे मनुष्योंद्वारा कहे गये हैं, उन सबको मैंने बार-बार सुना है ॥ १३½ ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥ १४ ॥
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥ १५ ॥

चेदिराज! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है ॥ १४-१५ ॥

यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्जमहे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥ १६ ॥

हम इनके यश, शौर्य और विजयको भलीभाँति जानकर इनकी पूजा कर रहे हैं। यहाँ बैठे हुए लोगोंमेंसे कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है, जिसके गुणोंकी हमलोगोंने पूर्णतः परीक्षा न की हो ॥ १६ ॥

गुणवृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनकोही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य हैं, जो बलमें सबमें अधिक हो ॥

वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥

वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं ॥ १८ ॥

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥ १९ ॥

इनमें वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञान तो है ही, बल भी सबसे अधिक है। श्रीकृष्णके सिवा संसारके मनुष्योंमें दूसरा कौन सबसे बढ़कर है ? ॥ १९ ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥ २० ॥

दान, दक्षता; शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं ॥ २० ॥

तमिमं गुणसम्पन्नमार्यं च पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥ २१ ॥

जो अर्घ्य पानेके सर्वथा योग्य और पूजनीय है, उन सकलगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ, पिता और गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी हमलोगोंने पूजा की है, अतः सब राजालोग इसके लिये हमें क्षमा करें ॥ २१ ॥

ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥

श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं। इसीलिये हमने इनकी अग्रपूजा की है ॥ २२ ॥

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है ॥ २३ ॥

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४ ॥

ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं; अतः भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं ॥

बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥

महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं ॥ २५ ॥

आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ॥ २७ ॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ॥ २९ ॥

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशा और विदिशा सब उन्हींमें स्थित हैं। जैसे वेदोंमें अग्निहोत्रकर्म, छन्दोंमें गायत्री,

मनुष्योंमें राजा, नदियों (जलाशयों) में समुद्र, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य, पर्वतोंमें मेरु और पक्षियोंमें गरुड श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार देवलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें ऊपर-नीचे, दाँयें-बाँयें, जितने भी जगत्के आश्रय हैं, उन सबमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं ॥ २६-२९ ॥

[भगवान् नारायणकी महिमा और उनके द्वारा मधु-कैटभका वध]

(वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मस्य तच्छ्रुत्वा वचः काले युधिष्ठिरः।
उवाच मतिमान् भीष्मं ततः कौरवनन्दनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीष्मजीका वह समयोचित वचन सुनकर कौरवनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणास्य देवस्य कर्माणीच्छामि सर्वशः।
श्रोतुं भगवतस्तानि प्रब्रवीहि पितामह ॥
कर्मणामानुपूर्व्यं च प्रादुर्भावांश्च मे विभोः।
यथा च प्रकृतिः कृष्णे तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! मैं इन भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण चरित्रोंको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। आप उन्हें कृपापूर्वक बतावें। पितामह ! भगवान्के अवतारों और चरित्रोंका क्रमशः वर्णन कीजिये। साथ ही मुझे यह भी बताइये कि श्रीकृष्णका शील-स्वभाव कैसा है ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मः प्रोवाच भरतर्षभम्।
युधिष्ठिरममित्रघ्नं तस्मिन् क्षत्रसमागमे ॥
समक्षं वासुदेवस्य देवस्येव शतक्रतोः।
कर्माण्यसुकराण्यन्यैराचचक्षे जनाधिप ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय युधिष्ठिरके इस प्रकार अनुरोध करनेपर भीष्मने राजाओंके उस समुदायमें देवराज इन्द्रके समान सुशोभित होनेवाले भगवान् वासुदेवके सामने ही शत्रुहन्ता भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक कर्मोंका, जिन्हें दूसरा कोई कदापि नहीं कर सकता, वर्णन किया ॥

शृण्वतां पार्थिवानां च धर्मराजस्य चान्तिके।
इदं मतिमतां श्रेष्ठः कृष्णं प्रति विशाम्पते ॥
साम्नैवामन्त्र्य राजेन्द्र चेदिराजमरिंदमम्।
भीमकर्मा ततो भीष्मो भूयः स इदमब्रवीत् ॥
कुरूणां चापि राजानं युधिष्ठिरमुवाच ह।

धर्मराजके समीप बैठे हुए सम्पूर्ण नरेश उनकी यह बात सुन रहे थे। राजन् ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीमकर्मा भीष्मने शत्रुदमन चेदिराज शिशुपालको सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें ही समझाकर कुरुराज युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥

भीष्म उवाच

वर्तमानामतीतां च शृणु राजन् युधिष्ठिर।
ईश्वरस्योत्तमस्यैनां कर्मणां गहनां गतिम्।

भीष्म बोले—राजा युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंकी गति बड़ी गहन है। उन्होंने पूर्वकालमें और इस समय भी जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ॥
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः।

ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं। पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे। ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं ॥

सहस्रशीर्षः पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान् ॥

इनके सहस्रों मस्तक हैं। ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं। इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं ॥

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परे स्थितः ॥

इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं। ये महान् तेजस्वी देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है। इनके अनेक वर्ण हैं। ये देवताओंके भी आदि कारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें स्थित) हैं ॥

असृजत् सलिलं पूर्वं स च नारायणः प्रभुः।
ततस्तु भगवांस्तोये ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ॥

उन्हीं सामर्थ्यवान् भगवान् नारायणने सबसे पहले जलकी सृष्टि की है। फिर उस जलमें उन्होंने स्वयं ही ब्रह्माजी-को उत्पन्न किया ॥

ब्रह्मा चतुर्मुखो लोकान् सर्वांस्तानसृजत् स्वयम्।
आदिकाले पुरा ह्येवं सर्वलोकस्य चोद्भवः।

ब्रह्माजीके चार मुख हैं। उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है। इस प्रकार आदिकालमें समस्त जगत्की उत्पत्ति हुई ॥

पुराथ प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ॥

फिर प्रलयकाल आनेपर, जैसा कि पहले हुआ था, समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टिका नाश हो जाता है एवं चराचर जगत्का नाश होनेके पश्चात् ब्रह्मा आदि देवता भी अपने कारणतत्त्वमें लीन हो जाते हैं ॥

आभूतसम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान्।
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ॥

और समस्त भूतोंका प्रवाह प्रकृतिमें विलीन हो जाता है, उस समय एकमात्र सर्वात्मा भगवान् महानारायण शेष रह जाते हैं ॥

नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदैवानि भारत।
शिरस्तस्य दिवं राजन् नाभिः खं चरणौ मही ॥

भरतनन्दन! भगवान् नारायणके सब अङ्ग सर्वदेवमय हैं। राजन्! द्युलोक उनका मस्तक, आकाश नाभि और पृथ्वी चरण हैं ॥

अश्विनौ घ्राणयोर्देवो चक्षुषी शशिभास्करौ।
इन्द्रवैश्वानरौ देवौ मुखं तस्य महात्मनः ॥

दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके स्थानमें हैं, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं एवं इन्द्र और अग्निदेवता उन परमात्माके मुख हैं ॥

अन्यानि सर्वदैवानि तस्याङ्गानि महात्मनः।
सर्वं व्याप्य हरिस्तस्थौ सूत्रं मणिगणानिव ॥

इसी प्रकार अन्य सब देवता भी उन महात्माके विभिन्न अवयव हैं। जैसे गुँथी हुई मालाकी सभी मणियोंमें एक ही सूत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं ॥

आभूतसम्प्लवान्तेऽथ दृष्ट्वा सर्वं तमोऽन्वितम्।
नारायणो महायोगी सर्वज्ञः परमात्मवान् ॥
ब्रह्मभूतस्तदाऽऽत्मानं ब्रह्माणमसृजत् स्वयम्।

प्रलयकालके अन्तमें सबको अन्धकारसे व्याप्त देख सर्वज्ञ परमात्मा ब्रह्मभूत महायोगी नारायणने स्वयं अपने आपको ही ब्रह्मारूपमें प्रकट किया ॥

सोऽध्यक्षः सर्वभूतानां प्रभूतः प्रभवोऽच्युतः ॥
सनत्कुमारं रुद्रं च मनुं चैव तपोधनान्।
सर्वमेवासृजद् ब्रह्मा ततो लोकान् प्रजास्तथा ॥

इस प्रकार अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत और सम्पूर्ण भूतोंके अध्यक्ष श्रीहरिने ब्रह्मारूपसे प्रकट हो सनत्कुमार, रुद्र, मनु तथा तपस्वी ऋषि-मुनियोंको उत्पन्न किया। सबकी सृष्टि उन्हींने ही की। उन्हींसे सम्पूर्ण लोकों और प्रजाओंकी उत्पत्ति हुई ॥

ते च तद् व्यसृजंस्तत्र प्राप्ते काले युधिष्ठिर।
तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम् ॥

युधिष्ठिर! समय आनेपर उन मनु आदिने भी सृष्टिका विस्तार किया। उन सब महात्माओंसे नाना प्रकारकी सृष्टि प्रकट हुई। इस प्रकार एक ही सनातन ब्रह्म अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो गया ॥

कल्पानां बहुकोट्यश्च समतीता हि भारत।
आभूतसम्प्लवाश्चैव बहुकोट्योऽतिचक्रमुः ॥

भरतनन्दन! अबतक कई करोड़ कल्प बीत चुके हैं और कितने ही करोड़ प्रलयकाल भी गत हो चुके हैं ॥

मन्वन्तरयुगेऽजस्रं सकल्पा भूतसम्प्लवा।
चक्रवत् परिवर्तन्ते सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

मन्वन्तर, युग, कल्प और प्रलय—ये निरन्तर चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है ॥

सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः ॥

देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं ॥

ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः ॥

ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं ॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः ॥

जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है ॥

एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम् ॥

युधिष्ठिर! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है ॥

बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान् ॥

ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और कार्यवश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं। इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं। मैं उन सबका वर्णन करता हूँ ॥

सुप्त्वा युगसहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यवान्।
पूर्णे युगसहस्रेऽथ देवदेवो जगत्पतिः ॥
ब्रह्माणं कपिलं चैव परमेष्ठिनमेव च।
देवान् सप्त ऋषींश्चैव शङ्करं च महायशाः ॥

देवाधिदेव जगदीश्वर महायशस्वी भगवान् श्रीहरि सहस्र युगोंतक शयन करनेके पश्चात् कल्पान्तकी सहस्र-युगात्मक अवधि पूरी होनेपर प्रकट होते और सृष्टिकार्यमें संलग्न हो परमेष्ठी ब्रह्मा, कपिल, देवगणों, सप्तर्षियों तथा शङ्करकी उत्पत्ति करते हैं ॥

सनत्कुमारं भगवान् मनुं चैव प्रजापतिम्।
पुरा चक्रेऽथ देवादीन् प्रदीप्ताग्निसमप्रभः ॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सनत्कुमार, मनु एवं प्रजापतिको भी उत्पन्न करते हैं। पूर्वकालमें प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी नारायणदेवने ही देवताओं आदिकी सृष्टि की है ॥

येन चार्णवमध्यस्थौ नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टदेवासुरनरे प्रणष्टोरगराक्षसे ॥

योद्धुकामौ सुदुर्धर्षौ भ्रातरौ मधुकैटभौ।
हतौ भगवता तेन तयोर्दत्त्वा वृतं वरम्॥

पहलेकी बात है, प्रलयकालमें समस्त चराचर प्राणी, देवता, असुर, मनुष्य, नाग तथा राक्षस सभी नष्ट हो चुके थे। उस समय एकार्णव (महासागर) की जलराशिमें दो अत्यन्त दुर्धर्ष दैत्य रहते थे, जिनके नाम थे मधु और कैटभ। वे दोनों भाई युद्धकी इच्छा रखते थे। उन्हीं भगवान् नारायणने उन्हें मनोवाञ्छित वर देकर उन दोनों दैत्योंका वध किया था॥

भूमिं बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृन्मयौ द्वौ महासुरौ।
कर्णस्रोतोद्भवौ तौ तु विष्णोस्तस्य महात्मनः॥

कहते हैं, वे दोनों महान् असुर महात्मा भगवान् विष्णुके कानोंकी मैलसे उत्पन्न हुए थे। पहले भगवान्ने इस पृथ्वीको आबद्ध करके मिट्टीसे ही उनकी आकृति बनायी थी॥

महार्णवे प्रस्वपतः शैलराजसमौ स्थितौ।
तौ विवेश स्वयं वायुः ब्रह्मणा साधु चोदितः॥

वे पर्वतराज हिमालयके समान विशाल शरीर लिये महासागरके जलमें सो रहे थे। उस समय ब्रह्माजीकी प्रेरणासे स्वयं वायुदेवने उनके भीतर प्रवेश किया॥

तौ दिवं छादयित्वा तु ववृधाते महासुरौ।
वायुप्राणौ तु तौ दृष्ट्वा ब्रह्मा पर्यामृशच्छनैः॥

फिर तो वे दोनों महान् असुर सम्पूर्ण द्युलोकको आच्छादित करके बढ़ने लगे। वायुदेव ही जिनके प्राण थे, उन दोनों असुरोंको देखकर ब्रह्माजीने धीरे-धीरे उनके शरीरपर हाथ फेरा॥

एकं मृदुतरं बुद्ध्वा कठिनं बुध्य चापरम्।
नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः॥

एकका शरीर उन्हें अत्यन्त कोमल प्रतीत हुआ और दूसरेका अत्यन्त कठोर। तब जलसे उत्पन्न होनेवाले भगवान् ब्रह्माने उन दोनोंका नामकरण किया॥

मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभः स्वयम्।
तौ दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलगर्वितौ॥

यह जो मृदुल शरीरवाला असुर है, इसका नाम मधु होगा और जिसका शरीर कठोर है, वह कैटभ कहलायेगा। इस प्रकार नाम निश्चित हो जानेपर वे दोनों दैत्य बलसे उन्मत्त होकर सब ओर विचरने लगे॥

तौ पुराथ दिवं सर्वां प्राप्तौ राजन् महासुरौ।
प्रच्छाद्याथ दिवं सर्वां चेरतुर्मधुकैटभौ॥

राजन्! सबसे पहले वे दोनों महादैत्य मधु और कैटभ द्युलोकमें पहुँचे और उस सारे लोकको आच्छादित करके सब ओर विचरने लगे॥

सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुनिर्भयौ।
तौ गतावसुरौ दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः॥
एकार्णवाम्बुनिचये तत्रैवान्तरधीयत।

उस समय सारा लोक जलमय हो गया था। उसमें युद्धकी कामनासे अत्यन्त निर्भय होकर आये हुए उन दोनों असुरोंको देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी वहीं एकार्णवरूप जलराशिमें अन्तर्धान हो गये॥

स पद्मे पद्मनाभस्य नाभिदेशात् समुत्थिते॥
आसीदादौ स्वयंजन्म तत् पङ्कजमपङ्कजम्।
पूजयामास वसतिं ब्रह्मा लोकपितामहः॥

वे भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) की नाभिसे प्रकट हुए कमलमें जा बैठे। वह कमल वहाँ पहले ही स्वयं प्रकट हुआ था। कहनेको तो वह पङ्कज था, परंतु पङ्कसे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। लोकपितामह ब्रह्माने अपने निवासके लिये उस कमलको ही पसंद किया और उसकी भूरि-भूरि सराहना की॥

तावुभौ जलगर्भस्थौ नारायणचतुर्मुखौ।
बहून् वर्षायुतानप्सु शयानौ न चकम्पतुः॥
अथ दीर्घस्य कालस्य तावुभौ मधुकैटभौ।
आजग्मतुस्तौ तं देशं यत्र ब्रह्मा व्यवस्थितः॥

भगवान् नारायण और ब्रह्मा दोनों ही अनेक सहस्र वर्षोंतक उस जलके भीतर सोते रहे; किंतु कभी तनिक भी कम्पायमान नहीं हुए। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् वे दोनों असुर मधु और कैटभ उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ ब्रह्माजी स्थित थे॥

तौ दृष्ट्वा लोकनाथस्तु कोपात् संरक्तलोचनः।
उत्पपाताथ शयनात् पद्मनाभो महाद्युतिः॥
तद् युद्धमभवद् घोरं तयोस्तस्य च वै तदा।
एकार्णवे तदा घोरे त्रैलोक्ये जलतां गते॥
तदभूत् तुमुलं युद्धं वर्षसङ्घान् सहस्रशः।
न च तावसुरौ युद्धे तदा श्रममवापतुः॥

उन दोनोंको आया देख महातेजस्वी लोकनाथ भगवान् पद्मनाभ अपनी शय्यासे खड़े हो गये। क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं। फिर तो उन दोनोंके साथ उनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उस भयानक एकार्णवमें, जहाँ त्रिलोकी जलरूप हो गयी थी, सहस्रों वर्षोंतक उनका वह घमासान युद्ध चलता रहा; परंतु उस समय उस युद्धमें उन दोनों दैत्योंको तनिक भी थकावट नहीं होती थी॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तौ दैत्यौ युद्धदुर्मदौ।
ऊचतुः प्रीतमनसौ देवं नारायणं प्रभुम्॥
प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता॥

तत्पश्चात् दीर्घकाल व्यतीत होनेपर वे दोनों रणोन्मत्त दैत्य प्रसन्न होकर सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणसे बोले— 'सुरश्रेष्ठ! हम दोनों तुम्हारे युद्ध-कौशलसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम हमारे लिये स्पृहणीय मृत्यु हो। हमें ऐसी जगह मारो, जहाँकी भूमि पानीमें डूबी हुई न हो॥

हतौ च तव पुत्रत्वं प्राप्नुयाव सुरोत्तम।
यो ह्यावां युधि निर्जेता तस्यावां विहितौ सुतौ॥

तयोः स वचनं श्रुत्वा तदा नारायणः प्रभुः।
तौ प्रगृह्य मृधे दैत्यौ दोर्भ्यां तौ समपीडयत्॥
ऊरुभ्यां निधनं चक्रे तावुभौ मधुकैटभौ।

'तथा मरनेके पश्चात् हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों। जो हमें युद्धमें जीत ले, हम उसीके पुत्र हों—ऐसी हमारी इच्छा है।' उनकी बात सुनकर भगवान् नारायणने उन दोनों दैत्योंको युद्धमें पकड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे दबाया और मधु तथा कैटभ दोनोंको अपनी जाँघोंपर रखकर मार डाला॥

तौ हतौ चाप्लुतौ तोये वपुर्भ्यामेकतां गतौ॥
मेदो मुमुचतुर्दैत्यौ मथ्यमानौ जलोर्मिभिः।
मेदसा तज्जलं व्याप्तं ताभ्यामन्तर्दधे तदा॥
नारायणश्च भगवानसृजद् विविधाः प्रजाः।
दैत्ययोर्मेदसाच्छन्ना सर्वा राजन् वसुन्धरा॥
तदा प्रभृति कौन्तेय मेदिनीति स्मृता मही।
प्रभावात् पद्मनाभस्य शाश्वती च कृता नृणाम्॥

मरनेपर उन दोनोंकी लाशें जलमें डूबकर एक हो गयीं। जलकी लहरोंसे मथित होकर उन दोनों दैत्योंने जो मेद छोड़ा, उससे आच्छादित होकर वहाँका जल अदृश्य हो गया। उसीपर भगवान् नारायणने नाना प्रकारके जीवोंकी सृष्टि की। राजन् कुन्तीकुमार! उन दोनों दैत्योंके मेदसे सारी वसुधा आच्छादित हो गयी, अतः तभीसे यह मही 'मेदिनी' के नामसे प्रसिद्ध हुई। भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे यह मनुष्योंके लिये शाश्वत आधार बन गयी॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी संक्षिप्त कथा]

भीष्म उवाच

प्रादुर्भावसहस्राणि समतीतान्यनेकशः।
यथाशक्ति तु वक्ष्यामि शृणु तान् कुरुनन्दन॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन! भगवान्के अबतक कई सहस्र अवतार हो चुके हैं। मैं यहाँ कुछ अवतारोंका यथाशक्ति वर्णन करूँगा। तुम ध्यान देकर उनका वृत्तान्त सुनो॥

पुरा कमलनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि।
पुष्करे यत्र सम्भूता देवा ऋषिगणैः सह॥

पूर्वकालमें जब भगवान् पद्मनाभ समुद्रके जलमें शयन कर रहे थे, पुष्करमें उनसे अनेक देवताओं और महर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ॥

एष पौष्करिको नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः।
पुराणः कथ्यते यत्र वेदश्रुतिसमाहितः॥

'यह भगवान्का 'पौष्करिक' (पुष्करसम्बन्धी) पुरातन अवतार कहा गया है, जो वैदिक श्रुतियोंद्वारा अनुमोदित है॥

वाराहस्तु श्रुतिमुखः प्रादुर्भावो महात्मनः।
यत्र विष्णुः सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः॥
उज्जहार महीं तोयात् सशैलवनकाननाम्।

महात्मा श्रीहरिका जो वराह नामक अवतार है, उसमें भी प्रधानतः वैदिक श्रुति ही प्रमाण है। उस अवतारके समय भगवान्ने वराहरूप धारण करके पर्वतों और वनोंसहित सारी पृथ्वीको जलसे बाहर निकाला था॥

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः॥
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः।

चारों वेद ही भगवान् वराहके चार पैर थे। यूप ही उनकी दाढ़ थे। क्रतु (यज्ञ) ही दाँत और 'चिति' (इष्टिकाचयन) ही मुख थे। अग्नि जिह्वा, कुश रोम तथा ब्रह्म मस्तक थे। वे महान् तपसे सम्पन्न थे॥

अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गः श्रुतिभूषणः॥
आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान्।

दिन और रात ही उनके दो नेत्र थे। उनका स्वरूप दिव्य था। वेदाङ्ग ही उनके विभिन्न अङ्ग थे। श्रुतियाँ ही उनके लिये आभूषणका काम देती थीं। घी उनकी नासिका, स्रुवा उनकी थूथुन और सामवेदका स्वर ही उनकी भीषण गर्जना थी। उनका शरीर बहुत बड़ा था॥

धर्मसत्यमयः श्रीमान् कर्मविक्रमसत्कृतः॥
प्रायश्चित्तनखो धीरः पशुजानुर्महावृषः।

धर्म और सत्य उनका स्वरूप था, वे अलौकिक तेजसे सम्पन्न थे। वे विभिन्न कर्मरूपी विक्रमसे सुशोभित हो रहे थे, प्रायश्चित्त उनके नख थे, वे धीर स्वभावसे युक्त थे, पशु उनके घुटनोंके स्थानमें थे और महान् वृषभ (धर्म) ही उनका श्रीविग्रह था॥

औद्गात्रहोमलिङ्गोऽसौ फलबीजमहौषधिः॥
बाह्यान्तरात्मा मन्त्रास्थिविकृतः सौम्यदर्शनः।

उद्गाताका होमरूप कर्म उनका लिङ्ग था, फल और बीज ही उनके लिये महान् औषध थे, वे बाह्य और आभ्यन्तर जगत्के आत्मा थे, वैदिक मन्त्र ही उनके शारीरिक अस्थि-विकार थे। देखनेमें उनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य था॥

वेदिस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यादिवेगवान्॥
प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिराचितः।

यज्ञकी वेदी ही उनके कंधे, हविष्य सुगन्ध और हव्य-कव्य आदि उनके वेग थे। प्राग्वंश (यजमानगृह एवं पत्नीशाला) उनका शरीर कहा गया है। वे महान् तेजस्वी और अनेक प्रकारकी दीक्षाओंसे व्याप्त थे॥

दक्षिणाहृदयो योगी महाशास्त्रमयो महान्॥
उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः।

दक्षिणा उनके हृदयके स्थानमें थी, वे महान् योगी और महान् शास्त्रस्वरूप थे। प्रीतिकारक उपाकर्म उनके ओष्ठ और प्रवर्ग्य कर्म ही उनके रत्नोंके आभूषण थे॥

छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्ग इवोच्छ्रितः॥
एवं यज्ञवराहो वै भूत्वा विष्णुः सनातनः।
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम्॥

एकार्णवजले भ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभुः।
मज्जितां सलिले तस्मिन् स्वदेवीं पृथिवीं तदा॥
उज्जहार विषाणेन मार्कण्डेयस्य पश्यतः।

जलमें पड़नेवाली छाया (परछाईं) ही पत्नीकी भाँति उनकी सहायिका थी। वे मणिमय पर्वत-शिखरकी भाँति ऊँचे जान पड़ते थे। इस प्रकार यज्ञमय वराहरूप धारण करके एकार्णवके जलमें प्रविष्ट हो सर्वशक्तिमान् सनातन भगवान् विष्णुने उस जलमें गिरकर डूबी हुई पर्वत, वन और समुद्रों-सहित अपनी महारानी भूदेवीका (दाढ़ या) सींगकी सहायतासे मार्कण्डेय मुनिके देखते-देखते उद्धार किया॥

शृङ्गेणेमां समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया॥
सहस्रशीर्षो देवो हि निर्ममे जगतीं प्रभुः।

सहस्रों मस्तकोंसे सुशोभित होनेवाले उन भगवान्ने सींग (या दाढ़) के द्वारा सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये इस पृथ्वीका उद्धार करके उसे जगत्का एक सुदृढ़ आश्रय बना दिया॥

एवं यज्ञवराहेण भूतभव्यभवात्मना॥
उद्धृता पृथिवी देवी सागराम्बुधरा पुरा।
निहता दानवाः सर्वे देवदेवेन विष्णुना॥

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानस्वरूप भगवान् यज्ञवराहने समुद्रका जल हरण करनेवाली भूदेवीका पूर्वकालमें उद्धार किया था। उस समय उन देवाधिदेव विष्णुने समस्त दानवोंका संहार किया था॥

वाराहः कथितो ह्येष नारसिंहमथो शृणु।
यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः॥

यह वराह अवतारका वृत्तान्त बतलाया गया। अब नृसिंहावतारका वर्णन सुनो, जिसमें नरसिंहरूप धारण करके भगवान्ने हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वध किया था॥

दैत्येन्द्रो बलवान् राजन् सुरारिर्बलगर्वितः।
हिरण्यकशिपुर्नाम आसीत् त्रैलोक्यकण्टकः॥

राजन्! प्राचीन कालमें देवताओंका शत्रु हिरण्यकशिपु समस्त दैत्योंका राजा था। वह बलवान् तो था ही, उसे अपने बलका घमंड भी बहुत था। वह तीनों लोकोंके लिये कण्टकरूप हो रहा था॥

दैत्यानामादिपुरुषो वीर्यवान् धृतिमान् बली।
प्रविश्य स वनं राजंश्चकार तप उत्तमम्॥

पराक्रमी हिरण्यकशिपु धीर और बलवान् था। दैत्यकुलका आदिपुरुष वही था। राजन्! उसने वनमें आकर बड़ी भारी तपस्या की॥

दशवर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च।
जपोपवासैस्तस्यासीत् स्थाणुर्मौनव्रतो दृढः॥

साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक पूर्वोक्त तपस्याके हेतुभूत जप और उपवासमें संलग्न रहनेसे वह ठूँठे काठके समान अविचल और दृढतापूर्वक मौनव्रतका पालन करनेवाला हो गया॥

ततो दमशमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चानघ।
ब्रह्मा प्रीतमनास्तस्य तपसा नियमेन च॥

निष्पाप नरेश! उसके इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या तथा शौच-संतोषादि नियमोंके पालनसे ब्रह्माजीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई॥

ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागम्य भूपते।
विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता॥

भूपाल! तदनन्तर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा हंस जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमानद्वारा स्वयं वहाँ पधारे॥

आदित्यैर्वसुभिः साध्यैः मरुद्भिर्दैवतैः सह।
रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिन्नरैः॥
दिशाभिर्विदिशाभिश्च नदीभिः सागरैस्तथा।
नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्चापरैर्ग्रहैः॥
देवर्षिभिस्तपोयुक्तैः सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा।
राजर्षिभिः पुण्यतमैर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः॥

उनके साथ आदित्य, वसु, साध्य, मरुद्गण, देवगण, रुद्र-गण, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किन्नर, दिशा, विदिशा, नदी, समुद्र, नक्षत्र, मुहूर्त, अन्यान्य आकाशचारी ग्रह, तपस्वी देवर्षि, सिद्ध, सप्तर्षि, पुण्यात्मा राजर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी थीं।

चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वसुरैस्तथा।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यमागम्य चाब्रवीत्॥

सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ चरा-चरगुरु श्रीमान् ब्रह्मा उस दैत्यके पास आकर बोले॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि॥

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दैत्यराज! तुम मेरे भक्त हो। तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त करो॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः।
न मानुषाः पिशाचाश्च हन्युर्मां देवसत्तम॥

हिरण्यकशिपु बोला—सुरश्रेष्ठ! मुझे देवता, असुर गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच—कोई भी न मार सके॥

ऋषयो वा न मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह।
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया॥

लोकपितामह! तपस्वी ऋषि-महर्षि कुपित होकर मुझे शाप भी न दें यही वर मैंने माँगा है॥

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन च।
न शुष्केण न चार्द्रेण स्यान्न वान्येन मे वधः॥

न शस्त्रसे, न अस्त्रसे, न पर्वतसे न वृक्षसे, न सूखेसे, न

गीलेसे और न दूसरे ही किसी आयुधसे मेरा वध हो ॥

नाकाशे वा न भूमौ वा रात्रौ वा दिवसेऽपि वा ।
नान्तर्वा बहिर्वापि स्याद् वधो मे पितामह ॥

पितामह ! न आकाशमें, न पृथ्वीपर, न रातमें, न दिन-में तथा न बाहर और न भीतर ही मेरा वध हो सके ॥

पशुभिर्वा मृगैर्न स्यात् पक्षिभिर्वा सरीसृपैः ।
ददासि चेद् वरानेतान् देवदेव वृणोम्यहम् ॥

पशु या मृग, पक्षी अथवा सरीसृप (सर्प-बिच्छू) आदिसे भी मेरी मृत्यु न हो । देवदेव ! यदि आप वर दे रहे हैं तो मैं इन्हीं वरोंको लेना चाहता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः ।
सर्वकामान् वरांस्तात प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ॥

ब्रह्माजीने कहा—तात ! ये दिव्य और अद्भुत वर मैंने तुम्हें दे दिये । वत्स ! इसमें संशय नहीं कि सम्पूर्ण कामनाओंसहित इन मनोवाञ्छित वरोंको तुम अवश्य प्राप्त कर लोगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवानाकाशेन जगाम ह ।
रराज ब्रह्मलोके स ब्रह्मर्षिगणसेवितः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमार्गसे चले गये और ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित होकर अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा ।
वरप्रदानं श्रुत्वा ते ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥

तदनन्तर देवता, नाग, गन्धर्व और मुनि उस वरदानका समाचार सुनकर ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित हुए ॥

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन् बाधिष्यति स नोऽसुरः ।
तत् प्रसीदस्व भगवन् वधोऽस्य प्रविचिन्त्यताम् ॥

देवता बोले—भगवन् ! इस वरके प्रभावसे वह असुर हमलोगोंको बहुत कष्ट देगा, अतः आप प्रसन्न होइये और उसके वधका कोई उपाय सोचिये ॥

भवान् हि सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

क्योंकि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आदि स्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्यके निर्माता तथा अव्यक्त प्रकृति और ध्रुवस्वरूप हैं ॥

भीष्म उवाच

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः ।
प्रोवाच भगवान् वाक्यं सर्वदेवगणांस्तदा ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर देवताओंका यह लोकहितकारी वचन सुनकर दिव्यशक्तिसम्पन्न भगवान् प्रजापतिने उन सब देवगणोंसे इस प्रकार कहा ॥

ब्रह्मोवाच

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम् ।
तपसोऽन्तेऽस्य भगवान् वधं कृष्णः करिष्यति ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ ! उस असुरको अपनी तपस्याका फल अवश्य प्राप्त होगा । फलभोगके द्वारा जब तपस्याकी समाप्ति हो जायगी, तब भगवान् विष्णु स्वयं ही उसका वध करेंगे ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे ब्रह्मणा तस्य वै वधम् ।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ब्रह्माजीके द्वारा इस प्रकार उसके वधकी बात सुनकर सब देवता प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धामको चले गये ॥

लब्धमात्रे वरे चापि सर्वास्ता बाधते प्रजाः ।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥

दैत्य हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीका वर पाते ही समस्त प्रजाको कष्ट पहुँचाने लगा । वरदानसे उसका घमण्ड बहुत बढ़ गया था ॥

राज्यं चकार दैत्येन्द्रो दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
सप्त द्वीपान्वशे चक्रे लोकान् लोकान्तरान् बलात् ॥

वह दैत्योंका राजा होकर राज्य भोगने लगा । झुंड-के-झुंड दैत्य उसे घेरे रहते थे । उसने सातों द्वीपों और अनेक लोक-लोकान्तरोंको बलपूर्वक अपने वशमें कर लिया ॥

दिव्यलोकान् समस्तान् वै भोगान् दिव्यानवाप सः ।
देवांस्त्रिभुवनस्थांस्तान् पराजित्य महासुरः ॥

उस महान् असुरने तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त देवताओंको जीतकर सम्पूर्ण दिव्य लोकों और वहाँके दिव्य भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः ।
यदा वरमदोन्मत्तो न्यवसद् दानवो दिवि ॥

इस प्रकार तीनों लोकोंको अपने अधीन करके वह दैत्य स्वर्गलोकमें निवास करने लगा । वरदानके मदसे उन्मत्त हो दानव हिरण्यकशिपु देवलोकका निवासी बन बैठा ॥

अथ लोकान् समस्तांश्च विजित्य स महासुरः ।
भवेयमहमेवेन्द्रः सोमोऽग्निर्मारुतो रविः ॥
सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश ।
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वसवोऽर्यमा ॥
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किम्पुरुषाधिपः ।
एते भवेयमित्युक्त्वा स्वयं भूत्वा बलात् स च ॥

तदनन्तर वह महान् असुर अन्य समस्त लोकोंको जीतकर यह सोचने लगा कि मैं ही इन्द्र हो जाऊँ, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, आकाश, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, क्रोध, काम, वरुण, वसुगण, अर्यमा, धन देनेवाले धनाध्यक्ष, यक्ष और किम्पुरुषोंका स्वामी—ये सब मैं ही हो जाऊँ ।

ऐसा सोचकर उसने स्वयं ही बलपूर्वक उन-उन पदोंपर अधिकार जमा लिया ॥

तेषां गृहीत्वा स्थानानि तेषां कार्याण्यवाप सः ।
इज्यश्चासीन्मखवरैः स तैर्देवर्षिसत्तमैः ॥
नरकस्थान् समानीय स्वर्गस्थांस्तांश्चकार सः ।
एवमादीनि कर्माणि कृत्वा दैत्यपतिर्बली ॥
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन् वै संशितव्रतान् ।
सत्यधर्मपरान् दान्तान् पुरा धर्षितवांश्च सः ॥

उनके स्थान ग्रहण करके उन सबके कार्य वह स्वयं देखने लगा । उत्तम देवर्षिगण श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा जिन देवताओंका यजन करते थे, उन सबके स्थानपर वह स्वयं ही यज्ञभागका अधिकारी बन बैठा । नरकमें पड़े हुए सब जीवोंको वहाँसे निकालकर उसने स्वर्गका निवासी बना दिया । बलवान् दैत्यराजने ये सब कार्य करके मुनियोंके आश्रमोंपर धावा किया और कठोर व्रतका पालन करनेवाले सत्यधर्मपरायण एवं जितेन्द्रिय महाभाग मुनियोंको सताना आरम्भ किया ॥

यज्ञीयान् कृतवान् दैत्यानयज्ञीयांश्च देवताः ।
यत्र यत्र सुरा जग्मुस्तत्र तत्र व्रजत्युत ॥
स्थानानि देवतानां तु हृत्वा राज्यमपालयत् ।

उसने दैत्योंको यज्ञका अधिकारी बनाया और देवताओं-को उस अधिकारसे वञ्चित कर दिया । जहाँ-जहाँ देवता जाते थे, वहाँ-वहाँ वह उनका पीछा करता था । देवताओंके सारे स्थान हड़पकर वह स्वयं ही त्रिलोकीके राज्यका पालन करने लगा ॥

पञ्च कोट्यश्च वर्षाणि नियुतान्येकषष्टि च ॥
षष्टिश्चैव सहस्राणां जग्मुस्तस्य दुरात्मनः ।
एतद् वर्षं स दैत्येन्द्रो भोगैश्वर्यमवाप सः ॥

उस दुरात्माके राज्य करते पाँच करोड़ इकसठ लाख साठ हजार वर्ष व्यतीत हो गये । इतने वर्षोंतक दैत्यराज हिरण्यकशिपुने दिव्य भोगों और ऐश्वर्यका उपभोग किया ॥

तेनातिबाध्यमानास्ते दैत्येन्द्रेण बलीयसा ।
ब्रह्मलोकं सुरा जग्मुः सर्वे शक्रपुरोगमाः ॥
पितामहं समासाद्य खिन्नाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ।

महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपुके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हो इन्द्र आदि सब देवता ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीके पास पहुँचकर खेदग्रस्त हो हाथ जोड़कर बोले ॥

देवा ऊचुः

भगवन् भूतभव्येश नस्त्रायस्व इहागतान् ।
भयं दितिसुताद् घोरं भवत्यद्य दिवानिशम् ॥

देवताओंने कहा—भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् पितामह ! हम यहाँ आपकी शरणमें आये हैं ! आप हमारी रक्षा कीजिये । अब हमें उस दैत्यसे दिन-रात घोर भयकी प्राप्ति हो रही है ॥

भगवन् सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः ।
स्रष्टा त्वं हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

भगवन् ! आप सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्योंके निर्माता, अव्यक्त प्रकृति एवं नित्य स्वरूप हैं ॥

ब्रह्मोवाच

श्रूयतामापदेवं हि दुर्विज्ञेया मयापि च ।
नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः ॥
अव्यक्तः सर्वभूतानामचिन्त्यो विभुरव्ययः ।

ब्रह्माजी बोले—देवताओ ! सुनो, ऐसी विपत्तिको समझना मेरे लिये भी अत्यन्त कठिन है । अन्तर्यामी भगवान् नारायण ही हमारी सहायता कर सकते हैं । वे विश्वरूप, महातेजस्वी, अव्यक्तस्वरूप, सर्वव्यापी, अविनाशी तथा सम्पूर्ण भूतोंके लिये अचिन्त्य हैं ॥

ममापि स तु युष्माकं व्यसने परमा गतिः ॥
नारायणः परोऽव्यक्तादहमव्यक्तसम्भवः ।

संकटकालमें मेरे और तुम्हारे वे ही परम गति हैं । भगवान् नारायण अव्यक्तसे परे हैं और मेरा आविर्भाव अव्यक्तसे हुआ है ॥

मत्तो जज्ञुः प्रजा लोकाः सर्वे देवासुराश्च ते ॥
देवा यथाहं युष्माकं तथा नारायणो मम ।
पितामहोऽहं सर्वस्य स विष्णुः प्रपितामहः ॥
तमिमं विबुधा दैत्यं स विष्णुः संहरिष्यति ।
तस्य नास्ति ह्यशक्यं च तस्माद् व्रजत मा चिरम् ॥

मुझसे समस्त प्रजा सम्पूर्ण लोक तथा देवता और असुर भी उत्पन्न हुए हैं । देवताओ ! जैसे मैं तुमलोगोंका जनक हूँ, उसी प्रकार भगवान् नारायण मेरे जनक हैं । मैं सबका पितामह हूँ और वे भगवान् विष्णु प्रपितामह हैं । देवताओ ! इस हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वे विष्णु ही संहार करेंगे । उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, अतः सब लोग उन्हींकी शरणमें जाओ, विलम्ब न करो ॥

भीष्म उवाच

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे ते भरतर्षभ ।
विबुधा ब्रह्मणा सार्धं जग्मुः क्षीरोदधिं प्रति ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! पितामह ब्रह्माका यह वचन सुनकर सब देवता उनके साथ ही क्षीरसमुद्रके तटपर गये ॥

आदित्या मरुतः साध्या विश्वे च वसवस्तथा ।
रुद्रा महर्षयश्चैव अश्विनौ च सुरूपिणौ ॥
अन्ये च दिव्या ये राजंस्ते सर्वे सगणाः सुराः ।
चतुर्मुखं पुरस्कृत्य श्वेतद्वीपमुपस्थिताः ॥

आदित्य, मरुद्गण, साध्य, विश्वेदेव, वसु, रुद्र, महर्षि, सुन्दर रूपवाले अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य जो दिव्य योनिके पुरुष हैं, वे सब अर्थात् अपने गणोंसहित समस्त देवता

चतुर्मुख ब्रह्माजीको आगे करके श्वेतद्वीपमें उपस्थित हुए ॥

गत्वा क्षीरसमुद्रं तं शाश्वतीं परमां गतिम् ।
अनन्तशयनं देवमनन्तं दीप्ततेजसम् ॥
शरण्यं त्रिदशा विष्णुमुपतस्थुः सनातनम् ।
देवं ब्रह्ममयं यज्ञं ब्रह्मदेवं महाबलम् ॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च प्रभुं लोकनमस्कृतम् ।
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गताः ॥

क्षीरसमुद्रके तटपर पहुँचकर सब देवता अनन्त नामक शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले अनन्त एवं उद्दीप्त तेजसे प्रकाशमान उन शरणागतवत्सल सनातन देवता श्रीविष्णुके सम्मुख उपस्थित हुए, जो सबके सनातन परम गति हैं। वे प्रभु देवस्वरूप, वेदमय, यज्ञरूप, ब्राह्मणको देवता माननेवाले, महान् बल और पराक्रमके आश्रय, भूत, वर्तमान और भविष्यरूप, सर्वसमर्थ, विश्ववन्दित, सर्वव्यापी, दिव्य शक्तिसम्पन्न तथा शरणागतरक्षक हैं। वे सब देवता उन्हीं भगवान् नारायणकी शरणमें गये ॥

देवा ऊचुः

त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्वधात् ।
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥

देवता बोले—देवेश्वर ! आज आप हिरण्यकशिपु-का वध करके हमारी रक्षा कीजिये। सुरश्रेष्ठ ! आप ही हमारे और ब्रह्मा आदिके भी धारण-पोषण करनेवाले परमेश्वर हैं ॥

उत्फुल्लपद्मपत्राक्ष शत्रुपक्षभयङ्कर ।
क्षयाय दितिवंशस्य शरण्यस्त्वं भवाद्य नः ॥

खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाले नारायण ! आप शत्रुपक्षको भय प्रदान करनेवाले हैं। प्रभो ! आज आप दैत्योंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो हमारे शरणदाता होइये ॥

भीष्म उवाच

देवानां वचनं श्रुत्वा तदा विष्णुः शुचिश्रवाः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां वक्तुमेवोपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं— युधिष्ठिर ! देवताओंकी यह बात सुनकर पवित्र कीर्तिवाले भगवान् विष्णुने उस समय सम्पूर्ण भूतोंसे अदृश्य रहकर बोलना आरम्भ किया ॥

श्रीभगवानुवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् ।
तदेवं त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥

श्रीभगवान् बोले—देवताओ ! भय छोड़ दो। मैं तुम्हें अभय देता हूँ। देवगण ! तुमलोग अविलम्ब स्वर्गलोक-में जाओ और पहलेकी ही भाँति वहाँ निर्भय होकर रहो।

एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् ।
अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ॥

मैं वरदान पाकर घमंडमें भरे हुए दानवराज हिरण्यकशिपुको, जो देवेश्वरोंके लिये भी अवध्य हो रहा है, सेवकोंसहित अभी मार डालता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

भगवन् भूतभव्येश खिन्ना ह्येते भृशं सुराः ।
तस्मात् त्वं जहि दैत्येन्द्रं क्षिप्रं कालोऽस्य मा चिरम् ॥

ब्रह्माजीने कहा—भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी नारायण ! ये देवता बहुत दुखी हो गये हैं, अतः आप दैत्यराज हिरण्यकशिपुको शीघ्र मार डालिये। उसकी मृत्युका समय आ गया है, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥

श्रीभगवानुवाच

क्षिप्रं देवाः करिष्यामि त्वरया दैत्यनाशनम् ।
तस्मात् त्वं विबुधाश्चैव प्रतिपद्यत वै दिवम् ॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मा तथा देवताओ ! मैं शीघ्र ही उस दैत्यका नाश करूँगा, अतः तुम सब लोग अपने-अपने दिव्यलोकमें जाओ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् विसृज्य त्रिदिवेश्वरान् ।
नरस्यार्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्धतनुं तथा ॥
नारसिंहेन वपुषा पाणिं निष्पिष्य पाणिना ।
भीमरूपो महातेजा व्यादितास्य इवान्तकः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने देवेश्वरोंको विदा करके आधा शरीर मनुष्य-का और आधा सिंहका-सा बनाकर नरसिंहविग्रह धारण करके एक हाथसे दूसरे हाथको रगड़ते हुए बड़ा भयंकर रूप बना लिया। वे महातेजस्वी नरसिंह मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे ॥

हिरण्यकशिपुं राजन् जगाम हरिरीश्वरः ।
दैत्यास्तमागतं दृष्ट्वा नारसिंहं महाबलम् ॥
ववर्षुः शस्त्रवर्षैस्ते सुसंक्रुद्धास्तदा हरिम् ।

राजन् ! तदनन्तर भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपुके पास गये। नृसिंहरूपधारी महाबली भगवान् श्रीहरिको आया देख दैत्योंने कुपित होकर उनपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ की ॥

तैर्विसृष्टानि शस्त्राणि भक्षयामास वै हरिः ॥
जघान च रणे दैत्यान् सहस्राणि बहून्यपि ।

उनके द्वारा चलाये हुए सभी शस्त्रोंको भगवान् खा गये, साथ ही उन्होंने उस युद्धमें कई हजार दैत्योंका संहार कर डाला ॥

तान् निहत्य च दैत्येन्द्रान् सर्वान् क्रुद्धान् महाबलान् ॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो दैत्येन्द्रं बलगर्वितम् ।

क्रोधमें भरे हुए उन सभी महाबलवान् दैत्येश्वरोंका विनाश करके अत्यन्त कुपित हो भगवान्ने बलोन्मत्त दैत्यराज हिरण्यकशिपुपर धावा किया ॥

जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिस्वनः ॥
जीमूत इव दीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ।

भगवान् नृसिंहकी अङ्गकान्ति मेघोंकी घटाके समान श्याम थी। वे मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान दहाड़

रहे थे। उनका उद्दीप्त तेज भी मेघोंके ही समान शोभा पाता था और वे मेघोंके ही समान महान् वेगशाली थे ॥

देवारिर्दितिजो दुष्टो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥

भगवान् नृसिंहको आया देख देवताओंसे द्वेष रखनेवाला दुष्ट दैत्य हिरण्यकशिपु उनकी ओर दौड़ा ॥

दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा क्रुद्धशार्दूलविक्रमम् ।
दीप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं खरैर्नखमुखैरुत ॥
ततः कृत्वा तु युद्धं वै तेन दैत्येन वै हरिः ।

कुपित सिंहके समान पराक्रमी उस अत्यन्त बलशाली, दर्पयुक्त एवं दैत्यगणोंसे सुरक्षित दैत्यको सामने आया देख महातेजस्वी भगवान् नृसिंहने नखोंके तीखे अग्रभागोंके द्वारा उस दैत्यके साथ घोर युद्ध किया ॥

संध्याकाले महातेजाः प्रघाणे च त्वरान्वितः ॥
ऊरौ निधाय दैत्येन्द्रं निर्बिभेद नखैर्हि तम् ।

फिर संध्याकाल आनेपर बड़ी उतावलीके साथ उसे पकड़कर वे राजभवनकी देहलीपर बैठ गये। तदनन्तर उन्होंने अपनी जाँघोंपर दैत्यराजको रखकर नखोंसे उसका वक्षःस्थल विदीर्ण कर डाला ॥

महाबलं महावीर्यं वरदानेन दर्पितम् ॥
दैत्यश्रेष्ठं सुरश्रेष्ठो जघान तरसा हरिः ।

सुरश्रेष्ठ श्रीहरिने वरदानसे घमंडमें भरे हुए महाबली महापराक्रमी दैत्यराजको बड़े वेगसे मार डाला ॥

हिरण्यकशिपुं हत्वा सर्वदैत्यांश्च वै तदा ॥
विबुधानां प्रजानां च हितं कृत्वा महाद्युतिः ।
प्रमुमोद हरिर्देवः स्थाप्य धर्मं तदा भुवि ॥

इस प्रकार हिरण्यकशिपु तथा उसके अनुयायी सब दैत्योंका संहार करके महातेजस्वी भगवान् श्रीहरिने देवताओं तथा प्रजाजनोंका हितसाधन किया और इस पृथ्वीपर धर्मकी स्थापना करके वे बड़े प्रसन्न हुए ॥

एष ते नारसिंहोऽत्र कथितः पाण्डुनन्दन ।
शृणु त्वं वामनं नाम प्रादुर्भावं महात्मनः ॥

पाण्डुनन्दन ! यह मैंने तुम्हें संक्षेपसे नृसिंहावतारकी कथा सुनायी है। अब तुम परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त सुनो ॥

पुरा त्रेतायुगे राजन् बलिर्वैरोचनोऽभवत् ।
दैत्यानां पार्थिवो वीरो बलेनाप्रतिमो बली ॥

राजन् ! प्राचीन त्रेतायुगकी बात है; विरोचनकुमार बलि दैत्योंके राजा थे। बलमें उनके समान दूसरा कोई नहीं था। बलि अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही महान् वीर भी थे ॥

तदा बलिर्महाराज दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
विजित्य तरसा शक्रमिन्द्रस्थानमवाप सः ॥

महाराज ! दैत्यसमूहसे घिरे हुए बलिने बड़े वेगसे इन्द्रपर आक्रमण किया और उन्हें जीतकर इन्द्रलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

तेन वित्रासिता देवा बलिनाऽऽखण्डलादयः ।
ब्रह्माणं तु पुरस्कृत्य गत्वा क्षीरोदधिं तदा ॥
तुष्टुवुः सहिताः सर्वे देवं नारायणं प्रभुम् ।

राजा बलिके आक्रमणसे अत्यन्त त्रस्त हुए इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजीको आगे करके क्षीरसागरके तटपर गये और सबने मिलकर देवाधिदेव भगवान् नारायणका स्तवन किया ॥

स तेषां दर्शनं चक्रे विबुधानां हरिः स्तुतः ॥
प्रसादजं ह्यस्य विभोरदित्यां जन्म चोच्यते ।

देवताओंके स्तुति करनेपर श्रीहरिने उन्हें दर्शन दिया और कहा जाता है, उनपर कृपाप्रसाद करनेके फलस्वरूप भगवान्‌का अदितिके गर्भसे प्रादुर्भाव हुआ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दनः ॥
एष विष्णुरिति ख्यात इन्द्रस्यावरजोऽभवत् ।

जो इस समय यदुकुलको आनन्दित कर रहे हैं, ये ही भगवान् श्रीकृष्ण पहले अदितिके पुत्र होकर इन्द्रके छोटे भाई विष्णु (या उपेन्द्र) के नामसे विख्यात हुए ॥

तस्मिन्नेव च काले तु दैत्येन्द्रो वीर्यवान् बलिः ॥
अश्वमेधं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे ।

उन्हीं दिनों महापराक्रमी दैत्यराज बलिने क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधके अनुष्ठानकी तैयारी आरम्भ की ॥

वर्तमाने तदा यज्ञे दैत्येन्द्रस्य युधिष्ठिर ॥
स विष्णुर्वामनो भूत्वा प्रच्छन्नो ब्रह्मवेषधृक् ।
मुण्डो यज्ञोपवीती च कृष्णाजिनधरः शिखी ॥
पलाशदण्डं संगृह्य वामनोऽद्भुतदर्शनः ।
प्रविश्य स बलेर्यज्ञे वर्तमाने तु दक्षिणाम् ॥
देहीत्युवाच दैत्येन्द्रं विक्रमांस्त्रीन् ममैव ह ।

युधिष्ठिर ! जब दैत्यराजका यज्ञ आरम्भ हो गया, उस समय भगवान् विष्णु ब्राह्मणवेषधारी वामन ब्रह्मचारीके रूपमें अपनेको छिपाकर सिर मुँड़ाये, यज्ञोपवीत, काला मृगचर्म और शिखा धारण किये, हाथमें पलाशका डंडा लिये उस यज्ञमें गये। उस समय भगवान् वामनकी अद्भुत शोभा दिखायी देती थी। बलिके वर्तमान यज्ञमें प्रवेश करके उन्होंने दैत्यराजसे कहा—'मुझे तीन पग भूमि दक्षिणारूपमें दीजिये ॥'

दीयतां त्रिपदीमात्रमित्ययाचन्महासुरम् ॥
स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रददौ विष्णवे तदा ।

'केवल तीन पग भूमि मुझे दे दीजिये' ऐसा कहकर उन्होंने महान् असुर बलिसे याचना की। बलिने भी 'तथास्तु' कहकर श्रीविष्णुको भूमि दे दी ॥

तेन लब्ध्वा हरिर्भूमिं जृम्भयामास वै भृशम् ।
स शिशुः सदिवं खं च पृथिवीं च विशाम्पते ॥
त्रिभिर्विक्रमणैरेतत् सर्वमाक्रमताभिभूः ।
बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा ॥
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्याः क्षोभितास्ते महासुराः ।

बलिसे वह भूमि पाकर भगवान् विष्णु बड़े वेगसे बढ़ने लगे। राजन्! वे पहले तो बालक-जैसे लगते थे; किंतु उन्होंने बढ़कर तीन ही पगोंमें स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी—सबको माप लिया। इस प्रकार बलवान् राजा बलिके यज्ञमें जब महाबली भगवान् विष्णुने केवल तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया, तब किसीसे भी क्षुब्ध न किये जा सकनेवाले महान् असुर क्षुब्ध हो उठे॥

विप्रचित्तिमुखाः क्रुद्धा दैत्यसङ्घा महाबलाः॥
नानावक्त्रा महाकाया नानावेषधरा नृप।

राजन्! उनमें विप्रचित्त आदि दानव प्रधान थे। क्रोधमें भरे हुए उन महाबली दैत्योंके समुदाय अनेक प्रकारके वेष धारण किये वहाँ उपस्थित थे। उनके मुख अनेक प्रकारके दिखायी देते थे। वे सब-के-सब विशालकाय थे॥

नानाप्रहरणा रौद्रा नानामाल्यानुलेपनाः॥
स्वान्यायुधानि संगृह्य प्रदीप्ता इव तेजसा।
क्रममाणं हरिं तत्र उपावर्तन्त भारत॥

उनके हाथोंमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र थे। उन्होंने विविध प्रकारकी मालाएँ तथा चन्दन धारण कर रक्खे थे। वे देखनेमें बड़े भयंकर थे और तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे। भरतनन्दन! जब भगवान् विष्णुने तीनों लोकोंको मापना आरम्भ किया, उस समय सभी दैत्य अपने-अपने आयुध लेकर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥

प्रमथ्य सर्वान् दैतेयान् पादहस्ततलैस्तु तान्।
रूपं कृत्वा महाभीमं जहाराशु स मेदिनीम्॥
सम्प्राप्य पादमाकाशमादित्यसदने स्थितः।
अत्यरोचत भूतात्मा भास्करं स्वेन तेजसा॥

भगवान्ने महाभयंकर रूप धारण करके उन सब दैत्योंको लातों-थप्पड़ोंसे मारकर भूमण्डलका सारा राज्य उनसे शीघ्र छीन लिया। उनका एक पैर आकाशमें पहुँचकर आदित्य-मण्डलमें स्थित हो गया। भूतात्मा भगवान् श्रीहरि उस समय अपने तेजसे सूर्यकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर प्रकाशित हो रहे थे॥

प्रकाशयन् दिशः सर्वाः प्रदिशश्च महाबलः।
शुशुभे स महाबाहुः सर्वलोकान् प्रकाशयन्॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे।
नभः प्रक्रममाणस्य नाभ्यां किल तदा स्थितौ।

महाबली महाबाहु भगवान् विष्णु सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं तथा समस्त लोकोंको प्रकाशित करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे। जिस समय वे वसुधाको अपने पैरोंसे माप रहे थे, उस समय वे इतने बढ़े कि चन्द्रमा और सूर्य उनकी छातीके सामने आ गये थे। जब वे आकाशको लाँघने लगे, तब वे ही चन्द्रमा और सूर्य उनके नाभिदेशमें आ गये॥

परमाक्रममाणस्य जानुभ्यां तौ व्यवस्थितौ॥
विष्णोरमितवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः।
अथासाद्य कपालं स अण्डस्य तु युधिष्ठिर॥
तच्छिद्रात् स्यन्दिनी तस्य पादाद् भ्रष्टा तु निम्नगा।
ससार सागरं साऽऽशु पावनी सागरङ्गमा॥

जब वे आकाश या स्वर्गलोकसे भी ऊपरको पैर बढ़ाने लगे, उस समय उनका रूप इतना विशाल हो गया कि सूर्य और चन्द्रमा उनके घुटनोंमें स्थित दिखायी देने लगे। इस प्रकार ब्राह्मणलोग अमितपराक्रमी भगवान् विष्णुके उस विशाल रूपका वर्णन करते हैं। युधिष्ठिर! भगवान्का पैर ब्रह्माण्डकपालतक पहुँच गया और उसके आघातसे कपालमें छिद्र हो गया, जिससे झर-झर करके एक नदी प्रकट हो गयी, जो शीघ्र ही नीचे उतरकर समुद्रमें जा मिली। सागरमें मिलनेवाली वह पावन सरिता ही गङ्गा है॥

जहार मेदिनीं सर्वां हत्वा दानवपुङ्गवान्।
आसुरीं श्रियमाहृत्य त्रींल्लोकान् स जनार्दनः॥
सपुत्रदारानसुरान् पाताले तानपातयत्।
नमुचिः शम्बरश्चैव प्रह्लादश्च महामनाः॥
पादपाताभिनिर्धूताः पाताले विनिपातिताः।
महाभूतानि भूतात्मा स विशेषेण वै हरिः॥
कालं च सकलं राजन् गात्रभूतान्यदर्शयत्।

भगवान् श्रीहरिने बड़े-बड़े दानवोंको मारकर सारी पृथ्वी उनके अधिकारसे छीन ली और तीनों लोकोंके साथ सारी आसुरी-सम्पदाका अपहरण करके उन असुरोंको स्त्री-पुत्रों-सहित पातालमें भेज दिया। नमुचि, शम्बर और महामना प्रह्लाद भगवान्के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हो गये। भगवान्ने उनको भी पातालमें भेज दिया। राजन्! भूतात्मा भगवान् श्रीहरिने अपने श्रीअङ्गोंमें विशेषरूपसे पञ्चमहाभूतों तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—सभी कालोंका दर्शन कराया॥

तस्य गात्रे जगत् सर्वमानीतमिव दृश्यते॥
न किंचिदस्ति लोकेषु यदव्याप्तं महात्मना।
तद्धि रूपं महेशस्य देवदानवमानवाः॥
दृष्ट्वा तं मुमुहुः सर्वे विष्णुतेजोऽभिपीडिताः।

उनके शरीरमें सारा संसार इस प्रकार दिखायी देता था, मानो उसमें लाकर रख दिया गया हो। संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उन परमात्मासे व्याप्त न हो। परमेश्वर भगवान् विष्णुके उस रूपको देखकर उनके तेजसे तिरस्कृत हो देवता, दानव और मानव सभी मोहित हो गये॥

बलिर्बद्धोऽभिमानी च यज्ञवाटे महात्मना॥
विरोचनकुलं सर्वं पाताले विनिपातितम्॥

अभिमानी राजा बलिको भगवान्ने यज्ञमण्डपमें ही बाँध लिया और विरोचनके समस्त कुलको स्वर्गसे पातालमें भेज दिया

एवंविधानि कर्माणि कृत्वा गरुडवाहनः।
न विस्मयमुपागच्छत् पारमेष्ठ्येन तेजसा॥

गरुडवाहन भगवान् विष्णुको अपने परमेश्वरीय तेजसे उपर्युक्त कर्म करके भी अहंकार नहीं हुआ ॥

स सर्वममरैश्वर्यं सम्प्रदाय शचीपतेः ।
त्रैलोक्यं च ददौ शक्रे विष्णुर्दानवसूदनः ॥

दानवसूदन श्रीविष्णुने शचीपति इन्द्रको समस्त देवताओंका आधिपत्य देकर त्रिलोकीका राज्य भी उन्हें दे दिया ।

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः ।
वेदविद्भिर्द्विजैरेतत् कथ्यते वैष्णवं यशः ॥
मानुषेषु यथा विष्णोः प्रादुर्भावं तथा शृणु ॥

इस प्रकार परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त संक्षेपसे तुम्हें बताया गया । वेदवेत्ता ब्राह्मण भगवान् विष्णुके इस सुयशका वर्णन करते हैं । युधिष्ठिर ! अब तुम मनुष्योंमें श्रीहरिके जो अवतार हुए हैं, उनका वृत्तान्त सुनो ॥

विष्णोः पुनर्महाराज प्रादुर्भावो महात्मनः ।
दत्तात्रेय इति ख्यात ऋषिरासीन्महायशाः ॥

महाराज ! अब मैं पुनः भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन करता हूँ ! दत्तात्रेयजी महान् यशस्वी महर्षि थे ।

तेन नष्टेषु वेदेषु क्रियासु च मखेषु च ।
चातुर्वर्ण्ये च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते ॥
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टे स्थितेऽनृते ।
प्रजासु क्षीयमाणासु धर्मे चाकुलतां गते ॥
सयज्ञाः सक्रिया वेदाः प्रत्यानीताश्च तेन वै ।
चातुर्वर्ण्यमसंकीर्णं कृतं तेन महात्मना ॥
स एव वै यदा प्रादाद्धैहयाधिपतेर्वरम् ।
तं हैहयानामधिपस्त्वर्जुनोऽभिप्रसादयत् ॥

एक समयकी बात है, सारे वेद नष्ट-से हो गये । वैदिक कर्मों और यज्ञ-यागादिकोंका लोप हो गया । चारों वर्ण एकमें मिल गये और सर्वत्र वर्णसंकरता फैल गयी । धर्म शिथिल हो गया एवं अधर्म दिनों-दिन बढ़ने लगा । सत्य दब गया और सब ओर असत्यने सिक्का जमा लिया । प्रजा क्षीण होने लगी और धर्मको अधर्मद्वारा हर तरहसे पीड़ा (हानि) पहुँचने लगी । ऐसे समयमें महात्मा दत्तात्रेयने यज्ञ और कर्मानुष्ठानकी विधिसहित सम्पूर्ण वेदोंका पुनरुद्धार किया और पुनः चारों वर्णोंको पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें स्थापित किया । इन्होंने ही हैहयराज अर्जुनको वर प्रदान किया था । हैहयराज अर्जुनने अपनी सेवाओंद्वारा दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया था ॥

वने पर्यचरत् सम्यक् शुश्रूषुरनसूयकः ।
निर्ममो निरहंकारो दीर्घकालमतोषयत् ॥
आराध्य दत्तात्रेयं हि अगृह्णात् स वरानिमान् ।
आसादामतराद् विप्राद् विद्वान् विद्वन्निषेवितात् ॥
ऋतेऽमरत्वं विप्रेण दत्तात्रेयेण धीमता ।
वरैश्चतुर्भिः प्रवृत इमांस्तत्राभ्यनन्दत ॥

वह अच्छी तरह सेवामें संलग्न हो वनमें मुनिवर दत्तात्रेयकी परिचर्यामें लगा रहता था । उसने दूसरोंका दोष देखना छोड़ दिया था । वह ममता और अहङ्कारसे रहित था । उसने दीर्घकालतक दत्तात्रेयजीकी आराधना करके उन्हें संतुष्ट किया । दत्तात्रेयजी आप्त पुरुषोंसे भी बढ़कर आप्त पुरुष थे । बड़े-बड़े विद्वान् उनकी सेवामें रहते थे । विद्वान् सहस्रबाहु अर्जुनने उन ब्रह्मर्षिसे ये निम्नाङ्कित वर प्राप्त किये । अमरत्व छोड़कर उसके माँगे हुए सभी वर विद्वान् ब्राह्मण दत्तात्रेयजीने दे दिये । उसने चार वरोंके लिये महर्षिसे प्रार्थना की थी और उन चारोंका ही महर्षिने अभिनन्दन किया था ॥

श्रीमान् मनस्वी बलवान् सत्यवागनसूयकः ।
सहस्रबाहुर्भूयासमेष मे प्रथमो वरः ॥
जरायुजाण्डजं सर्वं सर्वं चैव चराचरम् ।
प्रशास्तुमिच्छे धर्मेण द्वितीयस्त्वेष मे वरः ॥

(वे वर इस प्रकार हैं—हैहयराज बोला —) 'मैं श्रीमान्, मनस्वी, बलवान्, सत्यवादी, अदोषदर्शी तथा सहस्र भुजाओंसे विभूषित होऊँ, यह मेरे लिये पहला वर है । 'मैं जरायुज और अण्डज जीवोंके साथ-साथ समस्त चराचर जगत्का धर्मपूर्वक शासन करना चाहता हूँ' मेरे लिये दूसरा वर यही हो ॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् यजेयं विपुलैर्मखैः ।
अमित्रान् निशितैर्बाणैर्घातयेयं रणाजिरे ॥
दत्तात्रेयेह भगवंस्तृतीयो वर एष मे ।
यस्य नासीन्न भविता न चास्ति सदृशः पुमान् ॥
इह वा दिवि वा लोके स मे हन्ता भवेदिति ॥

'मैं अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा ब्राह्मण अतिथियोंका यजन करूँ और जो लोग मेरे शत्रु हैं, उन्हें समराङ्गणमें तीखे बाणोंद्वारा मारकर यमलोक पहुँचा दूँ ।' भगवन् दत्तात्रेय ! मेरे लिये यही तीसरा वर हो । 'जिसके समान इहलोक या स्वर्गलोकमें कोई पुरुष न था, न है और न होगा ही, वही मेरा वध करनेवाला हो' (यह मेरे लिये चौथा वर हो) ॥

सोऽर्जुनः कृतवीर्यस्य वरः पुत्रोऽभवद् युधि ।
स सहस्रं सहस्राणां माहिष्मत्यामवर्धत ॥

वह अर्जुन राजा कृतवीर्यका ज्येष्ठ पुत्र था और युद्धमें महान् शौर्यका परिचय देता था । उसने माहिष्मती नगरीमें दस लाख वर्षोंतक निरन्तर अभ्युदयशील होकर राज्य किया ॥

पृथिवीमखिलां जित्वा द्वीपांश्चापि समुद्रिणः ।
नभसीव ज्वलन् सूर्यः पुण्यैः कर्मभिरर्जुनः ॥

जैसे आकाशमें सूर्यदेव सदा प्रकाशमान होते हैं, उसी प्रकार कार्तवीर्य अर्जुन सारी पृथ्वी और समुद्री द्वीपोंको जीतकर इस भूतलपर अपने पुण्यकर्मोंसे प्रकाशित हो रहा था ॥

इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रद्वीपं गभस्तिमत् ।
गान्धर्वं वारुणं द्वीपं सौम्याक्षमिति च प्रभुः ॥

पूर्वैरजितपूर्वांश्च द्वीपानजयदर्जुनः ॥
सौवर्णं सर्वमप्यासीद् विमानवरमुत्तमम् ।
चतुर्धाव्यभजद् राष्ट्रं तद् विभज्यान्वपालयत् ॥

शक्तिशाली सहस्रबाहुने इन्द्रद्वीप, कशेरुद्वीप, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान् द्वीप, गन्धर्वद्वीप, वरुणद्वीप और सौम्याक्षद्वीपको, जिन्हें उसके पूर्वजोंने भी नहीं जीता था, जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया। उसका श्रेष्ठ राजभवन बहुत ही सुन्दर और सारा-का-सारा सुवर्णमय था। उसने अपने राज्यकी आयको चार भागोंमें बाँट रखा था और इस विभाजनके अनुसार ही वह प्रजाका पालन करता था ॥

एकांशेनाहरत् सेनामेकांशेनावसद् गृहान् ।
यस्तु तस्य तृतीयांशो राजाऽऽसीज्जनसंग्रहे ॥
आप्तः परमकल्याणस्तेन यज्ञानकल्पयत् ॥

वह उस आयके एक अंशके द्वारा सेनाका संग्रह और संरक्षण करता था, दूसरे अंशके द्वारा गृहस्थीका खर्च चलाता था तथा उसका जो तीसरा अंश था, उसके द्वारा राजा अर्जुन प्रजाजनोंकी भलाईके लिये यज्ञोंका अनुष्ठान करता था। वह सबका विश्वासपात्र और परम कल्याणकारी था ॥

ये दस्यवो ग्रामचरा अरण्ये च वसन्ति ये ।
चतुर्थेन च सोंऽशेन तान् सर्वान् प्रत्यषेधयत् ॥
सर्वेभ्यश्चान्तवासिभ्यः कार्तवीर्योऽहरद् बलिम् ।
आहृतं स्वबलैर्यत् तदर्जुनश्चाभिमन्यते ॥
काको वा मूषिको वापि तं तमेव न्यबर्हयत् ।
द्वाराणि नापिधीयन्ते राष्ट्रेषु नगरेषु च ॥

वह राजकीय आयके चौथे अंशके द्वारा गाँवों और जंगलोंमें डाकुओं और लुटेरोंको शासनपूर्वक रोकता था। कृतवीर्यकुमार अर्जुन उसी धनको अच्छा मानता था, जिसे उसने अपने बल-पराक्रमद्वारा प्राप्त किया हो। काक या मूषकवृत्तिसे जो लोग प्रजाके धनका अपहरण करते थे, उन सबको वह नष्ट कर देता था। उसके राज्यके भीतर गाँवों तथा नगरोंमें घरके दरवाजे बंद नहीं किये जाते थे ॥

स एव राष्ट्रपालोऽभूत् स्त्रीपालोऽभवदर्जुनः ।
स एवासीदजापालः स गोपालो विशाम्पते ॥

राजन् ! कार्तवीर्य अर्जुन ही समूचे राष्ट्रका पोषक, स्त्रियोंका संरक्षक, बकरियोंकी रक्षा करनेवाला तथा गौओंका पालक था ॥

स स्मारण्ये मनुष्याणां राजा क्षेत्राणि रक्षति ।
इदं तु कार्तवीर्यस्य बभूवासदृशं जनैः ॥

वही जंगलोंमें मनुष्योंके खेतोंकी रक्षा करता था। यह है कार्तवीर्यका अद्भुत कार्य, जिसकी मनुष्योंसे तुलना नहीं हो सकती ॥

न पूर्वे नापरे तस्य गमिष्यन्ति गतिं नृपाः ।
यदर्णवे प्रयातस्य वस्त्रं न परिषिच्यते ॥
शतं वर्षसहस्राणामनुशिष्यार्जुनो महीम् ।
दत्तात्रेयप्रसादेन एवं राज्यं चकार सः ॥

न पहलेका कोई राजा कार्तवीर्यकी किसी महत्ताको प्राप्त कर सका और न भविष्यमें ही कोई प्राप्त कर सकेगा। वह जब समुद्रमें चलता था, तब उसका वस्त्र नहीं भींगता था। राजा अर्जुन दत्तात्रेयजीके कृपाप्रसादसे लाखों वर्षतक पृथ्वीपर शासन करते हुए इस प्रकार राज्यका पालन करता रहा ॥

एवं बहूनि कर्माणि चक्रे लोकहिताय सः ।
दत्तात्रेय इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥
कथितो भरतश्रेष्ठ शृणु भूयो महात्मनः ॥
यदा भृगुकुले जन्म यदर्थं च महात्मनः ।
जामदग्न्य इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥

इस प्रकार उसने लोकहितके लिये बहुत-से कार्य किये। भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन किया। अब पुनः उन महात्माके अन्य अवतारका वर्णन सुनो। भगवान्‌का वह अवतार जामदग्न्य (परशुराम) के नामसे विख्यात है। उन्होंने किसलिये और कब भृगुकुलमें अवतार ग्रहण किया, वह प्रसंग बतलाता हूँ; सुनो॥

जमदग्निसुतो राजन् रामो नाम स वीर्यवान् ।
हैहयान्तकरो राजन् स रामो बलिनां वरः ॥
कार्तवीर्यो महावीर्यो बलेनाप्रतिमस्तथा ।
रामेण जामदग्न्येन हतो विषममाचरन् ॥

महाराज युधिष्ठिर ! महर्षि जमदग्निके पुत्र परशुराम बड़े पराक्रमी हुए हैं। बलवानोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने ही हैहयवंशका संहार किया था। महापराक्रमी कार्तवीर्य अर्जुन बलमें अपना सानी नहीं रखता था; किंतु अपने अनुचित बर्तावके कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा मारा गया ॥

तं कार्तवीर्यं राजानं हैहयानामरिंदमम् ।
रथस्थं पार्थिवं रामः पातयित्वावधीद् रणे ॥

शत्रुसूदन हैहयराज कार्तवीर्य अर्जुन रथपर बैठा था, परंतु युद्धमें परशुरामजीने उसे नीचे गिराकर मार डाला ॥

जम्भस्य मूर्ध्नि भेत्ता च हन्ता च शतदुन्दुभेः ।
स एष कृष्णो गोविन्दो जातो भृगुषु वीर्यवान् ॥
सहस्रबाहुमुद्धर्तुं सहस्रजितमाहवे ॥
क्षत्रियाणां चतुष्षष्टिमयुतानां महायशाः ।
सरस्वत्यां समेतानि एष वै धनुषाजयत् ॥
ब्रह्मद्विषां वधे तस्मिन् सहस्राणि चतुर्दश ।
पुनर्जग्राह शूराणामन्तं चक्रे नरर्षभः ॥
ततो दशसहस्रस्य हन्ता पूर्वमरिंदमः ।
सहस्रं मुसलेनाहन् सहस्रमुदकृन्तत ॥

ये भगवान् गोविन्द ही पराक्रमी परशुरामरूपसे भृगुवंशमें अवतीर्ण हुए। ये ही जम्भासुरका मस्तक विदीर्ण करनेवाले तथा शतदुन्दुभिके घातक हैं। इन्होंने सहस्रोंपर विजय पानेवाले सहस्रबाहु अर्जुनका युद्धमें संहार करनेके लिये ही

अवतार लिया था। महायशस्वी परशुरामने केवल धनुषकी सहायतासे सरस्वती नदीके तटपर एकत्रित हुए छः लाख चालीस हजार क्षत्रियोंपर विजय पायी थी। वे सभी क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले थे। उनका वध करते समय नरश्रेष्ठ परशुरामने और भी चौदह हजार शूरवीरोंका अन्त कर डाला। तदनन्तर शत्रुदमन रामने दस हजार क्षत्रियोंका और वध किया। इसके बाद उन्होंने हजारों वीरोंको मूसलसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया तथा सहस्रोंको फरसेसे काट डाला॥

चतुर्दश सहस्राणि क्षणमात्रमपातयत्।
शिष्टान् ब्रह्मद्विषश्छित्त्वा ततोऽस्नायत भार्गवः॥
राम रामेत्यभिक्रुष्टो ब्राह्मणैः क्षत्रियार्दितैः।
न्यघ्नद् दशसहस्राणि रामः परशुनाभिभूः॥

भृगुनन्दन परशुरामने चौदह हजार क्षत्रियोंको क्षणमात्रमें मार गिराया तथा शेष ब्रह्मद्रोहियोंका भी मूलोच्छेद करके स्नान किया। क्षत्रियोंसे पीड़ित होकर ब्राह्मणोंने 'राम-राम' कहकर आर्तनाद किया था; इसीलिये सर्वविजयी परशुरामने पुनः फरसेसे दस हजार क्षत्रियोंका अन्त किया॥

न ह्यमृष्यत तां वाचमार्तैर्भृशमुदीरिताम्।
भृगो रामाभिधावेति यदाक्रन्दन् द्विजातयः॥

जिस समय द्विजलोग 'भृगुनन्दन परशुराम! दौड़ो, बचाओ' इत्यादि बातें कहकर करुणक्रन्दन करते, उस समय उन पीड़ितोंद्वारा कही हुई वह आर्तवाणी परशुरामजी नहीं सहन कर सके॥

काश्मीरान् दरदान् कुन्तीन् क्षुद्रकान् मालवाञ्छकान्।
चेदिकाशिकरूषांश्च ऋषिकान् क्रथकैशिकान्॥
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च मागधान् काशिकोसलान्।
रात्रायणान् वीतिहोत्रान् किरातान् मार्तिकावतान्॥
एतानन्यांश्च राजेन्द्रान् देशे देशे सहस्रशः।
निकृत्य निशितैर्बाणैः सम्प्रदाय विवस्वते॥

उन्होंने काश्मीर, दरद, कुन्तिभोज, क्षुद्रक, मालव, शक, चेदि, काशि, करूष, ऋषिक, क्रथ, कैशिक, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मागध, काशी, कोसल, रात्रायण, वीतिहोत्र, किरात तथा मार्तिकावत—इनको तथा अन्य सहस्रों राजेश्वरोंको प्रत्येक देशमें तीखे बाणोंसे मारकर यमराजके भेंट कर दिया॥

कीर्णा क्षत्रियकोटीभिः मेरुमन्दरभूषणा।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी तेन निःक्षत्रिया कृता॥

मेरु और मन्दर पर्वत जिसके आभूषण हैं, वह पृथ्वी करोड़ों क्षत्रियोंकी लाशोंसे पट गयी। एक-दो बार नहीं, इक्कीस बार परशुरामने यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी॥

एवमिष्ट्वा महाबाहुः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
सन्यद् वर्षशतं रामः सौभे शाल्वमयोधयत्॥
ततः स भृगुशार्दूलस्तं सौभं योधयन् प्रभुः।
सुबन्धुरं रथं राजन्नास्थाय भरतर्षभ॥
नग्निकानां कुमारीणां गायन्तीनामुपाशृणोत्।

तदनन्तर महाबाहु परशुरामने प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके सौ वर्षोंतक सौभ नामक विमानपर बैठे हुए राजा शाल्वके साथ युद्ध किया। भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर सुन्दर रथपर बैठकर सौभ विमानके साथ युद्ध करनेवाले शक्तिशाली वीर भृगुश्रेष्ठ परशुरामने गीत गाती हुई नग्निका[१] कुमारियोंके मुखसे यह सुना—॥

राम राम महाबाहो भृगूणां कीर्तिवर्धन॥
त्यज शस्त्राणि सर्वाणि न त्वं सौभं वधिष्यसि।
चक्रहस्तो गदापाणिर्भीतानामभयंकरः॥
युधि प्रद्युम्नसाम्बाभ्यां कृष्णः सौभं वधिष्यति।

'राम! राम! महाबाहो! तुम भृगुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले हो; अपने सारे अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल दो। तुम सौभ विमानका नाश नहीं कर सकोगे। भयभीतोंको अभय देनेवाले चक्रधारी गदापाणि भगवान् श्रीविष्णु प्रद्युम्न और साम्बको साथ लेकर युद्धमें सौभ विमानका नाश करेंगे'॥

तच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रस्तत एव वनं ययौ॥
न्यस्य सर्वाणि शस्त्राणि कालकाङ्क्षी महायशाः॥
रथं वर्मायुधं चैव शरान् परशुमेव च।
धनूंष्यप्सु प्रतिष्ठाप्य राजंस्तेपे परं तपः॥

यह सुनकर पुरुषसिंह परशुराम उसी समय वनको चल दिये। राजन्! वे महायशस्वी मुनि कृष्णावतारके समयकी प्रतीक्षा करते हुए अपने सारे अस्त्र-शस्त्र, रथ, कवच, आयुध बाण, परशु और धनुष जलमें डालकर बड़ी भारी तपस्यामें लग गये॥

ह्रियं प्रज्ञां श्रियं कीर्तिं लक्ष्मीं चामित्रकर्शनः।
पञ्चाधिष्ठाय धर्मात्मा तं रथं विससर्ज ह॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले धर्मात्मा परशुरामने लज्जा, प्रज्ञा, श्री, कीर्ति और लक्ष्मी—इन पाँचोंका आश्रय लेकर अपने पूर्वोक्त रथको त्याग दिया॥

आदिकाले प्रवृत्तं हि विभजन् कालमीश्वरः।
नाहनच्छ्रद्धया सौभं न ह्यशक्तो महायशाः॥
जामदग्न्य इति ख्यातो यस्त्वसौ भगवानृषिः।
सोऽस्य भागस्तपस्तेपे भार्गवो लोकविश्रुतः॥
शृणु राजंस्तथा विष्णोः प्रादुर्भावं महात्मनः।
चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरःसरः॥

आदिकालमें जिसकी प्रवृत्ति हुई थी, उस कालका विभाग करके भगवान् परशुरामने कुमारियोंकी बातपर श्रद्धा होनेके कारण ही सौभ विमानका नाश नहीं किया, असमर्थताके कारण नहीं। जमदग्निनन्दन परशुरामके नामसे विख्यात वे महर्षि, जो विश्वविदित ऐश्वर्यशाली महर्षि हैं, वे इन्हीं

१ जिनमें ऋतुधर्म (रजस्वलावस्था) का प्रादुर्भाव न हुआ हो, उन्हें नग्निका कहते हैं।

श्रीकृष्णके अंश हैं, जो इस समय तपस्या कर रहे हैं। राजन्! अब महात्मा भगवान् विष्णुके साक्षात् स्वरूप श्रीरामके अवतारका वर्णन सुनो, जो विश्वामित्र मुनिको आगे करके चलनेवाले थे ॥

तिथौ नावमिके जज्ञे तथा दशरथादपि।
कृत्वाऽऽत्मानं महाबाहुश्चतुर्धा विष्णुरव्ययः ॥

चैत्रमासके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिको अविनाशी भगवान् महाबाहु विष्णुने अपने आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके महाराज दशरथके सकाशसे अवतार ग्रहण किया था ॥

लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः।
प्रसादनार्थं लोकस्य विष्णुस्तस्य सनातनः ॥
धर्मार्थमेव कौन्तेय जज्ञे तत्र महायशाः।

वे भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी राजकुमार लोकमें श्रीरामके नामसे विख्यात हुए। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जगत्को प्रसन्न करने तथा धर्मकी स्थापनाके लिये ही महायशस्वी सनातन भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए थे॥

तमप्याहुर्मनुष्येन्द्रं सर्वभूतपतेस्तनुम् ॥
यज्ञविघ्नं तदा कृत्वा विश्वामित्रस्य भारत।
सुबाहुर्निहतस्तेन मारीचस्ताडितो भृशम् ॥

मनुष्योंके स्वामी भगवान् श्रीरामको साक्षात् सर्वभूतपति श्रीहरिका ही स्वरूप बतलाया जाता है। भारत! उस समय विश्वामित्रके यज्ञमें विघ्न डालनेके कारण राक्षस सुबाहु श्रीरामचन्द्रजीके हाथों मारा गया और मारीच नामक राक्षसको भी बड़ी चोट पहुँची ॥

तस्मै दत्तानि शस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
वधार्थं देवशत्रूणां दुर्वाराणि सुरैरपि ॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनिने देवशत्रु राक्षसोंका वध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको ऐसे-ऐसे दिव्यास्त्र प्रदान किये थे, जिनका निवारण करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था ॥

वर्तमाने तदा यज्ञे जनकस्य महात्मनः।
भग्नं माहेश्वरं चापं क्रीडता लीलया परम् ॥
ततो विवाहं सीतायाः कृत्वा स रघुवल्लभः।
नगरीं पुनरासाद्य मुमुदे तत्र सीतया ॥

उन्हीं दिनों महात्मा जनकके यहाँ धनुर्यज्ञ हो रहा था, उसमें श्रीरामने भगवान् शङ्करके महान् धनुषको खेल-खेलमें ही तोड़ डाला। तदनन्तर सीताजीके साथ विवाह करके रघुनाथजी अयोध्यापुरीमें लौट आये और वहाँ सीताजीके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य पित्रा तत्राभिचोदितः।
कैकेय्याः प्रियमन्विच्छन् वनमभ्यवपद्यत ॥

कुछ कालके पश्चात् पिताकी आज्ञा पाकर वे अपनी विमाता महारानी कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे वनमें चले गये ॥

यः समाः सर्वधर्मज्ञश्चतुर्दश वने वसन्।
लक्ष्मणानुचरो रामः सर्वभूतहिते रतः ॥
चतुर्दश वने तप्त्वा तपो वर्षाणि भारत।
रूपिणी यस्य पार्श्वस्था सीतेत्यभिहिता जनैः ॥

वहाँ सब धर्मोंके ज्ञाता और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके साथ चौदह वर्षोंतक वनमें निवास किया। भरतवंशी राजन्! चौदह वर्षोंतक उन्होंने वनमें तपस्यापूर्वक जीवन बिताया। उनके साथ उनकी अत्यन्त रूपवती धर्मपत्नी भी थीं, जिन्हें लोग सीता कहते थे ॥

पूर्वोचितत्वात् सा लक्ष्मीर्भर्तारमनुगच्छति।
जनस्थाने वसन् कार्यं त्रिदशानां चकार सः ॥
मारीचं दूषणं हत्वा खरं त्रिशिरसं तथा।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां घोरकर्मणाम् ॥
जघान रामो धर्मात्मा प्रजानां हितकाम्यया।

अवतारके पहले श्रीविष्णुरूपमें रहते समय भगवान्‌के साथ उनकी जो योग्यतमा भार्या लक्ष्मी रहा करती हैं, उन्होंने ही उपयुक्त होनेके कारण श्रीरामावतारके समय सीताके रूपमें अवतीर्ण हो अपने पतिदेवका अनुसरण किया था। भगवान् श्रीराम जनस्थानमें रहकर देवताओंके कार्य सिद्ध करते थे। धर्मात्मा श्रीरामने प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंका वध किया। जिनमें मारीच, खर-दूषण और त्रिशिरा आदि प्रधान थे ॥

विराधं च कबन्धं च राक्षसौ क्रूरकर्मिणौ ॥
जघान च तदा रामो गन्धर्वौ शापविक्षतौ ॥

उन्हीं दिनों दो शापग्रस्त गन्धर्व क्रूरकर्मा राक्षसोंके रूपमें वहाँ रहते थे, जिनके नाम विराध और कबन्ध थे। श्रीरामने उन दोनोंका भी संहार कर डाला ॥

स रावणस्य भगिनीनासाच्छेदं चकार ह।
भार्यावियोगं तं प्राप्य मृगयन् व्यचरद् वनम् ॥
ततस्तमृष्यमूकं स गत्वा पम्पामतीत्य च।
सुग्रीवं मारुतिं दृष्ट्वा चक्रे मैत्रीं तयोः स वै ॥

उन्होंने रावणकी बहिन शूर्पणखाकी नाक भी लक्ष्मणके द्वारा कटवा दी; इसीके कारण (राक्षसोंके षड्यन्त्रसे) उन्हें पत्नीका वियोग देखना पड़ा। तब वे सीताकी खोज करते हुए वनमें विचरने लगे। तदनन्तर ऋष्यमूक पर्वतपर जा पम्पासरोवरको लाँघकर श्रीरामजी सुग्रीव और हनुमान्‌जीसे मिले और उन दोनोंके साथ उन्होंने मैत्री स्थापित कर ली ॥

अथ गत्वा स किष्किन्धां सुग्रीवेण तदा सह।
निहत्य वालिनं युद्धे वानरेन्द्रं महाबलम् ॥
अभ्यषिञ्चत् तदा रामः सुग्रीवं वानरेश्वरम्।
ततः स वीर्यवान् राजंस्त्वरयन् वै समुत्सुकः।
विचित्य वायुपुत्रेण लङ्कादेशं निवेदितम् ॥

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवके साथ किष्किन्धामें जाकर महाबली वानरराज वालीको युद्धमें मारा और सुग्रीवको वानरोंके राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। राजन्! तदनन्तर पराक्रमी श्रीराम सीताजीके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ उनकी खोज कराने लगे। वायुपुत्र हनुमान्‌जीने पता लगाकर यह बतलाया कि सीताजी लङ्कामें हैं॥

सेतुं बद्ध्वा समुद्रस्य वानरैः सहितस्तदा।
सीतायाः पदमन्विच्छन् रामो लङ्कां विवेश ह॥

तब समुद्रपर पुल बाँधकर वानरोंसहित श्रीरामने सीताजीके स्थानका पता लगाते हुए लङ्कामें प्रवेश किया॥

देवोरगगणानां हि यक्षराक्षसपक्षिणाम्।
तत्रावध्यं राक्षसेन्द्रं रावणं युधि दुर्जयम्॥
युक्तं राक्षसकोटीभिर्भिन्नाञ्जनचयोपमम्।

वहाँ देवता, नागगण, यक्ष, राक्षस तथा पक्षियोंके लिये अवध्य और युद्धमें दुर्जय राक्षसराज रावण करोड़ों राक्षसोंके साथ रहता था। वह देखनेमें खानसे खोदकर निकाले हुए कोयलेके ढेरके समान जान पड़ता था॥

दुर्निरीक्ष्यं सुरगणैर्वरदानेन दर्पितम्।
जघान सचिवैः सार्धं सान्वयं रावणं रणे।
त्रैलोक्यकण्टकं वीरं महाकायं महाबलम्॥
रावणं सगणं हत्वा रामो भूतपतिः पुरा॥
लङ्कायां तं महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
अभिषिच्य च तत्रैव अमरत्वं ददौ तदा॥

देवताओंके लिये उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था। ब्रह्माजीसे वरदान मिलनेसे उसका घमंड बहुत बढ़ गया था। श्रीरामने त्रिलोकीके लिये कण्टकरूप महाबली विशालकाय वीर रावणको उसके मन्त्रियों और वंशजोंसहित युद्धमें मार डाला। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीरघुनाथजीने प्राचीन कालमें रावणको सेवकोंसहित मारकर लङ्काके राज्यपर राक्षसपति महात्मा विभीषणका अभिषेक करके उन्हें वहीं अमरत्व प्रदान किया॥

आरुह्य पुष्पकं रामः सीतामादाय पाण्डव।
सबलः स्वपुरं गत्वा धर्मराज्यमपालयत्॥
दानवो लवणो नाम मधोः पुत्रो महाबलः।
शत्रुघ्नेन हतो राजंस्ततो रामस्य शासनात्॥

पाण्डुनन्दन! तत्पश्चात् श्रीरामने पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो सीताको साथ ले दलबलसहित अपनी राजधानीमें जाकर धर्मपूर्वक राज्यका पालन किया। राजन्! उन्हीं दिनों मथुरामें मधुका पुत्र लवण नामक दानव राज्य करता था, जिसे रामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने मार डाला॥

एवं बहूनि कर्माणि कृत्वा लोकहिताय सः।
राज्यं चकार विधिवद् रामो धर्मभृतां वरः॥

इस प्रकार धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने लोकहितके लिये बहुतसे कार्य करके विधिपूर्वक राज्यका पालन किया॥

दशाश्वमेधानाजह्रे जारुधिस्थान् निरर्गलान्॥
नाश्रूयन्ताशुभा वाचो नात्ययः प्राणिनां तदा।
न वित्तजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥
प्राणिनां च भयं नासीज्जलानलविघातजम्।
पर्यदेवन्न विधवा नानाथाः काश्चनाभवन्॥

उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया और सरयूतटके जारुधिप्रदेशको विघ्न-बाधाओंसे रहित कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीके शासनकालमें कभी कोई अमङ्गलकी बात नहीं सुनी गयी। उस समय प्राणियोंकी अकालमृत्यु नहीं होती थी और किसीको भी धनकी रक्षा आदिके निमित्त भय नहीं प्राप्त होता था। संसारके जीवोंको जल और अग्नि आदिसे भी भय नहीं होता था। विधवाओंका करुण क्रन्दन नहीं सुना जाता था तथा स्त्रियाँ अनाथ नहीं होती थीं॥

सर्वमासीत् तदा तृप्तं रामे राज्यं प्रशासति॥
न संकरकरा वर्णा नाकृष्टकरकृज्जनः।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासनकालमें सम्पूर्ण जगत् संतुष्ट था। किसी भी वर्णके लोग वर्णसंकर संतान नहीं उत्पन्न करते थे। कोई भी मनुष्य ऐसी जमीनके लिये कर नहीं देता था, जो जोतने-बोनेके काममें न आती हो॥

न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
विशः पर्यचरन् क्षत्रं क्षत्रं नापीडयद् विशः।
नरा नात्यचरन् भार्या भार्या नात्यचरन् पतीन्॥
नासीदल्पकृषिर्लोके रामे राज्यं प्रशासति।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
अरोगाः प्राणिनोऽप्यासन् रामे राज्यं प्रशासति॥

बूढ़ेलोग बालकोंका अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करते थे (उनके सामने ऐसा अवसर ही नहीं आता था)। वैश्यलोग क्षत्रियोंकी परिचर्या करते थे और क्षत्रियलोग भी वैश्योंको कष्ट नहीं होने देते थे। पुरुष अपनी पत्नियोंकी अवहेलना नहीं करते थे और पत्नियाँ भी पतियोंकी अवहेलना नहीं करती थीं। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासन करते समय लोकमें खेतीकी उपज कम नहीं होती थी। लोग सहस्र पुत्रोंसे युक्त होकर सहस्रों वर्षोंतक जीवित रहते थे। श्रीरामके राज्य-शासनकालमें सब प्राणी नीरोग थे॥

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां तथैव च।
पृथिव्यां सहवासोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति॥
सर्वे ह्यासंस्तृप्तरूपास्तदा तस्मिन् विशाम्पते।
धर्मेण पृथिवीं सर्वामनुशासति भूमिपे॥

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें इस पृथ्वीपर ऋषि, देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। राजन्! भूमिपाल श्रीरघुनाथजी जिन दिनों सारी पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय उनके राज्यमें सब लोग पूर्णतः तृप्तिका अनुभव करते थे॥

तपस्येवाभवन् सर्वे सर्वे धर्ममनुव्रताः।
पृथिव्यां धार्मिके तस्मिन् रामे राज्यं प्रशासति॥

धर्मात्मा राजा रामके राज्यमें पृथ्वीपर सब लोग तपस्यामें ही लगे रहते थे और सब-के-सब धर्मानुरागी थे ॥

नाधर्मिष्ठो नरः कश्चिद् बभूव प्राणिनां क्वचित् ।
प्राणापानौ समावास्तां रामे राज्यं प्रशासति ॥

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कोई भी मनुष्य अधर्ममें प्रवृत्त नहीं होता था। सबके प्राण और अपान समवृत्तिमें स्थित थे ॥

गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
श्यामो युवा लोहिताक्षो मातङ्गानामिवर्षभः ॥
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाबलः ।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥
राज्यं भोगं च सम्प्राप्य शशास पृथिवीमिमाम् ।

जो पुराणवेत्ता विद्वान् हैं, वे इस विषयमें निम्नाङ्कित गाथा गाया करते हैं—'भगवान् श्रीरामकी अङ्गकान्ति श्याम है, युवावस्था है, उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लाली है। वे गजराज-जैसे पराक्रमी हैं। उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं। मुख बहुत सुन्दर है। कंधे सिंहके समान हैं और वे महान् बलशाली हैं। उन्होंने राज्य और भोग पाकर ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका शासन किया ॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ॥
रामभूतं जगदिदं रामे राज्यं प्रशासति ।
ऋग्यजुःसामहीनाश्च न तदासन् द्विजातयः ॥

प्रजाजनोंमें 'राम राम राम' इस प्रकार केवल रामकी ही चर्चा होती थी। रामके राज्य-शासनकालमें यह सारा जगत् राममय हो रहा था। उस समयके द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके ज्ञानसे शून्य नहीं थे ॥

उषित्वा दण्डके कार्यं त्रिदशानां चकार सः ।
पूर्वापकारिणं संख्ये पौलस्त्यं मनुजर्षभः ॥
देवगन्धर्वनागानामरिं स निजघान ह ।
सत्त्ववान् गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥
एवमेव महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥

इस प्रकार मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें निवास करके देवताओंका कार्य सिद्ध किया और पहलेके अपराधी पुलस्त्यनन्दन रावणको, जो देवताओं, गन्धर्वों और नागोंका शत्रु था, युद्धमें मार गिराया। इक्ष्वाकुकुलका अभ्युदय करनेवाले महाबाहु श्रीराम महान् पराक्रमी, सर्वगुणसम्पन्न और अपने तेजसे देदीप्यमान थे ॥

रावणं सगणं हत्वा दिवमाक्रमताभिभूः ।
इति दाशरथेः ख्यातः प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

वे इसी प्रकार सेवकोंसहित रावणका वध करके राज्यपालनके पश्चात् साकेतलोकमें पधारे। इस प्रकार परमात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अवतारका वर्णन किया गया ॥

(कृष्णावतारः)

ततः कृष्णो महाबाहुर्भीतानामभयङ्करः ।
अष्टाविंशे युगे राजञ्जज्ञे श्रीवत्सलक्षणः ॥

राजन्! तदनन्तर अब अट्ठाईसवें द्वापरमें भयभीतोंको अभय देनेवाले श्रीवत्सविभूषित महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें श्रीविष्णुका अवतार हुआ है ॥

पेशलश्च वदान्यश्च लोके बहुमतो नृषु ।
स्मृतिमान् देशकालज्ञः शङ्खचक्रगदासिधृक् ॥

ये इस लोकमें परम सुन्दर, उदार, मनुष्योंमें अत्यन्त सम्मानित, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न, देशकालके ज्ञाता एवं शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग आदि आयुध धारण करनेवाले हैं ॥

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा ।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया ॥

वासुदेवके नामसे इनकी प्रसिद्धि है। ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं। भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है ॥

स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः ।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत् ॥

ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं। इन्हींकी मधुसूदन नामसे प्रसिद्धि है। इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है ॥

कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान् ।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया। परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है ॥

(कल्क्यवतारः)

कल्की विष्णुयशा नाम भूयश्चोत्पत्स्यते हरिः ।
कलेर्युगान्ते सम्प्राप्ते धर्मे शिथिलतां गते ॥
पाखण्डिनां गणानां हि वधार्थं भरतर्षभः ।
धर्मस्य च विवृद्ध्यर्थं विप्राणां हितकाम्यया ॥

कलियुगके अन्तमें जब धर्म शिथिल हो जायगा, उस समय भगवान् श्रीहरि पाखण्डियोंके वध तथा धर्मकी वृद्धिके लिये और ब्राह्मणोंके हितकी कामनासे पुनः अवतार लेंगे। उनके उस अवतारका नाम होगा 'कल्कि विष्णुयशा' ॥

एते चान्ये च बहवो दिव्या देवगणैर्युताः ।
प्रादुर्भावाः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥

भगवान्‌के ये तथा और भी बहुत-से दिव्य अवतार देवगणोंके साथ होते हैं, जिनका ब्रह्मवादी पुरुष पुराणोंमें वर्णन करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[श्रीकृष्णका प्राकट्य तथा श्रीकृष्ण-बलरामकी बाललीलाओंका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तोऽथ कौन्तेयस्ततः पौरवनन्दनः ।
आबभाषे पुनर्भीष्मं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीके इस प्रकार कहनेपर पूरुवंशको आनन्दित करनेवाले कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उनसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

भूय एव मनुष्येन्द्र उपेन्द्रस्य यशस्विनः ।
जन्म वृष्णिषु विज्ञातुमिच्छामि वदतां वर ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेन्द्र ! मैं यशस्वी भगवान् विष्णुके वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण करनेका वृत्तान्त पुनः (विस्तारपूर्वक) जानना चाहता हूँ ॥

यथैव भगवाञ्जातः क्षिताविह जनार्दनः ।
माधवेषु महाबुद्धिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

पितामह ! परम बुद्धिमान् भगवान् जनार्दन इस पृथ्वीपर मधुवंशमें जिस प्रकार उत्पन्न हुए, वह सब प्रसङ्ग मुझसे कहिये ॥

यदर्थं च महातेजा गास्तु गोवृषभेक्षणः ।
ररक्ष कंसस्य वधाल्लोकानामभिरक्षिता ॥

बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले लोकरक्षक महातेजस्वी श्रीकृष्णने किसलिये कंसका वध करके गौओंकी रक्षा की ? ॥

क्रीडता चैव यद् बाल्ये गोविन्देन विचेष्टितम् ।
तदा मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह ! उस समय बाल्यावस्थामें बालकोचित क्रीड़ाएँ करते समय भगवान् गोविन्दने क्या-क्या लीलाएँ कीं ? यह सब मुझे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो भीष्मः केशवस्य महात्मनः ।
माधवेषु तदा जन्म कथयामास वीर्यवान् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर महापराक्रमी भीष्मने मधुवंशमें भगवान् केशवके अवतार लेनेकी कथा कहनी प्रारम्भ की ॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथातथम् ।
यतो नारायणस्येह जन्म वृष्णिषु कौरव ॥

भीष्मजी बोले—कुरुरत्न युधिष्ठिर ! अब मैं वृष्णिवंशमें भगवान् नारायणके अवतार-ग्रहणका यथावत् वृत्तान्त कहूँगा ॥

अजातशत्रो जातस्तु यथैष भुवि भूमिपः ।
कीर्त्यमानं मया तात निबोध भरतर्षभ ॥

भरतकुलभूषण तात अजातशत्रो ! वसुधाकी रक्षा करनेवाले ये भगवान् यहाँ किस प्रकार प्रकट हुए ? यह मैं बतला रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥

सागराः समकम्पन्त मुदा चेलुश्च पर्वताः ।
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ता जायमाने जनार्दने ॥

भगवान्‌के जन्मके समय आनन्दोद्रेकके कारण समुद्रमें उत्ताल तरंगें उठने लगीं, पर्वत हिलने लगे और बुझी हुई अग्नियाँ भी सहसा प्रज्वलित हो उठीं ॥

शिवाः सम्प्रववुर्वाताः प्रशान्तमभवद् रजः ।
ज्योतींषि सम्प्रकाशन्ते जायमाने जनार्दने ॥

भगवान् जनार्दनके जन्मकालमें शीतल, मन्द एवं सुखद वायु चलने लगी । धरतीकी धूल शान्त हो गयी और नक्षत्र प्रकाशित होने लगे ॥

देवदुन्दुभयश्चापि सस्वनुर्भृशमम्बरे ।
अभ्यवर्षंस्तदाऽऽगम्य देवताः पुष्पवृष्टिभिः ॥

आकाशमें देवलोकके नगाड़े जोर-जोरसे बजने लगे और देवगण आ-आकर वहाँ फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥

गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरस्तुवन् मधुसूदनम् ।
उपतस्थुस्तदा प्रीताः प्रादुर्भावे महर्षयः ॥

वे मङ्गलमयी वाणीद्वारा भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे । भगवान्‌के अवतारका समय जान महर्षिगण भी अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ आ पहुँचे ॥

ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन् ।
उपानृत्यन्नुपजगुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥

नारद आदि देवर्षियोंको उपस्थित देख गन्धर्व और अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं ॥

उपतस्थे च गोविन्दं सहस्राक्षः शचीपतिः ।
अभ्यभाषत तेजस्वी महर्षीन् पूजयंस्तदा ॥

उस समय सहस्र नेत्रोंवाले शचीवल्लभ तेजस्वी इन्द्र भगवान् गोविन्दकी सेवामें उपस्थित हुए और महर्षियोंका आदर करते हुए बोले ॥

इन्द्र उवाच

कृत्यानि देवकार्याणि कृत्वा लोकहिताय च ।
स्वलोकं लोककृद् देव पुनर्गच्छ स्वतेजसा ॥

इन्द्रने कहा—देव ! आप सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा हैं । देवताओंके जो कर्तव्य कार्य हैं, उन सबको सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये सिद्ध करके आप अपने तेजसहित पुनः परमधामको पधारिये ॥

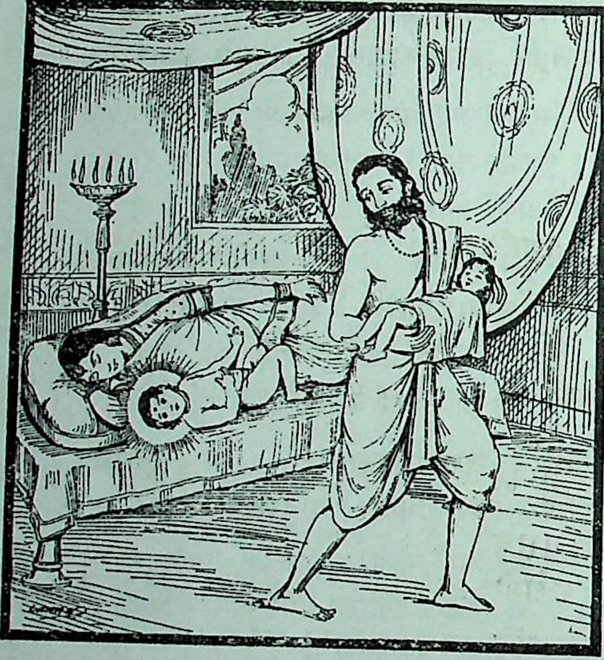
भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा मुनिभिः सार्धं जगाम त्रिदिवेश्वरः ।

भीष्मजी कहते हैं—ऐसा कहकर स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र देवर्षियोंके साथ अपने लोकको चले गये ॥

वसुदेवस्ततो जातं बालमादित्यसंनिभम् ।
नन्दगोपकुले राजन् भयात् प्राच्छादयद्धरिम् ॥

राजन् ! तदनन्तर वसुदेवजीने कंसके भयसे सूर्यके समान तेजस्वी अपने नवजात बालक श्रीहरिको नन्दगोपके घरमें छिपा दिया ॥



नन्दगोपकुले कृष्ण उवास बहुलाः समाः ।
ततः कदाचित् सुप्तं तं शकटस्य त्वधः शिशुम् ॥
यशोदा सम्परित्यज्य जगाम यमुनां नदीम् ।

श्रीकृष्ण बहुत वर्षोंतक नन्दगोपके ही घरमें रहे । एक दिन वहाँ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे सोये थे । माता यशोदा उन्हें वहीं छोड़कर यमुनाजीके तटपर चली गयीं ॥

शिशुलीलां ततः कुर्वन् स्वहस्तचरणौ क्षिपन् ॥
रुरोद मधुरं कृष्णः पादावूर्ध्वं प्रसारयन् ।
पादाङ्गुष्ठेन शकटं धारयन्नथ केशवः ॥
तत्राथैकेन पादेन पातयित्वा तथा शिशुः ।

उस समय श्रीकृष्ण शिशुलीलाका प्रदर्शन करते हुए अपने हाथ-पैर फेंक-फेंककर मधुर स्वरमें रोने लगे । पैरोंको ऊपर फेंकते समय भगवान् केशवने अपने पैरके अँगूठेसे छकड़ेको धक्का दे दिया और इस प्रकार एक ही पाँवसे छकड़ेको उलटकर गिरा दिया ॥

न्युब्जः पयोधराकाङ्क्षी चकार च रुरोद च ॥
पातितं शकटं दृष्ट्वा भिन्नभाण्डघटीघटम् ।
जनास्ते शिशुना तेन विस्मयं परमं ययुः ॥

उसके बाद वे स्वयं औंधे मुँह हो गये और माताका स्तन पीनेकी इच्छासे जोर-जोरसे रोने लगे । शिशुके ही पदाघातसे छकड़ा उलटकर गिर गया तथा उसपर रक्खे हुए सभी मटके और घड़े आदि बर्तन चकनाचूर हो गये । यह देखकर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

प्रत्यक्षं शूरसेनानां दृश्यते महदद्भुतम् ।
पूतना चापि निहता महाकाया महास्तनी ॥
पश्यतां सर्वदेवानां वासुदेवेन भारत ।

भरतनन्दन ! शूरसेनदेश (मथुरामण्डल) के निवासियोंको यह अत्यन्त अद्भुत घटना प्रत्यक्ष दिखायी दी तथा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने (आकाशमें स्थित) सब देवताओंके देखते-देखते महान् काय एवं विशाल स्तनोंवाली पूतनाको भी पहले मार डाला था ॥

ततः काले महाराज संसक्तौ रामकेशवौ ॥
विष्णुः सङ्कर्षणश्चोभौ रिङ्गिणौ समपद्यताम् ।

महाराज ! तदनन्तर संकर्षण और विष्णुके स्वरूप बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई कुछ कालके अनन्तर एक साथ ही घुटनोंके बल रेंगने लगे ॥

अन्योन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥
विसर्पयेतां सर्वत्र सर्पभोगभुजौ तदा ।

जैसे चन्द्रमा और सूर्य एक दूसरेकी किरणोंसे बँधकर आकाशमें एक साथ विचरते हों, उसी प्रकार बलराम और श्रीकृष्ण सर्वत्र एक साथ चलते-फिरते थे । उनकी भुजाएँ सर्पके शरीरकी भाँति सुशोभित होती थीं ॥

रेजतुः पांसुदिग्धाङ्गौ रामकृष्णौ तदा नृप ॥
क्वचिच्च जानुभिर्घृष्टौ क्रीडमानौ क्वचिद् वने ।
पिबन्तौ दधिकुल्याश्च मथ्यमाने च भारत ॥

नरेश्वर ! बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंके अङ्ग धूलि-धूसरित होकर बड़ी शोभा पाते । भारत ! कभी वे दोनों भाई घुटनोंके बल चलते थे, जिससे उनमें घट्ठे पड़ गये थे । कभी वे वनमें खेला करते और कभी मथते समय दहीकी घोल लेकर पीया करते थे ॥

ततः स बालो गोविन्दो नवनीतं तदा क्षये ।
ग्रसमानस्तु तत्रायं गोपीभिर्ददृशेऽथ वै ॥

एक दिन बालक श्रीकृष्ण एकान्त गृहमें छिपकर माखन खा रहे थे । उस समय वहाँ उन्हें कुछ गोपियोंने देख लिया ॥

दाम्नाथोलूखले कृष्णो गोपस्त्रीभिश्च बन्धितः ।
तदाथ शिशुना तेन राजंस्तावर्जुनावुभौ ॥
समूलविटपौ भग्नौ तदद्भुतमिवाभवत् ।

तब उन यशोदा आदि गोपाङ्गनाओंने एक रस्सीसे श्रीकृष्ण-को ऊखलमें बाँध दिया । राजन् ! उस समय उन्होंने उस ऊखल-को यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें अड़ाकर उन्हें जड़ और शाखाओं-सहित तोड़ डाला । वह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई ॥

तत्रासुरौ महाकायौ गतप्राणौ बभूवतुः ॥

उन वृक्षोंपर दो विशालकाय असुर रहा करते थे। वे भी वृक्षोंके टूटनेके साथ ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥

ततस्तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसङ्कर्षणावुभौ ।
तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥

तदनन्तर वे दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलराम बाल्यावस्थाकी सीमाको पार करके उस व्रजमण्डलमें ही सात वर्षकी अवस्था-वाले हो गये ॥

नीलपीताम्बरधरौ पीतश्वेतानुलेपनौ ।
बभूवतुर्वत्सपालौ काकपक्षधरावुभौ ॥

बलराम नीले रंगके और श्रीकृष्ण पीले रंगके वस्त्र धारण करते थे। एकके श्रीअङ्गोंपर पीले रंगका अङ्गराग लगता था और दूसरेके श्वेत रंगका। दोनों भाई काकपक्ष (सिरके पिछले भागमें बड़े-बड़े केश) धारण किये बछड़े चराने लगे ॥

पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ ।
शुशुभाते वनगतावुदीर्णाविव पन्नगौ ॥

उन दोनोंकी मुखच्छवि बड़ी मनोहारिणी थी। वे वनमें जाकर श्रवण-सुखद पर्णवाद्य (पत्तोंके बाजे—पिपिहरी आदि) बजाया करते थे। वहाँ दो तरुण नागकुमारोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

मयूराङ्गजकर्णौ तौ पल्लवापीडधारिणौ ।
वनमालापरिक्षिप्तौ सालपोताविवोद्गतौ ॥

वे अपने कानोंमें मोरके पंख लगा लेते, मस्तकपर पल्लवोंके मुकुट धारण करते और गलेमें वनमाला डाल लेते थे। उस समय शालके नये पौधोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ ।
शिक्यतुम्बधरौ वीरौ गोपवेणुप्रवादकौ ॥

वे कभी कमलके फूलोंके शिरोभूषण धारण करते और कभी बछड़ोंकी रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति धारण कर लेते थे। वीरवर श्रीकृष्ण और बलराम छींके और तुम्बी लिये वनमें घूमते और गोपजनोचित वेणु बजाया करते थे ॥

क्वचिद् वसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ क्वचिद् वने ।
पर्णशय्यासु संसुप्तौ क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ ॥

वे दोनों भाई कहीं ठहर जाते, कहीं वनमें एक दूसरेके साथ खेलने लगते और कहीं पत्तोंकी शय्या बिछाकर सो जाते तथा नींद लेने लगते थे ॥

तौ वत्सान् पालयन्तौ हि शोभयन्तौ महद् वनम्।
चञ्चूर्यन्तौ रमन्तौ स्म राजन्नेवं तदा शुभौ ॥

राजन्! इस प्रकार वे मङ्गलमय बलराम और श्रीकृष्ण बछड़ोंकी रक्षा करते तथा उस महान् वनकी शोभा बढ़ाते हुए सब ओर घूमते और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते थे ॥

ततो वृन्दावनं गत्वा वसुदेवसुतावुभौ ।
गोव्रजं तत्र कौन्तेय चारयन्तौ विजह्रतुः ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर वे दोनों वसुदेवपुत्र वृन्दावनमें जाकर गौएँ चराते हुए लीला-विहार करने लगे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कालिय-मर्दन एवं धेनुकासुर, अरिष्टासुर और कंस आदिका वध, श्रीकृष्ण और बलरामका विद्याभ्यास तथा गुरु-दक्षिणारूपसे गुरुजीको उनके मरे हुए पुत्रको जीवित करके देना]

भीष्म उवाच

ततः कदाचिद् गोविन्दो ज्येष्ठं सङ्कर्षणं विना ।
चचार तद् वनं रम्यं रम्यरूपो वराननः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर एक दिन मनोहर रूप और सुन्दर मुखवाले भगवान् गोविन्द अपने बड़े भाई संकर्षणको साथ लिये बिना ही रमणीय वृन्दावनमें चले गये और वहाँ इधर-उधर भ्रमण करने लगे ॥

काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः ।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥

उन्होंने काक-पक्ष धारण कर रक्खा था। वे परम शोभायमान, श्याम-वर्ण तथा कमलके समान सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित थे। जैसे चन्द्रमा कलंकसे युक्त होकर शोभा पाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे शोभा पा रहा था ॥

रज्जुयज्ञोपवीती स पीताम्बरधरो युवा ।
श्वेतगन्धेन लिप्ताङ्गो नीलकुञ्चितमूर्धजः ॥
राजता बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना ।
क्वचिद् गायन् क्वचित् क्रीडन् क्वचिन्नृत्यन् क्वचिद्धसन्।
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन्।
प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद् वनगतो युवा ॥
गोकुले मेघकाले तु चचार द्युतिमान् प्रभुः ।
बहुरम्येषु देशेषु वनस्य वनराजिषु ॥
तासु कृष्णो मुदं लेभे क्रीडया भरतर्षभ ।
स कदाचिद् वने तस्मिन् गोभिः सह परिव्रजन् ॥

उन्होंने रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति पहन रक्खा था। उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। विभिन्न अङ्गोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप किया गया था। उनके मस्तकपर काले-घुँघराले केश सुशोभित थे। सिरपर मोरपंखका मुकुट शोभा पाता था, जो मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहरा रहा था। भगवान् कहीं गीत गाते, कहीं क्रीड़ा करते, कहीं नाचते और कहीं हँसते थे। इस प्रकार गोपालोचित वेष धारण किये मधुर गीत

गाते और वेणु बजाते हुए तरुण श्रीकृष्ण गौओंको आनन्दित करनेके लिये कभी-कभी वनमें घूमते थे। अत्यन्त कान्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण वर्षाके समय गोकुलमें वहाँके अतिशय रमणीय प्रदेशों तथा वनश्रेणियोंमें विचरण करते थे। भरतश्रेष्ठ ! उन वनश्रेणियोंमें भाँति-भाँतिके खेल करके श्यामसुन्दर बड़े प्रसन्न होते थे। एक दिन वे गौओंके साथ वनमें घूम रहे थे ॥

भाण्डीरं नाम दृष्ट्वाथ न्यग्रोधं केशवो महान्।
तच्छायायां निवासाय मतिं चक्रे तदा प्रभुः ॥

घूमते-घूमते महात्मा भगवान् केशवने भाण्डीर नामक वटवृक्ष देखा और उसकी छायामें बैठनेका विचार किया ॥

स तत्र वयसा तुल्यैः वत्सपालैः सहानघ।
रेमे स दिवसान् कृष्णः पुरा स्वर्गपुरे तथा ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! वहाँ श्रीकृष्ण समान अवस्थावाले दूसरे गोप-बालकोंके साथ बछड़े चराते थे, दिनभर खेल-कूद करते थे और पहले दिव्य धाममें जिस प्रकार वे आनन्दित होते थे, उसी प्रकार वनमें आनन्दपूर्वक दिन बिताते थे ॥

तं क्रीडमानं गोपालाः कृष्णं भाण्डीरवासिनः।
रमयन्ति स्म बहवो मान्यैः क्रीडनकैस्तदा ॥
अन्ये स्म परिगायन्ति गोपा मुदितमानसाः।
गोपालाः कृष्णमेवान्ये गायन्ति स्म वनप्रियाः ॥

भाण्डीरवनमें निवास करनेवाले बहुत-से ग्वाले वहाँ क्रीडा करते हुए श्रीकृष्णको अच्छे-अच्छे खिलौनोंद्वारा प्रसन्न रखते थे। दूसरे प्रसन्नचित्त रहनेवाले गोप, जिन्हें वनमें घूमना प्रिय था, सदा श्रीकृष्णकी महिमाका गान किया करते थे ॥

तेषां संगायतामेव वादयामास केशवः।
पर्णवाद्यान्तरे वेणुं तुम्बं वीणां च तत्र वै ॥
एवं क्रीडान्तरैः कृष्णो गोपालैर्विजहार सः।

जब वे गीत गाते, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण पत्तोंके बाजोंके बीच-बीचमें वेणु, तुम्बी और वीणा बजाया करते थे। इस प्रकार विभिन्न लीलाओंद्वारा श्रीकृष्ण गोपबालकोंके साथ खेलते थे ॥

तेन बालेन कौन्तेय कृतं लोकहितं तदा ॥
पश्यतां सर्वभूतानां वासुदेवेन भारत।

भरतनन्दन ! उस समय बालक श्रीकृष्णने सम्पूर्ण भूतोंके देखते-देखते लोकहितके अनेक कार्य किये ॥

ह्रदे नीपवने तत्र क्रीडितं नागमूर्धनि ॥
कालियं शासयित्वा तु सर्वलोकस्य पश्यतः।
विजहार ततः कृष्णो बलदेवसहायवान् ॥

वृन्दावनमें कदम्बवनके पास जो ह्रद (कुण्ड) था, उसमें प्रवेश करके उन्होंने कालियनागके मस्तकपर नृत्यक्रीडा की



थी। फिर सब लोगोंके सामने ही कालियनागको अन्यत्र जानेका आदेश देकर वे बलदेवजीके साथ वनमें इधर-उधर विचरण करने लगे ॥

धेनुको दारुणो दैत्यो राजन् रासभविग्रहः।
तदा तालवने राजन् बलदेवेन वै हतः ॥

राजन् ! तालवनमें धेनुक नामक भयंकर दैत्य निवास करता था, जो गधेका रूप धारण करके रहता था। उस समय वह बलदेवजीके हाथसे मारा गया ॥

ततः कदाचित् कौन्तेय रामकृष्णौ वनं गतौ।
चारयन्तौ प्रवृद्धानि गोधनानि शुभाननौ ॥

कुन्तीनन्दन ! तदनन्तर किसी समय सुन्दर मुखवाले बलराम और श्रीकृष्ण अपने बढ़े हुए गोधनको चरानेके लिये वनमें गये ॥

विहरन्तौ मुदा युक्तौ वीक्षमाणौ वनानि वै।
क्ष्वेलयन्तौ प्रगायन्तौ विचिन्वन्तौ च पादपान् ॥

वहाँ वनकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई घूमते, खेलते, गीत गाते और विभिन्न वृक्षोंकी खोज करते हुए बड़े प्रसन्न होते थे ॥

नामभिर्व्याहरन्तौ च वत्सान् गाश्च परंतपौ।
चेरतुर्लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिरपराजितौ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों अजेय वीर वहाँ गौओं और बछड़ोंको नाम ले-लेकर बुलाते और लोकप्रचलित बालोचित क्रीडाएँ करते रहते थे ॥

तौ देवौ मानुषीं दीक्षां वहन्तौ सुरपूजितौ।
तज्जातिगुणयुक्ताभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वनम् ॥

वे दोनों देववन्दित देवता थे तो भी मानवी दीक्षा ग्रहण करनेके कारण मानव-जातिके अनुरूप गुणोंवाली क्रीडाएँ करते हुए वनमें विचरते थे ॥

ततः कृष्णो महातेजास्तदा गत्वा तु गोव्रजम्।
गिरियज्ञं तमेवैष प्रकृतं गोपदारकैः ॥
बुभुजे पायसं शौरिरीश्वरः सर्वभूतकृत्।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीकृष्ण गौओंके व्रजमें जाकर गोपबालकोंद्वारा किये जानेवाले गिरियज्ञमें सम्मिलित हो वहाँ सर्वभूतस्रष्टा ईश्वरके रूपमें अपनेको प्रकट करके (गिरिराजके लिये समर्पित) खीरको स्वयं ही खाने लगे ॥

तं दृष्ट्वा गोपकाः सर्वे कृष्णमेव समर्चयन् ॥
पूज्यमानस्ततो गोपैर्दिव्यं वपुरधारयत्।

उन्हें देखकर सब गोप भगवद्बुद्धिसे श्रीकृष्णके उस स्वरूपकी ही पूजा करने लगे। गोपालोंद्वारा पूजित श्रीकृष्णने दिव्य रूप धारण कर लिया ॥

धृतो गोवर्धनो नाम सप्ताहं पर्वतस्तदा ॥
शिशुना वासुदेवेन गवार्थमरिमर्दन।

शत्रुमर्दन युधिष्ठिर ! (जब इन्द्र वर्षा कर रहे थे, उस समय) बालक वासुदेवने गौओंकी रक्षाके लिये एक सप्ताहतक गोवर्धन पर्वतको अपने हाथपर उठा रक्खा था ॥

क्रीडमानस्तदा कृष्णः कृतवान् कर्म दुष्करम् ॥
तदद्भुतमिवात्रासीत् सर्वलोकस्य भारत।

भरतनन्दन ! उस समय श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही अत्यन्त दुष्कर कर्म कर डाला, जो सब लोगोंके लिये अत्यन्त अद्भुत-सा था ॥

देवदेवः क्षितिं गत्वा कृष्णं दृष्ट्वा मुदान्वितः ॥
गोविन्द इति तं ह्युक्त्वा ह्यभ्यषिञ्चत् पुरंदरः।
इत्युक्त्वाऽऽश्लिष्य गोविन्दं पुरुहूतोऽभ्ययाद् दिवम्।

देवाधिदेव इन्द्रने भूतलपर जाकर जब श्रीकृष्णको (गोवर्धन धारण किये) देखा, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीकृष्णको 'गोविन्द' नाम देकर उनका ('गवेन्द्र' पदपर) अभिषेक किया। देवराज इन्द्र गोविन्दको हृदयसे लगाकर उनकी अनुमति ले स्वर्गलोकको चले गये ॥

अथारिष्ट इति ख्यातं दैत्यं वृषभविग्रहम्।
जघान तरसा कृष्णः पशूनां हितकाम्यया ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने पशुओंके हितकी कामनासे वृषभरूपधारी अरिष्ट नामक दैत्यको वेगपूर्वक मार गिराया ॥

केशिनं नाम दैतेयं राजन् वै हयविग्रहम्।
तथा वनगतं पार्थ गजायुतबलं हयम् ॥
प्रहितं भोजपुत्रेण जघान पुरुषोत्तमः।

राजन् ! व्रजमें केशी नामका एक दैत्य रहता था, जिसका शरीर घोड़ेके समान था। उसमें दस हजार हाथियोंका बल था। कुन्तीनन्दन ! उस अश्वरूपधारी दैत्यको भोजकुलोत्पन्न कंसने भेजा था। वृन्दावनमें आनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उसे भी अरिष्टासुरकी भाँति मार दिया ॥

आन्ध्रं मल्लं च चाणूरं निजघान महासुरम् ॥

कंसके दरबारमें एक आन्ध्रदेशीय मल्ल था, जिसका नाम था चाणूर। वह एक महान् असुर था। श्रीकृष्णने उसे भी मार डाला ॥

सुनामानममित्रघ्नं सर्वसैन्यपुरस्कृतम्।
बालरूपेण गोविन्दो निजघान च भारत ॥

भरतनन्दन ! (कंसका भाई) शत्रुनाशक सुनामा कंसकी सारी सेनाका अगुआ—सेनापति था। गोविन्द अभी बालक थे, तो भी उन्होंने सुनामाको मार दिया॥

बलदेवेन चायत्तः समाजे मुष्टिको हतः।

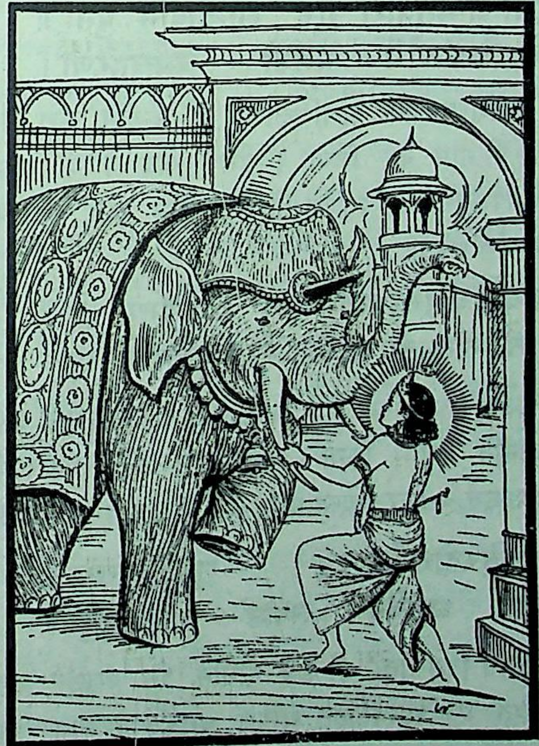
भारत ! (दंगल देखनेके लिये जुटे हुए) जनसमाजमें युद्धके लिये तैयार खड़े हुए मुष्टिक नामक पहलवानको बलरामजीने अखाड़ेमें ही मार दिया॥

त्रासितश्च तदा कंसः स हि कृष्णेन भारत ॥

युधिष्ठिर ! उस समय श्रीकृष्णने कंसके मनमें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥

ऐरावतं युयुत्सन्तं मातङ्गानामिवर्षभम्।
कृष्णः कुवलयापीडं हतवांस्तस्य पश्यतः ॥

हाथियोंमें श्रेष्ठ कुवलयापीडको, जो ऐरावतकुलमें उत्पन्न हुआ था और श्रीकृष्णको कुचल देना चाहता था, श्रीकृष्णने कंसके देखते-देखते ही मार गिराया ॥



हत्वा कंसममित्रघ्नः सर्वेषां पश्यतां तदा।
अभिषिच्योग्रसेनं तं पित्रोः पादमवन्दत ॥

फिर शत्रुनाशन श्रीकृष्णने सब लोगोंके सामने ही कंसको मारकर उग्रसेनको राजपदपर अभिषिक्त कर दिया और अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया ॥

एवमादीनि कर्माणि कृतवान् वै जनार्दनः।
उवास कतिचित् तत्र दिनानि सहलायुधः॥

इस प्रकार जनार्दनने कितने ही अद्भुत कार्य किये और कुछ दिनोंतक बलरामजीके साथ वे मथुरामें ही रहे॥

ततस्तौ जग्मतुस्तात गुरुं सान्दीपनिं पुनः।
गुरुशुश्रूषया युक्तौ धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ॥

तात युधिष्ठिर! तदनन्तर वे दोनों धर्मज्ञ भाई गुरु सान्दीपनिके यहाँ (उज्जयिनीपुरीमें) विद्याध्ययनके लिये गये। वहाँ वे गुरुसेवा-परायण हो सदा धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहे॥

व्रतमुग्रं महात्मानौ विचरन्तावतिष्ठताम्।
अहोरात्रचतुःषष्ट्या षडङ्गं वेदमापतुः॥

वे दोनों महात्मा कठोर व्रतका पालन करते हुए वहाँ रहते थे। उन्होंने चौंसठ दिन-रातमें ही छहों अङ्गों-सहित सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया॥

लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ।
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः॥

इतना ही नहीं, उन यदुकुलकुमारोंने लेख्य (चित्रकला), गणित, गान्धर्ववेद तथा सारे वैद्यको भी उतने ही समयके भीतर जान लिया॥

हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चापतुः।
तावुभौ जग्मतुर्वीरौ गुरुं सान्दीपनिं पुनः॥
धनुर्वेदचिकीर्षार्थं धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ।

गजशिक्षा तथा अश्वशिक्षाको तो उन्होंने कुल बारह दिनोंमें ही प्राप्त कर लिया। इसके बाद वे दोनों धर्मज्ञ एवं धर्मपरायण वीर धनुर्वेद सीखनेके लिये पुनः सान्दीपनि मुनिके पास गये॥

ताविष्वस्त्रवराचार्यमभिगम्य प्रणम्य च॥
तेन तौ सत्कृतौ राजन् विचरन्ताववन्तिषु।

राजन्! धनुर्वेदके श्रेष्ठ आचार्य सान्दीपनिके पास जाकर उन दोनोंने प्रणाम किया। सान्दीपनिने उन्हें सत्कारपूर्वक अपनाया एवं वे फिर अवन्तीमें विचरते हुए वहाँ रहने लगे॥

पञ्चाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम्॥
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः।

पचास दिन-रातमें ही उन दोनोंने दस अङ्गोंसे युक्त, सुप्रतिष्ठित एवं रहस्यसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया॥

दृष्ट्वा कृतास्त्रौ विप्रेन्द्रो गुर्वर्थे तावचोदयत्॥
अयाचतार्थं गोविन्दं ततः सान्दीपनिर्विभुः।

उन दोनों भाइयोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देखकर विप्रवर सान्दीपनिने उन्हें गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा दी। सान्दीपनिजी सब विषयोंके विद्वान् थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे अपने अभीष्ट मनोरथकी याचना इस प्रकार की॥

सान्दीपनिरुवाच

मम पुत्रः समुद्रेऽस्मिंस्तिमिना चापवाहितः॥
पुत्रमानय भद्रं ते भक्षितं तिमिना मम।

सान्दीपनिजी बोले—मेरा पुत्र इस समुद्रमें नहा रहा था, उस समय 'तिमि' नामक जलजन्तु उसे पकड़कर भीतर ले गया और उसके शरीरको खा गया। तुम दोनोंका भला हो। मेरे उस मरे हुए पुत्रको जीवित करके यहाँ ला दो॥

भीष्म उवाच

आर्ताय गुरवे तत्र प्रतिशुश्राव दुष्करम्॥
अशक्यं त्रिषु लोकेषु कर्तुमन्येन केनचित्।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इतना कहते-कहते गुरु सान्दीपनि पुत्रशोकसे आर्त हो गये। यद्यपि उनकी माँग बहुत कठिन थी, तीनों लोकोंमें दूसरे किसी पुरुषके लिये इस कार्यका साधन करना असम्भव था, तो भी श्रीकृष्णने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली॥

यश्च सान्दीपनेः पुत्रं जघान भरतर्षभ॥
सोऽसुरः समरे ताभ्यां समुद्रे विनिपातितः।

भरतश्रेष्ठ! जिसने सान्दीपनिके पुत्रको मारा था, उस असुरको उन दोनों भाइयोंने युद्ध करके समुद्रमें मार गिराया॥

ततः सान्दीपनेः पुत्रः प्रसादादमितौजसः॥
दीर्घकालं गतः प्रेतं पुनरासीच्छरीरवान्।

तदनन्तर अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके कृपाप्रसादसे सान्दीपनिका पुत्र, जो दीर्घकालसे यमलोकमें जा चुका था, पुनः पूर्ववत् शरीर धारण करके जी उठा॥

तदशक्यमचिन्त्यं च दृष्ट्वा सुमहदद्भुतम्॥
सर्वेषामेव भूतानां विस्मयः समजायत।

वह अशक्य, अचिन्त्य और अत्यन्त अद्भुत कार्य देखकर सभी प्राणियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ॥

ऐश्वर्याणि च सर्वाणि गवाश्वं च धनानि च॥
सर्वं तदुपजह्राते गुरवे रामकेशवौ।
ततस्तं पुत्रमादाय ददौ च गुरवे प्रभुः॥

बलराम और श्रीकृष्णने अपने गुरुको सब प्रकारके ऐश्वर्य, गाय, घोड़े और प्रचुर धन सब कुछ दिये। तत्पश्चात् गुरुपुत्रको लेकर भगवान्ने गुरुजीको सौंप दिया॥

तं दृष्ट्वा पुत्रमायान्तं सान्दीपनिपुरे जनाः।
अशक्यमेतत् सर्वेषामचिन्त्यमिति मेनिरे॥
कश्च नारायणादन्यश्चिन्तयेदिदमद्भुतम्।

उस पुत्रको आया देख सान्दीपनिके नगरके लोग यह मान

गये कि श्रीकृष्णके द्वारा यह ऐसा कार्य सम्पन्न हुआ है, जो अन्य सब लोगोंके लिये असम्भव और अचिन्त्य है। भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो इस अद्भुत कार्यको सोच भी सके (करना तो दूरकी बात है)॥

गदापरिघयुद्धेषु सर्वास्त्रेषु च केशवः॥
परमां मुख्यतां प्राप्तः सर्वलोकेषु विश्रुतः।

भगवान् श्रीकृष्णने गदा और परिघके युद्धमें तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। वे समस्त लोकोंमें विख्यात हो गये॥

भोजराजतनूजोऽपि कंसस्तात युधिष्ठिर॥
अस्त्रज्ञाने बले वीर्ये कार्तवीर्यसमोऽभवत्।

तात युधिष्ठिर! भोजराजकुमार कंस भी अस्त्रज्ञान, बल और पराक्रममें कार्तवीर्य अर्जुनकी समानता करता था॥

तस्य भोजपतेः पुत्राद् भोजराज्यविवर्धनात्॥
उद्विजन्ते स्म राजानः सुपर्णादिव पन्नगाः।

भोजवंशके राज्यकी वृद्धि करनेवाले भोजराजकुमार कंससे भूमण्डलके सब राजा उसी प्रकार उद्विग्न रहते थे, जैसे गरुड़से सर्प॥

चित्रकार्मुकनिस्त्रिंशविमलप्रासयोधिनः॥
शतं शतसहस्राणि पादातास्तस्य भारत।

भरतनन्दन! उसके यहाँ धनुष, खड्ग और चमचमाते हुए भाले लेकर विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले एक करोड़ पैदल सैनिक थे॥

अष्टौ शतसहस्राणि शूराणामनिवर्तिनाम्॥
अभवन् भोजराजस्य जाम्बूनदमयध्वजाः।

भोजराजके रथी सैनिक, जिनके रथोंपर सुवर्णमय ध्वज फहराते रहते थे तथा जो शूरवीर होनेके साथ ही युद्धमें कभी पीठ दिखलानेवाले नहीं थे, आठ लाखकी संख्यामें थे॥

स्फुरत्काञ्चनकक्ष्यास्तु गजास्तस्य युधिष्ठिर॥
तावन्त्येव सहस्राणि गजानामनिवर्तिनाम्।

युधिष्ठिर! कंसके यहाँ युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले हाथी-सवार भी आठ ही लाख थे। उनके हाथियोंकी पीठपर सुवर्णके चमकीले हौदे कसे होते थे॥

ते च पर्वतसङ्काशाश्चित्रध्वजपताकिनः॥
बभूवुर्भोजराजस्य नित्यं प्रमुदिता गजाः।

भोजराजके वे पर्वताकार गजराज विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होते थे और सदा संतुष्ट रहते थे॥

स्वलङ्कृतानां शीघ्राणां करेणूनां युधिष्ठिर।
अभवद् भोजराजस्य द्विस्तावद्धि महद् बलम्॥

युधिष्ठिर! भोजराज कंसके यहाँ आभूषणोंसे सजी हुई शीघ्रगामिनी हथिनियोंकी विशाल सेना गजराजोंकी अपेक्षा दूनी थी॥

षोडशाश्वसहस्राणि किंशुकाभानि तस्य वै।
अपरस्तु महाव्यूहः किशोराणां युधिष्ठिर॥
आरोहवरसम्पन्नो दुर्धर्षः केनचिद् बलात्।
स च षोडशसाहस्रः कंसभ्रातृपुरस्सरः॥

उसके यहाँ सोलह हजार घोड़े ऐसे थे, जिनका रङ्ग पलासके फूलकी भाँति लाल था। राजन्! किशोर-अवस्थाके घोड़ोंका एक दूसरा दल भी मौजूद था, जिसकी संख्या सोलह हजार थी। इन अश्वोंके सवार भी बहुत अच्छे थे। इस अश्वसेनाको कोई भी बलपूर्वक दबा नहीं सकता था। कंसका भाई सुनामा इन सबका सरदार था॥

सुनामा सद्दशस्तेन स कंसं पर्यपालयत्।

वह भी कंसके ही समान बलवान् था एवं सदा कंसकी रक्षाके लिये तत्पर रहता था॥

य आसन् सर्ववर्णास्तु हयास्तस्य युधिष्ठिर॥
स गणो मिश्रको नाम षष्टिसाहस्र उच्यते।

युधिष्ठिर! कंसके यहाँ घोड़ोंका एक और भी बहुत बड़ा दल था, जिसमें सभी रङ्गके घोड़े थे। उस दलका नाम था मिश्रक। मिश्रकोंकी संख्या साठ हजार बतलायी जाती है॥

कंसरोषमहावेगां ध्वजानूपमहाद्रुमाम्॥
मत्तद्विपमहाग्राहां वैवस्वतवशानुगाम्।

(कंसके साथ होनेवाला महान् समर एक भयंकर नदीके समान था।) कंसका रोष ही उस नदीका महान् वेग था। ऊँचे-ऊँचे ध्वज तटवर्ती वृक्षोंके समान जान पड़ते थे। मतवाले हाथी बड़े-बड़े ग्राहोंके समान थे। वह नदी यमराजकी आज्ञाके अधीन होकर चलती थी॥

शस्त्रजालमहाफेनां सादिवेगमहाजलाम्॥
गदापरिघपाठीनां नानाकवचशैवलाम्।

अस्त्र-शस्त्रोंके समूह उसमें फेनका भ्रम उत्पन्न करते थे। सवारोंका वेग उसमें महान् जलप्रवाह-सा प्रतीत होता था। गदा और परिघ पाठीन नामक मछलियोंके सदृश जान पड़ते थे। नाना प्रकारके कवच सेवारके समान थे॥

रथनागमहावर्तां नानारुधिरकर्दमाम्॥
चित्रकार्मुककल्लोलां रथाश्वकलिलह्रदाम्।

रथ और हाथी उसमें बड़ी-बड़ी भँवरोंका दृश्य उपस्थित करते थे। नाना प्रकारका रक्त ही कीचड़का काम करता था। विचित्र धनुष उठती हुई लहरोंके समान जान पड़ते थे। रथ और अश्वोंका समूह ह्रदके समान था॥

महामृधनदीं घोरां योधावर्तननिःस्वनाम् ॥
को वा नारायणादन्यः कंसहन्ता युधिष्ठिर ।

योद्धाओंके इधर-उधर दौड़ने या बोलनेसे जो शब्द होता था, वही उस भयानक समर-सरिताका कलकल नाद था। युधिष्ठिर ! भगवान् नारायणके सिवा ऐसे कंसको कौन मार सकता था ? ॥

एष शक्ररथे तिष्ठंस्तान्यनीकानि भारत ॥
व्यधमद् भोजपुत्रस्य महाभ्राणीव मारुतः ।

भारत ! जैसे हवा बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रके रथमें बैठकर कंसकी उपर्युक्त सारी सेनाओंका संहार कर डाला ॥

तं सभास्थं सहामात्यं हत्वा कंसं सहान्वयम् ॥
मानयामास मानार्हां देवकीं ससुहृद्गणाम् ।

सभामें विराजमान कंसको मन्त्रियों और परिवारके साथ



मारकर श्रीकृष्णने सुहृदोंसहित सम्माननीय माता देवकीका समादर किया ॥

यशोदां रोहिणीं चैव अभिवाद्य पुनः पुनः ॥
उग्रसेनं च राजानमभिषिच्य जनार्दनः ।
अर्चितो यदुमुख्यैश्च भगवान् वासवानुजः ॥

जनार्दनने यशोदा और रोहिणीको भी बारंबार प्रणाम करके उग्रसेनको राजाके पदपर अभिषिक्त किया । उस समय यदुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषोंने इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीहरिका पूजन किया ॥

ततः पार्थिवमायान्तं सहितं सर्वराजभिः ।
सरस्वत्यां जरासंधमजयत् पुरुषोत्तमः ॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने समस्त राजाओंके सहित आक्रमण करनेवाले राजा जरासंधको सरोवरों या ह्रदोंसे सुशोभित यमुनाके तटपर परास्त किया ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[नरकासुरका सैनिकोंसहित वध, देवता आदिकी सोलह हजार कन्याओंको पत्नीरूपमें स्वीकार करके श्रीकृष्णका उन्हें द्वारका भेजना तथा इन्द्रलोकमें जाकर अदितिको कुण्डल अर्पण-कर द्वारकापुरीमें वापस आना]

भीष्म उवाच

शूरसेनपुरं त्यक्त्वा सर्वयादवनन्दनः ।
द्वारकां भगवान् कृष्णः प्रत्यपद्यत केशवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर समस्त यदुवंशियोंको आनन्दित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण शूरसेन-पुरी मथुराको छोड़कर द्वारकामें चले गये ॥

प्रत्यपद्यत यानानि रत्नानि च बहूनि च ।
यथार्हं पुण्डरीकाक्षो नैर्ऋतान् प्रतिपालयन् ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने असुरोंको पराजित करके जो बहुत-से रत्न और वाहन प्राप्त किये थे, उनका वे द्वारकामें यथोचितरूपसे संरक्षण करते थे ॥

तत्र विघ्नं चरन्ति स्म दैतेयाः सह दानवैः ।
ताञ्जघान महाबाहुः वरमत्तान् महासुरान् ॥

उनके इस कार्यमें दैत्य और दानव विघ्न डालने लगे । तब महाबाहु श्रीकृष्णने वरदानसे उन्मत्त हुए उन बड़े-बड़े असुरोंको मार डाला ॥

स विघ्नमकरोत् तत्र नरको नाम नैर्ऋतः ।
त्रासनः सुरसंघानां विदितो वः प्रभावतः ॥

तत्पश्चात् नरक नामक राक्षसने भगवान्‌के कार्यमें विघ्न डालना आरम्भ किया । वह समस्त देवताओंको भयभीत करनेवाला था । राजन् ! तुम्हें तो उसका प्रभाव विदित ही है ॥

स भूम्यां मूर्तिलिङ्गस्थः सर्वदेवासुरान्तकः ।
मानुषाणामृषीणां च प्रतीपमकरोत् तदा ॥

समस्त देवताओंके लिये अन्तकरूप नरकासुर इस धरतीके भीतर मूर्तिलिङ्गमें[१] स्थित हो मनुष्यों और ऋषियोंके प्रतिकूल आचरण किया करता था ॥

त्वष्टुर्दुहितरं भौमः कशेरुमगमत् तदा ।
गजरूपेण जग्राह रुचिराङ्गीं चतुर्दशीम् ॥

---

१. मूर्ति या शिवलिङ्गके आकारका कोई दुर्भेद्य गृह, जो पृथ्वीके भीतर गुफामें बनाया गया हो । शत्रुओंसे आत्मरक्षाकी दृष्टिसे नरकासुरने ऐसे निवासस्थानका निर्माण करा रक्खा था ।

भूमिका पुत्र होनेसे नरकको भौमासुर भी कहते हैं। उसने हाथीका रूप धारण करके प्रजापति त्वष्टाकी पुत्री कशेरुके पास जाकर उसे पकड़ लिया। कशेरु बड़ी सुन्दरी और चौदह वर्षकी अवस्थावाली थी ॥

प्रमथ्य च जहारैतां हृत्वा च नरकोऽब्रवीत्।
नष्टशोकभयाबाधः प्राग्ज्योतिषपतिस्तदा ॥

नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुरका राजा था। उसके शोक, भय और बाधाएँ दूर हो गयी थीं। उसने कशेरुको मूर्च्छित करके हर लिया और अपने घर लाकर उससे इस प्रकार कहा ॥

नरक उवाच

यानि देवमनुष्येषु रत्नानि विविधानि च।
बिभर्ति च मही कृत्स्ना सागरेषु च यद् वसु ॥
अद्यप्रभृति तद् देवि सहिताः सर्वनैर्ऋताः।
तवैवोपहरिष्यन्ति दैत्याश्च सह दानवैः ॥

नरकासुर बोला—देवि! देवताओं और मनुष्योंके पास जो नाना प्रकारके रत्न हैं, सारी पृथ्वी जिन रत्नोंको धारण करती है तथा समुद्रोंमें जो रत्न संचित हैं, उन सबको आजसे सभी राक्षस ला-लाकर तुम्हें ही अर्पित किया करेंगे। दैत्य और दानव भी तुम्हें उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट देंगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुत्तमरत्नानि बहूनि विविधानि च।
स जहार तदा भौमः स्त्रीरत्नानि च भारत ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार भौमासुरने नाना प्रकारके बहुत-से उत्तम रत्नों तथा स्त्री-रत्नोंका भी अपहरण किया ॥

गन्धर्वाणां च याः कन्या जहार नरको बलात्।
याश्च देवमनुष्याणां सप्त चाप्सरसां गणाः ॥

गन्धर्वोंकी जो कन्याएँ थीं, उन्हें भी नरकासुर बलपूर्वक हर लाया। देवताओं और मनुष्योंकी कन्याओं तथा अप्सराओंके सात समुदायोंका भी उसने अपहरण कर लिया ॥

चतुर्दशसहस्राणां चैकविंशच्छतानि च।
एकवेणीधराः सर्वाः सतां मार्गमनुव्रताः ॥

इस प्रकार सोलह हजार एक सौ सुन्दरी कुमारियाँ उसके घरमें एकत्र हो गयीं। वे सब-की-सब सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करके व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो एक वेणी धारण करती थीं ॥

तासामन्तःपुरं भौमोऽकारयन्मणिपर्वते।
औदकायामदीनात्मा मुरस्य विषयं प्रति ॥

उत्साहयुक्त मनवाले भौमासुरने उनके रहनेके लिये मणिपर्वतपर अन्तःपुरका निर्माण कराया। उस स्थानका नाम था औदका (जलकी सुविधासे सम्पन्न भूमि)। वह अन्तःपुर मुर नामक दैत्यके अधिकृत प्रदेशमें बना था ॥

ताश्च प्राग्ज्योतिषो राजा मुरस्य दश चात्मजाः।
नैर्ऋताश्च यथा मुख्याः पालयन्त उपासते ॥

प्राग्ज्योतिषपुरका राजा भौमासुर, मुरके दस पुत्र तथा प्रधान-प्रधान राक्षस उस अन्तःपुरकी रक्षा करते हुए सदा उसके समीप ही रहते थे ॥

स एव तपसां पारे वरदत्तो महीसुतः।
अदितिं धर्षयामास कुण्डलार्थे युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर! पृथ्वीपुत्र भौमासुर तपस्याके अन्तमें वरदान पाकर इतना गर्वोन्मत्त हो गया था कि इसने कुण्डलके लिये देवमाता अदितितकका तिरस्कार कर दिया ॥

न चासुरगणैः सर्वैः सहितैः कर्म तत् पुरा।
कृतपूर्वं महाघोरं यदकार्षीन्महासुरः ॥

पूर्वकालमें समस्त महादैत्योंने एक साथ मिलकर भी वैसा अत्यन्त घोर पाप नहीं किया था, जैसा अकेले इस महान् असुरने कर डाला था ॥

यं मही सुषुवे देवी यस्य प्राग्ज्योतिषं पुरम्।
विषयान्तपालाश्चत्वारो यस्यासन् युद्धदुर्मदाः ॥

पृथ्वीदेवीने उसे उत्पन्न किया था, प्राग्ज्योतिषपुर उसकी राजधानी थी तथा चार युद्धोन्मत्त दैत्य उसके राज्यकी सीमाकी रक्षा करनेवाले थे ॥

आदेवयानमावृत्य पन्थानं पर्यवस्थिताः।
त्रासनाः सुरसङ्घानां विरूपै राक्षसैः सह ॥

वे पृथ्वीसे लेकर देवयानतकके मार्गको रोककर खड़े रहते थे। भयानक रूपवाले राक्षसोंके साथ रहकर वे देव-समुदायको भयभीत किया करते थे ॥

हयग्रीवो निशुम्भश्च घोरः पञ्चजनस्तथा।
मुरः पुत्रसहस्रैश्च वरदत्तो महासुरः ॥

उन चारों दैत्योंके नाम इस प्रकार हैं—हयग्रीव, निशुम्भ, भयंकर पञ्चजन तथा सहस्र पुत्रोंसहित महान् असुर मुर, जो वरदान प्राप्त कर चुका था ॥

तद्वधार्थं महाबाहुरेष चक्रगदासिधृक्।
जातो वृष्णिषु देवक्यां वासुदेवो जनार्दनः ॥

उसीके वधके लिये चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले ये महाबाहु श्रीकृष्ण वृष्णिकुलमें देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। वसुदेवजीके पुत्र होनेसे ये जनार्दन 'वासुदेव' कहलाते हैं ॥

तस्यास्य पुरुषेन्द्रस्य लोकप्रथिततेजसः।
निवासो द्वारका तात विदितो वः प्रधानतः ॥

तात युधिष्ठिर! इनका तेज सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात है। इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका निवासस्थान प्रधानतः द्वारका ही है, यह तुम सब लोग जानते हो ॥

अतीव हि पुरी रम्या द्वारका वासवक्षयात्।
अति वै राजते पृथ्व्यां प्रत्यक्षं ते युधिष्ठिर॥

द्वारकापुरी इन्द्रके निवासस्थान अमरावती पुरीसे भी अत्यन्त रमणीय है। युधिष्ठिर! भूमण्डलमें द्वारकाकी शोभा सबसे अधिक है। यह तो तुम प्रत्यक्ष ही देख चुके हो॥

तस्मिन् देवपुरप्रख्ये सा सभा वृष्ण्युपाश्रया।
या दाशार्हीति विख्याता योजनायतविस्तृता॥

देवपुरीके समान सुशोभित द्वारका नगरीमें वृष्णिवंशियोंके बैठनेके लिये एक सुन्दर सभा है, जो दाशार्हीके नामसे विख्यात है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक योजनकी है॥

तत्र वृष्ण्यन्धकाः सर्वे रामकृष्णपुरोगमाः।
लोकयात्रामिमां कृत्स्नां परिरक्षन्त आसते॥

उसमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक-वंशके सभी लोग बैठते हैं और सम्पूर्ण लोक-जीवनकी रक्षामें दत्तचित्त रहते हैं॥

तत्रासीनेषु सर्वेषु कदाचिद् भरतर्षभ।
दिव्यगन्धा ववुर्वाताः कुसुमानां च वृष्टयः॥

भरतश्रेष्ठ! एक दिनकी बात है; सभी यदुवंशी उस सभामें विराजमान थे। इतनेमें ही दिव्य सुगन्धसे भरी हुई वायु चलने लगी और दिव्य कुसुमोंकी वर्षा होने लगी॥

ततः सूर्यसहस्राभस्तेजोराशिर्महाद्भुतः।
मुहूर्तमन्तरिक्षेऽभूत् ततो भूमौ प्रतिष्ठितः॥

तदनन्तर दो ही घड़ीके अंदर आकाशमें सहस्रों सूर्योंके समान महान् एवं अद्भुत तेजोराशि प्रकट हुई। वह धीरे-धीरे पृथ्वीपर आकर खड़ी हो गयी॥

मध्ये तु तेजसस्तस्य पाण्डरं गजमास्थितः।
वृतो देवगणैः सर्वैर्वासवः प्रत्यदृश्यत॥

उस तेजोमण्डलके भीतर श्वेत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंसहित दिखायी दिये॥

रामकृष्णौ च राजा च वृष्ण्यन्धकगणैः सह।
उत्पत्य सहसा तस्मै नमस्कारमकुर्वत॥

बलराम, श्रीकृष्ण तथा राजा उग्रसेन वृष्णि और अन्धकवंशके अन्य लोगोंके साथ सहसा उठकर बाहर आये और सबने देवराज इन्द्रको नमस्कार किया॥

सोऽवतीर्य गजात् तूर्णं परिष्वज्य जनार्दनम्।
सस्वजे बलदेवं च राजानं च तमाहुकम्॥

इन्द्रने हाथीसे उतरकर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया। फिर बलराम तथा राजा उग्रसेनसे भी उसी प्रकार मिले॥

उद्धवं वसुदेवं च विकद्रुं च महामतिम्।
प्रद्युम्नसाम्बनिशठानिरुद्धं ससात्यकिम्॥
गदं सारणमक्रूरं कृतवर्माणमेव च।
चारुदेष्णं सुदेष्णं च अन्यानपि यथोचितम्॥
परिष्वज्य च दृष्ट्वा च भगवान् भूतभावनः।

भूतभावन ऐश्वर्यशाली इन्द्रने वसुदेव, उद्धव, महामति विकद्रु, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सात्यकि, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, चारुदेष्ण तथा सुदेष्ण आदि अन्य यादवोंका भी यथोचित रीतिसे आलिङ्गन करके उन सबकी ओर दृष्टिपात किया॥

वृष्ण्यन्धकमहामात्रान् परिष्वज्याथ वासवः॥
प्रगृह्य पूजां तैर्दत्तामुवाचावनताननः।

इस प्रकार उन्होंने वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान व्यक्तियोंको हृदयसे लगाकर उनकी दी हुई पूजा ग्रहण की तथा मुखको नीचेकी ओर झुकाकर वे इस प्रकार बोले॥

इन्द्र उवाच

अदित्या चोदितः कृष्ण तव मात्राहमागतः॥
कुण्डलेऽपहृते तात भौमेन नरकेण च।

इन्द्रने कहा—भैया कृष्ण! तुम्हारी माता अदितिकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ। तात! भूमिपुत्र नरकासुरने उनके कुण्डल छीन लिये हैं॥

निदेशशब्दवाच्यस्त्वं लोकेऽस्मिन् मधुसूदन॥
तस्माज्जहि महाभाग भूमिपुत्रं नरेश्वर।

मधुसूदन! इस लोकमें माताका आदेश सुननेके पात्र केवल तुम्हीं हो। अतः महाभाग नरेश्वर! तुम भौमासुरको मार डालो॥

भीष्म उवाच

तमुवाच महाबाहुः प्रीयमाणो जनार्दनः।
निर्जित्य नरकं भौममाहरिष्यामि कुण्डले॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब महाबाहु जनार्दन अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—'देवराज! मैं भूमिपुत्र नरकासुरको पराजित करके माताजीके कुण्डल अवश्य ला दूँगा'॥

एवमुक्त्वा तु गोविन्दो राममेवाभ्यभाषत।
प्रद्युम्नमनिरुद्धं च साम्बं चाप्रतिमं बले॥
एतांश्चोक्त्वा तदा तत्र वासुदेवो महायशाः।
अथारुह्य सुपर्णं वै शङ्खचक्रगदासिधृक्॥
ययौ तदा हृषीकेशो देवानां हितकाम्यया।

ऐसा कहकर भगवान् गोविन्दने बलरामजीसे बातचीत की। तत्पश्चात् प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और अनुपम बलवान् साम्बसे भी इसके विषयमें वार्तालाप करके महायशस्वी इन्द्रियाधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग



धारणकर गरुड़पर आरूढ़ हो देवताओंका हित करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ॥

तं प्रयान्तममित्रघ्नं देवाः सहपुरन्दराः ॥
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः स्तुवन्तो विष्णुमच्युतम् ।

शत्रुनाशन भगवान् श्रीकृष्णको प्रस्थान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े प्रसन्न हुए और अच्युत भगवान् कृष्णकी स्तुति करते हुए उन्हींके पीछे-पीछे चले ॥

सोऽग्र्यान् रक्षोगणान् हत्वा नरकस्य महासुरान्॥
क्षुरान्तान् मौरवान् पाशान् षट्सहस्रं ददर्श सः ।

भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके उन मुख्य-मुख्य राक्षसोंको मारकर मुर दैत्यके बनाये हुए छः हजार पाशोंको देखा, जिनके किनारोंके भागोंमें छुरे लगे हुए थे ॥

संच्छिद्य पाशांस्त्वस्त्रेण मुरं हत्वा सहान्वयम् ॥
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भमवपोथयत् ।

भगवान्‌ने अपने अस्त्र (चक्र) से मुर दैत्यके पाशोंको काटकर मुर नामक असुरको उसके वंशजोंसहित मार डाला और शिलाओंके समूहोंको लाँघकर निशुम्भको भी मार गिराया ॥

यः सहस्रसमस्त्वेकः सर्वान् देवानयोधयत् ॥
तं जघान महावीर्यं हयग्रीवं महाबलम् ।

तत्पश्चात् जो अकेला ही सहस्रों योद्धाओंके समान था और सम्पूर्ण देवताओंके साथ अकेला ही युद्ध कर सकता था, उस महाबली एवं महापराक्रमी हयग्रीवको भी मार दिया ॥

अपारतेजा दुर्धर्षः सर्वयादवनन्दनः ॥
मध्ये लोहितगङ्गायां भगवान् देवकीसुतः ।
औदकायां विरूपाक्षं जघान भरतर्षभ ॥
पञ्च पञ्चजनान् घोरान् नरकस्य महासुरान् ।

भरतश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण यादवोंको आनन्दित करनेवाले अमित तेजस्वी दुर्धर्ष वीर भगवान् देवकीनन्दनने औदकाके अन्तर्गत लोहितगङ्गाके बीच विरूपाक्षको तथा 'पञ्चजन' नामसे प्रसिद्ध नरकासुरके पाँच भयंकर राक्षसोंको भी मार गिराया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषं नाम दीप्यमानमिव श्रिया ॥
पुरमासादयामास तत्र युद्धमवर्तत ।

फिर भगवान् अपनी शोभासे उद्दीप्त-से दिखायी देनेवाले प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचे । वहाँ उनका दानवोंसे फिर युद्ध छिड़ गया ॥

महद् दैवासुरं युद्धं यद् वृत्तं भरतर्षभ ॥
युद्धं न स्यात् समं तेन लोकविस्मयकारकम् ।

भरतकुलभूषण ! वह युद्ध महान् देवासुर-संग्रामके रूपमें परिणत हो गया । उसके समान लोकविस्मयकारी युद्ध दूसरा कोई नहीं हो सकता ॥

चक्रलाञ्छनसंछिन्नाः शक्तिखड्गहतास्तदा ॥
निपेतुर्दानवास्तत्र समासाद्य जनार्दनम् ।

चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णसे भिड़कर सभी दानव वहाँ चक्रसे छिन्न-भिन्न एवं शक्ति तथा खड्गसे आहत होकर धराशायी हो गये ॥

अष्टौ शतसहस्राणि दानवानां परंतप ।
निहत्य पुरुषव्याघ्रः पातालविवरं ययौ ॥
त्रासनं सुरसङ्घानां नरकं पुरुषोत्तमः ।
योधयत्यतितेजस्वी मधुवन्मधुसूदनः ॥

परंतप युधिष्ठिर ! इस प्रकार आठ लाख दानवोंका संहार करके पुरुषसिंह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पातालगुफामें गये, जहाँ देवसमुदायको आतंकित करनेवाला नरकासुर रहता था । अत्यन्त तेजस्वी भगवान् मधुसूदनने मधुकी भाँति पराक्रमी नरकासुरसे युद्ध प्रारम्भ किया ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं तेन भौमेन भारत ।
कुण्डलार्थे सुरेशस्य नरकेण महात्मना ॥

भारत ! देवमाता अदितिके कुण्डलोंके लिये भूमिपुत्र महाकाय नरकासुरके साथ छिड़ा हुआ वह युद्ध बड़ा भयंकर था ॥

मुहूर्तं लालयित्वाथ नरकं मधुसूदनः ।
प्रवृत्तचक्रं चक्रेण प्रममाथ बलाद् बली ॥

बलवान् मधुसूदनने चक्र हाथमें लिये हुए नरकासुरके साथ दो घड़ीतक खिलवाड़ करके बलपूर्वक चक्रसे उसके मस्तकको काट डाला ॥

चक्रप्रमथितं तस्य पपात सहसा भुवि ।
उत्तमाङ्गं हताङ्गस्य वृत्रे वज्रहते यथा ॥

चक्रसे छिन्न-भिन्न होकर घायल हुए शरीरवाले नरका-

सुरका मस्तक वज्रके मारे हुए वृत्रासुरके सिरकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

भूमिस्तु पतितं दृष्ट्वा ते वै प्रादाच्च कुण्डले ।
प्रदाय च महाबाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥

भूमिने अपने पुत्रको रणभूमिमें गिरा देख अदितिके दोनों कुण्डल लौटा दिये और महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥



भूमिरुवाच

सृष्टस्त्वयैव मधुहंस्त्वयैव निहतः प्रभो ।
यथेच्छसि तथा क्रीडन् प्रजास्तस्यानुपालय ॥

भूमि बोली—प्रभो मधुसूदन ! आपने ही इसे जन्म दिया था और आपने ही इसे मारा है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसी ही लीला करते हुए नरकासुरकी संतानका पालन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

देवानां च मुनीनां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
उद्वेजनीयो भूतानां ब्रह्मद्विट् पुरुषाधमः ॥
लोकद्विष्टः सुतस्ते तु देवारिर्लोककण्टकः ।

श्रीभगवान्ने कहा—भामिनि ! तुम्हारा यह पुत्र देवताओं, मुनियों, पितरों, महात्माओं तथा सम्पूर्ण भूतोंके उद्वेगका पात्र हो रहा था। यह पुरुषाधम ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला, देवताओंका शत्रु तथा सम्पूर्ण विश्वका कण्टक था, इसलिये सब लोग इससे द्वेष रखते थे ॥

सर्वलोकनमस्कार्यामदितिं बाधते बली ॥
कुण्डले दर्पसम्पूर्णस्ततोऽसौ निहतोऽसुरः ।

इस बलवान् असुरने बलके घमंडमें आकर सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय देवमाता अदितिको भी कष्ट पहुँचाया और उनके कुण्डल ले लिये। इन्हीं सब कारणोंसे यह मारा गया है ॥

नैव मन्युस्त्वया कार्यो यत् कृतं मयि भामिनि ॥
मत्प्रभावाच्च ते पुत्रो लब्धवान् गतिमुत्तमाम् ।
तस्माद् गच्छ महाभागे भारावतरणं कृतम् ॥

भामिनि ! मैंने इस समय जो कुछ किया है, उसके लिये तुम्हें मुझपर क्षोभ नहीं करना चाहिये। महाभागे ! तुम्हारे पुत्रने मेरे प्रभावसे अत्यन्त उत्तम गति प्राप्त की है; इसलिये जाओ, मैंने तुम्हारा भार उतार दिया है ॥

भीष्म उवाच

निहत्य नरकं भौम सत्यभामासहायवान् ।
सहितो लोकपालैश्च ददर्श नरकालयम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर सत्यभामासहित भगवान् श्रीकृष्णने लोकपालोंके साथ जाकर नरकासुरके घरको देखा ॥

अथास्य गृहमासाद्य नरकस्य यशस्विनः ।
ददर्श धनमक्षय्यं रत्नानि विविधानि च ॥

यशस्वी नरकके घरमें जाकर उन्होंने नाना प्रकारके रत्न और अक्षय धन देखा ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि वैडूर्यविकृतानि च ।
अश्मसारानर्कमणीन् विमलान् स्फाटिकानपि ॥

मणि, मोती, मूँगे, वैदूर्यमणिकी बनी हुई वस्तुएँ, पुखराज, सूर्यकान्त मणि और निर्मल स्फटिक मणिकी वस्तुएँ भी वहाँ देखनेमें आयीं ॥

जाम्बूनदमयान्येव शातकुम्भमयानि च ।
प्रदीप्तज्वलनाभानि शीतरश्मिप्रभाणि च ॥

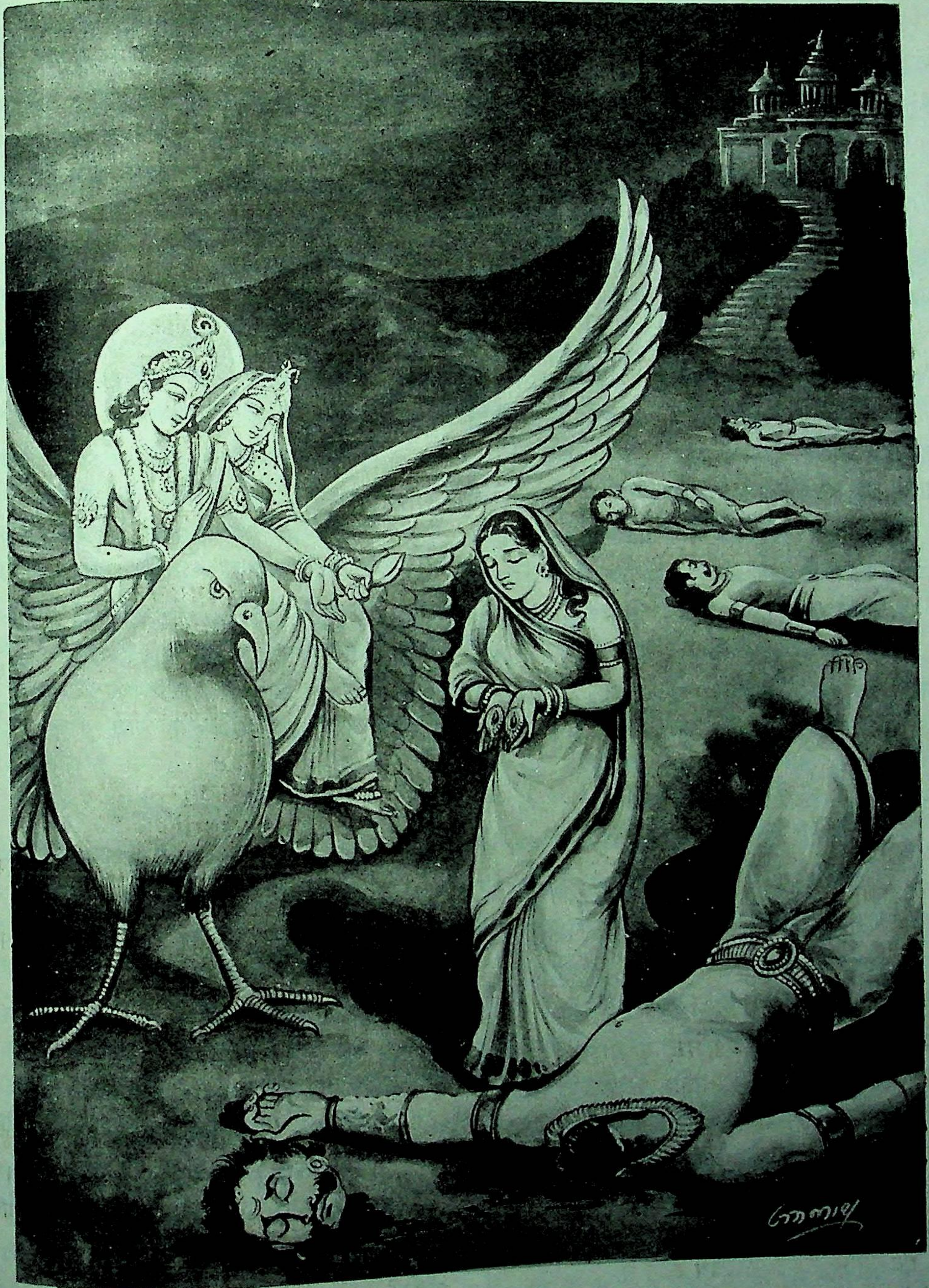
जाम्बूनद तथा शातकुम्भसंज्ञक सुवर्णकी बनी हुई बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ वहाँ दृष्टिगोचर हुईं, जो प्रज्वलित अग्नि और शीतरश्मि चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥

हिरण्यवर्णं रुचिरं श्वेतमभ्यन्तरं गृहम् ।
यदक्षयं गृहे दृष्टं नरकस्य धनं बहु ॥
न हि राज्ञः कुबेरस्य तावद् धनसमुच्छ्रयः ।
दृष्टपूर्वः पुरा साक्षान्महेन्द्रसदनेष्वपि ॥

नरकासुरका भीतरी भवन सुवर्णके समान सुन्दर, कान्तिमान् एवं उज्ज्वल था। उसके घरमें जो असंख्य एवं अक्षय धन दिखायी दिया, उतनी धनराशि राजा कुबेरके घरमें भी नहीं है। देवराज इन्द्रके भवनमें भी पहले कभी उतना वैभव नहीं देखा गया था ॥

इन्द्र उवाच

इमानि मणिरत्नानि विविधानि वसूनि च ॥
हेमसूत्रा महाकक्ष्यास्तोमरैर्वीर्यशालिनः ।



भूमिका भगवान्‌को अदितिके कुण्डल देना

कुण्डल दर्पस

इस वल

भीमरूपाश्च मातङ्गाः प्रवालविकृताः कुथाः ॥
विमलाभिः पताकाभिर्वासांसि विविधानि च ।
ते च विंशतिसाहस्रा द्विस्तावत्यः करेणवः ॥

इन्द्र बोले—जनार्दन ! ये जो नाना प्रकारके माणिक्य, रत्न, धन तथा सोनेकी जालियोंसे सुशोभित बड़े-बड़े हौदोंवाले, तोमरसहित पराक्रमशाली बड़े भारी गजराज एवं उनपर बिछानेके लिये मूँगेसे विभूषित कम्बल, निर्मल पताकाओंसे युक्त नाना प्रकारके वस्त्र आदि हैं, इन सबपर आपका अधिकार है। इन गजराजोंकी संख्या बीस हजार है तथा इससे दूनी हथिनियाँ हैं ॥

अष्टौ शतसहस्राणि देशजाश्चोत्तमा हयाः ।
गोभिश्चाविकृतैर्यानैः कामं तव जनार्दन ॥

जनार्दन ! यहाँ आठ लाख उत्तम देशी घोड़े हैं और बैल जुते हुए नये-नये वाहन हैं। इनमेंसे जिनकी आपको आवश्यकता हो, वे सब आपके यहाँ जा सकते हैं ॥

आविकानि च सूक्ष्माणि शयनान्यासनानि च ।
कामव्याहारिणश्चैव पक्षिणः प्रियदर्शनाः ॥
चन्दनागुरुमिश्राणि यानानि विविधानि च ।
एतत् ते प्रापयिष्यामि वृष्ण्यावासमरिंदम ॥

शत्रुदमन ! ये महीन ऊनी वस्त्र, अनेक प्रकारकी शय्याएँ, बहुत-से आसन, इच्छानुसार बोली बोलनेवाले देखनेमें सुन्दर पक्षी, चन्दन और अगुरुमिश्रित नाना प्रकारके रथ—ये सब वस्तुएँ मैं आपके लिये वृष्णियोंके निवासस्थान द्वारकामें पहुँचा दूँगा ॥

भीष्म उवाच

देवगन्धर्वरत्नानि दैतेयासुरजानि च ।
यानि सन्तीह रत्नानि नरकस्य निवेशने ॥
एतत् तु गरुडे सर्वं क्षिप्रमारोप्य वासवः ।
दाशार्हपतिना सार्धमुपायान्मणिपर्वतम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवता, गन्धर्व, दैत्य और असुरसम्बन्धी जितने भी रत्न नरकासुरके घरमें उपलब्ध हुए, उन्हें शीघ्र ही गरुड़पर रखकर देवराज इन्द्र दाशार्हवंशके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ मणिपर्वतपर गये ॥

तत्र पुण्या ववुर्वाताः प्रभाश्चित्राः समुज्ज्वलाः ।
प्रेक्षतां सुरसङ्घानां विस्मयः समपद्यत ॥

वहाँ बड़ी पवित्र हवा बह रही थी तथा विचित्र एवं उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली हुई थी। यह सब देखकर देवताओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

त्रिदशा ऋषयश्चैव चन्द्रादित्यौ यथा दिवि ।
प्रभया तस्य शैलस्य निर्विशेषमिवाभवन् ॥

आकाशमण्डलमें प्रकाशित होनेवाले देवता, ऋषि, चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वहाँ आये हुए देवगण उस पर्वतकी प्रभासे तिरस्कृत हो साधारण-से प्रतीत हो रहे थे ॥

अनुज्ञातस्तु रामेण वासवेन च केशवः ।
प्रीयमाणो महाबाहुर्विवेश मणिपर्वतम् ॥

तदनन्तर बलरामजी तथा देवराज इन्द्रकी आज्ञासे महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके मणिपर्वतपर बने हुए अन्तःपुरमें प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश किया ॥

तत्र वैडूर्यवर्णानि ददर्श मधुसूदनः ।
सतोरणपताकानि द्वाराणि शरणानि च ॥

मधुसूदनने देखा; उस अन्तःपुरके द्वार और गृह वैदूर्य-मणिके समान प्रकाशित हो रहे हैं। उनके फाटकोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं ॥

चित्रग्रथितमेघाभः प्रबभौ मणिपर्वतः ।
हेमचित्रपताकैश्च प्रासादैरुपशोभितः ॥

सुवर्णमय विचित्र पताकाओंवाले महलोंसे सुशोभित वह मणिपर्वत चित्रलिखित मेघोंके समान प्रतीत होता था ॥

हर्म्याणि च विशालानि मणिसोपानवन्ति च ।
तत्रस्था वरवर्णाभा ददृशुर्मधुसूदनम् ॥
गन्धर्वसुरमुख्यानां प्रिया दुहितरस्तदा ।
त्रिविष्टपसमे देशे तिष्ठन्तमपराजितम् ॥

उन महलोंमें विशाल अट्टालिकाएँ बनी थीं, जिनपर चढ़नेके लिये मणिनिर्मित सीढ़ियाँ सुशोभित हो रही थीं। वहाँ रहनेवाली प्रधान-प्रधान गन्धर्वों और असुरोंकी परम सुन्दरी प्यारी पुत्रियोंने उस स्वर्गके समान प्रदेशमें खड़े हुए अपराजित वीर भगवान् मधुसूदनको देखा ॥

परिवव्रुर्महाबाहुमेकवेणीधराः स्त्रियः ।
सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः ॥

देखते-देखते ही उन सबने महाबाहु श्रीकृष्णको घेर लिया। वे सभी स्त्रियाँ एक वेणी धारण किये गेरुए वस्त्र पहिने इन्द्रियसंयमपूर्वक वहाँ तपस्या करती थीं ॥

व्रतसंतापजः शोको नात्र काश्चिदपीडयत् ।
अरजांसि च वासांसि बिभ्रत्यः कौशिकान्यपि ॥
समेत्य यदुसिंहस्य चक्रुरस्याञ्जलिं स्त्रियः ।
ऊचुश्चैनं हृषीकेशं सर्वास्ताः कमलेक्षणाः ॥

उस समय व्रत और संतापजनित शोक उनमेंसे किसीको पीड़ा नहीं दे सका। वे निर्मल रेशमी वस्त्र पहने हुए यदुवीर श्रीकृष्णके पास जा उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं। उन कमलनयनी कामिनियोंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों-के स्वामी श्रीहरिसे इस प्रकार कहा ॥



कन्यका ऊचुः

नारदेन समाख्यातमस्माकं पुरुषोत्तम ।
आगमिष्यति गोविन्दः सुरकार्यार्थसिद्धये ॥

कन्याएँ बोलीं—पुरुषोत्तम ! देवर्षि नारदने हमसे कह रक्खा था कि 'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भगवान् गोविन्द यहाँ पधारेंगे ॥

सोऽसुरं नरकं हत्वा निशुम्भं मुरमेव च ।
भौमं च सपरीवारं हयग्रीवं च दानवम् ॥
तथा पञ्चजनं चैव प्राप्स्यते धनमक्षयम् ।

'एवं वे सपरिवार नरकासुर, निशुम्भ, मुर, दानव हयग्रीव तथा पञ्चजनको मारकर अक्षय धन प्राप्त करेंगे ॥

सोऽचिरेणैव कालेन युष्मन्मोक्ता भविष्यति ॥
एवमुक्त्वागमद् धीमान् देवर्षिर्नारदस्तथा ।

'थोड़े ही दिनोंमें भगवान् यहाँ पधारकर तुम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करेंगे ।' ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् देवर्षि नारद यहाँसे चले गये ॥

त्वां चिन्तयानाः सततं तपो घोरमुपास्महे ॥
कालेऽतीते महाबाहुं कदा द्रक्ष्याम माधवम् ।

हम सदा आपका ही चिन्तन करती हुई घोर तपस्यामें लग गयीं । हमारे मनमें यह संकल्प उठता रहता था कि कितना समय बीतनेपर हमें महाबाहु माधवका दर्शन प्राप्त होगा ॥

इत्येवं हृदि संकल्पं कृत्वा पुरुषसत्तम ॥
तपश्चराम सततं रक्ष्यमाणा हि दानवैः ।

पुरुषोत्तम ! यही संकल्प लेकर दानवोंद्वारा सुरक्षित हो हम सदा तपस्या करती आ रही हैं ॥

गान्धर्वेण विवाहेन विवाहं कुरु नः प्रियम् ॥
ततोऽस्मत्प्रियकामार्थं भगवान् मारुतोऽब्रवीत् ।
यथोक्तं नारदेनाद्य न चिरात् तद् भविष्यति ॥

भगवन् ! आप गान्धर्व विवाहकी रीतिसे हमारे साथ विवाह करके हमारा प्रिय करें । हमारे पूर्वोक्त मनोरथको जानकर भगवान् वायुदेवने भी हम सबके प्रिय मनोरथकी सिद्धिके लिये कहा था कि 'देवर्षि नारदजीने जो कहा है, वह शीघ्र ही पूर्ण होगा' ॥

भीष्म उवाच

तासां परमनारीणामृषभाक्षं पुरस्कृतम् ।
ददृशुर्देवगन्धर्वा गृष्टीनामिव गोपतिम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओं तथा गन्धर्वोंने देखा, वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण उन परम सुन्दरी नारियोंके समक्ष वैसे ही खड़े थे, जैसे नयी गायोंके आगे साँड़ हो ॥

तस्य चन्द्रोपमं वक्त्रमुदीक्ष्य मुदितेन्द्रियाः ।
सम्प्रहृष्टा महाबाहुमिदं वचनमब्रुवन् ॥

भगवान्‌के मुखचन्द्रको देखकर उन सबकी इन्द्रियाँ उल्लसित हो उठीं और वे हर्षमें भरकर महाबाहु श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार बोलीं ॥

कन्यका ऊचुः

सत्यं बत पुरा वायुरिदमस्मानिहाब्रवीत् ।
सर्वभूतकृतज्ञश्च महर्षिरपि नारदः ॥

कन्याओंने कहा—बड़े हर्षकी बात है कि पूर्वकालमें वायुदेवने तथा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति कृतज्ञता रखनेवाले महर्षि नारदजीने जो बात कही थी, वह सत्य हो गयी ।

विष्णुर्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदासिधृक् ।
स भौमं नरकं हत्वा भर्ता वो भविता ह्यतः ॥

उन्होंने कहा था कि 'शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले सर्वव्यापी नारायण भगवान् विष्णु भूमिपुत्र नरकको मारकर तुमलोगोंके पति होंगे' ॥

दिष्ट्या तस्यर्षिमुख्यस्य नारदस्य महात्मनः ।
वचनं दर्शनादेव सत्यं भवितुमर्हति ॥

ऋषियोंमें प्रधान महात्मा नारदका वह वचन आज आपके दर्शनमात्रसे सत्य होने जा रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥

यत् प्रियं बत पश्याम वक्त्रं चन्द्रोपमं तु ते ।
दर्शनेन कृतार्थाः स्मो वयमद्य महात्मनः ॥

तभी तो आज हम आपके परम प्रिय चन्द्रतुल्य मुखका दर्शन कर रही हैं । आप परमात्माके दर्शनमात्रसे ही हम कृतार्थ हो गयीं ॥

भीष्म उवाच

उवाच स यदुश्रेष्ठः सर्वास्ता जातमन्मथाः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भगवान्‌के प्रति

उन सबके हृदयमें कामभावका संचार हो गया था । उस समय यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूत विशालाक्ष्यस्तत् सर्वं वो भविष्यति ॥

श्रीभगवान् बोले—विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियो ! जैसा तुम कहती हो, उसके अनुसार तुम्हारी सारी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी ॥

भीष्म उवाच

तानि सर्वाणि रत्नानि गमयित्वाथ किङ्करैः ।
स्त्रियश्च गमयित्वाथ देवतानृपकन्यकाः ॥
वैनतेयभुजे कृष्णो मणिपर्वतमुत्तमम् ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे भगवान् देवकीसुतः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सेवकोंद्वारा उन सब रत्नोंको तथा देवताओं एवं राजाओं आदिकी कन्याओंको द्वारका भेजकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उस उत्तम मणिपर्वतको शीघ्र ही गरुड़की बाँह (पंख या पीठ) पर चढ़ा दिया ॥

सपक्षिगणमातङ्गं सव्यालमृगपन्नगम् ।
शाखामृगगणैर्जुष्टं सप्रस्तरशिलातलम् ॥
न्यङ्कुभिश्च वराहैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
सप्रपातमहासानुं विचित्रशिखिसंकुलम् ॥
तं महेन्द्रानुजः शौरिश्चकार गरुडोपरि ।
पश्यतां सर्वभूतानामुत्पाट्य मणिपर्वतम् ॥

केवल पर्वत ही नहीं, उसपर रहनेवाले जो पक्षियोंके समुदाय, हाथी, सर्प, मृग, नाग, बंदर, पत्थर, शिला, न्यङ्कु, वराह, रुरु मृग, झरने, बड़े-बड़े शिखर तथा विचित्र मोर आदि थे, उन सबके साथ मणिपर्वतको उखाड़कर इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने सब प्राणियोंके देखते-देखते गरुड़पर रख लिया ॥

उपेन्द्रं बलदेवं च वासवं च महाबलम् ।
तं च रत्नौघमतुलं पर्वतं च महाबलः ॥
वरुणस्यामृतं दिव्यं छत्रं चन्द्रोपमं शुभम् ।
स्वपक्षबलविक्षेपैर्महाद्रिशिखरोपमः ॥
दिक्षु सर्वासु संरावं स चक्रे गरुडो वहन् ।

महाबली गरुड़ श्रीकृष्ण, बलराम तथा महाबलवान् इन्द्रको, उस अनुपम रत्नराशि तथा पर्वतको, वरुणदेवताके दिव्य अमृत तथा चन्द्रतुल्य उज्ज्वल शुभकारक छत्रको वहन करते हुए चल दिये । उनका शरीर विशाल पर्वत-शिखरके समान था । वे अपनी पाँखोंको बलपूर्वक हिला-हिलाकर सब दिशाओंमें भारी शोर मचाते जा रहे थे ॥

आरुजन् पर्वताग्राणि पादपांश्च समुत्क्षिपन् ॥
संजहार महाभ्राणि वैश्वानरपथं गतः ।

उड़ते समय गरुड़ पर्वतोंके शिखर तोड़ डालते थे, पेड़ोंको उखाड़ फेंकते थे और ज्योतिष्पथ (आकाश) में चलते समय बड़े-बड़े बादलोंको अपने साथ उड़ा ले जाते थे ॥

ग्रहनक्षत्रताराणां सप्तर्षीणां स्वतेजसा ॥
प्रभाजालमतिक्रम्य चन्द्रसूर्यपथं ययौ ।

वे अपने तेजसे ग्रह, नक्षत्र, तारों और सप्तर्षियोंके प्रकाशपुञ्जको तिरस्कृत करते हुए चन्द्रमा और सूर्यके मार्गपर जा पहुँचे ॥

मेरोः शिखरमासाद्य मध्यमं मधुसूदनः ॥
देवस्थानानि सर्वाणि ददर्श भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मधुसूदनने मेरुपर्वतके मध्यम शिखरपर पहुँचकर समस्त देवताओंके निवासस्थानोंका दर्शन किया ॥

विश्वेषां मरुतां चैव साध्यानां च युधिष्ठिर ॥
भ्राजमानान्यतिक्रम्य अश्विनोश्च परंतप ।
प्राप्य पुण्यतमं स्थानं देवलोकमरिंदमः ॥

युधिष्ठिर ! उन्होंने विश्वेदेवों, मरुद्गणों और साध्योंके प्रकाशमान स्थानोंको लाँघकर अश्विनीकुमारोंके पुण्यतम लोकमें पदार्पण किया । परंतप ! तत्पश्चात् शत्रुहन्ता भगवान् श्रीकृष्ण देवलोकमें जा पहुँचे ॥

शक्रसद्म समासाद्य चावरुह्य जनार्दनः ।
सोऽभिवाद्यादितेः पादावर्चितः सर्वदैवतैः ॥
ब्रह्मदक्षपुरोगैश्च प्रजापतिभिरेव च ।

इन्द्रभवनके निकट जाकर भगवान् जनार्दन गरुड़परसे उतर पड़े । वहाँ उन्होंने देवमाता अदितिके चरणोंमें प्रणाम किया । फिर ब्रह्मा और दक्ष आदि प्रजापतियोंने तथा सम्पूर्ण देवताओंने उनका भी स्वागत-सत्कार किया ॥

अदितेः कुण्डले दिव्ये ददावथ तदा विभुः ॥
रत्नानि च परार्घ्याणि रामेण सह केशवः ।

उस समय बलरामसहित भगवान् केशवने माता अदितिको दोनों दिव्य कुण्डल और बहुमूल्य रत्न भेंट किये ॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमदितिर्वासवानुजम् ॥
पूजयामास दाशार्हं रामं च विगतज्वरा ।

वह सब ग्रहण करके माता अदितिका मानसिक दुःख दूर हो गया और उन्होंने इन्द्रके छोटे भाई यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण और बलरामका बहुत आदर-सत्कार किया ॥

शची महेन्द्रमहिषी कृष्णस्य महिषीं तदा ॥
सत्यभामां तु संगृह्य अदित्यै वै न्यवेदयत् ।

इन्द्रकी महारानी शचीने उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी

पटरानी सत्यभामाका हाथ पकड़कर उन्हें माता अदितिकी सेवामें पहुँचाया ॥

सा तस्याः सत्यभामायाः कृष्णप्रियचिकीर्षया ॥
वरं प्रादाद् देवमाता सत्यायै विगतज्वरा ।

देवमाताकी सारी चिन्ता दूर हो गयी थी। उन्होंने श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे सत्यभामाको उत्तम वर प्रदान किया ॥

अदितिरुवाच

जरां न यास्यसि वधूर्यावद् वै कृष्णमानुषम् ॥
सर्वगन्धगुणोपेता भविष्यसि वरानने ।

अदिति बोलीं—सुन्दर मुखवाली बहू! जबतक श्रीकृष्ण मानवशरीरमें रहेंगे, तबतक तू वृद्धावस्थाको प्राप्त न होगी और सब प्रकारकी दिव्य सुगन्ध एवं उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती रहेगी ॥

भीष्म उवाच

विहृत्य सत्यभामा वै सह शच्या सुमध्यमा ॥
शच्यापि समनुज्ञाता ययौ कृष्णनिवेशनम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सुन्दरी सत्यभामा शचीदेवीके साथ घूम-फिरकर उनकी आज्ञा ले भगवान् श्रीकृष्णके विश्रामगृहमें चली गयीं ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैर्महर्षिगणसेवितः ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णो देवलोकादरिंदमः ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण महर्षियोंसे सेवित और देवताओंद्वारा पूजित होकर देवलोकसे द्वारकाको चले गये ॥

सोऽतिपत्य महाबाहुर्दीर्घमध्वानमच्युतः ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद पुरोत्तमम् ॥

महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण लंबा मार्ग तय करके उत्तम द्वारका नगरीमें, जिसके प्रधान द्वारका नाम वर्धमान था, जा पहुँचे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[द्वारकापुरी एवं रुक्मिणी आदि रानियोंके महलोंका वर्णन, श्रीबलराम और श्रीकृष्णका द्वारकामें प्रवेश]

भीष्म उवाच

तां पुरीं द्वारकां दृष्ट्वा विभुर्नारायणो हरिः ।
हृष्टः सर्वार्थसम्पन्नां प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सर्वव्यापी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने सब प्रकारके मनोवाञ्छित पदार्थोंसे भरी-पूरी द्वारकापुरीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसमें प्रवेश करनेकी तैयारी की ॥

सोऽपश्यद् वृक्षषण्डांश्च रम्यानारामजान् बहून् ।
समन्ततो द्वारवत्यां नानापुष्पफलान्वितान् ॥

उन्होंने देखा, द्वारकापुरीके सब ओर बगीचोंमें बहुत-से रमणीय वृक्षसमूह शोभा पा रहे हैं, जिनमें नाना प्रकारके फल और फूल लगे हुए हैं ॥

अर्कचन्द्रप्रतीकाशैर्मेरुकूटनिभैर्गृहैः ।
द्वारका रचिता रम्यैः सुकृता विश्वकर्मणा ॥

वहाँके रमणीय राजसदन सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान तथा मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति गगनचुम्बी थे। उन भवनोंसे विभूषित द्वारकापुरीकी रचना साक्षात् विश्वकर्माने की थी ॥

पद्मषण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः ।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिरलंकृता ॥

उस पुरीके चारों ओर बनी हुई चौड़ी खाइयाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनमें कमलके फूल खिले हुए थे। हंस आदि पक्षी उनके जलका सेवन करते थे। वे देखनेमें गङ्गा और सिन्धुके समान जान पड़ती थीं ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन पाण्डरेण विराजिता ।
वियन्मूर्ध्नि निविष्टेन द्यौरिवाभ्रपरिच्छदा ॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली ऊँची गगनचुम्बिनी श्वेत चहारदीवारीसे सुशोभित द्वारकापुरी सफेद बादलोंसे घिरी हुई देवपुरी (अमरावती) के समान जान पड़ती थी ॥

नन्दनप्रतिमैश्चापि मिश्रकप्रतिमैर्वनैः ।
भाति चैत्ररथं दिव्यं पितामहवनं यथा ॥
वैभ्राजप्रतिमैश्चैव सर्वर्तुकुसुमोत्कटैः ।
भाति तारापरिक्षिप्ता द्वारका द्यौरिवाम्बरे ॥

नन्दन और मिश्रक-जैसे वन उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँका दिव्य चैत्ररथ वन ब्रह्माजीके अलौकिक उद्यानकी भाँति शोभित था। सभी ऋतुओंके फूलोंसे भरे हुए वैभ्राज नामक वनके सदृश मनोहर उपवनोंसे घिरी हुई द्वारकापुरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त स्वर्गपुरी शोभा पा रही हो ॥

भाति रैवतकः शैलो रम्यसानुर्महाजिरः ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां द्वारकायां विभूषणम् ॥

रमणीय द्वारकापुरीकी पूर्वदिशामें महाकाय रैवतक पर्वत, जो उस पुरीका आभूषणरूप था, सुशोभित हो रहा था। उसके शिखर बड़े मनोहर थे ॥

दक्षिणस्यां लतावेष्टः पञ्चवर्णो विराजते ।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशः पश्चिमां दिशमाश्रितः ॥
सुकक्षो राजतः शैलश्चित्रपुष्पमहावनः ।
उत्तरस्यां दिशि तथा वेणुमन्तो विराजते ॥
मन्दरप्रतिमप्रतीकाशः पाण्डरः पाण्डवर्षभ ।

पुरीके दक्षिण भागमें लतावेष्ट नामक पर्वत शोभा पा रहा था, जो पाँच रंगका होनेके कारण इन्द्रध्वज-सा प्रतीत होता था। पश्चिमदिशामें सुकक्ष नामक रजत-पर्वत था, जिसके ऊपर विचित्र पुष्पोंसे सुशोभित महान् वन शोभा पा रहा था। पाण्डवश्रेष्ठ! इसी प्रकार उत्तरदिशामें मन्दराचलके सदृश श्वेत वर्णवाला वेणुमन्त पर्वत शोभायमान था॥

चित्रकम्बलवर्णाभं पाञ्चजन्यवनं तथा॥
सर्वर्तुकवनं चैव भाति रैवतकं प्रति।

रैवतक पर्वतके पास चित्रकम्बलके-से वर्णवाले पाञ्चजन्य-वन तथा सर्वर्तुकवनकी भी बड़ी शोभा होती थी॥

लतावेष्टं समन्तात् तु मेरुप्रभवनं महत्॥
भाति तालवनं चैव पुष्पकं पुण्डरीकवत्।

लतावेष्ट पर्वतके चारों ओर मेरुप्रभ नामक महान् वन, तालवन तथा कमलोंसे सुशोभित पुष्पकवन शोभा पा रहे हैं॥

सुकक्षं परिवार्यैनं चित्रपुष्पं महावनम्॥
शतपत्रवनं चैव करवीरकुसुम्भि च।

सुकक्ष पर्वतको चारों ओरसे घेरकर चित्रपुष्प नामक महावन, शतपत्रवन, करवीरवन और कुसुम्भिवन सुशोभित होते हैं॥

भाति चैत्ररथं चैव नन्दनं च महावनम्॥
रमणं भावनं चैव वेणुमन्तं समन्ततः।

वेणुमन्त पर्वतके सब ओर चैत्ररथ, नन्दन, रमण और भावन नामक महान् वन शोभा पाते हैं॥

भाति पुष्करिणी रम्या पूर्वस्यां दिशि भारत॥
धनुःशतपरीणाहा केशवस्य महात्मनः॥

भारत! महात्मा केशवकी उस पुरीमें पूर्वदिशाकी ओर एक रमणीय पुष्करिणी शोभा पाती है, जिसका विस्तार सौ धनुष है॥

महापुरीं द्वारवतीं पञ्चाशद्भिर्मुखैर्युताम्।
प्रविष्टो द्वारकां रम्यां भासयन्तीं समन्ततः॥

पचास दरवाजोंसे सुशोभित और सब ओरसे प्रकाशमान उस सुरम्य महापुरी द्वारकामें श्रीकृष्णने प्रवेश किया॥

अप्रमेयां महोत्सेधां महागाधपरिप्लवाम्।
प्रासादवरसम्पन्नां श्वेतप्रासादशालिनीम्॥

वह कितनी बड़ी है, इसका कोई माप नहीं था। उसकी ऊँचाई भी बहुत अधिक थी। वह पुरी चारों ओर अत्यन्त अगाध जलराशिसे घिरी हुई थी। सुन्दर-सुन्दर महलोंसे भरी हुई द्वारका श्वेत अट्टालिकाओंसे सुशोभित होती थी॥

तीक्ष्णयन्त्रशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैः समन्विताम्।
आयसैश्च महाचक्रैर्ददर्श द्वारकां पुरीम्॥

तीखे यन्त्र, शतघ्नी, विभिन्न यन्त्रोंके समुदाय और लोहे-के बने हुए बड़े-बड़े चक्रोंसे सुरक्षित द्वारकापुरीको भगवान्‌ने देखा॥

अष्टौ रथसहस्राणि प्राकारे किङ्किणीकिनः।
समुच्छ्रितपताकानि यथा देवपुरे तथा॥

देवपुरीकी भाँति उसकी चहारदीवारीके निकट क्षुद्र-घण्टिकाओंसे सुशोभित आठ हजार रथ शोभा पाते थे, जिनमें पताकाएँ फहराती रहती थीं॥

अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम्।
द्विगुणोपनिवेशां च ददर्श द्वारकां पुरीम्॥

द्वारकापुरीकी चौड़ाई आठ योजन है एवं लम्बाई बारह योजन है अर्थात् वह कुल ९६ योजन विस्तृत है। उसका उपनिवेश (समीपस्थ प्रदेश) उससे दुगुना अर्थात् १९२ योजन विस्तृत है। वह पुरी सब प्रकारसे अविचल है। श्रीकृष्णने उस पुरीको देखा॥

अष्टमार्गां महाकक्ष्यां महाषोडशचत्वराम्।
एवं मार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम्॥

उसमें जानेके लिये आठ मार्ग हैं, बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियाँ हैं और सोलह बड़े-बड़े चौराहे हैं। इस प्रकार विभिन्न मार्गोंसे परिष्कृत द्वारकापुरी साक्षात् शुक्राचार्यकी नीतिके अनुसार बनायी गयी है॥

व्यूहानामन्तरा मार्गाः सप्त चैव महापथाः।
तत्र सा विहिता साक्षान्नगरी विश्वकर्मणा॥

व्यूहोंके बीच-बीचमें मार्ग बने हैं, सात बड़ी-बड़ी सड़कें हैं। साक्षात् विश्वकर्माने इस द्वारकानगरीका निर्माण किया है॥

काञ्चनैर्मणिसोपानैरुपेता जनहर्षिणी।
गीतघोषमहाघोषैः प्रासादप्रवरैः शुभा॥

सोने और मणियोंकी सीढ़ियोंसे सुशोभित यह नगरी जन-जनको हर्ष प्रदान करनेवाली है। यहाँ गीतके मधुर स्वर तथा अन्य प्रकारके घोष गूँजते रहते हैं। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंके कारण वह पुरी परम सुन्दर प्रतीत होती है॥

तस्मिन् पुरवरश्रेष्ठे दाशार्हाणां यशस्विनाम्।
वेश्मानि जहृषे दृष्ट्वा भगवान् पाकशासनः॥

नगरोंमें श्रेष्ठ उस द्वारकामें यशस्वी दशार्हवंशियोंके महल देखकर भगवान् पाकशासन इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई॥

समुच्छ्रितपताकानि पारिप्लवनिभानि च।
काञ्चनाभानि भास्वन्ति मेरुकूटनिभानि च॥

उन महलोंके ऊपर ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। वे मनोहर भवन मेघोंके समान जान पड़ते थे और सुवर्णमय होनेके कारण अत्यन्त प्रकाशमान थे। वे मेरुपर्वतके उत्तुङ्ग शिखरोंके समान आकाशको चूम रहे थे॥

सुधापाण्डरशृङ्गैश्च शातकुम्भपरिच्छदैः ।
रत्नसानुगुहाशृङ्गैः सर्वरत्नविभूषितैः ॥

उन गृहोंके शिखर चूनेसे लिपे-पुते और सफेद थे। उनकी छतें सुवर्णकी बनी हुई थीं। वहाँके शिखर, गुफा और शृङ्ग—सभी रत्नमय थे। उस पुरीके भवन सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे ॥

सहर्म्यैः सार्धचन्द्रैश्च सनिर्यूहैः सपञ्जरैः ।
सयन्त्रगृहसम्बाधैः सधातुभिरिवाद्रिभिः ॥

(भगवान्ने देखा) वहाँ बड़े-बड़े महल, अटारी तथा छज्जे हैं और उन छज्जोंमें लटकते हुए पक्षियोंके पिंजड़े शोभा पाते हैं। कितने ही यन्त्रगृह वहाँके महलोंकी शोभा बढ़ाते हैं। अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण द्वारकाके भवन विविध धातुओंसे विभूषित पर्वतोंके समान शोभा धारण करते हैं ॥

मणिकाञ्चनभौमैश्च सुधामृष्टतलैस्तथा ।
जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यविकृतार्गलैः ॥

कुछ गृह तो मणिके बने हैं, कुछ सुवर्णसे तैयार किये गये हैं और कुछ पार्थिव पदार्थों (ईंट, पत्थर आदि) द्वारा निर्मित हुए हैं। उन सबके निम्नभाग चूनेसे स्वच्छ किये गये हैं। उनके दरवाजे (चौखट-किंवाड़े) जाम्बूनद सुवर्णके बने हैं और अर्गलाएँ (सिटकनियाँ) वैदूर्यमणिसे तैयार की गयी हैं ॥

सर्वर्तुसुखसंस्पर्शैर्महाधनपरिच्छदैः ।
रम्यसानुगुहाशृङ्गैर्विचित्रैरिव पर्वतैः ॥

उन गृहोंका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुख देनेवाला है। वे सभी बहुमूल्य सामानोंसे भरे हैं। उनकी समतल भूमि, गुफा और शिखर सभी अत्यन्त मनोहर हैं। इससे उन भवनोंकी शोभा विचित्र पर्वतोंके समान जान पड़ती है ॥

पञ्चवर्णसुवर्णैश्च पुष्पवृष्टिसमप्रभैः ।
तुल्यपर्जन्यनिर्घोषैर्नानावर्णैरिवाम्बुदैः ॥

उन गृहोंमें पाँच रंगोंके सुवर्ण मढ़े गये हैं। उनसे जो बहुरङ्गी आभा फैलती है, वह फुलझड़ी-सी जान पड़ती है। उन गृहोंसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान शब्द होते रहते हैं। वे देखनेमें अनेक वर्णोंके बादलोंके समान जान पड़ते हैं ॥

महेन्द्रशिखरप्रख्यैर्विहितैर्विश्वकर्मणा ।
आलिखद्भिरिवाकाशमतिचन्द्रार्कभास्वरैः ॥

विश्वकर्माके बनाये हुए वे (ऊँचे और विशाल) भवन महेन्द्र पर्वतके शिखरोंकी शोभा धारण करते हैं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो वे आकाशमें रेखा खींच रहे हों। उनका प्रकाश चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर है ॥

तैर्दाशार्हमहाभागैर्बभासे भवनह्रदैः ।
चण्डनागाकुलैर्घोरैः ह्रदैर्भोगवती यथा ॥

जैसे भोगवती गङ्गा प्रचण्ड नागगणोंसे भरे हुए भयंकर कुण्डोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी दशार्हकुलके महान् सौभाग्यशाली पुरुषोंसे भरे हुए उपर्युक्त भवनरूपी ह्रदोंके द्वारा शोभा पा रही है ॥

कृष्णध्वजोपवाह्यैश्च दाशार्हायुधरोहितैः ।
वृष्णिमत्तमयूरैश्च स्त्रीसहस्रप्रभाकुलैः ॥
वासुदेवेन्द्रपर्जन्यैर्गृहमेघैरलङ्कृता ।
ददृशे द्वारकातीव मेघैर्द्यौरिव संवृता ।

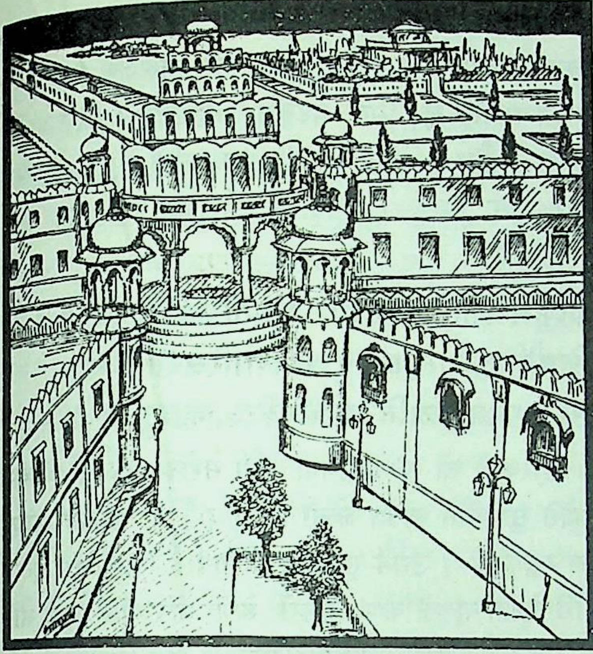
जैसे आकाश मेघोंकी घटासे आच्छादित होता है, उसी प्रकार द्वारकापुरी मनोहर भवनरूपी मेघोंसे अलङ्कृत दिखायी देती है। ये भगवान् श्रीकृष्ण ही वहाँ इन्द्र एवं पर्जन्य (प्रमुख मेघ) के समान हैं। वृष्णिवंशी युवक मतवाले मयूरोंके समान उन भवनरूपी मेघोंको देखकर हर्षसे नाच उठते हैं। सहस्रों स्त्रियोंकी कान्ति विद्युत्की प्रभाके समान उनमें व्याप्त है। जैसे मेघ कृष्णध्वज (अग्नि या सूर्यकिरण) के उपवाह्य (आधेय अथवा कार्य) हैं, उसी प्रकार द्वारकाके भवन भी कृष्णध्वजसे विभूषित उपवाह्य (वाहनों)से सम्पन्न हैं। यदुवंशियोंके विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र उन मेघसदृश महलोंमें इन्द्रधनुषकी बहुरङ्गी छटा छिटकाते हैं ॥

साक्षाद् भगवतो वेश्म विहितं विश्वकर्मणा ॥
ददृशुर्देवदेवस्य चतुर्योजनमायतम् ।
तावदेव च विस्तीर्णमप्रमेयं महाधनैः ॥
प्रासादवरसम्पन्नं युक्तं जगति पर्वतैः ।

भारत ! देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णका भवन, जिसे साक्षात् विश्वकर्माने अपने हाथों बनाया है, चार योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा दिखायी देता है। उसमें कितनी बहुमूल्य सामग्रियाँ लगी हैं ! इसका अनुमान लगाना असम्भव है। उस विशाल भवनके भीतर सुन्दर-सुन्दर महल और अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। वह प्रासाद जगत्के सभी पर्वतीय दृश्योंसे युक्त है। श्रीकृष्ण, बलराम और इन्द्रने उस द्वारकाको देखा ॥

यं चकार महाबाहुस्त्वष्टा वासवचोदितः ॥
प्रासादं पद्मनाभस्य सर्वतो योजनायतम् ।
मेरोरिव गिरेः शृङ्गमुच्छ्रितं काञ्चनायुतम् ।
रुक्मिण्याः प्रवरो वासो विहितः सुमहात्मना ॥

महाबाहु विश्वकर्माने इन्द्रकी प्रेरणासे भगवान् पद्मनाभके लिये जिस मनोहर प्रासादका निर्माण किया है, उसका विस्तार सब ओरसे एक-एक योजनका है। उसके ऊँचे शिखरपर सुवर्ण मढ़ा गया है, जिससे वह मेरु पर्वतके उत्तुङ्ग शृङ्गकी शोभा धारण कर रहा है। वह प्रासाद महात्मा विश्वकर्माने महारानी रुक्मिणीके रहनेके लिये बनाया है। यह उनका सर्वोत्तम निवास है ॥



सत्यभामा पुनर्वेश्म सदा वसति पाण्डरम्।
विचित्रमणिसोपानं यं विदुः शीतवानिति ॥

श्रीकृष्णकी दूसरी पटरानी सत्यभामा सदा श्वेत-रङ्गके प्रासादमें निवास करती हैं, जिसमें विचित्र मणियोंके सोपान बनाये गये हैं। उसमें प्रवेश करनेपर लोगोंको (ग्रीष्म ऋतुमें भी) शीतलताका अनुभव होता है ॥

विमलादित्यवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतम्।
व्यक्तबद्धं वनोद्देशे चतुर्दिशि महाध्वजम् ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्विनी पताकाएँ उस मनोरम प्रासादकी शोभा बढ़ाती हैं। एक सुन्दर उद्यानमें उस भवनका निर्माण किया गया है। उसके चारों ओर ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहराती रहती हैं ॥

स च प्रासादमुख्योऽत्र जाम्बवत्या विभूषितः।
प्रभया भूषणैश्चित्रैस्त्रैलोक्यमिव भासयन् ॥
यस्तु पाण्डरवर्णाभस्तयोरन्तरमाश्रितः।
विश्वकर्माकरोदेनं कैलासशिखरोपमम् ॥

इसके सिवा वह प्रमुख प्रासाद, जो रुक्मिणी तथा सत्यभामाके महलोंके बीचमें पड़ता है और जिसकी उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली रहती है, जाम्बवतीदेवीद्वारा विभूषित किया गया है। वह अपनी दिव्य प्रभा और विचित्र सजावटसे मानो तीनों लोकोंको प्रकाशित कर रहा है। उसे भी विश्वकर्माने ही बनाया है। जाम्बवतीका वह विशाल भवन कैलास-शिखरके समान सुशोभित होता है ॥

जाम्बूनदप्रदीप्ताग्रः प्रदीप्तज्वलनोपमः।
सागरप्रतिमोऽतिष्ठन्मेरुरित्यभिविश्रुतः ॥
तस्मिन् गान्धारराजस्य दुहिता कुलशालिनी।
सुकेशी नाम विख्याता केशवेन निवेशिता ॥

जिसका दरवाजा जाम्बूनद सुवर्णके समान उद्दीप्त होता है, जो देखनेमें प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता है। विशालतामें समुद्रसे जिसकी उपमा दी जाती है, जो मेरुके नामसे विख्यात है, उस महान् प्रासादमें गान्धार-राजकी कुलीन कन्या सुकेशीको भगवान् श्रीकृष्णने ठहराया है ॥

पद्मकूट इति ख्यातः पद्मवर्णो महाप्रभः।
सुप्रभाया महाबाहो निवासः परमार्चितः ॥

महाबाहो! पद्मकूट नामसे विख्यात जो कमलके समान कान्तिवाला प्रासाद है, वह महारानी सुप्रभाका परम पूजित निवासस्थान है ॥

यस्तु सूर्यप्रभो नाम प्रासादवर उच्यते।
लक्ष्मणायाः कुरुश्रेष्ठ स दत्तः शार्ङ्गधन्वना ॥

कुरुश्रेष्ठ! जिस उत्तम प्रासादकी प्रभा सूर्यके समान है, उसे शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णने महारानी लक्ष्मणाको दे रक्खा है ॥

वैडूर्यवरवर्णाभः प्रासादो हरितप्रभः।
यं विदुः सर्वभूतानि हरिरित्येव भारत।
वासः स मित्रविन्दाया देवर्षिगणपूजितः ॥
महिष्या वासुदेवस्य भूषणं सर्ववेश्मनाम्।

भारत! वैदूर्यमणिके समान कान्तिमान् हरे रङ्गका महल, जिसे देखकर सब प्राणियोंको 'श्रीहरि' ही हैं, ऐसा अनुभव होता है, वह मित्रविन्दाका निवासस्थान है। उसकी देवगण भी सराहना करते हैं। भगवान् वासुदेवकी रानी मित्रविन्दाका यह भवन अन्य सब महलोंका आभूषणरूप है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहितः सर्वशिल्पिभिः ॥
अतीव रम्यः सोऽप्यत्र प्रहसन्निव तिष्ठति।
सुदत्तायाः सुवासस्तु पूजितः सर्वशिल्पिभिः ॥
महिष्या वासुदेवस्य केतुमानिति विश्रुतः।

युधिष्ठिर! द्वारकामें जो दूसरा प्रमुख प्रासाद है, उसे सम्पूर्ण शिल्पियोंने मिलकर बनाया है। वह अत्यन्त रमणीय भवन हँसता-सा खड़ा है। सभी शिल्पी उसके निर्माण-कौशलकी सराहना करते हैं। उस प्रासादका नाम है केतुमान्। वह भगवान् वासुदेवकी महारानी सुदत्तादेवीका सुन्दर निवासस्थान है ॥

प्रासादो विरजो नाम विरजस्को महात्मनः ॥
उपस्थानगृहं तात केशवस्य महात्मनः।

वहीं 'विरज' नामसे प्रसिद्ध एक प्रासाद है, जो निर्मल एवं रजोगुणके प्रभावसे शून्य है। वह परमात्मा श्रीकृष्णका उपस्थानगृह (खास रहनेका स्थान) है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र यं त्वष्टा व्यदधात् स्वयम् ॥
योजनायतविष्कुम्भं सर्वरत्नमयं विभोः।

इसी प्रकार वहाँ एक और भी प्रमुख प्रासाद है, जिसे

स्वयं विश्वकर्माने बनाया है। उसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी है। भगवान्‌का वह भवन सब प्रकारके रत्नोंद्वारा निर्मित हुआ है ॥

तेषां तु विहिताः सर्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः ।
सदने वासुदेवस्य मार्गसंजनना ध्वजाः ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सुन्दर सदनमें जो मार्गदर्शक ध्वज हैं, उन सबके दण्ड सुवर्णमय बनाये गये हैं। उन सबपर पताकाएँ फहराती रहती हैं ॥

घण्टाजालानि तत्रैव सर्वेषां च निवेशने ।
आहृत्य यदुसिंहेन वैजयन्त्यचलो महान् ॥

द्वारकापुरीमें सभीके घरोंमें घंटा लगाया गया है। यदुसिंह श्रीकृष्णने वहाँ लाकर वैजयन्ती पताकाओंसे युक्त पर्वत स्थापित किया है ॥

हंसकूटस्य यच्छृङ्गमिन्द्रद्युम्नसरो महत् ।
षष्टितालसमुत्सेधमर्धयोजनविस्तृतम् ॥

वहाँ हंसकूट पर्वतका शिखर है, जो साठ ताड़के बराबर ऊँचा और आधा योजन चौड़ा है। वहीं इन्द्रद्युम्नसरोवर भी है, जिसका विस्तार बहुत बड़ा है ॥

सकिन्नरमहानादं तदप्यमिततेजसः ।
पश्यतां सर्वभूतानां त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥

वहाँ सब भूतोंके देखते-देखते किन्नरोंके संगीतका महान् शब्द होता रहता है। वह भी अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका ही लीलास्थल है। उसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है ॥

आदित्यपथगं यत् तन्मेरोः शिखरमुत्तमम् ।
जाम्बूनदमयं दिव्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥
तदप्युत्पाट्य कृच्छ्रेण स्वं निवेशनमाहृतम् ।
भ्राजमानं पुरा तत्र सर्वौषधिविभूषितम् ॥

मेरुपर्वतका जो सूर्यके मार्गतक पहुँचा हुआ जाम्बूनदमय दिव्य और त्रिभुवनविख्यात उत्तम शिखर है, उसे उखाड़कर भगवान् श्रीकृष्ण कठिनाई उठाकर भी अपने महलमें ले आये हैं। सब प्रकारकी ओषधियोंसे अलंकृत वह मेरुशिखर द्वारकामें पूर्ववत् प्रकाशित है ॥

यमिन्द्रभवनाच्छौरिराजहार परंतपः ।
पारिजातः स तत्रैव केशवेन निवेशितः ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जिसे इन्द्रभवनसे हर ले आये थे, वह पारिजातवृक्ष भी उन्होंने द्वारकामें ही लगा रक्खा है ॥

विहिता वासुदेवेन ब्रह्मस्थलमहाद्रुमाः ॥
शालतालाश्वकर्णाश्च शतशाखाश्च रोहिणाः ।
भल्लातककपित्थाश्च चन्द्रवृक्षाश्च चम्पकाः ॥
खर्जूराः केतकाश्चैव समन्तात् परिरोपिताः ।

भगवान् वासुदेवने ब्रह्मलोकके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी लाकर द्वारकामें लगाया है। साल, ताल, अश्वकर्ण (कनेर), सौ शाखाओंसे सुशोभित वटवृक्ष, भल्लातक (भिलावा), कपित्थ (कैथ), चन्द्र (बड़ी इलायचीके) वृक्ष, चम्पा, खजूर और केतक (केवड़ा)—ये वृक्ष वहाँ सब ओर लगाये गये थे ॥

पद्माकुलजलोपेता रक्ताः सौगन्धिकोत्पलाः ॥
मणिमौक्तिकवालूकाः पुष्करिण्यः सरांसि च ।
तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः ॥

द्वारकामें जो पुष्करिणियाँ और सरोवर हैं, वे कमलपुष्पोंसे सुशोभित स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं। उनकी आभा लाल रङ्गकी है। उनमें सुगन्धयुक्त उत्पल खिले हुए हैं। उनमें स्थित बालूके कण मणियों और मोतियोंके चूर्ण जैसे जान पड़ते हैं। वहाँ लगाये हुए बड़े-बड़े वृक्ष उन सरोवरोंके सुन्दर तटोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

ये च हैमवता वृक्षा ये च नन्दनजास्तथा ।
आहृत्य यदुसिंहेन तेऽपि तत्र निवेशिताः ॥

जो वृक्ष हिमालयपर उगते हैं तथा जो नन्दनवनमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी यदुप्रवर श्रीकृष्णने वहाँ लाकर लगाया है ॥

रक्तपीतारुणप्रख्याः सितपुष्पाश्च पादपाः ।
सर्वर्तुफलपूर्णास्ते तेषु काननसंधिषु ॥

कोई वृक्ष लाल रङ्गके हैं, कोई पीत वर्णके हैं और कोई अरुण कान्तिसे सुशोभित हैं तथा बहुत-से वृक्ष ऐसे हैं, जिनमें श्वेत रङ्गके पुष्प शोभा पाते हैं। द्वारकाके उपवनोंमें लगे हुए पूर्वोक्त सभी वृक्ष सम्पूर्ण ऋतुओंके फलोंसे परिपूर्ण हैं ॥

सहस्रपत्रपद्माश्च मन्दराश्च सहस्रशः ।
अशोकाः कर्णिकाराश्च तिलका नागमल्लिकाः ॥
कुरवा नागपुष्पाश्च चम्पकास्तृणगुल्मकाः ।
सप्तपर्णाः कदम्बाश्च नीपाः कुरबकास्तथा ॥
केतक्यः केसराश्चैव हिन्तालतलताटकाः ।
तालाः प्रियङ्गुवकुलाः पिण्डिका बीजपूरकाः ॥
द्राक्षामलकखर्जूरा मृद्वीका जम्बुकास्तथा ।
आम्राः पनसवृक्षाश्च अङ्कोलास्तिलतिन्दुकाः ॥
लिकुचाम्रातकाश्चैव क्षीरिका कण्टकी तथा ।
नालिकेरेङ्गुदाश्चैव उत्क्रोशकवनानि च ॥
वनानि च कदल्याश्च जातिमल्लिकपाटलाः ।
भल्लातककपित्थाश्च तैतभा बन्धुजीवकाः ॥
प्रवालाशोककाश्मर्यः प्राचीनाश्चैव सर्वशः ।
प्रियङ्गुबदरीभिश्च यवैः स्पन्दनचन्दनैः ॥
शमीबिल्वपलाशैश्च पाटलावटपिप्पलैः ।
उदुम्बरैश्च द्विदलैः पालाशैः पारिभद्रकैः ॥

इन्द्रवृक्षार्जुनैश्चैव अश्वत्थैश्चिरिबिल्वकैः।
सौभञ्जनकवृक्षैश्च भल्लटैरश्वसाह्वयैः॥
सर्जैस्ताम्बूलवल्लीभिर्लवङ्गैः क्रमुकैस्तथा।
वंशैश्च विविधैस्तत्र समन्तात् परिरोपितैः॥

सहस्रदल कमल, सहस्रों मन्दार, अशोक, कर्णिकार, तिलक, नागमल्लिका, कुरव (कटसरैया), नागपुष्प, चम्पक, तृण, गुल्म, सप्तपर्ण (छितवन), कदम्ब, नीप, कुरबक, केतकी, केसर, हिंताल, तल, ताटक, ताल, प्रियङ्गु, वकुल (मौलसिरी), पिण्डिका, बीजपूर (बिजौरा), दाख, आँवला, खजूर, मुनक्का, जामुन, आम, कटहल, अङ्कोल, तिल, तिन्दुक, लिकुच(लीची), आमड़ा, क्षीरिका (काकोली नामकी जड़ी या पिंडखजूर), कण्टकी (बेर), नारियल, इङ्गुद (हिंगोट), उत्क्रोशकवन, कदलीवन, जाति (चमेली), मल्लिका (मोतिया), पाटल, भल्लातक, कपित्थ, तैतभ, बन्धुजीव (दुपहरिया), प्रवाल, अशोक और काश्मरी (गाँभारी) आदि सब प्रकारके प्राचीन वृक्ष, प्रियङ्गुलता, बेर, जौ, स्पन्दन, चन्दन, शमी, बिल्व, पलाश, पाटला, बड़, पीपल, गूलर, द्विदल, पालाश, पारिभद्रक, इन्द्रवृक्ष, अर्जुनवृक्ष, अश्वत्थ, चिरिबिल्व, सौभञ्जन, भल्लट, अश्वपुष्प, सर्ज, ताम्बूललता, लवङ्ग, सुपारी तथा नाना प्रकारके बाँस—ये सब द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णभवनके चारों ओर लगाये हैं॥

ये च नन्दनजा वृक्षा ये च चैत्ररथे वने।
सर्वे ते यदुनाथेन समन्तात् परिरोपिताः॥

नन्दनवनमें और चैत्ररथवनमें जो-जो वृक्ष होते हैं, वे सभी यदुपति भगवान् श्रीकृष्णने लाकर यहाँ सब ओर लगाये हैं॥

कुमुदोत्पलपूर्णाश्च वाप्यः कूपाः सहस्रशः।
समाकुलमहावाप्यः पीता लोहितवालुकाः॥

भगवान् श्रीकृष्णके गृहोद्यानमें कुमुद और कमलोंसे भरी हुई कितनी ही छोटी बावलियाँ हैं। सहस्रों कुएँ बने हुए हैं। जलसे भरी हुई बड़ी-बड़ी वापिकाएँ भी तैयार करायी गयी हैं, जो देखनेमें पीत वर्णकी हैं और जिनकी बालुकाएँ लाल हैं॥

तस्मिन् गृहवने नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदाः।
फुल्लोत्पलजलोपेता नानाद्रुमसमाकुलाः॥

उनके गृहोद्यानमें स्वच्छ जलसे भरे हुए कुण्डवाली कितनी ही कृत्रिम नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, जो प्रफुल्ल उत्पलयुक्त जलसे परिपूर्ण हैं तथा जिन्हें दोनों ओरसे अनेक प्रकारके वृक्षोंने घेर रक्खा है॥

तस्मिन् गृहवने नद्यो मणिशर्करवालुकाः।
मत्तबर्हिणसङ्घाश्च कोकिलाश्च मदोद्वहाः॥

उस भवनके उद्यानकी सीमामें मणिमय कंकड़ और बालुकाओंसे सुशोभित नदियाँ निकाली गयी हैं, जहाँ मतवाले मयूरोंके झुंड विचरते हैं और मदोन्मत्त कोकिलाएँ कुहू-कुहू किया करती हैं॥

बभूवुः परमोपेताः सर्वे जगतिपर्वताः।
तत्रैव गजयूथानि तत्र गोमहिषास्तथा॥
निवासाश्च कृतास्तत्र वराहमृगपक्षिणाम्।

उस गृहोद्यानमें जगत्‌के सभी श्रेष्ठ पर्वत अंशतः संगृहीत हुए हैं। वहाँ हाथियोंके यूथ तथा गाय-भैंसोंके झुंड रहते हैं। वहीं जंगली सूअर, मृग और पक्षियोंके रहने योग्य निवासस्थान भी बनाये गये हैं॥

विश्वकर्मकृतः शैलः प्राकारस्तस्य वेश्मनः॥
व्यक्तं किष्कुशतोद्यामः सुधाकरसमप्रभः।

विश्वकर्माद्वारा निर्मित पर्वतमाला ही उस विशाल भवनकी चहारदीवारी है। उसकी ऊँचाई सौ हाथकी है और वह चन्द्रमाके समान अपनी श्वेत छटा छिटकाती रहती है॥

तेन ते च महाशैलाः सरितश्च सरांसि च॥
परिक्षिप्तानि हर्म्यस्य वनान्युपवनानि च।

पूर्वोक्त बड़े-बड़े पर्वत, सरिताएँ, सरोवर और प्रासादके समीपवर्ती वन-उपवन इस चहारदीवारीसे घिरे हुए हैं॥

एवं तच्छिल्पिवर्येण विहितं विश्वकर्मणा॥
प्रविशन्नेव गोविन्दो ददर्श परितो मुहुः।

इस प्रकार शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्माद्वारा बनाये हुए द्वारका नगरमें प्रवेश करते समय भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार सब ओर दृष्टिपात किया॥

इन्द्रः सहामरैः श्रीमांस्तत्र तत्रावलोकयत्।

देवताओंके साथ श्रीमान् इन्द्रने वहाँ द्वारकाको सब ओर दृष्टि दौड़ाते हुए देखा॥

एवमालोकयांचक्रुर्द्वारकामृषभास्त्रयः।
उपेन्द्रबलदेवौ च वासवश्च महायशाः॥

इस प्रकार उपेन्द्र (श्रीकृष्ण), बलराम तथा महायशस्वी इन्द्र इन तीनों श्रेष्ठ महापुरुषोंने द्वारकापुरीकी शोभा देखी॥

ततस्तं पाण्डरं शौरिर्मूर्ध्नि तिष्ठन् गरुत्मतः॥
प्रीतः शङ्खमुपादध्मौ विद्विषां रोमहर्षणम्।

तदनन्तर गरुडके ऊपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक श्वेतवर्णवाले अपने उस पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला है॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन सागरश्चुक्षुभे भृशम्॥
ररास च नभः सर्वं तच्चित्रमभवत् तदा।

उस घोर शङ्खध्वनिसे समुद्र विक्षुब्ध हो उठा तथा

सारा आकाशमण्डल गूँजने लगा। उस समय वहाँ यह अद्भुत बात हुई ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं निशम्य कुकुरान्धकाः ॥
विशोकाः समपद्यन्त गरुडस्य च दर्शनात्।

पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर और गरुडका दर्शन कर कुकुर और अन्धकवंशी यादव शोकरहित हो गये ॥

शङ्खचक्रगदापाणिं सुपर्णशिरसि स्थितम् ॥
दृष्ट्वा जहृषिरे कृष्णं भास्करोदयतेजसम्।

भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध सुशोभित थे। वे गरुडके ऊपर बैठे थे। उनका तेज सूर्योदयके समान नूतन चेतना और उत्साह पैदा करनेवाला था। उन्हें देखकर सबको बड़ा हर्ष हुआ ॥

ततस्तूर्यप्रणादश्च भेरीनां च महास्वनः ॥
सिंहनादश्च सञ्जज्ञे सर्वेषां पुरवासिनाम्।

तदनन्तर तुरही और भेरियाँ बज उठीं। उनकी आवाज बहुत दूरतक फैल गयी। समस्त पुरवासी भी सिंहनाद कर उठे ॥

ततस्ते सर्वदाशार्हाः सर्वे च कुकुरान्धकाः ॥
प्रीयमाणाः समाजग्मुरालोक्य मधुसूदनम्।

उस समय दशार्ह, कुकुर और अन्धकवंशके सब लोग भगवान् मधुसूदनका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए और सभी उनकी अगवानीके लिये आ गये ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य वेणुशङ्खरवैः सह ॥
उग्रसेनो ययौ राजा वासुदेवनिवेशनम्।

राजा उग्रसेन भगवान् वासुदेवको आगे करके वेणुनाद और शङ्खध्वनिके साथ उनके महलतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये ॥

आनन्दितुं पर्यचरन् स्वेषु वेश्मसु देवकी ॥
रोहिणी च यथोद्देशमाहुकस्य च याः स्त्रियः।

देवकी, रोहिणी तथा उग्रसेनकी स्त्रियाँ अपने-अपने महलोंमें भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन करनेके लिये यथास्थान खड़ी थीं। पास आनेपर उन सबने उनका यथावत् सत्कार किया ॥

हता ब्रह्मद्विषः सर्वे जयन्त्यन्धकवृष्णयः ॥
एवमुक्तः स ह स्त्रीभिरीक्षितो मधुसूदनः।

वे आशीर्वाद देती हुई इस प्रकार बोलीं—'समस्त ब्राह्मणद्वेषी असुर मारे गये; अन्धक और वृष्णिवंशके वीर सर्वत्र विजयी हो रहे हैं।' स्त्रियोंने भगवान् मधुसूदनसे ऐसा कहकर उनकी ओर देखा ॥

ततः शौरिः सुपर्णेन स्वं निवेशनमभ्ययात् ॥
चकाराथ यथोद्देशमीश्वरो मणिपर्वतम्।

तदनन्तर श्रीकृष्ण गरुडके द्वारा ही अपने महलमें गये। वहाँ उन परमेश्वरने एक उपयुक्त स्थानमें मणिपर्वतको स्थापित कर दिया ॥

ततो धनानि रत्नानि सभायां मधुसूदनः ॥
निधाय पुण्डरीकाक्षः पितुर्दर्शनलालसः।

इसके बाद कमलनयन मधुसूदनने सभाभवनमें धन और रत्नोंको रखकर मन-ही-मन पिताके दर्शनकी अभिलाषा की ॥

ततः सान्दीपनिं पूर्वमुपस्पृष्ट्वा महायशाः ॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षः प्रीयमाणो महाभुजः।

फिर विशाल एवं कुछ लाल नेत्रोंवाले उन महायशस्वी महाबाहुने पहले मन-ही-मन गुरु सान्दीपनिके चरणोंका स्पर्श किया ॥

तथाश्रुपरिपूर्णाक्षमानन्दगतचेतसम् ॥
ववन्दे सह रामेण पितरं वासवानुजः।

तत्पश्चात् भाई बलरामजीके साथ जाकर श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय पिता वसुदेवके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू भर आये और उनका हृदय आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया ॥

रामकृष्णौ समाश्लिष्य सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके सब लोगोंने बलराम और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया ॥

तं तु कृष्णः समाहृत्य रत्नौघधनसंचयम् ॥
व्यभजत् सर्ववृष्णिभ्य आदध्वमिति चाब्रवीत्।

भगवान् श्रीकृष्णने रत्न और धनकी उस राशिको एकत्र करके अलग-अलग बाँट दिया और सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंसे कहा—'यह सब आपलोग ग्रहण करें' ॥

यथाश्रेष्ठमुपागम्य सात्वतान् यदुनन्दनः ॥
सर्वेषां नाम जग्राह दाशार्हाणामधोक्षजः।
ततः सर्वाणि वित्तानि सर्वरत्नमयानि च ॥
व्यभजत् तानि तेभ्योऽथ सर्वेभ्यो यदुनन्दनः।

तदनन्तर यदुनन्दन श्रीकृष्णने यदुवंशियोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, उन सबसे क्रमशः मिलकर सब यादवोंको नाम ले-लेकर बुलाया और उन सबको वे सभी रत्नमय धन पृथक्-पृथक् बाँट दिये ॥

सा केशवमहामात्रैर्महेन्द्रप्रमुखैः सह ॥
शुशुभे वृष्णिशार्दूलैः सिंहैरिव गिरेर्गुहा।

जैसे पर्वतकी कन्दरा सिंहोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी उस समय भगवान् श्रीकृष्ण, देवराज

इन्द्र तथा वृष्णिवंशी वीर पुरुषसिंहोंसे अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥

अथासनगतान् सर्वानुवाच विबुधाधिपः ॥
शुभया हर्षयन् वाचा महेन्द्रस्तान् महायशाः ।
कुकुरान्धकमुख्यांश्च तं च राजानमाहुकम् ॥

जब सभी यदुवंशी अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, उस समय देवताओंके स्वामी महायशस्वी महेन्द्र अपनी कल्याणमयी वाणीद्वारा कुकुर और अन्धक आदि यादवों तथा राजा उग्रसेनका हर्ष बढ़ाते हुए बोले ॥

इन्द्र उवाच

यदर्थं जन्म कृष्णस्य मानुषेषु महात्मनः ।
यत् कृतं वासुदेवेन तद् वक्ष्यामि समासतः ॥

इन्द्रने कहा—यदुवंशी वीरो ! परमात्मा श्रीकृष्णका मनुष्य-योनिमें जिस उद्देश्यको लेकर अवतार हुआ है और भगवान् वासुदेवने इस समय जो महान् पुरुषार्थ किया है, वह सब मैं संक्षेपसे बताऊँगा ॥

अयं शतसहस्राणि दानवानामरिंदमः ।
निहत्य पुण्डरीकाक्षः पातालविवरं ययौ ॥
यच्च नाधिगतं पूर्वैः प्रह्लादबलिशम्बरैः ।
तदिदं शौरिणा वित्तं प्रापितं भवतामिह ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन श्रीहरिने एक लाख दानवोंका संहार करके उस पाताल-विवरमें प्रवेश किया था, जहाँ पहलेके प्रह्लाद, बलि और शम्बर आदि दैत्य भी नहीं पहुँच सके थे। भगवान् आपलोगोंके लिये यह धन वहींसे लाये हैं ॥

सपाशं मुरमाक्रम्य पाञ्चजन्यं च धीमता ।
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भः सगणो हतः ।

बुद्धिमान् श्रीकृष्णने पाशसहित मुर नामक दैत्यको कुचलकर पञ्चजन नामवाले राक्षसोंका विनाश किया और शिला-समूहोंको लाँघकर सेवकगणोंसहित निशुम्भको मौतके घाट उतार दिया ॥

हयग्रीवश्च विक्रान्तो निहतो दानवो बली ॥
मथितश्च मृधे भौमः कुण्डले चाहृते पुनः ।
प्राप्तं च दिवि देवेषु केशवेन महद् यशः ॥

तत्पश्चात् इन्होंने बलवान् एवं पराक्रमी दानव हयग्रीवपर आक्रमण करके उसे मार गिराया और भौमासुरका भी युद्धमें संहार कर डाला। इसके बाद केशवने माता अदितिके कुण्डल प्राप्त करके उन्हें यथास्थान पहुँचाया और स्वर्गलोक तथा देवताओंमें अपने महान् यशका विस्तार किया ॥

वीतशोकभयाबाधाः कृष्णबाहुबलाश्रयाः ।
यजन्तु विविधैः सोमैर्मखैरन्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके लोग श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेकर शोक, भय और बाधाओंसे मुक्त हैं। अब ये सभी नाना प्रकारके यज्ञों तथा सोमरसद्वारा भगवान्‌का यजन करें ॥

पुनर्बाणवधे शौरिमादित्या वसुभिः सह ।
मन्मुखा हि गमिष्यन्ति साध्याश्च मधुसूदनम् ॥

अब पुनः बाणासुरके वधका अवसर उपस्थित होनेपर मैं तथा सब देवता, वसु और साध्यगण मधुसूदन श्रीकृष्ण-की सेवामें उपस्थित होंगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वानामन्त्र्य कुकुरान्धकान् ।
सस्वजे रामकृष्णौ च वसुदेवं च वासवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! समस्त कुकुर और अन्धकवंशके लोगोंसे ऐसा कहकर सबसे विदा ले देवराज इन्द्रने बलराम, श्रीकृष्ण और वसुदेवको हृदयसे लगाया ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठानानिरुद्धं च सारणम् ।
बभ्रुं झल्लिं गदं भानुं चारुदेष्णं च वृत्रहा ॥
सत्कृत्य सारणाक्रूरौ पुनराभाष्य सात्यकिम् ।
सस्वजे वृष्णिराजानमाहुकं कुकुराधिपम् ॥

प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सारण, बभ्रु, झल्लि, गद, भानु, चारुदेष्ण, सारण और अक्रूरका भी सत्कार करके वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रने पुनः सात्यकिसे वार्तालाप किया। इसके बाद वृष्णि और कुकुरवंशके अधिपति राजा उग्रसेन-को गले लगाया ॥

भोजं च कृतवर्माणमन्यांश्चान्धकवृष्णिषु ।
आमन्त्र्य देवप्रवरो वासवो वासवानुजम् ॥

तत्पश्चात् भोज, कृतवर्मा तथा अन्य अन्धकवंशी एवं वृष्णिवंशियोंका आलिङ्गन करके देवराजने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णसे विदा ली ॥

ततः श्वेताचलप्रख्यं गजमैरावतं प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानामारुरोह शचीपतिः ॥

तदनन्तर शचीपति भगवान् इन्द्र सब प्राणियोंके देखते-देखते श्वेतपर्वतके समान सुशोभित ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुए ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च वरवारणम् ।
मुखाडम्बरनिर्घोषैः पूरयन्तमिवासकृत् ॥

वह श्रेष्ठ गजराज अपनी गम्भीर गर्जनासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको बारंबार निनादित-सा कर रहा था ॥

हैमयन्त्रमहाकक्ष्यं हिरण्मयविषाणिनम् ।
मनोहरकुथास्तीर्णं सर्वरत्नविभूषितम् ॥

उसकी पीठपर सोनेके खंभोंसे युक्त बहुत बड़ा हौदा कसा हुआ था। उसके दाँतोंमें सोना मढ़ा गया था। उसके ऊपर मनोहर झूल पड़ी हुई थी। वह सब प्रकारके रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित था॥

अनेकशतरत्नाभिः पताकाभिरलङ्कृतम् ।
नित्यस्रुतमदस्रावं क्षरन्तमिव तोयदम् ॥

सैकड़ों रत्नोंसे अलंकृत पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उसके मस्तकसे निरन्तर मदकी धारा इस प्रकार बहती रहती थी, मानो मेघ पानी बरसा रहा हो॥

दिशागजं महामात्रं काञ्चनस्रजमास्थितः ।
प्रबभौ मन्दराग्रस्थः प्रतपन् भानुमानिव ॥

वह विशालकाय दिग्गज सोनेकी माला धारण किये हुए था। उसपर बैठे हुए देवराज इन्द्र मन्दराचलके शिखरपर तपते हुए सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहे थे॥

ततो वज्रमयं भीमं प्रगृह्य परमाङ्कुशम् ।
ययौ बलवता सार्धं पावकेन शचीपतिः ॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्र वज्रमय भयंकर एवं विशाल अङ्कुश लेकर बलवान् अग्निदेवके साथ स्वर्गलोकको चल दिये॥

तं करेणुगजव्रातैर्विमानैश्च मरुद्गणाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः कुबेरवरुणग्रहाः ॥

उनके पीछे हाथी-हथिनियोंके समुदायों और विमानोंद्वारा मरुद्गण, कुबेर तथा वरुण आदि देवता भी प्रसन्नतापूर्वक चल पड़े॥

स वायुपथमास्थाय वैश्वानरपथं गतः ।
प्राप्य सूर्यपथं देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥

इन्द्रदेव पहले वायुपथमें पहुँचकर वैश्वानरपथ (तेजोमय लोक) में जा पहुँचे। तत्पश्चात् सूर्यदेवके मार्गमें जाकर वहाँ अन्तर्धान हो गये॥

ततः सर्वदशार्हाणामाहुकस्य च याः स्त्रियः ।
नन्दगोपस्य महिषी यशोदा लोकविश्रुता ॥
रेवती च महाभागा रुक्मिणी च पतिव्रता ।
सत्या जाम्बवती चोभे गान्धारी शिंशुमापि वा ॥
विशोका लक्ष्मणा साध्वी सुमित्रा केतुमा तथा ।
वासुदेवमहिष्योऽन्याः श्रिया सार्धं ययुस्तदा ॥
विभूतिं द्रष्टुमनसः केशवस्य वराङ्गनाः ।
प्रीयमाणाः सभां जग्मुरालोकयितुमच्युतम् ॥

तदनन्तर सब दशार्हकुलकी स्त्रियाँ, राजा उग्रसेनकी रानियाँ, नन्दगोपकी विश्वविख्यात रानी यशोदा, महाभागा रेवती (बलभद्र-पत्नी) तथा पतिव्रता रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवती, गान्धारराज-कन्या शिंशुमा, विशोका, लक्ष्मणा, साध्वी सुमित्रा, केतुमा तथा भगवान् वासुदेवकी अन्य रानियाँ—ये सब-की-सब श्रीजीके साथ भगवान् केशवकी विभूति एवं नवागत सुन्दरी रानियोंको देखनेके लिये और श्रीअच्युतका दर्शन करनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ सभाभवनमें गयीं॥

देवकी सर्वदेवीनां रोहिणी च पुरस्कृता ।
ददृशुर्देवमासीनं कृष्णं हलभृता सह ॥

देवकी तथा रोहिणीजी सब रानियोंके आगे चल रही थीं। सबने वहाँ जाकर श्रीबलरामजीके साथ बैठे हुए श्रीकृष्णको देखा॥

तौ तु पूर्वमुपक्रम्य रोहिणीमभिवाद्य च ।
अभ्यवादयतां देवौ देवकीं रामकेशवौ ॥
देवकीं सप्तदेवीनां यथाश्रेष्ठं च मातरः ।

उन दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णने उठकर पहले रोहिणीजीको प्रणाम किया। फिर देवकीजीकी तथा सात देवियोंमेंसे श्रेष्ठताके क्रमसे अन्य सभी माताओंकी चरण-वन्दना की॥

ववन्दे सह रामेण भगवान् वासवानुजः ॥
अथासनवरं प्राप्य वृष्णिदारपुरस्कृता ॥
उभावङ्कगतौ चक्रे देवकी रामकेशवौ ।

बलरामसहित भगवान् उपेन्द्रने जब इस प्रकार मातृचरणोंमें प्रणाम किया, तब वृष्णिकुलकी महिलाओंमें अग्रणी माता देवकीजीने एक श्रेष्ठ आसनपर बैठकर बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंको गोदमें ले लिया॥

सा ताभ्यामृषभाक्षाभ्यां पुत्राभ्यां शुशुभे तदा ॥
देवकी देवमातेव मित्रेण वरुणेन च ।

वृषभके सदृश विशाल नेत्रोंवाले उन दोनों पुत्रोंके साथ उस समय माता देवकीकी वैसी ही शोभा हुई, जैसी मित्र और वरुणके साथ देवमाता अदितिकी होती है॥

ततः प्राप्ता यशोदाया दुहिता वै क्षणेन हि ॥
जाज्वल्यमाना वपुषा प्रभयातीव भारत ।

इसी समय यशोदाजीकी पुत्री क्षणभरमें वहाँ आ पहुँची। भारत! उसके श्रीअङ्ग दिव्य प्रभासे प्रज्वलित-से हो रहे थे॥

एकानङ्गेति यामाहुः कन्यां तां कामरूपिणीम् ॥
यत्कृते सगणं कंसं जघान पुरुषोत्तमः ।

उस कामरूपिणी कन्याका नाम था 'एकानङ्गा'। जिसके निमित्तसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सेवकोंसहित कंसका वध किया था॥

ततः स भगवान् रामस्तामुपाक्रम्य भामिनीम् ॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय सव्येन परिजग्राह पाणिना ।
दक्षिणेन कराग्रेण परिजग्राह माधवः ॥

तब भगवान् बलरामने आगे बढ़कर उस मानिनी बहिनको बायें हाथसे पकड़ लिया और वात्सल्य-स्नेहसे

उसका मस्तक सूँघा । तदनन्तर श्रीकृष्णने भी उस कन्याको दाहिने हाथसे पकड़ लिया ॥

ददृशुस्तां सभामध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः ॥
रुक्मपद्मशयां पद्मां श्रीमिवोत्तमनागयोः ।

लोगोंने उस सभामें बलराम और श्रीकृष्णकी इस बहिनको देखा; मानो दो श्रेष्ठ गजराजोंके बीचमें सुवर्णमय कमलके आसनपर विराजमान भगवती लक्ष्मी हों ॥

अथाक्षतमहावृष्ट्या लाजपुष्पघृतैरपि ॥
वृष्णयोऽवाकिरन् प्रीताः संकर्षणजनार्दनौ ।

तत्पश्चात् वृष्णिवंशी पुरुषोंने प्रसन्न होकर बलराम और श्रीकृष्णपर लाजा (खील), फूल और घीसे युक्त अक्षतकी वर्षा की ॥

सबालाः सहवृद्धाश्च सज्ञातिकुलबान्धवाः ॥
उपोपविविशुः प्रीता वृष्णयो मधुसूदनम् ।

उस समय बालक, वृद्ध, ज्ञाति, कुल और बन्धु-बान्धवोंसहित समस्त वृष्णिवंशी प्रसन्नतापूर्वक भगवान् मधुसूदनके समीप बैठ गये ॥

पूज्यमानो महाबाहुः पौराणां रतिवर्धनः ॥
विवेश पुरुषव्याघ्रः स्ववेश्म मधुसूदनः ।

इसके बाद पुरवासियोंकी प्रीति बढ़ानेवाले पुरुषसिंह महाबाहु मधुसूदनने सबसे पूजित हो अपने महलमें प्रवेश किया ॥

रुक्मिण्या सहितो देव्या प्रमुमोद सुखी सुखम् ।
अनन्तरं च सत्याया जाम्बवत्याश्च भारत ।
सर्वासां च यदुश्रेष्ठः सर्वकालविहारवान् ॥

वहाँ सदा प्रसन्न रहनेवाले श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ बड़े सुखका अनुभव करने लगे । भारत ! तत्पश्चात् सदा लीला-विहार करनेवाले यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण क्रमशः सत्यभामा तथा जाम्बवती आदि सभी देवियोंके निवासस्थानोंमें गये ॥

जगाम च हृषीकेशो रुक्मिण्याः स्वं निवेशनम् ।

फिर अन्तमें श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके महलमें पधारे ॥

एष तात महाबाहो विजयः शार्ङ्गधन्वनः ॥
एतदर्थं च जन्माहुर्मानुषेषु महात्मनः ।

तात ! महाबाहु युधिष्ठिर ! शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजयगाथा कही गयी है। इसीके लिये महात्मा श्रीकृष्णका मनुष्योंमें अवतार हुआ बताया जाता है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा बाणासुरपर विजय और भीष्मके द्वारा श्रीकृष्ण-माहात्म्यका उपसंहार]

भीष्म उवाच

द्वारकायां ततः कृष्णः स्वदारेषु दिवानिशम् ।
सुखं लब्ध्वा महाराज प्रमुमोद महायशाः ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिर ! तदनन्तर महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी रानियोंके साथ दिन-रात सुखका अनुभव करते हुए द्वारकापुरीमें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥

पौत्रस्य कारणाच्चक्रे विबुधानां हितं तदा ।
सवासवैः सुरैः सर्वैर्दुष्करं भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन्होंने अपने पौत्र अनिरुद्धको निमित्त बनाकर देवताओंका जो हित-साधन किया, वह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥

बाणो नामाभवद् राजा बलेर्ज्येष्ठसुतो बली ।
वीर्यवान् भरतश्रेष्ठ स च बाहुसहस्रवान् ॥

भरतकुलभूषण ! बाण नामक एक राजा हुआ था, जो बलिका ज्येष्ठ पुत्र था । वह महान् बलवान् और पराक्रमी होनेके साथ ही सहस्र भुजाओंसे सुशोभित था ॥

ततश्चक्रे तपस्तीव्रं सत्येन मनसा नृप ।
रुद्रमाराधयामास स च बाणः समा बह्वीः ॥

राजन् ! बाणासुरने सच्चे मनसे बड़ी कठोर तपस्या की । उसने बहुत वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की ॥

तस्मै बहुवरा दत्ताः शङ्करेण महात्मना ।
तस्माल्लब्ध्वा वरान् बाणो दुर्लभान् ससुरैरपि ॥
स शोणितपुरे राज्यं चकाराप्रतिमो बली ।

महात्मा शङ्करने उसे अनेक वरदान दिये । भगवान् शङ्करसे देवदुर्लभ वरदान पाकर बाणासुर अनुपम बलशाली हो गया और शोणितपुरमें राज्य करने लगा ॥

त्रासितास्च सुराः सर्वे तेन बाणेन पाण्डव ॥
विजित्य विबुधान् सर्वान् सेन्द्रान् बाणः समा बह्वीः ।
अशासत महद् राज्यं कुबेर इव भारत ॥

भरतवंशी पाण्डुनन्दन ! बाणासुरने सब देवताओंको आतङ्कित कर रक्खा था । उसने इन्द्र आदि सब देवताओंको जीतकर कुबेरकी भाँति दीर्घकालतक इस भूतलपर महान् राज्यका शासन किया ॥

ऋद्ध्यर्थं कुरुते यत्नं तस्य चैवोशना कविः ।

ज्ञानी विद्वान् शुक्राचार्य उसकी समृद्धि बढ़ानेके लिये प्रयत्न करते रहते थे ॥

ततो राजन्नुषा नाम बाणस्य दुहिता तथा ॥
रूपेणाप्रतिमा लोके मेनकायाः सुता यथा ।

राजन् ! बाणासुरके एक पुत्री थी; जिसका नाम उषा था । संसारमें उसके रूपकी तुलना करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी । वह मेनका अप्सराकी पुत्री-सी प्रतीत होती थी ॥

अथोपायेन कौन्तेय अनिरुद्धो महाद्युतिः ॥
प्राद्युम्निस्तामुषां प्राप्य प्रच्छन्नः प्रमुमोद ह ।

कुन्तीनन्दन ! महान् तेजस्वी प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध किसी उपायसे उषातक पहुँचकर छिपे रहकर उसके साथ आनन्दका उपभोग करने लगे ॥

अथ बाणो महातेजास्तदा तत्र युधिष्ठिर ॥
तं गुह्यनिलयं ज्ञात्वा प्राद्युम्निं सुतया सह ।
गृहीत्वा कारयामास वस्तुं कारागृहे बलात् ॥

युधिष्ठिर ! महातेजस्वी बाणासुरने गुप्तरूपसे छिपे हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धका अपनी पुत्रीके साथ रहना जान लिया और उन्हें अपनी पुत्रीसहित बलपूर्वक कारागारमें ठूँस देनेके लिये बंदी बना लिया ।

सुकुमारः सुखार्होऽथ तदा दुःखमवाप सः ।
बाणेन खेदितो राजन्ननिरुद्धो मुमोह च ॥

राजन् ! वे सुकुमार एवं सुख भोगनेके योग्य थे, तो भी उन्हें उस समय दुःख उठाना पड़ा । बाणासुरके द्वारा भाँति-भाँतिके कष्ट दिये जानेपर अनिरुद्ध मूर्च्छित हो गये ॥

एतस्मिन्नेव काले तु नारदो मुनिपुङ्गवः ।
द्वारकां प्राप्य कौन्तेय कृष्णं दृष्ट्वा वचोऽब्रवीत् ॥

कुन्तीकुमार ! इसी समय मुनिप्रवर नारदजी द्वारकामें आकर श्रीकृष्णसे मिले और इस प्रकार बोले ॥

नारद उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां कीर्तिवर्धन ।
त्वत्पौत्रो बाध्यमानोऽथ बाणेनामिततेजसा ॥
कृच्छ्रं प्राप्तोऽनिरुद्धो वै शेते कारागृहे सदा ।

नारदजीने कहा—महाबाहु श्रीकृष्ण ! आप यदुवंशियोंकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं । इस समय अमिततेजस्वी बाणासुर आपके पौत्र अनिरुद्धको बहुत कष्ट दे रहा है । वे संकटमें पड़े हैं और सदा कारागारमें निवास कर रहे हैं ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा सुरर्षिर्वै बाणस्याथ पुरं ययौ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा ततो राजञ्जनार्दनः ।
आहूय बलदेवं वै प्रद्युम्नं च महाद्युतिम् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तं ताभ्यां सह जनार्दनः ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर देवर्षि नारद बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरको चले गये । नारदजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा महातेजस्वी प्रद्युम्नको बुलाया और उन दोनोंके साथ वे गरुड़पर आरूढ़ हुए ॥

ततः सुपर्णमारुह्य त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ॥
जग्मुः क्रुद्धा महावीर्या बाणस्य नगरं प्रति ।

तदनन्तर वे तीनों महापराक्रमी पुरुषरत्न गरुड़पर आरूढ़ हो क्रोधमें भरकर बाणासुरके नगरकी ओर चल दिये ॥

अथासाद्य महाराज तत्पुरीं ददृशुश्च ते ॥
ताम्रप्राकारसंवीतां रूप्यद्वारैश्च शोभिताम् ।

महाराज ! वहाँ जाकर उन्होंने बाणासुरकी पुरीको देखा, जो ताँबेकी चहारदिवारीसे घिरी हुई थी । चाँदीके बने हुए दरवाजे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

हेमप्रासादसम्बाधां मुक्तामणिविचित्रिताम् ॥
उद्यानवनसम्पन्नां नृत्तगीतैश्च शोभिताम् ।

वह पुरी सुवर्णमय प्रासादोंसे भरी हुई थी और मुक्तामणियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । उसमें स्थान-स्थानपर उद्यान और वन शोभा पा रहे थे । वह नगरी नृत्य और गीतोंसे सुशोभित थी ॥

तोरणैः पक्षिभिः कीर्णां पुष्करिण्या च शोभिताम् ॥
तां पुरीं स्वर्गसंकाशां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ।
दृष्ट्वा मुदा युतां हैमां विस्मयं परमं ययुः ॥

वहाँ अनेक सुन्दर फाटक बने थे । सब ओर भाँति-भाँतिके पक्षी चहचहाते थे । कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती थी । उसमें हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष निवास करते थे और वह पुरी स्वर्गके समान मनोहर दिखायी देती थी । प्रसन्नतासे भरी हुई उस सुवर्णमयी नगरीको देखकर श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न तीनोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

तस्य बाणपुरस्यासन् द्वारस्था देवताः सदा ।
महेश्वरो गुहश्चैव भद्रकाली च पावकः ॥
एता वै देवता राजन् ररक्षुस्तां पुरीं सदा ।

बाणासुरकी राजधानीमें कितने ही देवता सदा द्वारपर बैठकर पहरा देते थे । राजन् ! भगवान् शङ्कर, कार्तिकेय, भद्रकालीदेवी और अग्नि—ये देवता सदा उस पुरीकी रक्षा करते थे ॥

अथ कृष्णो बलाज्जित्वा द्वारपालान् युधिष्ठिर ॥
सुसंक्रुद्धो महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः ।
आससादोत्तरद्वारं शङ्करेणाभिपालितम् ॥

युधिष्ठिर ! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी श्रीकृष्णने अत्यन्त कुपित हो पूर्वद्वारके रक्षकोंको बलपूर्वक जीतकर भगवान् शङ्करके द्वारा सुरक्षित उत्तरद्वारपर आक्रमण किया ॥

तत्र तस्थौ महातेजाः शूलपाणिर्महेश्वरः ।
पिनाकं सशरं गृह्य बाणस्य हितकाम्यया ॥
ज्ञात्वा तमागतं कृष्णं व्यादितास्यमिवान्तकम् ।
महेश्वरो महाबाहुः कृष्णाभिमुखमाययौ ॥

वहाँ महान् तेजस्वी भगवान् महेश्वर हाथमें त्रिशूल लिये खड़े थे । जब उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण मुँह बाये कालकी भाँति आ रहे हैं, तब वे महाबाहु महेश्वर

बाणासुरके हित-साधनकी इच्छासे बाणसहित पिनाक नामक धनुष हाथमें लेकर श्रीकृष्णके सम्मुख आये ॥

ततस्तौ चक्रतुर्युद्धं वासुदेवमहेश्वरौ ।
तद् युद्धमभवद् घोरमचिन्त्यं रोमहर्षणम् ॥

तदनन्तर भगवान् वासुदेव और महेश्वर परस्पर युद्ध करने लगे । उनका वह युद्ध अचिन्त्य, रोमाञ्चकारी तथा भयंकर था ॥

अन्योन्यं तौ ततक्षाते अन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
दिव्यास्त्राणि च तौ देवौ क्रुद्धौ मुमुचतुस्तदा ॥

वे दोनों देवता एक दूसरेपर विजय पानेकी इच्छासे परस्पर प्रहार करने लगे । दोनों ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते थे ॥

ततः कृष्णो रणं कृत्वा मुहूर्तं शूलपाणिना ।
विजित्य तं महादेवं ततो युद्धे जनार्दनः ॥
अन्यांश्च जित्वा द्वारस्थान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ।

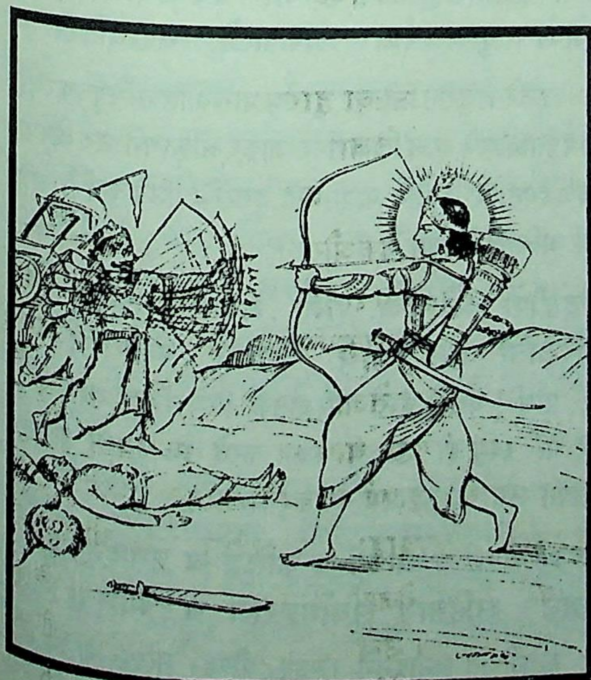
तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने शूलपाणि भगवान् शङ्करके साथ दो घड़ीतक युद्ध करके महादेवजीको जीत लिया तथा द्वारपर खड़े हुए अन्य शिवगणोंको भी परास्त करके उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया ॥

प्रविश्य बाणमासाद्य स तत्राथ जनार्दनः ॥
चक्रे युद्धं महाक्रुद्धस्तेन बाणेन पाण्डव ।

पाण्डुनन्दन ! पुरीमें प्रवेश करके अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीजनार्दनने बाणासुरके पास पहुँचकर उसके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥

बाणोऽपि सर्वशस्त्राणि शितानि भरतर्षभ ॥
सुसंक्रुद्धस्तदा युद्धे पातयामास केशवे ।

भरतश्रेष्ठ ! बाणासुर भी क्रोधसे आगबबूला हो रहा था । उसने भी युद्धमें भगवान् केशवपर सभी तीखे-तीखे अस्त्र-शस्त्र चलाये ॥



पुनरुद्यम्य शस्त्राणां सहस्रं सर्वबाहुभिः ॥
मुमोच बाणः संक्रुद्धः कृष्णं प्रति रणाजिरे ।

फिर उसने उद्योगपूर्वक अपनी सभी भुजाओंसे उस समराङ्गणमें कुपित हो श्रीकृष्णपर सहस्रों शस्त्रोंका प्रहार किया ॥

ततः कृष्णस्तु सञ्छिद्य तानि सर्वाणि भारत ॥
कृत्वा मुहूर्तं बाणेन युद्धं राजन्नधोक्षजः ।
चक्रमुद्यम्य राजन् वै दिव्यं शस्त्रोत्तमं ततः ॥
सहस्रबाहूंश्चिच्छेद बाणस्यामिततेजसः ।

भारत ! परंतु श्रीकृष्णने वे सभी शस्त्र काट डाले । राजन् ! तदनन्तर भगवान् अधोक्षजने दो घड़ीतक बाणासुरके साथ युद्ध करके अपना दिव्य उत्तम शस्त्र चक्र हाथमें उठाया और अमित तेजस्वी बाणासुरकी सहस्र भुजाओंको काट दिया ॥

ततो बाणो महाराज कृष्णेन भृशपीडितः ॥
छिन्नबाहुः पपाताशु विशाख इव पादपः ।

महाराज ! तब श्रीकृष्णद्वारा अत्यन्त पीड़ित होकर बाणासुर भुजाएँ कट जानेपर शाखाहीन वृक्षकी भाँति धरतीपर गिर पड़ा ॥

स पातयित्वा बालेयं बाणं कृष्णस्त्वरान्वितः ॥
प्राद्युम्निं मोक्षयामास क्षिप्तं कारागृहे तदा ।

इस प्रकार बलिपुत्र बाणासुरको रणभूमिमें गिराकर श्रीकृष्णने बड़ी उतावलीके साथ कैदमें पड़े हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको छुड़ा लिया ॥

मोक्षयित्वाथ गोविन्दः प्राद्युम्निं सह भार्यया ।
बाणस्य सर्वरत्नानि असंख्यानि जहार सः ॥

पत्नीसहित अनिरुद्धको छुड़ाकर भगवान् गोविन्दने बाणासुरके सभी प्रकारके असंख्य रत्न हर लिये ॥

गोधनान्यथ सर्वस्वं स बाणस्यालये बलात् ।
जहार च हृषीकेशो यदूनां कीर्तिवर्धनः ॥
ततः स सर्वरत्नानि चाहृत्य मधुसूदनः ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे तत् सर्वं गरुडोपरि ॥

उसके घरमें जो भी गोधन अथवा अन्य किसी प्रकारके धन मौजूद थे, उन सबको भी यदुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले भगवान् हृषीकेशने हर लिया । फिर वे सब रत्न लेकर मधुसूदनने शीघ्रतापूर्वक गरुड़पर रख लिये ॥

त्वरयाथ स कौन्तेय बलदेवं महाबलम् ।
प्रद्युम्नं च महावीर्यमनिरुद्धं महाद्युतिम् ॥
उषां च सुन्दरीं राजन् भृत्यदासीगणैः सह ।
सर्वानेतान् समारोप्य रत्नानि विविधानि च ॥

कुन्तीनन्दन ! तत्पश्चात् उन्होंने महाबली बलदेव, अमितपराक्रमी प्रद्युम्न, परम कान्तिमान् अनिरुद्ध तथा सेवकों और दासियोंसहित सुन्दरी उषा—इन सबको और नाना प्रकारके रत्नोंको भी गरुड़पर चढ़ाया ॥

मुदा युक्तो महातेजाः पीताम्बरधरो बली।
दिव्याभरणचित्राङ्गः शङ्खचक्रगदासिभृत् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तमुदयं भास्करो यथा।

इसके बाद शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले, पीताम्बरधारी, महाबली एवं महातेजस्वी श्रीकृष्ण बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वयं भी गरुड़पर आरूढ़ हुए, मानो भगवान् भास्कर उदयाचलपर आसीन हुए हों। उस समय भगवान्के श्रीअङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विचित्र शोभा धारण कर रहे थे ॥

अथारुह्य सुपर्णं स प्रययौ द्वारकां प्रति ॥
प्रविश्य स्वपुरं कृष्णो यादवैः सहितस्ततः।
प्रमुमोद तदा राजन् स्वर्गस्थो वासवो यथा ॥

गरुड़पर आरूढ़ हो श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर चल दिये। राजन् ! अपनी पुरी द्वारकामें पहुँचकर वे यदुवंशियोंके साथ ठीक वैसे ही आनन्दपूर्वक रहने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गलोकमें देवताओंके साथ रहते हैं ॥

सूदिता मौरवाः पाशा निशुम्भनरकौ हतौ।
कृतक्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥
शौरिणा पृथिवीपालास्त्रासिता भरतर्षभ।
धनुषश्च प्रणादेन पाञ्चजन्यस्वनेन च ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्णने मुरदैत्यके पाश काट दिये, निशुम्भ और नरकासुरको मार डाला और प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सब लोगोंके लिये निष्कण्टक बना दिया। इन्होंने अपने धनुषकी टंकार और पाञ्चजन्य शङ्खके हुंकारसे समस्त भूपालोंको आतङ्कित कर दिया है ॥

मेघप्रख्यैरनीकैश्च दाक्षिणात्यैः सुसंवृतम्।
रुक्मिणं त्रासयामास केशवो भरतर्षभ ॥

भरतकुलभूषण ! भगवान् केशवने उस रुक्मीको भी भयभीत कर दिया, जिसके पास मेघोंकी घटाके समान असंख्य सेनाएँ हैं और जो दाक्षिणात्य सेवकोंसे सदा सुरक्षित रहता है ॥

ततः पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा।
उवाह महिषीं भोज्यामेष चक्रगदाधरः ॥

इन चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान्ने रुक्मीको हराकर सूर्यके समान तेजस्वी तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा भोजकुलोत्पन्ना रुक्मिणीका अपहरण किया, जो इस समय इनकी महारानीके पदपर प्रतिष्ठित है ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालश्च निर्जितः।
वक्रश्च सह शैब्येन शतधन्वा च क्षत्रियः ॥

ये जारूथी नगरीमें वहाँके राजा आहुतिको तथा क्राथ एवं शिशुपालको भी परास्त कर चुके हैं। इन्होंने शैब्य, दन्तवक्र तथा शतधन्वा नामक क्षत्रियोंको भी हराया है ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः क्रोधाद् यवनश्च कशेरुमान्।

इन्होंने इन्द्रद्युम्न, कालयवन और कशेरुमान्का भी क्रोधपूर्वक वध किया है ॥

पर्वतानां सहस्रं च चक्रेण पुरुषोत्तमः ॥
विभिद्य पुण्डरीकाक्षो द्युमत्सेनमयोधयत्।

कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने चक्रद्वारा सहस्रों पर्वतोंको विदीर्ण करके द्युमत्सेनके साथ युद्ध किया ॥

महेन्द्रशिखरे चैव निमेषान्तरचारिणौ ॥
जग्राह भरतश्रेष्ठ वरुणस्याभितश्चरौ।
इरावत्यामुभौ चैतावग्निसूर्यसमौ बले ॥
गोपतिस्तालकेतुश्च निहतौ शार्ङ्गधन्वना।

भरतश्रेष्ठ ! जो बलमें अग्नि और सूर्यके समान थे और वरुणदेवताके उभय पार्श्वमें विचरण करते तथा जिनमें पलक मारते-मारते एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँच जानेकी शक्ति थी, वे गोपति और तालकेतु भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा महेन्द्र पर्वतके शिखरपर इरावती नदीके किनारे पकड़े और मारे गये ॥

अक्षप्रपतने चैव नेमिहंसपथेषु च ॥
उभौ तावपि कृष्णेन स्वराष्ट्रे विनिपातितौ।

अक्षप्रपतनके अन्तर्गत नेमिहंसपथ नामक स्थानमें, जो उनके अपने ही राज्यमें पड़ता था, उन दोनोंको भगवान् श्रीकृष्णने मारा था ॥

प्राग्ज्योतिषं पुरश्रेष्ठमसुरैर्बहुभिर्वृतम्।
प्राप्य लोहितकूटानि कृष्णेन वरुणो जितः ॥
अजेयो दुष्प्रधर्षश्च लोकपालो महाद्युतिः।

बहुतेरे असुरोंसे घिरे हुए पुरश्रेष्ठ प्राग्ज्योतिषमें पहुँचकर वहाँकी पर्वतमालाके लाल शिखरोंपर जाकर श्रीकृष्णने उन लोकपाल वरुणदेवतापर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्धर्ष, अजेय एवं अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

इन्द्रद्वीपो महेन्द्रेण गुप्तो मघवता स्वयम् ॥
पारिजातो हृतः पार्थ केशवेन बलीयसा।

पार्थ ! यद्यपि इन्द्र पारिजातके लिये द्वीप (रक्षक) बने हुए थे, स्वयं ही उसकी रक्षा करते थे, तथापि महाबली केशवने उस वृक्षका अपहरण कर लिया ॥

पाण्ड्यं पौण्ड्रं च मात्स्यं च कलिङ्गं च जनार्दनः ॥
जघान सहितान् सर्वानङ्गराजं च माधवः।

लक्ष्मीपति जनार्दनने पाण्ड्य, पौण्ड्र, मत्स्य, कलिंग और अङ्ग आदि देशोंके समस्त राजाओंको एक साथ पराजित किया ॥

एष चैकशतं हत्वा रथेन क्षत्रपुङ्गवान् ॥
गान्धारीमवहत् कृष्णो महिषीं यादवर्षभः ।

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने केवल एक रथपर चढ़कर अपने विरोधमें खड़े हुए सौ क्षत्रियनरेशोंको मौतके घाट उतारकर गान्धारराजकुमारी शिंशुमाको अपनी महारानी बनाया ॥

बभ्रोश्च प्रियमन्विच्छिन्नेष चक्रगदाधरः ॥
वेणुदारिहृतां भार्यामुन्ममाथ युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! चक्र और गदा धारण करनेवाले इन भगवान्ने बभ्रुका प्रिय करनेकी इच्छासे वेणुदारिके द्वारा अपहृत की हुई उनकी भार्याका उद्धार किया था ॥

पर्याप्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ॥
वेणुदारिवशे युक्तां जिगाय मधुसूदनः ।

इतना ही नहीं; मधुसूदनने वेणुदारिके वशमें पड़ी हुई घोड़ों, हाथियों एवं रथोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको भी जीत लिया ॥

अवाप्य तपसा वीर्यं बलमोजश्च भारत ॥
त्रासिताः सगणाः सर्वे बाणेन विबुधाधिपाः ।
वज्राशनिगदापाशैस्त्रासयद्भिरनेकशः ॥
तस्य नासीद् रणे मृत्युर्देवैरपि सवासवैः ।
सोऽभिभूतश्च कृष्णेन निहतश्च महात्मना ॥
छित्त्वा बाहुसहस्रं तद् गोविन्देन महात्मना ।

भारत ! जिस बाणासुरने तपस्याद्वारा बल, वीर्य और ओज पाकर समस्त देवेश्वरोंको उनके गणोंसहित भयभीत कर दिया था, इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा बारंबार वज्र, अशनि, गदा और पाशोंका प्रहार करके त्रास दिये जानेपर भी समराङ्गणमें जिसकी मृत्यु न हो सकी, उसी दैत्यराज बाणासुरको महामना भगवान् गोविन्दने उसकी सहस्र भुजाएँ काटकर पराजित एवं क्षत-विक्षत कर दिया ॥

एष पीठं महाबाहुः कंसं च मधुसूदनः ॥
पैठकं चातिलोमानं निजघान जनार्दनः ।

मधु दैत्यका विनाश करनेवाले इन महाबाहु जनार्दनने पीठ, कंस, पैठक और अतिलोमा नामक असुरोंको भी मार दिया ॥

जम्भमैरावतं चैव विरूपं च महायशाः ॥
जघान भरतश्रेष्ठ शम्बरं चारिमर्दनम् ।

भरतश्रेष्ठ ! इन महायशस्वी श्रीकृष्णने जम्भ, ऐरावत, विरूप और शत्रुमर्दन शम्बरासुरको भी (अपनी विभूतियोंद्वारा) मरवा डाला ॥

एष भोगवतीं गत्वा वासुकिं भरतर्षभ ॥
निर्जित्य पुण्डरीकाक्षो रौहिणेयममोचयत् ।

भरतकुलभूषण ! इन कमलनयन श्रीहरिने भोगवतीपुरीमें जाकर वासुकि नागको हराकर रोहिणीनन्दनको[1] बन्धनसे छुड़ाया ॥

एवं बहूनि कर्माणि शिशुरेव जनार्दनः ॥
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः संकर्षणसहायवान् ।

इस प्रकार संकर्षणसहित कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने बाल्यावस्थामें ही बहुत-से अद्भुत कर्म किये थे ॥

एवमेषोऽसुराणां च सुराणां चापि सर्वशः ॥
भयाभयकरः कृष्णः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।

ये ही देवताओं और असुरोंको सर्वथा अभय तथा भय देनेवाले हैं ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर हैं ॥

एवमेष महाबाहुः शास्ता सर्वदुरात्मनाम् ॥
कृत्वा देवार्थममितं स्वस्थानं प्रतिपत्स्यते ।

इस प्रकार सम्पूर्ण दुष्टोंका दमन करनेवाले ये महाबाहु भगवान् श्रीहरि अनन्त देवकार्य सिद्ध करके अपने परमधामको पधारेंगे ॥

एष भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा सागरं गमयिष्यति ।

ये महायशस्वी श्रीकृष्ण मुनिजनवाञ्छित एवं भोगोंसे सम्पन्न रमणीय द्वारकापुरीको आत्मसात् करके समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥

बहुपुण्यवतीं रम्यां चैत्ययूपवतीं शुभाम् ॥
द्वारकां वरुणावासं प्रवेक्ष्यति सकाननाम् ।

ये चैत्य और यूपोंसे सम्पन्न, परम पुण्यवती, रमणीय एवं मङ्गलमयी द्वारकाको वन-उपवनोंसहित वरुणालयमें डुबा देंगे ॥

तां सूर्यसदनप्रख्यां मनोज्ञां शार्ङ्गधन्वना ॥
विसृष्टां वासुदेवेन सागरः प्लावयिष्यति ।

सूर्यलोकके समान कान्तिमती एवं मनोरम द्वारकापुरीको जब शार्ङ्गधन्वा वासुदेव त्याग देंगे, उस समय समुद्र इसे अपने भीतर ले लेगा ॥

सुरासुरमनुष्येषु नाभून्न भविता क्वचित् ॥
यस्तामध्यवसद् राजा अन्यत्र मधुसूदनात् ।

भगवान् मधुसूदनके सिवा देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें ऐसा कोई राजा न हुआ और न होगा ही, जो द्वारकापुरीमें रहनेका संकल्प भी कर सके ॥

भ्राजमानास्तु शिशवो वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥
तज्जुष्टं प्रतिपत्स्यन्ते नाकपृष्ठं गतासवः ।

उस समय वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी एवं उनके कान्तिमान् शिशु भी प्राण त्यागकर भगवत्सेवित परमधामको प्राप्त करेंगे ॥

एवमेव दशार्हाणां विधाय विधिना विधिम् ॥
विष्णुर्नारायणः सोमः सूर्यश्च सविता स्वयम् ।

१. रोहिणीके गद और सारण आदि कई पुत्र थे ।

इस प्रकार ये दशार्हवंशियोंके सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करेंगे । ये स्वयं ही विष्णु, नारायण, सोम, सूर्य और सविता हैं ॥

अप्रमेयोऽनियोज्यश्च यत्रकामगमो वशी ॥
मोदते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।

ये अप्रमेय हैं । इनपर किसीका नियन्त्रण नहीं चल सकता । ये इच्छानुसार चलनेवाले और सबको अपने वशमें रखनेवाले हैं । जैसे बालक खिलौनेसे खेलता है, उसी प्रकार ये भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ आनन्दमयी क्रीडा करते हैं ॥

नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत् प्रभुः ॥
आत्मनस्तेजसा कृष्णः सर्वेषां कुरुते गतिम् ।

ये प्रभु न तो किसीके गर्भमें आते हैं और न किसी योनिविशेषमें ही इनका आवास हुआ है अर्थात् ये अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं । श्रीकृष्ण अपने ही तेजसे सबकी सद्गति करते हैं ॥

यथा बुद्बुद उत्थाय तत्रैव प्रविलीयते ॥
चराचराणि भूतानि तथा नारायणे सदा ।

जैसे बुद्बुद पानीसे उठकर फिर उसीमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त चराचर भूत सदा भगवान् नारायणसे प्रकट होकर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं ॥

न प्रमातुं महाबाहुः शक्यो भारत केशवः ॥
परं ह्यपरमेतस्माद् विश्वरूपान्न विद्यते ।

भारत ! इन महाबाहु केशवकी कोई इतिश्री नहीं बतायी जा सकती । इन विश्वरूप परमेश्वरसे भिन्न पर और अपर कुछ भी नहीं है ॥

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते ।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥ ३० ॥

यह शिशुपाल मूढ़बुद्धि पुरुष है, यह भगवान् श्रीकृष्णको सर्वत्र व्यापक तथा सर्वदा स्थिर नहीं जानता है, इसीलिये उनके सम्बन्धमें ऐसी बातें कहता है ॥ ३० ॥

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान् नरः ।
स वै पश्येद् यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य उत्तम धर्मकी खोज करता है, वह धर्मके स्वरूपको जैसा समझता है, वैसा यह चेदिराज शिशुपाल नहीं समझता ॥ ३१ ॥

सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ॥ ३२ ॥

अथवा वृद्धों और बालकोंसहित यहाँ बैठे हुए समस्त महात्मा राजाओंमें ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्णको पूज्य न मानता हो या कौन है, जो इनकी पूजा न करता हो ? ॥ ३२ ॥

अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति ।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

यदि शिशुपाल इस पूजाको अनुचित मानता है, तो अब उस अनुचित पूजाके विषयमें उसे जो उचित जान पड़े, वैसा करे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि भीष्मवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें भीष्मवाक्यनामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७२८½ श्लोक मिलाकर कुल ७६१½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सहदेवकी राजाओंको चुनौती तथा क्षुब्ध हुए शिशुपाल आदि नरेशोंका युद्धके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद् वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महाबली भीष्म चुप हो गये । तत्पश्चात् माद्रीकुमार सहदेवने शिशुपालकी बातोंका मुँहतोड़ उत्तर देते हुए यह सार्थक बात कही—॥ १ ॥

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ॥ २ ॥
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ।

'राजाओ ! केशी दैत्यका वध करनेवाले अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णकी मेरेद्वारा जो पूजा की गयी है, उसे आपलोगोंमेंसे जो सहन न कर सकें, उन सब बलवानोंके मस्तकपर मैंने यह पैर रख दिया । मैंने खूब सोच-समझकर यह बात कही है । जो इसका उत्तर देना चाहे, वह सामने आ जाय । मेरेद्वारा वह वधके योग्य होगा; इसमें संशय नहीं है ॥ २३½ ॥

मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ॥ ४ ॥
अर्च्यमर्चितमर्घार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ।

'जो बुद्धिमान् राजा हों वे मेरेद्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अर्घ्यनिवेदनके सर्वथा योग्य भगवान् श्रीकृष्णकी पूजाका हृदयसे अनुमोदन करें' ॥ ४½ ॥

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् ॥ ५ ॥

मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ।

सहदेवने महामानी और बलवान् राजाओंके बीच खड़े होकर अपना पैर दिखाया था, तो भी जो बुद्धिमान् एवं श्रेष्ठ नरेश थे, उनमेंसे कोई कुछ न बोला ॥ ५½ ॥

ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ६ ॥
अदृश्यरूपा वाचश्चाप्यब्रुवन् साधु साध्विति ।

उस समय सहदेवके मस्तकपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और अदृश्यरूपसे खड़े हुए देवताओंने 'साधु', 'साधु', कहकर उनके सत्साहसकी प्रशंसा की ॥ ६½ ॥

आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः ॥ ७ ॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ८ ॥

तदनन्तर कभी पराजित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-की महिमाके ज्ञाता, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों-की बातें बतानेवाले, सब लोगोंके सभी संशयोंका निवारण करनेवाले तथा सम्पूर्ण लोकोंसे परिचित देवर्षि नारद समस्त उपस्थित प्राणियोंके बीच स्पष्ट शब्दोंमें बोले—॥ ७-८ ॥

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥ ९ ॥

'जो मानव कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करेंगे, वे जीते-जी ही मृतक-तुल्य समझे जायँगे । ऐसे लोगोंसे कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

पूजयित्वा च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें विशिष्ट व्यक्तियोंको पहचानने-वाले नरदेव सहदेवने क्रमशः पूज्य व्यक्तियोंकी पूजा करके वह अर्घ्यनिवेदनका कार्य पूरा कर दिया ॥ १० ॥

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः ।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णका पूजन सम्पन्न हो जानेपर शत्रु-विजयी शिशुपालने क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें करके समस्त राजाओंसे कहा—॥ ११ ॥

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किं तु साम्प्रतम् ।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ॥ १२ ॥

'भूमिपालो ! मैं सबका सेनापति बनकर खड़ा हूँ । अब तुमलोग किस चिन्तामें पड़े हो । आओ, हम सब लोग युद्धके लिये सुसज्जित हो पाण्डवों और यादवोंकी सम्मिलित सेनाका सामना करनेके लिये डट जायँ' ॥ १२ ॥

इति सर्वान् समुत्साह्य राजस्तांश्चेदिपुङ्गवः ।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ १३ ॥
तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।
समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥ १४ ॥

इस प्रकार उन सब राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करके चेदिराजने युधिष्ठिरके यज्ञमें विघ्न डालनेके उद्देश्यसे राजाओंसे सलाह की । शिशुपालके इस प्रकार बुलानेपर उसके सेनापतित्व-में सुनीथ आदि कुछ प्रमुख नरेशगण चले आये । वे सब-के-सब अत्यन्त क्रोधसे भर रहे थे एवं उनके मुखकी कान्ति बदली हुई दिखायी देती थी ॥ १३-१४ ॥

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम् ।
न स्याद् यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥ १५ ॥

उन सबने यह कहा कि 'युधिष्ठिरके अभिषेक और श्रीकृष्णकी पूजाका कार्य सफल न हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिये' ॥ १५ ॥

निष्कर्षान्निश्चयात् सर्वे राजानः क्रोधमूर्छिताः ।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥ १६ ॥

इस निर्णय एवं निष्कर्षपर पहुँचकर वे सभी नरेश क्रोधसे मोहित हो गये । सहदेवकी बातोंसे अपमानका अनुभव करके अपनी शक्तिकी प्रबलताका विश्वास करके राजाओंने उपर्युक्त बातें कही थीं ॥ १६ ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥ १७ ॥

अपने सगे-सम्बन्धियोंके मना करनेपर भी उनका क्रोधसे तमतमाता हुआ शरीर उन सिंहोंके समान सुशोभित हुआ, जो मांससे वञ्चित कर दिये जानेके कारण दहाड़ रहे हों ॥

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥ १८ ॥

राजाओंका वह समुदाय अक्षय समुद्रकी भाँति उमड़ रहा था । उसका कहीं अन्त नहीं दिखायी देता था । सेनाएँ ही उसकी अपार जलराशि थीं । उसे इस प्रकार शपथ करते देख भगवान् श्रीकृष्णने यह समझ लिया कि अब ये नरेश युद्धके लिये तैयार हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि राजमन्त्रणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें राजाओंकी मन्त्रणाविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

(शिशुपालवधपर्व)

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता और भीष्मजीका उन्हें सान्त्वना देना

वैशम्पायन उवाच

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम्।
संवर्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवम्॥ १॥
रोषात् प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः।
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम्।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवारिहा॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर प्रलयकालीन महावायुके थपेड़ोंसे क्षुब्ध हुए भयंकर महासागरकी भाँति राजाओंके उस समुदायको क्रोधसे चञ्चल हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मजीसे उसी प्रकार बोले, जैसे शत्रुहन्ता महातेजस्वी इन्द्र बृहस्पतिजीसे कोई बात पूछते हैं—॥१-२॥

असौ रोषात् प्रचलितो महान् नृपतिसागरः।
अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ३॥

'पितामह! यह देखिये, राजाओंका महासमुद्र रोषसे अत्यन्त चञ्चल हो उठा है। अब यहाँ इन सबको शान्त करनेका जो उचित उपाय जान पड़े, वह मुझे बताइये॥३॥

यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानां च हितं भवेत्।
यथा सर्वत्र तत् सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह॥ ४॥

'दादाजी! यज्ञमें विघ्न न पड़े और प्रजाओंका हित हो तथा जिस प्रकार सर्वत्र शान्ति भी बनी रहे, वह सब उपाय अब मुझे बतानेकी कृपा करें'॥ ४॥

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः॥ ५॥

धर्मके ज्ञाता धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुरुकुल-पितामह भीष्मजी इस प्रकार बोले—॥ ५॥

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः॥ ६॥

'कुरुवंशके वीर! तुम डरो मत, क्या कुत्ता कभी सिंहको मार सकता है? हमने कल्याणमय मार्ग पहले ही चुन लिया है (श्रीकृष्णका आश्रय ही वह मार्ग है जिसका मैंने वरण कर लिया है)॥

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन् समागताः।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः॥ ७॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः।

'जैसे सिंहके सो जानेपर बहुत-से कुत्ते उसके निकट आकर एक साथ भूँकने लगते हैं, उसी प्रकार ये सामने खड़े हुए राजा भी तभीतक भूँक रहे हैं, जबतक वृष्णिवंशका सिंह सो रहा है॥७½॥

भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ॥ ८॥
न हि सम्बुध्यते यावत् सुप्तः सिंह इवाच्युतः।
तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः॥ ९॥
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः।
सर्वान् सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम्॥१०॥

'क्रोधमें भरे हुए कुत्तोंके समान ये लोग सिंहके निकट तभीतक कोलाहल मचा रहे हैं, जबतक भगवान् श्रीकृष्ण सिंहकी तरह जाग नहीं उठते—इन्हें दण्ड देनेके लिये उद्यत नहीं हो जाते। राजाओंमें श्रेष्ठ चेदिकुलभूषण नृसिंह शिशुपाल भी अपनी विवेकशक्ति खो बैठा है, तभी इन सब नरेशोंको यमलोकमें भेज देनेकी इच्छासे कुत्तेसे सिंह बनानेकी कोशिश कर रहा है॥८—१०॥

नूनमेतत् समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत॥११॥

'भारत! अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण इस शिशुपालके भीतर उनका जो तेज है, उसे पुनः समेट लेना चाहते हैं॥११॥

विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम्॥१२॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही इस चेदिराज शिशुपालकी तथा इन समस्त भूपालोंकी बुद्धि मारी गयी है॥ १२॥

आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा॥१३॥

'क्योंकि नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण जिस-जिसको अपनेमें विलीन कर लेना चाहते हैं, उस-उस मनुष्यकी बुद्धि इसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे इस चेदिराज शिशुपालकी॥ १३॥

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर॥१४॥

'युधिष्ठिर! माधव श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें जो स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज—ये चार प्रकारके प्राणी हैं, उन सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं॥ १४॥

वैशम्पायन उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत ॥ १५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीकी यह बात सुनकर चेदिराज शिशुपाल उनको बड़ी कठोर बातें सुनाने लगा ॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासन नामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालद्वारा भीष्मकी निन्दा

शिशुपाल उवाच

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान्।
न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसन ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—कुलको कलंकित करनेवाले भीष्म! तुम अनेक प्रकारकी विभीषिकाओंद्वारा इन सब राजाओंको डरानेकी चेष्टा कर रहे हो। बड़े-बूढ़े होकर भी तुम्हें अपने इस कृत्यपर लज्जा क्यों नहीं आती? ॥ १॥

युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥ २ ॥

तुम तीसरी प्रकृतिमें स्थित (नपुंसक) हो, अतः तुम्हारे लिये इस प्रकार धर्मविरुद्ध बातें कहना उचित ही है। फिर भी यह आश्चर्य है कि तुम समूचे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष कहे जाते हो ॥ २॥

नावि नौरिव सम्बद्धा यथान्धो वान्धमन्वियात्।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः ॥ ३ ॥

भीष्म! जैसे एक नाव दूसरी नावमें बाँध दी जाय, एक अंधा दूसरे अंधेके पीछे चले; वही दशा इन सब कौरवोंकी है, जिन्हें तुम-जैसा अगुआ मिला है ॥ ३॥

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥ ४ ॥

तुमने श्रीकृष्णके पूतना-वध आदि कर्मोंका जो विशेषरूपसे वर्णन किया है, उससे हमारे मनको पुनः बहुत बड़ी चोट पहुँची है ॥ ४॥

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥ ५ ॥

भीष्म! तुम्हें अपने ज्ञानीपनका बड़ा घमंड है, परंतु तुम हो वास्तवमें बड़े मूर्ख! ओह! इस केशवकी स्तुति करनेकी इच्छा होते ही तुम्हारी जीभके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते? ॥ ५॥

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

भीष्म! जिसके प्रति मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्योंको भी घृणा करनी चाहिये, उसी ग्वालियेकी तुम ज्ञानवृद्ध होकर भी स्तुति करना चाहते हो (यह आश्चर्य है!) ॥ ६॥

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥

भीष्म! यदि इसने बचपनमें एक पक्षी (बकासुर) को अथवा जो युद्धकी कलासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, उन अश्व (केशी) और वृषभ (अरिष्टासुर) नामक पशुओंको मार डाला तो इसमें क्या आश्चर्यकी बात हो गयी? ॥ ७॥

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥

भीष्म! छकड़ा क्या है, चेतनाशून्य लकड़ियोंका ढेर ही तो, यदि इसने पैरसे उसको उलट ही दिया तो कौन अनोखी करामात कर डाली? ॥ ८॥

(अर्कप्रमाणौ तौ वृक्षौ यद्यनेन निपातितौ।
नागश्च पातितोऽनेन तत्र को विस्मयः कृतः ॥)

आकके पौधोंके बराबर दो अर्जुन वृक्षोंको यदि श्रीकृष्णने गिरा दिया अथवा एक नागको ही मार गिराया तो कौन बड़े आश्चर्यका काम कर डाला? ॥

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

भीष्म! यदि इसने गोवर्धनपर्वतको सात दिनतक अपने हाथपर उठाये रक्खा तो उसमें भी मुझे कोई आश्चर्यकी बात नहीं जान पड़ती; क्योंकि गोवर्धन तो दीमकोंकी खोदी हुई मिट्टीका ढेर मात्र है ॥ ९॥

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ॥ १० ॥

भीष्म! कृष्णने गोवर्धनपर्वतके शिखरपर खेलते हुए अकेले ही बहुत-सा अन्न खा लिया, यह बात भी तुम्हारे मुँहसे सुनकर दूसरे लोगोंको ही आश्चर्य हुआ होगा (मुझे नहीं) ॥ १०॥

यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥

धर्मज्ञ भीष्म ! जिस महाबली कंसका अन्न खाकर यह पला था, उसीको इसने मार डाला । यह भी इसके लिये कोई बड़ी अद्भुत बात नहीं है ॥ ११ ॥

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम् ।
यद् वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ॥ १२ ॥

कुरुकुलाधम भीष्म ! तुम धर्मको बिलकुल नहीं जानते । मैं तुमसे धर्मकी जो बात कहूँगा, वह तुमने संत-महात्माओंके मुखसे भी नहीं सुनी होगी ॥ १२ ॥

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च ।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः ॥ १३ ॥

स्त्रीपर, गौपर, ब्राह्मणोंपर तथा जिसका अन्न खाय अथवा जिनके यहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनपर भी हथियार न चलाये ॥ १३ ॥

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा ।
भीष्म लोके हि तत् सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते ॥ १४ ॥

भीष्म ! जगत्‌में साधु धर्मात्मा पुरुष सज्जनोंको सदा इसी धर्मका उपदेश देते रहते हैं; किंतु तुम्हारे निकट यह सब धर्म मिथ्या दिखायी देता है ॥ १४ ॥

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम ।
अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ॥ १५ ॥

कौरवाधम ! तुम मेरे सामने इस कृष्णकी स्तुति करते हुए इसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध बता रहे हो, मानो मैं इसके विषयमें कुछ जानता ही न होऊँ ॥ १५ ॥

गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म त्वद्वाक्याद् यदि पूज्यते ।
एवंभूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥ १६ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारे कहनेसे गोघाती और स्त्रीहन्ता होते हुए भी इस कृष्णकी पूजा हो रही है तो तुम्हारी धर्मज्ञताकी हद हो गयी । तुम्हीं बताओ, जो इन दोनों ही प्रकारकी हत्याओंका अपराधी है, वह स्तुतिका अधिकारी कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः ।
सम्भावयति चाप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः ।
एवमेतत् सर्वमिति तत् सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥ १७ ॥

तुम कहते हो, 'ये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, ये ही सम्पूर्ण जगत्‌के ईश्वर हैं' और तुम्हारे ही कहनेसे यह कृष्ण अपनेको ऐसा ही समझने भी लगा है । वह इन सभी बातोंको ज्यों-की-त्यों ठीक मानता है; परंतु मेरी दृष्टिमें कृष्णके सम्बन्धमें तुम्हारे द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह सब निश्चय ही झूठा है ॥ १७ ॥

न गाथागाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥

कोई भी गीत गानेवालेको कुछ सिखा नहीं सकता, चाहे वह कितनी ही बार क्यों न गाता हो । भूलिङ्ग पक्षीकी भाँति सब प्राणी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं ॥ १८ ॥

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नात्र संशयः ।
अति पापीयसी चैषा पाण्डवानामपीष्यते ॥ १९ ॥

निश्चय ही तुम्हारी यह प्रकृति बड़ी अधम है, इसमें संशय नहीं है । अतएव इन पाण्डवोंकी प्रकृति भी तुम्हारे ही समान अत्यन्त पापमयी होती जा रही है ॥ १९ ॥

येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः ।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २० ॥

अथवा क्यों न हो, जिनका परम पूजनीय कृष्ण है और सत्पुरुषोंके मार्गसे गिरा हुआ तुम-जैसा धर्मज्ञानशून्य धर्मात्मा जिनका मार्गदर्शक है ॥ २० ॥

को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः ।
कुर्याद् यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥ २१ ॥

भीष्म ! कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनेको ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ और धर्मात्मा जानते हुए भी ऐसे नीच कर्म करेगा, जो धर्मपर दृष्टि रखते हुए भी तुम्हारे द्वारा किये गये हैं ॥ २१ ॥

चेत् त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव ।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना ।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ॥ २२ ॥

यदि तुम धर्मको जानते हो, यदि तुम्हारी बुद्धि उत्तम ज्ञान और विवेकसे सम्पन्न है तो तुम्हारा भला हो, बताओ, काशिराजकी जो धर्मज्ञ कन्या अम्बा दूसरे पुरुषमें अनुरक्त थी, उसका अपनेको पण्डित माननेवाले तुमने क्यों अपहरण किया ? ॥ २२ ॥

तां त्वयापि हृतां भीष्म कन्यां नैषितवान् यतः ।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २३ ॥

भीष्म ! तुम्हारे द्वारा अपहरण की गयी उस काशिराजकी कन्याको तुम्हारे भाई विचित्रवीर्यने अपनानेकी इच्छा नहीं की, क्योंकि वे सन्मार्गपर स्थित रहनेवाले थे ॥ २३ ॥

दारयोर्यस्य चान्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः ।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २४ ॥

उन्हींकी दोनों विधवा पत्नियोंके गर्भसे तुम-जैसे पण्डित

मानीके देखते-देखते दूसरे पुरुषद्वारा संतानें उत्पन्न की गयीं, फिर भी तुम अपनेको साधु पुरुषोंके मार्गपर स्थिर मानते हो ॥ २४ ॥

को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद् धारयसि मोहाद् वा क्लीबत्वाद् वा न संशयः॥ २५ ॥

भीष्म ! तुम्हारा धर्म क्या है ! तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य भी व्यर्थका ढकोसलामात्र है, जिसे तुमने मोहवश अथवा नपुंसकताके कारण धारण कर रखा है, इसमें संशय नहीं॥

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥ २६ ॥

धर्मज्ञ भीष्म ! मैं तुम्हारी कहीं कोई उन्नति भी तो नहीं देख रहा हूँ। मेरा तो विश्वास है, तुमने ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका कभी सङ्ग नहीं किया है। तभी तो तुम ऐसे धर्मका उपदेश करते हो ॥ २६ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २७ ॥

यज्ञ, दान, स्वाध्याय तथा बहुत दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञ—ये सब संतानकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् ।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २८ ॥

भीष्म ! अनेक व्रतों और उपवासोंद्वारा जो पुण्य कार्य किया जाता है, वह सब संतानहीन पुरुषके लिये निश्चय ही व्यर्थ हो जाता है ॥ २८ ॥

सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
हंसवत् त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ २९ ॥

तुम संतानहीन, वृद्ध और मिथ्याधर्मका अनुसरण करनेवाले हो; अतः इस समय हंसकी भाँति तुम भी अपने जातिभाइयोंके हाथसे ही मारे जाओगे ॥ २९ ॥

एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा ।
भीष्म यत् तदहं सम्यग् वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३० ॥

भीष्म ! पहलेके विवेकी मनुष्य एक प्राचीन वृत्तान्त सुनाया करते हैं, वही मैं ज्यों-का-त्यों तुम्हारे सामने उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत् पुरा ।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३१ ॥
धर्मं चरत माधर्ममिति तस्य वचः किल ।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

पूर्वकालकी बात है, समुद्रके निकट कोई बूढ़ा हंस रहता था। वह धर्मकी बातें करता; परंतु उसका आचरण ठीक उसके विपरीत होता था। वह पक्षियोंको सदा यह उपदेश दिया करता कि धर्म करो, अधर्मसे दूर रहो। सदा सत्य बोलनेवाले उस हंसके मुखसे दूसरे-दूसरे पक्षी यही उपदेश सुना करते थे ॥ ३१-३२ ॥

अथास्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः ।
अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३३ ॥

भीष्म ! ऐसा सुननेमें आया है कि वे समुद्रके जलमें विचरनेवाले पक्षी धर्म समझकर उसके लिये भोजन जुटा दिया करते थे ॥ ३३॥

ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः ।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः ।
तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ॥ ३४ ॥

भीष्म ! हंसपर विश्वास हो जानेके कारण वे सभी पक्षी अपने अण्डे उसके पास ही रखकर समुद्रके जलमें गोते लगाते और विचरते थे; परंतु वह पापी हंस उन सबके अण्डे खा जाता था ॥ ३४ ॥

स हंसः सम्प्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि ।
ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः ।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद् ददर्श ह ॥ ३५ ॥

वे बेचारे पक्षी असावधान थे और वह अपना काम बनानेके लिये सदा चौकन्ना रहता था। तदनन्तर जब वे अण्डे नष्ट होने लगे, तब एक बुद्धिमान् पक्षीको हंसपर कुछ संदेह हुआ और एक दिन उसने उसकी सारी करतूत देख भी ली ॥ ३५ ॥

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम् ।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३६ ॥

हंसका यह पापपूर्ण कृत्य देखकर वह पक्षी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो उठा और उसने अन्य सब पक्षियोंसे सारा हाल कह सुनाया ॥ ३६ ॥

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः ।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूद्वह ॥ ३७ ॥

कुरुवंशी भीष्म ! तब उन पक्षियोंने निकट जाकर सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया और धर्मात्माका मिथ्या ढोंग बनाये हुए उस हंसको मार डाला ॥ ३७ ॥

ते त्वां हंससधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः ।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तं यथाण्डजम् ॥ ३८ ॥
गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।
भीष्म यां तां च ते सम्यक् कथयिष्यामि भारत॥ ३९ ॥

तुम भी उस हंसके ही समान हो, अतः ये सब नरेश अत्यन्त कुपित होकर आज तुम्हें उसी तरह मार डालेंगे, जैसे उन पक्षियोंने हंसकी हत्या कर डाली थी। भीष्म ! इस

विषयमें पुराणवेत्ता विद्वान् एक गाथा गाया करते हैं। भरतकुलभूषण ! मैं उसे भी तुमको भलीभाँति सुनाये देता हूँ ॥ ३८-३९ ॥

अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाशुचि।
अण्डभक्षणकर्मैतत् तव वाचमतीयते ॥ ४० ॥

'हंस ! तुम्हारी अन्तरात्मा रागादि दोषोंसे दूषित है, तुम्हारा यह अण्डभक्षणरूप अपवित्र कर्म तुम्हारी इस धर्मोपदेशमयी वाणीके सर्वथा विरुद्ध है' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्ये एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवाक्यविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालकी बातोंपर भीमसेनका क्रोध और भीष्मजीका उन्हें शान्त करना

शिशुपाल उवाच

स मे बहुमतो राजा जरासंधो महाबलः।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—महाबली राजा जरासंध मेरे लिये बड़े ही सम्माननीय थे। वे कृष्णको दास समझकर इसके साथ युद्धमें लड़ना ही नहीं चाहते थे ॥ १ ॥

केशवेन कृतं कर्म जरासंधवधे तदा।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत् साध्विति मन्यते॥ २ ॥

तब इस केशवने जरासंधके वधके लिये भीमसेन और अर्जुनको साथ लेकर जो नीच कर्म किया है, उसे कौन अच्छा मान सकता है ? ॥ २ ॥

अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासंधस्य भूपतेः ॥ ३ ॥

पहले तो (चैत्यकगिरिके शिखरको तोड़कर) बिना दरवाजेके ही इसने नगरमें प्रवेश किया। उसपर भी छद्मवेष बना लिया और अपनेको ब्राह्मण प्रसिद्ध कर दिया। इस प्रकार इस कृष्णने भूपाल जरासंधका प्रभाव देखा ॥ ३ ॥

येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता।
नेषितं पाद्यमस्मै तद् दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥

उस धर्मात्मा जरासंधने जब इस दुरात्माके आगे ब्राह्मण अतिथिके योग्य पाद्य आदि प्रस्तुत किये, तब इसने यह जानकर कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, उसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं की ॥ ४ ॥

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः।
जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥

कौरव्य भीष्म ! तत्पश्चात् जब उन्होंने कृष्ण, भीम और अर्जुन तीनोंसे भोजन करनेका आग्रह किया, तब इस कृष्णने ही उसका निषेध किया था ॥ ५ ॥

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥

मूर्ख भीष्म ! यदि यह कृष्ण सम्पूर्ण जगत्का कर्ता-धर्ता है, जैसा कि तुम इसे मानते हो तो यह अपनेको भलीभाँति ब्राह्मण भी क्यों नहीं मानता ? ॥ ६ ॥

इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदिमे पाण्डवास्त्वया।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥ ७ ॥

मुझे सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह जान पड़ती है कि ये पाण्डव भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गसे दूर हटा दिये गये हैं; इसलिये ये भी कृष्णके इस कार्यको ठीक समझते हैं ॥ ७ ॥

अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥

अथवा भारत ! स्त्रीके समान धर्मवाले (नपुंसक) और बूढ़े तुम-जैसे लोग जिनके सभी कार्योंमें पथप्रदर्शन करते हैं, उनका ऐसा समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपालकी बातें बड़ी रूखी थीं। उनका एक-एक अक्षर कटुतासे भरा हुआ था। उन्हें सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधाग्निसे जल उठे ॥ ९ ॥

तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥

उनकी आँखें स्वभावतः बड़ी-बड़ी और कमलके समान सुन्दर थीं। वे क्रोधके कारण अधिक लाल हो गयीं; मानो उनमें खून उतर आया हो ॥ १० ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥

सब राजाओंने देखा, उनके ललाटमें तीन रेखाओंसे युक्त भ्रुकुटी तन गयी है; मानो त्रिकूटपर्वतपर त्रिपथगामिनी गङ्गा लहरा उठी हों ॥ ११ ॥

दन्तान् संदशतस्तस्य कोपाद् ददृशुराननम्।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥

वे दाँतोंसे दाँत पीसने लगे, रोषकी अधिकतासे उनका मुख ऐसा भयंकर दिखायी देने लगा; मानो प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंको निगल जानेकी इच्छावाला विकराल काल ही प्रकट हो गया हो ॥ १२ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम्।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥

वे उछलकर शिशुपालके पास पहुँचना ही चाहते थे कि महाबाहु भीष्मने बड़े वेगसे उठकर उन मनस्वी भीमको पकड़ लिया, मानो महेश्वरने कार्तिकेयको रोक लिया हो ॥ १३॥

तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥

भारत ! पितामह भीष्मके द्वारा अनेक प्रकारकी बातें कहकर रोके जानेपर भीमसेनका क्रोध शान्त हो गया॥१४॥

नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः।
समुद्वृत्तो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥

शत्रुदमन भीम भीष्मजीकी आज्ञाका उल्लंघन उसी प्रकार न कर सके, जैसे वर्षाके अन्तमें उमड़ा हुआ होनेपर भी महासागर अपनी तटभूमिसे आगे नहीं बढ़ता है ॥ १५ ॥

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप।
नाकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

राजन् ! भीमसेनके कुपित होनेपर भी वीर शिशुपाल भयभीत नहीं हुआ। उसे अपने पुरुषार्थका पूरा भरोसा था ॥ १६ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिंदमः।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥ १७ ॥

भीमको बार-बार वेगसे उछलते देख शत्रुदमन शिशुपालने उनकी कुछ भी परवा नहीं की, जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह मृगको कुछ भी नहीं समझता ॥ १७ ॥

प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान्।
भीमसेनमभिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥

उस समय भयानक पराक्रमी भीमसेनको कुपित देख प्रतापी चेदिराज हँसते हुए बोला— ॥ १८ ॥

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥

'भीष्म ! छोड़ दो इसे, ये सभी राजा देख लें कि यह भीम मेरे प्रभावसे उसी प्रकार दग्ध हो जायगा जैसे फतिंगा आगके पास जाते ही भस्म हो जाता है' ॥ १९ ॥

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत् कुरुसत्तमः।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

तब चेदिराजकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलतिलक भीष्मने भीमसे यह कहा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीमक्रोधविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा शिशुपालके जन्मके वृत्तान्तका वर्णन

भीष्म उवाच

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः।
रासभारावसदृशं ररास च ननाद च ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—भीमसेन ! सुनो, चेदिराज दमघोषके कुलमें जब यह शिशुपाल उत्पन्न हुआ, उस समय इसके तीन आँखें और चार भुजाएँ थीं। इसने रोनेकी जगह गदहे-के रेंकनेकी भाँति शब्द किया और जोर-जोरसे गर्जना भी की ॥ १ ॥



तेनास्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागायाकुरुतां मतिम् ॥ २ ॥

इससे इसके माता-पिता अन्य भाई-बन्धुओंसहित भयसे थर्रा उठे। इसकी वह विकराल आकृति देख उन्होंने इसे त्याग देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम्।
चिन्तासम्मूढहृदयं वागुवाचाशरीरिणी ॥ ३ ॥

पत्नी, पुरोहित तथा मन्त्रियोंसहित चेदिराजका हृदय चिन्तासे मोहित हो रहा था। उस समय आकाशवाणी हुई— ॥३॥

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो बलाधिकः।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥

'राजन् ! तुम्हारा यह पुत्र श्रीसम्पन्न और महाबली है, अतः तुम्हें इससे डरना नहीं चाहिये। तुम शान्तचित्त होकर इस शिशुका पालन करो ॥ ४ ॥

न च वै तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः।
मृत्युर्हन्तास्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५ ॥

'नरेश्वर ! अभी इसकी मृत्यु नहीं आयी है और न काल ही उपस्थित हुआ है। जो इसकी मृत्युका कारण है तथा जो शस्त्रद्वारा इसका वध करेगा, वह अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है' ॥ ५ ॥

संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर यह आकाशवाणी सुनकर उस अन्तर्हित भूतको लक्ष्य करके पुत्रस्नेहसे संतप्त हुई इसकी माता बोली—॥ ६ ॥

येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥
याथातथ्येन भगवान् देवो वा यदि वेतरः।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ ८ ॥

'मेरे इस पुत्रके विषयमें जिन्होंने यह बात कही है, उन्हें मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करती हूँ। चाहे वे कोई देवता हों अथवा और कोई प्राणी ! वे फिर मेरे प्रश्नका उत्तर दें। मैं यह यथार्थरूपसे सुनना चाहती हूँ कि मेरे इस पुत्रकी मृत्युमें कौन निमित्त बनेगा ?' ॥ ७-८ ॥

अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९ ॥
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
तृतीयमेतद् बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति।

तब पुनः उसी अदृश्य भूतने यह उत्तर दिया—'जिसके द्वारा गोदमें लिये जानेपर पाँच सिरवाले दो सर्पोंकी भाँति इसकी पाँचों अँगुलियोंसे युक्त दो अधिक भुजाएँ पृथ्वीपर गिर जायँगी और जिसे देखकर इस बालकका ललाटवर्ती तीसरा नेत्र भी ललाटमें लीन हो जायगा, वही इसकी मृत्युमें निमित्त बनेगा' ॥ ९-१०½ ॥

त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन् दिदृक्षवः।

चार बाँह और तीन आँखवाले बालकके जन्मका समाचार सुनकर भूमण्डलके सभी नरेश उसे देखनेके लिये आये ॥ ११½ ॥

तान् पूजयित्वा सम्प्राप्तान् यथार्हं स महीपतिः ॥ १२ ॥
एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत् तदा।

चेदिराजने अपने घर पधारे हुए उन सभी नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके अपने पुत्रको हर एकको गोदमें रक्खा ॥ १२½ ॥

एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
शिशुरङ्कसमारूढो न तत् प्राप निदर्शनम्।

इस प्रकार वह शिशु क्रमशः सहस्रों राजाओंकी गोदमें अलग-अलग रक्खा गया; परंतु मृत्युसूचक लक्षण कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ ॥ १३½ ॥

एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ॥ १४ ॥
ततश्चेदिपुरं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥

द्वारकामें यही समाचार सुनकर महाबली बलराम और श्रीकृष्ण दोनों यदुवंशी वीर अपनी बुआसे मिलनेके लिये उस समय चेदिराज्यकी राजधानीमें गये ॥ १४-१५ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम्।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १६ ॥

वहाँ बलराम और श्रीकृष्णने बड़े-छोटेके क्रमसे सबको यथायोग्य प्रणाम किया एवं राजा दमघोष और अपनी बुआ श्रुतश्रवासे कुशल और आरोग्यविषयक प्रश्न किया। तत्पश्चात् दोनों भाई एक उत्तम आसनपर विराजमान हुए ॥ १६ ॥

साभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाभ्यधिकं ततः।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात् स्वयम् ॥ १७ ॥

महादेवी श्रुतश्रवाने बड़े प्रेमसे उन दोनों वीरोंका सत्कार किया और स्वयं ही अपने पुत्रको श्रीकृष्णकी गोदमें डाल दिया ॥ १७ ॥

न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥ १८ ॥

उनकी गोदमें रखते ही बालककी वे दोनों बाँहें गिर गयीं और ललाटवर्ती नेत्र भी वहीं विलीन हो गया ॥ १८ ॥

तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत।
ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ॥ १९ ॥

यह देखकर बालककी माता भयभीत हो मन-ही-मन व्यथित हो गयी और श्रीकृष्णसे वर माँगती हुई बोली— 'महाबाहु श्रीकृष्ण ! मैं भयसे व्याकुल हो रही हूँ। मुझे इस पुत्रकी जीवनरक्षाके लिये कोई वर दो ॥ १९ ॥

त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः।
एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद् यदुनन्दनः ॥ २० ॥

'क्योंकि तुम संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके सबसे बड़े सहारे और भयभीत मनुष्योंको अभय देनेवाले हो।'

अपनी बुआके ऐसा कहनेपर यदुनन्दन श्रीकृष्णने कहा—॥ २० ॥

मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव।
ददामि कं वरं किं च करवाणि पितृष्वसः ॥ २१ ॥

'देवि ! धर्मज्ञे ! तुम डरो मत। तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं है। बुआ ! तुम्हीं कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर दूँ ? तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध कर दूँ ?' ॥ २१ ॥

शक्यं वा यदि वाशक्यं करिष्यामि वचस्तव।
एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद् यदुनन्दनम्॥ २२॥

'सम्भव हो या असम्भव, तुम्हारे वचनका मैं अवश्य पालन करूँगा।' इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर श्रुतश्रवा यदुनन्दन श्रीकृष्णसे बोली—॥ २२॥

शिशुपालस्यापराधान् क्षमेथास्त्वं महाबल।
मत्कृते यदुशार्दूल विद्ध्येनं मे वरं प्रभो॥ २३॥

'महाबली यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण! तुम मेरे लिये शिशुपालके सब अपराध क्षमा कर देना। प्रभो! यही मेरा मनोवाञ्छित वर समझो'॥ २३॥

श्रीकृष्ण उवाच

अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः॥ २४॥

श्रीकृष्णने कहा—बुआ! तुम्हारा पुत्र अपने दोषोंके कारण मेरेद्वारा यदि वधके योग्य होगा, तो भी मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूँगा। तुम अपने मनमें शोक न करो॥ २४॥

भीष्म उवाच

एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः।
त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः॥ २५॥

भीष्मजी कहते हैं—वीरवर भीमसेन! इस प्रकार यह मन्दबुद्धि पापी राजा शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णके दिये हुए वरदानसे उन्मत्त होकर तुम्हें युद्धके लिये ललकार रहा है॥ २५॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवध पर्वमें शिशुपालवृत्तान्तवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मकी बातोंसे चिढ़े हुए शिशुपालका उन्हें फटकारना तथा भीष्मका श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये समस्त राजाओंको चुनौती देना

भीष्म उवाच

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाऽऽह्वयतेऽच्युतम्।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—भीमसेन! यह चेदिराज शिशुपालकी बुद्धि नहीं है, जिसके द्वारा वह युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले तुम-जैसे महावीरको ललकार रहा है, अवश्य ही सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका ही यह निश्चित विधान है॥ १॥

को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः॥ २॥

भीमसेन! कालने ही इसके मन और बुद्धिको ग्रस लिया है, अन्यथा इस भूमण्डलमें कौन ऐसा राजा होगा, जो मुझपर इस तरह आक्षेप कर सके, जैसे यह कुलकलङ्क शिशुपाल कर रहा है॥ २॥

एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंऽशश्च हरेर्ध्रुवम्।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः॥ ३॥

यह महाबाहु चेदिराज निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णके तेजका अंश है। ये सर्वव्यापी भगवान् अपने उस अंशको पुनः समेट लेना चाहते हैं॥ ३॥

येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट्।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन्॥ ४॥

कुरुसिंह भीम! यही कारण है कि यह दुर्बुद्धि शिशुपाल हम सबको कुछ न समझकर आज सिंहके समान गरज रहा है॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न ममृषे चैद्यस्तद् भीष्मवचनं तदा।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम्॥ ५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात शिशुपाल न सह सका। वह पुनः अत्यन्त क्रोधमें भरकर भीष्मको उनकी बातोंका उत्तर देते हुए बोला॥ ५॥

शिशुपाल उवाच

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः।
यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत् सततोत्थितः॥ ६॥

शिशुपालने कहा—भीष्म! तुम सदा भाटकी तरह खड़े होकर जिसकी स्तुति गाया करते हो, उस कृष्णका जो प्रभाव है, वह हमारे शत्रुओंके पास ही रहे॥ ६॥

संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि।
तदा संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम्॥ ७॥

भीष्म! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुतिमें ही लगता है तो इस जनार्दनको छोड़कर इन राजाओंकी ही स्तुति करो॥ ७॥

दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम्।
जायमानेन येनेयमभवद् दारिता मही॥ ८॥

ये दरददेशके राजा हैं, इनकी स्तुति करो। ये

भूमिपालोंमें श्रेष्ठ बाह्लीक बैठे हैं, इनके गुण गाओ। इन्होंने जन्म लेते ही अपने शरीरके भारसे इस पृथ्वीको विदीर्ण कर दिया था ॥ ८ ॥

वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥ ९ ॥

भीष्म ! ये जो वङ्ग और अङ्ग दोनों देशोंके राजा हैं, इन्द्रके समान बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं तथा महान् धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले हैं, इन वीरवर कर्णकी कीर्तिका गान करो ॥ ९ ॥

यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥

महाबाहो ! इन कर्णके ये दोनों दिव्य कुण्डल जन्मके साथ ही प्रकट हुए हैं। किसी देवताने ही इन कुण्डलोंका निर्माण किया है। कुण्डलोंके साथ-साथ इनके शरीरपर यह दिव्य कवच भी जन्मसे ही पैदा हुआ है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १० ॥

वासवप्रतिमो येन जरासंधोऽतिदुर्जयः।
विजितो बाहुयुद्धेन देहभेदं च लम्भितः ॥ ११ ॥

जिन्होंने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी तथा अत्यन्त दुर्जय जरासंधको बाहुयुद्धके द्वारा केवल परास्त ही नहीं किया, उनके शरीरको चीर भी डाला, उन भीमसेनकी स्तुति करो ॥ ११ ॥

द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥

द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा दोनों पिता-पुत्र महारथी हैं तथा ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव स्तुत्य भी हैं। भीष्म ! तुम उन दोनोंकी अच्छी तरह स्तुति करो ॥ १२ ॥

ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचराम्।
इमां वसुमतीं कुर्यान्निःशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥

भीष्म ! इन दोनों पिता-पुत्रोंमेंसे यदि एक भी अत्यन्त क्रोधमें भर जाय, तो चराचर प्राणियोंसहित इस सारी पृथ्वीको नष्ट कर सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १३ ॥

द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम्।
नाश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च तौ स्तोतुमिच्छसि ॥ १४ ॥

भीष्म ! मुझे तो कोई भी ऐसा राजा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें द्रोण अथवा अश्वत्थामाकी बराबरी कर सके। तो भी तुम इन दोनोंकी स्तुति करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत्।
दुर्योधनं त्वं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम्।
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यं लोके प्रथितविक्रमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १६ ॥

इस समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर जो अद्वितीय अनुपम वीर हैं, उन राजाधिराज महाबाहु दुर्योधनको, अस्त्रविद्यामें निपुण और सुदृढ़पराक्रमी राजा जयद्रथको और विश्वविख्यात विक्रमशाली महाबली किम्पुरुषाचार्य द्रुमको छोड़कर तुम कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो ? ॥ १५-१६ ॥

वृद्धं च भारताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १७ ॥

शरद्वान् मुनिके पुत्र महापराक्रमी कृप भरतवंशके वृद्ध आचार्य हैं। इनका उल्लङ्घन करके तुम कृष्णका गुण क्यों गाते हो ? ॥ १७ ॥

धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणं पुरुषोत्तमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ पुरुषरत्न महाबली रुक्मीकी अवहेलना करके तुम केशवकी प्रशंसाके गीत क्यों गाते हो ? ॥ १८ ॥

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्रं च भूमिपम्।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥ १९ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तरम् ॥ २० ॥
शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम्।
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम् ॥ २१ ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम्।

महापराक्रमी भीष्मक, भूमिपाल दन्तवक्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन, मगधराज सहदेव, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्तीके राजकुमार विन्द-अनुविन्द, पाण्ड्यनरेश, श्वेत, उत्तर, महाभाग शङ्ख, अभिमानी वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य तथा महारथी एवं महाबली कलिंगनरेशकी अवहेलना करके कृष्णकी प्रशंसा क्यों कर रहे हो ? ॥ १९-२१½ ॥

शल्यादीनपि कस्मात् त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान्।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुति करनेमें ही लगता है तो इन शल्य आदि श्रेष्ठ राजाओंकी स्तुति क्यों नहीं करते ? ॥ २२ ॥

किं हि शक्यं मया कर्तुं यद् वृद्धानां त्वया नृप।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥ २३ ॥

भीष्म ! तुमने पहले बड़े-बूढ़े धर्मोपदेशकोंके मुखसे यदि यह धर्मसंगत बात, जिसे मैं अभी बताऊँगा नहीं सुनी, तो मैं क्या कर सकता हूँ ? ॥ २३ ॥

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ २४ ॥

भीष्म ! अपनी निन्दा, अपनी प्रशंसा, दूसरेकी निन्दा और दूसरेकी स्तुति—ये चार प्रकारके कार्य पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने कभी नहीं किये हैं ॥ २४ ॥

यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात् संस्तौषि भक्तितः।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥२५॥

भीष्म ! जो स्तुतिके सर्वथा अयोग्य है, उसी केशवकी तुम मोहवश सदा भक्तिभावसे जो स्तुति करते रहते हो, उसका कोई अनुमोदन नहीं करता ॥ २५ ॥

कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि।
समावेशयसे सर्वं जगत् केवलकाम्यया ॥२६॥

दुरात्मा कृष्ण तो राजा कंसका सेवक है, उनकी गौओंका चरवाहा रहा है । तुम केवल स्वार्थवश इसमें सारे जगत्का समावेश कर रहे हो ॥ २६ ॥

अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥२७॥

भारत ! तुम्हारी बुद्धि ठिकानेपर नहीं आ रही है। मैं यह बात पहले ही बता चुका हूँ कि तुम भूलिङ्ग पक्षीके समान कहते कुछ और करते कुछ हो॥ २७॥

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥२८॥

भीष्म ! हिमालयके दूसरे भागमें भूलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया रहती है । उसके मुखसे सदा ऐसी बात सुनायी पड़ती है, जो उसके कार्यके विपरीत भावकी सूचक होनेके कारण अत्यन्त निन्दनीय जान पड़ती है ॥ २८ ॥

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल।
साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥२९॥

वह चिड़िया सदा यही बोला करती है 'मा साहसम्' (अर्थात् साहसका काम न करो), परंतु वह स्वयं ही भारी साहसका काम करती हुई भी यह नहीं समझ पाती । २९।

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात् सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तरविलग्नं यत् तदादत्तेऽल्पचेतना ॥३०॥

भीष्म ! वह मूर्ख चिड़िया मांस खाते हुए सिंहके दाँतोंमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको अपनी चोंचसे चुगती रहती है॥३०॥

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम्।
तद्वत् त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥३१॥

निःसंदेह सिंहकी इच्छासे ही वह अबतक जी रही है। पापी भीष्म ! इसी प्रकार तुम भी सदा बढ़-बढ़कर बातें करते हो ॥ ३१ ॥

इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम्।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः ॥३२॥

भीष्म ! निःसंदेह तुम्हारा जीवन इन राजाओंकी इच्छासे ही बचा हुआ है; क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा ऐसा नहीं है, जिसके कर्म सम्पूर्ण जगत्से द्वेष करनेवाले हों ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपालका यह कटु वचन सुनकर भीष्मजीने शिशुपालके सुनते हुए यह बात कही—॥ ३३ ॥

इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम्।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥३४॥

'अहो ! शिशुपालके कथनानुसार मैं इन राजाओंकी इच्छापर जी रहा हूँ; परंतु मैं तो इन समस्त भूपालोंको तिनके-बराबर भी नहीं समझता' ॥ ३४ ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुधुर्नृपाः।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद् भीष्मं जगर्हिरे ॥३५॥

भीष्मके ऐसा कहनेपर बहुत-से राजा कुपित हो उठे। कुछ लोगोंको हर्ष हुआ तथा कुछ भीष्मजीकी निन्दा करने लगे ॥ ३५ ॥

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वचः।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥३६॥

कुछ महान् धनुर्धर नरेश भीष्मकी वह बात सुनकर कहने लगे—'यह बूढ़ा भीष्म पापी और घमण्डी है; अतः क्षमाके योग्य नहीं है ॥ ३६ ॥

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत् साध्वयं नृपाः।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥३७॥

'राजाओ ! क्रोधमें भरे हुए हम सब लोग मिलकर इस खोटी बुद्धिवाले भीष्मको पशुकी भाँति गला दबाकर मार डालें अथवा घास-फूसकी आगमें इसे जीते-जी जला दें' ॥ ३७ ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः।
उवाच मतिमान् भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥३८॥

उन राजाओंकी ये बातें सुनकर कुरुकुलके पितामह बुद्धिमान् भीष्मजी फिर उन्हीं नरेशोंसे बोले—॥ ३८ ॥

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये।
यत् तु वक्ष्यामि तत् सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥३९॥

'राजाओ ! यदि मैं सबकी बातका अलग-अलग उत्तर दूँ तो यहाँ उसकी समाप्ति होती नहीं दिखायी देती । अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब ध्यान देकर सुनो ॥ ३९ ॥

पशुवद् घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥४०॥

'तुमलोगोंमें साहस या शक्ति हो, तो पशुकी भाँति मेरी हत्या कर दो अथवा घास-फूसकी आगमें मुझे जला दो। मैंने तो तुमलोगोंके मस्तकपर अपना यह पूरा पैर रख दिया ॥ ४० ॥

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥४१॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम्।
यादवस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥४२॥

'हमने जिनकी पूजा की है, अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले वे भगवान् गोविन्द तुमलोगोंके सामने मौजूद हैं। तुमलोगोंमेंसे जिसकी बुद्धि मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये उतावली हो रही हो, वह इन्हीं यदुकुलतिलक चक्रगदाधर श्रीकृष्णको आज युद्धके लिये ललकारे और इनके हाथों मारा जाकर इन्हीं भगवान्‌के शरीरमें प्रविष्ट हो जाय' ।४१-४२।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालका वध, राजसूययज्ञकी समाप्ति तथा सभी ब्राह्मणों, राजाओं और श्रीकृष्णका स्वदेशगमन

वैशम्पायन उवाच

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात सुनते ही महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल भगवान् वासुदेवके साथ युद्धके लिये उत्सुक हो उनसे इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥

'जनार्दन ! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ आओ, मेरे साथ युद्ध करो, जिससे आज मैं समस्त पाण्डवोंसहित तुम्हें मार डालूँ॥

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः।
नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥

'कृष्ण ! तुम्हारे साथ ये पाण्डव भी सर्वथा मेरे वध्य हैं; क्योंकि इन्होंने सब राजाओंकी अवहेलना करके राजा न होनेपर भी तुम्हारी पूजा की ॥ ३ ॥

ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम्।
अनर्हमर्हवत् कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

'तुम कंसके दास थे तथा राजा भी नहीं हो, इसीलिये राजोचित पूजाके अनधिकारी हो। तो भी कृष्ण ! जो लोग मूर्खतावश तुम-जैसे दुर्बुद्धिकी पूजनीय पुरुषकी भाँति पूजा करते हैं, वे अवश्य ही मेरे वध्य हैं, मैं तो ऐसा ही मानता हूँ' ॥ ४ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः।

ऐसा कहकर क्रोधमें भरा हुआ राजसिंह शिशुपाल दहाड़ता हुआ युद्धके लिये डट गया ॥ ४½ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः।
उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समक्षं च वीर्यवान् ॥ ५ ॥

शिशुपालके ऐसा कहनेपर अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णने उसके सामने समस्त राजाओंसे मधुर वाणीमें कहा—॥

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥

'भूमिपालो ! यह है तो यदुकुलकी कन्याका पुत्र, परंतु हमलोगोंसे अत्यन्त शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवोंने इसका कभी कोई अपराध नहीं किया है, तो भी यह क्रूरात्मा उनके अहितमें ही लगा रहता है ॥ ६ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन् नराधिपाः ॥ ७ ॥

'नरेश्वरो ! हम प्राग्ज्योतिषपुरमें गये थे, यह बात जब इसे मालूम हुई, तब इस क्रूरकर्माने मेरे पिताजीका भानजा होकर भी द्वारकामें आग लगवा दी ॥ ७ ॥

क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ।
हत्वा बद्ध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा ॥ ८ ॥

'एक बार भोजराज (उग्रसेन) रैवतक पर्वतपर क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय यह वहीं जा पहुँचा और उनके सेवकोंको मारकर तथा शेष व्यक्तियोंको कैद करके उन सबको अपने नगरमें ले गया ॥ ८ ॥

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम्।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत् पापनिश्चयः ॥ ९ ॥

'मेरे पिताजी अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ले चुके थे। उसमें रक्षकोंसे घिरा हुआ पवित्र अश्व छोड़ा गया था। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्माने पिताजीके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये उस अश्वको भी चुरा लिया था ॥ ९ ॥

सौवीरान् प्रति यातां च बभ्रोरेष तपस्विनः।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥

'इतना ही नहीं, इसने तपस्वी बभ्रुकी पत्नीका, जो यहाँसे द्वारका जाते समय सौवीरदेश पहुँची थी और इसके प्रति जिसके मनमें तनिक भी अनुराग नहीं था, मोहवश अपहरण कर लिया ॥ १० ॥

एष मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ ११ ॥

'इस क्रूरकर्माने मायासे अपने असली रूपको छिपाकर करूषराजकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाली अपने मामा विशालानरेशकी कन्या भद्राका (करूषराजके ही वेषमें उपस्थित हो उसे धोखा देकर) अपहरण कर लिया ॥११॥

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ॥ १२ ॥

'मैं अपनी बुआके संतोषके लिये ही इसके बड़े दुःखद अपराधोंको सहन कर रहा हूँ; सौभाग्यकी बात है कि आज यह समस्त राजाओंके समीप मौजूद है ॥ १२ ॥

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १३ ॥

'आप सब लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र बर्ताव कर रहा है। इसने परोक्षमें मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें भी आप अच्छी तरह जान लें ॥ १३ ॥

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥

'परंतु आज इसने अहंकारवश समस्त राजाओंके सामने मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है, उसे मैं कभी क्षमा न कर सकूँगा ॥ १४ ॥

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥ १५ ॥

'अब यह मरना ही चाहता है। इस मूर्खने पहले रुक्मिणीके लिये उसके बन्धु-बान्धवोंसे याचना की थी, परंतु जैसे शूद्र वेदकी ऋचाओंको श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अज्ञानीको वह प्राप्त न हो सकी' ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर उन समस्त राजाओंने एक स्वरसे चेदिराज शिशुपालको धिक्कारा और उसकी निन्दा की ॥ १६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णका उपर्युक्त वचन सुनकर प्रतापी शिशुपाल खिलखिलाकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—॥ १७ ॥

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १८ ॥

'कृष्ण ! तुम इस भरी सभामें, विशेषतः सभी राजाओंके सामने रुक्मिणीको मेरी पहलेकी मनोनीत पत्नी बताते हुए लज्जाका अनुभव कैसे नहीं करते ? ॥ १८ ॥

मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ १९ ॥

'मधुसूदन ! तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनी स्त्रीको पहले दूसरेकी वाग्दत्ता पत्नी स्वीकार करते हुए सत्पुरुषोंकी सभामें इसका वर्णन करेगा ? ॥ १९ ॥

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।
क्रुद्धाद् वापि प्रसन्नाद् वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥२०॥

'कृष्ण ! यदि अपनी बुआकी बातोंपर तुम्हें श्रद्धा हो तो मेरे अपराध क्षमा करो या न भी करो, तुम्हारे कुपित होने या प्रसन्न होनेसे मेरा क्या बनने-बिगड़नेवाला है ?' ॥ २० ॥

तथा ब्रुवत एवास्य भगवान् मधुसूदनः ।
मनसाचिन्तयच्चक्रं दैत्यवर्गनिषूदनम् ॥ २१ ॥

शिशुपाल इस तरहकी बातें कर ही रहा था कि भगवान् मधुसूदनने मन-ही-मन दैत्यवर्गविनाशक सुदर्शन चक्रका स्मरण किया ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २२ ॥

चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथमें आ गया। तब बोलनेमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णने उच्च स्वरसे यह वचन कहा—॥ २२ ॥

शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ॥ २३ ॥
दत्तं मया याचितं च तानि पूर्णानि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥ २४ ॥

'यहाँ बैठे हुए सब महीपाल यह सुन लें कि मैंने क्यों अबतक इसके अपराध क्षमा किये हैं ? इसीकी माताके याचना करनेपर मैंने उसे यह प्रार्थित वर दिया था कि शिशुपालके सौ अपराध क्षमा कर दूँगा। राजाओ ! वे सब अपराध अब पूरे हो गये हैं; अतः आप सभी भूमिपतियोंके देखते-देखते मैं अभी इसका वध किये देता हूँ' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात्।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए शत्रुहन्ता यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने चक्रसे उसी क्षण चेदिराज शिशुपालका सिर उड़ा दिया ॥ २५ ॥



स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः।
ततश्चेदिपतेर्देहात् तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ॥ २६ ॥
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम्।
ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम्।
ववन्दे तत् तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥ २७ ॥

महाबाहु शिशुपाल वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति धराशायी हो गया। महाराज ! तदनन्तर सभी नरेशोंने देखा; चेदिराजके शरीरसे एक उत्कृष्ट तेज निकलकर ऊपर उठ रहा है; मानो आकाशसे सूर्य उदित हुआ हो। नरेश्वर ! उस तेजने विश्ववन्दित कमलदललोचन श्रीकृष्णको नमस्कार किया और उसी समय उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ २६-२७ ॥

तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः।
यद् विवेश महाबाहुं तत् तेजः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥

यह देखकर सभी राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसका तेज महाबाहु पुरुषोत्तममें प्रविष्ट हो गया ॥ २८ ॥

अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताशनिः।
कृष्णेन निहते चैद्ये चचाल च वसुंधरा ॥ २९ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालके मारे जानेपर सारी पृथ्वी हिलने लगी, बिना बादलोंके ही आकाशसे वर्षा होने लगी और प्रज्वलित बिजली टूट-टूटकर गिरने लगी ॥ २९ ॥

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किंचन।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३० ॥

वह समय वाणीकी पहुँचके परे था। उसका वर्णन करना कठिन था। उस समय कोई भूपाल वहाँ इस विषयमें कुछ भी न बोल सके—मौन रह गये। वे बार-बार केवल श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखते रहे ॥ ३० ॥

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ३१ ॥

कुछ अन्य नरेश अत्यन्त अमर्षमें भरकर हाथोंसे हाथ मसलने लगे तथा दूसरे लोग क्रोधसे मूर्छित होकर दाँतोंसे ओठ चबाने लगे ॥ ३१ ॥

रहश्च केचिद् वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३२ ॥

कुछ राजा एकान्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करने लगे। कुछ ही भूपाल अत्यन्त क्रोधके वशीभूत हो रहे थे तथा कुछ लोग तटस्थ थे ॥ ३२ ॥

प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ॥ ३३ ॥
शशंसुर्निर्वृताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम्।

बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा ब्राह्मणों तथा महाबली भूमिपालोंने भगवान् श्रीकृष्णका वह पराक्रम देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी स्तुति करते हुए उन्हींकी शरण ली ॥ ३३½ ॥

पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३४ ॥
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम्।
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा—'दमघोषपुत्र वीर राजा शिशुपालका अन्त्येष्टि संस्कार बड़े सत्कारके साथ करो, इसमें देर न लगाओ।' पाण्डवोंने भाईकी उस आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन किया ॥ ३४-३५ ॥

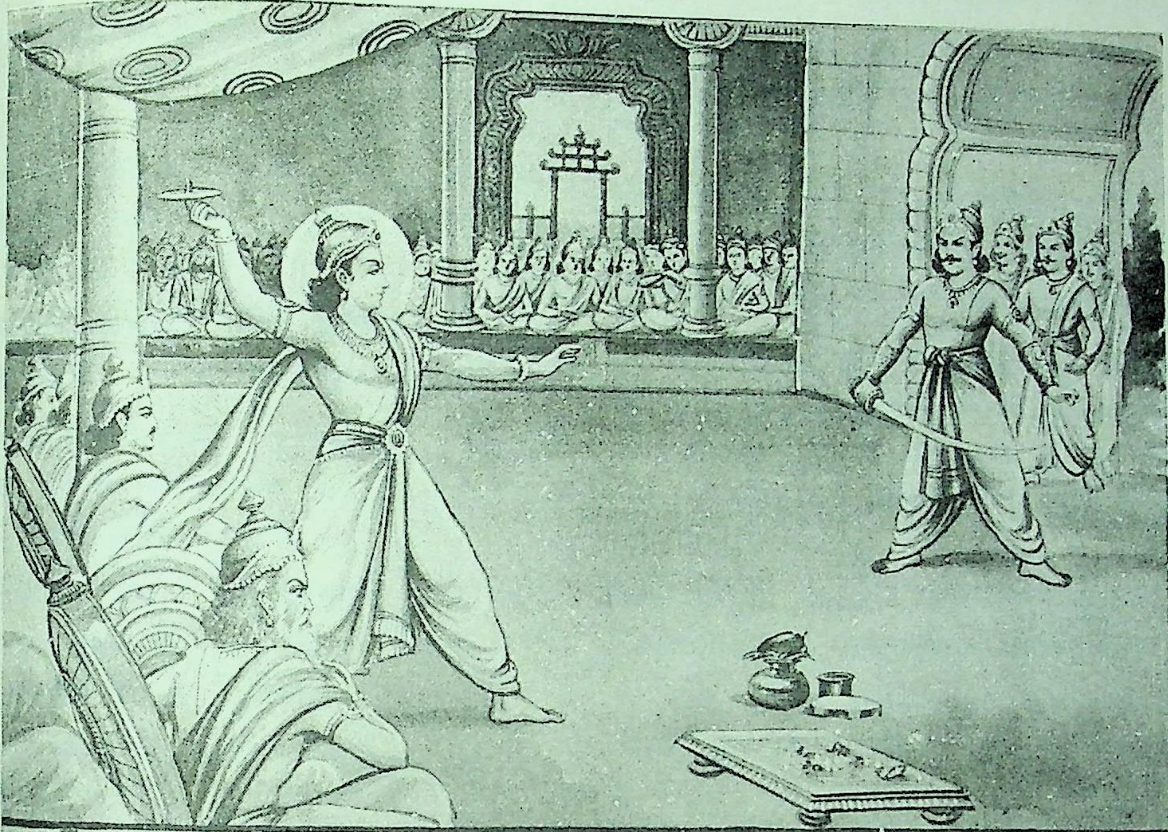
चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः।
अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३६ ॥

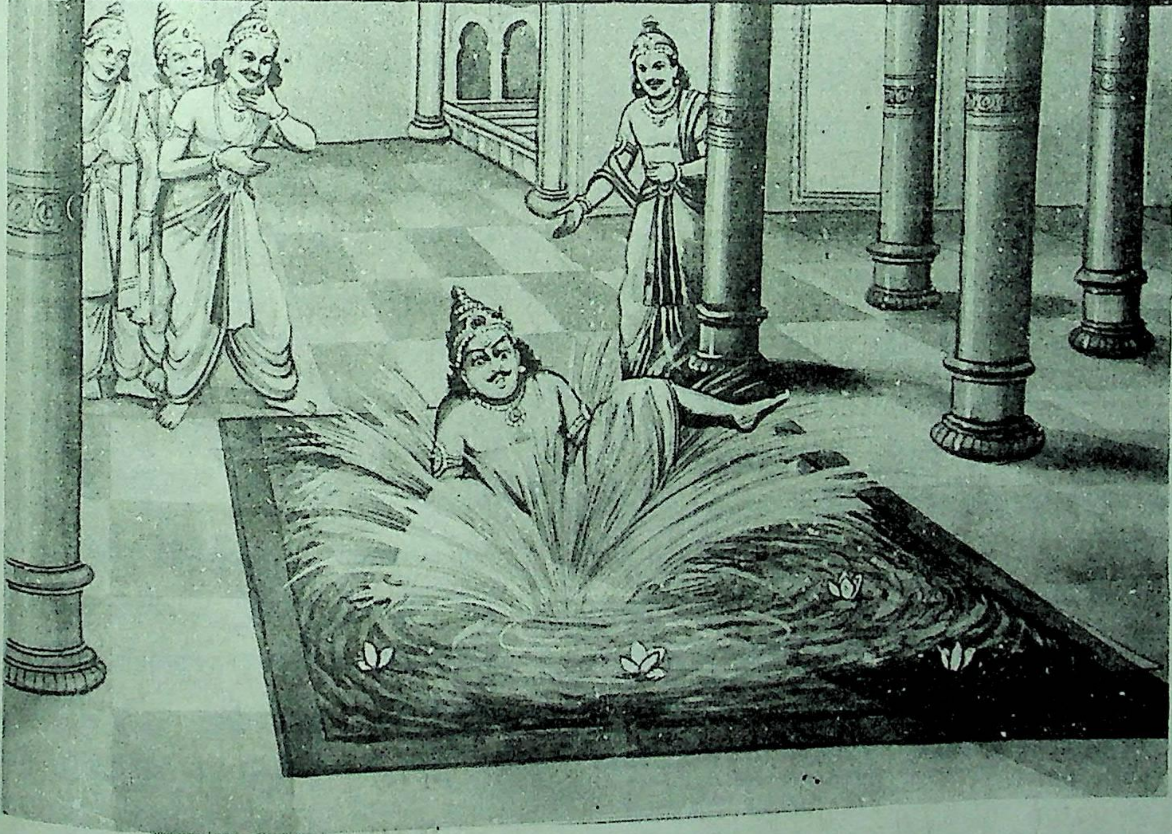
उस समय कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने वहाँ आये हुए सभी भूमिपालोंके साथ चेदिदेशके राजसिंहासनपर शिशुपालके पुत्रको अभिषिक्त कर दिया ॥ ३६ ॥

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान्।
यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ विपुलौजसः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिरका वह सम्पूर्ण समृद्धियोंसे भरा-पूरा राजसूययज्ञ तरुण राजाओंकी प्रसन्नताको बढ़ाता हुआ अनुपम शोभा पाने लगा ॥ ३७ ॥

शिशुपालके वधके लिये भगवान्‌का हाथमें चक्र ग्रहण करना





दुर्योधनका स्थलके भ्रमसे जलमें गिरना

शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३८ ॥

उस यज्ञका विघ्न शान्त हो गया था; अतः उसका सुखपूर्वक आरम्भ हुआ। उसमें अपरिमित धन-धान्यका संग्रह एवं सदुपयोग किया गया था। भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित होनेके कारण उस यज्ञमें कभी अन्नकी कमी नहीं होने पायी। उसमें सदा पर्याप्तमात्रामें भक्ष्य-भोज्य आदिकी सामग्री प्रस्तुत रहती थी ॥ ३८ ॥

(ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम्।
उपेन्द्रबुद्ध्या विहितं सहदेवेन भारत ॥

भरतनन्दन! राजाओंने सहदेवके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले उस यज्ञका उत्तम विधि-विधान देखा ॥

ददृशुस्तोरणान्यत्र हेमतालमयानि च।
दीप्तभास्करतुल्यानि प्रदीप्तानीव तेजसा।
स यज्ञस्तोरणैस्तैश्च ग्रहैद्यौरिव सम्बभौ ॥

उस यज्ञमण्डपमें सुवर्णमय तालके बने हुए फाटक दिखायी देते थे, जो अपनी प्रभासे तेजस्वी सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे। उन तेजस्वी द्वारोंसे वह विशाल यज्ञ-मण्डप ग्रहोंसे आकाशकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥

शय्यासनविहारांश्च सुबहून् वित्तसम्भृतान्।
घटान् पात्रीः कटाहानि कलशानि समन्ततः।
न ते किञ्चिदसौवर्णमपश्यंस्तत्र पार्थिवाः ॥

वहाँ शय्या, आसन और क्रीडाभवनोंकी संख्या बहुत थी। उनके निर्माणमें प्रचुर धन लगा था। चारों ओर घड़े, भाँति-भाँतिके पात्र, कड़ाहे और कलश आदि सुवर्णनिर्मित सामान दृष्टिगोचर हो रहे थे। वहाँ राजाओंने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी, जो सोनेकी बनी हुई न हो ॥

ओदनानां विकाराणि स्वादूनि विविधानि च।
सुबहूनि च भक्ष्याणि पेयानि मधुराणि च।
ददुर्द्विजानां सततं राजप्रेष्या महाध्वरे ॥

उस महान् यज्ञमें राजसेवकगण ब्राह्मणोंके आगे सदा नाना प्रकारके स्वादिष्ट भात तथा चावलकी बनी हुई बहुत-सी दूसरी भोज्य वस्तुएँ परोसते रहते थे। वे उनके लिये मधुर पेय पदार्थ भी अर्पण करते थे ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां भुञ्जतां तदा।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खोऽध्मायत नित्यशः ॥

भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंकी संख्या जब एक लाख पूरी हो जाती थी, तब वहाँ प्रतिदिन शङ्ख बजाया जाता था ॥

मुहुर्मुहुः प्रणादस्तु तस्य शङ्खस्य भारत।
उत्तमं शङ्खशब्दं तं श्रुत्वा विस्मयमागताः ॥

जनमेजय! दिनमें कई बार इस तरहकी शंख-ध्वनि होती थी। वह उत्तम शंखनाद सुनकर लोगोंको बड़ा विस्मय होता था ॥

एवं प्रवृत्ते यज्ञे तु तुष्टपुष्टजनायुते।
अन्नस्य बहवो राजन्नुत्सेधाः पर्वतोपमाः।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषां च ह्रदाञ्जनाः ॥

इस प्रकार सहस्रों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञका कार्य चलने लगा। राजन्! उसमें अन्नके बहुत-से ऊँचे ढेर लगाये गये थे, जो पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। लोगोंने देखा, वहाँ दहीकी नहरें बह रही थीं तथा घीके कितने ही कुण्ड भरे हुए थे ॥

जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्मिन् महाक्रतौ ॥

राजन्! महाराज युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें नाना जनपदोंसे युक्त सारा जम्बूद्वीप ही एकत्र हुआ-सा दिखायी देता था ॥

राजानः स्रग्विणस्तत्र सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
विविधान्यन्नपानानि लेह्यानि विविधानि च।
तेषां नृपोपभोग्यानि ब्राह्मणेभ्यो ददुः स्म ते ॥

वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल तथा हार धारण किये नरेश ब्राह्मणोंको राजाओंके उपभोगमें आनेयोग्य नाना प्रकारके अन्न-पान और भाँति-भाँतिकी चटनी परोसते थे ॥

एतानि सततं भुक्त्वा तस्मिन् यज्ञे द्विजातयः।
परां प्रीतिं ययुः सर्वे मोदमानास्तदा भृशम् ॥

उस यज्ञमें निरन्तर उपर्युक्त पदार्थ भोजन करके सब ब्राह्मण आनन्दमग्न हो बड़ी तृप्ति और प्रसन्नताका अनुभव करते थे ॥

एवं समुदितं सर्वं बहुगोधनधान्यवत्।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा विस्मयं परमं ययुः ॥

इस प्रकार बहुत-सी गायों तथा धन-धान्यसे सम्पन्न उस समृद्धिशाली यज्ञमण्डपको देखकर सब राजाओंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥

ऋत्विजश्च यथाशास्त्रं राजसूयं महाक्रतुम्।
पाण्डवस्य यथाकालं जुहुवुः सर्वयाजकाः ॥

ऋत्विजलोग शास्त्रीय विधिके अनुसार राजा युधिष्ठिरके उस राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते थे और समस्त याजक ठीक समयपर अग्निमें आहुतियाँ देते थे ॥

व्यासधौम्यादयः सर्वे विधिवत् षोडशर्त्विजः ।
स्वस्वकर्माणि चक्रुस्ते पाण्डवस्य महाक्रतौ ॥

व्यास और धौम्य आदि जो सोलह ऋत्विज थे, वे युधिष्ठिर-के उस महायज्ञमें विधिपूर्वक अपने-अपने निश्चित कार्योंका सम्पादन करते थे ॥

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यो नाबहुश्रुतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो नपापो नाक्षमो द्विजः ॥

उस यज्ञमण्डपमें कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, बहुश्रुत, व्रतशील, अध्यापक, पापरहित, क्षमाशील एवं सामर्थ्यशील न हो ॥

न तत्र कृपणः कश्चिद् दरिद्रो न बभूव ह ।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानुषः ॥

उस यज्ञमें कोई भी मनुष्य दीन, दरिद्र, दुखी, भूखा-प्यासा अथवा मूढ़ नहीं था ॥

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास सर्वदा ।
सहदेवो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥

महातेजस्वी सहदेव महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजना-र्थियोंको सदा भोजन दिलाया करते थे ॥

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकर्माणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रार्थचक्षुषः ॥

शास्त्रोक्त अर्थपर दृष्टि रखनेवाले यज्ञकुशल याजक प्रतिदिन सब कार्योंको विधिवत् सम्पन्न करते थे ॥

ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञाः कथाश्चक्रुश्च सर्वदा ।
रेमिरे च कथान्ते तु सर्वे तस्मिन् महाक्रतौ ॥

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण वहाँ सदा कथा-प्रवचन किया करते थे। उस महायज्ञमें सब लोग कथाके अन्तमें बड़े सुखका अनुभव करते थे ॥

देवैरन्यैश्च यक्षैश्च उरगैर्दिव्यमानुषैः ।
विद्याधरगणैः कीर्णः पाण्डवस्य महात्मनः ॥
स राजसूयः शुशुभे धर्मराजस्य धीमतः ।

देवता, असुर, यक्ष, नाग, दिव्य मानव तथा विद्याधर-गणोंसे भरा हुआ बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन महात्मा धर्मराजका वह राजसूययज्ञ बड़ी शोभा पाता था ॥

गन्धर्वगणसंकीर्णः शोभितोऽप्सरसां गणैः ॥
देवैर्मुनिगणैर्यक्षैर्देवलोक इवापरः ।
स किम्पुरुषगीतैश्च किन्नरैरुपशोभितः ॥

वह यज्ञमण्डप गन्धर्वों, अप्सरा-समूहों, देवताओं, मुनिगणों तथा यक्षोंसे सुशोभित हो दूसरे देवलोकके समान जान पड़ता था। किम्पुरुषोंके गीत तथा किन्नरगण उस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

नारदश्च जगौ तत्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ।
रमयन्ति स्म तान् सर्वान् यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा दूसरे गीतकुशल गन्धर्व वहाँ गीत गाकर यज्ञकार्योंके बीच-बीचमें अवकाश मिलनेपर सब लोगोंका मनोरंजन करते थे ॥

इतिहासपुराणानि आख्यानानि च सर्वशः ।
ऊचुर्वै शब्दशास्त्रज्ञा नित्यं कर्मान्तरेष्वथ ॥

यज्ञसम्बन्धी कर्मोंके बीचमें अवसर मिलनेपर व्याकरण-शास्त्रके ज्ञाता विद्वान् पुरुष इतिहास, पुराण तथा सब प्रकारके उपाख्यान सुनाया करते थे ॥

भेर्यश्च मुरजाश्चैव मड्डुका गोमुखाश्च ये ।
शृङ्गवंशाम्बुजाश्चैव श्रूयन्ते स्म सहस्रशः ॥

वहाँ सहस्रों भेरी, मृदङ्ग, मड्डुक, गोमुख, शृङ्ग, वंशी और शंखोंके शब्द सुनायी पड़ते थे ॥

लोकेऽस्मिन् सर्वविप्राश्च वैश्याः शूद्राश्च सर्वशः ।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णाः सादिमध्यान्तजास्तथा ॥
नानादेशसमुद्भूतैर्नानाजातिभिरागतैः ।
पर्याप्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥

इस जगत्में रहनेवाले समस्त ब्राह्मण, (क्षत्रिय,) वैश्य, शूद्र, सब प्रकारके म्लेच्छ तथा अग्रज, मध्यज और अन्त्यज आदि सभी वर्णोंके लोग उस यज्ञमें उपस्थित हुए थे। अनेक देशोंमें उत्पन्न विभिन्न जातिके लोगोंके शुभागमनसे युधिष्ठिरके उस राजभवनमें ऐसा जान पड़ता था कि यह समस्त लोक वहाँ उपस्थित हो गया है ॥

भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवः ससुयोधनाः ।
वृष्णयश्च समग्राश्च पञ्चालाश्चापि सर्वशः ।
यथार्हं सर्वकर्माणि चक्रुर्दासा इव क्रतौ ॥

उस राजसूययज्ञमें भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि समस्त कौरव, सारे वृष्णिवंशी तथा सम्पूर्ण पाञ्चाल भी सेवकोंकी भाँति यथायोग्य सभी कार्य अपने हाथों करते थे ॥

एवं प्रवृत्तो यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
शुशुभे च महाबाहो सोमस्येव क्रतुर्यथा ॥

महाबाहु जनमेजय ! इस प्रकार बुद्धिमान् युधिष्ठिरका वह यज्ञ चन्द्रमाके राजसूययज्ञकी भाँति शोभा पाता था ॥

वस्त्राणि कम्बलांश्चैव प्रावारांश्चैव सर्वदा ।
निष्कहेमजभाण्डानि भूषणानि च सर्वशः ।
प्रददौ तत्र सततं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥

धर्मराज युधिष्ठिर उस यज्ञमें हर समय वस्त्र, कम्बल,

चादर, स्वर्णपदक, सोनेके बर्तन और सब प्रकारके आभूषणों-का दान करते रहते थे ॥

थानि तत्र महीपेभ्यो लब्धं वा धनमुत्तमम्।
तानि रत्नानि सर्वाणि विप्राणां प्रददौ तदा ॥

वहाँ राजाओंसे जो-जो रत्न अथवा उत्तम धन भेंटके रूपमें प्राप्त हुए, उन सबको युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी सेवामें समर्पित कर दिया॥

कोटीसहस्रं प्रददौ ब्राह्मणानां महात्मनाम्।

उन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें सहस्र कोटि स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कीं ॥

न करिष्यति तं लोके कश्चिदन्यो महीपतिः ॥
याजकाः सर्वकामैश्च सततं तत्पुर्धनैः।

उन्होंने संसारमें वह कार्य किया जिसे दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुएँ और प्रचुर धन पाकर सदाके लिये तृप्त हो गये ॥

व्यासं धौम्यं च प्रयतो नारदं च महामतिम् ॥
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं वैशम्पायनमेव च।
याज्ञवल्क्यं कठं चैव कलापं च महौजसम् ॥
सर्वांश्च विप्रप्रवरान् पूजयामास सत्कृतान् ॥

फिर राजा युधिष्ठिरने व्यास, धौम्य, महामति नारद, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, कठ तथा महातेजस्वी कलाप—इन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूर्ण मनोयोगके साथ सत्कार एवं पूजन किया ॥

युधिष्ठिर उवाच

युष्मत्प्रभावात् प्राप्तोऽयं राजसूयो महाक्रतुः।
जनार्दनप्रभावाच्च सम्पूर्णो मे मनोरथः ॥

युधिष्ठिर उनसे बोले—महर्षियो ! आपलोगोंके प्रभावसे यह राजसूय महायज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हुआ। भगवान् श्रीकृष्णके प्रतापसे मेरा सारा मनोरथ पूर्ण हो गया॥

वैशम्पायन उवाच

अथ यज्ञं समाप्यान्ते पूजयामास माधवम्।
बलदेवं च देवेशं भीष्माद्यांश्च कुरूत्तमान् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार यज्ञ-समाप्तिके समय राजा युधिष्ठिरने अन्तमें लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण, देवेश्वर बलदेव तथा कुरुश्रेष्ठ भीष्म आदिका पूजन किया॥

समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम्।
तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस राजसूय महायज्ञको विधिपूर्वक समाप्त किया। शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने आरम्भसे लेकर अन्ततक उस यज्ञकी रक्षा की ॥ ३९ ॥

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपगम्येदमब्रवीत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर धर्मात्मा युधिष्ठिर जब अवभृथस्नान कर चुके, उस समय समस्त क्षत्रियराजाओंका समुदाय उनके पास जाकर बोला—॥ ४० ॥

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि।
आजमीढाजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ॥ ४१ ॥
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान् कृतः।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥ ४२ ॥

'धर्मज्ञ ! आपका अभ्युदय हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने सम्राट्का पद प्राप्त कर लिया। अजमीढ-कुलनन्दन राजाधिराज ! आपने इस कर्मद्वारा अजमीढवंशी क्षत्रियोंके यशका विस्तार तो किया ही है, महान् धर्मका भी सम्पादन किया है। नरव्याघ्र ! आपने हमारे लिये सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थ सुलभ करके हमारा बड़ा सम्मान किया है। अब हम आपसे जानेकी अनुमति लेना चाहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि।
श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
यथार्हं पूज्य नृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह।
राजानः सर्व एवैते प्रीत्यास्मान् समुपागताः ॥ ४४ ॥
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः।
अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४५ ॥

'हम अपने-अपने राष्ट्रको जायँगे, आप हमें आज्ञा दें।' राजाओंका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पूजनीय नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके सब भाइयोंसे कहा—'ये सभी राजा प्रेमसे ही हमारे यहाँ पधारे थे। ये परंतप भूपाल अब मुझसे पूछकर अपने राष्ट्रको जानेके लिये उद्यत हैं। तुमलोगोंका भला हो। तुमलोग अपने राज्यकी सीमातक आदरपूर्वक इन श्रेष्ठ नरपतियोंको पहुँचा आओ' ॥४३-४५॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः।
यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४६॥

भाईकी बात मानकर वे धर्मात्मा पाण्डव एक-एक करके यथायोग्य सभी राजाओंके साथ गये ॥ ४६ ॥

विराटमन्वयात् तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
धनंजयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४७ ॥

प्रतापी धृष्टद्युम्न तुरंत ही राजा विराटके साथ गया। धनंजयने महारथी महात्मा द्रुपदका अनुसरण किया॥ ४७ ॥

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधाम्पतिः ॥ ४८ ॥

महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके साथ गये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने द्रोणाचार्य तथा उनके वीर पुत्र अश्वत्थामाको पहुँचाया ॥ ४८ ॥

नकुलः सुबलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात्।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पर्वतीयान् महारथान् ॥ ४९ ॥

राजन्! सुबल और उनके पुत्रके साथ नकुल गये। द्रौपदीके पाँच पुत्रों तथा अभिमन्युने पर्वतीय महारथियोंको अपने राज्यकी सीमातक पहुँचाया ॥ ४९ ॥

अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ॥ ५० ॥
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार अन्य क्षत्रियशिरोमणियोंने दूसरे-दूसरे क्षत्रिय राजाओंका अनुगमन किया। इसी तरह सभी ब्राह्मण भी अत्यन्त पूजित हो सहस्रोंकी संख्यामें वहाँसे विदा हुए। राजाओं तथा ब्राह्मणोंके चले जानेपर प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५०-५१ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५२ ॥

'कुरुनन्दन! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, अब मैं द्वारकापुरीको जाऊँगा। सौभाग्यसे आपने सब यज्ञोंमें उत्तम राजसूयका सम्पादन कर लिया' ॥ ५२ ॥

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम्।
तव प्रसादाद् गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥ ५३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर जनार्दनसे बोले—'गोविन्द! आपकी ही कृपासे मैंने यह श्रेष्ठ यज्ञ सम्पन्न किया है ॥ ५३ ॥

क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद् वशे स्थितम्।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५४ ॥

'तथा सारा क्षत्रियमण्डल भी आपके ही प्रसादसे मेरे अधीन हुआ और उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट ले मेरे पास आया ॥

कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ॥ ५५ ॥

'अनघ! आपको जानेके लिये मेरी वाणी कैसे कह सकती है? वीर! मैं आपके बिना कभी प्रसन्न नहीं रह सकूँगा ॥

अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५६ ॥
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥ ५७ ॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि।
अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ५८ ॥

'परंतु आपका द्वारकापुरी जाना भी आवश्यक ही है।' उनके ऐसा कहनेपर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीहरि युधिष्ठिरको साथ ले बुआ कुन्तीके पास गये और प्रसन्नतापूर्वक बोले—'बुआजी! तुम्हारे पुत्रोंने अब साम्राज्य प्राप्त कर लिया, उनका मनोरथ पूर्ण हो गया। वे सब-के-सब धन तथा रत्नोंसे सम्पन्न हैं। अब तुम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहो। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं द्वारका जाना चाहता हूँ' ॥ ५६—५८ ॥

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्माद् युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५९ ॥

कुन्तीकी आज्ञा ले श्रीकृष्ण सुभद्रा और द्रौपदीसे भी मिले और मीठे वचनोंसे उन दोनोंको प्रसन्न किया। तत्पश्चात् वे युधिष्ठिरके साथ अन्तःपुरसे बाहर निकले ॥ ५९ ॥

स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।
ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम्।
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ॥ ६० ॥
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ॥ ६१ ॥
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६२ ॥

फिर स्नान और जप करके उन्होंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। इसके बाद महाबाहु दारुक मेघके समान नीले रंगका सुन्दर रथ जोतकर उनकी सेवामें उपस्थित हुआ। गरुडध्वजसे सुशोभित उस सुन्दर रथको उपस्थित देख महामना कमलनयन श्रीकृष्णने उसकी दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा की और उसपर आरूढ़ हो वे द्वारकापुरीकी ओर चल पड़े ॥

(सात्यकिः कृतवर्मा च रथमारुह्य सत्वरौ।
वीजयामासतुस्तत्र चामराभ्यां हरिं तथा ॥
बलदेवश्च देवेशो यादवाश्च सहस्रशः।
प्रययू राजवत् सर्वे धर्मपुत्रेण पूजिताः।
ततः स सम्मतं राजा हित्वा सौवर्णमासनम् ॥)
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वासुदेवं महाबलम् ॥ ६३ ॥

सात्यकि और कृतवर्मा शीघ्रतापूर्वक उस रथपर आरूढ़ हो श्रीहरिकी सेवाके लिये चँवर डुलाने लगे। देवेश्वर बलदेवजी तथा सहस्रों यदुवंशी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे पूजित हो राजाकी भाँति वहाँसे विदा हुए। तदनन्तर सोनेके श्रेष्ठ सिंहासनको छोड़कर भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर पैदल ही महाबली भगवान् वासुदेवके पीछे-पीछे चलने लगे ॥

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

तब कमललोचन भगवान् श्रीहरिने दो घड़ीतक अपने श्रेष्ठ रथको रोककर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे कहा—॥ ६४ ॥

अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशाम्पते।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥ ६५॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः।
कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥ ६६॥
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान् प्रति।

'राजन्! आप सदा सावधान रहकर प्रजाजनोंके पालनमें लगे रहें। जैसे सब प्राणी मेघको, पक्षी महान् वृक्षको और सम्पूर्ण देवता इन्द्रको अपने जीवनका आधार मानकर उनका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सभी बन्धु-बान्धव जीवन-निर्वाहके लिये आपका आश्रय लें।' श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आपसमें इस प्रकार बातें करके एक दूसरेकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चल दिये ॥ ६५-६६½ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥ ६७॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥ ६८॥

राजन्! यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर भी राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों नरश्रेष्ठ उस दिव्य सभाभवनमें ही रहे ॥ ६७-६८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवधविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४२ श्लोक मिलाकर कुल ११० श्लोक हैं)

(द्यूतपर्व)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी भविष्यवाणीसे युधिष्ठिरकी चिन्ता और समत्वपूर्ण बर्ताव करनेकी प्रतिज्ञा

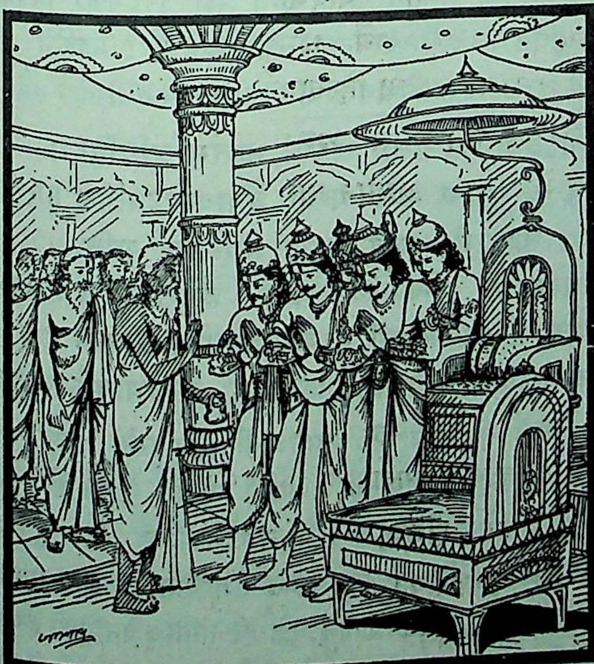
वैशम्पायन उवाच

समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात् समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञोंमें श्रेष्ठ परम दुर्लभ राजसूययज्ञके समाप्त हो जानेपर शिष्योंसे घिरे हुए भगवान् व्यास राजा युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

सोऽभ्ययादासनात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः।
पाद्येनासनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥

उन्हें देखकर भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर तुरंत आसनसे उठकर खड़े हो गये और आसन एवं पाद्य आदि समर्पण करके उन्होंने पितामह व्यासजीका यथावत् पूजन किया ॥



अथोपविश्य भगवान् काञ्चने परमासने।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णमय उत्तम आसनपर बैठकर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'बैठ जाओ' ॥ ३ ॥

अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम्।
उवाच भगवान् व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरके बैठ जानेपर बातचीतमें कुशल भगवान् व्यासने उनसे कहा— ॥ ४ ॥

दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम्।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥

'कुन्तीनन्दन! बड़े आनन्दकी बात है कि तुम परम दुर्लभ सम्राट्का पद पाकर सदा उन्नतिशील हो रहे हो। कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश! तुमने समस्त कुरुवंशियोंको समृद्धिशाली बना दिया ॥ ५ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशाम्पते।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाब्रवीत्।

'राजन्! अब मैं जाऊँगा। इसके लिये तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ। तुमने मेरा अच्छी तरह सम्मान किया है।'

महात्मा कृष्णद्वैपायन व्यासके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पितामहके दोनों चरणोंको पकड़कर प्रणाम किया और कहा ॥ ६½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ॥ ७ ॥
तस्य नान्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ।

युधिष्ठिर बोले—नरश्रेष्ठ ! मेरे मनमें एक भारी संशय उत्पन्न हो गया है । विप्रवर ! आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसका समाधान कर सके ॥ ७½ ॥

उत्पातांस्त्रिविधान् प्राह नारदो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
दिव्यांश्चैवान्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ९ ॥

पितामह ! देवर्षि भगवान् नारदने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वीविषयक तीन प्रकारके उत्पात बताये हैं । क्या शिशुपालके मारे जानेसे वे महान् उत्पात शान्त हो गये ? ॥ ८-९ ॥

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर पराशरनन्दन कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने इस प्रकार कहा— ॥ १० ॥

त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशाम्पते ॥ ११ ॥

'राजन् ! उत्पातोंका महान् फल तेरह वर्षोंतक हुआ करता है । इस समय जो उत्पात प्रकट हुआ था, वह समस्त क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला होगा ॥ ११ ॥

त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १२ ॥

'भरतकुलतिलक ! एकमात्र तुम्हींको निमित्त बनाकर यथासमय समस्त भूमिपालोंका समुदाय आपसमें लड़कर नष्ट हो जायगा । भारत ! क्षत्रियोंका यह विनाश दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके पराक्रमद्वारा सम्पन्न होगा ॥

स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ॥ १३ ॥
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।
हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ॥ १४ ॥

'राजेन्द्र ! तुम रातके अन्तमें स्वप्नमें उन वृषभध्वज भगवान् शंकरका दर्शन करोगे, जो नीलकण्ठ, भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरान्तक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूली, पिनाकी तथा कृत्तिवासा कहलाते हैं ॥ १३-१४ ॥

कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ॥ १५ ॥

'उन भगवान् शिवकी कान्ति कैलासशिखरके समान उज्ज्वल होगी । वे वृषभपर आरूढ़ हुए सदा दक्षिण दिशाकी ओर देख रहे होंगे ॥ १५ ॥

एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

'राजन् ! तुम्हें इस प्रकार ऐसा स्वप्न दिखायी देगा, किंतु उसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि काल सबके लिये दुर्लङ्घ्य है ॥ १६ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति ।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥ १७ ॥

'तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं कैलासपर्वतपर जाऊँगा । तुम सावधान एवं जितेन्द्रिय होकर पृथ्वीका पालन करो' ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास वेदमार्गका अनुसरण करनेवाले अपने शिष्योंके साथ कैलासपर्वतपर चले गये ॥ १८ ॥

गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत् तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ १९ ॥
कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥ २० ॥

अपने पितामह व्यासजीके चले जानेपर चिन्ता और शोकसे युक्त राजा युधिष्ठिर बारंबार गरम साँसें लेते हुए उसी बातका चिन्तन करते रहे । अहो ! दैवका विधान पुरुषार्थसे किस प्रकार टाला जा सकता है ? महर्षिने जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही होगा ॥ १९-२० ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥
तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥ २२ ॥
कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ।
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥ २३ ॥

यही सोचते-सोचते महातेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—'पुरुषसिंहो ! महर्षि व्यासने मुझसे जो कहा है, उसे तुमलोगोंने सुना है न ? उनकी वह बात सुनकर मैंने मरनेका निश्चय कर लिया है । तात ! यदि समस्त क्षत्रियोंके विनाशमें विधाताने मुझे ही निमित्त बनानेकी इच्छा की है, कालने मुझे ही इस अनर्थका कारण बनाया है तो

मेरे जीवनका क्या प्रयोजन है ?' राजाकी ऐसी बातें सुनकर अर्जुनने उत्तर दिया—॥ २१—२३ ॥

मा राजन् कश्मलं घोरं प्रविशो बुद्धिनाशनम्।
सम्प्रधार्य महाराज यत् क्षेमं तत् समाचर ॥२४॥

'राजन्! इस भयंकर मोहमें न पड़िये, यह बुद्धिको नष्ट करनेवाला है। महाराज! अच्छी तरह सोच-विचारकर आपको जो कल्याणप्रद जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिर्भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः।
द्वैपायनस्य वचनं ह्येवं समनुचिन्तयन् ॥२५॥

तब सत्यवादी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे व्यासजीकी बातोंपर विचार करते हुए कहा—॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत।
त्रयोदश समास्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ॥२६॥

'तात! तुमलोगोंका कल्याण हो, भाइयोंके विनाशका कारण बननेके लिये मुझे तेरह वर्षोंतक जीवित रहनेसे क्या लाभ? यदि जीना ही है तो आजसे मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—॥ २६ ॥

न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान्।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत् समुदाहरन् ॥२७॥

'मैं अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंसे कभी कड़वी बात नहीं बोलूँगा। बन्धु-बान्धवोंकी आज्ञामें रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ लानेमें संलग्न रहूँगा'। २७।

एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥२८॥

'इस प्रकार समतापूर्ण बर्ताव करते हुए मेरा अपने पुत्रों तथा दूसरोंके प्रति भेदभाव न होगा; क्योंकि जगत्‌में लड़ाई-झगड़ेका मूल कारण भेदभाव ही है ॥ २८ ॥

विग्रहं दूरतो रक्षन् प्रियाण्येव समाचरन्।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥२९॥

'नररत्नो! विग्रह या वैर-विरोधको अपनेसे दूर ही रखकर सबका प्रिय करते हुए मैं संसारमें निन्दाका पात्र नहीं हो सकूँगा' ॥ २९ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः संनिशम्य तत्।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥३०॥

अपने बड़े भाईकी वह बात सुनकर सब पाण्डव उन्हींके हितमें तत्पर हो सदा उनका ही अनुसरण करने लगे ॥ ३० ॥

संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराड् भ्रातृभिः सह।
पितॄंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशाम्पते ॥३१॥

राजन्! धर्मराजने अपने भाइयोंके साथ भरी सभामें यह प्रतिज्ञा करके देवताओं तथा पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण किया ॥ ३१ ॥

कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः।
गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥३२॥
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम्।
दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौबलः।
सभायां रमणीयायां तत्रैवास्ते नराधिप ॥३३॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! समस्त क्षत्रियोंके चले जानेपर कल्याणमय माङ्गलिक कृत्य पूर्ण करके भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने मन्त्रियोंके साथ अपने उत्तम नगरमें प्रवेश किया। महाराज! दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों उस रमणीय सभामें ही रह गये॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिर-प्रतिज्ञाविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका मयनिर्मित सभाभवनको देखना और पग-पगपर भ्रमके कारण उपहासका पात्र बनना तथा युधिष्ठिरके वैभवको देखकर उसका चिन्तित होना

वैशम्पायन उवाच

वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! राजा दुर्योधनने उस सभाभवनमें निवास करते समय शकुनिके साथ धीरे-धीरे उस सारी सभाका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥

कुरुनन्दन दुर्योधन उस सभामें उन दिव्य अभिप्रायों (दृश्यों) को देखने लगा, जिन्हें उसने हस्तिनापुरमें पहले कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

स कदाचित् सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥ ३ ॥

स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥

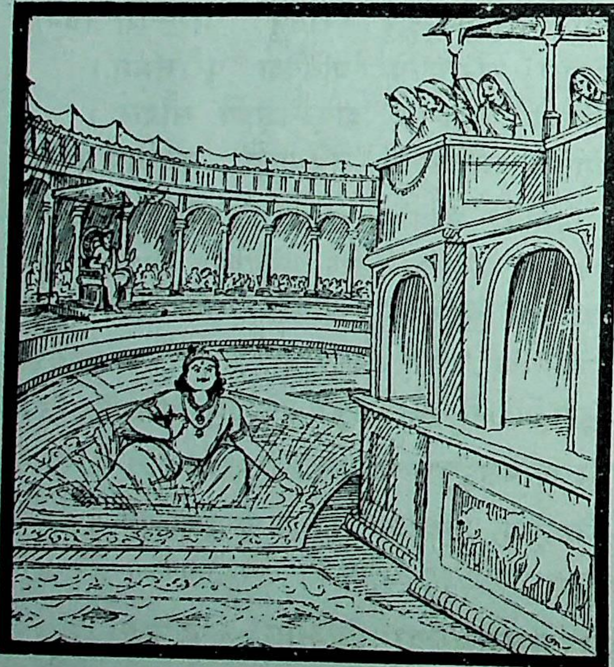
एक दिनकी बात है, राजा दुर्योधन उस सभाभवनमें घूमता हुआ स्फटिक-मणिमय स्थलपर जा पहुँचा और वहाँ जलकी आशंकासे उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया। इस प्रकार बुद्धि-मोह हो जानेसे उसका मन उदास हो गया और वह उस स्थानसे लौटकर सभामें दूसरी ओर चक्कर लगाने लगा ॥ ३-४ ॥

ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः।
निःश्वसन् विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर वह स्थलमें ही गिर पड़ा, इससे वह मन-ही-मन दुखी और लज्जित हो गया तथा वहाँसे हटकर लम्बी साँसें लेता हुआ सभाभवनमें घूमने लगा ॥ ५ ॥

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम्।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी और स्फटिकमणिमय कमलोंसे सुशोभित बावलीको स्थल मानकर वह वस्त्रसहित जलमें गिर पड़ा ॥ ६ ॥



जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम् ॥ ७ ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात्।
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ॥ ८ ॥
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा।
नामर्षयत् ततस्तेषामवहासममर्षणः ॥ ९ ॥

उसे जलमें गिरा देख महाबली भीमसेन हँसने लगे। उनके सेवकोंने भी दुर्योधनकी हँसी उड़ायी तथा राजाज्ञासे उन्होंने दुर्योधनको सुन्दर वस्त्र दिये। दुर्योधन-की यह दुरवस्था देख महाबली भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सभी उस समय जोर-जोरसे हँसने लगे। दुर्योधन स्वभावसे ही अमर्षशील था; अतः वह उनका उपहास न सह सका ॥ ७-९ ॥

आकारं रक्षमाणस्तु न स तान् समुदैक्षत।
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ॥ १० ॥

वह अपने चेहरेके भावको छिपाये रखनेके लिये उनकी ओर दृष्टि नहीं डालता था। फिर स्थलमें ही जलका भ्रम हो जानेसे वह कपड़े उठाकर इस प्रकार चलने लगा; मानो तैरनेकी तैयारी कर रहा हो ॥ १० ॥

आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः।
द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥ ११ ॥

इस प्रकार जब वह ऊपर चढ़ा, तब सब लोग उसकी भ्रान्तिपर हँसने लगे। उसके बाद राजा दुर्योधनने एक स्फटिकमणिका बना हुआ दरवाजा देखा, जो वास्तवमें बंद था, तो भी खुला दीखता था। उसमें प्रवेश करते ही उसका सिर टकरा गया और उसे चक्कर-सा आ गया ॥ ११ ॥

तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम्।
विघट्टयन् कराभ्यां तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह ॥ १२ ॥

ठीक उसी तरहका एक दूसरा दरवाजा मिला, जिसमें स्फटिकमणिके बड़े-बड़े किंवाड़ लगे थे। यद्यपि वह खुला था, तो भी दुर्योधनने उसे बंद समझकर उसपर दोनों हाथोंसे धक्का देना चाहा। किंतु धक्केसे वह स्वयं द्वारके बाहर निकलकर गिर पड़ा ॥ १२ ॥

द्वारं तु विततकारं समापेदे पुनश्च सः।
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥ १३ ॥

आगे जानेपर उसे एक बहुत बड़ा फाटक और मिला; परंतु कहीं पिछले दरवाजोंकी भाँति यहाँ भी कोई अप्रिय घटना न घटित हो इस भयसे वह उस दरवाजेके इधरसे ही लौट आया ॥ १३ ॥

एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥ १५ ॥

राजन्! इस प्रकार बार-बार धोखा खाकर राजा दुर्योधन राजसूय महायज्ञमें पाण्डवोंके पास आयी हुई अद्भुत समृद्धिपर दृष्टि डालकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अप्रसन्न मनसे हस्तिनापुरको चला गया ॥ १४-१५ ॥

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १६ ॥

पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीसे संतप्त हो उसीका चिन्तन करते

हुए जानेवाले राजा दुर्योधनके मनमें पापपूर्ण विचारका उदय हुआ ॥१६॥

पार्थान् सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान्।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥ १७ ॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम्।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह देखकर कि कुन्तीके पुत्रोंका मन प्रसन्न है, भूमण्डलके सब नरेश उनके वशमें हैं तथा बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सारा जगत् उनका हितैषी है, इस प्रकार महात्मा पाण्डवोंकी महिमा अत्यन्त बढ़ी हुई देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका रंग फीका पड़ गया ॥१७-१८॥

स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत्।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥ १९ ॥

रास्तेमें जाते समय वह नाना प्रकारके विचारोंसे चिन्तातुर था। वह अकेला ही परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी अलौकिक सभा तथा अनुपम लक्ष्मीके विषयमें सोच रहा था॥ १९ ॥

प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा।
नाभ्यभाषत् सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥

इस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उन्मत्त-सा हो रहा था। वह शकुनिके बार-बार पूछनेपर भी उसे कोई उत्तर नहीं दे रहा था ॥२०॥

अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत।
दुर्योधन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥ २१ ॥

उसे नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे युक्त देख शकुनिने पूछा—'दुर्योधन ! तुम्हें कहाँसे यह दुःखका कारण प्राप्त हो गया, जिससे तुम लंबी साँसें खींचते चल रहे हो।' ॥ २१॥



दुर्योधन उवाच

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम्।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥ २२ ॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम्।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत् तोयमिवाल्पकम् ॥ २४ ॥

दुर्योधनने कहा— मामाजी ! मैंने देखा है, श्वेतवाहन महात्मा अर्जुनके अस्त्रोंके प्रतापसे जीती हुई यह सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके वशमें हो गयी है। महातेजस्वी युधिष्ठिरका वह राजसूययज्ञ उसी प्रकार सम्पन्न हुआ है, जैसे देवताओंमें देवराज इन्द्रका यज्ञ पूर्ण हुआ था। यह सब देखकर मैं दिन-रात ईर्ष्यासे भरा ठीक उसी प्रकार जलता रहता हूँ, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें थोड़ा-सा जल जल्दी सूख जाता है ॥२२-२४॥

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः।
न च तत्र पुमानासीत् कश्चित् तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥

और भी देखिये, यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णने शिशुपालको मार गिराया, परंतु वहाँ कोई भी वीर पुरुष उसका बदला लेनेको तैयार नहीं हुआ ॥ २५ ॥

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २६ ॥

पाण्डवजनित आगसे दग्ध होनेवाले राजाओंने वह अपराध क्षमा कर दिया। अन्यथा इतने बड़े अन्यायको कौन सह सकता है ! ॥ २६ ॥

वासुदेवेन तत् कर्म यथायुक्तं महत् कृतम्।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २७ ॥

वासुदेव श्रीकृष्णने जैसा महान् अनुचित कर्म किया था, वह महामना पाण्डवोंके प्रतापसे सफल हो गया ॥ २७ ॥

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम्।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥ २८ ॥

जैसे कर देनेवाले व्यापारी वैश्य नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर राजाकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार सब राजा अनेक प्रकारके उत्तम रत्न लेकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ २८ ॥

श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥ २९ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके समीप प्राप्त हुई उस प्रकाशमयी लक्ष्मीको देखकर मैं ईर्ष्यावश जल रहा हूँ। यद्यपि मेरी यह दुरवस्था उचित नहीं है ॥ २९ ॥

एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत्।
पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाग्निना ॥ ३० ॥

ऐसा निश्चय करके दुर्योधन चिन्ताकी आगसे दग्ध-सा होता हुआ पुनः गान्धारराज शकुनिसे बोला ॥ ३० ॥

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम्।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ३१ ॥

मैं आगमें प्रवेश कर जाऊँगा, विष खा लूँगा अथवा जलमें डूब मरूँगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ ३१ ॥

को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान्।
सपत्नानृद्ध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥ ३२ ॥

संसारमें कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो शत्रुओंकी वृद्धि और अपनी हीन दशा होती देखकर भी चुपचाप सहन कर लेगा ॥ ३२ ॥

सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ ३३ ॥

मैं इस समय न तो स्त्री हूँ, न अस्त्रबलसे सम्पन्न हूँ, न पुरुष हूँ और न नपुंसक ही हूँ, तो भी अपने शत्रुओंके पास आयी हुई वैसी उत्कृष्ट सम्पत्तिको देखकर भी चुपचाप सहन कर रहा हूँ ! ॥ ३३ ॥

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम्।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥

शत्रुओंके पास समस्त भूमण्डलका वह साम्राज्य, वैसी धन-रत्नोंसे भरी सम्पदा और उनका वैसा उत्कृष्ट राजसूययज्ञ देखकर मेरे-जैसा कौन पुरुष चिन्तित न होगा ? ॥ ३४ ॥

अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम्।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३५ ॥

मैं अकेला उस राजलक्ष्मीको हड़प लेनेमें असमर्थ हूँ और अपने पास योग्य सहायक नहीं देखता हूँ, इसीलिये मृत्युका चिन्तन करता हूँ ॥ ३५ ॥

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम्।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुभ्रां श्रियं तामहतां तथा ॥ ३६ ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके पास उस अक्षय विशुद्ध लक्ष्मीका संचय देख मैं दैवको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ तो निरर्थक जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥ ३७ ॥

सुबलपुत्र ! मैंने पहले धर्मराज युधिष्ठिरको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया था, किंतु उन सारे संकटोंको लाँघ करके वे जलमें कमलकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ते गये ॥ ३७ ॥

तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम्।
धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥

इसीसे मैं दैवको उत्तम मानता हूँ और पुरुषार्थको निरर्थक; क्योंकि हम धृतराष्ट्रपुत्र हानि उठा रहे हैं और ये कुन्तीके पुत्र प्रतिदिन उन्नति करते जा रहे हैं ॥ ३८ ॥

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम्।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ॥ ३९ ॥

मैं उस राजलक्ष्मीको, उस दिव्य सभाको तथा रक्षकोंद्वारा किये गये अपने उपहासको देखकर निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ, मानो आगमें जलता होऊँ ॥ ३९ ॥

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम्।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥

मामाजी ! अब मुझे (मरनेके लिये) आज्ञा दीजिये, क्योंकि मैं बहुत दुखी हूँ और ईर्ष्याकी आगमें जल रहा हूँ। महाराज धृतराष्ट्रको मेरी यह अवस्था सूचित कर दीजियेगा ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये शकुनि और दुर्योधनकी बातचीत

शकुनिरुवाच

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम्।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥ २ ॥

शकुनि बोला—दुर्योधन ! तुम्हें युधिष्ठिरके प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डव सदा अपने भाग्यका ही उपभोग करते आ रहे हैं। तुमने उन्हें वशमें लानेके लिये अनेक प्रकारके उपायोंका अवलम्बन किया, परंतु उनके द्वारा तुम उन्हें अपने अधीन न कर सके ॥ १-२ ॥

आरब्धाश्च महाराज पुनः पुनररिंदम।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज ! तुमने बार-बार पाण्डवोंपर कुचक्र चलाये, परंतु वे नरश्रेष्ठ अपने भाग्यके

उन सभी संकटोंसे छुटकारा पाते गये ॥ ३ ॥

तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥

उन पाँचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको तथा पुत्रोंसहित राजा द्रुपद एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्तिमें कारण महापराक्रमी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको सहायकरूपमें प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

(अजितः सोऽपि सर्वैर्हि सदेवासुरमानुषैः।
तत्तेजसा प्रवृद्धोऽसौ तत्र का परिदेवना ॥)

श्रीकृष्णको सब देवता, असुर और मनुष्य मिलकर भी जीत नहीं सकते। उन्हींके तेजसे राजा युधिष्ठिरकी उन्नति हुई है; इसके लिये शोक करनेकी क्या बात है? ॥

लब्धश्चानभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥

पृथ्वीपते! पाण्डवोंने अपने उद्देश्यसे विचलित न होकर निरन्तर प्रयत्न करके राज्यमें अपना पैतृक अंश प्राप्त किया है और वह पैतृक सम्पत्ति आज उन्हींके तेजसे बहुत बढ़ गयी है, अतः उसके लिये चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ५ ॥

धनंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी।
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम् ॥ ६ ॥
तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः।
कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ॥ ७ ॥

अर्जुनने अग्निदेवको संतुष्ट करके गाण्डीव धनुष, अक्षय तरकस तथा कितने ही दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं। उस श्रेष्ठ धनुषके द्वारा तथा अपनी भुजाओंके बलसे उन्होंने समस्त राजाओंको वशमें किया है, अतः इसके लिये शोककी क्या आवश्यकता है? ॥ ६-७ ॥

अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम्।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ॥ ८ ॥

सव्यसाची परंतप अर्जुनने मय दानवको आगमें जलनेसे बचाया और उसीके द्वारा उस दिव्य सभाका निर्माण कराया ॥ ८ ॥

तेन चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः।
वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥
यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥ १० ॥

उस मयके ही कहनेसे किंकरनामधारी भयंकर राक्षसगण उस सभाको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते हैं। अतः इसके लिये भी शोक-संताप क्यों किया जाय? भारत! तुमने जो अपनेको असहाय बताया है, वह मिथ्या है; क्योंकि तुम्हारे ये सब भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ९-१० ॥

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान्।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ ११ ॥
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

महान् धनुर्धर और पराक्रमी द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ तुम्हारी सहायताके लिये उद्यत हैं। राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, भाइयोंसहित मैं तथा राजा भूरिश्रवा—इन सबके साथ तुम भी सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करो ॥ ११-१२ ॥

दुर्योधन उवाच

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १३ ॥
एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥ १४ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन्! यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो तुम्हारे और इन द्रोण आदि अन्य महारथियोंके साथ इन पाण्डवोंको ही युद्धमें जीत लूँ। इनके पराजित हो जानेपर अभी यह सारी पृथ्वी, समस्त भूपाल और वह महाधनसम्पन्न सभा भी हमारे अधीन हो जायगी ॥ १३-१४ ॥

शकुनिरुवाच

धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥ १५ ॥
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ १६ ॥

शकुनि बोला—राजन्! अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पुत्रोंसहित द्रुपद—इन्हें देवता भी युद्धमें परास्त नहीं कर सकते। ये सब-के-सब महारथी, महान् धनुर्धर, अस्त्रविद्यामें निपुण तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं ॥ १५-१६ ॥

अहं तु तद् विजानामि विजेतुं येन शक्यते।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥ १७ ॥

राजन्! मैं वह उपाय जानता हूँ, जिससे युधिष्ठिर स्वयं पराजित हो सकते हैं। तुम उसे सुनो और उसका सेवन करो ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम्।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—मामाजी! यदि मेरे सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य महात्माओंकी सतत सावधानीसे किसी उपायद्वारा पाण्डवोंको जीता जा सके तो वह मुझे बताइये ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम् ।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ॥ १९ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जूए-का खेल बहुत प्रिय है, किंतु वे उसे खेलना नहीं जानते। यदि महाराज युधिष्ठिरको द्यूतक्रीडाके लिये बुलाया जाय तो वे पीछे नहीं हट सकेंगे ॥ १९ ॥

देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि ।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥ २० ॥

मैं जूआ खेलनेमें बहुत निपुण हूँ। इस कलामें मेरी समानता करनेवाला पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है। केवल यहीं नहीं, तीनों लोकोंमें मेरे-जैसा द्यूतविद्याका जानकार नहीं है। अतः कुरुनन्दन ! तुम द्यूतक्रीड़ाके लिये युधिष्ठिरको बुलाओ ॥ २० ॥

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम् ।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥

नरश्रेष्ठ । मैं पासा फेंकनेमें कुशल हूँ; अतः युधिष्ठिरके राज्य तथा देदीप्यमान राजलक्ष्मीको तुम्हारे लिये अवश्य प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ २१ ॥

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय ।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान् न संशयः ॥ २२ ॥

दुर्योधन ! तुम ये सारी बातें पिताजीसे कहो। उनकी आज्ञा मिल जानेपर मैं निःसंदेह पाण्डवोंको जीत लूँगा ।२२।

दुर्योधन उवाच

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल ।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निवेदितुम् ॥ २३ ॥

दुर्योधनने कहा—सुबलनन्दन ! आप ही कुरुकुलके प्रधान महाराज धृतराष्ट्रसे इन सब बातोंको यथोचित रूपसे कहिये। मैं स्वयं कुछ नहीं कह सकूँगा ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर दुर्योधनका अपनी चिन्ता बताना और द्यूतके लिये धृतराष्ट्रसे अनुरोध करना एवं धृतराष्ट्रका विदुरको इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

अनुभूय तु राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः ॥ १ ॥
प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत् ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २ ॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गान्धारीपुत्र दुर्योधनके सहित सुबलनन्दन शकुनि राजा युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञका उत्सव देखकर जब लौटा, तब पहले दुर्योधनके अपने अनुकूल मतको जानकर और उसकी पूरी बातें सुनकर सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर इस प्रकार बोला ॥ १—३ ॥

शकुनिरुवाच

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः ।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप ॥ ४ ॥

शकुनिने कहा—महाराज ! दुर्योधनकी कान्ति फीकी पड़ती जा रही है ! वह सफेद और दुर्बल हो गया है। उसकी बड़ी दयनीय दशा है। वह निरन्तर चिन्तामें डूबा रहता है। नरेश्वर ! उसके मनोभावको समझिये ॥ ४ ॥

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम् ।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे ॥ ५ ॥

उसे शत्रुओंकी ओरसे कोई असह्य कष्ट प्राप्त हुआ है। आप उसकी अच्छी तरह परीक्षा क्यों नहीं करते ? दुर्योधन आपका ज्येष्ठ पुत्र है। उसके हृदयमें महान् शोक व्याप्त है। आप उसका पता क्यों नहीं लगाते ? ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक ।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र दुर्योधनके पास जाकर बोले—बेटा दुर्योधन ! तुम्हारे दुःखका कारण क्या है ? सुना है, तुम बड़े कष्टमें हो। कुरुनन्दन ! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो वह बात मुझे बताओ ॥ ६ ॥

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव सम्भवम् ॥ ७ ॥

यह शकुनि कहता है कि तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। तुम सफेद और दुबले हो गये हो; परंतु मैं बहुत सोचनेपर भी तुम्हारे शोकका कोई कारण नहीं देखता ॥ ७ ॥

ऐश्वर्यं हि महत् पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥ ८ ॥

बेटा ! इस सम्पूर्ण महान् ऐश्वर्यका भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम्हारे भाई और सुहृद् कभी तुम्हारे प्रतिकूल आचरण नहीं करते ॥ ८ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥

तुम बहुमूल्य वस्त्र ओढ़ते-पहनते हो, बढ़िया विशुद्ध भात खाते हो तथा अच्छी जातिके घोड़े तुम्हारी सवारीमें रहते हैं; फिर किस दुःखसे तुम सफेद और दुबले हो गये हो ? ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्ष कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥

बहुमूल्य शय्याएँ, मनको प्रिय लगनेवाली युवतियाँ, सभी ऋतुओंमें लाभदायक भवन और इच्छानुसार सुख देनेवाले विहारस्थान—देवताओंकी भाँति ये सभी वस्तुएँ निःसंदेह तुम्हें वाणीद्वारा कहनेमात्रसे सुलभ हैं। मेरे दुर्द्धर्ष पुत्र ! फिर तुम दीनकी भाँति क्यों शोक करते हो ? ॥ १०-११ ॥

(उपस्थितः सर्वकामैस्त्रिदिवे वासवो यथा ।
विविधैरन्नपानैश्च प्रवरैः किं नु शोचसि ॥

जैसे स्वर्गमें इन्द्रको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग सुलभ हैं, उसी प्रकार समस्त अभिलषित भोग और खाने-पीनेकी विविध उत्तम वस्तुएँ तुम्हारे लिये सदा प्रस्तुत हैं। फिर तुम किसलिये शोक करते हो ? ॥

निरुक्तं निगमं छन्दः सषडङ्गार्थशास्त्रवान् ।
अधीतः कृतविद्यस्त्वमष्टव्याकरणैः कृपात् ॥

तुमने कृपाचार्यसे निरुक्त, निगम, छन्द, वेदके छहों अङ्ग, अर्थशास्त्र तथा आठ प्रकारके व्याकरणशास्त्रोंका अध्ययन किया है ॥

हलायुधात् कृपाद् द्रोणादस्त्रविद्यामधीतवान् ।
प्रभुस्त्वं भुञ्जसे पुत्र संस्तुतः सूतमागधैः ॥
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
लोकेऽस्मिञ्ज्येष्ठभागी त्वं तन्ममाचक्ष्व पुत्रक ॥

हलायुध, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्यसे तुमने अस्त्रविद्या सीखी है। बेटा ! तुम इस राज्यके स्वामी होकर इच्छानुसार सब वस्तुओंका उपभोग करते हो। सूत और मागध सदा तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं। तुम्हारी बुद्धिकी प्रखरता प्रसिद्ध है। तुम इस जगत्में ज्येष्ठ पुत्रके लिये सुलभ समस्त राजोचित सुखोंके भागी हो। फिर भी तुम्हें कैसे चिन्ता हो रही है ? बेटा ! तुम्हारे इस शोकका कारण क्या है ? यह मुझे बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मन्दः क्रोधवशानुगः ।
पितरं प्रत्युवाचेदं स्वमतिं सम्प्रकाशयन् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—पिताका यह कथन सुनकर क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ दुर्योधनने उन्हें अपना विचार बताते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैं अच्छा खाता-पहनता तो हूँ, परंतु कायरोंकी भाँति। मैं समयके परिवर्तनकी प्रतीक्षामें रहकर अपने हृदयमें भारी ईर्ष्या धारण करता हूँ ॥ १२ ॥

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान्मुमुक्षुः परजान् स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

जो शत्रुओंके प्रति अमर्ष रख उन्हें पराजित करके विश्राम लेता है और अपनी प्रजाको शत्रुजनित क्लेशसे छुड़ानेकी इच्छा करता है, वही पुरुष कहलाता है ॥ १३ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानं च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥ १४ ॥

भारत ! संतोष लक्ष्मी और अभिमानका नाश कर देता है। दया और भय—ये दोनों भी वैसे ही हैं। इन (संतोषादि) से युक्त मनुष्य कभी ऊँचा पद नहीं पा सकता ॥ १४ ॥

न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अति ज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह अत्यन्त प्रकाशमान राजलक्ष्मी देखकर मुझे भोजन अच्छा नहीं लगता। वही मेरी कान्तिको नष्ट करनेवाली है ॥ १५ ॥

सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यताम् ॥ १६ ॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ।

शत्रुओंको बढ़ते और अपनेको हीन दशामें जाते देख तथा युधिष्ठिरकी उस अदृश्य लक्ष्मीपर भी प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिपात करके मैं चिन्तित हो उठा हूँ । यही कारण है कि मेरी कान्ति फीकी पड़ गयी है तथा मैं दीन, दुर्बल और सफेद हो गया हूँ ॥ १६½ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ १७ ॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर अपने घरमें बसनेवाले अट्ठासी हजार

स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं। उनमेंसे प्रत्येककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ प्रस्तुत रहती हैं ॥ १७½ ॥

दशान्यानि सहस्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम्।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥१८॥

इसके सिवा युधिष्ठिरके महलमें दस हजार अन्य ब्राह्मण प्रतिदिन सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ १८ ॥

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च।
काम्बोजः प्राहिणोत् तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान्।

काम्बोजराजने काले, नीले और लाल रंगके कदलीमृग-के चर्म तथा अनेक बहुमूल्य कम्बल युधिष्ठिरके लिये भेंटमें भेजे थे ॥ १८½ ॥

गजयोषिद्‌गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥
त्रिंशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २० ॥

उन्हींकी भेजी हुई सैकड़ों हथिनियाँ, सहस्रों गायें और घोड़े तथा तीस-तीस हजार ऊँट और घोड़ियाँ वहाँ विचरती थीं। सभी राजालोग भेंट लेकर युधिष्ठिरके भवनमें एकत्र हुए थे ॥ १९-२० ॥

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते।
आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्राय भूरिशः ॥२१॥

पृथ्वीपते! उस महान् यज्ञमें भूपालगण कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न लाये थे ॥ २१ ॥

न क्वचिद्धि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः।
यादृग् धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके यज्ञमें धनकी जैसी प्राप्ति हुई है, वैसी मैंने पहले कहीं न तो देखी है और न सुनी ही है ॥ २२ ॥

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप।
शमं नैवाभिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ॥ २३ ॥

महाराज! शत्रुकी वह अनन्त धनराशि देखकर मैं चिन्तित हो रहा हूँ; मुझे चैन नहीं मिलता ॥ २३ ॥

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर तीन खर्व भेंट लेकर राजाके द्वार-पर रोके हुए खड़े थे ॥ २४ ॥

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान्।
एतद् धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २५ ॥

वे सब लोग सोनेके सुन्दर कलश और इतना धन लेकर आये थे, तो भी वे सभी राजद्वारमें प्रवेश नहीं कर पाते थे अर्थात् उनमेंसे कोई-कोई ही प्रवेश कर पाते थे ॥

यथैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः ॥ २६ ॥

देवाङ्गनाएँ इन्द्रके लिये कलशोंमें जैसा मधु लिये रहती हैं, वैसा ही वरुणदेवताका दिया हुआ और काँसके पात्रमें रक्खा हुआ मधु समुद्रने युधिष्ठिरके लिये उपहारमें भेजा था ॥ २६ ॥

शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम्।
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ॥ २७ ॥

वहाँ छींकेपर रखकर लाया हुआ एक हजार स्वर्ण मुद्राओंका बना हुआ कलश रक्खा था, जिसमें अनेक प्रकारके रत्न जड़े हुए थे। उस पात्रमें स्थित समुद्रजलको उत्तम शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया था ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा च मम तत् सर्वं ज्वररूपमिवाभवत्।
गृहीत्वा तत् तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २८ ॥
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्त्रिणः ॥ २९ ॥
तत्र गत्वार्जुनो दण्डमाजहारामितं धनम्।

तात! वह सब देखकर मुझे ज्वर-सा आ गया। भरतश्रेष्ठ! वैसे ही सुवर्णकलशोंको लेकर पाण्डवलोग जल लानेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम समुद्रतक तो जाया करते थे, किंतु सुना जाता है कि उत्तर समुद्रके समीप, जहाँ पक्षियोंके सिवा मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ भी जाकर अर्जुन अपार धन करके रूपमें वसूल कर लाये ॥ २८-२९½ ॥

इदं चाद्भुतमत्रासीत् तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें एक यह अद्भुत बात और भी हुई थी, वह मैं बताता हूँ सुनिये ॥ ३० ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम्।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खो ध्मायति नित्यशः ॥ ३१ ॥

जब एक लाख ब्राह्मणोंको रसोई परोस दी जाती, तब उसके लिये एक संकेत नियत किया गया था; प्रतिदिन लाखकी संख्या पूरी होते ही बड़े जोरसे शङ्ख बजाया जाता था ॥ ३१ ॥

मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत।
अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥ ३२ ॥

भारत! ऐसा शङ्ख वहाँ बार-बार बजता था और मैं निरन्तर उस शङ्ख-ध्वनिको सुना करता था; इससे मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो आता था ॥ ३२ ॥

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः।
अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवामला ॥ ३३ ॥

महाराज! वहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हुए बहुत-से राजाओंद्वारा भरी हुई यज्ञमण्डपकी बैठक ताराओंसे व्याप्त हुए निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी ॥ ३३ ॥

सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें भूपालगण सब रत्नोंकी भेंट लेकर आये थे ॥ ३४ ॥

वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेषकाः ।
न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
गुह्यकाधिपतेर्वापि या श्री राजन् युधिष्ठिरे ॥ ३५ ॥

राजालोग वैश्योंकी भाँति ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे। राजा युधिष्ठिरके पास जो लक्ष्मी है, वह देवराज इन्द्र, यम, वरुण अथवा यक्षराज कुबेरके पास भी नहीं होगी ॥

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् ।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३६ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी उस उत्कृष्ट लक्ष्मीको देखकर मेरे हृदयमें जलन पैदा हो गयी है; अतः मुझे क्षणभर भी शान्ति नहीं मिलती ॥ ३६ ॥

(अप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं शमो मम न विद्यते ।
अवाप्स्ये वा रणं बाणैः शयिष्ये वा हतः परैः ॥
एतादृशस्य मे किं नु जीवितेन परंतप ।
वर्धन्ते पाण्डवा राजन् वयं हि स्थितवृद्धयः ॥)

पाण्डवोंका ऐश्वर्य यदि मुझे नहीं प्राप्त हुआ तो मेरे मनको शान्ति नहीं मिलेगी। या तो मैं बाणोंद्वारा रण-भूमिमें उपस्थित होकर शत्रुओंकी सम्पत्तिपर अधिकार प्राप्त करूँगा या शत्रुओंद्वारा मारा जाकर संग्राममें सदाके लिये सो जाऊँगा। परंतप ! ऐसी स्थितिमें मेरे इस जीवनसे क्या लाभ ? पाण्डव दिनों-दिन बढ़ रहे हैं और हमारी उन्नति रुक गयी है।

शकुनिरुवाच

यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३७ ॥

शकुनिने दुर्योधनसे पुनः कहा—सत्यपराक्रमी दुर्योधन ! तुमने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके यहाँ जो अनुपम लक्ष्मी देखी है, उसकी प्राप्तिका उपाय मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ॥ ३८ ॥

भारत ! मैं इस भूमण्डलमें द्यूतविद्याका विशेष जानकार हूँ, द्यूतक्रीड़ाका मर्म जानता हूँ; दाव लगानेका भी मुझे ज्ञान है तथा पासे फेंकनेकी कलाका भी मैं विशेषज्ञ हूँ ॥ ३८ ॥

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जुआ खेलना बहुत प्रिय है, परंतु वे उसे खेलना जानते नहीं हैं ॥ ३८½ ॥

आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥ ३९ ॥

द्यूत अथवा युद्ध किसी भी उद्देश्यसे यदि उन्हें बुलाया जाय, तो वे अवश्य पधारेंगे ॥ ३९ ॥

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ॥४०॥

प्रभो ! मैं छल करके युधिष्ठिरको निश्चय ही जीत लूँगा और उनकी उस दिव्य समृद्धिको यहाँ मँगा लूँगा; अतः तुम उन्हें बुलाओ ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने तुरंत ही धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! ये अक्षविद्याका मर्म जाननेवाले हैं और जूएके द्वारा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीका अपहरण कर लेनेका उत्साह रखते हैं; अतः इसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये' ॥ ४१—४२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥४३॥

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं, जिनके आदेशके अनुसार मैं चलता हूँ। उनसे मिलकर विचार करनेके पश्चात् मैं यह समझ सकूँगा कि इस कार्यके सम्बन्धमें क्या निश्चय किया जाय ? ॥ ४३ ॥

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

विदुर दूरदर्शी हैं, वे धर्मको सामने रखकर दोनों पक्षोंके लिये उचित और परम हितकी बात सोचकर उसके अनुकूल ही कार्यका निश्चय बतायेंगे ॥ ४४ ॥

दुर्योधन उवाच

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधनने कहा—विदुरजी जब आपसे मिलेंगे, तब अवश्य ही आपको इस कार्यसे निवृत्त कर देंगे। राजेन्द्र ! यदि आपने इस कार्यसे मुँह मोड़ लिया तो मैं निःसंदेह प्राण त्याग दूँगा ॥ ४५ ॥

स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव ।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥ ४६ ॥

राजन् ! मेरी मृत्यु हो जानेपर आप विदुरके साथ सुखसे रहियेगा और सारी पृथ्वीका राज्य भोगियेगा । मेरे जीवित रहनेसे आप क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे ? ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आर्तवाक्यं तु तत् तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत् प्रेष्यान् दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पुत्रका यह प्रेमपूर्ण आर्त वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दुर्योधनके मतमें आ गये और सेवकोंसे इस प्रकार बोले— ॥ ४७ ॥

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥ ४८ ॥

'बहुत-से शिल्पी लगकर एक परम सुन्दर दर्शनीय एवं विशाल सभाभवनका शीघ्र निर्माण करें । उसमें सौ दरवाजे हों और एक हजार खंभे लगे हुए हों ॥ ४८ ॥

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥ ४९ ॥

'फिर सब देशोंसे बढ़ई बुलाकर उस सभाभवनके खंभों और दीवारोंमें रत्न जड़वा दिये जायँ । इस प्रकार वह सुन्दर एवं सुसज्जित सभाभवन जब सुखपूर्वक प्रवेशके योग्य हो जाय, तब धीरे-से मेरे पास आकर इसकी सूचना दो' ॥४९॥

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद् विदुराय वै ॥ ५० ॥

महाराज ! दुर्योधनकी शान्तिके लिये ऐसा निश्चय करके राजा धृतराष्ट्रने विदुरके पास दूत भेजा ॥ ५० ॥

अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत् कश्चिद् विनिश्चयः ।
द्यूते दोषांश्च जानन् स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ५१ ॥

विदुरसे पूछे बिना उनका कोई भी निश्चय नहीं होता था । जूएके दोषोंको जानते हुए भी वे पुत्रस्नेहसे उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वारमुपस्थितम् ।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान् विदुर कलहके द्वाररूप जूएका अवसर उपस्थित हुआ सुनकर और विनाशका मुख प्रकट हुआ जान धृतराष्ट्रके पास दौड़े आये ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

विदुरने अपने श्रेष्ठ भ्राता महामना धृतराष्ट्रके पास जाकर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा ॥ ५३ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दामि ते राजन् व्यवसायमिमं प्रभो ।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥ ५४ ॥

विदुर बोले—राजन् ! मैं आपके इस निश्चयको पसंद नहीं करता । प्रभो ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे जूएके लिये आपके और पाण्डुके पुत्रोंमें भेदभाव न हो ॥५४॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति ।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! यदि हमलोगोंपर देवताओंकी कृपा होगी तो मेरे पुत्रोंका पाण्डुपुत्रोंके साथ निःसंदेह कलह न होगा ॥ ५५ ॥

अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम् ।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५६ ॥

अशुभ हो या शुभ, हितकर हो या अहितकर, सुहृदोंमें यह द्यूतक्रीडा प्रारम्भ होनी ही चाहिये । निःसंदेह यह भाग्यसे ही प्राप्त हुई है ॥ ५६ ॥

मयि संनिहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत ।
अनयो दैवविहितो न कथंचिद् भविष्यति ॥ ५७ ॥

भारत ! जब मैं, द्रोणाचार्य, भीष्मजी तथा तुम—ये सब लोग संनिकट रहेंगे, तब किसी प्रकार दैवविहित अन्याय नहीं होने पायगा ॥ ५७ ॥

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे ।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥ ५८ ॥

तुम वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथपर बैठकर अभी खाण्डवप्रस्थको जाओ और युधिष्ठिरको बुला ले आओ ॥ ५८ ॥

न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद् ब्रवीमि ते ।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥ ५९ ॥

विदुर ! मेरा निश्चय तुम युधिष्ठिरसे न बताना; यह बात मैं तुमसे कहे देता हूँ । मैं दैवको भी प्रबल मानता हूँ, जिसकी प्रेरणासे यह द्यूतक्रीडाका आरम्भ होने जा रहा है ॥

इत्युक्तो विदुरो धीमान् नेदमस्तीति चिन्तयन् ।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत् सुदुःखितः ॥ ६० ॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् विदुरजी यह सोचते हुए कि यह द्यूतक्रीडा अच्छी नहीं है, अत्यन्त दुखी हो महाज्ञानी गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास गये ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको अपने दुःख और चिन्ताका कारण बताना

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम्।
यत्र तद् व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! भाइयोंमें वह महाविनाशकारी द्यूत किस प्रकार आरम्भ हुआ; जिसमें मेरे पितामह पाण्डवोंको उस महान् संकटका सामना करना पड़ा ? ॥ १ ॥

के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन् ॥ २ ॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! वहाँ कौन-कौन-से राजा सभासद् थे ? किसने द्यूतक्रीडाका अनुमोदन किया और किसने निषेध ? ॥ २ ॥

विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज।
मूलं ह्येतद् विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! मैं इस प्रसङ्गको आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। विप्रवर ! यह द्यूत ही समस्त भूमण्डलके विनाशका मुख्य कारण है ॥ ३ ॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान्।
आचचक्षेऽथ यद् वृत्तं तत् सर्वं वेदतत्त्ववित् ॥ ४ ॥

सौति कहते हैं—राजाके इस प्रकार पूछनेपर व्यासजीके प्रतापी शिष्य वेदतत्त्वज्ञ वैशम्पायनजी वह सब प्रसङ्ग सुनाने लगे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे ! महाराज जनमेजय ! यदि तुम्हारा मन यह सब सुननेमें लगता है तो पुनः विस्तारके साथ इस कथाको सुनो ॥ ५ ॥

विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥

विदुरका विचार जानकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने एकान्तमें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार कहा— ॥ ६ ॥

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ७ ॥

'गान्धारीनन्दन ! जूएका खेल नहीं होना चाहिये, विदुर इसे अच्छा नहीं बताते हैं। महाबुद्धिमान् विदुर हमें कोई ऐसी सलाह नहीं देंगे, जिससे हमलोगोंका अहित होनेवाला हो ॥ ७ ॥

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते।
क्रियतां पुत्र तत् सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ८ ॥

'विदुर जो कहते हैं, उसीको मैं अपना सर्वोत्तम हित मानता हूँ। बेटा ! तुम भी वही सब करो। मेरी समझमें तुम्हारे लिये यही हितकर है ॥ ८ ॥

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते।
यत् प्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः।
तद् वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ॥ ९ ॥
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक।
विदुरो वापि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ॥ १० ॥
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप।
तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ॥ ११ ॥

'उदार बुद्धिवाले इन्द्रगुरु देवर्षि भगवान् बृहस्पतिने परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रको जिस शास्त्रका उपदेश दिया था, वह सब उसके रहस्यसहित महाज्ञानी विदुर जानते हैं। बेटा ! मैं भी सदा विदुरकी बात मानता हूँ। कुरुकुलमें सबसे श्रेष्ठ और मेधावी विदुर माने गये हैं तथा वृष्णिवंशमें पूजित उद्धवको परम बुद्धिमान् बताया गया है। अतः बेटा ! जूआ खेलनेसे कोई लाभ नहीं है। जूएमें वैर-विरोधकी सम्भावना दिखायी देती है ॥ ९—११ ॥

भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्र परिवर्जय।
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद् वै कार्यं परं स्मृतम् ॥ १२ ॥

'वैर-विरोध होनेसे राज्यका नाश हो जाता है, अतः पुत्र ! जूएका आग्रह छोड़ दो। पिता-माताको चाहिये कि वे पुत्रको उत्तम कर्त्तव्यकी शिक्षा दें; इसीलिये मैंने ऐसा कहा है ॥ १२ ॥

प्राप्तस्त्वमसि तन्नाम पितृपैतामहं पदम्।
अधीतवान् कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ॥ १३ ॥

'बेटा ! तुम अपने बाप-दादोंके पदपर प्रतिष्ठित हो, तुमने वेदोंका स्वाध्याय किया है, शास्त्रोंकी विद्वत्ता प्राप्त की है और घरमें सदा तुम्हारा लालन-पालन हुआ है ॥ १३ ॥

भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम्।
पृथग्जनैरलभ्यं यद् भोजनाच्छादनं परम् ॥ १४ ॥
तत् प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक।
स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत् ॥ १५ ॥

'महाबाहो ! तुम अपने भाइयोंमें बड़े हो, अतः राजाके पदपर स्थित हो, तुम्हें किस कल्याणमय वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है ? दूसरे लोगोंके लिये जो अलभ्य है, वह उत्तम भोजन और

वस्त्र तुम्हें प्राप्त हैं। फिर तुम क्यों शोक करते हो? महाबाहो! तुम्हारे बाप-दादोंका यह महान् राष्ट्र धन-धान्यसे सम्पन्न है॥ १४-१५॥

नित्यमाज्ञापयन् भासि दिवि देवेश्वरो यथा।
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम्।
समुत्थितं दुःखकरं यन्मे शंसितुमर्हसि॥ १६॥

'स्वर्गमें देवराज इन्द्रकी भाँति तुम इस लोकमें सदा सबपर शासन करते हुए शोभा पाते हो। तुम्हारी उत्तम बुद्धि प्रसिद्ध है। फिर तुम्हें शोककी कारणभूत यह दुःखदायिनी चिन्ता कैसे प्राप्त हुई है? यह मुझसे बताओ'॥ १६॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन् पापपूरुषः।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः॥ १७॥

दुर्योधन बोला—मैं अच्छा खाता हूँ और अच्छा पहिनता हूँ, इतना ही देखते हुए जो पापी पुरुष शत्रुओंके प्रति ईर्ष्या नहीं करता, वह अधम बताया गया है॥ १७॥

न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे॥ १८॥

राजेन्द्र! यह साधारण लक्ष्मी मुझे प्रसन्न नहीं कर पाती। मैं तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी उस जगमगाती हुई लक्ष्मीको देखकर व्यथित हो रहा हूँ॥ १८॥

सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम्।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद् ब्रवीमि ते॥ १९॥

सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके अधीन हो गयी है; फिर भी मैं पाषाणतुल्य हूँ, जो कि ऐसा दुःख प्राप्त होनेपर भी जीवित हूँ और आपसे बातें करता हूँ॥ १९॥

आवर्जिता इवाभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः।
कारस्करा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने॥ २०॥

नीप, चित्रक, कुकुर, कारस्कर तथा लोहजङ्घ आदि क्षत्रियनरेश युधिष्ठिरके घरमें सेवकोंकी भाँति सेवा करते हुए शोभा पा रहे थे॥ २०॥

हिमवत्सागरानूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने॥ २१॥

हिमालय प्रदेश तथा समुद्री द्वीपोंके रहनेवाले और रत्नोंकी खानोंके सभी अधिपति म्लेच्छजातीय नरेश युधिष्ठिरके घरमें प्रवेश करने नहीं पाते थे, उन्हें महलसे दूर ही ठहराया गया था॥ २१॥

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशाम्पते।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे॥ २२॥

महाराज! मुझे अन्य सब भाइयोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मानकर युधिष्ठिरने सत्कारपूर्वक रत्नोंकी भेंट लेनेके कामपर नियुक्त कर दिया था॥ २२॥

उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम्।
नादृश्यत परः पारो नापरस्तत्र भारत॥ २३॥

भारत! वहाँ भेंट लाये हुए नरेशोंके द्वारा उपस्थित श्रेष्ठ और बहुमूल्य रत्नोंकी जो राशि एकत्र हुई थी, उसका आरपार दिखायी नहीं देता था॥ २३॥

न मे हस्तः समभवद् वसु तत् प्रतिगृह्णतः।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु॥ २४॥

उस रत्नराशिको ग्रहण करते-करते जब मेरा हाथ थक गया, तब मेरे थक जानेपर राजालोग रत्नराशि लिये बहुत दूरतक खड़े दिखायी देने लगते थे॥ २४॥

कृतां विन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम्।
अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत॥ २५॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत् स वृकोदरः।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम्॥ २६॥

भारत! बिन्दु-सरोवरसे लाये हुए रत्नोंद्वारा मयासुरने एक कृत्रिम पुष्करिणीका निर्माण किया था, जो स्फटिकमणिकी शिलाओंसे आच्छादित है। वह मुझे जलसे भरी हुई-सी दिखायी दी। भारत! जब मैं उसमें उतरनेके लिये वस्त्र उठाने लगा, तब भीमसेन ठठाकर हँस पड़े। शत्रुकी विशिष्ट समृद्धिसे मैं मूढ़-सा हो रहा था और रत्नोंसे रहित तो था ही॥ २५-२६॥

तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम्।
यदि कुर्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप॥ २७॥
शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः।
सपत्नेनावहासो मे स मां दहति भारत॥ २८॥

उस समय वहाँ यदि मैं समर्थ होता तो भीमसेनको वहीं मार गिराता। राजन्! यदि मैं भीमसेनको मारनेका उद्योग करता तो मेरी भी शिशुपालकी-सी ही दशा हो जाती; इसमें संशय नहीं है। भारत! शत्रुके द्वारा किया हुआ उपहास मुझे दग्ध किये देता है॥ २७-२८॥

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम्।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप॥ २९॥

नरेश्वर! मैंने पुनः एक वैसी ही बावलीको देखकर, जो कमलोंसे सुशोभित हो रही थी, समझा कि यह भी पहली पुष्करिणीकी भाँति स्फटिकशिलासे पाटकर बराबर कर दी गयी होगी; परंतु वह वास्तवमें जलसे परिपूर्ण थी, इसलिये मैं भ्रमसे उसमें गिर पड़ा॥ २९॥

तत्र मां प्राहसत् कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम्।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम॥ ३०॥

वहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ मेरी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। स्त्रियोंसहित द्रौपदी भी मेरे हृदयमें चोट पहुँचाती हुई हँस रही थी ॥ ३० ॥

क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ॥ ३१ ॥

मेरे सब कपड़े जलमें भीग गये थे; अतः राजाकी आज्ञासे सेवकोंने मुझे दूसरे वस्त्र दिये। यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात हुई ॥ ३१ ॥

प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद् वदतो मे नराधिप।
अद्वारेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ॥ ३२ ॥

महाराज! एक और वञ्चना मुझे सहनी पड़ी, जिसे बताता हूँ, सुनिये। एक जगह बिना द्वारके ही द्वारकी आकृति बनी हुई थी, मैं उसीसे निकलने लगा; अतः शिलासे टकरा गया। जिससे मेरे ललाटमें बड़े जोरकी चोट लगी ॥ ३२ ॥

तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याभिहतं तदा।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥ ३३ ॥

उस समय नकुल और सहदेवने दूरसे मुझे टकराते देख निकट आकर अपने हाथोंसे मुझे पकड़ लिया और दोनों भाई साथ रहकर मेरे लिये शोक करने लगे ॥ ३३ ॥

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

वहाँ सहदेवने मुझे आश्चर्यमें डालते हुए बार-बार यह कहा—'राजन्! यह दरवाजा है, इधर चलिये' ॥ ३४ ॥

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च।
सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३५ ॥

महाराज! वहाँ भीमसेनने मुझे 'धृतराष्ट्रपुत्र' कहकर सम्बोधित किया और हँसते हुए कहा—'राजन्! इधर दरवाजा है' ॥ ३५ ॥

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३६ ॥

मैंने उस सभामें जो-जो रत्न देखे हैं, उनके पहले कभी नाम भी नहीं सुने थे; अतः इन सब बातोंके लिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—भारत! मैंने पाण्डवोंके यज्ञमें राजाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न देशोंसे लाये हुए जो उत्तम धनरत्न देखे थे, उन्हें बताता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम्।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण! आप सच मानिये, शत्रुओंका वह वैभव देखकर मेरा मन मूढ़-सा हो गया था। मैं इस बात-को न जान सका कि यह धन कितना है और किस देशसे लाया गया है ॥ २ ॥

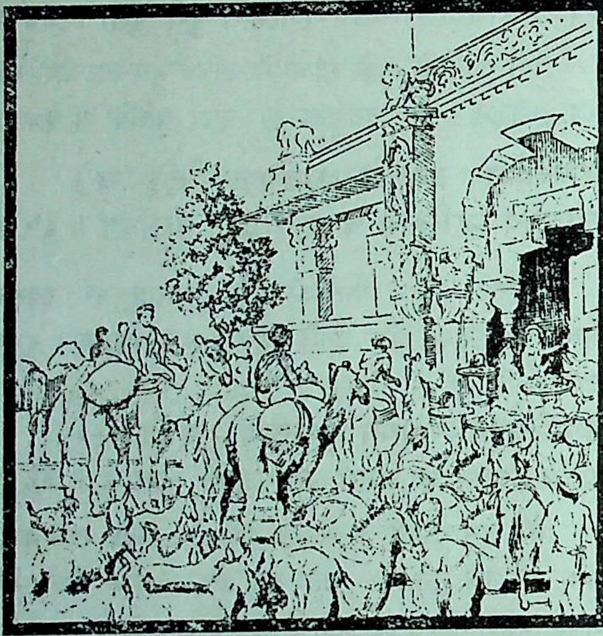
और्णान् बैलान् वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान्।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥ ३ ॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान्।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥

काम्बोजनरेशने भेड़के ऊन, बिलमें रहनेवाले चूहे आदिके रोएँ तथा बिल्लियोंकी रोमावलियोंसे तैयार किये हुए सुवर्णचित्रित बहुत-से सुन्दर वस्त्र और मृगचर्म भेंटमें दिये थे। तीतर पक्षीकी भाँति चितकबरे और तोतेके समान नाकवाले तीन सौ घोड़े दिये थे। इसके सिवा तीन-तीन सौ ऊँटनियाँ और खचरियाँ भी दी थीं, जो पीलु, शमी और इङ्गुद खाकर मोटी-ताजी हुई थीं ॥ ३-४ ॥

गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः।
प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः ॥ ५ ॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः।
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ॥ ६ ॥
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान्।
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ ७ ॥

महाराज! ब्राह्मणलोग तथा गाय-बैलोंका पोषण करनेवाले वैश्य और दास-कर्मके योग्य शूद्र आदि सभी महात्मा धर्मराजकी प्रसन्नताके लिये तीन खर्बके लागतकी भेंट लेकर दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी

खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर सोनेके बने हुए सुन्दर कलश एवं अन्य भेंट-सामग्री लेकर द्वारपर खड़े थे। परंतु भीतर प्रवेश नहीं



कर पाते थे॥ ५—७॥

यश्च स द्विजमुख्येन राज्ञः शङ्खो निवेदितः।
प्रीत्या दत्तः कुणिन्देन धर्मराजाय धीमते॥

द्विजोंमें प्रधान राजा कुणिन्दने परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको बड़े प्रेमसे एक शङ्ख निवेदन किया॥

तं सर्वे भ्रातरो भ्रात्रे ददुः शङ्खं किरीटिने।
तं प्रत्यगृह्णाद् बीभत्सुस्तोयजं हेममालिनम्॥
चितं निष्कसहस्रेण भ्राजमानं स्वतेजसा।

उस शङ्खको सब भाइयोंने मिलकर किरीटधारी अर्जुनको दे दिया। उसमें सोनेका हार जड़ा हुआ था और एक हजार स्वर्णमुद्राएँ मढ़ी गयी थीं। अर्जुनने उसे सादर ग्रहण किया। वह शङ्ख अपने तेजसे प्रकाशित हो रहा था॥

रुचिरं दर्शनीयं च भूषितं विश्वकर्मणा॥
अधारयच्च धर्मश्च तं नमस्य पुनः पुनः।

साक्षात् विश्वकर्माने उसे रत्नोंद्वारा विभूषित किया था। वह बहुत ही सुन्दर और दर्शनीय था। साक्षात् धर्मने उस शङ्खको बार-बार नमस्कार करके धारण किया था॥

योऽन्नदाने नदति स ननादाधिकं तदा॥
प्रणादाद् भूमिपास्तस्य पेतुर्हीनाः स्वतेजसा॥

अन्नदान करनेपर वह शङ्ख अपने आप बज उठता था। उस समय उस शङ्खने बड़े जोरसे अपनी ध्वनिका विस्तार किया। उसके गम्भीर नादसे समस्त भूमिपाल तेजोहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः।
सत्त्वस्थाः शौर्यसम्पन्ना अन्योन्यप्रियकारिणः॥

केवल धृष्टद्युम्न, पाँच पाण्डव, सात्यकि तथा आठवें श्रीकृष्ण धैर्यपूर्वक खड़े रहे। ये सब-के-सब एक दूसरेका प्रिय करनेवाले तथा शौर्यसे सम्पन्न हैं॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा॥
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुरदाद्धेमशृङ्गिणः।
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्याय भारत॥

इन्होंने मुझको तथा दूसरे भूमिपालोंको मूर्च्छित हुआ देख जोर-जोरसे हँसना आरम्भ किया। उस समय अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न होकर एक श्रेष्ठ ब्राह्मणको पाँच सौ हृष्ट-पुष्ट बैल दिये। वे बैल गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ थे और उनके सींगोंमें सोना मढ़ा गया था॥

सुमुखेन बलिर्मुख्यः प्रेषितोऽजातशत्रवे।
कुणिन्देन हिरण्यं च वासांसि विविधानि च॥

भारत! राजा सुमुखने अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास भेंटकी प्रमुख वस्तुएँ भेजी थीं। कुणिन्दने भाँति-भाँतिके वस्त्र और सुवर्ण दिये थे॥

काश्मीरराजो मार्द्वीकं शुद्धं च रसवन्मधु।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवायाभ्युपाहरत्॥

काश्मीरनरेशने मीठे तथा रसीले शुद्ध अंगूरोंके गुच्छे भेंट किये थे। साथ ही सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लेकर उन्होंने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित की थी॥

यवना हयानुपादाय पर्वतीयान् मनोजवान्।
आसनानि महार्हाणि कम्बलांश्च महाधनान्॥
नवान् विचित्रान् सूक्ष्मांश्च परार्ध्यान् सुप्रदर्शनान्।
अन्यच्च विविधं रत्नं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥

कितने ही यवन मनके समान वेगशाली पर्वतीय घोड़े, बहुमूल्य आसन, नूतन, सूक्ष्म, विचित्र दर्शनीय और कीमती कम्बल, भाँति-भाँतिके रत्न तथा अन्य वस्तुएँ लेकर राजद्वारपर खड़े थे, फिर भी अंदर नहीं जाने पाते थे॥

श्रुतायुरपि कालिङ्गो मणिरत्नमनुत्तमम्।

कलिङ्गनरेश श्रुतायुने उत्तम मणिरत्न भेंट किये॥

दक्षिणात् सागराभ्याशात् प्रावारांश्च परःशतान्॥
औदकानि सरत्नानि बलिं चादाय भारत।
अन्येभ्यो भूमिपालेभ्यः पाण्डवाय न्यवेदयत्॥

इसके सिवा, उन्होंने दूसरे भूपालोंसे दक्षिण समुद्रके निकटसे सैकड़ों उत्तरीय वस्त्र, शङ्ख, रत्न तथा अन्य उपहार-सामग्री लेकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको समर्पित की॥

दार्दुरं चन्दनं मुख्यं भारान् षण्णवतिं ध्रुवम्।
पाण्डवाय ददौ पाण्ड्यः शङ्खांस्तावत एव च॥

पाण्ड्यनरेशने मलय और दर्दुरपर्वतके श्रेष्ठ चन्दनके छियानवे भार युधिष्ठिरको भेंट किये । फिर उतने ही शङ्ख भी समर्पित किये ॥

चन्दनागरु चानन्तं मुक्तावैदूर्यचित्रकाः ।
चोलश्च केरलश्चोभौ ददतुः पाण्डवाय वै ॥

चोल और केरलदेशके नरेशोंने असंख्य चन्दन, अगुरु तथा मोती, वैदूर्य तथा चित्रक नामक रत्न धर्मराज युधिष्ठिरको अर्पित किये ॥

अश्मको हेमशृङ्गीश्च दोग्ध्रीर्हेमविभूषिताः ।
सवत्साः कुम्भदोहाश्च गाः सहस्राण्यदाद् दश ॥

राजा अश्मकने बछड़ोंसहित दस हजार दुधारू गौएँ भेंट कीं, जिनके सींगोंमें सोना मढ़ा हुआ था और गलेमें सोनेके आभूषण पहनाये गये थे । उनके थन घड़ोंके समान दिखायी देते थे ॥

सैन्धवानां सहस्राणि हयानां पञ्चविंशतिम् ।
अददात् सैन्धवो राजा हेममाल्यैरलंकृतान् ॥

सिन्धुनरेशने सुवर्ण-मालाओंसे अलंकृत पचीस हजार सिन्धुदेशीय घोड़े उपहारमें दिये थे ॥

सौवीरो हस्तिभिर्युक्तान् रथांश्च त्रिशतावरान् ।
जातरूपपरिष्कारान् मणिरत्नविभूषितान् ॥
मध्यंदिनार्कप्रतिमांस्तेजसाप्रतिमानिव ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

सौवीरराजने हाथी जुते हुए रथ प्रदान किये, जो तीन सौसे कम न रहे होंगे । उन रथोंको सुवर्ण, मणि तथा रत्नोंसे सजाया गया था । वे दोपहरके सूर्यकी भाँति जगमगा रहे थे । उनसे जो प्रभा फैल रही थी, उसकी कहीं भी उपमा न थी । इन रथोंके सिवा, उन्होंने अन्य सब प्रकारकी भी उपहार-सामग्री युधिष्ठिरको भेंट की थी ॥

अवन्तिराजो रत्नानि विविधानि सहस्रशः ।
हाराङ्गदांश्च मुख्यान् वै विविधं च विभूषणम् ॥
दासीनामयुतं चैव बलिमादाय भारत ।
सभाद्वारि नरश्रेष्ठ दिदृक्षुरवतिष्ठते ॥

नरश्रेष्ठ भरतनन्दन ! अवन्तीनरेश नाना प्रकारके सहस्रों रत्न, हार, श्रेष्ठ अङ्गद (बाजूबंद), भाँति-भाँतिके अन्यान्य आभूषण, दस हजार दासियों तथा अन्यान्य उपहार-सामग्री साथ लेकर राजसभाके द्वारपर खड़े थे और भीतर जाकर युधिष्ठिरका दर्शन पानेके लिये उत्सुक हो रहे थे ॥

दशार्णश्चेदिराजश्च शूरसेनश्च वीर्यवान् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

दशार्णनरेश, चेदिराज तथा पराक्रमी राजा शूरसेनने सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लाकर युधिष्ठिरको समर्पित की ॥

काशिराजेन हृष्टेन बली राजन् निवेदितः ॥
अशीतिगोसहस्राणि शतान्यष्टौ च दन्तिनाम् ।
विविधानि च रत्नानि काशिराजो बलिं ददौ ॥

राजन् ! काशीनरेशने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अस्सी हजार गौएँ, आठ सौ गजराज तथा नाना प्रकारके रत्न भेंट किये ॥

कृतक्षणश्च वैदेहः कौसलश्च बृहद्बलः ।
ददतुर्वाजिमुख्यांश्च सहस्राणि चतुर्दश ॥

विदेहराज कृतक्षण तथा कोसलनरेश बृहद्बलने चौदह-चौदह हजार उत्तम घोड़े दिये थे ॥

शैब्यो वसादिभिः सार्धं त्रिगर्तो मालवैः सह ।
तस्मै रत्नानि ददतुरेकैको भूमिपोऽमितम् ॥
हारांस्तु मुक्तान् मुख्यांश्च विविधं च विभूषणम् ।)

वस आदि नरेशोंसहित राजा शैब्य तथा मालवोंसहित त्रिगर्तराजने युधिष्ठिरको बहुत-से रत्न भेंट किये, उनमेंसे एक-एक भूपालने असंख्य हार, श्रेष्ठ मोती तथा भाँति-भाँतिके आभूषण समर्पित किये थे ॥

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः ।

कार्पासिक देशमें निवास करनेवाली एक लाख दासियाँ उस यज्ञमें सेवा कर रही थीं । वे सब-की-सब श्यामा तथा तन्वङ्गी थीं । उन सबके केश बड़े-बड़े थे और वे सभी सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थीं ॥ ८½ ॥

शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्यजिनानि च ॥ ९ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ॥ १० ॥

महाराज ! भरुकच्छ (भड़ौंच) निवासी शूद्र श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके उपयोगमें आने योग्य रङ्कुमृगके चर्म तथा अन्य सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर उपस्थित हुए थे । वे अपने साथ गान्धार-देशके बहुत-से घोड़े भी लाये थे ॥ ९-१० ॥

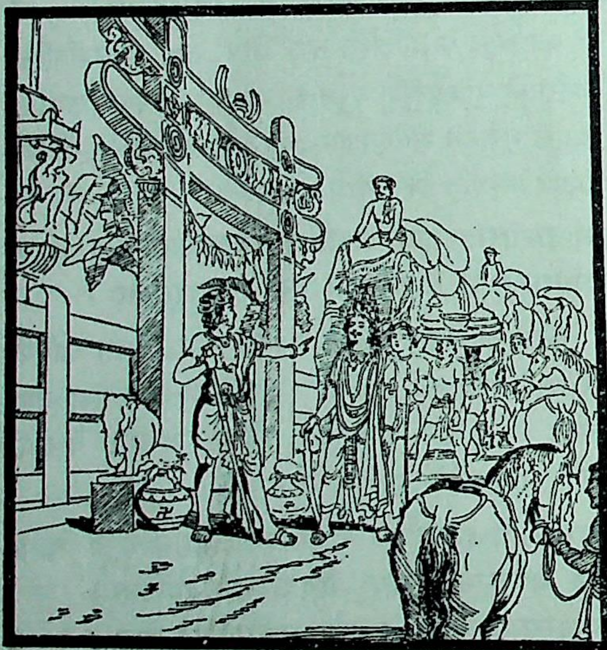
इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः ।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥ ११ ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह ।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु ।
कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १३ ॥

जो समुद्रतटवर्ती गृहोद्यानमें तथा सिन्धुके उस पार रहते हैं, वर्षाद्वारा इन्द्रके पैदा किये हुए तथा नदीके जलसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके धान्योंद्वारा जीवननिर्वाह करते हैं, वे वैराम, पारद, आभीर तथा कितव जातिके लोग नाना प्रकारके रत्न एवं भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री—बकरी,

भेड़, गाय, सुवर्ण, गधे, ऊँट, फलसे तैयार किया हुआ मधु तथा अनेक प्रकारके कम्बल लेकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण (बाहर ही) खड़े थे और भीतर नहीं जाने पाते थे ॥ ११—१३ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १४ ॥
आजानेयान् हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके अधिपति तथा म्लेच्छोंके स्वामी शूरवीर एवं बलवान् महारथी राजा भगदत्त यवनोंके साथ पधारे थे और वायुके समान वेगवाले अच्छी जातिके शीघ्रगामी घोड़े तथा सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर



राजद्वारपर खड़े थे । (अधिक भीड़के कारण) उनका प्रवेश भी रोक दिया गया था ॥ १४–१५ ॥

अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत् तदा ॥ १६ ॥

उस समय प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त हीरे और पद्मराग आदि मणियोंके आभूषण तथा विशुद्ध हाथी-दाँतकी मूँठवाले खड्ग देकर भीतर गये थे ॥ १६ ॥

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षांल्ललाटाक्षान् नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान् पुरुषादकान् ॥ १७ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १८ ॥
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभान् दूरपातिनः ।
आजह्रुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ १९ ॥

द्व्यक्ष, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीक, अन्तवास, रोमक, पुरुषादक तथा एकपाद—इन देशोंके राजा नाना दिशाओंसे आकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण खड़े थे, यह मैंने अपनी आँखों देखा था । ये राजालोग भेंट-सामग्री लेकर आये थे और अपने साथ अनेक रंगवाले बहुत-से दूरगामी गधे (खच्चर) लाये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे । उनकी संख्या दस हजार थी । वे सभी रासभ सिखलाये हुए तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात थे ॥ १७–१९ ॥

प्रमाणरागसम्पन्नान् वङ्क्षुतीरसमुद्भवान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ २० ॥
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ।

उनकी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई जैसी होनी चाहिये, वैसी ही थी । उनका रंग भी अच्छा था । वे समस्त रासभ वङ्क्षु नदीके तटपर उत्पन्न हुए थे । उक्त राजालोग युधिष्ठिरको भेंटके लिये बहुत-सा सोना और चाँदी देते थे और देकर युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट होते थे ॥ २०½ ॥

इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान् मनोजवान् ॥ २१ ॥
तथैवेन्द्रायुधनिभान् संध्याभ्रसदृशानपि ।
अनेकवर्णानारण्यान् गृहीत्वाश्वान् महाजवान् ॥ २२ ॥
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ।

एकपाददेशीय राजाओंने इन्द्रगोप (वीरबहूटी) के समान लाल, तोतेके समान हरे, मनके समान वेगशाली इन्द्रधनुषके तुल्य बहुरंगे, संध्याकालके बादलोंके सदृश लाल और अनेक वर्णवाले महावेगशाली जंगली घोड़े एवं बहुमूल्य सुवर्ण उन्हें भेंटमें दिये ॥ २१–२२½ ॥

चीनाञ्छकांस्तथा चौड्रान् बर्बरान् वनवासिनः ॥ २३ ॥
वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा ।
नीपानूपानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान् ॥ २४ ॥
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ।
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभाञ्छतपातिनः ।
अहार्षुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ २५ ॥

चीन, शक, ओड्र, वनवासी बर्बर, वार्ष्णेय, हार, हूण, कृष्ण, हिमालयप्रदेश, नीप और अनूप देशोंके नाना रूपधारी राजा वहाँ भेंट देनेके लिये आये थे, किंतु रोक दिये जानेके कारण दरवाजेपर ही खड़े थे । उन्होंने अनेक रूपवाले दस हजार गधे भेंटके लिये वहाँ प्रस्तुत किये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे, जो सौ कोसतक लगातार चल सकते थे । वे सभी सिखलाये हुए तथा सब दिशाओंमें विख्यात थे ॥ २३–२५ ॥

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाल्हीचीनसमुद्भवम् ॥
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २६ ॥
कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २७ ॥

निशितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान्।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशूंस्तितान् ॥ २८ ॥
रसान् गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २९ ॥
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः।

जिनकी लंबाई-चौड़ाई पूरी थी, जिनका रंग सुन्दर और स्पर्श सुखद था, ऐसे बाह्लीकचीनके बने हुए, ऊनी, हिरनके रोमसमूहसे बने हुए, रेशमी, पाटके, विचित्र गुच्छेदार तथा कमलके तुल्य कोमल सहस्रों चिकने वस्त्र, जिनमें कपासका नाम भी नहीं था तथा मुलायम मृगचर्म --ये सभी वस्तुएँ भेंटके लिये प्रस्तुत थीं। तीखी और लंबी तलवारें, ऋष्टि, शक्ति, फरसे, अपरान्त (पश्चिम) देशके बने हुए तीखे परशु, भाँति-भाँतिके रस और गन्ध; सहस्रों रत्न तथा सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर शक, तुषार, कंक, रोमश तथा शृङ्गीदेशके लोग राजद्वारपर रोके जाकर खड़े थे ॥ २६-२९½ ॥

महागजान् दूरगमान् गणितानर्बुदान् हयान् ॥ ३० ॥
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसम्मितम्।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३१ ॥

दूरतक जानेवाले बड़े-बड़े हाथी, जिनकी संख्या एक अर्बुद थी एवं घोड़े, जिनकी संख्या कई सौ अर्बुद थी और सुवर्ण जो एक पद्मकी लागतका था—इन सबको तथा भाँति-भाँतिकी दूसरी उपहार-सामग्रीको साथ लेकर कितने ही नरेश राजद्वारपर रोके जाकर भेंट देनेके लिये खड़े थे ॥ ३०-३१ ॥

आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ ३२ ॥
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च।
रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ॥ ३३ ॥
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान्।
विचित्रांश्च परिस्तोमान् रत्नानि विविधानि च ॥ ३४ ॥
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च।
एतद् दत्त्वा महद् द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ॥
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

बहुमूल्य आसन, वाहन, रत्न तथा सुवर्णसे जटित हाथीदाँतकी बनी हुई शय्याएँ, विचित्र कवच, भाँति-भाँतिके शस्त्र, सुवर्णभूषित, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अनेक प्रकारके रथ, हाथियोंपर बिछाने योग्य विचित्र कम्बल, विभिन्न प्रकारके रत्न, नाराच, अर्धनाराच तथा अनेक तरहके शस्त्र—इन सब बहुमूल्य वस्तुओंको देकर पूर्वदेशके नरपतिगण महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए थे ॥ ३२-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—अनघ ! राजाओंद्वारा युधिष्ठिरके यज्ञके लिये दिये हुए जिस महान् धनका संग्रह वहाँ हुआ था, वह अनेक प्रकारका था। मैं उसका वर्णन करता हूँ; सुनिये ॥ १ ॥

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम्।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ॥
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥
तद् वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥

मेरु और मन्दराचलके बीचमें प्रवाहित होनेवाली शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर छिद्रोंमें वायुके भर जानेसे वेणुकी तरह बजनेवाले बाँसोंकी रमणीय छायामें जो लोग बैठते और विश्राम करते हैं, वे खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, पुलिन्द, तङ्गण और परतङ्गण आदि नरेश भेंटमें देनेके लिये पिपीलिकाओं (चींटियों) द्वारा निकाले हुए पिपीलिक नामवाले सुवर्णके ढेरके-ढेर उठा लाये थे। उसका माप द्रोणसे किया जाता था ॥ २-४ ॥

कृष्णाँल्ललामांश्चमराञ्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान्।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥
पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥

इतना ही नहीं, वे सुन्दर काले रंगके चँवर तथा चन्द्रमाके समान श्वेत दूसरे चामर एवं हिमालयके पुष्पोंसे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट मधु भी प्रचुर मात्रामें लाये थे। उत्तरकुरु-

देशसे गङ्गाजल और मालाके योग्य रत्न तथा उत्तरकैलाससे प्राप्त हुई अतीव बलसम्पन्न ओषधियाँ एवं अन्य भेंटकी सामग्री साथ लेकर आये हुए पर्वतीय भूपालगण अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके द्वारपर रोके जाकर विनीतभावसे खड़े थे ॥ ५–७ ॥

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ॥
कारूषे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ॥ ८ ॥
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः ।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥ ९ ॥

पिताजी ! मैंने देखा कि जो राजा हिमालयके परार्धभागमें निवास करते हैं, जो उदयगिरिके निवासी हैं, जो समुद्रतटवर्ती कारूषदेशमें रहते हैं तथा जो लौहित्यपर्वतके दोनों ओर वास करते हैं, फल और मूल ही जिनका भोजन है, वे चर्मवस्त्रधारी क्रूरतापूर्वक शस्त्र चलानेवाले और क्रूर-कर्मा किरातनरेश भी वहाँ भेंट लेकर आये थे ॥ ८-९ ॥

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ १० ॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशाम्पते ।
आहृत्य रमणीयार्थान् दूरजान् मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥

राजन् ! चन्दन और अगुरुकाष्ठ तथा कृष्णागुरु काष्ठके अनेक भार, चर्म, रत्न, सुवर्ण तथा सुगन्धित पदार्थोंकी राशि और दस हजार किरातदेशीय दासियाँ, सुन्दर-सुन्दर पदार्थ, दूर देशोंके मृग और पक्षी तथा पर्वतोंसे संग्रहीत तेजस्वी सुवर्ण एवं सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर आये हुए राजालोग द्वारपर रोके जानेके कारण खड़े थे ॥ १०–१२ ॥

कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा ।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १३ ॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या भद्रकेकयाः ॥ १४ ॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १५ ॥
शौण्डिकाः कुकुराश्चैव शकाश्चैव विशाम्पते ।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥ १६ ॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः ।
अहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १७ ॥

किरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लिक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन, शिबि, त्रिगर्त, यौधेय, भद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाणवत्य तथा गय—ये उत्तम कुल-में उत्पन्न श्रेष्ठ एवं शस्त्रधारी क्षत्रिय राजकुमार सैकड़ोंकी संख्यामें पङ्क्तिबद्ध खड़े होकर अजातशत्रु युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित कर रहे थे ॥ ११–१७ ॥

वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः ।
दौवालिकाः सागरकाः पत्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥ १८ ॥
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत ।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ।
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥ १९ ॥

भारत ! वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्रोर्ण, शैशव तथा कर्णप्रावरण आदि बहुत-से क्षत्रियनरेश वहाँ दरवाजेपर खड़े थे तथा राजाज्ञा-से द्वारपालगण उन सबको यह संदेश देते थे कि आप-लोग अपने लिये समय निश्चित कर लें। फिर उत्तम भेंट-सामग्री अर्पित करें। इसके बाद आपलोगोंको भीतर जानेका मार्ग मिल सकेगा ॥ १८-१९ ॥

ईषादन्तान् हेमकक्षान् पद्मवर्णान् कुथावृतान् ।
शैलाभान् नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकं सरः ॥ २० ॥
दत्त्वैकैको दश शतान् कुञ्जरान् कवचावृतान् ।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तदा ॥ २१ ॥

तदनन्तर एक-एक क्षमाशील और कुलीन राजाने काम्यक सरोवरके निकट उत्पन्न हुए एक-एक हजार हाथियोंकी भेंट देकर द्वारके भीतर प्रवेश किया। उन हाथियोंके दाँत हलदण्डके समान लंबे थे। उनको बाँधनेकी रस्सी सोनेकी बनी हुई थी। उन हाथियोंका रंग कमलके समान सफेद था। उनकी पीठपर झूल पड़ा हुआ था। वे देखनेमें पर्वताकार और उन्मत्त प्रतीत होते थे ॥ २०–२१ ॥

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥ २२ ॥

ये तथा और भी बहुत-से भूपालगण अनेक दिशाओंसे भेंट लेकर आये थे। दूसरे-दूसरे महामना नरेशोंने भी वहाँ रत्नोंकी भेंट अर्पित की थी ॥ २२ ॥

राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥ २३ ॥

इन्द्रके अनुगामी गन्धर्वराज चित्ररथने चार सौ दिव्य अश्व दिये, जो वायुके समान वेगशाली थे ॥ २३ ॥

तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्रसवर्णानामददाद्धेममालिनाम् ॥ २४ ॥

तुम्बुरु नामक गन्धर्वराजने प्रसन्नतापूर्वक सौ घोड़े भेंट किये, जो आमके पत्तेके समान हरे रंगवाले तथा सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित थे ॥ २४ ॥

कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशाम्पते।
अददाद् गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥२५॥

महाराज ! शूकरदेशके पुण्यात्मा राजाने कई सौ गजरत्न भेंट किये ॥ २५ ॥

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम्।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥२६॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने सुवर्णमालाओंसे विभूषित दो हजार मतवाले हाथी उपहारके रूपमें दिये ॥ २६ ॥

पांशुराष्ट्राद् वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान्।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन् काञ्चनमालिनाम् ॥२७॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥२८॥

राजन् ! राजा वसुदानने पांशुदेशसे छब्बीस हाथी, वेग और शक्तिसे सम्पन्न दो हजार सुवर्णमालाभूषित जवान घोड़े और सब प्रकारकी दूसरी भेंट-सामग्री भी पाण्डवोंको समर्पित की ॥ २७—२८ ॥

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशाम्पते।
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ॥२९॥
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम्।

राजन् ! राजा द्रुपदने चौदह हजार दासियाँ, दस हजार सपत्नीक दास, हाथी जुते हुए छब्बीस रथ तथा अपना सम्पूर्ण राज्य कुन्तीपुत्रोंको यज्ञके लिये समर्पित किया था॥२९½॥

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ॥३०॥
अददाद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ॥३१॥

वृष्णिकुलभूषण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने भी अर्जुनका आदर करते हुए चौदह हजार उत्तम हाथी दिये। श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं॥३०-३१॥

यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥३२॥

अर्जुन श्रीकृष्णसे जो कह देंगे, वह सब वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये परमधामको भी त्याग सकते हैं ॥ ३२ ॥

तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्।
सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान् ॥३३॥
मलयाद् दर्दुराच्चैव चन्दनागुरुसंचयान्।

इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग कर सकते हैं। मलय तथा दर्दुरपर्वतसे वहाँके राजालोग सोनेके घड़ोंमें रक्खे हुए सुगन्धित चन्दन-रस तथा चन्दन एवं अगुरुके ढेर भेंटके लिये लेकर आये थे ॥ ३३½ ॥

मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥३४॥
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ।

चोल और पाण्ड्यदेशोंके नरेश चमकीले मणि-रत्न, सुवर्ण तथा महीन वस्त्र लेकर उपस्थित हुए थे; परंतु उन्हें भी भीतर जानेके लिये रास्ता नहीं मिला ॥ ३४½ ॥

समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासङ्घांस्तथैव च ॥३५॥
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन्।

सिंहलदेशके क्षत्रियोंने समुद्रका सारभूत वैदूर्य, मोतियोंके ढेर तथा हाथियोंके सैकड़ों झूल अर्पित किये ॥ ३५½ ॥

संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ॥३६॥
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः।
प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ॥३७॥
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा।

वे सिंहलदेशीय वीर मणियुक्त वस्त्रोंसे अपने शरीरोंको ढके हुए थे। उनके शरीरका रंग काला था और उनकी आँखोंके कोने लाल दिखायी देते थे। उन भेंट-सामग्रियोंको लेकर वे सब लोग दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मण, विजित क्षत्रिय, वैश्य तथा सेवाकी इच्छावाले शूद्र प्रसन्नतापूर्वक वहाँ उपहार अर्पित करते थे ॥३६-३७½ ॥

प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन् युधिष्ठिरम् ॥३८॥
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा।

सभी म्लेच्छ तथा आदि, मध्य और अन्तमें उत्पन्न सभी वर्णके लोग विशेष प्रेम और आदरके साथ युधिष्ठिरके पास भेंट लेकर आये थे ॥ ३८½ ॥

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ॥३९॥
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने।

अनेक देशोंमें उत्पन्न और विभिन्न जातिके लोगोंके आगमनसे युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें मानो यह सम्पूर्ण लोक ही एकत्र हुआ जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापितान् बहून् ॥४०॥
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत।
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ॥४१॥
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः।

मेरे शत्रुओंके घरमें राजाओंद्वारा लाये हुए बहुत-से छोटे-बड़े उपहारोंको देखकर दुःखसे मुझे मरनेकी इच्छा होती थी। राजन् ! पाण्डवोंके वहाँ जिन लोगोंका भरण-पोषण होता है, उनकी संख्या मैं आपको बता रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर उन सबके लिये कच्चे-पक्के भोजनकी व्यवस्था करते हैं ॥ ४०-४१½ ॥

अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ॥४२॥
रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा ।

युधिष्ठिरके यहाँ तीन पद्म दस हजार हाथीसवार और घुड़सवार, एक अर्बुद (दस करोड़) रथारोही तथा असंख्य पैदल सैनिक हैं ॥ ४२½ ॥

प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ॥४३॥
विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याहस्वन एव च ।

युधिष्ठिरके यज्ञमें कहीं कच्चा अन्न तौला जा रहा था, कहीं पक रहा था, कहीं परोसा जाता था और कहीं ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी ॥ ४३½ ॥

नाभुक्तवन्तं नापीतं नालङ्कृतमसत्कृतम् ॥४४॥
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ।

मैंने युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें सभी वर्णके लोगोंमेंसे किसीको ऐसा नहीं देखा, जो खा-पीकर आभूषणोंसे विभूषित और सत्कृत न हुआ हो ॥ ४४½ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥४५॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर घरमें बसनेवाले जिन अट्ठासी हजार स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं, उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दास-दासी उपस्थित रहते हैं ॥ ४५½ ॥

सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥४६॥

वे सब ब्राह्मण भोजनसे अत्यन्त तृप्त एवं संतुष्ट हो राजा युधिष्ठिरको उनके (काम-क्रोधादि) शत्रुओंके विनाशके लिये आशीर्वाद देते हैं ॥ ४६ ॥

दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥४७॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरके महलमें दूसरे दस हजार ऊर्ध्वरेता यति भी सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ ४७ ॥



अभुक्तं भुक्तवद् वापि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशाम्पते ॥४८॥

राजन् ! उस यज्ञमें द्रौपदी प्रतिदिन स्वयं पहले भोजन न करके इस बातकी देखभाल करती थी कि कुबड़े और बौनोंसे लेकर सब मनुष्योंमें किसने खाया है और किसने अभीतक भोजन नहीं किया है ॥ ४८ ॥

द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ।
सम्बन्धिकेन पञ्चालाः सख्येनान्धकवृष्णयः ॥४९॥

भारत ! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको दो ही कुलके लोग कर नहीं देते थे । सम्बन्धके कारण पाञ्चाल और मित्रताके कारण अन्धक एवं वृष्णि ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा युधिष्ठिरके अभिषेकका वर्णन

दुर्योधन उवाच

आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसंधा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदोक्तावभृथप्लुताः ॥ १ ॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥ २ ॥
दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! जो राजा आर्य, सत्यप्रतिज्ञ, महाव्रती, विद्वान्, वक्ता, वेदोक्त यज्ञोंके अन्तमें अवभृथ-स्नान करनेवाले, धैर्यवान्, लज्जाशील, धर्मात्मा, यशस्वी तथा मूर्धाभिषिक्त थे, वे सभी इन धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे । राजाओंने दक्षिणामें देनेके लिये जो गौएँ मँगवायी थीं, उन सबको मैंने जहाँ-तहाँ देखा । उनके दुग्धपात्र काँसेके थे । वे सबकी-सब जंगलोंमें खुली चरनेवाली थीं तथा उनकी संख्या कई हजार थी ॥ १—३ ॥

आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥

बाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम्।
सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः॥ ५॥

भारत! राजालोग युधिष्ठिरके अभिषेकके लिये स्वयं ही प्रयत्न करके शान्तचित्त हो सत्कारपूर्वक छोटे-बड़े पात्र उठा-उठाकर ले आये थे। बाह्लीकनरेश रथ ले आये, जो सुवर्णसे सजाया गया था। सुदक्षिणने उस रथमें काम्बोज-देशके सफेद घोड़े जोत दिये॥ ४-५॥

सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमहार्षीत् स्वयमुद्यतम्॥ ६॥
दाक्षिणात्यः संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम्॥ ७॥
मत्स्यस्त्वक्षान् हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा॥ ८॥
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत्।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम्॥ ९॥

महाबली सुनीथने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें अनुकर्ष (रथके नीचे लगने योग्य काष्ठ) लगा दिया। चेदिराजने स्वयं उस रथमें ध्वजा फहरा दी। दक्षिणदेशके राजाने कवच दिया। मगधनरेशने माला और पगड़ी प्रस्तुत की। महान् धनुर्धर वसुदानने साठ वर्षकी अवस्थाका एक गजराज उपस्थित कर दिया। मत्स्यनरेशने सुवर्णजटित धुरी ला दी। एकलव्यने पैरोंके समीप जूते लाकर रख दिये। अवन्ती-नरेशने अभिषेकके लिये अनेक प्रकारका जल एकत्र कर दिया। चेकितानने तूणीर और काशिराजने धनुष अर्पित किया। शल्यने अच्छी मूठवाली तलवार तथा छींकेपर रक्खा हुआ सुवर्णभूषित कलश प्रदान किया॥ ६-९॥

अभ्यषिञ्चत् ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चासितं मुनिम्॥ १०॥

तदनन्तर धौम्य तथा महातपस्वी व्यासने देवर्षि नारद, देवल और असित मुनिको आगे करके युधिष्ठिरका अभिषेक किया॥ १०॥

प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः।
जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः॥ ११॥

परशुरामजीके साथ वेदके पारंगत दूसरे विद्वान् महर्षियोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरका अभिषेक किया॥ ११॥

अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद् भूरिदक्षिणम्।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा॥ १२॥

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रके पास सप्तर्षि पधारते हैं, उसी प्रकार पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले महाराज युधिष्ठिरके पास बहुत-से महात्मा मन्त्रोच्चारण करते हुए पधारे थे॥ १२॥

अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः।
धनंजयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः॥ १३॥

सत्यपराक्रमी सात्यकिने युधिष्ठिरके लिये छत्र धारण किया तथा अर्जुन और भीमसेनने व्यजन डुलाये॥ १३॥

चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तथा।
उपागृह्णाद् यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः॥ १४॥
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः।
शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा॥ १५॥
तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत्।

तथा नकुल और सहदेवने दो विशुद्ध चँवर हाथमें ले लिये। पूर्वकालमें प्रजापतिने इन्द्रके लिये जिस शङ्खको धारण किया था, वही वरुणदेवताका शङ्ख समुद्रने युधिष्ठिरको भेंट किया था। विश्वकर्माने एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे जिस शैक्यपात्र (छींकेपर रक्खे हुए सुवर्णकलश) का निर्माण किया था, उसमें स्थित समुद्रजलको शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया। उस समय वहाँ मुझे मूर्च्छा आ गयी थी॥ १४-१५½॥

गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चापि दक्षिणम्॥ १६॥

पिताजी! लोग जल लानेके लिये पूर्वसे पश्चिम समुद्र-तक जाते हैं, दक्षिण समुद्रकी भी यात्रा करते हैं॥ १६॥

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः।
तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान् मङ्गलकारकान्॥ १७॥
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन्।
प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा॥ १८॥

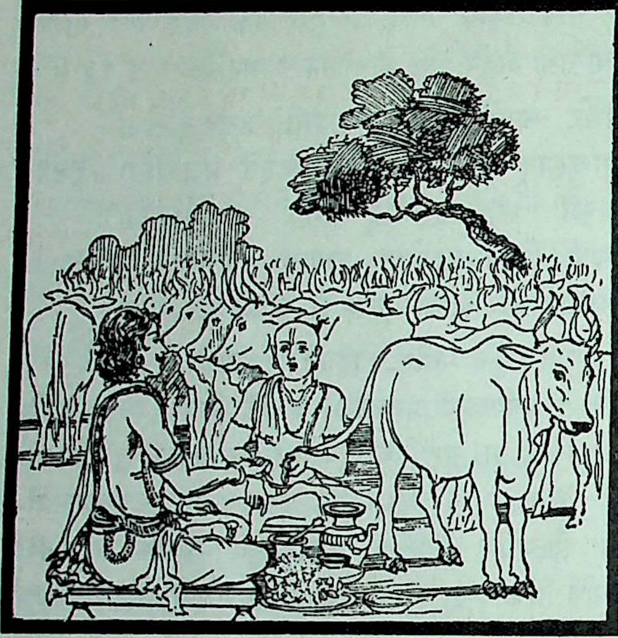
परंतु उत्तर समुद्रतक पक्षियोंके सिवा और कोई नहीं जाता; (किंतु वहाँ भी अर्जुन पहुँच गये।) वहाँ अभिषेकके समय सैकड़ों मङ्गलकारी शङ्ख एक साथ ही जोर-जोरसे बजने लगे, जिससे मेरे रोंगटे खड़े हो गये। उस समय वहाँ जो तेजोहीन भूपाल थे, वे भयके मारे मूर्च्छित होकर गिर पड़े॥ १७-१८॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः।
सत्त्वस्था वीर्यसम्पन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः॥ १९॥

धृष्टद्युम्न, पाँचों पाण्डव, सात्यकि और आठवें श्रीकृष्ण—ये ही धैर्यपूर्वक स्थिर रहे। ये सभी पराक्रमसम्पन्न तथा एक दूसरेका प्रिय करनेवाले हैं॥ १९॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा।
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम्॥ २०॥
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत।
न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च॥ २१॥
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाप्यासीद् भगीरथः।
ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः॥ २२॥

वे मुझे तथा अन्य राजाओंको अचेत हुए देखकर उस समय जोर-जोरसे हँस रहे थे । भारत ! तदनन्तर अर्जुनने



प्रसन्न होकर पाँच सौ बैलोंको, जिनके सींगोंमें सोना मँढ़ा हुआ था, मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंमें बाँट दिया । पिताजी ! न रन्तिदेव, न नाभाग, न मान्धाता, न मनु, न वेननन्दन राजा पृथु, न भगीरथ, न ययाति और न नहुष ही वैसे ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् थे, जैसे कि आज राजा युधिष्ठिर हैं ॥ २०–२२ ॥

यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः ।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥२३॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर राजसूययज्ञ पूर्ण करके अत्यन्त उच्च कोटिकी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हो गये हैं । ये शक्तिशाली महाराज हरिश्चन्द्रकी भाँति सुशोभित होते हैं ॥ २३ ॥

एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिचन्द्रे यथा विभो ।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥२४॥

भारत ! हरिश्चन्द्रकी भाँति कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी इस राजलक्ष्मीको देखकर मेरा जीवित रहना आप किस दृष्टिसे अच्छा समझते हैं ? ॥ २४ ॥

अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ॥२५॥

राजन् ! यह युग अंधे विधातासे बँधा हुआ है । इसीलिये इसमें सब बातें उलटी हो रही हैं । छोटे बढ़ रहे हैं और बड़े हीन दशामें गिरते जा रहे हैं ॥ २५ ॥

एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म
समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर ।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च
विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥ २६ ॥

कुरुप्रवीर ! ऐसा देखकर अच्छी तरह विचार करनेपर भी मुझे चैन नहीं पड़ता । इसीसे मैं दुर्बल, कान्तिहीन और शोकमग्न हो रहा हूँ ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान् द्विषः ।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो, जेठी रानीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो । बेटा ! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो; क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्युके समान कष्ट पाता है ॥ १ ॥

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात् त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥

युधिष्ठिर किसीके साथ छल नहीं करते, उनका धन तुम्हारे ही जैसा है । जो तुम्हारे मित्र हैं, वे उनके भी मित्र हैं और युधिष्ठिर तुमसे कभी द्वेष नहीं करते । भरतकुलतिलक ! फिर तुम्हारे-जैसे पुरुषको उनसे द्वेष क्यों करना चाहिये ? ॥ २ ॥

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप ।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥ ३ ॥

राजन् ! तुम्हारा और युधिष्ठिरका कुल एवं पराक्रम एक-सा है । बेटा ! तुम मोहवश अपने भाईकी लक्ष्मीकी इच्छा क्यों करते हो ? ऐसे अधम न बनो; शान्तभावसे रहो । शोक न करो ॥ ३ ॥

अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम उस यज्ञ-वैभवको पानेकी अभिलाषा रखते हो तो ऋत्विजलोग तुम्हारे लिये भी गायत्री आदि सात छन्दरूपी तन्तुओंसे युक्त राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान करा देंगे ॥ ४ ॥

आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलं धनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥

उसमें देश-देशके राजालोग तुम्हारे लिये भी बड़े प्रेम और आदरसे रत्न, आभूषण तथा बहुत धन ले आयेंगे ॥ ५ ॥

(मही कामदुघा सा हि वीरपत्नीति चोच्यते ।
तथा वीर्याश्रिता भूमिस्तनुते हि मनोरथम् ॥
तवाप्यस्ति हि चेद् वीर्यं भोक्ष्यसे हि महीमिमाम् ॥)

बेटा ! यह पृथ्वी कामधेनु है । इसे वीरपत्नी भी कहते हैं । अपने पराक्रमसे जीती हुई भूमि मनोवाञ्छित फल प्रदान करती है । यदि तुममें भी बल और पराक्रम हो तो तुम इस पृथ्वीका यथेष्ट उपभोग कर सकते हो ॥

अनार्याचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥ ६ ॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपात्तानामेतद् वैभवलक्षणम् ॥ ७ ॥

तात ! दूसरेके धनकी स्पृहा रखना नीच पुरुषोंका काम है । जो भलीभाँति अपने धनसे संतुष्ट तथा अपने धर्ममें ही स्थित है, वही सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है । दूसरेके धनको हड़पनेकी कोई चेष्टा न करना, अपने कर्त्तव्यको पूरा करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना और अपनेको जो कुछ प्राप्त है, उसकी रक्षा करना--यही उत्तम वैभवका लक्षण है ॥ ६-७ ॥

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान् नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥ ८ ॥

जो विपत्तिमें व्यथित नहीं होता, सदा उद्योगशील बना रहता है, जिसमें प्रमादका अभाव है तथा जिसके हृदयमें विनयरूप सद्गुण है, वह चतुर मनुष्य सदा कल्याण ही देखता है ॥ ८ ॥

बाहूनिवैतान् मा छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते ।
भ्रातृणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ॥ ९ ॥

ये पाण्डुपुत्र तुम्हारी भुजाओंके समान हैं, इन्हें काटो मत । इसी प्रकार तुम भाइयोंके धनके लिये मित्रद्रोह न करो ॥ ९ ॥

पाण्डोः पुत्रान् मा द्विषस्वेह राजं-
स्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम् ।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः
पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ॥ १० ॥

राजन् ! तुम पाण्डवोंसे द्वेष न करो । वे तुम्हारे भाई हैं और भाइयोंका सारा धन तुम्हारा ही है । तात ! मित्रद्रोहसे बहुत बड़ा पाप होता है । देखो, जो तुम्हारे बाप-दादे हैं, वे ही उनके भी हैं ॥ १० ॥

अन्तर्वेद्यां ददद् वित्तं कामाननुभवन् प्रियान् ।
क्रीडन् स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम यज्ञमें धन दान करो, मनको प्रिय लगनेवाले भोग भोगो और निर्भय होकर स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हुए शान्त रहो ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल १२½ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको उकसाना

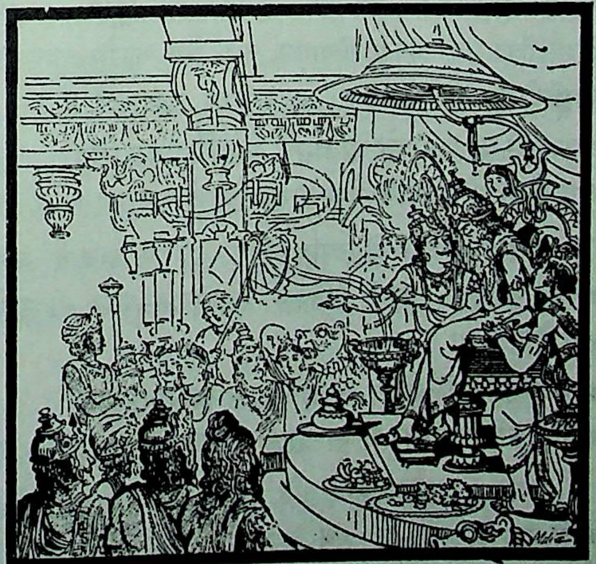
दुर्योधन उवाच

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, जिसने केवल बहुत-से शास्त्रोंका श्रवणभर किया है, वह शास्त्रके तात्पर्यको नहीं समझ सकता; ठीक उसी तरह, जैसे कलछी दालके रसको नहीं जानती ॥ १ ॥

जानन् वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ॥ २ ॥

एक नौकामें बँधी हुई दूसरी नौकाके समान आप विदुरकी बुद्धिके आश्रित हैं । जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालते हैं, स्वार्थसाधनके लिये क्या आपमें तनिक भी सावधानी नहीं है, अथवा आप मुझसे द्वेष रखते हैं ! ॥ २ ॥



न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ॥ ३ ॥

आप जिनके शासक हैं, वे धार्तराष्ट्र नहींके बराबर हैं (क्योंकि आप उन्हें स्वेच्छासे उन्नतिके पथपर बढ़ने नहीं देते)। आप सदा अपने वर्तमान कर्तव्यको भविष्यपर ही टालते रहते हैं ॥ ३ ॥

परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान् प्रति मुह्यति।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥

जिस दलका अगुआ दूसरेकी बुद्धिपर चलता हो, वह अपने मार्गमें सदा मोहित होता रहता है। फिर उसके पीछे चलनेवाले लोग अपने मार्गका अनुसरण कैसे कर सकते हैं ?॥ ४ ॥

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु सम्मोहयसि नो भृशम् ॥ ५ ॥

राजन्! आपकी बुद्धि परिपक्व है, आप वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहते हैं, आपने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा ली है, तो भी जब हमलोग अपने कार्योंमें तत्पर होते हैं, उस समय आप हमें बार-बार मोहमें ही डाल देते हैं ॥ ५ ॥

लोकवृत्ताद् राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः।
तस्माद् राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥
क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥ ७ ॥

बृहस्पतिने राजव्यवहारको लोकव्यवहारसे भिन्न बताया है; अतः राजाको सावधान होकर सदा अपने प्रयोजनका ही चिन्तन करना चाहिये। महाराज! क्षत्रियकी वृत्ति विजयमें ही लगी रहती है, वह चाहे धर्म हो या अधर्म। अपनी वृत्तिके विषयमें क्या परीक्षा करनी है ? ॥ ६-७ ॥

प्रकालयेद् दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतकुलभूषण! शत्रुकी जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छावाला भूपाल सम्पूर्ण दिशाओंका उसी प्रकार संचालन करे, जैसे सारथि चाबुकसे घोड़ोंको हाँककर अपनी रुचिके अनुसार चलाता है ॥ ८ ॥

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते।
तद् वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥ ९ ॥

गुप्त या प्रकट, जो उपाय शत्रुको संकटमें डाल दे, वही शस्त्रज्ञ पुरुषोंका शस्त्र है। केवल काटनेवाला शस्त्र ही शस्त्र नहीं है ॥ ९ ॥

शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥ १० ॥

राजन्! अमुक शत्रु है और अमुक मित्र, इसका कोई लेखा नहीं है और न शत्रु-मित्रसूचक कोई अक्षर ही है। जो जिसको संताप देता है, वही उसका शत्रु कहा जाता है ॥ १० ॥

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात् तं कामयाम्यहम्।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ॥ ११ ॥

असंतोष ही लक्ष्मीकी प्राप्तिका मूल कारण है; अतः मैं असंतोष चाहता हूँ। राजन्! जो अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न ही सर्वोत्तम नीति है ॥ ११ ॥

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा।
पूर्वावाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥

ऐश्वर्य अथवा धनमें ममता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पहलेके उपार्जित धनको दूसरे लोग बलात्कारसे छीन लेते हैं। यही राजधर्म माना गया है ॥ १२ ॥

अद्रोहसमयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥ १३ ॥

इन्द्रने नमुचिसे कभी वैर न करनेकी प्रतिज्ञा करके उसपर विश्वास जमाया और मौका देखकर उसका सिर काट लिया। तात! शत्रुके प्रति इसी प्रकारका व्यवहार सदासे होता चला आया है। यह इन्द्रको भी मान्य है ॥ १३ ॥

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥

जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले चूहों आदिको निगल जाता है, उसी प्रकार यह भूमि विरोध न करनेवाले राजा तथा परदेशमें न विचरनेवाले ब्राह्मण (संन्यासी) को ग्रस लेती है ॥ १४ ॥

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥

नरेश्वर! मनुष्यका जन्मसे कोई शत्रु नहीं होता, जिसके साथ एक-सी जीविका होती है, अर्थात् जो लोग एक ही वृत्तिसे जीवननिर्वाह करते हैं, वे ही (ईर्ष्याके कारण) आपसमें एक-दूसरेके शत्रु होते हैं, दूसरे नहीं ॥ १५ ॥

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात् समुपेक्षते।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ १६ ॥

जो निरन्तर बढ़ते हुए शत्रुपक्षकी ओरसे मोहवश उदासीन हो जाता है, बढ़े हुए रोगकी भाँति शत्रु उस उदासीन राजाकी जड़ काट डालता है ॥ १६ ॥

अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः।
वल्मीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ १७ ॥

जैसे वृक्षकी जड़में उत्पन्न हुई दीमक उसमें लगी रहनेके कारण उस वृक्षको ही खा जाती है, वैसे ही छोटा-सा भी शत्रु यदि पराक्रमसे बहुत बढ़ जाय, तो वह पहलेके प्रबल शत्रुको भी नष्ट कर डालता है ॥ १७ ॥

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि विष्ठितः ॥ १८ ॥

भरतकुलभूषण! अजमीढनन्दन! आपको शत्रुकी

लक्ष्मी अच्छी नहीं लगनी चाहिये। हर समय न्यायको सिरपर चढ़ाये रखना भी बुद्धिमानोंके लिये भार ही है ॥ १८ ॥

जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥ १९ ॥

जो जन्मकालसे शरीर आदिकी वृद्धिके समान धनवृद्धिकी भी अभिलाषा करता है, वह कुटुम्बीजनोंमें बहुत आगे बढ़ जाता है। पराक्रम करना तत्काल उन्नतिका कारण है ॥ १९ ॥

नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति।
अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शयिष्ये वा हतो युधि ॥ २० ॥

जबतक मैं पाण्डवोंकी सम्पत्तिको प्राप्त न कर लूँ, तबतक मेरे मनमें दुविधा ही रहेगी। इसलिये या तो मैं पाण्डवोंकी उस सम्पत्तिको ले लूँगा अथवा युद्धमें मरकर सो जाऊँगा (तभी मेरी दुविधा मिटेगी) ॥ २० ॥

एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशाम्पते।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥

महाराज! आज जो मेरी दशा है, इसमें मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ? पाण्डव प्रतिदिन उन्नति कर रहे हैं और हम लोगोंकी वृद्धि (उन्नति) अस्थिर है—अधिक कालतक टिकनेवाली नहीं जान पड़ती है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, द्यूतक्रीडाके लिये सभानिर्माण और धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको बुलानेके लिये विदुरको आज्ञा देना

शकुनिरुवाच

यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतां वर ॥ १ ॥

शकुनि बोला—विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ दुर्योधन! तुम पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी जिस लक्ष्मीको देखकर संतप्त हो रहे हो, उसका मैं द्यूतके द्वारा अपहरण कर लूँगा ॥ १ ॥

आहूयतां परं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अगत्वा संशयमहमयुद्ध्वा च चमूमुखे ॥ २ ॥
अक्षान् क्षिपन्नक्षतः सन् विद्वानविदुषो जये।
ग्लहान् धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ॥ ३ ॥

परंतु राजन्! तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको बुला लो। मैं किसी संशयमें पड़े बिना, सेनाके सामने युद्ध किये बिना केवल पासे फेंककर स्वयं किसी प्रकारकी क्षति उठाये बिना ही पाण्डवोंको जीत लूँगा; क्योंकि मैं द्यूतविद्याका ज्ञाता हूँ और पाण्डव इस कलासे अनभिज्ञ हैं। भारत! दावोंको मेरे धनुष समझो और पासोंको मेरे बाण ॥ २-३ ॥

अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्तरम् ॥ ४ ॥

पासोंका जो हृदय (मर्म) है, उसीको मेरे धनुषकी प्रत्यञ्चा समझो और जहाँसे पासे फेंके जाते हैं, वह स्थान ही मेरा रथ है ॥ ४ ॥

दुर्योधन उवाच

अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित्।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

दुर्योधन बोला—राजन्! ये मामाजी पासे फेंकनेकी कलामें निपुण हैं। ये द्यूतके द्वारा पाण्डवोंसे उनकी सम्पत्ति ले लेनेका उत्साह रखते हैं। उसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये। ५।

धृतराष्ट्र उवाच

स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा! मैं अपने भाई महात्मा विदुरकी सम्मतिके अनुसार चलता हूँ। उनसे मिलकर यह जान सकूँगा कि इस कार्यके विषयमें क्या निश्चय करना चाहिये?। ६।

दुर्योधन उवाच

व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! विदुर सब प्रकारसे संशयरहित हैं। वे आपकी बुद्धिको जूएके निश्चयसे हटा देंगे। कुरुनन्दन! वे जैसे पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते हैं, वैसे मेरे हितमें नहीं ॥ ७ ॥

नारभेतान्यसामर्थ्यात् पुरुषः कार्यमात्मनः।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह अपना कार्य दूसरेके बलपर न करे। कुरुराज! किसी भी कार्यमें दो पुरुषोंकी राय पूर्णरूपसे नहीं मिलती ॥ ८ ॥

भयं परिहरन् मन्द आत्मानं परिपालयन्।
वर्षासु क्लिन्नकटवत् तिष्ठन्नेवावसीदति ॥ ९ ॥

मूर्ख मनुष्य भयका त्याग और आत्मरक्षा करते हुए भी यदि चुपचाप बैठा रहे, उद्योग न करे, तो वह वर्षा-

कालमें भींगी हुई चटाईके समान नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ १० ॥

रोग अथवा यमराज इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया या नहीं। अतः जबतक अपनेमें सामर्थ्य हो, तभीतक अपने हितका साधन कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद् वै शस्त्रमनायसम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! मुझे तो बलवानोंके साथ विरोध करना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वैर-विरोध बड़ा भारी झगड़ा खड़ा कर देता है, जो (कुलके विनाशके लिये) बिना लोहेका शस्त्र है ॥ ११ ॥

अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र
संग्रन्थनं कलहस्याति घोरम् ।
तद् वै प्रवृत्तं तु यथा कथंचित्
सृजेदसीन् निशितान् सायकांश्च ॥ १२ ॥

राजकुमार ! तुम द्यूतरूपी अनर्थको ही अर्थ मान रहे हो। यह जूआ कलहको ही गूँथनेवाला एवं अत्यन्त भयंकर है। यदि किसी प्रकार यह शुरू हो गया तो तीखी तलवारों और बाणोंकी भी सृष्टि कर देगा ॥ १२ ॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीत-
स्तत्रात्ययो नास्ति न सम्प्रहारः ।
तद् रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य
सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! पुराने लोगोंने भी द्यूतक्रीड़ाका व्यवहार किया है। उसमें न तो दोष है और न युद्ध ही होता है। अतः आप शकुनि मामाकी बात मान लीजिये और शीघ्र ही यहाँ (द्यूतके लिये) सभामण्डप बन जानेकी आज्ञा दीजिये ॥ १३ ॥

स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं
तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव
दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १४ ॥

यह जूआ हम खेलनेवालोंके लिये एक विशिष्ट स्वर्गीय सुखका द्वार है। उसके आस-पास बैठनेवाले लोगोंके लिये भी वह वैसा ही सुखद होता है। इस प्रकार इसमें पाण्डवोंको भी हमारे समान ही सुख प्राप्त होगा। अतः आप पाण्डवोंके साथ द्यूतक्रीडाकी व्यवस्था कीजिये ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत् त्वयोक्तं
यत् ते प्रियं तत् क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात् तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं
न हीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! तुमने जो बात कही है, वह मुझे अच्छी नहीं लगती। नरेन्द्र ! जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो। जूएका आरम्भ करनेपर मेरी बातोंको याद करके तुम पीछे पछताओगे; क्योंकि ऐसी बातें जो तुम्हारे मुखसे निकली हैं, धर्मानुकूल नहीं कही जा सकतीं ॥ १५ ॥

दृष्टं ह्येतद् विदुरेणैव सर्वं
विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति
महद् भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १६ ॥

बुद्धि और विद्याका अनुसरण करनेवाले विद्वान् विदुरने यह सब परिणाम पहलेसे ही देख लिया था। क्षत्रियोंके लिये विनाशकारी वही यह महान् भय मुझ विवशके सामने आ रहा है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान् पुत्रवाक्ये
स्थितो राजा दैवसम्मूढचेताः ॥ १७ ॥
सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां
शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे
तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने दैवको परम दुस्तर माना और दैवके प्रतापसे ही उनके चित्तपर मोह छा गया। वे कर्तव्या-कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो गये। फिर पुत्रकी बात मानकर उन्होंने सेवकोंको आज्ञा दी कि शीघ्र ही तत्पर होकर तोरणस्फाटिक नामक सभा तैयार कराओ। उसमें सुवर्ण तथा वैदूर्यसे जटित एक हजार खम्भे और सौ दरवाजे हों। उस सुन्दर सभाकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक कोसकी होनी चाहिये ॥ १७-१८ ॥

श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः
प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां
सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥ १९ ॥

उनकी यह आज्ञा सुनकर तेज काम करनेवाले चतुर

एवं बुद्धिमान् सहस्रों शिल्पी निर्भीक होकर काममें लग गये। उन्होंने शीघ्र ही वह सभा तैयार कर दी और उसमें सब तरहकी वस्तुएँ यथास्थान सजा दीं ॥ १९ ॥

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां
सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेता-
माचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ २० ॥

थोड़े ही समयमें तैयार हुई उस असंख्य रत्नोंसे सुशोभित रमणीय एवं विचित्र सभाको अद्भुत सोनेके आसनोंद्वारा सजा दिया गया। तत्पश्चात् विश्वस्त सेवकोंने राजा धृतराष्ट्र-को उस सभाभवनके तैयार हो जानेकी सूचना दी ॥ २० ॥

ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्य-
मुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा
मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् विद्वान् राजा धृतराष्ट्रने मन्त्रियोंमें प्रधान विदुरको यह आज्ञा दी कि तुम राजकुमार युधिष्ठिरके पास जाकर मेरी आज्ञासे उन्हें शीघ्र यहाँ लिवा लाओ ॥ २१ ॥

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा
शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य
सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ॥ २२ ॥

उनसे कहना, 'मेरी यह विचित्र सभा अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित है। इसे बहुमूल्य शय्याओं और आसनोंद्वारा सजाया गया है। युधिष्ठिर! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ आकर इसे देखो और इसमें सुहृदोंकी द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ हो' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और धृतराष्ट्रकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद् राजंश्चकार ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्र दुर्योधनका मत जानकर राजा धृतराष्ट्रने दैवको दुस्तर माना और यह कार्य किया ॥ १ ॥

अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः।
नाभ्यनन्दद् वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरने धृतराष्ट्रका वह अन्यायपूर्ण आदेश सुनकर भाईकी उस बातका अभिनन्दन नहीं किया और इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं
मैवं कृथाः कुलनाशाद् बिभेमि।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्या-
देतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ ३ ॥

विदुर बोले—महाराज! मैं आपके इस आदेशका अभिनन्दन नहीं करता, आप ऐसा काम मत कीजिये। इससे मुझे समस्त कुलके विनाशका भय है। नरेन्द्र! पुत्रोंमें भेद होनेपर निश्चय ही आपको कलहका सामना करना पड़ेगा। इस जूएके कारण मुझे ऐसी आशङ्का हो रही है ॥ ३ ॥



धृतराष्ट्र उवाच

नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां
न चेद् दैवं प्रतिलोमं भविष्यत्।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यदि दैव प्रतिकूल न हो,

तो मुझे कलह भी कष्ट नहीं दे सकेगा। विधाताका बनाया हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके अधीन होकर ही चेष्टा कर रहा है, स्वतन्त्र नहीं है ॥ ४ ॥

तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात्।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

इसलिये विदुर! तुम मेरी आज्ञासे आज राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन दुर्द्धर्ष कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ॥ ५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें जाकर सबसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रायाद् विदुरोऽश्वैरुदारै-
र्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रके बलपूर्वक भेजनेपर विदुरजी अत्यन्त वेगशाली, बलवान् और अच्छी प्रकार काबूमें किये हुए महान् अश्वोंसे जुते रथपर सवार हो परम बुद्धिमान् पाण्डवोंके समीप गये ॥ १ ॥

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम्।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २ ॥

महाबुद्धिमान् विदुरजी उस मार्गको तय करके राजा युधिष्ठिरकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ द्विजातियोंसे सम्मानित होकर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम्।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥
तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा
अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढ-
स्ततोऽपृच्छद् धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥

कुबेरके भवनके समान सुशोभित राजमहलमें जाकर धर्मात्मा विदुर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे मिले। सत्यवादी महात्मा अजमीढनन्दन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने विदुरजीका यथावत् आदर-सत्कार करके उनसे पुत्रसहित धृतराष्ट्रकी कुशल पूछी ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः
कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि।
कच्चित् पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा
वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! आपका मन प्रसन्न नहीं जान पड़ता। आप कुशलसे तो आये हैं? बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पुत्र उनके अनुकूल चलते हैं न? तथा सारी प्रजा उनके वशमें है न? ॥ ५ ॥

विदुर उवाच

राजा महात्मा कुशली सपुत्र
आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः।
प्रीतो राजन् पुत्रगणैर्विनीतै-
र्विशोक एवात्मरतिर्महात्मा ॥ ६ ॥

विदुरने कहा—राजन्! इन्द्रके समान प्रभावशाली महामना राजा धृतराष्ट्र अपने जातिभाइयों तथा पुत्रोंसहित सकुशल हैं। अपने विनीत पुत्रोंसे वे प्रसन्न रहते हैं। उनमें शोकका अभाव है। वे महामना अपनी आत्मामें ही अनुराग रखनेवाले हैं ॥ ६ ॥

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच
पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा
भ्रातॄणां ते पश्यतामेत्य पुत्र ॥ ७ ॥
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां
सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां संगमेन
समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥

कुरुराज धृतराष्ट्रने पहले तुमसे कुशल और आरोग्य पूछकर यह संदेश दिया है कि वत्स! मैंने तुम्हारी सभाके समान ही एक सभा तैयार करायी है। तुम अपने भाइयोंके साथ आकर अपने दुर्योधन आदि भाइयोंकी इस सभाको देखो। इसमें सभी इष्ट-मित्र मिलकर द्यूतक्रीडा करें और मन बहलावें। हम सभी कौरव तुम सबसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे ॥ ७-८ ॥

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र
महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा।
तान् द्रक्ष्यसे कितवान् संनिविष्टा-
न्नित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ॥ ९ ॥

महामना राजा धृतराष्ट्रने वहाँ जो जूएके स्थान बनवाये हैं, उनको और वहाँ जुटकर बैठे हुए धूर्त जुआरियोंको तुम देखोगे। राजन्! मैं इसीलिये आया हूँ। तुम चलकर उस सभा एवं द्यूतक्रीडाका सेवन करो ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः
को वै द्यूतं रोचयेद् बुध्यमानः।
किं वा भवान् मन्यते युक्तरूपं
भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी ! जूएमें तो झगड़ा-फसाद होता है। कौन समझदार मनुष्य जूआ खेलना पसंद करेगा अथवा आप क्या ठीक समझते हैं; हम सब लोग तो आपकी आज्ञाके अनुसार ही चलनेवाले हैं ॥ १० ॥

विदुर उवाच

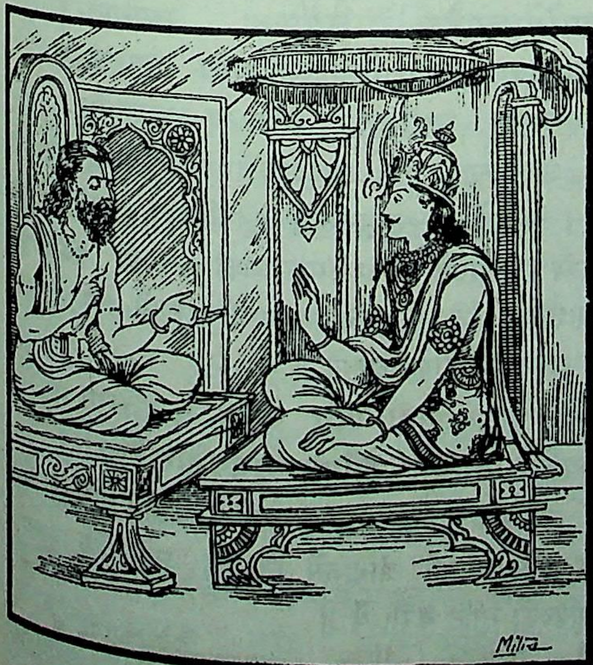
जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं
कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥

विदुरजीने कहा—विद्वन् ! मैं जानता हूँ, जूआ अनर्थकी जड़ है; इसीलिये मैंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया तथापि राजा धृतराष्ट्रने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, यह सुनकर तुम्हें जो कल्याणकर जान पड़े, वह करो ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना
विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्
यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी ! वहाँ राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको छोड़कर दूसरे कौन-कौन धूर्त जुआ खेलनेवाले हैं ? यह मैं आपसे पूछता हूँ। आप उन सबको बताइये, जिनके साथ मिलकर और सैकड़ोंकी बाजी लगाकर हमें जुआ खेलना पड़ेगा ॥ १२ ॥



विदुर उवाच

गान्धारराजः शकुनिर्विशाम्पते
राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥

विदुरने कहा—राजन् ! वहाँ गान्धारराज शकुनि है, जो जुएका बहुत बड़ा खिलाड़ी है। वह अपनी इच्छाके अनुसार पासे फेंकनेमें सिद्धहस्त है। उसे द्यूतविद्याके रहस्यका ज्ञान है। उसके सिवा राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय भी रहेंगे ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

महाभयाः कितवाः संनिविष्टा
मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगत् तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर बोले—तब तो वहाँ बड़े भयंकर, कपटी और धूर्त जुआरी जुटे हुए हैं। विधाताका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके ही अधीन है; स्वतन्त्र नहीं है ॥ १४ ॥

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासना-
न्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम्।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव
तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा ॥ १५ ॥

बुद्धिमान् विदुरजी ! मैं राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएमें अवश्य चलना चाहता हूँ। पुत्रको पिता सदैव प्रिय है; अतः आपने मुझे जैसा आदेश दिया है, वैसा ही करूँगा ॥ १५ ॥

न चाकामः शकुनिना देविताहं
न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम्।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥

मेरे मनमें जूआ खेलनेकी इच्छा नहीं है। यदि मुझे विजयशील राजा धृतराष्ट्र सभामें न बुलाते, तो मैं शकुनिसे कभी जुआ न खेलता; किंतु बुलानेपर मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा। यह मेरा सदाका नियम है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः
प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम्।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः
सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरसे ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही यात्राकी सारी तैयारी करनेके

लिये आज्ञा दे दी। फिर सबेरा होनेपर उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं, सेवकों तथा द्रौपदी आदि स्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा की॥ १७॥

दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत्।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः॥ १८॥

जैसे उत्कृष्ट तेज सामने आनेपर आँखकी ज्योतिको हर लेता है, उसी प्रकार दैव मनुष्यकी बुद्धिको हर लेता है। दैवसे ही प्रेरित होकर मनुष्य रस्सीमें बँधे हुएकी भाँति विधाताके वशमें घूमता रहता है॥ १८॥

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः।
अमृष्यमाणस्तस्याथ समाह्वानमरिंदमः॥ १९॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन राजा युधिष्ठिर जूएके लिये राजा धृतराष्ट्रके उस बुलावेको सहन न करते हुए भी विदुरजीके साथ वहाँ जानेको उद्यत हो गये॥ १९॥

बाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः॥ २०॥

बाह्लीकद्वारा जोते हुए रथपर बैठकर शत्रुसूदन पाण्डुकुमार युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा प्रारम्भ की॥ २०॥

राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरःसरः।

वे अपनी राजलक्ष्मीसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणको आगे करके प्रस्थान किया॥ २०½॥

(संदिदेश ततः प्रेष्यान् नागाह्वयगतिं प्रति।
ततस्ते नरशार्दूलाश्चक्रुर्वै नृपशासनम्॥

सबसे पहले राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंको हस्तिनापुरकी ओर चलनेका आदेश दिया। वे नरश्रेष्ठ राजसेवक महाराजकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर हो गये॥

ततो राजा महातेजाः सधौम्यः सपरिच्छदः।
ब्राह्मणैः स्वस्ति वाच्यैव निर्ययौ मन्दिराद् बहिः॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर समस्त सामग्रियोंसे सुसज्जित हो ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पुरोहित धौम्यके साथ राजभवनसे बाहर निकले॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा गत्यर्थं स यथाविधि।
अन्येभ्यः स तु दत्त्वार्थं गन्तुमेवोपचक्रमे॥

यात्राकी सफलताके लिये उन्होंने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धन देकर और दूसरोंको भी मनोवाञ्छित वस्तुएँ अर्पित करके यात्रा प्रारम्भ की॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं राजार्हं सपरिच्छदम्।
तमारुह्य महाराजो गजेन्द्रं षष्टिहायनम्॥
निषसाद गजस्कन्धे काञ्चने परमासने।
हारी किरीटी हेमाभः सर्वाभरणभूषितः॥
रराज राजन् पार्थो वै परया नृपशोभया।
रुक्मवेदिगतः प्राज्यो ज्वलन्निव हुताशनः॥

राजाके बैठने योग्य एक साठ वर्षका गजराज सब आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित करके लाया गया। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था। उसकी पीठपर सोनेका सुन्दर हौदा कसा गया था। महाराज युधिष्ठिर (पूर्वोक्त रथसे उतर कर) उस गजराजपर आरूढ़ हो हौदेमें बैठे। उस समय वे हार, किरीट तथा अन्य सभी आभूषणोंसे विभूषित हो अपनी स्वर्णगौर-कान्ति तथा उत्कृष्ट राजोचित शोभासे सुशोभित हो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सोनेकी वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हो रहे हों॥

ततो जगाम राजा स प्रहृष्टनरवाहनः।
रथघोषेण महता पूरयन् वै नभःस्थलम्॥
संस्तूयमानः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः।
महासैन्येन संवीतो यथाऽऽदित्यः स्वरश्मिभिः॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए मनुष्यों तथा वाहनोंके साथ राजा युधिष्ठिर वहाँसे चल पड़े। वे (राजपरिवारके लोगोंसे भरे हुए पूर्वोक्त) रथके महान् घोषसे समस्त आकाशमण्डलको गुँजाते जा रहे थे। सूत, मागध और बन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा उनके गुण गाते थे। उस समय विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर अपनी किरणोंसे आवृत हुए सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
बभौ युधिष्ठिरो राजा पौर्णमास्यामिवोडुराट्॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे राजा युधिष्ठिर पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे॥

चामरैर्हेमदण्डैश्च धूयमानः समन्ततः।
जयाशिषः प्रहृष्टाणां नराणां पथि पाण्डवः॥
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावद् भरतर्षभ।

उनके चारों ओर स्वर्णदण्डविभूषित चँवर डुलाये जाते थे। भरतश्रेष्ठ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको मार्गमें बहुतेरे मनुष्य हर्षोल्लासमें भरकर 'महाराजकी जय हो' कहते हुए शुभाशीर्वाद देते थे और वे यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन सबको स्वीकार करते थे॥

अपरे कुरुराजानं पथि यान्तं समाहिताः॥
स्तुवन्ति सततं सौख्यान्मृगपक्षिस्वनैर्नराः।

उस मार्गमें दूसरे बहुत-से मनुष्य एकाग्रचित्त हो मृगों और पक्षियोंकी-सी आवाजमें निरन्तर सुखपूर्वक कुरुराज युधिष्ठिरकी स्तुति करते थे॥

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये॥
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिष्ठितः।

जनमेजय ! इसी प्रकार जो सैनिक राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे थे, उनका कोलाहल भी समूचे आकाशमण्डलको स्तब्ध करके गूँज रहा था ॥

नृपस्याग्रे ययौ भीमो गजस्कन्धगतो बली ॥
उभौ पार्श्वगतौ राज्ञः सदश्वौ वै सुकल्पितौ ।
अधिरूढौ यमौ चापि जग्मतुर्भरतर्षभ ॥
शोभयन्तौ महासैन्यं तावुभौ रूपशालिनौ ।

हाथीकी पीठपर बैठे हुए बलवान् भीमसेन राजाके आगे-आगे जा रहे थे । उनके दोनों ओर सजे-सजाये दो श्रेष्ठ अश्व थे, जिनपर नकुल और सहदेव बैठे थे । भरतश्रेष्ठ ! वे दोनों भाई स्वयं तो अपने रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थे ही; उस विशाल सेनाकी भी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

पृष्ठतोऽनुययौ धीमान् पार्थः शस्त्रभृतां वरः ॥
श्वेताश्वो गाण्डिवं गृह्य अग्निदत्तं रथं गतः ।

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् श्वेतवाहन अर्जुन अग्निदेवके दिये हुए रथपर बैठकर गाण्डीव धनुष धारण किये महाराजके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

सैन्यमध्ये ययौ राजन् कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥
द्रौपदीप्रमुखा नार्यः सानुगाः सपरिच्छदाः ।
आरुह्य ता विचित्राणि शिबिकानां शतानि च ॥
महत्या सेनया राजन्नग्रे राज्ञो ययुस्तदा ।

राजन् ! कुरुराज युधिष्ठिर सेनाके बीचमें चल रहे थे । द्रौपदी आदि स्त्रियाँ अपनी सेविकाओं तथा आवश्यक सामग्रियोंके साथ सैकड़ों विचित्र शिबिकाओं (पालकियों) पर आरूढ़ हो बड़ी भारी सेनाके साथ महाराजके आगे-आगे जा रही थीं ।

समृद्धनरनागाश्वं सपताकरथध्वजम् ॥
समृद्धरथनिस्त्रिंशं पत्तिभिर्घोषितस्वनम् ।

पाण्डवोंकी वह सेना हाथी-घोड़ों तथा पैदल सैनिकोंसे भरी-पूरी थी । उसमें बहुत-से रथ भी थे, जिनकी ध्वजाओंपर पताकाएँ फहरा रही थीं । उन सभी रथोंमें खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र संगृहीत थे । पैदल सैनिकोंका कोलाहल सब ओर फैल रहा था ॥

शङ्खदुन्दुभितालानां वेणुवीणानुनादितम् ॥
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं प्रयातं तत् तदा नृप ।

राजन् ! शङ्ख, दुन्दुभि, ताल, वेणु और वीणा आदि वाद्योंकी तुमुल ध्वनि वहाँ गूँज रही थी । उस समय हस्तिनापुरकी ओर जाती हुई पाण्डवोंकी उस सेनाकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

स सरांसि नदीश्चैव वनान्युपवनानि च ॥
अत्यक्रामन्महाराज पुरीं चाभ्यवपद्यत ।
हस्तीपुरसमीपे तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥

जनमेजय ! कुरुराज युधिष्ठिर अनेक सरोवर, नदी, वन और उपवनोंको लाँघते हुए हस्तिनापुरके समीप जा पहुँचे ॥

चक्रे निवेशनं तत्र ततः स सहसैनिकः ।
शिवे देशे समे चैव न्यवसत् पाण्डवस्तदा ॥

वहाँ उन्होंने एक सुखद एवं समतल प्रदेशमें सैनिकोंसहित पड़ाव डाल दिया । उसी छावनीमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वयं भी ठहर गये ॥

ततो राजन् समाहूय शोकविह्वलया गिरा ।
एतद् वाक्यं च सर्वस्वं धृतराष्ट्रचिकीर्षितम् ।
आचचक्षे यथावृत्तं विदुरोऽथ नृपस्य ह ॥)

राजन् ! तदनन्तर विदुरजीने शोकाकुल वाणीमें महाराज युधिष्ठिरको वहाँका सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया कि धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं और इस द्यूतक्रीडाके पीछे क्या रहस्य है ? ॥

धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥ २१ ॥
स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥

तब धृतराष्ट्रके द्वारा बुलाये हुए कालके समयानुसार धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें पहुँचकर धृतराष्ट्रके भवनमें गये और उनसे मिले ॥ २१-२२ ॥

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके साथ भी यथायोग्य मिले ॥ २३ ॥

समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥
ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः ।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ॥ २७ ॥
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत् ताराभिरिव रोहिणीम् ।
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर सोमदत्तसे मिलकर दुर्योधन, शल्य, शकुनि तथा जो राजा वहाँ पहलेसे ही आये हुए थे, उन सबसे मिले । फिर वीर दुःशासन, उसके समस्त भाई, राजा जयद्रथ तथा सम्पूर्ण कौरवोंसे मिल करके भाइयोंसहित महाबाहु युधिष्ठिरने बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके भवनमें प्रवेश किया और वहाँ सदा ताराओंसे घिरी रहनेवाली रोहिणीदेवीके समान पुत्रवधुओंके साथ बैठी हुई पतिव्रता गान्धारीदेवीको देखा । युधिष्ठिरने गान्धारीको

प्रणाम किया और गान्धारीने भी उन्हें आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया ॥ २४–२८ ॥

ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपने बूढ़े चाचा प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रका पुनः दर्शन किया ॥ २९ ॥

राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३० ॥

राजा धृतराष्ट्रने कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर तथा भीमसेन आदि अन्य चारों पाण्डवोंका मस्तक सूँघा ॥ ३० ॥

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रियदर्शनान् ॥ ३१ ॥

जनमेजय ! उन पुरुषश्रेष्ठ प्रियदर्शन पाण्डवोंको आये देख कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३१ ॥

विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च ।
ददृशुश्चोपयातांस्तान् दुःशलाप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३२ ॥
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले पाण्डवोंने रत्नमय गृहोंमें प्रवेश किया । दुःशला आदि स्त्रियोंने वहाँ आये हुए उन सबको देखा । द्रुपदकुमारीकी प्रज्वलित अग्निके समान उत्तम समृद्धि देखकर धृतराष्ट्रकी पुत्रवधुएँ अधिक प्रसन्न नहीं हुईं ॥ ३२–३३ ॥

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥ ३४ ॥
ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ॥ ३५ ॥
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ।

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव द्रौपदी आदि अपनी स्त्रियोंसे बातचीत करके पहले व्यायाम एवं केश-प्रसाधन आदि कार्य किया । तदनन्तर नित्यकर्म करके सबने अपनेको दिव्य चन्दन आदिसे विभूषित किया । तत्पश्चात् मनमें कल्याणकी भावना रखनेवाले पाण्डव ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर मनोनुकूल भोजन करनेके पश्चात् शयनगृहमें गये ॥ ३४-३५½ ॥

उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुङ्गवाः ॥ ३६ ॥

वहाँ स्त्रियोंद्वारा अपने सुयशका गान सुनते हुए वे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सो गये ॥ ३६ ॥

जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथात्यजन् ॥ ३७ ॥

उनकी वह पुण्यमयी रात्रि रति-विलासपूर्वक समाप्त हुई । प्रातःकाल बन्दीजनोंके द्वारा स्तुति सुनते हुए पूर्ण विश्रामके पश्चात् उन्होंने निद्राका त्याग किया ॥ ३७ ॥

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रात बिताकर वे प्रातःकाल उठे और संध्योपासनादि नित्यकर्म करनेके अनन्तर उस रमणीय सभामें गये । वहाँ जुआरियोंने उनका अभिनन्दन किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभागमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरसभागमनविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

जूएके अनौचित्यके सम्बन्धमें युधिष्ठिर और शकुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान् सर्वान् पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर आदि कुन्तीकुमार उस सभामें पहुँचकर सब राजाओंसे मिले । अवस्थाक्रमके अनुसार समस्त पूजनीय राजाओंका बारी-बारीसे सम्मान करके सबसे मिलने-जुलनेके पश्चात् वे यथायोग्य सुन्दर रमणीय गलीचोंसे युक्त विचित्र आसनोंपर बैठे ॥ १-२ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥

उनके एवं सब नरेशोंके बैठ जानेपर वहाँ सुबलकुमार शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा ॥ ३ ॥

शकुनिरुवाच

उपस्तीर्णा सभा राजन् सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

शकुनि बोला—महाराज युधिष्ठिर ! सभामें पासे फेंकनेवाला वस्त्र बिछा दिया गया है, सब आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं । अब पासे फेंककर जूआ खेलनेका अवसर मिलना चाहिये ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः ।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन् ! जूआ तो एक प्रकारका छल है तथा पापका कारण है ! इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है और न इसकी कोई निश्चित नीति ही है। फिर तुम द्यूतकी प्रशंसा क्यों करते हो ? ॥ ५ ॥

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि ।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥

शकुने ! जुआरियोंका छल-कपटमें ही सम्मान होता है; सज्जन पुरुष वैसे सम्मानकी प्रशंसा नहीं करते । अतः तुम क्रूर मनुष्यकी भाँति अनुचित मार्गसे हमें जीतनेकी चेष्टा न करो ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञ-
श्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु ।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं
स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥

शकुनि बोला—जिस अङ्कपर पासा पड़ता है, उसे जो पहले ही समझ लेता है, जो शठताका प्रतीकार करना जानता है एवं पासे फेंकने आदि समस्त व्यापारोंमें उत्साहपूर्वक लगा रहता है तथा जो परम बुद्धिमान् पुरुष द्यूतक्रीडाविषयक सब बातोंकी जानकारी रखता है, वही जूएका असली खिलाड़ी है; वह द्यूतक्रीडामें दूसरोंकी सारी शठतापूर्ण चेष्टाओंको सह लेता है ॥ ७ ॥

अक्षग्लहः सोऽभिवेत् परं न-
स्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां
कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन ! यदि पासा विपरीत पड़ जाय तो हम खिलाड़ियोंमेंसे एक पक्षको पराजित कर सकता है; अतः जय-पराजय दैवाधीन पासोंके ही आश्रित है । उसीसे पराजयरूप दोषकी प्राप्ति होती है । हारनेकी शङ्का तो हमें भी है, फिर भी हम खेलते हैं । अतः भूमिपाल ! आप शङ्का न कीजिये, दाँव लगाइये, अब विलम्ब न कीजिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥

इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मुनिश्रेष्ठ असित-देवलने, जो सदा इन लोकद्वारोंमें भ्रमण करते रहते हैं, ऐसा कहा है कि जुआरियोंके साथ शठतापूर्वक जो जूआ खेला जाता है, पाप है । धर्मानुकूल विजय तो युद्धमें ही प्राप्त होती है; अतः क्षत्रियोंके लिये युद्ध ही उत्तम है, जूआ खेलना नहीं । ९-१० ।

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत ।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत् सत्पुरुषव्रतम् ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुष वाणीद्वारा किसीके प्रति अनुचित शब्द नहीं निकालते तथा कपटपूर्ण बर्ताव नहीं करते । कुटिलता और शठतासे रहित युद्ध ही सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ ११ ॥

शक्तितो ब्राह्मणान् नूनं रक्षितुं प्रयतामहे ।
तद् वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ॥ १२ ॥

शकुने ! हमलोग जिस धनसे अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करते हैं, उसको तुम जूआ खेलकर हमलोगोंसे हड़पनेकी चेष्टा न करो ॥ १२ ॥

निकृत्या कामये नाहं सुखान्युत धनानि वा ।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥ १३ ॥

मैं धूर्ततापूर्ण बर्तावके द्वारा सुख अथवा धन पानेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि जुआरीके कार्यको विद्वान् पुरुष अच्छा नहीं समझते ॥ १३ ॥

शकुनिरुवाच

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १४ ॥

शकुनि बोला—युधिष्ठिर ! श्रोत्रिय विद्वान् दूसरे श्रोत्रिय विद्वानोंके पास जब उन्हें जीतनेके लिये जाता है, तब शठतासे ही काम लेता है । विद्वान् अविद्वानोंको शठतासे ही पराजित करता है; परंतु इसे जनसाधारण शठता नहीं कहते ॥ १४ ॥

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १५ ॥

धर्मराज ! जो द्यूतविद्यामें पूर्ण शिक्षित है, वह अशिक्षितोंपर शठतासे ही विजय पाता है । विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको जो परास्त करता है, वह भी शठता ही है; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते ॥ १५ ॥

अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः ।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ! अस्त्रविद्यामें निपुण योद्धा अनाड़ी-

को एवं बलिष्ठ पुरुष दुर्बलको शठतासे ही जीतना चाहता है। इस प्रकार सब कार्योंमें विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको शठतासे ही जीतते हैं; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते।१६।

एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे।
देवनाद् विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम्॥१७॥

इसी प्रकार आप यदि मेरे पास आकर यह मानते हैं कि आपके साथ शठता की जायगी एवं यदि आपको भय मालूम होता है तो इस जूएके खेलसे निवृत्त हो जाइये॥ १७॥

युधिष्ठिर उवाच

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान् राजन् दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः॥१८॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! मैं बुलानेपर पीछे नहीं हटता, यह मेरा निश्चित व्रत है। दैव बलवान् है। मैं दैवके वशमें हूँ॥ १८॥

अस्मिन् समागमे केन देवनं मे भविष्यति।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम्॥१९॥

अच्छा तो यहाँ जिन लोगोंका जमाव हुआ है, उनमें किसके साथ मुझे जूआ खेलना होगा? मेरे मुकाबलेमें बैठकर दूसरा कौन पुरुष दाँव लगायेगा? इसका निश्चय हो जाय, तो जूएका खेल प्रारम्भ हो॥ १९॥

दुर्योधन उवाच

अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते॥२०॥
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम।

दुर्योधन बोला—महाराज! दाँवपर लगानेके लिये धन और रत्न तो मैं दूँगा; परंतु मेरी ओरसे खेलेंगे ये मेरे मामा शकुनि॥ २०½॥

युधिष्ठिर उवाच

अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे।
एतद् विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम्॥२१॥

युधिष्ठिरने कहा—दूसरेके लिये दूसरेका जूआ खेलना मुझे तो अनुचित ही प्रतीत होता है। विद्वन्! इस बातको समझ लो, फिर इच्छानुसार जूएका खेल प्रारम्भ हो॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवादे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥५९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरशकुनिसंवादविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५९॥

षष्टितमोऽध्यायः

द्यूतक्रीडाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब जूएका खेल आरम्भ होने लगा, उस समय सब राजालोग धृतराष्ट्रको आगे करके उस सभामें आये॥ १॥

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत॥ २॥

भारत! भीष्म, द्रोण, कृप और परम बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग असंतुष्ट चित्तसे ही धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे वहाँ आये॥ २॥

ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे॥ ३॥

सिंहके समान ग्रीवावाले वे महातेजस्वी राजालोग कहीं एक-एक आसनपर दो-दो तथा कहीं पृथक्-पृथक् एक-एक आसनपर एक ही व्यक्ति बैठे। इस प्रकार उन्होंने वहाँ रक्खे हुए बहुसंख्यक विचित्र सिंहासनोंको ग्रहण किया॥

शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम्॥ ४॥

राजन्! जैसे महाभाग देवताओंके एकत्र होनेसे स्वर्गलोक सुशोभित होता है, उसी प्रकार उन आगन्तुक नरेशोंसे उस सभाकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ ४॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम्॥ ५॥

महाराज! वे सब-के-सब वेदवेत्ता एवं शूरवीर थे तथा उनके शरीर तेजोयुक्त थे। उनके बैठ जानेके अनन्तर वहाँ सुहृदोंकी द्यूतक्रीडा आरम्भ हुई॥ ५॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं बहुधनो राजन् सागरावर्तसम्भवः।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः॥ ६॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! यह समुद्रके आवर्तमें उत्पन्न हुआ कान्तिमान् मणिरत्न बहुत बड़े मूल्यका है। मेरे हारोंमें यह सर्वोत्तम है तथा इसपर उत्तम सुवर्ण जड़ा गया है॥ ६॥

एतद् राजन् मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे॥ ७॥

राजन्! मेरी ओरसे यही धन दाँवपर रक्खा गया है। इसके बदलेमें तुम्हारी ओरसे कौन-सा धन दाँवपर रक्खा जाता है, जिस धनके द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो॥७॥

दुर्योधन उवाच

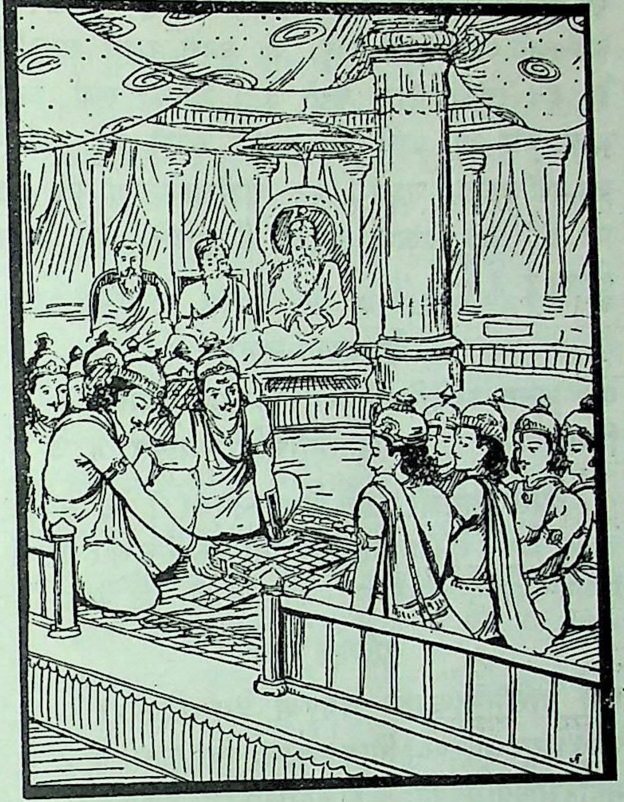
सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम्॥ ८॥

दुर्योधन बोला—मेरे पास भी मणियाँ और बहुत-सा धन है, मुझे अपने धनपर अहंकार नहीं है। आप इस जूएको जीतिये॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पासे फेंकनेकी कलामें अत्यन्त निपुण शकुनिने उन पासोंको हाथमें लिया और उन्हें फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव मैंने जीता'॥ ९॥



इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारम्भे षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतारम्भविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६०॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

जूएमें शकुनिके छलसे प्रत्येक दाँवपर युधिष्ठिरकी हार

युधिष्ठिर उवाच

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने! तुमने छलसे इस दाँवमें मुझे हरा दिया, इसीपर तुम गर्वित हो उठे हो; आओ, हमलोग पुनः परस्पर पासे फेंककर जूआ खेलें॥ १॥

सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ २॥

मेरे पास हजारों निष्कोंसे[1] भरी हुई बहुत-सी सुन्दर पेटियाँ रक्खी हैं। इसके सिवा खजाना है, अक्षय धन है और अनेक प्रकारके सुवर्ण हैं। राजन्! मेरा यह सब धन दाँवपर लगा दिया गया। मैं इसीके द्वारा तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम्।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले कौरवोंके वंशधर एवं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र राजा युधिष्ठिरसे शकुनिने फिर कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता'॥ ३॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान् किङ्किणीजालमण्डितः॥ ४॥
संह्रादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत्।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिःस्वनः॥
अष्टौ यं कुररच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसम्मताः। ५॥
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद् भूमिमुपस्पृशन्।
एतद् राजन् धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ६॥

युधिष्ठिरने कहा—यह जो परमानन्ददायक राजरथ है, जो हमलोगोंको यहाँतक ले आया है, रथोंमें श्रेष्ठ जैत्र नामक पुण्यमय श्रेष्ठ रथ है। चलते समय इससे मेघ और समुद्रकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती रहती है। यह अकेला ही एक हजार रथोंके समान है। इसके ऊपर बाघका चमड़ा लगा हुआ है। यह अत्यन्त सुदृढ़ है। इसके पहिये तथा अन्य आवश्यक सामग्री बहुत सुन्दर है। यह परम शोभायमान

[1] प्राचीनकालमें प्रचलित एक सिक्का, जो एक कर्ष अथवा सोलह मासे सोनेका बना होता था।

रथ क्षुद्र घण्टिकाओंसे सजाया गया है। कुरर पक्षीकी-सी कान्तिवाले आठ अच्छे घोड़े, जो समूचे राष्ट्रमें सम्मानित हैं, इस रथको वहन करते हैं। भूमिका स्पर्श करनेवाला कोई भी प्राणी इन घोड़ोंके सामने पड़ जानेपर बच नहीं सकता। राजन्! इन घोड़ोंसहित यह रथ मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ४-६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः पासे फेंके और जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया' ॥

युधिष्ठिर उवाच

शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ॥ ९ ॥
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात्।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास एक लाख तरुणी दासियाँ हैं, जो सुवर्णमय माङ्गलिक आभूषण धारण करती हैं। जिनके हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ, बाँहोंमें भुजबंद, कण्ठमें निष्कोंका हार तथा अन्य अङ्गोंमें भी सुन्दर आभूषण हैं। बहुमूल्य हार उनकी शोभा बढ़ाते हैं। उनके वस्त्र बहुत ही सुन्दर हैं। वे अपने शरीरमें चन्दनका लेप लगाती हैं, मणि और सुवर्ण धारण करती हैं तथा चौसठ कलाओंमें निपुण हैं। नृत्य और गानमें भी वे कुशल हैं। ये सब-की-सब मेरे आदेशसे स्नातकों, मन्त्रियों तथा राजाओंकी सेवा-परिचर्या करती हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ। ॥ ८-१० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने पुनः जीतका निश्चय करके पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—दासियोंकी तरह ही मेरे यहाँ एक लाख दास हैं। वे कार्यकुशल तथा अनुकूल रहनेवाले हैं। उनके शरीरपर सदा सुन्दर उत्तरीय वस्त्र सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १३ ॥

वे चतुर, बुद्धिमान्, संयमी और तरुण अवस्थावाले हैं। उनके कानोंमें कुण्डल झिलमिलाते रहते हैं। वे हाथोंमें भोजनपात्र लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन परोसते रहते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर पुनः शठताका आश्रय लेनेवाले शकुनिने अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो यह दाँव भी मैंने जीत लिया' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुबलकुमार! मेरे यहाँ एक हजार मतवाले हाथी हैं, जिनके बाँधनेके रस्से सुवर्णमय हैं। वे सदा आभूषणोंसे विभूषित रहते हैं। उनके कपोल और मस्तक आदि अङ्गोंपर कमलके चिह्न बने हुए हैं। उनके गलेमें सोनेके हार सुशोभित होते हैं ॥ १५ ॥

सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ॥ १६ ॥

वे अच्छी तरह वशमें किये हुए हैं और राजाओंकी सवारीके काममें आते हैं। युद्धमें वे सब प्रकारके शब्द सहन करनेवाले हैं। उनके दाँत हलदण्डके समान लंबे हैं और शरीर विशाल है। उनमेंसे प्रत्येकके आठ-आठ हथिनियाँ हैं ॥ १६ ॥

सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १७ ॥

उनकी कान्ति नूतन मेघोंकी घटाके समान है। वे सबके-सब बड़े-बड़े नगरोंको भी नाश कर देनेकी शक्ति रखते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! ऐसी बातें कहते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे शकुनिने हँसकर कहा-'इस दाँवको भी मैंने ही जीता' ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः।
हयैर्विनीतैः सम्पन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ १९ ॥
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम्।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम्।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिरने कहा--मेरे पास उतने ही अर्थात् एक हजार रथ हैं, जिनकी ध्वजाओंमें सोनेके डंडे लगे हैं। उन रथोंपर पताकाएँ फहराती रहती हैं । उनमें सधे हुए घोड़े जोते जाते हैं और विचित्र युद्ध करनेवाले रथी उनमें बैठते हैं । उन रथियोंमेंसे प्रत्येकको अधिकसे-अधिक एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ तक वेतनमें मिलती हैं । वे युद्ध कर रहे हों या न कर रहे हों, प्रत्येक मासमें उन्हें यह वेतन प्राप्त होता रहता है । राजन् ! यह मेरा धन है, इसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर वैरी दुरात्मा शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया' ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गान्धर्वान् हेममालिनः।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीवधन्वने ॥ २२ ॥
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिंदमः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने कहा--मेरे यहाँ तीतर पक्षीके समान विचित्र वर्णवाले गन्धर्वदेशके घोड़े हैं, जो सोनेके हारसे विभूषित हैं । शत्रुदमन चित्ररथ गन्धर्वने युद्धमें पराजित एवं तिरस्कृत होनेके पश्चात् संतुष्ट हो गाण्डीवधारी अर्जुनको प्रेमपूर्वक वे घोड़े भेंट किये थे । राजन् ! यह मेरा धन है जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥२२-२३॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चायुतानि मे।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा--मेरे पास दस हजार श्रेष्ठ रथ और छकड़े हैं । जिनमें छोटे-बड़े वाहन सदा जुटे ही रहते हैं ॥ २५ ॥

एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रत्येक वर्णके हजारों चुने हुए योद्धा मेरे यहाँ एक साथ रहते हैं । वे सब-के-सब वीरोचित पराक्रमसे सम्पन्न एवं शूरवीर हैं ॥ २६ ॥

क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान्।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २७ ॥

उनकी संख्या साठ हजार है । वे दूध पीते और शालिके चावलका भात खाकर रहते हैं । उन सबकी छाती बहुत चौड़ी है । राजन् ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके उपासक शकुनिने पुनः युधिष्ठिरसे पूर्ण निश्चयके साथ कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥ २९ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा--मेरे पास ताँबे और लोहेकी चार सौ निधियाँ यानी खजानेसे भरी हुई पेटियाँ हैं । प्रत्येकमें पाँच-पाँच द्रोण विशुद्ध सोना भरा हुआ है, वह सारा सोना तपाकर शुद्ध किया हुआ है, उसकी कीमत आँकी नहीं जा सकती । भारत ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २९-३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! ऐसा सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पूर्ववत् पूर्ण निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतक्रीडाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको विदुरकी चेतावनी

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि ।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार जब सर्वस्वका अपहरण करनेवाली वह भयानक द्यूतक्रीडा चल रही थी, उसी समय समस्त संशयोंका निवारण करनेवाले विदुरजी बोल उठे ॥ १ ॥

विदुर उवाच

महाराज विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि भारत ।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम् ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—भरतकुलतिलक महाराज धृतराष्ट्र! मरणासन्न रोगीको जैसे ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आपलोगोंको मेरी शास्त्रसम्मत बात भी अच्छी नहीं लगेगी । फिर भी मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अच्छी तरह सुनिये और समझिये ॥ २ ॥

यद् वै पुरा जातमात्रो रुराव
गोमायुवद् विस्वरं पापचेताः ।
दुर्योधनो भरतानां कुलघ्नः
सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः ॥ ३ ॥

यह भरतवंशका विनाश करनेवाला पापी दुर्योधन पहले जब गर्भसे बाहर निकला था, गीदड़के समान जोर-जोरसे चिल्लाने लगा था; अतः यह निश्चय ही आप सब लोगोंके विनाशका कारण बनेगा ॥ ३ ॥

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे ।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥ ४ ॥

राजन् ! दुर्योधनके रूपमें आपके घरके भीतर एक गीदड़ निवास कर रहा है; परंतु आप मोहवश इस बातको समझ नहीं पाते । सुनिये, मैं आपको शुक्राचार्यकी कही हुई नीतिकी बात बतलाता हूँ ॥ ४ ॥

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते ।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाधिगच्छति ॥ ५ ॥

मधु बेचनेवाला मनुष्य जब कहीं ऊँचे वृक्ष आदिपर मधुका छत्ता देख लेता है, तब वहाँसे गिरनेकी सम्भावनाकी ओर ध्यान नहीं देता । वह ऊँचे स्थानपर चढ़कर या तो मधु पाकर मग्न हो जाता है अथवा उस स्थानसे नीचे गिर जाता है ॥ ५ ॥

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते ।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥ ६ ॥

वैसे ही यह दुर्योधन जूएके नशेमें इतना उन्मत्त हो गया है कि मधुमत्त पुरुषकी भाँति अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखता । महारथी पाण्डवोंके साथ वैर करके हमें पतनके गर्तमें गिरकर मरना पड़ेगा, इस बातको समझ नहीं पा रहा है ॥ ६ ॥

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवासमञ्जसम् ।
पुत्रं संत्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया ॥ ७ ॥

महाप्राज्ञ ! मुझे मालूम है कि भोजवंशके एक नरेशने पूर्वकालमें पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने कुमार्गगामी पुत्रका परित्याग कर दिया था ॥ ७ ॥

अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् ।
नियोगात् तु हते तस्मिन् कृष्णेनामित्रघातिना ॥ ८ ॥

अन्धकों, यादवों और भोजोंने मिलकर कंसको त्याग दिया तथा उन्हींके आदेशसे शत्रुघाती श्रीकृष्णने उसको मार डाला ॥ ८ ॥

एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः ।
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ॥ ९ ॥

इस प्रकार उसके मारे जानेसे समस्त बन्धु-बान्धव सदाके लिये सुखी हो गये हैं । आप भी आज्ञा दें तो ये सव्यसाची अर्जुन इस दुर्योधनको बंदी बना ले सकते हैं ॥ ९ ॥

निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ।
काकेनेमांश्चित्रबर्हान् शार्दूलान् क्रोष्टुकेन च ।
क्रीणीष्व पाण्डवान् राजन् मा मज्जीः शोकसागरे ॥

इसी पापीके कैद हो जानेसे समस्त कौरव सुख और आनन्दसे रह सकते हैं । राजन्! दुर्योधन कौवा है और पाण्डव मोर । इस कौवेको देकर आप विचित्र पंखवाले मयूरोंको खरीद लीजिये । इस गीदड़के द्वारा इन पाण्डवरूपी शेरोंको अपनाइये । शोकके समुद्रमें डूबकर प्राण न दीजिये ॥ १० ॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ११ ॥

समूचे कुलकी भलाईके लिये एक मनुष्यको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशकी भलाईके लिये एक गाँवको त्याग दे और आत्माके उद्धारके लिये सारी पृथ्वीका ही परित्याग कर दे ॥ ११ ॥

सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः ।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान् ॥ १२ ॥

सबके मनोभावोंको जाननेवाले तथा सब शत्रुओंके लिये भयंकर सर्वज्ञ शुक्राचार्यने जम्भ दैत्यको त्याग करनेके समय समस्त बड़े-बड़े असुरोंसे यह कथा सुनायी थी ॥ १२ ॥

हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित् पक्षिणो वनगोचरान्।
गृहे किल कृतावासान् लोभाद् राजा न्यपीडयत्।
स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परंतप ॥१३॥

एक वनमें कुछ पक्षी रहते थे, जो अपने मुखसे सोना उगला करते थे। एक दिन जब वे अपने घोंसलोंमें आरामसे बैठे थे, उस देशके राजाने उन्हें लोभवश मरवा डाला। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! उस राजाको एक साथ बहुत-सा सुवर्ण पा लेनेकी इच्छा थी। उपभोगके लोभने उसे अंधा बना दिया था ॥ १३ ॥

आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत्।
तदर्थकामस्तद्वत् त्वं मा द्रुहः पाण्डवान् नृप ॥१४॥

अतः उसने उस धनके लोभसे उन पक्षियोंका वध करके वर्तमान और भविष्य दोनों लाभोंका तत्काल नाश कर दिया। राजन्! इसी प्रकार आप पाण्डवोंका सारा धन हड़प लेनेके लोभसे उनके साथ द्रोह न करें ॥ १४ ॥

मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात् पक्षिहा पुरुषो यथा।
(एतेन तव नाशः स्याद् बडिशाच्छफरो यथा।)
जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ॥१५॥
मालाकार इवारामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः।

अन्यथा उन पक्षियोंकी हिंसा करनेवाले राजाकी भाँति आपको भी मोहवश पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस द्रोहसे आपका उसी तरह सर्वनाश हो जायगा, जैसे बंसीका काँटा निगल लेनेसे मछलीका नाश हो जाता है। भरतकुलभूषण! जैसे माली उद्यानके वृक्षोंको बार-बार सींचता रहता है और समय-समयपर उनसे खिले पुष्पोंको चुनता भी रहता है, उसी प्रकार आप पाण्डवरूपी वृक्षोंको स्नेहजलसे सींचते हुए उनसे उत्पन्न होनेवाले धनरूपी पुष्पोंको लेते रहिये ॥ १५½ ॥

वृक्षानङ्गारकारीव मैनान् धाक्षीः समूलकान्।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥१६॥

जैसे कोयला बनानेवाला वृक्षोंको जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार आप इन्हें जड़मूलसहित जलानेकी चेष्टा न कीजिये। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंके साथ विरोध करनेके कारण आपको पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जाना पड़े ॥ १६ ॥

समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१७॥

भरतवंशीय राजन्! देवताओंसहित साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हों, जब कुन्तीपुत्र संगठित होकर युद्धके लिये तैयार होंगे, उनका मुकाबला कौन कर सकता है? ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनसम्बन्धी बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७ ½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा जूएका घोर विरोध

विदुर उवाच

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति
मिथो भेदं महते दारुणाय।
यदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—महाराज! जूआ खेलना झगड़ेकी जड़ है। इससे आपसमें फूट पैदा होती है, जो बड़े भयंकर संकटकी सृष्टि करती है। यह धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उसीका आश्रय लेकर इस समय भयानक वैरकी सृष्टि कर रहा है ॥ १ ॥

प्रातीपेयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥

दुर्योधनके अपराधसे प्रतीप, शन्तनु, भीमसेन[1] तथा बाह्लीकके वंशज सब प्रकारसे घोर संकटमें पड़ जायँगे ॥ २ ॥

दुर्योधनो मदेनैव क्षेमं राष्ट्रादपोहति।
विषाणं गौरिव मदात् स्वयमारुजतेऽऽत्मनः ॥ ३ ॥

जैसे मतवाला बैल मदोन्मत्त होकर स्वयं ही अपने सींगोंको तोड़ लेता है, उसी प्रकार यह दुर्योधन मदान्धताके कारण स्वयं अपने राज्यसे मङ्गलका बहिष्कार कर रहा है ॥ ३ ॥

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्
वीरः कविः स्वामवमन्य दृष्टिम्।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रा-
मारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥

राजन्! जो वीर और विद्वान् मनुष्य अपनी दृष्टिकी अवहेलना करके दूसरेके चित्तके अनुसार चलता है, वह समुद्रमें मूर्ख नाविकद्वारा चलायी जाती हुई नावपर बैठे हुए मनुष्यके समान भयंकर विपत्तिमें पड़ जाता है ॥ ४ ॥

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन
प्रियायसे त्वं जयतीति तच्च।
अतिनर्मा जायते सम्प्रहारो
यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥

1. कुरुकुलके एक पूर्वपुरुष।

दुर्योधन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ दाँव लगाकर जूआ खेल रहा है, साथ ही वह जीत भी रहा है; यह सोचकर तुम बहुत प्रसन्न हो रहे हो; किंतु आजका यह अतिशय विनोद शीघ्र ही भयंकर युद्धके रूपमें परिणत होनेवाला है, जिससे (अगणित) मनुष्योंका संहार होगा ॥ ५ ॥

आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो
हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण कलहस्तवाय-
मचिन्तितोऽनभिमतः स्वबन्धुना ॥ ६ ॥

जूआ अधःपतन करनेवाला है; परंतु शकुनिने इसे उत्तम मानकर यहाँ उपस्थित किया है । यह जूएका निश्चय आपलोगोंके हृदयमें गुप्त मन्त्रणाके पश्चात् स्थिर हुआ है। परंतु यह जूए-का खेल आपके अपने ही बन्धु युधिष्ठिरके साथ आपके विचार और इच्छाके विरुद्ध कलहके रूपमें परिणत हो जायगा ॥

प्रातीपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं
काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम् ।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं
मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥

प्रतीप और शन्तनुके वंशजो ! कौरवोंकी सभामें मेरी कही हुई बात ध्यानसे सुनो । यह विद्वानोंको भी मान्य है। तुमलोग इस मूर्ख दुर्योधनके पीछे चलकर वैरकी धधकती हुई भयानक आगमें न कूदो ॥ ७ ॥

यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रु-
र्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः ।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च
कोऽत्र द्वीपः स्यात् तुमुले वस्तदानीम् ॥ ८ ॥

जूएके मदमें भूले हुए अजातशत्रु युधिष्ठिर जब अपना क्रोध न रोक सकेंगे तथा भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेव भी जब क्रुद्ध हो उठेंगे, उस समय घमासान युद्ध छिड़ जानेपर विपत्तिके महासागरमें डूबते हुए तुमलोगोंका कौन आश्रयदाता होगा ? ॥ ८ ॥

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां
पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः ।
बहुवित्तान् पाण्डवांश्चेज्जयस्त्वं
किं ते तत् स्याद् वसु विन्देह पार्थान् ॥ ९ ॥

महाराज ! आप जूएसे पहले भी मनसे जितना धन चाहते, उतना धन पा सकते थे; यदि अत्यन्त धनवान् पाण्डवोंको आपने जूएके द्वारा जीत ही लिया तो इससे आपका क्या होगा ? कुन्तीके पुत्र स्वयं ही धनस्वरूप हैं। आप इन्हींको अपनाइये ॥ ९ ॥

जानीमहे देवितं सौबलस्य
वेद द्यूते निकृतिं पर्वतीयः ।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु
मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान् ॥ १० ॥

मैं सुबलपुत्र शकुनिका जूआ खेलना कैसा है, यह जानता हूँ । यह पर्वतीय नरेश जूएकी सारी कपटविद्याको जानता है । मेरी इच्छा है कि यह शकुनि जहाँसे आया है, वहीं लौट जाय । भारत ! इस तरह कौरवों तथा पाण्डवोंमें युद्धकी आग न भड़काओ ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनका विदुरको फटकारना और विदुरका उसे चेतावनी देना

दुर्योधन उवाच

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं
सदा क्षत्तः कुत्सयन् धार्तराष्ट्रान् ।
जानीमहे विदुर यत् प्रियस्त्वं
बालानिवास्मानवमन्यसे नित्यमेव ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर ! तुम सदा हमारे शत्रुओंके ही सुयशकी डींग हाँकते रहते हो और हम सभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निन्दा किया करते हो । तुम किसके प्रेमी हो, यह हम जानते हैं, हमें मूर्ख समझकर तुम सदा हमारा अपमान ही करते रहते हो ॥ १ ॥

स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो
निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति ।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो
न ज्यायसः कृथा मनसः प्रातिकूल्यम् ॥ २ ॥

जो दूसरोंको चाहनेवाला है, वह मनुष्य पहचानमें आ जाता है; क्योंकि वह जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी निन्दा और जिसके प्रति राग होता है, उसकी प्रशंसामें संलग्न रहता है । तुम्हारा हृदय हमारे प्रति किस प्रकार द्वेषसे परिपूर्ण है, यह बात तुम्हारी जिह्वा प्रकट कर देती है । तुम अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंके प्रति इस प्रकार हृदयका द्वेष न प्रकट करो ॥

उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि
मार्जारवत् पोषकं चोपहंसि।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहु-
स्तस्मात् क्षत्तः किं न बिभेषि पापात्॥ ३॥

हमारे लिये तुम गोदमें बैठे साँपके समान हो और बिलावकी भाँति पालनेवालेका ही गला घोंट रहे हो। तुम स्वामि-द्रोह रखते हो, फिर भी तुम्हें लोग पापी नहीं कहते ? विदुर ! तुम इस पापसे डरते क्यों नहीं ?॥ ३॥

जित्वा शत्रून् फलमाप्तं महद् वै
मास्मान् क्षत्तः परुषाणीह वोचः।
द्विषद्भिस्त्वं सम्प्रयोगाभिनन्दी
मुहुर्द्वेषं यासि नः सम्प्रयोगात्॥ ४॥

हमने शत्रुओंको जीतकर (धनरूप) महान् फल प्राप्त किया है। विदुर ! तुम हमसे यहाँ कटु वचन न बोलो। तुम शत्रुओंके साथ मेल करके प्रसन्न हो रहे हो और हमारे साथ मेल करके भी अब (हमारे शत्रुओंकी प्रशंसा करके) हमलोगोंके बारंबार द्वेषके पात्र बन रहे हो॥ ४॥

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्
निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे।
तदाश्रितोऽपत्रप किं नु बाधसे
यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषसे॥ ५॥

अक्षम्य कटुवचन बोलनेवाला मनुष्य शत्रु बन जाता है। शत्रुकी प्रशंसा करते समय भी लोग अपने गूढ़ मनोभावको छिपाये रखते हैं। निर्लज्ज विदुर ! तुम भी उसी नीतिका आश्रय लेकर चुप क्यों नहीं रहते ? हमारे काममें बाधा क्यों डालते हो ? तुम जो मनमें आता है, वही बक जाते हो॥ ५॥

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं
शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात्।
यशो रक्षस्व विदुर सम्प्रणीतं
मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम्॥ ६॥

विदुर ! तुम हमलोगोंका अपमान न करो, तुम्हारे इस मनको हम जान चुके हैं। तुम बड़े-बूढ़ोंके निकट बैठकर बुद्धि सीखो। अपने पूर्वार्जित यशकी रक्षा करो। दूसरोंके कामोंमें हस्तक्षेप न करो॥ ६॥

अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था
मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे
स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून् क्षिणु त्वम्॥ ७॥

विदुर ! 'मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ' ऐसा न समझो और हमें प्रतिदिन कड़वी बातें न कहो। मैं अपने हितके सम्बन्धमें तुमसे कोई सलाह नहीं पूछता हूँ। तुम्हारा भला हो। हम तुम्हारी कठोर बातें सहते चले जाते हैं, इसलिये हम क्षमाशीलोंको तुम अपने वचनरूपी बाणोंसे छेदो मत॥ ७॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाम्भो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि॥ ८॥

देखो, इस जगत्‌का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक माताके गर्भमें सोये हुए शिशुपर भी शासन करता है; उसीके द्वारा मैं भी अनुशासित हूँ। अतः जैसे जल स्वाभाविक ही नीचेकी ओर जाता है, वैसे ही वह जगन्नियन्ता मुझे जिस काममें लगाता है, मैं वैसे ही उसी काममें लगता हूँ॥ ८॥

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम्।
यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति॥ ९॥

जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य अपने सिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है—अर्थात् पत्थरपर सिर पटककर स्वयं ही अपनेको पीड़ा देता है तथा जिनकी प्रेरणासे मनुष्य सर्पको भी दूध पिलाकर पालता है, उसी सर्वनियन्ताकी बुद्धि समस्त जगत्‌के कार्योंका अनुशासन करती है। जो बलपूर्वक किसीपर अपना उपदेश लादता है, वह अपने उस व्यवहारके द्वारा उसे अपना शत्रु बना लेता है॥ ९॥

मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः।
प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक् चिरं नाभिधावति।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत॥ १०॥

इस प्रकार मित्रताका अनुसरण करनेवाले मनुष्यको विद्वान् पुरुष त्याग दे। भारत ! जो पहले कपूरमें आग लगाकर उसके प्रज्वलित हो जानेपर देरतक उसे बुझानेके लिये नहीं दौड़ता, वह कहीं उसकी बची हुई राख भी नहीं पाता॥ १०॥

न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विषन्तं
विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम्।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ
सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति॥ ११॥

विदुर ! जो शत्रुका पक्षपाती हो, अपनेसे द्वेष रखता हो और अहित करनेवाला हो, ऐसे मनुष्यको घरमें नहीं रहने देना चाहिये। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ। कुलटा स्त्रीको मीठी-मीठी बातोंद्वारा कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह पतिको छोड़ ही देती है॥ ११॥

विदुर उवाच

एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति
तेषां वृत्तं साक्षिवद् ब्रूहि राजन्।

राज्ञां हिं चित्तानि परिप्लुतानि
सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति ॥ १२ ॥

विदुरने कहा—राजन् ! जो इस प्रकार मनके प्रतिकूल किंतु हितभरी शिक्षा देनेमात्रसे अपने हितैषी पुरुषको त्याग देते हैं, उनका वह बर्ताव कैसा है, यह आप साक्षीकी भाँति पक्षपातरहित होकर बताइये; क्योंकि राजाओंके चित्त द्वेषसे भरे होते हैं, इसलिये वे सामने मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर पीठ-पीछे मूसलोंसे आघात करवाते हैं ॥ १२ ॥



अबालत्वं मन्यसे राजपुत्र
बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे ।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा
पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥ १३ ॥

राजकुमार दुर्योधन ! तुम्हारी बुद्धि बड़ी मन्द है । तुम अपनेको विद्वान् और मुझे मूर्ख समझते हो । जो किसी पुरुषको सुहृद्के पदपर स्थापित करके फिर स्वयं ही उसपर दोषारोपण करता है, वही मूर्ख है ॥ १३ ॥

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १४ ॥

जैसे श्रोत्रियके घरमें दुराचारिणी स्त्री कल्याणमय अग्निहोत्र आदि कार्योंमें नहीं लगायी जा सकती, उसी प्रकार मन्दबुद्धि पुरुषको कल्याणके मार्गपर नहीं लगाया जा सकता। जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति नहीं पसंद आ सकता, उसी प्रकार भरतवंशशिरोमणि दुर्योधनको निश्चय ही मेरा उपदेश रुचिकर नहीं प्रतीत होता ॥ १४ ॥

अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं
सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु ।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च
पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥ १५ ॥

राजन् ! यदि तुम भले-बुरे सभी कार्योंमें केवल चिकनी-चुपड़ी बातें ही सुनना चाहते हो, तो स्त्रियों, मूर्खों, पङ्गुओं तथा उसी तरहके अन्य सब मनुष्योंसे सलाह लिया करो ॥ १५ ॥

लभ्यते खलु पापीयान् नरो नु प्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६ ॥

इस संसारमें सदा मनको प्रिय लगनेवाले वचन बोलनेवाला महापापी मनुष्य भी अवश्य मिल सकता है; परंतु हितकर होते हुए भी अप्रिय वचनको कहने और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं ॥ १६ ॥

यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १७ ॥

जो धर्ममें तत्पर रहकर स्वामीके प्रिय-अप्रियका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकर वचन बोलता है, वही राजाका सच्चा सहायक है ॥ १७ ॥

अव्याधिजं कटुकं तीक्ष्णमुष्णं
यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ १८ ॥

महाराज ! जो पी लेनेपर मानसिक रोगोंका नाश करनेवाला है, कड़वी बातोंसे जिसकी उत्पत्ति होती है, जो तीखा, तापदायक, कीर्तिनाशक, कठोर और दूषित प्रतीत होता है, जिसे दुष्टलोग नहीं पी सकते तथा जो सत्पुरुषोंके पीनेकी वस्तु है, उस क्रोधको पीकर शान्त हो जाइये ॥ १८ ॥

वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च
वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत् ।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु
ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः ॥ १९ ॥

मैं तो चाहता हूँ कि विचित्रवीर्यनन्दन धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंको सदा यश और धन दोनों प्राप्त हों, परंतु दुर्योधन ! तुम जैसे रहना चाहते हो, वैसे रहो, तुम्हें नमस्कार है । ब्राह्मणलोग मेरे लिये भी कल्याणका आशीर्वाद दें ॥ १९ ॥

आशीविषान् नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! मैं एकाग्र हृदयसे तुमसे यह बात बता रहा हूँ, 'विद्वान् पुरुष उन सर्पोंको कुपित न करें, जो दाँतों और नेत्रोंसे भी विष उगलते रहते हैं (अर्थात् ये पाण्डव तुम्हारे लिये सर्पोंसे भी अधिक भयंकर हैं, इन्हें मत छेड़ो)'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६४॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धन, राज्य, भाइयों तथा द्रौपदीसहित अपनेको भी हारना

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम्॥ १॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! आप अबतक पाण्डवोंका बहुत-सा धन हार चुके । यदि आपके पास बिना हारा हुआ कोई धन शेष हो तो बताइये॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल।
अथ त्वं शकुने कस्माद् वित्तं समनुपृच्छसि॥ २॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास असंख्य धन है, जिसे मैं जानता हूँ । शकुने ! तुम मेरे धनका परिमाण क्यों पूछते हो ?॥ २॥

अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथार्बुदम्।
खर्वं शङ्खं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः॥ ३॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं चात्र पण्यताम्।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ४॥

अयुत, प्रयुत, शङ्कु, पद्म, अर्बुद, खर्व, शङ्ख, निखर्व, महापद्म, कोटि, मध्य, परार्ध और पर इतना धन मेरे पास है। राजन्! खेलो, मैं इसीको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शकुनिने छलका आश्रय ले पुनः इसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह धन भी मैंने जीत लिया'॥ ५॥

युधिष्ठिर उवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम्।
यत् किंचिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौबल।
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ६॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास सिन्धु नदीके पूर्वी तटसे लेकर पर्णाशा नदीके किनारेतक जो भी बैल, घोड़े, गाय, भेड़ एवं बकरी आदि पशुधन हैं, वह असंख्य है। उनमें भी दूध देनेवाली गौओंकी संख्या अधिक है। यह सारा मेरा धन है, जिसे मैं दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके आश्रित हुए शकुनिने अपनी ही जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता'॥ ७॥

युधिष्ठिर उवाच

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्छिष्टं धनं मम।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ८॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ब्राह्मणोंको जीविकारूपमें जो ग्रामादि दिये गये हैं, उन्हें छोड़कर शेष जो नगर, जनपद तथा भूमि मेरे अधिकारमें है तथा जो ब्राह्मणेतर मनुष्य मेरे यहाँ रहते हैं, वे सब मेरे शेष धन हैं। शकुने ! मैं इसी धनको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटका आश्रय ग्रहण करके शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई'॥ ९॥

युधिष्ठिर उवाच

राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम्।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ १०॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ये राजपुत्र जिन आभूषणोंसे विभूषित होकर शोभित हो रहे हैं, वे कुण्डल और गलेके स्वर्णभूषण आदि समस्त राजकीय आभूषण मेरे धन हैं। इन्हें दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥ १०॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छल-कपटका आश्रय लेनेवाले शकुनिने युधिष्ठिरसे निश्चयपूर्वक कहा—'लो, यह भी मैंने जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्यामवर्ण, तरुण, लाल नेत्रों और सिंहके समान कंधोंवाले महाबाहु नकुलको ही इस समय मैं दाँवपर रखता हूँ, इन्हींको मेरे दाँवका धन समझो ॥ १२ ॥

शकुनिरुवाच

प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १३ ॥

शकुनि बोला—धर्मराज युधिष्ठिर ! आपके परमप्रिय राजकुमार नकुल तो हमारे अधीन हो गये, अब किस धनसे आप यहाँ खेल रहे हैं ? ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्छकुनिः प्रत्यदीव्यत।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शकुनिने पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'लो, इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति
लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—ये सहदेव धर्मोंका उपदेश करते हैं। संसारमें पण्डितके रूपमें इनकी ख्याति है। मेरे प्रिय राजकुमार सहदेव यद्यपि दाँवपर लगानेके योग्य नहीं हैं, तो भी मैं अप्रिय वस्तुकी भाँति इन्हें दाँवपर रखकर खेलता हूँ ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छली शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ १६ ॥

शकुनिरुवाच

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनंजयौ ॥ १७ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! आपके ये दोनों प्रिय भाई माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव तो मेरेद्वारा जीत लिये गये, अब रहे भीमसेन और अर्जुन। मैं समझता हूँ, ये दोनों आपके लिये अधिक गौरवकी वस्तु हैं (इसीलिये आप इन्हें दाँवपर नहीं लगाते) ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ओ मूढ़ ! तू निश्चय ही अधर्मका आचरण कर रहा है, जो न्यायकी ओर नहीं देखता। तू शुद्ध हृदयवाले हमारे भाइयोंमें फूट डालना चाहता है ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति।
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥ १९ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! धनके लोभसे अधर्म करनेवाला मतवाला मनुष्य नरककुण्डमें गिरता है। अधिक उन्मत्त हुआ ठूँठा काठ हो जाता है। आप तो आयुमें बड़े और गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। भरतवंशविभूषण ! आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥ २० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ! जुआरी जूआ खेलते समय पागल होकर जो अनाप-शनाप बातें बक जाया करते हैं, वे न कभी स्वप्नमें दिखायी देती हैं और न जाग्रत्कालमें ही ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता
जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी।
अनर्हता लोकवीरेण तेन
दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने ! जो युद्धरूपी समुद्रमें हमलोगोंको नौकाकी भाँति पार लगानेवाले हैं तथा शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वे लोकविख्यात वेगशाली वीर राजकुमार अर्जुन यद्यपि दाँवपर लगाने योग्य नहीं हैं, तो भी उनको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटी शकुनिने पूर्ववत् विजयका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह भी मैंने ही जीता' ॥ २२ ॥

शकुनिरुवाच

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः
पराजितः पाण्डवः सव्यसाची।
भीमेन राजन् दयितेन दीव्य
यत् कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम्॥ २३॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! ये पाण्डवोंमें धनुर्धर वीर सव्यसाची अर्जुन मेरेद्वारा जीत लिये गये। पाण्डुनन्दन! अब आपके पास भीमसेन ही जुआरियोंको प्राप्त होनेवाले धनके रूपमें शेष हैं, अतः उन्हींको दाँवपर रखकर खेलिये॥ २३॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नो नेता युधि नः प्रणेता
यथा वज्री दानवशत्रुरेकः।
तिर्यक्प्रेक्षी संनतभ्रूर्महात्मा
सिंहस्कन्धो यश्च सदात्यमर्षी॥ २४॥
बलेन तुल्यो यस्य पुमान् न विद्यते
गदाभृतामग्र्य इहारिमर्दनः।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन्॥ २५॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! जो युद्धमें हमारे सेनापति और दानवशत्रु वज्रधारी इन्द्रके समान अकेले ही आगे बढ़नेवाले हैं; जो तिरछी दृष्टिसे देखते हैं, जिनकी भौंहें धनुषकी भाँति झुकी हुई हैं, जिनका हृदय विशाल और कंधे सिंहके समान हैं, जो सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं, बलमें जिनकी समानता करनेवाला कोई पुरुष नहीं है, जो गदाधारियोंमें अग्रगण्य तथा अपने शत्रुओंको कुचल डालनेवाले हैं, उन्हीं राजकुमार भीमसेनको दाँवपर लगाकर मैं जुआ खेलता हूँ। यद्यपि वे इसके योग्य नहीं हैं॥ २४-२५॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ २६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठताका आश्रय लेकर शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा, 'यह दाँव भी मैंने ही जीता'॥ २६॥

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातॄंश्च सहयद्विपान्।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम्॥ २७॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन! आप अपने भाइयों और हाथी-घोड़ोंसहित बहुत धन हार चुके, अब आपके पास बिना हारा हुआ धन कोई अवशिष्ट हो, तो बतलाइये॥ २७॥

युधिष्ठिर उवाच

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातॄणां दयितस्तथा।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते॥ २८॥

युधिष्ठिरने कहा—मैं अपने सब भाइयोंमें बड़ा और सबका प्रिय हूँ; अतः अपनेको ही दाँवपर लगाता हूँ। यदि मैं हार गया तो पराजित दासकी भाँति सब कार्य करूँगा॥ २८॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ २९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने निश्चयपूर्वक अपनी जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता'॥ २९॥

शकुनिरुवाच

एतत् पापिष्ठमकरोर्यदात्मानमहारयः।
शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः॥ ३०॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! आप अपनेको दाँवपर लगाकर जो हार गये, यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म-कार्य हुआ। धनके शेष रहते हुए अपने आपको हार जाना महान् पाप है॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा मताक्षस्तान् ग्लहे सर्वानवस्थितान्।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक् पृथक्॥ ३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पासा फेंकनेकी विद्यामें निपुण शकुनिने राजा युधिष्ठिरसे दाँव लगानेके विषयमें उक्त बातें कहकर सभामें बैठे हुए लोकप्रसिद्ध वीर राजाओंको पृथक्-पृथक् पाण्डवोंकी पराजय सूचित की॥ ३१॥

शकुनिरुवाच

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय॥ ३२॥

तत्पश्चात् शकुनिने फिर कहा—राजन्! आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अबतक नहीं हारे हैं; अतः पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको आप दाँवपर रखिये और उसके द्वारा फिर अपनेको जीत लीजिये॥ ३२॥

युधिष्ठिर उवाच

नैव ह्रस्वा न महती न कृष्णा नातिरोहिणी।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया॥ ३३॥

युधिष्ठिरने कहा—जो न नाटी है न लंबी, न कृष्णवर्णा है न अधिक रक्तवर्णा तथा जिसके केश नीले और घुँघराले हैं, उस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ॥ ३३॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया॥ ३४॥

उसके नेत्र शरद्‌ऋतुके प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल हैं। उसके शरीरसे शारदीय कमलके समान सुगन्ध

फैलती रहती है। वह शरद्‌ऋतुके कमलोंका सेवन करती है तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान है ॥ ३४ ॥

तथैव स्यादानृशंस्यात् तथा स्याद् रूपसम्पदा।
तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम्॥३५॥

पुरुष जैसी स्त्री प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है, उसमें वैसा ही दयाभाव है, वैसी ही रूपसम्पत्ति है तथा वैसे ही शील-स्वभाव हैं ॥ ३५ ॥

सर्वैर्गुणैर्हि सम्पन्नामनुकूलां प्रियंवदाम्।
यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥ ३६ ॥

वह समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न तथा मनके अनुकूल और प्रिय वचन बोलनेवाली है। मनुष्य धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये जैसी पत्नीकी इच्छा रखता है, द्रौपदी वैसी ही है॥३६॥

चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ३७ ॥

वह ग्वालों और भेड़ोंके चरवाहोंसे भी पीछे सोती और सबसे पहले जागती है। कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इन सबकी वह जानकारी रखती है ॥ ३७ ॥

आभाति पद्मवद् वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च।
वेदिमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ॥ ३८ ॥

उसका स्वेदबिन्दुओंसे विभूषित मुख कमलके समान सुन्दर और मल्लिकाके समान सुगन्धित है। उसका मध्यभाग वेदीके समान कृश दिखायी देता है। उसके सिरके केश बड़े-बड़े हैं, मुख और ओष्ठ अरुणवर्णके हैं तथा उसके अङ्गोंमें अधिक रोमावलियाँ नहीं हैं ॥ ३८ ॥

तयैवंविधया राजन् पाञ्चाल्याहं सुमध्यया।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥ ३९ ॥

सुबलपुत्र! ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी सुमध्यमा पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदीको दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ; यद्यपि ऐसा करते हुए मुझे महान् कष्ट हो रहा है ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् धर्मराजके ऐसा कहते ही उस सभामें बैठे हुए बड़े-बूढ़े लोगोंके मुखसे 'धिक्कार है, धिक्कार है' की आवाज आने लगी॥

चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ४१ ॥

राजन्! उस समय सारी सभामें हलचल मच गयी। राजाओंको बड़ा शोक हुआ। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके शरीरसे पसीना छूटने लगा ॥ ४१ ॥

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत्।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ४२ ॥

विदुरजी तो दोनों हाथोंसे अपना सिर थामकर बेहोश-से हो गये। वे फुँफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास लेकर मुँह नीचे किये हुए गम्भीर चिन्तामें निमग्न हो बैठे रह गये॥ ४२॥

(बाह्लीकः सोमदत्तश्च प्रातीपेयः ससंजयः।
द्रौणिर्भूरिश्रवाश्चैव युयुत्सुर्धृतराष्ट्रजः॥
हस्तौ पिंषन्नधोवक्त्रा निःश्वसन्त इवोरगाः॥)

बाह्लीक, प्रतीपके पौत्र सोमदत्त, भीष्म, सञ्जय, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा तथा धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सु—ये सब मुँह नीचे किये सर्पोंके समान लंबी साँसें खींचते हुए अपने दोनों हाथ मलने लगे॥

धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र मन-ही-मन प्रसन्न हो उनसे बार-बार पूछ रहे थे, 'क्या हमारे पक्षकी जीत हो रही है?' वे अपनी प्रसन्नताकी आकृतिको न छिपा सके ॥ ४३ ॥

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४४ ॥

दुःशासन आदिके साथ कर्णको तो बड़ा हर्ष हुआ; परंतु अन्य सभासदोंकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे ॥ ४४ ॥

सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः।
जितमित्येव तानक्षान् पुनरेवान्वपद्यत ॥ ४५ ॥

सुबलपुत्र शकुनिने मैंने यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर पासोंको पुनः उठा लिया। उस समय वह विजयोल्लाससे सुशोभित और मदोन्मत्त हो रहा था ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीपराजयविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $1\frac{1}{2}$ मिलाकर कुल $46\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

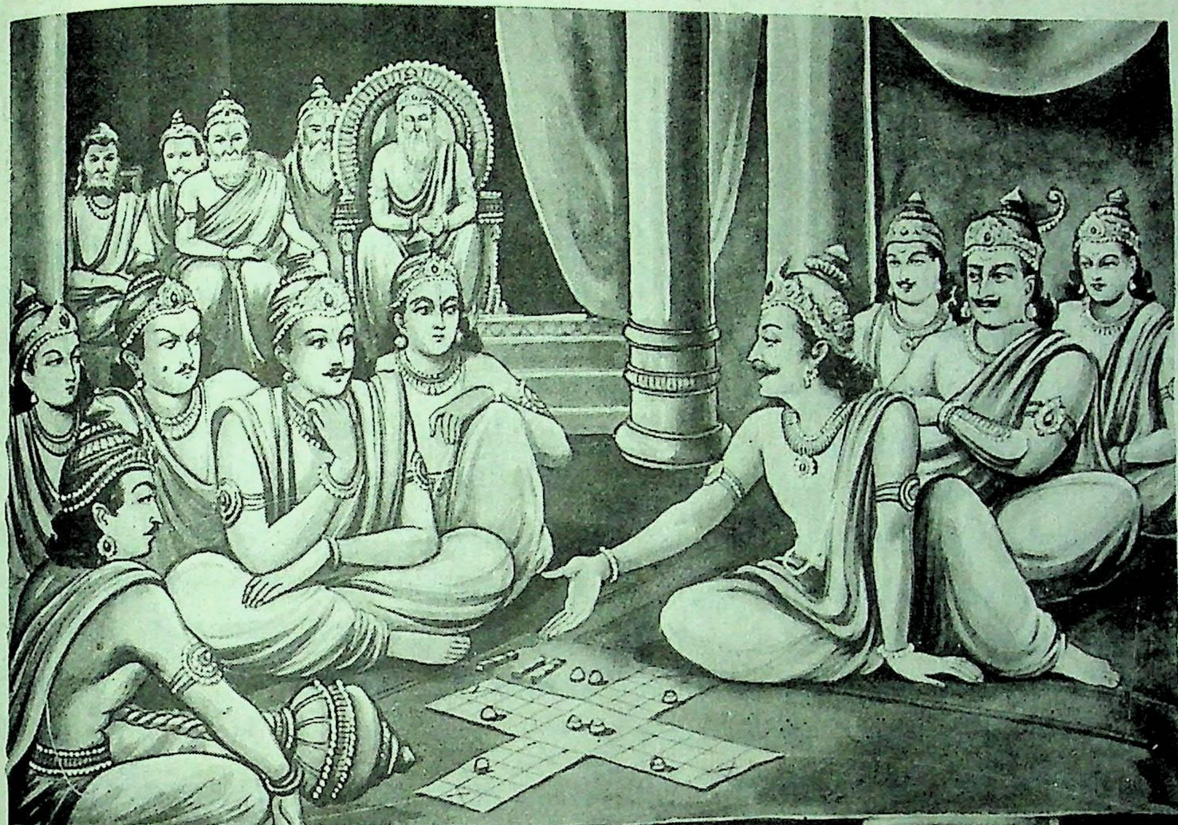
विदुरका दुर्योधनको फटकारना

दुर्योधन उवाच

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व
प्रियां भार्यां सम्मतां पाण्डवानाम्।
सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं
तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर! यहाँ आओ। तुम जाकर

द्यूत-क्रीडामें युधिष्ठिरकी पराजय





दुःशासनका द्रौपदीके केश पकडकर खींचना

पाण्डवोंकी प्यारी और मनोनुकूल पत्नी द्रौपदीको यहाँ ले आओ। वह पापाचारिणी शीघ्र यहाँ आये और मेरे महलमें झाड़ू लगाये। उसे वहीं दासियोंके साथ रहना होगा ॥ १ ॥

विदुर उवाच

दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन
न मन्द सम्बुध्यसि पाशबद्धः।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि
व्याघ्रान् मृगः कोपयसेऽतिवेलम् ॥ २ ॥

विदुर बोले—ओ मूर्ख! तेरे-जैसे नीचके मुखसे ही ऐसा दुर्वचन निकल सकता है। अरे! तू कालपाशसे बँधा हुआ है, इसीलिये कुछ समझ नहीं पाता। तू ऐसे ऊँचे स्थानमें लटक रहा है जहाँसे गिरकर प्राण जानेमें अधिक विलम्ब नहीं; किंतु तुझे इस बातका पता नहीं है। तू एक साधारण मृग होकर व्याघ्रोंको अत्यन्त क्रुद्ध कर रहा है ॥ २ ॥

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन् मा गमस्त्वं यमक्षयम् ॥ ३ ॥

मन्दात्मन्! तेरे सिरपर कोपमें भरे हुए महान् विषधर सर्प चढ़ आये हैं। तू उनका क्रोध न बढ़ा, यमलोकमें जानेको उद्यत न हो ॥ ३ ॥

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥ ४ ॥

द्रौपदी कभी दासी नहीं हो सकती, क्योंकि राजा युधिष्ठिर जब पहले अपनेको हारकर द्रौपदीको दाँवपर लगानेका अधिकार खो चुके थे, उस दशामें उन्होंने इसे दाँवपर रखा है (अतः मेरा विश्वास है कि द्रौपदी हारी नहीं गयी) ॥ ४ ॥

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती
फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय
मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकालम् ॥ ५ ॥

जैसे बाँस अपने नाशके लिये ही फल धारण करता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके पुत्र इस राजा दुर्योधनने महान् भयदायक वैरकी सृष्टिके लिये इस जूएके खेलको अपनाया है। यह ऐसा मतवाला हो गया है कि मौत सिरपर नाच रही है; किंतु इसे उसका पता ही नहीं है ॥ ५ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ६ ॥

किसीको मर्मभेदी बात न कहे, किसीसे कठोर वचन न बोले। नीच कर्मके द्वारा शत्रुको वशमें करनेकी चेष्टा न करे। जिस बातसे दूसरेको उद्वेग हो, जो जलन पैदा करनेवाली और नरककी प्राप्ति करानेवाली हो, वैसी बात मुँहसे कभी न निकाले ॥ ६ ॥

समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ७ ॥

मुँहसे जो कटु वचनरूपी बाण निकलते हैं, उनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे दूसरेके मर्मपर ही आघात करते हैं; अतः विद्वान् पुरुषको दूसरोंके प्रति निष्ठुर वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

अजो हि शस्त्रमगिलत् किलैकः
शस्त्रे विपन्ने शिरसास्य भूमौ।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं
तद्वद् वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः ॥ ८ ॥

कहते हैं, एक बकरा कोई शस्त्र निगलने लगा; किंतु जब वह निगला न जा सका, तब उसने पृथ्वीपर अपना सिर पटक-पटककर उस शस्त्रको निगल जानेका प्रयत्न किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह भयानक शस्त्र उस बकरेका ही गला काटनेवाला हो गया। इसी प्रकार तुम पाण्डवोंसे वैर न ठानो ॥ ८ ॥

न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥ ९ ॥

कुन्तीके पुत्र किसी वनवासी, गृहस्थ, तपस्वी अथवा विद्वान्‌से ऐसी कड़ी बात कभी नहीं बोलते। तुम्हारे-जैसे कुत्तेके-से स्वभाववाले मनुष्य ही सदा इस तरह दूसरोंको भूँका करते हैं ॥ ९ ॥

द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं
न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
तमन्वेतारो बहवः कुरूणां
द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रका पुत्र नरकके अत्यन्त भयंकर एवं कुटिल द्वारको नहीं देख रहा है। दुःशासनके साथ कौरवोंमेंसे बहुत-से लोग दुर्योधनकी इस द्यूतक्रीड़ामें उसके साथी बन गये ॥ १० ॥

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते
मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ॥ ११ ॥

चाहे तूँबी जलमें डूब जाय, पत्थर तैरने लग जाय तथा नौकाएँ भी सदा ही जलमें डूब जाया करें; परंतु धृतराष्ट्रका यह मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधन मेरी हितकर बातें नहीं सुन सकता ॥ ११ ॥

अन्तो नूनं भवितायं कुरूणां
सुदारुणः सर्वहरो विनाशः ।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा
न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥ १२ ॥

यह दुर्योधन निश्चय ही कुरुकुलका नाश करनेवाला होगा। इसके द्वारा अत्यन्त भयंकर सर्वनाशका अवसर उपस्थित होगा। यह अपने सुहृदोंका पाण्डित्यपूर्ण हितकर वचन भी नहीं सुनता; इसका लोभ बढ़ता ही जा रहा है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

प्रातिकामीके बुलानेसे न आनेपर दुःशासनका सभामें द्रौपदीको केश पकड़कर घसीटकर लाना एवं सभासदोंसे द्रौपदीका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो
दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभाया-
मुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन गर्वसे उन्मत्त हो रहा था। उसने 'विदुरको धिक्कार है' ऐसा कहकर प्रातिकामीकी ओर देखा और सभामें बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच उससे कहा ॥ १ ॥

दुर्योधन उवाच

प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो
न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥

दुर्योधन बोला—प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहाँ ले आओ। तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। ये विदुर तो डरपोक हैं, अतः सदा ऐसी ही बातें कहा करते हैं। ये कभी हमलोगोंकी वृद्धि नहीं चाहते ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः
प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य ।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं
समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह सूत प्रातिकामी शीघ्र चला गया एवं जैसे कुत्ता सिंहकी माँदमें घुसे, उसी प्रकार उस राजभवनमें प्रवेश करके वह पाण्डवोंकी महारानीके पास गया ॥

प्रातिकाम्युवाच

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो
दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत् ।
सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म
नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥ ४ ॥

प्रातकामी बोला—द्रुपदकुमारी ! धर्मराज युधिष्ठिर जूएके मदसे उन्मत्त हो गये थे। उन्होंने सर्वस्व हारकर आपको दाँवपर लगा दिया। तब दुर्योधनने आपको जीत लिया। याज्ञसेनी ! अब आप धृतराष्ट्रके महलमें पधारें। मैं आपको वहाँ दासीका काम करवानेके लिये ले चलता हूँ ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्
को हि दीव्येद् भार्यया राजपुत्रः ।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो
ह्यभून्नान्यत् कैतवमस्य किंचित् ॥ ५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रातिकामिन् ! तू ऐसी बात कैसे कहता है ? कौन राजकुमार अपनी पत्नीको दाँवपर रखकर जूआ खेलेगा ? क्या राजा युधिष्ठिर जूएके नशेमें इतने पागल हो गये कि उनके पास जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया ? ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच

यदा नाभूत् कैतवमन्यदस्य
तदादेवीत् पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा
स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥

प्रातिकामी बोला—राजकुमारी ! जब जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया, तब अजातशत्रु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर इस प्रकार जूआ खेलने लगे। पहले तो

उन्होंने अपने भाइयोंको दाँवपर लगाया, उसके बाद अपनेको और अन्तमें आपको भी दाँवपर रख दिया ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ॥ ७ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम सभामें उन जुआरी महाराजके पास जाओ और जाकर यह पूछो कि 'आप पहले अपनेको हारे थे या मुझे ?' ॥ ७ ॥

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥ ८ ॥

सूतनन्दन ! यह जानकर आओ । तब मुझे ले चलो । राजा क्या करना चाहते हैं ? यह जानकर ही मैं दुःखिनी अबला उस सभामें चलूँगी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद् वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥ ९ ॥
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवापि माम् ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामीने सभामें जाकर राजाओंके बीचमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे द्रौपदीकी वह बात कह सुनायी । उसने कहा—'द्रौपदी आपसे पूछना चाहती है कि किस-किस वस्तुके स्वामी रहते हुए आप मुझे हारे हैं ? आप पहले अपनेको हारे हैं या मुझे ?' ॥ ९-१० ॥

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्त्व इवाभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥११॥

राजन् ! उस समय युधिष्ठिर अचेत और निष्प्राण-से हो रहे थे, अतः उन्होंने प्रातिकामीको भला-बुरा कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

इहैवागत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद् वचः ॥१२॥

तब दुर्योधन बोला—सूतपुत्र ! जाकर कह दो, द्रौपदी यहीं आकर अपने इस प्रश्नको पूछे । यहीं सब सभासद् उसके प्रश्न और युधिष्ठिरके उत्तरको सुनें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथान्वितः ॥१३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामी दुर्योधनके वशमें था, इसलिये वह राजभवनमें जाकर द्रौपदीसे व्यथित होकर बोला ॥ १३ ॥

प्रातिकाम्युवाच

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति
मन्ये प्राप्तः संक्षयः कौरवाणाम् ।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्
यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ॥१४॥

प्रातिकामीने कहा—राजकुमारी ! वे (दुर्योधन आदि) सभासद् तुम्हें सभामें ही बुला रहे हैं । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, अब कौरवोंके विनाशका समय आ गया है । जो (दुर्योधन) इतना गिर गया है कि तुम्हें सभामें बुलानेका साहस करता है, वह कभी अपने धन-वैभवकी रक्षा नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

द्रौपद्युवाच

एवं नूनं व्यदधात् संविधाता
स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके
स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! निश्चय ही विधाताका ऐसा ही विधान है । बालक और वृद्ध सबको सुख-दुःख प्राप्त होते हैं । जगत्‌में एकमात्र धर्मको ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है । यदि हम उसका पालन करें तो वह हमारा कल्याण करेगा ॥१५॥

सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै
सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे ।
ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत् करिष्ये
धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥

मेरे इस धर्मका उल्लंघन न हो, इसलिये तुम सभामें बैठे हुए कुरुवंशियोंके पास जाकर मेरी यह धर्मानुकूल बात पूछो—'इस समय मुझे क्या करना चाहिये ?' वे धर्मात्मा, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ महापुरुष मुझे जैसी आज्ञा देंगे, मैं निश्चय ही वैसा करूँगी ॥

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः
सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचु-
र्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ॥ १७ ॥

द्रौपदीका यह कथन सुनकर सूत प्रातिकामीने पुनः सभामें जाकर द्रौपदीके प्रश्नको दुहराया; किंतु उस समय दुर्योधनके उस दुराग्रहको जानकर सभी नीचे मुँह किये बैठे रहे, कोई कुछ भी नहीं बोला ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् ।
द्रौपद्याः सम्मतं दूतं प्राहिणोद् भरतर्षभ ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।
सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधन क्या करना चाहता है, यह सुनकर युधिष्ठिरने द्रौपदीके पास एक ऐसा दूत भेजा, जिसे वह पहचानती थी और उसीके द्वारा यह संदेश कहलाया, 'पाञ्चालराजकुमारी ! यद्यपि तुम रजस्वला और नीवीको नीचे रखकर एक ही वस्त्र धारण कर रही हो, तो भी उसी दशामें रोती हुई सभामें आकर अपने श्वशुरके सामने खड़ी हो जाओ ॥ १८-१९ ॥

अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे विनिन्देरन् मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ॥ २० ॥

'तुम-जैसी राजकुमारीको सभामें आयी देख सभी सभासद् मन-ही-मन इस दुर्योधनकी निन्दा करेंगे' ॥ २० ॥

स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ।
न्यवेदयन्मतं धीमान् धर्मराजस्य निश्चितम् ॥ २१ ॥

राजन् ! वह बुद्धिमान् दूत तुरंत द्रौपदीके भवनमें गया। वहाँ उसने धर्मराजका निश्चित मत उसे बता दिया ॥ २१ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ॥ २२ ॥

इधर महात्मा पाण्डव सत्यके बन्धनसे बँधकर अत्यन्त दीन और दुःखमग्न हो गये । उन्हें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ २२ ॥

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा
दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्
प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥ २३ ॥

उनके दीन मुँहकी ओर देखकर राजा दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हो सूतसे बोला—'प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहीं ले आओ । उसके सामने ही धर्मात्मा कौरव उसके प्रश्नोंका उत्तर देंगे' ॥

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी
भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्या-
नुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥ २४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनके वशमें रहनेवाले प्रातिकामीने द्रौपदीके क्रोधसे डरते हुए अपने मान-सम्मानकी परवा न करके पुनः सभासदोंसे पूछा—'मैं द्रौपदीको क्या उत्तर दूँ ?' ॥ २४ ॥

दुर्योधन उवाच

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो
वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं
किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥ २५ ॥

दुर्योधन बोला—दुःशासन ! यह मेरा सेवक सूतपुत्र प्रातिकामी बड़ा मूर्ख है । इसे भीमसेनका डर लगा हुआ है । तुम स्वयं द्रौपदीको यहाँ पकड़ लाओ । हमारे शत्रु पाण्डव इस समय हमलोगोंके वशमें हैं । वे तुम्हारा क्या कर लेंगे ॥ २५ ॥

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः
श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद् वेश्म महारथाना-
मित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर राजकुमार दुःशासन उठ खड़ा हुआ और लाल आँख किये वहाँसे चल दिया । महारथी पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके उसने राजकुमारी द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे
दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा ।
कुरून् भजस्वायतपत्रनेत्रे
धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ॥ २७ ॥

'पाञ्चालि ! आओ, आओ, तुम जूएमें जीती जा चुकी हो । कृष्णे ! अब लज्जा छोड़कर दुर्योधनकी ओर देखो। कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी ! हमने धर्मके अनुसार तुम्हें प्राप्त किया है, अतः तुम कौरवोंकी सेवा करो। अभी राजसभामें चली चलो' ॥ २७ ॥

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा
विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता
वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २८ ॥

यह सुनकर द्रौपदीका हृदय अत्यन्त दुःखित होने लगा । उसने अपने मलिन मुखको हाथसे पोंछा । फिर उठकर वह आर्त अबला उसी ओर भागी, जहाँ बूढ़े महाराज धृतराष्ट्रकी स्त्रियाँ बैठी हुई थीं ॥ २८ ॥

ततो जवेनाभिससार रोषाद्
दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु
जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २९ ॥

तब दुःशासन भी रोषसे गर्जता हुआ बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़ा । उसने महाराज युधिष्ठिरकी पत्नी द्रौपदीके लम्बे, नीले और लहराते हुए केशोंको पकड़ लिया ॥ २९ ॥

ये राजसूयावभृथे जलेन
महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं
बलात् प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ ३० ॥

जो केश राजसूय महायज्ञके अवभृथस्नानमें मन्त्रपूत जलसे सींचे गये थे, उन्हींको दुःशासनने पाण्डवोंके पराक्रमकी अवहेलना करके बलात्कारपूर्वक पकड़ लिया ॥ ३० ॥

स तां पराकृष्य सभासमीप-
मानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथव-
च्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम् ॥ ३१ ॥

लम्बे-लम्बे केशोंवाली वह द्रौपदी यद्यपि सनाथा थी, तो भी दुःशासन उस बेचारी आर्त अबलाको अनाथकी भाँति घसीटता हुआ सभाके समीप ले आया और जैसे वायु केलेके वृक्षको झकझोरकर झुका देता है, उसी प्रकार वह द्रौपदीको बलपूर्वक खींचने लगा ॥ ३१ ॥

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः
शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे
सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ॥ ३२ ॥

दुःशासनके खींचनेसे द्रौपदीका शरीर झुक गया । उसने धीरेसे कहा—'ओ मन्दबुद्धि दुष्टात्मा दुःशासन ! मैं रजस्वला हूँ तथा मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र है । इस दशामें मुझे सभामें ले जाना अनुचित है' ॥ ३२ ॥

ततोऽब्रवीत् तां प्रसभं निगृह्य
केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३३ ॥

यह सुनकर दुःशासन उसके काले-काले केशोंको और जोरसे पकड़कर कुछ बकने लगा; इधर यज्ञसेनकुमारी कृष्णाने अपनी रक्षाके लिये सर्वपापहारी, सर्वविजयी, नरस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको पुकारने लगी ॥ ३३ ॥

दुःशासन उवाच

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि
एकाम्बरा वाप्यथवा विवस्त्रा ।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी
दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥ ३४ ॥

दुःशासन बोला—द्रौपदी ! तू रजस्वला, एकवस्त्रा अथवा नंगी ही क्यों न हो, हमने तुझे जूएमें जीता है; अतः तू हमारी दासी हो चुकी है, इसलिये अब तुझे हमारी इच्छाके अनुसार दासियोंमें रहना पड़ेगा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा
दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना
शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय द्रौपदीके केश बिखर गये थे । दुःशासनके झकझोरनेसे उसका आधा वस्त्र भी खिसककर गिर गया था । वह लाजसे गड़ी जाती थी और भीतर-ही-भीतर क्रोधसे दग्ध हो रही थी । उसी दशामें वह धीरेसे इस प्रकार बोली ॥ ३५ ॥

द्रौपद्युवाच

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः
क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे
तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३६ ॥

द्रौपदीने कहा—अरे दुष्ट ! ये सभामें शास्त्रोंके विद्वान्, कर्मठ और इन्द्रके समान तेजस्वी मेरे पिताके समान सभी गुरुजन बैठे हुए हैं । मैं उनके सामने इस रूपमें खड़ी होना नहीं चाहती ॥ ३६ ॥

नृशंसकर्मंस्त्वमनार्यवृत्त
मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकर्षीः ।
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः
सेन्द्राश्च देवा यदि ते सहायाः ॥ ३७ ॥

क्रूरकर्मा दुराचारी दुःशासन ! तू इस प्रकार मुझे न खींच, न खींच, मुझे वस्त्रहीन मत कर । इन्द्र आदि देवता भी तेरी सहायताके लिये आ जायँ, तो भी मेरे पति राजकुमार पाण्डव तेरे इस अत्याचारको सहन नहीं कर सकेंगे ॥ ३७ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्र-
मिच्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ॥ ३८ ॥

धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर धर्ममें ही स्थित हैं । धर्मका स्वरूप बड़ा सूक्ष्म है । सूक्ष्म बुद्धिवाले धर्मपालनमें निपुण महापुरुष ही उसे समझ सकते हैं । मैं अपने पतिके गुणोंको छोड़कर वाणीद्वारा उनके परमाणुतुल्य छोटे-से-छोटे दोषको भी कहना नहीं चाहती ॥ ३८ ॥

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये
रजस्वलां यत् परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित् कुरुतेऽत्र कुत्सां
ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेताः ॥ ३९ ॥

अरे ! तू इन कौरववीरोंके बीचमें जो मुझ रजस्वला स्त्रीको खींचकर लिये जा रहा है, यह अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य है । मैं देखती हूँ यहाँ कोई भी मनुष्य तेरे इस कुकर्मकी निन्दा नहीं कर रहा है । निश्चय ही ये सब लोग तेरे मतमें हो गये ॥ ३९ ॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥ ४० ॥

अहो ! धिक्कार है ! भरतवंशके नरेशोंका धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रियधर्मके जाननेवाले इन महापुरुषोंका सदाचार भी लुप्त हो गया; क्योंकि यहाँ कौरवोंकी धर्ममर्यादाका उल्लंघन हो रहा है, तो भी सभामें बैठे हुए सभी कुरुवंशी चुपचाप देख रहे हैं ॥ ४० ॥

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
क्षत्तुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि ।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ४१ ॥

जान पड़ता है द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा राजा धृतराष्ट्रमें अब कोई शक्ति नहीं रह गयी है; तभी तो ये कुरुवंशके बड़े-बूढ़े महापुरुष राजा दुर्योधनके इस भयानक पापाचारकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं ॥ ४१ ॥

(इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्वं एव सभासदः ।
जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वे सर्वभूमिपाः ॥)

मेरे इस प्रश्नका सभी सभासद् उत्तर दें । राजाओ ! आपलोग क्या समझते हैं ? धर्मके अनुसार मैं जीती गयी हूँ या नहीं ? ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा
भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत् ।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान्
संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार करुण स्वरमें विलाप करती सुमध्यमा द्रौपदीने क्रोधमें भरे हुए अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा । पाण्डवोंके अङ्ग-अङ्गमें क्रोधकी अग्नि व्याप्त हो गयी थी । द्रौपदीने अपने कटाक्षद्वारा देखकर उनकी क्रोधाग्निको और भी उद्दीप्त कर दिया ॥ ४२ ॥

हृतेन राज्येन तथा धनेन
रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव ।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४३ ॥

राज्य, धन तथा मुख्य-मुख्य रत्नोंको हार जानेपर भी पाण्डवोंको उतना दुःख नहीं हुआ था, जितना कि द्रौपदीके लज्जा एवं क्रोधयुक्त कटाक्षपातसे हुआ था ॥ ४३ ॥

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णा-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान् ।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पा-
मुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ॥ ४४ ॥

द्रौपदीको अपने दीन पतियोंकी ओर देखती देख दुःशासन उसे बड़े वेगसे झकझोरकर जोर-जोरसे हँसते हुए 'दासी' कहकर पुकारने लगा । उस समय द्रौपदी मूर्छित-सी हो रही थी ॥ ४४ ॥

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः
सम्पूजयामास हसन् सशब्दम् ।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्र-
स्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४५ ॥

कर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने खिलखिलाकर हँसते हुए दुःशासनके उस कथनकी बड़ी सराहना की । सुबलपुत्र गान्धारराज शकुनिने भी दुःशासनका अभिनन्दन किया ॥ ४५ ॥

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये
ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव ।
तेषामभूद् दुःखमतीव कृष्णां
दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४६ ॥

उस समय वहाँ जितने सभासद् उपस्थित थे, उनमेंसे कर्ण, शकुनि और दुर्योधनको छोड़कर अन्य सब लोगोंको सभामें इस प्रकार घसीटी जाती हुई द्रौपदीकी दुर्दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् ।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४७ ॥

उस समय भीष्मने कहा—सौभाग्यशालिनी बहू ! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता । जो स्वामी नहीं है वह पराये धनको दाँवपर नहीं लगा सकता, परंतु स्त्रीको सदा अपने स्वामीके अधीन देखा जाता है, अतः इन सब बातोंपर विचार करनेसे मुझसे कुछ कहते नहीं बनता ॥ ४७ ॥

त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां
युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् ।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन
तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ ४८ ॥

मेरा विश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर धन-समृद्धिसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीको त्याग सकते हैं, किंतु धर्मको नहीं छोड़ सकते । इन पाण्डुनन्दनने स्वयं कहा है कि मैं अपनेको हार गया; अतः मैं इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु
कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः ।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिर-
स्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४९ ॥

यह शकुनि मनुष्योंमें द्यूतविद्याका अद्वितीय जानकार है। इसीने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको प्रेरित करके उनके मनमें तुम्हें दाँवपर रखनेकी इच्छा उत्पन्न की है, परंतु युधिष्ठिर इसे शकुनिका छल नहीं मानते; इसीलिये मैं तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर पाता हूँ ॥ ४९ ॥

द्रौपद्युवाच

आहूय राजा कुशलैरनार्यै-
र्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम्।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः
कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥ ५० ॥

द्रौपदीने कहा—जूआ खेलनेमें निपुण, अनार्य, दुष्टात्मा, कपटी तथा द्यूतप्रेमी धूर्तोंने राजा युधिष्ठिरको सभामें बुलाकर जूएका खेल आरम्भ कर दिया। इन्हें जूआ खेलनेका अधिक अभ्यास नहीं है। फिर इनके मनमें जूएकी इच्छा क्यों उत्पन्न की गयी? ॥ ५० ॥

अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तै-
रबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः।
सम्भूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्
पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥ ५१ ॥

जिनके हृदयकी भावना शुद्ध नहीं है, जो सदा छल और कपटमें लगे रहते हैं, उन समस्त दुरात्माओंने मिलकर इन भोले-भाले कुरु-पाण्डव-शिरोमणि महाराज युधिष्ठिरको पहले जूएमें जीत लिया है, तत्पश्चात् ये मुझे दाँवपर लगानेके लिये विवश किये गये हैं ॥ ५१ ॥

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभाया-
मीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम्।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं
विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥ ५२ ॥

ये कुरुवंशी महापुरुष जो सभामें बैठे हुए हैं, सभी पुत्रों और पुत्रवधुओंके स्वामी हैं (सभीके घरमें पुत्र और पुत्र-वधुएँ हैं), अतः ये सब लोग मेरे कथनपर अच्छी तरह विचार करके इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ५२ ॥

(न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥)

वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्मकी बात न बतावें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छलसे युक्त हो ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्ती-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान्।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि
वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार द्रौपदी करुणस्वरमें बोलकर रोती हुई अपने दीन पतियोंकी ओर देखने लगी। उस समय दुःशासनने उसके प्रति कितने ही अप्रिय कठोर एवं कटुवचन कहे ॥ ५३ ॥

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च
स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम्।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च
चकार कोपं परमार्तरूपः ॥ ५४ ॥

कृष्णा रजस्वलावस्थामें घसीटी जा रही थी, उसके सिरका कपड़ा सरक गया था, वह इस तिरस्कारके योग्य कदापि नहीं थी। उसकी यह दुरवस्था देखकर भीमसेनको बड़ी पीड़ा हुई। वे युधिष्ठिरकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीप्रश्नविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५६ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनका क्रोध एवं अर्जुनका उन्हें शान्त करना, विकर्णकी धर्मसङ्गत बातका कर्णके द्वारा विरोध, द्रौपदीका चीरहरण एवं भगवान्‌द्वारा उसकी लज्जारक्षा तथा विदुरके द्वारा प्रह्लादका उदाहरण देकर सभासदोंको विरोधके लिये प्रेरित करना

भीम उवाच

भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भैया युधिष्ठिर! जुआरियोंके घरमें प्रायः कुलटा स्त्रियाँ रहती हैं, किंतु वे भी उन्हें दाँवपर लगाकर जूआ नहीं खेलते। उन कुलटाओंके प्रति भी उनके हृदयमें दया रहती है ॥ १ ॥

काश्यो यद् धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम्।
तथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥ २ ॥
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥

काशिराजने जो धन उपहारमें दिया था एवं और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिये लाये थे तथा अन्य राजाओंने भी जो रत्न हमें भेंट किये थे, उन सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर तथा हम सब भाइयोंको भी शत्रुओंने जूएके दाँवपर रखवाकर अपने अधिकारमें कर लिया ॥ २-३ ॥

न च मे तत्र कोपोऽभूत् सर्वस्येशो हि नो भवान्।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥ ४ ॥

किंतु इसके लिये मेरे मनमें क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि आप हमारे सर्वस्वके स्वामी हैं। पर द्रौपदीको जो दाँवपर लगाया गया, इसे मैं बहुत ही अनुचित मानता हूँ ॥ ४ ॥

एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान् प्राप्य कौरवैः।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥

यह भोली-भाली अबला पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर इस प्रकार अपमानित होनेके योग्य नहीं थी, परंतु आपके कारण ये नीच, नृशंस और अजितेन्द्रिय कौरव इसे नाना प्रकारके कष्ट दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते।
बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥ ६ ॥

राजन् ! द्रौपदीकी इस दुर्दशाके लिये मैं आपपर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। आपकी दोनों बाहें जला डालूँगा। सहदेव ! आग ले आओ ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन ! तुमने पहले कभी ऐसी बातें नहीं कही थीं। निश्चय ही क्रूरकर्मा शत्रुओंने तुम्हारी धर्मविषयक गौरवबुद्धिको नष्ट कर दिया है ॥ ७ ॥

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम्।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥

भैया ! शत्रुओंकी कामना सफल न करो; उत्तम धर्मका ही आचरण करो। भला, अपने धर्मात्मा ज्येष्ठ भ्राताका अपमान कौन कर सकता है ? ॥ ८ ॥

आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन्।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥

महाराज युधिष्ठिरको शत्रुओंने द्यूतके लिये बुलाया है; अतः ये क्षत्रियव्रतको ध्यानमें रखकर दूसरोंकी इच्छासे जूआ खेलते हैं। यह हमारे महान् यशका विस्तार करनेवाला है ॥ ९ ॥

भीमसेन उवाच

एवमस्मिन् कृतं विद्यां यदि नाहं धनंजय।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन ! यदि मैं इस विषयमें यह न जानता कि इनका यह कार्य क्षत्रियधर्मके अनुकूल ही है, तो बलपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें इनकी दोनों बाँहोंको एक साथ ही जलाकर राख कर डालता ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृतराष्ट्रजः।
क्लिश्यमानां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंको दुखी और पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको घसीटी जाती हुई देख धृतराष्ट्रनन्दन विकर्णने यह कहा—॥ ११ ॥

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद् वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२ ॥

'भूमिपालो ! द्रौपदीने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसका आपलोग उत्तर दें। यदि इसके प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया गया, तो हमें शीघ्र ही नरक भोगना पड़ेगा ॥ १२ ॥

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ।
समेत्य नाहतुः किंचिद् विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥

'पितामह भीष्म और पिता धृतराष्ट्र—ये दोनों कुरुवंशके सबसे वृद्ध पुरुष हैं। ये तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी मिलकर कुछ उत्तर क्यों नहीं देते ? ॥ १३ ॥

भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च।
कुत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥

'हम सबके आचार्य भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ये दोनों ब्राह्मणकुलके श्रेष्ठ पुरुष हैं। ये दोनों भी इस प्रश्नपर अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते ? ॥ १४ ॥

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशः।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥

'जो दूसरे राजालोग चारों दिशाओंसे यहाँ पधारे हैं, वे सभी काम और क्रोधको त्यागकर अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दें ॥ १५ ॥

यदिदं द्रौपदीवाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥

'राजाओ ! कल्याणी द्रौपदीने बार-बार जिस प्रश्नको दुहराया है, उसपर विचार करके आपलोग उत्तर दें, जिससे मालूम हो जाय कि इस विषयमें किसका क्या पक्ष (विचार) है' ॥ १६ ॥

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥

इस प्रकार विकर्णने उन सब सभासदोंसे बार-बार अनुरोध किया; परंतु उन नरेशोंने उस विषयमें उससे भला-बुरा कुछ नहीं कहा ॥ १७ ॥

उक्त्वा सकृत् तथा सर्वान् विकर्णः पृथिवीपतीन् ।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उन सब राजाओंसे बार-बार आग्रह करनेपर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, तब विकर्णने हाथपर हाथ मलते हुए लंबी साँस खींचकर कहा—॥ १८ ॥

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन ।
मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥

'कौरवो तथा अन्य भूमिपालो ! आपलोग द्रौपदीके प्रश्नपर किसी प्रकारका विचार प्रकट करें या न करें, मैं इस विषयमें जो न्यायसंगत समझता हूँ, वह कहता हूँ ॥ १९ ॥

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥

'नरश्रेष्ठ भूपालो ! राजाओंके चार दुर्व्यसन बताये गये हैं—शिकार, मदिरापान, जूआ तथा विषयभोगमें अत्यन्त आसक्ति ॥ २० ॥

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते ।
यथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥

'इन दुर्व्यसनोंमें आसक्त मनुष्य धर्मकी अवहेलना करके मनमाना बर्ताव करने लगता है । इस प्रकार व्यसनासक्त पुरुषके द्वारा किये हुए किसी भी कार्यको लोग सम्मान नहीं देते हैं ॥ २१ ॥

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥

'ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर द्यूतरूपी दुर्व्यसनमें अत्यन्त आसक्त हैं । इन्होंने धूर्त जुआरियोंसे प्रेरित होकर द्रौपदीको दाँवपर लगा दिया है ॥ २२ ॥

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥

'सती-साध्वी द्रौपदी समस्त पाण्डवोंकी समानरूपसे पत्नी है, केवल युधिष्ठिरकी ही नहीं है । इसके सिवा, पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पहले अपने आपको हार चुके थे, उसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दाँवपर रक्खा है ॥ २३ ॥

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥

'सब दाँवोंको जीतनेकी इच्छावाले सुबलपुत्र शकुनिने ही द्रौपदीको दाँवपर लगानेकी बात उठायी है । इन सब बातोंपर विचार करके मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको जीती हुई नहीं मानता' ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा महान् नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर सभी सभासद विकर्णकी प्रशंसा और सुबलपुत्र शकुनिकी निन्दा करने लगे । उस समय वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया ॥ २५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस कोलाहलके शान्त होनेपर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे मूर्च्छित हो उसकी सुन्दर बाँह पकड़कर इस प्रकार बोला ॥ २६ ॥

कर्ण उवाच

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः ॥ २७ ॥

कर्णने कहा—विकर्ण ! इस जगत्‌में बहुत-सी वस्तुएँ विपरीत परिणाम उत्पन्न करनेवाली देखी जाती हैं । जैसे अरणिसे उत्पन्न हुई अग्नि उसीको जला देती है, उसी प्रकार कोई-कोई मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है, उसीका विनाश करनेवाला बन जाता है ॥ २७ ॥

(व्याधिर्बलं नाशयते शरीरस्थोऽपि सम्भृतः ।
तृणानि पशवो घ्नन्ति स्वपक्षं चैव कौरवः ॥
द्रोणो भीष्मः कृपो द्रौणिर्विदुरश्च महामतिः ।
धृतराष्ट्रश्च गान्धारी भवतः प्राज्ञवत्तराः ॥)

रोग यद्यपि शरीरमें ही पलता है, तथापि वह शरीरके ही बलका नाश करता है । पशु घासको ही चरते हैं, फिर भी उसे पैरोंसे कुचल डालते हैं । उसी प्रकार कुरुकुलमें उत्पन्न होकर भी तुम अपने ही पक्षको हानि पहुँचाना चाहते हो । विकर्ण ! द्रोण, भीष्म, कृप, अश्वत्थामा, महाबुद्धिमान् विदुर, धृतराष्ट्र तथा गान्धारी—ये तुमसे अधिक बुद्धिमान् हैं ॥

एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥

द्रौपदीने बार-बार प्रेरित किया है, तो भी ये सभासद कुछ भी नहीं बोलते हैं; क्योंकि ये सब लोग द्रुपदकुमारीको धर्मके अनुसार जीती हुई समझते हैं ॥ २८ ॥

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्रकुमार ! तुम केवल अपनी मूर्खताके कारण आप ही अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हो; क्योंकि तुम बालक होकर भी भरी सभामें वृद्धोंकी-सी बातें करते हो ॥

न च धर्मं यथावत् त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद् ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥

दुर्योधनके छोटे भाई ! तुम्हें धर्मके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं है । तुम जो जीती हुई द्रौपदीको नहीं जीती हुई

बता रहे हो, इससे तुम्हारे मन्दबुद्धि होनेका परिचय मिलता है ॥ ३० ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रकुमार! तुम कृष्णाको नहीं जीती हुई कैसे मानते हो? जब कि पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिरने द्यूतसभाके बीच अपना सर्वस्व दाँवपर लगा दिया है ॥ ३१ ॥

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! द्रौपदी भी तो सर्वस्वके भीतर ही है। इस प्रकार जब कृष्णाको धर्मपूर्वक जीत लिया गया है, तब तुम उसे नहीं जीती हुई क्यों समझते हो? ॥ ३२ ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने अपनी वाणीद्वारा कहकर द्रौपदीको दाँवपर रखा और शेष पाण्डवोंने मौन रहकर उसका अनुमोदन किया। फिर किस कारणसे तुम उसे नहीं जीती हुई मानते हो? ॥ ३३ ॥

मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम्।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

अथवा यदि तुम्हारी यह राय हो कि एकवस्त्रा द्रौपदीको इस सभामें अधर्मपूर्वक लाया गया है, तो इसके उत्तरमें भी मेरी उत्तम बात सुनो ॥ ३४ ॥

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥

कुरुनन्दन! देवताओंने स्त्रीके लिये एक ही पतिका विधान किया है; परंतु यह द्रौपदी अनेक पतियोंके अधीन है, अतः यह निश्चय ही वेश्या है। इसका सभामें लाया जाना कोई अनोखी बात नहीं है। यह एकवस्त्रा अथवा नंगी हो तो भी यहाँ लायी जा सकती है, यह मेरा स्पष्ट मत है ॥ ३५-३६ ॥

यच्चैषां द्रविणं किंचिद् या चैषा ये च पाण्डवाः।
सौबलेनेह तत् सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥

इन पाण्डवोंके पास जो कुछ धन है, जो यह द्रौपदी है तथा जो ये पाण्डव हैं, इन सबको सुबलपुत्र शकुनिने यहाँ जूएके धनके रूपमें धर्मपूर्वक जीता है ॥ ३७ ॥

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥

दुःशासन! यह विकर्ण अत्यन्त मूढ़ है, तथापि विद्वानोंकी-सी बातें बनाता है। तुम पाण्डवोंके और द्रौपदीके भी वस्त्र उतार लो ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी बात सुनकर समस्त पाण्डव अपने-अपने उत्तरीय वस्त्र उतारकर सभामें बैठ गये ॥ ३९ ॥

ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात्।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥

राजन्! तब दुःशासनने उस भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र बलपूर्वक पकड़कर खींचना प्रारम्भ किया ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्याश्चिन्तितो हरिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब वस्त्र खींचा जाने लगा, तब द्रौपदीने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया ॥ ४०½ ॥

(*द्रौपद्युवाच*

ज्ञातं मया वसिष्ठेन पुरा गीतं महात्मना।
महत्यापदि सम्प्राप्ते स्मर्तव्यो भगवान् हरिः ॥

द्रौपदीने मन-ही-मन कहा—मैंने पूर्वकालमें महात्मा वसिष्ठजीकी बतायी हुई इस बातको अच्छी तरह समझा है कि भारी विपत्ति पड़नेपर भगवान् श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

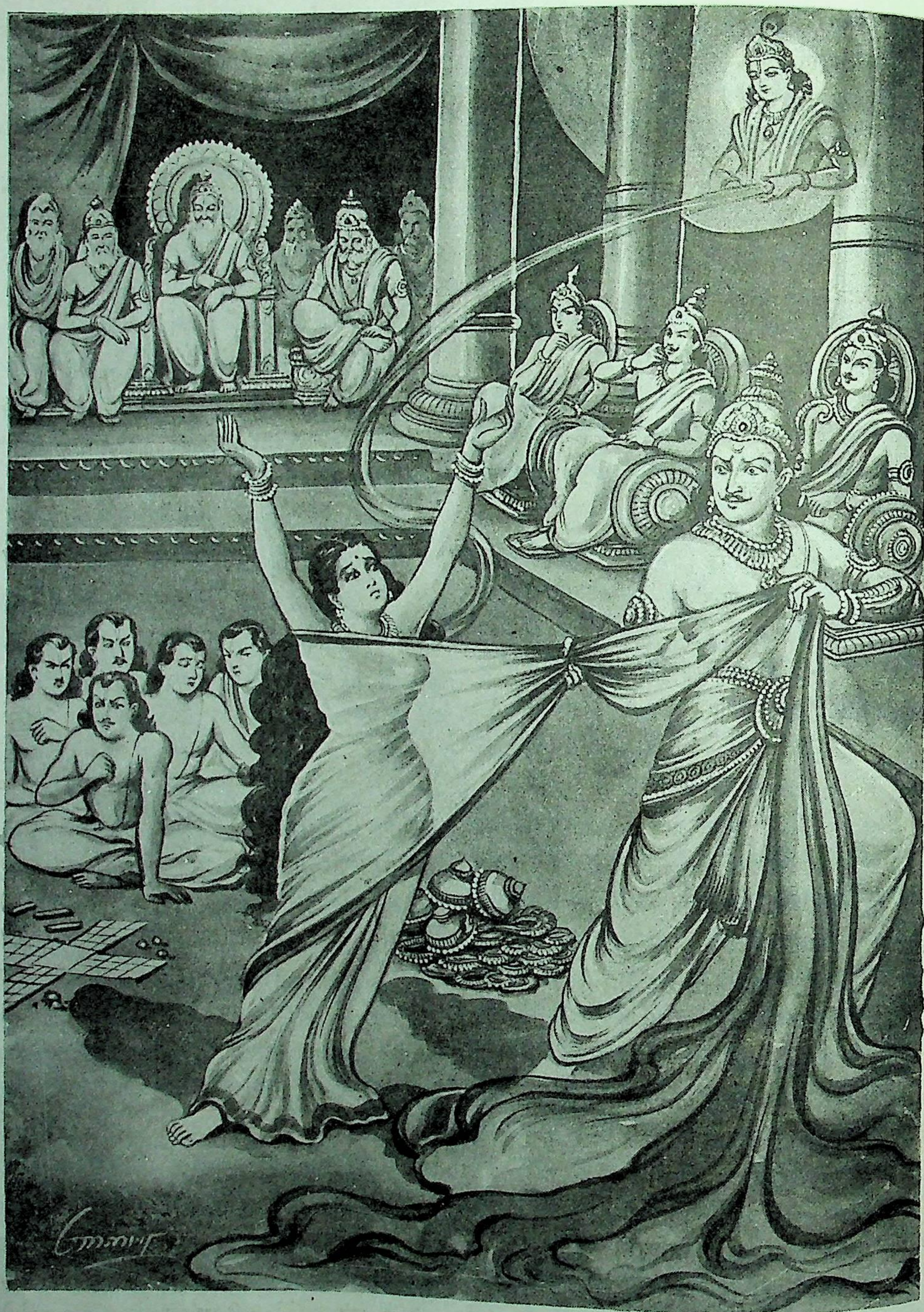
गोविन्देति समाभाष्य कृष्णेति च पुनः पुनः।
मनसा चिन्तयामास देवं नारायणं प्रभुम् ॥
आपत्स्वभयदं कृष्णं लोकानां प्रपितामहम्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा विचारकर द्रौपदीने बारम्बार 'गोविन्द' और 'कृष्ण'का नाम लेकर पुकारा और आपत्तिकालमें अभय देनेवाले लोकप्रपितामह नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका मन-ही-मन चिन्तन किया ॥

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥ ४१ ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥ ४२ ॥

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपाङ्गनाओंके प्राणवल्लभ केशव! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे संकटनाशन जनार्दन! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये ॥ ४१-४२ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ ४३ ॥



द्रौपदी-चीर-हरण

'सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! गोविन्द ! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा कीजिये' ॥ ४३ ॥

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम् ।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥४४॥

राजन् ! इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका बार-बार चिन्तन करके मानिनी द्रौपदी दुखी हो अंचलसे मुँह ढककर जोर-जोरसे रोने लगी ॥ ४४ ॥

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ।
त्यक्त्वा शय्याऽऽसनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात् ॥
कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः ॥४६॥

द्रुपदनन्दिनीकी वह करुण पुकार सुनकर कृपालु श्रीकृष्ण गद्गद हो गये तथा शय्या और आसन छोड़कर दयासे द्रवित हो पैदल ही दौड़ पड़े। यज्ञसेनकुमारी कृष्णा अपनी रक्षाके लिये श्रीकृष्ण, विष्णु, हरि और नर आदि भगवन्नामोंको जोर-जोरसे पुकार रही थी। इसी समय धर्मस्वरूप महात्मा श्रीकृष्णने अव्यक्तरूपसे उसके वस्त्रमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रोंद्वारा द्रौपदीको आच्छादित कर लिया ॥ ४५-४६ ॥

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते ।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥४७॥

जनमेजय ! द्रौपदीके वस्त्र खींचे जाते समय उसी तरहके दूसरे-दूसरे अनेक वस्त्र प्रकट होने लगे ॥ ४७ ॥

नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥४८॥

राजन् ! धर्मपालनके प्रभावसे वहाँ भाँति-भाँतिके सैकड़ों रंग-बिरंगे वस्त्र प्रकट होते रहे ॥ ४८ ॥

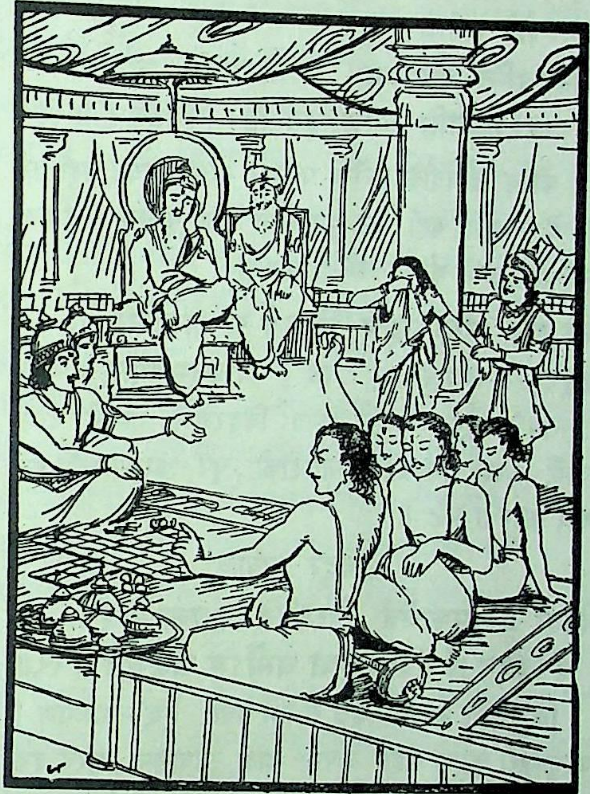
ततो हलहलाशब्दस्तत्रासीद् घोरदर्शनः ।
तदद्भुततमं लोको वीक्ष्य सर्वे महीभृतः ।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥४९॥
शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः ।
क्रोधाद् विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥५०॥

उस समय वहाँ बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया। जगत्‌में यह अद्भुत दृश्य देखकर सब राजा द्रौपदीकी प्रशंसा और दुःशासनकी निन्दा करने लगे। उस समय वहाँ समस्त राजाओंके बीच हाथपर हाथ मलते हुए भीमसेनने क्रोधसे फड़कते हुए ओठोंद्वारा भयंकर गर्जनाके साथ यह शाप दिया (प्रतिज्ञा की) ॥ ४९-५० ॥

भीम उवाच

इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः ।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद् वदिष्यति ॥५१॥

भीमसेनने कहा—देश-देशान्तरके निवासी क्षत्रियो ! आपलोग मेरी इस बातपर ध्यान दें। ऐसी बात आजसे पहले न तो किसीने कही होगी और न दूसरा कोई कहेगा ही ॥ ५१ ॥



यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ॥५२॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि ॥५३॥

भूमिपालो ! यह खोटी बुद्धिवाला दुःशासन भरतवंशके लिये कलंक है। मैं युद्धमें बलपूर्वक इस पापीकी छाती फाड़कर इसका रक्त पीऊँगा। यदि न पीऊँ अर्थात्—अपनी कही हुई उस बातको पूरा न करूँ, तो मुझे अपने पूर्वज बाप-दादोंकी श्रेष्ठ गति न मिले ॥ ५२-५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य ते तद् वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम् ।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी यह रोंगटे खड़े कर देनेवाली भयंकर बात सुनकर वहाँ बैठे हुए राजाओंने धृतराष्ट्रपुत्र दुःशासनकी निन्दा करते हुए भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५४ ॥

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः ।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥५५॥

जब सभामें वस्त्रोंका ढेर लग गया, तब दुःशासन थककर लज्जित हो चुपचाप बैठ गया ॥ ५५ ॥

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥५६॥

उस समय कुन्तीपुत्रोंकी ओर देखकर सभामें उपस्थित नरेशोंकी ओरसे दुःशासनपर रोमाञ्चकारी शब्दोंमें धिक्कारकी बौछार होने लगी ॥ ५६ ॥

न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह।
स जनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥५७॥

कौरव द्रौपदीके पूर्वोक्त प्रश्नपर स्पष्ट विवेचन नहीं कर रहे थे, अतः वहाँ बैठे हुए लोग राजा धृतराष्ट्रकी निन्दा करते हुए उन्हें कोसने लगे ॥ ५७ ॥

ततो बाहू समुच्छ्रित्य निवार्य च सभासदः।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥५८॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सभासदोंको चुप कराया और इस प्रकार कहा ॥ ५८ ॥

विदुर उवाच

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥५९॥

विदुरजी बोले—इस सभामें पधारे हुए भूपालगण ! द्रुपदकुमारी कृष्णा यहाँ अपना प्रश्न उपस्थित करके इस तरह अनाथकी भाँति रो रही है; परंतु आपलोग उसका विवेचन नहीं करते, अतः यहाँ धर्मकी हानि हो रही है॥ ५९॥

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥६०॥

संकटमें पड़ा हुआ मनुष्य अग्निकी भाँति चिन्तासे प्रज्वलित हुआ सभाकी शरण लेता है, उस समय सभासदगण धर्म और सत्यका आश्रय लेकर अपने वचनोंद्वारा उसे शान्त करते हैं ॥ ६० ॥

धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥६१॥

अतः श्रेष्ठ मनुष्यको उचित है कि वह धर्मानुकूल प्रश्नको सचाईके साथ उपस्थित करे और सभासदोंको चाहिये कि वे काम-क्रोधके वेगसे ऊपर उठकर उस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ६१ ॥

विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥६२॥

राजाओ ! विकर्णने अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दिया है, अब आपलोग भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस प्रश्नका निर्णय करें ॥ ६२ ॥

यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥६३॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें जाकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्नका उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलनेके आधे फलका भागी होता है ॥ ६३ ॥

यः पुनर्वितथं ब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं सम्प्राप्नोतीति निश्चयः ॥६४॥

इसी प्रकार जो धर्मज्ञ मानव सभामें जाकर किसी प्रश्नपर झूठा निर्णय देता है, वह निश्चय ही असत्यभाषणका पूरा फल (दण्ड) पाता है ॥ ६४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥६५॥

इस विषयमें विज्ञपुरुष प्रह्लाद और अङ्गिराकुमार मुनि सुधन्वाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६५ ॥

प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥६६॥

दैत्यराज प्रह्लादके एक पुत्र था विरोचन। उसका केशिनी नामवाली एक कन्याकी प्राप्तिके लिये अङ्गिराके पुत्र सुधन्वाके साथ विवाद हो गया ॥ ६६ ॥

अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा।
तयोर्देवनमत्रासीत् प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥६७॥

दोनों ही उस कन्याको पानेकी इच्छासे 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' ऐसा कहने लगे। मेरे सुननेमें आया है कि उन दोनोंने अपनी बात सत्य करनेके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी ॥६७॥

तयोः प्रश्नविवादोऽभूत् प्रह्लादं तावपृच्छताम्।
ज्यायान् क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥६८॥

श्रेष्ठताके प्रश्नको लेकर जब उनका विवाद बहुत बढ़ गया, तब उन्होंने दैत्यराज प्रह्लादसे जाकर पूछा—'हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? आप इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दीजिये, झूठ न बोलियेगा' ॥ ६८ ॥

स वै विवदनाद् भीतः सुधन्वानं विलोकयन्।
तं सुधन्वाब्रवीत् क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥६९॥

प्रह्लाद उस विवादसे भयभीत हो सुधन्वाकी ओर देखने लगे, तब सुधन्वाने प्रज्वलित ब्रह्मदण्डके समान कुपित होकर कहा— ॥ ६९ ॥

यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाथ न वक्ष्यसि।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥७०॥

'प्रह्लाद ! यदि तुम इस प्रश्नके उत्तरमें झूठ बोलोगे अथवा मौन रह जाओगे, तो वज्रधारी इन्द्र अपने वज्रद्वारा तुम्हारे सिरके सैकड़ों टुकड़े कर देगा' ॥ ७० ॥

सुधन्वना तथोक्तः सन् व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् ।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥७१॥

सुधन्वाके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद व्यथित हो पीपलके पत्तेकी तरह काँपने लगे और इसके विषयमें कुछ पूछनेके लिये वे महातेजस्वी कश्यपजीके पास गये ॥ ७१ ॥

प्रह्लाद उवाच

त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च ।
ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥७२॥

प्रह्लाद बोले—महाभाग ! आप देवताओं, असुरों तथा ब्राह्मणके भी धर्मको जानते हैं। मुझपर एक धर्मसंकट उपस्थित हुआ है, उसे सुनिये ॥ ७२ ॥

यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद् वितथं चैव निर्दिशेत् ।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥७३॥

मैं पूछता हूँ कि जो प्रश्नका उत्तर ही न दे अथवा असत्य उत्तर दे दे, उसे परलोकमें कौन-से लोक प्राप्त होते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ ७३ ॥

कश्यप उवाच

जानन्नविब्रुवन् प्रश्नान् कामात् क्रोधाद् भयात् तथा ।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७४॥

कश्यपजीने कहा—जो जानते हुए भी काम, क्रोध तथा भयसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देता, वह अपने ऊपर वरुणदेवताके सहस्रों पाश डाल लेता है ॥ ७४ ॥

साक्षी वा विब्रुवन् साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन् ।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७५॥

जो गवाह गाय-बैलके ढीले-ढाले कानोंकी तरह शिथिल हो दोनों पक्षोंसे सम्बन्ध बनाये रखकर गवाही नहीं देता, वह भी अपनेको वरुणदेवताके सहस्रों पाशोंसे बाँध लेता है ॥७५॥

तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते ।
तस्मात् सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥७६॥

एक वर्ष पूरा होनेपर उसका एक पाश खुलता है, अतः सच्ची बात जाननेवाले पुरुषको यथार्थरूपसे सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ७६ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते ।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७७॥

जहाँ धर्म अधर्मसे विद्ध होकर सभामें उपस्थित होता है, उसके काँटेको उससे बिंधे हुए सभासद्‌लोग नहीं काट पाते (अर्थात् उनको पापका फल भोगना ही पड़ता है) ॥७७॥

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु ।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥७८॥

सभामें जो अधर्म होता है, उसका आधा भाग स्वयं सभापति ले लेता है, एक चौथाई भाग करनेवालोंको मिलता है और एक चतुर्थांश उन सभासदोंको प्राप्त होता है जो निन्दनीय पुरुषकी निन्दा नहीं करते ॥ ७८ ॥

अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥७९॥

जिस सभामें निन्दाके योग्य मनुष्यकी निन्दा की जाती है, वहाँ सभापति निष्पाप हो जाता है, सभासद् भी पापसे मुक्त हो जाते हैं और सारा पाप करनेवालेको ही लगता है ॥७९॥

वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते ।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥८०॥

प्रह्लाद ! जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवालेको झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने इष्टापूर्त धर्मका नाश तो करते ही हैं आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंके भी पुण्योंका वे हनन करते हैं ॥

हृतस्वस्य हि यद् दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत् ।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ॥८१॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् ।
अपुत्रायाश्च यद् दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥८२॥
अध्यूढायाश्च यद् दुःखं साक्षिभिर्विहतस्य च ।
एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥८३॥

जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो उसे जो दुःख होता है, जिसका पुत्र मर गया हो, उसे जो शोक होता है, ऋणग्रस्त और स्वार्थसे वञ्चित मनुष्यको जो क्लेश होता है, पतिसे विहीन होनेपर स्त्रीको तथा राजाके कोपभाजन मनुष्यको जो कष्ट उठाना पड़ता है, पुत्रहीना नारीको जो संताप होता है, शेरके चंगुलमें फँसे हुए प्राणीको जो व्याकुलता होती है, सौतवाली स्त्रीको जो दुःख होता है, साक्षियोंने जिसे धोखा दिया हो, उस मनुष्यको जो महान् क्लेश होता है—इन सभी प्रकारके दुःखोंको देवताओंने समान बतलाया है ॥ ८१–८३ ॥

तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन् ।
समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥८४॥
तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।

झूठ बोलनेवाला मनुष्य उन सभी दुःखोंका भागी होता है । समक्ष दर्शन, श्रवण और धारणसे साक्षी संज्ञा होती है, अतः सत्य बोलनेवाला साक्षी कभी धर्म और अर्थसे वञ्चित नहीं होता ॥ ८४½ ॥

कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥८५॥

कश्यपजीकी यह बात सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा— ॥ ८५ ॥

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः ।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव ।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥ ८६ ॥

'विरोचन ! सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, उसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है। अब यह सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है' ॥ ८६ ॥

सुधन्वोवाच

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ८७ ॥

सुधन्वाने कहा—दैत्यराज ! तुम पुत्रस्नेहकी परवा न करके जो धर्मपर डटे रह गये, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पुत्रको यह आज्ञा देता हूँ कि यह सौ वर्षोंतक जीवित रहे ॥ ८७ ॥

विदुर उवाच

एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८८ ॥

विदुरजी कहते हैं—सभासदो ! इस प्रकार इस उत्तम धर्ममय प्रसङ्गको सुनकर आप सब लोग द्रौपदीके प्रश्नके अनुसार यह बतावें कि उसके सम्बन्धमें आपकी क्या मान्यता है ? ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान् नय ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरकी यह बात सुनकर भी सब राजालोग कुछ न बोले। उस समय कर्णने दुःशासनसे कहा—'इस दासी द्रौपदीको अपने घर ले जाओ' ॥ ८९ ॥

तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान्।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ९० ॥

द्रौपदी लज्जामें डूबी हुई थरथर काँपती और पाण्डवोंको पुकारती थी। उस दशामें दुःशासनने उस भरी सभाके बीच उस बेचारी दुखिया तपस्विनीको घसीटना आरम्भ किया ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्याकर्षणेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें 'द्रौपदीको भरी सभामें खींचना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

द्रौपदीका चेतावनीयुक्त विलाप एवं भीष्मका वचन

द्रौपद्युवाच

पुरस्तात् करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम्।
विह्वलास्मि कृतानेन कर्षता बलिना बलात् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—हाय ! मेरा जो कार्य सबसे पहले करनेका था, वह अभीतक नहीं हुआ। मुझे अब वह कार्य कर लेना चाहिये। इस बलवान् दुरात्मा दुःशासनने मुझे बलपूर्वक घसीटकर व्याकुल कर दिया है ॥ १ ॥

अभिवादं करोम्येषां कुरूणां कुरुसंसदि।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥

कौरवोंकी सभामें मैं समस्त कुरुवंशी महात्माओंको प्रणाम करती हूँ। मैंने घबराहटके कारण पहले प्रणाम नहीं किया; अतः यह मेरा अपराध न माना जाय ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुःशासनके बार-बार खींचनेसे तपस्विनी द्रौपदी पृथ्वीपर गिर पड़ी और उस सभामें अत्यन्त दुःखित हो विलाप करने लगी। वह जिस दुरवस्थामें पड़ी थी, उसके योग्य कदापि न थी ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

स्वयंवरे यास्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः।
न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहमद्य सभां गता ॥ ४ ॥

द्रौपदीने कहा—हा ! मैं स्वयंवरके समय सभामें आयी थी और उस समय रंगभूमिमें पधारे हुए राजाओंने मुझे देखा था। उसके सिवा, अन्य अवसरोंपर कहीं भी आजसे पहले किसीने मुझे नहीं देखा। वही मैं आज सभामें बलपूर्वक लायी गयी हूँ ॥ ४ ॥

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे।
साहमद्य सभामध्ये दृश्यास्मि जनसंसदि ॥ ५ ॥

पहले राजभवनमें रहते हुए जिसे वायु तथा सूर्य भी नहीं देख पाते थे, वही मैं आज इस सभाके भीतर महान् जनसमुदायमें आकर सबके नेत्रोंकी लक्ष्य बन गयी हूँ ॥ ५ ॥

यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥

पहले अपने महलमें रहते समय जिसका वायुद्वारा स्पर्श भी पाण्डवोंको सहन नहीं होता था, उसी मुझ द्रौपदीका यह दुरात्मा दुःशासन भरी सभामें स्पर्श कर रहा है, तो भी आज ये पाण्डुकुमार सह रहे हैं ॥ ६ ॥

मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम् ।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम् ॥ ७ ॥

मैं कुरुकुलकी पुत्रवधू एवं पुत्रीतुल्य हूँ । सताये जाने के योग्य नहीं हूँ, फिर भी मुझे यह दारुण क्लेश दिया जा रहा है और ये समस्त कुरुवंशी इसे सहन करते हैं । मैं समझती हूँ, बड़ा विपरीत समय आ गया है ॥ ७ ॥

किं त्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा ।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क नु धर्मो महीक्षिताम् ॥ ८ ॥

इससे बढ़कर दयनीय दशा और क्या हो सकती है कि मुझ-जैसी शुभकर्मपरायणा सती-साध्वी स्त्री भरी सभामें विवश करके लायी गयी है । आज राजाओंका धर्म कहाँ चला गया ? ॥

धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥

मैंने सुना है, पहले लोग धर्मपरायणा स्त्रीको कभी सभामें नहीं लाते थे, किंतु इन कौरवोंके समाजमें वह प्राचीन सनातन धर्म नष्ट हो गया है ॥ ९ ॥

कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती ।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम् ॥ १० ॥

अन्यथा मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी सुशीला बहन और भगवान् श्रीकृष्णकी सखी होकर राजाओंकी इस सभामें कैसे लायी जा सकती थी ? ॥ १० ॥

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् ।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत् करिष्यामि कौरवाः ॥ ११ ॥

कौरवो ! मैं धर्मराज युधिष्ठिरकी धर्मपत्नी तथा उनके समान वर्णकी कन्या हूँ । आपलोग बतावें, मैं दासी हूँ या अदासी ? आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगी ॥ ११ ॥

अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः ।
क्लिश्नाति नाहं तत् सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः ॥

कुरुवंशी क्षत्रियो ! यह कुरुकुलकी कीर्तिमें कलङ्क लगानेवाला नीच दुःशासन मुझे बहुत कष्ट दे रहा है । मैं इस क्लेशको देरतक नहीं सह सकूँगी ॥ १२ ॥

जितां वाप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः ।
तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत् करिष्यामि कौरवाः ॥ १३ ॥

कुरुवंशियो ! आप क्या मानते हैं ? मैं जीती गयी हूँ या नहीं । मैं आपके मुँहसे इसका ठीक-ठीक उत्तर सुनना चाहती हूँ । फिर उसीके अनुसार कार्य करूँगी ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः ।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—कल्याणि ! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है । लोकमें विज्ञ महात्मा भी उसे ठीक-ठीक नहीं जान सकते ॥ १४ ॥

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः ।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः ॥ १५ ॥

संसारमें बलवान् मनुष्य जिसको धर्म समझता है, धर्मविचारके समय लोग उसीको धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है, वह बलवान् पुरुषके बताये धर्मसे दब जाता है (अतः इस समय कर्ण और दुर्योधन-का बताया हुआ धर्म ही सर्वोपरि हो रहा है ।) ॥ १५ ॥

न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात् ।
सूक्ष्मत्वाद् गहनत्वाच्च कार्यस्यास्य च गौरवात् ॥ १६ ॥

मैं तो धर्मका स्वरूप सूक्ष्म और गहन होनेके कारण तथा इस धर्मनिर्णयके कार्यके अत्यन्त गुरुतर होनेसे तुम्हारे इस प्रश्नका निश्चितरूपसे यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

नूनमन्तः कुलस्यायं भविता नचिरादिव ।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ॥ १७ ॥

अवश्य ही बहुत शीघ्र इस कुलका नाश होनेवाला है, क्योंकि समस्त कौरव लोभ और मोहके वशीभूत हो गये हैं ॥ १७ ॥

कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम् ।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता ॥ १८ ॥

कल्याणि ! तुम जिनकी पत्नी हो, वे पाण्डव हमारे उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं और भारी-से-भारी संकटमें पड़कर भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम् ।
यत् कृच्छ्रमपि सम्प्राप्ता धर्ममेवान्ववेक्षसे ॥ १९ ॥

पाञ्चालराजकुमारी ! तुम्हारा यह आचार-व्यवहार तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि भारी संकटमें पड़कर भी तुम धर्मकी ओर ही देख रही हो ॥ १९ ॥

एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः ।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवानताः ॥ २० ॥
युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन् प्रमाणमिति मे मतिः ।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति ॥ २१ ॥

ये द्रोणाचार्य आदि वृद्ध एवं धर्मज्ञ पुरुष भी सिर लटकाये शून्य शरीरसे इस प्रकार बैठे हैं; मानो निष्प्राण हो गये हों । मेरी राय यह है कि इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये धर्मराज युधिष्ठिर ही सबसे प्रामाणिक व्यक्ति हैं । तुम जीती गयी हो या नहीं ? यह बात स्वयं इन्हें बतलानी चाहिये । २०-२१ ।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनके छल-कपटयुक्त वचन और भीमसेनका रोषपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

तथा तु दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं
रोरूयमाणां कुररीमिवार्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाप्यसाधु
महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महारानी द्रौपदीको वहाँ आर्त होकर कुररीकी भाँति बहुत विलाप करती देखकर भी सभामें बैठे हुए राजालोग दुर्योधनके भयसे भला या बुरा कुछ भी नहीं कह सके ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रां-
स्तूष्णींभूतान् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
स्मयन्निदं वचनं बभाषे
पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ॥ २ ॥

राजाओंके बेटों और पोतोंको मौन देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने उस समय मुसकराते हुए पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीसे यह बात कही ॥ २ ॥

दुर्योधन उवाच

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे
भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि
वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी ! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारे ही पति महाबली भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुलपर छोड़ दिया जाता है। ये ही तुम्हारी पूछी हुई बातका उत्तर दें ॥ ३ ॥

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये
युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः।
कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं
पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ॥ ४ ॥

पाञ्चालि ! इन श्रेष्ठ राजाओंके बीच ये लोग यह स्पष्ट कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। सभी पाण्डव मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको झूठा ठहरा दें। फिर तुम दास्यभावसे मुक्त कर दी जाओगी ॥ ४ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथ वैष
वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ ५ ॥

ये धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर इन्द्रके समान तेजस्वी तथा सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। तुमको दाँवपर रखनेका इन्हें अधिकार था या नहीं ? ये स्वयं ही कह दें; फिर इन्हींके कथनानुसार तुम शीघ्र दासीपन या अदासीपन किसी एकका आश्रय लो ॥ ५ ॥

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां
दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्
पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान् ॥ ६ ॥

द्रौपदी ! ये सभी उत्तम स्वभाववाले कुरुवंशी इस सभामें तुम्हारे लिये ही दुखी हैं और तुम्हारे मन्दभाग्य पतियोंको देखकर तुम्हारे प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाते हैं ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य
वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो
हाहेत्यासीदपि चैवार्तनादः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर एक ओर सभी सभासदोंने कुरुराज दुर्योधनके उस कथनकी उच्च स्वरसे भूरि-भूरि प्रशंसा की और गर्जना करते हुए वे वस्त्र हिलाने लगे तथा वहीं दूसरी ओर हाहाकार और आर्तनाद होने लगा ॥ ७ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं सुमनोहरं त-
द्धर्षश्चासीत् कौरवाणां सभायाम्।
सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः
कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥ ८ ॥

दुर्योधनका वह मनोहर वचन सुनकर उस समय सभामें कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ। अन्य सब राजा भी बड़े प्रसन्न हुए तथा दुर्योधनको कौरवोंमें श्रेष्ठ और धार्मिक कहते हुए उसका आदर करने लगे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥

फिर वे सब नरेश मुँह घुमाकर राजा युधिष्ठिरकी ओर इस आशासे देखने लगे कि देखें, ये धर्मज्ञ पाण्डुकुमार क्या कहते हैं ? ॥ ९ ॥

किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ॥ १० ॥

युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुन

किस प्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं ? भीमसेन, नकुल तथा सहदेव भी क्या कहते हैं ? इसके लिये उन राजाओंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा थी ॥ १० ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥

वह कोलाहल शान्त होनेपर भीमसेन अपनी चन्दन-चर्चित सुन्दर दिव्य भुजा उठाकर इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

भीमसेन उवाच

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः।
न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥

भीमसेनने कहा—यदि ये महामना धर्मराज युधिष्ठिर हमारे पितृतुल्य तथा इस पाण्डुकुलके स्वामी न होते तो हम कौरवोंका यह अत्याचार कदापि सहन नहीं करते ॥ १२ ॥

ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः।
मन्यतेऽजितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥
न हि मुच्येत मे जीवन् पदा भूमिमुपस्पृशन्।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥ १४ ॥
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ १५ ॥

ये हमारे पुण्य, तप और प्राणोंके भी प्रभु हैं। यदि ये द्रौपदीको दाँवपर लगानेसे पूर्व अपनेको हारा हुआ नहीं मानते हैं तो हम सब लोग इनके द्वारा दाँवपर रखे जानेके कारण हारे जा चुके हैं। यदि मैं हारा गया न होता तो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श करनेवाला कोई भी मरणधर्मा मनुष्य द्रौपदीके इन केशोंको छू लेनेपर मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता था। राजाओ ! परिघके समान मोटी और गोलाकार मेरी इन विशाल भुजाओंकी ओर तो देखो। इनके बीचमें आकर इन्द्र भी जीवित नहीं बच सकता ॥ १३—१५ ॥

धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि संकटम्।
गौरवेण विरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥ १६ ॥

मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, बड़े भाईके गौरवने मुझे रोक रखा है और अर्जुन भी मना कर रहा है, इसीलिये मैं इस संकटसे पार नहीं हो पाता ॥ १६ ॥

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव।
धार्तराष्ट्रानिमान् पापान् निष्पिषेयं तलासिभिः ॥ १७ ॥

यदि धर्मराज मुझे आज्ञा दे दें तो जैसे सिंह छोटे मृगोंको दबोच लेता है, उसी प्रकार मैं धृतराष्ट्रके इन पापी पुत्रोंको तलवारकी जगह हाथोंके तलवोंसे ही मसल डालूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब भीष्म, द्रोण और विदुरने भीमसेनको शान्त करते हुए कहा—'भीम ! क्षमा करो, तुम सब कुछ कर सकते हो' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

कर्ण और दुर्योधनके वचन, भीमसेनकी प्रतिज्ञा, विदुरकी चेतावनी और द्रौपदीको धृतराष्ट्रसे वरप्राप्ति

कर्ण उवाच

त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति
दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे
हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—भद्रे द्रौपदी ! दास, पुत्र और सदा पराधीन रहनेवाली स्त्री—ये तीनों धनके स्वामी नहीं होते। जिसका पति अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो गया है, ऐसी निर्धन दासकी पत्नी और दासका सारा धन—इन सबपर उस दासके स्वामीका ही अधिकार होता है ॥ १ ॥

प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व
तत् ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि
भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा न पार्थाः ॥ २ ॥

राजकुमारी ! अतः अब तुम राजा दुर्योधनके परिवारमें जाकर सबकी सेवा करो। यही कार्य तुम्हारे लिये शेष बचा है, जिसके लिये तुम्हें यहाँ आदेश दिया जा रहा है। आजसे धृतराष्ट्रके समस्त पुत्र ही तुम्हारे स्वामी हैं, कुन्तीके पुत्र नहीं ॥

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि
यस्माद् दास्यं न लभसि देवनेन।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्ति-
र्नित्यं दास्ये विदितं तत् तवास्तु ॥ ३ ॥

सुन्दरी ! अब तुम शीघ्र ही दूसरा पति चुन लो, जिससे द्यूतक्रीडाके द्वारा तुम्हें फिर किसीकी दासी न बनना

पड़े। पतियोंके प्रति इच्छानुसार बर्ताव तुम-जैसी स्त्रीके लिये निन्दनीय नहीं है। दासीपनमें तो स्त्रीकी स्वेच्छाचारिता प्रसिद्ध है ही, अतः यह दास्यभाव ही तुम्हें प्राप्त हो ॥ ३॥

पराजितो नकुलो भीमसेनो
युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च।
दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि
पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥ ४ ॥

यज्ञसेनकुमारी! नकुल हार गये, भीमसेन, युधिष्ठिर, सहदेव तथा अर्जुन भी पराजित होकर दास बन गये। अब तुम दासी हो चुकी हो। वे हारे हुए पाण्डव अब तुम्हारे पति नहीं हैं ॥ ४ ॥

प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते
पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः।
पाञ्चाल्यस्य द्रुपदस्यात्मजामिमां
सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ॥ ५ ॥

क्या कुन्तीकुमार युधिष्ठिर इस जीवनमें पराक्रम और पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं समझते, जिन्होंने सभामें इस द्रुपदराजकुमारी कृष्णाको दाँवपर लगाकर जूएका खेल किया ? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
भृशं निशश्वास तदाऽऽर्तरूपः।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो
दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए भीमसेन बड़ी वेदनाका अनुभव करते हुए उस समय जोर-जोरसे उच्छ्वास लेने लगे। वे राजा युधिष्ठिरके अनुगामी होकर धर्मके पाशमें बँधे हुए थे। क्रोधसे उनके नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे। वे युधिष्ठिरको दग्ध करते हुए-से बोले ॥ ६ ॥

भीम उवाच

नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राज-
न्नेष सत्यं दासधर्मः प्रविष्टः।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयु-
र्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ७ ॥

भीमसेनने कहा—राजन्! मुझे सूतपुत्र कर्णपर क्रोध नहीं आता। सचमुच ही दासधर्म वही है, जो उसने बताया है। महाराज! यदि आप इस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर जूआ न खेलते तो क्या ये शत्रु हमलोगोंसे ऐसी बातें कह सकते थे ? ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णीम्भूतमचेतनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनका यह कथन सुनकर उस समय राजा दुर्योधनने मौन एवं अचेतकी-सी दशामें बैठे हुए युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

'नरेश! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञाके अधीन हैं। आप ही द्रौपदीके प्रश्नपर कुछ बोलिये। क्या आप कृष्णाको हारी हुई नहीं मानते हैं ?' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम्।
स्मयन्नवेक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ १० ॥
कदलीस्तम्भसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम्।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ११ ॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १२ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर ऐश्वर्यमदसे मोहित हुए दुर्योधनने इशारेसे राधानन्दन कर्णको बढ़ावा देते और भीमसेनका तिरस्कार-सा करते हुए अपनी जाँघका वस्त्र हटाकर द्रौपदीकी ओर मुसकराते हुए देखा। उसने केलेके खंभेके समान मोटी, समस्त लक्षणोंसे सुशोभित, हाथीकी सूँडके सदृश चढ़ाव-उतारवाली और वज्रके समान कठोर अपनी बायीं जाँघ द्रौपदीकी दृष्टिके सामने करके दिखायी ॥ १०—१२ ॥

भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १३ ॥

उसे देखकर भीमसेनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे आँखें फाड़-फाड़कर देखते और सारी सभाको सुनाते हुए-से राजाओंके बीचमें बोले— ॥ १३ ॥

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १४ ॥

'दुर्योधन! यदि महासमरमें तेरी इस जाँघको मैं अपनी गदासे न तोड़ डालूँ तो मुझ भीमसेनको अपने पूर्वजोंके साथ उन्हींके समान पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो' ॥ १४ ॥

क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ॥ १५ ॥

उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके रोम-रोमसे आगकी चिनगारियाँ निकल रही थीं; ठीक उसी तरह, जैसे जलते हुए वृक्षके कोटरोंसे आगकी लपटें निकलती दिखायी देती हैं ॥

विदुर उवाच

परं भयं पश्यत भीमसेनात्
तद् बुध्यध्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्
परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १६ ॥

विदुरजीने कहा—धृतराष्ट्रके पुत्रो ! देखो, भीमसेनसे यह बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है । इसपर ध्यान दो । निश्चय ही प्रारब्धकी प्रेरणासे ही भरतवंशियोंके समक्ष यह महान् अन्याय उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा
यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ
पापान् मन्त्रान् कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रो ! तुमलोगोंने मर्यादाका उल्लङ्घन करके यह जूएका खेल किया है । तभी तो तुम भरी सभामें स्त्रीको लाकर उसके लिये विवाद कर रहे हो । तुम्हारे योग और क्षेम दोनों पूर्णतया नष्ट हो रहे हैं । आज सब लोगोंको मालूम हो गया कि कौरव पापपूर्ण मन्त्रणा ही करते हैं ॥ १७ ॥

इमं धर्मं कुरवो जानताशु
ध्वस्ते धर्मे परिषत् सम्प्रदुष्येत् ।
इमां चेत् पूर्वं कितवोऽग्लहिष्य-
दीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १८ ॥

कौरवो ! तुम धर्मकी इस महत्ताको शीघ्र ही समझ लो; क्योंकि धर्मका नाश होनेपर सारी सभाको दोष लगता है । यदि जूआ खेलनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने शरीरको हारे बिना पहले ही इस द्रौपदीको दाँवपर लगाते तो वे ऐसा करनेके अधिकारी हो सकते थे ॥ १८ ॥

स्वप्ने यथैतद् विजितं धनं स्या-
देवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य
धर्मादस्मात् कुरवो मापयात ॥ १९ ॥

(परंतु जब वे पहले अपनेको हारकर उसे दाँवपर लगानेका अधिकार ही खो बैठे थे, तब उसका मूल्य ही क्या रहा ?) अनधिकारी पुरुष जिस धनको दाँवपर लगाता है, उसकी हार-जीत मैं वैसी ही मानता हूँ जैसे कोई स्वप्नमें किसी धनको हारता या जीतता है । कौरवो ! तुमलोग गान्धारराज शकुनिकी बात सुनकर अपने धर्मसे भ्रष्ट न होओ ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच

भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य
स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव ।
युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीश-
मथो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥ २० ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी ! मैं भीम, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी बात माननेके लिये तैयार हूँ । ये सब लोग कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें हारनेका कोई अधिकार नहीं था, फिर तुम दासीपनसे मुक्त कर दी जाओगी ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहे नः
कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा ।
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा
तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—कुन्तीनन्दन महात्मा धर्मराज राजा युधिष्ठिर पहले तो हमें दाँवपर लगानेके अधिकारी थे ही, किंतु जब वे अपने शरीरको ही हार गये, तब किसके स्वामी रहे ? इस बातपर सब कौरव विचार करें ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे
गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्
समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रकी अग्निशालाके भीतर एक गीदड़ आकर जोर-जोरसे हुँआ-



हुँआ करने लगा । उस शब्दको लक्ष्य करके सब ओर गदहे रेंकने लगे तथा गृध्र आदि भयंकर पक्षी भी चारों ओर अशुभसूचक कोलाहल करने लगे ॥ २२ ॥

तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी
शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च ।
भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्
स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २३ ॥

तत्त्वज्ञानी विदुर तथा सुबलपुत्री गान्धारीने भी उस भयानक शब्दको सुना । भीष्म, द्रोण और गौतमवंशीय विद्वान् कृपाचार्यके

कानोंमें भी वह अमङ्गलकारी शब्द सुन पड़ा। फिर तो वे सभी लोग उच्च स्वरसे 'स्वस्ति' 'स्वस्ति' ऐसा कहने लगे ॥ २३ ॥

ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वां-
स्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे।
निवेदयामासतुरार्तवत् तदा
ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २४ ॥

तदनन्तर गान्धारी और विद्वान् विदुरने उस उत्पातसूचक भयंकर शब्दको लक्ष्य करके अत्यन्त दुखी हो राजा धृतराष्ट्रसे उसके विषयमें निवेदन किया, तब राजाने इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे
यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम्।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत
विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—रे मन्दबुद्धि दुर्योधन! तू तो जीता ही मारा गया। दुर्विनीत! तू श्रेष्ठ कुरुवंशियोंकी सभामें अपने ही कुलकी महिला एवं विशेषतः पाण्डवोंकी धर्मपत्नीको ले आकर उससे पापपूर्ण बातें कर रहा है ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
हितान्वेषी बान्धवानामपायात्।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत् सान्त्वपूर्वं
विमृश्यैतत् प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर बन्धु-बान्धवोंको विनाशसे बचाकर उनके हितकी इच्छा रखनेवाले तत्त्वदर्शी एवं मेधावी राजा धृतराष्ट्रने अपनी बुद्धिसे इस दुःखद प्रसंगपर विचार करके पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बहू द्रौपदी! तुम मेरी पुत्रवधुओंमें सबसे श्रेष्ठ एवं धर्मपरायणा सती हो। तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार मुझसे वर माँग लो ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच

ददासि चेद् वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम् ॥ २९ ॥

द्रौपदी बोली—भरतवंशशिरोमणे! यदि आप मुझे वर देते हैं तो मैं यही माँगती हूँ कि सम्पूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर दासभावसे मुक्त हो जायँ। जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिविन्ध्यको अज्ञानवश दूसरे राजकुमार ऐसा न कह सकें कि यह 'दासपुत्र' है ॥ २८-२९ ॥

राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान् क्वचित्।
राजभिर्लालितस्यास्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३० ॥

जैसे पहले राजकुमार होकर फिर कोई मनुष्य कभी दासपुत्र नहीं हुआ है, उसी प्रकार राजाओंके द्वारा जिसका लालन-पालन हुआ है, उस मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्यका दासपुत्र होना कदापि उचित नहीं है ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह।
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—कल्याणि! तुम जैसा कहती हो, वैसे ही हो। भद्रे! अब मैं तुम्हें दूसरा वर देता हूँ, वह भी माँग लो। मेरा मन मुझे वर देनेके लिये प्रेरित कर रहा है कि तुम एक ही वर पानेके योग्य नहीं हो ॥ ३१ ॥

द्रौपद्युवाच

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनंजयौ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम् ॥ ३२ ॥

द्रौपदी बोली—राजन्! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुषबाणसहित दासभावसे रहित एवं स्वतन्त्र हो जायँ ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तथास्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि।
तृतीयं वरयास्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाभागे! तुम अपने कुलको आनन्द प्रदान करनेवाली हो। तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही हो। अब तुम तीसरा वर और माँगो। तुम मेरी सब पुत्रवधुओंमें श्रेष्ठ एवं धर्मका पालन करनेवाली हो। मैं समझता हूँ, केवल दो वरोंसे तुम्हारा पूरा सत्कार नहीं हुआ ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥ ३४ ॥

द्रौपदी बोली—भगवन्! लोभ धर्मका नाशक होता है, अतः अब मेरे मनमें वर माँगनेका उत्साह नहीं है। राजशिरोमणे! तीसरा वर लेनेका मुझे अधिकार भी नहीं है ॥ ३४ ॥

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३५ ॥

राजेन्द्र! वैश्यको एक वर माँगनेका अधिकार बताया गया है, क्षत्रियकी स्त्री दो वर माँग सकती है, क्षत्रियको तीन

वर तथा ब्राह्मणको सौ वर लेनेका अधिकार है ॥ ३५ ॥

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा ॥ ३६ ॥

राजन्! ये मेरे पति दासभावको प्राप्त होकर भारी विपत्तिमें फँस गये थे। अब उससे पार हो गये। इसके बाद पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा ये लोग स्वयं कल्याण प्राप्त कर लेंगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीवरलाभविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥



द्विसप्ततितमोऽध्यायः

शत्रुओंको मारनेके लिये उद्यत हुए भीमको युधिष्ठिरका शान्त करना

कर्ण उवाच

या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मताः।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैंने मनुष्योंमें जिन सुन्दरी स्त्रियोंके नाम सुने हैं, उनमेंसे किसीने भी ऐसा अद्भुत कार्य किया हो, यह मेरे सुननेमें नहीं आया ॥ १ ॥

क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाभवत् ॥ २ ॥

कुन्तीके पुत्र तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए थे, ऐसे समयमें यह द्रुपदकुमारी कृष्णा इन पाण्डवोंको परम शान्ति देनेवाली बन गयी ॥ २ ॥

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम्।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ॥ ३ ॥

पाण्डवलोग नौका और आधारसे रहित जलमें गोते खा रहे थे अर्थात् संकटके अथाह सागरमें डूब रहे थे, किंतु यह पाञ्चालराजकुमारी इनके लिये पार लगानेवाली नौका बन गयी ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः।
स्त्रीगतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कौरवोंके बीचमें कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त असहनशील भीमसेन मन-ही-मन बहुत दुखी होकर बोले—'हाय! पाण्डवोंको उबारनेवाली एक स्त्री हुई' ॥ ४ ॥

भीम उवाच

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥

भीमसेनने कहा—महर्षि देवलका कथन है कि पुरुषमें तीन प्रकारकी ज्योतियाँ हैं—संतान, कर्म और ज्ञान; क्योंकि इन्हींसे सारी प्रजाकी सृष्टि हुई ॥ ५ ॥

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते।
देहे त्रितयमेवैतत् पुरुषस्योपयुज्यते ॥ ६ ॥

जब यह शरीर प्राणरहित होकर शून्य एवं अपवित्र हो जाता है तथा समस्त बन्धु-बान्धव उसे त्याग देते हैं, तब ये ही ज्ञान आदि तीनों ज्योतियाँ (परलोकगत) पुरुषके उपयोगमें आती हैं ॥ ६ ॥

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात्।
धनंजय कथंस्वित् स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥

धनंजय! हमारी धर्मपत्नी द्रौपदीके शरीरका बलपूर्वक स्पर्श करके दुःशासनने उसे अपवित्र कर दिया है, इससे हमारी संतानरूप ज्योति नष्ट हो गयी। जो पराये पुरुषसे छू गयी, उस स्त्रीसे उत्पन्न संतान किस कामकी होगी? ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

न चैवोक्ता न चानुक्ता हीनतः परुषा गिरः।
भारत प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—भारत! (द्रौपदी सती है। उसके विषयमें आप ऐसी बात न कहें। दुःशासनने अवश्य नीचता की है, किंतु) श्रेष्ठ पुरुष नीच पुरुषोंद्वारा कही या न कही गयी कड़वी बातोंका कभी उत्तर नहीं देते ॥ ८ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसम्भावनाः स्वयम् ॥ ९ ॥

प्रतिशोधका उपाय जानते हुए भी सत्पुरुष दूसरोंके उपकारोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैरको नहीं। उन साधु पुरुषोंको स्वयं सबसे सम्मान प्राप्त होता रहता है ॥ ९ ॥

भीम उवाच

इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् हन्मि शत्रून् समागतान्।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत ॥ १० ॥

भीमसेनने (राजा युधिष्ठिरसे) कहा—भरतवंशी राजराजेश्वर! (यदि आपकी आज्ञा हो, तो) यहाँ आये हुए इन सब शत्रुओंको मैं यहीं समाप्त कर दूँ। और यहाँसे

बाहर निकलकर इनके मूलका भी नाश कर डालूँ ॥ १० ॥

किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत।
अद्यैवैतान् निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ ११ ॥

भारत ! अब यहाँ विवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर करनेकी हमें क्या आवश्यकता है ? मैं आज ही इन सबको यमलोक भेज देता हूँ, आप इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥ १२ ॥

अपने छोटे भाइयोंके साथ खड़े हुए भीमसेन उपर्युक्त बात कहकर शत्रुओंकी ओर बार-बार देखने लगे; मानो सिंह मृगोंके समूहमें खड़ा हो उन्हींकी ओर देख रहा हो ॥ १२ ॥

सान्त्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।
खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुन शत्रुओंकी ओर देखनेवाले भीमसेनको बार-बार शान्त कर रहे थे, परंतु पराक्रमी महाबाहु भीमसेन अपने भीतर धधकती हुई क्रोधाग्निसे जल रहे थे ॥ १३ ॥

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥ १४ ॥

राजन् ! उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनकी श्रवणादि इन्द्रियोंके छिद्रों तथा रोमकूपोंसे धूम और चिनगारियोंसहित आगकी लपटें निकल रही थीं ॥ १४ ॥

भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत् तस्य तन्मुखम्।
युगान्तकाले सम्प्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥

भौंहें तनी होनेके कारण प्रलयकालमें मूर्तिमान् यमराजकी भाँति उनके भयानक मुखकी ओर देखना भी कठिन हो रहा था ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम्।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥ १६ ॥

भारत ! तब विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनको अपने एक हाथसे रोकते हुए युधिष्ठिरने कहा—'ऐसा न करो, शान्तिपूर्वक बैठ जाओ' ॥ १६ ॥

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम्।
पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

उस समय महाबाहु भीमके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्हें रोककर राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्रके पास गये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमसेनका क्रोधविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको सारा धन लौटाकर एवं समझा-बुझाकर इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

राजन् किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिये, हम क्या करें। भारत ! हमलोग सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी आज्ञासे हारे हुए धनके साथ बिना किसी विघ्न-बाधाके कुशलपूर्वक अपनी राजधानीको जाओ और अपने राज्यका शासन करो ॥ २ ॥

इदं चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम्।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥

मुझ वृद्धकी यही आज्ञा है। एक बात और है, उसपर भी ध्यान देना। मेरी कही हुई सारी बातें तुम्हारे हित और परम मङ्गलके लिये होंगी ॥ ३ ॥

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥

तात युधिष्ठिर ! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो। महामते ! तुममें विनय है। तुमने बड़े-बूढ़ोंकी उपासना की है ॥ ४ ॥

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत।
नादारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥

जहाँ बुद्धि है, वहीं शान्ति है। भारत ! तुम शान्त हो जाओ। (जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाओ।) पत्थर या लोहेपर कुल्हाड़ी नहीं पड़ती। लोग उसे लकड़ीपर ही चलाते हैं ॥ ५ ॥

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान् पश्यन्ति नागुणान्।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ७ ॥

जो पुरुष वैरको याद नहीं रखते, गुणोंको ही देखते हैं, अवगुणोंको नहीं तथा किसीसे विरोध नहीं रखते, वे ही उत्तम पुरुष कहे गये हैं। साधु पुरुष दूसरोंके सत्कर्मों (उपकारादि) को ही याद रखते हैं, उनके किये हुए वैरको नहीं। वे दूसरोंकी भलाई तो करते हैं; परंतु उनसे बदला लेनेकी भावना नहीं रखते ॥ ६-७ ॥

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ८ ॥
न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर! नीच मनुष्य साधारण बातचीतमें भी कटुवचन बोलने लगते हैं। जो स्वयं पहले कटु वचन न कहकर प्रत्युत्तरमें कठोर बातें कहते हैं, वे मध्यम श्रेणीके पुरुष हैं। परंतु जो धीर एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे किसीके कटुवचन बोलने या न बोलनेपर भी अपने मुखसे कभी कठोर एवं अहितकर बात नहीं निकालते ॥ ८-९ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ १० ॥

महात्मा पुरुष अपने अनुभवको सामने रखकर दूसरोंके सुख-दुःखको भी अपने समान जानते हुए उनके अच्छे बर्तावोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैर-विरोधको नहीं ॥ १० ॥

असम्भिन्नार्थमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः।
तथा चरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे ॥ ११ ॥

सत्पुरुष आर्यमर्यादाको कभी भङ्ग नहीं करते। उनके दर्शनसे सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर! कौरव-पाण्डवोंके समागममें तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके समान ही आचरण किया है ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्य पारुष्यं तत् तात हृदि मा कृथाः।
मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकाङ्क्षया ॥ १२ ॥
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत।

तात! दुर्योधनने जो कठोर बर्ताव किया है, उसे तुम अपने हृदयमें मत लाना। भारत! तुम तो उत्तम गुण ग्रहण करनेकी इच्छासे अपनी माता गान्धारी तथा यहाँ बैठे हुए मुझ अंधे बूढ़े ताऊकी ओर देखो ॥ १२½ ॥

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ॥ १३ ॥
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम्।
अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता ॥ १४ ॥
मन्त्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः।

मैंने सोच-समझकर भी इस जूएकी इसलिये उपेक्षा कर दी—उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की कि मैं मित्रों और सुहृदोंसे मिलना चाहता था और अपने पुत्रोंके बलाबलको देखना चाहता था। राजन्! जिनके तुम शासक हो और सब शास्त्रोंमें निपुण परम बुद्धिमान् विदुर जिनके मन्त्री हैं, वे कुरुवंशी कदापि शोकके योग्य नहीं हैं ॥ १३-१४½ ॥

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ॥ १५ ॥
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः।
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ॥ १६ ॥

तुममें धर्म है, अर्जुनमें धैर्य है, भीमसेनमें पराक्रम है और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेवमें श्रद्धा एवं विशुद्ध गुरुसेवाका भाव है। अजातशत्रो! तुम्हारा भला हो। अब तुम खाण्डवप्रस्थको जाओ। दुर्योधन आदि बन्धुओंके प्रति तुम्हें अच्छे भाईका-सा स्नेहभाव रहे और तुम्हारा मन सदा धर्ममें लगा रहे ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर पूज्यवर धृतराष्ट्रके आदेशको स्वीकार करके भाइयोंके सहित वहाँसे विदा हो गये ॥ १७ ॥

ते रथान् मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥

वे मेघके समान शब्द करनेवाले रथोंपर द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्न मनसे नगरोंमें उत्तम इन्द्रप्रस्थको चल दिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रवरदानपूर्वक युधिष्ठिरका इन्द्रप्रस्थगमनविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(अनुद्यूतपर्व)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे अर्जुनकी वीरता बतलाकर पुनः द्यूतक्रीडाके लिये पाण्डवोंको बुलानेका अनुरोध और उनकी स्वीकृति

जनमेजय उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरत्नधनसंचयान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! जब कौरवोंको यह मालूम हुआ कि पाण्डवोंको रथ और धनके संग्रहसहित खाण्डवप्रस्थ जानेकी आज्ञा मिल गयी, तब उनके मनकी अवस्था कैसी हुई ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन् दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण जनमेजय ! परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे दी, यह जानकर दुःशासन शीघ्र ही अपने भाई भरतश्रेष्ठ दुर्योधनके पास, जो अपने मन्त्रियों (कर्ण एवं शकुनि) के साथ बैठा था, गया और दुःखसे पीडित होकर इस प्रकार बोला ॥ २-३ ॥

दुःशासन उवाच

दुःखेनैतत् समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद् गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥

दुःशासनने कहा—महारथियो ! आपलोगोंको यह मालूम होना चाहिये कि हमने बड़े दुःखसे जिस धनराशिको प्राप्त किया था, उसे हमारा बूढ़ा बाप नष्ट कर रहा है। उसने सारा धन शत्रुओंके अधीन कर दिया ॥ ४ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति मानिनः ॥ ५ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥

यह सुनकर दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि, जो बड़े ही अभिमानी थे, पाण्डवोंसे बदला लेनेके लिये परस्पर मिलकर सलाह करने लगे। फिर उन सबने बड़ी उतावलीके साथ विचित्रवीर्यनन्दन मनीषी राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर मधुर वाणीमें कहा ॥ ५-६ ॥

(दुर्योधन उवाच

अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके धनुर्धरः ।
योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! संसारमें अर्जुनके समान पराक्रमी धनुर्धर दूसरा कोई नहीं है। ये दो बाहुवाले अर्जुन सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुनके समान शक्तिशाली हैं ॥

शृणु राजन् पुराचिन्त्यानर्जुनस्य च साहसान् ।
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो दुष्कृतं कृतवान् पुरा ॥
द्रुपदस्य पुरे राजन् द्रौपद्याश्च स्वयंवरे ।

महाराज ! अर्जुनने पहले जो-जो अचिन्त्य साहसपूर्ण कार्य किये हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनिये। राजन् ! पहले राजा द्रुपदके नगरमें द्रौपदीके स्वयंवरके समय धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने वह पराक्रम कर दिखाया था, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥

स दृष्ट्वा पार्थिवान् सर्वान् क्रुद्धान् पार्थो महाबलः॥
वारयित्वा शरैस्तीक्ष्णैरजयत् तत्र स स्वयम् ।
जित्वा तु तान् महीपालान् सर्वान् कर्णपुरोगमान्॥
लेभे कृष्णां शुभां पार्थो युद्ध्वा वीर्यबलात् तदा।
सर्वक्षत्रसमूहेषु अम्बां भीष्मो यथा पुरा ॥

उस समय महाबली अर्जुनने सब राजाओंको कुपित देख तीखे बाणोंके प्रहारसे उन्हें जहाँके तहाँ रोक दिया और स्वयं ही सबपर विजय पायी। कर्ण आदि सभी राजाओंको अपने बल और पराक्रमसे युद्धमें जीतकर कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय शुभलक्षणा द्रौपदीको प्राप्त किया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें भीष्मजीने सम्पूर्ण क्षत्रिय-समुदायमें अपने बल-पराक्रमसे काशिराजकी कन्या अम्बा आदिको प्राप्त किया था ॥

ततः कदाचिद् बीभत्सुस्तीर्थयात्रां ययौ स्वयम् ।
अथोलूपीं शुभां जातां नागराजसुतां तदा ॥
नागेष्ववाप चाग्र्येषु प्रार्थितोऽथ यथातथम् ।
ततो गोदावरीं वेण्णां कावेरीं चावगाहत ।

तदनन्तर अर्जुन किसी समय स्वयं तीर्थयात्राके लिये गये। उस यात्रामें ही उन्होंने नागलोकमें पहुँचकर परम सुन्दरी नागराजकन्या उलूपीको उसके प्रार्थना करनेपर विधिपूर्वक पत्नीरूपमें ग्रहण किया। फिर क्रमशः अन्य तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए दक्षिण दिशामें जाकर गोदावरी, वेण्णा तथा कावेरी आदि नदियोंमें स्नान किया ॥

स दक्षिणं समुद्रान्तं गत्वा चाप्सरसां च वै ।
कुमारीतीर्थमासाद्य मोक्षयामास चार्जुनः ॥
ग्राहरूपान्विताः पञ्च अतिशौर्येण वै बलात् ॥

दक्षिणसमुद्रके तटपर कुमारीतीर्थमें पहुँचकर अर्जुनने अत्यन्त शौर्यका परिचय देते हुए ग्राहरूपधारिणी पाँच अप्सराओंका बलपूर्वक उद्धार किया ॥

कन्यातीर्थं समभ्येत्य ततो द्वारवतीं ययौ ॥
तत्र कृष्णनिदेशात् स सुभद्रां प्राप्य फाल्गुनः ।
तामारोप्य रथोपस्थे प्रययौ स्वपुरीं प्रति ॥

तत्पश्चात् कन्याकुमारीतीर्थकी यात्रा करके वे दक्षिणसे लौट आये और अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए द्वारकापुरी जा पहुँचे । वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे अर्जुनने सुभद्राको लेकर रथपर बिठा लिया और अपनी नगरी इन्द्रप्रस्थकी ओर प्रस्थान किया ॥

भूयः शृणु महाराज फाल्गुनस्य तु साहसम् ।
ददौ च वह्नेर्बीभत्सुः प्रार्थितं खाण्डवं वनम् ॥
लब्धमात्रे तु तेनाथ भगवान् हव्यवाहनः ।
भक्षितुं खाण्डवं राजंस्ततः समुपचक्रमे ॥

महाराज ! अर्जुनके साहसका और भी वर्णन सुनिये; उन्होंने अग्निदेवको उनके माँगनेपर खाण्डववन समर्पित किया था । राजन् ! उनके द्वारा उपलब्ध होते ही भगवान् अग्निदेवने उस वनको अपना आहार बनाना आरम्भ किया ॥

ततस्तं भक्षयन्तं वै सव्यसाची विभावसुम् ।
रथी धन्वी शरान् गृह्य स कलापयुतः प्रभुः ॥
पालयामास राजेन्द्र स्ववीर्येण महाबलः ॥

राजेन्द्र ! जब अग्निदेव खाण्डववनको जलाने लगे, उस समय (अग्निदेवसे) रथ, धनुष, बाण और कवच आदि लेकर महान् बल तथा प्रभावसे युक्त सव्यसाची अर्जुन अपने पराक्रमसे उसकी रक्षा करने लगे ॥

ततःश्रुत्वा महेन्द्रस्तं मेघांस्तान् संदिदेश ह ।
तेनोक्ता मेघसङ्घास्ते ववर्षुरतिवृष्टिभिः ॥

खाण्डववनके दाहका समाचार सुनकर देवराज इन्द्रने मेघोंको आग बुझानेकी आज्ञा दी । उनकी प्रेरणासे मेघोंने बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की ॥

ततो मेघगणान् पार्थः शरव्रातैः समन्ततः ।
खगमैर्वारयामास तदाश्चर्यमिवाभवत् ॥

यह देख अर्जुनने आकाशगामी बाणसमूहोंद्वारा सब



ओरसे बादलोंको रोक दिया । वह एक अद्भुत-सी घटना हुई ॥

वारितान् मेघसङ्घांश्च श्रुत्वा क्रुद्धः पुरंदरः ।
पाण्डरं गजमास्थाय सर्वदेवगणैर्वृतः ॥
ययौ पार्थेन संयोद्धुं रक्षार्थं खाण्डवस्य च ॥

मेघोंको रोका गया सुनकर इन्द्रदेव कुपित हो उठे । श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ हो वे समस्त देवताओंके साथ खाण्डववनकी रक्षाके निमित्त अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये गये ॥

रुद्राश्च मरुतश्चैव वसवश्चाश्विनौ तदा ।
आदित्याश्चैव साध्याश्च विश्वेदेवाश्च भारत ॥
गन्धर्वाश्चैव सहिता अन्ये सुरगणाश्च ये ।
ते सर्वे शस्त्रसम्पन्ना दीप्यमानाः स्वतेजसा ।
धनंजयं जिघांसन्तः प्रपेतुर्विबुधाधिपाः ॥

भारत ! उस समय रुद्र, मरुद्गण, वसु, अश्विनीकुमार, आदित्य, साध्यगण, विश्वेदेव, गन्धर्व तथा अन्य देवगण अपने-अपने तेजसे देदीप्यमान एवं अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये गये । वे सभी देवेश्वर अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर टूट पड़े ॥

ततो देवगणाः सर्वे युद्ध्वा पार्थेन वै मुहुः ।
रणे जेतुमशक्यं तं ज्ञात्वा ते भरतर्षभ ॥
शान्तास्ते विबुधाः सर्वे पार्थबाणाभिपीडिताः ।

भरतश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ बारंबार युद्ध करके जब देवताओंने यह समझ लिया कि इन्हें समराङ्गणमें पराजित करना असम्भव है, तब वे अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण युद्धसे विरत हो गये (भाग खड़े हुए) ॥

युगान्ते यानि दृश्यन्ते निमित्तानि महान्त्यपि ।
सर्वाणि तत्र दृश्यन्ते सुघोराणि महीपते ॥

महाराज ! प्रलयकालमें जो विनाशसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन दिखायी देते हैं, वे सभी उस समय प्रत्यक्ष दीखने लगे ॥

ततो देवगणाः सर्वे पार्थं समभिदुद्रुवुः ।
असम्भ्रान्तस्तु तान् दृष्ट्वा स तां देवमयीं चमूम् ।
त्वरितः फाल्गुनो गृह्य तीक्ष्णांस्तानाशुगांस्तदा ॥
शक्रं देवांश्च सम्प्रेक्ष्य तस्थौ काल इवात्यये ॥

तदनन्तर सब देवताओंने एक साथ अर्जुनपर धावा किया; परंतु उस देवसेनाको देखकर अर्जुनके मनमें घबराहट नहीं हुई। वे तुरंत ही तीखे बाण हाथमें लेकर इन्द्र और देवताओंकी ओर देखते हुए प्रलयकालमें सर्वसंहारक कालकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ॥

ततो देवगणाः सर्वे बीभत्सुं सपुरंदराः ।
अवाकिरञ्छरव्रातैर्मानुषं तं महीपते ॥

राजन् ! अर्जुनको मानव समझकर इन्द्रसहित सब देवता उनपर बाणसमूहोंकी बौछार करने लगे ॥

ततः पार्थो महातेजा गाण्डीवं गृह्य सत्वरः ॥
वारयामास देवानां शरव्रातैः शरांस्तदा ।

परंतु महातेजस्वी पार्थने शीघ्रतापूर्वक गाण्डीव धनुष लेकर अपने बाणसमूहोंकी वर्षासे देवताओंके बाणोंको रोक दिया ॥

पुनः क्रुद्धाः सुराः सर्वे मर्त्यं संख्ये महाबलाः ॥
नानाशस्त्रैर्ववर्षुस्तं सव्यसाचिं महीपते ॥

पिताजी ! यह देख समस्त महाबली देवता पुनः कुपित हो गये और उस युद्धमें मरणधर्मा अर्जुनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछार करने लगे ॥

तान् पार्थः शस्त्रवर्षान् वै विसृष्टान् विबुधैस्तदा ।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव निशितैः शरैः ॥

अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा देवताओंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंके आकाशमें ही दो-दो तीन-तीन टुकड़े कर दिये ॥

पुनश्च पार्थः संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।
देवसङ्घाञ्छरैस्तीक्ष्णैरार्पयद् वै समन्ततः ॥

फिर अधिक क्रोधमें भरकर अर्जुनने अपने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार दिखायी देने लगा और उसके द्वारा सब ओर तीखे सायकोंकी वृष्टि करके सब देवताओंको घायल कर दिया ॥

विद्रुतान् देवसङ्घांस्तान् रणे दृष्ट्वा पुरंदरः ।
ततः क्रुद्धो महातेजाः पार्थं बाणैरवाकिरत् ॥

देवताओंको युद्धसे भागा हुआ देख महातेजस्वी इन्द्रने अत्यन्त कुपित हो पार्थपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥

पार्थोऽपि शक्रं विव्याध मानुषो विबुधाधिपम् ॥
ततः सोऽश्ममयं वर्षं व्यसृजद् विबुधाधिपः ।
तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षणः ॥
अथ संवर्धयामास तद् वर्षं देवराडपि ।
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः ॥

पार्थने मनुष्य होकर भी देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपने सायकोंसे बींध डाला। तब देवेश्वरने अर्जुनपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ की। यह देख अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भर गये और अपने बाणोंद्वारा उन्होंने इन्द्रकी उस पाषाण-वर्षाका निवारण कर दिया। तदनन्तर देवराज इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उस पाषाणवर्षाको पहलेसे भी अधिक बढ़ा दिया ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगमिषुभिः पाण्डवोऽपि च ।
विलयं गमयामास हर्षयन् पाकशासनम् ॥

यह देख पाण्डुनन्दन अर्जुनने इन्द्रका हर्ष बढ़ाते हुए उस अत्यन्त वेगशालिनी पाषाणवर्षाको अपने बाणोंसे विलीन कर दिया ॥

उपादाय तु पाणिभ्यामङ्गदं नाम पर्वतम् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः श्वेतवाहनम् ॥
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलमानैरजिह्मगैः ।
बाणैर्विध्वंसयामास गिरिराजं सहस्रशः ॥
शक्रं च वारयामास शरैः पार्थो बलाद् युधि ।

तब इन्द्रने श्वेतवाहन अर्जुनको कुचल डालनेकी इच्छासे वृक्षोंसहित अंगद नामक पर्वत (जो मन्दराचलका एक शिखर है) को दोनों हाथोंसे उठाकर उनके ऊपर छोड़ दिया। यह देख अर्जुनने अग्निके समान प्रज्वलित और सीधे लक्ष्य-तक पहुँचनेवाले सहस्रों वेगशाली बाणोंद्वारा उस पर्वतराजको खण्ड-खण्ड कर दिया। साथ ही पार्थने उस युद्धमें बलपूर्वक बाण मारकर इन्द्रको स्तब्ध कर दिया ॥

ततः शक्रो महाराज रणे वीरं धनंजयम् ॥
ज्ञात्वा जेतुमशक्यं तं तेजोबलसमन्वितम् ॥
परां प्रीतिं ययौ तत्र पुत्रशौर्येण वासवः ।

महाराज ! तदनन्तर तेज और बलसे सम्पन्न वीर धनंजयको युद्धमें जीतना असम्भव जानकर इन्द्रको अपने पुत्रके पराक्रमसे वहाँ बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥

तदा तत्र न तस्यासीद् दिवि कश्चिन्महायशाः ॥
समर्थो निर्जये राजन्नपि साक्षात् प्रजापतिः ॥

राजन् ! उस समय वहाँ स्वर्गका कोई भी महायशस्वी वीर, चाहे साक्षात् प्रजापति ही क्यों न हों, ऐसा नहीं था, जो अर्जुनको जीतनेमें समर्थ हो सके ।

ततः पार्थः शरैर्हत्वा यक्षराक्षसपन्नगान् ।
दीप्ते चाग्नौ महातेजाः पातयामास संततम् ॥
प्रतिप्रेक्षयितुं पार्थं न शेकुस्तत्र केचन ।
दृष्ट्वा निवारितं शक्रं दिवि देवगणैः सह ॥

तदनन्तर महातेजस्वी अर्जुन अपने बाणोंसे यक्ष, राक्षस और नागोंको मारकर उन्हें लगातार प्रज्वलित अग्निमें गिराने लगे। स्वर्गवासी देवताओंसहित इन्द्रको अर्जुनने युद्धसे विरत कर दिया, यह देख उस समय कोई भी उनकी ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते थे ॥

यथा सुपर्णः सोमार्थं विबुधानजयत् पुरा ।
तथा जित्वा सुरान् पार्थस्तर्पयामास पावकम् ॥
ततोऽर्जुनः स्ववीर्येण तर्पयित्वा विभावसुम् ।
रथं ध्वजं हयांश्चैव दिव्यास्त्राणि सभां च वै ॥
गाण्डीवं च धनुःश्रेष्ठं तूणी चाक्षयसायकौ ।
एतान्यवाप बीभत्सुर्लेभे कीर्तिं च भारत ॥

भारत! जैसे पूर्वकालमें गरुड़ने अमृतके लिये देवताओंको जीत लिया था, उसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी देवताओंको जीतकर खाण्डववनके द्वारा अग्निदेवको तृप्त किया। इस प्रकार पार्थने अपने पराक्रमसे अग्निदेवको तृप्त करके उनसे रथ, ध्वजा, अश्व, दिव्यास्त्र, उत्तम धनुष गाण्डीव तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर प्राप्त किये। इनके सिवा अनुपम यश और मयासुरसे एक सभाभवन भी उन्हें प्राप्त हुआ ॥

भूयोऽपि श्रृणु राजेन्द्र पार्थो गत्वोत्तरां दिशम् ।
विजित्य नववर्षांश्च सपुरांश्च सपर्वतान् ॥
जम्बूद्वीपं वशे कृत्वा सर्वं तद् भरतर्षभ ।
बलाज्जित्वा नृपान् सर्वान् करे च विनिवेश्य च ॥
रत्नान्यादाय सर्वाणि गत्वा चैव पुनः पुरीम् ।
ततो ज्येष्ठं महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं कारयामास भारत ॥

राजेन्द्र! अर्जुनके पराक्रमकी कथा अभी और सुनिये। उन्होंने उत्तर दिशामें जाकर नगरों और पर्वतोंसहित जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंपर विजय पायी। भरतश्रेष्ठ! उन्होंने समस्त जम्बूद्वीपको वशमें करके सब राजाओंको बलपूर्वक जीत लिया और सबपर कर लगाकर उनसे सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट ले वे पुनः अपनी पुरीको लौट आये। भारत! तदनन्तर अर्जुनने अपने बड़े भाई महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करवाया ॥

स तान्यन्यानि कर्माणि कृतवानर्जुनः पुरा ।
अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके पुमान् क्वचित् ॥

पिताजी! इस प्रकार अर्जुनने पूर्वकालमें ये तथा और भी बहुत-से पराक्रम कर दिखाये हैं। संसारमें कहीं कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो बल और पराक्रममें अर्जुनकी समानता कर सके ॥

देवदानवयक्षाश्च पिशाचोरगराक्षसाः ।
भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवश्च महारथाः ॥
लोके सर्वनृपाश्चैव वीराश्चान्ये धनुर्धराः ।
एते चान्ये च बहवः परिवार्य महीपते ॥
एकं पार्थं रणे यत्ताः प्रतियोद्धुं न शक्नुयुः ॥

देवता, दानव, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस एवं भीष्म, द्रोण आदि समस्त कौरव महारथी, भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश तथा अन्य धनुर्धर वीर—ये तथा अन्य बहुत-से शूरवीर युद्धभूमिमें अकेले अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर पूरी सावधानीके साथ खड़े हो जायँ, तो भी उनका सामना नहीं कर सकते ॥

अहं हि नित्यं कौरव्य फाल्गुनं प्रति सत्तमम् ।
अनिशं चिन्तयित्वा तं समुद्विग्नोऽस्मि तद्भयात् ॥

कुरुश्रेष्ठ! मैं साधुशिरोमणि अर्जुनके विषयमें नित्य-निरन्तर चिन्तन करते हुए उनके भयसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाता हूँ ॥

गृहे गृहे च पश्यामि तात पार्थमहं सदा ।
शरगाण्डीवसंयुक्तं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥
अपि पार्थसहस्राणि भीतः पश्यामि भारत ।
पार्थभूतमिदं सर्वं नगरं प्रतिभाति मे ॥

पिताजी! मुझे प्रत्येक घरमें सदा हाथमें पाश लिये यमराजकी भाँति गाण्डीव धनुषपर बाण चढ़ाये अर्जुन दिखायी देते हैं। भारत! मैं इतना डर गया हूँ कि मुझे सहस्रों अर्जुन दृष्टिगोचर होते हैं। यह सारा नगर मुझे अर्जुनरूप ही प्रतीत होता है ॥

पार्थमेव हि पश्यामि रहिते तात भारत ।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं पार्थमुद्भ्रमामि ह्यचेतनः ॥

भारत! मैं एकान्तमें अर्जुनको ही देखता हूँ। स्वप्नमें भी अर्जुनको देखकर मैं अचेत और उद्भ्रान्त हो उठता हूँ ॥

अकारादीनि नामानि अर्जुनत्रस्तचेतसः ।
अश्वाश्चार्थाश्च ह्यजाश्चैव त्रासं संजनयन्ति मे ॥

मेरा हृदय अर्जुनसे इतना भयभीत हो गया है कि अश्व, अर्थ और अज आदि अकारादि नाम मेरे मनमें त्रास उत्पन्न कर देते हैं ॥

नास्ति पार्थादृते तात परवीराद् भयं मम ।
प्रह्लादं वा बलिं वापि हन्याद्धि विजयो रणे ॥
तस्मात् तेन महाराज युद्धमसज्जनक्षयम् ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो नित्यं दुःखं वहामि च ॥

तात! अर्जुनके सिवा शत्रुपक्षके दूसरे किसी वीरसे मुझे डर

नहीं लगता है। महाराज ! मेरा विश्वास है कि अर्जुन युद्धमें प्रह्लाद अथवा बलिको भी मार सकते हैं; अतः उनके साथ किया हुआ युद्ध हमारे सैनिकोंके ही संहारका कारण होगा। मैं अर्जुनके प्रभावको जानता हूँ। इसीलिये सदा दुःखके भारसे दबा रहता हूँ॥

पुरा हि दण्डकारण्ये मारीचस्य यथा भयम्।
भवेद् रामे महावीर्ये तथा पार्थे भयं मम॥

जैसे पूर्वकालमें दण्डकारण्यवासी महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र-जीसे मारीचको भय हो गया था, उसी प्रकार अर्जुनसे मुझे भय हो रहा है॥

धृतराष्ट्र उवाच

जानाम्येष महद् वीर्यं जिष्णोरेतद् दुरासदम्।
तात वीरस्य पार्थस्य मा कार्षीस्त्वं तु विप्रियम्॥
द्यूतं वा शस्त्रयुद्धं वा दुर्वाक्यं वा कदाचन।
एतेष्वेवं कृते तस्य विग्रहश्चैव वो भवेत्॥
तस्मात् त्वं पुत्र पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय॥
यश्च पार्थेन सम्बन्धाद् वर्तते च नरो भुवि।
तस्य नास्ति भयं किंचित् त्रिषु लोकेषु भारत॥
तस्मात् त्वं जिष्णुना वत्स नित्यं स्नेहेन वर्तय॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! अर्जुनके महान् पराक्रमको तो मैं जानता ही हूँ। उनके इस पराक्रमका सामना करना अत्यन्त कठिन है। अतः तुम वीर अर्जुनका कोई अपराध न करो। उनके साथ द्यूतक्रीड़ा, शस्त्रयुद्ध अथवा कटु वचनका प्रयोग कभी न करो; क्योंकि इन्हींके कारण उनका तुमलोगोंके साथ विवाद हो सकता है। अतः बेटा ! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो। भारत ! जो मनुष्य इस पृथ्वीपर अर्जुनके साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रखते हुए उनसे सद्व्यवहार करता है, उसे तीनों लोकोंमें तनिक भी भय नहीं है; अतः वत्स ! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पार्थस्य कौरव्य मायया निकृतिः कृता।
तस्माद्धि तं जहि सदा त्वन्योपायेन नो भवेत्॥

दुर्योधन बोला—कुरुश्रेष्ठ ! जूएमें हमलोगोंने अर्जुनके प्रति छल-कपटका बर्ताव किया था, अतः आप किसी दूसरे उपायसे उन्हें मार डालें। इसीसे हमलोगोंका सदा भला होगा॥

धृतराष्ट्र उवाच

उपायश्च न कर्तव्यः पाण्डवान् प्रति भारत।
पार्थान् प्रति पुरा वत्स बहूपायाः कृतास्त्वया॥
तानुपायान् हि कौन्तेया बहुशो व्यतिचक्रमुः॥
तस्माद्धितं जीविताय नः कुलस्य जनस्य च।
त्वं चिकीर्षसि चेद् वत्स समित्रः सहबान्धवः।
सभ्रातृकस्त्वं पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय॥

धृतराष्ट्रने कहा—भारत ! पाण्डवोंके प्रति किसी अनुचित उपायका प्रयोग नहीं करना चाहिये। बेटा ! तुमने उन सबको मारनेके लिये पहले बहुत-से उपाय किये हैं। कुन्तीके पुत्र तुम्हारे उन सभी प्रयत्नोंका उल्लंघन करके बहुत बार आगे बढ़ गये हैं; अतः वत्स ! यदि तुम अपने कुल और आत्मीय-जनोंकी जीवनरक्षाके लिये किसी हितकर उपायका अवलम्बन करना चाहते हो तो मित्र, बन्धु-बान्धव तथा भाइयोंसहित तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु विधिना चोदितोऽब्रवीत्॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधन दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके विधातासे प्रेरित हो इस प्रकार बोला॥

दुर्योधन उवाच

न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन् विद्वान् देवपुरोहितः॥७॥

दुर्योधन बोला—राजन् ! देवगुरु विद्वान् बृहस्पतिजीने इन्द्रको नीतिका उपदेश करते हुए जो बात कही है, उसे शायद आपने नहीं सुना है॥७॥

सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन।
पुरा युद्धाद् बलाद् वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम्॥८॥

शत्रुसूदन ! जो आपका अहित करते हैं, उन शत्रुओंको बिना युद्धके अथवा युद्ध करके—सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये॥८॥

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान् सम्पूज्य पार्थिवान्।
यदि तान् योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति॥९॥

महाराज ! यदि हम पाण्डवोंके धनसे सब राजाओंका सत्कार करके उन्हें साथ ले पाण्डवोंसे युद्ध करें, तो हमारा क्या बिगड़ जायगा ?॥९॥

अहीनाशीविषान् क्रुद्धान् नाशाय समुपस्थितान्।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति॥१०॥

क्रोधमें भरकर काटनेके लिये उद्यत हुए विषधर सर्पोंको अपने गलेमें लटकाकर अथवा पीठपर चढ़ाकर कौन मनुष्य उन्हें उसी अवस्थामें छोड़ सकता है ?॥१०॥

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव॥११॥

तात ! अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर रथमें बैठे हुए पाण्डव कुपित होकर क्रुद्ध विषधर सर्पोंकी भाँति आपके कुलका संहार कर डालेंगे॥११॥

संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी ।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥१२॥
गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः ।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् ॥१३॥

हमने सुना है, अर्जुन कवच धारण करके दो उत्तम तूणीर पीठपर लटकाये हुए जाते हैं। वे बार-बार गाण्डीव धनुष हाथमें लेते हैं और लम्बी साँसें खींचकर इधर-उधर देखते हैं। इसी प्रकार भीमसेन शीघ्र ही अपना रथ जोतकर भारी गदा उठाये बड़ी उतावलीके साथ यहाँसे निकलकर गये हैं ॥ १२-१३ ॥

नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत् ।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ॥१४॥

नकुल अर्धचन्द्रविभूषित ढाल एवं तलवार लेकर जा रहे हैं। सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरने भी विभिन्न चेष्टाओं-द्वारा यह व्यक्त कर दिया है कि वे लोग क्या करना चाहते हैं ? ॥

ते त्वास्थाय रथान् सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान् ।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान् सेनायोगाय निर्ययुः ॥१५॥

वे सब लोग अनेक शस्त्र आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न रथोंपर बैठकर शत्रुपक्षके रथियोंका संहार करनेके उद्देश्यसे सेना एकत्र करनेके लिये गये हैं ॥ १५ ॥

न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥१६॥

हमने उनका तिरस्कार किया है, अतः वे इसके लिये हमें कभी क्षमा न करेंगे। द्रौपदीको जो कष्ट दिया गया है, उसे उनमेंसे कौन चुपचाप सह लेगा ? ॥ १६ ॥

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः ।
एवमेतान् वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥१७॥

पुरुषश्रेष्ठ ! आपका भला हो, हम चाहते हैं कि वनवासकी शर्त रखकर पाण्डवोंके साथ फिर एक बार जूआ खेलें। इस प्रकार इन्हें हम अपने वशमें कर सकेंगे ॥ १७ ॥

ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१८॥

जूएमें हार जानेपर वे या हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करें और बारह वर्षतक वनमें ही निवास करें ॥ १८ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१९॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम् ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२०॥

तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीसे दूर किसी नगरमें रहें। यदि तेरहवें वर्ष किसीकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्षतक वनवास करें। हम हारें तो हम ऐसा करें और उनकी हार हो तो वे। इसी शर्तपर फिर जूएका खेल आरम्भ हो। पाण्डव पासे फेंककर जूआ खेलें ॥१९-२०॥

एतत् कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसम्पदम् ॥२१॥

भरतकुलभूषण महाराज ! यही हमारा सबसे महान् कार्य है। ये शकुनि मामा विद्यासहित पासे फेंकनेकी कलाको अच्छी तरह जानते हैं ॥ २१ ॥

दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च ।
सारवद् विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥२२॥

(हमारी विजय होनेपर) हमलोग बहुत-से मित्रोंका संग्रह करके बलशाली, दुर्धर्ष एवं विशाल सेनाका पुरस्कार आदिके द्वारा सत्कार करते हुए इस राज्यपर अपनी जड़ जमा लेंगे ॥ २२ ॥

ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रतम् ।
जेष्यामस्तान् वयं राजन् रोचतां ते परंतप ॥२३॥

यदि वे तेरहवें वर्षके अज्ञातवासकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेंगे तो हम उन्हें युद्धमें परास्त कर देंगे। शत्रुओंको संताप देने-वाले नरेश ! आप हमारे इस प्रस्तावको पसंद करें ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि ।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२४॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! पाण्डवलोग दूर चले गये हों, तो भी तुम्हारी इच्छा हो, तो उन्हें तुरंत बुला लो। समस्त पाण्डव यहाँ आयें और इस नये दाँवपर फिर जूआ खेलें ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः ।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥२५॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः ।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, अश्वत्थामा, पराक्रमी युयुत्सु, भूरिश्रवा, पितामह भीष्म तथा महारथी विकर्ण सबने एक स्वरसे इस निर्णयका विरोध करते हुए कहा-'अब जूआ नहीं होना चाहिये, तभी सर्वत्र शान्ति बनी रह सकती है' ॥२५-२६॥

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम् ।
अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥२७॥

भावी अर्थको देखने और समझनेवाले सुहृद् अपनी अनिच्छा प्रकट करते ही रह गये; किंतु दुर्योधनादि पुत्रोंके प्रेममें आकर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलानेका आदेश दे ही दिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरप्रत्यानयनविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६७½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

गान्धारीकी धृतराष्ट्रको चेतावनी और धृतराष्ट्रका अस्वीकार करना

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहार्दाद् धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्षिता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भावी अनिष्टकी आशङ्कासे धर्मपरायणा गान्धारी पुत्रस्नेहवश शोकसे कातर हो उठी और राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोली—॥

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ २ ॥

'आर्यपुत्र ! दुर्योधनके जन्म लेनेपर परम बुद्धिमान् विदुरजीने कहा था—यह बालक अपने कुलका नाश करनेवाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिये ॥ २ ॥

व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥ ३ ॥

'भारत ! इसने जन्म लेते ही गीदड़की भाँति 'हुँआ-हुँआ' का शब्द किया था; अतः यह अवश्य ही इस कुलका अन्त करनेवाला होगा। कौरवो ! आपलोग भी इस बातको अच्छी तरह समझ लें ॥ ३ ॥

मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥ ४ ॥

'भरतकुलतिलक ! आप अपने ही दोषसे इस कुलको विपत्तिके महासागरमें न डुबाइये। प्रभो ! इन उद्दण्ड बालकोंकी हाँमें हाँ न मिलाइये ॥ ४ ॥

मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद् धमेच्छान्तं च पावकम्॥ ५ ॥
शमे स्थितान् को नु पार्थान् कोपयेद् भरतर्षभ ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥

'इस कुलके भयंकर विनाशमें स्वयं ही कारण न बनिये। भरतश्रेष्ठ ! बँधे हुए पुलको कौन तोड़ेगा ? बुझी हुई वैरकी आगको फिर कौन भड़कायेगा ? कुन्तीके शान्तिपरायण पुत्रोंको फिर कुपित करनेका साहस कौन करेगा ? अजमीढ-कुलके रत्न ! आप सब कुछ जानते और याद रखते हैं, तो भी मैं पुनः आपको स्मरण दिलाती रहूँगी ॥ ५-६ ॥

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च ।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथंचन ॥ ७ ॥

'राजन् ! जिसकी बुद्धि खोटी है, उसे शास्त्र भी भला-बुरा कुछ नहीं सिखा सकता। मन्दबुद्धि बालक वृद्धों-जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः ॥ ८ ॥

'आपके पुत्र आपके ही नियन्त्रणमें रहें, ऐसी चेष्टा कीजिये। ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादाका त्याग करके प्राणोंसे हाथ धो बैठें और आपको इस बुढ़ापेमें छोड़कर चल बसें। इसलिये आप मेरी बात मानकर इस कुलाङ्गार दुर्योधनको त्याग दें ॥ ८ ॥

तथा ते न कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥ ९ ॥

'महाराज ! आपको जो करना चाहिये था, वह आपने पुत्रस्नेहवश नहीं किया। अतः समझ लीजिये, उसीका यह फल प्राप्त हुआ है, जो समूचे कुलके विनाशका कारण होने जा रहा है ॥ ९ ॥

शमेन धर्मेण नयेन युक्ता
या ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादीः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥

'शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीतिसे युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे। आप प्रमाद मत कीजिये। क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे प्राप्त की हुई लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण बर्तावसे बढ़ी हुई धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्रोंतक चली जाती है' ॥ १० ॥

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥ ११ ॥

तब महाराज धृतराष्ट्रने धर्मपर दृष्टि रखनेवाली गान्धारीसे कहा—'देवि ! इस कुलका अन्त भले ही हो जाय, परंतु मैं दुर्योधनको रोक नहीं सकता ॥ ११ ॥



गान्धारीका धृतराष्ट्रको समझाना

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥

'ये सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही हो । पाण्डव लौट आयें और मेरे पुत्र उनके साथ फिर जूआ खेलें' ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

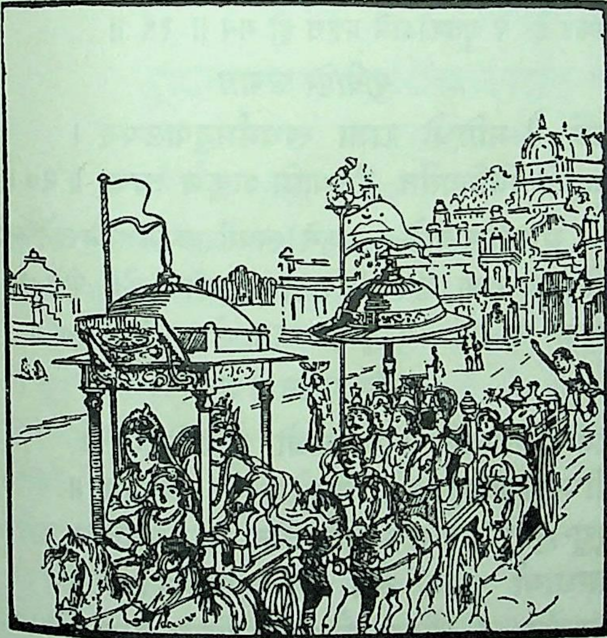
षट्सप्ततितमोऽध्यायः

सबके मना करनेपर भी धृतराष्ट्रकी आज्ञासे युधिष्ठिरका पुनः जूआ खेलना और हारना

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच वचनाद् राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थके मार्गमें बहुत दूरतक चले गये थे । उस समय



बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी उनके पास गया और इस प्रकार बोला— ॥ १ ॥

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाऽऽहेति भारत ॥ २ ॥

'भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! आपके पिता राजा धृतराष्ट्रने यह आदेश दिया है कि तुम लौट आओ। हमारी सभा फिर सदस्योंसे भर गयी है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है । तुम पासे फेंककर जूआ खेलो' ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धातुर्नियोगाद् भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् ।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—समस्त प्राणी विधाताकी प्रेरणासे शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं । उन्हें कोई टाल नहीं सकता । जान पड़ता है, मुझे फिर जूआ खेलना पड़ेगा ॥ ३ ॥

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात् स्थविरस्य च ।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएके लिये यह बुलावा हमारे कुलके विनाशका कारण है, यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

असम्भवे हेममयस्य जन्तो-
स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समासन्नपराभवाणां
धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! किसी जानवरका शरीर सुवर्णका हो, यह सम्भव नहीं; तथापि श्रीराम स्वर्णमय प्रतीत होनेवाले मृगके लिये लुभा गये । जिनका पतन या पराभव निकट होता है, उनकी बुद्धि प्रायः अत्यन्त विपरीत हो जाती है ॥ ५ ॥

इति ब्रुवन् निववृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात् पुनः ॥ ६ ॥

ऐसा कहते हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ पुनः लौट पड़े । वे शकुनिकी मायाको जानते थे, तो भी जूआ खेलनेके लिये चले आये ॥ ६ ॥

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः ।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ७ ॥
यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये ।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ८ ॥

महारथी भरतश्रेष्ठ पाण्डव पुनः उस सभामें प्रविष्ट हुए। उन्हें देखकर सुहृदोंके मनमें बड़ी पीड़ा होने लगी । प्रारब्धके वशीभूत हुए कुन्तीकुमार सम्पूर्ण लोकोंके विनाशके लिये पुनः द्यूतक्रीडा आरम्भ करनेके उद्देश्यसे चुपचाप वहाँ जाकर बैठ गये ॥ ७-८ ॥

शकुनिरुवाच

अमुञ्चत् स्थविरो यद् वो धनं पूजितमेव तत् ।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

शकुनिने कहा—राजन्! भरतश्रेष्ठ! हमारे बूढ़े महाराजने आपको जो सारा धन लौटा दिया है, वह बहुत अच्छा किया है। अब जूएके लिये एक ही दाँव रखा जायगा उसे सुनिये—॥ ९ ॥

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ १० ॥

'यदि आपने हमलोगोंको जूएमें हरा दिया तो हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करेंगे ॥ १० ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ ११ ॥

'और बारह वर्ष वहाँ रहेंगे एवं तेरहवाँ वर्ष हम जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर पूरा करेंगे और यदि हम तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहेंगे ॥ ११ ॥

अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १२ ॥

'यदि हम जीत गये तो आपलोग द्रौपदीके साथ बारह वर्षोंतक मृगचर्म धारण करते हुए वनमें रहें ॥ १२ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १३ ॥

'आपको भी तेरहवाँ वर्ष जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर व्यतीत करना पड़ेगा और यदि ज्ञात हो गये तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहना होगा ॥ १३ ॥

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥ १४ ॥

'तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर हम या आप फिर वनसे आकर यथोचित रीतिसे अपना-अपना राज्य प्राप्त कर सकते हैं' ॥ १४ ॥

अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १५ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर! इसी निश्चयके साथ आप आइये और पुनः पासा फेंककर हमलोगोंके साथ जूआ खेलिये ॥ १५ ॥

अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा ।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात् सर्व एव हि ॥ १६ ॥

यह सुनकर सब सभासदोंने सभामें अपने हाथ ऊपर उठाकर अत्यन्त उद्विग्नचित्त हो बड़ी घबराहटके साथ कहा ॥ १६ ॥

सभ्या ऊचुः

अहो धिग् बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद् भयम् ।
बुद्ध्या बुध्येन्न वा बुध्येदयं वै भरतर्षभः ॥ १७ ॥

सभासद् बोले—अहो धिक्कार है! ये भाई-बन्धु भी युधिष्ठिरको उनके ऊपर आनेवाले महान् भयकी बात नहीं समझाते। पता नहीं, ये भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपनी बुद्धिके द्वारा इस भयको समझें या न समझें ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

जनप्रवादान् सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात् पार्थो द्यूतमियात् पुनः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! लोगोंकी तरह-तरहकी बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठिर लज्जाके कारण तथा धृतराष्ट्रके आज्ञापालनरूप धर्मकी दृष्टिसे पुनः जूआ खेलनेके लिये उद्यत हो गये ॥ १८ ॥

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात् कुरूणामिति चिन्तयन् ॥ १९ ॥

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर जूएका परिणाम जानते थे, तो भी यह सोचकर कि सम्भवतः कुरुकुलका विनाश बहुत निकट है, वे द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—शकुने! स्वधर्मपालनमें संलग्न रहनेवाला मेरे-जैसा राजा जूएके लिये बुलाये जानेपर कैसे पीछे हट सकता था, अतः मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २० ॥

(*वैशम्पायन उवाच*

एवं दैवबलाविष्टो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीष्मद्रोणैर्वार्यमाणो विदुरेण च धीमता ॥
युयुत्सुना कृपेणाथ सञ्जयेन च भारत ।
गान्धार्या पृथया चैव भीमार्जुनयमैस्तथा ॥
विकर्णेन च वीरेण द्रौपद्या द्रौणिना तथा ।
सोमदत्तेन च तथा बाह्लीकेन च धीमता ॥
वार्यमाणोऽपि सततं न च राजा नियच्छति ।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय धर्मराज युधिष्ठिर प्रारब्धके वशीभूत हो गये थे। महाराज! उन्हें भीष्म, द्रोण और बुद्धिमान् विदुरजी दुबारा जूआ खेलनेसे रोक रहे थे। युयुत्सु, कृपाचार्य तथा संजय भी मना कर रहे थे। गान्धारी, कुन्ती, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, वीर विकर्ण, द्रौपदी, अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा बुद्धिमान् बाह्लीक भी बारंबार रोक रहे थे तो भी राजा युधिष्ठिर भावीके वश होनेके कारण जूएसे नहीं हटे ॥

शकुनिरुवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम् ।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः ॥ २१ ॥

शकुनिने कहा— राजन् ! हमलोगोंके पास बैल, घोड़े और बहुत-सी दुधारू गौएँ हैं । भेड़ और बकरियोंकी तो गिनती ही नहीं है । हाथी, खजाना, दास-दासी तथा सुवर्ण सब कुछ हैं ॥

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः ।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ॥ २२ ॥

फिर भी (इन्हें छोड़कर) एकमात्र वनवासका निश्चय ही हमारा दाँव है । पाण्डवो ! आपलोग या हम, जो भी हारेंगे, उन्हें वनमें जाकर रहना होगा ॥ २२ ॥

त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा ।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः ॥ २३ ॥

केवल तेरहवें वर्ष हमें किसी जनसमूहमें अज्ञातभावसे रहना होगा । नरश्रेष्ठगण ! हम इसी निश्चयके साथ जूआ खेलें ॥ २३ ॥

समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

भारत ! वनवासकी शर्त रखकर केवल एक ही बार पासा फेंकनेसे जूएका खेल पूरा हो जायगा । युधिष्ठिरने उसकी बात स्वीकार कर ली । तत्पश्चात् सुबलपुत्र शकुनिने पासा हाथमें उठाया और उसे फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—मेरी जीत हो गयी ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरपराभवविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २७½ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

दुःशासनद्वारा पाण्डवोंका उपहास एवं भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी शत्रुओंको मारनेके लिये भीषण प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर जूएमें हारे हुए कुन्तीके पुत्रोंने वनवासकी दीक्षा ली और क्रमशः सबने मृगचर्मको उत्तरीय वस्त्रके रूपमें धारण किया ॥ १ ॥

अजिनैः संवृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिंदमान् ।
प्रस्थितान् वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

जिनका राज्य छिन गया था, वे शत्रुदमन पाण्डव जब मृगचर्मसे अपने अङ्गोंको ढँककर वनवासके लिये प्रस्थित हुए, उस समय दुःशासनने सभामें उनको लक्ष्य करके कहा—॥

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः ।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ॥ ३ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र महामना राजा दुर्योधनका समस्त भूमण्डलपर एकछत्र राज्य हो गया । पाण्डव पराजित होकर बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये ॥ ३ ॥

अद्यैव ते सम्प्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः ।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद् वयं परैः ॥ ४ ॥

'आज वे पाण्डव समान मार्गोंसे, जिनपर आये हुओंकी भीड़के कारण जगह नहीं रही है, वनको चले जा रहे हैं । हमलोग अपने प्रतिपक्षियोंसे गुण और अवस्था दोनोंमें बड़े हैं । अतः हमारा स्थान उनसे बहुत ऊँचा है ॥ ४ ॥

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ५ ॥

धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान् प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥ ६ ॥

'कुन्तीके पुत्र दीर्घकालतकके लिये अनन्त दुःखरूप नरकमें गिरा दिये गये । ये सदाके लिये सुखसे वञ्चित तथा राज्यसे हीन हो गये हैं । जो लोग पहले अपने धनसे उन्मत्त हो धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी हँसी उड़ाया करते थे, वे ही पाण्डव आज पराजित हो अपने धन-वैभवसे हाथ धोकर वनमें जा रहे हैं ॥ ५-६ ॥

चित्रान् सन्नाहानवमुच्य पार्था
वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति ।
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे
यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः ॥ ७ ॥

'सभी पाण्डव अपने शरीरपर जो विचित्र कवच और चमकीले दिव्य वस्त्र हैं, उन सबको उतारकर मृगचर्म धारण कर लें; जैसा कि सुबलपुत्र शकुनिके भावको स्वीकार करके ये लोग जूआ खेले हैं ॥ ७ ॥

न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा
इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा ।
ज्ञास्यन्ति तेऽऽत्मानमिमेऽद्य पाण्डवा
विपर्यये षण्ढतिला इवाफलाः ॥ ८ ॥

'जो अपनी बुद्धिमें सदा यही अभिमान लिये बैठे थे कि हमारे-जैसे पुरुष तीनों लोकोंमें नहीं हैं, वे ही पाण्डव आज विपरीत अवस्थामें पहुँचकर थोथे तिलोंकी भाँति निःसत्त्व हो गये हैं । अब इन्हें अपनी स्थितिका ज्ञान होगा ॥ ८ ॥

इदं हि वासो यदि वेदृशानां
मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्
बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥

'इन मनस्वी और बलवान् पाण्डवोंका यह मृगचर्ममय वस्त्र तो देखो, जिसे यज्ञमें महात्मालोग धारण करते हैं। मुझे तो इनके शरीरपर ये मृगचर्म यज्ञकी दीक्षाके अधिकारसे रहित जंगली कोलभीलोंके चर्ममय वस्त्रके समान ही प्रतीत होते हैं ॥ ९ ॥

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः
कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।
अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित्
क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥

'महाबुद्धिमान् सोमकवंशी राजा द्रुपदने अपनी कन्या पाञ्चालीको पाण्डवोंके लिये देकर कोई अच्छा काम नहीं किया। द्रौपदीके पति ये कुन्तीपुत्र निरे नपुंसक ही हैं ॥ १० ॥

सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्
दृष्ट्वारण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि
पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ॥ ११ ॥

'द्रौपदी ! जो सुन्दर महीन कपड़े पहना करते थे, उन्हीं पाण्डवोंको वनमें निर्धन, अप्रतिष्ठित और मृगचर्मकी चादर ओढ़े देख तुम्हें क्या प्रसन्नता होगी ? अब तुम किसी अन्य पुरुषको, जिसे चाहो, अपना पति बना लो ॥ ११ ॥

एते हि सर्वे कुरवः समेताः
क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे
न त्वां तपेत् कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥

'ये समस्त कौरव क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा उत्तम धन-वैभवसे सम्पन्न हैं। इन्हींमेंसे किसीको अपना पति चुन लो, जिससे यह विपरीत काल (निर्धनावस्था) तुम्हें संतप्त न करे ॥ १२ ॥

यथाफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥ १३ ॥

'जैसे थोथे तिल बोनेपर फल नहीं देते हैं, जैसे केवल चर्ममय मृग व्यर्थ हैं तथा जैसे काकयव (तंदुलरहित तृणधान्य) निष्प्रयोजन होते हैं, उसी प्रकार समस्त पाण्डवोंका जीवन निरर्थक हो गया है ॥ १३ ॥

किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य
मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य ।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्था-
नश्रावयद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥

'थोथे तिलोंकी भाँति इन पतित और नपुंसक पाण्डवों-की सेवा करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा, व्यर्थका परिश्रम ही तो उठाना पड़ेगा।'

इस प्रकार धृतराष्ट्रके नृशंस पुत्र दुःशासनने पाण्डवोंको बहुत-से कठोर वचन सुनाये ॥ १४ ॥

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।
उवाच चैनं सहसैवोपगम्य
सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥

यह सब सुनकर भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। जैसे हिमालयकी गुफामें रहनेवाला सिंह गीदड़के पास जाय, उसी प्रकार वे सहसा दुःशासनके पास जा पहुँचे और रोषपूर्वक उसे रोककर जोर-जोरसे फटकारते हुए बोले ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥ १६ ॥

भीमसेनने कहा—क्रूर एवं नीच दुःशासन ! तू पापी मनुष्योंद्वारा प्रयुक्त होनेवाली ओछी बातें बक रहा है। अरे ! तू अपने बाहुबलसे नहीं, शकुनिकी छलविद्याके प्रभावसे आज राजाओंकी मण्डलीमें अपने मुँहसे अपनी बड़ाई कर रहा है ॥

यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन् मर्माणि संयुगे ॥ १७ ॥

जैसे यहाँ तू अपने वचनरूपी बाणोंसे हमारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहा है, उसी प्रकार जब युद्धमें मैं तेरा हृदय विदीर्ण करने लगूँगा, उस समय तेरी कही हुई इन बातोंकी याद दिलाऊँगा ॥ १७ ॥

ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान् नेतास्मि यमसादनम् ॥ १८ ॥

जो लोग क्रोध और लोभके वशीभूत हो तुम्हारे रक्षक बनकर पीछे-पीछे चलते हैं, उन्हें उनके सम्बन्धियोंसहित यमलोक भेज दूँगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं
दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं
गौगौरिति स्माह्वयन् मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मृगचर्म धारण किये भीमसेनको ऐसी बातें करते देख निर्लज्ज दुःशासन कौरवोंके बीचमें उनकी हँसी उड़ाते हुए नाचने लगा और 'ओ बैल! ओ बैल' कहकर उन्हें पुकारने लगा। उस समय भीमका मार्ग धर्मराज युधिष्ठिरने रोक रक्खा था (अन्यथा वे दुःशासनको जीता न छोड़ते) ॥ १९ ॥

भीमसेन उवाच

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया ।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ॥ २० ॥

भीमसेन बोले—ओ नृशंस दुःशासन ! तेरे ही मुखसे ऐसी कठोर बातें निकल सकती हैं, तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो छल-कपटसे धन पाकर इस तरह आप ही अपनी प्रशंसा करेगा ॥ २० ॥

मैव स्म सुकृताँल्लोकान् गच्छेत् पार्थो वृकोदरः ।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे ॥ २१ ॥

मेरी बात सुन ले । यह कुन्तीपुत्र भीमसेन यदि युद्धमें तेरी छाती फाड़कर तेरा रक्त न पीये तो इसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो ॥ २१ ॥

धार्तराष्ट्रान् रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
शमं गन्तास्मि नचिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

मैं तुझसे सच्ची बात कह रहा हूँ, शीघ्र ही वह समय आनेवाला है, जब कि समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका वध करके शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं
दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात् ।
गतिं स्वगत्यानुचकार मन्दो
निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब पाण्डवलोग सभा-भवनसे निकले, उस समय मन्दबुद्धि राजा दुर्योधन हर्षमें भरकर सिंहके समान मस्तानी चालसे चलनेवाले भीमसेनकी खिल्ली उड़ाते हुए उनकी चालकी नकल करने लगा ॥ २३ ॥

नैतावता कृतमित्यब्रवीत् तं
वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः ।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं
संस्मार्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥

यह देख भीमसेनने अपने आधे शरीरको पीछेकी ओर मोड़कर कहा—'ओ मूढ़ ! केवल दुःशासनके रक्तपानद्वारा ही मेरा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता है । तुझे भी सम्बन्धियोंसहित शीघ्र ही यमलोक भेजकर तेरे इस परिहासकी याद दिलाते हुए इसका समुचित उत्तर दूँगा' ॥ २४ ॥

एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानं
नियम्य मन्युं बलवान् स मानी ।
राजानुगः संसदि कौरवाणां
विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपना अपमान होता देख बलवान् एवं मानी भीमसेन क्रोधको किसी प्रकार रोककर राजा युधिष्ठिरके पीछे कौरवसभासे निकलते हुए इस प्रकार बोले ॥ २५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनंजयः ।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥

भीमसेनने कहा—मैं दुर्योधनका वध करूँगा, अर्जुन कर्णका संहार करेंगे और इस जुआरी शकुनिको सहदेव मार डालेंगे ॥ २६ ॥

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद् वचः ।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥
सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि ।
शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥

साथ ही इस भरी सभामें मैं पुनः एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ । मेरा यह विश्वास है कि देवतालोग मेरी यह बात सत्य कर दिखायेंगे । जब हम कौरव और पाण्डवोंमें युद्ध होगा, उस समय इस पापी दुर्योधनको मैं गदासे मार गिराऊँगा तथा रणभूमिमें पड़े हुए इस पापीके मस्तकको पैरसे ठुकराऊँगा ॥ २७-२८ ॥

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥ २९ ॥

और यह जो केवल बात बनानेमें बहादुर क्रूरस्वभाववाला दुरात्मा दुःशासन है, इसकी छातीका खून उसी प्रकार पी लूँगा, जैसे सिंह किसी मृगका रक्त पान करता है ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच

नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम् ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद् भविष्यति ॥ ३० ॥

अर्जुनने कहा—आर्य भीमसेन ! साधु पुरुष जो कुछ करना चाहते हैं, उसे इस प्रकार वाणीद्वारा सूचित नहीं करते । आजसे चौदहवें वर्षमें जो घटना घटित होगी, उसे स्वयं ही लोग देखेंगे ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥

भीमसेन बोले—यह भूमि दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा चौथे दुःशासनके रक्तका निश्चय ही पान करेगी ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच

असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम् ।
भीमसेन नियोगात् ते हन्ताहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥

अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन ! जो हमलोगोंके दोष ही ढूँढ़ा करता है, हमारे दुःख देखकर प्रसन्न होता है,

कौरवोंको बुरी सलाहें देता है और व्यर्थ बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, उस कर्णको मैं आपकी आज्ञासे अवश्य युद्धमें मार डालूँगा ॥ ३२ ॥

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥

अपने भाई भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे अर्जुन यह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं युद्धमें कर्ण और उसके अनुगामियोंको भी बाणोंद्वारा मार डालूँगा' ॥ ३३ ॥

ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥

दूसरे भी जो नरेश बुद्धिके व्यामोहवश हमारे विपक्षमें होकर युद्ध करेंगे, उन सबको अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा मैं यमलोक पहुँचा दूँगा ॥ ३४ ॥

चलेद्धि हिमवान् स्थानान्निष्प्रभः स्याद् दिवाकरः ।
शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद् यदि ॥ ३५ ॥

यदि मेरा सत्य विचलित हो जाय तो हिमालय पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, सूर्यकी प्रभा नष्ट हो जाय और चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर हो जाय (अर्थात् जैसे हिमालय अपने स्थानसे नहीं हट सकता, सूर्यकी प्रभा नष्ट नहीं हो सकती, चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर नहीं हो सकती, वैसे ही मेरे वचन मिथ्या नहीं हो सकते) ॥ ३५ ॥

न प्रदास्यति चेद् राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे ।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद् भविष्यति ॥ ३६ ॥

यदि आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधन सत्कारपूर्वक हमारा राज्य हमें वापस न दे देगा तो ये सब बातें सत्य होकर रहेंगी ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान् माद्रवतीसुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् ।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर प्रतापी वीर माद्रीनन्दन सहदेवने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर शकुनिके वधकी इच्छासे इस प्रकार कहा; उस समय उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे और वे फुँफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास ले रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

सहदेव उवाच

अक्षान् यान् मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर ।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥

सहदेवने कहा—ओ गान्धारनिवासी क्षत्रियकुलके कलंक मूर्ख शकुने ! जिन्हें तू पासे समझ रहा है, वे पासे नहीं हैं, उनके रूपमें तूने युद्धमें तीखे बाणोंका वरण किया है ॥ ३९ ॥

यथा चैवोक्तवान् भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् ।
कर्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥

आर्य भीमसेनने बन्धु-बान्धवोंसहित तेरे विषयमें जो बात कही है, मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा । तुझे अपने बचावके लिये जो कुछ करना हो, वह सब कर डाल ॥ ४० ॥

हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम् ।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥ ४१ ॥

सुबलकुमार ! यदि तू क्षत्रियधर्मके अनुसार संग्राममें डटा रह जायगा, तो मैं वेगपूर्वक तुझे तेरे बन्धु-बान्धवोंसहित अवश्य मार डालूँगा ॥ ४१ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते ।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

राजन् ! सहदेवकी बात सुनकर मनुष्योंमें परम दर्शनीय रूपवाले नकुलने भी यह बात कही ॥ ४२ ॥

नकुल उवाच

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः ।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥
तान् धार्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून् कालनोदितान् ।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥

नकुल बोले—दुर्योधनके प्रियसाधनमें लगे हुए जिन धृतराष्ट्रपुत्रोंने इस द्यूतसभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कठोर बातें सुनायी हैं, कालसे प्रेरित हो मौतके मुँहमें जानेकी इच्छा रखनेवाले उन दुराचारी बहुसंख्यक धृतराष्ट्रकुमारोंको मैं यमलोकका अतिथि बना दूँगा ॥ ४३-४४ ॥

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि नचिरादिव ॥ ४५ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे द्रौपदीका प्रिय करते हुए मैं सारी पृथिवीको धृतराष्ट्र-पुत्रोंसे सूनी कर दूँगा; इसमें अधिक देर नहीं है ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार वे सभी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डव बहुत-सी प्रतिज्ञाएँ करके राजा धृतराष्ट्रके पास गये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पाण्डवप्रतिज्ञाकरणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें पाण्डवोंकी प्रतिज्ञासे सम्बन्ध रखनेवाला सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धृतराष्ट्र आदिसे विदा लेना, विदुरका कुन्तीको अपने यहाँ रखनेका प्रस्ताव और पाण्डवोंको धर्मपूर्वक रहनेका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम्।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १ ॥
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥ २ ॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान् सभासदः।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं भरतवंशके समस्त गुरुजनोंसे वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। बड़े-बूढ़े पितामह भीष्म, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, गुरुवर द्रोण और कृपाचार्य, अश्वत्थामा, अन्यान्य नृपतिगण, विदुर, राजा धृतराष्ट्र, उनके सभी पुत्र, युयुत्सु, संजय तथा दूसरे सब सदस्योंसे पूछकर सबकी आज्ञा लेकर वनमें जाता हूँ, फिर लौटकर आप लोगोंका दर्शन करूँगा ॥ १–३ ॥

वैशम्पायन उवाच

न च किंचिदथोचुस्तं ह्रिया सन्ना युधिष्ठिरम्।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर सब कौरव लाजके मारे सन्न रह गये, कुछ भी उत्तर न दे सके। उन्होंने मन-ही-मन उन बुद्धिमान् युधिष्ठिरके कल्याणका चिन्तन किया ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥ ५ ॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥

विदुर बोले—कुन्तीकुमारो! राजपुत्री आर्या कुन्ती वनमें जाने लायक नहीं हैं। वे कोमल अङ्गोंवाली और वृद्धा हैं, सदा सुख और आरामके ही योग्य हैं; अतः वे मेरे ही घरमें सत्कारपूर्वक रहेंगी। यह बात तुम सब लोग जान लो। मेरी शुभ-कामना है कि तुम वहाँ सर्वथा नीरोग एवं सुखसे रहो ॥ ५-६ ॥

पाण्डवा ऊचुः

तथेत्युक्त्वाब्रुवन् सर्वे यथा नो वदसेऽनघ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ॥ ७ ॥

पाण्डवोंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही हो। इतना कहकर वे सब फिर बोले—'अनघ! आप हमें जैसा कहें—जैसी आज्ञा दें, वही शिरोधार्य है। आप हमारे पितृव्य (पिताके भाई) हैं, अतः पिताके ही तुल्य हैं। हम सब भाई आपकी शरणमें हैं ॥ ७ ॥

यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद् विधत्स्व महामते ॥ ८ ॥

'विद्वन्! आप जैसी आज्ञा दें, वही हमें मान्य है; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। महामते! इसके सिवा और भी जो कुछ हमारा कर्तव्य हो, वह हमें बताइये' ॥८॥

विदुर उवाच

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये ॥ ९ ॥

विदुर बोले—भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! तुम मुझसे यह जान लो कि अधर्मसे पराजित होनेवाला कोई भी पुरुष अपनी उस पराजयके लिये दुखी नहीं होता ॥ ९ ॥

त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥ १० ॥

तुम धर्मके ज्ञाता हो। अर्जुन युद्धमें विजय पानेवाले हैं। भीमसेन शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं। नकुल आवश्यक वस्तुओंको जुटानेमें कुशल हैं ॥ १० ॥

संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥११॥

सहदेव संयमी हैं तथा ब्रह्मर्षि धौम्यजी ब्रह्मवेत्ताओंके शिरोमणि हैं। एवं धर्मपरायणा द्रौपदी भी धर्म और अर्थके सम्पादनमें कुशल है ॥ ११ ॥

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥१२॥

तुम सब लोग आपसमें एक दूसरेके प्रिय हो, तुम्हें देखकर सबको प्रसन्नता होती है। शत्रु तुममें भेद या फूट नहीं डाल सकते, इस जगत्‌में कौन है जो तुमलोगोंको न चाहता हो ॥

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽप्युत ॥१३॥

भारत! तुम्हारा यह क्षमाशीलताका नियम सब प्रकारसे कल्याणकारी है। इन्द्रके समान पराक्रमी शत्रु भी इसका सामना नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥१४॥
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शम्भुना।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥१५॥

पूर्वकालमें मेरुसावर्णिने हिमालयपर तुम्हें धर्म और ज्ञानका उपदेश दिया है, वारणावत नगरमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने, भृगुतुङ्ग पर्वतपर परशुरामजीने तथा दृषद्वतीके तटपर साक्षात् भगवान् शङ्करने तुम्हें अपने सदुपदेशसे कृतार्थ किया है। अञ्जन पर्वतपर तुमने महर्षि असितका भी उपदेश सुना है ॥ १४-१५ ॥

कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः।
द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥१६॥

कल्माषी नदीके किनारे निवास करनेवाले महर्षि भृगुने भी तुम्हें उपदेश देकर अनुगृहीत किया है। देवर्षि नारदजी सदा तुम्हारी देख-भाल करते हैं और तुम्हारे ये पुरोहित धौम्यजी तो सदा साथ ही रहते हैं ॥ १६ ॥

मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम्।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥१७॥

ऋषियोंद्वारा सम्मानित उस परलोकविषयक विज्ञानका तुम कभी त्याग न करना। पाण्डुनन्दन ! तुम अपनी बुद्धिसे इलानन्दन पुरूरवाको भी पराजित करते हो ॥ १७ ॥

शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन् धर्मोपसेवया।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥१८॥

शक्तिसे समस्त राजाओंको तथा धर्मसेवनद्वारा ऋषियोंको भी जीत लेते हो। तुम इन्द्रसे मनमें विजयका उत्साह प्राप्त करो। क्रोधको काबूमें रखनेका पाठ यमराजसे सीखो ॥१८॥

तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥१९॥

उदारता एवं दानमें कुबेरका और संयममें वरुणका आदर्श ग्रहण करो। दूसरोंके हितके लिये अपने आपको निछावर करना, सौम्यभाव (शीतलता) तथा दूसरोंको जीवन-दान देना—इन सब बातोंकी शिक्षा तुम्हें जलसे लेनी चाहिये ॥ १९ ॥

भूमेः क्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात्।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चात्मसम्पदम् ॥२०॥

तुम भूमिसे क्षमा, सूर्यमण्डलसे तेज, वायुसे बल तथा सम्पूर्ण भूतोंसे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करो ॥ २० ॥

अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रक्ष्यामि पुनरागतान्।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥२१॥
यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥२२॥

तुम्हें कभी कोई रोग न हो, सदा मङ्गल-ही-मङ्गल दिखायी दे। कुशलपूर्वक वनसे लौटनेपर मैं फिर तुम्हें देखूँगा। युधिष्ठिर ! आपत्तिकालमें, धर्म तथा अर्थका संकट उपस्थित होनेपर अथवा सभी कार्योंमें समय-समयपर अपने उचित कर्तव्यका पालन करना। कुन्तीनन्दन ! भारत ! तुमसे आवश्यक बातें कर लीं। तुम्हें कल्याण प्राप्त हो ॥ २१-२२ ॥

कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम्।
न हि वो वृजिनं किंचिद् वेद कश्चित् पुरा कृतम् ॥२३॥

जब वनसे कुशलपूर्वक कृतार्थ होकर लौटोगे, तब यहाँ आनेपर फिर तुमसे मिलूँगा। तुम्हारे पहलेके किसी दोषको दूसरा कोई न जाने, इसकी चेष्टा रखना ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरके ऐसा कहनेपर सत्यपराक्रमी पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भीष्म और द्रोणको नमस्कार करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरका वनको प्रस्थानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७८॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका कुन्तीसे विदा लेना तथा कुन्तीका विलाप एवं नगरके नर-नारियोंका शोकातुर होना

वैशम्पायन उवाच

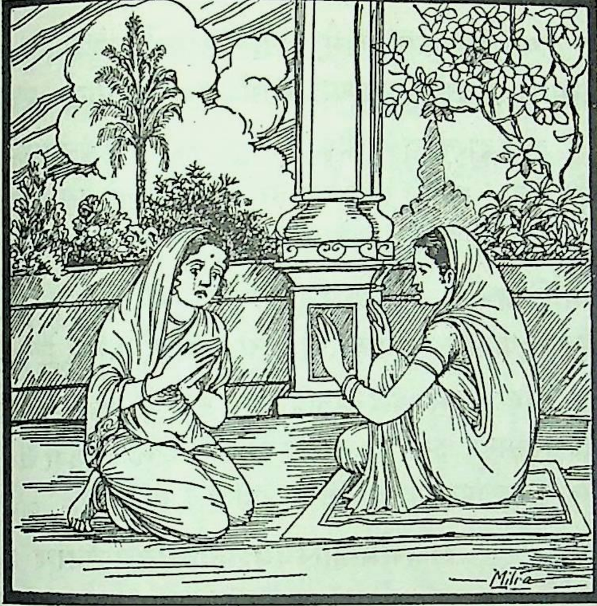
तस्मिन् सम्प्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम्।
अपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥ १ ॥
यथार्हं वन्दनाश्लेषान् कृत्वा गन्तुमियेष सा।
ततो निनादः सुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—युधिष्ठिरके प्रस्थान करनेपर कृष्णाने यशस्विनी कुन्तीके पास जाकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो वनमें जानेकी आज्ञा माँगी। वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ बैठी थीं, उन सबकी यथायोग्य वन्दना करके सबसे गले मिलकर उसने वनमें जानेकी इच्छा प्रकट की। फिर तो पाण्डवों-

के अन्तःपुरमें महान् आर्तनाद होने लगा ॥ १-२ ॥

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् ।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद् वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

द्रौपदीको जाती देख कुन्ती अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शोकाकुल वाणीद्वारा बड़ी कठिनाईसे इस प्रकार बोलीं—॥



वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ॥ ४ ॥

'बेटी ! इस महान् संकटको पाकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये । तुम स्त्रीके धर्मोंको जानती हो, शील और सदाचारका पालन करनेवाली हो ॥ ४ ॥

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते ।
साध्वीगुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥

'पवित्र मुसकानवाली बहू ! इसीलिये पतियोंके प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह तुम्हें बतानेकी आवश्यकता मैं नहीं समझती । तुम सती स्त्रियोंके सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हो; तुमने पति और पिता—दोनोंके कुलोंकी शोभा बढ़ायी है ॥ ५ ॥

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥

'निष्पाप द्रौपदी ! ये कौरव बड़े भाग्यशाली हैं, जिन्हें तुमने अपनी क्रोधाग्निसे जलाकर भस्म नहीं कर दिया । जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्नबाधाओंसे रहित हो; मेरे किये हुए शुभ चिन्तनसे तुम्हारा अभ्युदय हो ॥ ६ ॥

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैकृतं नोपजायते ।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

'जो बात अवश्य होनेवाली है उसके होनेपर साध्वी स्त्रियोंके मनमें व्याकुलता नहीं होती । तुम अपने श्रेष्ठ धर्मसे सुरक्षित रहकर शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करोगी ॥ ७ ॥

सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन् ।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः ॥ ८ ॥

'बेटी ! वनमें रहते हुए मेरे पुत्र सहदेवकी तुम सदा देख-भाल रखना, जिससे यह परम बुद्धिमान् सहदेव इस भारी संकटमें पड़कर दुखी न होने पावे' ॥ ८ ॥

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥ ९ ॥

कुन्तीके ऐसा कहनेपर नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई द्रौपदीने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की । उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसका भी कुछ भाग रजसे सना हुआ था और उसके सिरके बाल बिखरे हुए थे । उसी दशामें वह अन्तःपुरसे बाहर निकली ॥ ९ ॥

तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः ॥ १० ॥

रोती-बिलखती, वनको जाती हुई द्रौपदीके पीछे-पीछे कुन्ती भी दुःखसे व्याकुल हो कुछ दूरतक गयीं, इतनेहीमें उन्होंने अपने सभी पुत्रोंको देखा, जिनके वस्त्र और आभूषण उतार लिये गये थे ॥ १० ॥

रुरुचर्मावृततनून् ह्रिया किंचिदवाङ्‌मुखान् ।
परैः परीतान् संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ॥ ११ ॥

उनके सभी अङ्ग मृगचर्मसे ढँके हुए थे और वे लज्जावश नीचे मुख किये चले जा रहे थे । हर्षमें भरे हुए शत्रुओंने उन्हें सब ओरसे घेर रखा था और हितैषी सुहृद् उनके लिये शोक कर रहे थे ॥ ११ ॥

तदवस्थान् सुतान् सर्वानुपसृत्यातिवत्सला ।
स्वजमानावदच्छोकात् तत्तद् विलपती बहु ॥ १२ ॥

उस अवस्थामें उन सभी पुत्रोंके निकट पहुँचकर कुन्तीके हृदयमें अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया । वे उन्हें हृदयसे लगाकर शोकवश बहुत विलाप करती हुई बोलीं ॥

कुन्त्युवाच

कथं सद्धर्मचारित्रान् वृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान् दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान् सदा ॥ १३ ॥
व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्यापध्यानजं चेदं धिया पश्यामि नैव तत् ॥ १४ ॥

कुन्तीने कहा—पुत्रो ! तुम उत्तम धर्मका पालन करनेवाले तथा सदाचारकी मर्यादासे विभूषित हो । तुममें क्षुद्रताका अभाव है । तुम भगवान्‌के सुदृढ़ भक्त और देवाराधनमें सदा तत्पर रहनेवाले हो । तो भी तुम्हारे ऊपर यह विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है । विधाताका यह कैसा विपरीत विधान है । किसके

अनिष्टचिन्तनसे तुम्हारे ऊपर यह महान् दुःख आया है, यह बुद्धिसे बार-बार विचार करनेपर भी मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥ १३-१४ ॥

स्यात् तु मद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥१५॥

यह मेरे ही भाग्यका दोष हो सकता है । तुम तो उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो भी अत्यन्त दुःख और कष्ट भोगनेके लिये ही मैंने तुम्हें जन्म दिया है ॥ १५ ॥

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥१६॥

इस प्रकार सम्पत्तिसे वञ्चित होकर तुम वनके दुर्गम स्थानोंमें कैसे रह सकोगे ? वीर्य, धैर्य, बल, उत्साह और तेजसे परिपुष्ट होते हुए भी तुम दुर्बल हो ॥ १६ ॥

यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम् ।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥१७॥

यदि मैं यह जानती कि नगरमें आनेपर तुम्हें निश्चय ही वनवासका कष्ट भोगना पड़ेगा तो महाराज पाण्डुके परलोकवासी हो जानेपर शतशृङ्गपुरसे हस्तिनापुर नहीं आती ॥

धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा ।
यः पुत्राधिमसम्प्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत् प्रियाम् ॥१८॥

मैं तो तुम्हारे तपस्वी एवं मेधावी पिताको ही धन्य मानती हूँ, जिन्होंने पुत्रोंके दुःखसे दुखी होनेका अवसर न पाकर स्वर्गलोककी अभिलाषाको ही प्रिय समझा ॥ १८ ॥

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् ।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥१९॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसन्धिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ॥२०॥

इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानसे सम्पन्न एवं परमगतिको प्राप्त हुई कल्याणमयी इस धर्मज्ञा माद्रीको भी सर्वथा धन्य मानती हूँ । जिसने अपने अनुराग, उत्तम बुद्धि और सद्व्यवहारद्वारा मुझे भुलाकर जीवित रहनेके लिये विवश कर दिया । मुझको और जीवनके प्रति मेरी इस आसक्तिको धिक्कार है ! जिसके कारण मुझे यह महान् क्लेश भोगना पड़ता है ॥ १९-२० ॥

पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान् प्रियान् सतः ।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ॥२१॥

पुत्रो ! तुम सदाचारी और मेरे लिये प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हो । मैंने बड़े कष्टसे तुम्हें पाया है; अतः तुम्हें छोड़कर अलग नहीं रहूँगी । मैं भी तुम्हारे साथ वनमें चलूँगी । हाय कृष्णे ! तुम क्यों मुझे छोड़े जाती हो ? ॥२१॥

अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् धात्रा किं नु प्रमादतः ।
ममान्तो नैव विहितस्तेनायुर्न जहाति माम् ॥२२॥

यह प्राणधारणरूपी धर्म अनित्य है, एक-न-एक दिन इसका अन्त होना निश्चित है, फिर भी विधाताने न जाने क्यों प्रमादवश मेरे जीवनका भी शीघ्र ही अन्त नहीं नियत कर दिया । तभी तो आयु मुझे छोड़ नहीं रही है ॥ २२ ॥

हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासि संकर्षणानुज ।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥२३॥

हा ! द्वारकावासी श्रीकृष्ण ! तुम कहाँ हो ! बलरामजीके छोटे भैया ! मुझको तथा इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको इस दुःखसे क्यों नहीं बचाते ? ॥ २३ ॥

अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः ।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ॥२४॥

'प्रभो ! तुम आदि-अन्तसे रहित हो, जो मनुष्य तुम्हारा निरन्तर स्मरण करते हैं, उन्हें तुम अवश्य संकटसे बचाते हो ।' तुम्हारी यह विरद व्यर्थ कैसे हो रही है ? ॥ २४ ॥

इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः ।
नार्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥२५॥

ये मेरे पुत्र उत्तम धर्म, महात्मा पुरुषोंके शील-स्वभाव, यश और पराक्रमका अनुसरण करनेवाले हैं, अतः कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं; भगवन् ! इनपर तो दया करो ॥२५॥

सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु ।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥२६॥

नीतिके अर्थको जाननेवाले परम विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके, जो इस कुलके रक्षक हैं, रहते हुए यह विपत्ति हमपर क्यों आयी ? ॥ २६ ॥

हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे ।
पुत्रान् विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥२७॥

हा महाराज पाण्डु ! कहाँ हो ? आज तुम्हारे श्रेष्ठ पुत्रोंको शत्रुओंने जूएमें जीतकर वनवास दे दिया है, तुम क्यों इनकी दुरवस्थाकी उपेक्षा कर रहे हो ? ॥ २७ ॥

सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः ।
शरीरादपि माद्रेय मा मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥२८॥

माद्रीनन्दन सहदेव ! तुम मुझे अपने शरीरसे भी अधिक प्रिय हो । बेटा ! लौट आओ । कुपुत्रकी भाँति मेरा त्याग न करो ॥ २८ ॥

व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसंधिनः ।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ॥ २९ ॥

तुम्हारे ये भाई यदि सत्य-धर्मके पालनका आग्रह रखकर वनमें जा रहे हैं तो जायँ; तुम यहीं रहकर मेरी रक्षाजनित धर्मका लाभ लो ॥ २९ ॥

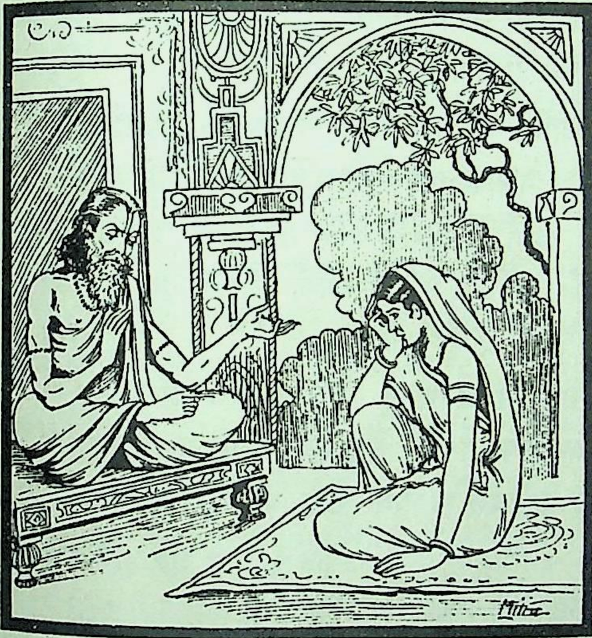
वैशम्पायन उवाच

एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार विलाप करती हुई माता कुन्तीको अभिवादन एवं प्रणाम करके पाण्डवलोग दुःखी हो वनको चले गये ॥ ३० ॥

विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥ ३१ ॥

विदुरजी शोकाकुला कुन्तीको अनेक प्रकारकी युक्तियों-



द्वारा धीरज बँधाकर उन्हें धीरे-धीरे अपने घर ले गये। उस समय वे स्वयं भी बहुत दुःखी थे ॥ ३१ ॥

(ततः सम्प्रस्थिते तत्र धर्मराजे तदा नृपे।
जनाः समस्तास्तं द्रष्टुं समारुरुहुरातुराः ॥
ततः प्रासादवर्याणि विमानशिखराणि च।
गोपुराणि च सर्वाणि वृक्षानन्यांश्च सर्वशः ॥
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत्।

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर जब वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब उस नगरके समस्त निवासी दुःखसे आतुर हो उन्हें देखनेके लिये महलों, मकानकी छतों, समस्त गोपुरों और वृक्षोंपर चढ़ गये। वहाँसे सब लोग उदास होकर उन्हें देखने लगे ॥

न हि रथ्यास्ततः शक्या गन्तुं बहुजनाकुलाः ॥
आरुह्य ते स्म तान्यत्र दीनाः पश्यन्ति पाण्डवम्।

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भारी भीड़से इतनी भर गयी थीं कि उनपर चलना असम्भव हो गया था। इसीलिये लोग ऊँचे चढ़कर अत्यन्त दीनभावसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको देख रहे थे ॥

पदातिं वर्जितच्छत्रं चेलभूषणवर्जितम् ॥
वल्कलाजिनसंवीतं पार्थं दृष्ट्वा जनास्तदा।
ऊचुर्बहुविधा वाचो भृशोपहतचेतसः ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर छत्ररहित एवं पैदल ही चल रहे थे। उनके शरीरपर राजोचित वस्त्रों और आभूषणोंका भी अभाव था। वे वल्कल और मृगचर्म पहने हुए थे। उन्हें इस दशामें देखकर लोगोंके हृदयमें गहरी चोट पहुँची और वे सब लोग नाना प्रकारकी बातें करने लगे ॥

जना ऊचुः

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।
तमेवं कृष्णया सार्धमनुयान्ति स्म पाण्डवाः ॥
चत्वारो भ्रातरश्चैव पुरोधाश्च विशाम्पतिम्।

नगरनिवासी मनुष्य बोले—अहो! यात्रा करते समय जिनके पीछे विशाल चतुरंगिणी सेना चलती थी, आज वे ही राजा युधिष्ठिर इस प्रकार जा रहे हैं और उनके पीछे द्रौपदीके साथ केवल चार भाई पाण्डव तथा पुरोहित चल रहे हैं ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ॥
तामद्य कृष्णां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः।

जिसे आजसे पहले आकाशचारी प्राणीतक नहीं देख पाते थे, उसी द्रुपदकुमारी कृष्णाको अब सड़कपर चलनेवाले साधारण लोग भी देख रहे हैं ॥

अङ्गरागोचितां कृष्णां रक्तचन्दनसेविनीम् ॥
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम्।

सुकुमारी द्रौपदीके अङ्गोंमें दिव्य अङ्गराग शोभा पाता था। वह लाल चन्दनका सेवन करती थी, परंतु अब वनमें सर्दी, गर्मी और वर्षा लगनेसे उसकी अङ्गकान्ति शीघ्र ही फीकी पड़ जायगी ॥

अद्य नूनं पृथा देवी सत्त्वमाविश्य भाषते ॥
पुत्रान् स्नुषां च देवी तु द्रष्टुमद्याथ नार्हति ॥

निश्चय ही आज कुन्तीदेवी बड़े भारी धैर्यका आश्रय लेकर अपने पुत्रों और पुत्रवधूसे वार्तालाप करती हैं; अन्यथा इस दशामें वे इनकी ओर देख भी नहीं सकतीं ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् दुःखदर्शनम्।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥

गुणहीन पुत्रका भी दुःख मातासे कैसे देखा जायगा; फिर जिस पुत्रके सदाचारमात्रसे यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसपर कोई दुःख आये, तो उसकी माता वह कैसे देख सकती है ? ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशो धृतिः शीलं दमः शमः।
पाण्डवं शोभयन्त्येते षड् गुणाः पुरुषोत्तमम् ॥

...तु तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।

...रुषरत्न पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको कोमलता, दया, धैर्य, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह—ये छः सद्गुण सुशोभित हैं। अतः उनकी हानिसे आज सारी प्रजाको बड़ी ...हो रही है ॥

...ानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥
...ा पीडितं सर्वं जगत् तस्य जगत्पतेः ।
...स्यैवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥

जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी घट जानेसे जलचर जीव-...व्यथित हो उठते हैं एवं जड़ कट जानेसे फल और ...से युक्त वृक्ष सूखने लगता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ...के पालक महाराज युधिष्ठिरकी पीड़ासे सारा संसार पीड़ित ...या है ॥

...ह्येष मनुष्याणां धर्मराजो महाद्युतिः ।
...ं फलं च पत्रं च शाखास्तस्येतरे जनाः ॥
...भ्रातर इव क्षिप्रं सपुत्राः सहबान्धवाः ।
...छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति पाण्डवः ॥

महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर मनुष्योंके मूल हैं। जगत्के ...रे लोग उन्हींकी शाखा, पत्र, पुष्प और फल हैं। आज ...अपने पुत्रों और भाई-बन्धुओंको साथ लेकर चारों भाई ...डवोंकी भाँति शीघ्र उसी मार्गसे उनके पीछे-पीछे चलें, ...ससे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर जा रहे हैं ॥

...द्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
...कदुःखसुखाः पार्थमनुयाम सुधार्मिकम् ॥

आज हम अपने खेत, बाग-बगीचे और घर-द्वार ...ड़कर परम धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके साथ चल ...और उन्हींके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझें ॥

...समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
...पात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥
...जसाप्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
...मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि सौबलः प्रतिपद्यताम् ॥

हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें। आँगनकी फर्श खोद डालें। सारा धन-धान्य साथ ले लें। सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें। इनमें चारों ओर धूल भर जाय। देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ। चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें। इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे। यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय। मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ। इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कपटी सुबलपुत्र शकुनि आकर अधिकार कर ले ॥

वनं नगरमद्यास्तु यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥

अब जहाँ पाण्डव जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर ही वनके रूपमें परिणत हो जाय ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे वनानि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद् भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥

वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ, मृग और पक्षी जंगलोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी वहाँसे दूर चले जायँ ॥

अनाक्रान्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमाषफलादानां देशांस्त्यक्त्वा मृगद्विजाः ॥
वयं पार्थैर्वने सम्यक् सह वत्स्याम निर्वृताः ।

हमलोग तृण (साग-पात), अन्न और फलका उपयोग करनेवाले हैं। जंगलके हिंसक पशु और पक्षी हमारे रहनेके स्थानोंको छोड़कर चले जायँ। वे ऐसे स्थानका आश्रय लें, जहाँ हम न जायँ और वे उन स्थानोंको छोड़ दें, जिनका हम सेवन करें। हमलोग वनमें कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़े सुखसे रहेंगे।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव पार्थः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी कही हुई भाँति-भाँतिकी बातें युधिष्ठिरने सुनीं। सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं आया ॥

ततः प्रासादसंस्थास्तु समन्ताद् वै गृहे गृहे ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषितः ॥
ततः प्रासादजालानामुत्पाट्यावरणानि च ।
ददृशुः पाण्डवान् दीनान् रौरवाजिनवाससः ॥
कृष्णां त्वदृष्टपूर्वां तां व्रजन्तीं पद्भिरेव च ।
एकवस्त्रां रुदन्तीं तां मुक्तकेशीं रजस्वलाम् ॥
दृष्ट्वा तदा स्त्रियः सर्वा विवर्णवदना भृशम् ।

विलप्य बहुधा मोहाद् दुःखशोकेन पीडिताः ॥
हाहा धिग् धिग् धिगित्युक्त्वा नेत्रैरश्रूण्यवर्तयन् ।)

तदनन्तर चारों ओर महलोंमें रहनेवाली ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी स्त्रियाँ अपने-अपने भवनोंकी खिड़कियोंके पर्दे हटाकर दीन पाण्डवोंको देखने लगीं । सब पाण्डवोंने मृगचर्ममय वस्त्र धारण कर रक्खा था । उनके साथ द्रौपदी भी पैदल ही चली जा रही थी । उसे उन स्त्रियोंने पहले कभी नहीं देखा था । उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, केश खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और रोती चली जा रही थी । उसे देखकर उस समय सब स्त्रियोंका मुख उदास हो गया । वे क्षोभ एवं मोहके कारण नाना प्रकारसे विलाप करती हुई दुःख-शोकसे पीड़ित हो गयीं और 'हाय हाय ! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको बार-बार धिक्कार है, धिक्कार है' ऐसा कहकर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं ॥

धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत् ।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून् भृशम् ।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रपुत्रोंकी स्त्रियाँ द्रौपदीके द्यूतसभामें जाने और उसके वस्त्र खींचे जाने (एवं वनमें जाने) आदिका सारा वृत्तान्त सुनकर कौरवोंकी अत्यन्त निन्दा करती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और अपने मुखारविन्दको हथेलीपर रखकर बहुत देरतक गहरी चिन्तामें डूबी रहीं ॥ ३२-३३ ॥

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा ।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥ ३४ ॥

उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करके राजा धृतराष्ट्रका भी हृदय उद्विग्न हो उठा । उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली ॥ ३४ ॥

स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः ।
क्षत्तुः सम्प्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ ३५ ॥

चिन्तामें पड़े-पड़े उनकी एकाग्रता नष्ट हो गयी । उनका चित्त शोकसे व्याकुल हो रहा था । उन्होंने विदुरके पास संदेश भेजा कि तुम शीघ्र मेरे पास चले आओ ॥ ३५ ॥

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत् संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ ३६ ॥

तब विदुर राजा धृतराष्ट्रके महलमें गये । उस समय महाराज धृतराष्ट्रने अत्यन्त उद्विग्न होकर उनसे पूछा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि द्रौपदीकुन्तीसंवादे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें द्रौपदीकुन्तीसंवादविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

वनगमनके समय पाण्डवोंकी चेष्टा और प्रजाजनोंकी शोकातुरताके विषयमें धृतराष्ट्र तथा विदुरका संवाद और शरणागत कौरवोंको द्रोणाचार्यका आश्वासन

वैशम्पायन उवाच

तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दूरदर्शी विदुरजीके आनेपर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने शङ्कित-सा होकर पूछा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र युधिष्ठिर किस प्रकार जा रहे हैं ? भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये चारों पाण्डव भी किस प्रकार यात्रा करते हैं ? ॥ २ ॥

धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥

पुरोहित धौम्य तथा यशस्विनी द्रौपदी भी कैसे जा रही है ? मैं उन सबकी पृथक्-पृथक् चेष्टाओंको सुनना चाहता हूँ, तुम मुझसे कहो ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बाहू विशालौ सम्पश्यन् भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥

विदुर बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वस्त्रसे मुँह ढककर जा रहे हैं । पाण्डुकुमार भीमसेन अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए जाते हैं ॥ ४ ॥

सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥

सव्यसाची अर्जुन बालू बिखेरते हुए राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे हैं। माद्रीकुमार सहदेव अपने मुँहपर मिट्टी पोतकर जाते हैं ॥ ५ ॥

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥

लोकमें अत्यन्त दर्शनीय मनोहर रूपवाले नकुल अपने सब अङ्गोंमें धूल लपेटकर व्याकुलचित्त हो राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ६ ॥

कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥

परम सुन्दरी विशाललोचना कृष्णा अपने केशोंसे ही मुँह ढँककर रोती हुई राजाके पीछे-पीछे जा रही है ॥ ७ ॥

धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशाम्पते ।
गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥

महाराज ! पुरोहित धौम्यजी हाथमें कुश लेकर रुद्र तथा यमदेवतासम्बन्धी साम-मन्त्रोंका गान करते हुए आगे-आगे मार्गपर चल रहे हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः ।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! पाण्डवलोग यहाँ जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करते हुए यात्रा कर रहे हैं, उसका क्या रहस्य है, यह बताओ। वे क्यों इस प्रकार जा रहे हैं ? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

विदुर बोले—महाराज ! यद्यपि आपके पुत्रोंने छलपूर्ण बर्ताव किया है। पाण्डवोंका राज्य और धन सब कुछ चला गया है तो भी परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी बुद्धि धर्मसे विचलित नहीं हो रही है ॥ १० ॥

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत ।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥ ११ ॥

भारत ! राजा युधिष्ठिर आपके पुत्रोंपर सदा दयाभाव बनाये रखते थे, किंतु इन्होंने छलपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उन्हें राज्यसे वञ्चित किया है, इससे उनके मनमें बड़ा क्रोध है और इसीलिये वे अपनी आँखोंको नहीं खोलते हैं ॥ ११ ॥

नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा ।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ॥ १२ ॥

'मैं भयानक दृष्टिसे देखकर किसी (निरपराधी) मनुष्यको भस्म न कर डालूँ' इसी भयसे पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपना मुँह ढँककर जा रहे हैं ॥ १२ ॥

यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु ।
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ॥ १३ ॥

अब भीमसेन जिस प्रकार चल रहे हैं, उसका रहस्य बताता हूँ, सुनिये ! भरतश्रेष्ठ ! उन्हें इस बातका अभिमान है कि बाहुबलमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति ।
बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः ॥ १४ ॥
चिकीर्षन् कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ।

इसीलिये वे अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए यात्रा करते हैं। राजन् ! अपने बाहुबलरूपी वैभवपर उन्हें गर्व है। अतः वे अपनी दोनों भुजाएँ दिखाते हुए शत्रुओंसे बदला लेनेके लिये अपने बाहुबलके अनुरूप ही पराक्रम करना चाहते हैं ॥ १४½ ॥

प्रदिशञ्छरसम्पातान् कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ॥ १५ ॥
सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा सम्प्रति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र सव्यसाची अर्जुन उस समय राजाके पीछे-पीछे जो बालू बिखेरते हुए यात्रा कर रहे थे, उसके द्वारा वे शत्रुओंपर बाण बरसानेकी अभिलाषा व्यक्त करते थे। भारत! इस समय उनके गिराये हुए बालूके कण जैसे आपसमें संसक्त न होते हुए लगातार गिरते हैं, उसी प्रकार वे शत्रुओंपर परस्पर संसक्त न होनेवाले असंख्य बाणोंकी वर्षा करेंगे ॥

न मे कश्चिद् विजानीयान्मुखमद्येति भारत ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥ १७ ॥

भारत ! 'आज इस दुर्दिनमें कोई मेरे मुँहको पहचान न ले' यही सोचकर सहदेव अपने मुँहमें मिट्टी पोतकर जा रहे हैं ॥ १७ ॥

नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ।
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥

प्रभो ! 'मार्गमें मैं स्त्रियोंका चित्त न चुरा लूँ' इस भयसे नकुल अपने सारे अङ्गोंमें धूल लगाकर यात्रा करते हैं ॥ १८ ॥

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

द्रौपदीके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसके बाल खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और उसके कपड़ोंमें रक्त (रज) का दाग लगा हुआ था, उसने रोते हुए यह बात कही थी ॥ १९ ॥

यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥ २० ॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः ।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥ २१ ॥

'जिनके अन्यायसे आज मैं इस दशाको पहुँची हूँ, आजके चौदहवें वर्षमें उनकी स्त्रियाँ भी अपने पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेसे उनकी लाशोंके पास लोट-लोटकर रोयेंगी और अपने अङ्गोंमें रक्त तथा धूल लपेटे, बाल खोले हुए, अपने सगे-सम्बन्धियोंको तिलाञ्जलि दे इसी प्रकार हस्तिनापुरमें प्रवेश करेंगी' ॥ २०-२१ ॥

कृत्वा तु नैर्ऋतान् दर्भान् धीरो धौम्यः पुरोहितः ।
सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! धीरस्वभाववाले पुरोहित धौम्यजी कुशोंका अग्र-भाग नैर्ऋत्यकोणकी ओर करके यमदेवतासम्बन्धी साममन्त्रोंका गान करते हुए पाण्डवोंके आगे-आगे जा रहे हैं ॥ २२ ॥

हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥

धौम्यजी यह कहकर गये थे कि युद्धमें कौरवोंके मारे जानेपर उनके गुरु भी इसी प्रकार कभी साम-गान करेंगे ॥ २३ ॥

हा हा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक् कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥ २४ ॥
राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादाँल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः ॥ २५ ॥
दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ॥ २६ ॥

महाराज ! उस समय नगरके लोग अत्यन्त दुःखसे आतुर हो बार-बार चिल्लाकर कह रहे थे कि 'हाय-हाय ! हमारे स्वामी पाण्डव चले जा रहे हैं । अहो ! कौरवोंमें जो बड़े-बूढ़े लोग हैं, उनकी यह बालकोंकी-सी चेष्टा तो देखो । धिक्कार है उनके इस बर्तावको ! ये कौरव लोभवश महाराज पाण्डुके पुत्रोंको राज्यसे निकाल रहे हैं । इन पाण्डुपुत्रोंसे वियुक्त होकर हम सब लोग आज अनाथ हो गये । इन लोभी और उद्दण्ड कौरवोंके प्रति हमारा प्रेम कैसे हो सकता है ? ॥२४-२६ ॥

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।
कथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥ २७ ॥

महाराज ! इस प्रकार मनस्वी कुन्तीपुत्र अपनी आकृति एवं चिह्नोंके द्वारा अपने आन्तरिक निश्चयको प्रकट करते हुए वनको गये हैं ॥ २७ ॥

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात् ।
अनभ्रे विद्युतश्चासन् भूमिश्च समकम्पत ॥ २८ ॥

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥ २९ ॥

हस्तिनापुरसे उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके निकलते ही बिना बादलके बिजली गिरने लगी, पृथ्वी काँप उठी । राजन् ! बिना पर्व (अमावस्या) के ही राहुने सूर्यको ग्रस लिया था और नगरको दायें रखकर उल्का गिरी थी ॥ २८-२९ ॥

प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः ।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥ ३० ॥

गीध, गीदड़ और कौवे आदि मांसाहारी जन्तु नगरके मन्दिरों, देववृक्षों, चहारदीवारी तथा अट्टालिकाओंपर मांस और हड्डी आदि लाकर गिराने लगे थे ॥ ३० ॥

एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन् दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३१ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी दुर्मन्त्रणाके कारण ऐसे-ऐसे अपशकुनरूप दुर्दम्य एवं महान् उत्पात प्रकट हुए हैं, जो भरतवंशियोंके विनाशकी सूचना दे रहे हैं ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥ ३२ ॥
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् विदुर जब दोनों वहाँ बातचीत कर रहे थे, उसी समय सभामें महर्षियोंसे घिरे हुए देवर्षि नारद कौरवोंके सामने आकर खड़े हो गये और यह भयंकर वचन बोले—॥ ३२-३३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे विनङ्क्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३४ ॥

'आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधनके अपराधसे भीम और अर्जुनके पराक्रमद्वारा कौरवकुलका नाश हो जायगा' ॥ ३४ ॥

इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद् देवर्षिसत्तमः ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर विशाल ब्रह्मतेज धारण करनेवाले देवर्षिप्रवर नारद आकाशमें जाकर सहसा अन्तर्धान हो गये ॥ ३५ ॥

(धृतराष्ट्र उवाच

किमब्रुवन् नागरिकाः किं वै जानपदा जनाः ।
मह्यं तत्त्वेन चाचक्ष्व क्षत्तः सर्वमशेषतः ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! जब पाण्डव वनको जाने लगे, उस समय नगर और देशके लोग क्या कह रहे थे, ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे ठीक-ठीक बताओ ॥

विदुर उवाच

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा येऽन्ये वदन्त्यथ।
तच्छृणुष्व महाराज वक्ष्यते च मया तव ॥

विदुर बोले—महाराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्यलोग इस घटनाके सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं, वह सुनिये, मैं आपसे सब बातें बता रहा हूँ ॥

हा हा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम्।
इति पौराः सुदुःखार्ताः शोचन्ति स्म समन्ततः ॥

पाण्डवोंके जाते समय समस्त पुरवासी दुःखसे आतुर हो सब ओर शोकमें डूबे हुए थे और इस प्रकार कह रहे थे—'हाय ! हाय ! हमारे स्वामी, हमारे रक्षक वनमें चले जा रहे हैं। भाइयो ! देखो, धृतराष्ट्रके पुत्रोंका यह कैसा अन्याय है !' ॥

तदहृष्टमिवाकूजं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ॥

स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्षरहित, शब्दशून्य तथा उत्सवहीन-सा हो गया ॥

सर्वे चासन् निरुत्साहा व्याधिना बाधिता यथा ॥
पार्थान् प्रति नरा नित्यं चिन्ताशोकपरायणाः ।
तत्र तत्र कथां चक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥

सब लोग कुन्तीपुत्रोंके लिये निरन्तर चिन्ता एवं शोकमें निमग्न हो उत्साह खो बैठे थे। सबकी दशा रोगियोंके समान हो गयी थी। सब एक दूसरेसे मिलकर जहाँ-तहाँ पाण्डवोंके विषयमें ही वार्तालाप करते थे ॥

वनं गते धर्मराजे दुःखशोकपरायणाः ।
बभूवुः कौरवा वृद्धा भृशं शोकेन पीडिताः ॥

धर्मराजके वनमें चले जानेपर समस्त वृद्ध कौरव भी अत्यन्त शोकसे व्यथित हो दुःख और चिन्तामें निमग्न हो गये ॥

ततः पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम्।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणाः पार्थिवं प्रति ॥

तदनन्तर समस्त पुरवासी राजा युधिष्ठिरके लिये शोकाकुल हो गये। उस समय वहाँ ब्राह्मणलोग राजा युधिष्ठिरके विषयमें निम्नाङ्कित बातें करने लगे ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

कथं नु राजा धर्मात्मा वने वसति निर्जने।
तस्यानुजाश्च ते नित्यं कृष्णा च द्रुपदात्मजा ॥
सुखार्हापि च दुःखार्ता कथं वसति सा वने ॥

ब्राह्मणोंने कहा—हाय ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर और उनके भाई निर्जन वनमें कैसे रहेंगे ? तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा तो सुख भोगनेके ही योग्य है, वह दुःखसे आतुर हो वनमें कैसे रहेगी ॥

विदुर उवाच

एवं पौराश्च विप्राश्च सदाराः सहपुत्रकाः ।
स्मरन्तः पाण्डवान् सर्वे बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥

विदुरजी कहते हैं--राजन् ! इस प्रकार पुरवासी ब्राह्मण अपनी स्त्रियों और पुत्रोंके साथ पाण्डवोंका स्मरण करते हुए बहुत दुखी हो गये ॥

आविद्धा इव शस्त्रेण नाभ्यनन्दन् कथंचन ।
सम्भाष्यमाणा अपि ते न कंचित् प्रत्यपूजयन् ॥

शस्त्रोंके आघातसे घायल हुए मनुष्योंकी भाँति वे किसी प्रकार सुखी न हो सके। बात कहनेपर भी वे किसीको आदरपूर्वक उत्तर नहीं देते थे ॥

न भुक्त्वा न शयित्वा ते दिवा वा यदि वा निशि ।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥

उन्होंने दिन अथवा रातमें न तो भोजन किया और न नींद ही ली; शोकके कारण उनका सारा विज्ञान आच्छादित हो गया था। वे सब-के-सब अचेत-से हो रहे थे ॥

यदवस्था बभूवार्ता ह्ययोध्या नगरी पुरा ।
रामे वनं गते दुःखाद्धृतराज्ये सलक्ष्मणे ॥
तदवस्थं बभूवार्तमद्येदं गजसाह्वयम् ।
गते पार्थे वनं दुःखाद्धृतराज्ये सहानुजैः ॥

जैसे त्रेतायुगमें राज्यका अपहरण हो जानेपर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेके बाद अयोध्या नगरी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो बड़ी दुरवस्थाको पहुँच गयी थी, वही दशा राज्यके अपहरण हो जानेपर भाइयोंसहित युधिष्ठिरके वनमें चले जानेसे आज हमारे इस हस्तिनापुरकी हो गयी है ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नागरस्य गिरं च वै ।
भूयो मुमोह शोकाच्च धृतराष्ट्रः सबान्धवः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरका कथन और पुरवासियोंकी कही हुई बातें सुनकर बन्धु-बान्धवोंसहित राजा धृतराष्ट्र पुनः शोकसे मूर्छित हो गये ॥

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥ ३६ ॥

तब दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिने द्रोणको अपना द्वीप (आश्रय) माना और सम्पूर्ण राज्य उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ ३६ ॥

अथाब्रवीत् ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥ ३७ ॥

उस समय द्रोणाचार्यने अमर्षशील दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा अन्य सब भरतवंशियोंसे कहा—॥ ३७ ॥

अवध्यान् पाण्डवान् प्राहुर्देवपुत्रान् द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान् वर्तमानो यथाबलम् ॥३८॥
गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्त्तराष्ट्रान् सराजकान्।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥३९॥

'पाण्डव देवताओंके पुत्र हैं, अतः ब्राह्मणलोग उन्हें अवध्य बतलाते हैं। मैं यथाशक्ति सम्पूर्ण हृदयसे तुम्हारे अनुकूल प्रयत्न करता हुआ तुम्हारा साथ दूँगा। भक्तिपूर्वक अपनी शरणमें आये हुए इन राजाओंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका परित्याग करनेका साहस नहीं कर सकता। दैव ही सबसे प्रबल है ॥ ३८-३९ ॥

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ४० ॥

'पाण्डव जूएमें पराजित होकर धर्मके अनुसार वनमें गये हैं। वे वहाँ बारह वर्षोंतक रहेंगे ॥ ४० ॥

चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद् दुःखाय पाण्डवाः ॥ ४१ ॥

'वनमें पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करके जब वे क्रोध और अमर्षके वशीभूत हो यहाँ लौटेंगे, उस समय वैरका बदला अवश्य लेंगे। उनका वह प्रतीकार हमारे लिये महान् दुःखका कारण होगा ॥ ४१ ॥

मया च भ्रंशितो राजन् द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद् राजा वधाय मम भारत ॥ ४२ ॥

'राजन्! मैंने मैत्रीके विषयको लेकर कलह प्रारम्भ होनेपर राजा द्रुपदको उनके राज्यसे भ्रष्ट किया था; भारत! इससे दुखी होकर उन्होंने मेरे वधके लिये पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे एक यज्ञका आयोजन किया ॥ ४२ ॥

याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात् सुमध्यमाम् ॥ ४३ ॥

'याज और उपयाजकी तपस्यासे उन्होंने अग्निसे धृष्टद्युम्न और वेदीके मध्यभागसे सुन्दरी द्रौपदीको प्राप्त किया ॥ ४३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः सम्बन्धतो मतः।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥ ४४ ॥

'धृष्टद्युम्न तो सम्बन्धकी दृष्टिसे कुन्तीपुत्रोंका साला ही है, अतः सदा उनका प्रिय करनेमें लगा रहता है, उसीसे मुझे भय है ॥ ४४ ॥

ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान् कवची शरी ।
मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ॥ ४५ ॥

'उसके शरीरकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित होती है। वह देवताका दिया हुआ पुत्र है और धनुष, बाण तथा कवचके साथ प्रकट हुआ है। मरणधर्मा मनुष्य होनेके कारण मुझे अब उससे महान् भय लगता है ॥ ४५ ॥

गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।
रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥
सृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत् संगमो मम ।
किमन्यद् दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥ ४७ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके पक्षका पोषक हो गया है। रथियों और अतिरथियोंकी गणनामें जिसका नाम सबसे पहले लिया जाता है, वह तरुण वीर अर्जुन धृष्टद्युम्नके लिये, यदि मेरे साथ उसका युद्ध हुआ तो, लड़कर प्राणतक देनेके लिये उद्यत हो जायगा। कौरवो! (अर्जुनके साथ मुझे लड़ना पड़े) इस पृथ्वीपर इससे बढ़कर महान् दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है? ॥ ४६-४७ ॥

धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः ।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥

'धृष्टद्युम्न द्रोणकी मौत है, यह बात सर्वत्र फैल चुकी है। मेरे वधके लिये ही उसका जन्म हुआ है। यह भी सब लोगोंने सुन रक्खा है। धृष्टद्युम्न स्वयं भी संसारमें अपनी वीरताके लिये विख्यात है ॥ ४८ ॥

सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ॥ ४९ ॥

'तुम्हारे लिये यह निश्चय ही बहुत उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। शीघ्र ही अपने कल्याण-साधनमें लग जाओ। पाण्डवोंको वनवास दे देनेमात्रसे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥

मुहूर्तं सुखमेवैतत् तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥ ५० ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत् प्राप्स्यथ वैशसम् ।

'यह राज्य तुमलोगोंके लिये शीतकालमें होनेवाली ताड़के पेड़की छायाके समान दो ही घड़ीतक सुख देनेवाला है। अब तुम बड़े-बड़े यज्ञ करो, मनमाने भोग भोगो और इच्छानुसार दान कर लो। आजसे चौदहवें वर्षमें तुम्हें बहुत बड़ी मार-काटका सामना करना पड़ेगा' ॥ ५०½ ॥

द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥

द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रने कहा—॥ ५१ ॥

सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ।
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।

सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥

'विदुर ! गुरु द्रोणाचार्यने ठीक कहा है। तुम पाण्डवोंको लौटा लाओ। यदि वे न लौटें तो वे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त रथियों और पैदल सेनाओंसे सुरक्षित और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हो सत्कारपूर्वक वनमें भ्रमणके लिये जायँ; क्योंकि वे भी मेरे पुत्र ही हैं' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें विदुर, धृतराष्ट्र और द्रोणके वचनविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता और उनका संजयके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब पाण्डव जूएमें हारकर वनमें चले गये, तब राजा धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १ ॥

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥

महाराज धृतराष्ट्रको लंबी साँस खींचते और उद्विग्नचित्त होकर चिन्तामें डूबे हुए देख संजयने इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

संजय उवाच

अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप।
प्रवाज्य पाण्डवान् राज्याद् राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥

संजय बोले—पृथ्वीनाथ ! यह धन-रत्नोंसे सम्पन्न वसुधाका राज्य पाकर और पाण्डवोंको अपने देशसे निकालकर अब आप क्यों शोकमग्न हो रहे हैं ? ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जिन लोगोंका युद्धकुशल बलवान् महारथी पाण्डवोंसे वैर होगा, वे शोकमग्न हुए बिना कैसे रह सकते हैं ? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

तवेदं स्वकृतं राजन् महद् वैरमुपस्थितम्।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥

संजय बोले—राजन् ! यह आपकी अपनी ही की हुई करतूत है, जिससे यह महान् वैर उपस्थित हुआ है और इसीके कारण सम्पूर्ण जगत्का सगे-सम्बन्धियोंसहित विनाश हो जायगा ॥ ५ ॥

वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥
प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥ ७ ॥

भीष्म, द्रोण और विदुरने बार-बार मना किया तो भी आपके मूढ़ और निर्लज्ज पुत्र दुर्योधनने सूतपुत्र प्रातिकामीको यह आदेश देकर भेजा कि तुम पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको सभामें ले आओ ॥ ६-७ ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥

देवतालोग जिस पुरुषको पराजय देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि ही पहले हर लेते हैं, इससे वह सब कुछ उल्टा ही देखने लगता है। विनाशकाल उपस्थित होनेपर जब बुद्धि मलिन हो जाती है, उस समय अन्याय ही न्यायके समान जान पड़ता है और वह हृदयसे किसी प्रकार नहीं निकलता ॥ ८-९ ॥

अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥

उस समय उस पुरुषके विनाशके लिये अनर्थ ही अर्थरूपसे और अर्थ भी अनर्थरूपसे उसके सामने उपस्थित होते हैं और निश्चय ही अर्थरूपमें आया हुआ अनर्थ ही उसे अच्छा लगता है ॥ १० ॥

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥

काल डंडा या तलवार लेकर किसीका सिर नहीं काटता। कालका बल इतना ही है कि वह प्रत्येक वस्तुके विषयमें मनुष्यकी विपरीत बुद्धि कर देता है ॥ ११ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम्।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥

अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः ।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत् सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ॥ १४ ॥
एकवस्त्राथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत ।
हृतस्वान् हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान् हृतश्रियः ॥ १५ ॥
विहीनान् सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान् ।
धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥

पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी तपस्विनी है। उसका जन्म किसी मानवी स्त्रीके गर्भसे नहीं हुआ है, वह अग्निके कुलमें उत्पन्न हुई और अनुपम सुन्दरी है । वह सब धर्मोंको जाननेवाली तथा यशस्विनी है। उसे भरी सभामें खींचकर लानेवाले दुष्टोंने भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाले घमासान युद्धकी सम्भावना उत्पन्न कर दी है। अधर्मपूर्वक जूआ खेलनेवाले दुर्योधनके सिवा कौन है, जो द्रौपदीको सभामें बुला सके । सुन्दर शरीरवाली पाञ्चालराजकुमारी स्त्रीधर्मसे युक्त (रजस्वला) थी । उसका वस्त्र रक्तसे सना हुआ था। वह एक ही साड़ी पहने हुए थी । उसने सभामें आकर पाण्डवोंको देखा। उन पाण्डवोंके धन, राज्य, वस्त्र और लक्ष्मी सबका अपहरण हो चुका था । वे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे वञ्चित हो दासभावको प्राप्त हो गये थे। धर्मके बन्धनमें बँधे रहनेके कारण वे पराक्रम दिखानेमें भी असमर्थ-से हो रहे थे ॥ १२–१६ ॥

क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥

उनकी यह दशा देखकर कृष्णा क्रोध और दुःखमें डूब गयी। वह तिरस्कारके योग्य कदापि न थी, तो भी कौरवोंकी सभामें दुर्योधन और कर्णने उसे कटु वचन सुनाये ॥ १७ ॥

इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रतिभाति मे ।

राजन् ! ये सारी बातें मुझे महान् दुःखको निमन्त्रण देनेवाली जान पड़ती हैं ॥ १७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! द्रौपदीके उन दीनतापूर्ण नेत्रोंद्वारा यह सारी पृथ्वी दग्ध हो सकती थी ॥ १८ ॥

अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ।
भरतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह संगताः ॥ १९ ॥
प्राक्रोशन् भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥ २० ॥

संजय ! उसके अभिशापसे मेरे सभी पुत्रोंका आज ही संहार हो जाता, परंतु उसने सब कुछ चुपचाप सह लिया । जिस समय रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली पाण्डवोंकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी कृष्णा सभामें लायी गयी, उस समय वहाँ उसे देखकर भरतवंशकी सभी स्त्रियाँ गान्धारीके साथ मिलकर बड़े भयानक स्वरसे विलाप एवं चीत्कार करने लगीं ॥ १९-२० ॥

प्रजाभिः सह संगम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥
ब्राह्मणाः कुपिताश्चासन् द्रौपद्याः परिकर्षणे ।

ये सारी स्त्रियाँ प्रजावर्गकी स्त्रियोंके साथ मिलकर रात-दिन सदा इसीके लिये शोक करती रहती हैं। उस दिन द्रौपदीका वस्त्र खींचे जानेके कारण सब ब्राह्मण कुपित हो उठे थे, अतः सायंकाल हमारे घरोंमें उन्होंने अग्निहोत्र-तक नहीं किया ॥ २१½ ॥

आसीन्निष्ठानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ॥ २२ ॥
दिव उल्काश्चापतन्त राहुश्चार्कमुपाग्रसत् ।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन् भयम् ॥ २३ ॥

उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी भयानक गर्जनाके समान भारी आवाजके साथ बड़े जोरकी आँधी चलने लगी। वज्रपातका-सा अत्यन्त कर्कश शब्द होने लगा। आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं तथा राहुने बिना पर्वके ही सूर्यको ग्रस लिया और प्रजाके लिये अत्यन्त घोर भय उपस्थित कर दिया ॥ २२-२३ ॥

तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।
ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥ २४ ॥

इसी प्रकार हमारी रथशालाओंमें आग लग गयी और रथोंकी ध्वजाएँ जलकर खाक हो गयीं, जो भरतवंशियोंके लिये अमङ्गलकी सूचना देनेवाली थीं ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन् भैरवं शिवाः ।
तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥

दुर्योधनके अग्निहोत्रगृहमें गीदड़ियाँ आकर भयंकर स्वरसे हुँआ-हुँआ करने लगीं। उनकी आवाज सुनते ही चारों दिशाओंमें गधे रेंकने लगे ॥ २५ ॥

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय ।
कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामनाः ॥ २६ ॥
ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायै काङ्क्षितं यद् यदिच्छति ॥ २७ ॥

संजय ! यह सब देखकर द्रोणके साथ भीष्म, कृपाचार्य, सोमदत्त और महामना बाह्लीक वहाँसे उठकर चले गये।

तब मैंने विदुरकी प्रेरणासे वहाँ यह बात कही—'मैं कृष्णाको मनोवाञ्छित वर दूँगा। वह जो कुछ चाहे, माँग सकती है' ॥

अवृणोत् तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम्।
सरथान् सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥ २८ ॥

तब वहाँ पाञ्चालीने यह वर माँगा कि पाण्डवलोग दासभावसे मुक्त हो जायँ। मैंने भी रथ और धनुष आदिके सहित पाण्डवोंको उनकी समस्त सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थ लौट जानेकी आज्ञा दे दी थी ॥ २८ ॥

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित्।
एतदन्तास्तु भरता यद् वः कृष्णा सभां गता ॥ २९ ॥
यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान् दैवसृष्टोपसर्पति ॥ ३० ॥

तदनन्तर सब धर्मोंके ज्ञाता परम बुद्धिमान् विदुरने कहा—'भरतवंशियो! यह कृष्णा जो तुम्हारी सभामें लायी गयी, यही तुम्हारे विनाशका कारण होगा। यह जो पाञ्चालराजकी पुत्री है, वह परम उत्तम लक्ष्मी ही है। देवताओंकी आज्ञासे ही पाञ्चाली इन पाण्डवोंकी सेवा करती है ॥ २९-३० ॥

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पाञ्चाला वा महारथाः ॥ ३१ ॥
तेन सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः।
आगमिष्यति बीभत्सुः पाञ्चालैः परिवारितः ॥ ३२ ॥

'कुन्तीके पुत्र अमर्षमें भरे हुए हैं। द्रौपदीको जो यहाँ इस प्रकार क्लेश दिया गया है, इसे वे कदापि सहन नहीं करेंगे। सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी अथवा महारथी पाञ्चाल वीर भी इसे नहीं सहेंगे। अर्जुन पाञ्चाल वीरोंसे घिरे हुए अवश्य आयँगे ॥ ३१-३२ ॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः ॥ ३३ ॥

'उनके बीचमें महाधनुर्धर महाबली भीमसेन होंगे, जो दण्डपाणि यमराजकी भाँति गदा घुमाते हुए युद्धके लिये आयँगे ॥ ३३ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ ३४ ॥

'उस समय परम बुद्धिमान् अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनकर और भीमसेनकी गदाका महान् वेग देखकर कोई भी राजा उनका सामना करनेमें समर्थ न हो सकेंगे ॥

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान् बलवत्तरान् ॥ ३५ ॥

'अतः मुझे तो पाण्डवोंके साथ सदा शान्ति बनाये रखनेकी ही नीति अच्छी लगती है। उनके साथ युद्ध करना मुझे पसंद नहीं है। मैं पाण्डवोंको सदा ही कौरवोंसे अधिक बलवान् मानता हूँ ॥ ३५ ॥

तथा हि बलवान् राजा जरासंधो महाद्युतिः।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥ ३६ ॥

'क्योंकि महान् तेजस्वी और बलवान् राजा जरासंधको भीमसेनने बाहुरूपी शस्त्रसे ही युद्धमें मार गिराया था ॥ ३६ ॥

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया ॥ ३७ ॥

'भरतवंशशिरोमणे! अतः पाण्डवोंके साथ आपको शान्ति ही बनाये रखनी चाहिये। दोनों पक्षोंके लिये यही उचित है। आप निःशङ्क होकर यही उपाय करें ॥ ३७ ॥

एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि।
एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः ॥ ३८ ॥
उक्तवान् न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा ॥ ३९ ॥

'महाराज! ऐसा करनेपर आप परम कल्याणके भागी होंगे।' संजय! इस प्रकार विदुरने मुझसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कही थीं; किंतु पुत्रका हित चाहनेवाला होकर भी मैंने उनकी बात नहीं मानी ॥ ३८-३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रसंजय-संवादे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारतनामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

	अनुष्टुप छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	२५९५॥	(१५०)	२१७॥=	२८१३=
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१२४२	(१)	१॥=	१२४३।=

सभापर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—४०५६॥

(सभापर्व सम्पूर्णम्)

मिलनेका पता

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस

(गोरखपुर)